उत्तरकाण्डमें आये हुए प्रकरणों-प्रसंगोंकी सूची

संकेताक्षरोंकी तालिका

संकेताक्षर	विवरण
अ०	अयोध्याकाण्ड, अध्याय
अ० २०५, २।२०५	अयोध्याकाण्डका दोहा २०५ या उसकी चौपाई
अ० दी०च०	अभिप्राय-दीपक-चक्षु
अ० रा०	अध्यात्मरामायण
अमर०	अमरकोश
आ० रा०	आनन्दरामायण
अ०	अरण्यकाण्ड
अ० २, ३।२	अरण्यकाण्डका दूसरा दोहा या उसकी चौ०
उ०	उत्तरकाण्ड, उत्तरखण्ड (पुराणोंका); उत्तरार्ध; उपनिषद्;
उ० ११५; ७।११५	उत्तरकाण्डका दोहा ११५ या उसकी चौ०
क०	कवितावली
क० ७	कवितावलीका उत्तरकाण्ड
कठ०	कठोपनिषद्
करु०, श्रीकरुणासिंधुजी	श्री १०८ रामचरणदासजीकी 'आनन्दलहरी' टीका
कल्याण	गीताप्रेसकी मासिक पत्रिका
का०, १७०४	काशीराजके यहाँकी प्रति
काष्ठजिह्व स्वामी	रामायणपरिचर्याकार श्रीदेवतीर्थ स्वामी
कि० १०, ४, १०	किष्किन्धाकाण्ड दोहा १० या उसकी चौ०
को० रा०	कोदोरामजीकी गुटका
खर्रा	पं० रामकुमारजीके प्रथमावस्थाके लिखे टिप्पण
गी०	गीतावली
गीता	श्रीमद्भगवद्गीता
गौड़जी	प्रो० श्रीरामदासजी गौड़ (स्वर्गीय)
(श्री) चक्रजी	श्रीसुदर्शनसिंहजीके टिप्पण 'मानसमणि' से
चौ०	चौपाई (अर्धाली)
छ०	लाला छक्कनलालकी पोथी
छां० ३।१३।७	छान्दोग्योपनिषद् अध्याय ३ खंड १३ मंत्र ७
टिप्पणी	पं० श्रीरामकुमारजीके हस्तलिखित टिप्पण जो स्वर्गीय पुरुषोत्तमदत्तजीसे प्राप्त हुए थे।
तैत्ति० (तै०)	२।४ तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली २ अनुवाक ४
दीनजी	लाला भगवानदीनजी (स्वर्गीय)
दो०	दोहावली; दोहा;
नं० प०, श्रीनंगे परमहंसजी	बाबा श्रीअवधबिहारीदास, बाँध गुफा, प्रयाग।
ना० प्र०	नागरीप्रचारिणी-सभाका मूलपाठ
नोट	इससे जहाँ किसीका नाम कोष्ठकमें नहीं है वह टिप्पण प्रायः सम्पादकीय है।
प० प० प्र०	श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजी
पं०, पंजाबीजी	श्रीसंतसिंह पंजाबीजीके 'भावप्रकाश' टीकाके भाव।
प० पु०	पद्मपुराण
पाँ०, पांडेजी	मुं० रोशनलालकी टीका जिसमें पं० श्रीरामबख्श पाण्डेजीके भाव हैं।
पू०	पूर्वार्ध; पूर्व
प्र० रा०	प्रसन्नराघव नाटक
प्र० सं०	मानस-पीयूषका प्रथम संस्करण (१९२३-१९३४)
प्रा० सू०	प्राकृत सूत्र
बं० पा०	श्रीवन्दन पाठकजीके हस्तलिखित टिप्पण
बा० ३; १।३	बालकाण्ड दोहा ३ या उसकी चौपाई।
बाहुक	श्रीहनुमानबाहुक
वि०, विनय	विनयपत्रिकाका पद
वै० सं०	वैराग्यसंदीपनी
बृह० आ० बृह०	बृ०—बृहदारण्यक
ब्रह्म० वै० पु०	ब्रह्मवैवर्तपुराण
भक्तमाल	श्रीनाभास्वामीरचित भक्तमाल
भ० गु० द०	भगवद्गुणदर्पण(वैजनाथजीकी टीकासे)
भा० ९।१०	श्रीमद्भागवत स्कन्ध ९ अध्याय १०
भा० दा०	श्रीभागवतदासजीकी हस्तलिखित पोथी

संकेताक्षर	विवरण
भक्तिरसबोधिनी	भक्तमालकी टीका श्रीप्रियादासजी कृत
मं०	मङ्गलाचरण
मं० श्लो०	मङ्गलाचरण श्लोक
मनु०	मनुस्मृति
मा० क०	मानस-कल्लोलिनी
मयंक, मा० म०, मयूख	मानस-मयंककी टीका श्रीइन्द्रदेव-नारायणसिंहकृत
मा० श०	श्रीमन्मानसशंकावली श्रीमहादेवदत्तकृत
मा० सं०	मानस-पीयूषका सम्पादक
मा० हं०	श्रीयादवशंकरजी रिटायर्ड सबजजकृत तुलसी-रहस्य 'मानसहंस'
मुण्डक १।२।१२	मुण्डकोपनिषद् प्रथम मुण्डक द्वितीय खण्ड, द्वादश मन्त्र
यजु० ३१।१९।१	यजुर्वेदसंहिता अध्याय ३१ कण्डिका १९ मन्त्र १
(पं०) रा० गु० द्वि०	पं० रामगुलाम द्विवेदीका गुटका (१९४५ ई० का छपा)
रा० च० मि०	श्रीरामचरण मिश्रजी भयसरी (हमीरपुर)
रा० ता०	श्रीरामतापनीयोपनिषद्
पं० रा० व० श०	पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी (श्रीजानकीघाट, श्रीअयोध्याजी)
रा० प्र०	रामायणपरिचर्यापरिशिष्टप्रकाश
रा० शं० श, रा० शं०	श्रीरामशंकरशरणजी
रा० बा० दा०	बाबा रामबालकदासजी रामायणी
श्रीरूपकलाजी	वैष्णवरत्न अखिल भारतीय श्रीहरिनाम-यशसंकीर्तनसम्मेलनके संचालक, भक्तमाल तथा भक्तिरसबोधिनी टीकाके प्रसिद्ध टीका-कार अनन्त श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसादजी।
लं० १०३, ७।१०३	लंकाकाण्ड दोहा १०३ या उसकी चौपाई
वाल्मी०	वाल्मीकीय रामायण
वि० टी०	श्रीविनायकरावकृत विनायकी टीका
वि० त्रि०	पं० विजयानन्दजी त्रिपाठी
वि० पु० ६।५	विष्णुपुराण अंश ६ अध्याय ५
वि० सा० रा०	विश्वसाहित्यमें रामचरितमानस (श्रीलमगोड़ाजी)
वी०, वीरकवि	पं० महावीरप्रसादमालवीयकी टीका
वे० भू०	वेदान्तभूषण पं० श्रीरामकुमारदास (श्रीअयोध्याजी)

संकेताक्षर	विवरण
वै०	श्रीवैजनाथदासकृत 'मानसभूषण' तिलक
श० सा०	नागरीप्रचारिणीसभाद्वारा प्रकाशित हिन्दी शब्दोंका कोष प्रथम संस्करण
शीला, शिला०	बाबा हरिदासजीकी टीका 'शीलावृत्त'
श्लो०	श्लोक
श्वे०, श्वे० श्व०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
सं०	संहिता, संवत्, संस्कृत
स०	सर्ग
सत्यो०	सत्योपाख्यान
सि० ति०	'सिद्धान्ततिलक' नामकी टीका जिसे पं० श्रीकान्तशरणसे लिखवाकर श्रीराम-लोचनशरणजीने पुस्तकभण्डार लहरियासराय व पटनासे प्रकाशित किया, जिसका छपना तथा प्रकाशन जुलाई १९४७ से तथा पटना हाईकोर्टके ११ मई १९५१ के एवं डिस्ट्रिक्ट जज फैंजाबादके फैसलेसे जुर्म करार दिया गया है।
सु० १०; ५।१०	सुन्दरकाण्ड दोहा १० या उसकी चौपाई
सु० र० भा०	सुभाषितरत्नभाण्डागार
हनु०, हनु० ना०	श्रीहनुमन्नाटक
१६६१, १७०४, १७२१, १७६२	इन-इन संवतोंकी हस्तलिखित प्रतियोंका पाठ
[] ()	कोष्ठकान्तर्गत लेख प्रायः सम्पादकीय हैं जहाँ किसीका नाम नहीं है।

स्मरण रहे कि—(१) बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, लंका और उत्तरकाण्डोंके लिये क्रमसे १, २, ३, ४, ५, ६ और ७ सूचक अङ्क दिये गये हैं।

(२) किसी भी काण्डकी टीकामें जब उसी काण्डका उद्धरण उदाहरणमें दिया गया है तो प्रायः उस काण्डका सांकेतिक चिह्न (बा०, अ०, अ० आदि वा १, २, ३ आदि) न देकर हमने केवल दोहे-चौपाईकी संख्यामात्र दे दी है। जैसे उत्तरकाण्डमें ११०।५ का तात्पर्य है उत्तरकाण्डके दोहा ११० की चौपाई ५। बालकाण्डमें ३३। २=बालकाण्डके दोहा ३३ की चौपाई २। इत्यादि।

(३) प्रत्येक पृष्ठके ऊपर दोहा और उसकी चौपाइयोंका नंबर दिया गया है। जिससे पाठकको देखते ही विदित हो जाय कि उस पृष्ठमें उन चौपाईयोंकी व्याख्या है।

काण्डमें आये हुए कुछ ग्रन्थोंके नाम

अमरकोश

अमरविवेक टीका

अष्टावक्र

आह्निक-सूत्रावली

उत्तररामचरित

उपनिषद्:—ईशावास्य०, कठ०, केन, छान्दोग्य, गर्भ, तैत्तिरीय, प्रश्न, बृहदारण्यक, माण्डूक्य, मुण्डक, श्रीरामतापनी, शिशु, श्वेताश्वतर, सुवाल०, त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद्, रामरहस्योपनिषद्

कवितावली

कोश—अमर, चन्द्रकोश, हिन्दी विश्वकोश, हिंदी शब्दसागर, हैमकोश, हारावलीकोश।

गीतारहस्य (श्रीबालगंगाधर तिलक)।

गीतावली

चन्द्रालोक

चन्द्रकान्त

जिज्ञासा पंचक

दोहावली

धर्मसारसंग्रह (श्रीगौड़जी)

नारदभक्तिसूत्र

न्याय

पंचरात्र

पाराशरस्मृति

पुराण—पद्म, ब्रह्म, ब्रह्मवैवर्त, ब्रह्माण्ड, नृसिंह, श्रीमद्भागवत, मत्स्य, महाभारत, विष्णु, स्कन्द।

प्रसन्नराघव नाटक

प्रबोधचन्द्र नाटक

प्राकृत सूत्र

बरवै

वैराग्यसंदीपनी

विनयपत्रिका

ब्रह्मसूत्र

भक्तमाल (श्रीनाभाजी)

भगवद्गुणदर्पण

भक्तिरसबोधिनी टीका (श्रीप्रियादासजी)

भक्ति-विजय

भर्तृहरिशतक

भोजप्रबन्धसार

मंगलविधान

मनुस्मृति

मानसमणि

मानस-मयंक

माधवनिदान

मानस-तत्त्व-प्रकाश

मानसकल्लोलिनी

मानस-भूमिका (श्रीगौड़जी)

मानस-रहस्य (सरदार कवि)

माधुर्य केलिकादम्बिनी

याज्ञवल्क्यस्मृति

(श्री) युगलानन्यशरणजीकी जीवनी श्रीभगवानसहायजी-लिखित

योगवासिष्ठ

योगसूत्र

रघुवंश

रत्नमाला

रहस्यत्रय (अग्रस्वामी)

रामचन्द्रिका

(श्री) रामचरित-पुष्पाञ्जलि

रामस्तवराज

श्रीमद्रामप्रसाद-ग्रन्थमाला

रामार्चनचन्द्रिका

रामायण—अध्यात्म, आनन्द, अद्भुत,

महारामायण, वाल्मीकीय इत्यादि।
रूपमाला अव्ययार्थ भाग
बासन्तराज
विश्वसाहित्यमें रामचरितमानस
विष्णुपुराण
विष्णुसहस्रनाम
विज्ञान (मासिक पत्रिका)
शतश्लोकी
शिवसंहिता
श्रीमद्भगवद्गीता—श्रीशांकरभाष्य
,, ,, श्रीरामानुजभाष्य
श्रीमद्भागवत श्रीधरी टीका

श्रीरामचरितमानसकी कुछ टीकाएँ—श्री १०८ रामचरणदास करुणासिंधुकृत; श्रीसंतसिंहजी पंजाबी ज्ञानीकृत; मुं० रोशनलालजीकृत (श्रीरामवख्श पाण्डेजीकी); श्रीबैजनाथदासजीकृत; श्रीरामायण-परिचर्या, परिशिष्ट, प्रकाश; बाबा हरिदासजीकृत शीलावृत्त, विनायकी टीका, पं० महावीरप्रसाद मालवीयकृत बाबू श्यामसुन्दरदासकृत, मानसांक सिद्धान्ततिलक।

श्रीरामाज्ञाप्रश्न
सत्योपाख्यान
साधनपंचक स्तोत्र
हनुमानबाहुक
हनुमन्नाटक

☞ पं० रामकुमारजीके टिप्पण, श्रीरामदास गौड़जी, श्रीलाला भगवानदीनजी, श्रीरामशङ्कर शरणजी, श्रीरामचरण मिश्रजी, वेदान्तशिरोमणि श्रीरामानुजाचार्यजी, (स्वामी श्रीप्रज्ञानानन्द सरस्वतीजी तथा पं० श्रीविजयानन्द त्रिपाठीके टिप्पण जो इन्होंने मानस-पीयूषमें छपनेको दिये), तथा अन्य कतिपय लोगोंके अप्रकाशित टिप्पण जो उनके नामसे दिये गये हैं, वे सब किसी टीका आदिके नहीं हैं, रुपयेमें बारह आना अप्रकाशित टिप्पण ही हैं जो प्रेमियोंकी सेवामें इस तिलकद्वारा उपस्थित किये गये हैं। इन सबोंका सर्वाधिकार सुरक्षित है।

* श्रीगुरवे नम:*

उत्तरकाण्डके कुछ शब्दों और काममें आनेवाले विषयोंकी अनुक्रमणिका

श्रीगुरवे नमः श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः, श्रीहनुमते नमः, श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासाय नमः, श्रीभरद्वाजाय नमः, श्रीयाज्ञवल्क्याय नमः, साम्बशिवाय नमः, श्रीगरुडाय नमः, श्रीभुशुण्डिचरणकमलेभ्यो नमः।

श्रावण शुक्ला सप्तमी सं० २०१३

गुरु-वन्दन

धाइ धरे गुर चरन सरोरुह। अनुज सहित अति पुलक तनोरुह॥
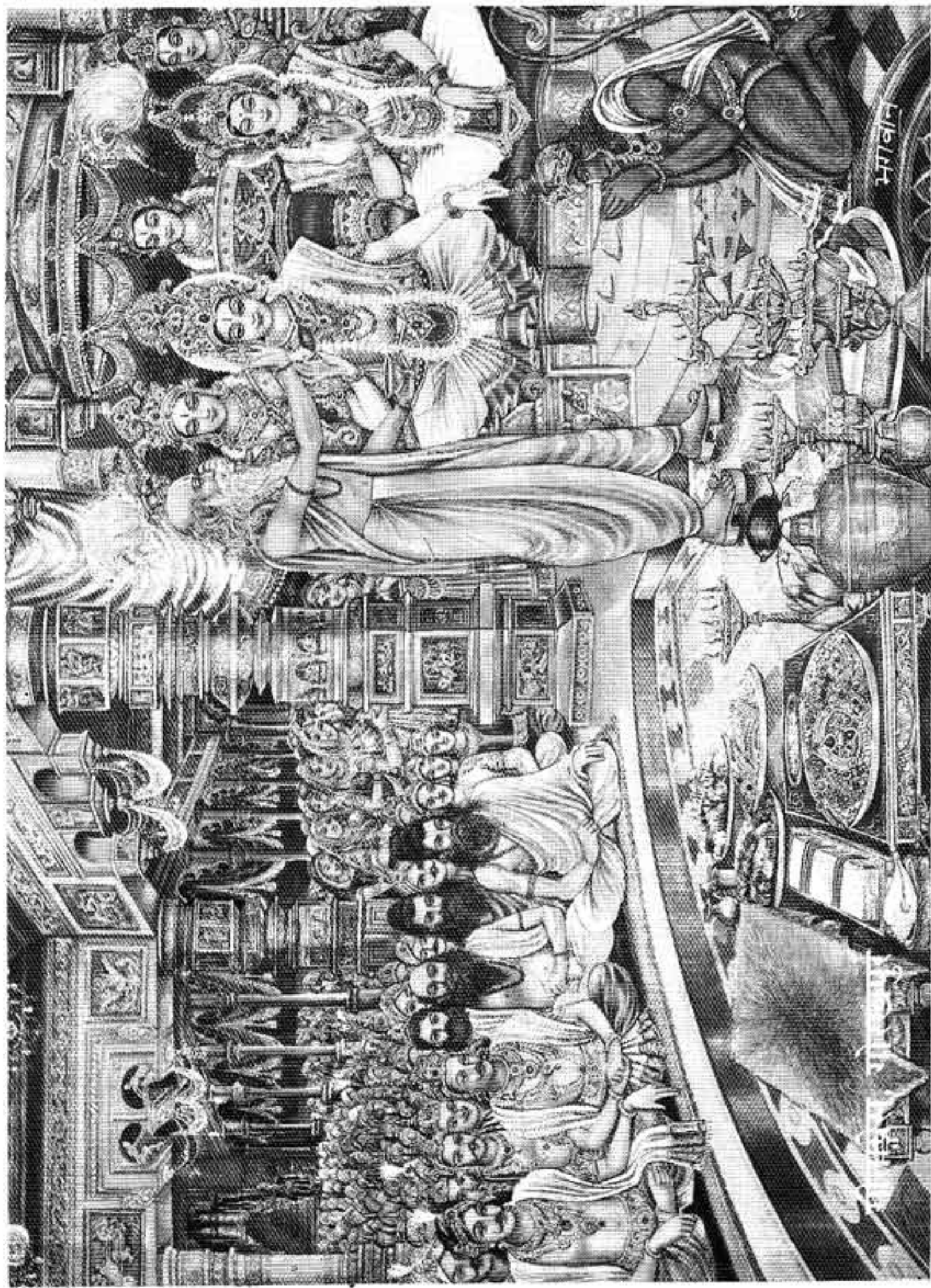
भगवान् श्रीरामका राज्याभिषेक

* श्रीः *

ॐ नमो भगवते श्रीमते रामानन्दाचार्याय।

श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये श्रीमते रामचन्द्राय नमः।

ॐ नमो भगवत्या अस्मदाचार्यायै श्रीरूपकलादेव्यै।

श्रीसद्गुरुभगवच्चरणकमलेभ्यो नमः।

ॐ नमो भगवते मङ्गलमूर्तये कृपानिधये गुरवे मर्कटाय श्रीरामदूताय सर्वविघ्नविनाशकाय क्षमामन्दिराय शरणागतवत्सलाय श्रीसीतारामपदप्रेमपराभक्तिप्रदाय सर्वसंकटनिवारणाय श्रीहनुमते।

ॐ साम्बशिवाय नमः। श्रीगणेशाय नमः। श्रीसरस्वत्यै नमः।

परमाचार्य्याय श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासाय नमः।

श्रीरामचरितमानसाखिलटीकाकर्तृभ्यो नमः।

श्रीमानसपीयूषान्तर्गतनानाविधभावाधारग्रन्थकर्तृभ्यो नमः।

श्रीमानसपीयूषान्तर्गतनानाविधभावसूचकमहात्मभ्यो नमः।

सुप्रसिद्धमानसपण्डितवर्यश्रीसाकेतवासिश्रीरामकुमारचरणकमलेभ्यो नमः।

श्रीजानकीवल्लभो विजयते

अथ श्री

मानस-पीयूष

श्रीरामचरितमानस सप्तम सोपान

(उत्तरकाण्ड)

श्रीगणेशाय नमः

॥ श्रीजानकीवल्लभो विजयते॥

श्लोक—

केकीकण्ठाभनीलं सुरवरविलसद्विप्रपादाब्जचिह्नं* शोभाढ्यं पीतवस्त्रं सरसिजनयनं सर्वदा सुप्रसन्नम्।
पाणौ नाराचचापं कपिनिकरयुतं बन्धुना सेव्यमानं नौमीड्यं जानकीशं रघुवरमनिशं पुष्पकारूढरामम्॥ १॥

शब्दार्थ—**केकीकण्ठाभनीलम्**=केकी+कण्ठ+आभ+नीलम्। (सं०—केकिन्। संज्ञा पुँल्लिङ्ग)=मोर, मयूर। **आभ (सं० आभा)**=कान्ति। **विलसद्विप्रपादाब्जचिह्नम्**=विलसत्+विप्र+पाद+अब्ज+चिह्न। **विलसत्**=शोभा पाता है। **अब्ज**=जलसे उत्पन्न, कमल। **शोभाढ्यम्**=शोभा+आढ्यम्। **आढ्य**=सम्पन्न, पूर्ण, युक्त। पीतवस्त्र—'पीताम्बर' भी भगवान्‌का एक नाम है।=पीताम्बर धारण करनेवाले। **सरसिज**=तालाबमें होनेवाला अर्थात् कमल। **सर्वदा**=सदैव, हमेशा। **सुप्रसन्न**=सु+प्रसन्न=अत्यन्त. प्रसन्न।

☞ 'सु' उपसर्ग जिस शब्दके साथ लगता है, उसमें श्रेष्ठ, अत्यन्त, उत्तम, बढ़िया, सुन्दर आदिका भाव आ जाता है। **पाणौ**=दोनों हाथोंमें। **पाणि**=हाथ। नाराच—यह एक बाण विशेषका नाम है, यह सारा

---

* उरवर—(का०)। सुरवर—(रा० गु० द्वि०, भा० दा०)

'उरवर' पाठ दूषित कहा जाता है। दोष यह बताया जाता है कि एक तो उरस् शब्द सान्त है। दूसरे शुद्ध रूप रखनेसे छन्दके गणमें नुक्स पड़ जाता है—(रा० च० मिश्र)। रा० प्र० में 'उर' ही की पुष्टि की है। गौड़जी कहते हैं कि 'सुरवर' पाठ अधिक समीचीन है। विप्रचरणचिह्न इतना प्रसिद्ध है कि उसके लिये उरस् देशका निर्देश अनावश्यक है। 'सुरवर' कहनेसे उसके बाद ही 'चरण-चिह्न' की चर्चा वरेण्यताके कारणका परिचायक होता है, अतः 'सुरवर' के अर्थका पोषक है।

लोहेका होता है और इसमें पाँच पङ्ख लगे होते हैं इसका चलाना बहुत कठिन होता है। शर और नाराचमें भेद यह है कि शरमें चार ही पङ्ख होते हैं और इसमें पाँच। विशेष ६। ७९। ९ देखिये। **बन्धुना**=छोटे भाईसे। बन्धु=जो सदा साथ या सहायक रहे, भाई। **सेव्यमानम्**=सेवा किये गये। **नौमीड्यम्**=नौमि+ईड्य=स्तुति योग्य यथा—'**नौमीड्यं गिरिजापतिं गुणनिधिं**............' (लं० मं० श्लो०)। **ईडा**=स्तुति, प्रशंसा। **रघुवरमनिशम्**=रघुवरम्, अनिशम्। **अनिश**=निरन्तर, लगातार, अहर्निश, अविश्रान्त, अनवरत, नित्य। **अनिश**=अ+निशा=नहीं है रात्रि जहाँ। भाव कि रात्रिमें विश्राम होता है, सारे जगत्‌के कार्य बंद होते हैं पर यहाँ यह बात नहीं है। यहाँ रात्रिमें भी दिनके सदृश कार्य चलता रहता है मानो रात्रि हुई ही नहीं। **पुष्पकारूढ**=पुष्पक+आरूढ=पुष्पकपर चढ़े हुए। पुष्पक विमान हंसकी जोड़ीके आकारका एक दिव्य विमान है—लं० ११८ (४) (६) में देखिये।

अर्थ—मोरके कण्ठकी आभाके समान श्याम (वर्ण), देवताओंमें श्रेष्ठ, विप्र-(भृगुजी-) के चरणकमलके चिह्नसे सुशोभित (अर्थात् वक्ष:स्थलपर भृगुलता धारण करनेवाले), शोभासे परिपूर्ण, पीताम्बर धारण किये हुए, कमलसमान नेत्रवाले, सदैव अत्यन्त प्रसन्न, दोनों हाथोंमें नाराच-बाण और धनुष (अर्थात् दाहिने हाथमें बाण और बायेंमें धनुष) धारण किये हुए, वानर-समूहसहित, भाई लक्ष्मणजीसे सेवित, स्तुति किये जाने योग्य, श्रीजानकीजीके पति, रघुकुलश्रेष्ठ, पुष्पक विमानपर सवार श्रीरामचन्द्रजीको मैं निरन्तर नमस्कार करता हूँ।*

☞ यह पुष्पकपर सवार श्रीरघुनाथजीका ध्यान है। क्योंकि विमानपर प्रभु आ रहे हैं, अभी श्रीअयोध्याजी पहुँचे नहीं हैं और अगले श्लोकमें ***'कोशलेन्द्र'*** पद देकर राजसिंहासनासीन होना सूचित किया है।

यहाँ काण्डका आरम्भ मगणगणसे हुआ है, पृथ्वी जिसका देवता और जो श्रीका देनेवाला है। इस काण्डमें राज्याभिषेक और श्रीपति होना जना दिया।

नोट—'**केकीकण्ठाभनीलम्**' इति। (क) ***'केकिकंठ दुति स्यामल अंगा।*** (१। ३१६। १) देखिये। (ख) केकीकण्ठ अशुद्ध कहा जाता है। संस्कृत व्याकरणसे यहाँ समास होकर '**केकिकण्ठाभनीलम्**' होना चाहिये। इस दीर्घका समाधान कोई तो इस प्रकार करते हैं कि यह '**स्रग्धरावृत्त**' का श्लोक है। स्रग्धरावृत्तका प्रथम गण 'मगणगण' है। अत: मगणगणके अनुरोधसे इकारको दीर्घ कर दिया, जिसमें छन्दोभङ्ग न हो। पिछले काण्डोंमें भी कविने मगणगणहीसे मङ्गल किया है। अत: वह दोष नहीं है। (प्र० सं०)। कोई कहते हैं कि यह आर्षप्रयोग है। जैसे गीताके '**हे कृष्ण हे यादव हे सखेति**' का '**हे सखेति**' और वाल्मीकीयका '**पतिना वानरेन्द्रेण**' अशुद्ध है पर वे आर्षप्रयोग माने जाते हैं। ये लोग व्याकरणके गुलाम नहीं हैं। वैसे ही '**केकीकण्ठ**' को आर्षप्रयोग समझना चाहिये। वे० भू० जी कहते हैं कि अनन्त श्रीमधुराचार्यप्रणीता ***'माधुर्यकेलिकादम्बिनी'*** में भी '**तां वन्देन्दुकलां परां सुरसिकाचार्यां तु सीतासखीम्**'।'(१०) अशुद्ध है, वह भी आर्षप्रयोग है। पर यह श्लोक असली हस्तलिखित प्रतिमें नहीं है, किसीने यह श्लोक गढ़कर उसमें छपा दिया है। अत: यह प्रमाण नहीं माना जा सकता। गीतावाला श्लोक जिस दशामें उच्चरित हुआ है वह उस दोषका परिहार है। कोई कहते हैं कि छन्दकी दृष्टिसे ऐसा करनेका नियम है। यथा— '**अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं न कारयेत्।**'

कोई कहते हैं कि '**अन्येषामपि दृश्यते**' इस सूत्रसे इसका समाधान हो जाता है, क्योंकि कण्ठके साथ षष्ठीतत्पुरुष समास है। पर अन्य विद्वान् इस समाधानको पुष्ट नहीं मानते हैं। (प्र० सं०)

पं० विजयानंदत्रिपाठीजी कहते हैं कि संस्कृतव्याकरणसे '**केकि**.......' होना चाहिये, पर प्राकृतव्याकरणका विस्तार बड़ा भारी है। उसमें तत्समरूपसे शुद्ध संस्कृतरूपका भी ग्रहण है, तद्भवरूपसे विकृत प्रयोगका भी ग्रहण है (जिसके नियमानुसार ऐसे प्रयोग बनते हैं)। देशोद्भवरूपसे अनेक देशोंकी भाषाओंका भी ग्रहण है। गोस्वामीजीकी भाषाबद्ध करनेकी प्रतिज्ञा है। 'भाषा' शब्दसे उन्होंने प्राकृतका ग्रहण किया है।

---

* यहाँ 'भिन्नधर्मा मालोपमा' अलंकार है। यहाँ एक ही उपमेयके बहुत-से उपमान कहे गये हैं। और जितने उपमान आये हैं उन सबके पृथक्-पृथक् धर्मोंके वास्ते उपमा दी गयी है। यह 'स्रग्धरावृत्त' का छन्द है। विशेष लं० मं० श्लो० १ में देखिये।

यथा—'*जे प्राकृत कबि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने॥*' अतः उनका सम्पूर्ण ग्रन्थ प्राकृतके नियमोंसे शासित है। प्राकृत व्याकरणका नियम है कि '**इह छन्दानुरोधेन वर्णानां गुरुलाघवम्**' अतः '**केकिकण्ठाभनीलम्**' को '**केकीकण्ठाभनीलम्**' लिखना प्राकृतव्याकरणानुमोदित है।

(ग) '**केकीकण्ठाभ**' भी उपमा देनेका कारण यह कहा जाता है कि 'प्रभु इस समय विमानपर हैं जिसका आकार मयूरका है। श्रीरघुनाथजीकी द्युतिसे विमानका कण्ठ भी द्युतिमान है और विमानका प्रतिबिम्ब द्युतिसंयुक्त श्रीरघुनाथजीके तनमें जाकर पड़ा है जिसके संयोगसे महाराजकी द्युति भी केकीकण्ठवत् भासती है। अतः मोरके कण्ठकी उपमा दी। पुनः, मोर आकाशगामी है और बहुत ऊँचा नहीं उड़ता, प्रभु भी इस समय आकाशमार्गसे चले आ रहे हैं और विमान भी बहुत ऊपर नहीं है। अतएव मोरसे रूपक दिया। पुनः, अन्य काण्डोंमें श्यामताकी उपमा नीलजलज, जलद तथा नीलमणि आदिसे दी है। वे सब जड़ हैं, उनका सुख दूसरोंको होता है, उनको स्वयं सुख नहीं होता। इस काण्डमें मोरकी उपमा दी गयी जो चेतन है। मोरको स्वयं भी उस आभाका सुख होता है और देखनेवालेको भी। (मा० शं०) [नोट—बालकाण्डमें भी 'केकिकण्ठाभ' की उपमा दी गयी है। यथा—'*केकि कंठ दुति स्यामल अंगा।*' (१। ३१६। १) वहाँ दूलहरूपका छबिका ध्यान है। वहाँपर घोड़ेपर सवारी है और '*बर बरहि नचाव*' यह उत्प्रेक्षा भी की गयी है।]

२ (क) '*सुरवर*' का भाव कि आप मनुष्य नहीं हैं, आप तो ब्रह्मादि ईश्वरों तथा देवताओंके भी स्वामी हैं तथा परमदिव्य हैं। यथा—'*चिदानंदमय देह तुम्हारी।*' आप सबसे श्रेष्ठ और सबके रक्षक हैं, यथा—'*दीनबंधु दयाल रघुराया। देव कीन्हि देवन्ह पर दाया॥*' (६। १०९। ३), '*जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो॥*' (६। १०९। ८) भगवान् शंकरने आपको इसी काण्डमें 'सुरेश' कहा है, यथा—'*अवधेस सुरेस रमेस बिभो। सरनागत माँगत पाहि प्रभो॥*' (१४ छंद २) और लं० मं० में भी यथा—'**मायातीतं सुरेशं........देवमुर्वीश रूपम्।**' पुनः, 'सुरवर' कहकर '**विलसद्विप्रपादाब्जचिह्न**' कहनेसे यह भी भाव प्रकट किया कि भृगुलताको वक्षःस्थलपर धारण करके आप सब देवताओंसे श्रेष्ठ हुए। इससे देवताओंको भृगुजीद्वारा परीक्षा और भगवान् विष्णुका सर्वश्रेष्ठ होना भी सूचित कर दिया। '*बिप्रचरन देखत मन लोभा।*' (१। १९९। ६) में कथा दी गयी है। (ख) '**विलसत्**' का भाव कि इसे देख मन मोहित हो जाता है, यथा—'*बिप्रचरन देखत मन लोभा।*' (१। १९९। ६), '*उर धरासुर पद लस्यो।*' (६। ८५), (ग) '**विप्रपादाब्ज**' इति। भृगुजीके पदको कमलकी उपमा दी, कठोर न कहा; क्योंकि भगवान्ने उनके चरणके आघातको सहकर उलटे उनका चरण दाबा और कहा कि हमारे कठोर वक्षःस्थलपर लगनेसे इस कमल-समान चरणमें बड़ी पीड़ा हो गयी होगी। पुनः, '**विपपादाब्जचिह्नम्**' से ब्रह्मण्यदेव जनाया, यथा—'*प्रभु ब्रह्मण्यदेव मैं जाना*' (विश्वामित्रवचन)। पुनः, (ङ) '**विलसद्विप्रपादाब्जचिह्नम्**' कहकर आपके अङ्गों तथा हृदयकी असीम कोमलता दिखायी है कि वह चरण आपके वक्षःस्थलपर ऐसा उपट आया कि आजतक उसका चिह्न बना है। यथा—'*उर बिसाल भृगुचरन चारु अति सूचति कोमलताई।*' (वि० ६२), इस चिह्नके धारण करनेसे आपके क्षमा, सौलभ्य और सौशील्य आदि गुण दर्शित होते हैं। ठीक ही है, जहाँ '*कवच अभेद बिप्र गुरु पूजा*' है वहाँ उनके पादाब्जचिह्न धारण करनेकी क्या कहिये। (च) श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि 'विप्रपादाब्जचिह्न' भगवान् विष्णुके वक्षःस्थलपर है। प्रभु गुप्तरूपसे अवतरे हैं (यथा '*गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गए जान सबु कोइ।*' (१। ४८), इससे भृगुलता धारण किये हैं, जिसमें लोग उन्हें विष्णु ही समझें। बाल, रण और राज्य तीनों लीलाओंमें विप्रपदका वर्णन है। यथा—'*बिप्र चरन देखत मन लोभा।*' (१। १९९), '*भुजदंड पीन मनोहरायत उर धरासुर पद लस्यो।*' (६। ८५) और यहाँ '**विप्रपादाब्जचिह्नम्**'। एवं करुण, वीर और शृङ्गार तीनों रसोंमें इसका वर्णन है। और पं० रामचरणमिश्रजीका मत है कि 'इस चिह्नको धारण करके अपनेमें और विष्णु-नारायणादि-रूपोंमें अभेद जनाया। अथवा, इससे श्रीरामजीकी कोमलताकी शोभा जनायी है, इससे आगे '**शोभाढ्यम्**' कहा।

गौड़जी कहते हैं कि—ब्राह्मणके चरण-चिह्नको वक्षःस्थलपर विराजमान दिखानेके दो अभिप्राय हैं। वाल्मीकीय रामायणमें श्रीजीकी अग्नि-परीक्षाके समय ब्रह्मादि आकर कहते हैं कि आप तो साक्षात् 'नारायण' हैं, परीक्षा क्यों लेते हैं। उस प्रसंगसे नारायणावतारकी सूचना हुई। यहाँ उसी 'विचित्र कथा-प्रबन्धकी' ओर इशारा है। फिर ब्राह्मण रावणको सीताहरणपर दण्ड दिया है, सो भागवतापराधपर, क्योंकि यदि रावणने स्वयं भगवान्‌का अपराध किया होता तो उसी तरह सह लेते जैसे भृगुकी लात सही।

३ (क) **'शोभाढ्यम्, पीतवस्त्रम्'** इससे शरीरको सर्वशोभासम्पन्न जनाया और उसपर पीताम्बरकी छटा भी दिखायी। यथा—*'तड़ित बिनिंदक बसन सुरंगा।'* (१। ३१६। १), ***'बिमल पीत दुकूल दामिनि दुति बिनिंदनिहारु। बदन सुषमासदन सोभित मदन मोह निहारु॥*** (गी० ७। ८), ***'पीत निर्मल चैल मनहुँ मरकत सैल, पृथुल दामिनि रही छाइ तजि सहज ही॥*** (गी० ७। ६), यहाँ 'पीत वस्त्र' से पीत वल्कल वस्त्र सूचित किये क्योंकि अभी पुष्पकारूढ़ वनवासी तपस्वी वेषमें हैं। अरण्यकाण्डमें जैसे **'पीताम्बरं सुन्दरम्'** कहा है वैसे ही यहाँ **'शोभाढ्यं पीतवस्त्रम्'** कहा है। (ख) **'सरसिजनयनम्'** से कमलदलके समान लंबे और करुणायुक्त नेत्र जनाये। श्रीरामजीके नेत्र कानोंतक लंबे हैं। यथा—**'कर्णान्तदीर्घनयनं नयनाभिरामम्'॥** (स्तोत्र), **'राजीवायतलोचनम्।'** (आ० मं० श्लो० २) इसी तरह श्रीसीताजीके भी नेत्र हैं। यथा— **'आकर्णयाकर्णविशालनेत्रे।'** (हनु० १०। ७) (ग) **'सर्वदा सुप्रसन्नम्'** इति। पिताने राज्य सुनाकर वन दिया तब भी आपके हृदयमें ह्रास न हुआ, आप प्रसन्न ही बने रहे। यथा—***'राज सुनाइ दीन्ह बनबासू। सुनि मन भयउ न हरष हरासू॥'*** (२। १६५) (श्रीदशरथवाक्य), ***'पितु आयसु भूषन बसन तात तजे रघुबीर। बिसमउ हरषु न हृदय कछु पहिरे बलकल चीर॥'*** (२। १४९) ***'मुख प्रसन्न मन रंग न रोषू। सब कर सब बिधि करि परितोषू॥'*** (श्रीकौसल्यावाक्य), ***'मन मुसुकाइ भानुकुलभानू। राम सहज आनंद निधानू॥'*** (२। ४१), ***'मुख प्रसन्न चित चौगुन चाऊ।'''''बन गवन सुनि उर अनंदु अधिकान॥'*** (२। ५१), **'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः'** (अ० मं०) यह तो हुआ एक उदाहरण वनवासके सम्बन्धमें, पर वे 'सर्वदा' अत्यन्त प्रसन्न रहते हैं, यहाँ यह कहकर जनाया कि ***'सहज आनंद निधान'*** हैं, उनका आनन्द सदा एकरस बना रहता है। इससे उनको ब्रह्म सूचित किया यथा—**'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।'** (तैत्ति० ३। ६), **'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्।'** (तैत्ति० २। ४), ***'जो आनंदसिंधु सुख रासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी॥ सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥'*** (१। १९७), पुनः **'सर्वदा सुप्रसन्नम्'** का भाव कि जीव भी आनन्दस्वरूप होता है, तथा ***'चेतन अमल सहज सुखरासी।'*** पर उसका आनन्द सदा एकरस नहीं रहता और श्रीरामजी सदा एकरस अखण्डानन्दरूप हैं। यथा—***'जय राम सदा सुखधाम हरे।'*** (६। ११०), (ब्रह्माकृत स्तुति)। बैजनाथजी लिखते हैं कि इससे जीवमात्रपर आपकी कृपा सूचित की। यथा—***'सब पर मोहि बराबरि दाया।'*** (७। ८७), ***'सानुकूल सब पर रहहि संतत कृपानिधान'*** (७। ३०),

पंजाबीजीका मत है कि ***'सरसिज नयन'*** कहकर 'सदा सुप्रसन्नम्' कहनेका भाव यह कि कमल सदा विकसित नहीं रहता पर आपका मुखारविन्द सदा दिन-रात प्रफुल्लित रहता है।

४ (क) **'पाणौ नाराचचापम्'** से जनके दुःखके हरण करनेकी आतुरता दिखायी कि इनको सदा धारण किये रहते हैं जिसमें भक्तके दुःखहरणमें किंचित् भी विलम्ब न हो। (ख) **'कपिनिकरयुतम्'** से सामर्थ्य दिखाया कि ऐसे चंचल पशुओंको भी आपने वशमें कर लिया है। (ग) **'बन्धुना सेव्यमानम्'** कहकर जनाया कि बड़े प्रेम और प्रसन्नतासे भाई सेवा करते हैं। यथा—***'सेवहिं सानुकूल सब भाई। राम चरन रति अति अधिकाई। प्रभु मुख कमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपाल हमहिं कछु कहहीं॥'*** (७। २५) और लक्ष्मणजी तो बालपनसे ही रामजीको ही अपना स्वामी जानते थे और सेवा करते थे, उसपर भी माताका उपदेश था कि श्रीरामजीकी ऐसी सेवा करना कि वे घर भूल जायँ। अतः **'बन्धुना सेव्यमानम्'** कहा। **'बन्धुना सेव्यमानम्'** से प्रभुका सौहार्दगुण कहा।

५ **'ईड्य'** का भाव कि ब्रह्मादि ही नहीं वरन् गुरु वसिष्ठ भी आपकी स्तुति इस काण्डमें करेंगे। **'जानकीशम्'** से जनक-ऐसे योगीकी कन्याके पति एवं ***'हरिहरहि हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता***

जो दई। सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई', यह जनाया। यह भी जनाया कि ये वही हैं जिनकी कृपासे जीव जागता है। यथा—*'जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव'* (वि०)। गौड़जीका मत है कि *'जानकीस'* से जनाया कि जानकीजी साथ हैं, नहीं तो रामं, रघुवरं काफी था।

श्रीवैजनाथजी—प्रथम श्लोक इष्टवन्दनात्मक मङ्गलाचरण है। इसमें किंचित् ऐश्वर्य दरसाते हुए माधुर्यकी शोभा वर्णन कर प्रणाम करते हैं। **'सुरवर', 'पीतवस्त्रम्'** (क्योंकि पीताम्बर आपका एक नाम ही है) **'कपिनिकरसेव्यमानम्'** (देवता ही वानररूपसे सेवा कर रहे हैं) और *'रघुवर'* से ऐश्वर्य दर्शित किया। **'केकीकण्ठाभनीलम्'** इत्यादि अन्य विशेषणोंसे माधुर्य दर्शित किया। *'राम'* अर्थात् सबके मनको अपनेमें रमानेवालेसे मोहनरूप दरसाया।

प० प० प्र०—१ यह काण्ड सप्तम सोपान है। बालकाण्ड मं० श्लोक ७ में बताया है कि **'स्वान्त:सुखाय'** ही श्रीरामचरितमानसके प्रयोजनका फल है (और इस काण्डकी समाप्तिपर भी **'स्वान्तस्तम: शान्तये'** से भी यह बात कही है) अत: बाल० मं० श्लो० ७ इस काण्डका प्रतिनिधि है।

यह फल किस प्रकार प्राप्त हो सकेगा यह इस काण्डके प्रथम श्लोकमें बताया है। अर्थात् इस श्लोकमें वर्णित श्रीरामरूपके ध्यान और चिन्तनसे तथा नमन और स्तुतिसे स्वान्त:सुख मिलेगा। दूसरे श्लोकमें उदाहरणरूपसे बड़े-बड़े लोगोंके नाम दिये हैं जिन्होंने स्वान्त:सुखके लिये ध्यानादि किये हैं।

इस काण्ड तथा इसके उपसंहारमें बताया है कि सभी लोगोंको स्वान्त:सुख (विश्राम) किस प्रकार मिला।

२—इस काण्डमें जितनी स्तुतियाँ हैं इतनी किसी भी काण्डमें नहीं हैं। बाल० में ६, अयो० में २, अरण्य० में ५, कि० में १, सुं० में १, लं० में ४ और इसमें ९ हैं।

मा० शं०—उत्तरकाण्ड नाम रखनेके कारण—१—' श्रीरघुनाथजी लंकासे श्रीअवधको उत्तर दिशामें आते हैं—*'मन महँ बिप्रचरन सिरु नायो। उत्तर दिसिहिं बिमान चलायो॥'* (६। ११८), अब सब चरित उत्तर दिशामें होंगे। २—श्रीअयोध्याजीके चरित्रके दो भाग किये। उसमेंसे राज्याभिषेककी तैयारीतक पूर्वचरित है, बीचमें वनगमन हुआ; अब भूभार उतारकर श्रीअवधमें आनेपर राज्याभिषेकके पश्चात् जो चरित्र है वह उत्तरचरित है जो इस काण्डमें वर्णन हुआ। ३—बालकाण्डसे लेकर लंकातकके दोहे, चौपाई इत्यादिमें जहाँ-जहाँ यथार्थ अभिप्राय स्पष्ट नहीं प्रकट होता उन-उन श्लोकोंका यथार्थ स्पष्टीकरण आचार्यने उत्तरकाण्डमें किया है जिससे जिज्ञासुके सब काण्डोंकी शंकाओंका उत्तर हो जाता है। अतएव उत्तरकाण्ड नाम रखा गया। उत्तरकाण्डकी शंकाओंका उत्तर उत्तरकाण्डमें ही है। पूर्वार्द्धमें ही प्राय: छहों काण्डोंकी शंकाओंका उत्तर आ जाता है। (मा० शं०)

[☞ पूर्व प्रतिज्ञा है कि *'मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई। तेहि मगु चलत सुगम मोहि भाई॥'* जिन-जिन मुनियोंने रामचरित कहा उन-उनने सातवें काण्डका यही नाम रखा]।

☞ यह भी स्मरण रहे कि रामचरितमानसमें काण्डोंके नाम प्रथम सोपान, द्वितीय सोपान इत्यादि हैं।

श्लोक—कोसलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ।
जानकीकरसरोजलालितौ चिन्तकस्य मनभृङ्गसङ्गिनौ* ॥ २ ॥

शब्दार्थ—**कोसलेन्द्र**=कोसला+इन्द्र। **कोसला**=कोसल देशकी राजधानी; अयोध्याजी। **कोसल**=सरयूजीके दोनों तटोंका देश कोसल कहलाता है। इसके सात खण्ड पुराणोंमें कहे गये हैं। **इन्द्र**=देवराज; श्रेष्ठ, शिरोमणि, स्वामी। **मञ्जुलौ**=दोनों सुन्दर। **कोमलावज**=कोमलौ+अज। **कोमलौ**=दोनों कमल-समान हैं। **अज**=ब्रह्मा। **अजमहेशवन्दितौ**=ब्रह्मा और महेश दोनोंसे वन्दित (वन्दन किये गये)। **लालितौ**=दोनोंसे लालन किये गये। **लालित**=अत्यन्त प्रेमपूर्वक दुलराये, आदर और प्यार किये गये। **चिन्तकस्य**=चिन्तकके। **चिन्तक**=चिन्तन, बार-बार स्मरण वा ध्यान करनेवाला। **सङ्गिनौ**=दोनों संगी (साथी)।

---

* यह 'रथोद्धतावृत्त' छंद है। इसके प्रत्येक चरणमें ११-११ अक्षर होते हैं। स्वरूप यह है—रगण नगण रगण लघु गुरु (ऽ।ऽ, ।।।, ऽ।ऽ, ।, ऽ) अर्थात् पहिला, तीसरा, सातवाँ, नवाँ और ग्यारहवें वर्ण गुरु होते हैं।

अर्थ—कोसलपुरीके श्रेष्ठ स्वामी श्रीरामचन्द्रजीके दोनों सुन्दर और कोमल चरण-कमल ब्रह्माजी और शिवजी दोनोंसे वन्दित हैं—श्रीजानकीजीके करकमलोंसे अत्यन्त स्नेहसे दुलराये हुए हैं और चिन्तकोंके मनरूपी भौंरेके (सदा) साथी हैं। (अर्थात् ध्यान करनेवालोंका मन निरन्तर उन्हींमें लगा हुआ है। यह भाव ध्वनित है कि मेरा मन उन्हीं युगल चरण-कमलोंके ध्यानमें भौंरेकी तरह लगा रहे)॥ २॥

प्रथम श्लोकमें '**नौमि**' से नमस्कारात्मक मंगल जनाया। और इस श्लोकके आदिमें '**कोसलेन्द्र**' शब्द लेकर 'वस्तुनिर्देशात्मक मंगलाचरण' सूचित किया।

नोट—१ प्रथम श्लोकमें रूपका और इसमें चरणोंका मंगलाचरण किया। रूपका मंगलाचरण किया तब रूपकी वन्दना की, यथा—'**नौमीड्यं जानकीशं**……' और जब चरणोंका मंगलाचरण किया तब अन्तमें '**चिन्तकस्य मनभृङ्गसङ्गिनौ**' कहकर जनाया कि इनका चिन्तन करना चाहिये और इनका सदा लालन एवं वन्दन करना चाहिये, यही मैं करता हूँ। इसीसे '**वन्दितौ**', '**लालितौ**', '**मनभृङ्गसङ्गिनौ**' विशेषण दिये हैं। ☞ '***वन्दितौ***' से वन्दन, '**करसरोजलालितौ**' से सेवा ('भजन') और '**चिन्तकस्य मनभृङ्गसङ्गिनौ**' से चिन्तन-स्मरणके उपदेश मिलते हैं।

२—श्रीरघुनाथजी कोसलराज होकर ग्यारह हजार ग्यारह सौ ग्यारह वर्ष ११ मास ग्यारह दिन ११ घड़ी ११ पल राज्य करके फिर शीतल अमराईमें जाकर गुप्त हो जाते हैं अतः '**कोसलेन्द्रपद**' आदिमें देकर अन्तमें '**चिन्तकस्य मनभृङ्गसङ्गिनौ**' कहकर यह कथा जना दी (और उपदेश देते हैं) कि अब इनके चरण-कमलोंका मनमें ध्यान, वन्दन और प्यार करो। और इसीसे यहाँ प्रत्यक्ष प्रणाम करना नहीं कहते।

३—'**पदकञ्जमञ्जुलौ**' कहकर जनाया कि चरणचिह्नोंसहित इनका ध्यान वा चिन्तन करना चाहिये। इनमें अनुराग करनेसे सब सुख प्राप्त हो जाते हैं। यथा—'***रामचरन अभिराम कामप्रद तीरथराज बिराजै। संकर हृदय भगति भूतल पर प्रेम अछयबट भ्राजै॥ स्यामबरन पदपीठ अरुन तल लसति बिसद नख श्रेनी। जनु रबिसुता सारदा सुरसरि मिलि चली ललित त्रिबेनी॥ अंकुस कुलिस कमल धुज सुंदर भँवर तरंग बिलासा। मज्जहिं सुर सज्जन मुनिजनमन मुदित मनोहर बासा॥ बिनु बिराग जप जोग जाग ब्रत बिनु तपु बिनु तनु त्यागे। सब सुख सुलभ सद्य तुलसी प्रभुपद प्रयाग अनुरागे॥***' (गी० उ० १५) पुनः 'मंगल कहकर यह भी जनाया कि कमल सदा एकरस सुन्दर नहीं रहते पर ये सदा सुन्दर बने रहते हैं।'

☞ यहाँ उपसंहारकाण्डमें भगवान्‌के चरणकमलोंको '**मञ्जुल**' कहा है और बालकाण्ड मं० श्लो० ७ में '**तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबंध**' को '**अति मञ्जुल**' कहा है। इस भेदसे जनाया कि जैसे '***राम ते अधिक राम कर दासा***' और '***ब्रह्म राम ते नाम बड़***' है वैसे ही '***राम ते अधिक***' उनका चरित है। श्रीरामचरितमानसके श्रवण, कथन आदिसे श्रीरामजीके मञ्जुल पदकञ्ज '**चिन्तकस्य मनभृङ्गसङ्गिनौ**' हो सकते हैं यह सूचित किया। (प० प० प्र०) गीतावलीमें भी चरितकी महिमा ऐसी ही कही है। यथा—'***होइहैं सकल सुकृत सुखभाजन लोचन लाहु लुटैया। अनायास पाइहैं जनम फल तोतरे बचन सुनैया॥ भरत राम रिपुदवन लषन के चरित सरित अन्हवैया। तुलसी तब कैसे अजहुँ जानिबे रघुबर नगर बसैया॥***' (गी० १। ९) '***तुलसिदास अनुराग अवध आनंद अनुभवत तब को सो अजहुँ अघाई।***' (गी० १। २७) '***भूरि भाग तुलसी तेऊ जे सुनिहैं गाइहैं बखानिहैं।***' (गी० १। ७८)

४—'**कोमलौ**' इति। श्रीहनुमान्‌जीके हृदयपर इनकी कोमलता देखकर इनको पृथ्वीपर विचरते देख बड़ा धक्का लगा। उनसे सहा न गया, वे पूछ ही बैठे '***कठिन भूमि कोमल पद गामी। कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी॥***' (कि० १। ८) और फिर उन्होंने पैदल न चलने दिया किंतु '***लिये दुऔ जन पीठि चढ़ाई।***' इनकी कोमलता ऐसी है कि श्रीजानकीजी अपने परम सुकुमार करकमलोंसे इनका लालन करती हुई डरती रहती हैं कि कहीं दुख न जायँ।

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि '**कोमल**' से अन्तःकरणकी कोमलता भी सूचित की है और यह आश्वासन दे रहे हैं कि कोसलेन्द्र शीघ्र द्रवीभूत होते हैं।

५—'**अजमहेशवन्दितौ**' यथा—'*देखे शिव बिधि बिष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका॥ बंदत चरन करत प्रभु सेवा॥*' (१। ५४) '**वन्दितौ**' में यह भी भाव है कि साक्षात् उन चरणोंकी सेवा उनको भी दुर्लभ है यद्यपि वे सेवाके लिये लालायित रहते हैं। अतः वे उनकी वन्दना किया करते हैं। पुनः '**अजमहेशवन्दितौ**' कहनेका भाव कि सृष्टिमें सबसे बड़े ये ही हैं, लोकमात्रके पूज्य हैं, जगद्गुरु हैं, जब ये ही कोसलेन्द्रपदकी वन्दना करते हैं, उन्हें माथा नवाते हैं तब भला इनको कौन न माथा नवायेगा? जो ऐसा न करें वे अभागे हैं यहाँ लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग है।

६—'**जानकीकरसरोजलालितौ**' इति। वनमें साथ जानेके लिये उन्होंने कहा ही था कि '*सम महि तृन तरु पल्लव डासी। पाय पलोटिहि सब निसि दासी॥*' (२। ६७। ५) पर वहाँ तो यह सेवा प्रायः श्रीलक्ष्मणजीने बँटा ली थी। राज्याभिषेक होनेके पश्चात् इनकी यह सेवा '*जानति कृपासिंधु प्रभुताई। सेवति चरन कमल मन लाई॥*' (२४। ४) तथा '*राम पदारबिंद रति करति सुभावहि खोइ।*' (२४) इन चौपाइयोंमें दरसा दी गयी है। इस पदसे जनाया कि श्रीजानकीजी जो '*उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदंबा संततमनिंदिता॥ जासु कृपाकटाच्छ सुर चाहत चितव न सोइ॥*.......' (२४) ऐसी महिमावाली हैं जब वे ही उनका भजन (सेवा) करती हैं तब भला उनका भजन कौन न करेगा। सभीको करना उचित है। यदि वे ऐसा नहीं करते तो अभागे हैं और समझना चाहिये कि कलिकालने उनको ठग लिया है।

७—'**चिन्तकस्य मनभृङ्गसङ्गिनौ**' से जनाया कि चिन्तक उनका चिन्तन इस प्रकार करते हैं जैसे भ्रमर कमलपर लुब्ध हो उसका साथ नहीं छोड़ता। यथा—'*पद राजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनि मन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं॥*' (१। १४८) वैसे ही तू अपने मनको उन चरणोंमें आसक्त कर दे।

रा० प्र०—कोई तो इस श्लोकको क्रियाहीन मानते हैं, कोई कहते हैं कि इसके चारों चरणोंसे चार क्रियाएँ—स्मरामि, वन्दे, भजामि और चिन्तयामि—निकलती हैं, उनको क्रमसे ऊपरसे लगाकर अर्थ करना चाहिये, चार क्रियाएँ होती हैं इससे केवल एकका लिखना उचित न जानकर कोई भी क्रिया न दी और कोई श्लोकके अन्तमें '**नौमि**' का अध्याहार करके अर्थ लगाते हैं।

गौड़जी—'होना' क्रिया यहाँ विवक्षित है। संस्कृतमें 'है' लिखनेकी आवश्यकता कम होती है। यहाँ लक्षणामूलक अगूढ़ व्यंग है।

रा० च० मिश्र—क्रियारहित श्लोकसे जनाया कि ये पद भी पुरुषार्थी-क्रियारहित हो गये। अबतक (बालसे लङ्काकाण्डतक) पुरुषार्थ करके दुःख सहकर दूसरोंको सुखी किया और अब इन पदोंके स्मरण भजनादिसे ही सब सुखी होंगे।

सीताजी—'*सेवत चरन कमल मन लाई*' सुग्रीवादि—'*सबके प्रभुपद प्रीति*'

भरतादि—'*रामचरन रति अति अधिकाई*' पुरजन—'*श्रीरघुबीर चरन रति चहहीं*'।

नोट—गोस्वामीजीने ग्रन्थके आदिमें जो श्रीरामजीका मङ्गलाचरण किया है उसमें 'पद' का वर्णन है—'**यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्**' और फिर इस अन्तिम सोपानमें पद-कमलका मङ्गलाचरण किया है। बीचमें कहीं नहीं। प्रारम्भमें बताया कि ये चरण ही एकमात्र भवतरणोपाय हैं और यहाँ अन्तमें भी वही बात कहते हैं, किस प्रकार ये चरण उपाय हैं उसको यहाँ इस 'क्रियारहित' श्लोकसे जनाया है कि इन्हींका स्मरण, इन्हींका वन्दन, इन्हींका भजन और चिन्तन करनेसे भवपार हो जाओगे। ये सब प्रकारसे निरुपाधि सुखदायी हैं।

गौड़जी—बालकाण्डमें पदोंकी ऐश्वर्यभावसे व्याजरूपसे ही वन्दना है। उनके माहात्म्यका वर्णन है। उत्तरकाण्डमें माधुर्यभावसे स्मरण, वन्दन, भजन और ध्यान है। ऐश्वर्यभावसे तो ध्यानद्वारा नमस्कार ही कर सकते हैं। माधुर्यभावसे भजन-सेवादिके अत्यन्त सान्निध्यका परम लाभ मिल सकता है।

यन्मूर्ध्नि मे श्रुतिशिरस्सु च भाति यस्मिन्नस्मन्मनोरथपथः सकलः समेति।
स्तोष्यामि नः कुलधनं कुलदैवतं तत् पादारविन्दमरविन्दविलोचनस्य॥

बालकाण्डके व्याजसे चरणवन्दनाके उपक्रमका यहाँ व्याजसे उपसंहार है।

श्लोक—कुन्दइन्दुदरगौरसुन्दरं अम्बिकापतिमभीष्टसिद्धिदम्*।
कारुणीककलकञ्जलोचनं नौमि शङ्करमनङ्गमोचनम्॥ ३॥

शब्दार्थ—**कुन्द**=जुहीका-सा एक पौधा जिसमें बड़ी मीठी सुगंधवाले श्वेत फूल आश्विनसे चैततक फूलते हैं। यहाँ कुन्दके फूलसे तात्पर्य है। **इन्दु**=चन्द्रमा। **दर**=शङ्ख। **अम्बिकापतिमभीष्टसिद्धिदम्**=अम्बिकापतिम्+अभीष्ट+सिद्धि+दम्। **अभीष्ट**=वाञ्छित, चाही हुई, आशयके अनुकूल। **सिद्धि**=सुख-समृद्धि=सब प्रकारकी सिद्धियाँ=किसी कामकी पूर्णता। **दम्**=देनेवाले। **शङ्करमनङ्गमोचनम्**=शङ्करम्+अनङ्ग+मोचन। **अनङ्ग**=बिना अङ्गवाला=कामदेव, यथा—'*अब ते रति तव नाथ कर होइहि नाम अनंगु। बिनु बपु ब्यापिहि सबहि पुनि सुनु निज मिलन प्रसङ्ग॥*' (१। ८७) '*रति अति दुखित अतनु पति जानी।*' (१। २४७। ५) **मोचन**=छुड़ानेवाले।

अर्थ—कुन्दके फूल, चन्द्रमा और शङ्खके समान सुन्दर गौरवर्ण, जगज्जननी श्रीपार्वतीजीके पति वाञ्छित फलके देनेवाले, दीन-दुःखितके दुःखसे पिघलकर उनपर दया करनेवाले, सुन्दर कमल-समान नेत्रवाले तथा कामदेवके (मदको एवं उसके जालसे) छुड़ानेवाले एवं कल्याणके करनेवाले श्रीशङ्करजीको मैं नमस्कार करता हूँ॥ ३॥

नोट—१ '**कुन्दइन्दुदरगौर**' इति। यहाँ भी कुन्द, इन्दुमें सन्धि होकर '**कुन्देन्दु**' का प्रयोग होना चाहिये था। अन्य स्थानोंमें ग्रन्थकारने भी सन्धि करके '**कुन्देन्दीवरसुन्दरौ**' आदि प्रयोग किया है। मानसमें प्राकृतके नियम प्रायेण काममें लिये जाते हैं। प्राकृतव्याकरण नियमानुसार उनका काममें लाना अनिवार्य नहीं है। इ या उ की सन्धि भिन्न वर्णसे नहीं होती। यथा—'न **युवर्ण स्या स्वे**' (प्रा० सू०)। अतः यहाँ कविका सन्धि न करना ठीक है। (वि० त्रि०)

नोट—२ (क) '**कुंदइन्दुदरगौरसुन्दरं**' के भाव कई बार लिखे जा चुके हैं। (बा० मं० सोरठा ४) '***कुंद इंदु सम देह उमारमन करुना अयन। जाहि दीनपर नेह करहु कृपा मर्दन मयन॥***' '***कुन्द इंदु दर गौर सरीरा॥***' (१। १०६। ६) और '**शङ्खेन्द्वाभमतीवसुन्दरतनुम्**' (लं० मं० श्लोक २)में देखिये। इनसे श्वेत, उज्ज्वल, शुभ्र और पुष्ट तथा लावण्यनिधि सूचित किया। ☞ ग्रन्थके आरम्भमें '***कुंद इंदु सम देह उमारमन करुना अयन। ......मर्दन मयन***' कहा और अन्तमें भी वही विशेषण देकर मङ्गलाचरण किया। यह शिव-मङ्गलाचरणका उपक्रम और उपसंहार है। (ख) '**गौरसुन्दरं**' दो विशेषण देकर जनाया कि सब गौरवर्णवाले सुन्दर नहीं होते, गौरवर्ण असुन्दर भी होता है जैसे कुष्ठ रोगवालेका। पुनः, गौर वर्ण हुआ पर नेत्रादि किसी अङ्गमें भी कुछ नुक्स हुआ तो वह भी असुन्दर ही है। अतएव 'सुन्दर' विशेषण देकर जनाया कि आपका सर्वाङ्ग शरीर शोभासम्पन्न है। (मा० सं०) पुनः भाव कि ललाईरहित केवल ऊपर-ऊपर श्वेत वर्ण हो तो वह भी सुन्दर नहीं होता, अतः सुन्दर कहकर जनाया कि उनका गौरवर्ण ललाई लिये हुए है, इसीसे सुन्दर है। (रा० प्र०) (ग) '**अम्बिकापति**' का भाव कि श्रीपार्वतीजी जगज्जननी हैं, ये उनके पति हैं, अतः ये जगत्-पिता हैं। 'अम्बिका' का अर्थ है माता। '**अम्बिकापति**' कहकर '**अभीष्टसिद्धिदम्**' कहनेका भाव कि जगत्के माता-पिता होनेसे माता-पिताके समान ही वाञ्छित पदार्थ देते हैं। (रा० प्र०) '**अभीष्टसिद्धिदम्**' कहकर सब प्रकार समर्थ जनाया। जो समर्थ नहीं है वह मनोरथ पूर्ण नहीं कर सकता।

२ (क) '**कारुणीक**' का भाव कि भक्तका दुःख सह नहीं सकते, तुरत उसके दुःखको दूर करते हैं। यथा—'*सकत न देखि दीन कर जोरे॥*' (वि० ६), '*जरत सकल सुरबृंद बिषम गरल जेहिं पान किय। तेहिं न भजसि मन मंद को कृपाल संकर सरिस॥*' (कि० मं०), '*करुनावरुनालय साइँ कियो है॥*' (क० ७। १५७) '*नौमि करुणाकरं गरलगंगाधरं॥*' (वि० १२), '*कर्पूर गौर करुना उदार.......। उपकारी को पर हर समान। सुर असुर जरत कृत गरल पान॥*' (वि० १३) (ख) '**कलकञ्ज**' का भाव कि कमल सदा सुन्दर नहीं बना रहता वह मुर्झा जाता है पर आपके नेत्र सदा प्रफुल्लित रहते हैं। रा० प्र०

* मन्दिरम्—(का०)। यहाँ 'भिन्नधर्मा मालोपमा अलंकार है।'

कार कहते हैं कि 'कलकंज' से कमल-समान विकसित कहते हुए जनाया कि आप ज्यों-ज्यों अभीष्ट देते हैं त्यों-त्यों अधिक हर्षित होते हैं। यथा—*'नांगो फिरै कहै माँगनो देखि न खाँगो कछु जानि माँगिए थोरो॥'* (क० ७। १५३), *'देत न अघात·······॥'* (क० ७। १५९), *'दीनदयाल दिबोई भावत'* (वि०)। (ग) 'कारुणीक' कहकर कंजलोचन कहा क्योंकि करुणा आँखोंसे प्रथम प्रकट होती है। यथा—*'सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिव नयना॥'* (५। ३२। १) *'निसिचर निकर सकल मुनि खाये। सुनि रघुबीर नयन जल छाये॥'* (३। ९। ८) इत्यादि। (घ) करुणा आनेपर दुःख नष्ट करनेका उपाय किया जाता है अतः फिर 'शंकर' (कल्याण करनेवाले) यह पद दिया। कामके रहते कभी सुख वा कल्याण नहीं हो सकता, अतः फिर 'अनंग मोचन' कहा, यथा—*'काम अछत सुख सपनेहु नाहीं॥'* (७। ९०। १) आप दासोंकी रक्षा कामसे करते हैं, यथा—*'उर बसि प्रपंच रचै पंचबान। करि कृपा हरिय भ्रम फंद काम। जेहि हृदय बसहि सुखरासि रामु।'* (वि० १४) पुनः, 'अनंग मोचन' से यह भी जनाया कि आप सदा प्रभु रामजीको हृदयमें बसाये रहते हैं। *'शंकर हृदि पुंडरीक निबसत हरि चंचरीक निर्व्यलीक मानसगृह संतत रहे छाई॥'* (गी० उ० ३), *'संकर मानसराजमरालं', 'जहाँ काम तहँ राम नहिं, जहाँ राम नहिं काम।'*

पं०—अनंगमोचनका भाव कि पार्वतीजीको अर्द्धाङ्गमें धारण किये होनेसे यह न समझना कि वे कामी हैं वे तो दूसरेको भी कामादिकसे मुक्त कर देनेवाले हैं।

रा० च० मिश्र—कथा प्रारम्भके समय भी भगवान् शंकरका स्वरूप ऐसा ही कहा है—*'कुंद इंदु दर गौर सरीरा', 'गई संभु पहिं मातु भवानी', 'बैठे सोह कामरिपु कैसे।'* सुन्दरताके रहते हुए कामनाशक कहकर कथा कहनेमें आदि-अन्त एकरस जनाया।

☞तीन श्लोकोंमें मङ्गलाचरण करनेके भाव अ० मं० श्लो० ३ और आ० मं० श्लो० २ में देखिये।

नोट—प्रत्येक काण्डके मङ्गलाचरणमें भगवान् शंकरकी वन्दना प्रथम अथवा पीछे करने तथा किष्किंधा और सुन्दरकाण्डोंमें उनकी वन्दना न होनेके भाव पिछले काण्डोंमें लिखे जा चुके हैं।

प्र०—स्वामीका मत है कि बालमें विश्वरूप तथा गुरुरूपसे, अयोध्यामें विश्वासरूपसे, अरण्यमें गुरुरूपसे उनका मङ्गल किया गया। किष्किंधामें संस्कृत श्लोकोंमें उनका मङ्गल नहीं किया गया पर रामनामसे मुक्तिदायक होनेके कारण मं० सो० २ में काशीके सम्बन्धसे उनका मङ्गल किया और सुन्दरमें उनके अवताररूपकी वन्दना है। इस तरह सातों काण्डोंमें उनका मङ्गल करके बताया है कि रामभक्तिके इच्छुकको शिवभक्ति करना आवश्यक है।

'जेहि बिधि राम नगर निज आये'—प्रकरण

(भरत-मिलाप)

दोहा—रहा एक दिन अवधि कर अति आरत पुर लोग।
जहँ तहँ सोचहिं नारि नर कृस तन राम बियोग॥

शब्दार्थ—**अवधि**=मीआद, मुद्दत। **आरत**=बेतरह जी लगा हुआ। भारी व्याकुल, बेकरार, यहाँ 'आर्त्ति' प्रकृतिकृत आरत नहीं है प्रत्युत यह शुद्ध 'आरत' शब्द है। इस रूपके प्रयोगके लिये मिलान कीजिये—*'सखि हमरे आरति अति ताते। कबहुँक ए आवहिं एहि नाते॥'* (१। २२२। ८), (गौड़जी)। **कृस (कृश)**=दुबले, सूखे।

अर्थ—नगरके लोग आज बेकरार हो रहे हैं, बहुत व्याकुल हैं। श्रीरामजीके वियोगमें—दुबले शरीरवाले स्त्री-पुरुष जहाँ-तहाँ (इकट्ठे होकर) सोच रहे हैं कि (आजका) एक ही* दिन अवधिका बाकी रह गया है। (और—)

* कोई-कोई 'एक' का अर्थ करते हैं कि 'ऐसा दूसरा नहीं हुआ, न होगा।'

नोट—'*रहा एक दिन अवधि कर*' इति। '**राम-वनवास और पुनरागमनकी तिथियोंपर विचार**'—

श्रीरामजीके वनगमन तथा वनवास और पुनरागमनकी तिथियोंका उल्लेख विशेषतः समयादर्शरामायणमें मिलता है। इसीके आधारपर प्रायः टीकाकारोंने तिथियोंपर विचार करके तिथियोंका निर्णय अपनी-अपनी मतिके अनुसार किया है। वस्तुतः इसका पूरा विवरण किसी प्राचीन रामायणमें नहीं है। कल्याण मासिक-पत्रके रामायणाङ्कमें तीन तिथिपत्रोंका उल्लेख है। वाल्मीकीयकी भूषणटीका, गणेशटीका आदिमें भी तिथिपर विचार पाये जाते हैं।—ये सब प्रायः वाल्मीकीयमें आये हुए चरितक्रमके अनुसार सब तिथिपत्र हैं।

गोस्वामीजीके रामचरितमानसका वालिवधतकका चरित-क्रम लगभग मिलता-जुलता कहा जा सकता है। इसके बाद सीताशोधतक भी बहुत अंश वाल्मीकिसे मिलता है। युद्धचरितमें मानसका अन्य बहुत-सी रामायणोंसे भेद है। मानसकविने न तो वनके आरम्भका ही दिन खोला है और न अन्तका। वाल्मीकिके अनुसार राज्य-रस-भङ्ग चैत्र शु० ९ को हुआ है। या अधिक-से-अधिक १० भी माना जाता है।

श्रीकरुणासिंधुजीने एक तिथिपत्र अग्निवेशके आधारपर तैयार किया है और एक तिथिपत्र श्रीमान् गौड़जीने अपनी गुटकाके दूसरे संस्करणमें '**श्रीरामचरित-पुष्पाञ्जलि**' नामसे दिया है जिसे वे साकेतबिहारीके अवतारके अनुसार रामचरितमानसके अनुकूल बताते हैं। यह कहाँसे लिया गया उस आधारका नाम उसमें नहीं है।

इन सबोंकी छान-बीन करनेपर कोई एक भी मानसचरितोंके अनुकूल पूरे शुद्ध नहीं जान पड़ते। इसका कुछ विचार यहाँ किया जाता है—करुणासिंधुजी हनुमान्जी आदिका दक्षिण दिशामें भेजा जाना मार्ग० शु० २ को, सम्पातीसे मिलना शु० ९ को और श्रीजनकनन्दिनीजीसे विदा होकर हनुमान्जीका इस पार लौट आना शु० १५ को निर्णय करते हैं। पर मानसमें समुद्र तटपर पहुँचकर वानर कह रहे हैं कि '***बीती अवधि काज कछु नाहीं***' '*उहाँ गए मारिहि कपिराई।*' वाल्मीकिसे भी विवरमें ही एक मासका बीत जाना दिखाया जा चुका है। अतः यह तिथिपत्र भी उपयोगी नहीं है। गौड़जीवाली पुष्पाञ्जलिमें सुवेलपर उतरना माघ कृ० १० को लिखा है और मानसकवि भगवान्को मुख्य पार्षदोंसहित पूर्णिमाको शिखरपर दिखला रहे हैं—

'*पूरब दिसि गिरिगुहा निवासी। परमप्रताप तेजबल रासी॥*' परम प्रताप तेज और बलकी राशि पूर्णचन्द्रमाका ही निश्चय करता है। दूसरे, पर्वतपर पहुँचना संध्या समय ही पाया जाता है; रावण उधर अखाड़ा देखने अपने लंका शिखरागारपर गया है। कृ० १० को चन्द्रमा उस समय कहाँ और कहाँ वह प्रताप उसका?

अन्य तिथिपत्र वाल्मीकीयके युद्ध-चरित्रानुसार हैं। वे मानससे मिल ही नहीं सकते। मेघनादद्वारा शक्ति वाल्मीकि, अध्यात्म आदि बहुत-सी रामायणोंमें है ही नहीं। जहाँ उन रामायणोंमें वानर-राक्षसोंका बड़ा भारी युद्ध कई दिनका है, वहाँ मानसमें समस्त महामुखिया प्रथम ही दिन श्रीहनुमान्-अंगद आदि योद्धाओंके द्वारा राम या रावणके सम्मुख फेंके हुए देखे जाते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि दो मासके भीतर ही, कि जो अवधि वाल्मीकिमें रावणका श्रीसीताजीको दिया जाना पाया जाता है, रावणके सब पुत्र, पौत्र, भाई, सेना इत्यादि स्वर्गको पहुँचा दिये गये और मानसमें तो '*मास दिवस महँ कहा न माना। तौ मैं मारब काढ़ि कृपाना॥*' है; अतः यहाँ रावणवंशका नाश इसीके भीतर कर दिया गया। उसके बाद राम-रावण युद्धमें रावणवध हुआ।

भूषणकारका मत है कि चैत्रमें १४ वर्ष पूर्ण हुए। गणेश टीकाकार कालिकापुराणका प्रमाण देते हैं और पं० राधाकृष्णमिश्रजी भी रामायणाङ्कमें आश्विन शु० ९ को रावणवध लिखते हैं। सब अपने अनुमानके अनुसार युद्धको घटाते-बढ़ाते हैं। वाल्मीकिजी वनवासका प्रारम्भ राम-जन्मदिन ही कहते हैं और लौटनेपर कहते हैं कि १४ वर्ष पूर्ण होनेपर पंचमीको रामजी भरद्वाजाश्रममें आये। कुछ लोगोंका कहना है कि यदि १४ वर्ष चैत्रमें ही उसी तिथिपर न पूरे होते तो अंतमें मासका नाम अवश्य देते क्योंकि यह चरित उनके समयका है। पं० राधिकाप्रसादमिश्र कार्तिकमें अर्थात् १३ वर्ष ६ मास ११ दिनमें १४ वर्षकी पूर्त्ति अनुमान करते हैं जैसे भारतमें पाण्डवोंके १४ वर्षकी गणना हुई थी। कोई वैशाखमें वनगमन और वैशाखहीमें लौटना लिखते हैं। इत्यादि।

'मानस-पीयूष' तिलक मानसका है। और मानसमें चार अवतारोंकी कथा है। जान-बूझकर जन्मतिथिके

सिवा और कोई तिथि मानसकारने नहीं दी। कारण स्पष्ट है कि जन्मतिथिके सिवा और चरितोंकी तिथियोंमें प्रत्येक अवतारमें भेद है। रही अवधिकी बात सो चौदह वर्षोंमें एक दिनका बाकी रह जाना सबमें सुनिश्चित है। तिथियोंके और दिनोंके हिसाबसे यह आवश्यक नहीं है कि वही दिन और तिथि पड़े जिस दिन और तिथिको प्रभुने अवधत्याग किया था। हाँ; (श्रीमान् गौड़जीका मत है कि) सौर मास वही पड़ना चाहिये। मानसके अनुसार एक ही तिथिपत्र बनाना इसलिये असम्भव है कि चारों अवतारोंकी सब लीलाएँ एक ही तिथिपर नहीं हुईं (ऐसा जान पड़ता है)।

टिप्पणी—१ *'अति आरत पुरलोग'* इति। 'अति आर्त्त' होनेका भाव यह है कि—सब अवधिकी आशासे जी रहे हैं, यथा—*'बिषम बियोग न जाइ बखाना। अवधि आस सब राखहिं प्राना॥'* (२। ८६। ८) सो उस अवधिमें एक दिन बाकी रह गया पर श्रीरामजीके आनेकी कुछ खबर न मिली अतएव सब अत्यन्त व्याकुल हुए, सबके प्राण निकलने चाहते हैं। जैसे जल बिना मछली नहीं जीती रहती वैसे ही अवधवासी अवधिके आगे नहीं जी सकते। अवधि जल है, पुरवासी मीन हैं, यथा—*'अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना। तुम्ह करुनाकर धरम धुरीना॥'* (२। ५७। २) [नोट—जब जल बहुत कम रह जाता है तब मछली व्याकुल होने लगती है, यथा—*'जल सकोच बिकल भईं मीना। अबुध कुटुंबी जिमि धन हीना॥'* (४। १६। ८) यहाँ अवधिका यही एक दिन मात्र रह गया है अत: पुरवासी 'अति आर्त्त' हैं। पुन:, 'अति आर्त्त' से जनाया कि आर्त्त तो पहलेसे ही थे, यथा—*'चक्क चक्कि जिमि पुरनर नारी। चहत प्रात उर आरत भारी॥'* (२। १८७। १) पर अब प्राणाधार अवधिका आजका ही दिन शेष रह गया और कोई समाचारतक न मिला, अत: अब 'अतिआर्त्त' हैं। अब इससे बढ़कर दु:ख नहीं हो सकता। पुन:, *'अति आरत'* कहकर श्रीकौसल्या अंबाके *'अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना'* का चरितार्थ दिखा रहे हैं। पुन:, 'अति' विशेषण देकर कवि सूचित करते हैं कि अब इस आर्त्तिके नाशका समय आ गया। यह सीमापर पहुँच चुकी है।]

२—*'जहँ तहँ सोचहिं'* इति। अर्थात् जो जहाँ है वह वहीं शोच करता है। तात्पर्य कि उठने-चलने-फिरनेकी शक्ति उनमें नहीं रह गयी (कि किसीसे जाकर पूछें), अवधिके बलसे शरीर चलता रहा, अब वह अवधि बीत गयी।—[शोच और अत्यन्त बेचैनी इससे है कि कोई कारण अवश्य पड़ गया है जिससे न आ सके। शृंगवेरपुरतक भी आये होते तो निषादराजने खबर दी होती। वहाँतक नहीं आये, तो अब एक दिनमें यहाँ आ नहीं सकते। क्योंकि पुरवासी समझते हैं कि वे पैदल ही आते होंगे। उनके साथ तो हनुमान्‌जी ऐसे पवनवेगी लोग थे, चाहे जिसे भेजकर समाचार दे देते; फिर भी कोई समाचार न मिला, कोई घटना तो नहीं हो गयी]

गौड़जी—*'जहँ तहँ नारि नर सोचहिं'* में *'सोचहिं'* सकर्मक क्रिया है। इसका कर्म है *'रहा एक दिन अवधि कर'*—अर्थात् जहाँ-तहाँ नर-नारि बारंबार सोचते हैं, हर एक यही सोचता है कि आज तो अवधिका अन्तिम दिन है, आज ही तो प्रभुको आ जाना चाहिये, आज ही तो चौदह बरस खतम होते हैं। लोग दिन गिनते रहे हैं। बारंबार वसिष्ठजीको तंग करते रहे हैं। पंचांगकी गणनापर बहसें होती रही हैं। गुरुजीने हिसाब लगाकर निश्चय कर रखा है। बात पक्की है कि आजका ही दिन आखिरी है। हर जगह जहाँ-तहाँ यही चर्चा है। फिर इस चर्चाके साथ लोग देख भी रहे हैं कि सभी अच्छे सगुन हो रहे हैं और वियोगान्तकी दृढ़ आशापर लोगोंके दिलोंसे खुशियाँ उमड़ पड़ती हैं। घर, द्वार, बाजार, हाट चारों ओर सारा शहर सुहावना-सा लग रहा है। अब वह उदासी नहीं है। यह सब प्रभुके आनेके ही लक्षण हैं। इस तरह पुरवासियोंमें आपसमें बातचीत सभी जगह आज चल रही है।

---

* पां०—जब अति आर्त्त पुरवासियोंको अत्यन्त आर्त्त करनेवाली अवधिका एक दिन रह गया तब स्त्री-पुरुष सभी जो जहाँ हैं वहीं सोचने-विचारने लगे कि अब रामवियोगका तन अत्यन्त कृश हो गया है, अब शीघ्र उसकी मुक्ति होना चाहती है, वह मिटने ही चाहता है। अत: सब प्रसन्न हैं कि अवधि पूरी हुई, रघुनाथजी आने ही चाहते हैं।—[वि० टी० ने भी यह भाव ग्रहण किया है। पर प्रसंग इस अर्थका साधक नहीं है।]

टिप्पणी—३ *'कृस तन राम बियोग'* इति। भाव कि शरीर ऐसा कृश है कि अब रामवियोगका दुःख नहीं सह सकता। छूटना ही चाहता है*। जब अवधवासी इस दशाको प्राप्त हुए तब उनको प्रसन्न करनेके लिये शकुन होने लगे जो आगे कवि लिखते हैं।

रा शं०—१ अवधि अंबु है। एक दिन रह गया मानो सब जल सूखकर एक दिनके सूखने भरका रह गया। इस जलके सूखनेपर मीनका मरण। वैसे ही इस एक दिनके व्यतीत होनेपर प्रियजनोंका मरण—इससे आर्त्त हैं। पुनः, जलके वियोगमें मरना यह अति आर्त्त है और किसी प्रकार मरना केवल आरत है। ऐसे ही पुरजनोंको और तरह मरना 'आरत' है श्रीरामविरहमें मरना 'अति आरत' है; यथा—*'माँगु माथु अबही देउँ तोही। रामबिरह जनि मारसि मोहीं॥'* २—*'जहँ तहँ'* का भाव कि मछली कम जलमें कहीं चल-फिर नहीं सकती, यथा—*'नीच कीच बिच मगन जस मीनहि सलिल सकोच।'*

गौड़जी—शुरूके दोनों दोहोंका अर्थ एक साथ होना चाहिये। दोनों सम्बद्ध हैं।

दोहा—सगुन होहिं सुंदर सकल मन प्रसन्न सब केर।
प्रभु आगवन जनाव जनु नगर रम्य चहुँ फेर॥

शब्दार्थ—**आगवन** (आगमन)=अवाई, आना। यथा—*'मुनि आगवन सुना जब राजा। मिलन गयउ लेइ बिप्र समाजा॥'* **रम्य**=सुन्दर, रमणीय, मनोहर। फेर=दिशा, ओर, तरफ।

अर्थ—सब सुन्दर शकुन हो रहे हैं। सबका मन प्रसन्न है। नगर चारों ओर रमणीक हो गया है। मानो सब सगुन प्रभुके आगमनको जना रहे हैं। (आज प्रभु अवश्य आवेंगे। पुरवासियोंके मनमें ऐसा स्फुरण हो रहा है।)

टिप्पणी—१ (क) *'सगुन होहिं सुंदर सकल'* से सूचित किया कि बाहरके सब सगुन होते हैं अर्थात् सुभग अङ्ग फड़कते हैं, देखने और सुननेवाले शकुन होते हैं। यह कहकर भीतरके सगुन कहते हैं कि सबके मन प्रसन्न हैं। [कौसल्याजीके मन्दिरके अजिरमें तीन हंसके बच्चे बैठे हैं। ब्रह्माने ब्राह्मणरूपसे कौसल्याजीको कल्पवृक्षके फल दिये, चारों ओरसे हजारों ग्वालिनें शृङ्गार किये दधिभाजन सिरपर धरे आती हैं, दक्षिणसे तीन ब्राह्मण-बालक तिलक किये हुए रामचरित गाते आ रहे हैं इत्यादि सगुन महारामायणमें कहे हैं। (करु०)] (ख) *'मन प्रसन्न सब केर'* कथनका भाव कि प्रथम सबका मन जो शोचयुक्त था। (यथा—*'जहँ तहँ सोचहिं नारि नर·······'*) वह शकुन होनेसे प्रसन्न हो गया। मनका हर्ष कार्यसिद्धिका द्योतक शकुन है—*'होइहि काज मोहिं हर्ष बिसेषी।'* (सु०। १। ३) में देखिये।

२ *'प्रभु आगवन जनाव जनु'* (अर्थात् सबको प्रभुके आगमनकी प्रतीति हो गयी, यथा—*'भये बहुत दिन अति अवसेरी। सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी॥'* (अ० ७। ६) [इससे यह भी जनाया कि सबके सुभग अङ्ग भी फड़क रहे हैं, यथा—*'राम सीय तन सगुन जनाए। फरकहिं मंगल अंग सुहाए॥ पुलकि सप्रेम परसपर कहहीं। भरत आगमन सूचक अहहीं॥'*—(अ० ७ (५) देखिये। यहाँ अङ्गका फड़कना इससे न कहा कि आगे भरतजीके प्रसङ्गमें कहेंगे।]

३ *'नगर रम्य चहुँ फेर'* इति। भाव कि प्रथम नगर भयानक था, यथा—*'लागति अवध भयावनि भारी। मानहुँ कालराति अँधियारी॥'* (अ० ८३। ५) अब श्रीरामजीके आगमनसे (आगमन जानकर) पुर रमणीक हो गया, यथा—*'अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा कै खानी॥'* (७। ३। ९) [पां०—चारों ओर सर्वत्र रमणीकता होनेका भाव कि जिसमें अति आर्त कृशतन पुरवासी जो जहाँ हैं वहीं देखकर जान लें कि यह शकुन है, प्रभुके आगमनका द्योतक है।]

दोहा—कौसल्यादि मातु सब मन अनंद अस होइ।
आएउ प्रभु श्री* अनुज जुत कहन चहत अब कोइ॥

* सिय—(का०, ना० प्र०)। श्री—(भा० दा, रा० गु० द्वि०)।

शब्दार्थ—**श्री**=श्रीजानकीजी। **जुत**=(युत, युक्त) साथ।

अर्थ—श्रीकौसल्यादि सब माताओंके मनमें ऐसा आनन्द हो रहा है कि अब कोई (ऐसा) कहना ही चाहता है कि 'प्रभु श्रीरामचन्द्रजी श्रीसीता-लक्ष्मणसहित आ गये।'

टिप्पणी—१ (क) ***'कौसल्यादि मातु'*** का भाव कि कौसल्याजीका-सा आनन्द सब माताओंको हुआ। सब कौसल्याजीकी तरह श्रीरामजीमें प्रेम करती हैं। (ख) ***'मन अनंद अस होइ'*** कहनेका भाव कि सब शकुनोंसे मनका हर्षित होना (यह सगुन) अधिक श्रेष्ठ है, इसीसे सबके मनमें हर्ष होना लिखते हैं, यथा—***'सगुन होहिं सुंदर सकल मन प्रसन्न सब केर' 'कौसल्यादि मातु सब मन अनंद अस होइ'*** और ***'जानि सगुन मन हरष अति लागे करन बिचार।'*** (श्रीभरतजी)

२ (क) ***'आएउ·······'*** इति। यहाँ वात्सल्यरस है। कौसल्यादि माताएँ श्रीरामजीको 'प्रभु' नहीं कहतीं। श्रीरामजी माताओंके बालक हैं। ***'आएउ प्रभु'*** यह संदेश कहनेवालेके वचन हैं। वह ऐसा कहना ही चाहता है कि हमारे प्रभु श्रीसीता-लक्ष्मणजीसमेत आ गये। श्रीरामजी कहनेवालेके प्रभु हैं। [(ख) पां०—***'श्रीअनुज जुत'*** कहनेका भाव कि सब सीताहरण और लक्ष्मण-शक्ति-प्रसङ्ग सुन चुके हैं। सबकी अभिलाषा है कि ये साथ आवें।—(नोट-माता कौसल्याने हनुमान्‌जीद्वारा संदेशा भेजा था कि बिना लक्ष्मणके तुम्हारा यहाँ आना मुझे नहीं भावेगा, यथा—***'भेंट कहि कहिबो कह्यो यों कठिन मानस माय। लाल लोने लषन-रहित सुललित लागत नाय॥'***-(गी० लं० १४) अतः उनको लक्ष्मणसहित आगमन सूचित होना कहा। (ग) ***'आएउ'*** इस शब्दसे माताओंका शुद्धान्तःकरण और सच्चे प्रेमका परिचय मिलता है कि जो उनके मनमें आता था कि कोई कहना ही चाहता है कि ***'प्रभु आएउ'*** वही बात हुई। हनुमान्‌जीके मुखसे प्रथम यही ***'आएउ'*** शब्द निकला। यथा—***'आएउ कुसल देवमुनि त्राता।'*** देवमुनित्राता होनेसे सबके 'प्रभु' हैं ही। फिर भी आगे 'प्रभु' भी उन्होंने कहा है। यथा—***'सीता सहित अनुज प्रभु आवत।'*** (७। २। ५) जैसे यहाँ ***'प्रभु श्रीअनुज जुत'*** वैसे ही हनुमान्‌जीने तीनोंको कहा]।

☞इस प्रसङ्गपर मिलान कीजिये। गी० लं० २०—

'क्षेमकरी बलि बोलि सुबानी।

कुसल क्षेम सियरामलषन कब ऐहैं, अंब! अवधरजधानी॥ १॥
ससिमुख कुंकुम बरनि सुलोचनि मोचनि सोचनि बेद बखानी।
देबि दया करि देहि दरसफल जोरि पानि बिनवहिं सब रानी॥ २॥
सुनि सनेहमय बचन निकट ह्वै मंजुल मंडल कै मँड़रानी।
सुभ मंगल आनंद गगन धुनि अकनि अकनि उर जरनि जुड़ानी॥ ३॥
फरकन लगे सुअंग बिदिस दिसि मन प्रसन्न दुख दसा सिरानी।
करहिं प्रनाम सप्रेम पुलकि तनु मानि बिबिध बलि सगुन सयानी॥ ४॥

दो०—भरत नयन भुज दच्छिन फरकत* बारहिं बार।
जानि सगुन मन हरष अति लागे करन† बिचार॥

अर्थ—श्रीभरतजीके दक्षिण नेत्र और दक्षिण भुजा बारंबार फड़कती हैं। (इसे) शकुन जानकर उनके मनमें अत्यन्त हर्ष हुआ। तब वे विचार करने लगे।

नोट—१ ***'भरत नयन भुज·······'*** इति। (क) नेत्र और बाहु ही क्यों फड़के? इसलिये कि श्रीभरतजीके नेत्र और भुजाएँ, ये दोनों अङ्ग प्रभुकी सेवामें लगे हुए हैं, उनको अपने तनकी सुधबुध नहीं है। प्रभुकी सेवामें विघ्न पड़नेसे इनका मन शकुनकी ओर जायगा। (ख) 'दच्छिन'—दहिन नेत्र और बाहु फड़के, क्योंकि पुरुषके दक्षिण अङ्गोंका फड़कना शकुन है, वामांग फड़कना अपशकुन है। यथा—***'रामसीयतन सगुन***

* दच्छिन—(का०, रा० गु० द्वि०), दक्षिन (भा० दा०)। † करैं—(भा० दा०, रा० गु० द्वि०)।

जनाए। फरकहिं मंगल अंग सुहाए॥' (२। ७। ४) *'फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता।'* (१। २३१ । ४) (ग) *'फरकत बारहिं बार'* इति। दक्षिण नेत्र और भुजाका फड़कना प्रिय-मिलन तथा अभीष्ट-सिद्धिका द्योतक है। यथा—*'पुलक सप्रेम परसपर कहहीं। भरत आगमन सूचक अहहीं॥ भए बहुत दिन अति अवसेरी। सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी॥ भरत सरिस प्रिय को जग माहीं। इहइ सगुन फलु दूसर नाहीं॥'* (२। ७। ५—७) श्रीभरतजीका श्रीरामसमान प्रिय दूसरा नहीं है, अतः इनके फड़कनेसे उनको श्रीरामजीके मिलनेका विश्वास होगा। श्री पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि श्रीभरतजी रामविरहमें इतने विकल हैं कि एक-दो बार फड़कनेसे उनको मालूम न हुआ, जब बारंबार फड़के तब सगुन जाना। बारंबार सगुन होनेसे 'अति' हर्ष हुआ।* (घ) सगुन देख हर्ष हुआ, इष्टमिलनकी आशा हुई, पर समाचार कोई अबतक नहीं मिला जिससे पूर्णाशा हो जाय। अतः विचार करने लगे। (वै०) (ङ) जैसे यहाँ बारंबार अङ्गोंके स्फुरण रूप शकुन हुए वैसे ही ये शकुन उसी प्रकार सत्य भी हुए। श्रीहनुमान्‌जीने बार-बार यह संदेशा कहा (रा० श० रा० शं० श०)।

२—ग्रन्थकार यहाँ सगुन-श्रवण-फल उत्तरोत्तर अधिक दिखाते हैं—पुरवासियोंको प्रभुका आगमन जनाते हैं। इनसे अधिक माताओंसे मानो कोई प्रभुका आगमन कहना ही चाहता है। और इनसे भी अधिक भरतजीके यहाँ तो हनुमान्‌जीने साक्षात् आकर श्रीरामजीका आगमन सुनाया ही। (पं० रा० कु०) प्रसन्नता भी उत्तरोत्तर एकसे दूसरेकी अधिक है। पुरके लोगोंका 'मन प्रसन्न'। कौसल्यादि माताओंका 'मन आनन्द०'। और भरतजीका *'मन हरष अति।'*

पां०—यहाँतक तीनों प्रकारके शकुन कहे गये—पुरवासियोंको प्रत्यक्ष, माताओंको मानसिक और भरतजीको अङ्ग फड़कनेका (अर्थात् कायिक वा चिह्नज)। प्रत्यक्ष जैसे कि काक-कोकिलादिकी वाणी और रूपका—(नगरकी रमणीयता एवं बाहरके सब मङ्गलसूचक शकुन जिनका वर्णन बा० ३०३ (१)—३०३ में बारातके पयान समय विशेष रूपसे हो चुका है)।

वै०—भरतजी और पुरजनोंमें विषादसहित हर्ष कहा और कौसल्यादि माताओंके मनमें आनन्द ही कहा, विषाद नहीं। इस भेदका भाव यह है कि कौसल्याजीको अलौकिक विवेक है अतएव इन्हें माया नहीं व्यापनेसे यथार्थ बोध हो रहा है कि सब आ रहे हैं, इसीसे विषाद नहीं है।

बं० पा०—पहले पुरजन, फिर माताओं और अन्तमें भरतजीको कहा क्योंकि यह आवरण-पूजाकी रीति है कि प्रधानकी पूजा अन्तमें होती है, उसी रीतिसे यहाँ लिखा।

नोट—३ नगरमें आनेपर प्रथम पुरवासियोंके दर्शन होते, महलमें पहुँचनेपर माताओंके और तत्पश्चात् नगरसे निकलकर बाहर जानेपर भरतजीके दर्शन होते हैं, अतः इस क्रमसे भी वर्णन हो सकता है। ☞पुनः, यह क्रम उत्तरोत्तर प्रेमके आधिक्यके अनुसार भी है। पुनः, यह भी हो सकता है कि वनवासकी सूचना सबसे प्रथम पुरनरनारिको मिली, तब कौसल्या, सुमित्रा आदि माताओंको और अन्तमें श्रीभरतजीको। सबसे पहले पुरनरनारि दुःखी हुए। तब माताएँ, तब भरत। यथा—

पुरनरनारि *'नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी। छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी॥*
मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं सोक न हृदय समाइ॥' (अ० ४६)

श्रीकौसल्याजी *'पिता दीन्ह मोहिं काननराजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू॥'.........*
सहमि सूखि सुनि सीतलि बानी॥' इत्यादि (२। ५३। (६)-५४ (२)

श्रीसुमित्राजी *'लषन कही सब कथा बिसेषी। गई सहमि सुनि बचन कठोरा।'* (२। ७३। ५-६)

श्रीभरतजी *'आदिहु ते सब आपनि करनी। कुटिल कठोर मुदित मन बरनी॥*

---

* वै०, वि० टी०—'दृगन्तमध्ये स्फुरणेऽर्थसंपत्सोत्कण्ठितः स्यात्स्फुरणे दृगादौ। स्पन्दो भुजस्येष्टसमागमाय स्पन्दः करस्य द्रविणासिहेतुः॥' इति वासन्तराजे। अर्थात् यदि आँखका अन्त और मध्यभाग फड़के तो बहुत धनकी प्राप्ति हो। यदि उसका आदि भाग नाकके समीपका फड़के तो उत्कट इच्छाका सूचक जानो। भुजाका फड़कना इष्ट पदार्थकी सिद्धि और हाथका फड़कना द्रव्यप्राप्तिका हेतु है।

भरतहिं बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु।
हेतु अपनपउ जानि जिय थकित रहे धरि मौनु।' (२। १६०)

अत: उसी क्रमसे यहाँ दु:ख और हर्ष वर्णन किया गया।

नोट—४ पद्मपुराण पातालखण्डमें श्रीहनुमान्‌जीसे भेंट होनेपर यही दशा वर्णन की गयी है—'**भरतस्य भुजो नेत्रमवामं प्रास्फुरद् द्रुतम्। हृदयाच्च गतश्शोको हर्षास्रै: पूरिताननः॥**' (२। १४)

मा० हं०—स्वामीजीका उत्तरकाण्ड भरत-भेंटसे प्रारम्भ होता है। यह भरत-भेंट भक्ति भावका एक अप्रतिम उदाहरण है। हमको तो रामदर्शनके पूर्वकी भरतजीकी व्याकुलता, उस स्थितिमें उनकी और श्रीहनुमान्‌जीकी भेंट और आश्वासन तथा इसके बाद उनको रामदर्शन होना, श्रीगोसाईंजीके आत्मचरित्रमेंके ही भागसे भासित होते हैं। ऐसा कहनेका कारण यह है कि भक्तिविजयादि ग्रन्थोंमें उनके विषयमें इन्हीं भागोंके सदृश वर्णन मिलते हैं।

मा० म०—*'रहा एक दिन अवधि कर.........करन बिचार'* इति। स्त्री-पुरुष सोचवश अति आर्त्त हो गये अर्थात् उनके शरीर असमर्थ हो गये क्योंकि जिस अवधिकी आशावश सब प्राण रखे हुए हैं उसका केवल डेढ़ पहर रह गया है, इससे आशा रंचक रह गयी। निराशत्व ही सूचित होता है। असमर्थ थे, पर शकुन होने लगे। इन शकुनोंने सब पुरवासियोंको आशा दी और वे सावधान हो गये। माताएँ माधुर्यमें मग्न हैं पर कुछ ऐश्वर्य भी सूचित होता है। *'मातु बिबेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे'* इस वरदानके प्रभावसे कौसल्याजी श्रीरामजीका आगमन जान गयीं, उनको होनेवाली बात मालूम हो गयी; इसीसे *'आए प्रभु'* पद दिया है। पूर्व विराट्-दर्शन-समय *'प्रभु'* कहा है—*'अब जनि कबहूँ ब्यापइ प्रभु मोहि माया तोरि।'* श्रीभरतजी अति पराभक्तिके स्वरूप होकर स्थित हैं, उनको स्थूल स्वरूप विस्मरण हो गया है। इस दशामें सगुनोंने रसाभास किया। इनने उस स्वरूपको किंचित् भुलाकर स्थूलशरीरके व्यवहारमें ला दिया। जैसे सुतीक्ष्णजीको प्रभुने *'बहु भाँति जगावा'* वैसे ही सगुनोंने इनको जगाया।—*'भरत नयन भुज दच्छिन फरकत बारहिं बार'*—सगुनका फल विचारनेसे हर्ष हुआ।

मयूख—यहाँतक 'प्रभु' शब्द दो बार आया है। *'प्रभु आगमन जनाव जनु नगर रम्य चहुँ फेर' 'आए प्रभु श्री अनुज जुत०'।* इनमेंसे प्रथम 'प्रभु' पद देकर ऐश्वर्यका सामर्थ्य सूचित किया कि क्षणमात्रमें सबका दु:ख हरण करनेको समर्थ हैं और हरण करेंगे और दूसरे 'प्रभु' से जनाया कि माधुर्य-सुख पुनर्वार प्रबल होगा, यह सुख भी देनेको समर्थ हैं।

रहेउ एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दु:ख भएउ अपारा॥ १॥
कारन कवन नाथ नहिं आएउ। जानि कुटिल किधौं मोहि बिसराएउ॥ २॥

शब्दार्थ—'**अधार**' (आधार)=सहारा, अवलम्ब। आश्रय देनेवाला, प्राणोंकी रक्षा करनेवाला। **किधौं**=या तो, अथवा, न जाने।

अर्थ—अवधि आधारका एक दिन रह गया, वा प्राणोंका आधार १४ वर्षकी अवधिका एक दिन रह गया। यह समझते ही मनमें अपार दु:ख हुआ॥ १॥ नाथ किस कारणसे नहीं आये? ऐसा तो नहीं है कि मुझे कुटिल जानकर भुला दिया (अहह! बड़ा दु:ख है।)॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'अधार'* कहनेका भाव कि एक दिन भरतजीका जीवनके लिये आधार है, इसके आगे ये नहीं जी सकते, जैसा वे स्वयं आगे कहते हैं, यथा—*'बीते अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥'* (ख) मनमें हर्ष हुआ और दु:ख भी, यथा—*'जानि सगुन मन हरष'* और *'समुझत मन दुख भएउ.......।'* यहाँ 'पर्याय' अलंकार है—'**एकस्मिन् यद्यनेकं वा पर्याय: सोऽपि सम्मत:**' एक आधारके लिये अनेक आधेय होना भी पर्याय है। मन एक आधार है, उसके दो आधेय हैं—हर्ष और दु:ख। (ग) आगे रामविरहदु:खको समुद्र कहते हैं, यथा—*'राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत।'* समुद्र अपार होता है। इसीसे यहाँ दु:खको *'अपार'* कहा।—(पां०—अपारका भाव कि जबतक अवधि थी तबतक उसका पार

था और जब अवधि व्यतीत होनेको हुई तब उसका पार न रह गया, वह अपार हो गया)। (घ)—भरतजी दुःखसे विचार करते हैं इसीसे प्रथम जब मनमें हर्ष हुआ तब विचार करना न लिखा और जब मनमें दुःख हुआ तब विचार करना लिखते हैं।

रा० शं०—*'दुःख भएउ अपारा'* इति। यह कि यदि श्रीरामजी न आये तो जो मैं कौसल्या अम्बाके सामने कसम खाकर सच्चा बना था तो झूठा हो जाऊँगा, पिताने जो कैकेयीसे मेरी बड़ाई की थी वह भी झूठी हो जायगी, व्यर्थमें पिताको झूठका कलंक लगेगा और पुरवासी जो मुझे सच्चा शुद्ध रामस्नेही जानते थे—(*कान मूदि कर रद गहि जीहा। एक कहहि यह बात अलीहा*)—वे सब भी झूठे पड़ जायँगे, लषनलाल और निषादके संदेह सब सत्य हो जायँगे। श्रीरघुनाथजीके चित्रकूटमें मुझसे कहे हुए वचनोंसे जो हर्ष मुझे प्राप्त हुआ था वह सब घोर दुःखके स्वरूपमें बदल जायगा। मैं १४ वर्षके वियोगका दुःख अनुभव करके घबड़ाता रहा हूँ कि इसी दुःखमें मुझे अमित दुःख था, अब अवधि व्यतीत होनेपर उसकी क्या संख्या होगी।

मा० म०—१ *'समुझत मन दुःख भएउ''''''''*'। भाव कि जीता रहा तो मेरा वचन और स्नेह असत्य हो जायगा जो मैंने कहा था कि *'सेवउँ अवध अवधि भरि जाई', 'अवधि पारु पावउँ जेहि सेई',* और पिताकी परिपाटी छूट जायेगी कि *'नाहि त मोर मरन परिनामा।'* और यदि मर गया और तब रामचन्द्रजी आये तो पश्चात्ताप होगा।

टिप्पणी—२ (क) तीसरे और चौथे चरणोंका अन्वय आगेकी चौपाईके *'अहह'* शब्दतक है। बिसराये जानेका बड़ा दुःख हुआ। उसीपर खेद प्रकट करते हुए *'अहह'* कहा है। जब कुछ कारण मनमें न निश्चित कर सके तब विचार करते हैं *'जानि कुटिल किधौं मोहि बिसराएउ।'* तात्पर्य यह कि और कारण तो कुछ नहीं है, यही कारण है।—[पां०—*'किधौं'* पद संकल्प-विकल्पवाचक है। निश्चय इससे नहीं कहते कि शकुन सहायक है] (ख)—पूर्व जो लिखा था कि *'जानि सगुन मन हरष अति लागे करन बिचार'* वह विचार करना अब लिखते हैं—*'कारन कवन''''''''।'*

मा० म०—*'कारन कवन''''''''*' का भाव कि लक्ष्मणजीको शक्ति लगी थी, वे मर तो नहीं गये, चाहे इसी संकोचसे न आते हों—*'जैहौं अवध कवन मुँह लाई।'* अथवा अभी रावण मरा नहीं, वा मैंने हनुमान्‌जीको बाण मारा था जिससे कार्यमें विघ्न होनेकी सम्भावना थी, इस दोषको विचारकर न आये। वा विभीषण या सुग्रीवने रोक रखा। वा पिताके बिना अयोध्याको दुःखका भण्डार जानकर न आये। वा स्त्रीहरणकी लज्जासे न आये इत्यादि। इन कारणोंमेंसे किस कारणसे न आये। यह वचन *'जैहौं अवध कवन मुँह लाई'* का उत्तर है। *'जानि कुटिल किधौं मोहि बिसरायेउ'* यह *'कुटिल कुबंधु कुअवसरु ताकी'* का उत्तर है।

अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंद अनुरागी॥ ३॥
कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा। ताते नाथ संग नहिं लीन्हा॥ ४॥

शब्दार्थ—अहह!—'अहहेत्यद्भुते खेदे इति विश्वः।' इस शब्दका प्रयोग आश्चर्य, खेद, क्लेश और शोक सूचित करनेके लिये होता है—*'अहह तात दारुन हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभ न हानी॥'*

अर्थ—अहह! लक्ष्मणजी धन्य हैं, बड़भागी हैं, श्रीरामचरणकमलके अनुरागी हैं। (तात्पर्य कि बड़े सुकृतसे, बड़े भाग्यसे श्रीरामचरणकमलमें अनुराग होता है। श्रीरामचरणानुराग होना ही सुकृतका फल है और यही बड़ा भाग्य है)। प्रभुने मुझे कपटी और कुटिल पहिचान लिया। (जाना) इसीसे स्वामीने (मुझे) साथमें न लिया॥ ३-४॥

टिप्पणी—१ (क) *'अहह'* शब्दका अन्वय पिछली चौपाईके साथ है। इस चरणके साथ भी यदि लें तो *'लालन जोग लषन लघु लोने। भे न भाइ अस अहहिं न होने॥''''''''मृदु मूरति सुकुमार सुभाऊ। तात बाउ तन लाग न काऊ॥ ते बन सहहिं बिपति सब भाँती। निदरे कोटि कुलिस एहि छाती॥'* (२। २००) तथा *'मोर जनम रघुबर बन लागी॥'* (२। १८२। ८) इन विचारोंसे 'अहह' शब्द उनके मुखसे निकलना कह सकते हैं। श्रीलक्ष्मणजीको धन्य कहनेके साथ ही ये विचार भी उठ आये होंगे। लक्ष्मण छोटे हैं यह सोचकर

'अहह' कहा। (रा० च० मिश्र)। अथवा 'अहह' का अर्थ यहाँ 'अहा', 'अहो', 'अहाहा' कर लें जो प्रसन्नता और प्रशंसा सूचित करनेके लिये प्रयुक्त होता है। अ० रा० में 'अहो' शब्द है। और कुछ टीकाकारोंने ऐसा अर्थ लिया भी है। (ख) लक्ष्मणजीको धन्य और बड़भागी कहनेका भाव कि लक्ष्मणजी सुकृती हैं और रामचरणानुरागी हैं इसीसे प्रभुने उन्हें सङ्ग लिया, मुझे कपटी, कुटिल चीन्हकर सङ्गमें न लिया। [पुनः धन्य कहनेका भाव कि उन्होंने श्रीरामजीके लिये अपने प्राणतक दे दिये। मुझको चरणपीठकी सेवा मिली और उनको साक्षात् चरणकी; अतः वे बड़भागी हैं। पूर्व भी श्रीभरतजीके विचार श्रीलक्ष्मणजीके विषयमें ऐसे ही थे (यथा—*'जीवन लाहु लषन भल पावा। सब तजि राम चरन मनु लावा॥'* (२। १८२) और वे अन्ततक वैसे ही बने रहे, यह बात आगेके *'रामपदारबिंद अनुरागी'* से जनाया है। (मा० म०)] (ख) *'पदारबिंद अनुरागी'* से सूचित किया कि श्रीरामचरण कमल हैं और लक्ष्मणजीका मन भ्रमर है जो उस कमलमें अनुराग किये हुए हैं, यथा—*'पद राजीव बरनि नहिं जाहीं। मुनि मन मधुप बसहिं जिन्ह माहीं।'* *'बड़भागी'* पर विशेष बा० २११ छंद, अ० १० (२१) और कि० २३ (५—७) में देखिये।

नोट— १ पद्म पु० पाताल खण्डमें भी ऐसे ही वचन हैं, यथा—'**धन्या सुमित्रा सुतरां वीरसूः स्वपतिप्रिया। यस्यास्तनूजो रामस्य चरणौ सेवतेऽन्वहम्॥**' (१। ४१) अर्थात् पतिको प्रिय सुमित्रा अम्बाजी धन्य हैं जिन्होंने वीर लक्ष्मणको उत्पन्न किया जो अहर्निश रामचरणसेवा कर रहे हैं। पुनः यथा—'**अहोऽतिसफलं जन्म लक्ष्मणस्य महात्मनः। राममेव सदान्वेति वनस्थमपि हृष्टधीः॥**' अर्थात् अहा! महात्मा लक्ष्मणका जन्म अत्यन्त सफल है जो भगवान् रामके वनमें रहते समय भी सदा प्रसन्न मनसे उन्हींका अनुसरण करते हैं। (अ० रा० २। ८। ३२)

नोट—२ *'कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा।'*·········' इति। (क) प्रथम श्रीभरतजीने अपनेको कुटिल कहा। यथा—*'जानि कुटिल किधौं मोहि बिसराएउ।'* अब उसी वचनको पुष्ट कर रहे हैं—*'कपटी कुटिल'*····।' (पं० रा० कु०)। (ख) *'कपटी कुटिल'* वह है जो किसीकी ओटसे बुराई करे। मैंने अपनी जननीकी ओटसे राज्य लिया। स्वयं तो ननिहाल चला गया और मातासे कुटिलता करायी। कुटिलमात्र वह कहा जाता है जो खुल्लमखुल्ला किसीको सतावे और मैंने दूसरेकी आड़से प्रभुको वनवास दिया। अतः मैं *'कपटी कुटिल'* हूँ। (पां०)। अथवा जिसके पेटमें कुछ हो और मुखमें कुछ हो वह 'कपटी' है और जो मन-वचन-कर्म तीनोंसे टेढ़ा हो वह कुटिल कहलाता है। (मा० म०) पाँड़ेजीका मत है कि 'यहाँ' 'प्रभु' का विशेष प्रयोजन श्रीरघुनाथजीके लिये नहीं पाया जाता। विशेष भाव यह जान पड़ता है कि 'प्रभु' को 'कुटिल' के साथ लेकर यह अर्थ कर लें कि मुझे 'कपटी और कुटिलोंका प्रभु' जाना। (ग) *'चीन्हा'* इति। भाव कि कपट गुप्त रहता है, उसे लोग जल्दी जान नहीं पाते। पर वे 'प्रभु' हैं, इससे उन्होंने मेरा कपट जान लिया। श्रीरामजीको कपट-छल नहीं भाता, यथा—*'मोहि कपट छल छिद्र न भावा।'* और मुझे उन्होंने जान लिया कि मैं कपटी कुटिल हूँ अतः मैं उन्हें कैसे भाऊँ? इसीका फल आगे कहते हैं। (घ) बैजनाथजी लिखते हैं कि *'कपटी*·········*चीन्हा'* का भाव यह है कि उचित था कि मैं भी तापस-साज सजकर साथ हो लेता सो न करके उलटे सेना-परिवार सब साज साथ ले जाकर उनकी स्वतन्त्रतामें बाधक हुआ, तब सङ्ग ले चलनेको कहा। इसीसे कपटी समझा कि मन तो राजसी ठाठमें है और ऊपरसे बातें बनाते हैं।

३ *'तातें नाथ संग*··········' इति। (क) यहाँके 'नाथ' शब्दमें *'नाथृ याचने'* धातुका भाव है। यह 'याचना' अर्थमें यहाँ प्रयुक्त हुआ है। भाव कि मैंने साथ चलनेकी याचना (प्रार्थना) की थी; यथा—*'सानुज पठइय मोहि बन कीजिय सबहि सनाथ। नतरु फेरिअहिं बंधु दोउ नाथ चलौं मैं साथ॥'* (२। २६८) तो भी मुझे साथ न लिया। (पं० रामकुमारजी)।

पाण्डेजीका मत है कि लक्ष्मणजीका स्मरण इससे किया कि 'यदि रघुनाथजी मुझे भूल गये होंगे तो वे समझाकर ले आयेंगे। फिर मनमें सोचते हैं कि उनको रामपदारविन्दकी सेवाका पूरा भाग मिल गया (मैं बड़ा था, मेरा प्रथम हक सेवाका था सो उससे वञ्चित रखा गया)। वे रामपदारविन्दानुरागी

हैं अर्थात् उनको अपने देश, कोश, माता, भाई, बन्धुवर्ग, स्त्री इत्यादि किसीमें अनुराग नहीं है; इसलिये रघुनाथजीकी सेवारूपी पदार्थ वे अकेले लिये बैठे हैं। वे उसको बाँट देनेके लिये प्रभुको यहाँ क्यों लाने लगे। इस प्रकार सोचकर जब भरतजी उधर-(लक्ष्मणजीकी ओर-) से निराश हुए तब रघुनाथजीकी शरण गये जैसा आगे कहते हैं; पर वहाँ भी अपना निर्वाह न देखा तब अपनी करनीपर विचारकर कहने लगे कि *'कपटी……।'*

मा० शं०—सबको त्यागकर ये साथ गये, गया तो मैं भी पर सबको साथ लेकर, मैं सब सहित लौट आया, वे साथ रख लिये गये।

जौं करनी समुझै* प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कल्प सत कोरी॥५॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥६॥

शब्दार्थ—**समझना**=विचारना, ध्यानमें लाना। **निस्तार**=छुटकारा, उद्धार, निर्वाह।

अर्थ—यदि प्रभु मेरी करनी (अवगुण, कर्तव्य, अपकारके कर्म) समझें तो सौ करोड़ (असंख्यों) कल्पोंतक मेरा निर्वाह नहीं हो सकता॥ ५॥ प्रभु सेवकका अवगुण कभी भी नहीं मानते। वे दीनबन्धु हैं, उनका अत्यन्त कोमल स्वभाव है। (भाव कि कोमल स्वभाववाले दीनोंपर दया करते ही हैं, यथा—*'कोमलचित दीनन्ह पर दाया।)'* ॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'जौं करनी……'* इति। सब भक्त अपने विषयमें ऐसा ही कहते हैं, यह उनका कार्पण्य है। यथा—*'जौं अपने अवगुन सब कहऊँ। बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊँ॥'* (१। १२। ५) अथवा 'मेरी करनी' यह है कि रामदूतको मैंने बाण मारा, यदि हनुमान्जी संजीवन लेकर समयपर न पहुँचते तो लक्ष्मणजी न जीवित होते, लक्ष्मण बिना श्रीरामजी न जीवित रहते और श्रीरामजीके बिना श्रीसीताजी और सब माताएँ तथा सब अवधवासी न जीते रहते। यदि यह मेरी करनी श्रीरामजी समझें तो सौ करोड़ कल्पोंतक मेरा निस्तार नहीं हो सकता। अर्थात् इतने कल्पोंतक नरकमें ही पड़े रहने योग्य कर्म मैंने किये हैं।—[जब अपनी करनीसे अपना निस्तार न देखा तब प्रभुके दीनबंधुत्व और अति मृदुल स्वभावकी शरण गये और उसपर दृढ़ विश्वास किया। (पां०)]।

टिप्पणी—२ [*'जन अवगुन……।'* इति। भाव कि मेरे सब कर्म निन्दनीय हैं क्योंकि मैंने एक तो पिताकी आज्ञा न मानी, दूसरे मातासे मातृसम्बन्ध त्यागा, तीसरे मेरे कारण पिता ननिहालके ऋणी रह गये इत्यादि अगणित अवगुण मुझमें हैं तब मैं भक्त तो हो ही नहीं सकता। पर मैं बुरा भी हूँ तो भी हूँ उन्हींका जन और वे जनका अवगुण कभी भी नहीं मानते, क्योंकि वे *'दीनबंधु……'* हैं। (मा० म०)।] (ख) *'दीनबंधु……'* भाव कि प्रभु दीनबन्धु हैं और मैं दीन हूँ, मुझपर अवश्य कृपा करेंगे; क्योंकि दीन कृपाका पात्र है, यथा—*'नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना॥'* (३। ८। ४) पुनः, *'दीनबंधु'* और *'मृदुल सुभाऊ'* कहकर सूचित किया कि वे जनके अवगुण नहीं मानते वरन् जनकी सहायता करते हैं और कोमल स्वभाव हैं अतः जनपर कभी क्रोध भी नहीं करते। प्रथम जो कहा था कि *'कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा'* उसीपर यहाँ कहते हैं कि *'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ।'* अर्थात् वे ऐसा कभी न समझेंगे। पूर्व जो भरतजीने कहा था कि *'देखि दोष कबहुँ न उर आने।'* (२। २९९। ४) उसीको वे यहाँ स्मरण कर रहे हैं।†

रा० प्र०—विरहकी ऐसी लहर उठनेपर भी उपासना-भाव न छोड़ा।

---

* समुझहिं—(पाठान्तर)।

† शिला—'कोरी=नयी। मेरी करनी समझें तो मेरा निस्तार नहीं; क्योंकि मेरी करनी सौ कल्पतक भी नवीन ही बनी है। भाव कि वैर काल पाकर मिट जाता है पर मेरी करनी न मिटेगी। सदा नयी ही बनी रहेगी।'

मोरे जिय* भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥ ७॥
बीते अवधि रहहिं जौं प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना॥ ८॥

अर्थ—मेरे हृदयमें यही भरोसा दृढ़ (पक्का, मजबूत) है। श्रीरामजी (अवश्य) मिलेंगे; क्योंकि मङ्गल सगुन हो रहे हैं॥ ७॥ अवधि बीत जानेपर यदि प्राण रह गये तो मेरे समान संसारमें कौन अधम होगा॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'सोई'* अर्थात् जो ऊपर कह आये कि वे जनका अवगुण नहीं मानते यही भरोसा दृढ़ है और जो पूर्व सोचा था कि मेरे अवगुण देखकर मुझे भुला दिया वह ठीक (दृढ़) नहीं है। (ख)—एक भरोसा तो ऊपर कहा ही उसपर भी दूसरी मजबूती यह है कि शुभ शकुन हो रहे हैं। २—(क) *'रहहिं जौं प्राना'* इति। भाव कि अवधि बीतनेपर प्राण रहेंगे नहीं, कदाचित् रहे तो मैं बड़ा अधम हूँ। प्रथम तो श्रीरामजीके आगमनका दृढ़ निश्चय हुआ, पर फिर विरहके योगसे पुनः संदेह हो गया; इसीसे *'बीते अवधि……'* कहा। [*'दृढ़ भरोस'* कहकर भी *'बीते अवधि……'* वचनका कहना सूचित करता है कि वियोग-विरह इतना प्रबल है कि वह विश्वासको जमने नहीं देता, मनको फिर तुरंत अपनी ओर खींच लेता है। (पां०) पुनः संदिग्ध वचनका कारण और भी यह है कि पूर्व कई बार इसने धोखा दिया है। यथा—*'सुनि बन गवनु कीन्ह रघुनाथा।……संकर राखि रहेउँ एहि घाये॥'* (२। २६२। ५) प्राण निकल जाने चाहिये थे पर न निकले। फिर चित्रकूट पहुँचनेपर *'अब सब आँखिन्ह देखेउँ आई। जियत जीव जड़ सबइ सहाई॥'* (२। २६२। ७) प्राण न निकले। अतः क्या जाने अब भी न निकलें।]—सन्देह क्यों हुआ? इससे हुआ कि अवधिमेंका एक यही दिन रह गया है। इसीसे उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें अवधिको ही समझकर दुःख होना लिखा। यथा—*'रहा एक दिन अवधि अधारा……।'* और *'बीते अवधि रहहिं जौं प्राना……।'* [*'बीते अवधि जाउँ जौं जियत न पावउँ बीर।'* (६। ११५) इस वाक्यका यहाँ उत्तर है अर्थात् जो रघुनाथजी लङ्कामें सोच रहे थे वही यहाँ भरतजी सोच रहे हैं कि यदि मेरे प्राण रह गये तो मेरी गिनती अधम-शिरोमणिमें होगी, अतः प्राण रखना उचित नहीं। (मा० म०)] (ख)—*'अधम कवन जग……'* इति। भाव कि संसारमें अधम बहुत हैं पर मेरे समान नहीं हैं। अपने स्वामीके बिना जीना बड़ी अधमता है। दूसरी अधमता यह है कि मेरी प्रतिज्ञा है कि अवधि बीतनेपर प्राण त्याग दूँगा। यथा—*'तुलसी बीते अवधि प्रथम दिन जौं रघुबीर न ऐहौ। तौ प्रभुचरन-सरोज-सपथ जीवत परिजनहिं न पैहौ॥'* (गी० अ०) उसपर भी मैं जीवित रह जाऊँ। (पां०)। पुनः भाव कि अधम तो अभी हूँ पर अवधि बीतनेपर तो मेरी समताका अधम कोई नहीं होगा। (रा० शं०)।

वीर—यहाँ रामचन्द्रजीके आगमनकी सूचना न मिलनेसे विरहजन्य भरतजीके हृदयमें शंका, दैन्य, चिन्ता, मोह, विषाद, त्रास, ग्लानि, वितर्क, धृति, मति आदि संचारी भावोंका साथ ही उदय होना भावोंकी माला है।

दो०—रामबिरहसागर महँ भरत मगन मन होत।
बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥ १ (रा)॥

अर्थ—श्रीरामजीके विरह-समुद्रमें श्रीभरतजीका मन डूब रहा है† उसी समय पवनसुत हनुमान्‌जी विप्ररूप धरकर (ऐसे) आ गये मानो नाव आ गयी॥ १ (रा)॥

टिप्पणी—१ (क) विरह-समुद्रमें मन डूबता है क्योंकि विरह-समुद्र अपार है। यथा—*'समुझत मन दुख भयउ अपारा।'* जब पार (तट) न मिला तब डूबने लगा। (ख)—विप्ररूप धारण करनेके भाव—मङ्गल समयमें मङ्गलरूप धारण किया।—(विशेष भाव लं० १२० (१) में देखिये।) [बाबा हरिदासजीके मतसे

---

* जिअ—(भा० दा०, रा० गु० द्वि०) जिय-(का०)।

† आ० रा० १२। ६६—७५ में लिखा है कि भरतजी अग्निप्रवेश करनेको तैयार थे, सूर्यास्तकी राह देख रहे थे कि इतनेमें हनुमान्‌जी आ गये।—'नन्दिग्रामेऽपि भरतो पूर्णे वर्षे चतुर्दशे॥ ६५॥ नागते राघवे वह्नौ सन्नद्धोऽभूत्प्रवेशितुम्……॥ ६६॥ ……सोऽहमग्निं विशाम्यद्य रवावस्ताचलं गते॥ ६८॥……भरतं वेष्टयामासुः खेदाद्विह्वलमानसाः……चितां' इत्यादि।

विप्ररूप धारण करनेके कारण ये हैं कि—(क) भरतजीको सगुन हो रहे हैं; वानररूपसे उन सगुनोंका अभाव होगा। (ख) श्रीरामजीके मिलानेमें ब्राह्मण ही अधिकारी हैं। (ग) श्रीभरतजी रामकथा पूछेंगे और कथा सुनानेके अधिकारी द्विज ही हैं, नहीं तो सजीवन लाते समय तो भेंट हुई ही थी, रूप बदलनेका क्या प्रयोजन? और पांडेजी लिखते हैं कि विप्र पितृरूप प्राणका रक्षक है और यह समय भरतप्राणकी रक्षाका है।'—इसी प्रकार मा० शं० में भी अनेक कारण लिखे हैं पर प्रसंगानुकूल तो केवल यही है कि श्रीरामजीकी आज्ञासे विप्ररूप धरकर गये]।

टिप्पणी—२ विरहसमुद्रमें डूबते हैं इसीसे 'पोत' कहा। पवनके सम्बन्धसे नाव जल्दी चलती है। ये पवनपुत्र हैं पवनवेगसे आये। यथा—'**ततोऽयोध्यां ययौ वेगान्मारुतिः स विहायसा**'—(आ० रा० १२। ६५) (विशेष लं० १२० (३)में देखिये)। जैसे जानकीजीको विरहसमुद्रमें डूबनेसे बचाया था, यथा—'***बूड़त बिरह जलधि हनुमाना। भएउ तात मो कहुँ जलजाना॥***' (५। १४। २) वैसे ही यहाँ भरतजीको बचाया।* [☞इस द्विरुक्तिसे सूचित किया कि जबतक जीव रामविरह-सागरमें नहीं पड़ेगा और डूबनेके भयसे आर्त वा दीन न बनेगा, तबतक उसे हनुमान्‌रूपी पोतका सहारा न मिलेगा। श्रीहनुमान्‌जीके आश्रय बिना रामविरह-सागर पार होना भी असम्भव है। (प० प० प्र०)]

नोट—'***विप्ररूप धरि पवनसुत आइ गएउ***' का सम्बन्ध लं० १२० (१) (३) '***धरि बटु रूप अवधपुर जाई***' और '***तुरत पवनसुत गवनत भएऊ***' से है। पूर्व प्रसंग यहाँ फिर उठाया। यहाँ '***रामबिरह सागर***' में पूर्णरूपसे एकरूपताका वर्णन होनेसे 'समअभेदरूपक' है। '***आइ गएउ जनु पोत***' में उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है। पवन प्राणका रक्षक है। यहाँ भरतके प्राणकी रक्षा की है अतः '***पवनसुत***' नाम दिया। पुनः पद्मपु० पा० २ में श्रीरामजीने इनको अवध भेजते समय वायुनन्दन सम्बोधन किया है, उसके अनुसार यहाँ पहुँचनेपर पवनसुत नाम दिया गया।

गौड़जी—श्रीभरतजीका मन विरहसागरमें तो चौदह वर्षसे मग्नप्राय है। अवधि बीतते ही दर्शनोंकी आशा तख्तेका सहारा था जिसके बलपर अबतक डूब नहीं गया। वह आशाका तख्ता भी हाथसे छूट ही रहा था कि उनको बचानेके लिये नौकास्वरूप विप्ररूप पवनपुत्र देख पड़े। आशाका तख्ता हाथोंसे छूटते-छूटते रह गया।

वि० त्रि०—माता कौसल्याने कहा था कि '***अवधि अंबु प्रिय परिजन मीना। तुम्ह करुनाकर धरम धुरीना॥ अस बिचारि सोइ करहु उपाई। सबहि जिअत जेहि भेंटहु आई॥***' (२। ५७) वह उपाय सरकारने कर दिया। अवधिके पूरा होनेके एक दिन पहले ही हनुमान्‌जीको भरतलालके पास भेज दिया। जिस समय भरतजी विरहसागरमें मग्न हो रहे थे, उसी समय हनुमान्‌जी विप्ररूपमें जहाजकी भाँति पहुँच गये। बड़े असमंजसका समय था। सर्वाधिक प्रेम भरतजीका था, सो डूब रहे थे। इनके बाद सब डूबते, सो जहाज आ गया, अब सब बच जायँगे।

रा० प्र०—'***रामबिरहसागर*******' यह उपसंहार उस उपक्रमका है जो अ० १५४ में लिखा गया—'***रामबियोग पयोधि अपारू॥ करनधार तुम्ह अवध जहाजू। चढ़ेउ सकल प्रिय पथिक समाजू॥***' इत्यादि।

---

* मा० म०—विरहसमुद्र और उसमें डूबनेवाला मन दोनों ही रूपरहित हैं, इसलिये वहाँ बिना रूपकी समाचाररूपी नौका लेकर मल्लाहस्वरूप हनुमान्‌जी पहुँच गये। हनुमान्‌जीको रूपवान् पोतसे रूपक देना प्रकरण-विरुद्ध होगा, क्योंकि बिना रूपके समुद्रमें रूपवान् पोत नहीं चल सकता।

मयूख—जब मन विरहमें डूब जाता है तब अचेत हो जाते हैं और जब उसके ऊपर आता है तब सावधान होते हैं और नाम जपते हैं। आठ चरणोंमें मध्यगति दिखायी अर्थात् न डूबे हैं और न ऊपर हैं फिर दोहेके दूसरे चरणमें पहले मग्न होना कहकर चौथेमें गुणानुवादरूपी नाम मिलनेसे अवलम्ब हो गया।

वै०—समुद्रपार करनेकी गति नावमें नहीं है। अपने रूपसे आते तो जहाज-समान होते; क्योंकि उनको पहचानते थे। विप्ररूपसे किंचित् सहारा हुआ कि अनजाना ब्राह्मण है, कुछ शुभ समाचार देगा।

दोहा—बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात।
राम राम रघुपति जपत स्त्रवत नयन जलजात॥ १ (म)॥

अर्थ—(सिरपर) जटाओंका मुकुट, शरीर दुबला, राम-राम-रघुपति जपते नयन-कमलसे जल (प्रेमाश्रुप्रवाह) गिराते, कुशासनपर बैठे (दूरसे ही) देखकर—*॥ १ (म)॥

टिप्पणी—१ (क) *'बैठे देखि'* से जनाया कि रात-दिन बैठे-बैठे शोच करते रहते हैं। यथा—*'जासु बिरह सोचहु दिन राती।'* (ख) कुशासनपर बैठनेका भाव कि श्रीरामजी कुशासनपर बैठते हैं, लेटते हैं, इससे ये भी वैसा ही करते हैं। वे जटा-मुकुट धारण किये हैं अतः ये भी जटा धारण किये हैं। रामवियोगमें शरीर सूख गया। यथा—*'कृस तन राम बियोग', कृस तन श्रीरघुबीर बियोगा॥'* (७। ५। १); अतः कृशगात हैं। (ग) *'राम राम रघुपति जपत.........'* इति। रामनाम शोच-समुद्रको सोख लेता है; यथा—*'दंभहुँ कलि नाम कुंभज सोचसागर सोषु।'* (वि० १५९) अतः 'राम-राम' जपते हैं। [रा० शं०—नामके जपसे कुसंकट मिट जाते हैं—*'जपहिं नामु जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥'* (१। २२। ५) इनका कुसंकट भी मिटा। श्रीहनुमान्‌जी तुरंत आ गये। इसीसे नामजपके बाद तुरंत हनुमान्‌जीका आगमन कहा।]—और 'रघुपति' जपनेका भाव कि आप रघुवंशके रक्षक हैं, आपके बिना सब रघुवंश मरने ही चाहता है, मरणप्राय है रक्षा कीजिये। *पा रक्षणे।*

☞ रामजीके बिना जो दशा श्रीजानकीजीकी वर्णन कर आये हैं वही दशा भरतजीकी वर्णन करते हैं। मिलान यथा—

बैठेहि बीति जात निसि जामा	१	*बैठे देखि कुसासन*
कृसतन सीस जटा यक बेनी	२	*जटा मुकुट कृस गात*
जपति हृदय रघुपति गुन श्रेनी	३	*राम राम रघुपति जपत*
नयन स्त्रवहि जल निज हित लागी	४	*स्त्रवत नयन जलजात*

☞ श्रीभरतजीकी दशा श्रीसीताजीकी दशाके समान लिखनेका भाव यह है कि श्रीरामजीमें श्रीसीताजीका तथा श्रीभरतजीका समान पातिव्रत्य धर्म है। यथा—**'खड्गधाराव्रतीप्रथमरेखाप्रगट सुद्धमतिजुवति-पतिप्रेमपागी॥ जयति निरुपाधि भक्तिभाव जंत्रित हृदय बंधुहित चित्र कूटाद्रिचारी।.........'** (वि० ३९) इसीसे दोनोंमें समान विरह है।

'स्त्रवत नयन जलजात' में परिणाम अलंकार है यथा—**'परिणामः क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मना। प्रसन्नेन दृगब्जेन वीक्षते मदिरेक्षणा॥'** इति चन्द्रालोके।, *'बरननीय उपमान ह्वै जबै करे कुछ काम। गिरिधर दास बखानिए तासु नाम परिणाम॥'* यहाँ नेत्र अपने उपमान कमलके द्वारा जल स्त्रवते हैं जो क्रिया वस्तुतः नेत्रद्वारा होनी चाहिये।

नोट—यहाँ *'बैठे देखि'* अपूर्ण क्रिया दी, आगेकी चौपाईमें इसकी क्रिया देंगे। *'देखि'* कहकर कहने लगे कि कैसा देखा तब आगे *'देखत हनूमान अति हरषेउ'* कहकर जनाया कि वह दशा देखते ही हर्ष हुआ, लिखने वा कहनेवाला एक ही है, अतः एक साथ न कह सकते थे।

पं० रामचरण मिश्रजीका मत है कि *'बैठे देखि'* यह दूरसे देखना है और *'देखत हनूमान'* यह निकटसे देखना कहा गया है। विशेष भाव आगेकी चौपाईमें देखिये।

रा० प्र०—१ *'बैठे देखि कुसासन.........'* का उपक्रम *'नंदिगाँव करि परन कुटीरा।.........जटा जूट सिर मुनि पट धारी। महि खनि कुस साथरी सँवारी॥'* (अ० ३२४) और *'राम राम रघुपति जपत.........'* का उपक्रम *'पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। जीह नाम जप लोचन नीरू॥'* (२। ३२६। १) है और २—*'राम राम रघुपति'* अर्थात् रघुपतिका *'राम'* यह नाम निरन्तर जपते हैं।

* यथा पद्मपु० पा०—'गर्तशायी ब्रह्मचारी जटावल्कलसंयुतः। कृशाङ्गयष्टिर्दुःखार्तः कुर्वन् रामकथां मुहुः॥' (१। ३०)

देखत हनूमान अति हरषेउ। पुलक गात लोचन जल बरषेउ॥ १॥
मन महँ बहुत भाँति सुख मानी। बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी॥ २॥

अर्थ—(फिर पास आते हुए) देखते ही हनुमान्‌जी अत्यन्त हर्षित हुए। उनके शरीरके रोएँ खड़े हो गये, नेत्रोंने जलकी वर्षा की अर्थात् नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बह चले॥ १॥ मनमें बहुत तरहसे सुख मानकर कानोंके लिये अमृत-समान वाणी बोले॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम *'देखि'* क्रिया कही, यथा—*'बैठे देखि कुसासन'* अब *'देखत'* क्रिया कहते हैं—*'देखत हनूमान अति हरषेउ'* इसका तात्पर्य यह है कि *'बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृस गात'* यह तनकी दशा है, पहले इस तनकी दशाको देखकर हर्ष हुआ; और, *'राम-राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात'* यह प्रेमकी दशा है, प्रेमदशा देख 'अति हर्ष' हुआ। (यह निकट आनेपर देखा)। [पुनः, अति हर्ष भरतजीको कुशलपूर्वक एवं परा प्रेममें लीन देखकर हुआ। अथवा, उनको सद्‌गुरुस्वरूप जानकर उनके दर्शनसे पराभक्तिकी शिक्षा पा आनन्दित हुए जिससे पुलकादिसे पूर्ण हो गये। अथवा, जैसा पूर्व अ० काण्डमें कहा है कि *'प्रेम अमिय मंदर बिरह भरत पयोधि गँभीर। मथि प्रगटे सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर' 'राम-भगति-रस-सिद्धि हित भा यह समउ गनेस' 'रामभगत अब अमिय अघाहू। कीन्हेहु सुलभ सुधा बसुधाहू'* इत्यादि वह प्रेम-दर्शनसे प्राप्त हो गया। लंकाके सब परिश्रमका यह फल प्रभुने उनको दिया, यह समझकर अथवा भरतप्रेम जो प्रभुने वर्णन किया था वह देखकर और उनका सत्सङ्ग प्राप्त होनेसे तथा बड़े सुअवसरपर पहुँच जानेसे 'अति हर्ष' हुआ। (मा० म०)। पुनः, उनकी रामाकार दशा देख 'अति हर्ष' हुआ। (करु०)] (ख) श्रीभरतजीकी प्रेमदशा देखकर हनुमान्‌जी प्रेमदशाको प्राप्त हो गये, शरीर पुलकित हो गया, नेत्रोंसे जल बह चला। श्रीभरतजीकी प्रेमदशाका यह प्रभाव ही है कि उसे देखकर दूसरोंको प्रेम होता है, यथा—*'जपहिं राम कहि लेहिं उसासा। उमगत पेमु मनहुँ चहुँ पासा॥ द्रवहिं बचन सुनि कुलिस पषाना। पुरजन प्रेम न जाइ बखाना॥'* (२। २२०) (ग) श्रीसीताजीकी दशा देख हनुमान्‌जी दुखी हुए थे, यथा—*'परम दुखी भा पवनसुत देखि जानकी दीन।'* (सु० ८) और श्रीभरतजीकी दशा देख अति हर्ष हुआ। भेदका तात्पर्य यह है कि श्रीजानकीजी पराधीन हैं, साँसतिमें हैं और दीन हैं इन कारणोंसे हनुमान्‌जीको दुःख हुआ और भरतजी स्वतन्त्र हैं, प्रेममें मग्न हैं, यह देख सुखी हुए। भरतजीकी रामप्रेमसे जो दशा थी वह हनुमान्‌जीकी भागवतप्रेममें हुई। (रा० शं० श०)

२ (क) *'बहुत भाँति सुख मानी।'* इति। इससे सूचित किया कि श्रीरामजीने हनुमान्‌जीसे जो कहा था कि यदि भरतजीका मन राज्य करनेमें प्रसन्न हो तो हम अयोध्या न चलें उसे सुनकर हनुमान्‌जी दुःखी हुए थे अब श्रीभरतजीका वैराग्य देखकर सुख माना।—(पां०)। यह बात वाल्मीकीय आदिमें है (पर मानसका यह मत नहीं जान पड़ता)। [लं० १२० (१-२) देखिये।] ऐसी विरहाग्निमें अपना शरीर बचाया और राज्यकी रक्षा की, पिताका वचन निबाहा और भाईकी भक्ति निबाही इत्यादि सब बातें समझकर हनुमान्‌जी सुखी हुए—यही *'बहुत भाँति'* है—(पां०)।

नोट—१ 'अति हर्ष' और *'सुख मानी'* का कारण वाल्मीकीयके अनुसार लेना मानसके अनुकूल नहीं है। पद्मपु० पाताल० २ मेंके श्रीरघुनाथजीके वचन यहाँ प्रसंगानुकूल हैं। वहाँ श्रीरामजीने वायुपुत्र हनुमान्‌जीसे कहा है कि—'हे वायुपुत्र! आप भरतजीके पास जाइये जो हमारे वियोगमें हठसे विभ्रम और दुर्बल हो गये, वल्कल पहने हैं, सिरपर जटा धारण किये हैं, फल भी नहीं खाते, जिनके लिये परस्त्री माताके और कंचन ढेलेके सदृश है और प्रजा पुत्रतुल्य है। ऐसा धर्मका समझनेवाला हमारा भाई वियोगजनित दुःखाग्निकी ज्वालासे दग्धशरीर है। श्रीहनुमान्‌जीने देखा कि वे तो मानो सत्त्व और धर्मकी मूर्ति हैं।'

बस, यह देखकर 'अति हर्ष' हुआ कि भरतजी ऐसे क्यों न हों कि जिनके प्रेमके वशमें रघुनाथजी आतुर हो रहे हैं! जैसा सुना वैसा पूरा पाया। दूसरे, भजनानन्दी भजनानन्दीको देखकर सुखी होता ही है। वे रामगतप्राण रामपरायण भरतजीकी स्थिति देखकर मुग्ध हो गये।

पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज कहते हैं कि शास्त्रमें भार्या, पुत्र और दास—इन तीनको निर्धन बताया है। यथा—'**त्रयस्ते अधना लोके संख्याताः सौम्य साधुभिः। भार्या पुत्राश्च दासाश्च त्वमनुज्ञातुमर्हसि॥**' '**यस्यैते तस्य तद्धनम्**'—(मनुः)। भार्याकी सम्पत्ति पतिकी होती है, इसी तरह पुत्र और दासकी जानो। अतः '***बहुत भाँति***' यह है कि भरतको राज्य धर्म और न्यायपूर्वक प्राप्त था—'***जेहि पितु देइ सो पावइ टीका***', दूसरे इनके पिता कैकेयीको वचन दे चुके थे, इससे भी भरतको धर्मयुक्त राज्य प्राप्त था। फिर वह राज्य कैसा कि इन्द्र और धनद जिसकी लालसा करें; तब भी भरतजीने उसे न ग्रहण किया। भरतजीका भायप, भरतजीका त्याग, भरतजीका धर्म-विचार कि बड़े भाईके रहते हमारा राजा होना अधर्मका मूल होगा, भरतजीका रामजीमें अतिशय प्रेम, उनके वियोगमें कैसी दशा हो रही है—इत्यादि '***बहुत भाँति***' से सुख माना। यह मत भी ठीक है।

नोट—२ '***बोलेउ श्रवन सुधा सम बानी***' इति*। (क) वाणीको सुधा कहनेसे श्रवणको पुट (दोना) जनाया, यथा—'***नाथ तवानन ससि स्त्रवत कथा सुधा रघुबीर। स्त्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मति धीर॥***' (उ० ६२) (ख) '***सुधा सम***' से मृतकजियावनी सूचित की, यथा—'***मृतक जिआवनि गिरा सुहाई। स्त्रवनरंध्र होइ उर जब आई। हृष्ट पुष्ट तन भये सुहाये!''''''''''स्त्रवन सुधासम बचन सुनि पुलक प्रफुल्लित गात।***' (१। १४५) में जो दशा मनु-शतरूपाजीकी दिखायी वही इन वचनोंसे श्रीभरतजीकी हुई जैसा आगे वर्णित है। पुनः '***सुधा सम***' अर्थात् परम प्रिय, यथा—'***मोहिं परम प्रिय बचन सुनाये।***' हनुमान्‌जीने तन-मन-वचन तीनों प्रकारसे भरतजीमें भक्ति की। '***पुलक गात लोचन जल बरषेउ***' यह तनकी भक्ति है, '***मन महँ बहुत भाँति सुख मानी***' यह मनकी भक्ति है और '***बोलेउ स्त्रवन सुधा सम बानी***', यह वचनकी भक्ति है।

जासु बिरह सोचहु दिन राती। रटहु निरंतर गुनगन पाँती॥ ३॥
रघुकुलतिलक सुजन सुखदाता। आएउ कुसल देवमुनित्राता॥ ४॥

शब्दार्थ—**पाँती**=पंक्ति, वाक्यावली, पदावली। **सुजन**=स्वजन, अपने भक्त=सज्जन।

अर्थ—जिनके वियोग-विरहमें (आप) दिन-रात शोच करते हैं और जिनके गुणसमूहकी पंक्ति निरन्तर (बिना अन्तर या बीच पड़े) रटते हैं वे रघुकुलमें शिरोमणि अपने जनोंको सुख देनेवाले और देवताओं तथा मुनियोंके रक्षक कुशलपूर्वक आ गये। (अर्थात् रघुकुलको और अवधवासियोंको सुख देनेके लिये आ गये)॥†३-४॥

टिप्पणी—१ '***जासु बिरह सोचहु''''''''''***' इति। (क) '***राम बिरह सागर महँ भरत मगन मन होत***' पर प्रसंग छोड़ा था। अब वहींसे पुनः कहते हैं '***जासु बिरह।***' तात्पर्य कि जो बात आँखोंसे देखी वही मुखसे कहते हैं। भरत रामविरहमें डूब रहे हैं। इत्यादि हनुमान्‌जीने आँखों देखा है। यथा—'***राम बिरह सागर''''''''''। बैठे देखि कुसासन''''''''''राम राम रघुपति जपत।***' हनुमान्‌जी नौका (नाव) रूप आ गये। '***जासु बिरह सोचहु''''''''''***' यह कहना डूबनेवालेके पास नावका भिड़ना है। [कैसे जाना कि राम-विरहका सोच है? इससे कि रामनाम रटनेके साथ अश्रुप्रवाह जारी है। '***दिन राती***' क्योंकि वहाँ सोनेकी जगह भी न थी, केवल कष्टसे बैठनेभरकी जगह थी। (रा० शं० श०)] (ख) '***दिन राती***' देहलीदीपक है अर्थात् दिन-रात सोचते हो, दिन-रात गुणगान रटते हो।—[श्रीभरतजी दिन-रात विरहमें सोचा करते हैं, यथा—'***निसि न नींद नहिं भूख दिन भरत बिकल सुचि सोच॥***' (अ० २५२) ['***रटहु निरंतर***' यहाँ रटना इस कारण कहा कि विरहमें नियम नहीं रहता, कभी पूरा, कभी आधा, कभी तिहाई, कभी चौथाई, कभी ऊँचे स्वरसे, कभी लघु (धीमे) स्वरसे विरहवन्त नाम रटता है और जितना मनमें आ गया उतना ही रटने

* अब्रवीन्मधुरं वाक्यं सुधया सेचयन्निव—(आ० रा० १। १२। ७७)।

† 'यं त्वं चिन्तयसे रामं तापसं दण्डके स्थितम्। अनुशोचसि काकुत्स्थ स त्वां कौशलमब्रवीत्॥' (अ० रा० १४। ५५) अर्थात् हे काकुत्स्थ! जिनका आप चिन्तन कर रहे हैं, जिन दण्डकारण्यस्थित तापस रामजीके लिये आप सोच कर रहे हैं वे आपसे कुशल पूछते हैं।

लगा। यथा—*'राम राम रटि भोरु किय कहइ न मरमु महीस॥'* (२। ३८) अयोध्याकाण्डमें जो कहा था कि ***'चातक रटनि घटे घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई॥'*** (२। २०५। ४) वह यहाँ चरितार्थ हुआ। रटहु **'निरंतर'** में वही भाव है अर्थात् आपकी रटन कभी घटती नहीं, एक तार एक रस निरन्तर चल रही है। (मा० म०)] (ग) *'गुनगन पाँती'* नाम गुणगण हैं, भरतजी नाम पंक्तिसे रटते हैं—*'राम राम रघुपति जपत।'*

प० प० प्र०—*'रटहु निरंतर गुनगन पाँती।'* इति। देखिये, श्रीसीताजीके सम्बन्धमें भी कहा है कि *'रटत रहति हरि नाम', 'नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट'* और श्रीदशरथजीके सम्बन्धमें भी *'राम राम रटि भोरु किय'* कहा है, और श्रीभरतजीने कहा ही है कि *'चातक रटनि घटे घटि जाई'* इत्यादि वाक्योंसे सिद्ध होता है कि प्रेमतृषार्त्त व्याकुल जीवका यह कर्तव्य है और यह उसका सहज स्वभाव ही बन जाता है कि वह अपने प्रेमपात्र उपास्यके गुणगण अथवा नाम ही रटता रहता है और कभी स्वप्नमें भी दूसरेका भरोसा नहीं करता।

नोट—१ (क) *'रघुकुलतिलक'* का भाव कि तिलकसे मनुष्य पवित्र होता है वैसे ही आपसे यह रघुकुल पवित्र हुआ। आप इसका सुयश और पवित्रता बढ़ानेवाले हैं। इसीलिये आप कुलको छोड़कर सुर-मुनिकी रक्षाके लिये वनको चले गये थे, उनकी रक्षासे कुलका यश बढ़ाकर सुजनोंको सुख देने आये (पं० रा० व० श०)। आपने अपने कुलके धर्मका पालन किया। आपके पिता तथा सभी रघुवंशी राजा देवताओंकी रक्षा दैत्यों और राक्षसों आदिसे करते आये हैं। और आपने तो रावणका वध करके इन्द्रादि समस्त देवताओंको उसके बन्दिगृहसे छुड़ाया, ब्रह्मा और शिवजीकी साँसति भी मिटायी। (यथा—***'बेद पढ़ैं बिधि संभु सभीत पुजावन रावन सों नित आवैं। दानव देव दयावने दीन दुखी दिन दूरिहि तें सिरु नावैं॥'*** (क० ७। २) यह काम कोई भी न कर सका था जो आपने किया। आपके पूर्वज अनरण्य महाराजको तो उसने मार ही डाला था। अतः आपको समस्त रघुवंशियोंमें तिलकरूप अर्थात् श्रेष्ठ कहा। (ख) *'सुजन सुखदाता'* इति। पद्म० पु० पा० में जो हनुमान्‌जीसे प्रभुने कहा है कि हमारे आगमनका संदेश देकर उन्हें शीघ्र सुखी करो, उसीके अनुकूल हनुमान्‌जीने *'सुखदाता'* विशेषण दिया है, यथा—**'येन मे सोऽनुजः शीघ्रं सुखमेति मदागमात्'** (२। ९)। (ग) *'आएउ कुसल'* इति। श्रीरामजीने जो हनुमान्‌जीसे कहा था कि *'भरतहि कुसल हमारि सुनाएहु॥'* (६। १२०। २) यह वचन यहाँ *'रघुकुलतिलक.........आएउ कुसल'* कहकर चरितार्थ किया। पर केवल श्रीरामजीका आगमन सुनानेसे श्रीभरतजीका दुःख दूर नहीं हो सकता, इसीसे अगली चौपाईमें श्रीसीता-लक्ष्मणसहित प्रभुका आगमन कहते हैं। (पं० रा० कु०)।

रा० प्र०—*'आयउ कुसल देवमुनि त्राता'* का भाव कि जिनके हेतु लीला आरम्भ की थी उनका कार्यकर लीला पूरी करके आ गये। किस प्रकार लीला पूरी करके आये सो आगे कहते हैं—*'रिपु रन.........।'*

रिपु रन जीति सुजस सुर गावत। सीता सहित* अनुज प्रभु आवत॥ ५॥
सुनत बचन बिसरे सब दूखा। तृषावंत जिमि पाइ† पियूषा॥ ६॥

अर्थ—शत्रुको रणमें जीतकर श्रीसीता-लक्ष्मणसहित प्रभु आते हैं, देवता उनका सुन्दर यश गाते हैं॥ ५॥ वचन सुनते ही (श्रीभरतजीको) सब दुःख ऐसे भूल गये जैसे जलका प्यासा अमृत पाकर दुःख भूल जाय‡॥ ६॥

☞समानार्थी श्लोक ये हैं—**'जित्वा शत्रुगणान् रामः प्राप्य चानुत्तमं यशः'** (वाल्मी० ६। १२५। १३) **'निकटे हि पुरः प्राप्तं विद्धि रामं सलक्ष्मणम्'** (प० पु० पा० २। १६) **'हृदयाच्च गतः शोको हर्षास्त्रैः पूरिताननः॥** (२। १५)**.........रामागमनसंदेशामृतसिक्तकलेवरः। प्रापयद्धर्षपूरं हि सहस्त्रास्यो न वेद्म्यहम्॥'** (१७)

* 'अनुज सहित'—(पाठान्तर)।

† 'पाव पिऊषा'—(का०), 'पाइ'—(छं०, भा० दा०, रा० गु० द्वि)।

‡ १—उदाहरण अलंकार है। भरतजी रामचन्द्रजीका सन्देशा सुनना चाहते ही थे, यह चितचाही बात बिना किसी उद्योगके हनुमान्‌जीने उन्हें सुनायी, यह 'प्रथम प्रहर्षण अलंकार' है।—(वीर)

आ० रा० में भी ऐसा ही है—'**मा विशस्वानलं वीर राघवोऽद्य समागतः॥**' '**सीतया लक्ष्मणेनापि भरद्वाजाश्रमं प्रति।**.........' (१। १२। ७७-७८)।

टिप्पणी—१ *'रिपु रन जीति सुजस.........'* इति (क) क्षत्रियको विजय अत्यन्त प्रिय है, इसीसे विजय सुनायी। देवमुनित्राता हैं इसीसे देवता और मुनि उनका सुयश गाते हैं। रिपुको रणमें जीता, रावणके बन्दीखानेसे देवताओंको छुड़ाया, यह बन्दीछोर सुयश गाते हैं। [यथा—*'अरिपुर जारि उजारि-मारि रिपु बिबुध सुबास बसाए। धरनि धेनु महिदेव साधु सबके सब सोच नसाए॥ दई लंक थिर थपें बिभीषन.........।'* (गी० लं० २२), *'मारे रन रातिचर रावनु सकुल दल अनुकूल देव मुनि फूल बरषतु हैं। नाग नर किन्नर बिरंचि हरि हर हेरि पुलक सरीर हिये हेतु हरषतु हैं। बाम ओर जानकी कृपानिधानके बिराजैं देखत बिषाद मिटे मोद करषतु हैं। आयसु भो लोकनि सिधारे लोकपाल सबै तुलसी निहाल कै कै दिए सरखतु हैं॥'* (क० लं० ५८), *'दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाए नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर नाग नर सुमुखि सना हैं॥'* (गी० ७। १३)] (ख) पूर्व जो कहा है कि *'आएउ प्रभु श्रीअनुजजुत कहन चहत अब कोइ'*, उसका यहाँ चरितार्थ है—*'सीता सहित अनुज प्रभु आवत'* इति। श्रीभरतजी सीताहरण और लक्ष्मणजीका शक्तिसे घायल होना सुन चुके हैं इसीसे हनुमान्‌जीने *'सीता सहित अनुज'* प्रभुका आना कहा। प्रथम *'आएउ'* कहा जो वर्तमान (भूतकालिक?) क्रिया है,—*'आएउ कुसल देवमुनित्राता।'* कारण कि श्रीभरतजी विरह-समुद्रमें डूब रहे थे उनको सावधान करनेके लिये भूतकालिक* क्रिया 'आये' कहना आवश्यक समझकर कहा कि वे आ गये। अब वर्तमान† क्रिया कहते हैं—*'सीता सहित अनुज प्रभु आवत'* अर्थात् अभी आये नहीं, आते हैं। *'रिपु रन जीति.........आवत'* से उसके पूर्वकी अर्धाली *'रघुकुलतिलक.........त्राता'* का अर्थ स्पष्ट होता है। रिपुको रणमें जीतनेसे रघुकुलकी शोभा हुई, सुजनोंको सुख मिला और देवताओं एवं मुनियोंकी रक्षा हुई।—[पहले सीता-हरण हुआ, पीछे लक्ष्मण-शक्ति। उसी क्रमसे यहाँ कहा। (पं० रा० व० श०)]

नोट—१ प्रथम वाक्य *'रघुकुलतिलक सुजन सुखदाता। आएउ'* में केवल रघुनाथजीके आगमनकी ध्वनि निकलती है। श्रीलक्ष्मणजीका जीवित होना और श्रीसीताजीकी प्राप्ति उससे नहीं सिद्ध होती। अतः वे विरह-विचार-सागरमें अभी डूब ही रहे हैं। वे चिन्तामें पड़ गये कि श्रीरघुनाथजी अकेले आ रहे हैं, इसका क्या कारण है? क्या लक्ष्मणजी जीवित नहीं हुए? क्या रावणवध नहीं हुआ? श्रीसीताजीकी प्राप्ति क्या नहीं हुई? वे साथ क्या और क्यों नहीं हैं? इत्यादि। परम बुद्धिमान् हनुमान्‌जी इस बातको ताड़ गये और तुरंत इनका भी आगमन कहकर उन्होंने सब संदेहोंको दूर कर दिया। रघुनाथजीका आगमन सुननेसे कुछ दुःख तो दूर हुए—*'कपटी कुटिल नाथ मोहि चीन्हा.........'* *'बीते अवधि रहे जो प्राना।.........'* इत्यादि प्राणकी रक्षा तो हो गयी। पर सब दुःख (सीताहरण, लक्ष्मण-शक्ति इत्यादिके) दूर न हुए थे, इसीसे भरतजी प्रथम वाक्यपर कुछ बोल न सके थे और दूसरा वाक्य *'सीता सहित अनुज प्रभु आवत'* सुनते ही तुरंत उन्होंने प्रश्न किया। पुनः, सब दुःख=१४ वर्ष वियोगविरहमें जो दुःख हुए थे—*'दरस हरष दस चारि बरष के दुख पलमें बिसराये'* —(गी० लं०२२)।

२ पूरा वचन सुने बिना बीचसे ही बात काटकर बोलना सदाचार नहीं है, अतः बीचमें न बोले हों यह भी हो सकता है। पुनः,

३ पद्मपु० पा० २। ७—९ में श्रीरामचन्द्रजीने इसी प्रकार क्रमसे कहा है, वही क्रम यहाँ रखा गया है। वहाँ भी प्रभुने पहले केवल अपना आगमन फिर सबके सहित अपना आगमन कहनेको कहा है। पहले कहा कि '**मदागमनसंदेशपयो वृष्ट्याऽशुसिंचतम्**' अर्थात् हमारे आगमनके संदेशरूपी जल वा दुग्धसे उनको शीघ्र सींचिये। यह कहकर फिर कहा कि श्रीजानकीलक्ष्मणसहित तथा सुग्रीवादि कपिश्रेष्ठों और विभीषणादि राक्षसोंसहित रामजी आ रहे हैं' यह कहना।

---

* यहाँ टिप्पणीमें 'वर्तमान' और † यहाँ 'भविष्य' शब्द है।

४ 'सहित' श्लेषार्थी है। अर्थात् 'समेत' तथा 'स+हित' (=सब सखाओं-मित्रोंसहित) भी इस तरह पद्मपुराणका आशय भी यहाँ आ गया।

शीला—श्रीहनुमान्‌जीने यहाँ श्रीरामजीका आना दो बार कहा। *'रघुकुलतिलक सुजन सुखदाता। आवत कुसल'* और *'सीता सहित अनुज प्रभु आवत।'* पहले कहा कि *'सुजन सुखदाता देवमुनि त्राता'* कुशलपूर्वक आते हैं। बिना रावण-मरणके देवमुनित्राता नहीं हो सकते और बिना लक्ष्मण-सीतासहित लौटे कुशलपूर्वक आना नहीं कहा जा सकता; इसीसे *'आवत कुसल देवमुनित्राता'* कहकर फिर दुबारा यह सब भी कहा। पुनः दुबारा कहनेका दूसरा कारण यह है कि *'रघुकुल तिलक""""देवमुनित्राता'* कहनेपर भरतजीका दुःख इन वचनोंको सुनकर दूर न हुआ और न उनको सुख हुआ।—इतनेसे आनन्द न होनेका हेतु यह है कि इतनी बात तो जानते ही हैं कि श्रीरघुनाथजी सर्वकालमें कुशलरूप हैं और सदा देवमुनित्राता हैं। रावणवधके पहले भी थे और अब भी हैं। *'निसिचर बंस जनम सुर त्राता'* रावणवधके पूर्व ही विभीषणके ये वचन हैं। इससे *'देवमुनित्राता'* से रावणवध निश्चय नहीं होता और बिना रावणवध सीताजीकी प्राप्ति असम्भव थी—यह समझकर भरतजीके मनकी बात उन्होंने कही जिससे दुःख दूर हो गया।

पां०—*'सब दूखा'* इति। श्रीरामजीके न आनेका दुःख, सीताहरण-दुःख, लक्ष्मणशक्तिका दुःख, शत्रुके युद्धका दुःख और देवमुनिके बंदीमें होनेका दुःख इत्यादि, सब दुःख हैं। (विशेष नोटमें लिखा जा चुका है)। *'बिसरे'* कथनका भाव कि रामविरह दुःखके स्मरण होनेसे दुःख होता है, अतः उसका 'बिसर' (विस्मरण हो) जाना कहा।

""""तृषावंत जिमि पाइ पियूषा

पं०—जैसे तृषावंत जलमात्र चाहता है और उसे प्राप्त हो जाय अमृत, तब उसे जैसी प्रसन्नता होती है वैसी ही प्रसन्नता श्रीभरतजीको हुई। वियोगातुर भरतजी श्रीसीता-राम-लक्ष्मणका कुशल-समाचारमात्र चाहते थे और उनको रावण-ऐसे शत्रुका वध एवं देवताओंद्वारा प्रशंसित होकर आज ही आनेका समाचाररूपी अमृत मिल गया।*

शीला—यहाँ 'सब दुःख' भूलनेमें तृषावंतको 'पीयूष' प्राप्त हो जानेसे उत्प्रेक्षा करनेमें भी एक गम्भीर भाव है।

रावणवध अमिअरूप है जिसे पाकर कुलसहित वे सजीव हुए। अभीतक रघुवंश मृतकवत् था। रघुकुलके राजा अनरण्य रावणसे हार गये थे जिससे रघुकुलका पूर्व यश जाता रहा था, यही कुलका मृतकवत् होना है—*'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥'* **'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते'** इति गीतायाम्, **'सम्भावितस्य स्वजनात्पराभवो यदा स सद्यो मरणाय कल्पते'** इति श्रीमद्भागवते।

दूसरा भाव तो स्पष्ट है कि भरतजी श्रीरामवियोग-विरहाग्निरूप विषम विषसे तप्त होकर तृषित थे, रामदर्शन (रामागमन) समाचाररूपी जल पाकर प्यास बुझी—*'रूपबिंदु जल होहिं सुखारी।'*

मा० म०—पहले दोहेमें भरतजीको संदेह था कि *'कारन कवन नाथ नहिं आए'* उसका निर्वाह विद्यानिधि हनुमान्‌जीने *'आएउ कुसल देवमुनित्राता'* इस चरणमें कर दिया। इस अमृतमय शब्दके सुननेसे किंचिन्मात्र भी दुःख न रह गया, चारों ओर सुख छा गया। जैसे अमृतके प्रभावसे कणमात्र लगी हुई चोटका दुःख फिर नहीं रह जाता।

नोट—यहाँ लोगोंने शंका की है कि 'भरतजी तो रामदर्शनरूपी जलके प्यासे थे फिर अमृत क्या मिल गया?' और इसका समाधान भी अपने-अपने मतानुसार किया है।

---

* मा० शं०—कार कहते हैं कि यहाँ पीयूष नाम जलका है—'नाम प्रेम पीयूष ह्रद तिन्हहुँ किये मन मीन।' प्यास दूध, शर्बत या अमृतसे नहीं जाती, जलसे ही जाती है। पीयूषका काम है जिलाना। यहाँ संदेशरूपी जलने उन्हें मरनेसे बचा लिया। जलमें अमृत-समान गुण देख उसे 'पीयूष' कहा।—पर इस भावसे उनके कथनसे भी यहाँ अमृत ही अर्थ सिद्ध हुआ।

प्यासेको जल मिल जाय तो प्यास बुझ जाय पर और दुःख दूर नहीं होते, अमृत मिलनेसे प्यास भी गयी और शरीर भी नीरोग हुआ। मानो नया जीवन हुआ वैसे ही भरतजीको इन वचनोंसे श्रीरामदर्शनकी प्राप्ति हुई, यथा—*'मिले आजु मोहि राम पिरीते'* साथ ही शरीर भी पुष्ट हो गया और सीताहरण तथा लक्ष्मणशक्तिके दुःख भी दूर हुए, उनको पुनर्जीवन प्राप्त हुआ। श्रीरघुनाथागमनसूचक वचनरूपी जलसे प्राणोंकी रक्षा हो ही गयी थी, उसपर भी यह विशेष समाचार अमृत पा गये। रामदर्शनकी चाह जलकी प्यास है। जलके प्यासेको अमृत मिल जाना, यह मुहावरा है। जलके प्यासेको यदि अमृत मिल जाय तो उसके आनन्दका क्या कहना! वैसा ही सुख इनको हुआ। जहाँ प्राणरक्षाके लाले पड़े हों वहाँ अमरत्वकी प्राप्ति हो जाय तो कैसे सुख होगा, यह वही जान सकता है। उत्प्रेक्षा वा सादृश्य इतनेहीमें है तथापि विशेष भाव भी इसमें कहे गये हैं।

पंजाबीजी, पं० रामकुमारजी एवं बाबा हरिदासजीके मतानुसार *'रिपु रन जीति सुजस सुर गावत'* अर्थात् रावणवध-समाचार अमृतरूप है। किसी-किसीका यह मत है कि 'रघुनाथजीसे उनके भक्तोंकी महिमा सदैव बड़ी कही गयी है। सुग्रीव, विभीषण, जाम्बवन्त और अङ्गदादि भक्त भी साथमें आ रहे हैं—यही 'अमृतवत्' है। पर, इस समाधानमें यह त्रुटि पड़ती है कि अभी तो हनुमान्‌जीने स्पष्ट रूपसे इनका आगमन कहा नहीं है।

५ किसी-किसीने 'पीयूष' का अर्थ जल किया है। पर यहाँ 'अमृत' अर्थ विशेष सङ्गत है। पद्मपु० पा० २ में भी 'अमृत' ही शब्द आया है। जैसे वहाँ भरतजीका संदेश सुननेपर, अमृतसे सींचा जाना कहा है—'**रामागमनसंदेशामृतसिक्तकलेवरः**' वैसे ही यहाँ भी 'पीयूष' शब्द दिया है। पुनः पूर्वके ***'सुधा सम बानी'*** के योगसे यहाँ 'पीयूष' का अर्थ अमृत ही विशेष सङ्गत है, यद्यपि पीयूषका अर्थ जल भी है। पुनः यथा—(आ० रा० १। १२। ७९)-'**इति तद्वाक्यसुधावृष्टिसेचितो भरतो मुदा।**'

गीतावलीमें भी सुधा और पीयूष ही शब्द आये हैं। यथा—*'रन जीति रामराउ आए। सानुज सदल ससीय कुसल आजु अवध आनंद बधाए॥.........' 'दई लंक थिर थपे बिभीषन बचन पियूष पियाए। सुधा सींचि कपि कृपा नगर नर नारि निहारि जिआए॥'* (गी० लं० २२)

६ *'बोले श्रवन सुधा सम बानी'* उपक्रम और *'तृषावंत जिमि पाइ पियूषा'* उपसंहार है।

को तुम्ह तात कहाँ ते आए। मोहि परम प्रिय बचन सुनाए॥७॥
मारुतसुत मैं कपि हनुमाना। नाम मोर सुनु कृपानिधाना॥८॥
दीनबंधु रघुपति कर किंकर। सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर॥९॥

अर्थ—हे तात (प्यारे)! तुम कौन हो और कहाँसे आये हो? तुमने मुझे परम प्रिय वचन सुनाये॥ ७॥ हनुमान्‌जी बोले, हे दयासागर! सुनिये, मैं पवनपुत्र हूँ, वानर हूँ, हनुमान् मेरा नाम है॥ ८॥ मैं दीनबन्धु रघुनाथजीका सेवक हूँ—यह सुनते ही भरतजी आदरसहित उठकर गले लगकर मिले॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) *'को तुम्ह'* तुम कौन हो? इस प्रश्नमें भाव यह है कि तुम कोई पथिक हो या श्रीरामजीके ही कोई हो।—[पुनः, भाव कि आप देवता हैं या मनुष्य हैं जो मुझपर दया करनेके लिये यहाँ आये हैं? यथा—'**देवो वा मानुषो वा त्वमनुक्रोशादिहागतः**' (वाल्मी० ६। १२६। ४३)। मा० म० कार *'तात'* का अर्थ पिता करते हुए अर्थ करते हैं कि तुम कौन हो और तुम्हारे पिता कौन हैं, इसीसे उन्होंने पिताका नाम भी बताया। (ख) *'कहाँ ते आए'* का भाव कि तुमने यह वृत्तान्त किसीसे सुना है या तुम स्वयं श्रीरामजीके पाससे आते हो अथवा अनुमानसे कहा है। [पुनः, भाव कि क्या तुमने श्रीरघुनाथजीको देखा है? यदि देखा है तो तुम उनको पीछे छोड़कर पैदल यहाँ उनसे पहले कैसे आये? (पं०)] ☞ भरतजीके मनमें निश्चय नहीं हुआ, इसीसे वे उठकर मिले नहीं। जब यह निश्चय हो गया कि ये श्रीरामजीके यहाँसे आये हैं और रामदूत हैं, तब उठकर भेंट की जैसा आगे स्पष्ट है। (ग) ***'परम***

प्रिय' का भाव कि प्यासेको जल प्रिय है, अमृत परम प्रिय है अथवा 'परम प्रिय' श्रीरामजीके आगमनका संदेश है, इससे 'परम प्रिय' है।—['परम प्रिय' अर्थात् इससे बढ़कर कोई पदार्थ संसारमें प्रिय नहीं है—*'एहि संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥'* मयंककार यह अर्थ करते हैं कि तुम मेरे परम प्रिय हो क्योंकि तुमने मुझे परम प्रिय वचन सुनाया है। [यहाँ प्रश्नसहित गूढ़ोत्तर अलंकार है—(वीर)] 'परम प्रिय' को दीपदेहली मानकर यह अर्थ भी कर सकते हैं।] यहाँतक प्रश्नोंके उत्तर हुए—

प्रश्न	उत्तर
१ *को तुम्ह तात*	*मारुतसुत मैं कपि हनुमाना। नाम मोर सुनु कृपानिधाना॥*
२ *कहाँ ते आए*	*दीनबंधु रघुपति कर किंकर।* अर्थात् उनके पाससे आता हूँ।

३ ☞विप्ररूप धारण किये हैं, इसीसे कहते हैं कि मैं कपि हूँ।

नोट—१ *'मारुतसुत मैं कपि हनुमाना।'''''''* इति। (क) बड़ोंसे मिलनेपर अपना परिचय देनेमें अपना और अपने पिताका नाम लेनेकी रीति है। यथा—*'पितु समेत कहि कहि निज नामा। लगे करन सब दंड प्रनामा॥'* (१। २६९। २), *'कोसलेस दशरथ के जाए। हम पितु बचन मानि बन आए॥ नाम राम लछिमन दोउ भाई॥'* (४। २। १-२) अतः 'मारुत सुत' कहकर पिताका नाम 'मारुत' बताया। पुनः, पूर्व जो *'कहाँ ते आए'* से शंका ध्वनित होती थी कि यदि तुम उन्हें देखकर यहाँ आये हो, तो तुम उनसे पहले कैसे आ गये, उसका उत्तर भी 'मारुत सुत' कहनेसे हो गया। पवनका पुत्र होनेसे अत्यन्त वेगसे पहले ही पहुँच गया (पं०)। प्र० स्वामीजीका मत है कि 'मारुत' =जिसके बिना अथवा जिसके बढ़ जानेसे मृत्यु होती है। 'मारुतसुत' से जनाया कि यदि हनुमान्‌जी इस समय न मिलते तो श्रीभरतजीके प्राणपखेरू उड़ जाते। मानसमें इस शब्दका प्रयोग इसी अर्थमें पाया जाता है। यथा—*'ताहि मारि मारुतसुत बीरा। बारिधि पार गयउ मति धीरा॥'* (५। ३। ५) इत्यादि। (ख) *'मैं कपि हनुमाना'* इति। श्रीहनुमान्‌जी विप्ररूप धरकर आये थे। जब श्रीभरतजीने प्रश्न किया कि *'को तुम्ह तात''''''''*, तब अपना परिचय देते हुए कि 'मैं मारुतसुत हूँ, कपि हूँ' तत्काल ही वे वानररूप हो गये और तब अपना नाम 'हनुमान्' कहा, यह *'मैं कपि' 'हनुमाना'* शब्दों और क्रमसे स्पष्ट है। इस तरह *'मारुतसुत', 'कपि', 'हनुमाना'* तीन विशेषणोंसे तीन बातें कहीं—पिताका परिचय, अपने रूपका परिचय और अपना नाम। (मा० म०) पुनः भाव कि हनुमान् नाम और कपि जाति कहकर समाचारकी सत्यताका विश्वास कराया। अर्थात् मैं वही हूँ जो पूर्व द्रोणाचलको लिये हुए यहाँ आया था और आपको उस समयतकका सब समाचार सुनाया था (पं०)। अथवा हनुमान् नाम बताया और अपनी लघुता दिखानेके लिये 'कपि' कहा। (पं०) मयंककार यह भी लिखते हैं कि तीन विशेषणोंसे तीन गुण दिखाये। पवनका गुण शीतल। कपि अशुभ (यथा—*'असुभ होइ जिन्ह के सुमिरन ते बानर रीछ बिकारी।', 'कपि चंचल सब ही बिधि हीना॥ प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा॥'* (५। ७। ७-८) और 'हनुमान्' से बल सूचित किया।

प्र० स्वामीजी कहते हैं कि 'कपि' से अशुभत्वका भाव लेना उचित नहीं है। **कं आनन्दं पिबति इति कपिः**।=तत्त्वतः ईश्वर या ईश्वरस्वरूप। श्रीहनुमान्‌जी श्रीरामलक्ष्मणजी और शङ्करजीके तुल्य हैं। भरतजी भी आगे कहते हैं *'मिले आजु मोहि राम पिरीते।'* (मेरी तुच्छ बुद्धिमें तो 'कपि' कहकर अपनी जाति बतायी है)।

२ *'नाम मोर सुनु कृपानिधाना'* इति 'कृपानिधान' के भाव कि (क) वेषान्तर देख आप बुरा न मानें (रा० च० मिश्र)। (ख) कपिको अमंगल जान मुझपर रूठियेगा नहीं, आप मुझपर पूर्व भी कृपा कर चुके हैं; जैसे श्रीरामजी कृपाके स्वरूप हैं वैसे ही आप भी हैं। (ग) आप रामभ्राता हैं, सर्वज्ञ हैं, आपने प्रश्न करके मुझपर कृपा दर्शित की है (पं० रा० व० श०)। (घ) हैं तो सेवक और वेष है विप्रका, प्रणाम भी नहीं किया और यदि भरतजी दण्डवत् करें तो महान् अपराध, अपना नाम बतावें तो कुछ जानकर क्रोध न करें, इत्यादि विचारोंसे कुछ कहते न बन पड़ा तब कृपा-गुणका आश्रय लिया।

अत: 'कृपानिधान' सम्बोधन किया (वै०)।

२—'*दीनबंधु*......' इति। सुग्रीव, विभीषण, देवता आदि दीन थे, यथा—

सुग्रीव—'*तेहि सन नाथ मयत्री कीजै। दीन जानि तेहि अभय करीजै॥*

विभीषण—*रघुबंसबिभूषन दूषनहा। कृत भूप बिभीषन दीन रहा॥*

देवता—*दीनबंधु दयाल रघुराया। देव कीन्हि देवन्हपर दाया॥*

समस्त दीनोंकी रक्षा श्रीरामजीने की है यही बात हनुमान्‌जी कह रहे हैं।

३ '*दीनबंधु रघुपति कर किंकर*' इति। वानर कहकर रघुपतिका किंकर कहनेके लिये '*दीनबंधु*' विशेषण देकर जनाया कि कपिको किंकर बनाना यह उनकी दीनबंधुता प्रकट करता है। अपना नाम और किंकर कहकर जनाया कि आपसे पूर्व भेंट हो चुकी है। (पं० रा० व० श०) किंकर कहकर अपनेको उनका दूत और भेजा हुआ जनाया (प० प० प्र०)। पुन: भाव कि आप दीन हैं और श्रीरामचन्द्रजी आपके बंधु हैं। वैसे ही मैं भी दीन था, मुझे दीन जानकर अपना किंकर बनाकर मुझे सनाथ किया और अपना संदेशा मेरे द्वारा भेजा (मा० म०)। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'मारुतसुत' कहकर श्रीहनुमान्‌जीने अपनेको ब्राह्मण बताया। कपि कहकर देवांश जनाया। इतनेपर भी जब श्रीभरतजी न बोले तब दीनबंधुका किंकर कहा। अर्थात् मेरा वर्ण, कुल और नाम कुछ भी नहीं है, मैं तो किंकर हूँ जैसी प्रभुकी आज्ञा होती है वैसा करता हूँ। इसीसे विप्ररूपसे यहाँ आया।

खर्रा—भरतजीके दो प्रश्न हैं। प्रथम प्रश्न यह है कि '*को तुम्ह तात*' हे तात! तुम कौन हो? इसका उत्तर '*मारुतसुत मैं कपि हनुमाना। नाम मोर सुनु कृपानिधाना॥ दीनबंधु रघुपति कर किंकर*' यह है। दूसरा प्रश्न यह है कि '*कहाँ ते आए*', आप कहाँसे आये हैं? इस बातका उत्तर हनुमान्‌जी कहने न पाये कि ('*रघुपति कर किंकर*' और नाम सुनते ही भरतजी भेंटने लगे।—यह भाव '*सुनत भरत*......' का है।

मा० म०—'*सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर*' इति। जब हनुमान्‌जी सुग्रीवके भेजनेसे विप्ररूप धरकर रामचन्द्रजीके पास गये तब रघुनाथजीने उनको हृदयसे उस समयतक न लगाया जबतक वे विप्ररूपमें रहे। कपिरूप प्रकट करनेपर ही हृदयसे लगाया। वैसे ही यहाँ भरतजी तबतक हनुमान्‌जीसे न मिले जबतक वह विप्ररूप बनाये रहे; यह किष्किंधाकाण्डका उत्तर है।

नोट—मा० म० ने इस प्रसंगकी बहुत-सी चौपाइयोंको पूर्व आये हुए कुछ चौपाइयोंका उत्तर (अर्थात् स्पष्टीकरण वा चरितार्थ) कहा है।

पूर्व	उत्तर
सेवउँ अवध अवधि लगि जाई	*१ रहा एक दिन अवधि अधारा*
अवधि पार पावउँ जेहि सेई	*२ समुझत मन दुख भएउ अपारा*
जैहौं अवध कवन मुँह लाई। नारि हेतु प्रिय बंधु गँवाई॥	*३ कारन कवन नाथ नहिं आये*
रामसीय तन सगुन जनाए। अ० ७	*४ भरत नयन भुज दक्षिण फरकहिं बारहिं*......
सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी। अ० ६	*५ जानि सगुन मन हरष अति*
जीवन लाहु लषन भल पावा	*६ अहह धन्य लछिमन बड़ भागी*
सब तजि राम चरन लउ लावा	*७ राम पदारबिंद अनुरागी*
कुटिल कुबंधु कुअवसरु ताकी	*८ कपटी कुटिल मोहिं प्रभु चीन्हा*
न तरु फेरिअहि बंधु दोउ नाथ चलउँ मैं साथ	*९ ताते नाथ संग नहिं लीन्हा*
देखि दोष कबहुँ न उर आने	*१० जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ*
बीते अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर	*११ बीते अवधि रहे जो प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना*
चातक रटनि घटे घटि जाई। बढ़उ प्रेम सब भाँति भलाई	*१२ रटहु निरंतर गुनगन पाँती*

बिप्ररूप धरि कपि तहँ गयऊ — *१३ बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गएउ*
निज तन प्रगट प्रीति उर छावा — *१४ मारुतसुत मैं कपि हनुमाना*
तब रघुपति उठाइ उर लावा — *१५ सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर*

मिलत प्रेम नहिं हृदय समाता। नयन स्रवत जल पुलकित गाता॥१०॥
कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते॥११॥

शब्दार्थ—पिरीते=प्रिय, प्यारे। यथा—*'हा रघुनन्दन प्रान पिरीते। तुम्ह बिनु जियत बहुत दिन बीते॥'* (२। १५५। ७) दरस=दर्शनसे।

अर्थ—मिलते हुए प्रेम हृदयमें नहीं समाता (अर्थात् हृदय प्रेमसे ऐसा परिपूर्ण हो गया है कि उसमें जगह न रही तब वह नेत्रों आदिद्वारा बह चला), नेत्रोंसे जल गिरता है और शरीर पुलकित हो गया॥ १०॥ (श्रीभरतजी बोले) हे कपि! तुम्हारे दर्शनसे समस्त दुःख जाते रहे, आज मुझको प्यारे रामजी मिले*॥ ११॥

टिप्पणी—१ [*'भेंटेउ उठि सादर'* के पश्चात् *'मिलत प्रेम नहिं हृदय समाता'* कहकर जनाया कि बारम्बार मिलते हैं, अघाते नहीं (रा० च० मिश्र)। उठकर प्रेमसे मिले यही सादर मिलना है। गले और हृदयसे अँकवार भरकर मिले।] *'मिलत प्रेम नहिं हृदय समाता।'* यह प्रेम कहकर उसकी दशा दूसरे चरणमें कहते हैं कि नेत्रोंसे जल गिरता है, शरीर पुलकित है। ☞जब (यहाँ) रामसमान मानकर हनुमान्‌जीसे मिले तब लिखा कि प्रेम हृदयमें नहीं समाता। और, जब खुद (स्वयं) रामजीसे मिले तब भरतजीको प्रेममूर्ति कहा, यथा—*'जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा लही।'* तात्पर्य कि जब हनुमान्‌जीसे मिले तब हृदय भिन्न रहा और प्रेम भिन्न रहा और जब रामजीसे मिले तब सारा शरीर प्रेममय हो गया, मन भिन्न न रह गया।

वीर—हनुमान्‌जीके मिलनेसे भरतजी बेहद प्रसन्न हुए। उनके मिलनेको अलभ्य लाभ रामचन्द्रजीका प्रेमपूर्वक मिलना मानना 'द्वितीय विशेष अलंकार' है। [मिलान कीजिये—'**आलिंग्य भरतः शीघ्रं मारुतिं प्रियवादिनम्। आनन्दजैरश्रुजलैः सिषेच भरतः कपिम्।**' (अ० रा० १४। ५९) अर्थात् प्रियवचन बोलनेवाले मारुतिजीको शीघ्र भरतजीने हृदयसे लगाकर अपने प्रेमानन्दसे उत्पन्न अश्रुजलसे सींच दिया।]

टिप्पणी—२ (क) *'कपि'* इति। हनुमान्‌जीने बताया कि मैं कपि हूँ इसीसे भरतजी *'कपि'* संबोधन देते हैं।—[वेष तो झूठा ही है—(वै०)] (ख) *'तव दरस सकल दुख बीते'* इति। श्रीरामजीके मिलनेसे सब दुःख दूर होते हैं, यथा—*'मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा'* (४। ७। १९) हनुमान्‌जीका मिलना राममिलनके समान है, इसीसे सब दुःखोंका बीतना कहा। साधुके मिलनेसे श्रीरामजीके मिलनेका सुख होता है।

रा० प्र०—सकल दुःख वह है जो ''अभी *'नाथ नहिं आये' 'लछिमन बड़ भागी'* आदि रामविरह-अनुतापसे तप्त हो प्रलाप-सा कथन हो रहा था।'' (नोट—यहाँ दूसरी बार दुःख बीतना कहनेमें पुनरुक्ति नहीं है। पूर्व *'सुनत बचन बिसरे सब दूषा'* ये वक्ताके वचन थे और यहाँ भरतजीके वचन हैं। दोनों स्थानोंपर सब दुःख वही हैं।)

नोट—स्मरण रहे कि श्रीरामजीने हनुमान्‌जीको लक्ष्मणजीसे दूना—*'तै मम प्रिय लछिमन ते दूना'* कहा है और आगे सबको भरतजीसे भी अधिक कहेंगे। यहाँ भरतजी स्वयं भी उनको रामसमान अर्थात् अपनेसे अधिक कहते हैं।

बार बार बूझी कुसलाता। तो कहुँ देउँ काह सुनु भ्राता॥१२॥
यह संदेस सरिस जग माहीं। करि बिचार देखेउँ कछु नाहीं॥१३॥

---

* १—प्रायः प्राचीन सब टीकाकारों एवं वर्तमानकालके विशेष टीकाकारोंके मतानुसार यही अर्थ अर्धाली ११ का है। पर पाँड़ेजी और बैजनाथजी यह अर्थ करते हैं कि—'हे रामके प्यारे कपि! जो तुम आज मुझसे मिले तो तुम्हारे दर्शनसे हमारे सब दुःख मिट गये।' रा० प्र० भी 'राम पिरीते' का अर्थ 'राम-प्रेमपात्र' करते हैं। किसी-किसीने 'पिरीते' का अर्थ 'प्रीतिपूर्वक' किया है।

नाहिन तात उरिन मैं तोही। अब प्रभुचरित सुनावहु मोही॥ १४॥

शब्दार्थ—**कुसलाता**=कुशल-समाचार, यथा—*'दक्ष न कछु पूछी कुसलाता।'*

अर्थ—(मारे प्रेमके) बारम्बार कुशल पूछकर कहते हैं 'हे भाई! सुनो, तुमको क्या दूँ?॥ १२॥ मैंने विचारकर देख लिया कि संसारमें इस संदेशके समान (इसकी तुलनाका) कोई भी पदार्थ नहीं है॥ १३॥ हे तात! मैं तुमसे उऋण नहीं हूँ, अब मुझे प्रभुका चरित सुनाइये॥ १४॥

टिप्पणी—१ (क) *'बार बार बूझी।'* मारे प्रेमके बार-बार पूछते हैं। अथवा सब प्रकारकी कुशल और सबकी (श्रीरामजी, श्रीजानकीजी, श्रीलक्ष्मणजी, सेना इत्यादिकी पृथक्-पृथक्) कुशल पूछते हैं, इसीसे बार-बार पूछना कहा! (ख) कुशल पूछनेकी चाल (रीति) है, इसीसे कुशल पूछी। अथवा, कुशलकी बड़ी चाह थी क्योंकि संग्राम होता रहा है। अतएव बार-बार कुशल पूछते हैं। (ग) *'देउँ काह',* क्या दूँ अर्थात् तुम्हारे देने योग्य मैं नहीं हूँ (वा इस उपकारके बदलेमें देने योग्य संसारमें कोई वस्तु नहीं है तब मैं क्या दे सकता हूँ)। *'सुनु भ्राता'* इति। श्रीहनुमान्‌जीने अपनेको रघुपतिका किंकर कहा और श्रीभरतजी अपनेको श्रीरामजीका किंकर मानते हैं, इसीसे 'भ्राता' सम्बोधन किया।—[ऊपर हनुमान्‌जीको रामसमान कहा है—*'मिले आजु मोहि राम पिरीते।'* अतः बड़े भाई हुए। इससे भी 'भ्राता' सम्बोधन युक्तियुक्त है। जब रामरूप ही हैं तब उनको कोई दे ही क्या सकता है और उनसे उऋण कब हो सकता है? पुनः भ्राता सम्बोधन देकर सूचित किया कि मेरा सब कुछ तुम्हारा है—इस तरह उनको श्रीरामजीका परम प्रिय बना दिया।]

२ (क) *'यह संदेस',* इति। भाव कि संदेशसे अधिक देना चाहिये, किन्तु अधिककी कौन कहे इसके बराबरका भी कुछ नहीं है। श्रीरामजीके समान संसारमें कोई पदार्थ नहीं है। संदेशमें श्रीरामजीकी प्राप्ति है, इसीसे कहते हैं कि इस संदेशके समान संसारमें कुछ नहीं है। (ख) *'नाहिंन तात उरिन मैं तोही'* इति। संसारमें अधिक देनेको न हो तो बराबरकी चीज तो दे, यदि बराबरकी न हो तो कम न देना चाहिये, कम देना बहुत अनुचित है। अतएव कहते हैं कि मैं तुमसे उऋण नहीं हूँ। उऋण नहीं हूँ, यह कहकर जनाया कि भरतजी बड़े कृतज्ञ हैं। *'नाहिन तात उरिन मैं तोही',* इससे बढ़कर देना कुछ नहीं है; चक्रवर्ती राजा होकर ऐसा कहना सब कुछ दे चुकनेके बराबर है।

☞ मिलान कीजिये—'**जगाद मम तन्नास्ति यत्तुभ्यं दीयते मया। दासोऽस्मि जन्मपर्यन्तं रामसंदेशहारकः॥**' (पद्म० पु० पा० २। १८) अर्थात् भरतजीने कहा कि मेरी समझमें तो ऐसी कोई चीज नहीं है जो श्रीरामजीका संदेश देनेवालेको उसके बदलेमें दी जा सके। मैं आजीवन आपका दास हूँ।

वि० त्रि०—सरकारकी बड़ी कृपा हनुमान्‌जीपर है। अपनेको तो उनका ऋणी बता ही चुके हैं। लक्ष्मणजीका प्राण बचाया है, अतः वे भी ऋणी हैं। जगदम्बा सीताजी स्वयं कह चुकी हैं; *'का देउँ तोहि त्रैलोक्य महँ कपि किमपि नहिं बानी समा'* अतः वे भी ऋणी हो चुकी हैं; अब भरतजीको भी उनका ऋणी बनाते हैं और साथ-ही-साथ सम्पूर्ण अयोध्याको ऋणी बनाया, यथा—*'बिप्र रूप धरि पवन सुत आइ गयउ जनु पोत।'*

टिप्पणी—*'अब प्रभुचरित सुनावहु.........'* इति। श्रीहनुमान्‌जीके मिलनेसे श्रीरामजीके मिलनेके समान सुख हो चुका; यथा—*'कपि तव दरस सकल दुख बीते। मिले आजु मोहि राम पिरीते॥'* इतनेपर भी श्रीरामचरित सुननेकी बड़ी अभिलाषा है। इससे सूचित किया कि रामभक्तोंको श्रीरामजीसे रामचरित अधिक प्रिय है। प्रमाण, यथा—*'जिन्हके प्रभु ते प्रभु चरित पियारे'* (गी० १। १४४)। [श्रीरामजीका चरित्र भक्तोंको संतोष देनेवाला है, इसीसे उसे सुनानेको कहा। यथा—'**श्रावयामास श्रीरामवृत्तं संतोषकारकम्।**' (आ० रा० १। १२। ८१) यह उनका जीवनधन ही है; उनके प्राणोंका आधार है, जैसे मीनको जल। यथा—*'रामभगतजन जीवन धन से।'* (१। ३२। १२) (पं० रा० व० श०)। इसीके अवलम्बसे श्रीहनुमान्‌जी सदा पृथ्वीपर विचरते रहते हैं। पुनः दूसरा भाव चरित सुननेका अ० रा० ६। १४। ६४-५ के अनुसार यह है कि उससे श्रीरघुनाथजीके आगमनका पूर्ण विश्वास हो जायगा। यथा—'**राघवस्य हरीणां च कथमासीत्समागमः। तत्त्वमाख्याहि भद्रं ते विश्वसेयं वचस्तव॥**' पर यह भाव मानसकविको अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि जो चरित वे सुनना चाहते हैं वह पूर्व ही सुन चुके हैं।

अ० रा० में पूर्व हनुमान्-भरत-भेंट कभी हुई ही नहीं थी, इससे वहाँ वैसा प्रश्न और शंका योग्य ही थी, यहाँ नहीं]।

मा० म०—श्रीजानकीजीका संदेशा श्रीरामजीको और श्रीरामजीका संदेश श्रीजानकीजीको देकर हनुमान्‌जीने उन दोनोंको ऋणी किया।—(लक्ष्मणजीको द्रोणाचल लाकर जीवित कर उनको ऋणी किया) और इन तीनोंका सन्देश देकर श्रीभरतजीको ऋणी बनाया और परिवारभरको अपने वश कर लिया। इसीसे सदा श्रीरामचन्द्रजीके सङ्ग रहे और रहते हैं। सब इनके वश हैं; अतः हनुमान्‌जीके दिये बिना अब कोई श्रीरामचन्द्रजीको नहीं पा सकता।

तब हनुमंत नाइ पद माथा। कहे सकल रघुपति गुन गाथा॥ १५॥
कहु कपि कबहुँ कृपाल गोसाईं। सुमिरहिं मोहिं दास की नाईं॥ १६॥

अर्थ—तब श्रीहनुमान्‌जीने चरणोंमें मस्तक नवाकर श्रीरघुनाथजीके सब चरित्र कहे॥ १५॥ श्रीभरतजी बोले—हे कपि! कृपाल स्वामी श्रीरामजी कभी मुझे दासकी तरह याद करते हैं अर्थात् जैसे स्वामी अपने दासकी सुध करते हैं उस प्रकार मेरी सुध करते हैं?॥ १६ ॥

टिप्पणी—१ *'तब हनुमंत नाइ पद माथा'* इति। *'तब'* अर्थात् श्रीभरतजीके यह कहनेपर कि मैं उऋण नहीं हूँ। चरणपर मस्तक नवानेका भाव कि—(क) आप ऐसा न कहें, मैं तो आपका दास हूँ। ☞इसी तरह जब श्रीरामचन्द्रजीने हनुमान्‌जीसे कहा था कि *'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥'* तब वे श्रीरामजीके चरणोंपर (व्याकुल होकर) गिरे थे, यथा—*'सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत। चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥'* (सु० ३२) अथवा (ख) हनुमान्‌जीने वक्ताभावसे रामचरित न कहा वरन् पाँव पड़कर कहा। इस प्रकार जनाया कि मैं आपका दास हूँ, मैंने केवल आपके प्रश्नका उत्तर दिया।

मा० म०—चरणपर सिर रखकर जनाया कि इसीसे मेरा शरीर बना है और मेरा धर्म है रामचरित कहना, मैं उसे प्रेमसे कहूँगा। अथवा इस चरणके रजके बलसे कहूँगा। वा, इसमें मुझे लगाइये।

पं०—भरतजीकी भक्ति देखकर अति प्रसन्नताके कारण, वा रघुपति गुणगान प्रारम्भ करते हैं, इसलिये सिर नवाया।

टिप्पणी—*'कहे सकल रघुपति गुन गाथा'* इति। जब श्रीहनुमान्‌जी संजीवनी लेकर लौटे थे तब उन्होंने श्रीभरतजीसे रामचरित संक्षेपसे कहा था, क्योंकि उस समय अवकाश न था, शीघ्र लङ्का पहुँचना था। अब उन्होंने (अरण्यसे यहाँतकका विस्तारसे) सब चरित कहे और कहा कि पुष्पकविमानपर आकाश-मार्गसे आये हैं, वैसे ही यहाँ भी आवेंगे—यह बात आगे *'बहुतक चढ़ी अटारिन्ह निरखहिं गगन बिमान॥'* (३) से स्पष्ट है।

गौड़जी—*'अब प्रभुचरित'''''''''तब कहे सकल'''''''''*' इति। अभीतक प्रभुका संदेशमात्र सुनाया है और अपना परिचय भी पूछनेपर दिया है। प्रभुका 'सकल' चरित सुनानेका अभिप्राय यह है कि लक्ष्मण-शक्ति-समय तो सुनने और सुनानेवाले दोनोंको बड़ी उतावली थी। यहाँ *'अब'* शब्द इस बातको प्रकट करता है कि श्रीभरतजी इस समय सीताहरण, युद्ध और विजयकी कथा कुछ अधिक विस्तारसे सुनना चाहते हैं। यहाँ *'सकल'* से भी अभिप्राय यही है कि सारी कथा इतने संक्षेपसे सुनाना कि स्वागतके लिये प्रबन्ध करनेमें भी किसी तरहका हर्ज न हो। उतावली इस समय भी है। प्रभुके चरणोंके दर्शनोंके लिये तो श्रीभरतजी भी मरणासन्न ही थे। वहाँ लक्ष्मणजीतक संजीवन बूटी पहुँची नहीं थी और यहाँ पहुँच चुकी है। श्रीभरतजी दर्शनकी आकुलताके साथ-साथ रघुपति-गुणगाथ सुननेके लिये भी व्याकुल हैं। इस कथाके अन्तमें हनुमान्‌जीने यह चर्चा जरूर की है कि विभीषणजी विश्रामके लिये रोकते थे उस समय प्रभुने श्रीमुखसे कहा था—*'भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कलप सम जात।'''''''''बीते अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर॥ सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥'* (लं० ११६)

इस प्रसङ्गमें अनुज-प्रीतिका निर्देश है। परन्तु भरतजी दास्यरसके उपासक हैं, इसीलिये उतनेसे सन्तुष्ट न होकर पूछ बैठते हैं—*'कहु कपि कबहुँ कृपाल गोसाईं·········।'*

टिप्पणी—३ यहाँ साधुका दर्शन, स्पर्श और समागम तीनों लिखते हैं। *'कपि तव दरस सकल दुख बीते'* यह दर्शन है, *'मिलत प्रेम नहिं हृदय समाता'* यह स्पर्श है और *'कहे सकल रघुपति गुनगाथा'* यह समागम है। जब भगवत्कृपा होती है तब ये तीनों प्राप्त होते हैं, यथा—*'जब द्रवइ दीनदयाल राघव साधु संगति पाइए। जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये॥'* (वि० १३६)

नोट—१ *'कहु कपि कबहुँ·········'* इति। (क) यद्यपि हनुमान्‌जीने अपनेको *'कपि'* कहकर अपनी जाति बतायी और अपनी लघुता सूचित की तथापि श्रीभरतजीके *'कपि'* सम्बोधनमें 'कपि' की उस व्युत्पत्तिकी ओर भी संकेत है, जिसका अर्थ है **'आनन्दं पिबति।'** भाव कि तुमने आकर मुझे आनन्दित किया है, अतः अब यह बताकर और भी आनन्द दो। यहाँका *'कपि'* शब्द भी सिद्ध करता है कि श्रीहनुमान्‌जी अपनेको *'कपि'* कहनेके साथ ही कपिरूप हो गये थे। (ख) *'कबहुँ'* का भाव कि दास लोग अपनेको सदा अपराधी समझनेके कारण स्मरणके योग्य नहीं समझते, इसीसे *'कबहुँ'* स्मरण करनेका प्रश्न करते हैं। यथा—*'सहज बानि सेवक सुखदायक। कबहुँक सुरति करत रघुनायक॥'* (५। १४। ५) पुनः भाव कि तुम किष्किन्धासे लेकर अबतक बराबर साथ रहे हो और उनके परम प्रिय हो, अतः स्मरण किया होगा तो तुमको अवश्य मालूम होगा। अतः बताओ कि कभी याद आयी। (ग) *'कृपाल गोसाईं'* इति। भाव कि स्वामीमें कृपा न हो तो वह सेवकका स्मरण कभी नहीं करता, पर श्रीरामजी कृपाल स्वामी हैं, इसलिये उन्होंने मेरा स्मरण किया होगा। (पं० रा० कु०) पुनः भाव कि यद्यपि मैं अपराधी हूँ तथापि वे कृपाल और गुसाईं हैं, वे दासके अपराधको नहीं देखते, कृपा ही करते हैं। यथा—*'जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भै मोहि कारन सकल उपाधी॥·········सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ॥'* (२। १८३) श्रीभरतजी प्रभुके कृपाल स्वभावको खूब जानते हैं और यह भी जानते हैं कि ऐसा कृपाल स्वामी दूसरा नहीं है। यथा—*'मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥ मो पर कृपा सनेह बिसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी।·········मैं प्रभु कृपा रीति जिय जोही॥'* (२। २६०) *'जगु अनभल भल एक गोसाईं।'* (२। २६७) *'स्वामि गोसाँइहि सरिस गोसाईं। मोहिं समान मैं साइँ दोहाईं·········कृपा भलाई आपनी नाथ कीन्ह भल मोर। दूषन भे भूषन सरिस सुजस चारु चहुँ ओर॥'* (२। २९८) *'निज करतूति न समुझिअ सपने। सेवक सकुच सोचु उर अपने॥'* (२। २९९। ७) इत्यादि स्वभावका स्मरण कर *'कृपाल गोसाईं'* विशेषण देकर स्मरण करनेकी बात पूछी। भाव कि मेरे अवगुण तो ऐसे हैं कि मैं स्मरणयोग्य नहीं हूँ तथापि कृपा गुणवश कभी उन्होंने स्मरण किया हो सो बताओ।

पंजाबीजीका मत है कि प्रभुको अन्तर्यामी समझकर *'गोसाईं'* विशेषण दिया। और बाबा हरिदासजीका मत है कि प्रभुकी मन-इन्द्रिय सदा उनके हाथमें होनेसे *'गोसाईं'* कहा। सम्भवतः इसका आशय यह है कि वे समझते हैं कि हमारे दास जीव हैं, इन्द्रियोंके वशमें हैं, परवश होनेके कारण उनकी करनीका खयाल न करना चाहिये। इसीसे वे दासकी चूक नहीं मानते।

मा० म० का मत है कि हनुमान्‌जीने कथामें श्रीरामचन्द्रजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीजानकीजीका चरित्र वर्णन किया, उसमें श्रीभरतजीका कुछ भी स्मरणतक नहीं आया तब भरतजीने व्याकुल होकर प्रेमसहित पूछा कि कभी दास-ऐसा भी मुझको स्मरण करते हैं?

२ *'सुमिरत मोहि दास की नाईं'* इति। भाव कि समयपर दासकी सुध आती है कि इस समय हमारा अमुक दास होता तो यह काम कर देता। (पं० रा० कु०) पुनः *'निजदास'* की तरह स्मरण करनेका भाव कि वैसे तो सर्वकालमें मेरा स्मरण बने रहनेका योग है, क्योंकि मेरे ही हेतु श्रीसीता-राम-लक्ष्मणका वनवास हुआ, मेरे ही कारण वनमें रहकर उन्हें सब ऋतुओंमें सब प्रकारके कष्ट सहने पड़े तब भूलनेका योग ही कौन है, पर यह स्मरण शत्रुभावका है, दासभावसे नहीं। मैं तो रघुवंशदूषण हूँ, इससे मेरा दूषण कभी न विचारकर उस दूषणको मिटानेके लिये कभी मुझे अपना दास समझ मेरा

स्मरण करते हैं। (शीला)

रा० शं० श०—ऐसे ही श्रीजानकीजी और श्रीविभीषणजीके प्रश्न हैं।—

श्रीभरतजी—'*कहु कपि कबहुँ कृपाल गोसाईं। सुमिरहिं मोहिं दास की नाईं।*'

श्रीसीताजी—'*कबहुँ नयन मम सीतल ताता। होइहहिं निरखि स्याम मृदु गाता॥*' (५। १४। ६)

श्रीविभीषणजी—'*तात कबहुँ मोहिं जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुल नाथा॥*' (५। ७। २)

श्रीहनुमान्‌जीने सबको यथार्थ उत्तर दिया और सबकी मनोकामना भी पूर्ण करायी। इससे जनाया कि श्रीहनुमान्‌जी-सरीखा रामरहस्यका ज्ञाता और भक्तोंको भगवान्‌से मिलानेवाला दूसरा कोई नहीं है—'***साहिब कहूँ न रामसे तोसे न वसीले।***'

नोट—३ श्रीभरतजी, श्रीसीताजी और श्रीविभीषणजी इन तीनोंके उपर्युक्त उद्‌धृत प्रश्नोंसे ज्ञात होता है कि भरतजी भगवद्‌द्वारा अपना स्मरण पूछते हैं, महारानीजी नेत्रोंसे दर्शनकी लालसा प्रकट करती हैं और विभीषणजी कृपाकी चाह रखते हैं। भेदका कारण स्पष्ट है। श्रीभरतजीको शंका हो रही थी कि '*जानि कुटिल किधौं मोहि बिसराएउ*'; अतः उनका प्रश्न कि हमारा कभी स्मरण करते हैं, यथार्थ ही है। श्रीभरतजीको १४ वर्ष बाद दर्शन होवेंगे ही, अतः वहाँ दर्शनकी बातका प्रयोजन नहीं। श्रीजानकीजी जानती हैं कि प्रभु '*कोमलचित कृपाल रघुराई*' हैं और उनकी '*सहज बानि*' है कि वे '*सेवक सुखदायक*' हैं; अतः उन्हें आश्चर्य है कि उन्होंने '*केहि हेतु धरी निठुराई*' अतः उनका पूछना कि '*कबहुँक सुरति करत रघुनायक*' भी यथार्थ है। वे सोच रही हैं कि हमें बिलकुल भुला दिया है—'*अहह नाथ हौं निपट बिसारी।*' श्रीभरतजी प्रभुकी आज्ञासे अवधमें रह रहे हैं और श्रीमहारानीजीको रावण जबरदस्ती ले आया है, ये उसकी कैदमें हैं, अपनेसे फिर प्रभुसे मिल सकें यह सम्भव नहीं; इसीसे वे दूसरी बात और भी यह पूछती हैं कि क्या कभी उनके दर्शन अब मुझको हो सकेंगे। विभीषणजी राक्षसोंके बीचमें हैं। बड़ी साँसतिमें पड़े हैं, धर्म-निर्वाह बड़ा कठिन हो रहा है—'*सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्ह महुँ जीभ बिचारी॥*' नाथके शत्रुओंके बीचमें हैं। कुसंगति बिना हरिकृपाके छूट नहीं सकती। इसीसे वे कृपा चाहते हैं। दर्शन करना चाहें तो उनको रुकावट नहीं, जब चाहें आकर दर्शन कर सकते हैं—इस तरह करके गोस्वामीजीने जहाँ जैसा सुसंगत था वहाँ वैसा ही लिखा है।

छंद—निज दास ज्यों रघुबंसभूषन कबहुँ मम सुमिरन कर्‌यो।
सुनि भरतबचन बिनीत अति कपि पुलकि तन चरनन्हि पर्‌यो॥
रघुबीर निज मुख जासु गुनगन कहत अगजगनाथ जो।
काहे न होइ बिनीत परम पुनीत सदगुन सिंधु सो॥

अर्थ—'रघुवंशके भूषण श्रीरामजीने कभी निजदास (खास वा प्रिय दास) की तरह मेरा स्मरण किया', श्रीभरतजीके ये अत्यन्त विनम्र वचन सुनकर श्रीहनुमान्‌जी रोमाञ्चित-शरीर होकर उनके चरणोंपर पड़ गये। (मनमें विचारते हैं कि) जो चराचरनाथ हैं वे रघुनाथजी अपने मुखसे जिनके गुणगण वर्णन करते हैं वे श्रीभरतजी विनम्र, परम पवित्र और सद्‌गुणोंके समुद्र क्यों न हों (होना योग्य ही है)।*

टिप्पणी १—(क) '*निज दास ज्यों*' इति। श्रीरामजीको '*निज दास*' अत्यन्त प्रिय है, यथा—'*तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा॥*' (८६। ७) '*निज दास*'=प्रिय दास, अनन्य दास। इसी प्रश्नका उत्तर हनुमान्‌जीने आगे दिया है कि '*राम प्रानप्रिय नाथ तुम्ह*' (ख)—'रघुवंशभूषण' का भाव कि जैसे आभूषणसे तनकी शोभा होती है वैसे ही श्रीरामजीसे रघुवंशकी शोभा है। श्रीरामजी दासपर अत्यन्त कृपा करते हैं, इसीसे रघुवंशकी शोभा है कि रघुवंशी बड़े प्रणतपाल हैं। (ग)—'*सुमिरन कर्‌यो।*' भूत, भविष्य, वर्तमान

* 'वीर—प्रथम विशेष बात कही कि 'रघुबीर निज मुख जासु गुनगन कहत।' उसका समर्थन सामान्यसे किया कि 'अगजगनाथ जो', इतनेसे संतुष्ट न होकर पुनः विशेष सिद्धान्तसे इसे पुष्ट करना कि 'काहे न होइ०' विकस्वर अलंकार है।

तीन काल हैं इसमेंसे वर्तमानका स्मरण प्रथम पूछ चुके, यथा='*सुमिरहिं मोहिं दास की नाईं।*' '*सुमिरहिं*' वर्तमानकाल सूचित करता है, अब भूतकालमें स्मरण करना पूछते हैं, अत: भूतक्रिया '*कर्‍यो*' कहा। आगे स्मरण करेंगे, इस भविष्यके पूछनेका कुछ प्रयोजन ही नहीं।

नोट—१ '*सुमिरहिं' मोहिं दास की नाईं।*' पूर्व कहकर फिर छन्दमें '*कबहुँ मम सुमिरन कर्‍यो*' कहा। सुमिरहिं यह वर्तमानकाल है, जिससे भूतकालकी जो क्रिया बराबर होती आयी है उसीका वर्तमानमें जारी रहना सूचित होता है। वस्तुत: यह वर्तमान भी मुख्यतया भूतकालका ही द्योतक है। इस वर्तमानसे यह कदापि सूचित नहीं होता कि पहिले स्मरण नहीं करते थे अब करते हैं। आगेके छन्दमें शुद्ध भूतकालका रूप है। दोनोंमें कोई विरोध नहीं है। अविरोध होनेपर भी पुनरुक्ति दोष नहीं है। यह एक प्रकारका सिंहावलोकन है, जो रामचरितमानसमें छन्दोंके साथ प्राय: सर्वत्र देखा जाता है।

नोट—२ प्रभुको '*निजदास*' संसारमें सबसे अधिक प्रिय है, यथा—'*तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥*' (८६। ७) इसीसे वह प्राणप्रिय है; यथा—'*सत्य कहहुँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय॥*' (८७) अत: प्रभु अपने '*निज दास*' का सदैव स्मरण करते हैं, पर प्रभु अपने दासको भी कभी दासकी तरह स्मरण नहीं करते, कोई-न-कोई रिश्ता-नाता आत्मीयताका ही जोड़कर स्मरण करते हैं। श्रीहनुमान्‌जी आदर्श दास हैं, परन्तु श्रीरामजी उनको '*सुत*' कहते हैं, औरोंको सखा कहते हैं। आत्मीय भक्तोंसे माधुर्यभाव रहता है, ऐश्वर्यभाव नहीं। जहाँ ऐश्वर्यभाव व्यक्त करते हैं वहाँ जरूर अपने दास और भक्तोंका वर्णन करते हैं, यथा—'*मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा बिस्वासा।*' श्रीभरतजी '*निज दास*' हैं, इसीसे पूछते हैं कि हमारा स्मरण कभी करते हैं। इसी प्रकार श्रीजानकीजीने पूछा था—'*कबहुँक सुरति करत रघुनायक॥*' (५। १४) एक तो भरतजी शंकित थे ही कि '*जानि कुटिल किधौं मोहि बिसराएउ',* यह शंका संदेशसे मिट गयी थी, पर जब हनुमान्‌जी सारी कथा कह गये, कहीं प्रभुका इनको दासकी तरह स्मरण करना न कहा तब वे घबड़ा गये। इसीसे बार-बार पूछते हैं—'*सुमिरहिं मोहिं*' ,'*कबहुँ मम सुमिरन कर्‍यो*', क्या अपना दास कभी मुझे जानते हैं? इसके उत्तरमें हनुमान्‌जीने फिर भी दासकी तरह स्मरण करना न कहा, केवल प्रशंसा करने लगे।

टिप्पणी—२ '*बचन बिनीत अति*' यह कि इतने बड़े होकर भी श्रीभरतजी अपनेको स्मरण योग्य भी नहीं समझते। ऐसे दीन हैं, ऐसे अभिमानरहित हैं, यह समझकर हनुमान्‌जी पुलकित हुए और चरणोंमें पड़े। इसी तरह हनुमान्‌जीके '*दीनबंधु रघुपति कर किंकर*' यह वचन सुनकर भरतजी पुलकित हुए थे, यथा—'*सुनत भरत भेंटेउ उठि सादर॥ मिलत प्रेम नहिं हृदय समाता। नयन स्रवत जल पुलकित गाता॥*'

नोट—'*कपि पुलकि तन चरनन्हि परेउ।*' (क) श्रीरामचन्द्रजी तो श्रीभरतजीका निरन्तर स्मरण करते हैं; यथा—'*भरत सरिस को राम सनेही। जग जप राम राम जप जेही॥*', '*रामहि बंधु सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदउ जेहि भाँती॥*' (२। ७। ८) '*सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर॥*' (६। ११५) श्रीहनुमान्‌जीने यह सोचकर कि हमसे बड़ी चूक हुई, हमें यह प्रथम ही कह देनी चाहिये थी, हमने न कही, उसके क्षमार्थ चरणोंपर पड़े (पं० रा० व० श०)। श्रीरामचन्द्रजी प्रतिदिन स्मरण करते थे, यह बात हनुमान्‌जीने नहीं कही इससे भरतजी सूख गये तब हनुमान्‌जीने पद गहकर कहना योजित किया। (मा० म०) वा, (ख) भरतजीका मन अति सुकुमार है। वह श्रीरामचन्द्रजीसे विस्मरण होनेका दु:ख न सह सका। उनको विह्वल देख ये भी विह्वल हो गये और उनके चरणोंपर गिर पड़े। ऐसे प्रेमप्रवाहमें भरतचरण ही आधार हुआ। (मा० म०) अथवा, यह देखकर कि इनकी भक्ति हमसे भी अधिक है, उन्होंने प्रणाम किया और विचार आगे देते हैं कि '*रघुबीर निज*………*।*'

टिप्पणी—'*रघुबीर निज मुख*………' भाव कि ईश्वरका मुख मिथ्यावादरहित है, वे कभी झूठ नहीं बोलते, यथा—'*मुधा बचन नहिं ईश्वर कहई*', '*मृषा न कहहुँ मोर यह बाना*'॥ 'निज मुखसे कहने' का आशय यह है कि श्रीरामजी भरतजीकी कुछ बड़ाई नहीं करते, उनके यथार्थ गुणगण ही कहते हैं।

(ख) *'अगजगनाथ जो'* कहनेका भाव कि श्रीरामजी चर-अचर सबके स्वामी हैं, इतने बड़े स्वामीतक जब श्रीभरतजीके गुण गाते हैं, उनकी बड़ाई करते हैं, तब उनकी बड़ाई यथार्थ ही है। अथवा जब चराचरपति उनकी प्रशंसा करते हैं तब यह निश्चय ही सिद्ध होता है कि भरतजीके समान चराचरमें कोई नहीं है, यथा—*'सुनहु लखन भल भरत सरीसा। बिधिप्रपंच महँ सुना न दीसा॥'* (२। २३१। ८)

नोट—४ (क) *'काहे न होइ.........'* इति। भाव कि सर्वज्ञ स्वामी पात्र देखकर कृपा करते हैं, ये उनके कृपाके पात्र हैं, इसीसे ये सर्वगुण सम्पन्न हैं और इनका यश प्रभु श्रीमुखसे वर्णन करते रहते हैं (पं०)। श्रीहनुमान्‌जीने विनीत वचन सुने इसीसे प्रथम विनीत गुणका होना यहाँ कहते हैं तब और गुण। *'परम पुनीत'*=जिनमें रजोगुण और तमोगुणका लेश नहीं है। यथा—*'परम पुनीत भरत आचरनू।'* (२। ३२६। ५) 'सद्गुणसिंधु' हैं अर्थात् गम्भीरताके कारण जिनके गुणोंकी थाह नहीं है और न गुणोंका पार ही है कि कितने गुण हैं। पुनः विनीत कहकर तब सद्गुणसिन्धु-कथनका भाव कि बड़ेकी बड़ाई नम्रतासे ही है। नम्रता भावी योग्यताकी सूचना देती है। यथा—'**एवं वक्ष्यति को राजन्प्रभुः सन् वानरर्षभ। ऐश्वर्यमदमत्तो हि सर्वोऽहमिति मन्यते॥**' (वाल्मी० ५। ६४। १९) '**तव चेदं सुसदृशं वाक्यं नान्यस्य कस्यचित्। सन्नतिर्हि तवाख्याति भविष्यच्छुभयोग्यताम्॥**' (२०) (मधुवनसे श्रीसुग्रीवजीके पास पयान करनेके लिये युवराज अङ्गदने बड़े विनम्र वचन वानरोंसे कहे थे, उसीपर उन्होंने उनकी प्रशंसा की कि लोग ऐश्वर्य पाकर मदोन्मत्त हो जाते हैं, युवराज होकर आपने जैसे वचन कहे वे आप ऐसे स्वामीके योग्य ही हैं। आपकी यह नम्रता भावी योग्यताकी सूचना देती है।) यह सब तथा इनसे अधिक भाव इन शब्दोंमें भरे हुए हैं, इनके सम्बन्धमें '**भविष्यत्**' शब्दकी आवश्यकता नहीं रह गयी। [रा० च० मिश्र—*'काहे न होइ बिनीत.........'* इस कथनसे भरतजीका माहात्म्य हनुमान्‌जीको भी अगम जनाया। संजीवनी लेकर जाते समय हनुमान्‌जीकी यह असमर्थता कविने दिखायी भी है। यथा—*'तीर तें उतरि जस कह्यो चहै गुनगननि जयो है। धनि भरत धनि भरत करत भयो मगन मौन रह्यो मन अनुराग रयो है॥ यह जलनिधि खन्यो मथ्यो लँघ्यो बाँध्यो अँचयो है। तुलसिदास रघुबीर बंधु महिमा को सिंधु तरि को कबि पार गयो है॥'* (गी० ६। ११)]

दो०—राम प्रानप्रिय नाथ तुम्ह सत्य बचन मम तात।
पुनि पुनि मिलत भरत सुनि* हरष न हृदय समात॥
सोरठा—भरतचरन सिरु नाइ तुरित गएउ कपि राम पहिं।
कही कुसल सब जाइ हरषि चलेउ प्रभु जान चढ़ि॥ २॥

अर्थ—हे नाथ! आप श्रीरामजीको प्राणोंके समान प्रिय हैं। हे तात! मेरा वचन सत्य है।† यह सुनकर श्रीभरतजी बार-बार मिलते हैं, हृदयमें हर्ष नहीं समाता। श्रीभरतजीके चरणोंमें मस्तक नवाकर श्रीहनुमान्‌जी श्रीरामजीके पास तुरन्त गये‡ और सब कुशल जाकर कही; तब प्रभु प्रसन्न होकर पुष्पक विमानपर चढ़कर चले॥ २॥

नोट—१ (क) *'राम प्रानप्रिय नाथ तुम्ह'* इति। श्रीरामजीके *'भरतदसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात।'* इस वाक्यसे तथा उनकी *'सुमिरत अनुज प्रीति प्रभु पुनि पुनि पुलक सरीर'* इस दशासे श्रीहनुमान्‌जी भरतजीका प्राणप्रिय होना जानते हैं (रा० शं० श०)। जो वे जानते हैं और स्वयं देखा है वही उन्होंने कहा। पुनः, 'प्राणप्रिय' का भाव कि आपके बिना उनके प्राण बेहाल (विह्वल) रहते हैं, वे आपके दर्शनके लिये वैसे ही आतुर हैं, जैसे उनके विरहमें आप व्याकुल हैं (मा० म०)। 'प्राणप्रिय' हो यह कहकर जनाया कि सदा स्मरण करते हैं। *'सत्य बचन मम'* इति। श्रीभरतजीकी विनम्रता देखकर कहते हैं कि मेरा वचन सत्य है, मेरे वचनको झूठा न मानिये आप यह न समझें कि हमें प्रसन्न करनेके लिये ऐसा कहते हैं (पं० रा० कु०)।

* सन—मा० म०। † रा० प्र०—रामके तुम प्राणप्रिय और राम तुम्हारे नाथ, यह बात सत्य है।
‡ हनुमान्‌जीका चलना और तुरन्त पहुँचना कारण-कार्यका एक साथ वर्णन 'प्रथम हेतु अलंकार है'—(वीर)

२—*'पुनि पुनि मिलत'* अर्थात् विरहसे तप्त हृदयको शीतल करते हैं। अथवा प्रेम एवं कृतज्ञताके कारण बार-बार मिलते हैं। *'हरष न हृदय समात'* कहकर जनाया कि जितनी बार मिलते हैं उतनी बार सुख होता है और पुनः-पुनः मिलते हैं इसीसे हर्ष हृदयमें नहीं समाता (पं० रा० कु०)। पहले प्रेम हृदयमें नहीं समाता था, अब हर्ष हृदयमें नहीं समाता। ये दोनों बातें *'राम प्रानप्रिय नाथ तुम्ह'* अर्थात् श्रीरामजीकी अपने ऊपर परम अनुकूलता जानकर हुई (रा० शं० श०)।

टिप्पणी—१ *'तुरित गएउ'* तुरन्त गये कि श्रीरामजीको जाकर शीघ्र ले आवें। श्रीहनुमान्‌जी श्रीरामजीका समाचार लेकर तुरन्त अयोध्या आये, यथा—*'तुरत पवनसुत गवनत भएऊ'* और श्रीभरतजीका समाचार लेकर तुरन्त श्रीरामजीके पास गये। तात्पर्य कि भरतजीके बिना रामजी व्याकुल हैं—*'भरतदसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात',* वैसे ही श्रीरामजीके बिना भरतजी व्याकुल हैं। इसीसे हनुमान्‌जीने तुरंत जाकर दोनोंके क्लेश दूर किये।

२—*'हरषि चले'।* सबकी कुशल सुनकर हर्ष हुआ कि सबसे मिलेंगे।—(क्योंकि १४ वर्ष बहुत होते हैं, न जाने इतने ही दिनोंमें कितने ही मर गये होंगे पता नहीं और सन्देशके आने-जानेका पता नहीं है।) पुनः, पयानसमय हर्ष सगुन है। [पूर्व भरतकुशल विषयक कुतर्क मनमें हो रहा था वह जाता रहा, अतः *'हरषि चले'* (रा० प०)। वा, हर्ष इससे कि मेरे आनेकी प्रतिष्ठा रही, भरतजी जीते मिलेंगे। (मा० म०)]

हरषि भरत कोसलपुर आए। समाचार सब गुरहि सुनाए॥ १॥
पुनि मंदिर महँ बात जनाई। आवत नगर कुसल रघुराई॥ २॥
सुनत सकल जननी उठि धाईं। कहि प्रभु कुसल भरत समुझाईं॥ ३॥

अर्थ—प्रसन्न होकर श्रीभरतजी कोसलपुर (अयोध्यामें) आये और श्रीगुरुजीको सब समाचार सुनाया॥ १॥ फिर राजमहलमें बात जनायी कि श्रीरघुनाथजी कुशलपूर्वक अयोध्या आ रहे हैं॥ २॥ बात सुनते ही सब माताएँ उठ दौड़ीं। तब श्रीभरतजीने उन सबोंको प्रभुका कुशल समाचार कहकर सबको समझाया॥ ३॥

नोट—१ (क) *'हरषि भरत कोसलपुर आए'* इति। हर्षित इससे हुए कि मेरे ही कारण यह दुःखका भार सबपर पड़ा है अतः मैं ही चलकर सबका दुःख हरण कर सबको अपार सुख दूँ (मा० म०)। पुनः, पूर्व कहा ही है कि *'हरष न हृदय समात'* अतः वह हर्ष भरा हुआ ही है, परम प्रियके आगमनका हर्ष है, उसी दशामें सबको समाचार देने गये, सब सुनकर हर्षित होंगे, यह समाचार सबसे पहले मैं ही सुनाऊँ इत्यादि कारणोंसे *'हरषि .... आए'।* पुनः भाव कि पूर्व दुःखसहित आया करते थे, श्रीरामजीके न होनेसे सब उदास रहते थे (पं० रा० च० मिश्र)। (ख) *'कोसलपुर आए'* से जनाया कि श्रीहनुमान्‌जीसे नन्दिग्राममें भेंट हुई थी, जहाँ ये रहते थे। वहाँसे चलकर श्रीअयोध्यापुरीमें आये। देखिये, उधर तो *'हरषि चलेउ प्रभु जान चढ़ि'* और इधर *'हरषि भरत कोसलपुर आए।'* (ग) कवि यहाँ स्वामी-सेवकका अन्योन्य हर्ष वर्णन करते हैं। श्रीभरतजीका समाचार पाकर श्रीरामजीको हर्ष हुआ, यथा—*'कही कुसल सब जाइ हरषि चलेउ प्रभु',* और श्रीरामजीका समाचार पाकर श्रीभरतजीको हर्ष हुआ—*'हरषि भरत.........।'* (पं० रा० कु०) (घ) *'कोसलपुर'* का भाव कि अब अवधपुरी सब प्रकार कुशल है। जब और दिन अवधपुरीमें आते थे तब किसी प्रकारकी कुशल नहीं देखते थे, पर आज सब प्रकार कुशल देख पड़ता है—*'मन प्रसन्न सबकेर', 'नगर रम्य चहुँ फेर।'* (पं० रा० कु०)।

२—*'समाचार सब गुरहि सुनाए'* इति। सब कार्योंमें गुरु प्रधान हैं; अथवा श्रीभरतजी गुरुजीको सबसे अधिक मानते हैं—*'तुम्ह ते अधिक गुरहि जिय जाना'* (अ० १२९)। अतएव श्रीरामजीके आगमनका आनन्द समाचार प्रथम गुरुको सुनाया (पं० रा० कु०)। पुनः सर्वप्रथम श्रीगुरुजीके पास गये, क्योंकि वे मनमें खूब समझते हैं कि इतनी बड़ी प्रसन्नताका समाचार श्रीगुरुजीकी कृपासे सुननेको मिला। सरकार स्वयं कहते हैं कि *'गुर बसिष्ट कुल पूज्य हमारे। इन्ह की कृपा दनुज रन मारे॥'* अतः गुरुजीको प्रणाम करके

उन्हें सबसे पहले समाचार देना कर्तव्य था (वि० त्रि०)। ['सब समाचार' कि विरह-सागरमें मग्न थे, वैसे ही हनुमान्‌जी विप्ररूपसे आ गये। रावणका सपरिवार वध इत्यादि, प्रभुका पुष्पक विमानसे शृङ्गवेरपुर-तक आने और अब यहाँ आना ही चाहते हैं, यह सब कहा।]

'कोसलपुर' इति। इतिहाससे पता चलता है कि कोसलके दो भाग हैं। एक उत्तर कोसल, दूसरा दक्षिण कोसल। वाल्मीकीयमें श्रीअयोध्याजीको ही उत्तर कोसल बताया है—**'कोसलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान्। निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान्॥ अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता'** (१। ५। ५-६) महाभारतमें दो कोसलका उल्लेख बहुत स्पष्ट रूपसे है। उसके सभापर्वमें भीमसेनका उत्तर कोसल अयोध्याके राजा बृहद्‌बलको जीतना कहा है। यथा—**'अयोध्यायां तु धर्मज्ञं दीर्घयज्ञं महाबलम्। अजयत्पाण्डवश्रेष्ठो नातितीव्रेण कर्मणा। ततो गोपालकक्षं च सोत्तरानपि कोसलान्'** (३०। ३) माद्रीनन्दन सहदेवने दक्षिण कोसल तथा उसके पूर्वके राजाओंको जीता। (अध्याय ३१) श्रीमद्भागवत और महाभारतसे स्पष्ट है कि महाभारतयुद्धके समय उत्तर कोसल-(अयोध्या-) में बृहद्‌बल नामके सूर्यवंशी राजा थे जो चक्रव्यूहमें अभिमन्युके हाथ मारे गये और दक्षिण कोसलके नग्नजित् चन्द्रवंशी राजा थे जो भगवान् कृष्णकी पटरानी नाग्नजिती-(सत्या-) के पिता थे।

प्राच्यविद्यामहार्णव श्रीनगेन्द्रनाथ वसुने हिंदी विश्वकोषमें लिखा है कि 'अमरकण्टकसे दक्षिण कांगेरतक और पूर्वकी ओर हासदा तथा जोंक नदीसे पश्चिम वेणु गङ्गाकी उपत्यका भूमितक विस्तृत है। आजकल जिसे हम छत्तीसगढ़ या गोंडवन कहते हैं वही दक्षिण कोसल है।' आज (संवत् २०१२ में) छत्तीसगढ़में चार जिले हैं—दुर्ग (द्रुग), रायपुर, विलासपुर और रायगढ़। नागपुरसे रायगढ़तक सारा प्रान्त आज भी 'महाकोसल' के नामसे पुकारा जाता है।

सुप्रसिद्ध चीन यात्री ह्वेन च्यांगने दक्षिण कोसलका पर्यटन करके वहाँका विवरण लिखा है कि 'कलिङ्ग राज्यसे एक सौ पचास कोस उत्तर-पश्चिम चलनेसे कोसल जनपद मिलता है। इस देशका परिमाण ४१६ $\frac{१}{२}$ कोस है। इसकी प्रान्तसीमाके चारों ओर पहाड़ और जंगल हैं। इसकी राजधानी लगभग ३ $\frac{१}{४}$ कोस होगी। इससे लगभग पचहत्तर कोस दक्षिण अन्ध्र राज्य है (वे० भू०)।

टिप्पणी—१ *'पुनि मंदिर महँ बात जनाई'* इति। *'जनाई'* से सूचित किया कि राजमन्दिरमें माताओंसे कहने आप स्वयं नहीं गये। सेवकोंद्वारा कहला भेजा। यथा—*'अवधि समीप जानि जननी जिय अति आतुर अकुलानी। गनक बोलाइ पाँय परि पूँछति प्रेम मगन मृदु बानी॥ तेहि अवसर कोउ भरत निकट तें समाचार लै आयो।'* (गी० लं० १९। ३-४) इसमें एक कारण तो यह है कि श्रीभरतजीका प्रेम सब माताओंमें बराबर है, सेवकोंद्वारा समाचार पहुँचाकर सबका समान आदर उन्होंने किया। किसी माताके यहाँ जानेसे दूसरी माताका अनादर होता। पुनः, दूसरा भाव माताओंके यहाँ न जानेमें यह है कि जैसी रीति है, कायदा है, वैसा ही उन्होंने किया—गुरुके यहाँ आप गये, माताओंके यहाँ सेवकोंसे जनाया और पुरवासियोंके यहाँ किसीसे न कहलवाया, पुरवासी स्वयं जान गये। तात्पर्य कि इस काममें प्रथम गुरु श्रेष्ठ हैं, तब माताएँ और फिर पुरवासी। क्या बात जनायी सो आगे कहते हैं।

नोट—३ वाल्मीकीय और अ० रा० में तो श्रीभरतजीने श्रीशत्रुघ्नजीको आज्ञा दी कि नगर सजाया जाय और सब माताएँ तथा पुरवासी दर्शनको चलें। गुरुजीके यहाँ जाना भी उनमें नहीं है। सबके सब समाचार पाकर नन्दिग्राम आये हैं। मानसकी कथा उनसे कुछ भिन्न ही है, जैसे मानसके भरत उनके भरतसे भिन्न हैं। मयंककारका मत है कि 'श्रीभरतजी नन्दिग्रामसे नगरमें आकर श्रीगुरुमहाराजके पास बैठ गये और यहींसे श्रीशत्रुघ्नद्वारा अथवा पाञ्चजन्य शङ्खद्वारा राजमहलमें समाचार भेजा। सब माताएँ यद्यपि कृश थीं तथापि समाचार सुनकर उनमें बल आ गया और वे दौड़ीं, गुरुके यहाँ आ पहुँचीं जैसे सुतीक्ष्णजीसे समाचार पाकर अगस्त्यजी उठ दौड़े थे।'

श्रीकरुणासिन्धुजी श्रीभरतजीका स्वयं जाकर माताओंसे कहना लिखते हैं। और श्रीत्रिपाठीजी सर्व मतोंका समन्वय इस प्रकार करते हैं कि 'राजाओंके यहाँ बिना पहले समाचार दिये बड़े होनेपर लड़के भी माँके

पास नहीं जा सकते; ऐसा नियम है। अत: श्रीभरतजीने बाहर ठहरकर श्रीकौसल्या अम्बाके पास समाचार भेजा। समाचार अति संक्षेपमें था। उसे सुनते ही भीतर आने देनेकी आज्ञा देनेके बदले सब माताएँ विस्तृत समाचार सुननेके लिये अत्यन्त आर्त होनेके कारण दौड़ पड़ीं। (उस समय सभी श्रीकौसल्याजीकी सेवामें उपस्थित थीं। यथा—*'सेवहिं सकल सवति मोहि नीके।'*) यह मत प्राय: पंडित रामकुमारजीके मतसे मिलता-जुलता है जो आगे टिप्पणी ३ में है।

प० प० प्र०—*'मंदिर'*—५। ५। ५-६ में देखिये। यहाँ *'मंदिर'* शब्दसे यह भी भाव सूचित किया कि श्रीरामागमन-समाचार जिन-जिन व्यक्तियोंने सुनाया वे सभी माताओंको श्रीरामजीके समान ही प्रिय लगे। यह समाचार उनके प्रत्यक्ष आगमनके समान ही प्रिय लगा, जैसा भरतजीने कहा है *'मिले आजु मोहि राम पिरीते'* वैसा ही इनका भी कहना जानिये।

टिप्पणी—२ *'कुसल रघुराई'*—हनुमान्‌जीसे राम-रावण-संग्राम, लक्ष्मणशक्ति, सीताहरण आदि पूर्व सब सुन चुकी हैं, यथा—*'कपि सब चरित समास बखाने'* (लं०)। इसीसे कुशल सुनाते हैं। जैसा कि आपने हनुमान्‌जीसे सुना है—*'रिपु रन जीति सुजस सुर गावत। सीता अनुज सहित प्रभु आवत॥'* वैसे ही आपने सुनाया।

३—(क) *'सकल जननी उठि धाईं'* कहकर जनाया कि श्रीरामजीमें सब माताओंका प्रेम बराबर है, अति आतुर हो प्रेमसे सब उठ दौड़ीं। सन्देश देनेवालेने कहा कि श्रीरामजीके कुशलका सन्देश पाकर सबसे कहनेके वास्ते भरतजी आये हैं, अमुक जगहपर बैठे हैं; इसीसे सब माताएँ भरतजीके पास धायीं। (ख) *'कहि प्रभु कुसल भरत समुझाईं'* इति। प्रभुकी कुशल कहकर समझानेका भाव कि सब माताएँ रामकुशल जाननेके लिये व्याकुल हैं; इसीसे श्रीभरतजीने सेवकोंसे कुशल कहला भेजा और आपने स्वयं भी कुशल कहकर समझाया। *'प्रभु कुसल'* पदसे जनाया कि प्रभुता लिये हुए कुशल कहा। अर्थात् कहा कि सब राक्षसोंको मारकर श्रीसीता-लक्ष्मणसहित प्रभु आते हैं। साथ ही समझाया कि तुम लोग श्रीरामजीसे मिलने अभी न आना, अयोध्यावासियोंकी बड़ी भीड़ होगी, मिलते न बनेगा, जब अवधवासी मिल चुकें तब तुम मिलो। इसीसे माताएँ सबसे पीछे मिली हैं।

शीला—श्रीभरतजीके मंदिरमें आगमन-समाचार प्रकट करते ही सब प्रेमवश उठ दौड़ीं तब उन्होंने समझाया कि अभी आये नहीं, आनेवाले हैं, विमानपर आयँगे, आप सब मङ्गल स्वागतकी तैयारी करें।

वि० त्रि०—भरतजीने सब समाचार पाकर उन्हें समझाया, यथा—*'जीति गढ़ लङ्क बङ्क लषन सिया के सङ्ग कुसल अनन्द सब भाँति रघुराई है। वृन्दारक वृन्दन ते वन्दित अमन्द फल कीरति सुछन्द तिहुँ लोक सरसाई है॥ विजयी विमान चढ़े आवत सुजान आइ दूत हनुमान ऐसी खबर जनाई है। वेगि साजो आरती सुमंगल कलश साजि आज महाराज रघुराज की अवाई है॥'*

समाचार पुरबासिन्ह पाए। नर अरु नारि हरषि सब धाए॥ ४॥
दधि दुर्बा रोचन फल फूला। नव तुलसीदल मंगलमूला॥ ५॥
भरि भरि हेमथार भामिनी। गावत चलिं* सिंधुरगामिनी॥ ६॥

* 'कलभगामिनी' (पं०)। 'चलि सिंधुरगामिनी'—(का०, भा० दा०)। गौड़जीका मत है कि पाठमें 'चली' लिखा जायगा पढ़नेमें वह अवश्य ह्रस्व पढ़ा जायगा। यह कवितामें दस्तूर है। जो लोग भूलसे समझते हैं कि १५ मात्राकी चौपाई नहीं होती वे सहजमें 'सिंधुरगामिनी' को 'सिंधुरागामिनि' करके १६ मात्रा पूरी कर लेते हैं। परंतु पूर्वपादको भी पूरा करना बाकी रहता है; इसलिये भामिनीकी जगह 'भामिनि' करके १४ मात्रा कर देते हैं और 'वर' जोड़ करके १६ मात्राएँ पूरी कर लेते हैं। बैजनाथजीने इसी तरहकी जटिल काट-छाँट की है। हिन्दी कवितामें आवश्यकतानुसार गुरुको भी कभी-कभी लघु पढ़ सकनेका नियम है। इसीके अनुसार 'चलीं' के गुरुको लघु पढ़नेसे दोनों चरण १५, १५ मात्राओंके हो जाते हैं जो कि शुद्ध पाठ है। अथवा सिंधुरके अनुस्वारको चन्द्रबिन्दु पढ़ लेना भी 'नन्दनन्दन' की तरह सिंधुरगामिनी पढ़ लेनेसे और 'चली' को ठीक गुरुकी तरह उच्चारण करनेसे भी १५ मात्राएँ आती हैं और छन्दोभङ्ग नहीं होता।

शब्दार्थ—**रोचन**=गोरोचन; हरदीकी बनी हुई रोरी। **नव तुलसी दल**=नवीन, यव बराबर जिसमें मंजरी है और जो दो दलयुक्त है वैसा तुलसीदल।

अर्थ—पुरवासियोंने खबर पायी। (खबर पाते ही) स्त्री-पुरुष सभी प्रसन्न होकर दौड़े॥ ४॥ दही, दूध, गोरोचन वा रोरी, फल (नारियल, सुपारी आदि), फूल और मङ्गलका मूल नवीन तुलसीदल इत्यादि सब मङ्गलमूलक चीजें स्वर्णथालोंमें भर-भरकर सौभाग्यवती, हथिनीकी-सी चाल चलनेवाली स्त्रियाँ लेकर गाती हुई चलीं॥ ५-६॥

टिप्पणी—१ (क) *'नर अरु नारि सब धाए'* इति। श्रीरामजीके आगमनका समाचार प्रथम पुरुषोंने पाया, पीछे स्त्रियोंने, क्योंकि ये भीतरकी रहनेवाली हैं। अतः नर-नारि क्रमसे कहा। *'धाए'* पदसे प्रेमकी अधिकता कही। आगे नर और नारिका हाल पृथक्-पृथक् कहते हैं, इसमेंसे प्रथम स्त्रियोंका हाल कहते हैं। (ख) *'दधि दुर्बा........मंगलमूला'* इति। *'मंगलमूला'* पद अन्तमें देकर सूचित किया कि इनके अतिरिक्त और भी जितने मङ्गल पदार्थ हैं वे सब भी थारमें भरे हैं, यथा—*'हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूँग फल मंगल मूला। अक्षत अंकुर लोचन लाजा। मंजुर मंजरि तुलसि बिराजा॥'* (१। ३४६। ४-५) इत्यादि।

२ (क) *'भरि भरि हेमथार भामिनी'* इति। *'भरि भरि'* का भाव कि खाली रहनेसे परिपूर्ण सगुन नहीं माना जाता, भरे होनेसे परिपूर्ण सगुन होता है। *'हेमथार'* कहनेका भाव कि त्रेतामें सब पात्र सुवर्णके रहे हैं इससे हेमथारमें भरना कहा। ☞ यहाँतक स्त्रियोंका हाल कहा, आगे पुरुषोंका हाल कहते हैं। [भामिनीका अर्थ है दीप्तिवाली। इस पदसे जनाया कि मारे प्रेमके बिना शृङ्गार किये हुए उठ दौड़ीं। तब भी वे सहज ही सुन्दर हैं। रा० प्र०-कार भामिनीसे सोहागिनी और कुमारी दोनोंको लेते हैं। और बैजनाथजी *'वर भामिनि'* पाठ देते हैं अर्थात् युवावस्थाकी सौभागिनी स्त्रियाँ।] (ख) *'गावत चलीं।'* कहाँको? राजमन्दिरको चलीं। मङ्गलसमय मङ्गल वस्तु लेकर मङ्गल गाते चलीं। मङ्गल गान करती हैं। (ग) *'सिंधुरगामिनी'* इति। पहले समाचार निश्चय करनेके लिये उठ दौड़ी थीं। जब समाचार निश्चय हो गया तब मङ्गल द्रव्य लेकर हाथीकी चालसे धीरे-धीरे चलीं। इसीसे पूर्व *'धाए'* कहा और यहाँ *'चलिं सिंधुरगामिनी'* कहा।

पां०—सगुनकी वस्तु इसलिये लेकर चलीं कि जिसमें अब रघुनाथजी निर्विघ्नपूर्वक राज्य करें।

पं० रा० व० श०—मङ्गल हो, इस विचारसे स्वागतमें प्रथम माङ्गलिक पदार्थोंका दर्शन करानेके लिये इन्हें साथ लिया।

जे जैसहिं तैसहिं* उठि धावहिं। बाल बृद्ध कहँ संग न लावहिं॥ ७॥

एक एकन्ह कहँ बूझहिं भाई। तुम्ह देखे दयाल रघुराई॥ ८॥

अर्थ—जो जैसे हैं (जिस दशामें हैं, जो काम कर रहे हैं) वे वैसे ही (उसी दशामें कामको छोड़कर) उठ दौड़ते हैं, बालकों और बुड्ढोंको साथ नहीं लाते॥ ७॥ एक दूसरेसे पूछते हैं (कहो) भाई! तुमने दयालु रघुनाथजीको देखा है?॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'जे जैसहिं........'* इति। इसी प्रकार श्रीरघुनाथजीको देखनेके लिये मिथिलावासी धाये थे, यथा—*'धाये धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी॥'* (१। २२०। २) (ख) रामदर्शनार्थ प्रेमकी अधिकताके कारण पुरवासी स्त्री-पुरुषों और माताओं सभीका दौड़ना इस प्रसङ्गमें दिखाकर श्रीरामजीमें सबका प्रेम समान सूचित किया।—[नोट १........यहाँ पुरवासियोंके विषयमें दो बार 'धावना' लिखा है, यथा—*'नर अरु नारि हरषि सब धाए'* एवं *'जे जैसहिं तैसहिं उठि धावहिं।'* माताओंके विषयमें भी दो बार कहा है। एक तो यहीं—*'सुनत सकल जननी उठि धाईं'* दूसरे आगे—*'कौसल्यादि मातु सब*

स्मरण रहे कि कविता पढ़नेकी यह विधि है और समीचीन विधि है जिससे कि मूल पाठके छूनेकी भी जरूरत नहीं पड़ती काट-छाँट तो पातक है।

* 'जे जैसे तैसेहिं'—(का०)

धाईं। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाईं॥' दोनोंमें एक-एक बार 'धावना' और एक-एक बार *'उठि धावना'* कहा है। २—'भामिनी' पद ऊपर दे आये पर उनका शृङ्गारयुक्त होना न कहा। इसका कारण यहाँ देते हैं कि *'जे जैसहिं तैसहिं.........'*] २ (क)—*'बाल बृद्ध कहँ संग न लावहिं'* क्योंकि इनको सङ्ग लगानेसे विलम्ब होता है।—[इससे दर्शनकी अति उत्कण्ठा सबमें दिखायी। जिनके सङ्ग लेनेसे पहुँचनेमें देर होगी उनको सङ्ग नहीं लेतीं। रा० प्र०] (ख)—यहाँ यह शंका होती है कि 'अवधवासियोंने तो श्रीरामजीके दर्शनार्थ १४ वर्षके लिये सब भोगोंका त्याग किया है, यथा—*'राम दरस लगि लोग सब करत नेम उपवास। तजि तजि भूषन भोग सुख जियत अवधि की आस॥'* (२। ३२२) इससे १४ वर्ष तक किसीके बालक न हुए होंगे। तब बालकका त्याग कैसे कहा?' समाधान यह है कि वेद-मर्यादाकी रक्षाके लिये ऋतु-समयमें स्त्रीके पास जाते हैं, इसीसे बालक हुए हैं। ऋतु-समयमें स्त्रीके पास न जानेसे बालहत्या होती है। जैसा कि **'ऋतुस्नातां सतीं भार्यामृतुकालानुरोधिनीम्। अतिवर्तेत दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः॥'** (वाल्मी० २। ७५। ५२) श्रीभरतजीके इस शपथसे स्पष्ट है। अर्थात् ऋतुस्नाता सती स्त्रीकी प्रार्थना न माननेवाले पतिको जो पाप होता है वह मुझे लगे यदि मेरे परामर्शसे श्रीरामजी वनको भेजे गये हों। वे सुखके निमित्त भोग नहीं करते। भोग अष्ट प्रकारके हैं—**'स्रग्गन्धो वनिता वस्त्रं गीतं ताम्बूलभोजनम्। भूषणं वाहनं चेति भोगास्त्वष्टविधाः स्मृताः॥'** अथवा भरतमिलाप देखनेको सब अवधवासियोंके नातेदार आये होंगे—[एवं अवधकी कन्याएँ जो देश-देशान्तरोंमें ब्याही हुई थीं वे सब श्रीरामजीके आगमनका समय जानकर अति प्रेमके कारण दर्शनार्थ आयी हैं (शीला)] उनके संगमें बहुत बालक हैं—(शीला)।

मा० म०—मूलमें बालकसे तात्पर्य है उन बालकोंसे जो श्रीरामचन्द्रजीके जानेके समय उत्पन्न हुए थे। वे अवधकी गलियोंको देखे हुए नहीं थे इसीसे वे अयोध्याके जाननेमें बालवत् थे।

बं० पा०—**'प्राप्ते स षोडशे वर्षे नरो बालो विधीयते'** (भावप्रकाश)। इस भावसे 'बाल' कहा। वा **'कविर्निमग्नः'** भावसे।

शीला—अथवा बालसे अज्ञानी और वृद्धसे ज्ञानी अभिप्रेत है। दोनों रामप्रेमरहित जड़ हैं।

मा० शं०—*'बालक बृद्ध बिहाइ गृह लगे लोग सब साथ'* (अ०) का यहाँ उत्तर है। भाव कि जो रामवनगमन-समय बालक और वृद्ध थे वे वैसे ही बने रह गये, बढ़े नहीं। 'मानसतत्त्वप्रकाश' का भी यही मत है—*'रामविरह सब भोग तजि घट्यो बढ्यो कछु नाहिं। ज्योंके त्यों रह बालबृद्ध नर नारी पुर माहिं॥'*

वि० टी०—*'बाल बृद्ध कहँ संग न लावहिं'* इति। प्रायः लड़कोंको जो साथ नहीं लिया सो वे या तो बहुत ही छोटे होनेके कारण सोते रहे होंगे, किंवा कुछ बड़े होनेसे खेलनेमें लगे होंगे और इन्हें साथ ले जानेमें विलम्ब होगा। कुछ भी हो बालकोंको इतना ज्ञान कहाँ कि वे अपने छोड़े जानेका पछतावा करें, परंतु बुड्ढोंको इस समय अपने निरादरके कारण कदाचित् नीचे लिखे हुए विचार उठे हों—*'अब हम जानी देह बुढ़ानी। शीश पाँव धर कह्यो न मानत तनु की दशा सिरानी॥ आन कहत आनै कहि आवत नाक नैन बहै पानी। मिटि गई चमक दमक अँग अँग की दृष्टि रु मति जु हिरानी॥ नारी गारी बिन नहिं बोलै पूत करत नहिं कानी। घरमें आदर कादर को सों खीझत रैनि बिहानी॥ नाहिं रही कछु सुधि तन मन की भई है बात पुरानी। 'सूरदास' अब होत बिगूचन भजि ले सारँगपानी॥'*

बै०—अति बाल्यावस्था और अति वृद्धावस्थावालोंको साथ नहीं लगातीं। इससे रामदर्शनके लिये उनकी आतुरता दिखायी। यह विभ्रमहाव है। अथवा गृहत्यागसे अर्थ, बालसे काम, वृद्धसे धर्म और सहज मुक्तरूप तनकी सुध नहीं, इससे मोक्षका अर्थात् चारों फलोंका त्याग दिखाकर सबको शुद्ध रामस्नेही दिखाया।

पाँ०—बालकोंका छोड़ना कहकर स्वार्थ-त्याग और वृद्धोंका छोड़ना कहकर परमार्थ-त्याग जनाया। अर्थात् श्रीरघुनाथजीके प्रेमके लिये स्वार्थ और परमार्थ दोनोंको त्याग दिया।

टिप्पणी—३ *'एक एकन्ह कहँ बूझहिं.........'* इति। (क) एक-दूसरेसे पूछनेका भाव कि भरतजीको सच्ची खबर मिली, श्रीहनुमान्‌जी उनसे कह गये, माताओंको भी सच्ची खबर मिली क्योंकि श्रीभरतजीने

स्वयं उनसे कहा; पर पुरवासियोंको सच्ची खबर नहीं मिली, इसीसे एक-एक-(दूसरे-) से पूछते हैं कि हमने सुना है कि श्रीरघुनाथजी आ गये सो कहाँ हैं, तुमने उन्हें देखा है? [यह कौन जानता था कि विमानसे सरकार आ रहे हैं। सबको यही धारणा थी कि पैदल या रथपर आये होंगे। सबने लोगोंसे समाचार पाया कि *'आये कुसल देव मुनि त्राता'* अतः एक-दूसरेसे पूछते हैं कि 'तुमने देखा है?' भाव यह कि पापशङ्की चित्त प्रिय समाचारके सत्य होनेमें संदेह करता है। और सबको इच्छा है कि शीघ्रातिशीघ्र दर्शनसे नेत्रोंको सफल करें, अतः जिज्ञासा करते हैं। (वि० त्रि०)]

मिलान कीजिये गी० लं० २१— *'सुनियत सागर सेतु बँधायो।*

कोसलपतिकी कुसल सकल सुधि कोउ इक दूत भरत पहँ ल्यायो॥१॥

बध्यो बिराध त्रिसिर खरदूषन सूर्पनखा को रूप नसायो।

हति कबंध बल-अंध बालि दलि कृपासिंधु सुग्रीव बसायो॥२॥

सरनागत अपनाइ बिभीषन रावन सकुल समूल बहायो।

बिबुध समाज निवाजि बाँह दै बंदिछोर बर बिरद कहायो॥३॥

एक एक सों समाचार सुनि नगर लोग जहँ तहँ सब धायो।

घन धुनि अकनि मुदित मयूर ज्यों बूड़त जलधि पार सो पायो॥४॥'

(ख)—*'दयाल रघुराई'* का भाव कि रघुवंशी मात्र अपने पुरजन, परिजन और प्रजापर दया करनेवाले हैं और श्रीरामजी तो रघुवंशके राजा हैं, दया करनेमें सबसे श्रेष्ठ हैं। आशय कि हम सबपर दया करके वे आये हैं। ☞(ग)—यहाँतक अवधवासियोंका हाल कहा अब अवधका हाल कहते हैं। यहाँतक चेतनोंका मङ्गल साज, हर्ष, दर्शनकी उत्कण्ठा, इत्यादि कहा, आगे जड़ पदार्थोंका आनन्द कहते हैं। (रा० शं० श०)]

अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभाकै खानी॥ ९॥

बहइ* सुहावन त्रिबिध समीरा। भइ सरजू अति निर्मल नीरा॥१०॥

अर्थ—प्रभुको आते जान श्रीअवधपुरी समस्त शोभाकी खानि हो गयी॥ ९॥ तीनों प्रकारकी सुन्दर (मन्द, सुगन्धित और शीतल) वायु चलने लगी, श्रीसरयूजी अत्यन्त निर्मल जलवाली हो गयीं॥ १०॥

टिप्पणी—१ *'प्रभु आवत जानी, भई सकल सोभा कै खानी'* इति। (क) आते जान शोभाकी खानि हुई, यह कहकर जनाया कि यहाँसे प्रभुको जाते जानकर अशोभित हो गयी थीं, यथा—*'लागति अवध भयावनि भारी। मानहु कालराति अँधियारी॥'* (२। ८३। ५) **'एषा रामेण नगरी रहिता नातिशोभते॥'** (वाल्मी० अ० ४७। १७) **'रामसंतापदुःखेन दग्धा शोकाग्निना पुरी'** (५७। ७)। अब फिर प्रभुके संयोगको अत्यन्त सन्निकट जानकर उनकी अगवानीके लिये शोभाकी खानि हो गयी। [(ख) शोभाकी खानि कहकर जनाया कि श्रीअयोध्याजी इतने दिनों अपनी शोभा अपनेमें गुप्त किये रहीं, अब अपनेमेंसे शोभा प्रकट कर दीं (पां०)। *'अवधपुरी प्रभु'* पदसे यह भी जना दिया कि अवधपुरी श्रीरामको ही अपना प्रभु जानती मानती है। इसी तरह चित्रकूटके मार्गके विषयमें *'पति पहिचानि देहिं बर बाटा'* कहा है। प्रभु जगदात्मा हैं और पुरी ब्रह्मसच्चिदानन्द विग्रह है, यह *'जानी'* क्रिया देकर सूचित किया।]

२ (क) *'बहइ सुहावन·········'* इति। भाव कि अवधवासी रामविरही हैं। इनको सुखदायी वस्तु नहीं

* यह भा० दा०, छ०, रा० गु० द्वि० का पाठ है। का० में उत्तरार्द्ध पहले है तब पूर्वार्द्ध। भा० दा० की पोथीमें बहुत स्थानोंपर 'सरजू' की जगह 'सरऊ' है। परन्तु प्रचलित प्राकृत रूप सरजू ही है 'सरऊ' नहीं और भा० दा० की पोथीमें भी बहुत जगह 'सरजू' ही है। जान पड़ता है कि 'ज' की पुरानी लिखावटके कारण 'जू' की जगह 'ऊ' हो गया है। २—मिलान कीजिये—'सेयं मदीया जननीव तेन मान्येन राज्ञा सरयूवियुक्ता। दूरेर्वसन्तं शिशिरानिलैर्मा तरङ्गहस्तैरुपगूहतीव॥' (रघुवंश १३। ६३) अर्थात् इस कारण यह सरयू हमारी माताके तुल्य है, राजासे इसका वियोग हो गया है। दूर बसते हुए हमको शीतल तरंगरूपी हाथोंसे हृदयसे लगा रही है।

सुहाती थी। अब श्रीरामजीके आगमनमें त्रिविध समीर सुहावन लगता है। (ख) *'भइ सरजू अति निर्मल नीरा'* से जनाया कि वनवासपर श्रीसरयूजल अति मलिन हो गया था, यथा—*'सरित सरोवर देखि न जाहीं॥'* (२। ८३। ८)* ४ ☞ पुरी स्थल है, वह शोभाखानि हुई। श्रीसरयूजी जल हैं, वे अति निर्मल हो गयीं और आकाशमें त्रिविध समीर बहता है। तीनोंको लिखकर जनाया कि जल, थल और नभ तीनोंमें अत्यन्त शोभा छा गयी।

रा० प०, रा० प्र०—१ पूर्व पंचभूत विपरीत रहे, अब प्रभुके आगमनपर सब अनुकूल हो गये। *'सरित सरोवर देखि न जाहीं'* इस उपक्रमका यहाँ उपसंहार है। अवधपुरी भूमि, सरयू जल, त्रिविध समीर पवन, हर्षित मन एवं मुखविकाससे तेज प्रकाश, गगनमें विमान देखनेसे आकाश निर्मल और मधुर गानसे भी आकाशकी निर्मलता इस तरह पञ्चतत्त्वकी निर्मलता कही।

दो०—हरषित गुर परिजन अनुज भूसुर बृंद समेत।
चले भरत मन† प्रेम अति सन्मुख कृपानिकेत॥ ३ (क)॥
बहुतक चढ़ी अटारिन्ह निरखहिं गगन बिमान।
देखि मधुर सुर हरषित करहिं सुमंगल गान॥ ३ (ख)॥

शब्दार्थ—**अटारी**=कोठा; घरके सबसे ऊपरकी छत।

अर्थ—गुरु वशिष्ठ, कुटुम्बी भाई-बन्धु, भाई शत्रुघ्न और (वामदेवादि) ब्राह्मण-ऋषि-वृन्द सब हर्षित हैं, इन सबके सहित भरतजी मनमें अत्यन्त हर्षित होकर अत्यन्त प्रेमसे दयाके धाम श्रीरामजीके सम्मुख (स्वागतके लिये) चले। (बहुत-सी स्त्रियाँ नीचे हैं और) बहुत-सी अटारियोंपर चढ़ी आकाशमें विमानको देखती हैं (क्योंकि श्रीहनुमान्‌जी कह गये हैं कि श्रीरामजी विमानपर आकाशमार्गसे आवेंगे), देखनेपर प्रसन्न होकर मीठे स्वरसे सुन्दर मङ्गल गीत गा रही हैं।

टिप्पणी—१ (क) सब हर्षित हैं और भरतजी अति हर्षित हैं। (ख) *'सन्मुख कृपानिकेत'* इति। आचार्योंमें मतभेद है। किसीका मत है कि अयोध्याकी पूर्व दिशामें मिलाप हुआ और किसीका मत है कि दक्षिण दिशामें श्रीरामभरतमिलाप हुआ। इसीसे गोसाईंजीने किसी दिशाका नाम नहीं दिया। सम्मुख जाना लिखकर सबके मतकी रक्षा की, इस तरह कि जिस दिशासे प्रभु आये हों उसी दिशाको चले। (ग) कृपानिकेत हैं अर्थात् हम सबपर कृपा करके आ रहे हैं। ☞ जैसा बड़े लोगोंसे मिलनेका कायदा है, उसी रीति-भाँतिसे भरतजी रामचन्द्रजीसे मिले। ऐसे ही श्रीजनकजी विश्वामित्रजीसे मिले थे—*'संग सचिव सुचि भूरि भट भूसुर बर गुरु ग्याति। चले मिलन मुनि नायकहि मुदित राउ येहि भाँति॥'* (१। २१४) पुनः, यथा—**'भ्रातुरागमनं श्रुत्वा तत्पूर्वं हर्षमागतः॥ प्रत्युद्ययौ यदा रामं महात्मा सचिवैः सह।'** (वाल्मी० ६। १२७। २०-२१) अर्थात् भाईका आगमन सुन श्रीभरतजी बहुत प्रसन्न हुए और मन्त्रियोंसहित अगवानीको चले।

२ (क) *'निरखहिं गगन बिमान।'* भाव कि विमान दूर है, निरखनेसे देख पड़ा। (ख) *'मधुर सुर'* से गाती हैं क्योंकि यह मङ्गलका समय है, कटु स्वर होना अमंगलसूचक है।—[ये अटारियोंपर हैं इससे इनको प्रथम देख पड़ा। अतः इनका प्रथम देखना कहा—(पं० रा० व० श०)] ये वे स्त्रियाँ हैं जिनको बाहर निकलनेमें संकोच है। ये परदेवाली हैं (पं०)।

नोट—१ आदिमें गुरु और अन्तमें भूसुरवृन्द दिया क्योंकि ये दोनों मङ्गल करनेवाले हैं। गुरु प्रधान हैं अतः इनको सबसे आगे रखा है।

---

* 'लीनपुष्करपत्राश्च नद्यश्च कलुषोदकाः' (वाल्मी० अ० ५९। ७)। 'चन्दनागुरुसम्पृक्तो धूपसम्मूर्च्छितोऽमलः। प्रवाति पवनः श्रीमान्किं नु नाद्य यथा पुरा॥' (७१। २८)

† अति प्रेम मन—(का०)।

२—*'मुनि आगमन सुना जब राजा। मिलन गएउ लै बिप्रसमाजा॥'* (१। २०७। १) जब मुनि विश्वामित्रसे राजा दशरथजी मिलने गये तब केवल विप्रसमाज ले गये थे। और श्रीजनकमहाराज औरोंको भी साथ ले गये थे। कारण कि विश्वामित्रजीके साथ जनकपुरमें क्षत्रिय बालक भी थे और अवधमें वे अकेले ही आये थे। मुनिकी अगवानीके लिये मुनियोंको ले गये और राजपुत्रोंकी अगवानीके लिये क्षत्रियोंको भी ले गये। विशेष (१। २०७। १) एवं (१। २१४) में देखिये। और इस समय तो राजाकी अगवानी है; इसलिये राज्यके सब खम्भ साथ हैं। पुनः, श्रीरामचन्द्रजी ब्रह्मण्यदेव हैं, ब्राह्मणोंमें उनका प्रेम है, अतः भूसुरवृन्दको साथ लिया।

रा० शं०—*'हरषित गुर परिजन'* इति। श्रीभरतजीने पहले गुरुमहाराजको समाचार दिया, फिर मन्दिरमें खबर जनायी तब पुरवासियोंको मालूम हुआ; उसी क्रमसे यहाँ हर्षमें पहले गुरुमहाराज तब कुटुम्बी तब ब्राह्मण और पुरवासी कहे गये।

दो०—राकाससि रघुपति पुर* सिंधु देखि हरषान।
बढ़्यो† कोलाहल करत जनु नारि तरंग समान॥ ३ (ग)॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजी पूर्णिमाके चन्द्रमा हैं। अवधपुर समुद्ररूप है। वह समुद्ररूप अवधपुर पूर्णचन्द्ररूप रघुनाथजीको देखकर हर्षित हुआ। ऐसा मालूम होता है मानो वह कोलाहल करता हुआ बढ़ रहा है, उसकी स्त्रियाँ ही तरंगके समान हैं॥ ३॥

नोट—१ श्रीरामजीपर पूर्णचन्द्रका आरोप किया गया इसीसे पुरपर समुद्रका आरोपण हुआ। यह परम्परितके ढंगका 'सम अभेदरूपक अलंकार' है। *'बढ़्यो कोलाहल करत जनु'* में उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है।

२—*'सब बिधि सब पुर लोग सुखारी। रामचंद्र मुखचंद निहारी॥'* अतः *'रघुपति'* को पूर्णचन्द्रसे उपमित करना प्राप्त है, और जब सरकारकी उपमा चन्द्रसे दी, तब पुरकी उपमा सिन्धुसे देना ही चाहिये। चन्द्रकी उत्पत्ति सिंधुसे है, और सरकारका आविर्भाव अयोध्यापुरीसे है। यथा—*'जन्म भूमि मम पुरी सुहावनि।'* पूर्णचन्द्रको देखकर सिन्धु बढ़ता है, उसमें ऊँचे कल्लोल उठते हैं, यहाँ सरकारको देखकर अयोध्यापुरी ऊपरकी ओर बढी, उसमें स्त्रीसमाज ऊपर मकानोंके छतपर गान करता हुआ आ गया, जिसकी उपमा कोलाहल करते हुए तरंगसे दी गयी (वि० त्रि०)।

प० प० प्र०—जहाँ श्रीरामजीको शशिकी उपमा दी गयी हो वहाँ 'चारु' विशेषणका अध्याहार समझना चाहिये अन्यथा चन्द्रमाके सभी दोष भी आरोपित होंगे। *'प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू।'* (१। १६। ५) रावणको केवल शशि कहा है और उसमें सोलह दोष हैं—*'चले जहाँ रावन ससि राहू।'* [रघुपति चारु शशि रूप हैं इसमें सन्देह नहीं, पर केवल *'ससि'* से चन्द्रमाके दोष भी आरोपित होंगे इससे दास सहमत नहीं। उपमाके जितने अङ्ग अनुकूल हों उतने ही लिये जाते हैं, सब नहीं। कहीं-कहीं एक-दो ही अङ्गमें समानता ली जाती है। (मा० सं०)]

टिप्पणी—१ *'राकाससि रघुपति'* इति। श्रीरामजीको पूर्णचन्द्र कहा। पूर्णचन्द्र १४ तिथियोंके बाद पन्द्रहवीं तिथिमें उदय होता है वैसे ही यहाँ श्रीरामजी १४ वर्षके बाद पन्द्रहवें वर्षमें आये। [☞पूर्ण रूपक निम्न मिलानसे स्पष्ट समझमें आ जायगा। इस मिलानका विशेष अंश मुं० रोशनलालजीकी टीकामें भी है।]—

उपमान	उपमेय
पूर्णचन्द्र १४ तिथियोंके बाद १५ वीं तिथिपर उदय। उदय	१ रामजी १४ वर्ष बाद १५वें वर्ष आये। आगमन
आकाशमें उदय होता है	२ ये विमानपर आकाशमें हैं
यह तारागण सहित	३ ये सखाओंसहित

* अवध—मा० म०। † बढ़ेउ—(का०)।

यह रोहिणी और बुधसहित	४ ये सीता-लक्ष्मणसहित
यह सब कला पूर्ण होता है	५ ये सब शोभायुक्त हैं
यह ताप हरता है	६ ये विरहका ताप हरते हैं
इसे देख समुद्र बढ़ता है	७ इनको देख पुर हर्षित हो बढ़ा

असंख्यों मनुष्य अटारियोंपर चढ़े हैं, यही समुद्रका ऊँचा होना है। समुद्र तरङ्गोंसे बढ़ता है, पुर अटारीवाली स्त्रियोंसे ऊँचा हुआ, यही तरङ्गोंसे बढ़ना है। यही ऊँची तरङ्ग है। तरङ्गमें शब्द वैसे ही गानमें शब्द।—(स्त्रियाँ दर्शनलालसा और लज्जासे जो प्रकट होती और छिपती हैं, यथा—'***प्रगटहिं दुरहिं अटनि पर भामिनि***', वही तरङ्गें हैं जो प्रकट होती और छिप जाती हैं।)

चन्द्रमा समुद्रसे प्रकट हुआ इसीसे	८ ये अवध-सिन्धुमें प्रकट हुए, अतः
समुद्र उसकी शोभा देख हर्षित होता है	इनकी शोभा देख पुर हर्षित हुआ
समुद्रके बढ़नेसे शब्द होता है	९ पुरमें स्त्रियोंके गान और पुरवासियोंके बोलनेसे कोलाहल होता है।

१० पूर्णचन्द्र पूर्वमें उदय होता है। ☞इस रूपकसे जनाया कि श्रीरघुनाथजी पुरवासियों आदिसे मिलनेके लिये अयोध्याके पूर्व दिशामें आ गये।

पाँ०—चन्द्रमा राहुसे छूटनेपर शोभित	११ राम रावणको जीतकर शोभित।

(प्र० स्वामीजी कहते हैं कि रावण—राहुने श्रीराम—चारुचन्द्रको कभी ग्रसा ही नहीं और न ग्रस सकता है, अतः ऐसा कहना ठीक नहीं है। मेरी समझमें पाँड़ेजीने यह मिलान जो दिया है वह इस विचारसे कि सीताहरण करना ही ग्रसना है, रावण-वध करके वे सीताजीको न लाते तो शोभित न होते।)

नोट—मा० म० कार लिखते हैं कि जिस दिन श्रीरामचन्द्रजी वनको गये वही अमावस्या है, उनका दर्शन न होना चन्द्रमाका न होना है। पहिला वर्ष प्रतिपदा है। मुंशी रोशनलालजी लिखते हैं कि यहाँ पूर्णोपमा है और विलक्षणता यह है कि यहाँ उपमेय-उपमानकी समता है अर्थात् रघुनाथजी पुरुष और पुर भी पुँल्लिङ्ग और इनके उपमान चन्द्रमा और सिन्धु भी पुँल्लिङ्ग, इसी तरह स्त्रीकी उपमा तरङ्ग भी स्त्रीलिङ्ग है।

☞नोट— द्वितीय सोपानके आरम्भमें भी अवधका समुद्रसे और श्रीरामचन्द्रजीका चन्द्रमासे रूपक दिया गया था, यथा—'***रिधि सिधि सम्पति नदी सुहाई। उमगि अवध अम्बुधि कहुँ आई॥*********सब बिधि सब पुर लोग सुखारी। रामचंद मुखचंदु निहारी॥***' (२। १। ३, ६) उस समय भी रामराकेशको देख पुरसिन्धु सुखी था, बीचमें वनवासरूपी अमावस्या आ जानेसे पुरसिन्धुका आनन्दकोलाहल मिट गया था। सन्नाटा छा जाना समुद्रका शान्त होना है। मा० म० में 'पुर' की जगह 'अवध' है।

इहाँ भानुकुल-कमल दिवाकर। कपिन्ह देखावत नगर मनोहर*॥ १॥

सुनु कपीस अङ्गद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा॥ २॥

अर्थ—यहाँ सूर्यवंशरूपी कमलको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्यरूप श्रीरघुनाथजी वानरोंको सुन्दर नगर दिखाते हैं॥ १॥ कपिराज श्रीसुग्रीवजी, अङ्गदजी और लङ्कापति श्रीविभीषणजी! सुनिये। यह पुरी पवित्र एवं पवित्र करनेवाली है और यह देश (जिसमें यह पुरी है वह भी) सुन्दर है॥ २॥

☞नोट—१ '***इहाँ***' पद देकर पूर्व प्रसङ्गकी समाप्ति और दूसरे स्थानके प्रसङ्गका आरम्भ जनाया। यहाँ कवि श्रीभरतजी और श्रीरामजी दोनोंके साथ अपना होना दिखाते हैं। इसीसे '***हरषि भरत कोसलपुर आये***' '***गयउ कपि राम पहिं***' '***कही कुसल सब जाइ***' से भरतजीके साथ होना स्पष्ट है। और '***इहाँ भानुकुल**********' से श्रीरामजीके साथ होना भी स्पष्ट है।

२—इस समय श्रीरघुनाथजी आकाशमें विमानपर हैं, अतः राकाशशि और दिवाकरकी उपमा बड़ी

* सुभाकर—(पं०, करु०, पां०, वै०)

ही उत्तम है, दोनों आकाशमें हैं। पूर्णचन्द्र और सूर्य दोनोंसे जगत्‌का पालन-पोषण होता है, एकहीसे नहीं। पुनः, सूर्य दिनमें और चन्द्र रात्रिमें सुख देते हैं और प्रभु निरन्तर सुख देते हैं, अतः रघुनाथजीको राकाशशि और दिवाकर दोनों कहा*। ३—काण्डके आरम्भमें पहले पुर-नर-नारिका आर्त्त होना कहा तब कुलका, उसी क्रमसे यहाँ पहले पुरका हर्ष कहा तब कुलका प्रफुल्लित होना।

टिप्पणी—१ *'भानुकुल कमल दिवाकर'* कथनका भाव कि १४ वर्षतक श्रीरामरूपी सूर्य यहाँ नहीं रहे, इसीसे भानुकुलकमल संपुटित रहा, यथा—*'राम दरसहित नेम ब्रत लगे करन नर नारि। मनहुँ कोक कोकी कमल दीन बिहीन तमारि॥'* (२। ८६) इस कुल-कमलके प्रकाशक राम-सूर्य हैं।—[बाबा हरीदासजीका मत है कि राजा अनरण्यके हारनेसे रावणके जीते-जी रघुकुल-कमल संपुटित था। रावणवध करके आपने उस कुलको प्रफुल्लित कर दिया, अतएव यहाँ उनको 'दिवाकर' कहा।]—सूर्यविहीन होनेसे 'कोक, कोकी और कमल' तीनका दीन होना उपर्युक्त उद्‌धृत दोहेमें कहा गया। इसमेंसे 'कोक-कोकी' का दृष्टान्त अ० १८७ (१) *'चक्क चक्कि जिमि पुर नर नारी। चहत प्रात उर आरत भारी॥'* में चरितार्थ कर आये, रहा कमलका दृष्टान्त, उसे यहाँ चरितार्थ किया। (ख)—*'नगर मनोहर'* का भाव कि जब राम-सूर्य न थे तब यह अशोभित था, अन्धकारमय था। दोहा ३ (९) देखिये। (ग) नगर दिखानेका भाव यह है कि यह नगर ब्रह्माण्डमें अद्भुत पदार्थ है, बिना श्रीरामजीके दिखाये नहीं देख पड़ता; इसीसे श्रीरामजी अपने सखाओंको दिखाते हैं। [बिना हमारे बताये वे श्रीअवधपुरीका प्रभाव नहीं जान सकते, यह सोचकर पुरीका वर्णन करते हैं। (वै)] वानर श्रीरामजीका नाम जपते हैं, रूप देखते हैं, लीलामें शामिल हैं, बाकी रहा धाम, सो उसे श्रीरामजी दिखाते हैं। इस प्रकार वानरोंको नाम, रूप, लीला और धाम चारों प्राप्त हैं। ये चारों नित्य हैं।

२ (क) *'सुनु कपीस………'* इति। सुग्रीव प्रथम सखा हैं अतः इन्हें प्रथम कहा, अङ्गद उनके युवराज हैं इससे उनके पीछे अङ्गदका नाम लिया। लङ्कापति पीछेके सखा हैं अतः उनके पीछे इनको कहा। (ख) प्रथम कहा कि *'कपिन्ह देखावत'* और अब कहते हैं *'सुनु कपीस।'* इसका तात्पर्य यह है कि सुग्रीवादिसे प्रथम कहकर तब वानरोंको नगर दिखाते हैं। [पर इस भावसे क्रम पलट जाता है। पहले सबको दिखाना कहकर फिर उस दिखानेका प्रकार कहते हैं। सुग्रीवादि प्रधान सखा और अत्यन्त समीप हैं। इनको सम्बोधन करते हुए सबको सुना रहे हैं। इसीसे यहाँ उपक्रममें *'कपिन्ह देखावत'* और *'सुनु कपीस'* पद दिये और उपसंहारमें कहते हैं कि *'हरषे सब कपि सुनि प्रभु बानी।'* सबको दिखाया, सबको सुनाया, अतः सब *'हरषे'।* (मा० सं०)] (ग) *'पावन पुरी'* अर्थात् यह पुरी पवित्र करनेवाली है, इसके दर्शनसे समस्त पापोंका नाश होता है, यथा—*'बंदौ अवधपुरी अति पावनि।'* (बा० १६। १) *'देखत पुरी अखिल अघ भागा।'* (२९। ८) नगर मनोहर है अर्थात् इसकी सुन्दरता देखकर मुनियोंका वैराग्य भूल जाता है, यथा—*'नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा॥ दिन प्रति सकल अजोध्या आवहिं। देखि नगर बिराग बिसरावहिं॥'* (२७। १-२) ☞ *'नगर मनोहर'* और *'पावन पुरी'* दो बातें कहनेमें भाव यह है कि नगर रूपसे सुन्दर है, नगरकी सुन्दरता ही सराही जाती है। पुरी रूपसे पावनी है, क्योंकि तीर्थकी पावनता सराही जाती है। पुनः, *'पावन पुरी'* कहकर जनाया कि यह निर्मल शुद्ध ब्रह्मस्वरूपिणी है, इसके निवासी जगन्नाथरूप हैं, यथा पाद्मे—'**अयोध्या च परं ब्रह्म सरयू सगुणः पुमान्। तन्निवासी जगन्नाथः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥**' (करु०) पावनता यह कि यह भगवान्‌का मस्तक है; उसका नाम त्रिदेवमयी है, पाप सम्मुख जाता नहीं। यथा अयोध्यामाहात्म्ये—'**अकारो वासुदेवः स्याद्यकारस्तु प्रजापतिः। उकारो रुद्ररूपस्तु ताञ्ध्यायन्ति मुनीश्वराः। सर्वोपपातकैर्युक्तैर्ब्रह्महत्यादिपातकैः। अयोध्या सर्वतो यस्मात्तामयोध्यां ततो विदुः॥**' (वै०)]। यह कहकर फिर कहा कि *'रुचिर यह देसा'* अर्थात् जिस देशमें अयोध्यापुरी तीर्थ है वह देश पवित्र और सुन्दर है। कोई तीर्थ ऐसे हैं कि जिस देशमें हैं वह देश अच्छा नहीं है अर्थात् अपवित्र

* गौड़जी—सरकार पूर्णिमाको श्रीअवधमें लौटकर आये और जिस समय अवध पहुँचे सूर्य अस्ताचलको जा रहे थे। इस तरह सूर्य और चन्द्र दोनों उस समय मौजूद थे। यह बात 'राकाशशि' और 'दिवाकर' शब्दोंसे सूचित होती है। [वाल्मी० के मतसे सप्तमी या अष्टमीको प्रभु अवधमें आये।]

है, यथा—*'लागहिं कुमुख बचन सुभ कैसे। मगह गयादिक तीरथ जैसे॥'* (२। ४२। ७) इन विशेषणोंके देनेका आशय यह है कि अयोध्याके समान पृथ्वीमें न कोई तीर्थ है, न कोई नगर है।—*'अयोध्यापुरी मस्तके।'*

रा० प्र०—*'भानुकुल कमल दिवाकर'* उपसंहार है, *'मनहु कोक कोकी कमल दीन बिहीन तमारि'* इसका उपक्रम है।

वै०—*'यह देसा'* अर्थात् काशीसे मथुरातक आर्यावर्त देश है, यह सुन्दर है। सुन्दरता यह है कि यहाँ पहाड़ नहीं हैं, भूमि समथर है, सब प्रकार अन्न, रस, फलादि सब उत्तम हैं, पवित्र-शिरोमणि नदियाँ सरयू, गङ्गा, यमुना, सरस्वती इत्यादि इस देशमें हैं………इत्यादि।

गौड़जी—*'रुचिर यह देसा'* कहनेका एक तात्पर्य यह भी है कि कृषि और पार्थिव सम्पत्तिसे भरे-पूरे संसारके प्रसिद्ध देशोंमें आर्यावर्त एक उत्तम देश कहा जाता है।

जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। बेद पुरान बिदित जगु जाना॥ ३॥
अवधपुरी* सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥ ४॥

अर्थ—यद्यपि सबने वैकुण्ठका बखान किया है, वेद-पुराणमें विदित है और जगत् जानता है॥ ३॥ पर अवधपुरीके समान मुझे वह भी प्रिय नहीं है; यह बात कोई-कोई ही जानते हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) वैकुण्ठ वेद-पुराणमें विदित है और जगत् जानता है। अर्थात् लोक और वेद दोनोंमें प्रसिद्ध है। ☞ प्रमाण चार प्रकारके हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। यथा—**'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।'** (गौतमसूत्र) *'सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन पुरी रुचिर यह देसा॥'*—प्रत्यक्ष है और *'अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ'* अर्थात् वैकुण्ठ अवधके समान नहीं है—उपमान है।

(ख) *'जद्यपि सब बैकुंठ बखाना'* इति। सब बखान करनेवाले मुनि लोगोंने अपनी-अपनी संहिताओंमें वैकुण्ठका बखान किया है। (ग) *'अवधपुरी सम प्रिय नहिं'* अर्थात् हमको वैकुण्ठ प्रिय है पर अवधके समान प्रिय नहीं है, वैकुण्ठ तीनों लोकोंसे अधिक है और अयोध्या वैकुण्ठसे भी अधिक है।

* जद्यपि सब बैकुंठ बखाना *

नोट—विद्वान् वैष्णवाचार्यों तथा स्मार्तपण्डितोंसे जो श्रुति, स्मृति, पुराणादिके अच्छे ज्ञाता हैं, सुना जाता है कि श्रुतियोंसे यह तो निर्वाद स्पष्ट है और समस्त वैष्णवाचार्योंने, चाहे वे श्रीरामानुजानुयायी हों चाहे रामानन्दानुयायी, इसे स्वीकार किया है कि श्रीरामजीका लोक साकेत (अयोध्या, अपराजिता इत्यादि पर्यायवाची शब्द हैं) है—*'अंतकाल रघुपति पुर जाहीं'* दोहा १५ (४) में देखिये। *'जद्यपि सब बैकुंठ बखाना'* में भगवान् श्रीरामजी इतना ही कह रहे हैं कि वैकुण्ठकी सब प्रशंसा करते हैं, वे यह नहीं कहते कि वैकुण्ठ हमारा लोक है या कोई और लोक हमारा लोक है। ऐसा जानकर किसीको 'वैकुण्ठ' शब्दपर वाद-विवाद करना ही न चाहिये। फिर यह भी बात मानी जाती है और लोकमें बोल-चाल इस प्रकार लोग नित्यप्रति सुनते ही हैं कि 'वैकुण्ठ' शब्दसे भगवद्धामका अर्थ और भाव लिया जाता है, चाहे वह क्षीरशायी भगवान्का लोक हो, चाहे साकेत हो, चाहे गोलोक हो—इत्यादि। 'वैकुण्ठ' नाम इससे है कि कुण्ठका अर्थ है नाश। जिसका नाश न हो अर्थात् अक्षय लोकका नाम वैकुण्ठ है—**'विगतः कुण्ठः यस्माद् असौ विकुण्ठ एव वैकुण्ठः।'** 'वैकुण्ठ' एवं स्वर्ग सबके लिये प्रयुक्त होता देखा-सुना जाता है, भगवान्का कोई खास लोक नहीं भी है और है भी, वे तो सर्वत्र हैं और साथ ही उपासकोंके भावानुसार किसी एक खास लोकमें भी उनका निवास है। भगवान् रामचन्द्रजीका ही निवास सर्वत्र है, कहीं विष्णुरूपसे, कहीं महाविष्णुरूपसे, कहीं श्रीमन्नारायणरूपसे, कहीं अपने इसी द्विभुजरूपसे इत्यादि असंख्य रूपोंसे वे सर्वत्र हैं। इसीसे तो जब देवताओंमेंसे कोई वैकुण्ठ और कोई क्षीरसागरका नाम लेने लगे तब भगवान् शङ्करजीने उनसे कहा—*'कहहु तो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।'*

---

* 'अवध सरिस प्रिय मोहि न सोऊ'—(का०)।

इन सब लोकोंका बखान भी ऋषियोंने किया है। कोई ऐसा नहीं है जिसका बखान न हुआ हो। सम्पादककी समझमें विवादकी यहाँ कोई बात नहीं है। दूसरे कोई झगड़ा सीधे अर्थमें इससे भी नहीं रहता कि बखान करनेमें 'वैकुण्ठ' शब्द दिया और अयोध्याका माहात्म्य कहनेमें ***'मम धामदा'*** कहा, वैकुण्ठ न कहा। ***'मम धाम'*** का उपासक अपने अनुकूल अर्थ कर लें। वैकुण्ठ नाम क्षीरसागरवाले लोक, विष्णुलोक, महाविष्णुलोक इत्यादि कई लोकोंका सुना जाता है, एकहीका नहीं।

भगवान्‌के रहस्यको कौन जान सकता है? वेदतक नहीं जानते तब हम तृणसे भी क्षुद्रबुद्धि क्या जान सकें? अधिकारानुसार जनाया जाता है। हमारी समझमें इस स्थानपर एक तो कोई साकेत आदिकी बातका विवाद ही व्यर्थ जान पड़ता है, दूसरे, यह शंका ऐसी ही जान पड़ती है जैसे कि घट शब्द कहनेपर कहे कि कलश नहीं कहा गया, क्योंकि **'साकेतस्तु अयोध्यायाम्।'** तिलककारोंके भाव अब दिये जाते हैं—

मा० हं०—कह नहीं सकते कि इस प्रेमकी स्फूर्ति गोसाईंजीको सूरदासजीके नीचे दिये हुए पदसे हुई है या केवल स्वयंसे ही।

'काह करौं बैकुंठ महँ जाय

वहँ नहिं नंद, वहाँ नहिं गोकुल, नहिं वहँ कदम की छाँह।

वहँ नहिं जल जमुनाको निर्मल वहँ नहिं ग्वाल बाल अरु गाय·········॥'

चाहे जो कुछ हो पर यह बात तो निर्विवाद है कि इस वर्णनसे गोसाईंजीने हमें यह शिक्षा दी है कि यह मातृभूमि हमें वैकुण्ठसे भी प्रिय लगनी चाहिये। **'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'**

मा० म०—***'सब वैकुंठै जानिए कारण रमा पयोधि। जानि महा बैकुंठ पुनि बिरिजा परको सोध॥'*** (७९) ***'गोलोकादिक सर्वकी पुरी अंब है येह। मूरख चिहुँकेंगे सही रसिक करेंगे नेह॥'*** (८०) मूलमें कहा है कि यद्यपि वेद-पुराण सब वैकुण्ठोंका वर्णन करता है। यहाँ सब वैकुण्ठ कहनेका भाव यह है कि वैकुण्ठ पाँच हैं—१ रमा-वैकुण्ठ विष्णुलोक जिसमें लक्ष्मीसहित विष्णुभगवान् निवास करते हैं। २ पयोधि-वैकुण्ठ क्षीरसागर। ३ कारण-वैकुण्ठ। ४ महावैकुण्ठ। ५ बिरजापार-वैकुण्ठ। इन सब वैकुण्ठोंमें श्रेष्ठ गोलोक है और इन सब लोकोंको उत्पन्न करनेवाली जननी अयोध्यापुरी है।

शीला—श्रीअवध और क्षीरसागर दो स्थानोंमें भगवान् पूर्ण कलासे बसते हैं और वैकुण्ठ विष्णुजी त्रिदेवमय जानो। अयोध्या जन्मभूमि है इससे प्रिय है। वैकुण्ठ विहार-स्थान है।

श्रीनंगे परमहंसजी—वैकुण्ठ श्रीरामजीकी नित्य विभूति है और अवध लीलाविभूति है। लीलाचरित रामजीको अति प्रिय है इसलिये श्रीअवध विशेष प्रिय है।

पं०—वैकुण्ठसे अयोध्याकी महिमा अधिक कहनेका आशय यह है कि—(क) ग्रन्थकारोंकी रीति है कि जिसकी प्रशंसा करना चाहते हैं उसके प्रसङ्गमें औरोंकी न्यूनता कह जाते हैं। वा, (ख)—वैकुण्ठमें तो चतुर्भुजका निवास है, द्विभुजरूप रघुनाथजी तो अयोध्याजीमें ही प्रकट होते हैं। इस विचारसे अवधको प्यारा कहा। (ग)—वैकुण्ठमें जो विष्णुजीके निवासका स्थान है उसका नाम भी अयोध्या है। इस प्रकार वैकुण्ठरूपी सब नगरसे अपने निवासकी मन्दिररूपी अयोध्या प्यारी कही।

रा० प० प०—अवध सबकी अवधि है। औरसे अवध-प्राप्ति कठिन है। यह बड़े सुकृतोंसे मिलनेवाली है।

रा० प्र०—समस्त वैकुण्ठोंकी महिमा वेद-पुराणादिमें वर्णित है, पर वह भी मुझे अवधसरिस प्रिय नहीं है, इस कथनका भाव कि वे सब गुणातीत नहीं हैं; यह प्रसंग कोई-कोई ही जानते हैं।

करु०—'श्रीअवध श्रीरामजन्मभूमि है, यहाँ श्रीरामजीने नरलीला की है इससे यह प्रिय है' ऐसा अर्थ सिद्ध करनेमें आगेके श्रीमुखवचन ***'यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ'*** से विरोध होता है। जन्मभूमि होना तो सब जानते ही हैं तब ***'कोउ कोऊ'*** विशेष पद कहनेकी क्या आवश्यकता थी? यही विशेष वचन गीतामें है, यथा—**'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥'** जिसपर श्रीरामचन्द्रजी अति कृपा करते हैं उसको श्रीमुखसे अपना तत्त्व बताते हैं। यहाँ वे अति कृपा करके धामतत्त्व सबको जनाते हैं।

अर्थ यह है कि—'यद्यपि सब वैकुण्ठोंका बखान वेद-पुराणोंने किया है और उनके द्वारा सब जगत् जानता है, पर उन सब वैकुण्ठोंमें श्रीअयोध्या हमको बहुत प्रिय है। मेरी पुरी सबकी जन्मभूमि है।'

करु०—१०८ वैकुण्ठ भूपर हैं, पाँच वैकुण्ठ और हैं—१—क्षीरसागर वैकुण्ठ। जब श्रीमन्नारायण निद्राकी प्रेरणा करते हैं तब ब्रह्मा निद्रावश स्वप्नावस्थाको प्राप्त होते हैं और तब श्रीमन्नारायणकी इच्छासे जगत् जलार्णव होता है, जिसे नैमित्त्य प्रलय कहते हैं—इसका कारण क्षीरसागर वैकुण्ठ है। २—'रमा-वैकुण्ठ' जहाँ सनकादिने जय-विजयको शाप दिया था। ३—कारण-वैकुण्ठ जहाँ महाप्रलयमें प्रकृति-पुरुष साम्यताको प्राप्त होते हैं, जहाँ तीनों गुण और पाँचों तत्त्व सम हैं जब वही पुरुष महाविष्णु ईक्ष्णा करते हैं तब फिर जगत् वैसा ही हो जाता है ('तब वैसे ही जगत्को होते हैं')। ४—वैकुण्ठ महाभगवान् चतुर्व्यूह वासुदेव पुरुष प्रकृतिपर जहाँ विराजमान हैं। ५—पदवैकुण्ठ। यह विरजापार है। इसीको पूर्ण अयोध्या कहा है। इस प्रकार सब वैकुण्ठोंका मूल श्रीअयोध्या है। प्रमाण—भार्गवपुराण—नारायणवाक्य, यथा—'**एवमेव पुरा ब्रह्म वैकुण्ठनगरे हरिः। सर्वेश्वरी जगन्माता पप्रच्छ कमलालया। त्रिपाद्विभूतिवैकुण्ठविरजायाः परे तटे। या देवानां पूरयोध्या ह्यमृतेनावृता पुरी॥ वैकुण्ठाः पञ्च विख्याताः क्षीराब्धिं परमार्कजम्। महाकारणवैकुण्ठं पञ्चमं वीरजापरम्॥ नित्यं दिव्यमनेकभोगविभवं वैकुण्ठरूपोत्तरं सत्यानन्दचिदात्मकं स्वयमभून्मूलं त्वयोध्यापुरी॥**' (महारामायण) पुनः, वेद कहते हैं—'**अयोध्यापुरी सा सर्ववैकुण्ठानामेव मूलाधारा मूलप्रकृतेः परा तत्सद्ब्रह्ममया विरजोत्तरा दिव्यरत्नकोशाढ्या तस्यां नित्यमेव सीतारामयोर्विहारस्थलमस्तीति**' इति। (अथर्वणवेद-उत्तरार्द्ध)

प० प० प्र०—त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद्में अध्याय ६-७ में सात वैकुण्ठोंका विस्तृत वर्णन है। पाद्विभूति वैकुण्ठपुर, विष्वक्सेन वैकुण्ठपुर, ब्रह्मविद्या वैकुण्ठपुर, श्रीतुलसी वैकुण्ठपुर, बोधानन्द वैकुण्ठपुर और सुदर्शन वैकुण्ठपुर। सुदर्शन वैकुण्ठपुरके भी ऊपर अद्वैतस्थान है, जिसको त्रिपाद्विभूतिवैकुण्ठ स्थान कहते हैं, यही परमकैवल्य है।

वेदान्तशिरोमणि श्रीरामानुजाचार्यजी—'वैकुण्ठ यदि विष्णुलोक ही है तो '*जद्यपि सब बैकुंठ बखाना*' क्यों कहा? महावैकुण्ठ, साकेतादिको क्यों न कहा? इसमें क्या रहस्य है? या, वैकुण्ठ सबको ही कहा है? यदि ऐसा है तो प्रमाण क्या है?' इस प्रश्नका उत्तर यह है कि वैकुण्ठसे यहाँ नित्य विभूतिस्थ वा लीलाविभूतिस्थ क्षीरसागर इत्यादि सब धामोंका अर्थ है। इन सबसे जन्मभूमि अवध अधिक प्रिय होनेका कारण यह है कि यहाँ ही सरकारके आशैरण्योपयोगी दिव्य कल्याणगुणोंका विकास होता है। कुछ गुणोंके नाम—

(१) आसरेण सौकर्य्यापादकगुण—वात्सल्य (शरणके दोषोंको भोग्य मानकर स्वीकार करना), स्वामित्व (उभयविभूतिनाथ), सौशील्य (महान् होकर भी मन्द जीवोंके साथ निरभिमान बर्ताव), सौलभ्य।

(२) आश्रित कार्योत्पादक गुण—ज्ञान (दोषोंको जानकर भुला देना), शक्ति (बद्ध जीवोंको नित्यमुक्तोंके बराबर कर देना), पूर्त्ति (अयाचक कर देना), प्राप्ति (विश्लेषरहित संश्लेष)।

(३) उभयानुग्राहक—दया (यह सब गुणोंको सहायता पहुँचानेवाला है)।

श्रीरामनृसिंहादि सभीके लोक अलग-अलग हैं,—विशेष १५ (३) में देखिये।

बैजनाथजी—श्रीरघुनाथजी कहते हैं कि सुर-मुनि आदि 'वैकुण्ठको बड़ा करि माहात्म्य बखान करते हैं; क्योंकि वेद-पुराणादिकोंसे विदित है, इससे सभी जानते हैं तथा लोकपालन-शक्ति विष्णुमें है सो वे वैकुण्ठमें रहते हैं, इसको सब जानते हैं। राजदरबार राजाको विशेष प्रिय नहीं होता, क्योंकि वह परिश्रमका स्थान है। इससे क्षणमात्र विशेष कार्य लगनेपर वहाँ आते हैं। सब काम नायब, दीवान आदि सदा करते हैं। जो मन्दिर राजाका खास निवासस्थान है वह उसे विशेष प्रिय होता है, जो राजाके समीपी होते हैं वे ही उसको जानते हैं। इसी तरह अयोध्या नित्य विहारस्थान है, इसीसे रघुनाथजी कहते हैं कि इसके समान मुझे वह वैकुण्ठ भी प्रिय नहीं है, यह प्रसंग जो शिवसंहितादिमें वर्णित है वह मेरा परमस्नेही ही जानता है।

गौड़जी—साकेत-गोलोकादि वैकुण्ठके अन्तर्गत हैं। वैकुण्ठ कहनेसे उसके अन्तर्गत साकेत-गोलोकादि भी कह दिये गये। वैकुण्ठ प्रिय है पर अवध अति प्रिय है, क्योंकि यह लीलास्थल है, यहाँ रहकर

१२ हजार वर्ष नरक्रीड़ा करते हैं, वैकुण्ठमें नित्य निवास है परन्तु क्रीड़ास्थल यहीं है, खेलनेकी जगह और साथके खेलाड़ी भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय हैं और खेलाड़ियोंको भी भगवान्‌का क्रीड़ास्थल और भगवान् दोनों ही अत्यन्त प्यारे हैं। भगवान् जब अपने नित्य धामको जाने लगते हैं तब साथके खेलाड़ियोंको लेते जाते हैं और जब आने लगते हैं तब खेलाड़ी भी नित्य धाममें नहीं रहते, साथ ही चले आते हैं—*'निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि। सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि॥'* (कि० २६) इसलिये आगे चलकर कहते हैं—*'अति प्रिय मोहिं इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी॥'* यह मेरा धाम देनेवाली सुखराशि पुरी है। भगवान्‌को लीला अत्यन्त प्रिय है, इसीलिये तो **'एकोऽहं बहु स्याम्'** एकसे अनेक होनेकी भगवान्‌में प्रवृत्ति है और अनन्त विश्वोंकी क्षणभरमें रचना और दूसरे क्षणमें उसका महाप्रलय भगवान्‌की सहज लीला है, इसमें अनन्तकाल और अनन्त देशमें सृष्टिका विस्तार होता है। जिसमें मर्यादापुरुषोत्तमका एकमात्र आदर्श परतमके रामावतारमें ही हुआ करता है। यह उसकी सर्वोत्तम लीला है और आदर्श अभिनय है फिर इस अभिनयकी रंगभूमि उस मर्यादापुरुषोत्तमकी जन्मभूमि उसे सर्वाधिक प्रिय क्यों न हो? यह याद रहे कि उनकी प्यारी अयोध्या हर विश्वके हर ब्रह्माण्डमें है और मर्यादापुरुषोत्तमकी वे लीलाएँ निरन्तर किसी-न-किसी अयोध्यामें होती ही रहती हैं। इस तरह ये लीलाएँ भी नित्य हैं और प्रत्येक अयोध्या भी अपेक्षाकृत नित्य है।

पं० रा० कु०—*'यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ।'* कौन जानते हैं? जिनके हृदयमें श्रीरामजीका निवास है, यथा—*'अवध प्रभाउ जान तब प्रानी। जब उर बसहिं राम धनु पानी॥'*—[☞भाव कि अन्य किसी भी रूपके हृदयमें वाससे अवध और अवधका प्रभाव नहीं जाना जा सकता, ध्येय और ज्ञेय एक होने चाहिये।]

☞यहाँतक ऐश्वर्य-रीतिसे श्रीअयोध्याजीको प्रिय कहा।

नोट—☞भाव कि वैकुण्ठको सब जानते हैं पर इस बातको न सब जानते हैं, न सबने बखान किया है। न जाननेका कारण कि रामरहस्य परमगोपनीय है। शिवजीने पार्वतीजीतकको न बताया था। जैसे रामभक्ति असंख्योंमें किसी एकको मिलती है वैसे ही यह प्रसंग भी करोड़ोंमें कोई-कोई ही रामकृपासे जान पाता है।

पं० रा० व० श०—*'यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ'* इति। भाव कि यह गोप्य रहस्य है। इसका रहस्य सबकी समझमें नहीं आ सकता। जो समस्त वेद-शास्त्रोंके निचोड़के ज्ञाता हैं, जिनपर हमारी कृपा है और जिसके हृदयमें मैं धनुष-बाण धारण करके निवास करता हूँ वही जानता है कि इससे बढ़कर दूसरी पुरी नहीं है और यही मुझको अति प्रिय है। वेदोंमें गुप्तरूपसे यह रहस्य है पर रामकृपासे जाना जाता है। मन्त्रभागमें यह वाक्य है—यद्यथा—**'देवानां पूरयोध्या तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो लोको ज्योतिषावृतः। यो वै तां ब्रह्मणोऽमृतेनावृतं पुरीं वेद तस्मै ब्रह्म च ब्रह्मा च आयुःकीर्तिं श्रियं ददुः।'** यह सामवेदकी तैत्तिरीय ब्राह्मणकी श्रुति है।

वेद कहते हैं कि जितने दिव्य-ज्ञानवाले मुक्त जीव हैं उनका वह पुर है।

नोट—१ अवधपुरी भगवान्‌को मन, वचन और कर्म तीनोंसे प्रिय है। यह बात ग्रन्थमें प्रमाण कर दिखायी है। यथा—*'चले हृदय अवधहि सिरु नाई'* (अ० ८२), *'जब जब राम अवध सुधि करहीं। तब तब बारि बिलोचन भरहीं'* (अ० १४०), *'सीता सहित अवध कहँ कीन्ह कृपाल प्रनाम। सजल नयन तन पुलकित पुनि पुनि हरषत राम'* —(लं० १२०),*'पुनि देखु अवधपुरी अति पावनि। त्रिबिध ताप भव रोग नसावनि॥'*—(लंका० १२०। ९)। और यहाँ तो प्रत्यक्ष है ही।

☞२—अवधपुरीके समान वैकुण्ठ भी प्रिय नहीं है, यह बात केवल वचनसे ही नहीं, वरन् कर्मसे भगवान् रामचन्द्रजीने दिखायी है। १२ हजार वर्षसे अधिक इस पुरीमें साक्षात् रहे। यह बात किसी भी अन्य अवतारमें नहीं हुई। किसी भी पुरीमें ऐसा दीर्घनिवास किसी अवतारका नहीं हुआ। सभी अवतार कार्य कर-करके तुरन्त अपनी पुरीको छोड़कर चले गये।

वि० त्रि०—*'जानै कोउ कोऊ'* कहनेसे यह ध्वनि निकलती है कि पूज्यपाद कवि भी उस प्रसङ्गके जाननेवाले हैं, कहा भी है कि *'अवध प्रभाव जान तब प्रानी। जब उर बसहिं राम धनुपानी॥'* अतः वैकुण्ठसे अधिक कहनेका कारण भी कविको कहना चाहिये और उन्होंने कहा भी है। *'अवध'* का और रामजीका वही सम्बन्ध है जो सूर्य और दिनमें सम्बन्ध है, सूर्यस्थानीय रामजी हैं और दिनस्थानीय अवध है। जहाँ-जहाँ सूर्यका साक्षात्कार है, वहाँ-वहाँ दिन है। सबका निर्गलितार्थ यह है कि अवध राम-साक्षात्काररूप है। जिस भू-खण्डमें निवास करनेसे सरकारका साक्षात्कार होता है, उसे भी अवध कहते हैं, यथा—*'रघुपति पुरी जनम तव भयऊ। पुनि तैं मम सेवा मन दयऊ॥ पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरे। राम भगति उपजिहि उर तोरे॥'* यथा—*'कवनेहु जन्म अवध बस जोई। राम परायन सो परि होई॥'* उसके साक्षात्कारका मार्ग निर्गल हो जाता है। वैकुण्ठ अत्युत्तम लोक है, पर उसे छोड़कर सरकार मर्त्यधाममें लीलाके लिये चले आते हैं, पर अवधको नहीं छोड़ सकते। यथा—*'अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइ दिवस जहँ भानु प्रकासू॥'* (२। ७४। ३)

प० प० प्र०—मर्म यह है कि (१) ऊपरके वैकुण्ठोंमें भगवान् लीला नहीं कर पाते। (२) पुरीका प्रभाव यह है कि रामभक्ति उत्पन्न होती है, कोई साधन नहीं करना पड़ता। (३) अवधके जीव सदेह वैकुण्ठपुरी रामधाममें जा सकते हैं। जैसे *'राम तें अधिक राम कर दासा'*, वैसे ही अयोध्या वैकुण्ठोंसे भी अधिक है। पर *'अवध प्रभाव जान तब प्रानी। जब उर बसहिं राम धनुपानी॥'*

जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि बह सरजू पावनि॥५॥
जा मज्जन ते बिनहि प्रयासा। मम समीप नर* पावहिं बासा॥६॥

अर्थ—यह सुहावनी मेरी पुरी मेरी जन्मभूमि है। इसके उत्तर दिशामें पावनी (स्वयं पवित्र और दूसरोंको पवित्र करनेवाली) श्रीसरयूजी बहती हैं॥ ५॥ जिसमें स्नान करनेसे बिना (योग, यज्ञ, जप, तपादिरूपी) परिश्रम ही मनुष्य मेरे समीप निवास (सामीप्य मुक्ति) पाते हैं†॥ ६॥

टिप्पणी—१ अब अवधपुरीके प्रिय होनेका हेतु कहते हैं। एक तो यह कि यह मेरी जन्मभूमि है, जन्मभूमि सबको प्रिय है, यह मेरी पुरी है और मेरे नामसे विख्यात है। यथा—*'पहुँचे दूत रामपुर पावन॥'* (१। २९०। १) *'जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। रामपुरी मंगलमय पावनि॥'* (१। २९६। ५) *'जेहिं बिधि राम नगर निज आये॥'* (६८। ५) इत्यादि। अपना पुर प्रिय होता ही है। दूसरे, यह कि यह पुरी कुछ जन्म-सम्बन्धसे ही प्रिय नहीं है, किंतु यह पुरी लोकोत्तर *'सुहावनि'* है, इसकी शोभाको शेषादिक नहीं वर्णन कर सकते, यथा—*'पुर सोभा संपति कल्याना। निगम सेष सारदा बखाना॥ तेउ यह चरित देखि ठगि रहहीं। उमा तासु गुन नर किमि कहहीं॥'* (९। ८-९) यह ऐसी सुन्दर पुरी होनेसे हमको प्रिय है। तीसरे, यह कि यह ऐसी पावनी है कि इसके एक देशमें (स्थित) सरयू ही सामीप्य मुक्ति दे देती है। चौथे, यह कि यहाँके वासी अतिप्रिय हैं और पाँचवें, यह कि यह *'मम धामदा पुरी सुखरासी'* है—(खर्रा)

२ *'उत्तर दिसि बह सरजू पावनि'* इति। श्रीसरयूजी अयोध्यापुरीका अङ्ग हैं। दोनोंका नित्य सम्बन्ध है। श्रीसरयूजी अयोध्याके ही निमित्त आयीं। इसीसे जहाँ अयोध्यापुरीका वर्णन करते हैं वहाँ सरयूजीका भी वर्णन करते हैं। यथा—*'बंदौ अवधपुरी अति पावनि। सरजू सरि कलिकलुष नसावनि॥'* (१। १६। १) *'नदी*

---

* पावहिं नर (का०)।

† १ पां०—इस अर्थमें यह संदेह होता है कि जो वहाँ जाकर स्नान न करेगा तो उसे थोड़ा-बहुत श्रम करना पड़ेगा। इसलिये ऐसा अर्थ करें तो अति विशेषता है कि—'जिस सरयूमें श्रमरहित स्नान करनेसे मनुष्य मेरे समीप वास पाते हैं।' 'श्रमरहित स्नान वह है कि जिसमें अपने हितुओं, प्रेमियों, सम्बन्धियोंके नामसे बुड़की लगाते हैं, जिससे इसका फल उनको प्राप्त हो जाता है।' २ बै०—'जन्मभूमि मम पुरी'='जन्मभूमि' यह अयोध्या जो प्रकृति-मण्डलमें है। 'मम पुरी'=नित्य-विहारवाली अयोध्या जो साकेतलोकमें है। ये दोनों एक ही हैं, देखनेमात्रमें दो हैं; अतः 'जन्मभूमि ममपुरी' कहा।

पुनीत अमित महिमा अति। कहि न सकै सारदा बिमल मति॥ रामधामदा पुरी सुहावनि। लोक समस्त बिदित अति पावनि॥' (१। ३५)

☞ यहाँतक व्यवहार-रीतिसे अवधका प्रियत्व कहा।

३ *'जा मज्जन ते·········'* इति। *'बिनहि प्रयासा'* कहनेका भाव कि सामीप्यमुक्तिकी प्राप्तिमें बड़ा प्रयास है, सो मज्जनमात्रसे बिना प्रयास ही लोग हमारे समीप वास पाते हैं। बहुत धर्म करनेसे जो सामीप्यमुक्ति मिलती है वह सरयू-स्नानसे ही मिल जाती है, इस कथनका आशय यह है कि सब धर्मोंके फलसे सरयू-स्नानका फल भारी है।

नोट—१ *'जा मज्जन ते बिनहि प्रयासा'* का भाव कि इसमें स्नान करके कहीं रहे, पवित्रतासे रहे और माहात्म्य मनमें स्मरण रखे तो (भी) रामधामकी प्राप्ति होती है। (मयूख)। सरयू-मज्जनका विधान यथा—*'मज्जहिं सज्जनबृंद बहु पावन सरजू नीर। जपहिं राम धरि ध्यान उर सुंदर स्याम सरीर॥'* (१। ३४) (रा० शं०) सरयूजीकी पावनताके सम्बन्धमें चोरोंकी मुक्तिकी कथा सत्योपाख्यान अध्याय ३४, ३५ में प्रसिद्ध है। (बै०) मिलान कीजिये—**'जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्या मनुराजधानीम्॥'** (१३। ६१) **तरङ्गमेधावभृथावतीर्णैरिक्ष्वाकुभिः पुण्यतरीकृतानि। तत्त्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजान्नास्ति शरीरबन्धः॥'** (रघुवंश १३। ५८) अर्थात् अयोध्या-राजधानीमें जिसके तटपर यज्ञस्तम्भ गाड़कर इक्ष्वाकुवंशियोंने अनेक यज्ञ करके जिसके जलको अधिक पवित्र कर दिया है, यह वह सरयू विराज रही है। इसमें स्नानमात्रसे ही, बिना तत्त्वज्ञान हुए भी, शरीर त्याग करनेपर पुनः शरीर नहीं धारण करना पड़ता।

नोट—२ यहाँ *'मम समीप नर पावहिं बासा'* कहते हैं। इसके कहनेवाले श्रीरामजी हैं। अतः *'मम समीप'* का अर्थ है रामसमीप। जहाँ श्रीरामजीका नित्य निवास है वहाँ।

पं० रा० व० श०—१ जिससे सब प्राणी उत्पन्न और जिसमें सब लीन होते हैं, जो उद्भव-स्थिति-संहार करनेवाला है, ऐसे मुझ निरवधि पुरुषको अवधि अर्थात् जन्म देनेवाली तथा निरुपम पुरुषकी अवधि होनेसे 'अवध' नाम है। और इसीसे मुझे प्रिय है। २—सरयू ब्रह्मद्रव है, ब्रह्मके नेत्रोंका करुणाजल है अतएव चिन्मय है, ब्रह्मतत्त्व है, निराकाररूप ब्रह्म है। ब्रह्माजीने मानसपर निर्माण कर उसमें इस चिन्मय जलको रखा था, सरसे निकलनेसे सरयू नाम हुआ।—(कथा बा० ३८ (९) में देखो)। पुनः, स्मरणमात्रसे सब पाप नाश करती हैं अतः सरयू नाम है, यथा—**'सरन्ति पापानि अनया इति सरयूः'**

अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी॥ ७॥
हरषे सब कपि सुनि प्रभु बानी। धन्य अवध जो* राम बखानी॥ ८॥

अर्थ—यहाँके निवास करनेवाले मुझे अत्यन्त प्रिय हैं, यह पुरी सुखकी राशि है और मेरे धाम (स्वरूप, लोक, तेज अर्थात् सालोक्य-सारूप्य-सायुज्य मुक्ति) की देनेवाली है॥ ७॥ सब वानर प्रभुकी वाणी सुनकर प्रसन्न हुए—जिस अवधका श्रीरामजीने बखान किया, वह धन्य है॥ ८॥

नोट—श्रीअवधपुरीके सम्बन्धमें जो श्रीमुखवचन हैं कि *'जद्यपि सब बैकुण्ठ बखाना। बेद पुरान बिदित जग जाना। अवध पुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ॥'* और *'अति प्रिय मोहि इहाँके बासी'* इतनामात्र ही इस पुरीको समस्त पुरियोंमें शिरोमणि, अखिल मोक्षदायक पुरियोंका मस्तक कहलानेका जो गौरव प्राप्त है उसके लिये पर्याप्त सबूत है।

श्रीनामके जापकों, लीलाके देखनेवालों तथा रूपके दर्शकोंको *'अति प्रिय'* नहीं कहा। परंतु धाममें निवास करनेवालोंको कहते हैं कि *'अति प्रिय मोहि'*—वास्तवमें धामकी जैसी उदारता अपर तीनोंमें नहीं है। श्रीस्वामी रामप्रसादशरणजी लिखते हैं—'सुग्रीवादि सब श्रीरामजीके साथ रहनेपर भी वानरके वानर ही रहे; परन्तु धाममें आते ही *'हनुमदादि सब बानर बीरा। धरे मनोहर मनुज सरीरा॥'* और नाम, रूप

* जेहि—(का०)

और लीलाका लोभ केवल जाग्रत्-अवस्थामें है, स्वप्न-सुषुप्तिमें नहीं; परन्तु धामनिवासी स्वप्नादिमें भी धामहीमें प्राप्त है। नाम यदि न जपे, रूपका दर्शन न हो और लीला न देखे तो कुछ लाभ नहीं। धामका वास करनेवाला सब अवस्थामें कोई भी कर्म न करनेपर भी धामसे लाभ उठाता ही है।

टिप्पणी—१ (क) *'अति प्रिय'* का भाव कि जैसे हमको वैकुण्ठ प्रिय है और अयोध्या अति प्रिय है, वैसे ही वैकुण्ठवासी प्रिय हैं और अवधवासी अति प्रिय हैं। (ख) *'अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी'* यह अपना स्वाभाविक अवधवासियोंके विषयमें प्रीतिरूपी सम्बन्ध सूचित किया। (खर्रा)

नोट—१ *'अति प्रिय'* से जनाया कि ये जगत्-वन्दनीय हैं। इसीसे ग्रन्थकारने भी वन्दना की है—*'बंदौ पुर नर नारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी॥'* रा० प्र० कार लिखते हैं कि बहुत सुकृत-साधनका फल अवधवासकी प्राप्ति है; अत: अति प्रिय कहा।

श्री १०८ युगलानन्यशरणजी महाराज साकेतवासी (लक्ष्मणकिला, श्रीअयोध्याजी) श्रीमुखसे कहते थे कि शास्त्रमें अवधवासी चार प्रकारके कहे गये हैं—'अव्वल दर्जेके तो वे हैं जिनका जन्म श्रीअयोध्याजीमें है, क्योंकि जहाँ श्रीब्रह्मका अवतार वा जन्म हुआ वहाँ उनका भी जन्म है। वे चाहे जहाँ रहें, अपनी जन्मभूमि तो श्रीअवधजीको ही मानेंगे। जो कोई पूछेगा तो श्रीअवधजीमें ही अपना जन्म बतावेंगे और यह भी नियम है ही कि अपनी जन्मभूमिमें अवश्य अधिक स्नेह होता है। फारसीमें कहानी है कि *'हुब्बुल-वतन अज़ मुल्के सुलेमां खुशतर।'* यथार्थ ही अपनी जन्मभूमिमें परम प्रेम होता है। इसके आगे सुलेमां (जो पक्षी आदि सभीका बादशाह था) का मुल्क भी जहाँ सर्वसुख प्राप्त थे, इतना प्रिय नहीं लगता। दूसरी श्रेणीमें वे हैं जिनका जन्म तो और जगह हुआ, किन्तु जिन्होंने सब छोड़कर श्रीअवधवास नियमसे कर लिया। ये अपनी जन्मभूमि वहीं मानेंगे और कहेंगे जहाँके वह प्रथम रहनेवाले थे और बातचीतमें बहुधा कह उठेंगे कि हमारी जन्मभूमिमें, हमारी तरफ, ऐसा दस्तूर है। तीसरे दर्जे (श्रेणी) के वे हैं जो नियमसे निवास नहीं रखते, आते-जाते रहते हैं पर सालभरका बीच नहीं पड़ता। चौथे दर्जे (श्रेणी) में वे हैं (जो) कि श्रीअवधजीमें आ नहीं सकते मगर मन उनका यहाँ ही लगा रहता है। श्रीअयोध्या महारानी उनको भी श्रीअवधवासियोंमें अति दयालुतासे कृतार्थ करनेमें गिन लेती हैं।'—(किला-निवासी श्री ५ भगवानसहायजीकी हस्तलिखित जीवनीसे उद्धृत)।

'मम धामदा पुरी.........' इति। *'इहाँ के बासी'* कहकर *'मम धामदा पुरी'* कहनेका भाव कि यहाँ वास करनेसे अयोध्यापुरी हमारा धाम देती है। अर्थात् वाससे सालोक्यमुक्ति मिलती है और सरयूस्नानसे सामीप्यमुक्ति मिलती है। पुन:, धाम=तेज—'**धाम तेजो गृहं धाम।**' (इत्यमर:) अर्थात् वास करनेसे हमारे तेजमें मिला देती हैं। तात्पर्य कि सायुज्यमुक्ति प्राप्त कर देती है। पुन: धाम अर्थात् शरीर देती है। अर्थात् हमारे रूपको प्राप्त होती है—यह सारूप्यमुक्ति है। ☞इस प्रकार श्रीअवधवाससे चारों मुक्तियोंकी प्राप्ति सहजहीमें हो जाती है, यह दिखाया।—[पुन: '**मम धामदा**' और '**सुखरासी**' से परलोक और लोक दोनों सुख देनेवाली जनाया। (वै०) पुन:, '**मम धामदा**'=मुझको और मेरे धाम साकेतकी देनेवाली। मेरी प्राप्ति करा देती है। (मा० शं०, करु०) *(घ) सुखराशि कहनेका भाव कि यह पुरी दोनों लोकोंमें सुख देती है। वास करनेसे इस लोकमें सब सुख देती है और अन्तमें हमारा धाम देती है।†—भगवान् रामजीको

---

* पां० 'मम धामदा पुरी' का मुख्य भाव यह है कि यह पुरी मुझे शरीर देनेवाली अर्थात् मेरी जन्मभूमि है।—(पर जन्मभूमि होना तो प्रभुने स्वयं ही कहा है, उसको फिर क्यों दूसरे शब्दोंमें दोहराते। हाँ, यदि कहते कि मेरा स्वरूप मेरा-सा शरीर देनेवाली है तो भी ठीक होता, क्योंकि धाममें शरीर छूटनेपर सारूप्यता तो मिलती है ही)। २—कोई-कोई टीकाकार 'मम धामदा' को दीपदेहली मानते हैं। अर्थात् अवधवासी अत्यन्त प्रिय हैं, क्योंकि वे मेरे धामको देते हैं, उनकी सेवासे तथा पुरीके वाससे नित्यधामकी प्राप्ति कही।

† रा० च० मिश्र—'सुखरासी' का भाव कि जब इससे अधिक सुख कहीं हो तब तो यहाँके वासी उसकी इच्छा करें, जब है ही नहीं तब इच्छा भी कब होने लगी।

'सुखराशि' विशेषण बहुत जगह दिया गया है और यहाँ धामको भी वही विशेषण दिया। इस तरह जनाया कि यह पुरी भी ब्रह्मसच्चिदानन्द-स्वरूपिणी है।

* *'मम धामदा पुरी' 'मम समीप नर पावहिं बासा।'* *

इसपर यह प्रश्न होता है कि 'वह धाम कहाँ है और श्रीरामजीकी समीपता कहाँ प्राप्त होगी?' यदि कहनेवाले (श्रीरामजी) का कोई अपना धाम है तब दूसरे रूपका धाम कहनेवालेका धाम नहीं हो सकता। और, यदि कहनेवालेका कोई अपना धाम नहीं है तब देखना होगा कि कहनेवालेका इससे क्या तात्पर्य हो सकता है।

श्रुतियों, पुराणों, संहिताओंसे श्रीरामजीका धाम 'अयोध्या' प्रमाणसिद्ध है।

ब्रह्मचारिश्रीभगवदाचार्य देवरत्नजी 'अथर्ववेदमें श्रीअयोध्या' शीर्षक लेखमें लिखते हैं कि—'अथर्ववेद' (संहिताभाग) दशमकाण्ड, प्रथम अनुवाक, द्वितीय सूक्तके २८ वें मन्त्रके उत्तरार्धसे श्रीअयोध्याजीका प्रकरण आरम्भ होता है।

'पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते'॥ २८॥

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृते नावृतां पुरम्। तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥

न वैतं चक्षुर्जहाति न प्राणोजरसः पुरा। पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥

तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्र्यक्षरे त्रिप्रतिष्ठिते। तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसासमपरीवृताम्। पुरं हिरण्मयीं ब्रह्माविवेशापराजिताम्॥ ३३॥

इन मन्त्रोंका अर्थ देकर अन्तमें वे लिखते हैं कि ☞अथर्ववेदका प्रथम अनुवाक यहाँ ही पूर्ण हो जाता है। इस अनुवाकके अन्तमें इन साढ़े पाँच मन्त्रोंमें अत्यन्त स्पष्टरूपमें श्रीअयोध्याजीका वर्णन किया गया है। इन मन्त्रोंके शब्दोंमें व्याख्याताओंको अपनी ओरसे कुछ मिलानेकी आवश्यकता ही नहीं है। श्रीअयोध्याजीके अतिरिक्त अन्य किसी भी पुरीका इतना स्पष्ट और सुन्दर साम्प्रदायिक वर्णन मन्त्रसंहिताओंमें होनेका मुझे ध्यान नहीं है।'—(श्रीमद्रामप्रसादग्रन्थमाला मणि ५ से संक्षेपसे उद्धृत)।

२—रामतापनीयोपनिषद्की श्रुतियाँ और नारदपञ्चरात्रादि ग्रन्थ तो विशेषरूपसे प्रमाण हैं ही।

३—विशेष दोहा १५ (४) और दोहा ३ (४) में देखिये।

जो श्रीमन्नारायणको अवतारी मानते हैं उन्हें भी यह मान्य है कि साकेतमें भगवान्‌का नित्य परात्पर द्विभुज निराकार रूप ही है, अतः यह बात तो निर्विवाद सिद्ध है कि श्रीरामजीका धाम साकेत ही है, चाहे वे राम परात्पर परब्रह्म अशेषकारणोंके भी कारण श्रीमन्नारायणसे भी परे हों और चाहे वे स्वयं नारायण ही द्विभुजधारी हों—इस विवादसे कोई सरोकार यहाँ नहीं है।

☞यहाँ *'मम धामदा पुरी'* के वक्ता श्रीरामजी हैं। अतः *'मम धामदा'* का अर्थ 'रामधामदा' निश्चय हुआ। रामधामको ही रघुपतिपुरी भी कविने आगे कहा है। अतः *'मम धाम'* से *'रघुपतिपुर' 'रामधाम'* तात्पर्य है यथा—*'सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंतकाल रघुपतिपुर जाहीं॥'* (१५। ४) रहस्यकी बातें अत्यन्त गोपनीय हैं, सर्वत्र स्पष्ट नहीं कही जातीं। इसीसे भगवान् कहते हैं कि *'यह रहस्य जानइ कोउ कोऊ।'* *'रघुपतिपुर'* और *'रामधाम'* जिसके आचार्यने जो जिसको बताया हो उसके लिये वही है। श्रुतियों, स्मृतियोंमें रघुपतिपुर वा रामधामको साकेत, अयोध्या, अपराजिता, सन्तानक इत्यादि कहा गया है। —दोहा ४ (४) देखो। भगवान्‌के सभी लोक हैं। अपनी-अपनी भावनानुसार उपासक लोक और प्रभुको पाते हैं—**'उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना'** इति (श्रुति)। इसलिये जिसको जो श्रीरामजीका धाम रुचे वही उसके लिये ठीक है।—*'जिन्हके रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी॥'* एक श्रीराम द्विभुज भावनानुसार पृथक्-पृथक् रूपके देख पड़े। १। २४१। (१)—२४२ देखिये।

मा० म०—'*मम धामदा पुरी सुखरासी*' का भाव कि सब वैकुण्ठोंके वासी मुझे प्रिय हैं परन्तु अवधवासी अत्यन्त प्रिय हैं। जो सरयू-स्नान करके पुरवासियोंका सेवन करे तो वे अपना-ऐसा बनाकर मेरे धाममें निवास देते हैं।—[☞ वैष्णवरत्न श्री १०८ रूपकलाजी फरमाते थे कि यहाँ घर बनानेवाले, किरायेपर घर लेनेवाले, वृक्ष लगानेवाले भी वासियोंमें ले लिये जाते हैं।]

टिप्पणी—२ '*हरषे सब कपि*.........' इति। यह उपसंहार है और '*कपिन्ह देखावत नगर मनोहर*' उपक्रम है। प्रभुकी वाणी सुनकर सब हर्षित हुए, इस कथनका भाव कि प्रभुकी वाणी सुननेसे सब भ्रम दूर होते हैं, यथा—'*सुनी चहहिं प्रभु मुख कै बानी। जो सुनि होइ सकल भ्रम हानी॥*' (३६। ३) तात्पर्य कि श्रीरामजीकी वाणी सुनकर वानरोंका भ्रम दूर हो गया, अयोध्याजीका प्रभाव देख पड़ा।

३—'*धन्य अवध जो राम बखानी*' इति। भाव कि सब वैकुण्ठका बखान करते हैं और श्रीरामजी अवधका बखान (प्रशंसा और वर्णन) करते हैं; इसीसे अवध धन्य है।

दो०—आवत देखि लोग सब कृपासिंधु भगवान।
नगर निकट प्रभु प्रेरेउ उतरेउ भूमि बिमान॥
उतरि कहेउ प्रभु पुष्पकहि तुम्ह कुबेर पहिं जाहु।
प्रेरित राम चलेउ सो हरष बिरहु अति ताहु॥४॥

अर्थ—दयासागर भगवान् रामचन्द्रजीने सब लोगोंको आते देख नगरके पास प्रभुने विमानको प्रेरणा की (आज्ञा दी) तब वह पृथ्वीपर उतरा। उतरकर प्रभुने पुष्पकसे कहा कि तुम कुबेरजीके पास जाओ। श्रीरामजीकी प्रेरणासे वह चला, पर उसे हर्ष और अत्यन्त विरह है॥ ४॥

टिप्पणी—१ '*कृपासिंधु भगवान उतरेउ*.........' इति। नगरके निकट विमानको उतारा यह सोचकर कि नगरमें सबसे मिलते न बनेगा, सबको तकलीफ (कष्ट) होगी। इसीसे '*कृपासिंधु*' विशेषण दिया। [कृपासिंधु हैं, अतः पुरवासियोंको दौड़ते देख उतर पड़े। ऐसे ही श्रीकौसल्याजीने चित्रकूटको जाते हुए मार्गमें श्रीभरतजीसे कहा था कि सवार हो लो नहीं तो पुरवासी भी पैदल चलेंगे। यद्यपि वे शोकवश कृश हैं, पैदल चलने योग्य नहीं हैं। तब श्रीभरतजी सवार हो लिये थे। (रा० शं० श०)] जो धर्मसे युक्त हो सो भगवान् है, यथा—'**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥**' [टिप्पणीमें यही श्लोक है। पर इसमें धर्म शब्द नहीं है। महारामायणमें तथा निरुक्तमें भगवान् शब्दकी व्याख्या इस प्रकार है—'**ऐश्वर्येण च धर्मेण यशसा च श्रियैव च। वैराग्यमोक्षषट्कोणैः संजातो भगवान् हरिः॥**' (४८। ६६) अर्थात् ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और मोक्ष (ज्ञान) इन छहोंके सहित जिन्होंने अवतार लिया है, वे ही भगवान् हैं। इसके अनुसार यह भाव ठीक सङ्गत हो जाता है। (मा० स०)] यहाँ प्रभुने धर्मका सँभाल किया कि माता, मन्त्री, गुरु, ब्राह्मण सब पैदल आते हैं, हमारा विमानपर बैठे रहना धर्म नहीं है; इसीसे '*भगवान*' कहा।—(साधारण दयावान् भी यह नहीं देख और सह सकता तब कृपासिंधु कृशतन राम-वियोगियोंका यह कष्ट कब देख सकते हैं।)

२ '*उतरि कहेउ*.........' इति। यथा—'**अवरुह्य तदा रामो विमानाग्र्यान्महीतलम्। अब्रवीत् पुष्पकं देवो गच्छ वैश्रवणं वह। अनुगच्छानुजानामि कुबेरं धनपालकम्॥**' (अ० रा० १४। ९८-९९) अर्थात् विमानश्रेष्ठपरसे उतरकर भूमिपर खड़े होकर श्रीरामजी पुष्पकसे बोले कि तुम कुबेरके पास जाओ और मेरी आज्ञासे सदैव उनकी आज्ञा पालन करना, उनकी सेवामें रहना।

शङ्का—विभीषणकी वस्तु श्रीरामजी कुबेरको क्यों देते हैं?

समाधान—मित्रभावसे विभीषणकी वस्तु अपनी जानकर दी, यथा—'*तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन मम तात*'—(लं०)। अथवा विभीषणजीने पुष्पक विमान भेंट किया है, नजरमें दिया है, यथा—'*लै पुष्पक प्रभु आगे राखा।*'

गौड़जी—पुष्पकविमान कुबेरका था, रावणका नहीं। रावण कुबेरसे छीन लाया था। कुबेरने उसे पुष्पककी भेंट नहीं की थी। अपने शत्रुपर विजय पाकर भेंटस्वरूप उसकी सम्पत्ति स्वीकार करनेमें कोई हर्ज नहीं है। किसी अपहृत सम्पत्तिके बदलेमें भी अपहरण करना अनुचित नहीं है। परन्तु किसीको बेकाबू करके उसकी सम्पत्ति छीन लेना राजाका काम नहीं है किंतु डाकू या लुटेरेका काम है। भगवान् रामचन्द्रजी नीतिके बड़े कठोर पालक हैं। विभीषणने बहुत कुछ भेंट करना चाहा, परन्तु विजयी होते हुए भी प्रभुने मन्त्री और आत्मीयताका भाव रखकर कहा।—*'तोर कोस गृह मोर सब सत्य बचन मम तात। भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥'* एक ही दिन बाकी रह गया था। उसी दिन पहुँचनेके लिये पुष्पकयान छोड़कर कोई उपाय न था। नवाभिषिक्त राजा विभीषणने सरकारकी सेवामें पुष्पकविमान पेश किया कि शीघ्र-से-शीघ्र भरतकी व्यथाको दूर करें। यह विभीषणकी भेंट थी। सेना और सखाओंसहित प्रभुको श्रीअयोध्यापुरीतक पहुँचा दिया। उसका उपयोग न करके तुरंत कुबेरको वापस कर देना भेंटका तिरस्कार होता, इसलिये उसका उपयोग आवश्यक था। जब पुष्पकका हरण हुआ था तब पुष्पकको कुबेरसे छूटनेका बड़ा दु:ख हुआ था। परन्तु यह जानकर कि किसी दिन भगवच्चरणोंको अपने ऊपर धारण करनेका सौभाग्य भी प्राप्त होगा, बहुत दिनोंसे पुष्पकको उस अवसरकी प्रतीक्षा थी। सौभाग्यसे वह अवसर अब आया। पुष्पकने हर्षपूर्वक यह सेवा की। लगभग ४०० मील प्रति घण्टेके हिसाबसे वह विमान चला। उसकी सेवा पूरे दिनभर भी नहीं रही। फिर भी इस अलभ्य अवसरकी प्राप्तिका उसे अति हर्ष हुआ। साथ ही इतने थोड़े संयोगके बाद प्रभुके चरणोंसे वियोग भी हुआ, इसका उसे अति विरह हुआ। यह तो उसे मालूम ही था कि प्रभु हमें कुबेरके पास लौटा देंगे; परन्तु इतनी जल्दी लौटा देंगे इस बातकी आशा न थी। इसीलिये उसे हर्षके साथ ही विरहका अति शोक हुआ। *'हरष बिरह'* का क्रम ही इस बातका साक्षी है कि यह दोनों विरोधाभासी भाव भगवत्-चरणोंके सम्बन्धमें ही उसके हृदयमें उठे। कुबेरकी चीज कुबेरके पास जानी थी और कुबेरको सम्मानपूर्वक राज्यावरोहणके अवसरपर आनेका मौका भी देना था।

इस प्रसङ्गमें पुष्पकविमान विभीषणका नहीं था। भेंट होनेके कारण वह प्रभुका ही था और प्रभुने उसे अपने विजयके उपहारके रूपमें कुबेरको लौटाया। देवताओंका कष्ट दूर करनेके लिये भी तो यह अवतार था, और कुबेरके साथ रावणने जो अन्याय किया था उसका प्रतीकार इतनी मुद्दतके बाद भगवान्‌के हाथों हुआ।

टिप्पणी—३ *'प्रेरित राम चलेउ'* से सूचित किया कि उसकी जानेकी इच्छा न थी। इसीसे कुबेरके मिलनेका हर्ष थोड़ा है और रामविरह बहुत है।—[☞पुष्पकका विस्तृत वर्णन अगस्त्यसंहितामें है। इसका आकार हंसकी जोड़ीके समान कहा गया है। विशेष लं० ११८ (४) (६) में देखिये।]

मा० म०—बालकाण्डमें जो प्रभुको *'गई बहोर गरीब निवाजू'* कहा था उसका यहाँ चरितार्थ है। कुबेरजीकी गयी हुई वस्तु उनको पुन: प्राप्त करा दी।

शीला—पुष्पकविमान नगरके बाहरहीसे कुबेरके पास भेजनेका कारण यह है कि एक तो वह देवयान है। उसे नरलोकमें रखना उचित नहीं। दूसरे नगरमें कामदार आदि कोई इसे सुन्दर समझकर रख लेनेको न कहे। तीसरे, कैदसे कैदी छूटकर तुरन्त घर जानेकी इच्छा करता ही है। अतएव तुरन्त विदा कर दिया।

वीर—हर्ष और शोक दोनों भावोंका एक साथ उत्पन्न होना 'प्रथम समुच्चय अलङ्कार' है।

आए भरत संग सब लोगा। कृस तन श्रीरघुबीर बियोगा॥१॥
बामदेव बसिष्ठ मुनिनायक। देखे प्रभु महि धरि धनु सायक॥२॥
धाइ धरे गुर चरन सरोरुह। अनुज सहित अति पुलक तनोरुह॥३॥

अर्थ—श्रीभरतजीके साथ सब लोग आये। श्रीरघुवीर रामजीके वियोगसे सबका शरीर दुबला (एवं श्रीरहित) हो गया है॥ १॥ वामदेव, वसिष्ठादि मुनिश्रेष्ठोंको देख, पृथिवीपर धनुषबाणको रखकर भाई लक्ष्मणसहित प्रभुने दौड़कर गुरुजीके चरणकमल पकड़ लिये। दोनों भाइयोंके शरीर अत्यन्त रोमाञ्चित हो रहे हैं॥ २-३॥

नोट—'*सब लोगा*' इति। पूर्व जो '*हरषित गुर परिजन अनुज भूसुरबृंद समेत। चले भरत*·········॥' (३) कहा था वही यहाँ '*सब लोग*' हैं। एक गुण इन सबमें प्रत्यक्ष है, अतः उसे कहते हैं—'*कृस तन*·······।' गुरु भी कृशतन हैं।

टिप्पणी—१ (क) '*आये भरत संग सब लोगा*' इति। '*हरषित गुर परिजन अनुज भूसुरबृन्द समेत। चले भरत मन हरष*·········॥' इस दोहेपर भरतजीका प्रसङ्ग छूटा था, अब फिर वहींसे कहते हैं। (ख) श्रीरामजीके प्रेम और विरहमें श्रीभरतजी सबसे अधिक हैं, इसीसे श्रीरामजीके पास चलनेमें श्रीभरतजीकी प्रधानता कहते हैं कि उनके साथ और सब लोग हैं (और इस समय राज्यकार्यभार भी इन्हींके हाथमें है, इन्हींके कारण प्रभु श्रीअवध लौटकर आये, नहीं तो क्यों आते? अतः इनको अगुआ होना योग्य ही है)। (ग)—'*कृसतन श्रीरघुबीर बियोगा*' यह '*सब लोगा*' का विशेषण है। यहाँ श्रीभरतजीको कृशतन नहीं कहते; क्योंकि उनको प्रथम ही कृशतन कह आये हैं, यथा—'*बैठे देखि कुसासन जटा-मुकुट कृसगात*' (उ० १)। (घ) '*श्रीरघुबीर बियोगा*' का भाव कि श्रीरघुबीरवियोगसे लोगोंकी श्री हत हो गयी है, यथा—'*श्रीहत सीय बिरह दुति हीना। जथा अवध नर नारि मलीना॥*' (२। १९९। ५) ['कृशतन' रामवियोगसे यह भी जनाया कि १४ वर्षके पूर्व ये सब शरीरसे पुष्ट थे, मुकुट, आभूषणादि पहने रहते थे, यथा—'**अधारयद्यो विविधा दिव्याः सुमनसः सृजः। भूषणानि महार्हाणि वस्त्राणि विविधानि च॥ सोऽयं जटाभारमिमं सहते राघवः कथम्॥**' (पं० रा० व० श)]

२ '*बामदेव बसिष्ठ*·········' इति। [वामदेव-वसिष्ठादिको प्रथम कहकर दिखाया कि यद्यपि सबको लालसा है कि प्रथम हमको ही दर्शन हों, प्रथम हमसे ही मिलें, तथापि सब मर्यादाका पालन करते हैं, इसीसे वामदेवादिको ही आगे किये हुए हैं। उधर प्रभु भी मर्यादापुरुषोत्तम ही ठहरे, वे धर्ममर्यादा कब मिटा सकते हैं? इसीसे वे प्रथम भरतजीसे न मिलकर प्रथम गुरुविप्रवृन्दसे ही मिले। (पं० रा० व० श०)] (क) वामदेवजीकी श्रेष्ठता दिखानेके लिये वसिष्ठजीसे प्रथम वामदेवजीका नाम कहा और वसिष्ठजीकी श्रेष्ठता दिखानेके लिये उनको मुनिनायक कहा। (ख) '*देखे प्रभु महि धरि धनु सायक*' इति। धर्मशास्त्रमें लिखा है कि शस्त्रास्त्र धारण करके गुरुको न मिले, इसीसे धनुष-बाणको पृथ्वीपर रखकर तब श्रीरामजी उनसे मिले—'**शस्त्रपाणिर्न प्रणमेत्**'।

गौड़जी—'*महि धरि धनुसायक*'। बड़ोंको प्रणाम करनेमें अत्यन्त विनम्रता प्रकट करनेके लिये साधारणतया टोपी या पगड़ी उतारकर चरणोंपर सिर धरते हैं, क्योंकि टोपी या पगड़ी व्यक्तिके सबसे बड़े सम्मानके चिह्न हैं। इनको अलग किया अर्थात् गुरुजनके सामने अपना सम्मान या प्रतिष्ठा कोई चीज नहीं है। यह धनुष-बाण धारण करना भी वही आत्मसम्मानकी चीज है। क्षत्रिय जब किसीके सामने सिर झुकाता है और आत्मसमर्पण करता है तो अपने हथियारके द्वारा। यहाँ '*बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं*', स्वयं प्रभुके ही गुरु हैं, इनसे अधिक सम्मानका पात्र कौन हो सकता है? भरद्वाज, वाल्मीकि आदिको जो सम्मान नहीं प्राप्त है वह वसिष्ठजीको सुलभ है। इसीलिये उन ऋषियोंके प्रसङ्गमें जो बात नहीं हुई वह इनके प्रसङ्गमें दिखायी गयी है।

पं०—शस्त्र छोड़कर चरणोंसे लगनेका भाव कि—(क) धनुष-बाणके होते चरणोंसे लपटना कठिन था। अथवा, (ख)—शस्त्रसंयुक्त रजोगुणी दर्शन तो सब प्रजाको देना है, आयुध छोड़ सत्त्वगुणी प्रणाम गुरुजनोंको किया; क्योंकि मर्यादापुरुषोत्तम हैं। वा (ग)—पृथ्वीपर रखकर सूचित किया कि इस (पृथ्वी) की प्रार्थनाके कारण हमने इन्हें धारण किया था। अब उस कार्यको कर आया हूँ, ये आयुध सदा इसकी रक्षा करेंगे।—(पर ये क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं)।

मा० शं०—भरद्वाज, वाल्मीकि, अगस्त्यादिसे मिलापसमय प्रणाम करनेमें धनुषबाणादिका उतारकर रखना नहीं कहा, यहाँ रखनेका भाव यह है कि अब इनका काम नहीं रह गया, केवल शोभाके लिये धारण करूँगा।

टिप्पणी—३ '*धाइ धरे गुरुचरन*·········' इति। जैसे श्रीरामजीसे मिलनेको लोग दौड़े वैसे ही गुरुजीसे मिलनेको

श्रीरामजी दौड़े। *'धरि धनु सायक'*। *'धाइ धरे'* इस पदसे जनाया कि गुरुसे मिलनेकी अत्यन्त उत्कण्ठासे वे धनुष-बाण किसीको थँभा न सके, जल्दीमें पृथ्वीहीपर धर दिया। (*'देखे'* के साथ ही *'धरि धनु सायक'*……' कहकर जनाया कि दर्शन होते ही आयुध रखकर दौड़े।) ☞जब अवधसे वनको चले थे तब गुरुपदकमलकी वन्दना की थी, यथा—*'गुर पदपदुम हरषि सिरु नावा'* और अब जब वनसे लौटे तब गुरुचरणारविन्दको जाकर पकड़ लिये। ['खर्रा—[*'धाइ धरे'* से जनाया कि चरणोंसे लगकर प्रणाम किया।]

टिप्पणी—४ *'अनुज सहित अति पुलक तनोरुह'* इति। (क) *'अनुज सहित'* कहकर सूचित किया कि दोनों भाइयोंने धनुष-बाण पृथिवीपर धरकर, दौड़कर चरण पकड़े। (ख) दोनोंके शरीरमें अत्यन्त पुलकावली हुई, इस कथनका भाव यह है कि गुरुको प्रणाम करनेमें पुलकांग न हो तो जन्म व्यर्थ है, यथा—*'रामहि सुमिरत रन भिरत देत परत गुर पाय। तुलसी जिन्हहि न पुलक तन ते जग जीवत जाय॥'* (दो० ४२)

भेंटि कुसल बूझी मुनिराया। हमरे कुसल तुम्हारिहि दाया॥ ४॥
सकल द्विजन्ह मिलि नाएउ माथा। धर्म धुरंधर रघुकुलनाथा॥ ५॥

अर्थ—मुनिराज वसिष्ठजीने उन्हें (उठाकर और) हृदयसे लगाकर भेंट करके उनसे कुशल पूछी। उन्होंने कहा कि आपकी ही दयासे (वा दयामें) हमारी कुशल है*॥ ४॥ धर्मकी धुरी धारण करनेवाले रघुकुलके नाथ श्रीरामजीने सब ब्राह्मणोंसे मिलकर उनको मस्तक नवाया॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'भेंटि कुसल बूझी'*……' इति। (क) श्रीरामजी दास्यभावसे वसिष्ठजीके चरणोंपर पड़े और वसिष्ठजीने वात्सल्यभावसे उन्हें हृदयमें लगा लिया। कुशल पूछना लोक-व्यवहार है, इससे कुशल पूछी। प्रेमपूर्वक हृदयसे लगाकर कुशल पूछी इसीसे उनको *'मुनिराया'* कहा, बड़े लोगोंकी यही रीति है तथा श्रीरामजीमें प्रेम होनेसे ही मुनियोंकी बड़ाई है। यथा—*'रामसनेह सरस मन जासू। साधुसभा बड़ आदर तासू॥'* (२। २७७। ४) (ख) *'हमरे कुसल तुम्हारिहि दाया।'* गुरुके अधीन कुशल है, यथा—*'राखै गुरु जौं कोप बिधाता। गुर बिरोध नहिं कोउ जग त्राता॥'* (१। १६६) इसीसे श्रीरामजीने गुरुकी दयासे कुशल कहा। यथा—*'तात तात बिनु बात हमारी। केवल गुरुकुलकृपा सँभारी।'*……*'मुनि मिथिलेस राखि सब लीन्हा।'* (२। ३०५) *'बूझत राउर सादर साईं। कुसल हेतु सो भयउ गोसाईं॥'* (२। २७०। ८)

खर्रा—यहाँ दया बीज है और कुशल फल है। भाव कि जैसे आपकी दया सब प्रकारसे शोभित है वैसे ही सब प्रकारसे कुशल है।

वि० त्रि०—सरकारने वामदेव-वसिष्ठ मुनिनायकको देखते ही धनुष-बाण पृथ्वीपर रखकर दौड़कर गुरुजीके चरणकमलोंको पकड़ा, जिसमें चित्रकूटके मिलनकी भाँति गुरुजीको दौड़ना न पड़े। यथा—*'मुनिबर धाइ लिए उर लाई'* मुनिजीने प्रेमसे अधीर होकर सरकारको उठाकर हृदयसे लगा लिया और तब कुशल पूछा। सरकारने दो शब्दोंमें उत्तर दिया—*'हमरे कुसल तुम्हारिहि दाया।'* भाव कि हमारा कुशल और आपकी दया दो वस्तु नहीं है। जो बात भरतजीने कही थी वही रामजी कह रहे हैं। *'दलि दुख तजै सकल कल्याना। अस असीस राउर जग जाना॥'* सरकारके हृदयमें यही भाव है कि रावणवध गुरुजीकी कृपासे हुआ। सखाओंसे कहा भी *'गुरु बसिष्ठ कुलपूज्य हमारे। इन्ह की कृपा दनुज रन मारे॥'*

टिप्पणी—२ (क) *'सकल द्विजन्ह'*………' इति। गुरु सबसे बड़े हैं इससे प्रथम गुरुसे मिले तब ब्राह्मणोंसे। सब विप्रवृन्दसे मिल-भेंटकर मस्तक नवाया। (ख) *'धर्मधुरंधर रघुकुलनाथा'* का भाव कि धर्मसे कुलकी वृद्धि होती है, श्रीरामजी रघुकुलके स्वामी हैं, धर्म करके रघुकुलको बढ़ाते हैं। सब ब्राह्मणोंको माथा नवाते हैं, इससे बढ़कर पुण्य नहीं, यथा—*'पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्रपद पूजा॥'* (४५। ७) इसी धर्मसे रघुकुल बढ़ता है।—[गुरुसे मिलकर ब्राह्मणोंसे मिले; क्योंकि आप ब्रह्मण्यदेव हैं।

* वीर—प्रश्नके शब्दका उत्तर होना चित्रोत्तर अलङ्कार है।

गुरुसे पहिले मिले क्योंकि ये ब्राह्मण ही नहीं, वरन् ब्रह्माके पुत्र हैं और साथ-ही-साथ इक्ष्वाकुजीके समयसे ही कुलके गुरु ये ही चले आ रहे हैं।]

गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज। नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज॥ ६॥
परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए॥ ७॥
स्यामल गात रोम भए ठाढ़े। नव राजीव नयन जल बाढ़े॥ ८॥

अर्थ—फिर श्रीभरतजीने प्रभुके चरणकमल पकड़े कि जिन्हें देवता, मुनि, शङ्करजी और ब्रह्माजी प्रणाम करते हैं॥ ६॥ वे पृथ्वीपर (साष्टाङ्ग) पड़े हैं, उठाये नहीं उठते, दयासागर श्रीरामजीने बलपूर्वक उनको उठाया और हृदयसे लगा लिया॥ ७॥ (दोनोंके) श्यामल शरीरमें रोएँ खड़े हो गये और नवीन-कमल-समान नेत्रोंमें जलकी बाढ़ आ गयी॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'गहे भरत पुनि प्रभु पद.........'* इति। भाइयोंमें श्रीराम और भरतजी बड़े हैं इससे प्रथम इनका मिलाप लिखते हैं। अभी लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजीके मिलनेका समय नहीं है। जब दोनों भाई श्रीभरत-शत्रुघ्नजी श्रीरामजीसे मिल चुके तब लक्ष्मणजी इन दोनोंसे मिले। (ख) *'नमत जिन्हहि सुर.........'* इति। *'पद पंकज'* कहकर इन चरणोंका स्वरूप बताया और *'नमत'* विशेषण देकर इन चरणोंकी बड़ाई की। इस विशेषणसे जनाया कि भ्राता-भावसे चरण नहीं पकड़े, वरन् इस भावसे कि इन चरणोंको सुर, मुनि, शङ्कर और ब्रह्माजीतक मस्तक नवाते हैं। [लङ्कामें सब देवता, शङ्करजी और ब्रह्माजीने आकर श्रीरामजीकी स्तुति की थी और चरणोंकी भक्ति माँगी थी।—लं० १ । १० (२) से दोहा १५ तक देखिये। यह बात श्रीहनुमान्‌जीने *'अब प्रभु चरित सुनावहु मोही।'* (७। २। १४) के उत्तरमें कही थी। यही 'प्रभु'-चरित (प्रभुताका चरित) है]।

पं० रा० व० श०—*'नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज'* से सूचित करते हैं कि चरण पकड़ते समय श्रीभरतजी इन चरणोंका ममत्त्व भी अपने हृदयमें ले आये कि मुनियोंने मनन करके निश्चय कर लिया है कि ये ही चरण नमस्कार-योग्य हैं, देवता तथा समस्त कल्याणोंके कर्ता शङ्करजी तथा ब्रह्माजी जिनकी अज पदवी है, जो सबके पितामह हैं जिन्होंने वेदोंको प्रकट किया, ऐसे-ऐसे ईश्वर भी इनको नमस्कार करते हैं।

वै०—यहाँ लीला तो माधुर्य है; इसमें ऐश्वर्य दरसानेवाले विशेषण देकर भरतके अहोभाग्यकी प्रशंसा प्रकट की है।

मा० म०—*'नमत जिन्हहि सुर मुनि संकर अज'* से जनाया कि जब भरतजीने इन चरणोंको पकड़ा तब ब्रह्मादिने इनको बड़भागी जानकर प्रणाम किया और उन चरणकमलोंको भी दूरसे ही प्रणाम किया। [मेरी समझमें यह चरण *'प्रभुपदपंकज'* का विशेषण है; इसीसे प्रभुत्वसूचक *'प्रभु'* शब्द यहाँ दिया है। ब्रह्मादि सदा ही इनको नमस्कार किया करते हैं, यही भाव है।]

वीर—सामान्य बातका समर्थन विशेष सिद्धान्तसे करना 'अर्थान्तरन्यास अलङ्कार' है। रोमाञ्च और अश्रु सात्त्विक अनुभाव हैं।

टिप्पणी—२ *'परे भूमि नहिं उठत उठाए.........।'* इति। (क) प्रेममें मग्न हैं इसीसे उठाये नहीं उठते, यथा—*'बार-बार प्रभु चहइ उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा॥'* (५। ३३। १) जब उठानेसे न उठे तब बल करके उठाया।—[भगवान् शङ्कर जिस दशाका ध्यान कर निमग्न हो जाते हैं, सुध-बुध भूल जाते हैं, यथा—*'प्रभु कर पंकज कपिके सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥'* (५। ३३। २) तब भला जो श्रीभरत उस दशाको साक्षात् प्राप्त हैं वे कैसे झटसे उसका वियोग स्वीकार करेंगे? उठाये न उठनेसे जनाया कि १४ वर्षपर अपने सर्वस्व इन चरणोंकी प्राप्ति होनेसे उनको छोड़नेकी इच्छा नहीं, इसीसे नहीं उठते। जो सुख अनुभव हो रहा है वह न रह जायगा। मयंककार भी कहते हैं कि 'जिन चरणोंकी पादुकाओंका अवलम्बन करके भरतजी विरह (अवधि) सिन्धुके पार हो गये वह चरणकमल स्वयं मिल गया तब

उस अपने जीवन-आधारको श्रीभरतजी क्योंकर छोड़ सकते हैं?'*] (ख)—'*कृपासिंधु*' कहा, क्योंकि श्रीभरतजीका प्रेम देखकर उनपर बड़ी कृपा की, हृदयसे लगाया। श्रीभरतजी दासभावसे चरणोंपर पड़े और श्रीरामजीने स्वामीभावसे उठाकर हृदयसे लगा लिया।

नोट—☞मिलान कीजिये—'**रघुनाथोऽपि तं दृष्ट्वा दण्डवत् पतितं भुवि। उत्थाप्य जगृहे दोर्भ्यां हर्षालोकसमन्वितः॥ उत्थापितोऽपि हि भृशं नोदतिष्ठद्रुदन्मुहुः। रामचन्द्रपदाम्भोजग्रहणासक्तबाहुभृत्॥**' (प० पु० पा० २। ३०-३१) अर्थात् श्रीरघुनाथजीको देखकर पृथ्वीपर गिरकर दण्डवत् प्रणाम किया। श्रीरघुनाथजीने देखकर उठाकर दोनों हाथोंसे आनन्दयुक्त होकर पकड़ लिया। ये बारम्बार उठाये जाते हुए भी नहीं उठते वरन् उनके चरणकमलोंमें आसक्त पड़े हुए वे बोले। २—चरण पकड़े हुए भरतजीने अनेक दीनताके वचन कहे हैं। वे ये हैं—'मुझ दुराचारी पापी दुष्टपर आप कृपा करें। हे महाबाहो! हे करुणानिधे! आप करुणा करें। मेरे कारण आप और श्रीजानकीजी इतना कोमल होकर भी इन चरणोंसे वन-वन फिरीं। इत्यादि।'

टिप्पणी—'*स्यामल गात रोम भए ठाढ़े।*……' इति। (क) श्याम शरीर कहकर शरीरकी शोभा कही, यथा—'*स्याम सरीरु सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन॥*' (१। ३२७। १) '*रोम भए ठाढ़े*' से प्रेमकी शोभा कही। प्रेम दो जगहसे दिखायी पड़ता है, एक तो शरीरसे ,दूसरे नेत्रोंसे। शरीरमें पुलक और रोमाञ्च हो रहा है, नेत्रोंसे जल (प्रेमाश्रु) चल रहा है। इसीसे यहाँ इन्हीं दो स्थानोंका वर्णन किया और दोनोंकी बड़ाई की—शरीरको श्यामल और नेत्रोंको नवीन अरुण कमल कहा। (राजीव विशेषणसे जनाया कि नेत्रोंके ऊपर और नीचेके भागमें ललाई है, जो नेत्रोंकी शोभा मानी जाती है।)। (ख)—☞'*स्यामल गात रोम भए ठाढ़े। नव राजीव नयन जल बाढ़े॥*' यह दशा दोनों भाइयोंकी हुई।

छंद—राजीवलोचन स्रवत जल तन ललित पुलकावलि बनी।
अति प्रेम हृदय लगाइ अनुजहि मिले प्रभु त्रिभुअन धनी॥
प्रभु मिलत अनुजहि सोह मो पहिं जाति नहिं उपमा कही।
जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुषमा† लही॥१॥

अर्थ—कमल-समान नेत्रोंसे जल चल रहा है, सुन्दर कोमल शरीरमें सुन्दर पुलकावली शोभित हो रही है। त्रिलोकके स्वामी प्रभु श्रीरामजी भाईको अत्यन्त प्रेमसे हृदयसे लगाकर मिले। भाईसे मिलनेमें प्रभु (जैसे) शोभित हो रहे हैं मुझसे उसकी उपमा कही नहीं जाती (अर्थात् उपमा त्रिलोकमें नहीं है)। (ऐसा जान पड़ता है) मानो प्रेम और शृङ्गार शरीर धारणकर मिलते हुए श्रेष्ठ परमा शोभाको प्राप्त हुए॥ १॥

टिप्पणी—१ '*राजीवलोचन स्रवत जल*……' इति। (क) प्रथम नेत्रोंमें जलका बढ़ना कहा, यथा—'*नव राजीव नयन जल बाढ़े*……', अब जलका बहना कहते हैं—'*स्रवत जल।*' (ख) शरीर ललित है उसके योगसे पुलकावली भी ललित कही गयी। शरीरमें पुलकावलीका होना शरीरकी शोभा है और नेत्रोंसे प्रेमाश्रुका बहना नेत्रोंकी शोभा है। ललित विशेषणका दूसरा भाव यह है कि पुलकावली दो प्रकारकी है—एक दुःखकी, दूसरी सुखकी। दुःखकी, यथा—'*सकल सखीं गिरिजा गिरि मैना। पुलक सरीर भरे जल नैना॥*' (१। ६८। ३) इस उदाहरणमें सुखकी पुलकावली नहीं है वरन् दुःखकी है, इसीसे यहाँ 'ललित' विशेषण नहीं देते। [इसी तरह '*कहि प्रनामु कछु कहन लिय सिय भइ सिथिल सनेह। थकित बचन लोचन सजल पुलक पल्लवित देह॥*' (२। १५२) में दुःखका पुलक है। वियोगमें स्नेहकी वृद्धिका होना 'दुःख' कहलाता

* मा० म०—बलपूर्वक उठानेका भाव कि—(क) भरतजी अत्यन्त कृश हैं, पृथ्वीपर गिरनेसे चोट लगनेके भयसे भरतजीको उठाया। वा, (ख) कपियोंको भरतजीका बल दिखानेके लिये उठाया और सूचित किया कि ये अर्जित हैं। लङ्काके युद्धमें इनके बलकी प्रशंसा किया करते थे वह आज दिखाया। अत्यन्त दुर्बल देख जाम्बवतादिसे कहा कि गिरने न पावें अतः प्रथम जाम्बवन्तादिने तथा ब्रह्मादिकने उठाया, जब न उठे तब रामचन्द्रजीने उठाया।

† परमा (का०, मा० म०, १८१७, १८१८)। सुषमा—भा० दा०, १४८२।

है और संयोगमें स्नेहकी वृद्धि होना 'सुख' कहा जाता है। यथा—'*तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जलु नयन। कहु कारन निज हरष कर पूछहिं सब मृदु बयन॥*' (१। २२८)—यह दशा संयोग-सम्बन्धके हर्षकी है। हर्ष और शोकके हर्ष आदिकी पहिचान बालकाण्ड दोहा २२८ में देखिये।] और यहाँ श्रीराम-भरत-मिलापमें सुखकी पुलकावली है, इसीसे इसे 'ललित' कहते हैं।

२ '*अति प्रेम हृदय लगाइ*·········' इति। (क) छोटे भाईको हृदयमें लगाकर अत्यन्त प्रेम किया, अतः '*त्रिभुवनधनी*' कहा अर्थात् जो जैसा बड़ा होता है वैसा ही वह छोटेपर अधिक कृपा करता है, श्रीरामजी त्रैलोक्यपति हैं तब ऐसी कृपा और प्रेम करना उनके योग्य ही है।—'*बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं॥*' (१। १६७। ७) '*त्रिभुवनधनी*' का भाव कि जैसा श्रीरामजीका भरतजीपर '*अति प्रेम*' है वैसा प्रेम त्रिलोकमें किसीपर नहीं है,—'*भरत सनेह अवधि ममता की। जद्यपि राम सींव समता की॥*' (ख) त्रिलोकके पालनमें समर्थ हैं अतः '*प्रभु*' कहा।

३ '*प्रभु मिलत अनुजहि सोह*·········' इति। प्रभु भाईसे मिलते हैं। श्रीभरतजी प्रेमकी मूर्त्ति हैं। उस प्रेममूर्त्तिसे श्रीरामजी आप (स्वयं ही) मिलते हैं (मूर्त्ति उनसे नहीं मिल रही है)।

जनु प्रेम अरु सिंगारु तनु धरि मिले

पं० रामकुमारजी—श्रीभरतजी प्रेमकी मूर्त्ति हैं, यथा—'*भरतहिं कहहिं सराहि सराही। राम प्रेममूरति तनु आही॥*' (२। १८४। ४) श्रीरामजी शृङ्गारकी मूर्त्ति हैं, यथा—'*जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप॥*' (१। २४१) '*तनु धरि*' का भाव कि प्रेम और शृङ्गारके तन नहीं हैं, ये शरीरधारी नहीं हैं। पर इस समय ऐसा जान पड़ता है मानो दोनोंने तन धारण कर लिया है। [यहाँ अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है] (ग) '*सुषमा*'=परम शोभा। '*बर सुषमा लही*' का भाव कि प्रेम शोभित हैं और शृङ्गार भी शोभित है। पर मूर्त्तिमान् हो जानेसे ये दोनों परम शोभित हो गये हैं। तात्पर्य यह है कि श्रीरामजी प्रेमसे मिलते हैं, यह श्रीरामजीकी शोभा है और श्रीरामजीके प्रेमकी मूर्त्ति होना, यह भरतजीकी शोभा है। ☞मिलान कीजिये—'*सोहत सीयराम कै जोरी। छबि सिंगारु मनहु इक ठोरी॥*' (१। २६५। ७) '*मनहु प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरें तन कह सब कोऊ॥*' (२। १११। २)

वि० टी०—श्रीरामचन्द्रजी और श्रीभरतजीके इस अद्भुत प्रेमपूर्ण मिलापके विषयमें गोस्वामीजीने यही कहा है कि इस अनुपम शोभाके तुल्य कुछ है ही नहीं कि जिससे मिलान करके बताया जाय, कारण कि दोनोंके श्यामल छबीले रूप, परस्पर स्नेह, सेव्यसेवक-भाव और भायप आदि सभी इस प्रकारसे बढ़कर हैं कि उनकी तुलना ही नहीं की जा सकती। हाँ तर्कनासे यदि कुछ कहा जाय तो यों कि मानो शृङ्गाररस (प्रीति-परिपूर्ण श्रीरघुनाथजी) और प्रेम (उसीके अङ्गभूत भरतजी) आपसमें मिलाप कर रहे हों। प्रीतिका अङ्ग ही प्रेम है।

पं० रा० व० श०—शृङ्गार भी प्रेमरस है। दोनोंका वर्ण श्याम है। प्रेमकी शृङ्गारसे और शृङ्गारकी प्रेमसे शोभा है। परस्पर एक-दूसरेकी शोभाको बढ़ानेवाले हैं। इसी प्रकार श्रीभरतजीसे मिलनेमें श्रीरामजीकी और श्रीरामजीसे मिलनेमें श्रीभरतजीकी शोभा और सार्थकता हो रही है।

बैजनाथजी—(१) जबतक भरतजी वियोगमें रहे तबतक नवधासहित प्रेमाभक्तिकी दशा रही। श्रीहनुमान्‌जीसे खबर पानेपर प्रेमकी ग्यारहवीं गलितदशा प्रकट हुई और प्रभुको प्रणाम करनेमें उनकी बारहवीं संतृप्त दशा प्रकट हुई। (२) प्रेम और शृङ्गार। श्यामवर्ण तो श्रीराम और श्रीभरत दोनों ही हैं, दोनों ही प्रेमभरे हैं; पर यहाँ केवल प्रेमरूप भरतको और शृङ्गाररूप प्रभुको कहा; इसमें क्या हेतु है? इसमें भाव यह है कि—प्रेमादि रसके अनुचर हैं तथा भरत सेवक हैं। पुनः, भरतजी सब वस्तुओंसे विरक्त शान्तरसमय शुद्ध रघुनन्दनके प्रेमी हैं। अतः भरतको प्रेमरूप कहा। पुनः, जैसे रस स्वामी है वैसे ही रघुनन्दन स्वामी हैं। इनका प्रेम केवल लालन-पालनहेतु दया छोहरूप है। और रघुनन्दन, जनकनन्दिनी परस्पर स्नेहभरे वार्ता-अवलोकनादि आलम्बन शृङ्गाररूप प्रसिद्ध ही देख पड़ते हैं; अतः प्रभुको शृङ्गाररूप कहा। दोनोंके मिलनेमें परम शोभा कही, क्योंकि जब शृङ्गाररसमें प्रेम मिलता है तभी उत्तम शोभा प्राप्त होती है।

गौड़जी—शृङ्गाररसका प्रेम स्थायी भाव है और स्थायी भाव रसका प्राण समझा जाता है। भरतजीको प्रेमकी मूर्ति बताकर और प्रभुको मूर्तिमान् शृङ्गार कहकर भगवत् और परमभागवतका देह और प्राणका सम्बन्ध जताया है। भगवान् प्राणोंके प्राण और जीवोंके जीव हैं तो भी भक्तिकी ऐसी महिमा है कि भागवत भगवत्का प्राण बन जाता है,—'*मन ऐसो निर्मल भयो जैसे गंगानीर। पीछे-पीछे हरि फिरै कहत 'कबीर कबीर॥'*' यहाँ ध्वनिसे भरतकी भक्तिकी वह ऊँचाई दिखायी है, जिसमें भागवत प्राण हो जाता है और भगवत् शरीर।

छंद—बूझत कृपानिधि कुसल भरतहि बचन बेगि न आवई।
सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई॥
अब कुसल कौसलनाथ आरत जानि जन दरसन दियो।
बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो॥ २॥

अर्थ—दयासागर रामजी भरतजीसे कुशल पूछते हैं (पर उनके मुखसे) वचन शीघ्र नहीं निकलता। (श्रीशिवजी कहते हैं) हे शिवा (पार्वतीजी)! सुनो, वह सुख (जो श्रीभरतजीको प्राप्त है) वाणी और मनसे परे है, जो उस सुखको पाता है, वही जानता है (दूसरा नहीं जानता और पानेवाला जानता है, पर कह वह भी नहीं सकता जैसे गूँगेका गुड़। यथा—'*उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहइ कबि कोऊ॥*' यह श्रीसीताजीके विषयमें कहा था। वैसा ही यहाँ भरतजीके विषयमें कहा है)। हे कोसलपुरीके नाथ! आपने आर्त जानकर जो जन-(मुझको वा हम सब) को दर्शन दिये इससे अब कुशल है (नहीं तो कुशल कहाँ थी)। विरहसागरमें डूबते हुए मुझको, हे दयासागर! आपने हाथ पकड़कर निकाल लिया।

रा० शं० श०—१ श्रीरामजी खूब जानते हैं कि श्रीभरतजीको हमारे बिना बड़ा कष्ट हुआ, यथा—'*तुम्हहिं अवधि भरि बड़ि कठिनाई*', '*बीते अवधि जाउँ जौं जिअत न पावउँ बीर*' अर्थात् वे मरणप्राय हैं। फिर हनुमान्‌जीने जो दशा देखी थी वह कही भी होगी और अब स्वयं उनकी दुर्बलता देख रहे हैं, इसीसे कृपानिधि कुशल पूछते हैं। २—'*बेगि*' का भाव कि श्रीरामजी '*बेगि*' कुशल सुनना चाहते हैं पर भरतजी '*बेगि*' कह नहीं सके।

टिप्पणी—१ (क) '*बूझत कृपानिधि*……।' इति। श्रीभरतजीकी दशा देख अत्यन्त कृपा करके उनसे कुशल पूछते हैं। प्रेममें वचन जल्दी नहीं निकलता, क्योंकि कण्ठ गद्गद हो जाता है और श्रीभरतजी तो प्रेममूर्ति ही हैं, इसीसे इनके मुखसे वचन शीघ्र न निकला। [उस सुखकी लालचसे उत्तर देनेमें विलम्ब किया। (खर्रा)] '*भरतहि*' देहलीदीपक है। (ख) '*सुनु सिवा सो सुख*……' इति। वचनसे भिन्न है अर्थात् हम उसे कह नहीं सकते, यथा—'*कहहु सुपेम प्रगट को करई। केहि छाया कबि मति अनुसरई॥ कबिहि अरथ आखर बल साँचा। अनुहरि ताल गतिहि नट नाचा॥*' (२। २४१। ३-४) मनसे भिन्न है अर्थात् हमारा मन वहाँतक नहीं पहुँचता, यथा—'*अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हरको॥*' (२। २४१। ५) भाव कि परम प्रेमसे पूर्ण हैं। मन, चित्त, बुद्धि और अहंकार सब प्रेममें लय हो गये हैं। ऐसा सुख हो रहा है। पूर्व अ० २४१ में भी मिलाप ऐसा ही है, उससे मिलान कीजिये—'*मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी। कबिकुल अगम करम मन बानी॥ परम पेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई॥ कहहु सुपेम प्रगट को करई।*' (२। २४१) इत्यादि।—वही सब भाव यहाँ हैं। (पं० रा० व० श०)

रा० प्र०—मन, वचनसे भिन्न कहनेका भाव कि मनादिकी दौड़ मायिक विषयोंतक ही है, यथा—'*गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥*' और यह सुख मायासे परे है, स्फुरणमात्र-ग्राह्य है।

मा० म०—१ (क)—परम अकथनीय जो चार आनन्द हैं—विषयानन्द, द्वैतानन्द, सेवानन्द (वासनानन्द) और अद्वैतानन्द—इससे भी बड़ा ब्रह्मानन्द है। इस ब्रह्मानन्दका भी सार परतम आनन्द है जो श्रीभरतजीको प्राप्त हुआ, इसीसे वे पाँचों आनन्द इस आनन्दमें बह गये। (ख)—दूसरा अर्थ यह है कि परमानन्दके

प्राप्त होनेसे मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार चारों बह गये और इनसे श्रेष्ठ जो विवेक है सो भी प्रेमप्रवाहमें बह गया। अब जो प्रेम रह गया वह शुद्ध कुसुमजलके ऐसा एकरंग हो गया, वहाँ कौन किससे कहे, अपनेमें ही आनन्द-अनुभव होने लगा।

वि० टी०—यहाँ जिस आनन्दका संकेत शिवजी करते हैं उसका अनुभव मन और वचनसे नहीं होता, जैसा कहा है **'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह'** अर्थात् जहाँसे मनके साथ वाणी भी बिना पहुँचे हुए ही लौट आती है। कारण जबतक मन संकल्प-विकल्पकी तरङ्गोंमें घूमता रहता है तबतक उसे वह आनन्द नहीं मिलता। वैसे ही भरतजी जब श्रीरामचन्द्रजीके आगमनके पूर्व नाना प्रकारके विचार बाँध रहे थे उस समय उनके चित्तको स्थिरता न थी; परन्तु जब रामरूपको १४ वर्षके वियोगके अनन्तर पाया तथा दोनोंमें परस्पर प्रेम हुआ, उस समय भरतजी उस अकथनीय आनन्दमें मग्न हो गये, जिसमें योगीजन मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—इन सबोंको ब्रह्ममें लीनकर ब्रह्ममय हो रहते हैं और इस सुखके वर्णन करनेके योग्य ही उस समय नहीं रहते, जब ध्यान छोड़ देते हैं तब कुछ कथन कर सकते हैं।

वै०—मन प्रकृतिका अंश है और मनके कर्माकर्मादि षट् अंश है। यथा **जिज्ञासपञ्चके—'कर्माकर्मविकर्मादावनियमेन वर्तते। संकल्पश्च विकल्पश्च मनसो बहुशो यथा॥'** जबतक जीव मनके वश रहता है तबतक वह इन्हीं छः में रहता है, और जब वह अन्तःकरणकी वृत्तियोंको त्यागकर आत्मरूपको प्राप्त होता है तब रामस्नेहमय प्रेमानन्द पाता है। अतः उस सुखको मनसे भिन्न कहा। वाणी उस सुखमें बन्द हो जाती है तब कहे कौन? और जब वाणी उस सुखसे बाहर निकली तब वह सुख रह नहीं जाता; अतः वचनसे भिन्न है। जो उसे पाता है वह कह नहीं सकता।

'सो सुख' अर्थात् जो सुख भगवान्के परम दर्शनाभिलाषी भक्तको भगवत्-प्राप्तिपर होता है, जैसे मनुजीको हुआ था।

टिप्पणी—२ ***'अब कुसल कोसलनाथ''''''''''*** इति। (क) ***'अब'*** का भाव कि आपके बिना कौन कुशल है। ***'कोसलनाथ'*** का भाव कि आप कोसलके स्वामी हैं, आपके अब कोसलपुर आनेसे मेरी तथा अवध-वासियोंकी कुशल है। सम्पूर्ण कुशलका भार तो आपपर ही है। (ख) ***'आरत जानि''''***—भाव कि दर्शन बिना सब आर्त थे (यथा=***'रहा एक दिन अवधि कर अति आरत पुर लोग'***)। प्रथम आर्त कहकर आगे आर्तका स्वरूप कहते हैं कि ***'बूड़त बिरह''''''''''।'*** डूबनेवाला बड़ा आर्त होता है। जैसे उसे कोई हाथ पकड़कर निकाल ले तो उसकी कुशल हो, वैसी ही मेरी कुशल हुई। आशय यह कि मेरी कुशल आपके ही करनेसे हुई, यथा—***'अब पद देखि कुसल रघुराया। जौं तुम्ह कीन्हि जानि जन दाया॥'*** (५। ४६) ***'नाथ कुसल पदपंकज देखें। भयउ भाग भाजनजन लेखें॥'*** (२। ८८। ५)

(घ) ***'बूड़त बिरह बारीस''''''''''***' इति। दर्शन देना हाथसे पकड़कर बाहर निकालना है। जब हनुमान्जी श्रीरामजीका सन्देश लेकर आये तब उनको जहाज कहा, यथा—***'रामबिरह सागर महँ भरत मगन मन होत। बिप्ररूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत॥'*** जिसमें डूबनेवाला जहाजको पकड़कर बच जाय। और जब श्रीरामजी आये तब कहते हैं कि मुझको पकड़कर विरह-समुद्रसे निकाला। दो जगह दो बातें कहनेमें तात्पर्य यह है कि सन्देशसे साक्षात् श्रीरामजीका आ जाना अधिक है, जैसे हाथ पकड़कर निकाल देना जहाज मिलनेसे अधिक है।-[पूर्व जो कहा था कि ***'आइ गयउ जनु पोत'*** उससे केवल नाथ या जहाजका सहारा मिलना कहा, डूबनेसे बचनेकी आशा हो गयी, पर अभी समुद्र बना है, डूबनेवाला भी अभी समुद्रहीमें हैं, न जाने फिर डूब जाय। पर जब हाथसे बाहर भूमिपर हो गया तब डूबनेका संदेह न रह गया। इस विचारसे दो जगह दो तरहसे कहा]।

मा० म०—***'कर गहि लियो'***—यह ***'कर'*** हनुमान्जीको कहा जिन्होंने विरहसिन्धुमें डूबनेसे बचाया। पुनः इसमें यह भी भाव है कि मैं आपके हाथ बिका हूँ; क्योंकि हनुमान्जी आपके हाथ हैं, उनके हम ऋणी हैं—ऋणी होनेसे बिके हैं। अब बिक जानेके मिस साथ ही रहूँगा।

दो०—पुनि प्रभु हरषि* सत्रुहन भेंटे हृदय लगाइ।
लछिमन भरत मिले तब परम प्रेम दोउ भाइ॥ ५॥

अर्थ—फिर (श्रीभरतजीसे भेंटनेके बाद) प्रभु शत्रुघ्नजीको हर्षपूर्वक हृदयसे लगाकर भेंटे (गलेसे गला लगकर मिले)। (जब भरत और शत्रुघ्न दोनोंसे श्रीरामचन्द्रजी मिल चुके) तब श्रीलक्ष्मणजी और श्रीभरतजी दोनों भाई परम प्रेमसे मिले।

मा० म०—'*प्रभु हरषि सत्रुहन*.........'। हर्षित होनेका भाव यह है कि ये प्रेमपात्र श्रीभरतजीकी सेवा करते हैं अथवा लक्ष्मणजीका भाई जानकर वा अपनेमें शत्रुघ्नजीकी प्रीति देखकर हर्षित हो गले लगाया।

टिप्पणी—१ यहाँ श्रीशत्रुघ्नजीका श्रीरामजीको दण्डवत् करना न लिखकर जनाया कि जब भरतजीने दण्डवत् की तब साथ ही इन्होंने भी की थी। जैसे दोनोंने श्रीसीताजीको दण्डवत् की। यथा—'*सीताचरन भरत सिरु नावा। अनुज समेत परम सुख पावा॥*' दोहा (६। २) वैसे ही यहाँ भी दोनोंका साथ दण्डवत् करना समझिये। श्रीभरतजी बड़े भाई हैं इससे उनका मिलाप विस्तारसे लिख दिया, जिसमें इसी तरह सब भाइयोंका मिलाप समझ लिया जाय, इसीसे और सबका मिलाप संक्षेपसे लिखा है, भेंट करना सबका लिखते हैं पर प्रणाम करना किसी भाईका नहीं लिखते।

२—'*लछिमन भरत मिले*.........' इति। यहाँ भी ऐसा समझना चाहिये कि लक्ष्मणजी भरतजीके चरणोंमें पड़े और उन्होंने उठाकर हृदयसे लगा लिया। छोटा भाई दण्डवत् करता है, बड़ा उसे हृदयसे लगाकर मिलता है।

वि० त्रि०—भरतजीसे मिलने और कुशल पूछनेके बाद सरकार अत्यन्त प्रेमसे हृदय लगाकर शत्रुघ्नसे मिले। उधर लक्ष्मण और भरत परम प्रेमसे दोनों भाई मिले। भरतजीका बड़ा प्रेम लक्ष्मणजीपर है, कहते हैं कि '*मृदु मूरति सुकुमार सुभाऊ। तात बाउ तन लाग न काऊ॥ ते बन सहहिं बिपति बहु भाँती। निदरेउ कोटि कुलिस एहि छाती॥*' भरतजीपर लक्ष्मणजीका असीम प्रेम है। चित्रकूटमें उस प्रेमका पता चलता है कि '*बंधु सनेह सरस एहि ओरा। उत साहिब सेवा बस जोरा॥ मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई। सुकबि लखन मन की गति भनई॥*' (२। २४०) रामजी भरतजीसे मिल रहे थे, इसलिये लक्ष्मणजी मनको रोके खड़े थे। छूटते ही भरतजीसे लिपट गये। [चित्रकूटमें जो क्रोध किया था वह क्रोध रामविरोधपर था, व्यक्तिविशेषपर नहीं था। होता तो वहीं क्षमा-प्रार्थना करते।]

नोट—'*परम प्रेमी*' पद देकर जना दिया कि जैसा प्रेम ऊपर श्रीराम-भरत-मिलापमें दिखा आये हैं वैसे ही प्रेमसे ये दोनों भी मिले—शरीरमें अत्यन्त पुलकावली हो रही है, नेत्रोंसे प्रेमाश्रु चल रहा है इत्यादि। श्रीभरतजी लक्ष्मणजीको बड़भागी, रामचरणानुरागी और परम धन्य एवं छोटा भाई मानकर परम प्रेमसे मिलते हैं और लक्ष्मणजी उनको रामभक्त और बड़ा भाई मानकर परम प्रेमसे मिलते हैं॥ ५॥

भरतानुज लछिमन पुनि भेंटे। दुसह बिरह संभव दुख मेटे॥ १॥
सीता चरन भरत सिरु नावा। अनुज समेत परम सुख पावा॥ २॥
प्रभु बिलोकि हरषे पुरबासी। जनित बियोग बिपति सब नासी॥ ३॥

अर्थ—फिर (श्रीभरतजीसे मिल चुकनेपर श्रीशत्रुघ्नजीने श्रीलक्ष्मणजीको दण्डवत्-प्रणाम किया तब) लक्ष्मणजी शत्रुघ्नजीसे गले लगकर मिले। कठिन विरहसे उत्पन्न सब कठिन दुःख मिट गये॥ १॥ भाई शत्रुघ्नसहित श्रीभरतजीने श्रीसीताजीके चरणोंमें मस्तक नवाया और परम सुखी हुए॥ २॥ प्रभुको देखकर (सब) पुरवासी प्रसन्न हुए, वियोगसे उत्पन्न सब दुःख दूर हो गये॥ ३॥

नोट—१ (क) '*भरतानुज*' का भाव कि शत्रुघ्नको अपना छोटा भाई जानकर न मिले। भरतजीकी

* हरषित—(का०)।

निष्ठा, उनका परम वैराग्य कि *'तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा॥'* सर्वसम्पत्ति-सम्पन्न पुरमें बिना राग रहे, उनका परम प्रेम, भक्ति, निष्ठा, उनकी यह सब दशा देखते ही लक्ष्मणजीके हृदयमें बिंध गयी। शत्रुघ्नजी उनके अनुवर्ती रहकर उनकी सेवा करते रहे, अत: उनको परम धन्य समझकर उनसे मिले जैसे श्रीसुमित्राजी लक्ष्मणजीको पुत्र समझकर न मिलीं। (पं० रा० व० श०) (ख) शत्रुघ्नजी लक्ष्मणजीके भाई हैं पर भरतजीसे उनका अत्यन्त संसर्ग बालपनसे ही है और इधर भी वे उन्हींके सेवामें रहे हैं, अत: *'भरतानुज'* कहा। (पं०) जैसे श्रीलक्ष्मणजीको प्राय: रामानुज कहा है। लक्ष्मणजी श्रीरामजीके सहोदर भ्राता नहीं हैं, वे केवल इससे 'रामानुज' कहे जाते हैं कि *'बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥'* उसी प्रकार *'लषन लघु भाई'* श्रीशत्रुघ्नजी भरतानुज कहलाते हैं, यथा—*'भरत सत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई॥'* (१। १९८। ४) पूर्व *'सहोदर भ्राता'* पर लिखा जा चुका है कि गीतावलीमें कविने स्पष्ट लिखा है कि श्रीसुमित्रजीके दो पुत्र लक्ष्मण और शत्रुघ्न हैं, दोहावली पद २१३ में भी यही कहा है—*'सुमिरि सुमित्रा नाम जग जे तिय लेहिं सनेम। सुवन लषन रिपुदवन से पावहिं पतिपद प्रेम॥'*

दुसह बिरह संभव दुख मेटे

श्रीपंजाबीजीका मत है कि विरहसम्भव दु:खका मिटना सबोंमें लगाना चाहिये। मयंककार लिखते हैं कि 'विरहसे जो दु:सह दु:ख हुआ था वह मिट गया। अथवा, श्रीलक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी श्रीरामचन्द्र और भरतजीकी सेवा करते हैं अतएव जो विरह श्रीरामचन्द्र और भरतजीको था उस विरहको दोनों भाइयोंने मिलकर नाश कर दिया।'

गौड़जी—यहाँपर *'कथा बिचित्र प्रबंध बनाई'* वाली प्रतिज्ञानुसार मानसकविने बड़ी सुन्दर युक्तियोंद्वारा कथाकी विभेदताका निर्वाह किया है। मानसभरमें कहीं इस बातका उल्लेख नहीं है कि कैकेयी और सुमित्राके कौन-कौन पुत्र हुए। उसका कारण यह है कि एक अवतारमें कैकेयीके तीन सन्तानें हुई हैं—पहले शान्ता और पीछे पुत्रेष्टि-यज्ञके फलस्वरूप भरत और शत्रुघ्न दोनों यमज पुत्र हुए। जिन अवतारोंकी कथा अध्यात्म० और वाल्मीकि आदिमें है उनमें कैकेयीके एक ही पुत्र भरत हुए और सुमित्राजीके यमज पुत्र लक्ष्मण और शत्रुघ्न हुए। इस कथाभेदपर प्रस्तुत प्रसङ्गमें बड़ी खूबीसे इशारा किया गया है। भरतानुज कहकर कैकेयीके यमज पुत्रवाली बात दिखायी और *'दुसह बिरह संभव दुख मेटे'* कहकर लक्ष्मणजीके साथ सहोदरका विशेष सम्बन्ध दरसाया। अन्यथा लक्ष्मण और शत्रुघ्नके दुसह विरहके वर्णन करनेका कोई विशेष प्रयोजन नहीं दीखता। मयंककारने दुसह विरहकी बड़ी अच्छी टीका की है। उन्होंने यह भाव दरसाया है कि लक्ष्मणजी श्रीरघुनाथजीके अनुगामी और सुख-दु:खके साझी हैं और शत्रुघ्नजी भरतजीके। श्रीरघुनाथजीको भरत-वियोगका जो अपार दु:ख है उससे लक्ष्मणजीका भरतवियोग-दु:ख उनका और अपना मिलाकर दूना हो गया है। इधर शत्रुघ्नजीका भी यही हाल है। अनुगामित्वसम्भूत इस दु:सह वियोगदु:खका मिटना इस मिलापसे ही सम्भव हुआ! परन्तु केवल लक्ष्मण और शत्रुघ्नके मिलापसे नहीं, वरं चारों भाइयोंके मिलनेसे; इसीलिये अन्तिम जोड़ीके मिलनेपर ही *'दुसह बिरह संभव दुख मेटे'* कहा गया। मयंककारकी यह व्याख्या बड़ी सुन्दर है, यद्यपि उनके टीकाकारने भावको स्पष्ट दिखा नहीं पाया। फिर भी ध्वनि काव्यमें कविके गम्भीर अभिप्रायतक पहुँचनेकी जरूरत होती है।

वै०—लक्ष्मणकी शक्ति दु:सह थी इसका दु:ख शत्रुघ्नको था। और शत्रुघ्न घरमें हैं कदाचित् ऐश्वर्यमें न भूल गये हों यह लक्ष्मणजीको दु:सह था। सो यह दोनोंका दु:ख देखतेमात्र जाता रहा। ये दोनों यमज जोड़िहा भाई हैं, लोकरीतिसे दोनोंमें वियोगसे विरह हुआ ही चाहे। यह विरह मिलकर मिटा दिया।

पं० रा० व० श०—श्रीभरतजी लक्ष्मणजीको धन्य मानते हैं, उनके जीमें ग्लानि है कि हमारे ऐसे भाग्य कहाँ? लक्ष्मणजी बड़भागी हैं कि सेवाको प्राप्त हैं। उस विचारसे जो दु:ख हुआ था वह मिट गया। अथवा, सबका मिलाप कह चुके, अन्तमें *'दुसह बिरह संभव दुख मेटे'* कहकर सबको जो वियोग और विरहके कारण दु:ख था उसका मिटना कहा।

पं० रा० व० श०—शत्रुघ्नजी परम भागवत हैं। भागवत दो प्रकारके हैं। एक आर्त, दूसरे दृप्त। भरतजीकी सेवामें दृप्त भागवतकी सेवा इन्हें प्राप्त हुई, पर एक भाग आर्तभागवतकी सेवासे ये वञ्चित थे। अत: लक्ष्मणजीके मिलनेसे उसकी भी पूर्ति हुई। ☞क्योंकि श्रीरामजीने चार रूपसे अवतीर्ण होकर चार तरहके धर्मोंकी शिक्षा दी है। आपने स्वयं सामान्य धर्मको स्वीकार किया। भरतजीने दृप्तप्रपन्नके धर्मको, लक्ष्मणजीने आर्तप्रपन्नधर्मको और श्रीशत्रुघ्नजीने छोटे होते हुए सबसे बड़ा भार लिया। ये भागवतनिष्ठ हुए। भगवत्-निष्ठको भागवत कहते हैं और भागवतनिष्ठको परम भागवत कहते हैं।

नोट—'*सीता चरन भरत सिरु नावा।*......' इति। (क) श्रीभरतजीने स्वामिनीभावसे श्रीसीताजीके चरणोंमें प्रणाम किया; इसीसे यहाँ 'भेंटना' नहीं कहते। मनुस्मृतिका वाक्य है कि गुरुपत्नीका भी अङ्ग-स्पर्श न करे, दूरसे ही प्रणाम करे। (पं० रा० कु०)। (ख) '*अनुज समेत सुख पावा*' कहकर सूचित किया कि जानकीजीका दोनोंने आशीर्वाद पाया। जैसे चित्रकूटमें पाया था। यथा—'*सानुज भरत उमगि अनुरागा। धरि सिर सिय पद पदुम परागा॥ पुनि पुनि करत प्रनाम उठाए। सिर करकमल परसि बैठाए॥ सीय असीस दीन्हि मन माहीं। मगन सनेह देह सुधि नाहीं॥ सब बिधि सानुकूल लखि सीता। भे निसोच उर अपडर बीता॥*' (२४२। ३—६) वहाँ चरणरजको सिरपर धारण किया था और यहाँ तो चरणहीपर सिर रख दिया है (मा० म०)। (ग) श्रीसीताचरणपर सिर रखकर प्रणाम करनेपर जो सुख दोनोंको हुआ उसे रघुवंश सर्ग १३। ७८ में कालिदासजी इस प्रकार कहते हैं कि जिन चरणोंमें रावणने कितनी प्रार्थना की कि '*एक बार बिलोकु मम ओरा*' ऐसा दृढ़ व्रत वह चरण और भक्तिव्रत धारण करनेवाला भरतजीका सिर—ये दोनों परम सुखको प्राप्त हुए। यथा—'**लंकेश्वरप्रणतिभंगदृढव्रतं तद्वन्द्यं युगं चरणयोर्जनकात्मजायाः। ज्येष्ठानुवृत्तिजटिलं च शिरोऽस्य साधोरन्योन्यपावनमभूदुभयं समेत्य॥**' (१३। ७८) (पं० रा० व० श०) (घ) पाँड़ेजीका मत है कि भरतजी रघुनाथजीका सरल स्वभाव जानते थे, परन्तु श्रीजानकीजीकी ओरसे भय था; जब उनकी कृपादृष्टि देखी तब वह भय मिट गया। अत: परम सुख हुआ—विशेष अ० २४२ (३—६) में देखिये।

३ '*प्रभु बिलोकि हरषे पुरबासी।*......' इति। (क) पुरवासियोंका प्रसङ्ग '*समाचार पुरबासिन्ह पाए। नर अरु नारि हरषि सब धाए॥*' (दोहा ३-४)। पर छोड़ा था, अब फिर वहींसे प्रसङ्ग उठाते हैं। (ख) '*बिपति सब नासी*' इति। विपत्तिको रात्रि कहा है; यथा—'*तहँ तब रहिहि सुखेन सिय जब लगि बिपति बिहान॥*' (२। ९६) बिहान (सबेरा) होनेसे रात्रिका नाश होता है, वैसे ही श्रीभानुकुल-कमल दिवाकरके आगमनसे विपत्तिरूपी रात्रिका नाश हुआ।

प्रेमातुर सब लोग निहारी। कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी॥ ४॥
अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथा जोग मिले* सबहि कृपाला॥ ५॥

अर्थ—सब लोगोंको प्रेमके कारण शीघ्र (सबसे प्रथम प्रभुसे) मिलनेकी उत्कट इच्छा और विह्वलता देखकर खरके शत्रु, दयालु रामचन्द्रजीने खेल किया॥ ४॥ उसी समय (तत्काल) दयालु श्रीरामजी अमितरूपसे प्रकट हो गये और सबसे यथायोग्य मिले॥ ५॥

नोट—'*प्रेमातुर*......*निहारी*' से जनाया कि प्रभु देख रहे हैं कि सब स्त्री-पुरुष कैसे दौड़े आ रहे हैं, कैसे दर्शनके लालायित हैं—यह उत्सुकता कवि ऊपर दिखा आये हैं।

पं० रा० व० श०—पूर्व कह आये कि '*अतिप्रिय मोहि इहाँ के बासी।*' सभी अतिप्रिय हैं और सबकी यही इच्छा है कि हमसे ही प्रथम मिलें। तब यह कैसे करें कि किसीसे पहले और किसीसे पीछे मिलें। अत: अमितरूप होकर एक ही समय सबसे मिले। खरादिके वधमें अमितरूप न थे, वहाँ तो निशिचर ही परस्पर एक-दूसरेको निशिचर न देख रामरूप देखते थे और यहाँ अमितरूपसे प्रकट हुए। इसीसे '*कृपाला*' विशेषण यहाँ दिया।

* मिलि—(का०, १८१७, १८१८, १८४३)।

टिप्पणी—१ *'कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी।'* इति। *'खरारी'* का भाव कि जैसे खरके वधके समय कौतुक किया था वैसा ही यहाँ भी किया।

खरयुद्ध-प्रसङ्ग	पुरवासी-मिलाप-प्रसङ्ग
सुरमुनिको सभीत देख कौतुक किया—*'सुरमुनि सभय प्रभु देखि'*	१ सबको प्रेमातुर देख कौतुक किया —*'प्रेमातुर सब लोग निहारी......'*
मायानाथ अति कौतुक करयो	२ ***कौतुक कीन्ह कृपाल खरारी***

(वहाँ कोपसे कौतुक किया, क्योंकि वहाँ सबका वध करना था। इसीसे वहाँ *'मायानाथ'* विशेषण दिया। यहाँ *'कृपाल'* विशेषण दिया, क्योंकि यहाँ सबके प्रेमके कारण कृपालुतासे कौतुक किया है। गौड़जीका मत है कि माया वहाँ भी थी और यहाँ भी। अमितरूप प्रकट करना माया है।)

निशिचर १४००० अत: १४००० रूप	३-अवधवासी अमित अत: *'अमित रूप प्रगटे·······'*
ये किसीसे न मर सकते थे, श्रीरामजीने उन्हें मारा	४-१४ वर्षके वियोगसे उत्पन्न दु:खरूपी राक्षस किसीसे नाश होने योग्य न था, वह रामदर्शनसे नष्ट हुआ
राक्षस वरदानसे प्रबल हुए थे	५-वियोग-दु:ख पिताके वरदानसे प्रबल

२ *'अमित रूप प्रगटे·······'* इति। (क) भगवान् प्रेमसे प्रकट होते हैं, यथा—*'प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना', 'प्रेम तें प्रभु प्रगटै जिमि आगी।'* (१। १८५। ५, ७); इसीसे प्रथम सब लोगोंका प्रेम कहकर कि वे सब प्रेमातुर हैं, तब श्रीरामजीका अमितरूपसे प्रकट होना कहते हैं। अमित लोगोंका प्रेम है अत: *'अमित रूप प्रगटे।'* (ख) *'तेहि काला।'* कोई कहे कि अमित रूप प्रकट करनेमें विलम्ब हुआ होगा तो उसपर कहते हैं कि कुछ भी विलम्ब न हुआ उसी समय अमितरूपसे प्रकट हो गये। (ग) *'जथा जोग·······'* इति। अर्थात् जो जैसा है उसको वैसा मिले। सबके मिलनेको अमितरूप प्रकट करना और सबसे यथायोग्य मिलना यह प्रभुकी कृपालुता है अत: *'कृपाला'* कहा। आ० रा० में भी ऐसा ही कहा है। यथा—'**रामोऽप्यालिंग्य भरतं कृत्वा रूपाण्यनेकशः॥ ८४॥ एककाले जनान् सर्वान्पृथक् स परिषस्वजे।**' (आ० रा० १। १२)।

पां०—*'यथायोग्य'* यह कि किसीको प्रणाम किया, किसीसे गले लगकर मिले, किसीको गोदमें ले लिया। किसीकी गोदमें बैठे इत्यादि और स्त्रियाँ आदि तथा और जो मिलनेके योग्य न थे उनपर कृपादृष्टि की।

नोट—यथायोग्य सबसे मिले। इस सम्बन्धमें भागवतमें भगवान् कृष्णका आगमन द्वारकापुरीमें मिलान-योग्य है। वहाँ भी भगवान्ने बन्धु-बान्धवों और अपने अनुगत पुरवासियोंसे मिलकर सबका यथायोग्य सम्मान किया। किसीको सिर झुकाकर प्रणाम किया, किसीको वाणीसे अभिवादन किया, किसीको गले लगाया, किसीसे हाथ मिलाया, किसीको मन्द मुस्कान और कृपादृष्टिसे कृतार्थ किया, किसीसे कुशल-प्रश्न किया, ब्राह्मणोंसे लेकर श्वपचोंतक सबको आश्वासन दिया, सबको अभीष्ट वर दिया तथा सबका सम्मान किया।—*'जथा जोग'* से यह सब जना दिया। यथा—'**भगवांस्तत्र बन्धूनां पौराणामनुवर्तिनाम्। यथाविध्युपसंगम्य सर्वेषां मानमादधे॥ प्रह्वाभिवादनाश्लेषकरस्पर्शस्मितेक्षणैः। आश्वास्य चाश्वपाकेभ्यो वरैश्चाभिमतैर्विभुः॥**' (१। ११। २१-२२)

कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किए सकल नरनारि बिसोकी॥ ६॥
छन महिं सबहि मिले भगवाना। उमा मरम यह काहु न जाना॥ ७॥
एहि बिधि सबहि सुखी करि रामा। आगे चले सील गुन धामा॥ ८॥
कौसल्यादि मातु सब धाई। निरखि बच्छ जनु धेनु लवाई॥ ९॥

अर्थ—श्रीरघुवीरने कृपादृष्टिसे देखकर सब स्त्री-पुरुषोंको शोकरहित कर दिया॥ ६॥ भगवान् रामचन्द्रजी क्षणमात्रहीमें सबसे मिल लिये। हे उमा! यह भेद किसीने भी न जाना॥ ७॥ इस प्रकार (अनेक रूप प्रकट करके) शील और गुणोंके धाम रामचन्द्रजी सबको सुखी करके आगे चले॥ ८॥ कौसल्या आदि सब माताएँ ऐसी दौड़ीं मानो नयी बिआयी हुई गऊ बछड़ेको देखकर दौड़ी हो॥ ९॥

टिप्पणी—१ *'कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी·········'* इति। (क)—*'रघुबीर'*। वीर तीन प्रकारके होते हैं—दानवीर, युद्धवीर और दयावीर। यहाँ *'कृपादृष्टि'* कहकर *'रघुबीर'* से दयावीर सूचित किया। पुनः, शोक बड़ा भारी वीर है जो सबको दुःख दे रहा था उसको श्रीरामजीने नाश किया। अतः वीर कहा। शोक विज्ञानसे जाता है, यथा—*'सोक निवारेउ सबहि कर निज बिज्ञान प्रकास।'* (२। १५६) श्रीरामजीने उसका नाश कृपादृष्टिसे कर दिया। (ख)—प्रथम पुरवासियोंका श्रीरामजीको देखना लिखते हैं—*'प्रभु बिलोकि हरषे पुरबासी।'* इनके दर्शनसे वियोगजनित विपत्ति नाशको प्राप्त हुई, यथा—*'जनित बियोग बिपति सब नासी।'* अब श्रीरामजीका देखना लिखते हैं और कहते हैं कि जब रघुनाथजीने कृपादृष्टिसे सबको देखा तब सब विशोकी हो गये अर्थात् संसारसे निवृत्त हुए, संसार छूटा। यथा—*'जड़ चेतन जग जीव घनेरे। जे चितए प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥ ते सब भए परम पद जोगू॥'* (२। २१७) पुनः भाव कि जो मिलने योग्य थे उनसे मिले और जो मिलने योग्य न थे उन्हें कृपादृष्टिसे देखकर विशोक किया।

मा० म०—१ प्रथम कहा कि प्रभुके दर्शनसे सब पुरवासियोंका 'वियोगजनित दुःख' जाता रहा। पर उनके हृदयमें अङ्कमालिका करनेकी पीर रह गयी थी, यह लालसा श्रीरामजीसे मिलनेपर पूरी हुई, इसी पीरके दूर करनेके लिये प्रभुने अनेक रूप धारण कर सबसे भेंट की। पर जो माधुर्यमें नीच जातिके थे और जिनसे अङ्कमालिका करना उचित न था उनके दुःखको कृपादृष्टिसे अवलोकन करके नाश किया।

२ नर-नारिको कहकर फिर *'छन महिं सबहि मिले'* कहा। इसके अन्तर्गत यह भाव है कि घरेलू जानवर मूसा, बिल्ली, मोरादिकोंसे मिले—यह *'हय गय कोटिन्ह केलिमृग पुरपसु चातक मोर। पिक रथांग सुक सारिका सारस हंस चकोर॥'* (२। ८३), *'राम बियोग बिकल सब ठाढ़े। जहँ तहँ मनहुँ चित्र लिखि काढ़े॥'* का उत्तर है।—(सभी पशु-पक्षी रामवियोगसे दुःखी ही थे, यह अयोध्याकाण्डमें स्पष्ट कहा है। घोड़ोंकी दशा सुमन्तजीके लौटनेपर देख लीजिये। अतः इन सबसे भी मिलकर कृपादृष्टिपात इत्यादिसे इनको भी सुखी किया। इस तरह तीन प्रकारसे रामचन्द्रजी सबसे मिले, यह दिखानेके लिये यहाँ तीन बार तीन तरहकी बातें कहीं—*'जथा जोग मिले सबहि कृपाला'*, *'कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी'* और *'छन महँ सबहि मिले।'*

टिप्पणी—२ (क) *'छन महिं सबहि मिले'* इसीसे *'भगवाना'* कहा, यह भगवान्‌का काम है। (ख) *'उमा मरम यह काहु न जाना'* इति। यह बात शङ्करजी जानते हैं क्योंकि ईश्वर हैं। यही बात वे पार्वतीजीसे कहते हैं। श्रीरामजी अपना ऐश्वर्य नहीं जनाते, इसीसे यह मर्म किसीने न जाना। [कविने कैसे जाना? शङ्करजीके रामचरितमानससे जो उन्हें गुरुद्वारा प्राप्त हुआ। दूसरे, गुरुपदरजकी कृपा तथा *'हिय हरि के प्रेरे'* से इत्यादि। यह रहस्य है जो शिवजीने स्वयं अपनी ओरसे बतलाया। यह *'औरौ रामरहस्य अनेका। कहहु नाथ अति बिमल बिबेका॥'* (१। १११। ३) श्रीपार्वतीजीके इस प्रश्नके उत्तरमें कहा। वीरकविजी यहाँ 'तृतीय विशेष अलङ्कार' कहते हैं]।

पं० रा० व० श०—मर्म किसीने न जाना। समझते रहे कि हमपर सबसे अधिक प्रीति है, सबसे प्रथम हमसे ही मिले। यह सोचकर कि किसीसे कहनेकी यह बात नहीं है। कोई किसीसे यह न कहता था कि हमसे प्रथम मिले।—[आ० रा० में लिखा है कि मिलनेके पश्चात् वे दूसरोंको अपने ही समान प्रसन्न देखकर विस्मित हुए कि मिले तो हमसे ही प्रथम और प्रसन्नता इनको भी हमारी-सी है। अतः मनमें समझ गये कि प्रभु सबसे मिल चुके, पर कैसे मिले यह किसीने न देखा, न अनेक रूप देखे और न दूसरोंसे मिलते देखा।]

गौड़जी—*'प्रेमातुर सब लोग निहारी' 'उमा मरम यह काहु न जाना'* इति। अयोध्याके सभी लोग प्रेमातुर थे, सभी चाहते थे कि हम ही सबसे पहले भगवान्‌से मिलें। भगवान् अपने प्रेमी भक्तोंके मनोरथको सदा पूर्ण करते हैं, इसीलिये 'कृपालु' अपने अमित मोहनरूपसे प्रकट हुए और जिससे जैसा सम्बन्ध था; गुरु, लघु, दास, सखा सबसे यथायोग्य मिल लिये—यह सब काम एक क्षणमें हुआ। आपके रूपपर

और शीलपर हर एक ऐसा मोहित हो गया कि अपनी सुधबुध भूल गया और उस अपार भीड़में भी एकान्त मिलनका अपरिमित आनन्द प्राप्त हो गया। हर एकने समझा कि श्रीरामजी हमसे ही सबसे पहले मिले और यह एक-दूसरेसे कहनेकी बात न थी। इसीलिये मायानाथके इस कौतुकका रहस्य किसीने न जाना। जिन लोगोंसे अङ्गस्पर्शपूर्वक मिलना नहीं था उनसे कृपादृष्टिद्वारा अभिवादन हुआ, क्या स्त्री, क्या पुरुष—सबने यही समझा कि श्रीरामचन्द्रजीकी निगाहें मुझसे ही मिल रही हैं, वे मेरी ओर देख रहे हैं और मेरा ही गुप्त या प्रकट अभिवादन स्वीकार कर रहे हैं।

नोट—*'एहि बिधि सबहि………'* इति। (क) *'एहि बिधि'* अर्थात् लोकमर्यादानुसार जिनसे जिस तरह मिलना चाहिये, उनसे उसीके अनुसार यथायोग्य मिलकर, जिनसे उस तरह नहीं मिल सकते थे, जो कृपावलोकनके अधिकारी थे उनपर कृपादृष्टि करके और पशु-पक्षी आदिके पास जाकर जैसे प्रेम दरसाया जाता है, उस प्रकार उनसे मिलकर उनपर प्रेम दरसाकर। (ख) *'सबहि सुखी करि'*—मर्यादानुसार सबसे मिले। सबको चाह थी सबसे पहले दर्शन पानेकी, वह रुचि सबकी एक साथ पूरी हुई, अत: सभी एक साथ सुखी हुए। *'राम'* सदा आनन्दनिधान हैं, सुखधाम हैं, उन सुखराशिके कणमात्र सुखसे अनन्त ब्रह्माण्ड सुखी होते हैं, एक श्रीअवधपुरवासियोंको क्षणमात्रमें सुखी कर देनेमें क्या आश्चर्य है, यह भाव सूचित करनेके लिये *'एहि बिधि सबहि सुखी'* करनेमें *'राम'* कहा। यथा—*'जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी॥ सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा॥'* (१। १९७) पुनः भाव कि आप सबमें रमण करते हैं, जो जहाँ था वहीं प्रकट होकर उसे सुखी कर दिया, अत: *'राम'* कहा। यथा—*'यह बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं॥'* (ग) *'आगे चले'* इति। आगे बढ़नेका कारण कि माताएँ खिन्न हैं, अति सुकुमार हैं तथा भीड़के कारण वे आगे आ नहीं सकतीं और इन्हें यहीं रहना तो है ही नहीं। बाबा हरिदासजी कहते हैं कि आगे चले जिसमें जो देख चुके हैं वे पीछे-पीछे देखते आवें और जिन्होंने अभी नहीं देखा है वे देख सकें। (घ) सबका सम्मान किया, सबसे मिले, सबका मनोरथ एक साथ सिद्ध किया। अत: शीलधाम कहा और अमित रूप प्रकट कर सबसे मिलनेका मर्म किसीको विदित न हुआ, इससे गुणधाम कहा।

टिप्पणी—३ *'कौसल्यादि मातु सब धाई।………'* इति। (क) *'सब धाई'* कहकर जनाया कि श्रीरामजीमें सबका प्रेम श्रीकौसल्याजीका-सा है। कौसल्याजी सबसे बड़ी पटरानी हैं अत: उनको आदिमें कहा। (ख) *'धेनु लवाई'।* धेनुका अर्थ ही है लवाई गऊ, तब दोनों शब्द क्यों लिखे? इससे कि केवल *'धेनु'* कहनेसे भाव स्पष्ट न होता, स्पष्ट करनेके निमित्त *'लवाई'* भी कहा। *'निरखि बच्छ जनु धेनु लवाई'* कहकर सूचित किया कि श्रीरामजीमें माताओंका केवल पुत्रभाव है, जैसे गाय अपना बच्चा समझकर दौड़ती है। यहाँ केवल वात्सल्यभाव है। *'निरखि'* से जनाया कि श्रीराम-लक्ष्मण-सीता तीनों देख पड़े, क्योंकि सब लोगोंसे मिलकर वे आगे चले हैं। भीड़ भारी थी इसीसे माताएँ सबसे पीछे आयीं, जिसमें श्रीरामजीसे अच्छी तरह मिलते बने।

पं० रा० व० श०—*'धेनु'* शब्द यहाँ दिया, क्योंकि प्रथम-प्रथम बियायी हुई गौको धेनु कहते हैं। और **'गृष्टिः सकृत् प्रसूता गौः'** का तात्पर्य यह कि जो एक ही बार बियाये उसको गृष्टि कहते हैं। धेनुको वत्स अत्यन्त प्यारा होता है। वात्सल्य गौसे अधिक किसीमें नहीं है, यह ऋषियोंने परीक्षासे तथा अनुभवसे निश्चय कर लिया है; इसीलिये वात्सल्यभावमें इसीका उदाहरण दिया जाता है।

रा० शं०—*'धेनु लवाई।'* कौसल्याजी विस्मित हैं। वे बारम्बार सोचती हैं कि *'अति सुकुमार जुगल मेरे बारे………कवन भाँति लंकापति मारा' 'निसिचर सुभट महाबल भारे'* से जीते बचे, इससे वे इनका नया जन्म मानती हैं। पुनः, अमोघ शक्तिसे लक्ष्मणजीका अच्छा हो जाना लक्ष्मणजीका नया जन्म होना ठीक ही है और वे जीवित न होते तो श्रीरामजी भी प्राण दे देते, इस तरह भी दोनोंका नया जन्म मानती हैं—इस भावको दर्शित करनेके लिये हालकी ब्यायी गऊकी उपमा कविने दी।

(हरिगीतिका छन्द)

छन्द—जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह चरन बन परबस गईं।
दिन अंत पुर रुख स्त्रवत थन हुंकार करि धावत भईं॥
अति प्रेम प्रभु सब मातु भेटीं बचन मृदु बहु बिधि कहे।
गइ बिषम बिपति बियोग भव तिन्ह हरषि सुख अगनित लहे॥

अर्थ—मानो नवीन बियायी गौ छोटे बछड़ेको (जिसे माताके दूधका ही आधार है, जो अभी तृणादि चरनेमें असमर्थ है) घरमें छोड़कर परवश वनमें गयी थीं, सो दिनका अन्त होनेपर नगरकी ओर हुंकार करती (बँबाती हुई) थनसे दूध गिराती हुई दौड़ी हों। प्रभु सब माताओंसे अत्यन्त प्रेमसे मिले और बहुत प्रकारसे बहुत प्रकारके कोमल वचन कहे। वियोगजनित सब कठिन विपत्ति दूर हुई और उन्होंने अगणित हर्ष और सुख पाये।

टिप्पणी—१ उत्प्रेक्षा—(१) माताएँ धेनु हैं। (२) श्रीराम-लक्ष्मण वत्स हैं। (३) गऊ अहीरके वश बछड़ा छोड़कर वनको गयी और यहाँ कर्मवश माताओंका श्रीराम-लक्ष्मणसे वियोग हुआ—[रा० प्र०—वरके अनुरोधसे परबस कहा]। (४)—१४ वर्षका व्यतीत होना यही दिनका अन्त होना है। (५)—पुर वन है, यथा—*'नगर सकल बन गहबर भारी'*—(अ०)। (६) जहाँ राम वहीं अयोध्या—*'तहहिं अवध जहँ राम निवासू'* इस तरह वन पुर है।—(दूसरे, माताएँ सब चित्रकूट गयी थीं ही, अन्तिम वियोग श्रीरामजीसे वहीं हुआ। गयी थीं कि साथ लौटेंगी पर कर्मवश वहाँसे माताओंको श्रीरामजीको वहीं छोड़कर, अवधरूपी वनको जाना पड़ा था। इस प्रकार मातारूपी गौका परवश वन जाना भी ठीक घटित होता है और विपरीतता मिट जाती है।) (७)—प्रेमसे गायके थनसे दूध निकलता है। इस तरह प्रेमसे माताओंके स्तनोंसे दूध निकलने लगा, यथा—*'गोद राखि पुनि हृदय लगाए। स्त्रवत प्रेमरस पयद सुहाए॥'* यहाँ दृष्टान्तका एक ही अङ्ग लिया गया है, वह है—अत्यन्त प्रेमसे मिलनेके लिये पुत्रोंकी ओर धावना।

श्रीनंगे परमहंसजी—'जैसे ब्यायी गऊको उसका रक्षक जबरदस्ती रक्षाहेतु बनमें चरने ले जाता है और दिनके अन्तमें ले आता है तब बछड़ेको धावती है। उसी तरह गऊरूप माताओंको रक्षकरूप भरतजी बछड़ारूप श्रीरामजीसे छुड़ाके जबरदस्ती चित्रकूटसे उनकी रक्षा-हेतु वनरूप अयोध्यामें लाये हैं।'

वीर—यहाँ उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है पर उपमामें विपर्यय है; क्योंकि माताएँ घरसे आती हैं और रामजी वनसे। जो स्थान रामचन्द्रके लिये कहना था वह माताओंको और जो माताओंके लिये कहना था वह रामचन्द्रजीके लिये कहा गया है। इस उलट-पलटमें 'द्वितीय असङ्गति' है।

टिप्पणी—२ *'अति प्रेम प्रभु सब मातु भेटीं।.........'* इति। (क) धावनेमें कौसल्याजी आदिमें हैं और सब माताएँ पीछे हैं, पर श्रीरामजीके भेंटनेमें सब माताएँ आदिमें हैं, यह जनानेके लिये ***'प्रभु सब मातु भेटीं'*** कहा। सब माताओंसे पहले मिले क्योंकि धर्मशास्त्रमें आज्ञा है कि अपनी मातासे विमाताको दशगुण अधिक माने, यथा—**'मातुर्दशगुणा मान्या विमाता धर्मभीरुणा'**। कौसल्याजीसे मिलना आगे कहेंगे। (ख) माता सब अति प्रेमसे धायी हैं इसीसे श्रीरामजी भी सबसे *'अति प्रेम'* से मिले। (ग) ***'प्रभु सब मातु भेटीं'***, यहाँ *'प्रभु'* ऐश्वर्यवाचक पद देकर जनाया कि जैसे पुरवासियोंसे प्रभुतापूर्वक मिले वैसे ही माताओंसे मिलनेमें प्रभुतासे मिले। सात सौ माताएँ हैं, उनसे मिलनेके लिये ७०० रूप धारण किये—***'पालागन दुलहिनिन्हि सिखावति सरिस सासु सत साता'*** (गी० बा०)। (घ) यहाँ दिखाया है कि श्रीरामजी मन, वचन और कर्म तीनोंसे माताओंके भक्त हैं। *'अति प्रेम'* मनका, मनसे माताओंमें प्रेम किया, तनसे भेंट और वाणीसे ***'मृदु बचन'*** कहे।

नोट—***'मृदु बचन बहु बिधि कहे'*** अर्थात् माताओंकी दशा देख शोक और ग्लानि दूर करनेवाले बहुत प्रकारके विनीत वचन कहे। (रा० प्र०) ***'बहु बिधि'*** यह कि दैवाधीन वियोग हुआ, १४ वर्ष

आपकी सेवासे वञ्चित रहा; वनमें आपका स्मरण करता था, आपके चरणोंके प्रसादसे वनमें भी सुखी रहा इत्यादि। (पं० रा० व० श०) आपकी कृपासे, आपके आशीर्वादसे शत्रुपर जय पायी और मुनियोंको अभय किया। (वै०)

टिप्पणी—३ *'गइ बिषम बिपति'* इति। (क)—*'बिषम बिपति'* कहनेका भाव कि यह विपत्ति श्रीरामजीके वियोगसे उत्पन्न हुई और श्रीरामजीके संयोगहीसे गयी। यह विषम थी, बिना रामदर्शनके अन्य किसी प्रकारसे न जा सकती थी। (ख)—*'तिन्ह हरष सुख अगनित लहे।'* हर्ष और सुख एक ही बात दो बार कहनेका भाव कि श्रीरामजीके भेंटनेसे हर्ष हुआ और मृदु वचन सुननेसे सुख हुआ।*

रा० शं० श०—*'बचन मृदु कहे' 'गइ बिषम बिपति बियोग.........'* और *'हरष सुख लहे'* के क्रमका भाव कि इसी विपत्ति-दुःखकी निवृत्ति और हर्ष एवं सुखकी प्राप्तिके लिये ये वचन कहे गये थे। वनगमनकी खबर देते समय भी *'कहेउ मातु सन अति मृदु बानी'* पर वह वचन *'सर सम लगे मातु उर करके'* थे; उसके बदलेमें यहाँ मृदु वचन कहकर प्रभुने अगणित सुख दिये।—[मृदु भाषण तो प्रभुका स्वभाव ही है, सदा मृदु वचन बोलते हैं, पर यहाँ विषम दुःख मिटाना है इससे मृदु वचन *'बहु बिधि'* कहे। जैसे-जैसे एक-एक विधिसे कहते थे तैसे-तैसे नवीन सुख होता था, *'बहु बिधि'* कहे इसीसे 'अगणित' सुख दिये।]

दो०—भेटेउ तनय सुमित्रा रामचरन रति जानि।
रामहि मिलत कैकई हृदय बहुत सकुचानि॥
लछिमन सब मातन्ह मिलि हरषे आसिष पाइ।
कैकइ कहँ पुनि पुनि मिले मन कर छोभु न जाइ॥ ६॥

शब्दार्थ—**क्षोभ**=विचलता।=खलबली, व्याकुलता, खेद। यथा—*'भयउ ईस मन छोभ बिसेषी॥'*

अर्थ—श्रीसुमित्राजी पुत्र-(लक्ष्मणजी-) को श्रीरामचरणोंमें अनुरक्त जानकर उससे मिलीं। श्रीरामजीसे मिलते हुए कैकेयीजी हृदयमें बहुत सकुचायीं। श्रीलक्ष्मणजी सब माताओंसे मिलकर आशीर्वाद पाकर हर्षित हुए। कैकेयीजीसे बारंबार मिले पर मनका क्षोभ नहीं जाता॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'रामचरन रति जानि'* का भाव कि श्रीसुमित्राजी लक्ष्मणजीको पुत्र जानकर नहीं भेंटीं वरन् रामचरणानुरक्त जानकर भेंटीं। ☞यहाँ दिखाया कि पुत्रादिमें ममता न करनी चाहिये, रामजीके नाते ममत्व करना चाहिये, यथा—*'पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं राम के नातें'*—[सब माताओंसे लक्ष्मणजीका मिलना कहा पर उनका स्वयं श्रीसुमित्राजीसे मिलना न कहकर सुमित्राजीका उनसे मिलना कहा, इस भेदका कारण सुमित्राजीका उपदेश है। माता सुमित्राने उपदेश ही दिया था कि *'तात तुम्हारि मातु बैदेही।'* (२। ७४। २) तब भला वे इनको माता समझकर कैसे मिलने जाते? यदि स्वयं जाकर मिलते तो स्पष्ट था कि उन्होंने उपदेशको मिट्टीमें मिला दिया। वे यहाँ कसौटीपर पूरे उतरे।]† (ख) कैकेयीजी बहुत सकुचायी हुई हैं। इसीसे संकोचके मारे वे सब माताओंके पीछे मिलीं। जल्दी वा पहले न मिल सकीं।

---

* बैजनाथजी लिखते हैं कि माताओंने यह सोचकर सुख बहुत पाया कि हमारे पुत्र ऐसे वीर पराक्रमी हुए कि त्रैलोक्य इनसे सुखको प्राप्त हुआ तब यह वियोग भी सुखरूपी हुआ; अहोभाग्य कि हम ऐसे पुत्रोंकी माता हुईं कि जिनका यश त्रिभुवनमें फैला है और अब इनके राज्यका सुख देखेंगी।

† रा० शं०—विभीषणजीकी रक्षामें अपने ऊपर शक्ति ले ली, जिसमें श्रीरामजीके पनकी रक्षा हो, यथा—'सेवक सखा भगति भायप गुन चाहत अब अथये हैं। मेरे पनकी लाज इहाँ लौं हठि प्रिय प्रान दये हैं। लागत साँग बिभीषन ही पर सीपर आपु भये हैं।' (गी०).........इसीसे रामचरणरत जाना।

कैकइ कहँ पुनि पुनि मिले मन कर छोभु न जाइ

पं० रा० व० श०—गोस्वामीजीने जान-बूझकर ऐसे शब्द रखे कि दोनों ओर लगा सकें; नहीं तो वे स्वयं स्पष्ट लिखते कि किसको क्षोभ हुआ। श्रीलक्ष्मणजीका श्रीरामजीमें इतना प्रेम है कि कैकेयीको देखकर सोचते हैं, ये तो बहुत सकुचा रही हैं, श्रीभरतजीकी माता हैं। इनका परम प्रेम श्रीरामजीमें है पर इतनी बात इनसे न बनी कि वनवास दे दिया। ठीक इसी प्रकार भरतजीका श्रीराममें अत्यन्त प्रेम होनेसे माताकी ओरसे उनके हृदयका क्षोभ भी न गया, यद्यपि श्रीरामजीने उनको बहुत समझाया है पर उन्होंने कैकेयीको फिर जन्मभर माता न कहा। इससे लक्ष्मणजीका श्रीराममें अत्यन्त प्रेम झलकता है। दूसरी ओर कैकेयीके मनमें भी क्षोभ है कि ये धन्य हैं कि माता-पिता-परिवार सबको छोड़ श्रीरामजीके साथ वन गये और मैं ऐसी अभागिनी, ऐसी विमुखा कि मैंने उन रामजीको वनवास दिया।

शीला—लक्ष्मणजी सब माताओंसे मिले और सबसे आशीर्वाद पाकर सुखी हुए। कैकेयीजी अपनी करनी विचार संकोचवश हैं, इसीसे लक्ष्मणजीके मिलनेपर उन्होंने आशीर्वाद न दिया। लक्ष्मणजी आशिषके लिये बारम्बार मिलते हैं। पुनः, वनयात्रा-समय लक्ष्मणजीने बहुत दुर्वचन कहे थे, उनके क्षमाहेतु बार-बार मिलते हैं और कैकेयीजी यह समझकर कि मुझे चिढ़ाते हैं अति संकुचित हुईं। इस कारण आशीर्वाद न पानेसे लक्ष्मणजीके मनमें जो अपने दुर्वचनोंका क्षोभ था वह न मिटा।—[वीर—क्षोभ इस बातका कि हमने इसपर बड़ा क्रोध मनमें किया था, पर अब इसे निर्दोष समझते हैं।]

वै०—मनका क्षोभ नहीं जाता इसीसे बार-बार मिलते हैं। लक्ष्मणजी सोचे कि हम तो इससे भरत-ऐसे श्रीरामानुरागीकी माता जान शुद्ध स्नेहसे मिलते हैं, पर ये हमको रूठा ही समझती होंगी, यह क्षोभ मिटाने और हृदयकी शुद्धता प्रकट करनेके लिये बारम्बार मिलते हैं।

मा० म०—लक्ष्मणजीके कैकेयीसे बारम्बार मिलनेके भाव कि—१ वनगमन-समय नहीं मिले थे। वा, २—अब अनुरागी जाना। वा, ३—अब फिर विघ्न न करे। वा, ४—अब भी रहकर सुखकी रक्षा करे। वा, ५—शत्रु-मित्र न जाना जाय। वा, ६—वह कहीं श्रीरामचन्द्रकी सेवासे मुझे पृथक् न करे इस अपने सुखके लोभसे मिले। लक्ष्मणजीके मनमें यह क्षोभ था कि इसने प्रभुको दुःख और मुझको श्रीरामचन्द्रजीकी सेवारूपी सुख दिया।

करु०—यदि कहें कि लक्ष्मणजीके मनमें क्षोभ था तो *'पुनि पुनि'* पदसे विरोध पड़ता है। *'पुनि पुनि'* अतिप्रीति प्रकट करता है, प्रीतिमें फिर क्षोभ कहाँ? इससे कैकेयीके मनमें क्षोभ होना पाया जाता है। उनके मनमें यह क्षोभ हुआ कि—१ श्रीलक्ष्मणजीने मुझसे इतना प्रेम किया कि पुनि-पुनि मिले, पर मुझसे कुछ न बना, अब क्या करूँ? वा, २—*'पुनि पुनि'* मिलनेसे प्रीति और व्यंग्य दोनों सूचित होते हैं; इससे कैकेयीजी सोचती हैं कि ये न जानें क्या करें। अथवा, ३—लक्ष्मणजी बारम्बार इससे मिले कि यह रामानन्य श्रीभरतजीकी माता हैं। इन्हींकी कृपासे मुझे श्रीसीतारामजीकी सर्वकाल ऐकान्तिक अनन्य पूर्ण सेवा प्राप्त हुई। क्षोभ यदि इनके मनमें कहें तो यह कि अब कोई विघ्न न करें।

पं० रामकुमारजी—श्रीलक्ष्मणजीके मनका क्षोभ नहीं जाता, वे चाहते हैं कि पुनि-पुनि कैकेयी मातासे मिलें, इस माताने हमारा बड़ा उपकार किया है, इन्हींकी कृपासे मुझे १४ वर्ष रामचन्द्रजीकी (ऐकान्तिक) सेवा मिली। इनके प्रसादसे यह उपकार मानकर पुनः-पुनः मिलते हैं, मिलनेपर मनकी तृप्ति नहीं होती। —(पां०) यदि लक्ष्मणजीके मनमें गाँस होती तो कैकेयीसे पुनि-पुनि क्यों मिलते? जिससे मन नाराज (कुढ़ा हुआ) होता है उससे तो एक बार भी मिलते नहीं बनता।

पं०—सब माताओंसे हर्षसहित और कैकेयीसे क्षोभसहित मिलनेमें भाव यह है कि रघुनाथजी तो ईश्वर हैं उनकी समता ही उचित है, लक्ष्मणजी भक्त हैं इनको स्वामिविमुखोंके साथ स्नेह उचित नहीं।

श्रीनंगे परमहंसजी—'कैकेयीको मनमें वनवास देनेका क्षोभ (दुःख, खेद) था। उस खेदको निकालनेके अर्थ श्रीलखनलाल अपना प्रेम प्रकट करके बार-बार मिले, पर उसके मनसे वह खेद नहीं निकलता है।

यदि कहिये कि उन्होंने लक्ष्मणजीको तो वन नहीं दिया था उनसे क्यों संकोच करेंगी, तो उत्तर यह है कि स्वामीको वन दिया तो क्या सेवक बाकी है? क्या सेवक स्वामीकी सेवा छोड़ घर रह सकता है? कभी नहीं। अतः जब सेवक भी साथ बन गया और कष्ट उठाया तब उससे कैकेयी क्यों न संकोच करेंगी?'.........

'कैकेयीकी बदौलत हमको जंगलमें श्रीरामजीकी सेवाका सौभाग्य प्राप्त था, अतः वे बार-बार उससे मिलते थे.......।' ऐसा अर्थ करना अयोग्य है; क्योंकि किसी सेवकके स्वामीको दुःख हो और उस दुःखकी सेवा सेवकको मिले तो यह सेवक अपने स्वामीके दुःखसे प्रसन्न हो कि हमको भले स्वामीकी सेवा मिली ऐसा कदापि नहीं होगा और जब स्वामीके दुःखसे सेवक प्रसन्न ही नहीं तब दुःख देनेवालेका एहसान कब मानेगा। इसी तरह जब लक्ष्मणजी रामजीको वन देते समय कैकेयीसे प्रसन्न ही नहीं थे तब कैकेयीके वन देनेका एहसान कब मान सकते हैं? एहसान मानना कहना महान् अयोग्य है। और जो सुमित्राजीके वचन हैं कि *'तुम्हरे भाग्य राम बन जाहीं।'* इत्यादि, वे कृपिणपक्षमें हैं अतः सन्तोषजनक हैं।.....'

प० प० प्र०—श्रीलक्ष्मणजी कैकेयीविषयक कृतज्ञतासे मिले, यह मानना उनके स्वभावके विरुद्ध है। श्रीरामजीको दुःख देनेवालेको वे शत्रु ही मानते हैं।

यहाँ भाव यह है कि जब श्रीरामजी ही कैकेयीजीसे मिले तब लक्ष्मणजीका भी उनसे मिलना आवश्यक हो गया। कैकेयीके मनका क्षोभ नहीं गया, यही सत्य है। *'फिरि पछितैहसि अंत अभागी'* दशरथजीका यह वाक्य यहाँ चरितार्थ हुआ। अयोध्याकाण्डमें भी कह आये हैं—*'लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई॥'* (२। २५२) लक्ष्मणजी तो सरल हैं, यह इस उद्धरणसे स्पष्ट है। अतः उनमें क्षोभ मानना ठीक नहीं। हम नंगे परमहंसजीके मतसे सहमत हैं।

सासुन्ह सबन्हि मिली बैदेही। चरनन्हि लागि हरषु अति तेही॥ १॥
देहिं असीस बूझि कुसलाता। होइ अचल तुम्हार अहिवाता॥ २॥

अर्थ—सब सासुओंसे वैदेही श्रीजानकीजी मिलीं और उनके चरणोंमें लगकर (पालागन करके) उनको अत्यन्त हर्ष हुआ॥ १॥ (सासुएँ) कुशल पूछ-पूछकर आशीर्वाद देती हैं कि तुम्हारा सुहाग अचल हो॥ २॥*

टिप्पणी—१ *'सासुन्ह सबन्हि मिली बैदेही.........'* इति। (क) श्रीसीताजी अनेक रूप धारण करके सासुओंसे मिलीं इसीसे 'वैदेही' पद दिया। विदेह योगी हैं, यथा—'**जनको योगिनां वरः**।' योगी अनेक रूप धारण कर सकता है। श्रीसीताजी उनकी कन्या हैं।—[चरणोंसे लगकर मिलना यह स्त्रियोंकी रीति है। 'अतिहर्ष' के सम्बन्धसे 'वैदेही' पद दिया—(रा० प्र०) 'चित्रकूटमें भी तो अनेक रूप बनाये थे और सासुओंकी सेवा की थी, पर वहाँ 'वैदेही' नाम न देकर 'सीय' माधुर्य नाम ही दिया था। इससे रा० प्र० का मत ही विशेष संगत है। वैदेही शब्दसे जनाया कि 'अति हर्ष' से वे विदेह दशाको प्राप्त हो गयी, मारे आनन्दके देहसुध भूल गयीं।] (ख) श्रीरामजीने माताओंमें मन-वचन-कर्म तीन प्रकारकी भक्ति की, यथा—*'अति प्रेम प्रभु सब मातु भेटीं बचन मृदु बहुबिधि कहे।'* श्रीसीताजीने माताओंमें मन और कर्म दो प्रकारकी भक्ति की—*'हर्ष अति'* (मन), *'मिली चरनन्हि लागि'* (कर्म)। लज्जावश वचन न बोल सकीं, इससे 'वचन' की भक्ति न दिखायी। (ग), *'अति हरषु'* का भाव कि जब-जब सासुओंसे मिलीं तब-तब हर्ष हुआ, जब चरणोंमें लगीं तब 'अति हर्ष' हुआ। पुनः, सासुओंमें इनका अति प्रेम है, इसीसे उनसे मिलनेसे अति हर्ष हुआ।

वि० त्रि०—भगवती वैदेहीका बड़ा प्रेम सासुओंपर है, बड़ी उत्कण्ठा है कि मैं उनकी सेवा करूँ। उनकी सेवासे वञ्चित रहनेमें अपना बड़ा अभाग्य माना, यथा—*'सुनिअ मातु मैं परम अभागी। सेवा समय दैव बन दीन्हा।' 'मोर मनोरथ सुफल न कीन्हा।'* यहाँतक कि चित्रकूटमें सब सासोंसे भेंट हुई, तो *'सीय सासु प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरस सेवकाई॥'* अतः अब उनकी सेवाका सुअवसर प्राप्त होनेसे अपने

* 'ततः सीताऽपि श्वश्रूः सा प्रणनाम त्वरन्वतीम्॥ ९०॥ ततः सीतां समालिंग्य कौसल्याद्याश्च मातरः।' आ० रा० १। १२॥

मनोरथका साफल्य तथा भाग्योदय मानती हैं, अतः उन्हें बड़ा हर्ष है, नहीं तो स्वभावसे उन्हें वन ही प्रिय है, यथा—'***मैं बन सुखी सुभाय।***' [रा० शं०—सीताजी चरणोंसे लगीं, तब माताओंने उठाकर गले लगाया, अतः '***चरनन्हि लागि***', '***मिली बैदेही***' कहा।]

२ (क) '***देहिं असीस बूझि कुसलाता***' लिखकर दूसरे चरणमें बताते हैं कि क्या आशीर्वाद देती हैं। 'तुम्हारा सौभाग्य अचल हो', यही आशीर्वाद स्त्रियोंके लिये मुख्य है। श्रीजानकीजी चरणोंमें लगीं, इसीसे आशीर्वाद देती हैं और कुशल अपनी ओरसे पूछती हैं। माताएँ कुशल पूछती हैं पर श्रीजानकीजी कुछ उत्तर नहीं देतीं क्योंकि भीड़ बड़ी है, वे संकोचवश बोल न सकीं। (ख) कुशल पूछकर आशिष देनेका भाव यह है कि जब कुशल पूछनेपर उसने संकोचवश कुछ उत्तर न दिया तब उनका यह संकोची स्वभाव और नम्रता देखकर सब माताएँ प्रसन्न हुईं और आशीर्वाद देने लगीं। [रघुनाथजी समीप हैं इससे संकोचवश उत्तर नहीं दिया। (रा० शं०)]

सब रघुपति मुख कमल बिलोकहिं। मंगल जानि नयन जल रोकहिं॥ ३॥
कनक थार आरती उतारहिं। बार बार प्रभु गात निहारहिं॥ ४॥
नाना भाँति निछावरि करहीं। परमानंद हरष उर भरहीं॥ ५॥

अर्थ—सब माताएँ श्रीरघुनाथजीका मुखकमल देखती हैं और मङ्गल-समय जानकर नेत्रोंका जल रोकती हैं॥ ३॥ सोनेके थालमें आरती उतारतीं, बारम्बार प्रभुके अङ्गोंको गौरसे देखतीं, अनेक प्रकारकी एवं अनेक प्रकारसे निछावरें करतीं और परमानन्द तथा हर्ष हृदयमें भर रही हैं॥ ४-५॥

टिप्पणी—१ '***सब रघुपति मुख कमल बिलोकहिं*·········' इति। (क) मुख देखना वात्सल्यरसके भावसे है, यथा—'***जननिन्ह सादर बदन निहारे। भूपति संग द्वार पगु धारे॥***' (१। ३५८। ८) '***सादर सुंदर बदन निहारी। बोली मधुर बचन महतारी॥***' (३। ५२। ६) '***भए मगन देखत मुख सोभा।***' (१। २०७। ६) इत्यादि। (ख) '***नयन जल रोकहिं***'। मङ्गल-समयमें अश्रुपात करना अमङ्गल है, इसीसे नेत्रोंका जल रोकती हैं। श्रीरामजीको देखकर माताओंके नेत्रोंमें जल आता है, उसीको रोकती हैं। अथवा, 'रघुपति मुख-कमलका अवलोकन' मङ्गल है, ऐसा जानकर नेत्रोंसे जल गिरने नहीं देतीं, क्योंकि अश्रुपात इस अवलोकनरूपी मङ्गलका बाधक है, आँसुओंके आनेसे मुख अच्छी तरह नहीं देख पड़ेगा। '***कमल***' से मुखका सुन्दर प्रफुल्लित होना सूचित किया।

२ (क)—'***कनक थार आरती उतारहिं***' इति। पूर्व कह आये हैं कि '***भरि भरि हेम थार भामिनी। गावत चलीं सिंधुरगामिनी॥***' अब यहाँ हेमथारका साफल्य कहते हैं—'***कनक थार*·········'। (ख) '***बार बार प्रभु गात निहारहिं***' क्योंकि अङ्ग अति सुन्दर हैं, यथा—'***मृदुल मनोहर सुंदर गाता।***' दूसरे राक्षसोंसे भारी संग्राम हुआ है, किसी अङ्गमें घाव तो नहीं लगा है—यही भाव आगेकी चौपाइयाँ कह रही हैं, यथा—'***कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहिं। चितवति कृपासिंधु रनधीरहिं॥***' इत्यादि।—[मनोहर रूप देखती हैं, फिर यह सोचकर कि नजर न लग जाय, दृष्टि फेर लेती हैं, फिर भी देखे बिना रहा नहीं जाता, तब फिर देखने लगती हैं। यह मूर्ति ही ऐसी है कि बार-बार दर्शन करनेपर भी तृप्ति नहीं होती। यथा—'***चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥***' (१। १४८) इत्यादि। (रा० शं०)]

३ (क)—'***नाना भाँति निछावरि करहीं*·········' अर्थात् मणि, वस्त्र, भूषण, रथ, गज आदि निछावर करती हैं। यथा—'***करहिं आरती बारहिं बारा। प्रेम प्रमोदु कहै को पारा॥ भूषन मनि पट नाना जाती। करहिं निछावर अगनित भाँती॥***' (१। ३४९। १-२) [अथवा अनेक प्रकारसे अर्थात् कितने ही पदार्थ सिरपर, कितने ही भुजाओंपर और कितने ही चरणोंपर वारण करती हैं। (पं०)] (ख) परमानन्द और हर्ष यहाँ दो समानार्थक शब्द देनेका भाव कि प्रभुके शरीरके दर्शनसे परमानन्द हुआ और आरती तथा निछावर करनेमें हर्ष होता है। वा, यहाँ परमानन्दकी वीप्सा है, यथा—'**विस्मये कोपे चैवं हर्षे दैन्येऽवधारणे। प्रसादे**

चानुकम्पायां पुनरुक्तिर्न दूष्यते।' (प्र० स्वामीजी कहते हैं कि यहाँ हर्षका अर्थ उत्साह लेना चाहिये। श्रीरामरूपको देखकर परमानन्द हुआ और आरती उतारने तथा निछावर करनेमें बहुत उत्साह है।)

कौसल्या पुनि पुनि रघुबीरहिं। चितवति कृपासिंधु रनधीरहिं॥ ६॥
हृदय बिचारति बारहिं बारा। कवन भाँति लंकापति मारा॥ ७॥
अति सुकुमार जुगल मेरे बारे। निसिचर सुभट महाबल भारे॥ ८॥

अर्थ—श्रीकौसल्याजी बारम्बार रघुवीर, दयासागर, रणधीर श्रीरामजीको देखती हैं। बारम्बार हृदयमें विचार करती हैं कि इन्होंने किस प्रकार लङ्केश्वर रावणको मारा॥ ७॥ मेरे दोनों बालक अत्यन्त कोमल हैं और राक्षस उत्तम योद्धा, महाबलवान् और भारी-भारी होते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) जैसे सब रानियाँ बार-बार प्रभुके शरीरको देखती हैं वैसे ही कौसल्याजी भी बारम्बार देखती हैं। *'कृपासिंधु रनधीरहिं'* का भाव कि सुग्रीव, विभीषण, देवता, मुनि तथा सभी भक्तोंपर कृपा करनी थी, इसीसे उन्होंने रणधीर बनकर रावणादि दुष्टोंका वध किया।—[*'कृपासिंधु'* का भाव कि लङ्काका राज्य त्यागकर हमको दर्शन दिया। 'रणधीर' इससे कहा कि लक्ष्मणशक्ति आदि अनेक कष्ट उपस्थित होनेपर भी धैर्यका त्याग न किया। *'पुनि पुनि'* वात्सल्यकी अधिकतासे। *'कृपासिंधु'* 'रणधीर' विरोधी गुण हैं अतः पुनः-पुनः देखती हैं। (रा० शं०)। *'कृपासिंधु'* शब्दसे ऐश्वर्यभावका मिश्रण भी माधुर्यभावमें देखा जाता है। (ख) अन्य माताओंके देखनेके सम्बन्धमें *'रघुपति'* शब्द दिया, यथा—*'सब रघुपति मुख कमल बिलोकहिं।'* (चौ० ३) और यहाँ *'रघुबीर'* शब्द दिया। इस भेदद्वारा जनाया कि कौसल्याजीके विचारोंसे श्रीरामजीकी युद्धवीरता तथा दयावीरता ये ही दोनों गुण अग्रसर हैं। (प० प० प्र०)]

☞ भगवान्को जितनी प्रसन्नता सम्पूर्ण जीवोंपर दया करनेसे होती है उतनी प्रसन्नता नाना प्रकारकी कामनाएँ रखनेवाले देवताओंके द्वारा भाँति-भाँतिकी सामग्रियोंसे पूजित होनेपर भी नहीं होती। यथा—'**नाति प्रसीदति तथोपचितोपचारैराराधितः सुरगणैर्हृदि बद्धकामैः। यत्सर्वभूतदयया**………।' (भा० ३। ९। १२) इसीसे वे कृपासिन्धु कहलाते हैं।—

२ (क) *'हृदय बिचारति बारहिं बारा'*, इससे जनाया कि विचार हृदयमें ठहरता नहीं, क्योंकि श्रीरामजीने बड़ा आश्चर्य किया है। जब ताड़का और मारीच-सुबाहुको मारा, धनुष तोड़ा, परशुरामको जीता, तब कौसल्याजीके हृदयमें यह विचार आया कि ये सब बातें विश्वामित्रमुनिकी कृपासे हुईं, यथा—*'सकल अमानुष करम तुम्हारे। केवल कौशिक कृपा सुधारे॥'* (१। ३५७। ६) (ख) *'कवन भाँति'* कहनेका भाव कि कोई भाँति मनमें निश्चित नहीं होती कि 'इस भाँति' रामजीने रावणको मारा। यही विचार अगली चौपाईमें है। (ग) *'लंकापति'* कहनेका भाव कि लङ्का महान् कठिन गढ़ है, यथा—'**त्रिदशैरपि दुर्धर्षा लंका नाम महापुरी**' (*'जानत परम दुर्ग अति लंका।'* (लं० ३८। ९) देखो), उस लङ्काके पतिको मारा। [*'लंकापति'* से यह भी जनाया कि वह बड़ा शूर प्रतापी और अतुल बलवाला था, उसकी सेना अतुलित बली थी, उसका एक-एक सुभट अकेले ही सारे जगत्को जीत सकता था, ऐसा न होता तो वह लङ्कामें बस नहीं सकता था, यथा—*'हरि प्रेरित जेहि कलप जोइ जातुधानपति होइ। सूर प्रतापी अतुल बल दल समेत बस सोइ॥'* (१। १७८)]

पं० रा० व० श०—*'चितवति कृपासिंधु रनधीरहिं'।* श्रीभरतजीसे सुन चुकी हैं कि रावणादिका वध किया है, अर्थात् रणधीर होना सुना है। अतः उनके अङ्गोंको देखती हैं पर किसी अङ्गमें कठोरता नहीं देख पड़ती अतः सोचती हैं कि इन्होंने कैसे रावणको मारा। वाल्मी० में लिखा है कि कौसल्याजी जब रघुनाथजीको देखतीं तो वे ऐसे ही सुकुमार लगते थे जैसा कोई बालक हो, यथा वाल्मी० अ० ४३। १६ '**कदा परिणतो बुद्ध्या वयसा चामरप्रभः। अभ्युपैष्यति धर्मात्मा सुवर्ष इव लालयन्॥**' अतः कहती हैं कि *'अति सुकुमार जुगल मेरे बारे।'*

३—ये *'अति सुकुमार'* हैं इसकी जोड़में कहती हैं कि निशिचर सुभट हैं अर्थात् बड़े कठोर हैं। ये 'बारे' हैं अर्थात् छोटे हैं और शरीरसे बलवान् नहीं हैं, इसके विरुद्ध उधर राक्षस 'महाबली' और

'भारी' हैं। पुनः, ['मेरे बारे युगल अर्थात् दो ही थे और निशिचर अनेक थे; उसपर भी रावण दस सिर और बीस भुजावाला था।, (पं०) युगल कहकर उधर अनेक सूचित किये। वीर कविजी यहाँ रसाभास अलङ्कार बताते हैं, क्योंकि रावणादि मर चुके हैं, अब चिन्ता अनुचित है।]

पं० रा० व० श०—*'अति सुकुमार जुगल मेरे बारे।........'* इति। जिस रस, जिस भावद्वारा प्रभुकी उपासना भक्त करते हैं उसीके अनुकूल उन भक्तोंके लिये भगवान् रूप धारण कर लेते हैं। प्रभु वही हैं पर आश्रित जब फूलके गेंद मारते हैं तो उससे उन्हें कसक होती है। वही अङ्ग हैं और वही प्रभु कि रावणके बाणको आगे बढ़कर लेते हैं और माताके लिये अति सुकुमार हैं। भागवतमें ब्रह्माजी भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहते हैं कि आप अपने भक्तोंके भावयोगसे शुद्ध किये हुए हृदयकमलमें सदा विराजते हैं और जिस भावसे वे आपकी भावना करते हैं आप वेदसे देखे हुए मार्गद्वारा उसी तरहका रूप धारण करते हैं। यथा—'**त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्। यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय।**' (भा० ३। ९। ११)

वे० भू०—यहाँ यह प्रश्न सम्भव हो सकता है कि जनकपुरसे लौटनेपर तो श्रीरामचन्द्रजीको देखते ही माताओंका वैसा विचार क्यों नहीं हुआ जैसा कि लङ्कासे लौटनेपर श्रीरामभद्रजूको देखते ही हुआ था? उसका उत्तर वहाँ-वहाँका प्रकरण दे रहा है कि जनकपुरसे लौटनेपर उत्सवका समय था, वर-बधुओंका परिछन एवं अन्य आवश्यक नेगचार तथा लौकिक-वैदिक रीतियाँ करनी आवश्यक थीं। इससे तुरन्त ही इन बातोंकी तरफ गौर करनेका किसीके हृदयको अवकाश ही नहीं था और जब अवकाश मिला तब श्रीरामभद्रजूके शयनकक्षमें एकत्र होकर सभी माताएँ तत्सम्बन्धी चर्चा करने लगी थीं। परन्तु श्रीरामभद्रजूके वनसे लौटनेपर आते ही मिलकर आरती उतारनेके अतिरिक्त कोई अन्य वैदिक या लौकिक रीति तो करनी थी ही नहीं, इससे मिलनेके बाद तुरन्त ही *'सब रघुपति मुखकमल बिलोकहिं।........'*

दो०—लछिमन अरु सीता सहित प्रभुहि बिलोकति मातु।
परमानंद मगन मन पुनि पुनि पुलकित गातु॥ ७॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजीसहित प्रभु रामचन्द्रजीको माता (कौसल्याजी) देखती हैं, उनका मन परमानन्दमें डूबा हुआ है और शरीर बारम्बार पुलकायमान होता है॥ ७॥

टिप्पणी—१ 'लक्ष्मण और सीतासहित' कहनेका भाव कि प्रथम श्रीकौसल्याजी केवल श्रीरामचन्द्रजीको देखती रहीं, जिससे पाया गया कि उनकी प्रीति केवल श्रीरामजीमें है, इसीसे यहाँ कहते हैं कि श्रीसीता-लक्ष्मणसहित श्रीरामजीको देख रही हैं। २—*'परमानंद मगन मन'* कहनेका भाव यह कि इनको देखकर सब माताओंको परम आनन्द होता है, यथा—*'नाना भाँति निछावरि करहीं। परमानंद हरष उर भरहीं।'* इसीसे कौसल्याजीके हृदयमें भी परम आनन्द होना वर्णन करते हैं।—['परमानन्द' से जनाया कि इसका आनन्द विषयानन्द, चक्षुषानन्द, प्रजापतिका आनन्द और ब्रह्मानन्दसे कहीं अधिक है—पं० रा० व० श०] ३—*'पुनि पुनि पुलकित गातु'।* भाव कि माताजी श्रीसीता-लक्ष्मण-समेत रामजीको जितनी बार देखती हैं उतनी ही बार पुलकावली होती है।

लंकापति कपीस नल नीला। जामवंत अंगद सुभ सीला॥ १॥
हनुमदादि सब बानर बीरा। धरे मनोहर मनुज सरीरा॥ २॥
भरत सनेह सील ब्रत नेमा। सादर सब बरनहिं अति प्रेमा॥ ३॥
देखि नगर बासिन्ह कै रीती। सकल सराहहिं प्रभु पद प्रीती॥ ४॥

अर्थ—लङ्कापति श्रीविभीषणजी, कपिपति श्रीसुग्रीवजी, नल, नील, जाम्बवन्त, अङ्गद और हनुमान्‌जी इत्यादि सब उत्तम स्वभाववाले वीर वानरोंने सुन्दर मनुष्य-शरीर धारण किये॥ १-२॥ सब अत्यन्त प्रेमसे

आदरसहित श्रीभरतजीके प्रेम, शील, व्रत और नियमका वर्णन कर रहे हैं॥ ३॥ और पुरवासियोंकी सब रीति (रामप्रति व्यवहार) देखकर सब-के-सब प्रभुके चरणोंमें उनके प्रेमकी बड़ाई कर रहे हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'धरे मनोहर मनुज सरीरा'* इति। मनुष्यशरीर धारण करनेका भाव यह है कि मनुष्य-समाजमें आये हैं, इनके बीचमें उन्हींके समान रहना चाहिये। और अपना रूप यह जानकर त्याग दिया कि राक्षस और वानर-शरीर अधम शरीर हैं, मङ्गल-समयके योग्य नहीं हैं। अवधवासी सब मनोहर हैं, यथा—*'अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा',* इसीसे सब वानरोंने भी सुन्दर रूप धारण किये।

नोट—ये सब वानर और राक्षस कामरूपी थे, जब जैसा रूप चाहें धारण कर सकते थे। वानर देवता ही थे जो वानररूपसे रावणवध-कार्यमें सहायताके लिये अवतीर्ण हुए। यथा—*'बनचर देह धरी छिति माहीं'* (१। १८८) सबने मनुष्य-शरीर धर लिया। यह वाल्मी०, अ० रा० आदिमें भी कहा गया है। यथा—**'ते कृत्वा मानुषं रूपं वानराः कामरूपिणः। कुशलं पर्यपृच्छंस्ते प्रहृष्टा भरतं तदा।'** (वाल्मी० ६। १३०। ४३-४४) (च० सं०), **'सर्वे ते मानुषं रूपं कृत्वा भरतमादृताः। पप्रच्छ कुशलं सौम्याः प्रहृष्टाश्च प्लवङ्गमाः।'** (अ० रा० ६। १४। ८) मानसका मत यह जान पड़ता है कि नगरमें प्रवेश करनेके पूर्व ही सबने मनुष्यरूप धारण कर लिया था। वाल्मीकिजीका भी यही मत है। भेद केवल इतना है कि वहाँ भरतजीको विमानपर बिठा लिया गया है और वहीं सबसे श्रीभरतजी मिले हैं। वहीं सब वानरोंने मनुष्यरूप धर लिया था।

वि० त्रि०—उस समयके अनुकूल अपने कराल शरीरको उचित न समझकर (यथा—*'अमित नाम भट कठिन कराला। अमित नाग बल बिपुल बिसाला'*) सबने मनुष्य-शरीर धारण कर लिया और ऐसा सुन्दर रूप धारण किया कि देखनेवालेके मनको हरण कर ले, फिर भी उन रूपोंमें ऐसी झलक थी कि वे पहिचाने जाते थे। आकृतिका कर्मोंसे घना सम्बन्ध है। भौतिक शरीर छूटनेपर भी दैवी शरीरमें उस आकृतिका प्रभाव बना रहता है। देखिये महाराज दशरथ देव-शरीरमेंसे भी पहिचाने गये। यथा—*'तेहि अवसर दसरथ तहँ आये। तनय बिलोकि नयन जल छाये। अनुज सहित प्रभु बंदन कीन्हा। आसिरबाद पिता तब दीन्हा।'*

पं० रा० व० श०—*'सुभ सीला'*—शुभके शील, शुभसे परिपूर्ण। अर्थात् जैसा मङ्गल, जैसी रामजीकी कृपा, इनको प्राप्त है ऐसी किसीको कहाँ? वाल्मीकिजी लिखते हैं कि प्रधान-प्रधान वानर नवसहस्र उत्तमोत्तम हाथियोंपर सवार हैं, सब मनुष्यरूप धारण किये हैं और सब सब आभूषण पहने हुए हैं। यथा—**'नवनागसहस्राणि ययुरास्थाय वानराः। मानुषं विग्रहं कृत्वा सर्वाभरणभूषिताः॥'** (वाल्मी० यु० १२८। ३२) (च० सं० सर्ग १३१)।

मा० शं०—मनुष्य-रूप धारण किया, क्योंकि इसी रूपसे पूर्व भी साकेतमें थे। रणलीलाके लिये वानर बने थे, अब वह कार्य हो गया। अब सदा इसी रूपसे रहेंगे। पूर्व जो कहा था कि *'प्रभु तरुतर कपि डार पर ते किय आपु समान।'* उसका यहाँ उत्तर (साफल्य) है। प्रभु मनुज हैं उन्होंने उनको भी मनुज कर दिया।

टिप्पणी—२ *'भरत सनेह सील ब्रत नेमा……।'* इति। (क) श्रीभरतजीका स्नेह सब पुरवासियोंसे अधिक है, इसीसे इनका स्नेह सबसे पहले वर्णन करते हैं। श्रीभरतजीमें अनन्त गुण हैं, यथा—*'निरवधि गुन निरुपम पुरुष भरतु भरत सम जानि।'* (२। २८८) पर वानरोंने जो गुण प्रत्यक्ष देखे वही वर्णन कर रहे हैं। स्नेह, शील, व्रत और नेम प्रत्यक्ष देख रहे हैं—व्रत और नियम करनेसे शरीर सूख गया है। (ख) भरताचरण बड़ा मङ्गलदायक है, यथा—*'परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू'* (अ०), इत्यादि, यह समझकर आदरसे और अति प्रेमसे वर्णन करते हैं। [शील चेष्टासे जाना, क्योंकि मिलन आगे होगा। (पं० रा० श०) *'सादर सब बरनहिं अति प्रेमा'* से सूचित किया कि शील-स्नेह आदिको समझ-समझकर उन्हें सुख प्राप्त हो रहा है। इसीसे वे *'सादर अति प्रेम'* से प्रशंसा करते हैं; यह श्रीभरतजीके प्रेमादिके समझनेका फल है। यथा—*'भरत चरित कीरति करतूती। धरम सील गुन बिमल बिभूती॥ समुझत*

सुनत सुखद सब काहू। सुचि सुरसरि रुचि निदर सुधाहू। ' (२। २८८)] ३—*'देखि नगरबासिन्ह कै रीती.........'* इति। (क) श्रीरामजी प्रथम ही पुरवासियोंको *'अति प्रिय'* कह चुके हैं—*'अति प्रिय मोहि इहाँ के बासी'*। इस वाक्यसे श्रीरामजीका पुरवासियोंमें अत्यन्त प्रेम कहा गया। और अब *'देखि नगरबासिन्ह'* से पुरवासियोंकी श्रीरामजीमें प्रीति कहते हैं। (ख)—*'सकल सराहहिं प्रभुपद प्रीती'* कहनेका भाव कि प्रभुपदमें अति प्रेम होनेसे ये प्रभुको अति प्रिय हैं।—[सराहना यह कि हमारा स्नेह इनके आगे तुच्छ है, स्नेह हो तो ऐसा हो। दोहावलीमें कहा है कि सुग्रीव-विभीषणको भरतादिका प्रेम देख ग्लानि होती थी। यथा—*'सधन चोर मग मुदित मन धनी गही ज्यौं फेंट। त्यौं सुग्रीव बिभीषनहिं भई भरत की भेंट॥* (२००) *राम सराहे भरत उठि मिले राम सम जानि। तदपि बिभीषन कीसपति तुलसी गरत गलानि॥'* (२०८) भरतजीके प्रेमका तो कोई पता भी नहीं पा सकता, ब्रह्मादिकको भी वह अगम है। श्रीजनकजीने कहा है कि *'निरवधि गुन निरुपम पुरुष भरत भरत सम जानि',* अतः वानर सोचते हैं कि इनके प्रेमकी हम क्या कहें, पुरवासियोंहीका प्रेम बड़ा अनुपम है। (ग) वानरोंने जब सबका प्रेम देख लिया तब प्रशंसा की, इसीसे सबके मिलापके पश्चात् वानरोंका प्रशंसा करना लिखा। (पंजाबीजी लिखते हैं कि पुरवासियोंकी सराहना इससे करते हैं कि अनेक व्यवहारोंमें पड़नेसे श्रद्धा और प्रेम घट जाता है।)

पुनि रघुपति सब सखा बोलाए। मुनि पद लागहु* सकल सिखाए॥ ५॥
गुर बसिष्ठ कुलपूज्य हमारे। इन्ह की कृपा दनुज रन मारे॥ ६॥
ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥ ७॥
मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे॥ ८॥
सुनि प्रभु बचन मगन सब भए। निमिष निमिष उपजत सुख नए॥ ९॥

अर्थ—फिर श्रीरघुनाथजीने सब सखाओंको बुलाया और सबको सिखाया कि सब लोग मुनिके चरण लगो अर्थात् चरण छूकर वा सिर चरणपर रखकर प्रणाम करो॥ ५॥ ये हमारे गुरु श्रीवसिष्ठजी हैं जो हमारे कुलपूज्य हैं, इन्हींकी कृपासे राक्षस रणमें मारे गये॥ ६॥ वानरोंसे यह कहकर तब वसिष्ठजीसे इनका परिचय देने लगे। हे मुनि! सुनिये। ये सब मेरे सखा हैं। ये संग्रामरूपी समुद्रमें (हमको) बेड़ारूप (सहायक) हुए॥ ७॥ इन्होंने मेरे हितके लिये अपने जन्म हार दिये (इसीसे) ये मुझे भरतसे भी अधिक प्यारे हैं॥ ८॥ प्रभुके वचन सुनकर सब (प्रेममें) मग्न हो गये, पल-पल उनको नये सुख उत्पन्न हो रहे हैं॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) *'पुनि रघुपति सब सखा बोलाए..........'* इति। यद्यपि हनुमदादि सब दास हैं तथापि श्रीरामजी अपने स्वभावसे उनको सखा ही कहते, मानते हैं। वानर लोग दूर-दूर देशोंसे आये हैं, वे मुनिको नहीं पहचानते, इसीसे श्रीरामजीने मुनिको पहिचनवाया कि ये हमारे गुरु हैं, कुलपूज्य हैं, इनको साष्टाङ्ग दण्डवत् करो। [पं० रा० व० श०—वानर नहीं जानते कि (यहाँ) किसीको एवं किसको प्रणाम करना चाहिये। जो बात भक्त नहीं जानते वह प्रभु उनको बता देते हैं। श्रुतिदेवको भक्तमालमें इसी तरह बताना कहा है कि सन्तोंको प्रणाम करो।] (ख)—*'गुर बसिष्ठ कुलपूज्य........'* से जनाया कि हमारे कुलकी रक्षा इन्हींसे होती है, यथा—*'भानुबंस भये भूप घनेरे.........'* अ० २५५ (५—८), इन्हींकी कृपासे राक्षस युद्धमें मारे गये। पुनः, गुरु हैं और कुलपूज्य हैं अर्थात् आचार्य हैं, यह कहकर जनाया कि लोक और परलोक दोनोंके रक्षक हैं।—[कुलपूज्यसे जनाया कि ये कुलके प्रारम्भसे ही कुलगुरु हैं। इक्ष्वाकुमहाराजके समयसे बराबर यही गुरु रहते आये हैं। जो रघुवंशियोंके सब दुःख दूर होते आये वह सब इन्हींके आशीर्वादसे तथा जो-जो मनोरथ सिद्ध हुए वे इन्हींकी पूजा और प्रसन्नतासे हुए। यथा—*'दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जगु जाना॥'* (२। २५५। ७), *'सब पायउँ रज पावनि पूजें'*॥ २। २। ६। (श्रीदशरथवाक्य);

* 'लागन कुसल'—(का०)। चरण लगना सिखाया, जिसमें सबकी कुशल है।

'तुम्ह सुरतरु रघुबंस के देत अभिमत माँगे। मेरे बिसेषि गति रावरी तुलसी प्रसाद जाके सकल अमंगल भागे॥' (गी० १। १२) (श्रीकौसल्यावाक्य)। इस प्रकार सखाओंको गुरुका गौरव और बड़प्पन बताया।]

२ (क) *'ए सब सखा·········'* इति। [पहले श्रीरामजीने सखाओंसे मुनिके चरणोंमें प्रणाम करनेको कहा, क्योंकि मुनिवेष तो स्पष्ट था। इसीसे *'मुनि पद लागहु'* कहा था। फिर मुनिका परिचय दिया कि ये हमारे कुलपूज्य हैं, इन्हींकी कृपासे राक्षसोंका वध हुआ है। जब वानर आदि प्रणाम करने लगे, तो प्रणाम करनेकी रीति है कि अपने यशस्वी पिता आदिका नाम लेकर और उनसे अपना सम्बन्ध बताकर प्रणाम करें। यह काम उनकी ओरसे श्रीरामजीने स्वयं किया। एक ही शब्द *'सखा'* से समस्त वानर और राक्षसोंका परिचय हो गया। उन सबकी ओर संकेत करके कहा कि *'ए सब सखा मुनि मेरे।'* इससे अधिक उत्तम परिचय क्या हो सकता था! 'ए' अंगुल्यानिर्देश है। शिष्य श्रीरामके सखा होनेसे जितना प्रेम मुनि वसिष्ठका उन सबोंपर होगा, उतना उनके पिताका नाम सुनकर कदापि न हो सकता। अत: सरकारने अपनेसे उनका प्यारा बराबरीका सम्बन्ध बताया]—(ख) प्रथम श्रीरामजीने मुनिको पहिचनवाया और अब वानरोंका परिचय मुनिको देते हैं। ऐसा करनेमें तात्पर्य यह है कि जिसमें वानर मुनिको भक्तिसे प्रणाम करें और मुनि कृपादृष्टि करके आशीर्वाद दें (ग) *'भए समर सागर कहँ बेरे',* यहाँ 'बेड़ा' कहकर सूचित किया कि जहाँ जहाजसे भी पार हो जाना दुस्तर था वहाँ हमें इन्होंने छोटी नदीके समान पार कर दिया। बेड़ा छोटी नदीके पार जाता है, समुद्रके पार नहीं जा सकता। समर सागरको इन्होंने छोटी नदीके समान कर दिया, हमको कुछ भी परिश्रम न पड़ा।—(पुन:, बेड़ा कईके समूहसे बनता है तथा कई जहाजोंके समूहको भी बेड़ा कहते हैं। वानर-समूह हैं, प्रत्येक वानर एक-एक तख्ता, लट्ठा या जहाज है; अत: बेड़ा कहा। वानर बहुत अत: 'बेरे' बहुवचन कहा)।

पं० रा० व० श०—*'भए समर सागर कहँ बेरे'* इत्यादि वचन कर्तव्यतासूचक हैं, नहीं तो सच पूछिये तो श्रीलक्ष्मणजीके कहनेपर कि आप मित्रकी सहायता करें, उन्होंने कहा कि 'भला जिसने सप्तताल वृक्षोंको, पर्वत और पृथ्वीको एक बाणसे बेध डाला, जिसके धनुषके टङ्कारसे पर्वतसहित पृथ्वी काँप उठती है, उसको सहायककी आवश्यकता है? कदापि नहीं। वे तो स्वयं अपने तेजसे रावणका वध करेंगे, मैं तो केवल साथ रहूँगा। यथा—'**सीतां प्राप्स्यति धर्मात्मा वधिष्यति च रावणम्। सहायमात्रेण मया राघवः स्वेन तेजसा॥ सहायकृत्यं किं तस्य येन सप्त महाद्रुमाः। गिरिश्च वसुधा चैव बाणेनैकेन दारिताः॥ धनुर्विस्फारमाणस्य यस्य शब्देन लक्ष्मण। सशैला कम्पिता भूमिः सहायैः किं नु तस्य वै॥**' (वाल्मी० ४। ३६। ७—९)

भा० ९। ११। २० '**नेदं यशो रघुपतेः सुरयाच्ञयात्तलीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः। रक्षोवधो जलधिबन्धनमस्त्रपूगैः किं तस्य शत्रुहनने कपयः सहायाः॥**' में शुकदेवजीने भी ऐसा ही कहा है कि समुद्रमें सेतु बाँध लेना और वानरदलसे निशिचरोंको मारना यह कोई बड़ाई नहीं है, सिंह सियारको मारे तो क्या बड़ाई है? वस्तुतः तो उनके समान भी कोई नहीं है। भला इनने वानरोंकी सहायतासे रावणको मारा? कदापि नहीं। यह रघुनाथजीका गुण दिखा रहा है कि वे किंचित् उपकारको भी बहुत माननेवाले हैं। यही विलक्षण गुण स्मरण कर वानर मग्न हो गये। प्रभुके समीपवर्त्तियोंको पल-पल नवीन सुख उनके साथ बर्ताव और प्रेमके कारण होता है।

नोट—हनु० १४। ६२ में श्रीरामजीने श्रीसीताजीसे सुग्रीवकी सहायताके विषयमें जो कहा है वह सब भाव यहाँ *'भए समर सागर कहँ बेरे'* में आ जाता है। वहाँ प्रभु कहते हैं कि—'हे प्रिय! जानकी! वनमें तो निवास, प्रियजनोंका वियोग बड़ा रोग, एक धनुषमात्र ही रक्षक और मांसाशी राक्षसोंमें धुरीण रावण प्रबल शत्रु, उसपर भी शत्रुका समुद्रपार निवास,—तो फिर यहाँ क्या प्रतीकार हो सकता था? यदि सुग्रीव हमारे मित्र न होते तो मुझ राघवकी इतनी ही कथामात्र रह जाती। अर्थात् रघुकुलमें एक राजा राम हुए थे, उन्हें वनवास हुआ, रावणने उनकी स्त्री हर ली, बस इतनी ही कथा रह जाती। यथा—'**निवासः कान्तारे प्रियजनवियोगाधिरधिको धनुर्मात्रत्राणं रिपुरपि धुरीणः पलभुजाम्। अकूपारं पारे वसति च स कात्र प्रतिकृतिर्न मित्रं सुग्रीवो यदि तदियती राघवकथा॥**'

टिप्पणी—३ *'मम हित लागि.........'* इति। भाव कि इसमें इनका कोई स्वार्थ या हित न था, हमारे ही हितार्थ इन्होंने मरना अङ्गीकार किया और राक्षसोंसे युद्ध किया। (ख)—*'भरतहु ते'* कहनेका भाव कि श्रीभरतजी श्रीरामजीके प्रियत्वकी अवधि हैं, श्रीरामजीको इनसे बढ़कर कोई प्रिय नहीं है। यथा—*'तुलसी न तुम्ह सों राम प्रीतमु कहत हौं सौहें किए।'* (२। २०१), *'सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। पेमपात्र तुम्ह सम कोउ नाहीं॥.........तुम्ह पर अस सनेह रघुबर कें। सुख जीवन जग जस जड़ नर कें॥'* (२। २०८), *'तुम्ह सम रामहि कोउ प्रिय नाहीं॥'* (२। २०५) सो इनसे भी ये अधिक प्रिय हैं।—[पां० भरतजीका ही नाम लिया, क्योंकि ये श्रीलक्ष्मण और शत्रुघ्नजीसे बड़े हैं। दूसरे जैसे यहाँ भरतजीने राज्यकी रक्षा की वैसे ही इन सखाओंने शरीरकी रक्षा की।]

पं०—भरतजीसे भी विशेष प्रिय कहनेके भाव—(क)—उन सबोंमें अत्यन्त प्रेम दरसाया। अथवा, (ख)—प्रेममें तुल्य हैं पर भरत एक हैं और ये बहुत हैं, अतः अधिक कहा। अथवा, (ग)—भरतजीने मनुष्य-शरीर और परमोत्तम वंश पाकर भक्ति की और इन्होंने अधम वानरशरीरसे मेरी भक्ति की, अतः अधिक प्यारे हैं।—[अधिक प्रियत्वका कारण प्रभुके वचनमें ही स्पष्ट है]।

वि० टी०—'इस कथनमें बहुधा उस कथनप्रणालीका अनुकरण समझ पड़ता है जिसके अनुसार लोग किसीकी प्रशंसा करनेके लिये उसे कुछ बढ़ाकर कहते हैं, सो यहाँपर यूथपोंकी प्रशंसा विशेषरूपसे दर्शायी; क्योंकि इन्होंने अपने प्राणपणसे समरमें श्रीरघुनाथजीकी रक्षा की'।—(इसपर कोई-कोई कहते हैं कि श्रीरघुनाथजीके इस विषयमें स्वयं ये वाक्य हैं कि—*'मृषा न कहउँ मोर यह बाना'*)।

पं० वि० त्रिपाठीजी—अपने हृदयङ्ग भावको दूसरेके हृदयङ्गम करनेमें ही भाषाकी उपयोगिता है। अतः जिन शब्दोंसे यह ठीक हृदयङ्गम हो सके वे झूठ नहीं हैं, सत्य हैं। कुम्भकर्णका जितना बड़ा डील-डौल था, उसका ध्यान दूसरेके मनमें बिना 'भूधराकार शरीर' कहे आ नहीं सकता, अतः भूधराकार कहना सत्य है, मिथ्या नहीं है। यहाँ वक्ताका तात्पर्य शब्दार्थमें नहीं है, उसके डील-डौलकी बड़ाईमें है। मोटे मनुष्यको लोग हाथी-सा कहा करते हैं, इसमें जो व्यर्थ शुष्क तर्कके बलसे शंका खड़ी करते हैं, उन्हें स्वादुपराङ्मुख मानना ही पड़ेगा। 'मैं अमुकको लड़केसे अधिक प्यार करता हूँ', 'वे तो मेरे माई-बाप हैं' ऐसा कहनेवालोंका शब्दार्थमें तात्पर्य नहीं होता, अधिक प्रीति तथा कृतज्ञतामें तात्पर्य होता है। दिन-रात व्यवहारमें ऐसा प्रयोग होता है तो काव्यमें प्रयोग न होनेका कोई कारण नहीं है। इसी भाँति *'तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना'*, *'भरतहु ते मोहि अधिक पियारे'* आदि प्रयोग हैं, हनुमान्‌जीको लक्ष्मणसे प्यारा सिद्ध कर देना अथवा विभीषण-सुग्रीवको भरतजीसे अधिक प्यारा सिद्ध कर देनेमें पण्डिताई अवश्य है, पर वास्तविकता नहीं है।

पं० रा० व० श०—*'मम हित.........अधिक पियारे'* में श्रीमद्भागवतके **'ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान्वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥'** (भा० ९। ४। ६५) का भाव है। अर्थात् जिन्होंने अपना घर छोड़ा, कुटुम्ब, धन और धाम सब छोड़ा और हमारी शरण आये वे चाहे जो कुछ करें, हम उनको कैसे त्याग सकते हैं। पुनः, यथा—*'नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई।'*

गौड़जी—*'भरतहु ते.........'* इति। यहाँ भरतसे तुलना करनेका कारण यह है कि लक्ष्मणजी अभीतक तो वनमें साथ रहे हैं, पर वसिष्ठजीके निकट भरतजी बराबर रहे हैं और प्रस्तुत प्रसङ्गमें भरतजीकी ही तुलना और चर्चा सर्वोपरि है। वनमें हनुमान्‌जीके प्रति कहते हुए *'तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना'* कहा। भगवान्‌को लक्ष्मण और भरत आत्मीयताके कारण अत्यन्त प्यारे हैं, इसीलिये प्यारके यही पैमाने हैं। भरतजी और लक्ष्मणजी परम भागवत हैं, यह बात तो निस्सन्देह है; परन्तु भगवान्‌को *'परम अकिंचन प्रिय हरि केरे'* अकिञ्चन भक्त अधिक प्यारे हैं। पशुयोनिमें होकर इन्होंने भगवान् न समझकर भी प्रभुको आत्मसमर्पण कर दिया, यह बहुत भारी बात है, इसीलिये ये परम भागवतोंसे भी अधिक प्यारे हैं। भरत और लक्ष्मण तो ईश्वरकोटिमें हैं। सम्प्रति नाम-रूपका ही भेद है, नित्यविभूतिमें तो अभेद ही है। इसलिये जब अपने

अकिञ्चन भक्तोंपर अपना प्रेम जनाते हैं तो परम सत्यताके साथ यह कहना पड़ता है कि मेरे अपने-आपसे भी यह अधिक प्यारे हैं, क्योंकि ये जीव हैं और अलग हैं। वरना *'दरियाकी हुबाबसे है यह सदा, तुम और नहीं हम और नहीं। हमको न समझ अपनेसे जुदा, तुम और नहीं हम और नहीं।'* यद्यपि जीव यही उत्तर देता है—**'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥'** (षट्पदी)

टिप्पणी—४ (क) *'सुनि प्रभु बचन'* अर्थात् जो ऊपर ८ चरणोंमें कहे वे सब वचन। (ख) *'निमिष निमिष सुख'* नवीन उत्पन्न होनेका भाव यह कि जब श्रीरघुनाथजीने वानरोंको बुलाकर अपने पुत्रके समान मुनिको प्रणाम करना सिखाया तब वानरोंको सुख हुआ।—(१) वसिष्ठजीका नाम और कुलपूज्य कहकर पहिचान पाया तब सुख हुआ।—(२) वानरोंका उपकार वर्णन किया तब सुख हुआ।—(३) और जब भरतजीसे भी अधिक प्रिय कहा तब सुख हुआ।— (४) यही नये-नये सुख हैं जो पल-पलपर उत्पन्न हो रहे हैं।

वै०—जैसे-जैसे प्रभुके मुखसे वचन निकलते जाते थे। वैसे-वैसे नये-नये सुख उत्पन्न होते जाते थे और जब श्रीभरतजीसे भी अधिक कहा तब प्रेमानन्द ऐसा उमड़ा कि उसीमें मग्न हो गये कि प्रभुकी कृपाकी हद है, इससे अधिक क्या कहा जा सकता है?

दो०—कौसल्या के चरनन्हि पुनि तिन्ह नाएउ माथ।
आसिष दीन्हे* हरषि तुम्ह प्रिय मम जिमि रघुनाथ॥
सुमन बृष्टि नभ संकुल भवन चले सुखकंद।
चढ़ी अटारिन्ह देखहिं नगर नारि नर† बृंद॥८॥

अर्थ—फिर उन्होंने श्रीकौसल्याजीके चरणोंमें मस्तक नवाया। इन्होंने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया कि तुम मुझे रघुनाथजीके समान प्रिय हो। आनन्दकन्द (आनन्दवर्षा करनेवाले मेघ एवं सुखराशि और सुखमूल) श्रीरामचन्द्रजी महलको चले, आकाश फूलोंकी झड़ीसे भर (छा) गया, नगरके स्त्री-पुरुषोंके झुण्ड-के-झुण्ड अटारियोंपर चढ़े दर्शन कर रहे हैं‡॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'कौसल्या के चरनन्हि'*......' इति। गुरु श्रीवसिष्ठजीके चरणोंमें प्रणाम कर चुके। अब दूसरी गुरु (ज्येष्ठ बड़ी) कौसल्या माता हैं; अतः अब इनको प्रणाम किया।—[प्रभुने गुरुको पहचनवाया पर माताको नहीं। कारण कि ऐसा करनेसे उनका अपनी मातामें अधिक मोह समझा जाता। पर सखा इन्हें जान गये और प्रणाम किया। इससे उनकी बुद्धिकी चतुरता दिखायी। (रा० शं० श०) श्रीहनुमान्‌जी तो शक्तिके समयसे पहिचानते ही थे, गुरुको प्रणाम करना सिखाया गया। इसीसे सब गुरुजनोंको प्रणाम करना चाहिये, यह जान गये हैं]। (ख) *'प्रिय जिमि रघुनाथ'।* श्रीरघुनाथजी वानरोंको अपना सखा कहते हैं, सखा अपने समान होता है; इसीसे श्रीकौसल्याजी उन्हें रामजीके समान प्रिय कहती हैं। जैसे श्रीरामजीसे मिलनेसे हर्ष हुआ वैसे ही सखाओंको देखकर हर्ष हुआ, यह सूचित करनेके लिये *'आसिष दीन्हे हरषि'* पद दिया। माताने सखाओंको रामसमान प्रिय कहा, इसका स्वरूप (उनके हर्षसे) सबको प्रत्यक्ष देख पड़ा। (*'दीन्हे'* बहुवचन है। इससे जनाया कि बहुत आशीर्वाद दिये और यह भी कहा कि *'तुम्ह मम प्रिय'*......।)

शङ्का—वानरसखाओंने गुरु वसिष्ठको और श्रीकौसल्याजीको प्रणाम किया परंतु श्रीभरत-शत्रुघ्न आदिको उनका प्रणाम नहीं पाया जाता, यह क्यों? समाधान—एक तो वे रामसखा हैं, तब छोटे भाइयोंको प्रणाम

* दीन्ही। † बरबृंद......(का०)।

‡ आधुनिक किसी-किसी टीकाकारने भी 'बर-बृंद' पाठ दिया है और किसीने अर्थ किया है कि स्त्रियाँ अटारियोंपर चढ़ीं और पुरुष पृथ्वीपरसे देखते हैं। 'बरबृंद' पाठ हो तो 'बर' का भाव यह लेना होगा कि इनके भाग्यको शची शारदादिक ललचाती हैं, यथा.........'तिन्ह जुबतिन्हके भाग बरनि काते कहि आवे। सची सारदा रमा देखिकै मन ललचावे॥' (ध्यानमंजरी)

कैसे करते? दूसरे, श्रीरामजीने गुरुको प्रणाम किया था और इनको भी प्रणाम करनेको कहा, इससे वे समझ गये कि जिनको प्रभुने प्रणाम किया है उन्हें प्रणाम करना चाहिये, अतएव उन्हीं-उन्हींको सखाओंने भी प्रणाम किया। न श्रीरामजीने और किसीको प्रणाम किया न इन्होंने।

टिप्पणी—२ *'सुमनबृष्टि.........'* इति। ☞ (क) भरतमिलाप यहाँ समाप्त हुआ। अब श्रीरामजी भवनको चले, इसीसे देवताओंने पुष्पवृष्टि की। (ख) *'भवन चले'* कहकर जनाया कि जैसे प्रथम सबसे भेंट करनेके लिये खड़े हुए और भेंट करके आगे चले थे—*'एहि बिधि सबहि सुखी करि रामा। आगे चले.........'*, वैसे ही सब माताओंसे भेंट करनेके लिये खड़े हुए और उनसे भेंट करके आगे चले। (ग) *'सुखकंद'* कहा क्योंकि जैसे प्रथम सबको सुख देकर चले वैसे ही सब माताओंको सुखी करके चले हैं।

३ *'चढ़ी अटारिन्ह.........'* इति। पूर्व स्त्रियोंका वर्णन कर आये हैं, यथा—*'बहुतक चढ़ीं अटारिन्ह निरखहिं गगन बिमान।'* (३) अब यहाँ स्त्री और पुरुष दोनोंका अटारियोंपर चढ़े होना कहते हैं। इस कथनसे यह जनाते हैं कि अब भारी भीड़ है, नीचे खड़े होनेकी जगह नहीं है।—[गली, सड़कें सब मनुष्योंसे इतनी भरी हैं; यथा—'**नहि रथ्याः सुशक्यन्ते गन्तुं बहुजनाकुलाः**।' (वाल्मी० अ०)

कंचन कलस बिचित्र सँवारे। सबहि धरे सजि निज निज द्वारे॥ १॥
बंदनवार पताका केतू। सबन्हि बनाए मंगल हेतू॥ २॥
बीथीं सकल सुगंध सिंचाई। गजमनि रचि बहु चौक पुराई॥ ३॥
नाना भाँति सुमंगल साजे। हरषि नगर निसान बहु बाजे॥ ४॥

अर्थ—सोनेके कलश विलक्षण रीतिसे चित्रों, मणियों इत्यादिसे सँवारकर और सजाकर सब लोगोंने अपने-अपने दरवाजेपर तथा दरवाजोंको भी सजाकर रखे॥ १॥ मङ्गलके लिये सबने (दरवाजोंके ऊपर) बन्दनवार, पताकाएँ और ध्वजाएँ सजाकर लगायीं॥ २॥ समस्त गलियोंको अरगजा आदि सुगन्धित जलसे सिंचवाया। गजमुक्तासे रचकर बहुत-सी चौकें पूरीं (वा पुरवायी गयीं)॥ ३॥ हर्षित होकर अनेक प्रकारके सुन्दर मङ्गल नगरमें सजाये गये। प्रसन्नतासे नगरमें बहुत-से नगाड़े, डंके बजने लगे॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'कंचन कलस—'* इति। (क) पहले लोगोंको दर्शनकी आतुरता थी। जब दर्शन कर चुके तब मङ्गल रचना करने लगे। (ख) श्रीरामजीके आगमनका समाचार पाकर स्त्री-पुरुष दोनोंका उठ 'धावना' पूर्व लिख आये—*'नर अरु नारि हरषि सब धाए।'* (७। ३। ४) इनमेंसे स्त्रियोंका समाचार प्रथम ही लिख चुके कि *'दधि दूर्बा रोचन फल फूला। नव तुलसीदल मंगल मूला। भरि भरि हेमथार भामिनी। गावत चलीं सिंधुरगामिनी।'* (७। ३। ५-६) अब पुरुषोंका समाचार लिखते हैं कि *'कंचन कलस।.........'* (ग) *'बिचित्र सँवारे'* कहकर जनाया कि सोनेके कलशोंको अनेक रंगों, अनेक चित्रोंसे चित्रित किया है। वा, उनमें अनेक रंगोंकी मणियाँ लगी हैं। उनको सजाया है अर्थात् उनमें जल भरकर, आम्रपल्लव रखकर, दीपक जलाकर द्वारपर रखा। (घ) *'निज निज द्वारे'* से सूचित किया कि नगरमें मङ्गल-रचना बहुत शीघ्र तैयार हुई। जितनी देर एक द्वारमें मङ्गल-रचना करनेमें समय लगा उतनेहीमें समस्त अयोध्याभरमें मङ्गल-रचना हो गयी। [*'सँवारे सबहि.........'* इति। (क) चतुरचूड़ामणि इन्हें देखकर प्रसन्न होंगे, इस विचारसे सँवारे। (ख)—*'सबहि'* पद देकर नगरकी विभूति दिखायी कि छोटे-बड़े सबके यहाँ इतना धन है कि सोनेके कलश मणियोंसे रच-रचकर चौक पूरकर द्वारपर रखे। आजकल मट्टीके घड़ोंपर गोबरसे चित्रकारी करते हैं और मणियोंकी जगह आटेसे चौकें पूरते हैं; क्योंकि धनहीन हैं। (पं० रा० व० श०)]

२ (क) *'बंदनवार पताका केतू.........'* इति। कलशका वर्णन करके अब कलशके ऊपरका वर्णन करते हैं। द्वार-द्वारपर कलश हैं, कलशोंके ऊपर द्वार-द्वारमें बन्दनवार लगे हैं—(कलश नीचे देहरीके पास और बंदनवार उसीके ऊपरकी चौखटपर), बन्दनवारके ऊपर पताका और केतु हैं। (ख) *'बीथीं सकल सुगंध सिंचाई'*। द्वारके आगे गली है, अतः द्वारके नीचे-ऊपरका वर्णन कर अब गलियोंका वर्णन

करते हैं। साथ ही यह भी सूचित करते हैं कि अपने-अपने द्वारके सामनेकी गली लोगोंने प्रेमवश स्वयं अरगजा और गुलाबजलसे सींची हैं। अथवा, गली, बाजार और सड़कें सरकारी हैं, सरकारी तरफसे सींची गयी हों।—['सुगन्ध अर्थात् चन्दन और अगरके जलसे, अरगजासे, अतरादिसे सींची गयीं।—'***गली सकल अरगजा सिंचाई।***' (१। ३४४। ५) देखिये। पुनः, यथा—'**चन्दनागुरुतोयार्द्ररथ्या चत्वरमार्गवत्**' (भा० ४। २१ पृथुके स्वागतमें)। (ग) '***गजमनि रचि बहु चौक पुराई***' इति। चौक पूरनेका ठिकाना नहीं लिखते, कारण कि एक जगह पूरी जायँ तो ठिकाना लिखें, अनेक जगह स्थान-स्थान, ठौर-ठौरपर पूरी गयी हैं, जैसे कि कलशोंके पास, आँगनोंमें, गलियोंमें, बाजारोंमें इत्यादि। यथा—'***सींचि सुगंध रचैं चौकें गृह आँगन गली बजार।***' (गी० १। २) (घ) '***नाना भाँति सुमंगल*** ·········' इति। कुछ सुमङ्गल कहकर अब कहते हैं कि अनेक प्रकारके और सुन्दर मङ्गल सजाये हैं, हम कहाँतक वर्णन कर गिनावें। मङ्गलसाज कहकर नगाड़ोंका बजना कहते हैं, इस तरह सूचित करते हैं कि नगाड़ा बजाना भी मङ्गल है, यथा—'**भेरीमृदंगमृदुमर्दलम् (?) शंखवीणावेदध्वनिर्मङ्गलगीतघोषाः**'।

☞ यहाँतक पुरुषोंका कृत्य कहकर आगे स्त्रियोंका कृत्य कहते हैं।

जहँ तहँ नारि निछावरि करहीं। देहिं असीस हरष उर भरहीं॥ ५॥
कंचन थार आरती नाना। जुबती सजे करहिं सुभ गाना॥ ६॥
करहिं आरती आरतिहर के*। रघुकुलकमल-बिपिन दिनकर के॥ ७॥

अर्थ—जहाँ-तहाँ स्त्रियाँ निछावरें कर रही हैं, आशीर्वाद देती हैं, (वा निछावर पानेवाले आशीर्वाद देते हैं तब) हृदयमें हर्ष भरती हैं॥ ५॥ अनेक सौभाग्यवती युवा स्त्रियाँ सोनेके थालोंमें अनेक आरतियाँ सजे हुए मङ्गल गीत गा रही हैं॥ ६॥ आर्ति-(दुःख, क्लेश-) के हरनेवाले, रघुकुलरूपी कमलवनके सूर्य श्रीरघुनाथजीकी आरती करती हैं†॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) '***जहँ-तहँ***' का भाव कि श्रीरामजीके सिरसे उतारकर न्यौछावर करनेका अवकाश नहीं है, इससे जो जहाँ हैं वहीं निछावर करती हैं। (ख) निछावर करती हैं, आरती उतारती हैं, हृदयमें हर्षित होती हैं और आशीर्वाद देती हैं यह कहकर जनाया कि तन, मन और वचनसे रामजीकी भक्ति करती हैं। अथवा, '***देहिं असीस***' से निछावर पानेवालोंका आशीर्वाद कहा। वे आशीर्वाद देते हैं, जिसे सुनकर इनके मनमें हर्ष होता है। '***देहिं असीस***'—अपने-अपने रस, भाव और प्रीतिके अनुकूल आशीर्वाद देती हैं। वाल्मीकिजी अ० १६। ३९, ४० में लिखते हैं कि वृद्धा कहती हैं कि '**नूनं नन्दति ते माता कौसल्या मातृनन्दन**' '**चिरं जीव तु ते माता कौशल्या**' अर्थात् हे मातृनन्दन! आपकी माता कौशल्या निश्चय परम आनन्दको प्राप्त हैं अर्थात् भाग्यवती हैं, माता कौशल्या बहुत काल जियें। और पतिसुखवाली कहती हैं कि—'**सर्वसीमन्तिनीभ्यश्च सीतां सीमन्तिनी वरा। अमन्यत हि ता नार्यो रामस्य महिषीं प्रियाम्॥**' अर्थात् सब सौभाग्यवतियोंसे श्रीजानकीजी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि ये श्रीरामजीकी प्रिया महिषी हैं। (पं० रा० व० श०) (ग) ['***हरष उर भरहीं।***' भाव कि जो हृदय पूर्व विरह-शोकादिसे भरा था उसमें अब हर्ष भर रहा है, वहाँसे शोक निकल गया।]

'***कंचन थार आरती नाना।*** ·········' इति। सोनेके थालोंमें आरती सजे मङ्गल गान करती हैं, क्योंकि आरती पारी-पारा कर रही हैं; अभी इनकी पारी (बारी) नहीं आयी है। आगे आरती करना लिखते हैं—['नाना' थार, आरती, युवती सबके साथ है]।

---

* भा० दा० की पोथीमें 'के' पाठ है जो 'कै' की एक मात्रापर हरताल देकर बनाया गया है। का०, १८१७, १८१८ में 'कौ' पाठ है। १८४२, बं० पा०, रा० गु० द्वि०, ग्रियर्सनवालीमें भी 'के' पाठ है।

† १—रघुकुलपर कमलवनका रूपण और रामचन्द्रजीपर सूर्यका आरोप 'सम अभेद रूपक' है। परिकरांकुर और शब्दप्रमाणकी संसृष्टि है·········(वीर)। २·········मिलान कीजिये·········'चक्रुर्नीराजनन्तस्य नाना बलिपुरस्सरम्' (आ० रा० सारकाण्डे १२। ९८)। एवं 'नार्यो नीराजयामासु रत्नदीपै रघूत्तमम्'। ८९।

पं० रामकुमारजी—*'करहिं आरती आरतिहर के।.......'* इति। वनमें जाकर दुष्टोंको मारा इससे जगत्‌के आर्त्तिहर हैं, फिर लौट आकर अपने कुलको सुख दिया इससे रघुकुलकमलरूपी वनके सूर्य हैं। *'दिनकर'* पदसे सूचित किया कि देवताभावसे प्रसन्न होते हैं, यथा—*'सुर साधु चाहत भाव.........'* (बा० ३२६ छन्द); **'अपां निधिं वारिभिरर्चयन्ति दीपेन सूर्यं प्रतिबोधयन्ति। ताभ्यां तयोः किं परिपूरणाय भक्त्यैव तुष्यन्ति महानुभावाः॥'**

पं० रा० व० श०—आरती करती हैं कि नजर न लगे, अलाय-बलाय सब टल जाय। आरतिहरकी आरती करती हैं क्योंकि वे तो रघुकुल-कमल वनके सूर्य हैं, सबको सुखी करनेवाले हैं। ये राजाका सम्बन्ध मानती हैं, न कि ब्रह्मका और उसी भावसे आरती करती हैं।

गौड़जी—आरतिहरकी आरती करनेका भाव कि जैसे *'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी। सो प्रभु पढ़ यह कौतुक भारी॥'* वैसे ही जो सबकी आर्त्तिका हरनेवाला है उसीकी पीड़ा हरने, अलाय-बलाय दूर करनेको दीपवर्त्तिकाएँ बारी जाती हैं और जो रघुवंशरूपी कमलको विकसित और आनन्दित करनेवाला है, उसीकी मङ्गल कामनाके लिये और उसीको सुखी करनेके लिये दीपवर्त्तिकाएँ बार रही हैं। बारनेवालियाँ प्रायः यह नहीं जानती हैं कि ये अखिल जगत्‌के आरतिहर हैं और जो कौसल्याकी तरह जानें भी उसका भी तो अपनी ओरसे कर्तव्य यही है। किसी भावसे मूर्त्तिकी षोडशोपचार पूजाके साथ-साथ उपासक दीपक आदि बारता है, जो विश्वम्भर है उसको भोग लगाता है।

रा० प्र०—आरतीका स्वरूप विनयके ४७, ४८ पदमें है—

'हरति सब आरती आरती राम की। दहन दुख दोष निमूलनी काम की॥१॥
सुभग सौरभ धूप दीप बरमालिका। उड़त अघ बिहंग सुनि ताल करतालिका॥२॥
भक्त हृद भवन अज्ञान तमहारनी। बिमल बिज्ञानमय तेज बिस्तारिनी॥३॥
मोह-मद-कोह-कलिकंज हिम जामिनी। मुकुति की दूतिका देहदुति दामिनी॥४॥
प्रनत जन कुमुद बन इंदुकर जालिका। तुलसि अभिमान महिषेस बहु कालिका॥५॥

पुर सोभा संपति कल्याना। निगम सेष सारदा बखाना॥८॥
तेउ यह चरित देखि ठगि रहहीं। उमा तासु गुन नर किमि कहहीं॥९॥

अर्थ—शिवजी कहते हैं कि हे उमा! पुरकी शोभा, सम्पत्ति और कल्याण वेद, शेष और शारदा बखान करते हैं॥ ८॥ सो वे (ऐसे योग्य वक्ता) भी यह चरित देखकर ठगे-से रह जाते हैं तब उसका गुण मनुष्य क्योंकर कह सकते हैं? अर्थात् नहीं कह सकते॥ ९॥

पं० रा० व० श०—*'पुर संपति सोभा कल्याना।'* इति। कलशादिसे सम्पत्ति, वन्दनवारादिसे शोभा और सबकी वृत्ति रघुनाथजीमें लगी है, सबके हृदयमें रूप, गुण और चरित समाया है; इससे कल्याणका क्या कहना?

टिप्पणी—१ *'निगम सेष सारदा बखाना'* इति। अर्थात् पुरशोभा वेद, पुरसम्पत्ति शेष और पुरकल्याण शारदा बखान करती हैं।—(यथा संख्यालङ्कारसे) और, पुरका बखान तो साक्षात् श्रीरामजीने अपने मुखारविन्दसे किया है। यथा—*'हरषे सब कपि सुनि प्रभु बानी। धन्य अवध जो राम बखानी॥'* [*'निगम सारदा सेष बखाना'* इति। भाव कि कल्प-कल्पमें प्रभुका अवतार होता है, तब-तब निगम-शेष आदि वर्णन करते हैं। परन्तु फिर जब वर्तमान कल्पका चरित्र देखते हैं तब ठगे-से रह जाते हैं कि हमने क्या वर्णन किया था, यह तो पैसाभर भी नहीं है। (रा० शं० श०) *'ठगि रहहीं'* का भाव कि ये सदा वर्णन करते आये। जब-जब काम पड़ा, पर आज ठगे-से रह गये, देखते ही रह गये, कह नहीं सकते, जैसे किसीने उनपर जादू कर दिया हो। (पं० रा० व० श०)]

२—*'तेउ यह चरित.........'* इति। (क) *'ठगि रहहीं'* का भाव कि जितना बखान करते जाते हैं उससे कहीं अधिक देखते हैं। यह चरित अर्थात् जो पुरवासी रचना करते हैं उससे शोभा अधिक बढ़

जाती है, सम्पत्ति अधिक देख पड़ती है, कल्याण अधिक देख पड़ता है, तब देखकर ठगे-से रह जाते हैं। ['ठग रहना' मुहावरा है। जैसे कोई किसी कामको जाय और उसका धन ठग लिया जाय, तो जैसे वह भौचक्का-सा रह जाता है वैसी ही दशा इनकी हो रही है। ठग रहना=आश्चर्यसे स्तब्धचकित वा दंग रह जाना। भौचक्का हो जाना।] (ख)—*'नर किमि कहहीं'* अर्थात् जब स्वर्गकी वक्ता शारदा, पातालके वक्ता शेष (और निगम निज वाणी ब्रह्मकी है सो भी) नहीं कह सकते तब मृत्युलोकके वक्ता मनुष्य क्योंकर कहेंगे?

वि० त्रि०—नगरकी शोभा, सम्पत्ति और कल्याणका बखान निगम, शेष और शारदाने कर दिया, परन्तु जब सरकारकी सवारी नगरमें चली ऊपरसे आकाशमें फूलोंकी वर्षा हो रही है, अटारियोंपर चढ़ी हुई स्त्रियाँ दोनों ओर आरती कर रही हैं, निछावर कर रही हैं, मङ्गल-गान कर रही हैं; बाजे बज रहे हैं, उस समय नगरमें जो समा बँधा उसे देखकर निगम, शेष, शारदा भी भौचक रह गयी, कुछ कहते न बना, उसके वर्णनकी आशा मनुष्यसे कैसे की जाय। भाव यह कि वह शोभा समाज-सुख-सर्वथा वर्णनातीत था।

दो०—नारि कुमुदिनी अवध सर रघुपति बिरह दिनेस।
अस्त भए बिगसत भईं निरखि राम राकेस॥
होहिं सगुन सुभ बिबिध बिधि बाजहिं गगन* निसान।
पुरनरनारि सनाथ करि भवन चले भगवान॥९॥

शब्दार्थ—**सनाथ**=कृतार्थ—*'जौं कदाचि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ।'* (कि० ७)

अर्थ—अवधरूपी तालाबकी स्त्रियाँरूपिणी मुकुदिनी रघुनाथजीके विरहरूपी सूर्यके अस्त होनेपर श्रीरामरूपी पूर्णचन्द्रको देखकर खिल गयीं। अनेक प्रकारके मङ्गल सगुन हो रहे हैं, आकाशमें अनेक प्रकारसे नगाड़े बज रहे हैं। नगरके स्त्री-पुरुषोंको कृतार्थ करके भगवान् रामजी महलको चले॥ ९॥

टिप्पणी—१ (क) ☞पुरुषोंका आनन्द समुद्रके रूपकसे कहा, यथा—*'राका ससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरषान.........।'* अब स्त्रियोंका आनन्द कुमुदिनीके रूपकसे कहते हैं। पर, स्त्री-पुरुष दोनोंको सदृश आनन्द हुआ है] इसीसे दोनों रूपकोंमें रामजीको राकेश कहा है—वहाँ *'राका ससि रघुपति'* और यहाँ *'राम राकेस'*।—(यहाँ सम-अभेद-रूपक है।) (ख) *'निरखि राम राकेस'* का भाव कि जैसे माताएँ आरती कर-करके श्रीरामजीके अङ्गोंको देखती थीं, यथा—*'कनकथार आरती उतारहिं। बारबार प्रभुगात निहारहिं॥'*, वैसे ही अवधवासिनी स्त्रियाँ भी आरती करके अब श्रीरामजीको देख रही हैं। अत: *'निरखि'* कहा।

२—*'होहिं सगुन सुभ.........'* इति। श्रीरामजी अब (अपने) महलको चले, इसीसे यहाँ मङ्गल शकुनोंका वर्णन करते हैं। (ख) *'बाजहिं गगन निसान'* इति। नगरमें पुरवासियोंका नगाड़े बजाना ऊपर कह चुके, यथा—*'हरषि नगर निसान बहु बाजे',* इससे अब देवताओंका निशान बजाना कहते हैं।—[रा० शं०—पूर्व राजतिलक-समय देवता दु:खी थे, उन्हें अवध-बधावा न भाता था। अब वे सुखी हैं; अतः स्वयं नगाड़े बजा रहे हैं। पहली बार केवल श्रीसीता-रामजीको शकुन हुए थे, पुरवासियोंको नहीं और अब इनको भी शकुन हो रहे हैं। इसीसे पूर्व इनके मनोरथ सफल न हुए थे, अब हुए।]

नोट—१ *'सनाथ करि'* से सूचित किया कि वनवासके समयसे अबतक वे अनाथ रहे, यथा—*'चलत राम लखि अवध अनाथा। बिकल लोग सब लागे साथा॥'* (२। ८३। ३) अब प्रभुके आनेसे सब *'सनाथ'* हुए। २—*'राका ससि रघुपति.........'* उपक्रम है और *'निरखि राम राकेस'* उपसंहार।

मा० म०—प्रभुने सब घरोंमें जा-जाकर सबको सन्तुष्ट किया।

---

* नाक—(मा० म०, का०), गगन—(भा० दा०, १८१७, १८१८, १८४३, रा० गु०)।

टिप्पणी—४ (क) भवनको चलना दो बार लिखते हैं। एक तो पूर्व *'सुमन बृष्टि नभ संकुल भवन चले सुखकंद।'* (८) दूसरे यहाँ *'भवन चले भगवान।'* (ख) जब माताओंको सुख देकर चले तब *'सुखकंद'* और जब पुरनरनारिको सनाथ कर चले तब 'भगवान्' कहा। कारण कि सबको एक ही कालमें मिलना, 'भगवान्' का काम है। (ग) देवताओंका पुष्पवृष्टि करना दोनों बार कहा, क्योंकि देवता समय-समयपर सेवा करते रहते हैं।

प्रभु जानी कैकई लजानी। प्रथम तासु गृह गए भवानी॥ १॥
ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा। पुनि निज भवन गवन हरि कीन्हा॥ २॥
कृपासिंधु जब* मंदिर गए। पुरनरनारि सुखी सब भए॥ ३॥

अर्थ—हे भवानी! प्रभु जान गये कि श्रीकैकेयीजी लज्जित हैं, (इसलिये) प्रथम उन्हींके घर गये॥ १॥ उन्हें खूब समझाकर बहुत सुख दिया। फिर सबका दुःख हरनेवाले भगवान् अपने महलको चले॥ २॥ जब दयासागर श्रीरामजी महलमें गये तब सब स्त्री-पुरुष सुखी हुए॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'प्रभु जानी कैकई लजानी।'''''''',* यह श्रीरामजीके स्वभावकी बड़ाई है, यथा—*'ता कुमातु को मन जोगवत जिमि निज तन मरम कुघाउ'* (विनय० पद १००)। माताके लज्जित होनेसे श्रीरामजीको बड़ा दुःख हुआ इसीसे प्रथम कैकेयीजीके भवनमें गये कि उनकी ग्लानि और सङ्कोचको दूर कर दें। कैसे जाना? यह पूर्व देख चुके हैं, यथा—*'रामहि मिलत कैकई हृदय बहुत सकुचानि।'* (६) इसीसे जान गये कि वे लज्जित हैं। [लज्जा इससे है कि वे अपनेको वनवासादि उत्पातोंका कारण मानती हैं। मन्थराकी बातोंमें आकर श्रीरामजीको कुटिल समझने लगी थीं। जिनके साथ अन्याय किया वे ऐसे सरल, सुशील और विमाताके मनको 'जुगवने' वाले निकले। (रा० प्र०)]

नोट—१ (क) *'प्रथम तासु गृह गए'* इति। कैकेयीजीसे सब माताओंसे मिलते समय मिल चुके हैं। अब कैकेयी-भवनमें मिलने गये। इससे यह पाया गया कि वे अपने महलमें पहुँच चुकी हैं। एक कारण तो उनके यहाँ प्रथम जानेका स्पष्ट कहा गया। दूसरे, कैकेयीभवनमें प्रथम जाना धर्मधुरन्धर प्रभुको सूक्ष्मधर्मनिर्वाहमें कुशल सूचित करता है। जहाँसे वनवास हुआ उस स्थानतक पहुँचकर, यह दिखाकर कि वरदानकी पूर्ति हो चुकी, तब निजभवनमें जाना योग्य ही था। तीसरे, श्रीभरतजीने कैकेयीभवनमें जाना छोड़ दिया है। इससे श्रीरामजी निजजननी कौसल्याका भवन छोड़कर प्रथम कैकेयीके यहाँ गये। चौथे, वनवासके पूर्व कैकेयीमें श्रीरामजीका प्रेम अपनी मातासे भी अधिक रहा है जैसा गीतावली और कवितावलीसे स्पष्ट है *'माना राम अधिक जननी ते''''''''' ' 'कहैं मोहि मैया कहौं मैं न मैया भरतकी बलैया लैहौं भैया तेरी मैया कैकेई है।'* (क० अ०) यही बात दिखलाकर प्रबोध करनेको वहाँ गये कि देखो हमारा प्रेम पूर्वसे किसी तरह घटा नहीं किन्तु बढ़ा ही हुआ है।

(ख)—*'ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा'* इति। प्रबोधि अर्थात् प्रकर्ष करके बोध कराया, इसीसे कैकेयीजीको बहुत सुख मिला। पुनः ये बहुत सङ्कोचमें पड़ी थीं—*'हृदय बहुत सकुचानि',* इससे इनको श्रीरामजीने बहुत सुख दिया जिसमें सङ्कोच मिट जाय।

* 'ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा' *

वि० टी०—कैकेयीको कैसे प्रबोध किया? यह निम्न श्लोकमें बड़ी बुद्धिमानीसे लिखा गया है जिसका अर्थ है कि—हे माता! आपने मुझको केवल अरण्यमें अपने शरीरमात्रकी ही रक्षा करनेका काम सौंपा और अपने छोटे-से लड़के भरतके सिरपर समस्त पृथ्वीकी रक्षाका भार रख दिया। इसलिये यहाँपर हम दोनोंमेंसे किसको सुभीता रहा इसका विचार यदि किया जाय तो यह स्पष्ट है कि आपका पक्षपात मेरे ही ऊपर बड़ा भारी है।

* रा० गु० द्वि०, भा० दा०, १८४२ और वं० पा० का पाठ 'तब' है। मा० म०, १८१७, १८१८ और का० में 'जब' है। वीरकविने 'निज' पाठ दिया है।

'वनभुवि तनुमात्रत्राणमाज्ञापितं मे सकलभुवनभारः स्थापितो वत्समूर्ध्नि।
तदिह सुकरतायामावयोस्तर्कितायां मयि पतति गरीयानम्ब ते पक्षपातः॥'

पं० रा० व० श०—'प्रबोध' किया। अर्थात् कहा कि 'आपने सबका बहुत श्रेय किया और हमारे लिये बहुत क्लेश उठाया। आपके चरणोंकी कृपासे ही आज हमारी त्रैलोक्यमें प्रशंसा हो रही है।' पुनः, गोदमें बैठकर वात्सल्यसुख दिया। जब शान्ति हुई तब चले।

रा० प्र०—समझाया कि तुम्हारी ही कृपासे आज सब जगत् सुखी हुआ, मेरी भी इच्छा पूर्ण हुई और प्रपञ्च जो हुआ वह तो सब देवताओंका रचा हुआ था, आप उसे अपने ऊपर व्यर्थ लेती हैं। उसका क्षोभ दूर करनेको प्रथम उनके घर गये क्योंकि उन्होंने स्वयं कलंकिनी होकर जगत्का उपकार किया।

पं०—काल, कर्म और दैवगति समझाकर प्रबोध किया, यथा—*'काल करम बिधि सिर धरि खोरी', 'अंब ईस आधीन जग·········'* (अ० २४४)

मा० म०—बहुत समझाना यह कि—(क) तुम विषाद न करो, यह तो तुमने मेरे मनका किया, मैं चाहता ही था कि वन जाकर भूभार उतारूँ। (ख) मैंने ही प्रेरणा करके तुमसे वर मँगवाया था। (ग) मुझे तुम अपना पुत्र समझो। (घ) भावी प्रबल है इसमें तुम्हारा दोष किंचित् नहीं, यथा—*'अंब ईस आधीन जग काहु न देइअ दोषु'*—(अ० २४४), *'दोसु देहिं जननी जड़ तेई।'* जो तुम्हें दोष दें वे मूर्ख हैं।

पां०—'प्रबोध' से जनाया कि अपना पररूप दरसाया जिससे उसे विश्वास और आनन्द हुआ कि मैंने जो किया वह इनके अनुकूल ही किया।

वै०—होनहार था, आपका दोष क्या? मैं तो प्रसन्न हूँ तब दूसरेके कुछ कहनेसे क्या? पिताजी लङ्कामें आये थे, उनसे भी हमने अपराध क्षमा करा लिया है—इत्यादि *'बहु बिधि'* है। [वाल्मीकिजी लिखते हैं कि रावणवधके पश्चात् जब श्रीदशरथजी महाराज देवताओंके साथ श्रीरामजीके दर्शनोंको आये तब उन्होंने श्रीरामजीसे कहा था कि तुमको वनवास देनेके लिये कैकेयीने जो-जो बातें मुझसे कही थीं वे अभीतक मेरे मनमें ज्यों-की-त्यों बनी हुई हैं। यथा—'**कैकेय्या यानि चोक्तानि वाक्यानि वदतां वर। तव प्रव्राजनार्थानि स्थितानि हृदये मम॥**' (११९। १५) इसीसे श्रीरामजीने हाथ जोड़कर उनसे प्रार्थना की कि '**कुरु प्रसादं धर्मज्ञ कैकेय्या भरतस्य च॥ सपुत्रां त्वां त्यजामीति यदुक्ता कैकयी त्वया। स शापः कैकयीं घोरः सपुत्रा न स्पृशेत्प्रभो॥**' (२५-२६) हे धर्मज्ञ! आप कैकेयी और भरतके ऊपर प्रसन्न होइये। प्रभो! आपने जो कैकेयीसे कहा था कि 'मैं पुत्रसहित तेरा त्याग करता हूँ' यह आपका शाप उनके लिये यथार्थ न हो।—तब श्रीदशरथजी महाराजने कहा कि जैसा तुम कहते हो ऐसा ही होगा।—'**स तथेति**'।—(मा० सं०)] पूर्व कैकेयीको सब माताओंसे अधिक चाहते थे वही बात दृढ़ करनेके लिये अब भी प्रथम उनके महलमें गये कि देखो हमारा प्रेम किंचित् भी कम नहीं हुआ—(अ० ३१९ देखो)।

टिप्पणी—२ *'निज भवन गवन हरि कीन्हा।'* यहाँ कैकेयीके भवनसे चलते समय *'हरि'* नाम दिया, क्योंकि कैकेयी माताका क्लेश हरण किया है और '**क्लेशं हरतीति हरिः**'।—[*'निज भवन'* कनकभवन है जहाँसे निकलकर सुमन्त्रजीके साथ कैकेयीजीके महलमें श्रीदशरथजी महाराजके पास गये थे*]

३ (क) *'कृपासिंधु जब मंदिर गए'* इति। सबपर अत्यन्त कृपा करके अपने मन्दिरको गये, सबको सुख देकर अपने सुखके स्थानको गये; अतः *'कृपासिंधु'* कहा।—[अथवा, कैकेयीजीका मान रखनेमें कृपालुता देखी, अतः *'कृपासिंधु'* कहा—(पं०)] (ख) *'पुरनरनारि सुखी सब भए'* इति। भाव कि जब श्रीरामजी कैकेयीके स्थानपर गये तब सब लोग शङ्कित हुए कि न जाने अब क्या करें, इसीके भेजनेसे श्रीरामजी १४ वर्षके लिये वनको चले गये थे अब फिर उसीके स्थानपर गये हैं। जब वहाँसे निकलकर अपने महलमें गये तब निःशङ्क होकर सुखी हुए। अथवा, श्रीरामजीका स्वभाव देखकर सुखी हुए कि

* रा० प्र० कार 'निज भवन' से कोसल्याभवन अर्थ लेते हैं।

रामजी धन्य हैं जिस माताने राज्यरस भङ्ग करके वनवास दिया उसीका मन प्रसन्न करनेके लिये प्रथम उसीके महलमें गये।

पां०—पहले एक बार कह चुके हैं कि *'एहि बिधि सबहि सुखी करि रामा'* और अब यहाँ फिर वही कहते हैं—*'पुरनरनारि सुखी सब भए।'* कारण कि कैकेयीके जिस घरमें जानेसे वनवास हुआ था वहीं फिर जाते देख उनके चित्तमें सङ्कल्प-विकल्प उठने लगे, पूर्वका सुख चला गया था, अब वहाँसे कुशल लौटते देखा तब वह सुख फिर हुआ।

पं० रा० व० श०—१ प्रभुका स्वभाव है कि पहले अपने आश्रितोंको सुखीकर तब आप सुखी होते हैं, यथा—**'आश्रितान् सुखिनः कृत्वा पश्चात् स च सुखी भवेत्'** (भगवद्गुणदर्पण) अतः प्रथम कैकेयीके यहाँ गये। श्रीरामजी भवनसे वनको गये। १४ वर्षतक यह सूना पड़ा रहा। आज उस भवनको पुनः शोभित करने गये; अतः सब सुखी हुए। यह कहना कि कैकेयीके यहाँ जानेसे पुरवासी दुःखी हुए, यह लाञ्छन लगानेवाली बात है। चित्रकूटसे जबसे वे आयीं तबसे पुरवासियोंको यह निश्चय हो गया कि यह काल-कर्म-भवितव्यतावश उनसे हो गया था। किसीका मत है कि आगे स्वयं उसके पुत्र होनेका वर दे उसे सुखी किया।

गौड़जी—*'पुरनरनारि सुखी सब भये।'* पुरवासियोंके मनमें श्रीरघुनाथजीकी ओरसे बहुत सुबहा है। वे बड़े दावेके साथ तमसातटतक गये कि हम प्रजाके नाते श्रीरघुनाथजीको फेर ही लावेंगे परन्तु वहाँ *'खोज मारि रथ हाँकहु ताता। आन उपाय बनिहि नहिं बाता॥'* चकमा देकर निकल गये। पीछे पुरवासियोंको भरतजीका बड़ा सहारा मिल गया परन्तु वहाँ भी अन्तको निराश ही लौटना पड़ा। बहुतोंके नजदीक इसमें भरतजीहीकी गलती थी; जो हो जिस-जिस तरह १४ वर्ष बिताये। जब अपनी नगरीमें आ गये तब आशा हुई कि अब तो रहेंगे परंतु इसमें जरूर कोई भेद है कि अपने महल न जाकर फिर उसी कैकेयीके महलमें गये जहाँसे वनवास हुआ था। श्रीरघुनाथजीपर पुरवासियोंका यह बड़ा गहरा सुबहा था कि गहरी पितृभक्ति और कट्टर सत्यपालनके कारण प्रजाको अपने शासन-सुखसे वञ्चित करते आये हैं, ऐसा न हो कि आजका मिलन-सुख भी क्षणभङ्गुरही-सा हो। मिलजुल लेनेके बाद भी अदबके खयालसे पास-पास तो नहीं; मगर दूर-दूरसे प्रमुख पुरवासियोंकी भीड़-की-भीड़ बराबर यह देखती जाती है कि सरकारके क्या इरादे हैं? कहाँ जाते हैं? क्या करते हैं? सबके जीमें एक दगदगा-सा बैठा हुआ है कि ऐसा न हो कि पिताकी आज्ञाकी पख लगाकर राजगद्दी क़बूल ही न करें या भरतजीको सौंपकर कहीं और रहनेको चले जायँ। यह खयाल दिलमें था ही कि लोग देखते क्या हैं कि आप अपने महलके बजाय कैकेयीके महलमें जा रहे हैं। यह क्या मामला है! कैकेयीसे फिर कौन-सी सलाह होगी? क्या ऐसा तो नहीं है कि भरतको राज्य देनेका प्रस्ताव उसके सामने लाये हों और जब कि भरतराज्यके समय उनको हटानेके लिये दशरथके इस अनुनय-विनयको उसने स्वीकार नहीं किया था कि श्रीरघुनाथजीको अवधमें रहने दे और भरतजी राज्य करें तो आज वह भरतके राज्य करते रामजीका अवधमें रहना कब पसन्द करेगी! क्या यह सलाह तो नहीं है कि भरतजी अयोध्याजीमें राज्य करें और रामजी किसी और नगरमें? इत्यादि सङ्कल्प-विकल्प देखनेवालोंके मनमें उठना स्वाभाविक ही था। उन्हें क्या मालूम था कि श्रीरघुनाथजीकी मर्जी क्या है। साथ ही यह हिम्मत भी न थी कि पूछ लेते। गति-विधिसे ताड़ लेना ही एक अवलम्ब था। जब वे अपने खास महलमें गये जो अबतक सूना पड़ा था तब प्रजाको बड़ी खुशी हुई। उन्होंने सोचा कि वनके लिये रवाना होते हुए जो कैकेयीके घरसे निकले तो जङ्गलमें जाके ही दम लिया। धर्मपालनके लिये ऐसे निर्मोही हो गये कि पीछे फिरकर देखा ही नहीं। आज कैकेयीके घर पहले-पहल जाकर उन्होंने उसके वरदानकी अन्तिम पूर्णाहुति अथवा अपने उस १४ वर्षके महाव्रतका उपसंहार किया। इसके बाद जब वे अपने महलमें गये तो पुरवासियोंका जो जी धड़क रहा था कि कहीं कोई गड़बड़ न हो वह सन्देह मिट गया और एतमीनान हो गया कि अब अपने महलमें रहेंगे। इसी एतमीनानसे *'सुखी सब भये।'*

प० प० प्र०—मैं गौड़जीसे सहमत हूँ। दोनों चरणोंमें एक-एक मात्रा न्यून करके बताया कि पुरवासियोंको अनिर्वचनीय सुख हुआ जिसको वे *'उर अनुभवहिं न कहि सक सोऊ।'* सभी सत्त्वभावापन्न हो गये। वाणी रुक गयी, जय-जयकार भी न कर सके।

'जेहि बिधि राम नगर निज आए' एवं 'भरतमिलाप' प्रकरण समाप्त हुआ।

राज्याभिषेक-प्रकरण

गुरु बसिष्ट द्विज लिए बुलाई। आजु सुघरी सुदिन* समुदाई॥ ४॥
सब द्विज देहु हरषि अनुसासन। रामचंद्र बैठहिं सिंहासन†॥ ५॥

अर्थ—गुरु वसिष्ठजीने ब्राह्मणोंको बुला लिया। (जिस लिये बुलाया वह सबसे कहते हैं कि) आज सुन्दर घड़ी (मुहूर्त्त) है, सुन्दर दिन है और समुदाय (अर्थात् बहुत अच्छे सभी योग) हैं॥ ४॥ सब ब्राह्मण प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा दो कि श्रीरामचन्द्रजी सिंहासनपर बैठें॥ ५॥

पं० रा० कु०—*'द्विज लिए बुलाई'* कहनेका भाव कि ब्राह्मण इनके साथ ही हैं इसीसे अपने समीप सबको बुला लिया।

पं० रा० च० मिश्र—भरतजीने भी यह भार गुरुपर धरा था—*'बनहि देव मुनि रामहि राजू'* अतः अपने ऊपर भार समझकर गुरुने स्वयं ही उतावली की।

गौड़जी—*'गुरु बसिष्ट द्विज लिए……।'* यहाँ गुरु वसिष्ठ प्रजा, परिजन, मन्त्री आदिको बुलाकर कोई राजसभा नहीं करते यद्यपि भरतजीको राज्य देनेके लिये बड़ा तूमार बाँधा था और चित्रकूट जाकर तो इस तरहकी राजसभाकी कई-कई बैठकें हुईं। यहाँ वसिष्ठजी केवल ब्राह्मणोंसे पूछते हैं और तिलक करनेका प्रबन्ध करते हैं और किसीसे सलाह भी नहीं लेते। 'जहाँ वसिष्ठजीकी तरफसे यह मनमानी-घरजानी-सी दीखती है वहाँ जिन लोगोंसे सलाह न ली गयी उनको भी कोई एतराज मालूम नहीं होता', यह क्या बात है?—यह शङ्काका निवारण सहज ही हो जाता है जब हम चित्रकूटके समझौतेपर ध्यान देते हैं। अन्तिम सभामें भरतजीने जब आज्ञा माँगी है तो उन्हें यही आदेश हुआ है—*'बाँटी बिपति सबहि मोहि भाई। तुम्हहिं अवधि भरि अति कठिनाई॥'* वहाँ यह समझौता हो गया था कि पिताकी आज्ञाके पालनमें १४ वर्षतक भरतको प्रजापालन और रामजीको वनवास करना ही है। कैकेयीके दोनों वरोंकी शर्तें इतनेमें पूरी हो जाती हैं। कैकेयीने सदाके लिये भरतका राज्य नहीं माँगा था। इस तरह चित्रकूटमें यह तै पाया था कि अवधि पूरी होते ही वरकी शर्तोंकी कठिनाई दूर हो जायगी और श्रीरामचन्द्र अपना राज्य सँभाल लेंगे। जिस सभामें यह समझौता हुआ था उसमें श्रीअवधके राजमन्त्री, ब्राह्मण, पौर जानपद इत्यादिके सिवा राजा जनक और उनके दरबारी लोग भी मौजूद थे। यह निश्चय ऐसी सभामें हो ही चुका था कि अवधि बितानेपर श्रीरामचन्द्रजी तिलक कबूल करेंगे। इसलिये दुबारा राजसभाके बुलानेकी जरूरत न थी। रही बात यह कि वसिष्ठजीने ब्राह्मणोंसे आज्ञा क्यों माँगी? तो यह तो साधारण शिष्टाचारकी बात है। यद्यपि वसिष्ठजी कुलगुरु और आचार्य हैं, वे तो रामजीको ही आज्ञा दे सकते हैं तथापि ब्राह्मणत्वके नाते ब्राह्मण सबसे बड़े हैं, उनको आज्ञा दी नहीं जाती, उनसे आज्ञा माँगी जाती है। यह वसिष्ठजीकी शालीनता है कि वह न केवल कल्याणार्थ ब्राह्मणोंकी आज्ञा माँगते हैं प्रत्युत आज्ञाके व्याजसे उन्हें आमन्त्रित करते हैं कि आइये हम ब्राह्मण लोग मिलकर भगवान् श्रीरामचन्द्रको सिंहासनपर बिठावें और इस मङ्गलमय अवसरको हाथसे न जाने दें। अनुशासनका यही तात्पर्य है।

नोट—*'आजु सुघरी सुदिन……।'* वनसे किस दिन, किस मास, किस वर्ष इत्यादिमें लौटे इसमें मतभेद है। कोई चैत्र शु० ५, कोई कार्तिक इत्यादिमें लौटना कहते हैं। अतः मानसकार सबका मत रखनेके

* सुभदाई—(पं०, का०)—शुभके देनेवाले। † सिंहासन—(का०)।

लिये वनगमनसे आजतक कहीं इसका निर्णय नहीं करते। कल्पभेदसे जो जिसको चाहे मान ले। अतः *'आजु'* इतना ही कहा। जिससे इतना ही निर्णय किया कि उसी दिन राज्याभिषेक हुआ। (मा० सं०) पुनः, *'आजु सुघरी ·········'* का भाव कि समुदायका जिस मुहूर्तमें सम्मत हो वह मुहूर्त अवश्य सुखदायक होता है। (पं० रा० कु०) 'समुदायी' का भाव कि आज समुदाय-का-समुदाय सब घड़ी, दिन, नक्षत्र इत्यादि जैसे होने चाहिये वैसे ही उत्तम पड़े हैं (पं० रा० व० श०)।

टिप्पणी—१ *'सब द्विज देहु'* इति। (क) दशरथजी महाराज वसिष्ठजीकी आज्ञा लिया करते थे, और अब वसिष्ठजी रामजीको राज्य देते हैं, इसीसे आप सब ब्राह्मणोंकी आज्ञा लेते हैं [पं०—ब्राह्मणोंके सम्मानहेतु उनको बुलाया। एवं उत्तम लोगोंकी रीति है कि कार्यमें बहुतोंका सम्मत लेकर कार्य करते हैं। (विशेष अ० ५। ४ देखिये)]

पं० वि० त्रिपाठी—सरकार ब्रह्मण्यदेव हैं; किसी भी मङ्गल कार्यके करनेमें पहिले ब्राह्मणोंसे आज्ञा ले लेते हैं तब उसे करते हैं। धनुषभङ्गके समय *'राम मुनिन्ह सन आयसु माँगा'।* चित्रकूट-निवास वाल्मीकिजीकी आज्ञासे किया, दूसरे वनमें अत्रिजीकी आज्ञासे गये, पञ्चवटी-निवास अगस्त्यजीकी आज्ञासे किया। सब कुछ पहलेसे ही निर्णीत होनेपर भी सिंहासनारूढ़ भी ब्राह्मणोंकी आज्ञासे ही होंगे। अपनी स्वच्छन्द इच्छासे राज्य स्वीकृत नहीं कर रहे हैं, अतः इसके लिये स्वयं आज्ञा न माँगेंगे, इस बातको समझकर वसिष्ठजी ब्राह्मणोंसे कहते हैं कि आपलोग अनुशासन हर्षपूर्वक दें कि रामचन्द्र सिंहासनपर बैठें।

टिप्पणी—२ *'हरषि देहु'* कहनेका भाव कि जब चक्रवर्ती महाराजने वसिष्ठजीसे आज्ञा माँगी थी तब उन्होंने हर्षपूर्वक आज्ञा न दी थी वरन् यही कहा था कि *'सुदिन सुमंगल तबहि जब राम होहिं जुबराजु'*, इसीसे कार्य न सिद्ध हुआ। अतएव सबसे हर्षपूर्वक अनुशासन माँगते हैं। यदि वे हर्षपूर्वक आज्ञा दें तो कार्य निर्विघ्न सिद्ध हो जाय। [*'हरषि'* का भाव कि—एक तो ब्राह्मणोंकी प्रसन्नता मङ्गलमूलक है—*'मंगलमूल बिप्र परितोषू'*, दूसरे ऐसा सर्वगुणसम्पन्न राजा न कभी हुआ है, न है, न होगा। तीसरे, प्रभु ब्रह्मण्यदेव हैं; अतएव तुमको हर्षपूर्वक अनुशासन देना चाहिये। (रा० शं० श०)]

३—सुदिन सुनाकर पीछे आज्ञा माँगनेमें भाव यह है कि सुदिनके भी ऊपर ब्राह्मणोंकी आज्ञा है, सुदिन न भी हो और ब्राह्मणकी आज्ञा हो जाय तो कार्य करना चाहिये, कार्य सिद्ध होगा और यहाँ तो सुदिन भी है और ब्राह्मणाज्ञा भी, अर्थात् सुदिनपर सुदिन है।

मुनि बसिष्ट के बचन सुहाए। सुनत सकल बिप्रन्ह अति भाए॥ ६॥
कहहिं बचन मृदु बिप्र अनेका। जग अभिराम राम अभिषेका॥ ७॥
अब मुनिबर बिलंब नहिं कीजै। महाराज कहँ तिलक करीजै॥ ८॥

अर्थ—श्रीवसिष्ठ मुनिके सुहावने (सुन्दर) वचन सुनते ही सब विप्रोंको वे अतिप्रिय लगे॥ ६॥ वे सब अगणित ब्राह्मण कोमल वचन बोले कि श्रीरामजीका तिलक जगन्मात्रको आनन्द देनेवाला है॥ ७॥ हे मुनिश्रेष्ठ! अब देर न कीजिये, महाराज रामचन्द्रजीका तिलक कर दीजिये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'बचन सुहाए।'* 'सुहाये' बहुवचन है, क्योंकि वसिष्ठजीके बहुत वचन हैं—प्रथम सुदिन सुनाया, दूसरे ब्राह्मणोंसे आज्ञा माँगी, तीसरे रामजीको सिंहासनपर बैठनेको कहा। वचन 'सुहाये' हैं, इसीसे *'अति भाए।'* [पुनः *'अति भाए'*, क्योंकि वे सब तत्त्वके ज्ञाता हैं, जानते हैं कि सिंहासनासीन होनेपर ध्यान होता है। (पं० रा० व० श०)] *'अति भाए'* इसीसे आनन्द हृदयमें भर गया और वे उसी आनन्दमें भरे वचन बोले। आनन्दसे वचन बोले इसीसे मुखसे कोमल वचन निकले। (ख) वसिष्ठजीकी आज्ञा है कि हर्षपूर्वक आज्ञा दीजिये। विप्रोंके मनको ये वचन बहुत अच्छे लगे, यही हर्ष है। आगे आज्ञा देते हैं—*'अब मुनिबर ·········।'*

२—(क)—*'जग अभिराम राम अभिषेका'* का भाव कि ये संसार भरके राजा होंगे जिससे जगत्भरको

आनन्द होगा। [पुनः भाव कि ग्रह, नक्षत्र, तिथि तो आप-से-आप आ प्राप्त होंगे, इनके विचारनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि इनका अभिषेक ही जगत्‌का मङ्गलकारक है, मङ्गल सब स्वयं आ जायँगे (पं० रा० व० श०)] (ख)—*'अब मुनिबर बिलंब नहिं कीजै'*, यह कहकर वसिष्ठजीके बताये हुए सुदिन आदिको स्वीकार किया। तात्पर्य कि आपके कथनानुसार दिन बहुत सुन्दर है तो बस इसीमें श्रीरामजीका अभिषेक हो जाय, विचारकी आवश्यकता नहीं। [शुभ कार्यमें विलम्ब न करना चाहिये। यथा—'**अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थं च साधयेत्। गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।**' इति नीतिः। अर्थात् विद्या और धनका उपार्जन अजर-अमरके समान मानकर करे और धर्म करनेमें समझे कि मृत्युने हमारी चोटी पकड़ ली है, मारने ही चाहता है (पं० रा० व० श०)। विलम्बमें व्यङ्ग यह है कि चौदह वर्ष पीछे आज फिर कहीं पञ्चमी आयी है; प्रथम बार विलम्ब करनेसे ही विघ्न हुआ था। अतः अब तुरन्त कर दीजिये। (पां०)] पूर्व भी तिलक-समय गुरु और मन्त्रियोंके ऐसे ही वचन थे। यथा—*'बेगि बिलंबु न करिअ नृप साजिय सबुइ समाज।'* (अ० ४), *'जग मंगल भल काजु बिचारा। बेगिय नाथ न लाइय बारा॥'*(२। ५। ६) (ग) *'महाराज कहँ तिलक करीजै।'* 'महाराज' प्रथम ही कहनेका भाव कि राज्याभिषेक होनेपर महाराज पदवी होती है पर श्रीरामजी तो प्रथमहीसे महाराज हैं, जब कोई तिलक करे तब महाराज हों सो बात नहीं है।—['महाराज बड़े आदमियोंका सहज सम्बोधन है।'] ☞गोस्वामीजी ब्राह्मणोंके मन, वचन और कर्म तीनोंका हाल लिखते हैं। (१)—अभिषेक सुनकर मनमें प्रसन्न हुए, यथा—*'सुनत सकल बिप्रन्ह अति भाए।'* २—मृदु वचन बोले। (३) हाथसे तिलक करनेको कहा।

गोस्वामीजीके वर्णनसे तो जान पड़ता है कि कुल काम तिलकोत्सवतक उसी रातमें हो गया जिस सन्ध्याको भगवान् श्रीअयोध्याजीमें पधारे। वाल्मीकीयके अनुसार राज्यारोहणोत्सव प्रभुके अयोध्या पधारनेके तीसरे या दूसरे दिन हुआ है। कथाभेदका कारण कल्पभेद है।

दो०—तब मुनि कहेउ सुमंत्र सन सुनत चलेउ* हरषाइ।
रथ अनेक बहु बाजि गज तुरत सँवारे जाइ॥ १०(क)॥
जहँ तहँ धावन पठइ पुनि मंगल द्रब्य मगाइ।
हरष समेत बसिष्ट पद पुनि सिरु नाएउ आइ॥ १०(ख)॥

अर्थ—तब (विप्राज्ञा होनेपर) मुनि वसिष्ठजीने सुमन्त्रजीसे कहा और वे सुनते ही हर्षित होकर चले और तुरन्त जाकर अनेक रथ और बहुत-से हाथी-घोड़े तुरन्त सजाये फिर जहाँ-तहाँ दूतोंको भेजकर और मङ्गल-द्रव्य (माङ्गलिक पदार्थ) मँगाकर हर्षसहित वसिष्ठजीके चरणोंमें फिर आकर माथा नवाया। (कि राज्याभिषेककी सब आवश्यक सामग्री तैयार है, आज्ञानुसार सब कार्य कर आया हूँ)॥ १०॥

टिप्पणी—१ (क)*'तब मुनि कहेउ सुमंत्र सन'* इससे सूचित हुआ कि सुमन्तजी वहीं थे, उनको बुलाना न पड़ा। (ख)*'सुनत चलेउ हरषाइ'* कहकर सुमन्तजीका अत्यन्त जल्दी चलना सूचित किया। मुनियोंकी आज्ञा है कि *'बिलंब नहिं कीजै'*, इन वचनोंको आगे सर्वत्र चरितार्थ करते हैं जैसा कि आगे स्पष्ट है।—*'तुरत सँवारे जाइ।'* सुमन्तजीकी शीघ्रता गोस्वामीजी अपने अक्षरोंसे दिखाते हैं कि बहुत शीघ्र सब तैयारी कर दी। (ग) ☞वसिष्ठजीने सुमन्तजीसे किसी वस्तुका नाम नहीं लिया क्योंकि सुमन्तजी आप पण्डित हैं, जो वस्तु अभिषेकके लिये आवश्यक है† वह सब वे जानते हैं, दूसरे इससे यहाँ

---

* 'चलेउ सिरु नाइ'—(का०)। 'पुनि सिरु नाएउ' इसका समर्थक है।

† वैं० १—'मङ्गलद्रव्य', यथा मङ्गलविधाने—'विप्राद्यं मणिचौकचारुकलशं दीपान्नसत्पल्लवं रम्भावन्दनवारकेतुचमरं दूर्वाङ्कुरारोपणम्। कन्यातोर्णवितानदर्पणध्वजाताम्बूलदध्यक्षतं क्षत्रं रोचनगानवाद्यव्यजनं पुष्पाज्यधूपाङ्गनाम्। चतुरंगसेनां चित्रामधेनुः पौराणिकाः मागधवंन्दिगायकाः। पताकयुक्तं तु फलादिमीनारववेदयुक्तं शुभमङ्गलाङ्गाः।' (१—३) इत्यादि।

न गिनाये कि प्रथम राज्याभिषेक होनेको था तब वे सुमन्त्रजीसे सब वस्तु गिना चुके हैं, यथा—'*हरषि मुनीस कहेउ मृदु बानी। आनहु सकल सुतीरथ पानी॥ औषध मूल फूल फल पाना। कहे नाम गनि मंगल नाना॥ चामर चरम बसन बहु भाँती। रोमपाट पट अगनित जाती॥ मनिगन मंगल बस्तु अनेका। जो जग जोग भूप अभिषेका॥ बेद बिदित कहि सकल बिधाना। कहेउ रचहु पुर बिबिध बिताना॥ सफल रसाल पूगफल केरा। रोपहु बीथिन्ह पुर चहु फेरा। रचहु मंजु मनि चौकें चारू। कहेउ बनावन बेगि बजारू॥ पूजहु गनपति कुलगुरु देवा। सब बिधि करहु भूमिसुर सेवा॥ ध्वज पताक तोरन कलस सजहु तुरग रथ नाग॥*' (अ० ६)

२ (क)—'*जहँ तहँ धावन पठइ पुनि*""""।' जो बहुत 'धावै' (दौड़कर जा सके) वह 'धावन' कहलाता है। यहाँ शीघ्रताका काम है इसीसे 'धावन' पद दिया। (ख) हर्षसहित वसिष्ठपदमें सिर नवानेका भाव कि इसी सुन्दर घड़ीमें सब मङ्गलद्रव्योंका एकत्र कर लेना कठिन था सो सब प्राप्त हो गयीं, यह सब आपके चरणोंकी कृपासे हुआ इतनी शीघ्र सब वस्तुएँ जुट गयीं, इसीसे हर्ष है। ☞सब द्रव्य हनुमान्‌जीने प्राप्त कर दिये, यथा—'*संकट समाज असमंजस में रामराज काज जुग पूगनि को करतल पल भो', मन को अगम तन सुगम किये कपीस काज महाराज के समाज साज साजे हैं*—(बाहुक)। पुनश्च यथा—'**हनुमत्प्रमुखाद्यैश्च चतुःसिन्धुजलं शुभम्। समानीय नृपैः सर्वैर्महावाद्यपुरःसरम्।**' (आ० रा० १। १२। १०२) '**प्रेषयामास सुग्रीवो जाम्बवन्तं मरुत्सुतम्। अङ्गदं च सुषेणं च ते गत्वा वायुवेगतः।**' (अ० रा० १५। ३५) '**जलपूर्णांश्छातकुम्भकलशांश्च समानयन्। आनीतं तीर्थसलिलं शत्रुघ्नो मन्त्रिभिः सह।**' (३६)

नोट—देश-देशान्तरोंके राजा पूर्व ही आ चुके, यथा—'**ब्राह्मणाश्च तथा पौरा राजानो ये समागताः**' (अ० रा० १४। ७०)। ये लोग भी स्वागतमें भरतजीके साथ थे। अथवा, हनुमान्‌जी इत्यादि उनको ले आये।

नोट—'*पुनि सिरु नाएउ*""""' अर्थात् वह सब कार्य हो गया, अब और जो आज्ञा हो वह करूँ। पुनि=तत्पश्चात्।=दूसरी बार।—यह अर्थ देकर यह शब्द जना देता है कि पूर्व भी आज्ञा पाकर चलते समय प्रणाम करके गये थे। दो बार न लिखकर यहाँ अन्तमें इस एक शब्दसे दोनों बारका प्रणाम सूचित कर दिया।

अवध पुरी अति रुचिर बनाई। देवन्ह सुमन बृष्टि झरि लाई॥ १॥
राम कहा सेवकन्ह बोलाई। प्रथम सखन्ह अन्हवावहु जाई॥ २॥
सुनत बचन जहँ तहँ जन धाए। सुग्रीवादि तुरत अन्हवाए॥ ३॥

अर्थ—अवधपुरी अत्यन्त सुन्दर सजायी गयी। देवताओंने फूलोंकी वर्षाकी झड़ी लगा दी॥ १॥ श्रीरामचन्द्रजीने सेवकोंको बुलाकर कहा कि पहले सखाओंको जाकर स्नान कराओ॥ २॥* वचन सुनते ही सेवक जहाँ-तहाँ दौड़ पड़े और (जाकर) तुरन्त सुग्रीवादि-(सखाओं-)को स्नान कराया॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) '*अवधपुरी अति रुचिर बनाई।*' भाव कि अवधपुरी स्वयं रुचिर है उससे विशेष रचना की जिससे वह '*अति रुचिर*' हो गयी।—[पं० रा० व० श०—'*अति रुचिर।*' अवध सदैव सुहावन है। यह रचना पुरवासियोंके प्रीतिकी रीतिका द्योतक है।—'*जद्यपि अवध सदैव सुहावनि। रामपुरी मंगलमय पावनि॥ तदपि प्रीति कै प्रीति सुहाई। मंगल रचना रची बनाई।*' (१। २९६। ५-६)] देवताओंने पुष्पवृष्टि की। तात्पर्य कि सब मङ्गलद्रव्य इकट्ठा हुए, पुरीकी रचना की गयी यह भी मङ्गल है, इसीसे देवताओंने भी समयपर फूलोंकी वृष्टि की, यह भी मङ्गल है, यथा—'*बरषहिं सुमन सुमंगल दाता*', '*गगन सुमन झरि अवसरु जानी।*' (१। ३२४। ७) इत्यादि। (ख)—'*बृष्टि झरि लाई*' का भाव कि रामराज्याभिषेक सुनकर जैसे सबको हर्ष हुआ वैसे ही देवताओंको भी हुआ इसीसे फूलोंकी झड़ी लगा दी। वा, अयोध्यापुरी

* पंजाबीजी अर्थ करते हैं कि 'सेवकोंको प्रथम बुलाकर समझाया कि प्रथम सखाओंको स्नान कराओ'। और कहते हैं कि प्रथम समझानेका भाव यह है कि सिंहासनपर बैठ जानेपर बोलनेमें सङ्कोच होगा। सेवकोंके सम्मान-हेतु एवं अपने गम्भीर स्वभावसे सेवकोंको समीप बुलाया अथवा कपीशादिका सम्मान समझानेके लिये पास बुलाया—(इतनी बड़ी साहिबीमें कैसे सावधान हैं!)।

ऐसी रुचिर बनी है कि देवता देखकर फूल बरसाने लगे। वा, मनुष्योंने पुरीकी रचना की और देवताओंने रचना करनेके स्थानमें फूल बरसाये। [पहले देवता विघ्न मनाते थे अब पुष्प बरसाकर मङ्गल मनाते हैं। इस समय तो इनकी कामना पूरी हो गयी है, आगेके लिये भी रक्षा हो इस विचारसे हर्ष प्रकट करते हैं। (रा० शं० श०)]

२ (क) *'राम कहा सेवकन्ह बुलाई।'''''''* अर्थात् जब सब तैयारी हो गयी और स्नानका समय आ गया तब श्रीरामजीने सेवकोंको बुलाया। सखाओंका स्नान कराना अभिषेककी बातोंसे पृथक् है, इसीसे सुमन्तजीने उनको स्नान करानेका इंतिजाम नहीं किया, जितनी बातें गुरुने कहीं उतनी सब कर दीं। इसीसे श्रीरामजीने स्वयं अपने सखाओंका खयाल किया, उनको अपनेसे पहले स्नान कराया। देखिये प्रभु कैसे सावधान हैं। कवितावलीमें जो कहा है *'बड़ी साहिबीमें नाथ बड़े सावधान हौ।'* (७। १२६) वह यहाँ चरितार्थ हो रहा है। [वि० त्रि०—जब वसिष्ठजीकी आज्ञासे अभिषेकके लिये सब सामग्री इकट्ठी होने लगी, तब सेवकलोग अभिषेकका समय सन्निकट जानकर मङ्गल-स्नानकी व्यवस्था करने लगे। सरकारने यह देखकर सेवकोंको बुलाया और कहा कि पहले तुमलोग जाकर मेरे सखाओंको मङ्गल-स्नान कराओ, तब मुझे स्नान कराना। इसीलिये गोस्वामीजी विनयमें कहते हैं कि *'जानत प्रीति रीति रघुराई।'*] (ख) *'सुनत बचन जहँ तहँ जन धाए''''''''।'* इति। जलादि सामग्री लेनेके लिये सब जहाँ-तहाँ दौड़े (जन—कहार, नापित, इत्यादि सेवक) (ग) सुग्रीव प्रथम सखा हैं इससे उनको आदिमें कहा। इसीसे प्रथम इनको तुरन्त स्नान कराया। (प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि प्रथम सखा तो निषादराज हैं पर वे मान-बड़ाई नहीं चाहते। तीनों सखाओंमेंसे सुग्रीवको मान-बड़ाई अधिक प्रिय है और श्रीरामजी तो सदा सेवक-रुचिरक्षामें तत्पर रहते हैं, इसीसे उन्होंने सुग्रीवको प्रथम स्नान करवाया। दोहा १७ में इसी हेतुसे *'सुग्रीवहि प्रथमहि पहिराए।'* रावणवध-कार्यमें श्रीसुग्रीवजीकी सहायता सबसे श्रेष्ठ है, यह भी मानना ही पड़ेगा, उसमें निषादराजका भाग किंचित् भी नहीं है)। (घ) *'तुरत अन्हवाए'* कथनका भाव कि श्रीरामजीके सखा बहुत हैं, इनके स्नान करानेमें विलम्ब होना सम्भव है। लोगोंको सन्देह हो सकता है कि विलम्ब हुआ होगा। इसीसे कहते हैं कि तुरन्त स्नान करा दिया विलम्ब न हुआ। यह भी सूचित किया कि सखाओंसे सेवक अधिक हैं, एक-एक सखाके पास कई-कई सेवक खड़े हैं।

पुनि करुनानिधि भरत हँकारे। निजकर राम जटा निरुआरे॥ ४॥
अन्हवाए प्रभु तीनिउ भाई। भगतबछल कृपाल रघुराई॥ ५॥
भरत भाग्य प्रभु कोमलताई। सेष कोटिसत सकहिं न गाई॥ ६॥

अर्थ—फिर करुणासागर श्रीरामजीने श्रीभरतजीको बुलाया और अपने हाथोंसे उनकी जटाएँ खोलीं॥ ४॥ भक्तवत्सल कृपालु, रघुकुलके राजा प्रभुने तीनों भाइयोंको नहलाया॥ ५॥ भरतजीका भाग्य और प्रभुकी कोमलता अनन्त शेष भी नहीं वर्णन कर सकते॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'पुनि करुनानिधि भरत हँकारे'* इति। सखाओंको स्नान कराके तब भाइयोंको स्नान कराया, इस कर्मसे जनाया कि सखाओंको भाइयोंसे अधिक मानते हैं। यथा—*'अनुज राज संपति बैदेही। '''''''''सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना॥'* (१६। ६—८) (ख) सखाओंका आदर करके अब भाइयोंका आदर करते हैं कि अपने हाथ उनकी जटाएँ सुलझायीं। [ये जटाएँ मेरे लिये ही धारण की गयी हैं, अत: मैं ही इन्हें उतारूँगा। यह समझकर स्वयं उनको खोला। 'भरत-भाग्य' के अन्तर्गत यही सन्दर्भ है। (मा० म०) पं०—सखाओंको भाइयोंसे प्रथम स्नान कराया, इस तरह उनका मान अधिक हुआ। कारण कि—(क) वे केवल सेवक हैं और भरतादिमें बन्धुभाव भी है। (ख) वे पाहुन हैं अत: सब भाइयोंद्वारा भी वे पूज्य हैं। (ग) अधम शरीरमें उन्होंने भक्ति की। पर उस कमीकी पूर्ति स्वयं ही उनके जटा उतारनेसे कर दी। इस प्रकार सम्मान इनका भी कम नहीं कर सकते।] (ग) 'करुणानिधि' का भाव

कि भरतजीपर उनकी अति करुणा है। अपने हाथ उनकी जटाएँ उतारना, यह करुणाका स्वरूप है।

२—(क) तीनों भाइयोंको स्नान कराया, यह कहकर सूचित किया कि लक्ष्मणजीकी भी जटाएँ अपने ही हाथसे उतारीं। (ख) *'भगत बछल कृपाल रघुराई'* इति। भक्तवत्सल हैं उनका प्रिय करते हैं; कृपालु हैं उनपर कृपा करते हैं; रघुराई (रघुकुलके राजा) हैं उनका प्रतिपाल करते हैं—[जिनकी सेवा ब्रह्मादिको भी दुर्लभ है और जिनको ब्रह्मादिक जान भी न सकें वे अपने हाथ कैंकर्य कर्म करें, जैसे पिता पुत्रका करे, यह भरत-भाग्य है—(पं० रा० व० श०)।]

३—(क) *'भरत भाग्य प्रभु कोमलताई।'* भरत-भाग्य यह है कि प्रभु उनपर इतनी कृपा करते हैं और प्रभुकी कोमलता यह है कि सेवकोंकी सेवा करते हैं; हृदय इतना कोमल है। (ख) सौ करोड़ (अगणित) शेष भी नहीं गा सकते, यह कहकर जनाया कि भरतके भाग्य और श्रीरामजीकी कोमलताका अन्त नहीं। भरतजी श्रीरामजीके चरणोंमें अनुराग करते हैं यह उनका बड़ा भाग्य है और श्रीरामजी भरतजीपर बड़ा अनुराग करते हैं यह भरत-भाग्यका अन्त नहीं, यथा—*'जे गुर पद अंबुज अनुरागी। ते लोकहु बेदहु बड़भागी॥ राउर जापर अस अनुरागू। को कहि सकइ भरत कर भागू॥'* (अ० २५९)

मा० हं०—**'भेंट और मङ्गल स्नान'**—ये वर्णन अत्यन्त मनोवेधक और माननीय हुए हैं। इनमें गोसाईंजीने व्यवहारके पाठ बहुत ही मार्मिक रीतिसे भर दिये हैं। परन्तु वे एकदम ध्यानमें नहीं आते; क्योंकि उनमेंका प्रेम बुद्धिको त्वरित ही अत्यन्त चकित कर डालता है। उपर्युक्त चौपाइयाँ उदाहरणस्वरूप हैं। रावणके और उसके प्रजा-पुत्रादिकोंके कचाकच सिर तोड़नेवाले वे यही हाथ हैं जो अब यहाँ प्रेमकी पराकाष्ठासे भरतजीके बाल सुलझा रहे हैं, और रामजीके प्रेमाश्रुसे पवित्रित किये जानेवाले सरयूजीके जलसे सब भाइयोंको घस-घसके नहला रहे हैं। भाई पाठकगण! यहीं वे हाथ आँख भर देख लीजिये, नहीं तो पछताना ही बाकी रहेगा। इस प्रसङ्गके विषयमें निरपवाद मत यही पाया जाता है कि उसे पढ़कर **'त्वयि हि परिसमाप्तं बन्धुकृत्यं प्रजानाम्'**, इस कालिदासोक्तिकी याद होकर भी जो प्रेमसे 'न रोदिति' उसे भवभूति भी निश्चयसे 'ग्रावा' से भी बत्तर समझेंगे।

पुनि निज जटा राम बिबराए। गुर अनुसासन मागि नहाए॥ ७॥
करि मज्जन प्रभु भूषन साजे। अंग अनंग देखि सत* लाजे॥ ८॥

अर्थ—फिर (भाइयोंको स्नान करानेके पश्चात्) श्रीरामजीने अपनी जटाएँ खोलीं और गुरुकी आज्ञा माँगकर नहाये॥ ७॥ स्नान करके प्रभुने अङ्गोंमें भूषण पहने। शरीर (की शोभा) देख अनन्त कामदेव लज्जित हुए॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'पुनि निज जटा……'* इति। (क) जब श्रीरामजीने भाइयोंकी जटाएँ बिबरायीं तब यह भाव देखकर सेवक उनकी जटा न बिबरा सके और तीनों भाइयोंमेंसे कोई इससे यह काम न कर सके कि रामजीने तो हमपर कृपालु होकर वत्सभावसे हमारी जटाएँ खोलीं, अब यदि हम उनकी जटाएँ बिबरायें तो बराबरी होती है, लोग कहेंगे कि रामजीने भाइयोंकी जटाएँ खोलीं, उसके बदलेमें भाइयोंने उनकी खोलीं, हम रामजीकी कृपालुताके बदले उनकी कुछ भी सेवा नहीं कर सकते (बदलेकी योग्यता कहाँ)। भाइयोंका साहस न हुआ तब सेवकका कैसे हो! (ख) *'गुर अनुसासन मागि नहाए।'* सबको नहानेकी आज्ञा श्रीरामजीने दी और अपने स्नानके लिये गुरुसे आज्ञा माँगी। क्योंकि इनका अभिषेक होना है, बिना गुरुकी आज्ञाके स्नान नहीं कर सकते।

रा० प्र०—रामचन्द्रजीने अवधमें जटाएँ नहीं धारण की थीं जिसमें पिताको दुःख न हो। शृङ्गवेरपुरमें माण्डव्य मुनिके स्थानसे वटक्षीर मँगाया गया था। इसमें बड़ी गूढ़ ध्वनि है कि वटक्षीर लानेमें मुनिकी

* 'देषि सत लाजे'—(भा० दा०, रा० गु० द्वि०, पं०, १८१७, १८१८, १८४२, बं० प०) 'कोटि छबि लाजे'—(का०)। यहाँ 'पञ्चम प्रदीप अलङ्कार' है।

आज्ञा एक प्रकारसे जटा धारण करनेमें ले ली। अब जटा उतारनेमें भी गुरुकी आज्ञा ली। आज्ञा लेनेसे गुरुभक्ति-ब्रह्मण्यता इत्यादि जनायी।

वै०—स्नानकी विधि अग्निपुराणके अ० २१९, २२० में विस्तारसे है—[अनेक प्रकारके हवन करके अनेक प्रकारकी मृत्तिकाओंको एक-एक अङ्गमें लगा-लगाकर अनेक तीर्थ-जलोंसे स्नान होता है। टीकामें विस्तारसे उन्होंने इसका विधान दिया है।]

'प्रभु भूषन साजे' अर्थात् पहले भाइयोंको भूषण पहिनाये पीछे आपने पहिने।

पं० रा० व० श०—ये आभूषण पृथक् ही हैं। तिलकके समय ग्रहण किये जाते हैं। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि किरीट ब्रह्माजीका बनाया हुआ है और मनुवंशमें जो राजा होते हैं उनको राज्याभिषेकके समय यही किरीट धारण कराया जाता है।

वै०—*'भूषन साजे'* इति। सिरपर सात खण्डका कोटि सूर्य प्रकाशवाला मुकुट, मकराकृति कुण्डल, ग्रीवामें गजमुक्ताका कण्ठा, सात लड़की गुञ्ज, वैजयन्तीमाल, पदिकहार मणिविद्रुमादिकी मोहनमाला और वनमाल एकके नीचे दूसरा क्रमसे, भुजाओं और हाथोंमें अङ्गद, जोशन, कड़े, पहुँची इत्यादि, अँगुलियोंमें मुद्रिकाएँ, वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणि, कटिमें काञ्ची (सूक्ष्म किंकिणि, कटिसूत्र), पदमें नूपुर इत्यादि। आभूषणोंका नाम न देकर समयानुकूल सभी आभूषणोंको सूचित कर दिया। पर वास्तवमें इक्ष्वाकुवंशमें इस समय जो किरीट-कुण्डलादि धारण किये जाते हैं वे सब दिव्य हैं।

टिप्पणी—२ *'अंग अनंग देखि सत लाजे'* इति। श्रीरामजीके अङ्ग मनोहर हैं, कामदेवके अङ्ग ही नहीं है। अङ्गमें शोभा होती है जब अङ्ग ही नहीं तब शोभा कहाँ हो? इसीसे अनङ्ग कामदेव लज्जित होते हैं। ☞सत, सहस्र, कोटि इत्यादि सब अनन्तवाची हैं।

दो०—सासुन्ह सादर जानकिहि मज्जन तुरत कराइ।
दिब्य बसन बर भूषन अँग अँग सजे बनाइ॥ ११ क॥
राम बाम दिसि सोभति* रमा रूप गुन खानि।
देखि मातु सब हरषीं जन्म सुफल निज जानि॥ ११ ख॥

अर्थ—सासुओंने श्रीजानकीजीको तुरन्त आदरपूर्वक स्नान कराकर उनके अङ्ग-अङ्गमें दिव्य वस्त्र और सुन्दर भूषण बनाकर (उत्तम रीतिसे) सजाये (पहनाये)। श्रीरामजीके बायीं ओर रूप और गुणकी खानि श्रीजानकीजी सुशोभित हैं। सब माताएँ देखकर अपना-अपना जन्म सुफल (कृतार्थ) जानकर प्रसन्न हुईं।

टिप्पणी—१ *'सासुन्ह सादर.......'* इति। जिस समय उधर श्रीरामजीने भाइयोंकी जटाएँ सुलझाकर उतारीं और स्नान कराया, उसी समय इधर माताओंने श्रीसीताजीको स्नान कराया, इत्यादि। (ख) *'सादर'* अर्थात् चौकीपर वस्त्र बिछाकर उसपर इनको बिठाकर (अङ्गराग, फुलेलादि लगाकर) स्नान कराया। (ग) *'तुरत'* क्योंकि ब्राह्मणोंकी आज्ञा ही ऐसी है—*'अब मुनिबर बिलंब नहिं कीजै'*—जिसके कारण सभी सब कामोंमें जल्दी कर रही हैं। [श्रीसीताजीको स्नान माताओंने कराया। इससे माताओंका उनपर अत्यन्त स्नेह और वात्सल्य पाया जाता है। सब माताएँ मिलकर यह काम कर रही हैं क्योंकि तिलक शीघ्र होना है] यथा—'**कौसल्याद्याश्च मातरः। स्नापयामासुर्माङ्गल्यद्रव्यैर्वाद्यपुरःसरम्॥ ११॥ वस्त्रालङ्कारभूषाभिः शुशुभे जानकी तदा**'—(आ० रा० १। १२) (घ) वस्त्रकी श्रेष्ठता दिखानेके लिये *'दिब्य'* और भूषणकी श्रेष्ठता दिखानेके लिये *'बर'* विशेषण दिये।

२ (क) *'बसन'* को आदिमें कहकर सूचित किया कि षोडश शृङ्गार साजे हैं; क्योंकि सोलहों शृङ्गारके आदिमें वस्त्र है। *'भूषन अँग-अँग सजे'* कहकर बारहों आभूषण सूचित कर दिये। अर्थात् सोलहों

* सोभित।

शृङ्गार किये और बारहों आभूषण सजाये। (ख) *'सजे बनाइ।'* बहुत शीघ्र शृङ्गार हो जानेसे सन्देह होता कि सामान्य शृङ्गार हुआ होगा, इसके निवृत्यर्थ कहा कि *'सजे बनाइ'* अर्थात् अङ्ग-अङ्गमें जहाँ जैसा चाहिये वहाँ वैसा ही भलीभाँति सजाया है।

षोडशशृङ्गार—*'अंग शुची मंजन बसन माँग महावर केश। तिलक भाल तिल चिबुकमें भूषण मेंहदी वेश॥ मिस्सी काजल अर्गजा बीरी और सुगन्ध। पुष्पकलीयुत होइ कर तब नवसप्तनिबंध॥'* अर्थात् अङ्गमें उबटन लगाना, नहाना, स्वच्छ वस्त्र धारण करना, बाल सँवारना, काजल लगाना, सेंदूरसे माँग भरना, महावर देना, भालपर तिलक लगाना, चिबुकपर तिल बनाना, मेंहदी लगाना, अरगजा आदि सुगन्धित वस्तुओंका प्रयोग करना, आभूषण पहनना, फूलोंकी माला धारण करना, पान खाना, मिस्सी लगाना।

आभूषण १२ हैं—नूपुर, किंकिणी, चूड़ी, अँगूठी, कंकण, बिजायठ, हार, कंठश्री, बेसर, बिरिया, टीका और शीशफूल। इसके चार भेद हैं—१ आवेध्य अर्थात् जो छिद्रद्वारा पहिना जाये, जैसे कर्णफूल, बाली। २ बंधनीय जो बाँधकर पहिने जायँ, जैसे बाजूबंद, पहुँची, शीशफूल। ३ क्षेप्य-जिसमें अङ्ग डालकर पहिनें, जैसे कड़ा-छड़ा। ४ आरोग्य जो किसी अङ्गमें लटकाकर पहिने जायँ जैसे हार, कंठश्री।

बैजनाथजीने अगस्त्यसंहितासे भूषणादिका उल्लेख टीकामें विस्तारसे किया है।

टिप्पणी—३ (क) *'राम बाम दिसि सोभति रमा.........'* इति। इससे सूचित किया कि शृङ्गार हो जानेपर श्रीराम-जानकीजी तबतक सामान्य आसनपर बैठे रहे जबतक वसिष्ठजीने सिंहासन नहीं मँगाया। (ख) *'रमा'* श्रीजानकीजीका नाम है, यथा—*'रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाइ', 'अतिहरष मन तन पुलक लोचन सजल कह पुनि पुनि रमा।'* (लं० १०६) (ग) *'देखि मातु सब हरषीं।'* भाव कि अभीतक शृङ्गार करनेमें चित्त रहा अब चित्तकी वृत्ति अच्छी तरह देखनेमें लगी तब हर्षका होना लिखते हैं।

नोट—१ इसमें चार कल्पोंकी कथा है। जिसमें विष्णु, नारायणादिका अवतार है वहाँ 'रमा जो रूप और गुणोंकी खानि हैं' यह अर्थ लिया जायगा और जिसमें द्विभुज परात्परब्रह्मका अवतार है वहाँ 'रमाजीके रूप और गुणोंकी खानि श्रीजानकीजी' एवं 'रूप और गुणोंकी खानि जानकीजी' यह अर्थ होगा क्योंकि इनके विषयमें कह आये हैं कि *'कहिय रमा सम किमि बैदेही', 'तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय सम तूल', 'रमा रमापति मोहे।'* तथा *'उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता।'* (२४। ९)—इत्यादि। 'श्री' और 'रमा' नाम श्रीजानकीजीके इसी ग्रन्थमें अनेक स्थानोंमें आये हैं—*'तदपि अनुज श्री सहित खरारी। बसतु हृदय मम काननचारी॥'* (३। ११। १८) (यहाँ श्रीका अर्थ लक्ष्मी नहीं है), *'उभय बीच श्री सोहइ कैसी'* (यहाँ भी मार्गमें चलती हुई श्रीजानकीजीहीका नाम श्री है न कि लक्ष्मीका), *'श्री सहित दिनकर बंस भूषन काम बहु छबि सोहई'* (१२ छन्द), *'सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ।'* (२४। ७) इत्यादि। और अरण्यकाण्डमें तो 'श्री' बहुत जगह आया है। अतः 'रमारमण' 'श्रीरमण' इत्यादिका अर्थ जानकीपति है। विशेष **'जय राम रमारमनं'** १४ (छन्द) और **प्रनमामि निरंतर श्रीरमनं'** में देखिये। पुनः, राम और रमा ये दोनों नाम यहाँ परात्पर तत्त्वकी अत्यन्त परमा शोभा दर्शित करनेके लिये प्रयुक्त हुए हैं। जैसे **'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्'** राम, वैसी ही उनके साथ सबको अपनेमें रमानेवाली श्रीजानकीजी हैं, यह सूचित करनेके लिये 'रमा' नाम दिया गया। दोनोंकी परस्पर शोभा एक-दूसरेके योग्य है, घट-बढ़ नहीं। [करु०—श्रीजानकीजीको रमा कहनेका भाव? २—रमा=लक्ष्मीजी। जितनी लक्ष्मी ब्रह्माण्डकोशमें एवं परधाममें जो परम दिव्य त्रिपाद-विभूतियाँ हैं उन सब विभूतियोंकी 'रमा' संज्ञा है। ये सब विभूतियाँ श्रीजानकीजीके आश्रित हैं, श्रीजानकीजी सबमें रमित हैं और वे सब श्रीजानकीजीमें रमित हैं, तथा श्रीजानकीजी सबसे भिन्न हैं। अथवा, २—श्रीरामचन्द्रजी राज्यपर बैठते हैं। वे सम्पूर्ण जो लक्ष्मी हैं उसके ईश हैं अतएव 'रमा' कहा; क्योंकि श्रीजानकीजीसे समस्त श्री शोभित हैं। अथवा, ३ कारण-कार्य एक ही है इससे रमा कहा। अथवा, ४—दोनोंको अभेद करके 'मा' कहा। अथवा, ५—*'रमारूप गुनखानि'*='रमा' (लक्ष्मी) में जो रूप और गुण हैं उनकी खानि—(मा० म०)]

मा० म०—अथवा, पृथ्वीमें लीलारूपमें अवतार लिया है, अतएव रमा ऐसा रूपगुण माधुर्यभावसे कहा

है, वास्तवमें तो ये रमासे परे हैं। *'रमा आदि मो रूप गुण तिन्ह सबकी ये खानि। वा भूलीला कहि गये इन्हें रमा परमानि॥'* (१२६)

रा० प्र०—रमा=रामरमणी अर्थात् रमानेवाली।

वै०—माधुर्यमें अर्थ यह है कि रूप रमासम है, पर सीताजीमें अधिकता यह है कि ये गुणोंकी खानि हैं, रमामें जो अवगुण हैं वह इसमें नहीं हैं।

दो०—सुनु खगेस तेहि अवसर* ब्रह्मा सिव मुनिबृंद।
चढ़ि बिमान आए सब सुर देखन सुखकंद॥११॥

अर्थ—हे पक्षिराज! सुनिये! उस समय ब्रह्मा, शिव, मुनिवृन्द और सब देवता विमानोंपर चढ़कर आनन्दकन्द श्रीरघुनाथजीके दर्शनको आये॥ ११॥

वै०—*'सुनु खगेस।'* इस समय राज्यसिंहासनासीन रूपका वर्णन है, इसमें उपासना घाटको अधिकार है। इसीसे काकभुशुण्डि-गरुड़-संवाद यहाँ प्रधान है।

पं० रा० व० श०—उत्तरकाण्डमें विशेष गरुड़-भुशुण्डि-संवाद होना है। इससे यह प्रसङ्ग भी उन्हींके संवादसे उठाया है। प्रसङ्गभरमें विशेषरूपसे इनका ही संवाद है। यहाँसे लेकर २२ वें दोहेतक आठ बार गरुड़को सम्बोधित किया है।

१—*'सुनु खगेस तेहि अवसर'*········(यहाँ)'
२—*'वह सोभा समाज सुख कहत न बनै खगेस।'* (१२)
३—*'बैनतेय सुनु संभु तब आये।'* (१३)
४—*'सुनु खगपति यह कथा पावनी।'* (१५। १)
५—*'खगपति रामकथा मैं बरनी।'* (१५। ६)
६—*'चित्त खगेस रामकर समुझि परै कहु काहि।'* (१९)
७—*'रामराज नभगेस सुनु'*········' (२१)
८—*'सोउ महिमा खगेस जिन्ह जानी।'* (२२। ४)

☞नोट—गोस्वामीजीकी प्रत्येक रचना और प्रत्येक शब्दमें औचित्य और सुसङ्गतिका बराबर विचार रहता है। प्रस्तुत प्रसङ्गमें और इसके आगे भी बराबर गरुड़को ही सम्बोधन करनेमें एक खास खूबी है। गरुड़ और भुशुण्डिका संवाद अन्तिम संवाद है और रामराज्योत्सव रामचरितमानसकी अन्तिम कलाका उपक्रम है। यहाँसे बराबर गरुड़का ही सम्बोधन है। यह सही है कि सम्बोधित नाम प्रायः पादपूर्त्यर्थ रख दिया जाता है। किन्तु यदि औचित्य और सङ्गतिका विचार न होता तो शेष तीन सम्बोधितोंके नामोंके इतने पर्याय हैं कि गरुड़के नामोंके पर्यायकी कोई आवश्यकता न पड़ती।

टिप्पणी—१ (क) शिवादि देवता अवसरके जाननेवाले हैं, अवसरपर आये। यथा—*'संभु समय तेहि रामहि देखा।········भरि लोचन छबि सिंधु निहारी। कुसमय जानि न कीन्हि चिन्हारी॥'* (१। ५०), *'सो अवसर बिरंचि जब जाना। चले सकल सुर साजि बिमाना॥'* (१। १९१। ५), *'सुरन्ह सुमंगल अवसर जाना।········शिव ब्रह्मादिक बिबुध बरूथा'।········चले बिलोकन राम बिआहू।'* (१। ३१३), इत्यादि। विशेष बा० ५० (२) लं० ११३, सुं० ३८ (२) देखिये। (ख) *'आए'* शब्द देकर भुशुण्डिजी इस समय अपनी स्थिति भी वहीं दिखाते हैं। यदि ये वहाँ न होते तो यह कहते कि ब्रह्मादिक अवधमें 'गये'। (ग) *'सुखकन्द'।* भाव कि श्रीरामजी सुखके मूल हैं, उन्होंने राक्षसोंको मारकर हमें सुख दिया। अब दर्शनसे सुख मिलेगा इसीसे दर्शन करने आये।

नोट—पुनः, कंद=मेघ, यथा—*'यज्ञोपवीत बिचित्र हेममय मुकुता माल उरसि मोहि भाई। कंद तड़ित बिच ज्यों सुरपतिधनु निकट बलाक पाँति चलि आई॥'*—(गी०) *सुखकंद* =आनन्दरूपी मेघ। भाव कि सब देखनेवालोंपर आनन्दकी वर्षा करनेवाले हैं, सुखकन्दको देखने आये, इसीसे आगे आनन्दका प्राप्त होना भी कहेंगे, यथा—*'परमानंद सुर मुनि पावहीं'* *'हरषि सुरन्ह दुन्दुभी बजाई'।* इन्हींको नहीं वरन् सभीको इस प्रसङ्गमें सुख मिल रहा है अतः *'सुखकंद'* कहा। सुखरूपी मेघ कहकर यह समदर्शता-

* औसर········(का०)। अवसर (१८४२, बं० पा०) (अवसर। भा० दा०)

भाव दर्शित किया है कि ऊँच-नीच, शत्रु-मित्र, उदासीन, सबके लिये समभावसे सुखकी वर्षा कर रहे हैं।

प्रभु बिलोकि मुनि मन अनुरागा। तुरत* दिब्य सिंघासन माँगा॥ १॥
रबि सम तेज सो बरनि न जाई। बैठे राम द्विजन्ह सिरु नाई॥ २॥
जनकसुता समेत रघुराई। पेखि प्रहरषे† मुनि समुदाई॥ ३॥

अर्थ—प्रभुको देखकर मुनि वसिष्ठजीके मनमें अनुराग उत्पन्न हो आया। उन्होंने तुरंत दिव्य सिंहासन माँगा॥ १॥ (जिसका) तेज सूर्यके समान था। वह वर्णन नहीं किया जा सकता। ब्राह्मणोंको माथा नवाकर श्रीरामचन्द्रजी उसपर बैठे॥ २॥ श्रीजानकीजीसहित श्रीरघुनाथजीको देखकर सब मुनिसमुदाय (गिरोह, वृन्द, समूह) अत्यन्त हर्षित हुआ॥ ३॥

नोट—१ *'मुनि मन अनुरागा'।* यहाँ गुरु आदि शब्द न दिया। *'मुनि'* शब्द देकर श्रीसीतारामजीका अतिशय सौन्दर्य प्रकट किया। मुनि मननशील होते हैं, उनमें रागादि कहाँ? पर वे भी प्रभुके रूपमाधुरीके सौन्दर्यपर मुग्ध हो गये, बरबस राग उत्पन्न हो आया। *'मुनि'* पद रखनेसे अनुप्रास भी सिद्ध होता है और गुरुके नाते नहीं, वरन् मुनि या भक्तके नाते अनुराग भी दिखाया जाता है। २—*'दिब्य सिंघासन'* से देवताओंका निर्माण किया हुआ तथा अप्राकृत जनाया। वाल्मीकीय आदिसे जान पड़ता है कि यह सिंहासन वह है जो ब्रह्माजीने मनुजीको दिया था। इसीपर रघुवंशी राजाओंका तिलक होता आया है। दिव्यका अर्थ है तेजोमय। कैसा तेज है यह आगे कहते हैं कि रविसमान है। *'बरनि न जाई'* के दो कारण कहे। दिव्य और रविसम तेजवान् होनेसे।

पं० वि० त्रिपाठीजी—जब मज्जन करके सरकारने भूषण धारण किये, और साक्षात् रमाकी शृङ्गारित मूर्ति उनके वाम भागमें विराजमान हुई, और ब्रह्मा, शिव, मुनि-वृन्द अपने-अपने विमानोंपर सवार होकर अभिषेकोत्सव देखने आये। उस समयका दृश्य देखकर वसिष्ठजीको बड़ा अनुराग हुआ, भौतिक सिंहासन उस दृश्यके अनुकूल नहीं जँचा, अतः उन्होंने दिव्य सिंहासनकी इच्छा की, और वह उनके तपोबलसे ब्रह्मलोकसे आया। *'रबि सम तेज सो बरनि न जाई'* पदसे ही यह बात स्पष्ट है कि वह परिचित सिंहासन नहीं था, जिसपर महाराज दशरथ आदि बैठते थे।

नोट—☞इस प्रसंगमें 'तुरत' शब्द बार-बार कहकर सूचित करते हैं कि रामराज्याभिषेककी सबको बड़ी उत्कण्ठा है और अभिषेकका मुहूर्त्त भी जल्दीका है इसीसे सब काम तुरंत कर रहे हैं—

१ *'रथ अनेक बहु बाजि गज तुरत सँवारे………'* २ *'सुग्रीवादि तुरत अन्हवाए'*
३ *'सासुन्ह सादर जानकिहि मज्जन तुरत कराइ'* ४ *'तुरत दिब्य सिंघासन माँगा'*

☞२—वसिष्ठजीका आनन्द प्रथम कहकर फिर मुनिवृन्दका आनन्द लिखते हैं, उसके अनन्तर माताओंका और तत्पश्चात् देवताओंका आनन्द लिखते हैं। ३—हर्षके अनन्तर सबका कृत्य लिखते हैं—वसिष्ठजीने हर्षित होकर सिंहासन माँगा, मुनिसमुदाय हर्षित हो वेदमन्त्र उच्चारण करने लगा, माताएँ हर्षित होकर आरती करने लगीं और देववृन्द हर्षित होकर नगाड़े बजाने लगे।

पं० रामकुमारजी—१ (क) *'रबि सम तेज'* कहा क्योंकि यह सिंहासन स्वर्णका है जिसमें अनेक दिव्य मणि जड़े हुए हैं, यथा—*'कनक सिंघासन सीय समेता। बैठहिं राम होइ चित चेता॥'* (अ० ११) (ख) *'बरनि न जाई'* कहकर बनावटकी सुन्दरता सूचित की। (ग) *'बैठे राम द्विजन्ह सिरु नाई'* इति। भाव कि ब्राह्मण भूदेव हैं और श्रीरामजी भूपति अर्थात् पृथ्वीके रक्षक हुआ चाहते हैं। बिना ब्राह्मणोंकी कृपाके पृथ्वीकी रक्षा नहीं हो सकती। पुनः, राज्यका मूल धर्म है, बिना धर्मके राज्य चल नहीं सकता और ब्राह्मणभक्तिसे अधिक कोई धर्म नहीं है,

* तुरतहि।
† प्रहर्षे—(का०)। अन्य सबोंमें 'तुरत' पाठ है।

यथा—'*पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्रपद पूजा॥*' इसीसे प्रथम धर्मका सँभाल करके राज्यपर बैठे। [प्रभु ब्रह्मण्यशिरोमणि हैं। उनका मर्यादापालनार्थ विप्रोंको प्रणाम करना ठीक तौरपर लिखा गया है (रा० प्र०)। १० (४-५) में वि० त्रि० का टिप्पण भी देखिये।]

२ (क) '*जनकसुता समेत*' का भाव कि जैसे विवाहसमय श्रीराम-जानकीजी शृङ्गार करके एक आसनपर बैठे थे उस समयके भी आनन्दका अनुभव इस समय मुनियोंको प्राप्त हो गया। [यथा वहाँ रामजी 'सुखमूल' तथा यहाँ 'सुखकन्द'।] (ख) '*प्रहरषे मुनि समुदाई'।* भाव कि जब तिलककी 'सुघड़ी, सुदिन' सुनाया तब उनके वचन मुनियोंको '*अति भाए*' थे, और अब सिंहासनासीन देखा इससे अब प्रहर्ष हुआ।

बेद मंत्र तब द्विजन्ह उचारे। नभ सुर मुनि जय जयति पुकारे॥ ४॥
प्रथम तिलक बसिष्ठ मुनि कीन्हा। पुनि सब बिप्रन्ह आयसु दीन्हा॥ ५॥

अर्थ—तब ब्राह्मणोंने वेदमन्त्र (शान्ति-स्वस्त्ययन) उच्चारण किया। आकाशमें देवता और मुनि 'जय हो, जय हो' ऐसा पुकारकर कहने लगे अर्थात् उच्चस्वरसे जय-जयकार करने लगे॥ ४॥ सबसे पहले श्रीवसिष्ठमुनिने तिलक किया, फिर सब विप्रोंको (तिलक करनेकी) आज्ञा दी॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) '*बेद मंत्र*' इति। श्रीरामजी ब्राह्मणोंको सिर नवाकर सिंहासनपर बैठे, तब ब्राह्मणलोग श्रीरामजीको वेदमन्त्रोंसे आशीर्वाद देने लगे अर्थात् शान्तिपाठ पढ़ने लगे। जब आकाशमें वेदोंका शब्द पहुँचा तब आकाशमें सुर-मुनि जय-जयकार करने लगे। (ख)'*जय जयति पुकारे।*' पुकार करनेका भाव यह है कि सुर और मुनि ऊँचेपर हैं, यदि पुकारकर (उच्च शब्दसे, जोरसे) जय-जय न बोलते तो पृथ्वीपर सुनायी न देता, रामचन्द्रजीको सुन पड़े इस विचारसे पुकारकर जय-जय बोले। (ग) पृथ्वीपर जो मुनि हैं वे वेद पढ़ते हैं और जो मुनि आकाशमें हैं वे जय बोलते हैं।

२ (क)—'*प्रथम तिलक बसिष्ठ*.......' इति। वसिष्ठजी गुरु हैं और पिताके स्थानमें हैं, इसीसे प्रथम आपने तिलक किया और सब मुनियोंमें श्रेष्ठ हैं, इससे सबको तिलक करनेकी आज्ञा दी।—('*सब बिप्रन्ह*' अर्थात् वामदेव, जाबालि, अगस्त्य, गौतम, कश्यप, मार्कण्डेय इत्यादि।)

सुत बिलोकि हरषी* महतारी। बार बार आरती उतारी॥ ६॥
बिप्रन्ह दान बिबिध बिधि दीन्हे। जाचक सकल अजाचक कीन्हे॥ ७॥
सिंघासनपर त्रिभुअन साँई। देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाई॥ ८॥

अर्थ—पुत्रको देखकर माताएँ प्रसन्न हुईं और बारंबार आरती उतार रही हैं॥ ६॥ ब्राह्मणोंको अनेक प्रकारके दान दिये। सब मँगताओंको अयाचक बना दिया (अर्थात् वे धनी हो गये, उनको भीख माँगनेकी आवश्यकता न रह गयी)॥ ७॥ त्रिलोकीके स्वामी श्रीरामचन्द्रजीको सिंहासनपर (बैठे) देखकर देवताओंने नगाड़े बजाये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) जब सब मुनि तिलक कर चुके तब माताएँ आयीं। माताओंको हर्ष दो बार लिखते हैं—एक '*देखि मातु सब हरषीं जनम सुफल निज जानि॥*' (११) दूसरे यहाँ '*सुत बिलोकि हरषी महतारी।*' प्रथम बार शृङ्गार करके (हो जानेपर) देखा, दूसरी बार सिंहासनासीन होनेपर देखा। दोनों बार हर्ष हुआ, पर प्रथम बार आरती नहीं उतारी थी। वहाँ उसके उतारनेका समय न था और यहाँ सिंहासनासीन होनेपर उतारनेका समय है इससे यहाँ आरती उतारी। (ख) '*बिप्रन्ह दान बिबिध बिधि दीन्हे*' इति। भरतमिलापमें निछावरवालोंको माताएँ निछावर दे चुकी हैं, यथा—'*नाना भाँति निछावरि करहीं। परमानंद हरष उर भरहीं॥*' (७। ५) रहे ब्राह्मण, याचक, सो उनको अब देती हैं।

२ '*सिंघासन पर त्रिभुअन साँई।*.........' इति। '*त्रिभुअन साँई*' का भाव कि श्रीरामजी केवल मृत्युलोकके

* हरषीं:.......(रा० प०)

राजा नहीं हैं, त्रिलोकके राजा हैं। त्रिभुवनपति हैं अतः हमारे भी राजा हैं, हमारा भी प्रतिपाल करेंगे; यह समझकर हर्षित हुए। यथा—*'राम राज बैठे त्रयलोका। हरषित भए गए सब सोका॥'* अथवा, श्रीरामजीको त्रिलोकका एकमात्र राजा समझकर सुखी हुए।*

(गीतावली)—'**आजु अवध आनंद बधावन रिपु रन जीति राम आए।**
सजि सुबिमान निसान बजावत मुदित देव देखन आए॥
घर घर चारु चौक चंदन मनि मंगल कलस सबन्हि साजे।
ध्वज पताक तोरन बितान बर बिबिध भाँति बाजन बाजे॥
रामतिलक सुनि द्वीप-द्वीपके नृप आए उपहार लिए।
सीयसहित आसीन सिंघासन निरखि जुहारत हरष हिए॥
मंगलगान बेदधुनि जयधुनि मुनि असीस धुनि भुवन भरे।
बरषि सुमन सुर सिद्ध प्रसंसत सबके सब संताप हरे॥
रामराज भइ कामधेनु महि सुख संपदा लोक छाए।
जनम-जनम जानकीनाथके गुनगन तुलसिदास गाए॥'

नोट—*'प्रभु बिलोकि मुनिमन अनुरागा'*, *'देखि प्रहरषे मुनि समुदाई'*, *'सुत बिलोकि हरषी महतारी'* और *'देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाई'* यहाँ वसिष्ठजी, मुनिसमुदाय, माताओं और देवताओंका पृथक्-पृथक् देखना कहा है, कारण कि यह देखना पृथक्-पृथक् भावोंसे है। इसी तरह धनुषयज्ञमें तथा धनुर्भङ्ग होनेपर पृथक्-पृथक् भावानुसार देखना वर्णन किया गया है—*'जाकी रही भावना जैसी। प्रभु..........'*।

(हरिगीतिका)

छं०—नभ दुंदुभी बाजहिं बिपुल गंधर्ब किन्नर गावहीं।
नाचहिं अपछरा बृंद परमानंद सुर मुनि पावहीं॥
भरतादि अनुज बिभीषनांगद हनुमदादि समेत ते।
गहे छत्र चामर ब्यजन धनु असि चर्म सक्ति बिराजते॥१॥

शब्दार्थ—'**अपछरा**' (अप्सरा)=देवाङ्गनाएँ। अप=दूध। (क्षीरसागर) के मन्थनसे साठ करोड़ स्त्रियाँ उत्पन्न हुईं, इससे उनका नाम अप्सरा हुआ। यथा—'**उत्पेतुर्मनुजश्रेष्ठ तस्मादप्सरसोऽभवन्।** (वाल्मी० १। ४५। ३३) **षष्टिः कोट्योऽभवंस्तासामप्सराणां सुवर्चसाम्॥**' (३४)

अर्थ—आकाशमें बहुत नगाड़े बज रहे हैं। बहुत-से गन्धर्व और किन्नर गा रहे हैं। अप्सराओंके झुंड-के-झुंड नाच रहे हैं। देवता और मुनि परम आनन्द पा रहे हैं। श्रीभरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न छोटे भाई, (सुग्रीव), विभीषण, अङ्गद और हनुमान्‌जी आदि वानरोंसहित वे (क्रमसे) छत्र, चँवर, पंखा, धनुष, तलवार, ढाल और शक्ति लिये हुए विराजमान हैं॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) दुन्दुभी बजाना, गन्धर्वादिका गाना, अप्सराओंका नाचना और सुर-मुनिका परमानन्द

* वै०—देवताओंने नगाड़े बजाये, इस हर्षसे कि रावणका नाश कर सुख दिया। यथा—'यह दुष्ट मारेउ नाथ। भए देव सकल सनाथ॥' (लं० ११३।' (इन्द्रकृत स्तुति), 'दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर नाग नर सुमुखि सना हैं॥' (गी० ७। १३) अब राजा होनेसे अधिक धर्मवृद्धि होगी, हमें यज्ञादिमें परिपूर्ण भाग मिला करेगा। सेवा एवं कृतकृत्यता जनानेके लिये नगाड़े बजाये। (रा० प्र०) 'सिंघासन पर त्रिभुअन साँई..........' में यह भी भाव है कि अबतक जो इस सिंहासनपर बैठते आये वे तीनों लोकोंके स्वामी न होते थे, फिर भी वे जबतब देवासुरसंग्रामोंमें सहायता करते थे और ये तो त्रिभुवननाथ ही हैं, अतः ये तो स्वयं ही हमारी रक्षा करते रहेंगे। यह समझकर मारे हर्षके नगाड़े बजाने लगे।

पाना एक साथ लिखकर जनाया कि दुन्दुभी ऐसी मधुर बज रही है कि उनके साथमें गन्धर्व, किन्नर गाते हैं और इनके गानके साथमें अप्सराएँ नाचती हैं। (ख) पूर्व सुर-मुनि श्रीरामजीको देखकर आनन्दको प्राप्त हुए, यथा—*'नभ सुर मुनि जय जयति पुकारे'* और अब गन्धर्वादिके मुखोंसे रामयश सुनकर परम आनन्दको प्राप्त हुए। ☞ दर्शनसे आनन्द और यश-श्रवणसे परमानन्द हुआ। तात्पर्य यह कि भक्तोंको रामजीसे अधिक रामचरित प्रिय है। पुनः, परमानन्द पानेका दूसरा भाव यह है कि गन्धर्वोंका गाना और अप्सराओंका नाचना मनुष्योंको प्राप्त नहीं है; क्योंकि वे आकाशमें हैं और ये पृथ्वीपर, जो सुर-मुनि आकाशमें हैं वे सुनकर परमानन्द पाते हैं।

२—*'भरतादि अनुज………'* इति। (क) सबका कृत्य लिखकर अब भाइयोंका कृत्य लिखते हैं। यहाँ यथासंख्यालंकारसे लिखते हैं—श्रीभरतजी छत्र लिये हैं, श्रीलक्ष्मणजी चँवर चलाते हैं, श्रीशत्रुघ्नजी पंखा कर रहे हैं, श्रीविभीषणजी धनुष-बाण लिये हैं, अङ्गदजी असि और चर्म लिये हैं, हनुमान्‌जी शक्ति लिये हैं। हनुमदादि कहकर जनाया कि और बहुत-से वानरवीर अस्त्र-शस्त्र धारण किये खड़े हैं। ☞ भरतजी छत्र लिये पीछे खड़े हैं, लक्ष्मणजी दाहिनी ओर चँवर करते हैं। शत्रुघ्नजी बायीं ओर पंखा झल रहे हैं और सम्मुख दिशा खुली हुई है। जिसमें लोग दर्शन कर सकें, भेंट देनेवाले भेंट देने आ सकें इत्यादि। विभीषणजी पीछे हैं, अङ्गद दाहिनी ओर हैं और हनुमान्‌जी बायीं ओर।

नोट—१ ☞ अगस्त्यसंहितामें १६ पार्षद गिनाये गये, उनमेंसे ६ के नाम यहाँ दिये गये हैं। 'आदि' से शेष १० पार्षदोंका ग्रहण हो सकता है। वे ये हैं—श्रीसुग्रीवजी, दधिमुखजी, जाम्बवन्तजी, सुषेणजी, कुमुदजी, नीलजी, नलजी, गवाक्षजी, पनसजी और गन्धमादनजी। श्रीसुग्रीवजीका नाम गोस्वामीजीने स्पष्ट नहीं लिखा यद्यपि ये प्रथम सखा हैं। इसका क्या कारण है यह तो वे ही जानें। पर यहाँ हनुमदादि और भरतादि इन दोनों शब्दोंमें 'आदि' शब्दका प्रयोग हुआ है। इसीमेंसे किसीमें सुग्रीव और जाम्बवन्तादिको मानना पड़ेगा। सुग्रीव प्रथम सखा हैं तब विभीषण हैं। मानसमें प्रायः सर्वत्र सुग्रीवको विभीषणके पहले नहीं तो साथ-साथ तो अवश्य इसी कारणसे रखा है। यथा—*'सुनु कपीस अंगद लंकेसा। पावन………'*। इस विचारसे भाइयोंके बाद और विभीषण तथा अङ्गदके पहले उनको यदि रखें तो 'भरतादि अनुज' में लक्ष्मण, शत्रुघ्न और सुग्रीव तीनों आ जाते हैं। वाल्मीकीयमें श्रीभरतजीने सुग्रीवको अपना पाँचवाँ भाई कहा है, यथा—**'त्वमस्माकं चतुर्णां तु भ्राता सुग्रीवपञ्चमः'** (१३०। ४५। च० सं०)। अर्थात् हे सुग्रीव! हम तो चार भाई थे ही, आप हमारे पाँचवें भाई हैं। इस प्रमाणसे *'भरतादि अनुज'* पदसे सुग्रीवजीका भी ग्रहण हो जाता है। श्रीसुग्रीव, विभीषण, अङ्गद, हनुमान्‌जीका जहाँ-जहाँ एक साथ वर्णन है वहाँ-वहाँ अधिकतर प्रायः 'सुग्रीवको' इसी क्रमसे स्थान दिया गया है। सुवेलकी झाँकीमें भी यही क्रम है। कोई-कोई महानुभाव हनुमदादिके 'आदि' में सुग्रीवको लगाते हैं। पं० रामकुमारजी भी अपने एक खर्रेमें लिखते हैं कि 'हनुमदादि' से सुग्रीवका ग्रहण नहीं हो सकता, क्योंकि सुग्रीव मुख्य हैं। इससे अन्य वीर वानर ही ग्रहण होंगे।—*'लंकापति कपीस नल नीला। जामवंत अंगद सुभसीला॥ हनुमदादि सब बानर बीरा।'* (८। १-२)

नोट—बैजनाथजी आदि कई टीकाकारोंने अर्थ करनेमें गोस्वामीजीका क्रम न रखकर अन्य रामायणोंका क्रम दिया है। पर हमारी समझमें क्रमका परिवर्तन ठीक नहीं है। ऋषियोंमें इस स्थानके ध्यानमें मतभेद है। यदि मतभेद न होता तो उनके अनुसार क्रम बदल डालनेमें अधिक अनुचित न जान पड़ता। पर मतभेद है तब मानसका क्रम ही मानसकविको अभिप्रेत समझा जायगा। पं० श्रीरामवल्लभाशरणजीका भी यही मत है। वे यह भी कहते हैं कि तुलसीदासजीने *'रामबामदिसि जानकी लखन दाहिनी ओर'* इस ध्यानको *'सकल कल्याणमय'* (दोहावलीमें) कहा है। बस, उसीके अनुसार यहाँ श्रीलक्ष्मणजीको उनके दाहिने चँवर लिये समझना चाहिये। श्रीभरतजीका स्थान छत्र लिये हुए पीछे होना भी इससे निश्चित हो गया। श्रीशत्रुघ्नजी बायीं ओर हैं। हनुमान्‌जी सम्मुख रहते हैं वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये।

गौड़जी—राजतिलकोत्सवके इस विशेष अवसरपर जिन-जिन पार्षदोंने जिस-जिस विशिष्ट सेवाको ग्रहण किया था वह प्रत्येक अवतारके लिये अलग-अलग हो सकता है, इसलिये रामायणोंमें इस सम्बन्धमें मतभेद

हो तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। नित्यके दरबारमें इसी क्रमकी कोई आवश्यकता नहीं है। सामीप्यवाले पार्षद अपने क्रम आवश्यकतानुसार बदलते रहते हैं। यहाँ सोलहों पार्षदोंमें केवल छः के नाम देकर इत्यादि कर दिया है। प्रयोजन केवल यही है कि मानसकार सारप्रेमी हैं, विस्तारप्रेमी नहीं हैं।

छं०—श्रीसहित दिनकर बंस भूषन काम बहु छबि सोहई।
नव अंबुधर बर गात अंबर पीत सुर मन मोहई॥
मुकुटांगदादि बिचित्र भूषन अंग अंगन्हि प्रति सजे।
अंभोज नयन बिसाल उर भुज धन्य नर निरखंति जे॥२॥

अर्थ—श्रीजानकीजीसहित सूर्यकुलके भूषण श्रीरामचन्द्रजीके शरीरमें बहुत-से कामदेवोंकी छवि शोभा दे रही है। नवीन सजल काले मेघोंके समान सुन्दर श्रेष्ठ शरीरमें पीताम्बर देवताओंके मनको मोहित कर रहा है। मुकुट और अङ्गद आदि विचित्र आभूषण अङ्ग-अङ्गमें सजे हुए हैं। कमलदलके समान विशाल (बड़े) नेत्र हैं और वक्षःस्थल एवं भुजाएँ विशाल हैं (अर्थात् छाती चौड़ी है। आजानुबाहु हैं। भुजाएँ घुटनेतक लम्बी हैं)। जो दर्शन कर रहे हैं वे मनुष्य धन्य हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) भाइयों, सखाओं अर्थात् परिकरोंसमेत जो शोभा श्रीरामजीकी है वह ऊपर छन्दमें कही, अब उनके स्वरूपकी शोभा कहते हैं। (ख) *'श्रीसहित दिनकर बंस भूषन.........'* इति। दिनकरवंश स्वयं शोभित है, आप उसके भूषण हैं अर्थात् आप उसको भी शोभित करनेवाले हैं। (ग) *'नव अंबुधर बर गात.........'* इति। शरीरके वर्णको नये सजल श्याममेघोंकी उपमा देकर पीताम्बर धारण किये होना कहकर जनाया कि श्याम-शरीरपर पीताम्बरकी छटा ऐसी देख पड़ती है, मानो श्याम सजल मेघोंमें विद्युत् (बिजली) अपनी चञ्चलता छोड़कर स्थिर हो गयी। यथा—*'अमल मरकत श्याम कामसतकोटि छबि पीतपट तड़ित इव जलद नीलं॥'* (वि० ६१) *'नव अंबुधर बर गात'* से जनाया कि आपका शरीर नव अम्बुधरसे श्रेष्ठ सुन्दर है और *'अंबर पीत'* भी कहकर तब *'सुर मन मोहई'* कहनेसे सूचित हुआ कि पीताम्बरकी छटा बिजलीसे कहीं श्रेष्ठ है, यथा—*'तड़ित बिनिंदक पीतपट।'* (१४७) *'तड़ित बिनिंदक बसन सुरंगा।'* (१। ३१६) *'पीत पुनीत मनोहर धोती। हरति बालरबि दामिनि जोती॥'* (१। ३२७। ३) पुनः, *'सुर मन मोहई'* का भाव कि मेघ और बिजली ये दोनों स्वर्गके पदार्थ हैं, उनसे भी यहाँ विलक्षण देखते हैं। मेघोंकी श्यामतासे रामरूपकी श्यामता विलक्षण है, बिजलीकी ज्योतिसे पीताम्बरकी ज्योति विलक्षण है, अतएव देवता मोहित हो गये। (घ) केवल देवताओंके मोहकथनका भाव कि जब वे ही श्रीरामरूपकी शोभा देख मोहित हो गये तब औरोंकी क्या कही जाय?

२ *'मुकुटांगदादि बिचित्र भूषन.........'* इति। (क) पूर्व लिख आये कि *'करि मज्जन प्रभु भूषन साजे।'* भूषणोंका नाम वहाँ नहीं दिया, यहाँ कुछ आभूषणोंके नाम लिखते हैं। 'अंगदादि' से भुजाओंसे लेकर उँगलीतकके भूषण सूचित किये। अर्थात् बिजायठ, पहुँची, कड़े, मुद्रिका इत्यादिसे सिरसे लेकर नखतकके भूषण जनाये। अर्थात् मुकुट, कुण्डल, बुलाक, हृदयमें मणियोंकी माला, करधनी, नूपुर इत्यादि। (ख) प्रथम 'मुकुट' का नाम दिया; क्योंकि शृङ्गारका वर्णन मस्तकसे होता है। (ग) *'बिचित्र'* से जनाया कि आभूषणोंमें अनेक रंगकी मणियाँ जड़ी हुई हैं।

३ *'धन्य नर निरखंति जे।'* वर्तमान क्रियाका भाव कि उस समयके मनुष्य तो धन्य ही हैं कि जिन्होंने श्रीरामजीको देखा है [वाल्मीकीयमें रावणवधके पश्चात् महाराज श्रीदशरथजीने भी ऐसा ही श्रीरामजीसे कहा है। यथा—'**सिद्धार्थाः खलु ते राम नरा ये त्वां पुरीं गतम्। जलार्द्रमभिषिक्त च द्रक्ष्यन्ति वसुधाधिपम्॥**' (१२२। १९ चं० सं०) अर्थात् हे राम! सचमुच उन अवधवासियोंकी अभिलाषा पूर्ण हो जायगी जो देखेंगे कि तुम वनसे लौटकर नगरमें आ गये और राजसिंहासनपर जलसे अभिषिक्त किये जाकर राजा हो गये हो]। पर इस समयके भी मनुष्य धन्य हैं जिनके हृदयमें उस मूर्तिका ध्यान आवे।

पं० रा० व० श०—'*मुकुटांगदादि*' इति। प्रथम चक्रवर्ती राजा इक्ष्वाकुजी हुए हैं। उनके राज्याभिषेकके समय ब्रह्माजीने मुकुटादिका निर्माणकर इनको लाकर दिये थे। जब नया राजा होता, तब राज्याभिषेकमात्रके लिये एक ही दिन ये मुकुटादि धारण किये जाते थे। जब श्रीरघुनाथजी राजा हुए तब वे उसे नित्यप्रति धारण करते थे।

दो०—वह सोभा* समाज सुख कहत न बनै खगेस।
बरनै सारद सेष श्रुति सो रस जान महेस॥

अर्थ—हे गरुड़! वह शोभा, वह समाज और वह आनन्द मुझसे कहते नहीं बनता। शारदा, शेष और श्रुति वर्णन करते हैं पर वह रस (स्वाद—आनन्द) महादेवजी ही जानते हैं।

टिप्पणी—१ (क) '*वह सोभा समाज*.........।' जब श्रीभुशुण्डिजीने गरुड़जीसे यह कथा कही तब वर्तमानकाल न था—(यह कथा २७ कल्प पीछे गरुड़जीसे कही गयी थी) यथा—'***इहाँ बसत मोहि सुनु खग ईसा। बीते कल्प सात अरु बीसा॥***' (११४। १०) इसीसे 'वह' पद दिया। (ख) '*बरनै सारद*.......।' भाव कि शारदादि हमसे अधिक हैं, जो हमसे नहीं बना सो उन्होंने कहा है और इनसे भी शिवजी अधिक हैं जो रस जानते हैं।

पं० रा० व० श०—जो जितना अधिक रामतत्त्वका ज्ञाता है वह उतना ही अधिक रस जानता और पाता है। शिवजीके समान रामतत्त्वका जाननेवाला दूसरा नहीं है, इसीसे '*सो रस जान महेस*' कहा। भाव कि शोभा, समाज और सुख तीनों अद्भुत थे, अलौकिक थे, अप्राकृत थे।

वै०—'*बरनै सारद सेष श्रुति*.........' शारदा वर्णन करती है कि सप्ताङ्गराज्यश्रीसहित एक आसनपर आसीन हैं अतः इस समय शृङ्गाररस है, शेषजी कहते हैं कि धर्म, दान, दया इत्यादि वीरता-परिपूर्ण वीरोंके समाजमें सिंहासनासीन होनेसे वीररस है, श्रुति कहती है कि इस समय समस्त पुरजन, देव-मुनिवृन्दादि सभी परमानन्दमें मग्न हैं और प्रभु तो अखण्डानन्दरूप ही हैं, अतः इस समय शान्तिरस है। भुशुण्डिजी कहते हैं कि इत्यादि प्रकारेण सब वर्णन तो करते हैं पर यथार्थ रस कोई भी न जान पाये, क्योंकि यथार्थतः यहाँ ये कोई रस नहीं हैं, यहाँ तो अद्भुत रस है। उस रसको एक महेशजी ही जानते हैं। महेश ही जानते हैं यह बात प्रकरणसे सिद्ध है, क्योंकि प्रभुके स्नानके पूर्व उमा-महेश्वर-संवाद रहा, पर स्नानके बाद शोभा देख शिवजी विभ्रम हो गये, बेसुध हैं, शोभामें मग्न हैं इसीसे उनका संवाद यहाँ छूट गया।

दो०—भिन्न भिन्न अस्तुति करि गए सुर निज निज धाम।
बंदी बेष बेद तब आए जहँ श्रीराम॥
प्रभु सर्बज्ञ कीन्ह अति आदर कृपा निधान।
लखेउ न काहू मरम कछु लगे करन गुनगान॥१२॥

अर्थ—सब देवता पृथक्-पृथक् स्तुति करके अपने-अपने धामको गये। (अर्थात् जो स्तुति एकने की वह दूसरा नहीं करता, वरन् अपनी बुद्धिमत्तासे दूसरे प्रकारकी स्तुति करता है। प्रत्येक देवताने स्तुति की।) तब भाटोंके वेषमें वेद वहाँ आये जहाँ श्रीरामजी थे। दयासागर, सर्वज्ञ प्रभुने उनका अत्यन्त आदर किया, किसीने कुछ मर्म (भेद) न लख पाया और वे गुणगान करने लगे॥ १२॥

नोट—१ (क) '*भिन्न भिन्न अस्तुति करि।*' सब देवताओंके हृदयमें रामभक्ति है, इसीसे सबने भिन्न-भिन्न स्तुति की। [भिन्न-भिन्न स्तुति अ० रा० १५ में दी हुई है। इन्द्र, पितर, यक्षादिने अलग-अलग स्तुति की है। इन्द्र, देवगण और पितृगणकी स्तुतियोंका सारांश यही था कि रावणने हमारा सुख, हमारा यज्ञोंका

* भा० दा० एवं वं० पा० में 'वोह' पाठ है और अन्यमें 'वह' है

भाग हर लिया था, उसे मारकर आपने हमें वे भाग पूर्ववत् प्राप्त करा दिये। यक्षोंने कहा कि रावणकी पालकीमें हमें जुतना पड़ता था, वह कष्ट आपने दूर कर दिया। गन्धर्वोंने कहा कि पहले हम आपकी कथाएँ गाते थे, पर रावणद्वारा आक्रान्त होकर हमें उसीके गुणगान करने पड़ते थे, आपने हमें बचा लिया। इसी प्रकार महानाग, सिद्ध, किन्नर, मरुत्, वसु, मुनि, गौ, गुह्यक, पक्षी, प्रजापति और अप्सराओंके समूह—सभी श्रीरामजीके पास आये और पृथक्-पृथक् स्तुति करके अपने-अपने लोकोंको गये। यथा—'**एवं महोरगाः सिद्धाः किन्नरा मरुतस्तथा॥ वसवो मुनयो गावो गुह्यकाश्च पतत्रिणः। सप्रजापतयश्चैते तथा चाप्सरसां गणाः॥ सर्वे रामं समासाद्य दृष्ट्वा नेत्रमहोत्सवम्। स्तुत्वा पृथक् पृथक् सर्वे राघवेणाभिवन्दिताः॥ ययुः स्वं स्वं पदं सर्वे ब्रह्मरुद्रादयस्तथा। प्रशंसन्तो मुदा रामं गायन्तस्तस्य चेष्टितम्॥ ध्यायन्तस्त्वभिषेकार्द्रं सीतालक्ष्मणसंयुतम्। सिंहासनस्थं राजेन्द्रं ययुः सर्वे हृदिस्थितम्॥**' (७०—७४) ग्रन्थविस्तारके भयसे मानसकविने उन्हें यहाँ नहीं दिया, इशारा भर कर दिया है।] भिन्न-भिन्न स्तुतिसे देवताओंकी बुद्धिमानी पायी गयी। (पं० रा० कु०) (ख) '*निज निज धाम*' जानेका भाव कि रावणके भयसे देवता सुमेरुकी खोहमें रहा करते थे, यथा—'*रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा॥*' (१। १८२) अब सब अपने-अपने धामको गये।

२—'*बंदी बेष बेद*......' इति। भाट लोग गुणगान करते हैं। वेद भगवान्‌के भाट हैं, भगवान्‌का गुणगान करते हैं, यथा—'*बंदी बेद पुरान गन कहहिं बिमल गुनग्राम।*' (अ० १०५) इसीसे भगवान्‌का गुणगान करनेके लिये वन्दिवेषसे आये। पुनः, दूसरा भाव वन्दिवेषका यह है कि वेदोंको श्रीरामजीके पासतक पहुँचना है, भाट लोग राजाके पास खड़े होकर बड़ाई करते हैं। [पर अ० रा० में देवताओंका पृथिवीपर आना कहा है। (मा० सं०)] '*आए जहँ श्रीराम*' कहकर जनाया कि देवताओंने आकाशसे ही स्तुति की, जहाँ रामजी हैं वहाँ नहीं आये।

वै० रा० प०—वेदोंका स्वरूप इस प्रकार है। १ ऋक्—५ बीता लम्बे, अरुण वर्ण, कमलनयन, अत्रिगोत्र, ब्रह्मा देवता, गायत्री छन्द। २ यजुः—४ हाथ लम्बे, ताम्रवर्ण, दुबले, कपालधारी, भरद्वाजगोत्र, महादेव देवता, त्रिष्टुप् छन्द। ३ साम—पाँच हाथ लम्बे, माला, दण्ड और पवित्र वस्त्रधारी, रविसम, शान्त-दान्त, काश्यप गोत्र, विष्णु देवता, जगती छन्द । ४—अथर्वण—सात हाथके लम्बे, तोषी, कोपी, कामी, नीलकमल वर्ण, वैतायन गोत्र, इन्द्र देवता, अनुष्टुप् छन्द।—चारोंका ऐसा स्वरूप है पर वेष वन्दीका बनाये हैं अर्थात् पाग बाँधे, जामा पहिने इत्यादि।

पं० रा० व० श०—वन्दिवेषसे वेदोंका आना युक्तियुक्त ही है। वेद भगवान्‌के बन्दी कहे गये हैं। परीक्षित्‌जीके प्रश्न करनेपर कि 'ब्रह्म तो अनिर्देश्य है, उसमें रजादि गुण नहीं हैं और वेद त्रिगुणात्मक हैं तब ये ब्रह्मके गुण कैसे प्रतिपादन करते हैं' श्रीसनन्दनजीने कहा है कि जैसे राजा सोते हैं तब वन्दीगण उन्हें जगाते हैं वैसे ही। (भा० १०। ८७। १, १२-१३) यथा—'**ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः। कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे॥ स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सहशक्तिभिः। तदन्ते बोधयाञ्चक्रुस्तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम्॥ यथा शयानं सम्राजं वन्दिनस्तत्पराक्रमैः। प्रत्यूषेऽभ्येत्य सुश्लोकैर्बोधयन्त्यनुजीविनः॥**'

३ (क) '*प्रभु सर्बग्य कीन्ह*......' अर्थात् वेद वन्दिवेषसे आये तो भी रामजी उन्हें जान गये क्योंकि सर्वज्ञ हैं। जान गये इसीसे आदर किया, नहीं तो यहाँ वन्दीजनके आदर करनेका प्रयोजन ही क्या था? (ख) वेदोंपर कृपा करके उनका आदर किया अर्थात् उनका मानसिक स्वागत और पूजन किया। '*लखेउ न काहू मरम कछु*' से सूचित किया कि वेदोंने ऐसा यथार्थ वन्दिवेष बनाया कि कोई न जान पाया कि ये वेद हैं। वन्दी गुणगान करते हैं इसीसे ये भी गुणगान करने लगे।—[आदर-मान देनेका मर्म भी किसीने न जाना। (रा० प्र०)]

(हरिगीतिका छन्द)

जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने।
दसकंधरादि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुजबल हने॥

अर्थ—हे भूपशिरोमणे! आपकी जय हो। आपके सगुण और निर्गुण दोनों रूप हैं,* सगुण और निर्गुण दोनोंसे यह भूपशिरोमणिरूप उपमारहित है (अर्थात् जो सुख इस रूपमें प्राप्त होता है वह अन्यत्र नहीं मिलता)। रावणादि प्रचण्ड, प्रबल और दुष्ट राक्षसोंको अपनी भुजाओंके बलसे आपने मारा।

पं० रा० व० श०—'*सगुन निर्गुन*……।' भाव कि आप सगुण भी हैं, निर्गुण भी हैं, वस्तुतः आप क्या हैं यह हम नहीं कह सकते। सनकादिकने यह देख कि आपके रूपको न निर्गुण ही कह सकते हैं न सगुण ही, वह तो अचिन्त्य है, मन-वाणीसे अगोचर है, इस बखेड़ेमें न पड़कर कि वह सगुण या निर्गुण या क्या है, उन्होंने भक्ति की। यथा—'***जासु गुन रूप नहिं कलित निर्गुन सगुन संभु सनकादि सुक भक्ति दृढ़ करि गही***'—(गी० ७। ६)। वही भाव स्तुतिमें वेदोंका है कि हम कुछ निश्चय नहीं कर सकते, हम आपकी सदा भक्ति करते हैं। जैसा आगे कहते हैं—'***जस नित गावहीं***', '***रूप अनूप***' अर्थात् उसे न सगुण कह सकें न निर्गुण, उसकी किसीसे उपमा नहीं दे सकते।

पं० रा० कु०—(क) '***जय सगुन निर्गुन रूप***' अर्थात् मत्स्यादिक आपके सगुणरूप हैं, ब्रह्म आपका निर्गुणरूप है। (ख) प्रथम '***सगुन रूप***' कहा क्योंकि यहाँ सगुणरूप विद्यमान है, निर्गुण विद्यमान नहीं है!

खर्रा—'***जय सगुन***……' इति। हे सगुणरूप! हे निर्गुणरूप! हे अनूपरूप! हे भूपशिरोमणे! आपकी जय हो। सगुण श्रीमन्नारायणादि भगवद्विग्रहमात्र और निर्गुण अव्यक्तमात्र, सो दोनों रूप 'विहाराधिष्ठान' हैं, आप दोनोंमें रूपी होकर वर्तमान हैं। अतएव '***रूप अनूप***' है, द्वितीय सादृश्यरहित है। '***भूप सिरोमने***' अर्थात् समस्त भूपालोंमें शिरोमणि।

मा० म०—'***जय सगुन निर्गुन रूप***' इति। प्रथम सगुण कहा तब निर्गुण। कारण यह कि निर्गुण ब्रह्म (सगुण) श्रीरामचन्द्रका प्रतिबिंब है। यह '***इति बेद बदंति न दंत कथा। रबि आतप भिन्न न भिन्न जथा***', '***जो गुन रहित सगुन सो कैसे। जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे॥***' का उत्तर है। तात्पर्य यह कि जैसे रवि और रविका धर्म आतप है वैसे ही श्रीरामचन्द्र और निर्गुण ब्रह्म हैं। और जैसे जल, हिम और उपल होता है (परतमस्वरूप) श्रीरामचन्द्रका निर्गुण ब्रह्म और सगुणरूप है।……श्रुति कहती है '**न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो**' अर्थात् परमात्मामें न नेत्र गमन करता है, न वचन और न मन ही गमन करता है। तब उस परमात्माको रूपरहित कहना वा रूपसहित कहना श्रुतिसम्मत नहीं है। पुनः श्रुति '**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**' अर्थात् उसीके प्रकाशसे सब जगत् प्रकाशित है। यदि वह कोई वस्तु न होता तो उसमें प्रकाश कैसे स्थित होता? यदि प्रकाश स्थित होता है तो वह अवश्य किसी-न-किसी आकारमें स्थित होगा, चाहे वह चक्षु, वाणी, मन इत्यादिका विषय नहीं होनेसे अरूप कहा जाय, परंतु वास्तवमें वह किसी-न-किसी रूपमें अवश्य है। प्रकाशका अनुभव करना और प्रकाशकको न जानना भूल है।

नोट—उपनिषदोंमें छः हेय-गुणरहित होनेके कारण ब्रह्मको अगुण, निर्गुण आदि कहा गया है और दो दिव्य गुण विशिष्ट होनेसे सगुण कहा गया है। इन्हीं आठ गुणोंके भीतर सम्पूर्ण हेय और उपादेय गुणोंका समावेश हो जाता है। यथा— '**य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः।**' (छां० ८। ७। १) अर्थात् जो आत्मा पापशून्य, जरारहित, मृत्युहीन, विशोक, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है। पाप, जरा, मृत्यु, शोक, क्षुधा और पिपासा—ये छः हेय गुण हैं इनसे रहित हैं। सत्यकाम और सत्यसंकल्प ये दिव्य गुण हैं। इन दोनोंसे युक्त हैं।

मानसकल्लोलिनी—१ सद्गुणसंयुक्त होनेसे सगुण और गुणोंसे परे होनेसे निर्गुण है। पुनः, गुणोंके वश नहीं है। जैसे वायु जब गंधमें गया तब गंधयुक्त कहलाया, पर तत्त्वतः वह गंधसे पृथक् है। वैसे ही, हे श्रीरामचन्द्र! आप सगुण और निर्गुणसे परे तीसरे हो। जब सद्गुणोंको धारण करते हो तब सगुण और

* जो गुणरहित सो सगुण कैसे? अतः 'सगुण-निर्गुण' में 'विरोधाभास' है। रूप दो बार दो अर्थमें आया है—रूपवाले और रूप। इसमें यमक अलङ्कार है। (वीर)

गुणोंका त्याग करते हो तब निर्गुण कहलाते हो] परंतु आप सबसे परे हो जैसे कमल जलमें बसता है, सब देखते हैं कि वह जलमें है पर वास्तवमें उसमें जल नहीं ठहरता, यद्यपि उसके ऊपर-नीचे सर्वत्र जल-ही-जल है। ऐसे ही सगुण और निर्गुण ब्रह्म है।

२—सगुण कहकर तब निर्गुण कहनेका कारण यह है कि बिना ग्रहणके त्याग नहीं होता, अर्थात् जबतक गुणका ग्रहण नहीं करेगा तबतक त्यागेगा क्या, जिससे निर्गुण कहलायेगा! मूलमें सगुण और निर्गुण दो रूप कहे हैं। इन दोनोंसे भिन्न तीसरा वास्तविक रूप परमात्मा श्रीरामचन्द्रका है जो साकेतमें निवास करता है।

३—परतमरूप उपमायोग्य न होनेसे वेदने सगुण और निर्गुण दोनों रूपोंके लक्षणोंसे तीसरे परतम स्वरूपको लक्षित किया और इसीसे दोनोंको श्रीरामचन्द्रका रूप कहा है।

४—'भूपशिरोमणि'। रावण पृथ्वीका रोगरूप था। इस रोगका कोई नाश न कर सका। आपने उसका वध कर रोग हटाया, तब राज्य स्वीकार किया। अतः आप भूपशिरोमणि हैं।

वि० टी०—उपमारहित भूपशिरोमणि कहनेका कारण यह है कि—(क) अपने उत्तम आचरणोंसे प्रजाको सब प्रकार सुखी रखनेके निमित्त अपने ऊपर अनेक संकटोंके आ जानेका विचार न किया और, (ख)—ऐसे आदर्शरूप आचरण, प्रताप, बल, दया, क्षमा आदिके उदाहरण दिखाये हैं कि जिनका अनुकरण करनेसे मनुष्य सदाचारी बन सकते हैं।

पं० रा० कु०—'भूपशिरोमणि' कहा क्योंकि वेद आगे श्रीरामजीके चरणोंमें अनुराग माँगना चाहते हैं, यथा—'*करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव यह बर मागहीं। मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥*' राजा ही गरीबोंका मनोरथ पूर्ण करते हैं। इसी प्रकार श्रीशिवजी श्रीरामजीको 'महिपाल' कहकर वर माँगते हैं, यथा—'**रघुनंद निकंदय द्वंद्वघनं। महिपाल बिलोकय दीन जनं।**' इत्यादि।

२—(क) '*दसकंधरादि*……' इति। प्रथम '*जय सगुन निर्गुन*' कहा अर्थात् आप निर्गुणसे सगुण हुए। किस निमित्त सगुण हुए, सो अब कहते हैं कि '*दसकंधरादि*……'। 'दशकंधर' का भाव कि उसे अपने दस सिर और बीस भुजाका अभिमान था। यथा—'*मम भुज सागर बल जल पूरा। जहँ बूड़े बहु सुर नर सूरा॥ बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस सूर जो पाइहि पारा।*' (६। २८) (ख)—राक्षसोंको प्रचंड, प्रबल और खल विशेषण देनेका भाव यह है कि वे अपने शरीरके बलसे प्रचण्ड थे, मायाके बलसे प्रबल थे और 'खलों' के जो लक्षण ग्रन्थमें कई स्थलोंपर कहे हैं वे सब लक्षण उनमें थे। खलवधके लिये भगवान्‌का अवतार है, यथा—'*प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू। बिस्व सुखद खल कमल तुषारू॥*' (१। १६। ५) (ग)—'*भुजबल हने*' का भाव कि राक्षसोंको लड़नेका अभिमान था, यथा—'*रनमदमत्त फिरइ जग धावा। प्रतिभट खोजत कतहुँ न पावा।*' (१। १८२) इसीसे आपने उनसे संग्राम करके अपने भुजबलसे उनके अभिमानको चूर्ण करके उनको मारा।

पं०—विष्णु आदि सगुण रूप हैं, सर्वव्यापक निर्गुणरूप हैं। द्विभुजरूप दोनोंसे उत्तम है।

पां०—काव्यके नवों रस इस ग्रन्थमें हैं पर उनमेंसे शृङ्गार, वीर और करुणा—ये प्रधान हैं। इनमेंसे भी कोई शृङ्गारको, कोई वीरको और कोई करुणरसको प्रधान कहते हैं। इस ग्रंथका मूल कारण है—'*हरिहउँ सकल भूमि गरुआई*' 'वीररसप्रधान' के प्रतिपादक कहते हैं कि यह चौपाई वीररसमय है, अतः ग्रन्थ वीररसप्रधान है। शृङ्गारवालोंका कथन है कि भगवान्‌ने जब यह प्रतिज्ञा की तब वे शृङ्गाररूप धारण किये थे, रूप पहले था प्रतिज्ञा पीछे हुई, अतः शृङ्गाररसप्रधान है। करुणावाले कहते हैं कि भगवान्‌ने करुणाके कारण वीररसकी प्रतिज्ञा की; अतः करुणरसप्रधान है।—इसमें सबसे अधिक प्रमाण वेदका है। वेद स्तुतिमें कहते हैं, '*जय सगुन निर्गुन रूप*……।' इस प्रमाणको लेकर शृङ्गारवाले कहते हैं कि शृङ्गारका प्रथम वर्णन है अतः शृङ्गारप्रधान हुआ, वीरवाले कहते हैं कि जो प्रधान होता है वह बीचमें रहता है और इस छन्दमें वीररस बीचमें होनेसे प्रधान हुआ और करुणाके पक्षपाती कहते हैं कि सिद्धान्त अन्तमें कहा जाता है और इस छन्दमें करुणरस अन्तमें कहा गया है अतः वही प्रधान है।

अवतार नर संसार भार बिभंजि दारुन दुख दहे।
जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संजुक्त सक्ति नमामहे॥ १॥

अर्थ—मनुष्य अवतार लेकर संसारके भारको नष्ट करके किसी प्रकार न छूटने योग्य कठिन दुःखोंको आपने भस्म कर दिया। हे शरणागतोंके पालन करनेवाले! हे दयालु! हे प्रभो! आपकी जय! शक्तिसहित आपको मैं नमस्कार करता हूँ॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम कहा कि दशकन्धरादिको आपने मारा। पर दशकन्धरकी मृत्यु नरके हाथ थी, यथा—*'हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे॥'* (बा०), *'नर के कर आपन बध बाँची। हँसेउँ जानि बिधि गिरा असाँची॥'* (६। २९। २) इसीसे आपने मनुष्य-अवतार लिया—*'अवतार नर।'* (ख) *'दारुन दुख',* यही बात देवताओंने स्वयं श्रीरामजीसे कही थी, यथा—*'इहाँ देवतन्ह अस्तुति कीन्ही। दारुन बिपति हमहिं एहि दीन्ही।'* (६। ८५। ६) *दारुन दुख दहे'* कहनेका भाव कि राक्षस सबको मारा करते थे, इसीसे श्रीरामजीने उनको मारा, उनका दिया हुआ दुःख सबको जलाता रहा है, इसीसे दुःखको भस्म किया।

२ *'जय प्रनतपाल·······'* इति। रावणादिको मारकर शरणागत विभीषणका पालन किया और प्रणतमात्र जो संसारमें हैं उनका पालन करते हैं। तात्पर्य कि संसारका दुःख दूर करते हैं। पुनः अपने प्रणतका कृपा करके पालन करते हैं, यथा—*'जगपालक बिसेषि जनत्राता।'*

३ *'संजुक्त सक्ति नमामहे।'* शक्तिसंयुक्त नमस्कार करनेका भाव कि—(क) श्रीरामजी और श्रीजानकीजी दोनों एक साथ सिंहासनपर बैठे हुए हैं, केवल श्रीरामजीको नमस्कार करनेसे शक्तिका अनादर होता है। (ख) श्रीरामजी तथा श्रीजानकीजी दोनोंने मिलकर पृथ्वीका भार उतारा है। इसीसे दोनोंको नमस्कार करते हैं।—[नोट—भूभारहरणमें श्रीसीताजी ही मुख्य कारण हैं—**'सीतायाश्चरितं महत्'**, यह वाल्मीकिजीने यथार्थ ही कहा है। न वे होतीं न रामायणकी यह कथा होती। श्रीसीताजी परमशक्ति हैं, यथा—*'परम सक्ति समेत अवतरिहउँ', 'आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि·······।'*] (ग) ऐश्वर्यभावसे स्तुति करते हैं, इसीसे श्रीसीताजीको शक्ति कहते हैं।

मानसकल्लोलिनी—यह स्तुति सामवेदने की। *'नमामहे'* एकवचन है।

नोट—इस वेदस्तुतिमें टीकाकारोंका मत है कि चारों वेदोंने पृथक्-पृथक् स्तुति की है। कहाँतक और कौन किस वेदकी स्तुति है, इसमें मतभेद है। किस कारणसे अमुक स्तुति अमुक वेदकी कही जाती है, इसपर परिचर्याने कुछ प्रकाश डाला है और प्रायः सब चुप हैं। श्री पं० रा० व० श० जी महाराजका मत यह है कि यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक ही लक्षण है, अतः यह कहना कि अमुक वेदकी स्तुति अमुक पदमें है कल्पनामात्र है।

स्तुति	वेद	किसका मत	कारण
१ *'जय सगुन'* से	साम	मा० क०, रा० प०, वै०	उपासनाप्रधान
'संजुक्त सक्ति नमामहे' तक	ऋक्	करु०	
२ *'तव बिषम माया'* से	ऋक्	मा० क०, रा० प०, वै०	मायावाद
'राम नमामहे' तक			योगज्ञानप्रधान
३ *'जे ज्ञान मान'* से	,,	रा० प०	
'सो स्मरामहे' तक	यजुः	मा० क०, वै०	
४ *'जे चरन'* से	यजुः	रा० प०, वै०	कर्म स्थापित करते, २—
'नित्य भजामहे' तक	अथर्वण	मा० क०	पररूप दिखाते
५ *'अव्यक्तमूल.......नमामहे'*	अथर्वण	मा० क०, रा० प०, वै०	

वै०—अथर्वण पूर्वार्द्धमें अभिचारादि लोकव्यवहार विशेष है। इसी मतके अनुसार प्रथम संसारवृक्ष-रूपसे कहा। और उत्तरार्द्धमें रामतापनी आदि रामतत्त्व-वर्णन है, इस मतके अनुसार *'जे ब्रह्म अज……'* इस प्रकार स्तुति करते हैं।

गौड़जी—वेद वन्दीजनके रूपमें आये हैं। चार मूर्त्तियाँ हैं। यह आवश्यक नहीं कि चारों अलग-अलग गुणगान करें। राजाके सामने सौन्दर्यपूर्वक गुणगान करनेकी विधियोंमें अनेक भेद हो सकते हैं। अलग-अलग गुणगान करके कुछ पद एक साथ गाये जा सकते हैं, अथवा प्रत्येक छन्दके तीन-तीन चरण बारी-बारीसे एक-एक वन्दी गा सकता है और चौथा चरण सब मिलकर गा सकते हैं, जिसमें सभामें गान करनेकी शोभा है। वेदोंमें आपसमें गुणानुवादके सम्बन्धमें कोई मतभेद तो है ही नहीं। अतः सबने मिलकर सभी पद एक साथ गाये हों, तो कोई असङ्गति नहीं होती। हरिगीतिकाओंकी संख्या चार होती तो निर्विवाद एक-एक हरिगीतिका एक-एक वेदसे निर्गत समझी जाती। पाँच होतीं तो पाँचवींका एक स्वर वा Chorus समझा जाता, परंतु छः होनेसे यह स्पष्ट है कि एक वेदके मुखमें एक छन्द नहीं दिया जा सकता। अतः छन्दोंका वेदोंके अनुसार विभाग करना कल्पनामात्र है। यह चारों वन्दीजनोंने रामराज्यके दरबारमें उत्तमोत्तम विधानसे गाया होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। इस छन्दका वृत्तचयन भी मानसकारने बड़ी खूबीसे किया है। इसका नाम 'हरिगीतिका' है अर्थात् भगवान्‌का गुणगान; और यह गुणगान किया है वेदोंने, जो हैं चार और हरिगीतिकाको चार बार कहनेसे हरिगीतिकाका एक चरण बन जाता है। यदि कहा जाय कि एक वचन होनेके कारण एक ही वेदने एक बार कहा है तो उसका समाधान यह है कि मत्स्यपुराणानुसार त्रेतायुगमें वेद एक ही था और वह था यजुर्वेद। यजुर्वेदमें ही शेष तीनोंका समावेश था। यद्यपि नित्यरूपसे वेदकी चार संहिताएँ हैं। अतः चार मूर्त्तियोंसे चारों संहिताओंका निर्वाह होता है और एकवचनके प्रयोगसे उस युगकी चालके अनुसार एक वेदत्वका भी प्रतिपादन होता है।

वि० त्रि०—इसमें छः हरिगीति छन्द हैं। *नमामहे, स्मरामहे, भजामहे, हम अनुरागहीं* आदि बहुवचनसूचक क्रियाएँ प्रत्येक छन्दके अन्तमें आयी हैं, अतः स्पष्ट है कि चारों वेद मिलकर स्तुति करते हैं; और स्थानोंमें भी मिलकर स्तुति करनेका प्रसङ्ग देखा जाता है। यथा रावणवधोपरान्त देवताओंकी मिलकर स्तुति है (यथा—*'आये देव सदा स्वारथी। बचन कहहिं जनु परमारथी'*)। वेद चार हैं, और छन्द यहाँ छः हैं, इस भाँति भी कोई हिसाब नहीं बैठता है। इस स्तुतिको निविष्ट चित्तसे देखा जाय तो इसके छहों छन्दोंमें क्रमशः षड्‌विधा शरणागतिके भाव लक्ष्य होते हैं। अतः निर्गलितार्थ यह निकलता है कि चारों वेद शरणागतिकी प्रार्थना करते हैं, और इस विषयमें इनका ऐक्यमत्य है।

छंद—तव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अगजग हरे।
भवपंथ भ्रमत अमित* दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥

अर्थ—हे हरे! आपकी कठिन दुस्तर त्रिगुणात्मिका मायाके वश सुर, असुर, नाग, नर, चर और अचर काल, कर्म और गुणोंसे भरे हुए (अर्थात् इनसे प्रेरित) अगणित दिन-रात भवमार्गमें चक्कर खा रहे हैं।

नोट—१ (क) *'तव बिषम माया……'* इति। (क) यहाँ मायाको प्रभुकी वस्तु कहा। हरिगीतिकाके इन दो चरणोंमें मायाका स्वरूप और उसका कार्य कहा, अगले चरणोंमें मायासे निस्तारका उपाय कहते हैं। यह माया सत्त्व, रज और तमोमयी है। लीलाके लिये प्रवृत्त परमदेव श्रीरामजीके द्वारा निर्मित है। प्रभुद्वारा निर्मित होनेसे ही यह परम दुस्तर है, इसका पार करना नितान्त ही कठिन है। इसीसे इसे *'तव बिषम माया'* कहा। गीतामें भी ऐसा ही कहा है। यथा—'**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।**' (७। १४) और मानसमें अनेक बार कहा है। यथा—*'बहुरि राममायहि सिरु नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा।'* (१। ५६। ५) *'प्रभु माया बलवंत भवानी। जाहि न मोह कवन अस*

* भ्रमित श्रमित—(मा० म०) भ्रमत श्रमित—(का०, १८१७; १८१८, १८४२)।

ज्ञानी॥' (७। ६२) इत्यादि। पुनः, (ख) *'बिषम'* शब्द तीनका बोधक है। इस तरह *'बिषम माया'* कहकर जनाया कि यह त्रिगुणात्मिका है। गीतामें भी इसे 'गुणमयी' कहा है। सत्त्व, रज और तम तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाको माया (प्रकृति) कहते हैं। यथा—योगशास्त्रे **'सत्त्वरजस्तमसां साम्यवस्था प्रकृतिः।'** इत्यादि (मानसकल्लोलिनी)। असुरों, राक्षसों और अस्त्रादिकी भाँति विचित्र कार्य करनेवाली होनेके कारण इसका नाम माया है। भगवान्के स्वरूपको छिपा देना और अपने स्वरूपमें भोग्यबुद्धि करा देना, इस मायाका कार्य है। इसी भावसे *'माया बस सुरासुर नाग········'* कहा। भाव कि इसने सबोंको मोहित करके असीम अतिशय आनन्दस्वरूप आपको भुलाकर विषयभोगोंमें लगा दिया।

टिप्पणी—१ (क) *'तव बिषम माया'* का भाव कि बिना आपकी कृपाके और किसी प्रकारसे यह छूटने योग्य नहीं है। (ख) *'सुरासुर नाग नर अगजग'* कहकर तीनों लोकोंके जीवोंको मायावश जनाया। सुरसे स्वर्ग, असुरसे पाताल और अगजगसे मृत्युलोक सूचित किया। [सुर-असुर सब मायाके वश हैं। देवता वशमें हैं, यथा—*'भव प्रबाह संतत हम परे।'* रावण असुरने मायावश सदुपदेश न माना। इसके अन्तर्गत *'हरिमायाबस जगत भ्रमाहीं','प्रभुमाया बलवंत भवानी',* इन दोनों वचनोंका उत्तर है, (मानसकल्लोलिनी)] (ग) आपकी मायाके वश हैं, इस कथनका आशय यह है कि आपने बाहरके दुःखदाताओंको मारकर संसारको सुखी किया, अब अन्तःकरण-(भीतर-) के दुःखदाताओंको गिनाता हूँ, सुनिये और कृपा करके इनसे भी रक्षा कीजिये। वे ये हैं—माया और मायाका परिवार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि। ये रावणादि राक्षसोंसे भी अत्यन्त प्रबल हैं और केवल आपकी कृपादृष्टिसे छूटते हैं (जैसा कि वेद आगे स्वयं कह रहे हैं—*'जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे'*)।

२—*'भवपंथ भ्रमत········'* इति। (क) मायावश यह जीव भवपंथमें भ्रमण करता है। ८४ लक्ष योनियोंमें भ्रमण करना यही भवपंथका भ्रमण है, यथा—*'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥'* (४४। ४-५) (ख) *'दिवस निसि'* का भाव कि जो दिनभर पंथ चलता है वह रात्रिमें विश्राम करता है, पर यहाँ यह बात नहीं है, यहाँ विश्राम कहाँ? माया दिन-रात भवपंथमें भ्रमाती रहती है। 'अमित' दिवस निशि कहा क्योंकि यह भवपंथ-भ्रमण अनादिकालसे चला आ रहा है, कबसे चल रहा है कोई इसका पता नहीं पा सका।

३—*'काल कर्म गुननि भरे'* इति। (क)—प्रथम मायाको कहकर अब काल, कर्म और गुणको कहनेका तात्पर्य यह है कि ये सब जीवको भवपंथमें चक्कर खिलाते हैं। सब जीव काल, कर्म और गुणोंसे भरे हैं।—*'दिवस निसि'* यह काल है, *'भवपंथ भ्रमत'* यह कर्मफल है और मायाद्वारा प्रेरित होनेसे गुण कहा; क्योंकि माया त्रिगुणात्मिका है। (ख)—प्रथम काल, कर्म, गुण ये तीन कहकर आगे इन तीनोंका किया हुआ दुःख कहते हैं कि *'त्रिबिध दुख········।'*

खर्रा—*'काल कर्म गुननि भरे।'* कर्मानुरोधसे कालमें ज्योतिषरीति जन्म और कालके अनुरोधसे त्रिगुण आक्रान्त हृदय होकर संसारहीमें पड़े रहते हैं। [प्र० सं० के इस लेखको सि० ति० ने इस प्रकार समझाया है कि जो मनुष्य जिस कालमें जन्म लेता है, तदनुसार ज्योतिष-मतसे उसका स्वभावज कर्म नियत हो जाता है, जो कुण्डलीद्वारा प्रकट किया जाता है, फिर कालानुसार ही आयुपर पहुँचकर विद्याध्ययनादि कर्म करता है, फिर वैसे ही गुण प्राप्त करता है। पुनः गुणानुसार कर्म होते हैं और कर्मानुसार ही दूसरे जन्मका काल (दुर्दिन, सुदिन आदि) बनता है। इत्यादि रीतिसे इनके चक्करमें जीव भ्रमण करता रहता है।]

जे नाथ करि करुना बिलोके त्रिबिध दुख ते निर्बहे।
भव खेद छेदन दक्ष हम कहुँ रक्ष राम नमामहे॥ २॥

अर्थ—हे नाथ! जिन जीवोंको आपने करुणा करके देखा उनका तीनों प्रकारके दुःखोंसे निर्वाह हो गया (अर्थात् वे तीनोंसे छुटकारा पा गये, तीनों दुःख छूट गये)। संसार-दुःखके नष्ट करनेमें कुशल, हे राम! हमारी रक्षा कीजिये, हम आपको नमस्कार करते हैं॥ २॥

नोट—*'जे नाथ करि करुना बिलोके.......'* इति। यह प्रभुकी विषम मायासे छूटनेका उपाय कहा। जिसपर आप करुणा करके कृपादृष्टि डालें वही बचता है। 'नाथ' शब्दसे जनाया कि आपके अतिरिक्त और किसीके छुटाये यह माया नहीं छूट सकती, क्योंकि और सब देव तो स्वयं ही मायाके वशमें हैं तब वे दूसरेको कैसे छुड़ा सकते हैं। पुनः भाव कि जीव अनाथ पड़ा हुआ है। जब आप उसपर कृपा करके उसके नाथ बनें, उसे सनाथ करें तब वह छूटे। 'नाथ' से यह भी जनाया कि उस मायाके नाथ भी आप ही हैं, यथा—*'माया नाथ अति कौतुक करयो।'* (३। २०) *'सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहि न मोह माया प्रबल। अस बिचारि मन माहिं भजिअ महामायापतिहि।'* (१। १४०) वह आपकी दासी है, अतः जब करुणा करके देखें तभी छूट सकती है। यथा—*'सो दासी रघुबीर कै समुझे मिथ्या सोपि। छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि॥'* (७१) *'करि करुना बिलोके'* से जनाया कि जब प्रभु कृपा करते हैं तब जीवके हृदयमें आपकी ओर झुकाव होता है, उसे संत मिलते हैं, जो उसे आपके गुण सुनाकर आपके सम्मुख करते हैं, वह शरणमें आता है, तब उसके दुःख दूर होते हैं। यहाँ स्पष्ट कर दिया कि जीवपर आपकी जब अहैतुकी कृपा होती है तभी वह भजन करता है। कृपा प्रथम होती है। यही बात पुरजनोपदेशमें प्रभुने कही है। यथा—*'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥.......कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।'* (४४। ४-६। १। ८। १-२) देखिये। पुनः, *'करि करुना.......'* का भाव कि सामान्यतः तो सभी जीवोंपर आपकी दया है ही, यथा—*'अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहिं बराबरि दाया।'* (८७। ७) पर उस दयासे काम नहीं चलता। जब आप करुणा करके कृपादृष्टि डालें तभी जीवका निस्तार सम्भव है अन्यथा नहीं। जब उसपर करुणा आती है तभी आप उसके दुःखको दूर करनेके लिये स्वयं आतुर हो जाते हैं, उसपर कृपादृष्टि डालकर उसे अपनी ओर खींचते हैं। बस तभी उसका भवबन्धन छूट जाता है। वह मायाके चक्करसे बच जाता है।

गीतामें भी कहा है **'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'** (७। १४) भाव यह है कि जो लोग सबको शरण देनेवाले मुझ परमेश्वरकी शरण ग्रहण कर लेते हैं वे इस दुस्तर मायासे तर जाते हैं। यहाँके वेद-वाक्यसे मिलान करनेसे देख पड़ेगा कि गीताके वाक्यसे ये वाक्य कितने गम्भीर हैं। वेद बताते हैं कि वे शरण भला कब जाने लगे, जब आप स्वयं अपनी ओरसे प्रथम करुणा करके उनपर कृपादृष्टि डालते तभी वे आपके सम्मुख होते हैं, अपनेसे तो वे कदापि आपके शरण जा ही नहीं सकते। विनयमें भी कहा है कि *'जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव।'* वेदोंने मूलतत्त्व बताया है। करुणा, कृपा कारण है, शरणागति कार्य है। प्रभुकी करुणा ही मुख्य है, मायासे तरनेका प्रधान कारण है, शरणागति गौण कारण है।

टिप्पणी—(क) *'त्रिबिध दुख'* इति। जन्म, जरा और मरण अथवा आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक अथवा, काल-कर्म-स्वभावगुणकृत दुःख त्रिविध दुःख हैं, यथा—*'काल-कर्म-सुभाव-गुनकृत दुख काहुहि नाहिं।'* (२१) (ख)—*'भवखेदछेदनदक्ष हम कहँ रक्ष'* इति। भाव कि रावणादिको मारकर हमारी रक्षा की, हमारे रक्षक आप ही हैं, यथा—*'असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु।'* (१। १२१) *'श्रुतिसेतुपालक राम तुम्ह जगदीस।'* (अ० १२६) आपकी कृपादृष्टिसे भवदुःख दूर होता है, कृपादृष्टिसे देखकर हमारी रक्षा कीजिये।

पां०—१ यहाँ शंका होती है कि 'वेद दुःखी तो संसारको कह रहे हैं और रक्षा अपनी माँगते हैं!' इसका समाधान यह है कि वेद जगत्‌के गुरु हैं, वे अपनी रक्षाके मिष जगत्‌की रक्षा माँगते हैं। अथवा, २—दूसरी प्रकार अर्थ यह करें कि वेद कहते हैं कि हम जगन्मात्रसे ऐसा कहते हैं कि प्रभुकी कृपादृष्टिसे त्रिविध दुःख और भवखेद नष्ट होते हैं, इस हमारी वाणीकी आप रक्षा करें, इसे सत्य करें।

छं०—जे ग्यान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी।
ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥

बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।
जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो स्मरामहे*॥ ३॥

अर्थ—जिन्होंने ज्ञानके अभिमानसे विशेष मतवाले होकर आपकी आवागमन छुड़ानेवाली भक्तिका आदर न किया, हे हरि! वे देवताओंको भी कठिनतासे प्राप्त होनेवाले पदको भी पाकर उस पदसे (फिर संसारमें वा नीचे) गिर पड़ते हैं, यह हम देखते हैं (अर्थात् यह हमारी देखी हुई बात है) एवं वे हमको देखते रहते हैं तो भी भवमें पड़ते हैं। जो सब (ज्ञानादि एवं अपने पुरुषार्थका) आशा-भरोसा छोड़कर विश्वास करके आपके दास होकर रह गये, हे नाथ! वे आपका नाम जपकर बिना परिश्रम ही भवपार हो जाते हैं, उन आप स्वामी [वा, भव (शंकर एवं संसार)-के स्वामी]-को मैं स्मरण करता हूँ॥ ३॥

टिप्पणी—'*जे ज्ञान मान बिमत्त*.........' इति। (क) ज्ञानका बाधक मान है। यथा—'*मान ते ज्ञान पान ते लाजा*'—(आ०)। मानसे मतवाले हुए, इसीसे भक्तिका आदर न किया। '*ज्ञान मान बिमत्त*' का दूसरा अर्थ यह भी है कि जो ज्ञान और मान दोनोंमें मत्त हैं। भाव कि वे ज्ञानी नहीं हो सकते हैं क्योंकि जहाँ ज्ञान रहता है, वहाँ मान नहीं रहता। वे यथार्थ ज्ञानी होते तो उन्हें उसका अभिमान न होता। (मानसकल्लोलिनी) पुनः, '*ज्ञान मान बिमत्त*' कहनेमें भाव यह है कि ज्ञान सब प्रकार निरञ्जन है, उत्तम है, यथा—'**नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते**' (गीता), '*नहिं कछु दुर्लभ ज्ञान समाना।*' इसीसे ज्ञान होनेपर मत्त हो जाते हैं। पर बिना भक्तिके ऐसे ज्ञानकी भी शोभा नहीं। यथा—'**नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्। कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥**' (भा० १। ५। १२) अर्थात् उपाधिको निवृत्त करनेवाला अमल निरञ्जन निष्कर्म ब्रह्मज्ञान भी अच्युतभगवान्‌की भक्तिसे रहित हो तो वह भी शोभा नहीं देता, तब निरन्तर अकल्याणरूप अकाम्यकर्म भी जो ईश्वरार्पित नहीं हुए वे कब शोभायमान हो सकते हैं। (पं० रा० व० श०) (ख) भक्तिको '*भवहरनि*' विशेषण देनेका भाव कि केवल ज्ञान भवका हरनेवाला नहीं है, भक्ति भवकी हरनेवाली है।

नोट—१ '*भवहरनि भक्ति न आदरी।*' श्रीमद्भागवतमें ऐसोंके विषयमें कहा है कि वे कल्याणकी खानि भक्तिको त्यागकर क्लेशमात्रके भंडार ज्ञानमें पड़े हैं। भक्ति छोड़ केवल ज्ञानमें परिश्रम करनेवालेको परिश्रममात्र ही फल हाथ लगता है। जैसे भूसी कूटनेवालेके हाथ फल नहीं, किंतु फफोला हाथ लगता है। यथा—'**श्रेयःश्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये। तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्॥**' (१०। १४। ४) '*सुनु खगेस हरिभगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥ ते सठ महा सिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥*'

टिप्पणी—(क) '*सुरदुर्लभ पद*'† अर्थात् परमपद। यह देवताओंको दुर्लभ है, यथा—'*अति दुर्लभ कैवल्य परमपद। संत-पुरान-निगम-आगम बद॥*' (ख) '*हम देखत हरी*' अर्थात् हम इस बातके साक्षी हैं। [खर्रा—'*हम देखत*' का भाव कि हम और शास्त्रोंकी तरह अनुमानसे नहीं कहते हैं, हम शब्दब्रह्म हैं, हमारी सर्वत्र निरावरण दृष्टि है, हम सर्वत्र निरावरण व्यापक हैं। अतः आँखों-देखी कहते हैं। '**हम देखत**' दीपदेहरी है। ज्ञानमत्तको गिरते और नामजापकको बिना प्रयास तरते देखते हैं। **पदादपि**=पदात् अपि=पदसे भी]

☞ मिलान कीजिये—'**येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः। आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥ तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः। त्वयाऽभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥**' (भा० १०। २। ३२-३३)

---

* मा० म० में 'स्मरामहे' के स्थानपर 'सुमिरामहे' पाठ है, जिसे वे एकवचन कहते हैं।

† १ मा० म० 'सुरदुर्लभपद' से ब्राह्मणपद, रा० प्र० ब्रह्मलोक, वीरकवि, 'मनुष्य देह' अर्थ करते हैं और खर्रामें 'ब्रह्मलोक वा मुक्ति' अर्थ है। २—यहाँ दो-दो चरणोंके भावार्थमें 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है (वीर)।

अर्थात् हे कमलनयन! जो दूसरे लोग 'हम मुक्त हैं' ऐसा अभिमान कर आपकी भक्ति नहीं करते, वे अशुद्धबुद्धि आपके चरणारविन्दका अनादर करनेसे अनेक जन्मोंके तपके प्रभावसे परमपदको प्राप्त होकर भी तिर्यगादि नीच योनियोंमें गिरते हैं। हे माधव! जो लोग आपहीमें स्नेह कर आपहीके हो रहे वे लोग मार्गमेंसे कभी भ्रष्ट नहीं होते, बल्कि हे प्रभो! आपके किये हुए रक्षणद्वारा निर्भय होके बड़े-बड़े अनेक विघ्नोंके सिरपर चरण धरकर विचरते हैं।

मानसकल्लोलिनी—१ यह स्तुति यजुर्वेद कर रहे हैं। ***'हम देखत'*** में भाव यह है कि परमपदसे गिर पड़नेपर वे हमको (वेदोंको) पुनः देखते अर्थात् विचारते हैं तथा हम उनको गिरते हुए देखते हैं। —[इस प्रकार ***'हम देखत'*** श्लेषार्थी है। पुनः, ***'हम देखत'*** का भाव यह भी कह सकते हैं कि हमको (वेदोंको) देखते रहते हैं तो भी भक्तिका निरादर करनेसे संसारमें गिरते हैं—यह आपके सम्बन्ध-त्यागका फल उनको मिलता है। (पां०)]

टिप्पणी—३ (क) ***'बिस्वास करि.........'*** इति। श्रीरामजीमें विश्वास होनेसे आशाका त्याग होता है, यथा—***'प्रभु बिस्वास आस जीती जिन्ह ते सेवक हरि केरे।'*** इति। (विनय०) (ख) ***'जपि नाम तव.........'*** इति। ***'बिनु श्रम'*** कहनेका भाव कि दास नाम जपकर बिना श्रम तर जाते हैं और ज्ञानी परिश्रम भी करके परमपदसे गिरते हैं। पुनः, ***'बिनु श्रम तरहिं'*** कथनसे सूचित करते हैं कि नाम लेनेसे भवसमुद्र सूख जाता है, यथा—***'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं।'*** इसीसे कुछ श्रम नहीं होता। (ग) ***'नाम तव'*** का भाव कि तुम्हारा 'राम', यह नाम जपकर बिना श्रम तरते हैं।

छन्द—जे चरन सिव अज पूज्य रज सुभ परसि मुनिपतिनी तरी।
नख निर्गता मुनिबंदिता त्रैलोक पावनि सुरसरी॥
ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे।
पदकंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे॥ ४॥

शब्दार्थ—**निर्गता**=निकली हुई। **किन**=क्यों न, किन लोगोंने। (सं०) **किण**=चिह्न, दाग, गड्ढा, किसी वस्तुके लगने, चुभने वा रगड़ पहुँचानेका चिह्न।

अर्थ—श्रीशिव और ब्रह्माजीके पूज्य जिन चरणोंकी कल्याणकारी रजको स्पर्श करके गौतम मुनिकी स्त्री अहल्या तर गयी, जिनके नखसे मुनियोंसे वंदित त्रिलोकको पवित्र करनेवाली गङ्गाजी निकलीं और ध्वज, कुलिश, अंकुश और कमल (चिह्नोंसे) युक्त (अर्थात् जिनमें ये राज्यचिह्न हैं) चरणोंसे, आपको छोड़ और किसने कण्टकवनमें फिरकर काँटे प्राप्त किये? अर्थात् आपके सिवा किसी चक्रवर्तीने ऐसे कष्ट नहीं झेले। एवं जिन चरणोंमें वनमें फिरते समय काँटोंसे घाव हो गये थे, उन मुक्तिके दाता (एवं द्वन्द्वसे मुक्ति देनेवाले), दोनों चरणकमलोंको, हे राम! रमापति! हम नित्य भजते रहते हैं॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) ***'सिव अज पूज्य'*** कहकर चरणकी बड़ाई की कि ये सबसे बड़े हैं, उत्पत्ति और संहारके करनेवाले हैं, सो भी इन चरणोंकी पूजा करते हैं। (ख) रजको शुभ कहनेका भाव कि इसके स्पर्शसे सबका कल्याण होता है। ***'रज सुभ परसि मुनिपतिनी तरी'*** से रजकी बड़ाई की कि अहल्या-ऐसी पातकिनी रज-स्पर्शसे तर गयी, यथा—***'जे परसि मुनि बनिता लही गति रही जो पातकमई।'*** (१। ३२४) (ग) ***'नख निर्गता.......'*** कहकर चरणोदककी बड़ाई करते हैं। ***'नख निर्गता मुनिबंदिता.........'*** से गङ्गाजीकी चारों प्रकारकी उत्तमता दिखाते हैं। श्रीरामजीके नखसे निकली हैं, इससे कुलकी उत्तमता ***'मुनिबंदिता'*** से स्वरूपकी, ***'त्रैलोक पावनि'*** से स्वभावकी और ***'सुरसरी'*** से संगकी उत्तमता (देवताओंका संग) कही। (घ) ***'त्रैलोक पावनि'*** कहकर सूचित करते हैं कि गङ्गाजी तीनों लोकोंमें गमन करती हैं, इसीसे तीनों लोक पवित्र होते हैं। और उनका नाम त्रिपथगा हुआ। यथा— ***'लोकत्रयगामिनी'*** (वि० १८), ***'ईस सीस बससि त्रिपथ लससि नभ पताल धरनि।'*** (वि० २०)

नोट—नखनिर्गता मुनिबंदिता इत्यादिके क्रमका भाव कि नखनिर्गता होनेसे ही सुरसरी देवमुनिसे वन्दिता और त्रैलोक्यपावनी हुईं और इसीसे ब्रह्माने उन्हें कमण्डलुमें और शिवजीने शीशपर रखा (खर्रा)।

मिलान कीजिये—*'जयति जय सुरसरी जगदखिल पाविनी। बिष्नु पदकंज मकरंद इव अंबु बर बहसि दुख दहसि अघबृंद बिद्राविनी। मिलित जलपात्र अज युक्त हरिचरन रज बिरजतरवारि त्रिपुरारि सिर धामिनी॥'* (वि० १८) इसके सब भाव छन्दके पूर्वार्द्धमें हैं।

३ (क) *'ध्वज कुलिस अंकुस·········'* इति। भाव कि जिसके चरणोंमें ये चिह्न होते हैं वह पृथ्वीभरका राजा होता है, चक्रवर्ती राजा होता है, उसको वनका विचरना और काँटोंके घावोंका सहना अयोग्य है। आपने वह दुःख भी सहकर सबका दुःख हरण किया और सबको मुक्त किया। किन=घाव। **'व्रणे चिह्ने घुनेकिण इति हारावली।'** [खर्रा—चार चिह्न वर्णनका हेतु कि शरणागतके रक्षणार्थ ध्वजा, उसके शत्रुसंहारार्थ वज्र, भक्तोंके मन आकर्षण करनेको अङ्कुश और अभीष्ट देनेको पद्म है। ऐसे वैभवयुक्तचरणको हम नित्य भजते हैं, यह वेदोंने उपासनाका रहस्य बताया।]

नोट—भागवतमें धरणी-धर्म-संवादमें भी इन्हीं चार चिह्नविशेषोंका उल्लेख है—**'तस्याहमब्जकुलिशाङ्कुशकेतुकेतैः श्रीमत्पदैर्भगवतः समलंकृताङ्गी॥'** (१। १६। ३३)

२—महारामायणमें इन चिह्नोंके लक्षण और माहात्म्य इत्यादि इस प्रकार हैं—**'लोहिता च ध्वजा तस्यां चित्रवर्णाभिधीयते॥'** (७४), **'ध्वजपताकयोर्जातौ नरनारायणावुभौ॥'** (३१), **'ध्वजाविजयो जातो मुकुटाद्दिव्य-भूषणः। यः करोति महाराजं दीनमेव स्वतेजसः॥'** (४८), **'वज्रांकुशाभ्यां समुत्पन्नो नृसिंहो भक्तवत्सलः॥'** (२३), **'वज्राद्वज्रमुत्पन्नं पापपर्वतहानिदम्॥'** (४५), **'वज्रं तडितवज्ज्ञेयं श्वेतरक्तं तथा यवम्॥'** (७३), **'अङ्कुशादङ्गानं संजातं सर्वलोकमलापहम्। प्रापयत्येव सन्मार्गे मत्तमात्तङ्गजं मनः।'** (४७), **'पंकजात्पंकजं जातं विष्णुहस्ते मुदान्वितम्॥'** (४३), **'नभोवदम्बरं ज्ञेयमरुणं पंकजं स्मृतम्॥'** (७२), **'एकैकचिह्नमध्ये तु सद्गुणाः कोटिकोटयः॥'** (६७)

श्रीप्रियादासजीने इन चिह्नोंके माहात्म्य भक्तिरसबोधिनी टीकामें यों कहे हैं—*'मन ही मतंग मतवारो हाथ आवै नाहि ताके लिए अंकुश लै धार्‌यो हिय ध्याइये। ऐसेही कुलिश पर्वतके फोरिबेको भक्तिनिधि जोरिबेको कंज मन ल्याइये। छिनमें सभीत होत कलिकी कुचाल देखि ध्वजा सो विशेष जानो अभयको विश्वास है।'*

इस तरह ये चिह्न शरणागतके विशेष उपयोगी हैं। ध्वज-चिह्न कलिसे अभय देता है, वज्र भक्तके पाप-पहाड़को चूर-चूर कर देता है, अंकुश मनको वश कर देता है और पद्म भक्ति तथा पद्म (जो निधियोंमेंसे एक है) अभीष्ट देता है।

मानसकल्लोलिनी—१ अब अथर्वण वेद पदार्थसंयुक्त श्रीरामचन्द्रजीके कंटकरहित चरणके लक्षण और परत्वको वर्णन करते हैं।

नोट—*'कंटक किन लहे'* के दो-तीन प्रकारके अर्थ टीकाओंमें मिलते हैं। मा० म० और कल्लोलिनी अर्थ करते हैं कि 'कंटक-(वन-) में चलनेपर भी कणामात्र कंटक न लगा' और कहते हैं कि 'यह रामचन्द्रजीका ऐश्वर्य वेद कह रहे हैं। यदि कोई नंगे पैर कठोर पृथ्वीपर रोज चले तो ठेला (=लट्ठा) पड़ जायगा और पैरोंमें बिवाई फट जायँगी परंतु आपके चरण कोमल ही बने रहे, उनमें काँटे न लगे। इसको देखकर हनुमान्‌जीने श्रीरामचन्द्रजीका ऐश्वर्य जाना था जैसा उनके *'कठिन भूमि कोमलपदगामी'* इन वचनोंसे स्पष्ट है।'—दोनोंके मतोंका सारांश यह निकला कि *'किन'* का अर्थ 'नहीं' हुआ। करुणासिंधुजी *'कंटक किन लहे'* के दो प्रकारसे अर्थ करते हैं—(क) 'वे पद वनमें फिरते समय 'कंटकी' अर्थात् तामसी जीव, कुश, कंटक, सर्प, बिच्छू, वनचर कोलभील इत्यादि अनेक जीवोंको प्राप्त हो गये। (ख) जो ब्रह्मादिको दुर्लभ हैं, वे पद भक्तोंके हितार्थ वनमें फिरते हुए कंटकोंसे क्लेशको प्राप्त हुए—यह आपकी कृपालुता है।' इस प्रकार *'कंटक किन',* एक तो एक शब्द माना गया और उसका अर्थ हुआ 'कंटकियों, कंटकी जीवोंने', दूसरे, *'किन'* का अर्थ 'क्लेश' हुआ। वंदन पाठकजी एवं पं० रामकुमारजीका मत एक है। अर्थात् किन=घाव। आधुनिक बहुत-से टीकाकारोंने करुणासिंधुजीके प्रथम अर्थको ग्रहण किया है।

मेरी समझमें इसके अर्थमें किसी प्रकारके खींचतानकी आवश्यकता नहीं है। '*किन*' का साधारण अर्थ 'किसने' सभी जानते हैं। इस प्रकार यहाँ सरलतासे यह अर्थ हो जाता है कि—'काँटे किसने प्राप्त किये?' अर्थात् आपके अतिरिक्त देवमुनि इत्यादिके लिये वन-वन फिरकर काँटे सहना इत्यादि क्लेश किसीने नहीं उठाये। दूसरे, '**किण**' संस्कृत शब्द है उसके अनुसार भी अर्थ ठीक बैठता है और भा० ९। ११। १९ के अनुकूल है। वहाँ शुकदेवजी कहते हैं कि प्रभुने अपने उन कल्याणकारी चरणोंको भक्तोंके हृदयमें स्थापित किया, जिनमें दण्डकारण्यके काँटे, कंकड़ आदि गड़े थे—'**स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः। स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात्ततः॥**'—विद्धमें वही भाव है।

पं० रा० व० श०—ये चार प्रशस्त चिह्न हैं। भाव यह है कि जिनके चरणोंकी एक-एक रेखाका इतना माहात्म्य है, वे ही वनमें फिरे हैं। आपके पद मुक्ति देनेवाले हैं, हम उनको नित्य भजते हैं—इस कथनका भाव यह है कि इस संसारके मूल तो आप ही हैं, तब बिना आपके भजनके संसार कैसे छूट सकता है? संसारसे मुक्त करनेवाले कहकर आगे संसारविटपरूप भगवान्‌की वन्दना करते हैं।

टिप्पणी—'***पदकंज द्वंद मुकुंद*********' अर्थात् आपके दोनों चरण मुक्तिके दाता हैं। वा, आपके चरणकमल हानि-लाभ, दुःख-सुख, मानापमान, निंदा-स्तुति, जन्म-मरण इत्यादि द्वन्द्वोंके छुड़ानेवाले हैं।

☞जब रूपकी बड़ाई की तब रूपको नमस्कार किया, यथा—'***जय प्रनतपाल दयाल प्रभु संयुक्त सक्ति नमामहे।***' और जब नामकी बड़ाई की तब कहा कि हम आपका नाम जपते हैं, यथा—'***जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो स्मरामहे।***' तथा जब चरणकी बड़ाई की तब कहा कि हम आपके चरणोंको भजते हैं, यथा—'***पदकंज द्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे।***' यहाँतक रामजीका सगुण स्वरूप कहा, आगे विराट्‌रूप वर्णन करते हैं।

खर्रा—'**रमेस**'=अनन्त ब्रह्माण्डकी ऐश्वर्यरूपिणी लक्ष्मीके स्वामी।

मयूख—यहाँतक चारों वेदोंने पृथक्-पृथक् स्तुति की। सामवेदने प्रथम स्तुतिमें यह कथन किया कि रावणके दुःखको प्रथम श्रीरामचन्द्रजीने हरण किया, यथा—'***अवतार नर संसारभार बिभंजि दारुन दुख दहे***' पुनः ऋग्वेदने यह आह्लादपूर्वक कहा कि रावणपर करुणा करके उसे भवदुःखसे निवृत्त किया। यजुर्वेदका कथन है कि ज्ञानसे मत्त रावणको मारकर उसकी उन्मत्तताका नाश किया और अपनेमें विश्वास कराया। अथर्वणवेदका यह कथन है कि आपके कंटककी कठोरताको नाश किया, अब मेरे मनकी कठोरताको हरिये।

छं०—अव्यक्त मूलमनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने।
षटकंध साखा पंच बीस अनेक पर्न सुमन घने॥
फल जुगल बिधि कटु मधुर बेलि अकेलि जेहि आस्रित रहे।
पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे॥५॥

अर्थ—वेदशास्त्र कहते हैं कि संसाररूपी वृक्षकी जड़ 'अव्यक्त' (ब्रह्म या माया है, देख नहीं पड़ती) है। यह अनादि-कालसे है, इसमें चार त्वचाएँ (खाल, छिलका, बकला) और छः स्कन्ध (तना) हैं। २५ शाखाएँ, अनेक पत्ते और सघन (बहुत-से) फूल हैं, कड़वे-मीठे दोनों प्रकारके फल लगे हैं। इसपर एक ही बेल है जो इसके आश्रित रहती है। यह नित्य नवीन फूलता और पत्तोंसे युक्त रहता है—ऐसे संसारवृक्ष (रूप आप) को मैं नमस्कार करता हूँ*॥ ५॥

---

* 'संसार बिटप नमामहे' के अर्थ करुणासिंधुजी आदिने यों किये हैं—

१ करु०—(क) श्रीरामचन्द्रजी! हम आपको नमस्कार करते हैं, यह संसार आपकी इच्छाविभूति है। वा (ख) हम आपकी विभूतिहीको नमस्कार करते हैं। वा, (ग)—हम आपकी एकपादविभूतिके सहित आपको नमस्कार करते हैं।

२ मा० क०—(क) ऐसा विस्तारसहित जो आपका स्वरूप विश्वविटप है, सो धन्य है। (ख)—यह संसार प्रभुकी एकपादविभूति है, यथा—'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' इति पुरुषसूक्तः। इसका बीज रेफ वा प्रणव है।

टिप्पणी—१ संसार-विटपका मूल माया है। [श्रीमद्भागवतके विश्वविटपवाले रूपकोंसे भी ब्रह्महीका मूल होना सिद्ध होता है। यथा—'**आत्ममूलम्**', '**अहं हि'''''''अव्यक्त एको वयसा स आद्यः।**' मानसमें भी अव्यक्तको ही निर्गुण ब्रह्म कहा है, यथा—'***कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।***' (लं० ११२) (इन्द्रकृत स्तुति)। और 'अव्यक्तमूल' ये वचन भी वेद ही कह रहे हैं। अत: यहाँ वेदान्तमत ही लेना चाहिये। श्रुतियाँ भी यही कहती हैं, यथा—'**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।**' '**सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**', '**तवैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति**' (छां० अ० ६ खण्ड २ मन्त्र १, २, ३) अर्थात् हे सोम्य! आरम्भमें यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही था। उस (सत्) ने ईक्षण किया कि 'मैं बहुत हो जाऊँ—अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ'। आगे तेज, जल, अन्न आदिकी उत्पत्ति कहकर अन्तमें फिर कहा है कि हे सोम्य! इस प्रकार यह सारी प्रजा सन्मूलक है तथा सत् ही इसका आश्रय है और सत् ही प्रतिष्ठा है। यथा—'**सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।**' (छां० अ० ६ खण्ड ८ मन्त्र ४ तथा मन्त्र ८) पं० रा० व० श० जी कहते हैं कि सांख्यमतसे प्रकृतिको अव्यक्त कहते हैं और वेदान्तमतसे ब्रह्मको अव्यक्त कहते हैं, क्योंकि उसीको जगत्का कारण माना है।] '***अनादि***' कहनेका भाव कि संसारको भगवान्का रूप कहते हैं, भगवान् अनादि हैं, इसीसे संसारको अनादि कहा। अथवा संसार कबसे है इसे कोई नहीं जानता, अतः अनादि कहा। यथा—'***बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।***' (२। २८२। ६) २—'***निगमागम भने।***' प्रश्न—वेद आप ही अपनेको कैसे कहते हैं? उत्तर—वेद यहाँ अपने रूपसे नहीं हैं, बंदीरूपमें हैं, इसीसे निगमागमका कहना कहते हैं।

पं० रा० व० श०—१ (क) पञ्चतत्त्व और मन—ये छः स्कन्ध हैं, प्रत्येक तत्त्वसे पाँच-पाँच प्रकृतियाँ हुईं, ये ही २५ शाखाएँ हैं। (ख) '***पर्ण सुमन''''''''***' इति। कर्मवासना पत्ते हैं जो अभी फल देनेवाले नहीं हैं और जो कर्म-फल देनेवाले हैं, वे फूल हैं। भागवतसे दो ही फल मालूम होते हैं किन्तु यहाँ फल बहुत हैं, पर दो ही प्रकारके हैं यह अद्भुतता है।* अनेक प्रकारके सुख-दुःख अनेक प्रकारके फल हैं। दोनोंमें मीठे और कड़वे दोनों हैं (ग) '***बेलि अकेलि''''''''***' इति।—समुदाय कर्मजनित वासना बेलि है† अर्थात् आशारूपी बेलि वृक्षभरपर छायी है। बेलि उस विटपके आश्रित है। (घ) '***नवल नित***' इति। भाव कि बहुत दिनका

---

* 'अयं हि जीवस्त्रिवृदब्जयोनिरव्यक्त एको वयसा स आद्यः।
विश्लिष्टशक्तिर्बहुधेव भाति बीजानि योनिं प्रतिपद्य यद्वत्॥
यस्मिन्निदं प्रोतमशेषमोतं पटो यथा तन्तुवितानसंस्थः।
य एष संसारतरुः पुराणः कर्मात्मकः पुष्पफले प्रसूते॥
द्वे अस्य बीजे शतमूलस्त्रिनालः पञ्चस्कन्धः पञ्चरसप्रसूतिः।
दशैकशाखो द्विसुपर्णनीडस्त्रिवल्कलो द्विफलोऽर्कं प्रविष्टः॥
अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यैर्मायामयं वेद स वेद वेदम्॥ (भा० ११। १२। २०—२३)

भगवान् उद्धवजीसे कह रहे हैं कि मैं आदिमें अव्यक्त एवं एकमात्र था और फिर बीज जैसे खेतको पाकर बढ़ता है, वैसे ही शक्तियोंके विभक्त होनेपर बहुधा प्रतीत होता है। वह त्रिगुणाश्रय और पद्मयोनि अर्थात् ब्रह्माण्डरूपपद्मका कारण है। पटमें सूत्रोंकी भाँति समग्र विश्व इसमें ओतप्रोत भावसे व्याप्त है। यही प्रवृत्तिशील सनातन संसारतरु है। भुक्ति इसका पुष्प है और मुक्ति इसका फल है। पुण्य और पाप—ये दो इसके बीज हैं, अपरिमित वासनाएँ इसकी जड़ें हैं, तीनों गुण इसके प्रकाण्ड हैं, पञ्चभूत इसके स्कंध हैं, शब्दादि पाँच विषय इससे उत्पन्न रस हैं, ग्यारह इन्द्रियाँ इसकी शाखाएँ हैं, जीवात्मा और परमात्मा—ये दोनों पक्षी नीड़ निर्माण कर इसमें अवस्थित हैं, वात-पित्त-श्लेष्मा—ये तीन वल्कल हैं, सुख और दुःख—ये दो इसके परिपक्व फल हैं। इस प्रकारका यह वृक्ष सूर्यमण्डलतक व्याप्त है। कामी गृहस्थ लोग इसके दुःखरूप फलको खाते हैं और वनवासी परमहंस लोग इसके सुखरूप फलको पाते हैं। जो कोई पूज्य गुरुकी सहायतासे एकमात्र निर्गुण परमात्माको इस सगुणरूपसे बहुरूप जानता है, वही वेदके यथार्थ तत्त्वको जानता है।

† 'संसार कांतार अति घोर गंभीर घन गहन तरु कर्म संकुल मुरारी।
वासना बल्लि खरकंटकाकुल विपुल निविड विटपाटवी कठिन भारी॥'—(५९)

होनेसे पदार्थ फीका पड़ जाता है पर इसमें यह बात नहीं, यह नित्य नया वैसा ही सुन्दर बना रहता है। जगत् जैसा-का-तैसा हरा-भरा नित्य देख पड़ता है, यद्यपि न जाने कितने मर गये और छोड़कर चले गये।

सि० ति०—'*फल जुगल*.........' इति। इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वरकी शरीररूपा प्रकृतिके द्वारा शुभाशुभ कर्म होते हैं, यथा—'**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥**' (गीता ३। २७) अर्थात् प्रकृतिके गुणोंके द्वारा सब प्रकारके कर्म होते हैं, अज्ञानी अहंकारसे अपनेको कर्ता मान लेते हैं। यथा—'**कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥**' (गीता १३। २०); अर्थात् कार्य (पञ्चतत्त्वों एवं पञ्चविषयों) और करण (मन, बुद्धि, अहंकार तथा १० इन्द्रियों) की उत्पत्तिमें हेतु प्रकृति है और फल भोगनेमें हेतु जीवात्मा है; यथा—'*देखी सुनी न आजु लौं अपनायति ऐसी। करैं सबै सिर मेरियै फिरि परै अनैसी॥*' (वि० १४८), अर्थात् कामादिमें आसक्त होकर मन और इन्द्रियाँ सब कर्म करते हैं, परिणामका दुःख मेरे सिरपर पड़ता है, फिर भी इनका साथ नहीं छूटता ऐसी अपनायत (आत्मीयता) पड़ गयी है। पुनः कर्म-फलके समयका संयोग भी ईश्वर ही करते हैं, यथा—'*सुभ अरु असुभ करम अनुहारी। ईस देइ फल हृदय बिचारी॥*' (अ० दोहा ७७); इन प्रमाणोंसे पत्र और पुष्प भगवान्के शरीर-रूप वृक्षमें ही लगना निश्चित हुआ।

फलोंका भोक्तृत्व भी जीवोंमें ही सिद्ध हुआ। तथा—'**द्वा सुपर्णा**.........' (मुं० ३। १। १) में भी जीवका ही फल भोक्ता होना स्पष्टरूपसे कहा गया है। यहाँ '*कटु मधुर*' कहकर फल कहा गया है। इसका अनुभव भी भोगनेवाला जीव ही करता है। इससे जीवोंकी ही अविद्यात्मक वासनाद्वारा फल लगना ठीक है, अतः फलमात्र बेलिमें लगना जानना चाहिये। वृक्षमें नहीं; यथा—'**न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।**' (गी० ४। १४); अर्थात् कर्मोंके फलोंमें मेरी स्पृहा नहीं है, इसीसे कर्म मुझे लिप्त नहीं करते; (यह श्रीभगवान्ने ही कहा है)।

नोट—यहाँ श्रीरामचन्द्रजीको संसार-विटप कहा है। यहाँ 'साङ्गरूपक' है। इसके जो अंग यहाँ कहे गये हैं इसके स्पष्टीकरणमें बहुत मतभेद है। अतएव नकशा बनाकर उनको यहाँ एकत्र कर दिया गया है, जिसमें एक साथ ही सब महानुभावोंके विचारोंका दर्शन हो जाय और पाठक जिस मतको ठीक समझें ग्रहण करें। वृक्षमें जड़, त्वक्, स्कंधादि होते हैं, वे सब संसारवृक्षमें क्या हैं, यह आगे नकशेमें दिखाया गया है।

१—मूल अव्यक्त	२—चार त्वचा	३—षट्स्कंध	४—२५ शाखाएँ
१ आदिशक्ति माया मूल है—'**आदिसक्ति जेहि जग उपजाया**', **एक रचइ जग गुन बस जाके।**'—(पं०, शीला, मा० म०, खर्रा)।	१ जाग्रत् आदि चार अवस्थाएँ—पं०, शीला	१ षड्विकार '**अस्ति जायते विपरिणमते वर्द्धते क्षीयते नश्यति**'—शीला	१ पञ्चतत्त्वसे जो पञ्चीकरण हुआ—पं० * प्रत्येक तत्त्वमें पाँच-पाँच प्रकृतियाँ हैं।— करु०
२ निर्गुणब्रह्म मूल है इससे अनादि कहा—शीला।	२ चारों अवस्थाओंके विभुविश्व, तैजस, प्राज्ञ, प्रत्यगात्मा—पं०	२ क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोक, जन्म, मरण—पं०	२२५ प्रकृतियाँ-पां० करु०, शीला।
३ मूल अव्यय है=जाना नहीं	३ तैजसयुत सत्त्व, रज,	३ सुख-दुःख, शीतोष्ण	३ करु०—एक-एक

* (i) करु०, मा० क०; खर्रा—(१) जलतत्त्वमें—पीच, वीर्य, स्वेद, लार और रक्त। (२) पित्त अग्निमें-क्रान्त, आलस, निद्रा, भूख और प्यास। (३) पवनमें—धावन, उछरन, पगधरन, स्पर्श और संकोचन। (४) गगनमें—काम, मत्सर, लोभ, क्रोध और मोह। (५) पृथ्वीमें—अस्थि, मांस, नाड़ी, त्वचा, रोम। (ii)—मनस्कन्ध सीधा चला गया है। उसमें शाखाएँ नहीं फूटी हैं, इसीसे उसको अकेला कहा है।

जाता कि क्या है, इसका कर्त्ता कौन है और यह कबसे है। (मा० म०) ४ रेफ मूल है—(मा० क०) ५ अव्यक्त ब्रह्म मूल है। जगत् कबसे हुआ यह जाना नहीं जाता, अत: अनादि कहा-(पं०) ६ रा० व० श०—सांख्यमतसे अव्यक्त मूल प्रकृति है और वेदान्तमतसे ब्रह्म है।	तम तीनों गुण—मा० म० ४ शुद्ध सत्त्व गुण, सत्त्व, रज, तम। ये चार रङ्ग शुद्ध श्वेत, श्वेत, अरुण, श्यामकी चार त्वचाएँ हैं-मा० क०,-खर्रा ५ 'मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार, वा, चारों युग। वा, चारों फल। वा, जीवकी अंडजादि खानि—(पां०)। वा, चारों वेद इत्यादि चार त्वचा लोग कहते हैं। मेरी समझमें चार कला चार त्वक् हैं—एक ॐकार और सत्, रज, तम तीन गुण, ये चार हुए' *—(करु०) ६ सत्, रज, तम (श्वेत, लाल काली) तीन त्वचाएँ हैं। चौथी बड़ी महीन झीनी त्वचा है। यह तीनों गुणों-की साम्यावस्था अहंकार है जो बड़ी सूक्ष्म है—(पं० रा० व० श०)	ज्ञानाज्ञान—पां० ४ क्षिति, जल, पावक, समीर, गगन पञ्चतत्त्व और मन-(करु०, मा० म०)। इनके रंग पीत, श्वेत, लाल, श्याम और हरे हैं। मनकी संख्या होने योग्य नहीं—(मा० क०) ५ करु०—'कोई षट् धातु-(पर धातु सात हैं), कोई षट्-विकार, कोई षट् शास्त्र, वा पञ्चज्ञानेन्द्रिय और मन इत्यादिको स्कंध कहते हैं। पर इनमें सब अंग 'शाखा, फूल आदि' नहीं मिलते। मन मध्यका स्कंध है और पंचतत्त्व गिर्दावलीके हैं।' ६ पञ्चज्ञानेन्द्रिय और मन—खर्रा	स्कंधमें ५-५ शाखाएँ मानें तो ३० और ४-४ मानें तो २४ होती हैं, २५ नहीं। इससे जान पड़ता है कि मनस्कंध-की शाखाएँ गिनतीमें नहीं ली गयीं, क्योंकि मनके संकल्प-विकल्प अनेक हैं, अगणित हैं।

५-६ पर्णसुमनघने	७—फल मधुर कटु	८—बेलि अकेलि
१ पञ्चीकरणसे जो अनेक देह उत्पन्न हुए वे पत्र-पुष्प हैं—पं० २ वासनाएँ पत्रसमूह हैं जो झड़ते और लगते रहते हैं। जो इनके संकल्प उठते रहते हैं वे फूल हैं, किसीमें फूल लगता है और कोई झड़ जाते हैं—पां० ३ अनेक प्रकारके विषय और विषय-भोगकी वासनाएँ अनेक पर्ण और फूल हैं। (शीला)	१ सुख-दु:ख फल हैं, एक मीठा दूसरा कटु—पं०, शीला २ मनके विमुख होना कटु फल है और अनुकूल होना मधुर है—मा० मा० ३ पाप-पुण्य फल हैं—पां० ४ हानि-लाभ, दु:ख-सुख, शोक-हर्ष, नरक-स्वर्ग इत्यादि दो-दो प्रकारके शुभाशुभ ही	१ बेलिका अर्थ यहाँ बेला, आलबाल है जो वृक्षकी रक्षा करता है। इसीके आश्रित संसार-वृक्ष फूलता-फलता है। लता अर्थ लेकर इसे माया मानें तो बेलिके आश्रय वृक्ष नहीं बनता और माया तो अव्यक्त पदमें आ भी गयी है।-पं० २ विद्यामाया बेलि है जिसने त्रिगुणको लेकर लोमप्रति पत्ररूपी सृष्टि की है और चार प्रकारके (अण्डजादि) जीवरूपी फल उत्पन्न किये हैं—मा० म०

* करु०—एक बकला सूक्ष्म, अतिकोमल और अतिश्वेत लकड़ीमें लपट रहा है, जिससे मिला पहलेसे कुछ मोटा श्वेत दूसरा बकला है। फिर दूसरेपर लाल रंगका और उसपर काले रंगका बकला है। ये चार प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं—इस तरह कि प्रणव अतिश्वेत सूक्ष्म जीवमें मिला फिर उसपर क्रमसे सत्त्व, रज और तम हैं।

४ मनकी अनेक चेष्टाएँ अर्थात् संकल्प-विकल्प पत्ते हैं, चेष्टाकी पूर्ति फूल है—मा० म० ५ अनेक प्रकारके शुभाशुभ कर्म पत्ते हैं, कर्मोंके फलकी वासनाएँ फूल हैं— करु० ६ मनोराज्यरूप घने सुमन—खर्रा। ७ एक-एक स्कन्धमें दो-दो पत्ते और दो-दो फूल और दो-दो फल लगे हैं * यथा—	दो प्रकारके फल हैं। ५ शुभरूप मधुर फल, अशुभरूप कटु फल—खर्रा।	३ मायाके आश्रित संसार है, जबतक माया है तभीतक संसार। यह विटप सदा फूलता-फलता हरा-भरा रहता है। नित्य नये विषयोंकी वासनाएँ पत्ते और नित्य नये दुःख-सुख ही कटु मधुर फल हैं। ४ संसारको प्रथम वृक्ष कहा और अब उसीको बेलि कहते हैं। वा, संसारतरुमें अहंममरूपी माया (ममत्व) जो संसारमें छा रही है वही बेलि जो वृक्षके आश्रित है। ५ अविद्यामाया सदैव आशा-निराशारूपी पत्तियोंसे परिपूर्ण रहती है। यह नित्य नवपल्लवयुक्त और फूलती-फलती रहती है—पां० ६ अविद्यामाया बेलि है, वासनारूप पल्लव और मनोराज्य-रूप फूल होते हैं। यह उपमेयाङ्गलुप्त रूपक है—खर्रा

नोट—मा० क० में पत्ते, भेंटी, फूल, फल, कटु-मधुर, पक्षी और भोक्ता इतने भाग करके दिखाये हैं; यहाँ कविने पत्ते, फूल, फलभर गिनाये हैं, इससे उतना ही अंश नक्शा बनाकर दिखाया गया है। इसका खुलासा यह जान पड़ता है कि उनके मतानुसार एक-एक ज्ञानेन्द्रिय और एक-एक कर्मेन्द्रिय एक-एक स्कन्धके दो-दो पत्ते हैं, इन्द्रियविषय भेंटी, विषय-सुखका समय निकट आना फूल, विषय-भोग होना फल, विषयभोगसे दुःख या सुख होना कटुता और मधुरता है। इसके भोक्ता पक्षी इन्द्रियोंके देवता हैं।

नोट—भा० ३। ९। १६ में ब्रह्माजीने भी भगवान्‌को 'भुवनद्रुम' अर्थात् विश्वविटप कहा है, पर वहाँ मानसका-सा साङ्गरूपक नहीं है। मिलानके लिये उसे यहाँ उद्धृत करता हूँ—'**यो वा अहं च गिरिशश्च विभुः स्वयं च स्थित्युद्भवप्रलयहेतव आत्ममूलम्। भित्त्वा त्रिपाद्ववृध एक उरुप्ररोहस्तस्मै नमो भगवते भुवनद्रुमाय॥**' अर्थात् जो जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके लिये अपने मूल स्वरूपसे मेरे, अपने और शिवजीके रूपमें विभक्त हो प्रजापति और मनु वा मरीचि आदि रूपसे फैलकर वृद्धिको प्राप्त हुए हैं, उन विश्वविटपरूप भगवान्‌को मैं प्रणाम करता हूँ।

भागवत एकादश स्कन्धमें विश्वविटपका कुछ विस्तृत रूपक है, जो भगवान्‌ने श्रीउद्धवजीसे कहा है। उसमें बीज, स्कन्ध, शाखाएँ, फल, रस और दो पक्षियोंका निवास भी कहा गया है। अतः उन श्लोकोंको भी हमने यहाँ मिलानके लिये पृष्ठ ११५ पाद-टिप्पणीमें उद्धृत कर दिया है।

मानसकल्लोलिनी—अब चारों वेद एकत्र होकर स्तुति करते हैं। इस स्तुतिका सार मर्म यह है कि हे रसीले! रसयुक्त श्रीजानकीजीके शृङ्गारके रसिक श्रीरामचन्द्र! आप ही विश्वविटप हैं और आप ही इसको भोगनेवाले हैं।

छं०—जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं।
ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥
करुनायतन प्रभु सदगुनाकर देव येह बर माँगहीं।
मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं॥ ६॥

अर्थ—ब्रह्म अज है (जन्म नहीं लेता), अद्वैत है (वही सब कुछ है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है), अनुभवसे जाना जाता है (और सब इन्द्रियोंसे परे है, ऐसा सूक्ष्म है), और मनसे परे है जो ऐसा ध्यान करते हैं, वे ऐसा कहा करें और जानें; हम तो, हे नाथ! आपका सगुण यश नित्य गाते हैं*। करुणाके धाम! हे सद्गुणोंकी खानि! हे प्रभो! हे देव (दिव्य शरीरवाले)! हम यह वर माँगते हैं कि मन, कर्म और वचनके विकारोंको छोड़कर हम आपके चरणोंमें प्रेम करें॥ ६॥

पं० रा० कु०—१ ***'ते कहहु जानहु……।'*** तात्पर्य कि ब्रह्म न कहते बने, न जानते बने, यथा—**'ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये……'**—(भा० १०। ८७। दोहा १२ में देखिये) सगुण रूपका यश गाते बनता है, इसीसे हम आपके सगुण रूपका यश गाते हैं।

पं० रा० व० श०—१ जैसे भगवान्ने उपनिषदोंका सार सिद्धान्त बताया है कि—**'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु' 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'** वैसे ही वेद अपना सिद्धान्त यहाँ स्तुतिके अन्तमें करते हैं। इससे जनाया कि प्रस्थानत्रय-वेदान्तब्रह्मसूत्र और समस्त उपनिषदोंका यही सिद्धान्त है।

२—**'अजमद्वैत……'**। भाव कि वह अज है, अद्वैत है, मायाने आवरण डालकर तुमसे छिपा दिया और जगत्में ब्रह्मकी भावना करा दी—ऐसा वे कहते हैं। पर हमारा सिद्धान्त यही है कि ब्रह्म सगुण है, और गुणयुक्त जानकर हम गुणोंका यश वर्णन करते हैं।

मानस-कल्लोलिनी १—***'ते कहहु जानहु'*** इति। भाव यह कि 'ब्रह्म अद्वैत, मनसे परे, अनुभवगम्य और अनादि है, तो मन और अनुभवसे पार भी कहते हैं और ध्यान भी करते हैं, यह नहीं मालूम होता कि जो इस प्रकार कहते और करते हैं उनका क्या सिद्धान्त है। अलख कहते हैं पुनः उसीको लखते भी हैं, मनसे परे अगुण कहते हैं और उसीको मनमें गुनते भी हैं—एवं प्रकार अघटितको घटित समझकर अपने अटपट सिद्धान्तको सराहकर हर्षित होते हैं। हम नहीं जानते कि वे क्या कहते हैं और मनमें क्या समझते हैं।'

खर्रा—वेद कहते हैं कि 'जो कोई आपके निर्गुण-सगुणरूपोंमें आपके द्विभुज धनुर्धर किशोर वेशको छोड़कर केवल ब्रह्मव्यापकरूप और दशरथनन्दन रामको छोड़कर केवल अज और सीतासहित द्वितीय युगल वेषको छोड़कर केवल अद्वैत और सर्वदा प्रेमसे सुलभको छोड़कर केवल अनुभवगम्य विचारमात्र (से) साध्य स्वरूप सो साध्य नहीं, और अनुग्रहद्वारा सर्वदा सन्निधानत्वको छोड़कर 'वाङ्मनस्गोचर अर्थात् एतावन्मात्र ही तत्त्वकी सीमा है' यह चिन्तवन करते हैं वे ही ***'कहहिं'*** और वे ही ***'जानहिं'।*** अर्थात् व्याप्यकी अपेक्षासे अज होता है, जो व्याप्य ही नहीं तो ब्रह्म किसका होगा, यह अयुक्त है। और जन्मशीलकी अपेक्षासे अज होता है, जो जन्मशील कोई नहीं तो अज कहना अयुक्त है, द्वितीयकी अपेक्षासे अद्वितीय होता है, जहाँ द्वितीय ही नहीं वहाँ अद्वैत कहना अयुक्त है—जब ये तीनों शंकाएँ हों तब उनके निवारणार्थ ये तीनों पद चाहिये। जो वस्त्वन्तर ही नहीं तो ये तीनों नाम कहाँसे आये। और जो कोई पदार्थ ही नहीं

---

* सगुण यश गानेके प्रमाण—१ 'यस्यांशेनैव ब्रह्माविष्णुमहेश्वरा अपि जाता महाविष्णुर्यस्य दिव्यगुणाश्च स एव कार्यकारणयोः परः परमपुरुषो रामो दाशरथिर्बभूव' इति अथर्वण-उत्तरार्द्धे।' अर्थात् जिनके अंशसे ही ब्रह्मा, विष्णु, शिव होते हैं और महाविष्णु जिनके दिव्यगुणोंके अवतार हैं वह कार्य-कारणसे परे परमपुरुष श्रीराम दशरथ महाराजके पुत्र हुए।

२ 'ॐ यो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यो ब्रह्माविष्णुरीश्वरो यः सर्ववेदात्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः॥'—श्रीराम-तापनीयोपनिषद्। इत्यादि।

है तो अनुभवगम्य कौन पदार्थ होगा एवं अनुभव करेगा सो कौन है। यह भी अयुक्त है। फिर मनसे परे है तब अनुभवगम्य कैसे? 'मनपर' का ध्यान कैसा? अतएव लक्ष्यपर दृष्टि किये बिना सब लक्षण अयुक्त ही भासते हैं। यथा 'नीलो घटः'—यहाँ घट जो लक्ष्य है उसके कहे बिना केवल लक्षणपद 'नील' के कहनेसे घटका बोध नहीं होता, इसी तरह 'ब्रह्मादि सकल विशेषणोंद्वारा लक्ष्यभूत जो दशरथनन्दन आप हैं उन आपको जाने बिना सकल (विशेषण) अयुक्त ही हैं—ऐसा विचारकर हम तो द्विभुज धनुर्धर किशोररूप दशरथनन्दन सीताद्वितीयहीको ब्रह्मादि गौण विशेषणोंका विशेष्य जानकर, अपर उपायोंसे दुर्लभ केवल प्रेमसे सुलभ यह सिद्धान्त मानकर और सदा भक्तोंके सन्निधान देखकर ***'सगुन जस नित गावहीं।'***

नोट—इसीको सि० ति० कारने और स्पष्ट किया है। 'यहाँके ***'अज अद्वैत'*** आदि विशेषण जन्मशीलता एवं द्वैत आदिकी अपेक्षा बिना सिद्ध नहीं हो सकते हैं। अतः सगुणकी अपेक्षासे ही निर्गुणकी सिद्धि होती है; यथा—***'ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास। निर्गुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास॥'*** (दोहावली २५१) अर्थात् जैसे भारी अज्ञान कहे बिना ज्ञान नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भारी अज्ञानका निवृत्त करना ही ज्ञानका महत् स्वरूप है। तमका महत्त्व बिना कहे प्रकाशका महत्त्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भारी तमका निवृत्त करना ही प्रकाशका महत्त्व है। उसी तरहसे सगुण ब्रह्मके ऐश्वर्य-कथनके बिना निर्गुणका महत्त्व जानना असम्भव है। इस असम्भवको यदि कोई सम्भव कर दे, तो उस पण्डितको मैं गुरु माननेको तैयार हूँ।

तात्पर्य यह है कि जबतक सगुण ब्रह्मके स्वरूप ***'रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड।'*** (बा० दो० २०१) को नहीं जानेगा, तबतक उन अनन्त ब्रह्माण्डोंके सम्यक् आधार होते हुए भी उनसे निर्लिप्त रहनेका महत्त्व कोई कैसे जान सकेगा कि वह कितना बड़ा निर्लिप्त है। इसी निर्लिप्तता (निर्गुणता) के महत्त्वको भगवान्ने सराहना की है, यथा—'**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्। भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥**' (गीता ९। ४-५) अर्थात् सब प्राणी मुझमें ही स्थित हैं, पर मैं उन सबसे निर्लिप्त हूँ। देख, यह मेरा ऐश्वर योग है। मनुष्य अपने एक शरीरसे भी निर्लिप्त नहीं रह सकता, परमात्मा अनन्त ब्रह्माण्डोंका सम्यक् आधार होता हुआ भी उनसे निर्लिप्त है। यथा—'**तत्र यः परमात्मासौ स नित्यो निर्गुणः स्मृतः। न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा।** (विष्णुपुराण) एवं '**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥**' (श्वे० ४। ६) अर्थात् निर्लिप्तता ही परमात्माकी निर्गुणता है। स्पष्ट कहा गया है, यथा—'**असङ्गो न हि सज्यते।**' (बृह० ४। ४। २२); अर्थात् वह ब्रह्म असंग है, क्योंकि वह किसीमें आसक्त नहीं होता। इसपर बा० दो० ११५ चौ० १-३ भी देखिये।

पं० रा० कु०—२ (क) ***'करुनायतन प्रभु.......।'*** भाव कि आप करुणायतन हैं, हमपर कृपा करें, आप प्रभु हैं, सब कुछ देनेको समर्थ हैं, हम जो माँगें सो दीजिये, आप सद्गुणखानि हैं, हमें सद्गुण दीजिये, जो हम आगे कहते हैं। (ख) ***'मन बचन कर्म.......'*** इति। ***'हम अनुरागहीं',*** यह बहुवचन है। यहाँ बहुवचन देकर सूचित किया कि चारों वेदोंका एक ही सिद्धान्त है कि हम मन-कर्म-वचनसे विकारोंको छोड़कर श्रीरामचरणमें अनुराग करें। (ग) ☞ वेदोंने स्तुति ***'सगुन निर्गुन'*** कहकर आरम्भ की, यथा—***'जय सगुन निर्गुन रूप'*** और निर्गुण-सगुण कहकर समाप्ति भी की, यथा—***'जे ब्रह्म अजमद्वैत.......सगुन जस नित गावहीं।'***

पां०—***'बिकार तजि'*** इति। आपके सिवा अन्यको ब्रह्म मानना मनका विकार है, औरको ब्रह्म कहना वचनका विकार है और अन्य किसीको ब्रह्मबुद्धिसे पूजना कर्मका विकार है।

दो०—सब के देखत बेदन्ह बिनती कीन्हि उदार।
अंतर्धान भए पुनि गए ब्रह्म आगार॥
बैनतेय सुनु संभु तब आए जहँ रघुबीर।
बिनय करत गदगद गिरा पूरित पुलक सरीर॥ १३॥

अर्थ—सबके देखते वेदोंने उदार श्रीरामजीकी यह उदार (श्रेष्ठ और महान् वा बड़ी) विनती की, फिर अन्तर्धान हो गये और ब्रह्मलोकको गये। भुशुण्डिजी कहते हैं कि हे विनताके पुत्र गरुड़जी! सुनिये, (जब वेद चले गये) तब शिवजी वहाँ आये, जहाँ श्रीरघुवीर हैं और स्तुति करने लगे। उनकी वाणी गद्गद है और शरीर पुलकसे भरा हुआ है॥ १३॥

टिप्पणी—१ *'सब के देखत'* का भाव। वेदोंका रूप नहीं है, वेद वाणीमय हैं और बंदीवेष धारण किये हैं, इसीसे सब कोई देखता है। पर किसीने लख न पाया कि ये वेद हैं, सब उन्हें बंदी जानते रहे।*

वि० त्रि०—*'सब के देखत ब्रह्म आगार'* इति। वेद तो सदा स्तुति किया करते हैं, यथा—***'बंदौं चारिउ बेद भव बारिधि बोहित सरिस। जिन्हहिं न सपनेहु खेद बरनत रघुबर बिसद जस॥'*** उसी स्तुतिद्वारा लोग भवसागर पार उतरा करते हैं। जहाँ-जहाँ वेदघोष होता है वहाँ-वहाँ वेद-स्तुति होती रहती है, क्योंकि सम्पूर्ण वेदके एकमात्र वेद्य भगवान् ही हैं, यथा—**'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।'** पर कहीं प्रकट होकर वेद लोग स्तुति नहीं करते। यहाँ तो ***'सिंहासन पर त्रिभुवन साईं। देखि सुरन्ह दुंदुभी बजाईं॥'*** अतः वेद भी बन्दीरूपसे साकार होकर प्रकट हुए, और स्तुति करके सबके देखते-देखते अन्तर्धान हो गये। तब सब लोगोंने उनकी स्तुतिके महत्त्वको जाना। उनकी स्तुतिका सार शरणागति थी, इसलिये उनकी स्तुतिको उदार कहा, क्योंकि शरणागतिमें जीवमात्रका अधिकार है, और ***'कीरति भनित भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई॥'*** इसलिये इस स्तुतिको उदार कहना प्राप्त था। वेदकी अन्य स्तुतियोंमें शूद्रका अधिकार नहीं है, अतः इसे उदार कहा।

गौड़जी—और-और प्रसंगोंमें जहाँ ब्रह्मादिने भगवान्‌की स्तुति की है वहाँ सबके देखते यह क्रिया नहीं हुई। यदि सबके देखते यह क्रिया हुई होती तो अवतारका रहस्य खुल जाता। असंख्य वानरी सेना प्रभुके रहस्यको निश्चय जान जाती।—***'गुपुत रूप अवतरेउ प्रभु गये जान सब कोइ।'*** स्वयं भगवान् शंकर जब भगवान्‌के पास शंकररूपसे जानेमें इसी विचारसे परहेज करते हैं तो यही बात सभी प्रसंगोंमें समझ लेनी चाहिये। भगवान्‌के चरितसे तो सभी सम्पर्कमें आनेवालोंको कभी-न-कभी यह खयाल जरूर आ जाता है कि ये मनुष्य नहीं हैं। परंतु भगवान्‌की माया ऐसी बलवती है कि जाननेवाला भी अनजान बना रहता है। दशरथजीको मालूम है, क्योंकि वसिष्ठजी उनसे अनेक बार कहते रहे हैं, परंतु उन्हें भी निरन्तर ऐसा विश्वास नहीं है। रामावतारकी बात तो ऐसी है कि चरितमें उतनी विशेष अलौकिकता नहीं है जैसी कृष्णावतारमें। वहाँ तो पद-पदपर यही बात देखी जाती है। क्षणमें अग्नि पी गये, कालियनागको नाथकर एक हजार कमल ले आये, गोवर्धनको सहजमें धारण कर लिया और सात दिनतक उसीकी छायामें रखा, सभी अलौकिक बातें थीं, परंतु हर एक लीलापर मायासे सबको ऐसा मोहित कर लिया कि अत्यन्त सामीप्यवाले भी ऐश्वर्यको भूलकर माधुर्यमें मोहित हो गये। जिन्हें बताते भी हैं उन्हें मना कर देते हैं—***'यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई'*** ब्रह्माजीने देवताओंके साथ सीताजीकी अग्नि-परीक्षापर आकर कहा—**'भवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः। एकशृङ्गो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित्॥'** (वाल्मी० ११९। १३) परंतु वहाँपर भी आपको न एकरार है न इनकार। केवल अपना अज्ञान दिखाते हैं। इसीलिये जिन-जिन प्रसंगोंमें देवताओंने आकर स्तुति की है वहाँ-वहाँ यह समझ लेना चाहिये कि सबके देखनेमें

---

* शीला—'सब के देखत·········', इसका अन्वय अवरेवसे होगा। आते और जाते देखना, विनती करना और सबका सुनना यह ठीक है। वेदरूपसे अथवा यह जानकर कि ये वेद हैं, वेदोंका विनती करना या देखना ठीक नहीं। अर्थ है कि—'वेदोंने उदार विनती की और सबके देखते-देखते वे अन्तर्धान हो गये।' अन्तर्धान होनेसे लोगोंने जाना कि ये वेद थे।—ऐसा क्यों किया? कारण कि प्रथम वे अपने रूपसे आनेको हुए। फिर यह विचार किया कि बड़ी भीड़ है, यदि हमारा आदर न हुआ तो लोकमें हमारा आदर कोई न करेगा जिससे लोकका अकल्याण होगा। अतः भाटरूपसे आये पर सर्वज्ञ प्रभुने मनकी जानकर इनका आदर किया। यह देख वेदोंने सोचा कि अब अपनेको प्रकट कर दें, इसीलिये वे सबके सामने उसी जगह अन्तर्धान हो गये।

कोई घटना नहीं हुई। ब्रह्माने स्तुति की और चले गये। भगवान्ने कोई उत्तर नहीं दिया और किसीको खबर भी न हुई कि ब्रह्माजीने स्तुति की या ब्रह्माजी आये भी। मानसकारने उन सब प्रसंगोंपर यह स्पष्ट खोलकर नहीं कहा है कि यह स्तुतिकी क्रिया सबके देखते नहीं हुई है। स्तुतिके प्रसंग मानसमें इतने अधिक आये हैं कि सब जगह इतनी-सी बातको खोल-खोलकर कहना सुन्दर नहीं लगता। विशेषतः इसीलिये *'सब के देखत बेदन्ह बिनती कीन्हि उदार'* इस दोहार्द्धका बहुत भारी महत्त्व है—यह साफ कहे देता है कि स्तुतिके जितने प्रसंग पीछे आ चुके हैं या आगे आयँगे वह *'सब के देखत'* अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं हैं, प्रत्युत गुप्त हैं। इस जगह वेद वंदीवेषमें प्रकट हुए हैं और फिर अन्तर्धान हो गये हैं। तो क्या एकदमसे दरबारमेंसे गायब होते सब लोगोंने देखा नहीं? अन्तर्धान होनेकी कोई ऐसी शर्त नहीं है कि एक भीड़की निगाहें किसीपर डटी हों और वह उड़न्छू हो जाय। वंदीजन आये, उनके लिये रास्ता हुआ, दरबारमें आकर उन्होंने स्तुति की और फिर जोहार निवेदन करके जिधरसे आये थे उधरको चले गये। यहाँ दरबारमें लोगोंकी निगाहें सरकारपर डटी हैं। वह वंदीजन जैसे ऐरे-गैरे पंचकल्यानोंकी तरफ कब जाने लगीं। और वेदोंको भी अगर लोगोंका ध्यान आकर्षित करना होता तो वे साधारण वंदियों या चारणका वेष क्यों धारण करते? उनका उद्देश्य भगवद्दर्शन था, अपनेको तमाशा बनाना या चमत्कार दिखाना न था।

जैसे भगवान् सगुण और निर्गुण दोनों रूप हैं वैसे ही वेदभगवान् भी सगुण और निर्गुण दो रूप हैं। इस लीलामय जगत्में उनका रूप भी है और शब्द भी। रूप लिखित ग्रन्थ है और शब्द श्रुति। मन्त्र ही वेद शरीरके अवयव हैं। जैसे साधारण स्थूल शरीरके अवयव अत्यन्त सूक्ष्मकण होते हैं, जिनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँचों विषय मौजूद रहते हैं। वेदके इन अवयवोंमें शब्दविषयक ही अवयव है और शब्दोंके रूप भी हैं। इस तरह वेद-देहकी रचनामें आकाशकी प्रधानता है और अग्निकी गौणता, शब्दकी प्रधानता है और रूपकी गौणता। इन्हीं अवयवोंसे वा मन्त्रोंसे जो इन अवयवोंके समूह हैं वेदका शरीर बना है। इस तरह वेदोंका आकाश और अग्निमय सूक्ष्म शरीर है और यह नित्य है, सत्य है। वेद शरीररहित नहीं हैं। वेदका अर्थ उसका आत्मा है, जो निराकार, विग्रहरहित, अखण्ड, अनन्त, अव्यय और अव्यक्त है। वाणीके बिना अर्थका व्यक्तीकरण नहीं हो सकता। वाणी और शब्द व्यक्तरूप हैं और अर्थ अव्यक्त। इसीलिये वेदभगवान्का दूसरा नाम ब्रह्म भी है।

पं० रा० व० श०—'उदार' का भाव कि ऐसी स्तुति किसीने नहीं की।

मानसकल्लोलिनी—*'गए ब्रह्म आगार'* इति। भाव कि—(क) वेद सदा ब्रह्मलोकमें निवास करते हैं, वहीं गये। वा, (ख)—ब्रह्म=वेद। ब्रह्मधाम=वेदधाम। अर्थात् जहाँ उनका स्थान है वहाँ गये। वा, (ग)—ब्रह्मके स्थान श्रीरामचन्द्रके श्वासमें समा गये।—(वेद प्रभुकी वाणी एवं श्वास हैं—*'निगम निज बानी'* *'जाकी सहज श्वास श्रुति चारी'*)।

नोट—१ बंदीवेषमें स्तुति की, वर माँगा। वर मिला या नहीं, यह कुछ न कहा। गुप्तरीतिसे 'उदार' शब्दसे यहाँ वरदानकी प्राप्ति सूचित कर दी है।—'उदारो दातृ महतः।' २—वैजनाथजी कहते हैं कि 'विनती लोकोद्धारहेतु है, इस स्तुतिसे प्रभुकी उदारता लोकमें प्रसिद्ध करते हैं। अथवा, स्वार्थरहित परमार्थ दर्शित किया है अतः 'उदार' कहा'।

पं० रा० कु०—*'बैनतेय सुनु.........'* इति। जहाँ रघुवीर हैं वहाँ आये अर्थात् सिंहासनके पास आये, क्योंकि इनको वर माँगना है, यथा—*'बार बार बर माँगउँ हरषि देहु.........।'* इसी तरह वेद वर माँगनेके लिये प्रभुके पास आये थे—*'बंदी बेष बेद तब आए जहँ श्रीराम'*, और समीप आकर वर माँगा था कि *'मन बचन कर्म।'* गद्गद स्वर और पुलकांङ्ग प्रेमकी दशाएँ हैं।

प० प० प्र०—वेदस्तुति बीसवीं स्तुति है। बीसवाँ नक्षत्र पूर्वाषाढा है। पूर्वाषाढामें चार तारे हैं, वैसे ही इस स्तुतिमें *'नमामहे, स्मरामहे, भजामहे* और *अनुरागहीं'* ये चार तारे हैं। रत्नमाला नाम ज्योतिष

ग्रन्थमें—'**श्रुतिभिस्तमञ्चः**' इस प्रकार तारा-संख्या और आकारका वर्णन है। मञ्चके चार पैर होते हैं और आकार लम्बा चतुरस्र होता है। आकाशमें नक्षत्रका आकार भी ऐसा ही देखनेमें आता है। नक्षत्रका देवता जल है। वैसे ही इस स्तुतिमें त्रैलोक्यपावन सुरसरी, नखनिर्गता मुनिवन्दिता हैं ही। फलश्रुति है—*'अभिमत दानि देवतरु बरसे'*, वैसे ही इस स्तुतिमें श्रीरामजी ही संसार-विटप हैं तथा नमन, स्मरण, भजन और अनुरागवालोंको जो चाहे वही दे सकते हैं। इससे वेद भी उन्हींसे वर माँगते हैं (नक्षत्र नाम साम्य अभीतक निश्चित रूपसे सिद्ध नहीं हुआ)। वेद भी उनके वचनानुसार चलनेवालोंको अभिमतदानि हैं ही। देवतरु ऐहिक सुख लाभ दे सकता है, वह वेद भी दे सकते हैं। '**त्रैगुण्यविषया वेदाः**', अतः वे त्रिगुणात्मक सब कुछ दे सकते हैं। आकाशमें जिस प्रकार पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ा नक्षत्र इतने समीप हैं कि मानो एक ही नक्षत्र-से मालूम पड़ते हैं, उसी प्रकार वेदस्तुति जिस दोहेमें सम्पूर्ण होती है उसी दोहा १३ में शिवजी *'आए जहँ रघुबीर।'* यह साम्य केवल काकतालीय न्यायसे असम्भव है ऐसा ही विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा और मूल इन लंकाकाण्डगत चार स्तुतियोंका सम्बन्ध है।

(तोटकवृत्त)

छं०—जय रामरमारमनं समनं भवताप भयाकुल पाहि जनं।
अवधेस सुरेस रमेस बिभो सरनागत माँगत पाहि प्रभो॥ १॥
दससीस बिनासन बीस भुजा कृत दूरि महा महि भूरि रुजा।
रजनीचरबृंद पतंग रहे सर पावक तेज प्रचंड दहे॥ २॥

अर्थ—हे राम! हे रमारमण! हे रमापति रामचन्द्रजी! आपकी जय! हे संसारतापके नाश करनेवाले! भवभयसे व्याकुल जनकी* रक्षा कीजिये। हे अवधपति! हे देवताओंके स्वामी! हे लक्ष्मीके स्वामी! हे विभो! हे प्रभो! शरणमें प्राप्त होकर आपसे माँगता हूँ कि (मेरी) रक्षा कीजिये॥ १॥ हे दससिर और बीस भुजावाले रावणके नाश करनेवाले! आपने पृथ्वीका समूह महारोग दूर किया। निशिचरवृन्द पतंगरूप थे जो आपके बाणरूपी अग्निकी तीक्ष्ण आँचमें जल मरे।

टिप्पणी—१ (क) *'रामरमारमनं'* इति। श्रीरामजी श्रीजानकीजी सहित सिंहासनपर विराजमान हैं, इसीसे श्रीजानकीजीसहित उनकी जय बोलते हैं। रमारमण अर्थात् रमाजीके पति कहकर दोनोंकी जय सूचित की। (ख) जब राजा राजगद्दीपर बैठता है तब समस्त लक्ष्मीका पति होता है, इससे श्रीरामजीको यहाँ 'रमारमण' कहा। पुनः आगे वर माँगना है ही, इससे उनको लक्ष्मीपति कहा अर्थात् आप सब कुछ दे सकते हैं।

पुजारी रामकुमारदासजी (मणिपर्वत)—'**रमारमनं**' इति। श्रीरामजीने कभी अपने नित्य रूपमें लक्ष्मीजीको पत्नी नहीं स्वीकार किया। अतः रामजी लक्ष्मीरमण नहीं कहे जा सकते। यहाँ 'रमण' क्रियाके सम्बन्धसे 'रमा' नाम दिया गया है—'**रमु क्रीडायाम्।**' श्रीरामजीकी इस मर्यादापुरुषोत्तमत्वपर पद्मपुराणमें एक कथा भी है कि श्रीरमा (लक्ष्मी) जीने आपके एकपत्नीव्रतके परीक्षार्थ एक समय मोहन दृष्टिसे आपपर वाग्बाण छोड़े, पर आपने सिर नीचा कर लिया और प्रणाम करके चले आये। शिव-नारायण आदि सब यह चरित देख श्रीरघुनाथजीकी प्रशंसा करने लगे।—[पातालखण्ड अध्याय १०५ पृ० १३८ वेंकटेश्वर (१८५२ सं०)]। अतः यह स्पष्ट है कि 'रमा' श्रीजानकजीका ही विशेषण है, विष्णु वा नारायणपत्नी लक्ष्मीका नहीं। रमणक्रिया होनेहीके कारणसे जिस तरह रामतापनीयोपनिषद्में '**रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ**

* रा० प्र० आदि टीकाकारोंने 'जन' का अर्थ 'मुझ जन' किया है, पं० रा० कु० जीके खर्रेमें 'जन' से 'समस्त जन' का भाव लिया गया है। यदि दोनों भाव यहाँ लें तो अधिक अच्छा जान पड़ता है, क्योंकि ब्रह्माजी और शिवजी भी मायासे बचे नहीं हैं, उससे डरते ही रहते हैं। अपने लिये भी 'भवताप भयाकुल' कहनेमें कोई असंगति नहीं है। इसी तरह 'सरनागत माँगत पाहि' का भी दोनों भाव लिये हुए अर्थ होगा। शरणागतजन (मैं एवं सब) 'पाहि' माँगता है।

परं ब्रह्माभिधीयते' यह श्रुति श्रीरामजीके लिये है वैसे ही बृहद्‌ब्रह्मसंहिता तृतीयपादस्थ प्रथमाध्याय श्लोक ७९, ८३ में श्रीजानकीजीके लिये लिखा है।

'वामाङ्के जानकी देवी किशोरी कनकोज्ज्वला। कैवल्यरूपिणी नित्या नित्यानन्दैकविग्रहा॥

सेयं सीता भगवती ज्ञानानन्दस्वरूपिणी। योगिनां रमणे रामे रमते रामवल्लभा॥'

यही भाव श्रीहारीतजीके **'श्रियो रमणसामर्थ्यात्'** तथा श्रीवाल्मीकिजीके **'रामो रमयतां वरः'** वचनमें है। विशेष १४ छन्द १० 'श्रीरमण' में देखिये।

गौड़जी—*'राम रमारमनं'* इति।—इस स्तुतिके उपक्रममें 'राम' शब्दके बाद ही 'रमारमण' है, 'रमेश' है और उपसंहारमें *'हरषि देहु श्रीरंग'* है। यह दोनों शब्द लक्ष्मीनारायणके वाचक हैं और यह सारी स्तुति लक्ष्मीनारायणवाले सीतारामावतारके सम्बन्धकी है। इसमें खींचातानी करके झूठमूठकी उठायी हुई शंकाओंका निराकरण करनेका प्रयास व्यर्थ है। गोस्वामीजीने विचित्रकथा-प्रबन्धकी प्रतिज्ञा करके चार कथाएँ एकमें ग्रथित की हैं। जहाँ कहीं किसी कथाविशेषकी ओर इङ्गित है वहाँ ध्वनिसे, शब्दोंसे और शब्दशक्तिसे वे इस बातका स्पष्टीकरण कर देते हैं, यहाँ भी रमारमण, रमेश और श्रीरङ्ग वाच्यार्थ और ध्वनितार्थ दोनोंसे नारायणके अवतारका वर्णन करते हैं।' दोहा ११ देखिये।

मा० म०—'रमारमण' में गुप्तभाव यह है कि मैंने अनीति जानकर सतीको त्याग दिया और आपने लीलादेवीका ग्रहण करना अनीति जान उनको त्याग दिया। दोनों पावकमें प्रवेश कर गयीं, पर आपने भूदेवी रमाको प्रकट करके उनसे प्रीति की। मुझे सतीके प्रीतिकी पीड़ा है सो मुझे 'उमेश' करके उस पीड़ाको मिटाइये।—[पर शंकरजी ऐसे परम भक्तके विषयमें यह भाव असंगत है।]

पं० रा० कु०—*'भवताप भयाकुल'* इति। आगे महादेवजी कहते हैं कि हम आपकी शरणमें आये हैं और शरणमें सभीत होकर आना आवश्यक है, यथा—*'जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं॥'* (सु० ४४) *'जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥'''''''' ॥'* (सु० ४८) इसीसे वे भयसे शरणमें आना कहते हैं।

गौड़जी—*'भवताप भयाकुल'* इस स्तुतिके इस अंशसे ऐसा जान पड़ता है कि भगवान् शंकर स्वयं भवतापसे पीड़ित हैं, संसारके जन्म, जरा, व्याधि, मरण, दैहिक-दैविक-भौतिक तापोंसे ग्रस्त भगवान् शंकरको इनके भयसे बड़ी आकुलता है। अथवा, यदि तापग्रस्त नहीं हैं तो इन तापोंके होनेका इन्हें आगे जाकर बहुत भय है, उसकी आशंकासे अकुलाकर भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं कि अपने जनकी रक्षा कीजिये। ईश्वरके मुखसे ऐसी वाणी दो ही सूरतोंमें निकल सकती है। एक तो जीवको यह शिक्षा देनेके लिये कि 'भवताप-भयाकुल' होकर भवभयहारी भगवान्‌से इस तरह प्रार्थना की जाती है। दूसरी सूरत यह हो सकती है जिसकी इच्छासे सृष्टिकी रचना हुई है और जिसने संसृतिके ताप अपनी मायासे उत्पन्न कर रखे हैं, उसीसे पीड़ित जनोंकी ओरसे भगवान् शंकर प्रार्थना कर रहे हों। भगवान् शंकर इस प्रसङ्गमें मायामानुषरूप धर करके प्रार्थना नहीं कर रहे हैं। शत्रुके हाथोंसे वन्दिनीको छुड़ाने और उसपर विजय पानेकी कामनासे मायामानुषरूपी भगवान्‌का भगवान् रामेश्वरसे प्रार्थना करनेमें *'भवताप भयाकुल पाहि जनं'* अधिक सुसंगत होता। अतएव प्रस्तुत प्रसङ्गमें भगवान् शंकर नये-नये राज्यसिंहासनपर आरूढ़ होनेवाले मायामानुषरूपी अवधेशसे संसारके तरह-तरहके तापोंसे प्रपीड़ित प्रजाओंकी ओरसे विनय कर रहे हैं। यदि यह कहा जाय कि कोशलप्रान्तकी प्रजाके लिये क्या कोई अयोध्यावाला वकील नहीं काम दे सकता था, तो इसका उत्तर यह है कि यह विनयपत्र केवल कोशल देशकी प्रजाकी ओरसे नहीं है। नारायणसृष्टिके विश्वभरके ८४ लक्ष योनियोंमें चारों आकरोंमें विचरनेवाले ताप-पीड़ित जीवोंकी ओरसे यह वकालत है। आपने रावणको मारकर त्रैलोक्यको अनेक कष्टोंसे बचाया है तब जाकर आप इस राज्यसिंहासनपर शुभासीन हुए हैं। अब आगेके दस हजार वर्षोंमें आपको अखिल विश्वके जीवोंका ताप हरण करना है। भगवान् शंकर पशुपति हैं, विश्वनाथ हैं, समस्त जीवोंकी ओरसे अपराजिता, साकेत, अवध-ईशसे सबकी ओरसे विनय करनेका उन्हींको अधिकार है।

खर्रा—☞१ इस स्तुतिमें वर्णवृत्तछन्दमें चारों सगण आवें, इस विचारसे गौरवनिमित्त कहीं-कहीं अनुस्वार दिया गया है। यह अनुस्वार पदपूरणार्थ कहा है। २—*'समनं भवताप भयाकुल पाहि जनं'*—हे शमन! भवतापभयसे व्याकुल जनोंकी रक्षा कीजिये। ☞यह विनय सब जीवोंके निमित्त की और आगे *'अवधेस……'* में अपना हेतु कहते हैं।

टिप्पणी—२ *'अवधेस सुरेस……'* इति। आप अवधेश हैं, राजा प्रजाकी रक्षा करते है, हम आपकी प्रजा हैं। आप सुरेश हैं, हम सुर हैं। आप रमेश हैं, हम आपके सेवक हैं, आपकी उपासना करते हैं। आप विभु हैं, हम आपके चैतन्य हैं अर्थात् आप ब्रह्म हैं, हम जीव हैं। हम सब विधिसे शरण माँगते हैं, अथवा, हम शरणमें आये हैं आप हमारी रक्षा करें। आप रक्षा करनेमें 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं।

पां०—*'अवधेस सुरेस रमेस बिभो……।'* एक अर्थ यह है कि आप अवधेश हैं और आपका यही रूप 'सुरेश' एवं 'रमेश' और 'प्रभु' भी है, अतएव मेरी रक्षा कीजिये। दूसरा अर्थ यह है कि—आप अवधेश हैं मेरी रक्षा करें। यदि यह शंका हो कि आप (शंकरजी) तो देवता हैं तो उसका निवारण करते हैं कि आप 'सुरेश' हैं, इससे भी मेरी रक्षा करना उचित है। यदि आप कहें कि आप तो बड़े देवता (महादेव, महेश) हैं तो उसपर कहते हैं कि आप 'रमेश' हैं। यदि कहिये कि आप शंकर हैं तो उसका उत्तर है कि आप 'विभु' हैं कि जिनसे त्रिदेव उत्पन्न हुए हैं। जैसे भी हो हमारी रक्षा कीजिये।

गौड़जी—इस स्तुतिमें विशेषणात्मक सम्बोधन साभिप्राय है। जैसे *'सुरेश'* से अभिप्राय है कि आप केवल अवधेश नहीं हैं सुरेश भी हैं। रमेशसे यह अभिप्राय है कि आप केवल अवधके मनुष्य राजा नहीं हैं, बल्कि आप रमेश हैं और कौन रमेश हैं—विभु नारायण इस विश्वके मूलकारण जिसमें अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड हैं। केवल एक ब्रह्माण्डके नायक विष्णु नहीं। रमारमण कहनेसे ब्रह्माण्डनायकका ही बोध होता, परंतु *'रमेस बिभो'* ने निश्चय करा दिया कि रमारमणपद नारायणका बोधक है।

पं०, रा० प्र०—१ *'दससीस'* और *'बीस भुजा'* का भाव यहाँ यह है कि संसारमें जिस ज्वरका स्वरूप तीन शिखावाला कहा गया है वह ही परम कष्ट देता है और यह तो १० सिर और २० भुजावाला रोग था तब इसने जो कष्ट दिया उसका क्या कहना? १० सिर होनेसे उसे पृथ्वीका महारोग कहा।

वि० त्रि०—शास्त्रोंमें रोगोंके रूपका भी वर्णन मिलता है, यथा—**'ज्वरस्त्रिपादस्त्रिशिराः सर्वं रोगाग्रजो बली।'** अर्थात् ज्वरके तीन पैर हैं और तीन सिर हैं, यह सब रोगोंका बड़ा भाई है। इसी भाँति इस विशाल पृथ्वीको रावणरूपी विचित्र रोग हो गया था, जिसे दस सिर और बीस हाथ थे। यह रावणरूपी रोग सब रोगोंका राजा था, (यथा—*'रावन सों राज रोग बाढ़त बिराट उर'*)। राजा कहीं अकेले नहीं पधारते, जहाँ जाते हैं वहाँ कुछ लोग उनके साथ रहते हैं, इसी भाँति रावणरूपी राजरोगने अन्य उपद्रवोंको साथ लिये हुए पृथ्वीको व्याकुल कर रखा था। उसे हटानेमें कोई समर्थ न था, उसे दूर करके सरकारने पृथ्वीको स्वास्थ्य प्रदान किया (यथा—*'जय जय धुनि पूरि रही ब्रह्मंडा। जय रघुबीर प्रबल भुजदंडा॥'*

टिप्पणी—३ *'महा महि भूरिरुजा।'* रावण पृथिवीमें महारोग अर्थात् राजरोगके समान था सो उसको आपने दूर किया, यथा—*'रावण सो राजरोग……'* (क०)। 'भूरि' अर्थात् और भी बहुत-से रोग थे जो आगे कहते हैं। ['पतंग' और पावककी उपमा देकर जनाया कि उनके मारनेमें आपको कोई यत्न वा श्रम नहीं करना पड़ा। जैसे पतंग स्वयं अग्निमें मोहवश आकर गिरकर मर जाते हैं वैसे ही निशिचर स्वयं ही अपने मोहवश अपने काल हुए।* (पं० रा० प्र०)] मिलान कीजिये—*'निसिचरनिकर पतंगसम रघुपति बान कृसानु। जननी हृदय धीर धरु जरे निसाचर जानु॥'* (५। १५) *'होहि कि रामसरानल खलु कुल सहित पतंग।'* (५। ५६)

४—*'सरपावक तेज प्रचंड दहे'* का भाव कि बाणाग्निका तेज प्रचण्ड है, यह उन्होंने न जाना, इसीसे उसमें भस्म हो गये।

* यह परम्परितरूपकके ढंगका 'सम अभेद रूपक' अलंकार है।

छं०—महिमंडल मंडन चारुतरं, धृत सायक चाप निषंग बरं।
मद मोह महा ममता रजनी, तमपुंज दिवाकर तेज अनी॥३॥
मनजात किरात निपात किए, मृग लोग कुभोग सरेन हिए।
हति नाथ अनाथन्हि पाहि हरे, बिषया बन पाँवर भूलि परे॥४॥

अर्थ—आप पृथिवीमण्डलके (भूषित करनेवाले) अत्यन्त सुन्दर भूषणरूप हैं और अति सुन्दर श्रेष्ठ बाण, धनुष और तरकश धारण किये हैं। मद, महामोह और महाममतारूपी रात्रिके अन्धकार-समूहके (नष्ट करनेके) लिये आप सूर्य-किरण-समूह हैं॥ ३॥ कामदेवरूपी किरातने मनुष्यरूपी हरिणोंके हृदयमें कुभोगरूपी बाण मारकर उनका नाश किया है। हे दु:खके हरनेवाले! हे नाथ! उसे मारकर विषयरूपी वनमें भूले पड़े हुए नीच अनाथोंकी रक्षा कीजिये॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'महिमंडल मंडन·········'* इति। आपने पृथिवी-मण्डलको भूषित करके अत्यन्त शोभित किया। **'सुंदरं रुचिरं चारु मनोज्ञं च मनोहरम्' इत्यमरः।** **'अतिशयेन चारु इति चारुतरः।'** **'मडि भूषायां'** अर्थात् मडि धातु भूषण अर्थमें है। ऊपर रावणको पृथ्वीका महारोग कहा था। रोगसे शोभा नहीं रहती। पृथ्वीमें रोग था, उसे आपने नाश किया *'कृत दूरि महा महि भूरि रुजा।'* रोगके नाशसे पृथिवी शोभित हुई। ['मंडन' कहकर चारुतरं कहनेका भाव कि आप पृथिवीके भूषित करनेवाले हैं, क्योंकि आप स्वयं सुन्दरतर हैं। *'सायक चाप निषंग बरं'* में द्वन्द्व समास है। 'बर' तीनोंके साथ है। (पं० रा० व० श०)] (ख) रोग ओषधिसे नाश होता है, यहाँ आपके *'सायक चाप निषंग'* ही ओषधि, अनोपान और ओषधि रखनेवाली झोली हैं। इस ओषधिसे निशाचररूपी रोग नाश हुए। दूसरा अर्थ यह है कि रामजी धनुष-बाण-तर्कश धारण किये हुए पृथ्वीके अत्यन्त सुन्दर भूषण हैं।

२—(क) *'मद मोह महा ममता रजनी'* इति। यहाँ इन तीनको ही रात्रि कहा; क्योंकि रात तीन प्रहरकी होती है, उसका त्रियामा नाम ही है। ये तीनों तीन प्रहरकी रात्रि हैं। (ख) *'महाममता रजनी'* का भाव कि रात्रिका अन्त है पर ममतारजनीका अन्त नहीं है। (ग) *'तमपुंज दिवाकर तेज अनी।'* इति। अनी=सेना। सूर्यका तेज किरण है, किरण हजार है—(सूर्य सहस्रांशु कहलाते ही हैं)—इसीसे *'तेज अनी'* कहा। रात्रिका सूर्यसे नाश होता है, इसीसे रामजीको सूर्यके समान कहा। दिवाकर=रात्रिका नाश करके दिन करनेवाला। तमका पुंज है अत: उसके नाशके लिये तेजकी अनी कहा।

३ *'मनजात किरात निपात किए·········'* इति। (क) किरात मृगोंको प्राय: रात्रिमें मारते हैं; इसीसे प्रथम रात्रिका वर्णन किया। कामरूपी किरात लोगोंको कुभोगरूपी शरसे रात्रिमें मारता है। तात्पर्य कि लोग स्त्रियोंसे भोग प्राय: रात्रिमें करते हैं। मदमोह-ममतारूपी रात्रि जब आती है तब स्त्री-भोगकी इच्छा होती है—**'महामोहस्य विज्ञेयो ग्राम्यभेदसुखेच्छनः'** पुन:, रात्रि वर्णन करनेका दूसरा भाव यह है कि रावणादि राक्षसोंका नाश श्रीरामजीके हाथसे होना वर्णन किया, अब अन्त:करणकी रात्रि और अन्तर (भीतर) के कामादि विकारोंके नाशकी प्रार्थना करते हैं। (ख) *'मृग लोग कुभोग·········'* इति। किरात मृगको बाणसे गिराता है, काम कुभोग बाणसे मारकर लोगोंको गिराता है। अपनी स्त्रीसे रमण करना भोग और पर-स्त्रीसे रमण करना कुभोग कहलाता है। *'सरेन हिए'* का भाव कि कामका प्रवेश हृदयमें होता है। (ग)—कामको किरात कहा; क्योंकि किरातका मृगको मारना उचित है, वैसे ही कामका पशुरूपी विषयी लोगोंको मारना उचित है।

४—*'हति नाथ अनाथन्हि पाहि हरे'* इति। (क) हे नाथ! अनाथोंकी रक्षा करो। कथनका आशय यह है कि आपके रक्षा करनेसे काम नहीं मार सकता। यथा—*'धरी न काहू धीर सबके मन मनसिज हरे। जे राखे रघुबीर ते उबरे तेहि काल महँ॥'* (१। ८५) *'तिन्ह की न काम सकै चापि छाँह, तुलसी जे बसहि रघुबीर बाँह।'* (गी० २। ४९) (ख) याचना करते हैं इसीसे 'नाथ' सम्बोधन किया। **'नाथृ याचने।'** [पुन: भाव कि आप ऐसे नाथके होते हुए भी वह अनाथ बनाकर मारता है, अत: उससे

रक्षा कीजिये। इनकी इतनी चूक जरूर है कि ये पामर हैं, इसीसे विषयवनमें भूल पड़े हैं। (रा० प्र०)] (ग) कामको मारकर सबका क्लेश हरनेको कहा, इसीसे 'हरि' सम्बोधन किया।

५—*'बिषया बन पाँवर भूलि परे'* इति। विषयको वनका रूपक दिया, क्योंकि जैसे वनमें कोई सुख नहीं है, वरन् अनेक प्रकारके भय हैं, वैसे ही विषयसेवनमें कोई सुख नहीं, भय-ही-भय है। विषय-सेवन करनेवाले तुच्छ हैं अतः उनको 'पाँवर' कहा। *'भूलि परे'।* विषय-सेवन करना भूल है। [वनमें लोग प्रायः भटक जाते हैं, यथा—*'फिरेउ महाबन परेउ भुलाई।'* (१। १५७), *'मिलइ न जल घन गहन भुलाने॥'* (४। २४। ३) वैसे ही मनुष्यका विषयभोगमें पड़ना भूलना है, क्योंकि नरतन विषयके लिये नहीं है वरंच भवसागरसे छूटनेके लिये है। यथा—*'एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥'* (४४। १) विषयोंमें लगनेवालोंको शठ कहा गया है, यथा—*'नर तन पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥'* (४४। २) यह 'परम्परित रूपक' है।

पाँ०—भाव कि जो विषयवनमें भूले पड़े थे वे मारे गये, जो बच गये थे उनका हाल आगे कहते हैं कि कोई रोगसे और कोई मरे हुओंके वियोगसे नष्ट हुए और जो फिर भी बचे वे अथाह भवसागरमें पड़े हैं।

छंद—बहु रोग बियोगन्हि लोग भए, भवदंघ्रि निरादर के फल ए।
भवसिंधु अगाध परे नर ते, पदपंकज प्रेम न जे करते॥५॥
अति दीन मलीन दुखी नितहीं, जिन्ह के पदपंकज प्रीति नहीं।
अवलंब भवंत कथा जिन्हके, प्रिय संत अनंत सदा तिन्हके॥६॥

अर्थ—बहुत-से रोगों और वियोगोंसे लोग मारे गये, यह आपके चरणोंके निरादरके फल हैं। जो आपके चरणकमलोंमें प्रेम नहीं करते वे मनुष्य अथाह भवसागरमें पड़े हैं॥ ५॥ जिनका प्रेम चरणकमलमें नहीं है वे नित्य ही अत्यन्त दीन, मलीन और दुःखी रहते हैं। आपकी कथाका जिन्हें आधार है उनको सदा संत-भगवंत* प्रिय लगते हैं†॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'बहु रोग बियोगन्हि.......'* इति। *'बहुरोग.......'* इति। कुभोग पाप है। भय, रोग, शोक और वियोग पापके फल हैं, यथा—*'करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक बियोग॥'* (१००) पुनः भाव यह है कि विषयोंमें भूल पड़े, पर विषयोंका सुख भी भली प्रकार भोगनेको नहीं मिलता, बहुत-से रोग और वियोग हो गये। [भाव कि उन्हें एक कामने ही नहीं मारा किंतु बहुरोग, वियोगने भी मारा है। (खर्रा) (ख)—*'भवदंघ्रि निरादर के फल ए'* का तात्पर्य यह कि चरणोंका आदर करते तो विषयोंमें न पड़ते, यथा—*'सुमिरत रामहि तजहिं जन तृन सम बिषय बिलास।'* (२। १४०), *'रामचरनपंकज प्रिय जिन्हहीं। विषयभोग बस करहि कि तिन्हहीं॥'* (२। ८४। ८) निरादर यह कि भक्तिको निरस जाना, तभी तो भोगमें आसक्त हुए। (पं०)]

२ *'भवसिंधु अगाध परे नर ते.......'* इति। (क) 'अगाध' का भाव कि भवसिंधु ऐसा गहरा है कि फिर उसमेंसे नहीं निकल सकते, उसीमें पड़े रह जाते हैं। आपके चरण भवसे पार करनेवाले हैं। यथा—*'भवजलधिपोत चरनारविन्द जानकीरमन आनन्दकन्द॥ ६४॥'* 'यत्पादप्लव एक एव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्,' बा० मं० श्लो०। इनमें प्रेम नहीं करते, इसीसे वे भवसिन्धुमें पड़े हैं, बारंबार उनका जन्म-मरण होता है। प्रभुपद-प्रेमके बिना कल्याण नहीं, यथा—*'सब कर फल रघुपतिपद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावइ खेमा॥'*—[रा० प्र०—*'पदपंकज प्रेम न जे करते'* का भाव कि चरणकमलके भ्रमर बनते तो भवसिन्धु

* पं०—संत अनंत=संत जो अनन्त हैं। संत 'अनन्त प्रिय' अर्थात् परमप्रिय हैं।

† 'तत्त्वन्न जानन्ति परात्मनस्ते जनाः समस्तास्तव माययातः। त्वद्भक्तसेवाऽमलमानसानां विभाति तत्त्वं परमेकमैशम्॥ (अ० रा० १५। ६०) अर्थात् आपकी मायासे मोहित होनेके कारण सब लोग आपके परमात्मस्वरूपका तत्त्व नहीं जानते अतः जिनका अन्तःकरण आपके भक्तोंकी सेवाके प्रभावसे निर्मल हो गया है उन्हींको आपका परमेश्वररूप भासता है।

भँवरके भ्रमर न होते। *'अति दीन मलीन दुखी.......'*, यथा—*'कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥'*]

३ *'अति दीन मलीन दुखी.......'* इति। (क) अति दीन हैं अर्थात् खाने-पहननेको अन्न-वस्त्र अच्छी तरह नहीं मिलता, इसीसे मलिन हैं अर्थात् पाप करते हैं और पाप करनेसे नित्य दुःखी रहते हैं। अथवा, (ख) *'पदपंकज प्रीति नहीं'* इति। भाव कि प्रीति नदी है, यथा—*'प्रभुपद प्रीति सरित सो बही'*—(सुं०)। उस प्रीतिके न होनेसे मलिन रहते हैं, मलिनता बहने नहीं पाती।

४ *'अवलंब भवंत कथा.......'* इति। भाव कि संत-भगवंत प्रिय होनेसे संतोंसे भगवान्‌की कथा सुनते हैं, बिना सत्सङ्गके हरिकथा नहीं होती, यथा—*'बिनु सत्संग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।'* (६१) इसीसे कथावलम्बीको संत प्रिय हैं। भगवान्‌की उपासना करते हैं, उनकी कथा सुनते हैं, इसीसे भगवान् उनको प्रिय हैं।

नोट—☞ *'मनजात किरात निपात किए'* से *'अति दीन मलीन दुखी नितही'* तक श्रीरामपद-विमुखोंकी दशा कही और *'अवलंब भवंत कथा जिन्हके'* से *'सब संत सुखी.......'* तक श्रीरामभक्तोंके आचरण और सुख कहते हैं। वह दुःखी, मलिन और भवमें पड़े हैं और ये सुखमय हैं।

छं०—नहिं राग न लोभ न मान मदा, तिन्ह के सम बैभव वा बिपदा।
एहि ते तव सेवक होत मुदा, मुनि त्यागत जोग भरोस सदा॥७॥
करि प्रेम निरंतर नेम लिए, पद पंकज सेवत सुद्ध हिए।
सम मानि निरादर आदरही, सब संत सुखी बिचरंति मही॥८॥

अर्थ—उनके न राग (वस्तुमें प्रेम) है न लोभ (किसी वस्तुके प्राप्तिकी इच्छा) न अभिमान है न मद। उनको सम्पत्ति और विपत्ति दोनों एक-से हैं। इसीसे आपके सेवक आनन्दित होते हैं, मुनि योगका भरोसा सदा छोड़ते हैं और आपका सदैव भरोसा रखते हैं॥ ७॥ प्रेम करके निरन्तर नेम लेकर सदा प्रेमसे शुद्ध हृदयसे चरणकमलकी सेवा करते हैं। निरादर और आदरको समान मानकर सब संत आनन्दसे पृथ्वीपर विचरते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१—*'नहिं राग न लोभ.......'* इति। (क) प्रथम कथाका अवलम्ब कहकर तब राग-लोभादिका न रहना कहा, क्योंकि कथाके श्रवण करनेसे ये नहीं रह जाते। जो प्राप्त है उसमें राग नहीं, जो नहीं प्राप्त है उसका लोभ नहीं। मद १८ प्रकारके हैं, इनमेंसे इनमें कोई मद नहीं है। जाति, विद्या आदि अपनेमें परिपूर्ण तथा उत्तम मानकर अन्तरमें हर्ष करना 'मद' है। जाति-विद्यादिसे लोकमें बड़ाईकी चाहसे प्रसिद्ध व्यापार मान है। (वै) (ख) *'तिन्हके सम बैभव वा बिपदा'*, यथा—*'सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥'* (अ० १५०) (ग) अनन्तप्रिय हैं, भगवान्‌की मूर्ति स्थापित किये हैं। संत प्रिय हैं, उनकी सेवा करते हैं, उनके मुखसे कथा सुनते हैं। मदादि हृदयमें नहीं हैं। सम्पत्ति-विपत्ति समान हैं—ये सब गृहस्थ संतके लक्षण हैं।

नोट—*'नहिं राग न लोभ'* में गीताके '**उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते। गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते।**' (१४। २३) का भाव आ जाता है। भाव कि आत्मदर्शनसे तृप्त होनेके कारण वे आत्माके सिवा अन्यत्र उदासीनके सदृश स्थित रहते हैं, इच्छा और द्वेषरूप गुणोंके द्वारा विचलित नहीं किये जा सकते। गुण अपने-अपने प्रकाश आदि कार्योंमें वर्त रहे हैं ऐसा समझकर वे चुप रहते हैं, गुणोंके कार्योंमें अनुरूप चेष्टा नहीं करते।

'तिन्ह के सम बैभव वा बिपदा' में गीताके ('**समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः। तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥**') (१४। २४) का भाव आ जाता है। भाव कि केवल एक आत्मा ही उसका प्रिय होनेसे आत्मासे अतिरिक्त पुत्रादिके जन्म-मरणादि, ऐश्वर्यकी प्राप्ति वा हानि इत्यादि रूप सुख-दुःखमें समचित्त हैं, इसी कारण वे मिट्टी, पत्थर, लोहा, सोना सबको समान समझते हैं और इसी कारण वे प्रिय और अप्रिय विषयोंको भी समान समझनेवाले हैं, धीर हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'एहि ते तव सेवक होत मुदा'* इति। *'एहि ते'* अर्थात् जो ऊपर कह आये—*'अवलंब भवंत कथा जिन्हके।'* से *'तिन्हके सम बैभव वा बिपदा'* तक। कथा और संत दोनों सुख देते हैं। कथा-श्रवणसे सुख होता है, यथा—*'तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला इक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग।'* (५। ४), *'एहि बिधि कहत राम गुन ग्रामा। पावा अनिर्वाच्य बिश्रामा॥'* (५। ८। २), *'रामचंद्र गुन बरनै लागा। सुनतहि सीता कर दुख भागा॥'* (५। १३),*'सुनत बिमल गुन अति सुख पावहिं। बहुरि बहुरि करि बिनय कहावहिं॥'* (२६। ६) संतके मिलनेसे सुख होता है, यथा—*'संत मिलन सम सुख जग नाहीं।'* (१२१। १३) [ख *'मुनि त्यागत जोग भरोस'* इति। यहाँ 'योग' ज्ञान-विज्ञानादि सबका उपलक्षक है। (पं० रा० व० श०)]

३ (क) *'करि प्रेम निरंतर नेम लिए'* अर्थात् जितना भजनका नियम है उसमें अन्तर नहीं पड़ता, उतना नियम प्रेमसे नित्य करते हैं। *'पद पंकज सेवत सुद्ध हिये'* अर्थात् ज्ञानका भरोसा छोड़कर आपकी उपासना करते हैं शुद्ध हृदयसे अर्थात् सब विकारोंको छोड़कर। (ख) *'सम मानि निरादर आदर ही·········'* इति। विचरणसे आदर और निरादर होता है, कोई आदर करता है, कोई निरादर। दोनोंको सम माननेसे सुखी हैं। [भाव कि मानापमान देहका है और वे अपनेको देहसे पृथक् समझते हैं। (पं० रा० व० श०)] ☞ *'बिचरंति मही'* कहकर सूचित करते हैं कि ये संत निवृत्तिमार्गवाले हैं। [रा० प्र०—जड़भरत, शुकदेवजी, ऋषि शृङ्ग, अष्टावक्रादि सब सुखी विचरते हैं, अतः *'सब संत·········'* कहा। दुःखका हेतु राग-द्वेष है सो ये उसे अपने हृदयसे दूर किये हुए हैं।]

पां०—संत अनन्त प्रिय हैं अतः उन्होंने उनका अवलम्ब दिया है। यह कहकर यहाँ अब बताते हैं कि वे संत कैसे हैं।

नोट—*'सम मानि निरादर आदरही'* में गीताके **'धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।'** (१४। २४) तथा **'मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।'** (२५) का भाव है। अर्थात् प्रकृति और आत्माके विवेकमें कुशल होनेसे वे अपनी निन्दा-स्तुतिमें समभाववाले होते हैं। भाव कि आत्मामें मनुष्यत्वादिका अभिमान करनेसे होनेवाली गुण और अवगुणनिमित्तक स्तुति और निन्दासे अपना कोई सम्बन्ध न समझकर समचित्त रहते हैं तथा उससे होनेवाले मानापमानमें तथा उससे होनेवाले शत्रु-मित्रके पक्षमें भी अपना सम्बन्ध नहीं समझते।

'करि प्रेम निरंतर नेम लिये·········' में गीताके **'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥'** (१४। २६) का भाव है। अर्थात् ऊपर जो गुण बताये हैं उनका प्रधान उपाय यह है कि वे अव्यभिचारी भक्तिसे शरणागतवत्सलताके समुद्र सत्यसंकल्प परमदयाल भगवान्‌की सेवा करते हैं, जिससे यथार्थस्वरूपसे स्थित अमृत अव्यय आत्माको प्राप्त हो जाते हैं।—यही भाव *'करि प्रेम·········सेवत सुद्ध हिये'* में है।

छं०—मुनिमानसपंकजभृंग भजे, रघुबीर महारनधीर अजे।
तव नाम जपामि नमामि हरी, भवरोग महागद* मान अरी॥ ९॥
गुन सील कृपा परमायतनं, प्रनमामि निरंतर श्रीरमनं।
रघुनंद निकंदय द्वंद्व घनं, महिपाल विलोकय दीन जनं॥१०॥

---

* १—रा० गु० द्वि०, भा० दा०, पं०, का० १८४२ वाली प्रति और बं० पा० का यही पाठ है। १८१८ और १८१७ में 'महामदमान अरे' पाठ है।

गौड़जी—इस प्रसंगमें अधिकांश पुरानी प्रतियोंमें 'महागद' पाठ मिलता है और प्रामाणिक कुछ छपी पोथियोंमें और कुछ पुरानी पोथियोंमें प्रायः महामद पाठ मिलता है। अर्थ दोनोंका बहुत अच्छा और सुसंगत है। यह निश्चय करना बड़ा कठिन है कि मानसकारका शुद्ध पाठ क्या है। 'ग' और 'म' दोनों अक्षरोंके लिखनेमें इतना थोड़ा अन्तर है कि कागजका कीड़ा आसानीसे 'ग' का 'म' और 'म' का 'ग' कर सकता है और लिखनेवाले दोनों तरहके अर्थोंके सुसंगतिके

शब्दार्थ—गद=विष, रोग। (श० सा०)। '**असाध्यः कुरुते कोपं प्राप्ते काले गदो यथा।**'—(आप्टे कोश)। **अगद**=औषध। **महागद**=महा अगद।=महौषध।

अर्थ—रघुवंशी वीर, रणमें महाधीर और अजेय (किसीसे न जीते जानेवाले) होकर भी आप मुनियोंके मनकमलके भ्रमर होकर उनको भजते हैं, अर्थात् उनके प्रेमके वश होकर उनके हृदय-कमलमें वास करते हैं। हे हरि! मैं आपका नाम जपता हूँ और आपको प्रणाम करता हूँ। आप (एवं आपका नाम) भवरोगकी महान् औषधि हैं (वा भवरोगरूपी महारोगके और मानके शत्रु हैं॥ ९॥ आप गुण, शील और कृपाके परम स्थान हैं, श्रीपति हैं, आपको निरन्तर प्रणाम करता हूँ। हे रघुकुलके आनन्द देनेवाले! मेरे द्वन्द्वसमूहका नाश कीजिये। हे महिपाल! दीन जनकी ओर देखिये। भाव कि कृपावलोकनसे द्वन्द्व नाश होते हैं। दुष्टोंको मारकर दीनोंपर कृपा करना महिपालका धर्म है)॥ १०॥

टिप्पणी—१ (क) *'मुनि मानस पंकज·········'* इति। मुनि शुद्ध हृदयसे भगवान्‌को भजते हैं, इसीसे भगवान् उनको भजते हैं—उनके हृदयमें वास करते हैं—'**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्**'—(गीता)। यथा—*'ते दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुरुपद पदुम पलोटत प्रीते॥'* (१। २२६) (ख) *'भवरोगमहागद·········'* इति। इस लोकमें रावण महारोग था, यथा—*'दससीस बिनासन बीस भुजा। कृत दूरि महा महि भूरि रुजा॥'* उसका आपने नाश किया और परलोकमें भव महारोग है उसके भी आप नाशक हैं। *'मान अरी'* का भाव कि मान भवरोगका मूल है, यथा—*'संसृति मूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना॥'* तात्पर्य यह कि आप कारण और कार्य दोनोंके नाशक हैं।

'तव नाम जपामि', यथा—'**अहं भवन्नाम गृणन् कृतार्थो वसामि काश्यामनिशं भवान्या। मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मन्त्रं तव रामनाम॥**' (अ० रा० १५। ६२) अर्थात् आपके नामोच्चारणसे कृतार्थ होकर मैं अहर्निश पार्वतीसहित काशीमें रहता हूँ और वहाँ मरणासन्न पुरुषोंको उनके मोक्षके लिये आपके तारकमन्त्र रामनामका उपदेश करता हूँ।

(ग) *'गुन सील कृपा परमायतनं'* अर्थात् आपमें गुण, शील और कृपा अत्यन्त है। गुणोंका उल्लेख मूलरामायणमें है। गुण, शील और कृपाका वर्णन करके पीछे यह बात कही कि आपके गुणादिका वर्णन कोई कहाँतक करेगा, आप तो तीनोंके स्थान हैं।

पं० रा० व० श०—उपक्रममें 'रमारमण' और उपसंहारमें 'श्रीरमण' दोनों शब्द परात्पर तत्त्वके द्योतक हैं। महारणधीर, यथा—'**रामः शस्त्रभृतां वरः**' इति। (वाल्मी० रा०)

कारण कीड़ेकी इसलाहको भी कबूल करनेमें आनाकानी नहीं कर सकते। 'भवरोग महामद मान अरी' का अन्वय 'भवरूपी महारोग, महामद और महामानके अरी' इस प्रकार होगा। 'भवरोग महामद मान अरी' का अन्वय 'भवरूपी महारोगके महा-अगद और मानके अरि' यों होगा। जहाँ मद पाठ है वहाँ अर्थ यह होगा कि 'हे हरि आपके नामको जपता हूँ। आपको नमस्कार है जो आप भवरोग महामद-महामानके महा-अरि और हरण करनेवाले हैं।' यहाँ महारोगका हरण करना हरिका काम है और महामद महामानके आप शत्रु हैं—यह भाव है। इस पाठमें अधिक विशेषता 'हरि' की है।

गौड़जी—अर्थ इस प्रकार होगा—'हे हरि! तुमको नमस्कार है। मैं तुम्हारा नाम जपता हूँ जो नाम संसाररूपी महारोगको दूर करनेके लिये महा-अगद अर्थात् महौषध है और मानका शत्रु है। यहाँ 'महा' शब्द दीपदेहरी न्यायसे 'रोग' और 'अगद' दोनोंके लिये प्रयुक्त हुआ, परंतु 'मान' और 'अरि' शब्दोंपर उसका प्रभाव नहीं पड़ता। परंतु जहाँ 'मद' पाठ लेते हैं वहाँ विशेषण 'महा' सभी शब्दोंमें लग सकता है। अर्थकी दृष्टिसे दोनों पाठोंमें ऐसा कोई तारतम्य नहीं है कि एकको दूसरेपर श्रेय दिया जाय। अनुप्रासकी दृष्टिसे 'गद' से 'मद' अच्छा है, परंतु अनुप्रासकी कीमत बहुत थोड़ी है। 'गद' पाठ लेनेमें एक सौष्ठव यह है कि महारोगके लिये महौषध भी चाहिये और रामनाम महौषध है। यहाँ 'अगद' की अच्छी सुसंगति है। एक और विचारसे 'महागद' को हम श्रेष्ठता दे सकते हैं। 'गद्' वाणी या बोलनेके अर्थमें आता है। इस तरह 'महागद' शब्दका अर्थ महावाक्य भी है और इसलिये कि इस प्रसंगमें भवरूपी महारोगके लिये रामनाम महावाक्य ही महौषध दिखाया गया है, यह भी अर्थ कर सकते हैं कि रामनाम 'महा+गद' (महावाक्य) भवरूपी महारोगके लिये 'महा+अगद' (महौषध) है। मेरे निजी मतसे यह अर्थ सौष्ठव होनेसे 'महागद' पाठ ही समीचीन जान पड़ता है।

बाबा रामकुमारदास—'श्रीरमनं' इति। 'श्री' नाम प्रथमका नाम श्रीजानकीजीका है। लक्ष्मीजीका यह नाम बहुत पीछे हुआ। आ० रा० में इसकी कथा यों है—शतकोटिरामचरित पहले तीन लोकोंमें बँटा। भूलोकके भागमेंके फिर सात भाग सप्तद्वीपके लिये हुए। तब ४२ श्लोक बचे जो ब्रह्माजीने व्यासजीके पास भेजे, जिसके आधारपर श्रीमद्भागवत रचा गया। फिर जम्बूद्वीपके भागमेंके नौ भाग नवखण्डके लिये हुए तब 'श्री' यह एक अक्षर बच रहा—इसे लक्ष्मीजीने लिया, तबसे 'श्री' उनका नाम हुआ।—'**शेषमेकमक्षरं श्रीरिति सर्वत्र विष्णुना**।' वाल्मीकिजीने जानकीजीके विषयमें कहा है—'**श्रियः श्रीश्च भवेदग्र्या**.........' अर्थात् लक्ष्मीजीको भी ये श्रियत्व देनेवाली हैं। हारीतजी कहते हैं कि श्रीरमणसामर्थ्य रामजीहीमें है—'**श्रियो रमणसामर्थ्यात्**।' '**श्रीराम**' इस नामकी निरुक्तिहीसे श्रीरमयितृत्व रघुनाथजीमें जैसा उत्पन्न हो रहा है वैसा दूसरे नामोंमें नहीं। '**श्रियं रमयतीति रामः**।' नारायणादि नामोंकी निरुक्तिसे श्रीरमणत्व बोधन नहीं होता। ....अतः श्रीसाकेताधीशका ही ज्ञापक '**श्रीरमण**' पद है। उपक्रमस्थ '**रमारमण**' का सम्बन्ध इस उपसंहारोक्त '**श्रीरमण**' पदसे है।*

रा० प्र०—'**द्वंद्व घनं**'=द्वन्द्वसमूह। सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूपी मेघ। भाव कि द्वन्द्वरूपी बादलोंने ज्ञानसूर्यको छिपा दिया और मनचन्द्रको मलिन कर दिया है।

दो०—बार बार बर मागौं हरषि देहु श्रीरंग।
पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥
बरनि उमापति रामगुन हरषि गए कैलास।
तब प्रभु कपिन्ह दिवाए सब बिधि सुखप्रद बास॥ १४॥

शब्दार्थ—**रंग**=रंजन करनेवाले, रमानेवाले, पति। **अनपायिनी**=जिसका अपाय अर्थात् वियोग कभी न हो=अविरल सदा एकरस हृदयमें रहनेवाली।

अर्थ—हे श्रीपते! (आपके) चरणकमलोंकी अविनाशिनी अटल भक्ति और निरन्तर सत्संगका वरदान आपसे बारंबार माँगता हूँ, आप प्रसन्न होकर दीजिये। श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंका हर्षपूर्वक वर्णन करके उमापति महादेवजी प्रसन्न होकर कैलासको गये तब प्रभुने वानरोंको सब प्रकार सुख देनेवाले निवास-स्थान दिलाये॥ १४॥

पां०—बार-बार माँगनेसे दाताको संकोच होता है, इसीसे 'श्रीरंग' कहकर माँगा। अर्थात् आप सम्पूर्ण ऐश्वर्यके स्वामी हैं, सब दे सकते हैं।

टिप्पणी—१ (क) सत्सङ्ग और भक्ति दोनों दुर्लभ हैं, यथा—'*सतसंगति दुर्लभ संसारा।*' (१२३। ६), '*सब ते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगतिरत गत मद माया॥*' (५४। ७) इसीसे '*बार बार*' माँगते हैं। (ख)—भगवान् अपनी भक्ति नहीं देते, यथा—'*प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही।*' (८४। ४), '**मुक्तिं ददाति कर्हिचिन्नहि भक्तियोगम्।**' इति (भागवत) इसीसे कहते हैं कि '*हरषि देहु*'।

शीला—'*श्रीरंग*' में भाव यह है कि त्रिलोकमात्र हम सब श्रीके रंगमें रँगे हैं और आप ऐसे अत्यन्त सुन्दर और ऐश्वर्यवान् हैं कि श्री स्वयं आपके रंगमें रँगी हैं।

पं०—'*बार बार बर माँगउँ*' इति। यहाँ बार-बार=प्रतिदिन, दिन-दिन। वा, बार। बार-बार=रोम-रोमसे।

☞भक्ति माँगकर सत्सङ्ग माँगनेके भाव कि—(क) भक्तिका कारण सत्संग है, बिना सत्संग भक्ति नहीं मिलती, यथा—'*बिनु सतसंग न हरिकथा*', '*बिनु सत संग न पावहिं प्रानी।*' (ख) भक्तिका बाधक काम है, कामका बाधक सत्संग है।

नोट—श्रीपरीक्षित् महाराजने भी अपने यहाँ आये हुए ऋषिसमाजसे ऐसी ही प्रार्थना की है। यथा—'**पुनश्च भूयाद्भगवत्यनन्ते रतिः प्रसङ्गश्च तदाश्रयेषु। महत्सु यां यामुपयामि सृष्टिं मैत्र्यस्तु सर्वत्र नमो**

* यह लेख बहुत बड़ा था, अतः पूरा नहीं दिया गया।

द्विजेभ्यः॥'(भा० १। १९। १६) अर्थात् हे द्विजगण! मैं आप लोगोंको पुनः प्रणाम करके यही प्रार्थना करता हूँ कि दूसरे जन्ममें भगवान् अनन्तके चरणोंमें मेरा दृढ़ अनुराग हो तथा उनके भक्त महात्माओंसे मेरा संग रहे (और मैं जिस-जिस योनिमें जाऊँ वहीं सारे जगत्‌में मेरा मैत्री-भाव हो)।

अ० रा० में इस भावके श्लोक परशुरामकृत रामस्तवमें भी आये हैं। यथा—'**अतस्त्वत्पादयुगले भक्तिर्मे जन्मजन्मनि। स्यात्त्वद्भक्तिमतां सङ्गोऽविद्या याभ्यां विनश्यति॥**' (१। ७। ४२) '**यदि मेऽनुग्रहो राम तवास्ति मधुसूदन। त्वद्भक्तसङ्गस्त्वत्पादे दृढा भक्तिः सदास्तु मे॥**' (१। ७। ४८) अर्थात् जन्म-जन्मान्तरमें आपके चरणयुगलमें मेरी भक्ति हो और मुझे आपके भक्तोंका संग हो; क्योंकि इन्हीं दोनों साधनोंसे अविद्याका नाश होता है॥ ४२॥ हे मधुसूदन राम! यदि आपकी मुझपर कृपा है तो मुझे सदा आपके भक्तोंका संग रहे और आपके चरणकमलोंमें मेरी सुदृढ़ भक्ति हो॥ ४८॥

पं० रा० व० श०—'*भगति सदा सतसंग।*' भक्ति मिल जानेपर भी यदि सत्संग न रहा तो उसके लोप हो जानेका भय है। सत्संग भजनका उत्साह नित्य नवीन बनाये रखता है, क्योंकि वह भजनकी महिमा, नामका महत्त्व इत्यादि बराबर जनाता रहता है। पुनः, यदि सत्संग प्राप्त हुआ पर उसका फल भक्ति न मिले, तो वह सत्संग भी किस कामका? अतः भक्ति और सत्संग दोनों माँगे।

टिप्पणी—२ (क) '*हरषि गए*' पदसे सूचित किया कि श्रीरामजीने अपनी अनपायिनी भक्ति शिवजीको दी, इसीसे शिवजी हर्षित हो गये।*—[खर्रा—यहाँ वर देना मानसिक जानना। लीलाके अनुरोधसे प्रत्यक्ष नहीं कहा।] (ख)—'*तब प्रभु*.........*।*' अभिषेक हो चुका, स्तुतियाँ हो चुकीं, अब वास देनेका समय है अतः अब वास दिलाये। (ग)—'***सब बिधि सुखप्रद***' अर्थात् तीनों काल, सब ऋतुओंमें सुखद और सब पदार्थोंसे परिपूर्ण। '***तब प्रभु कपिन्ह दिवाए***' रामायणोंमें प्रथम वास दिलाना कहा गया है, पर गोस्वामीजी आते ही तिलकका सामान कराते हैं, तिलकके कार्यमें सब लग जाते हैं, इसीसे वास मिलना न कहा था। अब वास मिला तब कहा।

नोट—वाल्मीकीयमें केवल 'सुग्रीव' का नाम लेकर उन्हें ठहरानेके लिये कहा गया है। यथा—'**यच्च मद्भवनं श्रेष्ठं साशोकवनिकं महत्। मुक्तावैडूर्यसङ्कीर्णं सुग्रीवाय निवेदय॥**' (१३१। ४५ च० सं०) अर्थात् अशोकवाटिकावाले मेरे विशाल सर्वोत्तम भवनमें जिसमें मोती, पन्ने आदि मणियाँ जड़ी हैं ले जाकर सुग्रीवजीको ठहराओ। अ० रा० में ऐसा ही है जैसा मानसमें। उसमें श्रीरामजीके ये वचन हैं—'**सर्वसम्पत्समायुक्तं मम मन्दिरमुत्तमम्।**' (१५। ३१), '**मित्राय वानरेन्द्राय सुग्रीवाय प्रदीयताम्। सर्वेभ्यः सुखवासार्थं मन्दिराणि प्रकल्पय।**' (३२) मेरा सर्वसम्पत्तियुक्त श्रेष्ठ महल मेरे मित्र वानरराज सुग्रीवको दो तथा और सबके लिये भी सुखपूर्वक रहने योग्य महल बताओ। श्रीरघुनाथजीकी आज्ञा पाकर भरतजीने वैसा ही किया। 'सुखप्रद' ही अ० रा० का '**सुखवासार्थं**.........' है। '*सुखप्रद*' का भाव कि जिसमें सुखकी सब सामग्री थी और जो सब ऋतुओंमें सुख देनेवाला था। क्योंकि इन सबोंको गर्मी, वर्षा और जाड़ेका भी कुछ काल यहीं बीतेगा। यदि एक ही ऋतुमें सुख देनेवाला महल देते तो समझा जाता कि अधिक ठहरानेकी रुचि नहीं है।

पां०—'*तब प्रभु कपिन्ह दिवाए*.........' इति। इससे पाया जाता है कि जिस समय वेद और शिवजी स्तुति करनेको आये थे उस समय रघुनाथजीका चित्त कपियोंकी आगत-स्वागतमें लगा था, इसीसे महादेवजीने छन्दमें कहा था कि '*बिलोकय दीनजनं*' अर्थात् दुःखियोंकी ओर भी देखिये।

नोट—यहाँ वानर, ऋक्ष और राक्षस सभी हैं। केवल '*कपिन्ह*' इससे कहा कि राक्षस तो इने-गिने हैं और ऋक्षोंकी भी कपि संज्ञा है। 'कपि' शब्द यहाँ सबका उपलक्षक है।

प० प० प्र०—शम्भुकृत स्तुति एक्कीसवीं है और एक्कीसवाँ नक्षत्र उत्तराषाढ़ा है। रत्नमालाग्रन्थमें '**ऋक्षैः विप्रतिमैरिमस्यरदनं**' में तीन तारे और हाथीके दाँतके समान आकार कहा है। इस स्तुतिमें भजे, '*नमामि*'

---

* मा० म०—'हर्षित' से जनाया कि वर मिला। 'उमापति' से जनाया कि ब्याहकी इच्छा जो स्तुतिके आरम्भमें प्रकट की थी वह भी वर पाया। सत्संग जो माँगा वह ब्याहहीको सूचित करता है, क्योंकि ब्याह होनेपर सत्संग रहेगा।

और *'जयामि'* तीन तारे हैं। गजको अपना संरक्षण करनेका प्रबल साधन दन्त ही होता है और भगवान्का भजन, नमन और नाम-जप करनेसे कोई भी (पामर जीव भी) अपना इह-पर-संरक्षण कर सकता है। संरक्षण अर्थका शब्द 'पाहि' भी इस स्तुतिमें तीन बार मिलता है। इस नक्षत्रका देवता विश्वेदेव है। **'सर्वदेवमयो गुरुः'** और शिवजीको तो *'त्रिभुवन गुरु बेद बखाना।'* शिव-कृपा बिना रामकृपा या रामभक्तिकी प्राप्ति भी नहीं हो सकती। इस नक्षत्रकी फलश्रुति है *'सेवत सुलभ सुखद हरिहर से'* और इस स्तुतिमें मुख्य सिद्धान्त यही है कि श्रीरामजीकी सेवा करनेसे सुखकी प्राप्ति होती है, यथा—*'एहि ते तव सेवक होत मुदा। मुनि त्यागत जोग भरोस सदा॥ पद पंकज सेवत सुद्ध हिये।''''''''सब संत सुखी बिचरंति मही।'* शिवजी (हर) ही इस स्तुतिके वक्ता हैं। उनकी कृपासे सेवत सुलभ और सुखद 'हरि' हो जाते हैं। स्तुतिका नक्षत्र नामसे साम्य होता है, पर अभीतक निःसंशय निश्चित न होनेसे नहीं लिखा।

प० प० प्र०—*'तब प्रभु कपिन्ह''''''''* इस चरणमें १२ मात्राएँ हैं। छन्दोभंग करके जनाया कि निवास-स्थान मिलनेपर सबको निश्चय हो गया कि अब तो कुछ काल यहाँ निवासका सौभाग्य प्राप्त हो गया। भगवान्को भी आनन्द हुआ कि सब सखा अब कुछ कालतक विश्राम करेंगे।

सुनु खगपति यह कथा पावनी। त्रिबिधताप भव भय दावनी॥ १॥
महाराज कर सुभ अभिषेका। सुनत लहहिं नर बिरति बिबेका॥ २॥

अर्थ—हे गरुड़! सुनो, यह कथा पवित्र है, तीनों प्रकारके तापों और भवके भयकी नाशक है॥ १॥ महाराज रामचन्द्रजीका कल्याणकारी राज्यतिलक सुनते ही मनुष्य वैराग्य और विवेक पाते हैं॥ २॥

नोट—१ (क) *'सुनु खगपति'* से इसे भुशुण्डि-गरुड़-संवादकी कथा सूचित की। पूर्व भी कहा है *'सुनु खगेस तेहि अवसर ब्रह्मा सिव मुनि बृंद। चढ़ि बिमान आये सब सुर देखन सुखकंद॥'* (११), *'वह सोभा समाज सुख कहत न बनइ खगेस॥'* (१२), *'बैनतेय सुनु संभु तब आए जहँ रघुबीर।'* (१३) (ख) *'यह कथा पावनी'* यह फलश्रुति भुशुण्डिजीकी कही है। भाव यह है कि रामकथा तो सभी पावनी है, यथा—*'पावन गंग तरंग मालसे।'* (१। ३२। १४) पर सारी कथा न कह-सुनकर यह राज्याभिषेकका ही प्रसंग कहे वा सुने तो इतनेसे भी वही फल मिल जायगा। पावनीसे स्वयं पावन और वक्ता-श्रोताको भी पावन करनेवाला जनाया। जैसे सब रामचरित त्रिविधताप और भव-भयका नाशक और वैराग्य आदिका प्रापक है, यथा—*'समन पाप संताप सोक के।'* (१। ३२। ५) *'बिबुधबैद भव भीम रोग के।'* (१। ३२। ३) *'करौं कथा भव सरिता तरनी।'* (१। ३१। ४), *'सदगुन ग्यान बिराग जोग के।'* (१। ३२। ३), *'पुनि बिबेक पावक कहुँ अरनी।'* (१। ३१। ६) वैसे ही यह प्रसंगमात्र यह सब कार्य कर देता है।

टिप्पणी—१ ☞ यहाँ माहात्म्य लिखनेका भाव एक तो यह है कि यह (राज्याभिषेक) प्रसंग यहाँ समाप्त हुआ, इससे यहाँ इसका माहात्म्य लिखते हैं। दूसरा अभिप्राय यह है कि वाल्मीकीयमें और अध्यात्ममें युद्धकाण्डकी समाप्ति यहींपर की है, उस भावको दरसानेके लिये यहाँ फलश्रुति लिखते हैं।

मा० हं०—अध्यात्मकार और वाल्मीकिजीने युद्धकाण्डमें ही श्रीरामजीका मुख्य अवतार-चरित यानी राज्याभिषेक-वर्णन पूर्ण कर दिया। बाद उन्होंने सीतात्यागसे लगाकर श्रीरामनिर्याणतकका उत्तररामचरित्र उत्तरकाण्डमें दिया। इस उत्तर रामचरितको गोसाईंजीने बिलकुल स्पर्श ही नहीं किया। कदाचित् यह भाग उनको, प्रेमीभक्तजनोंके हृदयको दुखानेवाला, रसका विरस करनेवाला और सामान्यतः लोकशिक्षाकी दृष्टिसे विशेष उपयोगी न होनेवाला ही जान पड़ा हो। इसलिये उन्होंने लंकाकाण्डमें एक केवल लंकाका ही सम्बन्ध रखनेवाला रामचरित्रका भाग देकर रामराज्याभिषेक और रामराज्यवैभवको ही अपने उपयोगका समझा है और इस भागको अपना उत्तर रामचरित्र ठहराया है। इस उत्तरचरित्रमें रामगीताकी जगह देवस्तुति, रामस्तव और काकभुशुण्डि-गरुडसंवाद स्वतंत्र रीतिसे जोड़ दिये गये हैं, जिससे उत्तरकाण्डकी योजना भक्ति-रसपोषक और शिक्षणोपयोगी हुई है। हमें ऐसा मालूम है कि गोसाईंजीके ध्येयकी दृष्टिसे उत्तरकाण्डसम्बन्धी उनकी कल्पना और उस प्रकारकी ही उनकी रचना निःसंशय बड़ी ही गम्भीर, उदात्त और सरस हुई है।

टिप्पणी—२ *'त्रिबिध ताप भव भय दावनी'* इति। अर्थात् इस शरीरमें त्रिताप (दैहिक-दैविक-भौतिक ताप) नहीं होने पाता और अन्तमें भवका भय नहीं होता। भव ही तीनों ताप देता है, इसीसे इनको रामकथा भस्म करती है। ३—जो यहाँ प्रथम कहा कि *'यह कथा'* पावनी है, उसका अर्थ दूसरी अर्धालीमें खोलते हैं कि जो राज्याभिषेककी कथा सुनते हैं उनको फिर दूसरी बात सुननेकी इच्छा नहीं होती, यह वैराग्यकी प्राप्ति होती है। ४—*'त्रिबिध ताप भव भय दावनी'*— इसीको चौथे चरणमें स्पष्ट करते हैं। त्रिताप और भवभय नाश करती है, विरति और विवेक देती है जिनसे ताप और भव नाश होते हैं।

खर्रा—*'सुनत लहहिं।'* *'सुनत'* से तात्कालिक फल सूचित किया। और 'मन्त्रादि अनुष्ठान-मंडल पूरे सिद्ध होनेपर फलप्रद होते हैं' (रा० प्र०)।

जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख संपति नाना बिधि पावहिं॥ ३॥
सुरदुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंत काल रघुपति पुर जाहीं॥ ४॥

अर्थ—जो मनुष्य किसी कामनासे इसे सुनते हैं एवं जो कामनासे गाते हैं, वे (अर्थात् श्रोता और वक्ता दोनों) अनेक प्रकारका सुख और सम्पत्ति पाते हैं॥ ३॥ वे संसार (इस लोक) में देवताओंको भी दुर्लभ ऐसे सुख भोगकर अन्त समय श्रीरघुनाथजीके पुरको जाते हैं॥ ४॥

पं० रा० व० श०—सुख होनेपर अन्तमें दुर्गति होगी, इस शंकाके निवारणार्थ कहते हैं कि ऐसा नहीं है, वरन् इहलोकसुखके पश्चात् रामधाम पाते हैं। *'जाहीं'* से जनाया कि चाहे जहाँ रहें, वहाँसे साकेतको ही जायँगे। इस कथनसे नरकादिका निरास किया। भाव यह कि कथाके कथन वा श्रवणसे लोक-परलोक दोनोंका सुख प्राप्त हो जाता है।

टिप्पणी—१ *'जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं'* इति। (क) जो कामनासहित गाते हैं, यह कहकर सूचित किया कि इस प्रसंगका पाठ नित्य करे। (ख) *'सकाम'* कहकर जनाया कि जिनको प्रथम कह आये, वे निष्काम श्रोता हैं।* (ग)—*'सकाम'* कहकर दूसरे चरणमें कामनाओंको स्पष्ट करते हैं कि *'सुख संपति नाना बिधि पावहिं'*, सुनने या गानेसे सब कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। सुख शरीरका है; क्योंकि भोगसे रोगका भय है—'**भोगे रोगभयम्**' (भर्तृहरि)। २—*'**सुरदुर्लभ सुख करि जग माहीं।**'* ....' यह *'सुख संपति'* का अर्थ खोला। '**सुरदुर्लभ**'=वह सुख जो देवलोकमें नहीं है। रामकथाका गाना, सुनना यह सत्संग-सुख स्वर्गमें नहीं है। यथा—*'**तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिय तुला इक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥**'* (सुं०) शिवसनकादि भी पृथिवीपर अगस्त्यजीसे सत्संग करने आते थे। अन्तकालमें रघुपतिपुरको जाना यह भी देवताओंको दुर्लभ है।†

नोट—*'रघुपति पुर'* अर्थात् साकेतलोक, रामधाम। *'जग माहीं'* से इस जगत् एकपादविभूतिका सुख जनाया। प्रथम *'जग माहीं'* सुख कहकर *'रघुपति पुर'* को जाना कहा, इससे स्पष्ट किया कि *'रघुपति पुर'* इस एकपदविभूतिके बाहर है, जगत्से परे है। इससे यह भी सिद्धान्त कर दिया कि क्षीरसागर, वैकुण्ठादि *'रघुपति पुर'* नहीं हैं, क्योंकि वे तो एकपादविभूतिके भीतर हैं। पुनः, *'रघुपति'* माधुर्य नाम देकर उससे अयोध्या, साकेत इत्यादि नामक पुर निस्संदेह सूचित किया; क्योंकि रघुनाथजीकी पुरी अयोध्या छोड़ दूसरी है ही नहीं। इस लीलाविभूतिमें *'जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि'* यही अयोध्या है और त्रिपादविभूतिमें भी अयोध्या ही रघुनाथजीका लोक है।

इस विषयमें वेदान्तशिरोमणि श्रीस्वामीरामानुजाचार्यजी (वृन्दावन) यों लिखते हैं—

---

* खर्रा—निष्काम-श्रवणको सब सिद्धिसाधनका साधन जनाया। सब सिद्धिके साधन वैराग्य और विवेक हैं, इनका भी साधन श्रवण है।

† वै०—दिव्य अन्न, खटाई, मिठाई, दुग्ध, दधि, घृत, पुत्र, पौत्रादि ये सुरदुर्लभ हैं।

प्रश्न—रामधाम, क्षीरसागर, वैकुण्ठ, महावैकुण्ठ कहाँ हैं? अयोध्या नित्य-नैमित्य दोनों यहीं है या पृथक्-पृथक्?

उत्तर—श्रीअयोध्या त्रिपादविभूति और लीलाविभूति दोनोंमें है। दोनों अयोध्या नित्य हैं। नारदपञ्चरात्रान्तर्गत बृहद्ब्रह्मसंहिता द्वितीयपाद सप्तमाध्याय श्लोक २ तथा तृतीयपाद प्रथमाध्यायके अनेक श्लोक इसके प्रमाण हैं। यथा—'**अयोध्या कोशले देशे सरयूपुलिने स्थिता। यत्र राजीवपत्राक्षो रामो दशरथात्मजः॥ व्यूहलोकात् परतरो विभवाख्यस्तु यः स्मृतः। वासुदेवो महाभाग तस्य लोकं वदामि ते॥ अयोध्याख्या पुरी चैका द्वितीया मथुरा स्मृता। मत्स्यादीनां तथा पुर्यः परितः सम्प्रकीर्त्तिताः॥ तत्रायोध्या पुरी रम्या यत्र नारायणो हरिः। रामरूपेण रमते सीतया परया सह॥**' (५१), '**वामाङ्गे जानकी देवी किशोरी कनकोज्वला। कैवल्यरूपिणी नित्यानित्यानन्दैकविग्रहा॥ सेयं सीता भगवती ज्ञानानन्दस्वरूपिणी। योगिनां रमणे रामे रमते रामवल्लभा॥**' (८३) '**रामाविर्भावसमये ह्याविर्भवति सर्वदा। निष्प्रपञ्चे निष्प्रपञ्चा निरीहात्मगुणक्रिया॥........पूर्णरूपेण साकेते नित्यलीलारसोत्सुका। मया रामेण रमते क्षणविच्छेदकातरा॥**' (८८) '**साकेतकपुरद्वारसरयूकेलिकारिणी। कोटिगन्धर्वकन्याभिरालीभिर्भाति भागिनी॥**' (८९) '**कृतावतारः श्रीरामो ह्यनया केलिभूतया। नेष्यत्ययोध्यामखिलामनायासेन मत्पदम्॥**' यही रामधाम है।

वैकुण्ठ वह है जहाँ जय-विजयको शाप मिला, महावैकुण्ठ वह है जहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुन मरे हुए ब्राह्मणपुत्रोंको लेने गये और क्षीरसागर वह है जहाँ ब्रह्मादिक अवतारके लिये प्रार्थना करते हैं।* ये तीनों लीलाविभूतिमें हैं। त्रिपादविभूति धाम तो '**विधिशिवसनकाद्यैर्ध्यातुमत्यन्तदूरम्**' इत्यादि—(श्रीयामुनमुनि-प्रणीतस्तोत्ररत्न) और श्रीभाष्यकाररामानुजस्वामिप्रणीत वैकुण्ठगद्य—'**विधिशिवादिवाङ्मनसाऽगोचरे श्रीमति वैकुण्ठे**' इत्यादि भी इसमें प्रमाण है। नारदपञ्चरात्रान्तर्गतबृहद्ब्रह्मसंहितातृतीयपादे प्रथमेऽध्याये

'**अविद्यातिमिरं तीर्त्वा मद्भावमुपलभ्य च। मामुपैति महाभाग मदेकशरणागतः॥ ३८॥**
स एतां त्रिगुणं मायामर्चिरादिगतिं गतः। भित्त्वा सकार्यामतिमान्यातिसत्त्वगुणास्पदम्।
नित्यमप्राकृतं धाम स्वप्रकाशमनामयम्। भक्त्यैकं लभ्यममलं कालप्रलयवर्जितम्॥
प्रधानपरमव्योम्नोरन्तरे विरजानदी। वेदान्तस्वेदजनिततोयैः प्रस्राविता शुभा॥
तस्यास्तीरे परव्योम त्रिपादभूतं सनातनम्।' इत्यादि।
'**एवमादिगुणोपेतं तद्विष्णोः परमं पदम्। व्यूहलोकात्परतरो विभवाख्यस्तु यः स्मृतः॥**
वासुदेवो महाभाग तस्य लोकं वदामि ते। अयोध्याख्यापुरी चैका द्वितीया मथुरा स्मृता॥'

---

* क्षीरसागर, भौम (महा) वैकुण्ठ और रमावैकुण्ठका वर्णन भा० १०। १। १९-२०, १०। ८९। ४७—५७, ५। २३। १ में क्रमसे यों है—

'ब्रह्मा तदुपधार्याथ सह देवैस्तया सह। जगाम सत्रिनयनस्तीरं क्षीरपयोनिधेः॥ १९॥
तत्र गत्वा जगन्नाथं देवदेवं वृषाकपिम्। पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः॥' २०॥

देवोंके सहित ब्रह्माजीका क्षीरसागर जाना और अवतार धारण करनेके लिये प्रार्थना करना, यह सब एकपाद इस लीलाविभूतिमें ही होता है। त्रिपादविभूतिमें अर्चिरादि मार्गसे सुषुम्नानाड़ीद्वारा मुक्त होकर ही जानेका अधिकार है। कौषीतकी-उपनिषद्में विस्तारसे इसका वर्णन किया है—'इति सम्भाष्य भगवानर्जुनेन सहेश्वरः। दिव्यं स्वरथमास्थाय प्रतीचीं दिशमाविशत्' से श्लोक ५७ तक भौम वैकुण्ठधामका वर्णन है। इसके पश्चात् वैकुण्ठनाथसे नमस्कारपूर्वक सम्भाषण, ब्राह्मणपुत्रोंको लेकर द्वारकामें आगमन और अर्जुनका श्रीकृष्णमहिमासे विस्मित होना वर्णन है। यह वैकुण्ठ लोकालोकपर्वतके परे, तमसे परे, शुद्धोदके ऊपर है। 'रमावैकुण्ठ' के द्वारके समीप ध्रुवजीका निवास-स्थल है। 'अथ तस्मात्परतस्त्रयोदशलक्षयोजनान्तरतो यत्तद्विष्णोः परमं पदमभिवदन्ति यत्र ह महाभागवतो ध्रु..........' इत्यादि भा० ८। ५ में रैवतमन्वन्तरके वर्णन-प्रसंगमें........'पत्नी विकुण्ठा शुभ्रस्य वैकुण्ठैः सुरसत्तमैः। तयोः स्वकलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान् स्वयम्॥ वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः। रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रियकाम्यया॥' ४-५॥ इत्यादि प्रमाणोंसे व्यक्त है कि विकुण्ठापुत्र भगवान् वैकुण्ठने लक्ष्मीजीकी प्रार्थनापर रमावैकुण्ठ प्रकट किया है। सनकादि ब्रह्मर्षियोंका वहाँ जाना और जय-विजयको शाप देना रमावैकुण्ठका वृत्तान्त है।

—इत्यादि उपर्युक्त प्रमाणोंसे त्रिपाद्विभूतिमें नारायणलोक, साकेतलोक, गोलोकादि अनेक लोक हैं। कहीं शङ्खचक्रादि आयुधधारी नारायणरूपसे, कहीं धनुषबाणधारी श्रीरामरूपसे, कहीं मुरलीमनोहररूपसे, कहीं नृसिंहादिरूपसे प्रभु विराजते हैं—'**यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति**' इस श्रुतिप्रमाणसे '**तत्क्रतुन्याय**' अर्थात् जिस माधुर्यके उपासक भक्त हैं, उनको उसी रूपसे प्रभु साकेतादि लोकोंमें आनन्दानुभव कराते हुए नित्यसेवा प्रदान करते हैं। श्रीमर्यादापुरुषोत्तम सरकारके माधुर्यके उपासकोंको साकेतलोकमें श्रीरामरूपसे, श्रीलीला पुरुषोत्तम सरकारके माधुर्यके उपासकोंको गोलोकमें श्रीकृष्णरूपसे, इसी प्रकार उपासकोंके उपासनानुरूप फल प्रदान करते हुए सरकारके अनेक नाम, रूप, लीला और धाम हैं।

नोट—सि० ति० कारने उपर्युक्त लेखोंको संक्षिप्त रूपसे लेकर उसके पश्चात् यह लिखा है—'जो यहाँ जैसे परिकररूपसे भावना करता है, दिव्यविभूतिमें भी वह वैसे ही ब्रह्मके साथ क्रीड़ामें सम्मिलित रहकर दिव्य सुख पाता है; यथा—'**सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता।**' (तैत्ति० २। १); अर्थात् मुक्तात्मा परमात्माके साथ-साथ सब कामनाओंका भोक्ता होता है। यही सायुज्यमुक्ति है; यथा—'**सायुज्यं प्रतिपन्ना ये तीव्रभक्तास्तपस्विनः। किङ्करा मम ते नित्यं भवन्ति निरुपद्रवाः॥**' (नारदपञ्चरात्रपरमसंहिता); अर्थात् क्षुधा-पिपासा आदि उपद्रवोंसे रहित होकर ब्रह्मके साथ किंकरभावसे सब कामनाओंको भोगनेवाले सायुज्यमुक्त कहाते हैं। यही मुक्ति श्रीगोस्वामीजीको भी इष्ट है; यथा—'*खेलिबेको खगमृग तरु किंकर होइ रावरो राम हौं रहिहौं। येहि नाते नरकहुँ सचुपैहौं या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं॥*' (वि० २३१) अर्थात् परमपद-(नित्यधामकी मुक्तावस्था-) में भी किंकरभावसे ही रहूँगा।'

सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई॥ ५॥
खगपति रामकथा मैं बरनी। स्वमति बिलास त्रास दुख हरनी॥ ६॥
बिरति बिबेक भगति दृढ़ करनी। मोह नदी कहँ सुंदर तरनी॥ ७॥

अर्थ—जीवन्मुक्त, वैराग्यवान् और विषयी सुनते हैं तो भक्ति, गति और 'नयी सम्पत्ति' पाते हैं॥ ५॥ हे पक्षिराज गरुड़जी! मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार रामकथा-वर्णन की जो त्रास और दुःखको हरने, वैराग्य, विवेक और भक्तिको अचल करनेवाली और मोहरूपी नदीके लिए सुन्दर नाव है॥ ६-७॥

टिप्पणी—१ '*सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई।*……' इति। (क) यहाँ यथासंख्य अलंकार है। विमुक्तको कुछ न चाहिये, इसीसे उसे भक्ति मिलती है, यथा—'*सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ।*' (वि० ८६) (ख) निष्काम विरति और विवेक पाते हैं, सकाम सुख सम्पत्ति पाते हैं, विमुक्त भक्ति पाते हैं, जब वैराग्य पाकर वैराग्यवान् सुनते हैं तब गति पाते हैं। पुनः, (ग)—विमुक्त उत्तम हैं सो भक्ति पाते हैं, विरक्त मध्यम हैं सो गति पाते हैं और विषयी निकृष्ट हैं सो सम्पत्ति पाते हैं। ['यद्यपि बीज एक ही है तथापि क्षेत्रगुण उपराज और-और भाँतिकी होती है, इस हेतु जीवोंके गुण-भेदसे भेद कहते हैं। (वै०) (घ)—'**संपति नई**'=दिन-दिन बढ़नेवाली]।

२—'*खगपति रामकथा मैं बरनी।*……' इति। (क)—'*त्रास दुख हरनी*' अर्थात् लोक-परलोक दोनोंमें किसीका भय नहीं है न कोई दुःख है। '*त्रास*' अर्थात् गर्भवास चौरासी यमसाँसति इत्यादि। '*दुख*' आधिव्याधि, दरिद्र, जरा, प्रियवियोग इत्यादि। (वै०) (ख) '*स्वमति बिलास*' कहकर सूचित किया कि रामकथाका अन्त नहीं है, हमारी मतिका अन्त है। [पुनः **स्वमति बिलास**=अपने मतिके विलासहेतु (रा० प्र०)] (ग) '*बिरति बिबेक भगति दृढ़ करनी।*……' इति। विरति, विवेक और भक्तिके इस क्रमका भाव कि प्रथम वैराग्य होता है तब विवेक होता है और तब भक्ति होती है। प्रमाण यथा—'*जानिय तबहि जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥ होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥*' (२। ९३। ४-५) '*दृढ़ करनी*' इति। प्रथम विवेक और विरतिका पाना लिखा, यथा—'*सुनत लहहिं नर बिरति बिबेका*', '*लहहिं भगति गति संपति नई।*' अब इनको दृढ़ करना कहते हैं (अर्थात् प्राप्ति ही नहीं

कर देती वरन् उनकी प्राप्ति होनेपर उनको अचल भी कर देती है)। (घ) *'सुंदर तरनी'* का भाव कि इसके होनेसे डूबनेका भय नहीं रह जाता। [*'मोह नदी'* का भाव कि यह विषयी जीवोंको डुबा देनेवाली है, पर वे भी यदि कथाका अवलंब लें तो सहज ही उसके पार हो जायँ। भाव कि इसके श्रवणमात्रसे मोहका नाश होता है। (वै०)] यहाँ 'परम्परित सम-अभेद-रूपक' है।

गौड़जी—*'सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई॥'* इति। इस चौपाईमें पहले चरणमें १६ मात्राएँ हैं और पाठ निर्विवाद है। परंतु दूसरे चरणमें अन्तिम शब्द *'नई'* के होते केवल १५ मात्राएँ होती हैं। इस तरहका नियमभंग गोस्वामीजीकी रचनामें और कहीं नहीं है।* पढ़नेकी विधिमें पहले चरणमें शुद्धतापूर्वक १६ की १५ मात्राएँ नहीं हो सकतीं परंतु दूसरे चरणमें 'सम्पति' को 'सम्पत्ति' पढ़ें तो १६ मात्राएँ हो जाती हैं। इसमें भी दो आपत्तियाँ हैं—एक तो पाठमें जहाँतक मालूम है 'त' का द्वित्व नहीं है; दूसरे यह कि द्वित्व मानकर पढ़ लेनेसे गति-साम्यमें थोड़ा-सा अन्तर प्रतीत होता है। इसीलिये द्वित्वके साथ 'सम्पत्ति' को पढ़ना बहुत अच्छा पाठ नहीं प्रतीत होता। अब अर्थके ऊपर विचार करते हैं तो यथासंख्यालंकारके अनुसार विषयी जीवोंको जो सम्पत्ति मिलती है वह *'नई'* होती है। *'नई'* से क्या तात्पर्य है? पं० रामकुमारजी कहते हैं कि *'नई'* का अर्थ है 'दिन-दिन बढ़नेवाली'। यदि चौपाईमें 'नित्य' शब्द भी होता अर्थात् नित्य नयी संपत्ति पाते हैं, तो दिन-दिन बढ़नेवाली अर्थ करनेमें कोई कठिनाई न होती। परंतु मानसकारने नित्य शब्द नहीं दिया है और न *'नई'* शब्दको दोहराकर वाच्यार्थद्वारा ही यह सूचित किया है। *'नई'* का लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ 'नित्य नए' होनेकी सूचना नहीं देता। अतः पं० रामकुमारजीकी व्याख्या असमर्थ है। विषयी जीवको *'नई संपति'* मिलती है, उस सम्पत्तिमें नयापन क्या है? इसमें व्यंजनाकी गुंजाइश है। विषयीके पास सम्पत्ति है जिसका वह भोग करता है। यह उसकी पुरानी सम्पत्ति है, उसे रामकथाके सुननेसे *'नई'* सम्पत्ति मिलती है, ऐसा मानसकारका कहना है। उसने यह स्पष्ट नहीं किया है कि वह नयी सम्पत्ति क्या है? विमुक्तको भक्ति मिलती है, वैराग्यवान्को सुगति मिलती है। रामकथा सुननेका तो यह फल बहुत सुन्दर है। उसीसे विषयीको यदि विषयोपभोगवाली सम्पत्ति मिली तो रामकथा सुननेमें और एक अभक्तिविषयक सुन्दर गाना सुननेमें क्या अन्तर रहा? जो नयी सम्पत्ति विषयी जीवको कथा सुननेसे मिलती है वह अवश्य विलक्षण होनी चाहिये और विषयीभोगसे परे भी होनी चाहिये—यह पाठकोंके लिये मननका विषय रखा गया है। मेरी समझमें वह *'नई संपति'* है श्रद्धा। उसके उत्तरोत्तर विकासकी नींव पड़ जाती है—*'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्'*।' इस नयी सम्पत्तिसे आगेके लाभके द्वार खुल जाते हैं, विषयभोगकी अनित्यता समझमें आ जाती है और उपासनाकी ओर प्रवृत्ति होती है।

अब इसके पाठान्तर *'नितई'* पर विचार करना चाहिये। *'नितई'* शब्द पुराने पाठका नहीं प्रतीत होता; परंतु आधुनिक पोथियोंमें यह पाठान्तर मिलता है। सम्भव है कि एक मात्राकी कमी देखकर *'नई'* की जगह *'नितई'* कर दिया गया हो। *'नितई'* शब्दका अर्थ यदि 'नित्य' ही किया जाय तो कोई विमुक्त नित्य ही भक्ति पावे और विरागी—नित्य ही गति पावे—इस तरहके अर्थमें कोई संगति नहीं है। सम्पत्तिके नित्य मिलनेमें विशेषता है; परंतु विषयी जीव सम्पत्ति पाकर अधिक विषयोपभोगमें लग जायगा और नित्य मिलनेसे उसकी भोगविलासकी आकांक्षा बढ़ती ही जायगी। इसलिये रामकथा सुननेका यह लाभ कुछ न हुआ। जीवके विकासक्रममें भारी हानि हुई। इसलिये 'नित्य ही' अर्थ करना अनर्थ होगा। *'नितई'* पाठ शुद्ध मान लेनेपर उसका अर्थ 'नित्य' करना चाहिये। भाव यह कि विषयीको रामकथा सुननेसे नित्य सम्पत्ति मिलती है, अनित्य नहीं। विषयोपभोगवाली सम्पत्ति अनित्य है, रामकथासे उसे विषयभोग क्षणभङ्गुर सम्पत्ति न मिलकर श्रद्धा और वैराग्यकी अथवा दैवीसम्पत्तियोंमेंसे कोई स्थायी सम्पत्ति मिलती है। *'नितई'* का 'नित्य' अर्थ करना मेरी रायमें क्लिष्टताके दोषसे मुक्त नहीं है और खींचातानी मात्र है।

* ऐसे उदाहरण और भी हैं—'सुनु खगपति……। त्रिबिध ताप भव भय दावनी॥' (१५। १) के दूसरे चरणमें १५ मात्राएँ हैं, इत्यादि। मात्राकी कमी करके इस कथाकी अलौकिकता और दिव्यतापर आश्चर्य-भाव प्रकट किया है। (प० प० प्र०)

वि० त्रि०—संसारमें तीन प्रकारके जीव हैं, यथा—'*बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥*' तो इस कथासे तीनोंका कल्याण होता है। विमुक्तसे यहाँ जीवन्मुक्त अभिप्रेत हैं। '*जीवन्मुक्त महामुनि जेऊ। हरिगुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥*' उन्हें भक्तिकी प्राप्ति होती है। यथा—'**आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥**' यहाँ विरतसे साधकका ग्रहण है, उन्हें गति अर्थात् सिद्धि प्राप्त होती है और विषयी तो सदा सम्पत्तिके भूखे रहते हैं, उनका भी मनोरथ पूर्ण होता है, उन्हें ऐसी सम्पत्ति मिलती है, जो उन्हें रामपद-सम्मुख होनेमें सहायक हो। (क्योंकि '*जरउ सो संपति सदन सुख सुहद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो रामपद करइ न सहस सहाइ॥*) इसीलिये उस सम्पत्तिको नयी अर्थात् अपूर्व कहते हैं, पहिलेकी सम्पत्ति ऐसी नहीं थी।

नित नव मंगल कौसल पुरी। हरषित रहहिं लोग सब कुरी*॥ ८॥
नित नइ प्रीति राम पद पंकज। सब के जिन्हहिं नमत सिव मुनि अज†॥ ९॥
मंगन बहु प्रकार पहिराए। द्विजन्ह दान नाना बिधि पाए॥ १०॥

शब्दार्थ—कुरी=वंश, घराना, '*भइ आहाँ पद्मावति चली। छत्तिस कुरि भइ गोहन भली॥*'—(जायसी) विभाग। जाति—(मानसदीपिका)।

अर्थ—अयोध्यापुरीमें नित्य नये मङ्गलोत्सव होते हैं। सब जातिके लोग प्रसन्न रहते हैं॥ ८॥ श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंमें कि जिन्हें श्रीशिवजी, मुनिलोग और श्रीब्रह्माजी नमस्कार करते हैं, सबकी नित्य नवीन प्रीति है॥ ९॥ मँगताओंने बहुत प्रकारके पहरावे पाये और ब्राह्मणोंने अनेक प्रकारके दान पाये॥ १०॥

टिप्पणी—१ (क) राममन्दिरका मङ्गल कहकर अब पुरीका मङ्गल कहते हैं। श्रीरामजीके आगमनका राज्यमङ्गल-महोत्सव सब जातिवालोंके घर-घरमें होता है, इसीसे सब जातिके लोग हर्षित रहते हैं। हर्षित रहनेका हेतु आगे कहते हैं कि '*नित नइ प्रीति राम पद पंकज।*' (ख) '*नित नइ प्रीति*.........' इति। भाव कि बिना रामपदप्रीतिके लोग दुःखी रहते हैं, यथा—'*अति दीन मलीन दुखी नितहीं। जिन्ह के पद पंकज प्रीति नहीं॥*' और इनकी नित्य नवीन प्रीति बढ़ती है, अतः ये सुखी हैं। पुनः भाव कि निष्काम श्रोता विरति-विवेक पाते हैं, इसी तरह सकाम, विमुक्त, मुमुक्षु और विषयीका सुख-सम्पत्ति भक्ति, गति और सम्पत्ति पाना कह आये—१५ (५—७) देखिये। अयोध्यावासी क्या पाते हैं यह यहाँ बताते हैं कि वे श्रीरामपद-पङ्कजमें '*नित नइ*' प्रीति पाते हैं। (ग) '*जिन्हहिं नमत सिव मुनि अज*' का भाव कि शिव, मुनि और ब्रह्मा—ये लोग तो अपने-अपने स्थानसे श्रीरामजीको नमस्कार करते हैं और अयोध्यावासी प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं, इसीसे नित्यप्रति प्रीति नवीन होती है। [पुनः, 'नित्य नवीन प्रीति' बढ़ती है, यह कहकर '*जिन्हहिं नमत*.........' कहनेका भाव कि वे इन चरणोंकी महिमा, इनका प्रताप और ऐश्वर्य जानते हैं, इसीसे '*नित नइ प्रीति*' होती है।]

२ '*मंगन बहु प्रकार पहिराए।*.........' इति। (क) अवधवासी मङ्गल करते हैं, उन्होंने मँगताओंको बहुत प्रकारका पहिरावन पहिनाया, इत्यादि। (ख) [अ० रा० १६ में लिखा है कि लाख घोड़े, लाख कामधेनु-समान गौएँ, सौ-सौ बैलोंसमेत गौएँ और ३० करोड़ अशर्फियाँ दीं। यह सब '*नाना बिधि*' में आ गया। अन्य रामायणोंमें और भी भिन्न-भिन्न प्रकारसे दान देना कहा है। अतः कविने सबका मत रखनेके लिये '*नाना बिधि*' कहा। २—यहाँ यह न लिखकर कि किसने '*पहिराए*' या दान दिये, यह जनाया कि सभी दान दे रहे हैं, सभी मँगताओंको पहिरावा पहिनाते हैं]।

* मात्राकी न्यूनताका भाव कि ये दोनों बातें अलौकिक और असम्भव होनेपर भी श्रीअवधमें रामराज्यमें घटित हुई।—'त्रेता भइ कृतजुग की करनी।' (प० प० प्र०)

† 'नमत जिन्हहिं संकर सिव मुनि अज'—(मा० म०) ☞ भरत-मिलाप-प्रसंगमें भी भरतजीके सम्बन्धमें भी ऐसा ही कहा है—'गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज। नमत जिन्हहि सुरमुनि संकर अज॥' (५। ६)

पं० रा० व० श०—यहाँ मँगनोंको पहिरावा और विप्रोंको दान देना कहा। कारण कि दान सुपात्रको ही देना चाहिये,जो दान सुपात्रमें दिया जाय वही दान है—'यद्दीयते दान तथा सुपात्रे तत्सम्प्रदानं कथितं मुनीन्द्रैः।'

'पाहुनोंकी बिदाई'—प्रसंग

दो०—ब्रह्मानंद मगन कपि सब के प्रभुपद प्रीति।
जात न जाने दिवस तिन्ह गये मास षट बीति॥ १५॥

अर्थ—सब कपि ब्रह्मानन्दमें मग्न हैं। सबका प्रभुके चरणोंमें प्रेम है। उन्होंने दिन जाते न जाना, छः महीने बीत गये॥ १५॥

टिप्पणी—१ ब्रह्मानन्दमें मग्न हैं। यह कहकर जनाया कि अहंता-ममतासे रहित हैं; क्योंकि बिना अहंममरहित हुए ब्रह्मानन्द नहीं प्राप्त होता, यथा—*'कबिहि अगम जिमि ब्रह्मकुल अहमम मलिन जनेषु'* (अ०)। श्रीरामजी ब्रह्मानन्दकी राशि हैं, यथा—*'मुनि मन मोद न कछु कहि जाई। ब्रह्मानंदरासि जनु पाई॥'* (२। १०६। ८) तात्पर्य कि श्रीरामजीका दर्शन ब्रह्मानन्द है, उस दर्शनानन्दमें मग्न हैं। *'सब के प्रभुपद प्रीति'* कहनेका भाव कि वानर लोग केवल ज्ञानियोंकी तरह ब्रह्मानन्दमें नहीं मग्न हैं वरन् सबकी प्रभुपदमें प्रीति है। [पुनः भाव कि ब्रह्मानन्दमें ध्याता, ध्यान और ध्येय तीनोंका ज्ञान नहीं रह जाता। इससे यह ब्रह्मानन्द रुक्ष है, वानरोंका ब्रह्मानन्द वैसा नहीं है क्योंकि सबके प्रभुपदप्रीति है। (पं० रा० व० श०)

२ *'जात न जाने दिवस तिन्ह।'* भाव कि—(क) ब्रह्मानन्दमें देहकी खबर नहीं रहती इसीसे दिन जाते न जाना, छः महीने बीत गये अर्थात् आश्विन बीत गया। चैत्र शुक्ल ५ को राज्याभिषेक हुआ था। (यह मत रा० प्र० का भी है। पुनः (ख) दिन जाते न जाना पर रात्रिका व्यतीत होना जाना क्योंकि यदि रात्रिका व्यतीत होना न जानें तो रात्रिका स्वप्न भी न जानेंगे और जो स्वप्न जानेंगे तो आगे *'बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं'* कैसे कहेंगे? [दिवस—दिन-रात दोनोंका उपलक्षक है। बोलचालमें भी ऐसा प्रयोग होता है।]

वि० त्रि०—*'राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना।'* उन्हीं रामके प्रेममें कपि लोग मग्न थे, इसीलिये कहा कि *'ब्रह्मानंद मगन कपि।'* यहाँपर ग्रन्थकारने स्वयं कारणका भी निर्देश किया है कि *'सब के प्रभुपद प्रीति'* है। यथा—*'सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दल जीती॥ फिरत सनेह मगन सुख अपने। नाम प्रसाद सोच नहिं सपने॥'* स्नेहमग्न होनेसे उन्हें दिन-रातके आने-जानेपर ध्यान नहीं रहा। इसी भाँति छः महीने बीत गये। सुखमें दुःखका वेध होनेसे ही रात-दिनके बीतनेमें कठिनताका अनुभव होता है, और भक्ति तो 'निरुपम सुख संविदय रूप' है, उसमें मग्न पुरुषको रात-दिनके बीतनेका भान न होना ही प्राप्त है।

बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं। जिमि परद्रोह संत मन माहीं॥ १॥
तब रघुपति सब सखा बोलाए। आइ सबन्हि सादर सिरु नाए॥ २॥
परम प्रीति समीप बैठारे। भगत सुखद मृदु बचन उचारे॥ ३॥

अर्थ—उन्हें घर भूल गया, (जाग्रत्‌की कौन कहे) स्वप्नमें भी घरकी सुध नहीं आती जैसे कि संतके मनमें परद्रोह (की सुध कभी स्वप्नमें भी) नहीं आती॥ १॥ (जब छः मास बीत गये) तब श्रीरघुनाथजीने सब सखाओंको बुलाया। सबने आकर आदरसहित प्रणाम किया॥ २॥ बड़े प्रेमसे प्रभुने उनको पास बैठाया और भक्तोंको सुख देनेवाले कोमल वचन बोले॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं'* इति। (क) अब प्रभु वानरोंको घर भेजना चाहते हैं इसीसे वानरोंके मनसे घरका 'बिसरना' कहते हैं। (ख) *'सपनेहुँ सुधि नाहीं'* कहनेका भाव कि उनका दिन तो ब्रह्मानन्दमें व्यतीत होता है इसीसे घरकी सुधि नहीं होती और रात्रिमें शयन करते हैं तब स्वप्नमें भी घरकी सुध नहीं होती जैसे संतके मनमें परद्रोहकी सुधि नहीं होती। तात्पर्य कि जैसे परद्रोह भक्तिका बाधक है वैसे ही गृह भी बाधक

है। यथा—*'परिहरि लषन राम बैदेही। जेहि घर भाव बाम बिधि तेही॥'* (२। २८०। ४) (स्वप्नमें भी, अर्थात् कभी भी नहीं, किंचित् भी नहीं। यह मुहावरा है) यहाँ उदाहरण अलङ्कार है।

पं० रा० व० श०—*'बिसरे गृह.........।'* इस बहाने संतलक्षण भी कह दिया। जिनके मनमें अविद्याके कोई कार्य, जैसे कि परद्रोह, ईर्ष्या, काम, क्रोध इत्यादि न हों वे ही संत हैं। जिनके मनमें ये हों उनको उससे ग्लानि करनी चाहिये।

टिप्पणी—२ *'तब रघुपति सब सखा बोलाए.........'* इति। (क) वानर सीताशोधके लिये आश्विनमें घरसे निकले थे और यह दूसरा आश्विन हो गया। इस तरह वर्षभरमें वानर घरको बिदा किये गये। (ख) *'बोलाए'* से जनाया कि वे सब अपने-अपने निवास-स्थानपर थे, वहाँसे 'बुलाये गये' और *'बोलाए'* *'आइ सबन्ह.........'* साथ-साथ कहकर जनाया कि वानर लोग आज्ञा सुनते ही बहुत शीघ्र आये। *'सादर सिरु नाए'* अर्थात् मस्तक उनके चरणोंपर रखकर प्रणाम किया [रा० प्र०—सादरका अन्वय बुलाने, आने और सिर नवाने तीनोंमें है]।

३ *'परम प्रीति समीप बैठारे'* इति। (क) *'परम प्रीति'* का भाव कि श्रीरामजीकी प्रीति तो उनपर सदा ही है अब *'परम प्रीति'* हुई, क्योंकि वियोगका समय है, वियोग-समयमें प्रीति अधिक बढ़ जाती है। परम प्रीतिके कारण सबको समीप बिठाया। (ख) यहाँ रामजीका मन, वचन और तन तीनोंका वानरोंमें लगना दिखाते हैं—मनसे प्रीति की, वचन मृदु कहकर सुख दिया और तनसे समीप बैठाया।

वै०—यहाँ प्रभुका सौहार्द गुण दिखाया।

तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुख पर केहि बिधि करौं बड़ाई॥ ४॥
ताते मोहि* तुम्ह अति प्रिय लागे। मम हित लागि भवन सुख त्यागे॥ ५॥

अर्थ—तुमने मेरी अत्यन्त सेवा की, मुखपर किस प्रकार तुम्हारी बड़ाई करूँ (भाव कि मुखपर बड़ाई करना अनुचित है इसीसे मैं बड़ाई नहीं करता, केवल तुम्हारा और अपना प्रेम कहता हूँ)॥ ४॥ मेरे हितके लिये तुमने घरके सुख छोड़े। इसीसे तुम मुझे अत्यन्त प्रिय लगे॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'तुम्ह अति कीन्हि.........'* इति। (क) ☞ श्रीरामजी सुकृतज्ञ हैं, यथा—*'त्यों न राम सुकृतज्ञ जे सकुचत सकृत प्रनाम किए हूँ।'* (वि० १७०) *'खग सबरि निसिचर भालु कपि किए आपु तें बंदित बड़े। तापर तिनकी सेवा सुमिरि जिय जात जनु सकुचनि गड़े॥'* (वि० १३५) इसीसे वानरोंका उपकार अपने मुखसे कहते हैं। (ख) *'अति सेवकाई'* का भाव कि और सब सेवकोंने *'सेवकाई'* की और तुमने *'अति सेवकाई'* की। पुनः [*'अति कीन्ह'* का भाव कि सेवाके लिये शरीर और प्राणकी भी कुछ परवा न की। शरीर बचाना छल है। *'अति प्रिय'* का भाव कि अनुज, राज इत्यादि ये सबसे प्रिय हैं, तुम इनसे भी प्रिय हो। (पं० रा० व० श०)]

२ *'भवन सुख'* कहनेसे समस्त सुख आ गये। अर्थात् भाई, राज्य, सम्पत्ति, स्त्री, देह, घर, परिवार, मित्र, पुत्र इत्यादि सब सुखोंका त्याग *'भवन सुख त्यागे'* से कह दिया। इन सबका सुख त्याग किया इसीसे आगे कहते हैं कि मेरे ये सभी नातेदार तुम्हारे बराबर मुझको प्रिय नहीं [पाँड़ेजी *'भवन सुख'* से 'सुखसे भरा हुआ घर' का अर्थ लेते हैं]।

अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ ६॥
सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥ ७॥
सब के प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती॥ ८॥

अर्थ—भाई, राज्य, सम्पत्ति, वैदेही, अपना शरीर, घर, कुटुम्ब और मित्र—ये सब मुझे प्रिय हैं पर

* तातें तुम्ह मोहि—(का०)।

तुम्हारे बराबर नहीं। मैं झूठ नहीं कहता, यह मेरा स्वभाव है, टेक है, प्रतिज्ञा है॥ ६-७॥ यह नीति है कि सेवक सबको प्रिय होता है पर मेरा तो दासपर अधिक प्रेम रहता है॥ ८॥

टिप्पणी—१ सब भाई श्रीरामजीसे छोटे हैं इसीसे सबको '*अनुज*' कहा। राज=देश, मुल्क। सम्पत्ति=खजाना। वैदेही साक्षात् लक्ष्मी (एवं लक्ष्मीकी ही लक्ष्मी) हैं और सम्पत्ति लक्ष्मीका कटाक्ष है। देहके लिये गेह है, यद्वा जीवका घर देह और देहका घर गेह है। परिवार और स्नेही दोनों स्नेह करनेवाले हैं। [☞ अभी श्रीरामजीके पुत्र वा भतीजे नहीं हैं, इससे इनसे अधिक प्रिय न कहा। और माता, पिता तथा गुरुसे अधिक प्रिय किसीको न कहना चाहिये इससे उनका नाम न लिया। ८ (८) भी देखिये।]

२ (क) '***सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना***' इति। वानरोंके समान कोई प्रिय नहीं है इसीसे राजसभामें जितने प्रिय हैं उन सबके मुखपर सबसे अधिक वानरोंको प्रिय कहा। यथा—'***मम हित लागि जनम इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पियारे॥***' (८। ८) '***ते भरतहि भेंटत सनमाने। राजसभा रघुबीर बखाने॥***' (१। २९। ८) (ख) '***मृषा न कहउँ***' मैं झूठ नहीं बोलता, यह मेरा बाना है, यथा—'**अनृतं नैव रामस्य कदाचिदपि सम्मतम्। विशेषेणाश्रमस्थस्य समीपे स्त्रीजनस्य च॥**' इति वाल्मीकीये, तथा—'**रामो द्विर्नाभिभाषते।**' अथवा सबसे अधिक मेरे सेवक मुझे प्रिय हैं यह मेरा बाना है। पुनः '***मृषा न कहउँ***' कहनेका भाव कि तुम्हारी प्रसन्नताके लिये मैं ऐसी बात नहीं कहता, मैं सत्य कहता हूँ। ऐसा ही भा० ११ में उद्धवजीसे श्रीकृष्णजीने कहा है—'**न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः। न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥**' (१४। १५)

वि० टी०—ब्रह्मनारदीय पुराणमें इसी आशयके कृष्णजीके वचन ये हैं—'**न मे क्षीरोदतनया प्रिया नापि हलायुधः। न तथा देवकी देवी प्रद्युम्नो नास्ति सात्यकिः। यादृशा मे प्रिया भक्तास्तादृशो नास्ति कश्चन॥ येन मे पीडिता भक्तास्तेन हि पीडितः सदा॥**'

वीर—प्रथम एक विशेष बात कही कि तुम्हारे समान मुझे कोई नहीं प्रिय है, फिर इसका समर्थन सामान्य बातसे किया कि मेरी टेक है कि मैं झूठ नहीं बोलता, इतनेपर भी संतुष्ट न होकर फिर विशेष उदाहरणसे समर्थन करना कि '*सबके प्रिय सेवक*.........' 'विकस्वर अलङ्कार' है।

टिप्पणी—३ (क) '***सबके प्रिय सेवक यह नीती*.........।**' इति। यथा—'***सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग। श्रुति पुरान कह नीति असि सावधान सुनु काग॥***'(८६) '***एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा॥***' से '***सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय।***' (८७) तक इसमें नीति कही है। (ख)—'***मोरे अधिक दास पर प्रीती।***' अधिकमें भाव यह है कि सब लोग दासको सेवा करनेवाला मानते हैं और मैं अपने सेवकको प्राणसे भी अधिक मानता हूँ और स्वामी अपने सेवकपर क्रोध करते हैं पर मैं सेवकपर कभी क्रोध नहीं करता। यथा—'***साहिब होत सरोष सेवक को अपराध सुनि। अपने देखे दोष राम न कबहूँ उर धरे॥***' (दो० ४७) '***मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥***' (२। २६०। ५)

पां०—भगवान्‌ने जो कहा कि तुम सबसे अधिक प्यारे हो उसका कारण यह न समझना चाहिये कि उन्होंने सहायता की है वरन् केवल दासत्व समझना चाहिये। दासत्वपर ममता है।

वै०—यहाँ प्रभुका भक्तवात्सल्य गुण दिखाया।

प० प० प्र०—सेवक और दासमें भेद है। सेवक स्वामीसे कुछ मिलनेकी आशा रखता है, दास केवल प्रेम चाहता है और प्रेम करता है। वेदस्तुतिमें यह भेद सूचित किया है!—'***बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे।***'

दो०—अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम।
सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम॥ १६॥

अर्थ—अब सब सखाओ! अपने-अपने घर जाओ। अटल नियमसे मेरा भजन करना और मुझको

सदा सर्वव्यापक और सबका एवं सब प्रकार हितकारी जानकर अत्यन्त प्रेम करना एवं अत्यन्त प्रेमसे सबका हित करना॥ १६॥

वै०—*'अब'* का भाव कि मेरा यावत् कार्य था सो सब हो चुका, कुछ करनेको नहीं है, अतः अब जाओ।

टिप्पणी—१ वानरोंपर अपना अत्यन्त स्नेह कहकर तब घर जानेको कहा जिसमें वे उदास न हों। यदि भजनका नियम दृढ़ हो तो घर भजनका बाधक नहीं, यथा—*'घर कीन्हे घर जात है घर छाँड़े घर जाइ। तुलसी घर बन बीच ही रहौ प्रेमपुर छाइ॥'* इसीसे घर रहकर भजन करनेको कहा। हम तो अब अपने घर आ गये और गृहमें हैं वैसे ही तुम भी घरमें जाकर रहो। तुम्हारे परिवार तुम्हारे वियोगमें चिन्तित होंगे। हमारा कार्य हो जानेपर तुम यहाँ इतना रह गये।

पं० रा० व० श०—*'दृढ़ नेम'* का भाव कि शरीर कष्टमें भी हो तथा चाहे कैसा आवश्यक कार्य आ पड़े तो भी भजन न छोड़ना, एक बार भी आलस्य किया कि भजन गया। दृढ़ नेम चातक और चकोरका-सा होना चाहिये, उनके समान अनन्यतापूर्वक भजनमें मग्न रहना चाहिये।

पाँ०—घर जाकर भजनेको कहते हैं। भजन सेवाको कहते हैं। अतः इसमें सन्देह होता कि सेवा तो निकट रहनेसे होती है वहाँसे कैसे सेवा करेंगे? इसीलिये कहते हैं कि हम सबमें हैं, सर्वत्र हैं, तुम यदि वहीं रहकर सबका हित करोगे तो वह हमारी ही सेवा है। (इस प्रकार पाँड़ेजी *'सर्बहित'* भगवान्का विशेषण नहीं मानते। गौड़जीका भी यही मत है)।

गौड़जी—इस दोहेका अन्वय इस प्रकार होना चाहिये *'सब सखा अब गृह जाहु, मोहि दृढ़ नेम (करि) भजेउ। (मोहि) सदा सर्बगत जानि अति प्रेम (करि) सर्बहित करेहु'* इति। यहाँ सखाओंको सखाभावसे अनन्य भक्तिका उपदेश किया गया है। यद्यपि इस प्रसंगमें अनन्य शब्दकी परिभाषाका रूप नहीं। श्रीहनुमान्जीका दास्य भाव है। उन्हें मिलते ही श्रीमुखसे यह उपदेश हुआ है—*'सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥'* यह दास्यभावकी अनन्य भक्ति है। प्रस्तुत प्रसङ्गमें सख्यभावकी अनन्यभक्ति दरसायी गयी है। सखा या मित्र सबसे बड़ा हितैषी होता है—*'जे न मित्र दुख होहिं दुखारी।'''''''''श्रुति कह संत मित्र गुन एहा'*—कि० ७ (१) से ७ (६) तक—इस प्रकार प्रभुका स्वयं वचन है। इन महावाक्योंका निचोड़ इस दोहेमें ध्वनित है। सबको सखा सम्बोधन करनेका अभिप्राय यह है कि तुम सब लोगोंसे मेरा सख्यका नाता है, सखा सखाका परमहितू होता है, मैं तुम्हें परमहितका उपदेश देता हूँ—दृढ़ नेमसे मुझे भजना। सखा कैसे भजेगा अब यह बतलाते हैं। अपने मित्रको प्रेमके साथ स्मरण करना भी सखाको भजना है। स्मरण करना भी सेवाका एक प्रकार है। फिर क्या केवल मनसे ही सेवा की जायगी? नहीं। वचन और तनसे भी। वह कैसे? मुझको सदा सर्वगत जानकर अर्थात् यह जानकर कि सभी मेरे सखा राम ही हैं, श्रीरामजीके सिवा दूसरा कोई है ही नहीं, इसलिये अत्यन्त प्रेमके साथ सबसे ही हितके वचन कहना और सबका परम हित करना यह वचनसे और तनसे सखा रामका भजन है। जब तुम सबमें मुझ सखाको ही देखोगे तो अन्यका भाव तुम्हारी दृष्टिसे उड़ जायगा और मैं-ही-मैं सर्वत्र दिखायी पड़ेगा। इस तरह वैरीसे भी तुमको प्रेम हो जायगा। जैसे तुम मुझसे शुद्ध प्रेम भाव रखते हो वैसे ही तुम प्राणिमात्रसे शुद्ध प्रेमभाव रखोगे और केवल यह भाव ही न रखोगे बल्कि जैसे अति प्रेमपूर्वक मेरा हित करनेके लिये अपने प्राणोंका बलिदान करनेको तुम तत्पर रहे हो वैसे ही सबके हितसाधनके लिये आत्म-बलिदानमें तत्पर रहोगे। प्रभुका यह उपदेश ठीक वैसा ही है जैसा दास्यभावके लिये हुआ था। वहाँ भी यही कहा गया है कि सचराचरको स्वामी समझकर सबकी सेवा करे; क्योंकि स्वामी सर्वरूप हैं। वहाँ रामस्वामी सदा सर्वगत हैं। यहाँ रामसखा सदा सर्वगत हैं। इससे अधिक कल्याणकारी क्या उपदेश हो सकता है। इसीलिये प्रभुके ये अन्तिम वचन हैं।

टिप्पणी—२ *'सदा सर्बगत'* यह ज्ञान कहा, *'जानि करेहु अति प्रेम'* यह प्रेम करनेको कहा। तात्पर्य कि बिना प्रेम ज्ञानकी शोभा नहीं है, यथा—*'सोह न रामप्रेम बिनु ग्यानू।'* पुनः, *'सर्बगत सर्बहित'* कहनेका

भाव कि हमको एकदेशी न समझना। देश, काल, दिशा, विदिशा और वस्तु कोई भी ऐसी नहीं जहाँ हम न हों और चाहे जहाँ जो भी हो वहाँ यह विश्वास रखे कि हम उसका हित वहाँ कर सकते हैं और करेंगे।

३ ***'करेहु अति प्रेम'*** कथनका भाव कि जहाँ अति प्रेम है वहाँ हम अवश्य हैं। यथा—***'प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी।'***

प० प० प्र०—***'सर्बहित'*** शब्द श्लिष्ट है, गीताके **'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति'** का सार ***'सर्बहित जानि'*** में समाया हुआ है। ***'सर्बहित करेहु'*** में भाव यह है कि ऐसा करनेसे तुमको जगमें कुछ भी दुर्लभ नहीं होगा। यथा—***'परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहँ जग कछु दुर्लभ नाहीं॥'*** सर्वगत पूर्ववर्ती क्रिया है। इससे सूचित किया कि बिना यह जाने हुए कि प्रभु सर्वगत हैं उनमें प्रेम होना असम्भव है। यथा—***'बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई॥'*** [***'अति प्रेम'*** का भाव कि प्रिय परिजन परिवारसे भी अधिक समझना। (प० रा० व० श०)]

सुनि प्रभु बचन मगन सब भए। को हम कहाँ बिसरि तन गए॥ १॥
एकटक रहे जोरि कर आगे। सकहिं न कछु कहि अति अनुरागे॥ २॥
परम प्रेम तिन्ह कर प्रभु देखा। कहा बिबिध बिधि ज्ञान बिसेषा॥ ३॥

अर्थ—प्रभुके वचन सुनकर सब मग्न हो गये। हम कौन हैं, हम कहाँ हैं, सबको (यह) देहसुध भूल गयी॥ १॥ अत्यन्त प्रेम हो गया है इससे प्रभुके सामने हाथ जोड़े टकटकी लगाये देखते रह गये (पलकें नहीं गिरतीं)। प्रेमके मारे कुछ कह नहीं सकते (यद्यपि कहना चाहते हैं)॥ २॥ उनका अत्यन्त प्रेम देख प्रभुने अनेक प्रकारका विशेष ज्ञान कहा॥ ३॥

टिप्पणी—१ श्रीरामचन्द्रजीने वानरोंको अत्यन्त प्रेम करनेका उपदेश किया—***'करेहु अति प्रेम।'*** वानर प्रभुके वचन सुनकर तत्क्षण अत्यन्त प्रेममें मग्न हो गये कि हमारे स्वामी धन्य हैं कि हमको सबसे अधिक प्रिय मानते हैं। पुनः वियोग समझकर अत्यन्त प्रेममें मग्न हो गये। वियोग-समयमें प्रेम अधिक बढ़ जाता ही है। आगे प्रेमकी दशा कहते हैं—***'को हम।'*** २—***'परम प्रेम तिन्ह कर प्रभु देखा।.........'*** इति। (क) भाव कि परम प्रेमके कारण ये हमारा वियोग न सह सकेंगे, यह समझकर अनेक प्रकारका ज्ञान कहा। ज्ञानसे प्रेम निवृत्त हो जाता है और धीरज होता है। (ख) ***'बिबिध बिधि ज्ञान'*** कहनेका भाव कि प्रथम ज्ञान भी कहा था और प्रेम भी, यथा—***'सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम'***; इतना कहनेसे प्रेम न निवृत्त हुआ तब अनेक प्रकारका विशेष ज्ञान कहा। [रा० प्र०—वेद-वेदान्तशास्त्रादिका ज्ञान कहा।]

पं० रा० व० श० १—***'परम प्रेम।'*** इसका लक्षण है कि जिसके बिना न रह सके—**'यद्बिना यन्न भवति।'** २—***'बिबिध बिधि ज्ञान.........।'*** अर्थात् यह कि जन्म लेनेपर संस्कार साथ लग जाते हैं, संस्कारके अनुकूल ईश्वर प्रारब्ध भुगाता है, जीवका कर्तव्य है कि वह सदा उनका स्मरण करते हुए संस्कार भोगता जाय, हमसे वियोग कहाँ है, हम भीतर-बाहर सदा मौजूद हैं, हम परिच्छिन्न नहीं हैं।

वि० त्रि०—परम प्रेम अर्थात् भक्ति होनेसे ही तत्त्व-ज्ञानकी पात्रता होती है, यथा—**'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।'** (भगवद्गीता) 'सरकारने जब उसका परम प्रेम देखा तो अपने तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया। परम प्रेमको ही भक्ति कहते हैं, यथा—**'सा तस्मै परम प्रेमरूपा'** (नारदभक्तिसूत्र) **'सा परानुरक्तिरीश्वरे'** (शाण्डिल्यसूत्र)। ऐसी भक्ति होनेपर तत्त्व-ज्ञानकी पात्रता होती है। उस ज्ञानविशेषका वर्णन पहले हो चुका है, (यथा—***'सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम'***) अतः यहाँपर दोहराया नहीं।

प्रभु सनमुख कछु कहन* न पारहिं। पुनि पुनि चरन सरोज निहारहिं॥ ४॥
तब प्रभु भूषन बसन मँगाए। नाना रंग अनूप सुहाए॥ ५॥

* कहत=मा० म०। कहइ—१८१७, १८१८, का०। कहन—१८४२। भा० दा०।

अर्थ—प्रभुके सम्मुख कुछ कह नहीं सकते। बारंबार चरणकमलोंको देखते हैं (अपना आशय जनाते हैं कि चरणोंसे अलग न कीजिये)॥ ४॥ तब प्रभुने रंग-विरंगके सुन्दर उपमारहित भूषण-वस्त्र मँगाये॥ ५॥

पं० रा० व० श०—प्रभुने विशेष ज्ञानोपदेश किया पर प्रेमीको ज्ञानोपदेश कब भावे, उनके मनमें आता है कि कुछ कहें पर सम्मुख कुछ कहनेका साहस नहीं पड़ता। जब प्रभुने देखा कि ये न जायँगे और मर्यादा-पालनार्थ इनको विदा करना जरूरी है तब दूसरा उपाय किया।

टिप्पणी—१ *'प्रभु सनमुख······'* इति। (क) *'प्रभु'* का भाव कि प्रभुकी आज्ञा होनेपर कुछ उत्तर न देना चाहिये इसीसे वानर लोग कुछ न कह सके, यथा—*'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। तेहि सेवक लखि लाज लजाई॥'* (२। २६८। ५) (ख) चरण निहारनेका भाव कि हमें इन्हींका अवलम्ब है। दूसरा भाव यह कि आपने हमें ज्ञानोपदेश किया, हम आपके सम्मुख कुछ कह नहीं सकते कि हम तो पशु हैं, हम ज्ञानके अधिकारी नहीं हैं। बार-बार चरण निहारते हैं कि हमको इन चरणोंकी भक्ति दीजिये, इनको हमारे हृदयमें बसा दीजिये। (पं०) [आप ज्ञानोपदेश करते हैं, हम ज्ञान क्या जानें? इन चरणोंके सिवा हम कुछ नहीं जानते। हमें इनसे अलग न कीजिये। (पाँ०)]

२ *'तब प्रभु भूषन······'* इति। *'तब'* अर्थात् जब वानरोंने प्रभुकी आज्ञा प्रधान रखी और घर जानेमें कुछ उज्र न किया। तब *'नाना रंग'* से सूचित किया कि भूषण अनेक रंगकी मणियोंसे जटित हैं। *'सुहाए'* से बनावकी सुन्दरता कही। *'अनूप'* से उसकी बड़ाई कही कि उपमा कहीं नहीं है।

गौड़जी—प्रभुके वचन सुनकर सुध-बुध भूल गये, परम प्रेमवश कुछ कह न सके। और ऐसा क्यों न हो? कहाँ इतने बड़े प्रभु कहाँ हम नीच पशु! हमारी ढिठाइयोंको सेवकाई मानकर अपनेको सेवकाईसे इतना एहसानमंद जताते हैं कि अपने आत्मीयोंसे भी हममें अधिक प्रेम करते हैं और दास मान करके भी सखाका इतना ऊँचा पद देते हैं—*'प्रभु तरुतर कपि डारपर ते किय आपु समान'* इतनी महती कृपापर वानर सुध-बुध क्यों न खो बैठें। कृतकृत्यताकी भी हद होती है, यहाँ वह हदसे बाहर हो गयी। तन और वचन तो क्या मन भी लज्जासे सम्मुख नहीं हो सकता। जब भरतजीकी हिम्मत नहीं पड़ती कि सामने जबान हिलावें और पड़े कैसे? वाणीकी क्या मजाल कि वहाँतक पहुँच सके—**'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'** फिर इन बेचारे वानरोंकी क्या कथा है! प्रभुके सम्मुख वह जबान नहीं हिला सकते, निगाह उठाकर देख नहीं सकते—ऐसी बेबसीकी हालतमें चरण-शरणपर निगाह डालनेके सिवा क्या चारा है?

सुग्रीवहि प्रथमहि पहिराए। बसन भरत निज हाथ बनाए॥ ६॥
प्रभु प्रेरित लछिमन पहिराए। लंकापति रघुपति मन भाए॥ ७॥
अंगद बैठ रहा नहिं डोला। प्रीति देखि प्रभु ताहि न बोला॥ ८॥

अर्थ—श्रीभरतजीने अपने हाथसे बनाकर (सँवारकर) सुग्रीवको प्रथम ही वस्त्र पहिनाये॥ ६॥ (फिर) प्रभुकी प्रेरणासे विभीषणजीको लक्ष्मणजीने भूषण-वस्त्र पहिनाये जो रघुनाथजीके मनको अच्छे लगे॥ ७॥ अङ्गद बैठा रहा, जगहसे न हिला-डोला। उसकी प्रीति देखकर प्रभु उससे न बोले (एवं उसे न बुलाया)॥ ८॥

टिप्पणी—१ सुग्रीव प्रथम सखा हैं और भाइयोंमें प्रथम भरत हैं इसीसे सुग्रीवको प्रथम पहिनाया और भरतजीने पहनाया। विभीषण दूसरे सखा हैं और लक्ष्मण दूसरे छोटे भाई हैं अतः विभीषणजीको लक्ष्मणजीने पहनाया। इन दोनोंके पीछे अङ्गदकी बारी थी क्योंकि वे युवराज हैं, इनको शत्रुघ्नजी पहनाते पर अङ्गद अपनी जगहसे न हटे, बैठे ही रहे और उनका प्रेम देखकर श्रीरामजीने बुलाया नहीं।

२ *'रघुपति मन भाए'* भाव कि लंकापति भारी राजा है जिसके यहाँ मणिजटित मकान बने हैं उनको जो भूषण-वस्त्र पहनाये उन्हें देखकर रघुनाथजी प्रसन्न हुए। इस कथनसे सूचित किया कि भूषण-वस्त्र अद्भुत थे।—[रा० प्र० *'रघुपति मन भाए'* को लंकापतिका विशेषण मानता है।]

३ *'नहिं डोला'* भाव कि जब सुग्रीव और विभीषणको पहनाया तब इनको उठकर वहाँ जाना

चाहिये था पर ये न गये। *'प्रीति देखि प्रभु ताहि न बोला'* इति। भाव कि इसका हममें बहुत प्रेम है, हमसे विदा नहीं होना चाहता, इससे सबको विदा करके तब इसे समझावेंगे।

पां०—अङ्गदको न बुलाया कि इनकी प्रीति देखकर अन्य सब वानर भी प्रेमवश होकर न विदा होंगे। यह प्रभुका चातुर्यगुण दिखाया।

मा० म०—अङ्गदको इस निमित्त बैठे रहने दिया कि सबके सामने कहनेसे निरादर होगा और लज्जा भी होगी।

दो०—जामवंत नीलादि सब पहिराए रघुनाथ।
हिय* धरि रामरूप सब चले नाइ पद माथ॥
तब अंगद उठि नाइ सिरु सजल नयन कर जोरि।
अति बिनीत बोलेउ बचन मनहु प्रेमरस बोरि॥१७॥

अर्थ—श्रीजाम्बवन्त और नीलादि सबको श्रीरघुनाथजीने वस्त्राभूषण पहिनाये। वे सब हृदयमें रामरूपको धारण कर चरणोंमें माथा नवाकर चले। तब अङ्गदने उठकर माथा नवाकर, नेत्रोंमें जल भरे हुए, हाथ जोड़कर, अत्यन्त नम्रतासे मानो प्रेमरसमें डुबाकर वचन कहे† ॥ १७॥

टिप्पणी—*'पहिराए रघुनाथ'* इति। सुग्रीव-विभीषणको भाइयोंसे पहनवाया और जाम्बवन्तादिको स्वयं पहिनाया; इसमें भाव यह है कि—(क) श्रीसुग्रीव और विभीषणजीको निष्कण्टक राज्य दिया इसीसे इनको भाइयोंसे पहनवाया। जाम्बवन्त-नीलादि वानरोंको कुछ नहीं दिया यद्यपि सब वानरोंने समान सेवा की है, इसीसे इनको रामजीने स्वयं पहिनाकर इन सबको प्रसन्न किया। (ख)—सुग्रीव और विभीषणको सबसे प्रथम पहनाया, यह दोनों राजाओंका आदर हुआ। जाम्बवन्तादिको रामजीने स्वयं पहनाया यह इन सबका आदर हुआ।

वै०—*'मोरे अधिक दासपर प्रीती'* का यहाँ चरितार्थ है। सुग्रीव और विभीषण राजा हैं, समीपी सखा हैं, मानके पात्र हैं, अतः इनपर साधारण प्रीति की। इसीसे भाइयोंसे पहिनवाया। जाम्बवन्तादि यूथपति हैं, इन्होंने अमानी दास हो शुद्ध सेवा की अतः इन्हें अपने हाथसे पहिराया।

टिप्पणी—२ *'हिय धरि रामरूप.........'* इति। (क) भाव कि बाहरसे रामरूपका वियोग होने ही चाहता है इसीसे हृदयमें संयोग किया कि सदा इसीका ध्यान बना रहे। (ख) *'चले नाइ पद माथ'* कहकर सूचित किया कि श्रीरामजी सब वानरोंको सखाभावसे आप ही भूषण-वस्त्र पहिनाते हैं पर वे आपको अपना स्वामी ही समझते हैं। इसीसे *'चले नाइ पद माथ'* कथनका आशय यह कि अपने-अपने भावमें सब सावधान हैं।

३ *'तब अंगद उठि नाइ सिरु.........'* इति। (क) तब अर्थात् अवसर समझकर कि अब सब चले गये तब। *'सजल नयन'* से भीतर-(अन्तःकरण-) का आर्त होना सूचित होता है और विनती करनेसे आर्त होना प्रकट देख पड़ता है। तात्पर्य कि अङ्गदजी भीतर-बाहर दोनोंसे आर्त देख पड़ते हैं। *'कर जोरि'* आगे विनती करना है अतः हाथ जोड़कर बोले। (ख) *'अति बिनीत'* इति। भाव कि सिर नवाकर हाथ जोड़कर विनीत हुए और वचन अति विनीत बोले।

पां—अङ्गदने विचारा कि यदि रघुनाथजीने मुझे प्रथम ही कह दिया कि तुम भी जाओ तो स्वामीकी आज्ञा भङ्ग करना कठिन हो जायगी, मुझे जाना ही पड़ेगा, इसलिये प्रथम स्वयं ही विनय की।—[किसीका मत है कि अङ्गद यहाँ चूक गये, उन्हें प्रभुने विदा करनेको पास बुलाया नहीं, ये स्वयं ही गये।]

नोट—*'जामवंत नीलादि सब'* में *'सब'* से सुग्रीव, विभीषण, हनुमान् और अङ्गदको छोड़कर अन्य

---

* हिय—(का०), हिए—(भा० दा०)।

† प्रेम कोई रस नहीं जिसमें डुबाया या साना जाय। अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है।

सब वानर और राक्षस सूचित किये। और *'हिय धरि रामरूप सब'* के 'सब' में सुग्रीव, विभीषणका भी साथ जाना पाया जाता है। उनके जानेपर अङ्गद उठे। पर आगे यह शङ्का होती है कि *'भरत अनुज सौमित्रि समेता। पठवन चले.......'* और *'अति आदर सब कपि पहुँचाए। भाइन्ह सहित भरत पुनि आए॥'* इसका समाधान कैसे होगा? ये वचन तो अङ्गदकी विदाईके पीछेके हैं?' इसका समाधान यह है कि सब वानर विदा होकर चले और थोड़ी दूरपर अङ्गदकी राह देखने लगे जब वे भी आ मिले तब सब साथ-साथ चले और श्रीभरतादि पहुँचानेको भी साथ हुए।

पं० रा० व० श०—*'परम प्रेम तिन्ह कर प्रभु देखा', 'हिय धरि रामरूप सब चले नाइ पद माथ'* और आगे *'बिदा कीन्ह भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ'* से सूचित करते हैं कि वानरोंको विदा होनेमें बड़ा कष्ट हुआ। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि 'देही देहमिव त्यजन्' अर्थात् वानर ऐसे चले जैसे देही देहको छोड़कर जाता है।

प० प० प्र०—*'सुनि प्रभु बचन मगन सब भए'* से *'पहिराए रघुनाथ'* तक अभिजित् नक्षत्रकी स्तुति है। नित्यके धार्मिक व्यवहारमें अभिजित् नक्षत्रकी गणना नहीं है। पर ज्योतिष और धर्मशास्त्रमें कभी-कभी इसका विचार किया जाता है। उत्तराषाढ़ाके तीन अंश और बीस कलाएँ तथा श्रवणारम्भका ८००/१५ (=५३ $\frac{१}{२}$) कलाएँ मिलकर २५३$\frac{१}{३}$ कलात्मक गिना जाता है। जैसे यह नक्षत्र २७ नक्षत्रोंमें प्रत्यक्ष नहीं है वैसे ही यह स्तुति भी प्रत्यक्ष शब्दोंमें नहीं है। यह भावमय निःशब्द स्तुति है।

इस नक्षत्रमें तीन तारे हैं। वैसे ही यहाँ सुग्रीव कपिपति, विभीषण लङ्कापति और जाम्बवान् ऋक्षपति तीन हैं। इस नक्षत्रका आकार शृङ्गाटकके समान है। शिंगोड़ा देखनेमें सुरूपवान् नहीं होता वैसे ही इन तीनोंका रूप सुन्दर नहीं है।

इस नक्षत्रके देवता सबसे बड़े विधि हैं, वैसे ही यहाँ उनके अवतार जाम्बवान् हैं। नक्षत्रकी फलश्रुति *'सुकबि सरद नभ मन उडगन से'* है। और यहाँ इनको प्रसादरूपमें फलस्वरूप वस्त्र और दिव्य आभूषण मिल रहे हैं। नभ वस्त्र हैं, उडगन मणिमय आभूषण हैं। शरद्-नभ सुहावना होता है वैसे ये वस्त्र-भूषण भी *'नाना रंग अनूप सुहाए'* हैं।

त्रिपाठीजीका क्रम यहाँसे एकदम निराला है। उन्होंने वसिष्ठमुनिकृत स्तुति आदि कई निर्मल उडुगणोंको छोड़ दिया है। कारण यह है कि शतभिषकका आधार-साम्य सनकादिकृत स्तुतिमें नहीं मिला। इसमें अनन्तवाची शब्द है पर उनका ध्यान उधर नहीं गया इससे अन्यत्र खोजना पड़ा। श्रीरामजीके समर-विजयके विधि (विधाता) सुग्रीव, विभीषण और जाम्बवान् ही तो हैं। यथा—*'ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥'* इस प्रकार भी देवता-साम्य मिलता है। अभिजित् श्रवणका $\frac{१}{१५}$ वाँ भाग होता है वैसे ही श्रवण-स्तुति करनेवाले अङ्गदजी यहाँ बैठ रहे हैं—*'नहिं डोला।'*

सुनु सर्बज्ञ कृपा सुख सिंधो। दीन दयाकर आरत बंधो॥ १॥
मरती बेर* नाथ मोहि बाली। गएउ तुम्हारेहि कोछे घाली॥ २॥
असरन सरन बिरद† संभारी। मोहि जनि तजहु भगत हितकारी॥ ३॥

अर्थ—हे सर्वज्ञ! हे दया और सुखके सागर! हे दीनोंपर दया करनेवाले! दीनोंके लिये दयाकी खानि! हे आर्तजनोंके बन्धु (दुःखियोंके सहायक भाई)! सुनिये॥ १॥ हे नाथ! बाली मरते समय मुझे आपहीकी गोदमें डाल गया था॥ २॥ हे भक्तोंके हित करनेवाले! अपना अशरण-शरण बाना स्मरणकर मेरा त्याग न कीजिये॥ ३॥

टिप्पणी—१ ☞ प्रथम स्वामीकी बड़ाई करके तब अपना प्रयोजन कहते हैं। इसीसे बड़ाईके विशेषण अपने प्रयोजनके अनुकूल कहते हैं। (क)—*'सर्बज्ञ'* का भाव कि जो सर्वज्ञ है उससे मुखसे कहनेका प्रयोजन ही

* बार। † बिरुदु—(का०)। रा० प० टीकामें 'बेर' है।

क्या? आप मेरी सब व्यवस्था जानते ही हैं। (ख) श्रीरामजीमें पूर्ण गुण कहते हैं। सर्वज्ञसे जानकारी कही। जानकारी हो, पर दया न हो तो वह जानकारी व्यर्थ है, अत: कहा कि आप दयाके आकर हैं। दया भी है पर सुख नहीं दे सकते हो सो भी बात नहीं है आप सुखसिन्धु हैं, सब सुख दे सकते हैं। पुन: *'कृपा सुखसिंधो'* का दूसरा भाव कि सुख धर्मसे मिलता है सो आप कृपा करके देते हैं। [*'सुखसिंधु'* का भाव कि सिन्धुमेंसे कुछ निकाल भी लें तो भी वह घटता नहीं, किंतु निकल जाना उसे मालूम भी नहीं होता। वैसे ही आपकी कृपा और सुखके कणमात्रसे त्रिलोकी सुखी होता है। यथा—*'जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी॥'* (१। १९५। ५) (रा० प्र०)] आप *'दीन दयाकर आरतबंधो'* हैं, मै दीन और आर्त हूँ, मुझपर दया और मेरी रक्षा कीजिये। [पं०—दीन इससे कि पिता मर चुका है।]

२ *'मरती बेर नाथ मोहि बाली·······।'* इति। (क)—*'मरती बेर'* का भाव कि अब मेरे पिता नहीं हैं, आप ही पिता हैं, मेरी रक्षा करनेवाले हैं। (*'कोछे डालना'* लोकोक्ति है, अर्थात् मेरा भरण-पोषण-रक्षा सब आपको ही सौंप गया, दूसरेको नहीं। यह भाव *'तुम्हारेहि'* का है। यही बात *'पिता बधे पर मारत मोही। राखा राम निहोर न ओही॥'* (४। २६। ५) से पुष्ट होती है)। (ख) *'असरन सरन बिरद संभारी'* इति। भाव कि मेरे न रखनेसे आपका विरद न रह जायगा। दीन, आर्त, अशरण, इनमेंसे एक दु:ख होनेपर भी आप कृपा करते हैं और मुझमें तो सब दु:ख है। मैं दीन हूँ, आर्त हूँ, अशरण हूँ।—(*'कोछे घाली'* को ही अशरण-शरण सम्बोधनसे स्पष्ट करते हैं। कोछेसे अब गिरा न दीजिये, शरण लेकर त्यागिये नहीं।) (ग) *'मोहि जनि तजहु'* तात्पर्य कि जब रामजीका रुख रखनेका न देखा तब ऐसा कहा।

पां०, वै०—*'भयहारी'* में भाव यह है कि मुझे सुग्रीवसे भय है। अपना हित किसीको नहीं देखते, अत: 'अशरण-शरण' कहा।

वीर—स्पष्ट शब्दोंमें न कहकर कि सुग्रीवको आपने राजा बनाया है, उसके वंशज राज्य करेंगे, मेरा वहाँ जाना व्यर्थ है; यों कहना कि आप अशरण-शरण हैं मेरा त्याग न कीजिये—'प्रथम पर्यायोक्ति अलङ्कार' है।

मोरे तुम्ह प्रभु गुर पितु माता। जाउँ कहाँ तजि पद जलजाता॥ ४॥
तुम्हहि बिचारि कहहु नरनाहा। प्रभु तजि भवन काज मम काहा॥ ५॥
बालक ग्यान बुद्धि बल हीना। राखहु सरन नाथ* जन दीना॥ ६॥

अर्थ—आप ही मेरे स्वामी, गुरु, पिता और माता हैं तब इन चरण-कमलोंको छोड़कर मैं कहाँ जाऊँ?॥ ४॥ (यदि आप कहें कि घर जाओ तो) हे नृपति! आप ही विचारकर कहिये कि प्रभुको छोड़कर घरमें मेरा क्या काम है?॥ ५॥ मुझ बालक, ज्ञान-बुद्धि-बल-हीन और दीन सेवकको, हे नाथ! शरणमें रखिये॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'मोरे तुम्ह प्रभु गुर पितु माता·······'* इति। (क) भाव कि औरोंके माता, पिता, गुरु और प्रभु पृथक्-पृथक् होते हैं, एक जगह निर्वाह न हुआ तो दूसरी जगह चले गये और मेरे तो सब कुछ आप ही हैं तब मैं कहाँ जाऊँ—[पां०—*'मोरे तुम्ह प्रभु·······'* से अङ्गदका तात्पर्य यह है कि जो वानर और ऋक्ष विदा किये गये उन सबके माता, पिता, गुरु और घर इत्यादि है पर मेरे तो यह सब एक आप ही हैं, दूसरा मेरा न प्रभु है, न पिता, न गुरु और न माता।]† (ख) *'जाउँ कहाँ।'* प्रथम कहा कि मेरा त्याग न कीजिये—*'मोहि जनि तजहु भगत हितकारी'*; जो कदाचित् आप त्याग दें तो कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ मैं जाऊँ। कोई हो तो आप ही बतावें। *'तजि पद जलजाता'* का भाव कि सेवक होकर रहना चाहते हैं इसीसे चरणोंका अवलम्ब कहते हैं। (ग) यहाँ क्रमसे उत्तरोत्तर बड़ा कहा है। तुम मेरे प्रभु हो, प्रभुसे बड़ा गुरु, गुरुसे बड़ा पिता और पितासे बड़ी माता है। *'गुरु'*—*'करत गुप्त परकास औ नित्य गुननको जौन। नमस्कार गुरुदेव को ताते गुरुतर कौन॥'* (रा० प्र०)]

---

* 'जानि जन दीना'—ना० प्र०। नाथ—१८१७, १८१८, १८४२, भा० दा०।

† यहाँ 'तृतीय तुल्ययोगिता अलङ्कार' है।

२ (क) *'नरनाहा'* का भाव कि आप राजा हैं, राज्यका हाल सब जानते हैं। अतः आप ही विचार करें। विचार करनेसे देख लेंगे कि घरमें मेरा कुछ काम नहीं है। (ख) पुनः ['नरनाह' सम्बोधनका भाव कि राजा राजाओंके व्यवहार और नीति जानते हैं। अतः आप स्वयं समझ सकते हैं कि एक राजपुत्र (अपने पिताके) वैरी राजाके आश्रित होकर कब सुखी रह सकता है—*'रिपु रिन रंच न राखब काऊ'*, *'बैरी पुनि छत्री पुनि राजा। छलबल कीन्ह चहइ निज काजा॥'* *'पिता बधे पर मारत मोही।'* इसीलिये तो वाली मुझे आपकी गोदमें डाल गया था। (शीला, पाँ०)] *'प्रभु तजि भवन काज मम काहा'* इति। [रा० प्र०—*'प्रभु तजि'* में व्यङ्गसे ध्वनि यह भी है कि जब प्रभुत्व रहा ही नहीं तब घर किस कामका] भाव कि घर छोड़कर स्वामीकी सेवा करनी चाहिये, प्रभुको छोड़कर घर-सेवन करना यह विधिकी वामता है। यथा—*'परिहरि लखन राम बैदेही। जेहि घर भाव बाम बिधि तेही॥'* (२। २८०। ४)] पुनः, घरमें मेरा क्या काम है इसका भाव कि घरमें तो सुग्रीव राजा हैं ही, राज्यकाज करनेके लिये मन्त्री हैं, सेना है। मेरे बिना घरका कोई हर्ज नहीं है, आप विचार करें। (पां०)। पुनः भाव कि पिता मुझे सुग्रीवको न सौंपकर आपको सौंप गये। वे भी सुग्रीवसे सद्भावकी आशा नहीं करते थे तब आपकी सेवा तो उचित ही है। और घर, राज्य और माता सुग्रीवकी हैं, वे भी मेरे हित नहीं। घरपर कोई भी तो ऐसा नहीं है, जिसका कोई काम मेरे बिना अड़ा हो। (ग) तब घर किस लिये जाऊँ। (वै०)]

३ (क)—*'बालक ग्यान बुद्धि बल हीना.........'* इति। भाव कि आप माता-पिता हैं। मैं आपका बालक हूँ, मैं ज्ञान-बुद्धिहीन हूँ। आप मेरे ज्ञान और बुद्धिके दाता गुरु हैं, मैं बलहीन अर्थात् असमर्थ हूँ। आप मेरे पालनकर्ता प्रभु हैं और मैं *'जन दीन'* हूँ। आप दयाकर हैं मुझपर दया कीजिये। ☞शरणमें रखनेके जो लक्षण हैं वे सब अङ्गदने दिखाये—*'मरती बेर नाथ मोहि बाली। गएउ तुम्हारेहि कोछे घाली॥'* जो अपनी गोदमें है उसे शरणमें रखना ही चाहिये॥ २॥ आप अशरण-शरण हैं मुझे कहीं शरण नहीं है, अतः शरणमें रखिये॥ ३॥ आप भक्तहितकारी हैं, शरणमें रखनेसे मेरा हित होगा॥ ४॥ आप मेरे माता, पिता, गुरु और स्वामी हैं॥ ५॥ मैं बालक ज्ञान-बुद्धि-बल-हीन और दीन हूँ। शरणमें रखे जानेके योग्य हूँ।

पां०—*'बालक ग्यान बुद्धि बल हीना।'* भाव कि यदि आप कहें कि राज्य और माता-पिता किसीके सदा नहीं रहते तो मैं बालक हूँ मुझमें यह ज्ञान कहाँ? यदि आप कहें कि सुग्रीवसे मिलकर रहना तो मुझमें बुद्धि कहाँ? यदि आप कहें कि वह शत्रुभाव रखे तो तुम उससे लड़-भिड़ सकते हो, तो मैं बलहीन हूँ, मुझमें बल कहाँ?

नीचि टहल गृह कै सब करिहौं। पदपंकज बिलोकि भव तरिहौं॥ ७॥
अस कहि चरन परेउ प्रभु पाही। अब जनि नाथ कहहु गृह जाही॥ ८॥

अर्थ—घरकी सब नीच सेवा मैं करूँगा और पदकमल देखकर भवसागर पार हो जाऊँगा॥ ७॥ ऐसा कहकर अङ्गद प्रभुके चरणोंपर गिर पड़े और बोले कि हे प्रभो! मेरी रक्षा कीजिये! हे नाथ! अब न कहिये कि घर जा॥ ८॥

टिप्पणी—१ वालीने श्रीरामजीसे प्रार्थना की थी कि अङ्गदको अपना दास बनाइये, यथा—*'गहि बाँह सुरनरनाह आपन दास अंगद कीजिये'* (कि० १०)। इसीसे अङ्गदजी दासका काम करनेको कहते हैं। *'पद पंकज बिलोकि'* का भाव कि यह चरणकी सेवा मिलना मुझको दुर्लभ है, चरणके सेवक चरण-सेवा करते हैं, मैं उनका अधिकारी नहीं हूँ। अतः मैं चरणकमलका दर्शन ही करके भवसिन्धु पार हो जाऊँगा। ☞श्रीरामजीके घरकी नीच टहल और पदपंकजका दर्शन ये दोनों भवसागर पार करनेवाले हैं।

पां०—*'नीचि टहल गृह कै सब करिहौं।.........'* भाव यह कि राज्य तो वहाँ भी करना नहीं है, वहाँ भी रहना हुआ तो नीच टहल ही करनी पड़ेगी, सो मुझे यहींकी उचित है। यदि आप कहें कि यहाँ रहकर तुम बराबर हमसे राज्यके लिये कहा करोगे तो ऐसा न समझिये, मैं ऐसा कदापि न करूँगा, केवल आपके चरणोंका दर्शन करूँगा।

वीर—अङ्गदके वचनोंमें लक्षणामूलक गूढ़ व्यङ्ग है कि यहाँ नीच टहल करते हुए भी श्रीचरणकमलोंके दर्शन कर भव-पार पा जाऊँगा और किष्किन्धामें जाकर *'राज्यको दूसर खासर खूसा'* की भाँति जीवन व्यर्थ गँवाना पड़ेगा, स्वार्थ-परमार्थ दोनोंसे हाथ धो बैठूँगा। संसार तरनेकी इच्छासे तुच्छ टहलको गुण मानना 'अनुज्ञा अलङ्कार' है।

नोट—ठीक ही है। वेदोंने भी कहा है कि गृहकार्य पुरुषके सार (ज्ञान आदि) का नाश करनेवाले हैं—**'पुरुषसारहरावसथान्॥'** (भा० १०। ८७। ३५) इसीसे उसे *'नीचि'* कहते हैं। पर यदि वह टहल प्रभुकी हो जाय तो वह भगवत्कैंकर्य होनेसे भव-पार करनेवाली होती है।

टिप्पणी—२ *'अस कहि चरन परेउ……।'* *'पदपंकज बिलोकि भव तरिहौं'* यह चरणोंका अवलम्ब कहकर चरणोंपर पड़ा अर्थात् उनका अवलम्ब लिया। *'प्रभु'* अर्थात् रक्षा करनेको समर्थ हो। श्रीरामचन्द्रजीने सब वानरोंको जानेको कहा है, यथा—*'अब गृह जाहु सखा सब'*, इसीपर अङ्गदजी कहते हैं कि *'अब जनि नाथ कहहु गृह जाही।'* दूसरा भाव कि आपके वचनका उत्तर न देना चाहिये—*'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई……।'* इसीसे आपके कहनेके पूर्व ही मैं प्रार्थना करता हूँ कि घर जानेको न कहिये।

दो०—अंगद बचन बिनीत सुनि रघुपति करुनासीव।
प्रभु उठाइ उर लाएउ सजल नयन राजीव॥
निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ।
बिदा कीन्हि भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ॥ १८॥

अर्थ—अङ्गदजीके नम्र वचन सुनकर करुणाकी सीमा प्रभु रघुनाथजीने उनको उठाकर हृदयसे लगा लिया, (प्रभुके) नेत्र-कमलमें जल भर आया। अपने हृदयपरकी माला, वस्त्र, भूषण वालिपुत्रको पहनाकर और बहुत प्रकारसे समझाकर तब भगवान्‌ने उनको विदा किया॥ १८॥

टिप्पणी—१ (क) *'अंगद बचन बिनीत सुनि'* उपसंहार है, *'अति बिनीत बोले बचन'* उपक्रम है। (ख) *'करुनासीव'* विशेषण देकर जनाया कि वचन सुनकर वे करुणायुक्त हो गये। *'करुनासीव'* कहकर आगे करुणाकी दशा कहते हैं कि उनके नेत्र सजल हो गये। (ग) श्रीरामजीके प्रेमसे अङ्गदजीके नेत्रोंमें जल भर आया था, यथा—*'तब अंगद उठि नाइ सिरु सजल नयन कर जोरि।'* वैसे ही अङ्गदके प्रेमसे श्रीरामजीके नेत्रोंमें जल भर आया। (घ) *'उठाइ उर लाएउ'* यह बालक भावसे किया।

पं०—अङ्गदकी विनय न स्वीकार की तब भी *'करुनासीव'* विशेषण दिया। भाव कि प्रभुकी आज्ञा मानना सेवकका धर्म है। अङ्गदने आज्ञा नहीं मानी तब भी उसपर कोप नहीं किया, प्रत्युत उसको हृदयसे लगाया और करुणार्द्र हो सजलनयन हो गये; अतः *'करुनासीव'* कहा।

पां०—*'उर लाएउ'* का भाव कि जैसे वाली तुम्हें गोदमें दे गया था, वैसे ही हम तुम्हें हृदयमें रखे हैं—यह अपना वात्सल्य दिखलाया। *'सजल नयन'* इससे कि राज्य सुग्रीवको दे चुके, अभी वह राज्य तुमको दे नहीं सकते, उनके पीछे तुम ही राजा होगे।

टिप्पणी—२ (क) *'निज उर माल बसन मनि'* देनेका भाव कि श्रीरामजीने कृपा करके अङ्गदको अपना प्रसाद दिया। (ख) *'बालितनय'* का भाव कि वाली भारी राजा था, उसका यह पुत्र है, अतः उसके योग्य वस्तु उसको दी।

३ ☞ श्रीरामचन्द्रजीने सब वानरोंको समझाया कि *'सदा सर्बगत सर्बहित जानि करेहु अति प्रेम'* और अङ्गदको *'बहु प्रकार'* समझाया। बहुत प्रकार यह कि—(१) तुम्हारे रखनेसे हमारी बदनामी (अपकीर्ति) होगी। लोग कहेंगे कि श्रीरामजीने दिखानेभरके लिये अङ्गदको युवराज किया, फिर सुग्रीवके कहनेसे अथवा अपनी ओरसे अङ्गदको अपने किंकरोंमें रख लिया। (२) यह तुम्हारा घर है, यहाँ सदा आते-जाते रहना। (३) हमने तुम्हें जो युवराज-पद दिया, वह हमारा वचन व्यर्थ न होगा। यदि यहाँ तुम सेवक होकर

रहे या आये तो तुम्हारा यौवराज्य कैसे सिद्ध हुआ? (४) तुम्हारी माताको पतिका शोक है। यदि तुम न गये तो पुत्रशोकसे वह अत्यन्त विह्वल हो जायगी। (५) तुम्हारे ही कहनेके अनुसार जब वाली तुम्हें हमारी गोदमें डाल गया तब बताओ कि गोदवालेसे कहीं नीच टहल ली जाती है? इत्यादि।

पां०—*'बहु प्रकार'* समझानेका ब्योरा गोसाईंजीने इसी दोहेके शब्दोंमें रख दिया है। अङ्गदके वचनोंके अभिप्राय समझकर श्रीरामचन्द्रजीने उनको—(क) उरमाला पहनाकर समझाया कि सुग्रीव जानते हैं कि जिसे हम माला पहनाते हैं उसकी तन-मन-वचनसे रक्षा करते हैं, उसको पुष्पमाला पहनाकर वालीसे अभय किया था और तुमको मणिमाला पहनाकर सदाके लिये उससे अभय करते हैं, वह आँख उठाकर भी न देखेगा। हमारा फैसला कभी न टलेगा। (ख)—दूसरा प्रकार 'अपना वस्त्र-भूषण' पहनाकर यह बोध कराया कि इनको पहनकर किष्किन्धामें जानेसे राज्यकी सब प्रजा जान लेगी कि राज्यमें तुम्हारा दावा बना है, उत्तरराज्याधिकारी तुम ही हो दूसरा नहीं और यह कि हम तुम्हारे सहायक हैं; हमारा निर्णय टल नहीं सकता। पुनः, (ग)—अपना राज वस्त्र-भूषण देकर जनाया कि यदि तुमको सुग्रीवके राज्य भोगनेतक सन्तोष न हो तो इसी राज्यपर तुम्हें बिठा दें (वा, वह राज्य न मिलेगा तो तुम्हें इस राज्यमें हक देंगे। यहाँ सूक्ष्मालङ्कार है)।

शीला—*'बहु प्रकार'* यह कि—(क) सुग्रीवके पुत्र राज्य न पायँगे, तुमको ही राज्य मिलेगा। (ख) दीनता—देशमें तुम्हारा दीन वचन कहना योग्य ही है, पर मेरे भक्तोंको किसीके भयसे अपना स्थान छोड़ना उचित नहीं, संसारमात्र मेरे अधीन है, मैं ही सबका प्रेरक हूँ। इत्यादि।

मा० म०—*'बहु प्रकार'*—(क) युवराज बनाया, राज न लेना था तो उसी समय कह देना था, अब तो राज्य-पालनार्थ जाना ही उचित है। (ख)—न जानेसे सुग्रीवपर कलङ्क लगेगा कि ये ही उसे छोड़ आये। पतिको मरवाकर अब पुत्र और वंशका नाश किया।

मा० म०—जाम्बवन्तादि श्रीरामचन्द्रजीका स्वरूप हृदयमें रखकर और प्रणाम करके चले। इसमें माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों हैं; परन्तु अङ्गदको माधुर्यता रही सो वह कहनेमें लड़खड़ा गये क्योंकि अङ्गदका वचन विशेषतर ऐश्वर्यमिश्रित है। यदि वह माधुर्यमें दृढ़ रहते तो श्रीरामचन्द्रजी विदा न करते।

पं० रा० व० श०—१ विदा करनेमें *'भगवान'* पद देकर जनाया कि प्रभुको विदा करनेमें बड़ा सामर्थ्य खर्च करना पड़ा। २—यहाँ यह शङ्का अवश्य होगी कि जब गुरु-पितु-माता शरण सब कुछ प्रभुको कहा, पूर्ण शरणागति की, तब भी अङ्गदको क्यों विदा कर दिया? वस्तुतः विचारिये तो अङ्गदके वचन ही ऐसे हैं। कोछेमें डालनेसे वालीका अभिप्राय यह थोड़े ही था कि अवध ले जाइये, राज्यसे वञ्चित कर दीजिये। इसमें सुग्रीवके बाद इसीको राज्य देने, अपनी सम्पत्तिका मालिक बनाने और रघुनाथजीद्वारा उसकी रक्षाके अभिप्रायसे वालीने सौंपा—(करु०)। अङ्गदको युवराज देना सुग्रीवके सम्मतसे नहीं था; इसीलिये प्रभुने लक्ष्मणजीको समझाकर कहा था तब उन्होंने जाकर युवराज्य दिया था, अङ्गदने युवराज्य स्वीकार किया, यह न कहा कि हम न लेंगे! वाल्मीकिमें भी अङ्गदने स्वयं कहा है कि सुग्रीवने हमको युवराज्य नहीं दिया। विवरसे निकलनेपर अङ्गदने कहा है कि सुग्रीवने रामजीके कहनेसे युवराज बनाया था।—अब जब युवराज बना चुके तब प्रतिज्ञा कैसे छोड़ें। आज यह प्रेमसे कातर होकर कहते हैं कि रख लें, पर यदि हम रख लें तो मर्यादा नष्ट हो जायगी। ३—बहु प्रकार यह समझाया कि न जाओगे तो हमारी मर्यादा नष्ट होगी, हमारी मर्यादा रखनेके लिये तुम्हारा जाना जरूरी है। तुम कहते हो त्याग न करो। हमने तुम्हें त्याग नहीं दिया। सोचो कि यदि हम तुमको रख लें तो अन्य वानरोंको मानों हमने त्याग दिया—इत्यादि। ४—'भव तरूँगा' इसके उत्तरमें अपने भूषण-वस्त्र दिये कि तुम्हें अभीसे सारूप्य किये लेते हैं और सबसे अभय करते हैं तब तुमको भव तरनेकी चिन्ता या सन्देह ही क्या?

वि० त्रि०—*'राज काज सब तुम करत, सब बिधि तव अधिकार। मन बच क्रम पालिय प्रजहि, कीजिअ राजसँभार॥ राजा द्रष्टा ह्वै रहत, काज करत युवराज। राज सँभारो आपनो, होय सुखी कपिराज॥ अङ्गद*

तुमहि कुदृष्टि ते ताकि सकै नहि कोय। मैं दीन्ह्यौ युवराजपद, सो न अन्यथा होय॥ हेम हार बालिहि दयो, रक्षाहित सुरराज। तव हित निज उरमाल मनि, पहिरावत हौं आज॥'

मा० हं०—पाहुनोंकी विदाके वर्णनका ढङ्ग बहुत ही अवर्णनीय है। यहाँ रामजी और अङ्गदजी तो केवल कृतज्ञता और प्रेमकी प्रत्यक्ष मूर्तियाँ ही दिखायी देते हैं। इस प्रसङ्गको लिखते समय गोसाईंजीकी दृष्टिमें गोकुलकी गोप-गोपियोंद्वारा श्रीकृष्णजीको भेजा हुआ सन्देशा (भागवत स्क० १० अ० ४७) अवश्य रहा होगा। ऐसा कहनेका कारण यह है कि यहाँ करुणा और प्रेमकी जो लहरें उठी हैं, वे सब वहींकी प्रतीत होती हैं। परन्तु भवभूति कविके 'उत्तररामचरित' पर गोसाईंजीकी दृष्टि पहुँची थी यह बात निश्चित है। क्योंकि '**वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि**.........', इस उत्तररामचरितके श्लोकका भाव गोसाईंजीने भाषावेषसे '*कुलिसहु चाहि कठोर अति*.........' इस दोहेमें बिलकुल अक्षरशः दिखलाया है।

सहजता, सरलता और सरसताकी दृष्टिसे इस प्रसङ्गमें अङ्गदका भाषण सारी रामायणमें वह एक ही है। इसमेंकी प्रेम और करुणाकी लहरें देखकर हमारी तो ऐसी ही कल्पना होती है कि इस भाषणकी रचनाके समय कविके मनमें उनकी पूर्वावस्थाकी स्मृतियाँ जोरसे उछली होंगी। जन्मसे ही माता-पिताका सुख न देखा न सुना, बाद गुरुमहाराजका वियोग, उसपर भी पतिव्रता स्त्रीका त्याग—ऐसी आयुष्य भी क्या? ऐसी बातोंसे उद्वेग पाकर केवल एक रामजीके सिवा अन्य कुछ भी आधार नहीं, इस भावनाकी उत्कटतामें अङ्गदके भाषणकी रचना हुई होगी, ऐसा हमें भाषित होता है। यदि यह सत्य हो तो इस प्रसङ्गका अङ्गद स्वयं स्वामीजी ही हो सकते हैं। हमारी इस कल्पनाके विचारके लिये अङ्गदका पूरा भाषण '*सुनु सर्बग्य*.........' से '*अब जनि नाथ कहहु गृह जाही*' १८ (१—८) तक देखिये। अङ्गदके बारेमें कहना था सो हम थोड़ेमें कह चुके। अब रामजीकी ओर देखिये। अङ्गदके चरणोंमें गिर जानेपर प्रभु रामजी '*सजल नयन राजीव*' हुए और उन्होंने अङ्गदको '*उठाइ उर लाएउ*' और '*निज उर माल बसन मनि बालितनय पहिराइ।*' परंतु अङ्गलग्न होनेके कारण भृगुपदचिह्न और श्रीवत्स वे नहीं दे सके। इससे उन्हें बड़ी खिन्नता प्राप्त हुई और इसीलिये उन्हें '*बहु प्रकार*' अर्थात् अत्यन्त ही विनयतासे अङ्गदको समझाना पड़ा। स्वामीजीके रामजीका हृदय श्रीशुकदेवजीके श्रीकृष्णजीके हृदयसे कैसा साम्य रखता है, यह भा० (३। १६। ६) '**यस्यामृतामलयशः श्रवणावगाहः सद्यः पुनाति जगदाश्वपचाद्विकुण्ठः। सोऽहं भवद्भ्य उपलब्धसुतीर्थकीर्तिश्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम्॥**' (अर्थात् मेरा नाम विकुण्ठ है। मेरे अमृतसदृश निर्मल यशका श्रवण करनेसे चाण्डालपर्यन्त पवित्र हो जाते हैं। किन्तु मेरा यह तीर्थस्वरूप सुशोभन यश मुझे आप ही लोगोंसे प्राप्त है। अतएव जो व्यक्ति आप लोगोंके प्रतिकूल आचरण करे वह मेरी भुजा ही क्यों न हो, मैं उसको तुरन्त काट डालूँ।) इस श्लोकमें दीख पड़ेगा।

भरत अनुज सौमित्रि समेता। पठवन चले भगत कृत चेता॥ १॥
अंगद हृदय प्रेम नहिं थोरा। फिरि फिरि चितव रामकी ओरा॥ २॥
बार बार कर दंड प्रनामा। मन अस रहन कहहिं मोहि रामा॥ ३॥

अर्थ—भक्तोंके उपकारको चित्तमें रखकर भाई लक्ष्मण और शत्रुघ्नसहित भरतजी सबको पहुँचाने चले॥ १॥ अङ्गदजीके हृदयमें थोड़ा प्रेम नहीं है (बहुत है)। वे बार-बार श्रीरामजीकी ओर फिर-फिरकर देखते हैं और बारम्बार दण्डवत्-प्रणाम करते हैं, मनमें ऐसा आता है कि श्रीरामजी मुझसे रहनेको कह दें॥ २-३॥

गौड़जी—इस विदाईके प्रकरणमें एक पदका दूसरे पदसे सम्बन्ध ध्यानमें बिना रखे दृश्य स्पष्ट नहीं होता। '*अंगद बैठ रहा नहिं डोला*' इस अंशका सम्बन्ध '*तब अंगद उठि नाइ सिरु*' से है और '*बहु प्रकार समुझाइ*' तक चला गया है। फिर '*जामवंत नीलादि सब पहिराये रघुनाथ। हिय धरि रामरूप सब चले नाइ पद माथ॥*' इस दोहेका सम्बन्ध '*भरत अनुज सौमित्रि समेता। पठवन चले भगत कृत चेता॥*'

से है और यहीं समाप्त भी हो जाता है। इसके पहले *'बिदा कीन्ह भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ'* पर प्रकरणकी समाप्ति नहीं हुई है। भगवान्‌के विदा करनेपर अङ्गदकी क्या दशा हुई, इसका सम्बन्ध आगेकी चौपाईसे मिलता है—*'अंगद हृदय प्रेम नहिं थोरा'* ...... *'चलेउ हृदय पदपंकज राखी'*—यहाँ अङ्गदका प्रकरण समाप्त होता है और फिर *'पठवन चले भगत कृत चेता'* का सम्बन्ध आता है। अर्थात् *'अति आदर सब कपि पहुँचाये। भाइन्ह सहित भरत पुनि आये॥'* इस तरहके जोड़-तोड़से यह भी ध्वनित होता है कि यह सारे काम एक ही समयमें एक साथ हुए हैं, अङ्गदजीका कुछ पीछे जाना कुछ ही मिनटों पीछेकी बात है और *'सब कपि पहुँचाये'* में *'सब'* शब्द यह कहता है कि पहुँचाये जानेवालोंमें अङ्गद भी थे। अर्थात् घटना यों हुई कि अङ्गद बैठे रहे और सब लोग चल पड़े तो तीनों भाई उन्हें पहुँचानेके लिये उनके साथ-साथ चले। अङ्गदजी बैठे न रह जाते और सबके साथ जाते तो शायद सरकार स्वयं पहुँचानेके लिये कुछ दूर जाते। जब यह मालूम हुआ कि एकान्तमें बातचीत करना अङ्गदको मञ्जूर है तो इधर श्रीरघुनाथजी स्वयं भाइयोंके साथ तो गये नहीं और उधर जानेवाली और पहुँचानेवाली मण्डली कुछ दूर चलकर और अङ्गदको एकान्त देकर जरा रुक गयी। इतनेमें अङ्गदजी विदा होकर आये और सबके साथ हो लिये। इसके बाद भरतादि भाइयोंके लिये यह कहा गया है कि *'अति आदर सब कपि पहुँचाये।'* इस तरह बीच-बीचमें अवरेबी वर्णन बड़ा ही सुन्दर है, देश और कालका बिना निर्देश किये हुए ध्वनिमात्रसे रसिक पाठकके मनःपटलपर वह चित्र अङ्कित कर दिया गया है जो रङ्गभूमिमें अभिनयके द्वारा ही दिखाया जा सकता है। इस प्रकरणमें पूर्वापर-वर्णनक्रम कविके अनूठे चमत्कारका द्योतक है।

टिप्पणी—१ *'हिय धरि रामरूप सब चले नाइ पद माथ'* यहाँसे इसका सम्बन्ध है। जब सब वानर चले तब तीनों भाई भेजने चले। क्रमसे चलना लिखते हैं। (क) *'भरत अनुज सौमित्रि समेता'* अर्थात् आगे भरतजी हैं, उनके पीछे अनुज लक्ष्मण और इनके पीछे शत्रुघ्नजी हैं—[नोट—पर सौमित्रि शब्द सर्वत्र लक्ष्मणजीके लिये ही प्रयुक्त हुआ है और भरतानुज शत्रुघ्नजीके लिये भरतमिलापमें ही आया है। (ख)—*'भगतकृत चेता'* अर्थात् भक्तोंके उपकारोंके चेत करनेवाले ये तीनों भाई उनके उपकारको चेत करके पहुँचाने चले। इस अर्थकी पुष्टि आगेकी *'अति आदर सब कपि पहुँचाए। भाइन्ह सहित भरत पुनि आए॥'* इस चौपाईसे होती है।—*'भगवत कृत चेता'* से रामजीका अर्थ करना ठीक नहीं है।—श्रीरामजी पहुँचाने नहीं गये, यह बात *'कहेहु दंडवत प्रभु सन', तासु प्रीति प्रभु सन कही मगन भए भगवंत',* इस उद्धरणसे भी पायी जाती है]*

गौड़जी—यहाँपर *'भरत अनुज सौमित्रि समेता'* में भरत, शत्रुघ्न और लक्ष्मण यह क्रम रखा गया है। यदि लक्ष्मणजी शत्रुघ्नजीसे बड़े हैं और दोनों यमज हैं तो भरतजीके नामके बाद लक्ष्मणजीका नाम आना चाहिये था। यदि यह कहा जाय कि सौमित्रि शत्रुघ्नजीके लिये आया तो मानसकारके साधारण प्रयोगसे इस प्रस्तावका समर्थन नहीं होता। सौमित्रि शब्द बराबर लक्ष्मणजीके लिये प्रयुक्त हुआ है। यहाँ तीनों नामोंमें अनुप्रास भी क्रमका प्रवर्तक नहीं है। छन्दोरचनाके कारण भी यह क्रमभङ्ग नहीं हुआ है, क्योंकि यदि मानसकारको दूसरा क्रम रखना अभिप्रेत होता तो वह सहज ही *'भरत लषन सत्रुघ्न समेता'* यह कह सकता था। यदि 'शत्रुघ्न' को कोमल करना मञ्जूर होता तो *'भरत लषन सत्रुहन समेता'* लिख सकता था। निदान यदि उस क्रमका निर्वाह मञ्जूर होता तो पद्यरचनाके कारण कोई बाधा न थी और अनेक स्थलोंकी तरह यहाँ भी जान-बूझकर *'भरत अनुज सौमित्रि'* लिखा गया है। यहाँ भी भरत और शत्रुघ्नके अवतार विशेषमें यमज भाई होनेकी ओर इशारा है। इस कथाके सम्बन्धमें अन्यत्र विस्तारसे वर्णन हो चुका है। [इस तर्कसे बचनेके लिये ऐसा अर्थ करते हैं कि 'भरतजी अपने दोनों छोटे भाइयों सौमित्रिसहित भेजने चले।' सौमित्रिसे यहाँ सुमित्राजीके दोनों पुत्र श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी लिये जायँगे। इस तरह

* १—'भक्त कृत चेता'=जो अपनी शुद्ध भक्तिके आचरणसे अपर भक्तोंको चैतन्य करनेवाले हैं। २ रा० च०—भाव कि रघुनाथजीने इन्हें अपना सखा बनाया है, राज्य दिया है, भक्त किया है, यह चितसे चेतकर पहुँचाने चले।

पं० रामकुमारजीके अर्थकी पुष्टि हो जाती है। आगेके *'भाइन्ह सहित भरत पुनि आए'* से भी इस अर्थका समर्थन होता है। इस सम्बन्धमें सम्पादकने अपने विचार पूर्वकाण्डोंमें प्रकट किये हैं। इस काण्डमें भी दोहा ६ (१) में देखिये।]

टिप्पणी—(२) *'फिरि फिरि'* देखनेका भाव कि श्रीरामदर्शन छोड़ा नहीं जाता और जीमें है कि बार-बार उनकी ओर देखनेसे कदाचित् प्रभु मुझे देखकर तरस खाकर रहनेको कह दें। (ख) *'बार बार'* दण्ड-प्रणाम करनेका भाव कि जब-जब फिर-फिरकर प्रभुकी ओर देखते हैं तब-तब बराबर दण्डवत्-प्रणाम करते हैं। (ग) *'मन अस'* का भाव कि वचनसे कह नहीं सकते, क्योंकि वचनसे बहुत कह चुके हैं। आज्ञा होनेपर कुछ कहना धृष्टता है, अनुचित है; अत: मनमें सोचते हैं, प्रभु तो अन्तर्यामी हैं। [खर्रा—बार-बार दण्ड-प्रणाम करके देर लगा रहे हैं, यह किसलिये? सो आगे कहते हैं—*'मन अस रहन कहहिं'*]

नोट—*'फिरि फिरि चितव·······'* इति। इससे जनाया कि अङ्गद बिदा किये गये, पर अभी वे प्रभुके समीप हैं, वहाँसे चले नहीं हैं। चलना आगे कहेंगे।—*'चले हृदय पद पंकज राखी'* दृश्य यह है कि वे एक बार दण्डवत्-प्रणाम कर फिर उनकी ओर देखते हैं कि शायद रुक जानेको कह दें। जब नहीं कहते तब फिर उनकी ओर देखकर दण्डवत् करते हैं; इत्यादि बारम्बार दण्डवत् करनेपर भी प्रभुकी ओरसे जब कोई इशारा नहीं मिलता तब भाँति-भाँतिसे विनय करते हैं कि अच्छा बिसराइयेगा नहीं, कभी-कभी यहाँ आनेकी-चरण-दर्शन करनेकी आज्ञा देते रहियेगा।

प० प० प्र०—दोहा १७ से १८ तक अङ्गद-स्तुति है। यह तेईसवीं स्तुति है और तेईसवाँ नक्षत्र श्रवण है। दोनोंका साम्य इस प्रकार है—श्रवणमें तीन तारे वैसे ही स्तुतिमें *'पदजल जाता'* *'पदपंकज'* और *'चरन'* तीन हैं। श्रवणका आकार त्रिविक्रम-सा है। त्रिविक्रम (वामनभगवान्) ने तीन बार चरण रखा था। *'पदजल जाता'* से वह चरण सूचित किया जिसे ब्रह्मलोकमें ब्रह्माजीने धोया था, जहाँसे *'नखनिर्गता सुर बंदिता त्रैलोक्य पावन सुरसरी'* प्रादुर्भूत हुई थीं। *'पद पंकज'* से वह चरण सूचित किया जो पृथ्वीपर रखा गया। *'जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई।'* और तीसरा चरण जिससे बलिको पाताल भेज दिया वह *'चरन'* से सूचित किया। जैसे बलिको पाताल जाना पड़ा, वैसे ही इन चरणोंकी आज्ञासे अङ्गदको अपनी इच्छाके विरुद्ध किष्किन्धामें जाना पड़ा। *'शचीपति प्रियानुज'* वामन ही तो यहाँ राम बन गये हैं। नक्षत्रका देवता गोविन्द और फल श्रुति *'राम भगत जन जीवन धन से'* है, वैसे ही श्रीरामको, *'गोबिंद गोपर द्वंद्वहर'* कहा ही है और भगवान् प्रभु रघुनायक 'अङ्गदके जीवन-धन हैं ही, यह उनके *'मोरे तुम्ह प्रभु गुरु पितु माता।'* आदि वचनोंसे स्पष्ट है, इनसे यह फलश्रुति अङ्गदजीमें पूरी घटित होती है। नाम साम्य इस प्रकार है कि 'श्रवण' का अर्थ सुनना है और *'गृह जाही'* आदि वाक्य सुननेकी इच्छा न होनेपर भी वे वचन अङ्गदको सुनने ही पड़े—*'बहु प्रकार समुझाइ बिदा कीन्हि।'*

राम बिलोकनि बोलनि चलनी। सुमिरि सुमिरि सोचत हँसि मिलनी॥ ४॥
प्रभु रुख देखि बिनय बहु भाषी। चलेउ हृदय पद-पंकज राखी॥ ५॥
अति आदर सब कपि पहुँचाए। भाइन्ह सहित भरत पुनि आए॥ ६॥

अर्थ—श्रीरामजीका कृपावलोकन, उनकी बोल-चाल और उनका हँसकर मिलना सुमिर-सुमिरकर सोचते हैं॥ ४॥ प्रभुका रुख देखकर बहुत बिनती की और हृदयमें पदकमलोंको रखकर चले॥ ५॥ बड़े आदरसे सब वानरोंको पहुँचाकर भाइयोंसहित भरत फिर आये॥ ६॥

टिप्पणी—१ श्रीरामजी अपने स्नेहीको प्रथम आप ही देखते हैं, उससे प्रथम आप ही बोलते हैं, उससे मिलनके लिये प्रथम आप ही चलते हैं और प्रथम आप ही हँसकर उससे मिलते हैं—यह सब स्वभाव सुमिर-सुमिरकर सोचते हैं कि अब ऐसे स्वामीकी प्राप्ति कब होगी। प्रभु कृपादृष्टिसे सबको देखते हैं, मधुर मृदु-वचन बोलते हैं और जब भक्तके मिलनेके निमित्त आगे चलते हैं तब हँसकर मिलते हैं।

२ *'प्रभु रुख देखि बिनय बहु भाषी'* *'बहु बिनय'* यह कि मैं चरण-सेवक हूँ, मेरी सुधि बनी रहे और मैंने आपकी इच्छाके प्रतिकूल बात कही, अपने हितके लिये आपको सङ्कोचमें डाला यह अपराध क्षमा करें। (ख) *'चलेउ हृदय पदपंकज राखी।'* अङ्गदजीने प्रथम कहा है कि *'पदपंकज बिलोकि भव तरिहौं'* उन्हींको अब हृदयमें रख लिया। चरणोंका संयोग बाहरसे छूटा तब हृदयमें उनका संयोग किया।

३ *'अति आदर सब कपि पहुँचाए।'''''''* इति। (क) ☞जहाँसे प्रसङ्ग छूटा था वहींसे अब पुनः कहते हैं। *'भरत अनुज सौमित्रि समेता। पठवन चले''''''''* यहाँ प्रसङ्ग छोड़ा था। (ख) *'अति आदर सब कपि'* अर्थात् सामान्य-विशेष सभी वानरोंको बहुत दूरतक पहुँचाने गये। क्योंकि सभीने रामजीकी सेवा बराबर की है। पहुँचाने न जाना आदर नहीं है और दूरतक पहुँचाने जाना *'अति आदर'* है।

तब सुग्रीव-चरन गहि नाना। भाँति बिनय कीन्हे हनुमाना॥ ७॥
दिन दस करि रघुपति पद सेवा। पुनि तव चरन देखिहौं देवा॥ ८॥

अर्थ—(जब श्रीभरतादिक लौट गये) तब हनुमान्‌जीने सुग्रीवजीके चरणोंको पकड़कर अनेक प्रकारसे विनय की॥ ७॥ दस दिन (थोड़े दिनों) श्रीरघुनाथजीकी सेवा करके फिर, हे देव! आपके चरणोंका दर्शन करूँगा॥ ८॥

पं० रा० व० श०—*'नाना भाँति''''''''दिन दस''''''''।'* भाव कि विनय तो बहुत की, उनमेंसे एक यह है। *'दस'* कुछका उपलक्षक है।

टिप्पणी—१ (क) नाना भाँतिकी विनय की, यह हनुमान्‌जीकी नम्रता और शील है। राजाओंसे बोलनेकी यही रीति है। पुनः चरण पकड़ना अत्यन्त विनम्रताका तथा कृतज्ञता-प्रदर्शनका सूचक है। विद्यागुरु सूर्य-भगवान्‌की कृपासे उनके पुत्र सुग्रीवके ये मन्त्री बने, उनकी, प्रभुकी मित्रता करायी, राज्य दिलवाया और उनके पास रहनेसे प्रभुकी समीपता प्राप्त हुई है। पुनः चरण पकड़कर विनय करनेका भाव कि जिसमें सुग्रीव कृपा करके श्रीरामजीकी सेवामें रहनेकी आज्ञा दे दें। (ख)—*'दिन दस करि''''''''',* विनती करके यह अपना प्रयोजन सुनाते हैं। *'दस दिन'* से अल्पकाल सूचित किया। [अथवा हनुमान्‌जी चिरञ्जीवी हैं, इनकी दृष्टिमें बहुत काल भी अल्पकालके समान है। वा उन्होंने यह विचार किया कि पृथ्वीपर दशसहस्र वर्ष रहना है। ये दस दिन-सरीखे बीत जायँगे। अतः दो-चार दिन न कहकर दस दिन कहा। (पं०)] हनुमान्‌जी सुग्रीवका स्वभाव जानते हैं कि राम सेवा छोड़कर अपने यहाँ आनेको कभी न कहेंगे। इसीसे उन्होंने दस दिनके लिये कहा। (ग) ☞हनुमान्‌जी श्रीरामजीके चरणोंकी सेवा और सुग्रीवके चरणोंका दर्शन करनेको कहते हैं। चरण-सेवा चरणदर्शनसे विशेष है। इससे सूचित हुआ कि सुग्रीवजीके चरणोंसे रामजीके चरणोंमें आपकी विशेष भक्ति है। (घ) *'देवा'* का भाव कि आप दिव्य हैं, हमारे हृदयकी सब जानते हैं, आपसे मैं सत्य कहता हूँ।

प्रश्न—*'दिन दस करि रघुपति पद सेवा। पुनि तव चरन देखिहौं देवा॥'* सुग्रीवजीसे इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करते हुए भक्तशिरोमणि अवध लौटे। पुनः किष्किन्धा जानेका कहीं लेख पाया नहीं गया। उनकी वाणीको कैसे सत्य प्रमाणित कीजियेगा?

उत्तर—**'वाराङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा'** तो प्रसिद्ध ही है। उसी अनेक रूपमें ऐसा भी एक रूप-प्रभेद है कि दो मित्र राष्ट्रोंमेंसे एक राज्यका सम्मानित व्यक्ति यदि दूसरे राज्यमें किसी निजी कारणसे रहना चाहे तो उसे प्रथम अपने राजासे स्वीकृति ले लेना परमावश्यक है। बिना स्वीकृति लिये यदि उसे दूसरा राजा अपने यहाँ रख ले तो सम्भव है कि दोनोंमें वैमनस्यका उदय हो जाय। श्रीरामजीके सम्बन्धमें सभी एक स्वरसे कहते और मानते हैं कि—*'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥'* इसलिये—**'स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन् स्वयमाचरत्॥'** (भा० ९। १०। ५५) (अर्थात् श्रीरामजी स्वयं गृहस्थाश्रमके धर्मका पालन करते थे तथा औरोंको भी सिखलाते थे)। श्रीरामजीने कभी भी नीति-धर्मका परित्याग किया हो ऐसा कोई नहीं कह सकता। नीति-रक्षणार्थ ही श्रीरामजीने अङ्गदकी बहुत प्रार्थनापर

भी ध्यान न देकर अङ्गदको *'निज उर माल बसनमनि बालितनय पहिराइ। बिदा कीन्ह भगवान तब बहु प्रकार समुझाइ॥'* यदि अङ्गदजी अपने राजा सुग्रीवसे अपने अयोध्या रहनेकी आज्ञा ले लिये होते तो नीतितत्त्वके परम ज्ञाता श्रीरामजी अङ्गदको किसी तरह नहीं कह सकते थे कि तुम यहाँसे चले जाओ। श्रीहनुमान्‌जी सर्व-विद्यानिधान हैं, नीतिके सारे रहस्योंको यथार्थरूपेण जानते हैं, इसीसे श्रीरामजीसे न कहकर अपने राजाका चरण पकड़कर नाना प्रकारकी प्रार्थना करके दस दिनकी छुट्टी माँगी कि मुझे दस दिन और भी श्रीराम-चरणसेवाका सौभाग्य दिया जाय। तब वानराधीश सुग्रीवने सदैवके लिये आज्ञा दे दी—*'पुन्यपुंज तुम्ह पवनकुमारा। सेवहु जाइ कृपा आगारा॥'* सुग्रीवसे सदैवके लिये छुट्टी [पेंशिन] मिल गयी थी, इसीसे श्रीहनुमान्‌जीके दस दिन बाद जानेका कहीं उल्लेख नहीं मिलता। सुग्रीवजी सम्पूर्ण वानरोंके सम्राट् थे और वानर-शरीरधारी होनेसे श्रीहनुमान्‌जी सदैव सुग्रीवको राजा और स्वयंको (**'अहं सुग्रीवसचिवः।'** (वाल्मी० रा० सुन्दर०) सुग्रीवका मन्त्री मानते रहे। (वै० भू०)

पुन्य पुंज तुम्ह पवनकुमारा। सेवहु जाइ कृपा आगारा॥ ९॥
अस कहि कपि सब चले तुरंता। अंगद कहै सुनहु हनुमंता॥१०॥

अर्थ—हे पवनकुमार! तुम पुण्यपुञ्ज (परम सुकृती) हो (कि श्रीरामजीने तुम्हें सेवामें रख लिया, विदा न किया), तुम जाकर दयाके धाम श्रीरामजीकी (सब दिन) सेवा करो॥ ९॥ सुग्रीवादि सब वानर ऐसा कहकर तुरन्त चल दिये। तब अङ्गद कहने लगे कि हे हनुमान्‌जी! सुनो॥ १०॥

पं० रा० व० श०—*'पुन्य पुंज तुम्ह········'* का भाव कि आपके प्रारब्धका पर्यवसान हो गया और हमारे संस्कार अभी हमारे प्रतिबन्धक हैं।

प्रभुने इनको विदा न किया। इससे स्पष्ट है कि वे इनको अपना मानते हैं। अतः इनको पुण्यपुञ्ज कहा। यथा—*'हम सब पुन्यपुंज जग थोरे। जिन्हहिं राम जानत करि मोरे॥'* (२। २७४) पुनः श्रीरामका सामीप्य बड़े पुण्योंसे मिलता है इससे *'पुन्यपुंज'* कहा। यथा—*'कीजहु इहै बिचार निरंतर राम समीप सुकृत नहिं थोरे।'* (गी० २। ११)

वै०—*'पुन्यपुंज'* कहा, क्योंकि औरोंका माता, पिता, स्त्री, पुत्र, धन, धामादिमें स्नेह लगा है, इसीसे उन सबको प्रभुने विदा कर दिया और तुम्हारे नेह-नाते सर्वस्व एक प्रभु ही हैं, इसीसे तुमको जानेको न कहा। तुमको कहीं जाने-आनेका प्रयोजन ही नहीं, अतः तुम बड़भागी हो।

रा० प्र०—जो-जो बिदा किये गये उनकी विषयसे तृप्ति नहीं हुई है। सुग्रीवने स्वयं कहा है कि *'बिषय मोर हरि लीन्हेउ ग्याना'* और अङ्गदके वचन भी सगर्व ही हैं, क्योंकि वे अपने पिताका राज्य सुग्रीवको भोगते देख रहे हैं। रहे विभीषण सो उन्होंने तो अभी राज्यभोग-सुख आरम्भ भी नहीं किया है। वे तो चाहते ही थे कि *'सब बिधि नाथ मोहि अपनाइअ। पुनि मोहि सहित अवधपुर जाइअ॥'* अतएव हनुमान्‌जीको ही परम अधिकारी जान रखा। *'कपि सब चले तुरंता'* से भी स्पष्ट है कि घर पहुँचनेको सब आतुर हैं। दोहा २० (३—५) भी देखिये।

मा० म०—*'पवनकुमारा'* का भाव कि—(क) पवन सबको सुखदायी हैं, उनका पुण्य तुममें है; अतएव तुम पुण्यपुञ्ज हो। (ख)—सञ्जीवनी लक्ष्मणजीके लिये लाकर और मुद्रिका श्रीजानकीजीको देकर तुमने सबको आनन्दित किया; अतः पुण्यपुञ्ज और धीमान् हो।

टिप्पणी—१ *'पुन्यपुंज तुम्ह'* का भाव कि पुण्यसमूह बिना श्रीरामजीकी सेवा नहीं मिलती। *'कृपा आगारा'* का भाव कि—सेवा करनेसे अत्यन्त कृपा करते हैं। *'कृपा आगारा'* अत्यन्त कृपाका सूचक है।

मा० म०—१ न तो श्रीरामचन्द्रजीने हनुमान्‌जीको सुग्रीवसे माँगा और न सुग्रीवने दिया, ऐसे असमञ्जसको देखकर स्वयं हनुमान्‌जीने सुग्रीवसे निर्धार कर लिया। अर्थात् सुग्रीवसे कहला लिया कि तुम श्रीरामचन्द्रजीकी सेवा जाकर करो। २—*'सेवहु जाइ कृपा आगारा'* यह चौपाई *'देत लेत मन संक न धरई'* का उत्तर है

जो किष्किन्धामें रामचन्द्रजीने सुग्रीवसे कहा था। यही कारण है कि श्रीरामचन्द्रजीने न हनुमान्‌जीको माँगा न उन्होंने स्वयं देनेको कहा। क्योंकि मित्रका धन मित्रहीका है—(मयूख)। ३—रामचन्द्रजीने स्वयं क्यों न हनुमान्‌जीको विदा किया, इसका कारण स्पष्ट है कि वे इनसे कई बार कह चुके कि मैं और मेरी सम्पत्ति तुम्हारी है—*'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं।'* तब कौन किसको विदा करे? कौन किसको रखे? इसी प्रकार सुग्रीवने भी विचारा कि मैं और मेरा सर्वस्व श्रीरामचन्द्रजीका है, चाहे वे इन्हें अवधमें रखें चाहे किष्किन्धामें। इस कारण उन्होंने हनुमान्‌जीको भेज दिया।

टिप्पणी—२ *'अस कहि कपि सब चले'* से जनाया कि जैसा सुग्रीवने कहा था वैसा ही फिर सब वानरोंने कहा। *'चले तुरंता'* का भाव कि जबतक सब श्रीरामजीके पास रहे तबतक घरकी सुध नहीं रही, यथा—*'बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं।'* जब श्रीरामजीकी इच्छा हुई कि वानर घर जायँ तब वानरोंको घरकी सुध आयी। इसीसे तुरन्त चले।—(अब यहाँसे बिदा हो चुके तब वर्षभरसे बिछड़े हुओंसे शीघ्र मिलनेकी लालसा हुआ ही चाहे)। (ख) *'अंगद कहै सुनहु हनुमंता'* इति। सुग्रीव कपिराज हैं। इसलिये जबतक वे हनुमान्‌जीसे वार्ता करते रहे तबतक सब वानर खड़े रहे। जब वे चले तब सब वानर चले। यह मौका पाकर अङ्गदजी हनुमान्‌जीसे बोले।

दो०—कहेहु दंडवत प्रभु सैं* तुम्हहिं कहौं कर जोरि।
बार बार रघुनायकहि सुरति कराएहु मोरि॥
अस कहि चलेउ बालिसुत फिरि आएउ हनुमंत।
तासु प्रीति प्रभु सन कही मगन भए भगवंत॥
कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि।
चित्त खगेस† राम कर समुझि परै कहु काहि॥१९॥

अर्थ—मैं आपसे हाथ जोड़कर कहता हूँ, मेरी दण्डवत् प्रभुसे अवश्य कहियेगा। श्रीरघुनाथजीको बारम्बार एवं प्रतिदिन क्षण-क्षणपर मेरी याद कराते रहियेगा। ऐसा कहकर वालिपुत्र चले तब हनुमान्‌जी लौटकर आये और उनका प्रेम प्रभुसे वर्णन किया। (उसे सुनकर) भगवान् मग्न हो गये। हे पक्षिराज! श्रीरामजीका चित्त वज्रसे भी अधिक अत्यन्त कठोर और फूलसे भी बढ़कर अत्यन्त कोमल (ऐसा अद्भुत) है,‡ तब कहिये तो कि वह किसे समझ पड़े॥ १९॥

टिप्पणी—१ *'कहेहु दंडवत प्रभु सैं.........'* इति। (क) इस दोहेमें श्रीरामजीके लिये दो शब्द आये हैं—प्रभु और रघुनायक। दोनोंके भाव यह हैं कि प्रभुताके कारण कदाचित् सुध न रहे। बड़े लोग छोटोंको भूल जाते हैं, उनको बहुत कार्य रहते हैं। अतः मेरा दण्डवत्-प्रणाम कहकर सुध दिला दिया करना। *'रघुनायक'* शब्द देकर माधुर्य कहा। तात्पर्य कि राजाओंको जब सुध दिलायी जाय तब सुध होती है (ख) [बार-बार दण्डवत् कहलानेका भाव कि प्रतिदिन ऐसा करनेसे कदाचित् करुणावश होकर मुझे एक बार इस बहानेसे बुला लें। (मयूख)] *'मोरि'* पद अपनी लघुता दर्शित करानेके विचारसे कहा। भाव कि वहाँ मेरी कौन गिनती है, हाँ! सुध दिलाओगे तो सुधि होगी। दण्डवत् तो अभी जाके कहना और सुरति सब दिन कराना।

---

* सन् (१८१७, १८१८)। सैं—(१८४२, भा० दा०, बं० पा०, रा० कु० का०)

† चित खगेस अस राम—(का०)। चित खगेस (१८४२, बं० पा०, भा० दा०)।

‡ वीर—रामचन्द्रजीका चित उपमेय, वज्र और फूल उपमान हैं। उपमेयकी अपेक्षा उपमानमें लघुता वर्णन करना 'तृतीय प्रतीप अलङ्कार' है, व्यङ्गार्थमें व्याघात और विरोधाभास है।

पां०—जब अङ्गदने सुग्रीवके वचनोंसे यह समझा कि हनुमान्‌जी उनकी ओरसे श्रीरामजीके पास रहेंगे, तब उन्हें चिन्ता हुई कि तब हमारी बात और भी मन्द पड़ जायगी, यदि हम अपनी ओरसे किसी औरको मुखतार करें तो इनके समान कोई दूसरा हो नहीं सकता, अतएव हनुमान्‌जीको अपनी ओर कर लेनेके लिये उनसे ऐसा कहा। [पर यहाँ राजनैतिक कोई बात नहीं है। यहाँ तो अङ्गदजीमें बड़ी उत्सुकता दिखा रहे हैं, वे देखते हैं कि हम तो विदा कर दिये गये पर हनुमान्‌जी इधरसे वहाँ भेजे जाते हैं, वहाँ ये रहेंगे ही, अत: इनसे विनय कर दूँ कि सिफारिश करके बुला लें तो बड़ी ही बात हो और कुछ न हो तो मेरी याद ही कराते रहें।

२ (क) ***'बालि सुत'*** का भाव कि सब वानर तुरन्त चले थे, अङ्गद उस वालीका पुत्र है जो सातों समुद्रोंमें नित्य प्रति सन्ध्या करता था। अर्थात् यह भी बड़े वेगसे चला। (ख) ***'मगन भए भगवंत'*** इति। भगवान् उनकी प्रीतिमें डूब गये। ***'भगवंत'*** कहनेका भाव कि प्रभु अपने प्रभुताको, कि वे भगवान् हैं, भुलाकर अङ्गदकी प्रीति सुनकर मग्न हो गये अर्थात् उनके प्रेमके वश हो गये। यथा—***'ऐसी हरि करत दास पर प्रीति। निज प्रभुता बिसारि जन के बस होत सदा यह रीति॥'*** (वि० ९८)

३ ***'कुलिसहु चाहि कठोर अति'''''''*** इति। वालीके लिये कठोर थे फिर कोमल हो गये, यथा—***'बालि सीस परसेउ निज पानी।'*** इसी तरह प्रथम अङ्गदपर कठोर हुए, उनकी प्रार्थना न सुनी, उनको शरणमें न रखा, यह कठोरता है। पर जब हनुमान्‌जीने आकर उनकी प्रीति कही तब मग्न हो गये, देहसुध न रह गयी, यह कोमलता है। यथा—'**वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥**' (उत्तररामचरित)

नोट—१ ***'कुलिस'***=वज्र, हीरा। यह बहुमूल्य रत्न संसारके सब पदार्थोंसे कड़ा होता है, इसीसे यहाँ 'अत्यन्त कठोरता' के उदाहरणमें इसीका नाम लिया गया। पूर्व बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड और लङ्काकाण्डमें भी यही उदाहरण कठोरताका दिया गया है। यथा—***'सिरस सुमन कन बेधिय हीरा।'*** (१। २५८। ४) ***'कहँ लगि कहउँ हृदय कठिनाई। निदरि कुलिस जेहि लही बड़ाई॥'*** (अ० १७९), ***'जो पयफेन फोरि पबि टाँकी।'*** (२। २८१) इत्यादि। कुलिशसे अधिक कठोर होनेके साथ ही कुसुमसे भी कोमल कहकर उनकी ईश्वरता दिखाते हैं कि दो विरोधी बातें साथ-साथ उनमें स्थित हैं—'**अघटितघटनापटीयसी**'। अङ्गदको विदा करनेमें कठोरताके कारण दोहा १८ में लिखे जा चुके हैं। अङ्गदके स्वार्थके लिये, उसके हितके लिये कठोर हुए, नहीं तो वह न जाता। भगवान्‌ने नारदजीसे कहा है—***'जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार। सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार॥'*** (बा० १३२) ***'कुपथ माँग रुज ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनिजोगी॥'***

२—उत्तररामचरितमें जो ***'वज्रादपि'''''''*** कहा गया है वह मनुष्यके स्वभावके सम्बन्धमें है और यहाँ जो गोस्वामीजी कह रहे हैं वह श्रीरघुनाथजीके सम्बन्धमें कह रहे हैं। जीव और ईश्वरमें बड़ा अन्तर है। मनुष्य इस दर्जेका कठोर या कोमल स्वाभाविक रीतिसे नहीं हो सकता; अत: मनुष्यके लिये यह कथन अत्युक्ति समझा जायगा। परन्तु ईश्वरके सम्बन्धमें ऐसा कथन स्वभावोक्ति है। [प्र० सं० में मैंने ऐसा लिखा था। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'उत्तररामचरित' का वाक्य साधारण मनुष्योंके विषयमें नहीं है। '**लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति।**' लोकोत्तर=असामान्य। सन्त साधु ही लोकोत्तर हैं और ***'राम ते अधिक राम कर दासा'*** कहा ही है—अत: उनमें अत्युक्ति नहीं है।'

पं० रा० व० श०—***'मगन भए भगवंत।'*** भगवान् हैं, सब तरह परिपूर्ण हैं, तब भी प्रेम सुनकर मग्न हो गये। इतना प्रेम है तो रख क्यों न लिया? एक तो यहाँका प्रेम, दूसरे रघुनाथजीका स्वभाव कि किञ्चित् भी कोई प्रेम करे तो उसके हाथ बिक जाते हैं, इन दोनोंसे शङ्का उत्पन्न होनी आश्चर्य नहीं कि ऐसे निरतिशय द्रवीभूत होनेवालेसे विदा होनेको कैसे कहा गया और अङ्गदको विदा कैसे किया गया? कोमलता ऐसी कि प्रीति सुनकर उसमें डूब गये और कठोरता ऐसी! इसका समाधान यह है कि मर्यादापालनके

लिये इतने कठोर हो जाते हैं, इसीसे वनवास-समय कठोर होकर सबको प्रेमसे दुःखी छोड़कर चल दिये, पर उनका स्मरण कर-करके विकल हो जाया करते थे—ऐसे कोमल हैं। अङ्गदके विषयमें भी इसी मर्यादा-पालनके विचारसे कठोर हुए। दोहा १८ में देखिये। ईश्वरका ईश्वरत्व समझमें नहीं आ सकता कि ऐसा क्यों किया? उनके चित्तकी यथार्थ व्यवस्था कौन जान सकता है?

नं० प०—जब श्रीरामजीके चित्तमें अघटित घटना है तब वह चित्त किसको समझ पड़े! अब यदि कहिये कि श्रीरामजीके चित्तमें कठोरता क्यों है, तो उत्तर है 'भक्तोंके हितार्थ'। जैसे बालकके तनमें फोड़ा होनेपर माता उसके हितके लिये कठोरचित्त होकर फोड़ेको चिराती है, वैसे ही श्रीरामजीने अङ्गदके लोकहितके लिये चित्तको कठोर करके घर भेजा है और परलोकहित तो निज बसन-माल देकर सायुज्य मुक्ति दिया है। जब कोई अपने बालकको किसी दूसरेकी गोदमें देता है तो लोकसुखके लिये ही देता है। वैसे ही वालीने अङ्गदको श्रीरामजीकी गोदमें दिया था। यथा—*'मरती बेर नाथ मोहि बाली। गयउ तुम्हारेहि कोंछे घाली॥'* (१८। २) यह अङ्गदका हित कठोर होनेसे ही बनता है, अतः कठोर हुए। पुनः चित्तको कठोर और कोमल दोनों कहकर ऐश्वर्य सूचित किया, क्योंकि वह अघटित घटना है। नारदमोहमें भी चित्तको कठोर करनेसे नारदका हित हुआ।

पं० रा० कु०—*'समुझि परै कहु काहि'* इति। भाव कि यदि श्रीरामजीका स्वभाव समझ पड़े तो कोमल या कठोर न कहते बने, न समझ पड़नेसे कोमल और कठोर कहते हैं। कोमल एवं कठोर होनेका हेतु नहीं समझ पड़ता कि क्यों कोमल हुआ या क्यों कठोर हुआ। चाहि=से। यथा—*'अरि बस दैव जियावै जाही। मरन नीक तेहि जीवन चाही॥'* अर्थात् उस जीवनसे मरण नीक है। [नोट—*'चाही'* का अर्थ है 'बढ़कर'। बा० २५८ (४) में इसपर विशेष लिखा जा चुका है।]

वै०—*'समुझि परै कछु काहि।'* अङ्गदके विनयपर कठोर रहे और फिर उसका प्रेम सुन प्रेममें मग्न हो गये, ऐसे कोमल, तब कोई कैसे जान सके क्योंकि सब देखावमें भूले हैं, सच्ची बात तो प्रभुके कृपापात्र ही जानते हैं—*'तुम्हरी कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन। जानहिं भगत भगत-उर चन्दन॥'* तहाँ सच्ची बात तो यह है कि प्रभुमें कोमलता तो सदा एकरस-परिपूर्ण है और कठोरता तो प्रयोजनमात्र है, यथा—*'जिमि सिसुतन'*।

पुनि कृपाल लियो बोलि निषादा। दीन्हे भूषन बसन प्रसादा॥ १॥
जाहु भवन मम सुमिरन करेहू। मन क्रम बचन धर्म अनुसरेहू॥ २॥

अर्थ—फिर (श्रीभरतादि भाइयों और हनुमान्‌जीके लौट आनेपर) दयालु श्रीरामजीने निषादराजको बुला लिया और उनको भूषण-वस्त्र प्रसाद दिये॥ १॥ (फिर कहा कि) घर जाओ, हमारा स्मरण करते और मन-कर्म-वचनसे धर्मपर चलते रहना*॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'पुनि'* का भाव कि जब भाई भरतादि (एवं हनुमान्‌जी) पहुँचाकर लौट आये तब निषादको विदा किया। तात्पर्य कि रामजी चतुर्व्यूह-अवतार हैं—[चार कल्पोंमेंसे किसी एक कल्पमें चतुर्व्यूहके अवतार होंगे, यह हो सकता है। मानसकविने विष्णु, नारायण और साकेतविहारी द्विभुज अज-अगुण ब्रह्मके अवतार ग्रन्थमें कहे हैं]—जैसे वानरोंको पूर्णरूपसे दर्शन देकर विदा किया वैसे ही तीनों भाइयोंसहित रामजीने निषादको दर्शन देकर विदा किया। (ख) *'कृपाल'* का भाव कि निषादपर बड़ी कृपा की कि इन्हें वस्त्र-भूषण प्रसाद-दिये। प्रसाद जूठनको कहते हैं। यह जूठनका अधिकारी है; इससे इसे अपनी पहनी हुई वस्तु दी और सबोंको नयी वस्तु दी थी। पुनः, दूसरा भाव प्रसाद देनेका यह

---

* ततो गुहं समासाद्य रामः प्राञ्जलिमब्रवीत्। सखे गच्छ पुरं रम्यं शृङ्गवेरमनुत्तमम्॥ मामेव चिन्तयन्नित्यं भुङ्क्ष्व भोगान्निजार्जितान्।……इत्युक्त्वा प्रददौ तस्मै दिव्यान्याभरणानि च।' (अ० रा० ६। १६। १८—२०) अर्थात् श्रीरामजीने हाथ जोड़े खड़े हुए गुहके पास जाकर कहा—'मित्र! अब तुम अपने परम रमणीय शृङ्गवेरपुरको जाओ। वहाँ मेरा चिन्तन करते हुए अपने शुभ कर्मोंसे प्राप्त हुए भोगोंको भोगो।'……यह कहकर उन्हें बहुत-सा दिव्याभूषण आदि दिया।

है कि निषादका वचन है कि—*'फिरती बार नाथ जो देवा। सो प्रसाद मैं सिरु धरि लेवा॥'* (अ०), इसीसे श्रीरामजीने उसे प्रसाद दिया।—[नोट—पर इस दूसरे भावसे निषादराज गुह और केवट जिसने पार उतारा, ये दोनों एक ही व्यक्ति होते हैं जो मानसका मत नहीं सिद्ध होता।] (ग) *'बोलि लियो'* अर्थात् जैसे सब वानरोंको अपने पास बुलाकर आदरसे विदा किया, वैसे ही इनको बुलाकर विदा किया। तात्पर्य कि राजा लोग ऐसे नीचोंको समीप नहीं बुलाते, उनको कामदार लोग ही विदा कर देते हैं, पर श्रीरघुनाथजीने ऐसा नहीं किया। (घ) *'दीन्हें'।* सब वानरोंको भूषण-वस्त्र पहनाये थे और इनको पहनाया नहीं वरन् भूषण-वसन-प्रसाद दिया। इसीसे इनके हाथमें दिया। भूषण-वस्त्र वैसे ही हैं जैसे कि औरोंको दिये गये, भेद केवल इतना है कि इनको प्रसाद करके दिये। प्रसाद देनेसे यह भी सिद्ध हुआ कि भूषण-वस्त्र बड़े अमूल्य थे, क्योंकि श्रीरामजी साधारण भूषण-वस्त्र नहीं पहनते।

नोट—निषादराजका लङ्काकाण्डके अन्तमें वर्णन हुआ तबसे अब यहाँ ही उनका नाम फिर आया है। इससे जान पड़ता है कि प्रभु इन्हें भी शृङ्गवेरपुरसे साथ ही लाये थे और तबसे ये यहीं रहे। यह बात इससे भी प्रमाणित होती है कि शृङ्गवेरपुर पहुँचकर निषादसे श्रीरामजीकी भेंट वर्णन करके फिर उससे विदा होना नहीं कहा है—*'सब भाँति अधम निषाद सो हरि भरत ज्यों उर लाइयो'* इसीपर प्रसङ्ग छोड़ दिया है। दण्डकारण्यके ऋषियों और भरद्वाजजीसे विदा होकर चलना कहा है पर यहाँ वह बात नहीं कही गयी।

टिप्पणी—*'जाहु भवन'* इति। (क) घरमें रहकर श्रीरामजीका स्मरण करे और गृहस्थका धर्म करे, गृहस्थको यही उचित है। वानरोंको घर जाने और भजन करनेका उपदेश किया, यथा—*'अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम।'* वैसे ही यहाँ निषादराजसे कहते हैं। (ख) वानरोंसे भजन करनेको कहा—**'भज् सेवायाम्'** अर्थात् **भज्** धातुका 'सेवा' अर्थ है। *'भजेहु मोहि'* अर्थात् मूर्त्ति स्थापित करके हमारी सेवा करना। वानर सेवाके अधिकारी हैं, क्योंकि सब देवांश हैं। निषाद पूजाका अधिकारी नहीं है, अतः स्मरण करनेको कहा।

३—*'मन क्रम बचन धरम अनुसरेहू'* इति। शूद्रका धर्म ब्राह्मणकी सेवा है, यथा—**'शूद्रस्तु द्विजसेवया।'** भाव कि मन, कर्म और वचनसे ब्राह्मणकी सेवा करना, यथा—*'मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव। मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताके सब देव॥'*—(आ०) ब्राह्मण मेरा रूप है, उनकी सेवा मेरी सेवा है। *'मम मूरति महिदेवमयी'* है।

वै०—*'धर्म अनुसरेहू'* अर्थात् मनसे दया, कर्मसे शौच, दान और वचनसे सत्य इत्यादि धर्ममार्गपर चलते रहना—ऐसा उपदेश इससे किया कि निषादके कुलका धर्म उत्तम नहीं है, (वे जीवहिंसक होते हैं)।

तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता॥ ३॥
बचन सुनत उपजा सुख भारी। परेउ चरन भरि लोचन बारी॥ ४॥
चरन नलिन उर धरि गृह आवा। प्रभु सुभाउ परिजनन्हि सुनावा॥ ५॥

अर्थ—तुम मेरे सखा हो और भरतसमान भाई हो। सदैव अवधपुरी आते-जाते रहना॥ ३॥ वचन सुनते ही उसको भारी सुख उत्पन्न हुआ, वह नेत्रोंमें जल भरकर चरणोंपर पड़ गया॥ ४॥ चरणकमलको हृदयमें धरकर घर आया और प्रभुका स्वभाव कुटुम्बियोंको सुनाया॥ ५॥

पं० रा० व० श०—यहाँ अक्षरोंसे प्रभुका प्रेम निषादपर प्रकट हो रहा है। प्रभु पहिले संयोगसूचक *'आवत'* शब्द कहकर तब *'जाता'* वियोगसूचक शब्द देते हैं। उसको सखा और भ्राता कहते हैं। सखा शब्द समानके लिये आता है। भला जिसे ब्रह्मादिक भी नहीं जान सकते वह निषादके समान कैसे हो सकता है? यह प्रीतिकी पहिचान है। यहाँ दिखा रहे हैं कि प्रभु अपने भावुकोंको कैसा आदर देते हैं—नहीं तो कहाँ निषाद और कहाँ प्रभु!

मा० म०—*'सदा रहेहु पुर आवत जाता'* का तात्पर्य यह है कि निषाद नित्यप्रति अयोध्याकी कचहरीमें आता-जाता था। औरोंके लिये नित्यप्रति आना-जाना दुस्तर था।—(यह भरतजीको नित्यप्रतिका समाचार देता था और बालपनेमें प्रभुके साथ शिकारमें रहता था।)

टिप्पणी—१ (क) श्रीरामचन्द्रजी निषादराजको हृदयसे भरतसमान भाई समझते हैं, यथा—*'सब भाँति अधम निषाद सो हरि भरत ज्यों उर लाइयो'* (लं० १२०)। वही बात यहाँ वे श्रीमुखसे कहते हैं। (ख) *'उपजा सुख भारी'* इति। भारी सुख होनेका हेतु यह है कि श्रीरघुनाथजीने श्रीमुखसे मुझको सखा एवं भरतसमान भाई कहा; अपना प्रसाद दिया और पुरमें सदा आने-जानेको कहा। यह बात किसी वानरसे नहीं कही थी, यह समझकर भारी सुख हुआ अर्थात् देहसुध न रह गयी, वही दशा हो गयी जो वानरोंकी हुई थी। यथा—*'सुनि प्रभु बचन मगन सब भए। को हम कहाँ बिसरि तन गए॥'* अधिक सुखसे नेत्रमें जल भर आता ही है।—(रा० प्र०—प्रेमानन्दके साथ ही वियोगसे भी नेत्र सजल हैं)। (ग) *'परेउ चरन।'* चरणोंमें पड़कर सूचित किया कि मैं आपका सखा और भरतसम भाई होने योग्य नहीं हूँ, मैं तो आपके चरणोंका सेवक हूँ।

२ (क) *'चरन नलिन उर धरि'* इति। श्रीरामजीने कहा कि हमारा स्मरण करना, वही निषादराजने किया। चरण हृदयमें धारण करना स्मरण है। (ख) परिजनोंको जाकर स्वभाव सुनाकर सुख दिया। स्वभाव यह कि ऐसे कृपालु हैं कि मुझे प्रसाद दिया, सखा कहा। जैसा शील आपत्ति-समय था उससे भी बढ़कर सम्पत्ति पानेपर देखा। (स्वभाववर्णनमें भाव यह है कि स्वभाव उसके चित्तमें विंध गया है, उसीमें मग्न है। अतः उसीको कह रहा है। दूसरे, जो स्वभाव जान लेता है वह फिर प्रभुका हो जाता है, उसके ही भजनमें लग जाता है। *'अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखउँ। केहि खगेस रघुपति सम लेखउँ॥' 'सिव अज पूज्य चरन रघुराई। मो पर कृपा परम मृदुलाई॥'* (१२४। ४, ३), जैसे यह भुशुण्डीजीने गरुड़जीसे कहा वैसे ही शीलस्वभाव वर्णन करते हुए निषादराजने परिवारसे कहा। *'उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥'* (५। ३४। ३)

नोट—यहाँ इस प्रसङ्गमें लोगोंने यह शङ्का की है कि रघुनाथजीने वानरोंको अपने भाइयोंसे भी अधिक प्रिय कहा, तब उनको श्रीअवधमें ही क्यों न रख लिया? इसका समाधान कई प्रकारसे किया जा सकता है। १९ (९-१०) में भी कुछ लिखा गया है। सुग्रीवने राज्य और स्त्रीके लिये मित्रता की थी। वह मिले, उनका भोग उन्हें करना है। विभीषणके हृदयमें भी प्रथम कुछ वासना थी ही, यथा—*'उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभुपद प्रीति सरित सो बही॥'* श्रीरघुनाथजी सत्यसङ्कल्प हैं। वे इनका तिलक करके इनको भी राजा बना चुके और रावणवध करके इनको राज्य दिया है, साथ ही *'कल्प भर'* राज्य करनेका वर दिया है। तब इन दोनोंको कैसे रख सकते थे? दूसरे, यदि विभीषण राज्यमें न रहें तो राक्षसवृन्द फिर वैसे ही हो जायँगे। विभीषण भक्तराज हैं, इनके रहनेसे प्रजा भी भक्त हो जायगी। तीसरे, यद्यपि वानर प्रेममें घरकी सुध भूल गये हैं तथापि उनके घर-परिवार आदिके लोग तो अपने पति, भाई, पिता आदिकी खबर न पाकर दुःखी ही होंगे। अङ्गदको युवराज बना चुके हैं, वालीकी हार्दिक यही इच्छा थी; उसकी पूर्त्ति जरूरी थी। राजाके न होनेसे देशमें अराजकता—अशान्ति फैल जाती है, राज्य-प्रबन्ध गड़बड़ हो जाता है। अतएव सुग्रीव, विभीषण और निषादराजको लौटाना आवश्यक था। वानरोंकी बिदाईके विषयमें यह भी कहा जा सकता है कि वे सब देवांश हैं, शरीर छोड़नेपर वे अपने-अपने अंशोंमें जा मिलेंगे। यह भी एक कारण इसका है कि फिर त्रेताके बाद द्वापरमें श्रीहनुमान्जी, द्विविद, मयन्द और जाम्बवन्तजीको छोड़ किसी औरका नाम सुननेमें नहीं आता। यह वानर जाति अपनी परमोच्च दशाको प्राप्त होकर नेस्तनाबूद हो गयी।

श्रीहनुमान्जीको अवधमें क्यों रखा? इसके कारण स्पष्ट हैं। सूर्यभगवान्ने गुरुदीक्षामें इनसे माँगा था कि सुग्रीवकी रक्षा वालीसे करें, वह रक्षा बालिवधपर समाप्त हो गयी, गुरु-ऋण चुक गया। जब इनका कोई काम किष्किन्धामें नहीं रह गया। दूसरे, ये परम वैराग्यवान् और श्रीरामजीके परमभक्त हैं। तीसरे, इन्होंने रामजीको परिवारसहित अपनी सेवासे ऋणी बना रखा है और श्रीरामपदप्रेम तथा सेवाके सिवा इन्होंने और कोई वर कभी माँगा ही नहीं तथा रघुनाथजी एवं श्रीसीताजी इनको ये वर दे भी चुके हैं—अतएव इनको न जानेको कह ही सकते थे और न इनके न जानेसे कहीं कोई कार्य बिगड़ता था। विशेष १९ (८) में देखिये।

शङ्का—पूर्व कहा है कि *'भरत सरिस को रामसनेही। जग जप राम राम जप जेही॥'* ऐसे भरतजीसे भी अधिक प्रिय वानरोंको कहा है। यथा—*'मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहुँ ते मोहिं अधिक पियारे॥'* और यहाँ निषादराजसे भी कहते हैं कि *'तुम मम सखा भरत सम भ्राता।'* तो क्या श्रीभरतजीसे इनका प्रेम अधिक था? इस प्रकारकी शङ्काओंके समाधान पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणसे पूर्व (कि०, सुं० आदिमें) आ चुके हैं। वेदान्तभूषणजी समाधान इस प्रकार करते हैं—

संसारकी जैसी मर्यादा सृष्ट्यारम्भमें परमात्माने नियत कर दी है, स्वयं भी सदैव उसका पालन करते रहना उनकी मर्यादापुरुषोत्तमता है। अनन्त बातोंमें एक यह भी मर्यादाकी बात है कि जबतक अमुक बातमें अमुक व्यक्तिसे श्रेष्ठ दूसरा कोई प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर न हो जाय तबतक वही श्रेष्ठ माना जाता है। आगे चलकर जब दूसरा कोई तत्तदर्थोंमें प्रथमसे बढ़कर मिल जाय तो उसे निःसङ्कुचित भावसे प्रथमसे श्रेष्ठ बतलाना मर्यादित न्याय है। श्रीरामजीने यही किया, अर्थात् वानरोंके त्याग एवं स्नेह देखनेके पूर्वतक *'भरत भरत सम जानि।'* एकमात्र श्रीभरतजी ही ऐसे परम प्रेमी थे कि उस समयतक उनके जोड़का दूसरा नहीं था, इसीसे अयोध्याकाण्डमें कहा गया है कि—*'भरत सरिस को राम सनेही।' 'तुम्ह सम रामहिं प्रिय कोउ नाहीं॥'* भरतजी श्रीरामजीके पितृजात सगे भाई थे, जन्मसे श्रीरामजीके वात्सल्य-स्नेहका अनुभव किये थे। स्वयं श्रीभरतजीके ही शब्द हैं—*'मोपर कृपा सनेह बिसेखी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥'.........'* श्रीभरतजीके आचरणमें व्यावहारिकता न होते हुए भी व्यावहारिकताशून्य नहीं कहा जा सकता और वानरोंके सम्बन्धमें उपर्युक्त एक बात भी लागू नहीं हो सकती, क्योंकि वानरोंने श्रीरामचन्द्रका दर्शन किष्किन्धामें किया, पूर्वसे कोई परिचय नहीं था। इन्हें श्रीरामजीकी किसी कृपाका अनुभव नहीं था। फिर भी वे श्रीरामजीके लिये त्रैलोक्यविजयी रावण-ऐसे दुर्धर्ष वीरसे लड़े-मरे, तब भला वे वानरगण श्रीरामजीको श्रीभरतजीसे अधिक प्रिय क्यों न हों जब कि श्रीरामजीका स्वभाव ही है कि—*'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन धाम सुहृद परिवारा॥ सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥ अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसत धन जैसे॥'* अतएव श्रीरामजीने वानरोंसे भी कहा कि *'तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुख पर केहि बिधि करौं बड़ाई॥ ताते तुम्ह मोहिं अति प्रिय लागे। मम हित लागि भवन सुख त्यागे॥ अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहौं मोर यह बाना॥'* चित्रकूटमें श्रीभरतजीने साथ रहनेके लिये जो भी दलील पेश किया, श्रीरामजीने सबका समुचित उत्तर देकर उनको अयोध्याको लौटा ही दिया; पर वानर-यूथपोंने कोई भी दलील नहीं पेश किया, अपितु—*'कहि न सकहिं कछु प्रेम बस भरि भरि लोचन बारि। सन्मुख चितवहिं राम तन नयन निमेष निवारि॥'* (६। ११७) अतएव, *'अतिसय प्रीति देखि रघुराई। लीन्हें सकल बिमान चढ़ाई॥'* और फिर सबसे मुख्य बात तो यह है कि *'भरतहु ते मोहिं अधिक पियारे।'* का कारण तो जब प्रथम ही कह दिया जाता है कि—*'मम हित लागि जन्म इन्ह हारे'* तब फिर शङ्काका अवकाश ही कहाँ रह जाता है। यही दशा निषादराज गुहकी है।

गुहने कहा था—*'देव धरनि धन धाम तुम्हारा। मैं जन नीच सहित परिवारा॥'* पर यदि यह स्वीकार नहीं किया गया तो उसका क्या दोष? और भक्तमालमें वर्णित है कि चित्रकूटसे लौटकर निषादने आँखोंपर पट्टी बाँध ली थी। यही नहीं, चौदह वर्षतक बराबर रोता ही रहा। जब आँखोंमें आँसू नहीं रह गये तब आँखोंसे खून गिरने लगा। भक्तमाल (भक्तिरस-बोधिनी) की पंक्तियाँ देखिये ये हैं—

'दारुन वियोग अकुलाइ दृग अश्रुपात, पाछे लोहू जात तब सकै कौन गाइकै।
रहे नैन मूँदि रघुनाथ बिनु देखै कहा, अहा प्रेम रीति रही मेरे मन छाइकै॥ ९३॥
चौदह बरस पाछे आये रघुनाथ जबै, साथ के जे भील कहैं आये प्रभु पेखिये।
बोल्यो अब पाऊँ कहा होत न प्रतीति क्यों हूँ, प्रीति करि मिले राम कही मोको पेखिये॥
परसि पिछाने लपटाने सुख सागर, समाने प्राण पाये मानो भाग माल लेखिये।
प्रेम की जू बात क्यों हूँ बाणी में समात नाँहिं, अति अकुलात कहौं कैसे कै विशेषिये॥ ९४॥

श्रीभरतजी श्रीरामजीकी आज्ञासे अवध लौटे पर बिना चरण-पादुका मिले उन्हें सन्तोष न हुआ। वैसे ही जब अयोध्यासे श्रीरामजीने निषादराजको विदा किया तब (चित्रकूटसे लौटनेपर जो हालत निषादकी हुई थी वही दशा पुनः शृङ्गवेरपुर पहुँचकर न हो जाय इससे) उन्हें *'दीन्हेउ भूषन बसन प्रसादा।'* (क्योंकि इनको भी बिना अवलम्ब मिले सन्तोष न होता) तब निषादराजको *'उपजा सुख भारी।'* इन्हीं कारणोंसे श्रीरामजीने निषादराजको कहा कि—*'तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता।'*

श्रीहरिजनजी—यह निषादराज कौन थे, इनका वृत्तान्त शिवपुराण रुद्रसंहिता ४ अ० ४० श्लो० १८–१९, ८९—९२ में इस प्रकार है कि—'एक भील शिवरात्रिके दिन कुछ आहार न पानेसे भूखा हुआ एक लोटेमें जल लिये हुए बेलके वृक्षपर चढ़कर हिरन मारनेकी घातमें छिपकर बैठा। इतनेमें एक मृगी वहाँ आयी जिसे देखते ही उसने प्रसन्न हो उसको मारनेके लिये धनुषपर बाण चढ़ाया। इस उतावलीमें उसके लोटेका जल और बेल वृक्षके पत्ते नीचे गिरे। वहाँ वृक्ष तले शिवजीका एक ज्योतिर्लिङ्ग था। वह जल और बेलपत्र उनपर पड़ा। शिवजी प्रकट हो गये और उसको दिव्य वरदान दिये—'हे व्याध! सुन। तू मनोवाञ्छित दिव्य भोगोंको प्राप्त हो शृङ्गवेरपुरमें निषादोंका राजा होगा। तेरे वंशकी वृद्धि अविनाशी होकर देवताओंसे भी प्रशंसनीय होगी और तेरे घरपर साक्षात् श्रीरामचन्द्रजी निश्चय पधारेंगे और तेरे साथ मित्रता करेंगे। वे मेरे भक्तोंपर बड़ा स्नेह करते हैं।' शिवजीने उसका नाम *'गुह'* रखा।

* वानरों और निषादकी बिदाईका मिलान *

वानर	निषादराज
१ *तब रघुपति सब सखा बोलाये*	*पुनि कृपाल लियो बोलि निषादा*
२ *'परम प्रीति समीप बैठारे। भगत सुखद मृदु बचन उचारे॥'*	*'……मोरे अधिक दासपर प्रीती'* इति।

सबको विदा करना था, उसके जीमें दुःख न हो इसलिये यह सब करना—प्रेमसे बिठाना, परम सुखद वचन बोलना और उनको समझाना—जरूरी था, ये बातें निषादके साथ करनेकी अब आवश्यकता न रह गयी। इसीसे कपिदलको पहले समझाया तब भूषण-वस्त्र दिये और इनको प्रथम भूषण-वस्त्र दिये तब जानेको कहा।

३ *सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना*	*'तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहहु……'*
४ *सुनि प्रभु बचन मगन सब भये।*	*बचन सुनत उपजा सुख भारी*
को हम कहाँ बिसरि तन गये।	*परेउ चरन भरि लोचन बारी*
५ *अब गृह जाहु सखा सब*	*जाहु भवन मम सुमिरन करेहू।*
भजहु मोहिं दृढ़ नेम	*मन क्रम बचन धर्म अनुसरेहू॥*
६ *'तब प्रभु भूषन बसन मँगाये'* से *'पहिराये……'* तक	*दीन्हें भूषन बसन प्रसादा।*
७ *हिय धरि रामरूप सब चले नाइ पद……*	*चरन नलिन उर धरि गृह आवा।*
८ *राम बिलोकनि बोलनि चलनी।*	*प्रभु सुभाउ परिजनन्हि सुनावा॥*
सुमिरि सुमिरि सोचत हँसि मिलनी॥	(इससे निषादमें विशेषता दिखायी)

राज्याभिषेक-प्रसंग समाप्त हुआ।

श्रीरामराज्य

(त्रैलोक्यसुख, पुरवर्णन और नृपनीति-प्रसङ्ग)

रघुपति चरित देखि पुरबासी। पुनि पुनि कहहिं धन्य सुखरासी॥ ६॥
राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥ ७॥
बयरु न कर काहू सन कोई। रामप्रताप बिषमता खोई॥ ८॥

शब्दार्थ—**विषमता**=असमानता, वैर। *'धन्य'*—यह प्रशंसाद्योतक शब्द है।

अर्थ—श्रीरघुनाथजीके चरित देख-देखकर (एवं सुन-सुनकर) पुरवासी बारम्बार कह रहे हैं कि सुखकी राशि श्रीरामजी धन्य हैं॥ ६॥ श्रीरामचन्द्रजीके राज्यपर बैठने (राजा होने) से तीनों लोक हर्षित हुए और तीनों लोकोंके समस्त शोक दूर हो गये॥ ७॥ कोई किसीसे वैर नहीं करता। श्रीरामचन्द्रजीके प्रतापसे विषम भाव जाता रहा (समताभाव आ गया)॥ ८॥

☞ *'नित नव मंगल कोसलपुरी। हरषित रहहिं लोग सब कुरी॥'* (१५। ८) से प्रसङ्ग छूटा है; अब वहींसे पुनः कहते हैं—*'रघुपति चरित देखि पुरबासी………।'*

गौड़जी—*'रघुपति चरित देखि पुरबासी।'* श्रीरघुनाथजीके नित्य-नित्यके चरित, पशुओंके प्रति भी उनका उदात्त व्यवहार, निषादके प्रति सच्चा बन्धुत्व जिसके उदाहरणमात्र हैं। पुरवासी लोग देखते और सुनते रहे हैं और देखकर सदा उनके इन चरितोंपर धन्य-धन्य कहते रहे हैं। यहाँसे रामराज्यका प्रसङ्ग चलता है, उसीका उपक्रम है। भगवान्‌के चरित्र सभी ऐसे ही हैं जिनको देख और सुनकर लोग धन्य-धन्य कहते हैं, परन्तु प्रभाव केवल *'धन्य धन्य'* कहनेपर ही मर्यादित नहीं रहता। आदर्शचरित्रका प्रभाव देखने-सुननेवालोंपर अनुकरणरूपसे पड़ता है। देखने-सुननेवाला अच्छे आचरणपर उसी तरह मोहित हो जाता है, जैसे कलाका पारखी सुन्दर चित्रको देखकर। फिर भी चित्र और चरित्र दोनोंके सौन्दर्यमें एक विशेष अन्तर है। चित्रका सौन्दर्य उसके उद्भावनाकी प्रेरणा दर्शकके हृदयमें नहीं उठाता, परन्तु चरित्रका सौन्दर्य दर्शक या श्रोताको भरसक अनुकरणकी ओर प्रोत्साहित करता है—**'यथा राजा तथा प्रजाः।'** राजा धर्मात्मा हुआ तो प्रजा उसके अनुकरणमें धर्मात्मा हो जाती है। प्रजाका अर्थ है सन्तान। माता-पिता जैसे होते हैं, सन्तान भी सीखकर वैसी ही हो जाती है। इसीलिये राजाके आचरणपर प्रजाका धन्य-धन्य कहना केवल वचनकी बात नहीं है। यह इस बातका परिचायक है कि प्रजा भी राजाके आदर्शपर आचरण करती है, यद्यपि आदर्श उन्नयनके लिये है, वहाँतक पहुँचना तो मनुष्यसे सम्भव नहीं है।

यहाँ *'देखि'* शब्दमें देखना और सुनना दोनों लक्षित हैं। जब एक ही कालमें किसी सार्वजनिक क्रियाका व्यापक प्रभाव होता है तो सुनना भी देखनेके बराबर समझा जाता है। इस समय पूनेकी पर्णकुटीमें महात्माजी जो २१ दिनका महाव्रत कर रहे हैं; उसका प्रभाव जगत्-व्यापी है। महात्माके चरितको देखनेवाले पर्णकुटीमें दो-ही-चार व्यक्ति हैं; परन्तु दिनमें कई-कई बारके समाचार सुनकर सारे सभ्य जगत्‌को इस महाव्रतके समाचार बराबर मिल रहे हैं। इस प्रसङ्गपर यदि कहा जाय कि भारतवासी देख रहे हैं कि ऐसे अशक्त शरीरसे भी महात्माजी ऐसे कठोर व्रतको कैसे निबाह रहे हैं तो यहाँ 'देखना' क्रिया वाच्यार्थका द्योतक नहीं, केवल लक्ष्यार्थका है। उसी तरहसे *'देखि'* यहाँपर जाननेके अर्थमें आया है परन्तु वह ऐसा जानना है जिसका अनुकरण किया जाता है। साधारणतया अनुकरण भी देखकर ही होता है; इसलिये यहाँपर *'देखि'* शब्दमें विशेष चमत्कार है।

वि० त्रि०—*'रघुपति चरित देखि………सुखरासी'* इति। यहींपर रामराज्यका बीज निहित है। भगवान्‌ने अपने चरित्रसे धर्ममार्गकी स्थापना की। सारी प्रजा धन्य-धन्य कहने लगी और सरकारके चरित्रको अपना आदर्श माने, उसी रास्तेपर चलने लगी। यही राजधर्मका मर्म है। राजा जिस रास्तेपर प्रजाको चलाना चाहे वैसे रास्तेपर स्वयं चले। इस बातका जैसा प्रभाव प्रजापर पड़ता है वैसा किसी अन्य उपायसे नहीं पड़ता। यदि राजा सबको तो धर्मपर चलानेके लिये कानून बनाये और स्वयं अधर्माचरण करे, तो उसकी प्रजा कथमपि धर्मपथपर आरूढ़ नहीं हो सकती। यथा—**'राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः पापे पापाः समे समाः। राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः॥'** राजाके धर्मात्मा होनेसे प्रजा धर्मात्मा होती है, पापी होनेसे प्रजा पापी होती है, राजाके सम होनेसे प्रजा भी सम होती है। प्रजा राजाका अनुवर्तन करती है। जैसा राजा होता है, वैसी प्रजा होती है।

टिप्पणी—१ (क) *'रघुपति चरित'* यह जो देखा कि कैसी वानरोंकी और निषादकी बड़ाई की और उनपर कृपा की। (ख) *'देखि'* का भाव कि शबरी, गीधादिपर जो कृपा की वह चरित सुने

हैं और यह आँखों देखा है। (ग) *'पुनि पुनि कहहिं'* इति। भाव कि चरित देख बड़ा सुख हुआ, आनन्दमें बार-बार कहते हैं। वा, श्रीरामजीका पृथक्-पृथक् चरित देखकर पुरवासी पुनः-पुनः धन्यवाद देते हैं। वानरोंकी बड़ाई की, यह देख धन्य कहा और भी सब चरित देख-देख धन्य-धन्य कहते हैं। (घ) ☞ श्रीरामजीके सब चरित्रोंमें सुख है, इसीसे 'सुखराशि' कहा। पुनः ब्रह्मानन्द सुखकी राशि है।

२ *'राम राज बैठे त्रैलोका……।'* इति। त्रिलोकी हर्षित हुआ। ☞ श्रीरामजी त्रैलोक्यपति हैं, इसीसे तीनों लोकोंका हर्षित होना और तीनोंका शोकरहित होना कहा। इसीसे जैसा माधुर्यमें कहना चाहिये था कि पृथ्वीभरका शोक दूर हुआ वैसा नहीं कहा। 'त्रिलोकी हर्षित हुआ कहकर दिखाया कि श्रीरामचन्द्रजीमें सबका प्रेम है, प्रेम न होता तो रामराज्यसे हर्ष क्यों होता? प्रेम और हर्ष इससे है कि उन्होंने रावणादिका वध कर सबको सुखी किया है अथवा रामराज्यके प्रभावसे सब हर्षित हुए और सबके शोक दूर हुए।

३ *'बयरु न कर काहू सन कोई……'* इति। (क) वैर नहीं करते यह कहकर उसका हेतु बताते हैं कि यह रामप्रताप है कि विषमभाव नष्ट हो गया और समताका विस्तार हुआ।

नोट—उदासीनता, मित्रता और शत्रुता—ये तीन भाव जीवोंमें होते हैं, यथा—*'उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति।'* यहाँ *'बिषमता खोई'* कहकर जनाया कि शत्रुताका भाव जाता रहा, *'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'* यह समताभाव रह गया। विषमका उलटा सम है, यथा—*'तदपि करहिं सम बिषम बिहारा'* 'विषमता गयी' अर्थात् 'समता रह गयी।' यहाँ प्रथम उल्लास अलङ्कार है।

दो०—बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेदपथ लोग।
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं* नहिं भय सोक न रोग॥ २०॥

अर्थ—सब लोग अपने-अपने वर्ण और आश्रमके (वेदोक्त) धर्मोंमें तत्पर (लगे) रहते हैं, वेदमार्गपर चलते हैं और सदा सुख पाते हैं†। उन्हें न भय है, न शोक और न रोग॥ २०॥

नोट—वर्णाश्रम-धर्म सभी स्मृतियोंका विशेष विषय है। उसके लिये यहाँ कोई अवतरण देना हास्यास्पद होगा। महाभारत आदिपर्व अ० ८४ (इण्डियन प्रेस संस्करण), भा० ११ अ० १७ तथा १८ में भी दिये हैं। पाठक देखना चाहें तो उन ग्रन्थोंमें देख लें। २—*'बेदपथ'* में वेदसे यहाँ तात्पर्य है 'गृहसूत्र' से जिनमें वर्णाश्रमधर्म बड़ी सूक्ष्मतासे बताये गये हैं।

विप्रधर्म वेदविद् इत्यादि होना, क्षत्रियधर्म समरसे न भागना, प्रजाको प्राणप्रिय मानना और वैश्यधर्म अतिथि-सत्कार है, यथा—*'सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना।……'* (२। १७२) *'क्षत्रिय तन धरि समर सकाना।'* कुलकलङ्क (१। २८४) *'सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥'* (२। १७२) *'सोचिय बयसु कृपिन धनवानू……'* आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। इनके धर्म, यथा—*'सोचिय बटु निज ब्रत परिहरई। जो नहिं गुर आयसु अनुसरई॥ सोचिय गृही जो मोह बस करइ करमपथ त्याग।' 'सोचिय जती प्रपंच रत बिगत बिबेक बिराग॥'* (अ० १७२) *'बैखानस सोइ सोचै जोगू। तपु बिहाइ जेहि भावइ भोगू॥'* ब्रह्मचर्य-आश्रममें सब प्रकारके व्यसन निषिद्ध माने गये हैं। उनसे दूर रहकर गुरुकी सेवामें रहकर अध्ययन करना धर्म है, इसके बाद विवाह करके स्त्री-पुत्रादिके साथ रहकर अपना धर्म पञ्चमहायज्ञ आदि निबाहना होता है। पचास वर्षकी अवस्था होनेपर

---

* का०, भा० दा०, १८४२ में 'सुखहिं' पाठ है। 'सुख' बं० पा० और गुटकामें है।

† 'प्रजाः स्वधर्मनिरता वर्णाश्रमगुणान्विताः।' भा० ९। १०। ५१ '…… नाधिव्याधिजराग्लानिदुःखशोकभयक्लमाः। मृत्युश्चानिच्छतां नासीद्रामराजन्यधोक्षजे॥'(५४) दोहा २० (७) से दो० २१ तकका संक्षिप्त वर्णन इस उद्धरणमें है। वामनपुराणके 'मखाकभूम्यात्रृपतयो यजन्ते विधिवत्तदा। ब्राह्मणाश्च तपोधर्मं तीर्थयात्रांश्च कुर्वते॥ वैश्याश्च पशुवृत्तिस्थाश्शूद्राश्शुश्रूषणे रताः।' इस श्लोकसे इस दोहेका भाव स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् राजालोग विधिपूर्वक यज्ञ करते थे, ब्राह्मण तपोधर्म और तीर्थयात्रा करते, वैश्य पशु (गौ-बैल) का पालन करते और शूद्र सेवामें तत्पर रहते थे।

वनमें रहकर पूर्ण वैराग्यवान् होना वानप्रस्थ धर्म है और अन्तिम संन्यास है जिसके अनेक विधान शास्त्रोंमें कहे गये हैं। इस कथनसे शम्बूक शूद्रके. तपकी कथा भी आ गयी। धर्मविरुद्ध करनेसे एक अल्पमृत्यु हुई थी, अत: उसका निवारण किया गया, जिससे विप्रका पुत्र पुनर्जीवित हो गया।

गौड़जी—गोस्वामीजी प्राचीन निगमागमपद्धतिके बड़े कट्टर अनुयायियोंमें थे। सारे मानसकाव्यमें बराबर प्राचीन सनातन रीतियोंकी प्रशंसा की है। कलिधर्मनिरूपणके बहाने वे कहते हैं—*'बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति-बिरोधरत सब नर नारी॥'* वर्णाश्रम धर्मके वे कट्टर अनुयायी थे, स्वयं त्यागी थे; परन्तु संसारको वैरागी बनानेके पक्षके न थे। भरतजीको समझाते हुए वसिष्ठजी कहते हैं कि वेदविहीन ब्राह्मण जो अपने धर्मको छोड़ भोगविलासमें लगा हो, राजा जो नीति नहीं जानता, जिसे प्रजा प्राणोंके समान प्रिय नहीं, वैश्य जो धनवान् हो पर कृपिण हो और अतिथि-सेवा न करता हो, विद्वानों, ब्राह्मणोंका अपमान करनेवाला शूद्र जो बकवादी हो, अभिमानी हो, अपने ज्ञानका घमण्डी हो, पतिवञ्चक नारी जो कुटिला, लड़ाका और आवारा हो, वटु जो व्रतत्यागी हो, गुरुकी अवज्ञा करता हो, गृहस्थ जो अज्ञानसे कर्मका त्याग करे, संन्यासी जो प्रपञ्चमें फँसा विवेक-वैराग्यहीन हो, वानप्रस्थ जो तप छोड़ विलासप्रिय हो—ये सभी शोकके योग्य हैं। स्पष्ट है कि गोस्वामीजी वर्णाश्रम धर्मके कितने बड़े पोषक हैं।.........

भुशुण्डिके प्रति भगवान्‌के मुखारविन्दसे गोस्वामीजी यह कहलाते हैं कि *'सब ते अधिक मनुज मोहि भाये।'* मर्यादापुरुषोत्तम नीच-से-नीच निषादको *'जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा'*, गले लगाते हैं। क्यों? क्या वर्णाश्रम धर्मके विपरीत आचरण करते है? नहीं, जैसा कहते हैं, ठीक वैसा ही करते हैं। सब प्राणी भगवान्‌के उपजाये हैं, सब उनको प्यारे हैं; परन्तु मनुष्य सबसे अधिक प्यारे हैं, जिन भगवान्‌ने *'प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किय आपु समान'* जानवरोंको अपने समान आदर दिया, वे मनुष्योंको, जो उन्हें अधिक प्यारे हैं क्यों न गले लगावें? स्वयं निषादको गले लगाकर उस समयकी धर्मध्वजताको अर्द्धचन्द्र देकर राज्यसे बाहर निकाल दिया तभी तो *'राम सखा रिषि बरबस भेंटे।'* मर्यादापुरुषोत्तमने जो मार्ग खोल दिया, उसपर पीछे वसिष्ठादि उस समयके सभी बड़े लोग चले। रामराज्यमें अछूतका आदर था। शबरीके बेर प्रेमके माधुर्यसे तर थे। गीधकी मैत्री भगवान्‌के लिये प्राण-विसर्जन करती है..........। और तो और अछूत धोबीके उपालम्भपर, जो सचमुच एक नीच प्रजा थी, सीखगाँठ बाँधी।..........

वानर, राक्षस, दानव, कोल, भील, किरात, गीध, व्याध सभी श्रीरामचन्द्रजीके निकट बराबर थे। परन्तु बराबरीका यह अर्थ कदापि न था कि एक वर्णमाला अपनेसे भिन्न वर्णके धर्म पालने लगे, एक आश्रमवाला अपने आश्रमका कर्तव्य छोड़ अन्य आश्रमियोंके कर्तव्य पालन करने लगे।—(यही आशय) *'बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेदपथ लोग', 'चलहिं स्वधरम निरत श्रुति नीती'* (का है)। गीतामें भी कहा है—**'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥'**—(भूमिकासे उद्धृत)

वि० त्रि०—*'बरनाश्रम निज निज धरम निरत'* कहनेके बाद भी 'लोक वेद-पथसे चलते थे' इस बातके कहनेकी आवश्यकता हुई। क्योंकि *'भूमि सप्त सागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला॥'* रामजीका राज्य तो सातों द्वीपोंमें था और सातों द्वीपोंमें वर्णाश्रम धर्म नहीं चलता, अत: लिखते हैं कि जो वर्णाश्रम धर्मी नहीं थे वे भी वेदमार्गपर चलते थे। वेद तो सरकारकी वाणी है, वह तो सम्पूर्ण संसारके कल्याणके लिये है। जो वर्णाश्रमी नहीं हैं; उनके लिये सामान्य धर्म है जैसे सनातन धर्म कहते हैं। यहाँ एक रहस्य है, जिससे कम लोग परिचित हैं। सनातन धर्म मनुष्यमात्रका धर्म है, उसे वर्णाश्रमी तथा अवर्णाश्रमी सबको पालन करना चाहिये। जिनका जन्म-कर्म परम्परासे विशुद्ध चला आता है, वर्णाश्रमधर्म केवल उन्हींके लिये है। श्रीमद्भागवतमें इसका विस्तार है। वह सनातन धर्म तैंतीस लक्षणवाला है। जितने मत संसारमें प्रचलित हैं, उनमेंसे कोई उन तैंतीससे इनकार नहीं कर सकता। वे सनातन धर्म इसलिये कहलाते हैं कि उनमें परिवर्तन किसी देश या कालमें नहीं हो सकता, जबतक मनुष्य जातिको अपने उच्चपदपर बना रहना है, तबतक सनातन धर्मको तो मानना ही पड़ेगा।

प० प० प्र०—*'सोक न रोग'* इति। दुःख तो प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मोंमेंसे पापात्मक कर्मोंका फल ही है। रोगका न होना कहकर जनाया कि श्रीरामराज्यमें लोगोंका प्रारब्धकर्म नष्ट हो गया और कोई पापकर्म नहीं करते हैं। *'सुख चाहहिं मूढ़ न धर्मरता'* से भी वही सिद्ध होता है कि सभी लोग पुण्यकर्म-धर्माचरण करते हैं। शोक-काम-क्रोधादि दोषजनित (और वियोगजन्य भी) होता है। अतः यह सूचित किया कि सभी लोग क्रोधादि षड् रिपुओंसे मुक्त हैं। किसीको वियोग-जनित शोक-दुःख भी नहीं है। *'बहुरोग बियोगन्हि लोग हए। भवदंघ्रि निरादर के फल ए'* से मिलान करनेसे सिद्ध हुआ कि सभी लोग रामभक्तिरत हैं।

टिप्पणी—१ (क) धर्मका फल सुख है, वे धर्म करते हैं; अतएव सुख पाते हैं। प्रथम वर्ण है पीछे आश्रम, अतः उसी क्रमसे लिखा। (ख) किसीको भय नहीं, क्योंकि यहाँ कोई किसीसे वैर नहीं करता। जब कोई किसी दूसरेको भय देता है तब आप भी भय पाता है, पर यहाँ कोई किसीको भय नहीं देता तब उसको भय क्योंकर हो? (ग) किसीको रोग नहीं होता क्योंकि कोई विषयीकी तरह भोगासक्त नहीं होता, भोगमें ही रोगका भय होता है—**'भोगे रोगभयम्'** इति (भर्तृहरि)।

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज नहिं काहुहि ब्यापा॥ १॥
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती*॥ २॥

अर्थ—श्रीरामराज्यमें दैहिक, दैविक और भौतिक ताप किसीको नहीं व्यापते॥ १॥ सब मनुष्य आपसमें प्रेम करते हैं, अपने-अपने धर्मपर चलते हैं और वेदोंकी बतायी हुई नीतिपर प्रेम करते एवं लगे रहते हैं॥ २॥

नोट—*'दैहिक दैविक भौतिक'*, इसीको आधिदैहिक, आधिदैविक और आधिभौतिक कहते हैं। श० सा० में लिखा है कि 'सुश्रुतमें सात प्रकारके दुःख गिनाये गये हैं। उनमेंसे तीन—कालबलकृत (बर्फ इत्यादि पड़ना, वर्षा अधिक होना, इत्यादि), देवबलकृत (बिजली पड़ना, पिशाचादि लगना) और स्वभावबलकृत (भूख-प्यासादिका लगना)—आधिदैविक कहलाते हैं। ये यक्ष, देवता, भूत-प्रेतादिद्वारा होनेवाले दुःख हैं। आधिभौतिक दुःख वह है जो व्याघ्र, सर्पादि जीवों या शरीरधारियोंद्वारा प्राप्त होता है। सुश्रुतमें रक्त और शुक्रदोष तथा मिथ्या आहार-विहारसे उत्पन्न व्याधियोंको इसीके अन्तर्गत माना है। व्यापना=किसीके अन्दर फैलना। और गौड़जी कहते हैं कि—वह सारे कष्ट जो मिथ्या आहार-विहार और देह-संसर्गसे उत्पन्न होते हैं, दैहिक ताप कहलाते हैं। जैसे साधारण ज्वर, अतिसार, उदरामय इत्यादि। और वह सारे कष्ट जो कीट-पतङ्गादि सूक्ष्म प्राणियोंसे लेकर आवागमनशील प्रेतों और पितरोंके आक्रमणसे होते हैं, भौतिक ताप कहलाते हैं। और जैसे मच्छड़-खटमलोंका काटना, बिच्छू और साँपका डसना, सिंह या और हिंस्र जन्तुओंका आक्रमण या मानवी शत्रुका प्रहार, या चुड़ैल-भूत-पितर आदिका लगना। वह सब कष्ट जो आकाशीय ग्रहोंकी गतिके कारण, अग्नि, जल, वायु या पृथ्वीके उपद्रवोंके कारण अथवा अनेक तरहके संक्रामक रोगोंके कारण होते हैं, 'दैविक ताप' कहलाते हैं। देवयोनिमें तत्त्वों और अमर-भूतों-पिशाचों और पितरोंकी भी गिनती है। किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर आज भी देवता हैं। देवयोनिसे जितने कष्ट होते हैं, वे 'दैविक-ताप' कहलाते हैं। जैसे देवयोनिजनित सभी तरहके आगन्तुक उन्माद, देवोन्माद, पितरोन्माद, यक्षोन्माद इत्यादि, बिजलीका गिरना, आगका लगना, भूकम्प जलप्लावन, कड़क, हैजा, चेचक, प्लेग, इन्फ्लूयन्जा, इत्यादि-इत्यादि। तीनों ताप जब प्रबल रूपसे सताते हैं तब साधारणतया अकालमृत्यु हो जाती है। अत्यन्त वृद्धावस्थामें तापजनित कष्ट कम होते हैं। क्षत्रियकी रणभूमिमें केवल भौतिक तापसे मृत्यु होती है। बिजलीका मारा हुआ केवल दैविक तापसे मरता है। आत्महत्या करनेवाला यदि दैवी और भौतिक कारणोंसे प्रेरित नहीं है, केवल दैहिक तापसे मरता है। परन्तु अधिकांश मृत्युएँ दो या तीन तापोंके बिना नहीं होतीं। यहाँ श्रीरघुनाथजीके राज्यमें तीनोंमेंसे किसी प्रकारका ताप किसीको नहीं सताता। सब अपनी पूरी अवस्थाको पहुँचकर ही मरते हैं। बुढ़ापे और बीमारीका कष्ट किसीको नहीं होता।

* रीती—का०। नीती—भा० दा०, १८१७, १८१८, १८४२, रा० गु०।

टिप्पणी—१ अयोध्यावासियोंको भय, शोक और रोग नहीं व्याप्त होता। इसीपर फिर कहते हैं कि रामराज्यमें दैहिकादि ताप जड़-चैतन्य किसी जीवको नहीं व्याप्त होते। रोग दैहिक ताप है, शोक दैविक है और भय भौतिक है।

२ *'सब नर करहिं.........'* इति। (क) पहले कह आये कि कोई किसीसे वैर-विरोध नहीं करता। अब बताते हैं कि वैर नहीं करते तो करते क्या हैं? सब एक-दूसरेसे प्रेम करते हैं, इत्यादि। (ख) परस्पर प्रेम करते हैं यह कहकर उनको लोकरीतिमें सावधानता बतायी और स्वधर्मपर चलते हैं, श्रुति-नीतिमें निरत हैं, इससे वेदरीतिकी निपुणता कही। इस प्रकार सबको लोक एवं वेद दोनोंकी रीतिमें सावधान दिखाया। अथवा, अपने धर्ममें चलते हैं यह वेद-रीति है, श्रुतिकी नीतिसे चलते हैं यह लोक-रीति है। दोनोंमें प्रवीण हैं। (ग) पूर्व कहा था कि *'निरत बेदपथ लोग'* और यहाँ कहते हैं कि *'निरत श्रुति नीती'* (दोनों एक ही बातें जान पड़ती हैं जिससे पुनरुक्ति होती है। पर दोनों एक नहीं हैं, दो बातें हैं) ऐसा कहकर सूचित करते हैं कि रामराज्यमें केवल वेदमार्ग था, कल्पित मार्ग उस समय कोई न था। [पुनरुक्ति नहीं है; क्योंकि वहाँ *'पावहिं सुखहिं'* से सकाम कर्म कहे गये हैं और यहाँ वैसा कोई शब्द नहीं है। अतएव यहाँ निष्काम धर्मसे तात्पर्य है। इस तरह दोनों जगह दो विषय कहे गये हैं। (सि० ति०)]

मा० म०—☞ *'दैहिक दैविक.........ब्यापा'* इसका नित्यप्रति प्रातःकाल १०८ बार जप करनेसे त्रिताप न व्यापेंगे।

चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं॥ ३॥
रामभगति रत नर अरु नारी। सकल परम गतिके अधिकारी॥ ४॥

अर्थ—धर्म अपने चारों चरणोंसे जगत्‌में परिपूर्ण बना रहा। स्वप्नमें भी पाप (जगत्‌में) न था॥ ३॥ स्त्री-पुरुष सब रामभक्तिमें तत्पर हैं, सब परम गतिके अधिकारी हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'चारिउ चरन'* इति। भाव कि सत्ययुगमें धर्मके चार चरण रहते हैं, त्रेतामें तीन चरण रहते हैं; पर रामराज्यमें त्रेतामें भी धर्म चारों चरणोंसे पूर्ण रहा है। यथा—**'त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत्।'** (भा० ९। १०। ५१) धर्मके चरण ये हैं—सत्य, शौच, दया और दान, यथा—**'सत्यं शौचं दया दानमिति पादाः प्रकीर्तिताः'** इति (मनुस्मृति)। [भा० १। १७। २४ में तप, शौच, दया और सत्य—चार पाद कहे गये हैं—**'तपः शौचं दया सत्यमिति पादाः कृते कृताः। अधर्मांशैस्त्रयो भग्नाः स्मयसंगमदैस्तव॥'** राजा परीक्षित्‌ने वृषभरूपधारी धर्मसे कहा कि (सत्ययुगमें) आपके तप, शौच, दया और सत्य ये चार चरण बताये गये हैं। इस समय (कलिके आगमनपर) अधर्मके अंश गर्व, आसक्ति और मदके द्वारा उनमेंसे तीन नष्ट हो गये। मानसकारका मत मनुके अनुसार है—दोहा १०३ *'प्रगट चारि पद धर्मके.....दान करइ कल्यान।'* देखिये।] (ख) *'सपनेहुँ अघ नाहीं'* इति। अघसे यहाँ धर्मका नाश करनेवाले चार पाप सूचित किये। ये अधर्मके अंश हैं। असत्यसे सत्यका नाश है। सङ्गसे शौचका नाश है। असत्य, सङ्ग, कठोरतासे दयाका नाश है। लोभसे दानका नाश है। असत्य, सङ्ग, कठोरता और लोभ—ये पाप स्वप्नमें भी नहीं हैं। इसीसे चारों चरणोंसे धर्म पूर्ण रहा है। पुनः, *'सपनेहुँ अघ नाहीं।'* का भाव कि जो देखो-सुनो, उसीका स्वप्न होता है। लोग धर्म ही देखते-सुनते हैं, इसीसे स्वप्नमें भी धर्म ही देखते हैं, पाप स्वप्नमें भी नहीं देखते, जाग्रत्‌की कौन कहे। ('स्वप्नमें भी नहीं' यह मुहावरा है जिसका अर्थ है 'कहीं कभी किञ्चित् भी नहीं है')

२ *'रामभगति रत.........'* इति। प्रथम धर्म कहा, यथा—*'चारिउ चरन धर्म जग माहीं।.........'*, पीछे भक्ति कही। इस क्रमका भाव यह है कि धर्मसे रामभक्ति मिलती है, यथा—*'जप जोग धर्मसमूह ते नर भगति अनुपम पावई।'*

नोट—१ *'भगति रत'* का भाव कि सब श्रीरामजीके चरणोंका ध्यान किया करते थे, उनको पिता-समान मानकर उनकी भक्ति, सेवा, प्रीति, आज्ञापालन इत्यादि करते थे। भक्तिमें सभी भाव आ गये, यथा—**'प्रजाः स्वधर्मनिरता वर्णाश्रमगुणान्विताः॥ जुगोप पितृवद्रामो मेनिरे पितरं च तम्॥'** (भा० ९। १०। ५०-५१) (अर्थात्

स्वधर्मनिरत तथा वर्णाश्रमगुणयुक्त प्रजाका पालन श्रीरामजी पिताकी भाँति करने लगे और प्रजा भी उनको पिताके समान मानती थी), **'बुभुजे च यथाकालं कामान् धर्ममपीडयन्। वर्षपूगान्बहून्नृणामभिध्याताङ्घ्रिपल्लवः॥'** (भा० ९। ११। ३६) (अर्थात् जिनके चरणारविन्दका ध्यान मनुष्य सदैव करते हैं वे श्रीरामजी नियमानुसार सुखका अनुभव करते हुए विराजमान हैं।) पुनः, 'भक्ति' से नवधादि भक्तियाँ जना दीं।

२ सब जीते-जी परमभक्तिके अधिकारी हैं अर्थात् सब जीवन्मुक्त हो रहे हैं। स्त्रियाँ भी रामभक्ति करती हैं, जैसे पार्वतीजी नाम जपती हैं, यथा—*'जपति सदा जपि जेई पिय संग भवानी'* (पं० रा० कु०)।

रा० प०, रा० प्र०—*'सकल परम गति के अधिकारी'* कहकर जनाया कि उस समयके आनेपर सब परमपदको जायँगे, अब परमधाम-गमनकी कथा नीरस जानकर न लिखेंगे। *'अवधहि में प्रभु प्रगट भए हैं अवधहि में पुनि रहे समाय।'* यहाँ *'किमि गवने निज धाम'* का उत्तर है।

अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥५॥
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहि कोउ अबुध न लच्छन* हीना॥६॥

शब्दार्थ—**अल्प** मृत्यु=थोड़ी अवस्थामें जो मृत्यु होती है; अकाल मृत्यु। **लच्छन, लक्षण**=सामुद्रिकके अनुसार शरीरके अङ्गोंमें होनेवाले कुछ विशेष चिह्न जो शुभ माने जाते हैं। गुणविशेष। लच्छन शरीरपर कर्मानुसार जन्मसे ही पड़े होते हैं।

अर्थ—अकालमृत्यु नहीं होती (सब पूर्ण आयु भोग करते हैं), न किसीको कोई पीड़ा होती है। सबका शरीर सुन्दर और नीरोग रहता है॥ ५॥ न कोई दरिद्र है, न दुःखी और न दीन ही है। न तो कोई निर्बुद्धि है और न लक्षणोंसे रहित है अर्थात् सब बुद्धिमान् हैं, सुलक्षणयुक्त हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'अल्प मृत्यु नहिं.........'* इति। (क) धर्म और भक्ति कहकर तब *'अल्प.........'* इत्यादि कहनेका भाव कि धर्म और भक्तिसे अल्पमृत्यु आदि अरिष्ट कोई नहीं होते। कोई भी पीड़ा नहीं है अर्थात् आधिव्याधि (मानसिक तथा शारीरिक व्यथा) से रहित हैं। [*'अल्पमृत्यु नहिं'* से जनाया कि कोई पुत्र पिताके सामने, पति स्त्रीके रहते इत्यादि, नहीं मरता। **'वृद्धेषु सत्सु बालानां नासीन्मृत्युभयं तथा', 'न पर्यदेवन्विधवा न च व्यालकृतंभयम्।'** (अ० रा० १६। ३०, २९) (अर्थात् रामराज्यशासन-समय कभी विधवाओंका क्रन्दन नहीं हुआ। वृद्धोंके रहते बालकोंकी मृत्युका भय नहीं था)। *'अल्प मृत्यु'* कहकर *'नहिं कवनिउ पीरा'* कहनेका भाव कि मरण-कालमें भी कष्ट नहीं होता।] (ख) *'सब सुंदर सब बिरुज सरीरा'* से सूचित किया कि पीड़ा और रोग सुन्दर शरीरके बाधक हैं सो ये दोनों किसीको नहीं हैं, इसीसे सब सुन्दर हैं।

२ (क) *'नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना.........।'* दारिद्र्य सब दुःखोंसे भारी दुःख है, यथा—*'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।'* इसीसे दरिद्रको प्रथम कहा। सब दुःख ओर दीनता दारिद्र्यसे है। (ख) *'लच्छन हीना'* होना पापका फल है और पाप कोई करता ही नहीं। अतः कोई लक्षणहीन नहीं है। लक्षणसे शरीरके लक्षण जानो।

वै०—*'शुक्लरूप अरु शीलगुण सत्य पराक्रम जान। सुचित आत्म अभ्यास गनि वर विचार परिमान॥ शस्त्रज्ञान ज्ञानी परम पूरण परतियत्याग। मानी पुनि लोकेश गनि और दासत्व विभाग॥ विद्यापुष्टि बखानिये प्रियवादी शुभ अंग। आत्मकाम सूक्ष्म बहुत गुण परिपूरण अंग॥ मातु पिता गुरुभक्त है मन बच कर्महि जान। रूपकर्ण जितइन्द्रियो दाता धर्मनिधान॥ सुरपूजन निद्रा अलप स्वल्प अहारी होइ। ये बत्तिस लक्षणयुत बिरले युगमें कोइ॥'*

मा० म० ☞ *'अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा।'* यह मृत्युञ्जयका मन्त्र है। कामामृतके लिये यह मन्त्र श्रेष्ठ है। इसे मध्याह्नकालमें जपना चाहिये। *'नहिं दरिद्र.....'* ये दोनों चरण लक्ष्मीके दाता हैं, इन्हें सन्ध्यामें जपे।

* लच्छन—(का०), लच्छन—भा० दा०। भा० दा० में जहाँ-तहाँ 'क्ष' ही है।

सब निर्दंभ धर्मरत घृनी*। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥ ७॥
सब गुनज्ञ पंडित सब ज्ञानी। सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी॥ ८॥

अर्थ—सब दम्भरहित हैं, धर्मरत हैं (अर्थात् दम्भरहित धर्म करते हैं, दिखानेके लिये नहीं करते) और दयावान् हैं। सब स्त्री-पुरुष चतुर और गुणवान् हैं (अर्थात् सब अपने-अपने गुणमें प्रवीण हैं)॥ ७॥ सब गुणोंके ज्ञाता हैं (अर्थात् गुणको जानते-पहिचानते हैं, गुणोंके पारखी हैं), सब पण्डित हैं, ज्ञानी (अर्थात् शास्त्रीय ज्ञानको जानते) हैं। सब उपकार माननेवाले हैं, कपट और सयानापन (धूर्तता) किसीमें नहीं हैं॥ ८॥

नोट—*'धर्मरत घृनी'* इति। इस जगह केवल दो प्राचीन प्रतियोंमें *'घृनी'* पाठ है और प्रायः शेष सभीमें *'पुनी'* है। *'पुनी'* का अर्थ है 'और'। यह कोई विशेष प्रयोजनीय शब्द नहीं है, केवल अगले-पिछले शब्दोंको जोड़नेवाला अव्यय है। *'घृनी'* शब्द बहुत प्रयोजनीय है। संस्कृतमें 'घृणिन्' शब्दका अर्थ है दयाशील, करुणाशील। जान पड़ता है कि 'घृणा' का तिरस्कारी वाच्यार्थ समझकर मानसरसिकोंने समझा कि *'घृनी'* शब्द लेखप्रमादका फल है और शुद्ध शब्द *'पुनी'* है। परन्तु *'घृनी'* शब्द दयाशील, करुणाशीलका वाचक होते हुए *'धर्मरत'* शब्दके अर्थका अनुत्तम पोषक है। धर्मरत शब्द दो मर्यादक शब्दोंके बीचमें रखा गया है। एक ओर निर्दम्भ शब्द है जो यह कहता है कि लोग धर्मात्मा बनने या कहे जानेके लिये धर्मरत नहीं हैं, सच्चे दिलसे अपना कर्तव्य समझकर धर्मका पालन करते हैं, परन्तु ऐसी बात भी नहीं है कि दूसरोंकी निन्दा-स्तुतिकी पर्वा धर्माचरणमें नहीं है तो साथ ही औरोंकी ओरसे उपेक्षा हो। अपने कर्तव्योंके कठोर पालनका नाम धर्म है सही, परन्तु अपने लिये कठोरता करते हुए भी धर्मपालनमें उन धर्मरतोंका भाव करुणा और दया है। जैसे कोई धर्मरत किसी कठोर धर्मव्रतका पालन करता है, क्योंकि वह धर्मके लिये कष्ट उठानेमें समर्थ है, परन्तु साथ ही उसका कोई निकटवर्ती अपने दौर्बल्य और अशक्यताके कारण उस व्रतका पालन नहीं कर सकता तो वह *'धर्मरत'* उसकी ओर उपेक्षाकी दृष्टिसे नहीं देखता, बल्कि करुणा और दयासे अभिभूत हो उसकी भरसक सहायता करता है और यदि फिर भी वह व्रत नहीं निबाह सकता तो दयावश उस व्रतको अपने ऊपर ले लेता है। इसीलिये उसकी धर्ममें रति करुणा और दयासे पूरित है। एक ओरसे निर्दम्भ है और दूसरी ओरसे घृणी है। *'पुनी'* में ऐसा कोई भाव नहीं है अतः हम *'घृनी'* को समीचीन पाठ मानते हैं।—(गौड़जी)

टिप्पणी—१ (क) (*'निर्दंभ धर्मरत'*—अधर्मरत होनेसे दम्भ होता है, उस अधर्मको छिपानेके लिये धर्मका आडम्बर किया जाता है। जब अधर्म नहीं तब दम्भ क्योंकर हो।) **'*चतुर सब गुनी*'** अर्थात् बाहरसे गुणी हैं और भीतर चतुर हैं। गुणी हैं अर्थात् गुणको करते हैं और गुणज्ञ हैं अर्थात् गुणको जानते हैं। **पंडित=समदर्शी**, यथा—'**पण्डिताः समदर्शिनः**।' (ख) गुणी, गुणज्ञ, पण्डित और ज्ञानी—यह अन्तर (भीतर) की शोभा है। कोई *'कपट सयानी'* नहीं करते, कृतज्ञ हैं, यह बाहरकी शोभा है।

नोट—१ *'न लच्छन हीना'* से यह मालूम हुआ कि लक्षणहीन नहीं है, पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि वे सब सुलक्षणयुक्त हैं, लक्षण तो शुभ और अशुभ दोनों प्रकारके शरीरपर होते हैं और लक्षणयुक्त भी सही, फिर भी न जाने उनमें वस्तुतः गुण हैं या नहीं। अतः अब कहते हैं कि सब 'गुणी' इत्यादि हैं।

वै०—*'कपट सयानी।'* मीठी बात कहकर कार्य साध लिया और पीछे विमुख हो गये, यह कपटकी चतुरता है। ☞यही बात आ० रा० राज्यकाण्ड १५। ६१ में इस प्रकार कही है—'**न शठा नैव वाचाला वञ्चका नो न हिंसकाः। न पाखण्डा नैव भण्डा न रण्डा नैव शौण्डिकाः**॥' कोई शठ, वाचाल, ठग, हिंसक, पाखण्डी, भाँड़, राँड़ वा मद्य पीनेवाला नहीं है।

---

* का० और १८४२ में 'घृनी' पाठ है। 'घृणा' शब्दका अर्थ तरस, दया, करुणा भी है।—'तां विलोक्य वनितावधे घृणां पत्रिणा सह मुमोच राघव'—(रघुवंश ११। १७, ९। ८१)। भा० दा० १८१७, १८१८ और रा० गु० द्वि० में 'पुनी' है। कोई कोई 'पुनी' का अर्थ पुनीत या पुण्यवान् करते हैं।

दो०—रामराज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं।
काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥ २१॥

अर्थ—हे पक्षिराज! सुनिये! रामराज्यमें जगत्‌भरमें जड़-चेतनमें काल, कर्म, स्वभाव और गुणोंके किये हुए दुःख किसीको भी नहीं होते॥ २१॥

टिप्पणी—१ (क) *'नभगेस सुनु'* इति। यहाँ गरुड़को सावधान करते हैं कि देखो तुम श्रीरामजीको दुःखी समझते रहे हो। जिनके प्रतापसे जगत् सुखी हो, उनमें दुःख कहाँ है। (ख) काल, कर्म, स्वभाव, गुण—चारोंद्वारा जीवोंको कष्ट होते हैं, यथा—*'काल कर्म गुन सुभाव सब के सीस तपत॥'* (वि० १३०) शीत-उष्णादि दुःख कालद्वारा होते हैं, रोगादि दुःख कर्मसे होते हैं, शस्त्रपातादिक दुःख स्वभावकी क्रूरतासे होते हैं और मानापमानादि दुःख रज-तमादि गुणोंसे होते हैं।

नोट—१ *'काल'* समर्थ है। कालधर्म सबको व्यापता है। शुभ कालमें शुभ कर्म सिद्ध होते हैं। सतयुगमें सात्त्विक कर्म करते हैं। पर जब कलियुग आ जाता है, तब श्रीयुधिष्ठिर और श्रीपरीक्षितादिक-सरीखे धर्म-मूर्तियोंके चित्तमें भी विकार आ जाता है।

'कर्म' शुभ और अशुभ तथा सात्त्विक, राजस, तामस तीन प्रकारके होते हैं।

'गुण' सत्त्व, रज, तम तीन हैं। इनका कर्मोंपर बहुत प्रभाव पड़ता है।

'स्वभाव'—पूर्व-संस्कारोंसे एक सहज स्वभाव पड़ जाता है जो छूटता नहीं। कभी-कभी सङ्ग और कुसङ्गसे भी स्वभाव पड़ जाता है। जैसे कि ऋषिपुत्र वाल्मीकि बहेलिया हो गये थे और वे सप्तर्षिके सङ्गसे पुनः ऋषि हो गये। रामराज्यमें चारों चरणोंसे धर्म परिपूर्ण है; अतः अशुभ काल, कर्म, गुण और स्वभाव रहे ही नहीं, तब उनके द्वारा जो दुःख होता है वह कैसे रहता? वह भी न रह गया।

नोट—२ स्वभावकृत जैसे कि भूख-प्यास, पड़ी हुई लत या आदत वा व्यसनद्वारा जो दुःख हों, यथा—*'काल सुभाउ करम बरिआईं। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाईं॥'* (१। ७। २) चस्का पड़ गया है छूटता नहीं और उसकी पूर्ति न होनेसे दुःख होता है। बा० ७ (२) देखिये। *'कालकर्म गुननि भरे॥'* (१२ छंद) *'बिबिध कर्म गुन काल सुभाऊ। ए चकोर सुख लहहिं न काऊ॥'* (३१। ५), *'काल कर्म सुभाउ गुन भच्छक॥'* (३५। ८) और *'काल कर्म स्वभाव गुन घेरा॥'* (४४। ५) में भी इन चारोंको गिनाया है, वहाँ देखिये।

२ काल-कर्मादिके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें कहा है कि **'कालकर्मगुणाधीनो देहोऽयं पाञ्चभौतिकः। कथमन्यांस्तु गोपायेत्सर्पग्रस्तो यथा परम्॥'** (भा० १। १३। ४५) अर्थात् यह पञ्चतत्त्वका बना हुआ शरीर काल, कर्म और मायाके गुणोंके अधीन है, यह शरीर दूसरे शरीरकी कैसे रक्षा कर सकता है, जिसको स्वयं सर्पने डसा है, वह दूसरेकी सर्पसे क्या रक्षा करेगा? (यह वचन देवर्षि नारदने युधिष्ठिरजीसे कहे हैं।) धर्मने भी इसी प्रकार परीक्षित्‌जीसे कहा है कि जीवोंको कौन क्लेश देता है यह हम नहीं कह सकते, क्योंकि हम अनेक मतोंसे मोहित हो रहे हैं, कोई आत्माको, कोई दैव (काल) को, कोई कर्मको और कोई स्वभावको दुःख-सुखका देनेवाला कहते हैं और कोई कहते हैं कि अनिर्देश्य ईश्वर ही सबका सञ्चालक है। कोई कहते हैं कि सुख-दुःखका कारण वह है जो कि तर्कद्वारा नहीं जाना जा सकता और न वाणीद्वारा बतलाया जा सके। यथा—**'केचिद्विकल्पवसना आहुरात्मानमात्मनः। दैवमन्ये परे कर्म स्वभावमपरे प्रभुम्॥ अप्रतर्क्यादनिर्देश्यादिति केष्वपि निश्चयः॥'** (भा० १। १७। १९-२०)

मीमांसक कर्मको, दैवज्ञ दैव या कालको और प्रकृतिवादी स्वभावको दुःखका कारण कहते हैं। अतः सबका मत यहाँ कहा गया।

बाहुकमें गोस्वामीजी अपना मत देते हैं कि *'माया जीव काल के करम के सुभाय के करैया राम बेद कहैं साँची मन गुनिए।'* (४४) जो इन सबोंका करनेवाला है, जो इन सबोंका प्रेरक है, जिनकी

आज्ञामें ये सब रहते हैं, यथा—'*माया जीव करम कुलि काला।''''''''करि बिचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के॥*' (२। २५४) वही जहाँ राजा होगा वह अपनी प्रजाको कब इनसे पीड़ित होने देगा। इससे यह भी जनाया कि राजा रामचन्द्रजीको प्रजा प्राणप्रिय है, तभी तो कालादिकृत दुःख किसीको नहीं व्याप्त होने देते।

भूमि सप्त सागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला॥ १॥
भुअन अनेक रोम प्रति जासू। यह प्रभुता कछु बहुत न तासू॥ २॥
सो महिमा समुझत प्रभु केरी। यह बरनत हीनता घनेरी॥ ३॥
सोउ* महिमा खगेस जिन्ह जानी। फिरि यह चरित तिन्हहु रति मानी॥ ४॥
सोउ जाने कर फल यह लीला। कहहिं महा मुनिबर दमसीला॥ ५॥

शब्दार्थ—**मेखला**=वह वस्तु जो किसी दूसरी वस्तुके मध्यभागमें उसे चारों ओरसे घेरे हो। करधनी। **हीनता**=क्षुद्रता, तुच्छता।

अर्थ—सात समुद्र जिस पृथ्वीकी मेखला हैं, ऐसी सप्तद्वीपवाली पृथ्वीके एक राजा कोशलमें श्रीरामजी हुए॥ १॥ जिसके एक-एक रोममें अनेक ब्रह्माण्ड हैं, (उसको सप्तद्वीपका राजा कहना) यह उसकी प्रभुता कुछ बहुत नहीं है॥ २॥ प्रभुकी वह महिमा समझनेसे (उसके विषयमें) यह कहना (कि वह सप्तद्वीपका राजा है) उसकी बड़ी भारी हीनता है†॥ ३॥ (तब क्यों कहा, उसपर कहते हैं कि) हे खगेश! वह भी महिमा जिनने जानी (भाव कि सब नहीं जान सकते) फिर वे भी इस (सगुण) चरितमें प्रीति करने लगे॥ ४॥ (इसका कारण बताते हैं कि) उस महिमाके भी जाननेका फल यह सगुण लीला है—इन्द्रियदमन करनेवाले जितेन्द्रिय महामुनिश्रेष्ठ ऐसा कहते हैं (भाव कि कुछ मैं अपनी ओरसे नहीं कहता, महामुनीश्वर ऐसा कहते हैं, इसीसे मैंने भी कहा)॥ ५॥

नोट—१ '*सप्त सागर मेखला भूमि*' इति। प्रियव्रतके रथके पहियेसे जो सात लीकें बनीं वे ही सात समुद्र हुए, उन्हीं सात समुद्रोंद्वारा बीचकी पृथ्वीसे जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर—ये सात द्वीप बन गये। इन द्वीपोंका विस्तार उत्तरोत्तर दूना है। ये द्वीप समुद्रोंके बहिर्भागमें चारों ओर फैले हुए हैं। जैसे समुद्रके बाद एक द्वीप है वैसे ही उस द्वीपके बाद एक समुद्र है। खारी जलका, ऊखके रसका, मदिराका, घृतका, दूधका, दहीका और शुद्ध जलका—ये सातों समुद्र पूर्वोक्त सातों द्वीपोंको खाँईके समान चारों ओरसे घेरे हुए हैं। जिस द्वीपको जो समुद्र घेरे हुए है, वह समुद्र विस्तारमें उसी द्वीपके बराबर है। ये सातों समुद्र ऊपरी द्वीपोंसे अलग ही अलग हैं और भीतरी द्वीपोंको चारों ओरसे घेरे हुए हैं।—(भा० ५। १। ३१—३३)

टिप्पणी—१ '*भुअन अनेक''''''''बहुत न तासू*' इति। अयोध्यापुरीके राजाको सप्तद्वीपका राजा कहनेसे लोग कहते होंगे कि श्रीरामजीकी बहुत बड़ाई की; इसीपर कहते हैं कि यह बड़ाई बहुत नहीं है।

नोट—'*सोउ महिमा खगेस''''''''*' इति। भाव कि प्रभुकी यह महिमा जान लेनेपर कि श्रीरघुनाथजी तो वह हैं जिनके रोम-रोममें अगणित ब्रह्माण्ड हैं, उन महापुरुषोंने उनकी माधुर्यलीलामें ही प्रेम किया है। श्रीशुकदेवजीने भी यह कहकर—कि जिन्होंने देवताओंकी प्रार्थनासे लीलावतार धारण किया था, जिनके समान किसी दूसरेका प्रभुत्व नहीं है, उन श्रीरामचन्द्रजीने अस्त्र-शस्त्रद्वारा राक्षसोंका नाश किया, समुद्रमें सेतु बाँधा, यह उनके लिये कोई बड़ी बात नहीं है तथा उन्होंने जो शत्रुओंके मारनेके लिये वानरोंकी सहायता ली, यह भी उनकी लीलामात्र ही है, भला वानर उनकी सहायता क्या कर सकते हैं—फिर कहा है कि ऋषि लोग उनके पवित्र यशको

* 'सो महिमा''''''''''—का०, १८१७, १८१८। सोउ—भा० दा०, १८४२।
† वीर—'उत्क्षेप' और 'प्रथम अधिक' अलङ्कार है।

अब भी गाया करते हैं, देवता तथा राजा लोग अपने मुकुटोंसे उनके चरण-कमलोंकी सेवा करते हैं, मैं उन श्रीरामजीकी शरण हूँ। यथा—'**नेदं यशो रघुपतेः सुरयाच्ञयाऽऽत्तलीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः। रक्षोवधो जलधिबन्धनमस्त्रपूगैः किं तस्य शत्रुहनने कपयः सहायाः॥**' (भा० ९। ११। २०) **यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्। तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्टपादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये॥**' (२१) महर्षि अगस्त्यजीने भी महिमा जानी पर प्रेम माधुर्यलीला रूपमें ही किया। वे स्वयं कहते हैं—'*तुम्हरेइ भजन प्रभाव अघारी। जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी॥ ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥*'''''''''*ते फल भच्छक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला॥ ते तुम्ह सकल लोकपति स्वामी।*'''''''''*जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभव गम्य भजहिं जेहि संता॥ अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥*' (३। १३। ५—१३) इसी तरह उनके शिष्य श्रीसुतीक्ष्णजी प्रभुका ऐश्वर्य जानते हैं पर हृदयमें काननचारी रूपको बसाये थे। यथा—'*जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी। सबके हृदय निरंतर बासी॥ तदपि अनुज श्रीसहित खरारी। बसतु मनसि मम काननचारी॥*' (३। ११। १७-१८) श्रीभुशुण्डिजीकी कथा तो इसी काण्डमें है, इन्होंने प्रभुका ऐश्वर्य आँखों देखा। वे कहते हैं कि '*जुग अंगुल कर बीच सब राम भुजहि मोहि तात॥*' (७९) '''''''''*जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहू न समाइ। सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ॥*' (८०) '''''''''*देखि चरित यह सो प्रभुताई।*' (८३। १) पर इनकी दिनचर्या क्या है, सो देखिये—'*तजि हरिभजन काज नहिं दूजा॥ बट तर कह हरि कथा प्रसंगा। आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा॥ रामचरित बिचित्र बिधि नाना। प्रेम सहित कर सादर गाना॥*' (५७। ६—८) ऐश्वर्य जानकर चरितमें क्यों प्रेम करते हैं, इसका कारण आगे कहते हैं।

पं०—'*सोउ महिमा*''''''''' ' का आशय यह है कि बुद्धि प्रभुकी अनन्ततामें लय हो जाती है और इस लीलाका रस लेकर प्रसन्न होती है।

रा० प्र०—भाव कि पाँचों परम विभूति वैराग्य, पारमेष्ठ्य, प्राजापत्य, साम्राज्य, स्वाराज्य, इन्हींमें और इन्हींकी निश्चय होती है।

वि० त्रि०—'*भुअन अनेक रोम प्रति जासू*' इस महिमाको जिसने जाना, उसे वहाँ विश्राम नहीं मिला। अर्जुन कहने लगे—'**दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास। तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥**' न तो मुझे दिशाओंका ज्ञान हो रहा है न कहीं सुख मिल रहा है। हे जगन्निवास प्रभो! कृपा करो। हे सहस्रभुजावाले! फिर उसी चतुर्भुजी मूर्तिमें हो जाओ। सती आँख मींचकर रास्तेमें ही बैठ गयीं, भुशुण्डिजी त्राहि कहकर पृथ्वीपर गिर पड़े। जिसने-जिसने उस महिमाको देखा, किसीका होश ठिकाने न रहा, सबने लीलामयी मधुर मूर्तिका ही दर्शन करना चाहा। अगस्त्यजी कहते हैं—'*जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥ अस तव रूप बखानौं जानौं। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं॥*'

'*भुअन अनेक रोम प्रति जासू*' इस रूपको जिन महानुभावोंने जान पाया, उन्हीं महात्माओंने लीलाविग्रहके आविर्भावके लिये घोर तप किया। यथा—मनु-शतरूपा तथा कश्यप-अदिति। उसीका फल यह है कि सरकार नररूप धारण करके लीला कर रहे हैं अर्थात् लीला-विग्रह उक्त ज्ञानका फल रूप है, इसीसे जगत्‌का कल्याण होता है, यथा—'**अवतारेषु यद्रूपं तमर्चन्ति दिवौकसः। अपश्यन्तः परं रूपं नमस्तस्मै महात्मने॥**' (विष्णुपुराण) अवतारोंमें भगवान् जो रूप धारण करते हैं, उसीकी पूजा देवता लोग करते हैं, उनके परमरूपके देखनेमें वे समर्थ नहीं हैं, उस महात्माको नमस्कार है।

टिप्पणी—२ '*सोउ जाने कर फल यह लीला।*' इति। (क) भाव कि महिमा जान लेना साधन है और सगुण लीला उसका फलस्वरूप है; क्योंकि वही परमात्मा भक्तोंके हितार्थ प्रत्यक्ष हुआ। (ख) '*कहहिं महा मुनिबर दमसीला*'—भाव कि परमात्माका जानना साधन है और सगुण लीलामें प्रीति करना फल है—यह कहनेसे लोगोंको प्रतीति न होगी अतएव प्रमाण देते हैं कि महामुनिवर अगस्त्यजी, याज्ञवल्क्यजी, नारदजी, सनकादि जो स्वभावसे ही इन्द्रियजित् हैं वे ऐसा कहते हैं; क्योंकि जो प्रभु ऐसी प्रभुताको त्यागकर लीलाहेतु ऐसी हीनता अङ्गीकार करते हैं, उनको जाननेवाले महामुनि हैं।

पं० रा० व० श०—*'सोउ जाने कर फल यह लीला'* और *'सोउ महिमा खगेस जिन्ह जानी। फिरि यह चरित तिन्हहु रति मानी॥'* का भाव कि वह महिमा केवल जाननेके लिये है और भक्ति करना, माधुर्यका सुख लेना, यह करनेके लिये है। प्रेम इसमें करे और ऐश्वर्य वह जाने।

वै०—भाव यह कि ऐश्वर्यरूप जो साकेतमें है उसके जाननेकी गति तो किसीमें है नहीं, शिवादि ध्यान कर पाते हैं तब और कोई कैसे पहुँच सकता है, पर वही प्रभु अवतीर्ण हो लोकमें उन्होंने कृपा, सौलभ्यादि गुण प्रकट किये, लोकके जीवोंको कृतार्थ किया—यह लीला ऐश्वर्यरूप जाननेका फल है।

रा० प्र०—विराट्रूप जाननेका फल इस रूपकी लीला है; जैसे पैसा-रुपयाके भाव रूप जाननेका फल अशर्फी है, इसीसे माताको अद्भुत रूप दिखा अपना रूप छिपाया।

वि० त्रि०—उस महिमाके जाननेवालोंके भी इस चरितमें रति माननेका कारण देते हैं कि यह लीला उस महिमाके जाननेका फल है। उस महिमाके जाननेवाले ब्रह्मादिककी प्रार्थनापर ही सरकारने अवतार ग्रहण करके यह लीला की है। जिस महिमाको वे जानते थे, उस महिमावाली मूर्तिसे काम न चला। जिस भाँति वृक्षसे काम नहीं चलता, उसके फलसे काम चलता है; उसी भाँति *'भुअन अनेक रोम प्रति जासू'* से काम न चला। उन्होंने रामरूपसे अवतीर्ण होकर लीला की, तब संसार कृतकृत्य हो सका। अत: *'तब तब कथा मुनीसन्ह गाई', 'जेहि कहत गावत सुनत समुझत परम पद नर पावई।'*

नोट—उपर्युक्त लेखोंका भाव यह है कि केवल ऐश्वर्य जान लेनेसे भवसे छुटकारा नहीं मिल सकता। मुमुक्षुको तो भवपार होनेके लिये केवल मोक्षसाधन-विषयक वस्तुका ही ग्रहण करना चाहिये। और भगवान् अवतार लेकर जो लीला करते हैं उससे मनुष्य बिना प्रयासके ही भवपार हो जाता है; अत: इसीमें सब प्रेम करते हैं।

रामराज कर सुख* संपदा। बरनि न सकै फनीस सारदा॥ ६॥
सब उदार सब पर उपकारी। बिप्रचरन सेवक नर नारी॥ ७॥
एक नारि ब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥ ८॥

अर्थ—रामराज्यकी सुख-सम्पत्ति शेष-शारदा नहीं वर्णन कर सकते॥ ६॥ सब उदार हैं, सभी परोपकारी हैं। सब स्त्री-पुरुष ब्राह्मणोंके चरणोंके सेवक हैं॥ ७॥ सब पुरुषमात्र (एक भी न छूटकर सब) एक पत्नीका व्रत रखते हैं और वे (स्त्रियाँ भी) मन-वचन-कर्मसे पतिका हित करनेवाली हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥'* यहाँसे *'सुख'* का वर्णन है और *'प्रगटीं गिरिन्ह बिबिध मनिखानी'* एवं *'डारहिं रतन तटन्हि नर लहहीं।'* (२३। ९) इत्यादि *'संपदा'* का वर्णन है। (ख) शेषके हजार मुख हैं, सरस्वतीके अनन्त मुख हैं, वह सबके मुखमें बैठकर बोलती हैं। वे नहीं कह सकते तब एक जीभ, एक मुखवाले वक्ता क्या कहेंगे?

२ *'सब उदार'* ....' इति। (क)—सम्पदा कहकर उदारता और परोपकार कहा; क्योंकि सम्पत्तिवान्‌का यही धर्म है कि उदार हो परोपकार करे। (ख) *'सब'* का भाव कि किसी राज्यमें सब उदार, सब परोपकारी इत्यादि नहीं होते, पर रामराज्यमें सब हैं। [उदार और परोपकारी दोनों कहनेका भाव कि साधारणतया उदार लोग भी कुछ अपना हेतु लिये उदार होते हैं पर ये ऐसे नहीं हैं। (रा० प्र०) सुभाषितकार कहते हैं कि **'शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पण्डितः। वक्ता शतसहस्रेषु दाता भवति वा न वा॥'** सौमें कहीं एक शूर निकलता है, हजारोंमें एक पण्डित और लाखोंमें एक वक्ता, परन्तु दाता हो या न हो। इससे

* 'रामराज कर सुख संपदा' में छन्दोंभङ्ग होता है पर 'सुष' ही पाठ सर्वत्र है। 'ष' को दोहराकर पढ़नेसे छन्द ठीक हो सकता है। गौड़जीका मत है कि यदि 'सूख' पढ़ लें तो भावमें गम्भीरता भी आ जायगी। प्र० स्वामीका मत है कि इस चरणमें मात्राकी न्यूनता करके कवि जनाते हैं कि इनका वर्णन करनेमें मेरी वाणी लज्जित और असमर्थ है। दूसरे चरणमें यह भाव सोदाहरण सूचित किया गया।

दाता होना अत्यन्त दुर्लभ जनाया। आगे भी कहा है—*'कबिबृन्द उदार दुनी न सुनी।'* *'सब पर उपकारी'* कहकर जनाया कि स्त्री-पुरुष संत हैं। परोपकार संत-लक्षण है, यथा—*'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया॥'* (प० प० प्र०)] (ग) नर-नारी विप्रचरण सेवक हैं अर्थात् स्त्री जल देती है, पुरुष चरण धोते हैं, स्त्री रसोई बनाती है, पुरुष परोसकर भोजन कराते हैं। सब उदार हैं यह कहकर विप्रचरण-सेवक कहनेका भाव कि ब्राह्मणोंको बहुत दान देते हैं, उनका बहुत उपकार करते हैं।

३ (क) *'एक नारि ब्रत·········'* इति। श्रीरामजीका राज्य है, श्रीरामजी रक्षक हैं, इसीसे काम किसीको बाधा नहीं करता। पूर्व भी रक्षा करते थे। यथा—*'धरी न काहूँ धीर सब के मन मनसिज हरे। जे राखे रघुबीर ते उबरे तेहि काल महँ।'* (बा० ८५), *'तिन्ह की न काम सकै चापि छाँह। तुलसी जे बसहिं रघुबीर बाँह॥'* (गी० २। ४९), और अब तो अपने राज्यमें सभीकी रक्षा करते हैं। (ख) *'ते मन-बच-क्रम पतिहितकारी'* इति। अर्थात् पतिपदमें प्रेम रखती हैं, *'एकै धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा॥'* (आ०) इसीसे पतिका हित है। पतिव्रता स्त्रीसे पतिका बड़ा उपकार होता है। जलन्धर, शङ्खचूड़ और वृन्दा, तुलसी, शुभा, सावित्री, अनसूयाजी आदिकी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। यथा—*'परम सती असुराधिप नारी। तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी॥'* (१। १२३। ७), *'अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय'* (३। ५) तथा *'अत्रि प्रिया निज तप बल आनी।'* (२। १३२। ५) देखिये।

नोट—यह स्त्री-पुरुषोंका परस्पर व्रत 'अन्योन्य अलङ्कार' है। यह '**यथा राजा तथा प्रजाः**' का एक अपूर्व और अनुपम उदाहरण है। श्रीरामचन्द्रजी स्वयं एकपत्नीव्रत हैं और वह भी कैसे दृढ़व्रत कि जब श्रीसीताजीके त्यागकी लीला रची गयी तब उसके पश्चात् यज्ञ करनेके लिये मुनियोंके कहनेपर भी आपने दूसरा विवाह न किया, वरन् स्वर्णकी सीतासे ही धर्मनिर्वाह किया। राजा जब ऐसे दृढ़व्रत हैं तब प्रजा क्यों न वैसा ही आचरण अपना बनाती? प्रजाको एकपत्नीव्रत बनानेके लिये आप स्वयं गृहस्थीमें रहकर राजर्षियोंका आचरण करते थे—'**एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः। स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन्स्वयमाचरन्॥**' (भा० ९। १०। ५५) जब पुरुष एकपत्नीव्रत हो गये तब वे दूसरी ओर ताकेंगे कब? किसीपर कुदृष्टि ही नहीं तब किसीका पातिव्रत्य भी खण्डित होनेकी सम्भावना कहाँ? असुरोंके राज्यमें इसका ठीक उलटा था। जब राजा ही परस्त्रीके पातिव्रत्यका भङ्ग करना अपना खेल-तमाशा समझते थे तब प्रजा क्यों न ऐसा करती? परस्त्रीको रास्ते चलते छेड़ना तो उनके लिये एक साधारण बात है, घरसे परायी बहू, बेटी, स्त्रियोंको निकाल ले जाने लगे। आजकल भी Courtship प्राग्विवाह प्रेमलीलामें ही न जाने कितने विवाह हो जाते हैं—अनाथालयोंके अधिकांश कारण ये ही सब दुराचरण हैं।

दो०—दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र के राज*॥ २२॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके राज्यमें दण्ड संन्यासियोंके हाथमें और भेद जहाँ नाचमण्डलीमें नाचनेवाले होते थे वहीं और 'जीतो' (यह शब्द) मनहीके लिये (कामादिके जीतनेके प्रसङ्गमें ही) सुननेमें आता था॥ २२॥

नोट—१ राजनीतिके चार अङ्ग साम, दान, भेद और दण्ड हैं, यथा—*'साम दान अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा॥'* (६। ३७। ९) ये सब नीतियाँ शत्रुको जीतनेमें काममें लायी जाती हैं। शत्रुके बीचमें परस्पर फूट करा देना *'भेद'* नीति है। अपराधीको सजा देना दण्डनीति है। २—*'दंड जतिन्ह कर'* का भाव कि रामराज्यमें तो सब *'चलहिं स्वधर्म निरत श्रुतिनीती'*, *'चारिहु चरन धरम जग माहीं'* था, कोई अपराध करता ही न था, अतः *'दंड'* देनेका काम ही न पड़ता था, कोई दण्डका काम ही न करता था तब दण्ड क्यों मिलता? ताजीराते हिन्द (पेनलकोड) की यहाँ आवश्यकता कहाँ, जहाँ राजा अपने अनुपम शुद्ध आचरणसे प्रजाको सच्चरित बना देता है? दण्ड शब्द ही सुननेमें न आता

* जितहु मनहिं अस सुनिअ जग रामचंद्र के राज—(का०)।

था। हाँ! यदि कहीं यह शब्द सुननेमें आता था तो यतियोंके नामके सम्बन्धमें; क्योंकि वे त्रिदंड वा दंड धारण करते हैं। ये दंडी हैं, ये त्रिदंडी हैं, इस कथनमें *'दंड'* शब्द सुननेमें आता था। पर यह *'दंड'* देखनेमात्रका था कि जो यतीको आश्रमके नियमानुसार धारण करना पड़ता है। श्रीपंजाबीजी एक भाव यह कहते हैं कि रामराज्यमें राजाकी ओरसे दंडका तो कहना ही क्या, प्रजातकने छड़ी आदि दंड तकका त्याग कर दिया; क्योंकि श्वान, सर्पादिका भय भी तो राज्यमें न रह गया था; केवल संन्यासियोंके हाथमें दंड होता था, दंडी उनकी संज्ञा ही है। ३—किसी राजासे प्रीति करना बाकी न था। रावणपर विजय करके उन्होंने सबपर विजय पा लिया। प्रीति करनेके लिये कोई शेष न रहा। देकर किसी राजाको राजी कर लेनेकी भी जरूरत न रही। इस तरह साम और दानकी आवश्यकता न रह गयी।

पां०—दंड और भेद दोका वर्णन यहाँ हुआ। अब रहीं दो नीतियाँ, साम और दान। सो इनसे रामराज्य परिपूर्ण है। इन दोनोंको प्रथम कह आये इससे यहाँ न कहा, *'सब नर करहिं परसपर प्रीती'* यह साम है और *'सब उदार सब पर उपकारी'* यह दान है।

नोट—४ *'भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।'* जब कोई शत्रु हो तो *'भेद'* नीतिसे काम लिया जाय। शत्रुही न थे तब भेद नीतिका व्यवहार कैसे सुननेमें आता? *'भेद'* शब्द नाममात्रका प्रयोग नृत्य करनेवालोंके समाजमें ही रह गया था। क्योंकि नाचनेमें सुरतालके भेद होते हैं।—यहाँ 'परिसंख्या अलंकार' है। श्री आदि राग और मयूरी आदि नृत्यके भेद हैं।

५—*'जीतहु मनहि।'* राजाका कोई शत्रु नहीं है तब 'जीतो' यह शब्द कहाँ सुनायी पड़े? हाँ, इसका नाममात्र 'मन' के सम्बन्धमें सुन पड़ता है कि अमुक बड़े जितेन्द्रिय हैं, इत्यादि। [या यह कि शत्रु जीतनेको है नहीं इससे लोग कहा करते हैं कि मन बड़ा अजेय शत्रु है, इसको बराबर जीते रहो, जिसमें मनोज-परिवार अंकुरित न हो सके। (रा० प्र०) दंड, भेद, दान कह चुके, अब रही समता। वह यहाँ *'जीतहु मनहि'* से कहा, अर्थात् सब परस्पर यही कहते हैं कि मनको जीतो; क्योंकि बिना इसके समता न आवेगी—भाव कि और कोई ऐसा है ही नहीं जिसे जीतनेकी आवश्यकता हो। (पं० रा० व० श०)] ☞ सारांश यह कि रामराज्यमें जगन्मात्रकी प्रजा सदाचारिणी थी, किसीसे कोई अपराध न होता था, सबमें परस्पर प्रेम था—अतः दंड-भेदादिकी आवश्यकता कभी न पड़ती थी।

☞ ठीक इसी प्रकार बालकाण्डमें *'सखर सुकोमल मंजु दोष रहित दूषन सहित'* श्रीमद्रामायणके विषयमें कहा है। यहाँ व्यंगार्थ वाच्यार्थके बराबर होनेसे 'गुणीभूतव्यंग' है।

६—मिलान कीजिये—आ० रा० राज्यकाण्ड १५, १८ यथा—'**दण्डवार्ता सदा यत्र कृतसंन्यास-कर्मणाम्।**' *'रह्यो दंड इक यतिन हाथमें रागताल महँ भेदू। कुटिलाई केसन महँ देखी श्रम शास्त्रन अरु बेदू॥ १॥ रोष दोष पर, लोभ धर्मपर, काम नारि निज माहीं। बैर पाप तजि और ठौर कहुँ रामराज महँ नाहीं॥ २॥ आश एक प्रभुपद सेवन महँ रह्यो पशुन महँ मोहू। मत्सर रोग बिभव महँ रहिगो कुत्सित बस्तु न कोहू॥ ३॥ रह्यो द्विरदगण महँ मद मंडित हारिलमें हठताई। आतुरता तुरंग बृंदन महँ गगन शून्यता छाई॥ ४॥ जड़ताई रत्नन्ह महँ देखी गर्व गुणनको बाढ़ो। बहत एक सरिताजल निर्मल शोचसमरको गाढ़ो॥ ५॥'* (रामस्वयंवर), *'सामको तो काम मुनिवरके मुखन काहि और ठौरमें तो तासो रंचक न काज है। दाम जल भरिबेके काम ही में देखियत दंडको निवास एक कर यतिराज है॥ 'रतनेश' भेद एक सुरके मिलाइबेमें देखो जहाँ होत गान नृत्यको समाज है। साम दाम दंड भेद अनत न देखे कहुँ ऐसो सुखदाई रघुराजजू को राज है॥'*

'नृपति रामके राज्यमें हैं न शूल दुखमूल। लखियत चित्रन में लिखो शंकरके कर शूल॥', 'केशन ही में कुटिलता संचारिनमें संक। लखो रामके राजमें इक शशि माहिं कलंक॥' झूलन ही को जहाँ अधोगति केशव गाइय। होम हुतासन धूम नगर एकै मलिनाइय॥ दुर्गति दुर्गनही जो कुटिल गति सरितन ही में। श्रीफलको अभिलाष प्रकट कविकुलके जीमें॥'

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन॥१॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥२॥
कूजहिं खग मृग नाना बृंदा। अभय चरहिं बन करहिं अनंदा॥३॥
सीतल सुरभि पवन बह मंदा। गुंजत अलि लै चलि मकरंदा॥४॥

अर्थ—वनके वृक्ष सदैव (ऋतु-अनऋतु-कालगति छोड़कर) फूलते-फलते हैं। हाथी और सिंह (सहज वैरस्वभाव छोड़कर) एक साथ रहते हैं॥ १॥ स्वाभाविक वैर भुलाकर पक्षी और पशु सभीने एक-दूसरेपर प्रेम बढ़ाया॥ २॥ वनमें पक्षियोंके अनेक झुण्ड बोलते हैं, निर्भय चुगते हैं और आनन्द करते हैं। नाना पशुवृन्द निडर विचरते, चरते और आनन्द करते हैं॥ ३॥ शीतल और सुगन्धित वायु धीरे-धीरे चलती है (अर्थात् सर्वकालसुखदायी है)। भौंरे पुष्पोंका रस लेकर गुंजार करते चलते हैं॥ ४॥

नोट—१ *'फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन।'* यहाँ *'फूलहिं फरहिं'* कहकर तीनों प्रकारके वृक्षोंको कह दिया—*'एक सुमनप्रद एक सुमन फल एक फलइ केवल लागहीं।'* (लं० ८९ छन्द) जो फूलनेवाले हैं वे फूलते हैं, फूल-फल दोनों देनेवाले फूलते हैं और फलते हैं, फलप्रद फल देते हैं—यह तो साधारण बात है। विशेषता यह है कि वे अपने-अपने समयपर फूला-फला करते हैं पर रामराज्यमें 'सदा' बारहों मास फूलते-फलते हैं, दूसरे यह कि रामराज्यमें सभी फूल भी देते हैं और फल भी, ऐसा भी भाव ध्वनित होता है।

टिप्पणी—१ ☞रामराज्यका प्रभाव मनुष्योंपर वर्णन करके अब जड़-चैतन्य-मिश्रितपर वर्णन करते हैं, कि *'फूलहिं.........।'* २ प्रथम लिख आये हैं कि 'काल, कर्म, स्वभाव, गुणकृत' दुःख किसीको नहीं होगा। अब इनका विभाग करते हैं। क्रमसे इन सबको अब कहते हैं—

काल	*फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन*	कालगति त्यागकर सदा फूलते-फलते हैं।
कर्म	*कूजहिं*	
काल	*कूजहिं खगमृग नाना बृंदा।*	यहाँ कर्मकी गति बाधा नहीं करती।
स्वभाव	*रहहिं एक सँग गज पंचानन*	यह स्वभावका गुण छूट गया।

नोट—☞गुण—स्वभाव गुण युक्त होता है इससे गुणके लिये कोई पृथक् उदाहरण नहीं देते—दोहा—२१ और ४४ (४-६) में भी देखिये।

२ *'खग मृग.........'* इति। गज पंचानन इन बड़े मृगोंको कहकर अब खग-मृग अर्थात् छोटे मृगोंका हाल कहते हैं। जैसे नरोंका हाल कह आये कि ***'बैर न कर काहू सन कोई।'*** और ***'सब नर करहिं परसपर प्रीती'***, वैसे ही खग-मृगका व्यवहार कहते हैं कि ***'खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥'*** स्वाभाविक प्रीति बढ़ाना यह है कि वियोग होते ही व्याकुल होते हैं। **'अहिंसाप्रतिष्ठायां वैरत्यागः'** इति योगसूत्रे। [खग-मृगादि स्वाभाविक वैरका त्याग तभी करते हैं जब कोई मनुष्य अपनेमें अहिंसाकी पूर्णतया प्राप्ति कर लेता है—**'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।'** इति पातञ्जलसूत्रे। इससे सूचित किया कि रामराज्यमें कायिक, वाचिक, मानसिक किसी भी प्रकारकी हिंसा कोई भी मनुष्य नहीं करता था। (प० प० प्र०)]

प० रा० व० श०—***'बिसराई'*** का भाव कि छोड़ना कहनेसे यह जान पड़ता कि वैर है पर छोड़ दिया और ***'बिसराई'*** से जनाया कि वे यही भूल गये कि वैर कोई वस्तु है तब वैरका छोड़ना इत्यादि कैसे कहें।

टिप्पणी—३ वनका फूलना-फलना कहकर अब फूलों, फलों और वनके आश्रित जीवोंका वर्णन करते हैं। **'अभय'** और **'आनन्द'** का सम्बन्ध खग और मृग दोनोंके साथ है। फलोंके आश्रयसे खग आनन्दित रहते हैं और वनके आश्रयसे मृग (पशु) आनन्दित रहते हैं।—(अभय इससे कि विषमता न रह जानेसे पशु, पक्षी या मनुष्य कोई भी बाधक नहीं हैं)। यहाँ फलोंके आश्रितोंको कहा, आगे फूलोंके आश्रित

भ्रमरोंका वनमें वर्णन करते हैं।—*'गुंजत अलि लै चलि मकरंदा'* (ख) *'गुंजत'* पदसे भ्रमरोंकी शोभा कही, यथा—*'मधुप मधुर गुंजत छबि लहहीं।'* [नोट—*'सीतल सुरभि पवन बह मंदा'* वायुकी उत्कृष्टता इन्हीं तीन गुणोंसे युक्त होनेसे ही है, यथा—*'सीतल मंद सुगंध सुभाऊ। संतत बहइ मनोहर बाऊ॥'* (अ० ४०। ८) तीनों गुणोंसे युक्त होनेसे *'मनोहर'* कहा।]

मा० म०—स्वाभाविक वैरके त्यागका कारण यह है कि श्रीरामचन्द्रजीके प्रकाशसे सारा जगत् प्रकाशित है—*'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू'*, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभातीति श्रुतिः।' जीव मायावश वैर और प्रीति करता है, परंतु रामराज्यमें जीव माया-व्यवहार-रहित हो गया।

लता बिटप माँगे मधु चवहीं। मन भावतो धेनु पय स्त्रवहीं॥ ५॥
ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेता भइ कृतजुग कै करनी॥ ६॥
प्रगटी गिरिन्ह बिबिध मनि खानी। जगदातमा भूप जग जानी॥ ७॥
सरिता सकल बहहिं बर बारी। सीतल अमल स्वाद सुखकारी॥ ८॥

शब्दार्थ—मधु=शहद, मकरंदरस,। **चवना**=टपकाना।

अर्थ—बेल और वृक्ष माँगनेसे मधु टपका देते हैं। गौएँ (कामधेनुकी तरह) मनचाहा दूध दे देती हैं॥ ५॥ पृथिवी सदा खेतीसे भरी रहती है। त्रेतामें सत्ययुगकी करनी हुई (अर्थात् ऊपर जो कुछ वर्णन हुआ वह सब सत्ययुगमें होता रहा है) वही सब इस समय त्रेतामें होने लगा॥ ६॥ यह जानकर कि जगत्‌की आत्मा भगवान् जगत्‌के राजा हैं; पर्वतोंने अनेक प्रकारके मणियोंकी खानें प्रकट कर दीं॥ ७॥ सब नदियाँ श्रेष्ठ, शीतल, निर्मल, स्वादिष्ट और सुख देनेवाला जल बह रही हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'लता बिटप माँगे·········'* इति। लता और विटप जड़ हैं, ये चेतनका काम करते हैं कि माँगे देते हैं [बहुतायत ऐसी कि बिना उद्योग *'मधु चवहीं।'* (रा० प्र०)। मधु और दूध दोनों रस हैं, इस समतासे *'मधु चवना'* कहकर *'पय स्त्रवना'* और *'लता बिटप'* के साथ *'धेनु'* को कहा। (रा० शं० श०)। *'ससि संपन्न सदा रह'* से जनाया कि बिना बोये अन्न होता है। पृथिवी बारहों मास अन्न उपजाती है। एक बार लोग बोते और बीस बार काटते हैं। इधर काटा नहीं कि उधर अङ्कुर फिर निकल आया। पृथिवीका खेतीसे सम्पन्न होना ही उसकी शोभा है—*'ससि संपन्न सोह महि कैसी॥'* (४। १५। ५)]

टिप्पणी—२*'त्रेता भइ कृतजुग कै करनी'* इति। युगका धर्म धर्म वा अधर्म पाकर बदल जाता है। जैसे त्रेतामें रावणने कलियुग किया और श्रीरामजीने सत्ययुग कर दिया।

वि० त्रि०—भगवान् भीष्मपितामहने कहा कि '**कालस्य कारणं राजा राजा वा कालकारणम्। इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम्॥**' कालका कारण राजा है, या राजाका कारण काल है, इस विषयमें संशय नहीं करना चाहिये। राजा ही कालका कारण है। रामावतार त्रेताके अन्तमें हुआ, पर श्रीरामचन्द्रके सिंहासनारूढ़ होते ही समयने पलटा खाया। त्रेतामें सब बातें सत्ययुग-सी हो गयीं। त्रेतामें तीन चरणोंसे धर्म रहता है, सो रामराज्यमें चारों चरणसे रहने लगा। यथा—*'चारिउ चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं॥'* और जब पाप नहीं तब दुःख कहाँ। पापसे केवल पापीकी ही हानि नहीं होती, वातावरण दूषित हो जाता है, जिससे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं।

टिप्पणी—३ *'प्रगटी गिरिन्ह बिबिध मनि खानी'* इति। (क) *'प्रगटी'* का भाव कि और राजाओंके राज्यमें पहाड़ोंमें मणियाँ गुप्त रहती हैं, पर रामराज्यमें प्रकट हो गयीं। प्रकट होनेका कारण दूसरे चरणमें देते हैं कि *'जगदातमा भूप·········।'* अर्थात् प्राकृत राजाओंसे दुराव हो सकता है, पर जगत्‌की आत्मासे दुराव नहीं हो सकता, यह समझकर स्वयं प्रकट हो गयीं। (ख) *'गिरिन्ह'* बहुवचन पद देकर सूचित किया कि सब पहाड़ोंमें मणियाँ प्रकट हो गयीं। [*'बिबिध मनि खानी'*—जैसे कि माणिक्य, नीलम, पोखराज, हीरा, पीरोजा आदि। प्रत्येक सभी वर्णके होते थे, एक-एक मणिमें सभी रंग झलकते थे और पृथक्-

पृथक् रंगके भी मणि थे तथा सब ग्रह और उपग्रहवाले मणियोंकी खानें प्रकट हुईं। (रा० प्र०)] (ग)—'*जगदातमा भूप जग जानी*' इति। जगत्‌का आत्मा जो गुप्त रहा वह भूप हुआ अर्थात् प्रकट होकर पृथ्वीपति हुआ। वैसा ही काम विविध प्रकारकी मणियोंने किया कि गुप्त थीं, पर उस भूपतिके बरतनेके लिये प्रकट हो गयीं। जब परमात्मा गुप्त (अव्यक्त) रहा तब मणियाँ गुप्त रहीं। जब वह देहधारी होकर प्रकट हुआ तब विविध प्रकारके मणि भी उसके धारण करनेके लिये प्रकट हुए। ['*जगदातमा भूप जिय जानी*' दीपदेहली न्यायसे आगे और पीछे दोनोंसे सम्बन्ध रखता है। जगत्-मात्र यह जानता है कि हमारी आत्माने ही भूपरूप धारण किया है, इसीसे सब जगत् समृद्धपूर्ण भावसे मत्त हो रहा है। यथा—'**स्वामिनं प्राप्तमालोक्य मत्तां वा सुतरामिह॥**' (भा० ९। ११। २६)]

टिप्पणी—४ '*सरिता सकल बहहिं बर बारी*.........' इति। (क) प्रथम पहाड़ोंका वर्णन करके तब नदियोंका वर्णन करते हैं क्योंकि नदीकी उत्पत्ति पहाड़से होती है। (ख) '*बर बारी*' कहकर दूसरे चरणमें जलकी श्रेष्ठता बताते हैं कि शीतल, निर्मल इत्यादि है। (ग) '*सीतल अमल स्वाद सुखकारी*' इति। नदियोंका जल सदा शीतल नहीं रहता; पर रामराज्यमें सब नदियोंका जल शीतल रहता है। नदियाँ करार काटकर चलती हैं इसीसे उनका जल मलिन हो जाता है; पर रामराज्यमें सदा निर्मल रहता है। सब नदियोंका जल स्वादिष्ट नहीं होता और बहुतोंका सुखकारी नहीं है, अर्थात् उनका जल पीनेसे ज्वरादि रोग उत्पन्न होते हैं; पर रामराज्यमें सभीका जल स्वादिष्ट और सुखद है।

नोट—१ जलमें ये तीनों गुण होनेसे ही उसकी श्रेष्ठता है, यथा—'*सीतल अमल मधुर जल जलज बिपुल बहु रंग॥*' (५६) (यह नीलगिरि भुशुण्डिवास स्थानके सरके सम्बन्धमें कहा है), '*भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना॥*' (१। ३६। ९) (यह मानसरोवरके सम्बन्धमें कहा है)। इनके भाव वहाँ भी देखियेगा।

२—इस दोहेभरका भाव भा० ९। १० में संक्षेपसे इस प्रकार वर्णित है—'**त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत्। रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूतसुखावहे॥ वनानि नद्यो गिरयो वर्षाणि द्वीपसिन्धवः। सर्वे कामदुघा आसन्प्रजानां भरतर्षभ॥**' (५१-५३) अर्थात् सब प्राणियोंको सुख देनेवाले राजधर्ममें निपुण श्रीरामचन्द्रजीका राज होनेपर त्रेतायुगमें भी सत्ययुगके समान उत्तम समय हो गया। नदी, नद, समुद्र, पर्वत, वन, द्वीप और खण्ड सभी प्रजाको चितचाही वस्तु देकर प्रसन्न करने लगे। (भगवान् रामचन्द्रके राज्यमें आधि-व्याधि, बुढ़ापा, शोक, दुःख, भय, ग्लानि अथवा क्लान्ति किसी प्रकारका कष्ट नहीं रहा॥ ५४॥) इससे जनाया कि यह सब सत्ययुगका धर्म है।

रा० प्र०—'*सुखकारी*' का भाव कि इतना शीतल न होता था कि स्नान-पानमें दुःखद हो।—(सब अवस्थावालोंके लिये उनके स्वभाव, शरीर और अवस्था आदिके अनुकूल जल मिलता था। जल एक ही था; पर सबकी रुचिके अनुसार अनुकूल होता था अतः सबको सुखकारी होता था।—यह भी जनाया।)

नोट—☞ पृथ्वीके प्रधान विभाग आबादी, खेत, वन और पर्वत हैं। सो पुरीकी रुचिरता पहले ही कह आये, यहाँ वन आदि अन्य विभागोंकी शोभा कही।—यह पृथ्वीतत्त्वकी अनुकूलता दिखायी।

सागर निज मरजादा रहहीं। डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं॥ ९॥
सरसिज संकुल सकल तड़ागा। अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा॥ १०॥

अर्थ—समुद्र अपनी मर्यादा (हद) में रहते हैं (अर्थात् उपद्रव नहीं करते वरन् लोगोंका उपकार करते हैं कि) किनारेपर रत्न डाल देते हैं और मनुष्य उन्हें पाते हैं॥ ९॥ सब तालाब कमलोंसे परिपूर्ण हैं। दसों दिशाएँ पृथक्-पृथक् अपने-अपने भागमें अति प्रसन्न (निर्मल) हैं॥ १०॥

टिप्पणी—१ ☞ नदीका वर्णन करके अब नदियोंके पति समुद्रका वर्णन करते हैं। नदीके जलको '*सीतल अमल स्वाद सुखकारी*' कहा। समुद्रके जलको ये कोई विशेषण न दिये क्योंकि सब समुद्रोंका जल '*सीतल अमल स्वाद सुखकारी*' नहीं है। समुद्रकी शोभा रत्न डालनेकी है, वह शोभा यहाँ कही।

२ ☞ यहाँ जल और थल दोनोंसे मनुष्योंको रत्नकी प्राप्ति कही। *'डारहिं'* से सूचित किया कि अपने भीतरसे निकालकर लहरोंद्वारा तटपर डालते हैं। सब तालाबोंमें कमल नहीं होते पर रामराज्यमें सबमें कमल खिले रहते हैं।—(जलके मुख्य तीन आशय हैं—सरिता, सागर और सर। वह तीनों यहाँतक कहे। यह सब जल-तत्त्वकी अनुकूलता प्रकट करता है।)

रा० प्र० १—*'निज मरजादा रहहीं।'* भाव कि किसी नगरको जलमें डुबा लें, या और कोई परिवर्तन करें जो विघ्नरूप हो, ऐसा नहीं करते। [समुद्रके मर्यादा-त्यागसे कभी-कभी द्वीप-के-द्वीप उसके गर्भमें चले जाते हैं। पाँच हजार वर्ष हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके गोलोकयात्राके बाद ही द्वारका-द्वीप जिसमें छप्पन कोटि यादव रहते थे, समुद्रके गर्भमें चला गया, और भी ऐसी घटनाएँ हुई हैं, जिनका पता इतिहाससे लगता है। सरकारने दस सहस्र वर्षसे अधिक राज्य किया, पर ऐसी घटना पृथ्वीमण्डलभरमें नहीं हो पायी। इतना ही नहीं जिस भाँति पर्वतोंने मणिकी खानें प्रकट कीं उसी भाँति समुद्रोंने भी स्वगर्भस्थित रत्नोंको बाहर डाल दिया। भाव यह कि धर्मराज्य होनेसे प्रकृति भगवती दयामयी हो गयी। (वि० त्रि०)]

२—*'डारहिं' 'नर लहहीं'* का भाव कि समुद्रसे रत्न निकालनेमें बड़ा परिश्रम होता है। बड़े-बड़े गोताखोर युक्तिसे भीतर पैठकर मोती निकालते हैं, पर रामराज्यमें समुद्र स्वयं तरङ्गोंद्वारा बाहर डाल देते हैं, लोग अनायास पा जाते हैं। [पुनः *'डारहिं'* का भाव कि सागर नदीपति है, जलका राजा है। वह चक्रवर्ती महाराजको रत्नरूपमें कर देता है, रामजी उससे कर नहीं चाहते पर वह डाल ही देते हैं। (रा० शं० श०)]

३—*'अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा।'* भाव कि दिशाके दसों विभाग अति प्रसन्न हैं, अर्थात् दुःखद दिग्दाहादि उत्पातोंसे वर्जित हैं।

दो०—बिधु महि पूर मयूषन्हि रबि तप जेतनहि काज।
माँगे बारिद देहिं जल रामचंद्र के राज॥ २३॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके राज्यमें चन्द्रमा अपनी किरणोंसे पृथ्वीको पूरित करते हैं (अर्थात् किरणें सर्वत्र फैलाकर अमृतसे कृषि आदिको पुष्ट करते हैं) और सूर्य उतना ही तप्त होते हैं जितनेका काम है (जितनेमें खेती पके उतना ही तपते हैं)। मेघ माँगनेसे जल देते हैं॥ २३॥

टिप्पणी—१ *'रामचंद्र के राज'* इति। चदि-धातुका अर्थ आह्लाद है। **'चंद्र'** शब्द **'चदि आह्लादने'** धातुसे निष्पन्न होता है। यहाँ *'रामचंद्र'* पद देनेका भाव कि उनके राज्यमें आह्लाद है। अर्थात् सब लोग आनन्दमें हैं, जैसा सुख इसमें है ऐसा किसी दूसरे राजाके राज्यमें होना असम्भव है। २ ☞ इस दोहेमें गोस्वामीजीने रामराज्यमें पाँचों तत्त्वोंका सदा अनुकूल रहना दिखाया है—

१ पृथ्वी—*'ससि सम्पन्न सदा रह धरनी'* ३ पावक—*'रबि तप जेतनहि काज'*

२ जल—*'सरिता सकल बहहिं बर बारी'* ४ पवन—*'सीतल सुरभि पवन बह मंदा'*

५ आकाश—*'अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा।'*

नोट—जगत्‌के हितके लिये सूर्य, चन्द्र और जलद तीनों आवश्यक हैं—*'जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन।'* (१। २०। ६) *'होइ जलद जग जीवन दाता।'* (१। ७। १२) इनके बिना फल-फूल खेती इत्यादि भी नहीं हो सकती—*'भूसुर ससि नवबृंद बलाहक।'* अतः वनादिकी शोभा कहकर इनको कहा।

* परिवारसहित प्रभुका आदर्श व्यवहार *

कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हे। दान अनेक द्विजन्ह कहँ दीन्हे॥ १॥
श्रुतिपथ पालक धर्मधुरंधर। गुनातीत अरु भोग पुरंदर॥ २॥
पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभाखानि सुसील बिनीता॥ ३॥
जानति कृपासिंधु प्रभुताई। सेवति चरन कमल मन लाई॥ ४॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने अगणित अश्वमेध यज्ञ किये और ब्राह्मणोंको अनेक दान दिये॥ १॥ वे वेदमार्गके पालनेवाले धर्मरूपी धुराके धारण करनेवाले, सत्त्व, रज और तम तीनों गुणोंसे परे और भोगमें इन्द्र हैं॥ २॥ श्रीसीताजी सदैव पतिके अनुकूल रहती हैं। वे शोभाकी खानि, सुशीला और विनम्र हैं॥ ३॥ वे दयासागर श्रीरामजीकी प्रभुता जानती हैं और (प्रभुता समझकर) मन लगाकर चरणकमलोंकी सेवा करती हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हे·········।'* इति। (क)—प्रथम लङ्काकी लड़ाईका वर्णन किया इसीसे अब यज्ञका वर्णन करते हैं, जैसे राजा लोग युद्ध करके फिर यज्ञ करते हैं (ख)—*'कोटि'* शब्द बहुतका वाचक है अर्थात् बहुत यज्ञ किये, यथा—*'कहि कहि कोटिक कपट कहानी। धीरज धरहु प्रबोधिसि रानी॥'* (२। २०। ३) मन्थरा रात्रिभरमें करोड़ों कहानियाँ न कह सकती थी। पुनः, यथा—*'कहि कहि कोटिक कथा प्रसंगा। राम बिलोकहिं गंग तरंगा॥'* (२। ८७। ५) इत्यादि। अथवा *'प्रभु'* शब्द देकर ग्रन्थकार स्वयं ही *'कोटिन्ह यज्ञ'* का समाधान कर देते हैं। श्रीरामजी प्रभु अर्थात् समर्थ हैं, वे करोड़ों यज्ञ कर सकते हैं क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है—'**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः प्रभुः।**' (ग) बिना ब्राह्मणोंको दान दिये यज्ञ पूरा नहीं होता। अतः यज्ञ करके दान देना कहा।

वि० त्रि०—अश्वमेध करनेमें केवल एक वर्ष तो घोड़ेके घूमनेमें लगता है, अतः एक अश्वमेध करनेमें कम-से-कम एक वर्षका काल अपेक्षित है, और सरकारने केवल ग्यारह सहस्र वर्षतक राज्य किया, अतः कोटिसंख्यक अश्वमेधका करना कैसे बनता है? यह शङ्का खड़ी हो जाती है। उत्तर यही है कि निरुक्तमें स्पष्ट कर दिया गया है कि शत, सहस्र, लक्ष शब्द बहुवचनवाची है। अतः इसका अर्थ इतना ही है कि बहुत-से अश्वमेध यज्ञ किये। परंतु यदि किसीको कोटि संख्यापर ही आग्रह हो, तो यह उत्तर है कि एक अश्वमेध करके यदि दक्षिणा अनेक गुणित करके दे दी जाय तो अनेक अश्वमेधका फल होता है, जिस भाँति महाराज युधिष्ठिरने एक अश्वमेध यज्ञ करके तिगुणी दक्षिणा देकर तीन अश्वमेधके फलोंको प्राप्त किया।

पाण्डेजीका मत यह भी है कि कोटिन्हसे भाँति-भाँतिके यज्ञ सूचित किये। परंतु यहाँ वाजिमेध स्पष्ट कहा है; उससे अन्य यज्ञका अर्थ नहीं लिया जा सकता।

मा० म०—*'कोटिन्ह बाजिमेध'* का भाव यह है कि—(क) श्रीरामचन्द्रजीने यज्ञ करनेके लिये राजाओंसे कर लेना छोड़ दिया, उसीसे सब राजा लोग यज्ञ करने लगे। इस प्रकार करोड़ों अश्वमेध पूरे हुए। अथवा, (ख)—कुछ कर छोड़ दिया और अगणित 'दिन पड़े' (?), अतएव अनेकों यज्ञ हो गये।

करु०—एक-एक अश्वमेधमें जितने पदार्थ खर्च होते हैं उनको कोटि विधानसे ब्राह्मणोंको दिया, इस प्रकार कोटि यज्ञ हुए। वा, सप्तद्वीपके राजाओंसे ११००० वर्ष यज्ञ कराये।

पं०—महाभारतादिने दस अश्वमेधोंका होना कहा है और कहीं-कहीं एक्कीस कहे गये हैं, यह तो कल्पान्तरभेदसे हो सकता है, पर दस सहस्रवर्षमें कोटि यज्ञ कैसे सम्भव हैं? इसका समाधान गोस्वामीजीने *'प्रभु'* पदसे कर दिया है।—(और भी कई समाधान लिखे हैं जो विशेष सङ्गत नहीं हैं)।

नोट—१ 'यज्ञमें देवपूजन होता है। श्रीरामचन्द्रजी स्वयं परब्रह्म हैं, तब इन्होंने किस देवताका पूजन किया?' कुछ लोगोंने यह शङ्का की है। इसका समाधान यह है कि प्रजाको एवं लोकमात्रको सदाचारकी शिक्षा देनेके लिये प्रभु स्वयं वेदपथका अनुसरण करते हैं। भगवान्‌ने कहा भी है कि जिस पथपर महत्पुरुष चलते हैं उसीपर सब चलते हैं, इसलिये हम जैसा करेंगे वैसा ही प्रजा करेगी। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है कि 'श्रेष्ठ पुरुष जैसा करते हैं, संसार भी वैसा ही आचरण करता है। यदि मैं सजग होकर कर्मोंको न करूँ तो वे भी कर्मोंको छोड़ देंगे जिससे वे नष्ट हो जायँगे। अतः ज्ञानी पुरुषोंको भी अनासक्त होकर केवल लोक-संग्रहार्थ कर्म करना ही चाहिये। यथा—'**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।** (गीता ३। २१)·········**यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।** (२३)·········**कुर्या-द्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।**' (२५) श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि आपका अवतार केवल राक्षस-वधके

लिये नहीं होता, यथा—'**मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।**' (५।१९।५) '**यद्यदाचरति श्रेष्ठो लोकस्तदनुवर्तते।**' दूसरा समाधान श्रीशुकदेवजीकृत यह है कि सर्वदेवमय परमदेव भगवान्‌ने याग-यज्ञोंद्वारा आचार्यकी बतायी विधिसे अपना ही पूजन किया।—'**भगवानात्मनाऽऽत्मानं राम उत्तमकल्पकैः। सर्वदेवमयं देवमीज आचार्यवान्मखैः॥**' (भा० ९। ११। १) (श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि महात्मा तथा आचार्य विभूतिमय श्रीरामचन्द्रजी उत्तम कल्पके यज्ञोंद्वारा सर्वदेवमय और प्रकाशमान निजस्वरूपका ही यजन करने लगे। तीसरे, भगवान्‌का माधुर्यमें गुरु, मुनि इत्यादिकी पूजा करना मानससे ही स्पष्ट है।

२—'*दान अनेक द्विजन्ह कहँ दीन्हे*' इति। महर्षियोंने अनेक प्रकारसे कहा है, किसीने कुछ किसीने कुछ। अतः ग्रन्थकारने कोई 'विधि' न कहकर '*दान अनेक*' पद दिया, जिसमें सब मतोंका समावेश है। श्रीमद्भागवत ९। ११ में कहा है कि यज्ञके अन्तमें 'होता' को पूर्व दिशा, 'ब्रह्मा' को दक्षिण दिशा, 'अध्वर्यु' को पश्चिम दिशा एवं 'उद्गाता' को उत्तर दिशा दक्षिणामें दे दी। इन दिशाओंके बीचमें जो पृथ्वी बची वह ब्राह्मणोंके योग्य समझ सब आचार्यको दे दी। आपके पास केवल वह रह गया जो शरीरपर वस्त्र-भूषण था। शेष सब दान दे दिया। ब्राह्मणोंने उनका वात्सल्य देख ब्रह्मण्यदेव रामजीको ही वह सब सौंप दी कि आप हमारी ओरसे प्रजापालन कीजिये (श्लोक २—७)।

टिप्पणी—२ '*श्रुतिपथ पालक धर्मधुरंधर।*……' इति। श्रुतिपथपालक हैं अर्थात् वेदमार्गका पालन करते हैं, वेदोक्त नीतिपर चलते हैं। धर्मधुरन्धर हैं, अनेक धर्म करते हैं जैसे कि यज्ञ, विप्रोंको दान, कन्यादान, बन्ध, बावली, कुआँ, तालाब, देवस्थल, देवताओंकी स्थापना इत्यादि। '*गुनातीत*' का भाव कि जब निर्गुण हैं तब गुणोंसे भिन्न हैं, कुछ भोग नहीं करते। (पुनः भाव कि सत्त्व-रज-तम गुणोंसे परे हैं।) '*भोग पुरंदर*' अर्थात् जब सगुण हैं तब इन्द्रका-सा भोग करते हैं। इन्द्रने सौ यज्ञ किये, रामजीने '*कोटिन्ह*' किये।

३ '*पति अनुकूल सदा रह सीता*……' इति। (क)—श्रीरामजीके गुण प्रथम बखानकर अब श्रीसीताजीके गुण कहते हैं। स्त्रीका प्रधान गुण पातिव्रत्य धर्म है, वही गुण प्रथम कहा। (ख) '*सोभाखानि सुसील बिनीता*' इति। भाव कि शोभाखानि होनेपर भी शोभाका अभिमान छोड़कर सुन्दर स्वभाव और विनम्रभावसे श्रीरामजीकी सेवा करती हैं। अथवा, श्रीजानकीजी पातिव्रत्य धर्मसे, शोभासे, सुन्दर शीलसे और विशेष नम्रतासे शोभित हैं।

मिलान कीजिये—'**प्रेम्णाऽनुवृत्त्या शीलेन प्रश्रयावनता सती। धिया ह्रिया च भावज्ञा भर्तुः सीताहरन्मनः॥**' (भा० ९। १०। ५६) अर्थात् भावको जाननेवाली श्रीसीतादेवी, विनयावनत भाव, प्रणय, अनुसरण, सुशीलता, भय एवं लज्जाद्वारा अपने स्वामीको सदैव प्रसन्न रखती थीं।

रा० शं०—'*अनुकूल*' पदसे यह भी दरसाया कि जो धर्मसम्बन्धी विशेषण रामजीमें हैं, वे सब इनमें भी हैं और जो शोभा-शीलादि इनमें हैं, वे रामजीमें भी हैं। यथा—'*बाम भाग सोभति अनुकूला।*'

टिप्पणी—'*जानति कृपासिंधु*……' इति। (क) '*कृपासिंधु प्रभुताई*' का भाव कि वे दयासागर हैं, जनका अपराध नहीं देखते, तथापि सेवा करती हैं। (ख) चरणकमलका भाव कि लक्ष्मी कमलमें रहती हैं, श्रीजानकीजी पदकमलको सदा सेवती हैं।

जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। बिपुल सकल सेवा बिधि गुनी॥५॥
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र आएसु अनुसरई॥६॥
जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ॥७॥

अर्थ—यद्यपि घरमें बहुत सेवक और सेवकिनियाँ हैं जो सेवा करनेकी विधिमें गुणवान् (निपुण) हैं, तथापि (अपने स्वामीकी सेवा जानकर) घरकी सब टहल वे अपने हाथों करती हैं और श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञाका प्रतिपालन करती हैं॥ ५-६॥ जिस प्रकारसे दयासागर सुख मानते हैं, श्रीजी वही करती हैं। वे सेवाकी विधि जानती हैं॥ ७॥

टिप्पणी—१ *'बिपुल सकल सेवा बिधि गुनी।'* सम्भव है कि लोग कहें कि सेवक-सेवकिनियाँ कम होंगी अथवा बहुत भी हों पर उनसे सेवा न बनती होगी इसीपर कहते हैं कि ऐसा नहीं है, सेवक भी बहुत हैं और वे सेवामें निपुण भी हैं। २—*'निज कर गृह परिचरजा करई।.........'* से सूचित किया कि गृहकार्य स्त्रीको अपने हाथ अवश्य करना चाहिये। इसे पतिकी सेवा समझकर करना चाहिये। [पाराशरस्मृतिमें ऐसा ही कहा है—**'दासीवादिष्टकार्येषु भार्या भर्तुः सदा भवेत्। ततोऽन्नसाधनं कृत्वा पतये विनिवेद्य तत्॥'** अर्थात् पतिके कहे कार्योंमें पत्नी सदैव दासीके समान रहे और अन्नका उत्तम स्वादिष्ट पाक बनाकर पतिको भोजनके लिये निवेदन करे। (वि० टी०)]

'कृपासिंधु सुख मानइ' का भाव कि यद्यपि श्रीसीताजी सब विधिसे सेवा करती हैं तथापि यह नहीं समझतीं कि श्रीरघुनाथजीको हमारी सेवासे सुख होता है, वरन् समझती हैं कि वे अपनी कृपासे मुझपर कृपा करके सुख मानते हैं। पुनः, दूसरा भाव कि श्रीजानकीजी सब विधिसे सेवा करती हैं और रामजी उनपर कृपालु रहते हैं। सेवा मार्जनादिका ही नाम नहीं है। स्वामीकी प्रसन्नता करना *'सेवा'* है—*'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा', 'जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुनासागर कीजिअ सोई॥'* (पं०) ☞ यहाँ उपदेश है कि घरमें चाहे जितना ऐश्वर्य सेवकादि क्यों न हों पर भगवान्का कैंकर्य अपने ही हाथ करना चाहिये। (करु०) [गौड़जी अर्थ करते हैं कि 'वही करना सीताजी सेवाकी विधि जानती हैं।' भाव कि सेवाकी विधि यही है कि वही करे।]

वै०—*'जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ।.........'* अर्थात् प्रभु तो उनको एक क्षण अलग होने नहीं देते, उनके संयोगमें ही सुख मानते हैं अतएव ऐसा जानकर वे प्रभुके संग ही अपनी भी सेवा सखियोंसे कराती हैं। आज्ञापालन सर्वस्व सेवा है। 'एकपत्नीव्रत अनुकूल नायक पतिव्रता स्वकीया नायका ऐसी उत्तमता रीतिसे परस्पर स्नेह' लोकोंमें और कहीं नहीं है, यथा—**'दाम्पत्यं नैव लोकेऽस्मिन् विद्यते नैव लभ्यते। अलौकिकं तु दाम्पत्यं विद्यते रामसीतयोः।'** (सत्योपाख्यान)

रा० प्र०—कृपासिन्धुका ऐश्वर्य-माधुर्य सब भाव जानती हैं। *'प्रीति अलौकिक राम सिया की। तौ को सीतासत्ता अतिरिक्त सेय सकै।'* कर्त्ता-भोक्ता-चेतन सीतारामजीके सिवा और कौन है? जो दास-दासी इन्द्रियादिरीतिसे चैतन्य हो इनकी प्रेरणासे सेवा करते हैं वह तो स्वामिनीहीकी की हुई है, स्थूल दृष्टिमें पृथक् भी देख पड़ती है, इस लीलाको रामजी ही जानते हैं,—*'सिय महिमा रघुनायक जानी।'*

नोट—यहाँ 'श्री' ऐश्वर्यद्योतक नाम दिया; क्योंकि इस दोहेमें दिखाते हैं कि इनका ऐश्वर्य कैसा है तब भी वे सेवा करती हैं।

कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं॥ ८॥
उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदंबा संततमनिंदिता॥ ९॥

दो०—जासु कृपाकटाच्छ सुर चाहत चितव न सोइ।
रामपदारबिंदु रति करति सुभावहि खोइ॥ २४॥

अर्थ—श्रीसीताजी कौसल्यादि सब सासुओंकी सेवा घरमें करती हैं। उनको अभिमान (रूपादिका) और मद (राज्यादिकका) नहीं है॥ ८॥ उमा, रमा, ब्रह्माणी आदि (शक्तियों) तथा ब्रह्मा-विष्णु-महेशादि सभी देवताओंके द्वारा वन्दित हैं, एवं हे उमा! रमा (जानकी) जी ब्रह्मादि देवताओंसे वन्दित हैं, जगत्-माता (अर्थात् निरन्तर माननीय) हैं, सदैव अनिन्दित हैं॥ ९॥ जिन श्रीजानकीजीकी कृपाकटाक्षका चितवन (दृष्टि) देवता चाहते हैं पर जो उनकी ओर नहीं ताकतीं, वे ही अपना (इस बड़ाईका) स्वभाव छोड़कर श्रीरामजीके चरणकमलोंमें प्रेम करती हैं॥ २४॥

टिप्पणी—१ *'सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं।'* भाव कि समान भावसे सबकी सेवा यह समझकर करती हैं कि इन्हींसे मुझे श्रीरामजीकी प्राप्ति हुई। कौसल्यादि साधन हैं, श्रीरामजी सिद्ध फल हैं, इसीसे

गोसाईंजीने दोनोंकी सेवा वर्णन की है।—[*'मान मद नाहीं'* का भाव कि किंचित् ऐश्वर्यसे ये (मानमद) उत्पन्न हो जाते हैं, पर इनको इतनेपर भी नहीं है।]

२—*'संततमनिंदिता'* का भाव कि पुरवासियोंके निन्दा करनेसे वाल्मीकि-आश्रममें गयीं, यह हम क्यों कहें; क्योंकि ये निन्दाके योग्य नहीं हैं। इसीसे हमने यहाँ इसका वर्णन नहीं किया है।

गौड़जी—*'कथाप्रबंध बिचित्र बनाई'* के अनुसार यहाँ एक पक्षमें तो क्षीरसागर-निवासिनी वैकुण्ठ-विलासिनी रमाकी वन्दना है और दूसरे पक्षमें साकेतलोकविहारिणी परतमा सीता-रमाकी वन्दना है। पहले पक्षमें अर्थ लेनेसे अन्वय इस प्रकार होगा—'हे उमा! रमा ब्रह्मा आदिद्वारा वन्दिता जगदम्बा सन्तत अनिन्दिता हैं।' भाव कि भगवान् शङ्करजी उमासे कहते हैं कि श्रीसीताजी मेरे और ब्रह्मादिद्वारा वन्दिता और पूजिता हैं, जगत्‌की माता हैं और तीनों कालोंमें वे अनिन्दिता हैं, उनका कोई चरित ऐसा नहीं है जिसकी निन्दा की जा सके। यहाँ ध्वनिसे यह बताया है कि दस हजार वर्ष राज्य करनेके उपरान्त धोबीने जो निन्दा की थी वह झूठी निन्दा थी, सीताजी सर्वथा पवित्र और कलुषहीना थीं। *'संतत'* का अर्थ है 'निरन्तर' 'तीनों काल।' अर्थात् तीनों कालोंमें सीताजीपर किसी प्रकारका दोष नहीं लग सकता।

दूसरे पक्षमें अर्थ लेनेसे अन्वय यों होगा—'उमा, रमा, ब्रह्मादिद्वारा वन्दिता जगदम्बा सन्तत अनिन्दिता (हैं)। अर्थात् उमा, रमा, ब्रह्माणी आदिद्वारा वन्दिता और पूजिता हैं और जगदम्बा अर्थात् *'आदि सक्ति जेहि जग उपजाया'* हैं और सतत अनिन्दिता हैं अर्थात् प्रभुसे जिनका कभी वियोग नहीं हुआ है, न तो १४ वर्षके वनवासमें जब कि केवल मायाकृत प्रतिबिम्बका हरण हुआ था। और न राज्यारोहणके बाद कभी विछोह हुआ था। परतम और परतमाके अवतारमें धोबीके उपालम्भतककी कथा नहीं आयी है और सीताजीका वनवास भी नहीं हुआ है। जहाँ और अवतारोंमें एक अश्वमेधकी कथा है जिसके प्रसङ्गमें लवकुशसे युद्धका वर्णन है वहाँ इस परमावतारकी कथामें *'कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हें'* अर्थात् कोड़ियों वा अनेक अश्वमेध प्रभुने किये। जिनमें किसी राजाकी यह हिम्मत न पड़ी कि घोड़ेको रोके और युद्धकी नौबत आवे। रावणने जब त्रैलोक्य-विजय कर रखा था तब एक रावणपर ही विजय पाना त्रैलोक्य-विजयसे अधिक है। इसके सिवा सबसे बड़ी विजय उनका धर्मराज्य है जिसके प्रभावसे बचे-खुचे अधर्मी राजा भी धर्मात्मा हो गये फिर वह व्यर्थका युद्ध छेड़नेकी मूर्खता क्यों करने लगे। यही बात है कि उत्तरकाण्डमें मानसकारने सीता वनवासादि की कथाएँ नहीं दी हैं। और अनिन्दिता शब्द कहकर यह सूचना दी कि और अवतारोंकी तरह इसमें जगदम्बाकी निन्दा नहीं हुई है, अतः वनवास भी नहीं हुआ है।

'ब्रह्म' भी प्रकृति और ब्रह्माणीका नाम है, इसलिये ब्रह्मका अर्थ है ब्रह्माणी आदि। यदि ब्रह्मादिका अर्थ ब्रह्मादिक देवता लें तो *'उमा रमा'* कहनेसे शिव और विष्णुका बोध होते हुए ब्रह्मादिसे शक्तिसहित ब्रह्मा आदिक देवताओंका बोध होता है।—[*'उमा रमा ब्रह्मादि'*=उमा रमा आदि ब्रह्मा आदि। आदिका अन्वय दोनोंमें है।]

नोट—१ *'ब्रह्मादि बंदिता जगदंबा'* आदि विशेषणोंके और भाव कोई यह कहते हैं—ब्रह्मादिवन्दिता हैं अर्थात् ब्रह्मादि देवताओंकी प्रार्थनासे अवतार लेकर लीलाका विस्तार किया है। अनिन्दितासे सूचित किया कि पुरवासियोंने निन्दा की, इसीसे वाल्मीकि-आश्रममें गयीं। जगदम्बा कहकर लवकुशके जन्म सूचित किये और देवताओंकी ओर न देखनेसे, (*'सुर चाहत चितव न सोइ'*) अयोध्याजीका त्याग सूचित किया। यथा—*'लोकप होहिं बिलोकत जासू॥'* (२। १४०। ८) *'लोकप होहिं बिलोकत तोरे॥'* (२। १०३। ६) *'रामपदारबिंद रति करति'* से सूचित किया कि त्याग करनेपर भी श्रीरामपदारविन्दमें प्रीति है, यथा—*'पियचरित सियचित चितेरी लिखत निज हित भीति॥'* (गी० ७। ३५) **'ध्यायन्तीं रामचरणं विवरप्रवेशः'** इति (भागवत)। ☞ये सब बातें अभिप्रायसे गुसाईंजी सूचित करते हैं; क्योंकि इसी स्थलमें लव-कुशके जन्मकी कथा कहनी चाहिये थी वह उन्होंने स्पष्ट न लिखी, केवल अभिप्रायसे उसे सूचित कर दिया है।

पं० रा० व० श०—*'जासु कृपाकटाच्छ सुर चाहत.........।'* ब्रह्मादिकने कितना तप किया पर वे भगवान्‌में अनुरक्त हैं, इनकी ओर भी नहीं देखतीं। यथा—**'ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्षकामास्तपः समचरन्**

भगवत्प्रपन्नाः। सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता॥' (भा० १। १६। ३२) (पृथ्वीदेवीने धर्मसे ये वचन कहे हैं—जिनकी कृपाकटाक्ष प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मादिक देवताओंने भगवत्परायण होकर बहुत दिनोंतक तपस्या की थी वे 'श्री' जी भी अपने निवास-स्थान कमलवनको छोड़कर अति प्रेमपूर्वक जिनके चरणलावण्यका सेवन करती हैं।)

वि० त्रि०—देवतालोग कृपाकटाक्ष चाहा करते हैं, यदि भगवती आँख उठाकर देख दें तो लोकपाल हो जायँ, पर वे देखतीतक नहीं। उनकी दृष्टि तो सदा सरकारपर रहती है, यथा—'**सीतां पार्श्वगतां सरोरुहकरो विद्युन्निभां राघवं पश्यन्तीम्**' इत्यादि। भगवती साक्षात् श्री हैं, कहीं स्थिर नहीं रहतीं, पर अपने स्वभावको छोड़कर सरकारके चरणोंमें सदा स्थिर रहती हैं, यथा—'***यद्यपि परम चपल श्री संतत थिर न रहति कतहूँ। हरि पदपंकज पाइ अचल भइ करम बचन मनहूँ॥***'

नोट—२ '***सुभावहिं खोइ***' अर्थात् अपने इस ऐश्वर्यको छिपाकर। जैसे प्रभु अपना ऐश्वर्य छिपाये माधुर्यमें राजकुमार बने हैं, वैसे ही ये राजकुमारी बनीं पत्नीधर्मसे प्रभुकी सेवामें तत्पर रहती हैं। (वै०) पुनः भाव कि बड़ाईका स्वभाव दुस्त्यज है, पर बड़ाई रामभक्तिकी बाधक है, यथा—'***सुख संपति परिवार बड़ाई।.........ये सब रामभगति के बाधक।***' अतः स्वभावको खोकर प्रीति करती हैं। (पं० रा० कु०)

नोट—☞ ऐसी ऐश्वर्यवती होकर भी पतिके चरणोंमें प्रेम है; कैसा कुछ कि स्वयं पतिकी सेवामें तत्पर रहती हैं। इस तरह जगज्जननी सर्वलोकेश्वरीजी अपने आदर्श आचरणसे जगत्-मात्रको और विशेषतः राजमहिलाओं, रईसोंकी स्त्रियोंको शिक्षा दे रही हैं। देखो, पतिव्रतधर्मके पालनसे श्रीअनसूयाजी, श्रीसावित्रीजी, जलन्धरकी स्त्री वृन्दाजी इत्यादि सती स्त्रियोंका जगत्में कैसा मान है। श्रीसतीजीने तो अपने पतिका अपमान करनेवाले पिता दक्षप्रजापतिकी क्या दुर्गति करायी, सब जानते ही हैं और पतिव्रत यहाँतक निबाहा कि उससे उत्पन्न शरीरको भस्मकर नया शरीर धारण किया।

मा० हं०—स्त्रीशिक्षणके विषयमें '***नारि धर्म पतिदेव न दूजा***' यह गोसाईंजीका संग्रहवाक्य है। उनके सब प्रसङ्गोपात्त वर्णनोंको उसीका भाष्य समझना चाहिये। अनेक स्थानोंके वर्णनोंका मथितार्थ यहाँ दिया जाता है—'घरमें स्त्रीका व्यवहार स्वामिनीके भावनासे कदापि न होना चाहिये। उसे सास, ससुर, गुरुजनकी रुचिको सदैव सम्मानपूर्वक सँभालते हुए उनकी आज्ञाके अनुसार बर्ताव करना चाहिये।

राज-ऐश्वर्यमें रहनेपर भी वह ऐश्वर्य अपने पतिका (ईश्वर या गुरुका) ही समझकर, स्त्रीको सदैव सेवाधर्मको ही स्वीकृत करना चाहिये। घरमें कितने ही प्रेमी, उत्साही और बुद्धिमान् नौकर-चाकर क्यों न हों परन्तु पति-सेवाके लिये उसे केवल उन्हींपर निर्भर न रहना चाहिये। बल्कि हलका काम करनेके लिये भी वह सदैव तत्पर रहे, अपनी बहुओंको उसे '***नयनपलककी नाईं***' प्रेमसे सँभालना चाहिये। देव-ब्राह्मण, गुरु-सन्त, अतिथि-अभ्यागत और दीन-दरिद्रीका सत्कार पतिके अनुमोदनसे, स्त्रीको स्वयं अपना गृहस्त्रियोंद्वारा अधिकारानुसार करते रहना चाहिये।—(अयोध्या और अरण्यकाण्डोंमें भी देखो)।

सेवहिं सानुकूल सब भाई। रामचरन रति अति अधिकाई॥ १॥
प्रभुमुखकमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपाल हमहिं कछु कहहीं॥ २॥
राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती। नाना भाँति सिखावहिं नीती॥ ३॥

अर्थ—सब भाई श्रीरामजीके अनुकूल रहकर उनकी सेवा करते हैं। सबका श्रीरामजीके चरणोंमें अत्यन्त अधिक प्रेम है॥ १॥ वे प्रभुका मुखारविन्द देखते रहते हैं कि दयालु श्रीरामजी हमें कुछ (सेवा करनेको कृपा करके) कहें॥ २॥ श्रीरामचन्द्रजी भाइयोंपर प्रेम करते हैं और अनेक प्रकारसे नीति सिखाते हैं॥ ३॥

पं० रा० व० श०—'***सेवहिं सानुकूल***' और '***रति अति अधिकाई***' से जनाया कि भयसे नहीं, राजा हैं इससे नहीं, वरन् अति अनुराग प्रभुपदमें है इससे सेवा करते हैं। यह कहकर फिर बताते हैं कि कैसी सेवा करते हैं—'***प्रभुमुखकमल बिलोकत रहहीं.........***' इत्यादि। रुख देखते हैं कि सेवा मिले। इससे

यह भी जनाया कि कितनी ही सेवा करें उससे तृप्ति नहीं होती, श्रद्धा बनी ही रहती है कि और मिले। *'अति अधिकाई'* से जनाया कि दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है, इसीसे श्रद्धा भी बढ़ती जाती है।

नोट—१ *'कबहुँ कृपाल हमहिं कछु कहहीं'* यह अभिलाषा सदा रहती है। क्यों? सेवा मिलने और अपनेसे सेवा होनेसे अपना जन्म सफल होगा, शरीर धारण करनेका यही फल है, यथा—*'देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई॥'* (४। २३। ६) यह शिक्षा सुग्रीवने वानर-सुभटोंको दी थी जब सीता-शोधके लिये भेज रहे थे। सेवा पानेसे अपनेको कृतार्थ मानते हैं, यही सेवकका धर्म है—

श्रीहनुमान्‌जी—*'हनुमत जनम सुफल करि माना। चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना॥'* (४। २३। १२)

श्रीअङ्गदजी—*'स्वयं सिद्ध सब काज नाथ मोहि आदर दिएउ। अस बिचारि जुबराज……॥'* (६। १७)

श्रीभरतजी—*'अग्या सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसाद जन पावइ देवा॥'* (२। ३०१)

२ *'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥'* (२। १५। ३) इस भावसे तथा प्रभुता जानते हैं इससे सब भाई श्रीरामजीकी सेवा और उनके चरणोंमें अति प्रेम करते हैं। दूसरी ओर श्रीरामजीका भाव यह है कि *'बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥'* (२। १०। ७) ये हमारे बराबरके हैं, ऐसा ही समझते हैं। छोटे भाई हैं अत: उनपर प्रेम करते हैं और नीति सिखाते हैं—*'बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं।'* नीति सिखाना भी प्रेमका द्योतक है।

☞ जो-जो बातें श्रीसीताजीमें दिखायीं वैसी ही भाइयोंमें दिखाते हैं। दोनों सेवाके लिये रामरुख देखते हैं और श्रीरामजीके अनुकूल रहते हैं। दोनोंकी सेवासे श्रीरामजी उनपर कृपा और प्रेम करते हैं। श्रीसीताजी जगदम्बा, उमा-रमा-ब्रह्मादिवन्दिता होकर भी चरणोंमें प्रीति करती हैं। भाई बराबरवाले होकर भी, प्रभु मानकर सेवा और प्रेम करते हैं।

श्रीजानकीजी		भ्राता
जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ॥	१	*प्रभु मुख कमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपालु हमहिं कछु कहहीं॥*
पति अनुकूल सदा रह सीता	२	*सेवहिं सानुकूल सब भाई*
कृपासिंधु सुख मानइ	३	*राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती*
जानति कृपासिंधु प्रभुताई	४	*प्रभु मुख कमल बिलोकत रहहीं*
जगदंबा………जासु कृपाकटाच्छ………	५	*सेवहिं सानुकूल सब भाई*
रामपदारबिंद रति करति………	६	*रामचरन रति अति अधिकाई*

टिप्पणी—*'राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती……'* इति। (क) भाइयोंकी प्रीति श्रीरामजीमें कहकर अब भाइयोंपर श्रीरामजीका प्रेम कहते हैं अर्थात् स्वामी और सेवकका परस्पर प्रेम यहाँ दिखाते हैं। (ख) *'प्रीति'* कहनेका भाव कि तीनों भाई श्रीरामजीको अपना प्रभु (स्वामी) मानते हैं, पर श्रीरामजी उनको अपना भाई मानते हैं। प्रीति बराबरवालेसे की जाती है, यथा—*'प्रीति बिरोध समान सन करिअ नीति असि आहि।'* (६। २३) अत: प्रीति करना कहकर बराबरका मानना जनाया। (ग) श्रीरामजी प्रथम वसिष्ठजीसे वेद-पुराण सुनकर समझाया करते थे, यथा—*'बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई॥'* (१। २०५) जबसे राज्यसिंहासनासीन हुए तबसे नीति सिखाते हैं।

वै०—१ बन्धु-भावसे प्रीति बढ़ाकर, सखा-भावसे सानुकूल रहकर, दासभावसे सेवा करते हैं। और २—रघुनाथजी उनपर सखा-सेवकभाव-रहित भाई ही जानकर प्रीति करते हैं, इसीसे सेवा-धर्म नहीं सिखाते वरन् राज्यमें साझेदार मानकर राजनीति सिखाते हैं। यह प्रसङ्ग नीति-शिक्षाका अग्निपुराण अध्याय २३६ से २४१ तकमें विस्तारसे है।

हरषित रहहिं नगर के लोगा। करहिं सकल सुरदुर्लभ भोगा॥४॥
अहनिसि बिधिहि मनावत रहहीं। श्रीरघुबीर चरन रति चहहीं॥५॥

दुइ सुत सुंदर सीता जाए। लवकुस बेद पुरानन्ह गाए॥ ६॥
दोउ बिजई बिनई गुनमंदिर। हरिप्रतिबिंब मनहुँ अति सुंदर॥ ७॥
दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे। भए रूप गुन सील घनेरे॥ ८॥

अर्थ—पुरवासी प्रसन्न रहते हैं और देवताओंको भी कठिनतासे प्राप्त होनेवाले भोग भोगते हैं*॥ ४॥ श्रीरघुवीरजीके चरणोंमें प्रेम चाहते हैं इसके लिये वे दिन-रात ब्रह्माजीको मनाते रहते हैं (कि हम भोगासक्त न हों और हमारा प्रेम श्रीरामजीमें बना रहे)। श्रीसीताजीके दो सुन्दर पुत्र लव और कुश हुए जिनकी कथा वेदपुराणोंने विस्तारसे वर्णन की है॥ ५-६॥ दोनों विजयी, विनयी (नम्रता एवं नीतियुक्त) और गुण-धाम हैं, दोनों अत्यन्त सुन्दर हैं मानो भगवान्‌की छाया (प्रतिमूर्ति) ही हैं॥ ७॥ दो-दो पुत्र सब भाइयोंके हुए जो बड़े सुन्दर, गुणवान् और सुशील थे॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'नगर के लोगा।'* जगत्‌के स्त्री-पुरुषोंका सुख वर्णन कर आये—[*'रामराज बैठे त्रैलोका।'* (२०। ७) से *'दंड जतिन्ह कर………।'* (२२) तक]—अब अयोध्यावासियोंका सुख वर्णन करते हैं। इसीसे यहाँ *'नगर के लोगा'* पद दिया। (ख) *'सुरदुर्लभ भोगा'* इति। सुरभोग इन्द्रलोकमें है और सुरदुर्लभभोग ब्रह्मादिलोकोंमें हैं। वे भोग अयोध्यावासियोंको यहीं प्राप्त हैं।—[गीतावलीमें भी कहा है कि *'नाकेस दुरलभ भोग लोग करहिं।'* (गी० उ० १९)† भोग करनेसे विषयवश होनेकी सम्भावना है अतः आगे कहते हैं कि वे अहर्निश विधातासे श्रीरामजीके चरण-पङ्कजमें प्रेमकी प्रार्थना करते रहते हैं; विषयासक्त होते तो ऐसा कदापि न करते। अथवा सुरदुर्लभसे अलौकिक अप्राकृत त्रिपाद विभूतिका भोग सूचित किया। पुनः *'सुरदुर्लभ सुख करि जग माहीं।'* (१५। ४) भी देखिये। वहाँ सत्सङ्गको सुरदुर्लभ सुख कहा है। करुणासिन्धुजी कहते हैं कि देवताका भोग त्रैगुण्यजनित है और अवधवासियोंको परविभूति परमदिव्य, गुणातीत परमानन्द भोग प्राप्त है जो उन (देवों) को प्राप्त नहीं।]

'सीता जाए' का भाव। जो लड़के कन्याके मायकेमें पैदा होते हैं, वे कन्याके नामसे कहे जाते हैं, यह लोकरीति है। श्रीजानकीजी वाल्मीकिजीको पिता और वाल्मीकिजी इनको अपनी कन्या समझते हैं; इसीसे श्रीजानकीजीके नामसे लव-कुशकी प्रसिद्धि कहते हैं। इसी प्रकार जो श्वसुरके यहाँ पैदा होते हैं, वे पिताके नामसे कहे जाते हैं। इसीसे आगे और भाइयोंकी सन्तानोंके विषयमें कहते हैं कि *'दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे।'*

नोट—१ इसपर यह शङ्का की जाती है कि 'यदि श्रीलव-कुशजीका जन्म वाल्मीकिजीके आश्रममें होनेसे माताकी प्रधानता मानी जाय तो *'कौसल्या हितकारी'* और *'कैकयसुता सुमित्रा दोऊ। सुंदर सुत जनमत भइँ ओऊ॥'* से चारों राजकुमारोंका जन्म अवधसे अन्यत्र कहाँ माना जाना चाहिये?' इसपर वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि पुराणों और इतिहासोंसे प्राचीन कालकी प्रथासे विदित होता है कि जिनके माता-पिता दोनों विख्यात होते थे वे दोनोंके नामसे अवगत किये जाते थे, जिनके माता-पिता विख्यात नहीं होते थे वे अपने ही नामसे सम्मानित होते थे और जिनके दोमेंसे एक ही (माता अथवा पिता) विख्यात होते थे वे उसीसे विश्रुत होते थे, दूसरा पक्ष गौण होता था। जैसे अत्रि-अनसूया, वसिष्ठ-अरुन्धती, दशरथ-कौसल्या, कैकेयी-सुमित्रा, वसुदेव-देवकी, नन्द-यशोदा आदि दम्पतीकी समान ख्याति होनेसे ही

---

* 'रामे शासति साकेतपुर्यां सर्वाः प्रजास्तदा। विदधुर्भोगपूगांस्ता दुर्लभांस्त्रिदशैरपि॥' (आ० रा० राज्य० २५। ५३)
'तस्यामेवास्य यामिन्यामन्तर्वत्नी प्रजावती। सुतावसूतसम्पन्नौ कोशदण्डाविवक्षितिः।' (रघुवंश १५। १३)

† 'कोसलपुरी सोहावनि सरि सरजू के तीर। भूपावली मुकुटमनि नृपति जहाँ रघुबीर॥
पुरनरनारि चतुर अति धरमनिपुन रत नीति। सहज सुभाय सकल उर श्रीरघुबरपदप्रीति॥'
छंद—श्रीरामपदजलजात सबके प्रीति अबिरल पावनी। जो चहत सुकसनकादि संभु बिरंचि मुनि मन भावनी।
सबही के सुन्दर मंदिराजिर राउ रंक न लखि परै। नाकेस दुर्लभ भोग लोग करहिं न मन बिषयनि हरै॥' (गी० ७। १९)

उनके अङ्गजोंका नाम कहीं मातृप्रधान और कहीं पितृप्रधान कहा गया है। दशरथ, वाल्मीकि, नहुष, ययाति आदिके माता-पिता दोनों ही अधिक ख्यात नहीं थे, इसलिये इनके माता-पिताकी चर्चा, परम्परा बतानेके अतिरिक्त नहीं-सरीखी है। इक्ष्वाकु, सगर, ककुत्स्थ, रघु, यदु आदि अधिक लोकविश्रुत थे। इनकी पत्नियाँ ख्यात नहीं थीं अत: इनके वंशज-अङ्गज ऐक्ष्वाकु, सागर, काकुत्स्थ, राघव आदि भी कहाते थे, पर राजर्षि अलर्ककी विदुषी माता मदालसा ही अधिक ख्यात थीं इसलिये वे उन्हींके नामसे ख्यात थे। अस्तु, महर्षि वाल्मीकिके आदिकाव्यमें श्रीसीताचरित्र ही प्रधान है, अन्य (रामादिका) चरित्र गौण है। यथा—'**कृत्स्नं रामायणं काव्यं सीतायाश्चरितं महत्।**' उपासकों, रहस्यविदोंकी दृष्टिमें सदैवसे श्रीजूकी ही प्रधानता रहती है, कारण कि ब्रह्मके उपायपूरकत्वगुणका प्राकट्य श्रीजूके रूपमें ही अधिकतर हुआ करता है—'**विशेषज्ञमये भर्तुरभिगम्यत्वसिद्धये। समस्तमङ्गलावाप्त्यै प्रथमं श्रीरिहोदिता॥**' इसीसे भावुकोंने अनुभव करके जाना है कि—'**प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा।**' यही नहीं उनके लीला-चरित्रोंमेंसे अनेक उदाहरण भी उपस्थित किये गये हैं—'**मातर्मैथिलि राक्षसीस्त्वयि तदैवाऽऽर्द्राऽपराधास्त्वया रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठीकृता। काकं तं च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्षमौ रक्षतः सा नः सान्द्रमहागसं सुखयतु क्षान्तिस्तवाऽऽकस्मिकी॥**'

वैष्णवागम आदि शास्त्रोंकी आज्ञासे ही भावुकोंकी दृष्टिमें श्रीजूका स्थान भगवान्‌से सदैव विशिष्ट रहा करता है और श्रीराम तथा सीताजीकी समाख्या होते हुए भी श्रीसीताजीकी ही प्रधानता श्रीरामायण महाकाव्यमें हैं। इसीसे पुत्रोत्पत्तिमें श्रीसीताजीका ही नाम लिया गया है—'*दुइ सुत सुंदर सीता जाए।*'

श्रीमाण्डवी, श्रीउर्मिला तथा श्रीश्रुतिकीर्तिजीकी अधिक ख्याति न तो तब थी और न अब ही है। श्रीभरत, श्रीलक्ष्मण और श्रीशत्रुघ्नजीकी ख्याति तब भी थी और आज भी है तथा यही तीन श्रीरामजीके भाई हैं। इसीलिये श्रीभरतादिकी पत्नियोंके नाम न लेकर कहा गया कि—'*दुइ दुइ सुत सब भाइन्ह केरे।*'

वे० भू० का मत है कि 'श्रीसीतात्यागादिकी कथा अप्रामाणिक है। यह वाल्मीकीय तथा पुराणोंमें महाकवि गुणाढ्यके अर्धमौलिक उपन्यास 'बृहत्कथा' की कल्पनाके आधारपर लोगोंने बढ़ायी है।' जो हो, भगवान् जानें। पर यह कथा पद्मपुराणादिमें भी है। यह बात दूसरी है कि कल्पभेदसे चरित्रोंमें विभिन्नता कहीं-कहीं अवश्य है। किसी-किसी कल्पमें त्यागके पश्चात् पुनर्मिलन—पुनः संयोग हुआ है।

नोट—२ कुश ज्येष्ठ पुत्र हैं। इनका नाम लवसे पीछे दिया, जैसे नामकरण-प्रसङ्गमें लक्ष्मणजीको शत्रुघ्नजीसे पीछे कहा। इससे जान पड़ता है कि यमजके नामकथनकी यही रीति है। अथवा सुख-मुखोच्चारणार्थ लवको प्रथम कहा।—वा० १९७ (८)—१९७ देखिये। (खर्रा) तापिनी आदि वेदोंमें, ब्रह्माण्डपद्मादि पुराणोंमें और यामलमें गर्भाधान-क्रमसे जो पीछे प्रकट हो वह जेठा माना जाता है। (रा० प्र०)

नोट—३ '*दुइ सुत सुंदर सीता जाए*' यहाँ श्रीसीताजीका सम्बन्ध देकर मानसकारने गुप्तरीतिसे सीता-त्यागकी कथा, जो वाल्मीकि आदिमें लिखी है, सूचित कर दी है। इस तरह इस पदमें चारों कल्पोंके रामावतारोंकी कथा भी आ गयी और शुद्ध मनु-शतरूपा दशरथ-कौशल्या और प्रतापभानु-रावणवाले कल्पकी कथा तो स्पष्ट ही है। सीता-त्यागकी कथा खोलकर न कह सकनेके कई कारण हो सकते हैं—एक तो यही कि शम्भुकृत रामचरितमानसमें त्यागका वर्णन नहीं होगा और गोस्वामीजीने कहा है कि '***भाषाबद्ध करब मैं सोई***' अतः इसमें भी न कहा गया। दूसरे, परात्पर परब्रह्मका अवतार जिस कल्पमें हुआ उसमें यह त्याग हुआ ही न हो। यहाँ तो सुरसरिपूजन और ऋषियोंके दर्शन लङ्कासे लौटते समय ही हो चुके, जिस अभिलाषाकी पूर्तिके बहाने श्रीसीताजी अन्य कल्पोंमें वाल्मीकिजीके यहाँतक भेजी गयीं। यदि त्याग यहाँ लिखते तो उस कल्पकी कथा इसमें न रह जाती और इसमें तो चारों कल्पोंकी कथाएँ दिखलानी हैं। तीसरे ग्रन्थकार श्रीसीता-रामजीका नित्य संयोग मानते हैं, दोनोंका वियोग उनको कब सहन हो सकता था। चौथे ग्रन्थकी समाप्ति शोकके प्रसङ्गपर करना रुचिकर नहीं था।

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि मा० पी० प्र० सं० के इन भावोंसे मैं पूर्णतया सहमत हूँ। सीता-परित्यागादि दुःखद घटनाएँ यहाँ कितने अल्पशब्दोंमें और कितनी खूबी तथा कोमलतासे सूचित की गयीं,

यह देखते ही बनता है। महाप्रस्थान तो इससे भी अधिक गूढ़रीत्या सूचित किया गया है। इस प्रकारका भावप्रदर्शन कला-कौशल अन्यत्र मिलना असम्भव है।

☞ सीता-त्यागके सम्बन्धमें कुछ लोगोंने, श्रीरामचन्द्रजीको अच्छी तरह न समझनेके कारण उनपर लाञ्छन लगाया है। इस विषयमें बालकाण्डके 'मानसपीयूष' नामक तिलकमें अरण्यकाण्डमें कुछ लिखा जा चुका है। बुद्धिमान् शङ्का करनेवाले सज्जनोंने तो अपना सन्तोष उतनेहीपर कर लिया है तथापि यहाँ त्यागका एक और दूसरा रहस्य आपको सुनाया जाता है, जिससे श्रीरामजीमें हमारा अधिक प्रेम होगा।—श्रीदशरथजी महाराजने जब शरीर छोड़ा, उस समय उनकी आयु लगभग एक हजार वर्षकी शेष थी, पर उन्होंने रामवियोगमें राम-प्रेमके आगे इस आयुका निरादर किया, इसको तुच्छ जानकर प्राण भी रामजीके साथ पयान कर दिये—'*यह तन राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेमपन मोर निबाहा॥*' श्रीरामराज्य होनेपर दस हजार वर्ष आयुपर्यन्त, जो सतयुगकी पूर्ण आयु थी, रामजीने अपना राज्य किया। इसके बाद सोचकर कि पिताने हमारे वियोगमें अपनी पूर्ण आयुको भोग न किया था, हम उनकी ओरसे उनकी आयु पूरी कर दें। पर एक अड़चन इसमें धर्मकी सूक्ष्मताके कारण उनको पड़ी कि पिताकी आयु भोग करनेके समय तो सीताजीका ग्रहण धर्मविरुद्ध होगा, उस समय तो वस्तुतः दशरथजीका राज्य है, हम दशरथजीकी जगह हैं तब सीताजी तो दशरथजीकी पुत्रवधू होनेसे साथ कैसे रह सकती थीं। अहा! कैसा सूक्ष्म धर्मका निर्वाह है। प्रमाण यथा—'*संकट सुकृतको सोचत जानि जिय रघुराउ। सहस द्वादस पंचसत मैं कछुक है अब आउ॥ भोग पुनि पिता आयुको सो किए बनै बनाउ। परिहरे बिनु जानकी नहिं और अनघ उपाउ॥ पालिबे असि धार ब्रत प्रिय प्रेम पाल सुभाउ। होइ हित केहि भाँति नित सुबिचारि नहिं चित चाउ॥ निपट असमंजसहु बिलसत सुख मनोहर ताउ। परम धीर धुरीन हृदय कि हरष बिसमय काउ॥ अनुज सेवक सचिव हैं सब सुमति साधु सखाउ। जान कोउ न जानकी बिनु अगम अलख लखाउ। राम जोगवत सीय मन पिय मनहिं प्रान पियाउ॥ परम पावन प्रेम परमित समुझि तुलसी गाउ॥*' (गी० ७। २५)

तीसरे, लोकशिक्षा और लोकसंग्रहके विचारसे भी त्याग आवश्यक था। भा० ९। ११ में शुकदेवजी परीक्षित्‌जीसे कहते हैं कि त्याग न करनेसे अबाध्य, अज्ञानी, ओछे, नीच लोगोंके अपवादसे उनके परमोज्ज्वल कीर्तिचन्द्रमें कलङ्क आ जानेका पूर्ण सन्देह एवं भय था। जैसे धोबीने कहा कि क्या मैं राम हूँ इत्यादि, वैसे ही अन्य भी कहते। श्रीसीताजीकी कीर्तिको भी अकलङ्कित सिद्ध कर दिखानेके लिये यह त्याग परमावश्यक था।

पं० श्रीकान्तशरणजीका मत है कि 'यह यात्रा अपने स्वामीके चरित्रको प्रकाशित करके भविष्यमें जीवोंके उद्धारके लिये हुई। उन्होंने श्रीरामजीसे स्वेच्छासे ही वन जानेका वर माँगा और उसी समय रजकद्वारा निन्दाकी बात भी श्रीरामजीको सुनायी दी। यह दूसरा हेतु इसलिये रचा गया कि इसीके शमन करनेके लिये महर्षि वाल्मीकिद्वारा रामायण रची जाय। उनका मत है कि रामायण सीता-त्यागके पश्चात् रचा गया। उसकी पूर्तिपर महर्षिको चिन्ता हुई कि इसे कौन धारण करनेको समर्थ होगा, उसी समय लव-कुशने आकर चरण गहे। इन्हें ही महर्षिने पढ़ाया।

वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि प्रायः किसी प्रामाणिक आर्षग्रन्थमें ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि श्रीरामजी पिताकी शेष आयु लेकर ही ग्यारह हजार वर्षतक जीवित रहे और ऐसा माननेसे अनेक शङ्काएँ उपस्थित हो जाती हैं। जैसे कि—श्रीभरतादि भाई भी तो उतने ही वर्ष जिये तब इन्होंने किसकी आयु भोग की? कौसल्यादि माता कैसे ११ हजार वर्षसे अधिक जीवित रहीं, उन्होंने किसकी आयु भोग की? सुमन्त्र, सिद्धार्थ, अकोप, धर्मपाल आदि क्योंकर श्रीदशरथराज्यके प्रारम्भसे लेकर श्रीरामराज्यके अन्ततक जीवित रहे? यदि इन लोगोंकी आयुका कोई नियम न था तब श्रीरामजीके ऊपर आयुका नियमित प्रबन्ध क्यों लगा दिया गया?

अस्तु। वस्तुतः आयुका नियम संख्याबद्ध न कभी रहा और न आज ही है। बात यह है कि जिस कालमें धार्मिक व्यवस्था जितनी ही उन्नत दशापर रहती है, उस समयके स्थान, आहार, जल और वायुके उतने अधिक स्वच्छ एवं शुद्ध होनेसे उस कालमें आयुकी अधिकता तथा मानसिक एवं शारीरिक शक्तियोंकी

प्रौढता रहती थी। और धर्मके ह्रासत्व कालमें आयु आदिका ह्रास होना अनिवार्य है। यही मनुके इस वाक्य '**धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।**' का तात्पर्य है।

इसका कोई भी लिखित पुष्ट प्रमाण नहीं है कि त्रेतामें सभी मनुष्योंकी आयु दस हजार वर्षकी होती थी, कम या विशेष नहीं। श्रीदशरथजी साठ हजार वर्षके हो चुके थे जब उनको पुत्र प्राप्त हुए। यथा—'**षष्टिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक।**'.........(वाल्मी० १। २०। १०) ताराने श्रीरामजीके पूछनेपर कहा कि वालीने अपनी मृत्यु (आज) से साठ हजार अस्सी वर्ष पूर्व दुन्दुभीको मारा था, उसी साल आपके पिता श्रीदशरथ महाराजका राज्याभिषेक हुआ था (प० पु० पाताल० ११६। १९०-१९१)। भा० ९। ११। १८ में शुकदेवजीने कहा है कि श्रीसीताजीके विवरमें प्रवेश करनेके पश्चात् अखण्डब्रह्मचर्य धारणकर '**त्रयोदशाब्दसाहस्रमग्निहोत्रमखण्डितम्**' १३ हजार अग्निहोत्र किया। वाल्मी० के '**दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च। रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति॥**' (१। २। १७) की व्याख्या करते हुए शिरोमणि टीकाकारने श्रीरामजीका राज्यकाल तैंतीस हजार वर्ष सिद्ध किया है। श्रीदशरथजी ६० हजार वर्षसे अधिक राज्यभोग करके पुत्रवान् हुए तब उन्हींके चारों पुत्र ३३ (वा कुछ लोगोंके मतसे ११) हजार वर्षकी आयु पाकर परम धामको गये तो इसमें आश्चर्य क्या? किसीने किसी दूसरेकी आयु नहीं भोग की।

☞ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि यह आयु एवं शक्तियोंकी व्यवस्था बद्ध जीवोंके लिये है, नित्य जीवों तथा ईश्वरके लिये नहीं और श्रीभरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न किसी प्रकारके जीव न थे, वे तीनों भाई तो साक्षात् नारायण थे। प्रमाण बालकाण्डमें आ चुका है। ईश्वर काल-कर्माधीन नहीं है वह तो स्वेच्छावर्ती है, चाहे किसी रूपमें कुछेक क्षणमात्र रहे चाहे अनेकों युग।

नोट—'*बिजई बिनई गुन मंदिर*.........' बिजई ऐसे कि रामजीकी सारी सेनाको जीत लिया। वीरकी शोभा नम्रतासे है, सो ये विनम्र हैं। पुनः *बिनई* =नीतिज्ञ। गुणमन्दिर अर्थात् गान-विद्या-शस्त्रास्त्र-विद्यामें निपुण हैं। पुनः ['*बिनई*' इससे कहा कि जब उन्होंने पहिचान लिया कि ये तो हमारे पिता, चाचा आदि हैं तब उन्होंने विनय की थी—(म० म०)] हरि प्रतिबिम्ब यथा—'**आत्मा वै जायते पुत्रः**' इसीसे अति सुन्दर हैं।

'*दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे*.........।' इति। जब रामजीके दो पुत्र हुए तब उन्होंने अपने भाइयोंको भी दो-दो पुत्र दिये। उन आठों पुत्रोंको रामजीने आठों दिक्पालके बराबर पालन करनेकी शक्ति दी, क्योंकि उन्हें आठों दिशाओंका पालन करना है।

प० प० प्र०—'*बिनई*' से सूचित किया कि रामायण गाकर सुनानेपर श्रीरामजी पारितोषिक देने लगे तब उन्होंने नहीं लिया। इस अर्धालीमें '*गुन मंदिर*' शब्द रखनेसे ही '*हरि प्रतिबिंब*' की सार्थकता हुई अन्यथा 'प्रतिबिम्ब' (प्रतिकृति) कहना अयुक्त और अव्याप्ति दोषयुक्त होता। जैसे श्रीरामजीको 'गुणमन्दिर' कहा है वैसे ही इनको भी कहना जरूरी था। प्रतिबिम्ब और गुणमन्दिरके साहचर्यसे 'सुखमन्दिर, क्षमामन्दिर, सुन्दरतामन्दिर' का अध्याहार भी यहाँ सूचित किया।

नोट—(क) श्रीसीताजीके इन पुत्रोंका नाम दिया गया। श्रीभरतजीके श्रीपुष्कलजी और श्रीतक्षकजी, श्रीलक्ष्मणजीके श्रीअङ्गद और श्रीचित्रकेतुजी और श्रीशत्रुघ्नजीके श्रीश्रुतिसेन और श्रीसुबाहु पुत्र हुए। यथा—'**अङ्गदश्चित्रकेतुश्च लक्ष्मणस्यात्मजौ स्मृतौ। तक्षः पुष्कल इत्यास्तां भरतस्य महीपते॥ सुबाहुः श्रुतसेनश्च शत्रुघ्नस्य बभूवतुः।**' (भा० ९। ११। १२-१३) (ख) '*बेद पुरानन्ह गाए*' (इति। ऋ० ७२। ८) तै० अ० १। १३। २, तांड्य ब्रा० २४। १२। ६ '**अष्टौ पुत्रासौ अदितिर्ये जातास्यन्वस्परि।**' पर श्रीनीलकण्ठजीके भाष्यका हिन्दी-अर्थ यह है—यहाँ 'अदिति' शब्दमें देवमाता कश्यपपत्नीका ग्रहण नहीं है क्योंकि उनके आठ ही नहीं अपितु अनेक पुत्र थे, अतः यहाँ अदिति शब्दसे सीताजी और पृथ्वीका ग्रहण ही समीचीन है। अर्थ यह होगा—'सीताजीके कुश-लवादि आठों पुत्रगण (अलग-अलग) पृथ्वीके शरीर अर्थात् विभिन्न खण्डोंके ऊपर राजा हुए। ऋग्वेद १। ११९ पूरे सूक्तके ऋषि लव ही हैं। आठ पुत्रोंकी समस्याकी पूर्ति इस प्रकार वे० भू० जी करते हैं कि जैसे श्रीरामजीने चाररूपसे दशरथपुत्ररूपमें अवतार लिया था, उसी तरह सीताजी

भी चार रूपसे अवतरित हुई थीं; इसीसे वेदने चारों बहिनोंके आठों पुत्रोंको सीताजीका ही पुत्र कहा है। (ग) *'रूप गुन सील घनेरे'* इति। पहले कहा कि मानो हरिके प्रतिबिम्ब हैं। अब बिम्बके गुण प्रतिबिम्बमें दिखाते हैं जैसे कि श्रीसीताजीके प्रतिबिम्बमें श्रीसीताजीके गुण थे—*'निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसइ सील रूप सुबिनीता॥'* प्रतिबिम्ब बिम्बका अनुसरण करता ही है—*'जिमि पुरुषहि अनुसर परिछाँहीं'* (अ० १४१)। बालकाण्डमें चारों भाइयोंके विषयमें कहा है कि *'चारिउ रूप सील गुनधामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥'* अतः उनके प्रतिबिम्बमें भी कहा कि *'भए रूप गुन सील घनेरे।'*

गौड़जी—महाभारतमें द्रोणपर्वके ५९ वें अध्यायमें रामराज्यका वर्णन करते हुए नारदजीने संजयसे कहा है कि 'रामचन्द्रके राज्यकालमें मनुष्योंके सहस्र अर्थात् बहुत पुत्र होते थे और सब हजार वर्षतक जीवित रहते थे।' यहाँ यह बात ध्यान रखनेके योग्य है कि हजार ही वर्ष परमायु लिखी गयी है, १० हजार वर्ष नहीं। भगवान् रामचन्द्रजीने तो सब मिलाकर ११ हजार वर्षसे ऊपर राज्य किया है, इस दीर्घ परमायुमें भाई भी शामिल हैं। साथ ही जब श्रीरामचन्द्रजी और भाई लोग १० हजार वर्षके हो चुके तब इन लोगोंके केवल दो-दो पुत्र हुए। स्मृतियाँ कहती हैं कि बिना पुत्रके पितरोंका निस्तार नहीं होता। पुत्र उत्पन्न करना प्रजा-पतिधर्म है। साथ ही एक पुत्रका होना पुत्रहीनके बराबर समझा जाता है। ब्रह्मचर्यका पालन भी हो और यथा समय सन्तान भी हो ये दोनों गृहस्थके कर्तव्योंमें हैं। ब्रह्मचर्यका प्रभाव शरीरपर अद्भुत होता है। इन्द्रियाँ समर्थ बनी रहती हैं, आयु, तेज, यश, बल एवं शारीरिक सौन्दर्य क्षीण नहीं होते। मर्यादापुरुषोत्तमने जो सबसे बड़ी बात चरित्र-सम्बन्धी इस अवतारमें दिखायी है वह है संयम और ब्रह्मचर्यकी महिमा। विवाहके पहलेकी तो कोई बात ही नहीं, विवाहके बाद भी अवधनिवास, चतुर्दशवर्षका वनवास, एवं १० हजार वर्षतकका एक अनवरत इतिहास है। बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजीका ऐसा अनुपम ब्रह्मचारी जीवन श्रीसीताजीके साथ रहते हुए भी जब भाई लोग देखते हैं, तो उनके ऊपर भी वही प्रभाव पड़ता है। वनगमनसे पूर्वकी अनुपम ब्रह्मचर्यावस्थाके ज्ञानका भाइयोंपर कितना बड़ा प्रभाव पड़ता है, आगेका चरित उसका साक्षी है। उर्मिलाका चुपचाप त्याग करके १४ वर्षके लिये वनको लक्ष्मणका जाना अथवा घर रहते ही श्रीमाण्डवीजीका त्याग करके नन्दिग्राममें रहकर श्रीभरतजीकी तपस्या, लक्ष्मणजी और भरतजीको बड़े भाईके ही अनुकरणसे प्राप्त होती है। वनवासमें रावण-वधके लिये सीताकी आवश्यकता न होती तो शायद रामायणी कथा और तरहपर लिखी जाती और नीरस तथा शुष्क हो जाती। सीताजीका सङ्ग जाना तो प्रयोजनीय ही था। १४ वर्षतक वनमें रहकर तापस धर्मके निर्वाहके लिये सीताजीका सङ्ग होना एक स्वयं अग्निपरीक्षा थी। यह वह कठोर व्रत था जो लक्ष्मणजीके पल्ले नहीं पड़ा था। हनुमान्‌जीके जीवनमें भी अखण्ड ऊर्ध्वरेताका उदाहरण है। परन्तु वह अग्निपरीक्षा नहीं है। लक्ष्मण और भरतजीकी भी परीक्षा वैसी नहीं है। यदि इसी तरहकी अग्निपरीक्षापर कोई खरा उतरा है तो सबसे छोटे भाई शत्रुघ्नजी जिनकी कोई चर्चा ही नहीं करता है। इस तरह चारों भाई और हनुमान्‌जी अखण्डब्रह्मचर्यके अलग-अलग आदर्श हैं। जिस रामायणी कथामें पिताके सात सौसे अधिक रानियाँ हों और सुग्रीव-विभीषण-सरीखे सखा हों, जिन सबका बहुत भारी आदर है, बड़ा सम्मान है, उसीमें प्रभु और प्रभुके सन्निकटतमवर्तियोंमें अद्भुत ब्रह्मचर्यव्रतका उदाहरण अत्यन्त उत्कृष्ट और विलक्षण चित्र है। भाईलोग पिताका अनुकरण नहीं करते क्योंकि लक्ष्मणजीकी तरह सभी अपने चरितकी रसनासे यह कहते हैं—*'गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतियाहू॥'* वह गुरुके आदर्शपर चलते तो कम-से-कम सौ बेटे पैदा करते और पिताके आदर्शपर चलते तो चारों भाई मिलकर तीन हजार रानियाँ ब्याहते। भाइयोंके सामने तो आदर्श था प्रभुका और प्रभुके ब्रह्मचर्य और कठोर संयमका। शत्रुघ्नजी तो चरितका चुपचाप अनुकरण करनेवालोंमें थे। भरतजीकी तपस्याका बहुत थोड़ा वर्णन हुआ है। शत्रुघ्नजीकी सेवाका वर्णन इसीलिये नहींके बराबर है परन्तु शायद भरतजीके चरितके इस सम्बन्धका विस्तार होता तो शत्रुघ्नजीके चरितका भी कुछ विशेष विस्तार मिलता। तो भी इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं कि चारों भाई ११ हजार वर्षके ऊपर जीवित रहकर भी तेजोमय,

बलवान्, धृतिमान्, वशी और पूर्ण यौवन-सम्पन्न बने रहे। तबतक युवा बने रहनेकी चर्चा महाभारत, रामायण और पद्मपुराणादि महापुराणोंमें भी जहाँ कहीं रामचरित वर्णित है, आयी है। १० हजार वर्षोंके बाद सन्तान होनेसे यह भी प्रकट है कि ब्रह्मचर्यका लाभ देवियोंको भी हुआ है। गृहस्थोंका ब्रह्मचर्य जैसे उभयपक्षी है वैसे ही उसके लाभ भी उभयपक्षी हैं, नहीं तो १० हजारवर्ष बीतनेपर सन्तानका होना कल्पनातीत विषय है। प्रजाओंमें जान पड़ता है कि राजाका अनुकरण इस बातमें कम ही लोगोंने किया होगा। क्योंकि उनकी परमायु युगधर्मानुसार एक हजार वर्षोंसे आगे न बढ़ी और लोगोंके हजार-हजारतक सन्तानें भी हुईं। विज्ञानके अनुसार विकास क्रममें ज्यों-ज्यों उच्चताकी दशा आती है त्यों-त्यों आयु भी बढ़ती है और सन्तानकी संख्या घटती है। प्रभुने ब्रह्मचर्यके सम्बन्धमें उपदेश भी काफी किये हैं और विभीषणके प्रति धर्मरथका निर्देश करते हुए तो ब्रह्मचर्यपरायणको अजेय बताया है। त्रेता युगमें ११ हजारवर्षतक जीना ही ब्रह्मचर्यका एक स्पष्ट चमत्कार है और जराव्याधिरहित पूर्ण यौवनका बना रहना तो उसका सहगामी है ही। प्रभुके उत्तरचरितमें इस घटनाका बहुत बड़ा महत्त्व है।

दो०—ज्ञान गिरा गोतीत अज माया मनु गुन पार।
सोइ सच्चिदानंदघन कर नर चरित उदार॥ २५॥

अर्थ—जो ज्ञान, वाणी और इन्द्रियोंसे परे, अजन्मा, माया, मन और गुणोंके पार हैं, वही सत्, चित् और आनन्दके समूह उदार नर चरित करते हैं। (भाव कि सच्चिदानन्दघन इस बड़े पदको सामान्य जानकर और चरित्रको विशेष समझकर वे नरनाट्य करते हैं)॥ २५॥

टिप्पणी—१ ज्ञान चार प्रकारका है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द। इन सबसे भिन्न हैं। २—*'गोतीत'* अर्थात् इन्द्रियोंसे भिन्न हैं। क्योंकि उनके रूप नहीं है जो देखनेवाला नेत्रोंसे देखे। वह परमात्मा गन्ध नहीं है जो नासिकासे जाना जाय। वह शब्द नहीं है जो कानसे सुना जाय। वह रस नहीं है जो जिह्वासे जाना जाय और न शरीर है जो स्पर्श किया जाय। (अर्थात् वह इन्द्रियोंका विषय नहीं है इसीसे इन्द्रियोंद्वारा उसका ज्ञान नहीं हो सकता) [*'ज्ञान गिरा गोतीत'*, यथा—*'सुखसंदोह मोहपर ज्ञान गिरा गोतीत॥'* (१। १९९), *'मन ज्ञान गुन गोतीत प्रभु मैं दीख जप तप का किए।'* (आ० ६ छं०), 'ज्ञान गिरा गोतीतमनूपं।' (आ० ११। ११), 'नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।' (कठ० २। ३। १२)] ३—माया-पार है इसीसे उसका नाम अच्युत है। *'मायापार'*, यथा—(*'व्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोहपार परमीसा॥'* गुणपार अर्थात् निर्गुण है इसीसे मायासे भिन्न है क्योंकि माया त्रिगुणात्मिका है। ४—*'सच्चिदानन्द'*=सत्+चित्=आनन्द। 'सत् अस्तीति सतः' 'चित चिती संज्ञाने' अर्थात् 'ज्ञानस्वरूप, यथा—*'ज्ञान अखंड एक सीताबर।'* * ५—*'नर चरित उदार'* इति। चरित श्रेष्ठ है इसीसे सनकादि इसे सुनते हैं, यथा—*'जीवन्मुक्त ब्रह्म पर चरित सुनहिं तजि ध्यान।'* अथवा, *'सच्चिदानंदघन कर नर चरित उदार'* का अर्थ यह है कि सच्चिदानन्द चरित करते हैं, अर्थात् उनके चरित्र भी सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं, जो शक्ति सच्चिदानन्दमें है वही उनके चरितमें है।—[पां०—यहाँ *'नर चरित'* से सन्तान पैदा करना, इत्यादि तात्पर्य है। वह उदार है अर्थात् कल्याणकारक है।]

वि० त्रि०—जब-जब सरकारके चरितमें अतिशयता आती है तो श्रोताओंको सावधान करनेके लिये श्रीगोस्वामीजी सहज स्वरूपके विशेषण देने लगते हैं, यथा—*'ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥', 'सुख संदोह मोहपर ग्यान गिरा गोतीत। दंपति परम प्रेम बस कर सिसु चरित पुनीत॥', 'ब्यापक अगुन अनीह अज निर्गुन नाम न रूप। भगत हेतु नाना बिधि करत चरित अनूप॥'* शिशुचरित, बालचरित और कुमारचरित ऐसे सरल और सुहाये थे कि श्रोताको सुनकर सरकारमें नर-बुद्धि होनेकी सम्भावना हो जाती है, अतः *'निर्गुन नाम न रूप, अज, ज्ञानगिरा गोतीत'*

---

* रा० प्र०—'गुन पार' 'सच्चिदानन्द घन' के भाव। गुण जब पृथक् हुए तब उनका नाम सत्त्व, रज, तम पड़ा। सत्, चित्, आनन्द तीन खण्ड होकर ब्रह्मादिक लोकादि सब कल्पना कर चरित करते हैं।

व्यापक विशेषण देकर सावधान करते हैं। अधिक बड़े होनेपर लीलामें ऐश्वर्यकी झलक बराबर मिलती रहती है, अतः विशेषरूपसे सावधान करनेकी आवश्यकता नहीं है, फिर भी जहाँ आवश्यकता पड़ी वहाँ श्रीगोस्वामीजीने सावधान करनेमें चूक नहीं किया।

अब तो रावणवध हो चुका, सरकार राज्यसिंहासनासीन हो चुके। *'भूमि सप्तसागर मेखला। एक भूप रघुपति कौसला॥'* सुस्थिररूपसे राज्य कर रहे हैं। सब मिलाकर आठ बेटे हुए। उनका लालन-पालन, संस्कार, विवाहोत्सवादि उसी प्रेम और उत्साहके साथ सरकार कर रहे हैं, जैसे कि प्राकृत पुरुष पुत्र-पौत्रोंके प्रपञ्चमें पड़ा हुआ किया करता है, अतः श्रोताओंकी सावधानीके लिये यहाँ फिर गोस्वामीजीने ज्ञान गिरा गोतीत, मायागुणगोपार आदि विशेषण देकर *'कर नर चरित उदार'* कहा। चरितको उदार कहनेका यह भाव भी है कि अपने पुत्रों और भ्रातृपुत्रोंमें भेद न माना। जो उदार भाव सिंहासनासीन होनेके पहिले था, यथा—*'बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥'* वही उदार भाव अन्ततक कायम रहा। सरकारने आठोंको भिन्न-भिन्न स्थानोंका राजा बनाया।

नोट—गोस्वामीजीने श्रीरामावतार और उनके चरितको *'परम उदार'* कहा है—आ० ४२ (१), लं० ३३ (४) देखिये। गीतावली और विनयमें भी कहा है—*'रघुनाथ तुम्हारे चरित मनोहर गावत सकल अवधबासी।' 'अति उदार' 'अवतार मनुज बपु धरे ब्रह्म अज अबिनासी॥', 'हरिहु और अवतार आपने राखी बेद बड़ाई। लै च्यूरा निधि दई सुदामहिं जद्यपि बालमिताई""""।'*

☞*'कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हे'* से *'ज्ञान गिरा गोतीत""""'*, इस दोहेतक क्रमसे परिकरोंसमेत रामजीका वर्णन किया गया है।

प्रथम श्रीरामजीका वर्णन किया	**कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हे**
दूसरे श्रीसीताजीका वर्णन किया	**पति अनुकूल सदा रह सीता**
तीसरे तीनों भाइयोंको कहा	**सेवहिं सानुकूल सब भाई**
चौथे अयोध्यावासियोंको कहा	**हरषित रहहिं नगरके लोगा**
अन्तमें चारों भाइयोंके पुत्रोंको कहा	**दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे**

मा० म०—वही सच्चिदानन्दघन नरचरित कर रहा है, इस कथनके अभ्यन्तर यह भाव है कि श्रीरामचन्द्रने पिताकी आयु भोगनेके निमित्त धर्मरक्षणार्थ जानकीको ब्रह्मावर्त्तमें भेज दिया, यह माधुर्यलीला है।

गौड़जी—सच्चिदानन्द परतम परब्रह्मको किसीका वध करनेके लिये जन्म लेने, विवाह करने, वनवास करने, राज्य करने वा सन्तान उत्पन्न करनेके लिये किसी प्रयासकी आवश्यकता नहीं है। भृकुटि विलास-मात्रमें असंख्य विश्व बनते, विलसते और बिगड़ते रहते हैं तो उसमें किसी एकके एक क्षणके नीलवें भागमें मर जानेका क्या महत्त्व है। सहज लीलाकी ओर प्रवृत्त होकर प्रभु मनुष्यके सामने जीवनके आदर्शकी मर्यादा बाँधनेके लिये विश्वकी रंगभूमिमें स्वयं अवतीर्ण होते हैं। ऐसी दशामें ऐश्वर्य दिखाना तो कभी इष्ट हो ही नहीं सकता। जितने चरित किये हैं सब-के-सब पूर्णतया स्वाभाविक हैं। धर्मकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म गतिविधिपर बड़ी कठोर दृष्टि करते हुए और जीवनमें पूर्ण निर्वाह करते हुए एक भी चरित प्रभुका ऐसा नहीं है जो अस्वाभाविक या अलौकिक कहा जा सके। यह बात दूसरी है कि आदर्शका हम अनुकरण कर सकते हैं परन्तु आदर्शकी पूरी ऊँचाईतक पहुँच जाना हमारे लिये सम्भव नहीं है। इसीलिये कहा है कि भगवान् जो नरचरित करते हैं वह उदार है अर्थात् उसमें सभी तरहके मनुष्योंके अनुकरणके लिये गुञ्जाइश है। दुर्बल-से-दुर्बल थोड़ा बहुत अपने चरितको सुधार सकता है। कोई अलौकिकता नहीं है जो अनुकरण करनेवालेके लिये बहाना बन सके। इसीलिये प्रभुका चरित बारम्बार गानेसे श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसके प्रति अनुराग होता है और अनुरागसे अनुकरणकी ओर मनकी प्रवृत्ति होती है और अनुकरणसे सद्गतिका बीमा हो जाता है—यही भगवान्के जन्म-कर्मका तत्त्वतः जानना है। जो तत्त्वतः जान जाता है वह प्रभुको पहुँचता है।

दिनचर्या

प्रातकाल सरजू करि मज्जन। बैठहिं सभा संग द्विज सज्जन॥ १॥
बेद पुरान बसिष्ट बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं॥ २॥
अनुजन्ह संजुत भोजन करहीं। देखि सकल जननी सुख भरहीं॥ ३॥
भरत सत्रुहन दोनौ* भाई। सहित पवनसुत उपबन जाई॥ ४॥
बूझहिं बैठि राम-गुन-गाहा। कह हनुमान सुमति अवगाहा॥ ५॥

शब्दार्थ—**प्रातकाल**—तीन घड़ी रात्रि रहनेपर प्रात:काल कहा जाता है।

अर्थ—प्रात:काल (ब्राह्म मुहूर्तमें ब्राह्मणों और सज्जनोंके साथ) सरयू-स्नान करके ब्राह्मणों और सज्जनोंके साथ सभामें बैठते हैं॥ १॥ श्रीवसिष्ठजी वेदपुराण कहते हैं और श्रीरामजी सुनते हैं। यद्यपि वे सब जानते हैं॥ २॥ भाइयोंसहित भोजन करते हैं, समस्त माताएँ देखकर आनन्दसे भर जाती हैं॥ ३॥ श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी दोनों भाई पवनसुत हनुमान्‌जी समेत कृत्रिम वनमें जाकर वहाँ बैठकर रामगुणगाथा पूछते हैं और हनुमान्‌जी अपनी सुन्दर बुद्धिसे उसमें गोता लगाकर उसे कहते हैं॥ ५॥

☞इस दोहेमें श्रीरामसहित सबकी दिनचर्या कहते हैं।

टिप्पणी—१ सरयू-स्नानका भाव कि नदीका स्नान उत्तम है, तड़ाग-स्नान मध्यम है और कूप-स्नान निकृष्ट है। [पुनः भाव कि यद्यपि प्रभु परम-पावन और समर्थ हैं तो भी लोकशिक्षार्थ तीर्थका मान रखनेके निमित्त सरयूमें ही स्नान करते हैं और नीति-धर्म-स्थापन-हेतु ब्राह्मणों और सत्पुरुषोंकी सभा लगाते हैं। सब इसका अनुसरण करें, इसलिये प्रभु स्वयं ऐसा आचरण करते हैं। (पं०)] ***'संग द्विज सज्जन'*** का सम्बन्ध ***'करि मज्जन'*** और ***'बैठहिं सभा'*** दोनोंके साथ है। पुनः, द्विज सज्जन कथाश्रवणके अधिकारी हैं, इसीसे श्रीरामजी इनको सभामें लेकर कथाकी सभामें बैठते हैं।

२ ***'बेद पुरान……'*** इति। वेद-पुराण कहनेका भाव कि वेदोंकी कठिनता पुराणोंसे स्पष्ट कर देते हैं। ***'जद्यपि सब जानहिं'*** का भाव कि जानी हुई कथामें मन नहीं लगता पर श्रीरामजी सब जानते हैं तो भी ऐसा मन लगाकर सुनते हैं मानो जानते ही नहीं, यथा—***'बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई॥'*** (१। २०५। ६) ☞राजाको ऐसा ही उचित है कि जाननेपर भी नीति और धर्मकी कथा सुना करे। ☞ऐसा प्रवाद है कि व्यासजीने पुराण द्वापरमें बनाये पर यहाँ वसिष्ठजी त्रेतामें बखानते हैं। इससे पाया गया कि पुराण अनादि हैं। पुराण इतने अनादि हैं कि इनके पहले कोई ग्रन्थ न थे, ऐसा लिखा है। [मनुस्मृति सबसे प्रथम मानी जाती है तो उसमें भी श्राद्धमें पुराणोंका श्रवण करना लिखा है और उपनिषदोंमें तो पुराणोंका नाम मिलता ही है। इससे निश्चित है कि पुराण अनादि हैं। (पं० रा० व० श०)]

२ (क) ***'अनुजन्ह संजुत भोजन करहीं',*** यह सदाका स्वभाव है, यथा—***'अनुज सखा सँग भोजन करहीं। मातु पिता अग्या अनुसरहीं॥'*** (१। २०५) (ख) ***'देखि सकल जननी सुख भरहीं।'*** माताको पुत्रके भोजन करनेमें बड़ा सुख होता है। इसीसे लिखते हैं कि ***'देखि……।'*** इसी तरह पुत्रको गुणी देखकर पिताको सुख होता है, यथा—***'आयसु माँगि करहिं पुर काजा। देखि चरित मन हरषहिं राजा॥'*** (१। २०५) ☞स्नान करके सभामें बैठकर कथा सुनकर तब भोजन करते हैं यह तीसरी दिनचर्या हुई।

३ ***'भरत सत्रुहन दोनौ भाई।……'*** इति। ☞यह भोजनोत्तर दूसरी जून (तीसरे पहर) की चर्या है। सभामें वेद-पुराणके वक्ता वसिष्ठजी हैं। रामचरितके वक्ता हनुमान्‌जी हैं। उपवनमें जाकर सुननेका भाव कि रामचरित गूढ़ है, यथा—***'श्रोता बक्ता ग्याननिधि कथा राम कै गूढ़'***—(बा०); अतः उसे एकान्तमें जाकर सुनते हैं। [ये वनमें साथ न थे इससे इनका हनुमान्‌जीसे वनचरित पूछना जनाया।]

---

* दूनौ—का०।

४ *'सुमति अवगाहा।' गाह विलोडने।* गाह धातु विलोडन अर्थात् मन्थन अर्थमें है। बुद्धिसे मन्थन करके कहते हैं। तात्पर्य कि अपनी समझी हुई बात अच्छी तरह कहते बनती है इससे समझकर कहते हैं।—[मानसमें डुबकी लगानेसे बुद्धि निर्मल हो जाती है तब कथा कहते बनती है, यथा—*'भइ कबिबुद्धि बिमल अवगाही''''''''चली सुभग कबिता सरिता सी॥'* (१। ३९। ९—११)]

नोट—१ प्रातःकाल सरयू-स्नान करते हैं। स्नानके बाद ब्राह्मण और सज्जनोंसहित सभामें बैठते हैं और वसिष्ठजीसे वेदपुराण सुनते हैं। इसके बाद भोजनके समय (लगभग दोपहरको) भाइयोंसहित भोजन करते हैं।-यह तो सब भ्राताओंकी साथ-साथ एक ही दिनचर्या हुई। इससे पृथक् जो भाइयोंकी दिनचर्या है वह *'भरत सत्रुहन''''''''* में कही। श्रीभरत, शत्रुघ्नजी भोजनके उपरान्त उपवनमें जाकर श्रीहनुमान्‌जीसे श्रीरामगुणानुवाद सुनते हैं। यहाँ लक्ष्मणजीका नाम न देकर जनाया कि वे भोजनके बाद प्रभुकी ही सेवामें रहते हैं। इसके बाद प्रजाका भी वैसा ही अनुकूल आचरण दिखाते हैं।

सरयूस्नान और उसके बादकी छटा गीतावलीमें देखने योग्य है।

'रघुपति राजीवनयन सोभा तन कोटिमयन करुनारस अयन चैन रूप भूप माई।
देखो सखि अतुलित छबि संत कंज काननरवि गावत कल कीरति कबि कोबिद समुदाई॥
मज्जन करि सरजु तीर ठाढ़े रघुबंस बीर सेवत पद कमल धीर निर्मल चित लाई।
ब्रह्ममंडली मुनींद्र बृंद मध्य इंदु बदन राजत सुख सदन लोक-लोचन-सुखदाई॥
बिथुरित सिररुह बरूथ कुंचित बिच सुमन जूथ मनियुत सिसु फनि अनीक ससि समीप आई।
जनु सभीत दै अकोर राखे जुग रुचिर मोर कुंडल छबि निरखि चोर सकुचत अधिकाई॥
ललित भृकुटि तिलक भाल चिबुक-अधर-द्विज-रसाल हास चारुतर कपोल नासिका सोहाई।
मधुकर जुग पंकज बिच सुक बिलोकि नीरजपर लरत मधुपअवलि मानो बीच कियो आई॥
सुंदर पटपीत बिसद भ्राजत बनमाल उरसि तुलसिका प्रसून रचित बिबिध बिधि बनाई॥
तरु तमाल अधबिच जनु त्रिबिध कीर पाँति रुचिर हेमजाल अंतर परि ताते न उड़ाई॥
संकर हृदि पुंडरीक निबसत हरि-चंचरीक निर्ब्यलीक मानसगृह संतत रहे छाई।
अतिसय आनंदमूल तुलसिदास सानुकूल हरन सकल सूल अवध मंडल रघुराई॥' (गी० ७। ३)

'देखु सखि आजु रघुनाथ सोभा बनी।
नील नीरद बरन बपुष भुवनाभरन पीत-अंबर-धरन हरन-दुति-दामिनी॥
सरजु मज्जन किहे संग सज्जन लिहे हेतु जन पर हिये कृपा कोमल घनी।
सजनि आवत भवन मत्त गज बर गवन लंक मृगपति ठवनि कुँवर कोसलधनी॥
सघन चिक्कन कुटिल चिकुर बिलुलित मृदुल करनि बिबरत चतुर सरस सुखमा जनी।
ललित अहिसिसु निकर मनहुँ ससि-सन समर लरत धरहरि करत रुचिर जनु जुग फनी॥
भाल भ्राजत तिलक जलजलोचन पलक चारु भ्रू नासिका सुभग सुक आननी।
चिबुक सुंदर अधर अरुन द्विज दुति सुघर बचन गंभीर मृदुहास भव भाननी॥
श्रवन कुंडल बिमल गंड मंडित चपल कलित कल-कांति अति भाति कछु तिन्ह तनी।
जुगल कंचन मकर मनहुँ बिधुकर मधुर पिबत पहिचानि करि सिंधु कीरति भनी॥
उरसि राजत पदिक जोति रचना अधिक माल सुबिसाल चहुँ पास बनि गजमनी।
स्याम नव जलद पर निरखि दिनकर कला कौतुकी मनहुँ रहि घेरि उडगन अनी॥
मंदिरन्हि पर खड़ी नारि आनंद भरी निरखि बरषहिं बिपुल कुसुम कुमकुम कनी।
दास तुलसी राम परम करुनाधाम काम सतकोटि मद हरत छबि आपनी॥' (गी० ७। ५)

सुनत बिमल गुन अति सुख पावहिं। बहुरि बहुरि करि बिनय कहावहिं॥ ६॥
सब के गृह गृह होहिं पुराना*। रामचरित पावन बिधि नाना॥ ७॥
नर अरु नारि राम गुन गानहिं। करहिं दिवस निसि जात न जानहिं॥ ८॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके निर्मल गुणोंको सुनकर अत्यन्त सुख पाते हैं और बार-बार विनती करके बार-बार कहलवाते हैं॥ ६॥ सबके यहाँ घर-घर पुराण और अनेक प्रकारके पवित्र रामचरित होते हैं (वा, पुराणोंमें नाना प्रकारके पावन रामचरित हैं। वा रामचरितोंके द्योतक जो-जो पुराण हैं—वे होते हैं)॥ ७॥ स्त्री और पुरुष रामगुण-गान करते हैं और (इस सुखमें) दिन-रात जाते नहीं जानते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'सुनत बिमल गुन'* श्रीरामजीके गुण विमल हैं अर्थात् छल और अधर्मसे रहित हैं। तात्पर्य कि उन्होंने किसी राक्षसको छल वा अधर्मसे नहीं मारा। (ख) *'बहुरि बहुरि……'* इति। बार-बार कहलानेसे सूचित हुआ कि सुनकर दोनोंको तृप्ति नहीं होती।

नोट—१ *'करि बिनय कहावहिं'* से उपदेश देते हैं कि रामचरितका ज्ञाता जब मिले तब उससे रामगुण सुने, उससे विनती करके कहलावे, नहीं तो रामचरित गोपनीय पदार्थ है। यह सहज ही किसीसे कहने योग्य नहीं है। भुशुण्डिजी और पार्वतीजीकी कथा इसके प्रमाण हैं। देखिये ब्रह्मलोकमें ब्रह्मादिक नारदजीसे बारम्बार पूछते कहलाते हैं यथा—*'नित नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं॥ सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं। पुनि पुनि तात करहु गुन गानहिं॥'* (४२। ५-६)

२ *'गृह गृह होहिं पुराना'*—यहाँ 'वेद' को न कहा क्योंकि वेदके अधिकारी सब नहीं होते हैं। *'बैठहिं सभा संग द्विज सज्जन॥ बेदपुरान बसिष्ठ बखानहिं'* से जान पड़ता है कि वेदके अधिकारी विप्र और सज्जन सब उस सभामें रहते हैं।

३ *'नर अरु नारि राम गुन गानहिं। करहिं……'* यहाँ कहा और *'गृह गृह पुरान होहिं'* कहा। क्रियाके भेदसे सूचित किया कि पण्डित पुराण कहते हैं और सब सुनते हैं, वक्ता पुराणका एक है, श्रोता अनेक हैं और राम-गुणगान सभी करते हैं। गुणगानमें नर और नारी दोनोंको कहा क्योंकि रामगुणगान करनेका अधिकार स्त्री-पुरुष तथा ऊँच-नीच सभीको है। *'दिवसनिसि जात न जानहिं'* यह पुरवासियोंका प्रेम और आनन्द दिखाया जैसे *'बहुरि बहुरि करि बिनय कहावहिं'* से श्रीभरतशत्रुघ्नका प्रेम दिखाया था। सुखके दिन जाते जान नहीं पड़ते, तथा—*'प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन जात न जान।'* (१। २००), *'जात न जाने दिवस तिन्ह गए मास षट बीत।'* (१५), *'मंगल मोद उछाह नित जाहिं दिवस एहि भाँति।'* (१। ३५९) सब ब्रह्मानन्दसुखको प्राप्त हैं, नित्य ही मङ्गलमोद हो रहा है।

दो०—अवधपुरी बासीन्ह† कर सुख संपदा समाज।
सहस सेष नहिं कहि सकहिं जहँ नृप राम बिराज॥ २६॥

अर्थ—जहाँ श्रीरामचन्द्रजी राजा होकर विराजमान हैं उस अवधपुरीमें रहनेवालोंका सुख, सम्पत्ति और समाज हजारों शेष नहीं कह सकते॥ २६॥

टिप्पणी—१ *'अवधपुरी बासीन्ह कर'* का भाव कि रामराज्यमें जगन्मात्रके निवासियोंका सुख-सम्पत्ति आदि कोई कह ही नहीं सकता तब अवधवासियोंका सुख इत्यादि कौन वर्णन कर सकता है जहाँ राजा राम साक्षात् विराजमान हैं। *'जहँ नृप राम बिराज'* का भाव कि जहाँ और राजा प्रजाको पुत्र-समान पालन करते हैं वहाँ रामजी राजा होकर प्रजाका पालन करते हैं तब उनके सुखसम्पदा समाजको शेषादि कैसे

---

* 'सबके गृह होहिं बेद पुराना'—(का०)

† 'बासीन्ह'—रा० गु० द्वि०, १८४२। 'बासिन्ह'—भा० दा०, १८१७, १८१८ का०, वं० पा०। उत्तरार्धमें २४ मात्राएँ हैं। 'बासिन्ह' पाठसे पूर्वार्धमें २३ ही मात्राएँ रह जाती हैं। इसलिये 'बासीन्ह' पाठ उत्तम मालूम होता है।

कह सकें? २ *'सहस सेष नहिं कहि सकहिं'* का भाव कि जगत्‌वासियोंका सुख आदि शेष नहीं कह सकते, यथा—*'राम राज कर सुख संपदा। बरनि न सकै फनीस सारदा॥'* और अवधवासियोंका सुखादि सहस्र शेष नहीं कह सकते। मिलान कीजिये—*'सोभा दसरथ भवन कै को कबि बरनइ पार। जहाँ सकल सुरसीसमनि राम लीन्ह अवतार॥'* (बा० २९७), *'बसइ नगर जेहि लच्छि करि कपट नारि बर बेषु। तेहि पुर कै सोभा कहत सकुचहिं सारद सेषु॥'* (बा० २८९), *'जहँ भूप रमानिवास तहँ की संपदा किमि गाइये॥'* (उ० २८)

'कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हे' से यहाँतक श्रीरामजीसहित सबकी दिनचर्या कही।

* नगरका वर्णन *

नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा॥ १॥
दिन प्रति सकल अयोध्या आवहिं। देखि नगर बिराग बिसरावहिं॥ २॥
जातरूप मनि रचित अटारी। नाना रंग रुचिर गच ढारी॥ ३॥

अर्थ—नारदादि सनकादि सब बड़े-बड़े मुनि कोसलराज श्रीरामजीके दर्शनोंके लिये प्रत्येक दिन अयोध्या आते हैं और नगर देखकर वैराग्य भुला देते हैं॥ १-२॥ अटारियाँ स्वर्ण और मणिसे रचकर बनी हुई हैं। अनेक रङ्गोंकी सुन्दर चमकदार गच सोने और मणिसे ढली हुई बनी हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१—*'नारदादि सनकादि मुनीसा ……'* इति। प्रथम नारद-सनकादि बड़े-बड़े मुनियोंके नाम लिखे और बड़ाई दर्शित करनेके निमित्त *'मुनीस'* विशेषण दिया। तथा श्रीरामचन्द्रजीकी बड़ाई दरसानेके लिये *'कोसलाधीस'* कहा। कोसलाधीशका ध्यान दुर्लभ है सो यहाँपर प्रत्यक्ष हैं। नगरका दर्शन करते हैं तब वहाँके राजा रामजीका दर्शन करने क्यों न आवें? (खर्रा—सनकादिसे चारों भाई श्रीसनक, सनातन, सनन्दन और सनत्कुमार अभिप्रेत होते हैं; इसीसे *'नारदादि'* कहा, जिससे नारद-समान बड़े-बड़े ऋषियों-मुनियोंका भी आना सूचित कर दिया। अथवा नारदादिसे मन्त्रज्ञ और सनकादिसे तत्त्वज्ञ मुनीश्वरोंको कहा।)

२ (क) *'देखि नगर बिराग बिसरावहिं'* अर्थात् अभी नगरमें पहुँचे नहीं हैं, जहाँसे नगर देख पड़ा वहींसे वैराग्य भुला दिया। तात्पर्य कि इच्छा करने लगते हैं कि हम अयोध्याजीके गृहस्थ होते तो अच्छा था, कन्दरामें रहनेसे क्या होगा? अयोध्यासे वैराग्य था इसीसे वैराग्य 'बिसराना' कहा। अब सोचते हैं कि भगवान्‌के नाम-रूप-लीला-धामकी प्राप्ति चाहिये सो यहाँ सब प्राप्त हैं तब इससे वैराग्यका क्या प्रयोजन है? अथवा, (ख)—आते तो रघुनाथजीके दर्शन निमित्त हैं परन्तु नगरकी ही रचना देखकर वैराग्य भुला देते हैं। (ग) नगर देखकर *'बिराग बिसराने'* का भाव कि वैराग्य नगरकी रचना देखनेका बाधक है। वैरागी रचना नहीं देखते। उन्हें नगर-रचना आदि देखना वर्जित किया गया है। इसीसे रचना देखनेके निमित्त वैराग्य 'बिसरा' देते हैं। (रा० प्र०—*'नगर देखि'* अर्थात् नगरवासियोंका रामजीमें राग देखकर)

पं० रा० व० श०—*'बिराग बिसरावहिं'* इति। इन्द्रियका विषयमें लगना राग है। जगत्‌के पदार्थसे वैराग्य है। पर भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम ये चारों तो एक ही हैं, सब नित्य हैं, सच्चिदानन्दविग्रह हैं तो कहीं ब्रह्मसे वैराग्य थोड़े ही करना होता है?

वि० त्रि०—यहाँ अवधपुरीका वर्णन हो रहा है, नारदादि-सनकादिका वर्णन नहीं है। नारदादि-सनकादि ब्रह्मलोक तथा वैकुण्ठमें विचरण करनेवाले हैं, वहाँके ऐश्वर्य-दर्शनपर भी जो वैराग्य अक्षुण्ण रहा वह अवधका ऐश्वर्य देखनेसे उस कालके लिये लापता हो जाता था, यथा—*'महि बहु रंग रुचिर गच काँचा। जो बिलोकि मुनिबर मन नाचा॥'* नगरकी सुन्दरता ऐसी मनोहारिणी है कि परम वैराग्यवालोंके चित्तको अपहरण कर लेती है।

☞ इस प्रसङ्गपर गीतावलीमें बड़ा सुन्दर वर्णन है, यथा—*'देखत अवध को आनंद। बरषत सुमन निसि दिन देवतनि को बृंद। नगर रचना सिखन को बिधि तकत बहुबिधि बंद। निपट लागत अगम ज्यों जलचरहिं गमन सुछंद॥ मुदित पुरलोगन सराहत निरखि सुखमाकंद। जिनके सुअलि चष पियत राम मुखारबिंद मकरंद॥ मध्य ब्योम बिलंब चलत दिन दिनेस उडुगन चंद। रामपुरी बिलोकि तुलसी मिटत सब दुखद्वंद।'* (७। २३)

टिप्पणी—३ *'जात रूप मनि रचित अटारी।.........'* इति। (क) पहले अटारी वर्णन करनेका भाव कि मुनियोंको प्रथम अटारी दिखायी पड़ी। कुछ दूर चलनेपर कोट मिला तब कोटका वर्णन करते हैं, फिर कोट लाँघनेपर कोटके भीतरकी पृथिवीका वर्णन करते हैं। (ख) जातरूप और मणिरचित कहकर अटारियोंका इन वस्तुओंसे शोभित होना कहा और *'रचित'* कहकर उनके बनावकी शोभा कही। (ग) सुवर्ण लिखकर मणि लिखनेका भाव कि पहले सोनेका काम करके सोनेमें मणियोंका जड़ाव किया है। (घ) [खर्रा—गजमुक्ताचूर्ण और काँच दोनोंसे बनायी गयी है इसीसे यहाँ मणिरचित कहा और आगे। *'महि बहु रंग रचित गच काँचा'* कहते हैं।]

पुर चहुँ पास कोटि अति सुंदर। रचे कँगूरा रंग रंग बर॥ ४॥
नवग्रह निकर अनीक बनाई। जनु घेरी अमरावति आई॥ ५॥
महि बहु रंग रचित गच काँचा। जो बिलोकि मुनिबर मन नाँचा*॥ ६॥

अर्थ—नगरके चारों ओर अत्यन्त सुन्दर कोट (घेरा, शहरपनाह) है (जिसपर) रङ्ग-विरङ्गके सुन्दर कँगूरे रचकर बनाये गये हैं॥ ४॥ (अब इन्हीं विचित्र कँगूरोंकी उत्प्रेक्षा करते हैं कि ऐसा मालूम होता है) मानो नवग्रहोंने बड़ी भारी सेना बनाकर अमरावतीको आकर घेरा हो†॥ ५॥ पृथिवी बहुत रङ्गके काँच (शीशा) की गचसे सँवारकर बनायी हुई है, जिसे देखकर श्रेष्ठ-श्रेष्ठ मुनियोंका मन नाचने लगता है॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'नवग्रह निकर अनीक बनाई।.........'* इति। (क) यहाँ अयोध्यापुरीके घेरेकी उपमा इन्द्रपुरीकी दी है। अयोध्यापुरीकी उपमा नहीं दी गयी, क्योंकि इन्द्रपुरी इसकी उपमाके योग्य नहीं है। घेरेकी उपमाके योग्य समझकर उसकी उपमा दी। (ख) कोटपरके अनेक रङ्गके कँगूरे अनेक रङ्गके नवग्रह हैं। वीर लोग अनेक बाने धारण करते हैं, यथा—*'अति बिचित्र बाहिनी बिराजी। बीर बसंत सेनु जनु साजी॥'* (६। ७८। ५) इसीसे अमरावतीके वीरोंको अनेक रङ्गका कहा। (ग) 'कोटमें जो अनेक देवताओंके चित्र बने हैं वे ही मानो देवता हैं, इसीसे कोटको अमरावतीकी उपमा दी गयी। इस प्रकार पुरीका कोट और इन्द्रपुरी अमरावती, कोटके कँगूरे और नवग्रह परस्पर उपमेय-उपमान हैं। (घ) नवग्रह शुभाशुभ फलोंके दाता हैं। कोट राजाका है, उसके यहाँसे मनुष्योंको शुभाशुभ फल मिलता है। २ *'मुनिबर मन नाँचा'* इति। मुनिवरोंके मनके नाचनेका भाव कि जहाँ पृथिवीकी रचनाका कोई विशेष प्रयोजन नहीं है वहाँ भी अद्भुत रचना देख पड़ती है, अतः मन परम प्रसन्न हो जाता है।

---

* १ राँचा—(का०)। 'नाच' के लिये चिकनी समथर जमीन चाहिये। गचकी शोभा देखकर उसके सौन्दर्यपर मुनियोंका मन हर्षसे नाच उठता है, उछल पड़ता है। इसीलिये यहाँ 'राँचा' के बदले 'नाँचा' पाठ अधिक सुन्दर भी है। गचके साथ उसकी योजना बहुत सुसङ्गत है। 'नाँचा' पाठ अनेक पुरानी प्रतियोंमें मिलता है।

२ वै०—'मन नाँचा' अर्थात् चंचल हो जाता है। भाव कि यही सम्भावना होती है कि सब जल भरा है, पैर नहीं धर सकते। सर्वज्ञ मुनियोंकी यह दशा है तब औरोंकी क्या कही जा सके। ३ रा० प्र०—कोई 'गचकाँचा' का अर्थ 'मीना-मोतीका चूना' कहते हैं। ४—गच=पक्का फर्श बनानेका मसाला जैसे चूना, सुरखी।

† १ विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि 'नगरके परकोटेके भीतर चारों ओरसे नवीन घर अर्थात् गजशाला, घुड़शाला, योद्धाओंके गृह और सेनापतियोंके महल बने हुए थे जिनके चारों ओर सुसज्जित सेना तैयार रहती थी। इस प्रकारसे सम्पूर्ण अयोध्यापुरी भारी सेनासे घिरी रहती थी। उसके बारेमें कविजी उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो इन्द्रपुरीको श्रीरामचन्द्रजीकी पलटन पकड़कर लिवा लायी हो और अयोध्यापुरीके नामसे बसा दी हो।'—[पर कविका ऐसा आशय शब्दोंसे नहीं जान पड़ता, इससे तो अयोध्यापुरीकी न्यूनता होती है। यह भाव बैजनाथजीकी टीकासे लिया हुआ स्पष्ट देख पड़ता है। केवल भेद इतना है कि वहाँ 'अयोध्यापुरीके नामसे बसा दी हो' की जगह उसमें यह लिखा है कि—'इन्द्रपुरी पकड़ आयी है, उसको यह सेना 'रखावती' है अर्थात् इन्द्रपुरीको अपनी शोभाका कुछ मान था इससे अयोध्यापुरीने उसे पकड़कर मँगाकर हवालातमें रखा है। भाव कि इन्द्रपुरीतुल्य सेनादिके रहनेके मन्दिर हैं और पुरके मन्दिरोंकी तो उपमा ही नहीं है']

२—किसीने अर्थ किया है—'अमरावतीने नवग्रहोंकी भारी सेना बनाकर अयोध्यापुरीको आ घेरा है कि इसे जीतकर हम इससे श्रेष्ठ हो जायँ।'

धवल धाम ऊपर नभ चुंबत। कलस मनहु रबि ससि दुति निंदत॥ ७॥
बहु मनि रचित झरोखा भ्राजहिं। गृह गृह प्रति मनि-दीप बिराजहिं॥ ८॥

अर्थ—उज्ज्वल धाम ऊपर आकाशको चूम रहे हैं अर्थात् बहुत ऊँचे हैं। (महलपरके) कलश (अपनी उज्ज्वलतासे मानो सूर्य और चन्द्रमाकी द्युति (चमक) की निन्दा करते हैं (भाव कि उनसे अधिक उज्ज्वल हैं)॥ ७॥ महलोंमें बहुत-सी मणियोंसे रचे हुए झरोखे प्रकाशित हैं। प्रत्येक घरमें मणियोंके दीपक शोभित हो रहे हैं॥ ८॥

रा० शं० श०—*'नभ चुंबत'*—ये इतने ऊँचे थे कि प्रयागसे दिखायी देते थे।

वै०—*'रबि ससि दुति निंदत॥'* भाव कि आकाशमें एक ही सूर्य है वह भी तापकारक है और कलशके प्रत्येक मणिमें अनेक सूर्य देख पड़ते हैं तो तापरहित हैं। इसी तरह आकाशमें एक चन्द्रमा है जो विरहिनियों आदिको दुःखदायी है और कलशके प्रत्येक मणिमें चन्द्रमा देख पड़ते हैं जो सुखद हैं।

टिप्पणी—१ ***'कलस मनहु रबि ससि दुति निंदत',*** इसमें उत्प्रेक्षा और चतुर्थ प्रदीप अलङ्कार है। २—***'गृह गृह प्रति मनिदीप बिराजहिं'*** कहकर सूचित किया कि दिनकी शोभा वर्णन करके अब रात्रिकी शोभा बखान करते हैं, क्योंकि दीपककी शोभा रात्रिमें ही होती है। ३—झरोखे और मणिदीपको समीप वर्णन करनेसे सूचित करते हैं कि उन झरोखोंमें मणिदीप रखे हुए हैं। [झरोखे (=झँझरियाँ) इसलिये होते हैं कि बाहरका पवन भीतर जाय और भीतरका बाहर आवे]।

वै०—झरोखा मणिरचित हैं। इन मणियोंसहित मणिदीपका प्रकाश झरोखोंसे बाहर फैल रहा है।

छंद—मनि दीप राजहिं भवन भ्राजहिं देहरी बिद्रुम रची।
मनिखंभ भीति बिरंचि बिरची कनकमनि मरकत खची॥
सुंदर मनोहर मंदिरायत अजिर रुचिर फटिक रचे।
प्रति द्वार द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु बज्रन्हि* खचे॥

दो०—चारु चित्रसाला गृह गृह प्रति लिखे बनाइ†।
रामचरित जे निरखि‡ मुनि ते मन लेहिं चोराइ॥ २७॥

शब्दार्थ—राजहिं—राजना=शोभित होना, सोहना, विराजमान होना। **भ्राजना**=शोभा पाना, शोभायमान होना—***'उर आयत भ्राजत बिबिध बाल बिभूषन चीर।'*** **बिद्रुम**=मूँगा। **मरकत**=पन्ना, पिरोजेकी जातिका हरे रङ्गका एक रत्न जो प्रायः स्लेट और ग्रेनाइटकी खानोंसे निकलता है, नीलमणि। **'स्फटिकमणि'**=एक प्रकारका सफेद बहुमूल्य पत्थर या रत्न जो काँचके समान पारदर्शी होता है, इसके कई भेद और रङ्ग होते हैं। **पुरट**=सोना। **बज्र**=हीरा—यह रत्न या बहुमूल्य पत्थर अपनी चमक-दमक और अत्यन्त कठोरताके लिये प्रसिद्ध है। अधिकतर यह सफेद ही होता है पर रत्न-परीक्षाकी पुस्तकोंमें हीरेकी पाँच छायाएँ कही गयी हैं—लाल, पीली, काली, हरी और श्वेत। इसके पाँच गुण कहे गये हैं—अठपहल, छकोना होना, लघु, उज्ज्वल और नुकीला होना।

अर्थ—महलोंमें मणियोंके दीपक शोभित हो रहे हैं, महल (दीपकोंसे) शोभित हैं और देहरियाँ मूँगोंसे रची हुई प्रकाशित हैं। मणियोंके खम्भे हैं। दीवारें नीलमणियोंसे जड़ी हुई सोनेकी (ऐसी सुन्दर हैं मानो) ब्रह्माने विशेष सँवारकर बनायी हैं। मन्दिर (घर) सुन्दर, मन हरण करनेवाले और विस्तृत (लम्बे-चौड़े) हैं। आँगन सुन्दर स्फटिक मणिके बने हैं। प्रत्येक दरवाजेमें बहुत-से एवं अनेक प्रकारके हीरोंसे अच्छी तरहसे जड़े हुए सोनेके किंवाड़े लगे हैं। घर-घर सुन्दर चित्रशालाएँ हैं। जिनमें भली प्रकार सँवारकर श्रीरामजीके चरित लिखे हैं। जो मुनि देखते हैं उनके मनको ये चरित-चित्र चुरा लेते हैं (अर्थात् वे साक्षात्-से जान पड़ते हैं, चितेरेके बनाये हुए नहीं लगते अतः) मन मुग्ध हो जाता है॥ २७॥

* बज्रहिं। † 'गृह प्रतिरचि लिषे बनाइ'। ‡ निरषत मुनिमन—(का०)

नोट—*'देहरी बिद्रुम रची·········'* इति—मिलान कीजिये—'**विद्रुमोदुम्बरद्वारैर्वैदूर्यस्तम्भपंक्तिभिः। स्थलैर्मारकतैः स्वच्छैर्भातं स्फटिकभित्तिभिः॥ चित्रस्रग्भिः पट्टिकाभिर्वासोमणिगणांशुकैः।**' (९। ११। ३२-३३) अर्थात् दरवाजोंमें मूँगेकी देहलियाँ, वैदूर्यमणिके खम्भोंकी पंक्ति, मरकतमणिके धरातल और उज्ज्वल स्फटिकमणिकी दीवारें, चित्रमाला, पट्टिका, वस्त्र, मणिसमूहकी किरणें।'

पं० रा० व० श०—*'बिरंचि बिरची'* कहकर अतिशय और अलौकिक सौन्दर्य जनाया। वस्तुतः यह ब्रह्माकी रची नहीं है। अवतारके समय नित्यधामका पूर्णाविर्भाव होता है। (श्रीजाम्बवान्के *'निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि। सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि।'* (४। २६) इन वचनोंसे भी यही बात सिद्ध होती है)।

टिप्पणी—१ *'बिरंचि बिरची'* में गम्योत्प्रेक्षा है।—[खर्रा—अर्थ यह है कि ब्रह्माने बीच-बीचमें दूसरे रङ्गकी मणि, कनक, पन्नासे भीति रची है।] २—*'रामचरित जे निरखि मुनि·········'* इति। भाव कि चित्रमें अनेक चरित एकत्र देख पड़ते हैं जो प्रत्यक्षका सुख देते हैं; इसीसे मुनियोंके मन चुरा जाते हैं। यहाँ केवल मुनिमनका चुराना लिखते हैं। कारण कि इस प्रसङ्गभरमें केवल मुनियोंका नगर-दर्शन करना लिखा है—*'नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा॥·········'*, इसीसे केवल मुनियोंके मनका मोहित होना लिखा है।—(☞ *'देखि नगर बिराग बिसरावहिं'* का वहाँ उपक्रम है और यहाँ उपसंहार।)

सुमन बाटिका सबहि लगाई। बिबिध भाँति करि जतन बनाई॥ १॥
लता ललित बहु जाति सुहाई। फूलहिं सदा बसंत की नाँई॥ २॥
गुंजत मधुकर मुखर मनोहर। मारुत त्रिबिधि सदा बह सुंदर॥ ३॥
नाना खग बालकन्हि जिआए। बोलत मधुर उड़ात सुहाए॥ ४॥

अर्थ—सभी लोगोंने विविध भाँतिके फूलोंकी वाटिकाएँ अनेक प्रकारसे यत्न करके बनाकर लगायी हैं॥ १॥ बहुत जातिकी ललित सुहावनी बेल सदा वसन्तकी तरह फूला करती हैं॥ २॥ भ्रमर मनहरण शब्द गुञ्जार रहे हैं। तीनों प्रकारकी सुन्दर वायु सदा चलती है॥ ३॥ बालकोंने अनेक पक्षी पाले हैं जो मधुर शब्द बोलते हैं और उड़नेमें सुन्दर लगते हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'सुमन बाटिका सबहि लगाई'* क्योंकि सबके घरोंमें देवपूजन होता है। (ख) *'बिबिध भाँति करि जतन बनाई'* का भाव कि एक-एक पेड़में कई फूलोंके रङ्ग और कई फूलोंकी सुगन्ध कर दी है, ऐसे ही अनेक यत्न हैं।

रा० प्र०—यत्न अर्थात् रक्षा और वर्द्धनके उपाय जैसे कि बारी लगाना, आलबाल, सिञ्चनादि।

वै०—*'बिबिध भाँति करि जतन बनाई'* से यह भी जनाया कि वाटिकाओंमें मेंहदी, गड़हरि आदिकी टट्टियाँ, गेंदा, गुलाब, मोगरा, सेवती आदि गुल्म, बेला-चमेली, कुन्दी-नेवारी आदि लताओंके कुञ्ज, अनार बिही आदिके कुञ्ज, तथा अंगूरके टट्टर इत्यादि अनेक भाँतिके बड़े यत्नसे बनाये हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'लता ललित·········'* इति। सुमनवाटिकाका लगाना कहा। अतः फिर लताका वर्णन करते हैं। *'बहु जाति सुहाई'* कहकर जनाया कि वृक्षोंके अनुकूल सुन्दर नवीन पल्लवित विविध रंगके पुष्पोंवाली बेलें उनपर दौड़ाई हैं जो उनमें विशेष शोभित हों और वृक्षोंकी भी शोभा बढ़ावें। (ख) *'फूलहिं सदा बसंत की नाँई।'* यह भी विविध प्रकारके यत्नोंमेंसे एक यत्न है जिससे लताएँ सदैव वसन्त ऋतुकी तरह फूला करती और सुन्दर एवं ललित बनी रहती हैं। ३ (क) *'गुंजत मधुकर मुखर मनोहर'* इति। मनोहरसे यहाँ मधुर अर्थ अभिप्रेत है। मधुकरकी शोभा मधुर-गुञ्जारमें है, यथा—*'मधुप मधुर गुंजत छबि लहहीं।'* (ख) वाटिकामें फूलोंका वर्णन करके तब भ्रमरोंको कहा, क्योंकि 'मधुकर' फूलोंके मकरन्दका ग्रहण करनेवाला है। मधुपान करनेसे ही 'मधुकर' नाम है। [मधुकर और खगका साथ है पर यह केवल पुष्पवाटिका है इससे यहाँ केवल भौंरोंको कहा—(रा० शं०)] (ग) *'सदा बह सुंदर'* का भाव कि

रामराज्यमें 'सदा' चलती है नहीं तो शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु सदा कभी नहीं चलती। सुन्दरसे सूचित किया कि सम्मुख चलती है।

नोट—*'नाना खग बालकन्हि जिआए।'* पक्षी पालनेका व्यसन प्राय: बालकोंको अधिक होता है। पालकर रामनाम रटाते हैं। *'जिआए'* से जनाया कि पक्षियोंके पैदा होते ही उनको पालकर जिलाया। यह नहीं कि बड़े होनेपर उन्हें पकड़ या पकड़वाकर रखा हो। बचपनसे पालन करनेसे दोनों ओर बड़ा प्रेम रहता है। बड़े होनेपर उड़ते हैं, पर कहीं चले नहीं जाते। बैजनाथजी लिखते है कि *'उड़ात सुहाए'* से जनाया कि 'गिरहबाज' गिरह खाते हैं, बहुत-से ऊँचे चढ़ जाते हैं, इत्यादि।

मोर हंस सारस पारावत। भवनन्हि* पर सोभा अति पावत॥ ५॥
जहँ तहँ देखहिं† निज परछाहीं। बहु बिधि कूजहिं नृत्य कराहीं॥ ६॥
सुक सारिका पढ़ावहिं बालक। कहहु राम रघुपति जन पालक॥ ७॥
राजदुआर सकल बिधि चारू। बीथीं चौहट रुचिर बजारू॥ ८॥

अर्थ—मोर, हंस, सारस और कबूतर घरोंके ऊपर अत्यन्त शोभा पाते हैं (भाव कि मोर अपनी बोली और नृत्यसे, हंस और सारस बोलीसे और कबूतर उड़ानसे शोभाको प्राप्त होते हैं)॥ ५॥ पक्षी जहाँ-तहाँ (सब ओर मणियोंमें) अपना प्रतिबिम्ब देखकर (और प्रतिबिम्बको अपना सजातीय दूसरा पक्षी जानकर) बहुत प्रकार बोलते और नाचते हैं॥ ६॥ बालक तोता-मैनाओंको पढ़ाते हैं कि सब प्राणियों एवं निज दासोंके पालन करनेवाले रघुकुलके राजाका 'राम' नाम उच्चारण करो एवं *'कहहु राम रघुपति जन पालक'* ऐसा कहो॥ ७॥ राजद्वार सब प्रकार सुन्दर है। गलियाँ, चौराहे और बाजार सुन्दर दीप्तमान् हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ ऊपर पक्षियोंका बोलना और उड़ना कहा, अब इनमेंसे किसी-किसीके नाम लिखते हैं [*'भवनन्हि पर सोभा अति पावत'* से यह भी जनाया कि स्फटिक-मणिमय भवनपर बैठनेसे वे एकके दो दिखायी पड़ते हैं। बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों असली जान पड़ते हैं। (बै०) *'उड़ात सुहाए' 'सोभा अति पावत॥'* उड़तेमें केवल *'सुहाए'* कहा क्योंकि उड़तेमें पूरी सुन्दरता नहीं देख पड़ती, और भवनोंपर *'अति सोभा'* पाना कहा क्योंकि बैठेमें पूरी शोभा देखनेमें आती है। वा, प्रतिबिम्ब मणियोंमें देख पड़ता है इससे अधिक शोभा पाना कहा। (रा० शं० श०)]

२ (क) *'सुक सारिका पढ़ावहिं बालक'* इति। भाव कि जो बड़े हैं वे तो कथा-पुराण रामचरित पढ़ते या सुनते हैं जैसा पूर्व कह आये, रहे बालक सो तोता-मैनाको राम-राम पढ़ाते हैं। ☞शुकसारिकाको छोड़ अन्य पक्षी वर्णात्मक वाणी नहीं बोलते, इसीसे इन्हींको पढ़ाते हैं। (ख) *'कहहु राम रघुपति जन पालक'* अर्थात् कहते हैं कि राम कहो। कौन राम? निर्गुण राम नहीं, वरन् *'राम'* जो रघुवंशके रक्षक हैं और केवल रघुकुलके ही पति नहीं हैं किन्तु दासोंके भी पालनकर्ता हैं। पुन: भाव कि *राम'* कहकर निर्गुण ब्रह्म जनाया, रघुपति कहकर जनाया कि वह निर्गुण ब्रह्म रघुवंशमें अवतीर्ण हुए और *'जन पालक'* कहकर बताया कि अवतार लेकर उन्होंने दुष्टोंको मारकर अपने जनोंका पालन किया—इस प्रकार पक्षियोंको रामायण पढ़ाते हैं। [पुन: राम अर्थात् जो सबमें रमण किये हैं और सारा जगत् जिनमें रमण किये हुए है, जो सर्वव्यापक हैं। *'रघुपति'* अर्थात् वे ही रघुकुलके राजा और जगत्के जीवमात्र (रघु=जीव) के स्वामी हैं। *'जनपालक'* अर्थात् भक्तोंका विशेष पालन करते हैं, यथा—*'जगपालक बिसेषि जनत्राता'* इस प्रकार रामसे ऐश्वर्य, रघुपतिसे माधुर्य और जनपालकसे ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों दिखाये। इस कथनसे बालकोंका स्वाभाविक प्रेम दिखाते हैं। नहीं तो अभी उनको ज्ञान कहाँ?]

३ *'रामदुआर सकल बिधि चारू'* इति। ☞नारदादि सनकादि मुनीश्वर नगर देखते-देखते आकर

---

* भवननि—भा० दा०। भवनन्हि—(का०)। † निर्षहिं—(का०)।

राजद्वारके समीप पहुँचे और इसे देखने लगे, तब इसका वर्णन किया। '.........*सकल बिधि चारू*' का भाव कि '*जो संपदा नीच गृह सोहा। सो बिलोकि सुरनायक मोहा॥*' तब भला इसका क्या कहना? (रा० प्र०) (यह तो खास राजद्वार ही है। यथा—'*सोभा दसरथ भवन की को कबि बरनै पार।*' (१। २९७) '*अति अनूप जहँ जनक निवासू*' इत्यादि)]।

छंद—बाजार रुचिर* न बनै बरनत बस्तु बिनु गथ पाइये।
जहँ भूप रमानिवास तहँ की संपदा किमि गाइये॥
बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुँ कुबेर ते।
तब सुखी सब सच्चरित सुंदर नारि नर सिसु जरठ जे॥

दो०—उत्तर दिसि सरजू बह निर्मल जल गंभीर।
बाँधे घाट मनोहर स्वल्प पंक नहिं तीर॥ २८॥

अर्थ—बाजार सुन्दर है, वर्णन करते नहीं बनता, वस्तु बिना मूल्य मिलती है। जहाँ श्रीरमापति राजा हैं वहाँकी सम्पत्ति कैसे कही जा सकती है? अनेक बजाज (कपड़ा बेचनेवाले), सराफ (सोने-चाँदी-मणि इत्यादिका व्यापार करनेवाले), बनिये (अन्न आदिका व्यापार करनेवाले) बैठे ऐसे जान पड़ते हैं मानो वे कुबेर (समस्त धनके देवता) ही हैं। स्त्री, पुरुष, बच्चे, बूढ़े जो भी हैं वे सब सुखी हैं, सब अच्छी चाल चलनेवाले हैं और सब सुन्दर हैं। नगरकी उत्तर दिशामें श्रीसरयूजी बह रही हैं, उनका जल निर्मल और गम्भीर (गहरा) है। सुन्दर घाट बने हैं, किनारेपर जरा-सी भी कीचड़ नहीं है॥ २८॥

टिप्पणी—१ '*बस्तु बिनु गथ पाइये*' यह भी बाजारकी शोभा है। तात्पर्य कि लेनेवाले और देनेवाले दोनों ही ईमानदार हैं। देनेवाला बिना दाम देता है और लेनेवाला बिना माँगे दाम दे देता है। २—'*मनहु कुबेर ते*' इति। भाव कि यद्यपि कुबेरके समान हैं तथापि अपने-अपने धर्ममें आरूढ़ हैं अर्थात् अपना धर्म (कुलका व्यापार) करते हैं। कुबेरके समान हैं इसीसे बिना दाम लिये अर्थात् उधार वस्तु देते हैं। कुबेरके समान वस्तु लेकर बैठे हैं, इससे सूचित करते हैं कि कुबेरके समान सबको वस्तु दे रहे हैं।

वि० त्रि०—सीधा-सा अर्थ है कि बिना दामकी वस्तुएँ बाजारमें मिलती थीं। यह बात असम्भव नहीं है। कुछ दिन हुए मैं बदरीविशालकी यात्रामें गया था। उस रास्तेमें एक दूकानदार ऐसा मिला जो कि द्रव्यहीन यात्रीको बिना दामके चावल-दाल आदि देता था। मैं नगरका रहनेवाला उसके व्रतको देखकर अवाक् रह गया था, पर बात ऐसी थी कि इतनी दूरकी यात्रा करनेवाले धर्मात्मा यात्री बिना दाम दिये लेना नहीं चाहते थे। कोई गरीब लाचार दाम नहीं दे सकता था, उसे वह मुफ्त देता था। इस भाँति भगवान् उसका व्रत निबाहते थे। रामराज्यमें कोई बिना दाम दिये लेना नहीं चाहता था, सभी सम्पन्न थे, पर यदि लेना चाहे, तो उसे बिना दाम दिये मिलती। ऐसी बातें धर्मराज्यमें ही सम्भव हैं।

पं० रा० कु०—'*सब सुखी*.........' इति। भाव कि कुबेरके समान धनी हैं और आरोग्य भी हैं क्योंकि सब सदाचरणवाले हैं।

करु०—रमानिवास=लक्ष्मीनिवास अर्थात् जो सब ब्रह्माण्डोंकी श्रीके निवासस्थान अर्थात् स्वामी हैं। इससे त्रिपाद्‌विभूतियुक्त जनाया।

रा० शं० १—राजद्वारके बाद चौकके वर्णनसे बाजारका चौकमें होना प्रतीत होता है। २—सम्पदाका उल्लेख पूर्व भी आ चुका है पर वह नगरके सम्बन्धमें था और यह सम्पदा केवल बाजारकी है। पुनः पूर्व सम्पदाके साथ सुख और समाज भी कहा था क्योंकि घरोंमें सम्पदाके साथ सुख और उसकी सब सामग्री भी रहती है और बाजारमें सम्पदा ही प्रधान है। ३—'*बजाज सराफ*' कहकर '*बनिक*' पद

* चारु—(का०)।

दिया, इससे सूचित हुआ कि सब बेचनेवालोंकी वणिक् संज्ञा है, यथा—'*साक बनिक मनि गुनगन जैसे।*' —(रा० प्र०—जो बयाई लेवे वह बनिया)

'बाजार बस्तु बिनु गथ' पाइये.........'

वि० टी०—'*बस्तु बिनु गथ पाइये*' का भाव यह है कि सब दूकानदार सत्यवादी और एकवचनी थे, इस हेतु वस्तुओंका मोल-भाव न करना पड़ता था। कोई-कोई इसका ऐसा भी अर्थ करते हैं कि लोग बाजारसे बिना दाम चुकाये ही वस्तुएँ ले जा सकते थे क्योंकि न बेचनेवालेको दाम पानेमें सन्देह रहता था और न दाम देनेवालेको दाम देनेमें विलम्ब होता था। अतएव तकाजा करनेकी आवश्यकता ही न थी; परन्तु आजकलका बर्ताव और ही ढङ्गका हो रहा है, यहाँतक कि लिखे हुए कागजको भी झूठा ठहरानेमें लोग आगा-पीछा नहीं करते।

वै०—बिना मोल पानेका हेतु यह है कि ग्राहक कोई कङ्गाल नहीं है, अधर्मी नहीं है कि परायी वस्तु लेकर दाम न दे और बेचनेवाले भी उदार हैं, परोपकारी हैं उनको यह चिन्ता नहीं कि दाम मिले ही, दूसरेका काम बने यही चित्तमें रहता है। दाम माँगते नहीं और दिया तो ले लिया।

पं० रा० व० श०—१ इसमें शङ्का होती है कि बिना मोल-मुनाफा देते हैं तो खायेंगे कहाँसे? इसके निवारणार्थ कहते हैं कि '*रमानाथ जहँ राजा*' वहाँ किसीको कभी कमी कहाँ और कैसी? २—सुख पानेसे प्रमादका भय है अतः कहा कि यहाँ ऐसा नहीं है, सब सच्चरित हैं।

नोट—गथ सिक्केको या दाम और कीमतको कहते हैं। बाजार बड़ा सुन्दर है अर्थात् खूब सजा हुआ है, इस तरहकी चीजें आसानीसे मिल सकती हैं। खूबी यह है कि बिना दामके मिलती हैं, न दूकानदार दाम माँगता है और न ग्राहक देता है। परन्तु यह आजकलके अर्थशास्त्रके युगमें बड़ी अद्भुत बात होगी। आधुनिक अर्थशास्त्र स्वार्थपर अवलम्बित है। इसीलिये उसे यह समझमें नहीं आता कि जब दूकानदारको मालके दाम न मिलेंगे तो वह दूकान किस लिये रखेगा। ग्राहकका स्वार्थ तो सध जाता है परन्तु दूकानदारको ही क्यों परमार्थका इतना उदार भाव मनमें जमा होना चाहिये? परन्तु इस प्रश्नको बहुत गम्भीर रीतिसे समझनेकी आवश्यकता है। दूकानदार भी तो ग्राहक होता है। कपड़ेके दूकानदारको अनाज और मसालोंकी जरूरत होती है, बरतन और जूतोंकी जरूरत होती है; वह यह सब चीजें बिना दामके ले आता है। कपड़े बनानेवालेसे दूकानपर रखनेके वास्ते उसे कपड़े भी तो बिना दामके मिलते हैं। जब वह स्वयं बेदामके पाता है तब वह दूसरेसे दाम क्यों लेने लगा? किसानको जो चीजें चाहिये वह दूकानदारोंसे ले लेता है और अपना गल्ला अपने खानेभरको रखकर व्यापारियोंको दे देता है। जब प्रत्येक मनुष्यको उसके जरूरतकी चीज उसके समयपर बिना दामके मिल जाती है तो न किसीको इस बातकी जरूरत है कि सिक्का या चाँदी-सोनेका सङ्ग्रह करे और न इस बातका लालच है कि वह किसीके धनका अपहरण धुननेवाला करे। इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि कपड़ा बीननेवाला, सूत कातनेवाला और सीनेवाला कपड़े तैयार करनेकी मेहनत क्यों करे? उसे पैसे तो मिलनेवाले नहीं हैं, उसके परिश्रमका प्रवर्त्तक क्या होगा? जुलाहा सूत कातनेवालेके पास आता है और हर महीने जो दस सेर सूत लेने आता था वह लेने आया परन्तु पा न सका। दाम तो देने नहीं हैं, यह तो बड़ा गड़बड़ हुआ। कातनेवालेने अपना कर्तव्य पालन नहीं किया। क्या कातनेवालेको यह अधिकार है कि गल्लेवालेकी दूकानसे बिना मोलके गल्ला ले आवे? नहीं। रामराज्यकी सहज सुख सम्पदाका कर्तव्य विमुख हो जानेसे वह अधिकारी नहीं रह जाता, उसे तो अपना कर्तव्य पालन करना ही चाहिये। जैसे आजकल धन या पैसेकी आवश्यकता समाजके आर्थिक सञ्चालनका कारण बन रही है उसी तरह रामराज्यमें धर्मपरायणता या सच्चरित्रता उस समय समाजके आर्थिक संगठनका कारण थी। प्रत्येक मनुष्यको यह पूरा विश्वास था कि मैं कर्तव्यपरायण रहूँगा तो मेरी आवश्यकता बराबर पूरी होती रहेगी। इसीलिये कोई व्यर्थका परिग्रह नहीं करता था। जब हमें यह भय हो कि कल अमुक वस्तु न मिलेगी तो काम न होगा और मिलनेका निश्चय भी नहीं है तब हम कलके

लिये उस वस्तुका सङ्ग्रह कर लेते हैं। परन्तु जब स्थिति यह है कि मानो हमारा ही भण्डार बाजारमें भरा हुआ है तो अपने घरमें अलग कोठरीमें रखनेका प्रयास क्यों करेगा? इस प्रसङ्गमें यह बात भी ध्यानमें रखने योग्य है कि सभी अपने वर्णाश्रम धर्मके अनुवर्त्ती हैं, सबका चित्त धर्ममें प्रवृत्त है, पाप कहीं नहीं। इसलिये न तो कुबेरसदृश धनियों और कङ्गालोंका मुकाबिला है और न इस तरहका साम्यवाद ही है कि वर्णाश्रमका विवेक भी नष्ट हो जाय—**'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।'** पाँचों उँगलियोंका-सा समाजमें तारतम्य है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्रोंका कर्तव्य धन और सम्पत्तिका सङ्ग्रह नहीं है। यह कर्तव्य वैश्योंका है और वह भी चारों वर्णोंके कल्याणके लिये है। ब्राह्मण तपोधन है, क्षत्रिय रक्षा करता है, शूद्र सेवा करता है, वैश्य सबके पोषणका बन्दोबस्त करता है और सबको बिना दामके सम्पत्ति देता है। साथ ही बिना दामके शिक्षा, रक्षा और परिचर्या भी पाता है। समाजका सङ्गठन अपूर्व सहकारिताका सङ्गठन है। ऐसे अपूर्व बन्धुत्वके बीच पैसोंके नीच मोलभाव और लेन-देनकी आवश्यकता नहीं पड़ती। रामराज्य धर्मशास्त्रके परमार्थवादपर अवलम्बित था और आजकलकी दशा अर्थशास्त्रके स्वार्थवादपर अवलम्बित है। इस तरह *'बिनु गथ पाइये'* में समाजके अपूर्व परमार्थवादका बीज मौजूद है और व्यञ्जनासे यह प्रकट होता है कि रामराज्यमें आजकलके समाज सङ्गठनकी-सी दशा न थी। जान पड़ता है कि कर्तव्यपालनपर श्रीरामचन्द्रजीका बड़ा कठोर आदर्श बड़ा भारी प्रभाव डालता था और शासनकी ओरसे भी ऐसा कठोर प्रबन्ध था कि कोई प्राणी अपने कर्तव्यसे विमुख जीवन-यापन न करे। शम्बूककी कथाके प्रसङ्गमें लोग यह शङ्का करते हैं कि अपनी राजधानीसे बहुत दूर विन्ध्याचलकी गुफामें उलटे टँगकर हवा पीकर तपस्या करनेवाले शम्बूकको रामचन्द्रजीने प्राण-दण्ड क्यों दिया? इसका उत्तर रामायणोंमें केवल इतना ही है कि शूद्रको ऐसी उग्र तपस्याका कोई अधिकार न था परन्तु बारीकीसे देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस समाजकी आर्थिक नींव कर्तव्य-परायणतापर पड़ी हो, उसके प्रत्येक व्यक्तिको कर्तव्य-परायण होना ही पड़ेगा। न होनेवाला समाजकी नींवको हिला देता है, उसको भारी-से-भारी दण्ड मिलना चाहिये—**'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥'** इसीलिये रामराज्यकी दृष्टिसे शम्बूकका वध उचित ही था। ऐसे राज्यमें और अर्थकी इस व्यवस्थामें कङ्गाल कहाँ मिल सकता है? दरिद्र किसको कह सकते हैं? इसीलिये तो *'रमानिवास'* भूपकी सम्पदा गायी नहीं जा सकती, जहाँ हर एक बनिया कुबेरके समान है और जहाँ स्त्री, पुरुष, बच्चे, बूढ़े सभी सुखी हैं और सभी ईमानदार, धर्मात्मा और सच्चरित हैं।

दूरि फराक रुचिर सो घाटा। जहँ जल पिअहिं बाजि गज ठाटा॥ १॥
पनिघट परम मनोहर नाना। तहाँ न पुरुष करहिं अस्नाना॥ २॥
राजघाट सब बिधि सुंदर बर। मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर॥ ३॥
तीर तीर देवन्ह के मंदिर। चहुँ दिसि तिन्ह* के उपबन सुंदर॥ ४॥

शब्दार्थ—**फराक (फराख फा०)**=लम्बा-चौड़ा, विस्तृत।=(फरक) अलग। **पनिघट (पनघट)**=पानी भरनेका घाट। ठाट=समूह, झुण्ड।

अर्थ—दूर, सबसे अलग और लम्बा-चौड़ा वह घाट है जहाँ घोड़े और हाथियोंके समूह जल पीते हैं॥ १॥ पानी भरनेवाले जनाने घाट बड़े ही सुन्दर और अनेक हैं, वहाँ पुरुष स्नान नहीं करते॥ २॥ राजघाट सब प्रकार सुन्दर और श्रेष्ठ है। वहाँ चारों वर्णोंके लोग स्नान करते हैं॥ ३॥ श्रीसरयूजीके तीर-तीर देवताओंके मन्दिर हैं जिनके चारों ओर सुन्दर उपवन हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *दूरि फराक* =लम्बे-चौड़े (जिसमें एक साथ बहुत-से हाथी-घोड़े जा सकें)। (ख) *'पनिघट परम मनोहर नाना'* से जनाया कि अनेक महल्लोंके अनेक घाट हैं। (ग) *'पुरुष न करहिं अस्नाना',*

* (जिन्ह—का०)

यह धर्मकी मर्यादा दिखायी। स्त्रियोंके स्नानके घाट लिखकर तब पुरुषोंके स्नानका घाट लिखते हैं। २—*'तीर तीर देवन्ह के मंदिर'* से जनाया कि अयोध्यावासी पञ्चदेवके उपासक हैं, पर इनसे श्रीसीतारामचरणानुराग ही माँगते हैं। यथा—*'करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी॥ रमारमन पद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी॥'* (अ० २७३) मन्दिरोंके पास उपवन हैं जिनमें पूजाके निमित्त सुन्दर फूल-फल लगे हैं।—[घाटके पास मन्दिर हैं जिसमें स्नान करके मन्दिरमें जाकर प्रथम दर्शन-पूजन करें तब दूसरे काममें लगें। इस प्रसङ्गमें दिखाया कि राजाको केवल मनुष्योंका ही सुख अभिप्रेत न था वरन् पशुओंको भी सुख हो इसका भी वैसा ही खयाल रहता था।—*'खगमृगसुरतापसहितकारी।'* (अ० १४२) सब वर्णोंमें समान भाव था इसीसे राजघाटपर किसीको रोकटोक न थी]।

कहुँ कहुँ सरिता तीर उदासी। बसहिं ग्यानरत मुनि संन्यासी॥५॥
तीर तीर तुलसिका सुहाई। बृंद बृंद बहु मुनिन्ह लगाई॥६॥
पुरसोभा कछु बरनि न जाई। बाहेर नगर परम रुचिराई॥७॥
देखत पुरी अखिल अघ भागा। बन उपबन बापिका तड़ागा॥८॥

अर्थ—कहीं-कहीं नदीके किनारे उदासी, मुनि और संन्यासी वास करते हैं जो ज्ञानमें रत (लगे हुए) हैं॥५॥ सुन्दर तुलसीवृक्षके झुण्ड-के-झुण्ड बहुत-से मुनियोंने श्रीसरयूके तीर-तीर लगाये हैं॥६॥ (जहाँ) नगरके बाहरकी परम शोभा है (वहाँ) पुरकी शोभा कुछ कहते नहीं बनती॥७॥ श्रीअयोध्यापुरीके दर्शनसे समस्त पाप भाग जाते हैं। वन, उपवन, बावली और तालाब (पुरीमें शोभा दे रहे हैं)॥८॥

टिप्पणी—१—*'कहुँ कहुँ सरिता तीर उदासी'''''''* इति। (क)—उदासी आदि एकान्तवासी होते हैं इसीसे यहाँ कहीं-कहीं बसते हैं। (*'उदासी'* वह हैं जिन्हें जगत्के पदार्थोंकी न चाह है न उनसे वैर है; ये वेदान्त तथा स्वरूपके यत्न और मननमें लगे रहते हैं।) अथवा, समस्त अयोध्यामें रामोपासक बसते हैं, इसीसे यहाँ उदासी आदिका वास कहीं-कहींका लिखते हैं—(पां०) संन्यास आश्रमके चार भेद हैं—(१) कुटीचक, (२) बहूदक, (३) हंस और (४) परमहंस। यहाँ (१) उदासी, (२) ज्ञानरत, (३) मुनि और (४) संन्यासी कहकर क्रमशः चारोंको लक्षित करते हैं। इनमेंसे कुटीचक और बहूदक आजकल बहुत कम मिलते हैं। वैरागी समाज सम्भवतः हंस संन्यासी हैं, क्योंकि इनमें गृहस्थाश्रमका त्याग है, पर शिखा-यज्ञोपवीतका त्याग नहीं है, और ये गैरिक वसन भी धारण नहीं करते। केवल परमहंस शिखा-यज्ञोपवीतका त्याग करते हैं और गैरिक वसन धारण करते हैं, उन्हींको आजकल लोग संन्यासी कहते हैं। मोक्षदायिका सातों पुरियोंमें प्रथम होनेसे ये लोग भी यहाँ बसते थे, पर समाज बाँधकर नहीं, दूर-दूरपर कुटियाएँ बना रखी थीं, और संख्यामें भी थोड़े थे, इसलिये *'कहुँ कहुँ'* कहा। स्वयं गोस्वामीजी हंस वेषके संन्यासी (वैरागी) थे, यथा—*'करि हंस को बेष बड़ो सबसे तजि दे बकबायसकी करनी।'* (वि० त्रि०)] (ख) वेदमें कर्म, ज्ञान और उपासना तीन काण्ड हैं, यहाँ उन तीनोंके स्वरूप दिखाये हैं। *'मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर'* यह कर्म कहा; क्योंकि स्नान करना कर्म है। *'तीर तीर देवन्ह के मंदिर'* यह उपासना कही; क्योंकि देवाराधन उपासना है। और *'कहुँ कहुँ सरिता तीर उदासी'* यह ज्ञानका स्वरूप है।

२—*'तीर तीर तुलसिका सुहाई।''''''''* इति। प्रथम उदासी, मुनि (ज्ञानी) और संन्यासीका वास कहा। इनमेंसे मुनियोंका तुलसिकावृन्द लगाना कहते हैं औरोंका नहीं, क्योंकि मुनिलोग भगवान्‌की पूजा करते हैं, तुलसी उनके प्रयोजनकी वस्तु है। उदासी और संन्यासी केवल ज्ञानरत रहते हैं इसीसे उनका लगाना न कहा; तुलसी इनके प्रयोजनकी वस्तु नहीं है।

३—*'पुर सोभा कछु बरनि न जाई'* कहकर नगर-शोभा-वर्णनकी इति लगाते हैं और अब नगरके बाहरकी शोभा कहते हैं। *'सुहाई'* से जनाया कि लघुमञ्जरी युक्त श्याम वा हरित ललित दल सघन शोभा दे रहे हैं, ऐसे ही दल भगवान्‌को चढ़ानेका विधान है।

☞ *'कहुँ-कहुँ' 'तीर तीर' 'बृंद बृंद'* का रुचिरताके लिये दो-दो बार आना 'पुनरुक्ति प्रकाश' अलङ्कार है।

४—*'देखत पुरी अखिल अघ भागा'* इति। (क) *'बाहेर नगर परम रुचिराई'* यह लिखकर तब पुरीदर्शनका फल लिखनेका भाव कि अयोध्यानगर देखनेमें परम सुन्दर है और उसके दर्शनसे सम्पूर्ण पाप दूर हो जाते हैं। अखिल अघसे मन, कर्म और वचन तीनोंके पाप, महापातक और उपपातक सभीका भाग जाना जनाया। [यथायोध्यामाहात्म्ये—**'सर्वोपपातकैर्युक्तैर्ब्रह्महत्यादिपातकैः। न योध्या सर्वतो यस्मात्तामयोध्यां ततो विदुः॥'** पुनः यथा—**'पापकोटिसमायुक्तश्चैत्रे नावमिके तिथौ। पापकोटिं नरस्त्यक्त्वा जन्मभूमेः प्रदर्शनात्।** सत्योपाख्यान (वै) (ख) जब परम सुन्दर कहा तब उसको नगर कहा क्योंकि नगरकी सुन्दरता कही और सराही जाती है और जब पापक्षय होना कहा तब उसको पुरी कहा क्योंकि पुरी तीर्थवाचक है, तीर्थके दर्शनहीसे पापका नाश होता है। यथा—*'कपिन्ह देखावत नगर मनोहर'* एवं *'पावन पुरी रुचिर यह देसा'* (दो० ४। १, २) वहाँ भी जब नगर कहा तब मनोहर कहा है। पुनः यथा—*'पहुँचे दूत राम पुर पावन। हरषे नगर बिलोकि सुहावन॥'* (१। २९०। १)

५—पुरीका वर्णन करके *'बन उपबन बापिका तड़ागा'* के वर्णनका भाव यह है कि जहाँ पुरका वर्णन कवि करे वहाँ वनादिका अवश्य करे, यह कवियोंका नियम है।

वै०—पुरके बाहर १२ वन हैं—अशोक, सन्तानक, मन्दार, पारिजात, चन्दन, चम्पक, रमणक, प्रमोद, आम्र, पनस, कदम्ब, तमाल। यथा—**'पश्यध्वममरास्सर्वे वनं चाशोकसंज्ञकम्। सन्तानकवनं चात्र मन्दारवनमेव च। वनं च पारिजातानां चन्दनानां तथैव च। चम्पकानां वनं दिव्यं यत्र यान्ति न षट्पदाः। वनं रमणकं देवा रमणं यत्र वै हरेः। वनं प्रमोदकं चापि प्रमोदं यत्र भूरिशः। आम्राणां च वनं दिव्यं तथैव पनसैः कृतम्। कदम्बानां वनं दीर्घं केशरैरुपशोभितम्। तमालानां वनं दिव्यं वल्लीभिः परिवेष्टितम्॥'** (सत्योपाख्यान)

खर्रा—भाव यह कि पुरी, वन और उपवनादिके दर्शनसे पाप भाग जाता है तब भीतर प्रवेशकी बात ही क्या है?

☞ रा० प्र०—*'भागा'* अर्थात् जैसे सिंहको देख मृग भागे।—(वा, वधिकको देख पशु भागें,) यथा—*'मुनि गुनि निकट बिहँग मृग जाहीं। बाधक बधिक बिलोकि पराहीं॥'* (अ० २६४। ३)

छंद—बापी तड़ाग अनूप कूप मनोहरायत सोहहीं।
सोपान सुंदर नीर निर्मल देखि सुर मुनि मोहहीं॥
बहु रंग कंज अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं।
आराम रम्य पिकादि खग रव जनु पथिक हंकारहीं॥

दो०—रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाइ।
अनिमादिक सुख संपदा रही अवध सब छाइ॥ २९॥

शब्दार्थ—**अनूप** (सं०) **अनुपम**=उपमारहित, बेजोड़। (सं०)=जलप्राय, जहाँ जल अधिक हो।=सुन्दर। **आयत**=विस्तृत; लम्बा-चौड़ा। **आराम**=बाग, फुलवारी। अणिमादि—बाल० मं० सो० १ देखिये।

अर्थ—बावलियाँ, तालाब और कुएँ सब जलसे भरे हुए हैं, उपमारहित, सुन्दर तथा लम्बे-चौड़े हैं और शोभा दे रहे हैं। (बावली और तालाबोंकी) सीढ़ियाँ सुन्दर हैं, सबका जल निर्मल है। देवता और मुनि देखकर मोहित हो जाते हैं। (तालाबोंमें) बहुत रंगके अनेक कमल (फूले) हैं। अनेक पक्षी अपनी-अपनी बोली बोल रहे हैं और भौंरे गुंजार (शब्द) कर रहे हैं। बाग रमणीक हैं। उनमें कोकिलादि पक्षियोंके शब्द ऐसे हैं मानो वे बोलकर राह चलनेवालोंको बुलाते हैं (तात्पर्य कि मधुर शब्द सुननेके लिये पथिक लौट आते हैं)। रमापति जहाँके राजा हैं वह नगर क्या वर्णन किया जा सकता है? (अर्थात् नहीं)। अणिमादिक अष्टसिद्धियाँ, सुख और सम्पत्ति और नवों निधियाँ सब अवधमें छाकर रह गयीं। (अर्थात्

बस गयी हैं, यहाँसे कहीं जाती नहीं, यह सोचकर कि यहाँ लक्ष्मी और लक्ष्मीके स्वामी निवास करते हैं तब हम इसे छोड़कर कहाँ जायँ।)*॥ २९॥

नोट—१ (क) बावली, तालाब और कुओंकी अनुपमता कई कारणोंसे है। बापी तड़ागोंमें सुन्दर मणि-सोपानें हैं, उनके बनाव विचित्र हैं, जल निर्मल शीतल स्वादिष्ट सुखकारी है। सभी जलाशय सदा जलसे पूर्ण रहते हैं यह बात भी सूचित करनेके लिये 'अनूप' शब्द दिया गया जिसमें दोनों भाव हैं। सबको अनुपम कहकर आगे उसकी अनुपमता दिखाते हैं कि देखकर सुर-मुनि भी मोहित हो जाते हैं, देखते ही रह जाते हैं। (ख) श्रीअयोध्याजीमें अनेकों तालाब थे। जैसे कि सूर्यकुण्ड, विद्याकुण्ड, सीताकुण्ड, हनुमानकुण्ड, वसिष्ठकुण्ड, चक्रतीर्थ इत्यादि। कूपोंमें श्रीसीताकूप अब भी प्रसिद्ध है।

टिप्पणी—१ (क) *'सोपान सुंदर नीर·········सुर मुनि मोहहीं'* इति। सुर प्रवृत्तिमार्गवाले हैं और मुनि निवृत्तिमार्गके हैं। इन दोनोंको कहकर दोनों मार्गवालोंका मोहित होना कहा। (ख) *'बहुरंग कंज·········'* इति। जलाशय कहकर इन पक्षियोंका वर्णन करना सूचित करता है कि ये सब पक्षी जलाशयके हैं। बागोंके पिकादि पक्षियोंका वर्णन आगे है।

'जनु पथिक हंकारहीं' में 'सिद्ध विषया वस्तूत्प्रेक्षा' है। *'बरनि कि जाइ'* में वक्रोक्ति अलंकार है। रमानाथ राजा हैं, इन्हींके समीप भरपूर लक्ष्मीका विस्तार होना 'परिकरांकुर अलंकार' है।

नोट—१ मिलान कीजिये—*'बिकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा। बोलत जलकुक्कुट कलहंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥'·········'सुंदर खगगन गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत बोलाई॥'* आ० ४० (१—४) यही सब भाव यहाँ है। *'पथिक हंकारहीं'* कहकर जनाया कि पथिक उधरसे निकलनेपर बिना वन-उपवन-वाटिकाकी सैर किये, बिना फल खाये, पक्षीकी बोली सुने, वहाँसे जाते नहीं, अवश्य वहाँ कुछ देर विश्राम कर लेते हैं।

नोट—२ *'अनिमादिक सुख संपदा रही·········'* अर्थात् अष्टसिद्धियाँ अपने-अपने सुखको लेकर आ बसीं। सिद्धियोंके नाम—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व। (विशेष बा० २२। ४ देखो) (पं० रा० कु०)।

अणिमादिके साथ सुख-सम्पदा कहनेसे अष्ट अथवा नवनिधियाँ भी जनायीं। मार्कण्डेयपुराणमें निधियोंकी संख्या आठ ही बतायी गयी है। यथा—**'यत्र पद्ममहापद्मौ तथा मकरकच्छपौ। मुकुन्दो नन्दकश्चैव नीलः शङ्खोऽष्टमो निधिः॥'** (अध्याय ६५। ५) इनका विस्तृत वर्णन २। २२०। १ *'मनहु रंक निधि लूटन लागी'* में किया जा चुका है। इसमें महाशंखको मिलाकर कोई-कोई नौ निधियाँ कहते हैं। इसपर **'महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ। मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव॥'** यह श्लोक है पर कहाँका है इसका पता नहीं। इसमें नन्दककी जगह कुन्द है और खर्व नवीं निधि है। पं० रामकुमारजी कुन्द और वर्च्च दो नाम देते हैं (हो सकता है कि खर्वका 'बर्च्च' प्र० सं० में छप गया हो।)

नोट—श्रीमद्भागवतके पुरञ्जनोपाख्यानके पुरबाहरके वर्णनसे यहाँका वर्णन मिलान करने योग्य है। यथा—**'पुर्यास्तु बाह्योपवने दिव्यद्रुमलताकुले। नदद्विहङ्गालिकुलकोलाहलजलाशये॥' 'हिमनिर्झरविप्रुष्मत्कुसुमाकरवायुना। चलत्प्रवालविटपनलिनीतटसम्पदि॥ नानारण्यमृगव्रातैरनाबाधे मुनिव्रतैः। आहूतं मन्यते पान्थो यत्र कोकिलकूजितैः॥'** (४। २५। १७—१९) अर्थात् उस नगरके बाहर दिव्य वृक्ष और लताओंसे पूर्ण एक उपवन था, जो भाँति-भाँतिकी बोली बोलनेवाले पक्षियों और भौंरोंके कलरवसे गुञ्जायमान सरोवरसे युक्त था। जिसके सरोवर-तीरवर्ती वृक्ष शीतल झरनोंके जलकणयुक्त वसन्तकालीन वायुसे हिलते हुए नव-पल्लवोंसे सम्पन्न होकर उसकी

---

* १ मा० म०—यहाँ 'रमानाथ' पद देकर जानकीजीके नामका भी वियोग कर दिया अर्थात् न सीतानाथ कहा न जानकीनाथ। कारण कि जानकीजी ब्रह्मावर्तमें चली गयी हैं। ऊपरी भाव तो यही है कि दोनोंमें वियोग है पर वस्तुतः उनमें निरन्तर योग है, वियोग कभी नहीं। [मा० म० का यह कथन असङ्गत है; क्योंकि आगे ही कहते हैं कि 'जनकसुतासमेत रघुबीरहि। कस न भजहु भंजन भव भीरहि, (प० प० प्र०)]।

शोभा बढ़ा रहे थे, अहिंसा आदि मुनिव्रतोंको धारण करनेवाले जहाँकि वन्य पशु-समूहोंसे किसीको कोई कष्ट नहीं होता था तथा जहाँ कोकिलकी कूकसे मार्गमें जानेवाले पथिकको अपने बुलाये जानेका भ्रम होता था।

४—*'रही छाइ'* अर्थात् छावनी डाल दी है, वहाँसे कहीं जाती नहीं। ☞*'जातरूप मनि रचित अटारी।'* २७ (३) से *'रमानाथ जहँ राजा'*……… २९ वें दोहेतक पुरका वर्णन हुआ।

पुरवासियोंकी उपासना

जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं। बैठि परस्पर इहै सिखावहिं॥ १॥
भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहि। सोभा सील रूप गुन धामहि॥ २॥
जलज बिलोचन स्यामल गातहि। पलक नयन इव सेवक त्रातहि॥ ३॥
धृत सर रुचिर चाप तूनीरहि। संतकंजवन रबि रनधीरहि॥ ४॥

अर्थ—मनुष्य जहाँ-तहाँ रघुनाथजीका गुण गाते हैं। बैठकर एक-दूसरेको यही सिखाते हैं (कि रघुपति-गुणगान करो। सांसारिक व्यवहार नहीं सिखाते)॥ १॥ शरणागतके पालन करनेवाले श्रीरामजीको भजो। शोभा, शील, रूप और गुणोंके धामको भजो॥ २॥ कमलनयन, श्यामल शरीर, पलक नेत्रकी तरह सेवककी रक्षा करनेवाले श्रीरामजीको भजो॥ ३॥ सुन्दर धनुष, बाण और तरकस धारण करनेवाले, संतरूपी कमलवनको सूर्यरूप, रणधीर श्रीरामजीको भजो॥ ४॥

पं० रा० व० श०—सुख होनेपर ज्ञानके संकोचका सम्भव है, अतः उसके निवारणार्थ कहते हैं कि *'जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं'* इत्यादि। *'तहँ तहँ'* अर्थात् जो जहाँ हैं, दस-बीस एकत्र हैं, वहीं।

टिप्पणी—१ (क) *'बैठि परस्पर इहै सिखावहिं।'* भाव कि जिसको गुणगान करते नहीं देखते उसको बैठकर यही सिखाते हैं—[यह कैसे निश्चय हुआ कि जो गुणगान नहीं करते उनको सिखाते हैं? यहाँ तो 'परस्पर' शब्दसे यह भाव कैसे निकलेगा? गुणगान सभी करते हैं, बैठकर आपसमें चर्चा करना यही गुणगान है जो आगे कहते हैं।] (ख)—*'भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहि'*……… ' इति। प्रथम प्रणत-प्रतिपालक गुण देकर सूचित करते हैं कि प्रभु केवल नम्रतासे रीझते हैं। यह उनका एक प्रधान गुण है। यथा—*'भलो मानिहैं रघुनाथ हाथ जोरि जो माथो नाइहै॥'* (वि० १३५) ☞सयाने लोग जो परस्पर यह सिखावन देते हैं वही सुनकर बालक लोग पक्षियोंको पढ़ाते हैं, यथा—*'सुक सारिका पढ़ावहिं बालक। कहहु राम रघुपति जनपालक।'* तात्पर्य कि बड़े लोगों और बालकोंकी प्रीति श्रीरामजीमें समान (एक-सी) है।

नोट—*'भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहि।'*……… ' इति। (क) भजन करनेका उपदेश देते हुए उनके भजनका हेतु और उससे लाभ बताते हैं उनके भजनमें दुर्लभता नहीं है, क्योंकि वे प्रणतपाल हैं, प्रणतमात्रका प्रतिपालन करते हैं। यथा—*'सकृत प्रनाम किहें अपनाए॥'* (२। २९९। ३), *'कोटि बिप्रबध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥'* (५। ४४। १) इन्द्र और वेदोंने भी इस गुणका वर्णन किया है। यथा—*'जय राम सोभाधाम दायक प्रनत बिश्राम॥'* (६। ११२), *'जय प्रनतपाल दयालु प्रभु॥'* (१३ छन्द) सुग्रीव और विभीषणादिकी शरण आनेसे रक्षा की। इसी तरह आगे भी दिखाते हैं। आदिमें *'रघुपति गुन गावहिं'* कहकर यहाँ *'रामहि'* कहनेका भाव कि वे सगुणरूप श्रीरामजीका भजन करते हैं और उसीकी शिक्षा देते हैं।

(ख) ☞ *'भजहु'* क्रिया आगे भी सब चरणोंके साथ है। (ग) *'सोभा सील रूप गुन धामहि'* इति। भाव कि वे अपनी शोभा, शीलादिसे सबको सुख देते हैं। पुनः भाव कि वे अपनी शोभासे मनको हरकर अपनेमें लगा लेते हैं। (पं० रा० व० श०।) यदि उनकी शोभाको हृदयमें धारण करोगे तो सारे ब्रह्माण्डकी शोभा फीकी लगने लगेगी। यथा—*'देव देखि तव बालक दोऊ। अब न आँखि तर आवत कोऊ॥'* (१। २९३। ५) (करु०)। शोभाके उदाहरण, यथा—*'राम सीय सोभा अवधि॥'* (१। ३०९), *'सोभा धाम राम अस नामा॥'* (३। २२। ८) (यह शूर्पणखाका वाक्य है), इत्यादि। (घ) शीलवान् ऐसे हैं कि कैसा भी घोर अपराधी हो, शरणागत होनेपर उसके सब अपराध भूल जाते हैं और फिर कभी उसका त्याग नहीं करते। (करु०)। किसीका

चित्त किञ्चित् दुःखी न होने पावे इसका सदा खयाल रहता है, यथा—*'सेवक सकुच सोच उर अपने।'* किञ्चित् सेवासे सेवकके हाथ बिक-से जाते हैं, सकृत प्रणामसे सभी जीवोंसे, सब लोकोंसे अभय कर देते हैं, इत्यादि सब शील हैं। उदाहरण यथा—*'चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा॥'* (१। १९८। ६) *'सील सिंधु सुनि गुर आगवनू॥'* (२। २४३। १) *'ठाकुर अतिहि बड़ो सील सरल सुठि। ध्यान अगम सिवहू भेंट्यो केवट उठि॥'* (वि० १३५। विनय पद १००) *'सुनि सीतापति सील सुभाऊ'* में शीलका उत्तम वर्णन है। *'तुलसी कहूँ न रामसे साहिब सीलनिधान॥'* (१। २९) देखिये (ङ) *'रूपधाम'* से जनाया कि प्रत्येक अङ्गकी गठन एकरस सुडौल है, इसे हृदयमें धारण करनेसे सब विषयोंसे निर्भय हो जाओगे। (करु०)। बिना भूषणादिके ही जो विभूषित देख पड़े और नेत्रोंको अपनी ओर आकर्षित कर ले जैसे चुम्बक लोहेको, उसे रूप कहते हैं। यथा—**'चुम्बकायाः करणान्यायैर्दूरादाकर्षको बलात्। चक्षुषां सगुणो रूपं शाणः स्मारशरावलेः।'** रूप और शोभामें भेद है। सौन्दर्य, माधुरी, सुगन्ध, सुकुमारता, लावण्य और सुवेश आदि शोभाके अङ्ग हैं। देहमें जो छबि होती है, उसे शोभा कहते हैं। (वै०)। रूपधामसे यह भी जनाया कि उनपर जरा आदिका प्रभाव नहीं पड़ा, उनकी देह सच्चिदानन्दमय है, उनकी नित्य किशोरावस्था ही बनी रहती है। (च) *'गुनधाम'* हैं, अतः उनके भजन-स्मरणसे तुम भी सद्गुण-सम्पन्न हो जाओगे, दिन-दिन अनुराग बढ़ेगा। यथा—*'समुझि समुझि गुनग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ॥'* (वि० १००) रूप-गुण-धाम, यथा—*'रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा॥'* (१। १९९) *'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूपशिरोमने॥'* (१३) *'चारिउ सील रूप गुन धामा।'*

टिप्पणी—२ (क) *'जलजबिलोचन स्यामलगातहि.........'* इति। जब श्रीरामजी सेवककी रक्षा करते हैं तब कवि नेत्रका विशेषण कमल देते हैं, यथा—*'राजिवनयन धरे धनुसायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक।'* (बा० १८। १०) (सुं० ३५। २) देखो। श्यामलगात भक्तका भय हरनेवाला है। यथा—*'स्यामल गात प्रनत भयमोचन'*—(सुं०)। (कमल-समान कहकर कमलदल-समान लम्बे, करुणार्द्र, सौहार्द और शीतलयुक्त भी जनाया)। (ख) *'पलक नयन इव सेवकत्रातहि'* और *'धृत सर-रुचिर-चाप-तूनीरहि',* इन दोनों चरणोंसे सूचित करते हैं कि अपने भक्तकी रक्षा धनुष-बाण-तरकश धारण करके पलक-नयनकी तरह करते हैं। यथा—*'जोगवहिं प्रभु सिय लषनहिं कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे॥'* (२। १४२। १) (ग) *'संतकंजबन रबि रनधीरहि।'* भाव कि राम रणधीर हैं, सुंदर शर-चापादि धारणकर राक्षसोंको मारकर संतोंको प्रफुल्लित करते हैं। यथा—*'उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग। बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग॥'* (१। २५४) *'जलज बिलोचन'* में 'वाचक धर्मलुप्तोपमा' *'पलकनयन इव सेवकत्रातहि'* में पूर्णोपमा और *'संतकंजबन रबि रनधीर'* में 'सम अभेदरूपक' है।

पं० रा० व० श०—*'भजहु प्रनतप्रतिपालक रामहिं'* से भजन करनेका उपदेश देते हुए उनके भजनका हेतु और उससे लाभ बताते हैं कि प्रणतमात्रका प्रतिपालन करते हैं, शोभा-शील-रूप-गुण-धाम इत्यादि हैं वे अपने सेवककी रक्षाको समर्थ हैं, सदा रक्षाके लिये शर-चाप धारण किये रहते हैं, जो उनके नाम-रूपादिको हृदयमें बसाये हैं उनके पास कराल काल फटकने नहीं पाता, इत्यादि। इन विशेषणोंका भाव यह है कि उपास्य देवमें, स्वामीमें, जो-जो गुण होने चाहिये वे सब इनमें हैं और इनकी साहिबी तीनों कालोंमें एकरस, जगत् रहे तब भी और न रहे तब भी, वैसी ही बनी रहनेवाली है—*'आदि अंत मध्य राम साहिबी तिहारी'* इति विनये। अन्य उपास्य देव सदा एकरस नहीं रहते, थोड़ेहीमें गर्म हो जाते हैं यह बात *'सदा एकरस अज अबिनासी'* से जनायी। यहाँ थोड़ेहीमें प्रभुके गुणोंका दिग्दर्शन करा दिया है और वैसे तो गुणोंका अन्त नहीं।

काल कराल ब्याल खगराजहिं। नमत राम अकाम ममता जहि॥५॥
लोभ मोह मृग जूथ किरातहि। मनसिज करि हरि जन सुखदातहि॥६॥
संसय सोक निबिड़ तम भानुहि। दनुज गहन घन दहन कृसानुहि॥७॥

शब्दार्थ—'जहि'—जहना=(सं० जहन) नाश करना, त्याग करना। *'जहि पर दोष अस्त भो कैसे। फिरि है अब उलूक सुखमैसे।'* मनसिज=काम। हरि=सिंह।

अर्थ—कालरूपी कराल सर्पके (भक्षण करनेके) लिये श्रीरामरूप गरुड़को भजो। निष्काम होकर प्रणाम करते ही ममताके नाश कर देनेवाले श्रीरामको भजो*॥ ५॥ लोभ, मोहरूपी मृगसमूहके (नाशके) लिये श्रीरामरूपी किरातको भजो। कामदेवरूपी हाथीके लिये जनको सुख देनेवाले रामरूप सिंहको भजो॥ ६॥ संशय और शोकरूपी सघन अन्धकारके लिये श्रीरामरूप सूर्यको भजो। राक्षसरूपी घने वनको जलानेवाले श्रीरामरूपी अग्निको भजो॥ ७॥

☞'*नमत राम अकाम ममता जहि*' के अर्थ लोगोंने भिन्न-भिन्न किये हैं—

पं० रामकुमारजी—*ममता जहि*=ममताको जीतने अर्थात् नाश करनेवालेको भजो।

वि० टी०—'गरुड़तुल्य रामचन्द्रजीको सब कामना और ममता त्यागकर भजो।'

वीर—'गरुड़रूप रामचन्द्रजी जो निष्काम नमस्कार करनेवालेपर प्रेम करते हैं।'

वै०—'प्रणाममात्रसे अकाम ममता करनेवाले रामको भजो।' 'अकाम ममता जिनमें है।'

वं० पा०—उन श्रीरामजीको निष्काम होकर भजो और ममता छोड़ो।

पं० वि० त्रि०—'*ममता जहि*' का अर्थ न तो 'ममताका नाश कर देनेवाला' हो सकता है, न 'ममता त्याग कर' और न 'ममता करनेवाला' अर्थ हो सकता है। '*ममता जहि*' का पदच्छेद ममता और जहिके रूपसे किया जायगा, तो अर्थ होगा 'ममताको मारो।' परंतु यह अर्थ करनेसे बड़ा भारी दोष यह आ जाता है कि 'नमत' बहुवचन है और 'जहि' एकवचन है, और कर्ता दोनों क्रियाओंका एक ही होगा चाहे उसे **त्वं** मानिये चाहे **यूयम्** मानिये। सो कर्त्ता और क्रियामें वचन-भेद किसी प्रकारसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। अत: यदि मम और ताजहि इस भाँति पदच्छेद किया जाय तो अर्थ बैठ सकता है, तब अर्थ होगा 'मेरे मुकुटको।' फारसीमें ताज मुकुटको कहते हैं। फारसीके शब्द मानसमें अनेक स्थलोंमें आये हैं, यथा—'साहिब, गरीब नेवाज, गनी, गुनह आदि। और 'ताज' शब्द बोलचालमें परिगृहीत है, यथा—'अमुक महाशय तो हम लोगोंके सिरताज हैं।' अत: यहाँपर 'मेरे मुकुटको' अर्थ करना ही उचित है।

टिप्पणी—१ (क) '*लोभ मोह मृग जूथ।*' लोभादिक जो बहुत-से विकार हैं वे सब मृगयूथ हैं। लोभादिको मृगयूथ और कामको हाथी कहकर जनाया कि लोभादिक सब विकारोंसे काम भारी विकार है जैसे सब मृगोंसे हाथी भारी है। (ख) '*संसय सोक*……' इति। संशय-शोकादि भीतरके विकार हैं और दनुज बाहरके हैं। दोनोंको कहकर श्रीरामजीको भीतर-बाहर दोनोंके विकारोंका नाशक सूचित किया। पुन: संशय-शोकको सघन अन्धकार कहनेका भाव कि यह सघन अन्धकार सूर्य, चन्द्रमा और अग्निसे नहीं जा सकता।

नोट—विशेषणोंके उदाहरण—१ '*काल कराल ब्याल*' यथा—'*उमा न कछु कपि के अधिकाई। प्रभु प्रताप जो कालहि खाई॥*' (५। ३। ९) पर्वतपर कालका पहरा था सो वह कुछ न कर सका। पुनश्च यथा—'*जाके डर अति काल डेराई।*' (५। २२। ९) '*काल कर्म सुभाउ गुन भच्छक।*' (३५। ८) '*काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं।*' (२१) '*नमत ममता जहि*' यथा—'*उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥*' '*बार बार नावइ पद सीसा*……। *उपजा ज्ञान बचन तब बोला॥ नाथ कृपा मन भयउँ अलोला।*'—(कि०) '*सकृत प्रनाम किये अपनाए।*' '*लोभ मोह मृगजूथ किरातहिं मनसिज करि हरि*……।'—नारदमोह इसका उदाहरण है। स्त्रीका लोभ दूर किया, कामसे रक्षा की—'*ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि।*' '*हृदय बसि राम काम मद गंजय*' यह सनकादिककी प्रार्थना है। श्रीभरतजी इत्यादिके संशय-शोक दूर किये।

जनकसुता समेत रघुबीरहि। कस न भजहु भंजन भवभीरहि॥ ८॥
बहु बासना मसक हिमरासिहि। सदा एकरस अज अबिनासिहि॥ ९॥
मुनि रंजन भंजन महिभारहि। तुलसिदास के प्रभुहि उदारहि॥ १०॥

* नोट—१ 'काल-कराल' से 'सुखदातहि' तक चार चरण काशिराजकी प्रतिमें नहीं हैं। २—इन चरणोंमें परम्परितके ढंगका 'सम अभेद रूपक अलंकार' है।

अर्थ—श्रीजनकसुतासमेत रघुवीरको क्यों नहीं भजते? भवभयको नाश करनेवाले रघुवीरको क्यों नहीं भजते?॥ ८॥ बहुत-सी वासनाओंरूपी मच्छड़ोंके लिये रामरूपी पाला-समूहको भजो। सदा एकरस, अज और अविनाशीको भजो॥ ९॥ मुनियोंको आनन्द देनेवाले, पृथ्वीका भार उतारनेवाले श्रीरामजीको भजो (भाव कि इन्होंने राक्षसोंको, जो पृथ्वीपर भाररूप थे, मारकर मुनियोंको सुखी किया था)। तुलसीदासके उदार प्रभुको भजो॥ १०॥

टिप्पणी—१ (क) जनकसुतासमेत भजनेका भाव कि जिस जनकसुताके वास्ते निशिचरोंको मारा और जो उनको अतिशय प्रिय हैं, यथा—'*जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥*' (बा०), उनके समेत भजनेसे कैसे भवभीरको वे न हरेंगे? ['*जनकसुता समेत*' कहकर अवधवासियोंकी निष्ठाद्वारा अपना मत भी जना दिया कि ये श्रीरामजीसे अभिन्न हैं; विद्या या अविद्या माया नहीं हैं; दोनों एक ही हैं दो नहीं, इनका नित्य-निरन्तर संयोग है, अतः दोनोंकी उपासना करनी चाहिये। '*गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न*' को यहाँ स्पष्ट किया। दोहावलीमें भी दोनोंका भजन-स्मरण करनेको कहा है। यथा—'*तुलसी सहित सनेह नित सुमिरहु सीताराम। सगुन सुमंगल सुभ सदा आदि मध्य परिनाम॥*' (दो० ५६९) '*पुरुषारथ स्वारथ सकल परमारथ परिनाम। सुलभ सिद्धि सब साहिबी सुमिरत सीताराम॥*' (दो० ५७०) (मा० सं०)। पुनः '*जनकसुता समेत*.........' से जनाया कि अपने इष्टदेवमें अनन्यता चाहिये। '*कस न भजहु*' से प्रकट हुआ कि वे स्वयं भजनमें तत्पर हैं और दूसरोंका उत्साह बढ़ाते हैं। (रा० प्र०)। (ख) यहाँ भवभीरका नाश करना कहते हैं इसीसे 'रघुवीर' कहा, यथा—'*महा अजय संसार रिपु जीति सकै सो बीर।*'—(लं०)।

नोट—१ (क) '*बहु बासना मसक हिमरासिहि*' इति। वासनाओंको मच्छड़ कहा अतः उनका दुःख दूर करनेके लिये श्रीरामजीको हिमराशि कहा। हिमके डरसे मच्छड़ भाग जाते ही हैं। यथा—'*मसक दंस बीते हिम त्रासा। जिमि द्विज द्रोह किए कुलनासा॥*' (४। १७। ८) वैसे ही इनके भजनसे सांसारिक विषय-वासनाओंका नाश हो जायगा, वासनाएँ ही भवका कारण हैं। प्रभुमें प्रेम होनेपर वासनाएँ दूर हो जाती हैं यह विभीषणजीने कहा ही है। यथा—'*उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥*' (५। ४९। ६) (ख) '*सदा एकरस*.........' इति। देवताओंने भी ये विशेषण दिये हैं। यथा—'*तुम्ह सम रूप ब्रह्म अबिनासी। सदा एक रस सहज उदासी। अकल अगुन अज अनघ अनामय॥*' (६। १०९। ५-६) 'एकरस' से जनाया कि भूत-भविष्य-वर्तमान सभीमें एक समान रहते हैं, उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। न उसका आदि है, न मध्य और न अन्त अर्थात् वह न तो उत्पन्न हुआ, न बढ़े और न उसका कभी नाश ही हो, वह कभी षट् विकारको नहीं प्राप्त होता। इत्यादि सब भाव 'एक रस' के हैं। श्रीजनकजीने भी कहा है—'*जो तिहुँ काल एकरस रहई।*' (१। ३४१। ८)

रा० प्र०—'*सदा एकरस अज*.........' का भाव कि जो अमर कहलाते हैं उनका भी प्रलयमें परिवर्तन होता है और जो अज अनादि कहलाते हैं वे भी एकरस अविनाशी नहीं होते। 'छः अनादि और सूत' मायाके भीतर हैं।

टिप्पणी—२ (क) '*मुनि रंजन*' कहकर '*महिभार भंजन*' कहनेका भाव कि श्रीरामजीने प्रथम मुनियोंको सुखी किया—'*सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह*' तब राक्षसोंको मारा। (ख) '*तुलसिदासके प्रभुहि उदाराहि*' इति। उदार=दाता। प्रभु=समर्थ स्वामी। भाव कि ये सब कुछ दे सकते हैं—'*जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे।*'—यहाँ भाविक अलंकार है॥ ३॥ ☞सर्वत्र 'भजहु' कहनेका भाव कि—अयोध्यावासियोंने जो-जो बातें परस्पर सिखायी हैं और भजन करनेको कहा है इससे यह सूचित हुआ कि वे बातें बिना भजनके नहीं हो सकतीं। '*उदार प्रभु*' का भाव कि जो-जो बातें ऊपर कही हैं वह सब श्रीरामजी करेंगे और इन सबके करनेको वे समर्थ हैं। [पुनः, '*तुलसिदास के प्रभुहि उदारहिं*' का भाव कि तुलसीदासको भी उन्होंने अपना लिया, ऐसे उदार हैं। (पं० रा० व० श०)। पात्रापात्रका विचार न करके कामनाकी पूर्ति करना उदारता है। यथा भगवद्गुणदर्पणे—'**पात्रापात्रविवेकेन देशकालाद्युपेक्षणात्। वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्या वचसा हरेः॥**' (वै०)]।

दो०—एहि बिधि नगर नारि नर करहिं राम गुन गान।
सानुकूल सब पर रहहिं संतत कृपानिधान॥ ३०॥

अर्थ—इस प्रकार (जैसा ऊपर कह आये) नगरके स्त्री-पुरुष श्रीरामजीके गुण गाते हैं और वे दयासागर सबपर सदा प्रसन्न रहते हैं॥ ३०॥

टिप्पणी—१ *'एहि बिधि'* कहकर सिखावनकी समाप्ति दिखाते हैं। नर-नारियोंने यहाँतक शिक्षा दी। [*'एहि बिधि'* कहकर गुणगानका ढंग बताया कि जो यह सिखावन जान पड़ता है, यह भी गुणगान ही है। उपक्रममें कहा कि *'नर रघुपति गुन गावहिं'* और उपसंहारमें *'नारि नर करहिं राम गुन गान'* यह कहा। इस तरह पूर्वके 'नर' का अर्थ 'लोग' जनाया। (मा० सं०)]। २—*'करहिं राम गुन गान'* इति। प्रथम रामगुणगानका सिखावन लिखा, यथा—*'बैठि परसपर इहै सिखावहिं'* और यहाँ अन्तमें सबका 'रामगुणगान' करना लिखा। तात्पर्य कि जिनको सिखाते थे वे शिक्षा मानकर गुणगान करने लगे और जो सिखाते थे वे भी गुणगान करते हैं इसीसे अन्तमें सबका गुणगान करना लिखा।—विशेष ३० (१) में देखिये।

पं०—*'सानुकूल सब पर'* कहनेका भाव कि जो गुणगान नहीं भी करते या कर सकते, उनपर भी अनुकूल रहते हैं।—[और क्या कहा जाय, हद है कि *'सिवनिंदक अघ ओघ नसाये।'* प्रजापर इतना ममत्व!!]

☞ पुरजन और श्रीरामजीमें परस्पर अन्योन्य प्रेम दिखाया।

रा० शं०—कृपानिधानका भाव कि आपकी कृपा होती है तभी भजन बनता है, यथा—*'अतिसय कृपा जाहि पर होई। पाँव देइ एहि मारग सोई॥'*—[पुनः यह उनकी कृपा है कि प्रसन्न होते हैं, नहीं तो उनको भजनसे कोई क्या प्रसन्न कर सकता है? कथा प्रसिद्ध है कि एक संतने सैकड़ों वर्ष निरन्तर एकरस भजन किया। जिस शिलापर बैठे भजन किया वह शिला ही बैठकसे घिस गयी तब उनके जीमें भजनका गर्व अंकुरित हुआ तुरंत ही प्रभुने उनको दिखा दिया कि तुम्हारा इतना भजन एक पाव भर जलके मोलके बराबर है, इसीपर तुम्हें इतना अभिमान!! भगवान् तो स्वयं गुण देते हैं और स्वयं ही उस गुणका बहाना करके प्रसन्न होते हैं।]

प० प० प्र०—*'जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं'* से यहाँ पुरजनकृत प्रथम स्तुति है। यह चौबीसवीं स्तुति धनिष्ठानक्षत्र है। इसमें चार तारे हैं, इसका आकार मर्दल-सा है। यथा—**'स्यान्मर्दलाभं कृतैः'** इति रत्नमालाग्रन्थे। वैसे ही इस स्तुतिमें शोभाधाम, शीलधाम, रूपधाम और गुणधाम चार तारे हैं। आकार-साम्य इस प्रकार है कि जैसे ढोल पीट-पीटकर राजाज्ञा नगरवासियोंको सुनायी जाती है वैसे ही यह स्तुति भी ढिंढोरा-सा पीटती है। इसमें *'भजहु'* से सात बार, *'नमत'* से छः बार और *'कस न भजहु'* से पाँच बार ढिंढोरा पीटा गया है। नक्षत्रका देवता 'वसु' है और वसु-धन-द्रव्य-सम्पत्ति। *'अनिमादि सुख संपदा रहीं अवध सब छाइ।'* कहा ही है। *'प्रभुहि उदारहि'* में यह स्पष्ट है। नक्षत्रकी फलश्रुति है। *'सकल सुकृत फल भूरि भोग से'* और अवधवासी सब सुकृतकी राशि हैं। यथा—*'हम सब पुन्यपुंज जग थोरे। जिन्हहिं राम जानत करि मोरे॥'* (२। २७४। ८)

श्रीरामप्रताप-दिनेश

जब ते रामप्रताप खगेसा। उदित भएउ अति प्रबल दिनेसा॥ १॥
पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका। बहुतेन्ह सुख बहुतन मन सोका॥ २॥
जिन्हहि सोक ते कहौं बखानी। प्रथम अविद्या निसा नसानी॥ ३॥

अर्थ—(रामप्रताप सुनकर गरुड़जीको शङ्का न हो इस विचारसे भुशुण्डिजी उनको सम्बोधन करके कहते हैं कि) हे पक्षिराज! जबसे रामप्रतापरूपी अत्यन्त प्रचण्ड सूर्य उदय हुआ तबसे तीनों लोकोंमें पूरा उजाला (दिन-रात सर्वदा) पूर्ण रहा है। बहुतोंको सुख और बहुतोंके मनमें शोक हुआ॥ १-२॥

जिन्हें शोक हुआ उन्हें बखानकर कहता हूँ। पहले तो अविद्यारूपी रात्रिका नाश हुआ। (अर्थात् अविद्या मायाका नाश हुआ, सबके हृदयोंमें ज्ञानका प्रकाश हुआ)॥ ३॥

नोट—१ प्रतापका स्वरूप, यथा—*'होत जो स्तुति दानसे कीरति कहिये सोइ। होत बाहुबल ते सुयश धर्म नीति सह होइ॥ जाकी कीरति सुयस सुनि होत शत्रु उर ताप। जग डेरात सब आपही कहिए ताहि प्रताप॥'* (वै०)।

२—हनु० १४ में प्रतापवर्णन देखने योग्य है, यथा—'**कूर्मः पादोऽङ्गयष्टिर्भुजगपतिरसौ भाजनं भूतधात्री तैलापूराः समुद्राः कनकगिरिरयं वृत्तवर्तिप्ररोहः। अर्चिश्चण्डांशुरोचिर्गगनमलिनमा कज्जलं दह्यमाना शत्रुश्रेणी पतंगा ज्वलति रघुपते त्वत्प्रतापप्रदीपः**॥'(हनु० १४। ७७) अर्थात् हे श्रीरामचन्द्रजी! जिसके कूर्मराज तो पाद (फतीलसोजके नीचेकी थाली) है, शेष ही जिसका दण्ड है, पृथिवी जिसका पात्र है, समुद्रोंका जिसमें तेल है, हिमाञ्चल जिसमें गोल बत्ती है, प्रज्वलित सूर्यकिरणें जिसकी किरणें हैं, आकाशकी श्यामता जिसका कज्जल है, इस प्रकार भस्म होते हुए शत्रुओंकी पंक्ति जिसमें पतंग हैं ऐसा आपके प्रतापका दीपक प्रज्वलित होता है। पुनश्च यथा—'**कैलासो निलयस्तुषारशिखरी विन्दिर्गिरीशः सखा स्वर्गङ्गा गृहदीर्घिका हिमरुचिश्चन्द्रोपलो दर्पणः। क्षीराब्धिर्नवपूर्तकं किमपरं शेषस्तु शेषत्विषो यस्याः स्यादिह राघव क्षितिपते कीर्तेस्तटाकस्तव**॥'(हनु० १४। ७८) (श्रीहनुमान्‌जी कहते हैं कि) हे पृथिवीपति रामचन्द्रजी! कैलास जिसका स्थान है, हिमाञ्चल जिसके उपवेशका स्थान है, महादेव जिसके मित्र हैं और आकाशगङ्गा जिसके घरकी बावड़ी है, निर्मलकान्तिवाला चन्द्रकान्तमणि जिसका दर्पण है और क्षीरसागर जिसका नवीन जलयुक्त खनित देश है, शेषजीकी किरणें जिसकी अङ्गदीप्तियाँ हैं ऐसा आपकी कीर्तिका विस्तार है। पुनश्च यथा—'**राम राम महावीर के वयं गुणवर्णने। यत्कीर्त्तिकामिनी भाले कस्तूरीतिलकं नभः॥ लक्ष्मी तिष्ठति ते गेहे वाचि भाति सरस्वती। कीर्त्तिः किं कुपिता राम येन देशान्तरं गता**॥'(८१) (श्रीहनुमान्‌जी कहते हैं कि) हे राम! हे महावीर रामचन्द्रजी! हम आपके गुण क्या वर्णन कर सकें। जिन आपकी कीर्तिरूपिणी स्त्रीके मस्तकमें कस्तूरीका तिलकरूप आकाश शोभित है अर्थात् आपकी कीर्ति अनन्त है। हे रामचन्द्रजी! आपके घरमें तो लक्ष्मीजी स्थित हैं और वाणीमें साक्षात् सरस्वती सुशोभित हैं पर न जाने कीर्ति क्यों रूठ गयी है कि परदेशको चली गयी। अर्थात् व्यंग्यसे कहते हैं कि आपकी कीर्ति देश-देशान्तरोंमें प्रख्यात हो गयी है।

टिप्पणी—१. (क) *'अति प्रबल दिनेसा'* का भाव कि प्राकृत सूर्य प्रबल है और रामप्रताप *'अति प्रबल'* है। सूर्य बाहरका अन्धकार दूर करता है और रामप्रताप अन्तःकरणका। सूर्यके सावयव रूपकालंकारद्वारा श्रीरामजीका प्रताप वर्णन करते हैं—यहाँसे सांगरूपक है। (ख) *'पूरि प्रकास रहेउ'* का भाव कि सूर्यका प्रकाश अस्त हो जाता है और रामप्रतापका प्रकाश सदा एकरस बना रहता है। प्राकृत सूर्यका प्रकाश त्रिलोकमें एक ही कालमें नहीं होता और रामप्रताप-प्रकाश एक ही कालमें सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। सूर्यके प्रकाशसे बहुतोंको सुख और बहुतोंको दुःख होता है, वैसे ही रामप्रतापके उदयसे बहुतोंको सुख और बहुतोंको शोक होता है।—यहाँ 'प्रथम व्याघात अलंकार' है।

२. (क) *'जिन्हहि सोक ते कहौं बखानी'* इति। उत्तम वस्तुका पीछे वर्णन करना चाहते हैं। वर्णन करनेकी विधि यही है जिसमें उत्तम वस्तुके वर्णनपर प्रसंगकी समाप्ति हो। श्रोताको हर्ष हो। अतएव प्रथम शोकवालोंको गिनाते हैं। *'कहौं बखानी'* का भाव कि उनका अन्तकाल आ गया। (वै०) बखानकर कहनेका भाव कि बिना इनको पूर्णरूपेण जाने स्वरूपका ज्ञान न होगा और न सुख। कहा भी है कि *'जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी॥'* (१२२। ३) *'रामकृपा नासहिं सब रोगा।'* (ख) *'प्रथम अविद्या निसा नसानी'* इति।—अविद्याका नाश प्रथम कहनेका भाव कि प्रथम अविद्या रात्रिके नाश हुए बिना जो दुःख-सुखका हाल आगे कहना चाहते हैं वह कहते न बनेगा, जब अविद्याका नाश होगा तब पापरूपी उल्लू लुकेंगे और काम-क्रोधरूपी कुमुद संकुचित होंगे। इत्यादि।

३. ☞ रामप्रतापके उदयसे अविद्याका नाश होना लिखनेसे सूचित हुआ कि सब युगोंमें अविद्याका निवास सब जीवोंके हृदयमें रहता है।

पं० रा० व० श०—अपना स्वरूप भूल जाना, कर्तव्य भूल जाना, यह अविद्याका काम है। इसका नाश कहकर जनाया कि सबको स्वरूप और कर्तव्यका ज्ञान है। सब जानते हैं कि श्रीरामजी हमारे स्वामी हैं और हम सेवक हैं। *'सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात एहि ओर निबाहू॥'*

नोट—पहले तो कहा कि *'बहुतेन्ह सुख बहुतन मन सोका।'* अर्थात् प्रथम सुख शब्द दिया तब शोक। पर वर्णन करनेमें प्रथम शोकवालोंको कहा तब सुखवालोंको। क्रम पलटनेका भाव कि प्रसङ्गकी समाप्ति शोकके प्रसङ्गपर न करनी चाहिये। दूसरे, विरोधीका ज्ञान पूर्ण और प्रथम होना चाहिये। इसके जाननेसे उनके छोड़नेसे अनुकूल स्वतः प्राप्त हो जायगा, अतः दूसरेके विस्तारकी जरूरत नहीं पड़ेगी। भक्तको विरोधी-स्वरूपका जानना अर्थपञ्चकमें परमावश्यक बताया है। वहाँपर १२ विरोधी गिनाये गये हैं, वैसे ही यहाँ भी १२ गिनाये हैं—अविद्या, अघ, काम, क्रोध, कर्म, गुण, काल, स्वभाव, मत्सर, मोह और मद—इनका ज्ञान हो जानेसे इनसे भक्त सावधान रहेगा। यहाँ विपरीत क्रमका यथासंख्य अलङ्कार है।

प० प० प्र०—अविद्या ही सब क्लेशोंका मूल है। अविद्याजनित क्लेश पाँच हैं। यथा—**'अविद्यास्मिता-रागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः'** (पातञ्जलयोगसूत्र), *'दारुन अविद्या पंच जनित बिकार श्रीरघुबर हरे।'* *'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला'* है, इससे मूलका विनाश प्रथम कहा।

मा० हं०—रामराज्यमें शोक करनेवालोंका वर्णन। इस रूपककी कल्पना स्वतन्त्र होकर बहुत ही उत्कृष्ट है। हमारी समझसे स्वधर्माधिष्ठित स्वराज्यमें डरे हुए कौन रहते हैं, यह इस वर्णनके बहानेसे स्वामीजीने बतलाया है।

प० प० प्र०—श्रीलक्ष्मणजीने रवि-उदय-व्याजसे जिस राम-प्रतापका उपक्रम किया था, यथा—*'रबि निज उदय ब्याज रघुराया। प्रभु प्रतापु सब नृपन्ह देखाया।'* (१।२३९।५) उसीका यहाँसे उपसंहार किया जा रहा है।

अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने॥ ४॥
बिबिध कर्म गुन काल सुभाऊ। ए चकोर सुख लहहिं न काऊ॥ ५॥
मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्ह कर हुनर न कवनिहु ओरा॥ ६॥

शब्दार्थ—**कैरव**=सफेद कमल, कुमुद, कुईं। **मत्सर**=ईर्ष्या, डाह। **मान**=प्रतिष्ठा, बड़ाईका खयाल। **मोह**=स्त्री, पुत्र, घर इत्यादि सांसारिक विषयोंमें ममता। मद अष्ट प्रकारके हैं—जाति, कुल, रूप, युवा, धन, विद्या, ध्यान, ज्ञानका मद (करु०)। मद कोई १२ कोई ५ कहते हैं।

अर्थ—(अविद्यारूपी रात्रिके न रहनेसे) पापरूपी उल्लू (जो अविद्यारात्रिसे सुखी होते थे) जहाँ-तहाँ छिप गये (अर्थात् लोगोंमें अधर्म वा पापकी प्रवृत्ति न रह गयी, पाप ही मिट गया।) और काम-क्रोधरूपी कैरव सिकुड़ गये (अर्थात् काम और क्रोध करनेमें लोग संकुचित हो जाते हैं)॥ ४॥ अनेक कर्म, गुण, काल और स्वभाव—ये चकोर हैं जो कभी भी सुख नहीं पाते। (अर्थात् अविद्या-रात्रिमें इनको सुख मिलता था, अब वह रात्रि रह ही न गयी अतः इनका सुख भी न रह गया)॥ ५॥* मत्सर, मान, मोह और

* वि० टी० ने अर्थ किया है कि—'गुण और कालके प्रभावसे किये हुए अनेक प्रकारके कर्मरूपी चकोर कहीं भी सुख नहीं पाते थे।'—पद दो० २१ में देखिये।

वि० टी० (१)—भाव यह है कि त्रेतायुगमें उस युगके अनुसार सतोगुणके साथ कुछ रजोगुण और कुछ तमोगुणकी प्रबलताके कारण मनुष्य जो अनेक प्रकारके कर्म करते थे, उन्हें उन अनुचित कर्मोंका माना हुआ सुख रामराज्यके कारण नहीं मिलता था। इसी प्रकार युगकालके प्रभावसे जो पापरूपी कर्म करनेवाले सुख चाहते थे, वह भी उन्हें न मिलता था। कारण कि कर्मोंके पापांशका इस राज्यमें दमन हो गया था। सारांश यह है कि युगके प्रभावसे दूषित-गुणयुक्त तथा दूषित कालयुक्त कर्मोंकी प्रबलता रामराज्यमें नहीं चलती थी। (२)—'इन्ह कर हुनर न कवनिहु ओरा' अर्थात् जो लोग दूसरेकी विभूति देखकर डाह करते थे, जो अपने आगे किसीको कुछ न समझते थे, जो विशेष ममतामें फँसे थे और जो रूप, यौवन, धनादिके कारण मस्त थे, ऐसे जीव श्रीरामराज्यमें चोरोंकी नाईं छिपे रहते थे। इनका बल दब गया था।—(पर इससे तो यह सिद्ध होता है कि ऐसे लोग भी उस राज्यमें थे, यद्यपि ऐसा था नहीं। मा० सं०)।

मदरूपी चोरोंका हुनर वा गुण किसी भी दिशामें नहीं चल पाता (तात्पर्य कि जहाँ जाते हैं वहाँ प्रवेश करनेका मौका और मार्ग नहीं पाते)॥ ६॥

पं० रा० कु०—☞ अविद्याका नाश कहकर अब उसके परिवारका नाश कहते हैं। अघको उलूक कहा, क्योंकि पाप भी रातमें ही प्राय: किये जाते हैं; दिनमें पाप करनेवाले छिपे रहते हैं।

रा० प्र०—(क) *'अघ उलूक.........'* इति। *'लुकाने'* का भाव कि यह निर्मूल तो होता ही नहीं। इनका नाम जहाँ-तहाँ पोथियोंमें लिखा रह गया है और रूप केशादिमें। (प्र० स्वामी लिखते हैं कि 'लुकाने' का सामान्य अर्थ 'छिप गये' लेनेसे सिद्धान्तविरोध होगा। *'करहिं मोह बस नर अघ नाना',* मोह ही पाप-प्रवृत्तिका मूल है। जब अविद्या, अज्ञान, मोह ही नष्ट हो गये, तब वृक्ष, शाखा, पल्लव आदि कहाँसे प्रकट होंगे।) (ख) *'काम क्रोध कैरव सकुचाने।'* भाव कि इन सबने भक्ति और वैराग्यादिक रूप धारण कर लिया। ये सब धर्मके बढ़ानेवाले बन गये।—*'श्यामभजनमें काम सदा अधरमपर कोप बढ़ावै। सत्संगतिमें लोभ मोह पर अवगुनमें ठहरावै॥ दासपनेमें अहंभाव इन्द्रिनपर मत्सर धावै॥* ऐसे बहुत........।'

पं० रा० कु०—*'बिबिध कर्म गुन काल सुभाऊ'* ये सब जीवोंके दु:खदाता हैं, यथा—*'काल कर्म गुन सुभाव सब के सीस तपत'*—(वि० १३०। दोहा २१)।—(विविध कर्म—मानसिक, वाचिक और कायिक एवं सात्त्विक, राजस और तामस इत्यादि अनेक प्रकारके कर्म हैं)।

वि० त्रि०—जीव सदा काल, कर्म, स्वभाव और गुणके घेरेमें मायाकी प्रेरणासे घिरा रहता है, यथा—*'फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म स्वभाव गुन घेरा।'* सञ्चित, क्रियमाण, प्रारब्ध कर्मोंके भेद हैं। सात्त्विक-राजस-तामस गुणके भेद हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान कालके भेद हैं, तथा पूर्वजन्मके संस्कारानुसार स्वभावके अनन्त भेद हैं। मायाके वशमें पड़ा हुआ जीव इनके फन्देके बाहर निकल नहीं सकता। परंतु जब अविद्या-(निशा-) का ही नाश हो गया, तो ये सब निर्बल पड़ गये। सब ओरसे घेरा टूटने लगा, अत: कहते हैं कि वे चकोर हैं, निशानाथसे प्रेम करनेवाले, इन्हें मध्याह्नमें सुख कहाँ?

पं० रा० कु०—*'इन्ह कर हुनर न कवनिहु ओरा'* इति। (क) इन चोरोंके उपाय नीच हैं, इसीसे गोसाईंजीने इनके उपायको व्यङ्गसे लिखा है, 'हुनर' शब्दमें व्यङ्ग है। 'हुनर' उत्तम गुणको कहते हैं, इस शब्दको यहाँ देकर व्यङ्गसे 'नीचता' सूचित की है। (ख) हुनर नहीं चलता अर्थात् ये चारों किसीके हृदयमें प्रवेश नहीं कर सकते, क्योंकि सबके हृदयमें राम-प्रताप है। (ग) *'कवनिहु ओर'* का भाव कि मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार इन चारोंके द्वारा इनका प्रवेश नहीं हो सकता। (घ) ☞ जिनको शोक हुआ उनका वर्णन हो चुका। जिनको सुख हुआ उनका वर्णन आगे करते हैं।

गौड़जी—१ काल, कर्म, गुण और स्वभाव युग-युगके अनुसार बर्तते हैं। इनका सर्वोत्तम रूप सतयुगमें होता है। त्रेतायुगमें रामराज्यके पूर्व युगके अनुसार काल-कर्मादि बर्तते थे, परंतु श्रीरामराज्यका आरम्भ होते ही उनके अधिकार छिन गये, युगानुसार काल नहीं बर्तता था। अल्पमृत्यु एकदम बंद हो गयी, युगके अनुसार जितनी आयु चाहिये थी उससे कहीं अधिक आयुका उपभोग उन सबोंने किया, जो भगवान् रामचन्द्रके समान अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करनेमें समर्थ हुए। कर्म, गुण और स्वभावमें भी रामराज्यमें साधारण-से-साधारण प्रजा कर्तव्यपरायण, धर्मात्मा, सद्गुणसम्पन्न और सच्चरित्र थी। इसलिये सबके लिये सतयुग बर्तता था। इसीलिये त्रेतायुगके काल, कर्म, गुण और स्वभावको रामराज्यभरमें कहीं जगह न थी। ११ हजार वर्षके लिये ये अपने ओहदोंसे मुअत्तल हो गये थे।

२ इन्हें चकोर इसलिये कहा कि काल-कर्म-गुण-स्वभाव अपना सबसे बड़ा प्रभाव मनके ऊपर डालते हैं। चकोर एकटक चन्द्रमाकी ओर देखता है। यहाँ रामप्रतापदिनेशके उदय होनेसे मनरूपी चन्द्रमा मन्द पड़ गया है, अब मनको वह स्वतन्त्रता नहीं है कि चाहे जिस ओर भली-बुरी राहमें जीवको घसीट ले जाय। उसका अस्त भी हो रहा है। अर्थात् मन पूरे तौरसे विजित है; इसीलिये काल-कर्मादि चकोरोंको कैसे सुख मिल सकता है?

३—मत्सर-मान-मोह-मदके वश होकर लोग तरह-तरहकी चालें चलते हैं और सचाईसे छिप-छिपकर आचरण करते हैं, इसीलिये इन विकारोंको चोर कहा गया है। चोरीमें चालाकी खास बात है, चोरी भारी कला है, बहुत बड़ा हुनर है; परंतु रामराज्यमें इन चोरोंका कोई हुनर किसी दिशामें काम न देता था।—['ऐब करनेको हुनर चाहिये' यह कहावत है। मिलान कीजिये—*'कामकला कछु मुनिहि न ब्यापी' 'असमसर कला प्रबीन'*]

पं० रा० व० श०—१ पहले अविद्याका नाश कहा तब पापका। क्योंकि पंचपर्वा अविद्यासे पापमें प्रवृत्ति होती है। जब अविद्या ही न रह गयी तब पाप कैसे रहे? २—'मत्सर' इति। दूसरेकी उन्नति देखकर न सह सकना वरन् उसके अभिमर्दनका उपाय करनेकी इच्छा करना मत्सर है। ३—अविद्याको रात्रि कहकर फिर उस रात्रिमें जो-जो सुख पाते हैं उनको गिनाया।

प० प० प्र०—विभीषणजीके *'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥'* (५। ४७। १—४) ये वचन यहाँके *'मतसर.....'* इन वचनोंका सार है। इससे सिद्ध हुआ कि सभी रामराज्यनिवासियोंके हृदयमें धनुर्धर श्रीरामजी निवास करते थे।

धरम तड़ाग ग्यान बिग्याना। ए पंकज बिकसे बिधि नाना॥ ७॥
सुख संतोष बिराग बिबेका। बिगत सोक ए कोक अनेका॥ ८॥

अर्थ—धर्मरूपी तालाबमें ज्ञान और विज्ञानरूपी अनेक प्रकारके कमल खिल उठे हैं॥ ७॥ सुख, संतोष, वैराग्य और विवेकरूपी अनेक चक्रवाक शोकरहित हो गये॥ ८॥

टिप्पणी—१ तड़ागमें कमल उत्पन्न होते हैं, धर्म करनेसे ज्ञान और विज्ञान उत्पन्न होते हैं। कमल चार प्रकारके होते हैं इसीसे *'बिधि नाना'* कहा। विशेष *'बालचरित चहुँ बंधु के बनज बिपुल बहुरंग॥'* (१। ४०) तथा *'सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा॥'* (१। ३७। ५) देखिये। [*'धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना'* कहा है (३। १६। १)। इसके अनुसार धर्मसे विरतिरूपी कली पैदा होती है, जो योगरूपमें वृद्धि पाती है और ज्ञान-विज्ञानरूपमें विकसित होती है। *'बिधि नाना'* कहनेका भाव यह कि जैसे मानसमें चार रंगके कमल कहे हैं वैसे ही वेदान्तदर्शन ज्ञान-विज्ञानमें भी चार प्रकार मुख्य हैं—द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत और केवलाद्वैत। उनमें भी भिन्न-भिन्न छटाओंके भेद सम्प्रदायानुसार बहुत हैं। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ *'सुख संतोष.........'* इति। जैसे रात्रिके रहनेसे चक्रवाक सुख नहीं पाते वैसे ही हृदयमें अविद्याके रहनेसे सुख, संतोषादि बड़ा कष्ट पाते हैं, अविद्याका नाश कह चुके; इसीसे अब इनका शोकरहित होना कहा।

दो०—येह प्रताप रबि जाकें उर जब करै प्रकास।
पछिले बाढ़हिं प्रथम जे कहे ते पावहिं नास॥ ३१॥

अर्थ—यह श्रीरामप्रतापरूपी सूर्य जिसके हृदयमें जब प्रकाश करता है तब (धर्म, ज्ञान, विज्ञान, सुख, संतोष, वैराग्य और विवेक) जिनको पीछे कहा है वे बढ़ते हैं और (अविद्या, पाप, काम, क्रोध, कर्म-काल-गुण-स्वभाव, मत्सरादि) जिनको प्रथम कहा वे नाशको प्राप्त होते हैं॥ ३१॥

टिप्पणी—१ *'जब करै'* का भाव कि प्रतापरविके प्रकाश करनेका कोई नियम नहीं है। २—'जाकें' और 'जब' शब्द देकर सूचित किया कि कोई भी हो एवं कोई भी समय हो।

☞ रघुनाथजीने अवतार लेकर पृथिवीका भार उतारकर भक्तोंको सुख दिया, यह कथा समाप्त कर चुके। अब रघुनाथजीकी साकेतयात्रा निकट समझकर रामप्रतापका वर्णन और भक्ति और सत्सङ्गका माहात्म्य कहते हैं जिससे रघुनाथजीके पीछे सभी युगोंमें सांसारिक जीव सुखी रहें। श्रीरघुनाथजीके प्रतापको हृदयमें धारण करनेसे रामराज्यका सुख जीवोंको प्राप्त होगा—यह लोक-शिक्षात्मक उपदेश है। भुशुण्डिजीने भी कहा है—*'काल धर्म नहिं ब्यापहिं ताही। रघुपति चरन प्रीति अति जाही॥'* (१०४। ७) प्रताप जाननेसे ही अति सुख प्राप्त होता है।

पं० रा० व० श०—१ यहाँ राज्यका पूर्वचरित समाप्त हो गया। आगे राज्यका उत्तरचरित कहते हैं। यहाँतक भुशुण्डि-गरुड़-संवाद प्रकट रहा, आगे शिव-पार्वती-संवाद है—(वै०)।

नोट—रामप्रताप-वर्णन *'रामराज बैठे त्रैलोका''''''''''रामप्रताप बिषमता खोई'* २० (७-८) से और उसका *'अति प्रबल दिनेश'* से रूपक *'जब तें रामप्रताप खगेसा॥'* (३१। १) से आरम्भ हुआ। उपसंहार यहाँ है।

'सनकादिक'-प्रसङ्ग

भ्रातन्ह सहित रामु एक बारा। संग परमप्रिय पवनकुमारा॥ १॥
सुंदर उपबन देखन गए। सब तरु कुसुमित पल्लव नए॥ २॥

अर्थ—एक बार भाइयोंसहित श्रीरामचन्द्रजी परमप्रिय पवनपुत्र हनुमान्‌जीको संग लिये हुए सुन्दर उपवन देखने गये। वहाँके सब वृक्ष फूले हुए और नवीन पत्तोंसे युक्त थे॥ १-२॥

टिप्पणी—*'भ्रातन्ह सहित'* का भाव कि भाइयोंको उपदेश देकर सुखी करना चाहते हैं। २—*'परमप्रिय'* अर्थात् भाइयोंसे भी अधिक प्रिय, यथा—*'सब मम प्रिय नहि तुम्हहिं समाना''''''''''।'* पुनः, भाव कि सब भाई श्रीरामजीके सेवक हैं और हनुमान्‌जी सब भाइयोंके सेवक हैं, उन्होंने सब भाइयोंका उपकार किया है, अतः *'परमप्रिय'* कहा।—(ये भाइयोंको भी परमप्रिय हैं, क्योंकि उनको कथा सुनाया करते हैं)। [मा० म०—*'परमप्रिय'* कहनेके कारण—(१) त्रिविधवायुसे वन सुखदायक हो रहा है। उसी वायुके ये पुत्र और उसीके रूप हैं। वा (२)—श्रीरामचन्द्रजी सखाओंको त्यागकर हनुमान्‌जीको साथ लेकर गये। वा (३) हनुमान्‌जीकी सानुकूलतासे अभङ्ग सत्सङ्ग होता है—अतएव *'परमप्रिय'* कहा।] ३ *'पवनकुमारा'* का भाव कि ये पवनदेवके समान बलवान् और बुद्धिमान् हैं। ४—*'सब तरु कुसुमित पल्लव नए'* से प्राकृत उपवनके वसन्त-ऋतुका अनुमान करना उचित था, पर श्रीरामराज्यमें ऐसा अनुमान अनुचित है। यहाँ तो सदा वसन्त रहता है। यथा—*'फूलहिं सदा बसंत की नाईं॥'* (२८। २) *'जहँ बसंत रितु रही लुभाई।'* जो ऊपर २८ (२) में *'लता बिबिध बहु जाति सुहाई'* के विषयमें स्पष्ट कहकर उपलक्षणसे सूचित किया था, वही यहाँ दोनों चरणोंमें एक-एक मात्रा कम करके वृक्षोंके विषयमें सूचित किया। मात्राकी कमीसे आश्चर्यका भाव प्रकट किया है कि वसन्त न होनेपर भी *'सब तरु कुसुमित''''''''''''* हैं।

जानि समय सनकादिक आए। तेजपुंज गुन सील सुहाए॥ ३॥
ब्रह्मानंद सदा लय लीना। देखत बालक बहु कालीना॥ ४॥

अर्थ—सुअवसर जानकर श्रीसनकादिक ऋषि आये जो तेजराशि (तेजस्वी) और सुन्दर गुणों और शीलस्वभावसे शोभित हैं॥ ३॥ सदैव ब्रह्मानन्दमें लवलीन रहते हैं (अखण्ड लौ लगी रहती है)। देखनेमें बालक हैं परंतु बहुत कालके हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'जानि समय'* अर्थात् अपने वाञ्छितकी सिद्धिका समय वा, एकान्त समय वा साकेतयात्राकी समीपता समझकर आये। (इस समय वर माँगनेके लिये सुअवसर जानकर आये और दर्शनार्थ तो प्रतिदिन आया ही करते थे। २७। १-२। देखिये।) (ख) *'तेजपुंज गुन सील सुहाए'* तेजपुंज कहकर तपस्वी जनाया।, क्योंकि तपसे तेज प्राप्त होता है, यथा—*'बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।'* (९०। ५) शील तेजस्वीकी शोभा है। (ग) *'सदा लय लीना'* से मनकी निर्मलता दिखायी। *'ब्रह्मानंद लय लीना'* अर्थात् तदात्मक ब्रह्माकारवृत्ति सदा एकरस अखण्ड रहती है। (करु०) पुनः, 'लयलीन' *'लय'* से सदा आद्योपान्त एकरस और *'लीन'* से तद्रूप होना जनाया जैसे गीतमें आरम्भसे समाप्तितक लयतालकी एक लड़ी निबहे (रा० प्र०)।

नोट—१ *'बहु कालीना'* क्योंकि सृष्टिके प्रारम्भमें इनकी उत्पत्ति हुई। ये ब्रह्माके प्रथम पुत्र हैं; नारदसे भी बड़े हैं। ये सदा ५ वर्षकी अवस्थाके रूपमें रहते हैं जिसमें माया न लगे, इसीसे *'देखत बालक'* कहा।

पुनः, *'बहु कालीना'* अर्थात् कालगतिसे परे हैं। अपनी इच्छासे दिव्य रूप बनाये हुए हैं, जैसे मार्कण्डेय सदा २५ वर्षके और शिवजी सदा बूढ़े बने रहते हैं। (रा० प्र०)

रूप धरे जनु चारिउ बेदा। समदरसी मुनि बिगत बिभेदा॥ ५॥
आसा बसन ब्यसन येह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—**ब्यसन**=किसी प्रकारका शौक; किसी विषयके प्रति विशेष रुचि या प्रवृत्ति। **समदरसी**=सबको एक-सा समान देखनेवाले।

अर्थ—(ऐसे देख पड़ते हैं) मानो चारों वेद रूप धारण किये खड़े हैं (मूर्तिमान् होकर आये हैं)। समदर्शी हैं, मुनि हैं और भेदरहित हैं॥ ५॥ दिशाएँ ही उनके वस्त्र हैं (अर्थात् नंगे रहते हैं) और उनका यह व्यसन है कि जहाँ रघुनाथजीका चरित होता है वहाँ (जाकर) उसे सुनते हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'रूप धरे जनु चारिउ बेदा'* का भाव कि चारों वेदोंका अभिप्राय सनकादिकसे कुछ भी छिपा नहीं है, मानो वे साक्षात् वेदके रूप ही हैं।—[(i) इससे उनका पाण्डित्य और ज्ञान दिखाया—(पं० रा० व० श०)। (ii) इनके नामोंसे वेदोंके नामका अर्थ निकलना जनाया—(रा० प्र०)] २—'भेद रहित' अर्थात् ईश्वर और जीवके भेदसे रहित हैं; ईश्वर और जीवको पृथक् नहीं मानते।

मा० म०—समदर्शी और विगत विभेदका भाव यह है कि ये मुनि परतमस्वरूप श्रीरामचन्द्रके रूपको सबके अभ्यन्तर देखते हैं एवं प्रकार अभेद-निरूपण सुखके पुञ्ज हैं। यदि सनकादिकका यही भाव न होता तो वे कदापि प्रेमभक्ति वर न माँगते और न रामकथाके रसिक होते।

प० प० प्र०—'समदर्शी' से *'देखहिं ब्रह्म समान जग माहीं'* यह ज्ञानलक्षण सूचित किया। और यह भी जना दिया कि मानादि अज्ञान-लक्षण उनमें नहीं हैं। *'बिगत बिभेदा'* से *'सरग नरक अपबर्ग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना॥ करम बचन मन राउर चेरा।'* (२। १३१। ७-८) ऐसा होना तथा वाल्मीकिजीके कथनानुसार श्रीसीता-लक्ष्मणसहित श्रीरामजीका उनके हृदयमें निवास करना जनाया।

नोट—'समदर्शी'=जो विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी और कुत्ते तथा चाण्डालमें भी (जो अत्यन्त विषमाकार प्रतीत होते हैं उन सब आत्माओंमें ज्ञानकी एकाकारतासे सर्वत्र) समान देखनेवाले होते हैं। यथा—'**विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥**'(गीता ५। १८)' इसका तात्पर्य यह है कि 'यह विषमाकार तो प्रकृतिका है, आत्माका नहीं, आत्मा तो ज्ञानकी एकाकारताके कारण सब जगह सम है' ऐसा वे अनुभव करते हैं (श्रीरामानुजभाष्य)।

'ब्यसन यह तिन्हहीं।' व्यसन मनको आकर्षित करता है, जिसका जो व्यसन पड़ जाता है उसके बिना उससे रहा नहीं जाता। इनको रामचरित सुननेका व्यसन है। इसलिये उसके श्रवण बिना इनसे रहा नहीं जाता।—[*'ब्यसन यह तिन्हहीं'* कहकर बता रहे हैं कि जब ऐसे महर्षि श्रीरामचरित्र ही सुना करते हैं तब हमको भी लत किसी संसारी वस्तुकी न डालकर भगवत्-सम्बन्धी ही व्यसन होना चाहिये। पुनः, इससे जनाया कि ये उसका विशेष रस जानते हैं, यथा—*'रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥'* ये जानते हैं अतः अघाते नहीं।] *'तहँ सुनहीं।'* भाव कि वक्ता कोई भी हो इसकी पर्वा नहीं, रामचरित वह कहता हो तो ये उसके श्रोता हो जाते हैं।

करु०—इससे सारांश यह निकला कि रामचरितका तत्त्वरस सनकादिककी दशाको प्राप्ति होनेपर यथार्थ मिलता है।

वै०—*'आसा बसन ब्यसन………।'* भाव यह कि जहाँ रामचरित होता है वहाँ श्रवण-इन्द्रियमें मन लगाकर सुनते हैं और किसी बातमें इन्द्रिय-सुख जानते ही नहीं। इस कथाके लिये ही मुनियोंके यहाँ विचरते रहते हैं, जैसा आगे स्पष्ट है। ब्रह्मानन्दमें लयलीन होकर भी यह व्यसन क्यों रखे हैं? इसका कारण यह है कि बिना भक्तिके आधारके जीवका ज्ञान एकरस स्थिर रह नहीं सकता। जैसे कपिलदेवको सगरके पुत्रोंपर, लोमशको भुशुण्डीपर और सनकादिकको जय-विजयपर क्रोध आ गया।

वि० त्रि०—जीवनोपयोगी न होनेपर भी जिस वस्तुके सेवनका जीवको अभ्यास पड़ जाता है, उसे व्यसन कहते हैं। जैसे किसीको अहिफेन (अफीम) खानेका व्यसन हो जाता है। अफीम कोई जीवनोपयोगी पदार्थ

नहीं है, पर जिसे उसका व्यसन लग जाता है, उसे बिना अफीमके कल नहीं। इसी भाँति सनकादिक ब्रह्मानन्दमें लीन रहनेवाले, महात्यागी दिगम्बर विचरनेवाले, उन्हें किसी साधनकी अपेक्षा नहीं, वे सर्वथा कृतकृत्य थे, फिर भी उन्हें एक व्यसन था। *'रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं।'* यह व्यसन महात्माओंका प्रकृतिसिद्ध है, यथा—**'व्यसनं श्रुतौ प्रकृतिसिद्धिमिदं हि महात्मनाम्'** और यह व्यसन इतना बढ़ा हुआ था कि प्रतिदिन सरकारके दर्शनके लिये अयोध्या आते थे, पर सुना कि अगस्त्यजीके यहाँ कथा होती है, तो आप दण्डकारण्य पहुँच गये।

रा० शं०—सनकादिकमें धाम, रूप, लीला और तदन्तर्गत नामकी निष्ठा दिखायी। *'दिन प्रति सकल अयोध्या आवहिं'* यह धाम, *'दरसन लागि कोसलाधीसा'* यह रूप, *'रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं'* यह लीला और इनके अन्तर्गत नाम भी आ गया।

तहाँ रहे सनकादि भवानी। जहँ घटसंभव मुनिबर ग्यानी॥ ७॥
रामकथा मुनिबर* बहु बरनी। ग्यानजोनि पावक जिमि अरनी॥ ८॥

अर्थ—हे भवानी! श्रीसनकादि मुनि वहाँ थे जहाँ ज्ञानी मुनिश्रेष्ठ श्रीकुम्भजजी थे॥ ७॥ मुनिश्रेष्ठने रामकथा बहुत कही जो ज्ञानको उत्पन्न करनेवाली है, जैसे अरणी लकड़ीसे अग्नि उत्पन्न होती है॥ ८॥

नोट—१ पाँड़ेजीका मत है कि 'अगस्त्यजी पञ्चवटीमें रामचरित कहते थे। कथामें प्रसंग आया कि श्रीरघुनाथजी राज्य करते हैं। यह सुनकर दर्शनार्थ आये। मा० म० का मत है कि 'जहाँ अगस्त्यजी इस बागकी कथा उसी दिन कह रहे थे वहाँ सनकादिक थे और कथा सुननेके उपरान्त उन्होंने देखा कि अभी कुछ दिन बाकी है, जाने योग्य समय है, यह जानकर देखने आये।

२—यहाँ 'सनकादिक' श्रोता बनकर अगस्त्यजीसे कथा सुनने आये; इसीसे सनकादिकको 'मुनि' और उनको 'मुनिवर' विशेषण दिया, नहीं तो अन्यत्र उनको भी मुनिवर कहा है। यथा—*'सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिबर बिग्यान बिसारद॥'* (१। १८), *'नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि………'* इत्यादि। घटसम्भव—१। ३ (३) देखिये।

टिप्पणी—१ *'पावक जिमि अरनी'* इति। लकड़ी अग्नि उत्पन्न करके आप भी अग्निरूप हो जाती है। देखनेमें अग्नि और लकड़ी पृथक् देख पड़ती हैं, वैसे ही रामकथा और ज्ञान कहनेमें पृथक् देख पड़ते हैं, परंतु ज्ञान कथाके भीतर है अर्थात् दोनों एक ही है। कथाके भीतर ज्ञान कहनेका भाव अगस्त्यजीका यह है कि सनकादिक ज्ञानी हैं और रघुपति-चरितके व्यसनी हैं, इसीसे उन्होंने चरित कहा और उसीके भीतर ज्ञान कहा। अर्थात् कथा कहकर ज्ञानका निरूपण किया।

शीला—१ श्रीशिवजी श्रीरामकथाके आचार्य हैं और श्रीपार्वतीजी श्रवणरसिक हैं, अतएव शिवजी रामकथाको सर्वोपरि दिखाते हैं। ब्रह्मलीन, वेदपाठी, समदर्शी और विरक्त—ये चारों गुणसंयुक्त प्राणी सगुण-रामकथा-श्रवणके रसिक नहीं होते। इसीसे जब शिवजीने श्रीसनकादिकमें ये चारों गुण दिखाकर फिर उनको रामकथाका व्यसनी कहा तब पार्वतीजीको शंका हुई कि इन गुणोंसे युक्त प्राणी रामचरित्रका व्यसनी कैसे? अत: शंकाकी निवृत्तिके लिये कहा कि ये तो अगस्त्य महर्षिके साथ रहा करते हैं जो रामकथा कहा करते हैं; दूसरे, श्रीरामकथा ज्ञानको उत्पन्न करने और बढ़ानेवाली है, इसीसे मुनि कहा करते हैं और ये सुना करते हैं। २—*'पावक जिमि अरनी'* में उत्पन्न और वृद्धि दोनों भाव हैं। लकड़ीसे पहले अग्नि प्राप्त होती है फिर उसी लकड़ीसे वह बढ़ जाती है। ३—'अरणी' का दृष्टान्त देनेसे यह भी भाव निकलता है कि जैसे उसके रगड़नेसे अग्नि उत्पन्न होती है ऐसे ही उसके परस्पर कथन-श्रवण और सत्संगसे ज्ञान उत्पन्न होता है।

नोट—३ रामकथा सुनकर श्रीरामजीके दर्शनको आये, इससे जनाया कि रामचरितसे श्रीरामजीकी प्राप्ति होती है। चरित सुननेसे दर्शनकी लालसा होती है, यथा—*'सुनत फिरउ हरिगुन अनुबादा।………एक लालसा उर अति बाढ़ी॥ रामचरन बारिज जब देखउँ। तब निज जनम सुफल करि लेखउँ।'* (११०। १२—१४)

* 'मुनि बहु बिधि बरनी'—(का०)।

दो०—देखि राम मुनि आवत हरषि दंडवत कीन्ह।
स्वागत पूँछि पीतपट प्रभु बैठन कहँ दीन्ह॥ ३२॥

अर्थ—मुनियोंको आते देख (दूरसे ही ज्यों ही वे देख पड़े) श्रीरामचन्द्रजीने उनको हर्षपूर्वक दण्डवत् की। स्वागत पूछकर प्रभुने उन्हें अपना पीताम्बर बैठनेके लिये (बिछा) दिया॥ ३२॥

टिप्पणी—१ *'हरषि दंडवत कीन्ह'* का भाव कि संसारमें संतमिलनका-सा दूसरा सुख नहीं है, यथा भुशुण्डिवाक्य—*'संत मिलन सम सुख जग नाहीं।'* इसीसे सनकादिक ऋषियोंके दर्शनसे प्रसन्नता हुई। (गुरुजनों आदिको हर्षपूर्वक प्रणाम करना ही चाहिये और जहाँसे दर्शन हो वहींसे करना चाहिये, यह पूर्व कई बार बताया जा चुका है। यह शिक्षा अपने आचरणद्वारा मर्यादापुरुषोत्तम दे रहे हैं। हर्षमें उत्साह, प्रेम, प्रसन्नता और पुलकादि सबका समावेश है।) २—*'स्वागत पूँछि'* अर्थात् पूछा कि अपना आगमन कहिये, कहाँसे आगमन हुआ? स्वागत पूछना लोक-व्यवहार है, अत: स्वागत पूछी। ३—*'पीतपट बैठन कहँ दीन्ह।'* पीतवस्त्र वेदरूप है, यह महाभारतमें लिखा है और सनकादिक भी वेदरूप हैं, यथा—*'रूप धरे जनु चारिउ बेदा।'* इसीसे उनको अपना पीतवस्त्र बैठनेको दिया, इसके अतिरिक्त और कोई वस्तु उनके बैठने योग्य न थी। [सनकादिकका व्यसन कह चुके, अब श्रीरामजीका व्यसन देखिये कि संतचरणरजकी प्राप्तिके लिये अपना पीताम्बर बिछा दिया। (मा० म०) और वीरकविजीका मत है कि बागमें टहलने गये थे, आसन विद्यमान न होनेसे पीताम्बर बिछाकर उनका विशेष सम्मान प्रकट किया।]

नोट—☞ वस्तुत: बात तो यह है कि *'नीति प्रीति परमारथ स्वारथु। कोउ न राम सम जान जथारथु॥'* (२। २५४) किसका कैसा सम्मान करना चाहिये यह भी वे ही जानते हैं। भगवान्के पीताम्बरसे बढ़कर क्या आसन परम सात्त्विक ऋषियोंके लिये हो सकता है? और ऋषियोंका इससे अधिक सम्मान क्या होगा?

कीन्ह दंडवत तीनिउ भाई। सहित पवनसुत सुख अधिकाई॥ १॥
मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी। भए मगन मन सके न रोकी॥ २॥
स्यामल गात सरोरुह लोचन। सुंदरता मंदिर भवमोचन॥ ३॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जीसहित तीनों भाइयोंने दण्डवत् की और सबको बड़ा सुख हुआ॥ १॥ मुनि श्रीरघुनाथजीकी अतुलित छबि देखकर (उस छबिसमुद्रमें) डूब गये, मनको न रोक सके॥ २॥ श्यामल शरीर है, कमल-समान नेत्र हैं, सुन्दरताके घर और आवागमनके छुड़ानेवाले हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'कीन्ह दंडवत तीनिउ भाई।.........'* इति। (क) श्रीरामजीके पीछे भाइयोंका दण्डवत् करना कहकर जनाया कि क्रमसे सबने दण्डवत् की—प्रथम श्रीरामजी, तब श्रीभरतजी, फिर श्रीलक्ष्मणजी तत्पश्चात् श्रीशत्रुघ्नजी और अन्तमें श्रीहनुमान्‌जीने दण्डवत् की। (ख) *'सुख अधिकाई'* का भाव कि जो सुख श्रीरामजीको हुआ उससे अधिक इन चारोंको हुआ; क्योंकि *'राम ते अधिक राम कर दासा।'* अथवा, अधिक सुख इससे कि इनके आनेसे सत्सङ्ग होगा।

२—*'मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी।.........'* इति। (क) 'मन न रोक सके' अर्थात् जो मन सदा ब्रह्मानन्दमें लवलीन रहता था, वह रामदर्शन छोड़कर फिर ब्रह्मानन्दकी ओर न जा सका। वे मनको ब्रह्मानन्दमें लीन न कर सके। [ज्ञान-बलसे मनको काबूमें रखनेका प्रयत्न किया पर वह स्थिर न रहा। (वै०)] (ख) यह ब्रह्मानन्दकी तोल हो गयी कि उसके रोकनेसे भी मन न रुका। (ग) रघुपति-छबिको *'अतुल'* कहा, उसका भाव भी खुल गया कि ब्रह्मानन्द इसके सामने कुछ न रह गया। श्रीजनकमहाराजका यह अनुभव है। यथा—*'देखे रामलखन निमेषैं बिथकित भईं.........ब्रह्मानंदहृदय दरससुख लोचननि अनुभए उभय सरस राम जाने हैं।'* (गी० १। ५९)

वि० टी०—भाव कि ये लोग ब्रह्मज्ञानी तो थे ही, रामरूपमें ब्रह्मसाक्षात्कारका आनन्द अनुभव करके इस प्रकारसे तल्लीन हो गये कि उन्हें अपने शरीरकी सुध-बुध भूल गयी।

रा० शं०—*'अतुल'* का भाव कि प्रभुके साथ भरतादिको भी देखा पर प्रभुमें अधिक छबि देखी—*'तदपि अधिक सुखसागर रामा।'*

वै०—*'मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी'* इति। *'अतुल'* का भाव कि मुनि विष्णु क्षीरशायी श्रीमन्नारायणादि भगवद्रूपोंको देखे हुए हैं इससे उन सबकी शोभा जानते हैं, उनमेंसे किसीकी भी छबिको राम-छबिकी तुल्यताका न पाया। इसीसे *'मन सके न रोकी।' 'भए मगन'* इति। इसीसे दण्डवत् करनेपर आशीर्वाद न दिया और न कुशलप्रश्न किया।

नोट—*'······छबि अतुल बिलोकी। भए मगन······'* इति। यह छबि ही ऐसी है। मनु-शतरूपा, पुष्पवाटिकामें सखी, नगरदर्शनमें सखाओं, वनमें मगवासियों और मुनियोंकी दशाएँ पाठक देख ही चुके हैं। जनक महाराजकी दशासे मिलान कीजिये—*'मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥'* (१। २१५। ८) *प्रेममगन मन जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर। बोलेउ······ (२१५)······सहज बिरागरूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥'* (३)······*इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मनु त्यागा॥' (५)*

टिप्पणी—३ *'स्यामल गात सरोरुह लोचन·········'* इति। (क) भवमोचन दो प्रकारसे होता है। एक तो यह कि श्रीरामजी उसे देखें, दूसरे यों कि वह श्रीरामका दर्शन करे। अतः यहाँ भवमोचन कहनेके लिये ये दोनों बातें पहले ही कह दीं। श्यामलगातसे श्रीरामजीका दर्शन और कमलनेत्रसे श्रीरामजीका उनको देखना जनाया। दोनोंसे भवमोचन होता है, यथा—*'जड़ चेतन जग जीव घनेरे। जे चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥ ते सब भए परमपद जोगू।'* (२। २१७। १-२)

रा० पा०—*'सुंदरता मंदिर'* अर्थात् त्रैलोक्यकी शोभा यहीं इकट्ठी है। रूपादिकी आसक्तिसे भवमें पड़ना होता है, अतः *'सुंदरता मंदिर'* कहकर *'भवमोचन'* कहा। अर्थात् इनके दर्शनमात्रसे भवभयका नाश हो जाता है।

प० प० प्र०—*'सुंदरता मंदिर'* का अर्थ 'सुन्दरताका पूजा-स्थान, जिनकी पूजा स्वयं सुन्दरता करती है' ऐसा करना उचित है। *'छमहु क्षमामंदिर दोउ भ्राता।'*(१। २८५। ६) में विस्तारसे लिखा गया है। श्रीसीताजी *'सुंदरता कहुँ सुंदर करई'* वैसे ही ये सुन्दरताके पूज्य हैं।

एकटक रहे निमेष न लावहिं। प्रभु कर जोरे सीस नवावहिं॥ ४॥
तिन्ह कै दसा देखि रघुबीरा। स्रवत नयन जल पुलक सरीरा॥ ५॥
कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे। परम मनोहर बचन उचारे॥ ६॥

अर्थ—मुनि एकटक देखते रह गये, पलक नहीं मारते (क्योंकि पलक मारनेसे दर्शनमें विक्षेप होगा)। (इधर) श्रीरामजी हाथ जोड़े माथा नवा रहे हैं॥ ४॥ उनकी *'स्रवत नयन जल पुलक सरीरा'* दशा देखकर श्रीरामजीके नेत्रोंसे आँसू निकलने लगे और शरीर पुलकित हो गया॥ ५॥ प्रभुने हाथ पकड़कर मुनिवरोंको बिठाया और अत्यन्त सुन्दर वचन बोले॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'प्रभु कर जोरे सीस नवावहिं'*, यह मुद्रा श्रीरामजीको प्रिय है, यथा—*'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहैं। ततकाल तुलसीदास जीवन जन्म को फल पाइहैं॥'* इति। (विनय० १३५) इसीसे वे स्वयं इस मुद्राको करते हैं। [पं०—नरनाट्यकीमर्यादाकी रक्षा कर रहे हैं। दूसरे, हाथ जोड़े प्रणाम करनेसे पीताम्बरपर बैठनेकी प्रार्थना भी झलक रही है।]

२ *'तिन्ह कै दसा देखि रघुबीरा·········'* इति। प्रथम मुनियोंके प्रेमकी दशा कही। उनकी प्रेमदशा देख श्रीरामजी स्वयं प्रेमदशाको प्राप्त हो गये। [*'स्रवत नयन जल पुलक सरीरा'* दोनोंमें लगता है।] प्रथम श्रीरामजीको *'स्यामल गात सरोरुह लोचन'* कह आये, उस श्याम शरीरमें पुलकावली होने लगी और कमलनेत्रसे जल बह चला।

वै०, वि० टी०—*'स्रवत नयन जल पुलक सरीरा।'*—भक्तिकी पराकाष्ठाका बड़ा उत्तम चित्र गोस्वामीजीने

यहाँपर खींच दिया है। भक्तिमें लीन होकर प्राणीके नेत्रोंसे अश्रु बह निकलते हैं, शरीर रोमाञ्चित हो जाता है, देहदशा विह्वल और मन एकाग्र हो रहता है। इस दशाको नारदसूत्रमें इस तरह कथन किया है—

अथातो भक्तिं व्याख्यास्याम एकस्मै परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च।
यल्लब्ध्वा पुमान्सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो भवति॥
यत्प्राप्य न किंचिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति।
यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवत्यात्मारामो भवति॥

अर्थात् अब इसके अनन्तर मैं भक्तिका स्वरूप कथन करता हूँ। एकहीपर उत्कट तथा नित्यप्रेम ही उसका स्वरूप है, जिसके प्राप्त होनेपर जीव कृत-कृत्य होता है, मुक्त होता है और तृप्त होता है। जिसके प्राप्त होनेपर वह किसी बातकी भी इच्छा नहीं करता, शोक नहीं करता, द्वेष नहीं करता, किसी वस्तुमें आसक्त नहीं होता और न उसका किसी विषयमें उत्साह होता है। जिसका स्वरूपज्ञान होनेपर वह मस्त हो जाता है, स्थिर और आत्मानन्द हो जाता है।

करु०—यह दशा पराभक्तिकी है। इससे यह सार निकलता है कि 'जब ब्रह्मज्ञान तदात्मक हो तब श्रीरामचन्द्रजीकी शोभा-छबि-रसका (जीव) अधिकारी होता है। यथा—'**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥**'(गीता १८। ५४)

टिप्पणी—३ *'कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे'* इति। भाव कि पीताम्बर बिछानेपर मुनि न बैठे तब प्रभुने जाना कि हमारे पीताम्बरपर बैठनेमें उन्हें संकोच हो रहा है; इसीसे हाथ पकड़कर बिठाया।—[मुनि सोचते थे कि ये सच्चिदानन्द परात्पर ब्रह्म हैं, ये अपने भक्तवात्सल्यके कारण लोकसंग्रहार्थ इतनी नम्रता करते हैं कि पीताम्बर बिछा दिया पर हम मर्यादा कैसे तोड़ें। हाथ पकड़कर बिठानेमें वात्सल्यकी सीमा ही देख पड़ती है। (पं०) मुनि पीताम्बरपर क्यों न बैठे? अधर्मके डरसे। वा, शोभा देख छबिसमुद्रमें डूबे हैं, देह-सुध ही नहीं है तब बैठे कौन? (मा० म०)]।

मा० म०—*'परम मनोहर बचन उचारे'* इति। पीताम्बरपर बैठनेपर भी मुनि (उसी प्रेमदशामें मग्न रहे) कुछ न बोले तब उनके आनन्दविक्षेपके लिये अनेक प्रकारके (मनको हरण कर लेनेवाले मधुर) वचन बोले।

आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा। तुम्हरे दरस जाहिं अघ खीसा॥ ७॥
बड़े भाग पाइअ* सतसंगा। बिनहिं प्रयास होहि भव भंगा॥ ८॥

अर्थ—हे मुनीश्वर! सुनिये। आज मैं धन्य हूँ। आपके दर्शनसे पाप नष्ट हो जाते हैं॥ ७॥ बड़े भाग्यसे सत्संग प्राप्त होता है, उससे बिना परिश्रम भवका नाश होता है॥ ८॥

वि० त्रि०—*'आजु………'* इति। *'नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा॥ दिन प्रति सकल अयोध्या आवहिं। देखि नगर बिराग बिसरावहिं॥'* अतः नित्यके आने-जानेवालेके लिये *'आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा।'* कहना बनता नहीं। बात यह मालूम पड़ती है कि ब्रह्मलोकनिवासी महर्षिगण नित्य सरकारका दर्शन करने आते थे, अपना दर्शन देने नहीं आते थे। अलक्षित रूपसे आये, दूरसे दर्शन किया, चले गये। नित्य सरकारसे सत्कार पाना उचित नहीं समझते थे। आज वरदान लेना है; अतः अवकाशका अवसर देखकर प्रकटरूपसे आये।

टिप्पणी—१ भाव कि जन्म-मरणका छूटना अत्यन्त दुस्तर है, सो आपके दर्शनमात्रसे अनायास छूट जाता है। पर आपका दर्शन बड़े भाग्यसे मिलता है (वह आज हमको बिना किसी यत्नके मिल गया, अतः मैं धन्य हूँ)। २—दर्शनसे पापका नाश होता है। यथा—*'संत दरस जिमि पातक टरई।'* (४। १७। ६), *'मुख*

* पाइय—(का०, १८१७, १८१८, १८४२, बं० पा०)। 'पाइब'—भा० दा०।

देखत पातक हरै परसत करम बिलाहिं। बचन सुनत मन मोहगत पूरब भाग मिलाहिं॥' (वै० सं० २४) पापके नाशसे सत्संग मिलता है और सत्संगसे भवभंग होता है। *'सत्संगति संसृति कर अंता।'*

मा० म०—श्रीरामचन्द्रजी अब साकेतको जाना चाहते हैं; अतः सत्संगकी प्रशंसा की कि इसके प्रभावसे भवनाश होता है।

नोट—☞ सत्संग-महिमा-वर्णनमें 'सार अलंकार' है। *'धन्य'* और *'बड़े भाग पाइअ'* के भाव निम्न उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाते हैं—यथा—*'सतसंगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एकउ बारा॥'* (१२३। ६), *'आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन। निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन॥'* (१२३), *'गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन। बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान॥'* (१२५), *'जब द्रवै दीनदयाल राघव साधु संगति पाइए। जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइए॥'* (वि० १३६)

नोट—स्मरण रहे कि 'संत' से वेषधारी मात्र न समझना चाहिये। गोस्वामीजीने वेषको संत नहीं कहा है, जिनमें संतके लक्षण हों, वही संत है। भगवान्ने भी आगे *'संतन्हके लच्छन सुनु भ्राता।'* (३७। ६) से *'द्विज पद प्रीति धर्म जनयित्री।'* (३८। ६) तक लक्षण कहकर कहा है कि *'ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥'* ऐसे संतका दर्शन पातक हर लेता है और दर्शकको पवित्र करता है। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि सङ्गरहित, जगत्के पवित्रकर्ता, शान्त और ब्रह्मनिष्ठ सत्पुरुष जिनके हृदयमें सर्वपापहारी भगवान् विराजमान हैं, वे तीर्थोंको भी पवित्र कर देते हैं। यथा—**'साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः। हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥'**(९। ९। ६) (ये वाक्य श्रीभगीरथजीके हैं जो उन्होंने गङ्गाजीसे यह कहनेपर कि 'पापी लोग अपने पाप मुझमें धोयेंगे, मैं उन पापोंको कहाँ धोऊँगी', उत्तरमें कहे थे।) भगवान्के प्रेम-परा-भक्तिपरायण संतोंमें यह शक्ति है। पूर्वकाण्डोंमें इनके प्रमाण कई बार आ चुके हैं।

दो०—संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कबि कोबिद श्रुति पुरान सदग्रंथ*॥३३॥

शब्दार्थ—**सदग्रंथ**—वे ग्रन्थ जिनसे संसारमें प्रवृत्ति न हो। जो ग्रन्थ संसारमें प्रवृत्त करनेवाले हैं, वे असद्ग्रन्थ हैं।

अर्थ—'संतका संग मोक्षका मार्ग है और कामीका संग भवका मार्ग है।' संत, कवि, पण्डित, वेद, पुराण सभी सद्ग्रन्थ ऐसा कहते हैं॥ ३३॥

टिप्पणी—१ भागवतमें इसका प्रमाण है। कविसे नयी कविताके बनानेवाले, कोविदसे शास्त्र पढ़नेवाले और सद्ग्रन्थसे मुनियोंकी संहिताएँ सूचित कीं। यहाँ 'शब्द प्रमाण' अलंकार है।

नोट—१ कविकोविदका प्रयोग अर्बीके आलिम-फाजिलका-सा है। २—*'संत संग अपबर्ग कर पंथ'* का भाव यह है कि संतोंकी संगति करनेसे वे हरिचरित्र सुनाते हैं, जिससे मोह दूर होता है, श्रीरामचरणारविन्दमें प्रेम होता है और हरिभजन होनेसे मनुष्य भवपार होता है। यथा—*'बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥'* (६१) *'बिनु हरिभजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल।'* (१२२), *'कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं॥'* (१२९। ६) पुनश्च, *'जब द्रवै दीनदयाल राघव साधु संगति पाइए। जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइए॥ जिन्ह के मिले दुख सुख समान अमानतादिक गुन भये। मद मोह लोभ बिषाद क्रोध सुबोध ते सहजहि गये॥ अनुराग जो निजरूप तें जग तें बिलक्षन देखिये। संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिये॥ निर्मल निरामय एकरस तेहि हर्ष सोक न ब्यापई। त्रैलोक पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई॥'* (वि० १३६)

संत उस मार्गपर चलकर पहुँच चुके हैं, अतः वे वहाँ पहुँचा सकते हैं, वे उस मार्गको जानते हैं। *'कामी भव कर पंथ'* का भाव कि कामी पुरुषोंका संग करनेसे विषयवार्त्ता होगी, वे हरिकथासे, हरिभजनसे

* सब ग्रन्थ—का०।

मनको हटा देंगे क्योंकि उनको यह कब भावे, यथा—*'क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥'* (५। ५८। ४) विषयासक्त होनेसे हरिविमुख होकर बारंबार संसारमें जन्म-मरण होगा। कामी उसी मार्गपर चलायेंगे जिसपर वे चल रहे हैं।

☞ इससे मिलता हुआ श्लोक श्रीमद्भागवतमें यह है—'**सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया। स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते॥**'(भा० ३। २३। ५५) अर्थात् जो संग अज्ञानवश असत्पुरुषोंके साथ होनेसे संसारका कारण होता है, वही सत्पुरुषोंके साथ किया जानेसे मोक्षसाधक वैराग्यका कारण हो जाता है। (ये भगवती देवहूतिजीके वाक्य हैं)।

'कामी भव कर पंथ' इति। भगवान्‌ने उद्धवजीसे भी कहा है कि स्त्रियों तथा उनके साथियोंका साथ करनेसे पुरुषको जैसा क्लेश और बन्धन होता है, वैसा किसी दूसरेसे नहीं। अतः आत्मवान् पुरुषको चाहिये कि स्त्रियों और उनके साथियोंका साथ दूरहीसे छोड़ दे। यथा—'**स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।''''''''न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः। योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥**' (भा० ११। १४। २९-३०) यही बात भगवान् कपिलदेवजीने मातासे कही है। वे कहते हैं कि सन्मार्गमें चलते समय यदि इसका कहीं शिश्नोदरपरायण पुरुषोंसे समागम हो जाता है तो उनका अनुगमन करनेके कारण यह नारकी योनियोंमें पड़ता है। अतः उन मूढ़ और स्त्रियोंके क्रीड़ामृगरूप अत्यन्त शोचनीय असत्पुरुषोंका संग कभी न करना चाहिये। यथा—'**यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः। आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत्॥**'(भा० ३। ३१। ३२) '**तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु। सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च॥**'(३४) इसके आगे प्रायः एक शब्दके भेदसे पूरा श्लोक वही है जो (भा० ११। १४। ३०) में है। *'क्लेशो'* की जगह *'मोहो'* है। फिर आगे कहा है कि स्त्री और स्त्रीका संग योगीके लिये नरकका खुला द्वार ही कहा है। '**वदन्ति या निरयद्वारमस्य॥**'(३९)

सुनि प्रभु बचन हरषि मुनि चारी। पुलकित तन अस्तुति अनुसारी॥ १॥
जय भगवंत अनंत अनामय। अनघ अनेक एक करुनामय॥ २॥

अर्थ—प्रभुके वचन सुनकर चारों मुनि हर्षित हुए और पुलकितशरीर होकर स्तुति करने लगे॥ १॥ हे भगवन्त! आपकी जय हो। आपका अन्त नहीं, आप (अविद्या आदि) रोगोंसे रहित हैं, निष्पाप हैं, आप अनेक हैं और एक भी हैं तथा करुणामय हैं॥ २॥

वि० त्रि०—प्रभुके वचन सुनकर चारों मुनि ऐसे हर्षित हो गये कि उन्हें पुलक हो गया। कारण यह कि स्वयं प्रभुने उन्हें संत मान लिया, अब वे वस्तुतः संत हो गये। संतकी पदवी बहुत बड़ी है। उसका सँभार बड़ा कठिन है। परंतु जब प्रभुने श्रीमुखसे संतकी पदवी दे दी, तब उस पदसे स्खलनका भय जाता रहा, अतः हर्षित हो उठे। स्वयं ग्रन्थकार वैराग्यसंदीपनीमें लिखते हैं—*'को बरनै मुख एक तुलसी महिमा संत की। जिनके बिमल बिबेक सेषमहेस न कहि सकत॥' 'महि पत्री करि सिंधु मसि, तरु लेखनी बनाइ। तुलसी गनपति सों तदपि महिमा लिखी न जाइ॥'*

टिप्पणी—१ *'सुनि प्रभु बचन''''''''अस्तुति अनुसारी'* इति। (क)—ये हमारी बड़ाई कर रहे हैं, हमको बड़ाई दे रहे हैं। (अगस्त्यजीने कहा ही है कि *'संतत दासन्ह देहु बड़ाई।'* (३। १३। १४) यह समझकर आप भी उनकी स्तुति करने लगे (ख)—मुनियोंने स्तुति करनेमें अपने मन, वचन, कर्म—तीनों प्रभुमें लगा दिये—मनसे हर्षित, वचनसे स्तुति और तनसे पुलकित।

वै०—प्रभुकी परावाणीने उस स्थानमें जा प्राप्त होकर जहाँ मुनियोंकी चित्तकी वृत्ति समाधिमें स्थित थी, चित्तको खींच लिया, जिससे इन्द्रियोंमें चैतन्यता आ गयी। अतः वचन सुनकर हर्ष हुआ। हर्षित होनेका भाव कि अर्चित श्रीविग्रहस्वरूपोंके सम्मुख ही अन्तर्धान करना वर्जित है और यहाँ तो साक्षात् परब्रह्मके सम्मुख हम अन्तर्द्धान कर खड़े रहे, स्तुति आदि न की, यह बड़ा अपराध है, इससे प्रभुने हमें बचा दिया। प्रभुकी कृपा विचारकर हर्ष हुआ।

टिप्पणी—२ *'जय भगवंत अनंत अनामय।.........'* इति। (क) प्रथम *'जय भगवंत'* कहनेका भाव कि सनकादिक ज्ञानी भक्त हैं। भक्त भगवान्‌को भगवन्त कहते हैं, कर्मकाण्डी परमात्मा कहते हैं और ज्ञानी ब्रह्म कहते हैं। इसीसे सनकादिकने प्रथम 'भगवन्त' कहा। (ख) भगवन्त कहकर अनन्त कहनेका भाव कि—*'भगवंत'* का अर्थ है षडैश्वर्ययुक्त, छः ऐश्वर्यवाला। अतः *'भगवंत'* कहनेसे जाना गया कि उनमें छः ही गुण हैं, अर्थात् इस सम्बोधनसे गुणोंका अन्त सूचित हुआ। इसीसे उसके पीछे कहा कि आप अनन्त हैं, अर्थात् आपमें ये छः गुण ही नहीं वरन् अनन्त गुण हैं। (ग) *'अनघ'* हो अर्थात् आपमें पाप नहीं है। अविद्यारूपी रोग पापसे होता है, पाप नहीं है अतः अविद्या नहीं, इसीसे *'अनामय'* कहा। (घ) [करु०—षड्‌विकार जन्म, वृद्धि, विवर्णता, क्षीणता, जरा और मरण—ये ही आमय (=रोग) हैं। इनसे रहित होनेसे अनामय कहा] *'अनेक एक।'* रूपोंसे अनेक हैं, यथा—'**अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे**' (यह सारा जगत् आपका रूप है) यथा—*'सचराचर रूप स्वामि भगवंत।'* (४। ३), *'सचराचर रूप राम भगवान।'* (६। १५), *'ब्यापक बिस्वरूप भगवाना।'* (१। १३। ४) अतः अनेक कहा। *'एक'* हो अर्थात् आपका-सा गुण, रूप और स्वभाव किसीमें नहीं है, आप अद्वितीय हैं; अथवा, अन्तमें एक आप ही हैं। आप एक हैं और एकसे अनेक हो जाते हैं, अर्थात् अनेक अवतार धारण करते हैं। अवतार धारण करनेमें मुख्य कारण करुणा है—'**मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्।**' सो आप करुणामय हैं, जीवोंपर करुणा करके अवतार लेते हैं।

नोट—बाल, अयोध्या और अरण्यमें इन विशेषणोंके भाव विस्तारसे लिखे जा चुके हैं।

जय निर्गुन जय जय गुनसागर। सुखमंदिर सुंदर अति नागर॥ ३॥
जय इंदिरारमन जय भूधर। अनुपम अज अनादि सोभाकर॥ ४॥

अर्थ—हे निर्गुण (रूप राम)! आपकी जय! हे सद्‌गुणसिंधु अर्थात् सगुणरूप राम! आपकी जय हो! जय हो!! आप सुखधाम, अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त नागर (चतुर) हैं॥ ३॥ हे लक्ष्मीपति! आपकी जय हो। हे पृथ्वीके धारण करनेवाले अर्थात् रक्षक! आपकी जय हो। आप उपमारहित हैं, जन्मरहित हैं, अनादि हैं और शोभाकी खानि हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'जय निर्गुन जय जय गुनसागर।.........'* इति। (क) निर्गुणके साथ एक और सगुणके साथ दो बार *'जय'* कहकर सूचित किया कि सनकादिकका प्रेम निर्गुणसे सगुणमें अधिक है, इसीसे वे ब्रह्मका निरूपण करना छोड़कर सगुण रूपको देखते हैं। *'जय जय'* शब्दमें आदरकी वीप्सा है। विशेष *'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप।'* (१३। छंद १) में देखिये। [निर्गुण रूपसे किसीका हित नहीं। वह केवल योगियोंको अनुभवगम्य है और सगुणरूप स्वाभाविक जीवोंको कृतार्थ करनेवाला है, अतः दो बार जय कहा। (वै०)] (ख) प्रथम निर्गुण-सगुण-रूप कहकर तब *'सुखमंदिर.........'* कहनेका भाव कि आप दोनों रूपसे सबको सुख देते हैं, आपके दोनों रूप सुखके समूह हैं। निर्गुण केवल सुखमन्दिर है और सगुणरूप सुन्दर और अति नागर भी है। *'अति नागर'* से वचन-रचनामें परम प्रवीण जनाया, यथा—*'जयति बचन रचना अति नागर'*—(नागरसे सभी प्रकारकी चतुराई जनायी—*'अति नागर भवसागर सेतु'*)। भाव यह कि आपकी वचन-रचनासे मेरी समाधि छूट गयी। पुनः, 'अति नागरता' खर-दूषण, विराध, हिरण्यकशिपु आदिके वधमें देखी गयी है। *'खरदूषन-बिराध-बध पंडित।'* (करु०)

रा० प्र०—*'इंदिरारमन'* अर्थात् मोक्षादि श्री आपमें ही रमी हैं। आगे वर माँगना है अतः लक्ष्मीपति कहा। [इन्दिरारमणसे जनाया कि विष्णुरूपसे जगत्‌का पालन आप ही करते हैं। (वै०)]

नोट—*'इंदिरापति, भूधर'* कहकर सूचित किया कि आप ही अनेक अवतार लेते हैं, यथा—*'मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥ जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तन धरि तुम्हइँ नसायो॥'* (६। १०९) अतः इन्दिरापति, भूधर आदि सब आप ही हैं। कच्छप और वराहरूपसे पृथ्वीको धारण किये हैं।

मा० म०—श्रीरामचन्द्रजीका श्रीजानकीजीसे वियोग हो चुका है; इसीसे यहाँ सीतारमण न कहकर *'इंदिरारमन'* कहा।

२ खर्रा—**भूधर**=पृथ्वीके धारण करनेवाले अर्थात् वाराहरूप आप ही हैं। **अज**=जन्म-प्रवाहरहित। स्वेच्छा-आविर्भाव जन्म नहीं कहलाता, कर्मग्रस्त जन्म कहलाता है।

प० प० प्र०—इस स्तुतिमें छः बार '**जय**' शब्द देकर सूचित किया कि षड्विकार, षडूर्मि, षड्रिपुओंसे रक्षा चाहनेके लिये छः बार कहा है।

नोट—☞ इस स्तुतिमें '*अनेक एक*', '*निर्गुन गुनसागर*' और '*नाम अनेक,* अनाम', ये विशेषण ऐसे आये हैं जिनमें 'विरोधाभास' अलंकार है। विरोधी विशेषणोंद्वारा ऋषि सूचित करते हैं कि आप परात्पर परब्रह्म हैं, जीवोंमें ये विरोधी गुण नहीं हो सकते। ईश्वरकी यही तो एक बड़ी विलक्षणता है। ईशावास्योपनिषद्में यह परमेश्वरकी अद्भुत सत्ता स्पष्टरूपसे कही गयी है। यथा—'**तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥**'(५) अर्थात् वह चलता है और नहीं भी चलता। वह दूर है और समीप भी है। वह सबके अन्तर्गत है और वही इस सबके बाहर भी है।

ज्ञाननिधान अमान मानप्रद। पावन सुजस पुरान बेद बद॥५॥
तज्ञ कृतज्ञ अज्ञता भंजन। नाम अनेक अनाम निरंजन॥६॥

अर्थ—आप ज्ञानके समुद्र, मानरहित और दूसरोंको मान-बड़ाई देनेवाले हैं, आपका पवित्र सुन्दर यश वेद और पुराण गाते हैं॥ ५॥ आप तत्त्वके ज्ञाता, उपकारके माननेवाले, अज्ञानके नाशक हैं। आपके नाम अनेक हैं और फिर भी आप अनाम हैं, अर्थात् आपका कोई नाम नहीं है (यह आपकी विलक्षणता है) और आप मायाविकाररहित हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) '*ज्ञाननिधान अमान मानप्रद*.........' इति। **निधान**=पात्र। अमान हो अर्थात् आपको पुजानेकी इच्छा नहीं है—'**अमानी मानदो मान्यः**'—(विष्णुसहस्रनाम)। ज्ञाननिधान कहकर अमान कहनेका भाव कि मान ज्ञानका बाधक है, यथा—'*ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं।*' (३। १५। ७) '*मान ते ज्ञान पान ते लाजा—नासहिं बेगि*.........।' (३। २१) ['*अमान मानप्रद।*' भाव कि 'आप किसीसे चाहें कि कोई आपकी बड़ाई करे, आपकी उन्नति बड़ाईसे हो' यह बात नहीं है, भला जब आपको कोई जानता ही नहीं कि स्तुति भी कर सके तब आपको कोई मान क्या देगा? आप तो अमान हैं। (पं० रा० व० श०)] (ख) '*पावन सुजस पुरान*.........' इति। भाव कि आपका सुयश ऐसा पवित्र है कि उसको गाकर वेद-पुराण अपना कल्याण चाहते हैं। वेद-पुराण भी मूर्तिधारी हैं इसीसे अपना कल्याण चाहते हैं।—(मिलान कीजिये—'*निज गिरा पावनि करन कारन रामजसु तुलसी कहेउ।*' (बा० ३६१) यह पवित्र करनेवाला है।) २—(क) **तज्ञ**=तत्त्वज्ञ, '**तत्त्वं ज्ञायत इति तज्ञः।**' [सब शास्त्रोंका लक्ष्यभूत जो तत्त्व पदार्थ है, उसके यथार्थ ज्ञाता—(खर्रा)] **कृतज्ञ** '**कृतं ज्ञायत इति कृतज्ञः।**' **निरंजन**=मायारूपी मलसे रहित। (ख) ऋषियोंने अनेक सहस्रनाम कहे हैं। इससे '*अनेक*' कहा। '*अनाम*' का भाव कि नाम चार प्रकारके होते हैं—गुण, क्रिया, जाति और यदृच्छा (=माता आदिका धरा हुआ); पर आपका नाम इन चारों विधियोंसे बाहर है; क्योंकि निरक्षरातीत है। निरञ्जनसे देही-देह-विभाग-रहित जनाया। —(**अंजन**=दाग, विकार, माया, दोष)। (वै०) जैसे शरीरमें स्थित जीव उस शरीरके नामसे पुकारा जाता है, वैसे ही चराचरमात्रमें स्थित होनेसे ब्रह्महीके वे सब नाम हुए। इस तरह आपके नाम अनेक हैं और सबसे अलग होनेसे आपका कोई नाम नहीं है। निरञ्जन कहनेसे '*सीयराममय सब जग जानी*', यह वाक्य मिथ्या होता है, अतएव आगे कहते हैं कि आप '*सर्व*.........' हैं।

सर्ब सर्बगत सर्ब उरालय। बससि सदा हम कहुँ परिपालय॥७॥
द्वंद बिपति भवफंद बिभंजय। हृदि बसि राम काम मद गंजय॥८॥

अर्थ—यह सब जगत् आप ही हैं, आप सबमें व्याप्त हैं, सबके हृदयरूपी घरोंमें आप सदा निवास करते हैं, हमारा सदा पालन कीजिये॥ ७॥ दुःख-सुख, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंकी विपत्ति और भवजालको काट दीजिये। हे राम! हृदयमें बसकर काम और मदका नाश कीजिये॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'सर्ब सर्बगत सर्ब उरालय। बससि'* इति। अर्थात्—(क) विराट्-रूपसे सब आप ही हैं, परमात्मारूपसे सबमें व्यापक और सगुणरूपसे सर्व-आलयमें वास करते हैं। अथवा, (ख) विराट्-रूपसे सब आप ही हैं, कारणरूपसे सर्वगत अर्थात् सबसे भिन्न हैं और सूक्ष्मरूपसे अन्तर्यामी होकर सबके हृदयमें वास करते हैं। अथवा, (ग) जब एकसे बहुत होते हैं तब आप सर्व हैं, यथा—**'एकोऽहं बहु स्याम्।'** जब मायायुक्त होते हैं तब भिन्न हैं। और जब ईश्वर (और) जीव हैं तब सबके उरालयमें बसते हैं। [पं०, शिला—**सर्व उरालय**=शिवजीके हृदयरूपी घरमें।]

वै०—*'सर्ब सर्बगत सर्ब उरालय',* यही भाव हनुमान्‌जीके **'देहबुद्धित्वदासोऽहं जीवबुद्धित्वदंशकम्। आत्मबुद्धित्वमेवाहमिति मे निश्चला मतिः'** इन वचनोंमें हैं। भाव कि देहबुद्धि रहनेपर दास जानकर, जीवबुद्धि होनेपर अंश और आत्मबुद्धि होनेपर अपना अङ्ग जानकर हमारी रक्षा कीजिये। आत्मबुद्धिसे सब आप ही हैं, जीवबुद्धि होनेसे सर्वगत हैं और देहबुद्धि होनेपर सबके उरालय आप हैं—ऐसा हम समझते हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'द्वंद बिपति भवफंद बिभंजय।'* द्वन्द्व विपत्ति अर्थात् अविद्यारूपी विपत्तिके कारण जो संसाररूपी फाँसी है, उसे तोड़िये। [भवफंद=काल, कर्म, गुण, स्वभाव। (खर्रा) अहंता=ममता। मैं और मेरा आदि दो बन्धन हैं, यही प्रभु और जीवमें दो अंगुलका बीच है, जो भुशुण्डिमोहके सम्बन्धमें कहा है। (रा० प्र०)]। (ख) *'हृदि बसि'* का भाव कि बिना आपके कामादि दोषोंका नाश असम्भव है। अभी कामादि इसमें बसते हैं।—(पुनः, भाव कि अन्तर्यामीरूपसे तो आप सबमें बसते ही हैं, पर उससे कामादि नाश नहीं होते, यथा—*'अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥'* अतः आप अपने सगुण धनुर्धररूपसे बसिये।' *'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥'* (५। ४७। १-२) देखिये।) (ग) द्वन्द्व विपत्ति माया है। उसका नाश कहा। फिर *'मद गंजय'* कहकर मदका नाश कहा। तत्पश्चात् प्रेमाभक्ति माँगते हैं—*'प्रेम भगति अनपायनी देहु……।'* इससे सिद्ध हुआ कि सनकादिक मुनियोंने सबसे दुर्लभ पदार्थ माँगा। यथा—*'सब ते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगति रत गत मद माया॥'*

दो०—परमानंद कृपायतन मन* परिपूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम॥ ३४॥

अर्थ—आप परमानन्द और कृपाके स्थान हैं। आप मनसे पूर्णकाम हैं। हे श्रीराम! आप हमें अपनी निश्चल प्रेमभक्ति दीजिये॥ ३४॥

नोट—*'परमानंद'* इति। श्रीरामजी परमानन्द रूप हैं, यह उनका स्वरूप ही है। यथा—*'राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥'* (१। ११६), **'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।** तैत्ति० ३। ६।' श्रीसनकादिकजीके आगमनपर कहा था कि *'ब्रह्मानंद सदा लय लीना।'* चारों *'मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी। भए मगन मन सके न रोकी॥……एकटक रहे निमेष न लावहिं……।'* अर्थात् इस 'परमानन्दस्वरूपका दर्शन करते ही ब्रह्मानन्द भाग गया और वे परमानन्दमें मग्न हो गये। वह परमानन्द हृदयमें बस जानेसे 'परमानन्द' विशेषण स्वाभाविक ही स्तुतिमें आ गया। यह विशेषण देकर प्रेमभक्तिका वर माँगनेका भाव कि अब ऐसी कृपा हो कि हम चारों भाई अब इस परमानन्दमें प्रेमभक्तिद्वारा निरन्तर मग्न रहें।

टिप्पणी—१ (क) *'परमानंद कृपायतन……।'* प्रेम भक्ति दुर्लभ है, मुनि उसे माँगना चाहते हैं, इसीसे भगवान्‌को 'परमानन्द' कहकर तब भक्ति माँगी। (ख) *'कृपायतन'* का भाव कि भक्ति दो प्रकारसे मिलती है, एक तो सत्कर्मसे, यथा—*'जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई।'* (आ०); दूसरे कृपासे। जो सत्कर्मसे मिलती है उसका अन्त है; क्योंकि जब सत्कर्मके फलका अन्त होगा तब भक्तिका अन्त हो जायगा और जो भक्ति कृपासे मिलती है उसका अन्त नहीं है, क्योंकि कृपाका अन्त नहीं है,

* मन पर पूरन काम-(का०)। अर्थात् मनसे परे और पूर्णकाम।

यथा—'*जासु कृपा नहिं कृपा अघाती।*' ('अनपायिनी' का भाव कि प्रेमभक्ति कभी-कभी होकर आगे नहीं भी रह जाती, यह बात न होने पावे, वह आजन्म अविचल बनी रहे। वह बिना कृपाके सम्भव नहीं है) (ग) 'प्रेमभक्ति' माँगनेसे सिद्ध हुआ कि ये प्रेमी भक्त हैं। 'हमहिं' से जनाया कि चारों भाइयोंने यह वर माँगा। प्रेमभक्ति सब भक्तियोंमें श्रेष्ठ है, इसीसे इसको माँगा।

देहु भगति रघुपति अति पावनि। त्रिबिध ताप भवदाप नसावनि॥ १॥
प्रनतकाम* सुरधेनु कलपतरु। होइ प्रसन्न दीजै प्रभु यह बरु॥ २॥

अर्थ—हे रघुपति! आप अपनी अत्यन्त पवित्र, तीनों तापों और भवके अभिमानको नाश करनेवाली भक्ति दीजिये॥ १॥ शरणागतोंकी कामनाके (पूर्ण करनेके लिये) कामधेनु और कल्पवृक्षरूप प्रभो! प्रसन्न होकर यह वरदान दीजिये॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) सनकादिकने ऊपर दोहेमें भक्ति माँगी और अब इस चौपाईमें फिर उसीको माँगते हैं, क्योंकि भक्ति सब साधनोंका फल है—'*जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥*' इसीसे बार-बार माँगते हैं। (ख) '*अति पावनि*' का भाव कि पापियोंको पवित्र करती है। पवित्रताका फल आगे कहते हैं कि त्रितापादि उनको नहीं व्यापते। ['भवदाप'। कोई भगवत्-सम्मुख होकर भवपार होना चाहता है तब संसार कहता है कि देखें हमें छोड़कर यह कहाँ जा सकता है—यह संसारदर्प है—(पं० रा० व० श०)।]

२ (क) '*प्रनतकाम सुरधेनु कलपतरु*' भक्तिके विशेषण हैं। (ख) कामधेनु कहकर कल्पवृक्ष कहनेका भाव कि कामधेनु मनोरथ पूरा करती है, परन्तु सेवा कराती है और कल्पवृक्ष निर्हेतु मनोरथ पूर्ण करता है, जो शरणमात्र हुए हैं, सेवा नहीं की है आप उनके भी मनोरथ पूर्ण करते हैं। पुन: कामधेनु जंगम है और कल्पवृक्ष स्थावर है अर्थात् एक जगह स्थिर है। तात्पर्य कि दास कल्पवृक्षके पास जाय तब उसका मनोरथ पूर्ण होता है, जो जन उसके पास न जा सके तो कामधेनु चलकर उसका मनोरथ पूर्ण करती है। ऐसी ही आपकी भक्ति है। (ग)—'*होइ प्रसन्न दीजै*' का भाव कि बिना भगवान्‌के प्रसन्न हुए यह वर नहीं मिलता। (रा० प्र०—बार-बार माँगनेसे उसकी परम अभिलाषा जनायी।) (घ)—'*प्रभु*' अर्थात् वर देनेको आप समर्थ हैं। (ङ) ☞ आपकी भक्ति ऐसी है और आप जैसे हैं सो सुनिये, उसे आगे कहते हैं।—यहाँ द्वितीय निदर्शना अलंकार है।

पं० रामकुमारजी '*प्रनतकाम सुरधेनु........*' को भक्तिका विशेषण मानते हैं। पूर्व भी इसपर विचार किया जा चुका है। मेरी समझमें तो यह प्रभुके लिये ही सम्बोधन है और मैंने वैसा ही अर्थ भी किया है। मनु-शतरूपाजीने भी ऐसे ही सम्बोधित किया है। यथा—'*सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू।*' (१। १४६। १) जो भाव वहाँ कहे गये हैं, वे यहाँ भी हैं। मनुजीकी विनयमें भी '*सेवत सुलभ सकल सुखदायक*' है और वही चरण ज्यों-का-त्यों श्रीसनकादिककृत इस स्तुतिमें अगली अर्धालीमें है। जैसे वहाँ '*तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू*' है वैसे ही कुछ हेर-फेरसे यहाँ '*होइ प्रसन्न दीजै प्रभु यह बरु*' है। वहाँ सुरतरु प्रथम है और यहाँ सुरधेनु प्रथम है यह भेद अवश्य है। पर दोनों विशेषण हैं वही।

प्र० स्वामीजी कहते हैं कि जहाँ एक ही चरण या अर्धाली दूसरी जगह दुहराई हुई मिलती है वहाँ कविका आशय यह है कि वहाँ प्रत्येक जगह दूसरी जगहका कुछ-न-कुछ अध्याहार कर लेना चाहिये। मनुजीने '*जौं अनाथहित हम पर नेहू*' कहकर '*तौ प्रसन्न होइ यह बरु देहू*' कहा है। अत: यहाँ भी '*जौं अनाथहित हम पर नेहू*' का अध्याहार कर लेना होगा।

भवबारिधि कुंभज रघुनायक। सेवत† सुलभ सकल सुखदायक॥ ३॥
मन संभव दारुन दुख दारय। दीनबंधु समता बिस्तारय॥ ४॥
आस त्रास इरिषादि निवारक। बिनय बिबेक बिरति बिस्तारक॥ ५॥

* प्रनत कामधुक धेनु—(का०)। कामधुक=कामधेनु।

† सेवक—(रा० गु० द्वि० गुटका), सेवत—(का०, भा० दा०)।

अर्थ—हे रघुनायक! भवसागरके सोख लेनेको आप अगस्त्यरूप हैं*। सेवा करनेमें आप सुलभ हैं और सब सुखोंके देनेवाले हैं॥ ३॥ मनसे उत्पन्न कठिन दुःखोंका नाश कीजिये। हे दीनबन्धु! हममें समदृष्टिका विस्तार कीजिये अर्थात् शत्रु, मित्र, उदासीन, लोहा, कंचन, मिट्टीमें समदृष्टि हो॥ ४॥ आप आशा, डर और ईर्ष्यादिके निवारण करनेवाले हैं। विनम्रता एवं विशेष नीति, विवेक और वैराग्यके विस्तार करनेवाले हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ ***'भवबारिधि कुंभज*'''''''** इति। (क) भाव कि भवसमुद्र सोखकर आप परलोक बनाते हैं और इस लोकमें सेवा किये जानेमें सुलभ हैं तथा सुखदाता हैं। (ख) ***'सेवत सुलभ'*** का भाव कि यद्यपि वे बहुत बड़े हैं, ***'बिधि हरिहर बंदित पद रेनू'*** हैं तथापि उनकी सेवा सुलभ है, प्रणाम मात्रसे वे प्रसन्न हो जाते हैं, केवल छल छोड़कर स्मरण करते ही कृपा करते हैं। यथा—***'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै। ततकाल तुलसीदास जीवन जनमको फल पाइहै।' 'छलहि छाँड़ि सुमिरे छोह किये ही है'*** (वि० १३५), ***'कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी। तेउ सुनि सरन सामुहे आए। सकृत प्रनाम किहें अपनाए।', 'नत करत निहाल को।'*** (वि० १८०) जो ***'सकल सुखदाता'*** है वह ***'सेवत सुलभ'*** नहीं होता और जिसको सेवा सुलभ है, वह ***'सकल सुखदाता'*** नहीं होता। पर आपमें दोनों गुण हैं। [**सेवत सुलभ**=सेवा करते ही आपके सेवकको सब कुछ सुलभ हो जाता है, सुखसे मिलता है, क्योंकि आप सम्पूर्ण सुखोंके दाता हैं। (रा० प्र०)]

२- *'मन संभव दारुन दुख'''''''* इति। मनसे उत्पन्न दारुण दुःख कौन हैं? मनमें शत्रु, मित्र, मध्यस्थ, ये तीन भाव जो आते हैं ये ही दुःखके कारण हैं। इनके हरणसे समताका विस्तार होगा। यथा—***'जो निज मन परिहरै बिकारा। तौ कत द्वैतजनित संसृति दुख संसय सोक अपारा। शत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हे बरिआई। त्यागब गहब उपेक्षनीय अहि हाटक तृन की नाई॥ असन बसन पसु बस्तु बिबिध बिधि सब मनि महँ रह जैसे। सरग नरक चर अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसे॥ बिटप मध्य पुत्रिका सूत्र महँ कंचुक बिनहि बनाये। मन महँ तथा लीन नाना तन प्रगटत अवसर पाये॥ रघुपति भक्ति बारि छालित चित बिन प्रयास नहिं सूझै। तुलसिदास कह चिदबिलास जग बूझत बूझत बूझै॥'*** (वि० १२४) [***'मन संभव दुख=कामादि,*** यथा—*'मनजात किरात निपात किये', 'मनोभवपीरा।'* दारयके साहचर्यसे मन-सम्भव दुःखको हाथी और रघुनाथजीको सिंह जनाया। (दारना=विदीर्ण करना) (रा० प्र०)।

पं० रा० व० श० जी कहते हैं कि विवेकीको एक ही दुःख है, वह अविद्याका। वह चाहता है कि अविद्यासे निवृत्त हो जाय और भगवान्‌में लगे, उसे संसारी दुःख नहीं है। अविवेकीको अनेक दुःख हैं। बिना विचारे ही संसार रमणीय है नहीं तो वह तो बड़ा भयंकर है।—**'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।'** 'दीनबंधु' में भाव कि हम मनसम्भव दुःखसे दीन हो रहे हैं। *'समता बिस्तारय।'* भाव कि सबमें हम समता देखने लगें जिससे हमें कामादिके विषम शरादिकी विषमता न लगे। (रा० प्र०)]

प० प० प्र०—समस्त दुःखोंका कारण मन ही है। मनुष्य, देवता, आत्मा, ग्रह, कर्म अथवा काल कोई भी सुख-दुःखका कारण नहीं है। मन ही संसारचक्रमें भ्रमण कराता है। वही गुणोंकी वृत्तियाँ उत्पन्न कराता है। गुणोंसे सात्त्विक, राजस और तामस कर्म होते हैं। कर्म और गुणोंके संगसे विषय-सेवन करनेके कारण मनुष्य भवबन्धनमें पड़ता है। इस प्रकार मन ही संसार-चक्रका कारण है। यथा **'नायं जनो मे सुखदुःखहेतुर्न देवताऽऽत्मा ग्रहकर्मकालाः। मनः परं कारणमामनन्ति संसारचक्रं परिवर्तयेद्यत्।'** (भा० ११। २३। ४३) **मनो गुणान्वै सृजते बलीयस्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि। शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति॥ ४४॥'''''''मनः स्वलिङ्गं परिगृह्यकामान् जुषन्निबद्धो गुणसंगतोऽसौ॥ ४५॥'**

टिप्पणी—३ (क) *'आस त्रास इरिषा।'* आशा मित्रकी, भय शत्रुका और ईर्ष्या बराबरवालेसे। (ख)—***'बिस्तारक'*** का भाव कि इनके विस्तारसे आशा, त्रास और ईर्ष्यादि दोषोंका निवारण हो जायगा।

* 'समअभेदरूपक' और 'द्वितीय निदर्शना' अलंकार।

भूप मौलि मनि मंडन धरनी। देहि भगति संसृति सरि तरनी॥ ६॥
मुनि मन मानस हंस निरंतर। चरन कमल बंदित अज संकर॥ ७॥

अर्थ—हे राजाओंके शिरोमणि! हे पृथ्वीके भूषण वा पृथ्वीको (राक्षसरहित करके) भूषित करनेवाले। अपनी भक्ति दीजिये, जो संसार-नदीके लिये नावरूप है॥ ६॥ हे मुनियोंके मनरूपी मानसरोवरमें सदा वास करनेवाले हंस! आपके चरणकमल ब्रह्मा और शिवजीसे निरन्तर वन्दित हैं॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) 'भूप मौलि मनि' का भाव कि आपने सब राजाओंको अपने-अपने राज्यपर बिठाया, जो राक्षसोंके उपद्रवसे उजड़े हुए थे उनको बसाया। भूपशिरोमणि कहकर भक्तिका वर माँगनेका तात्पर्य यह कि राजाओंको इस बातकी लज्जा रहती है कि हमारेसे कोई विमुख न जाय, इसीसे राजशिरोमणि कहकर माँगा जिसमें अवश्य मिले। (ख) संसार समुद्र है, उसको 'सरि' कहनेका भाव कि भक्तिके सामने वह नदीके समान तुच्छ हो जाता है। तात्पर्य कि भक्ति भव-समुद्रको नदीकी तरह पार कर देती है। (ग) ☞ यहाँतक भक्तिको चार विशेषण दिये—*'अति पावनि', 'त्रिबिधताप भवदाप नसावनि', 'प्रनतकाम-सुरधेनु कलपतरु'* और *'संसृति सरि तरनी।'* *'अति पावनि'* विषयीके लिये, *'त्रिबिध ताप भवदाप नसावनि'* आर्तके लिये, *'प्रणत काम सुरधेनु……'* अर्थार्थीके और *'संसृति सरि तरनी'* मुमुक्षुके लिये हैं।

रघुकुलकेतु सेतु श्रुति रक्षक। काल करम सुभाउ गुन भक्षक॥ ८॥
तारन तरन हरन सब दूषन। तुलसिदास-प्रभु त्रिभुवन भूषन॥ ९॥

अर्थ—आप रघुकुलके पताका अर्थात् रघुकुलमें सबसे श्रेष्ठ हैं, वेदमर्यादाके रक्षक और काल-कर्म-स्वभाव-गुणके भक्षण करनेवाले हैं॥ ८॥ आप सबको तारनेवाले हैं और स्वयं तरे हुए हैं, सब दोषोंके दूर करनेवाले हैं, त्रैलोक्यभूषण हैं और तुलसीदासके स्वामी हैं॥ ९॥

टिप्पणी—१ *'रघुकुलकेतु* और सेतु *श्रुति रक्षक'* को साथ-साथ कहनेका तात्पर्य यह है कि वेदमर्यादाकी रक्षाके हेतु आप रघुकुलकेतु हुए। पुनः, भाव कि जो मुनिमनमानसमें वास करते हैं और जिनके चरणोंका ध्यान ब्रह्मा और शिव करते हैं वे ही आप रघुकुलमें अवतीर्ण हुए। किस निमित्त! श्रुतिसेतु रक्षाके लिये। तात्पर्य कि राक्षसोंको मारकर आपने अपने धर्मकी रक्षा की और अब राज्यासनपर बैठकर आपने कालकर्म-गुणस्वभावकृत दोषोंका नाश किया। [अर्थात् आप अपने सेवकोंके अकालिक कष्ट, दुष्ट कर्म और दुष्ट स्वभावको नष्ट करनेवाले हैं। (नं० प०)] यथा—*'काल-कर्म-सुभाव-गुन-कृत दुख काहुहि नाहिं'*—दोहा २२ में देखो। सेतु श्रुति=श्रुतिकृत धर्मसेतु। 'रक्षक' कहकर सूचित किया कि इसे आप टूटने नहीं देते, जो तोड़ता है उसे दण्ड देते हैं।

नोट—*'तारन तरन……'* इति। इसके लोगोंने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। पं० रामकुमारजी 'तारण' का अर्थ केवट और तरणका 'नाव' करते हैं। एक खर्रेमें वे यह अर्थ देते हैं—भगवत्-रूपसे तारनेवाले और भक्त रूपसे (भवप्रवाहसे) तरनेवाले अर्थात् आप भगवत् और भक्तस्वरूप हैं। इस तरह वे इस चरणका भाव यह कहते हैं कि आप दोषीके दोषोंको हरकर उसको दोषरहित करके आप तारण-तरणरूप होकर उसे तारते हैं।

श्रीपंजाबीजीका मत है कि 'तारण-तरण=जो भवसागरसे तरे हुए हैं एवं जो दूसरोंको तारनेवाले हैं उनके लिये भी आप ही जहाज हैं। यह पद श्लिष्ट है।'

श्रीकरुणासिंधुजीके मतानुसार इस चरणका भाव यह है कि आप 'तारण' 'तरण' और 'तारणतरण' इन तीनों प्रकारके मनुष्योंको सम्पूर्ण दूषणोंसे छुड़ा देते हैं। **तारन**=जो वेद-शास्त्र पढ़ते-पढ़ाते हैं और दूसरोंको उपदेश देकर भवसागरसे छुड़ा देते हैं। **तरण**=जो आप ही निदिध्यास करके अपनी मुक्ति कर लेते हैं, इन्हें दूसरोंसे कुछ प्रयोजन नहीं रहता। **तारन तरन**=जो स्वतः जीवन्मुक्त हैं और दूसरोंको भी तार देते हैं।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि काल, कर्म, गुण, स्वभावके फन्देमें फँसे हुए जीवमात्र दुःख पा रहे हैं, यथा—*'फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म स्वभाव गुन घेरा।' 'काल कर्म गुण स्वभाव सबके सीस तपत'* परंतु *'राम नाम महिमा की चरचा चले चपत।'* क्योंकि सरकार काल कर्म गुण स्वभावके

भक्षक हैं। इनकी कृपासे ही जीव काल, कर्म, गुण, स्वभावके घेरेसे निकल सकता है और जो निकल चुके हैं, वे भी इन्हींकी कृपासे निकल पाये हैं। इसीलिये तारण-तरण कहते हैं। यहाँ 'तीर्ण' शब्दका तद्भव रूप *'तरन'* है। सरकारके सौन्दर्यकी छटा हृदयमें बस गयी है, यथा—***'एकटक रहे निमेष न लावहिं।'*** अतः त्रिभुवन भूषन कह रहे हैं।

नोट—☞*'तारन तरन'* शब्द अयोध्याकाण्डमें भी आया है। यथा—***'बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ।'*** (२। २१७। ४) श्रीनंगे परमहंसजी अर्थ करते हैं कि आप संसाररूपी समुद्रसे अपने भक्तोंके नौकारूप तरक हैं।

टिप्पणी—२ (क) ***'तुलसिदास प्रभु'*** इति। सनकादिक मुनियोंके मुखसे यह वचन कहलाकर गोस्वामीजी अपना स्वामी-सेवक भाव पुष्ट करते हैं।—***'भाविक अलंकार'*** है। (ख) ***'त्रिभुवन भूषन'*** इति। पूर्व श्रीरामजीको पृथ्वीका भूषण कहा अर्थात् निशिचर संहार करनेसे 'महिमंडन' कहा था और अब राज्यपर बैठकर त्रिलोकीको सुखी किया, यथा—***'रामराज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥'*** अतः अब **'त्रिभुवनभूषण'** कहा।

गौड़जी—जो प्रार्थना भगवान् शंकरने राज्यावरोहण-समय की थी वह राज्यावरोहणके अनन्तर पूर्ण हुई। प्रकारान्तरसे सनकादिकी इस स्तुतिमें इस स्थलपर उसीकी ओर इशारा है।

प० प० प्र०—यह पचीसवीं स्तुति है और पचीसवाँ नक्षत्र शतभिषक (शततारका) है। इसमें सौ तारे हैं। (**'वृत्तं स्याच्छतसंमितिः' रत्नमालाग्रन्थे**)। पर नक्षत्रमण्डलके नकशेमें केवल एक ही तारा देख पड़ता है। वैसे ही इस स्तुतिमें भी अनेक अनन्त और एक आदि संख्यावाचक शब्द हैं ही। शतशब्द अनन्तवाची है। त्रिपाठीजीका ध्यान इस ओर नहीं गया, इसीसे उन्हें २८ स्तुतिसंख्या पूरी करनेके लिये ८४ प्रसंगोंको छोड़कर आगे जाना पड़ा, वसिष्ठकृत स्तुति आदिको छोड़ना पड़ा।

आकारवृत्त चक्र-सा है। स्तुतिका आरम्भ ***'भगवत्'*** शब्दसे हुआ और समाप्ति ***'प्रभु त्रिभुवन भूषन'*** में हुई। प्रभु और भगवान् एक ही हैं, इस प्रकार मण्डल पूरा हुआ, बीच-बीचमें छः प्रकारके भागोंको भी सूचित किया है। यथा—*'ज्ञान निधान', 'पावन सुजस', 'सर्व सर्बगत सर्बउरालय'* (यह ऐश्वर्य है); ***'भवबारिधि कुंभज', 'आस त्रास इर्षादि निवारक'*** (यह वैराग्य है); ***'इन्दिररमण, सुरधेनु, कल्पतरु'*** (यह श्री है); ***'सेतु-श्रुतिरक्षक'*** (यह धर्म है)। इस प्रकार स्तुति भी चक्राकार सिद्ध हुई। सुदर्शनमें छः आरे होते हैं।

नक्षत्रका देवता वरुण हैं जो जल-देवता हैं। और इस स्तुतिमें ***'गुन सागर'*** भववारिधि, संसृति-सरि, मुनि, मन, मानस (सर) तथा इन्दिराके सम्बन्धसे क्षीरसागर आदि मुख्य जलाशयोंके सभी प्रकारोंका निर्देश है।

नक्षत्रकी फलश्रुति है। *'जग हित निरुपधि साधु लोग से'* और यहाँ सनकादिकजी साधु हैं ही जिन्होंने अनेकोंका हित किया है।

दो०—बार बार अस्तुति करि प्रेम सहित सिरु नाइ।
ब्रह्मभवन सनकादि गे अति अभीष्ट* बर पाइ॥ ३५॥

अर्थ—प्रेमसहित बारंबार स्तुति करके और माथा नवाकर अत्यन्त मनोवाञ्छित वर पाकर सनकादि मुनि ब्रह्मलोकको गये॥ ३५॥

टिप्पणी—१ स्तुति करना वचनकी भक्ति है, प्रेम करना मनकी भक्ति है और सिर नवाना तनकी भक्ति है। तात्पर्य कि तन, मन, वचनसे श्रीरामजीकी भक्ति करके ब्रह्मलोकको गये। ☞ सनकादिका बारंबार वर माँगना लिखते हैं,—[स्तुति करके वर माँगा, मिला नहीं अतः फिर स्तुति करने लगे फिर वर माँगा, इत्यादि। जब वर मिल गया तब स्तुति समाप्त कर दी। इसीसे बार-बार स्तुति और वर माँगना लिखा]।

(१) *प्रेमभगति अनपायनी देहु हमहिं श्रीराम।* (३) *होइ प्रसन्न दीजै प्रभु यह बर।*
(२) *देहु भगति रघुपति अति पावनि।* (४) *देहु भगति संसृति सरि तरनी।*

* अभिष्ट—(भा० दा०, का०)। अभीष्ट—(रा० गु० द्वि० गुटका)।

बार-बार माँगनेसे ही इसे *'अति अभीष्ट बर'* कहा। पर श्रीरामजीका वर देना नहीं लिखते, सनकादिकका वर पाना लिखते हैं। इससे यह सूचित किया कि श्रीरामजीने मनसे वर दिया और सनकादिकजी इस बातको जान गये। ☞ इस कथा-प्रसंगसे सूचित किया कि सनकादिक ऐसे तत्त्वज्ञोंको भी प्रेमकी अपेक्षा रहती है (खर्रा)। श्रीमद्भागवतमें श्रीसूतजीने कहा है कि भगवान्‌में गुण ही ऐसे हैं कि उनसे निवृत्ति-परायण श्रीशुकदेवजी, श्रीसनकादिकजी ऐसे आत्माराम और जीवन्मुक्त मुनि भी आकर्षित होकर उनकी अहैतुकी भक्ति किया करते हैं। यथा—'**आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥**'(भा० ३। ७। १०)

रा० प्र०—*'बार बार'* से चारों भाइयोंकी पृथक्-पृथक् स्तुति करना और वर माँगना भी हो सकता है। '**अति अभीष्ट**'=अनपायिनी भक्ति।

सनकादिक बिधि लोक सिधाए। भ्रातन्ह रामचरन सिरु नाए॥ १॥
पूछत प्रभुहि सकल सकुचाहीं। चितवहिं सब मारुतसुत पाहीं॥ २॥
सुनी चहहिं प्रभु मुख कै बानी। जो सुनि होइ सकल भ्रम हानी॥ ३॥

अर्थ—श्रीसनकादिक मुनि ब्रह्मलोकको चल दिये तब भाइयोंने श्रीरामजीके चरणोंमें सिर नवाया॥ १॥ सब भाई प्रभुसे पूछनेमें संकोच कर रहे हैं और पवनसुत हनुमान्‌जीकी ओर देखते हैं॥ २॥ सब प्रभुके मुखकी वाणी सुनना चाहते हैं, जिसे सुननेसे सब भ्रम दूर हो जाते हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ ☞ श्रीसनकादिकजीका ब्रह्मलोकको जाना दो बार लिखा—*'ब्रह्मभवन सनकादि गे'* और *'सनकादिक बिधि लोक सिधाये।'* दोहेमें ब्रह्मलोकको जाना लिखा था और यहाँ यह लिखते हैं कि जब वे चले गये तब भाइयोंने प्रणाम किया। यहाँ दूसरी बार जानेकी बात नहीं कह रहे हैं वरन् तीनों भाइयोंके प्रणामका समय बता रहे हैं। [*'बार बार अस्तुति……'* इस दोहारूपी कमलकी पुरइन *'सनकादिक बिधि लोक सिधाए'* यह अर्धाली है। अतः इसमें सनकादिकके ब्रह्मलोक जानेकी चर्चा है। (वि० त्रि०)] प्रणामका कारण आगे लिखते हैं कि कुछ प्रश्न करना चाहते हैं।

२ *'पूछत प्रभुहि सकल सकुचाहीं।……'* इति। सम्मुख प्रश्न करनेमें ढिठाई समझते हैं, जैसा कि आगे स्पष्ट है—*'करउँ कृपानिधि एक ढिठाई। मैं सेवक तुम्ह जन सुखदाई॥'* इसीसे प्रश्न करनेमें संकोच है:—[श्रीहनुमान्‌जीकी ओर देखते हैं क्योंकि प्रभुने इनको अपना 'धनी' और अपनेको उनका ऋणिया कहा है तथा हनुमान्‌जी उनके बहुत मुँह लगे वा ढीठ हैं। और, रा० प्र० के मतानुसार हनुमान्‌जी परम अन्तरंग कृपापात्र हैं, अतः उन्हींसे प्रश्न कराना चाहते हैं। पर वस्तुतः हनुमान्‌जी भी ऐसे ढीठ नहीं हैं जैसा कि आगेकी चौपाइयोंसे स्पष्ट है। भरतजी बहुत संकोची हैं—*'महूँ सनेह सँकोच बस सनमुख कहे न बैन।'* शत्रुघ्नजी उनके अनुगामी हैं, अतः वे स्वामीके सामने प्रश्न कब कर सकते हैं! रहे लक्ष्मणजी, सो सेवामें अवश्य ढीठ हैं पर प्रश्न करनेमें सदा बड़े विनम्र देख पड़ते हैं।]

३ *'सुनी चहहिं प्रभु मुख कै बानी'* इति। यद्यपि वेदशास्त्रोंमें सन्त-लक्षण सुने हैं तथापि निःसंदेह होनेके लिये श्रीमुखकी वाणी सुनना चाहते हैं। प्रभु मुखकी वाणीसे कल्पवृक्ष, कामधेनु, त्रिपुरारि उत्पन्न हुए हैं ऐसी वह वाणी है। इसकी उत्प्रेक्षा गीतावलीमें है,—*'जनु इन बचननि ते भये सुरतरु तापस तिपुरारि।'* (१। १९। ९)

पं० रा० व० श०—प्रभुने कहा कि *'संतसंग अपबर्ग कर……'* अतः उनकी वाणी सुनना चाहते हैं क्योंकि आपकी वाणी प्रमाण है, वेद ही है—*'निगम निज बानी'*, आप जो कहते हैं उसपर आरूढ़ भी रहते हैं।

वै०—भ्राताओंने मुनियोंकी प्रेमदशा देखी; ऐसे शुद्ध रामानुरागी होकर भी बारंबार उन्होंने भक्ति माँगी। इससे संदेह हुआ कि इनमें भी पूर्ण भक्ति नहीं है। अतः लालसा हुई कि पूर्णभक्तोंके लक्षण जानें।

वीर—तीनों भाइयोंका हार्दिक अभिप्राय यह है कि स्वामीको मेरी ओरसे पूछनेकी बात प्रकट न हो, प्रश्न हनुमान्‌जी करें। इस आशयसे उनकी ओर निहारना 'युक्ति अलंकार' है।

वि० त्रि०—श्रीसनकादिकका जैसा सत्कार सरकारने किया वैसा और किसीका करते देखा नहीं गया, इनको हर्षित होकर दण्डवत् किया, स्वागत पूछी, बैठनेके लिये अपना उत्तरीय वसन बिछा दिया, हाथ पकड़कर उसपर बिठाया, उनके पादार्पणसे अपनेको धन्य माना, तथा उनकी स्तुति सन्तरूपसे की। अतः तीनों भाइयोंके हृदयमें सन्तके लक्षण जाननेकी जिज्ञासा एक साथ ही उदय हुई। तब सनकादिके जाते ही प्रश्न करनेके लिये प्रणाम किया, परंतु सन्त शब्द इतना प्रसिद्ध है कि उसके विषयमें प्रश्न करनेमें सभी संकुचित हो गये, लगे हनुमान्‌जीका मुख देखने। भाव यह कि आप ही हम लोगोंकी ओरसे पूछिये। यद्यपि बात खुली नहीं कि क्या पूछना है, पर हनुमान्‌जीसे इङ्गितज्ञके लिये, सनकादिकके जाते ही तीनों भाइयोंके मनमें एक साथ जिज्ञासा उठनेसे स्पष्ट हो गया कि इन्हींके सम्बन्धमें प्रश्न है और इनका जो इतना सत्कार सरकारद्वारा हुआ है, तो उन गुणोंके विषयमें प्रश्न है, जिनके कारण ये इतने पूज्य समझे गये। इतना ही नहीं, हनुमान्‌जी संकोचका कारण भी समझ गये। इसीलिये सरकारके पूछनेपर कहते हैं कि भरतजी कुछ पूछना चाहते हैं। यद्यपि पूछना सभी चाहते थे, पर हनुमान्‌जी केवल भरतजीका नाम लेते हैं, क्योंकि वे ही सबसे बड़े थे और जिज्ञास्य विषय एक ही था। इस भाँति ग्रन्थकारने *'संग परम प्रिय पवन कुमारा'* कहनेका साफल्य दिखलाया तथा हनुमान्‌जीकी बुद्धिमत्ता दिखलायी। यद्यपि हनुमान्‌जीने प्रश्न नहीं किया, पर उस संकोचको मिटा दिया, जिसके कारण वे पूछनेमें संकोच करते थे।

अंतरजामी प्रभु सभ* जाना। बूझत कहहु काह हनुमाना॥ ४॥
जोरि पानि कह† तब हनुमंता। सुनहु दीनदयाल भगवंता॥ ५॥
नाथ भरत कछु पूछन चहहीं। प्रश्न‡ करत मन सकुचत अहहीं॥ ६॥

अर्थ—अन्तर्यामी प्रभु सब जान गये और पूछते हैं कि हे हनुमान्! कहो, क्या बात है?॥ ४॥ तब हनुमान्‌जी हाथ जोड़कर बोले—हे दीनदयाल, भगवन्त! सुनिये॥ ५॥ हे नाथ! भरतजी कुछ पूछना चाहते हैं, पर प्रश्न करनेमें मनमें संकोच करते हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'अंतरजामी प्रभु सभ जाना……'* इति। सब भाई श्रीरामजीके संकोचसे न पूछ सके और उन्होंने हनुमान्‌जीसे प्रश्न कराना चाहा। इधर हनुमान्‌जी भी श्रीरामजीके अदबसे न बोल सके। यह सब बातें प्रभुने जान लीं। सब भाई हनुमान्‌जीसे प्रश्न कराना चाहते थे, अतः श्रीरामजीने हनुमान्‌जीसे ही प्रश्न किया कि क्या पूछते हो कहो। भाई प्रश्न करनेमें संकोच करते हैं, इससे उनसे न कहा।

२ (क) *'जोरि पानि कह तब……'* इति। हाथ जोड़कर बोलना सेवकोंकी रीति है। (ख) *'दीनदयाल भगवंता।'* भाव कि जो ऐश्वर्यवान् हैं, वे ही दीनोंपर दया करते हैं। आप भगवंत हैं, इसीसे मुझ दीनपर दया की कि मेरे द्वारा भाइयोंको उपदेश किया चाहते हैं, इससे आपने मुझे भाइयोंसे अधिक बड़ाई दी।

३ *'नाथ भरत कछु पूछन चहहीं।'* इति। हनुमान्‌जी नीतिके अनुकूल भरतजीका पूछना कहते हैं। ये बड़े भाई हैं, इनके आगे छोटे भाई प्रश्न न कर सकेंगे।

पं० रा० व० श०—१—*'बूझत कहहु काह'* से जनाते हैं कि हनुमान्‌जीको भी पूछनेमें संकोच हो रहा था कि भाई होकर नहीं पूछते तब हम कैसे पूछें, यह जानकर प्रभुने स्वयं पूछा। २—प्रश्नमें संकोच यह था कि प्रश्न बन पड़े या न बन पड़े; प्रभुको कहनेमें संकोच न हो, हम अधिकारी हों या न हों, सेवकका प्रश्न ढिठाई न हो, जैसा आगे कहते हैं—*'करउँ……'।*

गौड़जी—ये सभी लोग परम भागवत हैं और इन्हें भक्तोंका लक्षण पूछना है। भारी संकोचकी बात है, प्रभु भक्तवत्सल हैं, अवश्य ही भक्तकी प्रशंसा करेंगे। पूछकर स्वामीसे अपनी प्रशंसा कराना कितने बड़े संकोचकी बात है और सर्वथा अवाञ्छनीय है। सामने सनकादिकको अद्भुत भक्तिके परिचयसे बड़ा प्रोत्साहन हो रहा है कि श्रीमुखसे भक्तोंके लक्षण सुनें, पर पूछनेसे बनता नहीं, इसलिये हनुमान्‌जीका

* 'सब'। † 'तब कह'—(का०)। सम—(भा० दा०)। ‡ प्रश्न—(का०)।

मुँह ताकते हैं कि ये ज्यादा मुँह चढ़े हुए हैं और इधर हनुमान्‌जीकी भी हिम्मत नहीं पड़ती। अन्तमें इस हैस-बैसको प्रभु स्वयं पूछकर दूर कर देते हैं।

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ। भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ॥ ७॥
सुनि प्रभु बचन भरत गहे चरना। सुनहु नाथ प्रनतारति हरना॥ ८॥

अर्थ—हे कपि! तुम मेरा स्वभाव जानते हो। क्या कभी भी भरतजीसे मुझे कुछ भेदभाव है? अर्थात् उनसे मैं कभी कोई दुराव नहीं करता॥ ७॥ प्रभुके वचन सुनकर भरतजीने उनके चरण पकड़े (और बोले) हे नाथ! हे शरणागतके दुःख हरनेवाले! सुनिये॥ ८॥

नोट—'*कपि*' इति। करुणासिंधुजीने यहाँ यह शंका की है कि 'हनुमान्‌जी तो अब मनोहर मनुज-शरीर धारण किये हैं तब 'कपि' क्यों कहा?' और समाधान करते हैं कि कपि=कं+पि=सुधा पीनेवाला अर्थात् ये नित्य भक्ति-सुधा पीते रहते हैं इससे कपि कहा। पर यह अर्थ क्लिष्ट है। मेरी समझमें कपि कहनेका कारण यह है कि उनकी जाति तो यही है। दूसरे, श्री १०८ रूपकलाजीसे यह भी सुना है कि श्रीहनुमान्‌जीका मुख वानरका ही है, यह उन्होंने नहीं छोड़ा। यही कारण है कि वानर-विदाईमें भी 'कपि' शब्द आया है, यथा—'*ब्रह्मानंद मगन कपि सबके प्रभुपद प्रीति।*' (१५) '*अस कहि कपि सब चले तुरंता।*' (१९। १०)

टिप्पणी—१ '*कछु अंतर काऊ*' यही बात प्रभुने नारदजीसे कही है, यथा—'*जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ। जन सन कबहुँ कि करउँ दुराऊ॥*' २—'*भरत गहे चरना*', यह सुख और प्रेमके कारण कि जब मुझपर प्रभु श्रीरामजीकी असीम कृपा है। पुनः, इससे कि प्रभुने मुझे अपने बराबरका कहा पर मैं इस योग्य कहाँ, मैं तो आपके चरणोंका दास हूँ, यह समझकर चरण पकड़े। ३—'*प्रनतारति हरना*' कहकर जनाया कि मेरे प्रश्नके उत्तरमें जो आप कहेंगे उसे सुननेसे दासोंका दुःख दूर होगा।

दो०—नाथ न मोहि संदेह कछु सपनेहु सोक न मोह।
केवल कृपा तुम्हारिहि *कृपानंद संदोह॥ ३६॥

अर्थ—हे नाथ! मुझे स्वप्नमें भी न कुछ संदेह है न शोक और न मोह है। हे कृपा और आनन्दके समूह! केवल आपकी ही कृपासे ऐसा है॥ ३६॥

टिप्पणी—१ शोक अज्ञानसे होता है। जब मोह नहीं है तब शोक कैसे हो सकता है। शोक विज्ञानसे दूर होता है, यथा—'*सोक नेवारेउ सबहि कर निज बिज्ञान प्रकास।*' (अ० १५६) अतएव शोक नहीं है, इस कथनसे सूचित हुआ कि भरतजीके हृदयमें विज्ञान है। २—मुझे संदेह, शोक, मोह नहीं है, इस कथनसे अभिमान प्रकट होता है इसीसे आगे कहते हैं कि '*केवल कृपा तुम्हारिहि*......*।*' भाव कि श्रीभरतजी सन्देहादिका छूटना क्रियासाध्य नहीं मानते, यह नहीं मानते कि ये शास्त्रके पढ़ने-सुननेसे छूट सकते हैं, वरन् कृपासाध्य ही मानते हैं अर्थात् प्रभुकी कृपासे ही ये छूट सकते हैं, अन्यथा नहीं। ३—'*कृपानंद संदोह*' अर्थात् आप कृपाके पात्र वा समूह हैं, इसीमें मुझे आपकी कृपासे आनंद है।

गौड़जी—'*भरतहिं मोहि अंतर काऊ*' कहकर भगवान्‌ने भगवत् और भागवतमें अभेद कर दिया। प्रभु अपनी ओरसे अभेदता अनुभव करा देते हैं, उनकी असीम कृपा है। इसीलिये भक्तके मनमें 'शोक-मोह' स्वप्नमें भी फटक नहीं सकता—'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः'—(यजुर्वेदसंहिता अध्याय ४० मन्त्र ३)। भरतजी इसीपर कहते हैं कि आपकी कृपासे मुझे '*शोक-मोह*' नहीं है तो भी मैं सेवक हूँ और आप स्वामी हैं, स्वामीकी ओरसे 'तुम और नहीं हम और नहीं' की सदा अत्यन्त शोभन है,

* यहाँ तथा और भी कई ठौर भा० दा० ने 'कृ' को 'क्रि' लिखा है। इसी तरह 'च्छ' की जगह बहुत स्थलोंपर 'क्ष' लिखा है। का० में प्रायः 'कृ' 'च्छ' है।

परंतु सेवक तो कैवल्यपदका भी दास्यभावके सामने निरादर करता है, वह इस एकताके भावको स्वामीकी ओरसे महती कृपा और अपरिमिति इनाम मानता है। उसे लाभ वही होते हैं जो एकताके पदमें मिलते हैं, परंतु साथ-ही-साथ सेवक जीवके पदसे और जीवोंके लिये परमार्थका द्वार खुलवा देता है। उस महती भगवत्कृपाके परमोपहारका प्रसाद और जीवोंमें बाँटना आवश्यक समझता है। भरतजीके रूपमें भगवान्‌ने इस प्रकारके भक्तोंका आदर्शावतार दिखाया है। भरतजी इस एकत्वको देखते हुए भी परमार्थके भावसे प्रभुके श्रीमुखसे सन्तों और असन्तोंके लक्षण सुना चाहते हैं। इसके दो अभिप्राय हैं—एक तो भगवान्‌के श्रीमुखसे भागवतका स्तवन तो स्वयं अत्यन्त कल्याणकारी है। दूसरे, सन्तोंके प्रामाणिक लक्षण समझाकर सर्वसाधारणको सद्‌वृत्तिकी ओर प्रवृत्त करना और असन्तोंके लक्षण समझाकर असन्मार्गसे जिज्ञासु और साधकको बचाये रहना यह दो लाभ परमभागवत भरतजीके परोपकारी प्रश्नोंके उत्तरसे प्रसादके रूपमें मिलते हैं।

करौं कृपानिधि एक ढिठाई। मैं सेवक तुम्ह जन सुखदाई॥ १॥
संतन्ह कै महिमा रघुराई। बहु बिधि बेद पुरानन्ह गाई॥ २॥
श्रीमुख तुम्ह पुनि कीन्हि बड़ाई। तिन्ह पर प्रभुहि प्रीति अधिकाई॥ ३॥
सुना चहौं प्रभु तिन्ह कर लच्छन। कृपासिंधु गुन ग्यान बिचच्छन॥ ४॥
संत असंत भेद बिलगाई। प्रनतपाल मोहि कहहु बुझाई॥ ५॥

अर्थ—हे दयासागर! मैं एक ढीठता (धृष्टता) करता हूँ। मैं आपका सेवक हूँ और आप (अपने) दासको सुख देनेवाले हैं (भाव कि जो मैं पूछता हूँ उसे कहकर मुझ सेवकको सुख दीजिये)॥ १॥ हे रघुराज! वेद-पुराणोंने सन्तोंकी महिमा बहुत प्रकारसे गायी है॥ २॥ फिर आपने भी अपने मुखसे उनकी बड़ाई की है और उनपर प्रभुका प्रेम भी बहुत अधिक है (कि अपना पीताम्बर बैठनेके लिये बिछा दिया)॥ ३॥ हे प्रभो! मैं उनके लक्षण सुनना चाहता हूँ। आप कृपासिंधु हैं और गुण-ज्ञानमें निगुण हैं॥ ४॥ हे शरणपाल! सन्त और असन्तके भेद अलग-अलग करके मुझे समझाकर कहिये॥ ५॥

शब्दार्थ—**श्रीमुख**=शोभित या सुन्दर मुख। यथा—'*आगम कल्प रमण तब ह्वैहै श्रीमुख कही बखान*' (सूर)। बड़े लोगों, महात्माओंकी सुन्दर वाणीकी प्रशंसा सूचित करनेके लिये उनके मुख एवं वचन आदिके साथ 'श्री' का प्रयोग किया जाता है। श्रीमुख अर्थात् सुन्दर मुखारविन्दद्वारा।

टिप्पणी—१ '*करौं कृपानिधि एक ढिठाई।*………' इति। (क) आप '*कृपानिधि*' हैं। अर्थात् दासोंपर सदा कृपा करते हैं, अनुचित कार्य करनेपर भी उनपर क्रोध नहीं करते। यथा—'*जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहिं करुना करि कीन्ह न कोहू॥*' (१। १३। ६) यह समझकर धृष्टता करता हूँ। (ख) '*एक ढिठाई*………' इति। स्वामीके आगे बोलना धृष्टता है। धर्म जाननेवाले सेवक स्वामीके सम्मुख बोलना धृष्टता समझते हैं।

गौड़जी—भरतजी सेवाभावका जो उच्च आदर्श रखते हैं वहाँतक कल्पनाका पहुँचना भी असम्भव है। साधारण उपासक तो पग-पगपर ढिठाई ही करता है, बिना ढिठाई किये उसकी चल ही नहीं सकती। स्वामीकी बड़ाई और अपनी छुटाईपर विचार करके इस लाचारीपर विवश रह जाना ही पड़ता है—'*राम सों बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो। राम सों खरो है कौन, मोसों कौन खोटो॥*' सेवककी कोई गति-मति ढिठाईसे खाली नहीं होती। फिर भी यही ढिठाई सेवकके लिये परित्राण है, इसके बिना वह एक क्षण जी नहीं सकता। छोटी-सी-छोटी पीड़ामें कातर हो वह प्रभुको टेरता है और जरा-जरा-सी बातमें वह प्रभुको स्मरण करता है। क्या यह सेवाका भाव है?—'*सब तें सेवक धरम कठोरा।*' ऐसी ढिठाई करनेवाला अपनेको सेवक समझकर प्रभुको नहीं पुकारता। वह उसी तरह प्रभुको पुकारता है जैसे असहाय बालक पद-पदपर माताका आश्रय ढूँढ़ता है। सेवकमें शिष्य वा बालकका प्रभुके प्रति बड़ा गम्भीर और प्रच्छन्न भाव बना रहता है। इसे सेवाभाव न कहकर वात्सल्यभाव कहना चाहिये। सेवाभावमें तो मुतलक

(किंचित् भी) ढिठाईकी गुंजाइश नहीं है। श्रीभरतजी भी ढिठाई करनेका अपना दावा उसी वात्सल्यभावके साथ रखते हैं—सख्यभावसे नहीं—जिसका परिचय *'मैं प्रभु कृपा रीति जिय जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोही॥'* और *'गुरु पितु मातु न जानौं काहू। कहउँ सुभाव नाथ पतियाहू॥'* से मिलता है। अतः भरतजी पहले तो कुछ बोलते ही नहीं, अपनी तरफसे कुछ प्रश्न नहीं करते, प्रभुकी ओरसे इशारा भी पाते हैं तो भी प्रश्न करनेमें ढिठाई समझते हैं। सेवककी ओरसे स्वामीके प्रति इस दर्जेका अदब चाहिये।

नोट—१ और भाव ये हैं—जब स्वामी स्वयं ही सब प्रकार सेवककी रुचि रखते हैं तब ऐसे सर्वज्ञ स्वामीसे संकोच छोड़कर कुछ कहना धृष्टता ही है। (पं०, पं० रा० व० श०) आप सुस्वामि हैं, कृपानिधान हैं, सेवक-सुखदाता हैं, ऐसा स्वामी पाकर सेवक ढीठ हो जाते हैं अतः मैं भी एक ढिठाई करता हूँ। पहले कह चुका कि मुझे कोई संदेहादि नहीं हैं और अब प्रश्न करूँगा यह ढिठाई है। (वै०) 'ढिठाई करनेका हेतु यही है कि मैं सेवक हूँ और आप *'जन सुखदाई'* हैं इस भरोसेपर शंका नहीं है। (रा० प्र०, खर्रा)

वि० त्रि०—भरतजी स्वयं सन्त हैं, सन्तके लक्षणोंसे अपरिचित नहीं हैं, अतः जानी हुई बातको पूछना केवल उत्तर देनेवालेको व्यर्थ ही कष्ट देना है, अतः भरतजी कहते हैं कि मैं ढिठाई करता हूँ, सरकार कृपानिधि हैं क्षमा करेंगे, और मैं सेवक हूँ, मुझे सुख देनेके लिये उत्तर देनेकी कृपा करेंगे। मुझे आपकी कृपासे न तो सन्देह है, न शोक-मोह है, पर सरकारके मुखकी वाणी सुननेकी इच्छा है, (यथा—*'सुनी चहहिं प्रभु मुख कै बानी।'*) जिससे, जो कभी-कभी सरकारके चरित देखनेसे भ्रम हो जाता है, उसकी हानि हो जाय।

टिप्पणी—२ *'संतन्ह कै महिमा रघुराई।.........'* इति। *'रघुराई'* का भाव कि आप राजा हैं, वेद-पुराण आपके यहाँ नित्यप्रति होते ही रहते हैं।

नोट—सन्तोंके लक्षण और महिमा भा० ११। ११ में विस्तारसे भगवान्ने उद्धवसे कही है। भागवत सब पुराणोंका फल-स्वरूप है। यत्र-तत्र उपनिषदोंमें सन्तोंकी महिमा वर्णित है। जहाँ-जहाँ ऋषियों-भक्तों आदिका वर्णन है वहाँ-वहाँ उनकी महिमा भी गायी गयी है। अतः 'वेदोंका गाना' कहा।

३ (क)—*'श्रीमुख तुम्ह पुनि कीन्हि बड़ाई'*, यथा—*'आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा। तुम्हरे दरस जाहिं अघ खीसा॥ बड़े भाग पाइब सतसंगा।'* इत्यादि। (ख) *'गुन ग्यान बिचच्छन'* का भाव कि जैसा आपसे कहते बनेगा वैसा दूसरेसे न बनेगा। (ग) 'लक्षण' सुननेका भाव कि बिना लक्षण जाने सन्त और असन्त पहिचाने नहीं जा सकते।

☞ *'कहहु बुझाई।'* जिज्ञासुको इसी प्रकार अज्ञानी बनकर पूछना चाहिये।

संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगनित श्रुति पुरान बिख्याता॥ ६॥
संत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी॥ ७॥
काटै परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**आचरनी**=आचरण, व्यवहार, चाल-चलन। '**सुगंध बसाई**', '**देइ सुगंध बसाई**'=सुगन्ध वास या महक देता है, सुवासित कर देता है, सुगन्ध बसा देता है। श्रीनंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि यह काशीसे पूर्वकी ग्रामभाषा है। **बसाना**=महका देना।

अर्थ—हे भ्राता! सुनो। सन्तोंके लक्षण अगणित (संख्यारहित, बहुत) हैं और वेदों-पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं॥ ६॥ संतों और असंतोंकी करनी ऐसी है जैसा कि चंदन और कुल्हाड़ीका आचरण (व्यवहार, करनी) है॥ ७॥ हे भाई! (उनके आचरण कहता हूँ) सुनो। फरसा मलयचंदनको काटता है (जैसा कि उसका स्वभाव है कि वृक्षोंको काटता है) और चंदन अपना गुण देकर सुगंध बसा देता है, उसे सुवासित कर देता है॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता।.........'* इति। (क) श्रीभरतजीने संत और असंतके भेद अलग-अलग पूछे हैं। इसीसे श्रीरामजी उनके भेद पृथक्-पृथक् कहते हैं। (ख) *'भ्राता'*।—सब भाई

श्रीरामजीको स्वामी मानते हैं और श्रीरामजी सबको अपना भाई अर्थात् बराबरवाला ही मानते हैं। दोनों अपने-अपने भावमें सावधान हैं। (ग) *'अगनित श्रुति पुरान बिख्याता'* यह कहकर श्रीभरतजीके *'संतन्ह कै महिमा रघुराई। बहु बिधि बेद पुरानन्ह गाई॥'* इन वचनोंका समर्थन करते हैं।

२ *'काटै परसु मलय.........।'* भाव कि इसी प्रकार दुष्ट लोग जैसे सबका अपमान करते हैं वैसे ही सन्तोंका भी अपमान करते हैं और संत जैसे सबको सुख देते हैं वैसे ही खलोंको भी सुख देते हैं।—*'उमा संत कै इहै बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥'* (५। ४१। ७)

नोट—१ यहाँ संत चन्दन हैं, असन्त कुठार हैं, अहित करना काटना है, निज गुण देना सुगंध बसाना है। चन्दन देवताओंपर चढ़ता है, सन्त देवताओंसे भी पूजित होते हैं।

कुछ लोग यह शंका करते हैं कि अपना गुण संत असंतको कहाँ देते हैं, असंतमें तो संतका गुण आ नहीं जाता यद्यपि कुल्हाड़ेमें वास जरूर आ जाती है। इसका उत्तर दूसरे यह देते हैं कि संतके क्षमा-शीलाचरणसे पीछे असंतमें ग्लानि आती है और *'सठ सुधरहिं सत्संगति पाई', 'खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू।'* यही उनमें सुगन्ध वास देना है। दूसरा उत्तर यह है कि संत देते हैं, यह काम इनका है। वे ग्रहण करें या न करें यह उनका काम है।

२—संतोंका निज गुण यह है कि खल उनका सर्वस्व हरण कर लें तो भी ये उनमें शत्रुताभाव न रखकर उनके लिये प्रार्थना ही करते हैं कि हे प्रभो! ये घोर यमयातनाको भूल गये हैं, इनको बुद्धि सुधार दीजिये जिसमें इनका कल्याण हो—*'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया॥'* कितना ही कष्ट पड़े पर धर्म नहीं छोड़ते। इस तरह *'निज गुन देइ सुगंध बसाई'* का अर्थ होगा कि काटनेपर भी वह 'सुगन्धवास देना'-रूपी अपना गुण ही देता (अर्थात् प्रकट करता) है वैसे ही संत अपना अहित होनेपर भी क्षमा ही करते हैं।

नं० प०—'चन्दन अपना गुण कुल्हाड़ेमें देता नहीं है किंतु प्रकट करता है। यदि कहिये कि वह कुल्हाड़ेमें सुगन्ध देता है तो उस सुगन्ध देनेसे कुल्हाड़ेका क्या फायदा होता है? कुछ नहीं, बल्कि वह अग्निमें तपाकर पीटा जाता है। सुगन्ध प्रकट करना तो चंदनका स्वाभाविक गुण है, जैसे चन्दनकी सुगन्धसे कुल्हाड़ेको कोई लाभ नहीं, वैसे ही सन्तके गुणसे असंतका कुछ फायदा नहीं होगा। यहाँ दोनोंका करतबमात्र दिखाया गया है।'

दो०—तातें सुर सीसन्ह चढ़त जगबल्लभ श्रीखंड।
अनल दाहि पीटत घनहि परसु बदन यह दंड॥३७॥

अर्थ—इसी (अपने साधु-गुणसे) चन्दन देवताओंके मस्तकपर चढ़ता है और जगत्को प्रिय है। और कुल्हाड़ीके मुखको यह दण्ड मिलता है कि उसको आगमें तपाकर फिर घनसे पीटते हैं। (इसी प्रकार संत लोग क्षमाशील होनेसे देवताओंके सिरपर चढ़कर अर्थात् देवलोकोंको लाँघते हुए परम धामको जाते हैं और सारे जगत्को प्रिय हैं)॥ ३७॥

☞ संक्षेपसे दोनोंके लक्षण इस दोहेमें कहकर आगे विस्तारसे कहते हैं।

पं०—*'जिमि कुठार चंदन आचरनी।.........'* से यह सन्देह हुआ कि इसमें तो दुष्टोंका अत्यन्त लाभ हुआ कि वे चाहे जिसे जो कुछ हानि पहुँचावें उनकी हानि न होगी, वरन् उलटे वे 'सुगन्ध' पा जाते हैं। इसीपर यहाँ कहते हैं कि उनको लाभ न समझो। सन्त दण्ड नहीं देते पर उनकी करनीका फल उनको ईश्वर देता है। उसने चन्दनको अपनी करनीका फल यह दिया कि देवताओंके सिरपर चढ़ता है और कुठारको यह फल दिया कि वह तपाया और पीटा जाता है। वैसे ही संत देवताओंसे भी पूज्य हैं और खल घोर यमयातना पाते हैं अर्थात् दण्डनीय हैं।

मा० म०—चन्दनवृक्ष कदापि अर्चाविग्रह शालग्रामपर नहीं चढ़ सकता। जब कुठार काटता है तभी वह

शालग्रामपर चढ़ने योग्य होता है। इसी तरह संत खलोंकी चोट सहकर परमात्माको प्राप्त करते हैं।

नोट—यहाँ संतका सुर-शीशपर चढ़ना क्या है? चन्दन दुष्ट कुल्हाड़ेसे काटा गया तब देवताओंपर चढ़ा और सन्त असन्तोंसे कष्ट पानेपर सहनशीलताके कारण इस लोकमें भूदेव ब्राह्मणोंसे तथा जगन्मात्रसे पूजित होते हैं और अन्तमें स्वर्गादिके देवताओंसे पूजित होते हुए परमधामको जाते हैं। इसी तरह असंतके प्रसंगमें *'अनल दाहि पीटत घनहिं.........'* यह है कि इस लोकमें सब थुड़ी-थुड़ी करते हैं, न्यायालयसे दण्ड मिलता है और अन्तमें यमयातना भोगनी पड़ती है। महाराष्ट्रके संत श्रीएकनाथजीकी क्षमा इसका बड़ा उज्ज्वल उदाहरण है।

वीर कवि—संत असंत उपमेय वाक्य, चन्दन कुठार उपमान वाक्य। एक पूज्य दूसरा दण्डनीय, यह दोनोंका धर्म पृथक् होनेपर भी इनमें एक प्रकारकी समता-सी जान पड़ती है—यह 'दृष्टान्त अलंकार' है। चन्दन अपने साधुगुणसे वन्दनीय, कुठार दुष्ट गुणसे दण्डनीय—इसमें व्यङ्ग्यार्थसे 'प्रथम सम' अलंकार है।

नं० प०—'कुल्हाड़ारूप असंत चन्दनरूप संतको दुःख देते हैं, परंतु चन्दनके सुगन्धकी तरह संत अपना क्षमा गुण प्रकट कर देते हैं अर्थात् क्षमा कर जाते हैं। उस क्षमागुणसे संतजन देवतारूप भूसुरसे भी पूजित होके शिरमौर हो जाते हैं और जगत्‌को प्रिय होते हैं। कुठाररूप असंत अग्निरूप बादशाहोंके क्रोधसे तपाकर घनरूप सजा बलसे पीटे जाते हैं।

बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥ १॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥ २॥

शब्दार्थ—**लंपट**=व्यभिचारी, विषयी, कामुक। यथा—*'लोभी लंपट लोलुपचारा। जे ताकहिं पर धन पर दारा॥'* **अलंपट**=जो विषयी नहीं है अलिप्त है। **अभूत**=जो हुआ न हो। **अभूतरिपु**=जिनका कोई शत्रु पैदा ही नहीं हुआ। **अमर्ष**=वह द्वेष वा दुःख जो ऐसे मनुष्यका कोई अपकार न कर सकनेके कारण उत्पन्न होता है जिसने अपने गुणोंका तिरस्कार किया हो। असहिष्णुता। **बिमद**=सब प्रकारके मदसे रहित।

अर्थ—विषयोंमें लिप्त (अर्थात् विषयी या व्यभिचारी) नहीं होते, शील और सद्गुणोंकी खानि होते हैं। पराया दुःख देखकर दुःखी और सुख देखकर सुखी होते हैं॥ १॥ उनका सबमें समान भाव है (शत्रु, मित्र, उदासीन सबको एक-सा देखते हैं। न किसीको शत्रु समझें न किसीको मित्र)। उनके लिये कोई शत्रु है ही नहीं अर्थात् वे अजातशत्रु हैं। वे मदरहित और वैराग्यवान् होते हैं (अर्थात् किसीमें उनका राग वा प्रेम नहीं है)। लोभ, अमर्ष, हर्ष और भयको त्याग किये हुए हैं॥ २॥

पं०—*'बिषय अलंपट सील गुनाकर'* अर्थात् विषय-भोग पाकर भी उनका चित्त उनमें लंपट नहीं होता, यह कहकर फिर उसका कारण बताते हैं कि वे शील-विवेकादि गुणोंकी खानि हैं। शील गुणाकर कहा क्योंकि *'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर'* यह उनमें है। सबके दुःख-सुखको वे अपना ही दुःख-सुख मानते हैं क्योंकि समता भाव है। समता इससे कि उनका कोई शत्रु है ही नहीं, निर्वैर होनेका कारण **'बिमद बिरागी'** है। विरागी इससे कहा कि लोभादिका त्याग है।

पं० रा० व० श० १—*'पर दुख दुख'* का भाव कि अपना दुःख उनको कभी नहीं होता, कैसा ही दुःख उनपर आ पड़े तो भी वे उससे दुःखी नहीं होते। वे दूसरेका दुःख ही देखकर दुःखित होते हैं, यही दुःख है। भक्तमालमें केवलरामजीकी कथा प्रसिद्ध है कि बैलको सोंटा मारा गया उससे उनको कैसा दुःख हुआ कि वे लोट गये, सोंटेके दाग उनके शरीरपर उपट आये। ऐसा कोमल स्वभाव!

नोट—*'सम अभूतरिपु'* तथा *'लोभामरष हरष भय त्यागी'* में गीताके **'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥'**(१२। १५) का भाव है। अभूतरिपु कहकर जनाया कि सब उसे अविरोधी समझते हैं क्योंकि वह प्राणियोंको उद्विग्न करनेवाला कोई भी कर्म नहीं करता और दूसरे लोग भी उसके उद्देश्यसे कोई उद्वेगकारक कर्म नहीं करते। इसीसे वह किसीके प्रति हर्ष, किसीके प्रति ईर्ष्या, किसीसे भय और किसीके प्रति उद्वेगसे रहित हो गया है।

'सम' में यहाँ '**समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। शीतोष्णसुखदुःखेषु समः**.........।'(गीता १२। १८) का भाव भी आ गया। भाव कि जब शत्रु-मित्र, मान वा अपमान, सुख वा दुःखका सान्निध्य प्राप्त हो उस समय भी संतका चित्त सम रहता है, उसमें विकार उत्पन्न नहीं होने पाता।

पं० रा० व० श०—२ 'अमर्ष' जैसे कि बात काटनेपर, प्रतिष्ठित जगह अपमान करने इत्यादिसे होता है। ३ ***'भय त्यागी'*** क्योंकि वे सर्वत्र अपने प्रभुको ही देखते हैं तब भय किसका?

टिप्पणी—लोभ नहीं है अर्थात् संतोषी हैं। अमर्ष (=क्रोध) नहीं है अर्थात् शान्त हैं। विषयकी प्राप्ति श्रीरामजीमें विश्वास होनेसे (किसीका) भय नहीं है।

वीर—***'दुख दुख' 'सुख सुख'*** में यमक अलंकार है। परदुःखसे दुःखी होनेमें 'द्वितीय उल्लास' और पराये सुखसे सुखी होनेमें 'प्रथम उल्लास अलंकार' है।

कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥ ३॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥ ४॥

अर्थ—उनका चित्त कोमल होता है, वे दीनोंपर दया करते हैं और मन, वचन और कर्मसे कपट-छलरहित होकर मेरी भक्ति करते हैं॥ ३॥ सबको मान-प्रतिष्ठा देते हैं और स्वयं मानरहित होते हैं। हे भरत! वे प्राणी मेरे प्राणोंके समान मुझको (प्रिय) हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ कोमलचित्त कहकर दीनोंपर दया कही; क्योंकि कोमलचित्त होनेसे ही दया होती है, यथा—*'नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥'* (३। २। ९) २—***'मन बच क्रम मम भगति।'*** अर्थात् मनसे विचार करें, वचनसे कीर्तन करें, कर्म-(तन-) से मेरा पाद-सेवन करें। ***'अमाया'*** अर्थात् दिखानेके वास्ते नहीं [अर्थ-धर्मादिकी चाह स्वार्थ, छल और माया है—***'स्वारथ छल फल चारि बिहाई।'*** (२। ३०१। ३)] ३—***'सबहि मानप्रद आपु अमानी।'*** जैसे कि श्रीरामचन्द्रजीने गृध्रराजको पिता बनाया और आप पुत्र बनकर उसको गति दी, उग्रसेनको द्वापरमें राज्य दिया और आप उनके द्वारपाल बने। ४—***'ते प्रानी'*** का भाव कि वस्तुतः वे ही प्राणधारी हैं और जो मुझसे विमुख हैं वे तो शवसमान हैं।

बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥ ५॥
सीतलता सरलता मैत्री। द्विजपद प्रीति धर्म जनयत्री॥ ६॥

शब्दार्थ—**मुदिता**=हर्ष, आनन्द। योगशास्त्रमें समाधियोग्य संस्कार उत्पन्न करनेवाला एक परिकर्म जिसका अभिप्राय है—पुण्यात्माओंको देखकर हर्ष उत्पन्न करना। ये परिकर्म चार कहे गये हैं—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा (विरक्ति, उदासीनता)। यथा—'**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्**।'(योगसूत्र १। ३३) **जनयत्री**=जन्म देनेवाली, माता।

अर्थ—कामनारहित हैं और निष्काम रहकर मेरे नाममें लगे रहते हैं (अर्थात् नाम जपते रहते हैं)। शान्ति, वैराग्य, विनम्रता और मुदिताके घर हैं॥ ५॥ शीतलता (क्रोधका मौका होनेपर भी क्रोध न आना), सीधासादापन (सरल स्वभाव अर्थात् छल छू भी नहीं गया), मित्रता और ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रीति—जो सब धर्मोंको उत्पन्न करनेवाली है॥ ६॥

नोट—ऊपर 'विमद', 'लोभत्यागी' कह आये। यहाँ ***'बिगत काम'*** कहा और ***'सांति बिरति बिनती मुदितायन।' 'सीतलता'*** से क्रोधरहित होना कहा। काम, क्रोध, मद और लोभ ये चारों नरकके पंथ हैं, नरकके हेतु हैं। ये उस मार्गपर भूलकर पैर नहीं रखते यह जनाया। यह लक्षण भगवान्‌ने नारदजीसे कहा भी है। यथा—***'भूलि न देहिं कुमारग पाऊ।'*** (३। ४६। ६)

'बिगत काम' कहकर ***'मम नाम परायन'*** कहनेका भाव कि कोई भी कामना नहीं है तब तो वे कुछ भी करते न होंगे, इसका निराकरण करते हैं। तात्पर्य कि वे निष्काम होनेपर भी अहर्निशि मेरे नामका स्मरण करते रहते हैं। यथा—***'सकल कामना हीन जे रामभगति रस लीन। नाम सुप्रेम पियूषह्रद तिन्हहु किए मन मीन॥'*** (१। २२)

'सीतलता सरलता मैत्री' ये तीनों क्रमसे कहे गये। काम, क्रोध नहीं है अतः शीतल हैं। सरल स्वभाव है, छल-कपटका लेश नहीं। इसीसे सबपर प्रीति रहती है, सब मित्र हैं, मिलान कीजिये—*'सम सीतल नहि त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती॥'*, *'श्रद्धा क्षमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥'* (आ० ४६) *'द्विजपद प्रीति धर्म जनयत्री'* से यह भी जनाया कि उनमें किञ्चित् भी लोभ नहीं है, बड़ी श्रद्धासे विप्रोंकी सेवा करते हैं तथा धर्मपरायण रहते हैं।

नोट—१ यहाँ 'विरति' 'मैत्री' 'मुदिता' ये तीन परिकर्म कहे गये और *'कोमलचित दीनन्ह पर दाया'* यह 'करुणा' परिकर्म ऊपर कह आये। इस तरह इनको योगशास्त्रसमाधि योग्य चारों परिकर्मयुक्त दिखाया। २—गीताके अ० १२ मेंके श्लोक १३—१५, १९ से मिलान कीजिये—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च । निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः । मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥१४॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः । हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥१५॥
..........तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्॥ १९॥

ये सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥७॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥८॥

अर्थ—हे तात! ये सब लक्षण जिसके हृदयमें बसते हों उसको निरन्तर सत्य ही संत जानना॥७॥ शम, इन्द्रियदमन, बारहों प्रकारके नियमों और नीतिसे कभी नहीं डगते (चूकते)। कठोर वचन कभी नहीं बोलते॥ ८॥

☞ *'ये सब लच्छन बसहिं जासु उर'* यहाँतक निवृत्ति-मार्ग कहा। आगे प्रवृत्तिमार्ग कहते हैं।—*'संत संतत फुर।'* यथा—*'नीके हैं साधु सबै तुलसी पै तेई रघुबीर के सेवक साँचे।'* (क० उ० ११८)

☞ स्मरण रहे कि यहाँ 'सब' शब्दपर ध्यान रखना चाहिये। यदि इसमें त्रुटि हुई तो वह सच्चा संत नहीं है।

मा० म०—ये सब लक्षण जिसमें बसें वही सच्चा संत है। भाव यह कि जैसे गङ्गाजल जिस पात्रमें रहेगा, वही गङ्गाजलका पात्र कहा जायगा। चाहे वह स्वर्णका हो चाहे मिट्टीका इससे भेद नहीं होगा, ऐसे ही किसी कुलमें उत्पन्न क्यों न हो जो इन लक्षणोंसे सम्पन्न है वही संत है।

करु०—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारकी वृत्ति एकाग्रकर परमेश्वर-तत्त्वमें लगाना शम है। दसों इन्द्रियोंके विषयोंको जीतना दम है।

वि० त्रि०—*'सम दम नियम......बोलहिं।'* इति। इस प्रसंगमें तीनों प्रकारके संतों अर्थात् भक्तियोगी, ज्ञानयोगी और कर्मयोगियोंके लक्षण कहे। *'विषय अलंपट सील गुनाकर'* से लेकर *'भरत प्रान सम मम ते प्रानी'* तक भक्तियोगियोंका वर्णन है, क्योंकि *'मन बच क्रम मम भगति अमाया'* इसीमें कहा गया है। *'बिगत काम मम नाम परायन'* से लेकर *'संत संतत फुर'* तक ज्ञानी भक्तका वर्णन है, क्योंकि उनका परम शरण नाम बतलाया गया है, नामसे ही ज्ञानमार्गकी प्राप्ति होती है (यथा—'ज्ञानमार्गं तु नामतः।' रामतापनीये) तथा *'संत संतत फुर'* कहकर वही भाव द्योतित किया, जो **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** कहनेसे बतलाया गया है। इसी भाँति *'सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं'* से *'गुनमंदिर सुख पुंज'* तक कर्मयोगी भक्तका वर्णन है। क्योंकि *'नीति नहिं डोलहिं'* तथा 'गुणमन्दिर' शब्दोंसे उनका क्रिया-कौशल द्योतित किया (**योगः कर्मसु कौशलम्**।)

दो०—निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुनमंदिर सुख पुंज॥३८॥

अर्थ—निन्दा और प्रशंसा दोनों जिनको समान हैं, मेरे चरणकमलोंमें जिनका ममत्व है, वे सज्जन गुणधाम और सुखराशि हैं तथा मुझको वे प्राणोंके समान प्रिय हैं॥ ३८॥

रा० प्र०—*'निंदा अस्तुति उभय सम'* का भाव कि वे सुखपूर्वक संसारमें विचरते हैं, यथा—*'सम मानि निरादर आदरही। सब संत सुखी बिचरंति मही॥'*

टिप्पणी—*'ममता मम पद कंज।'* साधनकी समाप्ति अपने पदकंजमें की। इससे यह सूचित किया कि यहींतक साधन है, मेरे चरणोंमें प्रेम होना यही सिद्ध फल है। यथा महारामायणे—**'अन्ये विहाय सकलं सदसच्च कार्यं श्रीरामपङ्कजपदं सततं स्मरन्ति।'** जब उसको चरणोंमें प्रेम हुआ तब वह गुणमन्दिर, सुखपुञ्ज और *'मम प्रानप्रिय'* हो गया। २—यहाँतक संत-लक्षण कहे।

मा० म०—*'ममता मम पद कंज'* का भाव कि प्रायः जीवोंका ममत्व प्राकृत पदार्थोंमें रहता है, इसीसे वे चंचल रहते हैं, उसे छोड़कर वैसा ही ममत्व हममें करना चाहिये।

नोट—यहाँतक एक दोहेमें प्रभुने संतोंके लक्षण कहे। इस कथनमें संतोंके विषयमें कहा कि ये प्राणी प्राणसमान प्रिय हैं, ये सच्चे संत हैं, ये *'सज्जन मम प्रानप्रिय'* हैं। वस्तुतः यह कथन-शैली है। यहाँ संतोंके कोई भेद नहीं कहे गये हैं। गीताजीके १२ वें अध्यायमें कई बार, यह भक्त मुझे प्रिय हैं और ऐसे भक्त अत्यन्त प्रिय हैं, कहा गया है। वहाँ भी भक्तों और संतोंका कोई विभाग नहीं हुआ। कुछ महानुभावोंने उपर्युक्त तीन बारके कथनोंपर अपने विचार प्रकट किये हैं।

पं० रामकुमारजीने कहा है कि प्रथम दोमें निवृत्तिमार्गवालों और तीसरेमें प्रवृत्तिमार्गवालोंके लक्षण कहे हैं। और वैजनाथजीका मत है कि—प्रथममें नवधावाले मुग्धा भक्तोंके लक्षण, दूसरेमें प्रेमावाले मध्य भक्तोंके और अन्तमें परावाले प्रौढ़ भक्तोंके लक्षण कहे हैं। जबतक देह-बुद्धि रहती है तबतक जीव नवधाका अधिकारी रहता है। मुग्धा भक्तोंमें देहाभिमान अधिक और ज्ञान सूक्ष्म रहता है। इसीसे रघुनाथजीने इनको प्राणसम प्रिय कहा। जब देहाभिमान और ज्ञान दोनों एक समान हुए, जीवबुद्धि आयी तब जीव प्रेमाभक्तिका अधिकारी हुआ। इसमें प्रेममें वियोग होते ही भक्त व्याकुल हो जाता है सदा अनन्यभावसे प्रेमानन्दमें डूबा रहता है। अतः इनको सच्चा संत कहा, कैसा प्यार करते हैं सो न कह सके। जब देहाभिमानरहित होनेपर केवल आत्मबुद्धि रही तब पराभक्तिका अधिकारी होता है, अचल अनुराग भगवद्रूपमें स्थिर रहता है—ये प्रभुको प्राणसे अधिक प्रिय हैं।

☞ पं० विजयानन्द त्रिपाठीका मत है कि यहाँ भक्ति, ज्ञान और कर्मयोगी तीन प्रकारके संत कहे गये।

(असंतोंके लक्षण)

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहु संगति करिय न काऊ॥ १॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई॥ २॥
खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥ ३॥

अर्थ—(अब) असंतोंका स्वभाव सुनो। भूलकर भी कभी उनकी संगति न करे। (भाव कि भूलसे भी जिनका संग हो जानेसे लोग नष्ट हो जाते हैं, उनकी संगति जान-बूझकर करनेसे नष्ट क्यों न होंगे?)॥ १॥ उनका संग सदा दुःखदायी है जैसे कि हरहाई (चुराकर पराया खेत खानेवाली, नटखट) गौ कपिला गौको (साथ लेकर उसे) नष्ट कर डालती है। (भाव कि इसी तरह असंत निर्दोषीको भी अपने संग रखकर दोषी कर देते हैं)॥ २॥ खलोंके हृदयमें अत्यन्त अधिक जलन बनी रहती है। वे पराया ऐश्वर्य देख सदैव जलते रहते हैं॥ ३॥

नोट—१ *'भूलेहु संगति करिय न काऊ'* इति। भगवान् कपिलदेवने भी यही कहा है। यथा—**'यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः। आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत्॥'**(३। ३१। ३२) **सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा। शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम्॥ तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु। सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च॥'**(३। ३१। ३२—३४) (अर्थात्) सन्मार्गमें चलते समय यदि इसका किन्हीं शिश्नोदरपरायण पुरुषोंसे समागम हो जाता है तो उनका अनुगमन करनेके कारण यह पूर्वकथित

नारकी योनियोंमें पड़ता है। उनके संगसे इसके सत्य, शौच, दया, मौन, बुद्धि, श्री, लज्जा, यश, क्षमा, शम, दम और ऐश्वर्य आदि समस्त सद्‌गुण नष्ट हो जाते हैं। अतः उन अशान्त, मूढ़, विक्षिप्तचित्त और स्त्रियोंके क्रीड़ामृगरूप अत्यन्त असत्पुरुषोंका संग कभी नहीं करना चाहिये।

नोट—२ कपिला धूम्रवर्णा गौका नाम है जिसका माहात्म्य सबसे अधिक कहा गया है। यहाँ 'कपिला' शब्द सीधी-सादी गौके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। रा० प्र० कार कहते हैं कि व्रजादिमें मयनी गौ जिसका सींग हिलता है उसको 'हरहाई' कहते हैं। यह सबको मारती है, बड़ी उत्पातिन होती है। कपिला सिधाईकी अवधि है और हरहाई दुष्टताकी।

पं० रा० व० श०—'*भूलेहु संगति करिय न काऊ*' पर यह कह सकते हैं कि जब हम उनका कुछ बिगाड़ेंगे ही नहीं तब वे हमें दुःख क्यों देंगे, उसपर कहते हैं कि उनका संग ही दुःखद है जैसे कपिला हरहाईके साथ जानेसे मारी जाती है, हरहाई तो खाय और भाग जाय और पकड़ी मारी जाय कपिला। यहाँ उदाहरण और लोकोक्ति अलंकार है।

टिप्पणी—'*खलन्ह हृदय अति ताप*.........।' हृदयमें ताप लिखनेसे सूचित किया कि वे ऊपरसे शीतल बने रहते हैं और अन्तःकरण जला करता है। २—'*जरहिं सदा पर संपति देखी*' कहनेका भाव कि ये कभी किसीका भला नहीं चाहते। जैसे संत '*पर दुख दुख सुख सुख देखे पर*' वैसे ही इसके विपरीत खल परसम्पत्ति देखकर जलते और पराया दुःख देखकर सुखी होते हैं, यथा—'*जब काहू की देखहिं बिपती। सुखी भए मानहुँ जगनृपती॥*' यहाँ तीसरा 'उल्लास' है।

जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहु परी निधि पाई॥ ४॥
काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥ ५॥
बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥ ६॥

अर्थ—जहाँ कहीं दूसरेकी निन्दा सुनते हैं, वहाँ ऐसे प्रसन्न होते हैं मानो नवों निधियाँ उनको (राहमें) पड़ी हुई (अनायास) मिल गयी हों॥ ४॥ काम, क्रोध, मद और लोभमें तत्पर रहते हैं, दयारहित, कपटी, कुटिल और पापोंके घर हैं अर्थात् समस्त पाप इनमें ही आकर बसे हैं (पापी हैं)॥ ५॥ बिना कारण ही सब किसीसे वैर रखते हैं। जो उनके साथ भलाई करता है उसके साथ भी बुराई करते हैं॥ ६॥

नोट—'*जहँ कहुँ सुनहिं*' का भाव कि—(क) यही नहीं कि कोई उनसे कहने आवे तब सुनते हों किंतु सुननेको जाया करते हैं और सुन-सुनकर प्रसन्न होते हैं। (ख) निन्दाके समान दूसरा पाप नहीं, यथा—'*पर निंदा सम अघ न गरीसा।*' (१२१। २२) इससे लोग निंदा कम करते हैं, इसीसे कहा कि '*जहँ कहुँ सुनहिं।*' कहीं-कहीं ही सुननेको मिलती है। ये उसकी खोजमें रहते हैं।

टिप्पणी—१ '*परी निधि पाई।*' निधि-(द्रव्य-) से लोगोंकी जीविका होती है वैसे ही परनिन्दा खलोंकी जीविका है। परनिन्दा ही सुनकर जीते हैं, यही उनका जीवन-आधार है। निन्दाका मसाला ढूँढ़ा करते हैं। जो उपायसे मिला वह उनका कमाया धन है और जो चलते-फिरते मिल जाय वह पड़ा हुआ धन है (रा० शं०)।

२ (क) '*काम क्रोध मद लोभ परायन।*.........' इति। मलायन=मलके स्थान=नरक रूप। कामी हैं इसीसे मलके स्थान हैं। क्रोधी हैं इसीसे निर्दयी हैं। मदान्ध हैं इसीसे कुटिल हैं। और लोभी हैं इसीसे कपटी हैं। (वैजनाथजीका मत है कि कामी होनेसे कपटी और लोभी होनेसे मलायन कहा)।—यहाँ यथासंख्य नहीं है, पर अर्थक्रम पाठक्रमसे बली होता है, यथा—'**पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्।**'

नोट—२ यहाँ काम, क्रोध, मद और लोभ ये चार एक साथ कहे गये, क्योंकि पुराणोंमें यमद्वार चार कहे गये हैं और विभीषणजीने भी कहा है कि '*काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।*' (५। ३८) गीतामें नरकके तीन ही द्वार अर्थात् हेतु काम, क्रोध और लोभ कहे गये हैं। ये सब आत्माका पतन करनेवाले हैं—'**त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥**'(१६। २१)

कामको प्रथम कहा, क्योंकि परमार्थसाधनका आरम्भ करनेवाले मनुष्योंका रजोगुणसे समुद्भूत, प्राचीन वासनाओंसे उत्पन्न शब्दादि विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाला महापापी काम ही साधनका स्वाभाविक विरोधी शत्रु है, जो उसे खींचकर शब्दादि समस्त विषयोंमें लगाता है। यही पापी जब अपनी गतिमें बाधा पाता है तब उस बाधामें हेतु बने हुए प्राणियोंके प्रति 'क्रोध' के रूपमें परिणत होकर उसे परहिंसामें प्रवृत्त कर देता है। प्रायः कामनाओंकी पूर्तिमें विघ्न होते हैं, इसीसे कामके पश्चात् क्रोधको कहा गया। स्मरण रहे कि विषयासक्तिसे काम उत्पन्न होता है और आसक्तिकी परिपक्वावस्थाका नाम 'काम' है। जिस दशाको प्राप्त होकर मनुष्य विषयोंका भोग किये बिना रह नहीं सकता, वह 'दशा' काम है। कामनानुसार विषयोंकी प्राप्ति न होनेपर क्रोध होता है और प्राप्ति होनेपर मद (अहंकार) और उस विषयपर लोभ होता है।

३ *'बयरू अकारन.........'* इति। बिना कारण कोई किसीसे वैर नहीं करता और न कोई हित करनेवालेसे वैर करता है पर ये दोनों बातें करते हैं। मिलान कीजिये—*'खल बिनु स्वारथ पर अपकारी।'* (१२१। १८), *'उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति।'* (बा० ४)*

नोट—३ ☞ संतों और असंतोंमें भेद दिखाया। वे *'बिगत काम मम नाम'*-परायण हैं और ये *'काम क्रोध मद लोभ'*-परायण हैं। वे *'सांति बिरति बिनती मुदिता'*-अयन हैं और ये 'मल'-अयन हैं। वे कारण उपस्थित होनेपर भी किसीसे वैर नहीं करते, वरन् 'सम' 'अभूतरिपु' हैं और ये कारण न होनेपर भी बिना प्रयोजन वैर करते हैं और वह भी यहाँतक कि जो इनका हित करता है उससे भी वैर रखते हैं, यह विलक्षण स्वभाव है। वे दयावान सरलस्वभाव, ये निर्दय और कपटी।

झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना॥ ७॥
बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाइ महा अहि हृदय कठोरा॥ ८॥

अर्थ—उनका लेना झूठ और देना भी झूठ (अर्थात् लेन-देन दोनों व्यवहार झूठसे भरे होते हैं)। उनका भोजन झूठ और उनका चर्बन भी झूठ॥ ७॥ वे मोरकी तरह मीठे वचन बोलते हैं और उनका हृदय (ऐसा) कठोर है कि महाविषैले सर्पको खा जाते हैं। (विष भी नहीं चढ़ता)॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'झूठइ लेना झूठइ देना।.........'* इति (क) 'झूठ ही लेना' यह कि उनका हक नहीं पहुँचता, फरेबसे (धोखा देकर) लेते हैं। *'झूठइ देना'*=देना झूठ करते हैं। अर्थात् जिसका हक पहुँचता है उसके देनेके हकको भी झूठा करते हैं। पुनः, *'झूठइ लेना झूठइ देना'* यह कि कहते हैं कि हमको हजारों रुपये 'लेना' अर्थात् अमुकसे पाना है और दूसरोंका हमको कुछ देना नहीं है, वा यह कि हमने हजारों रुपये ब्राह्मणोंको दान दिये हैं—ऐसी ही झूठी बातें बोल-बोलकर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं। (ख) *'झूठइ भोजन'* इति। अर्थात् अपना उत्तम पदार्थोंका भोजन करना झूठ ही कहते हैं, घरमें तो चनेकी रोटी खायी है पर लोगोंसे कहते हैं कि हमने पूरी, हलवा, मालपूवा, बसौंधी और अनेक प्रकारकी मिठाइयाँ खायी हैं, ऐसे ही उत्तम-उत्तम भोजन रोज ही बदल-बदलकर बना करते हैं। अथवा, घरमें तो चनेकी रोटी खायी है और बाहर लोगोंको दिखानेके लिये एक अच्छी बेली रोटी घी लगी हुई कुत्तेके लिये ले आये और दस आदमियोंके सामने उसको छोड़ दी। (ग) *'झूठ चबेना'* इति। भाव कि घरमें अरहरकी बहुरी (भूँजा) और महुआ चबाकर निकले और बाहर लोगोंसे कहने लगे कि बादाम, चिरौंजी, अंगूर आदि मेवोंका बालभोग किया है, इसमें बड़ा स्वाद और गुण है, इससे हम रोज यही बालभोग करते हैं।—[जितना उनका व्यवहार है वह सब झूठ है यह फलितार्थ है—(खर्रा)]।

वि० त्रि०—लेना-देनाका अर्थ व्यवहार है। आज भी लेना-देना, लेन-देन व्यवहारके अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। अर्थात् उनका सब व्यवहार असत्यमय होता है। यही नहीं कि वे किसी कारणसे झूठ बोलते

* वीर—यहाँ उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा और चतुर्थ उल्लासका संदेहसंकर है। कारणसे विरुद्ध कार्यका उत्पन्न होना 'पंचम विभावना' है। हित-अनहित दोनोंसे समान वैर 'चतुर्थ तुल्ययोगिता' की संसृष्टि है।

हों, वे निष्कारण झूठ बोला करते हैं। जिस भाँति बिना भोजनके किसीकी तृप्ति नहीं होती, उसी भाँति बिना झूठके उनसे रहा नहीं जाता। अतः झूठको उनका भोजन कहा। मनोविनोद भी उनका झूठसे ही होता है, अतः उनका चबेना भी झूठ ही है।

वै०—१ *'लेना देना'* जैसे कि ब्राह्मणका आशीर्वाद देना, संध्यातर्पणादि ऋषि आदिका ऋण देना और ब्राह्मणत्वशक्ति लेना, परमात्मामें चित्त देना, मुक्ति लेना। क्षत्रियका दीनोंको सुख देना, कीर्ति लेना, दुष्टोंको दण्ड, सुजनोंको सुख देना, सुयश लेना, ईश्वरमें मन देना, वैकुण्ठादि लेना। इसी तरह वैश्य और शूद्रमें लेना-देना लगा लें। *'झूठइ लेना झूठइ देना'* यह कि वे कहते तो हैं पर करते नहीं। २—*'झूठइ भोजन झूठ चबेना।'* भाव कि भिक्षुकको छटाकभर खड़ा अन्न जो कभी न देते होंगे और कहते हैं कि हम अभ्यागतको पूर्ण भोजन, चर्बन सदा देते हैं। सदाव्रत जारी है।

टिप्पणी—२ *'बोलहिं मधुर बचन·········'* इति। भाव कि विश्वास बढ़ाकर सबको धोखा देते हैं। आशय यह कि वाणी तो मीठी बोलते हैं पर कर्म कठोर और खोटे करते हैं। उदाहरण अलंकार है।

नोट—ऐसी ख्याति है कि श्रीरामचरितमानसके प्रत्येक चौपाई आदिमें श्री 'राम' नामके अक्षर अवश्य आये हैं। इस प्रकार महाकवि सम्राट्ने *'राम नाम बिनु गिरा न सोहा', 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा', 'राम नाम जस अंकित जानी'* आदि वाक्योंको चरितार्थ किया है।

देखनेसे पता चलता है कि निम्न चौपाइयोंमें नामके कोई वर्ण नहीं हैं—

(१) *भले भवन अब बायन दीन्हा। पावहुगे फल आपन कीन्हा॥'* (१। १३७। ५)

(२) *तनय जजातिहि जौबनु दयऊ। पितु अग्या अघ अजस न भयऊ॥'* (२। १७४। ८)

(३) *दीख निषादनाथ भल टोलू। कहेउ बजाउ जुझाऊ ढोलू॥'* (२। १९२। ३)

(४) *जात पवनसुत देवन्ह देखा। जानै कहुँ बल बुद्धि बिसेषा॥'* (५। २। १)

(५) *झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना॥*

(६) *काहू की जौं सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥'* (७। ४०। २)

'भले भवन·········' ये देवर्षि भक्तवर नारदजीके वाक्य हैं जो उन्होंने अपने इष्टदेव भगवान्‌से कहे हैं। भक्त भगवान्‌को दुर्वचन कहे यह अशोभित है, कविको अच्छा न लगा, यह बात रकार-मकाररहित करके जना दिया। *'कहेउ बजाउ·········'* ये भक्तराज निषादराज गुहके वाक्य हैं। वे अपनी सेनाको भागवताग्रगण्य श्रीभरतजीसे युद्धकी आज्ञा दे रहे हैं। यह भी भक्त कविको कैसे भाता! अतः इस वाक्यको भी उन्होंने अशोभित जनाया। अतः इसे भी रामनामरहित कर दिया।—*'राम नाम बिनु गिरा न सोहा'।*

और जहाँ सब 'झूठइ झूठ' है वहाँ भला राम-नाम क्यों आवे, वह तो सम्पूर्णतः अशोभित है।

इसी तरह उपर्युक्त (२) और (४) के सम्बन्धमें कुछ कहा जा सकता है। पर इनमेंसे एकमें 'गुरु-आज्ञा' धर्म है और दूसरेमें देवताओंका भाव कुटिल नहीं है। तथापि इनमें भी रकार या मकार नहीं है। जान पड़ता है कि भक्त कविको ये बातें भी अच्छी नहीं लगीं। वसिष्ठजीके वचनोंको माननेसे रामविमुखता आती और देवताओंके इस कार्यसे श्रीसीताशोधकार्यमें विलम्ब होगा। अतः भक्तको कैसे भावे?

वेदान्तभूषणजीका मत है कि श्रीसीता-राम युगलरूप एवं युगल नाममें अभेद बतलाया गया है। यथा—*'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'*, 'राममन्त्रे स्थिता सीता सीता मन्त्रे रघूत्तमः।' अतः *'राम नाम बिनु गिरा न सोहा'* लिखनेवाले श्रीगोस्वामीजीने अपनी प्रत्येक पंक्तिमें स, त, र और म इन चार अक्षरोंमेंसे कोई-न-कोई अक्षर अवश्य रखा है।

इस मतके अनुसार उपर्युक्त (२) (३) को भी वे रामनामाङ्कित चौपाइयोंमें गिनते हैं।

सम्भवतः ऐसी ही एक-दो चौपाइयाँ और भी मिलेंगी। यदि चौपाईसे चार चरणका ग्रहण करें तब तो सभी रामनामाङ्कित हो जाती हैं।

दो०—परद्रोही परदार रत परधन परअपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरे मनुजाद॥३९॥

अर्थ—दूसरोंसे द्रोह करते हैं। परस्त्री, पराया धन और परायी निन्दामें आसक्त रहते हैं। ऐसे मनुष्य नीच और पापमय हैं (अर्थात् सर्वाङ्ग मानो पापहीका है)। वे नरदेह धारण किये हुए राक्षस ही हैं॥ ३९॥

टिप्पणी—*'परद्रोही'* कहकर परद्रोहका कारण कहते हैं कि परस्त्री और पराया धन छीनने वा प्राप्त करनेके निमित्त वैर ठानते हैं। परनिन्दा करते हैं जिसमें हम साफ रहें, निन्दा दूसरेके सिर पड़े।

नोट—१ पूर्व काम लोभपरायण कहा। कामी अपनी स्त्रीके साथ, लोभ अपने ही धनके साथ भी हो सकता है, यह पूर्व कहा और यहाँ परदाररत और परधनरत कहा। अतः पुनरुक्ति नहीं है।

२—ऊपर कहा था कि *'जो कहुँ निंदा सुनहिं पराई'* उसमें निन्दा करना न कहा था उसकी पूर्ति 'परअपवादरत' से कर दी अर्थात् निन्दा सुनते भी हैं और करते भी।

३—*'देह धरे मनुजाद'* इति। राक्षस मनुष्योंको खाते हैं और खल अकारण ही मनुष्योंके कर्म, धर्म, धनको खाते हैं। अतः इन्हें भी मनुजाद कहा। (करु०)

४—इस दोहेमें असंतोंमें अधर्मके चारों अंग—असत्य, कठोरता, लोभ और संग—जो धर्मके चारों पादके काटनेवाले हैं, परिपूर्ण दिखाये हैं। *'झूठइ लेना झूठइ देना'* इत्यादि असत्य है, *'बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाइ महा अहि हृदय कठोरा॥'* और 'निर्दय' यह कठोरता है, लोभपरायण स्पष्ट कहा है तथा 'परदाररत' और 'कामपरायण' यह संग है। पुनः, *'परद्रोही परदार रत परधन परअपबाद'* इसीमें क्रमसे कठोरता, संग, लोभ, असत्य—ये चारों अङ्ग आ जाते हैं।

लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्नोदर पर जमपुर त्रास न॥ १॥
काहू की जौं सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥ २॥
जब काहू की देखहिं बिपती। सुखी भए मानहुँ जगनृपती॥ ३॥

शब्दार्थ—**ओढ़न**=ओढ़ने (शरीर ढकने) का वस्त्र। **डासन**=बिछौना। **शिश्नोदर**=शिश्न+उदर=उपस्थेन्द्रिय (लिङ्ग) और पेट। **पर**=तत्पर, प्रवृत्त, सबसे बढ़ा-चढ़ा हुआ, परायण।

अर्थ—लोभ ही उनका ओढ़ना और लोभ ही बिछौना है। लिङ्ग और पेट इन्हीं दो इन्द्रियोंमें तत्पर रहते हैं (अर्थात् परस्त्रीगमन करते और पेट भरते हैं, दूसरा कोई काम उनको नहीं है—*'पाप करत नहिं पेट अघाहीं'*) उनको यमपुरका त्रास नहीं है॥ १॥ यदि किसीकी बड़ाई सुनते हैं तो ऐसी लम्बी सासें लेते हैं मानो जूड़ी आ गयी॥ २॥ और जब किसीपर विपत्ति देखते हैं तो ऐसा सुखी होते हैं मानो संसारभरके राजा हो गये॥ ३॥

करु०, पं०—'लोभ ओढ़ना, लोभ बिछावन' का भाव कि वे लोभमय हैं, जो भी कार्य करते हैं वह लोभके ही विचारसे, दिन-रात सोते-जागते लोभहीके व्यापारमें लगे रहते हैं, सन्तोष छू भी नहीं गया। दिनमें उसीका मनन, स्वप्नमें भी वही व्यवहार।

वि० त्रि०—अब उन खलोंका वर्णन किया जाता है, जो सत्ययुग और त्रेतामें होते ही नहीं। उनका ओढ़ना-बिछौना (बिस्तर) लोभ ही है। जिस भाँति बिना ओढ़ना-बिछौनाके किसीको आराम नहीं मिलता उसी भाँति बिना लोभके उन्हें आराम नहीं मिलता। सुखके लोभसे नित्य नयी आवश्यकताएँ बढ़ाये चले जाते हैं। '**सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः**' को वे जानते ही नहीं। वे सब ओरसे लोभद्वारा आवृत्त हैं, दिन-रात उनका अर्थ-चिन्तामें ही बीतता है। जिस भाँति पशु आहार, निद्रा, भय, मैथुन छोड़कर और कुछ जानते ही नहीं, उसी तरहसे ऐसे खलोंकी विद्या, उद्यम और बुद्धिकी परिधि आहार, निद्रा, भय और मैथुन है, उन्हें पशुओंकी भाँति परलोकका ज्ञान नहीं है, परलोककी प्रवृत्तिको वे असभ्यता मानते हैं, फिर उन्हें परलोकका भय कैसे होगा?

टिप्पणी—१ (क) *'लोभइ ओढ़न लोभइ डासन'* अर्थात् सर्वाङ्ग लोभहीमें आच्छादित है। (ख) *'सिस्नोदर पर जमपुर त्रास न।'* भाव कि परस्त्रीगमनादिका फल यमपुर है पर इसका भी उनको डर नहीं। तात्पर्य कि लोग उनको उपदेश देते हैं पर वे नहीं मानते; क्योंकि वे यमपुरको नहीं डरते।

नोट—१ शिश्नोदरपरायण हैं, यमपुरका त्रास नहीं है, इस कथनसे जनाया कि इन अवगुणोंका फल यमयातना-यमसाँसति है। भा० ३। ३१ में कहा है कि शिश्नोदरपरायणके संगसे मनुष्य नरकमें जाता है। यथा—'**यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः। आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत्॥**'(३२) तब जो स्वयं शिश्नोदरपरायण है, उसका कहना ही क्या?

२—'***काहू की जौं सुनहिं बड़ाई***', यहाँ '***जौं***' से जनाया कि उनके डरसे कोई किसीकी बड़ाई उनके सामने करता ही नहीं, इसीसे प्राय: सुननेमें आती नहीं, धोखेमें कहीं सुन लें तो सुन लें। दूसरे यह भी जनाया कि यदि कोई कहता भी हो तो पहिले तो उधर कान ही न देंगे। (ख)—पूर्व जो अवगुण कहे थे उनमें कहा था कि '***जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई***' अर्थात् निन्दा सुनने वे स्वयं जाते हैं, जहाँ भी किसीकी निन्दा हो रही हो वहीं खड़े होकर सुनने लगते हैं और यहाँ कहते हैं कि दूसरोंकी प्रशंसा उनको असह्य है, उसको घरपर भी कोई सुनावे तो कदाचित् ही सुने। निन्दाश्रवणसे हर्ष होता है इससे सुनने जाते हैं, बड़ाईसे जूड़ी आती है, इससे उसे नहीं सुनते।

टिप्पणी—२ '***स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई।***' भाव कि जैसे जाड़ा देकर ज्वर आनेपर श्वास चलता है वैसी ही इनकी दशा होती है। ज्वर आनेपर भोजन नहीं किया जाता, वैसे ही ये दूसरोंकी प्रशंसा सुनकर उस दिन शोकमें भोजनादि भी नहीं करते। (बैजनाथजीका मत है कि 'सुधर्मी' पुरुषोंके प्रभावसे खलता कर नहीं सकते, इसी डरसे उन्हें ज्वर आ जाता है, अथवा, बड़ाई सह नहीं सकते, बड़ाई सुननेसे घाटा पड़ता है, अत: जूड़ी-सी आ जाती है। यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।

३ '***मानहुँ जगनृपती***' मानो जगत्के राजा हैं, इन्हींके हुक्मसे विपत्ति आयी है, ऐसे सुखी हुए। अपने मनका कार्य होनेसे सुख होता है, इसीसे सुखी हुए।-सुखी होनेसे यहाँ 'चतुर्थ उल्लास' अलंकार है। मिलान कीजिये—'***पर हित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हरष बिषाद बसेरे॥***' [पूर्व कहा कि परसुख देखनेसे जलन होती है, यथा—'***जरहिं सदा परसंपति देखी।***' सम्पत्ति सुख है, यथा—'***परसुख देखि जरनि सोइ छई***' और यहाँ बताते हैं कि परदु:ख देखनेमें सुख होता है—'***जब काहू की देखहिं बिपती। सुखी भए मानहु***.........']

रा० शं०—'परधनरत' इत्यादि ऊपर कहा, अब दिखाते हैं कि कैसे रत हैं। परधनरत ऐसे कि ऊपर-नीचेसे लोभमें लपटे हैं, परदाररत होनेसे शिश्नोदरपर हैं, पर-अपवादरत होनेसे बड़ाई नहीं सुन सकते।

स्वारथरत परिवार बिरोधी। लंपट काम लोभ अति क्रोधी॥४॥
मातु पिता गुर बिप्र न मानहिं। आपु गए अरु घालहिं आनहिं॥५॥
करहिं मोहबस द्रोह परावा। संत संग हरिकथा न भावा॥६॥

अर्थ—स्वार्थपरायण हैं, अपने कुटुम्बियोंसे विरोध रखते हैं, काम और लोभमें अत्यन्त आसक्त रहते हैं और अत्यन्त क्रोधी हैं॥४॥ माता, पिता, गुरु और ब्राह्मणको नहीं मानते। आप तो गये-गुजरे हैं ही और दूसरोंको भी नष्ट करते हैं॥५॥ मोहवश दूसरोंसे शत्रुता करते हैं, संतोंका साथ और भगवत्-चरित्र उनको अच्छे नहीं लगते। (भाव कि संतसंग और हरिकथासे मोहका नाश होता है—'***बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।***' जब ये उनको भाते ही नहीं तब मोहवश रहा ही चाहें)॥६॥

नोट—१ पूर्व दोहेमें कहा था कि '***बयरु अकारन सब काहू सों***' इससे जाना गया कि बाहरके लोगोंसे वैर करते हैं, अपने परिवार, भाई-बंधु इत्यादिसे वैर नहीं करते। अब बताते हैं कि असंत स्वार्थवश परिवारसे भी विरोध कर लेते हैं।

खर्रा— पूर्व '***काम क्रोध मद लोभ परायन***' और यहाँ '***लंपट काम लोभ अति क्रोधी***' यह अनेक हेतुसे अनेक अन्वयमें योजित हैं इससे यहाँ पुनरुक्ति नहीं है।

गौड़जी अर्थ करते हैं कि 'काम (सुख) के लोभसे लंपट (विषयी, दुराचारी) हैं, उसमें बाधा होनेसे अति क्रोध होता है—'**संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।**' (गीता २। ६२)

वै०—यहाँ *'लंपट'* कहकर जनाया कि काम और लोभके व्यापारमें मन-कर्म-वचनसे लपटे रहते हैं अर्थात् परस्त्री-परधन जिस भाँति मिले उसी उपायमें लगे रहते हैं।

टिप्पणी—***'स्वारथरत परिवार बिरोधी।''''''''''*** इति।-तात्पर्य कि काम और लोभके वश वे परिवारका पद नहीं देते। ***'अति क्रोधी'*** कहकर सूचित किया कि (वश चला तो) अपने गोत्रवालोंका वध करते हैं (तो भी शान्त नहीं होते)। अथवा स्वार्थरत होकर परिवारका धन लेकर फिर नहीं देते वरन् विरोध करते हैं। (मिलान कीजिये-*'तेज कृसानु रोष महिषेसा'*, *'बंदौं खल जस सेष सरोषा'*, ***'बचन बज्र जेहि सदा पिआरा।'*** ***'परिवार बिरोधी'*** को कहकर ऐसा कहनेसे पाया गया कि यदि उनकी लंपटतापर घरवालोंने कुछ कहा-सुना तो उनपर अत्यन्त क्रोध करते हैं, प्राणके ग्राहक हो जाते हैं)।

२ ***'मातु पिता गुर बिप्र न मानहिं'*** इति। माननेमें माता सबसे अधिक है इसीसे प्रथम माताका नाम दिया तब क्रमसे पिता, गुरु और ब्राह्मणको कहा। प्रमाण यथा—'**उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहस्त्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥**' (इति मनुः) पुनः *'न मानहिं'* का भाव कि यदि माता-पितादि दूसरेका पद दिखाते हैं तो वे इनको नहीं मानते और यदि किसीको मानते देखते हैं तो उनको भी सिखा-पढ़ाकर अपने समान कर लेते हैं।

नोट—'मोहवश का' भाव कि अपनेको अमर माने बैठे हैं, समझते हैं कि हम कभी मरेंगे ही नहीं इस मोहमें पड़े होनेसे ही शत्रुता करते हैं। मोह सब मानस-रोगोंका मूल है।

अवगुन सिंधु मंदमति कामी। बेद बिदूषक पर धन स्वामी॥७॥
बिप्रद्रोह पर* द्रोह बिसेषा। दंभ कपट जिअ धरे सुबेषा॥८॥

अर्थ-अवगुणोंके समुद्र हैं (अर्थात् जो अवगुण गिना आये और आगे गिनाते हैं इतने ही इनमें न जानना किंतु इनके अवगुणोंकी थाह न समझो), मंदबुद्धि और कामी हैं। वेदोंके विदूषक हैं, पराये धनके मालिक हैं॥ ७॥ (द्रोह तो सभीसे करते हैं पर) ब्राह्मणों और पर अर्थात् परमेश्वरसे वा, देवताओंसे विशेष द्रोह रखते हैं। उनके हृदयमें पाखण्ड और कपट है और ऊपरसे वे सुन्दर वेष धारण किये रहते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—*दंभ कपट जिअ'*, यह मनका और सुवेषसे तनका हाल कहा।

नोट—१ (क) ***'अवगुन सिंधु'*** उस सिन्धुसे विष निकला फिर अनेक रत्न निकले पर असंतसिंधुमें अवगुण-ही-अवगुण हैं। (ख) ***'बेद बिदूषक'।*** विदूषक भाँड़को कहते हैं। भाव कि भाँड़ोंकी तरह उनकी नकल करते हैं, व्यंगसे मजाक दिल्लगी वा हँसी उड़ाते हैं। प्र० स्वामी लिखते हैं कि ***'कल्प कल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका॥'*** (१००। ४) इस अर्धालीकी सहायतासे '**बेद बिदूषक**' का भाव यह है कि विविध तर्क-कुतर्क करके वेदोंको वि (=विशेष) दूषण लगाते हैं। (ग) '**परधन स्वामी**'। भाव कि वह धन उनका है नहीं पर उसपर अधिकार ऐसा जमाये हैं कि मानो उन्हींका हो एवं उसके मालिक बन बैठते हैं।

२ ***'बिसेषा'***, यथा—***'बिप्रद्रोह जनु बाँट पर्यो हठि सब सौं बयरु बढ़ावौं।'*** (विनय १४२) पहिले विप्रोंको न मानना कहा; अब कहते हैं कि इतना ही नहीं कि उनको न मानें किंतु उनसे द्रोह भी करते हैं। ***'न मानहिं'*** से इतना ही जाना जाता है कि उनका मान्य आदर-सत्कार नहीं करते हैं, यह नहीं पाया जाता है कि उनसे वैर रखते हैं। (ख) ***'दंभ कपट'*** इति। धार्मिकपनके यशकी प्राप्तिके लिये धर्मानुष्ठान करनेका नाम दम्भ है। (श्रीरामानुजभाष्य) ऊपर कुछ, भीतर कुछ—यह कपट है। बाहरसे साधुवेष भीतरसे दुष्ट, लोगोंको ठगनेके लिये एवं धर्मकी आड़में आत्माकी श्लाघा दम्भ है। कपट सीधे धोखा है और दम्भ धर्मकी आड़में धोखा है। कपट और दम्भ दोनों आर्थिक लाभके लिये ही प्रायः किये जाते हैं। '**जिअ**' का भाव कि ये दोनों हृदयमें हैं, अतः इनको छिपानेके लिये ***'धरे सुबेषा'।***

---

* खुर—का०, रा० गु० द्वि०।

दो०—ऐसे अधम मनुज खल कृतजुग त्रेता नाहिं।
द्वापर कछुक बृंद बहु होइहहिं कलिजुग माहिं॥ ४०॥

अर्थ—ऐसे अधम और दुष्ट मनुष्य सत्ययुग और त्रेतामें नहीं होते, द्वारपरमें कुछ होंगे और कलियुगमें तो इनके वृन्द-के-वृन्द होंगे॥ ४०॥

टिप्पणी—त्रेतामें खल न थे तब भरतजीने इनके लक्षण क्यों पूछे? उत्तर—उन्होंने केवल परोपकारके लिये पूछा जिसमें आगेके लोग सुनकर भवमें न पड़ें, यथा—'*संत असंतन्ह के गुन भाषे। ते न परहिं भव जिन्ह लखि राखे॥*'

नोट—'*ऐसे अधम मनुज खल*' का भाव कि अधम तो वह भी हैं जिनको पूर्व दोहेमें कह आये हैं पर उनसे ये अधिक '*पाँवर पापमय*' और अधम हैं। वा, ऐसे=पूर्वकथित अवगुण युक्त। '*मनुज खल*' का भाव कि अनुजाद खल तो कृतयुग त्रेतामें भी होते हैं पर '*मनुष्य खल*' नहीं होते। '*मनुष्य खल*' द्वापर और कलियुगमें ही होते हैं।

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥ १॥
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर॥ २॥
नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महाभव भीरा॥ ३॥

अर्थ—हे भाई! दूसरेके साथ भलाई (अर्थात् परोपकार) के समान दूसरा धर्म नहीं है और दूसरेको दुःख देनेके समान कोई पाप एवं नीचता और अधर्म नहीं॥ १॥ हे तात! समस्त पुराणों और वेदोंका यह निर्णय (फैसला) मैंने तुमसे कहा है। पण्डितलोग इसे जानते हैं॥ २॥ जो लोग मनुष्य-शरीर धरकर दूसरोंको पीड़ा देते हैं, वे अत्यन्त भवभय सहते हैं।

टिप्पणी—१ परहित करना और परपीड़ा देना, ये दो बातें कहनेका भाव यह है कि संत-असंतके लक्षण किये उनमेंसे '*परहित सरिस धर्म नहिं*' यह संतलक्षण है और '*पर पीड़ा सम नहिं अधमाई*', यह खलका लक्षण है। '*निर्नय सकल पुरान बेद कर*', यथा— '**अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥**' २ '*जानहिं कोबिद नर*' का भाव कि कदाचित् कोई इस बातपर विश्वास न करे कि यह वेद-पुराणोंका सिद्धान्त है तो उसपर कहते हैं कि पण्डितोंने पढ़ा है, वे इसे जानते हैं। यह 'शब्द प्रमाण' अलंकार है। आगे परपीड़ाका फल कहते हैं। ३—'*नर सरीर धरि*.........' इति (क)—नरशरीर धरकर परपीड़ा करनेका भाव कि नरशरीर ज्ञानका खजाना है, ज्ञानवान् शरीर पाकर जो परपीड़ा करते हैं वे महाभवभीर सहते हैं। जो अज्ञानी शरीर पाकर परपीड़ा करते हैं वे भवभीर सहते हैं। तात्पर्य कि परपीड़ाका फल यह मिलता है कि उनको जन्म-मरणकी दारुण पीड़ा होती है।-(पं०-भाव कि पशु-पक्षी आदि योनियोंमें कर्मकाण्डकी मुख्यता नहीं है)। (ख)-जन्म-मरणको प्राप्त होकर क्या करते हैं सो आगे कहते हैं।

रा० प्र०-'*महाभवभीर सहहिं*'- भवकी महाभीर सहते हैं। अर्थात् जन्मते हैं तुरंत मरते हैं, फिर जन्मते हैं तुरंत मरते हैं फिर जन्मते हैं। इस तरह जन्मने, मरनेके ही भारी दुःख-भोगसे छुटकारा नहीं पाते। '*जनमत मरत दुसह दुख होई*' वही दुःख भोगा करते हैं। अथवा, संसारी होकर पुत्रकलत्रादिके भरण-पोषणकी महाभीर सहते हैं।

करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना॥ ४॥
कालरूप तिन्ह कहुँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम-फल-दाता॥ ५॥
अस बिचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहि संसृत दुख जाने॥ ६॥

अर्थ—मनुष्य मोहवश अनेक पाप करते हैं और स्वार्थमें लगे हैं (इसीसे) उनका परलोक नष्ट हो गया है॥ ४॥ हे भाई! मैं उनके लिये कालरूप होकर उनको भले और बुरे कर्मोंका शुभाशुभ फल देनेवाला

हूँ॥ ५॥ ऐसा विचारकर जो लोग परम चतुर हैं, वे जन्म-मरणका दुःख जानकर मेरा भजन करते हैं॥ ६॥

टिप्पणी—*'करहिं मोह बस नर अघ नाना।'*......... इति। मोह महाशत्रु है। उसके वश होकर तथा स्वार्थपरायण होकर अनेक पाप करते हैं अर्थात् झूठ बोलते, विश्वासघात करते और अवसर पाकर जीवघात करते हैं, इत्यादि, जिससे परलोक गया। आगे इसका फल कहते हैं।

प० प० प्र०—*'कालरूप तिन्ह कहँ।'* मिलान कीजिये—**'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।'** (गीता ११। ३२) (अर्थात् मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ काल हूँ। लोकोंका संहार करनेके लिये यहाँ प्रवृत्त हुआ हूँ)। यहाँ *'काल'* -अक्षय काल, कालके भी काल। अन्य लोकोंका नाशकारक उनको दण्ड देनेवाला जो काल है वह विनाशशील है। *'काल जासु कोदंड'* लं० मं० दोहा देखिये। *'शुभ अरु अशुभ कर्म फलदाता'* में गीताके **'तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।'** (१६। १९) का भाव है। [अर्थात् जो मेरेसे द्वेष रखते हैं उन क्रूर अशुभ नराधमोंको मैं बारम्बार जन्म-जरा-मरणरूपसे परिवर्तित होनेवाले संसारमें उत्पन्न करता हूँ। वहाँ भी उन्हें उन्हीं आसुरी योनियोंमें ही गिराता हूँ—जो मेरी अनुकूलताकी विरोधी योनियाँ हैं उन्हींमें उनको डालता हूँ। अभिप्राय यह है कि उस प्रकारके जन्मकी प्राप्तिके अनुकूल जो प्रवृत्ति है, उसकी हेतुभूत क्रूर बुद्धिके साथ मैं ही उनका संयोग करा देता हूँ। (श्रीरामानुजभाष्य)]

टिप्पणी—२ *'कर्म फल दाता'* इति। मैं कर्मका फलदाता हूँ। **'अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः।'** (भा०) कर्मसे ही शुभाशुभ फल मिलता और जन्म-मरण होता है, इसीसे शुभाशुभ फल देनेवाले कर्मोंका त्याग करना आगे कहते हैं। ३ ☞ *'जे परम सयाने'* कहकर जनाया कि मेरा भजन करना परम सयानपन है। —*'रामहिं भजहिं ते चतुर नर।'*

त्यागहिं कर्म सुभासुभदायक। भजहिं मोहि सुर नर मुनिनायक॥ ७॥
संत असंतन्ह के गुन भाषे। ते न परहिं भव जिन्ह लखि राखे॥ ८॥

अर्थ—देवता, मनुष्य और मुनीश्वर शुभाशुभ (फल) देनेवाले कर्मोंका त्याग करके मेरा (मुझ सुर-नर-मुनि-नायकका) भजन करते हैं। (भाव यह कि कर्म करते हुए भी निष्काम रहते हैं, शुभाशुभ फलकी इच्छासे कभी कर्म नहीं करते॥ ७॥ संत और असंतोंके जो गुण कहे गये इनको जिन्होंने लख (देख-भाल) रखा है वे संसारमें नहीं पड़ते॥ ८॥

नोट—१ बा० दोहा ५ में कहा है कि *'तेहि ते कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥'* और यहाँ प्रभुके मुखारविन्दसे कहलाया है कि *'ते न परहिं भव जिन्ह लखि राखे।'* दोनोंमें वस्तुतः भेद नहीं है। भाव यह है कि लक्षण जानकर लोग संतोंको पहचानकर उनका संग करेंगे, उनके लक्षणोंको चित्तमें धारण करते रहनेसे वे गुण उनमें भी आ जायँगे। संतसंग होनेसे भवपार होंगे, यह पूर्व ही कह चुके—*'संतसंग अपबर्ग कर.........पंथ।'* जो असंत हैं उनका संग न करेंगे, उनके अवगुणोंसे बचे रहेंगे। इससे भवमें न पड़ेंगे—*'कामी भवकर पंथ।'*

२—शुभफलदायक कर्मका त्याग इससे करते हैं कि स्वर्गादि देनेवाले कर्म भी तो संसारहीमें डालते हैं, शुभफल भोगकर फिर भी पृथ्वीपर जन्म लेना ही पड़ता है, अतः शुभाशुभफलदायकसे सवासिक कर्मोंका त्याग हुआ। निष्काम शुभाशुभकर्म भी मोक्ष देनेको समर्थ नहीं होते, जबतक कि वे भगवदर्पण न हों, अतः शुभाशुभका त्याग कहकर *'भजहिं'* कहा। रा० प० कार कहते हैं कि अद्वैतवादी जो सर्वथा कर्मत्याग कहते हैं सो असम्भव है, बिना गुणातीत हुए कर्मका सर्वथा त्याग हो ही नहीं सकता। इसीसे भगवान् शुभफल देनेवाले तथा अशुभ कर्मोंका त्याग कहते हैं। गीतामें भी यही कहा है। [यथा—**'शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।'** (१२। १७) अर्थात् जो शुभ और अशुभ दोनोंका पूर्णरूपेण त्यागी है वह भक्त मुझे प्रिय है। पापकी भाँति पुण्य भी समान भावसे बन्धनका कारण होनेसे दोनोंका त्याग आवश्यक है।] रा० प्र० कार *'सुरनरमुनि.........नायक'* को 'मोहि' का विशेषण मानते हैं।

वि० त्रि०—*'त्यागहिं कर्म.........नायक'* इति। अब *'परम सयाने'* का लक्षण कहते हैं कि वे संसारको दुःखमय जानकर उसे नहीं भजते। वे मेरा भजन करते हैं। शुभाशुभदायक कर्म करना ही संसारका भजना है। काम्य कर्म और निषिद्ध कर्म ही शुभाशुभदायक हैं, जिसे शुक्ल-कृष्ण कहते हैं। बिना कर्मके कोई क्षणभर भी नहीं रह सकता, यथा—**'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।'** (गीता ३। ५) अतः नित्य-नैमित्तिक कर्म तथा अशुक्ला कृष्ण कर्मका निषेध नहीं है। योगियोंका कर्म अशुक्ला कृष्ण होता है। मैं सुर-नर-मुनिनायक हूँ (यथा—*'जय जय सुरनायक जन सुखदायक'*) वे मेरा भजन करते हैं। **'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥'** भगवान् कहते हैं कि जो मुझमें मन लगा देते हैं, उन्हें मैं शीघ्र ही मृत्युसंसारसागरसे पार कर देता हूँ।

नोट—३ *'संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता'* और *'सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ'* यह उपक्रम है और *'ते सज्जन मम प्रानप्रिय.........'* और *'ऐसे अधम मनुज खल.........'* उनके उपसंहार हैं। *'संत असंत भेद बिलगाई। प्रनतपाल मोहि कहहु बुझाई॥'* यह पूरे प्रसङ्गका उपक्रम है और *'संत असंतन्ह के गुन भाषे'* यह प्रसङ्गका उपसंहार है।

संतों और असंतोंके गुणोंका मिलान—

असंत	संत
खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी	१ शान्ति अयन, शीतलता
जरहिं सदा परसंपति देखी	२ सुख सुख देखे पर
जब काहू की देखहिं बिपती। सुखी भव.........	३ परदुख दुख
काम क्रोध मद लोभ परायन	४ *बिगतकाल मम नाम परायन, बिमद बिरागी,*
लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्नोदरपर।	५ लोभामर्ष त्यागी। *परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं।*
लंपट काम लोभ अति क्रोधी	विषय अलंपट।
निर्दय, स्वार्थरत, कपटी कुटिल	६ *दीननपर दाया, सरलता, मयत्री, अमाया*
मलायन	७ *सांति बिरति बिनती मुदितायन*
करहिं मोहबस द्रोह परावा	८ *सम अभूतरिपु*
बयरु अकारन सब काहू सों	९ *मैत्री*
बिप्रद्रोह परद्रोह बिसेषा	१० *द्विजपदप्रीति धरमजनयित्री*
संतसंग हरिकथा न भावा	११ *मन बच क्रम मम भगति अमाया*
अवगुनसिंधु मंदमति.........	१२ *गुणमंदिर, शीलगुणाकर*
परद्रोही परदाररत परधन परअपवाद	१३ *सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं*
ते न परहिं भव जिन्ह लखि राखे	१४ *जानेहु तात संत संतत फुर*
(अर्थात् असंतसे बचेंगे)	(अर्थात् इनसे प्रेम करना)
कालरूप तिन्ह कहुँ मैं भ्राता	१५ *ते सज्जन मम प्रानप्रिय*

☞पंद्रह शेष गुण असंतोंके कहे गये हैं जैसे *'जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई' 'काहू की जौं सुनहिं बड़ाई। श्वास लेहिं जनु जूड़ी आई'* और *'बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा'* इत्यादि इनकी जोड़में *'गुनमंदिर सुखपुंज'* को ले सकते हैं।

☞पम्पासरपर प्रभुसे नारदजीने संतोंके लक्षण पूछे और यहाँ भरतजीने संत और असंत दोनोंके भेद अलग-अलग करते हुए संत-लक्षण पूछे हैं। दोनों जगह प्रभुने संतोंके लक्षण कहे हैं; अतः दोनों प्रसंगोंका मिलान तथा संत-असंतोंके भेदका मिलान यहाँ दिया जाता है—

श्रीनारद-प्रसंग	श्रीभरत-प्रसंग
पुनि सादर बोले मुनि नारद	१ **करौं कृपानिधि एक ढिठाई। मैं सेवक.........**
सुनहु राम बिज्ञान बिसारद	२ *कृपासिंधु गुन ज्ञान बिचच्छन*

संतन्ह के लच्छन रघुबीरा	३ *सुना चहौं प्रभु तिन्ह कर लच्छन·······'।*
कहहु नाथ भंजन भवभीरा	४ *प्रनतपाल मोहि कहहु बुझाई*
सुनु मुनि संतन्हके गुन कहऊँ	५ *संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता*
जिन्हतें मैं उनके बस रहऊँ	६ *भरत प्रान सम मम ते प्रानी*
साधुन के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते	७ *अगनित श्रुति पुरान बिख्याता*
सिरु नाइ बारहिंबार चरनन्हि	८ *हरषे प्रेम न हृदय समाता। करहिं बिनय अति बारहिं बारा*
सुनत पद पंकज गहे	९ (भरतने प्रश्नके पहले भी) गहे प्रभुचरना संतलक्षण—
षटविकारजित, अनघ, अकामा	१-२ *विषय अलंपट, अभूतरिपु, विगत काम*
सुखधाम, मितभोगी, मानद	४—६ *सुखपुंज, लोभामरषत्यागी, सबहि मानप्रद*
मदहीन, धरमगति, परमप्रवीण	७—९ *विमद, मन बचक्रम मम भगति अमाया*
गुणागार, सीतल, मयत्री	१०—१२ *गुणमन्दिर, शीतलता, मयत्री*
तजि मम चरणसरोज प्रिय जिन्ह कहुँ देह न गेह	१३ *ममता मम पदकंज*
सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती	१४ *सरलता*
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। जप तप-ब्रत दम संजम नेमा	१५ *सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं*
बिप्रपदप्रेमा, दाया	१६—१७ *द्विजपद प्रीति, दीनन्ह पर दाया*
मुदिता ममपदप्रीति अमाया। बिरति बिबेक बिनय बिज्ञाना	१८—२० *शान्ति बिरति बिनती मुदितायन*
दंभमानमद करहिं न काऊ	२१ *आपु अमानी*
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला	२२ *मम नाम परायण*
हेतु रहित परहितरत सीला	२३ *परदुख दुख सुख सुख देखेपर*

☞ २४ पम्पासरपर केवल सन्तोंके लक्षण पूछे गये थे, अतः वह लक्षण विस्तारसे कहे गये, उनमेंसे बहुतसे यहाँ न दुहराकर (जैसे कि अचल, अकिंचन, शुचि, *'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। परगुन सुनत अधिक हरषाहीं॥'*, अमितबोध इत्यादि) उन सबको यहाँ *'शील गुणाकर'* पदसे जना दिये।

दो०—सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहि देखिय सो अबिबेक॥ ४१॥

अर्थ—हे तात! सुनो। मायाके रचे हुए अनेक गुण और दोष हैं। लाभ इसीमें है कि दोनोंको न देखे, जो देखिये वह अज्ञान है॥ ४१॥

रा० प०, रा० प्र०—**'सुनहु तात'**। सिद्धान्त कठिन विषय कहना है, अतः *'सुनहु'* कहकर पुनः सावधान करते हैं। *'तात'* यहाँ वात्सल्यद्योतक है। गुण-दोषको मायाकृत कहा क्योंकि केवल सत्वसे इनकी सृष्टि असम्भव है। गुण और दोष साथ रहते हैं। गुण बहुत और दोष सूक्ष्म होनेपर गुण ही कहलाता है और दोष बहुत और गुण सूक्ष्म होनेसे दोष ही कहलाता है। विवेकी दोनोंपर नजर नहीं डालते।

टिप्पणी—'मायाकृत गुण और दोष' कहनेका भाव कि सन्तोंके जो लक्षण हैं वे भागवत्कृत हैं, मायाकृत नहीं हैं। इन लक्षणोंको समझकर हृदयमें रखे और जो असन्तोंके लक्षण हैं वे मायाकृत हैं उनकी ओर दृष्टि न करे; क्योंकि मायाकृत गुण-दोष बन्धनमें डालनेवाले हैं।

वै०—लोकसुखदायक यावत् सत्कर्म हैं वे गुण हैं और दुःखदायक यावत् असत्कर्म हैं वे दोष हैं। ये दोनों मायाके उत्पन्न किये हुए हैं। इन दोनोंको न देखनेका भाव कि शुभाशुभ कर्म त्यागकर शुद्ध सच्चा प्रेम ईश्वरमें करना, यह साधुओंका मुख्य विवेक है और ईश्वरका स्नेह त्यागकर शुभाशुभकर्म ग्रहण किये रहना यह गुण-दोषको देखना है जो असन्तोंका मुख्य अवगुण है।

नोट—श्रीमद्भागवतमें भी भगवान्ने श्रीउद्धवजीसे कहा है—'**परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्।**

विश्वमेकात्मकं पश्यन्प्रकृत्या पुरुषेण च॥' (११। २८। १) (अर्थात्) समस्त संसार एक ही प्रकृति और पुरुषका रूप है, सब एक अधिष्ठानस्वरूप ही है, ऐसा जानकर किसीके स्वभाव या कर्मकी न तो निन्दा करनी चाहिये और न स्तुति ही।

इस निषेधका कारण भी आगे कहा है कि जो पराये स्वभाव या कर्मकी निन्दा या स्तुति करता है वह अपने परमार्थरूपी यथार्थ स्वार्थपदसे च्युत हो जाता है, क्योंकि साधन तो नानात्व अर्थात् द्वैतके अभिनिवेशका, उसके प्रति सत्यत्वबुद्धिका निषेध करता है और प्रशंसा तथा निन्दा उसकी सत्यताके भ्रमको और भी दृढ़ करती है। जब जीव आत्मस्वरूपको भूलकर नाना वस्तुओंका दर्शन करने लगता है तब वह स्वप्नके समान झूठे दृश्योंमें फँस जाता है अथवा मृत्युके समान अज्ञानमें लीन हो जाता है। जब द्वैत नामकी कोई वस्तु ही नहीं है तब उसमें अमुक वस्तु भली है, अमुक बुरी है, अथवा इतनी भली है इतनी बुरी—यह प्रश्न ही कैसे उठ सकता है? जो ज्ञान और विज्ञानकी इस उत्तम स्थितिको जान लेता है वह न तो किसीकी प्रशंसा करता है और न निन्दा ही। वह जगत्में सूर्यकी भाँति समभावसे विचरता है। यथा—**'परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति। स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः॥ २॥ तैजसे निद्रयाऽऽपन्ने पिण्डस्थो नष्टचेतनः। मायां प्राप्नोति मृत्युं वा तद्वन्नानार्थदृक् पुमान्॥ ३॥ किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।''''''''''४। ''''''''''एतद्विद्वान्मदुदितं ज्ञानविज्ञाननैपुणम्। न निन्दति न च स्तौति लोके चरति सूर्यवत्॥ ८॥'**

यह सब भाव इस दोहेमें सूचित कर दिये गये।

इसी प्रकार भा० ११। २१ में भी भगवान्ने उद्धवजीसे कहा है कि कहीं-कहीं शास्त्रविधिसे गुण दोष हो जाता है और दोष गुण। एक ही वस्तुके विषयमें किसीके लिये गुण और किसीके लिये दोषका विधान गुण और दोषोंकी वास्तविकता—पारमार्थिक सत्ताका खण्डन कर देता है। इससे यह निश्चय होता है कि गुण-दोषका यह भेद कल्पित है। तात्पर्य यह है कि संसारके पदार्थोंमें जो गुण-दोषका विधान किया गया है वह उनमें उलझे रहनेके लिये नहीं है, प्रत्युत उसका प्रयोजन उनसे निवृत्त होना ही है। जिन-जिन दोषोंसे मनुष्यका चित्त उपरत हो जाता है उन्हीं वस्तुओंके बन्धनसे वह मुक्त हो जाता है। मनुष्यके लिये यह निवृत्तिरूप धर्म ही परम कल्याणका साधन है। यथा—**'क्वचिद्गुणोऽपि दोषः स्याद्दोषोऽपि विधिना गुणः। गुणदोषार्थनियमस्तद्भिदामेव बाधनेे॥'** (भा० ११। २१। १६) **'''''''''यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः। एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः॥'** (१९)

इसके पश्चात् गुण-दोषपर दृष्टि न डालनेके और भी कारण बताये हैं कि दृश्यमान् विषयोंमें कहीं भी गुणोंका आरोप करनेसे उस वस्तुके प्रति आसक्ति हो जाती है। आसक्ति हो जानेसे उसे अपने पास रखनेकी कामना होती है, कामनामें विघ्न पड़नेपर कलह और कलहसे असह्य क्रोध उत्पन्न होता है जिससे अज्ञान छा जाता है और तब चेतनाशक्तिके लुप्त होनेसे मनुष्यमें पशुता आ जाती है। विषयोंका चिन्तन करते-करते वह विषयरूप हो जाता है। इत्यादि (श्लोक १९—२२)।

भगवान्ने अनन्य भक्तका लक्षण मानसमें श्रीहनुमान्‌जीसे यह बताया है—***'सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥'*** (कि० ३) और श्रीशंकरजीने भी श्रीरामानुरागीका लक्षण ऐसा ही कहा है, यथा—***'उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥'*** (११२) और अभी-अभी संतका लक्षण कहा ही है कि 'वे सम अभूतरिपु' होते हैं। अतः यदि वे गुण अथवा दोष देखने लगें तो उपर्युक्त अनन्यता, समदृष्टि आदिका नाश ही हो जायगा और इस पथका साधक आगे न बढ़कर गिर ही जायगा।—इत्यादि कारणोंसे गुण और दोष दोनोंका ही देखना वर्जित किया गया।

पं० रा० व० श०—गुण विद्यामायाकृत और अवगुण अविद्याकृत हैं, पर हैं दोनों ही मायाकृत, अतः गुण-दोषदृष्टिके विषयमें यह एक बात कहते हैं कि इस प्रकारकी तत्त्वदृष्टि हो जाय कि चराचरमें हमको देखे, न गुण देखे न अवगुण। सदा यही समझे कि भगवान् ही सब कुछ करनेवाले हैं। वे ही कृपा

करें, इनकी भलाई करें, इनका बस क्या है, संस्कारवश वे ये कर्म कर रहे हैं—इसे प्रभु सर्वोपरि गुण बतलाते हैं और गुण-दोष देखना सबसे अधिक अवगुण बताया। गुणका देखना भी अविवेक कहा; क्योंकि जब एकमें गुण देखेंगे तो दूसरेमें दोषदृष्टि अवश्य होगी। बस यही सोचे कि अपने-अपने संस्कारवश सब जीव कर्म कर रहे हैं, उनमें चित्त न देकर उसे अपनी वृत्तिमें लगाये रहे।

☞ मिलान कीजिये—'**न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा। वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः तत्त्वदृङ् मुनिः॥**' (भा० ११। ११। १६), '**गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः।**' (भा० ११। १९। ४५) अर्थात् गुण-दोषका देखना ही दोष है। उभयवर्जित ही गुण हैं। गुण-दोषसे रहित समदर्शी मुनिको उचित है कि किसीके भला या बुरा कर्म करने अथवा वाणीसे भला या बुरा बोलनेपर न तो स्तुति ही करे और न निन्दा ही करे।

☞ गुण और दोष दृष्टिके दोष हैं। दृष्टिकोणके भेदसे एक ही कार्य किसीको गुण और किसीको दोष जान पड़ता है। गुण-दोष देखनेवाली वृत्ति दृष्टिका दोष है। इसीसे यह '*अविवेक*' है। दूसरोंके गुण-दोषोंका चिन्तन करना छोड़कर एकमात्र भगवत्-भागवत-सेवा और कथाका रस पान करना चाहिये—'**अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्।**' (भा० माहात्म्य ४। ८०; गोकर्णवाक्य)

वि० त्रि०—ये अनेक गुण और दोष माया (प्रकृति) के किये हुए हैं, यथा '**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।**' अर्थात् ये सब (गुण-दोषयुक्त) कर्म प्रकृतिके गुणोंसे किये गये हैं। '**अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।**' अहंकारसे मोहित हुआ पुरुष अपनेको कर्ता मानता है, अतः विवेक यही है कि दोनों ओर दृष्टि न दे, अपनेको कर्ता न माने। गुण-दोषपर दृष्टि देना अर्थात् अपनेको उसका कर्ता मानना अविवेक है। '*गुन यह उभय न देखिअहि*' ये गुण शब्दका अर्थ अविवेकके जोड़में आनेसे विवेक हुआ।

श्रीमुख बचन सुनत सब भाई। हरषे प्रेम न हृदय समाई॥ १॥
करहिं बिनय अति बारहिं बारा। हनूमान हिय हरष अपारा॥ २॥
पुनि रघुपति निज मंदिर गए। एहि बिधि चरित करत नित नए॥ ३॥

शब्दार्थ—**श्रीमुख**=शोभित या सुंदर मुख। यथा—'*श्रीमुख तुम्ह पुनि कीन्हि बड़ाई।*' (३७। ३), भगवान्‌के मुखके (वचन)।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके मुखके वचन सुनते ही सब भाई हर्षित हुए, उनके हृदयमें प्रेम नहीं समाता। (अर्थात् हृदयसे उमड़कर नेत्रों और शरीरद्वारा बाहर निकल पड़ा)॥ १॥ बारम्बार अति विनय कर रहे हैं। श्रीहनुमान्‌जीके हृदयमें अपार हर्ष है॥ २॥ फिर श्रीरघुनाथजी अपने महलमें गये। इस प्रकार नित्य नये चरित करते हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) '*श्रीमुख*' का भाव कि प्रवीणतासे वचन कहना यही मुखकी श्री अर्थात् शोभा है। (ख) '*करहिं बिनय अति बारहिं बारा*' इति। प्रेमके मारे बारम्बार विनती करते हैं। यह प्रेमका वचनद्वारा बाहर प्रकट होना कहा। पहिले प्रेम होना कहा और यहाँ प्रेमकी दशा कही।—[विनय यह कि बड़ी कृपा की, हमको कृतार्थ किया।] (ग) '*हनूमान हिय हरष अपारा*' इति। तात्पर्य कि भाइयोंके हृदयमें प्रेमका आनन्द हुआ और हनुमान्‌जीके हृदयमें अपार हर्ष अर्थात् ब्रह्मानन्द हुआ। दो तरहका हर्ष यहाँ दो मतके अनुसार दिखाया। श्रीशंकराचार्यके मतसे ज्ञान प्रधान है और श्रीरामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और निम्बार्क स्वामीके मतसे ईश्वरमें प्रेम होना प्रधान है। [पं० रा० व० श० के मतानुसार 'प्रभुके हृदयमें अपने दासोंका पक्ष और उनकी बड़ाई देख' और रा० प्र० के मतानुसार 'प्रभुके परम अन्तरंग होनेसे' हनुमान्‌जीको अपार हर्ष हुआ और गौड़जीका मत है कि '*हरषे प्रेम न हृदय समाई*' और '*हिय हरष अपारा*' का भाव एक ही है, कुछ भेद नहीं है।]

☞ '*सुंदर उपवन देखन गए।*' (३२। १-२) उपक्रम है और '*पुनि रघुपति निज मंदिर गए*' उपसंहार है। '*सुना चहउँ प्रभु तिन्ह कर लच्छन।*' (३७। ४) वा '*लच्छन सुनु भ्राता*' उपक्रम और '*श्रीमुख बचन सुनत*' उपसंहार है।

नोट—१ *'एहि बिधि चरित करत नित नए'* का तात्पर्य कि मैंने एक दिनका चरित कह दिया। इसी प्रकार नित्यप्रति कोई-न-कोई नया चरित होता रहता है। कभी नारदजी आये, कभी कोई आया, उनके जानेपर इसी तरह भरतादिक पूछते और प्रभु कहते हैं।

बार बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं॥ ४॥
नित नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं॥ ५॥
सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं। पुनि पुनि तात करहु गुन गानहिं॥ ६॥
सनकादिक नारदहि सराहहिं। जद्यपि ब्रह्मनिरत मुनि आहहिं॥ ७॥
सुनि गुन गान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥ ८॥

अर्थ—श्रीनारदमुनि बार-बार (अर्थात् प्रतिदिन श्रीअयोध्यापुरीमें) आते हैं और श्रीरामजीके पवित्र चरित, जिनके कहने-सुननेसे लोग पवित्र होते हैं, गाते हैं॥ ४॥ नित्य नये चरित देखकर मुनि (नारदजी) ब्रह्मलोकको जाते हैं और वहाँ सब कथा कहते हैं॥ ५॥ ब्रह्माजी सुनकर अतिसय सुख मानते हैं और कहते हैं कि हे तात! बारम्बार श्रीरामगुणगान करो॥ ६॥ सनकादिक नारद मुनिकी प्रशंसा करते हैं यद्यपि वे मुनि (सनकादि) स्वयं ब्रह्मानन्दमें अनुरक्त रहते हैं। (भाव कि ब्रह्मानन्दसे रामचरितमें अधिक आनन्द है)॥ ७॥ गुणगान सुनकर समाधिको भुलाकर वे आदरसहित रामचरित सुनते हैं। वे रामचरितके परम अधिकारी हैं॥ ८॥

नोट—१ *'ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं'* इति। *'सब'* अर्थात् समस्त देवता कहलाते हैं और सब कथा कही जाती है। ब्रह्मलोकमें शिवजी भी कथा सुनने आते हैं। (करु०) *'कहाहीं'* में कहलाते और कहते दोनों भाव हैं।

२ मिलान कीजिये—**'यस्यावतारचरितानि विरंचिलोके गायन्ति नारदमुखा भवपद्मजाद्याः। आनन्दजाश्रुपरिषिक्त-कुचाग्रसीमा वागीश्वरी च तमहं शरणं प्रपद्ये॥'** (अ० रा० बा० ५। ४८) अहल्याजी स्तुति करती हैं कि ब्रह्मलोकमें नारदादि ऋषीश्वर, शिवब्रह्मादि देवता सब जिनके अवतार-चरित्र गाते हैं, सरस्वती इस प्रकार आनन्दसे गाती हैं कि प्रेमाश्रुसे उनकी छातीका अग्रभाग भींग जाता है, ऐसे आपकी मैं शरण हूँ।

नोट—३ (क) *'सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं।'* अतिशयसे जनाया कि अन्य देवता *'अति'* सुख मानते हैं और ये 'अतिशय'। जो जितना रहस्य समझता है वह उतना ही अधिक सुख मानता है। जैसे राज्याभिषेक और विवाहके समय शिवजीके सम्बन्धमें कहा है—*'सो रस जान महेस।'* *'पुनि पुनि तात करहु गुन गानहिं'* यह *'अतिसय सुख मानहिं'* का चरितार्थ है कि बारम्बार सुननेपर भी तृप्ति नहीं होती। यथा—**'वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे। यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे॥'**(भा० १। १। १९) तथा **'सत्संगान्मुक्तदुःसङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः। कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम्॥'**(१। १०। ११) अर्थात् हम उत्तम यशवाले भगवान्‌के चरित्र सुननेसे, जो कि रसज्ञ श्रोताओंको पद-पदपर अत्यन्त स्वादु प्रतीत होते हैं, कभी नहीं अघाते। (यह शौनकादि ऋषियोंका वाक्य है)। सत्संगद्वारा जिसका दुःसंग छूट गया वह चतुर पुरुष भगवान्‌के सुयशको एक बार सुनकर फिर उसे नहीं छोड़ सकता (यह सूतजीका वाक्य है)। (ख) *'परम अधिकारी।'* अधिकारी वह है जो सदा सादर सुनते हैं, जिनको सत्संग प्रिय है, जिनका गुरुपदमें प्रेम है, जो नीतिमें लगे हैं एवं जो द्विजोंकी सेवा करते हैं इत्यादि। इनमेंसे प्रत्येक अधिकारी हैं। यथा—*'सदा सुनहिं सादर नरनारी। तेइ सुर बर मानस अधिकारी॥'* (१। ३८। २), *'राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सतसंगति अति प्यारी॥'* (१२८। ६), *'गुरुपद प्रीति नीति रत जेई। द्विज सेवक अधिकारी तेई॥'* (१२८। ७),*'ता कहँ यह बिसेष सुखदाई। जाहि प्रानप्रिय श्री रघुराई॥'* (१२८। ८) और ये सदा सुनते हैं यथा—*'आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥'*, ऐसे प्रेमी हैं कि समाधि छोड़कर सादर सुनते हैं, यथा—*'सादर सुनहिं परम अधिकारी॥'* और इन्हें सत्संग प्रिय है, यथा—*'तहाँ रहे सनकादि भवानी। जहँ घटसंभव मुनिबर ग्यानी॥'* अतः इनको *'परम अधिकारी'* कहा।

'समाधि बिसारी' यहाँ कहा और आगे दोहेमें कहते हैं *'चरित सुनहिं तजि ध्यान'*; अतः *'समाधि बिसारी'* का अर्थ हुआ 'ध्यान त्यागकर।' समाधि—योगका चरम फल, जो योगके आठ अङ्गोंमेंसे अन्तिम अङ्ग है और जिसकी प्राप्ति सबके अन्तमें होती है। इस अवस्थामें मनुष्य सब प्रकारके क्लेशोंसे मुक्त हो जाता है। चित्तकी सब वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, बाह्य जगत्‌से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उसे अनेक प्रकारकी शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं और अन्तमें कैवल्यकी प्राप्ति होती है। समाधि अवस्थामें शरीरमें किसी प्रकारकी गति नहीं होती और ब्रह्ममें उनका अवस्थान हो जाता है।

टिप्पणी—*'सुनि गुनगान समाधि बिसारी।'''''''''* इति। एक दिन देवर्षि नारदके मुखसे कथाका शब्द सुन पड़ा जिससे उनको ज्ञात हुआ कि वे रामचरित गान कर रहे हैं। उस समय वे योगके सात अङ्ग पूरे कर चुके थे और अब समाधिस्थ होनेको थे। गुणगान सुन उन्होंने चरित सुननेके लिये समाधि भुला दी। इसीसे उनको *'परम अधिकारी'* कहा।

खर्रा—१ यद्यपि सनकादि ब्रह्मनिरत हैं तथापि प्रेमातिशयका उत्तमत्व जानकर सराहते हैं। २ *'सादर सुनहिं'* इति। भक्तिकी एकादश भूमिकाएँ हैं। और ज्ञान छठी भूमिकामें हो जाता है। उस ज्ञानके होनेसे प्रेम कथाका अधिकारी होता है।

दो०—जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान।
जे हरिकथा न करहिं रति तिन्ह के हिय पाषान॥ ४२॥

अर्थ—श्रीसनकादिक मुनि जो जीवन्मुक्त और ब्रह्मपरायण हैं वे भी ध्यान छोड़कर चरित सुनते हैं (यह जानकर भी) जो हरिकथामें प्रेम नहीं करते उनके हृदय पत्थर (के समान कठोर) हैं॥ ४२॥

नोट—१ *'जीवन्मुक्त'* इति। भगवान्‌ने उद्धवजीसे मुक्त पुरुषोंकी पहचान इस प्रकार बतलायी है—इन्द्रियाँ अपने विषयोंको और गुण अपने गुणोंको ग्रहण करते हैं ऐसा समझकर वह उन विषयोंके ग्रहण-त्यागमें किसी प्रकारका अहंकार नहीं करता। यह शरीर प्रारब्धके अधीन है। इससे शारीरिक और मानसिक जितने भी कर्म होते हैं वे सब गुणोंकी प्रेरणासे ही होते हैं, ऐसा विचारकर विवेकी पुरुष विषयोंसे विरक्त रहकर शयन, उपवेशन, पर्यटन, स्नान, दर्शन, स्पर्श, भोजन, श्रवण और घ्राण आदि विषयोंको इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण करता हुआ उनमें आसक्त नहीं होता, अपनेको उनका कर्ता या भोक्ता नहीं मानता। वह प्रकृतिमें रहकर भी आकाश, सूर्य और अग्निके समान निर्लिप्त रहता है। उसके प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी समस्त चेष्टाएँ बिना संकल्पके होती हैं। वह शरीरमें स्थित रहकर भी उसके गुणों, धर्मोंसे मुक्त है। किसीके पूजा करनेसे न तो वह सुखी होता है और न पीड़ा पहुँचानेसे दुःखी। वह न तो भला या बुरा कुछ करता है, न कहता है और न सोचता ही है। वे समान वृत्ति रखकर आत्मानन्दमें मग्न रहकर जड़के समान विचरण करते रहते हैं। यथा—'इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च। गृह्यमाणेष्वहं कुर्यान्न विद्वान् यस्त्वविक्रियः॥' (भा० ११। ११। ९) 'दैवाधीने शरीरेऽस्मिन्गुणभाव्येन कर्मणा।''''''एवं विरक्तः शयने आसनाटनमज्जने। दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु॥' (१०, ११) न तथा बद्ध्यते विद्वांस्तत्र तत्रादयन्गुणान्। प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिलः॥' (१२) 'यस्य स्युर्वीतसंकल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम्। वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः॥' (१४)''''''''''न कुर्यान्न वदेत्किंचिन्न ध्यायेत्साध्वसाधु वा। आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः॥' (१७)

टिप्पणी—१ जीवन्मुक्त जो आठों फाँसियोंसे छूटे हैं। २—ध्यान तजकर चरित सुननेका भाव कि ध्यानमें केवल रूप ही है और चरितमें नाम, रूप, लीला एवं धाम चारों हैं। ३—*'जीवन्मुक्त ब्रह्मपर'* अर्थात् देहसे जीवन्मुक्त हैं और हृदयसे ब्रह्मनिरत हैं। ४—*'तिन्हके हिय पाषान'* अर्थात् देखनेमात्रको उनमें प्राण हैं पर समझनेसे वे पाषाणसम जड़ हैं।

नोट—२ ☞ इस कथनसे सूचित किया कि रामचरित्र साधन नहीं है वरन् साध्य वस्तु है—*'सोउ जाने कर फल यह लीला।'* ३—☞ उपमान पाषाणका गुण हित उपमेयमें स्थापन 'द्वितीय निदर्शना' है।

व्यङ्गार्थद्वारा यह उपदेश प्रकट होता है कि प्राणिमात्रको रामचरित्र प्रेमसे कहना-सुनना चाहिये।—(वीर) ४—ध्यान तजकर चरित्र सुननेका हेतु यह है कि चरितसे वह ध्यान सजीव होता है।—(रा० प०)

प० प० प्र०—पाषाण शुष्क, कठोर और जड़ होता है। इससे उपदेश देते हैं कि यदि हृदयको नवनीतसे भी कोमल, स्नेह तैलसे भी अधिक प्रेममय और पूर्ण चेतन बनाना हो तो हरिकथामें रति करनी चाहिये। हरिकथारतिसे हरिपदरति-रसकी प्राप्ति होगी। हरिकथा-रति साधन और साध्य दोनों है।

'पुरजन-उपदेश' 'श्रीरामगीता'

एक बार रघुनाथ बोलाए। गुर द्विज पुरबासी सब आए॥ १॥
बैठे गुर मुनि अरु द्विज सज्जन। बोले बचन भगत भवभंजन*॥ २॥

अर्थ—एक दिन श्रीरघुनाथजीने गुरु, ब्राह्मण और पुरवासियोंको बुलाया और वे सब आये॥ १॥ जब गुरुज़न एवं गुरु, मुनि, ब्राह्मण और सब सज्जन बैठ गये तब भक्तोंके भवके भंजन करनेवाले श्रीरघुनाथजी भवभंजन वचन बोले॥ २॥

नोट—१ दिन-दिन नवीन चरित्र होते हैं, यथा—*'बार बार नारद मुनि आवहिं..........नित नव चरित देखि मुनि जाहीं'।* इनमेंसे एक दिनका चरित पूर्व कह आये, यथा—*'भ्रातन्ह सहित राम इक बारा।'* (३२। १) से *'पुनि रघुपति निज मंदिर गए।'* (४२। २) तक। फिर यह कहकर कि *'एहि बिधि चरित करत नित नये'* अब दूसरे एक दिनका चरित कहते हैं।

टिप्पणी—१ सबको बुलानेका भाव कि श्रीरामजी सबको मुक्त किया चाहते हैं। मुक्ति बिना ज्ञानके नहीं होती, यथा—**'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** इति श्रुतिः। यह वेदमर्यादाकी रक्षा करनेके लिये सबको बुलाकर ज्ञानोपदेश किया। २—*'बैठे गुर मुनि द्विज..........'* इति। (क)—यहाँ *'गुर'* शब्द बड़ेका वाचक है, यथा—*'गुरजन लाज समाज बड़ देखि सीय सकुचानि।'* अर्थात् बड़े-बड़े शिष्ट लोग आये हैं। यदि यहाँ *'गुर'* से वसिष्ठजीका अर्थ लें तो नहीं बनता, क्योंकि श्रीरामजी वसिष्ठजीको देखकर आगेसे चलकर प्रणाम करते हैं; यथा—

१ **'गुर आगमन सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नाएउ माथा॥'** (अ० ८)
२ **'सीलसिंधु सुनि गुर आगवनू। सीय समीप राखि रिपुदवनू॥ चले सबेग राम..........'**
३ **'धाइ धरे गुरुचरन सरोरुह'** दोहा ५ (३)। इत्यादि।

और, यहाँ तो प्रणाम करना भी नहीं लिखा है। तब *'गुर'* शब्दका वसिष्ठ अर्थ कैसे किया जाय? ३—*'भवभंजन'* विशेषण दिया क्योंकि सबका भव नाश किया चाहते हैं।

नोट—२ प्रायः अन्य सब टीकाकारोंने *'गुर'* से गुरु वसिष्ठका ही अर्थ लिया है। सभामें मुनि और द्विज भी हैं। इनको भी तो 'प्रणाम' नहीं लिखा है। पृथुके पुरजन-उपदेशमें भी सभी हैं। वैसे ही यहाँ भी। दूसरे, यहाँ गुरुकी उपस्थितिका निश्चय इससे भी है कि आगे *'एक बार बसिष्ठ मुनि आये'* की कथाका उपक्रम वा बीज यह प्रसंग है। यहीं भगवान् ऐश्वर्य प्रकट कर देते हैं। *'सब'* शब्द भी यही सूचित करता है। *'मुनि'* से विरक्त, *'द्विज'* से गृहस्थ और सज्जनसे सभी पुरवासी सज्जन जना दिये। इससे जनाया कि यह आम दरबार है।

गौड़जी—यहाँ *'गुर'* से समस्त गुरुजन अभिप्रेत हैं जिनमें कुलपूज्य गुरु वसिष्ठ तथा सभी बड़े लोग आ जाते हैं। इस प्रसंगमें किसीका किसीको प्रणाम या आशीर्वाद आदि कुछ नहीं लिखा। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि बुलाये जानेपर प्रभुके सम्मुख जो लोग पहुँचे उन्होंने यथोचित अभिवादन नहीं किया अथवा गुरुजनोंका यथाविधि स्वयं प्रभुने स्वागत नहीं किया और प्रणाम-आशीर्वाद आदिकी विधि

* 'बैठे सदसि अनुज मुनि सज्जन', 'भवभंजन'—(का०)।

नहीं बरती गयी। कवि इस प्रसंगमें इतना विस्तार करता तो पाठकोंको निरा मूर्ख समझता।—*'अरथ अमित अति आखर थोरे', 'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई'* इत्यादि उक्तियोंसे मानसकारने अपने वर्णनविधिकी ओर काफी इशारा कर दिया है। छोटे-बड़े सभी तरहके लोग आये हैं, बुलाये गये हैं, फिर सभामें बैठे। आने और बैठनेके बीचमें कोई विशेष वर्णन न करके इशारेसे ही बताया कि यथायोग्य अभिवादनका व्यवहार हुआ है। नहीं तो एक बार बुलाये जाने, सबके आने और तब सभामें बैठनेकी चर्चा न करके और *'गुर द्विज पुरबासी सब आए'* कहकर *'बैठे गुर मुनि द्विज सज्जन'* की पुनरुक्ति न करके इतना ही कहना काफी होता कि एक दिन गुरु-मुनि-द्विज-सज्जनोंकी सभामें भगवान् यों बोले। *'सभा देखि गुर मुनि द्विज सज्जन। बोले बचन भगत भवभंजन॥'* इत्यादि, यों कहते। इस कथाका उपक्रम स्वयं साधारण शिष्टाचारका द्योतक है। यदि यह शंका की जाय कि 'इस सभामें जो बातें प्रभुने श्रीमुखसे कही हैं वह गुरुजनसे नहीं कही जा सकतीं और गुरु वसिष्ठसे तो कदापि नहीं तो इसका सरल और स्पष्ट समाधान यही है कि गुरुजनकी उपस्थितिमें तो यह बातें जरूर कही गयी हैं परंतु सम्बोधन गुरुजनको नहीं किया गया। *'सकल पुरजन'* को सम्बोधन किया गया है और बीच-बीचमें सम्बोधनके शब्द बहुत विनीत हैं। राजाकी ओरसे कहे गये-से नहीं दीखते, बल्कि ऐसा जान पड़ता है कि बड़ा भाई छोटे भाईसे कह रहा है, समानताका भाव है, राजा-प्रजाका नहीं, स्वामी-सेवकका नहीं और पिता-पुत्रका भी नहीं। यह रामराज्य-तन्त्र बहुत ध्यानसे समझने योग्य है। प्रजामें आपसमें कोई नीच-ऊँच नहीं है, यथा—*'मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर।'* सेवकोंसे भी बराबरीका नाता है, यथा—*'निज कर गृह परिचर्जा करई'* और प्रजा भी इस नातेको पूरे तौरपर मानती है, क्योंकि धोबीतक राजाके आचरणकी टीका करनेमें संकोच नहीं करता और एक दरिद्र ब्राह्मण अपने बेटेकी लाश राजाके सामने लाकर उलाहने देता है और कुत्ता और गृध्र और उल्लूतक निर्भय दरबारमें नालिश करनेको आते हैं।—यह अभय दरबार है, *'कहि न सकहिं रावन भयभीता'* वाली बात नहीं है। इसीलिये सभामें नीच-से-नीच और छोटे-से-छोटे पुरवासीको *'भाई'* कहके सम्बोधन करते हैं। और गुरुजनोंके समक्ष इसीलिये कहते हैं कि कहीं भूल होगी तो वे लोग सुधारनेमें न चूकेंगे। इसके लिये तो गुरुजन क्या छोटे-से-छोटे आदमीके लिये संशोधनका द्वार आरम्भमें ही खोल दिया—*'जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥'* जब कहने-सुननेका हक एक अदने-से-अदने पुरवासीको है तो गुरुजनोंका क्या कहना?

'प्रभु तरुतर कपि डार पर ते किय आपु समान। तुलसी कहूँ न राम से साहिब सील निधान॥'

साथ ही सुननेवालोंको यह पूरी आजादी दी गयी है कि जो पसंद आये तो इसके अनुकूल आचरण करना; क्योंकि यह स्वामीकी ओरसे कोई आज्ञा नहीं है और न किसी तरहकी जबरदस्ती है—*'नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जौ तुम्हहि सुहाई॥'* क्या किसी प्रजातन्त्रमें ऐसी आजादी हो सकती है? क्या किसी साम्यवादी सरकारमें रामराज्यके-से सुभीते हो सकते हैं? क्या किसी साम्राज्यमें सम्राट् इस तरहका व्यवहार करता है? किसी भी शासनपद्धतिमें रामराज्यका-सा कोई नमूना कभी देखनेमें नहीं आया। इसीलिये रामराज्यकी शासनपद्धति संसारमें अद्वितीय है और इसीलिये रामराज्यका पर्यायवाची शब्द संसारके कोशमें नहीं है।—विशेष ४३ (३—५) देखिये।

प० प० प्र०—१ *'गुर द्विज पुरबासी सब आए'* और *'बैठे गुर मुनि द्विज अरु सज्जन'* में जो क्रम है उसपर ध्यान देनेसे *'गुर'* शब्दमें वसिष्ठजीका अन्तर्भाव करना ही उचित है। मैं गौड़जीके भावोंसे पूर्ण सहमत हूँ। २—*'बोले भगत भवभंजन'* से वक्तव्यका विषय और उसका हेतु भी सूचित कर दिया। यह भी जनाया कि सभी सभासद् भक्त और अधिकारी थे। आगे *'सुनहु सकल पुरजन'* के *'सुनहु'* से श्रोता-वक्ता-सम्बन्ध सूचित किया। इस प्रकार यहाँ अनुबन्ध-चतुष्टय (विषय, अधिकारी, सम्बन्ध और प्रयोजन) अति संक्षिप्तरूपमें सूचित हैं।

मा० हं०—'रामजीका प्रजाके सम्मुख व्याख्यान' (भा०। ४। २१ में पृथुराजने अपनी प्रजाको उपदेश

किया है। दिख पड़ता है कि गोसाईजीने यह व्याख्यानकी कल्पना उसीसे ली है परंतु उपयुक्तताकी दृष्टिसे इसका महत्त्व बहुत ही बढ़कर है। इसके कारण ये हैं—

१—गोसाईंजी प्रजाराधक राज्यपद्धतिके पक्षपाती थे, ऐसा दिख पड़ता है।

२—इस राज्यपद्धतिकी अन्तिम मर्यादा अनीतिमान् राजाका प्रजाके ओरसे वर्जन होनेतक पहुँचती हुई दीखती है।

३—इसमें पौरुषहीको दैवसे बलिष्ठ ठहराया है।

४—इसमें ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी श्रेष्ठताका सिद्धान्त दिया है।

५—इसमें कहा गया है कि शैव-वैष्णवद्वेष केवल बालिशताका लक्षण है।

६—यह सिद्धान्त इसमें दर्शाया है कि सत्समागमके बिना भक्ति साध्य नहीं।

वि० टी०—इस सभाकी बैठकमें आठ द्वार हैं, जो आठों दिशाओंमें एक-एक है। प्रत्येकमें एक-एक मन्त्री बैठता था। मन्त्री अपनी-अपनी दिशाके देशोंकी भाषा, वेष, आचार-विचार-व्यवहारके पूर्ण ज्ञाता होते थे।

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहौं न कछु ममता उर आनी॥ ३॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जौ तुम्हहि सुहाई॥ ४॥
सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥ ५॥

अर्थ—सब पुरवासियो! मेरे वचन सुनो। मैं हृदयमें कुछ ममत्व लाकर नहीं कहता हूँ (अर्थात् यह समझकर नहीं कहता हूँ कि ये सब लोक हमारे हैं, जो हम कहेंगे वह ये अवश्य करेंगे)॥ ३॥ न तो कुछ अनीति कहता हूँ और न कुछ प्रभुताई इसमें है (अर्थात् इस भावसे नहीं कहता कि मैं तुम्हारा राजा हूँ, जो मैं कहता हूँ वह राजाज्ञा समझकर मान ही लेना। वरन् प्रभुताका ख्याल छोड़कर सुनो, प्रभुताका भय न रखकर सुनो)। सुनो और यदि तुम्हें रुचे तो करो॥ ४॥ मेरा वही सेवक है और वही बहुत ही प्यारा है जो मेरी आज्ञा माने॥ ५॥

रा० शं० श०—यहाँ '*सुनहु सकल पुरजन*' कहा '*सुनहु सभासद*' नहीं कहा जैसे कि '*सुनहु सभासद भरत सुजाना*', '*सुनहु सभासद सकल मुनिंदा*' क्योंकि सभामें गुरुजन और ब्राह्मण आदि भी हैं जिनको उपदेश करना माधुर्यमें आप अनुचित मानते हैं और '*पुरजन*' कहनेसे सबका बोध हो जाता है और बात भी अशोभित नहीं होती।

गौड़जी—'*कहौं न कछु ममता उर आनी*.........' इति। इस प्रसंगमें '*सकल पुरजन*' को सम्बोधन किया है, जिससे स्पष्ट है कि सकल प्रजाजन अभीष्ट नहीं हैं। प्रजामें तो पौर और जानपद दोनों समाविष्ट हैं। यहाँ केवल नगरके लोग बुलाये गये हैं। अयोध्याविषय (जिला) के लोग नहीं। फिर भी श्रीरघुनाथजी '*सकल पुरजन*' की जगह '*प्रजाजन सब*' कह सकते थे। परंतु यहाँ राजाकी हैसियतसे कहना मंजूर नहीं है। यहाँ बन्धुत्वके भावसे इसलिये पुरजन कहते हैं कि अपनेको भी पुरवासियोंमें शामिल कर लेते हैं। आगेके पदमें इस भावको और स्पष्ट कर देते हैं, जब यह कहते हैं कि अपने हृदयमें मैं कोई ममता लाकर नहीं कहता कि अयोध्या मेरी पुरी है, तुम मेरी प्रजा हो और यह मेरी आज्ञा है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि मैं कोई अनीति अर्थात् कोई जबरदस्ती नहीं कर रहा हूँ कि तुम ख्वाहमख्वाह मेरी बात मानो और जो कुछ कहता हूँ उसमें जरा भी प्रभुताईका भाव नहीं है। [बाबा जयरामदास दीनजी ममताका अन्वय '*बानी*' के साथ करके लिखते हैं कि 'मैं जो कुछ कहता हूँ, उसमें मेरी कोई ममता नहीं है। तात्पर्य कि आप लोग मेरी बातोंको मेरी प्रसन्नताके लिये खामखाह मान ही लें, ऐसा मेरा कोई आग्रह नहीं है। यहाँ '*ममता*' शब्दका अन्वय '*बानी*' के साथ करना ही ठीक है, क्योंकि पुरजनोंपर तो प्रभुकी अत्यन्त ममता है ही, यथा—'*ममता जिन्हपर प्रभुहि न थोरी।*' परंतु आग्रह न होनेका यह मतलब भी नहीं कि मेरे वचन नीति-विरुद्ध होंगे।' (मा० सं०)] प्रभु आज्ञा देता है और वह माननी ही पड़ती

है परंतु मैं जो कुछ कह रहा हूँ उसमें जरा भी ऐसा भाव नहीं है। तुम उसे सिर्फ सुनो और जो तुम्हें पसन्द आवे तभी उसके अनुसार आचरण करो। (इसमें संदेह नहीं कि) वही मेरा सबसे प्यारा सेवक है जो मेरा अनुशासन माने अर्थात् जो न भी मानेगा वह भी मुझे अप्रिय नहीं होगा और जो मेरे अनुशासनपर विचार करेगा और ठीक समझकर पालन करेगा वह प्रियतर होगा और वह भी मेरा प्रिय होगा जो निर्भय होकर मेरे किसी अनुचित भाषणपर मुझे रोकेगा। यहाँ आदिसे अन्ततक मित्रसम्मित वचन हैं और बन्धुत्वका भाव दिखाया गया है। अनुशासन माननेपर भी प्रभुत्वका भाव नहीं है, एक तो इसलिये कि अनुशासन माननेवाला मुझे सबसे अधिक प्यारा होगा, इस कथनसे यह स्पष्ट कर दिया कि और लोग जो अनुशासन नहीं भी मानते वह भी प्यारे हैं, अप्रिय नहीं हैं। दूसरे यह कि आज्ञा शब्द प्रयोग नहीं है। अनुशासनका है। आज्ञा और अनुशासनमें अन्तर है। अनुशासनका अर्थ है शासनकी रक्षाके लिये अथवा शासनके अनुकूल आचरण। आज्ञामें कोई ऐसा भाव नहीं है। यहाँ अनुशासनका भाव यह है कि पिताके जीते-जी युवराजपदके चुनावमें पौर और जानपद सारी प्रजा एकमतसे श्रीरघुनाथजीके पक्षमें थी। अकेले कैकेयीके विरोधसे राजसिंहासनका त्याग करना पड़ा। आज श्रीरघुनाथजी राज्यशासन निर्विरोध भावसे कर रहे हैं। जब प्रजा सर्वसम्मतिसे किसीको राजा मानती है तो उसका यही अर्थ होता है कि वह शासनको पूर्णरूपसे स्वीकार करती है। और, शासनको सफल करनेके लिये उसके अनुकूल आचरण करना प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है। यह कर्तव्य क्या-क्या है शासक ही निर्णीत कर सकता है। इन्हीं कर्तव्योंका निर्देश 'अनुशासन' कहलाता है। यहाँ प्रस्तुत प्रसंगमें 'अनुशासन' शब्दको इसी पारिभाषिक अर्थमें लेना चाहिये। श्रीरघुनाथजी यह स्पष्ट कर देते हैं कि वही मेरा सबसे प्यारा सेवक है जो मेरा अनुशासन माने। और कहा भी है—*'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।'* इस प्रसंगमें यह प्रश्न हो सकता है कि यहाँ तो साफ-साफ सेवकका शब्द है जो प्रभुत्वको प्रतिपादित करता है। और अनुशासन शब्द प्रभुत्वका पूरा समर्थक. है इसलिये—*'नहिं कछु प्रभुताई'* का तो तीसरे और चौथे चरणमें ही खण्डन हो जाता है। क्या यह विरोधी वाक्य नहीं है? इस शंकाका समाधान उन्हीं चरणोंमें मौजूद है। जिस प्रजाने उन्हें शासक बनाया और प्रभुका पद दिया उसीने इस नातेसे अपनेको शासित और सेवक ठहराया। यहाँ सेवक इसी भावसे कहा गया है। यहाँ निजी या व्यक्तिगत सेवा अभिप्रेत नहीं है। और न अनुशासनसे साधारण आज्ञा लक्षित है। प्रभुत्वका भाव होता तो न माननेवालेकी कोई गुंजाइश न थी। स्वतन्त्र राजा जो कहता है वही कानून होता है और कानून तोड़ना बगावत है। यहाँ अनुशासन कानून नहीं है बल्कि शासनको चलानेके लिये सभीकी आज्ञा है। अगर कानून होता तो—*'जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ बरजेहु मोहि भय बिसराई॥'* की जरूरत न थी। यहाँ 'भाई' शब्द मार्केका है। ऊपरके 'सेवक' शब्दकी गुत्थीको सुलझा देता है। पुरजन छोटे भाई हैं, राजा बड़ा भाई है। छोटे भाई बड़े भाईका अनुशासन मानते हैं और बड़े भाईकी ओरसे अगर कभी मानवस्वभावोचित कोई अनीति हो जाती है तो छोटे भाई मना करते नहीं डरते, उचित सलाह देते हैं और जब बड़े भाईके कहनेके औचित्यको समझ जाते हैं तो बड़े भाईकी बात मान लेते हैं। लक्ष्मणजीका श्रीरघुनाथजीसे वनगमनके अवसरपर जो संवाद हुआ है जैसा कि वाल्मीकिमें वर्णित है अथवा, भरतजीका चित्रकूटमें जो संवाद हुआ है वह थोड़ा-बहुत इसी कोटिका समझा जा सकता है। पाण्डवोंके चरितमें तो इसके उदाहरण महाभारतमें भरे पड़े हैं। *'भय बिसराई'* और *'न कछु ममता'* इसलिये कहा कि तुम लोग यह न समझना कि मैं राजा हूँ और जो अनुशासन तुम्हारे सामने दे रहा हूँ उसमें जबरदस्तीकी बात होगी और उसे तुम न मानोगे या मेरी भूल दिखाओगे तो मैं नाराज हो जाऊँगा। भयको तो तुम बिलकुल भुला दो अर्थात् मेरे शासक होनेकी बात भूल जाओ। भूल इसलिये जाओ कि साधारणतया शासितके मनमें शासकका भय रहता है क्योंकि वह अपने कर्तव्यपालनमें अनीतिपर दण्ड देता है। और जो तुम यह समझो कि टीका-टिप्पणी करना, अनुशासनको न मानना या विरोध दिखाना, राजाकी अवज्ञा होगी, कानूनशिकनी होगी, बगावत होगी और यह दण्डनीय अपराध होगा तो इस विचारसे तुम कुछ

भी न कह सकोगे। इसलिये मेरे राजा होनेका ध्यान अपने हृदयमें न रखो, राज-भयको भूल जाओ, तभी तुम मेरी अनीतिपर मुझे बरज सकोगे। इतना अंश बड़े महत्त्वका है। इससे पता चलता है कि रामराज्यकी नींवमें कैसी उदात्त और उदार-नीति भरी पड़ी है। इतना बिना समझे इस गीताका वास्तविक तात्पर्य और सच्चा भाव समझमें आ नहीं सकता। आगे दोहा ४३ में देखिये।

पं० रा० व० श०—**'अनीति'**=शास्त्रविरुद्ध। ***'नहिं कछु प्रभुताई'*** अर्थात् यह राजाज्ञा नहीं है न हमारा हठ है कि हमारा कहा अवश्य करो। हम केवल हितोपदेश जानकर कहते हैं।

पं० वि० त्रि०—भाव यह कि मैं तुमलोगोंसे गुह्यातिगुह्य ज्ञान राजा होनेके नातेसे कह रहा हूँ, क्योंकि राजा दण्डधारी गुरु हैं। अतः मेरा तुम्हें उपदेश देना नीतिसम्मत है और मैं तुमलोगोंको इस भाँति आचरण करनेके लिये विवश भी नहीं कर रहा हूँ, अतः इसमें कुछ प्रभुताई नहीं है। मेरे उपदेशपर पूर्णरूपसे विचार करके जैसी इच्छा हो वैसा करो क्योंकि धर्म बलपूर्वक नहीं कराया जा सकता। यथा—**'इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया। विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥'**

नोट—१ श्रीपृथुजीने जो उपदेश दिया है वह प्रभुताको लेकर ही दिया जैसा उनके **'अहं दण्डधरो राजा प्रजानामिह योजितः। रक्षिता वृत्तिदः स्वेषु सेतुषु स्थापिता पृथक्॥ य उद्धरेत्करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन्। प्रजानां शमलं भुङ्क्ते भगं च स्वं जहाति सः॥'** (भा० ४। २१। २२, २४) (अर्थात् इस लोकमें ऋषियोंने मुझे प्रजाका राजा बनाया है। अतः मैं प्रजाको दण्ड देनेवाला, उसकी रक्षा करनेवाला, उसे आजीविका देनेवाला और उसे पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी मर्यादामें रखनेवाला हूँ। जो राजा प्रजावर्गको धर्म-मार्गकी शिक्षा न देकर उनसे कर ग्रहण करता है वह प्रजाके पापका भागी होता है और अपने ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाता है), इन वाक्योंसे स्पष्ट है।—श्रीरामजीके ***'प्रभुताई'*** शब्दमें यही भाव है। वे कहते हैं कि मैं इस प्रभुताके भावसे उपदेश नहीं दे रहा हूँ।

टिप्पणी—१ ***'नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई।'''''''*** अर्थात् जो अनीति हो उसे न ग्रहण करना और प्रभुताका भय न मानना। प्रभुताकी बात आगे कहते हैं—***'सोइ सेवक''''''''।'*** भाव कि मैं प्रभुताकी रीतिसे ऐसा नहीं कहता वरन् सबके हितार्थ कहता हूँ। (☞ राजाओंको इस आदर्श-नीतिको ग्रहण करना चाहिये। श्रीरामजीके वचनसे सिद्ध है कि प्रजाको राजाके अनीति कार्यपर समालोचनाका पूर्णाधिकार था।)

वै०—***'ममता न आनि'*** अर्थात् अपना स्वार्थ मनमें रखकर नहीं कहता। २—***'नहिं कछु प्रभुताई।'*** अर्थात् रजोगुण धारण करके नहीं किंतु सतोगुणसहित शान्तचित्त होकर कहता हूँ। ३—वचन तीन प्रकारके होते हैं—प्रभुसम्मित (जिसमें आज्ञा हो। उचित-अनुचितका विचार न हो। आज्ञापालन जहाँ कर्तव्य है जैसे वेदाज्ञा), सुहृद् सम्मित और कान्तासम्मित (रोचक) ***'सुनहु करहु जो तुम्हहिं सुहाई'*** यहाँतक मित्रवत् सबको समझाकर आगे दो चरणोंमें प्रभुसम्मित वचन कहते हैं।—***'सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥'*** —(रा० प्र०) और अन्तमें कान्तासम्मित वचन कहे—***'जौं अनीति—।'*** ये नम्रताके वचन हैं।

टिप्पणी—२ ***'सोइ सेवक प्रियतम''''''''''*** इति। आज्ञा माननेवाला सेवक हूँ। यथा—***'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा'***; और प्रिय भी है, यथा—***'सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥'*** यह बात रामजीने इसलिये कही कि जिसमें लोग हमारे वचन मानें।

३—***'मम अनुसासन मानै जोई', 'सोइ सेवक प्रियतम मम सोई।'*** 'श्रुति-स्मृति परमेश्वरकी आज्ञा है। भगवान्‌की आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाला ऊपरसे भक्त भी क्यों न कहलाता हो पर वह वैष्णव नहीं कहा जा सकता, यथा पञ्चरात्रे—'**श्रुतिस्मृतिर्ममैवाज्ञा तामुल्लङ्घ्य यो वर्तयेत्। आज्ञाच्छेदी मम द्वेष्टा मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥'**

जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥ ६॥
बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥ ७॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥ ८॥

अर्थ—हे भाई! यदि मैं कुछ अनीति कहूँ तो भय भुलाकर मुझे डाँटकर मना कर देना॥ ६॥ बड़े भाग्यसे मनुष्य-शरीर पाया है। यह देवताओंको भी दुर्लभ है, ऐसा सभी ग्रन्थ कहते हैं॥ ७॥ (अर्थ, धर्म, काम तीनोंके) साधनका (यह तन) घर है और मोक्षका दरवाजा है। (अर्थात् नरशरीर मोक्षका मुख्य अधिकारी है, इसीसे मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है।) जिसने यह शरीर पाकर परलोक न बना लिया—॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'जौं अनीति कछु भाषौं.........'* इति। (क) *'जौं'* का भाव कि मैं अनीति न कहूँगा, यदि कदाचित् भूलसे अनीति मेरे मुखसे निकल जाय तो। [कहनेवाला अपनी समझमें नीति ही कहता हो पर यह समझनेवालोंपर निर्भर है कि वे उसे नीति समझें वा अनीति। अतएव *'जौं'* संदिग्ध वचन कहा। (पं० रा० व० श०)] (ख) *'भाई'* सम्बोधन यहाँ तुल्यताके भावसे कहा है अर्थात् श्रीरामजी अवधवासियोंको अपने समान समझते हैं इसीसे यहाँ इनको सर्वत्र भाई कहा है, यथा—*'जौं अनीति कछु भाषौं भाई।', 'यह तन कर फल बिषय न भाई', 'सुलभ सुखद मारग यह भाई।', 'यह आचरन बस्य मैं भाई।'* अथवा, *'भाई'* सम्बोधन मधुर वचन है। मधुर वचन कहकर सबको उपदेश कर रहे हैं।—[यह मित्रसम्मित वाणी प्रभु-आज्ञा है। (रा० प्र०)] *'भाई'* शब्दपर विशेष गौड़जीका टिप्पण दोहा ४३ (३-५) में देखिये।

बाबा जयरामदास दीन-*'भाई'* कहकर सम्बोधित करना कितना मधुर और निर्भयकारक है! यह आवश्यकता पड़नेपर श्रोताओंमें बरजनेका साहस पैदा कर देता है। वस्तुतः जीवमात्रके सच्चे कल्याणका पारमार्थिक उपदेश ग्रहण करनेके लिये जबतक श्रोताओंको स्वतन्त्रता और श्रद्धासे संयुक्त श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनका अवसर नहीं दिया जायगा, तबतक उनके हृदयोंमें स्थित कुछ भी संकोच, भय अथवा आशाके कारण वह उपदेश हृदयग्राह्य और स्थायी न होगा।

नोट—१ अब आगे परम गुह्योपदेश *'बड़े भाग.........'* से प्रारम्भ होता है। यह सब गुह्य रहस्य है यह आगे दोहा ४५ के *'औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ'* के *'औरउ'* शब्दसे स्पष्ट है। जैसे यहाँ पुरजनोंको परम गुह्य भक्तिका उपदेश किया है ऐसे ही आगे श्रीकृष्णावतारमें अर्जुनजीको गुह्यतम भक्तिरूप उपासना नामक ज्ञानका उपदेश करते समय **'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।'** (गीता ९। १) तथा—**'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।'** (गीता १८। ६४) ऐसा कहा है। इस तरह जनाया कि सम्पूर्ण गुप्त तत्त्वोंमें भक्तियोग ही गुह्यतम तत्त्व है।

२ *'सुनहु सकल पुरजन मम बानी'* से *'तौ मोहि बरजहु भय बिसराई'* तक आगेके गुह्योपदेशकी भूमिका है कि वह उपदेश कैसा होगा।

टिप्पणी—२ *'बड़े भाग मानुष तनु पावा.........'* इति। (क)—जो देवताको दुर्लभ है उसका हमको मिल जाना, यही बड़ा भाग्य है, पुनः, भाव कि जिसने इसे पाकर मोक्ष न पाया, अपना परलोक न बनाया वह बड़ा अभागा है।

३—*'धाम'* और *'द्वार'* कहकर सूचित किया कि इस शरीरके भीतर मोक्ष और बाहर संसार है।

नोट—३ *'बड़े भाग'* इससे कि ***'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥'*** अपने कर्मोंसे इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि पशु-पक्षी इत्यादि योनियाँ साधनकी नहीं हैं, उनमें साधनका ज्ञान ही नहीं। प्रह्लादजीने दैत्यबालकोंसे यही कहा है—**'दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्'** (भा० ७। ६। १) अर्थात् मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है पर अनित्य होनेपर भी यह पुरुषार्थका साधक है।

पं० रा० व० श०—*'बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ.........'* इति।-भगवान्‌ने जब सृष्टिका आरम्भ किया तब अनेक शरीर बनाये पर किसीसे चित्त प्रसन्न न हुआ, जब मनुष्य-शरीर बनाया तब वे प्रसन्न हो कह उठे कि *'अलम्, अलम्, अलम्'* यह बहुत ही अच्छा है।*'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा'* यह भी बड़े भाग्यका एक कारण बताते हैं। साधन कर्मसे यदि मोक्ष मिल सकता है तो मनुष्य-शरीरसे ही। देवशरीर एवं तिर्यग्योनिसे नहीं। जो तिर्यग्योनिको मोक्ष मिला वह प्रभुकी असीम करुणासे। उनसे पूर्वशरीरमें या इसी शरीरमें कोई भगवत्-कर्म ऐसा बन गया कि प्रभु रीझ गये। देवता भी चाहते हैं कि हम नरशरीर

पा जाते तो भजन करते, जिस सुकृतसे हमें ब्रह्मलोक मिला उससे हमें वह शरीर मिल जाता। देवशरीर भोग-शरीर है, साधन-शरीर नहीं। इसीसे देवताओंने कहा है-*'धिग जीवन देवसरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे॥'*

गौड़जी *'बड़े भाग मानुष तनु पावा''''''''मिथ्या दोष लगाइ'* इति। यहाँ भी सम्बोधित पुरजनोंके साथ अपना एकीकरण कर देते हैं-'हम सबने' बड़े भागसे मानुषतन पाया है। बड़े भागसे इसलिये कि सभी ग्रन्थ कहते हैं कि देवताओंको भी यह तन दुर्लभ है, वे भी तरसते हैं, क्योंकि वे अमर हैं, दूसरा शरीर धारण ही नहीं कर सकते। इसलिये मनुष्य-शरीर पा नहीं सकते। और वे तरसते क्यों हैं? इसलिये कि उनका शरीर भोग-शरीर है और मनुष्य-शरीर साधन-धाम है। उनका शरीर कल्पान्ततक उनके लिये बन्धन है और मानव-शरीर मोक्षका द्वार है, आवागमनसे विकास पाते-पाते अन्तमें मोक्ष प्राप्त हो सकता है—'**अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्**।' मानव-देहमें कल्पान्ततक भ्रमण करनेकी भी आवश्यकता नहीं। उपाय करनेसे बहुत पहले ही मुक्त हो सकता है। परंतु देव-शरीरमें कल्पान्तमें पुण्य क्षीण होनेपर फिर ८४ लक्षयोनियोंमें भ्रमना पड़ता है। यहाँ यह न भूलना चाहिये कि देवयोनिमें भी अमरताकी अवधि है। यथा प्रत्येक मन्वन्तरका एक-एक इन्द्र होता है इस तरह एक कल्पमें १४ इन्द्र होते हैं। जो मनुष्य इन्द्रपदको पहुँच गया वह एक मन्वन्तरतक स्वर्गका भोग करके पुण्यक्षयके उपरान्त फिर मर्त्यलोकमें जन्म लेता है। इन्द्र अपने पदकी कीमत जानता है और पछताता है कि मैं इन्द्रपद भोगने न आया होता तो ७१ चतुर्युगियोंतक स्वर्गीय तुच्छ भोगविलासोंमें न फँसता, बल्कि कभीका मुक्त हो चुका होता। इस तरह यह दुर्लभ तन सब साधनोंमें समर्थ है और सबके साध्य मोक्षके लिये द्वार है।

नोट—४ *'सुर दुर्लभ''''''''द्वारा'* इति। मिलान कीजिये—'**लब्ध्वा जन्माऽमरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद् द्विजाग्र्यताम्। तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम्॥ स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान्। द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि॥**' (भा० ११। २३। २२-२३) भावार्थ यह है कि भारतवर्षमें मनुष्य-जन्म पाना बड़ा ही दुर्लभ और देवताओंके लिये भी वाञ्छनीय है, देवता भी उसके लिये प्रार्थना करते रहते हैं। फिर मनुष्योंमें द्विज और द्विजोंमें भी ब्राह्मण होना और भी कठिन है। जो लोग इस मनुष्यता, द्विजता और ब्राह्मणताका तिरस्कार करके अपने परम स्वार्थ और परमार्थसे हाथ धो बैठते हैं, आत्म-कल्याणके लिये प्रयत्नशील नहीं होते, उनकी बड़ी दुर्गति होती है। यह मनुष्य-शरीर स्वर्ग और मोक्षका द्वार है, इसे पाकर भी जो अनर्थोंके मूल धनके चक्करमें पड़ा रहे, उससे बड़ा मूर्ख और कौन होगा।

विनयमें भी कहा है—*'हरि तुम्ह बहुत अनुग्रह कीन्हों। साधन धाम बिबुध दुर्लभ तन मोहि कृपा करि दीन्हों॥'* (१०२) मानसमें अन्यत्र भी कहा है—*'नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ग्यान बिराग भगति सुभ देनी॥'*

श्रीमुचुकुन्द महाराजने भी भगवान्‌से कुछ ऐसा ही कहा है। यथा—'**लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं कथञ्चिदव्यङ्गमयत्नतोऽनघ। पादारविन्दं न भजत्यसन्मतिर्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः॥**' (भा० १०। ५१। ४७) (अर्थात्) इस पवित्र कर्मभूमिमें मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्यजीवन इतना पूर्ण है कि उसमें भजनके लिये कोई भी असुविधा नहीं है। इसे पाकर भी जो अपनी मति, गति असत् संसारमें ही लगा देते हैं तथा तुच्छ विषय-सुखके लिये प्रयत्न करते हुए घर-गृहस्थीरूपी अन्धकूपमें पड़े रहते हैं, भगवान्‌के चरणोंका भजन नहीं करते वे उस पशुके समान हैं जो तुच्छ तृणके लोभसे अँधेरे कुएँमें गिर जाते हैं।

'पाइ न जेहि परलोक सँवारा। सो०' भाव कि मोक्ष साध्य वस्तु है, नरशरीर उस मोक्षका द्वार है, साध्य वस्तुके इतने निकट पहुँचकर दरवाजेसे जो लौट आवे और भवमें पड़े तो उससे अधिक अभागा कौन होगा। परलोक सँवारना यही है कि भगवान्‌की भक्ति करके भवपार हो जाय। जिसने यह न किया वह मूर्ख है, यथा—'**मानुष्यं प्राप्य येनाथ नार्चितो हरिरीश्वरः। काकविप्रासिता तेन हारितो कामदो मणिः॥**' अर्थात् हे नाथ! मनुष्य देह पाकर जिसने आपको न भजा वह उस सरीखा है कि जैसे कौएके उड़ानेमें कोई चिन्तामणि फेंककर कौएको हँकावे। पुनः यथा—*'यह भरतखंड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।*

तेरी कुमति कायर! कलप-बल्ली चहति बिष फल फली॥' (वि० १३५। १) (पं० रा० व० श०) ☞ इससे यह उपदेश देते हैं कि नर-शरीर पाकर अब *'बेगि, बिलंब न कीजिये लीजै उपदेस। बीजमंत्र जपिये सोई जो जपत महेस॥'* (वि० १०८) और अपना कल्याण करो।

दो०—सो परत्र दुख पावै सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥ ४३॥

अर्थ—वह इस लोक और परलोक दोनोंमें दुःख पाता है, सिर पीट-पीटकर पछताता है। काल, कर्म और ईश्वरको मिथ्या दोष लगाता है॥ ४३॥

टिप्पणी—१ **'परस्मिन् इति परत्र'**। **'परस्मिन्'** इसका परत्र निपात होता है। **'परस्मिन्'** यह परलोकका वाचक है। इसी **'परस्मिन्'** को गोसाईंजीने *'परत्र'* कहा है। (परत्र=दूसरी जगह, दूसरे कालमें, परलोकमें)।

२—*'कालहि कर्महि……'* इति। जब भल-अनभलका ज्ञान है तब कालादिको दोष लगाना मिथ्या है, यथा—*'नाहिन कछु अवगुन तुम्हार अपराध मोर मैं माना। ज्ञान भवन तै दियो नाथ मैं पाइ न सो प्रभु जाना॥'* (विनय०) पुनः, काल ज्योतिषी कहते है, कर्म मीमांसक कहते हैं और ईश्वर नैयायिक कहते हैं। कालको दोष लगाते हैं कि काल अच्छा नहीं रहा, समयका फेर है। कर्मको दोष देते हैं कि (हमारा संचित) कर्म अच्छा नहीं था और ईश्वरको यह दोष देते हैं कि ईश्वरके मनमें ऐसा ही था। [*'मिथ्या दोष लगाइ'*, यथा—*'ज्ञान भवन तनु दियेहु नाथ सोउ पाय न मैं प्रभु जाना। बेनु करील श्रीखंड बसंतहि दूषन मृषा लगावे॥'* (वि० ११४)]

३—*'सिर धुनि धुनि'* पछताते हैं क्योंकि 'मनुष्य-शरीर छोड़ अन्य शरीरसे मोक्ष नहीं होता। इसीसे ईश्वरने परलोक बनानेके लिये नरतनु दिया। क्योंकि दूसरे शरीरका अधिकार रहा, जो कालादिके अधीन हो तो सब उपदेश मिथ्या हो जाते हैं।' [मिलान कीजिये—*'तौ तू पछितैहै मन मींजि हाथ। भयो है सुगम तोको अमर-अगम तनु समुझि धौं कत खोवत अकाथ॥'* (वि० ८४),*'अति दुर्लभ तनु पाइ कपट तजि भजे न राम मन बचन काय………अब सोचत मनि बिनु भुजंग ज्यों बिकल अंग दले जरा धाय। सिर धुनि धुनि पछितात मींजि कर, कोउ न मीत हित दुसह दाय॥'* (वि० ८३) उपर्युक्त चौपाई और दोहेके पूर्वार्धमें श्रीमद्भागवतके **'ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः। शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम्॥'** (७। ६। ५) इस श्लोकका भाव आ जाता है कि जबतक यह सर्वावयवपूर्ण मानव-शरीर विपत्तिग्रस्त न हो तबतक ही भवभयमें पड़े हुए विवेकी पुरुषको अपने कल्याणका उपाय कर लेना चाहिये।]

गौड़जी—ऐसे मोक्षके साधनको पाकर जो अपना परलोक नहीं सुधारता सो यहाँ लोकोंमें दुःख पाता है और दुःख पानेपर जब खोये हुए अवसरकी सुध आती है तब सिर धुनि-धुनिकर पछताता है कि यह सिर ऐसे अच्छे मौकेको क्यों भूल गया और जैसा कि दस्तूर है अपनी भारी भूलका दोष कभी कालके सिर मढ़ता है कि काल ही सब कुछ कराता है अपने बसकी कोई बात नहीं है। या हमारे प्रारब्धने हमको कुछ करने न दिया, प्रारब्ध कर्मका ही दोष है। अथवा, ईश्वरको दोष लगाता है और कहता है कि जब बिना उसकी मर्जीके एक पत्ता भी नहीं हिलता तब उसकी मर्जी ही न थी कि मैं कुछ करता। अपनी भूल अपने मत्थे न मढ़कर काल-कर्म और ईश्वरको दोष देता है; यह मिथ्या दोष लगाना है।

यहाँ मिथ्या दोष क्यों है, यह जटिल समस्या है। यह बात बिलकुल सच है कि हमारे सभी कर्म कालसे प्रेरित होते हैं, यथा रात सोनेके लिये है और दिन काम करनेके लिये, निद्रा और विविध कर्म कालसे ही प्रेरित हैं, इसी तरह सभी कामोंके विषयमें भी समझना चाहिये। परंतु यह कालकी प्रेरणा मनुष्यको सर्वथा विवश नहीं करती, आत्यन्तिक शीत और आत्यन्तिक ताप, बहुत वर्षा, तेज आँधी, कालकी प्रेरणाएँ हैं, परंतु मनुष्य चाहे तो इन सबको जीतकर अपनी इच्छानुकूल करे। जब नहीं करता तो भूल उसीकी है। प्रारब्ध कर्म मानवशरीरके निमित्तकी परिस्थितिकी रचना करता है। दरिद्र-घरमें जन्म देता है,

विकलाङ्ग बना देता है, ऐसे समाजमें उत्पन्न करता है जिसमें कम-से-कम विकासका अवसर मिले। शरीरको जीर्ण, अल्पायु और रोगग्रस्त बनाकर बढ़नेका कम मौका देता है। फिर भी ऐसी सभी गिरी अवस्थाओंमें वह अपने समर्थ इन्द्रियोंसे काम लेकर निरन्तर भले-बुरे सभी तरहके क्रियमाण कर्म करता रहता है। क्योंकि—'**न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्**।' (गीता ३। ५) अर्थात् एक क्षण भी कोई बिना कर्म किये रह नहीं सकता; अतः प्रारब्धकी बाधा होते हुए भी परलोक सुधारनेका काम वह जरूर कर सकता है। वह प्रारब्धको मिथ्या दोष लगाता है। वह निरन्तर अपने क्रियमाण कर्मोको तात्कालिक एक सुदूर भोग्य प्रारब्ध और सञ्चित कर्मोंके खातेमें डालता जाता है। उसे कौन इस बातमें रोकता है कि वह परलोक सुधारनेवाले क्रियमाण कर्म न करे? इसपर परमेश्वरको सर्वज्ञ और त्रिकालज्ञ माननेवाला यह कहता है कि मनुष्य क्रियमाण कर्ममें भी स्वतन्त्र नहीं है जैसे ईश्वर कराता है वैसे ही वह करता है। ईश्वर भविष्यको जानता है जिसका अर्थ यह हुआ कि उसने भविष्यको अपने ज्ञानसे निश्चित कर दिया है। उसकी जानकारीसे यदि देवदत्तकी अधोगति होनी है तो देवदत्त लाख जतन करे उसकी सद्गति नहीं हो सकती। हो जाय तो ईश्वरकी त्रिकालज्ञतामें बट्टा लगता है। इसीलिये उसकी भूलका जिम्मेदार ईश्वर ही है। इस तर्कसे यह प्रत्यक्ष है कि सचमुच ईश्वरका ही दोष है परंतु मानसकार कहते हैं कि यह दोष मिथ्या है। इसका समाधान क्या है? ईश्वरके दोषी होनेवाले तर्कको उसके अन्तिम परिणामकी कसौटीपर कसना चाहिये। प्रतिज्ञा यह है कि ईश्वर भविष्यको जानता है अतः भविष्य निश्चित है। परंतु भविष्य किस कालको कहते हैं? दस वर्ष पहलेका भूतकाल और आजका वर्तमान काल २० वर्ष पहिले भविष्यके ही गर्भमें था। अर्थात् ईश्वरने अपनी भविष्यज्ञतासे भूत और वर्तमानको भी निश्चित कर रखा था। इस तरह तीनों कालोंकी सभी घटनाएँ ईश्वरके दिमागमें पहलेसे घटित हो चुकी हैं, तभी तो अर्जुनसे कहा था—'**मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**।' (गीता ११। ३३) मैंने तो इन्हें पहलेसे मार रखा है, अर्जुन! तू निमित्तमात्र बन जा। यदि ऐसी ही स्थिति है तो कर्म और उसका फल विडम्बनामात्र है। प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण सबकी जिम्मेदारी ईश्वरपर है। फिर परलोकके सुधारनेका प्रश्न भी वृथा है और सुरदुर्लभता बकवादमात्र है। इस परिणामसे यही कहना पड़ता है कि प्रतिज्ञामें ही कहीं भूल है। भूल यह है कि परमात्मा त्रिकालज्ञ जरूर है, भविष्यको जाननेकी उसमें उसी तरह शक्ति है जिस तरह हममें देखने-छूने आदिकी शक्ति है परंतु जैसे हम प्रयोजनपर ही इन शक्तियोंको काममें लाते हैं। वैसे ही ईश्वर भी अपनी त्रिकालज्ञता और सर्वज्ञताको प्रयोजनपर ही काममें लाता है। भगवान् शंकर सर्वज्ञ हैं परंतु सतीजीके झूठ बोलनेपर '***देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना॥***' यदि सर्वज्ञता ईश्वरके दिव्य शरीरको निरन्तर सतानेवाली व्याधि-सी होती तो न केवल सतीजीके झूठ बोलनेपर ध्यान धरनेकी जरूरत न होती बल्कि वह पहलेसे जान जाते कि सती किस बुरी तरहसे परीक्षा लेगी और उसका कैसा अनिष्ट परिणाम होगा। इस भीषण भविष्यकी जानकारी शिवजीको नहीं है तो भी वह सर्वज्ञ और त्रिकालज्ञ हैं, इसीलिये कि वह चाहें तो सब कुछ जान सकते हैं।

अब उस प्रतिज्ञापर विचार कीजिये। यह प्रतिज्ञा ही भ्रान्त है कि ईश्वर पहलेसे सब कुछ जानता है और निश्चय कर देता है। ईश्वरकी जिम्मेदारी सृष्टिको विशेष प्रकार रचनेमें और प्रकृतिके नियममें है, पुरुष और प्रकृतिके अनुशासनमें रहकर सदाचारी प्राणी पतित नहीं होते। अनुशासनके विपरीत मार्गपर चलनेवालोंका पतन जरूर होता रहता है। मार्गके निश्चयका दोषी जीव है, ईश्वर नहीं।

पं०, शिला—१ परत्र=पर+अत्र=परलोक और इहलोक। २—'***कालहि कर्महि ईस्वरहि*********' इति। अर्थात् इन्हीं तीनोंका किया ही सब होता है, यथा—'***काल सुभाउ करम बरिआई। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई॥***' (१। ७। २) यह दोष देना मिथ्या है। इस तरह कि—(क) जो कहते हो कि कलिकाल है, इसमें तो अधर्मकी ओर प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है तो उसका उत्तर यह है कि इसीमें तो अनेक संत ऐसे देख

पड़ते हैं कि जिनकी महिमा कोई कह नहीं सकता और अन्य युगोंमें जो फल बड़े कष्ट साधनसे प्राप्त होता था वह इस कालमें नामोच्चारणमात्रसे प्राप्त हो जाता है। तीसरे, इसमें *'मानस पुन्य होहि नहिं पापा।'* चौथे, कालका दोष था तो उसीने तो तुम्हें ऐसे पुण्यक्षेत्रमें जन्म दिया, तब दोष कहाँ था? (ख) कर्मको दोष देना कि निषिद्ध संस्कार हमें इस ओर नहीं आने देते, यह दोष भी मिथ्या है। जैसे औषधिसेवन करके रोग दूर करते हो वैसे ही जप-तपादि करके पूर्वकृत पापोंको पीस डालो। कर्महीने तो तुम्हें नेत्र, कान, हाथ, पैर इत्यादि भगवत्कार्य करनेके लिये दिये, तब वह दूषित कहाँ? दूषित होता तो संत-भगवन्तदर्शनके लिये नेत्र, कथाश्रवणके लिये कान, पूजन-सेवाके लिये हाथ, तीर्थाटनके लिये पैर इत्यादि क्यों देता? (ग) जो कहते हो कि सन्मार्गमें लगनेके लिये हम स्वतन्त्र नहीं, जैसी प्रेरणा ईश्वर करता है वैसा ही हम करते हैं तो यह भी दोष मिथ्या है। क्योंकि यदि तुम ऐसे ईश्वरनिष्ठ हो तो भोजनादिके लिये भी उद्यम न करो, वह स्वयं तुम्हें खिला जायगा, तनपोषणार्थ तो उद्यमी बनते हो और भजनमें आलसी होते हो। यदि ईश्वरको बुरा करना होता तो नरदेह क्यों देता?

पां०—*'मिथ्या दोष लगाइ।'* भाव कि जो तुमने बोया सो ही पाया, जो बोओगे सो पाओगे इसमें न कालका दोष है न कर्मका, न ईश्वरका।

पं० रा० व० श०—*'मिथ्या दोष लगाइ।'* क्योंकि कालादि कोई प्रतिकूल कहाँसे हुए, सब अनुकूल ही तो हुए हैं, काल अनुकूल न होता, कर्म सुधरे न होते और ईश्वरने कृपा न की होती तो मनुष्य-देह ही कब मिलती? नरदेहकी प्राप्ति सबकी अनुकूलता बताती है अतः उनका दोष कहना मिथ्या है। यथा—*'ढाक चढ़त बारी गिरै करै राव सों रोष॥ करै राव सों रोष दोष का प्रभुको दीजै। आपुन कुमति कमाइ परेखो काको कीजै॥ तृषावंत सो जीव सरोवर पर चलि जाई। यह देखी नहिं सुनी जंतु पहँ जल चलि आई॥ 'अग्र' कहै अपराध नर प्रभुजी सदा अदोष। ढाक चढ़त बारी गिरै करै राव सों रोष॥'*

रा० शं०—काल-कर्मादि उन्हींको सताते हैं जो कर्तव्य न जानकर उद्योगहीन हैं, यथा—*'काल कर्म गुन सुभाउ सबके सीस तपत। राम नाम-महिमा की चरचौ चले चपत॥'* (वि० १३०)

वै०—जीवोंकी अवस्था तो काल, कर्म और ईश्वरके अधीन है ही तब कैसे कहा कि *'मिथ्या दोष लगाइ'* ? उत्तर यह है कि जीव ईश्वरांश होनेसे चैतन्य है क्योंकि अपना गुण-स्वभाव सब जानता है, वेद-पुराणादिद्वारा काल, कर्म और ईश्वराज्ञा वेद सिद्धान्त भी जानता है। यह जानकर भी सर्वकाल पापमें रत रहता है और पापभोगका समय आया तब दोष देता है कि हमारे दिन बुरे हैं, इत्यादि। काल, कर्म, ईश्वरका भय तो मानता नहीं, कुकर्म आप करता है, अपनेको दोष नहीं देता। पुनः भगवान्के कथनका भाव यह है कि हम भी नरदेह धारण किये हैं तब जैसे हमने विषय त्याग किया है वैसे ही तुम भी त्याग करो।

नोट—बात तो ठीक है कि जो कुछ होता है वह ईश्वरकी ही मर्जीसे। पर यह कथन उच्चकोटिके संतोंके लिये है जो सब प्रकार निष्क्रिय, निष्काम और अनन्यभगवत्-शरण हैं, उन्हींके लिये भगवान्ने कहा है कि *'करउँ सदा तिन्हकै रखवारी।'* उनको, क्या बुरा है क्या भला, इसका ज्ञान ही कहाँ? उनका अपना कुछ कर्म है ही नहीं। पर अन्य जीवोंके लिये दैव और पुरुषार्थवाद दोनों हैं, जबतक अहंबुद्धि है तबतक पुरुषार्थ अवश्य करना होगा। उसको भले-बुरेका ज्ञान है, दोनोंका फल भोगना होगा। अच्छा कर्म हुआ, तब वह यह नहीं कहता कि यह ईश्वरकी कृपासे हुआ; तब तो अपने-आप कर्ता बनता है और जब बुरा हुआ या भोग करना पड़ा तब अपना दोष नहीं कहता—यह उसकी धूर्तता है। हाँ! पुरुषार्थ करनेपर भी सफलता न हो तब समझना चाहिये कि हमारे संस्कारों इत्यादिका फेर है। भगवत्परायण होनेहीपर जीवका अपना कर्म कुछ नहीं रह जाता, तभी वह समझता है कि मैं तो यन्त्रमात्र हूँ, भगवान् जब जो चाहें इस शरीरसे कार्य लें यह तो उन्हींका है। जबतक वह दशा नहीं है तबतक काल-कर्मादिको दोष लगाना व्यर्थ है।

भगवान्की शक्तिसे ही यह सम्पूर्ण विश्व सचेष्ट है सही, फिर भी यह भूलना न चाहिये कि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। जो भी पाप, अपराध और दोष हैं वे सब उस व्यक्तिके हैं, पर हाँ, यदि वह

अपनेको भगवान्‌का यन्त्र बना दे, कर्तापनका अहंकार सर्वथा त्याग दे, तो उसमें कोई दोष रह नहीं सकता। *'ना मैं कर्त्ता ना किया साहिब कर्ता मोर। करत करावत आपु हैं पलटू पलटू सोर॥'*

भगवान् ही सबके संचालक हैं यह कहकर अपनेको निर्दोष ठहरानेवालेको अपनेसे पहले यह प्रश्न करके उत्तर ले लेना चाहिये कि क्या यदि जो कर्म मैंने किया है वही दूसरा मेरे साथ करे तो मैं उसपर रुष्ट तो न हूँगा? वह भी तो भगवान्‌की इच्छासे ही मेरे साथ ऐसा अपराध करेगा? इतना विचार कर लेनेपर फिर वह ईश्वरको दोष लगा सकेगा, इसमें संदेह है।

दूसरा एक और समाधान यह भी हो सकता है कि यहाँ उपदेश लोकशिक्षार्थ है, शिक्षा बिना पुरुषार्थवादके शिक्षा ही नहीं कही जा सकती। शिक्षाका तात्पर्य यही है कि सुननेवाला उसपर आरूढ़ हो जाय, अतः पुरुषार्थवाद यहाँ मुख्य है।

'साधनधाम......' से लेकर इस प्रसंगके भाव विनयसे स्पष्ट हो जाते हैं—

'लाभ कहा मानुष तनु पाए। काय बचन मन सपनेहु कबहुँक घटत न काज पराए॥ जो सुख सुरपुर नरक गेह बन आवत बिनहिं बुलाए। तेहि सुख कहँ बहु जतन करत मन समुझत नहिं समुझाए॥ परदारा परद्रोह मोहबस कियो मूढ़ मन भाये। गर्भबास दुखरासि जातना तीव्र बिपति बिसराये॥ भय निद्रा मैथुन अहार सब के समान जग जाये। सुर दुर्लभ तनु धरि न भजे हरि मद अभिमान गँवाये॥ गई न निज पर बुद्धि शुद्ध होइ रहे न राम लय लाये। तुलसिदास बीते यह अवसर का पुनि के पछिताये॥' (२०१)

२—*काजु कहा नरतन धरि सार्‍यो। पर उपकार सार श्रुतिको सो धोखे मैं न बिचार्‍यो॥ द्वैत मूल भय सूल सोक फल भवतरु टरै न टार्‍यो। रामभजन तीक्षन कुठार लै सो नहिं काटि निवार्‍यो॥ संसय सिंधु नाम बोहित भजि निज आत्मा न तार्‍यो। जन्म अनेक बिबेकहीन बहु जोनि भ्रमत नहिं हार्‍यो। देखि आन की सहज संपदा द्वेष अनल मन जार्‍यो। सम दम दया दीनपालन सीतल हिय हरि न सँभार्‍यो॥ प्रभु गुरु पिता सखा रघुपति मैं मन क्रम बचन बिसार्‍यो। तुलसिदास यह आस सरन राखिहि जेहि गीध उधार्‍यो॥' (२०२)*

प० प० प्र०—(पुरजनोपदेशका) विषय और प्रयोजन *'भवभंजन'* है इसमें काल, कर्म और ईश्वर प्रतिबन्धक नहीं हैं। परमार्थमें पुरुषार्थ ही मुख्य साधन है, अन्य अति गौण हैं। प्रपंचमें विषयसुख, देह-सुख-दुःख, योग-वियोग, लाभ-हानि, जीवन-मरणमें प्रारब्ध कर्म ही मुख्य है। *'हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥'* में जो हानि-लाभ कहा है वह प्रापंचिक ऐहिक विषयोंका समझना चाहिये। यह कर्माधीन जन्मानुसार ही मिलेगा।

☞ इस दोहेमें 'ईश्वर' शब्द दिया गया, 'मैं', आदि नहीं। इससे सूचित किया कि भगवान् अभी माधुर्य भावमें हैं। *'देत ईस बिनु हेतु सनेही'* तक यही भाव है पर आगे ऐश्वर्य गुप्त न रख सके।

मा० हं०—लोकशिक्षाका आन्दोलन करनेके लिये ही गोसाईंजीने रामायणकी योजना की। यथार्थमें आन्दोलन करनेवाला केवल ही दैववादी नहीं रह सकता। इसी अनुसार गोसाईंजी भी वैसे नहीं थे, यह बात उन्हींके शब्दोंसे यहाँ स्पष्ट हो रही है—*'साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा॥' 'कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ।'*

परंतु गोसाईंजीका मत व्यावहारिक दृष्टिसे ऐसा भी न था कि दैववाद बिलकुल कुछ है ही नहीं। सब दिशाओंसे प्रयत्न हो चुकनेपर उनका दैववाद आरम्भ होता था। यानी उसपर वे अन्तमें जो भरोसा रखते थे, वह केवल ही ईश्वरी इच्छापर हवाला डालकर समाधानका एक साधन समझके ही, जैसे कि—*'मोरे कहे न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं॥ होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥'*

यहाँ यह न भूलना चाहिये कि ऐसा हवाला डालना भी पौरुषोत्पन्न आत्मविश्वासका ही परिणाम है। बारम्बार यही वाद उपस्थित किया जाता है कि *'हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥'*, ऐसा कहनेसे वसिष्ठजीद्वारा तुलसीदासजी दैवका ही प्राधान्य प्रख्यापित करते हैं। हमारे मतसे यह शंका ही भ्रममूलक है, क्योंकि 'विधि' शब्द दैववाचक भी है और उद्योगवाचक भी है। ऐसे द्व्यर्थी शब्दोंका

जब उपयोग किया जाता है तब प्रतिपाद्यविषयके सम्पूर्ण सन्दर्भसे ही शब्दार्थ निश्चित करना पड़ता है। यहाँ भाषणका प्रयोजन भरतजीसे राज्य करानेका है। इस कारण 'विधि' का अर्थ उद्योगवाचक ही समझना उचित है। योगवासिष्ठके कट्टर उद्योगवादी वसिष्ठजी ऐसे थोड़ेसे कामके लिये दैववादी बन जायँ और हीलाहवाला करें यह सम्भव ही नहीं।

बाबा जयरामदासजी दीन—यहाँ तो कहते हैं कि—*'कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥'* पर इन्हींने तो कैकेयी अम्बाके प्रति दूसरी तरहके वचन कहे थे, यथा—*'पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी।'* ऐसा क्यों? इसका सहज समाधान यह है कि देही (आत्मा) और देह—ये दोनों दो पदार्थ हैं। शरीरके जितने सम्बन्ध और व्यवहार हैं, उनसे काल, कर्म और ईश्वरका सम्बन्ध अवश्य है। कालानुसार, कर्मानुसार और ईश्वरके आज्ञानुसार शरीरको सुख-दुःखका प्रारब्ध भोगना ही पड़ता है, उसमें वह स्वतन्त्र न होकर सर्वथा परतन्त्र है। बस, इसी दृष्टिसे अयोध्याकाण्डमें मनुज अनुहारी सुख-दुःख-भोगविषयक निजकृत कर्मका प्रबोध किया गया है। परंतु यहाँपर यह बात है कि जीवात्माको परलोक साधनके क्रियमाण कर्मोंमें काल, कर्म और ईश्वर बाधा नहीं पहुँचाते। यह जीवका ही अपराध है कि कर्म करनेकी स्वतन्त्रता पाकर भी वह उत्तम कर्म भगवदर्थ नहीं करता और परम लाभसे वञ्चित रह जाता है। इसीको लक्ष्यमें रखकर काल, कर्म और ईश्वरपर उसके द्वारा मिथ्या दोष लगानेकी बात कही गयी। अतएव दोनों ही प्रकारके वचन अपने-अपने स्थानपर सार्थक एवं यथार्थ हैं। इसके अतिरिक्त यह भी देखना चाहिये कि 'विधि' शब्दका अर्थ भरतजीने कैसा किया है। उन्होंने भी उसका अर्थ उद्योगार्थक ही किया है, तभी तो गुरुजीकी परीक्षामें, गुरुजीको ही आश्चर्यचकित करके, वे स्वयं पार निकल गये। इसके अतिरिक्त इस वादका निर्णय बालकाण्डमें इस प्रकार है—*'कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार॥'* इस प्रश्नको लेकर तुरंत ही उसका उत्तर गोसाईंजीने ऐसा दिया है—*'जो तप करइ कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटिं सकहिं त्रिपुरारी॥'* यह सिद्धान्त गहन है। इसी कारण उसमें प्रवेश होनेके लिये यहाँ कुछ आवश्यक बातोंका परिचय कर देते हैं।—(१) 'पौरुष' शब्द ही मानवी शक्तिका बोध दर्शाता है और दैव उस शक्तिकी सुप्तता अथवा ह्रास दर्शाता है। अब बोध यानी चेतन धर्म और सुषुप्ति अथवा ह्रास यानी अचेतनता। परंतु अचेतन चेतनका बाधक नहीं हो सकता यह सिद्धान्त है। फिर दैव उद्योगका बाधक किस प्रकार हो सकेगा?

(२) वादका मूलस्वरूप है—दैवविरुद्ध पौरुष। दैवका अर्थ पूर्व जन्मोंके कर्मोंका (अर्थात् उद्योगका) चेतनधर्मरूप परिपाक है, कारण कहा ही है कि—'**पूर्वजन्मार्जितं कर्म दैवमित्यभिधीयते।**' अब वादका स्वरूप अर्थात् 'पूर्वजन्म-उद्योग-विरुद्ध वर्तमान-जन्म-उद्योग' ऐसा ही हुआ। इस लड़ाईमें जिसका बलाधिक्य होगा वही बली ठहरेगा। फिर दैवहीको प्राधान्य क्यों? *'दैव दैव आलसी पुकारा'*, अर्थात् आलसीका हथियार दैव है। परंतु दैवकी पुकार करनेवालेको भी '**अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिहैव फलमश्नुते**' इस वाक्यपर ध्यान देना ही पड़ेगा। फिर पाप-पुण्य यानी उद्योगपर ही अखीरी हुई।

(३) कहते हैं, और उससे हम सहमत भी हैं कि ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मरूप होनेपर भी उसकी प्रारब्धवशता नहीं छूट सकती। सही है, पर यहाँ बड़ी भारी समझकी भूल होनेका सम्भव है और उससे अवश्य बचना चाहिये। ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मीभूत होनेसे उसे कुछ भी विकार बाधक नहीं हो सकता। प्रारब्धवशता केवल उसके देहमात्रको अर्थात् इससे यही पाया गया कि प्रारब्धकी यानी दैवकी शक्ति केवल पाँच भौतिक जड़पर ही चल सकती है, न कि चेतनपर। तात्पर्य, केवल सांसारिक जड़ सम्बन्धोंपर ही दैव अपनी शक्ति चला सकेगा। उद्योगके विशेषतः पारमार्थिक उद्योगके सामने उसे सिर ही झुकाना पड़ेगा।

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गौ स्वल्प अंत दुखदाई॥ १॥
नर तनु पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥ २॥
ताहि कबहुँ भल कहै न कोई। गुंजा ग्रहै परसमनि खोई॥ ३॥

अर्थ—हे भाई! इस शरीर (के पाने) का फल विषय नहीं है। स्वर्ग (का विषय) (नरशरीर धारण करनेका फल नहीं क्योंकि यह भी तो) अत्यन्त थोड़ा है और अन्तमें दुःख देनेवाला है॥ १॥ जो लोग मनुष्य-शरीर पाकर विषयोंमें मन लगा देते हैं वे मूर्ख अमृतसे बदलकर विष लेते हैं॥ २॥ जो पारसमणि गँवाकर घुँघुचीको ग्रहण करता है उसको कभी कोई भला नहीं कहता॥ ३॥*

खर्रा—'कदाचित् कोई कहे कि नर-शरीरका फल भोग और मोक्ष दोनों कहा गया है। वात्स्यायनादि मुनि इसका खण्डन करते हैं और मीमांसक जैमिनि प्रभृति स्वर्ग फल कहते हैं, सो स्वर्ग भी स्वल्पकालिक है, परमितिकाल है।'

नोट—१ *'एहि तन कर फल·······'* इति। विषय पाँच ही प्रकारके हैं, छठा नहीं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इनसे जन्य जो सुख हैं, वे विषयके सुख हैं। विषयकी प्राप्ति तो पशु-पक्षी आदि सभी योनियोंमें है। इन्द्रियोंका विषय सबको एक ही प्रकारका है। यथा—*'काम क्रोध मद लोभ नींद भय भूख प्यास सबहीके।'* (वि० १७५) शूकर विष्ठा पाकर उतना ही सुखी है जितना मनुष्य मालपूआ, तस्मई, मोहनभोगादि पाकर। अतः यह निश्चय है कि नर-शरीरका फल विषय-भोग नहीं है; यही होता तो शूकर आदि योनियाँ ही क्या बुरी थीं। (पं० रा० व० श०, पं० रा० कु०) भाव यह है कि देहका सम्बन्ध होनेपर प्राणियोंको इन्द्रियजनित सुख तो दुःखकी भाँति अनायास ही सब योनियोंमें मिल जाता है। अतः उसके लिये प्रयत्न नहीं करना चाहिये। यथा—'**सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्। सर्वत्र लभ्यते दैवाद्यथा दुःखमयत्नतः॥ ३॥ तत्प्रयासो न कर्तव्यो यत आयुर्व्ययः परम्।**', उसके लिये प्रयत्न करना आयुको व्यर्थ गँवाना है। (प्रह्लादवाक्य असुरबालकोंके प्रति) (मा० सं०) पुनः *'एहि तन'* का भाव कि अन्य-अन्य शरीरोंका फल विषय (भोग) है क्योंकि उनको इस सुखसे अधिक सुख प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है। पर मनुष्य-शरीर भक्तिका अधिकारी है जो सब सुखोंकी खानि है। (रा० शं० श०)

मिलान कीजिये—'**जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः।**' (भा० ११। २। १०), '**भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते। तस्माद्देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम्॥**' (भा० ११। २५। ३३) अर्थात् इस जीवनका लाभ तत्वजिज्ञासा ही है, इस लोकमें कर्मोंद्वारा प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि फल इसके वास्तविक प्रयोजन नहीं हैं। ज्ञान-विज्ञान होने योग्य नरदेह यदि मिल जाय तो गुणोंकी आसक्ति छोड़कर विद्वान् पुरुषोंको मेरा भजन करना चाहिये।

टिप्पणी—१ *'स्वर्गौ स्वल्प'* इति। भाव कि मृत्युलोकका विषय क्या है? यह तो स्वर्गलोकके विषयके सामने कुछ नहींके बराबर है। सो उस स्वर्गका भी विषय थोड़े ही दिनोंका होता है; अतः वह भी स्वल्प ही है। तात्पर्य कि मनुष्य-शरीरमें स्वर्ग भी विषय प्राप्त हो जाय तो भी नर-शरीरको विषयोंमें न व्यतीत करना चाहिये। विषय अन्तमें दुःखदायी हैं। *'अंत दुखदाई'* का भाव कि प्रथम भोग करनेसे सुखदायी है। पर जब उस पुण्यका भोग हो जाता है तब स्वर्गसे निकाले जानेपर दुःखदायी होता है। पुनः भाव कि विषय-भोगके अन्तमें जन्म-मरणका दुःख होता है। [वाचस्पतिजीने भी कहा है कि स्वर्गरूपी अमृतकुण्डके अवगाहन करनेवालोंको भी दुःखरूप अग्निकणको सहना ही पड़ता है—'**मृस्यन्ते हि दुःखरूप अग्निकणिकां स्वर्गसुधामहाह्रदावगाहिनः।**' (पं० रा० व० श०) राजा ययाति और नहुषतकका पतन हुआ। इन्द्रादि भी असुरोंसे पीड़ित रहते हैं, दूसरोंकी बढ़ती देख उनकी छाती जला करती है, अचल अमरत्व प्राप्त नहीं होता। यथा—*'सरगहु मिटत नसावत।'* (वि० १८५) (रा० प्र०)]

---

* १ रा० प्र०—'नवेति यो यस्य प्रकर्षं स तं सदा निन्दति नात्र चित्रम्।
यथा किराती करिकुम्भलब्धां मुक्तां परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाम्॥'

२ वीर—'नर तनु पाइ बिषय मन देहीं' उपमेयवाक्य है, 'पलटि सुधा बिष लेहीं' उपमान वाक्य है। बिना वाचक-पदके दोनोंमें समता बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव झलकना 'दृष्टान्त अलंकार' है। अमृत देकर विष लेना 'प्रवृत्त अलंकार' है। तत्त्वानुसंधानद्वारा विषयको विष निश्चित करना 'मति संचारी भाव' है।

नोट—२ 'स्वर्गौ स्वल्प' के 'स्वल्प' शब्दसे यहाँ छान्दोग्योपनिषद्के **'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति।'** (अ० ७ खण्ड २३ मन्त्र १) इस मन्त्रका भाव सूचित किया है। अर्थात् जो भूमा (महान्, निरतिशय) है वही सुख है। इससे नीचेके पदार्थ सातिशय (न्यूनाधिक होनेके कारण 'अल्प' हैं, अतः उस) अल्पमें सुख नहीं है। (क्योंकि 'अल्प' तो अधिक तृष्णाका हेतु होता है। और तृष्णा दुःखका बीज है। भूमामें दुःखके बीजभूत तृष्णादिका होना असम्भव है, अतः भूमा ही सुखरूप है) स्वर्ग अल्प है, अतः उसमें सुख कहाँ। यह 'अल्प' से उपक्रम करके दोहा ४६ में *'ताकर सुख सोइ जानै परानंद संदोह'* (रूप भूमा-सुख) से इसका उपसंहार किया है। इस 'भूमा' की व्याख्या छान्दोग्यके अ० ७ खण्ड २४ में की गयी है।

नोट—३ *'एहि तन कर फल''''''''दुखदाई'* में गीता ९। २०-२१ का पूरा भाव है। भाव यह है कि जो वेदान्तप्रतिपाद्य मुझ परमेश्वरको न भजकर, वेदान्तवेद्य मुझको न जानकर, केवल इन्द्रादिके पूजनरूप यज्ञसे बचे हुए सोमरसके पीनेवाले हैं वे स्वर्गादिकी प्राप्तिके विरोधी पापोंसे शुद्ध होकर यज्ञादिद्वारा स्वर्ग-प्राप्तिकी याचना करते हैं, वे पुण्यमय दुःखसे अमिश्रित इन्द्रलोकको पाकर वहाँ देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगते अवश्य हैं, पर वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर उन भोगोंके कारणरूप पुण्यकर्मोंका क्षय होनेपर पुनः मृत्युलोकमें वापस लौट आते हैं। अभिप्राय यह है कि वेदान्तप्रतिपादित ज्ञानसे रहित कमनीय स्वर्गादि भोगोंकी कामनावाले पुरुष त्रिवेदविहित धर्मका आश्रय लेकर अल्प, अनित्य स्वर्गादिको भोगकर बार-बार आवागमनको प्राप्त होते हैं। यथा—**'त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते। ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥ ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥'** श्रीकपिल भगवान्ने भी कहा है कि **'ततस्ते क्षीणसुकृताः पुनर्लोकमिमं सति। पतन्ति विवशा देवैः सद्यो विभ्रंशितोदयाः॥'** (भा० ३। ३२। २१) (अर्थात्) पुण्य क्षीण हो जानेपर देवगण उन्हें ऐश्वर्यभ्रष्ट कर देते हैं और उन्हें विवश होकर तुरंत ही इस लोकमें आना पड़ता है।—विवश होकर पुनः पृथ्वीपर लौटना पड़ता है और अनेक योनियोंमें भ्रमण करना पड़ता है इसीसे *'अंत दुखदाई'* कहा।

मुण्डकोपनिषद्में भी श्रुति भगवती कहती है कि इष्ट (यागादि श्रौतकर्म) और पूर्तकर्मों (वापी-कूप-तड़ागादि स्मार्तकर्म) को ही पुरुषार्थके साधन तथा सर्वश्रेष्ठ माननेवाले अविद्यामें पड़े हुए मूर्ख पुरुष इन्हीं कर्मोंको करके अपनेको कृतार्थ माननेवाले कर्मठ लोगोंको कर्मफलविषयक रागके कारण बुद्धिके अभिभूत हो जानेके कारण तत्त्वका ज्ञान नहीं होता। इसलिये वे आतुर अर्थात् दुःखार्त्त होकर कर्मफल क्षीण हो जानेपर स्वर्गलोकके उच्च स्थानसे इस लोक अथवा इससे निकृष्ट लोकमें (तिर्यङ्नरकादिरूप योनियोंमें) प्रवेश करते हैं। यथा—**'अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः। यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते। इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥'** (मुण्डक० १। २। ९-१०) **'आतुराः'** ही मानसका 'दुखदाई' है।

कैसा दुःख होता है यह मन्त्र ८ में **'जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।'** इस प्रकार बतलाया है। अर्थात् अंधेसे ले जाये जाते हुए अंधे पुरुष जैसे गड्ढे और काँटे आदिमें गिरते रहते हैं वैसे ही ये भी पीड़ा-पर-पीड़ा उठाते रहते हैं।

भा० ११। १४ में भी भगवान्ने कहा है कि धर्म, दान, व्रत आदिको ही जो पुरुषार्थ कहते हैं उनको अपने कर्मानुसार जो लोक प्राप्त होते हैं वे सभी आदि-अन्तवाले हैं, परिणाममें दुःखरूप, तुच्छ आनन्दवाले और शोकसे भरे हुए हैं। यथा—**'केचिद्यज्ञतपोदानं व्रतानि नियमान् यमान्। आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः॥ दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः॥'** (११)

प० पु० भूमिखण्डमें मातलिजीने ययातिसे कहा है कि—स्वर्गमें भी सुख कहाँ है? देवताओंमें भी एक देवताकी सम्पत्ति दूसरेकी अपेक्षा बढ़ी-चढ़ी तो होती ही है, वे अपनेसे ऊपरकी श्रेणीवालोंके बढ़े-

चढ़े हुए वैभवको देख-देखकर जलते हैं। मनुष्य तो स्वर्गमें अपना मूल गँवाते हुए ही पुण्यफलका भी उपयोग करते हैं। जैसे जड़ कट जानेपर वृक्ष विवश होकर पृथ्वीपर गिर पड़ता है, वैसे ही पुण्य क्षीण होनेपर मनुष्य भी स्वर्गसे नीचे आ जाते हैं। इस प्रकार विचारसे देवताओंके स्वर्गलोकमें भी सुख नहीं जान पड़ता। नहुष आदि बड़े-बड़े सम्राट् भी राज्यलक्ष्मीके मदसे उन्मत्त होनेके कारण स्वर्गमें जाकर भी वहाँसे भ्रष्ट हो गये। भला, लक्ष्मीसे किसको सुख मिलता है। यथा—'**प्रायेण श्रीमदालेपान्नहुषाद्या महानृपाः। स्वर्गं प्राप्ता निपातिताः क्व श्रिया विन्दते सुखम्॥**' (६६। १८०) स्वर्गसे लौटनेपर देहधारियोंको मन, वाणी और शरीरसे किये हुए नाना प्रकारके भयंकर पाप भोगने पड़ते हैं। उस समय नरकको अग्निमें उन्हें बड़े भारी कष्ट और दुःखका सामना करना पड़ता है। जो जीव स्थावर योनिमें पड़े हुए हैं; उन्हें भी सब प्रकारके दुःख प्राप्त होते हैं। कभी कुल्हाड़ीसे काटे जाते हैं, कभी छाल निकाली जाती है, कभी हाथी आदि उन्हें समूल नष्ट कर डालते हैं, इत्यादि-इत्यादि। पशुयोनिमें पड़े हुए जीव डंडोंसे पीटे जायँ, चाबुकसे मारे जायँ, कसाइयोंद्वारा काटे जायँ, बाँधे जायँ, इत्यादि, दुःख पशु-शरीरमें भोगने पड़ते हैं। अध्याय ९४ में जैमिनीजीने सुबाहु राजाके पूछनेपर स्वर्गके गुण बताते हुए कहा कि वहाँ किसीको रोग, बुढ़ापा, मृत्यु, शोक, जाड़ा, गर्मी, भूख, प्यास, ग्लानि नहीं सताती, इत्यादि बहुत-से गुण हैं। वहाँका सबसे बड़ा दोष यह बताया है कि दूसरोंकी बढ़ी हुई सम्पत्ति देखकर असंतोष होता है और सहसा पतन होता है। स्वर्ग भोगभूमि है और मर्त्यलोक कर्मभूमि है। उपर्युक्त सब भाव इस अर्धालीमें आ गये।

२ विषयभोगसे कोई तृप्त नहीं होता—इस सम्बन्धमें महाभारतके आदिपर्व अध्याय ७५ में ययातिका इस प्रकार उपाख्यान है।—अपने पुत्र पुरुसे यौवन लेकर ययाति सहस्र वर्षतक विषयभोग करते रहे, अन्तमें विश्वाचीके साथ कुबेरकी फुलवाड़ीमें खेलने लगे। महायश ययाति ऐसा करके भी भोगसे तृप्त नहीं हुए; यह समझकर उन महात्माने यह कविता पढ़ी, कि 'जिस प्रकार आगमें घृत छोड़नेसे आग न बुझकर बढ़ती ही जाती है, उसी प्रकार कामकी वस्तुओंके भोगसे काम निवृत्त न होकर बढ़ जाया ही करता है। रत्नोंसे भरी-पूरी पृथ्वी, स्वर्ण, पशु और स्त्री यह सब वस्तु एक मनुष्यके भोगमें आनेसे भी उससे पूरी-पूरी तृप्ति नहीं हो सकती, यह समझकर शान्तिका आश्रय लेना ही उचित है। जब कोई जन कामना भरनेके लिये कर्म, मन और वाक्यसे प्राणीपर कदापि पापाचरण नहीं करते हैं, तभी वह ब्रह्मको प्राप्त करते हैं। जब कोई जन किसी प्रकारसे भय नहीं खाते और उनसे कोई भय प्राप्त नहीं करता तथा वह किसी कामकी वस्तुपर अभिलाषा और किसीका द्वेष नहीं करते, तभी वह ब्रह्मको प्राप्त करते हैं।' महाप्राज्ञ ययातिने इस प्रकार कामकी तुच्छताका विचारकर बुद्धिसे मनको ठीककर पुत्रसे फिर अपना बुढ़ापा ले लिया।—(शरच्चन्द्रसोमकी टीकासे)

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि शुक्रकन्या देवयानीके साथ एक सहस्र वर्षतक इन्द्रियों और मनके द्वारा भोग-विलास करते हुए भी तृप्त न हुए, तब अपना पतन समझकर उन्हें वैराग्य हुआ और उन्होंने एक बकरा और कुएँसे निकली हुई बकरीकी कथा देवयानीसे कहकर अन्तमें कहा कि इसी तरह तेरी मायासे मोहित मैं अपने स्वरूपको भूल गया। इत्यादि। आगे प्रायः वही श्लोक हैं जिनका भावार्थ हिंदी महाभारतके उद्धरणमें आ गया। यथा—'**यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥ न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥**' (भा० ९। १९। १३-१४)

गोस्वामीजीने भी कहा है—'*बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घीते।*' (वि० १९८)

३—'*नर तन पाइ बिषय मन देहीं*' कहकर जनाया कि विषयोंमें मनको न लगाना चाहिये। उनमें मन लगाना वैसा ही है जैसे सुधा देकर विष ले ले, इत्यादि। भाव यह है जो भगवद्भक्तिसे प्राप्त होता है वह सुख विषयोंसे कदापि नहीं मिल सकता। यथा—'**न तथा विन्दते क्षेमं मुकुन्दं चरणाम्बुजम्।**' (भा० ७। ६। ४) विषय-सुख अनित्य है, संसारमें डालनेवाला है, भक्तिसुख नित्य है, आवागमन छुड़ाकर भगवत्प्राप्ति करानेवाला है।

☞ मिलान कीजिये—*'रामसे प्रीतमकी प्रीति रहित जीव जाय जियत। जेहि सुख सुख मानि लेत सुख सो समुझि कियत॥ जहँ जहँ जेहि जोनि जनम महि पताल बियत। तहँ तहँ तू बिषय सुखहि चहत, लहत नियत॥ कत बिमोह लट्यो फट्यो गगन मगन सियत। तुलसी प्रभु सुजस गाइ क्यों न सुधा पियत॥'* (वि० १३२), *'बिषय सुखद भार सिर को काँधे ज्यों बहत। योंहि जिय जानि मानि सठ तू साँसति सहत॥'* (वि० १३३), *'राम सनेही सो तैं न सनेह कियो अगम जो अमरनि हूँ सो तनु तोहि दियो॥ दियो सुकुल जन्म सरीर सुंदर हेतु जो फल चारिको। जो पाइ पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारिको॥ यहु भरतखंड, समीप सुरसरि थल भलो संगति भली। तेरी कुमति कायर कल्पबल्ली चहति बिषफल फली॥'* (वि० १३५), *'काहेको फिरत मूढ़ मन धायो। तजि हरिचरनसरोज सुधारसु रबिकर जल लय लायो॥ त्रिजग देव नर असुर अपर जग जोनि सकल भ्रमि आयो।'''''''अजहुँ बिषय कहँ जतन करत जद्यपि बहु बिधि डहकायो। पावक काम भोग-घृत में सठ कैसे परत बुझायो॥ बिषयहीन दुख मिले बिपति अति सुख सपनेहु नहिं पायो। उभय प्रकार प्रेतपावक ज्यों धन दुखप्रद श्रुति गायो॥ छिन छिन छीन होत जीवन दुर्लभ तनु बृथा गँवायो। तुलसिदास हरि भजहि आस तजि काल उरग जग खायो॥'* (वि० १९९) तथा पद २०१-२०२ जो पूर्व उद्धृत किये गये हैं—इनसे इन अर्धालियोंके भाव स्पष्ट हो जाते हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं'* इति। यहाँ सुधा रामभक्ति है जो जन्म-मरण छुड़ानेवाली है और विष विषय है जो जन्म-जन्म मारनेवाला है—*'तुलसिदास हरिनाम सुधा तजि सठ पियत बिषय बिष माँगी।'* (वि० १४०) (ख) *'ते सठ'* का भाव कि मूर्ख छोड़ ऐसा कोई न करेगा कि अमृतको देकर उसके बदलेमें विष ले।

३ (क) *'गुंजा ग्रहै परसमनि खोई'* इति। विषय घुँघुची है, उसके सेवनसे घुँघुचीकी तरह मुँह काला होता है। भक्ति पारस है, सब मनोरथोंकी देनेवाली है। भक्तिका त्याग पारसका खो देना है।

(ख) ☞ यहाँ भक्ति और विषय-सेवनका प्रभाव प्रकट दिखाते हैं—विषय-सेवन करनेवालेकी सब निन्दा और भक्ति करनेवालेकी प्रशंसा करते हैं। (ग) *'कबहुँ भल कहै न कोई'* इति। कोई भी भला नहीं कहता अर्थात् विषय-भोग करते समय एवं भोगनेके उपरान्त भी वे भले नहीं कहे जाते। *'कोई'* अर्थात् किसी मतका अवलम्बी क्यों न हो, सभी मतोंवाले भला नहीं कहते। ४ ☞ यहाँ विषयसेवनसे बड़ी हानि दिखाते हैं—(क) *'पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं'*—विष लेनेसे प्राणकी हानि दिखायी। (ख), *'गुंजा ग्रहै परसमनि खोई'*—पारस खोनेसे मालकी हानि दिखायी। अर्थात् जान और माल दोनोंकी हानि हुई। विषयभोगसे जन्म व्यर्थ हो जाना जानकी हानि है और भक्तिकी हानि होना मालकी हानि है। [पुनः भाव कि जैसे कोई गुंजाकी ऊपरकी सुन्दरता देख पारसके बराबर तोलकर ले ले, वैसे ही ये दुर्लभ जन्म गँवाकर कामादिकको सुन्दर जानकर अंगीकार कर लेते हैं। (पं०) भक्ति पारस है। वह कुधातुको सुधातु करता है, यह दुराचारीको साधु बना देती है। यथा—**'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा।'** (गीता ९। ३०-३१) गुंजा देखनेमात्रका सुन्दर वैसे ही विषय-सुख देखनेमात्रके सुहावन हैं। (वै०)]

गौड़जी—१ पहिले कह चुके कि शरीर साधनधाम है और इसका फल या साध्य मोक्ष है अथवा परलोकका सँवारना है। जिसने न किया वह पछताता है। जो यह कहो कि 'साध्य विषय है और स्वर्ग है' तो कहते हैं कि साध्य विषय नहीं है और किसी साधनसे स्वर्ग मिले भी तो उसका भोग भी बहुत थोड़ा है और अन्तमें उसका परिणाम दुःख ही है। जिन लोगोंने ययातिकी तरह मनमाने कालतक विषयभोग किया है वे इसके गवाह हैं। यदि कहो कि वासना प्रबल है, मन नहीं मानता, तो मनपर अंकुश रखनेकी आवश्यकता है, अंकुश न रखे और मन विषयमें लगावे तो कहना चाहिये कि वह परलोक-सुधाररूपी सुधा छोड़कर विषयरूपी विष ग्रहण कर लेता है। जो पारसको छोड़कर घुँघुची ग्रहण कर ले अर्थात् नरदेहको साधु-सरीखा स्पर्शमणि न बनाकर विषयसे मुँह काला करता है और अपनेको गुंजाकी तरह जलील बना लेता है, ऐसे मनुष्यको कोई भला नहीं कहता।

यहाँ पहिले सुधा और विषकी उपमा दी फिर पारस और गुंजाकी। सुधा और विष पान करनेवालेको ही लाभ या हानि पहुँचाते हैं, मोक्ष वा बन्धन इसी तरह व्यक्तिपर ही अपना प्रभाव डालते हैं। परलोक सँवारनेमें अपनेको और दूसरेको भी सँवारनेका भाव है। साधुजन अपनेको भी सँवारते हैं और दूसरोंको भी। पारस तो सोनेसे ज्यादा मूल्यका स्वयं है और कुधातुओंको सोना बना देता है, उसी तरह साधुजन आप अपना सुधार करते हैं और दूसरोंको भी सुधार देते हैं। वह अनमोल हैं और दूसरोंको अतुलित मूल्यका बना देते हैं। विषयभोगमें फँसे असाधु गुंजाकी तरह अपनी कोई कीमत नहीं रखते और दूसरे जो उनकी तुलनामें आते हैं उनकी कीमत भी सीमित हो जाती है। ऐसोंको कोई भी भला न कहेगा।

रा० शं० श०—*'नर तन पाइ·······।'* एक चौपाईमें सुधाकी उपमा दी, दूसरीमें पारसकी। इससे यह दिखाया कि सुधासे शरीरकी तुष्टि-पुष्टि होती है, यथा—*'स्वाद तोष सम सुगति सुधा के'* और पारसमणिसे शरीरके उपयोगी पदार्थोंकी सुलभता और शोभा होती है, इसी तरह भजनसे शरीर और आत्मा दोनोंको सुख-संतोष और इस सुख-संतोषकी सामग्री प्राप्त होती है, विषयसे इन दोनोंकी हानि है।

बाबा जयरामदास दीन—प्रयोजन तो एक ही उपमासे सिद्ध हो सकता था, दो उपमाएँ क्यों दीं? उत्तर—इसमें भी गूढ़ रहस्य है। यह उपदेश जीवमात्रके लिये हो रहा है और मानवसमाजमें समीचीन मार्ग सदासे दो श्रेणियोंमें विभक्त है—एक गृहस्थ-समाजका प्रवृत्तिमार्ग, दूसरा विरक्त-समाजका निवृत्तिमार्ग। इस समाजमें दोनों ही समाज विराजमान हैं। *'पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं'* यह प्रवृत्तिमार्गियोंके लिये कहा गया है और *'नर तन पाइ बिषय मन देहीं'* से यह स्पष्ट किया जा रहा है कि प्रवृत्तिमार्गपर चलते हुए लोगोंके लिये स्वरूपसे कर्मोंका त्याग करना उचित नहीं है तथा असम्भव-सा भी है। अतः केवल मनसे ही उनका त्याग करना चाहिये, जो सम्भव भी है। तात्पर्य कि प्रवृत्तिमार्गी गृहस्थाश्रमियोंको दृढ़ निष्ठाके साथ यह निश्चय कर रखना चाहिये कि हम, हमारा सारा परिवार, धन, जन आदि सब कुछ, यहाँतक कि यह सम्पूर्ण जगत् भगवान्‌का ही है और हम भगवान्‌की आज्ञासे यहाँ सबके साथ उचित व्यवहार करनेके लिये मैनेजर या सेवक नियुक्त किये गये हैं। जिस प्रकार हमारे पूर्वज अपनी-अपनी आयु पूरी करके चले गये, वैसे ही हम भी अपना पहरा पूरा करके इनसे अलग हो जायँगे। इसलिये कोई भी हमारे नहीं हैं, सब भगवान्‌के हैं।

अस्तु, श्रीरघुनाथजी महाराजका यही कहना हो रहा है कि जो प्रवृत्तिमार्गी उपर्युक्त भावानुसार कुछ भी अपना न मानकर तथा अपने मनको भगवान्‌में लगाकर निष्कामभावसे भगवदर्पणबुद्धिसे व्यवहार करता है, वह मानो अमृतप्राप्त मनुष्य देहीके सुयोगको सफल बनाकर अमृतत्वरूप मोक्षकी प्राप्तिका अधिकारी होता है। परंतु जो इस भावके प्रतिकूल आचरण करते हैं, सबको अपना मानकर अपनेको सबका कर्ता-भोक्ता निश्चित करके विषयासक्त मनसे विषयोंमें ही रमे रहते हैं, वे शठ हैं, तथा अमृतरूप नरतनके सुयोगको नष्ट करके विषयरूपी विषको ग्रहण कर रहे हैं।

'गुंजा ग्रहै परसमनि खोई' यह उपमा निवृत्तिमार्गियोंके लिये है, जिन्होंने **'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'** सूत्रानुसार पूर्वमीमांसादि समस्त कर्मोंका स्वरूपतः त्याग करके संन्यास ले लिया है अर्थात् जो चतुर्थाश्रममें प्रविष्ट होकर काषायवेष धारण कर चुके हैं, वे जिस कर्मका न्यास कर चुके हैं यदि उन्हींमें वे पुनः प्रवृत्त होते हैं तो मानो वे पारसमणिको फेंककर गुंजा ग्रहण कर रहे हैं। देखिये इस उपमामें *'ग्रहइ'* शब्दका प्रयोग करके कर्मेन्द्रिय (हाथ) की ही क्रिया 'ग्रहण' द्वारा संन्यासियोंके कर्मको लक्षित कराया गया है।

एक बात और भी नोट करने योग्य है। प्रवृत्तिमार्गियोंकी चूकपर उन्हें 'शठ' कहा गया है, परन्तु विरक्त-वेषकी मर्यादा रखनेके लिये उनकी बड़ी चूकपर भी ऐसी कोई बात नहीं कही गयी, बल्कि बड़े नम्र शब्दोंमें इतना ही कहा गया कि उनको कोई भला न कहेगा।

आकर चारि लच्छ* चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥ ४॥

* लक्ष—भा० दा०। लच्छ—का०। प्राचीन पोथियोंमें 'च्छ' की जगह प्रायः सर्वत्र 'छ' है।

फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥५॥
कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥६॥

अर्थ—चारि खानि और ८४ लक्ष योनियोंमें यह अविनाशी जीव चक्कर खाता रहता है॥ ४॥ मायाकी प्रेरणासे काल, कर्म, गुण और स्वभावसे घेरा (उनके घेरेमें पड़ा) हुआ सदा फिरता रहता है॥ ५॥ ईश्वर कभी करुणा करके मनुष्य-शरीर दे देते हैं; क्योंकि वे बिना कारण ही स्नेह करनेवाले हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'आकर चारि लच्छ चौरासी·······'* इति। (क) जीवोंके उत्पन्न होनेकी खानि चार हैं—अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज और जरायुज। '**अण्डजाः पक्षिसर्पाद्याः स्वेदजा मसकादयः। उद्भिज्जा वृक्षगुल्माद्या मानुषाद्या जरायुजाः॥**' (प० पु० शिवगीता) विशेष *'आकर चारि लाख चौरासी।·······'* (१। ८। १) में देखिये। (ख) *'यह जिव'* अर्थात् जो सुधा त्यागकर विष लेता है और पारस खोकर गुंजा लेता है वह ८४ लक्ष योनियोंमें भटकता फिरता है। (ग) *'जिव अबिनासी'* इति। भाव कि जीव अविनाशी है। शरीरका नाश होता है पर शरीरके जन्म और विनाशका क्लेश जीवको होता है, यथा—*'जनमत मरत दुसह दुख होई।'* (१०९। ७)

२ (क) *'फिरत सदा माया कर प्रेरा'* इति। तात्पर्य कि काल, कर्म, गुण, स्वभाव और माया ही सब जीवोंसे निकम्मे काम कराते हैं—दोहा २१ देखिये। इसीसे जीव ८४ लक्ष योनियोंमें पड़ता है। [यथा—*'तव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अग जग हरे। भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥'* (१३ छन्द २ वेदस्तुति) पुनः *'काल कर्म·······घेरा'* का भाव कि ये मायाके सिपाही हैं, जीवको अपने घेरेमें रखे हैं। (रा० प्र०)]

पं०—*'कबहुँक करि करुना'* इति।—'कभी कृपा करके', इस कथनसे यह न समझना कि ईश्वर करुणारहित हैं; क्योंकि उपासकोंकी रीति है कि जब अपना शुभ होता है तब वे उसे ईश्वरकी ही कृपा समझते हैं, यथा—*'गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा·······।'* वैसे ही यहाँ कहते हैं।

नोट—१ *'कबहुँक'* से यह जनाया कि करुणा आनेपर नरशरीर देते हैं, यह जरूरी नहीं है कि अमुक किसी खास योनिपर पहुँचनेपर ही नरशरीर देते हों। करुणा कब हो जाय यह निश्चय नहीं। चौरासी भोगके बीचहीमें कृपा कर देते हैं। तात्पर्य यह है कि जीव अपने कर्मसे कभी मनुष्य-शरीर पानेका अधिकारी नहीं हो सकता, यथा पञ्चरात्रे—'**जीवे दुःखाकुले तस्य कृपा काप्युपजायते**' अर्थात् जीवको व्याकुल देखकर ईश्वर कृपा करके कभी मनुष्य-शरीर दे देते हैं।

२ गीता ९। ४-५ में जो भगवान्‌ने कहा है कि 'सारे भूत मुझमें स्थित हैं और मैं उनमें स्थित नहीं हूँ। मैं भूतोंका धारण करनेवाला हूँ पर भूतोंमें स्थित नहीं हूँ, मेरा मन भूतभावन है।' यथा—'**मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥·······भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥**' उसका अभिप्राय भी यही है कि मेरी स्थितिमें उनके द्वारा कोई उपकार नहीं है। मैं सब भूतोंका धारण-पोषण करनेवाला हूँ, उनसे मेरा कुछ भी उपकार नहीं है। मेरा मनोमय संकल्प ही भूतोंको उत्पन्न, धारण और नियमन करनेवाला है।—जीव कोई उपकार कर नहीं सकता, वह तो नियाम्य है, अतः भगवान्‌को *'बिनु हेतु सनेही'* कहा। *'बिनु हेतु सनेही',* यथा—*'एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपालु'* (वि० १९१), *'बिनु हेतु करुनाकर उदार अपार माया तारनं।'* (वि० १३६), *'बिनु हेतु हित नहिं तैं लखा।'* (वि० १३५), *'सहज सनेही राम सों तैं कियो न सहज सनेहु।'* (वि० १९०), *'रामु प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सब ही के॥'* (२। ७४। ६)

वि० त्रि०—अन्य शरीरोंसे काल-कर्म-स्वभाव गुणके घेराका टूटना सम्भव नहीं, क्योंकि अन्य शरीरोंसे केवल पाप-पुण्यका भोगमात्र होता है, उससे भव-संतरण नहीं हो सकता। अनन्तराशि संचित कर्मोंकी पड़ी हुई है, अनन्तकालतक भोगते रहनेपर भी समाप्त होनेकी नहीं और नर-शरीरसे अन्यमें किसी पुरुषार्थका सामर्थ्य नहीं, अतः सरकारके छोह बिना निस्तारका उपायान्तर नहीं। (यथा—*'नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरै तुम्हारेइ छोहा॥'*) वे ही निष्कारण कृपा करनेवाले यदि छोह करके नर-शरीर दें, तो पुरुषार्थ

करनेका सुअवसर मिले। भावार्थ यह कि जिन्हें नरशरीर प्राप्त हो गया, उनपर समझना चाहिये कि सरकारकी कृपा हो गयी, वे इस अवसरको न चूकें, तुरंत पुरुषार्थमें दत्तचित्त हों।

नोट—*'बिनु हेतु सनेही'*, यथा—*'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'* इस कथनका भाव यह है कि ऐसा न होता तो ८४ में भ्रमण करते समय इससे कौन सुकृत बन पड़ा, जिससे भगवान्ने मनुष्य-शरीर दिया (पं० रा० कु०)। (*'बिनु हेतु सनेही'* अर्थात् ये *'स्वारथरहित सखा सब ही के'* हैं, और सब लोग स्वार्थ रखकर स्नेह करते हैं। (रा० प्र०)]

यहाँ जीव, माया और ईश्वर तीनोंको कहनेसे विशिष्टाद्वैत सिद्ध हुआ *'जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी'*, यहाँ जीव कहा। *'फिरत सदा माया कर प्रेरा'* यहाँ माया कही। और *'देत ईस बिनु हेतु सनेही'* यहाँ ईश्वर कहा।

गौड़जी—*'आकर चारि लच्छ चौरासी।''''''''सनेही'* इति।—अब यहाँसे नरदेहीका महत्त्व दिखाते हैं कि क्यों यह देही साधन-धाम है और इसे सुधा और स्पर्शमणि क्यों समझें। हिंदूशास्त्रोंमें ह्रास और विकास दोनों ही साथ-साथ चलते हैं। उद्भिज्जसे स्वेदज, स्वेदजसे अण्डज और अण्डजसे जरायुजका विकास होता है। जरायुजका सबसे अधिक विकसित प्राणी मनुष्य है। मनुष्यसे भी अधिक विकास करके देव, ऋषि आदि योनियोंमें जीव पहुँच जाता है पर ये न तो चार आकरोंमें हैं न ८४ लक्षमें। यह अविनाशी जीव चार खानियोंमें होकर ८४ लक्ष योनियोंमें विचरण करता है। यह कैसे और कितने दिनोंमें विचरण करता है यह बात व्यक्त करनेके लिये *'कबहुँक'* शब्द दिया है। अनन्तकोटि विश्व है और प्रत्येक विश्वमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्डमें संख्यातीत शरीर हैं और प्रत्येक शरीरमें संख्यातीत जीवाणु हैं। सृष्टिमें चराचरमें दो-दो विभाग हैं, जड़ और चैतन्य। जीवनके हिसाबसे जड़ अव्यक्त है और चेतन व्यक्त है। व्यक्त-चेतनमें जो चार आकर बताये गये हैं उनमें सब मिलाकर ८४ लाख जातिकी योनियाँ हैं। प्रत्येक योनिमें संख्यातीत प्राणी हो सकते हैं। इस तरह प्रत्येक क्षणमें किसी विश्वके किसी ब्रह्माण्डमें किसी पिण्डका महाप्रलय होता रहता है। किसी ब्रह्माण्डका अंत होता रहता है, किसी विश्वका जन्म होता है, किसी नये ब्रह्माण्डकी रचना होती रहती है, ८४ लाखका चक्कर एक पृथिवीके लिये ही बड़ा विशाल चक्कर है। जड़ खनिजसे जीवका विकास बहुत कालमें होता है तब कहीं आदिम जीवाणुका रूप प्रकट होता है। वैज्ञानिकोंका अनुमान है कि इसमें एक अरब वर्ष लगता है। और प्रथम जीवाणुकी उत्पत्ति और विकाससे लेकर मनुष्ययोनिके विकासतक १$\frac{३}{४}$ अरब वर्षके लगभग लगते हैं। वैदिक काल परिमाणसे जब कि नर-सृष्टिका प्रारम्भ हुआ अर्थात् स्वायम्भू मनुसे अबतक एक अरब ९८ करोड़ वर्षोंसे भी अधिक होते हैं, यह तो इस पृथ्वीका क्रम है। और ब्रह्माण्डोंमें इससे अधिक या कम समय भी लग सकता है, अभी यह सातवाँ मन्वन्तर है अर्थात् कल्पका आधा भी नहीं गुजर पाया है। अब सोचना चाहिये कि जीव ८४ लक्ष योनियोंमें घूमता हुआ जो नरदेहीमें आया है तो कम-से-कम १$\frac{३}{४}$ अरब वर्षोंमें पहुँचा है, यदि अपने बुरे कर्मोंसे इसका पतन हो जाय और आसुरी सम्पदाके कारण **'क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु'** आसुरी योनियोंमें होते हुए फिर पौधोंमें पहुँचते-पहुँचते दो अरब वर्ष लगे तो कुल चार अरब वर्षोंका चक्कर हो गया। कल्पान्त भी लगभग इतने ही समयमें होता है। अत: ऐसे पतितका फिर कल्पादिमें विकास आरम्भ हो तो नरदेहीतक पहुँचते-पहुँचते और सवा अरब वर्षतक लग सकते हैं। इस तरह यदि कोई ऐसी अध:पतनवाली चूक कर गया तो ५ अरब वर्षोंके लिये पाँच अरब वर्षोंका चक्कर और भी लम्बा हो सकता है। काल, कर्म, गुण और स्वभाव बीच-बीचमें उसके उत्थानमें रुकावट डाल सकते हैं। मान लें कि जीव ठीक उस समय पशुयोनिमें वनस्पतिमें पतित हो रहा है और उसी समय युगान्त वा मन्वन्तरान्तकी प्रलय हो गयी, जो जबतक संध्याकाल है तबतक वह उसी पतनकी अवस्थामें तमोगुणी प्रकृतिके गर्भमें पड़ा सोता रहेगा। इस तरह उसके पतनका काल बहुत लम्बा हो गया, क्योंकि विकासका आरम्भ तो सृष्टिके आदिमें ही हुआ करता है। यह कालद्वारा घेरे जानेका उदाहरण हुआ।

प्रारब्ध कर्म सभी योनियोंमें चलता है और वही निमित्त वा परिस्थितिकी रचना करता है। किसी पौधेको परिस्थिति ऐसे थलमें ले गयी जहाँ वह दीर्घजीवी हो गया और बहुत कालतक पौधेकी ही एक-एक योनिमें विचरता रहा। कर्मने उसके विकासके वेगको अत्यन्त शिथिल कर दिया। अथवा, परिस्थितिने उसे कम विकसित योनियोंमें डाल दिया। इस तरह कर्मसे घिरकर चक्कर खाता रहा।

स्वभाव भी जीवको आगे बढ़नेमें बाधा पहुँचाता है। अनेक योनियाँ इस तरहकी हैं जो काल और परिस्थितिको देखकर शरीरको सुषुप्त अथवा स्तब्ध अवस्थामें हजारों वर्षतक सुरक्षित रखती हैं और फिर जब शरीरका नाश होता है तब भी अनेक योनियाँ ऐसी हैं कि दूसरे शरीर तुरंत ही रचकर संततिकी रक्षा करती हैं। इस तरह जीवको प्रकृति या स्वभावके चक्करमें फँसे रहना होता है।

गुण तीन हैं—'सत्त्व, रज और तम। नीचेकी योनियोंमें तमोगुणकी प्रधानता है। इसलिये नीचेकी योनियोंमें एक तरहका स्थानत्व है जिससे कि अवस्थाके परिवर्तनकी ओर प्रवृत्ति नहीं होती। प्रमाद, आलस्य, निद्रा सभी तमोगुण हैं। गतिका अभाव तमोगुणकी प्रधानता है, इसीलिये वनस्पतियोंकी योनितक विकासमें बहुत काल लगता है। आज भी एक-एक पेड़ चार-चार, पाँच-पाँच हजार वर्षके मौजूद हैं। इस तरह गुणोंसे घिरकर भी जीवका विकास रुक जाता है। सत्त्वगुणको ही लीजिये। सत्त्वकी प्रधानतासे कोई इन्द्रपदतक पहुँचा और उसे इस पदपर ७१ हजार चतुर्युगीसे अधिक रहना पड़ा। सत्त्वगुणके कारण उसको मानव-शरीर मिलनेमें एक मन्वन्तरकी देरी हो गयी। इन्द्रपद पाकर भी पतन होनेके कारण नहुष कहाँ-से-कहाँ जा गिरे! और, उनके विकासमें कितनी रुकावटें हो गयीं! काल, कर्म, स्वभाव और गुण, इन चारोंके द्वारा माया जीवको चक्करमें घुमाती रहती है और इस चक्करसे छुटकारा पाना असम्भव-सा दीखता है। इसी भयसे आश्वासन देनेके लिये भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं—'**न मे भक्तः प्रणश्यति**', '**मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि भारत**' इत्यादि। पशुयोनिसे मनुष्ययोनितक आनेका रास्ता अत्यन्त लम्बा है, और दूसरी योनियोंकी अपेक्षा बहुत समय लेता है। आधुनिक विकासवादके अनुसार तो इस ऊँचाईतक पहुँचनेके लिये इसके बिलकुल पासकी दो-तीन सीढ़ियाँ टूटी हुई हैं। यदि भगवदनुग्रह हो तभी इस व्यवधानको पार करके मनुष्यपदकी ऊँचाईपर जीव पशुयोनिसे पहुँच सकता है—यही भगवत्की करुणा है। जीवने कभी भूलसे भी भगवान्का स्मरण किया है, या उसे सौभाग्यसे किसी हरिजनका एक क्षणमात्रका भी सत्सङ्ग मिल गया है अथवा परमार्थ कोटिका अत्यन्त अल्प भी पुण्य उसके खाते लिख गया है जिससे कि भगवान्की करुणाका, कृपाका सम्बन्ध हो चुका है तो उस पुण्यकर्मके कर्मोंके मिट जानेपर भी भगवत्करुणा उसे बीचमें ही उबार लेती है। यद्यपि वह इस समय जड़ता और नास्तिकतामें शराबोर है और कृपा या करुणाका कदापि पात्र हो नहीं सकता। बात यह होती है कि जीव अधोगतिसे घबड़ा उठता है और प्रकृतिके कठोर नियमके कारण अपने उद्धारके लिये कोई उपाय नहीं कर सकता। इस आत्यन्तिक विकलताके समय करुणाकरका आसन डोल जाता है और जिसके अपकर्मोंपर लगातार अधःपतन कराया गया है उसकी अति विकलतापर दयार्द्र हो सारी विघ्न-बाधाओंको दूरकर पशु और मनुष्ययोनिके बीचकी भयंकर खाईको डकाकर भगवान् मनुष्ययोनिमें जन्म दे देते हैं। *'बिनु हेतु सनेही'* इसीलिये कहा कि जीव बराबर भगवान्से विमुख रहा है, अतः स्नेह करनेका कोई हेतु नहीं था। यहाँ *'ईस'* कहा। तात्पर्य यह कि यह करुणा भगवान् शंकरकी ओरसे होती है, उन्हींमें यह सामर्थ्य है कि गर्हित-से-गर्हित कर्म किये हुए जीवका अकारण ही उद्धार कर दें। जब भगवान्की ओरसे नरदेह-ऐसा रत्न अहेतुक स्नेहपूर्वक मिल जाय तो उसे क्या करना चाहिये, यह आगे चलकर कहेंगे।

नोट—☞ *'बिनु हेतु सनेही'* इति। जो मनुष्य अपनी स्वाभाविक दुर्बलताके कारण भगवान्के आदर्शपथपर अग्रसर होनेमें असमर्थ हैं, उन नैराश्यके दलदलमें फँसे हुए जीवोंके लिये इन पदोंसे आश्वासनकी सफल अभिव्यंजना हो रही है। *'नर तनु भव.........'* में भगवान् कहते हैं कि यदि नरशरीररूपी जहाजसे यह जीव संसारसागर पार जाना चाहे तो मेरी कृपा अनुकूल पवन होगी। इन शब्दोंमें कैसे उच्च औदार्यका

भाव छिपा है। भगवान्‌का अभिप्राय है कि जीव यदि अपने कर्तव्यको समझे और उसका उपयोग करे तो उसे मेरी अनुकम्पा अनायास प्राप्त हो जायगी, उसके लिये जीवको प्रयत्न करनेकी जरूरत ही नहीं पड़ेगी। यदि ऐसे दुर्लभ साजको पाकर भी वह असफल ही रहेगा तो आत्महत्याके पापका फल भोग करेगा। इस तरह भविष्यके दुष्परिणामकी चेतावनी देकर मनुष्योंको अपने कर्तव्यकी ओर चल पड़नेकी स्फुट शिक्षा दी जा रही है (पं० श्रीहरिवक्षजी सम्पादक 'जीवन-विज्ञान')।

नरतनु भवबारिधि कहुँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥ ७॥
करनधार सदगुर दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥ ८॥

शब्दार्थ—**बेरो**=बेड़ा। **सन्मुख**=अनुकूल, यथा—'**मयानुकूलेन नभस्वतेरितम्**।'(भा० ११। २०) **करनधार**=कर्ण (पतवार जो नावके सिरेपर जलमें लटकाया रहता है। इसीको घुमा-घुमाकर केवट जिधर ले जाना चाहते हैं उधर नावको ले जाते हैं)। **धार** (धारण करनेवाला)=केवट, मल्लाह। **साज**=सामग्री।

अर्थ—नर-शरीर (चाहे जिस वर्णका भी हो) भवसागरके लिये बेड़ा है। मेरी कृपा सन्मुख पवन है॥ ७॥ सद्‌गुरु दृढ़ नावका कर्णधार है। सब दुर्लभ सामान (सामग्री) सुगमतासे पा गया॥ ८॥

वै०—'***भवबारिधि कहुँ बेरो***' इति। साखू-शीशमादिके लट्ठोंको जब नदीद्वारा देशान्तरमें ले जाना होता है तब पचीस-तीस लट्ठे मिलाकर रखते हैं, फिर उनपर चार, पाँच लकड़ियाँ बेड़ी-बेड़ी रखकर सबको एकहीमें रस्सोंसे बाँधकर उसपर बाँसके ठाट धर देते हैं। इसीको बेड़ा कहते हैं। यह किसी भी विघ्नसे डूबता नहीं। नरतनमें यह सब क्या है? श्रवण-कीर्तन, तीर्थ-व्रत आदि सत्कर्म लट्ठे हैं। बुद्धि, विचार, धैर्य, दया, धर्मादि रस्से हैं। दुःख-सुखका ज्ञान बाँसोंका ठाट है। संसार सागर है। जीव नरतनरूपी बेड़ेपर बैठा हुआ मनोरथरूपी जलके वेगमें बहा जाता है। जो जीव किनारे लगना चाहे तो श्रद्धारूप वरदवान चढ़ावे तो मेरा अनुग्रहरूप सम्मुख पवन उस बहते हुए बेड़ेको फेर देगा।

टिप्पणी—१ '*सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो।*.........' इति। मनुष्य-शरीरको बेड़ा अर्थात् घरनई कहा, पर समुद्रमें बेड़ा नहीं चलता। इसी तरह नर-शरीरमात्रसे भवपार नहीं होता, उसके लिये अनुकूल पवन, कर्णधार आदि भी चाहिये तब बेड़ा पार हो। इसीसे कहा कि मेरी कृपा और सद्‌गुरुकी प्राप्ति भी चाहिये तब भवपार हो सकेगा।—यहाँ परम्परित रूपक है। दोहा ४४ में बेड़ापर गौड़जीका टिप्पण देखिये।

रा० प०—सन्मुख मरुत तो बाधक है उसे अनुग्रह कैसे कहा? समाधान—यह जीव ईश्वरकी ओर पीठ देकर जगत्‌के सम्मुख हो रहा है, अनुग्रह जीवपर ईश्वरकी यही है कि वह जीवको जगत्‌की ओरसे प्रथम अपनी ओर फेरता है, तब जगत्‌से विमुख होकर वह अपने पदको पाता है। जैसे नाव जानेको है प्रयाग पर बही जाती है मगहकी ओर, तब पूरबकी बयारि पहिले नावका मुँह फेरकर तब उसे प्रयागको पहुँचाती है। इसी प्रकार सन्मुख मरुत अनुग्रह है। नरतनरूपी बेड़ेपर बैठकर जीव संसार-सागरमें बहा चला जाता है, उसे बहे हुए बेड़ेको बहतेसे रोककर फेर देनेके लिये मेरी दया सन्मुख मरुत है (वै०)। [भगवान्‌के अनुग्रहने सम्मुख वायुके रूपमें सहायता की एवं श्रीसद्‌गुरुरूप कर्णधारने सत्संगरूपी पाल तानकर 'अपनपौ' की डोरियोंको कड़ा कर दिया तो यह विमुख-यात्री जीव लौटकर अपने नित्य निज स्थान श्रीप्रभुके ही श्रीचरणोंमें वापस आ जायगा। (बाबा जयरामदास दीन)

खर्रा—'***सन्मुख मरुत***.........' भगवान्‌का कृपा करके अच्छा देश, उत्तम कुलमें जन्म, दीर्घायु, आरोग्यता, सावकाश, अच्छी संगति और सुमति एकत्र कर देना यही सन्मुख पवन है।

श्रीनंगे परमहंसजी—'मनुष्यका तन बेड़ारूप है और सम्मुख पवनरूप (निर्हेतुक) हमारी कृपा है। अर्थात् मनुष्यका तन कर्मका अधिकारी है। संसाररूप समुद्रसे पार जानेके लिये बेड़ारूप कर्म करे तो सन्मुख पवनरूप हमारी कृपा हो जायगी, बस पार हो जायगी। पुनः संसाररूप समुद्रसे पार जानेके लिये नरतन दृढ़ नौका है और सद्‌गुरु मल्लाह है अर्थात् सद्‌गुरुके पास जाकर ज्ञानके जो साधन वे कहें उसको करे और नौकारूप ज्ञान प्राप्त करके भवसागरसे पार हो जाय; क्योंकि यह साज दुर्लभ है सो सुलभ करके पाया है।'

पं० रा० व० श०—कृपा होनेपर भी बिना गुरुके भगवान् पार नहीं करते, यह बात यहाँ पुष्ट की—'*गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई।*' भागवतमें भी ऐसा ही कहा है—(दोहा ४४ देखिये)।

टिप्पणी—२ '*करनधार सदगुर दृढ़ नावा*' इति। जबतक केवल मनुष्य-शरीर था तबतक वह बेड़ेके समान था, पर जब भगवत्-अनुग्रह हुआ और सद्गुरु मिले तब वह शरीर भवसमुद्रके पार जानेयोग्य दृढ़ नाव हो गया—(पां०)। ३—'*दुर्लभ साज सुलभ करि पावा*' इति। भगवान्‌ने कृपा करके मनुष्य-शरीर और सद्गुरु दिया, इसीसे 'सुलभ' कहा, यथा—'*हरि तुम्ह बहुत अनुग्रह कीन्हो। साधन धाम बिबुध दुर्लभ तन मोहि कृपा करि दीन्हो।*'—[तीनोंकी एक साथ प्राप्ति दुर्लभ है इसीसे इसे दुर्लभ साज कहा—(रा० शं० श०)।]

नोट—'*करनधार सदगुरु*' इति। मिलान कीजिये—'**त्वं नः संदर्शितो धात्रा दुस्तरं निस्तितीर्षताम्। कलिं सत्वहरं पुंसां कर्णधार इवार्णवम्।**' (भा० १। १। २२) (शौनकादि महर्षियोंने सूतजीको पाकर ये वाक्य उनसे कहे हैं) पुरुषोंके धैर्य और साहसको हरण करनेवाले इस दुस्तर कलिकालरूपी समुद्रके पार जानेके हम इच्छुकोंसे विधाताने कर्णधारके समान आपको मिला दिया है। वैसे ही यहाँ सद्गुरुको कर्णधार कहा।

प० प० प्र०—'*मेरो*' इति। यहाँ ऐश्वर्यभाव उमड़ आया। अपनी कृपाशीलताको हृदयमें न रख सके, अपना अवतारत्व सँभाल न सके, अवतारित्व प्रबल हो उठा और '*मेरो*' कह ही दिया। ☞जहाँ-जहाँ भक्तिप्रतिपादनका सम्बन्ध आया वहाँ-वहाँ ऐसा ही हुआ है। ३। १६। २, ४। १६। १०, ५। ४४। २ देखिये।

बाबा जयरामदासजी दीन—अबतक तो अपने कथनमें ईश्वरको अन्य पुरुषके रूपमें कहते आये, परंतु यहाँ '*मेरो*' से स्पष्ट कर दिया कि वह ईश्वर मैं ही हूँ। आगे भी ऐसे ही शब्दोंका प्रयोग करेंगे। इसका कारण और कुछ नहीं, भगवान् श्रीरामजीकी असीम करुणा है। ज्यों ही 'करुणा' शब्दके उच्चारणका प्रसंग आया—'*कबहुँक करि करुना*……' त्यों ही श्रीकरुणाधाम दयानिधानसे रहा नहीं गया, उनकी करुणाका समुद्र उमड़ पड़ा, जिसको सँभाल न सकनेके कारण वे खुलकर प्रकट होकर 'मेरा' 'मोर' आदिका स्पष्ट कथन करने लगे कि जिस प्रकार करुणा करके मैंने आप लोगोंको मनुष्य-तन दिया, उसी प्रकार आज करुणा करके मैं समस्त पुरवासियोंको मोक्षाधिकारी भी बना रहा हूँ।

दो०—जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ॥ ४४॥

शब्दार्थ—**कृतनिंदक**=कृतघ्न=किये हुए उपकारको न माननेवाला, नाशुकरा। **आत्माहन**=आत्मघाती, जो अपने-आपको मार डाले।

अर्थ—जो मनुष्य ऐसा समाज पाकर भवसागर न तरे वह कृतघ्न* है, मन्दबुद्धि (अर्थात् हानि-लाभ-विचाररहित) है और आत्महत्या करनेवालोंकी गतिको पहुँचता है॥ ४४॥

रा० शं०—'*जो न तरै*' से जनाया कि इस सामग्रीके मिलनेपर भवपार होना उसके अधीन है। सद्गुरुके आश्रित होकर हमारी कृपाका भरोसा रखे अन्यका नहीं।

नोट—'*जो न तरै*' कहकर सूचित किया कि इस शरीरको पाकर जबतक यह सर्वावयवपूर्ण है, विपत्तिग्रस्त नहीं होता तबतक ही विवेकी पुरुषको अपने कल्याणका साधन कर लेना चाहिये, यथा— '**ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः। शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम्॥**' (भा० ७। ६। ५) श्रीभर्तृहरिजीने भी कहा है '**यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः। आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान् प्रोद्दीप्ते भवने च कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः॥**' (वै० श० ७५) अर्थात् जबतक यह शरीररूपी घर स्वस्थ है, जरावस्था दूर है, इन्द्रियोंकी शक्तियाँ बनी हुई हैं, आयु क्षीण नहीं हुई, तबतक बुद्धिमानोंको चाहिये कि आत्मकल्याणके लिये महान् प्रयत्न कर लें। नहीं तो घरके जलनेपर कुआँ खोदनेसे क्या होगा!

---

* श्रीनंगे परमहंसजी कृतनिन्दकका अर्थ 'निन्दा करनेके योग्य' और 'आत्माहन गति जाइ' का अर्थ 'आत्महत्या' कर रहा है तात्पर्य उसको आत्महीन गति (अधोगति) की प्राप्ति होती है'—यह किया है।

पर, ग्रन्थकार जरा-अवस्था आ जानेपर भी सहारा दे रहे हैं—*'अब सोचत मनि बिनु बिहंग ज्यों बिकल अग दले जरा धाय।'''''''''जिन्ह लगि निज परलोक बिगार्‍यो ते लजात होत ठाढ़े ठायँ। तुलसी सुमिरि अजहु रघुनाथहिं तर्‍यो गयंद जाके एक नाय॥'* (वि० ८३), *'अजहूँ बिचारि बिकार तजि भजु राम जन-सुखदायकं॥'* (वि० १३६), *'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथ नाइहै। तत्काल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइहै॥'* (वि० १३५) भगवान् स्वयं प्रतिज्ञा करते हैं कि *'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥', 'जौं सभीत आवा सरनाईं। रखिहउँ ताहि प्रानकी नाईं॥'*—इतना सुगम भवतरणोपाय पाकर भी सम्मुख होकर भव न तर गया तो उससे अधिक अभागा कौन होगा!

टिप्पणी—१ *'कृतनिंदक'* कहा क्योंकि भगवान्‌का उपकार नहीं माना कि निर्हेतु कृपा करके भवसागर पार करनेके लिये यह शरीर दिया। २—*'आत्माहन'*। हन् धातुका अर्थ हिंसा है—**'हन् हिंसायाम्'** भाव कि उसने आत्माको मारा, उसकी दुर्गति की कि उसके उद्धारका संयोग पाकर उद्धारका उपाय न किया।

नोट—१ इससे मिलते हुए श्रीमद्भागवतमें दो श्लोक हैं। उनमें भी आत्महन शब्दका प्रयोग हुआ है, यथा—

'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥' (भा० ११। २०। १७)

अर्थात् मनुष्य-शरीर सब शुभ फलोंकी प्राप्तिका मूल है, सबसे श्रेष्ठ है और दुर्लभ होते हुए भी सुलभ हो गया है। वा, सत्कर्मियोंके लिये सुलभ और दुष्कर्मियोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ है। भवसागर पार जानेके लिये यह एक अत्यन्त दृढ़ नौका है। शरण ग्रहणमात्रसे ही गुरुदेव इसके केवट बनकर पतवारका संचालन करने लगते हैं। भगवान् कहते हैं कि मेरे कृपारूपी अनुकूल पवनसे प्रेरित होकर यह लक्ष्यकी ओर बढ़ सकता है। इसे पाकर जो संसारसे पार नहीं होता है वह आत्मघाती है। **'त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियवच्चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च। न बत रमन्त्यहो असदुपासनयाऽऽत्म-हनो यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः॥'** (भा० १०। ८७। २२) अर्थात् श्रुतियाँ कहती हैं कि आपकी सेवाके उपयुक्त यह मनुष्य-शरीर ही आत्मा, बन्धु और प्रिय जनके समान आचरण करनेवाला अर्थात् स्वाधीन है, किन्तु हा! हा! इस साधन-शरीरको पाकर भी आप ऐसे हितकारी, प्रिय और आत्माको सुहृद् जानकर नहीं भजता वरन् असत् ही (शरीर, परिवार इत्यादि) व्यवहारमें लगा रहता है, इसीसे यह आत्मघात करता हुआ संसार-चक्रमें घूमता रहता है।

२—यजुर्वेदके ४० वें अध्याय (ईशावास्योपनिषद्) का निम्न मन्त्र बताता है कि आत्महनकी गति क्या होती है।—**'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः। ताँ्स्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥'** (३) अर्थात् जो लोग आत्महत्या करते हैं वे मरनेपर ऐसे लोकोंको जाते हैं जिनका नाम 'असुर्या' है अर्थात् जो आसुरी सम्पत्तिवालोंके लिये प्रेतलोक है, जो घोर अंधकारसे ढँके रहते हैं।

जैसे ईशावास्योपनिषद् कर्मफलरूप जन्मबन्धनसे मुक्त होनेके निश्चित मार्गका उपदेश मन्त्र २ में करके तब इस मन्त्र ३ में उसके विपरीत मार्गपर चलनेवाले मनुष्योंकी गतिका वर्णन किया है, वैसे ही यहाँ मानसमें भगवान्‌ने *'बड़े भाग मानुष तन पावा'* से *'दुर्लभ साज सुलभ करि पावा'* तक यह बताकर कि मनुष्य-तनसे ही भवपार हो सकते हैं। उसमें ये साधन करके जन्म-मरणसे निवृत्त हो जाना चाहिये, तब जो इसके विपरीत करेंगे उनकी गतिका वर्णन इस दोहेमें किया है।

जो लोग विषयोंमें आसक्त होते हैं चाहे वे कैसे ही बड़े प्रतिष्ठित पुरुष क्यों न हों, वे बार-बार कूकर-शूकर आदि असुर योनियोंमें और भयानक योनियोंमें जन्म लेते हैं। यही बात भगवान्‌ने गीतामें भी कही है। यथा—**'अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः। प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥'** (१६। १६) ''''''''''**आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि। मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥'** (२०)—इसमें भगवान्‌ने यह भी बता दिया कि आसुरी योनिको प्राप्त होनेपर फिर और भी अधिक नीच गतिको वे

मूर्ख प्राप्त होते हैं, फिर वे मुझे नहीं प्राप्त कर सकते। अतः मनुष्यको उचित है कि नर-तन पानेपर अपनी आत्माका उद्धार कर ले, उसे नीचे न गिरावे, यथा—'**उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्॥**' (गीता ६। ५)

प० प० प्र०—मानसमें 'कृतनिंदक' शब्द विशेष देकर मानो भागवतके श्लोकका स्पष्टीकरण किया गया है। '**दुर्लभं त्रयमेतद्वै देवानुग्रहहेतुकम्। मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥**'

गौड़जी—भगवान् शंकर जब अहेतुक स्नेह करके अनन्त और अपार भवसागरमें उत्तुङ्ग तरङ्गोंके थपेड़े खाते हुए जीवके उद्धारके लिये मनुष्य-शरीररूपी बेड़ा दे देते हैं, तो यह मनुष्य लहरोंके मारे इधर-का-उधर होता रहता है। इस जहाजी बेड़ेको ठीक राह नहीं मिलती। यहाँ बेड़ा शब्द बड़ा ही उपयुक्त है। बेड़ा कई जहाजोंके समूहको कहते हैं। मनुष्य-शरीर भी एक ही शरीर नहीं है, प्रत्येक शरीर स्थूल, लिंग, सूक्ष्म और कारण—इन चार शरीरोंका समूह है। यह चार जहाजोंका बेड़ा है। भगवान् शंकरकी बड़ी कृपासे जब यह जहाजोंका बेड़ा भी मिला तो अनन्त और अगाध भवसागरमें निरपेक्ष्य बुद्धिसे बहते जानेसे तो कोई काम न चलेगा, लहरें मारकर इसको भारी भ्रमरावर्त्तमें ले जाकर डुबा सकती हैं, ऐसी अवस्थामें विनाशसे कौन रोकेगा? जिसकी प्रतिज्ञा है—'**न मे भक्तः प्रणश्यति**' यदि यह कहो कि इस तरह तो सभी जीव भक्त हुए तो इसका उत्तर यह है कि सभी जीवोंको तो यह सौभाग्य नहीं प्राप्त होता, जीवोंकी संख्या अपरिमित और अनन्त है जैसा कि ऊपरकी व्याख्यामें दिखाया जा चुका है। सबके लिये श्रीमुख-वचन है—

'मम माया संभव परिवारा। जीव चराचर बिबिध प्रकारा॥
सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए॥
भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मम सोई॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी॥'

मनुष्ययोनि सब जीवोंसे भगवान्को अधिक प्यारी है, क्योंकि इसीसे नीच-से-नीच भक्तका उद्धार होता है और भगवान्की '**न मे भक्तः प्रणश्यति**' प्रतिज्ञा पूरी होती है। इसीलिये भटकते हुए जहाजी बेड़ेको भगवान्की अनुग्रहरूपी वायु सम्मुख आकर विनाश-मार्गपर जाते हुए बेड़ेको रोकती है और उसे उचित मार्गपर लगा देती है यह कितनी भारी कृपा है। '**न मे भक्तः प्रणश्यति**' यह प्रतिज्ञा कैसे गाढ़े वक्तमें काम आती है। जब बेड़ा ठीक रुखपर लगा दिया गया तब भी क्या बिना किसी सहायताके उचित मार्गपर जा सकता है? उसे बड़े ही कुशल कर्णधारकी आवश्यकता है। यह कर्णधार सद्गुरु है। नावका भी दृढ़ होना बहुत जरूरी है। संयमनियमादिके इस शरीररूपी नावको दृढ़ बनाया हो तभी गुजारा हो सकता है, नहीं तो नाव टूट जा सकती है। यह दुर्लभ साज है। जिसे यह सुलभ हो जाय वह नर ऐसा समाज पाकर न तरे तो वह कृतघ्न है, क्योंकि वह ईशके अहेतुक स्नेहका लाभ नहीं उठाता। मतिमन्द है क्योंकि वह 'कबहुँक' वाले अवसरको खो देता है और वह आत्मघातीकी गति पाता है, क्योंकि वह अपनेको जान-बूझकर अगाध भवसिन्धुमें डुबा देता है।

जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदय दृढ़ गहहू॥ १॥
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥ २॥

अर्थ—जो परलोकमें और यहाँ दोनों लोकोंमें सुख चाहते हो तो मेरा वचन सुनकर हृदयमें दृढ़ करके धारण कर लो॥ १॥ भाइयो! यह मेरी भक्तिका मार्ग सुगम और सुखदायक है, वेद और पुराण कहते हैं॥ २॥

पं० रा० व० श०—'*जौं परलोक इहाँ*.........' इति। यहाँ परमार्थ-साधनका प्रसङ्ग और उपदेश चल रहा है, इसीसे यहाँ '*परलोक*' कहकर तब 'इहाँ (इह लोक) कहा। [पहले परलोक कहा तब यह लोक; क्योंकि चतुर लोग पहले परलोक सुधारनेका उपाय करते हैं। (रा० शं० श०)] कोई साधन परलोकहीका

सुख देते हैं और कोई इसी लोकका, दोनों सुख रामभक्ति छोड़ और किसी साधनसे प्राप्त नहीं हो सकते। अतः कहा कि दोनों चाहो तो हमारी बात दृढ़ पकड़ो और भक्ति करो—*'मीठो अरु कठवत भरो रौताई अरु छेम। स्वारथ परमारथ सुलभ रामनाम के प्रेम॥'* (दो० १५), *राम-नाम (काम-तरु)जोइ जोइ माँगिहै। तुलसिदास स्वारथ परमारथ न खाँगिहै॥'* (वि० ७०), *'पुरुषारथ स्वारथ सकल परमारथ परिनाम। सुलभ सिद्धि सब साहिबी सुमिरत सीताराम॥'* (दो० ५७०)

गौड़जी—यहाँ एक तो श्रीमुखवचनको पुरजनसे मनवानेकी बात है। भाइयो! तुमलोग अगर चाहते हो कि परलोकमें भी सुख हो और यहाँ भी हो, तो मेरी बात सुनकर हृदयमें मजबूत पकड़ लो। पहले भी कह गये हैं कि सुन लो, परंतु जो पसंद आवे तो करो। यहाँ भी वैसी ही शर्त है कि अगर दोनों लोकोंका सुख चाहते हो तो सुनो और हृदयसे मजबूत पकड़ो। सुनना तो हर हालतमें जरूरी है, करना अपने अख्तियारी है। भक्ति हृदयकी बात है इसलिये हृदयसे ही मजबूत पकड़ना चाहते हैं। भक्तिका मार्ग है जिसपर हृदयको चलना है। इसीलिये रास्तेको मजबूतीसे पकड़ना कहा।

टिप्पणी—१ *'सुनि मम बचन·········'* का भाव कि इहलोक और परलोक दोनोंका सुख मेरे वचनोंमें है। [बाबा जयरामदासजी लिखते हैं कि यहाँ भगवान् अपने सदुपदेशको श्रद्धापूर्वक श्रवण करना कहनेके पश्चात् *'दृढ़'* शब्दसे मनन और *'गहहू'* शब्दसे निदिध्यासनका भी संकेत करके श्रवण, मनन, निदिध्यासन—तीनोंका लक्ष्य करा रहे हैं।] २—*'सुलभ सुखद मारग यह·········'* इति। भाव कि लोक-परलोक दोनोंमें सुख इतना बड़ा लाभ सुनकर शंका होगी कि जो सुलभ होता है वह सुखद नहीं होता और जो सुखद है वह सुलभ नहीं। उसपर कहते हैं कि यह मार्ग सुलभ भी है और सुखद भी। ३—*'पुरान श्रुति गाई'* इति। प्रथम श्रीरामजीने कहा कि *'सुनि मम बचन हृदय दृढ़ गहहू।'* यह कहकर फिर कहते हैं कि यह हमारा स्वतन्त्र मत नहीं है, हम अपनी मनगढ़न्त नहीं कहते वरन् वेद-पुराण ऐसा कहते हैं।—यह अर्थ माधुर्यके अनुकूल हुआ। और ऐश्वर्यके अनुकूल इस प्रकार है कि—हमारे वचन सुनकर हृदयमें धरो। कौन वचन? जो वेद-पुराणोंने गाया है, वही हमारा वचन है, यथा—*'मारुत स्वास निगम निज बानी'* इत्यादि। ४—☞ कर्म, उपासना और ज्ञान-ये तीन काण्ड वेदोंमें हैं। इनमेंसे ज्ञान दुर्लभ है, कर्मकाण्ड दुःखद है। जैसे कि राजा नृगने अनेक गोदान किये तथापि गिरगिट हुए और मेरी भक्ति सुलभ और सुखद है ऐसा वेद-पुराण कहते हैं। जिसका जी चाहे वेद-पुराणोंमें देख ले।

सुलभता और सुखदातृत्व आगे प्रभु स्वयं विस्तारसे कहते हैं। दोहा ४५ (३) से ४६ तक।

गौड़जी—*'सुलभ सुखद·········भगति मोरि·········।'* श्रीमुखवचन तो केवल इशारामात्र है। वह यह है कि भक्तिका मार्ग सुखदायक भी है और आसानीसे मिल भी जाता है, 'मीठा भी है और भरि कठवत भी' है कि जो यह कहो कि ऐसी अद्भुत चीज कहाँ मिलेगी? उसकी क्या पहिचान है, सब बातें विस्तारसे बताइये तो कहते हैं कि वेदों और पुराणोंमें इसपर विस्तारसे वर्णन किया गया है। यही सबसे अच्छा मार्ग है। यहाँ 'मेरी भक्ति' कहकर स्पष्टरूपसे अपनी गुप्त विभूतिको पुरजनोंके सामने प्रकट कर देते हैं। एकदम इस तरह रहस्य क्यों खोल देते हैं? उसका कारण यह है कि ये सभी पार्षद हैं। जो भगवल्लीलाके साथ-साथ बराबर रहे हैं—*'सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि।'* (४। २६) यद्यपि यह निश्चयरूपसे शरीरबन्धनके कारण इस रहस्यको नहीं जानते थे तथापि रामराज्यकालमें ही इनके—सबके आचरण अनुकूल कर देनेके लिये इस रहस्यके खोल देनेकी आवश्यकता थी। गीताजीके उपदेशमें अर्जुनको भी यह रहस्य बताया गया है। यहाँ पुरवासियोंको भाई करके सम्बोधन करनेका यह भी कारण है कि पार्षदोंको और अपने सभी दासोंको अपना सखा करके मानते हैं और सखाओंसे कोई बात छिपी भी नहीं रहती। यह माधुर्य भाव है।

नं० प०—*'मारग यह भाई'* इति। सूचित कर रहे कि भवसागर पार जानेके लिये प्रथम कर्मरूप बेड़ा कहा। पुनः ज्ञानरूप नौका कहा और अब भक्तिरूप मार्ग कहते हैं; तो पार जानेके लिये यही तीन जरिये हैं। बेरा, नौका, सेतु। तो सेतुकी मार्गमें गिनती है, क्योंकि पग-पगसे चलनेका योग है। इसी भक्तिरूप

सेतुको मार्ग कहे हैं अर्थात् भक्तिरूप सेतुसे पार जाना कर्मरूप बेरा और ज्ञानरूप नौकासे सुलभ और सुखद है, क्योंकि—*'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका।.........बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥'* [मानसकी उपर्युक्त रामगीतामें कहीं कर्मका बेड़ा और ज्ञानकी नौकाका होना नहीं कहा है।]

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥ ३॥
करत कष्ट बहु पावै कोऊ। भक्ति हीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ॥ ४॥
भगति सुतंत्र सकल सुख खानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥ ५॥

अर्थ—ज्ञान कठिन है उस (की सिद्धि) में (अहंकारादि) अनेक विघ्न हैं। उसका साधन (शम, नियम, अष्टाङ्गयोग) कठिन है। उसमें मनके लिये कोई आधार नहीं है॥ ३॥ बहुत कष्ट करनेसे भी (कदाचित्) कोई पा जावे तो भी भक्तिरहित होनेसे वह मुझको प्रिय नहीं होता॥ ४॥ भक्ति स्वतन्त्र है (किसीके अधीन नहीं है), और सब सुखोंकी खानि है (पर) बिना सत्सङ्गके लोग इसे नहीं पाते॥ ५॥

नोट—ज्ञानको अगम इत्यादि कहकर जनाया कि भक्ति सुगम है, उसमें विघ्न नहीं, इसका साधन कठिन नहीं है, क्योंकि यहाँ मनके लिये उपास्य एक आधार है, इसमें कष्ट नहीं है और सभी प्राप्त कर सकते हैं, यथा—*'अस बिचारि जोइ कर सत्संगा। रामभगति तेहि सुलभ बिहंगा॥'* (१२०। १९) तथा भक्तिवान् प्रभुको प्रिय है—यह सब ज्ञानदीपक प्रसङ्गमें विस्तारसे आवेगा।

गौड़जी—*'ज्ञान अगम.........'* इति। जो यह कहो कि वेदों-पुराणोंमें तो ज्ञान और कर्मकी भी बातें कही हैं। अकेले भक्तिका वर्णन नहीं है और मोक्षके लिये कहा है कि **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं हो सकती और आप भी श्रीमुखसे कहते हैं कि यह शरीर मोक्षका द्वार है तो फिर क्यों न मोक्षकी प्राप्तिके लिये ज्ञानका ही साधन किया जाय तो उसपर श्रीमुखवचन है कि *'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका.........सोऊ।'* ज्ञान अगम है, सुगम नहीं है। ज्ञानके मार्गपर चलनेमें सुभीता नहीं है।—*'भगति के साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥'* और *'ज्ञान कै पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥'* उपनिषदोंमें भी ज्ञानके मार्गको असिधार या क्षुरधार मार्ग कहा है। इसीलिये कि यह अत्यन्त अगम है, इस मार्गसे गिरते देर नहीं है, जो कोई कदम बचाकर किसी तरह चल भी सका तो उसके सामने अनेक प्रत्यूह, बहुत-सी रुकावटें आ जाती हैं और आगे नहीं बढ़ने देतीं। फिर ज्ञानका साधन भी बहुत कठिन है, योगमार्गसे शरीरका पूरा संयम करनेके बाद राजयोगके द्वारा आत्मतत्त्वको यथार्थ रीतिसे जान लेना और जानकर अपने बाहरी आपेको प्रत्यगात्माके सम्मुख निरन्तर रखना यह अत्यन्त कठिन साधन है। इसमें सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि मन चञ्चल है कहीं टिकता नहीं। भगवान्ने गीतामें कहा है कि इसे अभ्यास और वैराग्यसे रोक रखना होता है, और अभ्यास तथा वैराग्य ही कौनसे सहज काम हैं? दोनों-के-दोनों बड़े कष्टसाध्य हैं। हमने माना कि सब तरहके कष्ट उठाकर किसीने ज्ञान प्राप्त भी कर लिया तो वह भी भक्तिके बिना मुझे प्रिय नहीं है। अर्थात् अन्तको मेरा अधिक प्रिय बननेके लिये इतने घोर कष्ट उठानेके बाद भी भक्तिके सहारे बिना काम न चलेगा।

टिप्पणी—१ (क)—*'न मन कहुँ टेका'* अर्थात् उसमें कोई उपास्य नहीं होता जिसमें मन ठहर सके। (ख)—*'करत कष्ट बहु पावै कोऊ'* का भाव कि ज्ञान कष्टसे ही मिलता है और वह भी सबको नहीं, किसी-किसीको ही मिलता है। २—*'भगति सुतंत्र.........'* अर्थात् भक्ति अपने अधीन है, यथा—*'सो सुतंत्र अवलंब न आना।'* (३। १६। ३) यह कहकर फिर कहते हैं कि *'बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी'*, इससे शंका होती है कि भक्ति भी तो सत्सङ्गके अधीन है तब स्वतन्त्र कैसे कहा? समाधान यह है कि सत्सङ्ग भी भक्ति है, यथा—*'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।'* (३। ३५। ८) तात्पर्य कि भक्ति अपने स्वरूपसे ही पैदा होती है।—[सत्सङ्ग स्वयं एक प्रकारकी भक्ति है, कुछ भक्तिका साधन नहीं है। भक्तियोग नाना प्रकारके मार्गोंसे प्रचलित है, क्योंकि मनुष्योंके भाव भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। यथा—**'भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते। स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते॥'** (भा० ३। २९। ७)]

गौड़जी—'*भगति सुतंत्र.........अता।*' और जो यह कहते हो 'भक्ति करनेसे क्या ज्ञानकी जरूरत न पड़ेगी। कोरे भक्त ज्ञानी तो होते नहीं, मुक्तिके लिये ज्ञानका होना अनिवार्य है'—तो इसपर कहते हैं कि भक्ति स्वतन्त्र है, वह इस बातकी मोहताज नहीं है कि उसकी प्राप्तिके लिये ज्ञानका उपार्जन किया जाय और ज्ञानसे जो कुछ मिलता है अर्थात् मुक्तितक वह भक्तिसे सुलभ है। बल्कि मुक्तिका दर्जा बहुत घटा हुआ है। भक्त लोग मुक्तिका निरादर करते हैं—'*मुक्ति निरादर भगति लुभाने*', इसीलिये भक्ति स्वतन्त्र है और सब सुखोंकी खानि है। तो क्या ज्ञान परतन्त्र है? हाँ, वह परतन्त्र ही नहीं है, वह इस अर्थमें भक्तिके अधीन है कि उसके बिना ज्ञान अपूर्ण होता है। गीतामें ज्ञानके लक्षणोंमें '**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी**' ज्ञानका एक आवश्यक लक्षण यह है कि भगवान्‌में अनन्य भावसे अविरल भक्ति रखे। और अन्यत्र भी कहा है—'**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्**' श्रद्धावान्‌को ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तात्पर्य यह कि बिना भक्तिके ज्ञान अपूर्ण रहता है। परंतु बिना ज्ञानके भक्ति अपूर्ण नहीं रहती, साथ ही भक्तिसम्पन्नको ज्ञान अपने-आप प्राप्त हो जाता है। इसीलिये भक्ति स्वतन्त्र है और सब सुखोंकी खानि है। परंतु भक्ति मिले कैसे? बिना सत्सङ्गके भक्ति नहीं मिलती। सत्सङ्गका मिलना और भक्तिका मिलना एक ही बात है। भक्तिरूपी विस्तृत, विशाल और अपार सुखका एक छोर सत्सङ्ग है। जिसने सत्सङ्ग प्राप्त किया उसने भक्तिके एक अङ्गको ग्रहण कर लिया।

प० प० प्र०—भक्ति स्वतन्त्र होनेपर भी उसके अनेक साधन हैं पर वे भी भक्तिमय ही हैं। विशेष '*भगति के साधन कहउँ बखानी।*' (३। १६। ५) में देखिये। भक्तिसे ज्ञान-विज्ञानकी प्राप्ति ईश्वरकृपासे सहजहीमें हो जाती है। यथा—'**तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥**', '**तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥**', '**तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।**' (इति गीतायाम्)

वि० त्रि०—'*भगति सुतंत्र.........प्रानी।*' इति। भाव यह कि ज्ञान और कर्म भक्तिके परतन्त्र हैं, भक्तिविहीन वे किसी कामके नहीं, यथा—'*सो सुख करम धरम जरि जाऊ। जहँ न रामपद पंकज भाऊ। जोग कुभोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं राम प्रेम परधानू।*' परंतु भक्ति, ज्ञान और कर्मके पराधीन नहीं है, इसलिये उसे स्वतन्त्र कहते हैं, यथा—'*रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥*' तथा '*रीझत राम सनेह निसोते।*' यह सब सुखकी खानि है, भक्ति होनेसे ज्ञान-वैराग्यका आप-से-आप उदय होता है।

अतः भक्ति चाहनेवालेको सत्सङ्ग करना चाहिये; क्योंकि बिना सत्सङ्गके भक्ति हो नहीं सकती, यथा—'*भक्ति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो संत होहिं अनुकूला॥*'

नोट—श्रीमद्भागवतमें श्रीजडभरतजीने राजा रहूगणसे कहा है कि भगवान्‌का ज्ञान महापुरुषोंकी चरणरजको सिरपर धारण करनेके सिवा, तप, यज्ञ, दान, गृहस्थोचित धर्मोंके पालन, वेदाध्ययन अथवा जल, अग्नि या सूर्यकी उपासना आदि किसी भी साधनसे प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि वहाँ (महत्पुरुषोंके समाजमें) पवित्र कीर्ति श्रीहरिके गुणोंकी विषयवासनाओंको दूर करनेवाली चर्चा होती है। उसका नित्यप्रति सेवन करनेसे वह भगवत्कथा मुमुक्षुकी शुद्ध बुद्धिको भगवान् वासुदेवकी ओर प्रवृत्त कर देती है। यथा—'**रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद्वा। नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥ यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः। निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षोर्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे।**' (५। १२। १२-१३)

यह कहकर उन्होंने फिर यह कहा है कि साधुसमागमसे प्राप्त ज्ञानसे मनुष्य मोहबन्धनको काटकर भगवान्‌की लीलाओंका कथन-स्मरण करके भगवान्‌को प्राप्त कर लेता है—'**हरि तदीहाकथनश्रुताभ्यां लब्धस्मृतिर्यात्यतिपारमध्वनः॥**' (१६)

राजा रहूगणने भी कहा है कि जिनके एक मुहूर्तभरके समागमसे मेरा कुतर्कमूलक अज्ञान दूर हो गया। ऐसे आपके चरण-कमलोंकी रजका सेवन करनेसे जिनके सम्पूर्ण पाप नष्ट हो गये हैं, उन महानुभावोंको भगवान्‌की निर्मल भक्तिकी प्राप्ति होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। '**न ह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभिर्हतांहसो**

भक्तिरधोक्षजेऽमला। मौहूर्तिकाद्यस्य समागमाच्च मे दुस्तर्कमूलोऽपहतोऽविवेकः।' (५। १३। २२) श्रीप्रह्लादजीने भी दैत्यबालकोंसे यही कहा है कि बाह्यविषयोंके अभिमानी दुर्बुद्धि अपने परम पुरुषार्थरूप भगवान्‌को नहीं जान सकते। जबतक वे अपने-आपको निष्किंचन महापुरुषोंके चरणरजसे अभिषिक्त नहीं करते तबतक उनकी बुद्धि भगवान् उरुक्रमके चरणोंका स्पर्श नहीं कर सकती, जिससे कि संसाररूप अनर्थका सर्वथा नाश हो जाता है। यथा—**'न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं दुराशया ये बहिरर्थमानिनः।' 'नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः। महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥'** (भा० ७। ५। ३१-३२)

मानसमें भी शङ्करजीने गरुड़जीसे कहा है कि *'बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥ ६१॥'*

श्रीमुचुकुन्द महाराजने भी भगवान्‌से यही कहा है कि जब मनुष्यके बन्धनका आप अन्त करना चाहते हैं तब संसारचक्रमें भटकते हुए उस मनुष्यको आपकी कृपासे सत्सङ्ग मिलता है, जिससे उसकी समस्त ममताएँ छूट जाती हैं और आपमें भक्ति होती है। यथा—**'भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः। सत्संगमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥'** (भा० १०। ५१। ५४)

अतः कहा कि *'बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी।'*

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥ ६॥
पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्रपद पूजा॥ ७॥
सानुकूल तेहि पर मुनि देवा। जो तजि कपट करै द्विज सेवा॥ ८॥

अर्थ—बिना पुण्यसमूहके संत नहीं मिलते। सत्सङ्ग संसारका अन्त करनेवाला है अर्थात् फिर संसारमें जन्म-मरण नहीं होता॥ ६॥ मन-कर्म-वचनसे ब्राह्मणोंके चरणोंकी पूजा करना संसारमें पुण्य एक ही है, (उसके समान दूसरा नहीं है)॥ ७॥ जो कपट छोड़कर ब्राह्मणोंकी सेवा करे उसपर मुनि और देवता प्रसन्न रहते हैं॥ ८॥

गौड़जी—*'बिनु सतसङ्ग·········पुन्यपुंज·········'* इति। (शृङ्खलाके लिये पूर्व अर्धाली देखिये) परन्तु सत्सङ्ग पानेकी एक भारी शर्त है—*'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता.'* (सुं०) *'पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता' 'सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जो हरि कृपा हृदय बस आई॥'* इत्यादि वचनोंसे स्पष्ट है कि हरिकृपाके बिना हृदयमें श्रद्धा नहीं होती और संत नहीं मिलते और श्रीमुखवचन भी है कि बिना पुण्यपुञ्जके संत नहीं मिलते हैं। इस तरह संतोंके मिलनेके लिये दो प्रकारके साधन हुए, एक तो क्रियात्मक अर्थात् पुण्यपुञ्ज, दूसरे कृपात्मक अर्थात् श्रद्धा वा हरिकृपा। इसलिये पहले अनुग्रहवाली बात कह चुके हैं—*'सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो'* और जब अनुग्रह हुआ तब संत सद्गुरुने कर्णधारका काम किया, सम्मुख मरुत होनेसे श्रद्धा उत्पन्न हुई, और सद्गुरुकी खोज हुई, भक्ति मिली और जीव भवसिंधुसे पार हुआ। यहाँ क्रियात्मक साधन पुण्यपुञ्जकी चर्चा है। मनुष्य एक क्षण बिना कर्म किये रह नहीं सकता, भले-बुरे सभी कर्म करता रहता है। इसलिये जब उसके पुण्योंका समूह बल करता है तब संत मिलते हैं और सत्सङ्गके द्वारा तीनों तापोंसे छुटकारा मिल जाता है। सुनकर यह उत्कण्ठा होनी स्वाभाविक है कि अच्छे कर्मोंका भी कुछ नुसखा बता दिया जाता तो अच्छा होता, पुण्यपुञ्जकी बात क्योंकि कर्म, अकर्म, विकर्मका समझना तो पण्डितोंके लिये भी कठिन है और जब सत्सङ्गसे तीनों ताप नष्ट होते हैं और पुण्यपुञ्जके बिना यह मिल नहीं सकता तो तापोंसे छुटकारा पानेके लिये पुण्यकर्म आवश्यक हुए। कोई आसान नुसखा मालूम होना चाहिये तो इसपर कहते हैं कि *'पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा।'* एक बहुत भारी पुण्य बताते हैं, जगत्‌में उसके समान कोई दूसरा पुण्य नहीं है और वह है—मनसा-वचसा-कर्मणा विद्वान् ब्राह्मणोंके चरणकी पूजा। यह वह पुण्यकर्म है जिसके करनेसे मुनि और देवता सभी खुश रहते हैं, परंतु शर्त यह है कि छल-कपट छोड़कर शुद्ध मनसे द्विज-सेवा की जाय।

टिप्पणी—१ *'नहिं दूजा'* का भाव कि धर्म ब्राह्मणोंके पूजनसे पूर्ण होते हैं। उसी ब्राह्मणके जब चरणकमलका पूजन किया तब वह धर्म सब धर्मोंसे श्रेष्ठ क्यों न हो? इसी धर्मका फल आगे कहते हैं। २—*'सानुकूल तेहि पर मुनि देवा'* इति। इन्हीं दोकी प्रसन्नता कही, क्योंकि ब्राह्मणहीके द्वारा देवता और मुनि पूजाका भाग पाते हैं। ३—कपट त्यागकर सेवा करनेका भाव कि कपटसे विघ्न होता है, यथा—*'तेहि सेवौं मैं कपट समेता। द्विज दयाल अति नीति निकेता॥'* शूद्रने कपटसे पूजा की इसीसे उसे दस हजार वर्ष सर्पयोनिमें रहना पड़ा। ४—ब्राह्मणकी सेवा करनेका भाव कि वे वेदकी रीतिसे भक्तिका उपदेश करेंगे, यथा—*'प्रथमहि बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती॥' एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धरम उपज अनुरागा॥'* (१६३। ६-७) ५—ब्राह्मणसे निष्कपट होना क्या है? यह कि उसे मनुष्यभावसे न देखे, ईश्वरभावसे देखे—*'मम मूरति महिदेव मई है'* इति। (विनय०)

नोट—पृथुजीकृत प्रजाको ब्राह्मण-सेवाका उपदेश इस प्रकार है—ब्रह्मण्यदेव, पुरातनपुरुष श्रीहरिने नित्य ब्राह्मणोंके चरणोंकी वन्दना करके ही स्थिर लक्ष्मी और जगपावन यश प्राप्त किया। विप्रसेवा करनेसे ही सर्वहृदिस्थित स्वयं प्रकाशमान हरि यथेष्ट संतोषको प्राप्त होते हैं। इसलिये उन हरिके धर्ममें तत्पर होकर विनीतभावसे विप्रकुलकी सेवा कीजिये।-इसके बाद और भी कारण बताये हैं कि क्यों सेवा करनी चाहिये। जैसे कि उनके मुखमें हव्य देनेसे ईश्वरकी जैसी तृप्ति होती है वैसी अग्निमुखमें हवन करनेसे नहीं होती; क्योंकि ये लोग वेदको श्रद्धा, संयमादिपूर्वक नित्यप्रति धारण करते हैं। इत्यादि। यथा—**'ब्रह्मण्यदेवः पुरुषः पुरातनो नित्यं हरिर्यच्चरणाभिवन्दनात्। अवाप लक्ष्मीमनपायिनीं यशो जगत्पवित्रं च महत्तमाग्रणीः।' यत्सेवयाशेषगुहाशयः स्वराड्विप्रप्रियस्तुष्यति काममीश्वरः। तदेव तद्धर्मपरैर्विनीतैः सर्वात्मना ब्रह्मकुलं निषेव्यताम्।'** (भा० ४। २१। ३८-३९) इत्यादि। विशेष आ० ३३-३४ (१) देखिये।

रा० शं०—पुण्यसे सुख मिलता है यथा—*'पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई'* और *'संत मिलन सम सुख कछु नाहीं'* अतएव पुण्यपुञ्जसे संतमिलन कहा। अब संतमिलनसे जो सुख मिलता है उसका स्वरूप कहते हैं कि संसृति जो भव-दुःख सो निवृत्त हो जाता है। ब्राह्मणोंकी पूजाको पुण्य कहा। श्रीचक्रवर्तीजीका सुकृत सराहते हुए वसिष्ठजीने भी यही कहा है—*'तुम गुरु बिप्र धेनु सुर सेवी।'*

बाबा जयरामदासजी दीन—*'बिनु सतसंग न पावहिं·········।'* इति। प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों मार्गियोंको उनके अनुकूल अलग-अलग भक्ति-प्राप्तिका मार्ग बतलाया जा रहा है। पहले प्रवृत्ति-मार्गियोंको यह सुलभ उपाय लक्ष्य कराया गया है कि भक्ति सत्सङ्गसे और सत्सङ्ग पुण्यपुञ्जसे प्राप्त होता है, इसलिये पुण्योपार्जन करना चाहिये। पुण्य क्या है यह भी बता दिया। तात्पर्य यह कि यदि सत्सङ्ग प्राप्त करनेमें कठिनाई हो तो सर्वप्रथम निष्कपट होकर विप्र-सेवामें लग जाय। आगे निवृत्ति-मार्गियों-मुनि-संन्यासियोंको श्रीभक्ति-मणिकी प्राप्तिका उपाय बतलाया गया है—*'औरउ एक·········।'*

दो०—औरौ एक गुपुत मत सबहिं कहौं कर जोरि।
संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि॥ ४५॥

अर्थ—और भी एक गुप्तमत सबोंसे हाथ जोड़कर कहता हूँ कि शंकरजीके भजनके बिना मनुष्य मेरी भक्ति नहीं पाता॥ ४५॥

नोट—*'औरौ एक'* का भाव कि भक्तिकी प्राप्तिका एक उपाय **'विप्रपदपूजासे प्राप्त सत्संग'** कह चुका, एक और उपाय है, उसे अब कहता हूँ। पहले सत्सङ्गसे भक्तिकी प्राप्ति कही। अब अपना गोप्य मत कहते हैं। 'गुप्त' का भाव कि मैं यह प्रायः किसीको बताता नहीं। न बतानेका कारण यह है कि भक्तिसे बँध जाता हूँ। शिवजीके हृदयमें मेरी भक्तिका निवास है। वे जिसको चाहते हैं भक्ति देकर मुझे उसके वश कर देते हैं। यह सुनकर सम्भव है कि तुम कहो कि हम तो आपको ही सब कुछ जानते हैं, इसीसे मैं हाथ जोड़ता हूँ कि मैं तो उनके अधीन हूँ, उनके हाथ बँध गया हूँ, बिना उनके दिये मैं

किसीका हो नहीं सकता। (शीला) पुनः भाव कि विप्रपदपूजनसे प्राप्त सत्सङ्गद्वारा प्राप्तिवाला मत लोकप्रसिद्ध है और जो मत अब कहूँगा वह गुप्त है। (वै०)

☞ शिवनिन्दक वैष्णवोंको यह वाक्य गाँठमें बाँध रखनेका है। उनका *'संकर भजन'* का यह अर्थ करना कि शंकर रामनाम जपते हैं यही *'संकर भजन'* है—केवल खींचतानमात्र है।

टिप्पणी—१ *'एक गुपुत मत'* गुप्त मत कहनेसे सूचित हुआ कि जबतक श्रीरामजीने यह बात खोलकर नहीं कही तबतक यह गुप्त रही, जब उन्होंने अपने हृदयकी बात कह दी तब सबने जाना। अयोध्यावासी तो सब आगेसे ही शिवाराधन करते हैं, यहाँ उनके बहानेसे रघुनाथजीने जगत्‌को उपदेश दिया है।

भा० १२, २५ से स्पष्ट है कि पूर्व सब ऋषि-मुनि वैष्णव होते आये हैं। यथा—'**भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम्। सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह॥**' अर्थात् पूर्वकालमें मुनिजन सत्त्वस्वरूप विशुद्ध भगवान् अधोक्षजका भजन करते थे; अतः इस समय भी जो लोग उन मुनियोंका अनुसरण करते हैं उनका भी कल्याण होता है। रा० प्र० कार गुप्तका भाव यह कहते हैं कि "वेदतन्त्रमें शिव-शक्ति उपासना ही प्रधान कहा और उपासनारहस्य नारदपाञ्चरात्र आदिमें शम्भु ही उपदेष्टा हैं।"

वै०—तात्पर्य यह है कि विप्रपदपूजादि पुण्यमतके अधिकारी तीन ही वर्ण हैं—ब्राह्मणको यह अधिकार विशेष नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण-ब्राह्मण सजातीय हैं। अतएव यह मत ब्राह्मणोंको भक्तिदायक नहीं है। समाजमें चारों वर्ण हैं, तीनको भक्तिका उपाय बताया, चौथेको अब बताते हैं। यह उपाय चारोंके कामका है अतः कहा कि *'सबहिं कहौं……।'* पर विशेष ब्राह्मणोंसे ही यह कहते हैं अतः *'कर जोरि'* कहा।

टिप्पणी—२ *'कहौं कर जोरि'* इति। बड़े लोग अच्छी बात सिखानेमें अति नम्र होते हैं, हाथ जोड़ते हैं, यथा—*'बिनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥'* (सुं० २२) इत्यादि।

[पंजाबीजीका मत है कि राजा होकर हाथ जोड़नेका भाव यह है कि—१ प्रभु प्रथम ही कह चुके हैं कि मैं अहंकार या प्रभुतासे नहीं कहता, और 'भाई' सम्बोधन कर चुके हैं, अतः अब भी नम्रता करते हैं। २—मैं तुम्हें अपना भक्त जानकर उपदेश करता हूँ। यह मेरा गुह्य सिद्धान्त है अतः इसे हरविमुखोंके आगे न कहना, यह मैं विनती करता हूँ। ३—भक्तिका उपदेश करता हूँ अतः यह जो भक्तिका स्वरूप है—नम्रता, यह भी स्वयं करके तुम्हें सिखाता हूँ कि इसी तरह नम्रतापूर्वक उपदेश देना चाहिये।]

२—शंकरजीके भजन बिना भक्ति नहीं मिलती, यथा—*'बिनु छल बिस्वनाथ पद नेहू। रामभगत कर लच्छन एहू॥' 'सिवपदकमल जिन्हहिं रति नाहीं। रामहिं ते सपनेहु न सोहाहीं॥'* (१। १०४) *'संकर भजन बिना'* का भाव कि ये कल्याणके करनेवाले हैं जब इनका भजन न किया तब भक्ति कैसे मिले जिससे कल्याण हो।

मयूख—*'इच्छित फल बिनु सिव अवराधे। लहिय न कोटि जोग जप साधे' 'जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥'* (१। १३८। ७) *'संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥'* (६। २। ८) इन चौपाइयोंका प्रकाशक यह दोहा है।

नोट—श्रीशिवजी वैष्णव-भक्तोंमें शिरोमणि हैं, यथा—'**वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा॥**'(भा० १२। १३। १६) इसीसे वे भगवान्‌के परमप्रिय हैं। यथा—*'सिव सम को रघुपति ब्रतधारी। बिनु अघ तजी सती असि नारी॥ पन करि रघुपति भगति देखाई। को सिव सम रामहि प्रिय भाई॥'* (१। १०४। ७-८) *'सिव समान प्रिय मोहि न दूजा॥'* (६। २। ६)

बाबा जयरामदासजी दीन—*'औरौ एक……'* यह निवृत्तिमार्गी मुनि—संन्यासियोंको भक्ति-प्राप्तिका उपाय बताया गया। पाठक देखें कि यहाँ भी वेषकी मर्यादाका पूर्णरूपसे निर्वाह किया गया है। भगवान् उनसे हाथ जोड़कर कहते हैं कि आप विरक्त महापुरुषोंके लिये मेरा एक और गुप्त मत है, उसे मैं आप सबको बताता हूँ कि *'संकर भजन……।'* तात्पर्य कि आप विरक्त पुरुषोंको गृहस्थाश्रमियोंकी भाँति ब्राह्मणसेवामें प्रवृत्त होनेकी कोई मजबूरी नहीं है। आपलोग यदि मेरी भक्ति प्राप्त करना चाहते हैं तो मेरे परमभक्त शंकरजीकी ही आराधना करें। उन्हींके द्वारा आपको मेरी भक्ति प्राप्त हो जायगी।

श्रीरामजी जब अपनेको प्रकट कर ही चुके कि मैं ही ईश्वर हूँ तब श्रोताओंसे हाथ जोड़नेका क्या प्रयोजन? इस शंकाका समाधान यह है कि ऐसा करके भगवान्‌ने नरावतारकी मर्यादाकी रक्षा की है। यही नहीं, भरद्वाज, वाल्मीकि, अगस्त्य आदि अन्य समस्त ऋषि-मुनियोंके सामने भी आपने अपना ऐश्वर्य प्रकट किया है। परंतु साथ-ही-साथ माधुर्यमर्यादाकी रक्षाके लिये अपनी ओरसे उनको प्रणाम किया है। यथा—*'मुनि रघुबीर परस्पर नवहीं'* और *'करत दंडवत मुनि उर लाए।'* इत्यादि।

गौड़जी—पहले कह आये कि बिना सत्सङ्गके भक्ति नहीं मिलती, परंतु लंकाकाण्डमें सेतुबन्धके अवसरपर कह चुके हैं कि—*'सिवद्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा'* *'संकरबिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥'* उन उक्तियोंपर इस स्थलमें यह शंका हो सकती है कि क्या सत्सङ्ग प्राप्त करके शिवद्रोही भी भक्ति पा सकता है? इस शंकाका यह भी अर्थ होता है कि क्या सत्सङ्ग पाकर भी हरिहरमें भेदभाव रह सकता है? इस अभेद विषयको एक दूसरी तरहपर इस दोहेमें स्पष्ट कर दिया है। यह एक गुप्त मत है **'रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।'** यह भगवान् सबसे कहते हैं। अबतक यह मत गुप्त था अब प्रकट कर देते हैं। इस गुप्त मतको भगवान् शंकरको स्मरण करके बड़ी दीनता और बड़ी नम्रतासे हाथ जोड़कर कहते हैं, क्योंकि यह भगवान् शंकरकी बात है, ऐसे-वैसे किसीकी नहीं है। महाभारतमें ऐसा लिखा है कि पूछे जानेपर अपने दीक्षागुरु उपमन्युके शंकर-सम्बन्धी उपाख्यानके आरम्भ करनेमें भगवान् कृष्णने विधिपूर्वक आचमनादि करके तब आरम्भ किया है। भगवान् स्वयं शंकरके ऐसे विनीत भक्त और सेवक हैं। इसीलिये हाथ जोड़कर कहते हैं कि बिना भगवान् शंकरके भजनके कोई मेरी भक्ति नहीं पा सकता। उधर शंकरभक्ति-सम्बन्धी भगवद्वचनपर स्वयं भगवान् शंकर कहते हैं *'गिरिजा रघुपति कै यह रीती। संतत करहिं प्रनत पर प्रीती॥'* और इधर अपने प्रभु शंकरकी चर्चा भी हाथ जोड़कर करते हैं और कहते हैं कि बिना उनकी भक्तिके मेरी भक्ति नहीं मिल सकती। इसका एक ही अर्थ हो सकता है कि व्यवहारमें हरिहर दो हैं और वास्तवमें एक ही और वह संगति सत्सङ्ग कहलाने योग्य नहीं है, जहाँ हरिहरमें भेद माना जाता हो।

कहहु भगति पथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥ १॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥ २॥
मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त* कहहु कहा बिस्वासा॥ ३॥

अर्थ—कहिये तो! भक्तिमार्गमें कौन परिश्रम है, न तो उसमें योग है न यज्ञ, न जप है न तप और न लङ्घन करने पड़ते हैं॥ १॥ सरल स्वभाव हो, मनमें कुटिलता न हो और जो मिले उसीमें सदा संतोष रहे॥ २॥ मेरा दास कहलाये और मनुष्योंकी† आशा करे तो, (तुम ही) कहो, उसको क्या विश्वास है?॥ ३॥

नोट—१ **'कहहु'** का भाव कि हमने जो कहा था कि *'सुलभ सुखद मारग यह'* उस मार्गको हमने बतला दिया कि वह विप्रपद पूजा, सत्सङ्ग एवं शंकरभजनसे प्राप्त होता है; ये सब उपाय सर्वत्र प्राप्त हैं। विप्र सर्वत्र, सत्सङ्ग *'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा'* शंकरजी ऐसे सुलभ कि *'सकहिं न देखि दीन कर जोरे'* तथा *'चाहै न अनंग-अरि एकौ अंग माँगने को देबोई पै जानिये स्वभाव सिद्ध बानि सो। बारिबुंदचारि त्रिपुरारि पर डारिये तौ देत फल चारि लेत सेवा साँची मानि सो॥ तुलसी भरोस न भवेस भोरानाथको तो कोटिक कलेस करो मरो छार छानि सो। दारिद-दमन दुख-दोष दाह-दावानल दुनी न दयाल दूजो दानि सूलपानि सो।'* (क० ७। १६१) अब 'भक्तिपथ' सुन चुके, तुम्हीं कहो इसमें कोई कठिनता है? *'कवन प्रयासा'* अर्थात् योग-यज्ञ आदिमें परिश्रम है, पर इसमें कोई परिश्रम नहीं है। यह कहकर आगे बताते हैं कि योगादि कठिन क्लेशोंकी जगह यहाँ क्या-क्या है।

---

* तौ—भा० दा०। † करु० तथा वै० का अर्थ—नर (राजा आदि) की आशा करे अथवा जैसे नर विषयकी आशा करते हैं। वैसे ही वह भी करे तो मेरे दासत्वका या मेरा कौन विश्वास है।

☞मिलान कीजिये—'**न ह्यच्युत प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजाः। आत्मत्वात्सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः॥**' (भा० ७। ६। १९) श्रीप्रह्लादजी दैत्यबालकोंसे कहते हैं कि भगवान्‌को प्रसन्न करनेमें कोई प्रयासका कार्य नहीं है, क्योंकि वे सबके आत्मा और सर्वव्यापी हैं।

टिप्पणी—१ *'जोग न मख जप तप उपवासा'* इति।—भाव कि योगादिकमें परिश्रम है। योगमें अष्टाङ्ग साधन करने पड़ते हैं, ये सब कठिन हैं। इनमें तनका कष्ट है। यज्ञमें द्रव्यका खर्च है और शरीरसे भी परिश्रम करना पड़ता है। व्रत-उपवास, तपस्यामें शरीरकष्ट है। ये कोई भक्तिके लिये करने नहीं पड़ते, अतः भक्तिमें परिश्रम नहीं।

२ *'सरल सुभाव'*"""""'—अर्थात् कपट-छल-रहित हो, कहनी-करनी एक-सी हो, अन्तर-बाहर एक-सा हो। यथा—*'सरल सुभाउ छुपत छल नाहीं॥'* (१। २३७) कपट भगवान्‌को नहीं भाता। छल छोड़कर स्मरण करनेसे वे कृपा करते हैं। यथा—*'दूरि न सो हितू हेरु हिये ही है। छलहि छाड़ि सुमिरे छोह किए ही है॥ किए छोह छाया कमल कर की भगत पर भजतहि भजै। जगदीस जीवन जीवको जो साज सब सबको सजै॥'* (वि० १३५) 'सरल स्वभाव' से स्मरण करनेपर वे सब योग-क्षेम वहन करते हैं। अतः जो वह दें उसीमें संतोष करे, यही आगे कहते हैं। *'जथा लाभ संतोष सदाई'* अर्थात् दैवयोगसे जो कुछ मिल जाय उसीसे संतुष्ट रहे। यथा—'**यदृच्छयोपलब्धेन संतुष्टः।**' (भा० ३। २७। ८)

'कहा बिस्वासा' इति। *'जथा लाभ संतोष'* कहकर अब उसका हेतु बताते हैं कि *'मोर दास कहाइ'*"""""*।'* भाव कि उसने हमको मनुष्यके समान भी नहीं माना तभी तो हमको छोड़कर नरकी आशा की; अतएव वह हमारा भक्त कैसा? हमारा भक्त नहीं है। [मुझ विश्वम्भरका विश्वास छोड़कर अन्यपर विश्वास करे यह आश्चर्य है। यथा पाण्डवगीतायाम्—'**भोजने छादने चिन्तां वृथा कुर्वन्ति वैष्णवः। योऽसौ विश्वम्भरो देवः स भक्तान् किमुपेक्षते॥**']

बहुत कहौं का कथा बढ़ाई। एहि आचरन बस्य मैं भाई॥ ४॥
बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥ ५॥
अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दक्ष बिग्यानी॥ ६॥

अर्थ—बहुत कथा बढ़ाकर क्या कहूँ। हे भाइयो! मैं इस आचरणके वश हूँ॥ ४॥ किसीसे वैर-विरोध और झगड़ा न करे, किसीसे कुछ आशा और न किसीका भय करे। उसको सब दिशाएँ सदा आनन्दमयी हैं॥ ५॥ (काम्यकर्मके) उद्योगका छोड़नेवाला, जिसका कोई घर नहीं है अर्थात् निराश्रय, मानरहित, निष्पाप, क्रोधरहित, दक्ष और विज्ञानी (हो)॥ ६॥

टिप्पणी—१ ☞*'एहि आचरन बस्य मैं भाई।'* यहाँतक प्रवृत्ति-मार्गवालोंके आचरण कहे। आगे निवृत्ति-मार्गवालोंके आचरण कहते हैं।

नोट—१ (क) *'बैर न बिग्रह'*"""""*'* इति। वैर मनमें होता है और विग्रह कर्म है। (करु०) वैर गाढ़ होता है। इसमें एक-दूसरेको हानि पहुँचानेकी चिन्ता एवं घातमें रहता है। विग्रह=सामान्य झगड़ा। यह शीघ्र मिट जाता है। (पं० रा० व० श०)। (ख) *'आस न त्रासा'* इति। आशाके दास सभीके दास, सभीके गुलाम होते हैं और जो आशारहित हैं केवल प्रभुका जिसको आशा-भरोसा रहता है वह ही प्रभुका दास और प्रिय है। यथा—*'जे लोलुप भए दास आस के ते सब ही के चेरे। प्रभु बिस्वास आस जीती जिन्ह ते सेवक हरि केरे॥'* (वि० १६८) आशासे शोक ही हाथ लगता है, सदा चिन्ताग्रस्त रहना पड़ता है, उसमें दुःखको छोड़ सुख कहाँ? यथा—'**आशा हि परमं दुःखम्**' *'तुलसी अद्भुत देवता आसा देवी नाम। सेए सोक समर्पई बिमुख भए अभिराम॥'* (दो० २५८) इसी तरह (भव) त्राससे दुःख ही होता है। यथा—*'फिरा श्रमित ब्याकुल भय सोका।'* केवल भगवान्‌का भरोसा रहनेसे, प्रभुको ही हृदयमें बसानेसे यह सब दुःख मिट जाते हैं और सर्वत्र सुख-ही-सुख होता है, क्योंकि प्रभु *'आस त्रास इरिषादि*

निवारक' हैं। विनयमें भी कहा है *'तुलसिदासकी त्रास मिटै जब करहु हृदय महँ डेरो।'* (१४३) *'तुलसिदास रघुबीर बाहुबल सदा अभय काहू न डरै।'* (वि० १३७) पुनः *'आस न त्रासा'* से जनाया कि उसे तत्त्वदर्शी होना चाहिये। तत्त्वदर्शी होनेसे मनुष्य इधर-उधर नहीं भटकता, किसी भी बातके लिये प्रभुको छोड़कर किसी भी ओर उसकी दृष्टि न जायगी—*'बनै तो रघुबर ते बनै बिगरै तो भरपूर। तुलसी औरहि ते बनै वा बनिबे में धूर।' 'जरि जाउ सो जीह जो जाचहि औरहि॥'* भगवान्‌पर ही निर्भर रहे।

२ *'सुखमय ताहि सदा सब आसा'* इति। दुःखके मूल कारण आशा और त्रास ही जब न रहे तब जीव सुखमय हुआ ही चाहे। वैर-विग्रहकी जड़ भी आशा ही है। आशाका त्याग करनेसे भक्त शोभित होता है। यथा—*'बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा॥'* (४। १६। ९) *'पावै सदा सुख हरि कृपा संसार आसा तजि रहै। सपनेहु नहीं सुख द्वैत दरसन बात कोटिक को कहै॥'* (वि० १३६) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि इन शब्दोंसे जनाया कि सब दिशाओंसे सब दिक्पाल उसकी सहायता करते हैं।

३ श्रीमद्भागवतमें भी इस चरणसे मिलते हुए **'सर्वाः सुखमया दिशः'** ये शब्द कुछ विशिष्ट भक्तोंके सम्बन्धमें भगवान्‌ने श्रीउद्धवजीसे कहे हैं। यथा—**'अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः। मया सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमया दिशः॥'** (११। १४। १६) अर्थात् अकिञ्चन (सर्वप्रकारके संग्रह-परिग्रहसे रहित), जितेन्द्रिय, शान्त, समदर्शी, मेरी ही प्राप्तिसे सदा संतुष्ट रहनेवाले (अर्थात् मेरे सान्निध्यका अनुभव करके सदा पूर्ण संतोषका अनुभव करनेवाले) को सब दिशाएँ आनन्दसे भरी हुई हैं। अतः इस चरणको उपर्युक्त श्लोकका प्रतिरूप समझना चाहिये। अकिञ्चन दान्त और शान्त गुण यहाँ *'बैर न बिग्रह'* से और **'समचेतसः मया सन्तुष्टमनसः'** का भाव *'आस न त्रासा'* से सूचित कर दिया गया है। जैसे मानसमें इस चरणके पश्चात् फिर भी कुछ गुण कहे हैं वैसे ही भागवतमें भी इस श्लोकके बाद भी कुछ कहे हैं।

नोट—४ *'अनारंभ अनिकेत''''''''''* के भाव टीकाकारोंने ये लिखे हैं—(क) *'अनारम्भ'* अर्थात् किसी प्रपञ्चका आरम्भ न करे। (पं० रा० कु०); किसी उद्यमकी चेष्टा नहीं करता। (पां०); किसी पदार्थका आरम्भ नहीं करता, नेम नहीं करता, सहजानन्द भजन करता है अर्थात् सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते मेरे गुण और स्वरूपमें चित्तकी वृत्ति अखंड लगी है।(करु०)। आप कर्त्ता बनकर शुभाशुभ किसी कर्मको प्रारम्भ नहीं करते। आज हम यह करेंगे ऐसा नहीं कहते, किंतु यही मानते हैं कि जिस कालमें जैसी हरि-इच्छा होगी, वैसा होगा (वै०)। नियम बाँधकर उसका आरम्भ नहीं करते। अवकाश पाकर भजनमें लीन हो जाते हैं। कारण कि आरम्भ तो उस बातका किया जाता है कि जिसका अंत निर्धारित कर फलप्राप्तिकी आशा की गयी हो। जैसे *'एक लक्ष जाप'।* (वि० टी०) संकल्प ही नहीं करते (रा० प्र०)।

प्र० स्वामीका मत है कि 'अनारम्भ' में *'त्यागहिं कर्म सुभासुभदायक'* का भाव है, 'सकाम कर्मोंका आरम्भ न करना' यही अर्थ उचित है। (ख) *'अनिकेत'* अर्थात् घर नहीं बनाते, क्योंकि घर बनानेसे मोह लग जाता है जो बन्धनका कारण होता है (पं० रा० कु०)। वा, किसी स्थानका ममत्व न होनेसे 'अनिकेत' कहा (पाँ०)। वा, घर नहीं बनाते क्योंकि घर बनानेसे बहुत-सी चिन्ताएँ आ उपस्थित होती हैं, अतः सर्पकी वृत्ति ग्रहण किये रहते हैं। (करु०) वा, भाव कि किसी स्थानको अपना घर नहीं मानते, जहाँ चाहें वहाँ रहें, निर्वाहमात्रसे प्रयोजन है (वै०)। वा, गृहादिकी इच्छा ही नहीं, जैसे लोमशजीने घर ही न बनाया, दत्तात्रेयजीने यही शिक्षा सर्पसे ली कि वह दूसरेके बिलमें ही रहता है (रा० प्र०)।

पं०—रामवल्लभाशरणजी कहते हैं कि **'अनारम्भ अनिकेत'** का मुख्य तात्पर्य आसक्तिशून्य होनेमें है।

गीतामें **'सर्वारम्भपरित्यागी'** और *'अनिकेत'* ये दोनों शब्द उन भक्तोंके सम्बन्धमें आये हैं, जिनको भगवान्‌ने अपना प्रिय कहा है। यथा—**'अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः। सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्। अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः॥'** (१२। १६। १९)

श्रीमान् तिलकजी 'सर्वारम्भपरित्यागी' का अर्थ लिखते हैं कि 'जिसने काम्यफलके सब आरम्भ यानी

उद्योग छोड़ दिये हैं।' 'अनारम्भ' का अर्थ 'सर्वारम्भपरित्यागी' है। अनिकेतका अर्थ वे लिखते हैं कि 'जिसका कर्मफलाशयरूप ठिकाना कहीं भी नहीं रह गया' और कहते हैं कि 'यह शब्द उन यतियोंके वर्णनोंमें भी अनेक बार आया करता है कि जो गृहस्थाश्रम छोड़ संन्यास धारण करके भिक्षा माँगते हुए घूमते फिरते हैं (मनु० ६-२५) और इसका धात्वर्थ 'बिना घरवाला' है। अतः इस अध्यायके 'निर्मम' '**सर्वारम्भपरित्यागी**' और 'अनिकेत' शब्दोंसे तथा अन्यत्र गीतामें '**त्यक्तसर्वपरिग्रहः**' (४। २१) अथवा '**विविक्तसेवी**' इत्यादि। जो शब्द आये हैं उनके आधारसे संन्यास-मार्गवाले टीकाकार कहते हैं कि हमारे मार्गका यह परमध्येय 'घर-द्वार छोड़कर बिना किसी इच्छाके जङ्गलोंमें आयुके दिन बिताना' ही गीतामें प्रतिपाद्य है········गीतावाक्योंके ये निरे संन्यास-प्रतिपादक अर्थ संन्यास-सम्प्रदायकी दृष्टिसे महत्त्वके हो सकते हैं, किन्तु सच्चे नहीं हैं। क्योंकि गीताके अनुसार 'निरग्नि' अथवा 'निष्क्रिय' होना सच्चा संन्यास नहीं है, पीछे कई बार गीताका यह स्थिर सिद्धान्त कहा जा चुका है (देखो गी० ५। २ और ६। १। २) कि केवल फलाशाको छोड़ना चाहिये न कि कर्मको। अतः 'अनिकेत' पदका घर-द्वार छोड़ना अर्थ न करके ऐसा करना चाहिये कि जिसका गीताके कर्मयोगके साथ मेल मिल सके। गीता ४। २० वें श्लोकमें कर्मफलकी आशा न रखनेवाले पुरुषको ही 'निराश्रय' विशेषण लगाया गया है और गी० ६। १ में उसी अर्थमें '**अनाश्रितः कर्मफलम्**' शब्द आये हैं। 'आश्रय' और 'निकेत' इन दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही है। अतएव 'अनिकेत' का गृहत्यागी अर्थ न करके ऐसा करना चाहिये कि गृह आदिमें जिसके मनका स्थान फँसा नहीं है। इसी प्रकार '**सर्वारम्भपरित्यागी**' का अर्थ 'सारे कर्म या उद्योगोंको छोड़नेवाला' नहीं करना चाहिये, किन्तु गी० ४। १९ में जो कहा है कि 'जिसके समारम्भ फलाशाविरहित हैं उसके कर्म ज्ञानसे दग्ध हो जाते हैं' वैसा ही अर्थ यानी 'काम्य आरम्भ अर्थात् कर्म छोड़नेवाला' करना चाहिये। यह बात गी० १८। २ और १८। ४८ एवं ४९ से सिद्ध होती है। सारांश, जिसका चित्त घर-गृहस्थीमें, बाल-बच्चोंमें, अथवा संसारके अन्यान्य कामोंमें उलझा रहता है, उसीको आगे दुःख होता है। अतएव गीताका इतना ही कहना है कि इन सब बातोंमें चित्तको फँसने न दो। और मनकी इसी वैराग्य स्थितिको प्रकट करनेके लिये गीतामें 'अनिकेत' और '**सर्वारम्भपरित्यागी**' आदि शब्द स्थितप्रज्ञके वर्णनमें आया करते हैं।

अनन्त श्रीस्वामी रामानुजाचार्यके मतानुसार 'सर्वारम्भपरित्यागी' का अर्थ है '**शास्त्रीयव्यतिरिक्तसर्वकर्मारम्भ-परित्यागी**।' अर्थात् जो शास्त्रीय कर्मोंके अतिरिक्त अन्य सभी आरम्भोंका त्यागी है। और गीता ४। २१ के '**त्यक्तसर्वपरिग्रहः**' का अर्थ है 'एकमात्र आत्मामें ही अपना प्रयोजन समझनेके कारण जो प्रकृति और प्राकृत वस्तुओंमें ममतारहित हो गया है। गीता ४। १९ के '**यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।**' का अर्थ है—'जिस मुमुक्षु पुरुषके समस्त आरम्भ, अर्थात् द्रव्योपार्जनादि लौकिक कर्मोंसहित नित्य, नैमित्तिक और काम्यरूप सभी कर्म समारम्भ, कामनावर्जित अर्थात् फलासक्तिसे रहित और सङ्कल्पसे भी रहित होते हैं। 'अनिकेत' अर्थात् स्थिरबुद्धि होनेके कारण जो गृह आदिमें अनासक्त हो गया है।

५ अमानी=मानरहित। यथा—'***सबहि मानप्रद आपु अमानी।***' अनघ=निष्पाप। (पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'अनघ' से बताया कि पाप न करे। माण्डव्य ऋषि कीटको मारनेके अपराधसे शूलीपर चढ़ाये गये) अरोष=क्रोधरहित। अनघ कहकर उसका कारण 'अरोष' कहा। क्रोध ही पापका मूल है। यथा—'***लषन कहेउ हँसि सुनहु मुनि क्रोध पाप कर मूल।***' (१। २७७) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'वे यह सोचकर क्रोध नहीं करते कि रोष करें तो अपने ही दोषोंपर, दूसरेपर क्यों करें।' 'दक्ष'=वेदशास्त्रतत्त्वमें प्रवीण (करु०)।=सब कामोंको आलस्य छोड़कर करनेवाला (तिलक)।—शास्त्रीय क्रियाके सम्पादनमें समर्थ। (श्रीरामानुजभाष्य) विज्ञानी=अनुभवी।

पं० रा० कु०—विज्ञानी और दक्ष हैं इसीसे अरोष हैं, अरोष होनेसे अनघ हैं। अमानी हैं इसीसे अनारम्भ और अनिकेत हैं।

नोट—'***सब आसा***'=सब दिशाएँ। दसों दिशाओं और उनकी उत्पत्तिपर (१। २८। १) '***नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ।***' देखिये।

प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। त्रिन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा॥ ७॥
भगतिपच्छ हठ नहि सठताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**संसर्ग**=सम्बन्ध, मिलाप, समागम, सङ्ग, घनिष्ठता। **दुष्ट तर्क**=कुतर्क; वेदमतविरुद्ध तर्क। यथा—'**दुस्तर्कात् सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयते।**' (श्रीमच्छङ्कराचार्यकृत साधनपञ्चकस्तोत्र)

अर्थ—सज्जनोंके संसर्गमें सदा प्रेम है अर्थात् सदैव उनसे लगाव रखते हैं, उनके निकट रहते हैं। स्वर्गपर्यन्त सारे विषयसुख और मोक्ष उनको तृण-समान तुच्छ हैं (भाव कि भक्त लोग पाँचों प्रकारकी मुक्तियाँ भी नहीं स्वीकार करते हैं)॥ ७॥ भक्तिके पक्षमें हठ करते हैं, शठता नहीं करते। सब कुतर्कोंको दूर बहा दिया है॥ ८॥

नोट—१ *'प्रीति सदा सज्जन संसर्गा'* इति। *'आस न त्रासा', 'अनारंभ'........'दक्ष बिग्यानी'* आदि गुण होनेपर शङ्का हो सकती है कि तब तो वह अन्य संतोंकी भी उपेक्षा करता होगा? इसका निराकरण करनेके लिये ही कहते हैं कि सज्जन-संसर्गमें उनका सदा प्रेम रहता है। अपने प्रियसे सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु प्रेमीको प्रिय लगती ही है। फिर भक्त संत तो अपने प्रियतम प्यारेके रूप ही हैं।

टिप्पणी—१ *'प्रीति सदा सज्जन संसर्गा'* कहकर *'त्रिन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा'* कहनेमें अभिप्राय यह है कि वे सज्जनोंका सत्सङ्ग-सुख चाहते हैं, इसके आगे स्वर्ग और अपवर्गका सुख तृणवत् मानते हैं, क्योंकि सत्सङ्गसुख उन सुखोंसे अधिक है। ☞ यहाँ परम वैराग्य कहा है। यथा—*'कहिअ तात सो परम बिरागी। तृनसम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥'* [सत्सङ्गके फल अपवर्गसे भी वैराग्य कहकर जनाया कि सत्सङ्ग साधन और साध्य दोनों है। इसीसे तो शङ्करजी सत्सङ्ग भी बार-बार माँगते हैं, यथा—*'बार बार बर माँगौं हरषि देहु श्रीरंग। पदसरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥'*]

नोट—२ मानसमें लङ्किनीने श्रीहनुमान्‌जीका दर्शन और स्पर्श होनेपर सत्सङ्गसे प्राप्त सुखको अपवर्गसुखसे अधिक श्रेष्ठ कहा है। यथा—*'तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिअ तुला एक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥'* (सुं० ४) ऐसा ही शौनकादि महर्षियोंने भी कहा है। यथा— '**तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः।**' (भा० १। १८। १३) (अर्थात्) भगवान्‌के प्रेमी भक्तोंका एक लवमात्रका भी सङ्ग करनेसे जो सुख मिलता है उसके साथ हम स्वर्ग और मोक्षके सुखकी भी तुलना नहीं कर सकते, फिर मर्त्यलोकके सुखोंकी बात ही क्या है।

क्यों सत्सङ्गको मोक्षसुखसे अधिक मानते हैं, इसका कारण उद्धवजीसे कहे हुए भगवान्‌के '**न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥ व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः। यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥**' (भा० ११। १२। १-२) इन वाक्योंमें मिलता है। अर्थात् जगत्‌में जितने भी 'सङ्ग' (आसक्तियाँ) हैं उन्हें सत्सङ्ग नष्ट कर देता है। यही कारण है कि सत्सङ्ग मेरी प्रसन्नताका, मुझे वश कर लेनेका जैसा सफल साधन है वैसा साधन न योग है न सांख्य, न धर्मपालन और न स्वाध्याय। तप, त्याग, इष्टापूर्त कर्म, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, वेद, तीर्थ और यम-नियम भी सत्सङ्गके समान मुझे वशमें करनेको समर्थ नहीं हैं। मानसमें भी भगवान्‌के वाक्यों और भुशुण्डीजीके उनपर जो विचार हैं, उनसे भी यही सिद्ध होता है। *'काकभुसुण्डि मागु बर अति प्रसन्न मोहि जानि। अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुख खानि।'* (८३)........' भगवान्‌के इस वाक्यपर भुशुण्डीजी सोच रहे हैं कि *'प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥ भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥ भगति हीन सुख कवने काजा।* (८४। ४—६) भगवान् प्रायः भक्ति नहीं देते, क्योंकि उससे वे बँध जाते हैं—*'निर्बान दायक क्रोध जाकर भगति अबसहिं बसकरी।'* (आ० २६) उनके लिये भगवान्‌का वाक्य है कि *'भजहि जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखै महतारी॥'* (आ० ४३), 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।' (गीता ९। २२) वही भक्ति सत्सङ्गद्वारा प्राप्त हो जाती है और भगवान् वशमें हो जाते हैं। इसीसे तो *'सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं।'* और *'सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि।'* (कि० २६)

भक्तलोग तो भगवान्‌का कैंकर्य चाहते हैं, भक्तिको भक्तिके लिये ही चाहते हैं, जिस मोक्षमें यह सेवा नहीं है उसे वे तुच्छ समझते हैं; यह बात हनुमान्‌जीने भगवान्‌से स्वयं कही है। और भगवान् कपिलदेवने भी इन शब्दोंमें कही है—'**सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥**' (भा० ३। २९। १३) अर्थात् मेरे देनेपर भी मेरे भक्त इन पाँचों मुक्तियोंको ग्रहण नहीं करते। भक्ति प्राप्त होनेपर भी उसकी स्थितिके लिये भी सत्सङ्ग परम आवश्यक है।

मयूख—ऊपर दोहा ३३ में कहा था कि *'संतसंग अपबर्ग कर·········पंथ'* और यहाँ संतसङ्गसे जो अपवर्ग प्राप्त होता है, उससे भी वैराग्य कहते हैं—*'त्रिन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा।'* इसमें विरोधाभास-सा जान पड़ता है। समाधान यह है कि पूर्व-अपवर्गसे श्रेष्ठ मुक्ति अभिप्रेत है और यहाँ अपवर्गसे सारूप्य, सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य समझो।

वि० टी०—समाधान यह है कि सत्सङ्ग मुख्य है। उसका परिणाम अपवर्ग होता ही है। सो यदि मूलका ग्रहण किया तो उसके परिणाम पत्ते-पुष्प आदि आप ही प्राप्त होंगे।

करुणासिंधुजी यह अर्थ करते हैं कि 'सज्जनोंमें प्रीति ही उनका संसर्ग अथवा पूर्व संस्कार, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्म हैं।' '**तुष्टे च तत्र किमलभ्यमनन्त आद्ये किं तैर्गुणव्यतिकरादिह ये स्वसिद्धाः। धर्मादयः किमगुणेन च कांक्षितेन सारंजुषां चरणयोरुपगायतां नः॥**' (भा० ७। ६। २५) अर्थात् उन आदिपुरुषके संतुष्ट होनेपर कौन पदार्थ अलभ्य है, गुणपरिणामवश भाग्यक्रमसे स्वयंसिद्ध सब धर्मोंसे क्या फल है? मोक्षवासना ही किसलिये हो जब कि हम निरन्तर उनके नामके कीर्तन एवं श्रीचरणारविन्दके अमृतका पान करते हैं।

सि० ति० कार लिखते हैं कि 'यहाँ भक्तकी भावना कही गयी है कि वे सत्सङ्गके आगे मुक्तिके सुखको तुच्छ मानते हैं, अर्थात् सत्सङ्गसे भक्तलोग श्रीरामजीका स्नेह चाहते हैं, कोई फल नहीं चाहते। उससे जब अन्तमें वे भगवद्धामको ही जाते हैं, तब वही मुक्तिका पद है वह अनायास प्राप्त हो जाता है। क्योंकि वह जीव फिरकर जगत्‌में तो आता नहीं। भक्तिमें किसी फलकी वासनाका रखना ही दोष है, क्योंकि फल चाहनेसे भगवान् और उनकी भक्ति दोनों उस फलके साधन हो जाते हैं, इसीसे कहा है—*'नरक परहु फल चारि सिसु मीच डाकिनी खाउ। तुलसी राम सनेह को जो फल सो जरि जाउ॥'* (दो० ९२)

पं० रा० कु०—*'भगतिपच्छ हठ नहिं सठताई'* इति। जैसे भुशुण्डिजीने शाप सह लिया पर भक्तिपक्ष न छोड़ा। *'दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई।'* अर्थात् खराब तर्क सब दूर बहा दे। जिसमें किसीकी निन्दा और खण्डन न हो। इष्टदेवको सबसे परे मानकर हठपूर्वक भक्ति करे, देवान्तर बुद्धि त्यागके इष्टदेवका रूप माने अर्थात् सब देवताओंमें अपने इष्टदेवका रूप देखे।—[*'दुष्टतर्क·······बहाई'* से जनाया कि अनुकूल तर्क भक्तिपक्षके करे।]

वै०—*'भगतिपच्छ हठ।'* जैसे कि चकोरका चन्द्रपर, चातकका स्वातिबुन्दपर और मीनका जलपर इत्यादि, वैसे ही इष्टोपासनाकी दृढ़ताके लिये अनन्यताका व्रत धारण करना चाहिये।

करु०—*'भगतिपच्छ हठ नहि सठताई'* इति। भाव कि—(१) भक्तिपक्षमें हठ न करनेसे उपासनामें दोष आता है पर दुष्ट तर्क छोड़कर पक्षमें हठ करना चाहिये। (२) यह भी अर्थ हो सकता है कि न हठ चाहिये न शठता, क्योंकि हठ और शठतासे मनमें उद्वेग होता है। ऐसा करनेका प्रयोजन जिसके साथ पड़े उसका संग ही न करे, यह उसका उपाय है। [भुशुण्डीजीका मत प्रथम अर्थका पोषक है, यथा—*'भगति पच्छ हठ करि रहेउँ दीन्हि महारिषि साप। मुनिदुर्लभ बर पायउँ देखहु भजन प्रताप॥'* (११४) अर्थात् भक्तिपक्षमें हठका यह फल मिला, प्रह्लादजी भी भक्तिमें हठ करते गये।]

रा० प०, रा० प्र०—अपरदेव-निन्दा दुष्टतर्क है। किसीके मतका खण्डन न करो, क्योंकि सब वेदादिहीसे तो निकले हैं, सब वेदोंका ही प्रमाण देते हैं अतः समीकरण ही करे और सबको समान माने। *'काहू मतको जिन तोरौ। जोरि सकौ जेतना जोरौ। मतवारनसे अरज यही·········का निर्गुन का सरगुन मतमें रहिहै एकै बात सही। सार भाग सबही को लीजै रससे तजिये छाछ मही। बूसी बाद सार निज करनी बोल गए अस सार गही। देव*

मंत्र दमड़ीके कारन जिन बेचो कहि दही दही॥' [गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है कि जो कोई भी अन्य देवताओंके भक्त श्रद्धासे युक्त होकर उनको पूजते हैं वे वास्तवमें मेरी ही पूजा करते हैं (क्योंकि सब कुछ मेरे शरीररूपसे मेरा ही स्वरूप होनेके कारण इन्द्रादि शब्द भी मेरे ही वाचक हैं), परंतु यह पूजा अविधिपूर्वक है। यथा—**'येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥'** (९। २३) **'आकाशात् पतितं तोयं यथा गच्छति सागरम्। सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति'**]।

वि० त्रि०—**'शठ अन्यत्र बद्धभावो यः। दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति।'** मन तो दूसरी वस्तुमें लगा हुआ है, और बाहरसे दूसरी जगह अनुराग दिखलाता है और छिपे-छिपे ऐसा आचरण करता है, जो उसे प्रिय न हो ऐसे पुरुषको शठ कहते हैं। अर्थात् आसक्ति तो है विषयमें बाहरसे रामभक्त बने हुए हैं, और छिपे-छिपे ऐसा आचरण करते हैं, जो रामजीको प्रिय नहीं है, अर्थात् कपट-छल-छिद्रसे काम लेते हैं, यही शठता है। सरकार कहते हैं कि भक्तिपक्षमें हठ होना चाहिये, यथा—**'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत' 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।'** जब सब ही वासुदेव हैं, तो मैं भी वासुदेव हूँ। परंतु यहाँपर हठ चाहिये कि *'मैं तो सेवक हूँ।'* इसीलिये भगवान् कहते हैं कि *'सो अनन्य जाके असि मति न टरै हनुमंत।'* सबको वासुदेव माननेपर सेवक-सेव्य-भावके हट जानेकी बड़ी सम्भावना है, सो होने न पावे। यहाँ हठ होना चाहिये, पर शठताको स्थान न मिलने पावे। सच्चे मनसे विश्वरूप भगवान्‌की सेवामें दत्तचित्त हो जावे, छिपे सेवा लेनेका प्रयत्न न करे। आगमके प्रतिकूल तर्कको ही दुष्ट तर्क कहते हैं। इनसे बचा रहे, क्योंकि शुष्क तर्ककी कोई प्रतिष्ठा नहीं है, आगमानुकूल तर्क ही उपादेय है।

दो०—मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह।
ता कर सुख सोइ जानै परानंद संदोह॥ ४६॥

शब्दार्थ—**संदोह**=राशि, समूह, झुण्ड। **मोह**=कुछ-का-कुछ समझनेवाली बुद्धि; शरीर और सांसारिक पदार्थोंको अपना या सत्य समझनेकी बुद्धि जो दुःखदायिनी मानी जाती है।—*'तुलसिदास प्रभु मोह जनित भ्रम भेद बुद्धि कब बिसरावहुगे।'* मोह होनेसे किसीमें अपनपौ मान लेना कि यह मेरा है 'ममत्व' है।

अर्थ—जो मेरे गुणसमूह (चरित) और नाममें लग्न लगाये है, ममता-मद-मोहरहित है। उसका सुख वही जान सकता है। (अर्थात् वह सुख कहा नहीं जा सकता, अनिर्वाच्य है) जो परानन्दराशिको प्राप्त है॥* ४६॥

नोट—१ *'मम गुन ग्राम नाम रत'* इति। अरण्यकाण्डमें जो भगवान्‌ने कहा है—*'मम लीला रति अति मन माही'* और *'मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥'* (३। १६) वही 'गुणग्रामरत' का भाव है। *'मम नाम रत'* में *'कहत राम सिय राम सिय उमगि उमगि अनुराग।'* (२। २०३) *'पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। जीह नाम जप लोचन नीरू॥'* (२। ३२६। १) तथा *'सकल कामना हीन जे राम भगति रस लीन। नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन॥'* (१। २२) का भाव है।

---

* मिलान कीजिये—'मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः। मयात्मना सुखं यत्तत्कुतः स्याद्विषयात्मनाम्॥' (१२) निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः। कामैरनालब्धधियो जुषन्ति यत्तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम॥ (१७)(भा० ११, १४)—भगवान् उद्धवजीसे कहते हैं कि हे सभ्य! मुझमें आत्माको अर्पित करनेवाले लोगोंको सब विषयोंकी अपेक्षा छोड़कर आत्मरूप मुझसे जो सुख प्राप्त होता है वह सुख विषयासक्तचित्त व्यक्तियोंको कहाँ मिल सकता है? निष्किञ्चन, मुझमें अनुरक्तचित्त, शान्त, निरभिमान, अशेषजीववत्सल, निष्काम मेरे अनन्य भक्त जिस सुखको भोगते हैं उसे वे ही जानते हैं, अन्य कोई नहीं जान सकता। क्योंकि जो लोग कुछ भी नहीं चाहते वे ही उस परमानन्दको पाते हैं।

श्लोकोंके 'मय्यर्पितात्मनः' 'मय्यनुरक्तचेतसः' का भाव 'मम गुनग्राम नामरत' 'निरपेक्षस्य सर्वतः' 'निष्किञ्चना' का भाव 'गत ममता' और 'शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः' 'कामैरनालब्धधियः' का 'गत मद मोह' में जना दिया। 'तत्कुतः स्याद्विषयात्मनाम्।' 'तन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम' का भाव भी 'ताकर सुख सोइ जानै' में है। 'मयात्मना सुखं यत्' 'सुखं मम' का भाव 'परानन्द संदोह' में है। इस प्रकार इस दोहेका प्रतिरूप ही ये श्लोक हैं।

२ (क) *'गत ममता'* से जनाया कि *'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥'* किसीमें ममत्व नहीं रह गया है किन्तु उधरसे ममत्व हटकर एकमात्र मुझमें ममत्व रखता है, वह सब नाते मुझमें ही मानता है। यथा—*'सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥'* (५। ४८। ५) *'गुर पितु मातु बंधु पति देवा। सब मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा॥ '* (३। १६। १०)

(ख) *'गत मद'* इति। इससे समस्त त्रिगुणात्मक विषयोंसे रहित जनाया, क्योंकि विषय-समान दूसरा मद नहीं है। यथा—*'नाथ विषय सम मद कछु नाहीं। मुनि मन मोह करइ छन माहीं॥'* (४। २०। ७) पुनः जाति, विद्या, बड़प्पन, रूप और यौवन आदिका मद। ये भक्तिके बाधक हैं, इसीसे इनका सर्वथा त्याग भक्तके लिये कहा गया है। यथा—**'जाति विद्या महत्त्वं च रूपयौवनमेव च। यत्नेन परिवर्जेयात्पञ्चैते भक्तिकण्टकाः॥'**

(ग) *'गत मोह'* कहा क्योंकि यही सब मानसरोगोंका मूल है। यथा—*'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥'* (१२१। २९) काम, क्रोध, ममता आदि सबका कारण यही है। मोह होनेसे स्वरूपका ज्ञान नष्ट हो जाता है, देहमें अहंबुद्धि आ जाती है। भेद-बुद्धि इसीसे होती है, *'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'* यह दृष्टि नहीं रह जाती। यह बड़ा प्रबल है। यह *'मुनि बिज्ञान धाम मन करहि निमिष मह छोभ।'*

(घ) *'मम गुन ग्राम नाम रत········'* से जनाया कि मैं सदा ऐसे भक्तके वशमें रहता हूँ। यथा—*'मम लीला रति अति मन माहीं।········काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥'* (३। १६)

'गत ममता मद मोह' से जनाया कि वे सर्वत्र मुझको ही देखते हैं और मेरे चरणोंके दृढ़ अनुरागी हैं। यथा—*'मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥'* (६१) *'उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभु मय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥'* (११२) *'गत ममता'* से यह भी जनाया कि वह मुझमें ही सबको देखता है (*'सब मो कहँ जानइ'*)। इस प्रकार इन शब्दोंमें गीताके **'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति॥'** (६। ३०) का भाव भी जना दिया और यह भी जनाया कि वह सदा मेरे हृदयमें बसता है। यथा—*'सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँधि बरि डोरी॥' 'सम दरसी इच्छा कछु नाहीं।········अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसइ धन जैसे॥'* (५। ४८) इस तरह **'तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।'** (गीता ६। ३०) का भी भाव आ गया कि उसके लिये न तो मैं अदृश्य होता हूँ और न वह मेरे लिये अदृश्य होता है।

'मम गुन ग्राम नाम रत' कहकर *'गत ममता मद मोह'* कहनेका भाव कि गुणग्राम और नाममें अनुरक्त होनेसे ममता-मद-मोह स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं, वह इनसे रहित हो जाता है। यथा—*'सेवक सुमिरत नामु सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दलु जीती॥' 'फिरत सनेह मगन सुख अपने।'* (१। २५। ७-८)

पं० रा० व० श०—१ *'मम गुन ग्राम········'* इति। जो भक्त इन सुलक्षणोंसे युक्त हो जिनका इस दोहेमें वर्णन है वह परानंदसंदोह है, फिर वह सांसारिक सुखकी ओर कभी नहीं जा सकता। देह, परिवार, प्राण, धन इत्यादि संसारके पदार्थोंमें ममता न हो। जाति विद्यादि मदोंसे रहित हो। ये मद बड़े प्रबल हैं। जो इनसे भर जाता है, वह ईश्वरसहित सज्जनोंका अपमान करता है। भागवतमें भगवान्‌का वाक्य है कि संसारममत्व महीन धागा है, उसे टूटते देर नहीं लगती, वह अनित्य है, यदि वह सब ममता ताग बटकर प्रभुके चरणमें लगा दिया जावे तो दृढ़ हो जाय। मोहरहित हो। कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान जिसमें कुछ न सूझे वह मोह है। जब *'सबकी ममताताग'* बटोरकर वह मद-ममता-रहित होगा तब दो ही काम रह जायँगे, एक तो चरित, दूसरा नाम। चरितसे मन उपराम हुआ तब नाम रटने लगे, नामसे हटे तो चरितमें लग गये; बस इन्हीं दोमें रत रहते हैं। २—विषयानन्दसे लेकर ब्रह्मानन्दतक जितने आनन्द हैं उनमें ब्रह्मानन्द सबसे उत्तम है। इस ब्रह्मानन्दसे भी परे 'परानन्द' है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो सनकादिक तो *'ब्रह्मानन्द सदा लय लीना'* हैं। वे उसे छोड़कर चरित क्यों सुनते? यह सुख परानंदका समूह है। ३—दोहेमें कही हुई दशा ब्राह्मीस्थिति है।

रा० शं०—*'मम गुन ग्राम………'* यथा—*'गावहिं सुनहिं सदा मम लीला'* क्योंकि *'तजि मम चरन सनेह प्रिय तिन्ह कहँ देह न गेह।'* जब देहका ममत्व नहीं तब उसके सम्बन्धियोंका ममत्व कैसा।—[वै०—ऊपर जो गुण कह आये उनकी प्राप्ति साधनसे दुर्घट है और प्रभु भक्तिपथको 'सुलभ' कह चुके हैं, अतः अब वे बतलाते हैं कि वे गुण कैसे प्राप्त हो सकते हैं—*'मम गुन ग्राम नाम रत'* होनेसे। इससे ममतादिसे रहित हो जायगा]।

पं० रा० कु०—**परानन्द संदोह** =सबसे परे जो आनन्द है उसका पात्र है। अर्थात् पूर्णानन्दको प्राप्त है। उस सुखके आगे ब्रह्मादि शिवादिका सुख एक कण है, यथा—*'जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नर नारि तेहि सुख महँ संतत मगन॥ सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहि सज्जन सुमति॥'* (८८) *'जो आनंद सिंधु सुख रासी। सीकर ते त्रैलोक्य सुपासी॥'* *'ताकर सुख सोइ जानइ'* का भाव कि *'गुन ग्राम नाम रत………'* ऐसे उत्कृष्ट आनन्दमें जो मग्न है वही जानता है। दूसरा उसे नहीं जान सकता।

बाबा जयरामदासजी दीन—'मम' शब्दसे रूपका (**मम दरसन फल परम अनूपा**), 'गुन' से गुणानुवाद, लीलाका, 'ग्राम' से धामका एवं 'नाम' से नामका ग्रहण करके श्रीप्रभुके नाम, रूप, लीला और धाम चारोंमें भी रत होनेका अर्थ किया जा सकता है। परानंद जो ब्रह्मानन्दसे भी बढ़कर उसके समूहको श्रीभगवद्भक्तिका तौल बताया गया है।

सि० ति०—ममतारहित होनेमें स्थूलशरीरकी शुद्धि; मदरहित होनेमें सूक्ष्मशरीरकी शुद्धि और मोहरहित होनेमें कारण शरीरकी शुद्धि जाननी चाहिये।

सुनत सुधासम बचन रामके। गहे सबन्हि पद कृपाधाम के॥ १॥
जननि जनक गुर बंधु हमारे। कृपानिधान प्रान ते प्यारे॥ २॥
तनु धनु धाम राम हितकारी। सब बिधि तुम्ह प्रनतारतिहारी॥ ३॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके अमृतसमान वचन सुनकर सबने उन दयाधामके चरण पकड़े (और बोले—)॥ १॥ हे कृपासिंधु! आप हमारे माता, पिता, गुरु, भाई, बन्धुवर्ग और प्राणसे प्रिय हैं॥ २॥ हे श्रीराम! आप हमारे तन, धन, धाम सभी प्रकारसे हितकारी और शरणागतके दुःखके हरनेवाले हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) ☞*'सुनहु सकल पुरजन मम बानी'* ४३ (२) उपक्रम है और *'सुनत सुधासम बचन रामके'* उपसंहार है। किसीके वचन हितकर तो होते हैं पर कठोर होते हैं और श्रीरामजीके वचन हितकर भी हैं और मधुर भी। अतः *'सुधासम'* कहा। [पुनः 'सुधासम' का भाव कि इन वचनोंसे तृप्ति नहीं होती, चाहते हैं कि सुनते ही रहें। यथा—*'प्रभुबचनामृत सुनि न अघाऊँ॥'* (८८। २) *'नाथ तवानन ससि स्रवत कथा सुधा रघुबीर। श्रवन्ह पुटन्हि मन पान करि नहि अघात मति धीर॥'* (५२)] कृपा करके उपदेश किया। अतः कृपाधाम कहा। ['कृपाधाम' क्योंकि पुरवासी अपनेसे न आये थे और न उन्होंने कोई प्रश्न ही किया था। प्रभुने उनको स्वयं बुलाया और परमार्थका उपदेश किया; ऐसी कृपा और ममत्व सबपर है। (पं० रा० व० श०)] (ख) *'गहे सबनि पद'* कि हमको इन्हींका आधार है—[उपदेश सुनकर प्रणाम करना इत्यादि कृतज्ञता, कृतकृत्यता सूचित करता है। जैसा कि आगेके *'अस सिख तुम्ह बिनु देइ न कोऊ'* इन वचनोंसे स्पष्ट है। पुनः *'गहे सबनि'* यह रहस्य भी है अथवा एक-एक करके सबने ऐसा किया। सब कृतज्ञ हैं, सब अपनेको कृतार्थ मानते हैं, सबने उपदेश ग्रहण किया। यह बात 'गहे' पदसे जनायी। अथवा *'गहे पद'* का अर्थ प्रणाम किया जो जहाँ है वहींसे यह कर सकता है]। (ग) जननि-जनकादि सब गौरवके अनुसार क्रमसे कहे गये हैं।

नोट—१ **'त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥'** इस पाण्डवगीताके परम प्रसिद्ध श्लोकका सविस्तार भाव पुरजनोंके वचनोंमें है। *'जननि जनक………।'* माता सबसे अधिक है, बच्चा प्रथम माको ही जानता है, उसके मुखसे पहले 'मा' ही निकलता है। माताके बाद पिताको जानता है तब गुरुको जो विद्यादि संस्कार कराता है, इत्यादि। अतः

उसी क्रमसे कहा। माता-पिता इत्यादि सब राम ही हैं, वे ही सब भाँति स्नेही हैं। यही उपदेश सुमित्रा अम्बाजीका लक्ष्मणजीको है—अ० ७४ (२-६) देखिये।

पुरजनकी मन, वचन, कर्मसे कृतज्ञता दिखायी है। *'प्रेमरस साने'* मन, *'जननि जनक'* इत्यादि (वचन) और *'पद गहे'* (कर्म)।

पं० रा० कु०—इस अर्धालीका अर्थ प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गोंके अनुसार दो प्रकारसे होता है। (क) प्रवृत्तिके अनुसार अर्थ है कि—'अपने माता, पिता, गुरु, भाई, इन सबको हम आपहीके समान वा आपके ही ये हैं इस प्रकार समझकर मानते हैं। (ख) निवृत्तिमार्गके अनुसार अर्थ है कि हमारे ये सब आप ही हैं।

गौड़जी—पुरजन सभी तरहके हैं, बालक-बूढ़े-जवान, स्त्री-पुरुष, सबका प्रभुसे अलग-अलग नाता है। प्रभुने प्रभुताका बिलकुल विचार न करके सबको भाई करके सम्बोधन किया और अपने राज्यकी दृढ़ताके लिये राजनीतिका कोई उपदेश नहीं किया बल्कि परमार्थका उपदेश किया। इस लोक और परलोक दोनोंके सुखका पुरवासियोंके लिये तो बीमा हो चुका था और मर्त्यलोकी अयोध्याको तो कतई तौरपर बिलकुल वीरान करके चारों खानियोंके समस्त प्राणियोंको लेकर त्रिपाद-विभूतिवाली अयोध्याको बसाना था। इसलिये यह उपदेश तो जगत्के लिये किया था। फिर भी जगत्के समक्ष एक धार्मिक राजाका आदर्श रखना था, प्रजा राजाकी संतान है और संतानका ऐहिक और पारलौकिक सभी तरहके सौख्यका पूरा प्रबन्ध कर देना प्रजापतिका परम कर्तव्य है। इस उपदेशद्वारा इसी कर्तव्यका पालन हुआ है। जीवन्मुक्त प्रजा भगवत्के इन अमृतमय वचनोंसे कृतकृत्य हो गयी। सबने कृतज्ञताके अतिरेकमें प्रभुको दंडवत् किये और कहने लगे कि आप हमारे माता-पिता हैं, हमारे गुरु हैं, हमारे बन्धु हैं, हमारे प्राणोंसे प्यारे कृपानिधान हैं, हमारे परमार्थके लिये आपके सिवा कौन ऐसी सुन्दर शिक्षा दे सकता है। यहाँ शुद्ध माधुर्यभाव है। पार्षदोंका प्रभुसे पारिवारिक सम्बन्ध है। कोई एक नाता मानता है, कोई दूसरा। अयोध्यावासियोंका न प्रवृत्तिमार्ग है न निवृत्तिमार्ग है। लीलामय पुरुषोत्तमके सगुणरूपके साथ शाश्वत निवास करनेवाले प्रभुकी इच्छासे, लीलासे प्रवृत्ति और निवृत्ति करते रहते हैं। वह जगत्में सदा प्रवृत्त हैं; क्योंकि प्रभु प्रवृत्त हैं, सदा निवृत्त हैं क्योंकि प्रभु निवृत्त हैं। जो संसारचक्रमें पड़े हुए *'फिरत सदा माया के प्रेरे। काल कर्म सुभाव गुन घेरे॥'* हैं, उनके लिये प्रवृत्ति और निवृत्तिमार्ग है और यमराजके यहाँ उनका लेखा-जोखा रहता है। इन पुरजनोंके सम्बन्धमें यह प्रश्न नहीं आता।

रा० प्र०—*'तन धन धाम'* =तन, धन, धामके सब रीतिसे हितकारी।

नोट—भगवान् श्रीकृष्णके द्वारकामें प्रवेश करनेके समय प्रजाके वचनोंसे मिलान कीजिये—

'भवाय नस्त्वं भव विश्वभावन त्वमेव माताथ सुहृत्पतिः पिता।
त्वं सद्गुरुर्नः परमं च दैवतं यस्यानुवृत्त्या कृतिनो बभूविम॥'(भा० १। ११। ७)

अर्थात् हे विश्वभावन! आप हमारा कल्याण करें। आप ही हमारे माता, पिता, मित्र, स्वामी, सद्गुरु और परमपूज्य हैं, आपके ही अनुगत होनेसे हम कृतार्थ हैं।

पं० रा० व० श०—*'जननि जनक'* उत्पन्न, पालन, पोषण और योगक्षेम करनेवाले हैं, गुरु परलोकके हितकर्ता और भाई संकटके सहायक—*'होहिं सुबंधु कुठायँ सहाए।'* आप अकेले सबके समान हितकारी हैं। ये सब एक-ही-एक विधिसे हितकारी हैं आप सब विधिसे हैं, यही आगे कह रहे हैं।

नोट—*'जननि जनक गुर बंधु हमारे।''''''''सब बिधि तुम्ह प्रनतारति हारी॥'* इति। महाभारतमें कहा है कि मनुने गुणोंकी दृष्टिसे राजाको माता, पिता, गुरु, रक्षक, अग्नि, कुबेर और यमरूप बताया है। वह प्रजाका पालन करता है और दीन-दुःखियोंकी भी सुध लेता रहता है, इसलिये माताके समान है। प्रजापर प्रेम रखनेके कारण वह राष्ट्रका पिता है। प्रजाका अनिष्ट करनेवालोंको अग्नि-समान जलाता है। यमराजके समान दुष्टोंका दमन करता है। प्रीतिभाजनोंको धन देनेसे कुबेर है। धर्मोपदेश देनेसे गुरु और रक्षा करनेके कारण रक्षक है। जो अच्छी तरह रक्षा नहीं करता वह तो चोरके समान है। (संक्षिप्त महाभारत कल्याण पृष्ठ १२६२)।

भीष्मपितामहजी कहते हैं कि राजा समय-समयपर अग्नि, सूर्य, मृत्यु, कुबेर, यम—इन पाँच देवताओंका रूप धारण करता है। जिस समय छद्मवेष धारण करके प्रजाको कष्ट पहुँचानेवाले दुष्ट पुरुषोंको अपने उग्र तेजसे दग्ध करता है, उस समय अग्निरूप है। जब वह गुप्तचररूपी नेत्रोंके द्वारा सब प्रजाकी प्रवृत्तिको देखता है और उसके कल्याणका प्रयत्न करता है तो सूर्य हो जाता है। जब वह क्रोधमें भरकर सैकड़ों पापी पुरुषोंको उनके पुत्र-पौत्र और सलाहकारोंसहित मारने लगता है तो वह मृत्युके समान हो जाता है। जब कठोर दण्ड देकर अधर्मियोंका दमन करता है और धर्मात्माओंके प्रति दयाभाव प्रदर्शित करता है तब यमराज जान पड़ता है। उपकारियोंको धनादि देने तथा अपकारियोंका धन छीननेके समय कुबेररूप है। (पृष्ठ १२०२)। उपर्युक्त उद्धरणके अग्नि, कुबेर, यम, सूर्य आदि जो कहे गये हैं वे भी यहाँ पुरजनोंके *'सब बिधि तुम्ह प्रनतारतिहारी'* में आ जाते हैं। इस तरह माधुर्यमें राजा होनेमात्रसे भी श्रीरामजी माता, पिता, गुरु आदि सभी हैं और अब तो वे सब जान गये कि ये परमात्मा ही हैं, जो हमारे राजा हैं तब तो वे यथार्थ ही सब कुछ हैं।

असि सिख तुम्ह बिनु देइ न कोऊ। मातु पिता स्वारथ रत ओऊ॥ ४॥
हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥ ५॥

अर्थ—ऐसी शिक्षा आपके सिवा कोई नहीं देता। माता-पिता (शिक्षा देनेवाले) हैं पर वे भी स्वार्थमें लगे हैं (तब दूसरोंका क्या कहना!)॥ ४॥ हे असुरारी! जगत्‌में (दोनों लोकोंके) बिना प्रयोजन ही उपकार करनेवाले दो ही हैं—एक आप, दूसरे आपके भक्त॥ ५॥

नोट—१ (क) *'असि सिख .... कोऊ'* से जनाया कि आपके उपदेशमें अपने स्वार्थका लेश भी नहीं है, आपकी यह दया निःस्वार्थ हमपर हुई है। इससे यह भी सूचित कर दिया कि पुरवासी अब सब जान गये कि श्रीरामजी परात्पर ब्रह्म हैं, यह आगेके *'हेतुरहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'* से निश्चय ही स्पष्ट है। इसमें भा० ४। २१ के **'अद्य नस्तमसः पारस्त्वयोपासादितः प्रभो। भ्राम्यतां नष्टदृष्टीनां कर्मभिर्दैवसंज्ञितैः॥ ५१॥'** का भाव भी ले सकते हैं। पृथुमहाराजकी प्रजाने उपदेश सुनकर ये वचन कहे थे कि हमलोग दैव नामक प्रारब्ध कर्मके कारण विवेकहीन होकर भटक रहे थे, सो आज आपने हमें इस अज्ञानान्धकारसे पार कर दिया। (ख) *'मातु पिता स्वारथ रत ओऊ'* इति। हमारे पुत्र, पोते, नाती, पनाती हमें नरकसे बचा लेंगे, हमें पिण्ड देंगे इत्यादि, माता-पिता-पितृका स्वार्थ है। जरत्कारु ऋषिके पितृ इसीसे उन्हें भजन करनेमें बाधक होते थे। सब स्वारथरत, यथा—*'अवनि रवनि धन धाम सुहृद सुत को न इन्हहिं अपनाएउ। काके भये गए संग काके सब सनेह छल छायो॥'* (वि० २००) *मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं। उदर भरइ सोइ धर्म सिखावहिं॥'* (९९। ८) *'गृह बनिता सुत बंधु भये बहु मातु पिता जिन्ह जायो। जाते निरय निकाय निरंतर सो इन्ह तोहि सिखाएउ। तव हित होइ कटहिं भवबंधन सो मगु तो न बताएउ॥'* (वि० १९९) *'नाहिंन नाथ अकारन को हितु तुम्ह समान पुरान श्रुति गायो। जननि जनक सुत दार बंधु जन भये बहुत जहँ जहँ हौं जायो॥ सब स्वारथ हित प्रीति कपट चित काहू नहिं हरिभजन सिखाएउ॥'* (वि० २४३)

टिप्पणी—१ *'मातु पिता स्वारथ रत ओऊ'* इति। भाव कि संसारी नातोंमें ये (सबसे बड़े) हितकारी हैं, पर आपके समान शिक्षा ये भी नहीं देते (क्योंकि इनमें भी स्वार्थ लगा है कि बड़ा हो, हमको सुख दे)। अथवा 'ओऊ' से गुरु और बंधुको ले लें जिनको ऊपर *'जननि जनक'* के साथ गिना आये। अर्थात् माता, पिता, गुरु और बन्धु ये सब स्वार्थ चाहते हैं; इसीसे आपके समान उपदेश नहीं दे सकते।

नोट—२ गुरु स्वारथी होते हैं—पुरजनोंका अभिप्राय यह कदापि नहीं हो सकता क्योंकि वे स्वयं कहते हैं कि *'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'* गुरु आपके सेवक हैं। भगवत्-सम्मुख करनेसे शिष्यके लिये गुरुको भगवान्‌से भी अधिक कहा गया है और भगवान्‌में और गुरुमें अभेद सर्वशास्त्रमत है। देखिये वाल्मीकिजीने कहा है—*'तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भाय सेवहिं*

सनमानी॥.........तिन्हके मनमंदिर बसहु सिय रघुनंदन दोउ॥' (२। १२९) और श्रीरामजीने श्रीशबरीजीसे नवधाभक्ति जो कही है उसमें कहा है कि *'गुरु पदपंकज सेवा तीसरि भगति अमान।'* (३। ३५) और कहा है कि इनमेंसे जिसमें एक भी भक्ति हो वह मुझे अतिशय प्रिय है। तब गुरुकी गणना स्वार्थीमें कैसे हो सकती है? वे तो परमार्थी हैं, परमार्थका ही उपदेश देते और उसीमें लगाते हैं। भगवान्‌को गुरुसे भी अधिक हितकारी कह सकते हैं, क्योंकि भगवान् लोक-परलोक सभी प्रकारके हितकर हैं और गुरु परलोकके ही हितकारी हैं, पर गुरुको *'स्वारथ रत'* नहीं कह सकते। यह उपदेश श्रीरामराज्यके समयका है। त्रेतामें रामराज्यमें 'गुरु' स्वार्थी होते थे, यह कहना विशेषतः ठीक नहीं। कलियुगमें भले ही *'लोभी गुरू लालची चेला'* विशेष हो जायँ। आजकल पाश्चात्त्य पिशाची शिक्षा पाये हुए लोग प्रायः 'गुरु' नामसे चिढ़ते हैं, उन्हें सर्वत्र लोभी ही गुरु देख पड़ते हैं इसीसे वे न गुरु कर सकें और न उनका कल्याण हो। वे गुरुमें लोभ नहीं चाहते पर स्वयं लोभी शिष्य बने रहना चाहते हैं। जिसने गुरुको सर्वस्व अर्पण न कर दिया वह शिष्य ही कैसा? बिना इसके वह कपट करके क्या परलोक सुधार सकता है? गुरु आज भी ऐसे अनेक हैं कि जो शिष्यको खिला-पिला देते हैं, उसका कल्याण ही करते हैं और कभी उससे एक कौड़ी नहीं चाहते। भक्तमालमें श्रीकृष्णदास पयहारीजी, श्रीगोकुलनाथजी इत्यादि और आज भी महाराज श्री १०८ रामशरणमौनी बाबा रामघाट और पं० श्री १०८ रामवल्लभाशरणजी जानकीघाट (श्रीअयोध्या) इत्यादि इसके उदाहरण हैं। भगवान्‌के सम्मुख करनेवालेको हम सर्वस्व भी देकर उससे उऋण नहीं हो सकते।

उपमेयमें उपमानसे अधिक गुणवर्णन 'व्यतिरेक अलंकार' है।

टिप्पणी—२ *'हेतुरहित जग.........'* इति। (क) [श्रीरामजी पूर्णकाम हैं। ***'सब प्रकार प्रभु पूरनकामा।'*** (५। २७। ३), *'तुम्ह परिपूरन काम जानसिरोमनि भाव प्रिय।'* (१। ३३६), *'पूरन काम राम परितोषे।'* (१। ३४२। ६) स्वार्थ तभी होता है जब कोई कामना होती है। जो पूर्णकाम है उसमें कोई स्वार्थ हो ही नहीं सकता।] *'हेतुरहित.........'* का अभिप्राय यह है कि माता-पितादि सब स्वार्थसे हितकारी हैं और आप हेतुरहित सब प्रकारसे दुःखके हरण करनेवाले हैं। [भगवान्‌के भक्त भी निष्काम होते हैं, वे निःस्वार्थ परोपकार करते हैं यह उनका लक्षण है, उनका सहज स्वभाव है। यथा—***'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥'*** (१२१। १४), *'बिगत काम मम नाम परायन।'* (३८। ५), ***'षट बिकार जित अनघ अकामा।'*** (३। ४५। ७), *'हेतु रहित परहित रत सीला।'* (३। ४६। ७), ***'पूरनकाम राम अनुरागी।'*** (१२५। ६), (भुशुण्डिजी), *'हरि जन इव परिहरि सब आसा।'* (४। १६। ९) प० पु० पातालखण्डमें श्रीअम्बरीषजीके भी ऐसे ही वचन हैं। वे कहते हैं—'**भगवन् भवतो यात्रा स्वस्तये सर्वदेहिनाम्। बालानां च यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम्॥ भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च। सुखायैव ही साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम्॥**' (८४। २५, २६) (अर्थात्) भगवन्! आपकी यात्रा सम्पूर्ण प्राणियोंका मंगल करनेके लिये होती है। जैसे माता-पिताका प्रत्येक विधान बालकोंके हितके लिये ही होता है वैसे ही भगवान्‌के पथपर चलनेवाले महात्माओंकी प्रत्येक क्रिया जीवोंके कल्याणके लिये होती है। देवताओंका चरित्र कभी दुःखका कारण होता है, कभी सुखका; किन्तु आप-जैसे सन्तोंका प्रत्येक कार्य जीवोंके सुखका ही साधक होता है। (ख) *'असुरारी'* सम्बोधनका भाव कि आप असुरोंको मारकर जगत्‌का उपकार करते हैं, जैसे बाघके मारनेसे गौ आदि समस्त जीवोंका उपकार होता है। और आपके सेवक अन्तःकरणके शत्रुओंको जीतकर जगत्‌का हित करते हैं।

करु०—असुरारीका भाव कि काम-क्रोधादि परमार्थके विरोधी असुर हैं, आप इनका नाश करके परमार्थकी रक्षा करते हैं।

नोट—अन्तःकरणके शत्रु काम-क्रोध-लोभ-मोह-अहंकार आदिका मेघनादादि असुरोंसे रूपक विनयके निम्न पद ५८ में विस्तारसे दिया गया है। यथा—

देव! देहि अवलंब करकमल कमलारमन दमन दुख समन संताप भारी।
अज्ञान राकेस ग्रासन बिधुंतुद गर्ब-काम-करिमत्त हरि दूषनारी॥ १॥
बपुष ब्रह्मांड सुप्रवृत्ति लंकादुर्ग रचित मन दनुज भयरूपधारी।
बिबिध कोसौघ अति रुचिर मंदिर निकर सत्वगुन प्रमुख त्रयकटककारी॥ २॥
कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर बिपुल अवगाह दुस्तर अपारं।
नक्र-रागादि संकुल मनोरथ सकल संग संकल्प बीची बिकारं॥ ३॥
मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार पाकारिजित काम विश्राम हारी।
लोभ अतिकाय मत्सर महोदर दुष्ट क्रोध पापिष्ट बिबुधांतकारी॥ ४॥
द्वेष-दुर्मुख दंभ-खर अकंपन-कपट मनुजाद मद सूलपानी।
अमित बल परम दुर्जय निसाचर निकर सहित षडवर्ग गोयातुधानी॥ ५॥
जीव भवदंघ्रि सेवक विभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता।
नियम जम सकल सुरलोक लोकेस लंकेस बस नाथ अत्यंत भीता॥ ६॥
ज्ञान-अवधेस गृहगेहिनी भक्ति सुभ तत्र अवतार भूभारहर्त्ता।
भक्त संकष्टमवलोक्य पितुवाक्य कृत गवन किय गहन बैदेहिभर्त्ता॥ ७॥
मुक्तिसाधन अखिल भालु मर्कट बिपुल ज्ञान सुग्रीव कृत जलधि सेतू।
प्रबल बैराग्य दारुन प्रभंजनतनय बिषय-बन-भवनमिव धूमकेतू॥ ८॥
दुष्ट दनुजेस निर्बंसकृत दासहित विश्वदुखहरन बोधैकरासी।
अनुज नित जानकी सहित हरि सर्वदा दास तुलसी हृदयकमल बासी॥ ९॥

स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहु प्रभु परमारथ नाहीं॥ ६॥
सब के बचन प्रेमरस साने। सुनि रघुनाथ हृदय हरषाने॥ ७॥
निज* निज गृह गए आयसु पाई। बरनत प्रभु बतकही सुहाई॥ ८॥

अर्थ—संसारमें सब स्वार्थके मित्र हैं। हे प्रभु! परमार्थ (जाग्रत्‌की कौन कहे) स्वप्नमें भी नहीं है। (अर्थात् परमार्थ उपदेश कोई नहीं करता। परमार्थके करनेवाले एकमात्र आप ही हैं)॥ ६॥ सबके प्रेमरसमें सने हुए अर्थात् प्रेममय वचन सुनकर श्रीरघुनाथजी हृदयमें प्रसन्न हुए॥ ७॥ आज्ञा पाकर सब प्रभुकी सुन्दर वाणीको वर्णन करते हुए अपने-अपने घर गये॥ ८॥

नोट—१ *'स्वारथ मीत सकल.........'* का भाव भागवत (१०। ४७। ६—८) तथा (३। ३०। १३) में खूब वर्णित है। गोपियाँ उद्धवजीसे कह रही हैं कि '**अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम्। पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत्सुमनःस्विव षट्पदैः॥ निःस्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः। अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम्। खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम्। दग्धं मृगास्तथारण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम्।**' बन्धुओंके सिवा अन्य लोगोंसे जो मित्रता की जाती है वह किसी-न-किसी प्रयोजनसे ही की जाती है। सर्वार्थसिद्धि जबतक नहीं होती तबतक मित्रताका अनुकरणमात्र किया जाता है, कार्य हो जानेपर उसका अन्त हो जाता है। स्त्रियोंसे पुरुषोंकी मित्रता और भ्रमरोंका फूलोंपर अनुराग-ऐसी ही स्वार्थ-मित्रताका उदाहरण है। मनुष्यके निर्धन होनेपर वेश्या उस मनुष्यको, असमर्थ होनेपर प्रजा राजाको, विद्या प्राप्त होनेपर विद्यार्थी आचार्यको, दक्षिणा पा जानेपर ऋत्विक् लोग यजमानको, फल न रहनेपर पक्षी वृक्षको, भोजन

* निज गृह गये सुआयसु पाई—(ना० प्र०)। आइसु—(भा० दा०)।

कर चुकनेपर अतिथि उस घरको, वनके जल जानेपर मृग उस वनको और भोग करनेपर जारलोग अतृप्त एवं अनुरक्त स्त्रियोंको छोड़ देते हैं—संसारमें ऐसी स्वार्थ-मैत्री देखी जाती है (भा० १०। ४७। ६—८)। (भा. ३। ३०। १३) में कपिल भगवान् कहते हैं कि जब प्राणी कुटुम्बपालनमें असमर्थ हो जाता है तब उसके घरवाले स्त्री-पुत्रादि पहलेके समान उसका आदर नहीं करते। यथा—'**एवं स्वभरणाकल्पं तत्कलत्रादयस्तथा। नाद्रियन्ते यथा पूर्वं कीनाशा इव गोजरम्॥**' स्नेहमें बँधे हुए भाई, स्त्री, माता, पिता और सम्बन्धी भी कौड़ीके कारण उस पुराने प्रेमबन्धनको तोड़कर शत्रु बन जाते हैं। यथा—'**भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा। एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः॥**' (भा० ११। २३। २०)

२—ऊपर 'जननी-जनक' को स्वार्थी कहा, अब संसारभरमें स्वार्थकी ही मित्रता कहते हैं। इसमें परिवारके बाहरके सभी आ गये, देवता भी आ गये। यथा—'***चारिहुँ बिलोचनु बिलोकु तू तिलोकु महँ, तेरो तिहुँकाल कहु को है हित हरि सों। नये नये नेह अनुभये देह-गेह बसि, परिख प्रपंची प्रेम परत उघरि सो। सुहृद समाज दगाबाजिहि को सौदा सूतु, जब जाको काज मिलै पाँय परि सो। बिबुध सयाने पहिचाने कैधौं नाहीं नीके, देत एक गुन लेत कोटि गुन भरि सो॥***' (वि० २६४) '***दूसरो भरोसो नाहिं बासना उपासन की, बासव बिरंचि सुर नर मुनिगन की। स्वारथके साथी हाथी स्वान लेवा देई काहू तो न हरी पीर रघुबीर दीन जन की॥***' (वि० ४७) '***तन साथी सब स्वारथी सुर ब्यवहार सुजान॥***' (वि० १९१) '***दै-दै सुमन तिल बासि कै अरु खरि परिहरि रस लेत। स्वारथहित भूतल भरे मन मेचक तनु सेत॥***' (वि० १९०) '***सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥***' (४। १२। २) प० पु० पाता० ८४ में भी कहा है—'**भजन्ति ये यथा देवान् देवा अपि तथैव तान्। छायेव कर्मसचिवाः**'—२७। देवता सेवाके अनुकूल ही सुख देते हैं।

रा० प्र०—'*सभी कोई मतलबहीके यार नाहीं त करत बिगार। भानु कमलसे प्रेम सही पै जब लगि वह गुलजार। टूटे पर रबि छार करत है पानिउ करत बिकार॥ १॥ जीव परमप्रिय देहहु को लखि खलित लाचार। त्यागन चाहत पुनि पुनि तनको जीव होत रखवार॥*'

वि० त्रि०—'***सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥***' (४। १२। २) '***जेहि ते कछु निज स्वारथ होई। तेहि पर ममता कर सब कोई॥***' (९५। ८) यही संसारकी रीति है। स्वार्थका ही व्यापार संसारमें चलता है। मित्र परोपकारी होते हैं, एक-दूसरेका स्वार्थ-साधन करते हैं, परंतु परमार्थ-साधनकी मित्रता कहीं दिखायी नहीं पड़ती। जाग्रत्‌का संस्कार ही स्वप्नरूपसे प्रत्यक्ष होता है, अतः परमार्थ-साधनकी मित्रताका कोई स्वप्न भी नहीं देखता। बल्कि परमार्थ-साधनकी ओर जाते हुए मनुष्यको उसके हितचिन्तक रोकते हैं, समझते हैं कि यह हमारे लिये बेकार हुआ चाहता है। पिता-माता तो सच्चे हितचिन्तक हैं, पर परमार्थकी ओर पुत्रको जाते देखकर बड़े भारी बाधक वे ही होते हैं, क्योंकि उन्हें सन्ततिसे बड़ी भारी आशा रहती है। '*मानुषा मनुजव्याघ्र साभिलाषाः सुतान् प्रति।*' और सरकार हम लोगोंको भक्तिकी शिक्षा देते हैं, जिससे दोनों लोक बनें, अतः सरकार ही हमारे जननी-जनक-गुरु और बन्धु हैं।

टिप्पणी—१ '*परमारथ नाहीं*' यथा—'***धरनि धाम धन पुर परिवारू। सरग नरक जहँ लगि ब्यवहारू॥ देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोहमूल परमारथ नाहीं***' —(अ० ९२ देखिये)। २—'***हृदय हरषाने।***'—हर्षित हुए कि सबोंने हमारी आज्ञा मानी, क्योंकि वे प्रथम ही कह चुके थे कि '***सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥***' ३—'***निज-निज गृह गए***' इस कथनसे पाया गया कि घरमें, घरके पदार्थोंमें चित्त लगा होगा। उसीपर कहते हैं कि ऐसा नहीं है, उनका चित्त तो प्रभुकी वाणीमें लगा हुआ है इसीसे वे उसीको कहते जाते हैं। दूसरे, वे रामजीकी आज्ञा पानेपर घर गये, उन्होंने स्वयं आज्ञा नहीं माँगी। क्योंकि अवधवासियोंके धाम तो राम ही हैं, यथा—'***तन धन धाम राम हितकारी।***'*

रा० शं०—१ श्रीरामजीने कहा था, '***सुनहु करहु जो तुम्हहि सुहाई।***' पुरवासियोंने चरणोंमें प्रणाम किया

* पं०—यहाँ निजसे नित्यका अर्थ लेना होगा। उपदेश पाकर सब मुक्त हो गये। नित्यधाममें पहुँच गये। वही बात दोहेमें आगे कहते हैं।

और कृतज्ञता प्रकट की, इससे सूचित हुआ कि उन्होंने श्रद्धापूर्वक उपदेशको सुना और वह उनको सुहाया, अत: कहा कि *'बरनत प्रभु बतकही सुहाई'* चले। इसमें 'श्रवण' कहा। कथा सुननेके पीछे अनुकथन होता है यही यहाँ *'बरनत'* से जनाया। इसमें अनुमोदन कहा। पुन: *'बरनत'* जिसमें भूल न जायँ। ऐसा उत्तम उपदेश भुलाने योग्य नहीं। २—आज्ञासे आये थे और आज्ञासे गये।

पं० रा० व० श०—वचनोंके मर्मको समझकर उनपर स्थित हो गये, उनका आदर किया, उपदेश यथार्थ फलीभूत हुआ—यह देखकर हर्ष हुआ। जहाँ अच्छा उपदेश है वहीं-वहीं *'बतकही'* पदका प्रयोग है, अत: *'बतकही'* को *'सुहाई'* कहा।—बा० ९ (२) देखिये।

प० प० प्र०—यह छब्बीसवीं स्तुति है और पूर्वाभाद्रपदा २६ वाँ नक्षत्र है। दोनोंमें साम्य इस प्रकार है- (१) नाम-साम्य। यह स्तुति मोक्षदायक है और भाद्रपदका अर्थ भी भद्रपद देनेवाली है। पुरजनोंमें श्रीवसिष्ठजी भी हैं जो पुरजनोंसे श्रेष्ठ हैं। अत: इसके आगेकी वसिष्ठकृत स्तुति उत्तरभाद्रपदा है। (२) आकर-साम्य। पूर्व और उत्तरा दोनों मिलकर चारपाईके आकारके हैं। यहाँ राम और रामसेवक उसके दो पाये हैं। (३) तारा-संख्या। इस नक्षत्रमें दो तारे हैं और स्तुतिमें *'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी'* अर्थात् श्रीराम और रामसेवक ही दो तारे हैं। (४) नक्षत्रका देवता 'अजैकपाद' है। अजैकपाद एकादश रुद्रोंमेंसे एक है, वह शिवजीका ही स्वरूप है। और इस स्तुतिके कथाके वक्ता श्रीशिवजी ही हैं, यह *'उमा अवधबासी नर.........'* से स्पष्ट है। (५) फलश्रुति। नक्षत्रकी फलश्रुति *'सेवक मनमानस मराल से'* है। जब इस स्तुतिके अनुसार भगवान् और संतों (युग उपकारी) के सिवा किसी दूसरेका भरोसा न रह जायगा तब भगवान् *'अनुज जानकी सहित'* मनरूपी मानस-सरमें हंसके समान रहेंगे ही। यथा—*'मुनि महेस मन मानस हंसा' 'जो भुशुंडि मन मानस हंसा।'* इत्यादि। भाव यह कि इस स्तुतिके जपसे भगवान् हृदयमें निवास करेंगे।

दो०—उमा अवधबासी नर नारि कृतारथ रूप।
ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप॥४७॥

शब्दार्थ—*कृतारथ*—जन्म लेकर संसारमें आनेपर जो अवश्य करना चाहिये उसको जो करके मोक्षकी प्राप्तिका उपाय करे वह 'कृतार्थ' है। अर्थात् वह सब कर चुका उसको किसी साधनकी आवश्यकता नहीं रह गयी। 'कृत' का अर्थ है सम्पादन और **'कृत: अर्थ: येन असौ कृतार्थ:।'**

अर्थ—हे उमा! ब्रह्म सच्चिदानन्दघन रघुनाथजी जहाँ राजा हैं उस अवधके वासी स्त्री-पुरुष कृतार्थरूप हैं॥ ४७॥

टिप्पणी—१ 'अवधवासी अभी मुक्तिके अधिकारी नहीं हैं, क्योंकि अभी तो शिक्षामात्र हुई है, अभी उन्होंने साधन नहीं किया है। जब साधन करेंगे तब परम पद पायेंगे।' इस शङ्काके निवृत्त्यर्थ कहते हैं कि सभी अवधवासी कृतार्थरूप हैं, वे सब कृत्य कर चुके हैं, उन्हें कुछ भी करना बाकी नहीं है, वे साधक जीव नहीं हैं, वे सिद्ध कोटिमें हैं, वस्तुत: पुरजनके मिष यह उपदेश लोकको है, पुरजनके लिये नहीं, क्योंकि वे तो उसमें प्रवृत्त ही हैं। २—*'ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक.........'* इति। ब्रह्म अर्थात् बृहत् है पर बृहत् तो ब्रह्माण्ड भी है। इसपर कहते हैं कि ब्रह्म सत् है अर्थात् अविनाशी है और ब्रह्माण्डका नाश है, इस कथनसे अस्तिता आती है, 'अस्ति' तो माया जीव भी हैं, इसपर कहते हैं कि माया जड़ है और ब्रह्म चैतन्य है—*'चिती संज्ञाने।'* ब्रह्म आनन्दघन है, जीव आनन्दघन नहीं है। ३—*'रघुनायक जहँ भूप'* अर्थात् जहाँ ऐसे राजा हैं वहाँ प्रजा कृतार्थरूप क्यों न हो? कृतार्थरूप कहकर उसका कारण उत्तरार्धमें बताते हैं कि ब्रह्म सच्चिदानन्दघन राजाकी प्रजा मायिक कैसे हो सकती है, सब नित्यपार्षद हैं—(खर्रा)। [जिनका नाम भवभेषज है, जिनके चरित कृतार्थ करनेवाले हैं, यथा—*'मैं कृतकृत्य भयउँ तव बानी'*, जिनके साधारण आश्रित भवपार हो जायँ उनकी प्रजाके कृतार्थरूप होनेमें क्या संदेह है। (रा० शं०) यह तो साक्षात् परम्परासे उपदेश पाकर चर्या करके कृतार्थ हो गये। (रा० प्र०)] इससे यह शिक्षा देते हैं कि राजा लोग अपनी

प्रजाको ऐसा ही उपदेश करें। ४—☞पार्वतीजीका जो प्रश्न है कि *'बहुरि कहहु करुनायतन कीन्ह जो अचरज राम। प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम॥'* (बा० ११०), उसका उत्तर श्रीशिवजीने यहाँ गुप्त रीतिसे दिया है कि जहाँ ब्रह्म ही भूप है वहाँकी प्रजाकी मुक्तिमें आश्चर्य ही क्या? ☞यहाँ 'उमा' सम्बोधन देनेका भाव यह है कि यह उमाजीका ही प्रश्न है कि *'प्रजा सहित.........।'*

शीला—उमाजीको शङ्का हुई कि अवधवासी सब काल श्रीरामजीके समीप प्राप्त हैं, तब भी उनको मुक्तिका उपाय सिखाते हैं तो क्या रामप्राप्ति होनेपर भी मुक्ति बाकी रह गयी? उसी शङ्काका उत्तर यहाँ शिवजी देते हैं कि अवधवासी तो सभी मुक्तरूप हैं अर्थात् वह उपदेश तो लोकशिक्षा-हेतु है। जैसे अनसूयाजीका उपदेश श्रीसीताजीको जो हुआ वह वस्तुतः संसारके लिये था, यथा—*'तोहि प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसारहित।'*

श्रीजयरामदासजी दीन—जो भाग्यवान् पाठक आजकल भी इस रामगीताका श्रवण वा पठन-पाठन करके श्रीरामजीके परम हितकारी उपदेशोंका मनन-निदिध्यासन करेंगे, वे भी अवधपुरवासियोंके पदको ही प्राप्त करेंगे।—*'तुलसी तब के से अजहुँ जानिबो रघुबर नगर बसैया।'* (गी०) इसी धारणाके कारण श्रीअवधपुरकी प्रजा सदेह श्रीरामजीके धामको जा पहुँची है।

श्रीवसिष्ठ-राम-मिलन-प्रसङ्ग

एक बार बसिष्ठ मुनि आए। जहाँ राम सुखधाम सुहाए॥ १॥
अति आदर रघुनायक कीन्हा। पद पखारि पादोदक* लीन्हा॥ २॥
राम सुनहु मुनि कह कर जोरी। कृपासिंधु बिनती कछु मोरी॥ ३॥
देखि देखि आचरन तुम्हारा। होत मोह मम हृदय अपारा॥ ४॥

अर्थ—एक दिन (की कथा है कि) श्रीवसिष्ठजी वहाँ आये जहाँ सुन्दर सुखके धाम श्रीरामजी थे॥ १॥ श्रीरघुनाथजीने उनका अत्यन्त आदर-सत्कार किया, चरण धोकर चरणामृत लिया॥ २॥ मुनि हाथ जोड़कर बोले—हे राम! हे कृपासिन्धु! मेरी कुछ विनती है, उसे सुनिये॥ ३॥ आपका चरित देख-देखकर मेरे हृदयमें अपार मोह होता है॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'एक बार'* इति। 'बार' पद देकर एक दिनकी कथा कहते हैं। यथा—*'भ्रातन्ह सहित राम इक बारा', 'एक बार रघुनाथ बोलाए'* तथा यहाँ *'एक बार बसिष्ठ मुनि आए।'* अथवा, गुप्त बात कहनेके लिये *'एक बार'* कहा। भाव कि यह बात किसीकी जानी हुई नहीं है, एक बार ऐसा हुआ है। (ख)—*'राम सुखधाम'* विशेषणका भाव कि अपने सुख-प्राप्तिके लिये मुनि श्रीरामजीके पास आये हैं।—[वसिष्ठजीने नामकरण-संस्कार-समय भगवान्‌को यही विशेषण दिया था, यथा—*'सो सुखधाम राम अस नामा।'* अतः वक्ता उनके भावानुकूल वही शब्द यहाँ देते हैं।]

गौड़जी—भरी सभामें जहाँ वसिष्ठजीके सिवा और भी अनेक ऋषि-मुनि बैठे हुए थे और सभी पुरवासी थे वहाँ अपने उपदेशमें इस बातका साफ एकबाल किया गया है कि सबसे सुलभ और सुगम मेरी भक्तिका मार्ग है और उसके कोठारी भगवान् शङ्कर हैं। अब वसिष्ठजीको इस बातका कोई खटका नहीं रहा कि प्रभु अपनी परमात्मसत्तासे इनकार करेंगे। इससे पहले प्रत्येक प्रसङ्गमें वसिष्ठजीको यह खयाल रहता था कि प्रभु गुप्तरूपसे अवतरे हुए हैं, इसलिये रहस्य खोलनेपर नाराज होंगे अथवा नाराज न भी हुए तो रहस्योद्घाटन उनकी इच्छाके प्रतिकूल होगा, लेकिन अब तो श्रीमुखसे ही रहस्योद्घाटन हो चुका है अब खुलके बातें करनेमें कोई रुकावट नहीं रही। इसीलिये आज वसिष्ठजीका धड़का खुल गया है। वैसे तो वसिष्ठजी खूब जानते हैं और राजा दशरथसे कह ही चुके हैं कि *'सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं। जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं॥ भएउ तुम्हार तनय सोइ स्वामी। राम पुनीत प्रेम अनुगामी॥'*

* चरनोदक—(का०)।

इसीपर दशरथजी भी कहते हैं *'सुनहु तात तुम्ह कहँ मुनि कहहीं। राम चराचरनायक अहहीं॥'* इस तरहकी बातें पहले हो चुकी थीं परंतु उनपर स्वीकृतिकी मुहर नहीं लगी थी।

नोट—अ० रा० में श्रीदशरथजीकी आज्ञासे जब वसिष्ठजी श्रीरामचन्द्रजीको राज्याभिषेकके लिये संयम करनेका उपदेश देने गये हैं तब वहाँ ऐसा ही कहा है जैसा यहाँ ४८ (२, ६, ७, ८) में। प्रसङ्ग उससे मिलता है पर वहाँ भक्तिका महत्त्व नहीं वर्णन हुआ है, केवल मोह दूर करनेकी प्रार्थना की गयी है और यहाँ भक्तिकी भी प्रधानता वर्णन की है। मिलान कीजिये—

अन्तःप्रविश्य भवनं स्वाचार्यत्वादवारितः। गुरुमागतमाज्ञाय रामस्तूर्णं कृताञ्जलिः॥ १८॥

प्रत्युद्गम्य नमस्कृत्य दण्डवद्भक्तिसंयुतः। स्वर्णपात्रेण पानीयमानिनायाशु जानकी॥ १९॥

रत्नासने समावेश्य पादौ प्रक्षाल्य भक्तितः। तदपः शिरसा धृत्वा सीतया सह राघवः॥ २०॥

धन्योऽस्मीत्यब्रवीद्रामस्तव पादाम्बुधारणात्॥………२१………मनुष्य इव लोकेऽस्मिन् भासि त्वं योगमायया। पौरोहित्यमहं जाने विगर्ह्यं दूष्यजीवनम्॥ २८॥ इक्ष्वाकूणां कुले रामः परमात्मा जनिष्यते। इति ज्ञातं मया पूर्वं ब्रह्मणा कथितं पुरा॥ २९॥ ततोऽहमाशया राम तव सम्बन्धकाङ्क्षया। अकार्षं गर्हितमपि तवाचार्यत्वसिद्धये ॥ ३०॥ ततो मनोरथो मेऽद्य फलितो रघुनन्दन।' (अ० रा० २। २)

अर्थात् गुरुको आते जान रघुनाथजी शीघ्र ही हाथ जोड़े हुए आगे स्वागतको आये और दण्डवत्-प्रणाम किया। श्रीजानकीजी सोनेके पात्रमें जल लायीं। रत्नासनपर बिठाकर चरणप्रक्षालनकर चरणामृतको सिरपर दोनोंने धारण किया और कहा कि आपका चरणामृत धारण करके आज हम धन्य हुए। यह सुनकर वसिष्ठजी हँसकर बोले कि………आप योगमायाद्वारा मनुष्योंकी तरह इस लोकमें भासित हो रहे हैं (भाव कि मैं जानता हूँ कि आप परब्रह्म हैं पर नरनाट्य करते हुए आप ऐश्वर्य गुप्त किये हुए हैं)। मैं जानता हूँ कि पुरोहित-कर्म निन्दित है यह जीविका दूषित है। पर ब्रह्माजीने मुझे जो यह पूर्व कहा था कि परमात्मा राम इक्ष्वाकुकुलमें अवतार लेंगे, यह जानकर हे राम! आपके सम्बन्धकी लालसासे आपकी आचार्यत्व-सिद्धिके लिये यह निन्दित कर्म ग्रहण किया। वह मनोरथ आज सफल हुआ।

'अति आदर' से अ० रा० के **'रामस्तूर्णं कृताञ्जलिः।'** से लेकर **'धन्योऽस्मीत्यब्रवीद्रामस्तव पादाम्बुधारणात्।'** तकके सब भाव जना दिये।

मानसमें इस जगह श्रीजानकीजीका नाम नहीं है। इससे गुप्तरीतिसे जना दिया कि सीता-त्याग हो चुका है अथवा वे साकेतको प्रस्थान कर चुकी हैं, उसके पश्चात्की यह बात है। वे होतीं तो पद-प्रक्षालन एवं प्रणाममें वे भी सम्मिलित होतीं, जैसे पूर्व *'गहे चरन सिव सहित बहोरी।'* (२। ९। ४) कहा था वैसे ही यहाँ कहते। अथवा यह भी सम्भव है कि श्रीरामजी इस समय अपने भवनमें नहीं हैं, कहीं और एकान्तमें अकेले ही बैठे हैं, न श्रीसीताजी साथ हैं और न कोई भाई ही साथ हैं। इसीसे श्रीरामने स्वयं चरण-प्रक्षालन किया। भवनमें होते तो श्रीसीताजी जल लातीं। भाई साथ होते तो उनका भी प्रणाम कहा जाता और वे ही जल लाते। मानसके क्रमसे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि स्वर्गारोहण-लीला अब अति संनिकट है, यही जानकर उसके कुछ पूर्व ही श्रीवसिष्ठजी यह वरदान लेने आये।

टिप्पणी—२ (क) *'अति आदर'* इति। *'गुर आगमनु सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नाएउ माथा॥ सादर अरघ देइ घर आने। सोरह भाँति पूजि सनमाने॥'* (२। ९। २-३) इत्यादि। *'अति आदर'* है। (ख) *'रघुनायक'*—पद देनेका भाव कि चरणोदक लेना इत्यादि माधुर्यका कार्य है, ऐश्वर्यमें तो वे सबके स्वामी हैं, अतः माधुर्यके अनुकूल यहाँ *'रघुनायक'* नाम दिया।

(ख) [*'राम सुनहु'* इति। श्रीरामजी अपने सहज स्वरूपकी कथा नहीं सुनते, यथा—*'सहज स्वरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई।'* (वि० १६४) फिर गुरुमहाराज हाथ जोड़कर ऐश्वर्यको कहें तो भला उसको वे कैसे सुनेंगे। अतः कहते हैं कि इसे सुनिये। (रा० शं०)]।

वि० त्रि०—आज मुनिजीको प्रभुसे विनती करनी है, अतः एकान्तमें मिलने आये। सनकादिकको भी विनती करनी रही, तिरोभावका समय संनिकट देखकर वे उपवनमें मिलने गये, जहाँ सरकार चारों भाई थे, और कोई नहीं था। वसिष्ठजी तो उस समय गये जब भाई लोग भी नहीं थे, क्योंकि उन्हें हाथ जोड़कर विनती करनी थी, और इस भाँति गुरुके विनय करनेसे शिष्यका बड़ा भारी अपमान होता है और बात ऐसी थी कि बिना हाथ जोड़कर विनती किये गुरुजीको संतोष न होता। सरकारको पूर्णब्रह्म जानकर भी उनके साथ शिष्योंकी भाँति बर्ताव करना पड़ता था। सरकारद्वारा गुरुकी भाँति पूजित होनेपर वसिष्ठजीका हृदय काँप उठता था। पूजित होनेपर वे अपनेको सापराध-सा मानते थे, परंतु करते क्या, उन्हें ब्रह्मदेवने उसी भाँति भगवत्प्राप्तिका विधान किया था। उसीके क्षमापनके लिये हाथ जोड़कर विनती करते हैं और चरणकमलोंमें अविचल भक्ति माँगते हैं।

टिप्पणी—३ (क) *'मुनि कह कर जोरी'* इति। श्रीरामजीने गुरुभावसे आदर किया और मुनिने इनमें परमात्मभाव मानकर हाथ जोड़कर विनती की। *'कृपासिंधु'* का भाव कि मुझपर कृपा करके मेरी विनती सुनिये, बहलाइये नहीं। (ख) श्रीरामजी एकान्तमें जहाँ थे वहाँ मुनि आये; क्योंकि गुप्त विनय करना है। उनके मनकी जानकर श्रीरामजीने अपनेको छिपानेके लिये उनका अत्यन्त आदर किया, (जैसा आदर पूर्व किया करते थे उससे कहीं अधिक किया, यह सूचित करनेको *'अति आदर'* शब्द यहाँ दिये) चरणोदक लिया, यह देख वसिष्ठजीने हाथ जोड़े कि मुझे भुलावेमें न डालिये, आपके आचरण देख मोह हो जाता है। (शीला)। पुनः भाव कि आपकी माया प्रबल है पर हम दासोंपर तो कृपा ही किया कीजिये, मोहमें न डालिये। इसीसे मैं विनती करता हूँ। (पं०)] ४—*'होत मोह मम हृदय'* का भाव कि इन आचरणोंका भेद समझमें नहीं आता। सबके स्वामी होकर चरणोदक लेते हो। *'देखि चरित महिमा सुनत, भ्रमति बुद्धि अति मोरि'* यह पार्वतीजीने कहा है।—[भाव कि ऐसी कृपा कीजिये कि मोह न हो, यथा—**'मां यथा मोहयेन्नैव तथा कुरु रघूद्वह'**—(अ० रा० २। २। ३२)]

पं० रा० प० श०—*'मोह अपारा'* का भाव कि मोह निवारण करने बैठो तो निवारण नहीं होता, सुलझनेका उपाय करो तो और भी उलझाव पड़ जाता है।

रा० प्र०—कोई-कोई कहते हैं कि रघुनाथजीकी पाँच लीलाएँ हैं। उनमें पाँच भक्तोंको मोह हुआ। बाललीलामें भुशुण्डिको, विवाहमें विरञ्चिको—*'बिधिहि भएउ आचरजु बिसेषी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी॥'* वनलीलामें सतीको, रणमें गरुड़को और राज्यलीलामें वसिष्ठजीको।

वै०—*'मोह'* का भाव यहाँ यह है कि अनेक अवसरोंपर मैं ऐश्वर्यभाव भूल-भूल गया हूँ, केवल माधुर्यपर ही दृष्टि रह गयी थी।

महिमा अमिति बेद नहिं जाना। मैं केहि भाँति कहौं भगवाना॥ ५॥
उपरोहित्य* कर्म अति मंदा। बेद पुरान सुमृति कर निंदा॥ ६॥
जब न लेउँ मैं तब बिधि मोही। कहा लाभ आगे सुत तोही॥ ७॥
परमातमा ब्रह्म नर रूपा। होइहि रघुकुल भूषन भूपा॥ ८॥

अर्थ—आपकी महिमाकी मिति नहीं (अतः) वेद भी उसे नहीं जानते। तब हे भगवन्! मैं उसे किस प्रकार कह सकता हूँ (भाव कि मैं जो कुछ जानता हूँ। सो वेदसे ही जानता हूँ। जब वे नहीं जानते तब मैं कहाँसे जानूँ और जानता नहीं तब कहूँ कैसे?)॥ ५॥ पुरोहिताई कर्म बहुत ही नीच है। वेद, पुराण, स्मृति सभी इसकी निन्दा करते हैं॥ ६॥ जब मैंने (रघुकुलकी) पुरोहिताई न स्वीकार की तब ब्रह्माजीने मुझसे कहा—पुत्र! तुमको इससे आगे लाभ होगा। (क्या लाभ होगा सो कहते हैं—)॥ ७॥ परमात्मा ब्रह्म नररूपसे वा नररूप ब्रह्म रघुकुलके भूषन राजा होंगे॥ ८॥

* उपरोहिती—(का०)।

नोट—१ *'अति मंदा'* का भाव कि और भी बहुत-से कर्म मन्द कहे गये हैं पर इससे मन्द कोई नहीं, यह *'अति मंद'* है। क्योंकि इससे ब्रह्मतेज, ब्रह्मत्व ही नष्ट हो जाता है। (पं० रा० व० श०)। इसमें यजमानोंके सब व्यवहारोंकी चिन्ता रहती है, प्रतिग्रह लेना और उनके पापकर्मोंका भागी होना पड़ता है (पं०)। यथा—'**यस्तु राजाश्रयेनैव जीवेद् द्वादशवार्षिकम्। स शूद्रत्वं व्रजेद्विप्रो वेदानामपि पारगः॥**' —(वृद्धगौतमस्मृति अ० १९), '**राजा राष्ट्रकृतं पापं राज्ञः पापं पुरोहितः। भर्ता च स्त्रीकृतं पापं शिष्यपापं गुरुस्तथा॥**' वि० टी०)।

गौड़जी—ब्राह्मणका सबसे उच्च कर्म वेद पढ़ना, यज्ञ करना और दान लेना है। षट्कर्मोंमें वेद पढ़ाना, यज्ञ कराना और दान लेना ये बड़ी जिम्मेदारीके काम हैं। पढ़नेमें अशुद्ध उच्चारणका जिम्मेदार गुरु या पढ़ानेवाला होता है। अनधिकारीको वेद पढ़ानेका पाप भी पढ़ानेवालेको लगता है। देश-काल-पात्रकी चूक उसीके सिर जाती है। इसी तरह यज्ञ कराने और दान लेनेमें भी ब्राह्मणको जिम्मेदारी लेनी पड़ती है। यजमान और दाताके पापों और भूल-चूककी जिम्मेदारी कर्म कराकर दक्षिणा और दान लेनेवालेपर आती है। इसीलिये ब्राह्मणका पुरोहित बन जाना उसके ब्राह्मणत्वमें और उसकी तपस्यामें बड़ी हानिका कारण होता है। इसीलिये पुरोहितीका कर्म अति मन्द समझा जाता है।

रा० प्र०—नीचकर्म सभी वर्जित हैं और इसकी तो वेदादि सभी निन्दा करते हैं अतः मैं न लेता था। कौन देता था यह आगे खोलते हैं।

रा० शं०—*'सुत'* का भाव कि पिता पुत्रका हमेशा कल्याण चाहता है, वह उसके लिये अकल्याणकी वस्तु न देगा।

टिप्पणी—१ *'मैं केहि भाँति कहौं भगवाना'* और *'परमातमा ब्रह्म नररूपा'* कहकर अर्थात् भगवान्, परमात्मा और ब्रह्म तीन नाम यहाँ देकर, सूचित किया कि जिसको उपासक भगवान् कहते हैं उसे कर्मकाण्डी परमात्मा कहते हैं और वेदान्ती ब्रह्म कहते हैं, वह तुम-(वसिष्ठजी-) को प्राप्त होगा, यह ब्रह्माजीने कहा था।

दो०—तब मैं हृदय बिचारा जोग जग्य ब्रत दान।
जा कहुँ करिअ सो पैहौं धर्म न एहि सम आन॥ ४८॥

अर्थ—(जब अतिमन्द श्रुतिस्मृति-निन्दित पौरोहित्य कर्मसे परात्पर ब्रह्मकी प्राप्ति बतायी) तब मैंने हृदयमें विचार किया कि जिसके लिये योग, यज्ञ, व्रत और दान किये जाते हैं, उसे मैं पा जाऊँगा। तब तो इसके समान दूसरा धर्म नहीं है॥ ४८॥

वि० त्रि०—ब्रह्मदेवके कहनेपर भी विचारकी आवश्यकता पड़ी, क्योंकि परम ज्ञानी ब्रह्मर्षि वसिष्ठजीके अनुरूप पुरोहिती किसी प्रकारसे नहीं थी। विचार करनेपर यही स्थिर किया कि जब ध्येयकी प्राप्ति पुरोहितीसे होती हो तो ऐसी पुरोहिती निन्द्य क्यों है, वह तो सर्वश्रेष्ठ धर्म है। भाव यह कि आपकी प्राप्तिके लिये अति मन्द कर्म भी मैंने स्वीकार किया। शिव-अज-पूज्य-चरण होकर आप मेरा पाद-प्रक्षालन करें, चरणोदक लें और मैं आपसे पाद-प्रक्षालनादि कराऊँ, इससे बढ़कर धृष्टता क्या होगी। फिर भी मैं उसे स्वीकार किये हुए हूँ। मैं निरुपाय होकर ऐसा कर रहा हूँ, इसमें मेरा अधिक अपराध नहीं है।

टिप्पणी—१ (क) *'जोग जग्य ब्रत दान'* अर्थात् अष्टाङ्गयोग, वैष्णव, पाशुपत, अश्वमेध आदि यज्ञ। चान्द्रायणादि व्रत। भूमि, कन्या, अश्व, गज इत्यादिका दान। (ख) *'जा कहुँ करिअ'* इति। अर्थात् जिसके लिये योग-यज्ञ-व्रत-दान किये जाते हैं। ये सब भगवान् परमात्मा ब्रह्मके लिये ही किये जाते हैं। यथा *'करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोह मोह ममता मद त्यागी॥ ब्यापक ब्रह्म अलख अबिनासी। चिदानंद निर्गुन गुनरासी॥'''''''''नयन बिषय मो कहुँ भयेउ।'* (१। ३४१), '**स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः ''''''''''तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेनैव विदित्वा मुनिर्भवति।**' (बृह० अध्या० ४ ब्राह्मण ४ मं० २२) (अर्थात् वह यह महान् अजन्मा आत्मा जो कि प्राणोंमें विज्ञानमय है''''''''''उस

इस आत्माको ब्राह्मण वेदोंके स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम तपके द्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं। उसीको जानकर ब्राह्मण मुनि होता है)। *'सो पैहौं'* का भाव कि जिसके जाननेके लिये इतना परिश्रम किया जाता है, उसको मैं साक्षात् पाऊँगा, बिना परिश्रम केवल पुरोहित हो जानेसे। तब इससे बढ़कर धर्म और साधन क्या है, कोई भी नहीं। अतः मैंने इसे स्वीकार कर लिया। पुनः भाव कि योग-यज्ञादि जिसके लिये लोग करते हैं वे सफल तभी होते हैं जब आपका दर्शन हो, मुनि लोग ये सब आपके लिये करते हैं और दर्शन पाकर सफल-मनोरथ होते हैं। यथा—*'आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू॥ सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहि अवलोकत आजू॥'* (२। १०७), *'सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥'* (२। २१०। ४) (ग), *'धर्म न एहि सम आन'* अर्थात् योग, यज्ञ, तप, दान आदि जितने धर्म हैं उनसे यह आवश्यक नहीं है कि ब्रह्मकी प्राप्ति हो ही जाय, तब यदि बिना किसी साधनके पुरोहितीमात्र ग्रहण कर लेनेसे ब्रह्मकी साक्षात् प्राप्ति होगी तो वह *'अति मंद'* न होकर परमोत्कृष्ट अनुपम धर्म ही हुआ। क्योंकि *'लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी॥'* (२। १०७) [इस कथनका तात्पर्य यह है कि आप मुझे गुरु कहते हैं पर मैंने तो यह बोझा आपके दर्शनोंके निमित्त ही सिरपर धारण किया है। (पं०)]।

नोट—बैजनाथजी लिखते हैं कि यह प्रसंग यजुर्वेदमें है। यथा—'**अहो यक्षतसूत्रं परिदधाति वशिष्ठत्वं पुरोधाति स एव ब्रह्मोद्भवं परिपश्यन्तु धीराः। अनन्यमनसा चिन्तयन्तु देवाः स्वर्गेषु यज्ञापाप्यायतांधिकः कौशिकेन समग्र विलीयतां देवाः विरसि बाहुँरसितूर्यमगतायतां प्रधानानि यज्ञासीत्। एषः ब्राह्मणः वशिष्ठस्याह प्रयोजनाय यज्ञायकेषु भानुवंशस्य कृतोद्भवः आचरणाय कर्मणे सर्वस्य अप्रमेयानि नाहं बभूव यस्तु ज्ञेयं स नीचैः तन्नो गृह्णाति काले मङ्गलाय परिपूर्णब्रह्मलोकादिहागताः पूज्यमानाः सन्तु आपः सुमनस्य मनोद्भवादेव वर्षे गच्छन्तु परे मङ्गलमास्तान् चिन्मयो सम्मेलनं विधि संगीयता।**'

जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥ १॥
ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥ २॥
आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥ ३॥
तव पदपंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥ ४॥

शब्दार्थ—'आगम'-'**आगते शिववक्त्रेभ्यो गतञ्च गिरिजाश्रुतौ। मतञ्च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते**'-रा० प्र०।

अर्थ—जप, तप, नियम, योग, अपने-अपने वर्णाश्रमधर्म, वेदोंसे उत्पन्न अनेक शुभ कर्म, ज्ञान, दया, दम, तीर्थस्नान इत्यादि जहाँतक धर्म वेदों और सज्जनोंने कहे हैं॥ १। २॥ हे प्रभो! अनेक शास्त्र (तन्त्र), वेद और पुराणोंके पढ़ने और सुननेका (सर्वप्रधान, मुख्य) फल एक ही है॥ ३॥ सब साधनोंका यही सुन्दर फल है कि आपके चरणकमलोंमें निरन्तर (अर्थात् अविच्छिन्न एकरस) प्रेम हो (भाव कि कोई भी साधन करके यदि अन्य किसी फलकी प्राप्ति की गयी तो वह फल सुन्दर फल नहीं है)॥ ४॥

टिप्पणी—जप अर्थात् विधिपूर्वक पुरश्चरण, तप अर्थात् पञ्चाग्नि जलशयनादि, नियम बारह। ज्ञान अर्थात् सांख्य। दम अर्थात् बाह्येन्द्रियोंका रोकना, तीर्थ ३३॥ करोड़ हैं। सज्जन जैसे कि मनु और याज्ञवल्क्य ऋषि आदि। *'अनेक'* कहकर सब पुराण और उपपुराण भी सूचित किये।—(बा० मं० श्लो० ७ देखिये)। [*'पढ़े सुने कर फल एका।'* चाहे पढ़े चाहे सुने, दोनोंका फल एक ही है। पढ़े गुरु आदिसे और सुने सत्सङ्गमें। (भा० दा० में *'पठे'* पाठ है)। रा० प्र०)]

२ *'सब साधन कर फल यह सुंदर'* इति। (श्रीभुशुंडिजीने भी यही कहा है। यथा—*'जप तप मख सम दम ब्रत दाना। बिरति बिबेक जोग बिग्याना॥ सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावै छेमा॥'* (९५। ५-६) तात्पर्य कि धर्म करके और कोई वासना न रखे, भक्ति छोड़ और किसी पदार्थकी चाह न करे, यही फल सुंदर है और (स्वर्गादिकी प्राप्ति इत्यादि) फल सुन्दर नहीं हैं जैसा आगे कहते

हैं—*'छूटै मल·········।'* यथा—*'जप तप करके स्वर्ग कमाना यह तो काम मजूरों का'*, *'ज्ञान बिराग जोग जप तप मख जग मुद मग नहि थोरे। रामप्रेम बिनु नेम जाय जैसे मृगजल जलधि हिलोरे।'*

रा० शं०—पूर्व कहा कि *'जा कहँ करिय सो पैहौं'* और यहाँ उन्हींका फल इन शब्दोंमें कहा कि *'तव पदपंकज प्रीति निरंतर।'* इस तरह जनाया कि चरणोंमें निरन्तर प्रेम होना भी *'भगवत्प्राप्ति'* ही है।

वीर—सब साधनोंकी समता पद प्रेममें इकट्ठी करनी 'तृतीय तुल्ययोगिता' है। पदपंकजमें 'निरङ्गरूपक' है।

छूटै मल कि मलहि के धोए। घृत कि पाव कोउ* बारि बिलोए॥ ५॥
प्रेमभगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥ ६॥
सोइ सर्बज्ञ तज्ञ सोइ पंडित। सोइ गुनगृह बिज्ञान अखंडित॥ ७॥
दच्छ सकल लच्छनजुत सोई। जाके पदसरोज रति होई॥ ८॥

शब्दार्थ—**विलोना (सं० विलोडन)**=मथना। **बिज्ञान**=शास्त्रजन्यज्ञानका अभ्यास करते-करते अखण्ड ज्ञानका अनुभव विज्ञान है। **दच्छ**=व्यवहारमें कुशल।

अर्थ—क्या मैलेसे धोनेसे मैला छूट सकता है? (कदापि नहीं)। क्या जलको मथनेसे कोई घी पा सकता है? (अर्थात् नहीं पाता)॥ ५॥ हे रघुराज! बिना प्रेमभक्तिरूपी जलके अन्तःकरणका मैल कभी नहीं जाता॥ ६॥ वही सर्वज्ञ है, वही तत्त्वज्ञ है, वही पण्डित है, वही गुणोंका घर है, अखण्ड विज्ञानी है और वही चतुर एवं समस्त सुलक्षणोंसे युक्त है जिसका प्रेम आपके चरणकमलमें है। (भाव कि चाहे उसमें कोई गुण हों वा न हों, आपमें प्रेम होनेसे उसमें ये सब गुण समझे जायँगे। सब गुणोंकी देनेवाली एक आपके चरणकमलोंकी प्राप्ति है और प्रभु-पद-प्रेम बिना सर्वज्ञादि गुण होते हुए भी उनकी सर्वज्ञतादि व्यर्थ है)॥ ७-८॥

टिप्पणी—१ *'छूटै मल कि मलहि के धोए'* इति। (क) जपतपादि मलरूप हैं। मलसे मलको कोई धोकर छुटाना चाहे तो वह नहीं छूट सकता। इसी प्रकार विषयसे विषय नहीं छूटता। सवासिक कर्मों-धर्मोंके फल सब मलरूप हैं; क्योंकि उनसे विषयभोगमें प्रेम बढ़ता ही जायगा। इसीसे इन सब फलोंको सुन्दर नहीं कहा। (ख) मलसे मल नहीं छूटता वैसे ही कर्म करनेसे कर्म नहीं छूटता और जैसे जल बिलोनेसे घी नहीं मिलता वैसे ही ज्ञानसे निर्मलता नहीं प्राप्त होती।-यह **'वक्रोक्ति'** है।

पं० रा० व० श०—मनु याज्ञवल्क्यादिने वर्णाश्रम-धर्मों और उनके फलोंका वर्णन किया है और ज्ञानको भी उत्तम कहा है। अतः शङ्का होती है कि क्या ये सुन्दर नहीं हैं? उसपर कहते हैं कि ***'छूटै मल'*········'** और ***'घृत कि पाव'*········।'** दो दृष्टान्त दोके लिये हैं। कर्मसे कर्मका छुड़ाना चाहना मलसे मलका धोना है और शुष्क ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति चाहना जल बिलोकर घी निकालनेकी चाहके समान है।

नोट—१ भा० ६। १। ११। में शुकदेवजीका वचन है कि **'कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते॥'** अर्थात् हे राजन्! जो तुमने कहा कि पापोंके लिये लोग चान्द्रायणादि द्वादशवार्षिक व्रतादि करके उनसे निवृत्त होते हैं और फिर उन्हीं पापोंमें प्रवृत्त हो जाते हैं तब वह प्रायश्चित्त भी व्यर्थ है, उसका उत्तर सुनो। कर्मसे कर्म निर्मूल नहीं हो सकता (भाव कि पाप करना भी कर्म है और व्रतादि प्रायश्चित्त भी कर्म ही है), क्योंकि **'अविद्वदधिकारित्वात् प्रायश्चित्तं विमर्शनम्'** अर्थात् कर्मके अधिकारी अविद्यासे कलुषित होते हैं। पापकर्मोंसे हृदय पहले कलुषित हुआ, यम-नियम-व्रत-दानादि शुभकर्मोंसे उनका प्रायश्चित्त किया तो वे कुछ नष्ट होते हैं पर साथ ही शुभकर्मोंका फल-भोगरूपी मल ऊपरसे लिपट जाता है। शुभाशुभ दोनों ही कर्म बन्धनमें डालनेवाले हैं। भक्तिसे सञ्चित कर्म सर्वथा निर्मूल हो जाते हैं। शुभाशुभ दोनों ही कर्म त्याज्य हैं यथा—*'त्यागहिं कर्म सुभासुभ दायक। भजहिं मोहिं सुर नर मुनि नायक॥'*

---

* कोई—भा० दा०।

गौड़जी—प्रायश्चित्तादि कर्मद्वारा पापकर्मोंका विपाक रुक नहीं जाता। उनके विपाकके समयमें विधिवत् किये हुए प्रायश्चित्त कर्म उसकी कठोरताको कोमल कर देते हैं। अथवा भोगकालको बहुत घटा देते हैं। इस तरह कर्मके द्वारा कर्मका बन्धन मिट नहीं सकता।

नोट—२ जिस मलसे धोना कहते हैं वह और जिस मलको धोना है वे मल क्या हैं, यह विनयके उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाता है जो यहाँ दिये जाते हैं—

'मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई। जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक लपटाई॥
नयन मलिन परनारि निरखि मन मलिन बिषय सँग लागे। हृदय मलिन बासना मान मद जीव सहज सुख त्यागे॥
परनिंदा सुनि श्रवन मलिन भे बचन दोष पर गाये। सब प्रकार मलभार लाग निज नाथ चरन बिसराये॥
तुलसिदास ब्रत दान ज्ञान तप सुद्धि हेतु श्रुति गावै। रामचरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै॥ पद ८२॥'
'जनम अनेक किये नाना बिधि करम कीच चित सान्यो। होइ न बिमल-बिबेक-नीर बिनु बेद पुरान बखान्यो॥ ८८॥'
'बहुभाँतिन स्रम करत मोहबस बृथहि मंदमति बारि बिलोयो। करमकीच जिय जानि सानि चित चाहत कुटिल मलहि मल धोयो॥ २४५॥

उपर्युक्त पद ८२ में इन्द्रियों तथा मन, चित्त और हृदयमें क्या मल लगा है यह बताते हुए यह कहा है कि यह सब मोह-जनित मल है। इसके धोनेके लिये व्रत, दान, ज्ञान, तप बताये गये हैं पर इनसे उस मलका सर्वथा नाश नहीं होता। सर्वथा नाश श्रीरामचरणानुरागरूपी जलसे ही होगा। इसके अनुसार मोह-जनित विषय-वासनाएँ और तद्विषयक कर्म ही मल हैं। जिनको धोकर दूर करना है। व्रत-ज्ञान आदि उपाय भी मल हैं जिनसे उनको धोते हैं, पर इनसे वह मल-भार धुलकर साफ नहीं हो पाता, बना ही रह जाता है। श्रीरामानुराग जल है। इससे मल सर्वथा दूर हो जाता है।

पद ८८ के अनुसार नाना प्रकारके कर्म जो अनेक जन्मोंसे अबतक करते चले आ रहे हैं वे ही दोनों प्रकारके मल हैं। अशुभ और शुभ कर्म। अशुभ कर्म फलोंको शुभ कर्मोंसे मिटाना चाहते हैं, यह सम्भव नहीं। निर्मल विवेक जो भगवद्भक्ति-संयुक्त होता है उस विवेकरूपी जलसे ही धुलता है। पद २४५ में भी कर्मको ही दोनों प्रकारका मल कहा है। कर्मसे ही कर्मको धोना मलसे मलको धोना है।

वि० ८२ में रामचरणानुरागको जल कहा है और मानसमें *'प्रेम भगति'* को। इससे जनाया कि दोनों एक ही हैं।

मलको मलसे धोना। जैसे कीचड़ शरीरमें लग जाय तो कोई उसे कीचड़से ही छुड़ाना चाहे तो वह कीचड़ छूटना तो अलग रहा और भी लपटकर सघन हो जायगा। वैसे ही पापकर्मोंको योग, यज्ञ, जप, दान, ज्ञान आदि कर्मोंसे मिटानेके बदले और भी जकड़कर बँधना हो जाता है। यथा—***'छूटिबे की जतन बिसेष बाँध्यो जाहिगो। ह्वैहै बिष भोजन जौं सुधा सानि खाहिगो।'*** (वि० ६८)

३ इसपर यह शङ्का हो सकती है कि गीतामें तो भगवान्‌ने कहा है कि अपने-अपने कर्मोंमें लगा हुआ मनुष्य परम-पदप्राप्तिरूपी संसिद्धिको पाता है—**'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।'** (१८। ४५) तो इसका उत्तर भी उसीके आगे भगवान्‌ने स्वयं दिया है कि **'स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।'** (४५) अपने कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार सिद्धिको पाता है वह मुझसे सुन। और फिर बताया है कि सबको उत्पन्न करनेवाले तथा सबमें अन्तरात्मा रूपसे स्थित मुझ परमेश्वरको अपने कर्मोंद्वारा पूजकर मनुष्य मेरे प्रसादसे मेरी प्राप्तिरूपी सिद्धिको पाता है। यथा—**'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥'** (४६)

जब वे कर्म भगवान्‌की पूजाके अङ्ग हुए, उन्हींके लिये किये गये तब तो वह सब भगवद्भक्ति ही हो गये। तब वे बन्धनरूप नहीं हो सकते। ऐसा ही श्रीमद्भागवतमें भी कहा है।

अनेक जन्मोंका विकार जो हृदयमें जमा है वही मल है, हरिभक्तिसे ही वह धुलता है, ऐसा (भा० ४। २१। ३१, ३२) में पृथुजीने भी कहा है। यथा—**'यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विनामशेषजन्मोपचितं मलं धियः। सद्यः**

क्षिणोत्यन्वहमेधती सती यथा पदाङ्गुष्ठविनिःसृता सरित्॥ विनिर्धुताशेषमनोमलः पुमानसङ्गविज्ञानविशेषवीर्यवान्। यदङ्घ्रिमूले कृतकेतनः पुनर्न संसृतिं क्लेशवहां प्रपद्यते॥' (३१-३२)

श्रीपृथुजी कहते हैं कि जिनके चरणकमलोंकी सेवामें निरन्तर बढ़नेवाली प्रीति तपस्वियोंके अनेक जन्मोंके संचित मनोमलको इस प्रकार तत्काल नष्ट कर देती है जैसे उन्हींके चरणनखसे निकली हुई श्रीगङ्गाजी। तथा जिनके चरणमूलका आश्रय लेनेवाला पुरुष सम्पूर्ण मनोमलसे मुक्त होकर और असङ्गताके ज्ञानसे विशेष बल पाकर फिर इस दुःखमय संसारचक्रमें नहीं पड़ता। अतएव आप उन्हीं प्रभुको मन-कर्म-वचनसे भजें—'**तमेव यूयं भजतात्मवृत्तिभिर्मनोवचःकायगुणैः स्वकर्मभिः।**'

४ '***छूटै मल कि मलहि के धोए***' से सञ्चित कर्मों, विषयवासनाओं आदि रूपी मलको तप, दान आदि शुभ कर्मोंद्वारा नाश होनेका निषेध किया। '***घृत कि पाव कोउ बारि बिलोये***' से उनके द्वारा भवबन्धनसे मुक्तिका निषेध किया। यहाँ योगयज्ञादि सब साधन वारिरूप हैं। जलके मथनेसे घी नहीं निकलता। यथा—'***सुखसाधन हरिबिमुख बृथा जैसे श्रमफल घृत हित मथे पाथ।***' (वि० ८४) श्रममात्र ही हाथ लगता है। यथा '***बहु भाँतिन श्रम करत मोह बस बृथहि मंदमति बारि बिलोयो॥***' (वि० २४५) शुभ कर्मोंका बारंबार करना पानीका मथना है। मोहजनित मलका छूटना, सुख-शान्तिकी प्राप्ति, भवबन्धनका छूटना घृत है। श्रीभुशुण्डिजीने तो यहाँतक कह डाला है कि '***बारि मथे घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल। बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल।***' (१२२) जलके मथनेसे कदाचित् घी निकल आवे, यह असम्भव सम्भव हो जाय पर बिना भगवद्भक्तिके भवसे निवृत्ति नहीं होनेकी। विनयमें भी कहा है—'***पायो केहि घृत बिचारु, हरिन-बारि महत। तुलसी तकु ताहि सरन, जाते सब लहत॥***' (पद १३३)

टिप्पणी—२ '***प्रेमभगति जल बिनु रघुराई।..........***' इति। सब धर्म साबुन हैं। जैसे केवल साबुन रगड़नेसे मैल नहीं जायगा जबतक उसमें जल न पड़ेगा; वैसे ही आपकी प्रेमलक्षणा भक्तिरूपी जलके साथ सब धर्म जीवके मलको दूर कर सकते हैं, केवल कर्म और ज्ञान दूर नहीं कर सकते। सारांश यह कि प्रेम अन्तःकरणमें होता है, इसीसे वह अन्तःकरणको निर्मल कर देता है।* अर्थात् भीतरसे चतुर हैं और बाहर सब गुणोंके चिह्न अङ्गोंपर हैं।

नोट—५ '***प्रेम भगति जल बिनु..........अभ्यंतर मल कबहुँ न जाई***' इति। मिलान कीजिये—'**धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता। मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि॥ कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना। विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुद्ध्येद्भक्त्या विनाऽऽशयः॥ वाग् गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च। विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥**' (भा० ११। १४। २२—२४) भगवान् श्रीउद्धवजीसे कहते हैं कि तुम निश्चय जानो कि सत्य-दया-युक्त धर्म या तपसम्पन्न ज्ञान मेरी भक्तिसे शून्य जीवको पूर्णतया शुद्ध नहीं कर सकते। बिना रोमाञ्च हुए, बिना प्रेमसे हृदय गद्गद हुए, बिना नेत्रोंसे आनन्दाश्रु बहे, कैसे भक्तिका ज्ञान हो सकता है? बिना ऐसी भक्तिके चित्त ही कैसे शुद्ध हो सकता है? मेरी भक्तिसे जिसकी वाणी और हृदय गद्गद हो जाते हैं, जो बारंबार उच्च स्वरसे मेरे नाम लेकर मुझे पुकारता है, कभी हँसता, कभी रोता और कभी लज्जा छोड़कर नाचता है, गुण गाता है वह मेरा पूर्णभक्त त्रिलोकपावन है, त्रिलोकीको पवित्र कर देता है।

नोट—६ यहाँ प्रेमभक्तिको नीर कहा और दूसरी जगह उपर्युक्त विनय पद ८८ में '***बिमल बिबेक***' को नीर कहा है। इससे कुछ भेद नहीं पड़ता, क्योंकि विमल ज्ञानका फल प्रेमभक्ति है, यथा—'***बिमल ग्यान जल जब सो नहाई। तब रह रामभगति उर छाई॥***' (१२२। ११) ☞ प्रेमाश्रुका बड़ा भारी मान है। श्रीसीताराम परमकरुणावरुणालय हैं, वे भक्तके आँसू नहीं सह सकते। प्रिय पाठकगण इस बातको गाँठमें बाँध रखें। जो बात किसी प्रकार भी सम्भव नहीं वह भी प्रेमाश्रुधारा प्रवाहसे सम्भव हो जाती है। भव-

---

* 'भक्तिजल' में 'समअभेदरूपक' है। इस अर्धालीमें 'विनोक्ति' है। व्यंगार्थद्वारा दृष्टान्तका भाव झलकता है। 'सोइ सर्वज्ञ..........' में तृतीयतुल्ययोगिता है।

बन्धनसे छूटनेका यह बड़ा सहज नुसखा है—रोइये, रोइये, रोइये। बस यह परमौषधि है।

करु०—'*अभ्यंतर मल।*' अन्त:करणकी झीनी वासना अभ्यन्तर मल है। वासनाएँ दो प्रकारकी हैं—स्थूल और झीनी (सूक्ष्म)। स्थूल वह है जो मनमें उठी और कर डाली गयी और झीनी वह है जो अनइच्छित मनमें उठती है और जिसकी पूर्ति नहीं की जा सकती जैसे भूखा ब्राह्मण किसी नीच जातिके यहाँ उत्तम भोजनके पदार्थ देखे और उसका जी ललच जाय पर वह प्राप्त होनेपर भी ग्रहण नहीं कर सकता। स्थूल तो जप-तपादिसे मिट जा सकें पर झीनी नहीं मिट सकती।

पं० रा० कु०, रा० शं०—'*सोइ सर्बज्ञ।*' पहले यह दिखा आये कि जिससे श्रीरामजी मिलें वही धर्म है; अब दिखाते हैं कि सर्वगुणसम्पन्न वही है जिसमें भक्ति है। '*दक्ष*' से भीतरसे चतुर और '*लच्छनजुत*' से अङ्गोंमें सुन्दर लक्षणोंके चिह्न जनाये। मिलान कीजिये—'*सूर सुजान सपूत सुलक्षन गनियत गुन गरुआई। बिनु हरि भजन इँदारुनि के फल तजत नहीं करुआई॥ कीरति कुल करतूति भूति भलि सील स्वरूप सलोने। तुलसी प्रभु अनुरागरहित जस सालन साग अलोने॥*' (वि० १७५)

रा० प्र०—१ 'असम्भवमें दृष्टान्त' देनेका भाव कि जिसमें जो रहता है वही उसमेंसे निकलता है। अभ्यन्तर अर्थात् बहुत ही भीतर। २ '*रति होई*' में '*होई*' शब्द सब काल प्रीति बनी रहनेका बोधक है।

दो०—नाथ एक बर माँगौं राम कृपा करि देहु।
जन्म जन्म प्रभुपदकमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥ ४९॥

अर्थ—हे नाथ! मैं एक वरदान माँगता हूँ। हे राम! कृपा करके दीजिये। (वह यह है कि) आपके चरणकमलोंमें मेरा प्रेम जन्म-जन्ममें कभी न घटे॥ ४९॥

टिप्पणी—१ '*कृपा करि देहु*' का भाव कि मैंने ऐसा सुकृत नहीं किया कि जिससे जन्मजन्मान्तरमें मेरा प्रेम आपके चरणोंमें हो।

पं० रा० व० श०—'*जन्मजन्म*' से जनाया कि यह नहीं चाहते कि जन्मका अभाव हो। भरतजी और बालि इत्यादिने भी ऐसा ही वर माँगा है।

भरतजी—'*अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहउँ निर्बान। जनम जनम रति रामपद यह बरदान न आन।*'

बालि—'*जेहि जोनि जनमौं कर्मबस तहँ रामपद अनुरागऊँ।*'

किसी भक्तकी अभिलाषा है कि—'**योगः श्रुत्युपपत्तिनिर्जनवनध्यानाध्वपरिभावति स्वराज्यं प्रतिपद्य निर्भयममी मुक्ता भवन्तु द्विजाः अस्माकं तु वसिष्ठनन्दनितटे प्रोत्फुल्लकुञ्जद्रुमे सीताराघवनामधाम जुषतां जन्मास्तु लक्षावधि॥**'

वै०—प्रभु नित्यधामको प्रजासहित पधारनेवाले हैं, इसीसे ऐसा वर माँगा। यही कारण है कि ये साथ न गये।-[अधिकारी होकर सृष्टिमें बने हैं, ब्रह्माजीके साथ परमधामको जायेंगे। पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं—'पर यह निश्चित नहीं कहा जा सकता, क्योंकि (वाल्मी० ७। १०९। १—३) में स्पष्टरूपसे परधामयात्रामें इनका साथ होना पाया जाता है। इससे (आगेके) '*गृह आए*' को उस दिनकी यात्राका उपसंहाररूप मानना चाहिये']

प० प० प्र०—श्रीवसिष्ठकृत स्तुति इति। यह सत्ताईसवीं स्तुति है और उत्तराभाद्रपदा सत्ताईसवाँ नक्षत्र है। दोनोंका साम्य इस प्रकार है—(१) भाद्रपदा=कल्याणपददाता। उत्तर=श्रेष्ठ। वसिष्ठजीकी महती श्रेष्ठता कौन कहनेको समर्थ है। (२) इस नक्षत्रमें दो तारे हैं। इस स्तुतिमें प्रभुपद और प्रभुपदरति ये ही दो तारे हैं। (३) आकार-साम्य। पूर्वाके दो तारे राम और संत तथा उत्तराके दो तारे रामपद और रामपदरति मिलकर चारपाईके समान आकार है। इन चारोंके आश्रयपर कोई भी जीव सदा विश्राम कर सकता है—'*सुखमय ताहि सदा सब आसा।*' (४) नक्षत्रका देवता अहिर्बुध्न्य है जो एकादश रुद्रोंमेंसे एक है और इस कथाके वक्ता भी शिवजी ही हैं। यथा '*गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई॥*' (५०। ८) (५) नक्षत्रकी फलश्रुति है '*पावन गग तरंग मालसे।*' और इस स्तुतिमें रघुकुलगुरुने हृदय पावन करनेका मुख्य साधन इस प्रकार

कहा है—*'प्रेमभगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई।'* भाव कि जो इस स्तुतिको नित्य प्रेमसे गान करेगा उसका हृदय निर्मल हो जायगा।

अस कहि मुनि बसिष्ठ गृह आए। कृपासिंधु के मन अति भाए॥ १॥

अर्थ—ऐसा कहकर वसिष्ठ मुनि घर आये। वे कृपासिंधु श्रीरामचन्द्रजीके मनको बहुत अच्छे लगे॥ १॥

टिप्पणी—१ *'कृपासिंधु'* इति। वसिष्ठजीने कहा कि 'हे राम! मुझे कृपा करके वर दीजिये' इसीसे श्रीरामजीको यहाँ *'कृपासिंधु'* कहकर सूचित कर दिया कि उनपर बड़ी कृपा की गयी। श्रीरामजी मर्यादापुरुषोत्तम हैं। इसीसे उन्होंने लीलाके विरुद्ध जानकर गुरुसे प्रत्यक्ष न कहा कि हमने वर दिया। *'मन अति भाए'* से (मानसिक) वर देना सूचित किया है। अथवा, वसिष्ठजीने यथार्थ वचन कहे हैं इसीसे उन्होंने उत्तर न दिया।—[पुनः, प्रभुने पुरजन-समाजमें कहा था कि वही हमारा प्रिय है जो हमारी आज्ञा करे। आज्ञा है कि हमारी भक्ति करो। वही ये माँगते हैं। अतः *'अति भाये'*—(पं० रा० व० श०)]

रा० प्र०—१ *'अति भाए'* से व्यंजित किया कि गुरु भी बनाये रहे, मर्यादा भी रखी और उनपर परम प्रसन्नता भी की, वह यह कि मुनिके मनमें भ्रम लेश भी न रह गया। [☞बालकाण्डसे यहाँतक ४० प्रश्न और उनके उत्तर हुए जो स्थल-स्थलपर दिये गये हैं। एकत्र यहाँ रा० प्र० ने दिये हैं]

२—वसिष्ठजीने भगवान्‌से मुक्ति न माँगी, वरन् भक्ति माँगी; क्योंकि ब्रह्माजीका वचन है कि तुमको परमात्मा ब्रह्मकी प्राप्ति होगी। मुक्तिसे भक्ति श्रेष्ठ है।

☞*'एक बार बसिष्ठ मुनि आये'* उपक्रम है और *'अस कहि मुनि बसिष्ठ गृह आये'* उपसंहार है।

हनूमान भरतादिक भ्राता। संग लिये सेवक सुखदाता॥ २॥
पुनि कृपाल पुर बाहेर गए। गज रथ तुरग मगावत भए॥ ३॥
देखि कृपा करि सकल सराहे। दिए उचित जिन्ह जिन्ह तेइ चाहे॥ ४॥

अर्थ—सेवकोंको सुख देनेवाले श्रीरघुनाथजीने हनुमान्‌जी और भरतादि सब भाइयोंको साथ लिया॥ २॥ फिर दयालु रघुनाथजी नगरके बाहर गये और हाथी, रथ और घोड़े मँगाये॥ ३॥ कृपादृष्टिसे देख कृपा करके सबकी सराहना की। जिस-जिसने उनको चाहा उस-उसको जो जिसके लिये उचित था दिया॥ ४॥

टिप्पणी—*'संग लिए सेवक सुखदाता'* इति। श्रीभरतादिक भ्राता और हनुमान्‌जी—ये ही सुखके दाता सेवक हैं, इसीसे इन्हींकी सेवा आगे कहते हैं। यथा—*'भरत दीन्ह निज बसन डसाई। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई॥ मारुतसुत तब मारुत करई॥'* [सेवक-सुखदाता श्रीरामजी हैं। भगवान् अपने समस्त सेवकों वानर, रीछ आदि तथा पुरवासियोंको साथ ही ले गये यह बात वाल्मी० रा०, अ० रा० आदिमें स्पष्ट कही है और श्रीपार्वतीजीने भी कही है। यथा—*'प्रजासहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम।'* अतः *'सेवक सुखदाता'* विशेषण दिया। सारी प्रजाने यह प्रार्थना की थी कि जहाँ भी आप जायँ वहाँ हम सब भी जाना चाहते हैं, इसीमें हमारी प्रसन्नता और यही हमारा अक्षय धर्म है। यथा—**'गन्तुमिच्छसि यत्र त्वमनुगच्छामहे वयम्। अस्माकमेषा परमा प्रीतिर्धर्मोऽयमक्षयः॥'** (अ० रा० ७। ९। १२) इत्यादि। श्रीरामजीने उनकी अभिलाषा पूरी की जिससे सब सुखी हुए। यह सब *'सेवक सुखदाता'* कहकर जना दिया। २—भरतादिक भाइयोंके साथमें हनुमान्‌जीको भी लिया, क्योंकि इनको श्रीरामजी भाइयोंके समान जानते हैं। यही भाव गुसाईंजीने वन्दनामें दिखाया है, यथा—

(१) *बंदउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥*
(२) *बंदउँ लछिमन पद जलजाता। सीतल सुभग भगत सुखदाता॥*
(३) *रिपुसूदन पद कमल नमामी। सूर सुसील भरत अनुगामी॥*
(४) महाबीर बिनवउँ हनुमाना। राम जासु जस आपु बखाना॥

वि० त्रि०—पुर बाहर जानेके बाद फिर नगरमें लौटना नहीं कहते, और गज, रथ, तुरगको मँगवाकर उनका बाँटना कहते हैं, और इस क्रियामें सरकारका थक जाना कहते हैं, यथा (*'हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई'*)। इससे स्पष्ट है कि यह गज-तुरग-रथका विभाग इस मर्त्यधामके त्यागनेकी तैयारीसे सम्बन्ध रखता है। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जाता है कि आठों पुत्रोंको आठ देशका राज्य दिया और जिसने जितना हाथी, घोड़ा, रथ चाहा उतना उसको दिया। सरकार अपने उसी सिद्धान्तपर दृढ़ रहे कि *'बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहिं अभिषेकू॥'*

प० प० प्र०—श्रीभरतजी और श्रीहनुमान्‌जीका निर्देश स्पष्ट है। पर लक्ष्मणजी इस समय साथ थे, यह अनुमानसूचक कोई शब्द यहाँ नहीं है। अतः इसके पूर्व ही श्रीलक्ष्मणजीकी परधामयात्रा सूचित की। [जिस कल्पमें लक्ष्मणजीकी परधामयात्रा होती है, वह इस तरह कह दी। मानसकल्पवाली कथामें लक्ष्मणजी भी साथ ही गये। यह आगेके *'बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई'* से स्पष्ट है। केवल दो भाई सब भाई नहीं हैं। (मा० सं०)]

नोट—*'गज रथ तुरग मँगावत भए'* इति। पंजाबीजीका मत है कि गज, रथ, घोडे आदिके सुन्दर आकारके विमान मँगाये और उनकी सराहना करके उनपर इच्छानुसार प्रजाको सवार कराया। यह गुप्तरीतिसे इन शब्दोंसे सूचित कर दिया है।

गौड़जी—परधामगवनके सम्बन्धमें जो अन्तिम दृश्य दिखाया है उसमें श्रीसीताजीकी चर्चा न करके यह सूचित किया कि सीताजीका वियोग हो चुका है और वे अपने इस लीलाविग्रहको अपनी माता पृथ्वीकी गोदमें सौंपकर परधाममें अपनी पराविभूतिसे पधार चुकी हैं। इसीलिये पुर बाहर जानेमें भरतादिक तथा हनुमान्‌जीहीकी चर्चा है। अन्तमें *'सीतल अमराई'* में जानेसे यह भी संकेत है कि यह अमराई सीतामय है, इसीमें प्रभु जाकर अपने अवतार-लीला-जनित श्रमसे विश्राम पाते हैं, जिस तरह सीताजी गुप्तरूपसे मौजूद हैं उसी तरह 'शीतल' शब्दमें गुप्तरूपसे उनका संकेत है।

हरन सकल श्रम प्रभु श्रम पाई। गए जहाँ सीतल अँवराई॥ ५॥
भरत दीन्ह निज बसन डसाई। बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई॥ ६॥
मारुतसुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल भरई॥ ७॥

अर्थ—समस्त श्रमोंके हरण करनेवाले प्रभुने (गज-बाजि-रथादिके बाँटनेमें) श्रम पाया। (उस श्रमके हरण करनेके निमित्त) वे शीतल अमराईमें गये॥ ५॥ श्रीभरतजीने अपना वस्त्र बिछा दिया। प्रभु उसपर बैठ गये, सब भाई सेवा कर रहे हैं॥ ६॥ तब पवनपुत्र श्रीहनुमान्‌जी पवन (हवा अर्थात् पंखा) करने लगे। उनका शरीर पुलकित हो गया और नेत्रोंमें जल भर आया॥ ७॥

पां०—पार्वतीजीने नौ प्रश्न बालकाण्डमें किये जिनमेंसे चारका उत्तर बालकाण्ड है, पाँचवेंका अयोध्या, छठेका अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, सातवेंका लंका, आठवेंका उत्तरकाण्ड राजगद्दी आदि व्यवहारतक है और नवेंका उत्तर इस चौपाईमें समाप्त है। श्रीरघुनाथजीकी परधामयात्रा उपासकोंकी उपासनाके प्रतिकूल है, क्योंकि वे सदा रघुनाथजीको अयोध्याजीमें स्थिर ध्यान करते हैं, इसीसे गोसाईंजीने इस युक्तिसे उस प्रश्नका उत्तर दिया कि उपासना भी बनी रही और प्रश्नका उत्तर भी हो गया। प्रश्नका उत्तर इस प्रकार हुआ कि सबका श्रम हरकर श्रीभरतादि भाइयों, हनुमान्‌जी और सारी अवधवासी प्रजाको उनकी इच्छानुसार सवारी देकर अपने साथ शीतल अमराई परधामको गये।

टिप्पणी—१ *'प्रभु श्रम पाई'* इति। जब प्रभुसे महाप्रलय होता है तब वे श्रमसे श्रमित होते हैं, यथा—'**तन्द्रायमानः।**' उस श्रमकी गर्मीकी शान्तिके लिये जब शेषके ऊपर सोते हैं तब गर्मी शान्त होती है। उसी प्रकार यहाँका वर्णन है, वैसा ही यहाँ कह रहे हैं कि सवारियाँ बाँटनेमें जो परिश्रम हुआ उसे दूर करनेके लिये शीतल अमराईमें गये। श्रम पाना और शीतल अमराईमें जाना कहकर अभिप्रायसे परधामयात्रा ग्रन्थकारने सूचित की है, इसीसे शीतल अमराईसे फिर श्रीरामजीका लौटकर घर आना नहीं लिखा।

पं०—प्रत्यक्ष तो यह है कि लोगोंको गजादि देकर बागमें विश्राम करने लगे पर गुप्त सूक्ष्म भाव यह है कि वसिष्ठजीको नगरमें स्थित करके आप पुरबाहर गये और गज, रथ, घोड़े इत्यादिके सुन्दर आकारके विमान मँगा उनकी सराहना कर उनपर इच्छानुसार प्रजाको सवार कराया। श्रम यह कि अवतारका जितना कार्य था वह सब कर चुके, कुछ करना बाकी न रहा। *'शीतल अमराई'* अर्थात् वैकुण्ठमें गये। भरतादिक पार्षदरूपसे सेवा करने लगे। यह प्रसंग परधामयात्राका है। ऐसा न होता तो ग्रन्थकार ग्रन्थकी समाप्तिका विषय प्रभुका मन्दिरमें या कल्पतरुतले ध्यान दिखाकर प्रसंगको समाप्त करते।

मयूख—शीतल अमराईमें गये फिर घर न लौटे, गुप्तार कुञ्जहीमें रह गये। जो परविभूतिके माननेवाले हैं उनका सिद्धान्त भी सिद्ध होता है परंतु विशेषकर नित्यधाम सिद्ध होता है। अयोध्या नित्यधाम है यह सिद्ध होता है, क्योंकि मूलमें 'गए' पाठ है अर्थात् नित्यधामको गये।

वै०—सब पुरवासियोंको विमानोंपर चढ़ाकर परधाम (संतानक लोक) को भेजा, परिश्रम करनेसे श्रम हुआ। तब शीतल अमराई साकेतको गये। माधुर्यमें चंदनवनमें गये जहाँ सदा शीतल पवन बहता है।

रा० प्र०—*'मारुतसुत मारुत करई'* से भी यही नित्य अवध निश्चय है।

रा० प्र०—१ *'अवध अशोकवाटिकामें अमर। आइ जहाँ सीतल होत। ऐसी सुभग अवधिकी बाग। डार-डार और पात-पातमें उमगत रामचरन अनुराग। चारिउ फल नेवछावरि कीजे फलनमें अधिक सोहाग। रामदेव जामें नित बिहरत ते निरखहिं जिनके बड़भाग। लाल गुलाल सुमन जह महकत गए अवधि बिपिनमें प्रभु नित बिहरत याको भेद कोऊ जानै। सियाजू बिहरत श्रीवनमें रामनामको अरथ न जानत तिनको बिछुरन भासत है।'* पुनश्च—२ *'निरवधि अवधि राम निज जानो। सियजू सरजू लहरत है। इहइ परमपद परमधामहूँ श्रुतिमति इतनोई ठहरत है। जुगलदेव धामनमें सियबर गए नहीं धुज फहरत है। जहँके तहँ समाय रहे अस बेद नगारा घहरत है॥ १॥'* पुनः, ३—*'वा छबि पै मैं वारी श्रीअवधपुरीकी। भूपनगनसे सतजन जगमग कथा रतन उजियारी। श्रीसरजू शृंगार हारसी जामे मंगलकारी। नित विहार सियरामलयनको जहाँ ललित फुलवारी। डार डार और पात पात सब राम नाम उदगारी॥ श्रीसरजू सियराम अवधि अस मानत कोउ बिचारी। दशरथनंदन जनकनंदिनी सब ये और लबारी॥ ब्रह्ममौन बैकुंठौ का है का कैलास बिकारी। त्रिगुन तीन देवन की ते हैं यह तौ सबसे न्यारी॥'*

टिप्पणी—२ *'निज बसन डसाई।'* भाव कि उन्होंने वस्त्र नहीं बिछाया वरन् मानो अपना शरीर रघुनाथजीके बैठनेके लिये बिछा दिया। यह भरतजीके हृदयका भाव है। [*'सेवहिं सब भाई।'* सेवा यह कि भरतजी छत्र लिये हैं, दहिने लक्ष्मणजी, बायें शत्रुघ्नजी चँवर लिये हैं, हनुमान्‌जी पंखा लिये पवन कर रहे हैं, सम्मुख खड़े प्रभुकी माधुरी देख प्रेममें मग्न हैं। (वै०)]

३—'मारुतसुत' हैं, अतः पवन करनेमें बड़े प्रवीण हैं। उनकी सेवासे श्रीरामजीके शरीरमें पुलकावली हो रही है और नेत्रोंमें जल भर रहा है। अथवा, अभिप्रायसे जनाते हैं कि रामवियोगसे हनुमान्‌जीके नेत्रोंमें जल भर रहा है, इत्यादि। ('शीतल अमराई' में जाना और 'मारुतसुतका मारुत करना' कहकर जनाया कि गर्मीके दिन थे। परधामयात्रा चैत्र शु० ८ को ही कही जाती है।)

४—*'मारुतसुत मारुत करई'* में पदार्थावृत्ति दीपक है।—(वीर)।

मा० म०—श्रमित देखकर, अथवा अपने ऊपर स्नेह देखकर, अथवा पर-सुखसे अपना सर्वांग भीगा हुआ देखकर हनुमान्‌जी वायु करने लगे। हनुमान्‌जीके प्रेमविवश होकर हनुमान्‌जीको प्रभुने अपने समीप रखा।

प० प० प्र०—महाप्रस्थानके समय भगवान् जब नगर छोड़कर बाहर जाते हैं तब **'अव्याहरन् क्वचित् किंचिन्निश्चेष्टो निःसुखः पथि। निर्जगाम**..........।' (वाल्मी० ७। १०९। ५) यह भाव *'श्रम पाई'* से यहाँ सूचित किया है। (जिन कल्पोंमें) हनुमान्‌जीको साथ नहीं ले गये उनमें वियोगदुःखसे हनुमान्‌जीके आँसू निकल आये।

हनूमान सम नहिं बड़ भागी। नहिं कोउ रामचरन अनुरागी॥ ८॥
गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥ ९॥

अर्थ—हे गिरिजे! श्रीहनुमान्‌जीके समान न कोई बड़ा भाग्यवान् है और न कोई श्रीरामचरणानुरागी ही है कि जिनकी प्रीति और सेवा बारंबार प्रभुने अपने मुखसे वर्णन की है॥ ८-९॥

टिप्पणी—१ (क) *'हनूमान सम नहिं बड़ भागी।'''''* इति। श्रीरामचरणानुरागी होनेसे जीव बड़भागी होता है। *'अतिसय बड़ भागी चरनन्हि लागी।'* (१। २११ छन्द १) देखिये। अथवा, (ख)—सभी भाई हनुमान्‌जीके ऋणी हैं, इसीसे वे बड़भागी कहे गये। इनके समान कोई रामचरणानुरागी नहीं है, यथा श्रीमद्भागवते—**'दास्यता कपिपते।'**

वै०—१ इस समय प्रभुके साथ चार ही प्राणी हैं। उनमेंसे तीन भाई तो प्रभुके अंशभाग ही हैं, चौथे हनुमान्‌जी हैं। सेवकोंमेंसे केवल एक यही हैं। इसीलिये इनके अचल अनुराग और बड़े भाग्यकी प्रशंसा करते हैं कि यद्यपि अवधवासी अनेक सेवक-सखा अनुरागी हैं कि प्रभुका वियोग नहीं सह सकते तथा प्रभुने अपने साथ हनुमान्‌जीको ही रखा, जिससे इनको क्षणभरका भी वियोग न सहना पड़ा, इसीकी प्रशंसा शिवजी करते हैं। २—*'नहिं कोउ बड़भागी'* इति। लौकिक भाग्यके आठ अङ्ग हैं, उन सब लौकिक सुखोंको प्रभुपदप्रेमपर इन्होंने वारण कर दिये। सब कुछ एकमात्र प्रभुको ही मानते हैं। यथा—शिवसंहितायाम्

'पुत्रवत्पितृवद्रामो मातृवन्मम सर्वदा। श्यालवद्धामवद्रामः श्वश्रूवच्छ्वशुरादिवत्॥
पुत्रीवत्पौत्रवद्रामो भागिनेयादिवन्मम। सखावत्सखिवद्रामः पत्नीवदनुजादिवत्॥
राज्यवत्स्वामिवद्रामो भ्रातृवद्बन्धुवत्सदा। धर्मवदर्थवद्रामः काममोक्षादिवन्मम॥
व्रतवत्तीर्थवद्रामः सांख्ययोगादिवत्सदा। दानवज्जपवद्रामो यागवन्मन्त्रवद्बलम्॥
राज्यवत्सिद्धिवद्रामो यशोवत्कीर्त्तिवन्मम। घृतादिरसवद्रामो भक्ष्यभोज्यादिवत्समे॥
गन्धमाल्यादिवद्रामो भूषणाम्बरवत्सदा। नृत्यवद्गीतवद्रामो वाद्यवन्मधुरोत्तमः॥
अश्ववद्गजवद्रामः पितृवत्सुहृदादिवत्। दासीवद्दासवद्रामो वसन्तादिवदेष मे॥
बालवद्वृद्धवद्रामो विटलंपटवद्रसे। मत्तप्रमत्तवद्रामो रामःकेलिरसादिषु॥
विस्मृतौ शत्रुवद्रामश्चित्तस्त्येये च चौरवत्। वैद्यवद्विरहो व्याधिनाशने च सदा मम।
या प्रीतिः सर्वभावेषु प्राणिनामनपायिनी। रासे सीतापतावेव निधिवन्निहता मुने॥' इत्यादि सब भावोंसे प्रभुकी सेवा करनेवाला एकपाद तथा त्रिपादविभूतिमें आपके समान कोई न हुआ, न है, न होगा। तभी तो गोस्वामीजीने कहा है—*'सेवा केहि रीझि राम किये सरिस भरत। सेवक भयो पवनपूत साहिब अनुहरत।'* (वि० १३४)

२—*'बार बार प्रभु निज मुख गाई'* इति। भाव कि जहाँ प्रभुकी प्रसन्नता दुर्लभ है, वहाँ प्रभुने अपने मुखसे कपिकी प्रीति और सेवा बखान की है। हनुमान्‌जी रामयश-कथन-श्रवणके आधारपर इस लोकमें हैं, इसीसे रामजीने हनुमान्‌जीके गुणगानपर रामायण समाप्त की। *'प्रीति सेवकाई बार बार गाई',* यथा—

प्रीति— 'सुनु कपि जिय मानसि जनि ऊना। तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना॥' (४। ३। ७)
सेवकाई— 'सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करउँ का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥' (५। ३२। ५)

दो०—तेहि अवसर मुनि नारद आए करतल बीन। गावत लागे राम कल कीरति सदा नवीन॥५०॥

अर्थ—उसी मौकेपर नारदमुनि हाथमें वीणा लिये हुए आये और श्रीरामजीकी सुन्दर और नित्य नवीन कीर्ति गाने लगे॥ ५०॥

नोट—*'करतल बीन।'* नादजीके हाथमें सदा वीणा रहती है, इसीसे इनका 'वीणाधर' नाम ही श्रीनाभा स्वामी और श्रीअग्रस्वामीने दिया है। पुनः, यथा—*'एक बार करतल बर बीना। गावत हरि गुन गान प्रबीना॥'* *'यह बिचारि नारद कर बीना।'*

इस अवसरपर किसीका प्रणामादि नहीं कहा गया, जैसे कि आ० ४१ में वर्णित है। दोनों ही समय नारद पृथ्वीपर उनके पास आये। यथा—*'यह बिचारि नारद कर बीना। गये जहाँ प्रभु सुख आसीना॥ गावत रामचरित मृदु बानी। प्रेम सहित बहु भाँति बखानी॥ करत दंडवत लिये उठाई। राखे बहुत बार उर लाई॥ स्वागत पूछि निकट बैठारे। लछिमन सादर चरन पखारे॥'* (आ० ४१। ८—११) *'सिरु नाइ बारहिं बार चरनन्हि ब्रह्मपुर नारद गये॥'* (४—६ छंद)

इस भेदका समाधान यह है कि यहाँ भी प्रणाम किया गया है। यह बात *'गावन लागे राम कल कीरति'* से लक्षित होती है। कीर्त्तिगानमें *'नमामि'* आदि कोई शब्द आते ही हैं, जैसे कि वेदस्तुतिके विषयमें देख पड़ता है। वेद *'लगे करन गुनगान'* कहकर जो गुणगान उनका है उसके प्रत्येक छन्दमें 'नमामहे' या इसके पर्याय शब्द आये हैं; वैसे ही यहाँ *'गावन लागे राम कल कीरति'* में भी समझना चाहिये। इस समय परधामयात्रा हो रही है, बैठने-बिठानेका समय नहीं, ऐश्वर्यभावसे स्तुति है। ऐसे ही लंकामें कुम्भकर्णवधपर नारदजीने *'गगनोपरि हरि गुन गन गाये।'* वहाँपर भी प्रणाम नहीं है इसका भी कारण यही है कि गुण-गानमें प्रणाम हो गया*।

करु०—इस समय नारदजी आये कि आज्ञा हो तो साथ-साथ जायँ नहीं तो ब्रह्मलोकमें ही रहें। इसीसे रघुनाथजीने स्तुति सुनी और शीलके कारण 'नहीं' न किया किंतु चुप ही रहे। जिससे वे समझ गये कि साथ ले जानेकी आज्ञा नहीं है। यह भाव *'मामवलोकय.........'* से ध्वनित होता है।

टिप्पणी—१ *'कल कीरति सदा नवीन'* इति। (क) नारदजीका गान और रामजीकी कीर्ति ये दोनों कल अर्थात् मधुर है। 'कल' देहरीदीपक है। कीर्ति सदा नवीन है, इस कथनका भाव यह है कि श्रीरामजीकी कीर्ति इतनी अधिक है कि नारद मुनि सदा नवीन ही गाते रहते हैं। अथवा कीर्ति नदीरूपा है। यथा—*'कीरति सरित छहूँ रितु रूरी।'* रामयश जल है जिससे वह भरी हुई है, यथा—*'राम बिमल जस जल सरिता सो'* (बा०)। इसीसे सदा नवीन कहा है। नदीके प्रवाहका जल सदा नया ही बना रहता है। पुनः, 'कल कीर्त्ति' अर्थात् रामायण। 'सदा नवीन' अर्थात् अपनी बनायी या मुनियोंकी।

गौड़जी—नारदजीका आना और स्तुति करना और फिर ब्रह्मधामको चले जाना, यह उसी तरहका बारंबारका दृश्य है, जिस तरह श्रीसाकेतलोकमें हवा खानेके लिये जाना और वहाँ वर्णित प्रकारसे बैठना नित्य-नित्यका दृश्य है। इसी स्वाभाविक और नित्य दृश्यके साथ मानसकारने रामायणी कथाका उपसंहार किया है। यह कथा आदिसे अन्ततक बड़े ही मनोहर अभिनयके रूपमें है, यद्यपि यह श्रव्यकाव्य है दृश्य नहीं, तो भी जन्मकी कथा जिस तरह एकायकी दृश्यरूपसे पाठकके सम्मुख आती है उसी तरह अन्तिम पटाक्षेप भी परधामके इस मनोहर दृश्यके साथ होता है। औरोंने महारानीका वियोग देकर इसे दुःखान्त बनाया है, परंतु परमयोगी वियोगी भगवान् शंकरने अपनी रचनामें दुःखान्त दृश्य न रखकर सुखान्त दृश्य रखा है। अन्तमें प्रभुका वियोग-दुःख उनसे सहा नहीं गया। इसीलिये सत्यरक्षार्थ उस दृश्यको व्यंग्यके नेपथ्यमें रखकर ही सन्तोष किया।

मामवलोकय पंकज लोचन। कृपाविलोकनि सोच बिमोचन॥ १॥
नील तामरस स्याम काम अरि। हृदय कंज मकरंद मधुप हरि॥ २॥
जातुधान बरूथ बल भंजन। मुनि सज्जन रंजन अघ गंजन॥ ३॥

अर्थ—हे शोचके छुड़ानेवाले! हे कमलदललोचन! कृपादृष्टिसे मुझको देखिये। (भाव कि वैसे तो आप सबको देखते ही हैं पर इस समय मुझे अपना रक्ष्य जानकर देखिये)॥ १॥ हे हरि अर्थात् भक्तोंके दुःखोंके हरनेवाले भगवान्! आप नील कमलके समान श्यामवर्ण और कामारि महादेवजीके हृदयकमलके

* १ मा० म०—नारदजी उस समय पहुँचे जब प्रभु हनुमान्‌जीका यश और उनका प्रेम वर्णन कर रहे थे, इसीसे उन्होंने नारदकी ओर चित्त नहीं दिया, प्रशंसा करते ही रहे।

(प्रेमरूपी) मकरंद-रसके पान करनेवाले भ्रमर हैं॥ २॥ आप निशिचरसमूहके बलको तोड़नेवाले हैं, मुनियों और सज्जनोंको आनन्द देनेवाले और पापोंके नाशक हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) *'पंकज लोचन'* का भाव कि इनसे तापत्रय दूर होते हैं। (ख) **'कृपाविलोकनि'** का भाव कि हममें ऐसे सुकृत नहीं हैं कि शोचको दूर कर सकें, आप कृपादृष्टिसे देखिये, उसीसे शोच दूर होंगे। (ग) प्रश्न—नारदजीको क्या शोच था जिसके छुड़ानेके लिये कृपादृष्टिसे देखनेको कहते हैं? उत्तर—नारदजीने जो भगवान्‌को शाप दिया था कि तुम नर-शरीर धारण करो और स्त्री-विरहसे दुःखी हो, उसीका सोच हृदयमें है। वे सोचते हैं कि यह सारा श्रम हमारे ही कारण प्रभुको हुआ। वही बात अरण्यकाण्डमें लिखते हैं, यथा—*'बिरहवंत भगवंतहि देखी। नारद मन भा सोच बिसेषी॥ मोर श्राप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा॥'* (आ० ४१। ५-६) उस सोचके छूटनेके वास्ते कृपादृष्टि चाहते हैं। (मयंककारका मत है कि भगवान् श्रीहनुमान्‌जीकी प्रशंसा कर रहे हैं, नारदजीकी ओर देखते ही नहीं, इसीसे 'मामवलोकय' से स्तुति प्रारम्भ कर रहे हैं।)

२ *'नील तामरस स्याम काम अरि।'''''''''* इति। (क) पहले *'शोच बिमोचन'* विशेषण दिया पर शोचका छुड़ाना हृदयके भीतरका काम है। यथा—*'हृदि बसि राम काम मद गंजय।'* (३४। ८) *'मनसिज करि हरि जन सुखदातहि।'* (३०। ६) इसीसे नील कमल-सम-श्याम अर्थात् सौन्दर्य कहा और शिवजीके हृदयमें वास करना कहा। नीलकमलके दर्शनसे हृदयमें आनन्द होता है। कृपा करना और शोच दूर होना, ये दोनों हृदयके काम हैं। इसी प्रकार नील कमल-समान श्यामशरीर और कामारिके हृदयमें निवास करना यह भी हृदयके काम हैं। आगे बाहरका काम कहते हैं। [वै०—कामारि, यथा—*'जहाँ काम तहँ राम नहिं जहाँ राम नहिं काम। तुलसी दूनौ ना मिलैं रवि रजनी एक ठाम॥'* रा० प्र०-काम अरि=पूर्ण काम, कामनाहीन।]

नोट—☞ स्मरण रहे कि भगवान् श्रीरामके अङ्गोंके लिये कमलके अनेक पर्यायवाची शब्द आये हैं। हम उन्हें यहाँ भक्तराज श्रीबनदासजीके शब्दोंमें उद्धृत करते हैं—*'कमल कंज पंकज जलज सरसिज नलिन सरोज। नीरज बारिज पंकरुह जलरुह पदुम पथोज॥ पुंडरीक अरविंद सरोरुह सरसीरुह जलजाभ। अंबुज राजिव नयन तामरस रामचरन अस लाभ॥ ऐसै मुख ऐसै ऐसै करु अरु काय। बनादास ऐसै चरन चित न कहूँ चलि जाय॥'*

टिप्पणी—३ *'जातुधान बरूथ बल भंजन।'''''''''* इति। तात्पर्य कि आप राक्षसोंको मारकर बाहरसे सुख देते हैं और पापोंका नाश करके भीतरकी शुद्धि करते हैं। राक्षसनाश होनेसे मुनि-सज्जन सुखी होते हैं। यथा—*'मुनि रंजन महि मंडल मंडन॥'* (लं० ११४। छंद) *'जनरंजन भंजन सोक भयं।'* (११० छंद) *'जब रघुनाथ समर रिपु जीते। सुन नर मुनि सब के भय बीते॥'* (३। २१। १) इत्यादि।

रा० शं०—*'जातु धान बरूथ बलभंजन''''''''''गंजन'*, यथा—*'दससीस आदि प्रचंड निसिचर प्रबल खल भुजबल हने'*, *'सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह'*, *'नाम सकल अघपूग नसावन'*, *'मुनि बनिता लही गति रही जो पातकमई।'* अघका गंजन आपहीके हाथ है नहीं तो कितना ही उपाय करो नाश न होंगे—*'करतहुँ सुकृत न पाप नसाहीं। रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं॥'* (वि० १२८)

भूसुर ससि नव बृंद बलाहक। असरन सरन दीन जन गाहक॥४॥
भुजबल बिपुल भार महि खंडित। खरदूषन बिराध बध पंडित॥५॥
रावनारि सुखरूप भूप बर। जय दसरथ कुल कुमुद सुधाकर॥६॥

अर्थ—ब्राह्मणरूपी नयी खेतीके (सिंचन और पालनके) लिये आप नवीन मेघ-समूहके समान हैं। जिसको कोई शरण देनेवाला नहीं उसके आप शरण्य (अवलम्बदाता, रक्षक) हैं और दीनजनोंको ग्रहण करनेवाले हैं॥ ४॥ अपने भुजबलसे आपने पृथ्वीका भारी बोझा उतारा व चूर-चूर कर डाला। आप खरदूषण और विराधके वध करनेमें पण्डित हैं॥ ५॥ हे रावणके शत्रु! हे आनन्दरूप! हे राजराजेन्द्र, राजाओंमें श्रेष्ठ! हे दशरथमहाराजके कुलरूपी कुईंके चन्द्ररूप श्रीरामजी! आपकी जय!॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) ***'नव बृंद बलाहक'।*** मेघोंसे नवीन ही खेती बढ़ती है, पकी खेती नहीं बढ़ती। (ख) ***'भूसुर ससि''''''''''***', इति। मुनि और सज्जन कुछ नहीं चाहते, इसीसे उनके ***'रंजन'*** अर्थात् उनपर प्रीति करना लिखा-***'रंज रागे'*** रंज धातुका अर्थ राग वा प्रेम है। और, राज्यभरके ब्राह्मण केवल श्रीरामजीके भरोसे अपने-अपने धर्मका निर्वाह करनेमें लगे रहते हैं, इसीसे वे उनका पालन-पोषण करते, मेघसमान पदार्थोंकी वृष्टि करते हैं—(देखिये, वनयात्रा-समयमें वर्षासन दे गये)।

२ (क) ***'भुजबल बिपुल भार महि खंडित'*** (अर्थात् महिभार-भंजन) कहकर तब आगे बताते हैं कि वह भार क्या था? खरदूषणादि भार थे? तात्पर्य कि जहाँ बलका काम हुआ वहाँ आप बलसे मारते हैं और जहाँ बलका काम नहीं वहाँ पण्डिताई अर्थात् युक्तिसे मारते हैं। खरदूषण और विराधको युक्तिसे मारा था, यथा—***'देखहिं परसपर राम करि संग्राम रिपुदल लरि मरयो', 'भुजदंड प्रचंड प्रताप बलं। खलबृंद निकंद महा कुसलं।'*** (लं० ११० छं० प० पु०) अ० २८१ श्लोक ३०—४८ में वर्णित अष्टोत्तर-शतनामोंमेंसे 'विराधवधपंडित' चौबीसवाँ एक नाम श्रीरामजीका है। यथा—'**कौसलेयः खरध्वंसी विराधवधपण्डितः**। यह इतना अद्भुत कार्य हुआ कि यह नाम ही पड़ गया, विराधको पृथ्वीमें गाड़ दिया। (ख) 'रावनारि' कहकर ***'दशरथकुलकुमुद''''''''''''*** कहनेका भाव कि रावणवधसे यह कुल प्रफुल्लित हुआ। विशेष ***'रघुबंस बिभूषन दूषन हा।'*** (लं० ११० छं०) देखिये।

वै०—'भूपवर' अर्थात् जितने राजा हुए ऐसा राज्य, प्रजापालनादि किसीने न किया। सुखरूपसे आनन्दघन परात्पर ब्रह्म जनाकर रावणके नाशके लिये भूपवर राजाधिराजरूपसे अवतीर्ण होना कहा।

मयूख—***'जय दसरथ कुलकुमुद सुधाकर'*** का भाव यह है कि कुमुद श्वेतकमलको कहते हैं। लक्ष्मणजीने वनमें भली प्रकार श्रीरामचन्द्रकी सेवा की है। अतः यहाँ कुमुद लक्ष्मणजीको कहा है। कि० में 'कुन्देन्दीवर' इत्यादि कहा था।

सुजस पुरान बिदित निगमागम। गावत सुर मुनि संत समागम॥ ७॥
कारुनीक ब्यलीक मद खंडन। सब बिधि कुसल कोसलामंडन॥ ८॥
कलिमलमथन नाम ममताहन। तुलसिदास प्रभु पाहि प्रनतजन॥ ९॥

शब्दार्थ—**ब्यलीक**=दुःख देनेवाले,—'**पीडार्थेऽपि ब्यलीकम्' इत्यमरः, 'व्यलीकमप्रियकार्यवैलक्षेष्वपि पीडने इति विश्वः।**'=दुःख, कष्ट। वह अपराध जो कामके आवेगके कारण किया जाय। (श० सा०)। =कपट—(पं० रा० कु०)।=हृदयमेंकी मायाकृत गुणकी तपन—(पं० रा० व० श०)। गीतावलीमें भी यह शब्द आया है, यथा—***'संकर हृदि पुंडरीक निबसत हरि चंचरीक निर्ब्यलीक मानस गृह संतत रहे छाई।'***=अप्रिय करना, अकार्य करना। **कारुणीक**=करुणामय।

अर्थ—आपका सुन्दर यश पुराणों, वेदों और शास्त्रोंमें प्रकट है। देवता, मुनि और संत-समागम होनेपर उसे गाते हैं॥ ७॥ आप करुणायुक्त हैं, व्यलीक और मदके नाश करनेवाले, सब प्रकारसे कुशल और श्रीअयोध्याजीके भूषण हैं॥ ८॥ आपका नाम कलिके पापोंको मथ डालनेवाला और ममताका नाशक है। हे तुलसीदासके प्रभु! शरणागतकी रक्षा कीजिये॥ ९॥

वै०—***'जय दसरथकुल''''''''''***' तक कीर्तिगान की, अब सुयश कहते हैं।

टिप्पणी—१ (क) बल और कुल कहकर अब यश और करुणा कहते हैं। (ख) [पं० रा० व० श०—***'सब बिधि'*** अर्थात् जिस विधिसे जिसकी कुशल हो सकती है उसी विधिसे उसका कुशल करनेमें प्रवीण हो। यथा—***'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ।'*** (२। २५४। ५) ***'तुलसिदास प्रभु'*** कहकर नारदके मुखसे श्रीरामजीका और अपना स्वामी-सेवक-भाव पुष्ट किया। यहाँ 'भाविक अलंकार' है।] ***'पाहि'*** का भाव कि एक बार ***'पाहि'*** कहनेसे आप भवसे तार देते हैं, यथा—***'पाहि कहे काहि कीन्हों न तारन तरन।'*** गी० (५। ४३) अतः मेरी भी भवसे रक्षा कीजिये।

'कलिमलमथन नाम.........', यथा—*'नाम सकल कलि कलुष निकंदन।'* (१। २४। ८) *'रामनाम नर केसरी कनक कसिपु कलिकाल। जापक जन प्रह्लाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल।'* (१। २७) *'सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दलु जीती।'* (१। २५। ८) (ममताका कारण मोह ही है। मोहके नाशसे ममत्वका नाश हो गया)। शेष प्रमाण बालकाण्डमें आ चुके हैं। नाम-नामीके ऐक्यसे मानसमें *'ममताहन'* के उदाहरण ये हैं—*'मद मोह महा ममता रजनी। तम पुंज दिवाकर तेज अनी।'* (१४ छंद) (शिवकृतस्तुति), *'नमत राम अकाम ममता जहि।'* (३०। ५)

दो०—प्रेम सहित मुनि नारद बरनि राम गुन ग्राम।
सोभासिंधु हृदय धरि गए जहाँ बिधि धाम॥५१॥

अर्थ—प्रेमसहित श्रीरामजीके गुणग्राम (यश) वर्णन करके नारद मुनि शोभासागर* श्रीरामजीको हृदयमें धरकर जहाँ ब्रह्माजीका धाम था वहाँ अर्थात् ब्रह्मलोकको गये॥ ५१॥

टिप्पणी—१ *'तेहि अवसर मुनि नारद आए करतल बीन। गावन लागे राम कल कीरति सदा नवीन॥* ५० उपक्रम है और *'प्रेम सहित मुनि नारद.........'* उपसंहार है। प्रसंगके आरम्भमें *'गावन लागे'* कहा और समाप्तिमें *'बरनि रामगुनग्राम'* कहा, अर्थात् गुण-वर्णनकी समाप्ति की। ☞ श्रीरामजीकी परधाम-यात्रा नहीं कही, केवल श्रीपार्वतीजीके प्रश्नद्वारा यह जना दिया है कि श्रीरामजी परधामको गये। श्रीपार्वतीजीका प्रश्न पूर्व लिखा जा चुका है। इस प्रश्नका उत्तर शिवजीने नहीं दिया, क्योंकि वेद-पुराणका मत है कि श्रीरामजी अयोध्याको छोड़कर एक पद भी कहीं बाहर नहीं जाते। ३—राज्यपर्यन्त रामचरित कहा अब उसकी समाप्ति करते हैं, जैसा कि आगेके वचनोंसे स्पष्ट है।

पं० रा० व० श०—गुणगान दो तरहका होता है—एक साधारण, दूसरा प्रेमसहित। प्रेमसहित गानसे शोभाधामका हृदयमें आविर्भाव हो जाता है—*'प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना।'* साधारणसे करते-करते कभी आविर्भाव हो जायगा। नारदजीका यह नित्यका चरित है कि वे नित्य बारम्बार अयोध्याजीमें आते और चरित देखकर ब्रह्मलोकमें जाकर सुनाते हैं वैसे ही अब भी किया। यहाँतक गोस्वामीजीने रामायणका चरित कहा। शीतल अमराईमें चरितकी समाप्ति की।

वि० त्रि०—उमाने जो प्रश्न किया था कि *'बहुरि कहहु करुनायतन कीन्ह जो अचरज राम। प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम'* उसीका उत्तर शङ्करभगवान् देते हैं कि प्रेमके सहित नारदमुनिने रामजीके गुणग्रामका वर्णन करके कृपासिंधु रामजीको हृदयमें रख लिया और ब्रह्मलोकमें चले गये। भाव यह कि भक्तका हृदय ही उनका निजगेह है। (यथा—*'जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेह। बसहु निरंतर तासु उर सो राउर निज गेह'*) उसीमेंसे निकले थे (यथा—*'बंचेहु मोहि जवन धरि देहा। सोइ तन धरहु साप मम एहा'*) और उसीमें समा गये।

नोट—करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि सब भाइयों और हनुमान्‌जीके सहित श्रीरामचन्द्रजी पृथक्-पृथक् अन्तर्धान होकर परम दिव्य विमानोंपर चढ़कर परविभूतिको गये। तदुपरान्त सब अवधवासी वानर और ऋक्ष आदि परम दिव्य स्वरूप होकर गये। प्रमाण ब्रह्मरामायणका देते हैं यथा—**'यानस्थो रघुनन्दनः परपुरीं प्रेम्णागमद् भ्रातृभिर्लोकानां शिरसि स्थिता मणिमयी नित्यैकलीलां पदा। सौमित्रिश्च तदा कलेन प्रथमं रामाज्ञया वर्त्तितस्तमेव क्रमकेन बन्धुमिलितो रामेण साकं गतः।'**

पर मानसचरित ऐसा नहीं है। यहाँ सब भ्राता और हनुमान्‌जी प्रभुके साथ ही हैं। 'शीतल अमराई' में जानेका प्रसंग किसी अन्य ग्रन्थमें है इसका पता मालूम नहीं। पर इस कथनसे कि श्रीअयोध्यामें ही

* मा० म०—'शोभासिंधु' का भाव। भरतजीके पीताम्बरपर, जो बिछा हुआ है, श्रीरामचन्द्रजीके शरीरकी आभा पड़नेसे वह हरा हो गया है; वही मानो इस सिंधुका किनारा है। श्रीरामचन्द्र इसके स्थल हैं। जिसमें हनुमान्‌जीका प्रेमरूपी जल भरा हुआ है। हनुमान्‌जी वायु कर रहे हैं, वही मानो सुखदायक पवनवृन्दका प्रवाह है। प्रेमाश्रु तरंग है।

शीतल अमराईमें प्रभु गये, ग्रन्थ यह स्पष्ट बता रहे हैं कि वे श्रीअयोध्या नामक धाममें ही रहे, लीला-विभूति अयोध्यासे त्रिपादविभूति अयोध्यामें ही गये। अतः अयोध्या नाम देनेकी आवश्यकता न हुई, अन्य किसी नामके लोकको जाना होता तो उसका नाम अवश्य देते। दूसरे, कवि द्विभुजरूपसे, जिससे यहाँ माधुर्य लीला कर रहे थे उसी रूपसे, शीतल अमराईमें जाकर निवास करना लिखते हैं। इस रूपसे भगवान् श्रीअयोध्या छोड़ और किसी लोकमें नहीं रहते हैं। अतः इस कथनसे भी श्रीअयोध्याकी ही यात्रा दिखायी। अयोध्याके विषयमें विशेष लेख महानुभावोंके पूर्व आ चुके हैं।

यदि अयोध्या नित्य नैमित्य दोनों पृथक्-पृथक् हैं तो शीतल अमराईमें सरकारका जाना और गुप्त रीतिसे परधाम-यात्रा कहनेमें क्या रहस्य है? इसका उत्तर श्रीरामानुजाचार्य स्वामी (वृन्दावन) यह लिखते हैं कि 'दोनों अयोध्या नित्य हैं। भगवान्को परोक्षवाद प्रिय है—'**परोक्षवादा ऋषयः परोक्षो हि मम प्रियः**', इसीसे कविने परोक्षवादसे परधाम-यात्रा कही। शीतल=शुद्ध सत्त्वमय; अमराई=नित्य धाम, अमर=पार्षद। पद्मपु० उत्तरकाण्ड २२९ अ० में अयोध्या धामका वर्णन है। यथा—'**त्रिपादविभूतेर्लोकास्तु असंख्याताः प्रकीर्त्तिताः। शुद्धसत्त्वमयाः सर्वे ब्रह्मानन्दसुखाह्वयाः॥ १॥ सर्वे नित्या निर्विकारा ये च रागादिवर्जिताः। सर्वे हिरण्मयाः शुद्धाः कोटिसूर्यसमप्रभाः॥ २॥ सर्वे वेदमया दिव्याः कामक्रोधविवर्जिताः। नारायणपदाम्भोज-भक्त्यैकरससेविताः॥ ३॥ तद्विष्णोः परमं धाम यान्ति ब्रह्मसुखप्रदम्। नानाजनपदाकीर्णं वैकुण्ठं तद्धरेः पदम्॥ १०॥ प्राकारैश्च विमानैश्च सौधे रत्नमयैर्वृतम्। तन्मध्ये नगरी दिव्या सायोध्येति प्रकीर्तिता॥ ११॥ मणिकाञ्चनचित्राद् या प्राकारैस्तोरणैर्वृता। चतुर्द्वारसमायुक्ता रत्नगोपुरसंश्रिता॥**'

प० प० प्र०—१ नारदकृत स्तुति अट्ठाईसवीं स्तुति है और नक्षत्रमण्डलका अट्ठाईसवाँ (अन्तिम) नक्षत्र रेवती है। दोनोंका साम्य इस प्रकार है—(१) इसमें ३२ तारे हैं और स्तुतिमें ३२ संख्यावाचक 'मंडन' शब्द है ही। मण्डन=भूषण। भूषणोंकी संख्या ३२ होती है। (२) रेवतीका आकार मृदंगका-सा है। और इस स्तुतिमें मृदंग-वादनकी विशेष ध्वनि-निदर्शक भंजन, गंजन, खंडित, पंडित और खंडन, मंडन शब्द हैं; ये शब्द भी विशिष्ट प्रमाणबद्ध हैं। चार चरणोंके बाद दो चरणोंमें भंजन, गंजन, फिर दो चरणोंके बाद खंडित, पंडित और पुनः चार ही चरणोंके पश्चात् खंडन-मंडन शब्द हैं और इनके बाद दो ही चरण हैं। कोई भी मृदंगवादनपटु बता सकता है कि ऐसी गति किस तालमें होती है। (३) नाम-साम्य। रेवृ धातु गतिवाचक है। रेवती=गतिमती। और यह स्तुति श्रीरामजीके परमधाम-गमन-समयकी है ही। (४) इस नक्षत्रका देवता पूषा है। पूषा=सूर्य। और हरि=सूर्य। श्रीरामजी सूर्यवंशके हैं। (५) फलश्रुति है—'***कुपथ कुतर्क कुचालि कलि कपट दंभ पाषंड। दहन रामगुनग्राम जिमि ईंधन अनल प्रचंड॥***' वैसे ही इस स्तुतिमें '***कलिमलमथन नाम ममताहन***', '***जातुधान बरूथ बल भंजन***' है। कपट, दंभ, पाखण्ड और काम-क्रोधादि ही तो यातुधान हैं। '***प्रेम सहित मुनि नारद बरनि राम गुन ग्राम।***' के '***रामगुनग्राम***' वचनोंमें पूर्णतया साम्य है।

☞इस प्रकार अभिजितसहित २८ नक्षत्रोंका साम्य २८ नक्षत्रोंसे यथामति बताया गया। इस भावके आद्यसंशोधक श्री पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी ही हैं। उनके मानसप्रसंगमें जो भाव वर्णित हैं उनसे पूर्ण समाधान न हुआ तब ज्योतिषग्रन्थावलोकन तथा गुरुकृपासे उनके भावोंमें बहुत सुधार किया गया।

श्रीत्रिपाठीजीके नाम-साम्य तथा देवता-साम्य नहीं बताया है। वह नवीन है। उन्होंने नक्षत्र-मण्डलके समान मण्डलाकारता पूर्ण करनेके लिये अश्विनी और रेवतीका सम्बन्ध नहीं बताया। वह उनकी रेवती स्तुतिमें है ही नहीं।

दोहा ५१ पर मानसका मुख्य उपसंहार किया गया है। अतः २८ स्तुतियोंमेंसे कोई भी इसके अन्तरकी लेना उचित नहीं। शिवजी स्वयं ही आगे कहते हैं—'***उमा कहेउँ सब कथा सुहाई।***' अर्थात् मानसकथा यहाँ समाप्त हो गयी। गौड़जीका भी यह मत है।

२—स्तुतिरूप नक्षत्रमण्डल गोस्वामीजीने किस प्रकार पूर्ण किया, यह देखिये। अश्विनीस्तुति विधिकृत '***जय जय सुरनायक***.........।' (१। १८६) छंद है। और रेवती-स्तुतिके उपसंहारमें '***गए जहाँ बिधि धाम***'

कहा है। इस प्रकार रेवती-स्तुतिका सम्बन्ध अश्विनीस्तुतिसे जोड़ दिया और यह स्तुतिरूप नक्षत्र चक्र जिसमेंसे श्रीरामनामरूपी सोम भ्रमण करता है उसकी मण्डलाकारता बतला दी।

मानसकथाका उपसंहार

गिरिजा सुनहु बिसद यह कथा। मैं सब कही मोरि मति जथा॥ १॥
रामचरित सतकोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनै पारा॥ २॥
राम अनंत अनंत गुनानी। जन्म कर्म अनंत नामानी॥ ३॥
जलसीकर महिरज गनि जाहीं। रघुपति चरित न बरनि सिराहीं॥ ४॥

शब्दार्थ—पारना=सकना। यथा—'*बाली रिपुबल सहै न पारा।*' गुनानी=गुण+अनी। नामानी=नाम+अनी (=सेना, समूह)।

अर्थ—हे गिरिजे! सुनो, मैंने यह सब उज्ज्वल कथा जैसी कुछ कि मेरी बुद्धि है कही॥ १॥ रामचरित शतकोटि और अपार है। श्रुति और शारदा नहीं वर्णन कर सकते॥ २॥ श्रीराम अनन्त हैं और उनके गुण-समूह अनन्त हैं, जन्म और कर्म अनन्त हैं तथा उनके नामोंका समूह अनन्त है॥ ३॥ जलके कण और पृथ्वीका रज चाहे गिना जा सके पर श्रीरघुनाथजीके चरित वर्णन करनेसे नहीं चुक सकते*॥ ४॥

नोट—☞'*बिसद*' '*न बरनइ पारा*' अनन्तके भाव बहुत बार आ चुके हैं। (क) '***मोरि मति जथा***' इति। रामचरितका अन्त नहीं, इसीसे कहा कि मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार कहा है। (ख) ☞'***हरि गुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित। मैं निज मति अनुसार कहउँ उमा सादर सुनहु॥***' (१। १२०) उपक्रम है और '***गिरिजा सुनहु बिसद यह कथा। मैं सब कही मोरि मति जथा॥*********' उपसंहार अर्थात् समाप्ति है। (ग) '***सब कही***' इति। भाव यह कि शिवजी कहते हैं कि मैंने अपनी बुद्धि-अनुसार सब कथा सुना डाली अर्थात् कुछ बाकी नहीं छोड़ा, प्रभुका निज-धाम वर्णन भी कहा। न कहा होता तो गिरिजा प्रश्न करतीं कि जिस कथाके विषयमें मुझे आश्चर्य था उसे तो आपने कहा ही नहीं। अतः सिद्ध है कि सरकारके निजधाम जानेकी कथा भी शिवजीने कही। (वि० त्रि०)।

'***सतकोटि अपारा***' इति। वाल्मीकिजीने शतकोटि रामायणें बनायीं, इसके अतिरिक्त और भी अगणित रामायणें अनेक मुनियोंकी बनायी हुई हैं। रामचरितका अन्त नहीं है; इसीसे उसे अपार कहा है। पुनः, श्रुति-शारदा भी वर्णन करके पार नहीं पा सकते; अतः अपार कहा। वा, इस कथनसे अपारता दिखायी।

वै०—सनकादि अनेक आचार्योंने रामायणें कहीं। उनमेंसे एक वाल्मीकिकी ही शतकोटि संख्या है, तब अनेकोंकी मिलाकर संख्या कौन कर सकता है, असंख्य हैं; अतः अपार कहा।

नोट—२ वाल्मीकिजीने जो रामायण रची उसका नाम 'शतकोटि रामायण' है। आ० रा० मनोहरकाण्डमें लिखा है कि उसमें सौ करोड़ श्लोक हैं, नौ लाख काण्ड और नब्बे लाख सर्ग हैं। यथा—'**नवलक्षाणि काण्डानि शतकोटिमिते द्विज॥ सर्गा नवतिलक्षाश्च ज्ञातव्या मुनिकीर्त्तिताः। कोटीनां च शतं श्लोकमानं ज्ञेयं विचक्षणैः॥**' सर्ग १७। (१४-१५) आनन्दरामायणादि अनेक रामायणोंमें उसीकी बहुत संक्षिप्त कथाएँ हैं और जो वाल्मीकिरामायण आजकल प्रचलित है वह भी उसीमेंसे ली हुई संक्षिप्त कथा है।

इसके अतिरिक्त अनेक रामायणें और हैं जो शिवजी, ब्रह्माजी, सुग्रीवादिपार्षदों, १८ पद्म सेनापतियों और अगस्त्यादि अनेक ऋषियोंने कही हैं। इसीसे 'अपारा' विशेषण दिया है। अ० रा० में कुछ रामायणोंके

---

* १ वीर—रामजी एवं उनके नामादि अनन्त हैं, इसका विशेष उदाहरणसे समर्थन 'अर्थान्तरन्यास' है। उत्तरोत्तर उत्कर्ष 'सार' अलंकार है। जलसीकर और महिरजका गिना जाना उत्कर्षका कारण नहीं है, क्योंकि ये गिने भी जायँ तो भी रघुनाथजीके गुणोंका अन्त नहीं मिल सकता। 'प्रौढ़ोक्ति' है। 'अनन्त' शब्दमें 'यमक' है।

२ यथा—'सम्पृष्टं त्वया कान्ते रामचन्द्रकथानकम्। कथयामि सविस्तारं महामङ्गलकारकम्॥ आ० रा० मनोहर। १। ६।'

नाम आये हैं। यथा—'**वाल्मीकिना कृतं यच्च शतकोटिप्रविस्तरम्॥ ६१॥ तत्सर्वेषामादिभूतं महामङ्गलकारकम्। रामायणादेव नाना सन्ति रामायणानि हि॥ ६२॥ शेषभूतं चतुर्विंशसहस्रं प्रथमं स्मृतम्। तथा च योगिवासिष्ठमध्यात्माख्यं तथा स्मृतम्॥ ६३॥ वायुपुत्रकृतं चापि नारदोक्तं तथा पुनः। लघुरामायणं चैव बृहद्रामायणं तथा॥ ६४॥ अगस्त्युक्तं महाश्रेष्ठं साररामायणं तथा। देहरामायणं चापि वृत्तरामायणं पुनः॥ ६५॥ ब्रह्मरामायणं रम्यं भारद्वाजं तथैव च। शिवरामायणं क्रौचं भरतस्य च जैमिनः॥ ६६॥ आत्मधर्मं श्वेतकेतु ऋषेश्चैव जटायुषः। रवेः पुलस्तेर्देव्याश्च गुह्यकं मङ्गलं तथा। गाधिजं च सुतीक्ष्णं च सुग्रीवं च विभीषणम्। तथाऽऽनन् रामायणमेतन्मङ्गलकारकम्। एवं सहस्रशः सन्ति श्रीरामचरितानि हि। कः समर्थोऽस्ति तेषां हि संख्यां वक्तुं सविस्तरात्॥**'

स्मरण रहे कि जटायुके नामसे सम्पातीने रामेश्वरके पास कुण्ड बनाया था और उसके नामसे रामायण भी बनाया।

इसके अतिरिक्त श्रीमान् गौड़जीकी लिखी हुई अप्रकाशित '*धर्मसार-संग्रह*' में कुछ रामायणोंके नाम और उनका कुछ परिचय मिला है। वह उनकी आज्ञासे दास यहाँ पाठकोंकी जानकारीके लिये उद्धृत कर रहा है। इससे मनु-शतरूपा, भानुप्रतापादि प्रसंगोंका पता चलता है—

'वनपर्वमें रामोपाख्यानका वर्णन करनेके पहिले कहा गया है कि 'राजन्! पुराने इतिहासमें जो कुछ घटना हुई है, वह सुनो।'—(अध्याय २७३ श्लोक ६)। इस स्थलपर पुरातन शब्दसे विदित होता है कि महाभारतकालमें रामायणी कथा पुरातनी कथा हो चुकी थी। इसी तरह द्रोणपर्वमें लिखा है—'**अपि चायं पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि।**' इन बातोंसे स्पष्ट है कि महाभारतकी घटनाओंसे सैकड़ों या हजारों वर्ष पहले वाल्मीकीय रामायणकी रचना हो चुकी होगी। ऐसा प्रवाद प्रचलित है कि वाल्मीकिने सौ करोड़ श्लोकोंका रामायण नामक ग्रन्थ रचा था।—'**चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।**' परंतु स्वयं वाल्मीकीय रामायणमें बालकाण्डके चौथे सर्गमें लिखा है—

'**प्राप्तराजस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवान् ऋषिः। चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमर्थवत्।**
चतुर्विंशसहस्राणि श्लोकानामुक्तवान् ऋषिः। तथा सर्गशतान् पञ्चषट्काण्डानि तथोत्तरम्।'

इन श्लोकोंसे प्रकट होता है कि वाल्मीकिजीने २४००० श्लोक रचे जो ५०० सर्गोंमें बटे थे। जो पाठ आजकल प्रचलित हैं वे तीन प्रकारके हैं।—उदीच्य, दाक्षिणात्य और गौडीय। उन तीनोंमें परस्पर पाठभेद तो है ही पर किसीमें न तो ठीक २४००० श्लोक हैं और न ५०० सर्ग। यह भी निश्चय है कि उपर्युक्त दोनों श्लोक वाल्मीकिके रचे नहीं हैं, क्योंकि वे अपनेको स्वयं भगवान् ऋषि न लिखते।

इसलिये यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वाल्मीकिने कितनी रचना की और प्रचलित रामायणमें कितना अंश उनका ही रचा हुआ है। आरम्भके कई सर्गोंका रचयिता विदित न होनेकी दशामें हम यह मान लेंगे कि लव-कुशने अथवा उनके और किसी शिष्यने रचा होगा।

पद्मपुराण पातालखण्डमें अयोध्यामाहात्म्यके वर्णनमें रामायणके टीकाकार नागेशभट्टके अनुसार यह लिखा है—'**शापोक्त्या हृदि संतप्तं प्राचेतसमकल्मषम्। प्रोवाच वचनं ब्रह्मा तत्रागत्य सुसत्कृतः॥ न निषादः स वै रामो मृगयां चर्तुमागतः। तस्य समवर्णनेनैव सुश्लोक्यस्त्वं भविष्यसि॥ इत्युक्त्वा तं जगामाशु ब्रह्मलोकसनातनः। ततः संवर्णयामास राघवं ग्रन्थकोटिभिः॥**'

कोटिभिः का अर्थ **शतकोटिभिः** करते हुए नागेशभट्टजी कहते हैं कि वाल्मीकिने १०० करोड़ श्लोकोंकी रचना की थी। ऐसा सुना जाता है कि वह सब-का-सब ब्रह्मलोकको चला गया। कुश-लवके उपदेश किये २४००० मात्र यहाँ रह गये।

वाल्मीकि रामायणके सिवा एक अध्यात्मरामायण भी प्रसिद्ध है जो शिवजीकी रचना कही जाती है। पंडित धनराज शास्त्रीकी सूचीमें कुछ रामायणोंके नाम दिये गये हैं। महारामायणमें साढ़े तीन लाख श्लोक हैं। संवृत रामायणमें २४०००, अगस्त्य रामायणमें १६०००, लोमश रा० में ३२०००, रामरहस्यमें २२०००, मंजुल रामायणमें १ लाख २० हजार, सौपद्म रामायणमें ६२०००, रामायण महामालामें ५६०००, सौहार्द्र

रा० में ४००००, रामायण मणिरत्नमें ३६०००, सौर्यरामायणमें ६२०००, चान्द्र रामायणमें ७५०००, मयंद रामायणमें ५२०००, स्वायंभुव रा० में १८०००, सुब्रह्म रा० ३२०००, सुवर्चस रा० में १५०००, देवरामायणमें १ लाख, श्रवणमें सवालाख, दुरंतमें ६१००० और चम्पूमें १५००० श्लोक हैं।

१ सवृत।—'इसमें १४००० श्लोक हैं। इसके कर्ता नारद हैं। इसका समय रैवतमन्वन्तरका पाँचवाँ सतयुग है। इस रामायणका समस्त स्वरूप पूर्ववत् है, परंतु विलक्षणता यह है कि स्वायम्भुव और शतरूपा, जिनसे नरसृष्टि कही जाती है, वे तपस्या करके भगवान्के सदृश पुत्रकी याचना की है। उनके वरदानके अनुसार वे रैवतकल्पमें दशरथ-कौशल्या होकर जो रामजन्मका कारण बताया जाता है, उस रामचरित्रका वर्णन विस्ताररूपसे इस रामायणमें सप्त सोपानमें लिखा है।'

२ अगस्त्यरामायण।—'इसमें १६००० श्लोक हैं। इसको अगस्त्य मुनिने स्वारोचिष मन्वन्तरके दूसरे सतयुगमें बनाया है। इसकी छाया शिवजीके अगस्त्याश्रमपर जानेवाली कथामें गोसाईं तुलसीदासजीकी रामायणमें मिलती है। इसमें भानुप्रताप-अरिमर्दन-कल्पका रामजन्महेतु जो दिखाया गया है उसका पूर्ण चरित्र सप्त सोपानमें विशेषरूपसे लिखा है। इसमें राजा कुन्तल और सिन्धुमतीका दशरथ और कौशल्या होना बताया गया है। यहाँ जानकी-जन्म वार्षणेय यज्ञभूमि-शोधनमें दिखलाया गया है और भी समुद्र-उत्पत्ति मुद्रिकाप्रदान-कारण, रामेश्वर-स्थापन-कारण, ऋष्यमूक पर्वतकी स्थिति, मय-दुंदुभीकी उत्पत्ति, कालविग्रह-कारण, विशेषरूपसे दिखाया गया है।'

३ लोमश रामायण।—'इसमें ३२००० श्लोक हैं। इसको लोमश ऋषिने स्वायम्भुवमन्वन्तरके एक हजार बासठवें त्रेतामें बनाया। इसमें जलन्धरके कारण रामावतार जो हुआ है, उस रामचरितको उसी सप्त सोपानमें लिखा है। यहाँ राजा मुकुन्द वीरमतीका दशरथ-कौशल्या होना बताया है। यहाँ जानकीजन्म मिथिलेशके शिकारमें वनमें सम्प्राप्त योगमायादर्शन है। इसमें सतीव्यामोह और उनका त्याग, शम्भुपण, कामप्रेरणा, कामयात्रा, कामदहन, रतिवरदान और पार्वतीविवाह विशेषरूपमें है।'

४ मंजुल रामायण। 'इसमें १ लाख २० हजार श्लोक हैं। इसको सुतीक्ष्ण ऋषिने स्वारोचिष मन्वन्तर के १४ वें त्रेतामें बनाया। यह भी सप्तसोपानबद्ध भानुप्रताप-अरिमर्दनकी कथा विशेष, उनकी यज्ञव्यवस्था, विभ्रमकारण, शापहेतु विशेष हैं। महारानी और पवनसुतका अशोकवाटिका-संवाद, मुद्रिकाकी कथा-कारण, सीताका चकित होना आदि अद्भुत है। एवं सन्देश-प्राप्ति-समय महाराजका हनुमान्के प्रति भक्ति-व्याख्या विशेष है तथा शबरीके प्रति नवधा भक्ति-वर्णन, भक्तिलक्षण, भक्तलक्षण, रागानुगावैधी-भक्ति-निरूपण विशेष है।'

५ सौपद्यरामायण।—'इसमें ६२००० श्लोक हैं। इसको अत्रि ऋषिने रैवत मन्वन्तरके सोलहवें त्रेतामें बनाया। यह भी सप्तसोपानबद्ध है। इनमें जनकवाटिका-निरूपण, माली-राम-संवाद, अद्भुत नीति-प्रीति, भक्तिरससानी वाणी-विलास लिखा है। तथा नगरदर्शन, व्यापारियोंके प्रेमकथन, मैथिलिनारियोंके नेहकथन, बालकप्रेम, स्नेह-विभावना, विवाह-तरंग, हास-विलास विशेषरूपसे वर्णित हैं। तथा जनकनन्दिनी-विदावर्णन, विवाह-कोशल, नारियोंके स्नेहकथन, हास-विलास एवं वनयात्रा-कालमें ग्रामवधूटी-नेहकथन, ग्रामवधूटी-विलास-वर्णन तथा हरणकालमें जनकनन्दिनी-विलाप, रघुनन्दन-विलाप विशेषरूपमें ऐक्य, शबरी-चरित्र, नारदमिलन, सुग्रीव-मैत्री, संकारण प्रयोजन सबीज दर्शाया गया है। सीताका अग्नि अर्थात् पर पुरुषके यहाँ सुपुर्दगी, अग्निका भगवत्-विश्वास, अग्निको क्यों सौंपा? यह बहुत स्पष्टरूपमें दर्शाया गया है।'

६—रामायणमहामाला।—'इसमें ५६००० श्लोक हैं। इसका समय तामस मन्वन्तरका दशम त्रेता है। इसमें शिव-पार्वतीका संवाद है। यह भी सप्तसोपानबद्ध है और शंकरजीका नीलगिरिपर मरालवेषसे निवास, मराल होनेका कारण, काकसे कथा-श्रवण, गरुड़-उपदेश, गरुड़-व्यामोह, भक्तके ज्ञान होनेपर भी मोहबद्ध होनेका कारण और शंकरसे मुलाकात होनेपर भी उनके न समझानेका हेतु और तत्त्व, भुशुण्डिके प्रति भेजना, वहाँ मोहनिवृत्तिका कारण आदि विशेष-रूपसे दर्शाया गया है। इसमें विभीषणशरणागति, सुग्रीव-शरणागति, कौशल्या-विश्वरूप-दर्शन, सतीविश्वरूपदर्शनका विशेष प्रकार और हेतु और महाराजके रामेश्वर-आलम्बका विशेष कारण और प्रयोजन दर्शाया गया है।

७—सौहार्द्ररामायण—'इसमें ४०००० श्लोक हैं। इसको शरभङ्ग ऋषिने वैवस्वतमन्वन्तरके नवम त्रेतामें बनाया। इसमें दण्डकारण्यकी उत्पत्ति, दण्डकारण्यक-शाप, दण्डकारण्यमें महाराजके जानेका हेतु, नारदव्यामोहका कारण, कामविजयकी अहमिति, शीलनिधिका चरित्र, उनका स्वयंवर, कन्यासौन्दर्य, नारदविभ्रम, सौन्दर्य-याचना, महाराजके न देनेका हेतु, रुद्रगणका परिहास, छलका हेतु, नारदक्रोधवर्णन, शापवर्णन, शापग्रहण-कारण, अनुग्रह-उद्धार, विशेष वर्णनपूर्वक सोपानबद्ध लिखा गया है। शूर्पणखा-आगमन, कामवशित्वछलन-विधि, नासिका-कर्ण-विपात, खरदूषण-युद्ध विशेष दिखाया गया है। रावण-मारीचसंवाद, कपट कुरङ्गव्यवहार, हेमकुरङ्गमें जानकी महारानीका आलोम, महाराजको उसमें प्रवृत्तिका कारण, लक्ष्मणका आह्वान करना, लक्ष्मण और महारानीका मर्मवचन, धनुषरेखाकरण, उसकी शक्ति-वर्णन कि जिसके भीतर त्रैलोक्यके वीर नहीं जा सकते थे। यहाँ धनुषविद्याका महत्त्व पूर्णरूपसे दिखाया गया है। रावणका ब्राह्मणरूपान्तर, भिक्षा माँगनेका कारण महारानीका उसके छलमें आ जानेका हेतु, रेखाके बाहर निकलनेका हेतु, रावणद्वारा हरण और विलाप, जटायु-युद्ध-निरूपण, उसका आहत होना, उसकी गति और मोक्ष, महाराजका आश्वासन फिर महाराजका वैकल्य, पशु-पक्षी, जंगम-स्थावरका संभाषण, विरहसे अथवा आनन्दसे एक ऐसे स्वरूपमें मनुष्य स्थिर हो सकता है कि जिसमें इन सबसे भी सम्भाषण कर सकता है और सुन सकता है। वही अवस्था इसमें विशेषरूपसे वर्णित है। महाराज और लक्ष्मणजीको वानरी भाषा समझना और बोलना पड़ा है। एवं इसी प्रकार राक्षसोंकी भाषा पैश्यभाषा आदिकी विशेष शृङ्खला बनायी गयी है।'

८ रामायण मणिरत्न—'इसमें ३६००० श्लोक हैं। इसका समय तामस मन्वन्तरका १४ वाँ त्रेता है। यह वसिष्ठ-अरुन्धतीका संवाद है। सप्तसोपानबद्ध रामायणमात्र हुआ करते हैं। इसकी सहेतु व्याख्या, पंचवटीकी उत्पत्ति, पंचवटीको संज्ञा, गोदावरीतटनिवास-कारण गोदावरीकी उत्पत्ति, चित्रकूट-निवास-कारण, चित्रकूट-महत्त्व, कामदशिखर वर्णन, कामद-महत्त्व, चित्रकूट-रासस्थान, वाल्मीकिसम्मिलन, निवासस्थान, प्रश्नोत्तरसमीक्षा देवाश्रम, अत्रि-मिलन, अनुसूया-नारीधर्मशिक्षा विशेषरूपसे दिखलाया गया है। एवं अयोध्या-रासस्थान, चन्द्रोदय उर्फ चनवख-वर्णन, प्रमोद-वनविहार, श्रावण-उत्साह, वसन्तोत्सव, फाल्गुण-उत्सव (मिथिलोत्सव और अयोध्या-उत्सव) चित्रादि, (सखीन) सखियोंके साथ रङ्गस्पर्धा, सखान (सखाओं) को व्यामोह, महाराजका निवारण रङ्गपञ्चमी (चैत्र बदी पञ्चमी), शीतला अष्टमी इत्यादि विशेषरूपसे वर्णित हैं एवं सीता-राममिलन लंकामें विशेष दिखाया है। वेदस्तुति, शम्भुस्तुति, इन्द्रस्तुति, ब्रह्मास्तुति एवं गङ्गास्तुति आदि अनेकानेक स्तोत्र इस रामायणके अन्तर्गत हैं। अन्तिम राज्यसिंहासनासीन महाराजका सत्सङ्ग, उसमें गुरुगीता, देवगीता, भक्तिगीता, ज्ञानगीता, कर्मगीता, शिवगीता, वेदगीता (सात गीता) इस रामायणमें निबद्ध हैं।'

९ सौर्यरामायण—'इसमें ६२००० श्लोक हैं और यह हनुमान् और सूर्यका संवाद है। इसका समय वैवस्वत मन्वन्तरका बीसवाँ त्रेता है। इसमें हनुमान्-जन्म, शुकचरित्र; शुकके रजक होनेका कारण और उसके द्वारा जानकी-निस्सारणदण्ड विशेष बताया है। लौटती समय इन्द्रावलपुरका उतरना, महारानी अंजनी और हनुमान्जीका संवाद, अंजनीका हनुमान्जीके प्रति मातृ-धिकार, पश्चात् प्रसन्नता एवं सीतामिलन और उनपर भी बौछार, प्रसन्नता, महाराजका सम्मिलन, उनपर भी छींट, पुन: लक्ष्मणमिलन, उनकी यथार्थ सराहना, ऋक्षराज जाम्बवन्त-बल-पराक्रमवर्णन, उनका आतिथ्य-सत्कार, प्रयाग आगमनादि विशेष वर्णन है।'

१० चान्द्र रामायण।—'इसमें ७५००० श्लोक हैं। यह हनुमत्-चन्द्रमा-संवाद है। इसका समय श्वेत मन्वन्तरका ३२ वाँ त्रेता है। इसमें नारदतप, इन्द्र-कामप्रेरणा, नारदमोह, भरत-चित्रकूटयात्रा, केवट-संवादका विशेषरूपसे वर्णन है। केवटका पूर्वजन्म-संस्कार, भरद्वाज-समागम विशेष दिखाया गया है। इसमें जनकनन्दिनीके शोधमें विवरप्रवेश और एक स्त्रीका सम्मिलन, सम्पातिचरित्र विशेष वर्णन है। चन्द्रमा ऋषिका आगमन-कारण, सम्पातीपर दया, वानरी सेना-मिलन-प्रकार, पक्ष-अङ्कुरण, जटायुपर विलाप, गृध्रकी दूरदर्शिता व दूरदृष्टि विचित्ररूपसे वर्णित हैं।'

११ मयन्दरामायण—'इसमें ५२००० श्लोक हैं। यह मयन्द-कौरव-संवाद है। इसका समय रैवत

मन्वन्तरका २१ वाँ त्रेता है। इसमें जनक-नगर-वाटिकाप्रसङ्ग, गुरुसेवा, मालीसंवाद, अहिल्या-उद्धार, गङ्गावर्णन, गङ्गाकी आत्मीयता, विशेष दिखाया है। रामेश्वर-माहात्म्य, रावणमन्त्र, विभीषणमन्त्र, हनुमान्‌जीका वाटिकाप्रवेश और बन्धन, लंकादहन विशेषरूपसे लिखा है।'

१२ स्वायंभुवरामायण—'इसमें १८००० श्लोक हैं। यह ब्रह्मा-नारद-संवाद है। इसका समय स्वायंभुव मन्वन्तरका ३२ वाँ त्रेता है। इसमें गिरिजापूजन, विवाह अङ्ग, वन-अटन, सुमन्तमिलाप, गङ्गापूजन, सीताहरण विशेष है। अद्भुत यह है कि रावणको मुनिदण्ड, मन्दोदरीगर्भसे सीतोत्पत्ति, कौशल्याहरण, दीर्घबाहु, दिलीप, रघु, अज, दशरथकी परीक्षा विशेष कही गयी है।'

१३ सुब्रह्मरामायण—'इसमें ३२००० श्लोक हैं। इसका समय वैवस्वत मन्वन्तरका १३ वाँ त्रेता है। इसमें प्रयाग-माहात्म्य, भरद्वाजदर्शन, भरद्वाजकी भरत-पहुनाई, देवतामन्त्र, तापसमिलन, चित्रकूटनिवास अनसूयारहस्य विशेष कहा है।'

१४ सुवर्चसरामायण—'इसमें १५००० श्लोक हैं। यह सुग्रीव-तारा-संवाद है। इसका समय वैवस्वत मन्वन्तरका १८ वाँ त्रेता है। इसमें किष्किन्धाके प्रति लक्ष्मणकोप, सुग्रीव-मिलन, सीता-दर्शनकी ताराकी उत्कण्ठा और लौटानीमें दर्शन, वालि-तारासंवाद, वालि-राम-संवाद, रावणदरबार, सभाप्रसंग, मन्दोदरीका समझाना, सुलोचनाविलाप, समुद्रगाम्भीर्य, लक्ष्मण-शक्ति, संजीवनी-आनन्द-पर्वतवर्णन, सपर्वत हनुमान्‌जीका अयोध्या आगमन, भरत-हनुमान-संवाद, धोबी-धोबिनका संवाद, रावण-चित्रोल्लेखनपर शान्ताकी चुगली, शान्ताप्रति सीताका शाप, उनकी पक्षीयोनिकी प्राप्ति, सीतानिस्सारण, लव-कुशकी उत्पत्ति, अश्व बाँधना, लव-कुश-युद्ध, अयोध्यावासियोंका पराजय, महारावण-युद्ध और उसका वध, लवणासुर-युद्ध और उसका वध, राज्यविभाग, वैकुण्ठगमन विशेषरूपसे लिखा गया है।'

१५ देवरामायण—'इसमें १ लाख श्लोक हैं। यह इन्द्र-जयन्त-संवाद है, इसका समय तामस मन्वन्तरका छठा त्रेता है। इसमें जयन्तका कायपरिवर्तन, रामपरीक्षा, कोप, अशरण्यता, नारद-मिलन-उपदेश, रामशरणागति एवं रामविजय, भरतविजय, शत्रुघ्नविजय, हनुमान्‌विजय, बन्दरविदाई, अङ्गदव्यामोह, विभीषणपुत्रको अयोध्या-कोतवाली, जानकीविनय, जानकीनाटक, नाम, रूप, लीला, धाम-चतुर्व्यूह-भक्ति, धाम-महिमा, सरयूमहिमा, हनुमत्-राज्याभिषेक, हनुमत्‌कार्य्य, उपासनाविधि, सत्संगमहिमा, माधुर्य्य, तीर्थोंका परस्पर सत्संग, धाम और पुरी-निरूपण, नगरनिरूपण, ग्रामनिरूपण, भाषापरिवर्तनविधि, शब्दपरिशिष्ट-वर्णन विशेषरूपसे है।'

१६ श्रवणरामायण—'इसमें १ लाख २५००० श्लोक हैं। इसमें-इन्द्र-जनकका संवाद है। इसका समय स्वायम्भुव-मन्वन्तरका ४० वाँ सतयुग है। इसमें दशरथका अहेरवर्णन, श्रवणकुमारकी मातृ-पितृभक्ति-वर्णन, श्रवण-विवाद, पातिव्रत-निरूपण, श्रवणवध, उनके पिताका दशरथके प्रति शाप, मंथराकी उत्पत्ति, मृगीशाप, भरतकी मातामहीका सख्य, दशरथ-प्राणघात-कारण, सुमन्तस्मरण, अष्ट सामन्त, अष्ट सूर, सोरह सामन्त, राज्याङ्ग विशेषरूपसे वर्णन किया गया है। चित्रकूटमें भरत-रामसंवाद, वसिष्ठमध्यस्थका भाषण, जनक-आगमन, मिथिलासमाज, अवधसमाज, एकत्रस्थिति सभा, पादुका-याचना, पादुका-राज्यप्रसङ्ग, नन्दिग्रामनिवास, राजभारानुवर्तन, पादुकाद्वारा विशेष कहा है।'

१७ दुरन्तरामायण—'इसमें ६१००० श्लोक हैं। इसमें वसिष्ठ जनकका संवाद है। इसका समय वैवस्वत मन्वन्तरका २५ वाँ त्रेता है। इसमें भरतमहिमा भरतशपथ, भरतविलाप, कैकेयीक्षोभ, भरतजीकी श्रीरामजीके लौटानेपर तत्परता, लक्ष्मणरोष, निषाद-भरत-संवाद, निषादरोष, विभ्रम, चूड़ामणिकी कथा, चूड़ामणि-चिह्न, मुद्रिका-चूड़ामणिका परिवर्तन हेतु, सीता-संदेशप्राप्ति, सीता-दौर्बल्य, प्रवर्षण-शिलानिवास, किष्किन्धावर्णन, संसारभरके वानरोंपर वालि-सुग्रीवका अधिकार, देवताओंके वानर होनेका कारण, प्रयोजन, दुन्दुभि-अस्थिताल-वर्णन, श्रीरामचन्द्रजीका वालिवधन-प्रण, मधुवनप्रशंसा, मधुवन-रक्षाविधि, समुद्रतीर-अंगदप्रलाप-कलाप, वानरोंका बलभाषण, हनुमत्-मौन-कारण, स्मरणसे अनन्त बलप्राप्ति, रामप्रसादकी अधिकारिता, लंकादहन, विभीषण-गृह बचनेका कारण, हनुमान्‌जीके न जलनेका हेतु, विभीषण-राज्याभिषेक-कारण, समुद्रके प्रति

विनय, समुद्र-भर्त्सना, समुद्रको डर, कम्पन, समुद्र-शरणागति, कटक उतारनेका प्रकार निर्वाचन समुद्रद्वारा, नल-नील-सामर्थ्य, उपल-संतरण-प्रकार आदि कथा विशेष दिखायी है।'

१८ रामायणचम्पू—'इसमें १५००० श्लोक हैं और शिव-नारद-संवाद है। इसका समय श्राद्धदेवमन्वन्तरका प्रथम त्रेता है। इसमें सप्तसोपान संक्षेपतः रहता है। रामायण-चित्रवर्णन चम्पूका कार्य है। इसमें शीलनिधि राजाके यहाँ दोनों रुद्रगणोंका आगमन-कारण, नारदका परिहास, नारदक्रोध, रुद्रगणके प्रति शाप, वीरभद्रकी उत्पत्ति, सतीदेह-त्याग, दक्षयज्ञ-विनाश, शिव-अखण्ड-समाधि, त्रिपुर-उत्पत्ति, पार्वतीरूपसे हिमाञ्चलके यहाँ उत्पत्ति और तप, काम-प्रेरणा, काम-कलाप, शम्भु-नयनज्वाल-वर्णन, कामदहन, पार्वती-विवाह, मुण्डमाल-धारण-कारण, गणेश-उत्पत्ति, वैषम्यभाव, कैलाशस्थिति, रामभक्ति-प्रकार, रामध्यान, राम-वन्यस्वरूप, वीरस्वरूप, इन्द्ररथप्रेषण, पाताल-आगमन, अरुण-व्यवहार, अरुण-गरुड़-संवाद, काल-नेमिछल, संजीवनी-महिमा, शक्ति लगनेसे सूर्य-उदयमें मृत्युका हेतु, सुषेण वैद्यके आनयनकी कथा विशेष वर्णित है।'

और रामायणें

१९ रामरहस्यमें (रामायणमें) २२,००० श्लोक है।

२० महारामायणमें ३,५०,००० (साढ़े तीन लाख) श्लोक है।

यहाँतक हम उनमेंसे कुछ रामायणोंकी चर्चा कर चुके जो स्वतन्त्ररूपसे श्रीरामकी कथाके सम्बन्धमें लिखी गयी हैं। परंतु उनकी संख्या इतनेसे ही पूरी नहीं होती। महाभारतमें भी वनपर्वमें रामायणकी पुरानी कथा गायी गयी है। १८ हों पुराणोंमेंसे रामायणकी कथा हर एकमें गायी है। ब्रह्माण्डपुराणमें जो रामायणी कथा है वही अलग करके अध्यात्मरामायणके नामसे प्रकाशित हुई है। उसकी चर्चा हम पहले कर आये हैं। परंतु आगेके अध्यायोंमें हम पुराणोंका विषय अलग-अलग देनेवाले हैं, इसलिये इसे यहाँ इसी जगह समाप्त करते हैं।

नोट—३ प्र० सं० में इतना लिखा गया था। बालकाण्ड भाग १ के तीसरे संस्करणमें *'शतकोटि रामचरित'* पर पुनः विचार किया गया है। विस्तृत लेख वहीं दोहा २५ बालकाण्ड *'रामचरित सतकोटि महँ लिये महेस जिय जानि'* में देखिये।

नोट—४ *'श्रुति सारदा न बरनै पारा'* इति। मिलान कीजिये—**'नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये। गायन्गुणान्दशशतानन आदिदेवः शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम्।'** (भा० २। ७। ४१) **'मानं रामचरित्रस्य शतकोटिप्रविस्तरम्। विस्तरेण प्रवक्तुं च क्षमः कोऽपि न भूतले।' (आ० रा० यात्रा०** २। ७३) अर्थात् उन महापराक्रमी महापुरुषका मायाके प्रभावका अन्त तो मैं और तुम्हारे भाई सनकादि भी नहीं जानते, फिर औरोंका तो कहना ही क्या है? दस सहस्र फणवाले आदिदेव शेषजी उनका गुणगान करते हुए अभीतक उनका पार नहीं पा सके। (भा०)। शतकोटि विस्तार रामचरितका है। पृथ्वीमें कोई भी उसके वर्णन करनेको समर्थ नहीं है।

५—*'राम अनंत अनंत गुनानी।'''''''नामानी'* इति। श्रीरामजीका अन्त नहीं तब उनके जन्म-कर्म आदि भी क्यों न अनन्त हों? यह अनन्तता आगे दिखाते हैं (पं० रा० कु०)। बालकाण्डमें भी श्रीशिवजीने (उपक्रममें) यही बात यों कही है—*'राम नाम गुन चरित सुहाए। जनम करम अगनित श्रुति गाए॥ जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना॥'* (१। ११४। ३-४) जन्म अनन्त कहनेका भाव कि आपके अवतार असंख्य हैं। यथा—**'अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः। यथाविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः'** (भा० १। ३। २६) (श्रीसूतजी ऋषियोंसे कहते हैं कि इन मुख्य अवतारोंके अतिरिक्त सत्त्वनिधि भगवान् हरिके असंख्यों अवतार हैं, जैसे कभी क्षीण न होनेवाले सरोवरसे सहस्रों छोटे-छोटे स्रोत निकला करते हैं।)

६—*'जल सीकर महि रज''''''* इति। सीकर=कण। यथा—**'सीकरोम्बुकणः स्मृतः'** इत्यमरः। पुनः, जलसीकर= जलके कण। अर्थात् जो जल पृथ्वीपर बरसता है उसकी कितनी बूँदें पृथ्वीपर गिरीं (यह)। रज अर्थात् पृथ्वीमें रजके कितने कण हैं (यह)। जलकण और पृथ्वी-रजका प्रमाण देकर श्रीरघुनाथजीके चरित्रकी अनन्तता सूचित की।

मिलान कीजिये—**'विष्णोर्नु वीर्यगणनां कतमोऽर्हतीह यः पार्थिवान्यपि कविर्विममे रजांसि।'** (भा० २। ७। ४०) अर्थात् जिस महामनस्वीने पृथ्वीके रजःकणोंको भी गिन लिया हो वह भी ऐसा कौन है जो भगवान्के पराक्रमोंकी गणना कर सकता है?

श्रीमद्भागवतमें इक्ष्वाकुवंशीय श्रीमान्धाताजीके पुत्र श्रीमुचकुन्दजीके प्रश्न करनेपर कि मुझे आपके जन्म-कर्म और गोत्र जाननेकी इच्छा है, भगवान् श्रीकृष्णजीने ऐसा ही कहा है। यथा—'**जन्मकर्माभिधानानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः। न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुमनन्तत्वान्मयापि हि॥ क्वचिद् रजांसि विममे पार्थिवान्युरुजन्मभिः। गुणकर्माभिधानानि न मे जन्मानि कर्हिचित्॥ ३९॥ कालत्रयोपपन्नानि जन्मकर्माणि मे नृप। अनुक्रमन्तो नैवान्तं गच्छन्ति परमर्षयः॥**' (१०। ५१। ३८—४०) (अर्थात्) मेरे अगणित जन्म-कर्म और नाम हैं। वे अनन्त हैं। मैं उनकी गिनती करके नहीं बतला सकता। कदाचित् कोई पुरुष अनेकों जन्मोंमें पृथ्वीके रजकणोंकी गिनती कर भी डाले, पर मेरे गुण-कर्म-नाम और जन्मोंको कोई किसी प्रकार कदापि नहीं गिन सकता। बड़े-बड़े परमर्षिगण भी मेरे त्रिकालसिद्ध जन्म और कर्मोंका वर्णन करते भी उनका पार नहीं पाते।

७—आगे कथाकी फलश्रुति कहते हैं।

प० प० प्र०—मिलान कीजिये—'**गुणात्मनस्तेऽपि गुणान्विमातुं हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य। कालेन यैर्वाविमिताः सुकल्पैर्भूपांसवः खेमिहिकाद्युभासः॥**' इस अर्थकी श्रुति भी है।

बिमल कथा हरिपद दायनी। भगति होइ सुनि अनपायनी॥ ५॥
उमा कहिउँ सब कथा सुहाई। जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई॥ ६॥
कछुक राम गुन कहेउँ बखानी। अब का कहौं सो कहहु भवानी॥ ७॥

अर्थ—यह विशद कथा हरिपद देनेवाली है। इसके श्रवणसे अविनाशिनी भक्ति होती है॥ ५॥ हे उमा! मैंने वह सब सुन्दर कथा कही जो भुशुण्डिजीने गरुड़को सुनायी थी॥ ६॥ मैंने कुछ रामगुण बखानकर कहा। हे भवानी! अब क्या कहूँ, सो कहो॥ ७॥

नोट—कथासे अनपायनी भक्ति होती है। इससे जनाया कि कथा भक्तिरसका उद्दीपन-विभाव है। उससे भक्ति स्थायी भावको प्राप्त होकर रसरूपमें परिणत होगी। (वि० त्रि०)

टिप्पणी—१ '*हरिपद दायनी*' इति। हरिपद=हरिके चरण।=हरिका धाम। कथासे दोनोंकी प्राप्ति है, यथा—'***रामचरन रति जो चह अथवा पद निरबान। भावसहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान॥***' (१२८) २—प्रथम कहा—'***कहिउँ सब कथा***' फिर कहते हैं कि '***कछुक राम गुन कहेउँ बखानी।***' प्रथम जो सब कथा कहना लिखा वह, वह है जो भुशुण्डिजीने गरुड़जीको सुनायी थी। वह कथा पूरी सब सुनायी। और फिर जो लिखा कि कुछ रामगुण मैंने कहा उसका भाव यह है कि भुशुण्डिवाली वह सब कथा कुछ ही रामगुण है। रामगुण अनन्त है, उनमेंसे यह कुछ हैं जो मैंने कहे हैं। ('***जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई***' कहकर कथाका उपसंहार किया। '***कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़।***' (बा० १२०) उपक्रम है। दूसरा भाव यह है कि इससे पार्वतीजीको स्मरण हो आयेगा कि हमने कहा था कि वह संवाद फिर कहेंगे, यथा—'***सो संबाद उदार जेहि बिधि भा आगे कहब। सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर अनघ॥***' (१। १२०); अतः उससे भी पूछना चाहिये, पूछनेकी श्रद्धा होगी) ३—'***अब का कहउँ सो कहहु***', इस प्रश्नका भाव यह है कि प्रारम्भमें जो भुशुण्डि-गरुड़-संवाद हमने कहनेको रख छोड़ा है, यथा—'***सो संबाद उदार जेहि बिधि भा आगे कहब***' (बा० १२०), यदि पार्वतीजीकी श्रद्धा होगी तो वह उसे पूछेंगी तब मैं कहूँगा। आगे श्रीपार्वतीजी उसे पूछती हैं।

वै०—'***अब का कहउँ सो कहहु***' का भाव कि अभी तीन प्रश्न बाकी हैं—विज्ञानतत्त्व; भक्ति, ज्ञान और वैराग्यादिका विभाग; और '***अपर रामरहस्य।***' इनमेंसे जो पूछो सो कहें।

खर्रा—'पार्वतीजीके ८ ही प्रश्नोंका उत्तर कहकर अब प्रकरणकी इति लगाते हैं। रहे ५ प्रश्न, सो उनका भी उत्तर इन्हीं ८ के भीतर कथन हो चुका। यथा—(१) प्रजासहित परमधाम जानेका जो आश्चर्य हुआ था वह स्तुतिवर्गमें अनेक जगह नाम-गुणके कहने-सुननेसे उद्धार सुनकर जान पड़ा कि जिनके नाम और गुणका यह माहात्म्य है, उनके साथ एक पुरमें रहकर प्रजा साथ गयी तो क्या आश्चर्य है, यह समझकर संदेह ही अयुक्त

समझा। (२) दूसरा प्रश्न जो तत्त्वके विषयमें था सो दशरथ, वसिष्ठ, वाल्मीकि, जनक, अगस्त्यादिके वचनोंमें इसका उत्तर आ गया कि रामजी ही परमतत्त्व हैं, इन्हींकी विभूतिसे सब तत्त्व हैं। इनसे पृथक् दूसरा तत्त्व पूछना अयुक्त समझकर फिर प्रश्न न किया। (३)—तीसरा प्रश्न 'भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, विराग' का है सो कथामें उपदेशों, गीताओं और आचरणमें प्रकट है। (४)—चौथा प्रश्न रामरहस्यका है सो एक तो यह कथा स्वयं ही रहस्य है, दूसरे इसमें अनेक रहस्यकी कथाओंका वर्णन जहाँ-तहाँ आया है वह शिवजी बताते ही गये हैं—*'यह रहस्य काहू नहिं जाना'*, लक्ष्मण-संवाद, वसिष्ठ-संवाद इत्यादि सुनकर फिरसे पूछना अयुक्त ही है (५)—पाँचवाँ प्रश्न जो यह है कि जो मैंने न पूछा तो वह भी कहिये, इसका उत्तर अयोध्याका परत्व, प्रेमका परत्व, भरतादिका परत्व, सखाओंका परत्व इत्यादि बहुत अपूर्व बातें बिना पूछे कह आये, इससे अब फिर पूछना अयुक्त है। शिवजी उसे फिरसे पृथक् कहें तो कथामें इस सबकी अव्याप्ति सूचित होगी। अतएव कहते हैं कि *'मैं सब कही'* अर्थात् अपने जानमें मैंने सब कह दिया है।

सुनि सुभ कथा उमा हरषानी। बोली अति बिनीत मृदु बानी॥ ८॥
धन्य धन्य मैं धन्य पुरारी। सुनेउँ रामगुन भव भय हारी॥ ९॥

अर्थ—१ मङ्गलमय कल्याणकारी कथा सुनकर उमाजी हर्षित हुईं और बड़ी नम्रतासे अत्यन्त विनम्र और कोमल वाणी बोलीं॥ ८॥ हे पुरारि! मैं धन्य हूँ! धन्य हूँ! धन्य हूँ! (अर्थात् मैं परम धन्य हूँ, मेरे समान दूसरा धन्य नहीं) कि मैंने भवभयके हरण करनेवाले रामगुण सुने॥ ९॥

टिप्पणी—१ ☞ (क) कथाके प्रारम्भमें महादेवजी कहते हैं कि *'सुनु सुभ कथा भवानि रामचरित मानस बिमल।'* (१। १२०) यह उपक्रम है। और यहाँ कथाकी समाप्तिमें *'सुनि सुभ कथा उमा हरषानी'* कहा, यह उपसंहार है। तात्पर्य कि वहाँ रामायणका आरम्भ और यहाँ रामायणकी समाप्ति दिखायी। [(ख) *'बैठी सिव समीप हरषायी'* और *'सुनि सुभ कथा उमा हरषानी'* आदि-अन्तमें हर्ष दिखाया। प्रश्न करनेपर शंकरजीने इनको 'धन्य' कहा था—*'धन्य धन्य गिरिराज कुमारी'* और अब ये आप अपनेको धन्य मानती हैं (रा० शं०)। (इससे सूचित किया कि भगवत्-चरित्र पूछनेवाला तथा सुननेवाला दोनों ही धन्य हैं।) (ग) *'अति बिनीत मृदु बानी।'*—इससे जनाया कि आपने बड़ा उपकार किया, इसका बदला मैं नहीं चुका सकती। विनीत होनेसे वाणी कोमल होती ही है। (पं० रा० व० श०)]

२ (क) *'धन्य धन्य मैं.........'* वी यहाँ आदर (और हर्ष) की वीप्सा है। **'पुनः पुनः कथनं वीप्सा'** अर्थात् बार-बार कहना वीप्सा कहलाता है। (ख) धन्य होनेका कारण रामगुण-श्रवण बताती हैं। [*'धन्य धन्य'* से जनाया कि मोह जाता रहा। जबतक ईश्वरका पूर्ण बोध नहीं होता, मोह किंचित् भी बना रहता है; तबतक मनुष्य कृतकृत्य नहीं होता। (रा० व० श०)] (ग) *'पुरारी'* का भाव कि शंकरजी मुक्तिके देनेवाले हैं। त्रिपुर दैत्यके तीन पुत्र थे। उन तीनोंका नाश करके उसको मुक्ति दी। इसी प्रकार जीवके तीन शरीर हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। इन तीनोंका नाश करके जीवोंको मुक्ति देते हैं और मुझको तो आपने रामगुण सुनाकर मेरे भवभयको हरण किया। ['पुरारी' का भाव कि जैसे त्रिपुरको मारकर सबको सुख दिया वैसे ही मेरा मोह जो त्रैलोक्यनाथ-विषयक था, उसे आपने कथासे नाशकर मुझे सुख दिया।] ☞ अपनेको धन्य-धन्य कहकर आगे वक्ताकी प्रशंसा करती हैं।

दो०—तुम्हरी कृपा कृपायतन* अब कृतकृत्य न मोह।
जानेउँ रामप्रताप प्रभु चिदानंदसंदोह॥
नाथ तवानन ससि श्रवत कथा सुधा रघुबीर।
श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहीं अघात मति धीर॥ ५२॥

* कृपाल मइ—(का०)।

अर्थ—हे कृपायतन! आपकी कृपासे अब मैं कृतकृत्य (कृतार्थ) हुई, अब मुझको मोह नहीं है। हे प्रभो! मैंने सच्चिदानन्दघन प्रभु श्रीरामजीका प्रताप जाना। हे नाथ! हे मतिधीर! आपका मुखचन्द्र रघुवीरकथामृत टपकाता है। उसे मेरा मन कर्णछिद्ररूपी दोनाओंद्वारा पीकर तृप्त नहीं होता॥ ५२॥

टिप्पणी—१ (क) कृतकृत्य अर्थात् जो करना था वह मैं कर चुकी। (ख) 'न मोह' कहनेका भाव कि प्रथम पार्वतीजीने कहा था कि *'तब कर अस बिमोह अब नाहीं'* अर्थात् पूर्व जन्मका-सा विशेष मोह अब नहीं है, कुछ है। इसीसे कथा सुन चुकनेपर अब कहती हैं कि अब मोह नहीं है। (ग) [*'जाना राम प्रताप।'* स्वरूप तो पहले ही जाना था, यथा—*'रामसरूप जानि मोहिं परेऊ'*, अब कथा सुनकर प्रताप जाना। (रा० शं०)] *'चिदानंदसंदोह'*—यहाँ सत्‌का अध्याहार ऊपरसे करना होगा। सन्दोह=पूर्ण। दुह धातुका अर्थ 'पूर्ण' है।

२ (क) *'मतिधीर'* का भाव कि रामजीकी कथा कहनेमें आपकी मति धीर है। (ख) सुधा पीकर न अघाना यह दोष आता है; क्योंकि वह अघानेके ही लिये पिया जाता है। इसका समाधान आगे करते हैं।

पं०—'मतिधीर' का भाव कि कथा समाप्तिमें शीघ्रता न कीजिये (वा, आपने नहीं की) अभी और सुननेका जी चाहता है।

करु०, रा० प्र०—'मतिधीर' अपने लिये भी कह सकती हैं अर्थात् मेरी बुद्धि श्रवणके लिये अतिधीर है, इसीसे अघाती नहीं। [रा० प्र०-वा, मतिधीर राम। यहाँ परम्परितरूपक है] ☞मिलान कीजिये **'निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्। पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥'** (भा० १। १। ३) अर्थात् अहो भावुक रसिकगण! वेदरूप कल्पवृक्षका यह अमृतरससे परिपूर्ण भागवतरूप फल शुकके मुखसे पृथ्वीपर गिरा है, इसके भगवत्कथा-रूप अमृतरसका आपलोग मरणपर्यन्त बार-बार पान करते रहें।

वि० त्रि०—*'नाथ तवानन''''''धीर'* इति। सभी सामग्री अलौकिक है। शिवजीका मुख अलौकिक चन्द्र है। रघुवीरकी कथा अलौकिक सुधा है। श्रवणपुटसे पान करना अलौकिक विधि है, अतः अलौकिक फल भी हो रहा है। मन उसका आस्वादन करता चला जा रहा है और अघाता नहीं। पीनेसे अघाना तभी कहा जाता है, जब पीनेसे अरुचि हो जाय। जब कृतकृत्य हो गयीं। मोह जाता रहा, तब सुननेकी आवश्यकता नहीं रह गयी, फिर भी यह कथा ऐसी स्वादु है कि मन चाहता है कि इसे सुनते ही रहें।

प० प० प्र०—कथाके उपक्रममें शिवजीने कहा है—*'सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबि कर बचन मम।'* तब यहाँ *'ससि'* क्यों कहा? उत्तर-मोहनिरास करनेमें रविकरोंने अपना काम तो किया ही—*'अब कृतकृत्य न मोह।'* पर मोहका नाश होनेके पश्चात् भी जो श्रवण किया इससे रामपद-प्रेम-सुधा पान किया। रवि-किरणोंसे सुधाकी प्राप्ति और शीतलताकी उपलब्धि नहीं होती है। शीतलता, शान्ति तथा सुखकी प्राप्ति सुधारसमयी शरच्चन्द्रिकासे ही होती है। वह है रामचरित्रश्रवण *'रामचरित राकेशकर'* है ही। भाव कि ज्ञानसे मोहका नाश होनेपर भी यदि सगुणचरित सुधाका पान न किया जाय तो हृदयको शीतलता न मिलेगी।

रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥ १॥
जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरिगुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥ २॥
भवसागर चह पार जो पावा। रामकथा ता कहँ दृढ़ नावा॥ ३॥
बिषइन्ह कहँ पुनि हरिगुन ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥ ४॥

अर्थ—जो रामचरित सुनकर अघा जाते हैं उन्होंने उसका विशेष रस नहीं जाना है॥ १॥ जो महामुनि जीवन्मुक्त हैं वे भी बिना अन्तर पड़े सदा हरियश सुनते हैं (अर्थात् उससे कभी पूर्ण नहीं होते, अघाते नहीं, नहीं तो सदा क्यों सुनते हैं)॥ २॥ जो भवसागरका पार पाना चाहता है उसके लिये रामकथा दृढ़ नाव है (अर्थात् ऐसी मजबूत है कि काम-क्रोधादि लहरोंसे उसके डूबनेका भय नहीं है)॥ ३॥

और फिर विषयी लोगोंके लिये हरियश कानोंको सुख देनेवाला और मनको आनन्द देनेवाला है। अर्थात् श्रवणके आनन्दके लिये ये सुनते हैं॥ ४॥

नोट—१ (क) '*जे सुनत अघाहीं*·······' से जनाया कि मुझे उसका विशेष रसास्वाद मिला है, इसीसे मेरे कान सुननेसे तृप्त नहीं होते। यह (न अघाना) उत्तम श्रोताभक्तोंका लक्षण है, यथा—'*जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥ भरहिं निरंतर होहिं न पूरे।*' '*हरिगुन सुनहिं निरन्तर*' अर्थात् निरन्तर सुनते हैं तब भी श्रद्धा सुननेकी बनी ही रहती है, उससे जी भर नहीं जाता कि बहुत तो सुना है, वही तो है अब क्यों सुनें? (प्र० सं०)

इसी तरह श्रीशौनकजीने श्रीसूतजीसे कहा है कि जिनके उदार चरित्र परम कीर्तनीय हैं, उन श्रीहरिकी वे पवित्र कथाएँ आप हमसे कहिये। भला ऐसा कौन रसिक होगा जो श्रीभगवल्लीलामृतका पान करते तृप्त हो जायगा। यथा—'**ता नः कीर्तय भद्रं ते कीर्तन्योदारकर्मणः। रसज्ञः को नु तृप्येत हरिलीलामृतं पिबन्॥**' (भा० ३। २०। ६) (ख) '*रस बिसेष।*' भाव कि कथामें प्रभुके स्वरूपकी माधुरी, उनकी प्रणतपालता, दया, करुणा और उदारतादि गुण जैसे-जैसे कानमें पड़ते हैं तैसे-तैसे प्रेमानन्द बढ़ता जाता है। (वै०) '*सुनहिं निरंतर तेऊ*' से जनाया कि रामकथाश्रवण, ज्ञान, वैराग्य, समाधि और ध्यानादिसे अधिक राम-स्नेह बढ़ानेवाला है। यहाँतक '*नहिं अघात*' का प्रसंग कहा, आगे लोकशिक्षात्मक सामान्य बात कहते हैं कि कथा सबको सुननी चाहिये। यह सब कथा कल्याण करनेवाली है। नवधामें 'श्रवण' प्रथमभक्ति है, इससे फिर अन्य सब अङ्ग पूरे हो जायँगे। अतः उसे दृढ़ नाव कहा है (वै०)।

रा० प्र० के मतानुसार '*रस बिसेष*' =सारतत्त्व। २—'*भवसागर चह पार जो पावा।*' इति। ये मुमुक्षु हैं। इनका चित्त विषय-भोगोंकी इच्छासे व्याकुल होता है, ऐसोंके लिये श्रीरामकथा भवसागर पार उतारनेके लिये दृढ़ नावके समान है। देवर्षि नारदजीने भी यही बात व्यासजीसे कही है। यथा—'**एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः। भवसिन्धुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम्॥**' (भा० १। ६। ३५)

यहाँ अर्धाली २, ३ और ४ में क्रमसे मुक्त, मुमुक्षु और बद्ध तीनों प्रकारके जीवोंके विषयमें श्रीरामचरितका सुखदायी होना कहा।

पं० रा० व० श०—जीवन्मुक्त वह हैं जिन्हें अब मुक्तिका उपाय करना नहीं बाकी है, वे मुक्तरूप हैं, वे केवल प्रारब्धभोगके लिये शरीरधारी हैं। मुमुक्षु वह है जो संसारको जान ले और मोक्षके उपायमें है, संसारपार होना चाहता है। मुमुक्षु संसारमें अभी लिप्त हैं और जीवन्मुक्त जीते-जी संसारमें रहते हुए उससे '**पद्मपत्रमिवाम्भसा**' अलिप्त हैं।

"**देहोऽपि दैववशगः खलु कर्मयावत् स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः।**
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः स्विद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम्॥"

प्रारब्धवश देह भी तबतक स्वारम्भक कर्मकी प्रतीक्षा करते हुए रहता है अर्थात् छूटता नहीं है, परंच समाधियोगमें आरूढ़ पुरुष प्रपञ्चसहित उसे नहीं देखता; क्योंकि वह अपने रूपको ज्ञानद्वारा पा चुका है। [जीवन्मुक्तके लक्षण पूर्व दोहा ४२ में भी लिखे गये हैं।]

नोट—३ '*जीवनमुक्त*·······*अभिरामा*' से मिलते हुए श्लोक ये हैं—'**निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्। क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्पुमान्विरज्येत विना पशुघ्नात्॥**, (भा० १०। १। ४) अर्थात् जीवन्मुक्त महापुरुष जिनके हृदयमें किसी प्रकारकी कामना, तृष्णा नहीं है, वे भी उनके गुणोंको गाते रहते हैं। भवरोगसे छुटकारा पानेके इच्छुकों, मुमुक्षुओंके लिये उनके चरित एकमात्र औषधरूप हैं। जो विषयी हैं उन्हें कानों और मनको रमानेके लिये चरित्र रमणीय विषय है। हर स्थितिमें पशुघाती अथवा आत्मघातीके अतिरिक्त कौन ऐसा व्यक्ति होगा जो मुक्त, मुमुक्षु और विषयी सभीको सुख देनेवाली भगवत्कथामें रुचि न करे?—ये चौपाई तो मानो श्लोकके पूर्वार्धकी विस्तृत व्याख्या ही है। चौ० ६ उत्तरार्ध ही है। *जीवनमुक्त महामुनि जेऊ*=**निवृत्ततर्षैः।** '*सुनहिं*' की जगह 'उपगीयमान' है। भवसागर=भव। रामकथा (ता कह) **दृढ़ नावा**=औषध। भाव दोनोंका

एक ही है। सागर पार करनेके लिये दृढ़ नाव कहा। भवरूपी रोगके सम्बन्धसे उसीको औषध कहा। श्रवण सुखद मन अभिरामा=**श्रोत्रमनोऽभिरामात्**। श्रवण, मन और अभिराम दोनोंमें हैं। विशेष आगेकी चौपाइयोंमें देखिये।

'सुनहिं निरंतर तेऊ', यथा—*'जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान॥ ४२॥'*

नोट—*'भवसागर चह पार'''''''नावा'* इति। प० पु० स्वर्गखण्ड (अ० ६१) में श्रीसूतजीने भवसागरका रूपक इस प्रकार कहा है—'दुस्तर भवसागर कलिकालरूपी जलराशि, पापरूपी ग्राहों, विषयासक्तिरूपी भँवरों और दुर्बोधरूपी फेनसे भरा हुआ है। वह महादुष्टरूपी सर्पोंके कारण अत्यन्त भयानक प्रतीत होता है। ऐसे दुस्तर भवसागरको हरिभक्तिरूपी नौकापर बैठे हुए मनुष्य पार कर जाते हैं।' यथा—

विष्णौ भक्तिं विना नृणां निष्फलं जन्म उच्यते। कलिकालपयोराशिं पापग्राहसमाकुलम्॥ ७३॥
विषयामनुजावर्तं दुर्बोधफेनिलं परम्। महा दुष्टजनव्यालमहाभीमभयानकम्॥ ७४॥
दुस्तरं च तरन्त्येव हरिभक्तितरिस्थिताः। तस्माद्यतेत वै लोको विष्णुभक्तिप्रसाधने॥ ७५॥

श्रवनवंत अस को जग माहीं। जाहि न रघुपति चरित सुहाहीं॥ ५॥
ते जड़ जीव निजात्मक घाती। जिन्हहि न रघुपति कथा सोहाती॥ ६॥
हरिचरित्र मानस तुम्ह गावा। सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा॥ ७॥

अर्थ—जगत्‌में कौन कानवाला ऐसा है कि जिसे श्रीरघुनाथजीके चरित न अच्छे लगते हों?॥ ५॥ जिन्हें रघुनाथजीकी कथा नहीं भाती। वे जीव जड़ हैं और अपनी आत्माकी हत्या करनेवाले हैं॥ ६॥ आपने रामचरितमानस कहा। हे नाथ! उसे सुनकर मैंने असीम सुख पाया॥ ७॥

नोट—१ 'श्रवणवन्त ऐसा कौन है', इस कथनका भाव यह है कि उसको कानवाला नहीं वरन् बहिरा समझना चाहिये तथा उसके कानको कान न समझकर, सर्पका बिल समझना चाहिये, यथा—*'जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना। श्रवनरंध्र अहिभवन समाना।'* (१। ११३। २) *'सुहाहीं'* का भाव कि चरित सुननेसे हर्ष होना चाहिये, यथा—*'सुनि हरिचरित न जो हरषाती।'* (१। ११३। ७) ☞ यह प्रकरण बा० ११३ (२—८) के शिववाक्यसे मिलान करने योग्य है। मिलानके लिये वहाँ देखिये। किसीका मत है कि यहाँ 'चरित' 'नाम, रूप, लीला, धाम' सबका उपलक्षक है। चारोंसे सुख होना ग्रन्थमें कहा गया है।

टिप्पणी—१ (क) *'ते जड़ जीव निजात्मक घाती'* इति। भाव कि उन्होंने श्रीरघुपतिकथा सुनाकर अपनी आत्माको नहीं तारा।—[पुनः भाव कि आत्महत्या करनेवाले 'असुर्या' लोक वा अन्धतामिस्र नरकमें पड़ते हैं, वही गति ये पावेंगे। नीच जड़ योनियोंमें भटकते फिरेंगे—'जड़' और 'आत्मघाती' कहकर जनाया कि रघुपति-कथा भवतरणोपाय है, उसके न 'सुहाने' से भव तर नहीं सकेगा।—*'सो कृत निंदक मंदमति आतमहन गति जाइ॥ ४४॥'* 'रामकथा' सहज उपाय है, वह बुरी लगती है अतः जड़ कहा।] (ख) मिलान कीजिये भा० १०, १ से—

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानात्	१ *'जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरिगुन सुनहिं निरंतर'''''''।'*
भवौषधात्	२ *'भवसागर चह पार'''''''रामकथा ताकहँ दृढ़ नावा।'*
श्रोत्रमनोऽभिरामात्	३ *'बिषइन्ह कहँ'''''''। श्रवनसुखद अरु मनअभिरामा।'*
उत्तमश्लोकगुणानुवादात्पुमान् विरज्येत	४ *'श्रवनवंत अस को जग माहीं। जिन्हहिं न रघुपतिकथा सोहाहीं॥'*
विना पशुघ्नात्	५ *'ते जड़ जीव निजात्मक घाती। जिन्हहिं न रघुपति'''''''।'*

पं० रा० व० श०—'**विना पशुघ्नात्**' का भावार्थ यह है कि पशुका मारनेवाला कसाई जिसका हृदय हिंसा करते-करते कठोर हो गया है, वही चाहे न सुने और सब सुनते हैं। श्रीधरजी इसका दूसरे प्रकारसे अर्थ करते हैं—'जिसमें शोक न हो वह 'अपशुक' अर्थात् आत्माका नाश करनेवाला अपशुघ्न अर्थात् आत्मघाती है।'

टिप्पणी—२ *'सुनि मैं नाथ अमिति सुख पावा'* इति। अमित सुख पाया, इस कथनका भाव यह है कि एक तो हरिचरितमानस अद्भुत है, क्योंकि आपके हृदयसे निकला है (मानस=हृदय)। दूसरे, इसे आपने ही अपने श्रीमुखसे कह सुनाया है। इसीसे मुझको अमित सुख मिला।—(इस कथासे मोहका हरण

हुआ अतः यहाँ अन्तमें 'हरिचरित्रमानस' पद दिया।)

नोट—२ ☞*'सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल।'* (१। १२०) उपक्रम है और *'हरिचरित्रमानस तुम्ह गावा। सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा'* उपसंहार है। हरिचरित्र और रामचरित्र एक ही बात हुई। मानसकथाका उपसंहार वा समाप्ति यहाँ हुई।

गौड़जी—यहाँ 'हरिचरित्रमानस' की जगह 'रामचरितमानस' कहनेसे छन्दोभंग भी नहीं होता और किसी प्रकार भ्रम भी नहीं उत्पन्न होता। अतः 'हरिचरित्रमानस' कहनेका कोई विशेष तात्पर्य होगा। पहले भी कह आये कि *'जलसीकर महिरज गनि जाहीं। रघुपति चरित न बरनि सिराहीं॥'* साथ ही यह भी सूचित किया है कि राम अनन्त हैं, उनकी गुणावली अनन्त है, उनके जन्म अनन्त हैं, उनके कर्म अनन्त हैं और उनके नामोंकी संख्या अनन्त है। और उसपर भगवान् शंकर यह कहते हैं कि वह सारी कथा मैंने तुमसे सुनायी है जो भुशुण्डिने गरुड़को सुनायी थी और इस सारी कथामें क्या है—*'कछुक रामगुन।'* शिवजीका जैसे यह दावा है कि भुशुण्डिकी कही सारी कथा हमने सुनायी है, उसी तरह यह दावा नहीं है कि हमने रामजीकी सारी कथा सुनायी है। क्योंकि रामचरित शतकोटि ही नहीं है, अपार है। वेद और शारदा वर्णन करते रहते हैं पर पार नहीं पा सकते। मैंने केवल यह सब कथा कही है। तात्पर्य यह है कि विश्वेश्वर शंकर, विश्वपति नारायण, महात्रिमूर्ति, ब्रह्माण्ड त्रिमूर्ति, मनु, प्रजापति, कुमारगण, रुद्रादित्यवसु, साध्य, ऋषि आदिसे लेकर असंख्य अवतार जो अनादिकालसे होते आये हैं और आगे जो होते रहेंगे, वह सबके सब रामजीके ही अवतार हैं, इसलिये रामके गुण, जन्म, कर्म और नाम अनन्त हैं। गोस्वामीजी 'राम' शब्दका प्रयोग किसी संकुचित अर्थमें नहीं करते, परात्पर परब्रह्म परमात्माका ही नाम राम है। वही पूर्ण, अंश, कला, विकला, विकलांश सभी रूपोंमें अपनी विभूतियोंको लेकर प्रकट होते हैं और चरित करते रहते हैं। उनकी माया ऐसी विकट है कि चरित करते हुए देखकर भी कोई नहीं देखता, जानकर भी कोई नहीं जानता—*'सो जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई॥'* श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धके तीसरे अध्याय श्लोक २६ में कहा है—'**अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः। यथाऽविदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः। ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः। कला: सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा॥ २७॥ एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्॥ २८॥**' और गीतामें भी कहा है कि—'**यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥**' (१०। ४१)

अतः जितनी विभूतियाँ जगत्‌में हुई हैं और होंगी, सबके रूपमें और सबके नाममें तथा सबके जन्म-कर्ममें रामके ही अवतार जन्म-कर्म और नामको ही समझनेवाला रामकी अनन्तताकी कुछ कल्पना कर सकता है। यह तो इस एक मर्त्यलोककी बात हुई, परंतु ब्रह्माण्ड तो एक विश्वमें अनन्तकोटि हैं और स्वयं विश्व अनन्तकोटि हैं तथा यह अनन्तकोटि विश्व एक पादविभूति है—'**पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि**' (श्रुति पुरुषसूक्त)।

अब विचार कीजिये कि जब अनन्तकोटि विश्व हैं तब उन विभूतियोंकी क्या संख्या होगी जिन्हें हम अवतार कहते हैं? इसलिये यदि रामका चरित वेद अनन्तकालसे गाते हैं और शेष अपने सहस्र-सहस्र मुखसे कहते आते हैं तथा फिर भी समाप्त नहीं होता तो यह स्वाभाविक है, कोई अत्युक्ति नहीं है और समाप्त हो कैसे! भगवान्‌की लीला कभी समाप्त होती है! उसका तो तभी अन्त हो जब भगवान्‌का अन्त हो परंतु *'राम अनंत अनंत गुनानी।'*

यहाँ फिर हरिचरित्रमानस क्यों कहा? क्योंकि रामचरितमानस आदिसे अबतक जो कह आये हैं वह केवल रामावतारकी कथा है और वह भी चार ही अवतारोंकी कथा है। रामके तो अनन्त अवतार हैं और यह तो केवल परात्परब्रह्म, नारायण और विष्णुकी कथा है। इसीलिये श्रीपार्वतीजी हरिचरित्रमानस कहकर यहाँ उस संकुचित भावको स्पष्ट कर देती हैं कि आपने चार ही अवतारोंकी कथा कही है हरिसे परात्परब्रह्मकी सूचना भी होती है। मानसकारने इसे आरम्भमें ही '**रामाख्यमीशं हरिम्**' कहकर दी है। नारायण और विष्णुका नाम हरि तो प्रसिद्ध ही है। इस तरह रामावतारकी कथा होनेसे रामचरितमानस नामका पर्याय हरिचरित्रमानस बड़ा ही सुन्दर हुआ है।

उत्तरकाण्ड

(उत्तरार्द्ध)

'भुशुण्डि-गरुड़-संवादकी भूमिका'

तुम्ह जो कही* यह कथा सुहाई। कागभुसुंडि गरुड़ प्रति गाई॥ ८॥

दो०—बिरति ज्ञान बिज्ञान दृढ़ राम चरन अति नेह।
बायस तन रघुपति-भगति मोहि परम संदेह॥ ५३॥

अर्थ—आपने जो यह कहा कि यह सुन्दर कथा काकभुशुण्डिजीने गरुड़से कही थी॥ ८॥ भुशुण्डिजी वैराग्य, ज्ञान और विज्ञानमें दृढ़ हैं, उनका श्रीरामजीके चरणोंमें अत्यन्त प्रेम है। 'कौएके शरीरमें रघुनाथजीकी भक्ति?' यह मुझे परम संदेह हो रहा है॥ ५३॥

टिप्पणी—१ *'तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई.......'* इति। यथा—*'उमा कहिउँ सब कथा सुहाई। जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई।* ५२। ६।'

वै०—*'बायस तन।'* भाव कि वायस पक्षी और उसपर भी पक्षियोंमें चाण्डाल, कुटिल, चंचल स्वभाव और सर्वभक्षी है। सर्वभक्षीमें विराग आश्चर्य, चंचलमें ज्ञान आश्चर्य, कुटिलमें विज्ञान आश्चर्य और चाण्डालमें रामभक्ति, रामप्रेम आश्चर्य है।

वि० त्रि०—*'बायस पलिअहि अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा॥', 'छली मलीन कतहुँ न प्रतीती'* सो वायसमें विराग ज्ञानादिका होना ही कम सन्देहकी बात नहीं है, तब वायस-शरीरमें रघुपतिभक्ति कैसे उत्पन्न हुई, इस विषयमें मुझे परम सन्देह हो रहा है। क्योंकि हरिभक्तिकी प्राप्ति जीवन्मुक्तको भी दुर्लभ है (जैसा कि आगे कहेंगे) उसका लाभ कागको कैसे हुआ?

टिप्पणी—२ *'मोहि परम संदेह।'* भाव कि काकतनमें एक ही वस्तुकी प्राप्ति होनेमें संदेह होता, पर यहाँ तो काकतनमें हरिचरित्रमानस, वैराग्य, ज्ञान, विज्ञान और श्रीरामचरणमें अति नेह इन सबोंकी प्राप्ति देखती हूँ, अतएव 'परम सन्देह' है कि ये सब इनको किस प्रकार प्राप्त हुए। [यहाँ अनमेल दरसानेमें 'प्रथम विषम अलंकार' है। (वीर)]

३—भुशुण्डिजी रामजीके आशीर्वादसे ज्ञान, विज्ञान और वैराग्यमें दृढ़ हैं, यथा—*'भगति ज्ञान बिज्ञान बिरागा। जोग चरित्र रहस्य बिभागा। जानब तैं सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा॥* ८५। ७-८॥'

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्मब्रत धारी॥ १॥
धर्मसील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिरागरत होई॥ २॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई॥ ३॥
ज्ञानवंत कोटिक महुँ कोऊ। जीवनमुक्त सकृत जग सोऊ॥ ४॥
तिन्ह सहस्र महुँ सब सुखखानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिज्ञानी॥ ५॥

अर्थ—हे पुरारी! सुनिये। हजारों मनुष्योंमें कोई एक धर्मव्रतका धारण करनेवाला होता है॥ १॥ करोड़ों धर्मात्माओंमें कोई एक विषयसे विमुख (विषयोंकी ओर न देखनेवाला) और वैराग्यमें अनुरक्त अर्थात् वैराग्यवान् होता है। (तात्पर्य कि विषयरहित वैराग्य दुर्लभ है)॥ २॥ श्रुति कहती है कि करोड़ों वैराग्यवानोंमें कोई एक

---

* कहा—(का०)।

पूर्ण ज्ञान पाता है॥ ३॥ करोड़ों ज्ञानियोंमें कोई ही जीवन्मुक्त होता है, वह भी संसारभरमें कोई एक ही होता है॥ ४॥ उन ऐसे हजारों जीवन्मुक्तोंमेंसे सब सुखोंकी खानि ब्रह्ममें लीन विज्ञानी होना दुर्लभ है॥ ५॥

पं० रा० व० श०—'*धर्मब्रत धारी*'=धर्मके लिये गर्मी-सर्दी, मान-बड़ाई समस्त देहसुख इत्यादिको कुछ न समझकर उसमें मर मिटनेवाला, यथा—'*सिबि दधीचि बलि जो कछु भाषा। तन धन तजेउ बचन पन राखा॥*' (२। ३०। ७) साधारण धर्म भी विषय हैं। इन्द्रियाँ गाढ़तर विषयोंमें लग चुकी हैं उनसे अलग नहीं होतीं; अतः 'विषयोंसे विमुख' होना कहा।

टिप्पणी—१ सम्यक् ज्ञान वह है जो किसी बाधासे बाधित नहीं होता। २—'*ब्रह्मलीन*' का भाव कि ब्रह्मवृत्ति कभी नहीं छूटती, वह ब्रह्मसे कभी अलग नहीं हो सकता। ३—'*सब सुख खानि*' का भाव यह है कि जब वह विज्ञानी ब्रह्मलीन हुआ तब सब सुखोंकी खानि हो गया। अर्थात् धर्म, वैराग्य, ज्ञान और जीवन्मुक्ति इन सबोंका सुख उसको प्रथम प्राप्त हुआ तब ब्रह्मलीन विज्ञानका सुख हुआ है इसीसे उसको सब सुखोंकी खानि कहा। ४—'*दुर्लभ*' क्योंकि यहाँतक पहुँचना कठिन है।

मिलान कीजिये—'**मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥**' (गीता ७। ३)

करु०—यह अंश महारामायणसे मिलता-जुलता है। शिवजी कहते हैं—'**मुग्धे शृणुष्व मनुजोऽपि सहस्रमध्ये धर्मव्रती भवति सर्वसमानशीलः। तेष्वेव कोटिषु भवेद्विषये विरक्तः सद्ज्ञानको भवति कोटिविरक्तमध्ये॥ १॥ ज्ञानिषु कोटिषु नृजीवनकोऽपि मुक्तः कश्चित्सहस्रनरजीवनमुक्तमध्ये। विज्ञानरूपविमलोऽप्यथ ब्रह्मलीनस्तेष्वेव कोटिषु सकृत् खलु रामभक्तः॥ २॥ शान्तस्समानमनसा च सुशीलयुक्तस्तोषक्षमागुणदयाऋजुबुद्धियुक्तः। विज्ञानज्ञानविरतिः परमार्थवेत्ता निर्द्धामिकोऽभयमनाः स च रामभक्तः॥ ३॥**'

नोट—भगवान्‌ने जो भुशुण्डिजीसे कहा है वह भी इन चौपाइयोंसे मिलता-जुलता है।—'*सब ते अधिक मनुज मोहि भाए। तिन्ह महँ द्विज द्विज महँ श्रुति धारी। तिन्हमहुँ निगम धरम अनुसारी॥ तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी॥ तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥*' (८६। ४-७) दोनोंका क्रम एक-सा है।

गीताके उपर्युक्त श्लोक (७। ३) में अत्यन्त सूक्ष्म रीतिसे जो कहा है उसकी विस्तृत व्याख्या इन चौपाइयोंको कह सकते हैं। वहाँ '**मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये**' (अर्थात् सहस्रों मनुष्योंमेंसे कोई ही सिद्धि-प्राप्तितक यत्न करता है) इस पूर्वार्धमें '*नर सहस्र महँ*' से '*जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी।*' तककी सब सीढ़ियाँ आ जाती हैं। और '**यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।**' में '*सब तें सो दुर्लभ सुरराया। रामभगति रत गत मद माया॥*' को ले सकते हैं; क्योंकि जो भगवान्‌को तत्त्वतः जानता है वह फिर उन्हींका हो जाता है—'*जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई।*'

धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी॥ ६॥
सब ते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगतिरत गत मद माया॥ ७॥
सो हरिभगति काग किमि पाई। बिस्वनाथ मोहि कहहु बुझाई॥ ८॥

अर्थ—हे सुरराया! धर्मात्मा, वैरागी, ज्ञानी, जीवन्मुक्त और ब्रह्मलीन विज्ञानी, इन सब प्राणियोंमेंसे वह प्राणी मिलना दुर्लभ है जो मदमायारहित रामभक्तिमें परायण हो॥ ६-७॥ ऐसी वह हरिभक्ति कौवेने कैसे पायी? हे जगत्पति! मुझे समझाकर कहिये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) धर्मशीलादि पाँचोंको पहले क्रमशः अलग-अलग कह आये, अब इन्हीं सबको यहाँ एकत्र कहते हैं। जो क्रम ऊपर और यहाँ दिया है, वही क्रम इनकी उत्पत्तिका है। यथा—'*धर्म त बिरति जोग तें ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥*' (३। १६। १) सबको पुनः इकट्ठा करके कहनेका भाव कि भक्तिका नियम नहीं है, चाहे जब और जिसके हृदयमें वह उदय हो जाय। यह आवश्यक

नहीं है कि जब अवधितक पहुँचे तभी प्राप्त हो। तात्पर्य कि उपर्युक्त पाँचों अवस्थाओंमेंसे भक्ति जिसहीको मिल जाय कोई ठीक नहीं है। (ख) *'सब ते सो दुर्लभ'* इति। भाव कि दुर्लभ सभी (उपर्युक्त पाँचों ही साधन) हैं पर यह सबसे दुर्लभ है।

खर्रा—धर्मशीलादि जो पाँच पूर्व कहे वह भूमिका क्रमसे कहे। इनमेंसे कोई भी प्राप्त हो। अथवा ये सब एक ही बार जिसको प्राप्त हों उससे भी *'रामभक्ति रत गत मदमाया'* दुर्लभ है। अर्थात् ये सब भी साध्य नहीं हैं।

रा० प्र०—यहाँ धर्मशीलादि पाँच गिनाये और इनसे रामलग्नवाले छठेको सर्वोत्तम कहा।

नोट—करुणासिन्धुजी इस प्रसंगमें भक्तिकी सप्तभूमिकाएँ कहते हैं—(क) निजधर्मव्रतधारी होकर वेदके बताये विधिकर्म प्रेमपूर्वक करके श्रीरामार्पण करे। (ख) शीलवान् हो अर्थात् इन्द्रियविषयमें आसक्त न हो। (ग) विषयोंसे पूर्ण वैराग्य हो। (घ) सम्यक् ज्ञान हो अर्थात् जैसे अपनी आत्माको देखता है, वैसे ही चराचरको देखे, अनात्माको भिन्न देखे। (ङ) जीवन्मुक्त हो अर्थात् देह धरे हुए भी संसारसे मुक्त हो, हर्षशोकादि द्वन्द्वोंसे रहित, निरभिमान हो। (च) ब्रह्मलीन विज्ञान वह दशा है जिसमें जीव अन्तर्यामी ब्रह्मकी एकता है। यह सुखखानि है। (छ) मदमायारहित रामभक्ति।

२ *'सुरराया'* का भाव कि देवताओंके स्वामी होनेसे आप सबका हाल जानते हैं कि मदमायारहित रामभक्ति देवताओंको भी दुर्लभ है। (मद-दोहा ४६ देखो)।

टिप्पणी—२ *'सो हरिभगति काग किमि पाई।'''''''''बुझाई।'* इति। 'विश्वनाथ' का भाव कि विश्वभरका हाल आप जानते हैं। *'कहहु बुझाई'* का भाव कि जिसमें मुझे समझ पड़े। ☞ महादेवजी इसका उत्तर आगे देंगे कि पाँच योगोंसे भुशुण्डिको भक्ति मिली है—(१) अवधपुरीके प्रभावसे। (२) मेरे अनुग्रहसे, यथा—*'पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरे। रामभगति उपजिहि उर तोरे॥'* (१०९। १०) (३) स्वाभाविक; यथा—*'करउँ सदा रघुनायक लीला।'* (४) लोमशजीके वरदानसे, यथा—*'रामभगति अबिचल उर तोरे। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे॥'* (११३। १६) (५) श्रीरामजीके वरदानसे, यथा—*'भगत कलपतरु प्रनतहित कृपासिंधु सुखधाम। सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥'* (८४) *'एवमस्तु कहि''''''''।'*

काकशरीर तीन योगोंसे हुआ—(१) लोमशजीकी आज्ञा भंग करनेसे, यथा—*'एहि बिधि अमिति जुगुति मन गुनऊँ। मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ॥'* (११२। ११) (२) ज्ञानपक्षका खण्डन करनेसे, यथा—*'तब मैं निर्गुन मति करि दूरी। सगुन निरूपौं करि हठि भूरी॥'* (१११। १३) (३) लोमशजीके शापसे, यथा—*'सपदि होहि पच्छी चंडाला।'* (११२। १५)

रामचरित दो योगोंसे मिला। एक तो महादेवजीसे, यथा—*'सोइ सिव काग भुसुंडिहि दीन्हा।'* (१। ३०) दूसरे, लोमशजीके पढ़ानेसे, यथा—*'मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानस तब भाषा॥'* [प्र० स्वामीका मत है कि दो प्रकारसे मिलना भासित होता है पर यह विसंवादी भ्रम है। इसका गूढ़ मर्म दोहा ११३ (९) में स्पष्ट किया जायगा]—(१। ३०। ४) में भी इस सम्बन्धमें देखिये।

दो०—रामपरायन ज्ञानरत गुनागार मतिधीर।
नाथ कहहु केहि कारन पाएउ काक-सरीर॥५४॥

अर्थ—हे नाथ! कहिये तो कि श्रीरामानुरक्त, ज्ञानमें तत्पर, गुणोंके धाम और धीरबुद्धि-(होकर भी भुशुण्डिजी-) ने किस कारण कौवेका शरीर पाया? (भाव कि रामपरायणतादि गुण काकशरीर पानेके कारण नहीं हैं)॥ ५४॥

पं०—*'सो हरिभगति काग किमि पाई'* अर्थात् बताइये कि काक थे तो उस देहमें भक्ति कैसे मिली? इसके उत्तरमें यदि वे कहें कि जब भक्ति पायी तब काक देह न थी, तो उसपर यह दूसरा प्रश्न है कि जिसमें भगवद्भक्ति आदि सर्वगुण हैं उसका काकशरीर कैसे हुआ?

रा० शं०—यदि कहो कि किसीका अपराध किया होगा तो रामपरायणादि गुणयुक्तसे किसीका अपराध सम्भव नहीं। रामभक्त (*'मंद करत जो करत भलाई'*), ज्ञानरत (*'देख ब्रह्म समान सब माहीं'*), गुणागार (सज्जन, यथा—*'जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा।'* (४। १४। ७) तथा—*'साधु ते होइ न कारज हानी।'* (५। ६। ४) और रामकृपापात्र, यथा—*'काहे न होउ परम पुनीत सदगुनसिंधु सो'*) और मतिधीर हैं अर्थात् कामक्रोधादिके वेगसे रहित, गुणोंका मद नहीं। तब अपराध कैसे सम्भव हो सकता है?

मा० म०—पूर्व जो कहा था कि *'बायसतन रघुपति भगति मोहि परम संदेह'* उसका तात्पर्य यह है कि काकदेहमें भक्ति कैसे हुई और भक्ति प्राप्त होनेपर काकदेह क्यों रही? और इस दोहेका भाव यह है कि यदि भक्तिका साज किसी उत्तम शरीरमें मिल सकता था तो वायसशरीर क्यों मिला?

वै०—भक्ति एक जन्ममें प्राप्त नहीं हो सकती, अतः यह अनुमान कर कि पूर्व जन्ममें इनको उत्तम देह रही होगी जिसमें ये गुण प्राप्त हुए होंगे, यह प्रश्न किया।

यह प्रभु चरित पवित्र सुहावा। कहहु कृपाल काग कहँ पावा॥ १॥
तुम्ह केहि भाँति सुना मदनारी। कहहु मोहि अति कौतुक भारी॥ २॥
गरुड़ महा ज्ञानी गुनरासी। हरिसेवक अति निकट निवासी॥ ३॥

अर्थ—हे दयालु! कहिये, प्रभुका यह सुन्दर पवित्र चरित्र कौवेने कहाँ पाया?॥ १॥ हे कामारि! कहिये तो, आपने किस प्रकार सुना? मुझे बहुत भारी कुतूहल (आश्चर्य) है॥ २॥ गरुड़जी परम ज्ञानी, गुणराशि, हरिसेवक और हरिके अत्यन्त समीपवर्ती हैं अर्थात् भगवान्‌के वाहन हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) *'पवित्र सुहावा'* विशेषण देनेका भाव कि यह रामयशसे पूर्ण है और इसकी रचना विचित्र है। [पुनः, पवित्र और सुहावा (शोभायमान) कहकर जनाया कि ऐसा चरित्र किसी प्रकार भी चाण्डाल, अपवित्र, अशोभित पक्षी कौवेके योग्य नहीं हो सकता। (रा० शं०)] *'कहहु कृपाल'* अर्थात् कृपा करके कहिये। तात्पर्य कि काकशरीरमें इस रामचरितमानसका मिलना असम्भव है। (ख) *'काग कहँ पावा'* का भाव कि यह मुनियोंको भी दुर्लभ है तब भला काक कैसे पा सकता है?

२ (क) *'केहि भाँति'* का भाव कि मैं तो सदा साथ रहती हूँ उस समय मैं कहाँ थी? (ख) *'कौतुक भारी'*। इससे कि आपने ईश्वर होकर काकसे रामकथा सुनी। (ग) *'मदनारी'* का भाव कि कामके रहते कथा व्यर्थ हो जाती है, यथा—*'क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥'* आप कामके शत्रु हैं, इसीसे आपके कहनेसे कथा सफल होती है। अर्थात् आपके मुखसे सुननेसे जीवके हृदयका अन्धकार दूर हो जाता है। [पुनः *'मदनारी'* का भाव कि आप कामको जीतनेके लिये सदा समाधिनिष्ठ रहते हैं और मैं सदा साथ ही रहती हूँ, दोनोंको त्यागकर कैसे काकके पास सुनने गये। (पं०) सती-शरीरमें मैं साथ ही रही। कामको भस्म करनेके पूर्व आप समाधिस्थ ही थे। कामदेवने ही तो आकर आपकी समाधि छुड़ाई थी और तत्पश्चात् तुरत ही विवाह हुआ तबसे फिर मैं साथ ही हूँ। अतएव समझमें नहीं आता कि कब आप भुशुण्डिजीके पास गये और कथा सुनी। (वै०)]

३ *'गरुड़ महा ज्ञानी गुनरासी।……'* इति। ऊपर भुशुण्डिजीके विशेषण दे आयीं कि वे रामपरायण, ज्ञानरत, गुणागार और मतिधीर हैं और यहाँ गरुड़जीके विषयमें कहती हैं कि ये महाज्ञानी, गुणराशि, हरिसेवक और हरिके अत्यन्त निकटनिवासी हैं। चार ही विशेषण यहाँ भी देकर दिखाते हैं कि गरुड़जी भुशुण्डिजीसे किसी बातमें कम नहीं हैं। जैसे कि—भुशुण्डिजी ज्ञानरत हैं तो गरुड़जी महाज्ञानी हैं, वे गुणागार हैं तो ये भी गुणराशि हैं, वे रामपरायण हैं तो ये भी हरिसेवक हैं और वे मतिधीर हैं तो ये हरिके अति निकट निवासी हैं। (वे मतिधीर और ये अत्यन्त निकट निवासी हैं। अतः दोनों ही मोहादि विकारोंसे रहित हैं। मोह नहीं हो सकता और हरिसे अलग हो नहीं सकते तब इतनी दूर कैसे जायँगे और कथा क्यों जाकर सुनेंगे)। तब गरुड़जी किस कारण कागसे कथा सुनने गये? [गरुड़जीको *'अति निकट निवासी'* कहकर भुशुण्डिजीको दूरनिवासी सूचित किया। (रा० शं०)]

पं० रा० व० श०—'*महा ग्यानी*'। जिनके पखनोंसे सामवेद उच्चारण होता है उनके ज्ञानको क्या कहा जाय?

तेहि केहि हेतु काग सन जाई। सुनी कथा मुनि-निकर बिहाई॥ ४॥

कहहु कवन बिधि भा संबादा। दोउ हरिभगत काग उरगादा॥ ५॥

अर्थ—(ऐसे महाज्ञानी आदि) उन गरुड़ने किस कारण मुनियोंका समूह छोड़कर कौवेके पास जाकर कथा सुनी॥ ४॥ कहिये कि कागभुशुण्डि और गरुड़ दोनों हरिभक्तोंका संवाद किस प्रकार हुआ (भाव कि दोनों हरिभक्त हैं, उनका संवाद अवश्य सुनने योग्य होगा)॥ ५॥

पं०—'*केहि हेतु*' का भाव कि इसमें कोई विशेष कारण अवश्य है। '*कवन बिधि भा संबादा*' अर्थात् जब दोनों मिले तो किस प्रकार प्रश्नोत्तर हुए।

☞ श्रीपार्वतीजीके प्रश्न यहाँ समाप्त हुए।

प्रश्नोत्तर

गौरि गिरा सुनि सरल सुहाई। बोले सिव सादर सुख पाई॥ ६॥

अर्थ—श्रीपार्वतीजीकी सरल सुन्दर वाणी सुनकर श्रीशिवजी सुख पाकर आदरसहित बोले॥ ६॥

टिप्पणी—१ '*गौरि गिरा सरल सुहाई*' इति। (क) वाणी '*सुहाई*' है (क्योंकि) इसमें उन्होंने छः प्रश्न किये हैं—(१) भक्तिकी प्राप्ति। (२) काग शरीरकी प्राप्ति। (३) रामचरितकी प्राप्ति। (४) भुशुण्डिजीसे शिवजीका कथा सुनना, (५) भुशुण्डिजीसे गरुड़का जाकर सुनना और (६) भुशुण्डि-गरुड़-संवाद। ये छहों प्रश्न अत्यन्त सुन्दर हैं इसीसे गिराको 'सुहाई' कहा। और, वाणी सुगमता लिये है तथा छलरहित है। इसीसे शिवजीको सुख हुआ। कपट-छलयुक्त प्रश्नोंसे वक्ताका हृदय दग्ध हो जाता है। विशेष '*प्रश्न उमाके सहज सुहाई। छल बिहीन सुनि सिव मन भाई॥*' (१। १११। ६) में देखिये। [रहस्य जाननेकी रुचि देख सुख हुआ। (रा० प्र०)]

नोट—१ '*बोली अति बिनीत मृदुबानी॥*' (५२। ८) उपक्रम है और '*गौरि गिरा सुनि सरल सुहाई*' उपसंहार। '*अति बिनीत*' और 'मृदु' होनेसे '*सरल सुहाई*' है। पुनः, भुशुण्डि-गरुड़-संवाद-विषयक प्रश्न प्रसंगका उपक्रम '*तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई। कागभुसुंडि गरुड़ प्रति गाई॥*' (५३। ८) है और उपसंहार '*गौरि गिरा......*' है।

धन्य सती पावनि मति तोरी। रघुपति-चरन प्रीति नहिं थोरी॥ ७॥

सुनहु परम पुनीत इतिहासा। जो सुनि सकल सोक* भ्रम नासा॥ ८॥

उपजै रामचरन बिस्वासा। भवनिधि तर नर बिनहि प्रयासा॥ ९॥

अर्थ—सती! तुम धन्य हो। तुम्हारी बुद्धि पवित्र है। रघुनाथजीके चरणोंमें तुम्हारा प्रेम थोड़ा नहीं है, बहुत है॥ ७॥ परम पवित्र इतिहास सुनो, जिसे सुननेसे मनुष्योंके समस्त शोक और भ्रम नाश हो जाते हैं॥ ८॥ श्रीरामजीके चरणोंमें विश्वास उत्पन्न होता है और मनुष्य बिना परिश्रम ही भवसागर तर जाता है†॥ ९॥

टिप्पणी—१ '*धन्य सती पावनि मति तोरी।......*' इससे सूचित किया कि तुम्हें तीनों काण्ड सिद्ध हैं। 'धन्य' से कर्मकाण्ड कहा, यथा—'*सुकृती पुण्यवान् धन्यः*' इत्यमरः '*पावनि मति*' से ज्ञानकाण्ड कहा, क्योंकि ज्ञानसे मति पवित्र होती है। और '*रघुपतिचरन प्रीति नहिं थोरी*' से उपासनाकाण्ड कहा। श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें प्रेम होना उपासना है। [रा० प्र०-'*बोले सिव सादर*' जो ऊपर कविने कहा वह सादर वचन यही है।]

---

* सोक-रा० गु० द्वि० (गुटका), का०। लोक-भा० दा०, छ०।

† अत्यल्प साधनसे अलभ्यलाभवर्णन 'द्वितीय विशेष अलंकार' है। 'भवनिधि' में निरंगरूपक है—(वीर)।

२ सती-शरीरमें मति अपावनी थी इसीसे तब श्रीरामजीको मनुष्य मान रही थीं। अब रामचरणमें प्रेम देखकर उसी मतिको 'पावनि' कहते हैं जिससे सतीका पूर्व पश्चात्ताप मिट जाय। [सतीतनमें मोह हुआ था, इसीसे अब 'पावनि' कहनेमें वही नाम दिया। अथवा, सती=पतिव्रते!]

वि० त्रि०—जिसकी मति पावन होती है, उसीकी रघुपतिचरणमें प्रीति होती है। (यथा—'*धन्य पुन्यमय मति सोइ पाकी*')। सतीके हृदयमें ऐसी प्रीति हरिचरणोंमें है कि कथा सुननेमें अघाती नहीं, अत: शिवजी उन्हें धन्य कहते हैं। उनके मतिकी प्रशंसा करते हैं। और, उन्हें सती करके सम्बोधन करते हैं। सभी सती धन्य हैं, यथा—'*धन्य नारि पतिब्रत अनुसरी।*' उनमें भगवती गिरिनन्दिनीकी प्रथम रेख है, (यथा—'*पति देवता सुतीय महँ मातु प्रथम तव रेख*') वैसी ही वाणी उनके मुखसे निकली, यथा—'*नाथ तवानन ससि स्रवत कथा सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्ह मन पान करि नहिं अघात मति धीर॥*' अत: शिवजीने सती सम्बोधनपूर्वक धन्य कहा। अथवा भगवतीके पूर्व जन्म-(सती-अवतार-) के प्रसंगसे कथा आरम्भ करना है। यथा—'*प्रथम दक्ष गृह तव अवतारा। सती नाम तब रहा तुम्हारा॥*' अत: सती नामसे ही सम्बोधन किया।

टिप्पणी—३ '*परम पुनीत इतिहासा*' पवित्रको भी पवित्र करे वह 'परमपुनीत' है। (रा० शं०—'*पावनि मति*' कहकर इतिहासको परमपुनीत कहनेका भाव कि इसके सुननेके लिये बुद्धि पवित्र होनी चाहिये सो तुम्हारी बुद्धि उसके योग्य है)। ३—'*उपजै रामचरन बिस्वासा……*' इति। जब शोक और भ्रमका नाश हो जाता है तब रामजीमें विश्वास होता है और विश्वास होनेपर बिना परिश्रम भवसे छुटकारा मिलता है। इसीसे प्रथम '*शोक भ्रम*' का नाश कहा तब विश्वास और तब भवनिधिका तरना कहा।

दो०—ऐसिअ प्रस्न बिहंगपति कीन्हि काग सन जाइ।
सो सब सादर कहिहौं सुनहु उमा मन लाइ॥५५॥

अर्थ—ऐसे ही प्रश्न पक्षिराजने कागभुशुण्डिसे जाकर किये थे। वह सब मैं आदरपूर्वक कहूँगा। हे उमा! मन लगाकर सुनो॥ ५५॥

टिप्पणी—१ '*ऐसिअ*' अर्थात् जो प्रश्न तुमने मुझसे किये इसी प्रकारके प्रश्न गरुड़जीने भुशुण्डिजीसे किये थे। जो उत्तर उन्होंने दिया था वही हम तुमसे कहेंगे। ☞सब (पाँच) प्रश्न जो यहाँ किये वे तो गरुड़ने किये नहीं हैं अतएव '*ऐसिअ*' का भाव यह है कि मुख्य प्रश्न तुम्हारे यही हैं कि—१ कागशरीरमें भक्ति कैसे मिली? २—यदि काकशरीर पीछेका है तो रामपरायणादि गुणसम्पन्नको काकशरीर कैसे मिला? तथा ३—कागने यह चरित्र कहाँ पाया?

पं० रा० व० श०—'*कहिहौं*' भविष्य क्रिया देकर जनाया कि इन्हें पीछे कहूँगा और अपने प्रसङ्गका प्रश्न अभी कहता हूँ सो सुनो, यथा—'*सो प्रसंग सुनु……।*' '*ऐसिअ*'—ये तीन प्रश्न गरुड़जीने किये हैं।—

रामपरायन ज्ञानरत गुनागार मतिधीर।	१	*'तुम्ह सर्वज्ञ तज्ञ तम पारा।……*
नाथ कहहु केहि कारन पाएहु काक सरीर॥		*कारन कवन देह यह पाई।*
सो हरिभगति काग किमि पाई	२	*तात सकल मोहि कहहु बुझाई॥*
यह प्रभु चरित पवित्र सुहावा।	३	*रामचरित सर सुंदर स्वामी।*
कहहु कृपाल काग कहँ पावा।		*पायेउ कहाँ कहहु नभगामी॥*

'तुम्ह केहि भाँति सुना' का उत्तर

मैं जिमि कथा सुनी भवमोचनि। सो प्रसंग सुनु सुमुखि सुलोचनि॥ १॥
प्रथम दक्षगृह तव अवतारा। सती नाम तब रहा तुम्हारा॥ २॥
दक्षजज्ञ तव* भा अपमाना। तुम्ह अति क्रोध तजे तब प्राना॥ ३॥

* जब-(का०)।'

अर्थ—मैंने जिस प्रकार भव छुड़ानेवाली यह कथा सुनी। हे सुमुखे! हे सुलोचने! वह प्रसङ्ग सुनो॥ १॥ पहले तुम्हारा अवतार दक्षके घर हुआ था। तब तुम्हारा नाम सती था॥ २॥ दक्षके यज्ञमें तुम्हारा अपमान हुआ तब तुमने अत्यन्त क्रोधमें आकर प्राण छोड़ दिये॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'मैं जिमि कथा सुनी.......'* इति। (क) पार्वतीजीने जो पूछा कि *'तुम्ह केहि भाँति सुना मदनारी। कहहु मोहि अति कौतुक भारी॥'*, प्रथम उस प्रश्नका उत्तर शिवजी यहाँ देते हैं कि जैसे सुना वह प्रसंग सुनो। [श्रीपार्वतीजीने प्रथम श्रीकागभुशुण्डिसम्बन्धी तीन प्रश्न किये हैं। यथा—*'बायस तन रघुपति भगति मोहि परम संदेह॥ ५३॥ सो हरि भगति काग किमि पाई।'*, *'रामपरायन ज्ञानरत.......केहि कारन पायउ काकसरीर॥ ५४॥'*, *'यह प्रभु चरित पवित्र सुहावा।.......काग कहँ पावा।'* इनके पश्चात् *'तुम्ह केहि भाँति सुना'* यह प्रश्न है। यहाँ शिवजी प्रथम अपने सम्बन्धके इस प्रश्नका उत्तर देते हैं। कारण कि शेष प्रश्नोंके उत्तर भुशुण्डि-गरुड़-संवादमें एक साथ आ जायँगे। यदि क्रमसे प्रश्नोंके उत्तर देते तो उनके बीचमें अपने सम्बन्धकी कथा सुनानेकी बात बेमेल पड़ती। अतः सूची-कटाहन्यायसे प्रथम इस प्रश्नका उत्तर देते हैं जो अगले और पिछले दोनों प्रश्नोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रखता तथा दोनोंसे पृथक् ही प्रसङ्ग है। (वीर)] (ख) सुन्दर प्रश्न किया अतः 'सुमुखी' कहा और 'सुलोचनी' कहनेका भाव कि जो मैं कहता हूँ उसपर दृष्टि दो।

२ (क) *'प्रथम दक्षगृह तव अवतारा'* अर्थात् प्रथम अवतार दक्ष-प्रजापतिके यहाँ हुआ, दूसरा हिमाचलके यहाँ। ['अवतारा' शब्दसे देवर्षि नारदके *'जगदंबा तव सुता भवानी। अजा अनादि शक्ति अविनासिनी॥ सदा संभु अरधंग निवासिनि। जग संभव पालन लयकारिनि॥ निज इच्छा लीला बपु धारिनि। जनमीं प्रथम दच्छ गृह जाई॥ नाम सती.......।'* (१। ९८) इन वचनोंको चरितार्थ किया] (ख) *'तब रहा'* अर्थात् अब सती नाम नहीं है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि अब सती नाम नहीं है, तो शिवजीने ऊपर कैसे कहा कि *'धन्य सती पावनि मति तोरी।'* यहाँ 'सती' शब्द 'पतिव्रता' के भावसे कहा है। यथा—*'सती साध्वी पतिव्रता इत्यमरः'*, *'सती सिरोमनि सिय गुनगाथा।'*

३ (क) *'दक्षजज्ञ'* कहनेका भाव कि यज्ञमें देवताओंका भाग होता है, उसमें हमारा भाग न था, यह देखकर तुम्हें क्रोध हुआ था। यथा—*'सती जाइ देखेउ तब जागा। कतहुँ न दीख संभु कर भागा॥'* (१। ६३। ४) (४) *'अति क्रोध'* का भाव कि हमारे अपमानसे तुमने अपना अपमान माना। इसीसे अतिक्रोध हुआ और अतिक्रोधसे तुमने प्राण त्याग दिये। [अपमान तो यह भी हुआ कि *'दच्छ न कछु पूछी कुसलाता'* और *'दच्छत्रास काहु न सनमानी'* पर भागका न मिलना यह सबसे भारी अपमान हुआ—*'प्रभु अपमानु समुझि उर दहेऊ'*, *'सब तें कठिन जाति अपमाना'*, इसीसे अति क्रोध हुआ—*'समुझि सो सतिहि भएउ अति क्रोधा।'* अतिसे असह्य जनाया—*'बहु बिधि जननी कीन्ह प्रबोधा। सिय अपमान न जाइ सहि.......॥'* (१। ६३]

मा० म०—जो बिना बुलाये नहीं जाता वह बुलानेवालेके मानको नाश करता है और जो बिना बुलाये किसीके यहाँ जाता है उसका मान स्वयं भ्रष्ट होता है। बिना बुलाये जानेसे ही सतीका अपमान हुआ—[*'जौ बिनु बोले जाहु भवानी। रहइ न सील सनेह न कानी॥'*]

मम अनुचरन्ह कीन्ह मखभंगा। जानहु तुम्ह सो सकल प्रसंगा॥ ४॥
तब अति सोच भएउ मन मोरे। दुखी भएउँ बियोग प्रिय तोरे॥ ५॥
सुंदर बन गिरि सरित तड़ागा। कौतुक देखत फिरौं* बेरागा॥ ६॥
गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी। नील सैल एक सुंदर भूरी॥ ७॥

अर्थ—मेरे सेवकोंने यज्ञविध्वंस किया, वह सब प्रसङ्ग तुम जानती हो॥ ४॥ तब मेरे मनमें बड़ा

* 'फिरै बिरागा'—का०-

सोच हुआ। हे प्रिये! मैं तुम्हारे वियोगसे दुःखी हुआ॥ ५॥ सुन्दर वन, पर्वत, नदी और तालाबोंका कौतुक बिना रागके वा वैराग्यवान्‌की तरह देखता फिरता था* (कि जी बहल जाय, शोक दूर हो जाय, मन कहीं लग जाय, पर कहीं प्रीति होती न थी, कहीं मन लगता न था)॥ ६॥ उत्तर दिशामें सुमेरु पर्वतसे बहुत दूरीपर एक बहुत ही सुन्दर नील पर्वत है॥ ७॥

टिप्पणी—१ दक्षयज्ञभङ्गकी कथा विस्तारसे श्रीमद्भागवतमें है। *'जानहु सो'* से सूचित किया कि इसीसे हम विस्तारसे नहीं कहते। यज्ञ करने और करानेवालोंकी जो दुर्दशा हुई वह शिवजी अपने मुखसे नहीं कहते। *'जानहु तुम्ह सो………'* से ही वह सब जना दी—[बालकाण्डमें सब कथा विस्तृतरूपसे दी जा चुकी है जो *'सतीमरन सुनि संभुगन लगे करन मखखीस'* बा० ६५ से प्रारम्भ हुई है]।

वि० त्रि०—यहाँपर शिवजीको सतीके विरहमें घूमते हुए अपना नीलगिरि पर्वतपर जाना वर्णन करना है। वह सती तुम ही हो, और तुमसे विरह अमुक कारणसे हुआ, यह सब प्रसंग विस्तारसे यहाँ कहना प्राप्त था। क्योंकि पूर्व जन्मकी कथा किसीको याद नहीं रहती, परंतु जगदम्बा तो जातिस्मर हैं सब कथा ठीक-ठीक स्मरण है। अतः शिवजी कहते हैं कि 'तुम तो वह सब प्रसङ्ग जानती ही हो।'

टिप्पणी—२ *'तब अति सोच भएउ………'* इति। (क)—*'अति सोच'* का भाव कि तुमने हमारे अपमानसे शरीर त्याग किया। इसीसे तुम्हारे वियोगसे हमको अति सोच हुआ।—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्॥'** (गीता ४। ११) (ख) *'प्रिय'* सम्बोधन देकर अति सोचका दूसरा कारण यह बताया कि तुम हमको प्रिय हो।-यह भक्तवत्सलताका प्रेम दिखाया-(पं०)। [पूर्व जो बालकाण्डमें कहा है कि *'जब ते सती जाइ तनु त्यागा। तब ते शिवमन भएउ बिरागा॥ जपहिं सदा रघुनायक नामा। जहँ तहँ सुनहिं रामगुनग्रामा॥'* (७५। ७-८) *'जदपि अकाम तदपि भगवाना। भगत बिरह दुख दुखित सुजाना॥'* (७६। २) वही सब भाव *'दुखी भएउँ'* से *'बेरागा'* तकमें है।]

☞ *'गिरि सुमेर………'* यहाँ भुशुण्डिजीवाले नीलगिरिका पता बतानेके लिये 'सुमेरुपर्वत' का नाम दिया (क्योंकि यहाँ देवताओंका वास रहता है इससे इसे पार्वतीजी जानती हैं। देवता इसीकी शरण लिया करते थे।)

पं० रा० व० श०—सुमेरु इलावर्त खण्डमें है। यह कमलकी कर्णिकाके समान नीचे पतला और ऊपर चौड़ा है।

तासु कनकमय सिखर सोहाए। चारि चारु मोरे मन भाए॥ ८॥
तिन्ह पर एक एक बिटप बिसाला। बट पीपर पाकरी रसाला॥ ९॥
सैलोपरि सर सुंदर सोहा। मनि सोपान देखि मन मोहा॥ १०॥

अर्थ—उस नीलपर्वतपर चार स्वर्णमय सुन्दर दीप्तिमान् शिखर हैं। वे मेरे मनको बहुत अच्छे लगे। (भाव कि मेरा मन वहाँ लग गया, उनकी सुन्दरता देखकर मेरे मनको विश्राम मिला, शान्ति हुई)॥ ८॥ उन शिखरोंपर एक-एक भारी वृक्ष है—बरगद, पीपल, पाकर और आम। (ये उनके नाम हैं। एक-एक शृङ्गपर एक-एक वृक्ष है)॥ ९॥ पर्वतपर एक सुन्दर तालाब शोभित है, मणियोंकी सीढ़ियाँ देखकर मन लुभा गया॥ १०॥

टिप्पणी—१ (क) *'चारु'* मनका विशेषण है। (ख)—*'मन भाए।'* शृङ्ग देखकर 'मनको भाए', क्योंकि वहाँपर मायाके दोष और गुण नहीं जाते, यथा—*'मायाकृत गुन दोष अनेका। मोह मनोज आदि अबिबेका॥ रहे ब्यापि समस्त जग माहीं। तेहि गिरि निकट कबहुँ नहिं जाहीं॥'* (५७। २-३)

नोट—कैलासपरकी प्रत्येक वस्तु सतीके सत्संग-सम्बन्धसे वियोगकी उद्दीपक है, इसीसे यद्यपि

---

* रा० प्र०-'अति सोच भयो', यह व्यवहारमें 'देखत फिरै बिरागा' का भाव कि जो तुम्हारे साथ सुखद था उससे विराग हो गया। अतः यह बिरही नये थल सुन्दर वनपर्वतादिमें कौतुक देखता फिरे।'

भा० दा० में 'बि०' था पर 'ि' पर हरताल है।

कैलासपरका वट *'सिव-विश्राम-बिटप'* है तो भी वह उनको विश्राम न दे सका और यहाँ मनको विश्राम मिला, अत: *'मन भाए'* और *'मन मोहा'* कहा। बा० दोहा १०५ (८) देखिये।

टिप्पणी—२ (क) *'बिटप बिसाला'* कहनेका भाव कि और सब वृक्ष छोटे हैं, विशाल वृक्ष चार ही हैं। (ख) *'देखि मन मोहा'* का भाव कि सुन्दर पर्वत और शिखर देखकर हमारे मनको भाये। पर तालाब और सोपान देखकर तो मन मोहित ही हो गया। आशय कि सर और सीढ़ियोंकी शोभा विचित्र है।

दो०—सीतल अमल मधुर जल जलज बिपुल बहु रंग।
कूजत कलरव हंसगन गुंजत मंजुल भृंग॥५६॥

अर्थ—शीतल, निर्मल और मीठा जल है, कमल बहुत और बहुत रंगके (उसमें खिले हुए) हैं। हंसगण सुन्दर (मधुर) शब्द बोलते हैं और सुन्दर भौंरे सुन्दर गुंजार कर रहे हैं॥ ५६॥

टिप्पणी—तालाबका वर्णन क्रमसे किया है, प्रथम तालाब कहा, तब जल, फिर कमल, हंस और भ्रमर क्रमसे कहे।

वै०—उत्तरमें वट है, पश्चिममें पीपल है, दक्षिणमें पाकर और पूर्व दिशामें आम। चारोंके मध्यमें आश्रम है।

तेहि गिरि रुचिर बसै खग सोई। तासु नाम कल्पांत न होई॥१॥
मायाकृत गुन दोष अनेका। मोह मनोज आदि अबिबेका॥२॥
रहे ब्यापि समस्त जग माहीं। तेहि गिरि निकट कबहुँ नहिं जाहीं॥३॥
तहँ बसि हरिहि भजै जिमि कागा। सो सुनु उमा सहित अनुरागा॥४॥

अर्थ—उस सुन्दर पर्वतपर वही पक्षी बसता है। उसका नाश कल्पका अन्त होनेपर भी नहीं होता॥ १॥ मोह, कामादि अर्थात् काम, क्रोध, लोभ और अज्ञान (इत्यादि) मायाके किये हुए अनेक गुण और दोष॥ २॥ सारे संसारमें व्याप रहे हैं, पर उस पर्वतके पास कभी नहीं जाते॥ ३॥ वहाँ बसकर जिस प्रकार वह काक भगवान्का भजन करता है, हे उमा! वह सब प्रेमसहित सुनो॥ ४॥

नोट—*'तासु नास कल्पांत न होई।' 'न होई'* का कारण बताया कि माया वहाँ नहीं व्यापती। वह पर्वतके निकट तो जा ही नहीं पाती तब भुशुण्डिजीके निकट तो जाना दूर ही रहा। काल भी मायाकृत है, अत: वह भी नहीं व्यापता। पर ग्रन्थोंमें सर्वत्र यही सुना जाता है कि महाप्रलयमें सबका नाश होता है तब ये कहाँ रहते हैं, यह शङ्का होती है। पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी तथा श्रीरामानुजाचार्यजीका मत है कि—'महाप्रलयमें भुशुण्डिजी और मार्कण्डेयजी सशरीर परमात्मामें प्रवेश कर जाते हैं। भूमि, जल, तेज, वायु, आकाश, अन्धकार, मूलप्रकृतिका दस-दस गुणा अधिक विस्तार होता है। इन सप्तावरणोंको भेदकर मुक्त जीव मायापार परधामको चले जाते हैं। विशेष *'कबहूँ काल न व्यापिहि तोही।'* (८८। १) में देखिये।

टिप्पणी—१ (क) *'रहे ब्यापि समस्त जग माहीं',* यथा—*'ब्यापि रह्यो संसार महुँ माया कटक प्रचंड।'* (७१) (ख) *'तेहि गिरि निकट कबहुँ नहिं जाहीं'* क्योंकि लोमशजीका आशीर्वाद है कि जिस आश्रममें बसकर तुम श्रीरामजीका भजन करोगे वहाँपर एक योजनपर्यन्त माया न व्यापेगी। यथा—*'जेहि आश्रम तुम्ह बसब पुनि सुमिरत श्रीभगवंत। ब्यापिहि तहँ न अबिद्या जोजन एक परजंत॥'* (११३) *'कबहुँ नहिं जाहीं'* से सूचित किया कि जो लोग वहाँ वास करते हैं, उनके भी हृदयमें विकार नहीं उत्पन्न होता। कलियुगमें भी नहीं। अत: वहाँ भजन खूब होता है। आगे भजनकी विधि बताते हैं। (ग) *'सुनु उमा सहित अनुरागा'* इति। प्रथम मन लगाकर सुननेको कहा था, यथा—*'सो सब सादर कहिहउँ सुनहु उमा मन लाइ',* और सब अनुरागसहित सुननेको कहा। इस प्रकार सूचित किया कि कथामें मन लगाना चाहिये और उसे प्रेमसे सुनना चाहिये। [रा० प्र० कार *'सहित अनुराग'* का 'भजै' के साथ अन्वय करते हैं। २—*'गिरि सुमेरु उत्तर.........।'* (५६। ७) से *'तेहि गिरि.........'* तक नीलगिरिका वर्णन हुआ। रा० शं० श० का मत है कि 'तासु'=भुशुण्डि और उनके स्थानका।]

पीपर तरु तर ध्यान सो धरई। जाप जग्य पाकरि तर करई॥५॥
आँब छाँह कर मानस पूजा। तजि हरिभजनु काजु नहिं दूजा॥६॥
बर तर कह हरिकथा प्रसंगा। आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा॥७॥

अर्थ—वे पीपलवृक्षके नीचे (अपने इष्ट बालरूप श्रीरामका) ध्यान धरते हैं। पाकरके नीचे जपयज्ञ करते हैं॥ ५॥ आमकी छायामें मानसी पूजा करते हैं। हरिभजन छोड़ दूसरा काम नहीं है॥ ६॥ बरगदके तले भगवान्‌की कथाका प्रसंग कहते हैं। वहाँ अनेक पक्षी आते और सुनते हैं॥ ७॥

टिप्पणी—१ *'ध्यान सो धरई।'* लोमशजीने बालकरूप रामका ध्यान बताया था; उसीका ध्यान करते हैं। यथा—*'बालकरूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहि मुनि कृपानिधाना॥'* 'जाप यज्ञ' जपयज्ञ। जपयज्ञ करते हैं क्योंकि यज्ञोंमें जपयज्ञ भगवान्‌का स्वरूप है, यथा—**'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।** (गीता १०। २५) [पं० रा० व० श०—'यज्ञ' पद देकर जनाया कि विधानपूर्वक करन्यास, ऋषिन्यासादि करके जप करते हैं।]

२ नीलगिरिके चार शृङ्गोंपर चार वृक्ष कहे हैं—वट, पीपल, पाकर और आम।—*'तिन्ह कर एक एक बिटप बिसाला। बट पीपर पाकरी रसाला॥'* अब इन चारोंको गिनानेका प्रयोजन कहते हैं कि पीपलतले ध्यान धरते हैं इत्यादि।

३ (क) ☞यहाँ दिनके चारों प्रहरोंका सम्बन्ध है। प्रथम प्रहरमें ध्यान धरते हैं, दूसरेमें जपयज्ञ करते हैं, तीसरेमें मानसपूजा और चौथेमें कथा होती है। पुनः, (ख)—यहाँ चारों युगोंका भी सम्बन्ध है। सत्ययुगका धर्म ध्यान है, इसे पीपलतले करते हैं। त्रेताका धर्म यज्ञ है, इसे पाकरतले करते हैं। द्वापरका धर्म पूजा है। इस धर्म-(मानसपूजा-) को आमतले करते हैं। और कलियुगका धर्म है—हरिगुणगान; इसे वटतले करते हैं। चारों युगोंके धर्मोंका प्रमाण, यथा—*'ध्यान प्रथम जुग मखबिधि दूजे। द्वापर परितोषन प्रभुपूजे॥ कलिजुग केवल हरिगुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥'*, **'कृते यद्ध्यायते विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः। द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनात्॥'**

नोट—१ किसी वृक्षविशेषके नीचे कोई विशेष साधन करनेके भाव ये कहे जाते हैं-(१) वृक्षोंमें पीपल भगवान्‌का ही स्वरूप है, यह भगवान्‌ने गीतामें स्वयं ही कहा है। यथा—**'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां……विद्धि……।'** (१०। २६, २७) अर्थात् सब वृक्षोंमें पीपल मुझको जान। अतः उसके नीचे श्रीरामजीके रूपका ध्यान करते हैं। (पं० रा० कु०, पं०)। वा, पीपलका वृक्ष सत्ययुगका रूप है और सत्ययुगका धर्म ध्यान है; अतः पिछली एक पहर रात्रिसे लेकर दो दण्ड दिन चढ़ेतक सत्ययुगका अंश जानकर सत्ययुग वृत्तिप्रधान समझकर उसके नीचे ध्यान करते हैं। (वै०)। (२) पाकर ब्रह्माका रूप है, ये कर्मकाण्डी हैं। अतः इसके आश्रयसे जप करते हैं। (पं० रा० कु०)। पुनः भाव कि पाकर राजवृक्ष कहा गया है। यज्ञका सम्बन्ध राजाओंसे है। और जप यज्ञ है। अतः जपयज्ञ पाकरके नीचे करते हैं। (पं०)। वा पाकरका वृक्ष त्रेतायुगका रूप है अतः उसके नीचे त्रेतायुगका धर्म करते हैं। दो दण्ड दिन चढ़ेसे दोपहरमें दो दण्ड शेष रहेतक त्रेताका अंश जान त्रेतावृत्ति प्रधान समझ उसमें जपयज्ञ करते हैं। (वै०)। आम कामदेवका वृक्ष है। कामदेव अति सुन्दर है। यथा—*'कामसे रूपक……।'* (७। ४३) उसके आश्रयसे मानसी पूजन करते हैं। मानसी पूजनमें शृङ्गार किया जाता है और शृङ्गारसे शोभा होती है। इसीसे कामके वृक्षके आश्रयसे शृङ्गार करते हैं जिसमें अत्यन्त शोभा दृष्टिगोचर हो। (पं० रा० कु०)। पुनः, आमका नाम रसाल है। यह रसीला फलयुक्त वृक्ष है। उपासनामें (फलका) नैवेद्य लगाया जाता है। अतः मानसी पूजा यहाँ करते हैं। (पं०)। वट शिवरूप है, यथा—*'मरकत बरन परन फल मानिक से, लसै जटाजूट जनु रूख बेष हरु है।'* (क० ७। १३९) *'प्राकृतहू बट बूट बसत पुरारि हैं।'* (क० ७। १४०) तथा वट शिवजीका विश्रामस्थान है। यथा—*'शिव बिश्राम बिटप श्रुति गाया।'* (१। १०६। ३) और श्रीशिवजी रामचरितमानसके आचार्य तथा भुशुण्डिजीके गुरु हैं। यथा—*'रचि महेस निज मानस राखा'*, *'संभु कीन्ह यह चरित सुहावा॥'*, *'सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। रामभगत अधिकारी*

चीन्हा॥' (१। ३५, १। ३०) इसीसे वटके नीचे रामचरित कहते हैं। (पं० रा० कु०)। बैजनाथजीका मत है कि आमका वृक्ष द्वापररूप है और वट कलियुगका रूप है। अतः द्वापरका धर्म आमके नीचे और कलियुगका धर्म वटतले करते हैं! चारों वृक्ष क्रमशः चारों युगोंके रूप हैं, इसका कोई प्रमाण उन्होंने नहीं दिया है। पर पं० श्रीकान्तशरणजीने इसके भावकी पूर्ति इस प्रकार की है—'सत्ययुगकी वृत्तिमें चित्तकी प्रधानता रहती है, चित्तके देवता वासुदेव हैं। अतः चित्त ही पीपलरूप है। त्रेताकी वृत्तिमें बुद्धिकी प्रधानता रहती है, बुद्धिके देवता ब्रह्मा हैं, वे ही ऊपर पाकररूप कहे गये हैं। ध्यान चित्तप्राधान्यमें और जप बुद्धिके प्राधान्यमें होता भी है। पूजा शरीर एवं इन्द्रियोंसे होती है, इनमें अहंकारकी प्रधानता है, इसमें द्वापर वृत्तिकी प्रधानता रहती है। यह आमरूप है। आम कामदेवरूप कहा गया है, कामसे सृष्टि होती है, वैसे अहंकारसे भी सृष्टि होती है। मानसी पूजामें भी संकल्पोंसे सृष्टिके समान पदार्थोंकी उत्पत्ति करके पूजा की जाती है। कलिकी वृत्तिमें मनकी प्रधानता रहती है। मनके देवता चन्द्रमा हैं जो श्रीशिवजीके आश्रित हैं, इससे इसे शिवरूप वट कहा गया है। इस अवस्थामें कथा एवं नाम-कीर्तन ही उपाय है।'

नोट—२ *'द्वापर परितोषन प्रभु पूजे'* यह द्वापरका धर्म बताया गया है। और यहाँ मानस पूजा करना कहते हैं। त्रिपाठीजीका मत है कि पूजाका अधिकार न होनेसे आमतले मानसपूजा करते हैं। इसी तरह जपयज्ञके सम्बन्धमें कहा जाता है कि चाण्डाल पक्षीका शरीर होनेसे वे द्रव्ययज्ञमें अपना अधिकार नहीं मानते। मेरी तुच्छ बुद्धिमें तो यह आता है कि जपयज्ञ सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है, इसे भगवान् अपना स्वरूप मानते हैं। यथा—**'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।'** (गीता। १०। २५) दूसरे अन्य सब यज्ञ प्रायः राजसी हैं। इसी तरह 'मानस पूजा' द्रव्योपार्जित पूजासे श्रेष्ठ है। इतना ही नहीं विरक्तोंके लिये यही विधान सर्वश्रेष्ठ है।

रा० प्र०, रा० प०—'१ पीपर ज्ञानतरु है। जैसे ज्ञान होनेपर सब नश्वर जनाता है वैसे ही पीपर अन्य पेड़ोंको नाश करके स्वयं रह जाता है, पक्षी इसे पचा नहीं सकते। 'पाकर कर्मरूप ब्रह्मा दैवत कर्म जिसमें विधिनिषेध सदसदादि रजोगुणी ब्रह्मारीति मिलित हैं। कर्म अंकुरित होकर ब्रह्मसृष्टिरीतिसे पुष्पित और फलित होते हैं। रसाल भक्तिरूप है। ज्ञानादि नीरस हैं वट शिवरूप है। २—*'काज नहिं दूजा'*—संसारी भावनाका सावकाश ही नहीं।'

टिप्पणी—३ भुशुण्डिजी इस प्रकार ध्यानादि क्यों करते हैं? कारण कि भुशुण्डिजी चिरजीवी हैं। उनके युगोंकी चौकड़ियाँ एक दिनके समान बीत जाती हैं, इसीसे वे चारों पहर चारों युगोंकी रीतिके अनुसार व्यतीत करते हैं। युगोंके क्रमानुसार ध्यान, यज्ञ, पूजन और कथाका क्रमसे करना कहा। (पं० रा० कु०) [या यह कह सकते हैं कि यहाँ श्रीभुशुण्डिजीकी दिनचर्या कहते हैं। वे चिरजीवी हैं। उनका नाश कल्पान्तमें भी नहीं होता। अतः उनका एक दिन एक चतुर्युगीका होता है। हमारा एक युग उनका एक पहर है, इस तरह सतयुग उनका प्रथम पहर है, इत्यादि जैसे हमारा एक कल्प ब्रह्माका एक दिन है और मन्वन्तर स्थायी देवताओंका दिन एक वर्षका होता है। इत्यादि]।

नोट—३ प्रभुने भक्ति आदिका वरदान देकर कहा था कि—*'काय बचन मन मम पद करेसि अचल अनुराग'* तीनों प्रकारसे भुशुण्डिजी अनुराग करते हैं यह यहाँ दिखाया है-ध्यान और मानसपूजा, मनकी भक्ति, जपयज्ञ, शरीरकी भक्ति और चरित्रवर्णन यह वचनकी भक्ति हुई। चार प्रहरमें चार प्रकारका कर्म करते हैं, इसमें यह शङ्का होती है कि शेष चार प्रहर रात्रिके कैसे बीतते हैं? इसका समाधान मेरी समझमें यह है कि वहाँ काल नहीं व्यापता, अतः वहाँ रात्रि भी नहीं होती, भुशुण्डिजी निरन्तर भजनमें लगे रहते हैं।

वै०—*'जाप यज्ञ।'* अर्थात् बाह्येन्द्रियोंकी वृत्ति खींच, शुद्ध मन लगा, प्रत्यक्षरका चिंतवन करते षडक्षर राममन्त्र जपते हैं। **'मनोमध्ये स्थितो मन्त्रो मन्त्रमध्ये स्थितो मनः। मनोमन्त्रसमायोगो जप इत्यभिधीयते॥'** [यज्ञमें जल, काष्ठाग्नि, घृत और साकल्यादि चाहिये, जपयज्ञमें वे ये] हैं—*'महामंत्र जपिये सोइ जो जपत महेस॥ प्रेमबारि तर्पन भलो घृत सहज सनेह। संसय समिधि अगिन क्षमा ममता बलि देहु॥'*—(वि० पद १०८)।

[मानसपूजाका विधान अगस्त्यसंहितामें विस्तारसे है]

'आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा' इस कथनका भाव यह है कि ध्यान, जप और पूजा इस प्रथम तीन कामोंसे करनेवालेहीको सुख होता है और कथामें वक्ता और श्रोता दोनोंको सुख मिलता है। इसीसे कथाके समय अनेक पक्षी आते हैं।*

रामचरित बिचित्र बिधि नाना†। प्रेम सहित कर सादर गाना॥ ८॥
सुनहिं सकल मति बिमल मराला। बसहिं निरंतर जे तेहि ताला॥ ९॥
जब मैं जाइ सो कौतुक देखा। उर उपजा आनंद बिसेषा॥ १०॥

अर्थ—(श्रीकागभुशुण्डिजी) अनेक प्रकारके विलक्षण रामचरित्र प्रेमसहित आदरसे गान करते हैं॥ ८॥ सब निर्मल बुद्धिवाले हंस सुनते हैं जो सदैव उस तालाबपर बसते हैं (अर्थात् ये सब नियमसे सुननेवाले श्रोता हैं)॥ ९॥ जब मैंने जाकर यह तमाशा देखा तब हृदयमें विशेष आनन्द उत्पन्न हुआ॥ १०॥

वै०—१ नाम-रूप-लीला-धामका वर्णन चरित है। जिसमें एक रसके अन्तर्गत अनेक रसोंका वर्णन हो वह विचित्र रीतिका वर्णन है। २—अनेक प्रकारसे अनेक अवतार, उनके अनेक कारण पृथक्-पृथक् कल्पमें पृथक्-पृथक् रीतिके चरित इत्यादि विचित्रता है।

टिप्पणी—१ *'मति बिमल मराला'* इति। वहाँ मायाका परिवार नहीं जाता इससे इनकी बुद्धि निर्मल रहती है। दूसरे ये निरन्तर कथा सुनते हैं यह भी बुद्धिसे निर्मल होनेका कारण है। [*'सकल मति बिमल'* का भाव कोई-कोई यह कहते हैं कि साधारण हंसोंको गुणावगुण पृथक् करनेका सामर्थ्य नहीं है पर इन सबमें यह गुण है, ये सब कामादिरहित निर्मल बुद्धि हैं। २—*'मति बिमल मराला'* से दिखाया कि जैसे ज्ञानरत वक्ता वैसे ही विमल मति श्रोता। दोनों अपने-अपने काममें चौकस *'श्रोता वक्ता ज्ञाननिधि'*] २—*'सो कौतुक देखा'* इति। (क)—कौतुक यह कि पक्षी वक्ता है और पक्षी श्रोता, पक्षी जापक, पक्षी पुजारी और पक्षी ध्यानी। (ख) इस कौतुकका सम्बन्ध *'गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी। नील सैल एक सुंदर भूरी।'* (५५।७) से *'बसहिं निरंतर जे तेहि ताला'* तक है। वहाँसे यहाँतक शिवजीने कौतुक देखा जैसा कि स्वयं कहते हैं—*'जब मैं जाइ सो कौतुक देखा।'''''''''।'* (ग) *'उर उपजा आनंद बिसेषा।'* भाव कि तुम्हारे वियोग-दुःखसे मैं विशेष दुखी था, यथा—*'सती कीन्ह सीता कर बेषा। सिव उर भयउ बिषाद बिसेषा॥'* नीलगिरिका कौतुक देखनेसे जो विशेष आनन्द हुआ उससे वह वियोग-दुःख हृदयसे जाता रहा।

पं०—विशेष आनन्दस्थानकी सुन्दर रचना, भुशुण्डिजीके व्यवहारकी उत्तम रीति, पक्षियोंका विवेकी समाज देखकर वा भुशुण्डिका मत सब भाँति अपनेसे मिलता देखनेसे हुआ।

पां०—विशेष आनन्दका कारण कि वहाँ अविद्या माया नहीं जा सकती थी, अतः तुम्हारे वियोगकी माया जाती रही।

वै०—*'बिशेष आनंद'* का भाव कि पर्वतशिखर देखते ही तथा पर्वतपर जाते ही वियोग-दुःख दूर हो गया तब आनन्द हुआ और यह समाज, आश्रम और विचित्र विधिकी कथा इत्यादि कौतुकसे विशेष आनन्द हुआ।

दो०—तब कछु काल मराल तनु धरि तहँ कीन्ह निवास।
सादर सुनि रघुपति गुन पुनि आएउँ कैलास॥ ५७॥

गिरिजा कहेउँ सो सब इतिहासा। मैं जेहि समय गएउँ खगपासा॥ १॥

अर्थ—(जब वहाँकी शोभा देखकर मेरे हृदयमें विशेष आनन्द हुआ) तब मैंने कुछ कालतक हंसशरीर

* रा० शं०—'आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा' ये बाहरके अन्य प्रकारके पक्षी हैं, आगे तालके बसनेवालोंका आना नहीं कहेंगे-'सुनहिं सकल मति बिमल मराला।'

† रामचरित्र बिचित्र बिधाना—(ना० प्र०)।

धारणकर वहाँ निवास किया और श्रीरघुनाथजीके गुण आदरसहित सुनकर फिर कैलाशको लौट आया। (अर्थात् मेरा मन शान्त हो गया फिर मैं कहीं नहीं गया)॥ ५७॥ हे गिरिजे! मैंने वह सब इतिहास कहा कि जिस समय मैं भुशुण्डिजीके पास गया॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) **'कछु काल'** का भाव कि विशेष सुख कुछ कालतक सुननेसे ही प्राप्त होता है। [पुनः, भाव कि एक आवृत्ति रामायण सुनी। जब रामायण समाप्त हुई तब चला आया। (खर्रा) पहले सब स्थानोंको देखते फिरते थे, कहीं टिकते नहीं थे। यह जगह ***'अति भाई'*** इससे टिक गये थे। जैसे नारदजी टिक गये थे।—***'हिम गिरि गुहा एक अतिपावन'''''''''आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा॥''''''''''।'*** (रा० शं० श०)] (ख) ***'मराल तनु धरि'*** इति। वहाँ हंसोंका ही समाज था, अतः हंसतन धारण किया जिसमें रसभंग न हो। दूसरे, यदि अपने रूपसे जाते तो उसे संकोच होता, वह यथार्थरूपसे कथा न कहता। कारण कि शिवजी ही तो प्रधान आचार्य मानसकथाके हैं, इन्हींसे लोमशजीने पाया और लोमशजीसे भुशुण्डिजीने पाया। अतः गुरुके भी गुरुके सामने कैसे कहते?-[श्रीसीता-स्वयंवरमें भी इसी कारण देव, दैत्य, असुरादि मनुष्य राजाके वेषसे गये थे और विश्वमोहिनीके स्वयंवरमें भगवान् भी राजारूपसे गये थे। तथा शुकसारन वानरसमाजमें वानररूपसे गये थे कि कोई पहचान न ले जिससे रसभंग हो।—***'देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा॥'*** ***'रहे असुर छल छोनिपबेषा'***, ***'धरि नृप तनु तहँ गएउ कृपाला।'*** (बा० २५१, २४१, १३५), ***'सकल चरित तिन्ह देखे धरे कपट कपिदेह'*** (सुं० ५१)। (ग) ***'सादर सुनि'*** का भाव कि भुशुण्डिजी आदरसे रामगुणगान करते हैं, यथा—***'प्रेम सहित कर सादर गाना।'***; इसीसे मैंने भी सादर सुना। तात्पर्य कि रामचरित ऐसा ही आदर करने योग्य है।—[रामचरित सादर कहने-सुननेकी मर्यादा है, रीति है। यथा—***'कहौं कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥'*** (१। ३५। १३) ***'तात सुनहु सादर मनु लाई। कहहुँ राम कै कथा सुहाई॥'*** (१। ४७। ५) ***'मैं निज मति अनुसार कहौं उमा सादर सुनहु।'*** (१। १२०) ***'रामकथा सो कहइ निरंतर। सादर सुनहिं बिबिध बिहंग बर॥'*** (६२। ४) विशेष भाव १। ३५। १३; १। ४७, १। १२० में देखिये। शिवजीने जैसे सादर सुननेको कहा, वैसे ही सादर सुनते भी हैं] (घ) ***'पुनि आएउँ कैलास।'*** भाव कि प्रथम तुम्हारे वियोगसे हमारा कैलाशवास छूट गया था; श्रीरामचरित सुननेसे दुःख छूटा; इसीसे पुनः कैलाश-वास हुआ।

नोट—१ ☞श्रीपार्वतीजीके ***'तुम्ह केहि भाँति सुना मदनारी। कहहु मोहि अति कौतुक भारी॥'*** इस प्रश्नका उत्तर यहाँ समाप्त हुआ। २—***'जहँ तहँ सुनहिं रामगुनग्रामा।'*** (१। ७५। ८) जो बालकाण्डमें कविने कहा था उस ***'जहँ तहँ'*** मेंसे एक स्थान यह है। ३—यहाँतक भुशुण्डिजीके पास अपने जानेका हेतु कहा, आगे गरुड़के वहाँ जानेका हेतु कहते हैं।

'तेहि केहि हेतु काग सन जाई' 'सुनी कथा'

(इस दूसरे प्रश्नका उत्तर)

अब सो कथा सुनहु जेहि हेतू। गएउ काग पहिं खगकुलकेतू॥ २॥
जब रघुनाथ कीन्ह रन क्रीड़ा। समुझत चरित होत मोहि ब्रीड़ा॥ ३॥

अर्थ—अब वह कथा सुनो जिस कारण पक्षिकुलके ध्वजस्वरूप गरुड़जी श्रीकागभुशुण्डिजीके पास गये॥ २॥ जब श्रीरघुनाथजीने रणलीला की, प्रभुका वह चरित समझकर मुझे लज्जा लगती है॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) अब पार्वतीजीके ***'गरुड़ महाज्ञानी गुनरासी।''''''''''तेहि केहि हेतु काग सन जाई। सुनी कथा मुनि निकर बिहाई॥'*** इस प्रश्नका उत्तर देते हैं। (ख) ***'गएउ काग पहिं खगकुलकेतू'*** यहाँ काग अर्थात् पक्षियोंमें चाण्डालरूप श्रीभुशुण्डिजीकी न्यूनता और ***'खगकुलकेतू'*** कहकर श्रीगरुड़जीकी बड़ाई की। [गरुड़जीको ***'खगकुलकेतू'*** कहा क्योंकि केतु (ध्वजा) से स्थान प्रकट होता है वैसे ही गरुड़जीके कारण पक्षियोंका जगत्‌में सम्मान होता है (कि देखो पक्षी ही भगवान् विष्णुका वाहन है)। (पं०) पुनः

खगकुलकेतु=पक्षिकुलमें जो भगवान्‌के केतु हुए। इसीसे भगवान्‌को गरुड़ध्वज कहते हैं। (रा० प्र०)] *'जेहि हेतू'* कहकर फिर इस चरणसे कारण बताते हैं कि किसी कारणसे बड़ा भी छोटेके यहाँ जाता है, जिस कारणसे गये वह आगे कहूँगा।

२ *'जब रघुनाथ कीन्ह रन क्रीड़ा'* इति। (क) 'रघुनाथ' का भाव कि ये रघुवंशके नाथ हैं अर्थात् मनुष्य-कुल (में इनका) अवतार है। जैसा राक्षसोंके साथ युद्ध करनेसे मनुष्योंकी दशा होती है वैसे ही दशा इनकी हुई। (ख) *'रन क्रीड़ा'* का भाव कि रणकी शोभाके लिये स्वयं नागपाशमें बँधे, यथा—*'रन सोभा लगि प्रभुहि बँधायो।'* (६। ७२। १३) रणकी शोभा तभी होती है जब बराबरके वीरोंका युद्ध हो।—☞ [इसी तरह अपने साथ भगवान्‌को लड़कोंकी-सी क्रीड़ा करते जो देखा था उसका वर्णन करनेमें भुशुण्डिजीको लज्जा लगती थी। यथा—*'मोहि सन करहिं बिबिध बिधि क्रीड़ा। बरनत मोहि होति अति ब्रीड़ा॥'* (७७। ९) क्रीड़ा देखकर उनको मोह हो गया था कि *'कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद संदोह।'* (७७) शिवजीको मोह नहीं हुआ पर समझनेपर व्रीड़ा अवश्य होती है। लज्जाका कारण आगे कहते हैं कि *'इंद्रजीत कर आपु बँधायो'*, इससे स्वामीकी न्यूनता होती है।]

वि० त्रि०—'रघुनाथ' ही रणक्रीड़ामें समर्थ हैं, नहीं तो जहाँ प्राणका लेना-देना चल रहा है, वहाँ क्रीड़ा किसे सूझती है। जलक्रीड़ा, वनक्रीड़ा तो सुनी जाती है; पर रणक्रीड़ा तो कहीं सुनी नहीं जाती। काल-का-काल ही रणक्रीड़ामें समर्थ है। इसीलिये गरुड़को मोह हुआ कि रणभूमि तो पराक्रम दिखानेके लिये है, क्रीड़ा यहाँ नहीं हो सकती, असमर्थ होनेके अतिरिक्त बन्धनका दूसरा कारण नहीं हो सकता। पर रघुनाथजीके स्वरूपके जानकार शिवजीको स्मरण करनेसे व्रीड़ा हो रही है कि इस प्रकारका अभिनय भी सरकारके स्वरूपके नितान्त विरुद्ध है। पर अभिनय करनेवालेको व्रीड़ा नहीं हुई। उसे व्रीड़ा हो तो वह अभिनय क्या करेगा! इसी भाँति 'मैं कहाँ रहूँ' इस प्रश्नको सुनकर वाल्मीकिजीको संकोच हुआ, यथा—*'पूछेहु मोहि कि रहउँ कहँ मैं पूछत सकुचाउँ। जहँ न होहु तहँ देहु कहि तुम्हहि देखावउँ ठाउँ॥'* परंतु सरकारने संकोच नहीं किया।

वै०—*'होत मोहि ब्रीड़ा।'* कारण कि जिसकी महिमा वेद नहीं जानते वह तुच्छ निशाचरके हाथ बँधे, यह सुनकर हमारा ऐश्वर्य कथन कौन मानेगा? जानकीस्तवराजका हमारा परिश्रम लोग व्यर्थ मानेंगे।

इंद्रजीत कर आपु बँधायो। तब नारद मुनि गरुड़ पठायो॥ ४॥
बंधन काटि गयेउ उरगादा। उपजा हृदय प्रचंड बिषादा॥ ५॥
प्रभु बंधन समुझत बहु भाँती। करत बिचार उरग आराती॥ ६॥

अर्थ—इन्द्रजित् (मेघनाद) के हाथों जब (प्रभुने) अपनेको बँधाया तब नारद मुनिने (जाकर) गरुड़को भेजा॥ ४॥ सर्पके भक्षक गरुड़ नागपाश काटकर गये तब उनके हृदयमें प्रबल दुःख उत्पन्न हुआ॥ ५॥ सर्पोंके शत्रु गरुड़जी प्रभुका (वस्तुतः) बन्धन समझकर बहुत प्रकार विचार करते हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'इन्द्रजीत कर आपु बँधायो'* इति। (क) *'इन्द्रजीत'* कहनेका भाव कि जब मेघनादने दलसहित श्रीरामजीको बाँध लिया तब बड़ाई सूचित करनेवाला उसका प्रशंसायुक्त नाम देकर जनाते हैं कि उसने देवताओंके राजा इन्द्रको भी जीत लिया है; इससे उसके हाथों बँधकर श्रीरामजीने भी उसकी बड़ाई रखी। (ख) *'आपु बँधायो'* का भाव कि उस राक्षसकी सामर्थ्य न थी कि इनको बाँध लेता, वे तो स्वयं बँधे। *'रन सोभा लगि प्रभुहि बँधायो।'* (६। ७२। १३) देखिये। [*'इंद्रजीत कर आपु बँधायो।'* भाव कि निर्बलके हाथ अपनेको बँधाते तो संदेह न होता, बलीके हाथ बँधे इसलिये नरनाट्य लोगोंको सच्चा ही दीखता है। (वै०)] (ग) *'तब नारद मुनि गरुड़ पठायो'* इति। *'तब'* अर्थात् प्रभुने अपनेको स्वयं बँधाया तब नारदमुनिने विचार किया कि जब ये अपनी ही इच्छासे बँधे हैं तब ये अपनी ही ओरसे अब न छूटेंगे। क्योंकि उससे नरनाट्यकी शोभा जाती रहेगी। दूसरे, मेघनादके रहते यदि गरुड़ वहाँ जाते तो युद्ध होता। इसीसे जब जाम्बवान्‌ने मेघनादको लंकामें फेंक दिया तब नारदजीने गरुड़को भेजा।

२ (क) *'बंधन काटि गएउ उरगादा'* इति। *'उरगादा'* कहकर सूचित किया कि जिन नागोंसे रघुनाथजी बँधे हुए थे उनको गरुड़ने खा लिया, यथा—*'पन्नगारि खाए सकल छन महुँ ब्यालबरूथ।'* (भा० दा० की पोथीमें *'खगपति सब धरि खाए माया नाग बरूथ।'* (लं० ७३) यह पाठ है) उरगादा=सर्पको भक्षण करनेवाला। (ख) *'उपजा हृदय प्रचंड बिषादा'* इति। भाव कि उन्होंने अनेक सर्प खाये, विषका दुःख उनको न हुआ, विष पच गया; पर रामजीको बन्धनमें देख बड़ा दुःख हुआ। इसका निवारण वे न कर सके। तात्पर्य कि सर्पोंके विषसे भ्रमका दुःख विशेष होता है। [पं०—*'प्रचंड बिषादा।'* महत्पुरुषोंको तथा महानुभावोंके विषयमें होनेसे, अथवा साधारण यत्नसे न छूट सकनेके कारण इसे प्रचण्ड कहा।]

३ (क) *'प्रभु बंधन समुझत बहु भाँती'* इति। भाव कि जिनका दास सर्पोंको खा लेता है वे स्वामी स्वयं सर्पोंसे बँध जायँ यह कैसे सम्भव है, ऐसा न होना चाहिये। (ख) *'बहु भाँती'*—आगे कवि स्वयं लिखते हैं। (ग) *'उरग आराती'* का भाव कि यह तामसी आहार करनेवाला है इसीसे संदेहमें पड़ा। (पं०)]

ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा*॥ ७॥
सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥ ८॥

अर्थ—जो सर्वत्र व्यापक है, ब्रह्म है, माया आदि विकारोंसे रहित है, वाणीपति है, माया-मोहसे परे और परमेश्वर है, उसका अवतार जगत्‌में मैंने सुना था। पर उस (ब्रह्म) का कुछ भी प्रभाव न देखा। (अर्थात् बन्धनमें उनको बेबस पड़ा हुआ देखा)॥ ७-८॥

टिप्पणी—१ *'ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा।.........'* इति। (क) व्यापक अर्थात् विश्व व्याप्य है उसमें श्रीरामजी सूक्ष्म रूपसे व्यापक हैं, (यथा—**'ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।** ईश० १।'), जैसे तिलोंमें तेल, दूधमें घी, काष्ठमें अग्नि और फूलमें सुगन्ध इत्यादि। जो ऐसा है वह कैसे बाँधा जा सकता है। *'सो कि बंधतर आवै ब्यापक बिस्वनिवास।'* लं० दोहा ७२ देखिये। (ख) ब्रह्म है अर्थात् उसके रोम-रोममें असंख्यों ब्रह्माण्ड हैं। विरज अर्थात् उसमें मायाका स्पर्श नहीं होता तब मायाके नागोंसे उसका फँसना कैसे सम्भव है? ये सब सर्प मायाके थे, यथा—*'खगपति सब धरि खाए माया नाग बरूथ।* लं० ७३। (ग) *'बागीसा'*=सरस्वतीके स्वामी, यथा—*'सारद दारु नारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥'* (१। १०५। ५) [**'वागीशः वाक्पतिर्द्वे अनवद्योद्दामवादिनि वाचोयुक्तिपटुः'** इति। (अमर विवेक) अर्थात् युक्तिसे वचन कहनेमें परम चतुर। (वै०) यह शब्द पूर्व कई बार आ चुका है।]

वै०—*'माया मोह पार'* इति। जीवको ईश्वरसे विमुख करके इन्द्रियोंके विषयसुखमें लगा देती है यह 'माया' का कार्य है। काम-क्रोधादि वश करके जीवके ज्ञानको नष्ट करना मोहका कार्य है।

शीला—व्यापकादिके भाव। व्यापक हैं तब अचेत कैसे हुए? ब्रह्म प्रकाशमान हैं, ये ब्रह्म हैं तो प्रकाशरहित कैसे हैं? ईश्वर विरज हैं तब ये राजसगुण बन्धनयुक्त कैसे हुए? वागीश हैं तो इनके मुखसे वाणी क्यों नहीं निकलती? मायामोह पार हैं तब आसुरी मायाके वश कैसे हुए? ये ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं तब यह भी सम्भव नहीं कि असुरोंके इष्टके वश करनेसे वशीभूत हो गये।

करु०—*'सो अवतार सुनेउँ।'* किससे सुना? महर्षियों तथा नारदजीसे सुना कि परब्रह्म परमात्मा हैं।

रा० शं०—*'सो अवतार सुनेउँ'*, यथा—*'सोइ राम ब्यापक ब्रह्म भुवन निकायपति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगतहित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥'* (१। ५१)

---

* गौड़जी—इस जगह 'बागीस' का अन्त्यानुप्रास मिलानेके लिये 'परमेस' की जगह 'परमीस' कर दिया है। 'परमेस' अधिक शुद्ध होता परंतु 'बागीस' से तुक न मिलता। इसी तरह 'वेद' और 'विनोद' का तुक न मिलते हुए भी एक दोहेमें अन्त्यानुप्रासमें ये दोनों शब्द आये हैं। उस स्थलमें न 'वेद' को 'वोद' किया जा सकता था और न विनोदका 'विनेद'। इसलिये वहाँ अन्त्यानुप्रासके नियमका भंग किया गया है। परंतु यहाँ 'परमेस' की जगह परमीस 'ग्रामभाषामें, जिसमें मानस लिखा गया है, कोई भारी अशुद्धि नहीं समझी जायगी। जब हिंदीमें 'जगतेस उपनाम' क्षम्य है तो परमीस अशुद्ध नहीं समझा जा सकता।

वै०—*'अवतार सुनेउँ'* का भाव कि ताड़का-सुबाहुवध, अहल्योद्धार, दण्डकवनकी पावनता, खरदूषणादिका वध, शबरी-गृध्रकी गति आदि जगत्में प्रसिद्ध हैं उन्हें मैंने सुना पर अपनी आँखों देखा तो कुछ प्रभाव न देख पड़ा।

दो०—भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम।
खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम॥ ५८॥

अर्थ—मनुष्य जिसका नाम जपकर भवपाशसे छूट जाते हैं, उन्हीं रामको तुच्छ राक्षसने नागपाशसे बाँध लिया॥ ५८॥

टिप्पणी—१ (क) तात्पर्य यह कि जिसका नाम भवबन्धन काटता है (यथा—*'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं।'* (१। २५। ४), *'भव भय भंजन नाम प्रतापू।'* (१। २४। ६), *'नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं।'* (लं० मं० सो०) वह ईश्वर स्वरूपसे भवबन्धनमें कैसे पड़ेगा? (ख) *'खर्ब निसाचर'* कहनेका भाव कि प्रभु तो बड़े-बड़े बलवान् दैत्योंके नाश करनेवाले हैं, उनको छोटा निशिचर कैसे बाँध सकेगा? तुच्छ निशिचरने बाँध लिया तो वह बड़ाई कहाँ रह गयी? (खर्रा)। [*'खर्ब'* अर्थात् तुच्छ इससे कि राक्षसजाति ही तुच्छ है, अथवा यह रावणके अगणित बेटोंमेंसे एक है, अतः क्षुद्र कहा, अथवा इससे कि कपि (हनुमान्) और जाम्बवंतने इसे मंगाया और मूर्छित किया था तब प्रभुके सामने यह क्या है? (पं०)] (ग) *'बाधेउँ नागपास'* इति।—भाव कि जिसका सेवक नागोंका भक्षण करनेवाला है वह स्वामी नागपाशमें कैसे पड़े? (पं०)। (घ) *'सोइ राम'* अर्थात् जो व्यापक, ब्रह्म, विरज, वागीश, माया-मोहपार, परम ईश हैं और जिनके जपसे भवबन्धन कट जाता है वे ही राम अन्य नहीं।—[ऐसा ही सुं० २० (३-४) में हनुमान्जीके बन्धनपर कहा है—*'जासु नाम जपि सुनहु भवानी। भवबन्धन काटहिं नर ग्यानी॥ तासु दूत कि बंध तर आवा। प्रभु कारज लगि कपिहि बँधावा॥'*]

नाना भाँति मनहि समुझावा। प्रगट न ग्यान हृदय भ्रम छावा॥ १॥
खेदखिन्न मन तर्क बढ़ाई। भएउ मोहबस तुम्हरिहि नाई॥ २॥

अर्थ—अनेक प्रकारसे (गरुड़जीने) अपने मनको समझाया पर ज्ञान न हुआ (वरन्) हृदयमें भ्रम छा गया॥ १॥ संदेहके दुःखसे दुःखी और उदास एवं क्षीण होकर मनमें तर्क बढ़ाकर तुम्हारी ही तरह वे मोहके वश हो गये (कि ईश्वर होते तो राक्षसके बन्धनमें कैसे आते?)॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) *'नाना भाँति'* का समझाना ऊपर लिख आये हैं। ☞ यहाँतक सात बातोंसे मनको समझाया—व्यापक हैं, ब्रह्म हैं, विरज हैं, वागीश हैं, मायापार हैं, मोहपार हैं और परम ईश हैं। ऐसेको बन्धन न होना चाहिये। इससे यह श्रीरामजीका बन्धन नहीं है, उनकी लीला है, इस तरह अनेक प्रकारसे मनको समझाया। [ईश्वरोंकी अगाध गति है, उनपर संदेह करना योग्य नहीं, इत्यादि *'नाना भाँति'* है। (पं०)] (ख) *'प्रगट न ग्यान'* अर्थात् यथार्थ ज्ञान न प्रकट हुआ। अयथार्थक ज्ञान प्रकट हुआ, अयथार्थक ज्ञान तीन प्रकारका है—संशय, तर्क और विपर्यय। यहाँ तर्कात्मक ज्ञान झूठा प्रकट हुआ। जैसे—**'यत्र यत्र वह्निस्तत्र तत्र धूमः'** अर्थात् जहाँ-जहाँ अग्नि है वहाँ-वहाँ धुआँ है। पर बिना धुएँके भी अग्नि देखनेमें आती है। क्या बिना धुएँवाली अग्नि अग्नि नहीं कही जाती? ऐसे ही यदि ईश्वर अपना प्रभाव न दिखाएँ तो क्या वे ईश्वर नहीं हैं? प्रभावका दिखाना ईश्वरके अधीन है। [मिलान कीजिये—*'अस संसय मन भएउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥'* (१। ५१। ४) *'प्रगट न ग्यान'* का भाव कि ज्ञान हृदयमें है पर भ्रमरूपी मेघसे आच्छादित हो जानेसे दिखायी नहीं देता। (पं० रा० व० श०) ज्ञान अपने समझानेसे नहीं प्रकट होता, सत्संगसे ही प्रकट होता है। यथा—*'बिनसइ उपजइ ग्यान जिमि पाइ कुसंग सुसंग॥'* (४। १५) जब काकभुशुण्डिजीका सत्संग मिलेगा तब ज्ञान भी हो जायगा। (रा० शं० श०)]

वै०—*'खेद खिन्न'*-क्योंकि ईश्वररूपका निश्चय कहीं कर पाते और मनुष्य होना निश्चय करें तो विमुखता होती है।

पं० रा० व० श०—१ न तो प्राकृतहीमें बुद्धि जाती है क्योंकि महर्षियोंने कहा है व्यापक, अज ब्रह्म रघुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं तब उनको झूठा कैसे समझें, यथा—*'होइ न मृषा देवरिषि भाषा।'* और ईश्वर मायाबन्धनमें कैसे पड़ सकता है? इनमें अचिन्त्यसामर्थ्यवालेका-सा प्रभाव देख नहीं पड़ता, अतः ब्रह्म निश्चय नहीं कर सकते। २—*'तर्क बढ़ाई'* अर्थात् एक तर्क उठा वह ठीक न हुआ, उसपर दूसरा तर्क उठता फिर उसपर तीसरा, इत्यादि रीतिसे तर्क-पर-तर्क बढ़ता ही गया। [तर्क जैसे कि ईश्वर होते तो मायामृगपर भूलकर अपनी स्त्रीको क्यों खो बैठते इत्यादि। (पं०) पं० रा० कु० जीके भाव टिप्पणीमें आ गये हैं] ३—*'तुम्हरिहि नाईं'* अर्थात् तुम भी इसी तरह 'नर वा ब्रह्म' के भ्रममें पड़ी थीं, यथा—*'जौं नृपतनय तो ब्रह्म किमि नारिबिरह मति भोरि'* तथा *'संभु बचन पुनि मृषा न होई।'*

ब्याकुल गएउ देवरिषि पाहीं। कहेसि जो संसय निज मन माहीं॥३॥
सुनि नारदहि लागि अति दाया। सुनु खग प्रबल राम कै माया॥४॥
जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआईं बिमोह मन करई॥५॥

अर्थ—(मोहसे) व्याकुल होकर वह देवर्षि नादजीके पास गया और जो संशय अपने मनमें था उसे कहा॥ ३॥ सुनकर नारदजीको अत्यन्त दया लगी। (तरस आया)। वे बोल—हे गरुड़! सुनो। श्रीरामजीकी माया बड़ी ही बलवान् है। (अर्थात् इससे किसीका बल नहीं चलता)॥ ४॥ (कैसी प्रबल है, यह बताते हैं कि) जो ज्ञानियोंके चित्तको भली प्रकार हरण करके जबरदस्ती उनके मनमें विशेष मोह उत्पन्न कर देती है॥ ५॥

टिप्पणी—१ प्रथम नारदजीके पास जानेका कारण यह है कि इन्हींने उनको नागपाश काटनेके लिये भेजा था, जाकर उनसे कहेंगे कि आपने मुझे वहाँ भेजा था, वहाँ जानेसे मुझको मोह हुआ, अतः इस मोहको छुड़ाइये, हमारे सन्देहको दूर कीजिये। आपके ही योगसे वह संशय हुआ है, अतः आपहीसे उसका नाश होगा। (श्रीत्रिपाठीजीका मत है कि नारदजी गरुड़को नागपाश काटनेके लिये भेजकर गरुड़लोकमें ही ठहर गये थे कि बन्धन कटनेका समाचार सुन लें तब जायँ)। २—*'लागि अति दाया'* इति। नारदजी संत हैं, संत-स्वभावसे उनको दया लग आयी। इसी प्रकार उनको सर्वत्र दया लग आती है, यथा—*'नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥'* (३। २। ६) [दया लगनेके कारण—१ संत दयालु होते ही हैं। २ मैंने इसे नागपाश काटने भेजा था वहींसे इसे मोह हुआ। ३ जो कोई दुःख स्वयं भोग चुकता है वह दूसरेका वैसा ही दुःख देखता है तो उसे दया होती ही है। नारद मायावश मोहमें पड़ चुके ही थे। वह माया-बल स्मरण हो आनेसे इनपर दया आ गयी। (पं०)] [*'सुनु खग'*—मोहित हो गये हैं इससे तथा पूछने गये हैं इससे शिष्यभावसे *'खग'* सम्बोधन किया। (रा० प्र०) ३—*'जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई।'* नारद, सनकादिक आदि ज्ञानी मुनियोंका मोह मानसमें ही है। यथा—*'नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनिनायक आतमबादी॥ मोह न अंध कीन्ह केहि केही॥'* (७०। ६) सनकादिकने क्रोधसे जय-विजयको शाप दे डाला इत्यादि। पुनः यथा मार्कण्डेयपुराणे—**'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा। बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥'**

[*'बरिआईं'* का भाव कि उससे किसीका बस नहीं चलता। उससे शिवादि भी डरते हैं, प्रभुकी कृपासे ही उससे रक्षा होती है, नहीं तो चाहे कितना ही श्रुति-स्मृतिका प्रमाण देकर हृदयको समझावें, पर हृदयमें दृढ़ता न होकर मोह बढ़ता ही जाता है। यथा—*'सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं॥'''''''''छूट न राम कृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि॥'* (७१) *'अस संसय मन भएउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥'* (१। ५१) *'बहुरि राममायहि सिरु नावा। प्रेरि सती जेहि झूठ कहावा॥'* (१। ५६) इत्यादि]

वै०—गरुड़ विष्णुवाहन हैं, वे अपने स्वामीके पास क्यों न गये? कारण कि अज्ञानदशामें वैकुण्ठमें भगवान्के पास जाते संकोच हुआ कि वे क्या कहेंगे कि जिनके दर्शनसे पामर जीव भी ज्ञानी हो जाते हैं उनके दर्शनसे तुम विमुख हो गये!

जेहिं बहु बार नचावा मोही। सोइ ब्यापी बिहंगपति तोही॥ ६॥
महामोह उपजा उर तोरे। मिटिहि न बेगि कहे खग मोरे॥ ७॥
चतुरानन पहिं जाहु खगेसा। सोइ करेहु जेहि होइ* निदेसा॥ ८॥

अर्थ—जिसने मुझे बहुत बार नचाया है। हे पक्षिराज! वही माया तुमको व्यापी है॥ ६॥ तुम्हारे हृदयमें महामोह उत्पन्न हुआ है। हे पक्षि! मेरे समझानेसे वह शीघ्र न मिटेगा॥ ७॥ हे पक्षिराज! आप चतुर्मुख (ब्रह्माजी) के पास जाइये और वही कीजिये जिसकी आज्ञा हो॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'जेहिं बहु बार नचावा मोही'* इति। बहु बारमेंसे एक बारकी चर्चा बालकाण्डमें आ चुकी है कि कामको जीतनेका अभिमान हो गया था तब मायाने बंदरका मुख बनाकर नचाया। बंदर नचाया जाता ही है; इसीसे यहाँ *'नचावा'* शब्द लिखते हैं। (नचाना=दिक करना, यथा—*'घेरि सकल बहु नाच नचावहिं।'* (६। ५। ७)

२—*'मिटिहि न बेगि कहे.........'* इति। भाव कि केवल मोह होता है तो समझानेसे शीघ्र छूट जाता है। परंतु महामोह शीघ्र नहीं छूटता और मुझे दक्षशाप है इससे मैं एक स्थानमें दो घड़ीसे अधिक ठहर नहीं सकता, इतनेमें तुम्हारा मोह न मिटेगा।

वि० त्रि०—'नारदजी कहते हैं कि मुझे भी मोह हुआ था। मोह विपरीत ज्ञानको कहते हैं। एक माया ऐसी है, जो ज्ञानियोंके चित्तको अपहरण करके बलपूर्वक विमोहके वश कर देती है, वह रामकी माया है, उसके सामने किसीका बल नहीं चलता, मेरा भी नहीं चला, मुझे उसने खूब नचाया। (यथा—*'माया बिबस भये मुनि मूढ़ा'*) तुम्हें तो वह व्याप गयी है, इसलिये तुम्हारे हृदयमें महामोह उत्पन्न हो गया है। मुझे रमापतिके प्रभु होनेमें सन्देह नहीं था, तुम्हें तो उनके प्रभु होनेमें संदेह हो गया है, और मैं स्वयं उस मायासे हार मान चुका हूँ। वह मेरे वशकी नहीं, और मैं एक स्थानपर देरतक ठहर भी नहीं सकता, अतः जो मुझसे बड़ा है, उसके पास जाइये।

रा० प्र०—१ *'खग'* का भाव कि तुम आकाशमें उड़ा करते हो, बिना थिर हुए नहीं समझ सकते। २—चतुराननका भाव कि उनके चार मुखसे चार वेद निकले इससे वे भगवत्तत्त्वको भलीभाँति जानते हैं। ३—*'सोइ करेहु.........'* का भाव कि कदाचित् किसी कारणसे उपदेश देनेको उद्यत न हो सकें तो जैसी वे आज्ञा दें वैसा ही करना।

दो०—असि कहि चले देवरिषि करत राम गुन गान।
हरिमायाबल बरनत पुनि पुनि परम सुजान॥ ५९॥

अर्थ—ऐसा कहकर देवर्षि नारदजी श्रीरघुनाथजीका गुण-गान करते हुए चले। परम सुजान (चतुर) नारदजी बारंबार भगवान्‌की मायाका बल वर्णन करते (जा रहे) हैं॥ ५९॥

पं० रा० व० श०, वै०, रा० शं०—१ रामगुणगान करते चलनेका कारण एक तो यही है कि यह आपकी रहनी है, आपकी प्रकृति है, स्वभाव है। दूसरे, यहाँ गरुड़जीपर मोहकी प्रबलता देख चुके हैं इस कारण मोहसे अपनी रक्षाके लिये रामगुणगान करते चले, यथा—*'हरन मोहतम दिनकर कर से'* *'राम दूर माया बढ़ति घटति जानि मन माहि'*—(दो०)। पुनः, मायाकी प्रबलता बार-बार वर्णन करते हैं जिसमें स्मरण रहे, उसके भुलावेमें न आवें, यही परम चतुरता है। २—*'पुनि पुनि'* से ध्वनित होता है कि मायासे डरते रहते हैं, इसीसे बार-बार गान करते हैं। बुद्धिमान् बड़ोंको मोहमें देखकर और भी भजनमें तत्पर होते हैं, मायासे छूटनेका यही एक उपाय है। [पं०—भुशुण्डिजीके पास प्रथम ही जानेको न कहा क्योंकि अभी मोहनिवृत्तिके समयमें कुछ समय बाकी है; जबतक ब्रह्मा और शिवजीके पास जाकर लज्जित होगा, सबका एक ही सिद्धान्त सुनेगा तबतक वह समय भी आ जायगा।]

* जो देहि निदेसा—(का०)।

वि० त्रि०—जबतक गरुड़जी बन्धन काटकर नहीं आ गये तबतक देवर्षिजी गरुड़लोकमें ही ठहरे कि बन्धन कटनेका समाचार सुन लें तब कहीं जायँ। गरुड़जीको प्रसन्न होकर नारदजीको समाचार देने आना था सो व्याकुल होकर आये, और अपना संशय सुनाने लगे। नारदजीके हृदयमें प्रताप समझकर और भक्तवत्सलता स्मरण करके (यथा—*'मोर साप करि अंगीकारा। सहत राम नाना दुख भारा॥'*) प्रेम छा गया। गरुड़जीको ब्रह्मलोक भेजकर आप हरिगुण गान करते सरकारके दर्शनको चल पड़े।

तब खगपति बिरंचि पहिं गएऊ। निज संदेह सुनावत भएऊ॥ १॥
सुनि बिरंचि रामहि सिरु नावा। समुझि प्रताप प्रेम उर* छावा॥ २॥
मन महुँ करइ बिचार बिधाता। मायाबस कबि कोबिद ग्याता॥ ३॥
हरिमाया कर अमिति† प्रभावा। बिपुल बार जेहिं मोहि नचावा॥ ४॥
अगजगमय जग मम उपराजा। नहिं आचरज मोह खगराजा॥ ५॥

अर्थ—तब पक्षिराज गरुड़ ब्रह्माजीके पास गये और अपना संदेह कह सुनाया॥ १॥ ब्रह्माजीने सुनकर श्रीरामचन्द्रजीको मस्तक नवाया अर्थात् प्रणाम किया। (उनका और उनकी मायाका) प्रताप समझकर हृदयमें प्रेम छा गया अर्थात् वे प्रेममें मग्न हो गये॥ २॥ ब्रह्माजी मनमें विचार करने लगे कि कवि, कोविद और ज्ञानवान् सभी मायाके वश हैं॥ ३॥ भगवान्‌की मायाका प्रभाव अतुल है कि जिसने मुझीको बहुत बार नाच नचाया है॥ ४॥ यह चराचरमय जगत् मेरा ही पैदा किया हुआ है‡ (जब मुझको ही मोह हो गया तब मेरे उत्पन्न किये हुए जीवोंको जिनमेंसे गरुड़ भी हैं उन) पक्षिराजको मोह होनेमें कुछ आश्चर्य नहीं है॥ ५॥

नोट—१ (क) *'तब खगपति……'* इति। *'खगपति'* शब्द सूचित करता है कि उन्हें अपने पक्षिराज होनेका अभिमान बना हुआ है। यह दीपदेहली न्यायसे पूर्व प्रसङ्गके साथ भी लगता है। इसी भावसे नारदजीको प्रणाम न किया था और आगे विरंचिको भी प्रणाम न करेंगे। यद्यपि नारदजीने 'खग' सम्बोधनद्वारा सावधान भी किया पर उनका अहंकार बना ही रहा। (ख) *'बिरंचि'* नाम देनेका भाव कि इन्होंने सारी सृष्टि रची है, सृष्टिकर्ता हैं यह समझकर गये। (ग) *'निज संदेह'* जो ५८ (७) से दोहा ५८ तकमें कहा गया। (घ) *'समुझि प्रताप'* इति। प्रताप समझकर प्रेम हुआ और प्रणाम किया कि आप और आपकी माया धन्य है कि गरुड़ ऐसे निकटवर्तीको भी नचाकर उनका तमाशा देख रहे हैं—(पं०)। ☞चरित एक ही है पर उसीसे गरुड़को मोह और ब्रह्माको प्रेम हुआ। (ङ) *'नचावा'* से जनाया कि लज्जारहित कर दिया था।

वै०—१ मायाका भय मान *'सिरु नावा'* और प्रताप समझकर कि उनकी गति अपरम्पार है, ऐसा नरनाट्य करते हैं कि उसमें ऐश्वर्यका छींटा भी नहीं पाया जाता इत्यादि, उनके हृदयमें प्रेम छा गया। [*'समुझि प्रताप'* इति। यद्यपि गरुड़ने बन्धन कहकर लघुता दिखायी पर ब्रह्माजी जाननेवाले हैं उनको इस चरितमें प्रताप देख पड़ा, प्रभुके माधुर्यचरितसे उनपर अति प्रेम छा गया। (रा० शं० श०)] २-*'करइ बिचार'* इति। विचार यह करते हैं कि किसके पास इन्हें भेजें जिससे इनका मोह मिटे क्योंकि कवि, कोविद, ज्ञाता सभी तो मायावश हैं, जो स्वयं मायावश है वह दूसरेको कब मायासे छुड़ा सकता है।

नोट—☞*'हरिमाया कर अमित प्रभावा'* यथा—'**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया**', यह बा० मं० श्लो० ६ से लेकर बहुत बार आ चुका और आगे भी आवेगा। ☞यहाँ ज्ञानियोंका स्वभाव दिखाया

* 'अति'—(भा० दा०)। 'उर'—(का०)।
† अमित—(का०)।
‡ पां०—अर्थ—जिस मायाने जड़ चेतनमय जगत्‌को और मुझको पैदा किया।

कि वे किसीको मायावश देखकर उसे दोष नहीं देते और न आश्चर्य करते हैं वरन् उसपर दया करते हैं, प्रभुको प्रणाम करते हैं इत्यादि।

तब बोले बिधि गिरा सुहाई। जान महेस राम प्रभुताई॥ ६॥
बैनतेय संकर पहिं जाहू। तात अनत पूछहु जनि काहू॥ ७॥
तहँ होइहि तव संसय हानी। चलेउ बिहंग सुनत बिधि बानी॥ ८॥

अर्थ—तब (मनमें विचार कर चुकनेपर) ब्रह्माजी सुन्दर वाणी बोले कि 'महादेवजी रामचन्द्रजीकी प्रभुता जानते हैं॥ ६॥ हे विनताके पुत्र गरुड़! तुम शंकरजीके पास जाओ। हे तात! और कहीं किसीसे न पूछो॥ ७॥ वहाँ तुम्हारे सन्देहका नाश होगा।' ब्रह्माजीके वचन सुनते ही पक्षी चला॥ ८॥

नोट—१ (क) *'गिरा सुहाई।'* वाणीमें शंकरजीकी प्रशंसा है, गरुड़जीका हित है, उनके कल्याणकी बात है और वचनोंमें प्रेम, दया और मधुरता इत्यादि है, अतः 'सुहाई' कहा। पंजाबीजी कहते हैं कि श्रोताके अनुकूल होनेसे सुहाई कहा। (ख) *'जान महेस·········'* श्रीशंकरजीके समान दूसरा नहीं जानता *'नाम प्रभाउ जान सिव नीको।·········'* जहाँ देखिये इन्हींकी राय मानी गयी है, जैसे पृथ्वीके रावणादिसे व्याकुल होनेपर *'कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं'*, विवाह-समय *'सिव समुझाये देव सब जनि आचरज भुलाहु।·········'* इत्यादि। सबसे अधिक जाननेमें 'महेश' नाम दिया और आगे गरुड़का इनके द्वारा कल्याण होगा यह सूचित करनेको 'शंकर' नाम देते हैं। *'संकर पहिं जाहू'* का भाव कि वहाँ जानेसे तुम्हारा कल्याण होगा।

२ (क) *'बैनतेय'* अर्थात् विनतासम्बन्धी नाम देनेका भाव कि गरुड़ इस समय वैसे ही चिन्तित हैं जैसी विनता थी। उनकी चिन्ता देख यह नाम दिया। [गरुड़जीने खगपतित्वाभिमानवश जगत्के विरचयिता विरंचिको भी प्रणाम न किया। यहाँ *'बैनतेय'* सम्बोधन देकर ब्रह्माजी सुझाते हैं कि तुममें इस समय मातृस्वभावका धर्म विनतता (विनम्रता) नहीं है, तुम्हारा व्यवहार माताके नामको कलङ्कित करनेवाला है, इस प्रकार शं (कल्याण) नहीं होगा। कल्याण चाहते हो तो तुम अपनी माताका 'वि-नता' (विशेष नम्रतावाली) नाम चरितार्थ करते हुए कल्याणकर शंकरजीके पास जाओ। 'शंकर' इति। '**शं करोमि सदा ध्यानात्परमं यन्निरामयम्। भूतानामसकृत्तस्मात्तेनाहं शंकरः स्मृतः**' इति स्कन्दे। (प० प० प्र०) (ख) *'अनत जनि पूछेहु'* इससे पार्वतीजीके *'तेहि केहि हेतु काग सन जाई। सुनी कथा मुनि निकर बिहाई'* (५५। ४) अर्थात् मुनियोंसे क्यों न पूछा, इस प्रश्नका उत्तर हो गया। रा० प्र० कार कहते हैं कि दूसरेसे पूछनेको इससे मना किया कि कोई ऐसी बात न कह दे जिससे मोह और बढ़ जाय, रोग असाध्य हो जाय। आशय यह है कि और कहीं तुम्हारा कल्याण नहीं हो सकता।

रा० प्र०—*'चलेउ बिहंग सुनत बिधि बानी।'* *'बिहंग'* पद देकर शीघ्र उड़कर जाना सूचित किया और *'बिधि'* पदसे कार्यसिद्धि अनुष्ठान बताया। अर्थात् इनकी वाणी विधि है, इसपर चलना कर्तव्य है। *'बोले बिधि गिरा सुहाई'* उपक्रम और *'सुनत बिधि·········'* उपसंहार है। (*'बिहंग'* शब्द देकर वक्ताने जना दिया कि अब उनका विहंगपतित्वका अहंकार जाता रहा)।

दो०—परमातुर बिहंगपति आएउ तब मो पास।
जात रहेउँ कुबेरगृह रहिहु उमा कैलास॥ ६०॥
तेहिं मम पद सादर सिरु नावा। पुनि आपन संदेह सुनावा॥ १॥

अर्थ—तब पक्षिराज अत्यन्त व्याकुल और शीघ्रतासे मेरे पास आये। हे उमा! उस समय मैं कुबेरके घर जाता था और तुम कैलाशपर थीं॥ ६०॥ उसने आदरपूर्वक मेरे चरणोंमें मस्तक नवाया, फिर (प्रणाम करनेके बाद) अपना संदेह सुनाया॥ १॥

नोट—१ (क) *'परमातुर'* से जनाया कि पूर्व आतुर था अब परमातुर है। पहले व्याकुल थे,

यथा—*'ब्याकुल गएउ देवरिषि पाहीं।'* नारदजीने ब्रह्माजीके पास भेजा पर ब्रह्माजीने भी संशय न दूर किया वरन् शिवजीके पास भेजा; अतः वे बहुत व्याकुल हैं कि न जाने क्या दौड़ते ही बीतेगा! 'पुनः *'परमातुर'* से अत्यन्त शीघ्रता भी सूचित की। नारदजी और ब्रह्माजीके पास जानेमें *'गएउ देवरिषि पाहीं', 'तब खगपति बिरंचि पहिं गएऊ'* कहा था क्योंकि तब इतनी आतुरता न थी। 'चलेउ' और 'आएउ' शब्दोंसे भी शीघ्रता झलक रही है। [रा० शं० श० जीका मत है कि नारदजीने ब्रह्माजीके विषयमें कहा था कि वे कुछ कहेंगे, तुम वैसा ही करना। आशय यह कि वहाँ संदेहकी निवृत्ति न होगी, आगे चलकर होगी। इसीसे व्याकुलता बनी रही जिससे प्रणाम करना भूल गये। और शंकरजीका महत्त्व ब्रह्माजीने कहा है तथा यह भी कहा है कि संदेहकी निवृत्ति होगी, अतः महत्त्व विचारकर और कार्यकी सफलता जानकर प्रणाम किया] *'कुबेर गृह'*=अलकापुरी। इसमें पार्वतीजीकी इस सम्भावित शंकाका समाधान है कि मैं तो सदा साथ ही रहती हूँ, किस अवसरपर गरुड़ आपके पास आये।

२ *'सादर सिरु नावा।'* न नारदको प्रणाम किया न ब्रह्माको। इसका एक कारण तो व्याकुलता है, दूसरे इससे यह भी जनाया कि गरुड़को उन दोनोंके पास जानेतक कुछ अहंकार भी था। यहाँ गुरुबुद्धि आयी, अभिमान जाता रहा, अतः प्रणाम किया। उन दोनोंके पास जिज्ञासुकी तरह न गये थे और इनके पास जिज्ञासु बनकर आये। जिज्ञासु इसी तरह प्रश्न करते हैं। श्रीपार्वतीजी और भरद्वाजजीने भी इसी तरह प्रश्न किया था।* आगेके *'सुनि ता करि बिनती मृदुबानी'* से भी यही बात पुष्ट होती है। [इससे ज्ञात होता है कि *'बैनतेय'* शब्दका गूढ़ व्यंग्य वे समझ गये। धन्य है तुलसीकी सूक्ष्मतम दृष्टि, उनकी पावन भाव-दर्शनकला!! (प० प० प्र०)]

गौड़जी—गोस्वामीजीने रामचरितमानसमें कालका निर्देश बहुत कम स्थलोंमें किया है, उसका कारण भी यही है कि *'नाना भाँति राम अवतारा। रामायन सतकोटि अपारा॥ कलपभेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाये॥'*

इसीलिये कालक्रममें एक ओर बहुत भेद और दूसरी ओर कथा-प्रबन्धकी विचित्रता है कि चार अवतारोंकी कथा एकमें गायी है। ऐसी दशामें मतभेदका वर्णन करनेमें कथाकी सरसता और वर्णनासौन्दर्यको हानि पहुँचती है। जहाँ बिलकुल मतभेद नहीं है वहाँ समय-निर्देश स्पष्ट है जैसे रामजन्म। जहाँ समय-निर्देशकी स्पष्टताका अभाव है वहाँ लक्षणासे, ध्वनिसे और घटनाक्रमसे समयका प्रच्छन्न निर्देश हुआ है। प्रस्तुत प्रसंगमें *'जात रहेउँ कुबेरगृह उमा रहिहु कैलास'* दोहेका यह उत्तरार्ध बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सती-विमोहवाले अवतारसे नितान्त भिन्न अवतारकी कथा है। अर्थात् गरुड़जीको जिस अवतारमें मोह हुआ है वह सतीविमोहवाले अवतारके या तो पहलेका है या बादका। उसी अवतारमें यह घटना नहीं हो सकती क्योंकि राम-रावण-युद्धके समय शायद भगवान् शंकर ८७००० वर्षोंकी समाधिमें रहे होंगे। इसमें तो बिलकुल संदेह नहीं है कि पार्वतीजन्मके पहलेकी यह बात है। सतीविमोहप्रसंगमें विश्वनाथ ज्यों ही कैलाश पहुँचे त्यों ही समाधि लगा ली जो अखण्ड और अपार थी। ८७००० वर्षोंके बाद दक्षयज्ञ-विनाश और सतीका तन त्याग हुआ। इस बीचमें सतीविमोहवाले रामावतारका काल बीत गया था। इसके बाद ही मरालरूप धरकर भगवान् विश्वेश्वरने भुशुण्डिके मुखसे रामकथा सुनी। यह सतीविमोहवाले रामावतारका कल्प था। अब यह विचार करना चाहिये कि गरुड़-भुशुण्डि-संवादवाली घटना उससे पहलेकी है या बादकी। आगेके वर्णनसे स्पष्ट है कि भगवान् शंकरने अपने मराल शरीरके अनुभवके बाद गरुड़जीको भुशुण्डिके पास भेजा है पहले नहीं। अतः गरुड़-विमोहप्रसंग बादके रामावतारके राम-रावण-युद्धके सम्बन्धका है। पहले रामावतारके सम्बन्धका होना इसलिये भी असम्भव है कि वह स्वायम्भुवमनु और शतरूपाकी तपस्याके

* मिलान कीजिये—'भरद्वाज राखे पद टेकी॥-बोले अति पुनीत मृदु बानी॥ नाथ एक संसउ बड़ मोरें' बा० ४५ (५) से ४६ तक। तथा 'बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी' बा० १०७ (७) 'बंदउँ पद धरि धरनि सिरु बिनय करउँ कर जोरि' बा० १०९……'अति आरति पूछउँ सुरराया' इत्यादितक।

फलस्वरूप हुआ है अत: वह दूसरे मन्वन्तरमें ही हो चुका होगा। इसलिये वह कथा तो बहुत पुरानी है। वही शिवजीने मरालवेशमें भुशुण्डिजीसे सुनी और वही भुशुण्डिने गरुड़से भी कही। जिस समय गरुड़के मोहका भुशुण्डि निरसन कर रहे थे उस समय भी गरुड़प्रसंगवाले रामावतारके चरित हो ही रहे थे। गरुड़जीको मोह यह था कि राम ब्रह्म चिन्मय अविनाशी भी नागपाशमें बँधकर हमारे मोहताज हो सकते हैं, यह कैसी बात है? इसीको पुरानी कथा सुनाकर भुशुण्डिजीने सुनाया कि भगवान् सदा ऐसी लीला करते रहते हैं, तुमको जिससे विमोह हुआ वह नयी बात नहीं है। इस कथासे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सतीविमोह-प्रसंगसे लेकर वर्तमान उमा-महेश्वर-संवादतक कम-से-कम दो रामावतार तो हो ही चुके थे।

सुनि ता करि बिनती* मृदु बानी। प्रेम सहित मैं कहेउँ भवानी॥ २॥
मिलेहु गरुड़ मारग महँ मोही। कवन भाँति समुझावौं तोही॥ ३॥
तबहि होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा॥ ४॥

अर्थ—हे भवानी! उसकी कोमल विनय और प्रेमयुक्त वाणी सुनकर मैंने उससे प्रेमसे कहा—॥ २॥ हे गरुड़! तुम मुझे रास्तेमें मिले हो (मैं कुबेरके यहाँ जा रहा हूँ, मार्गमें) तुम्हें किस प्रकार समझाऊँ॥ ३॥ सब सन्देह तभी नष्ट हों जब बहुत समयतक सत्सङ्ग किया जाय॥ ४॥

रा० शं०—गरुड़ने मृदुवाणीसे विनती की इसलिये शंकरजीने प्रेमसहित कहा।-(औरोंने टाल दिया था। शिवजीमें गुरुबुद्धि हुई, उनको सादर प्रणाम भी किया, अतः उन्होंने प्रेमसे समझाया) *'सब संसय'* का भाव कि कुछ संशय निवृत्त भी हो जाय तो काम नहीं चलेगा।

पं०—*'प्रेम सहित मैं कहेउँ।'* नम्रता देखकर, हरिका पार्षद जानकर तथा महामोहसे अत्यन्त आर्त्त देखकर, (यथा—*'परमातुर बिहंगपति आएउ तब ....', 'बिनीत' 'सिरु नावा'*) प्रेमसे समझाया। ☞दुखितसे इसी तरह बोलना और समझाना चाहिये, यह दिखाया।

वै०—गरुड़ वेदविद् ज्ञानी हैं। विद्वान्‌का सन्देह मिटाना सुगम नहीं है। अतः कहा कि जब बहुत काल सत्संग करो तब संदेह दूर होगा।

नोट—१ ☞जो बात नारदजीने कही थी—*'महामोह उपजा उर तोरे। मिटिहि न बेगि कहे खग मोरे॥'* वही बात शिवजीने कही—*'तबहिं होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिय सत्संगा॥'* अर्थात् परमेश्वरके सम्बन्धमें जब मोह होता है तब वह शीघ्र नहीं छूट सकता, भगवत्-चरित्र संतोंसे बहुत कालतक सत्संग करके सुनता रहे तब संदेहकी निवृत्ति होती है। ☞आजकलके नवयुवकोंको इससे उपदेश ग्रहण करना चाहिये। २—*'सुनि ता करि बिनीत मृदु बानी'*, ये विशेषण नारद और ब्रह्माजीसे कथनके समय नहीं दिये गये। ऐसा करके जनाया कि उस समय उनकी ओरसे इनका विनम्र भाव न था। *'बिनती'* वा *'बिनीत'* से बा० ४५ (५)-४६ और १०७ (७)-१०९ में भरद्वाज और पार्वतीजीने जैसे विनती की थी उसी ढंगकी विनती सूचित कर दी। आगे ये भुशुण्डिजीसे भी विनीत मृदु वचन कहेंगे इसीसे यहाँ नहीं लिखा। मुख्य प्रसङ्ग वही है, अतः वहीं स्पष्टरूपसे लिखेंगे। यह ग्रन्थकारकी शैली है। ३—'सत्संग' करनेको कहकर आगे बताते हैं कि सत्संगमें क्या होता है? वहाँ हरिकथा होती है। हरिचरित-विषयक संदेह हरिचरित सुननेसे ही जायगा। यही बात आगे कहते हैं। हरिचरित एक-दो दिनमें कहा नहीं जा सकता। इसीसे कहा कि बहुत काल सत्संगमें रहना होगा।

सुनिअ तहाँ हरि कथा सुहाई। नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई॥ ५॥
जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना॥ ६॥

---

* बिनीत-(का०), पं०। बिनीत-पाठ भी उत्तम जान पड़ता है। पूर्व भी ये शब्द आये हैं। यथा—'सुनि सुभ कथा उमा हरषानी। बोली अति बिनीत मृदुबानी॥' (५२। ८)

नित हरिकथा होति जहँ भाई। पठवउँ तहाँ सुनहु तुम्ह जाई॥७॥
जाइहि सुनत सकल संदेहा। रामचरन होइहि अति नेहा॥८॥

शब्दार्थ—*'प्रतिपाद्य'*—किसी बातके प्रमाणपूर्वक कथनको 'प्रतिपादन' कहते हैं, जिस विषयका प्रतिपादन किया जाय वह 'प्रतिपाद्य' है। वर्ण्य।

अर्थ—और वहाँ (सत्संगमें रहकर) सुन्दर हरिकथा सुनी जाय जो अनेक प्रकारसे मुनियोंने गायी है॥ ५॥ जिसके आदि, मध्य और अन्तमें भगवान् रामचन्द्रजी ही प्रतिपाद्य प्रभु हैं॥ ६॥* हे भाई! जहाँ नित्यप्रति हरिकथा होती है, वहाँ तुमको मैं भेजता हूँ, तुम वहाँ जाकर सुनो॥ ७॥ सुनते ही सब संदेह दूर हो जायगा और श्रीरामचरणमें अत्यन्त प्रेम होगा॥ ८॥

टिप्पणी—*'नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई।'* यथा—*'कल्प कल्प प्रति प्रभु अवतरहीं······तब तब कथा मुनीसन्ह गाई॥'* (१। १४०। २-३), *'कलप भेद हरि चरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए॥'* (१। ३३। ७) *'हरि अनंत हरि कथा अनंता। कहहिं सुनहिं बहु बिधि सब संता॥'* (१। १४०। ५) 'नाना भाँतिकी' कथा सुननेका तात्पर्य यह है कि एक ही प्रकारकी सुननेसे फिर दूसरे प्रकारकी सुननेमें संदेह हो जाता है कि यह चरित कैसा? हमने तो आचार्योंसे दूसरी प्रकार सुना है? २—*'जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु······।'* इति।—**'उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥'** अर्थात् उपक्रम-उपसंहार अर्थ, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद, उपपत्ति ये छः ग्रन्थके तात्पर्यके निर्णायक हैं। इससे जिस ग्रन्थमें इन छहों लिङ्गोंसे श्रीरामभगवान् ही प्रतिपाद्य हैं वही ग्रन्थ *'प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना'* है, जिसमें इन छः उपपत्तियोंमेंसे एकको भी कमी हो उसे प्रभु-प्रतिपाद्य विषयवाला ग्रन्थ न समझना चाहिये।—**'वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदौ मध्येऽवसाने च हरिः सर्वत्र गीयते॥'**

रा० शं०—*'जाइहि सुनत सकल संदेहा'* क्योंकि कथा *'निज संदेह मोह भ्रम हरनी'* है। *'राम चरन होइहि अति नेहा'* क्योंकि कथा श्रीरामभक्ति और प्रेमकी सीमा है, यथा—*'रघुबरभगति प्रेम परमिति सी।'*

नोट—स्मरण रहे कि भुशुण्डिजीने जो कथा कही, वही श्रीशिवजीने पार्वतीजीसे कही है। यथा—*'सुनु सुभ कथा भवानि रामचरित मानस बिमल। कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहग नायक गरुड़॥'* (१। १२०) अतः वह कथा *'सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर सुखद।'* (१। १२०) *'सुनु गिरिजा हरि चरित सुहाए।'* (१। १२१) इस उपक्रमसे प्रारम्भ होती है और उसका उपसंहार *'गिरिजा सुनहु बिसद यह कथा। मैं सब कही मोरि मति जथा॥'* (७। ५२। १) पर हुआ है। बीचमें सब वही रामायण है।

इसी कथाके प्रसंगमात्र *'रामचरित सर कहेसि बखानी।'* (७। ६४। ७) से लेकर *'पुर बरनत नृप नीति अनेका।'* (७। ६४। ६) तक कहे गये हैं। इसके आगे शिवजी कहते हैं कि *'कहा समस्त भुसुंडि बखानि। जो मैं तुम्ह सन कही भवानी॥'* (७) इस तरह दोनोंका ऐक्य दिखाया गया है।

इसी कथाके श्रवणसे दोनोंका मोह दूर हुआ था। यथा—*'तुम्हरी कृपा कृपायतन अब कृतकृत्य न मोह।'* (७। ५२), *'गयउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित।'* (७। ६८)

इसी कथाके लिये श्रीशंकरजी कहते हैं—*'जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य रामु भगवाना॥'* और इसमें आदि, मध्य, अन्त सबमें भगवान् श्रीरामहीका प्रतिपादन है ही।

पां०, वै०—१ जिस हरिकथाके आदि, मध्य, अन्तमें सब स्वरूप छोड़ एक श्रीराम ही भगवान् प्रभु प्रतिपाद्य हैं अर्थात् इन्हींका ऐश्वर्य वर्णन होता है, दूसरे रूपका नाम नहीं। २—*'नित होत'* का भाव कि वहाँ तुम्हें प्रश्न करनेकी भी आवश्यकता न होगी। कथा सुनते ही संदेह चला जायगा, सब मनोरथ सिद्ध हो जायँगे। भाई बोलचाल है। [पुनः ३ 'नित' से जनाया कि यहाँ नित्यका यह नियम है, यह

---

* १—जिस मुनिसमाजमें तीनों कालमें प्रभु ही प्रतिपाद्य हैं—(करु०)। २—कोई ऐसा अर्थ करते हैं कि "जैसे श्रीमद्भागवतमें 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' यह लिखा है वैसे ही 'रामस्तु भगवान् स्वयम्' यह जिसमें प्रतिपादन हो।"

एक परिचर्या है। अन्य स्थानोंमें माघ, कार्त्तिक, वैशाख आदिका प्रसंग पाकर कुछ कथा कुछ दिन हो जाती है; अतः यहाँ सुन लेनेपर अब अन्यत्र न जाना पड़ेगा।

नोट—*'जाइहि सुनत सकल संदेहा॥.........'* इति। यह शंकरजीका गरुड़को आशीर्वाद हुआ। ***'जाइहि सुनत सकल संदेहा'*** इस शिववाक्यसे शिक्षा लेनी चाहिये। चरित सुननेपर, बहुत काल सत्संग करनेपर भी यदि मनुष्यको प्रभुके चरितमें, उनके स्वरूपमें संदेह रह जाय तो निश्चय समझना चाहिये कि उसने न तो यथार्थ सत्संग ही किया है और न चरित ही सुना है। सुननेपर फिर मोह कैसा। फिर तो श्रीरामपदमें स्नेह होना चाहिये। चरित-श्रवणके ये दोनों फल कहे—सकल संदेहोंकी निवृत्ति और श्रीरामपदनेह।

दो०—बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥ ६१॥

अर्थ—बिना सत्संगके हरिकथा नहीं (अर्थात् सुननेको नहीं मिलती), बिना हरिकथाके मोह नहीं दूर होता और बिना मोहके मिटे श्रीरामचन्द्रजीके चरणमें निश्चल प्रेम नहीं होता॥ ६१॥

पं० वि० त्रि०—शिवजीके ऐसा कहनेका भाव यह है कि मैं तुम्हें ऐसी जगह भेजता हूँ, जहाँ नित्य सत्संग होता है। सत्संग और हरिकथाका अविनाभाव सम्बन्ध है, और हरिकथा ही भक्तिरसका उद्दीपन विभाव है क्योंकि उसीसे मोह भागता है। (यथा—*'रामकथा सुंदर करतारी। संसय बिहग उड़ावनि हारी॥'*) तब भक्ति स्थायी भावको प्राप्त होकर रसरूपमें परिणत होगी। तुम्हें अनुराग तो है, पर स्थायी भाव तो तभी प्राप्त होगा, जब कुछ दिनोंतक सत्संग करोगे।

नोट—१ पूर्व कहा कि सत्संग करो, वहाँ जाकर कथा सुनो, उससे संशय दूर होगा और श्रीरामपदमें अति नेह होगा। वे ही सब बातें यहाँ कारणमाला अलंकारसे इस एक दोहेमें एकत्र करके कहीं। पुनः, २—पूर्व *'होइहि रामचरन अति नेहा'* कहकर यहाँ *'होइ न दृढ़ अनुराग'* कहनेका भाव कि प्रेम उत्पन्न होकर कुछ दिनमें चला भी जाता है, मोह उसको दृढ़ नहीं रहने देता; पर सत्संग और हरिकथासे दोनों बातें सिद्ध हो जाती हैं। पुनः, दो बार वही बात कहनेका भाव कि सत्संग और हरिकथासे प्रेम उत्पन्न होता है, यह पहले बताया और अब बताते हैं कि बिना उसके प्रेम रहा भी हो तो वह दृढ़ रह नहीं सकता जैसे कि तुम्हें श्रीरामपदमें प्रेम था पर अब जाता रहा। तथा यह कि दूसरे किसी उपायसे दृढ़ अनुराग हो नहीं सकता, यही एकमात्र उपाय है। पुनः, गरुड़को विश्वास दिलानेके लिये दोहराया। ३—*'हरिकथा'* अर्थात् जो मोहादिके हरण करनेवाले हैं उनकी कथा। ४—मोह गये बिना रामपदमें अनुराग नहीं होता, इस कथनका भाव कि मोहवश जो अनुराग 'ठाँव-ठाँव' अनेक स्थानोंमें जम रहा है वह हरिकथासे ही दूर होता है (रा० प्र०)।

रा० शं०—सत्संगसे हरिकथा, यथा—*'हरिहर कथा बिराजति बेनी'*, कथासे मोह-निवृत्ति, यथा—*'निज संदेह मोह भ्रम हरनी।'* (१। ३१। ४) *'हरन मोह तम दिनकर कर से।'* (१। ३२। १०) और मोह-निवृत्तिसे श्रीरामचरणानुराग। यथा—*'होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥'* (२। ९३। ५) (उदाहरण तो स्वयं श्रीगिरिजाजी तथा गरुड़जीके वचन हैं कि कथा सुनकर मोह दूर हो गया और श्रीरामजीमें प्रेम हुआ।

मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किये जोग तप* ग्यान बिरागा॥ १॥
उत्तर दिसि सुंदर गिरि नीला। तहँ रह काकभसुंडि सुसीला॥ २॥
रामभगति पथ परम प्रबीना। ग्यानी गुनगृह बहु कालीना॥ ३॥
रामकथा सो कहइ निरंतर। सादर सुनहिं बिबिध† बिहंग बर॥ ४॥

अर्थ—योग, तप, ज्ञान और वैराग्यके करनेपर भी बिना प्रेमके श्रीरघुनाथजी नहीं मिलते॥ १॥ उत्तर दिशामें एक सुन्दर नील पर्वत है। वहाँ सुशील काकभुशुण्डिजी रहते हैं॥ २॥ जो रामभक्तिमार्गमें अत्यन्त

* जप—(का०)। † बिबिधि—(भा० दा०।) बिबिध—(का०)।

प्रवीण हैं, ज्ञानी हैं, गुणधाम हैं और बहुत कालके (पुराने) हैं॥ ३॥ वे निरन्तर श्रीरामचन्द्रजीकी कथा कहते हैं और तरह-तरहके अनेक सुन्दर श्रेष्ठ पक्षी आदरसहित सुनते हैं॥ ४॥

नोट—१ *'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा',* यथा—*'रामहि केवल प्रेम पियारा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥'* (२। १३७। १)

पं० वि० त्रि०—*'उत्तर दिसि·········सुसीला।'* इति। पहिले कह आये हैं *'गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी। नील सैल एक सुंदर भूरी॥'* (५६। ७) (जो पार्वतीजीसे कहा था) वही यहाँ भी कह रहे हैं। भारतवर्षके दक्षिण भी एक नील गिरि है। उसका ग्रहण न हो इसलिये उत्तर दिसि लिखते हैं। 'दूरि' लिखनेका भाव यह कि भारतवर्षके उत्तर किंपुरुषवर्ष है और उसके भी उत्तर हरिवर्ष है, और उससे भी उत्तर इलावृतवर्ष है, जिसके मध्यमें मेरु पर्वत है। इलावृतके बाद रम्यकवर्ष पड़ता है। इलावृतवर्ष और रम्यकवर्षकी सीमा नीलगिरि है। इन पर्वतोंकी द्रोणियाँ भौमस्वर्ग कहलाती हैं, वे धर्मात्माओंके निवासस्थान हैं, वहाँ पापी किसी तरह पहुँच नहीं सकते, यथा—**'शैलानामन्तरे द्रोणाः सिद्धचारणसेविताः। भौमा ह्येते स्मृताः स्वर्गा धर्मिणामालया मुने॥ नैवेषु पापकर्माणो यान्ति जन्मशतैरपि।'** काग दुःशील होते हैं यथा—*'बायस पलिअहि अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा॥'*

नोट—२ भुशुण्डिजीको 'सुशीला', *'रामभक्तिपथ परमप्रवीण',* 'ज्ञानी' 'गुणगृह' और *'बहु कालीन'* विशेषण देकर सूचित किया कि संदेह दूर करनेवाले गुरुमें ये सब गुण होने चाहिये। सुशील न होगा तो जिज्ञासुका मन पहिले ही उदास कर देगा तब वह बेचारा मन लगाकर न संदेह ही ठीक-सा कहेगा और न सुननेमें उसका मन लगेगा। और कालीन न होगा तो उसको अनेक प्रकारके चरित न मालूम होंगे; क्योंकि सत्संग उसे अधिक न मिला होगा। और रामभक्तिपथमें प्रवीण इत्यादि न होगा तब वह दूसरेको भक्तिमें दृढ़ कैसे कर सकेगा। पुनः, 'सुशील' है अतः तुम्हारा आदर-सत्कार करेगा। उसके समीप जानेमें कोई सन्देह न करो। यह न विचार मनमें लाओ कि वह चण्डाल पक्षी है, उसके पास कैसे जायँ। उसमें काकके अवगुण छू नहीं गये हैं। रामभक्तिपथमें प्रवीण है अतः भक्तिका पूरा स्वरूप तुमको उससे मालूम हो जायगा। ज्ञानी है। अर्थात् वह श्रीरामजीको प्रिय है, उनका विशेष कृपापात्र है, यथा—*'ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पियारा।'* (१। २२। ७) चारों प्रकारके भक्तोंमेंसे वे श्रेष्ठ भक्त हैं। पुनः, ज्ञानी है अतः उसे संशय नहीं है, वह अपने ज्ञानसे तुम्हारे संशय दूर कर देगा, यथा—*'ज्ञान उदय जिमि संसय जाहीं।'* (६। ४६। ४), *'दीन्ह ज्ञान हरि लीन्ही माया।'* (४। ११। ३) गुणगृह है अर्थात् समस्त सद्गुणसम्पन्न है। बहुकालीन है अर्थात् अनेक कल्प और प्रलय हो गये उसकी मृत्यु नहीं हुई। [*'रामभक्ति पथ·········'* अर्थात् नवधा, प्रेमा, परा इत्यादि भक्तिमार्गके सब भेदभाव भली प्रकार जानता है। २ ज्ञानी=आत्मतत्त्वदर्शी। (वै०)। पुनः, ज्ञानीसे जनाया कि वह सर्वत्र प्रभुको ही देखता है; उसमें न तो भेदबुद्धि ही है और न अहंकार यथा—*'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥'* (३। १५) *'निज प्रभुमय देखहिं जगत·········।'* (११२) पंजाबीजीका मत है कि *'गुनगृह'* से जनाया कि वह अवधूत ज्ञानी नहीं है।] *'गुनगृह'* कहकर जनाया कि सुशील आदि इतने ही गुण नहीं हैं किन्तु उसमें समस्त शुभगुण हैं। यथा—*'सुनु बिहंग प्रसाद अब मोरे। सब सुभ गुन बसिहहिं उर तोरे॥'* (८५। ६) 'बहुकालीन' विशेषणसे ही गरुड़जीने भुशुण्डिजीसे कहा है कि *'नाथ सुना मैं अस सिव पाहीं। महाप्रलयहु नास तव नाहीं॥'* (९४। ५) नहीं तो और कहीं तो ऐसा शिवजीका वचन मिलता नहीं है। इससे जनाया कि कल्प-कल्पमें जितने रामावतार हुए हैं वे सब उसके देखे हुए हैं, सब अवतारोंके चरित वह जानता है, उसे श्रीरामरहस्यका पर्याप्त अनुभव है। यथा—*'राम रहस्य ललित बिधि नाना। गुप्त प्रगट इतिहास पुराना॥ बिनु श्रम तुम्ह जानब सब सोऊ।'* (११४। २-३) (प्र० स्वामीका मत है कि *'बहु कालीना'* विशेषण सनकादिकके लिये भी आया है—*'देखत बालक बहु कालीना'* यहाँ यह भाव लेना कि *'नास कल्पांत न होई'* अति व्याप्ति दोषयुक्त हैं अतः असंबद्ध है। *'तासु नास कल्पांत न होई'* का भाव *'मैं जब तेहि सब कहा बुझाई'*

में ही आयेगा। दास उनसे पूर्ण सहमत नहीं है। सनकादिकके प्रसंगमें *'देखत बालक'* के सम्बन्धसे *'बहु कालीना'* का साधारण अर्थ लिया जायगा और यहाँ भुशुण्डिजीकी 'बहुकालीनता' दिखानेमें यह अर्थ दासकी समझमें अनुपयुक्त नहीं है)।

ये गुण वक्तामें होने चाहिये—*'ते श्रोता बकता समसीला। सबदरसी जानहिं हरिलीला॥'* (१। ३०) *'औरउ जे हरिभगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहिं बिधि नाना॥'* (१। ३०। ८) *'ज्ञाननिधि कथा राम कै गूढ़।'* (१। ३०)

३—*'बिहंगबर'* । वरका भाव कि ये वृद्ध, कालीन और विमलमति हैं। यथा—*'सुनहिं सकल मति बिमल मराला। बसहिं निरंतर जे तेहि ताला॥'* (५७। ९) *'बृद्ध बृद्ध बिहंग तहँ आए। सुनै राम के चरित सुहाए॥'* (६३। ४) [इससे इनका अप्राकृत होना सूचित किया—(खर्रा)। वा, जनाया कि ये सब विहंगतनमें योगी विशिष्ट जीव परमहंस आदि हैं-(रा० प्र०)।] ये सब गुण आगे गरुड़जी उनमें देखें-सुनेंगे।

जाइ सुनहु तहँ हरि गुन भूरी। होइहि मोहजनित दुख दूरी॥५॥
मैं जब तेहि सब कहा बुझाई। चलेउ हरषि मम पद सिरु नाई॥६॥
ताते उमा न मैं समुझावा। रघुपतिकृपा मरम मैं पावा॥७॥

अर्थ—वहाँ जाकर भगवान्‌के गुणसमूह सुनो। (सुननेसे) मोहजनित दुःख दूर हो जायगा॥ ५॥ मैंने जब उसे सब बात समझाकर कही तब वह मेरे चरणोंमें सिर नवाकर प्रसन्न होकर चला॥ ६॥ हे उमा! श्रीरघुनाथजीकी कृपासे मैं इसका मर्म पा गया (वह मर्म क्या है सो आगे कहते हैं)। इसलिये मैंने उसे (स्वयं) नहीं समझाया॥ ७॥

रा० बा० दा०—*'जाइ'* का भाव कि 'अपना बड़प्पन भुला दो, जिज्ञासु बनकर वहीं जाकर सुनो, यह न सोचना कि हम पक्षिराज हैं, उनको बुलाकर सुन लें।'

नोट—१ पूर्व कहा कि *'बहु काल करिय सत्संगा'* तब संशय दूर होगा और यहाँ कहा कि *'हरिगुन भूरी'* सुनो तब मोहजनित दुःख दूर होगा। भाव यह है कि बहुत काल रहनेपर ही बहुत हरिगुण सुननेको मिलेंगे। पुनः भाव कि सत्संगसे *'होइ सब संसय भंगा'* और उसमें 'भूरिहरिगुण-श्रवण' से मोहजनित दुःख दूर होगा। भूरि अर्थात् *'नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई'* वह बहुत-सी। (ख) *'मोह जनित दुख'* गरुड़को था, यथा—*'खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई। भएउ मोह बस तुम्हरिहि नाई॥'* (५९। २),·········अतः उसका कथासे दूर होना कहा।

२ *'सब कहा बुझाई·········।'* इति (क) इसमें वह सब बातें भी आ गयीं जो शिवजीने पार्वतीजीसे कही हैं और जिनको कविने यहाँ दोहराया नहीं। (ख) *'हरषि'* कहकर जनाया कि अबतक व्याकुल था, यथा—*'खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई' 'ब्याकुल गयउ देवरिषि पाहीं' 'परमातुर बिहंगपति आएउ तब मो पास।'* वह व्याकुलता अब दूर हुई। शिवजी असत्य नहीं कहते—*'मुधा बचन नहि ईश्वर कहई।'* (९४। ६) यह स्वयं गरुड़जीने भुशुण्डिजीसे कहा है, अतः उनको पूर्ण विश्वास है कि वहाँ जाते ही मोह दूर हो जायगा, इसीसे *'चलेउ हरषि।'* (ग) *'सिरु नाई',* यह विदाईका प्रणाम तथा कृतज्ञता जनाता है।

३ *'रघुपतिकृपा मरम मैं पावा',* यथा—*'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।'* (२। १२७), *'तात बात फुरि रामकृपा ही। रामबिमुख सिधि सपनेहु नाहीं।'* (२। २५६) *'सुमिरत नाम हृदय अस आवा।'* (१। ५७। १) बिना उनकी कृपाके कोई मर्म नहीं जान सकता, यथा—*'लछिमनहू यह मरम न जाना।'* (३। २४। ५) *'रघुपति कृपा मरम मैं पावा'* का अर्थ कोई ऐसा भी करते हैं कि इसमें मैंने मर्म यह पाया कि यह इनपर रघुपतिकृपा है।

रा० बा० दा०—*'रघुपतिकृपा मरम मैं पावा।'* रघुपति-कृपाका मर्म पाया। गरुड़को मोहमें डाला यह कृपा है। आजतक वैकुण्ठाधीशरूपसे सेवा करते थे, अब हमारा परात्पररूप भी जान लें, यह कृपा की गयी।

नोट—४ ☞'गरुड़जी प्रथम नारदके पास गये, क्योंकि इन्होंने नागपाशसे मुक्त करनेके लिये गरुड़जीको युद्धस्थलमें भेजा था। नारदजीने उनको ब्रह्माजीके पास भेजा और कह दिया कि जो आज्ञा वे दें उसका

पालन करना। ब्रह्माजीने आज्ञा दी कि शंकरजीके पास जाओ वे रामप्रभुत्वके ज्ञाता हैं वहाँ संशय दूर हो जायगा। अतः शंकरजीको चाहिये था कि वे उनका संदेह दूर करते, उन्होंने ऐसा क्यों न किया!'—यह शंका पार्वतीजीको हुई, यह चेष्टासे जानकर भगवान् शंकरने उसका समाधान किया कि यह महामोह है, रास्ते चलते दूर नहीं किया जा सकता, इसके लिये कुछ कालतक सत्संगकी आवश्यकता होती है। दूसरे, इसको अभिमान हुआ, प्रभु इसके अभिमानको दूर करना चाहते हैं। जब यह अपनेसे नीचसे उपदेश पायेगा तब अभिमान दूर होगा—। (पां०—यदि मैं समझा दूँगा तो यह सावधान हो जायगा पर अभिमान न टूटेगा।) तीसरे, ये पक्षिराज हैं और भुशुण्डि भी पक्षी हैं, एक-दूसरेकी भाषा भली प्रकार समझ सकते हैं। इनके अतिरिक्त एक समाधान यह भी हो सकता है कि 'भुशुण्डिजीने श्रीरामचरित शिवजीसे पाया है। इस प्रकार शिवजी उनके गुरु हैं। शिष्यद्वारा मोह दूर हुआ तो वह भी मानो शिवजीहीने दूर किया।' मा० म० कारने उपर्युक्त शंका करके उसका यह समाधान किया है जो अन्तमें दिया गया।

शीला—शिवजीने मर्म जानकर सब मोह-संशय छूटनेका उपाय बता दिया। वैद्य कुपथ्य और रोग जानकर दवा देता है वैसे ही इनको अहं कुपथ्य और मोह रोग हुआ कि हमारे समान त्रिलोकीमें कोई प्रतापवान् नहीं है, इसीसे तो नारदने हमको ही भेजा। कुपथ्यसे मोहरोग हुआ, मोहनाशके लिये रामकथा दवा है, यथा—*'तेहिं बिनु मोह न भाग।'*

होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना॥ ८॥
कछु तेहि ते पुनि मैं नहिं राखा। समुझै खग खग ही कै भाषा॥ ९॥
प्रभुमाया बलवंत भवानी। जाहि न मोह कवन अस ज्ञानी॥ १०॥

अर्थ—कभी उसने अभिमान किया होगा। दयासागर श्रीरामचन्द्रजी उस अभिमानको नष्ट किया चाहते हैं॥ ८॥ और, फिर कुछ इससे भी मैंने उन्हें नहीं रखा (अपने पास रखकर उनका संदेह दूर न कर दिया) कि पक्षी पक्षीकी ही बोली ठीक समझते हैं॥ ९॥ हे भवानी! प्रभुकी माया बड़ी बलवान् है। ऐसा कौन ज्ञानी है, जिसे वह न मोह ले?॥ १०॥

नोट—१ *'होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना……'* इति। *'कबहुँ'* से जनाया कि हमें यह नहीं मालूम कि कब अभिमान हुआ; पर रामकृपासे इतना जरूर मालूम हो गया कि किसी समय अभिमान हुआ था। रणबन्धनवाले प्रसंगमें जो मोह हुआ यदि वही यहाँ अभिप्रेत होता तो उसे तो शंकरजी कह ही रहे हैं, ऊपर सब कह ही आये हैं तब *'कबहुँ'* यहाँ कैसे कहते? अतएव इस वाक्यसे यह स्पष्ट है कि कभी अभिमान हुआ था उसको खोनेके लिये इस समय रणबन्धनमें मोह हुआ। यह मोह उस अभिमानकी ओषधि है। जैसे कि देवर्षि नारदको अभिमान हुआ तब उनको विश्वमोहिनी मायाद्वारा कामोद्दीपनरूप ओषधिसे अच्छा किया; वैसे ही इनके पूर्व किसी समयके अभिमानकी मोहरूपी ओषधि की गयी। नारदजीको कामजित होनेका अभिमान हुआ अतः कामसे ही उसको मिटाया। वैसे ही, ऐसा अनुमान होता है कि, इनको अपने बड़े होने या परम कृपापात्र तथा ज्ञानी, भक्तशिरोमणि इत्यादि होनेका अभिमान हुआ इससे इनको मोह हुआ जिसका नाश अधम जातिके पक्षीद्वारा कराया और उसको गुरु बनवाया गया। यह अभिमान-प्रसंग पता नहीं कहाँ है। शिवजी स्वयं उसका पता नहीं बताते तथापि टीकाकारोंने कथाएँ लिखी हैं।—

वीरकविजी लिखते हैं कि ''एक बार गरुड़जी भुशुण्डिजीके आश्रममें दैवयोगसे पहुँच गये। भुशुण्डिजीने उनका स्वागत और सादर पूजन किया। गरुड़जी अभिमानवश वहाँ बैठना योग्य न समझकर उस समाजसे तिरस्कारपूर्वक चल दिये। भक्तका अनादर प्रभु न सह सके। इसीसे मायाको प्रेरित कर उनका गर्व चूर्ण करनेके लिये उनको उसी समाजमें भेजा और काकको ही गुरु बनवाया''—यह कथा कहाँकी है या मनगढ़ंत है इसका कोई उल्लेख टीकामें नहीं है। इसी प्रकार कोई टीकाकार सत्योपाख्यानका प्रसंग लेकर यह अनुमान करते हैं कि उस समय गरुड़को अपने बलका अभिमान हुआ था कि मैंने भुशुण्डि-ऐसे पर्वताकार पक्षीको

घायल कर दिया। पर सत्योपाख्यानके प्रसंगमें यदि अभिमान कहें तो वह भी घटता नहीं; क्योंकि वहाँ तो गरुड़ने स्वयं उसी समय भुशुण्डिजीसे कहा है कि मैं मोहके व्याजसे तुम्हारे पास आकर तुमको बड़ाई दूँगा। रघुनाथजीने भी कहा कि ऐसा ही होगा।

अतः यह ठीक निश्चय नहीं हो सकता कि *'कबहुँ'* से किस समय और किस चरितका लक्ष्य है। जब सर्वज्ञ शिवजी ही नहीं बताते तब उसके लिये खोज कहाँ की जाय? फिर वे यह भी नहीं कहते कि कभी अभिमान किया था, किन्तु संदिग्ध वाक्य कहते हैं कि *'होइहि कीन्ह'*, किया होगा, जिसका भाव ध्वनिसे यही है कि हम जानते नहीं हैं। भगवान्‌का स्वभाव है कि *'जन अभिमान न राखहिं काऊ'*; अतः भगवत्कृपासे मैं समझता हूँ कि अवश्य अभिमान ही किया होगा।

'कबहुँ' का दूसरा भाव यह है कि भक्त वस्तुतः निरभिमानी होते हैं, पर कभी किसी कारणसे अभिमान हो जाता है।

'सो खोवै चह' ……'—*'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥'* (७४। ५) देखिये। [रा० प्र०—इससे न रखा कि जो अभिमान हुआ हो वह भी भोग ले]

पं०—१ यहाँ गर्वहरणमें 'गर्वहारी' विशेषण न देकर 'कृपानिधान' विशेषण दिया, क्योंकि गरुड़जी भक्त हैं। गर्वहारी विशेषण शत्रुगर्व-हरण-प्रसंगमें देते हैं और भक्तके गर्वका निवारण उसकी प्रतिष्ठा रखते हुए करते हैं, यही कारण है कि गरुड़को भक्तोंके पास ही भ्रमाया फिराया। इसी तरह नारदमोह-निवारणार्थ निज माया विश्वमोहिनी तथा उसकी मायासे ही काम लिया गया। उस मायानगरके राजा तथा निवासी एवं स्वयंवरमें आये हुए राजाओंतकको नारदजी देवर्षिरूप ही देख पड़े। बंदरका रूप विश्वमोहिनी और जिनको लीलाकार्यमें सम्मिलित होना था उन दो हरगणोंने ही देखा था। इस तरह उनका मोह दूर हो गया और प्रतिष्ठा बनी रह गयी। २—*'खग ही कै भाषा'* इस साधारण अर्थसे भगवत्-समीपीमें ऐसा अज्ञान कैसे कहते? अतः इसका अर्थ है कि ''यह पक्षी उस पक्षीके ही कहनेसे समझेगा'' तात्पर्य कि संत अनन्त हैं परंतु जिसके उपदेशसे जिसे बोध होता है उसीसे बोध होता है, दूसरेसे नहीं।—(इस तरह 'भाषा'=कहा हुआ, कहनेसे)।

नोट—२ *'जाहि न मोह'* ……'—भुशुण्डि-गरुड़-संवादमें विस्तारसे आया है और पूर्वकाण्डोंमें भी। *'प्रभु माया बलवंत'* ……' कहकर आगे *'ज्ञानी भक्तसिरोमनि'* ……' इत्यादि कहनेका भाव कि गरुड़को त्रिदेवादिकी माया नहीं व्याप सकती, उनको 'प्रभु' रामजीकी माया व्यापी। यह माया 'प्रभु' की है अतः उनके सामर्थ्यसे उनकी माया विष्णुवाहनतकको मोह लेनेको समर्थ है। 'प्रभु' से मायाकी समर्थता कही।

दो०—ज्ञानी भगतसिरोमनि त्रिभुवनपति कर जान।
ताहि मोह माया नर पावँर करहिं गुमान॥
सिव बिरंचि कहुँ मोहै को है बपुरा आन।
अस जिय जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान॥६२॥

अर्थ—(जो) ज्ञानियों और भक्तोंका सिरमौर और त्रैलोक्यपतिके वाहन (गरुड़) हैं! उन्हींको (जब) मायाने मोहित कर लिया (तब) नीच मनुष्य (क्या) घमण्ड करते हैं? (अर्थात् वे तो किसी गिनतीमें नहीं हैं, उनका घमण्ड करना कि हम मोहवश नहीं हो सकते व्यर्थ है, इससे उनकी नीचता प्रकट होती है। वे तो मोह-मोहाये ही हैं)।* (माया) शिव और ब्रह्माको मोहमें डाल देती है तब दूसरा बेचारा कौन है। (क्या चीज है, किस गिनतीमें है।)† ऐसा मनमें समझकर मुनि मायाके स्वामी भगवान्‌का भजन करते हैं॥ ६२॥

नोट—१ *'ज्ञानी भगतसिरोमनि'* का भाव कि ज्ञानीको और भक्तको अभिमान नहीं होता, यथा—*'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं'*, *'सबहि मानप्रद आपु अमानी'*, *'मम गुन ग्राम नाम रत गत ममता मद मोह'*, और

* काव्यार्थापत्ति अलंकार है। † तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यङ्ग है।

ये तो ज्ञानियों तथा भक्तोंमें शिरोमणि हैं। यही नहीं वरन् सदैव भगवान्‌के निकटवर्ती हैं, सदा उनके चरणका स्पर्श इनको रहता है। जिनके चरण-रजके स्पर्शसे समस्त पातक मिट जाते हैं उनके नित्य चरण-स्पर्शका सौभाग्य जिसको होगा उसे मायाका व्याप्त होना आश्चर्य है। पर जब ऐसे गरुड़जीको भी मायाने मोहमें डाल दिया तब प्राकृत मनुष्य यदि अभिमान करें कि हम बड़े ज्ञानी हैं, हम तो साक्षात् ब्रह्म ही हैं; हमें माया कब वशीभूत कर सकती है, इत्यादि, तो यह उनकी नीचता है। *'नर पावँर करहिं गुमान'* अर्थात् नीच अधम लोग ही ऐसा घमण्ड करेंगे, विचारवान् नहीं। *'करहिं गुमान'* का इशारा उन ज्ञानियोंकी ओर है जो अद्वैतवादी होकर अपनेको ही ब्रह्म मान बैठते हैं, ज्ञानके घमण्डमें भक्तिको छोड़ बैठते हैं और कहते हैं कि हम स्वयं ब्रह्म हैं भजन किसका करें इत्यादि।

२—*'सिव बिरंचि कहुँ मोहै·········'* इति। *'नारद भव बिरंचि सनकादी·········।'* (७०। ६) से *'जो माया सब जगहि नचावा।'* (७२। १) तक इसकी व्याख्या समझिये। अतः वहीं देखिये।

३—(क) *'भजहिं मुनि················'*, यथा—*'सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ।'* (वि० ८६) ☞इससे जनाया कि माया न लगे इसका एकमात्र उपाय यही है कि भगवान्‌का भजन करे। भजन छोड़ा कि मायाने ग्रसा। (ख) *'मायापति'* का भाव कि मायाके स्वामी हैं जब हम उन्हींको स्वामी बना लेंगे, उनका भजन करेंगे तब, माया अपना प्रभाव न जता सकेगी।—माया और भक्तिके प्रसंगमें—*'मोह न नारि नारिके रूपा।'* ··········(११६। २) से *'अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी॥'* (११६। ८) तक—भुशुण्डिजीने इसीको विस्तारसे कहा है। मिलान कीजिये—*'सुर नर मुनि कोउ नाहि जेहि न मोह माया प्रबल। अस बिचार मन माहिं भजिय महामाया पतिहि॥'* (१। १४०) नारदमोह-प्रसंगमें 'सुरनरमुनि' का मोहित होना कहा था और यहाँ ईश्वरोंका। अथवा, चार कल्पकी कथाके प्रसंगमें वहाँ श्रीमन्नारायणकी मायासे *'सुर नर मुनि'* को कहा और यहाँ साकेतबिहारीकी मायासे ईश्वरोंका भी मोहित हो जाना कहा। वस्तुतः भगवान्‌के सब रूप पूर्ण और अभेद हैं।

४—*'सिव बिरंचि·········'* यह वाक्य शिवजीका हो नहीं सकता। अतः तुलसी, भुशुण्डि या याज्ञवल्क्यजीका होगा। 'मुनि' श्लेषार्थ शब्द देकर कवि इसे याज्ञवल्क्यके वचन जनाते हैं। बा० १४० वाला वाक्य शिवजीका है। यदि मुनिको श्लेषार्थी न लें तो यह भुशुण्डिवाक्य हो सकता है। भुशुण्डि-गरुड़-संवाद इस काण्डमें प्रधान है ही। तुलसीदासजी भी बराबर भजनका उपदेश करते ही हैं। इस तरह सबका एक मत जनाया।

गएउ गरुड़ जहँ बसै भसुंडी। मति अकुंठ हरि भगति अखंडी*॥ १॥
देखि सैल प्रसन्न मन भयऊ। माया मोह सोच सब गएऊ॥ २॥
करि तड़ाग मज्जन जलपाना। बट तर गयउ हृदय हरषाना॥ ३॥
बृद्ध बृद्ध बिहंग तहँ आए। सुनै राम के चरित सुहाए॥ ४॥

शब्दार्थ—**अकुंठ**=कुण्ठित, कुन्द वा गोठिल न होनेवाली; तीव्र। एक रस रहनेवाली। **अखंड**=जो खण्डित न हो सके, एक तार तैलधारावत् स्थिर रहनेवाली। निश्चल। अविरल।

अर्थ—निश्चल हरिभक्ति और तीव्र बुद्धिवाले भुशुण्डिजी जहाँ रहते थे वहाँ गरुड़जी गये॥ १॥ पर्वत (नीलगिरि) देखकर उनका मन प्रसन्न हो गया और सब माया, मोह और सोच जाते रहे॥ २॥ तालाबमें स्नान और जल-पान कर वे बरगदके नीचे गये और हृदयमें हर्षित हुए॥ ३॥ वहाँ बुड्ढे-बुड्ढे पक्षी श्रीरामचन्द्रजीके सुन्दर चरित्र सुनने आये॥ ४॥

नोट—(क) *'गयउ'* इति। पहले चलना कहा, यथा—*'चलेउ हरषि मम पद सिरु नाई', 'गएउ गरुड़·········'* से अब पहुँचना कहा। (ख) *'जहँ बसै भसुंडी'* से जनाया कि आश्रमकी सीमाके भीतर पहुँचे। सीमातक

* भा० दा० और रा० गु० द्वि० का पाठ 'भसुंडा' 'अषंडा' है। का० में 'भसुंडी' 'अषंडी' है। सत्योपाख्यानमें 'भसुंड' नाम आया है, इस तरह भुसुण्डा भी ठीक है पर रोचक नहीं है। और अन्य काण्डोंमें भुसुण्डि पाठ ही सर्वत्र आया है।

सब आश्रम ही कहलाता है, सबको निवास-स्थान कहते हैं, यथा—'*बालमीकि आश्रम प्रभु आये। रामु दीख मुनिबास सुहावन। सुंदर गिरि कानन जलु पावन॥ सरनि सरोज बिटप बन फूले॥ गुंजत मंजु मधुप रस भूले॥ खग मृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं॥*'........'*सुचि सुंदर आश्रम निरखि*........।' (अ० १२४) इस उदाहरणसे स्पष्ट है कि पर्वत, वन, सर आदि जहाँतक आश्रमकी सीमा है, वह सब '*मुनि बास सुहावन*' ही कहलाता है। उसी भावसे यहाँ भी '*जहँ बसै*' कहा है।

२—'*मति अकुंठ*'—भाव कि काककी बुद्धि कुण्ठित रहती है। यथा—'*मूढ़ मंदमति कारन कागा।*' (आ० १। ७) पर भुशुण्डिजीकी मति ऐसी नहीं है, स्वयं श्रीरामजीने उसकी प्रशंसा की है। यथा—'*सुनु बायस तैं सहज सयाना। काहे न माँगसि अस बरदाना॥*' (८५। २) इस तरह '*मति अकुंठ*' उस कथाका बीज है जिसमें प्रभुने प्रसन्न होकर इनको ज्ञान-विज्ञान आदि अनेक मुनिदुर्लभ गुणोंका प्रलोभन दिया था पर ये उस प्रलोभनमें न पड़े। (वि० त्रि०) उस समय उनके विचार ये हैं—'*मन अनुमान करन तब लागेउँ। प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥ भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु ब्यंजन जैसे॥ भजन हीन सुख कवने काजा।*' (८४। ३—६) ऐसा विचारकर उन्होंने अविरल भक्ति ही माँगी। इसीसे 'मति अकुंठ' कहा। '*भगति अखंडी*' से '*अबिरल भगति बिसुद्ध तब श्रुति पुरान जो गाव। जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥*' (८४) इस वर तथा महर्षि लोमशके '*राम भगति अबिरल उर तोरे। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे॥*' (११३। १६) इस वरदानका संकेत कर दिया। वही भाव यहाँ है। '*मति अकुंठ*' होनेसे ही अविरल भक्तिकी प्राप्ति हुई, अतः उसी क्रमसे कहा।

३—'*देखि सैल*........' इति। (क) शैल देखकर मन प्रसन्न हो गया, इस कथनसे सूचित हुआ कि गरुड़जी उस शैलसे एक योजन सीमापर पहुँच गये जहाँतक अविद्या—माया नहीं जाती। यथा—'*जेहि आश्रम तुम्ह बसब पुनि सुमिरत श्रीभगवंत। ब्यापिहि तहँ न अबिद्या जोजन एक प्रजंत॥*' (११३) इससे यह भी जनाया कि चार कोससे वह शैल देख पड़ने लगा था। (ख) मनके प्रसन्न होनेके दो कारण हैं। एक तो वह शैल ही रमणीय है, जो देखता है वही प्रसन्न हो जाता है। शंकरजी भी देखकर प्रसन्न हो गये। यथा—'*नील सैल एक सुन्दर भूरी। तासु कनकमय सिखर सुहाए। चारि चारु मोरे मन भाए॥*' (५६। ७-८) दूसरा कारण '*माया मोह सोच सब गयऊ*' है। (ग) '*गयऊ*' से जनाया कि शैल दर्शनके पूर्वतक मोह बना था। माया, मोह, सोच तीनों गये कहकर जनाया कि ये तीनों गरुड़जीमें थे। यथा—'*सुनु खग प्रबल राम कै माया॥ जो ज्ञानिन्ह कर चित अपहरई।*........*सोइ ब्यापी बिहंगपति तोही॥ महामोह उपजा उर तोरे।*' (५९। ४—७) '*खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई।*' (५९। २) '*प्रसन्न मन भयऊ*' कहकर प्रसन्नताका कारण कहा—'*माया मोह सोच सब गयऊ*' पूर्व 'खेदखिन्न' था अब प्रसन्न हुआ।

४ '*करि तड़ाग मज्जन*........' इति। मनकी प्रसन्नता पहिले ही कह दी, अतः स्नान-जलपान करनेका भाव यह है कि सत्संगमें न जाने फिर स्नानका अवसर कब मिले, जहाँ जाय वहाँ अपने नित्यकृत्यसे निपट कर जाय। अथवा, पर्वतपर रुचिर सर देख उसमें स्नान किया, इससे श्रम दूर होगा और मनको अधिक सुख होगा, यथा—'*देख राम अति रुचिर तलावा। मज्जन कीन्ह परम सुख पावा॥*' (आ० ४१), '*मज्जन पान समेत हय कीन्ह नृपति हरषाइ।*' (१। १५८) '*गै श्रम सकल सुखी नृप भयऊ।*' पुनः भाव कि तीर्थमें जाकर प्रथम स्नान करनेकी विधि है, यथा—'*पहुँचे जाइ धेनुमति तीरा। हरषि नहाने निर्मल नीरा॥*' (१। १४३। ५) '*करि मज्जन सरजू जल गए भूप दरबार॥*' (१। २०६), '*चित्रकूट महिमा अमित कही महामुनि गाइ। आइ नहाने सरित बर सिय समेत दोउ भाइ॥*' (२। १३२) इत्यादि। मनुजी, विश्वामित्रजी और श्रीरामजीके सम्बन्धमें यह दिखाया जा चुका है।* '*जलपाना*' —पवित्र जल पीनेसे भी सुख होता

---

* वि० टी० एवं वीरकवि 'करि तड़ाग मज्जन' का कर्ता भुशुण्डिजीको मानते हैं। बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि 'गरुड़ गये।' जो चिन्तातुर हो उसीका हर्षित होना ठीक है। भुशुण्डिजीका तो घर ही है। बरगद बहुत बड़ा है, देववृक्ष है। वटके नीचे पहुँचते ही सुख हुआ। कथा वहाँसे दूर है 'जो अति आतप ब्याकुल होई। तरुछायासुख जानै सोई' यहाँ चरितार्थ है। यहाँ द्वितीय विशेषालंकार है।

है। यथा—*'सुचि जल पियत मुदित मन भयऊ।'* बिना स्नान किये तीर्थको लाँघकर जानेसे तीर्थका अपमान होता है। ☞ पूर्व खेदखिन्न कहा है अब यहाँ उस खेदका दूर होकर मन प्रसन्न होना कहा। यह आश्रमका प्रभाव दिखाया।

५—*'बट तर गएउ.........'* इति *'हृदय हरषाना'* मोहादि दूर होनेसे, स्नान-जलपानसे, आगामी सत्संगलाभके स्मरण और आशासे। *'बटतर गएउ'* से जनाया कि इनको शिवजीने कथाका स्थान और समय बतलाया था, यथा—*'मैं जब सब तेहि कहा बुझाई।'* इसीसे ये सीधे वटतले ही गये। कथाका लाभ तुरंत समझकर हृदयमें हर्ष हो रहा है। यदि 'हरषाना' को पूर्ण क्रिया मान लें तो वटतले जानेपर हर्ष होना इससे कहा कि वहाँ श्रोताओंका समाज दूरसे देख पड़ा जैसा कि शिवजीने कहा था—*'सादर सुनहिं बिबिध बिहंगबर।'*

करु०, पं० रा० व० श०—*'बृद्ध बृद्ध बिहंग.........'* इति। 'वृद्ध-वृद्ध' से बहुकालीन और बुद्धिके वृद्ध जानो। वृद्ध कई प्रकारके होते हैं—'**वयोवृद्धस्तपोवृद्धो ज्ञानवृद्धस्तथैव च**', उनमेंसे ये सब ज्ञानवृद्ध हैं। जो ऊपर शिवजीका वचन है कि *'सुनहिं सकल मति बिमल मराला'* वही बात यहाँ 'वृद्ध' से जनायी है। शिववाक्यका यहाँ चरितार्थ है। अर्थात् वृद्धसे सबको रामतत्त्वज्ञ, रामानुरागी इत्यादि जनाया। शरीरवृद्ध इससे नहीं है कि जरा आदि अविद्यामायाके कार्य हैं सो माया वहाँ व्यापती ही नहीं। सबकी नित्य किशोरावस्था जान पड़ती है।

पं० वि० त्रि०—'वक्ता चिरञ्जीवी और श्रोता सब वृद्ध थे। अर्थात् पक्षिसभा होनेपर भी वह सभा बड़ी प्रशस्त थी, क्योंकि '**न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः।**' २ *'तहँ आए'* कहनेका भाव यह है कि रामकथाका प्रभाव ही ऐसा है कि काक भी कहने बैठ जाय तो सुननेके लिये बड़े-बड़े हंस आ पहुँचते हैं। ३—*'सुनैं राम के चरित.........'* का भाव कि श्रीरामजीकी कथा श्रवणामृत है, यह सबको अच्छी लगती है। मुक्त मुमुक्षु विषयी सभीको इससे आनन्द मिलता है। यथा—*'श्रवनवंत अस को जग माहीं। जाहि न रघुपति चरित सोहाहीं॥'* (५३। ५)

कथा अरंभ करइ सोइ चाहा। तेही समय गएउ खगनाहा॥५॥
आवत देखि सकल खगराजा। हरषेउ बायस सहित समाजा॥६॥
अति आदर खगपति कर कीन्हा। स्वागत पूछि सुआसन दीन्हा॥७॥
करि पूजा समेति अनुरागा। मधुर बचन तब बोलेउ कागा॥८॥

शब्दार्थ—**स्वागत**='अतिथि आदिके पधारनेपर उसका सादर अभिनन्दन करना। अगवानी'—यह अर्थ हिन्दी शब्दसागरमें है पर यह अर्थ यहाँ ठीक नहीं है। स्वागतका अर्थ संस्कृतके चन्द्रकोशमें 'कुशल' मिलता है वही अर्थ यहाँ संगत है।

अर्थ—वह कथा आरम्भ करना ही चाहता था कि उसी समय गरुड़जी वहाँ पहुँचे॥ ५॥ समस्त पक्षियोंके राजाको आते देख, पक्षिसमाजसहित काकभुशुण्डिजी हर्षित हुए॥ ६॥ उन्होंने पक्षिराजका अत्यन्त आदर-सत्कार किया। कुशलक्षेम पूछकर (बैठनेके लिये) सुन्दर आसन दिया॥ ७॥ प्रेमसहित पूजन करके तब काकभुशुण्डिजी मीठे वचन बोले॥ ८॥

नोट—१ (क) *'कथा अरंभ करइ सो चाहा'* से जनाया कि इसके पूर्व दिन रामायण समाप्त हुई थी, आज फिर आदिसे प्रारम्भ होनेको है। गरुड़जी बड़े ही अच्छे मौकेपर पहुँचे नहीं तो बीच कथामें पहुँचनेसे दोनों ओर बड़ा संकोच होता। कथाके बीचमें उनका सत्कार भी न हो सकता था और बीचसे कथा छोड़कर आदिसे कहनेमें अन्य श्रोताओंका अपमान और कथाका भी अनादर होता, कथा खण्डित न छोड़नी चाहिये। बीचसे सुनते तो गरुड़को पश्चात्ताप होता। (ख) *'कथा अरंभ'* से पहुँचनेका समय चौथा प्रहर जनाया। (पं०)। पुनः *'अरंभ करइ चाहा'* से जनाया कि भुशुण्डीजी मङ्गलाचरण कर चुके थे, इसीलिये मानसमूलमें मङ्गलाचरण नहीं है। तीनों घाटोंके वक्ताओंने मङ्गलाचरण किया है, केवल उत्तरघाटके वक्ताका मङ्गलाचरण नहीं लिखते, क्योंकि

वह मुख्य श्रोता गरुड़जीके आनेके पहले ही हो चुका था। (वि० त्रि०) (ग) *'तेही समय'*—भगवत्प्रेरणासे ठीक समयपर पहुँचे। अथवा श्रीशिवजीकी आज्ञासे चले हैं तब समयसे क्यों न पहुँचते। *'गएउ खगनाहा'*—भाव कि राजा हैं, ठीक समयपर पहुँचनेमें ही इनकी शोभा है। (वि० त्रि०)

२ (क) *'आवत देखि सकल'* से जनाया कि सब पक्षिराजको पहचानते थे। पहचाननेका कारण पूर्व कह आये कि वे सब वृद्ध हैं। पुनः, *'आवत'* से जनाया कि अभी कथामण्डपमें पहुँचे नहीं हैं, दूर ही हैं, तभी इनपर दृष्टि पड़ी। (ख) *'हरषेउ बायस'*' इति। हर्षका कारण पहिले चरणमें कह दिया कि ये *'सकल खग राजा'* हैं। *'सेवक सदन स्वामि आगमनू'* समझ हर्ष हुआ। इससे यह भी सूचित कर दिया कि पक्षिराज इसके पूर्व कभी न आये थे आज ही प्रथम-प्रथम आये। दूसरे, ये भगवान्‌के निकटवर्ती परमभक्त हैं। ☞हर्ष यहाँ दोनों ओरका दिखाया, उधर गरुड़ *'बटतर गएउ हृदय हरषाना'* और इधर *'हरषेउ बायस........।'* (ग) *'सहित समाजा'* इति। यहाँ भुशुण्डीजी तो वायस हैं और श्रोता सब वृद्ध-वृद्ध मराल हैं। *'समाज'* से श्रोतासमाज अभिप्रेत है, नहीं तो चण्डाल पक्षीके समाजमें हंस कैसे आ सकते हैं। राजाके पदार्पणसे श्रोतासमाजका बड़ा उत्कर्ष हुआ, अतः समाज हर्षित हुआ। (वि० त्रि०)।

३ (क) *'अति आदर'* कहकर तब *'स्वागत पूँछि'* कहनेसे *'अति आदर'* से सबका खड़े हो जाना, आगे जाकर लेना एवं और भी इसी प्रकारका आदर जनाया। पुनः, *'अति आदर'* का भाव कि सभीका आदर करना यह तो भक्तका स्वभाव ही है पर इनका *'अति आदर'* किया। पञ्चरात्रमें आज्ञा है कि कोई भी वैष्णव दूसरे वैष्णवको देखे तो साष्टाङ्ग दण्डवत् करे—'**वैष्णवो वैष्णवं दृष्ट्वा दण्डवत् प्रणिपतेद्भुवि।**' कवितावलीमें भी कहा है—*'रामके गुलामनिकी रीति-प्रीति सूधी सब, सब सों सनेह सबहीको सनमानिये।'* (७। १६८) (ख) श्रीशिवजीने जो गरुड़जीसे कहा था कि *'तहँ रह काकभुसुंडि सुसीला'* वही यहाँ चरितार्थ हुआ। देखकर हर्षित होना, व्यासासनसे उठकर स्वागत करना, राजाके योग्य उत्तम आसन देना, पूजा करना इत्यादि सब शील है। यथा—*'सीलसिंधु सुनि गुर आगवनू।.........गुरहि देखि सानुज अनुरागे। दंड प्रनाम करन प्रभु लागे॥'* (२। २४३) श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि शङ्करजीने जो सुशील कहा है उसका भाव यह है कि काक दुःशील हैं। पर ये बड़े सुशील हैं, केवल काग वेष बनाये हुए हैं, *'सदा रहहिं अपनपौ दुराए। सब बिधि कुसल कुबेस बनाए॥'* इनको वर है कि जो रूप चाहें धर सकते हैं—*'काम रूप इच्छा मरन.........।'*(११३) पर ये काकशरीर ही बनाये रहते हैं। (ग) श्रोता बनकर आये हैं अतः व्यासासन दिया नहीं जा सकता, अतः *'बरासन'* न कहकर *'सुआसन'* कहा (वि० त्रि०)।

४ (क) *'करि पूजा'* इति। राजाओंकी अर्घ्य-पाद्यसे पूजा ऋषि लोग करते आये हैं। अतः कागजीने भी की। योगवासिष्ठमें कथा है कि भुशुण्डिजीके आश्रमपर वसिष्ठजी गये तो उन्होंने संकल्पके हाथसे वसिष्ठजीकी पूजा की। कहना नहीं होगा, जहाँ सङ्कल्पसे हाथ बनता है, वहाँ पूजा-सामग्रीका भी साङ्कल्पिक होना सिद्ध है (वि० त्रि०)। (ख) *'समेत अनुरागा'* इति। भगवत्-भागवत-पूजा अनुरागसे की जाती है। अनुरागका न होना पूजकके हृदयमें पूज्यके प्रति श्रद्धा तथा प्रेमका अभाव सूचित करता है। अनुरागमें वचन मधुर निकलते ही हैं। अतः अनुराग कहकर *'मधुर बचन बोलेउ'* कहा (प्र० स०)। बिना अनुरागकी पूजा या मधुर वचन व्यर्थ हैं। यथा—'**अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥**' (वि० त्रि०) यहाँ भुशुण्डिजीके मन, कर्म और वचन तीनों अनुरागमय दिखाये। *'हरषेउ'* और *'समेत अनुरागा'* से मन; *'अति आदर कीन्हा' 'सुआसन दीन्हा'* और *'करि पूजा'* कर्म; और *'स्वागत पूछि' 'मधुर बचन तब बोलेउ'* यह वचनका अनुराग है।

दो०—नाथ कृतारथ भएउँ मैं तव दरसन खगराज।
आयसु देहु सो करउँ अब प्रभु आयेहु केहि काज॥
सदा कृतारथ रूप तुम्ह कह मृदु बचन खगेस।
जेहि कै अस्तुति सादर निज मुख कीन्ह महेस॥ ६३॥

अर्थ—हे नाथ! हे पक्षिराज! आपके दर्शनसे मैं धन्य हूँ। हे प्रभो! आप किस कार्यके लिये आये हैं, उसकी आज्ञा दीजिये मैं अब उसे करूँ। पक्षिराज कोमल वाणी बोले कि आप तो सदा ही कृतार्थरूप हैं कि जिनकी प्रशंसा आदरपूर्वक अपने मुखसे महादेवजीने की है॥ ६३॥

नोट—१ *'कृतारथ भएउँ मैं तव दरसन'* का भाव कि स्वामी वा राजाका सेवकके घर जाना सेवकका महद्भाग्य सूचित करता है, सेवक स्वामीकी इस कृपासे कृतार्थ होता है, क्योंकि *'सेवक सदन स्वामि आगमनू। मंगलमूल अमंगल दमनू॥'* है। तात्पर्य कि आपके आगमनसे मैं धन्य हूँ, मेरे समस्त अमङ्गलका नाश हुआ और मेरा कल्याण हुआ। *'तव दरसन'* के उत्तरमें इसीलिये गरुड़जी कहते हैं कि *'सदा कृतारथ रूप तुम्ह'* अर्थात् हमारे दर्शनसे आप कृतार्थ क्या हो सकते हैं, आप तो स्वयं कृतार्थहीकी मूर्ति हैं, आपको देखकर दूसरे कृतार्थ होते हैं। गरुड़जीने यहाँ भुशुण्डिजीके ही शब्दमें उनका उत्तर दिया। दोहा ४७ देखो। यहाँ चित्रोत्तर और अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। २—*'आयसु देहु·········'* यह शिष्टाचार है और भुशुण्डिजीकी सुशीलता है।

वि० त्रि०—१ *'खगराज तव दरसन कृतारथ भएउँ'*—भाव कि (क) कागको खगराजका दर्शन कहाँ सम्भव है। यथा—*'निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन्ह।'* अतः उनके दर्शनसे भुशुण्डिजी अपनेको कृतार्थ मानते हैं। (ख) स्वरकी मधुरता ही मीठापन नहीं है, भावका माधुर्य मीठापन है। गलिताभिमान होनेपर जो विनयके वाक्य प्राणीके मुखसे निकलते हैं उसमें बड़ी मिठास होती है। यह वाक्य भी वैसा ही है।

२ *'प्रभु आएहु केहि काज'*—भाव कि प्रभु तो बुलवा भेजते हैं स्वयं नहीं आते। यथा—*'तदपि उचित जन बोलि सप्रीती। पठइअ काज नाथ असि नीती॥'* (२। ९। ६), ऐसा कौन कार्य आ पड़ा कि आप स्वयं चले आये। पुनः, भाव कि आप प्रभु हैं, आपका कार्य करना मेरा धर्म है, अतः आज्ञा दीजिये। अथवा आनेपर कार्य पूछना शिष्टता है, यथा—*'केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावौं बारा॥'* (१। २०७। ८)

३ *'आयसु देहु··········'* इति। वसिष्ठजीके आगमनपर श्रीरामजीने भी प्रणाम, पूजन आदि करके तब कार्य पूछा और उसके करनेकी आज्ञा माँगी। यथा—*'सादर अरघ देइ······सेवकु लहइ स्वामि सेवकाई।'* (२। ९। ३—८) जैसा स्वामी (श्रीरामजीने) किया वैसा ही उनके सेवक (श्रीभुशुण्डिजीने) किया। इस तरह दिखाया कि जैसा शील स्वामीका है वैसा ही सेवकका।

४ (क) *'सदा कृतारथरूप'*—भाव कि और लोग भी कृतार्थरूप हैं पर सदा नहीं रहते। यथा—*'नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनिनायक परमारथबादी॥ मोह न अंध कीन्ह केहि केही।'* और आपके यहाँ तो एक योजनतक अविद्याकी पहुँच ही नहीं, आपको माया कभी व्यापती नहीं; अतः आप सदा कृतार्थरूप हैं (ख) *'कह मृदु बचन'*—भाव कि भुशुण्डिजी आज्ञा मानते हैं, आज्ञामें मधुरताको बहुत कम स्थान है, पर ये उसके उत्तरमें मृदुवचन कहते हैं।

रा० शं०—*'जेहि कै अस्तुति··········'* इति। *'सदा कृतारथरूप'* का प्रमाण देते हैं कि शंकरजीने श्रीमुखसे स्तुति की। वे महान् ईश हैं, वे भला साधारण जीवकी स्तुति कर सकते हैं? जो स्तुत्य होगा उसीकी स्तुति करेंगे। शंकरजीने कहाँ स्तुति की? *'तहँ रह कागभसुंड सुसीला। रामभगतिपथ परमप्रबीना॥ ज्ञानी गुनगृह बहु कालीना। रामकथा सो कहै निरंतर।'* (६२। २-४) स्तुति है।

वि० त्रि०—*'जेहि कै अस्तुति.........'* इति। 'स्तुतिस्तु नाम्ना रूपेण कर्मणा बान्धवेन च।' पदार्थका नामोच्चारण, उसके रूपका वर्णन, उसका कर्मख्यापन तथा दूसरोंके साथ उसके साहचर्य-सादृश्यका वर्णन—यही उस पदार्थकी स्तुति हुई, अतः *'सादर'* स्तुति करते हैं। विषकी स्तुति सादर नहीं हो सकती, आदरके साथ स्तुति अमृतकी ही होगी। शंकरजीके वचन स्तुतिके अङ्ग, यथा—*'उत्तर दिसि सुंदर गिरि नीला। तहँ रह कागभुसुंडि सुसीला॥'* (नाम, रूप), *'राम भगतिरत परमप्रबीना। ज्ञानी गुन निधि बहु कालीना', 'राम कथा सो कहइ निरंतर'* (कर्मका ख्यापन) और *'सादर सुनहिं बिबिध बिहंगबर'* (बान्धव)।

सुनहु तात जेहि कारन आएउँ। सो सब भएउ दरस तव पाएउँ॥ १॥
देखि परम पावन तव आश्रम। गएउ मोह संसय नाना भ्रम॥ २॥

अब श्रीरामकथा अति पावनि। सदा सुखद दुखपुंज नसावनि॥ ३॥
सादर तात सुनावहु मोही। बार बार बिनवौं प्रभु तोही॥ ४॥

अर्थ—हे तात! सुनिये। जिस कारण मैं आया वह सब (कार्य पूरा) हो गया और आपका दर्शन (भी) पाया॥ १॥ आपका परम पवित्र आश्रम देखकर मेरा मोह और अनेक प्रकारके संशय और भ्रम जाते रहे॥ २॥ हे तात! अब आप मुझे अत्यन्त पवित्र, सदा सुख देनेवाली और दु:खसमूहका नाश करनेवाली श्रीरामजीकी कथा आदरसहित सुनाइये! हे प्रभो! मैं बारम्बार आपसे विनती करता हूँ॥ ३-४॥

नोट—१ *'सुनहु तात.........'* इति। (क) स्वागत, कुशल-प्रश्न, पूजन आदि करनेके पश्चात् श्रीभुशुण्डिजीने जिन शब्दोंमें प्रार्थना की वे ये हैं—*'आयसु देहु, प्रभु आयेहु केहि काज।'* गरुड़जीने इन सबका उत्तर दिया। *'सुनहु, तात जेहि कारन आएउँ सो सब भएउ।'* उन्होंने अपना राजा मानकर *'प्रभु'* सम्बोधन किया तो इन्होंने भी परम भागवत जानकर प्यारका सम्बोधन *'तात'* शब्द दिया। *'तात'* शब्दका प्रयोग माता, पिता, गुरु, भाई, पुत्र, बड़े-छोटे सभीके लिये होता है। अत: इस सम्बोधनका निबाह इस समागममें आये हुए सभी सम्बोधनोंमें हो जाता है। (ख) *'जेहि कारन आयेउँ सो सब भएउ'* अर्थात् जिस निमित्त, जिस कार्यके लिये आया था वह पूर्ण हो गया, अत: अब उसके करनेकी आज्ञा देनेकी आवश्यकता न रह गयी। पं० वि० त्रि० जी लिखते हैं कि *'जेहि कारन आयेउँ'* का भाव यह है कि कोई रचनात्मक कार्य नहीं था, आनेका कारण अपनी ही त्रुटि थी। (ग) *'दरस तव पायउँ'*—भुशुण्डीजीने पूजनके पश्चात् बड़े मधुर वचन जो कहे थे—*'नाथ कृतारथ भएउँ मैं तव दरसन खगराज'*, उनमेंसे *'कृतारथ भएउँ मैं'* का उत्तर तो दोहेहीमें आ गया कि *'सदाकृतारथ रूप तुम्ह..........'*, अब *'तव दरसन खगराज'* का उत्तर दिया कि *'दरस तव पायउँ'* अर्थात् मैं दर्शन पाकर कृतार्थ हो गया। अर्थात् आज हमने जन्मका फल पा लिया, जो कुछ कर्त्तव्य है वह सब कर चुका, अब कुछ करना शेष नहीं रह गया। देखिये, श्रीभरद्वाजजी श्रीभरतजीसे क्या कहते हैं—*'सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥ तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा।'* (२। २१०)—यह सब भाव इन तीन शब्दोंसे जना दिये। दोनों एक-दूसरेसे अधिक नम्र हो रहे हैं।

वि० त्रि०—परस्पर विनयसे दोनोंको सुख होता है। जैसे *'मुनि रघुबीर परस्पर नवहीं। बचन अगोचर सुख अनुभवहीं॥'* (२। १०८)

नोट—२ *'देखि परम पावन..........'* इति। (क) *'सो सब भएउ'* कहकर अब बताते हैं कि वह कार्य क्या था और वह कैसे तथा कब पूरा हो गया। (ख) *'देखि'* का भाव कि आपके दर्शनकी नौबत नहीं आयी, वह कार्य पहले ही हो गया (रा० शं० श०)। *'परम पावन तव आश्रम'* का भाव कि देश और कालकी महिमा है। परम पुनीत आश्रम परम रम्य होता है, वहाँके दृश्यसे भी भगवान्‌के चरणोंमें अनुराग होता है, चित्तके विक्षेप दूर होते हैं। यथा *'आश्रम परम पुनीत सुहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा॥ निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा। भयउ रमापति पद अनुरागा॥ सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी॥ सहज बिमल मन लागि समाधी॥'* (१। १२५) अत: परम पावन आश्रमके देखनेसे मोहादिका जाना कहते हैं (वि० त्रि०)। *'परम पावन'* अर्थात् यह स्वयं पवित्र है और दर्शनसे दूसरोंको भी पवित्र करता है। (ग) *'गएउ मोह संसय नाना भ्रम'*—ये ही तीनों श्रीपार्वतीजीने अपनेमें कहे हैं। यथा *'हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी।'* (१। १०८। ४) *'जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू।'*, *'अजहूँ कछु संसय मन मोरे।'* (१। १०९) इसीपर श्रीशिवजीने कहा है *'रामकृपा तें पारबति सपनेहु तव मन माहिं। सोक मोह संदेह भ्रम मम बिचार कछु नाहिं॥'* (१। ११२) तीनोंके भेद *'निज संदेह मोह भ्रम हरनी'* (१। ३१। ४) में देखिये। गरुड़जीने इन तीनोंका अपनेमें, यहाँ आनेके पूर्व, होनेका कारण और उनकी निवृत्ति आगे भी प्रसङ्ग पाकर कही है यथा—*'देखि चरित अति नर अनुसारी। भयउ हृदय मम संसय भारी॥ सोइ भ्रम अब हित करि मैं माना।—जो नहि होत मोह अति मोही। मिलतेउँ तात कवन बिधि तोही॥'* (६९। १—४) (घ) *'देखि..........भ्रम'* यथा—*'देखि सैल प्रसन्न मन भएऊ। माया मोह सोच सब गएऊ॥'* (६३। २) वहाँके *'सोच सब'* में नाना संशय-भ्रम सबका समावेश जनाया।

'बार बार बिनवौं प्रभु तोही' से कथामें अति श्रद्धा दिखायी; क्योंकि श्रद्धाहीनसे कथा न कहनी चाहिये (पार्वतीजीने भी बारम्बार प्रार्थना की थी)।

खर्रा—*'अब श्रीरामकथा.........'* इति। शिवजीकी आज्ञा है कि *'जाइ सुनहु तहँ हरिगुन भूरी।'* इससे *'होइहि मोहजनित दुख दूरी'*, अतएव आज्ञानुकूल ही श्रीरामकथा पूछते हैं।

पं० रा० व० श०—*'अब श्रीरामकथा अतिपावनि..........।'* भाव कि जप-तपादि बड़े-बड़े साधन हैं, पर मनुष्य आत्मशुद्धिको उस समयतक प्राप्त नहीं होता जबतक वह भगवत्-चरित न सुने।

नोट—३ (क) मोह, संशय दूर होनेपर कथामें प्रेम होता है, यथा—*'तब कर अस बिमोह अब नाहीं। रामकथा पर रुचि मन माहीं॥'* (१। १०९। ७) अत: *'गएउ मोह संसय नाना भ्रम'* कहकर तब *'अब श्रीरामकथा.........'* इत्यादि कहा। *'श्रीराम'* से रघुपति राम सूचित किया। यथा—*'लाग कहइ रघुपति गुनगाहा।'* (प्र० सं०) भगवान्‌के अङ्ग-पूजनमें 'राम' से परशुराम और 'श्रीराम' से दाशरथी रामका ग्रहण है। यथा—'**मत्स्याय नमः, पादौ पूजयामि। कूर्माय नमः, गुल्फौ पूजयामि। वाराहाय नमः, जानुनी पूजयामि। नारसिंहाय नमः, ऊरू पूजयामि॥ वामनाय नमः, कटि पूजयामि। रामाय नमः, उदरं पूजयामि। श्रीरामाय नमः, हृदयं पूजयामि।**' इत्यादि (वि० त्रि०)। (ख) *'अति पावनि'*-भाव कि इसके समान पावनकर्ता कोई दूसरा साधन नहीं है (पं० रा० व० श०)। सभी अवतारोंकी कथाएँ पावनी हैं, पर श्रीरामावतारकी कथा अति पावनी है। (ग) *'सदा सुखद'*, यथा—*'रामचरित राकेसकर सरिस सुखद सब काहु। सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेषि बड़ लाहु॥'* (१। ३२) *'सुखद'* से श्रवण और मन दोनोंको सुख देनेवाली जनाया। यथा—*'श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा।'* (५३। ४) *'सदा सुखद'* कहकर जनाया कि कथा अमृतरूप है, इसीसे सदा सुख देनेवाली है, इससे भी कभी अघाता नहीं; यथा—*'नाथ तवानन ससि स्रवत कथा सुधा रघुबीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहि अघात मति धीर॥'* (५२) *'श्रवनवंत अस को जग माहीं। जाहि न रघुपति चरित सोहाहीं।'* (५३। ५) पुन: *'सदा सुखद'* का भाव कि इसे सुननेसे फिर मोहादि नहीं होते। यह भी जनाया कि कथासे सुख न हो तो समझना चाहिये कि हमने कथा नहीं सुनी।

वि० त्रि०—(क) इस कथासे अनिर्वाच्य विश्राम मिलता है। यथा *'एहि बिधि कहत रामगुन ग्रामा। पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा॥'* अत: *'सदा सुखद'* कहा। (ख) *'दुखपुंज नसावनि'* भाव कि कितने ही दु:ख हों, कथा प्रारम्भ होते ही दूर हो जाते हैं। देखिये, श्रीसीताजी कितनी दु:खी थीं। हनुमान्‌जी कहते हैं कि *'सीता कर अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहे भल दीन दयाला॥'*, ऐसा दु:ख भी तुरंत दूर हो गया। यथा—*'रामचंद्र गुन बरनइ लागा। सुनतहिं सीता कर दुख भागा॥'*

रा० शं० श०—*'आयसु होइ सो करउँ'* के उत्तरमें *'अब श्रीराम कथा अति पावनि। सादर तात सुनावहु'* कहा। साथ ही कथाका महत्त्व भी कहा कि वह *'अति पावनि। सदा सुखद दुखपुंज नसावनि'* है।

नोट—४ (क) *'सादर तात....'* *'बिनवौं प्रभु....'* इति। तातसे आचार्य-पद नहीं सूचित होता अत: फिर *'प्रभु'* सम्बोधन किया। यह नीचानुसन्धान जिज्ञासुका धर्म है। तातसे प्रियत्व और प्रभुसे स्वामिभाव दरसाया (प्र० सं०)। आदरके साथ सुनानेमें *'तात'* और बार-बार विनती करनेमें *'प्रभु'* सम्बोधन कहते हैं। (वि० त्रि०)

वि० त्रि०—*'सादर मोहि सुनावहु'* इति। भाव यह कि यह न खयाल करो कि इन्होंने सुना ही होगा। अत: इनसे कहना '**पिष्टस्य पेषणम्**' है; पर यह बात नहीं है, मैंने सब कथा नहीं सुनी है। आजकल जैसा ज्ञान-भक्तिका उपदेश खुले खजाने दिया जाता है वैसे पहले नहीं दिया जाता था। पहिलेके लोगोंको थोड़ा ही उपदेश बहुत होता था, क्योंकि वे लोग तदनुसार आचरण करते थे। इस कालमें आचरण करनेवाले बहुत कम हैं। अत: महात्मा लोग कृपा करके गुप्त रहस्योंका बारम्बार उपदेश करते हैं, और न हो तो बार-बार सुनते-सुनते कुछ भावनामें ही परिवर्तन हो जाय तो भी कल्याण हो। इस रामचरितमानसकी ही रचना करके शिवजीने अपने हृदयमें ही रख छोड़ा, किसीसे कहा नहीं—*'पाइ सुसमय सिवा सन भाषा।'* लोग बिना पात्र पाये कभी कहते ही न थे। यथा—*'यह न कहिअ सठही हठसीलहि।* १२८। ३...........' इत्यादि। गरुड़जी

डर रहे हैं कि मुझे अनधिकारी समझकर कहीं उतनी ही कथा न कहें जितनी कि ऐसे लोगोंसे कही जाती है; अतः रहस्यसहित कहनेके लिये *'सादर मोहि सुनावहु'* कहते हैं।

'बार बार बिनवौं तोही' से अपनेको आर्त अधिकारी सूचित कर रहे हैं, जिनसे रहस्य भी बतलाया जाता है। यथा *'गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥'* ६४ (१) में 'द्वितीय प्रहर्षण' और 'प्रथम उल्लास' अलङ्कार है।

सुनत गरुड़ कै गिरा बिनीता। सरल सुप्रेम सुखद सुपुनीता॥ ५॥
भएउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहइ रघुपति गुन गाहा॥ ६॥

अर्थ—गरुड़जीकी बहुत नम्र, सरल, सुन्दर एवं अत्यन्त प्रेमयुक्त, सुख देनेवाली और अतिशय पवित्र वाणी सुनते ही भुशुण्डिजीके मनमें अत्यन्त उत्साह हुआ और वे रघुनाथजीके गुणोंकी कथा कहने लगे॥ ५-६॥

नोट—१ वस्तुतः सभी वाणी विनीत, सरल इत्यादि है, पर महानुभावोंने पृथक्-पृथक् सबको दिखानेकी चेष्टा की है। अतः, पृथक् भी दिखाते हैं।—वि० त्रि०।

१ विनीत	**'सदा कृतारथ रूप तुम्ह'…… 'बार बार बिनवउँ प्रभु तोही'**	**सदा कृतारथ………कीन्ह महेस**
२ सरल	**'जेहिकै अस्तुति सादर निज मुख कीन्ह महेस'**	**सुनहु तात………तव पाएउँ**
३ सुप्रेम	**'सुनहु तात' 'सादर तात सुनावहु………'**	**देखि परम पावन………भ्रम**
४ सुखद	**'अब श्रीरामकथा अति पावनि। सदा सुखद………'**	
५ सुपुनीत	**'देखि परम पावन तव आश्रम………'**	**'सादर तात सुनावहु………'**

पं०—स्वामि-सेवक-भावसूचक होनेसे विनीत, संदेह सच-सच कह देनेसे सरल, कथामें श्रद्धा-रुचि होनेसे सुप्रेम, विनीत होनेसे सुखद और रामगुणानुवादकी द्योतक होनेसे सुपुनीत कहा।

पं० रा० व० श०—१ *'सरल'* इति।—हृदयका जैसा बर्ताव है वैसा ही कहना, कपट-बनावटसे रहित जो कहा जाय वह *'सरल'* कहलाता है। २—प्रेम और भगवद्रसभरे होनेसे सुखद और सुपुनीत कहा।

वि० त्रि०—गरुड़-भुशुण्डि-संवाद कब हुआ? भुशुण्डिजी कलियुगमें बटतले कथा कहते हैं। कथाके प्रारम्भमें गरुड़जी पहुँचे। अतः निश्चित हुआ कि गरुड़जी कलियुगमें वहाँ गये। अब निर्णय करना है कि किस चतुर्युगीके कलियुगमें गये। वाल्मीकीयके **'इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः'** से निश्चय होता है कि श्रीरामावतार वैवस्वत मन्वन्तरके चौबीसवीं चतुर्युगीके त्रेताके अन्तमें हुआ, क्योंकि वैवस्वत मनुके पुत्रका नाम इक्ष्वाकु था। हरिवंशमें भी कहा है **'चतुर्विंशे युगे चापि विश्वामित्रपुरस्सरः। राज्ञो दशरथस्यायं पुत्रः पद्मायतेक्षणः॥'** श्रीरामजीके ही रणबन्धनमें गरुड़को मोह हुआ। ब्रह्मलोकमें द्वापर बीत गया, जिस भाँति महाराज रेवतको क्षणभर ठहरनेमें युग बीत गया था। अतः गरुड़जी वैवस्वत मन्वन्तरके २४ वीं चतुर्युगीके कलियुगमें कथा सुनने गये थे।

पं० रा० व० श०—*'भएउ परम उछाहा।'* कारण कि ये तो कथा कहनेहीको थे। गरुड़जीके आनेपर समझे थे कि न जाने किस कामसे आये हैं, पहले वह काम कर लें तब कथा प्रारम्भ करें। जब यह जाना कि कथा ही सुननेकी इनकी भी इच्छा है तब उत्साह और भी बढ़ गया। ऐसे गुणविशिष्ट श्रोताओंको पाकर वक्ताको परम उत्साह होता ही है।

[☞ श्रीरामकथा उत्साहसे कहना ही चाहिये, यह कथा कहनेकी रीति है। यथा—*'रघुपति चरित महेस तब हर्षित बरनै लीन्ह।'* (१। १११) *'हिय हरषे कामारि तब संकर सहज सुजान।'……'सुनु सुभ कथा भवानि।'* (१। १२०) *'भयउ हृदय आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू। चली सुभग कविता-सरिता-सो॥'* (१। ३९)]

वि० त्रि०—*'लाग कहइ रघुपति गुन गाहा'* इति। भाव कि मानसका मूल प्रारम्भ हुआ। मानस मूल=(१) मानसका मूल। (२) मानस है मूल जिसका। इस कथामें दोनों अर्थ लग जाते हैं। मानसका मूल भी यही कथा है, क्योंकि *'बेद पुरान उदधि घन साधू॥ बरषहिं रामसुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥'* यही राम-सुयश-वर-वारि मानसमूल है। अतः यह गरुड़-भुशुण्डि-संवाद मानसमूल हुआ। दूसरा भाव

कि शिवजी गरुड़-भुशुण्डि-संवादका ही वर्णन करते हैं, यथा—*'सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल। कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़॥'*

दूसरी व्युत्पत्ति भी सार्थक होती है कि सातों काण्डरूपी सोपान, ज्ञान-विराग-विचाररूपी हंस नवरस, जप-तप-योगरूपी जलचर आदि तो हृदयमें मानस-सर बननेके समय आ जाते हैं, परन्तु जब कथाका स्रोत बहता है तब संसारमें तो केवल कथामात्र ही फैलती है। ज्ञान-वैराग्यरूप जप, तप, योग, विराग सब मानसमें धरे ही रह जाते हैं। अतः इस भाँति भी यह कथा मानस-मूल हुई।

प्रथमहिं अति अनुराग भवानी। रामचरितसर कहेसि बखानी॥७॥
पुनि नारद कर मोह अपारा। कहेसि बहुरि रावन अवतारा॥८॥
प्रभु अवतार कथा पुनि गाई। तब सिसुचरित कहेसि मन लाई॥९॥

अर्थ—हे भवानी! पहले तो भुशुण्डिजीने बड़े ही प्रेमसे रामचरितमानससर (का रूपक) विस्तारसे वर्णन किया॥ ७॥ फिर नारदका भारी मोह और उसके पीछे फिर रावणका अवतार कहा॥ ८॥ फिर प्रभुके अवतारकी कथा वर्णन की। तत्पश्चात् मन लगाकर शिशुचरित कहे॥ ९॥

वि० त्रि०—१ (क) *'प्रथमहिं'* इति। कारण कार्यका नियतपूर्ववर्ती होता है। अतः स्वाभाविक क्रमसे पहले कारणका निरूपण प्राप्त है। रामचरित-वर्णनका कारण पहले वक्ताके हृदयमें रामचरितका अवस्थान है। यदि वक्ताका ही हृदय रामचरितमें भरपूर न हुआ तो वह वर्णन क्या करेगा। जैसे प्रथम **'हर हिय रामचरित सब आए'** तब उन्होंने उनको कहना आरम्भ किया। यथा—*'रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह।'* (१। १११) वैसे ही श्रीभुशुण्डिजी प्रथम यही वर्णन करते हैं कि उनके हृदयमें रामचरित पहले कैसे आया। इस वर्णनसे श्रोता भी उसी भाँति रामचरितको अपने हृदयमें स्थान दे सकेगा। (ख) *'अति अनुराग'* इति। पहले राग होता है तब अनुराग। राग=रंग। जिस रंगमें चित्त रँग जाता है उसीमें राग होता है। जब स्वाभाविक ही कठिन चित्त काम, क्रोध, हर्ष, शोक आदिसे पिघल जाता है, उस समय जो भावना होती है वही रंग चित्तमें लाखकी भाँति चढ़ जाता है, फिर कठिन हो जानेपर भी उसे नहीं छोड़ता। एवं जिसका मन रामरंगमें रँग जाता है, उसीका रामजीके प्रति राग होता है। यथा—*'हिय फाटौ फूटौ नयन जरौ सो तन केहि काम। द्रवै स्त्रवै पुलकै नहीं तुलसी सुमिरत राम॥'* और जिसका राममें राग होगा उसीका उनके चरितमें अनुराग होगा। भुशुण्डिजीका श्रीरामजीमें अतिराग था, अतः उन्हें श्रीरामचरित-वर्णनमें भी *'अति अनुराग'* हुआ। (ग) *'भवानी'* इति। पूर्वसंकल्पानुसार शिवजीने भुशुण्डि-गरुड़-संवाद भवानीसे कहना आरम्भ किया। संकल्पके समय भी भवानी सम्बोधन दिया था, यथा—*'सुनु सुभ कथा भवानि………।'* (१। १२०) आदि कथाका आरम्भ भी *'भवानी'* शब्दसे ही हुआ था। यथा—*'एक बार त्रेता जुग माहीं। संभु गये कुंभज रिषि पाहीं॥ संग सती जग जननि भवानी॥'* अतः यहाँ भी कहनेके समय *'भवानी'* सम्बोधन दे रहे हैं। पुनः भाव कि ये जगदम्बा हैं, इन्होंने जगत्-हितके लिये प्रश्न किया है। भवानीका अर्थ ही जगदम्बा होता है। यथा—*'जगदंबा तव सुता भवानी।'* अतः भवानी सम्बोधन दिया।

'रामचरितसर कहेसि बखानी'

पं० रा० व० श०—१ *'रामचरितसर'* जैसा कि गोस्वामीजीने कहा है वैसे ही रामचरितको सरके रूपकसे कहा। क्योंकि यह मानससरसे निकला है। इस पदसे जनाया कि यह चरित सबसे विलक्षण है। शिवजीने मानसमें रचकर रखा और बहुत काल मनमें भरे रहे।—[इसे शिवजी पार्वतीजीसे कह चुके हैं, यथा—*'रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥'* सरका रूपक जो गोस्वामीजीने बाँधा है वह *'सुमति भूमि थल हृदय अगाधू।'* (१। ३६। ३) से *'जो नहाइ चह एहि सर भाई।'* (१। ३९। ७ तक है।)]।

वै०—*'रामचरितसर कहेसि बखानी'* अर्थात् 'मानससरके सर्वाङ्ग उपमान देकर श्रीरामचरितमानसके सर्वाङ्ग उपमेय करि वर्णन किये। घाटादिक सब वर्णन किये।' शिशुचरित *'मन लाई'* कहा क्योंकि इष्ट है।

खर्रा—रामचरितसरको बखानकर कहा अर्थात् *'रामचरित मानस नामा'* ग्रन्थको पूर्ववत् उत्थान वर्णन किया। वा, रामचरितको मानसर और सरयूके क्रमसो सङ्गति-कथन किया। यहाँ स्वकीयकृत ग्रन्थ सूचित किया।

गौड़जी—गोस्वामीजीने व्याजसे यहाँपर भगवान् शङ्कररचित रामचरितमानसकी संक्षिप्त विषय-सूची दी है। जिस सरसरि-रूपकका वर्णन गोस्वामीजीने अपनी भूमिकामें किया है वह शङ्कररचित रामचरितमानसकी भूमिका है। रामचरितका सररूपक मूलरूपमें शङ्करजीका है। गोस्वामीजीने उसका विस्तार करके उसे साङ्गोपाङ्गरूपक कर दिया है। मजमून असली भगवान् शङ्करका है, उसका विस्तार गोस्वामीजीका अपना है। उन्होंने इस बातको छिपाया नहीं है, साफ कहा है—*'रामचरितमानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा॥ मन करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जो एहि सर परई॥ रामचरितमानस मुनि भावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन॥ रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥ तातें रामचरितमानस बर। धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर॥ कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥ जस मानस जेहि बिधि भयउ जग प्रचार जेहि हेतु। अब सोइ कहउँ प्रसंग सब सुमिरि उमा बृषकेतु॥'* (१। ३५), *संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी॥ करइ मनोहर मति अनुहारी। सुजन सुचित सुनि लेहु सुधारी॥'*

यहाँ यह भाव स्पष्ट है कि रामचरितमानसकी रचना भगवान् शङ्करने अपने मनमें कर रखी थी और इस रचनाका नाम बड़ी प्रसन्नतापूर्वक भगवान् शङ्करने रामचरितमानस रखा। मानससे अभिप्राय मानससर था। सरका यह रूपक भगवान् शङ्करका ही है, जिसका निर्देश मानसकारने नामनिर्देशमें यों किया है- मनरूपी मत्त निरंकुश काला गजराज विषयोंके भयानक वनमें निर्भय विचरता था। विषयके आत्यन्तिक संघर्षसे वनमें आग लग गयी, वह छटपटाता सारे वनमें शान्तिके लिये दौड़ता है, कहीं सौभाग्यसे रामचरितमानसरूपी सरोवर मिल जाय तो वासनाओंकी भयानक आँचसे उसे शीतलता मिले और वह सुखी हो जाय। इस छोटेसे रूपकको जब मानसकारने अपनाया तो शिवजीकी कृपासे ही उसे अपनी मतिके अनुसार साङ्गोपाङ्ग मनोहर बनाया। रूपक मूल रामचरितमानसका है, विस्तार गोस्वामीजीका। चारों संवादके चार घाट गोस्वामीजीके हैं। जैसे कोई तालाब खोदवाकर चारों ओर घाट न बनवाकर एक ही ओर सात सीढ़ियाँ रखे, उसी तरह भगवान् शङ्करने सात सोपान रखे। घाटोंकी रचना बहुत बादकी है। गोस्वामीजीने चारों घाट बाँधे हैं, इसलिये सरसरिरूप समाप्त होते ही भरद्वाज-घाटपर उतर आये हैं। इस घाटपर शिवचरित है यह गोस्वामीजीकी रचना है। इस घाटपर स्नान करके तब पाठकको शङ्कर-घाटपर जाना होता है, यह सबसे प्राचीन घाट है। रामराज्यतक इसीपर मानसकी रचना है। काकभुशुण्डि-गरुड़-संवाद तीसरा घाट है। इस प्रकार गोस्वामीजीने अपने भाषा-प्रबन्धकी जो भूमिका की है वह ३२ वें दोहेपर ही समाप्त हो गयी है—***'कीन्हि प्रश्न'*** से लेकर ***'नसाहिं काम मद दंभा'*** तक इस कथा-प्रबन्धका 'अर्थ' है। रामचरितमानसके नामसे इस कथाका आरम्भ है। जैसे कोई कहे **'अथ रामचरितमानसो लिख्यते'** उसी तरह ***'रामचरितमानस एहि नामा'*** यह कहा है। यह बात तो आरम्भमें स्पष्ट कर दी गयी है। तो भी इसलिये कि शायद किसीको धोखा हो कि कथा तो ***'सुनु सुभ कथा भवानि'*** से आरम्भ हुई है, फिर रामचरितसर उसका कोई अङ्ग नहीं है, यहाँ भुशुण्डिके द्वारा आरम्भ करनेमें रामचरितसरसे ही आरम्भ करते हैं और यह सूचित कर देते हैं कि सरका रूपक भगवान् शङ्करकी ही रचना है। सरका रूपक विस्तारसे पहले ही कहा जा चुका था, इसलिये कथोपकथनमें नहीं लाया गया। कथाका ढंग सदासे ही प्रश्नोत्तरका ही रहा है। परंतु जब मानसकी रचना पहले ही हो चुकी तो उसका रूप कथोपकथनका नहीं हो सकता। तो उसका मूल रूप क्या था? इस प्रश्नका उत्तर भुशुण्डिजीकी कथाके व्याजसे मिल जाता है। अर्थात् भगवान् शङ्करने रामचरितमानसका पहले सरोवररूपक बाँधा था और उसमें सातों सोपानोंका विभाग दिखाकर रावण और रामावतारके कारणोंका उल्लेख करके रावण और रामावतारकी कथाएँ दी गयी हैं।

'पुनि नारद कर मोह अपारा' में यह शङ्का की जाती है कि रामचरितमानसमें तो चार अवतारोंकी कथाएँ हैं और विशेष विस्तारसे परात्पर परब्रह्मके अवतारकी कथा है और शिवजीने स्वयं कहा है कि

मैंने वही कथा कही है जो भुशुण्डिने गरुड़से कही थी, परंतु यहाँ 'नारदमोह' कहकर केवल श्रीमन्नारायणावतारकी सूचना दी जाती है! यह कथन-वैपरीत्य कैसा? विचार करनेसे इसमें कोई वैपरीत्य नहीं दीखता। रावण और रामके चारों अवतारोंकी कारणीभूत कथाएँ पाँच कही गयी हैं। उनका क्रम यह है—(१ जय-विजय), (२ जलन्धर), (३ नारदमोह), (४ मनु-शतरूपा), (५ प्रतापभानु)। इन पाँचोंमें नारदमोह मध्य कथा है। मध्य कथाकी चर्चा करके पाँच कथाओंका निर्देश कर दिया है। यह आवश्यक नहीं है कि सब कथाओंका उल्लेख किया जाय *'ऋषि आगमन'* कहकर *'रघुबीर बिवाह'* कहनेसे मखरक्षा, राक्षसवध, अहल्योद्धार, जनकपुर-गमन, फुलवारी, धनुषयज्ञ और परशुरामदर्पदलन सभी कथाओंका सन्निवेश हो गया। 'पुरवासियोंके विरह-विषाद और रामलक्ष्मणसंवादसे' राम-दशरथ, राम-कौशल्या, राम-सीता, लक्ष्मण-सुमित्रा आदि अनेक संवादोंका समावेश हो जाता है। हाँला कि रामलक्ष्मण-संवाद आदि या अन्तकी घटना नहीं है, यह भी मध्यकी घटना है। सुमन्तका पहुँचाना, निषादका प्रेम, वसिष्ठजीकी सभा, चित्रकूटकी अनेक सभाएँ, राजा जनकका प्रसङ्ग, अयोध्याके चरितोंमें नहीं गिनाया है। परंतु इससे यह न समझना होगा कि ये कथाएँ कही नहीं गयी हैं। रामेश्वरकी स्थापना बड़े महत्त्वकी घटना है, यह चर्चा न होनेसे यह समझना मूर्खता होगी कि भुशुण्डिने शम्भु-स्थापनाकी कथा नहीं कही। निदान इस छोटी-सी-सूचीमें न कोई विस्तारकी खोज करता है और न किसी कथाके इस सूचीमें न होनेसे किसीको यह समझना चाहिये कि भुशुण्डिजीकी कही हुई कथामें यह विषय छूट गये हैं।

नोट—रामचरितसर और रामचरितमानस दो पृथक्-पृथक् वस्तु हैं, पर 'सर' भी मानसका एक अङ्ग है। ये दोनों बातें मानसके वाक्योंसे सिद्ध होती हैं। 'रामचरितसर' क्या और कहाँसे कहाँतक है इसमें मतभेद है। मत नीचे दिये जाते हैं—

प्रारम्भ	समाप्ति
१ **'बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा'** बा० ३५ (६)	**'फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी'**
२ **'रामचरितमानस एहि नामा'** बा० ३५ (७)	(बा० ४३ (८)
३ **'मति अनुहारि सुबारि गुन गन गनि मन अन्हवाइ। सुमिरि भवानी संकरहिं कह कबि कथा सुहाइ'**	**'सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल'** बा० १२०
४ ,, बा० ४३	**'प्रति अवतार कथा प्रभु केरी·········।'**
५ **रचि महेस निज मानस राखा** [बा० ३५ (११)]	**'प्रति अवतार कथा प्रभु केरी·········'**
६ **'हरिगुन नाम अपार·········'** बा० १२०	,, बा० १२४ (४)
७ **'सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा'** बा० ११६	**'राम सो परमातमा·········'** बा० १२०
८ **'रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥ ताते रामचरितमानस बर। धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर'**-यह सब रा० प्र०	
९ **'रामकृपा ते पार्वति'** बा० ११२	**'ज्ञान बिराग सकल·········'** बा० ११९ (६)

श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि 'जब शिवचरित समाप्त हुआ—*'संभुचरित सुनि सरस सुहावा। भरद्वाज मुनि अति सुख पावा॥'* (१। १०४। १) तब उसके बाद रामकथाका प्रारम्भ है जो शिवपार्वतीके संवादरूपमें है—*'बिश्वनाथ मम नाथ पुरारी।········।'* (१। १०७। ७) इसी शिव-पार्वती-संवादमें प्रथम रामचरितसर है। क्योंकि यहींसे रामकथा प्रारम्भ कहलाता है और रामकी कथाके वर्णनमें प्रथम रामचरितसर कहा गया है। अतः पार्वती-संवादमें प्रथम रमचरितसर है जिसमें पार्वतीका यह प्रश्न है—*'प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहँ ब्रह्म अनादी॥'* (१। १०८। ५) वे राम अवधनृपतिसुत हैं? जो नृपसुत हैं तो ब्रह्म किमि? पुनः *'सेस सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना॥ तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती॥' राम्* *सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई॥'* *'जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरहँ मति भोरि। देखि चरित महिमा सुमन भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥'* पुनः*'जौं अनीह ब्यापक बिभु कोऊ। कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ॥'*—इन प्रश्नोंका उत्तर जो शिवजीने

दिया है वही रामचरितसर है जो *'मगन ध्यान रस दण्ड जुग………'* (१। १११) से प्रारम्भ हुआ है और *'पुनि पुनि प्रभु पद कमल गहि………'*(१। ११९) पर समाप्त हुआ। जिसको सुनकर पार्वतीने कहा है कि *'रामस्वरूप जानि मोहि परेऊ।'* शिवजीने उत्तर पाँच *'सोई'* करके जो दिया है वही रामचरितसर है।

कुछ महानुभावोंका कहना है कि 'सर' और 'मानस' दो माननेपर हमें देखना होगा कि 'सर' कहाँसे कहाँतक है। इसके लिये बालकाण्डके श्रीउमा-महेश्वर-संवादकी छानबीन करनी होगी।

बा० १०७ (७) *'बिश्वनाथ मम नाथ पुरारी'* से यह संवाद प्रारम्भ होता है और १११ (५) पर पार्वतीजीके प्रथम प्रश्नोंकी समाप्ति होती है। वे प्रश्न करती हैं कि—राम कौन हैं कि जिनको आप जपते हैं और जिन्हें मुनि अनादिब्रह्म कहते हैं? ये वही अवधनृपतिसुत हैं या अन्य कोई हैं? दूसरा प्रश्न है कि निर्गुण किस कारण सगुण होता है? फिर रामावतार और रामचरितके प्रश्न हैं और अन्तमें यह प्रार्थना है कि जो मैंने न पूछा हो (पर जाननेकी बात हो) वह भी छिपा न रखियेगा। इसके बाद शिवजी अपने इष्टदेव बालरूप रामका स्मरण और प्रणाम कर प्रथम उनकी प्रशंसा करते हैं—दोहा १११ (६) से ११४ (६) तक। फिर उनपर डाँट-फटकार है—*'एक बात नहिं मोहिं सुहानी'* ११४ (७) से ११५ के ऊपरतक। फिर दोहा ११५ में वे श्रीपार्वतीजीसे कहते हैं कि हमारे *'भ्रम तम रबिकर बचन'* सुनो। रामचरितसर या रामचरितमानस या रामकथा (या ऐसे कोई पर्याय शब्द) सुननेको नहीं कहते। ये भ्रमभंजन वचन ११६ (१) निर्गुण-सगुणके अभेदसे *'ग्यान बिराग सकल गुन जाही'* ११९ (६) तक है। इन्हींमें रामजीका स्वरूप भी प्रतिपादित किया है और पार्वतीजीपर फटकार भी है। इस स्थानपर जो बातें कही गयी हैं वे प्राय: सब भुशुण्डिजीने कथाके बाद रामपरत्ववर्णनमें तथा मोह-प्रसङ्गमें कही हैं।—इन वचनोंसे पार्वतीजीका मोह दूर हुआ और उनको रामस्वरूप जान पड़ा।—*'रामसरूप जानि मोहि परेऊ।'* इसके बाद पार्वतीजी प्रश्न करती हैं कि—वे चिन्मय अविनाशी सर्वरहित सर्वउरवासी प्रभु रामने किसलिये नरतन धारण किया। १। १२० (६-७) से *'हिय हरषे कामारि………'* तक।

यहाँतक कहीं बीचमें भुशुण्डि-गरुड़-संवादका नाम भी नहीं पाया जाता, किन्तु इनके बाद ही इनका नाम आता है—*'सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल। कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़॥'* अतएव यह निर्वाद सिद्ध है कि भुशुण्डि-गरुड़संवादमें जो कुछ भुशुण्डिजीने कहा है वह इसके पहले नहीं हो सकता, वरन् इसके आगे ही है। अर्थात् रामचरितसर और कथाका प्रसङ्ग *'सुनु सुभ कथा भवानि'* से प्रारम्भ होता है, पहले नहीं। और दोनों (उमा-महेश्वर) के संवादकी इति *'सुनि सब कथा हृदय अति भाई'* उत्तरकाण्डकी इस चौपाई उ० १२९ (७) पर होती है। नारदमोहप्रसङ्ग *'नारद साप दीन्ह एक बारा'* से प्रारम्भ होता है। अतएव 'सर' बा० १२० से बा० १२४ (३) *'एक जनम कर कारन एहा। जेहि लगि राम धरी नरदेहा॥'* तकमें ही है और स्वरूपका वर्णन जो इसके पूर्व है वह गरुड़से कहा हुआ रामचरितसर नहीं हो सकता।

ऊपर जो मत १-६ लोगोंके लिखे गये, वे वचन श्रीशिवजीके पार्वती-प्रति नहीं हैं और 'रामचरितसर' का श्रीशिव-पार्वतीसंवादान्तर्गत होना श्रीशिवजीके *'कथा समस्त भुसुंडि बखानी। जो मैं तुम्ह सन कहा भवानी॥'* इन वचनोंसे स्पष्ट है।

कुछ लोगोंका कहना है कि गोस्वामीजीने 'रामचरितसर' शब्दका प्रयोग अपने वन्दना-प्रकरण वा भूमिकामें भी किया है, यथा—*'रामचरितसर बिनु अन्हवाये। सो श्रम जाइ न कोटि उपाये॥'* तथा और भी स्थलोंमें मानसको सर कहा है—

'रामचरितमानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइय बिश्रामा॥
मन करि अनल बिषय बन जरई। होइ सुखी जो एहि सर परई॥' बा० ३५॥
'ते नर यह सर तजहिं न काऊ। जिन्ह के रामचरन भल भाऊ॥' बा० ३९॥
और **'रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥**
तातें रामचरितमानस बर। धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर॥' बा० ३४॥

ये उद्धरण भी इस पक्षका पोषण करते जान पड़ते हैं। इनसे यही आशय निकलता है कि रामचरितमानस सब-का-सब शिवकृत है, सब गुप्त रहा है और मानस एवं सर दोनों पर्याय हैं। वीरकवि, वि० टी०, पंजाबीजी, करु० और रा० प्र० का मत इसी पक्षकी ओर है। इन्होंने '*सर*' का अर्थ 'मानस' ही किया है।

पर इसके उत्तरमें दूसरे कहते हैं कि यदि रामचरितसरको यथार्थ ही मान लें तो भुशुण्डिजीके '*प्रथमहि अति अनुराग भवानी। रामचरित सर कहेसि बखानी॥ पुनि नारद*·········' को क्योंकर समझायेंगे? इससे तो '*सर*' कथासे पृथक् स्पष्ट है।

और कुछ लोगोंका मत है कि—'शिवजीके वचनका अर्थ यह लगाना चाहिये कि नारद-मोहसे लेकर सब रामचरित जो हमने तुमसे कहा वही भुशुण्डिने गरुड़से कहा' 'कथा समस्त' से केवल चरित्र लेना चाहिये और '*सर*' शिवजीने कहा ही नहीं, इसलिये उसको यहाँ नहीं कहते। वह सर मानसकविने सज्जनों, अपने श्रोताओंसे कहा ही है, वही सर भुशुण्डिजीने कहा है। यह बहस बहुत अच्छी और दृढ़ जान पड़ती है। पर इसके उत्तरमें दूसरे पक्षवाले कह सकते हैं कि यदि पार्वतीजीसे शिवजीने न कहा होता तो क्या वे चुप रहतीं, और न पूछतीं कि वह रामचरितसर कौन है जो भुशुण्डिजीने बखानकर कहा था, मुझे भी सुनाइये?

☞इस तरह रामायणियोंमें बड़ा विवाद है। '*सर*' का अर्थ है 'तालाब' और इस अर्थमें ग्रन्थकारने इसको तमाम स्थलोंमें प्रयुक्त भी किया है। अतः सम्पादक पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी, बैजनाथजी और गौड़जीसे इसमें सहमत हैं।

वि० त्रि०—हृदयमें आये हुए रामचरितकी तालाबसे उपमा दी जाती है। क्योंकि जिस भाँति तालाब मेघमुखच्युत जलको चारों ओरसे समेटकर अपनेमें भर लेता है, उसी भाँति शुश्रूषुके हृदय भी साधुमुखच्युत रामचरितको अपने हृदयमें एकत्रित कर लेते हैं। यथा—'*सिमिटि सिमिटि जल भरहिं तलावा। जिमि सद्गुन सज्जन पहँ आवा॥*' श्रीभुशुण्डिजीने भी अपने हृदय-सरको इसी तरह भरा। यथा—'*सुनत फिरौं हरिगुन अनुबादा। अब्याहत गति संभु प्रसादा॥*' और उसकी पूर्ति लोमश ऋषिद्वारा हुई। यथा—'*मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानस तब भाषा॥*' श्रीगोस्वामीजीकी रीति है कि पाठकके मनमें बैठानेके लिये कथाको व्यास (विस्तृत) और समास (संक्षिप्त) दोनों रीतिसे वर्णन करते हैं। सो व्याससे वर्णन मानस-प्रसङ्गमें हुआ है। उसी बातको यहाँ समासमें कह रहे हैं।

वि० त्रि०—'*कहेसि बखानी*' इति। रामचरितकी ऐसी महिमा है कि उसे मनमें भर लेनेसे श्रोताका हृदय स्वयं रामायणरूप हो जाता है। उसे रामजीके गुणोंपर पक्षपात और निशाचरोंके दुर्गुणोंपर अनायासेन द्वेष हो जाता है, फिर तो उसके हृदयमें एक-एक भाव रामचरितके पात्र हो जाते हैं। राम-रावणका संग्राम छिड़ जाता है और रामचरित मनन करते-ही-करते उसके हृदयमें रामराज्य स्थापित हो जाता है। श्रीगोस्वामीजीने विनय पद ५८ '*देहि अवलंब करकमल*··········' में इसका बड़ा रोचक वर्णन किया है। इस भाँति जब हृदयमें रामराज्य स्थापित हो जाता है, तब आनन्दके उछाहमें प्रेम-प्रमोदका प्रवाह बह उठता है, वह प्रवाह कथा-सरित् है।

प० प० प्र०—कागभुशुण्डि-संवादको निमित्त बनाकर कविकुल-गुरु चूड़ामणिने यहाँ श्रीशिवजी-विरचित रामचरितमानसकी सूक्ष्म अनुक्रमणिका ही दे दी है। प्रत्येक काण्डमें किसी-न-किसी निमित्तसे रामचरित्रकी कुछ-न-कुछ अनुक्रमणिका यत्र-तत्र भी लिखी है। इसका कारण यह है कि '*एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना॥*' हैं। प्रत्येक सोपान एक पृथक् पंथ (मार्ग) है। केवल एक ही मार्गका अनुसरण करनेसे यह पथिक रामभक्ति स्थानमें सुलभतासे पहुँच सकता है। विशेष १२९ (३) में देखिये।

वि० त्रि०—'*पुनि नारद कर मोह अपारा*' इति। (क) पुनि अर्थात् रामचरितसर-निरूपणके पश्चात्! (ख) '*नारद*' भाव कि जिनकी गणना शिव-विरंचि सनकादिककी श्रेणीमें है, जो आत्मवेदी मुनिनायक हैं, जिनको इन्द्रपद सूखी हड्डी-सी मालूम होती है। जो नामप्रतापसे हरिहरके प्रिय हैं, जिनकी हरि सदा

रक्षा करते रहते हैं। [(ग) *'मोह अपारा'*—यह कि अपने इष्टदेवसे विवाहके निमित्त सुन्दरता माँगी, भगवान्‌के निगूढ़ वचन भी न समझे, रुद्रगणोंकी अटपट वाणी उनके कूटको भी न समझे, भगवान्‌को दुर्वचन कहे, शाप दिया, स्त्रीके लिये अत्यन्त विकल हो गये। (रा० शं० श०) पुनः *'अपारा'* का भाव कि वे स्वयं अपने पुरुषार्थसे उसके पार न हो सके, जब भगवान्‌की कृपासे वे उनकी शरण गये तभी मोह दूर हुआ। यथा—*'जब हरि माया दूरि निवारी'* इत्यादि। (पं० रा० व० श०) (प्र० सं०)] (घ) मोह=आवरक ज्ञान। यथा—*'मोह न अंध कीन्ह केहि केही।'* यह विवेक-विलोचनको बेकाम कर देता है। गीताका वाक्य **'सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते। क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः॥ स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।'** नारदमोहमें चरितार्थ देखिये। राजकुमारी विश्वमोहिनीका हाथ देखकर मोहित हुए यह **'सङ्गात्संजायते कामः'** हो पड़ा। अब क्या था, *'को अस काम नचाव न जेही'* ब्याहकी इच्छा हुई, जिनसे कामके जीतनेकी शेखी बघारी थी उन्हींसे स्त्रीको मोहित करनेके लिये सुन्दर रूपकी प्रार्थना करने लगे। भगवान् क्या कह रहे हैं। यह नहीं समझ रहे हैं। राजकुमारी न मिली, दूसरी ले गया। अब **'कामात् क्रोधोऽभि'** का नम्बर आया। रुद्रोंके कहनेपर पानीमें मुँह देखा। रूप देख क्रोध आया। रुद्रगणोंको शाप दिया। फिर मुँह देखा तो अपना ही रूप देखा, तथापि क्रोध भरे विष्णुभगवान्‌को शाप देने चले। वे राजकुमारीसहित राहमें ही मिल गये। क्रोधसे सम्मोह हुआ, ज्ञान जाता रहा और विभ्रम हुआ। अपने इष्टदेवको बुरा-भला कहने लगे। बुद्धि नष्ट हो गयी। इष्टको शाप दे डाला।—अब **'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'** शेष रहा सो भगवान्‌की प्रतिज्ञा है—**'न मे भक्तः प्रणश्यति।'** भगवान्‌ने माया हटा ली। अपने दुर्वचन कहनेके प्रायश्चित्तके ब्याजसे शिवजीका महत्त्व बतलाया और भक्तके वचनको सत्य करनेके लिये अवतार लिया।

☞ *'नारदमोह अपारा'* प्रसङ्गसे दिखाया कि तनिक-सा प्रमाद होनेसे प्राणी उच्च-से-उच्च पदसे गिर जाता है। अतः भक्तको बहुत सावधान रहना चाहिये। उसके प्रमादसे भगवान्‌को कष्ट उठाना पड़ता है और त्रैलोक्यमें अमङ्गल उपस्थित हो जाता है।

रा० शं० श०, र० प्र०—*'रावन अवतारा'* इति। अर्थात् जय-विजय, जलंधर, हरगण और भानुप्रतापका रावण होना। रावणके सम्बन्धमें *'कहेसि'* और प्रभुके अवतारके सम्बन्धमें *'गाई'* क्रिया दी। *कहेसि* अर्थात् संक्षेपसे कहा। *गाई* अर्थात् विस्तारसे कहा। अथवा गान किया। इसी तरह *'तब तब कथा मुनीसन्ह गाई'* कहा है।

वि० त्रि०—रावण-जन्मका समय-निर्णय। समुद्र-मन्थन छठे मन्वन्तर चाक्षुषमें हुआ। उस समय बलि राजा थे। रावणका उस समय कोई पता नहीं चलता। अतः स्पष्ट है कि रावण सातवें वैवस्वत मन्वन्तरमें हुए। उसमें भी श्रीरामजीके तीस पीढ़ी पहले महाराज अनरण्यके समयमें रावणका दिग्विजय हुआ था। पर इस बातका पता नहीं चलता कि महाराज अनरण्य किस चतुर्युगीमें हुए थे। इतना पता चलता है कि कार्तवीर्यके वधके लिये परशुरामावतार उन्नीसवीं चतुर्युगीमें होना और चौबीसवीं चतुर्युगीमें श्रीरामावतारद्वारा रावण-वध निश्चित है।

नोट—रावणके लिये भी अवतार शब्दका प्रयोग किया गया है। त्रिदेव भी उसका कुछ बिगाड़ न सकते थे। ब्रह्मा और शिवजी तो नित्य उसके यहाँ पुजाने आते थे। इन्द्रादि देवता तो उसके नामसे काँपते थे। वह सारे जगत्‌को रुलानेवाला था। उसका नाम ही रावण था—**'रावयतीति रावणः।'** रावण नाम होनेके कारण पूर्व काण्डोंमें दिये जा चुके हैं। जब-जब श्रीरामजी लीला करना चाहते हैं तब-तब उनके साथ रण-क्रीड़ा करनेके लिये परम प्रतापी जीव ही आकर रावण होते हैं, जो सारी ब्रह्मसृष्टिको अपने अधीन कर सकनेका सामर्थ्य रखते हैं। यथा—***'ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दसमुख दसवर्ती नरनारी॥ आयसु करहिं सकल भयभीता। नवहि आइ नित चरन बिनीता॥'*** (१। १८२) रावण स्वयं कहता है ***'रावन नाम जगत जसु जाना। लोकप जाके बंदीखाना॥'*** (६। ८९। ४) ये वचन उसने श्रीरामजीसे ही कहे हैं। वाल्मीकिजीने भी उसके नाममें 'महात्मा' शब्दका प्रयोग किया है। वस्तुतः वे परम उच्चकोटिकी महान् आत्मा ही होती हैं जो उस पदसे उतरकर पृथ्वीपर भगवान्‌की क्रीड़ाकी इच्छाकी पूर्तिके लिये आती हैं। वे जीव संसारमें नहीं पड़ते, उनकी मुक्ति होती है। अतः रावणके जन्मके लिये 'अवतार' शब्दका प्रयोग हुआ।

श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि जिस भाँति रामावतारमें कुछ बातें बँधी हुई हैं। जैसे कि रघुकुलमें ही

जन्म, दशरथ-कौसल्या ही पिता-माता इत्यादि; वैसे ही रावणके लिये बातें बँधी हुई हैं—पुलस्त्यकुलमें जन्म इत्यादि। इसलिये उसके भी जन्मको अवतार होना कहा।

नोट—'*प्रभु अवतार*' इति। रावणावतार कहकर रामावतार कहनेमें '*प्रभु*' शब्द देनेका भाव कि '*प्रभु*' का अर्थ है स्वामी और समर्थ। इस शब्दको देकर जनाया कि ब्रह्मादिक कोई भी रावणवध करनेमें समर्थ न था। ब्रह्माजी भी यह सोचकर कि '*मोर कछु न बसाई*' पृथ्वीको समझाते हैं कि '*जा करि तैं दासी सो अबिनासी हमरेउ तोर सहाई।*' '*जानत जन की पीर प्रभु भंजिहि दारुन बिपति।*' (१। १८४) इस प्रसङ्गभरमें '*प्रभु*' शब्दका प्रयोग हुआ है। यथा—'*कहँ पाइअ प्रभु करिअ पुकारा।*', '*कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई*', '*प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहिं रीती*', '*कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं*', '*प्रेम तें प्रभु प्रगटै जिमि आगी*'—ब्रह्मा, शिव तथा सारा देवसमाज '*प्रभु*' हीकी खोजकी चर्चा करता है। और अवतार भी '*प्रभु*' का ही हुआ, यथा—'*जग निवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक बिश्राम।*' (१। १९१) माताके सामने भी ऐश्वर्यरूपसे प्रकट हुए, माताकी विनतीपर कहा है—'*उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना।*' इस रावणसे अत्यन्त पीड़ित होनेपर पृथ्वीकी व्याकुल पुकारसे लेकर भगवान्‌के प्रकट होनेतक सामर्थ्यसूचक '*प्रभु*' शब्दका प्रयोग होनेसे '*प्रभु अवतार*' कहा गया।

पुनः '*प्रभु अवतार*' से जनाया कि व्यापक अव्यक्त ब्रह्म ही अवतरित हुए। यथा—'*भगत बछल प्रभु कृपा निधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥*' (१। १४६), '*उर अभिलाष निरंतर होई। देखिअ नयन परम प्रभु सोई॥ अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहिं चिंतहिं परमारथबादी॥ नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥ संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥ ऐसेउ प्रभु सेवकबस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई॥*' (१। १४४) इस प्रसङ्गमें भी जबतक पुत्र होनेका वरदान नहीं दिया है तबतक '*प्रभु*' शब्दकी भरमार है। यथा—'*सिर परसे प्रभु निज कर कंजा*', '*सुनि प्रभु बचन जोरि जुग पानी*', '*प्रभु परंतु सुठि होति ढिठाई*', '*कहा जो प्रभु प्रबान पुनि सोई*', '*सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहिं कृपा करि देहु।*' (१। १५०)

वि० त्रि०—'*प्रभु*' का स्वरूप क्या है, इसे वर्णन करते हुए श्रीगोस्वामीजी कहते हैं—'*ब्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँदरासी॥ अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी*.........*नाम निरूपन नाम जतन ते। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते॥*' (१। २३) ब्रह्मदेवजीने नामनिरूपन नाम यत्न किया अर्थात् स्तुति की, तुरंत आकाशवाणी हुई। प्रभुके यहाँ सुनवायी हुई।—'*जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहि लागि धरिहउँ नर बेषा॥*' इत्यादि।

२ '*अवतार*' इति। अव्यक्तरूपसे व्यक्तरूपमें आना ही अवतार है। भगवान्‌ने जो गीतामें कहा है '**जन्म कर्म च मे दिव्यम्**', इसी दिव्य जन्म-कर्मको अवतार कहते हैं। जन्मका भाव दिखलाते हैं पर वस्तुतः जन्म नहीं ग्रहण करते। यथा—'*जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ। सोइ सोइ भाव दिखावै आपुन होइ न सोइ॥*'

३ '*गाई*'—प्रभु अवतार-वर्णनमें ऐसे मग्न हो गये कि गाने लगे। रामचरित कहनेमें तीन स्थल ऐसे हैं जहाँ भुशुण्डिजी गान करने लगे। एक तो यहाँ, दूसरे '*गीध मैत्री पुनि तेहि गाई*' और तीसरे '*जेहि बिधि राम नगर निज आए। बायस बिसद चरित सब गाए॥*'

जिस समय चारों ओर सोहिलो (सोहर) हो रहा था उस समयमें भुशुण्डिजीका गान करना प्राप्त ही था। गोस्वामीजीने भी इस अवसरपर गीतावलीमें खूब गान किया है।

४ '*पुनि सिसु चरित*.........' इति। यद्यपि शिशु और बाल शब्द एक ही अर्थमें प्रायः व्यवहृत होते हैं। यथा—'*सब सिसु एहि मिस प्रेम बस परसि मनोहर गात। तन पुलकहिं अति हरष हिय देखि देखि दोउ भ्रात॥*' (१। २२४), '*सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुर भूपा।*' (१। १९२) तथापि यहाँ तो स्पष्ट ही शैशवावस्था और बाल्यावस्थामें भेद विवक्षित है। मानसमें '*सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी।*' (१। १९३। १) से '*बिसमयवंति देखि महतारी। भए बहुरि सिसुरूप खरारी॥*' (१। २०२। ६) तक शिशु शब्दका प्रयोग है। इसके बाद बाल शब्दका प्रयोग है, शिशु शब्द नहीं आया है। इस बीचमें प्रभुके जानुपाणि विचरणतकका प्रसङ्ग आता है। इससे मालूम होता है कि '**जानुपाणि विचरण**' तक शिशुचरित है। बालकके असमर्थावस्थामें ही शैशवका प्रयोग होता है।

५ *'कहेसि मन लाई'*—भाव कि यद्यपि शैशव असमर्थावस्था है तथापि इसके भीतर वह शैशवाभाव है जिससे कि प्रभु महाप्रलयमें वटपत्रपर शयन करते हैं जिसका रूपक देते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं—***'सिय सनेह बट बाढ़त जोहा। ता पर राम प्रेम सिसु सोहा॥ चिरजीवी मुनि ज्ञान बिकल जनु। बूड़त लहेउ बाल अवलंबनु॥'*** दिव्य सामर्थ्यका प्रकाश जैसा इस अवस्थामें दिखलाया है वैसा किसी और अवस्थामें पाया नहीं जाता। इसी अवस्थामें *'देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।.........'* (१। २०१) जन्मसमय *'निज आयुध भुजचारी'* रूप दिखाकर सुख दिया और दूसरी बार विश्वरूप दिखाकर विवेक दिया। सुख और विवेक दो वरदान पूर्व जन्ममें माँगे थे, वे दोनों इस शैशवावस्थामें दिये। और, भुशुण्डिजीको भी इसी अवस्थामें विश्वरूप अपने भीतर दिखाया और फिर भक्तिका वरदान दिया। अत: *'सिसु चरित कहेसि मन लाई।'* पुन: शिशुचरितके अन्तर्गत ही नामकरण हुआ। गुरुने उनका नाम 'राम' रखा जो भक्तोंका प्राण है। अत: कहते हैं *'पुनि सिसु चरित कहेसि..........'*

दो०—बाल चरित कहि बिबिध बिधि मन महुँ परम उछाह।
रिषि आगवनु कहेसि पुनि श्रीरघुबीर बिबाह॥ ६४॥

अर्थ—अनेक प्रकारकी बाल-लीलाएँ अनेक प्रकारसे मनमें परम उत्साहसे भरे हुए कहकर विश्वामित्रजीका आना कहा फिर श्रीरघुवीर-विवाह कहा॥ ६४॥

नोट—१ पहले कहा कि *'तब सिसु चरित कहेसि'* और अब कहते हैं कि *'बालचरित कहि.........'* इससे जनाया कि ५ वर्षकी अवस्थाके पूर्वके चरित *'सिसु चरित'* हैं। ☞बालचरितमें वे चरित आ गये जो ५ वर्षकी अवस्थासे १४ वर्षकी अवस्थातक हुए। इन चरित्रोंका विशेष वर्णन सत्योपाख्यानमें है, ऐसा विस्तृत माधुर्यका वर्णन अन्यत्र देखनेमें नहीं आया। *'बिबिध बिधि'* से वे सब चरित यहाँ जना दिये हैं। गीतावलीमें भी बालचरित विस्तारसे है। दोनों ग्रन्थ पढ़ने योग्य हैं।

२—*'मन महुँ परम उछाह'* का भाव कि उत्साहपूर्वक ये सब चरित कहे और अबतक परमोत्साह है, इतने कथनसे तृप्ति नहीं होती। इष्टका चरित है इसीसे उत्साह आद्यन्त दिखाया है—*'प्रथमहि अति अनुराग'* एवं *'भएउ तासु मन परम उछाहा'* आदिमें और यहाँ *'मन महुँ परम उछाह'* बालचरितके अन्तमें। बालक राम आपके इष्ट हैं और इनके बहुतसे चरित आँखों देखे हैं; अत: *'बिबिध बिधि'* और परमोत्साहसे कहे। अन्य चरित अनुभवके हैं या सुने हुए हैं।

वि० त्रि०—*'बाल चरित..........'* इति। (क) बाल्यावस्थामें संसारका लेप नहीं रहता, आनन्दकी मात्रा अधिक रहती है, केवल क्रीड़ा-विहारमें ही प्रवृत्ति रहती है। इसीसे बालरूपका सम्पूर्ण जगत्में आदर है, उसे ईश्वररूप मानते हैं। इस समयका चरित भी आनन्दमय ही है। शङ्करजी इसी रूपको इष्ट मानते हैं और भुशुण्डिजी तो पाँच वर्षतकके चरित्रका ही दर्शन करते हैं बालचरित खेल-कूदका अति आनन्दमय है, इसीसे उसे 'सरल' कहा गया है। यथा—*'बालचरित अति सरल सुहाए।'* यद्यपि भुशुण्डिजीने चरित तो सभी अवस्थाके कहे हैं, फिर भी 'चरित' शब्द यहाँ केवल शिशु और बालशब्दके साथ ही दिया है। अन्य प्रसङ्गोंमें चरित शब्द नहीं दिया; क्योंकि इनको तो आचरित होते हुए उन्होंने स्वयं देखा है, शेष सुना हुआ कहते हैं। (ख) *'बिबिध बिधि'*—अपने इष्टदेव बालक रामका चरित है, अत: अपनेको अत्यन्त प्रिय है। प्रिय वस्तुका वर्णन अनेक विधिसे किया ही जाता है। दूसरे बालक्रीड़ाकी कोई एक विधि तो है ही नहीं, अनेक विधिसे होती है। अत: *'बिबिध बिधि'* से वर्णन करना कहा।

ग्रन्थकारने कौमार अवस्था बाल्यावस्थाके भीतर ही मान लिया; अत: उसके भीतर यज्ञोपवीतके उपरान्त *'गुर गृह गए पढ़न रघुराई'* भी आ गया। *'अल्पकाल बिद्या सब पाई'* से विद्यास्नात कहा। तीव्रबुद्धिवालोंके लिये ब्रह्मचर्यके कालका नियम नहीं है। विद्या समाप्त होते ही समावर्तन कर दिया जाता है। उनको विद्यास्नात कहते हैं। मध्यकोटिकी बुद्धिवालोंकी विद्या ब्रह्मचर्यकालतक समाप्त होती है, उन्हें विद्याव्रतस्नात कहते हैं। और मन्दबुद्धिवालोंका समावर्तन ब्रह्मचर्यकाल समाप्त होनेपर कर दिया जाता है। वे व्रतस्नात कहलाते हैं। अत: विद्यास्नात हुए श्रीरामजीकी कुमारावस्था नहीं बीती। वे उसके पश्चात् अवस्थानुकूल *'खेलहिं खेल सकल

नृप लीला' इत्यादि अनेक प्रकारके चरित करते रहे। ये बालचरितके अन्तर्गत हैं और विविध प्रकारके हैं।

नोट—३ *'रिषि आगमन'* इति। यहाँ ऋषिका नाम नहीं दिया, क्योंकि पूर्व पार्वतीजीसे सब कथा कह आये हैं। फिर आगे साथ-ही-साथ *'श्रीरघुबीर बिबाह'* शब्द भी हैं, इससे ये ऋषि विश्वामित्र ही हैं इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता। बालचरितके पश्चात् ऋषि-आगमन कहनेसे दोनों बातें जना दीं कि कौन ऋषि आये और कहाँ आये। श्रीदशरथजीके यहाँ ये चरित हो रहे थे, अतः वहीं आये।

वि० त्रि०—मन्त्रद्रष्टाको ऋषि कहते हैं। गायत्री मन्त्रके द्रष्टा ऋषियोंमें विश्वामित्र ऋषि प्रधान हैं—**'गायत्र्या विश्वामित्र ऋषिः।'** अतः नाम न दिया। ऋषि शब्द देकर यह भी जना दिया कि इनका आगमन मङ्गलके लिये ही हुआ। यथा—*'धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कहँ इन्ह कहँ अति कल्यान।'* ऋषियोंका चरित प्राणियोंके सुखके लिये ही होता है और देवताओंके चरित सुख और दुःख दोनोंके लिये होता है। यथा—**'भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च। सुखायैव हि साधूनां त्वादृशामच्युतात्मनाम्॥'** पुनः, यह ऋषिका आगमन है, इस कथनसे सूचित किया कि उनका आगमन जिस लिये हुआ, (*करि बिनती आनौं दोउ भाई*), वह मोघ नहीं हो सकता, नहीं तो अपने १५ वर्षके बच्चोंको राक्षसोंसे लड़नेको कौन देता है?

नोट—४ *'श्रीरघुबीर'* का भाव कि विवाहमें त्रैलोक्यके मानी सुभटोंकी तथा परशुरामकी भी 'श्री' आपके सामने हत हुई थी, यथा—*'श्रीहत भए भूप धनु टूटे' 'सब कै सकति संभु धनु भानी' 'परसुराम मन बिसमय भयऊ।'* और आपने *'त्रिभुवन जय समेत बैदेही'* को व्याहा था—*'बिस्व बिजय जसु जानकि पाई।'* त्रैलोक्यमें एक आपकी श्री रही। *'श्रीरघुबीर'* शब्द धनुषयज्ञके पश्चात् और विवाहके पूर्व भी आया है। यथा—*'सभय बिलोके लोग सब जानि जानकी भीरु। हृदय न हरष बिषाद कछु बोले श्रीरघुबीर॥'* (१। २७०) अन्यत्र भी आया है। यथा—*'पाणि चाप सर कटि तूणीरं। नौमि निरंतर श्रीरघुबीरं॥'* (३। ११। ४) (सुतीक्ष्णस्तुति), गीतावलीमें भी बाहु-पराक्रमके वर्णनमें यह शब्द आया है। यथा—*'सुमिरत श्रीरघुबीर की बाहैं।.........भव धनु दलि जानकी बिबाही भए बिहाल नृपाल त्रपा हैं॥ परसुपानि जे किये महामुनि जे चितए कबहुँ न कृपा हैं।'* (७। १३) पुनः बालकाण्डकी फलश्रुतिमें कहा है *'सिय रघुबीर बिबाह जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।'* इसके अनुसार यहाँ *'श्रीरघुबीर'* से *'सीय रघुबीर'* अर्थ भी गृहीत है। *'श्री'* सीताजीका एक नाम है, यह पूर्व कई बार बताया गया है।

वि० त्रि०—*'श्री'* से यह भी जनाया कि यह साक्षात् लक्ष्मीका विवाह है, अतः यहाँकी रत्नमण्डप-रचना, सम्पदा, सिद्धियोंद्वारा विभव-भेद आदि सभी बातें आश्चर्यजनक हैं। पुनः 'श्री' शब्दसे सीताजीकी शोभा और शीतल तथा भगवान्‌से पुरातन प्रीति कही।

पं० यहाँ विवाहके अभ्यन्तर परशुराम-संवाद भी समझना।

बहुरि राम अभिषेक प्रसंगा। पुनि नृप बचन राजरस भंगा॥ १॥
पुरबासिन्ह कर बिरह बिषादा। कहेसि राम लछिमन संबादा॥ २॥
बिपिन गवन केवट अनुरागा। सुरसरि उतरि निवास प्रयागा॥ ३॥
बालमीक प्रभु मिलन बखाना। चित्रकूट जिमि बसे भगवाना॥ ४॥

अर्थ—फिर श्रीरामराज्याभिषेकका प्रसङ्ग कहा तदनन्तर राजा दशरथजीका वचनबद्ध होना (वचन हारना) और राज्यरस (राज्याभिषेक होनेके उपलक्ष और सम्बन्धमें जो आनन्द नगरमें हो रहा था) का नाश, पुरवासियोंका विरह-दुःख और श्रीराम-लक्ष्मण-संवाद कहा॥ १-२॥ वनगमन, केवटका प्रेम, गङ्गापार उतरकर प्रयागमें निवास; वाल्मीकिजीसे प्रभुकी भेंट और जैसे भगवान् चित्रकूटमें बसे वह सब विस्तारसे कहा॥ ३-४॥

☞ *'रामचरितसर कहेसि'* से *'श्रीरघुबीर बिबाह'* तक से बालकाण्डकी सब कथा कहना जनाया।

नोट—जैसे संकोचरस, रणरस, प्रेमरस इत्यादि कहे, वैसे ही 'राजरस'।

नोट—*'बहुरि राम अभिषेक..........'* इति। (क) *'बहुरि'* से नये प्रसङ्गका आरम्भ जनाया। 'राम-अभिषेक प्रसंगों' से अयोध्याकाण्डके प्रारम्भसे *'सकल कहहिं कब होइहि काली।'* (२। ११। ६) तकका

सब चरित कह दिया गया। (ख) *'पुनि'* का भाव कि इतना होनेके बाद दृश्यने पलटा खाया। (वि० त्रि०)। (ग) त्रिपाठीजी लिखते हैं कि अग्निपुराणमें लिखा है कि रामजीने बचपनमें उसकी (मंथराकी) टाँग पकड़कर घसीटा था **'पादौ गृहीत्वा रामेण कर्षिता सापराधतः। तेन वैरेण सा राम वनवासं च काङ्क्षति॥'**, इसे वह भूली नहीं; अतः अभिषेक सुनकर उसने कैकेयीको बहकाया। (मा० पी० में इसका कारण अ० दोहा १२ में दूसरा ही दिया है। श्रीरामजीने उसका पैर घसीटा, यह मानसके रामसे नहीं हो सकता)। यद्यपि कैकेयी राज्यशुल्का थी, यथा—**'पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं समुद्वहन्। मातामहे समाश्रौषीद्राज्यशुल्कमनुत्तमम्॥'** इस प्रतिज्ञासे भरतजीका राजा होना प्राप्त था, पर रामको वनवास न हो सकता था और भरतराज्यके दृढ़ीकरणके लिये वनवासका होना आवश्यक था। अतएव देवासुरसंग्रामवाले दो वरदानोंका सहारा लिया गया। (घ) *'नृप बचन'* में भाव यह है कि यद्यपि राजाने अपने मुखसे 'तथास्तु' नहीं कहा और न स्वयं रामजीसे वन जानेको कहा, फिर भी श्रीरामजी *'नृप बचन'* का भी उल्लङ्घन नहीं करेंगे। *'रथ चढ़ाइ दिखराइ बन फिरेहु गए दिन चारि'* इस वचनको *'प्रिय प्रेम प्रसाद'* समझते थे। (ङ) *'राजरस'*-मंगल उपस्थित होनेपर बाजा बजना, सर्वत्र धूमधाम-आनन्द मनाया जाना ही रामजीके राज्यका आनन्द है। यथा—*'सुनत राम अभिषेक सुहावा। बाज गहागह अवध बधावा॥'* इत्यादि। तथा *'तेहि निसि नीद परी नहिं काहू। राम दरस लालसा उछाहू॥'* (२। ३७। ८) नृपवचनका समाचार मिलते ही रसभङ्ग हो गया—*'नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी। छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी॥'* (२। ४६। ६) (वि० त्रि०)। [*'नृपबचन राजरस भंगा'* एक साथ कहकर जनाया कि नृपवचनसे ही राजरसका भङ्ग हुआ (पं० रा० व० श०)। *'रस भङ्ग'* का भाव कि आनन्दरसकी लड़ी टूट गयी। (रा० प०)] *'राजरस भंगा'* अर्थात् वात्सल्य, सख्य, दास्य, शृङ्गारादि रसोंका जो स्थायी प्रेमानन्द था उसको करुण-रसने नाश कर दिया, सबमें शोक स्थायी व्याप गया। (वै०)।

रा० शं०—*'बहुरि राम अभिषेक'* से *'राम लछिमन संवाद'* तक चार प्रसङ्गोंमें एक दफा *'कहेसि'* शब्द आया। भाव यह कि इसको जल्दीमें कहा। बिपिनगमनमें कहनेका पद ही नहीं रखा, अर्थात् इसको जहाँतक जल्दी कह सके कहा। इनका विस्तृत वर्णन तो कठोर हृदय ही कर सकता है। *'केवट अनुराग'* *'निवास प्रयाग'* और *'बाल्मीकि प्रभु मिलन'* के साथ *'बखाना'* पद दिया क्योंकि ये प्रसङ्ग भक्ति और प्रेमसे पूर्ण हैं। *'बखाना'* देहरीदीपक है।

वि० त्रि०—१ *'पुरबासिन्ह कर बिरह बिषादा'* इति। यहाँ पुरवासीसे केवल प्रजा अभिप्रेत है। श्रीभुशुण्डिजी सगे-सम्बन्धियोंका विरह-विषाद वर्णन न करके पुरवासियोंमात्रका विरह-विषाद वर्णन करते हैं। इसीसे जाना जाता है कि सगे-सम्बन्धियोंका विरह-विषाद वर्णनातीत है। यथा—*'बिरह बिषाद बरनि नहिं जाई', 'अवध सोक संताप बस, बिकल सकल नर नारि। बाम बिधाता राम बिनु माँगत मीच पुकारि॥'* (रामाज्ञा-प्रश्न)। विरह-विषाद=भावी विरहसूचक विषाद। [पुनः भाव कि विष खाने या चढ़नेसे जैसे लोग तड़पते-तलफते हैं, वैसी ही दशा सबकी हो गयी।—*'छुअत चढ़ी जनु सब तन बीछी।'* (रा० प्र०)]

२*'राम लछिमन-संवादा'* इति। कौसल्या-राम तथा सीता-राम-संवाद न कहकर केवल राम-लक्ष्मण-संवाद कहनेमें भाव यह है कि वात्सल्य-प्रेम ही ऐसा होता है कि माँ बेटेके साथ विपत्ति बँटानेको तैयार हो जाती है संतानवत्सला माँ अपने संतानके लिये क्या नहीं करती? और, स्त्रीका तो परीक्षाकाल ही भर्ताकी विपत्ति है यथा—*'आपतकाल परखिअहि चारी। धीरज धर्म मित्र अरु नारी॥'* अतः उनका हठ करके विपत्तिमें साथ देना धर्म है। श्रीराम-लक्ष्मणसंवादमें अपूर्वता है। सौभ्रात्रके कारण पिता, माता, स्त्री, गृह, सुख और सम्पत्ति आदिका त्याग कहीं देखा नहीं जाता। पर वही यहाँ अति उत्कर्षताके साथ है। श्रीरामजी समझाते हैं पर उनका उत्तर सुनकर कुछ कहते न बना तब माँसे विदा माँगनेको कहा। वह माँ भी कैसी हैं। वे क्या कहती हैं—*'तात तुम्हार मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥ जो पै सीय राम बन जाहीं। अवध तुम्हार काजु कछु नाहीं॥'*—इन विशेषताओंके कारण भुशुण्डिजीने केवल 'रामलछिमन-संवाद' कहा।

लक्ष्मण-उर्मिला-संवाद हुआ ही नहीं। कारण कि लक्ष्मणजी तो अपनी खुशीसे सेवाके लिये साथ

गये, जब चाहते लौट सकते थे। वनवासके नियम भी उनपर लागू न थे। यदि लक्ष्मणजीको भी वनवास दिया होता तो उर्मिलाजीको रोकनेवाला कोई न था। दूसरी बात यह है कि उनके साथ जानेसे भर्तांके सेवाधर्ममें बाधा पड़ती जैसे कि लक्ष्मणजीने स्वयं शूर्पणखासे कहा है—*'सुंदरि सुनु मैं उन्ह कर दासा।'* अतः उर्मिलाजीने साँसतक न ली। कहीं कविका चुप रहना भी हजार बोलनेसे अधिक काम करता है। इस पहलूपर ध्यान न देकर ही लोग लक्ष्मण-उर्मिलाके संवादके लिये व्यस्त हो जाते हैं।

३ (क) *'बिपिन गवन………'* इति। माता, पिता, परिजन, पुरजन सभीका प्राणप्रिय राजकुमार (जिसने कभी दुःखका नाम भी न सुना था) स्त्री और भाईसहित पैदल वनको चल रहा है, यह देखकर हाहाकारका मचना, धर्मधुरन्धर राजकुमारका सबको सान्त्वना देना, आश्रितोंका प्रबन्ध कर देना, पिताका कम-से-कम वनतक पहुँचानेके लिये रथका भेजा जाना, इत्यादि सब बातें ऐसी स्वाभाविक हैं कि केवल *'बिपिन गवन'* कह देनेमें आ जाती हैं। (ख) *'केवट अनुरागा'*—भुशुण्डिजी केवल केवटका अनुराग वर्णन करते हैं क्योंकि इसके अनुरागमें विशेषता है। निषादराज तो बालसखा थे और इससे तो जान-पहचान भी नहीं, निषादराजके नाते नाव माँगते हैं पर यह बड़ा मायावी भक्त है। इच्छा तो है चरणामृतकी पर सीधी-सीधी बात नहीं कहता। एक रूपक खड़ा करता है। प्रभुके चरणोंकी महिमा, अपनी लाचारी, सिंग्रौरका निवासी होनेसे प्रभुके भगिनीपति ऋषिशृङ्गसे भाईचारेका नाता और अपनी अभीष्ट अटपटे शब्दोंमें ऐसा व्यक्त करता है कि प्रभुको हँसा देता है। वे नाव माँगते हैं, वह कहता है कि तुम्हारा मर्म मैं जानता हूँ, किसी मुनिका घर बसाना चाहते हो, तुम्हारे पदरजसे मेरी नाव किसी मुनिकी स्त्री बन जायगी, मेरी जीविका ही मारी जायगी। चरण धोकर पार उतारनेपर भी उसकी चतुरता देखिये। उतराईके लिये अत्यन्त आग्रह देखकर कहता है कि लौटती समय लेंगे। प्रभुको तो विमानसे लौटना है, बात जान ली कि यह फल नहीं चाहता, अतः उसे निर्मल भक्ति देकर बिदा किया। (ग) *'सुरसरि उतरि'*—भाव कि गङ्गाजीमें देवबुद्धि है। इसी भावसे श्रीसीताजीने प्राणनाथ देवरसहित सकुशल लौटनेके लिये मनौती मानी और देवनदीने आशीर्वाद दिया। *'निवास प्रयागा'* से जनाया कि तीर्थकी भावनासे सीधे चित्रकूट न जाकर पूरब प्रयागकी ओर मुड़ गये और तीर्थमें जिस भाँति जाकर आचरण करना होता है वह किया।

४ (क) *'बालमीकि प्रभु मिलन'* इति। वाल्मीकि और उनके प्रभुका मिलना। भाव कि जिस प्रभुका उलटा नाम लेते-लेते उसके प्रभावसे वे वेदरूप हो गये। यथा—*'उलटा नाम जपत जग जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥'* इनका पूर्व नाम रत्नाकर था। (वाल्मीकि नामका कारण बालकाण्ड ३ (३) और दोहा १४ में देखिये) जिस प्रभुकी मूर्तिका वे ध्यान करते थे आज उन्हीं प्रभुका साक्षात् दर्शन पाया। यथा—*'बालमीकि मन आनँद भारी। मंगल मूरति नयन निहारी॥'* जिन गुणगणोंपर (वाल्मीकिजी) इतने मुग्ध थे कि उन्हें इस बातकी तलाश थी कि यदि ऐसे गुणवाला कोई पुरुष हो तो उसके गुणगणोंका, अपने हृदयमें प्रादुर्भूत हुए छन्दोंमें गान करूँ और जिसके लिये उन्होंने नारदजीसे पूछा था, आज उसी दुर्लभ गुणवाले पुरुषका उन्हें दर्शन हुआ। अर्थात् अपने महाकाव्यके नायकका, अपने हृदयके आराध्य देवका उन्हें दर्शन हुआ। अथवा जिसके गुणगानके लिये ही छन्दःशास्त्रका प्रादुर्भाव हुआ, जिसके यशके व्याजसे उनके हृदयसे वेदका अवतार हुआ, यथा—**'वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना॥'** उस वेदप्रतिपाद्य पुरुषका आज दर्शन हुआ। इसीसे कहा है कि—*'बालमीकि मन आनँद भारी………।'*

यह मिलन ही रामायणका बीज है जिसका **'इक अक्षर उद्धरै ब्रह्महत्यादि परायन'** (नाभा स्वामी)। वाल्मीकि माधुर्यके उपासक हैं, अपने काव्यमें माधुर्य ही अधिक कहा है, अतः उनसे मिलनेमें प्रभुने भी माधुर्यका आश्रयण किया, प्राकृत राजाकी भाँति अपना दुःख-सुख कह गये और रहनेके लिये स्थान पूछा। इस अभिनयको देखकर महाकविका हृदय फड़क उठा और वे ऐश्वर्य बोल चले। प्रभुका स्वरूप, अवतारका कारण और अवतार कहकर रहनेका स्थान बतलानेके व्याजसे चौदह प्रकारके भक्त कहे जिसके वर्णनसे सम्पूर्ण रामायण आ जाता है। तत्पश्चात् समय सुखदायक स्थान चित्रकूट बतलाया।

(ख) *'चित्रकूट जिमि बसे भगवाना'* इति। यहाँ 'भगवान्' का बसना कहनेमें छवों भग (ऐश्वर्य) वर्णन किया। ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये छवों इस प्रसङ्गमें देखे जाते हैं। ऐश्वर्य यथा—*'अमर नाग किंनर दिसिपाला। चित्रकूट आए तेहि काला॥.........करि बिनती दुख दुसह सुनाए।.........'* (२। १३४) धर्म, यथा—*'राम बास बन संपति भ्राजा। सुखी प्रजा जनु पाइ सुराजा॥ सचिव बिराग बिबेक नरेसू। बिपिन सुहावन पावन देसू॥ भट जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुंदर रानी॥'* (२। २३५) यश, यथा—*'चित्रकूट रघुनंदन छाए। समाचार सुनि सुनि मुनि आए॥.........यह सुधि कोल किरातन पाई। हरषे जनु नव निधि घर आई॥.........'* (२। १३४। ५-१३५। २) श्री, यथा—*'लषन जानकी सहित प्रभु राजत रुचिर निकेत। सोह मदन मुनि बेष जनु रति रितुराज समेत॥'* (२। १३३) *'अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा॥.........'* (२। २३६) ज्ञान, यथा—*'लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंदु। ग्यान सभा जनु तनु धरे भगति सच्चिदानंदु॥'* (२। २३९) वैराग्य, यथा—*'सीस जटा कटि मुनि पट बाँधे॥'* (२। २३९। ५)

सचिवागवन नगर नृप मरना। भरतागवन प्रेम बहु बरना॥ ५॥
करि नृप क्रिया संग पुरबासी। भरत गए जहँ प्रभु सुखरासी॥ ६॥
पुनि रघुपति बहु बिधि समुझाए। लै पादुका अवधपुर आए॥ ७॥
भरत रहनि सुरपति सुत करनी। प्रभु अरु अत्रि भेंट पुनि बरनी॥ ८॥

दो०—कहि बिराधबध जेहि बिधि देह तजी सरभंग।
बरनि सुतीछन प्रीति पुनि प्रभु अगस्ति सत्संग॥ ६५॥

अर्थ—(श्रीसुमन्त्रजी) मन्त्रीका नगरमें लौटकर आना, दशरथ महाराजकी मृत्यु, भरतजीका (केकयदेश अपने ननिहालसे) आगमन और उनका भारी प्रेम बहुत कुछ वर्णन किया॥ ५॥ राजाकी क्रिया करके पुरवासियोंको साथ लिये श्रीभरतजी वहाँ गये जहाँ सुखकी राशि प्रभु रामजी थे॥ ६॥ (फिर वहाँ पहुँचनेपर) रघुनाथजीके बहुत प्रकार समझानेसे वे खड़ाऊँ लेकर अवधपुरी लौट आये॥ ७॥ फिर श्रीभरतजीकी रहनी (अर्थात् जिस प्रकार वे नन्दिग्राममें पृथ्वी खोदकर जटाएँ धारणकर व्रत-नियमादिसहित रहे वह सब) इन्द्रपुत्र जयन्तकी करतूत और प्रभु रामचन्द्रजी और अत्रिजीकी भेंटका वर्णन किया॥ ८॥ विराधवध जिस प्रकार हुआ और जिस प्रकार शरभङ्ग ऋषिने तन त्याग किया यह कहकर फिर श्रीसुतीक्ष्णजीका प्रेम वर्णन करके प्रभु और अगस्त्यजीका सत्सङ्ग कहा॥ ६५॥

☞ *'बहुरि रामअभिषेक'* से *'भरतरहनि'* तकसे अयोध्याकाण्डकी सब कथा कहना जना दिया।

वि० त्रि०—१ (क) सुमन्त या सारथी न कहकर सचिव शब्द रखनेका भाव कि ये रघुकुलके बहुत पुराने मन्त्री हैं, राजाके बाद इन्हींका दर्जा है। स्वयं श्रीरामजी इनका पिता समान आदर करते हैं। इनसे महाराजको तथा इनको स्वयं बहुत आशा थी कि श्रीरामजीको लौटा ले चलेंगे। पर श्रीरामजीने उन्हें लौटा दिया। (उस समयका उनका प्रेम, दुःख और सोच ग्रन्थकारने स्वयं अयोध्याकाण्डमें दिखाया)। (ख) *'सचिवागवन नगर'* का भाव कि सारा नगर-का-नगर उनके आगमनका बाट जोह रहा था, नगरभरको आशा लगी थी। अकेला आया देख नगरमें हाहाकार मच गया। नृपको भी आशा थी। उनके अकेले आगमनसे उनकी मृत्यु हुई, इसीसे *'आगवन'* के साथ ही *'नृप मरना'* कहा। नृपमरणपर कोई पुत्र यहाँ न था जो संस्कार करता तथा राज्य भी राजाहीन होनेके कारण श्रीभरतजीको (जिन्हें पिता राज्य दे गये हैं) बुलाया गया। यह सब भी *'नृप मरन'* में कह दिया।

नोट—*'भरत आगवन.........'* इति। (क) *'आगवन'* से वसिष्ठजीका दूतोंद्वारा उनको बुलवाना, उनका तुरत चलकर अवधपुर आना, नगरमें सन्नाटा देखना, किसीका उनका स्वागत न करना, न उनके पास जाना इत्यादि, केकयीका स्वागत करना यह सब कह दिया। इसके आगे पितापर जो उनका प्रेम था वह देखनेमें

आया। पिताके मरणका मुख्य कारण केकयीका अपने पुत्रके लिये राज्य तथा प्राणोंसे अधिक प्रिय श्रीरामजीका वनवास सुनकर उनके शोकका पार न रह गया। प्रथम तो उन्होंने केकयीको बहुत खोटी-खरी सुनायी और फिर उसका त्याग ही किया—*'आँखिओट उठि बैठहि जाई।'* (२। १६२) यहींसे बराबर सर्वत्र अयोध्याकाण्डभरमें उनके प्रेमकी ही कथा है। कौसल्याजीके सामने, वसिष्ठजीकी अवधसभाके सामने जो उनका प्रेम देखा गया तथा सारी सम्पत्तिको श्रीरामजीकी जानकर उसके प्रबन्धमें जो प्रेम इत्यादि *'बहु'* है सो वर्णन किया गया। इसके आगे *'भरत गए जहँ.........'* वाला प्रसङ्ग है। (ख) *'करि नृपक्रिया'* 'यह प्रसङ्ग *'बामदेउ बसिष्ठ तब आए।'* (२। १६९। ७) से *'पितु हित भरत कीन्हि जसि करनी.....'* (१७१। १) तक है। (ग) *'सँग पुरबासी'* से जनाया कि जिस सभामें भरतजीने अपना दृढ़ निश्चय कहा था कि *'प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं।'* (२। १८३। २) उसमें ये सब भी थे और सब चलनेको तैयार हो गये—*'अवसि चलिअ बन रामु जहँ।.........'* १८४), *'जरउ सो संपति सदन सुख।.........'* (१८५)

वि० त्रि०—१ (क) पुरवासियोंको साथ लेनेमें भाव यह है कि वनमें ही गुरुजी श्रीरामजीका तिलक करेंगे। राजा बनाकर राजसी ठाट-बाटके साथ उनको वनसे लौटा लायेंगे। क्योंकि जिसको महाराज राज्य दे गये हैं जब वह उसे नहीं चाहता और प्रजा भी श्रीरामजीको राजा चाहती है तब उनके राज्य न स्वीकार करनेका कोई कारण ही न रह जायगा। (ख) *'जहँ सुखरासी'* का भाव कि भरतजी दुखी हैं और सारी प्रजा भी दुखी है। दुःख मिटानेका, सिवा सुखराशिकी शरण जानेके दूसरा उपाय नहीं। पुनः भाव कि ये सब तो प्रभुके दुखी होनेके भयसे दुःखी हैं यथा—*'एकहि उर बस दुसह दवारी। मोहि लगि भे सियराम दुखारी॥'* पर प्रभु तो सुखराशि हैं, उन्हें दुःख कहाँ! प्रभु सुखराशिकी झाँकी उन्होंने आश्रमके निकट पहुँचकर की। वह २। २३९ में देखिये—*'सीस जटा कटि मुनिपट बाँधे'* इत्यादि। दर्शन होते ही *'बिसरे हरष सोक सुख दुख गन।'* (२४०। १)

पं० रा० व० श०—*'भरत गए जहँ प्रभु सुखरासी'* इति।—सुखराशि कहा क्योंकि भरतजीको जो दुःख था वह प्रभुके सम्मुख जानेपर दूर हो गया और वे सुखी हो गये। भरतागमनसे ही जनकागमन-प्रसङ्ग भी है।

रा० शं० श०—१ *'भरत गए जहँ प्रभु सुखरासी'* इति।—*'सुखरासी'* पद देनेका कारण कि आश्रममें प्रवेश करते ही दुःख मिट गये, यथा—*'करत प्रबेस मिटे दुख दावा। जनु जोगी परमारथ पावा॥'*

२ *'पुनि रघुपति.........'* इति। [(क) *'पुनि'* में यह भाव भी ले सकते हैं कि पूर्व वसिष्ठजीने अवधमें समझाया था, माता कौसल्या, मन्त्रिमण्डल और पुरवासी भी उनसे सहमत हुए पर उन्होंने आज्ञा न स्वीकार की। अब यहाँ आनेपर *'रघुपति'* ने समझाया] (ख) *'रघुपति'* का भाव कि ये तो चक्रवर्तीजीके रहते ही *'रघुपति'* थे। यथा—*'अनुज समेत देहु रघुनाथा।'* (१। २०७। १०), *'छुअत टूट रघुपतिहु न दोसू।'* (१। २७२। ३) जो बड़ा होता है वह जन्मसे ही बड़ा होता है। सभी उससे दबते हैं, उसका रुख देखा करते हैं। यथा—*'लखी राम रुख रहत न जाने'* (दशरथजी), *'अस बिचार जस आयेसु होई। मैं सिख देउँ जानकिहि सोई॥'* (२। ६०। ६) (माता कौसल्याजी),*'राखे राम रजाइ रुख हम सब कर हित होइ।'* (२। २५४) (गुरु वसिष्ठजी), *'राखि राम रुख धरम ब्रत पराधीन मोहि जानि।'* (२। २९३) (श्रीभरतजी); अतः राज्यकी कोई अपेक्षा नहीं, श्रीरामजी स्वभावसे ही रघुपति हैं। वे वही करेंगे जिससे रघुकुलकी मर्यादा रहे। अतः *'रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहु बरु बचन न जाई॥'* इस रीतिकी रक्षा करेंगे।

(ग) *'बहु बिधि समुझाए'* इति। चित्रकूटकी पहली सभामें भरतजीकी निर्दोषता तथा अपनी लाचारी कहकर समझाया। दूसरी सभामें समझाया कि धर्मसंकटमें तुम हमारी सहायता करो। क्योंकि भाई हो। और विदाईके समय समझाया कि तुम्हारे ऊपर कोई भार नहीं है, भार श्रीगुरुजीपर है अथवा *'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ॥'* अतः इन चारों विधियोंसे समझाया। यथा—*'जानहु तात तरनिकुल रीती। सत्यसंध पितु कीरति प्रीती॥'* (२। ३०५। १) (नीति) *'बाँटी बिपति सबहिं मोहि भाई। तुम्हहि अवधि भरि बड़ि कठिनाई॥'* (२। ३०६। ६) (प्रीति), *'मोर तुम्हार परम पुरुषारथु। स्वारथु*

सुजस धरमु परमारथु॥ पितु आयसु पालिहिं दुहु भाई। लोक बेद भल भूप भलाई॥' (२। ३१५) और अन्तमें पादुका देकर संतुष्ट कर दिया।

पुनः भाव कि प्रेमीको उसका प्रेमी ही समझा सकता है। बात वही हुई जो गुरुजीने अयोध्याकी सभामें कही थी, पर समझे भरत रामजीके ही समझानेसे।

शीला—*'लै पादुका……'* इति। भाव कि और किसी तरह न समझे, राज्य पानेमें कृपा न समझी, जब पादुकारूपी सेवा पायी तब कृपा जानी। ☞इसी प्रकार भक्तको कैसा ही भारी ऐश्वर्य क्यों न मिल जाय उसे भगवत्-कृपा न मान लेना चाहिये। प्रभु न आये तो उनके प्रतिनिधि तो आये, ये ही अवधिभर सिंहासनासीन रहेंगे, आज्ञा देंगे वही किया जायगा। इस तरह राज्य स्वीकार हो गया। *'अवधपुर आए'* से यह भी जना दिया कि पादुका पाकर फिर तुरंत चित्रकूटसे चल दिये। प्रेमीका भगवान्‌से विदा होना न कह सके, दूसरे प्रेमीके साथ पादुकारूपमें हैं ही, प्रेमी भगवान्‌से अलग नहीं इत्यादि कारणोंसे *'अवधपुर आए'* से ही बिदाई कह दी।

'भरत रहनि'—अयोध्याकाण्ड दो० ३२३ से ३२६ (४) तक देखिये।

वि० त्रि०—*'सुरपति सुत……'*—भाव कि बेटा भी बापके समान ही हुआ चाहे *'काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥'* बेटा करनीमें बापसे बढ़ा-चढ़ा है। देखिये सुरपतिको तो काक समान ही कहा है और बेटा तो काक ही हो गया। मलिन ऐसा कि सरकारका वन-विहार न देख सका। —*'सीता चरन चोंच हति भागा।'* कहीं प्रतीति नहीं—देखिये जिन प्रभुके बलपर देवसमाजने इतनी प्रतीति की कि चित्रकूट आनेपर पुष्पवृष्टि करके कहा कि *'नाथ सनाथ भए हम आजू'*, उन्हीं प्रभुके बलकी परीक्षा करने चला। पुनः भाव कि यह समझकर परीक्षाके लिये आया कि सुरपतिका पुत्र हूँ, सारे देवसमाजका मुझे सहारा है, ब्रह्मलोकतक मेरी पहुँच है। तभी तो उसने देवसमाजके परम उपकारीके साथ ऐसी करनी की। समझा था कि काक समझकर काक-वध-योग्य बाण मारेंगे तो उससे मेरा होगा क्या? यदि पहिचान लिया और किसी दिव्यास्त्रका प्रयोग किया तो उसका उपसंहार करूँगा।

वि० त्रि०—*'प्रभु अरु अत्रि भेंट……'* इति। (क) प्रभुका भाव—समर्थ हैं। खरदूषणादिके भयसे ऋषियोंको भागते हुए सुनकर उसी ओर बढ़ा चाहते हैं। वा प्रभु हैं। सेवकोंके वचनको सत्य करते हैं। वाल्मीकिजीने कहा था कि अत्रि आदि मुनिवरोंका श्रम दर्शन देकर सफल कीजिये और कामदगिरिको गौरव दीजिये। गिरिको तो गौरव दे चुके, अब ऋषियोंके आश्रमोंपर जा रहे हैं। अथवा *'संतत दासन देहु बड़ाई'* अतः अत्रिजीको बड़ाई देनेके लिये उनकी आज्ञासे आगे जायँगे और उनकी धर्मपत्नीको बड़ाई देनेके लिये उनसे सीताजीको पातिव्रत्यका उपदेश दिलायेंगे। (ख) *'पुनि'* से जनाया कि पूर्व भी इनसे भेंट हो चुकी है। यथा *'अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू। तात बिगत भय कानन चरहू॥'* (ग) *'भेंट'* का साधारण अर्थ तो है ही। दोनोंका मिलना विस्तारसे अरण्यकाण्डमें है। दूसरा भाव यह भी है कि श्रीअनसूयाजीसे भगवती जनकनन्दिनीने भेंट स्वीकार की, यह भी कहा।—*'दिब्य बसन भूषन पहिराए।……'* इसीसे और किसीके साथ मिलनेमें भेंट शब्द नहीं आया है।

२—प्रभु और अत्रिजीकी भेंटमें *'बरनी'* पद आदरका लाये; क्योंकि अत्रिजी सुनकर हर्ष-प्रेम-पुलकसे पूरित हो गये थे। इसी प्रसङ्गमें अनसूयाजीका प्रेम श्रीकिशोरीजीके साथ और उनके व्याजसे पातिव्रत्यधर्म वर्णन किया।

नोट—*'कहि बिराध बध……'* इति। (क) महर्षिसे अत्रिसे बिदा होकर दण्डकारण्यकी ओर चले तो प्रथम विराधका ही सामना पड़ा। इसकी मृत्यु किसी अस्त्र-शस्त्रसे नहीं हो सकती थी। रघुनाथजीने इसकी मृत्युकी विधि तुरत खोज निकाली। इसीसे *'बिराध बध पंडित'* आपका एक नाम ही हो गया। ५१ (५) देखिये। इसकी पूरी कथा (३। ७। ६-७) में देखिये। दण्डकारण्यमें प्रवेश करते ही असुर विराध मिला। और अन्तमें वैसे ही अजर-अमर खरदूषणादि राक्षसोंका सामना हुआ। उनका भी वध

आपने पण्डिताईसे किया। इसीसे *'खरदूषन बिराध बध पंडित'* कहे जाते हैं। (ख) श्रीशरभङ्गजीकी कथा (३। ७। ८ से ३। ९। ४) तक है। दण्डकारण्यमें श्रीरामजीका आगमन सुन इन्होंने बिना दर्शन किये ब्रह्मलोकको जाना स्वीकार न किया और दर्शन हो जानेपर प्रभुके सामने ही दर्शन करते हुए उन्होंने योगाग्निसे शरीरको भस्म कर दिया, क्योंकि दर्शन होनेपर पुनः वियोग होना उनको असह्य था। *'जेहि बिधि'*, यथा—*'तब लगि रहहु दीन हित लागी। जब लगि तुम्हहि मिलौं तनु त्यागी॥ जोग जग्य जप तप ब्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा॥ एहि बिधि सर रचि मुनि सरभंगा। बैठे हृदय छाँड़ि सब संगा॥ सीता अनुज समेत प्रभु नील जलद तनु स्याम। मम हिय बसहु निरंतर सगुन रूप श्रीराम॥'* (३। ८) *असि कहि जोग अगिनि तनु जारा।'*

वि० त्रि०—*'बरनि सुतीछन प्रीति पुनि'* इति। (क) यहाँपर 'सुतीछन' शब्द श्लिष्ट है। मुनिका नाम सुतीक्ष्ण है और उनकी प्रीति भी सुतीक्ष्ण है। श्रीरामजी गये तो अनेक ऋषियोंके पास पर कथा अत्रि, शरभङ्ग, सुतीक्ष्ण और अगस्त्य चार ऋषियोंकी ही दी गयी। चारोंमें चार विशेषताएँ हैं। भेंटकी विशेषता अत्रिमें, देह-त्यागविधिकी विशेषता शरभङ्गमें, प्रीतिकी विशेषता सुतीक्ष्णमें और सङ्गकी विशेषता अगस्त्यजीमें। (श्रीसुतीक्ष्णजीके प्रेमकी कथा ३। १०। १ *'मुनि अगस्ति कर सिष्य सुजाना। नाम सुतीछन रति भगवाना॥'* से लेकर ३। १२। ४ तक है)। प्रेमकी सुतीक्ष्णता देखिये। ध्यानमें जो मूर्ति थी उसमें दो हाथ और बढ़ गये। मूर्ति चतुर्भुज हो गयी। बस इतना ही मुनिजीके ध्यानभङ्गके लिये यथेष्ट था। यथा—*'मुनि अकुलाइ उठा तब कैसे। बिकल हीन मनि फनिबर जैसे॥'* (३। १०। १९) वहाँ आसक्ति तो द्विभुजमूर्ति कोसलपतिमें थी। उन्हें औरसे काम क्या? वहाँ तो यह सिद्धान्त है कि *'जे जानहिं ते जानहुँ स्वामी। सगुन अगुन उर अंतरजामी॥ जो कोसलपति राजिवनयना। करउ सो राम हृदय मम अयना॥'* (३। ११। १९-२०) राममें भी चतुर्भुज, अष्टभुज, सहस्रभुज राम नहीं, जो कोसलपति अर्थात् द्विभुज राम हैं वे हृदयमें बसें। यदि वे ही चतुर्भुजादि रूपसे आवें तो अपनेको कोई काम नहीं। ऐसी तीखी भक्ति और कहीं नहीं दिखायी। इन्हें वे राम मिले नहीं तो फिर दूसरेसे क्यों माँगें। *'मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाँचा। समुझि न परइ रूढ़ का साँचा॥'* (३। ११। २४) [यह पाठ त्रिपाठीजीने दिया है] इस *'रूढ़को साँचा'* संसारमें असली बात ही नहीं समझमें आती, माँगे भी तो क्या माँगे। प्रेमपात्रसे क्या माँगें? यदि प्रेमपात्र देनेको उत्सुक है तो जो उसका जी चाहे दे दे। प्रेमको तो इतना ही चाहिये कि वह हृदयसे (दूर) न हो। यथा—*'मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निहकाम।'* (३। ११)

'प्रभु-अगस्ति-सतसंग' इति। इन ऋषिकी प्रभुता पञ्चतत्त्वोंपर थी। इन्होंने समुद्रशोषण किया, विन्ध्याचलको बढ़नेसे रोका। ऐसे प्रतिभाशाली ऋषिका और प्रभुका समागम हुआ। इनसे ही प्रभुने निशाचरोंके वधका उपाय पूछा और ऋषिजीने उपाय बतला ही तो दिया—*'है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। पावन पंचबटी तेहि नाऊँ॥..........बास करहु तहँ रघुकुलराया।..........'* (३। १३। १५—१७) तात्पर्य यह था कि रावणसे वैर होनेसे ही पृथ्वी निशिचरहीन हो सकेगी। यहाँ निकट ही खरदूषणादिसहित शूर्पणखा रहती है। अतः अवश्य किसी-न-किसी दिन खटपट होगी और वही निशाचरनाशका उपाय बनेगी। अतः महात्माके सङ्गसे श्रीरामजीको ईप्सित सिद्धिका मार्ग मिला। दूसरी बात यह भी है कि इन्हीं महात्माने भगवान् शङ्करकी भाँति सत्सङ्ग भी माँगा है। यथा *'यह बर माँगउँ कृपानिकेता। बसहु हृदय श्री अनुज समेता॥ अबिरल भगति बिरति सतसंगा। चरन सरोरुह प्रीति अभंगा।'* (३। १३। १०-११) इस मिलनमें सङ्गकी महिमा अधिक द्योतित होनेसे इस प्रसङ्गको *'प्रभु अगस्ति सतसंग'* कहा। [ये ऐसे ही महात्मा हैं। श्रीसनकादिक ब्रह्मलीन ऋषि भी इनके पास सत्सङ्गको जाते हैं और कौन कहे स्वयं भगवान् शङ्कर इनके सत्सङ्गको जाया करते हैं। भगवान् शङ्कर सोचते हैं कि हमने तो समुद्रसे निकले हुए एक कालकूटको पीकर कण्ठमें ही रख लिया और इन्होंने तो समुद्रको ही पी डाला। इत्यादि। अतः श्रीरामजीका भी वहाँ सत्सङ्गके लिये जाना कहा गया]

कहि दंडक बन पावनताई। गीध मइत्री पुनि तेहि गाई॥ १॥
पुनि प्रभु पंचबटी कृत बासा। भंजी सकल मुनिन्ह की* त्रासा॥ २॥
पुनि लछिमन उपदेस अनूपा। सूपनखा जिमि कीन्हि कुरूपा॥ ३॥
खरदूषन बध बहुरि बखाना। जिमि सब मरमु दसानन जाना॥ ४॥

अर्थ—दण्डकवनका पवित्र करना कहकर फिर उसने गृध्रराजकी मित्रता (बड़े प्रेमसे) कह सुनायी॥ १॥ फिर (जो) प्रभुने पञ्चवटीपर वास किया और सब मुनियोंका भय नाश किया। (वह कहा)॥ २॥ फिर लक्ष्मणजीको जो उपमारहित उपदेश किये और जिस प्रकार शूर्पणखाको कुरूप किया (वह सब कहा)॥ ३॥ फिर खर-दूषणवध और जिस प्रकार रावणने सब मर्म जाना वह सब वर्णन किया॥ ४॥

रा० शं०—*'पावनताई'*, यथा—*'है प्रभु परम मनोहर ठाऊँ। पावन पंचबटी तेहि नाऊँ॥ दंडकबन पुनीत प्रभु करहू।'* दण्डकवन पुनीत हो गया, यथा—*'गिरि बन नदी ताल छबि छाए।'* २—*'भंजी सकल मुनिन्ह की त्रासा'*, यथा—*'जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भए मुनि बीती त्रासा॥'* ३—*'पुनि लछिमन उपदेस अनूपा।'* 'अनूप' जैसा कि उपदेशके अन्तमें कहा है *'भगति तात अनुपम सुखमूला।'* ४—*'कुरूपा'* अर्थात् *'नाक-कान बिनु भइ बिकरारा।'* खर-दूषणवध बखाननेका भाव कि उसमें मायानाथने अति कौतुक किया था—(ये रावणके समान बलवान् थे। रावणसमर विस्तारसे है, अतः इसे भी विस्तारसे कहा। इसमें प्रभुका ऐश्वर्य और सामर्थ्य प्रकट होता है)

रा० प्र०—शूर्पणखाको कुरूप किया तब खर-दूषणसे उसने पुकार की। वे सहायक बनकर बदला लेने आये। अतः युद्धमें उनका वध हुआ। शूर्पणखाद्वारा रावणने मर्म जाना।

वि० त्रि०—समय निर्णय—वनवासके दस वर्ष तो मुनियोंके आश्रममण्डलमें घूमते बीते। फिर सुतीक्ष्णजीके आश्रममें आकर कुछ दिन रहे। यथा— **'तत्रापि निवसद्रामः किञ्चित्कालमरिन्दमः।'** (वाल्मी०) फिर अगस्त्यजीके आश्रममें आये। यहाँ *'अगस्ति सत्सङ्ग'* पद ही कहे देता है कि अधिक दिनोंतक रहे। श्रीगोस्वामीजीने वनवासके प्रारम्भमें श्रीरामजीसे कहलाया है—*'बरष चारि दस बास बन मुनिब्रत बेष अहार।'* और अवधिके अन्तिम भागमें कह देते हैं—*'पुर न जाउँ दस चारि बरीसा।'* इस भाँति अवधिके पहले चार वर्ष और पिछले चार वर्षकी प्रधानता दिखलाते हैं। इस प्रकार चौदह वर्षकी अवधिको तीन भागमें विभक्त करते हैं। पहले चार वर्ष, मध्यके छः वर्ष और अन्तके चार वर्ष। पहले चार वर्ष शरभङ्गजीके आश्रममें आनेके बाद पूरे होते हैं। मध्यके छः वर्ष सुतीक्ष्णजीके आश्रममें जाने और फिर सुतीक्ष्णके आश्रममें लौटनेमें समाप्त होते हैं। अगस्त्यजीके आश्रमसे अयोध्याप्राप्तितक दूसरे चार वर्ष समाप्त होते हैं। इस भाँति अगस्त्याश्रममें वनवासका ग्यारहवाँ वर्ष समाप्त होता है।-[यह मत वाल्मीकीयके आधारपर जान पड़ता है। मानसमें कई स्थानोंमें वाल्मीकीयसे मतभेद है]।

दसकंधर मारीच बतकही। जेहि बिधि भई सो सब तेहिं कही॥ ५॥
पुनि माया-सीता कर हरना। श्रीरघुबीर बिरह कछु बरना॥ ६॥
पुनि प्रभु गीध क्रिया जिमि कीन्ही। बधि कबंध सबरिहि गति दीन्ही॥ ७॥
बहुरि बिरह बरनत रघुबीरा। जेहि बिधि गए सरोवर तीरा॥ ८॥

अर्थ—जिस प्रकार रावण और मारीचकी बातचीत हुई वह सब उसने कहा॥ ५॥ फिर मायासीताका हरण और श्रीरघुनाथजीका विरह किंचित् वर्णन किया॥ ६॥ फिर जैसे प्रभुने गृध्रराज जटायुजीकी क्रिया की, कबन्धका वध करके शबरीजीको गति दी और फिर जिस प्रकार विरह वर्णन करते हुए रघुवीर पम्पासरके तीर गये (वह सब कहा)॥ ७-८॥

---

* मुनिन कै—(का०)।

नोट—१ *'दसकंधर मारीच बतकही।.........'* इति। (क) यह प्रसंग अरण्यकाण्डमें है। वहाँ भी रावणके 'दसमुख' 'दससीस' नामोंका ही प्रयोग हुआ है। *'दसमुख गयेउ जहाँ मारीचा', 'दसमुख सकल कथा तेहि आगे। कही सहित अभिमान अभागे॥', 'तेहि पुनि कहा सुनहु दससीसा। ते नर रूप चराचर ईसा॥'* दसकन्धर नाम दिया क्योंकि उसे अपने दस सिर बीस भुजाके होनेका अभिमान था। उसने मारीचसे कहा भी है—*'कहु जग मोहि समान को जोधा।'* मारीचने उससे बात करना 'दससीस' सम्बोधनसे आरम्भ ही किया है—*'तेहि पुनि कहा सुनहु दससीसा।'* यहींसे उसका सदुपदेश भी प्रारम्भ होता है; इसीसे *'सुनहु दससीसा'* से जो बातचीत हुई उसे 'बतकही' कहा। बतकही शब्द (१। ९। २, १। २३१, ४। २१, ६। १६। ७, ६। १७। ८, ७। ४७। ८) में पूर्व आ चुका है, विशेष भाव वहीं देखिये। (ख) *'जेहिं बिधि भई'* से शूर्पणखाका रावणके पास जाकर उसे उत्तेजित करना और उसका श्रीसीताजीको हर लानेमें मारीचकी सहायता लेनेका विचार करके मारीचके पास जाना भी सूचित कर दिया। मारीचका राजाकी पूजा करना कुशल पूछकर आगमनका कारण पूछना भी आ गया। बस इस प्रकार 'बतकही' प्रारम्भ हुई। (ग) *'सो सब तेहि कही'* इति। 'सब' से जनाया कि विस्तारसे पूरी-पूरी बातचीत कही कुछ छोड़ा नहीं, न संक्षेपसे कहा। 'सब' कहनेका कारण 'बतकही' शब्दमें निहित है। उसमें सदुपदेश है, उसमें श्रीरामजीके स्वरूप, पौरुष और चरित्रका वर्णन है; अतः उसे पूरा-पूरा कहा।

२ *'पुनि माया-सीता कर हरना।.........'* इति। (क) इससे रावणके सीताहरणका विचार करके मारीचके आश्रममें आनेके बीचमें ही प्रभुने जो युक्ति की वह सब भी कह दी। यथा—*'जौं नररूप भूपसुत कोऊ। हरिहउँ नारि जीति रन दोऊ॥ चला अकेल जान चढ़ि तहवाँ। बस मारीच सिंधु तट जहवाँ॥ इहाँ राम जसि जुगुति बनाई। सुनहु उमा सो कथा सुहाई॥'* (ख) *'माया सीता'* अर्थात् श्रीसीताजी तो प्रभुकी इच्छा ललित नरलीला करनेकी जानकर उनकी आज्ञानुसार पावकमें निवास करने लगीं और अपना प्रतिबिंब, अपनी प्रतिमूर्त्तिको आश्रममें रख दिया। यथा—*'सुनहु प्रिया ब्रत रुचिर सुसीला। मैं कछु करबि ललित नर लीला॥ तुम्ह पावक महुँ करहु निवासा।.........प्रभुपद धरि हिय अनल समानी॥ निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसइ सील रूप सुबिनीता॥'* (३। २४। १—४) अतः रावणके माया ही हाथ लगी। वह श्रीरामजीको अपनी माया-(कपट मृग-) से ठगने आया और ठगा गया स्वयं, यह *'माया सीता कर हरना'* कहकर जनाया।

पं० रा० व० श०—*'बिरह कछु बरना'* का भाव कि विरहकी कथा बड़ी विस्तृत है पर ऋषि और उपासक किंचित् ही वर्णन किया करते हैं। ['कछु' इससे भी कहा कि यह विरही-नाट्य थोड़ी ही देरका था, जबतक आश्रममें गृध्रराज जहाँ पड़े थे वहाँतक न पहुँचे थे।]

नोट—२ *'श्रीरघुबीर बिरह'* का भाव कि प्रभु पञ्चवीरतायुक्त हैं। उनके विरहमें भी दया, पराक्रम और त्यागवीरता भरी है। देखनेमें वे प्रियारहित हैं, कामातुर हैं, विरही हैं, पर वस्तुतः 'श्रीजी' का उनसे नित्य संयोग है, वे ललित नरलीला दिखा रहे हैं।—*'अतुलित बल नरकेहरि दोऊ।.........बिरही इव प्रभु करत बिषादा॥'* (३। ३७। १, २), *'पूरनकाम राम सुखरासी। मनुज चरित कर अज अबिनासी॥'* (३। ३०। १७) *'कबहूँ जोग बियोग न जाकें। देखा प्रगट बिरह दुख ताकें॥'*—बा० ४९ (८) मेंके सब भाव *'श्रीरघुबीर'* में हैं।

नोट—३ *'पुनि प्रभु गीध क्रिया.........'* इति। (क) *'गीध क्रिया'* से उसका श्रीसीताजीका आर्तरुदन सुनकर रावणसे उनको छीन लेना और रावणसे युद्ध करना और अद्भुत करनी करके पक्षोंके कट जानेसे मृतप्राय होकर गिरना तथा विरह करते हुए श्रीरामजीका मार्गमें उसे पड़े हुए देखकर उसके पास जाना, उसको स्पर्शद्वारा 'विगत पीरु' करना, उसका सीताहरण समाचार देना और श्रीरामजीकी गोदमें शरीर त्यागकर दिव्य चतुर्भुज रूप धारणकर श्रीरामजीकी स्तुति करके अविरल भक्तिका वर प्राप्तकर हरिधाम जानेतककी सब कथा भी कह दी जो क्रियाके पूर्व हुई। (ख) *'गीध-क्रिया'* से दिखाया कि कहाँ वह *'अधम खग आमिष भोगी'* और कहाँ मनुष्य और उसमें भी ब्रह्म अवतार! मनुष्य पक्षीकी क्रिया करे यही अनोखी बात है और ये तो परमात्मा हैं। इससे दिखाया कि अधम-से-अधम क्यों न हो, जो दीन है, पर भगवान्‌से

कोई नाता दृढ़ कर लेता है उसको भगवान् अवश्य अपनाते हैं। इसने अपनेको दशरथ महाराजका सखा कहा था और उसी भावसे पंचवटीमें रक्षामें तत्पर हुआ, श्रीसीताजीके लिये अपने प्राण दे दिये। अत: भगवान्‌ने भी पिता भावसे उसकी अपने हाथोंसे क्रिया की। *'तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम।'* (३। ३२) में विशेष भाव देखिये। 'प्रभु' से जनाया कि वे समर्थ हैं, जगत्‌मात्रके स्वामी हैं, ऐसा करना उन्हींके योग्य है। भला विरही यह कर सकता? विरह तो उनका नर-नाट्य था।

४ *'बधि कबंध'*.........' इति। (क) यह भी प्रभुताका कार्य है। क्योंकि इसके भयसे उस वनमें कोई जा नहीं सकता था। दो शब्दमें इसे लिखकर जनाया कि बहुत संक्षेपसे इस कथाको कहा। उसका वध होनेपर उसने भी आपको 'प्रभु' माना है। यथा—*'दुरबासा मोहि दीन्ही सापा। प्रभु पद पेखि मिटा सो पापा॥'* (३। ३३। ७) (ख) *'गति दीन्ही'* कबन्ध और सबरिहि दोनोंके साथ अन्वित है, यथा—*'ताहि देइ गति राम उदारा। सबरीके आश्रम पगु धारा॥'* (३। ३४) इसीमें शापकी कथा, और प्रभुका उपदेश भी आ गया। (ग) *'सबरिहि गति दीन्ही'*—इस क्रियाका कर्ता भी प्रभु है। इस प्रसङ्गमें भी 'प्रभु' शब्द आया है। यथा—*'प्रेम सहित प्रभु खाए बारंबार बखानि।'* (३। ३४) *'पानि जोरि आगे भइ ठाढ़ी। प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी॥'* (३। ३५। १) और अन्तमें *'बार बार प्रभु पद सिरु नाई'* आया है। इस तरह श्रीशबरीजीके आश्रममें आनेपर तीन बार यह शब्द आया है। शबरीके फल खाना, ऋषियोंको छोड़ उसके आश्रममें जाना और उसको गति देना यह सब प्रभुत्वका काम है। (घ) *'सबरिहि'* से जातिहीन और पापयोनि आदि सूचित किया; यथा—*'जातिहीन अघ जन्म महि मुक्त कीन्हि असि नारि।'* (३। ३६)

५—*'बहुरि बिरह'*.........' इति। (क) *'बहुरि'* का भाव कि पहले भी कुछ वर्णन हुआ था। यथा—*'श्रीरघुबीर बिरह कछु बरना।'* पहले आश्रमको श्रीजानकी-विहीन देखकर विरहीका-सा विलाप किया था। गृध्रराजको देख वह विरह जाता रहा, श्रीशबरीजीके यहाँसे चलनेपर फिर वही नाट्य करने लगे। यथा—*'बिरही इव प्रभु करत बिषादा।'* (३। ३७) यहाँ *'बिरह बरनत रघुबीरा'* कहते हैं, रघुवीर विरहका वर्णन करते हैं। इससे जनाया कि विरही हैं नहीं। पुन: इस समय जो कुछ वे विरहमें कह रहे हैं वह सब उपदेशमय है, उसमें अनेक कथाएँ और संवाद हैं यह सूचित करनेके लिये *'बिरह बरनत'* कहा। यथा—*'कहत कथा अनेक संबादा।'* (३। ३७। २) से *'क्रोधके परुष बचन बल'*.........।' (३। ३८) तक। (ख) *'जेहि बिधि'* अर्थात् विरहमें अनेक कथा-संवाद कहते-कहते वहाँ पहुँच गये। *'सरोवर तीरा'* अर्थात् पंपासरके तटपर। यहाँ पहुँचनेपर विरह-विलाप जाता रहा। यथा—*'बैठे परम प्रसन्न कृपाला। कहत अनुज सन कथा रसाला॥'* (३। ४१। ४) यहाँतक *'गए सरोवर तीरा'* प्रसङ्ग है। (ग) *'सरोवर'* का नाम न देकर जनाया कि सरोवर प्रसिद्ध है, इसे सब जानते हैं। उधर ऋषि इसीमें स्नान करते थे।

दो०—प्रभु नारद संबाद कहि मारुति मिलन प्रसंग।
पुनि सुग्रीव मिताई बालि प्रान कर भंग॥
कपिहि तिलक करि प्रभु कृत सैल प्रबरषन बास।
बरनन बर्षा सरद अरु* रामरोष कपित्रास॥ ६६॥

अर्थ—प्रभु और नारदका संवाद और हनुमान्‌जीके मिलनेका प्रसङ्ग कहकर फिर सुग्रीवसे मित्रता और बालिके प्राणोंका नाश कहा। कपि सुग्रीवका राजतिलक करके जो प्रभुने प्रवर्षण पर्वतपर वास किया वह वर्षा और शरद्‌का वर्णन, श्रीरामजीका (सुग्रीवपर) क्रोध और कपि-(सुग्रीवादि-)का भयभीत होना वर्णन किया॥ ६६॥

नोट—१ *'प्रभु नारद संबाद'*.........' इति। (क) *'प्रभु'* शब्दसे जनाया कि इस संवादभरमें ऐश्वर्यभाव

* 'बरनत बरषा सरद कर'—(का०)। 'सरद रितु'—पाठान्तर।

ही है। इस संवादमें 'प्रभु' शब्द आदिसे अन्ततक आठ बार आया है। नारदजी इसी भावसे दर्शनको गये और आदिसे अन्ततक यही भाव प्रभुमें रहा है। यथा—*'ऐसे प्रभुहि बिलोकउँ जाई।'* (३। ४१। ७)*………गए जहाँ प्रभु सुख आसीना। ८।………करत दंडवत लिए उठाई।………।'* (१०) *'नाना बिधि बिनती करि प्रभु प्रसन्न जिय जानि। नारद बोले बचन तब जोरि सरोरुह पानि॥'* (४१) प्रभु भी उनसे उनके भावके अनुसार, उनको अपना भक्त जानकर वैसे ही व्यवहार करते हैं। इसी भावसे कहते हैं—*'जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे।'* सारे संवादमें यह भाव है। यथा—*'तब नारद मन हरष अति प्रभु पद नाएउ माथ।'* (३। ४२), *'सिरु नाइ बारहि बार चरनन्हि ब्रह्मपुर नारद गए।'* (३। ४६) अतः *'प्रभु-नारद'* कहा। (ख) *'संबाद'* इति। इस मूल रामायणमें संवाद शब्द एक बार पूर्व भी आया है—*'कहेसि रामलछिमन संबादा।'* जैसे श्रीराम-लक्ष्मण-संवादमें अपूर्वता है, वैसे ही इसमें भी। जैसे वहाँ लक्ष्मणजीकी अनन्यता दर्शित की गयी है, वैसे ही यहाँ नारदजीकी रामनाममें अनन्यता दिखायी है। ये श्रीरामनामके ऋषि हुए। इन्होंने प्रभुसे वर माँगा—*'राम सकल नामन्ह ते अधिका। होउ नाथ अघ खग गन बधिका॥ राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम। अपर नाम उडगन बिमल बसहु भगत उर ब्योम।'* (३। ४२) और प्रभुने यह वर उनको दिया। यथा—*'एवमस्तु मुनि सन कहेउ………।'* पुनः, संवादमें शंका-समाधान आदि भी होते हैं, जैसे भारद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवाद, उमा-शम्भुसंवाद, गरुड़-भुशुण्डि-संवादमें। वैसे ही यहाँ भी नारदजीके मनके सन्देहका निवारण किया गया कि *'राम सदा सेवक रुचि राखी'* प्रसिद्ध है तब मुझे विवाह क्यों न करने दिया? इस शंकाके द्वारा उन्होंने समाधान कराके विरक्तों तथा रामभक्तोंके लिये कल्याणका मार्ग दिखाया है। इस संवादमें प्रभुने श्रीमुखसे अपना स्वभाव—*'जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ।………'* कहा है, सेवकपर अपना ममत्व और प्रेम किस दर्जेका है यह बताया है। अतः इस संवादको पढ़-सुनकर अन्य जीव भी राम-सम्मुख हो भव पार होंगे। फिर सन्तोंके लक्षण भी पूछे और कहे गये हैं जिनसे प्रभु रीझते हैं। अतः इसे संवाद कहा। (ग) इस संवादसे अरण्यकाण्डकी कथाकी समाप्ति जनायी। यहाँ अरण्यकाण्ड समाप्त हुआ।

प्र० सं०—*'मारुति-मिलन प्रसंग'* अर्थात् वटुरूपसे उनका प्रभुके पास जाना, प्रश्नोत्तर, कपटवेशका त्याग होनेपर प्रभुका उनको हृदयसे लगाना और उनकी पीठपर सवार होकर सुग्रीवके पास आना। *'बालि-प्रान कर भंग।'* मित्रता होनेपर मित्रका दुःख सुन उसके दूर करनेकी प्रतिज्ञा करना, सुग्रीवको युद्ध करने भेजना, ताराका बालिको समझाना, इत्यादि।

नोट—२ *'मारुति-मिलन प्रसंग'* इति। मिलन शब्द इस मूल रामायणमें तीन बार आया है। पूर्व *'बालमीक प्रभु मिलन बखाना'* में फिर यहाँ और आगे *'सीता रघुपति मिलन बहोरी'* में। तीनों ही रामनामके अद्भुत जापक हैं। वाल्मीकिजी उलटा नाम जपकर ब्रह्म-समान हो गये। पवनसुतने नामसे प्रभुको वशमें ही कर लिया, यथा—*'सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥'* और श्रीसीताजीके सम्बन्धमें भी कहा ही है—*'सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरि नाम।'* (३। २९), *'नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निजपद जंत्रित जाहि प्रान केहि बाट॥'* (५। ३०) वाल्मीकि-मिलन बखानकर कहनेके भाव पूर्व लिखे जा चुके हैं। मारुति बिछुड़े हुए प्रभुसे मिले, जिनकी राह वे जोहते रहे थे। उनका प्रसंग कहा कि सुग्रीवने डरकर उनको भेजा कि पता लें कि शत्रुपक्षके तो नहीं हैं। वे वटुरूपसे आये, प्रभुको पहचाना और कंधेपर चढ़ाकर ले आये। श्रीसीताजी भी बिछुड़े हुए प्रभुसे मिलीं, अतः वहाँ मिलना मात्र कहा।—यह किष्किन्धाकाण्डका आरम्भ हुआ।

३ *'पुनि सुग्रीव मिताई………'* इति। (क) *'पावक साखी देइ करि जोरी प्रीति दृढ़ाइ।'* (४। ४) इस तरह हनुमान्‌जीने दोनों ओरका समाचार कहकर दोनोंमें मित्रता करायी। सुग्रीव सखा बने। *'मिताई'* शब्दसे यह भी जनाया कि इसमें प्रभुने मित्रके लक्षण कहकर तब सुग्रीवकी विपत्ति हरनेकी प्रतिज्ञा की। इसी मित्रताके कारण उन्होंने बालिका वध किया। (ख) *'बालि प्रान कर भंग'* से *'लै सुग्रीव संग रघुनाथा।'* (४। ७। २५) से बालिकी मृत्युक्रियातक सब कथा जनायी। 'भंग' शब्द मानसमें बहुत बार आया है। यथा—*'भ्रकुटि भंग जो कालहि खाई।'* (६। ६५। २) *'बिनहि प्रयास होहिं भव भंगा।'* (७। ३३। ८), *'मम अनुचरन्ह कीन्ह मख

भंगा।' (५६। ४।), *'पुनि नृप बचन राज रस भंगा।'* (६५। १) इत्यादि। इस शब्दको देकर जनाया कि वह सहज ही मार डाला गया। इतना बली बालि एक ही बाणसे मर गया तथा उसको मरते समय कष्ट नहीं हुआ, यथा—*'बालि कीन्ह तनु त्याग। सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग।'* (४। १०) (ग) *'कपिहि तिलक करि'* इति। 'कपि' शब्दसे जनाया कि सुग्रीव तिलक होनेपर विषयी हो गये। स्त्री और राज्य पानेके लिये ही मित्रता की थी। अत: तिलक करके राज्य और स्त्री प्राप्त कर दिया। पर वे विषयमें पड़कर मित्रका कार्य भूल जायँगे। *'राम कहा अनुजहि समुझाई।'* (४। ११। ९) से *'अंगद सहित करहु तुम्ह राजू। संतत हृदय धरेहु मम काजू॥'* (४। १२। ९) तक यह प्रसङ्ग है।

४ (क) *'प्रभु कृत सैल प्रबरषन बास'* इति। 'प्रबर्षन' से दोनों बातें बतायी गयीं। एक तो यह कि विशेष वर्षाका समय आ गया, दूसरे 'प्रबर्षन' शैलका नाम भी था। यथा—*'राम प्रबर्षन गिरि पर छाए।'* (४। १२। १०) से लेकर *'मंगल रूप भयउ बन तब तें। कीन्ह निवास रमापति जब तें॥.........कहत अनुज सन कथा अनेका।'* (४। १३। ७) तक यह प्रसङ्ग कहा। (ख) *'बरनन बर्षा सरद'*—यह प्रवर्षणगिरिपर वर्षा और शरद्का वर्णन हो रहा है। *'बरनन'* का भाव कि भगवान् वहाँ निवास करके जैसे-जैसे, वर्षाकालमें मेघ-गर्जन, मोरोंका नृत्य, वर्षा, बिजली आदि कार्य होते हैं वैसे-ही-वैसे भगवान् उनका वर्णन करते हुए उसीके द्वारा भक्ति, वैराग्य, राजनीति आदिकी कथाएँ और उपदेश कहते हैं। *'बरषाकाल मेघ नभ छाए।'* (४। १३। ८) से लेकर *'कबहुँ दिवस महँ निबिड़ तम..........।'* (४। १५) तक वर्षा वर्णन है फिर *'बरषा बिगत सरद रितु आई।'* (४। १६। १) से इसी प्रकार शरद् ऋतुके सब अङ्गों तथा कार्योंका वर्णन करते हुए भक्ति आदिकी बातें कही गयी हैं। इस प्रकार चतुर्मास व्यतीत हुए। (ग) *'रामरोष कपित्रास'-'राम रोष'* का प्रसङ्ग *'बरषागत निर्मल रितु आई। सुधि न तात सीता कै पाई॥'* (४। १८। १) से प्रारम्भ होता है। 'राम' शब्द देकर सूचित किया कि *'राम सदा आनंद निधानू'* हैं, उन्हें रोष कहाँ, यह तो नरनाट्य मात्र है। यही बात शिवजीने उस प्रसङ्गमें कही है। यथा—*'जासु कृपा छूटहिं मद मोहा। ता कहुँ उमा कि सपनेहुँ कोहा॥ जानहिं यह चरित्र मुनि ग्यानी। जिन्ह रघुबीर चरन रति मानी॥'* (४। १८) यह सब भाव 'राम' शब्दसे सूचित कर दिये। विशेष उस प्रसंगमें देखिये। *'कपि त्रास'* से वह प्रसङ्ग भी जना दिया। जो *'इहाँ पवनसुत हृदय बिचारा। रामकाज सुग्रीव बिसारा॥'* से *'चले सकल चरनन्हि सिर नाई'* तक (४। १९। १—७) में कहा गया है। श्रीहनुमान्‌जीने साम-दाम-भय-भेद चारों प्रकारसे सुग्रीवको समझाया है तब वह परम भयभीत हुए हैं। यथा—*'सुनि सुग्रीव परम भय पावा।'* यह जाना कि *'बिषय मोर हरि लीन्हेउ ग्याना।'* —यह 'कपि' शब्द भी बता रहा है। भय होनेसे तुरत उन्होंने दूतोंको बुलाकर वानरयूथपोंको बुलानेकी आज्ञा दी। पुन: *'कपि त्रास'* से लक्ष्मणजीको क्रोधवंत देखकर वानरोंको भी त्रास हुआ—*'क्रोध देखि जहँ तहँ कपि धाए।'* मुख्यत: यहाँ सुग्रीवका त्रसित होना अभिप्रेत है। *'क्रोधवंत लछिमन सुनि काना। कह कपीस अति भय अकुलाना॥'* (३। २०) *'कपि त्रास'* ही प्रधान है, इसीसे दूत वानरोंको बुलाने भेजे गये, इसीसे वे लक्ष्मणजीके साथ प्रभुके पास आये और विनय की कि वानरयूथ बुलाये गये हैं; आते ही होंगे। अत: और सब प्रसंग न कहकर केवल *'कपि त्रास'* कहा, इसीसे वानरयूथोंके आनेतकको सब कथा जना दी। 'रामरोष' यथा—*'जेहि सायक मारा मैं बाली। तेहि सर हतउँ मूढ़ कहुँ काली॥' 'लछिमन क्रोधवंत प्रभु जाना।'* 'कपित्रास' यथा—*'क्रोध देखि जहँ तहँ कपि धाये' 'ब्याकुल नगर देखि तब आएउ बालिकुमार' 'कह कपीस अति भय अकुलाना।'*

जेहि बिधि कपिपति कीस पठाए। सीता खोज सकल दिसि धाए*॥ १॥
बिबर प्रबेस कीन्ह जेहि भाँती। कपिन्ह बहोरि मिला संपाती॥ २॥
सुनि सब कथा समीर कुमारा। नाघत भएउ पयोधि अपारा॥ ३॥
लंका कपि प्रबेस जिमि कीन्हा। पुनि सीतहि धीरजु जिमि दीन्हा॥ ४॥

* सीताषोजन सकल सिधाए—(का०)।

अर्थ—जिस प्रकार कपिराजने वानरोंको भेजा और वे सीताजीको ढूँढ़नेके लिये सब दिशाओंमें दौड़े गये॥ १॥ जिस प्रकार वानर बिलमें घुसे, फिर जैसे सम्पाती वानरोंको मिला॥ २॥ सब कथा सुनकर पवनसुत हनुमान्‌जी अपार सागरको लाँघे॥ ३॥ तथा जैसे वानरने लङ्कामें प्रवेश किया और फिर जैसे श्रीसीताजीको धैर्य दिया—वह सब कहा॥ ४॥

नोट—१ (क) *'जेहि बिधि..........'* भाव कि सुग्रीव सबके राजा हैं, अतः उन्होंने सबको आज्ञा दी, यह *'कपिपति पठाए'* से जनाया। यथा—*'ठाढ़े जहँ तहँ आयसु पाई। कह सुग्रीव सबहि समुझाई॥'* (४। २२। ५) समझाया कि *'राम काजु अरु मोरु निहोरा। बानर जूथ जाहु चहुँ ओरा॥ जनकसुता कहँ खोजहु जाई। मास दिवस महँ आएहु भाई॥ अवधि मेटि जो बिनु सुधि पाएँ। आवहि बनिहि सो मोहि मराएँ॥'* यह समस्त वानरोंसे कहकर उनको भेजा है। यह *'जेहि बिधि..........'* है। दक्षिण दिशामें जिनको भेजा है उनको विशेष समझाया है। यथा—*'सुनहु नील अंगद हनुमाना।'* से *'जो रघुबीर चरन अनुरागी।'* (४। २३। १—७) तक। यह भी *'जेहि बिधि..........'* में है। (ख) *'सीता खोज सकल दिसि धाए'* यथा—*'बचन सुनत सब बानर जहँ तहँ चले तुरंत।'* (४। २२) *'आयसु माँगि चरन सिरु नाई। चले हरषि सुमिरत रघुराई॥'* (४। २३। ८) *'चले सकल..........।'* (४। २३)

२ *'बिबर प्रबेस कीन्ह जेहि भाँती..........।'* इति। दक्षिण दिशामें यह प्रसङ्ग बहुत कामका है, इसीके द्वारा वानरयूथ समुद्रतटपर पहुँचे जहाँ सम्पाती था, जिसने श्रीसीताजीका पता बताया। यहीं तपस्विनीसे भेंट हुई जिसने आशीर्वाद दिया। अतः यह प्रसङ्ग पूरा कहा कि उधर भेजे हुए वानर प्याससे व्याकुल हो गये थे—*'लागि तृषा अतिसय अकुलाने..........। मरन चहत सब बिनु जल पाना॥'* यह देख हनुमान्‌जीने पर्वत-शिखरपर चढ़कर चारों तरफ दृष्टि डाली तो एक विवर देखा जिसमेंसे पक्षी उड़कर आते तथा जाते थे। जलाशयका अनुमानकर सबने उसमें एक-दूसरेका हाथ या लूम पकड़कर प्रवेश किया। यथा—*'आगे कै हनुमंतहि लीन्हा। पैठे बिबर बिलंब न कीन्हा॥'* वहाँ स्वयंप्रभाका दर्शन हुआ, प्यास बुझी, फल खानेको मिले और उस तपस्विनीकी कृपासे सब आशीर्वाद पाकर समुद्रतटपर पहुँचे।

३ *'कपिन्ह बहोरि मिला संपाती'* इति। पूर्वचरणका *'जेहि भाँती'* दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर है। किस प्रकार सम्पाती मिलने आया यह प्रसङ्ग *'इहाँ बिचारहिं कपि मन माहीं। बीती अवधि काज कछु नाहीं॥'* (४। २६। १) से *'एहि बिधि कथा कहहिं बहु भाँती। गिरि कंदरा सुना संपाती॥'* (२७। १) तक है। अर्थात् अवधि बीत जानेसे सब समुद्रतटपर प्रायोपवेशनद्वारा प्राण छोड़नेकी ठानकर बैठे। जाम्बवान्‌जी सबको समझाने लगे। यह सब सम्पातीने पर्वतकंदरामें बैठे सुना तो यह समझकर कि बहुत वानर मरेंगे, मुझे बहुत दिनके लिये आहार मिला, वह कंदराके बाहर आया। अङ्गदके मुखसे जटायुका मरण रामकार्यार्थ सुनकर वह स्वयं वानरोंके निकट आया।—*'आवा निकट कपिन्ह भय मानी।'* इसीसे *'मिला संपाती'* कहा, वानर सम्पातीसे मिलने न गये थे, वह स्वयं अपने भाईकी सद्‌गति सुनकर इनसे मिला। वानरोंका उसे उठाकर समुद्रतटपर लाना, उसका भाईको तिलाञ्जलि देना, रामदूतके स्पर्शसे पंखोंका जमना आदि गौण कथाएँ हैं इससे उनको मूलमें न कहा, इसीमें लक्षित कर दिया।

४ (क) *'सुनि सब कथा'* अर्थात् जो सम्पातीने चन्द्रमा ऋषिकी भविष्यवाणी सुनायी, श्रीसीताजीका अशोकवृक्षतले लङ्कामें बैठे होना कहा और शतयोजन सागरपार जानेसे कार्य होना बताया—यह सब और फिर जाम्बवन्तसे यह जानना कि *'रामकाज लगि तव अवतारा।'* इत्यादि *'सब कथा'* है। यथा—*'सुनि मम बचन करहु प्रभु काजू'* और *'कहइ रिच्छपति सुनु हनुमाना'* इत्यादि। (ख) इस प्रसङ्गमें भी 'कथा' शब्द आया है। यथा—*'कहि निज कथा सुनहु कपि बीरा।'* (४। २८। १) यहाँसे लेकर *'राम हृदय धरि करहु उपाई।'* (४। २९। ४) तक सम्पातीके वचन हैं। वानरोंका अपना-अपना बल-कथन गौण है अतः मूलमें न कहा। (ग) यहाँ *'समीरकुमारा'* का सुनना कहा औरोंका नहीं। कारण कि कार्य तो इन्हींसे होना है, औरोंका सुनना गौण है, यद्यपि सम्पातीने सभीको सम्बोधन किया है, यथा—*'कहि निज कथा*

सुनहु कपि बीरा॥' (४। २८। १) सम्पातीने कहा था कि *'सुनि मम बचन करहु प्रभु काजू।'* प्रभुके कार्यके लिये पवनकुमारका अवतार है, यह बात जाम्बवन्तजीने इनसे कही, यथा—*'रामकाज लगि तव अवतारा।'* अर्थात् यह कार्य तुमसे ही होना है, यह सुनते ही वे पर्वताकार हो गये और समुद्रको लाँघ जानेको तैयार हो गये। जाम्बवान्‌जीने इनको पवनतनय कहकर इनका बल कहा है। और उल्लंघनके समय तो पवनसुत शब्द बारंबार आया है। अतः *'समीरकुमारा'* नाम मूलमें दिया। (घ) ☞ *'मारुति-मिलन-प्रसंग'* से *'सुनि सब कथा'* तक किष्किन्धाकाण्डकी कथाका कहना जनाया।

५ *'नाघत भएउ………।'* इससे लाँघनेमें जो विघ्न हुआ उनका निवारण करते हुए पार होना जना दिया। यहाँसे सुन्दरकाण्ड प्रारम्भ हुआ।

६ (क) *'लंका कपि प्रबेस जिमि कीन्हा'* अर्थात् अति लघुरूप धरकर नृहरिको सुमिरकर लङ्कामें जाना, लङ्किनीका ललकारना फिर उसका आशीर्वाद *'प्रबिसि नगर कीजै सब काजा'*, सारी लङ्काको देखना, विभीषणसे भेंट और उनकी बतायी युक्तिसे श्रीसीताजीतक पहुँचना। 'कपि' शब्दसे जनाया कि कपिरूपसे ही सर्वत्र गये। वह अति लघुरूप भी कपि ही था। (ख) *'धीरजु जिमि दीन्हा'* कि *'कपिन्ह सहित ऐहहिं रघुबीरा'* इत्यादि, अपना रूप दिखाना, रघुनाथजीका सन्देश, वियोगविरह इत्यादि सब इसमें आ गया।—*'कह कपि हृदय धीर धरु माता। सुमिरु राम'* इत्यादि।

बन उजारि रावनहि प्रबोधी। पुर दहि नाघेउ बहुरि पयोधी॥५॥
आए कपि सब जहँ रघुराई। बैदेही की कुसल सुनाई॥६॥
सेन समेत जथा रघुबीरा। उतरे जाइ बारिनिधि तीरा॥७॥
मिला बिभीषन जेहि बिधि आई। सागर निग्रह कथा सुनाई॥८॥

शब्दार्थ—**निग्रह**=अवरोध।=बंधन। रोक।=शिक्षा—(रा० प्र०)।=विरोध, यथा—'**निग्रहस्तद्विरुद्धः स्यादित्यमरः**' —(वै०)। अनुग्रहाभाव, नाराजगी।

अर्थ—(जिस प्रकार) अशोकवन उजाड़कर रावणको बहुत समझाकर, लंका नगर जलाकर फिर समुद्रको लाँघा॥ ५॥ (और फिर) सब वानर वहाँ आये जहाँ रघुकुलके राजा श्रीरामचन्द्रजी थे और वैदेही श्रीजानकीजीकी कुशल सुनायी॥ ६॥ जिस प्रकार सेनासहित रघुनाथजी जाकर समुद्रतटपर उतरे॥ ७॥ जिस प्रकार विभीषणजी आकर मिले (वह सब) और समुद्रका विरोध, तिरस्कार और उसपर क्रोध तथा उसके बन्धनकी कथा सुनायी॥ ८॥

नोट—१ (क) *'बन उजारि'* इति। यहाँ वनका उजाड़ना कहा। सम्पातीने कहा था कि *'तहँ असोक उपवन जहँ रहई। सीता बैठि सोच रत अहई॥'* (४। २८। १२) जब हनुमान्‌जी वहाँ गये तब कहा है कि *'करि सोइ रूप गयउ पुनि तहवाँ। बन असोक सीता रह जहवाँ॥'* (५। ८। ६) और जब वे रावणके सामने आये तब उसने पूछा है कि *'केहि के बल घालेहि बन खीसा।'* (५। २१। १) इसीसे *'बन'* का उजाड़ना कहा। वनमें वृक्ष बहुत होते हैं। वनका उजाड़ना कहनेमें बागमें फल खानेके मिषसे प्रवेश करना, रखवालोंके बर्जनेपर उनको वृक्षोंसे ही मारना, इत्यादिसे लेकर नागपाशमें बँधकर रावणके पासतक लाये जानेकी कथा जना दी। यह वन रावणको प्राणप्रिय था। (ख) *'रावनहि प्रबोधी'* इति। श्रीहनुमान्‌जीने *'रावन'* सम्बोधनसे ही समझाना प्रारम्भ किया है। यथा—*'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासुबल बिरचति माया॥'* (५। २१। ४) अतः मूलमें यहाँ *'रावनहि प्रबोधी'* कहा। पुनः भाव कि यह जगत्‌को रुलानेवाला था ऐसेको उन्होंने समझाया, तब भला वह क्यों सुनने लगा। *'बोला बिहँसि अधम अभिमानी। मिला हमहि कपि गुर बड़ ग्यानी॥'* (५। २४। २) पहले श्रीरामजीका ऐश्वर्य कहा कि उन्हींके बलसे त्रिदेव उत्पत्ति, पालन और संहारका कार्य करते हैं इत्यादि। फिर उसे विनयपूर्वक समझाया है। यथा—*'बिनती करउँ जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥'* (५। २२। ७) *'भजहु राम रघुनायक कृपासिंधु भगवान।'* (५। २३) तक (ग) *'पुर दहि'* से

रावणका वानरको मार डालनेकी आज्ञा देना, विभीषणका उसी समय आना और रावणको समझानेपर रावणका वानरकी पूँछमें आग लगाकर उसे पूँछहीन करनेकी आज्ञा देना और राक्षसोंका पूँछमें तेलमें बोर-बोरकर कपड़ोंको लपेटकर आग लगाना इत्यादि आनुषंगिक बातें भी कह दीं। प्रधान *'पुर दहन'* है, अतः इतना ही मूलमें कहा। *'पुर दहि नाघेउ बहुरि पयोधी'* इति। यथा—*'उलटि पलटि लंका सब जारी।'* (५। २६। ८) फिर पूँछ बुझाकर श्रीजानकीजीके पास जाकर उनसे चूड़ामणि चिह्न पाकर, उनका सन्देश लेकर और उन्हें समझाकर पार आये। यह सब भी जना दिया।—*'नाँघि सिंधु एहि पारहि आवा।'* *'बहुरि'* क्योंकि पूर्व एक बार लाँघकर आये थे। यहाँ *'बिधि'* शब्द नहीं दिया क्योंकि यहाँ उसका काम ही नहीं पड़ा।

२ (क) *'आए कपि.........'* इति। लंकासे इस पार आनेपर सब वानरोंका वहाँसे श्रीरघुनाथजीके पास चलना, मधुवनमें सबका जाना, मधु फलका खाना, रखवालोंका सुग्रीवसे जाकर पुकार करना, सबका सुग्रीवके पास आना और सुग्रीवका सबको लेकर आना ये सब आनुषंगिक कथाएँ हैं, अतः उनको मूलमें न लिखकर मुख्य बात *'आए कपि सब जहँ रघुराई'* से उसको भी जना दिया। 'रघुराई' के पास आना कहा क्योंकि ये सुग्रीवके भी राजा हैं। (ख) *'बैदेही'* के भाव पूर्व कई बार आ चुके हैं। किसने सुनायी यह मूलमें नहीं कहा। जाम्बवन्तजीने पहले हनुमान्‌जीके चरित कहे। उनका वैदेहीको देख आना भी कहा। फिर रघुनाथजीके पूछनेपर हनुमान्‌जीने उनकी दशा और उनका संदेशा आदि कहा। और यह भी बताया कि रावणने एक मासकी अवधि दी है। वैदेहीकी कुशल सुनानेपर प्रभुका ऋणी बनना, हनुमान्‌जीको अनपायिनी भक्तिका वर देना आदि आनुषंगिक बातें उसीमें आ गयीं।

३ *'सेन समेत जथा रघुबीरा—'* इति। *'सेन समेत'* से ही जना दिया कि अन्य तीन दिशाओंके वानर भी आ चुके थे। पता लग गया इससे तुरत किष्किन्धासे प्रस्थान कर दिया गया। *'जथा'* से जनाया कि कोई आकाशमार्गसे, कोई भूमिमार्गसे चले, श्रीरामजीको हनुमान्‌जी लिये हैं और लक्ष्मणजी अङ्गदजीके कंधेपर हैं। सब श्रीरामजीका जय-जयकार कर रहे हैं, सेनाके भार और उछल-कूदसे शेषजी भी मोहित हो जाते हैं, इत्यादि।—*'एहि बिधि जाइ कृपानिधि उतरे सागर तीर।'* (५। ३५) तीर कहकर जनाया कि वहाँ रुके थे।

४ (क) *'मिला बिभीषन जेहि बिधि आई'* अर्थात् समझानेसे जब रावण न माना और इन्हें लात मारी तब ये सचिवोंसहित मनोरथ करते हुए आकाशमार्गसे इस पार आये, यहाँ प्रभुने शरणागत जान शरणमें रखा, इत्यादि सब कथा। (ख) *'सागर निग्रह कथा'* अर्थात् सागरसे तीन दिनतक मार्ग माँगना, उसका मार्ग न देना, रोष होनेपर उसका भेंट लिये आना इत्यादि। ☞ *'नाघत भएउ पयोधि'* दोहा ६७ (३) से यहाँतक सुन्दरकाण्डकी सब कथा सूचित की।

दो०—सेतु बाँधि कपिसेन जिमि उतरी सागर पार।
गएउ बसीठी बीरबर जेहि बिधि बालिकुमार॥
निसिचर कीस लराई बरनिसि बिबिध प्रकार।
कुंभकरन घननाद कर बल पौरुष संघार॥६७॥

अर्थ—सेतु बाँधकर जिस प्रकार वानरोंकी सेना समुद्रपार उतरी और जिस प्रकार वीरश्रेष्ठ बालिपुत्र अङ्गद दौत्यकर्मके लिये (दूत बनकर) गये (वह सब कहा)। निशिचर-वानर-युद्ध अनेक प्रकारसे वर्णन किया। कुम्भकर्ण और मेघनादका बल, पुरुषार्थ और नाश कहा॥ ६७॥

नोट—१ *'सेतु बाँधि—'* अर्थात् नल-नीलद्वारा सेतुबंधनकी कथा, उसपरसे तथा आकाश और जलमार्गसे जलजन्तुओंपर चढ़कर सेनाका उतरना कहा। २—*'गएउ बसीठी जेहि बिधि—'* अर्थात् प्रातःकाल मन्त्रियोंके सम्मतसे अङ्गदका दूत बनकर रावणके पास जाना और उससे बातें करना, उसका मानभङ्ग करना, इत्यादि

सब कहा। *'बसीठी'* से जनाया कि दूतमें जो गुण होना चाहिये वह सब इनमें है। यह *'बालितनय बुधिबल गुन धामा। लंका जाहु तात मम कामा॥ बहुत बुझाइ तुम्हहिं का कहऊँ। परम चतुर मैं जानत अहऊँ॥'* (६। १७) इन वाक्योंसे स्पष्ट है। 'बसीठी' शब्द दौत्यकर्मके अर्थमें अन्यत्र भी आया है। यथा—*'दसमुख मैं न बसीठीं आयउँ।'* (६। ३०। २) बसीठ=दूत। यथा—*'प्रथम बसीठ पठउ सुनु नीती।'* (६। ९। १०) *'तौ बसीठ पठवत केहि काजा।'* (६। २८। ७) बीरबर विशेषणसे जना दिया कि इन्होंने वहाँ बड़े वीरका काम भी किया। जाते ही रावणके एक लड़केको पटककर मार डाला। रावणके दरबारमें पहुँचनेपर भी *'धीर बीर बलपुंज'*, *'अतिबल बाँकुरा'* *'जथा मत्त गजजूथ महुँ पंचानन चलि जाइ।'* (६। १९) आदि शब्दोंसे इनका वीरवर होना दिखाया है। इस शब्दसे जना दिया कि ये निडर होकर रावणके साथ बात करनेमें 'जैसे को तैसा' वाला व्यवहार बर्तें और अपने भुजदण्डोंको पटककर सभाभरको भयभीत कर दिया, रावणको खरी-खरी सुनायीं और अन्तमें *'सभा माझ पन करि पद रोपा॥'* लङ्काके इन्द्रजीत आदि समस्त सुभट जुट गये, कोई चरणको टसका भी न सका। *'कपि बल देखि सकल हिय हारे।'* (६। ३४। १) यह सब *'बीर बर'* से जनाया। *'बालि कुमार'* से जनाया कि बालिके समान ही बली है। उसने रावणको काँखमें दाबा तो इसने बीच सभामें इसका मान मथा। इसीसे प्रसंगमें आदि और अन्त दोनोंमें यह सम्बन्ध दिया। यथा—*'रन बाँकुरा बालिसुत बंका।'* (६। १८। १) *'गयउ सभा मन नेकु न मुरा। बालि तनय अति बल बाँकुरा॥'* (६। १९। ८) *'रिपु मद मथि प्रभु सुजस सुनायो। यह कहि चल्यो बालि नृप जायो।—।'*, *'रिपुबल धरषि हरषि कपि बालितनय बलपुंज।'* (६। ३४)

'गएउ बसीठी—' के प्रसंगसे ही मन्दोदरीने फिर रावणको समझाया। दौत्यकर्म करके अङ्गदके लौटनेपर यह जान लेनेपर कि रावण जीते-जी श्रीजानकीजीको न देगा, युद्धकी तैयारी करना उसीके आनुषंगिक कार्य हैं। अत: ये सब बातें भी *'गएउ बसीठी—'* में ही जना दीं।

३ (क) *'निसिचर कीस लराई—'*—से जना दिया कि युद्ध अनिवार्य हुआ। अत: लङ्काके चारों फाटकोंपर युद्धके लिये चार दल बनाये गये और युद्धके लिये भेजे गये। रावणके योद्धा कोटपरसे युद्ध करते थे, वानर-सुभट भी ऊपर चढ़ गये इत्यादि। *'नानायुध सरचाप धर—।'* (६। ३९) से *'निसा जानि कपि चारिउ अनी। आए जहाँ कोसला धनी।'* (६। ४७। १) तक प्रथम निशिचर-कीश-युद्ध हुआ। (ख) *'बिबिध प्रकार'*—यथा *'निसिचर सिखर समूह ढहावहिं। कूदि धरहिं कपि फेरि चलावहिं॥'* इत्यादि। *'कपि भालु चढ़ि मंदिरन्ह—।'* *'एक एकु निसिचर गहि पुनि कपि चले पराइ। ऊपर आपु हेठ भट गिरहिं धरनि पर आइ।'* (६। ४०) इत्यादि; फिर रावणके उग्रवचन सुनकर राक्षसोंका प्राणका लोभ छोड़कर लड़ना और वानरोंका आतुर हो भागना, श्रीहनुमान्‌जी और अङ्गदजीका सहायक होना, निशिचरसेनाको मथ डालना। ६। ४१। ६ से ४५। ३ तक; निशिचरोंका प्रदोष-बल पाकर फिर लड़ना, अनिप-अकंपनादिका माया करके वानरोंमें खलबली मचा देना, श्रीरामजीका हनुमान्-अङ्गदको भेजना और मायाको काटकर प्रकाश करना, राक्षसोंका मारा और समुद्रमें फेंका जाना इत्यादि दोहा ४६ तक। इत्यादि 'विविध प्रकार' है। राम-रावण, राम-कुम्भकर्ण, लक्ष्मण-मेघनाद, लक्ष्मण-रावण आदि युद्धोंको छोड़कर अन्य सब निशिचर-कीश-युद्ध इसमें आ जाते हैं।

४ *'कुंभकरन घननाद—'* इति। (क) कुम्भकर्णका बल, यथा—*'अंगदादि कपि मुरुछित करि समेत सुग्रीव। काँख दाबि कपिराज कहुँ चला अमित बल सींव॥'* (६। ६४) *'मुरे सुभट सब फिरहिं न फेरे'* इत्यादि। (६। ६६। ४) से दोहा ६९ तक बल-पौरुष सर्वत्र देख लीजिये। श्रीरामजीने उसका संहार किया। (६। ६९। ५) से (७०। ७) तक। (ख) घननादका बल-पौरुष—*'उतर्‌यो बीर दुर्ग ते सम्मुख चल्यो बजाइ।'* (६। ४८) से *'सिंहनाद करि गर्जा मेघनाद बल धीर।'* (४९) तक इत्यादि उदाहरण हैं। इसको मायाका बल विशेष था। श्रीलक्ष्मणजीने दूसरे युद्धमें इसका वध किया। घननाद बल-पौरुषमें लक्ष्मणजीको शक्ति, श्रीरामजीका नागपाश-बन्धन आदि आनुषङ्गिक प्रसङ्ग आ गये, इसीसे मूलमें उन्हें नहीं कहा।

निसिचर निकर मरन बिधि नाना। रघुपति रावन समर बखाना॥ १॥
रावनबध मंदोदरि सोका। राज बिभीषन देव असोका॥ २॥
सीता रघुपति मिलन बहोरी। सुरन्ह कीन्हि अस्तुति कर जोरी॥ ३॥
पुनि पुष्पक चढ़ि कपिन्ह समेता। अवध चले प्रभु कृपानिकेता॥ ४॥

अर्थ—नाना प्रकारसे राक्षससमूहका मरण और श्रीरघुनाथजी और रावणका अनेक प्रकारका युद्ध वर्णन किया॥ १॥ रावणवध, मन्दोदरीका शोक, विभीषणका राज्य (प्राप्ति) और देवताओंका शोकरहित होना (कहकर)॥ २॥ फिर सीता-रघुपति मिलाप और जो देवताओंने हाथ जोड़कर स्तुति की थी (वह) कही॥ ३॥ फिर वानरोंसमेत पुष्पकपर चढ़कर दयाके स्थान प्रभु श्रीरामचन्द्रजी अवधपुरीको चले (यह कहा)॥ ४॥

नोट—१ *'मरन बिधि नाना।'* कोई घूँसोंसे मरे, बाणोंसे मरे, कोई पैरसे कुचल डाले गये, कोई हाथोंसे मसल डाले गये, कोई आपसमें टकराये जाकर मारे गये, किसीका सिर धड़से मरोड़कर निकाल लिया गया, कोई घायल होनेपर जीते ही गाड़ दिये गये, कोई समुद्रमें जलजन्तुके आहार हुए इत्यादि। *'नाना भाँति'* से मरण कहा। यथा—*'लागै मरदै भुजबल भारी', 'काहुहि लात चपेटन्हि केहू'* (६। ४३); *'एक एक सों मर्दहिं तोरि चलावहिं मुंड।'*(लं० ४३) *'महा महा मुखिया जे पावहिं। ते पद गहि प्रभु पास चलावहिं॥'; 'भागत भट पटकहिं धरि धरनी।—गहि पद डारहिं सागर माहीं॥—।'*(६। ४६। ७-८) *'मारहिं काटहिं धरहिं पछारहिं। सीस तोरि सीसन्ह सन मारहिं॥ उदर बिदारहिं भुजा उपारहिं। गहि पद अवनि पटकि भट डारहिं॥ निसिचर भट महि गाड़हिं भालू। ऊपर डारि देहिं बहु बालू॥'*(६। ८०। ५—७) *'मारहिं चपेटन्हि डाँटि दाँतन्ह काटि लातन्ह मीजहीं।—धरि गाल फारहिं उर बिदारहिं गल अँतावरि मेलहीं॥'* (८० छं०) *'जहँ तहँ चले बिपुल नाराचा। लगे कटन भट बिकट पिसाचा॥ कटहिं चरन उर सिर भुजदंडा। बहुतक बीर होहिं सतखंडा॥'* (लं० ६७) दोहा ४३ से ६७ तक रावण-युद्धप्रसङ्ग नहीं है, पर-उदाहरण *'नानाबिधि निसिचर मरन'* दिखानेके लिये वहाँके उद्धरण भी दे दिये हैं।

नोट—२ *'रघुपति रावन समर बखाना'* इति। यहाँ दोनोंका नाम देकर जनाया कि जब सब राक्षससेनाका संहार हो गया, रावण अकेला रह गया तब केवल इन दोनोंका युद्ध हुआ। राम-रावण-समरकी उपमा राम-रावण-समर ही है, दूसरी नहीं। यह युद्ध दिन और रात दोनोंमें लगातार कई दिनतक हुआ है। अतः इसको बखानकर विस्तारसे कहा और जो इसके पूर्व सेना रहते युद्ध हुआ वह गौण है। उसे संक्षेपसे कहा—यह यहाँ *'बखाना'* शब्दसे ही जना दिया। रावण जगत्‌को रुलानेवाला था उससे *'रघुपति'* ही लड़ सकते थे। यह प्रसङ्ग *'श्रीराम रावन समर—।'*(६। १००) तक है।

३ (क) 'रावण-वध' प्रसङ्ग ६। १०१। १ से आरम्भ होता है। रण-क्रीड़ा समाप्त हुई। *'मरइ न रिपु श्रम भयउ बिसेषा। राम बिभीषन तन तब देखा॥'*, विभीषणने बताया कि इसके नाभिकुण्डमें अमृत है, इसीके बलसे यह जीवित है। तब उन्होंने एक बाणसे नाभिकुण्डको सोख लिया, फिर उसके और बाहु काटे, धड़के दो टुकड़े कर दिये। इस तरह उसका वध हुआ। बाण सिर और बाहुको मन्दोदरीके सामने रखकर लौट आये और प्रभुके तरकशमें प्रवेश कर गये। रावणके शरीरसे तेज निकल प्रभुके मुखमें समा गया। (ख) *'मंदोदरि सोका'*—मन्दोदरी पटरानी है, इससे उसीका नाम दिया। उसका ही नाम प्रसिद्ध भी है। *'पति सिर देखत मंदोदरी।'*(६। १०३) से *'अहह नाथ—'*(१०३) तक। इसीके अन्तर्गत रावणकी क्रिया भी आ गयी। *'सोका'* से यह भी जना दिया कि इनके शोकको देखकर विभीषण भी दुःखी हो गये। (ग) *'राज बिभीषन'*—समुद्रतटपर तिलक कर दिया था, अब रावणका कुलसहित नाश करके इनको राजगद्दीपर बिठाया। विभीषण भक्त हैं, इनके राजा होनेसे देवताओंपर आक्रमण अब न होगा, अतः देवता शोकरहित हुए।

४ (क) *'सीता रघुपति मिलन'* अर्थात् हनुमान्‌जीका उनको समाचार देना, फिर विभीषणादिका उनको सादर शिविकामें सवार कराकर लाना, वानरोंका दर्शन करना, मायासीताका अग्निमें प्रवेश करना और अग्निका

असली सीताको लाकर रघुनाथजीको समर्पण करना इत्यादि सब कथा कही। (ख) सीताहरण-प्रसङ्गको कहा था—*'पुनि माया सीता कर हरना'*; पर यहाँ 'माया' शब्द नहीं देकर *'सीता रघुपति मिलन'* कहते हैं। ऐसा करके जना दिया कि माया-सीताको उन्होंने नहीं ग्रहण किया, असली सीता जब अग्निसे प्रकट हुईं और अग्निदेवने उनको लाकर श्रीरघुनाथजीको समर्पण किया तब इनका ग्रहण किया, वामदिशामें बिठाया। *'धरि रूप पावक पानि गहि श्री सत्य श्रुति जग बिदित जो। जिमि छीरसागर इंदिरा रामहिं समर्पी आनि सो। सो राम बाम बिभाग राजति रुचिर अति सोभा भली।'* (६। १०८ छन्द) इस तरह केवल 'सीता' शब्द देकर उसके पूर्वकी सम्बन्धी कथा भी लक्षित कर दी। मुख्य 'सीता' जीका ही मिलन है जो साथमें अवधको जायँगी, अतः उन्हींको कहा। *'बहोरी'* से यह भी जनाया कि जैसे पूर्व (सीताहरणके पहले) साथ थीं वैसे ही अब पुनः साथ हो गयीं, बीचमें प्रत्यक्षमें वियोग रहा। (ग) *'सुरन्ह कीन्हि अस्तुति—'* इति। देवता स्वार्थसिद्धिसे प्रसन्न हुए, अतः स्तुति करने आये हाथ जोड़े। यथा—*'आए देव सदा स्वारथी।'* (६। १०९। १) से *'करि बिनती सुर सिद्ध सब रहे जहँ तहँ कर जोरि।'* (१०९) ब्रह्मा, शिव और इन्द्रने भी स्तुति की, इन्द्रने सेवा माँगी और आज्ञा पाकर वानर-भालुओंको जिला दिया, यह सब इतनेसे जना दिया।

५—*'पुनि पुष्पक चढ़ि—'* इति। (क) *'पुनि'* अर्थात् जब समस्त देवता स्तुति करके चले गये और वानर-भालु जीवित हो गये तब (ख) पुष्पकपर चढ़नेसे ही विभीषणजीका प्रभुके पास आकर नगरमें चलने और विश्रामके लिये प्रार्थना करना, श्रीरामजीका उनको श्रीभरतजीकी दशा कहकर अवधिके बीतनेके पूर्व ही अवधतक पहुँच जानेकी आतुरता प्रकट करना और उनसे उसका प्रयत्न करनेकी प्रार्थना करना; यथा—*'भरत दसा सुमिरत मोहि निमिष कल्प सम जात॥—देखौं बेगि सो जतन करु सखा निहोरउँ तोहि।* —(११५)', और विभीषणजीका पुष्पकविमान लाकर समर्पण करना—यह सब प्रासङ्गिक बातें भी जना दीं। (ग) *'कपिन्ह समेता'*—पहले वानरी सेनाको विदा कर दिया, फिर *'अतिसय प्रीति देखि रघुराई। लीन्हे सकल बिमान चढ़ाई॥'* (६। ११८। १) अतः *'कपिन्ह समेता'* कहा। प्रधानता इन्हींकी है, इससे इनका नाम दिया। नहीं तो हैं तो विभीषण आदि भी साथ अथवा सुग्रीव, विभीषण आदिको साथ लिया ही था, इनको पीछे साथ लिया, इससे इनका ही नाम दिया। (घ) *'अवध चले'*, यथा—*'उत्तर दिसिहि बिमान चलायो।'* (६। ११८। २) (ङ) *'कृपानिकेता'*—विभीषणपर कृपा की और भरत तथा अवधवासिमात्रपर कृपा करके अवधको आये; अतः कृपानिकेत कहा।

☞*'सेतु बाँधि कपिसेन जिमि उतरी।'* (६७) से यहाँतक लङ्काकाण्डकी समस्त कथाका कहना सूचित किया।

जेहि बिधि राम नगर निज आए*। बायस बिसद चरित सब गाए॥५॥
कहेसि बहोरि राम अभिषेका। पुर बरनत† नृपनीति अनेका॥६॥
कथा समस्त भुसुंडि बखानी। जो मैं तुम्ह सन कही भवानी॥७॥

अर्थ—जिस प्रकार श्रीरामचन्द्रजी अपने नगरको आये, वह सब निर्मल उज्ज्वल चरित काकभुशुण्डिने वर्णन किये॥ ५॥ फिर रामराज्याभिषेक कहा। पुर और अनेक प्रकारकी राजनीतिका वर्णन करते हुए॥ ६॥ हे भवानी! भुशुण्डिजीने वह सब कथा कही जो मैंने तुमसे विस्तारसे कही॥ ७॥

नोट—१ *'जेहि बिधि राम नगर निज आए'* अर्थात् लङ्कासे चलकर भरद्वाजजीके यहाँ उतरकर श्रीहनुमान्‌जीको श्रीअवध भेजा, फिर वहाँसे निषादराजके यहाँ आकर ठहरे। श्रीहनुमान्‌जीने श्रीभरतजीको समाचार दे और उनका कुशल-समाचार ले प्रभुको जा सुनाया तब वे विमानपर श्रीअवध आये इत्यादि। २—*'बिसद चरित सब गाए।'* भाव कि प्रभुके सब चरित निर्मल हैं। यथा—*'गिरिजा सुनहु बिसद यह कथा। मैं सब कही मोरि मति जथा॥'*—(५१)। ३—*'कहेसि बहोरि राम अभिषेका'* अर्थात् सबसे यथायोग्य भेंट-मिलाप इत्यादि हो चुकनेपर वसिष्ठजीने जैसे विप्रोंसे राज्यसिंहासनासीन होनेकी आज्ञा देने और सुमन्तसे

---
* निअराए—का०। † 'बरनत'—का०, भा० दा०। आधुनिक पाठ 'बरनन' है।

तैयारी करनेको कहा, इत्यादि सब प्रसङ्ग कहा। **बहोरि**=तत्पश्चात्। बहोरिका दूसरा भाव यह भी है कि एक बार राज्याभिषेक-प्रसङ्ग कुछ कहा था पर उस समय राजरस-भङ्ग हो गया था, अब पुनः कहा। ४—*'पुर बरनत नृपनीति अनेका'* से राज्याभिषेकके समयसे लगभग १२००० वर्ष राज्यकी कथा जना दी। ☞ इन छः चरणोंसे उत्तरकाण्डकी रामचरितमानसकी कथा जना दी।

☞ प्राचीन कवियोंकी शैली है कि वे ग्रन्थकी एक सूक्ष्म सूची ग्रन्थमें कहीं-न-कहीं दे देते हैं, जिससे समस्त ग्रन्थका विषय संक्षेपसे मालूम हो जाय, इतना ही नहीं वरन् वह ग्रन्थकी संख्या भी दे देते हैं, वैसे ही यहाँ रामचरितमानसकथाका खुलासा (मूल प्रसङ्ग-सूची) भुशुण्डिजी वा शिवजी-द्वारा कविने कहलाया है। इसमें जो बातें कही गयी हैं, उनका तात्पर्य यह नहीं है कि वे ग्रन्थमें कहे हुए प्रसङ्गोंके शीर्षक हैं। यदि ऐसा अभिप्राय कविका होता तो वह यहाँ पूर्ण क्रियाओंका प्रयोग करता और मानसमें कही हुई जितनी बातें हैं किसीको यहाँ न छोड़ता। जलन्धर, जय-विजय, मनु-शतरूपा, प्रतापभानु, अहल्योद्धार, नगर-दर्शन, पुष्पवाटिका, परशुराम, जनकका चित्रकूट जाना, सनकादिकका श्रीरामजीसे एकान्त-मिलन, शीतल अमराई, नारदका आगमन इत्यादि प्रसङ्ग कदापि न छोड़े जाते। *'कथा समस्त भसुंडि बखानी। जो मैं तुम्ह सन कहा भवानी॥'* स्पष्ट प्रमाण है कि भुशुण्डिजीने ये सब कथाएँ कहीं। तथापि कुछ टीकाकारोंने इस विचारसे कि इस मूलमें सारी कथा आ गयी है, इसके अनुसार सारे मानसका विभाग किया है और यहाँ दिये हुए संक्षिप्त वर्णनको शीर्षक मानकर प्रकरण लगाया है कि इसके अनुसार कहाँसे कहाँतककी कथा इसमें समाविष्ट समझी जानी चाहिये। मानसपीयूषमें भी उन लोगोंके विचारके अनुसार प्रकरण दिखला दिये गये हैं। अतः अब यहाँ वे दोहराये नहीं जाते।

☞ श्रीरामायणी रामसुन्दरदासजी कहते हैं कि इस मूलमें ८४ प्रसङ्ग हैं। इतने प्रसङ्गोंमें सारी कथाका विभाग करनेका भाव यह है कि इसके पाठसे 'चौरासी' भोगसे अर्थात् भवबन्धनसे छुटकारा मिलता है। कोई ९२ और कोई ९३ जोड़ते हैं। विशेष आवश्यक न समझकर इसपर कोई विचार नहीं किया जाता।

सुनि सब रामकथा खगनाहा। कहत बचन मन परम उछाहा॥८॥

सोरठा—गयउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित।
भएउ राम पद नेह तव प्रसाद बायस तिलक॥
मोहि भएउ अति मोह प्रभुबन्धन रन महुँ निरषि।
चिदानंदसंदोह राम बिकल कारन कवन॥६८॥

अर्थ—सब रामकथा सुनकर पक्षिराज मनमें परम उत्साहित होकर ये वचन बोले—॥८॥ श्रीरघुनाथजीका सब चरित मैंने सुना। मेरा संदेह जाता रहा और श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें प्रेम हुआ। हे काकशिरोमणि! यह सब आपकी कृपासे हुआ। युद्धमें प्रभुका नागपाशद्वारा बन्धन देखकर मुझे अत्यन्त मोह हुआ कि श्रीरामजी तो चित् और आनन्दकी राशि हैं वे किस कारण व्याकुल हैं॥६८॥

नोट—१ *'कहत बचन मन परम उछाहा'* इति। यहाँ वक्ता और श्रोता दोनोंको समशील दिखाया। भुशुण्डीजीको कथा कहनेमें *'परम उछाह'* हुआ था—*'भयउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहै रघुपति गुनगाहा॥'* (६४।६) गरुड़को सुननेसे *'परम उछाह'* हुआ।

☞ यहाँ शिवजीके वचनोंका चरितार्थ वा साफल्य दिखाया।

पं० रा० व० श०—१ यह प्राचीन शैली है कि ग्रन्थका तात्पर्य प्रथम थोड़ेमें कह दिया जाता है, जिसमें उतनेका पाठ कर लेनेसे समग्रके पाठका फल हो जाय। २—*'गएउ मोर संदेह'* इति। यह चित्त देकर रामचरित सुननेका फल दिखाया। यदि कथाश्रवणसे मोह न दूर हुआ और श्रीरामपदारविन्दमें प्रेम न हुआ तो समझना चाहिये कि कथा सुनी ही नहीं, दिखावमात्रके लिये कथामें बैठते रहे। पुनः [*'बायस*

तिलक' पदका भाव कि वायसकुल अत्यन्त मलिन है सो आपने उस कुलको भी पूज्य और प्रशंसनीय बना दिया। (रा० शं० श०)। *'तव प्रसाद बायस तिलक',* यह श्रोताकी कृतज्ञता है। यह भी जनाया कि शिष्टलोग कथाश्रवणपर वक्ताकी प्रशंसा, कृतज्ञता सूचित करनेके लिये करते हैं] ३—*'मोहि भएउ अति मोह।'* अर्थात् औरोंको मोह ही होता है, मुझे 'अति मोह' हुआ। [*'अति मोह'* इति। भगवानों, ईश्वरोंके चरितमें संदेह मोह है, और सच्चिदानन्दघन परात्पर ब्रह्मके चरितमें *'अति मोह'* है। यहाँ *'चिदानंदसंदोह राम'* (दोहा ६८), *'ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा॥'* (६८। ७) में मोह हुआ है। यही 'महामोह' है। (करु०)] ४—*'चिदानंदसंदोह'* अर्थात् सबके आनन्दकी सीमा हैं, इनका आनन्द घट ही नहीं सकता। अत: संदेह हुआ कि तब विकल कैसे?

नोट—२ *'राम बिकल······'* से स्पष्ट किया कि इनको श्रीरामजीके सच्चिदानन्दसंदोह होनेमें संदेह नहीं है, इसमें संदेह नहीं है कि ये व्यापक परात्परब्रह्म हैं, यथा—*'भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम। खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम॥'* (५८) संदेह इतना मात्र है कि ऐसे होते हुए वे विकल क्योंकर हैं? चिदानन्दसंदोह और विकलमें विरोध है। दोनों एक साथ कैसे? इसीसे कहा है कि *'मोहि भएउ अति मोह प्रभु बंधन······',* अर्थात् मोह यही है कि ऐसे समर्थमें निसिचरद्वारा *'बंधन'* नहीं घटित हो सकता पर बन्धन आँखों देखा है। 'प्रभु' का भाव कि *'भव बंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम'* ऐसा समर्थ सो स्वयं कैसे बन्धनमें पड़ा?

देखि चरित अति नर अनुसारी। भयेउ हृदय मम संसय भारी॥ १॥
सोइ भ्रम अब हित करि मैं माना*। कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना†॥ २॥
जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानै सोई॥ ३॥

अर्थ—मनुष्योंके अत्यन्त सदृश चरित देखकर मेरे हृदयमें भारी संदेह हुआ॥ १॥ अब उसी भ्रमको मैं अपना हित करके मानता हूँ। यह दयासागरने मुझपर बड़ी कृपा की॥ २॥ जो अत्यन्त (सूर्यकी) तपन (धूप) से व्याकुल होता है वही वृक्षकी छायाका सुख जानता है‡॥ ३॥

वि० त्रि०—*'नट इव कपट चरित कर नाना। सदा स्वतंत्र राम भगवाना॥'* नर-शरीर धारण किया है, अत: मनुष्यके ऐसा चरित्र तो बराबर करते ही आते हैं, परंतु सरकारके चरित्रमें ऐसा उत्कर्ष है कि ऐश्वर्यकी झलक भी बराबर मिलती ही आती है, परंतु कहीं-कहीं ऐश्वर्यकी झलक एक-बारगी नहीं मिलती, यही *'अति नर अनुसारी चरित'* है, वहाँ बड़े-बड़ोंको मोह हो जाता है। सीतान्वेषण-प्रसङ्गमें उमाको मोह हो गया। इसी भाँति नागपाश-बन्धन-प्रसङ्गमें गरुड़जीको मोह हो गया, क्योंकि यहाँ भी ऐश्वर्यकी कुछ भी झलक नहीं थी, अति नर-अनुसारी चरित था।

पं० रा० व० श०—*'अति नर अनुसारी'* का भाव कि ऐसा कोई न होगा जिसका चरित्र इनका-सा कमजोर हो।

रा० शं० श०—*'अति नर अनुसारी चरित देखा'* अतएव 'भारी' संशय हुआ।

नोट—१ ☞ गरुड़जीके इन वाक्योंमें *'अति'* की आवृत्तियाँ हैं। अतिका सम्बन्ध सारे मोह-प्रसङ्गमें दिखाते हैं—

(१) *मोहि भयउ अति मोह* (६८) (२) *देखि चरित अति नर अनुसारी* (३) *भयउ हृदय मम संसय भारी* (४) *जो अति आतप ब्याकुल होई* (५) *जौं नहिं होत मोह अति मोही* (६) *अति बिचित्र*

---

* जाना (का०)।

† क्रिपानिधाना—(भा० दा०)। कृपानिधाना—(का०)

‡ वीर—भ्रमरूपी दोष अङ्गीकार करनेयोग्य नहीं, किंतु भुशुण्डिजीका समागम उसके द्वारा सुलभ हुआ इससे उसे हितकर मानना 'अनुज्ञा' अलङ्कार है। 'जो अति आतप·········' में 'प्रत्यक्ष प्रमाण' अलङ्कार है।

बहुबिधि तुम्ह गाई (७) *पुलक गात लोचन सजल मन हरषेउ अति काग।* (८) *पाइ उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकाश॥ ६९॥*

'*अति*' की आवृत्तिका भाव—'*अति नर अनुसारी*' चरित किया, अतः '*अति मोह*' वा भारी संशय हुआ।'*भारी संसय*' प्रथम कहकर फिर '*अति मोह*' पद देनेसे दोनों पर्याय जनाये। '*अति मोह*' होनेसे '*अति*' विचित्र सुहावनी हरिकथा सुननेको मिली।—गरुड़जीकी अतिकी उक्तियोंसे भुशुण्डिजीको भी अति हर्ष हुआ। शिवजीने भी इसी आनन्दमें '*अति*' पदका ही प्रयोग किया। शेष भाव चौपाइयोंमें आ गये हैं।

'*अति नर अनुसारी*' कहकर '*भारी संसय*' वा '*अति मोह*' कहनेका भाव कि '*नर अनुसारी*' होते तो '*अति मोह*' न होता, साधारण मोह होता जो अपनी ही बुद्धिसे छूट जाता। '*संसय भारी*' का भाव कि वह अपने बहुत समझानेपर भी न मिट सका था, यथा—'*नाना भाँति मनहिं समुझावा। प्रगट न ज्ञान हृदय भ्रम छावा॥*' (५९। १)

२—पहले साधारण बात कही कि '*मोहि भएउ अति मोह।*' फिर उसका कारण कहा '*देखि चरित अति नर अनुसारी। भयेउ हृदय मम संसय भारी॥*' भारी संशय नाश करनेवाला होता है, यथा—'**संशयात्मा विनश्यति**'; '*अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं॥*' (१। ११९। ६) इस नाशसे प्रभुने बचाया, कृपा करके सत्सङ्ग किया। तात्पर्य कि मोहका कारण कहकर फिर उस मोहमें श्रीरामजीकी अपने ऊपर कृपा दिखायी, यथा—'*सोइ भ्रम अब हित करि मैं जाना। कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना॥*' फिर कृपाका फल भुशुण्डिदर्शन कहा—'*मिलतेउँ तात कवन बिधि तोही।*' सन्त-मिलन कृपाका फल है, यह वे स्वयं आगे कहते हैं। फिर उस फलका फल हरिकथा-श्रवण कहा। तब इसका फल मोहनाश और उससे रामपद-नेह कहा।-यह क्रम कहा गया।

नोट—३ '*सोइ भ्रम अब हित*......' इति। इससे जनाया कि इसके पूर्व मैं यह न समझता था कि यह भ्रम (मोह) मेरे हृदयमें मेरे हितके लिये उत्पन्न किया गया था। पुनः भाव कि—संशय होनेपर '**अहित**' समझता था; क्योंकि उसने व्याकुल कर दिया था, यथा—'*भयेउ मोहबस तुम्हरिहि नाईं। ब्याकुल गएउ देवरिषि पाहीं॥*' (५९। २-३) अब सत्सङ्गादिका सुख पानेपर 'हित' माना।

पं० रा० व० श०—'*कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना।*' इस कृपालुताका संकेत शिवजी पहिले ही कर चुके हैं, यथा—'*रघुपति कृपा मरम मैं पावा। होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना॥*' (६२। ७-८)

नोट—४ '*कीन्ह अनुग्रह*' में यदि संदेह हो कि भला मोहमें डालना यह कौन कृपा है? तो उसपर कहते हैं कि '*जो अति आतप ब्याकुल होई।*' अर्थात् जिसको ताप नहीं व्यापा, जैसे कि खसकी टट्टियोंमें रहनेवाला जिसपर पंखे झल रहे हैं, वह तरुछायाके सुखको क्या जाने? वही यदि धूपकी गर्मीसे व्याकुल हुआ हो, पसीना चल रहा हो तो वृक्षकी छायाका क्या सुख है, यह यथार्थ समझ जाता है। वैसे ही जब संसारसे किसीको अत्यन्त व्याकुलता होती है तब उस सत्सङ्गका सुख मालूम पड़ता है। जबतक संसार बढ़ता है तबतक सत्सङ्गका सुख नहीं मिलता। भगवान्‌की कृपाका यह लक्षण है—'**ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि वित्तं तस्य हराम्यहम्।**'

पं०—'*तरु छाया सुख*......' का भाव कि जिसे भ्रम होता है वही भ्रमनिवारणहारी सङ्गतिका विशेष सुख जान सकता है।

रा० शं०—**आतप**=धूपकी गर्मी, यथा—'*सरदातप निसि ससि अपहरई।*' जिसको मोह या भ्रम न हुआ हो, वह कथाके यथार्थ सुखको क्या जाने? गोकर्णने जब भागवत सुनायी तब धुन्धकारीहीने खूब मन लगाकर सुनी और उसीको सबसे अधिक फल मिला, वह यह कि वह सब पापोंसे छूटकर, प्रेतयोनिसे मुक्त हो गया।

नोट—५ '*जो अति आतप ब्याकुल होई*......' इति। (क)—यहाँ '*अति मोह*' वा '*भारी संसय*' '*अति आतप*' है। '*अति आतप*' का भाव कि साधारण घामकी तपनसे अधिक कष्ट नहीं होता, इससे उसमें तरुछायाका यथार्थ सुख नहीं जाना जा सकता। (ख) '*तरुछाया सुख*' क्या है? तरु संत हैं,

तरुकी छाया सत्सङ्ग-कथा है, छायाका सुख मोहनाश और रामपदनेह है। ये तीनों बातें प्रकरणमें गरुड़जीने दिखायी हैं—*'मिलतेउँ तात कवन बिधि तोही'*, *'रामकृपा तव दरसन भएऊ'*, *'सुनतेउँ किमि हरिकथा सुहाई। ——।'* और *'तव प्रसाद सब संसय गएऊ'*, *'भयउ रामपद नेह।'* (ग) तरुतक पहुँचना 'वा तरुका मिल जाना यह रामकृपासे दिखाया।—*'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता।'*

यहाँ *'तरुछाया सुख'* की उपमा बड़ी ही उत्कृष्ट है। वटतले इस समय सब बैठे हैं, वटतले ही कथा हुई है, वटके पास ये आते ही गये थे। यथा—*'करि तड़ाग मज्जन जल पाना। बट तर गयेउ—'* (६३। ३—५)

खर्रा—*'अति आतप——'* इति। अर्थात् मुझको दुःखके अनुभवसे अब रामस्वरूपज्ञानका सुख अनुभव तरुछायावत् अति प्रिय भासता है। यदि मोह न होता तो तुमको कैसे मिलता अर्थात् मोहपूर्वक रामस्वरूपज्ञान और आपका मिलना यही दो फल भगवत्की कृपाके हैं, जो पूर्व कहा था कि *'कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना।'* यह क्रममाला है।

नोट—६ यहाँ इस प्रसङ्गमें ***'बिनु सत्संग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥'*** (६१) इस शिव-वाक्यको पूर्णतः चरितार्थ कर दिखाया। ***'जौं नहिं होत मोह अति मोही'*** यह कृपा *'मिलतेउँ तात कवन बिधि तोही'* यह संतदर्शन और संग, *'सुनतेउँ किमि हरिकथा सुहाई——'* यह सत्सङ्गसे हरिकथा, *'तव प्रसाद सब संसय गयऊ'* तथा *'गएउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित'* यह कथासे मोहनाश और *'भएउ रामपद नेह'* यह मोहनाशसे रामचरणानुराग दिखाया।

जौं नहिं होत मोह अति मोही। मिलतेउँ तात कवन बिधि तोही॥ ४॥
सुनतेउँ किमि हरिकथा सुहाई। अति बिचित्र बहु बिधि तुम्ह गाई॥ ५॥

अर्थ—यदि मुझे अत्यन्त मोह न होता तो हे तात! मैं तुमसे किस प्रकार मिलता?॥ ४॥ (जब यहाँ आता ही नहीं तब) यह सुहावनी अत्यन्त विलक्षण भगवत्कथा कैसे सुनता जो तुमने बहुत प्रकारसे कही है।*॥ ५॥

पं० रा० व० श०, वै०—१ *'मिलतेउँ तात कवन बिधि——।'*—भाव कि देहव्यवहारमें मेरा तुम्हारे पास आना अनुचित था। नीच प्रजाके पास राजा कैसे जाय? राजा होनेका अभिमान होनेसे जिज्ञासु बनकर यहाँ कब आता? २—*'मोह अति'* का भाव कि साधारण मोह होता तो अपनी बुद्धिसे छुड़ा लेता, *'अति'* होनेसे बरिआई यहाँ आना पड़ा। दृष्टान्तमें *'अति आतप'* कहा; अतः मोहको भी *'अति'* विशेषण दिया।

निगमागम पुरान मत एहा। कहहिं सिद्ध मुनि नहिं संदेहा॥ ६॥
संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥ ७॥
रामकृपा तव दरसन भएऊ। तव प्रसाद सब संसय गएऊ॥ ८॥

शब्दार्थ—परि=निश्चय ही, अवश्य।=सर्वतः (चारों ओरसे)। आगम=तन्त्र।

अर्थ—वेद, शास्त्र और पुराणोंका मत यही है, सिद्ध और मुनि ऐसा कहते हैं, इसमें संदेह नहीं॥ ६॥ अत्यन्त शुद्ध संत उसे अवश्य मिलते हैं जिसे रामचन्द्रजी कृपा करके देखते हैं॥ ७॥ श्रीरामचन्द्रजीकी कृपासे आपका दर्शन हुआ और आपकी कृपासे सब संशय चला गया॥ ८॥

नोट—१ ऊपर जो कहा था कि मुझे जो मोह हुआ यह रघुनाथजीकी कृपा थी, वह कृपा यहाँतक दिखलायी। *'कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना।'* (६९। २) उपक्रम है और *'रामकृपा तव दरसन भएऊ——'* यह कृपाप्रसङ्गका उपसंहार है। २—प्रथम *'तव प्रसाद बायस तिलक'* कहकर तब *'कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना'* कहा था और अन्तमें *'रामकृपा तव दरसन भएऊ'* कहकर तब *'तव प्रसाद सब संसय गएऊ'* कहा है। इस प्रकार रामकृपा तथा संतकृपा दोनोंको एक समान श्रेष्ठ जनाया।

---

* १ खर्रा—'जौ नहिं होत मोह अति मोही' से 'तव प्रसाद सब संसय गएऊ' तक यह क्रम मालारूपसे कहा। २-वीर—यहाँ लेश अलङ्कार है।

पं०—*'निगमागम पुरान मत एहा।'*—भाव कि जो मैंने कहा कि रघुनाथजीने मुझपर अनुग्रह की इससे आप मिले, इत्यादि, यह मैंने बात बनाकर नहीं कही है, कुछ मैं ही नहीं कहता वरन् वेदादि सभी कहते हैं कि जब प्रभु अति कृपाल होते हैं तब सत्सङ्ग देते हैं।

दो०—सुनि बिहंगपति बानी सहित बिनय अनुराग।
पुलक गात लोचन सजल मन हरषेउ अति काग॥
श्रोता सुमति सुसील सुचि कथारसिक हरिदास।
पाइ उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास॥६९॥

अर्थ—पक्षिराजकी विनम्र और प्रेमयुक्त वाणी सुनकर कागभुशुण्डिजीका शरीर पुलकित हो गया, नेत्रोंमें जल भर आया और वे मनमें अति प्रसन्न हुए। हे उमा! सुन्दर बुद्धिवाले, सुशील, पवित्र (निष्कपट), कथाका रसिया (प्रेमी) और हरिभक्त श्रोताको पाकर सज्जन अत्यन्त छिपानेवाले रहस्य भी प्रकट कर देते हैं॥ ६९॥

नोट—१ (क) *'सहित बिनय अनुराग'* इति। *'कहत बचन मन परम उछाहा'* यह अनुराग है। *'तव प्रसाद बायसतिलक'* से *'तव प्रसाद सब संसय गएऊ'* यह सब विनीत वचन हैं पर अनुरागयुक्त सभी वाणी हैं। (ख) *'कहत बचन मन परम उछाहा'* उपक्रम है और *'सुनि बिहंगपति बानी सहित बिनय अनुराग'* उपसंहार है। (ग) *'हरषेउ अति'* भाव कि जब वे आये तब हर्ष हुआ था, यथा—*'हरषेउ बायस सहित समाजा।'* (६३। ६) और अब अति हर्ष हुआ। ☞ यह दोहा भुशुण्डिजीने जो रहस्य—प्रभुकी अपने साथ क्रीड़ा, अपने जन्म, तन आदिके प्रसङ्ग कहे हैं उनका उपक्रम है।

पं०—*'मन हरषेउ अति'* इति। रोगीको दवा दी जाय और वह ओषधि-सेवनसे अपनी आरोग्यता सुनावे तो वैद्य प्रसन्न होता है। भुशुण्डिजीका उपदेश सुनकर गरुड़जीने अपनी कृतज्ञता कही, अतः हर्ष हुआ। सुशील=उत्तम स्वभाव। **सुचि**=सदाचारी। **रसिक**=व्यवहारसे आँख बंद कर मन लगाकर सावधान सुननेवाला।

पं० रा० व० श०—१ (क) *'सुमति'* का भाव कि बुद्धि संसारमें लगी हुई नहीं है, बुद्धि लगाकर सुनता है, कुतर्क नहीं करता। 'सुशील' से जनाया कि जो बात कही जाती है उसको मानता है, वक्ताका आदर करता है। **सुचि**=भीतर-बाहर पवित्र। भाव कि मनमें कपट-छल नहीं है, वक्ताकी परीक्षाके लिये नहीं आया है। *'कथारसिक'* इति। उसको कथाका रस मिलता है, सुननेसे तृप्ति नहीं होती। यथा—*'रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥'* जिसको जिसमें रस मिलता है वह उसमें बहुत प्रेम करता है। (ख) **'अति गोप्यमपि'** इति। इससे जनाया कि रहस्यकी बात किसीसे कहनेकी नहीं है। कहा है कि सिर दे दे, शरीर दे दे, पर रामतत्त्व न दे, यह अत्यन्त गोपनीय है। यथा—**'आत्मा देयः शिरो देयं न देयं रामतत्त्वकम्', 'गोप्यातिगोप्यं परमगोप्यं न देयं रामतत्त्वकम्'** एवं **'न ब्रूयाद् यस्य कस्यचित्।'**

नोट—२ श्रीशौनकादि ऋषियोंने श्रीसूतजीसे ऐसा ही कहा है। यथा—**'यानि वेदविदां श्रेष्ठो भगवान् बादरायणः। अन्ये च मुनयः सूत परावरविदो विदुः॥ वेत्थ त्वं सौम्य तत्सर्वं तत्त्वतस्तदनुग्रहात्। ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत॥'** (भा० १। १। ७-८) अर्थात् हे सौम्य! वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ भगवान् बादरायण व्यासजी तथा प्रकृति और परमेश्वरको तत्त्वसे जाननेवाले अन्यान्य मुनिगण जिन शास्त्रोंको जानते हैं उन सबको आप भी उनकी कृपासे यथावत् जानते हैं। क्योंकि गुरुजन अपने प्रिय सुशील शिष्यसे अत्यन्त गुह्य तत्त्व भी बतला दिया करते हैं। श्लोकमें **'स्निग्धस्य शिष्यस्य'** शब्द हैं, उसी **'स्निग्ध'** की मानो व्याख्या यहाँ *'श्रोता सुमति सुसील सुचि कथारसिक हरिदास'* इन शब्दोंसे कर दी गयी है। **'गुह्यमप्युत'** यहाँका **'अतिगोप्यमपि'** है, 'गुरु' की जगह सज्जन हैं, **'ब्रूयुः'** का अर्थ *'करहिं प्रकास'* है।

मिलान कीजिये—*'रामकृपाभाजन तुम्ह ताता। हरिगुन प्रीति मोहि सुखदाता॥ तातें नहिं कछु तुम्हहि दुरावउँ। परम रहस्य मनोहर गावउँ॥'* (७४। ३। ४)

करु०—दूसरा अर्थ—'सज्जन समाजमें अतिगोप्य मर्म भी प्रकाश करते हैं, पर उनकी वाणीमें जो गुप्त मत है वह वही श्रोता पाते हैं जो सुमति आदि हैं।' इस अर्थमें सज्जनोंकी उदारता प्रकट होती है।

वीरकवि—यथायोग्यका संग वर्णन 'प्रथम सम अलङ्कार' है।

☞ मानसमें तीन श्रोता मुख्य हैं—श्रीभरद्वाज मुनि, श्रीपार्वतीजी और श्रीगरुड़जी। तीनोंमें ग्रन्थकारने इस दोहेमें कहे हुए पाँचों गुण दिखाये हैं।

	श्रीभरद्वाज मुनि	श्रीपार्वतीजी	श्रीगरुड़जी
सुमति	**'चतुराई तुम्हारि मैं' जानी।'** (१। ४७। ३)	**धन्य सती पावनि मति तोरी।'** (५५। ७)	**'धन्य धन्य तव मति उरगारी।'** (९५। ५)
सुशील	**'मैं जाना तुम्हारि गुन सीला।'** (१। १०५। १)	**'सुंदर सहज सुशील 'सयानी।'** (१। ६७। २)	**'सरल सुप्रेम सुखद।'** (६४। ५)
शुचि	**'सुचि सेवक तुम्ह राम के रहित समस्त बिकार।'** (१। १०४)	**'अति पुनीत गिरिजा कै करनी।'** (१। ७६। ८)	**'सुपुनीता।'** ६४। ५
कथारसिक	**'चाहहु सुनै राम गुन गूढ़ा। कीन्हिहु प्रश्न मनहु अति मूढ़ा।'**(१। ४७)	**'अति आरत पूछौं...... रघुपति कथा कहहु।'**(१। ११०)	**'अब श्रीरामकथा...... बिनवौं प्रभु तोही।'**(६४। ३। ४)
हरिदास	**'रामभगत तुम्ह मन क्रम बानी।'** (१। ४७। ३)	**'तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी।'** (१। ११२। ८)	**'हरिसेवक अति 'निकट निवासी'** (५५)

बोलेउ काकभसुंड बहोरी। नभगनाथ पर प्रीति न थोरी॥ १॥
सब बिधि नाथ पूज्य तुम्ह मेरे। कृपापात्र रघुनायक केरे॥ २॥
तुम्हहिं न संसय मोह न माया। मो पर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया॥ ३॥
पठै मोह मिस खगपति तोही। रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही॥ ४॥

अर्थ—काकभुशुण्डिजी फिर बोले, पक्षिराजपर उनका प्रेम कुछ थोड़ा नहीं (अर्थात् बहुत) है॥ १॥ हे नाथ! आप सब प्रकारसे मेरे पूज्य हैं। आप श्रीरघुनाथजीके कृपापात्र हैं॥ २॥ आपको न संशय है, न मोह और न माया। हे नाथ! आपने मुझपर दया की है॥ ३॥ हे पक्षिराज! मोहके बहाने श्रीरघुनाथजीने आपको यहाँ भेजकर मुझे बड़ाई दी है॥ ४॥

नोट—१ *'बोलेउ......बहोरी'* इति। जब गरुड़जी आये थे तब स्वागत-कुशल-प्रश्न तथा पूजा करके उनसे बोले थे। यथा—*'करि पूजा समेत अनुरागा। मधुर बचन तब बोलेउ कागा॥ नाथ कृतारथ......।'* (६३) इत्यादि। श्रीगरुड़जीके कहनेपर कि श्रीरामकथा सुनाइये वे कथा सुनाने लगे। बीचमें कहीं न बोले थे। कथा समाप्त होनेपर गरुड़जीने कृतज्ञता प्रकट करते हुए अपना मोह कहा। उन वचनोंको सुनकर अब पुनः बोले। अतः बोलेउ बहोरी कहा।

'नभगनाथ पर—' भाव कि अपने समाजके राजा हैं। प्रतिष्ठित श्रोता हैं तथा ऐसे रसिक स्निग्ध श्रोताका सत्सङ्ग हुआ, इत्यादि कारणोंसे बहुत प्रेम उनपर है। यथा—*'आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन। निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन॥ नाथ जथा मति भाषेउँ राखेउँ नहिं कछु गोइ॥'* (१२३)

पं० रा० व० श०—१ *'सब बिधि पूज्य'* यह कि वैष्णव होनेसे, शुद्ध भगवदनुरागी होनेसे (इनको दण्डवत् करनेकी शास्त्राज्ञा है), पक्षिराज होनेसे विद्या, कुल (खग-कुलका) और गुण इन सबसे पूज्य हैं ही, पर श्रीरघुनाथजीके कृपापात्र होनेसे सब विधि पूज्य हैं। यथा—*'जाको हरि दृढ़ करि अंगु कर्‌यो। सोइ सुसील पुनीत वेदविद विद्या गुननि भर्‌यो॥ उत्पति पांडु सुतनिकी करनी सुनि सतपंथ डर्‌यो। ते त्रैलोक्य पूज्य पावन जस सुनि सुनि लोक तर्‌यो......तुलसिदास रघुनाथ कृपा को जोवत पंथ खर्‌यो॥'* (वि० २३९)

पां०—१ पूज्य इस तरह कि जाति, अधिकार (क्योंकि राजा हैं) और प्रेममें बड़े हैं। २—*'तुम्हहि न संसय मोह न माया—।' 'सो नहिं कछु आचरज गोसाईं॥'* इति। प्रथम तो आपको किसी प्रकारका संशय है ही नहीं और यदि मान भी लें तो मोहका बहानामात्र है, वस्तुतः मोह नहीं है। आपने आकर मुझे कृतार्थ किया, मेरा अहोभाग्य है, आपने जान-बूझकर मुझपर कृपा की है। अथवा इस बहानेसे कृपालु श्रीरामजीने आपको मेरे पास भेजा जिसमें मेरी बड़ाई हो कि गरुड़ पक्षिराजका मोह कौएने दूर किया। तीसरे यदि मान लें कि सत्य ही मोह हुआ था तो इसमें भी क्या आश्चर्य है?

नोट—२ (क) ☞ *'मोपर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया'* कहकर सत्योपाख्यानकी कथा भी जना दी। वहाँ गरुड़ने भुशुण्डिजीसे कहा है कि हम मोहके बहाने तुम्हारे पास आयेंगे।* दूसरे, इस प्रकारका कथन शिष्टाचार है और यही मानसका मत है। सत्योपाख्यानवाली कथा यहाँ विशेष सङ्गत नहीं है। (ख) *'मोहमिस'* का भाव कि मोह है नहीं, इसका बहानामात्र है। आगेके *'तुम्ह निज मोह कहा'* का भाव यह है कि मैं तो आपमें मोह न मानता हूँ, न कहता हूँ, केवल आपका कथन लेकर उसपर कुछ कहता हूँ।

☞ गरुड़जीने पहले भुशुण्डिजीकी प्रशंसा की, पहले उनकी कृपा अपने ऊपर कही तब रघुनाथजीकी, वैसे ही भुशुण्डिजीने प्रथम गरुड़जीकी कृपा कही तब रघुनाथजीकी। भक्त भगवत्-भागवत-प्राप्तिमें भागवत-कृपाको ही मुख्य मानते हैं।

पं० रा० व० श०—*'रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही'* का भाव कि आप जो कहते हैं कि रघुनाथजीने आपको भ्रममें डाला, यह आपपर कृपा की सो बात नहीं है—न आपको मोह है और न आपपर कृपा की, यह तो मुझपर उनकी कृपा हुई जान पड़ती है, इसका बहाना कर मुझको बड़ाई देनेकी कृपा की है।

वि० त्रि०—श्रोताका प्रोत्साहन करते हुए भुशुण्डिजी कहते हैं कि आप भले ही समझते हों कि मुझे संशय, मोह और माया है, पर मेरे विचारसे आपको कुछ नहीं हुआ है। जिस भाँति भगवान् शङ्करने पार्वतीजीसे कहा था कि *'राम कृपाते पारबति सपनेहुँ तव मन माहिं। सोक मोह संदेह भ्रम मम बिचार कछु नाहिं॥'* उसी भाँति भुशुण्डि गरुड़से कहते हैं। शङ्करभगवान् कहते हैं कि तुम्हें संशय-मोह नहीं है, तुमने केवल जगत्के हितके लिये प्रश्न किया है। इसी भाँति भुशुण्डिजी कहते हैं कि आपको संशय-मोह-माया नहीं है, आपने केवल मेरे ऊपर दया किया है। गुणवान् श्रोताके मिलनेसे वक्ताके उपदेशकी जगत्में प्रसिद्धि हो जाती है। इतने दिन मुझे कथा कहते हुए पर मेरी कथाकी प्रसिद्धि नहीं हुई, केवल चिड़ियाएँ कथा सुनती रहीं, आपके श्रोता हो जानेसे अब मेरी कथाकी प्रसिद्धि हो जायगी (यथा—*'कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहग नायक गरुड़'*) और वस्तुतः प्रश्न करनेके समय न तो उमाको ही कोई संशय था और न गरुड़जीको ही था; यथा—*'देखि सैल प्रसन्न मन भयऊ। माया मोह सोक सब गयऊ॥'*

गरुड़जीके वाक्य और भुशुण्डिजीके उत्तरका मिलान—

गरुड़जी		काकभुशुण्डिजी
सुनि सब रामकथा खगनाहा	१	**सुनि बिहंगपति बानी**
कहत बचन मन परम उछाहा	२	**पुलकगात लोचन सजल मन हरषेउ**
गएउ मोर संदेह—	३	**तुम्हहिं न संसय मोह न माया**

* 'अज्ञानीवत्त्वहं काक विपृच्छेऽहं कदापि त्वाम्। रामतत्त्वं महाबुद्धे जगत्सुयशसे तव॥ इति लोका वदिष्यन्ति काको ज्ञानी महामतिः। अज्ञानं गरुडस्यैव कृतं येनैव दूरगम्॥ यशस्तु तव भोः काक लोकेषु प्रचरिष्यति। गरुडेन भुशुण्डाद्धि ज्ञानं प्राप्तं सुदुर्लभम्॥ यूयं तु हरिभक्ताश्च रामस्य चरणार्चकाः॥ भविष्यति च मे भाग्यं यदा त्वं ह्यागमिष्यति (सत्योपाख्यान २६। ५९—६२) पुनः श्रीरामवाक्य—'उपदेक्ष्यसि त्वं ज्ञानं गरुडाय महात्मने॥ ७०॥' अर्थात् महात्मा गरुड़को तुम ज्ञानका उपदेश करोगे। २—शुद्धापह्नुति अलङ्कार है।

तव प्रसाद बायसतिलक ४ मोपर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया
सोइ भ्रम अब हितकर मैं माना ५ पठइ मोह मिसु खगपति तोही
कीन्ह अनुग्रह कृपानिधाना ६ रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही

७ *'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही'* इत्यादिका उत्तर संवादके अन्तमें भुशुण्डिजीने यों दिया है—*'आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन। निज जन जानि राम मोहिं संत समागम दीन्ह॥'*

गरुड़-मोहका समाधान

तुम्ह निज मोह कही* खगसाईं। सो नहिं कछु आचरज गोसाईं॥५॥
नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनि नायक आतमबादी॥६॥
मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही॥७॥
त्रिस्ना† केहि न कीन्ह बौराहा‡। केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा§॥८॥

अर्थ—हे पक्षिस्वामी! आपने अपना मोह कहा, सो हे गोसाईं! कुछ आश्चर्य नहीं है॥ ५॥ श्रीनारदजी, श्रीशंकरजी, श्रीब्रह्माजी, श्रीसनकादि (तथा और भी) जो मुनिश्रेष्ठ और आत्मतत्त्वके कहने, सुनने और जाननेवाले हैं, इनमेंसे मोहने किस-किसको अन्धा नहीं कर दिया? जगत्‌में कौन है जिसे कामने न नचाया हो? अर्थात् सभी मोह और कामके वशीभूत हुए॥ ६-७॥ तृष्णाने किसे पागल नहीं बनाया, क्रोधने किसका हृदय नहीं जलाया?॥ ८॥

पं० रा० व० श०—१ *'तुम्ह निज मोह कहा——'* इति। पूर्व कहा कि आपमें मोह था ही नहीं और अब कहते हैं कि मोहका होना आश्चर्य नहीं है। इसका समाधान यह है कि यह रीति है कि श्रोताका पहले आश्वासन करे, जिससे उसके चित्तमें आह्लाद हो, आह्लाद होनेपर उपदेश दिया जाय तो वह सफल होता है। यदि पहले उसको फटकारकर उसका अपमान कर दिया जाता है तो उदासचित्त हो जानेसे फिर उपदेश लगता नहीं। यहाँ उसी रीतिको भुशुण्डिजी बरत रहे हैं। *'पठै मोह मिस——रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही'* और *'सो नहिं कछु आचरज गोसाईं'* से वे गरुड़जीके वचनोंकी पुष्टि कर रहे हैं कि यह मोह नहीं है, इसे भगवत्-कृपा ही समझो। (ऊपर चौ० १—४ में आ चुका है)

नोट—१ नारदादिको गिनाकर *'मोह न अंध कीन्ह केहि केही'* कहकर जनाया कि इन सबको मोह हुआ—(ब्रह्माजीका मोह रावणवधपर, श्रीसीताजीके अग्निप्रवेशपर तथा द्वापरमें बच्छहरण-प्रसङ्गसे स्पष्ट है।)—फिर *'को जग काम नचाव न जेही'* इत्यादि सब जगन्मात्रके लिये कहा+।

☞ यह प्रसङ्ग मोहसे उठाया क्योंकि—(क) यहाँ मोह ही प्रस्तुत प्रकरण है, कामक्रोधादि नहीं—*'मोहि भएउ अतिमोह प्रभु बंधन रन महँ निरखि।'* (६८) इसी तरह नारदमोहमें कामका प्रसङ्ग था, अतः वहाँ कामको आदिमें कहा है, यथा—*'दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही'*, *'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि'* तथा रावणको समझाना विभीषणजीने *'सो परनारि लिलार गोसाईं।'* *'तजउ——'* से (अर्थात् कामसे) उठाया है, अतः वहाँ कामको आदिमें कहा है, यथा—*'काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।'* (सु० ३८) [यह प्रसङ्ग 'मोह' से उठाया, क्योंकि यह सब व्याधियोंका मूल है—*'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।'* मूल कहकर तब उसकी शाखाएँ कहीं। (पं० रा० व० श०)] पुनः,

* कहा। † तृष्णा—(का०)। ‡ बौरहा, § दहा:—(गुटका)।

+ पुनः नारद, शिव, ब्रह्मा और सनकादिक मुनिनायकोंको गिनाकर मोह, काम, तृष्णा और क्रोधको यथाक्रमसे कहा। नारदको मोह हुआ, यथा—'पुनि नारद कर मोह अपारा।' शिवजी मोहिनी रूप देखकर लज्जा छोड़ कामातुर हो पीछे दौड़े; यह कथा भा० ८। १२ में है। यथा 'तामन्वगच्छद्‌द्रुगवान्भवः प्रमुषितेन्द्रियः। कामस्य च वशं नीतः करेणुमिव यूथपः॥ २७॥' ब्रह्माजीमें तृष्णा यह कि उच्च पद मिल जाय, वा इनमें मोह, काम आदि सभी बातें हैं और सनकादिने क्रोधवश हो जय-विजयको शाप ही दिया है।

(ख) 'यहाँ यह भी कह सकते हैं कि मोह अज्ञानको कहते हैं। अज्ञान होनेपर काम-क्रोध-लोभ-मदादि सभी होते हैं; इसीसे मोहको कहकर तब काम-क्रोधादिको कहा।

२ ***'को जग काम नचाव न जेही।'*** नारद, शिव और ब्रह्माको कह आये और ***'भये कामबस जोगीस तापस पावँरन्हकी को कहै'*** यह शिवजीको समाधिसे जगानेके अवसरपर कविने कहा है। (भा० ३। ३१। ३६—३८) में कपिलभगवान्ने मातासे ऐसा ही कहा है कि जब ब्रह्माकी यह दशा कामसे हुई तब उनके पुत्र-पौत्रादिकृत सृष्टिमें सिवा ऋषि-नारायणके कौन ऐसा पुरुष है जो स्त्रीरूप मायामें न फँसे। यथा '**प्रजापतिः स्वां दुहितरं दृष्ट्वा तद्रूपधर्षितः। रोहिद्भूतां सोऽन्वधावदृक्षरूपी हतत्रपः॥ तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु को न्वखण्डितधीः पुमान्। ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया॥ बलं मे पश्य मायायाः स्त्रीमय्या जयिनो दिशाम्। या करोति पदाक्रान्तान्भ्रूविजृम्भेण केवलम्॥**'

३—तृष्णा=वह स्वभाव कि कितना ही मिलता जाय पर संतोष न हो। यह कभी नहीं जाती, मरते समय भी इसके पाशसे मनुष्य बँधा रहता है। इसका नशा आदमीको बावला बनाये रहता है। भर्तृहरिने कहा है कि '**तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा**' हम जीर्ण हो गये पर हमारी तृष्णा कभी जीर्ण नहीं होती, उसका अपच हमें नहीं होता, वह नित्य नयी ही बनी रहती है। इसीसे तृष्णाको *'उदर अति बृद्धि भारी'* कहा है।

☞ मिलान कीजिये—*'सो प्रगट तनु जर्जर जराबस ब्याधि सूल सतावई। सिर कंप इन्द्रिय सक्ति प्रतिहत बचन काहु न भावई॥ गृहपालहू ते अति निरादर खान पान न पावई। ऐसिहु दसा न बिराग तहँ तृष्ना तरंग बढ़ावई'* इति विनये। ऐसा ही विदुरजीने धृतराष्ट्रसे कहा है यथा—'**पितृभ्रातृसुहृत्पुत्रा हतास्ते विगतं वयः। आत्मा च जरया ग्रस्तः परगेहमुपाससे॥ अहो महीयसी जन्तोर्जीविताशा यया भवान्। भीमापवर्जितं पिण्डमादत्ते गृहपालवत्॥**'(भा० १। १३। २१-२२)

अर्थात् अहो! आपके पिता, भ्राता, मित्र और पुत्र सभी मारे गये, आयु पूरी हो चुकी और शरीर भी जरा-जर्जरित हो गया। फिर भी आप पराये घरकी सेवा कर रहे हैं। ओह! जीवोंकी जीवन-आशा भी बड़ी प्रबल होती है जिसके कारण आप भीमका दिया हुआ टुकड़ा घरकी रखवाली करनेवाले कुत्तेकी तरह खा रहे हैं।

दो०—ज्ञानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार।
केहि कै लोभ बिडंबना कीन्हि न एहि संसार॥
श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनि के नयन सर* को अस लाग न जाहि॥७०॥

अर्थ—ज्ञानी, तपस्वी, शूरवीर, कवि, कोविद और सर्वगुणधाम इस संसारमें कौन है जिसकी लोभने हँसी वा फजीहता न की हो? लक्ष्मीके मदने किसे टेढ़ा नहीं किया? प्रभुताने किसको बहिरा नहीं कर दिया? ऐसा कौन है जिसे मृगनयनीके नेत्रकटाक्षरूपी बाण न लगे हों?॥ ७०॥

पं०—प्रथम दोहेमें कहा कि ज्ञानी आदि सभीमें लोभरूपी दोष होता है सो तो अधम हैं ही और दूसरेमें कहते हैं कि जिन्होंने व्यवहारमात्र उसे अङ्गीकार किया है वह भी दूषित हैं।

नोट—१ *'लोभ बिडंबना कीन्हि न'* इति। लोभवश लोग माता-पिता, भाई सुहृदादिको भी मार डालते हैं, लोभसे मनुष्य बन्धनमें पड़ता है, उसको कार्याकार्यका विचार नहीं रह जाता। यथा—*'लोभ पास जेहि गर न बँधाया'* (कि० २१)।

'श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि' इति। धनान्धकी टेढ़ी भौंं और टेढ़े मुखमें नित्य कड़वे वचन रहते हैं। भाव कि सम्पत्ति पाकर न सीधे चलें, न सीधे बोलें, दूसरा दीन होकर आवे तो सन्तोष देना दूर

* मृगलोचनि लोचन सर-(का०)। नैनसर-भा० दा०।

रहा, उससे ठठोली करते टेढ़े वचन बोलते हैं, उसकी सुनते ही नहीं। पुनः '**बक्र**' कहनेका भाव कि धनके गर्वमें वह यह अभिमान करके कि मैं श्रेष्ठ हूँ लोगोंकी ओर टेढ़ी दृष्टिसे देखता है, गुरुजनोंतकसे आशङ्का करता है कि धन हर न लें, यथा—(भा० ५। २६। ३६) '**यस्त्विह वा आढ्याभिमतिरहंकृतिस्तिर्यक्प्रेक्षणः सर्वतोऽभिविशङ्की**' अर्थात् जो पुरुष इस लोकमें अपनेको धनाढ्य समझकर सबको टेढ़ी दृष्टिसे देखता है, जिसका सभीपर संदेह रहता है। '*प्रभुता बधिर न काहि*', यथा—'*नहिं अस कोउ जनमा जग माहीं। प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं*'॥ प्रभुता=अधिकार। अधिकार पाकर लोग अभिमानके वश हो जाते हैं, यथा—'*बड़ अधिकार दक्ष जब पावा। अति अभिमान हृदय तब आवा॥*' (१। ६०) अभिमानवश मनुष्य उपदेश नहीं सुनता यही बधिर होना है। दक्षने सतीके वचन न ग्रहण किये, रावणने किसीका उपदेश न सुना।

मिलान कीजिये—'***को न क्रोध निरदह्यो काम बस केहि नहिं कीन्हो। को न लोभ दृढ़ फंद बाँधि त्रासन करि दीन्हो॥ कवन हृदय नहिं लाग कठिन अति नारिनयनसर। लोचनजुत नहिं अंध भयो श्री पाइ कवन नर॥ सुर नाग लोक महिमंडलहु को जु मोह कीन्हों जय न। कह तुलसिदास सो ऊबरै जेहि राख राम राजिवनयन॥***' (क० ७। ११७) पुनः भोजप्रबन्धसारे यथा—'**यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकता। एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥**'

गुनकृत सन्यपात* नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही॥ १॥
जोबन† ज्वर केहि नहिं बलकावा। ममता केहि कर जस न नसावा॥ २॥
मच्छर‡ काहि कलंक न लावा। काहि न सोक समीर डोलावा॥ ३॥

शब्दार्थ—**निबेही-निबेहना**=निबेरना, निवृत्त करना, छाँटना, चुनना, बन्धन छुड़ाना-(श० सा०)। बिना छिद्र किये। **बेह**=छिद्र, छेद, यथा—'**उर भएउ न बेहू**'—(शीला) '**निबेही**'=निर्व्यथी अर्थात् पीड़ारहित। (निर्व्यथ=नि+ब्व्+ए निब्बे। थ=ह। निर्व्य+थ=निब्बे+ह=पीड़ारहित) 'बलकाव' धातु। 'झुकाने, पागल बनाने' के अर्थमें है। (गौड़जी)। **बलकान**=उबालना, उभारना, उमगाना, उत्तेजित करना। (श० सा०)। =उत्पथ चलाना। (रा० कु०)

अर्थ—गुणोंका किया हुआ सन्निपात किसे न हुआ? कोई ऐसा नहीं है जिसे मान-मदने बिना छेद डाले वा पीड़ारहित छोड़ा हो॥ १॥ युवा अवस्थारूपी ज्वरने किसको न खौला दिया, न दिवाना कर दिया? ममत्वने किसका यश नहीं नष्ट कर डाला?॥ २॥ मत्सर-(डाह-) ने किसको कलंक नहीं लगाया और शोकरूपी पवनने किसको न हिला दिया?॥ ३॥

नोट—१ '*गुनकृत सन्यपात*——' इति।—'सन्निपात'—रोगकी एक विशेष अवस्था है जो ज्वर या और किसी व्याधिके बिगड़नेपर होती है। सबसे साधारणरूप इसका वह है जिसमें रोगीका चित्त भ्रान्त होता है। वह अंडबंड बकने लगता है तथा उछलता-कूदता है। गुणवान् होनेपर बहुत कम ऐसे होते हैं जो सावधान रहें, गुणका मद हो जाता है जिससे वे अपनी ही प्रशंसा बड़बड़ाया करते हैं, जैसे सन्निपातमें लोग वही बड़बड़ाते हैं जो उनके दिमागमें दिन-रात भरा रहता है।—'*सन्निपात जल्पसि दुर्बादा।*' अपने आगे दूसरेका गुण समझते नहीं।—सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणोंके विषयमें ऐसा ही (भा० ११। २५। ५-६) में कहा है और अध्यायमें विस्तारपूर्वक गुणकृत सन्निपातका वर्णन है—'**सत्त्वस्य रजसश्चैतास्तमसश्चानुपूर्वशः। वृत्तयो वर्णितप्रायाः संनिपातमथो शृणु॥ संनिपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मतिः। व्यवहारः सन्निपातो मनो मात्रेन्द्रियासुभिः॥ ६॥**' भगवान् उद्धवजीसे कहते हैं कि ये सत्त्व, रज और तमोगुणकी अलग-अलग वृत्तियाँ वर्णन की गयी हैं, यदि इसी प्रकारकी और भी हों तो उन्हें भी इसी अनुसार जानना चाहिये। अब उनके मेलसे बननेवाली वृत्तियोंके विषयमें कहता हूँ, सुनो। मैं और मेरा ऐसी जो बुद्धि होती है वह तीनों गुणोंका सन्निपात (मेल) है। मन, शब्दादि विषय, इन्द्रियों और प्राणोंसे जो कुछ भी व्यवहार होता है वह तीनों गुणोंका मेल ही समझना चाहिये। इत्यादि।

* 'संन्यपात'। † 'जौबन' ‡ 'मत्सर'—(का०)

प० रा० व० श०—१ *'गुनकृत सन्निपात।'* सत्त्व, रज और तम तीन गुण हैं वैसे ही वात, पित्त और कफ त्रिदोष हैं जबतक इनमेंसे एक भी स्वस्थानपर ठीक है तबतक सँभल जानेकी आशा रहती है, तीनोंका प्रकोप होता है तब सन्निपात होता है। वैसे ही जबतक सत्त्वगुण स्थानपर बना हुआ है, रज और तम ये दो बिगड़े हैं तबतक जीवके सँभलनेकी आशा है। जब सत्त्व भी बिगड़ा तब मनुष्य भूल जाता है कि उसका क्या कर्तव्य है, उसे किसकी लज्जा करनी चाहिये। इत्यादि।

२ *'कोउ न मान मद तजेउ निबेही'* इति। भाव कि मृत्यु आदि देखकर या किसी संस्कारवश कथा सुनकर या सत्सङ्ग इत्यादि पाकर क्षणभरका ज्ञान मनुष्यको हो जाता है पर मानमदको छोड़कर कोई निबह गया हो, फिर उसको मानमद न हुआ हो, ऐसा कोई नहीं है।

पं०—१ *'गुनकृत——निबेही।'* वात, पित्त, कफ जब तीनोंका सन्निपात हो तब असाध्य होता है, वैसे ही सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंका जब प्राबल्य होता है तब बुद्धि विक्षिप्त हो जाती है, किसीका उपदेश नहीं चलता। २—'**निबेही**' और 'निबाही' अतिसारके नाम हैं। अर्थ है कि मानमदरूपी अतिसारने किसको छोड़ा है।'

नोट—२ *'जोबन ज्वर केहि नहिं बलकावा'—'जवानी दिवानी'* कहावत ही है। इसमें काम-क्रोध सभीका प्राबल्य रहता है, लोग कुपन्थपर चलने लगते हैं। जवानीकी उमङ्गमें कोई किसीको कुछ नहीं समझता। भर्तृहरिजी कहते हैं कि युवावस्था रागका घर है, अगणित नरकोंके महान् दुःखोंकी प्राप्तिका कारण है, मोह उत्पन्न करनेके लिये बीजरूप है, ज्ञानरूपी चन्द्रको छिपा देनेके लिये मेघसमूहरूप है, कामदेवका एकमात्र मित्र यही है, नाना प्रकारके दोषोंका प्रकट करनेवाला, अपने कुल-(सद्गुणों-) को भस्म करनेवाला है और इसके समान संसारमें दूसरा अनर्थ नहीं है। यथा—'**रागस्यागारमेकं नरकशतमहा-दुःखसंप्राप्तिहेतुर्मोहस्योत्पत्तिबीजं जलधरपटलं ज्ञानताराधिपस्य। कन्दर्पस्यैकमित्रं प्रकटितविविधस्पष्टदोषप्रबन्धं लोकेऽस्मिन् नह्यनर्थं निजकुलदहनं यौवनादन्यदस्ति॥**' (शृङ्गारशतक)। ['बलकावा' में भाव यह कि जैसे ज्वरमें लोग पर्यंकसे उछल-उछल पड़ते हैं वैसे ही यौवन आनेपर लोग मर्यादा त्याग देते हैं। (पं०)]

३ *ममता 'केहि कर जस न नसावा'* का भाव कि जो यश प्राप्त है उसको भी ममता नष्ट कर डालती है। यह कहकर *'मच्छर काहि कलंक न लावा'* कहनेका भाव कि ममत्वसे प्राप्त-यशका नाश हो जाता है पर यह जरूरी नहीं कि अपयश हो, और मत्सरसे अपयशकी प्राप्ति होती है, पूर्वयश रहा हो या नहीं इससे प्रयोजन नहीं।-ममतासे लोग कुमार्गपर चलते हैं जिससे यश नाश होता है। (रा० प्र०)। ममतावश हो ऐसा काम कर बैठते हैं कि सब थू-थू करते हैं। (पं० रा० व० श०) देहव्यवहारमें अधिक प्रीति ममता है। 'यश न नाश किया' का भाव कि यश तो परमार्थसे होता है, और ममता तो स्वार्थ है, तब यश कैसे? (वै०)

४ *'सोक समीर डोलावा।'* शोक सबको हिला-कँपा देता ही है, इससे धैर्य और धर्म छूट जाता है, इत्यादि। वनवासपर पुरवासियोंकी दशा और तारा-मंदोदरी आदिकी दशा सबने पढ़ी है—*'रहा न ज्ञान न धीरज लाजा।'* श्रीजनक, दशरथजी ऐसे धीरोंको भी शोकने दहला दिया।

'मत्सर'=किसीको दबाकर उससे बढ़नेकी इच्छा; ईर्ष्या; डाह।—[रा० प्र०—मत्सरसे कलंक लगता है। लोग कहते हैं कि इतना पाकर भी इनकी यह दशा है, धिक्कार है।]

चिंता साँपिनि को नहिं खाया। को जग जाहि न ब्यापी माया॥४॥
कीट मनोरथ दारु सरीरा। जेहि न लाग घुन को अस धीरा॥५॥

अर्थ—चिन्तारूपी साँपिनने किसको नहीं खा लिया? संसारमें ऐसा कौन है जिसे माया न व्यापी हो?॥ ४॥ मनोरथरूपी घुन-कीड़ा जिसके शरीररूपी लकड़ीमें न लगा हो, ऐसा धैर्यवान् पुरुष कौन है?॥ ५॥

नोट—१ *'चिंता साँपिनि को नहिं खाया'* इति। चिन्तासे छाती दिन-रात जलती रहती है, यथा—*'बालित्रास ब्याकुल दिन राती। तनु बहु ब्रन चिंता जर छाती॥'* (कि० १२) चिन्ताग्रस्त मनुष्य

जीते-जी मरा हुआ-सा है, कहा भी है कि चिता तो मरनेपर जलाती है पर चिन्ता जीते-जी मनुष्यको जला डालती है। यथा—**'चिता चिन्ता समाख्याता किन्तु चिन्ता गरीयसी। चिता दहति निर्जीवं सजीवो दह्यतेऽनया॥'** (१। ५८। १) देखिये। इसीसे नागिनकी उपमा दी। नागिनके डसनेसे जलन होती है और मनुष्य मर जाता है। पुनः, ***'को नहिं खाया'*** का भाव कि नागिन सबको खा नहीं लेती उससे मनुष्य बच भी जाता है पर चिन्तारूपिणी साँपिनसे कोई नहीं बचता, चिन्ता जिसे होती है उसे वह खा ही लेती है। ***'खाया'*** से यहाँ अजगर जातिकी सर्पिणी जान पड़ती है। वा खाया=डस लिया।

'कीट मनोरथ दारु सरीरा।......' इति। (क) घुण एक प्रकारका छोटा कीड़ा होता है जो अनाज, पौधे और लकड़ी आदिमें लगता है। जिसमें यह लगता है उसे भीतर ही भीतर खाते-खाते खोखला कर डालता है। इसी प्रकार मनुष्यके मनमें जो अनेक वासनाएँ उठती हैं वे उसके शरीरका भीतर-ही-भीतर धीरे-धीरे क्षीण और छलनी-सरीखा करती जाती हैं। (ख) ***'को अस धीरा'*** का भाव कि धीरवान्‌की यह दशा हो जाती है तब औरोंकी कहना ही क्या?

पं० रा० व० श०—***'अस को धीरा'*** का भाव। बड़े-बड़े धीरोंमें भी अनेक मनोरथ उठते रहते हैं, उन धीरपुरुषोंके शरीरमें भी घुन लगता है।

सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥ ६॥
यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमिति को बरनै पारा॥ ७॥
सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव कहि लेखे माहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—**ईषना (एषण)**=प्रबल इच्छा, अभिलाषा। लोक=कीर्ति, यश,—**'लोकमें लोक बड़ो अपलोक सुकेशवदास जो होउ सो होऊ।'** पारा=सकना, यथा—**'बाली रिपु बल सहै न पारा।'**

अर्थ—पुत्र (हो), धन (हो) और लोक-(में प्रतिष्ठा हो-) इन तीन इच्छाओंने किसकी बुद्धि मलिन नहीं कर दी?॥ ६॥ यह सब मायाका कुटुम्ब है जो बड़ा बलवान् और असंख्य है, उसे कौन वर्णन कर सकता है?॥ ७॥ जिससे शिवजी और चतुर्मुख ब्रह्माजी डरते हैं उसके सामने और जीव किस गिनतीमें हैं? अर्थात् वे तो डरे-डराये ही हैं॥ ८॥

नोट—१ ***'सुत बित लोक'*** प्रायः यही तीन अभिलाषाएँ हृदयको ग्रस्त किये रहती हैं। पुत्र, धन और पृथ्वी-(घर वा लोकमें यश-) की प्राप्तिके नशेमें सब चूर रहते हैं। मलिनता क्या है?—***'सुत बित दार भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी।'*** (वि० १४०) इन्हींके उपायमें मन लगा रहना ही मलिनता है।

२ ***'सुत बित लोक ईषना'*** इति। पुत्रके लिये जो इच्छा होती है उसे **'सुत-ईषना'** (पुत्रैषणा) कहते हैं। मैं पुत्रके द्वारा यह लोक जीतूँगा (इससे नरकमें न पड़कर मैं तर जाऊँगा), इस तरह लोक-जयके साधन पुत्रके प्रति जो इच्छा होती है वही पुत्रैषणा है। पुत्रैषणामें स्त्रीसंग्रह भी आ गया।

कर्मके साधनभूत गौ आदि मानुषवित्तको इस भावसे ग्रहण करना कि इसके द्वारा कर्म करके मैं पितृलोकपर विजय प्राप्त करूँगा अथवा विद्यासंयुक्त कर्मसे देवलोक या केवल हिरण्यगर्भ विद्यारूप दैववित्तसे देवलोक प्राप्त करूँगा—इसका नाम वित्तैषणा है। लोकैषणासे अनात्मलोक प्राप्तिके साधन सूचित कर दिये गये। वस्तुतः तीनों एक-दूसरेसे सम्बद्ध होनेसे ये एक ही एषणा है। श्रीयाज्ञवल्क्यजीने कौषीतकेय कहोलजीसे कहा है—**'या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः।'** (बृ० ३। ५। १) भगवान् शङ्कराचार्यजी लिखते हैं कि साधन-सम्बन्धिनी सारी इच्छा फलेच्छा ही है; इसलिये श्रुति ऐसी व्याख्या करती है कि एक ही एषणा है। इस प्रकार कि जो भी पुत्रैषणा है, वही वित्तैषणा है, क्योंकि उनका दृष्ट फलमें साधन होना समान है; और जो वित्तैषणा है, वही लोकैषणा है, क्योंकि वह फलके ही लिये है; सब लोग फलरूप प्रयोजनसे प्रेरित होकर ही सारे साधनोंको स्वीकार करते हैं। जो लोकैषणा है, उसका साधनके बिना सम्पादन नहीं किया जा सकता, इस प्रकार साध्य-साधन-भेदसे ये दोनों एषणाएँ ही हैं।

तीनों एषणाएँ आत्मज्ञानकी विरोधिनी हैं, क्योंकि ये सब अविद्याके विषय हैं—*'यह सब माया कर परिवारा।'* इसीसे आत्मज्ञान प्राप्त करके इनका परित्याग करना कहा। आत्मज्ञानद्वारा ही इनका त्याग किया जा सकता है। यथा—**'योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति। एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति।'** (बृ० ३। ५। १) अर्थात् जो क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मृत्युसे परे है उस आत्माको जानकर ब्राह्मण पुत्र, वित्त और लोक तीनों एषणाओंसे अलग हटकर भिक्षाचर्यासे विचरते हैं।

३ (क)—*'यह सब माया कर परिवारा।'* मोह, काम, तृष्णा, क्रोध, लोभ, श्रीमद, प्रभुता, स्त्रीके कटाक्ष, गुण, मान, मद, यौवन, ममता, मत्सर, शोक, चिन्ता, माया, मनोरथ, सुत-वित्त-लोक-एषणा जो ऊपर गिना आये यह सब मायाका परिवार है। (ख) 'प्रबल' कहा क्योंकि विज्ञानधाम मुनियोंके मनमें क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं, यथा—*'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि। तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥'* (३। ४३), *'तात तीन अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञान धाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥'* (३। ३८) (ग) *'अमिति'* का भाव कि जितनेका नाम लिया इतना ही नहीं है वरन् अपार है, इसे कौन गिना सकता है? *'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥'* (३। १५)

वि० त्रि०—*'यह बस माया—'* इति। ऊपर जो मोहादि अठारह मायाके परिवार गिनाये हैं, ये सब क्लेशरूप हैं। योगशास्त्रने १ अविद्या २ अस्मिता ३ राग ४ द्वेष और ५ अभिनिवेश इन पाँचको क्लेशरूप कहा है। (यथा—**अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।**) विचार करनेसे इन अठारहोंका अन्तर्भाव पञ्चक्लेशमें हो जाता है, परंतु अठारह प्रकारकी पीड़ाएँ जो इनसे होती हैं, वे पाँच प्रकार माननेसे स्पष्ट नहीं होतीं। यहाँ मायासे अविद्या माया अभिप्रेत है, क्योंकि अविद्यासे ही शेष चार क्लेशोंकी उत्पत्ति होती है। यथा—(**अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्**) एवम् अठारहोंको अविद्या मायाका परिवार कहना युक्तियुक्त है।

नोट—४ *'सिव चतुरानन जाहि डेराहीं।'* क्योंकि ये सब फंदेमें पड़ चुके हैं। इनका नाम देकर जनाया कि ये सब ईश्वरकोटिके हैं, जीव नहीं हैं, जब ये डरते हैं तब जीवका कहना ही क्या?

वीर—*'गुनकृत सन्यपात——'* से *'केहि कै मति——'* तक सब चौपाइयोंमें 'सम-अभेदरूपक', प्रत्यक्ष प्रमाण और वक्रोक्ति अलङ्कार है। *'अपर जीव केहि लेखे——'* में 'काव्यार्थापत्ति' अलङ्कार है।

वि० टी० कार प्रबोधचन्द्र नाटकसे मनकी स्त्रीप्रवृत्तिद्वारा उत्पन्न सन्तान यह लिखते हैं—

पुत्र—मोह, काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, गर्व, मद, अधर्म।

पुत्रवधू—मिथ्या, रति, हिंसा, तृष्णा, मलिन, आशा, निंदा, ईषणा, अस्पर्धा॥

कन्यापवत्ति है और अज्ञान जामात है जो ईश्वरके पुत्र अदायाका पुत्र है। कन्याकी सन्तान—संशय, विक्षेप, आलस्य, नींद, अनर्थ, रज, तम, कपट, चबाव, असंयम, नानारोग, यन्त्र, मन्त्र, नाटक, प्रपञ्च, जाल इत्यादि।

दो०—ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाषंड॥
सो दासी रघुबीर कै समुझे मिथ्या सोपि।
छूट न रामकृपा बिनु नाथ कहौं पद रोपि॥ ७१॥

अर्थ—मायाकी भारी, भयङ्कर और बलिष्ठ सेना संसारभरमें व्याप्त हो रही (घेरे हुए फैली हुई) है। कामादि (अर्थात् काम, क्रोध और लोभ उस सेनाके) सेनापति हैं और दम्भ, कपट और पाखंड उसके योद्धा हैं।* वह

* यहाँ लड़नेवाली सेना और मायाके कटकमें एकरूपता वर्णन 'सम अभेदरूपक' है—(वीर)। रघुनाथजीकी दासी भी और मिथ्या भी, इस विरोधी वर्णनमें 'विरोधाभास अलङ्कार' है। मिथ्या वस्तुकी वहाँ गुजर नहीं। उसका छूटना बिना रामकृपाके सर्वथा असम्भव 'प्रथम विनोक्ति अलङ्कार' है।

(माया) श्रीरघुवीर रामचन्द्रजीकी दासी (लौंड़ी) है। (यद्यपि) समझनेसे वह असत्य है फिर भी वह श्रीरामजीकी कृपाके बिना छूटती नहीं—हे नाथ! (यह बात) मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ॥ ७१॥

नोट—*'दंभ कपट पाखंड'* इति। कर्म, मन और वचनके ये तीन भेद हैं। तीनोंमें बहुत थोड़ा-थोड़ा अन्तर है। औरोंके दिखानेके लिये झूठा आडम्बर करना जिससे प्रतिष्ठा हो **'दम्भ'** है, यथा—*'नाना बेष बनाइ दिवस निसि पर बित जेहि तेहि जुगुति हरौं॥'* (वि० १४१) *'गुर नित मोहि प्रबोध दुखित देखि आचरन मम। मोहि उपजइ अति क्रोध दंभिहि नीति कि भावई॥'* (१०५) झूठा आडम्बर बनाना कर्म है। पर दम्भ मनका भी होता है। यथा—*'हृदय दंभ अहमिति अधिकाई।'* (१०५। ८) कपटमें भीतर कुछ होता है बाहर कुछ। यह मनमें होता है। यथा—*'लखहि न भूप कपट चतुराई।'* (२। २७) *'सती हृदय अनुमान किय सब जानेउ सर्बज्ञ। कीन्ह कपट मैं संभु सन नारि सहज जड़ अज्ञ॥'* (१। ५७) *'मैं खल हृदय कपट कुटिलाई।'* (१०६। १६) पाखण्ड=दुष्ट तर्क आदिद्वारा विपरीत मतका प्रतिपादन करना इत्यादि। यह वचनद्वारा होता है। यथा—*'जिमि पाखंडबाद ते गुप्त होहिं सदग्रन्थ।'* (४। १४)—ये तीनों शब्द एक साथ (१। ३२) में आये हैं।

पं० रा० व० श०—१ **'प्रचण्ड'** का भाव कि इसको जीतना तो दूर रहा कोई सामने भी नहीं आ सकता॥ २॥ (*'सो दासी रघुबीर कै'* का भाव यह है कि श्रीरघुनाथजीके आश्रित होनेसे, उनकी सत्तासे ही वह इतनी बलवती है। उनकी सत्तासे ही वह भासित हो रही है।) ३—*'मिथ्या सोपि......'* इति। (क)—यदि कहा जाय कि 'रस्सीको साँप समझनेसे थोड़ी देर दुःख होगा पर उजाला होते ही भय चला जायगा, तब झूठी मायासे डरना क्या?' तो उसपर कहते हैं कि इसे रस्सी-सर्पके समान न समझो, यह बलवती माया बिना रामकृपाके नहीं छूटती, यथा—*'छोड़त छुड़ाये ते गहाये ते गहत'*—(वि०)। ☞यहाँ भुशुण्डिजी दो पक्ष दिखाते हैं। किसीने कहा कि माया तो न सच्ची है न झूठी, न दोनों मिली है, तब क्या है? **'इयमपि न सती वा नासतीनोंभयं वा नहि जगुरितितज्ञा तामनिर्वाच्यरूपाम्'** यह सत्य भी नहीं, असत्य भी नहीं और सत्य-असत्य भी नहीं है किंतु यह अनिर्वाच्य है। इसीको भुशुण्डिजी यहाँ दृढ़ कर रहे हैं। इस तरह कि वह रघुवीरकी दासी है, अतः अपनी सेना लिये हुए वह प्रभुके भृकुटि-विलासपर रघुनाथजीको अपना विलास दिखलाती है। ☞(ख) *'समुझे मिथ्या'* का भाव कि जैसे रस्सीको जबतक समझा नहीं तबतक रस्सीका सर्प है, जब रस्सीका ज्ञान हो गया तब सर्प मिथ्या है, वैसे ही जबतक हमने इसे नहीं समझा, जबतक हमें इसका वास्तविक ज्ञान नहीं होता तबतक यह सत्य ही प्रतीत होती है, ज्ञान होनेपर ही असत्य समझ पड़ती है। यह रघुवीरकी दासी है इसीसे इसमें सत्यकी प्रतीति होती है। श्रीरघुनाथजीके कृपारूपी सूर्यका प्रकाश जब हो तभी वह असत्य जान पड़ेगी, अन्यथा नहीं। सारांश यह कि मायासे छूटनेके लिये अपने कर्तव्य पुरुषार्थका बल-भरोसा न रखो, इसका भजनमात्र एक उपाय है, भजन करो, (भजनसे भगवान् कृपा करते हैं—*'भजत कृपा करिहहिं रघुराई'*), उससे वह आप-ही-आप छूट जायगी। —**'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'** (गीता। ७। १४) *'पद रोपि'* का भाव कि कोई कहे तो कहता रहे पर मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ।

नोट—१ आगे *'मुधा भेद जद्यपि कृत माया'* से मायाकृत जीव-ईश्वरभेदको असत्य कहा और यहाँ *'मिथ्या सोपि'* से स्वयं 'माया' को असत्य कहा अर्थात् कारण, माया और उसके कार्य दोनोंको मिथ्या कहा और दोनोंका छूटना रामकृपापर निर्भर बताया—वहाँ *'बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया'* और यहाँ *'छूट न रामकृपा बिनु।'* मिलान कीजिये—

'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥......'

'जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥' (बा० ११७) *जासु कृपा अस भ्रम......।'*

२ विनयके *'माधव असि तुम्हारि यह माया। करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं जब लगि करहु न दाया॥ सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै। जेहि अनुभव बिनु मोह जनित दारुन भव*

बिपति सतावै॥ ब्रह्म पियूष मधुर सीतल जौ पै मन सो रस पावै। तौ कत मृगजल रूप बिषय कारन निसिबासर धावै॥ जेहि के भवन बिमल चिंतामनि सो कत काँच बटोरै। सपने परबस परयो जागि देखत केहि जाइ निहोरै॥ ज्ञान भगति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं। तुलसिदास हरिकृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं॥' (पद ११६) इस पदसे *'समुझे मिथ्या सोपि, छूट न रामकृपा बिनु'* के भाव स्पष्ट हो जाते हैं।

इस सम्बन्धमें बालकाण्ड मं० श्लोक ६ और ११७ (८)—११८ (१) में विस्तारसे लिखा जा चुका है। वहीं देखिये।

पं०—*'समुझे मिथ्या सोपि'* का भाव यह है कि प्रथम तो मिथ्या समझना ही कठिन है और मिथ्या समझ पड़नेपर भी वह नहीं छूटती।

खर्रा—*'छूट न रामकृपा बिनु'* इति। यह स्पर्द्धापूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं कि रामकृपासे छूटती है, अपने समझनेसे नहीं। *'जो माया सब जगहि नचावा'* से लेकर आगे चरणोंमें मायाका दासित्व कहते हैं।

नं० प०—*'पद रोपि'* इति। प्रण भुजा उठाकर किया जाता है, किंतु पक्षीके हाथ नहीं होता, इसलिये कागभुशुण्डिजीने 'पद' रोपकर प्रण किया।

बाबा जयरामदासजी दीन—कुछ सज्जन *'सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि।'* इस दोहेको लेकर कहते हैं कि यहाँ गोस्वामीजीने मायाको मिथ्या कहा है, इसलिये उनका सिद्धान्त अद्वैतवाद है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। यहाँ भी ऊपरका प्रसङ्ग *'मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही॥'* (७०। ७) से लेकर *'ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटकु प्रचंड। सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाषंड॥'* (७१) तक देखिये। इसमें *'मैं अरु मोर तोर तैं माया'* जो अविद्या है, उसीका पूरा वर्णन करते हुए संसारचक्र दिखाया गया है। अतः उसीके लिये जिसके वशमें होकर यह जीव **'मैं' 'मोर' 'तैं' 'तोर'** आदिमें पड़ा हुआ है—*'जा बस जीव परा भव कूपा'* 'सो' शब्दका इस दोहेमें व्यवहार किया गया। जब यह 'मैं' 'मोर' 'तैं' 'तोर' ही उसका स्वरूप है तब तो यह अज्ञानता, मिथ्या, मोहजन्य है ही। परंतु यह भी श्रीरामकृपाके बिना निवृत्त नहीं हो सकती, यह श्रीकाकभुशुण्डिजी प्रतिज्ञा करके कह रहे हैं; क्योंकि यह श्रीरामजीके ही अधीन है। इसका प्रमाण भी निम्नलिखित है—*'जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥ सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥'* अतः मोह, काम, चिन्ता, श्रीमद, लोभ, यौवन, ममता, मत्सर, एषणा आदिको ही जिन्हें ऊपर *'माया कर परिवारा'* बताया गया है, मिथ्या कहा गया है, क्योंकि ये सब मोहमूलक हैं। इनका आभास तभीतक मिलता है जबतक श्रीरामकृपासे यह जगत् राममय नहीं भासता, क्योंकि *'सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥'* का भाव उदय नहीं होता। अतएव यहाँ भी स्पष्टरूपमें मायावाद और श्रीरामजीकी कृपासे उसकी निवृत्ति सूचित की गयी है। (कल्याणसे उद्धृत)

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥ १॥
सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥ २॥
सोइ सच्चिदानंदघन रामा। अज बिज्ञान रूप बल धामा॥ ३॥

अर्थ—जिस मायाने सारे संसारको ही नचा रखा है, जिसका चरित्र किसीने न लख पाया॥ १॥ हे खगराज! वही माया प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके भ्रकुटी-(भौंह-) के इशारेपर अपने समाजसहित नटीकी तरह नाचती है॥ २॥ वही सच्चिदानन्दघन, अजन्मा, विज्ञानरूप और बलके धाम श्रीराम हैं॥ ३॥

नोट—१ मायाके परिवारको *'अमित प्रबल'* कहा—*'यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमिति को बरनै पारा॥'* मायाकटकको 'प्रचण्ड' बताया और उसके सेनापति और भट कहे—*'ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड।'* और यहाँ स्वयं मायाका प्राबल्य दिखाया—*'जो माया सब जगहि नचावा।'* ऐसी प्रबला माया भी रघुवीरकी दासी है—*'सो दासी रघुबीर कै।'* दासी कहकर उसीकी पुष्टता यहाँ करते

हुए रघुनाथजीका अतिशय अमित सामर्थ्य और प्रभाव दिखा रहे हैं कि ऐसी प्रबला मायाको प्रभुके इशारेपर नाचना पड़ता है तब उनका सामर्थ्य कैसे अनुमान किया जा सकता है। अतः *'प्रभु'* कहा। मिलान कीजिये—*'जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाषे॥ भृकुटि बिलास नचावै ताही। अस प्रभु छाँड़ि भजिय कहु काही॥'* (१। २००। ४-५) आगे प्रभुका स्वरूप कहते हैं। २—*'अज'* यथा **'अजायमानो बहुधा विजायता'** इति श्रुतिः। ये सब विशेषण पूर्व बहुत बार आ चुके हैं।

गौड़जी—१ *'सोइ सच्चिदानंद—'* इति। (क) वही सत्-चित् और आनन्द है। सत् अर्थात् सम्पूर्ण सत्तारूप, चित् अर्थात् सम्पूर्ण चेतनरूप, आनन्द अर्थात् सम्पूर्ण आनन्दरूप। परन्तु सत्ता, चेतना और आनन्द सम्पूर्ण रूपमें चतुष्पाद विभूतिमें प्रसरित हैं। इसलिये सम्पूर्ण परात्पर निर्गुण ब्रह्मका अथवा विराट्‌का चतुष्पाद विभूतिरूप है। यहाँ राम प्रभु सगुण ब्रह्म हैं। परंतु सम्पूर्ण सत्ता, सम्पूर्ण चेतना और सम्पूर्ण आनन्द किस प्रकार हुए? सच्चिदानन्द जो चतुष्पादमें प्रसरित है वह सूक्ष्मरूपमें है, इन तीनोंकी सम्पूर्णता सगुण ब्रह्म भगवान् रामचन्द्रमें घनीभूत है। जैसे वटवृक्षके अत्यन्त नन्हें बीजमें सारा वृक्ष मौजूद है, उसी तरह भगवान् रामचन्द्रके दिव्य विग्रहमें सच्चिदानन्दकी सम्पूर्ण सत्ता निहित है। परंतु ऐश्वर्य यह है कि सूक्ष्मरूपमें नहीं बल्कि घनीभूतरूपमें यह अवस्था कल्पनातीत है। कोई अधिकारी ही जानते हैं। यथा—*'चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥'* (२। १२७। ५) (ख) *'अज'* इति। भगवान् रामचन्द्रने कौसल्याजीके कोखसे जन्म लिया है, ऐसी बात सर्वसाधारणमें प्रसिद्ध है, किंतु वास्तवमें भगवान् कभी गर्भमें नहीं आये। *'जा दिन ते हरि गर्भहि आए'* में *'हरि'* का अर्थ है 'वायु'। श्रीरामजीका दिव्य विग्रह तो उनके सायुज्य मुक्त पार्षदरूपी कणोंसे बना हुआ है। यथा—*'सुर समूह बिनती करि पहुँचे निज निज धाम। जगनिवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक बिश्राम॥'* इसलिये यहाँ अज कहा। अर्थात् जिसका कभी जन्म नहीं हुआ।

रा० प्र०—*'अज'* का भाव जिसके जन्मादि दिव्य हैं और जिसके जन्मादिकथनमें वेद भी थके। प्राकृतवत् प्रादुर्भावरहित। (खर्रा)

गौड़जी—*'बिज्ञान रूप'* इति। यह ज्ञान या प्रतीति कि यह सत्तामात्र, चेतनामात्र और आनन्दमात्र सब कुछ ब्रह्म ही है—**'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।'** (छा० ३। १४। १) (यह सब निश्चय ब्रह्म ही है) विज्ञान है। इस प्रतीतिका रूप स्वयं विज्ञान भगवान् हैं। यथा—**'विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिविशन्तीति॥'** (तै० ३। ५) (अर्थात्) विज्ञान ब्रह्म है, ऐसा जाना। क्योंकि निश्चय विज्ञानसे ही ये सब जीव उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर विज्ञानसे ही जीवित रहते हैं और फिर मरणोन्मुख होकर विज्ञानमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं। इसीसे भगवान् विज्ञानरूप हैं। विज्ञानरूपसे केवल ब्रह्मतन्मयता सूचित होती है और यह फिर निर्गुणको ही प्रतिपन्न करने लगता है, अतएव कहा कि भगवान् 'बलधाम' भी हैं। अर्थात् सम्पूर्ण बल हैं और सम्पूर्ण तेज हैं, जिसके सहारे प्रत्येक क्षणमें उद्भव, स्थिति, संहार होता रहता है। बलका तेजके साथ होना आवश्यक है। तात्त्विक तेजहीन बल केवल तमोगुणकी सूचना देता है।

रा० प्र०—*'अज'* है पर यदि बुझाने हेतु कहा भी चाहे तो वह विज्ञानरूप है और गुणधाम है, गुणमात्र है। भाव कि *'निर्गुन नाम गुनै को भाई गुणनि में गुन न रहै। जैसे मृतपिंड धरो अंग भाग नहीं करो भीतर सब भाव भरो॥'*

खर्रा—विज्ञानरूप=यावत् अनुभव है, उस सबके मुख्य अधिष्ठानरूप।

ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघ सक्ति भगवंता॥ ४॥
अगुन अदभ्र* गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥ ५॥
निर्मम† निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख-संदोहा॥ ६॥
प्रकृतिपार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥ ७॥

---

* अदर्भ—(का०) † निर्मल-(का०, रा० गु० द्वि०)

शब्दार्थ—**व्याप्य**=जिसमें आप व्याप्त हैं वह विश्व। **अदभ्र—द्रभ्र**=अल्प, थोड़ा। **अदभ्र**=बृहत्, पूर्ण, सम्पूर्ण। =अटूट—(पाँ०) बहुत-'**अदभ्रं बहुलं बहु'—इत्यमरः**। **प्रकृति**=मूलप्रकृति, अव्याकृत, आद्याशक्ति, महामाया, मूलकारण। जगत् प्रकृतिका ही अनेक रूपोंमें प्रवर्तन है। **निरीह**=ईहारहित। **ईहा**=उद्योग, इच्छा।=घटना-बढ़ना इत्यादि देहकी चेष्टा। **बिरज**=निर्मल, विकाररहित। बे-ऐब, निर्दोष।

अर्थ—(वे ही) प्रभु व्यापक और व्याप्य, अखण्ड (पूर्ण, अविच्छिन्न), आदि-अन्तरहित, सम्पूर्ण, अमोघशक्ति (जिसकी शक्ति व्यर्थ वा निष्फल नहीं होती), षडैश्वर्य्यवान्, निर्गुण, अखिल ब्रह्माण्डादिसे भी बड़े, वाणी और इन्द्रियोंसे परे, सब देखनेवाले, निन्दा वा दोषसे रहित, अजित, ममतारहित, निराकार, मोहरहित, नित्य, मायारहित, सुखराशि, प्रकृतिसे परे, समर्थ, सबके हृदयमें रहनेवाले, ब्रह्म, चेष्टारहित, विरज और अविनाशी हैं॥ ४—७॥

☞ ये सब विशेषण पूर्व १। १३। ३-५, १। १९८-१९९, १। २०५ तथा अयोध्या और अन्य काण्डोंमें आ चुके हैं। पाठक वहीं देखें।

नोट—१ *'व्यापक व्याप्य'* इति। '**यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति।**' (बृ० ३। ७। ३) '**यस्य आत्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति।**' (श० प० ब्रा० १४। ६। ६। ५। ३०) (अर्थात्) पृथिवी जिसका शरीर है, जो पृथिवीका उसमें व्याप्त रहकर नियमन करता है। आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्माका उसमें व्याप्त रहकर नियमन करता है—इस प्रकार समस्त जड़-चेतन परम पुरुषके शरीररूपसे नियाम्य होनेसे उन्हें व्याप्य भी कहा गया। इसीसे श्रुति कहती है—'**सर्वं खल्विदं ब्रह्म।**' (छां० ३। १४। १)

भगवान् रामानुजाचार्यजी (गीता ९। ५ के भाष्यमें) कहते हैं कि भगवान्‌का भूतोंको धारण करना घटादि पात्रोंके जल आदि पदार्थोंको धारण करनेके समान नहीं है। केवल प्रभुके संकल्पसे ही उनका धारण हो रहा है। यह भगवान्‌का असाधारण आश्चर्यमय योग है।

भगवान् शङ्कराचार्यजी '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति**' की व्याख्या करते हुए कहते हैं—यह सब ब्रह्मरूप किस प्रकार है? ऐसा प्रश्न होनेपर श्रुति कहती है—'**तज्जलानिति**' तेज, अप् और अन्नादि क्रमसे सारा जगत् उस ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है, इसलिये यह 'तज्ज' है तथा उसी जननक्रमके विपरीत क्रमसे उस ब्रह्ममें ही लीन होता है अर्थात् तादात्म्यरूपसे उसमें मिल जाता है, इसलिये 'तज्ज' है और अपनी स्थितिके समय उसीमें अनन प्राणन यानी चेष्टा करता है इसलिये 'तदन' है। इस प्रकार ब्रह्मात्मरूपसे वह तीनों कालोंमें समान रहता है, क्योंकि उसका उस-(ब्रह्म-) के बिना ग्रहण नहीं किया जाता। अतः वह (ब्रह्म) ही यह सारा जगत् है।

रा० प्र०—*'व्यापक व्याप्य अखंड'* का भाव कि एक ही है और अनेक भी भासता है फिर भी 'अखण्ड' है।—ये सब विरुद्ध गुण एक साथ उनमें हैं; वे ऐसे समर्थ हैं।

खर्रा—भाव कि यावत् देशकालपात्र व्याप्य है उस सबमें समष्टि-व्यष्टिरूपसे परिपूर्ण और सकल पदार्थोंमें सूक्ष्मांश करके व्याप्य है। अखण्ड-देशकालपात्र विशेष खण्डित नहीं।

नोट—'अखण्ड' में '**ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥**' का भाव भी आ जाता है। अखण्ड, यथा—*'उमा एक अखंड रघुराई। नर गति भगत कृपाल देखाई॥'* (६। ६०। १८)

गौड़जी—१ (क) प्रभु व्यापक हैं अर्थात् सत्तामात्रमें व्याप रहे हैं। परंतु फिर सत्ता कैसे हुए, व्यापक और व्याप्य जबतक एक न होगा, सम्पूर्ण सत्ताका ब्रह्मसे एकत्व प्रतिपादन नहीं हो सकता, इसीलिये भगवान् व्याप्य भी हैं।—'**व्याप्यव्यापकभेदेन भवानेव जगन्मयः।**'

जो वस्तु किसीमें व्याप सकती है और पूर्णतया नहीं व्यापती तो व्याप्यपदार्थके व्यवधानसे उसकी व्यापकता खण्डित हो जाती है। व्याप्य भी यदि व्यापकसे अलग है तो व्यापक उसकी व्याप्यताको खण्डित कर देता है। उसकी अखण्डिता व्यापक और व्याप्यकी एकतासे ही सम्भव है। इसीलिये भगवान् रामचन्द्रको अखण्ड कहा। (ख) व्यापक, व्याप्य और अखण्ड होनेसे जितनी कुछ सत्ता है सब एक और समरूप

हुई। ऐसी दशामें भी यह सम्भव है कि यह सत्ता कहीं जाकर खतम हो जाती हो, अर्थात् सान्त हो। इसीलिये कहते हैं कि भगवान्‌की सत्ता अनंत है। परंतु वह किस तरहका अनंत है? क्या रेखाकी तरह अनंत है? रेखा तो तलमें जाकर 'सान्त' हो जाती है अर्थात् अनंत रेखाएँ मिलकर तल बनाती हैं और अनंत तलोंका समूह घन बनाता है और अनंत घनोंसे विश्वमें पिण्डोंका मान होता है। देशके लिये यही तीन दैर्घ्य, बेध और प्रस्थ—यही दिशाएँ मान समझी जाती हैं। देश अनंत है तो क्या भगवान्‌की अनंतता देशकी तरह है? नहीं, देश भी अन्ततोगत्वा सान्त है और काल जो अनंत कहलाता है वह चतुर्दिक् है। वह भी अन्ततः सान्त हो जाता है। इन सब अनंतोंको अनन्तता प्रदान करनेवाली वह ब्रह्मसत्ता फिर किस तरहकी अनन्तता रखती है? उसी अनन्तताका पता देनेके लिये आगे *'अखिल'* शब्दका प्रयोग किया है। (ग) अखिल=जिसका खिल या अवशिष्ट कुछ भी न हो। रेखाकी अनन्तता लेनेपर तलकी अनन्तता अवशिष्ट रहती है, देशकी अनन्तता लेनेपर कालकी अनन्तता अवशिष्ट रह जाती है, इसीलिये अखिल अनन्त कहा। अर्थात् सब प्रकारसे, सब ओरसे, सब तरहसे अनन्त हैं। [अखिल=खिल अर्थात् न्यूनतारहित। (खर्रा) पुनः, *'अखिल'* का भाव कि कोई सामर्थ्य नहीं जो उनमें न हो। (पं० रा० व० श०)] (घ) *'अमोघ सक्ति'* इति। परंतु अनन्तमें शक्तिकी जो अनन्तता आती है तो उसे सब ओर बराबर होना चाहिये क्योंकि वह अनन्तता है और अनन्तता स्वयं जड़ है, उसमें शक्तिको धारण करनेका सामर्थ्य कहाँ है, इसीलिये कहते हैं कि प्रभु अमोघशक्तिसम्पन्न षडैश्वर्य्यवान् हैं। शक्ति अमोघ है अर्थात् अचूक है, अव्यर्थ है। यों तो अमोघ भगवान्‌का एक नाम ही है—'**अमोघः पुण्डरीकाक्षः**'—(विष्णुसहस्रनाम) परंतु यहाँ वह शक्तिका विशेषण है। अर्थात् भगवान्‌की शक्ति सदा प्रयोजनसे प्रयुक्त होती रहती है क्योंकि वह षडैश्वर्य्यवान् है।

२—*'अगुन अदभ्र—'* इति। प्रकृतिके लिये भी अखण्ड, अनन्त, अखिल, अमोघशक्ति, भगवती आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं, परंतु प्रकृति त्रिगुणात्मिका है और भगवान् अगुण हैं अर्थात् '**सत्त्व रजस् तमस्**' रहित हैं। गुणहीनतासे कमी आ गयी। इस कमीकी कल्पनाका भी निराकरण करते हैं। कहते हैं कि प्रभु '**अदभ्र**' हैं अर्थात् अगुण होनेपर भी उनमें कोई कमी नहीं आयी बल्कि तीनों गुणोंके न होनेसे प्रभुकी सत्ता अत्यन्त बढ़ी हुई है। [पुनः, अदभ्र=थोड़ा नहीं किन्तु बहुत। श्रुति कहती है कि ब्रह्म आकाशसे, पृथिवीसे तथा सब लोकोंसे बड़ा है। यथा '**ज्यायान् आकाशात् ज्यायान् पृथिव्या ज्यायान् एभ्यः सर्वेभ्यो लोकेभ्यः।**' यह सूचित करनेके लिये *'अदभ्र'* कहा। (पं० रा० व० श०) पुनः, अदभ्र=कर्मातीत। (रा० प्र०)] वह गुणोंसे परे हैं और उनकी सत्ता इतनी बढ़ी हुई है कि वाणी और इन्द्रियोंकी वहाँतक गति नहीं है। जब सत्ता इतनी बढ़ गयी तब ऐसा भी सम्भव है कि समस्त सृष्टिको तुच्छ दृष्टिसे देखते हों अथवा अपनी सत्तासे मुकाबिला करके किसीको बड़ा, किसीको छोटा समझते हों। ऐसा भी नहीं है। वह *'सबदरसी'* अर्थात् समदर्शी हैं। सबको यथार्थरूपसे देखते हैं और सबपर समान भाव रखते हैं। और अगुण होनेके कारण कोई इसे दोष भी नहीं कहता। इसीलिये अनवद्य अर्थात् निर्दोष कहा और अगुण होनेसे कोई गुणसहित देवता प्रभुसे प्रबल हो जाय ऐसा भी सम्भव नहीं क्योंकि प्रभु *'अजीता'* हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रभुसे औरोंसे लड़ाई होती रहती है और प्रभु उसमें प्रबल सिद्ध होते रहते हैं। प्रभुसे किसीसे लड़ाई क्यों हो क्योंकि *'प्रभु सेवकहि समर कस।'* [अजीता अर्थात् जिसकी एक-एक शक्ति कालादिमें अजेय है, कोई उसके समान या उससे अधिक नहीं। रा० प्र०] फिर—

३—*'निर्मम निराकार—'* इति। प्रभु तो *'निर्मम'* हैं अर्थात् बाह्य जगत्‌से प्रभुका कोई सम्बन्ध नहीं है। और जो यह कहा जाय कि *'जेहि जन पर ममता अति छोहू'* प्रभुको अपने जनपर तो बड़ी ममता है, *'निर्मम'* कैसे हैं? तो इस प्रसङ्गमें समझना चाहिये कि यहाँ *'अगुन'* से लेकर *'अबिनासी'* तक भगवान् रामचन्द्रका निर्गुण रूप वर्णित है। इसीलिये *'निर्मम'* के आगे *'निराकार'* कहा। अर्थात् इनका कोई आकार नहीं है, निराकारका एक अर्थ 'गुप्त' भी है। अर्थात् बिना आकारका सर्वव्यापक होते हुए भी गुप्त है। [पुनः निराकार=मायिक आकारोंसे रहित। (पं० रा० व० श०)।=इत्थंभूत आकारसे

रहित (खर्रा)] वह निर्मोह है अर्थात् मोहमायासे रहित है। वह नित्य है अर्थात् सचेत, शाश्वत, निरन्तर, सत् और अनाद्यन्त है।] पुनः, अभाव दो प्रकारका होता है—एक 'प्रागभाव' दूसरा 'प्रध्वंसाभाव'। जो इन दोनोंका प्रतियोगी हो वह अनित्य है। अर्थात् जिसके विषयमें यह कह सकें कि पहले इसका अभाव था या यह कि पहले इस जगह कुछ था वह अब यहाँ नहीं है, वह अनित्य है। और जिसको ऐसा न कह सकें कि ऐसा न था या अब नहीं है वह *'नित्य'* है। (पं० रा० व० श०)] वह निरञ्जन है अर्थात् वह शुद्ध और निर्लेप है, असत्य और बनावट उसे छू भी नहीं गयी है। [पुनः, 'निरञ्जन=अञ्जन अर्थात् मायारहित। अर्थात् माया जिसके रूपको बदल नहीं सकती, जिसका रूप सदा एकरस है। (पं० रा० व० श०)।= योगीध्येय ज्योतिस्वरूप। (रा० प्र०)] इन सबके होते हुए भी वह सुखका संदोह है, आनन्दका सिंधु है। यथा ***'जो आनंद सिंधु सुखरासी। सीकर ते त्रैलोक सुपासी॥'*** (१। १९७। ५) **'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्'** (तै०। ३। ६। १)

४ ***'प्रकृतिपार—'*** इति। प्रभु प्रकृतिसे परे हैं, परंतु तो भी प्रकृतियोंके प्रभु हैं—**'यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥'** और प्रभु सर्व उरवासी भी हैं—**'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।'** उरपुरवासी होते हुए भी 'निरीह ब्रह्म' हैं अर्थात् किसी कर्मका कर्तृत्व अपने ऊपर नहीं लेते। शुद्ध ज्ञानरूप हैं, साक्षिरूप हैं, इच्छा और क्रियासे कोई सम्बन्ध नहीं है। विरज अर्थात् शुद्ध निर्दोष और निर्लेप हैं और अविनाशी हैं।

रा० प्र०—***'ब्रह्म'*** अर्थात् उसे स्त्री-पुरुषरूपादि नहीं मान सकते। ***'प्रभु'*** अर्थात् जो चाहे करे या न करे और जिस रीतिसे चाहे करे ***'मालिक तावे नहीं किसीके'*** ***'त्रिन ते कुलिस कुलिस त्रिन करई।'*** ***'सब उर बासी'*** अर्थात् व्यापक कूटस्थ साक्षी।

नोट—२ (क) प्रकृतिपार होनेपर भी ***'सब उर बासी'*** हैं, अतः 'प्रभु' कहा। (पं० रा० व० श०) ब्रह्म अर्थात् उसे स्त्री-पुरुषरूपादि नहीं मान सकते। (रा० प्र०) वृद्धतम (सबसे बड़ा) होनेके कारण वह (जगत्का कारण) ब्रह्म कहलाता है—**'बृद्धतमत्वाद् ब्रह्म।'** (शाङ्करभाष्य छा० ३। १४। १) (ख) अविनाशी और नित्यमें भेद है। बहुतसे नित्य पदार्थ भी प्रलयमें नाशको प्राप्त हो जाते हैं। इसीसे फिर प्रकृतिपार आदि कहकर ***'अबिनासी'*** विशेषण देकर जनाया कि इनका नाश कभी नहीं होता। (पं० रा० व० श०) पुनः, नित्य अर्थात् अमृत। ***'अबिनासी'*** अर्थात् जिसमें सबका प्रलय हो रहता है—***'उत्पति पालन परलय हू करके जो नित रहत अकेला है।'***, ***'सकल दृश्य निज उदर मेलि सोवै निद्रा तजि जोगी।'*** (रा० प्र०)

इहाँ मोह कर कारन नाहीं । रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं॥८॥

दो०—भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप॥
जथा अनेक बेष धरि नृत्य करै नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥७२॥

शब्दार्थ—**कारन**=जिसका किसी वस्तु वा क्रियाके पूर्व सम्बद्धरूपसे होना आवश्यक हो; जिससे दूसरे पदार्थकी सम्प्राप्ति हो; मूल।

अर्थ—यहाँ मोहका (कोई) कारण नहीं है। क्या अन्धकार कभी सूर्यके सामने जा सकता है?* अर्थात् कभी नहीं जा सकता॥ ८॥ भगवान् प्रभु रामचन्द्रजीने भक्तोंके लिये नृपशरीर धारण किया और साधारण मनुष्योंके सदृश (अनेक परन्तु) परम पावन चरित किये। जैसे कोई नट अनेक वेष धारणकर नाच करता है और वही-वही (अर्थात् भिक्षुक, राजा, स्त्री, पशु इत्यादि जिसका रूप उसने धारण किया

* अर्थान्तरन्यास।

है, जो स्वाँग वा वेष रचा है उसके अनुकूल) भाव दिखाता है परंतु स्वयं वही नहीं हो जाता।* (इसी प्रकार भगवान्‌ने प्राकृत राजाका रूप धारणकर प्राकृत नरके अनुसार चरित भी किये, पर इन चरितोंके करनेसे एवं प्राकृत नरवेष ग्रहण करनेसे वे 'प्राकृत नर' नहीं हो जा सकते)॥ ७२॥

नोट—१ (क) *'इहाँ मोह——'* इति। इसी प्रकार शिवजीके वचन पार्वतीप्रति हैं—*'जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा॥ राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥'* (११६। ४-५) देखिये।

(ख)—*'इहाँ मोह कर कारन——'* इति। मोहका कारण अविद्या माया है। उपर्युक्त तैंतीस विशेषणवाले श्रीरामजीमें मोहका कारण नहीं है, अविद्याको यहाँ स्थान नहीं है। *'रबि सनमुख तम——'* कहकर जनाया कि श्रीरामजी सूर्यरूप हैं और मोह तम (अन्धकार) है। जिसके उदयके पूर्व ही अन्धकार दूर हो जाता है, उस सूर्यके सामने अन्धकार कब आ सकता है। इसी तरह *'राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥'* जिसको सूर्यके सामने अन्धकार दिखायी पड़े उसके चर्मचक्षुओंमें ही दोषकी सम्भावना है। उसे मानना चाहिये कि आँखोंके सामने अन्धकार है, सूर्यके सामने अन्धकार नहीं है। इसी तरह यदि श्रीरामजीमें मोहकी प्रतीति हो तो समझना चाहिये कि अपनी बुद्धिमें मालिन्य है।

पं० रा० व० श० जी लिखते हैं कि इसी तरह जिसके हृदयमें परब्रह्मका आविर्भाव होनेवाला होता है उसके हृदयसे अविद्यादि पहले ही नष्ट हो जाते हैं, तब भला स्वयं परब्रह्मको कब मोह हो सकता है?

गौड़जी—भक्तोंके हेतु भगवान् प्रभु रामने राजाका शरीर धारण किया। *'भगत हेतु'* से तात्पर्य यह है कि जय-विजयके लिये, नारदके लिये, मनु-शतरूपाके लिये, प्रतापभानुके लिये, दशरथ, कौसल्या, वसिष्ठ आदिके लिये, अवधपुर और जनकपुरवासियोंके लिये, जनकमहाराजके लिये, निषाद और केवटके लिये, रास्तेके ग्रामों और वनके वासियोंके लिये, अत्रि-सुतीक्ष्ण-अगस्त्यादि ऋषियोंके लिये, गृध्र, शबरी, असंख्य वानर-भालु और अगणित राक्षसोंके लिये—जिन सबोंको किसी-न-किसी समय कृतार्थ करनेकी प्रतिज्ञा की थी, उन सब भक्तोंके लिये भगवान्‌ने राजाका शरीर धारण करके साधारण मनुष्यकी तरहके परम पवित्र चरित्र किये।

---

* १—उदाहरण अलङ्कार। २—(क) नंगे परमहंसजी—'जो जो भाव देखावै आपु न होइ न सोइ'='और जो जो भाव दिखाता है सो भाव न होइ और न आपु होइ'। न तो वह नट वेष ही है और न वह भाव ही है। अर्थात् वेष भी नट नहीं है और भाव भी नट नहीं है। वेष और भाव दोनोंसे नट न्यारा है। उसी तरह श्रीरामजी भूपतन नहीं हैं और जो-जो लीलाचरित करते हैं सो-सो लीलाचरित उनमें नहीं हैं। लीला मात्र देखनेमें है जैसे नटकी लीला नटमें नहीं है देखनेमात्र है'।

(ख) पां०—नाचना और भाव दिखाना नटका है, जिसका वह भाव दिखाता है उसका नहीं है।

(ग) वै०—जैसे नट वेश्या, ढाढ़ी, धोबी, कहारादि अनेक वेष धर-धरकर नृत्य करता है। जब जो वेष धारण करता है तब उसी वेषके अनुकूल भाव दिखाता है। जैसे कि जब धोबी या धोबिन बनकर आता है तब एकको गर्दभ बनाकर उसपर बस्त्र लाद लेता है, एक चादर बिछाकर नदी बना लेता है, एकको पीठ ऊपरकर पौढ़ाकर पाटा बना लेता है और उसपर कपड़ा पटक-पटककर धोता है, धोतेमें धोबियोंके-से गीत गाता है—इत्यादि, सब वेष सच्चा; सब भाव सच्चा, परन्तु आपु जो वह नट है सो न तो धोबी हो जाता है और वह जो वेष है वह भी धोबी नहीं है, केवल प्रयोजनमात्र सब व्यापार है। इसी प्रकार श्रीरामजी राजकुमार-वेष धरकर मनुष्यभाव दिखाते हैं। वह वेष सत्य है, वह लीला सत्य है, परंतु न वह वेष मनुष्य है और न रघुनाथजी मनुष्य हो गये।

नोट—वै० और श्रीनंगे परमहंसजीके अर्थोंसे ऐसा जान पड़ता है कि वे 'आपुन होइ न सो' को 'आपु न होइ न सो' इस तरह अन्वय लेकर अर्थ करते हैं। इसीसे 'आपु न होइ' और 'सो (भाव) न होइ' ऐसा अर्थ करते हैं। पर 'आपुन' एक शब्द है। यह देशबोली है, 'आप' की जगह आपुन वहाँ बोला जाता है। इसका प्रयोग ग्रन्थमें और भी आया है, यथा—'तिन्हहिं ग्यान उपदेसा रावन। आपुन मंद कथा सुभ पावन।' (लं० ७७। १) 'आपुन उठि धावै रहै न पावै धरि सब घालै खीसा।' (१। १८३। छंद) 'आपुनु चलेउ गदा कर लीन्ही।' (१। १८२। ४) इत्यादि।

नोट—२ *'भगवान प्रभु राम धरेउ'* और *'प्राकृत नर अनुरूप'* पदोंसे जनाया कि परात्पर ब्रह्म राम जिनको श्रुति-पुराण पंचरात्रादिमें 'नर' (अर्थात् द्विभुज) कहा है, उन्होंने अब 'प्राकृत-नर-रूप' धारण किया है। *'प्राकृत नर'* का भाव यही है कि उनका परात्पररूप अप्राकृत नर-रूप है। यथा—'**द्विभुजः कुण्डली रत्नमाली धनुर्धरः।**', '**द्विभुजश्चापभृच्चैव।**', '**द्विभुजमेकवक्त्रं च रूपमाद्यमिदं हरेः।**'(नारदपञ्चरात्र) और भी प्रमाण पूर्व आ चुके हैं।

'परम पावन' से अपावन, पावन और परमपावन तीनका होना पाया जाता है। अपावन वह जो स्वयं अपवित्र है, पावन जो स्वयं पवित्र है और परमपावन जो स्वयं पवित्र है और दूसरोंको पवित्र करता है। पुनः, अधर्ममय चरित अपावन, धर्ममय चरित पावन और भगवत्‌के चरित परमपावन हैं। पुनः, प्राकृत नरचरित अपावन भी होते हैं। प्रभुके प्राकृत-नर-चरित्र परमपावन हैं, हैं तो प्राकृत नरके-से चरित पर दूषित नहीं हैं।

जैसे शिवजीने प्रभुका ऐश्वर्यस्वरूप वर्णनकर फिर यह दिखाया कि ये सगुणस्वरूप रामचन्द्रजी वही हैं, वैसे ही भुशुण्डिजीने यहाँ ऐश्वर्य कहकर समझाया कि जिनके ये विशेषण हैं वे यही राम हैं, जो भक्तहित नरचरित कर रहे हैं। *'जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई।'* (१। ११८। ३) से *'जेहि इमि गावहि बेद बुध——'।* (११८) तक देखिये।

३—*'भगत हेतु——धरेउ तनु भूप'* इति। *'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥ ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥ सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल——'* (१। १३। ३—५) और (१। २०५) सुं०, इत्यादिमें अनेक ठौरपर यही बात कही है और यहाँ दिये हुए विशेषण भी बहुत बार आ चुके हैं, वहाँ उनके विशेष भाव पाठक देख लें।

१ २ ३ ४ ५ ६

'ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्याके गोद॥' (१। १९८)

७ ८ ९ १०

'सुखसंदोह मोहपर ग्यान-गिरा गो तीत। दंपति परम प्रेम बस कर सिसु चरित पुनीत॥' (१। १९९)

११ १२ १३ १४

'ब्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप। भगत हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप॥' (१। २०५)

नोट—४ *'जथा अनेक बेष——'* इति। नागपाश-प्रसङ्गमें पार्वतीजीको शिवजीने इस प्रकार यही दृष्टान्त देकर समझाया है, यथा—*'नट इव कपट चरित कर नाना। सदा स्वतंत्र एक भगवाना॥ रनसोभा लगि प्रभुहि बँधायो।'* (लं० ७२। १२-१३) जो भाव वहाँ कहे गये हैं वही यहाँ भी हैं। लं० ७२ (११) से ७३ तक देखिये।

भा० १। १५ में ऐसे ही वाक्य श्रीसूतजीके हैं—जैसे नट वेष धरकर अभिनय करता है और फिर उनको त्याग देता है, वैसे ही भगवान् अनेक कार्योंके लिये मत्स्यादिरूप धारण करते हैं और त्यागते हैं। यथा—'**यथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद्यथा नटः। भूभारः क्षपितो येन जहौ तच्च कलेवरम्॥**'(३५)

गौड़जी—*'जथा अनेक बेष धरि——'* इति। श्रीरामजीका विग्रह दिव्य है, नित्य है और अप्राकृत है, परंतु राजाका रूप और राजाका चरित अनित्य है और राजाके अनुरूप जो चरित किये गये हैं वे परमपवित्र हैं और साधारण मनुष्यके अनुरूप हैं। जैसे कोई नट अनेक वेष धरकर अभिनय करे और उन्हीं वेषोंके अनुरूप तरह-तरहके भाव दिखावे तो भी वह उसी वेषका धरनेवाला प्राणी नहीं हो जाता, ठीक इसी तरह भगवान् रामचन्द्रजीने भूपरूपसे अनेक भाव दिखाये और भाँति-भाँतिके अभिनय किये; परंतु इससे वह प्राकृत राजा नहीं हो गये। यथा—*'नरतन धरेहु संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥'* (२। १२७। ६) *'आपुन होइ न सोइ'* अर्थात् भगवान् प्राकृत राजाकी तरह आचरण करते हुए भी प्राकृत राजा हो नहीं जाते।

पं० रा० व० श०—*'जथा अनेक बेष——'* इति। भाव कि नरनाट्य—स्त्रीके लिये विलाप इत्यादि—भक्तोंके

लिये करते हैं कि *'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं।'* जैसे (राजा, साधु, व्यापारी आदि कोई भी वेषधारी) नट न राजा हो न साधु न व्यापारी इत्यादि, वह तो ज्यों-का-त्यों नट बना है; वैसे ही वह सच्चिदानन्द निरञ्जन इत्यादि ब्रह्म जैसा-का-तैसा सच्चिदानन्द निरञ्जन इत्यादि बना ही है, नरवेष धारणकर नरनाट्य करनेसे वह प्राकृत नर नहीं हो जाता।

रा० प्र०—अनेक वेष धरकर नृत्य करता और वही-वही भाव दिखाता है पर सो आप नहीं हो जाता वैसे ही 'घट-घटमें जिनकी जैसी भावना है वैसा ही नरनाट्य दिखाते हैं' भाव-भेदसे उपासक, ज्ञानी आदि उस अपार सागरमेंसे अपनी-अपनी बुद्धि-विद्या-पात्रतानुसार भर लेते हैं।—*'जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी॥'* (१। २४१) आप तो जैसे हैं वैसे ही सदा रहते 'परम द्विभुज परमात्मा परात्परनिराकारादिमें भी' पर भक्तोंको उनकी भावानुसार 'जैसी छाया पड़ी पुरुष-नारि, नृसिंहादि अद्भुतरूप बनाकर' भाव दिखाते हैं। पर आप सो नहीं हो जाते, आप तो ज्यों-के-त्यों बने रहते हैं।

खर्रा—'अनेक वेष धरकर कोई नट नृत्य करता है और तदनुरोध उसी-उसी भावको दिखाता है और आप सोई नहीं होता। जैसा-का-तैसा वह उस दुःख-सुखसे भिन्न रहता है। दूसरेको ही अपने अज्ञानसे उसी नटमें दुःख-सुख भासता है। पर नटके जनको नहीं भासता, ऐसा ही लीलामें यथासम्भव जानना चाहिये, यही बात आगे कहते हैं—*'असि रघुपति……।'*

असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥ १॥
जे मति मलिन बिषयबस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी॥ २॥
नयन दोष जा कहँ जब होई। पीत बरन ससि कहुँ कह सोई॥ ३॥

शब्दार्थ—'उरग'=पेटके बल चलनेवाले जन्तु; सर्प। 'धरना'=स्थापित करना; ठहराना, आरोपित करना। इमि=इस प्रकार। यथा—*'इमि कुपंथ पग देत खगेसा।'* (३। २८। १०) 'नयन दोष'=काँवरू, कमलरोग, पीलियारोग।

अर्थ—हे उरगारी! ऐसा ही श्रीरघुनाथजीका नरनाट्य है जो राक्षसों-(आसुरी सम्पत्तिवालों-) को विशेष मोहित करनेवाला और भक्तोंको सुख देनेवाला है॥ १॥ हे स्वामिन्! जो मलिनबुद्धि, विषयवश और कामी लोग हैं वे ही प्रभुपर इस प्रकार मोहका आरोपण करते हैं॥ २॥ जब जिसको नेत्र-दोष होता है तब वह चन्द्रमाको पीले रंगका कहता है॥ ३॥

पं० रा० व० श०—*'असि रघुपति लीला।'* भाव यह कि जिसको इस प्रकार उपनिषद् गाते हैं उसमें कोई तबदीली वा विरुद्ध स्थानापत्ति आदि नहीं हुई। आसुरी बुद्धिवाले व्यामोहित होकर कहते हैं कि ईश्वर ये नहीं हो सकते और भक्त कहते हैं कि देखो तो प्रभु अपनेको कैसे छिपाये हुए हैं, स्वतन्त्र होकर भी अपनेको नागपाशमें बँधाया है।

नोट—१ *'असि'* अर्थात् नटवत्, जैसा ऊपर कह आये। २—*'दनुज बिमोहनि—'* इति। *'जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे।'* (अ० १२७। ७) आ० मं० सोरठा *'उमा रामगुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति—।'* और *'गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुर हित दनुज बिमोहन सीला॥'* (१। ११३। ८) में देखिये। दनुजसे केवल राक्षस नहीं, दनुसंतति ही नहीं, वरन् आसुरी-सम्पत्तिवाले सभी लोग और 'जन' से दैवीसम्पत्तिवाले भक्तिशील अभिप्रेत हैं। एक ही वस्तुसे भिन्न-भिन्न विपरीत कार्य होना 'व्याघात अलङ्कार' है।

३—यहाँ पाँच दृष्टान्त दिये गये हैं। ब्रह्ममें जगत्का अध्यास अथवा नटमें अभिनीत भावका अध्यास अथवा रामप्रभुमें प्राकृत नरका अध्यास यही एक बात यहाँ अनेक उदाहरणोंसे दिखलायी गयी है। यह एक प्रकारका अलङ्कार है। अ० रा० इसी बातको दो दृष्टान्त देकर समझाता है, दो दृष्टान्त देकर 'आदि' पद दिया है दोहा ७३ (६) देखिये। यहाँ गोस्वामीजीने पाँच उदाहरण दिये हैं जिसमें पाठक खूब समझ सकें। पुनः कह सकते हैं कि 'नयन-दोष' से चार दृष्टान्त चार भावके हैं—पहले दृष्टान्तसे रूपविपर्यय, दूसरेसे विरुद्ध स्थानापत्ति, तीसरे और चौथेसे 'अन्यस्मिन् अन्यधर्माध्यास' दिखाया। (पं० रा० व० श०)

४—बा० ११५ (४) में शिवजीने पार्वतीजीसे *'मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥'* ऐसा कहा है और भुशुण्डिजी यहाँ लगभग उसी बातको *'नयन दोष जा कहँ जब होई। पीत—'* ऐसा कह रहे हैं। दोनोंमें दो बातें हैं। वहाँ *'नयनबिहीन'* कहा। तब कहा कि उनको रामरूप दिखाता ही नहीं; क्योंकि अंधे हैं और यहाँ नेत्रका होना निश्चित करते हैं। पर उन नेत्रोंमें रोग है, यह कहते हैं। इसीसे कहते हैं कि रूप देखते तो हैं पर उन्हें रोगके कारण कुछ-का-कुछ दिखायी देता है। पुनः यह भी कह सकते हैं कि वहाँ रूपका देखना असम्भव कहा और यहाँ उनको जानना असम्भव कहते हैं—*'ते किमि जानहिं रघुपतिहि मोह परे तम कूप।'* पर देखना और जानना भगवान्‌के सम्बन्धमें वस्तुतः एक ही हैं।

ज्ञान और वैराग्यको नेत्र कहा है—*'ज्ञान बिराग नयन उरगारी।'* प्राकृत शरीरके नेत्रमें काँवर रोग वैसे ही हृदयके नेत्रोंमें बुद्धिकी मलिनता (मोह) विषयवशता आदि दोष, यथा—*'जे मति मंद बिषय बस कामी।'* पीलियारोग होनेसे निर्मल स्वच्छ वस्तु पीतवर्ण दीखती है। वैसे ही हृदयके नेत्रोंमें मोह और विषय-रोग होनेसे उनको निर्मल निर्विकार रामजीमें 'मलिनता' (मोह) और 'काम' देख पड़ता है। चन्द्रमा प्रकाशमय उज्ज्वल है, पीत नहीं है, वैसे ही रामजी निर्मल, मोहप्रकृतिपार, सच्चिदानन्दघन, अखण्डज्ञान हैं, इनमें मोहादि विकार नहीं हैं। जिसको रोग है उसे उनमें रोग देख पड़ता है।—यहाँ रूप-अध्यास कहा।

रा० प्र०—१ *'रघुपति'* का भाव कि ये रघु अर्थात् जीवमात्रके स्वामी हैं, नियन्ता हैं, सारी सृष्टि इन्हींसे फैलती और फिर मकड़ीके सूतकी नाईं इन्हींमें गुप्त हो जाती है।

जब जेहि दिसिभ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उएउ दिनेसा॥ ४॥
नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोहबस आपुहि लेखा॥ ५॥
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परसपर मिथ्याबादी॥ ६॥

अर्थ—हे पक्षिराज! जब जिसे दिशाका भ्रम होता है तब वह कहता है कि सूर्य पश्चिममें उदय हुआ है॥ ४॥ नावपर चढ़ा हुआ जगको चलता हुआ देखता है और मोहवश अपनेको अचल (स्थिर न चलनेवाला) समझता है॥ ५॥ बालक घूमते हैं (कुछ) घर आदि नहीं घूमते पर वे आपसमें एक-दूसरेसे झूठ वाद कहते हैं (कि घर आदि घूम रहे हैं)*॥ ६॥

नोट—अ० रा० उ० ५ श्रीरामगीतामें लक्ष्मणप्रति रामजीका यह उपदेश है कि जगत्‌को भ्रममात्र अर्थात् असत्य इस तरह जानकर मुनि भ्रममें नहीं पड़ते कि जैसे चन्द्रमा एक है पर किसी कारणसे उसमें दोका भ्रम होता है। दिशाका भ्रम—

इत्थं यदीक्षेत हि लोकसंस्थितो जगन्मृषैवेति विभावयन्मुनिः।
निराकृतत्वाच्छ्रुतियुक्तिमानतो यथेन्दुभेदो दिशि दिग्भ्रमादयः॥ ५७॥

अर्थात् ब्रह्मदृष्टिवाला जगत्‌को देखता ही नहीं, यदि लोकसंस्थित होकर उसे देखता है तो इस तरह विचार करते हुए देखता है कि श्रुति, युक्ति और प्रमाणसे जगत् निराकृत (निषेध) किंतु जैसे दिग्भ्रमादिक हैं वैसे ही इसकी प्रतीतिको वह मिथ्या समझता है।

श्रीनंगे परमहंसजी—(इन चौपाइयोंका भाव है कि) 'जैसे भ्रमवश पश्चिममें पूर्वदिशाका निश्चय हो जाता है वैसे ही ब्रह्म श्रीरघुनाथजीको अज्ञानवश राजपुत्र निश्चय कर लेना यह दिशा-भ्रमकी तरह है। आप संसाररूप समुद्रमें अज्ञानरूप नौकापर चढ़ा चला जा रहा है अर्थात् आयु व्यतीत हो रही है परंतु अज्ञानवश चलरूप अपनेको अमर मान रहा है और अचल श्रीरघुनाथजी परब्रह्म, उनको भ्रमवश चल मान रहा है। *'बालक भ्रमहिं……'* यहाँ अति अज्ञानी जीव बालक हैं, घूमना सुखका उपाय करना है, मकानरूप श्रीरामजी अचल हैं। जैसे बालक घूमनेसे दुःखी होते हैं और मकानको झूठे घूमना कहते हैं तैसे ही

* १ वि० टी० अर्थ करती है कि-'इसी प्रकार झूठ बकवाद करनेवाले आपसमें कहते हैं कि रामचन्द्र मनुष्य हैं, परमात्मा हैं परंतु यथार्थमें मनुष्य तो कहनेवाले ही हैं। श्रीरामचन्द्रजी तो परमात्मा हैं, केवल मनुष्यलीला करते हैं।'

आप अति अज्ञानवश विषयसुखके लिये दुःखी होते हैं और मकानरूप अचल श्रीरघुनाथजी सुखस्वरूपको झूठे (घूमतेरूप) दुःखी बताते हैं कि वनमें दुःखी हो रहे हैं।'

रा० प्र०—रोगादिसे पहले इन्द्रियोंकी भ्रान्ति कही—'**नयन दोष**......' अब बुद्धिकी भ्रान्ति कहते हैं। ज्ञान बुद्धिका प्रकाशक है, बुद्धि और रीति (क) हो जानेसे उसमें अज्ञान आ जाता है। तीसरे दृष्टान्त '***बालक भ्रमहिं***......' में बताते हैं कि मस्तिष्क हृदय आदि बुद्धि ज्ञानके स्थान विकृत होनेसे नयनादि इन्द्रियाँ उनको और रीति ग्रहण करती हैं, इसीसे भ्रममें पड़ते हैं। २—ऊपर 'चन्द्र' और यहाँ 'रवि' में भ्रम कहकर दिन-रात भ्रममें पड़े हुए जनाया। ३—नभ (रवि, चन्द्र), जल (नौकारूढ़) और थल (दिशि), वा पावक (तेज), आकाश, पृथ्वी, जल और पवन (भ्रमना) पाँचों तत्त्वोंके दृष्टान्त दिये। ४—कोई कहते हैं कि चार प्रकारसे समझानेका भाव यह है कि यह चारों वेदोंका सिद्धान्त है।

पं० रा० कु० जी खर्रेमें लिखते हैं कि यहाँ प्रथम दृष्टान्तमें नयनदोष, दूसरेमें बुद्धिदोष, तीसरेमें साहचर्यदोष और चौथेमें व्यापारदोष दिखाकर इन दोषोंसे निर्दोष जो चन्द्रादि हैं उनमें दोष भासित होना दिखाया है।

वि० त्रि०—'***बालक भ्रमहिं***......***बादी***' इति। बुद्धिमालिन्यके तीन भेद हैं—(१) बुद्धिमान्द्य, (२) कुतर्क और (३) विपर्यय दुराग्रह। सो दिग्भ्रमका उदाहरण देकर बुद्धिमान्द्य कहा, नौकारूढ़का उदाहरण देकर कुतर्क कहा, अब विपर्यय दुराग्रहका उदाहरण देते हैं। 'बालक नहीं घूमते घर ही घूम रहा है' यह कहनेवाला भलीभाँति जानता है, कि घर नहीं घूम सकता, लड़के ही घूम रहे हैं, पर वह मिथ्यावादी है, उसे विपर्यय दुराग्रह है, वह सच्ची बात मान नहीं सकता, उलटा ही कहता चला जायगा।

हरि बिषइक अस मोह बिहंगा। सपनेहु नहिं अज्ञान प्रसंगा॥ ७॥
माया-बस मति-मंद अभागी। हृदय जमनिका बहु बिधि लागी॥ ८॥
ते सठ हठ बस संसय करहीं। निज अज्ञान राम पर धरहीं॥ ९॥

शब्दार्थ—**जमनिका (सं० यवनिका)**=परदा, काई। **बिषइक**=विषय-(सम्बन्ध-) का, सम्बन्धी। प्रसङ्ग=सम्बन्ध, लगाव। **हठ**=दुराग्रह।

अर्थ—हे गरुड़! भगवान्‌के विषयका भी मोह ऐसा ही है, (वहाँ तो) स्वप्नमें भी अज्ञानका लगाव नहीं है॥ ७॥ मायाके वश, मन्द-बुद्धिवाले, भाग्यहीन और जिनके हृदयपर बहुत प्रकारके परदे पड़े हुए हैं वा काई लगी हुई है वे ही मूर्ख हठके वश संशय करते हैं और अपना अज्ञान श्रीरामजीपर स्थापित करते हैं॥ ८-९॥

नोट—इसी प्रकार शिवजीके भ्रमभंजन वचन श्रीपार्वतीप्रति हैं।—दोनोंका मिलान।

श्रीशिवजी (सिद्धान्त)		श्रीभुशुण्डिजी (सिद्धान्त)
गिरिजा सुनहु राम कै लीला	१	*असि रघुपति लीला उरगारी।*
'पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़' 'सुरहित दनुज बिमोहन......'	२	*दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥*
नहिं तहँ मोह निसा लव लेसा	३	*इहाँ मोह कर कारन नाहीं।*
राम सच्चिदानंद दिनेसा जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिय बिमोह प्रसंगा॥	४	*रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं॥*
	५	*सपनेहुँ नहिं अज्ञान प्रसंगा जे मति मंद बिषय बस कामी। प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी॥*
निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥	६	*ते सठ हठ बस संसय करहीं। निज अज्ञान राम पर धरहीं॥*

जथा गगन घन पटल निहारी। झँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥ } ७ *जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उएउ दिनेसा॥*

☞ दोनोंमें भेद यह है कि सतीजीका यह अनुमान है कि राम ब्रह्म नहीं हैं—*'सो कि देह धरि होइ नर……' 'जो नृप तनय त ब्रह्म किमि'* अतः उनको समझानेमें सूर्यका ढकना कहा और गरुड़ रामको ब्रह्म मानते हैं, उनको केवल *'राम बिकल कारन कवन'* यह संदेह है, अतः यहाँ केवल दिशाभ्रम कहकर समझाया।

चितव जो लोचन अंगुलि लाये। प्रगट जुगल ससि तेहि के भाये॥ } ८ *नयन दोष जा कहँ जब होई। पीत बरन ससि कहँ कह सोई॥*

☞ शिवजीने चन्द्रमाको देखना कहा; क्योंकि पार्वतीजी दो ब्रह्म निश्चय करती थीं—*'राम सो अवध नृपतिसुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई॥'*

उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥ } ९ *हरि बिषइक अस मोह बिहंगा (सपनेहु नहिं अज्ञान प्रसंगा)*

अज्ञ अकोबिद अंध अभागी। १० *माया बस मति मंद अभागी*

काई बिषय मुकुर मन लागी॥ ११ *हृदय जमनिका बहु बिधि लागी॥*

लंपट कपटी कुटिल बिसेषी।…… १२ *काम क्रोध मद लोभरत गृहासक्त……*

मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥ } *ते किमि जानहिं रघुपतिहिं* १३ *मूढ़ परे तम कूप॥* }

नोट—*'ते सठ हठ बस……'* इति। भाव कि यदि उन्हें कोई समझाना भी चाहे तो वे उसे समझना नहीं चाहते। अपनेको सबसे बड़ा बुद्धिमान् समझते हैं। इसीसे वे अनेक कुतर्क करते हैं; किसीकी सुनते ही नहीं।

मोहप्रसंगकी आवृत्तियाँ

नोट—१ यहाँ मोह-प्रसङ्गमें मोहनिवृत्तिके लिये छः दृष्टान्त दिये हैं। (१) *'रबि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं?'* (२) *'जथा अनेक बेष धरि नृत्य करै नट कोइ।……आपुन होइ न सोइ।'* (३) नयनदोषसे चन्द्रमा पीतवर्ण दिखायी देता है। (४) दिशिभ्रमसे सूर्यके उदयस्थानमें भ्रम। (५) नौकारूढ़ मोहवश अपनेको अचल और दूसरोंको चल देखता है। और (६) बालक खेलमें घूमते हैं तब उनको भ्रम।

२—इस प्रसङ्गमें दो बातें मुख्य कही हैं और उन्हींके दो तरहके दृष्टान्त दिये हैं। एक तो यह कि प्रभुमें मोहका कारण नहीं है—*'इहाँ मोह कर कारन नाहीं'* यह कहकर इसके दो दृष्टान्त दिये—एक तो रवि और तमका, दूसरा नट और नटवेषका। पहले दृष्टान्तसे दिखाया कि श्रीरामजी तो मोहके नाशक हैं वह पास जा ही नहीं सकता। तब फिर स्त्री-विरह-विलापादि मोहित पुरुषोंके चरित कैसे करते हैं? इसका समाधान करते हैं कि नरवेष धारण किया, अतः नरका पूरा स्वाँग निबाहते हैं। मनुष्यमें काम-क्रोधादि होते ही हैं, अतः काम-क्रोधादि दिखाये। नरनाट्य करनेसे वे प्राकृत नर नहीं हो जाते। (ख) दूसरी बात यह कि 'यदि कहो कि उनमें मोह नहीं तो लोग उन्हें मोहवश क्यों कहते हैं? तो उसके समाधानमें कहते हैं कि 'प्रभुपर मोहका आरोपण वही करते हैं जो आसुरी बुद्धिके हैं और जो स्वयं मोहमें पड़े हैं। जो मोह वे प्रभुमें देखते हैं वह वस्तुतः प्रभुमें नहीं है, वह तो स्वयं उन्हींमें है। इसपर चार दृष्टान्त 'नयनदोषादि' के दिये।

३—प्रसङ्गकी दोनों बातोंका तथा प्रसङ्गका उपक्रम और उपसंहार—

इहाँ मोह कर कारन नाहीं १ *'असि रघुपतिलीला उरगारी……।'*

,, २ *सपनेहु नहिं अज्ञान प्रसंगा*

प्रभु पर मोह धरहिं इमि स्वामी ३ *हरि बिषइक अस मोह बिहंगा*

४—पहलेवाले उपक्रमोपसंहारके बीचमें लीलाका वास्तविक तत्त्व कहा—*'असि रघुपति लीला।'* दूसरेसे प्रभु-विषयक मोह कैसा है यह बताया। इसीसे दो जगह दो प्रकारके उपसंहारके वचन हैं।

५—लीलाका सिद्धान्त दिया तब *'रघुपति लीला'* पद किया; क्योंकि लीला रघुनाथरूपसे करते हैं और जब यह सिद्धान्त किया कि मोह उनको नहीं वरन् कहनेवालेको ही है तब *'हरि'* शब्द दिया।

६—श्रीरघुनाथजी भगवान् हैं अर्थात् षडैश्वर्ययुक्त हैं—*'भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।'* अत: यह सिद्ध करनेके लिये छ: ही दृष्टान्त दिये गये।

७—(क) *'माया बस मतिमंद अभागी'* से *'मुनिमन भ्रम होइ'* तक अभी ऊपरका ही प्रसङ्ग चल रहा है। यहाँ *'तुम्ह निज मोह कहा खगसाईं'* का उपसंहार कर रहे हैं (ख)—जैसे ऊपर २, ४, ५ में दो-दो बातें दिखायीं वैसे ही यहाँ रघुनाथजीके जाननेके विषयमें दो बातें कहते हैं—एक तो जान ही नहीं सकते, दूसरे जानते हुए भी भ्रममें पड़ जाते हैं। जो काम-क्रोध-मद-लोभ-रत हैं, गृहासक्त हैं, तमकूपमें पड़े हैं वे न जानते हैं न जान सकते हैं। और जो मननशील हैं, उपर्युक्त दोषोंसे रहित हैं, वे जानते तो जरूर हैं, पर चरितकी अगम्यता ही ऐसी है कि वे भी गोता खा जाते हैं।

८—प्रसङ्गकी समाप्ति *'ते किमि जानहिं'* पर नर किया क्योंकि गरुड़जीमें कामादि दोष नहीं हैं, वे रघुनाथजीको जानते हैं—*'चिदानंद संदोह राम।'* (६८) *'भव बंधन ते छूटहि नर जपि जाकर नाम।*
......*सोइ राम।'* (५८) समाप्ति *'सुनि मुनि मन भ्रम होइ'* पर की। क्योंकि इन्हें केवल चरितमें भ्रम हो गया है, रामजीमें नहीं, यथा—*'राम बिकल कारन कवन।'* (६८) इत्यादि। अर्थात् भ्रम केवल यह है कि परब्रह्म होकर वे नागपाशमें कैसे बँधे और व्याकुल क्यों देख पड़े।

९—तुम्हें मोह हुआ *'सो नहिं कछु आचरज गोसाईं'* यह कहकर आश्चर्य न होनेका कारण *'सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिमन भ्रम होइ'* यहाँतक कहा। उपक्रममें *'गोसाईं'* सम्बोधन करके जनाया कि आपकी इन्द्रियाँ आपके वश हैं, इसीसे अन्तमें भी जिनकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, उन्हींको कहा, यथा—*'जिति पवन मन गो निरस कर मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं'* (कि०)।—विशेष दोहा ७३ में देखिये।

१०—यहाँतक तीन प्रकारके जीवों और ईश्वरोंका मोह और उनके प्रकार कहे। *'भव बिरंचि'* ईश्वर हैं, नारद, सनकादिक मुक्त जीव हैं, यथा—*'जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान'* *'मुनिमन भ्रम होइ'* से मुमुक्षु जीव भी सूचित कर दिये और *'काम क्रोध मदलोभ रत'* 'विषयवश' इत्यादि विषयी जीव हैं।

दो०—काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुखरूप।
ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम कूप॥
निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ*।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥ ७३॥

अर्थ—जो काम, क्रोध, मद और लोभमें अनुरक्त, घर-गृहस्थीमें आसक्त (लिप्त) और दु:खके रूप (वा, दु:खरूप गृहकार्य नाना जंजालमें पड़े हुए) हैं वे श्रीरघुनाथजीको कैसे जानें? वे मूर्ख तो अन्धकाररूपी कुएँमें पड़े हैं। निर्गुण रूप अत्यन्त सुगम है। सगुण रूपको कोई जानता ही नहीं! सुगम और अगम अनेक चरित्रोंको सुनकर मुनियोंके मनमें भ्रम हो जाता है॥ ७३॥

नोट—१ *'काम क्रोध......'* इति। कामी, क्रोधी, लोभी और मदान्ध लोग श्रीरामजीको नहीं जान सकते। 'जैसे रावण और देवर्षि नारद मद और कामवश, परशुरामजी मद और क्रोधवश, सुग्रीव राज्यलोभवश भगवान्‌को न जान सके। पर गृहासक्त तो इन सबोंके वशमें रहता है। कामनाओंसे ये सभी दोष उसमें आ जाते हैं, अत: वह कब जान सकता है।

* 'सगुन न जानहि कोइ—

कामादि परब्रह्मस्वरूपके बोधके बाधक हैं इसीसे श्रीविभीषणजीने रावणसे प्रथम इनका त्याग करनेको कहा। तब भजन करनेको कहा। यथा—'*काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ। सब परिहरि रघुबीरहि भजहु भजहिं जेहि संत॥*' (५। ३८) कामी होनेसे कथाका न सुनना, क्रोधी होनेसे धर्मरहित होना, मदसे शीलादिरहित और लोभसे वैराग्यरहित जनाया। यथा—'*कामिहि हरि कथा*' '*करइ क्रोध जिमि धर्महि दूरी*' '*अति लोभी सन बिरति बखानी।*'

२—'*गृहासक्त दुखरूप*' इति। (क) '*काम-क्रोध-मद-लोभ-रत*' कहकर '*गृहासक्त*' कहने तथा कामादि चारका ही नाम यहाँ देनेका भाव यह है कि ये चार नरकके मार्ग कहे गये हैं, यथा—'*काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ*—।' (सुं०। ३८) इनमें रत होनेवाला नरकगामी हुआ। और 'गृहासक्त' भी मरनेपर नरकमें प्रवेश करता है जैसा आगे भागवतके उद्धरणोंसे स्पष्ट है।

(ख) '*गृहासक्त दुखरूप*' का बड़ा सुन्दर वर्णन श्रीमद्भागवत (३। ३०। ६—१८) में है—मूर्ख जीव मायामोहित होकर स्त्री, कन्या, पुत्र, गेह, देह, पशु, बन्धु और धनादिको अपना मानकर उनमें अत्यन्त आसक्त रहता है और उक्त विषयोंके पानेसे अपनेको कृतार्थ वा भाग्यशाली मानता है। कुटुम्बकी भरण-पोषण चिन्तारूप अग्निमें सदा जला करता है। विशेषकर यह मूढ़ प्रायः कुटुम्बके लिये ही दुष्टाचरण करता है। कुलटा स्त्रियोंकी माया इत्यादिमें और छोटे लड़कोंके तोतले वचनोंमें इसका मन और इन्द्रियाँ ऐसी आसक्त हो जाती हैं कि वह ईश्वरको भूल जाता है। कपटधर्मयुक्त, दुःखदायी गृहके धर्मोंमें लिप्त रहकर यह गृही दुःख दूर करनेकी चेष्टा किया करता है और इसीमें अपनेको सुखी मानता है। एक जीविका नष्ट होनेपर दूसरेकी चेष्टा करता है। इस प्रकार लोभवश होकर कुटुम्बके भरण-पोषणमें रत रहता है तथा आसक्त होनेपर पराये धनकी चाह करता है।……मृत-शय्यापार पड़ा हुआ कुटुम्बको चारों ओरसे रोते हुए देख वह व्यथाको प्राप्त होकर प्राण त्याग करता है। (१८) कुटुम्ब और शरीर दोनोंको यहीं छोड़कर वह कर्म-भोगके लिये नरकमें प्रवेश करता है॥ ३१॥ यथा—'**आत्मजायासुतागारपशुद्रविणबन्धुषु। निरूढमूलहृदय आत्मानं बहु मन्यते॥ सन्दह्यमानसर्वाङ्ग एषामुद्वहनाधिना। करोत्यविरतं मूढो दुरितानि दुराशयः॥ आक्षिप्तात्मेन्द्रियः स्त्रीणामसतीनां च मायया। रहोरचितयालापैः शिशूनां कलभाषिणाम्॥ गृहेषु कूटधर्मेषु दुःखतन्त्रेष्वतन्द्रितः। कुर्वन्दुःखप्रतीकारं सुखवन्मन्यते गृही॥ —वार्तायां लुप्यमानायामारब्धायां पुनः पुनः। लोभाभिभूतो निःसत्त्वः परार्थे कुरुते स्पृहाम्॥ ६—११॥**' इत्यादि। यह भगवान् कपिलदेवने देहासक्त पुरुषोंकी गतिका वर्णन श्रीदेवहूतिजीसे किया।

भगवान् कृष्णने श्रीउद्धवजीसे वर्णाश्रमधर्मोका वर्णन करते हुए प्रथम यह बताकर कि 'गृहस्थको कुटुम्बमें आसक्त न होकर पुत्र, कलत्र आदिका समागम (धर्मशाला या प्याऊ आदिपर इकट्ठे हुए) बटोहियोंके समान समझना चाहिये, जैसे निद्राके टूटते ही स्वप्न चला जाता है, वैसे ही देह न रहनेपर ये सब नाते भी नहीं रह जाते। फिर कहा है कि ऐसा विचारकर अनासक्ति भावसे अहं—ममको छोड़कर अतिथिके समान सबके बीचमें रहनेवाला गृहस्थ बन्धनमें नहीं पड़ता।' (यथा—'**पुत्रदारासबन्धूनां संगमः पान्थसङ्गमः। अनुदेहं वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा॥**' (भा० ११। १७। ५३) '**इत्थं परिमृशन्मुक्तो गृहेष्वतिथिवद्वसन्। न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहङ्कृतः।**' (५४) इत्यादि) फिर गृहासक्तोंकी गति बताते हुए कि वह अहंता-ममताके बन्धनमें पड़ता है बताया कि गृहासक्त सोचता रहता है कि '**अहो मे पितरौ वृद्धौ भार्या बालात्मजाऽऽत्मजाः। अनाथा मामृते दीनाः कथं जीवन्ति दुःखिताः॥**' (५७) हा! हा! मेरे माता-पिता बूढ़े हो गये हैं, पत्नीके बाल-बच्चे अभी छोटे हैं, मेरे न रहनेसे ये दीन, अनाथ और दुखी हो जायँगे; ये कैसे जीवित रह सकेंगे। इस तरह वासनाओंसे विक्षिप्त चित्त वह पुरुष विषयभोगोंसे कभी तृप्त नहीं होता। मरनेपर घोर तमोमय नरकोंमें पड़ता है।

'*दुखरूप*'—घर गृहस्थीको दुःखरूप कहा है। यथा—'**विमोहितोऽयं जन ईश मायया त्वदीयया त्वां न भजत्यनर्थदृक्। सुखाय दुःखप्रभवेषु सज्जते गृहेषु योषित् पुरुषश्च वञ्चितः॥**'(भा०। १०। ५१। ४६) अर्थात् (श्रीमुचुकुन्दजी कहते हैं कि) आपकी मायासे मोहित होकर मनुष्य अनर्थकी ओर दृष्टि लगाकर सुखकी आशामें सम्पूर्ण दुःखोंके मूलस्रोत जहाँसे सारे दुःख उत्पन्न होते हैं, ऐसे घरमें आसक्त हो जाता है।

३ (क) *'ते किमि जानहिं रघुपतिहि'* इति। भा० ३। ३२ में भगवान् कपिलदेवजीके **'रजसा कुण्ठमनसः कामात्मानोऽजितेन्द्रियाः। पितॄन्यजन्त्यनुदिनं गृहेष्वभिरताशयाः॥'**(१७) का भी प्रायः यही भाव है। वे कहते हैं कि रजोगुणसे विक्षिप्त चित्त और कामनाओंके कारण अजितेन्द्रिय होनेसे गृहस्थीमें आसक्त होकर नित्यप्रति पितृगणका यजन करनेवाले अर्थ, धर्म और काममें ही तत्पर रहनेके कारण भगवान् और उनकी कथाओंसे विमुख रहते हैं—**'त्रैवर्गिकास्ते पुरुषा विमुखा हरिमेधसः—।'** (१८)

पं० रामकुमारजी इसका भाव यह लिखते हैं कि एक दोषसे ही जीव श्रीरामजीको नहीं जान सकता और संसारी जीव तो अनेक दोषोंसे भरे हैं और उसपर भी मोहरूपी अन्धकूपमें पड़े हैं तब तो उनका जानना असम्भव ही है।

४ *'मूढ़ परे तम कूप'* इति। (क) गृहासक्त अपनेको बड़ा भाग्यशाली समझता है इसीसे उसे मूढ़ कहा। यथा—**'—आत्मानं बहु मन्यते।—करोत्यविरतं मूढो दुरितानि दुराशयः।'**(भा० ३। ३०। ६-७) (उपर्युक्त)। पुत्र और धनकी कामनाओंसे आतुर स्त्रीलम्पट और घरमें आसक्त होनेसे भगवान् कृष्णने भी उसे 'मूढ़' कहा है। यथा— **'यस्त्वासक्तमतिर्गेहे पुत्रवित्तैषणातुरः। स्त्रैणः कृपणधीर्मूढो ममाहमिति बध्यते॥'** (भा० ११। १७। ५६) **'—एवं गृहाशयाक्षिप्तहृदयो मूढधीरयम्।'** (५८) (ख) *'परे तम कूप'* इति। पूर्वार्धमें *'काम क्रोध—दुखरूप'* कहा। उसीको *'तम कूप'* भी कहा। गृहासक्तको परमार्थ सूझता ही नहीं, जैसे अन्धेरे कुएँमें पड़े हुएको बाहरका कुछ नहीं सूझता। मुचुकुन्दजीने भी घरको अन्धकूप कहा है। यथा— **'पादारविन्दं न भजत्यसन्मतिर्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः।'** (भा० १०। ५१। ४८) अर्थात् जो आपके चरणारविन्दोंका भजन न करके विषयासक्त होकर गृहरूपी अन्धकूपमें पड़ा रहता है, उसे पशुसमान समझना चाहिये। यह भी 'मूढ़' का भाव ले सकते हैं।

नोट—*'निर्गुन रूप सुलभ—कोइ'* इति। श्रीमद्भागवतमें श्रीब्रह्माजीने भी ऐसा ही कहा है—**'तथापि भूमन्महिमाऽगुणस्य ते विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः। अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा॥'** (१०। १४। ६) **'गुणात्मनस्तेऽपि गुणान्विमातुं हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य। कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पैर्भूपांसवः खे मिहिका द्युभासः॥'** (७) (अर्थात्) हे अच्युत! हे व्यापक! यद्यपि आपके निर्गुण और सगुण दोनों ही रूपोंकी महिमाका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है तथापि जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है वे स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूपसे आपके निर्गुण स्वरूपकी महिमा जान भी सकते हैं। उसके जाननेका और कोई उपाय नहीं है, क्योंकि आपका निर्गुण स्वरूप निर्विकार, अनुभवस्वरूप और वृत्तियोंका अविषय है। परंतु भगवन्! जिन समर्थ पुरुषोंने अनेक जन्मोंतक परिश्रम करके पृथ्वीके परमाणु, आकाशके हिमकण (ओसकी बूँदें) तथा आकाशमें स्थित नक्षत्रों, तारों तथा उनकी किरणोंके परमाणुओंको गिन डाला है, उनमें भी भला ऐसा कौन है जो आपके सगुण स्वरूपके अनन्त गुणोंको गिन सके?

पं० रा० व० श०—*'जान नहिं कोइ।'* जो कहता है कि हमने ब्रह्मको जान लिया वस्तुतः उसने कुछ नहीं जाना और जो कहता है कि वह अतर्क है, मन और इन्द्रियादिसे परे है, हम उसे नहीं जान सकते बुद्धिभर समझते हैं, वस्तुतः वही जानता है। ब्रह्म-अवस्थिति दो प्रकारकी है—**'सगुणा निर्गुणा चैव द्विधा ब्रह्मव्यवस्थितिः'**, *'अगुन-सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।'* निर्गुण निरवधि इत्यादि है। इससे उसमें भ्रमका डर नहीं है। अतएव उसको सुलभ कहा। सगुणमें कोई चरित्र तो बहुत सुगम हैं (जैसे कबन्ध, विराध, खरदूषणादिक-वध इत्यादि जिनमें ऐश्वर्य देख पड़ता है) और कोई बहुत अगम हैं (जैसे विलापमें वृक्षादिसे पूछना, नागपाश इत्यादि), यह कहकर अगमता दिखाते हैं कि *'सुनि मुनि मन भ्रम होइ'* अर्थात् दिनरात मनन करनेवाले भी मोहमें पड़ जाते हैं तब और मोहमें पड़ जायँ तो आश्चर्य क्या?

गौड़जी—*'निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।'* सत्त्व, रज, तमादि गुणोंसे परे, आदि-अन्त-रहित, निराकार, अखण्ड आदि निर्गुण ब्रह्मके विशेषण सभी नकारात्मक हैं। नामका अभाव, रूपका अभाव और गुणका अभाव, इन तीन अभावोंसे निर्गुणरूप कल्पनामें नहीं आ सकता। यह जगत् मिथ्या है, मायाकी

कल्पना है, केवल ब्रह्मके अधिष्ठानसे सत्य-सा लगता है। निर्गुणब्रह्मका यह ज्ञान मनको और कल्पनाशक्तिको छुट्टी दे देता है। इन्द्रियोंमें वाक्-इन्द्रियसे और बुद्धिसे सहज ग्राह्य दीखता है। जाननेमें यह बहुत सुलभ है। सगुणब्रह्मके जाननेमें बड़ी कठिनाई यह है कि उसमें समस्त भावोंकी पूर्णताका अनुमान करना पड़ता है। जो अव्यक्त है उसकी अव्यक्तता और अगोचरताहीपर संतोष हो जाता है परन्तु जो व्यक्त है उसके गुण नकारात्मक नहीं हैं, इसलिये उसके व्यक्तरूपकी आदर्शकल्पना करनी पड़ती है। उसे किसीने देख पाया नहीं है इसलिये प्रत्यक्ष अनुभवसे तो कोई कुछ कह ही नहीं सकता, जिसने देखा है वह वर्णन नहीं कर सकता, जिसने जाना है वह पहुँचसे बाहर हो गया है—*'आँरा कि ख़बर शुद ख़बरश बाज न आमद', 'सो जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हइँ होइ जाई॥', 'स्याम गौर किमि कहउँ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥'* पूर्णताको व्यक्त करनेके लिये वह शब्द कहाँ है और देखनेके लिये वह इन्द्रिय कहाँ जिससे पूर्णरूपका दर्शन हो सके। वह पूर्ण-विकसित इन्द्रिय कहाँ है जिससे कि उस रूपका श्रवण, स्पर्श, घ्राण, रसन आदि हो सके। इन्द्रियाँ परिच्छिन्न हैं। इन इन्द्रियोंसे सगुणरूपका अनुभव असम्भव है। सगुणरूपकी विराड्-विभूतिके क्षणिक दर्शनमात्रके लिये अपने परमभक्त और सखा अर्जुनको **'दिव्यं ददामि ते चक्षुः'** कहते हैं। तुमको दिव्य आँख देता हूँ तू मेरे ऐश्वर्य-योगको देख। कमलपर बैठे हुए चतुर्मुख ब्रह्मा अपने सिरजनहारके चिन्तनमें हैरान हैं और कमलनालसे सैकड़ों वर्ष उतरकर खोजकर परेशान होते हैं तब कहीं भगवत्कृपासे नारायणरूपका दर्शन होता है। निराकारके दर्शनके लिये कौन मूर्ख परेशान होगा? उसकी निराकारता तो सहज सुलभ है। परंतु साकारता ही तो गजब ढा देती है। कैसी है, कहाँ है, किस तरहकी है? खोजनेवालेको हैरान कर देती है। बारंबार भगवान् कहते हैं कि यह सारा जगत् मुझमें है और मेरा अत्यन्त अल्प अंश है, परंतु यह कैसी अद्भुत बात है कि उन्हींकी गोदमें होकर हम उनके शरीरका कोई भी अंश देख नहीं सकते। उनसे इतने पास हैं कि देश और कालका कोई अन्तर नहीं है, साथ ही दूर इतने हैं कि अत्यन्त जवीयस् मन पहुँच नहीं सकता। सगुणरूप ऐसा दुर्लभ और अगम है। यही सगुणरूप जगत्‌की सृष्टिके लिये अनिवार्य है और सृष्टि भक्तप्रेमवश होती है। इसीलिये कहा है—

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥

इसी अज्ञेय सगुणरूपको अपने भक्तोंको सुलभ बनानेके अर्थ सगुणब्रह्मके अवतार होते हैं। और भगवान् अपनी मायासे तरह-तरहके रूप धारण करते हैं। इस तरह दुर्लभ सगुणरूपको सुलभ कर देते हैं। अवतारके इस रहस्यको जो तत्त्वतः नहीं समझते वे भ्रान्तिमें पड़े रहते हैं। भगवत्‌की माया बड़ी प्रबल है, बड़े-बड़े मननशील योगी और मुनि भी भगवान्‌की माधुर्यलीलासे मोहित हो जाया करते हैं फिर साधारण जनोंकी बात ही क्या है? यह सगुणरूपकी दुर्लभता अपनेको प्राकृत नरलीलामें भी व्यक्त किये बिना नहीं रहती। इसीलिये कहा कि सगुणरूपको कोई नहीं जानता, उसको जो जानता है वह शरीरको त्यागकर फिर जन्म नहीं लेता—**'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥'** (गीता ४-९) हे अर्जुन! मेरे दिव्य अर्थात् अलौकिक जन्म और कर्मको जो पुरुष तत्त्वरूपसे जानता है वह शरीर त्यागकर फिर जन्म नहीं लेता किंतु मुझमें मिल जाता है।—*'सो जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हइँ होइ जाई॥'* सगुणब्रह्मको तत्त्वरूपसे जानना स्वयं तन्मय हो जाना है। और यह जितना दुर्लभ है उतना ही सगुणरूपका ज्ञान दुर्लभ है। भक्तोंके लिये सगुणरूपको सुलभ करनेके साधन ही अवतार हैं। क्योंकि जैसे सगुणरूपका ज्ञान दुर्लभ है वैसे ही उसकी उपासना सहज सुलभ है। और जैसे निर्गुणरूप सुलभ है वैसे ही निर्गुणकी उपासना बहुत कठिन है। उपासनाकी दृष्टिसे सुगमता और दुर्गमताका वर्णन गीताजीके अ० १२ में हुआ है।

प० प० प्र०—गीतामें कहा है कि **'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥'** मानसमें भी *'अति दुर्लभ कैवल्य परम पद' 'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका।'* आदिमें निर्गुण रूपका दुर्लभ होना कहा गया है। तब यहाँ *'निर्गुन रूप सुलभ अति'* कैसे कहा? (समाधान)—यहाँ मोह, विमोह, महामोह आदिमें फँसनेका प्रकरण चल रहा है। अतः निर्गुणरूपप्राप्तिके साधनमें लीला, रूप, गुण

आदिका सम्बन्ध न होनेसे जैसा श्रीसतीजी, गरुड़जी आदिको मोह हुआ वैसा मोह होनेका भय नहीं है। इतना ही *'सुलभ अति'* का भाव है।

पां०—*'सुगम अगम'* इति।—निर्गुण इससे सुगम है कि एकरस रहता है और सगुणके नाना चरित सुगम और अगम हैं, जैसे सेतुबन्धन और जानकीविरह इत्यादि।

करु०—निर्गुणरूपको सुलभ कहा क्योंकि वेदादि कहते हैं कि वह सर्वत्र एकरस परिपूर्ण व्याप्त है। सब कहते हैं कि वह अनुभवगम्य है। अतः वेदशास्त्रों और सन्तोंसे उसका जानना सुगम है। सगुण दुर्लभ है क्योंकि कोई कुछ कहता है और कोई कुछ। रघुनाथजी तो सगुण-निर्गुण दोनोंसे परे हैं, यथा—**'सगुणं निर्गुणं चैव परमात्मा तथैव च। एते चांशा हि रामस्य पूर्वे चान्ते च मध्यतः॥'** इति (श्रीसदाशिवसंहिता)।

वै०—निर्गुणमें आकार, रंग, रूप, चरित आदि कुछ हैं ही नहीं कि जिनके जाननेमें दुर्घटता हो, अनादि, अनन्त, अखण्डानन्द, एकरस, व्यापक आदि केवल नाममात्र कहना है, इसलिये सुलभ है। सगुणमें अनेक भेद हैं, इसको कोई नहीं जानता, क्योंकि परात्पर साकेतविहारीके पाँच भाँतिके रूप प्रकट हैं पर वैकुण्ठवासी, चतुर्व्यूह—अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण और वासुदेव, विभु अवतारादि, अर्चाविग्रह—ये चारों रूप सगुण हैं और पाँचवाँ अन्तर्यामी जो सबमें व्यापक है वही निर्गुण कहलाता है। इनमें भी अनेक भेद हैं। अर्थपञ्चकमें भेद बतलाये गये हैं।......इत्यादि भेद सब नहीं जानते। इनकी जो लीला है उसमें भी सुगम और अगम नाना प्रकारके चरित हैं। सुगम वह हैं कि जिनके देखने-सुननेसे ही सबका भ्रम दूर होकर यथार्थ बोध हो जाय। जैसे कि मत्स्य, कूर्म, नृसिंहादि अवतारोंमें ऐश्वर्य प्रकट किये रहनेसे सबने जान लिया कि ये भगवान् ही हैं, इनमें माधुर्यलीला कुछ भी नहीं, केवल ऐश्वर्य है, अतः यह सुगम चरित है। पुनः, जो माधुर्यमय लीलाके चरित हैं वे समझनेमें अगम हैं, जैसे ब्रह्मा और इन्द्रको श्रीकृष्णचरित देख मोह हुआ और रघुनाथजी तो सदा ऐश्वर्य छिपाये ही रहे, माधुर्य ही प्रकट रखा—रामायणभर इसका उदाहरण है।......अतः इनके माधुर्यमें अनेक भाँतिके अगम चरित हैं, जिन्हें देख मुनि भूल जाते हैं तब औरोंको क्या कहें?—विश्वामित्र-जनक, परशुराम, सती, गरुड़ इत्यादिका मोह प्रकट ही है। स्कन्दपुराण-निर्वाणखण्डमें लिखा है कि रावणवधपर देवताओंको मोह हुआ कि हमारी सहायतासे रावणवध हुआ, राजकुमार भला उसे क्या मार सकते। उनका मोह मिटानेके लिये रामजीने ऐश्वर्यरूप प्रकट किया, जिसे देख सब अत्यन्त भयभीत हो गये। विष्णुभगवान्‌के स्तुति करनेपर वह रूप छिपाया गया।

रा० प्र०—*'निर्गुनरूप सगुनै में मति सुलभ पै कोइ न जानै। निर्गुन सगुन न जाना तिन बकबक ठाना।' 'निर्गुन नाम गुनै को भाई गुनमें गुन न रहै।'*

नोट—सगुणरूपके चरित कुछ सुगम भी होते हैं और कुछ अगम भी। जिसमें तर्क चले वह सुगम है, जिसमें न चले वही अगम है। जहाँ ईश्वरकी स्वातन्त्र्यशक्ति काम करती है, वहाँ किसीका तर्क काम नहीं करता। विशेष (लं० ७३। १-२) देखिये।

नोट—*'सुनि मुनि मन भ्रम होइ।'* सतीको, गरुड़को, जयन्तको और ब्रह्मादिको भी मोह हो गया तब औरकी क्या बात है? नागपाशके प्रसङ्गमें शिवजीने भी इसी प्रकार कहा है, यथा—*'चरित राम के सगुन भवानी। तरकि न जाहिं बुद्धि बल बानी॥ अस बिचारि जे तज्ञ बिरागी। रामहिं भजहिं तर्क सब त्यागी॥'* (लं० ७३। १-२) इस प्रकार *'सगुन जान नहिं कोइ'* का भाव यह भी हुआ कि सगुणचरितका बुद्धि, मन, वाणी इत्यादिके द्वारा समझ लेना दुर्गम है। पुनः *'सुनि मुनि मन भ्रम होइ'* का भाव कि मननशील मुनियोंको भ्रम हो जाता है तब इतर प्राणी किस गणनामें हैं? अतः तर्क छोड़कर रामभजन करना चाहिये; वे ही चाहें तो जना दें—*'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।'* *'सुनि'* का भाव कि देखनेकी कौन कहे सुननेमात्रसे भ्रम हो जाता है।

नोट—यहाँ दो दोहोंमें दो बातें कहीं। एक तो जो श्रीरघुनाथजीको जान ही नहीं सकते वे कौन हैं और उनके विषयमें कहा कि वे शठ हैं और हठवश संशय करते हैं—यह शठताका लक्षण है। दूसरे जो रघुनाथजीको जानते हैं उनके विषयमें कहा कि इनको भ्रममात्र हो जाता है, वे हठवश संशय नहीं

करते, केवल भ्रमनिवारणार्थ अवसर पाकर प्रश्न करते हैं। जैसे भरद्वाज मुनिने याज्ञवल्क्यजीसे किया।—*'जैसे मिटै मोर भ्रम भारी। कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी॥'* (१। ४७। १)

नोट—जो प्रसङ्ग *'तुम्ह निज मोह कही खग साईं। सो नहिं कछु आचरजु गोसाईं॥'*—(७०। ५) पर उठाया था वह यहाँ समाप्त हुआ। उपक्रममें अन्तमें *'जे मुनिनायक'* पद है और उपसंहारमें *'सुनि मुनि मन।'*

मा० हं०—द्वैत और अद्वैतवादियोंकी एकवाक्यता करनेका गोसाईंजीने एक बड़ा ही उपक्रम किया है। **'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये'** यह अथर्वणीय श्रुति है। इसके अनुसार गोसाईंजी कहते हैं कि *'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा।'* इससे स्पष्ट ही हुआ कि ब्रह्मके सगुण और निर्गुण ये दो अङ्ग समझना चाहिये और इसमेंसे किसी एक अङ्गका ज्ञान सम्पूर्ण ब्रह्मज्ञान नहीं कहा जा सकता।

बादमें प्रथम द्वैती मतको उनका यह निवेदन है कि प्राण और देह, सूर्य और प्रकाश, चन्द्र और कान्ति इत्यादि सम्बन्धोंके समान निर्गुण और सगुणका सम्बन्ध है। निर्गुणके अतिरिक्त सगुणकी अवस्थिति नहीं—*'अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेमबस सगुन सो होई॥'*

अर्थात् ब्रह्मका प्रधान अङ्ग निर्गुण है। अतएव द्वैतको अद्वैतके बिना गत्यन्तर नहीं।

पश्चात् अद्वैतमतको उनका यह निवेदन है कि *'निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।'* इससे यही निर्णीत हुआ कि सगुण स्वरूपका जानना ही ब्रह्मज्ञानका फल है और केवल निर्गुणज्ञानसे ही पूर्णता नहीं हो सकती। **'अहं ब्रह्म'** स्थिति साकल्य ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्मनिष्ठता नहीं है। ब्रह्मनिष्ठताकी परिपूर्णता **'वासुदेवः सर्वमिति'** (गीता) होनेमें ही है। तात्पर्य कि द्वैतको अद्वैतके अतिरिक्त स्थिति नहीं और अद्वैतको द्वैतके अतिरिक्त पक्वता नहीं। कर्म, ज्ञान और भक्तिका समुच्चयात्मक योग ही पराभक्ति, ज्ञानोत्तरा भक्ति इत्यादि है। अद्वैतसिद्धान्तके पुरस्कर्त्ता श्रीआदिशङ्कराचार्यजीने भी अन्तमें इसी योगका अवलम्बन इस प्रकार किया है—

'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥' उन्हींके अनुयायी अद्वैतसिद्धिकर्त्ता श्रीमधुसूदन सरस्वती कह गये हैं—

'ध्यानाभ्याससमाहितेन मनसा यन्निर्गुणं निष्क्रियं ज्योतिः किंचन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं कालिन्दीपुलिनेषु यत्कमपि तन्नीलं महो धावति॥'

इसी मार्गका अवलम्बन गोसाईंजीने भी इस प्रकार किया है—*'जे जानहिं……।'*

उक्त प्रकारसे विचारपरिवर्तन भाषित होनेका सम्भव है। परंतु वह केवल भास है। वह विचारपरिवर्तन नहीं है किंतु साधन परिपाक है। सगुण (अर्थात् कर्म और उपासना) से निर्गुण (अर्थात् ज्ञान) और फिर निर्गुणसे सगुण यह साधन परिपाकका क्रम है। यही पूर्णावस्था है और यही ज्ञानोत्तरा भक्ति कहलायी जाती है। ज्ञानका परिपाक भक्तिमें होना यही उसका फल है। श्रीशंकरजीकी रामभक्ति इसी प्रकारकी है, और उसीको अद्वैतभक्ति कहना चाहिये। यह अतीव दुष्प्राप्य है जैसा कि गीताजीमें कहा है—**'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।'** स्वामीजीके *'निर्गुनरूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ'* कहनेका आशय भी यही होना चाहिये। भारतीय आध्यात्मिक वाङ्मयमें इसी भक्तिकी महती गायी हुई दिखाती है। स्वामीजी भी उसे इस प्रकार कहते हैं—

'जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥
अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल गुन खानी॥

सुनु खगेस रघुपति प्रभुताई। कहौं जथामति कथा सुहाई॥ १॥
जेहि बिधि मोह भएउ प्रभु मोही। सोउ सब कथा सुनावौं तोही॥ २॥
राम कृपा भाजन तुम्ह ताता। हरिगुन प्रीति मोहि सुखदाता॥ ३॥
ताते नहिं कछु तुम्हहिं दुरावौं। परम रहस्य मनोहर गावौं॥ ४॥

अर्थ—हे पक्षिराज! श्रीरघुनाथजीकी प्रभुता सुनिये। मैं बुद्धिके अनुसार सुहावनी कथा कहता हूँ॥ १॥ हे प्रभो! जिस प्रकार मुझे मोह हुआ वह सब कथा भी तुम्हें सुनाता हूँ॥ २॥ हे तात! आप श्रीरामजीके कृपापात्र हैं। भगवान्‌के गुणों (चरित) में आपका प्रेम है और मुझे सुख देनेवाले हैं॥ ३॥ इसीसे मैं आपसे कुछ भी नहीं छिपाता। अत्यन्त गुप्त और मनोहर चरित वर्णन करता हूँ॥ ४॥

नोट—१ 'प्रभुताई' और 'यथामति' की व्याख्या पूर्व कई बार हो चुकी है। पुनः, ***'यथामति'*** का भाव कि प्रभुता अपार है, अकथनीय है, मैं अपनी बुद्धिके अनुकूल कुछ कहता हूँ।

२ ***'जेहि बिधि मोह……'*** इति। ☞ यहाँतक ईश्वरोंका, सांसारिक विषयी प्राणियोंका तथा मुनियोंका मोह कहकर समझाया। अब अपना मोह कहकर समझाते हैं।

अपना उदाहरण प्रमाणस्वरूप देनेमें अपना गौरव जताना समझा जाता है, अतः यह दोष समझकर अपनी कथाका प्रमाण शिष्ट लोग नहीं देते। तब भुशुण्डिजी अपनी कथा कैसे कहते हैं? यह शंका हो सकती है। इसका समाधान कई प्रकारसे होता है—(क) अपने बड़प्पनकी बात कहना दोष है और यहाँ तो अपना मोहरूपी दोष कह रहे हैं। (ख) अपनी बात कहना है, इसे दोष समझकर वे प्रथम उसके कहनेका कारण बताते हैं कि उसमें मेरी बात तो थोड़ी है, बहानामात्र है, वस्तुतः प्रसङ्ग ***'रघुपति प्रभुताई'*** का ही है; उससे श्रीरामजीके परम मनोहर रहस्यका उद्घाटन हुआ है। (ग) अपनी बीती, अपनी देखी प्रत्यक्ष प्रमाण है, इसका श्रोतापर अधिक प्रभाव पड़ता है। अपने मोहके प्रसङ्गमें वह प्रभुता इन्होंने स्वयं देखी है।

३ **'सोउ'** का भाव कि प्रभुता कहूँगा और अपने मोहकी कथा भी कहूँगा। कुछ तुम्हींको मोह नहीं हुआ, मुझे भी हुआ था। विशेष भाव ऊपर आ गये हैं—।

४ ***'राम कृपा भाजन……ताते नहिं कछु तुम्हहिं दुरावौं'*** इति। इससे जनाया कि जो ***'राम कृपा भाजन'*** हो, 'हरिगुण प्रेमी' और अपनेको ***'सुखदाता'*** हो उससे रहस्यकी बात न छिपानी चाहिये। पूर्व दोहा ६९ में शिवजीने भी ऐसा ही कहा है—***'श्रोता सुमति सुसील सुचि कथारसिक हरिदास।'***

वहाँ हरिदास यहाँ ***'राम कृपा भाजन'***, वहाँ कथारसिक यहाँ ***'हरि गुन प्रीति'*** और वहाँ ***'सुमति सुसील सुचि'*** यहाँ ***'सुखदाता'***। दोनोंके मिलानसे जान पड़ता है कि ***'सुमति सुसील सुचि'*** होनेसे भुशुण्डिजीको सुखदाता हुए। अथवा ***'राम कृपा भाजन'*** होनेसे हरिगुणमें प्रीति है और हरिगुणप्रीति होनेसे सुखदाता हैं।—[रा० प्र०—***'मोहि सुख दाता'*** का भाव कि जो जिसका रसिक होता है उसका साथ होनेसे रसिकका उद्दीपन और परम मनोरञ्जन होता है।]

५ ***'परम रहस्य मनोहर'*** से जनाया कि यह अत्यन्त गोप्य चरित्र है, मनके विकारोंको हरण करनेवाला है। मैंने इसे अबतक किसीसे न कहा था।

(श्रीरामस्वभाव-वर्णन)

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥ ५॥
संसृतमूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥ ६॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीका सहज स्वभाव सुनिये। वे भक्त (के हृदय) में अभिमान कभी नहीं रहने देते॥ ५॥ (क्योंकि) अभिमान संसार-(अर्थात् बारंबार जन्म-मरण) की जड़ (मूलकारण) है, अनेक प्रकारके क्लेशों, दुःखों और समस्त शोकोंका देनेवाला है।

नोट—१ (क) ***'सुनहु'*** से जनाया कि एक बात कहते थे, उसे प्रथम न कहकर दूसरी कहते हैं! पहले कहा था कि ***'सुनु खगेस रघुपति प्रभुताई'*** पर उसी प्रसङ्गमें बीचमें प्रभुत्व न कहकर स्वभाव कहने लगे। अतः पुनः, ***'सुनहु'*** कहा। रा० प्र० का मत है कि सावधान करनेके लिये ***'सुनहु'*** कहा। (ख) ***'सहज सुभाऊ'***—अर्थात् देखनेसे, शास्त्रादिके अध्ययनसे अथवा अभ्याससे यह स्वभाव नहीं बना है, किंतु स्वतःसिद्ध स्वभाव है। जन्मसे जो स्वभाव होता है उसे सहज स्वभाव कहते हैं। शरीरके साथ

ही नित्यका स्वभाव है। (ग) *'राम कर सहज सुभाऊ'* का भाव कि यह स्वभाव श्रीरामजीका ही है, दूसरेका नहीं है। (रा० शं० श०) और लोग सेवा-उपकार आदिपर ही प्रायः ढरते हैं, पर श्रीरामजी बिना किसी सेवाके ही दीनजनपर कृपा करते हैं, यथा *'बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर रामसरिस कोउ नाहीं॥'* (वि० १६२) (रा० प्र०) भुशुण्डिजी श्रीरामजीके स्वभावके यथार्थ ज्ञाता हैं। यथा— *'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुण्डि संभु गिरिजाऊ॥'* (५। ४८। १)

२ *'जन अभिमान……'* इति। (क) भाव कि जो जन नहीं है उसके अभिमानकी इतनी चिन्ता नहीं करते। देखिये, रावणका अभिमान, बहुत दिन बनाये रखा। यथा *'तौ लौं न दाप दल्यो दसकन्धर जौं लौं बिभीषन लात न मार्यो।'* (क० ७। ३) (रा० शं० श०)। पुनः, भाव कि और स्वामियोंका यह स्वभाव नहीं है, यथा—*'कनककसिपु बिरंचि को जन करम मन अरु बात। सुतहि दुखवत बिधि न बरज्यो काल के घर जात॥ संभु सेवक जान जग बहु बार दिए दससीस। करत राम बिरोध सोउ सपनेहु न हटकेउ ईस॥……'* (वि० २१६) (ख) *'अभिमान न राखहिं'*—भाव कि अभिमान संसारका मूल है। अहंकार ही सृष्टिका प्रथम बीज (मूल कारण कहा गया है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं शूद्र, मैं ज्ञानी, मैं भक्त इत्यादि अनेक प्रकारके अहंकार हैं। इनके वश जन्म-मरण होता ही रहता है। (पं० रा० व० श०) सुन्दरकाण्डमें श्रीरामजीने विभीषणजीसे अपना स्वभाव इस प्रकार वर्णन किया है—*'जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥'* (४८। २) से *'अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसत धन जैसे॥……।'* (४८) तक। *'जन अभिमान न राखहिं काऊ'* यह स्वभाव उस पूर्वकथित स्वभावका अङ्ग है। भगवान् कहते हैं कि मेरा भक्त मुझे लोभीके धनसमान प्रिय है। अतः भुशुण्डिजी कहते हैं कि प्रभु उस धनका नाश नहीं देख सकते, उसकी सदा रक्षा करते हैं। अभिमान भक्तका नाशक है। अतएव वे उस अभिमानका ही नाश करके भक्तकी रक्षा करते हैं।

३ *'जन अभिमान न राखहिं काऊ'* इससे जनाया कि मुझे अभिमान हुआ था इसीसे मुझे मायाने घेरा और उसी प्रसङ्गमें मुझे प्रभुने कृपा करके प्रभुता दिखायी। और आपको भी अभिमान हुआ था, यथा—*'होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना'* अतः आपपर कृपा करके अभिमान दूर करनेको यह चरित किया और यहाँ भेजा, यथा—*'सो खोवइ चह कृपानिधाना।'* पुनः, भाव कि प्रभु भक्तोंके मनको सदा जुगवते रहते हैं, सब कामनाएँ पूर्ण करते हैं, पर अभिमान जरा भी हुआ तो कभी नहीं रहने देते। इसका कारण आगे कहते हैं—*'संसृतमूल सूलप्रद नाना……॥'* ☞ मिलान कीजिये नारद-मोह-प्रसङ्गसे, *'करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी॥ बेगि सो मैं डारिहौं उखारी। पन हमार सेवक हितकारी॥ मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करबि मैं सोई॥'* (१। १२९। ४—६)

४ *'सूलप्रद नाना।'* शूल रोग आठ प्रकारका कहा गया है, उसी प्रकार पीड़ा देनेवाले क्लेश भी अनेक प्रकारके हैं। कोई पञ्चक्लेश और कोई दस मानते हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश, लोभ, मोह, मान, दृष्टि, विचिकित्सा, स्थिति, उद्धव्य, अह्रीक और अनुत्ताप—ये भी शूलके अन्तर्गत हैं। मानसकारके मतानुसार शूल अगणित प्रकारके हैं। इसीसे यहाँ *'नाना'* विशेषण दिया था, यथा—*'बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥'* (१२१। ३२) *'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥'* (१२१। २९) ५ *'सकल सोक'* का भाव कि शोक भी अगणित प्रकारके हैं। इष्टहानि, अनिष्टकी प्राप्ति, किसी पीड़ा अथवा दुखदायी घटनासे जो क्षोभ मनमें उत्पन्न होता है वह शोक कहलाता है। ६ *'संसृतमूल'* कहकर उसका फल कहा कि शूलप्रद है, यथा—*'भव खेद छेदन दक्ष हम कहँ रक्ष राम नमामहे।'* शूलसे शोक होता ही है, अतः शूलप्रद कहकर शोकदायक कहा। यहाँ 'द्वितीय निदर्शना अलङ्कार' है। पुनः, *'सकल सोकदायक अभिमाना'* का भाव कि अभिमान 'मोहमूल' है मोहमूल होनेसे समस्त शूलों और शोकोंका देनेवाला है, यथा—*'मोहमूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान।'* (५। २३) ☞ स्मरण रहे कि यहाँ गरुड़को मोहसे अभिमान हुआ। इससे अभिमानमें ये अवगुण दिखाये हैं। नारदको

मोहसे स्त्रीकी चाह अर्थात् काम व्याप्त हुआ था। अतः वहाँ स्त्रीमें सब दोष दिखाये थे, यथा—*'अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुखखानि।'*

नोट—यहाँ अभिमानको संसृतिमूल कहा और आगे अविद्याको संसृतिमूल कहा है। यथा *'भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अविद्या नासा॥'* (१२९। ८) इस तरह जनाया कि अभिमान भी माया है। मायाका कार्य अहंकारहीसे आरम्भ होता है।

तातें करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥७॥
जिमि सिसु तन ब्रन होइ गुसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥८॥

शब्दार्थ—**ब्रन**=(व्रण)=शरीरमें होनेवाला फोड़ा। **कठिन**=कठोर।

अर्थ—इसीसे (कि नहीं तो भक्त फिर भवमें पड़ जायगा और दुःख भोगेगा, अपने सहज स्वभावसे दयासागर उसे दूर करते हैं। सेवकपर उनका अत्यन्त भारी ममत्व है॥ ७॥ हे गुसाईं! जैसे बच्चेके शरीरमें फोड़ा होता है तो माता उसे कठोर हृदयवालेके समान चिरवाती है॥ ८॥

पं० रा० व० श०—*'ममता अति भूरी'* यह कारण है अभिमान दूर करनेका। यह हमारा है, हमारा होकर यह इतने भारी क्लेशमें पड़े? यह ममता है।

नोट—१ *'तातें करहिं कृपानिधि दूरी।'*—ममत्व और कृपालुताके कारण उसको क्लेशमें पड़ा हुआ नहीं देख सकते। अतः उसके क्लेशके मूलको दूर करते हैं। अतः *'कृपानिधि'* कहा। कृपा यह कि यदि यह (अभिमान) बढ़ गया तो फिर यह संसारचक्रमें पड़ जायगा, इससे उसके अभिमानको नष्ट करनेका उपाय करते हैं। यथा—*'करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी॥ बेगि सो मैं डारिहउँ उखारी'* एवं *'अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुखखानि। तातें कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि॥'* (आ० ४४) अभिमान दूर करनेसे दासका हित है, इसीसे इसे प्रभुकी कृपा कही—*'मुनि हित कारन कृपानिधाना। दीन्ह——'*, *'हरहिं मान हित लागि।'*

२ *'सेवक पर ममता अति भूरी'* इति। (क) ममत्व सांसारिक सम्बन्धोंमें पुत्रपर सबसे अधिक माना गया है, यथा—*'सुत की प्रीति प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरिहै।'* (वि० २६८) *'सुत बित दार भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी।'* (वि० १४०) (इसीसे *'सुत'* को आदिमें रखा)। अतः *'सेवक पर ममता अति भूरी'* से जनाया कि बालक शिशुके समान सेवकपर ममत्व रखते और उसकी रक्षा करते हैं, यथा—*'बालक सुत सम दास अमानी'* *'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥'* (३। ४३। ८-५) इसीसे यहाँ भी 'शिशु' का उदाहरण देते हैं (ख) *'अति भूरी'* से साधारण भूरि और अति भूरि तीन तरहके ममत्व जनाये। वस्तुपर लोभ साधारण ममता है, सुतपर प्रेम भूरि ममता है और उससे भी अधिक जो ममत्व प्राकृत ममत्वसे बढ़कर है वह 'अति भूरि ममता' है।

३ ☞ नारदप्रसङ्गमें *'गह सिसुबच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥'* कहा था और यहाँ शिशुतनमें व्रण होनेका दृष्टान्त दिया। इस प्रकार जनकी रक्षाके विषयमें दो सिद्धान्त कहे। एक अरण्यकाण्डमें दूसरा यहाँ।—(क) माताका बालककी रक्षा करना। यह कहकर एक प्रकारकी रक्षा वहाँ कही और यहाँ रक्षाका दूसरा प्रकार कहा। भाव कि उस तरहकी रक्षामें (सर्प और अग्निसे रक्षा करनेमें) कठोरताकी जरूरत नहीं होती, पर यदि रक्षाके लिये कठोरहृदय होनेकी आवश्यकता पड़े तो चित्तको कठोर करके रक्षा करते हैं। पुनः, (ख) दोनों जगह मिलाकर दो बातें कहनेके लिये दो दृष्टान्त दिये और जनाया कि भगवान् दुःखकी ओर जानेके पूर्व भी रक्षा करते हैं और कदाचित् दास दुःखमें पड़ गया तब भी उसका दोष समझकर छोड़ नहीं देते फिर भी रक्षा करते हैं। या यों कहते हैं कि एक तो दुर्गुणमें फँसने नहीं देते, पर यदि भूलसे गलती हो जाय, वह पातकमें फँस जाय, तो उस पातकका फल तुरंत दे देते हैं, भावी कर्मविपाकका झगड़ा नहीं रहने देते। यही चिराना है। अतः जनाया कि बाहर-भीतर दोनों शत्रुओंसे रक्षा करते हैं। यदि दोनोंको एक ही मानें तो उसका निर्वाह इस तरह होगा कि नारदको गर्व

हुआ यह व्रण था। उस गर्वको दूर करनेके लिये प्रभुने उनके रोनेकी कुछ पर्वा न की और यहाँ भुशुण्डिको मोह हुआ यह व्रण है, दौड़ते फिरे, हाथ पास ही लगा देख वे व्याकुल हुए, यह चिरानेमें रोना हुआ।

कोई महानुभाव ऐसा कहते हैं कि—अरण्यकाण्डमें नारदका प्रश्न है कि *'तब बिबाह मैं चाहिउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा॥'* (३। ४३। ३) इसका उत्तर जो प्रभु दे रहे हैं वह इस प्रकारका है कि *'भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा। करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥——दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥'* इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि वहाँ स्त्रीरूपी 'रिपु' (सर्प अग्नि) अभी दूर है, प्रथम ही उससे रक्षा करनेका प्रकरण है और यहाँ प्रसङ्गका उत्थान *'जन अभिमान न राखहिं काऊ'*, *'तातें करहिं कृपानिधि दूरी'* से हुआ है अर्थात् यहाँ रोग हो जानेपर उसके 'दूर' करनेका प्रकरण है। अतः वहाँ *'राखइ जननी अरगाई'* और यहाँ *'चिराव कठिन की नाईं'* कहा……। अथवा, भेद यह है कि नारदके मनमें कामोद्दीपन हुआ, वे उसकी तरफ दौड़े जा रहे हैं—*'हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला।'* अभी दूर हैं अतः वहाँ अलग करना कहा और यहाँ मोहने घर बना लिया है—*'महा मोह उपजा उर तोरें।'* अतः यहाँ व्रणका होना कहा।

४ *'कठिन की नाईं'* का भाव कि हृदयको कठोर कर लेती है, निर्दयी बन जाती है, इसीसे बालकके उस समयके रोदनपर किञ्चित् ध्यान नहीं देती। 'कठिनता' आगे दिखाते हैं—*'ब्याधि नासहित——।'*

वि० त्रि०—यहाँ अभिमानकी उपमा शरीरके व्रणसे दिया। अभिमानका उत्पन्न होना ज्ञानमयी शरीरमें व्रणका उत्पन्न होना है। *'गरुड़ महाज्ञानी गुनरासी। हरि सेवक अति निकट निवासी॥'* उन्हें दैवात् अभिमान हो गया अर्थात् व्रण हो गया। उसी व्रणपर शल्य (शस्त्र) चिकित्सा हो रही है, उन्हें काकसे जाकर हरिकथा सुननेके लिये प्रार्थनापूर्वक श्रोता बनना पड़ रहा है, यहाँपर सुशील भुशुण्डिजी उसी सिद्धान्तका निरूपण कर रहे हैं।

दो०—जदपि प्रथम दुख पावै रोवै बाल अधीर।
ब्याधि नास हित जननी गनत* न सो सिसु पीर॥
तिमि रघुपति निज दासकर हरहिं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहि कस न भजसि† भ्रम त्यागि॥ ७४॥

अर्थ—यद्यपि बालक पहले (फोड़ा चिराते समय) दुःख पाता और अधीर होकर रोता है तो भी रोगके नाशके लिये माता उसके उस (रोनेकी) पीड़ाको कुछ नहीं गिनती अर्थात् उसकी पर्वा नहीं करती। इसी प्रकार (जीवोंके स्वामी) श्रीरघुनाथजी अपने दासके हितके लिये उसका अभिमान दूर करते हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि ऐसे प्रभुको भ्रम छोड़कर क्यों नहीं भजते हो?॥ ७४॥

नोट—१ (क) *'जदपि प्रथम दुख पावै——।'* भाव कि दुःख उतनी ही देर रहता है, चिरनेपर नहीं रह जाता, फिर तो वह सुखी हो जाता है, रोना भी बंद हो जाता है। (ख) *'अधीर'* इससे कि एक माता ही उसकी गति है, सो वह भी रोनेकी पर्वा नहीं करती, जो पुत्रके एक काँटेकी भी पीड़ा नहीं देख सकती थी, वही निठुर होकर हाथ पकड़कर नशतर दिला रही है तब किसकी शरण जाय जो बचा ले। इसीसे उसका धैर्य जाता रहा, वह धीरज छोड़कर रो रहा है।

२—*'तिमि रघुनाथ——'* इति। यहाँ श्रीरघुनाथजी माता हैं, अभिमान व्याधि वा फोड़ा है। विषैले फोड़ेके न चिरवानेसे विष फैलनेसे मृत्यु हो जाती, वैसे ही अभिमानके बढ़नेसे भव अर्थात् बारंबार जन्म-मरण होता। व्याधिनाशसे बच्चेका हित, वैसे ही अभिमाननाशसे दासका हित। वहाँ फोड़ा चिरानेमें वह रोता और यहाँ अभिमानके नाशके उपायमें जो मायाका कौतुक होता है उससे दासका धैर्य जाता रहता है। वहाँ माता कठोर, वैसे ही यहाँ प्रभु कठोर हो जाते हैं।

* 'गनइ'। † भजसि—(का०)। भजहु—(भा० दा०)।

३—माताके समान पिताका ममत्व 'शिशु' पर नहीं होता, अतः माताका ही दृष्टान्त दिया। ☞ इस उदाहरणका एवं जो कुछ इस प्रसङ्गमें कहा गया है वह सब नारदजीके मोह-प्रसङ्गमें चरितार्थ है। ☞ यहाँतक भुशुण्डि-गरुड़-संवादका प्रकरण है। दोहेके उत्तरार्द्ध *'तुलसिदास ऐसे प्रभुहिं……'* में भावकी सबलतासे कविकी उक्ति है।

पं० रा० व० श०—१ भक्त अपनेको तृणसे तुच्छ समझता है। कोई फल-फूल-डाल इत्यादि तोड़े तो भी वृक्ष नहीं बोलता, वैसे ही भक्त कष्ट सहकर भी परोपकार ही करता है, शत्रु, मित्र, उदासीन सब उसके लिये एक-से हैं। ऐसा पुरुष भक्तिका अधिकारी होता है। ऐसे भक्तमें भी अभिमान हुआ कि वह गिरा। ***'हित लागि'*** से जनाया कि अभिमान सर्वथा अहितकारक है, ऐसा समझकर उसे दूर कर देते हैं। अभिमानकी दवा अपमान ही है, सत्कार पाकर वह बढ़ता है, जैसे नारदका बढ़ा। इसलिये ऐसे ही उपाय किये जाते हैं कि जिनसे उसका तिरस्कार हो। पुनः, **'हित लागि'** का भाव कि इसमें भगवान्‌का न कोई लाभ है न हानि। अभिमानसे हानि है तो उसकी, वह भोगेगा, यह प्रभु कृपालु होनेसे नहीं देख सकते, इसीसे अपना कोई लाभ न होनेपर भी भक्तका हित करते हैं, उनके हितको अपना हित समझते हैं।

सिद्धान्त		नारद-प्रसङ्गमें चरितार्थ
जन अभिमान न राखहिं काऊ	१	**उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी। बेगि सो मैं डारिहौं उखारी॥**
ताते करहिं कृपानिधि दूरी	२	**करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ……**
सेवक पर ममता अति भूरी	३	**पन हमार सेवक हितकारी**
हरहिं मान हित लागि	४	**मुनि कर हित मम कौतुक होई। अवसि उपाय करब मैं सोई॥** **जेहि बिधि होइहि परमहित..........सोइ हम करब........**
मातु चिराव कठिन की नाईं	५	**रूख बदन करि बचन मृदु बोले श्रीभगवान**
जदपि प्रथम दुख पावै रोवै	६	**मुनि अति बिकल मोह मति नाठी**

इसके आगे जो कठोर वचन भगवान्‌को कहे हैं वही अधीर रोदन है—*'कपि आकृति तुम्ह कीन्हि हमारी।'* क्योंकि पीछे पश्चात्ताप किया है—*'पाप मिटिहि किमि मोरे।'*

'ब्याधि नाश' से 'सुख'	७	**बिगत मोह मन हरष बिसेषा**
गनत न सो सिसु पीर	८	**'बोले मधुर बचन सुरसाईं' 'साप सीस धरि……'**

गौड़जी—*'सिसु तन ब्रन……गनइ न सो सिसु पीर'* इति। भगवत्‌के कृपापात्रकी यों तो बराबर रक्षा होती ही रहती है तथापि वह साधारणतया संसारके सभी तरहके कर्मोंको करता हुआ मायाके चक्रसे बाहर तो नहीं है। वह कभी-कभी ऐसे कर्म भी कर बैठता है जिनके दुर्विपाकसे उसके घोर पतनका और भक्तिमार्गसे विचलित हो जानेका भयानक भय होता है, फिर वह कर्म चाहे काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर किसी भी विकारसे उत्पन्न हुआ हो। इसी तरहका कर्म भक्तरूपी बालकके शरीरका व्रण है। ऐसे कर्मका तुरंत विपाक न हो जाय तो कई जन्मोंमें व्याजसहित बड़ा भयानक रूप धारण कर ले। इसलिये ऐसे कर्मका किसी-न-किसी ढंगसे प्रभु तात्कालिक विपाक कराकर भक्तके उस भयानक कर्मको नष्ट करा देते हैं। इस क्रियामें भक्तको महान् कष्ट होता है, परंतु उसके हितके लिये प्रभु उस पीड़ाको कुछ नहीं गिनते। कभी-कभी ऐसी घोर पीड़ामें भक्त घबड़ा जाता है और उसका विश्वास विचलित होने लगता है परंतु प्रभु उसके विश्वासकी भी रक्षा करते हैं, क्योंकि प्रभुकी प्रतिज्ञा है—**'न मे भक्तः प्रणश्यति।'** यह साधारणतया देखा जाता है कि भगवज्जन अनेक तरहके सांसारिक क्लेशोंमें पड़े रहते हैं और नास्तिक लोग सांसारिक भोग-विलासमें मग्न सब तरहसे सम्पन्न और सुखी देख पड़ते हैं। सांसारिक दृष्टिसे दुःखी भक्त वास्तवमें वही हैं जिनका व्रण चिराया जा रहा है और जिन्हें विषयोपभोगसे धीरे-धीरे विरत किया जा रहा है।

नोट—४ (क) *'तुलसिदास ऐसे प्रभुहि।'* यह अपने मनके द्वारा लोकको उपदेश है। (ख) *'ऐसे प्रभुहि'* अर्थात् जिनका ऐसा ममत्व अपने दासपर रहता है और जो सदा उसकी रक्षामें रहते हैं, ऐसे दयासागर हैं। (ग) *'प्रभु'* का भाव कि वे अपने जनके दोषको हरण करनेको तथा जनकी रक्षाके लिये स्वयं समर्थ हैं। अन्य देव अपने सेवकके दोषोंको अपहरण करनेको समर्थ नहीं हैं। रावण, बाणासुर आदिकी कथाएँ प्रमाण हैं। (घ) *'भ्रम त्यागि'* कहा, क्योंकि भ्रम भजनका बाधक है। भ्रममें सब प्रकारके मोह आ गये, जिनका अनुमान किया जा सकता है। *'भ्रम तजि भजहु भगत भयहारी'* (इत्यादि। सुं० २१। ८) देखिये। [भाव कि ऐसा उपकारी कोई नहीं—*'मातु पिता स्वारथ रत ओऊ।'* दूसरा कोई भी ऐसा निर्हेतु सहज उपकार कर सकता है, यह भ्रम छोड़ो। (रा० प्र०)। ☞ भगवान्‌की भक्तिमें चित्त नहीं हो तो समझ लो कि हम भ्रममें पड़े हैं।]

५—*'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ'* उपक्रम है और *'तुलसिदास ऐसे प्रभुहि—'* उपसंहार है, इसके बीचमें श्रीरामजीका स्वभाव कहा गया।

इति श्रीराम-सहज-स्वभाव-वर्णन समाप्त।

रामकृपा आपनि जड़ताई। कहौं खगेस सुनहु मन लाई॥ १॥
जब जब राम मनुज तन धरहीं। भक्त हेतु लीला बहु करहीं॥ २॥
तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ। बालचरित बिलोकि हरषाऊँ॥ ३॥

अर्थ—हे पक्षिराज! श्रीरामचन्द्रजीकी कृपा और अपनी मूर्खता कहता हूँ, मन लगाकर सुनिये॥ १॥ जब-जब श्रीरामचन्द्रजी मनुष्यदेह धारण करते हैं और भक्तोंके कारण एवं उनके प्रेमसे बहुत-सी लीलाएँ करते हैं॥ २॥ तब-तब मैं अवधपुरी जाता हूँ और बालचरित देखकर प्रसन्न होता हूँ॥ ३॥

खर्रा—अब कथाका उपोद्‌घात कहते हैं। *'रामकृपा आपनि जड़ताई'* से *'जूठन परै अजिर महँ—'* तक—यह सब बार-बार अवतार-समयमें रहनेका प्रसंग जो कहा वह उपोद्‌घात है।

नोट—१ *'राम कृपा आपनि जड़ताई'* कहना भक्त-लक्षण है, यथा—*'गुन तुम्हार समुझइ निज दोसा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥'* (रा० प्र०)। पुनः, भाव कि कृपाका अनुभव वही कर सकता है, जो जड़तामें पड़ा हो। (*'जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानै सोई॥'* ये वचन अभी गरुड़जी अपने मुखसे कह चुके हैं)। मेरी जड़ता पराकाष्ठाकी थी, वैसे ही प्रभुकी कृपा भी पराकाष्ठाकी थी। (पं० रा० व० श०)।

२—*'राम कृपा आपनि जड़ताई'* इति। प्रथम रामकृपा कही तब अपना मोह। क्योंकि लीला जिसमें मोह हो जाता है वह तो भक्तके हितके लिये, उसके प्रेमके कारण करते हैं—*'भगत हेतु लीला बहु करहीं'*, पर उसमें उसको हो जाता है मोह। यही क्रम आगे है।

रा० शं० श०—सम्भव है कि *'आपनि जड़ताई'* कहता हूँ इससे गरुड़जी उसे न सुनें, अतः कहा कि *'सुनहु मन लाई।'* पुनः, भाव कि अपनी जड़ता ही कहते तो शिष्टजन किसीके दोष क्यों सुनने लगे, अतः कहते हैं कि रामकृपा ही इसमें प्रधान है। मेरी जड़ताका सम्बन्ध उस कृपासे है, उस जड़तामें ही कृपा मुझे देखनेमें आयी थी; अतः एकके बिना दूसरेका कथन हो ही नहीं सकता। जड़ता क्या है, यह आगे भागनेके प्रसंगमें कहेंगे कि यही जड़ता है।

पं०—*'मन लाई'* क्योंकि प्रभुके गुण मन लगाकर सुनने योग्य हैं और मायाका छल भी मन देकर सुनना चाहिये। सारांश कि तुमको मायाने छला है, अब सावधान हो जाओगे।

पं० रा० व० श०—*'मन लाई'* का भाव कि मन लगाकर सुननेपर ही ये दोनों बातें समझ पड़ेंगी, अन्यथा नहीं।

नोट—३ *'राम मनुज तनु धरहीं'* अर्थात् राम नामक परब्रह्म साकेताधीश आकर नरतनसे लीला करते हैं। यही बात आगे भी कही है—*'जब जब अवधपुरी रघुबीरा। धरहिं भगत हित मनुज सरीरा॥'* (११४। १२) श्रीरामावतार कल्प-कल्पमें होता है। यथा—*'कल्प-कल्प प्रति प्रभु अवतरहीं।'*

बाबा हरिदासाचार्यजीके मतानुसार इसका भाव यह है कि 'द्विभुज परात्पर परब्रह्म 'राम' ही सब अवतार लेते हैं, पर मैं तभी जाता हूँ जब अवधमें नर-शरीरसे अवतरित होते हैं।' विष्णु आदिका भी रामरूप धारण करना माननेपर भाव यह होगा कि अवतार तो और भी लेते हैं, पर मैं तभी आता हूँ जब 'राम' अवतार लेते हैं अर्थात् जब साकेतसे अवतार होता है। '*मनुज*' में 'मनु' वाले अवतारकी रियायत है।

बाबा हरिदासजी रसिक श्रीरामस्तवराजके श्लोक ३४ में 'श्रीवल्लभ, मत्स्यकूर्मादिरूपधारी, अव्यय' की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि सर्वावतारी जनानेके लिये मत्स्य-कूर्म-वराहादि-रूपधारी कहा। अवतार लेनेपर भी आप द्विभुज धनुर्धर नित्य किशोररूप बने ही रहते हैं। इसीलिये 'अव्यय' विशेषण दिया अर्थात् पूर्वरूपको न छोड़कर दूसरा रूप धारण करते हैं, अर्थात् नित्यरूपसे स्थित हुए भी अनेक रूप प्रकट कर दिखाते हैं। वे रूप भी आपमें नित्य हैं। इसीको श्रुतिने कहा है कि 'चिन्मय अद्वितीय निष्कल अशरीरी ब्रह्मकी उपासकोंके लिये अनेक रूपोंसे कल्पना होती है। और उनके पुरुष-स्त्री-अंग-अस्त्रादिकी कल्पना, तथा २, ४, ६, ८, १०, १२, १६, १८ इत्यादि सहस्र हस्तपर्यन्त तथा उनके वरण वाहनकी कल्पना होती है। जो रामचन्द्र हैं वे ही भगवान् मत्स्यादि अवतारको धारण करते हैं। इस प्रकार तापनीके अन्तमें भी कहा है।—

'जैसे एक मणि नील-पीतादिसे युक्त होनेपर रूपके भेदको प्राप्त होता है, उसी प्रकार भगवान् भी उपासकोंके लिये रूपभेदको प्राप्त होते हैं। मत्स्यादिरूप धारण करनेपर भी वे अपने गुण, रूप और प्रतिज्ञासे च्युत नहीं होते। इसीसे अच्युत कहलाते हैं। नारदपञ्चरात्रके वचनका तात्पर्य यह है कि—श्रीरामचन्द्र भगवान् मूलतत्त्व हैं, वे ही देवादिभक्त-कार्यवश स्वयं प्रकट होते हैं और अपनेमें मत्स्यादिरूपोंकी प्रतीति करा देते हैं। 'कल्पना' शब्दका अर्थ '**कल्पनं समर्थनम्**' है अर्थात् अपने रूपमें तत्तद्रूपोंकी प्रतीति कराना ही कल्पना है। इस तरह विष्णु, नारायण, वासुदेव, हरि आदिको भी जानना; क्योंकि 'उनके नामकी निरुक्तिसे अपरिछिन्न चिदात्मक परात्परतत्त्व श्रीरामजी ही अनेक रूपसे प्रकट होते हैं' यह सिद्ध है। '**रमन्ते योगिनोऽनन्ते**' इस निरुक्तिसे सिद्ध परतत्त्वपरब्रह्म श्रीरामजी सर्वावतारी सर्वकारण कहे जाते हैं, उनको छोड़ दूसरा सर्वकारण नहीं हो सकता। मत्स्यादिरूप भी उनसे भिन्न नहीं हैं। पूर्वपरभावसे मत्स्यादिरूपोंमें अनित्यत्वकी शंका भी न करनी चाहिये। जैसे एक मणिमें नाना रंग प्रतीत होते हैं वैसे ही श्रीरामजीमें एक कालहीमें सब रूप सिद्ध हैं। इसी कारण सब रूप सनातन हैं और सर्वगुणवाले हैं, यह मानना चाहिये। वराहपुराणमें भगवान्‌के सब देह शाश्वत, हेय-उपादेय-रहित, परमानन्दसंदोह, सब ओरसे ज्ञानमात्र, सब सर्वगुणोंसे पूर्ण, सर्वदोषविवर्जित, प्रकृतिसे उतपन्न नहीं—यह कहा गया है। 'शाश्वत' से उन्हें अनादि बतलाया। इस तरह श्रीरामजीमें एक कालहीमें सब रूपोंकी सिद्धि यथार्थ रूपसे है। सबको प्रकृतिलेशरहित और परमानन्दपूर्ण कहा। ज्ञानमात्र कहनेसे गुणतः, स्वरूपतः, विग्रहतः स्वप्रकाशरूप बतलाया। सब अवतारोंमें सब गुण पूर्ण कहे। नृसिंह, राम, कृष्णादिमें तो षड्गुणपूर्ण ही बतलाया है। जिन रूपोंमें उन गुणोंकी प्रतीति न हो, उन्हें भी सर्वगुणपूर्ण ही मानना चाहिये। जिन गुणोंका जहाँ प्रयोजन पड़ता है, वही गुण उस समय प्रकट किये जाते हैं। इसी प्रकार अंश, कला इत्यादि-विवक्षा समझनी चाहिये। जैसे कोई एक सर्वशास्त्रका जाननेवाला है, परञ्च जहाँ जिसका प्रयोजन पड़ता है वहाँ वह उस शास्त्रका प्रकाश करता है। उस समय वह उसी शास्त्रका ज्ञाता कहा जाता है। जैसे वह कभी एक शास्त्रग्राही, कभी सर्वशास्त्रज्ञ कहा जाता है, वैसे ही अवतारी श्रीरामजीमें अवतारोंका भेद समझना चाहिये।—(श्लो० ३४ रामस्तवराजभाष्यसे अनुवादित)।'

'**सर्वावताररूपेण दर्शनस्पर्शनादिभिः। दीनानुद्धरते यस्तु स रामः शरणं मम॥**' इत्यादि पञ्चरात्रादिके वाक्योंसे यह निश्चित है कि वही रामाख्य परब्रह्म उपासकोंकी प्रार्थनासे उनके कार्यार्थ पृथ्वीमें अवतीर्ण होकर भक्तोंके कार्यको करते हैं। भुविमें अवतरणमात्रसे अवतार कहे जाते हैं—'**अवतरतीति अवतारः**।'

स्वामी श्रीभोलेबाबाने 'भवतरणोपाय' शीर्षक अपने लेखके अन्तर्गत '***रामका रूप***' इसके विषयमें कल्याण भाग ५ में जो लिखा है वह भी बाबा श्रीहरिदासजीके विचारोंका समर्थक है। वे लिखते हैं कि 'सब रूपोंसे परे होनेसे श्रीरामरूप स्वतन्त्र है, क्योंकि श्रीरामकी इच्छासे अनेक भगवत्-रूप लोकोंका कार्य कर रहे हैं। जैसा कि सदाशिवसंहितामें भी कहा है—

'महाशम्भुर्महामाया महाविष्णुश्च शक्तयः। कालेन समनुप्राप्ता राघवं परिचिन्तयन्॥' तथा—कूर्मपुराणमें—**'मत्स्यः कूर्मो वराहो नरहरिरतुलो वामनो जामदग्निः सभ्राता कंसशत्रुः करुणमदवपुर्लक्षिविध्वंसनश्च। एते चान्येऽपि सर्वे तरणिकुलभुवो यस्य जाताः कुलांशे तं व्याप्तं ब्रह्मतेजं विमलगुणमयं रामचन्द्रं नमामि॥'**

गौड़जी—*'जब जब राम मनुज तनु धरहीं'* इति। मानसकार परात्परब्रह्म राम, विष्णु, शिव, ब्रह्मा, नारायणादि रूपोंमें सर्वथा अभेद मानते हैं। ब्रह्म रामको अवतारी और नारायणादिको अवतार मानते हैं। इसलिये इस प्रसङ्गमें *'जब जब——'* के तीन तरहके अर्थ हो सकते हैं—

१—जब-जब ब्रह्मराम दाशरथि रामका तन धारण करते हैं।

२—जब-जब ब्रह्मराम कृष्णादि कोई भी मनुज-तन धारण करते हैं।

३—जब-जब विष्णु, नारायणादि, रामकृष्णादि मनुज-तन धारण करते हैं।—इन तीनों अर्थोंमें पहला ही अर्थ प्रस्तुत प्रसङ्गमें ग्राह्य है, क्योंकि भुशुण्डिजीकी उपासना ब्रह्मरामकी ही है और ब्रह्मराम जब दाशरथि होकर अवतरते हैं तभी भुशुण्डिजी और शिवजी बाललीला देखने आते हैं। भुशुण्डिजी और शिवजीका ध्यान उसी रामरूपका है। यथा *'जो सरूप बस सिव मन माहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥ जो भुसुंडि मनमानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥ देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन॥'* (१। १४६) दूसरा अर्थ इसलिये नहीं लगता कि यहाँ कृष्णादि अन्य रूपोंका कोई प्रयोजन नहीं है और तीसरा अर्थ भी नहीं लगता, क्योंकि भुशुण्डिजीकी उपासनासे वह भिन्न है।

नोट—४ *'भगत हेतु'* से जनाया कि जो लीला मैं कहनेको हूँ वह मेरे भावके अनुकूल कर रहे थे, पर मेरी ही मूर्खता थी कि मुझे मोह हो गया।—विशेष दोहा ७२ देखो। *'हरषाऊँ'* का कारण आगे स्वयं कहते हैं।

जन्म महोत्सव देखौं जाई। बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई॥ ४॥
इष्टदेव मम बालक रामा। शोभा बपुष कोटिसत कामा॥ ५॥
निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करौं उरगारी॥ ६॥
लघु बायस बपु धरि हरि संगा। देखौं बालचरित बहु रंगा॥ ७॥

अर्थ—जाकर मैं जन्ममहोत्सव देखता हूँ और लुब्ध होकर वहाँ पाँच वर्ष रहता हूँ॥ ४॥ बालकरूप श्रीरामचन्द्रजी मेरे इष्टदेव हैं। उनके शरीरमें असंख्यों कामदेवोंकी शोभा है॥ ५॥ हे सर्पोंके शत्रु! अपने प्रभुका मुख देख-देखकर मैं अपने नेत्रोंको सुफल करता हूँ॥ ६॥ छोटे कौएका शरीर धरकर भगवान्‌के साथ उनके बहुत प्रकारके बालचरित देखा करता हूँ*॥ ७॥

नोट—१ (क) *'जन्म महोत्सव देखौं——'* से जनाया कि जन्मके पूर्व ही वहाँ पहुँच जाते हैं। अभी सूतिकागारमें प्रभु हैं, अतः 'जन्ममहोत्सव' देखना कहा, क्योंकि अभी उनके दर्शन नहीं हो सकते। (ख) 'जन्ममहोत्सव' विप्रबालकके रूपसे देखने जाते हैं, यथा—*'कागभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुजरूप जानै नहिं कोऊ॥ परमानंद प्रेमसुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले॥'* (१। १९६) नोट (५) में देखिये। (ग) 'जाई' से जनाया कि शेष सब समय इसी आश्रममें रहता हूँ। अवतारके समय यहाँसे जाता हूँ।

२ *'बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई।'* (क) *'बरष पाँच'* का भाव कि बाल्यावस्था पाँच वर्षतक होती है और इसी अवस्थातकका रूप हमारा इष्ट है, इससे आगे नहीं। पर इसका भाव यह नहीं है कि पाँच वर्ष ही रहते फिर कभी नहीं रहते; क्योंकि यदि ऐसा अर्थ करेंगे तो आगे-पीछेके वाक्योंसे विरोध होगा, यथा—*'सुनु खगेस तेहि अवसर ब्रह्मा सिव मुनिबृंद। चढ़ि बिमान आये सब सुर देखन सुखकंद॥ ११॥' 'बैनतेय सुनु संभु तब आये जहँ रघुबीर॥ १३॥'* इत्यादिके *'आये'* शब्दसे भुशुण्डिजीकी इन अवसरोंपर भी उपस्थिति

* 'काको नाम्ना भुशुण्डस्तु कदाचिदाजगाम ह। स्वस्थानाच्च हरेर्भक्तो रामदर्शनलालसः॥ १॥', 'भुशुण्डोऽपि निजं स्थानं प्रापद्यत प्रहर्षितः। ध्यायमानः सदा रामं बालरूपिणमीश्वरम्।'

वहाँ पायी जाती है। तात्पर्य इतना ही है कि पाँच वर्षतक लुभाया-सरीखा रहता हूँ, इसके बाद वैसी दशा नहीं रहती। (ख) '**लुभाई**' का भाव कि जन्मोत्सवसे ही लुभा जाता हूँ, यद्यपि उस समय दर्शन नहीं मिलते। '**लुभाई**' अर्थात् *'परमानंद प्रेम सुख'* में फूला हुआ मग्न रहता हूँ, तन-मनकी सुधि नहीं रहती—***'बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले।'*** कब दिन हुआ कब रात, दिन-रात जाते कुछ मालूम ही नहीं होता।

३—***'इष्टदेव मम बालक रामा'*** का भाव कि मेरे गुरुने मुझे इसी स्वरूप और अवस्थाका ध्यान और भावना बतायी है, यथा—*'हरषित राममंत्र तब दीन्हा॥ बालकरूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहि मुनि कृपानिधाना॥'* (११३। ६-७) [रा० प्र०—जिस रूपके चिन्तन वा ध्यानमें जो रत हो वही उसका इष्ट है। इष्ट=चितचाहा देवता।]

४ ***'लोचन सुफल करउँ उरगारी'*** इति। **सुफल**=फलयुक्त, कृतार्थ, सार्थक। नेत्रोंका फल है श्रीरघुनाथजीका दर्शन। अतः *'निज प्रभु बदन निहारि निहारी'* कहकर नेत्रोंको फलयुक्त करना कहा। दर्शन हुआ मानो फल लगा दिया। नेत्रका विषय रूप है, अतः अपने विषयको पाकर नेत्र सुखी अवश्य होते हैं, पर सुफल नहीं कहे जा सकते, जबतक वह विषय भगवत्-रूप न हो। श्रीराम-दर्शनसे नेत्र सुफल होते हैं, यथा—*'लोचन सुफल करौं मैं जाई।'* (६। १०। ७; कुम्भकरण) *'होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदन पंकज भव मोचन॥'* (३। ६२। ९) (सुतीक्ष्णजी), *'निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं॥'* (३। २६) (मारीच), इत्यादि।

५—***'लघु बायस बपु धरि हरि संगा।'*** (क) *'लघु बायस बपु धरि'* से जनाया कि इनका रूप दूसरा है, ये इस रूपसे दर्शन करने आया करते हैं। इनका वास्तविक रूप सत्योपाख्यान २६। २४—२६ में वर्णित है। वह इस प्रकार है कि पर्वताकार शरीर, भयानक बड़ी भारी चोंच है, महादीर्घ पक्ष हैं, तालवृक्षके समान महादीर्घ पैर हैं, जिनमें बड़े-बड़े नख हैं जो अङ्कुशके समान हैं। पुनः, छोटे कौएका रूप धारण कर लेते हैं, क्योंकि घरोंमें बड़े कौवे कभी देखनेमें नहीं आते। छोटा कौवा देख किसीको शंका न होगी और बालक भी छोटे कौवेसे भय नहीं खाते। (पं०)। पुनः, श्रीरामजी बालक हैं, इसीसे भुशुण्डीजी भी बालक काक बने। पशु-पक्षीके भी बालक कोमल और सुहावने लगते हैं, उनकी बोली भी कोमल होती है और मनुष्योंके बालकोंका उनपर स्वाभाविक प्रेम होता है। बड़ा काग होकर जाते तो बालक राम उसके साथ शिशुलीला न करते। (पं० प० प्र०) (ख) *'हरि संगा'* पदसे जनाया कि जब श्रीरामजी आँगनमें लाये जाने वा बकैयाँ चलने योग्य हो जाते हैं, घुटनों हाथोंके बल चलने लगते हैं, तब साथ-साथ लघुवायसरूपसे रहता हूँ। यथा—*'लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं तहँ तहँ संग उड़ाउँ।'* इसके पूर्व शिवजीके साथ शिष्य बनकर घरके भीतर जाकर दर्शन करते हैं, यथा—*'अवध आजु आगमी एकु आयो।—बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो। सँग सिसु सिष्य सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो। लै लै गोद कमल कर निरखत उर प्रमोद अनमायो॥'* (गी० बा० १४) इसीसे '**जन्ममहोत्सव**' देखनेमें *'लघु बायस बपु'* न कहा था, बालचरित देखनेमें कहा। *'बहुरंगा'*—बालचरित अनेक रंगके हैं, यथा—*'बालचरित चहुँ बंधु के बनज बिपुल बहु रंग॥'* (१। ४०) मानसरूपकमें बहु रंगके कमलोंकी उपमा दी है, अतः यहाँ भी *'बहु रंग'* कहकर वह सब भाव जना दिये। बाल० दोहा० ४० में देखिये। पुनः, **रंग**=प्रकार। **बहुरंगा**=बहुत प्रकारके एवं चित्र-विचित्र और आनन्दवर्द्धक—ये सब अर्थ और भाव 'रंग' के हैं। पुनः, रंग=रस, यथा—*'हमहू उमा रहे तेहि संगा। देखत रामचरित रनरंगा॥'* (लं० दोहा ८०। १)। रणरंग=वीररस, तथा यहाँ 'बहुरंगा'=अनेक रसोंके बालचरित। पुनः, यथा—*'मुनिधन जन सरबस सिवप्राना। बालकेलि रस तेहि सुख माना॥'* (१। १९८। २)

वि० त्रि०—अन्य अवस्थाओंके चरित्रमें तो धर्माचरण है, जिससे लोकको धर्ममार्गानुसरणकी शिक्षा है। यथा—'**धर्ममार्गं चरित्रेण**' (रा० ता०), अतः उसे एकरंगा कह सकते हैं। केवल बालचरित्र ही बहुरंगा है। यथा—*'कबहूँ ससि माँगत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैं। कबहूँ करतारि बजाइ कै नाचत मातु सबै मन मोद भरैं। कबहूँ रिसियाइ रहैं हठि कै, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं। अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन-मंदिर में बिहरैं॥'* (क० १। ४)

रा० शं० श०—आगे जो कहा है कि *'मो सन करहिं बिबिध बिधि क्रीडा' 'नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी'* इत्यादि, यही 'बहुरंग' के चरित हैं।

पं० रा० व० श०—*'बरष पाँच——'* इति। पाँच वर्षतक ही वे इष्ट हैं फिर नहीं, यह सुनकर ज्ञानी हसेंगे। कारण यह है कि ज्ञानी इस बातको समझ ही नहीं सकते, भगवान् ही भक्तके हृदयके भावको जानते हैं।

दो०—लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं तहँ तहँ संग उड़ाउँ।
जूठनि परइ अजिर महँ सो उठाइ करि खाउँ॥
एक बार अतिसै सब चरित किए रघुबीर।
सुमिरत प्रभु लीला सोइ पुलकित भएउ सरीर॥ ७५॥

अर्थ—बालपनमें (बालक राम) जहाँ-जहाँ फिरते हैं वहाँ-वहाँ मैं साथ-साथ उड़ता हूँ और आँगनमें जो जूठन पड़ती वही उठाकर खाता हूँ। एक बार श्रीरघुवीरने अत्यन्त लड़कपनवाले एवं अत्यन्त अधिकाईसे सब चरित किये (अर्थात् जो-जो चरित किये, उन्हें सीमातक पहुँचा दिये, उससे अधिक क्या, उसके समान भी वह चरित कोई बालक कर ही नहीं सकता)। प्रभुकी वह लीला स्मरण करते ही भुशुण्डिजीका शरीर (प्रेमसे) रोमाञ्चित हो आया॥ ७५॥

नोट—१ *'लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं'* कहकर *'जूठनि परइ अजिर महँ'* कहनेका भाव कि हाथमें पुवा, पक्वान्न लिये हैं, आँगनमें फिरते हुए खाते जाते हैं, इसीसे जूठन भी जहाँ-तहाँ गिरती थी—यह बात आगे वे स्वयं कहते हैं।

२ (क)—*'एक बार'*—*'जब जब राम मनुज तनु धरहीं'* (७५। २) से यहाँतक अपना अवधको आना, भिन्न-भिन्न रूपोंसे जन्मोत्सव देखना, प्रभुका दर्शन करना, साथ-साथ फिरना, बालचरित देखना, जूठन खाना इत्यादि कहकर तब *'एक बार अति——'* कहकर जनाया कि यहाँतक तो सदाका चरित्र एक-सा रहता रहा। पर अब जो चरित कहते हैं वह एक ही बार हुआ और कभी नहीं।

(ख) *'एक बार अतिसै——'* का भाव कि सब चरित पहले भी किये थे, पर वे चरित 'अतिशय' न थे वा 'अत्यन्त लड़कपनवाले' न थे और इस बार (उस दिन, दफा वा समय) जो चरित किये वे अत्यन्त लड़कपनवालोंके थे एवं वे प्राकृत बालकोंके चरितोंकी सीमासे अत्यन्त बढ़े हुए थे। अतिशय=सीमाको लाँघनेवाले। अधिकाईके (प्र० सं०)=बहुत माधुर्यके (वि० त्रि०)=बहुत अद्भुत। (पं० रा० व० श०) रा० प्र० कार लिखते हैं कि कोई कहते हैं कि *'अतिसै चरित'* से यह लीला परस्वरूपकी जनायी।

नोट—३ भा० दा० में *'अतिसै सब'* पाठ है और प्रायः यही पाठ बहुतोंने दिया है। काशिराजकी रा० प० में *'अति सैसव'* पाठ है। पं० वि० त्रि० जीने भी यही पाठ रखा है। मुझे भी यही पाठ उत्तम लगता है; अतः इस संस्करणमें हमने दोनों अर्थ दिये हैं। सम्भव है कि 'व' के नीचे बिन्दु छूट जानेसे 'ब' पढ़ा गया और इस तरह 'सब' एक शब्द बन जानेसे 'अतिसै' दूसरा मान लिया गया हो। भाव हमने दोनों पाठोंके दे दिये हैं।

वि० त्रि०—*अतिसै सब'* चरितका अर्थ 'अत्यन्त लड़कपनवाला चरित्र' भी होता है, और यहाँ शैशव चरित्रका प्रसङ्ग भी है। भुशुण्डिजी कहते हैं कि जब-जब रामावतार होता है तब-तब मैं अयोध्या जाता हूँ और 'बहुरङ्गा' बालचरित्र देखता हूँ, पर मुझे मोह नहीं हुआ। परंतु एक बार तो लड़कपनके चरित्रमें ऐसा माधुर्य दिखलाया कि मुझे मोह हो गया।

नोट—४ 'रघुबीर' इति। यहाँ 'रघुवीरसे' दयावीरता दिखायी अर्थात् उन्होंने जो अति शैशव चरित किये वह मुझपर उनकी कृपा थी, बालस्वरूप मेरा इष्ट है, अतएव ऐसा किया—*'भगत हेतु लीला बहु करहीं', 'रामकृपा आपनि जड़ताई।'*

पं० रा० व० श०—*'पुलकित भयेउ सरीर'* इति। इससे जनाया कि उस लीलाका स्मरण आते ही आँखें बंद हो गयीं, रोमाञ्च हो आया और वे सुखमें मग्न हो गये, अतः वाणी रुक गयी। इसीसे यहाँ शिवजी उनकी दशा कहने लगे। जब उस सुखसे निकले तब फिर भुशुण्डिजी कहने लगे, यथा—*'कहइ भुसुंडि······'*

रा० शं० श०—'पुलकित' का कारण कि माधुर्यसे भरे हुए थे।

रा० प्र०—*'सुमिरत पुलकित भएउ सरीर।'* क्योंकि चित्तपर चढ़नेसे 'बोधरूप सम्मुख आ जाता है।'

कहै भसुंडि* सुनहु खगनायक। रामचरित सेवक† सुखदायक॥ १॥
नृप मंदिर सुंदर सब भाँती। खचित कनक मनि नाना जाती॥ २॥
बरनि न जाइ रुचिर अँगनाई। जहँ खेलहिं नित चारिउ भाई॥ ३॥

शब्दार्थ—**खचित**=खींचा हुआ, **चित्रित**=जड़ा हुआ, जटित। 'अँगनाई'=आँगन, घरके भीतरका वह खुला हुआ चौक वा स्थान जिसके चारों ओर कोठरी, दालान आदि कुछ बनी हुई हों।

अर्थ—भुशुण्डिजी कहते हैं कि हे पक्षिराज! सुनिये। श्रीरामजीका चरित्र सेवकोंको सुख देनेवाला है (एवं सेवक सुखदायक, रामचरित्र सुनिये)॥ १॥ राजभवन सब प्रकार सुन्दर है, वह अनेक जाति एवं प्रकारकी मणियोंसे जड़े हुए सोनेका है। मणिसे चित्रसारी रची गयी है॥ २॥ दीप्तिमान् सुन्दर आँगनका वर्णन नहीं किया जा सकता कि जहाँ नित्य चारों भाई खेलते हैं॥ ३॥

नोट—१ (क) *'कहै भसुंडि'* का भाव कि ध्यान टूटनेपर फिर जहाँ छोड़ा था वहींसे उठाया। वहाँ *'सब चरित किये रघुबीर'* पर छोड़ा था और यहाँ *'रामचरित सेवक······'* से प्रारम्भ किया। (ख) *'रामचरित सेवक सुखदायक'* का भाव कि जो जिसका गुण नहीं जानता, उसको उसमें रस वा सुख कहाँ? सेवक इसके रसको जानते हैं, अतः उन्हींको चरितका यथार्थ सुख मिलता है। (पं० रा० व० श०) पुनः, भाव कि जो चरित मैं कहनेको हूँ वह मुझ सेवकको सुख देनेके लिये हुआ और उससे मुझे बड़ा सुख हुआ। तथा सभी सेवकोंको सुखदायक हैं, यथा—*'सेवक सालि पाल जलधर से', 'रामभगत जन जीवनधनसे', 'रामचरित-राकेसकर सरिस सुखद सब काहु। सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेषि······॥* (१। ३२), *'बालचरित हरि बहु बिधि कीन्हा। अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा॥'* (१। २०३। १)

२ *'रुचिर अँगनाई'* इति। *'रुचिर'* (शब्दपर आ० १७। ७) देखिये। *'बरनि न जाइ'* कारण कि एक तो वह स्वयं रुचिर है, दूसरे चारों भाइयोंका वह बाल-क्रीड़ास्थल है, तब कैसे वर्णन हो सकता है। क्रीड़ासे उसमें क्षण-क्षण नित्य नवीन रुचिरता उत्पन्न होती है। *'रुचिर अँगनाई'* कहकर *'जहँ खेलहिं नित चारिउ भाई'* कहनेका भाव कि सब भाइयोंके प्रतिबिम्ब चारों ओर खम्भों और आँगनमें पड़नेसे आँगन अत्यन्त दीप्तिमान् रहता है। यथा—*'मनिखंभन्ह प्रतिबिंब-झलक छबि छलकिहि भरि अँगनैया।',* (गी० बा० ९) अतः *'रुचिर'* और *'बरनि न जाई'* कहा। पुनः, (ख) *'नित'* का भाव कि एक बार जिसको चरणका स्पर्श हो जाता है उस भूमिका तो कोई वर्णन कर ही नहीं सकता और जहाँ नित्यप्रति दिन-दिनभर उनके चरण पड़ते हैं उसका वर्णन कौन कर सकता है? यथा—*'परसि चरनरज अचर सुखारी। भये परम पद के अधिकारी॥ सो बन सैल सुभाय सुहावन। मंगलमय अति पावन पावन॥—कहि न सकहिं सुषमा जसि कानन। जौं सत सहस होंहि सहसानन॥ सो मैं बरनि कहौं बिधि केहीं। डाबर कमठ कि मंदर लेहीं॥'* (२। १३९)

प० प० प्र०—*'नृपमंदिर'* इति। जबतक श्रीरामजी केवल कौसल्या अम्बाके महलमें रहे, जानु-पाणि-विचरणयोग्य नहीं थे, तबतक दशरथजीके निवासको *'मंदिर'* नहीं कहा गया। यथा—*'मंदिर मनिसमूह जनु तारा। नृपगृह कलस सो इंदु उदारा॥'* (१। १९५। ६) इस उद्धरणमें मंदिर शब्दसे कौसल्या-भवन ही अभिप्रेत है। दशरथ-भवनको यहाँ *'नृपमंदिर'* कहकर जनाया कि उस समय श्रीरामजी उस मंदिरमें विहार करते थे।

* भसुंड—भा० दा०। † सेवत—(का०)। अर्थात् 'विचार करनेमें सुखदायक।' भाव कि चरितरूपी मूर्ति नाम, रूप, लीला, गुण, धाम सब प्रभुके सम तुल्य और सुखदायक हैं।

बाल बिनोद करत रघुराई। बिचरत अजिर जननि सुखदाई॥ ४॥
मरकत मृदुल कलेवर स्यामा। अंग अंग प्रति छबि बहु कामा॥ ५॥

अर्थ—माताको सुख देनेवाले रघुनाथजी बाल-विनोद (बालक्रीड़ा-केलि, लीला) करते आँगनमें विचरते हैं॥ ४॥ नीलमणिके समान श्याम और कोमल शरीर है, अङ्ग-अङ्गमें अनेक कामदेवोंकी छबि है॥ ५॥

रा० शं० श०—शतरूपाजीने याचना की और संदेह किया था कि ब्रह्म होकर हमें पुत्रका सुख कैसे दीजियेगा, इससे जननीको सुख देते हैं।

नोट—१ *'बिचरत अजिर जननि सुखदाई'* इति। अजिरमें विचरणसे माताको सुखदायी कहनेका भाव कि—(क) माताको बड़ी लालसा थी कि कब ये हाथों और घुटनोंके बल तथा पैरोंसे ठुमुक-ठुमुककर चलेंगे, यथा—(गी० बा० ८)—

'ह्वैहो लाल कबहिं बड़े बलि मैया। राम लषन भावते भरत रिपुदमन चारु चारौ भैआ॥ बाल बिभूषन बसन मनोहर अंगनि बिरचि बनैहौं। सोभा निरखि निछावरि करि उर लाइ बारने जैहौं॥ छगन मगन अँगना खेलिहौ मिलि, ठुमुकि ठुमुकि कब धैहौ। कलबल बचन तोतरे मंजुल कहि 'माँ' मोहि बोलैहौ॥ (गी० बा० ९)—**'पगनि कब चलिहौ चारौ भैया। प्रेम पुलकि उर लाइ सुवन सब कहत सुमित्रा मैया॥ सुंदर तन सिसु बसन बिभूषन नखसिख निरखि निकैया। दलि तृन प्रान निछावरि करि करि लैहैं मातु बलैया॥ किलकनि नटनि चलनि चितवनि भजि मिलनि मनोहरतैया। मनिखंभन्हि प्रतिबिंब झलक छवि छलकिह भरि अँगनैया॥ बाल बिनोद मोद मंजुल बिधु लाला ललित जोन्हैया। भूपति पुन्यपयोधि उमगि पुर घर-घर अनँद बधैया॥ ह्वैहैं सकल सुकृत-सुख-भाजन लोचन लाहु लुटैया। अनायास पाइहैं जन्म फल तोतरे बचन सुनैया॥**

पुनः, (ख)—जबतक बच्चा बाहर जाने योग्य नहीं होता तबतक उसका पूर्ण सुख माताहीको होता है, क्योंकि पिता दिन-रात घरके भीतर रह नहीं सकता, अतः *'जननि सुखदाई'* कहा। (ग) ***'जननि'*** से माता कौशल्याके अतिरिक्त और भी सभी माताओंको सुखदायी सूचित किया, यथा—***'छँगन मँगन अँगना खेलत चारु चारौ भाई। सानुज भरत लाल लषन राम लोने लोने लरिका लखि मुदित मातु समुदाई॥'*** (गी० १। २७)

२—बालविनोदके सम्बन्धसे *'बिचरत'* शब्द यहाँ बड़ा उत्कृष्ट पड़ा है। विचरण आनन्दपूर्वक चलने-फिरनेका द्योतक है।

३—*'मरकत मृदुल कलेवर स्यामा'* इति। (क) *'मरकत'* से केवल श्यामवर्णकी उपमा यहाँ दी गयी है। तो भी इसमें और भी अङ्ग और भाव प्रदर्शित होते हैं। वह यह कि शरीर मणिवत् प्रकाशमान हैं, श्यामवर्ण स्थायी है, इत्यादि। (ख) ☞ गोद और हिंडोलेके समय *'मरकत'* की उपमा न देकर कविने *'नील कंज बारिद'* की उपमा दी है—*'कामकोटि छबि स्याम शरीरा। नीलकंज बारिद गंभीरा॥'* (१। १९९। १) और यहाँ *'मरकत'* की। भेदका एक भाव यह भी है कि गोदमें जबतक रहे तबतक शरीर अत्यन्त कोमल था और अब कुछ पुष्ट हुआ है, जिससे अजिरमें विचर रहे हैं, भाइयोंके साथ खेलते हैं। अतः अब **'मरकत'** की उपमा दी। पुनः, (ग) अब मणिके फर्शपर खेलते हैं, अतः उसके साहचर्यसे मरकतकी उपमा और भी उत्तम हुई है।

४—*'अंग अंग प्रति छबि बहु कामा'*, यथा—*'नीलकंज जलदपुंज मरकत मनि सदृस स्याम। काम कोटि सोभा अँग अँग ऊपर वारी॥'* (गी० १। २२) *'अँग अँग पर बारियहि कोटि कोटि सत काम।'* कामदेव देवताओंमें सबसे अधिक सुन्दर है। वैसे असंख्यों कामदेव एकत्र हों तो भी किसी एक अङ्गकी आभाके समान नहीं हो सकते।

नव राजीव अरुन मृदु चरना। पदज रुचिर नख ससि-दुति हरना॥ ६॥
ललित अंक कुलिसादिक चारी। नूपुर चारु मधुर रवकारी॥ ७॥
चारु पुरट मनि रचित बनाई। कटि किंकिनि कल मुखर सुहाई॥ ८॥

अर्थ—नवीन (खिले हुए) लाल कमलके समान लाल-लाल कोमल चरण हैं। अँगुलियाँ सुन्दर प्रकाशयुक्त हैं। नाखूनकी चमक चन्द्रमाकी कान्तिका हरने-(फीका व मात करने) वाली है॥ ६॥ (तलवेमें) वज्रादिक चार सुन्दर अङ्क (चिह्न, रेखाएँ) हैं। सुन्दर नूपुर (पाजेब घुँघरू) सुन्दर मधुर शब्द करनेवाले (चरणमें) हैं॥ ७॥ मणियोंसे जड़ी हुई उत्तम सोनेकी बनायी हुई सुन्दर करधनीका सुन्दर शब्द सुहावना लग रहा है। वा, सुन्दर शब्दवाली क्षुद्रघण्टिका कमरमें शोभित हो रही है॥ ८॥

रा० शं० श०—'*नवराजीव*'। चरणोंको राजीवकी उपमा जहाँ-तहाँ दी गयी है पर यहाँ बाल्यावस्थाके चरण हैं, अतः '*नवराजीव*' की उपमा दी।

नोट—१ '*अरुन मृदु चरना*' इति। अरुण कहकर जनाया कि तलवे लाल हैं। '*मृदु*' तो सरकारके चरण सदैव हैं, इनकी कोमलता तो श्रीजनकनन्दिनीजी ही जानती हैं कि जो उनका लालन-पालन निज कोमल कर-कमलोंसे करती हैं, यथा—'*जानकी करसरोजलालितौ*' (मं० श्लो० २)। पर यहाँ '*मृदु*' कहनेका एक भाव और यह है कि अभी चलनेमें कमजोर हैं, गिर-गिर पड़ते हैं, यथा—'*परस्पर खेलनि अजिर उठि चलनि गिरि-गिरि परनि।*'(गी० १। २५)

२ '*ललित अंक कुलिसादिक चारी*' इति। (क) '*ललित अंक*' का भाव कि अङ्क तो बहुत हैं, पर ये चार हमें बड़े सुन्दर लगते हैं। पुनः, कुलिशादिकसे ध्वज, अंकुश और कमल—ये तीन और सूचित किये, यथा—'*ध्वज कुलिस अंकुस कंज जुत बन फिरत कंटक किन लहे*', '*अरुन चरन अंकुस ध्वज कंज कुलिस चिह्न रुचिर भ्राजत अति।*' (गी० बा० २२) ये भक्तोंके लिये बहुत हितकर हैं, उपकारी हैं; अतः 'ललित' हैं। ३-'*नूपुर चारु मधुर रवकारी*' इति। अर्थात् नूपुरका रुनझुन शब्द ऐसा सुन्दर है कि मुनितक मोहित हो जाते हैं। यथा—'*रुचिर नूपुर किंकिनी मन हरति रुनझुन करनि।*' (गी० १। २४), '*रुनझुन करति पाँय पैजनियाँ।*' (गी० १। ३१), '*कटि किंकिनी पैजनी पायनि बाजति रुनझुन मधुर रेंगाये।*' (गी० १। ३२) '*नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहइ।*' (१। १९९। ३), '*नूपुर जनु मुनिबर कलहंसनि रचे नीड दै बाँह बसाए।*' (गी० १। २३) '*मुखर*'=शब्द। इस अर्थमें इसका प्रयोग कविने जहाँ-तहाँ किया है, यथा—'*चारु चरन नख लेखति धरनी। नूपुर मुखर मधुर कबि बरनी॥*' (अ० ५८। ५)

दो०—रेखा त्रय सुंदर उदर नाभी रुचिर गँभीर।
उर आयत भ्राजत बिबिधि बाल बिभूषन चीर॥ ७६॥

अर्थ—पेटमें सुन्दर तीन रेखाएँ (त्रिवली) हैं, नाभि सुन्दर गहरी है, विशाल वक्षःस्थलपर अनेक प्रकारके बहुत-से बालकोंके आभूषण और वस्त्र शोभायमान हैं॥ ७६॥

नोट—'*नाभी रुचिर गँभीर*', यथा—'*नाभि गँभीर जान जिहिं देखा।*' (१९९। ४) देखिये। '*रुचिर*' से जनाया कि भँवरके समान आवर्त्तदार है। दाहिनावर्त्त है। '*नाभि मनोहर लेति जनु जमुन भँवर छबि छीनि।*' (१। १४७) देखिये। रा० प्र० कार कहते हैं कि गम्भीरमें यह आशय झलकता है कि ब्रह्मा इसी स्थानमें रहकर अनेक ब्रह्माण्ड रचते हैं।

अरुन पानि नख करज मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुंदर॥ १॥
कंध बालकेहरि दर ग्रीवाँ। चारु चिबुक आनन छबि सीवाँ॥ २॥
कलबल बचन अधर अरुनारे। दुइ दुइ दसन बिसद बर बारे॥ ३॥
ललित कपोल मनोहर नासा। सकल सुखद ससिकर सम हासा॥ ४॥

शब्दार्थ—कलबल=अस्पष्ट (स्वर)!=(शब्द) जो अलग-अलग न मालूम हो, गिलबिल। तोतले और कलबल वचनमें बहुत सूक्ष्म भेद है। तोतले वचन वे हैं जिसमें रुक-रुककर टूटे-फूटे शब्द मुँहसे निकलते हैं, अक्षर ठीक-ठीक उच्चारण नहीं होते, यथा—'*कलबल बचन तोतरे मंजुल कहि माँ मोहि बोलैहौ।*' (गी० १। ८) '*बाल बोल बिनु अर्थ के सुनि देत पदारथ चारि।*' (गी० १। १९)

अर्थ—लाल हाथ (हथेली), नख और अँगुलियाँ मनको हरण करनेवाली हैं। भुजाएँ लम्बी हैं और उनमें सुन्दर गहने हैं॥ १॥ कन्धे, बाल (बाल्यावस्थाके) सिंहके समान हैं। कंठ शंखके समान (त्रिरेखायुक्त और सुडौल) है। सुन्दर ठोढ़ी और मुख छविकी सीमा है॥ २॥ गिलबिल वचन हैं, होंठ लाल हैं। उज्ज्वल, सुन्दर एवं श्रेष्ठ और छोटे-छोटे दो-दो दाँत (ऊपर-नीचे) हैं॥ ३॥ गाल सुन्दर और नासिका मन हरनेवाली हैं, सम्पूर्ण सुख देनेवाली चन्द्रकिरणके समान मुसुक्यान है॥ ४॥

नोट—१ (क) *'नख'* यहाँ दो बार आया है, एक पूर्व *'पदज रुचिर नख ससि दुति हरना',* दूसरे यहाँ। पहले पदजके साथ देकर पैरोंके नखकी कान्ति कही, फिर पाणि और करजके साथ देकर हाथोंके नखकी मनोहरता कह रहे हैं। अतः दो बार कहा। (ख) दोहा १। १९९। १—१२ में जो ध्यान है उसमें *'पानि नख करज'* की मनोहरताका वर्णन नहीं है और भुशुण्डिजीने अपने वर्णनमें इन्हें भी कहा है। भेद भी साभिप्राय है। यहाँ भुशुण्डिजीके प्रसङ्गमें इनका बहुत काम पड़ा है—बकैयाँ चलनेमें हाथ काम आ रहा है, इसीसे भुशुण्डिजीको पूप दिखाते हैं, इसीसे उनको पकड़ने दौड़ते हैं और सबसे विशेष बात यह है कि इस कर कमलका स्पर्श भुशुण्डिजीके मस्तकको हुआ है। यथा—*'किलकत मोहि धरन जब धावहिं। चलउँ भाजि तब पूप देखावहिं॥', 'जानु पानि धाये मोहि धरना', 'राम गहन कहँ भुजा पसारी', 'जिमि जिमि दूरि उड़ाउँ अकासा। तहँ भुज हरि देखउँ निज पासा'—'कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ।'* भुशुण्डिजीके साथ बालक्रीड़ा करनेमें इनकी प्रधानता है तब वे इन्हें कैसे भूल सकते। इसके पूर्व बालकको हाथ उठाकर दूसरेपर रखनेका ज्ञान भी नहीं होता और न इनका विशेष काम रहता है, अतः पूर्व ध्यानमें न लिखे गये। (ग) *'बाहु बिसाल'* कहकर आजानुबाहु जनाया अर्थात् घुटनेपर्यन्त लम्बी भुजाएँ हैं। पुनः, 'विशाल' विशेषण साभिप्राय है, इनकी 'विशालता' भुशुण्डिजी भलीभाँति जानते हैं, यथा—*'राम गहन कहँ भुजा पसारी॥'—'ब्रह्मलोक लगि गएउँ मैं चितयउँ पाछ उड़ात। जुग अंगुल कर बीच सब रामभुजहि मोहि तात॥ सप्तावरन भेद करि जहाँ लगे गति मोरि। गएउँ तहाँ प्रभु भुज निरखि ब्याकुल भएउँ बहोरि॥'* (७९)—अतः 'विशाल' कहा। 'विभूषण सुन्दर'। विभूषण=आभूषण, गहना। बाहुमें जहाँ-तहाँ बहुत-से आभूषणोंका होना वर्णन किया गया है, यथा—*'भुज बिसाल भूषन जुत भूरी।'* (१। १९९) *'रुचिर बाँह भूषन पहिराए।'* (गी० १। २३) अतः यहाँ 'विभूषण' से 'बहुत भूषण' अर्थ लेना चाहिये। 'वि' उपसर्ग है जो शब्दोंके पहले लगकर अनेक अर्थ देता है, एक अर्थ 'विशेष और बहुत' भी है। कंकड़, अङ्गद, जोशन, कड़ा, पहुँची इत्यादि बाहुके भूषण हैं।

२ (क) *'कंध बालकेहरि।'* अभी बालस्वरूप है, अतः बालसिंहकी उपमा दी है, बड़े होनेपर सिंहकी उपमा दी है, यथा—*'केहरिकंधर बाहु बिसाला।'* (१। २१९) *'सिंहकंध आयत उर सोहा।'* (सुं० ४५) सिंहके बच्चेके समान कहकर जनाया कि भरे हुए सुगढ़, उन्नत और पुष्ट हैं, यथा—*'सुगढ़ पुष्ट उन्नत कृकाटिका कंबु कंठ सोभा मानति।'* (गी० उ० १७) (ख) *'दर ग्रीवाँ'* इति। *'रेखैं रुचिर कंबु कल ग्रीवाँ। जनु त्रिभुवन सुषमा की सीवाँ॥'* (१। २४३। ८) देखिये। शङ्खके समान त्रिरेखायुक्त है। (ग) *'चारु चिबुक आनन छबि सीवाँ'—'छबि सीवाँ'* कहकर जनाया कि इनका वर्णन नहीं हो सकता, इन्हें देखकर अगणित काम लज्जित हो जाते हैं। यथा—*'मुख छबि कहि न जाइ मोहि पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं॥'* (१। २३३) *'सोभापर वारौं अमित असमसर।'* (गी० १। ३०)

३ (क) *'कलबल बचन।'*—शब्दार्थमें देखिये। (ख) *'दुइ दुइ दसन बिसद', 'श्रवन अधर सुंदर द्विज छबि अनूप न्यारी। मनहुँ अरुन कंज कोस मंजुल जुगपाँति प्रसव, कुंदकली जुगल जुगल परम सुभ्रवारी॥'* (गी० १। २२)—इस उदाहरणमें *'अधर अरुनारे'* और विशद दाँतोंकी शोभा वर्णित है। (ग) बारे=छोटे, यथा—*'भ्रूपर अनूप मसिबिन्दु बारे बारे बार बिलसत सीस पर हेरि हरै हियो है।'* (गी० बा० १०)

४ (क) *'ललित कपोल'* कहकर भरे हुए और सुचारु जनाया, यथा—*'सुंदर श्रवन सुचारु कपोला।'* (१। १९९। ९) (ख) *'सकल सुखद ससिकर सम हासा'* इति। शशिकर शीतल है, तापहारक है,

सुखद है, अमृत टपकाता है, यथा—*'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥'* (१। १२०। १) पर वह सबको सुखद नहीं होता, कोककमलको दुःखद है और यह *'सकल सुखद'* है। पुनः, *'सकल सुखद'* का भाव कि इस हँसीसे ही हमें सब सुख प्राप्त हुआ। ज्ञान, विवेक, विरति आदि सब सुख हैं, यथा—*'अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुखखानि॥'* (८३) *ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना। ...प्रभु कह देन सकल सुख सही।'* प्रभुने ये सब दिये और अविरल भक्ति भी दी। अतः *'सकल सुखद'* सब प्रकारके सुख देनेवाला कहा। चन्द्रकिरण ये सब प्रकारके सुख नहीं दे सकता।

बा० १९९। १—११ वाले ध्यानमें *'हास'* का वर्णन नहीं है। पर यहाँ *'हास'* का प्रसंग है। आदि, मध्य और अन्तमें अर्थात् आद्यन्त हास्यका ही चरित है तथा बालक्रीड़ामें भी प्रभु इनको देख-देखकर हँसते हैं, यथा—बालक्रीड़ा—*'आवत निकट हँसहिं प्रभु भाजत रुदन कराहिं।'* (७७)

मोहके प्रारम्भमें—*'भ्रम ते चकित राम मोहि देखा। बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा॥'* (१। ७९। ४)

मध्यमें—*'मूदेउँ नयन त्रसित जब भएउँ। पुनि चितवत कोसलपुर गएऊँ॥'* (८०। १)

'मोहि बिलोकि राम मुसुकाहीं। बिहँसत तुरत गएउँ मुख माहीं॥' (८०। २)

अन्तमें—**'देखि कृपाल बिकल मोहि बिहँसे तब रघुबीर। बिहँसत ही मुख बाहेर आएउँ सुनु मतिधीर'** ॥ ८२॥

हँसीहीका सारा खेल था, अतः वह चित्तसे कब विस्मरण हो सकता था। हँसी देखी है अतः उसकी उपमा भी दी। चन्द्रकिरणकी उपमा दी; क्योंकि चन्द्रमा शीतल होता है और प्रभुकी हँसी उनकी कृपाका द्योतक है, यथा—*'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥'* (१। १९८। ७) पुनः, प्रभुकी माया भुशुण्डिजीको दुःखद न हुई थी, अतः उस हँसीको शशिकर-सम कहना युक्तियुक्त है। ☞ (बा० १९९) में माताके देखनेका प्रसंग है, अतः वहाँ हास्य अयुक्त था और भुशुण्डिके साथ बालक्रीड़ा है, यह केलि है। पुनः, हास माया है। यहाँ भुशुण्डिके प्रसंगमें मायाको प्रभुने प्रेरित किया है।

नीलकंज लोचन भवमोचन। भ्राजत भाल तिलक गोरोचन॥५॥
बिकट भृकुटि सम श्रवन सुहाए। कुंचित कच मेचक छबि छाए॥६॥
पीत झीनि झगुली तनु सोही। किलकनि चितवनि भावति मोही॥७॥

शब्दार्थ—*'गोरोचन'*—पीले रंगका एक सुगन्धित द्रव्य जो गौके हृदयके पास पित्तमेंसे निकलता है। यह मंगलजनक, कान्तिदायक और वशीकरण करनेवाला माना जाता है। *'किलकनि'*—वह अस्पष्ट स्वर जो हर्षमें मुखसे निकलता है। **कुंचित**=टेढ़े और बल खाये हुए, छल्लेदार।

अर्थ—नील कमल-समान नेत्र भवबन्धन छुड़ानेवाले हैं। माथेपर गोरोचनका तिलक शोभित है॥ ५॥ टेढ़ी भौहें हैं, कान सम और सुन्दर हैं। घुँघराले काले बालोंकी छबि छा रही है॥ ६॥ पीली महीन अँगरखी शरीरपर सोह रही है। किलकारी और चितवन मुझे भाती है (भाव कि मुझे देख किलकारी भरा करते थे और फिर मेरी ओर देखने लगते थे। उनका किलकारी भरकर मेरी ओर सानुराग देखना मुझे भाता है)॥ ७॥

नोट—१ *'नीलकंज लोचन भवमोचन।'* इति। अरुणकमलकी उपमा नेत्रोंसे बहुत जगह ग्रन्थमें दी गयी है, यथा—*'अरुन नयन उर बाहु बिसाला। '* (१। २०९), *'सुभग सोन सरसीरुह लोचन'* (१। २१९), *'नवसरोज लोचन रतनारे।'* (१। २३३), इत्यादि। पर यहाँ *'नीलकंज'* की उपमा दी गयी है। ग्रन्थभरमें *'नीलकंज'* की उपमा, जहाँतक स्मरण है, कहीं और नहीं है—'राजीव', 'कमल' या कमलके पर्याय शब्द अवश्य आये हैं। इस भेदको दिखाकर कवि जनाते हैं कि माताने नेत्रोंमें काजल लगाया है, इसीसे वे नीले देख पड़ते हैं। यथा—*'चुपरि उबटि अन्हवाइ कै नयन आँजे रचि रुचि तिलक गोरोचन को कियो है।'*—(गी० १। १०) *'रंजित अंजन कंज बिलोचन भ्राजत भाल तिलक गोरोचन।'* (गी० १। २१) *'राजत नयन मंजु अंजनजुत खंजन कंज मीन मद नाए।'* (गी० १। २९।)*'अंजन रंजित नयन चित चोरैं चितवनि।'* (गी० १। ३०)*'तुलसी*

मनरंजन रंजित अंजन नैन सुखंजन जातक से। सजनी ससिमें समसील उभै नवनील सरोरुहसे बिकसे॥' माताएँ बच्चोंको काजल और डिठौना लगाकर तब बाहर लाती ही हैं। गीतावलीमें बालक रामजीके ध्यानमें नीलकमलकी उपमा बहुत आयी है, यथा—*'नील नलिन दोउ नयन सुहाये।'* (गी० १। २०), *'नील जलज लोचन हरि'* (गी० १। २२) *'लोचन नील सरोज से भ्रूपर मसिबिंदु बिराज।'* (गी० १। १९) पुनः, (ख) *'नीलकंज'* का भाव कि नेत्र कोमल और करुणरसपूर्ण हैं, यथा—*'भ्रू सुंदर करुनारस पूरन लोचन मनहु जुगल जलजाये।'* (गी० १। २३) (ग) *'भवमोचन'* यथा—*'नील जलज लोचन हरि मोचन भय भारी।'* (गी० १। २२) *'राजीव-बिलोचन भवभयमोचन पाहि पाहि सरनहि आई'* (अहल्या)। विशेष (सुं० ४५। ४) में देखिये। तात्पर्य कि जिसकी ओर प्रभु देखते हैं उसका भवबन्धन नाश हो जाता है। (घ) मानसमें बिपत्ति, भय, भवभय आदिके सम्बन्धमें नेत्रोंको राजीव (अरुणकमल) की उपमा प्रायः दी गयी है। यथा—*'राजिव नयन धरें धनु सायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक॥'* (१। १८। १०) *'राजीव बिलोचन भव भय मोचन पाहि पाहि सरनहि आई।'* (१। २११) (अहल्याकृत स्तुति) *'भुज प्रलंब कंजारुन लोचन। स्यामल गात प्रनत भय मोचन॥'* (५। ४५। ४) *'मैं देखउ खलबल दलहि बोले राजिवनैन।'* (६। ६६), *'पाथोद गात सरोज मुख राजीव आयत लोचनं। नित नौमि रामु कृपाल बाहु बिसाल भव भय मोचनं॥'* (३। ३२ छंद १) *'तब निज भुज बल राजिव नैना। ——कपि सेन संग संघारि निसिचर रामु सीतहि आनिहैं॥'* (३। ३०) *'स्याम गात राजीव बिलोचन। दीनबंधु प्रनतारति मोचन॥'* (६। ११४ छन्द) *'नवराजीव नयन जल बाढ़े।'* (७। ५। ८) *'राजीव लोचन स्रवत जल——बूड़त बिरह बारीस कृपानिधान मोहि कर गहि लियो॥'* (७। ५ छंद) इत्यादि। यहाँ *'नील कंज लोचन भव मोचन'* कहकर जनाया कि शैशवावस्थामें भी वे भवभय हरनेवाले हैं।

२ (क) *'भ्राजत भाल तिलक गोरोचन।'* भाव कि पीला तिलक श्याम माथेपर घनमें स्थित बिजली वा सूर्य-किरणकी शोभा दे रहा है। श्याम ललाटपर पीला तिलक चमचमा रहा है। यथा—*'तिलक ललाट पटल दुति कारी।'* (१। १४७। ४) *'तिलक रेख सोभा जनु चाँकी।'* (१। २१९। ८) *'भाल तिलकु रुचिरता निवासा।'* (१। ३२७। ९) *'भाल बिसाल बिकट भ्रुकुटी बिच तिलक रेख रुचि राजै। मनहु मदन तम तकि मरकत धनु जुगल कनक सर साजै॥'* (गी० ७। १२) *'भ्रुकुटि भाल बिसाल राजत रुचिर कुंकुम रेखु। भ्रमर द्वै रबिकिरनि ल्याए करन जनु उनमेखु॥'* (गी० ७। ९) इत्यादि। गोरोचनके उदाहरण ऊपर आ चुके हैं। (ख)—*'बिकट भृकुटि सम श्रवन सुहाये।'* भौंहका टेढ़ापन उसकी शोभा है; इसीसे भ्रूका वर्णन जहाँ होता है वहाँ उसकी टेढ़ाई वर्णन की जाती है। *'सम'* का भाव कि दोनों ओरकी भौहें और दोनों कान बराबर हैं; जोड़े—छोटे-बड़े नहीं हैं। भौहें कानपर्यन्त हैं, इसीसे भृकुटिको कहकर उसके पासके कानको कहा, दूसरे, दोनों सम हैं इससे एक साथ कहा। [बिकट, यथा—*'मुकुर निरखि मुख रामभ्रू गनत गुनहिं दै दोष। तुलसी से सठ सेवकहि लखि जनि परहि सरोष॥'* (दो० १८७) *'छबि छाये'*—भाव कि जैसे बादल आकाशपर सघन छाकर फैलकर रस बरसाते हैं वैसे ये केश मुखारविन्दपर शोभा बरसा रहे हैं। (रा० प्र०)] *'कुंचित कच मेचक छबि'* का वर्णन गीतावलीमें इस प्रकार है—*'चिक्कन चिकुरावली मनो षडंघ्रिमंडली, बनी बिसेष गुंजत जनु बालक किलकारी।'* (१। २२), *'भाल बिसाल ललित लटकन बर बाल दसा के चिकुर सोहाए। मनु दोउ गुरु सनि कुज आगे करि ससिहि मिलन तम के गन आए॥'* (१। २३) इत्यादि। गर्भके बाल अभी सिरपर हैं। वे काले, घुँघराले तथा चिकने हैं। यथा—*'चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु सँवारे॥'* (१। १९९। १०)

३ *'पीत झीनि झगुली तनु सोही'* इति। *'पीत'* और *'झीनि'* होनेसे शोभा दे रही है। झीनि होनेसे भीतरका शरीर सब उसमेंसे झलक रहा है। ऐसी शोभा है मानो मेघपर विद्युच्छटा छायी है। 'सोही' से जनाया कि छटा अद्भुत है, यथा—*'उपमा एक अभूत भई तब जब जननी पटपीत ओढ़ाये। नील जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाव मनु तड़ित छपाये॥'* (गी० १। २३), *'पियरी झीनी झँगुली साँवरे सरीर खुली*

बालक दामिनि ओढ़ी मानो बारे बारिधर।' (गी० १। ३०) (ख) *'किलकनि चितवनि भावति मोही।'* इन दोका अपनेको भाना कहनेका भाव कि हमारे साथ बालकेलिमें इन दोनोंका विशेष सुख हमको दिया है, इन दोनोंको बहुत देखा है। मुझे पकड़नेको बारंबार किलकारी भरते और बार-बार मेरी ओर देखते हैं। यथा—*'किलकत मोहि धरन जब धावहिं। चलउँ भाजि तब पूप देखावहिं——जाउँ समीप गहन पद फिरि फिरि चितइ पराहिं॥'* पुनः, **'भावति मोही'** से सूचित किया कि ये मेरे मनको हरते और मोहित कर लेते हैं। यथा—*'झुकनि झाँकनि, छाँह सो किलकनि, नटनि हठि लरनि। तोतरी बोलनि बिलोकनि मोहनी मनुहरनि॥'* (गी० १। २५) पुनः, भाव कि वह कही नहीं जा सकती, अकथनीय है, केवल यही कह सकता हूँ कि मुझे भाती है।

☞ यहाँतक यह ध्यान बा० दोहा १९९ के माताके गोद-पलना तथा जानु-पानि-विचरणवाले ध्यानसे विशेष मिलता-जुलता है। इसके आगे *'नृप अजिरबिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी॥'* कुछ और बड़े होनेपरकी क्रीड़ा है। आगे जो क्रीड़ा है वह भुशुण्डिजीसे सम्बन्ध रखनेवाली है। इससे उसका वर्णन यहीं है, बालकाण्डमें नहीं। दोनों ध्यानोंका मिलान यथा—

भुशुण्डि-ध्यान	बालकाण्ड
मरकत मृदुल मनोहर स्यामा।	**१ काम कोटि छबि स्याम सरीरा।**
अंग अंग प्रति छबि बहु कामा।	**नीलकंज बारिद गंभीरा**
नवराजीव अरुन मृदु चरना	**२ अरुन चरन पंकज**
पदज रुचिर नख ससि दुति हरना	**३ नख जोती। कमलदलन्हि बैठे जनु मोती**
ललित अंक कुलिसादिक चारी	**४ रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहै**
नूपुर चारु मधुर रवकारी	**५ नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहै**
कटि किंकिनि कल मुखर सुहाई	**६ कटि किंकिनी**
रेखा त्रय सुंदर उदर	**७ उदर त्रय रेखा**
नाभी रुचिर गंभीर	**८ नाभि गंभीर जान जिन्ह देखा**
उर आयत भ्राजत बिबिध बाल बिभूषन चीर	**९ हिय हरिनख अति सोभा रूरी। उर मनिहार पदिककी सोभा**
अरुनपानि नख करज मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुन्दर	**१० भुज बिसाल भूषन जुत भूरी**
दर ग्रीवाँ, चारु चिबुक	**११-१२ कंबु कंठ, अति चिबुक सुहाई**
आनन छबि सीवाँ	**१३ आनन अमित मदन छबि छाई**
कलबल बचन, अधर अरुनारे	**१४-१५ अति प्रिय मधुर तोतरे बोला, अधर अरुनारे**
दुइ दुइ दसन, ललित कपोल	**१६-१७ दुइ दुइ दसन अधर अरु नारे, सुचारु कपोला**
मनोहर नासा	**१८ नासा को बरनै पारा**
नीलकंजलोचन भवमोचन	**१९ नीलकमल दोउ नयन बिसाला***
भ्राजत भाल तिलक गोरोचन	**२० तिलक को बरनै पारा**
बिकट भृकुटि, सम श्रवन सुहाये	**२१-२२ बिकट भृकुटि, सुंदर श्रवन**
कुंचित कच मेचक छबि छाए	**२३ लटकन बर भाला।† चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि०**
पीत झीनि झगुली तन सोही	**२४ पीत झगुलिया तन पहिराई**

२५-२६ *'कंध बाल केहरि'* और *'सकल सुखद ससिकर सम हासा'* का मिलान इस स्थानपर नहीं है। दूसरी ठौरसे करते हैं—*'केहरि कंधर बाहु बिसाला', 'केहरि कंधर चारु जनेऊ', 'बिधुकर निकर बिनिंदक हासा।'*

रूपराशि	**२७ रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा**
नृप अजिर बिहारी	**२८ जानु पानि बिचरनि मोहि भाई**

* † —यह अंश रामायणका नहीं है।

रूपरासि नृप अजिर बिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी॥ ८॥
मोहि* सन करहि बिबिध बिधि क्रीड़ा। बरनत मोहि होति अति ब्रीड़ा॥ ९॥
किलकत मोहि धरन जब धावहिं। चलौं भागि तब पूप देखावहिं॥ १०॥

अर्थ—राजा दशरथके आँगनमें विचरण वा विहार (बालक्रीड़ा) करनेवाले रूपकी राशि रामचन्द्रजी अपनी परछाहीं देखकर नाचते हैं॥ ८॥ मुझसे भाँति-भाँतिके अनेक बालविनोद करते हैं, जिनका वर्णन करते मुझे अत्यन्त लज्जा लगती है॥ ९॥ जब किलकारी मारते हुए पकड़ने दौड़ते और मैं (पक्षिभावसे) भाग चलता तब मुझे पूआ† दिखाते (कि आ, ले आकर पूएका लोभ दिखाते)॥ १०॥

करु०—'रूपराशि' कहनेका भाव यह है कि प्रभुकी जो शोभा ऊपर कही वह तो अनुपम है, मन-वाणीसे परे है, उसका वर्णन तो हो ही नहीं सकता, अतः केवल पदार्थोंकी और उनके प्रतिबिंबकी शोभा कहते हैं।

नोट—१ (क) ***'रूपरासि'*** इति। भाव कि रूपका वर्णन हो नहीं सकता। यथा—***'अनुपम बालक देखेन्हि जाई। रूप रासि गुन कहि न सिराइ॥'*** (१। १९३) ***'अंग अंग पर मार निकर मिलि छबि समूह लै लै जनु छाए। तुलसिदास रघुनाथरूप गुन तौ कहौं जो बिधि होहिं बनाए॥'*** (गी० २३) पुनः, 'रूपराशि' का भाव कि प्रभु सौन्दर्यनिधान हैं, इन्हींकी सुन्दरताकी राशिके इधर-उधर छिटके दानोंसे वह सारी शोभा है, जो जगत्‌में देख पड़ती है। यथा—***'सुखमा सुरभि सिंगार छीर दुहि मयन अमियमय कियो है दही री। मथि माखन सियराम सँवारे सकल भुवन छबि मनहुँ मही री। तुलसिदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल न जाति कही री। रूपरासि बिरची बिरंचि मनो सिला लवनि रतिकाम लही री॥'*** (गी० १। १०६) (ख) ***'नृप अजिर बिहारी।'*** यथा—***'मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवउ सो दशरथ अजिर बिहारी॥'***

☞ माताको सुख देनेवाले ध्यानका वर्णन यहाँतक हुआ। ***'बिचरत अजिर जननि सुखदाई।'*** (७६। ४) उपक्रम है और ***'नृप अजिर बिहारी'*** उपसंहार है। (ग)—***'नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी'*** यथा—***'कबहूँ करताल बजाइ कै नाचत।'*** (क० १। ४) सत्योपाख्यान अध्याय २५। १४-२४ में प्रतिबिम्बवाली क्रीड़ा देखने योग्य है।‡ आँगन मणिरचित है, बकैयाँ चलनेमें उसमें अपना प्रतिबिम्ब देख पड़ता है, यथा—***'लसत कर प्रतिबिंब मनि आँगन घुटुरुवनि चरनि।'*** (गी० २७) पुनः, जब मणिखम्भोंमें खड़े होकर देखते हैं तो उसमें भी अपना-सा दूसरा बालक देख पड़ता है, उसे देख नाचने लगते हैं और प्रतिबिम्बको नाचते हुए देख और भी नाचते हैं। यथा—***'गहि मनिखंभ डिंभ डग डोलत।—किलकत झुकि झाँकत प्रतिबिंबनि। देत परम सुख पितु अरु अंबनि॥'*** (गी० १। २८) ***'इकटक प्रतिबिंब निरखि पुलकत हरि हरषि हरषि।'*** (गी० १। २२)

---

* 'मोसन', 'बरनत चरित होत मोहि ब्रीडा'—(का०)।

† वै०—पूप सर्वथा मालपूवाको कहते हैं। और अमरमें ऐसा लिखा है कि 'पूपोऽपूपः पिष्टकः स्यात्' जिसपर अमरविवेक टीकाकार महेश्वरने यह लिखा है कि 'पूपः अपूपः पिष्टकः त्रीणितं दुलपिष्टरा च तस्य भक्ष्यभेदः।' इससे सूचित होता है कि पूप भूजे चौरेठामें मेवाघृतमिश्रीयुत मोदक है।

‡ 'आदर्शे क्वचिदात्मानं पश्यन्तश्चात्मनो मुखम्॥ १४॥ बालकं च द्वितीयं हि मत्वा स्पृशति पाणिना। अलब्ध्वा तस्य चाङ्गानि रोदनं कुरुते पुनः॥ १५॥ क्वचिच्च वदनं रम्यं स्तम्भेषु प्रतिबिम्बितम्। शुभगै रत्नयुक्तेषु चालकैरावृतं सुखम्॥ १६॥ द्वितीयं बालकं मत्वा हास्यं च कुरुते प्रभुः। शत्रुघ्नो जानुपाणिभ्यां रिंगन्भूमौ निजं मुखम्॥ १७॥ प्रतिबिंबितमालोक्य मत्वा बालं द्वितीयकम्। तस्यानने स्वं संयोज्य चोच्चैः कूजति तत्रहा॥ १८॥ मातुरङ्कं समायाति प्रहसन् लक्ष्मणानुजः। लक्ष्मणोऽपि निजं बिम्बं दृष्ट्वा हुं कुरुते मुहुः॥ १९॥ भरतोऽपि निजं बिम्बं रत्नपृथ्व्यां हि भाषितम्। हास्यं च कुरुते मन्दं मन्दं मन्दं पुनः पुनः॥ २०॥ जलपात्रे तु रामेण चन्द्रबिम्बं विलोकितम्। ग्रहणे तस्य हस्तं तु जले तु कुरुते प्रभुः॥ २१॥ न चायाति यदा हस्ते मातरं याचते तु तत्। चषकं स्वल्पकं माता रौप्यं रत्नैश्च संयुतम्॥ २२॥ नीरे निधाय रामस्य परोक्षेण सकौतुका। रामाय ब्रुवति क्षिप्रं गृह्यतां चन्द्रमण्डलम्॥ २३॥ इमाश्च तारकाः पुत्र रत्नरूपा न संशयः। सर्वं गृहाण भो राम भ्रातृभिः क्रीडनं कुरु॥'

रा० प्र०—इस क्रीड़ासे प्रभु उपदेश देते हैं कि असलमें प्रतिबिम्ब हमारे नाचसे नाचता है, हम उसे नचाते हैं—*'निज प्रतिबिंब जगत बिनु जाने जीव भयो संसारी। चौरासी में परि नाचत अस उपदेसत छबिधारी॥ २॥ बालपनासे दूसर भासा अपनो रूप बिसारी। यहि प्रकार जग नाच देखायो यद्यपि हैं भ्रमहारी॥ ३॥ प्रतिबिंबहि को राम नचावत आपन नचत खेलारी। देवदृष्टि बिनु को लखि सकिहै अचल राम पद भारी॥'*

"बरनत मोहि होति अति ब्रीड़ा" इति।

लज्जा क्यों होती है? इसका समाधान एक तो वे स्वयं करते हैं कि प्राकृत बालकको तरहके चरित सच्चिदानन्द परात्पर परब्रह्ममें दिखानेमें लज्जा लगती है कि लोग क्या कहेंगे, जैसे मैंने स्वयं मनमें सोचा था—*'कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद संदोह।'* चिदानन्दघन प्रभुके योग्य ये चरित नहीं हैं, यह समझकर कहनेमें सङ्कोच होता है। *'भृकुटि भंग जो कालहि खाई। ताहि कि सोहइ ऐसि लराई॥'* (लं० ६५। २) *'जब रघुनाथ कीन्हि रनक्रीड़ा। समुझत चरित होति मोहि ब्रीड़ा॥'* (५८। ३) इस शिववाक्य और भुशुण्डि-वाक्यमें भेद इतना ही है कि उन्हें *'समुझत'* लज्जा होती है और इन्हें *'बरनत'*। इस भेदका भाव यह है कि वहाँ चरित कह चुके हैं, न कहते तो एक चरित रह ही जाता, बिना कहे रामचरित पूरा न होता। वह रणक्रीड़ा रावणवध-चरित्रका अङ्ग है, इससे उसका कहना आवश्यक था अतः कहा। कहनेमें लज्जा न लगी, क्योंकि सभी कहते आये हैं। पर उसे विचारते हैं तब लज्जा लगती है। और यहाँ जो चरित है वह रहस्य है, इसे कहना जरूरी नहीं है, पर अधिकारीको पाकर कहना पड़ा। अतः यहाँ *'बरनत'* कहा। पुनः, शिवजी अपने सम्बन्धमें *'ब्रीड़ा'* और भुशुण्डिजी अपने सम्बन्धमें *'अति ब्रीड़ा'* होना कहते हैं, कारण कि यहाँ सब बालचरित 'अतिशय' एवं अतिशैशवके किये हैं और वहाँ एक ही चरित्र है, वह भी अतिशय नहीं। यहाँ यह क्रीड़ा स्वयं वक्ताके साथ हुई और वहाँ दूसरेके साथ।

पुनः, दूसरा समाधान *'बरनत'* में लज्जाका यह है कि भगवान् पकड़नेको मुझे दौड़ते, हाथ फैलाते और मैं मूर्ख उनसे भागता था, यह लज्जाकी बात थी। जिनकी प्राप्तिके लिये लोग अनेक प्रयत्न करते हैं, वे स्वयं मुझे प्राप्त होते हैं और मैं अज्ञानी उनसे दूर भागता था।

वि० त्रि०—सरकारकी क्रीड़ा ही ऐसी होती है कि आप एकदम तद्रूप हो जाते हैं, अपने स्वरूपका कुछ भी विचार नहीं रखते। जो उनके स्वरूपको जानता है, उस दृश्यके ध्यानमें लानेमें ब्रीड़ा होती है। यथा—*'जब रघुनाथ कीन्ह रन क्रीड़ा। समुझत चरित होत मोहि ब्रीड़ा॥'* और वर्णन करनेवालेको तो अति ब्रीड़ा होती है कि किसके लिये मैं क्या कह रहा हूँ। आगे चलकर उदाहरण दे रहे हैं।

वै०—लज्जा कि पूर्वसे ही मैं प्रभाव जानता था, बहुत काल सङ्ग रहा, तब भी माधुर्य देख भुलावेमें पड़ गया। [७८ (२-३) देखो]

पं०—लज्जा इससे कि वे तो परमात्मा ईश्वर हैं, वे जो करें उन्हें सब फबता है, पर अरे मूढ़ मन! तू क्या करता था।

नोट—*'बरनत चरित—'* कहकर आगे वह चरित बताते हैं—*'किलकत मोहि धरन जब धावहिं'*, यथा—*'राजमराल बिराजत बिहरत जे हर हृदय-तड़ाग। ते नृपअजिर जानु कर धावत धरन चटक चल काग।'* (गी० १। २६) *'किलकत—पूप देखावहिं'* पर विशेष आगे ७८ (१—३) में गौड़जीके टिप्पण देखिये।

दो०—आवत निकट हसहिं प्रभु भाजत रुदन कराहिं।
जाउँ समीप गहन पद फिरि फिरि चितइ पराहिं॥
प्राकृत सिसु इव लीला देखि भएउ मोहि मोह।
कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद संदोह॥ ७७॥

अर्थ—समीप आनेपर प्रभु हँसते थे, भागनेपर रोते थे और (जब रोनेपर उनके) चरण पकड़नेके

लिये पास जाता था तब (पीछे मेरी ओर) फिर-फिरकर देखते हुए भागते थे (अर्थात् भागते थे मानो मेरे पास जानेसे भय खाते हैं। फिर पीछे घूम-घूमकर देखते कि मैं पीछे आता हूँ कि नहीं, फिर भागते, फिर घूमकर देखते इत्यादि)। साधारण बच्चोंके समान चरित देखकर मुझे मोह हुआ कि चित्-आनन्द-घन प्रभु यह कौन चरित करते हैं?॥ ७७॥

रा० प्र० १—*'चितइ पराहिं'* अर्थात् भयभाव प्रकट करते हैं। इस चरितसे यह दर्शित किया कि आत्मा प्रभु-सम्मुख होनेसे ही प्रसन्न होता है और बहिर्मुख होनेसे उसकी दशापर रोने योग्य चेष्टा दिखाता है और यह भी लखाता है कि अधिकारी होनेमें अभी कच्चापन है।

नोट—१ (क)—*'हँसहिं प्रभु'* से जनाया कि पास रहनेसे प्रसन्न रहते हैं। *'भाजत रुदन कराहिं'* अर्थात् भाग जानेसे रोते थे। भाव कि मुझे अपना खेलका खिलौना वा अपने साथका खेलनेवाला समझते थे; इसीसे भाग जानेसे रोते थे। जैसे प्राकृत बालक माता आदिसे कहते हैं कि यह चिड़िया पकड़ दो हम साथ खेलेंगे और न मिलनेसे रोते हैं। पुनः, (ख) *'भाजत रुदन कराहिं'* का भाव कि प्रथम पूप दिखाते हैं। जो मैं आ गया तो प्रसन्न होते हैं और जो पूप दिखानेपर न आया तब बुलानेका दूसरा उपाय यह करते हैं कि रोने लगते थे। जिसमें मुझे तरस आवे अथवा कोई और पकड़ ला दे। *'पराहिं'*—भयसे कि काट न खाय।—[पं०—भागते कि चरणोंमें चोंच न मारे और फिर-फिर इससे देखते कि उदास होकर चला न जाय।]

२—*'प्राकृत सिसु इव लीला……'* इति। पकड़ने दौड़ना, भागनेपर पूआ दिखाकर बुलाना, पास आनेपर हँसना, भागनेपर रोना; चरणके स्पर्शके लिये आते देख डरकर स्वयं भागना इत्यादि चरितसे मोह हो गया कि ये सच्चिदानन्दघन हैं तब ऐसा चरित तो इनका न होना चाहिये। [पं०—तत्त्व यह कि कहीं जीव विषे तो मुझे ईश्वरबुद्धि नहीं हो रही है, चिदानन्दसन्दोहमें तो ऐसी क्रीड़ा हो नहीं सकती।]

☞ मिलान कीजिये—**'रामं शष्कुलिहस्तं च खादन्तं च पुनः पुनः। तं दृष्ट्वा बालकं काक इति संदिग्धमानसः॥ कथमेष परब्रह्म वेदेन परिगीयते।'** (सत्य० २६। २-३) अर्थात् बालक रामचन्द्रजीको पूरी-पूवा-पक्वान्न हाथमें लेकर खाते हुए बारम्बार देखकर काकको मोह हुआ कि जिन्हें वेद परब्रह्म कहते हैं वे यह क्या करते हैं। इसके बाद सत्योपाख्यानमें यह भी कहा है कि भुशुण्डिजीके मनमें आया कि यदि वे विश्वम्भर राम हैं तो मुझे अपनी शक्ति दिखावें और ऐसा मनमें लाकर उनके हाथसे शष्कुली छीनकर उड़े कि देखें राम क्या करते हैं।—**'यदा विश्वम्भरो रामः शक्तिर्मे दर्शयिष्यति॥ ३॥ इति निश्चित्य मनसा रामहस्ताच्च शष्कुलीम्। आकृष्य रभसोड्डीनो रामो मे किं करिष्यति'**॥ ४॥ यह बात सर्वात्माने जान ली।

३ ☞ यहाँ गरुड़जीको दिखाते हैं कि आपका-सा मोह मुझे हुआ था। आपको संदेह हुआ कि *'चिदानंद संदोह राम बिकल कारन कवन'* और मुझे भी संदेह हुआ कि *'कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद संदोह।'* पुनः, इससे ज्ञात होता है कि भुशुण्डिजीको *'चिदानंद संदोह'* के चरितके ज्ञानका कुछ अभिमान हो आया, इसीसे यह तर्क उठा।

वै०—*'जाउँ समीप गहन पद।'* अति माधुर्य-चरित देखकर उससे अपने बचावके लिये ऐश्वर्य विचार पैर छूने वा पकड़ने जाऊँ तब वे देख-देख और भागें, ऐसा माधुर्य प्रकट करने लगे, उसमें ऐश्वर्यकी छींटमात्र भी न आ सके।

हरिमाया जिमि भुसुंडि नचावा

एतना मन आनत खगराया। रघुपति प्रेरित ब्यापी माया॥ १॥
सो माया न दुखद मोहि काहीं। आन जीव इव संसृत नाहीं॥ २॥
नाथ इहाँ कछु कारन आना। सुनहु सो सावधान हरिजाना॥ ३॥

शब्दार्थ—'**काहीं**'=(सं० कथं) को, के लिये। (तुलसी-शब्दसा०)

अर्थ—हे पक्षिराज! मनमें इतना (संदेह) लाते ही श्रीरघुनाथजीकी प्रेरणासे मुझे माया ब्याप गयी॥ १॥ (पर) वह माया मुझको दुःखदायी न हुई और न अन्य जीवोंकी तरह संसारमें डालनेवाली हुई॥ २॥ हे

नाथ! यहाँ कुछ और ही कारण है। हे हरिवाहन गरुड़जी! उसे सावधान हो सुनो॥ ३॥

नोट—१ *'एतना मन आनत—'* इति। (क) भक्तके मनमें जब किञ्चित् भी अभिमान अथवा संदेह उत्पन्न होता है, तभी प्रभुकी प्रेरणासे माया व्यापती है। नारदको गर्व हुआ, गरुड़जीको अभिमान एवं संदेह हुआ और भुशुण्डिजीको भी (सत्योपाख्यानके मतसे) अभिमान एवं संदेह हुआ। अत: *'एतना मन आनत'* कहकर तब मायाका प्रेरित किया जाना कहा। (ख) *'रघुपति प्रेरित'* का भाव कि भक्तके पास माया अपनेसे जाते डरती है। यथा—*'भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥ रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥'* (११६। ५-७) और भुशुण्डिजीका गुरु लोमशजीका वरदान है कि *'राम भगति अबिरल उर तोरें। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरें॥'* (११३। १६) अतएव विधि-हरिहरकी मायाको कौन कहे, श्रीरामकी माया भी अपनेसे पास न जा सकती थी। अतएव *'रघुपति प्रेरित'* कहा, अर्थात् श्रीरघुनाथजीकी प्रेरणासे वह उनको व्यापी।

देखिये, इन्द्रादि देवताओंकी माया तो श्रीभरत, श्रीजनक, मुनिगण आदिको नहीं लगी थी। यथा—*'भरत जनक मुनि जन सचिव साधु सचेत बिहाइ। लागि देवमाया सबहि जथाजोगु जनु पाइ॥'* (२। ३०२) और, सरस्वतीजीने तो भरतजीके सम्बन्धमें कहा ही है कि *'बिधि हरिहर माया बड़ि भारी। सोउ न भरत मति सकइ निहारी॥'* (२। २९५। ५)

वै०—*'न दुखद मोहि काहीं'* अर्थात् मुझे देखनेमात्र भय रहा।

नोट—२ *'सो माया न दुखद मोहि काहीं'* का भाव कि (क) औरोंको दु:खद हुई है, जैसे कि नारदजीको, यथा—*'श्रीपति निज माया तब प्रेरी। सुनहु कठिन करनी तेहि केरी॥'* (१। १२९) उनके साथ उसी मायाकी करनी कठिन हुई (कठिन करनीका वर्णन प्रकरणभर है), पर मुझे प्रभुकी कृपासे वह दु:खद न हुई। मार्कण्डेयजीको भी दु:ख हुआ था, कभी उनको मत्स्यने खाया, कभी इधर गिरे, कभी उधर। भागवतमें कथा स्पष्ट है। (२। २८६। ५-८) देखिये। पुन:, (ख) श्रीपति आदिकी माया दु:खद है। नारदको श्रीपति क्षीरशायी भगवान्‌की माया लगी थी और यह माया रघुनाथजीकी प्रेरित है। (ग) और कारण दु:खद न होनेका आगे भुशुण्डिजी स्वयं कहते हैं।

३ *'आन जीव इव संसृत नाहीं'* इति। माया संसारमें डालती है, यथा—*'तव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अगजग हरे। भवपंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥'* वेदस्तुति (दोहा १३ छन्द) इसीसे कहा कि यह प्रभुकी माया *'मोहि काहीं—संसृति नाहीं'*। *'आन जीव इव'* का भाव कि अन्य जीव संसारमें पुन: गिरते-पड़ते हैं।

पां०—*'सुनहु सो सावधान'* इति। सावधान करनेका भाव कि यहाँ उपासनाकी विशेषता और ज्ञानकी सामान्यता है।

रा० प्र०—सावधान होनेके हेतु बारम्बार 'सुनु', 'सुनहु' कहते हैं।

पं०—'सावधान' का भाव कि यह सूक्ष्म सिद्धान्त है। **'हरिजान'** का भाव कि तुम ईश्वरमहिमाश्रवणके अधिकारी हो।

रा० प्र०—*'हरिजान'* विशेषणका भाव कि ईश्वरज्ञान प्राय: धर्मारूढ़ ही होनेपर होता है।

गौड़जी—भगवान्‌के हास्यमें माया है। यद्यपि कागभुशुण्डिजीको भगवान्‌की माया साधारणतया नहीं सताती, कष्ट नहीं देती, परन्तु वह ऐसी प्रबला है कि *'सिव बिरंचि कहँ मोहई को है बपुरा आन।'* काकभुशुण्डिको माया चक्करमें डाल देती है—*'सो माया न दुखद मोहि काहीं। आन जीव इव संसृत नाहीं॥'* यहाँ भगवान्‌की लीला देखनेमें तो बड़ी ओछी-सी लगती है पर है बड़ी गम्भीर। ईश्वर, जीव और मायाका सहज और अद्भुत खेल है। हास और रुदनके रूपमें माया बीचमें आ पड़ी है। ईश्वर जब जीवको अपने निकट खींचनेकी क्रीड़ा करता है तब जीव उससे विमुख होकर भाग खड़ा होता है, ब्रह्मकी ओरसे मुँह फेरकर मिथ्या जगत्‌की ओर दौड़ता है—*'चलउँ भाजि तब पूप देखावहिं।'* 'पूप' उस आनन्दका घनरूप है, जो भगवान्‌के हाथमें है; जिसकी

कल्पनामात्रका जगत्‌में आरोप करके जीव संसाराभिमुख होता है। जीव बड़ा काइयाँ है, काक-सा चञ्चल है। जब भगवान् उसे भागते देखते हैं तब पूप दिखाते हैं। भाव यह कि आनन्दघन तो यह मेरे हाथोंमें है तू किसके लिये भागा जा रहा है, आगे चलकर काकभुशुण्डि कितना ही भागते हैं, पर भगवान्‌का हाथ उनके पास ही होता है। इसमें यह भाव है कि अपनी प्रतिज्ञा '**न मे भक्तः प्रणश्यति**' भगवान् कभी नहीं भूलते। इस तरह इस लीलामें जीव और ईश्वरके सांनिध्यका और भगवान्‌की भक्तवत्सलताका भाव भरा हुआ है। इस चरितको जब काकभुशुण्डिजी समझते हैं तो उन्हें बहुत लज्जा आती है कि जो अवसर कि गोदमें जाकर खेलनेका था उसे मैं खो बैठा, यह कैसी लज्जाकी बात है कि जिस सामीप्यके लिये मैं अपने इष्टदेवके चरणोंके पास जाया करता हूँ, उसीसे मैं अनेक कल्पोंतक भागता फिरा।—'**हरेरिच्छा बलीयसी**।' अन्तको बरबस उनके करकमलोंमें नहीं तो मुखके भीतर प्रवेश करना ही पड़ा।

काकभुशुण्डिजीको उस समय अचरज-सा हुआ कि जो चेतना और आनन्दका घनस्वरूप है वह साधारण बच्चोंकी-सी ही लीला करता है, इसमें चित्‌की या आनन्दकी कौन-सी घनता है। इस तरहके विचारमें काकभुशुण्डिको भगवान्‌के ऐश्वर्यके ज्ञानका कुछ छिपा हुआ घमण्ड भी था, इसी कारण उस माधुर्य-लीलाका अगम्य भेद उन्हें समझमें न आया। इसी कारण उन्हें अनेक कल्पोंतक अनेक ब्रह्माण्डोंमें चक्कर लगाते रहनेकी दलेल बोली गयी।

ज्ञान अखंड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर॥ ४॥
जौं सब के रह ज्ञान एकरस। ईश्वर* जीवहिं भेद कहहु कस॥ ५॥

अर्थ—केवल एक श्रीसीतापति रामचन्द्रजी ही अखण्ड ज्ञान हैं और जड़-चेतनसहित जितने भी जीव हैं वे (सब) मायाके वश हैं॥ ४॥ यदि सब जीवोंका एक-सा अखण्ड ज्ञान रहे तो कहिये कि ईश्वर और जीवमें भेद कैसा?॥ ५॥

नोट—१ *'ज्ञान अखंड एक सीताबर'* और फिर *'ज्ञान एकरस'* कहकर जनाया कि 'अखण्ड ज्ञान'=एकरस ज्ञान; और यह कि *'एक'* प्रभुका ही ज्ञान अखण्ड एकरस होता है, जीवका ज्ञान एकरस नहीं वरन् मायाके कारण खण्डित ही रहता है। यह भेद सदा बना रहता है।

'माया बस्य जीव'—'ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ सो माया बस भएउ गोसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं॥' (११७। २-३) सचराचर, यथा—***'जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे॥'*** (१। २००। ४)

गौड़जी—*'ज्ञान अखंड—'* इति। यहाँ भुशुण्डिजी इस बातकी कैफियत देते हैं कि भगवान्‌के इतने चुने हुए भक्त जिनका कल्पान्तोंमें भी नाश नहीं होता, जो सृष्टि, पालन और प्रलयके बखेड़ोंसे बचे हुए निरन्तर भगवद्भजनमें लीन रहते हैं, उन्हें माया कैसे सताने लगी (वे कहते हैं कि सब कुछ होते हुए भी जीवमात्र मायाके वश हैं और इसीलिये मोह या अज्ञानसे बच नहीं सकते। एकमात्र सीतावर ही अखण्ड ज्ञान है क्योंकि वे सीतावर हैं। सीता, जिनके अंशसे अनन्तकोटि उमा, रमा, ब्रह्माणी होती हैं और अखिल विश्वकी रचयिता माया जिनकी छायामात्र है, ऐसी सीताके पति ही अखण्ड ज्ञान हो सकते हैं। वही मायापति हैं और ईश हैं। सचराचर जीव मायाके अधीन हैं। जीवमें ईशकी तरह ज्ञान होना असम्भव है। यदि सबमें एकरस ज्ञान रहे तो ईश्वर और जीवमें अन्तर ही क्या है (देहमें अभिमान रखनेवाला जीव मायाके वश है और माया जो सत्त्व, रज, तमकी खानि है वह स्वयं ईशके वशमें है। इस तरह जीव परवश है और ईश्वर स्ववश है। मायापति एक हैं, जीव अनेक हैं।-मायाने यद्यपि जो भेद रच रखे हैं वे झूठे हैं तथापि भगवान्‌के बिना मिट नहीं सकते—***'रजत सीप महँ भास जिमि यथा भानु कर बारि। जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥'*** (बा० ११७)

* ईश्वर—भा० दा०। पर हरताल है।

नोट—२ *'भेद कहहु कस'* इति। भाव कि जीव भी चेतन और ईश्वर भी, भेद इतना ही है कि जीवका ज्ञान अखण्ड एकरस नहीं है और ईश्वर अखण्ड ज्ञानवाला है। जब जीवमें भी एकरस ज्ञान हो तब भेद कैसा? भाव कि एकरस ज्ञान होता तो ईश्वर और जीव ये दो संज्ञाएँ ही न होतीं। उसकी भी ईश्वर ही संज्ञा होती, जीव क्यों होता।

३—करुणासिंधुजी आदि—*'भेद कहहु कस'* को प्रश्नात्मक मानते हैं और यों अर्थ करते हैं कि 'जो कोई जीवका ज्ञान एकरस है तो जीवसे और ईश्वरसे कहो (कि) कैसे भेद है'। वे लिखते हैं कि एकरस ज्ञान होनेपर भी जीव और ईश्वरमें भेद बना ही रहता है। जैस कि भरतादि जो नित्य पार्षद हैं और एकरसस्वरूपमें स्थित हैं, पर अपर स्वरूप श्रीरामजीके सेवक हैं। एकरस ज्ञान होनेपर भी जीवधर्म तब भी बना रहता है, यथा—*'हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव धरम अहमिति अभिमाना॥'* यह जीव धर्म शरीरके रहते नहीं जा सकता।

वि० त्रि०—इस विषयको भगवान् शाण्डिल्यने अपने भक्तिसूत्रके तैंतीसवें सूत्रसे बहुत स्पष्ट कर दिया है। यथा—**'न च क्लिष्टः परः स्यादनन्तरविशेषात्'** ब्रह्म और जीवकी एकता माननेपर भी जीवोपाधिधारी आत्माके जो क्लेशादि हैं, वे परमेश्वरका स्पर्श नहीं कर सकते; क्योंकि चिदंशनिर्णयके पश्चात् भी क्लेश आदिका सम्बन्ध जीवात्मासे ही है और यही परमात्मासे जीवका अन्तर सिद्ध करता है, ऐसा निश्चय हो सकता है।

मा० म०—*'ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस'* तो ईश्वर और जीवमें भेद ही क्या रहा? इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर और जीवमें भेद है। आगे चलकर कहते हैं कि यह भेद मायाकृत है—*'मुधा भेद जद्यपि कृत माया'*; इससे मायाका होना भी प्रतिपादित हुआ। पर इन तीनोंका यथार्थ स्वरूप जानना दुर्गम है। अरण्यकाण्डमें जो *'माया ईस न आपु कहँ जान कहिअ सो जीव'* कहा है, उसीकी प्रकाशक यह चौपाई है। जैसे वहाँ तीनों प्रतिपादित हैं वैसे ही यहाँ भी प्रतिपादित हैं।

नोट—४ यहाँ यह कहकर कि अखण्ड ज्ञान होता तो भेद ही न होता, आगे बताते हैं कि अखण्ड ज्ञान न हो सकनेका कारण है और वह यह है कि *'माया बस्य जीव अभिमानी।—'* इत्यादि।

मायाबस्य जीव अभिमानी। ईसबस्य माया गुनखानी॥ ६॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥ ७॥
मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥ ८॥

अर्थ—मायावश होनेसे जीव अभिमानी होता है (वा, अभिमानी जीव मायावश है) और ईश्वरवश होनेसे माया गुणखानि है (वा सत्त्व, रज, तम गुणोंकी खानि माया ईश्वरके वश है)॥ ६॥ जीव पराधीन (मायाके अधीन) है और भगवान् स्वतन्त्र हैं (किसीके वश नहीं हैं)। श्रीपति एक हैं और जीव अनेक है। यद्यपि मायाकृत भेद असत्य है (वा, मिथ्या भेद यद्यपि मायाकृत है) तो भी बिना भगवान् (की कृपा) के करोड़ों उपाय करनेसे भी नहीं जा सकता॥ ७-८॥

नोट—१ **'मायाबस्य—ईसबस्य माया गुनखानी'** अर्थात् माया ईश्वरके वश है, जैसी प्रेरणा ईश्वर करता है वैसा ही वह करती है। उसका कुछ अपना बल नहीं है और संसार रचनेवाले त्रिगुण मायाके वश हैं, जिससे वह सब प्रपंच रचती है, यथा—*'एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥'* (आ० १५। ६) *'सो हरि माया सब गुन खानी।'* (१। १३०। ५) सत्त्व, रज और तम— ये तीनों गुण प्रकृतिके हैं। प्रकृतिके इन गुणोंद्वारा ही सब कर्म होते हैं। यथा—**'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।'** (गीता ३। २७) जो 'अहंका विषय नहीं है उस प्रकृतिमें 'मैंपन' का अभिमान कर लेना अहंकार है। इसीसे *'मायाबस्य जीव अभिमानी'* कहा। भाव कि अहंकारके कारण वह आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानता, इसीसे प्रकृतिके सत्त्वादि गुणोंद्वारा उन्हींके अनुरूप किये गये कर्मोंमें 'मैं करनेवाला हूँ' ऐसा मान लेता है। यथा—**'अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।'** (गीता ३। २७)—*'गुनकृत सन्यपात*

नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही॥' (७१। १) भी देखिये। अहंकार आनेपर ही माया लगती है। यथा—*'चले हृदय अहमिति अधिकाई। श्रीपति निज माया तब प्रेरी॥'* (१। १२९। ७-८)

पं०—*'पर बस जीव'* इति। अर्थात् जीव ईश्वराधीन है। यथा—*'उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं॥'* (४। ११। ७) *'नट मरकट इव सबहि नचावत। राम खगेस बेद अस गावत॥'* (४। ७। २४) *'जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ।'* (१। १२४) *'ईस अधीन जीव गति जानी।'* (२। २६३) ईश्वर जैसा चाहता है वैसा ही कर्म जीव करता है। जिसे वह उत्तम लोक प्राप्त कराना चाहता है, उससे उत्तम कर्म कराता है और जिसे नरकगामी बनाना चाहता है, उससे अशुभ कर्म करवाता है। यथा—**'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमन्वानुनेषत्येष एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो नुनुत्सत।'** (कौषीतकि ब्रा० ३। ९)

नोट—२ इसपर यह शंका होती है कि तब तो विषमसृष्टि आदि कर्म निर्दयतादि दोषोंकी उत्पत्ति कराकर भगवान्‌को बाँधते होंगे? इसका समाधान यह है कि वे कर्म ईश्वरको नहीं बाँधते, क्योंकि जीवोंके पूर्वकृत कर्मोंहीके अनुसार वे यह सब करते हैं और स्वयं आसक्तिरहित उदासीनकी भाँति उनमें स्थित रहते हैं। यथा—**'न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय। उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥'** (गीता ९। ९) *'सुभ अरु असुभ कर्म फल दाता।'* (४१। ५) भगवान् व्यासने भी यही कहा है कि ईश्वरमें विषमता और निर्दयताका दोष नहीं है, क्योंकि सृष्टिरचना कर्मसापेक्ष है—**'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्।'** (ब्र० सू० २। १। ३४) भगवान् तो केवल निमित्तकारण हैं, प्रधान कारण तो जीवोंकी प्राचीन कर्म-शक्तियाँ ही हैं। इसीसे भगवान्‌ने कहा है—**'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।'**

पंजाबीजीने *'परबस'* से ईश्वराधीन अर्थ ग्रहण किया। 'पर' से मायावश, कर्मोंके वश अर्थ अधिक संगत होगा, क्योंकि मायाबस्यका प्रसंग चल रहा है। यथा—*'सो माया बस भयउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं।'* (११७। ३), *'मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया॥'* (३। १५। २), *'जीव करम बस सुख दुख भागी।'* (२। १२। ४), **'यन्मायावशवर्त्तिविश्वमखिलं……'**, *'तेहि ईस की हौं सरन जाकी बिषम माया गुनमई। जेहि किये जीव निकाय बस……॥'* (वि० १३६)

३ *'स्वबस भगवंता'* इति। भाव कि उनके लिये कोई रोक-टोक नहीं कि वे ऐसा न करें अथवा वैसा न करें। उनकी इच्छाका बाध नहीं है। यथा—*'परम स्वतंत्र न सिर पर कोई। भावै मनहि करहु तुम्ह सोई॥'* (१। १३७। १), *'निज तंत्र नित रघुकुलमनी।'*, (१। ५१ छंद) इसमें कौषीतकि ब्रा० उ० के **'न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कर्मणा कनीयान्।'** (३। ९) का भाव भी आ जाता है कि वह न तो अच्छे कर्मसे बढ़ता है और न खोटे कर्मसे छोटा ही होता है। भले-बुरे कर्म करनेपर भी वह निर्दोष ही है। यह बात नारदजीने भी कही है—*'कर्म सुभासुभ तुम्हहि न बाधा।'* (१। १३७)

पुनः, **'परबस जीव'** के साथ *'स्वबस भगवंता'* कहकर श्वेताश्वतरकी, **'स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्वृणोति। क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टिः॥'** (५। १२) (जीवात्मा अपने कर्मोंके संस्काररूप गुणोंसे तथा शरीरके गुणोंसे युक्त होनेके कारण अहंता-ममता आदि अपने गुणोंके वशीभूत होकर स्थूल और सूक्ष्म बहुत-से रूपों (शरीरों) को स्वीकार करता है, उनके संयोगका कारण दूसरा भी देखा गया है), इस श्रुतिका भाव भी जना दिया है। भाव यह है कि जीवात्मा अपने किये हुए कर्मोंके संस्कारोंसे शरीरके धर्मोंसे अहंता-ममता करके तद्रूप हो जानेके कारण नाना प्रकारकी भिन्न-भिन्न योनियोंमें जन्म लेता है। परंतु इस प्रकार जन्म लेनेमें वह स्वतन्त्र नहीं है। उसके संकल्प और कर्मोंके अनुसार उन-उन योनियोंसे इसका सम्बन्ध जोड़नेवाला कोई दूसरा है और वह है परमदेव परमेश्वर, जिसका वर्णन श्रुति १। ५ में किया गया है। यथा—**'विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः।'** १। (जो विद्या और अविद्या, चर अचर, दोनोंसे सर्वथा भिन्न है तथा दोनोंपर शासन करता है), **'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनीश्च सर्वाः।'**२। (जो समस्त योनियों तथा उनमें जो भिन्न-भिन्न रूप और उनके जो

कारण हैं—इन सबोंपर आधिपत्य रखता है। अर्थात् ये सब जिसके अधीन हैं), **'स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः। ४।'** (भक्ति करने योग्य वे परमेश्वर अकेले ही समस्त कारणरूप अपनी भिन्न-भिन्न शक्तियोंके अधिष्ठाता होकर उन सबको यथायोग्य कार्यमें प्रवृत्त करते हैं), **'गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद् यः।'** ५। (जो समस्त गुणोंका जीवोंके साथ यथायोग्य संयोग कराता है)—श्रुति १—५ के भाव ***'स्वबस'*** शब्दमें आ जाते हैं।

पुनः परवश और स्ववश कहकर जनाया कि जीव कर्मवश होनेके कारण स्वेच्छापूर्वक अपने शरीरका प्रयोग वा नियन्त्रण किसी कालमें नहीं भी कर सकता है, किंतु ब्रह्म स्वतन्त्र और अखण्ड ज्ञान तथा शक्तिसे युक्त होनेके कारण चेतन-अचेतनरूपी शरीरका यथेच्छ प्रयोग कर सकता है।

करु०—जीव अनेक हैं। वह परमेश्वरका अंश है। तत्त्व एक है, व्यक्ति अनेक हैं। माया-जीवका सम्बन्ध अनादिसे है। मायामें तीन भेद हैं—अविद्या, विद्या ओर आह्लादिनी। तहाँ अविद्याके सम्बन्धसे जीव बद्ध है और विद्याके सम्बन्धसे मुमुक्षु जीवन्मुक्त है। आह्लादिनीमय (माया?) त्रिपादविभूति है, नित्य है। जीव और आह्लादिनी एक ही तत्त्व हैं। और विद्या जीवका विशेषण ज्ञान-विज्ञान इत्यादि है।

'रामरूपस्य तेजोऽयं जीवो वेदः प्रभाषितः। भेदं मतस्य सर्वेषामाचार्याणां वदामि ते॥'—(महारामायणे)। अर्थात् यह जीव श्रीरामजीके रूपका तेज है, यह वेद कहते हैं। जीवात्माके सम्बन्धमें जो मतभेद है वह कहता हूँ।—(करु०) पुनश्च **'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।'** (गीता) ***'ईश्वर अंश जीव अबिनासी।'*** **'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'** इति श्रुतिः—(पं०)

रा० प्र०—१ *'जीव अनेक'* जैसे फूटे दर्पणमें नाना मुख। २—*'मुधा भेद'* का भाव कि ***'प्रथम रहे हम सिंह भए बकरिया'***, हैं तो हम सिंह ही पर अपनेको बकरी मान बैठे हैं।

नोट—४ *'जीव अनेक एक श्रीकंता'* इति। जीव अनेक है, इस कथनसे जीव और ब्रह्मका पार्थक्य जनाया। इनका पार्थक्य उपनिषद्में सर्वत्र अत्यन्त परिस्फुटरूपमें पुनः-पुनः उपदिष्ट है। यथा—**'पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति।'** (श्वे० १। ६) (अपने-आपको और सबके प्रेरक परमात्माको अलग-अलग जानकर उसके बाद उस परमात्मासे स्वीकृत होकर अमृतभावको प्राप्त हो जाता है। अर्थात् संसारचक्रसे छूट जाता है), **'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।'** (श्वे० १। १२) (भोक्ता जीवात्मा, भोग्य जडवर्ग और उनके प्रेरक परमेश्वर—इन तीनोंको जानकर मनुष्य सब कुछ जान लेता है। इस प्रकार यह तीन विभाग ब्रह्मके ही हैं। वेदान्तसूत्रमें भी यही घोषणा की है कि जीव और ब्रह्म एक नहीं हैं—**'भेदव्यपदेशाच्च।'** (१। १। १८) **'अधिकं तु भेदनिर्देशात्।'** (२। १। २१) जीव और ब्रह्म तत्त्वतः एक होकर भी, अंशांशी होकर भी वस्तुतः विभिन्न हैं। भावतः विभिन्न हैं। आत्मज्ञ त्रैगुण्यनिर्मुक्तजीव सर्वभूतात्मभूतात्मा जीव भी देहपात होनेपर ब्रह्म नहीं हो जाता। इस तत्त्वपर ब्रह्मसूत्रमें स्पष्टरूपसे विचार किया है। (आचार्य श्रीक्षेत्रलाल साहा)

पुनः *'जीव अनेक'* से जीवको अनन्त बताया। यथा—**'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥'** (श्वे० ५। ९) (बालकी नोकके दस हजारवें भागके बराबर जीवका स्वरूप समझना चाहिये। वह असीम भाववाला होनेमें समर्थ है। भाव कि वह जडजगत्‌में सर्वत्र व्याप्त है)।

'श्रीकंता'—जिसको पूर्व सीतावर, ईश्वर, ईश, भगवंत कहा उसीको श्रीकंत कहा अर्थात् श्रीकंत=सीतापति श्रीरामजी। जीवको अनेक और श्रीकंतको एक कहकर जनाया कि जीवोंके रूप उनके कर्मानुसार अनन्त प्रकारके हैं, पर श्रीरामरूप सर्वज्ञ एक ही है। यथा—***'जीव चराचर जो संसारा। देखे सकल अनेक प्रकारा॥ पूजहिं प्रभुहिं देव बहु बेषा। रामरूप दूसर नहिं देखा॥'*** (१। ५५। २-३) ***'लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। ——सकल जीव तहँ आनहिं भाँती। ——अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन।'*** (८१ (१)—८१)

५—*'मुधा भेद जद्यपि कृत माया'* *'ज्ञान अखंड एक सीताबर। ——भेद कहहु कस'* से यहाँतक भेद कहा। स्वतन्त्र-परतन्त्र और एक-अनेक होनेका भेद कहा। इस भेदको मायाकृत कहा। अब जो भेदको

मिथ्या मानते हैं उनके पक्षको लेकर कहते हैं कि यदि कहो कि यह भेद मिथ्या है, मायाकृत है, तो सुनो। (पं० रा० व० श०)।

६—*'मुधा भेद जद्यपि कृत माया'* इति। भाव कि जीव भी चेतन, अमल, सहज सुखराशि, अविनाशी, सर्वभेदशून्य और सर्व उपाधियोंसे रहित है। भेद जो है वह शरीरको लेकर है। यही (श्वे० ५। १०) में प्रतिपादित जान पड़ता है। यथा—**'नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः। यद् यच्छरीरमादत्त तेन तेन स युज्यते॥'** (जीवात्मा न तो स्त्री है, न पुरुष और न नपुंसक ही। वह जिस-जिस शरीरको ग्रहण करता है, उस-उससे संबद्ध हो जाता है। जो जीवात्मा आज स्त्री है, वही दूसरे जन्ममें पुरुष हो सकता है, जो पुरुष है वह स्त्री हो सकता है। भाव कि ये स्त्री, पुरुष और नपुंसक आदि भेद शरीरको लेकर हैं, जीवात्मा सर्वभेदशून्य है)।

माया जड़ है, कर्म भी जड़ है। जीव चेतन है। तब जड़ चेतनको कैसे बाँध सकता है! फिर भी जीव बँधा हुआ मानता है जैसे तोते स्वयं पोगलीकी पकड़े बैठे रहते हैं और बंदर तङ्ग घड़ेमें हाथ डालकर मुट्ठी बाँधे हाथ बाहर नहीं निकाल सकते, स्वयं तो बँधे हैं पर समझते हैं कि पोगली वा घटने हमें पकड़ लिया है। इसी तरह मायावश वा परवश होना, आदि सब भेद असत्य हैं, जीव अपने स्वरूपको भूल गया है, इसीसे वह अपनेको बँधा हुआ समझता है; पर असत्य होनेपर भी यह भ्रम बिना प्रभुकी कृपाके नहीं छूटता। यथा—*'जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥'* (११७। ४)

७ अद्वैतमतानुसार यहाँ व्यवहारावस्थामें जीव-ब्रह्ममें भेद और परमार्थावस्थामें अभेद स्वीकार किया है। *'माया बस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान'* आदि वाक्य इसी दृष्टिसे कहे गये हैं। जीव-जीवमें भी भेद मायाकृत ही है। *'मुधा भेद जद्यपि कृत माया'* से परमार्थावस्थामें अभेद कहा और *'बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया'* से मायाकृत भेदका बाध (ब्रह्मसाक्षात्कारसे) कहा। (वि० त्रि०)।

३—*'बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया।'* जप, तपादि अनेक उपाय करनेसे भी माया नहीं छूटती, हरिकृपासे ही छूटती है—यह कहकर मायाका अतिशय प्राबल्य दिखाया, यथा—(वि० ११६)—

माधव असि तुम्हारि यह माया। करि उपाय पचि मरिय तरिय नहिं, जब लगि करहु न दाया॥
सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै। जेहि अनुभव बिनु मोहजनित दारुन भव बिपति सतावै॥
ब्रह्म पियूष मधुर सीतल जौ पै मन सो रस पावै। तौ कत मृगजल रूप बिषय कारन निसि बासर धावै॥
जेहि के भवन बिमल चिंतामनि सो कत काँच बटोरै। सपने परबस परै जागि देखत केहि जाइ निहोरै॥
ज्ञान भक्ति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं। तुलसिदास हरिकृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं॥
'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥'
(गीता ७। १४), विनय पद १२०—१२४ भी देखिये॥

पं० रा० व० श०—*'मुधा भेद।'* भाव कि जितने भेद कहे जाते हैं वे मायाके हैं। एक ही चेतन अनेक शरीरमें अनेक भासित होता है। यह शंका करो कि 'भेद मिथ्या है तो उसके लिये यत्नकी आवश्यकता क्या? वह आप-से-आप मिट जायगा; जैसे रस्सीके साँपका भ्रम उजाला होते ही स्वयं मिट जाता है।' उसपर कहते हैं कि यह भेद ऐसा नहीं है। जो भेद अध्यासित या औपाधिक होते हैं वे ही आपसे दूर हो जाते हैं पर यह वैसा नहीं है। वस्तुतः माया और जीव दोनों परमात्माके शरीर हैं। श्रुति कहती है कि जो भगवान् आकाश, जल, वायु इत्यादि चराचर जगत्‌मात्रके भीतर रहकर सबका प्रेरक है, वह आत्माके भीतर भी है, पर आत्मा उसे नहीं जानता, आत्मा उसका शरीर है। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे आत्मा शरीर नहीं है पर शरीरके नामसे दिये हुए पिण्डादिक उसे मिलते हैं वैसे ही आत्मा परमात्मा वस्तुतः भिन्न हैं पर परमात्मा शरीरी होनेसे आत्माको भी ब्रह्म कहते हैं।

वै०—ईश्वर सर्वज्ञ जीव अल्पज्ञ, यह भेद कभी मिटनेवाला नहीं। जीव अविद्या मायाके वश है जो त्रिगुणकी खानि है और विद्या माया जो शुभ गुणकी खानि है वह ईश्वरके वश है। *'एक श्रीकंता'* का भाव कि ईश्वरकोटिमें भेद नहीं है, षडङ्ग ऐश्वर्य सबमें है।

पं०—'*मुधा भेद जद्यपि कृत माया।*' जीव और ईश्वरमें जो भेद है वह मायाकृत है। जब माया ही सत्य नहीं, यथा—'*जदपि असत्य देत दुख अहही*', '*सो दासी रघुबीर की समुझे मिथ्या सोपि*', तब उसका रचा हुआ भेद कब सत्य हो सकता है? वह भी असत्य ही है।

दो०—रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूछ बिषान॥
राकापति षोडस उअहिं तारागन समुदाइ।
सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रबि राति न जाइ॥७८॥

शब्दार्थ—निर्वाण-मुक्तिके अर्थमें इसका प्रयोग गीता, भागवत, शारीरिक भाष्य इत्यादि नये पुराने ग्रन्थोंमें मिलता है। सांख्य, न्याय, वैशेषिक, योग, मीमांसा (पूर्व) और वेदान्तमें क्रमशः मोक्ष, अपवर्ग, निःश्रेयस्, मुक्ति या स्वर्गप्राप्ति तथा कैवल्य शब्दोंका व्यवहार हुआ है।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके भजन बिना जो कोई निर्वाणपद चाहे वह मनुष्य ज्ञानवान् भी होनेपर बिना पूँछ और सींगका पशु है। सोलहों कलाओंसे पूर्ण चन्द्र उदय हो और तारागणका जितना समुदाय है वह भी उदय हो तथा जितने पर्वत हैं उन सबोंमें दवाग्नि लगा दी जाय तब भी बिना सूर्यके रात्रि नहीं जा सकती॥ ७८॥

नोट—'*रामचन्द्र के——निर्बान*' इति। श्रीरामभक्तिसे निर्वाण भी मिलता है। ऐसा ही सिद्धान्तग्रन्थके आदि, मध्य और अन्तमें सर्वत्र कहा है। यथा—'**यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्**।'(बा० मं०) '*जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं।*' (२। ४। ७), '*सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि। भजहु रामपदपंकज अस सिद्धांत बिचारि॥*' (११९) '*बारि मथे घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल। बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल॥*——विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे। हरिं नरा भजंति येऽतिदुस्तरं तरंति ते॥'(१२२) '*रामचरन रति जो चह अथवा पद निर्बान। भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान॥*' (१२८)

२ '*ग्यानवंत अपि सो——*' इति। इससे जनाया कि ज्ञानसे भी मुक्ति मिलती है—'*ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना।*' पर '*ग्यान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥*' (११९। १), '*जे ग्यान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥*' (१३ छंद)

जो भक्तिको छोड़कर केवल ज्ञानके लिये परिश्रम करते हैं उनके लिये आगे भी ऐसे ही कड़े शब्द कहे हैं। यथा—'*जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ग्यान हेतु श्रम करहीं॥ ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥ सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥ ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी।*' (११५। १—४)

जो कैवल्य मुक्ति ज्ञानी चाहते हैं, उसकी परवा सगुणोपासक नहीं करते, दूसरे बिना किसी क्लिष्ट साधनके भक्तिसे वह बिना माँगे मिल सकती है। यथा—'*राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥*' (११९। ४) और फिर '*जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥ तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई॥*' (११९। ५-६)

ज्ञानी और भक्त दोनों शत्रु काम-क्रोधादि हैं पर अमानी भक्तकी रक्षा भगवान् करते रहते हैं, और ज्ञानी अपने बलपर चलता है, उसकी चिन्ता भगवान्को नहीं रहती। यह समझकर जो ज्ञानी सयाने हैं वे हरिभक्तिका त्याग नहीं करते। '*यह बिचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहु ग्यान भगति नहिं तजहीं॥*' (३। ४३) ऐसा करनेसे वे भगवान्के प्रिय भी हो जाते हैं।

अतएव जो रामभजन छोड़कर मोक्षकी चाह करते हैं उनको '*पसु बिनु——*' कहा। क्योंकि '*सोह न रामप्रेम बिनु ग्यानू।*', '*भगति हीन गुन सब सुख ऐसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥ भजन हीन सुख कवने काजा।*' (८४। ५-६)

३—ऐसा ही कविने अन्यत्र भी कहा है—*'अस प्रभु छाँड़ि भजहिं जे आना। ते नर पसु बिनु पूँछ बिषाना॥'* (५। ५०। १) वहाँ अन्यके भजन करनेवालेको बाँड़ा—डूँड़ा पशु कहा और यहाँ बिना रामभजनके मोक्ष चाहनेवालेको। लांगूलविशिष्ट चतुष्पद जन्तु अर्थात् चार पैरोंसे चलनेवाला कोई भी जन्तु जिसके पूँछ भी हो उसकी 'पशु' संज्ञा है। अमरकोशमें पशु शब्दके अन्तर्गत इन जन्तुओंके नाम आये हैं—'सिंह, बाघ, लकड़बग्घा (चरग), सूअर, बंदर, भालू, गैंड़ा, भैंसा, गीदड़, बिल्ली, गोह, साही, सब जातिके हिरन, सुरा गाय, नील गाय, खरहा, गन्धबिलाव, बैल, ऊँट, बकरा, मेढ़ा, गदहा, हाथी और घोड़ा। पर यहाँ *'बिनु पूँछ बिषान'* कहकर कवि उस पशुका निर्देश कर रहे हैं जिसके पूँछ और सींग दोनों हों। जैसे गाय, भैंस इत्यादि। *'बिनु पूँछ बिषान'* मुहावरा है। पशु बिना पूँछ और सींगके असमर्थ और अशोभित होता है। लोकमें भी बिना पूँछवाला बाँड़ा और बिना सींगका डूँड़ा कहलाता है। वैसे ही *'बिना पूँछ बिषान'* कहकर यहाँ जनाया कि बिना हरिभजनके मनुष्यकी न शोभा है और न वह मोक्ष पा सकता है। वस्तुतः वह पशु ही है, भेद केवल इतना है कि पशुके पूँछ और सींगकी इनमें कमी है। वे मनुष्य गर्दभ, सूकर और श्वानके समान हैं जो बिना पूँछ-सींगवाले पशु हैं, यथा—*'तिन्ह तें खर सूकर श्वान भले जड़ता बस ते न कहैं कछु वै। तुलसी जेहि राम सो नेह नहीं सो सही पसु पूँछ बिषान न द्वै॥'* (क० उ० ४०), *'जो पै रहनि राम सों नाहीं। तौ नर खर कूकर सूकर से जाय जियत जग माहीं॥'* (वि० १७५)

खर भार लादता है, ये तप, व्रत, जप, ज्ञान, वैराग्यादि साधनोंका व्यर्थ भार ढोते हैं, सूकरकी मलिन गति सब जानते हैं और श्वान निरादर होनेपर भी फिर उसी द्वारपर जाता है वैसे ही ये उन सब साधनोंसे बारम्बार जन्म-मरण पाकर भी फिर उन्हींमें जाते हैं।

प्र० सं०—*'ज्ञानवंत अपि'* का भाव कि ज्ञानसे मोक्ष होता है, बिना ज्ञानके मोक्ष नहीं होता, यथा—*'ज्ञान मोक्षप्रद बेद बखाना' 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'* तथापि बिना रामभजनके ज्ञानी होनेपर भी वह अशोभित ही है, यथा—*'सोह न राम पेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू॥'* (अ० २७७) वह ज्ञानी मनुष्य मनुष्य नहीं है वरन् पशु ही है। जैसे पशु चेतन होते हुए भी अज्ञानी होता है वैसे ही ज्ञान होते हुए भी वह मनुष्य अज्ञानी है।

पं० रा० व० श०—*'ज्ञानवंत अपि'* अर्थात् अध्यारोप अपवादका वेदान्तसे पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया हो तो भी। भाव यह कि भगवान् जहाँ नहीं हैं वही अविद्या है, जहाँ वे हैं वही प्रकाश हैं। जैसे चन्द्रमा या दीपकादिसे उजाला भले ही हो पर यह कोई न कहेगा कि रात नहीं है। रात नहीं है, यह तो सूर्योदय होनेपर ही कहा जायगा।

नोट—४ षोडश=सोलह। चन्द्रमाकी १६ कलाएँ वा भाग हैं जो क्रमसे एक-एक करके निकलते और क्षीण होते हैं। इनके नाम ये हैं—१ अमृता, २ मानदा, ३ पूषा, ४ पुष्टि, ५ तुष्टि, ६ रति, ७ धृति, ८ शशनी, ९ चन्द्रिका, १० कान्ति, ११ ज्योत्स्ना, १२ श्री, १३ प्रीति, १४ अंगदा, १५ पूर्ण और १६ पूर्णामृता। चन्द्रमा शुक्लपक्षमें कला-कला करके बढ़ता है और पूर्णिमाके दिन उसकी सोलहवीं कला पूर्ण हो जाती है। बैजनाथजी चन्द्रमाकी कलाओंपर 'शारदा तिलक' का यह श्लोक देते हैं—**'अमृतां मानदां तुष्टिं पुष्टिं प्रीतिं रतिं तथा। लज्जां श्रियं स्वधां रात्रिं ज्योत्स्नां हसवतीं ततः। छायां च पूर्णां वामाममाचन्द्रकला इमाः॥'** *संत संग अपवर्ग……'* की टीकामें)।

नोट—५ *'सकल गिरिन्ह दव लाइय……'* भाव कि सारे देवताओंकी उपासना करें तो भी माया-मोह नहीं दूर हो सकता। रूपककी व्याख्या अगली चौपाईमें देखिये।

ऐसेहिं बिनु हरि भजन* खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥ १॥

* गौड़जी—'हरि बिनु भजन' पाठ समीचीन नहीं दीखता क्योंकि यदि हरिको सम्बोधन मानें तो हरिका अर्थ गरुड़ होना चाहिये, जिसमें अप्रसिद्ध दोष है और यदि भजनका विशेषण मानें तो भजनके पहले विनोक्ति अप्रासंगिक

हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापै तेहि बिद्या॥ २॥
ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़ै बिहंगबर॥ ३॥

अर्थ—इसी प्रकार (अर्थात् जैसे पूर्णचन्द्रादि सभी होते हुए भी बिना रविके रात्रि नहीं जाती वैसे ही) हे खगेश! बिना हरिभजनके जीवोंका क्लेश नहीं मिटता॥ १॥ भगवद्भक्तको अविद्यामाया नहीं व्यापती। प्रभुकी प्रेरणासे उसे विद्यामाया व्यापती है॥ २॥ इसीसे दासका नाश नहीं होता। हे पक्षिश्रेष्ठ! (उससे) भेदभक्ति बढ़ती है॥ ३॥

नोट—१ (क) *'ऐसेहि——'* इति। यहाँ हरिभजन सूर्य है, क्लेश रात्रि है, रात्रिका जाना क्लेशका मिटना है, ज्ञान सोलहों कलापूर्ण चन्द्र है, जप, तप, ज्ञान, वैराग्य, योग, यज्ञादि, साधन, तारागण आदि है। तत्त्वमसि महावाक्यादिका ज्ञान पर्वतोंका दावानल है। (ख) ऊपर ज्ञानवंतके दृष्टान्तके सम्बन्धसे यहाँ क्लेशसे योगशास्त्रमें कहे हुए अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन पञ्चक्लेशोंसे तात्पर्य है।

(ग) *'जप जोग बिराग महामख साधन दान दया दम कोटि करै। मुनि सिद्ध सुरेस गनेस महेस से सेवत जन्म अनेक मरै॥ निगमागम ज्ञान पुरान पढ़ै तपसानल में युगपुंज जरै। मन सों प्रण रोपि कहै तुलसी रघुनाथ बिना दुख कौन हरै॥'* इस कवित्तमें तीन चरणोंमें पृथक्-पृथक् कही हुई बातोंको भी चन्द्र, तारागण और दव ले सकते हैं। योग दावानल है। (वै०)

२ ☞ अब हरिभक्तिकी विशेषताका कारण कहते हैं। (क) *'हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या'* इति। भाव कि जो जीव हरिसेवक नहीं हैं उनको अविद्या व्यापती है, हरिसेवकको नहीं व्यापती, यथा—*'एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥'*(आ० १५) [भाव यह है कि 'मैं तेरा हूँ' ऐसा कहते ही प्रभु अभय देते हैं, यह उनकी प्रतिज्ञा है। यथा— **'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥'**, उनकी प्रतिज्ञा है—*'करौं सदा तिन्ह कै रखवारी।'* तब कौन ऐसा है जो भक्तको हाथ लगा सके। *'सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥'* जैसे उद्यापन करनेसे राक्षसादि निकट नहीं जा सकते (रा० प्र०)] (ख) ☞*'सो माया न दुखद मोहि काहीं'* ऊपर कहा था, उसका कारण यहाँ कहा। *'नाथ इहाँ कछु कारन आना——'*(७८। ४) पर जो प्रसङ्ग छोड़ा था वह फिर यहाँसे उठाया।

३ *'प्रभु प्रेरित ब्यापै तेहि बिद्या'* (क) यहाँ दो बातें कहीं, वह यह कि यदि जीव कहीं अभिमानवश हो गया क्योंकि उसका धर्म ही है—*'जीव धरम अहमिति अभिमाना'* तो उसे विद्या व्यापती है, पर वह भी प्रभुकी प्रेरणासे। (ख) *'प्रभु प्रेरित'* का भाव कि हरिसेवकको विद्या भी अपने बलसे नहीं व्याप सकती, जब व्यापती है तब प्रभुकी ही प्रेरणासे—नहीं तो वह तो भक्तसे डरती रहती है, यथा—*'रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसइ जासु उर सदा अबाधी॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥'* (११६। ६-७)

गौड़जी—*'प्रभु प्रेरित ब्यापै तेहि बिद्या'* में यह भाव है कि साधारणतया सभी जीव विषयसुखको अपना परम उद्देश्य मानते हैं, मृत्युके साथ अपना मर जाना जानते हैं और संसृतिसे उन्हें राग होता है। भक्तको बन्धनका ज्ञान होता है, सांसारिक विषयोंसे विरति होती है, वह देहसे अपनेको अलग जीव समझता है और स्वामीसे अपने जीवत्वका भेद मानता है। यह सब उसके आध्यात्मिक विकासके लक्षण हैं जो

होती है। इसलिये 'बिनु हरिभजन' ही ठीक पाठ है। का० में 'बिनु हरिभजन' पाठ है। विनोक्तिको दीपदेहरी न्यायसे दोनों ओर लगा सकते हैं और अर्थ यों होगा कि बिना भगवान्‌के और बिना भजनके अर्थात् भगवान् और उनका भजन दोनों ही क्लेश-निवारणके लिये अनिवार्य हैं। परंतु 'हरि' और 'हरिभजन' में कार्य और कारणका सम्बन्ध है क्योंकि बिना हरिभजनके हरि नहीं मिलते। और कारण और कार्यका भी सम्बन्ध है, क्योंकि बिना हरिकृपाके भजन नहीं होता। वस्तुतः भजन और हरिका अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इसलिये 'हरि बिनु भजन' पाठ ठीक समझा जा सकता है। परंतु मैं नहीं समझता कि मानसकार ऐसे जटिल तर्कके पोषणके लिये हरि और भजनके बीच जान-बूझकर विनोक्ति देंगे। इसी विचारसे 'हरिभजन' पाठ अधिक सरल और समीचीन समझता हूँ।

प्रभुकी प्रेरणासे ही उपस्थित होते हैं। दास अविद्यामें कभी नहीं फँसता, अतः उसका पतन वा नाश नहीं होता। ईश्वर और जीवके स्वामी और दासके सम्बन्धकी भक्ति उत्तरोत्तर सुदृढ़ होती जाती है।

वै०—१ विद्या और अविद्याके व्यापनेमें भेद यह है कि विद्या तो ज्ञान-भक्तिका रूप ही है अतः जिसमें व्यापती है उसे अज्ञानी नहीं कर देती, देखनेमात्र दुःखद है अन्तमें सुखद है। जैसे माता बालकके फोड़ा चिराते समय दुःखद देख पड़ती है। और अविद्या जिसे व्यापती है उसे अज्ञानी कर देती है। २—अविद्यामायाकृत भेद जीवको ईश्वरसे विमुख कर उसका नाश कर उसे चौरासीमें डाल देता है और विद्या मायाकृत भेद जो सेवक-सेव्यभाव है उससे भक्ति बढ़ती है। भक्तिके प्रभावसे हरिदासका नाश नहीं होता। चौरासीमें पड़ना नाश होना है।

नोट—*'ताते नास न होइ दास कर'* इति। नाश न होनेका भाव कि उसका पतन नहीं होता। यथा—**'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।'** (गीता ९। ३१), **'न वै जनो जातु कथंचनाव्रजेन्मुकुन्दसेव्यन्यवदङ्ग संसृतिम्। स्मरन्मुकुन्दाङ्घ्र्युपगूहनं पुनर्विहातुमिच्छेन्न रसग्रहो यतः॥'** (भा० १। ५। १९) श्रीनारदजी व्यासजीसे कह रहे हैं कि मुकुन्दसेवी जन कभी संसारचक्रमें नहीं पड़ सकता। वह मुकुन्दचरणाम्बुजके आलिङ्गनसुखका स्मरणकर फिर उसे छोड़नेकी इच्छा नहीं करता, क्योंकि उसे भगवद्रसका अनुभव हुआ है।

गीतामें जो भगवान्‌ने कहा है कि 'तू निश्चय जान कि मेरी भक्तिमें लगा हुआ पुरुष नष्ट नहीं होता, उसका भाव यह है कि विरोधी आचरणोंसे मिश्रित होनेपर भी वह नष्ट नहीं होता, प्रत्युत मेरी भक्तिकी महिमासे समस्त विरोधी समुदायका नाश करके वह सदा रहनेवाली शान्तिको—विरोधिनिवृत्तिको प्राप्त करके शीघ्र ही परिपूर्ण भक्तिमान् हो जाता है। (श्रीरामानुजभाष्य)।'

यही भाव कवितावलीके *'आपु हौं आपुको नीके कै जानत रावरो राम भरायो गढ़ायो। कीर ज्यों नाम रटै तुलसी सो कहै जग जानकीनाथ पढ़ायो॥ सोइ है खेद जो बेद कहैं न घटै जन जो रघुबीर बढ़ायो। हौं तो सदा खरको असवार तिहारोइ नाम गयंद चढ़ायो॥'* (७। ६०) इस पदमें है।

पं० श्रीकान्तशरण—विद्या मायाका व्यापार यह है कि वह जीवके प्रति भगवान्‌के शरीररूपमें जगत्‌की स्थिति-प्रवृत्ति दृढ़ कर देती है। उससे यह निश्चय हो जाता है कि *'मैं सेवक सचराचररूप स्वामि भगवंत।'* यह सेवक-स्वामिभावकी भेदभक्ति नित्य बढ़ती है। इससे भक्तका नाश नहीं होता।

दासका नाश होना क्या है? जो गीता (२। ६३-६४) में कहा है कि जीवकी इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर दौड़ती हैं, उससे काम, कामकी असिद्धिसे क्रोध, क्रोधसे सम्मोह और इससे कर्तव्याकर्तव्यकी विस्मृति होनेसे वह अकर्तव्यमें प्रवृत्त हो जाता है। उसके व्यवहारमें कटुता, कायरता, हिंसा, दीनता, जड़ता आदि दोष आ जाते हैं। वह अपनी पूर्वकी स्थितिसे गिर जाता है और मरनेपर अधोगतिको प्राप्त होता है—यही उसका नाश होना है।

वि० त्रि०—यहाँ विद्यासे अभिप्राय अपरा विद्यासे है, क्योंकि परा विद्यासे तो आत्यन्तिक प्रलय अर्थात् मोक्ष हो जाता है। स्पष्ट शब्दोंमें कहिये तो उसका नाश हो जाता है। आगे कहेंगे कि *'ताते नास न होइ भगत कर। भेद भक्ति बाढ़ै बिहंग बर॥'* ऋक्, यजुः, साम, अथर्व, छन्द, ज्योतिष आदि अपरा विद्या है और इन सबकी प्रवृत्ति भेद लेकर ही होती है। अतः भेदभक्तिके बढ़नेके लिये अपरा विद्या व्यापती है।

पं०—*'ताते नास न होइ'* अर्थात् वह जन्मादिका भागी नहीं होता (जैसे कि अविद्याके व्यापनेसे होता है—*'जा बस जीव परा भवकूपा'*)* पर भेदभक्ति बढ़ती है अर्थात् ईश्वरको भिन्न माननेमें कभी भ्रम पड़ता है परंतु भक्ति करते हैं। जैसे कि मुझको रघुनाथजीके विषयमें कुतर्क हुआ तो भी माया देखते भी जब प्रभुका जन्म सुनता तब दर्शनको चला गया फिर 'त्राहि' कर शरणमें पड़ा।

श्रीजयदयालजी गोयन्दका—उपनिषदुक्त सभी साधन भेदोपासना और अभेदोपासनाके अन्तर्गत आ जाते

* रा० प्र०—नाश न होनेका भाव कि 'जो नित अव्यय दास सोइ मो का जानैंगे क्रूरा।' और 'यह दासपनी खेलवार नहीं, बनि न सकत कोटिउ साधन ते याको कोउ बाजार नहीं'।

हैं। भेदोपासनाके भी दो प्रकार हैं। एक तो वह, जिसमें साधनमें भेदभावना रहती है और फलमें भी भेदरूप ही रहता है और दूसरी वह जिसमें साधनकालमें तो भेद रहता है, परंतु फलमें अभेद होता है।

भेदोपासनामें तीन पदार्थ अनादि माने जाते हैं, माया, जीव और मायापति परमेश्वर। प्रकृति जड़ है और उसका कार्यरूप दृश्यवर्ग क्षणिक, नाशवान् और परिणामी। जीवात्मा और परमेश्वर साक्षी है। एवं जीव उपासक है और परमेश्वर उपास्य। दोनों ही नित्य चेतन और आनन्दस्वरूप हैं, किन्तु जीवात्मा अल्पज्ञ और परमेश्वर सर्वज्ञ है, जीव असमर्थ है और परमेश्वर सर्वसमर्थ है; जीव अंश है, परमेश्वर अंशी है; जीव भोक्ता है और परमेश्वर साक्षी है एवं जीव उपासक है और परमेश्वर उपास्य है। वे परमेश्वर समय-समयपर प्रकट होकर जीवोंके कल्याणके लिये उपदेश भी देते हैं।

इस विषयमें केनोपनिषद्में एक इतिहास आता है⋯⋯जिसमें यह सिद्ध हो जाता है कि प्राणियोंमें जो कुछ भी बल, बुद्धि, तेज एवं विभूति है, सब परमेश्वरसे ही है। इस प्रकार उपनिषदोंमें कहीं साकाररूपसे और कहीं निराकाररूपसे, कहीं सगुणरूपसे और कहीं निर्गुणरूपसे भेद-उपासनाका वर्णन आता है। वहाँ यह भी बतलाया है कि उपासक अपने उपास्य देवकी जिस भावसे उपासना करता है, उसके उद्देश्यके अनुसार ही उसकी कार्यसिद्धि हो जाती है। (कठ० १। २। १६-१७, मुण्ड० ३। १। १३) में भी उपासनाका भेदरूपसे वर्णन है। सारांश यह कि सर्वसुहृद् उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको तत्त्वसे जानकर उसीकी शरण लेनी चाहिये। श्वेताश्वतर उ० में परमेश्वरकी भेदरूपसे उपासनाका वर्णन विस्तारसहित आता है—मन्त्र (३। १७, २०; ४। १०-११, १४; ६। ११-१२, १८) देखिये।

भेदोपासनाके अनुसार चार प्रकारकी मुक्ति बतलायी गयी है—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। (उपनिषदाङ्कसे संक्षेपसे उद्धृत)।

नोट—श्रीगोयन्दकाजीका मत है कि सायुज्यमुक्तिमें साधनमें तो भेद है, पर फलमें भेद नहीं रहता। वे भगवान्‌के स्वरूपमें अभेदरूपसे विलीन हो जानेको सायुज्य मुक्ति कहते हैं। पर भक्तिग्रन्थमें यह सुना जाता है कि सायुज्यके जीव भगवान्‌के भूषण-वस्त्रादिरूपसे उनके सच्चिदानन्दविग्रहके स्पर्शसुखका अनुभव करते हैं। नारद-पञ्चरात्र परम संहितामें सायुज्यके सम्बन्धमें—'**सायुज्यं प्रतिपन्ना ये तीव्रभक्तास्तपस्विनः। किङ्करा मम ते नित्यं भवन्ति निरुपद्रवाः॥**' सायुज्यवाले भी परिकर-भावसे सेवामें ही आनन्द मानते हैं। यही भाव विनयके '***खेलिबे को खग-मृग, तरुकिंकर है रावरो राम हौं रहिहौं। एहि नाते नरकहु सचु, पैहौं या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं। इतनी जीय लालसा दासके⋯⋯।***' (२३१) इस पदमें है। वे परमपद प्राप्त होनेपर भी कैंकर्य ही चाहते हैं।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीका मत है कि अद्वैतवाद भक्तिके दो भेद मानता है—एक भेद-भक्ति, दूसरा अभेद-भक्ति। अभेद-भक्तिका साधक ब्रह्ममें लीन हो जाता है और भेद-भक्तिका साधक ब्रह्ममें लीन न होकर तत्सान्निध्यसे मोक्षसुखका अनुभव करता है।

☞ '*सो माया न दुखद मोहि काहीं। आन जीव इव संसृत नाहीं॥*' (७८। २) उपक्रम है और '*ताते नास न होइ दास कर*' उपसंहार है।

भ्रम तें चकित राम मोहि देखा। बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा॥ ४॥
तेहि कौतुक कर मरमु न काहूँ। जाना अनुज न मातु पिताहूँ॥ ५॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने मुझे भ्रमसे हक्का-बक्का चकपकाया (आश्चर्यान्वित) देखा और जो हँसे वह विशेष चरित सुनो॥ ४॥ उस कौतुकका भेद किसीने न जाना, भाइयों और माता-पिताने भी न जाना॥ ५॥

नोट—१ '*भ्रम तें चकित⋯⋯*' इति। (क) पूर्व प्रसंग '***देखि भएउ मोहि मोह⋯⋯॥ एतना मन आनत खगराया। रघुपति प्रेरित ब्यापी माया॥***' पर छूटा था, उसे अब फिर उठाते हैं—'***भ्रम तें चकित⋯⋯बिहँसे।***' (ख) '***कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद संदोह***', यही भ्रमसे चकित होना है। (ग) '***राम मोहि देखा।***' देखाका भाव कि मनमें जो भ्रम उठा था वह चेष्टासे भी देख पड़ता था। अथवा हृदयकी जान गये। भगवान्‌का देखना-जानना

एक ही बात है, क्योंकि वे सर्वदर्शी हैं और सर्वान्तर्यामी भी। (घ) *'बिहँसे सो सुनु—'* इति। *'रघुपति प्रेरित ब्यापी माया'* पूर्व कहा और यहाँ कहते हैं कि *'बिहँसे सो सुनु चरित—।'* इससे जनाया कि 'हँसे'; यही मायाको प्रेरित करना है। हास माया है ही। यथा—*'माया हास—।'* (६। १५। ५) पुनः, बिहँसेका भाव कि हमारे तत्त्वका जाननेवाला, लोमश ऐसे मुनिसे भक्तिपक्षमें न हारनेवाला सो भी भूल गया, आज कहता है कि कैसा चरित्र करते हैं। ☞ इसी प्रकार जब श्रीकौसल्या अम्बाको 'भ्रम' हुआ तब हँसे थे, यथा—*'इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मति भ्रम मोर कि आन बिसेषा। देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी॥'* (१। २०१। ७-८)

रा० शं० श०—नारदमोहमें भी हँसे थे, यथा—*'निज मायाबल देखि बिसाला। हिय हँसि बोले दीनदयाला॥'* कौतुकमें आश्चर्ययुक्त बातें दिखायी जाती हैं; इस प्रसंगमें सब आश्चर्य ही भरा पड़ा है।

नोट—२ *'तेहि कौतुक कर मरमु न काहूँ।—'* इति। (क) पूर्व कहा कि *'सुनु चरित'* और यहाँ 'कौतुक', इससे दोनों पर्याय सूचित किये। मायाका चरित प्रभुका कौतुक है, यथा—*'मुनि कर हित मम कौतुक होई।—'*।'(१। १२९) (ख) किसीको न मालूम होनेका कारण यह है कि सर्वात्मा भगवान् एक रूपसे हँसे और वहीं ज्यों-की-त्यों बने खेलते रहे और दूसरे रूपसे उनके पीछे दौड़े, यथा—'**सर्वात्मा रामचन्द्रोऽपि तस्य विज्ञाय मानसम्। जहासैवैकरूपेण तं द्वितीयेन दुद्रुवे॥**' (सत्यो०)। आकाशमें पीछे-पीछे अदृश्य रूपसे जा रहे हैं जिसे भुशुण्डिजी ही देख सकते थे दूसरा नहीं, यही मायाका चरित है। जैसे नारद-प्रसंगमें वानररूप विश्वमोहिनीको देख पड़ा और हरगणोंको, शेष सबको देवर्षि नारद ही देख पड़ते थे, यह प्रभुकी मायाका चरित था। (ग)—अनुज, माता और पिताका नाम दिया और *'न काहू'* उससे पृथक् कहा। इससे जनाया कि इनके अतिरिक्त वहाँ और भी लोग थे। वह कौन थे। साथ खेलनेवाले बालसखा, आकाशमें छिपे हुए सिद्ध और देवता तथा बालकेलि देखनेवाले और भी परिजन। तथा—*'ते नृप अजिर जानु कर धावत धरन चटक चल काग। सिद्ध सिहात सराहत मुनिगन 'बड़े भूपके भाग' ('कहँ सुर किन्नर नाग')। हं बरु बिहँग बिलोकिय बालक बसि पुर उपबन बाग॥ परिजन सहित राव रानिन्ह कियो मज्जन प्रेम प्रयाग॥'* (गी० १। २६) *'देखत नभ घन ओट चरित मुनि जोग समाधि बिरति बिसराये।* (गी० १। २९)

☞*'बिहँसे सो सुनु चरित निसेषा'* इति। पूर्व एक बार सुननेको कह चुके हैं, यथा—*'सुनहु सो सावधान हरिजाना।'* (७८। ३) यहाँ फिर *'सुनु चरित बिसेषा'* कहकर जनाया कि अब दूसरा प्रसंग कहते हैं। यहाँतक *'सो माया न दुखद मोहि काहीं'* इसके कारणका प्रसंग कहा जो *'सो माया न दुखद मोहि काहीं!'* (७८। २) से *'भेद भगति बाढ़इ बिहंग बर।'* (७९। ३) तक है। दूसरे प्रसंग अर्थात् मायाके विशेष चरितका आरम्भ *'बिहँसे सो सुनु—'* यहाँसे है।

वै०—मर्म किसीने न जाना, क्योंकि माधुर्यरूप तो जैसे खेल रहा था वैसा खेलता ही रहा और जो नित्य बालरूप रहा उससे गुप्त ऐश्वर्य प्रकट कर भुशुण्डिजीसे क्रीड़ा करते रहे।

जानु पानि धाए मोहि धरना। स्यामल गात अरुन कर चरना॥ ६॥
तब मैं भागि चलेउँ उरगारी। राम गहन कहँ भुजा पसारी॥ ७॥
जिमि जिमि दूरि उड़ाउँ अकासा। तहँ भुज हरि देखौं निज पासा॥ ८॥

अर्थ—श्याम शरीर और लाल-लाल हथेली और तलवेवाले प्रभु मुझे पकड़नेको घुटने और हाथोंके बल दौड़े॥ ६॥ हे उरगारि! तब मैं भाग चला। श्रीरामजीने मुझे पकड़नेके लिये भुजा फैलायी॥ ७॥ जैसे-जैसे मैं आकाशमें दूर उड़ता तैसे-तैसे वहाँ अपने पास भगवान्‌की भुजा देखता॥ ८॥

नोट—१ *'जानु पानि'* का अर्थ पंजाबीजीने जानुपर्यन्त लम्बी भुजा भी किया है पर यहाँ बालपनेकी लीला है जब कि प्रभु पैरोंके बल दौड़नेको समर्थ नहीं। (गी० १। २६) से भी इसकी पुष्टि होती है, यथा—*'ते नृप अजिर जानु कर धावत धरन चटक चल काग।'*, *'जानु पानि धाए'* से जनाया कि काग

पृथ्वीपर आँगनमें पहले फुदक-फुदक कर बैठता था, जब वह भागा, आँगनसे बाहर चला तब भुजा फैलायी।

२ (क) *'उरगारी'* का भाव कि मैं इस तरह भागकर चला जैसे आप उरगको पकड़ने दौड़ते हैं एवं जैसे उरग आपको देखकर प्राण-रक्षाके लिये भागता है। (ख) *'भुजा पसारी'* से जनाया कि प्रभु जहाँ-के-तहाँ बैठे हैं केवल भुजा ही बढ़ती चली जाती है।

पं० रा० व० श०—जो पूर्व कहा था कि प्रभुकी कृपा और अपनी जड़ता कहता हूँ, वह यहाँ बतायी कि मायाके कौतुक देखिये कि जिनके लिये सब लोग यत्न करते हैं, मैं उन्हींसे डरा कि पकड़ न लें। पकड़ लेंगे तो अच्छा ही है; यह ज्ञान ही न रह गया। उनके हाथोंमें तो सहर्ष चले जाना था।

नोट—२ ☞*'जिमि दूरि उड़ाउँ'* यह प्रकरण सत्योपाख्यान (२६। ६-२२) में विस्तृतरूपसे है, अतः उसको यहाँ उद्धृत किया जाता है। अर्थ सरल है।

यत्र यत्र भुशुण्डोऽपि तत्र तत्र रघूद्वहः। सप्तभूविवरान् काको गतो रामभयाद्द्रुतम्॥
पृष्ठे भागे निरीक्षन् स धावमानो रघूत्तमम्। योजनानां सहस्त्राणि त्रिंशत्परिमितानि च॥
अधोभागे हि पातालाच्छेषनागश्च विद्यते। तस्य चाङ्के हि क्रीडन्तं शिशुरूपं रघूत्तमम्॥
तदा काको विलोक्याग्रे पृष्ठभागे पुनः शिशुम्। अग्रे पश्चाद्गतिर्नास्ति मया किं क्रियते झटिति॥
बलाद्दक्षिणतो शीघ्रं पलाये निजरक्षया। विचार्य्यैवं भुशुण्डोऽपि चोड्डीनो ह्यपसव्यतः॥
भूलोकं च पुनः प्राप तत्र माधवतीं पुरीम्। शक्रेण वीज्यमानं च निजसिंहासने परे॥
पश्चादग्रे च रामं हि वीक्ष्य काकोऽतिविस्मृतः। उड्डीतो वागतस्तस्मादिन्द्रस्य पुरभेदना॥
नगरं वीतिहोत्रस्य स जगामातिवेगतः। ददृशे तत्र रामं च वह्निना परिसेवितम्॥
रामं निशाम्य काकोऽपि शमनस्य गृहं गतः। अन्तको रामचन्द्रस्य पुरतो भाति दण्डधृक्॥
एवं वीक्ष्य तदा काको जगाम निर्ऋतेः क्षयम्। सेव्यमानं तदा तेन निर्ऋतिना रामबालकान्॥
तत्रापि न स्थितिं चक्रे पाशिनस्तु गृहं गतः। छत्रहस्तेन तेनापि सेव्यमानं च बालकम्॥
तदाश्चर्यं विलोक्याशु जगमे प्राभञ्जनं पुरम्। रत्नदण्डप्रकीर्णेन सेव्यमानं तु तेन तम्॥
क्षपाकरस्य नगरं वायसः प्राप वेगतः। भोज्यमानं तु चन्द्रेण रामं दृष्ट्वा पलायितः॥
शूलिनो नगरं गत्वा रामं दृष्ट्वातिवेगतः। उत्पपात ततश्चोर्ध्वं स्वर्गं लोकाय वायसः॥
तत्र चाग्रे हि गच्छन्तं बालकं ददृशे खगः। सत्यलोकं मनश्चक्रे गन्त पक्षी विशेषतः॥
तत्र गत्वा शिशुं राममजस्य निजसद्मनि। अजाद्यैश्चैव मुनिभिः पादयोः परिशीलितम्॥
एवं निरीक्ष्य रामं तु न कुतश्चिद् गतिः खगः। भूलोकं पुनराविश्य चात्मानं ददृशे खगः॥

दो०—ब्रह्मलोक लगि गएउँ मैं चितएउँ पाछ उड़ात।
जुग अंगुल कर बीच सब रामभुजहिं मोहि तात॥
सप्तावरन भेद करि जहाँ लगे गति मोरि।
गएउँ तहाँ प्रभु भुज निरखि ब्याकुल भएउँ बहोरि॥ ७९॥

अर्थ—मैं ब्रह्मलोकतक गया फिर उड़ते हुए पीछेकी ओर देखा तो हे तात! श्रीरामजीकी भुजामें और मुझमें कुल दो ही अंगुलका बीच था। सातों आवरणोंको भेदकर जहाँतक मेरी गति थी वहाँतक गया। वहाँ भी प्रभुकी भुजाको देखकर फिर तो मैं व्याकुल हो गया॥ ७९॥

करु०—*'ब्रह्मलोक लगि गएउँ'* इति। पृथ्वीसे ब्रह्मलोकतक जानेमें भूलोक, भुवर्लोक जो मध्यस्थ स्वर्ग है, स्वर्लोक अर्थात् इन्द्रलोक स्वर्ग, महर्लोक, जनलोक और तपलोक—ये छः लोक क्रमसे पार करनेपर

तब ब्रह्मलोक मिलता है। सत्यलोकहीमें सनकादिकका लोक, उमालोक और शिवलोक हैं। सत्यलोकसे ब्रह्माण्डके आवरणतक १६२ कोटि योजनका अन्तराय है। जिसके बीचमें ये तीनों लोक हैं। शिवलोकके बाद फिर सप्तावरण है।

नोट—१ पहले *'रामभुजहिं'* कहा, पर जब अपनी गति उस भुजाके आगे थक गयी तब समर्थवाचक *'प्रभु भुज'* पद दिया। २—*'बहोरि'* का दूसरा अर्थ 'दुबारा' लेनेपर भाव यह होगा कि ब्रह्मलोकतक पीछा किये जानेपर मैं कुछ देरके लिये व्याकुल हुआ था और जब सप्तावरण भेदनेपर भी भुजा पीछे ही लगी देखी तब फिर व्याकुल हुआ।

'जुग अंगुल कर बीच सब रामभुजहिं मोहि'

पूर्व जो कहा था कि *'हरि सेवकहि न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या॥'* एवं *'भेद भगति बाढ़ै बिहंगबर'*, उसकी पुष्टि *'जुग अंगुल कर बीच'* पदसे दिखा रहे हैं। अविद्या-माया प्रभुसे वियोग करा देती है और विद्या-माया सेवक-सेव्य-भावको दृढ़ कराती है। अपने और प्रभुके बीचमें केवल दो अंगुलका बीच बताकर जनाते हैं कि प्रभुने मेरा साथ कहीं भी न छोड़ा, चित्तमें मोह उत्पन्न होनेसे किञ्चित् अलग हैं पर फिर भी सहायक हैं। 'दो अंगुल' का बीच क्या है? इस विषयमें मतभेद है।

वि० टी० का मत है कि सप्तावरणको पार करनेपर राजस-तामसयुक्त प्रकृति ही दो अंगुलका बीच जीव और परमात्मामें रह जाता है। टीकाकार यह भी लिखते हैं कि जब ईश्वरता-विषयक कुछ भी संदेह ऐसे परम भक्त भी चित्तमें लाते हैं, तभी माया उन्हें फिरसे चैतन्य करनेके निमित्त कुछ समयके लिये मोहमें डाल देती है। उससे परमात्मा और उनकी आत्मामें मानो दो अंगुलका भेद-सा पड़ जाता है। वे लिखते हैं कि सूक्ष्म विचारसे इसका आशय यह है कि जब जीव अविद्यारूपी मायामें फँसकर विषय-वासनामें बहुत लीन हो जाता है तब यदि वह ईश्वरोन्मुख होना चाहे तो उसे सात आवरण या परदे दूर करनेकी आवश्यकता होती है। सप्तम आवरणको पार करनेपर जीव परमात्म-स्वरूपके समीपतक पहुँच ही जाता है। यह परमात्माकी प्रायः प्राप्ति ही समझी जाती है, पर यहाँ भी कुछ थोड़ा-सा भेद रह जाता है, यह प्रकृतिका है। प्रकृति तत्त्वमें राजस-तामसयुक्त प्रकृतिको 'शबल प्रकृति' कहते हैं। यही दो अंगुलका भेद जीवात्मा और परमात्माके बीचमें बताया गया है। इसके पार होते ही उसे वश करके सत्त्वप्रकृति **'किं शुद्ध-प्रकृतिमें'** पहुँच परमात्मा-रूपका पूर्ण सांनिध्य, ज्ञान, ध्यान व एकरूपत्व सभी हो जाता है। यथा—**'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'** अर्थात् सूक्ष्म रूपसे अग्रबुद्धिद्वारा सूक्ष्म बुद्धिवाले जीव परमात्माका साक्षात्कार करते हैं।—(कठोपनिषद् अ० १ तृतीयवल्ली मन्त्र १२)।

बैजनाथजीका मत है कि 'जीव भ्रमवश नौ आवरणों-(गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, अहंकार, बुद्धि, प्रकृति, शुद्ध, सत्त्व-) में पड़ गया है। विद्या माया उसे इनमेंसे निकालती है। जब सात आवरण लाँघ जाता है तब कुछ चैतन्यता आती है और वह प्रभुके सम्मुख होता है। यही यहाँ सप्तावरण भेदकर पीछे फिरकर प्रभु-भुजको निकट ही देखता है। अब प्रकृति और शुद्ध सतोगुण दो आवरण जो बाकी हैं, वही 'दो अंगुलका बीच' है। बिना प्रभुकी सम्मुखता जीवका दुःख नहीं जाता, यही व्याकुलता है। और न कहीं गये न आये, प्रभुकी प्रेरणासे यह सब कौतुक उसी ठौर देख पड़ा; क्योंकि मोहवश भ्रममात्र सब रचना है—यहाँ सूक्ष्म रूपसे महीन बात कही गयी है।'

करुणासिंधुजी लिखते हैं कि द्वैतमें श्रीरामविषे (के विषयमें) अपना अज्ञान आरोपण किया यही दो अंगुलका बीच है।

पंजाबीजी लिखते हैं कि 'न मुझे निर्भय ही करते और न कौतुक-निमित्त पकड़ते ही थे' कि पकड़ लेंगे तो कौतुक न रह जायगा। 'और परमार्थ पक्षमें दो अंगुल अहंता-ममता है' इसका 'भेद हमारे विषे है, ईश्वर विषे नहीं'। रा० प्र० कारका भी यही मत है।

गौड़जी—इस चरितमें बड़ी अपूर्व और चमत्कारिक युक्तिसे दिखाया है कि देश, काल और वस्तुके

सम्बन्धमें हमारा ज्ञान परिच्छिन्न है। वास्तविकता क्या है, इसका पता किसीको नहीं है। भगवान्की मायाके जालमें फँसकर जीव सापेक्ष्यभावसे जो कुछ जानता और समझता है उसीको सत्य मानता है। यद्यपि सत्य एक परमात्मा ही है और इन्द्रियजनित ज्ञान सभी असत्य है। अनन्त देश, अनन्त काल और अपरिमित वस्तु अणु-परमाणुसे भी छोटे और अणु-परमाणुमात्र देश, काल और वस्तु अनन्त और अपरिमेय हो सकते हैं, सापेक्षतासे हमें कुछ-का-कुछ दिखायी दे सकते हैं। कागभुशुण्डिने भगवान्की माधुर्य लीलासे मोहित हो मनमें यह शंका की थी कि *'चिदानंद संदोह'* होकर यह साधारण शिशुकी-सी लीला क्या करते हैं? कोई दूसरा जीव होता तो उसे दो घड़ीके लिये सैकड़ों जीवनोंके चक्करमें डालकर यह तमाशा दिखा देते। नारदजीको कुछ मिनटोंमें सौ वर्षके लगभगका दृश्य दिखाकर देश, काल और वस्तुकी अद्भुत सापेक्ष्यता प्रभुने प्रदर्शित की थी, परंतु नारदजीको संसृति सताती थी भुशुण्डिजीको नहीं—*'आन जीव इव संसृति नाहीं।'* फिर भुशुण्डिजीसे प्रभुका अभेद क्यों न हुआ? क्योंकि भुशुण्डिजी अपनी इच्छासे भेद-भक्तिके उपासक हैं अर्थात् जीवन्मुक्त होते हुए भी स्वामी और दासका सम्बन्ध स्थायी रखते हैं। जीवके नाते मायाके वशमें हो सकते हैं। मायाने जो भेद रखा है झूठा है, फिर भी भगवान्की कृपा बिना वह दृढ़ सत्यकी तरह लगता है। जब ये उड़ चले और भगवान् घुटनोंके बल दौड़के हाथ पसारे पकड़ने चले तो भुशुण्डिजी पूरी ताकत लगाकर भागने लगे। भागते-भागते सप्तावरण पार कर गये, परन्तु बराबर भगवान् और उनके हाथसे केवल दो अंगुलका अंतर रहा। अंगुल देशकी सबसे छोटी इकाई है और घड़ी कालकी इकाई है। वह इस मायाके चक्करमें अपनी जान अनेक ब्रह्माण्डोंमें घूमे और १०१ कल्पतक घूमे परंतु उनको दो घड़ीसे अधिक नहीं लगा। मुखके भीतर भी उसी तरह अनेक ब्रह्माण्डोंके चक्कर लगे जिस तरह बाहर। जो दृश्य बाहर देखा था वही भीतर। प्रभुको सदा अपने निकट पाया। प्रभुके बाहर भी उसी अनन्त विस्तारवाले जगत्को देखा जिस अमित विस्तारवाले जगत्को उनके भीतर देखा था। जिस तरह देश और कालमें इतने भारी अन्तर होते हुए भी दो अंगुल और दो घड़ीसे अधिक अन्तर न था, उसी तरह भीतर और बाहरके अनन्त ब्रह्माण्डोंके अमित विराट् वस्तुमें और अपने काकरूप और प्रभुके शिशुरूपमें इतने विशाल अन्तर होते हुए भी व्याप्य और व्यापकका उन्होंने अभेद पाया। कितना छोटा शिशुरूप भगवान्का है और उससे भी छोटा रूप भुशुण्डिका जो मुखमें प्रवेश कर जाते हैं। परंतु उसके इतनी छोटाईके भीतर अनन्त ब्रह्माण्डोंमें सौ कल्पतक घूमते-घूमते थक जाते हैं। कौएके छोटाईमें इतना सामर्थ्य और धैर्य, प्रभुकी छोटाईमें ऐसा बृहत् विराट् रूप, दो घड़ियोंकी छोटाईमें अनन्तकाल और दो अंगुलकी छोटाईमें अनन्त देश और विश्व समाया हुआ है। यह किसकी कल्पनामें किस प्रकार आ सकता है? क्या निर्गुण ब्रह्मकी कल्पनासे समझने लायक कोई उदाहरण दिया जा सकता है?—ऐसे गहन-विषयको जिसे आजकल सापेक्षवाद कहते हैं और जिसे यथार्थरीत्या समझ सकनेवाले संसारके विद्वानोंमें भी थोड़े हैं, दृष्टान्तद्वारा इस सगुण लीलाके सिवा कुछ भी समझमें आनेवाली बात कही नहीं जा सकती। भगवान्की माधुर्य लीला समझनेके लिये अत्यन्त कठिन है। कुछ थोड़ी-बहुत समझी भी जा सकती है तो इन्हीं अद्भुत चरित्रोंके सहारे।

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ। सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिजन भ्रम होइ॥'

माधुर्य चरित देखनेमें सुगम है और समझनेके लिये अगम। इतना अगम कि उसके लिये यदि शंकाका निराकरण मंजूर होता है तो नारद और भुशुण्डिजीकी तरह ज्ञानियों और भक्तोंको भी अपरिमित कष्ट उठाना पड़ता है।

वि० त्रि०—भुशुण्डिजी कहते हैं कि मैं ऊपर उड़ता ही चला गया, यहाँतक कि ब्रह्मलोकतक पहुँच गया, जिसके ऊपर कोई लोक नहीं है तब मैंने फिरकर देखा कि अब तो मैं बहुत ऊपर आ गया देखें रामजी कितने नीचे छूट गये तो मेरे आश्चर्यका ठिकाना न रह गया कि मुझसे और रामजी तथा उनके भुजासे दो अंगुलमात्रका अन्तर था। भावार्थ यह कि भुजा नहीं बढ़ी। रामजी वहीं थे और भुजा भी उतनी ही बड़ी थी भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, तपलोक, सब-के-सब केवल दो अंगुलके बीचमें

ही दिखायी पड़े, अर्थात् देशका कोई नियम नहीं रह गया।

'सप्तावरन भेद करि गएउँ'

नोट—२ सत्योपाख्यानके उद्धरणसे मालूम हो गया कि वहाँ सत्यलोकहीतक भुशुण्डिजीका जाना कहा है। नीचे सप्तलोकतक पृथ्वी भेदकर गये और फिर भूलोकपर आकर ऊपरके सप्तलोक अर्थात् सत्यलोकतक गये। इतना सब वर्णन *'ब्रह्मलोक लगि गएउँ'* में आ गया। आगे जो सप्तावरण भेदकर आगे जानेका यहाँ वर्णन है, वह सत्योपाख्यानमें नहीं है।

करु०—सप्तावरण ये हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, पवन, आकाश, अहंकार और महत्तत्त्व। इन आवरणोंकी मोटाई और रंग भी पृथक्-पृथक् हैं। पृथिवीका आवरण ५० कोटि योजन मोटा, पीतरंगका। उसपर जलका आवरण ५०० कोटि योजन मोटा जमे हुए पालेकी तरह श्वेतरंगका। उसपर अग्नितत्त्वका आवरण ५००० कोटि योजन मोटा अङ्गार-सरीखा तेजोमय, लाल रंगका। उसपर ५०००० कोटि योजन मोटा पवन-आवरण जैसे बवंडर हो, हरित रंगका, फिर ५ लक्षकोटि मोटा आवरण आकाशतत्त्व महाअंधकाररूप, नीलरंगका। इसके ऊपर अहंकारतत्त्व-आवरण ५० लक्षकोटि योजनका मोटा है जो श्वेत-पीत-काला-मिश्रित संकर रंगका है।......इन सातों आवरणों करके ब्रह्माण्ड गोला है, तहाँ सातों आवरण मिले हैं, इनमें अन्तराय नहीं है। इन सप्तावरणोंके भेदनेपर ब्रह्माण्डके पार होते हैं। ब्रह्माण्ड भेदनेपर महाविष्णुलोक है, फिर महाशम्भुलोक (आदिज्योति), फिर महावैकुण्ठ (वासुदेवलोक जहाँ चतुर्व्यूह रहते हैं), तब गोलोक है जिसके मध्यमें श्रीअयोध्या है।—(करुणासिंधुजीका मत है कि भुशुण्डिजी अयोध्यातक पहुँचे)

ये सप्तावरण ब्रह्माण्ड जहाँ समाप्त होता है वहाँसे प्रारम्भ होते हैं। और क्रमसे एकके ऊपर दूसरा, दूसरेपर तीसरा इत्यादि रीतिसे हैं। ब्रह्माण्डके भेदनके बाद इन सप्तावरणोंका भेदन जब हो जाय तब जीव ब्रह्माण्डके पार होता है। सप्तावरणके बाद फिर कुछ लोक हैं और उनके बाद विरजा है।

नोट—३ ☞ *'जहाँ लगे गति मोरि'* कहकर जनाया कि सप्तावरण भेदकर विरजातक पहुँचे। इसके बाद फिर जीवकी गति नहीं है कि जाकर लौट आवे। विरजापार प्रभुका नित्य परमधाम साकेत है। जहाँ जाकर *'फिर नहिं फिरइ'*, यथा—'**ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।**' (छां० ८। १५। १) '**अनावृत्तिः शब्दात्**' इति सूत्रे और '**यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।**' (गीता १५। ६)

४—सप्तावरण और उसका भेदन इस प्रकार है—तामस अहंकार तत्त्वोंका आदि कारण है। अहंकार रूपान्तरको प्राप्त होकर प्रथम आकाश-तत्त्वको प्रकट करता है। इस आकाशकी तन्मात्रा और गुण ही शब्द है। आकाशतत्त्वके रूपान्तर होनेसे वायुतत्त्व उत्पन्न हुआ जिसका गुण स्पर्श है; पर आकाशका रूपान्तर होनेसे इसमें आकाशका गुण शब्द भी है। इसी प्रकार वायुके रूपान्तरसे (शब्द, स्पर्श और) रूपगुणयुक्त तेज (अग्नि), अग्निसे (शब्द, स्पर्श, रूप और) रसगुणयुक्त जलतत्त्व और जलसे (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और) गन्धगुणयुक्त पृथ्वीतत्त्व उत्पन्न हुआ।*

भेदन इस प्रकार कहा जाता है कि प्रथम पृथ्वीतत्त्व पड़ता है, इसका निजगुण गन्ध है, गन्धगुणको जीतनेसे पृथ्वीतत्त्वका भेदन होता है अर्थात् फिर केवल शब्द, स्पर्श, रूप और रसका जीतना रह जाता है। पृथ्वीतत्त्वसे पार होनेपर फिर जलतत्त्व पड़ता है जिसका निजगुण रस है, इस रसगुणको जीतनेसे जलतत्त्व-भेदन हुआ। इसी तरह क्रमसे रूप, स्पर्श और शब्दके जीतनेसे अग्नि, वायु और आकाश-क्रमसे भेदन हो जाते हैं इनके बाद अहंकार और शुद्ध सत्त्वके जीतनेसे अहंकार और महत्तत्त्वका भेदन क्रमसे होता है।

---

* भा० २। ५—'तामसादपि भूतादेर्विकुर्वाणादभून्नभः। तस्य मात्रा गुणः शब्दो लिङ्गं यद्द्रष्टृदृश्ययोः॥ नभसोऽथ विकुर्वाणादभूत्स्पर्शगुणोऽनिलः। परान्वयाच्छब्दवांश्च प्राण ओजः सहो बलम्॥ वायोरपि विकुर्वाणात्कालकर्मस्वभावतः। उदपद्यत तेजो वै रूपवत्स्पर्शशब्दवत्॥ तेजसस्तु विकुर्वाणादासीदम्भो रसात्मकम्। रूपवत्स्पर्शवच्चाम्भो घोषवच्च परान्वयात्॥ विशेषस्तु विकुर्वाणादम्भसो गन्धवानभूत्। परान्वयाद्रसस्पर्शशब्दरूपगुणान्वितः॥' (२५—२९)

मूदेउँ नयन त्रसित जब भएऊँ*। पुनि चितवत कोसलपुर गएऊँ॥ १॥
मोहि बिलोकि रामु मुसुकाहीं। बिहँसत तुरत गएउँ मुख माहीं॥ २॥
उदर माँझ सुनु अंडजराया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया॥ ३॥

शब्दार्थ—**अंडज**=अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले जीव=पक्षी।

अर्थ—जब मैं भयभीत हो गया तब मैंने नेत्र बंद कर लिये। फिर आँख खोलते ही अवधपुरी पहुँच गया॥ १॥ मुझे देखकर श्रीरामचन्द्रजी मुस्कुराने लगे। उनके हँसते ही मैं तुरंत उनके मुखमें चला गया॥ २॥ हे पक्षिराज! सुनिये। मैंने उनके पेटमें बहुत-से ब्रह्माण्डसमूह देखे†॥ ३॥

नोट—१ *'मूदेउँ नयन त्रसित जब भएऊँ'* इति। (क) डरे यह कि मेरी गति जहाँतक थी वहाँतक गया अब कहाँ जाऊँ, ये तो मेरे पीछे सर्वत्र लगे, मैंने बिना सोचे यह क्या विपत्ति अपने हाथों अपने सिर ढा ली, अब तो कहीं शरण नहीं, इनसे कहाँ जाकर बचूँ? (ख) *'जब भएऊँ'* से सत्योपाख्यानकी कथा जना दी कि अपने बलके अभिमानपर पूप छीनकर भागे थे। जब अपना सारा पुरुषार्थ कर लिया, जितनी गति थी वहाँतक सब बचतका उपाय कर लिया, तब निराश हो गये। (ग) *'त्रसित जब भएऊँ'* का भाव कि अब निराश हो गये, यथा—*'भा निरास उपजी मन त्रासा। जथा चक्रभय रिषि दुरबासा॥'* (३। २। ३) (घ) डरसे नेत्र मूँद लिये कि वह दृश्य अब न देख पड़े यथा—*'देखि सती अति भई सभीता। हृदय कंप—नयन मूँदि बैठी मग माहीं।'* (१। ५५। ५-६)

२—*'पुनि चितवत कोसलपुर गएऊँ।'* का भाव कि नेत्र बंद करनेपर वह लीला प्रभुने समाप्त कर दी जैसे कि सती-मोह-प्रकरणमें *'नयन मूँदि बैठी मग माहीं। बहुरि बिलोकेउ नयन उघारी॥ कछु न दीख तहँ दच्छकुमारी।'* (१। ५५। ६-७) नेत्र बंद करते ही कोसलपुर पहुँचा दिया, यह प्रभुकी लीला है; जैसे स्वयंप्रभाने वानरोंको विवरसे सिंधुतटपर पहुँचा दिया, यथा—*'नयन मूँदि पुनि देखहिं बीरा। ठाढ़े सकल सिंधु के तीरा॥'* (४। २५। ६) ☞इस तरह नेत्र बंद करना, खोलना कहकर जहाँतक दूसरे दृश्यका प्रारम्भ जनाया गया है। निराशाके बाद आशा, दुःखके बाद सुख।

३—*'मोहि बिलोकि रामु मुसुकाहीं'* इति। (क) मुसुकानेका भाव कि कहो अपना पुरुषार्थ सब कर लिया, हमारी परीक्षा मिली कि अभी बाकी है? कहाँ भागकर जाओगे? हम यहीं घेर लाये न? भागते थे, यहाँ कैसे फिर पहुँच गये? पुनः, (ख) आपका हास्य माया है। अब अपनी और माया दिखाते हैं। पुनः, (ग) हास्य कृपा है। *'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा॥'* (१। १९८। ७) कृपा करके अपना ऐश्वर्य दिखाकर सदाके लिये मोहसे निवृत्त करेंगे। पुनः, (घ) हँसकर जनाया कि दूसरा चरित करेंगे। जैसे माताको पहले एक चरित दिखाकर कि *'इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा'* तब चरित बदलनेके लिये हँसे थे, यथा—*'प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी। देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड॥'* (१। २०१) वैसे ही यहाँ पहले 'बिहँसि' कर इतना चरित दिखाया—*'बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा'* और अब 'मुसुकाकर' अपना 'अखण्ड अद्भुत रूप दिखायेंगे। चरित बदला, अतः हँसे।'

रा० प्र०—देखकर मुस्करा रहे हैं। यह बालभाव प्रकट करते हैं। अथवा, मेरी दशा समझकर हँसे।‡

नोट—४ 'जयन्त मारा-मारा फिरा तब इन्द्र-ब्रह्मादिका उसे शरण न देना कहा और भुशुण्डिजीके

---

* भएउँ—(का०) गएउँ—(का०)

† 'एवं निरीक्ष्य रामं तु न कुतश्चिद्गतिः खगः। भूलोकं पुनराविश्य चात्मानं ददृशे खगः॥' (सत्यो० २२)

‡ पं०—'हँसनेका भाव कि अपने बलपर भागा था कहाँतक पहुँचा? तब मैं प्रभुके मुखमें घुस गया।'—प्रसंगमें तो अर्थ यही है और चारों चरणोंका अर्थ ऐसा भी बनता है—'भगवन्तके भयसे नेत्र मूँदना अन्तर्मुख दृष्टि करना है; फिर 'चितवना' अपने स्वरूपको 'चितवना' इस प्रकार कि ऐसे ही जीव कोशलपुरी अर्थात् सर्वसुखोंका जो पुर है उसे प्राप्त करता है, तब प्रभुके हास अर्थात् प्रसन्नताके द्वारा प्रभुके अन्तरलीन अर्थात् स्वरूपमें अभेद होता है।'

विषयमें यह बात न कही?' इसमें एक भाव यह है कि जयन्त अपना रूप धारण करके सब लोकोंमें गया और सबसे शरण चाही और भुशुण्डिजी लघु वायसरूपसे ही सर्वत्र जा रहे हैं, अव्याहतगति है, इनको कोई देखता नहीं है। दूसरे ये किसीके पास नहीं जाते, दूरसे ही बालक रामको, उनके हाथको, देखकर उड़ते ही जाते हैं। ☞ इस भेदसे इनका श्रीरामानन्य होना जनाया है। सत्योपाख्यानकी कथाके अनुसार उन्होंने प्रत्येक लोकमें देखा कि बालक राम स्थित हैं और वहाँ उनकी सेवा हो रही है यह दूरसे देखते ही वे वहाँसे चल देते थे। यह उनपर प्रभुकी कृपा दिखायी कि उन्होंने दूसरेकी शरण नहीं जाने दिया; क्योंकि दूसरेका सहारा लेनेसे जीवका स्वरूप बदल जाता है, अनन्यता जाती रहती है।

५ ☞ *'बिहँसत तुरत गएउँ मुख माहीं।'*—इसी प्रकार मार्कण्डेयऋषिको जब प्रभुने माया दिखायी है तब उनके विषयमें कहा गया है कि बालक भगवान्‌के पास पहुँचते ही वे बरबस बालककी श्वासाके साथ मच्छरके समान उड़ते हुए उनके मुखमें घुस गये—**'तावच्छिशोर्वै श्वसितेन भार्गवः सोऽन्तश्शरीरं मशको यथाविशत्'** (भा० १२। ९। २७)। और भगवान्‌के उदरमें सारा विश्व देखकर अन्तमें फिर श्वासोके साथ बाहर निकलकर गिरे।

६ ☞ *'उदर माँझ सुनु अंडजराया'*, यह इस प्रसंगमें तीसरी बार 'सुननेको' कहकर जनाया कि पूर्व प्रसंग समाप्त हुआ, नया चरित प्रारम्भ हुआ। पूर्व-चरितका प्रारम्भ *'बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा।'* (७९। ४) पर है और *'मोहि बिलोकि रामु मुसुकाहीं। बिहँसत तुरत गएउँ मुख माहीं॥'* पर उपसंहार है। 'अंडजराया' शब्दकी मैत्रीसे यहाँ अंडजराया विशेषण दिया गया।

रा० प्र०—*'अंडजराया।'* अंडजसे ब्रह्माण्डरियायत कि तुम एक अंडासे हो और उदरमें झुंड-के-झुंड ब्रह्माण्ड हैं।

अति बिचित्र तहँ लोक अनेका। रचना अधिक एक ते एका॥ ४॥
कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा। अगनित उड़गन रबि रजनीसा॥ ५॥
अगनित लोकपाल जम काला। अगनित भूधर भूमि बिसाला॥ ६॥
सागर सरि सर बिपिन अपारा। नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा॥ ७॥
सुर मुनि सिद्ध नाग नर किन्नर। चारि प्रकार जीव सचराचर॥ ८॥

अर्थ—वहाँ (उन ब्रह्माण्डोंमें) अत्यन्त विलक्षण अनेक लोक देखे, एक-से-एककी रचना बढ़कर थी॥ ४॥ करोड़ों ब्रह्मा और शिव, अगणित तारागण, सूर्य और चन्द्रमा॥ ५॥ अगणित लोकपाल, अगणित यम, अगणित काल, अगणित विशाल पर्वत और बड़ी विस्तृत पृथ्वी॥ ६॥ असंख्यों समुद्र, नदी, तालाब और वन जिनका वारापार नहीं और भी अनेक प्रकारकी सृष्टिका फैलाव देखा॥ ७॥ देवता, मुनि, सिद्ध, नाग, नर, किन्नर और जड़-चेतनसहित चारों प्रकारके जीव देखे॥ ८॥

नोट—१ (क) *'कोटिन्ह' 'अगनित' 'नाना भाँति'* इत्यादिसे जनाया कि प्रत्येक ब्रह्माण्डमें ये सब एक-एक थे।' *'बहु ब्रह्मांड निकाया'* के सम्बन्धसे *'कोटिन्ह चतुरानन गौरीसा', 'अगनित रबि रजनीसा', 'अगनित लोकपाल जम काला', 'अगनित भूमि'* कहा। कारण कि एक-एक ब्रह्माण्डमें एक-ही-एक ब्रह्मा, शिव, सूर्य, चन्द्र इत्यादि होते हैं। (ख) *'लोक अनेका'* इति। जैसे इस ब्रह्माण्डमें तीन लोक, चौदह भुवन, वैसे ही औरोंमें भी अनेक लोक थे। यहाँ गिनतीमें हैं, वहाँ अगणित थे। *'रचना अधिक एक ते एका'* का भाव कि एक लोक देखता दूसरा उससे बढ़कर देखता था, एकसे कोई न थे।

२—*'जम काला'* इति। काल और यममें अधिकार-भेद है। इसीसे ग्रन्थमें इनको अलग-अलग कहा गया है। यथा—*'भुजबल जितेहु काल जम साईं।'* (लं० १०३। ८), *'अगिनि काल जम सब अधिकारी।'* (बा० १८२), *'भृकुटि बिलास भयंकर काला।'* (लं० १५। २), *'अधर लोभ जम दसन कराला।'* (लं०। १५। ५), *'बरुन कुबेर पवन जम काला। भुजबल जितेउँ सकल दिगपाला॥'* (लं० ८। ३), *'काल कोटिसत सरिस अति दुस्तर

दुर्ग दुरंत।' (९१), *'समन कोटिसत सरिस कराला।'* (९२। १) ये दोनों लोकपाल हैं। एकको भगवान‍्का *'भृकुटि बिलास'* और दूसरेको *'दशनकराल'* कहा है। यमराज ईश्वरसे नियुक्त किये हुए दक्षिण दिशामें एक प्रकारके देवता हैं जो प्राणियोंके भले और बुरे कर्मोंके अनुसार दण्ड देनेवाले हैं। कालका अधिकार यमसे भी अधिक है, यह तो यमरूपी कालका भी काल है, उससे भी समर्थ है। पं० रामकुमारजी खर्रेमें लिखते हैं कि 'काल समयाभिमानी देवता यद्वा नाशके देवता हैं, यम संयमनकारक हैं।'

३—*'नाना भाँति सृष्टि बिस्तारा।'*—भा० १२। ९ में श्रीमार्कण्डेयमुनिको बालकरूप मुकुन्दभगवान‍्के उदरमें जो कुछ देख पड़ा वह सब इस पदसे जना दिया गया। यथा—'**खं रोदसी भगणानद्रिसागरान्द्वीपान्सवर्षान्ककुभः सुरासुरान्। वनानि देशान्सरितः पुराकरान्खेटान्व्रजानाश्रमवर्णवृत्तयः॥ महान्ति भूतान्यथ भौतिकान्यसौ कालं च नानायुगकल्पकल्पनम्। यत्किंचिदन्यद्व्यवहारकारणं ददर्श विश्वं सदिवावभासितम्॥**'(२८-२९)

'द्वीप' सब खण्ड, सब दिशाएँ, देवगण, असुरगण, सब वन, सब देश, सब नदियाँ, नगरनिचय, आकर, समूह, व्रजसमूह, चारों आश्रम, चारों वर्ण और उनकी सब वृत्तियाँ, पञ्चतत्त्व, सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ, खेट-पुर-ग्राम आदि, युग-कल्प आदि अनेक भेदोंसे भिन्न-भिन्न संज्ञाओंको प्राप्त सब प्रकारका काल एवं और भी लोक-व्यवहारके कारणभूत अन्यान्य अनेक पदार्थ मुनिने मुकुन्दभगवान‍्के उदरमें देखे।

४—*'सुर मुनि सिद्ध नाग नर किन्नर'* कहकर *'चारि प्रकार जीव......'* कहनेका भाव कि ये सब अण्डजादि चार खानिके जीवोंसे पृथक् हैं। बा० ८ (१), बा० ४६ (४), उ० ४४ (४) देखिये।

दो०—जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूँ न समाइ।
सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ॥
एक एक ब्रह्मांड महुँ रहौं बरष सत एक।
एहि बिधि देखत फिरौं मैं अंडकटाह अनेक॥८०॥

अर्थ—जो कभी न देखा था न सुना और जो मनमें भी न समा सके, वह सब अपूर्व आश्चर्य देखा (तब वह) किस प्रकार वर्णन किया जाय। एक-एक ब्रह्माण्डमें मैं एक-एक सौ वा एक सौ एक वर्ष रहता; इस प्रकार मैं अनेक ब्रह्माण्ड देखता फिरा॥ ८०॥

नोट—१ *'जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूँ न समाइ'* से वह सब जना दिया जो अन्यत्र प्रभुने अपने भक्तोंको दिखाया है और जो ऊपर वर्णनमें नहीं आया। पुनः, *'देखा नहिं सुना'* से कौसल्याजीको जो दर्शन कराया था वह भी जना दिया, पहले लिख चुके हैं, अतः दुहराया नहीं, संकेतसे जना दिया। यथा—*'काल कर्म गुन ग्यान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ॥ देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी॥ देखा जीव नचावै जाही। देखी भगति जो छोरै ताही॥'* (१। २०२। २—४)

रा० प्र०—*'देखा'* आँखोंसे और सुना सर्वज्ञ देवताओं, ऋषियों तथा ग्रन्थोंसे। *'मनहूँ न समाइ'* का भाव कि मनकी गतिसे बाहर था, मनहीतक संसार है उसमें भी नहीं समाया कि अनुमान कर सकूँ। अर्थात् जो देखा वह सब अनुमानके बाहरकी बातें हैं।

पं०—मनमें भी न समानेका भाव कि उनकी रचना और उनकी उत्पत्ति इत्यादि चित्तमें नहीं आ सकती।

वै०—'सौ सौ वर्ष रहा' से जनाया कि मैंने एक-एक अच्छी तरह देखा।

वि० त्रि०—एक-एक ब्रह्माण्डमें एक सौ एक वर्ष रहे, इस प्रकार एक सौ एक कल्प बीते। मनुष्योंके एक वर्षका देवताओंका एक दिन होता है और देवताओंके एक हजार वर्षका एक कल्प होता है। प्रत्येक कल्पके अन्तमें नैमित्तिक प्रलय होता है, जिससे तीनों लोकोंका प्रलय हो जाता है। ऐसे-ऐसे एक सौ एक कल्पतक भुशुण्डिजी ब्रह्माण्डोंकी सैर करते फिरे। कुछ ठिकाना नहीं कितने समयतक और कितने ब्रह्माण्डकी इन्होंने यात्रा की।

लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता॥ १॥
नर गंधर्ब भूत बेताला। किंनर निसिचर पसु खग ब्याला॥ २॥
देव दनुज गन नाना जाती। सकल जीव तहँ आनहि भाँती॥ ३॥
महि सरि सागर सर गिरि नाना। सब प्रपंच तहँ आनै आना॥ ४॥

अर्थ—लोक-लोकमें भिन्न-भिन्न ब्रह्मा, भिन्न-भिन्न विष्णु, शिव, मनु, दिग्पाल, मनुष्य, गन्धर्व, भूत, वेताल, किन्नर, राक्षस, पशु, पक्षी, व्याल, नाना जातिके देवता और दैत्यगण और भी अनेक जातिके सभी जीव वहाँ दूसरे-ही-दूसरे प्रकारके थे॥ १—३॥ अनेक पृथ्वी, नदी, समुद्र, तालाब, पर्वत और सभी (पाञ्चभौतिक) सृष्टि वहाँ अन्य-ही-अन्य थी॥ ४॥

नोट—१ *'भिन्न'* अर्थात् वही एक सब लोकोंमें नहीं थे वरन् प्रत्येकमें अलग-अलग थे। जैसे एकमें थे, उससे दूसरी प्रकारके दूसरेमें थे। ब्रह्मा कहीं चतुर्मुख कहीं पञ्चमुख, विष्णु और शिव कहीं गौरवर्ण कहीं श्यामवर्ण इत्यादि भेदके थे। ☞ *'आनहि भाँती'* और *'आनै आना'* में भी यही दोनों भाव हैं।

रा० प्र०—१ *'नाना जाती' 'आनहि भाँती।'* भाव कि सामान्य या थोड़ा देशान्तर होनेसे आकृति, स्वभाव, बोल-चाल आदिमें भेद (हो जाता है), जहाँतक 'अदिव्य भी' पहुँचते देख पड़ता है। जैसे जहाँ शीत अधिक होता है वहाँ प्रायः पशु आदि अधिक लोमपुच्छवाले होते हैं और जहाँ अधिक गर्मी होती है वहाँ इसका उलटा होता है। जैसा जिस देशका स्वभाव, आकृति आदि विशेष होता है वैसी ही उसके अनुकूल सामग्री भी उस देशमें होती है। इसीसे एक-से-दूसरा विचित्र होता है।—(भारतवर्ष स्वयं इसका छोटा-सा एक उदाहरण है)। २—*'महि सरि सागर……'* इति। दूसरे रीतिकी यह कि उसकी मृत्तिका वा बालू आदि दूसरे रंग-ढंगकी है। नदीमें किसीमें गर्म जल किसीमें ठण्डा, कहीं खारा, कहीं मीठा, पर्वत कहीं धातुमय, कहीं बिना पाषाणके इत्यादि।

अंडकोस प्रति प्रति निज रूपा। देखेउँ जिनस अनेक अनूपा॥ ५॥
अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरजू भिन्न भिन्न नर नारी॥ ६॥
दसरथ कौसल्या सुनु ताता। बिबिधरूप भरतादिक भ्राता॥ ७॥
प्रति ब्रह्माण्ड राम अवतारा। देखौं बाल बिनोद अपारा*॥ ८॥

शब्दार्थ—**निनारी**=पृथक्, न्यारी, अलग। '**अंडकोस**'=ब्रह्माण्डके भीतरका भाग ब्रह्माण्ड, यथा—*'**अंडकोस** समेत गिरि कानन।'* (५। २१। ६) **जिनस (जिन्स)**=पदार्थ।

अर्थ—प्रत्येक ब्रह्माण्ड-ब्रह्माण्डमें अपना रूप देखा और अनेक अनुपम पदार्थ देखे॥ ५॥ प्रत्येक भुवनमें पृथक्-पृथक् अवधपुरी, भिन्न सरयू और भिन्न-भिन्न स्त्री-पुरुष थे॥ ६॥ हे तात! सुनिये। श्रीदशरथजी, श्रीकौसल्याजी और श्रीभरतादिक भाई अनेक रूपके थे॥ ७॥ प्रत्येक ब्रह्माण्डमें मैं रामावतार और अपार बालकेलि देखता फिरता था॥ ८॥

नोट—१ *'जिनस अनेक'* इति। जिन्स फारसी शब्द है जिसका अर्थ है—'सामग्री, वस्तु, चीज', 'प्रकार', 'किस्म'। प्रकार अर्थमें *'जिनस अनेक'* 'निजरूपा' का विशेषण होगा। 'वस्तु' अर्थमें 'निजरूप' से पृथक् अन्य वस्तुओंके देखनेका अर्थ होगा। पाँड़ेजी एवं वि० टी० *'जिनस अनेक अनूपा'* से 'नीलगिरि आदि अपने निवास-स्थानके बहुत-से चिह्न देखना' कहते हैं। पर यहाँ प्रसङ्ग अवधपुरी और रामावतार एवं बालविनोद देखनेका है, इससे इनके आश्रमके चिह्नसे यहाँ तात्पर्य नहीं जान पड़ता। इसकी पुष्टि इससे भी होती है कि आश्रम देखना आगे कहा है, यथा—*'फिरत फिरत निज आश्रम आएउँ।'* पंजाबीजी

* उदारा—(का०)। भा० दा० में 'सरऊ' और का० में 'सरजू' है।

तथा बैजनाथजी लिखते हैं कि *'जिनस अनूप'* का भाव है कि 'सब ब्रह्माण्डोंमें भुशुण्डि थे। और-और रूप-रंग-सूरतके होनेसे *'जिनस अनेक'* कहा और जैसा रूप एकमें था वैसा दूसरेमें न था, अतः अनूप कहा।' श्रीकरुणासिंधुजी 'अनेक जिन्स अनूप-अनूप देखे', ऐसा अर्थ करते हैं।

मा० शं०—*'बिबिधरूप भरतादिक भ्राता'* इति। शङ्का—'भाइयोंका तो नित्य अखण्ड एकरस रूप साकेतमें रहता है और यहाँ विविधरूपसे अनित्यता पायी जाती है? समाधान १—मायावश लीलामात्र अनेक रूप देख पड़े, यथार्थमें एक ही रूप है। वा, २—भुशुण्डिजीकी दृष्टिका दोष है, उनको अज्ञानसे अनेक रूप देख पड़े। वा, ३—उनको मोह केवल राममें हुआ था। इसलिये प्रभुने अपना एक रूप और औरोंका अनेक रूप दिखाकर अपना ऐश्वर्य उनको जनाया।'

करुणासिंधुजी—'अयोध्या और अयोध्यावासियोंको नित्यविभूतिके नित्य जीव देखे' पर जीव-धर्मसे आकृति भिन्न-भिन्न देखी। और 'अपर प्रकृतिमय जीव देखे' (अर्थात् और जितने जीव देखे वे प्रकृतिमय थे)।

पं०—*'सरजू भिन्न……'* अर्थात् उनकी रचना और दिशा आदिमें भी भेद था। *'बिबिधरूप'* अर्थात् वर्ण और अवस्थाके भेद उनमें थे। *'राम न देखेउँ आन'*—एक ही रूप दिखाकर अपनेमें कारणत्व सूचित किया और ब्रह्मादिकके अनेक भाँतिके स्वरूप दिखाकर उनमें 'कार्यता' लखायी।

नोट—*'अपारा'* के दो भाव हैं—एक कि बहुत प्रकारके बाल-विनोद, यथा—*'लघु बायस बपु धरि हरि संगा। देखेउँ बालचरित बहुरंगा॥'* दूसरे, कि उन चरितोंका पार पाना, उनका समझना इत्यादि कठिन है—*'एक बार अतिसै सब चरित किये रघुबीर।'*

दो०—भिन्न भिन्न मैं दीख सबु* अति बिचित्र हरिजान।
अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु राम न देखेउँ आन॥
सोइ सिसुपन सोइ सोभा सोइ कृपाल रघुबीर।
भुवन भुवन देखत फिरौं प्रेरित मोह समीर†॥८१॥

अर्थ—हे हरिवाहन! मैंने सब भिन्न-भिन्न और अत्यन्त विचित्र देखा। हे प्रभो! मैं अगणित भुवनोंमें फिरा पर प्रभु श्रीरामचन्द्रजीको अन्य प्रकारका न देखा। मोहरूपी पवनसे प्रेरित मैं भुवन-भुवनमें वही बालपन, वही शोभा और उन्हीं दयालु रघुवीरको देखता-फिरता था।

नोट—१ *'हरिजान'* का भाव कि आप तो सर्वत्र वाहनरूपसे उनके साथ रहते हैं, रहस्यके अधिकारी हैं, एवं यदि आपने कहीं दूसरी प्रकारका रूप देखा हो तो बताइये। २—*'फिरौं प्रेरित मोह समीर।'* भाव कि मोहके ही कारण मैं मारा-मारा फिरा, विश्राम कहीं न पाया। मोहहीसे यह चरित हुआ, यथा—*'प्राकृत सिसु इव लीला देखि भयउ मोहि मोह।'* उसीपर मायाने मुझे इतना चक्कर दिलाया।

भ्रमत मोहि ब्रह्मांड अनेका। बीते मनहुँ कलप सत एका॥१॥
फिरत फिरत निज आश्रम आएउँ। तहँ पुनि रहि कछु काल गँवाएउँ॥२॥
निज प्रभु जन्म अवध सुनि पायउँ। निरभर प्रेम हरषि उठि धायउँ॥३॥

* 'सबु दीप मैं'—(का०)।

† 'सरीर'—(का०), समीर—(रा० गु० द्वि०, भा० दा०, करु०)। श्री पं० रा० व० श० जी 'समीर' पाठ उत्तम मानते हैं। 'प्रेरित मोह सरीर' का अर्थ खर्रेमें 'मोहसे प्रेरित हुआ है शरीर जिसका ऐसा होकर', यह दिया है। रा० प्र० में 'मोह शरीर राममाया प्रेरित भुवन-भुवन फिरा' यह अर्थ है। अर्थ यों भी कर सकते हैं कि 'मोहसे प्रेरित किये हुए शरीरसे मैं देखता-फिरता था' तथा 'मैं देखता-फिरता था', मेरा शरीर मोहसे प्रेरित था। 'समीर' पाठ इससे उत्तम है कि पवनका झकोरा चलता है, इससे अनेक वस्तु उड़ते-फिरते हैं ही। इसमें रूपकालङ्कार है।

अर्थ—अनेक ब्रह्माण्डोंमें भ्रमते-फिरते मुझे मानो एक सौ (एवं एक सौ एक) कल्प बीत गये॥ १॥ फिरता-फिरता मैं अपने आश्रममें आया और वहाँ फिर रहकर कुछ समय बिताया॥ २॥ अवधमें अपने प्रभुका जन्म सुन पाया तब परिपूर्ण प्रेमसे हर्षपूर्वक मैं उठ दौड़ा॥ ३॥

नोट—१ *'बीते मनहुँ'* का भाव कि वस्तुतः ऐसा न था, मायासे ऐसा जान पड़ा कि इतने कल्प बीत गये। मनका ही वेग बहुत बड़ा होता है, उसमें वर्ष-के-वर्ष क्षणमात्रमें बीत जाते हैं और यहाँ तो मायाका भी प्रबल झकोरा साथ है। इसी तरह शोक और सुखमें एक क्षण कल्प-सम और वर्ष-के-वर्ष क्षणमात्र भासित होते हैं।—विशेष दोहा ८२ में देखिये।*

२—*'कछु काल'* इति। भुशुण्डिजी चिरंजीवी हैं, इनको युग-के-युग प्रहरके समान बीतते हैं; अतः *'कछु काल'* कहा। पुनः, भाव कि मायाका खेल था, इसीसे कुछ ही समय रहनेपर फिर जन्म सुना मानो एक कल्प बीत गया। *'काल गँवाएउँ'* का भाव कि वहाँ भी विश्राम न मिला, जैसे-तैसे समय बिताया, इसीसे 'गँवाया' कहा अर्थात् वह समय व्यर्थ-सा ही गया, संदेह और चिन्ताहीमें समय बीता। (पं०)

३—*'निरभर प्रेम हरषि उठि धायउँ'* इति। (क) रा० प्र० कार लिखते हैं कि *'उठि धायउँ'* से लक्षित होता है कि मनुजरूपसे उठ धाये; यथा—*'मनुज रूप जानै नहिं कोऊ।'* (१। १९६) तथा इस चरितमें अति प्रेम दरसाया।

(ख) ☞ इससे जनाया कि मोह होनेपर भी भुशुण्डिजीकी अनन्य उपासना दृढ़ ही बनी रही। ☞ *'सो माया न दुखद मोहि काहीं'* जो प्रारम्भमें कहा था उसको यहाँ स्पष्ट किया है। नारदजी मोहमें उपासनाके प्रतिकूल कर्म कर बैठे थे, अपने इष्टदेवको कठोर दुर्वचन कह बैठे थे, इसीसे वहाँ *'सुनहु कठिन करनी तेहि केरी'* कहा था। भुशुण्डिजी मायाके चक्करमें पड़े हुए भी पूर्वोत्साहसे अवध जा रहे हैं।

रा० शं० श०—*'सुनि पायउँ'*—किससे सुना? ब्रह्मादि देवताओंसे; यथा—*'सो अवसर बिरंचि जब जाना। चले सकल सुर साजि बिमाना॥ गगन बिमल संकुल सुर जूथा। गावहिं गुन गंधर्व बरूथा॥'* (१। १९१। ५-६)

देखेउँ† जन्ममहोत्सव जाई। जेहि बिधि प्रथम कहा मैं गाई॥ ४॥
राम उदर देखेउँ जग नाना। देखत बनइ न जाइ बखाना॥ ५॥
तहँ पुनि देखेउँ राम सुजाना। मायापति कृपाल भगवाना॥ ६॥
करौं बिचार बहोरि बहोरी। मोह कलिल‡ ब्यापित मति मोरी॥ ७॥
उभय घरी महँ मैं सब देखा। भएउँ भ्रमित मन मोह बिसेषा॥ ८॥

शब्दार्थ—कलिल **'यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति। तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥'** (गीता २। ५२) पर भाष्य करते हुए श्रीशङ्करस्वामीने 'मोहकलिल' का अर्थ **'मोहात्मकं अविवेकरूपं कालुष्यं येन आत्मानात्मविवेकबोधं कलुषीकृत्य विषयं प्रति अन्तःकरणं प्रवर्तते'** किया है। अर्थात् मोहात्मक अविवेकरूप कालुष्य जिसके द्वारा आत्म और अनात्मका विवेक बोध कलुषित होकर विषयकी ओर अन्तः-करण प्रवृत्त हो जाता है। श्रीबालगङ्गाधर तिलकने 'मोहका गँदला आवरण' अर्थ किया है। वन्दनपाठकजी पं० रामगुलाम द्विवेदीका टिप्पण इस प्रकार लिखते हैं—**'कलिलं बुद्धिकालुष्यं बुद्धिगतम्।'** श्रीधरस्वामीजी अर्थ करते हैं—**'मोहकलिलं मोहमयगहन दुर्गम्'** अर्थात् मोहमय दुर्गम वन। आप्टेने 'राशि, समूह (a large

---

* रा० प्र०—१ 'मनहुँ' से उत्प्रेक्षा सूचित की। वा, २-इन्द्रियादिकी क्या कथा परम वेगवान् मन भी इतने अल्पकालमें नहीं पहुँच सकता। अर्थात् 'वह कालकी यम-यातना-सी भैरवी थोड़े ही कालमें होती है।'

† देखौं—भा० दा०। देखेउ—(का०)।

‡ कलिल—रा० गु० द्वि०, का०। कलित—भा० दा०। करु०। रा० प्र०। रा० प्र० ने 'कलित' का अर्थ 'नवीन' किया है।

heap) तथा गड़बड़ (confusion)' अर्थ दिया है। उदाहरणमें **'विशसि हृदयक्लेशकलिलम्'** (भर्तृहरि ३। ३४ और गीता २। ५२) दिया है। रा० प्र० ने 'विकार', पं० ने 'लहरें और मलिनता' और शीलाने 'कीचड़' अर्थ किया है। कालुष्यका अर्थ मलिनता, कीचड़ इत्यादि मिलता है। श० सा० में 'मिला-जुला। ओत-प्रोत। मिश्रित। २—गहन, घन, दुर्गम। ३—समूह, ढेर।' अर्थ दिया है।

अर्थ—जाकर जन्ममहोत्सव देखा जिस प्रकार मैंने पहिले विस्तारसे कहा है॥ ४॥ श्रीरामचन्द्रजीके पेटमें मैंने बहुत-से जगत् देखे जो देखते ही बनते थे, बखान नहीं किये जा सकते॥ ५॥ मैंने वहाँ भी सुजान, मायापति, कृपालु, भगवान् श्रीरामचन्द्रजीको देखा॥ ६॥ मैं बारम्बार विचार करता था। मेरी बुद्धि मोहरूपी कीचड़ व मोहके गँदले आवरणसे व्याप्त थी॥ ७॥ दो ही घड़ीमें मैंने सब देखा। मनमें विशेष मोह होनेसे मैं थक गया॥ ८॥

नोट—१ ***'जेहि बिधि प्रथम कहा—'*** इति। ***'जन्ममहोत्सव देखउँ जाई।'*** (७५। ४) से ***'प्राकृत सिसु इव लीला देखि—।'*** (७७) तक पूर्व जो वर्णन किया है, वही ***'जेहि बिधि प्रथम कहा मैं गाई'*** से सूचित कर दिया। ***'उदर माँझ सुनु अंडजराया। देखेउँ बहु ब्रह्मांडनिकाया॥'*** (८०। ३) उपक्रम है और ***'उभय घरी महँ मैं सब देखा', 'राम उदर देखेउँ जग नाना'*** उपसंहार है।

२—***'राम सुजाना। मायापति कृपाल भगवाना'***—(क) इनसे जनाया कि बिलकुल वैसा ही सब चरित मायाप्रेरित होनेपर उदरके भीतरके ब्रह्माण्डवाले अवधमें भी मेरे साथ हुआ। 'सुजान' से जनाया कि मेरे मनमें मोह हुआ और उसे प्रभुने जान लिया। जाननेपर मायाको प्रेरित किया, अतः सुजानके बाद 'मायापति' कहा। मायामें भी साथ न छोड़ा, कृपा बनाये रखी, दुःख न होने दिया, अतः फिर 'कृपाल' कहा है। कौतुकी स्वभाव होनेपर भी भक्तपर कृपाल रहते हैं, यथा—***'प्रगटेउ प्रभु कौतुकी कृपाला।'*** (१। १३२। ३) एवं कृपा यह कि मोह होनेसे अन्य जीवोंको अनेक कल्पोंतक जन्म-मरण संसृति-क्लेश होनेपर जो कहीं निवृत्ति होती वह मुझे दो घड़ीमें बिना क्लेशके कर दिया। ऐश्वर्य दिखाया; अतः भगवान् कहा। पहले जो भुजावाला चरित किया, उसमें सर्वत्र प्रभु और उनकी भुजाको देखा था, अतः 'राम' प्रथम कहा क्योंकि वे सबमें रमण करते ही हैं, सर्वत्र हैं।

३—***'करौं बिचार बहोरी'*** अर्थात् माया-चरितमें भी जब अवतार होनेपर जन्ममहोत्सव देखने गया तब फिर भी वैसे ही चरित देखे, अतः वे ही विचार बने रहे, बराबर विचार करनेपर भी बोध न होता था। मोहयुक्त होनेसे कुछ निश्चय न होने पाता था। ***'करौं बिचार बहोरी'*** कहकर ***'मोह कलिल ब्यापित मति मोरी'*** कहनेका भाव कि बारम्बार विचार करना और सन्देहकी निवृत्ति एवं मनको प्रबोध न होना यही ***'मोह ब्यापित मति'*** का स्वरूप है। अर्थात् कार्य और कारण दोनों कहे। मिलान कीजिये—***'उर उपजा संदेह बिसेषी।—'*** (१। ५०। ५)***—'अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥'*** (५१। ३) से ***'जैसे जाइ मोह भ्रम भारी।'*** (१। ५२। ३) तक पुनः इससे मायाका प्राबल्य दिखाया, यथा—***'लाग न उर उपदेस जदपि कहेउ सिव बार बहु। बोले बिहँसि महेसु हरिमाया बलु जानि जिय॥'*** (१। ५१)

श्रीबैजनाथजी—***'करौं बिचार—'*** का भाव यह लिखते हैं—जिनके प्रभावसे यह सब रचना देख पड़ी, जिनका ऐसा ऐश्वर्य है वे भगवान् मायापति हैं। वे जीवोंपर कृपा करके माधुर्यलीला करते हैं। वे सुजान हैं, मेरा अज्ञान मिटानेके लिये ही सब कौतुक किया है। अतः प्रभुमें मनुष्यभाव मानना व्यर्थ है, भूल है। इत्यादि बार-बार विचार करता था पर बोध न होता था।

शंका—श्रीरघुनाथजीके उदरमें भुशुण्डिजीको कई कल्प बीत गये; परंतु मुखसे बाहर निकले तो केवल दो घड़ियाँ बीती थीं। यह कैसे सम्भव है?

समाधान—१—कालका मुख्य मान रात-दिन है जो अपने धुरेपर धरतीकी गति है। एक कल्प पार्थिव वर्षोंके मानसे ४ अरब ३२ करोड़ वर्षोंका होता है। वर्ष उस कालको कहते हैं जो पृथ्वी-पिण्डको सूर्यकी एक परिक्रमामें लगता है। भिन्न-भिन्न पिण्डोंके लिये उनके परिक्रमण-भेदसे भिन्न-भिन्न काल-मान हैं।

बृहस्पतिका वर्षमान हमारे पार्थिव वर्षमानके बारह वर्षोंका है। इसी तरह शनिलोकमें हमारे तीस वर्षोंका एक वर्ष होता है। यह छोटे-छोटे पिण्डोंके उदाहरण हैं। अनन्त आकाश-मण्डलमें ऐसे-ऐसे पिण्ड हैं जिनके एक-एक वर्ष हमारे करोड़ों वर्षोंके बराबर हो सकते हैं। साथ ही छोटे पिण्डोंका हिसाब कीजिये तो काल-भेद अत्यन्त बड़ा वा अत्यन्त छोटा दीखता है। एक-एक परमाणुमें विद्युत्कण एक सेकण्डमें एक लाख अस्सी हजार मीलके वेगसे धनकणका परिक्रमण करते हैं। अतः हमारे एक सेकण्डमें विद्युत्कणके लाखों वर्ष बीत सकते हैं। ब्रह्मके लिये कहा है **'अणोरणीयान् महतो महीयान्।'** यदि भगवान्‌के सूक्ष्म भावपर निगाह दौड़ाते हैं अथवा कागभुशुण्डिके रूपसे भगवान्‌की सृष्टिमें भ्रमण करते हैं तो हमारी दो घड़ीमें अर्थात् २८८० सेकण्डोंमें परमाणु ब्रह्माण्डके विद्युत्कणोंके (प्रति सेकण्ड केवल दो लाख वर्ष मानकर) लगभग छः अरब वर्ष होते हैं। यदि वैज्ञानिकोंद्वारा अनुभूत विद्युत्कणोंसे भी सूक्ष्म पिण्डोंकी कल्पना करें तो घड़ीमें अनेक कल्पोंका बीतना कोई असम्भव बात नहीं ठहरती। कालकी और देशकी कल्पना सापेक्ष है। इस स्थलपर अधिक विस्तार सम्भव भी नहीं। इसपर पूर्ण दार्शनिक विचारके लिये लेखकप्रणीत 'वैज्ञानिक अद्वैतवादमें कालकी कल्पना' देखिये। जाग्रत्-अवस्थामें भिन्न पिण्डोंके गतिक्रमसे कालमानमें कितना बड़ा अन्तर पड़ता है, यह बात वैज्ञानिक विचारसे स्पष्ट हो जाती है। जाग्रत्से भिन्न स्वप्नावस्थाका कालमान तो अत्यन्त अद्भुत है। स्वप्नमें देखता हूँ कि हिमालय पर्वत है, गङ्गा है जो अवश्य ही अरबों वर्षसे हैं, और मैं स्वयं महीनों यात्रा करता हूँ, अनेक घटनाएँ घटती हैं जिनकी संख्याएँ, भेद, विस्तार आदि बातें बरसोंका अनुमान उत्पन्न करती हैं, परंतु आँख खुली, अवस्था बदली तो मालूम हुआ कि दस मिनटसे अधिक न सोया हूँगा। यह दस मिनट जाग्रत्‌के हैं, पर स्वप्नावस्थाके अरबों वर्ष बीत गये। अवस्थाभेदसे देश-काल-वस्तुमें भेद प्रतीत होना स्वाभाविक है, क्योंकि देश-काल-वस्तु तीनों सापेक्ष हैं, अतः असत्य और अनित्य हैं। देशातीत, कालातीत, वस्त्वतीत नित्य सत्य सत्ता अपेक्षाकृत नहीं है, अतः उसमें विकार सम्भव नहीं। भुशुण्डिजी *'मनहुँ कलप सत एका'* भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डोंमें घूमते रहे, परंतु वस्तुतः (अर्थात् जाग्रत्-अवस्थामें जिसे व्यवहारमें वास्तविक समझते हैं) दो ही घड़ीका समय लगा। *'मनहुँ'* शब्द भुशुण्डिजीके अवस्थान्तरका, दूसरी अवस्थामें शायद समाधिकी अवस्थामें प्रवेश करनेका पता देता है। इस भिन्न अवस्थामें उन्होंने १०१ कल्प बिताये और जब पूर्वावस्थामें लौटे तो उस अवस्थाके मानसे दो ही घड़ियाँ बीती थीं।* —(गौड़जीकी मानसकी भूमिकासे)

२—इसी तरह *'महाप्रलयहु नास तव नाहीं'* यह जो भुशुण्डिके लिये कहा है, उसको भी समझना चाहिये। सृष्टि और प्रलय दोनों कालकी सीमाके भीतर हैं। परंतु जो अवस्था कालातीत है, उसमें अन्त कहाँ? जन्म-मरण कहाँ? यह अवस्था ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। इसे सालोक्य मुक्ति कह सकते हैं। सगुणोपासक गोलोक और साकेतलोक आदि लोकोंको देश, काल, वस्तुसे परे मानते हैं।—(गौड़जी)

३—मा० शं०—भुशुण्डिजीको मोहवश शतकल्प जान पड़े, यथार्थमें दो ही घड़ीमें यह चरित हुआ। मोह छूटनेपर यथार्थ सूझ पड़ा। वा, मुखके भीतर जो ब्रह्माण्ड थे उनमें जितनी देरमें शतकल्प हुए उतनी देरमें इस ब्रह्माण्डमें दो ही घड़ी हुआ। वा, रघुनाथजीकी मायासे दो घड़ीका शतकल्प हो गया।

४—वि० त्रि०—ढाई घड़ीका एक घंटा होता है। इस हिसाबसे दो घड़ी ४८ मिनटकी होती है। सो वस्तुतः भुशुण्डिजीको रामजीके उदरमें गये ४८ मिनट हुए। पर प्रतीति एक सौ कल्पकी हुई, अर्थात् कालका भी कोई नियम नहीं रह गया। यह परमेश्वरी माया है, जिसमें संकुचित देश-कालमें अपार देश-कालकी प्रतीति होती है, तथा अति विशाल देश-कालकी अति संकुचित प्रतीति होती है।

---

* रा० प्र०—कोई-कोई 'उभयघरी' को मायाकी प्रबलता कहते हैं। यद्यपि यह कथन मुखसे बाहर निकलनेपरका है तथापि प्रसंगसे इसे वे पहिलेका कहते हैं। कोई कहते हैं कि 'उभयघरी' कहनेकी बान कविकी है।.........१— 'उभयघरी अस कौतुक भएऊ। जब लगि काम संभु पहँ गएऊ'॥ २—'मगन ध्यानरस दंड जुग पुनि मन बाहिर कीन्ह।' ३—'उभयघरी महँ दीन्ह मैं सात प्रदच्छिन धाइ।' और कोई कहते हैं कि जब दो घड़ीका यह वृत्तान्त है तो अधिकमें क्या होता?

सि० ति०—'इस कौतुकका रहस्य यह है कि परधाममें जीवोंकी स्वाभाविक स्थितिसे विशेष सुख देनेके लिये श्रीसीतारामजी जगत्‌की रचना कर जीवोंको उनके अनादि कर्मानुसार, अपनी मायासे मोहवश कर देते हैं। जैसे माता बच्चेको शय्यापर शयन करा देती है कि सोकर उठेगा तो भूख लगेगी और फिर दूध पीकर विशेष सुख पावेगा एवं पुष्ट होगा। बच्चे प्राय: दो ही घड़ी सोते हैं, यदि देरी होने लगी तो माता चिन्तित होकर जगानेका यत्न करती है। नित्य धामकी दो ही घड़ीमें यह यहाँके सैकड़ों कल्पका चक्कर लगा लेता है। फिर भगवान् प्रकृतिके द्वारा इसके जाग्रत् होनेकी प्रेरणा करते हैं और यह नाना साधनोंमें प्रवृत्त होता है। ज्ञानोपासना एवं प्रेमकी रीतिसे भगवान्‌की प्राप्तिकी चाह होना भूखसे रोना है। अत्यन्त प्रेम ही क्षुधाका वास्तविक रूप है। इसीसे कहा है—*'पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन।'*, *'रामहि केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननिहारा॥'* (अ० १३७); उत्कृष्ट इच्छापर भगवान्‌को पाता है, तो इसे अत्यन्त सुख होता है, फिर वही अवस्था इसकी नित्य रहती है। सदा वैसा ही सुखी रहता है। **'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते।'** (छा० ८। ५१। १) कहा ही है। नित्य धाममें पुन: प्राप्त होनेपर इसे इस जगत्‌के व्यापार वहाँकी दो ही घड़ीमें हो जाते हैं।

'भयउँ श्रमित मन मोह बिसेषा'—विशेष मोहसे जो सैकड़ों कल्प भ्रमण किया, उसके श्रमको समझकर विशेष व्याकुलता हुई, यही प्रेमकी विशेषावस्था है, जो कि—*'नाचत ही निसि दिवस मर्‍यो—'* (वि० ९१), इस पदमें कही गयी है।

नोट—४ *'मन मोह बिसेषा'* का भाव कि मनमें अत्यन्त संदेह हुआ, यही विशेष मोह है, यथा—*'जौं तुम्हरे मन अति संदेहू। तौ किन जाइ परीछा लेहू॥ जैसे जाइ मोह भ्रम भारी।'* (१। ५२। १—३) सतीजीका संदेह परीक्षा लेनेपर लगभग जाता ही रहा, किञ्चित् ही रह गया था, यथा—*'अजहूँ कछु संसउ मन मोरे।'* (१। १०९। ५) और भुशुण्डिजीका मोह परीक्षा लेने एवं ऐश्वर्य देख लेनेपर भी न गया; अत: *'मन मोह बिसेषा'* कहा।

दो०—देखि कृपाल बिकल मोहि बिहँसे तब रघुबीर।
बिहँसत ही मुख बाहेर आएउँ सुनु मतिधीर॥
सोइ लरिकाई मो सन करन लगे पुनि राम।
कोटि भाँति समुझावौं मनु न लहै बिश्राम॥८२॥

अर्थ—तब दयालु श्रीरामजी मुझे व्याकुल देखकर हँस दिये। हे धीरबुद्धि! सुनो। हँसते ही मैं मुखके बाहर आ गया। श्रीरामचन्द्रजी फिर मुझसे वही लड़कपन करने लगे। मैं अनेक प्रकार मनको समझाता था पर मन विश्राम न पाता था अर्थात् उसे बोध न होनेसे शान्ति न मिलती थी॥ ८२॥

नोट—१ (क) *'देखि कृपाल।'* व्याकुल देखकर कृपा की, अत: कृपाल कहा। 'बिहँसना' आद्यन्त पूर्वापर एकरस दिखाया। मुखके भीतरकी लीलाका इसीपर उपक्रम-उपसंहार किया। 'बिहँसे' भी कृपा है, क्योंकि हँसनेपर मुख खुला और श्वासद्वारा ये बाहर आ गये। इसी तरह मार्कण्डेयऋषि जब सब विश्व देख चुके तब श्वासके साथ उदरसे बाहर निकले थे। यथा—भा० १२। ९। ३०—**'विश्वं विपश्य- ञ्छ्वसिताच्छिशोर्वै बहिर्निरस्तो न्यपतल्लयाब्धौ।'** (ख)—*'मतिधीर'* का भाव कि यह मेरे मोहकी कथा आपने सावधान रहकर सुनी और सुननेसे उकताये भी नहीं। यथा—*'श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मतिधीर।'* (५२) ☞ पूर्व काकजीने कहा था कि सावधान होकर सुनो, वह यहाँ चरितार्थ है। पूर्व *'सुनहु सो सावधान हरिजाना।'* (७८। ३) और यहाँ *'सुनु मतिधीर।'* [पुन:, 'मतिधीर' का भाव कि मायारूपी नदीसे धैर्यमें पार उतरना होता है। यथा—*'धीरज धरिय त पाइय पारू।'* (पं०) पुन:, भाव कि आश्चर्य सुननेसे आपकी मति न भ्रमी। अत: आप मतिधीर हैं। (रा० प्र०)]

२ (क) *'सोइ लरिकाई'* अर्थात् *'मोहि सन करहिं बिबिध बिधि क्रीड़ा'* से *'जाउँ समीप गहन पद——'* तक जो कह आये वही। *'सोइ'* और *'करन लगे पुनि'* का भाव कि यही पूर्व की थी, अब वही फिर करते हैं।

(ख) ☞*'सुनु मतिधीर'* यह अन्तिम *'सुनु'* है। इससे यहाँ मायाके प्रसङ्गकी समाप्ति जनायी।

उपक्रम	उपसंहार
मूदेउँ नयन त्रसित जब भएउँ।' (८०। १)	*भएउँ श्रमित मन मोह बिसेषा।'* (८२। ८)
मोहि बिलोकि राम मुसुकाहीं।	*देखि कृपाल बिकल मोहि बिहँसे तब रघुबीर।*
बिहँसत तुरत गएउँ मुख माहीं।' (८०। २)	*बिहँसत ही मुख बाहर आएउँ——।'* (८२)
उदर माँझ सुनु अंडजराया।' (८०। ३)	*सुनु मतिधीर।*
प्राकृत सिसु इव लीला देखि।' (७७)	*'सोइ लरिकाई मो सन करन लगे——' 'देखि——'*
कवन चरित्र करत प्रभु——।' (७७)	*कोटि भाँति समुझावौं मन न लहै बिश्राम*

(ग) मोह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया।—*'एतना मन आनत खगराया——' 'तब मैं भागि चलेउँ उरगारी' 'प्रेरित मोह समीर', 'मोह कलिल ब्यापित मति मोरी', 'भएउँ श्रमित मन मोह बिसेषा।'* ऊपर जो *'मन मोह बिसेषा'* कहा, उसीका यहाँ स्वरूप दिखाते हैं कि *'कोटि भाँति समुझावउँ मन न लहइ बिश्राम।'*

वै०—*'कोटि भाँति समुझावौं'* इस तरह कि ये मेरे इष्टदेव ही हैं, स्वामी हैं, भय करनेका कोई प्रयोजन नहीं, जो करते हैं करने दो, इत्यादि कोटि भाँति समझाता था।

पं०—समझाते इस प्रकार थे कि ये पूर्ण ब्रह्म परमात्मा हैं जिनने मुझे अपनी अनन्त शक्ति दिखायी है, पर क्रीड़ा देखकर फिर सोचने लग जाते थे कि क्या ब्रह्माण्डोंका कौतुक मैंने स्वप्नमें तो नहीं देखा, नहीं-नहीं, स्वप्न तो निद्रावस्थामें होता है और यह मनोराज तो जाग्रत्का देखा हुआ है—इस प्रकार विकल्पोंके कारण मन स्थिर न हुआ।

नोट—३ *'मनु न लहै बिश्राम'* इति। इससे मानसकार उपदेश देते हैं कि ज्ञानी, भक्तशिरोमणि, रामरहस्यके बड़े ज्ञाता ऐसे भुशुण्डिजीको भी मनमें संदेह होनेपर जब उसकी निवृत्ति वे अपने विशाल बुद्धि-बलसे एवं ऐश्वर्य देखकर भी न कर सके तब साधारण जीव ईश्वरके चरितमें संदेह करके अपने बुद्धि-बलसे उसे निवारण करनेका प्रयत्न करे तो उसकी मूर्खता ही है।—*'चरित रामके सगुन भवानी। तरकि न जाहिं बुद्धि मन बानी॥'* संदेह हुआ कि वह गिरा, यथा—*'अस संसय आनत उर माहीं। ज्ञान बिराग सकल गुन जाहीं॥'* (१। ११९। ६) प्रभु ही कृपा करें तब उनके विषयका मोह दूर हो सकता है अन्यथा नहीं। यह बात सती-मोह-प्रसङ्गसे भी प्रमाणित होती है। अतएव ईश्वरको सर्वशक्तिमान्, असम्भवको भी सम्भव करनेवाला, 'अघटितघटनापटीयसी' जानकर उनके चरित्रोंमें संदेह न करके वरन् यह सोचकर कि उनके चरित सब यथार्थ हैं, हमारी बुद्धिमें नहीं समा सकते, हमें उनका भजन करना चाहिये—*'भजत कृपा करिहहिं रघुराई।'* तब यदि संदेह कुछ होंगे भी तो तुरंत स्वयं ही दूर हो जायँगे। यही उपदेश शिवजी और भुशुण्डिजीने दिया है। यथा—*'अस बिचारि जे तज्ञ बिरागी। रामहिं भजहिं तर्क सब त्यागी॥'* (६। ७२। २) *'अस निज हृदय बिचारि तजु संसय भजु राम पद।'* (बा० ११५), *'अस बिचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय सकल। भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुंदर सुखद॥'* (७। ९०)

☞ बिना रामकृपाके विश्राम नहीं मिल सकता, यथा—*'रामकृपा बिनु सपनेहु जीव न लह बिश्राम।'* (९०) *'कोटि भाँति समुझावौं'* से जनाया कि अपने बुद्धि-बलका भरोसा था, रामकृपाका नहीं, इसीसे *'मनु न लहै बिश्राम।'* आगे जब हार मानकर एकमात्र श्रीरामजीकी गति रह जायगी तब विश्राम होगा।

देखि चरित यह सो प्रभुताई। समुझत देह दसा बिसराई॥ १॥
धरनि परेउँ मुख आव न बाता। त्राहि त्राहि आरत जन त्राता॥ २॥

प्रेमाकुल प्रभु मोहि बिलोकी। निज माया प्रभुता तब रोकी॥ ३॥
कर सरोज प्रभु मम सिर धरेऊ। दीनदयाल सकल दुख हरेऊ॥ ४॥

अर्थ—यह बालचरित देखकर और वह प्रभुता समझकर मुझे देहदशा भुला गयी, देहकी सुध-बुध न रह गयी, मैं मूर्च्छित हो गया॥ १॥ 'हे आर्त्तजनके रक्षक! रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये'—(ऐसा कहते हुए) मैं पृथ्वीपर गिर पड़ा, मुखमें वचन नहीं आता अर्थात् बोल नहीं निकलता॥ २॥ प्रभुने मुझे प्रेमसे व्याकुल देखकर तब अपनी मायाकी प्रबलता रोकी॥ ३॥ दीनदयाल प्रभुने अपना करकमल मेरे सिरपर रखा और समस्त दुःख हरण कर लिया*॥ ४॥

नोट—१ (क) *'सो प्रभुताई'* अर्थात् जो ऊपर *'बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा।'* (७९। ४) से *'बिहँसत ही मुख बाहेर आयेउ।'* (८२) तक कह आये हैं। 'यह चरित' अर्थात् *'सोइ लरिकाई'* जो *'किलकनि चितवनि भावति मोही।'* (७७। ७) से *'प्राकृत सिसु इव लीला।'* (७७) तकमें कह आये। (ख) *'समुझत देह दसा बिसराई।'* अर्थात् यह समझकर कि जिनके उदरमें असंख्यों ब्रह्माण्ड हैं जिनकी आज्ञा सब ब्रह्माण्डोंके विधि-हरिहर पालन करते हैं, वही प्रभु सुलभ होकर लोकोद्धार-हेतु भक्तोंके आनन्द-हेतु अत्यन्त माधुर्य-लीला करते हैं, ऐसे कृपालु और भक्तवत्सल हैं—यह समझते ही मनमें प्रेम उमगा कि देहसुध भूल गयी। (वै०)

वि० त्रि०—भुशुण्डिजीके कहनेका यह भाव है कि सरकारकी क्रीड़ा ऐसी ही होती है कि देखनेवालेको मोह हो जाता है, आपको रणक्रीड़ा देखकर मोह हो गया और मुझे बालक्रीड़ा देखकर मोह हुआ, पर मुझे तो स्वयं अनुभव करनेका अवसर मिला कि जो ऐसी क्रीड़ा कर रहा है, उसकी महिमाका पारावार नहीं है, उसकी इच्छामात्रसे देशकालकी मर्यादा कहीं रह नहीं जाती, उसके जो भीतर है वही बाहर है, जो बाहर है वही भीतर है। 'यदन्तरं **तद्बाह्यम्, यद्बाह्यं तदन्तरम्।**' यह अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड उसके भीतर मायाके कारण बाहर दिखायी पड़ता है, जिस भाँति स्वप्नका प्रपञ्च सब हमारे भीतर होता है, पर निद्राके कारण बाहर प्रतीत होता है। अतः उस सर्वाश्चर्यमय देवमें सब कुछ सम्भव है, उसकी लीला देखकर उसके स्वरूपको न भूलना चाहिये।

नोट—२ (क) *'धरनि परेउँ मुख आव न बाता'* से शरणमें प्राप्त और भयभीत सूचित किया। यथा—*'तन पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूँदि चरनन्हि सिरु नावा॥ बिसमयवंत देखि महतारी।'* (१। २०२। ५-६) सभीत शरणागतकी रक्षा आपका विरद है, यथा—*'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाई॥'* (५। ४४। ८) (ख) श्रीकौसल्याजीको थोड़ेहीमें मोहका निवारण किया गया और भुशुण्डिजीको बहुत भ्रमाया गया। इस भेदका कारण प्रसङ्गसे ही स्पष्ट हो जाता है। मोहको प्राप्त जीव जबतक अपने पुरुषार्थका अभिमानी रहता है तबतक उसे चक्कर खाना पड़ता है। जब सब ओरसे हारकर वह प्रभुकी शरणका भरोसा करता है तभी वे भ्रमको दूर करते हैं। श्रीकौसल्या अम्बा थोड़ेहीमें विस्मित हो शरण गयीं—*'नयन मूँदि चरनन्हि सिरु नावा।'* और भुशुण्डिजी इतना चक्कर खानेपर भी शीघ्र शरण न हुए वरन् इनका मोह विशेष हो गया। शरण होनेपर प्रभुने तुरंत रक्षा की। दूसरे प्रभुने माताको प्रथम ही अलौकिक विवेक दे रखा था, यथा—*'मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें॥'* (१। १५१), इससे वे तुरंत शरण हुईं। (ग) *'त्राहि त्राहि——'* इतने ही शब्दोंमें बहुत प्रार्थना आ गयी। मोहसे रक्षा कीजिये। मायासे रक्षा कीजिये, आर्त्तजनोंकी रक्षा करना आपका विरद है—*'त्राहि त्राहि आरतिहरन——।'* मैं आर्त्त हूँ, मेरी रक्षा कीजिये। एक बार भी *'त्राहि त्राहि'* कहनेसे आप रक्षा करते हैं, मैं बारंबार कहता हूँ इत्यादि।

३ (क) *'प्रेमाकुल……'* इति। इससे दिखाया कि प्रेम होनेपर ही जीव मायारहित होता है। ☞ इस प्रसंगमें—

---

* 'माया ते प्रबला राम यया मोहवशोऽभवम्। यथा न मोहयेदेव तथा मां त्वं विधेहि भो॥ तदा रामः प्रसन्नात्मा भुशुण्डं मुमुचे प्रभुः। भुशुण्डः पुनरुत्थाय जग्राह चरणौ हरेः॥ मस्तके तु करं तस्य रामो दध्रे दयान्वितः। पुनः पुनस्तु चोत्थाय रामस्य चरणेऽपतत्॥ (सत्योपाख्यान ६६, ५३-५४)

१—मायाका प्रेरित किया जाना कहकर प्रथम मायाके दुःखद न होनेका कारण कहा, फिर मायाका चरित कहा।

२—मायाके दो प्रकारके चरित वर्णन किये।—(क) भुजाका पसारना और उसकी विशालता। (ख) त्रसित होनेपर उदरमें असंख्यों ब्रह्माण्ड और उनमें वह सब सृष्टि भी जो बाहर नित्य देखते थे तथा अवतार और वही बालकेलि आदिका दर्शन।

३—प्रथम चरित देखकर त्रास हुआ पर शरण न हुए, अतः माया न छूटी और भी ऐश्वर्य दिखाया गया। जब शरण हुए तभी अपनाये गये और माया छूटी।

४—मोह उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। पहले मनमें ही था, मनसे कर्ममें परिणत हुआ कि प्रभुके सामनेसे भागे। फिर जैसे-जैसे चरित देखते गये तैसे-तैसे बढ़ा।

५—मन, अहंकार, बुद्धि, चित्त अर्थात् चतुष्टय अन्तःकरण क्रमसे मोहग्रस्त दिखाये—*'एतना मन आनत'*, *'तब मैं भागि चलेउँ'* यह अहंकार, *'मोहकलिल ब्यापित मति मोरी'* और *'कोटि भाँति समुझावौं—'* यह चित्त (चित्तको चेतावनी दी जाती है, यथा—*'अब चित चेतु चित्रकूटहि चलु।'* समुझना धर्मसे चित्त लिया)।

६—इस प्रसङ्गमें प्रारम्भसे समाप्तितक चार बार गरुड़जीसे सुननेको कहा है।

७—पहले *'गहन कहँ भुजा पसारी'*—वाले चरितसे दिखाया कि हमसे भागकर तुम कहीं नहीं जा सकते और दूसरेमें अपना ऐश्वर्य दिखाया कि शिव-विरंचि आदि सब हमारी ही मायाके भीतर हैं, हम ही सबके स्वामी हैं।

८—मोह होनेपर ज्ञान बना रहा कि हमें मोह हो गया है और उपासना भी दृढ़ बनी रही। इसीसे उदरमें ब्रह्माण्डोंमें घूमते समय और फिर उदरसे निकलनेपर भी 'विचार करना' कहा *'कोटि भाँति समुझावौं—'* *'करौं बिचार बहोरि।—'*

९—ईश्वर-विषयक मोह बुद्धि-बलसे तथा ऐश्वर्य देखनेसे भी निवृत्त नहीं हो सकता, प्रभुकी कृपासे शरण होनेसे ही निवृत्त होता है।

रा० शं०—१ जब प्रभु अपनी मायाको रोकते हैं तभी वह रुकती है, यथा—*'निज माया की प्रबलता करषि कृपानिधि लीन्ह'*, *'जब हरि माया दूर निवारी।'* २—*'कर सरोज'* धरनेके बाद दुःखका हरना कहा। यह कर-सरोजका प्रभाव है, यथा—*'सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटत ताप पाप माया'* इति। (विनय०)

कीन्ह राम मोहि बिगत बिमोहा। सेवक सुखद कृपा संदोहा॥५॥
प्रभुता प्रथम बिचारि बिचारी। मन महँ होइ हरष अति भारी॥६॥
भगतबछलता प्रभु कै देखी। उपजी मम उर प्रीति बिसेषी॥७॥
सजल नयन पुलकित कर जोरी। कीन्हिउँ बहु बिधि बिनय बहोरी॥८॥

अर्थ—सेवकको सुख देनेवाले और कृपासंदोह रामचन्द्रजीने मुझे विमोहरहित कर दिया॥५॥ पहलेवाली प्रभुता विचार-विचारकर मनमें अत्यन्त भारी आनन्द होने लगा (एवं अब भी होता है)॥६॥ प्रभुका भक्तवात्सल्य देखकर मेरे हृदयमें बहुत प्रीति उत्पन्न हुई॥७॥ सजल नेत्र और पुलकित हो हाथ जोड़कर फिर मैंने बहुत प्रकारसे विनती की*॥८॥

नोट—१ (क) *'बिगत बिमोहा'* कहा क्योंकि विशेष मोह था, यथा—*'भएउँ श्रमित मन मोह बिसेषा'*, *'कोटि भाँति समुझावौं मनु न लहै बिश्राम।'* वह सब मोह दूर कर दिया। (ख)—*'सेवक सुखद—'* इति। भारी मोह दूर होनेसे सुख होता है, यथा—*'मिटा मोह सरदातप भारी।—सुखी भइउँ प्रभु चरन प्रसादा।'* (१।१२०) *'बिगत*

* सत्योपाख्यानमें गरुड़से पीड़ित किये जानेपर भुशुण्डिने हताश होकर स्तुति की है तब प्रभुने सिरपर हाथ रखा। उसके बाद भुशुण्डिजीने वरदान माँगा है। यहाँ गरुड़से मारे जानेकी कथा नहीं है; क्योंकि वह कथा भक्त कविके हृदयको न भा सकती थी। स्तुति श्लोकोंमें है और बहुत प्रकारसे की गयी है। वह सब यहाँ 'बहु बिधि' से जना दी गयी है।

मोह मन हरष बिसेषी।' (१। १३९। १) अतः भुशुण्डिजीको भी सुख मिला, इसीसे ***'सेवक सुखद'*** कहा। विमोह दूर करना और सुख देना कृपा है, अतः ***'कृपासंदोह'*** कहा, यथा—***'तुम्ह कृपालु सब संसय हरेऊ', 'नाथ कृपा अब गएउ बिषादा। सुखी भइउँ……।'*** पुनः, ***'सेवक सुखद'*** का भाव कि शरणको सदा सुख देते आये हैं, मैं शरण हुआ, अतः मुझे भी सुख दिया। इन विशेषणोंको आगे स्पष्ट करते हैं।

२ ***'मन महँ होइ हरष अति भारी।'***—क्योंकि जिस मनमें प्रथम ऐश्वर्यका विचार करनेसे भारी मोह होता था, यथा—***'करउँ बिचार बहोरि बहोरी।……' 'मन मोह बिसेषा'***, उसीमें अब प्रभुतापर विचार करनेसे भारी हर्ष होता है—यह असीम कृपा है। 'भारी मोह' छुड़ाकर 'अति भारी हर्ष' दिया, अतः ***'कृपासंदोह'*** कहा। तथा कृपासन्दोह हैं, अतः भारी कृपा की। पुनः, भारी मोहके सम्बन्धसे यहाँ ***'अति भारी'*** विशेषण दिया। यह भी जनाया कि मोहसे जितना दुःख हुआ उससे कहीं अधिक सुख अब हो रहा है। वह ***'भारी'*** था, यह ***'अति भारी'*** है। [पं०—जिनका यह ऐश्वर्य है उन्होंने मुझपर कृपा की यह समझकर हर्ष हुआ।]

३—***'भगतबछलता प्रभु कै देखी।'*** इति। (क) प्रभुताका विचारना कहा, क्योंकि पूर्व देखी हुई वस्तुका विचार किया जाता है, भक्तवत्सलता अब देख रहे हैं, अतः ***'देखी'*** कहा। पुनः ऐश्वर्य सदा देखनेको नहीं मिलता, वह विचारकी वस्तु है, भक्तवत्सलता व्यवहारमें क्षण-क्षण देखी जाती है, अतः उसका विचारना कहा और इसका देखना। (ख) सिरपर हाथ फेरना, मोहविकारका नाश करना भक्तवत्सलता है। (ग) ***'प्रीति बिसेषी'*** का स्वरूप आगे दिखाते हैं, ***'सजल नयन……।'***

दो०—सुनि सप्रेम मम बानी देखि दीन निज दास।
बचन सुखद गंभीर मृदु बोले रमानिवास॥
काकभसुंडि माँगु बर अति प्रसन्न मोहि जानि।
अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुखखानि॥ ८३॥

अर्थ—मेरी प्रेमयुक्त वाणी सुनकर और अपने दासको दीन देखकर रमापति रामचन्द्रजी सुख देनेवाले, गम्भीर और कोमल वचन बोले। हे कागभुशुण्डि! मुझे अत्यन्त प्रसन्न जानकर वर माँग। अणिमादिक अष्टसिद्धियाँ और ऋद्धियाँ तथा सब सुखोंकी खानि मोक्ष॥ ८३॥

नोट—१ (क) ***'देखि दीन निज दास'*** का दूसरा अर्थ—'मुझे दीन और निज दास देखकर'। (ख) वाणी प्रेमाकुल हृदयसे निकली है, यथा—***'प्रेमाकुल प्रभु मोहि बिलोकी'***, अतः ***'सप्रेम'*** विशेषण दिया। वचन कानोंका विषय है, अतः उसका सुनना कहा, दशा नेत्रोंसे देखी, अतः दीन-दशाका देखना कहा। इतना चक्कर खानेपर भी कहीं शरण न गये, अपने ही स्वामीसे रक्षा चाही; अतः ***'देखि निज दास'*** कहा। ***'धरनि परेउँ मुख आव न बाता'*** और ***'त्राहि त्राहि' 'आरत जनत्राता'*** यह दीनता देखी। यथा—***'त्राहि त्राहि आरतिहरन सरन सुखद रघुबीर।'*** (सुं० ४५) ***'अस कहि करत दंडवत देखा।……दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा', 'दीन देखि रघुपति मन भाएउँ।'*** (६। ६३। ६) (ग) ***'बचन सुखद गंभीर मृदु'*** इति। श्रवणको सुखदायक होनेसे ***'सुखद'*** और गूढ़ होनेसे गम्भीर कहा, यथा—***'गगन गिरा गंभीर भइ हरनि सोक संदेह।'*** (१। १८६) ***'मृदु'*** अर्थात् वाणीके शब्द कोमल थे, मीठे थे, कानोंको कर्कश और मनको लगनेवाले न थे। यथा—***'श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा।'*** (घ) ***'अति प्रसन्न मोहि जानि', 'बर माँगु', 'आजु देउँ सब संसय नाहीं', 'माँगु जो तोहि भाव मन माहीं'*** ये श्रवणसुखद हैं। ***'अनिमादिक सिधि अपर रिधि……'*** से ***'आजु देउँ सब'*** तक और ***'माँगु जो तोहि भाव मन माहीं'*** गम्भीर हैं। मृदु सभी हैं। ***'अनिमादिक—'*** इत्यादि भी श्रवणसुखद हैं; पर इनसे भुशुण्डिजीको सुख नहीं हुआ जैसा आगे स्पष्ट है। इन वचनोंकी गम्भीरता उनके विचारसे सिद्ध है। [***'अति प्रसन्न जानि'*** यह मृदु है और ***'बर माँगु'*** यह गम्भीर है, इनमें 'पूर्ण भक्ति माँग' यह गुप्त है। (वै०) प्रसन्न जानकर वर माँगा जाता है, यथा—***'प्रभुहि तथापि प्रसन्न बिलोकी। माँगि अगम बर होउँ बिसोकी॥'*** अतः कहते हैं कि हमको अति प्रसन्न जानकर वर माँगो। रा० शं० श०]

२ (क) 'अणिमादिक' कहकर अणिमासे प्रारम्भ होनेवाली अष्टसिद्धियाँ सूचित कीं। अन्य सिद्धियाँ भक्तोंके कामकी नहीं होतीं, अतः उनको न कहा। *'अपर रिधि'*—ऋद्धिसे 'निधि' जानिये, दोनों पर्याय हैं। निधि—२। १३५ में देखिये। (ख) *'मोच्छ सकल 'सुखखानि'* कहकर मोक्ष माँगनेकी वस्तु जनायी, उसका लोभ दिखाया। इसमें गम्भीरता यह है कि देखें यह इसीमें लुभा जाता है या कि मेरा सच्चा भक्त है, मेरा भक्त होगा, चतुर होगा, धीर होगा तो मोक्षका लोभ न करेगा। वचनसे चलायमान न होगा, यथा—*'अस बिचारि हरिभगत सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥'* (११९। ७), *'रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। माँगेहु भगति मोहि अति भाई॥'* (८५। ५), *'माँगहु बर बहु भाँति लोभाए। परम धीर नहिं चलहिं चलाए॥'* (मनु-शतरूपा १। १४५। ३) पुनः, *'सकल'* अर्थात् मोक्ष, ऋद्धि, सिद्धि ये सब सुखखानि हैं। यथा—*'भगति हीन गुन सब सुख कैसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥'* (८४। ५)

ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना। मुनि* दुर्लभ गुन जे जग जाना॥ १॥
आजु देउँ सब† संसय नाहीं। माँगु जो तोहि भाव मन माहीं॥ २॥
सुनि प्रभु बचन अधिक अनुरागेउँ। मन अनुमान करन तब लागेउँ॥ ३॥
प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही॥ ४॥

अर्थ—ज्ञान, विवेक, वैराग्य, विज्ञान और अन्य अनेक गुण जो संसारमें मुनियोंको भी दुर्लभ हैं॥ १॥ यह सब आज मैं दूँगा, इसमें सन्देह नहीं। जो तेरे मनको भावे सो माँग ले॥ २॥ प्रभुके वचन सुनकर विशेष अनुराग हुआ। तब मैं मनमें विचार करने लगा कि॥ ३॥ प्रभुने मुझे सब सुख देनेको कहा सही, पर अपनी भक्ति देनेकी (बात) न कही॥ ४॥

नोट—१ 'ज्ञान, विवेक और विज्ञान' इति। भगवान् (भा० ११। १९ में) उद्धवजीसे ज्ञान-विज्ञान-वैराग्यादिके भेद यों कहे हैं—'**नवैकादश पञ्च त्रीन्भावान्भूतेषु येन वै। ईक्षेताथैकमप्येषु तज्ज्ञानं मम निश्चितम्॥ १४॥ एतदेव हि विज्ञानं न तथैकेन येन यत्। स्थित्युत्पत्त्यप्ययान्पश्येद्भावानां त्रिगुणात्मनाम्॥ १५॥ कर्मणां परिणामित्वादाविरिञ्चादमङ्गलम्। विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत्॥ १८॥ धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम्। गुणेष्वसङ्गो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः॥**' (२७) अर्थात् जिसके द्वारा समस्त प्राणियोंमें (पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रारूप) नौ (तत्त्व), (मनसहित दसों इन्द्रियाँ) ग्यारह, पाँच (महाभूत) और तीन गुण (सत्त्व, रज, तम) ये अट्ठाईसों तत्त्व प्रत्यक्ष अनुगत जान पड़ें और इन तत्त्वोंमें अधिष्ठानरूपसे एक आत्मतत्त्वका साक्षात्कार किया जाता है, वही मेरा निश्चित ज्ञान है। अर्थात् वह ज्ञान कहा जाता है (श्लोक १४) जब जिससे एकके अनुगत अनेक भावोंको न देखकर उस एक ही आत्मतत्त्वका निरन्तर अपरोक्ष अनुभव होता रहता है और उसके अतिरिक्त त्रिगुणमय भावोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय आदि दिखलायी नहीं पड़ते उसे विज्ञान कहते हैं (श्लोक १५) कर्मोंके परिणामी होनेसे ब्रह्मलोकपर्यन्ततक सब अमङ्गलरूप हैं। भाव कि कर्म जीवके द्वारा किये हुए प्रयत्नविशेष हैं, इसलिये विकारी हैं, नश्वर हैं। अतएव उनके फलस्वरूप ब्रह्मलोकपर्यन्त सब अदृष्ट सुख भी क्षणभङ्गुर एवं दुःखरूप ही हैं। ऐसा विचार अदृष्ट फलोंमें ऐसी दृष्टि रहना वैराग्य है। गुणोंमें अनासक्ति वैराग्य है।

वैराग्य चार प्रकारका है—(१) यतमान (विषयोंको पूर्ण रीतिसे न त्याग सकनेपर भी उनके मिलनेका आग्रह छोड़ देना)। (२) व्यतिरेक (किसी-किसी विषयको छोड़ देना जैसे बिना लोनके दाल खा लेना)। (३) एकेन्द्रिय (प्रवृत्ति रहनेपर भी मनमें विषयोंके अनुरागकी शिथिलता होनेके कारण केवल बाह्येन्द्रियोंसे ही विषय-सेवन करना)। (४) वशीकृत (बाह्येन्द्रियोंसे भी विषय-सेवनमें उदासीनता) यथा—'**वैराग्यमाद्यं यतमानसंज्ञं क्वचिद्विरागो व्यतिरेकसंज्ञम्। एकेन्द्रियाख्यं हृदि रागसौक्ष्म्यं तस्याप्यभावस्तु वशीकृताख्यम्॥**'—(शुकोक्तिसुधासागरसे)।

---

* सुर—रा० गु० द्वि०, पां०। मुनि—भा० दा०, का०। † तव—का०

२ (क) *'आजु देउँ'* अति प्रसन्नता सूचित करता है। यथा—*'परम प्रसन्न जानु मुनि मोही। जो बर माँगहुँ देहुँ सो तोही॥'* (३। ११। २३), *'बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि। माँगहु बर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि॥'* (१। १४८) प्रभु जिसे देते हैं, उसे तत्काल ही देते हैं, यथा—*'तो कहँ आजु सुलभ भइ सोई।'* (शबरीजी) (ख) *'माँगु जो तोहि भाव मन माहीं'* में गम्भीरता यह है कि तेरे मनको ये न भावेंगे, पर तुझे जो भाता है वह माँग तभी मैं दूँगा। इसीपर भुशुण्डिजी आगे कहते हैं कि *'मन भावत बर माँगउँ स्वामी।'* इस सम्बन्धसे *'आजु देउँ सब संसय नाहीं'* का ध्वनिसे यह अर्थ निकलता है कि उनके देनेमें सन्देह नहीं है पर भक्ति (बिना माँगे) देनेमें सन्देह है। माँगनेपर देनेमें सन्देह नहीं करते। श्रीसुतीक्ष्णजीको भी माँगनेपर ही दिया था। भेद दोनोंमें इतनामात्र है कि सुतीक्ष्णजीने प्रभुसे अन्य सब पानेपर भक्ति माँगी और इन्होंने अन्य सबका तिरस्कार करते हुए भक्ति माँगी। दोनों ही *'निज दास'* हैं, पर भुशुण्डिजी अधिक अनन्य देख पड़ते हैं।

३ *'सुनि प्रभु बचन अधिक अनुरागेउँ......'* इति। भाव कि विशेष प्रेम तो पूर्व ही था—*'भगतबछलता प्रभु कै देखी। उपजी मम उर प्रीति बिसेषी॥'* अब अपने ऊपर प्रभुकी रीझ देख और अधिक हो गया इसीसे भक्तिसे उन सब सुखोंकी तुलना करने लगा। **सही**=सत्य ही, निश्चय। जो प्रभुने कहा था कि *'आजु देउँ सब संसय नाहीं'* उसीकी पुष्टि 'सही' शब्दसे कर रहे हैं।

भगतिहीन गुन सब सुख कैसे*। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥५॥
भजनहीन सुख कवने काजा। अस बिचारि बोलेउँ खगराजा॥६॥

शब्दार्थ—**बिंजन (व्यंजन)**=भोजनके पदार्थ। **लवन (लवण)**=लोन, नमक।

अर्थ—भक्तिरहित सर्वगुण एवं सब सुख कैसे हैं, जैसे लोन बिना बहुत-से भोजनके पदार्थ हों। अर्थात् फीके वा मीठे हैं॥ ५॥ भक्तिहीन सुख किस कामके? ऐसा विचारकर, हे खगराज! मैं बोला॥ ६॥

नोट—१ प्रभुने दो चीजें देनेको कहीं—एक तो सुख, दूसरे गुण, यथा—*'अनिमादिक सिधि अपर रिधि मोच्छ सकल सुख खानि', 'मुनि दुर्लभ गुन जे जग जाना।'* अतः भुशुण्डिजीका इन दोनोंपर विचार करना कहा—*'भगतिहीन गुन सब सुख कैसे।'* प्रथम प्रभुने अणिमादिक समस्त सुखोंको कहा तब गुणोंको, अतः यहाँ भी वही क्रम रखा, यथा—*'प्रभु कह देन सकल सुख सही।', 'भगति हीन गुन सब......।'* फिर दोनोंको एकसे सीठे दिखानेके लिये दोनोंको एक साथ कहा।

२—*'भजनहीन सुख कवने काजा'* का भाव कि बिना भक्तिके सुख स्थिर नहीं रह सकता, अतः वह व्यर्थ है, यथा—*'तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई॥'* (११९। ६), *'रामबिमुख संपति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई॥'* (५। २३। ५) भजनसे ये आप-से-आप आ जाते हैं, यथा—*'अनइच्छित आवै बरिआई।'*

वि० त्रि०—*'भजनहीन......खगराजा।'* भजनमें ही सुख विशेष है, जो उस सुखसे अपरिचित है, वही दूसरे सुखकी ओर दौड़ता है। बिना भजनके जियकी जरनि नहीं जाती। जब जलन बनी है, तब सब सुख लेकर क्या होगा, विश्राम तो मिलेगा नहीं, अतः भुशुण्डिजीने कहा कि मैंने ज्ञान-विराग, ऋद्धि-सिद्धि आदि सभी सुखोंको (बिना भजनके) अकिंचित्कर माना।

जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू। मो पर करहु कृपा अरु नेहू॥७॥
मनभावत बर मागउँ स्वामी। तुम्ह उदार उर अंतरजामी॥८॥

अर्थ—हे प्रभो! यदि आप प्रसन्न होकर वर देते हैं और मुझपर कृपा और स्नेह करते हैं (तो) हे स्वामिन्! मैं अपने मनको भानेवाला वर माँगता हूँ। आप उदार और हृदयके भीतरकी जाननेवाले हैं॥ ७-८॥

---

* कैसे—रा० गु० द्वि०। ऐसे—भा० दा०, छ०, का०। उदाहरण अलङ्कार।

नोट—१ प्रभुने कहा था कि *'माँगु बर' 'अति प्रसन्न मोहि जानि'* और *'आजु देउँ'*; अतः माँगनेके समय भुशुण्डिजीने इन्हीं शब्दोंको प्रथम पकड़ा—*'जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू।'* बार-बार वर माँगने और वर देनेको एवं मनभावत वर माँगनेको कहना, यह प्रसन्नता, कृपा और स्नेह सूचित करता है। यथा—*'बोले कृपानिधान पुनि अति प्रसन्न मोहि जानि। मागहु बर जोइ भाव मन......'॥* (१। १४८) किसीका मत है कि दीनता देखकर रक्षा करना कृपा है और अपनायत जानकर जो करुणा की जाय वह स्नेह है।

२ *'जौं'* का भाव कि यदि प्रसन्नता, कृपा और प्रेम है तो जो मैं माँगता हूँ वह आप अवश्य देंगे। जिसपर भगवान् अति प्रसन्न होते तथा दया और छोह करते हैं उसीको 'भक्ति' देते हैं, दूसरेको नहीं, पर माँगनेपर ही देते हैं। यथा—(१) *'कपि उठाइ प्रभु हृदय लगावा। कर गहि परम निकट बैठावा॥ प्रभु प्रसन्न जाना हनुमाना। बोला बचन (बिगत अभिमाना)॥'* (५। ३३। ४। ६)*.........'नाथ भगति अति सुखदायिनी। देहु कृपा करि अनपायनी॥ सुनि प्रभु परम सरल कपि बानी। एवमस्तु तब कहेउ भवानी॥'* (५। ३४। २) (२) *'परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम। प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहिं श्रीराम॥'* (३४) *'देहु भगति रघुपति अति पावनि।......होइ प्रसन्न दीजै प्रभु यह बरु।'* (श्रीसनकादिजी)

३ (क) *'मन भावत बर मागउँ स्वामी'* यह प्रभुके *'माँगु जो तोहि भाव मन माहीं'* का उत्तर है। भाव यह कि जो आपने गिनाये वह मेरे 'मनभावन' नहीं हैं। जो मनको भाता है वह यह है जो मैं माँगनेको हूँ। (ख) *'उदार उर अंतरजामी'* इति। वर माँगते हैं, प्रभु देनेको कह चुके हैं। भुशुण्डिजी मनुजी और नारदजीके प्रसंगोंसे उदारता जनाते हैं। वहाँ श्रीमुखवचन है कि *'महादानि अनुमानि'*, *'जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे'*, अतः *'उदार'* विशेषण दिया। पुनः, यह शब्द साभिप्राय है। जो उदार होगा वही प्यारी वस्तु दे सकेगा, दूसरा नहीं। भक्ति श्रीरघुनाथजीको प्रिय है, यथा—*'पुनि रघुबीरहि भगति पिआरी।'* (११६। ४) [पात्रापात्रका विचार न करके देना उदारता है—'पात्रापात्रविवेकेन देशकालाद्युपेक्षणात्। वदान्यत्वं विदुवदा औदार्य्यवचसा हरे॥' इति भगवद्गुणदर्पणे (वै०)। *'उर अंतरजामी'* का भाव कि आप हृदयका भाव जानते हैं—*'सब के उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।'* (२। २५७) आपसे कहना ही क्या। पर आप कहलाकर देना चाहते हैं—*'माँगु जो भाव'*, बिना माँगे नहीं देते; अतः मैं माँगता हूँ।]

रा० शं०—इन चौपाइयोंसे मिलते हुए वचन पार्वतीजीके हैं—

श्रीपार्वतीजी		कागजी
जौं मोपर प्रसन्न सुखरासी।		*जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू।*
जानिय सत्य मोहि निज दासी॥' (१। १०८)	(१)	*मोपर करहु कृपा अरु नेहू॥*
तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। ,,	(२)	*मन भावत बर मागउँ स्वामी।*
'जासु भवन सुरतरु तर' 'सर्बज्ञ शिव' ,,	(३)	*'तुम उदार उर अंतरजामी'*

दो०—अबिरल भगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव।
जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥
भगत कल्पतरु प्रनतहित कृपासिंधु सुखधाम।
सोइ निज भगति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥८४॥

अर्थ—हे भक्तोंके कल्पवृक्ष! हे शरणागतहितकारी! हे दयासागर! हे सुखके निवासस्थान! हे प्रभो श्रीरामचन्द्रजी! मुझे दया करके वही अपनी निज भक्ति दीजिये। जिस आपकी अविरल विशुद्ध भक्तिको श्रुति और पुराण गाते हैं, जिसे योगीश्वर मुनि ढूँढ़ते हैं और जिसे आपकी कृपासे ही कोई पाता है (अर्थात् यह सब गुण जिसमें हैं वह भक्ति दीजिये)॥ ८४॥

खर्रा—*'अबिरल......पाव'* इति। यहाँ अनेक निदर्शनों, दृष्टान्तोंका यही फल है कि हमारे माँगनेमें वस्त्वन्तरका लेश न पड़े।—१ 'अविरलभक्ति' (निर्भर परिपूर्ण तैलधारावत् सदा एकरस बनी रहनेवाली अचल भक्ति),

यह 'वस्तु-नाम-निदर्शन' २ 'विशुद्ध' (अव्यभिचारिणी) यह गुणनिदर्शन। ३ *'जेहि खोजत'* यह 'सकल शिष्ट पुरुषोंद्वारा जो परिगृहीत है' उसका निदर्शन। ४ 'श्रुति-पुराण' यह प्रमाण निदर्शन है। ५ 'प्रभुप्रसाद यह उपायसे असाध्य केवल रामकृपासे साध्य' का निदर्शन है।

नोट—१ (क) *'खोजत'* कहकर *'कोउ पाव'* कहनेका भाव कि योगीश्वर मुनि उसके लालायित रहते हैं। इसीसे दिन-रात भक्तिकी खोजमें, मिलनेके उपायमें रहते हैं, तब भी वह नहीं मिलती। यह भक्तिकी अत्यन्त दुष्प्राप्यता और उत्कृष्टता दिखायी। (ख) *'प्रभु प्रसाद कोउ पाव'* का भाव कि ऐसों-ऐसोंको भी बिना कृपाके नहीं मिलती और कृपा कहीं किसी एकपर हो गयी तो हो गयी, सब योगीश्वरों या मुनियोंपर नहीं होती; अतः *'कोउ पाव'* कहा। किसी-किसीको मिलती है, यथा—*'कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी। कोउ एक पाव भगति जिमि मोरी॥'* (४। १६। १०) विशेष—*'नर सहस्त्र महँ सुनहु पुरारी।—सब ते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगति रत गत मद माया॥'* (५४। १—७) तथा (४। १६। १०) में देखिये।

२—(क) *'भगत कल्पतरु', 'प्रनतहित', 'कृपासिंधु', 'सुखधाम'* ये सब विशेषण पूर्वके *'उदार'* विशेषणके अनुकूल हैं। इन सबोंको देखकर भक्तिको अत्यन्त दुष्प्राप्य जनाया। विशेषणोंके भाव और उदाहरण—

भाव	उदाहरण
'आप भक्तकल्पतरु हैं, आपका मैं निज दास हूँ	१ *देखि दीन निज दास*
आप प्रणतहित हैं, मैं प्रणत हूँ	२ *धरनि परेउ—त्राहि त्राहि आरत जनत्राता*
आप कृपासिन्धु हैं, मैं कृपाका पात्र दीन हूँ	३ *'तू दयालु दीन हौं' 'देखि दीन—'*
आप सुखधाम हैं, मैं दुःखी और श्रमित हूँ	४ *'भयउँ श्रमित मन मोह—', 'तुम्ह सुख—'* *श्रमभजन हौं अति दुखित त्रिबिधि श्रम—'*

पुनः, (ख) कल्पतरुका भाव कि कल्पवृक्षके तले जो कोई जाकर कुछ भी मनोरथ मनमें करता है वह तुरंत पूरा होता है (मनोरथ करनेभरकी देर होती है) तथा सब सोच भी शमन हो जाते हैं, यथा—*'जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समन सब सोच। माँगत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच॥'* (अ० २६७) वैसे ही आप भक्तोंके कल्पतरु हैं। वह तरु देवताओंका है और आप भक्तोंके हैं। आपके पास भक्त जो मनोरथ करे वह तुरंत पूर्ण होता है। पुनः भाव कि उससे जितना चाहे ले, उसके पास देनेसे कभी घटता नहीं है। (रा० प्र०) *'प्रनतहित'* का भाव कि शरणागतका हित आप अवश्य करते हैं। भक्तिसे उसका हित होता है। मैं प्रणत हूँ, भक्ति देकर मेरा हित कीजिये। (ग) कल्पतरु कहकर प्रणतहित कथनका भाव कि देवकल्पतरु हित-अनहित दोनों देता है पर आप भक्तको हितकर पदार्थ देते हैं, अहितकर नहीं देते, यथा—*'जेहि बिधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार। सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार॥'* (१। १३२) *'कुपथ माँग रुज ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥ एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ।'*

३ *'सोइ निज भगति—'* इति। (क) *'सोइ निज भगति'* से जनाया कि भक्ति अनेक प्रकारकी होती है, वे भक्तियाँ मैं नहीं चाहता, मैं तो आपकी जो खास भक्ति है सच्ची भक्ति है, उसे चाहता हूँ। पुनः *'सोइ निज भगति'* से जनाया कि उपर्युक्त 'अविरल विशुद्ध भक्ति' ही श्रीरामजीकी 'निज भक्ति' है। यही असंख्योंमें किसी एकको होती है। (ख) *'प्रभु देहु'*—भाव कि आप देनेको समर्थ हैं। आपका वचन अन्यथा नहीं होता। आपने मनभावत वर देनेको कहा है और आप दे सकते हैं। यथा—*'मोरें नहिं अदेय कछु तोही।'* (१। १४९। ८) श्रीशतरूपाजीने भी प्रभुके *'देबि माँगु बरु जो रुचि तोरें'* इन वाक्योंपर प्रभुने सम्बोधन करते हुए जो कहा था कि *'कहा जो प्रभु प्रवान पुनि सोई।'* (१। १५०। ७) *'—सोइ रहनि प्रभु हमहिं कृपा करि देहु।'* (१५०) वह सब भाव *'प्रभु'* शब्दमें हैं। (ग) *'दया करि'* का भाव कि यह निज भक्ति आपकी प्रसन्नता और कृपासे ही मिलती है। यही बात ऊपर *'प्रभु प्रसाद कोउ पाव'* में कह ही चुके हैं, अतः *'दया करि'* देनेको कहा। पुनः भाव कि योगीश्वर और मुनीश्वर तो अनेक प्रयत्न करते हैं तब

कहीं आप प्रसन्न होकर देते हैं, पर मैंने तो कोई प्रयत्न नहीं किया, न कर सकता हूँ, आप जैसे अपनी अहैतुकी कृपासे स्वयं प्रसन्न हो गये हैं, वैसे ही उसी अहैतुकी कृपासे दीजिये। (घ) प्रभु कहकर भी *'राम'* कहनेका भाव कि आप आनन्दसिंधु सुखराशि हैं, अतः मुझे भी निज भक्ति देकर आनन्दित कीजिये।

श्रीरामगीता (भुशुण्डिप्रति)

एवमस्तु कहि रघुकुलनायक। बोले बचन परम सुखदायक॥ १॥
सुनु बायस तइँ सहज सयाना। काहे न माँगसि अस बरदाना॥ २॥
सब सुख खानि भगति तैं मागी। नहिं जग कोउ तोहि सम बड़भागी॥ ३॥

अर्थ—'ऐसा ही हो' अर्थात् यह सब तुमको प्राप्त हो, ऐसा कहकर रघुकुलमें शिरोमणि तथा उसके स्वामी परम सुख देनेवाले वचन बोले॥ १॥ हे काक! सुन, तू स्वभावसे ही चतुर है। ऐसा वरदान कैसे न माँगता? (अर्थात् ऐसा वर माँगना तेरे योग्य ही है)॥ २॥ सब सुखोंकी खानि भक्ति तूने माँगी। संसारमें तेरे समान कोई बड़भागी नहीं है॥ ३॥

नोट—१ (क) *'एवमस्तु'* के साथ *'रघुकुलनायक'* कहनेका भाव कि रघुवंशी सब उदार और वचनके धनी होते आये हैं; यथा—*'मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं।'* (१। २३१), *'प्रान जाहु बरु बचन न जाई।'* (२। २८) और आप उसके राजा हैं अतः यह *'एवमस्तु'* कहना योग्य ही है। (ख) *'परम सुखदायक'* का भाव कि पूर्वके वचन सुखदायक थे, यथा—*'बचन सुखद गंभीर मृदु ……'* और ये परम सुखदायक हैं। परम सुखद होनेके कई कारण आगे स्पष्ट हैं—(१) जो माँगा वही यथार्थ माँगनेकी वस्तु निकली, अपना अनुमान ठीक निकला। (२) प्रभुने *'बड़भागी'*, *'परम सयाना'* कहकर बुद्धिकी प्रशंसा की। (३) जो प्रथम गिनाकर माँगनेको कहा वह सब भी प्रभु दे रहे हैं और उससे अधिक अपनी भक्ति भी दी। (४) सदाके लिये मायासे रहित कर दिया इत्यादि।

२—*'सहज सयाना'* और *'बड़भागी'* कहकर जनाया कि—(क) भक्तिकी चाह करनेवाला ही चतुर और बड़भागी है, दूसरा नहीं। यथा—*'परिहरि सकल भरोस रामहि भजहिं ते चतुर नर।'* (आ० ६), *'रामभगति मनि उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहु ताके॥ चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥'* (१२०। १९-२०), *'सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी॥'* (४। २३। ७) (ख) मोक्षादिका इच्छुक भाग्यवान् है और भक्ति चाहनेवाला बड़ा भाग्यवान् है।

३—*'सब सुख खानि'* इति। चारों मोक्षोंको *'सकल सुख खानि'* कहकर अब भक्तिको *'सब सुख खानि'* कहनेका भाव कि 'वस्तुतः मोक्षको *'सकल सुख खानि'* कहनेमें गम्भीर आशय था कि इस लोभसे मोक्ष माँग लें; वस्तुतः भक्ति ही *'सब सुख खानि'* है। भक्ति अधिक है क्योंकि इससे मोक्ष स्वयं ही *'अनइच्छित बरियाई'* आ प्राप्त हो जाता है।

जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं। जे जप जोग अनल तन दहहीं॥ ४॥
रीझेउँ देखि तोरि चतुराई। मागेहु भगति मोहि अति भाई॥ ५॥

अर्थ—जिसे वे मुनि भी करोड़ों उपाय करके भी नहीं प्राप्त कर पाते जो जप, योग और अग्नि एवं योगाग्निसे शरीरको जला डालते हैं॥ ४॥ तेरी चतुरता देखकर मैं रीझ गया। तूने भक्ति माँगी जो मुझे अत्यन्त प्रिय है एवं तूने भक्ति माँगी यह चतुरता मुझे अत्यन्त प्रिय लगी॥ ५॥

नोट—१ *'जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं ……।'* से योगादि साधनोंद्वारा अप्राप्य दिखाकर *'मागेहु भगति मोहि अति भाई'* से भक्तको बिना यत्न प्रभुकी कृपासे सुलभ दिखाया। २—*'चतुराई'* में भाव कि हमारे भुलावा देनेमें, प्रलोभनमें तू न भुला। ३—*'मोहि अति भाई'* का भाव कि योग, यज्ञ, ज्ञानादि सब 'भाते' हैं और भक्ति *'अति'* भाती है। आगे प्रभु स्वयं इसीको विस्तारसे कह रहे हैं। ४—*'जोग अनल तन दहहीं'*, अर्थात् पंचाग्नि तापते

हैं, तथा योगाग्निसे शरीर जलाते हैं, यथा—*'तपसानल में जुग पुंज जरै।'* (क० ७। ५५), *'जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ। बुद्धि सिरावइ ज्ञानघृत····॥'* (११७)

सुनु बिहंग प्रसाद अब मोरे। सब सुभ गुन बसिहहिं उर तोरे॥ ६॥
भगति ज्ञान बिज्ञान बिरागा। जोग चरित्र रहस्य बिभागा॥ ७॥
जानब तैं सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा॥ ८॥

शब्दार्थ—**विभाग**=किसी वस्तुके बहुत-से भाग पृथक्-पृथक्।

अर्थ—हे पक्षी! सुन, अब मेरी कृपासे सब शुभ गुण तेरे हृदयमें बसेंगे॥ ६॥ भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य, योग, चरित्र, चरित्रोंके रहस्य एवं रहस्य (गोप्य चरित्र), पृथक्-पृथक् एवं इन सबके जो बहुत-से भाग हैं—इन सबका भेद तू मेरी प्रसन्नतासे जानेगा, तुझे साधन (करके जानने) का कष्ट न होगा अर्थात् ये सब सहज ही प्राप्त हो जायँगे॥ ७-८॥

पं० वि० त्रि०—*'सुनु बिहंग—तोरे'* इति। भक्तिका वरदान देते ही सरकारने कृपा की। यथा—*'भजत कृपा करिहैं रघुराई'* जिन सुखोंका भुशुण्डिजीने प्रत्याख्यान किया था, उन सबको भी तथा अन्य महत्तर सुखोंको भी जो कि देवता और मुनियोंको दुर्लभ है, कागको दे डाला। अर्थात् भक्तिके हो जानेपर ऐसा कोई सद्गुण या ऐसा कोई सुख है ही नहीं जिसकी प्राप्ति न हो।

नोट— १ भक्ति-ज्ञानादिके विभाग।—भक्ति नवधा प्रकारकी है। इस नवधामें भी एक-एकके अनेक भाग और भेद हैं। नवधा भी कई प्रकारसे कही गयी है। देखिये शबरीजीको और लक्ष्मणजीको जो उपदेश की गयी है। पुनः, वाल्मीकिजीने १४ प्रकारकी भक्ति कही है। नवधाके पश्चात् दशधा प्रेमा और परा भक्तियाँ हैं। इनके अतिरिक्त पुरजनको भक्तिका उपदेश दूसरे ही प्रकारका है। फिर भी भक्तिके प्रकारका अन्त नहीं। भक्त-भक्तकी भावना पृथक्-पृथक् देखी जाती है। प्रयोजन तथा अधिकारी-भेदसे भक्तिके अनेक विधान हैं। बालकाण्ड ३७ (१३) *'भगति निरूपन बिबिध बिधाना'* देखिये। ज्ञान भी कई प्रकारका होता है—वस्तुज्ञान, देशज्ञान, कालज्ञान, शास्त्रज्ञान, अनुभवज्ञान इत्यादि। योगके अष्ट अङ्ग हैं। अङ्गोंके भी भेद हैं, जिससे योगशास्त्र ही एक पृथक् शास्त्र बन गया। चरित्रके अनेक भेद कल्पभेदसे तथा जन्म, बाल, पौगंड, कुमार, किशोरादि अवस्थाओंके भेदसे, वन, युद्ध राज्यादिके चरित्र, रसके भेदसे १२ प्रकारके चरित्र इत्यादि। रहस्य भी अनेक प्रकारके हैं, यथा—*'औरौ रामरहस्य अनेका। कहहु नाथ अति बिमल बिबेका॥'* (१। १११। ३) जैसे कि *'मासदिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ'*, चित्रकूटमें गुप्त रहस्य, खर-दूषणवध-रहस्य कि सब एक-दूसरेको रामरूप ही देखते थे, सीताजीकी सब सासुओंकी सेवा, चित्रकूटमें रघुनाथजीका क्षणमात्रमें सब पुरवासियोंसे मिलना, सब वानरोंसे किष्किन्धामें कुशल पूछना इत्यादि। फिर और भी श्रीसीताहरण-रहस्य, बालिवध-रहस्य, सीतात्याग-रहस्य, नागपाश-रहस्य, मायासीताहरण-रहस्य इत्यादि, अनेक प्रकारके रहस्य हैं।* विशेष १। १११। ३ में देखिये।

☞ २—प्रभुकी *'अति प्रसन्नता'* और 'रीझ' का चरितार्थ यहाँ है कि माँगा सो दिया और अपनी ओरसे बहुत कुछ देते चले जाते हैं—[रा० शं०—रीझके कारण *'प्रसाद'* पद दिया—'प्रसादस्तु प्रसन्नता'] † *'नहिं*

* १ पं०—'योग चरित्र रहस्य बिभागा'=योगके चरित्ररहस्य और विभाग चरित्र अर्थात् परकायाप्रवेशादिक। रहस्य=समाधि। विभाग अर्थात् पञ्चभूतोंकी धारणादिक शक्ति। २—रा० प्र०—योगचरित्र=योगचर्या वा योग और देवता-ऋषियों आदिके चरित्रोंके रहस्य, वेदशास्त्रके विभागोंका निर्णय।

† रा० शं०—इसी प्रकार श्रीजानकीजीने हनुमान्‌जीको वर दिया, यथा—'सुनु सुत सदगुन सकल तव हृदय बसहु हनुमंत। सानुकूल कोसलपति रहहु समेत अनंत॥ अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥' भेद यह है कि रघुनाथजीने भक्ति माँगनेके कारण पहिले भक्ति दी तब गुण और श्रीहनुमान्‌जीने कुछ माँगा नहीं, श्रीजानकीजी उनकी रुचि देखते-देखते उत्तमोत्तम वर देती गयीं।

साधन खेदा' ऐसा ही लोमशवचन है। यथा—*'बिनु श्रम तुम्ह सब जानब सोऊ।'* (११४। ३) वही भाव यहाँ है। बिना किसी साधनके स्वतः इनकी जानकारी हो जायगी।

रा० शं०—रामजीने जो वर दिया वह उनको प्राप्त हो गया यह उनके ज्ञानदीपक, भक्तिनिरूपण, ज्ञान-भक्ति-भेद-निरूपणसे प्रकट है। *'ज्ञान बिराग जोग बिज्ञाना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥'* इस प्रसङ्गमें वरदानानुसार सबकी जानकारी सूचित कर दी, आगे रहस्य भी है, यथा—*'यह रहस्य रघुनाथ कर।'* साधन-खेद जो ज्ञानदीपकमें कहा है।

दो०—मायासंभव भ्रम सकल* अब न ब्यापिहहिं तोहि।
जानेसु ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर मोहि॥
मोहि भगत† प्रिय संतत अस बिचारि सुनु काग।
काय बचन मन मम पद करेसु अचल अनुराग॥८५॥

अर्थ—मायासे उत्पन्न सभी भ्रम अब तुझको न व्यापेंगे। मुझे अनादि, अजन्मा, मायिक गुणोंसे रहित और दिव्य गुणोंकी खानि ब्रह्म जानना।‡ हे काक! सुन। मुझे भक्त सदैव प्रिय है, ऐसा विचार कर तन, वचन और मनसे मेरे चरणोंमें अटल प्रेम करना॥ ८५॥

खर्रा—*'जानेसु ब्रह्म अनादि......'* अर्थात् यावत् परत्ववाचक शब्द हैं उन सबका वाच्य मुझको ही जानना।

नोट—१ *'मायासंभव भ्रम सकल'* इति। (क) *'सकल भ्रम'* अर्थात् परस्वरूपमें भ्रम, स्वस्वरूपमें भ्रम, प्रकृतिमें भ्रम, मनुष्य जानना, चरितमें भ्रम होना इत्यादि। सब भ्रम मायासे उत्पन्न होते हैं। (ख) *'अब न ब्यापिहहिं'* का भाव कि पूर्व तुमको व्यापे थे, यथा—*'भ्रम ते चकित राम मोहि देखा।'* (७९। ४) अब आजसे आगे न व्यापेंगे, यथा—*'तब ते मोहि न ब्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया॥'* (८९। ३) ☞प्रभुने ऐसी ही कृपा श्रीनारदजी और श्रीकौसल्याजीपर की थी। नारदजीको मायाका बल दिखाकर उनका अभिमान छुड़ाकर उनपर कृपा की, यथा—*'अब न तुम्हहि माया नियराई।'* (१। १३८। ८) माताको ऐश्वर्य दिखाकर विराट्-दर्शन कराके फिर माया विगत कर दिया जैसा कि माताकी प्रार्थनासे स्पष्ट है, यथा—*'अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि।'* (१। २०२)

२—*'जानेसु ब्रह्म अनादि अज......।'* (क) 'माया न व्यापेगी' यह कहकर फिर *'जानेसु ब्रह्म अनादि'* कहनेका भाव कि यदि मुझे ऐसा जानते रहोगे तो माया न व्यापेगी। प्रभुको ऐसा जाननेसे मोह और सर्व पाप नष्ट हो जाते हैं। यथा—'**यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्। असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते**॥' (गीता १०। ३) जो मुझे सब लोकोंका परम ईश्वर तथा जन्म और आदिरहित जानता है वह मोहविरहित भक्त सब पापोंसे मुक्त होता है। (माया-मोहरहित होनेपर भी यह ज्ञान सदा बना रहना चाहिये तभी भक्तिकी उत्पत्ति तथा वृद्धि एवं दृढ़ताके विरोधी पापोंका नाश होगा, यह बात श्लोकके '**असम्मूढः**' शब्दसे सूचित होती है। वैसे ही यहाँ *'माया संभव......ब्यापिहहिं'* कहकर तब प्रभुके स्वरूपका जानना कहा गया।) मोह और भ्रम पर्याय हैं। अतः *'माया संभव भ्रम'* कहकर *'जानेसु ब्रह्म......'* कहा। (ख) *'अनादि अज'* कहकर जनाया कि सादि अज भी होते हैं। मुक्तात्मा पुरुष भी अज हैं पर उनका अजत्व आदिवाला है। उनका सम्बन्ध त्याज्य अचेतन पदार्थोंके साथ पहलेसे था, इसलिये उनके अजत्वको आदिमत कहना योग्य ही है। अतएव *'अनादि अज'* कहकर सूचित किया कि मुझ

---

* सकल—रा० गु० द्वि०। पं०। का०। भा० दा०।

† भगति—का०।

‡ १ 'मायया तव बन्धो न भविष्यति कदाचन। आश्रमे तव माया न प्रभावं स्वं करिष्यति॥' (२६। ७१) 'हृदये मम रूपं च निवसिष्यति ते सदा।' (सत्य०) २ पं०—अर्थ—'भ्रम न व्यापेंगे जिससे तू मेरे यथार्थ रूपका वेत्ता होगा।'

ब्रह्मका अजत्व मुक्तात्माओंके अजत्वकी अपेक्षा विलक्षण है। *'अज'* से विकारी अचेतन वस्तुमात्रकी अपेक्षा और उस अचेतन (जड़) वस्तु समुदायसे लिप्त सांसारिक जीवोंकी अपेक्षा भगवान्‌की विजातीयता बतलायी गयी है। क्योंकि संसारी जीवोंका कर्मजनित अचेतन संसर्गरूप जन्म होता है। (ग) *'अगुन गुनाकर'* इति। अगुण जानना अर्थात् मेरा स्वरूप समस्त त्याज्य अवगुणोंका सर्वथा विरोधी है, उन हेय गुणोंका मुझमें होना सर्वथा असम्भव है। ऐसा सदा स्मरण रखना, गुणाकर जानना अर्थात् समस्त त्याज्य वस्तुओंके विरोधी असीम, अतिशय, असंख्य कल्याण गुणगण मुझमें निरन्तर विराजमान रहते हैं।—इन सभी विशेषणोंके और भाव पूर्व आ चुके हैं। (घ)—यहाँ *'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥——'* के अनुसार क्रमसे कहा। *'जानेसु ब्रह्म——'* यह जाननेपर *'मोहि भगत प्रिय संतत अस बिचारि'* यह विश्वास और तब *'काय बचन—अनुराग'* यह प्रीति होगी।

३ *'मोहि भगत प्रिय——'* इति। (क) मुझे भक्त प्यारा है, यह कहकर *'काय बचन मन'* से अनुराग करना कहनेका भाव कि जो तन-मन-वचनसे मेरी भक्ति करता है वह भक्त मुझे सतत प्रिय है। भुशुण्डिजीकी तीनों प्रकारसे भक्ति पूर्व दिखायी जा चुकी है। तनसे कैंकर्यादि, वचनसे गुणगान, मनसे मानसपूजा। (ख)—*'अचल अनुराग'* अर्थात् कभी अनुराग घटने न पावे, यथा—*'चातकु रटनि घटें घटि जाई। बढ़े प्रेमु सब भाँति भलाई॥'* (२। २०५। ४)

तन-वचनकी भक्तिका विधान, यथा—*'मन समेत या तनु के बासिन्ह इहै सिखावन दैहौं। श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं॥ रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं सीस ईस ही नैहौं। नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं॥'* (वि० १०४)

मनकी भक्तिका विधान, यथा—*'पायो नाम चारु चिंतामनि उर कर ते न खसैहौं। स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं॥ परबस जानि हँस्यो इन्ह इंद्रिन्ह निज बस होइ न हँसैहौं। मन मधुकर पन कर तुलसी रघुपतिपदकमल बसैहौं॥'* (वि० १०५)

☞ मिलान कीजिये—**'मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥'** (गीता ९। ३४) (अर्थात् तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको नमस्कार कर। इस प्रकार मनको लगाकर मेरे परायण हुआ तू मुझको ही प्राप्त होगा।) इस श्लोकके **'मन्मना भव'**, **'मद्भक्तो भव'**; **'मद्याजी मां नमस्कुरु'**, **'युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः'** का भाव यहाँकि *'मोहि भगत प्रिय—कायबचन मन—अचल अनुराग'* इस वाक्यमें है। *'मोहि भगत प्रिय—अस बिचारि'* में यही भाव है कि भक्त मुझे प्रिय है ऐसा विचार करनेसे सदा तुम हमारे भक्त बने रहोगे। इसमें **'मद्भक्तो भव'** का भाव आ गया। **'मद्याजी मां नमस्कुरु'** आदि इसीका विस्तार है। *'मन मम पद करेसु अनुराग'* में **'मन्मना भव'** का भाव है। अर्थात् मेरे अतिशय प्रेमसे युक्त होकर मुझमें तैलधारावत् अविच्छिन्न भावसे मन लगानेवाला हो। निरन्तर मेरा परम प्रिय धारावाहिक चिन्तन करता रह। *'काय बचन अचल अनुराग'* में **'मद्याजी मां नमस्कुरु'** तथा **'मत्परायण'** का भी भाव है। अर्थात् मुझको ही परम आराध्यदेव, सबका कर्ता और प्राप्त होने योग्य समझता रहकर परिपूर्ण अधीनताके भावमें सर्वथा रत होकर मुझमें इस प्रकार लगा रहे कि मेरे बिना जीवन धारण करना असम्भव जान पड़े। *'मन'* को अन्तमें कहकर जनाया कि 'कर्म और वचन भी मनसे हों।'

अब सुनु परम बिमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि बखानी॥ १॥
निज सिद्धांत सुनावौं तोही। सुनि मन धरु सब तजि भजु मोही॥ २॥
मम माया संभव संसारा*। जीव चराचर बिबिध प्रकारा॥ ३॥

---

* 'परिवारा'—(का०)। काम-क्रोध-लोभ इत्यादि मायाका परिवार कहा गया है, यथा—'यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनै पारा॥' यहाँ परिवारसे प्रयोजन नहीं है, केवल मायिक संसारके चर-अचर जीवोंके वर्णनसे प्रयोजन है। अतः 'संसार' उत्तम पाठ है।

शब्दार्थ—**सिद्धांत**=भलीभाँति सोच-विचारकर स्थिर किया हुआ मत, जिसके सदा सत्य होनेका निश्चय मनमें हो।=निर्णय।

अर्थ—अब मेरी परम निर्मल वाणी सुन जो सत्य है, सुगम है और वेदादिने बखान की है॥ १॥ मैं तुझे अपना खास सिद्धान्त सुनाता हूँ, सुनकर मनमें धारण कर और सब छोड़कर मेरा भजन कर॥ २॥ मेरी मायासे उत्पन्न संसारमें अनेक प्रकारके चर और अचर जीव हैं॥ ३॥

नोट—१ (क) यहाँतक प्रभुकी वाणीको तीन प्रकारके विशेषण दिये गये। (१)—'***बचन सुखद गंभीर मृदु बोले रमानिवास।***' (८३), (२) '***बोले बचन परम सुखदायक।***' (८५। १), (३) '***अब सुनु परम बिमल मम बानी। सत्य सुगम निगमादि बखानी॥***' प्रथम दो भुशुण्डिजीके और तीसरा स्वयं प्रभुका वाक्य है। (ख)—'***परम बिमल***' इति। वाणी समल, विमल और परम विमल तीन प्रकारकी होती है। इस प्रसंगमें तीनों दिखाते हैं। पहले '***बचन सुखद गंभीर***' ये समल हैं क्योंकि इसमें ऋद्धि-सिद्धि मोक्षादिका देना कहा है। दूसरी '***परम सुखदायक***' विमल है क्योंकि इसमें ज्ञानादिसहित भक्तिका वरदान है। तीसरी '***परम बिमल***' है, क्योंकि इसमें प्रभुने अपना '***निज सिद्धांत***' कहा है।

पं०—'***परम बिमल***——' सुननेमें सुगम, '***निगमादि बखानी***' अर्थात् वेदसम्मत है। वा, सत्यादि सब '***परम बिमल बानी***' के विशेषण हैं। वह कैसी विमल वाणी है? सत्य है, उसमें झूठरूपी मल नहीं है, सुगम है, उसमें कठिनतारूपी मल नहीं है। निगमोक्ति है, वेदविरुद्धरूपी मल नहीं है।

पं० रा० व० श०—अबतक जो कहा गया उसमें ऋषियोंका सिद्धान्त भी मिला-जुला है; अब '***निज सिद्धांत***' कहते हैं, अतः '***परम बिमल***' कहा।

नोट—२ '***सब तजि***' अर्थात् लौकिक-पारलौकिक सब धर्मोंका, शास्त्रोक्त ईश्वरप्राप्तिके उपाय, अहिंसा, सत्य, मातृ-पितृ-सेवा, यज्ञ-याग, दान, संन्यास इत्यादि मोक्षके अनेक साधनों, सब आशा-भरोसा, सुत-कलत्र, घर-परिवार सांसारिक मायाजालकी ममता, काम-क्रोध-मदादि विकारों इत्यादिको त्यागकर। यही चरम उपदेश गीताका भी है—'**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**' (गीता १८। ६६) भाव यह है कि मुझको ही प्राप्त होनेयोग्य तथा मेरी प्राप्तिका उपाय भी मुझको ही समझ। ऐसा विश्वास होनेसे अन्य समस्त धर्मोंका त्याग सहज ही हो जायगा। सबका त्याग होनेपर फिर एकमात्र प्रभुका भजन हो सकेगा। '***सब तजि***' कहा क्योंकि प्रभुके अतिरिक्त जो कुछ भी कर्म-धर्म हैं वे सब भक्तिके बाधक हैं। श्रीसुग्रीवजीके वचनोंमें भी यही भाव है। यथा—'***सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥ ए सब रामभगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥ सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं॥***…***अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिन राती॥***' (४। ७। १६—१८, २१)

३ '***मम माया संभव संसारा***——' इति। यथा—'***एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥***' (३। १५। ६), '***सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥***' (५। २१। ४) '***ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥ जीव चराचर जंतु समाना। भीतर बसहिं न जानहिं आना॥***' (३। १३) '***लवनिमेष महुँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥***' (१। २२५। ४) इन उद्धरणोंसे '***मम माया***——' का भाव यह निकला कि माया जो संसारको रचती है वह मेरी माया है, मेरे अधीन है, मेरी आज्ञा होनेपर ही वह ब्रह्माण्ड-के-ब्रह्माण्ड रच डालती है। '***मम***' से अन्य देवता आदिकी मायाका निराकरण किया।

४ '***जीव चराचर बिबिध प्रकारा***' अर्थात् पाषाणादि अचेतन, वृक्षादि जीव, श्वास लेनेवाले जंगम प्राणी, मनयुक्त जंगम प्राणी, इन्द्रियोंकी वृत्तियोंसे युक्त, स्पर्शका ज्ञान रखनेवाले प्राणी, रसज्ञ प्राणी, गन्धवित् प्राणी, शब्दका ज्ञान रखनेवाले प्राणी, रूप-भेदका ज्ञान रखनेवाले प्राणी, दोनों ओर दाँतवाले प्राणी, बहुपाद प्राणी, चतुष्पाद, द्विपाद प्राणी इत्यादि विविध प्रकारके चराचर जीव हैं जो चौरासी लक्ष योनियोंमें हैं। (भा० ३। २९। २८—३०) में जो कहा है वह सब इस चरणसे जना दिया। श्लोक (चौ० ४) में देखिये।

सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए॥ ४॥
तिन्ह महँ द्विज द्विज महुँ श्रुतिधारी। तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी॥ ५॥
तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी॥ ६॥
तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा*॥ ७॥

शब्दार्थ—ग्यानी=तत्त्वदर्शी। बिग्यानी=अनुभवयुक्त अपरोक्ष तत्त्वदर्शी।

अर्थ—वे सब मुझे प्रिय हैं (क्योंकि) सब मेरे उत्पन्न किये हुए हैं। (पर इन) सबमें मुझे मनुष्य विशेष अच्छे लगते हैं॥ ४॥ मनुष्योंमें भी द्विज, द्विजोंमें भी वेदोंके धारण करनेवाले (अर्थात् जिनको वेद कंठ हैं, जो वेदज्ञ हैं), इनमेंसे भी वेदधर्मपर चलनेवाले॥ ५॥ फिर इनमेंसे भी वैराग्यवान् (अधिक) प्रिय हैं और फिर ज्ञानी उससे भी अधिक प्रिय हैं।) ज्ञानीसे भी अत्यन्त प्रिय विज्ञानी है॥ ६॥ और इनसे भी (अधिक) प्रिय मुझे अपना 'निजदास' है जिसे मेरी ही गति है, दूसरेकी आशा नहीं है॥ ७॥

नोट—१ '*सब मम प्रिय सब मम उपजाए।*......' इति। ऊपर चौ० ३ में '*मम माया संभव*' कहकर यहाँ '*सब मम उपजाए*' कहनेका भाव कि मेरी आज्ञासे मेरा बल पाकर माया संसारको रचती है। अतः वह मेरे ही उत्पन्न किये हुए हैं। मैंने मायाद्वारा उनको उत्पन्न किया। जगत्‌का कर्ता वस्तुतः मैं ही हूँ, मायासंसार कारण-सामग्रीमात्र है। वह तो जड़ है। गीतामें जो कहा है कि '**सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः। तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥**' (१४। ४) उसके '**सर्वयोनिषु ब्रह्म महत्**' का भाव '*मम माया संभव संसारा।*' में है और '*सब मम उपजाए*' में '**अहं बीजप्रदः पिता**' का भाव है। तात्पर्य यह है कि देव, गंधर्व, राक्षस, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि समस्त योनियोंमें जो शरीराकार अलग-अलग अंगोंके अवयवोंकी रचनायुक्त व्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं उनका कारण महद्‌ब्रह्म है। अर्थात् मैंने जिसका चेतनवर्गके साथ संयोग किया है, ऐसी महत्तत्त्वसे लेकर विशेषों (दस इन्द्रियाँ, मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय) तक अवस्थावाली प्रकृति इनका कारण है। मैं बीज प्रदान करनेवाला पिता हूँ। अर्थात् मैं उनके कर्मोंके अनुरूप चेतनवर्गका उस-उस योनिमें जड़ प्रकृतिके साथ संयोग करनेवाला हूँ। बीज प्रदान करनेवालेके ही पुत्र आदि कहे जाते हैं। अतः '*मम उपजाए*' कहना ठीक ही है।

श्वेताश्वतर-उप० के '**यो योनिमधितिष्ठत्येकः।**' (४। ११) में भी यही कहा है। (अर्थात्) जो अकेले ही प्रत्येक योनिका अधिष्ठाता ही रहा है। भाव यह कि 'जगत्‌में जितने भी प्रकारके कारण माने जाते हैं उन सबके अधिष्ठाता हैं।' उनमें किसी कार्यको उत्पन्न करनेकी शक्ति उन्हीं अशेष कारण परम परमात्माकी है और उन्हींकी अध्यक्षतामें वे उन-उन कार्योंको उत्पन्न करते हैं। वे ही उनकी यथायोग्य व्यवस्था करते हैं। आगे फिर श्रुति भगवती कहती है—'**यस्मिन्निदं स च विचैति सर्वम्**' अर्थात् जिसमें यह समस्त जगत् प्रलयकालमें लीन हो जाता है; सृष्टिकालमें विविधरूपोंमें प्रकट भी हो जाता है।

भगवान् श्रीरामने जो यहाँ कहा है वही आगे फिर कहा है। यथा—'*अखिल बिस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया॥*' (८७। ७) सब अपनी ही संतान हैं, अतः सब प्रिय हैं और सबपर बराबर दया हुआ ही चाहे।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि '*मम प्रिय*' और '*मोहि बराबरि दाया*' से जनाया कि मैं जीवोंके शुभचिन्तनमें सदा रहता हूँ (कब यह मुझे पुकारे और मैं इसे गोदमें ले लूँ, इत्यादि)। जब सब प्रिय हैं और सबपर समान दया है तब '*सब ते अधिक*' '*तिन्ह महँ*' इत्यादि शब्दोंसे अधिकारीका तारतम्य कैसे कहते हैं? समाधान यह है कि कर्मकी स्वतन्त्र शक्ति जीवको है (जीव कर्म करनेमें स्वतन्त्र है)। उसके अनुरोधसे प्रियत्वमें तारतम्य है। और प्रभु तो सबको कर्मोंके अनुरूप फलदाता हैं। कर्मानुसार समान भावसे सबका संचालन करते हैं।

* १ 'भक्ति मोरि नहिं दूसरि आसा'—(का०) २ यहाँ सार अलङ्कार है।

☞*'सब मम प्रिय'* में गीताके **'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः॥'** (९। २९) का भाव है। भाव यह है कि जो देव, मनुष्य, तिर्यक् और स्थावरोंके रूपमें स्थित हो रहे हैं, तथा जाति, आकार, स्वभाव और ज्ञानके तारतम्यसे अत्यन्त श्रेष्ठ और निकृष्ट रूपमें विद्यमान हैं, ऐसे सभी प्राणियोंके प्रति उन्हें समाश्रय देनेके लिये मेरा सम भाव है। 'यह प्राणी-जाति, आकार, स्वभाव और ज्ञानादिके कारण निकृष्ट है' इस भावसे कोई भी अपनी शरण प्रदान करनेके लिये मेरा द्वेषपात्र नहीं है। अर्थात् उद्वेगका पात्र समझकर त्यागने योग्य नहीं है, तथा शरणागतिकी अधिकताके सिवा अमुक प्राणी-जाति आदिसे अत्यन्त श्रेष्ठ है, इस भावको लेकर अपना समाश्रय देनेके लिये मेरा कोई प्रिय नहीं है, इस भावसे मेरा कोई ग्रहण करने योग्य नहीं है।

और, अधिकारीके तारतम्यमें श्लोकके उत्तरार्ध **'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्'** तथा (श्लोक ३०। ३१, ३२) का भाव है। भाव यह है कि मुझमें जिनका चित्त लगा है, जो मेरे भजनको ही एकमात्र प्रयोजन समझकर मुझे भजते हैं, वे जाति आदिसे चाहे श्रेष्ठ हों चाहे निकृष्ट; वे मेरे समान गुणसम्पन्न होकर मुझमें ही वर्तते हैं और मैं भी मेरे श्रेष्ठ भक्तोंके साथ जैसा बर्ताव होना चाहिये, उसी प्रकार उनके साथ बर्तता हूँ। (श्रीरामानुजभाष्यके आधारपर) अभिप्राय यह है कि मैं अग्निके समान हूँ। जैसे अग्नि अपनेसे दूर रहनेवाले प्राणियोंके शीतका निवारण नहीं करता, पास आनेवालोंका ही करता है, वैसे ही मैं भक्तोंपर अनुग्रह किया करता हूँ। इतनेसे यह न समझ लेना चाहिये कि दूसरोंमें मेरा द्वेष है। ८६ (१०) में भी देखिये।

नोट—२ *'सब मम प्रिय——दूसरि आसा'* इति। (भा० ३। २९) में श्रीकपिलभगवान्ने माताको इसी प्रकार उपदेश दिया है—**'जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां ततः प्राणभृतः शुभे। ततः सचित्ताः प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तयः॥' तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः प्रवरा रसवेदिनः। तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठास्ततः शब्दविदो वराः॥ रूपभेदविदस्तत्र ततश्चोभयतोदतः। तेषां बहुपदाः श्रेष्ठाश्चतुष्पादस्ततो द्विपात्॥ ततो वर्णाश्च चत्वारस्तेषां ब्राह्मण उत्तमः। ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः॥ अर्थज्ञात्संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान्स्वकर्मकृत्। मुक्तसङ्गस्ततो भूयानदोग्धा धर्ममात्मनः॥ तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियाऽर्थात्मा निरन्तरः। मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः। न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात्॥'** (२८—३३)—अचेतनसे सचेतन श्रेष्ठ है, उनमेंसे जिनके श्वासका सञ्चार होता है वे श्रेष्ठ हैं। प्राणधारियोंमेंसे ज्ञान जिनको है वे, और इनमेंसे स्पर्शेन्द्रियके ज्ञानवाले वृक्षादि, इनसे रसके ज्ञानवाले, इनसे गन्धके ज्ञानी भ्रमरादि, इनसे सर्पादि शब्दके ज्ञाता श्रेष्ठ हैं। उनसे रूपके भेदके ज्ञाता काकादि, इनसे वे जिनके मुखमें ऊपर-नीचे दोनों जगह दाँत हैं, इनसे बहुत पैरवाले, इनसे चार पैरवाले और इनसे भी दो पैरवाले मनुष्य श्रेष्ठ हैं। मनुष्योंमें चार वर्ण, उनमेंसे ब्राह्मण, इन ब्राह्मणोंमें भी वेदज्ञ, वेदज्ञसे वेदार्थज्ञ, इनसे संशय दूर करनेवाला मीमांसक ब्राह्मण, इनसे अपने धर्म-कर्ममें निष्ठ ब्राह्मण और इनमें मुक्तसंग निष्काम भावसे धर्म करनेवाला श्रेष्ठ है। क्योंकि वह सब फल और शरीरको अर्पण कर देता है।

३ उपर्युक्त श्लोकों २८, २९, ३० में *'सब'* और *'सब तें अधिक मनुज'* का भाव है। उनमें मानो इस चरणकी विस्तृत व्याख्या है। मानसमें भगवान् *'मम प्रिय'*, *'भाए'* आदि शब्दोंका प्रयोग कर रहे हैं, पर श्रीमद्भागवतमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठतामात्र कही है, प्रियत्व नहीं।

'मनुज' शब्दमें ही **'वर्णाश्च चत्वारः'** का भाव आ गया। क्योंकि इन्हींमें वर्णविभाग होता है। *'तिन्ह महँ द्विज'*, *'द्विज महँ श्रुतिधारी'* में **'तेषां ब्राह्मण उत्तमः।' 'ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः।'**(३१) **'अर्थज्ञात्संशयच्छेत्ता'** का समावेश है। *'तिन्ह महुँ निगम धरम अनुसारी'* ही **'ततः श्रेयान्स्वकर्मकृत्'** है। *'तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी'* की जगह **'मुक्तसङ्गस्ततो भूयानदोग्धा धर्ममात्मनः।'**(३२) को ले सकते हैं क्योंकि ज्ञानी ही निष्काम भावसे आसक्तिरहित होकर सब धर्म करता है। *'ग्यानिहु ते अति प्रिय बिग्यानी'* का स्पष्ट जोड़ श्लोकोंमें नहीं है। *'तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा——'* ही भागवतका **'तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियाऽर्थात्मा निरन्तरः। मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः।'** है।

प० प० प्र०—यहाँ ज्ञानी=व्यतिरेक ज्ञानवान्, अहं ब्रह्मकी अपरोक्षानुभूतिवाले। **बिज्ञानी**=अन्वय ज्ञानवाले, जिनको **'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'** का नित्य साक्षात्कार होता है, इन्हींको अरण्यकाण्डमें ***'ज्ञानमान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं'*** कहा है। (५४। ३—५) जिन्हें सम्यक् ज्ञान प्राप्त 'ज्ञानवंत' कहा है वही यहाँ ***'ज्ञानी'*** शब्दसे कहा है और ब्रह्मलीनको ही विज्ञानी कहा है। ब्रह्मलीन विज्ञानी भी भक्तिकी याचना करते हैं यह आगे ११६ (८) में कहा है। मानस तथा भागवतमें ज्ञान, विज्ञानके बाद ही प्रेमा भक्तिकी प्राप्ति और दुर्लभता कही गयी है।

नोट—४ ***'तिन्ह तें पुनि मोहि प्रिय निज दासा—'*** इति। (क) ***'निज दासा'*** (निज सेवक) शब्द पूर्व भी कई बार आ चुके हैं। यथा—***'निज दास ज्यों रघुबंस भूषन कबहुँ मम सुमिरन कर्‍यो।'*** (दो० २ छंद), ***'सहित अनुज मोहि राम गोसाईं। मिलिहहिं निज सेवक की नाईं॥'*** (३। १०। ५), ***'देखि दसा निज जन मन भाए।'*** (३। १०। १६), ***'प्रभु सर्बग्य दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृप रानी॥'*** (१। १४५) इत्यादि। श्रीमनु-शतरूपाजी, श्रीसुतीक्ष्णजी और श्रीभरतजी निज दास हैं। जैसे उन प्रसंगोंमें ***'निज दास'*** का अर्थ भी वहीं ***'गति अनन्य'***, ***'मन क्रम बचन राम पद सेवक। सपनेहुँ आन भरोस न देवक॥'***(३। १०। २) इत्यादि शब्दोंमें स्पष्ट कर दिया है, वैसे ही यहाँ भी ***'निज दासा'*** का अर्थ ***'जेहि गति मोरि न दूसरि आसा'*** इस चरणसे कर दिया। अनन्य गति सेवक ही निज दास है। और अनन्यगति सेवक प्रभुको प्रिय है ही। यथा—***'एक बानि करुना निधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥'*** (३। १०। ८) (ख) ***'जेहि गति मोरि'***, यथा—***'—तुम्ह लगि मेरी दौर। जैसे काग जहाज को सूझत और न ठौर'*** ***'सिय-राम-स्वरूप अगाध अनूप बिलोचन मीनन को जल है। श्रुति रामकथा मुख राम को नाम हिये पुनि रामहि को थल है॥ मति रामहि सो गति रामहि सो रति रामसों रामहि को बल है।'*** (क० ७। ३७) ***'न दूसरि आसा'*** यथा—***'एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास। एक राम घनश्याम हित चातक तुलसीदास॥'*** (दो० २७७), ***'एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास। रामरूप स्वाती जलद चातक तुलसीदास॥'*** (वैं० सं० १५)

पं० रामकुमारजी—***'सब मम प्रिय'*** से ***'दूसरि आसा'*** तक अधिकारीके तारतम्यसे सिद्धान्त किया कि जितने भी साधन हैं उन सबोंमें भक्ति ही परसाधन है। इस तरह प्रभु इस सिद्धान्तसे मायाका कर्तृत्ववाद, ईश्वरका 'सीक्षा' (साक्षी? निरपेक्षता) वाद, अन्तर्यामीका प्रेरकवाद, ज्ञानका परसाधनत्ववाद आप-से-आप ही खण्डित हो गये।

पुनि पुनि सत्य कहौं तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥ ८॥
भगतिहीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु* सम प्रिय मोहि सोई॥ ९॥
भगतिवंत अति नीचौ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥ १०॥

अर्थ—मैं तुझसे बार-बार सत्य कहता हूँ कि मुझे सेवकके समान कोई भी प्रिय नहीं है॥ ८॥ भक्तिरहित ब्रह्मा ही क्यों न हो वह भी मुझे सब जीवोंके ही समान प्रिय है॥ ९॥ भक्तिमान् अत्यन्त नीच भी प्राणी (क्यों न हो वह) मुझे प्राणप्रिय है—ऐसी मेरी ***'बानि'*** (टेव, स्वभाव, बाना एवं वाणी) है†॥ १०॥

नोट—१ ***'पुनि पुनि सत्य कहौं'*** इति। (क) यहाँतक तीन बार सेवक (भक्त) का प्रिय होना कहा, यथा—***'मोहि भगत प्रिय संतत'***, ***'तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा।—'*** और ***'मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं।'*** और, आगे फिर भी कहते हैं—***'मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी'***, ***'सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।'*** अतः ***'पुनि पुनि'*** पद दिया। (ख) यहाँ तीन बार ***'सत्य'*** शब्दका प्रयोग किया है। यथा—***'अब सुनु परम बिमल मम बानी। सत्य सुगम—'*** ***'पुनि पुनि सत्य कहौं तोहि पाहीं'*** और

---

* जीवन (का०, पं०)।

† 'अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहौं मोर यह बाना॥.........मोरे अधिक दास पर प्रीती॥'

'सत्य कहउँ खग तोहि।' अर्थात् आदि, मध्य और अन्त तीनोंमें वाणीको *'सत्य'* विशेषण दिया है। अतः कहा कि *'पुनि पुनि सत्य कहौं।'* (ग) ज्ञानी और विज्ञानीसे भी *'निज दास'* प्रिय है, यह कहनेसे अर्थवाद समझा जानेका संदेह है अर्थात् यह न समझ लें कि भक्ति करनेकी उत्तेजना दिलानेके लिये ऐसा कहा गया; इस कारण वचनकी सत्यतामें दृढ़ अविचल विश्वास करानेके लिये *'पुनि पुनि'* और *'सत्य'* कहा, यथा—*'पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। सत्य सत्य पन सत्य हमारा॥ पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना।'* (१। १५२। ५-६) [भाव कि मैं कुछ तुम्हारी खातिरीके लिये नहीं कहता—(रा० प्र०) सिद्धान्त कहता हूँ।]

२—*'भगतिहीन बिरंचि—सब जीवहु सम'* का भाव कि जो कोई भी मुझे अति प्रिय है वह भक्तिसे ही। विरंचिसे जनाया कि आदिसृष्टिके रचयिता ब्रह्मा भी मुझे भक्तिसे ही अति प्रिय हैं। ऐसे विरंचि जगत्के रचयिता होते हुए भी यदि मेरी भक्तिसे रहित हों तो वह भी मुझे मेरे भक्तसे कम प्रिय होंगे, तब अन्य साधारण भक्तिरहित जीवोंकी बात ही क्या?

'अति नीचौ' इति। (क) अर्थात् अन्त्यज, चाण्डाल, श्वपचादि भी क्यों न हों। भक्त होनेसे वर्णाश्रममें वह नीच भले ही माना जाय पर भगवान्‌की वा परमार्थदृष्टिमें वह उच्च वर्णोंसे अधिक प्रिय है। क्योंकि वह प्रभुका गोतिया हो जाता है। उसका गोत्र अच्युतगोत्र होता है।—*'साहिब को गोत गोत होत है गुलाम को।'* अपने गोत्रवाला सबको प्रिय होता ही है। दोहा ८७ में भी देखिये। पुनः, (ख) भाव कि ये मुझे प्राणप्रिय हैं तब जो कुलीन सज्जन हमारी भक्तिसे युक्त होंगे उनके प्रियत्वका कहना ही क्या! यथा—**'किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।'** (गीता० ९। ३३), **'ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां स्त्रीशूद्रहूणशबरा अपि पापजीवाः। यद्यद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षास्तिर्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये॥'** (भा० २। ७। ४६) अर्थात् अधिक क्या कहा जाय! यदि स्त्री, शूद्र, हूण, शबर आदि नीच पापी जीव तथा पशु-पक्षी आदि तिर्यक् योनिमें जन्म लेनेवाले भी भक्तोंके स्वभावानुसार चलें तो भगवान्‌की मायाको जान तथा उससे तर सकते हैं तब वेदपरायण महात्माओंका तो कहना ही क्या!

श्रीप्रह्लादजीने जो दैत्यबालकोंसे कहा है—'**नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः। प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥' न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च। प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्॥**' (भा० ७। ७। ५१-५२) (अर्थात् भगवान्‌को प्रसन्न करनेमें ब्राह्मणत्व, दैवत्व, ऋषित्व, सदाचारबहुज्ञता अथवा दान, तप, यज्ञ, शौच एवं व्रत आदि कोई भी समर्थ नहीं हैं। वे तो केवल विशुद्ध भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं और सब विडम्बनामात्र हैं)—यह सब भाव भी इन चरणोंमें है।

प० पु० उत्तर खण्डमें भी कहा है कि भक्तिहीन होकर चारों वेदोंके पढ़नेसे ही क्या लाभ! भक्तियुक्त चाण्डाल ही क्यों न हो, वह देवताओंद्वारा भी पूजित होता है। यथा—'**भक्तिहीनैश्चतुर्वेदैः पठितैः किं प्रयोजनम्। श्वपचो भक्तियुक्तस्तु त्रिदशैरपि पूज्यते॥**' (१२८। १०२)

वै० सं० में भी कहा है—*'तुलसी भगत सुपच भलो भजै रैनि दिन राम। ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम॥ ३८॥ अति ऊँचे भूधरनि पर भुजंगन के अस्थान। तुलसी अति नीचे सुखद ऊख अन्न अरु पान॥ ३९॥ अति अनन्य जो हरि को दासा। रटै नाम निसि दिन प्रति स्वासा॥ तुलसी तेहि समान नहिं कोई। हम नीके देखा सब लोई॥ ४०॥ जदपि साधु सब ही बिधि हीना। तद्यपि समता के न कुलीना॥ यह दिन रैनि नाम उच्चरै। वह नित मान अगिनि में जरै॥ ४१॥'*

वै०—१ *'अति नीचउ'*—'ज्ञान-योग-तपादि कुछ भी क्रिया न हो, देह भी नीच हो।'

३—एक तरफ तो कहते हैं कि *'सब मम प्रिय सब मम उपजाये'* और पूर्व भी कहा गया है कि *'जद्यपि सम नहिं राग न रोषू।—'* अर्थात् कोई विशेष प्रिय अथवा द्वेष्य नहीं है। गीता (९। २९) में भी ऐसा ही है—'**समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।**' फिर यह कहते हैं कि भक्तिवन्त मुझे प्राणप्रिय है। देखनेमें यह विरोध प्रतीत होता है। श्रीबालगङ्गाधर तिलकजी लिखते हैं कि 'यह विरोध प्रतीत होता है सही, पर यह जान लेनेसे कोई विरोध नहीं रह जाता कि एक वर्णन सगुण उपासनाका

है और दूसरा अध्यात्मदृष्टि अथवा कर्मविपाक दृष्टिसे किया गया है। विशेष ८६ (४) में लिखा जा चुका है, वहीं देखिये।

४—*'प्राणप्रिय'* कहनेका भाव कि मैं उसमें और वह मुझमें रहता है। वह मुझसे पृथक् कभी नहीं होता, यथा—**'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।'** (गीता ९। २९) प्राणसे अधिक कुछ प्रिय नहीं होता, यथा—***'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं'*** अतः प्राणप्रिय कहकर सर्वोपरि प्रियत्व जनाया।

वि० त्रि०—*'भगतिवंत——बानी'* इति। भाव यह है कि उस ऊँचाईको लेकर क्या करना है, यदि उससे भगवान्का अनुग्रह न हुआ। अतः सरकारी सिद्धान्त यही है कि **'यो मे भक्तः स मे प्रियः।'**

दो०—सुचि सुसील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग। श्रुति पुरान कह नीति असि सावधान सुनु काग॥ ८६॥

अर्थ—पवित्र, सुशील और उत्तम बुद्धिवाला सेवक कहो किसको प्यारा नहीं लगा? अर्थात् सभी स्वामियोंको ऐसा सेवक प्रिय लगता है। हे काक! सावधान होकर सुन, वेद-पुराण ऐसी नीति कहते हैं॥ ८६॥

खर्रा—अलौकिक कहकर अब लौकिक पूछते हैं—**'कहु'**।

नोट—१ **'सुचि'**=स्वप्नमें भी भागवत-धर्ममें न डिगनेवाले, यथा—***'अस बिचारि सुचि सेवक बोले। जे सपनेहुँ निज धरम न डोले॥'*** (२। १८६। ६), ***'देखी जनक भीर भइ भारी। सुचि सेवक सब लिये हँकारी॥'*** (१। २४०। ७)

शुचिता तीन प्रकारकी होती है—मन, वचन और तन वा कर्मकी। मनकी शुचिता यह कि स्वप्नमें भी दूसरे देव एवं किसीका भी भरोसा न हो, जैसे सुतीक्ष्णजीके विषयमें कहा है ***'सपनेहु आन भरोस न देवक——'***, औरकी क्या कही स्वयं भगवान्के दूसरे रूपको भी वे न सह सके, भगवान्का ही चतुर्भुज रूप उनके हृदयको शान्ति न दे सका।

वचनकी पवित्रता यह कि प्रभुका गुणानुवाद छोड़ कोई वचन मुँहसे न निकले। वाणीसे दूसरेकी स्तुति या दूसरेसे याचना न करे। और तन वा कर्मकी शुचिता यह कि तनसे भगवत्-भागवत धर्म छोड़ दूसरे धर्मको धर्म न समझे और न करे, यथा—***'सपनेहु जान न दूसर धर्मा।'*** उत्तम पतिव्रताकी तरह मन, वचन और कर्मसे प्रभुकी भक्ति करनेवाला ही **'सुचि'** विशेषणसे जनाया। ☞आगे प्रभु स्वयं **'सुचि सेवक'** के लक्षण कहते हैं—मद-माया-कपट छोड़कर मन, कर्म, वचनसे सर्वभावसे भक्ति करनेवाला **'सुचि सेवक'** है। यथा—***'तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजै मोहि मन बच अरु काया॥—सर्बभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ। सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय॥ ८७॥'***

पं०—**सुचि**=सदाचारसंयुक्त। **सुसील**=वह जिसपर कोई अप्रसन्न न हो। **सुमति**=परमार्थ बुद्धिवाला।

रा० प्र०—**'सुचि'** यह कि स्वामीकी वस्तुसे निर्लोभ हो, सुशील अर्थात् ढीठ न हो और **'सुमति'** से समयसाधक जनाया।

नोट—२ ☞ ये तीनों गुण सेवकमें हों तभी वह प्रिय हो सकता है। इससे जनाया कि ये तीनों गुण तुममें हैं, यथा—*'सुचि सेवक—१ 'देखि दीन निज दास।'* (८३), *'तोहि निज भगत राम कर जानी।'* (११३। १२), *'यह मम भगत कर्म मन बानी।'* (११४। ६)

सुसील—२ 'तहँ रह काकभुसुंडि सुसीला।' (६२। २), *'रिषि मम महत सीलता देखी।'*

सुमति—३ 'मति अकुंठ हरिभगति अखंडी।' (६३। १)

☞ यह भी सुझा रहे हैं कि जो छल छोड़कर हमारा अनन्य सेवक हो जाता है, उसीको सर्वगुणसम्पन्न समझ लेता हूँ। यथा—***'सो सुकृती सुचिमंत सुसंत, सुजान सुसीलसिरोमनि स्वै। सतिभायँ सदा छल छाड़ि सबै तुलसी जो रहै रघुबीरको ह्वै॥'*** (क० उ० ३४)

३—इस ग्रन्थमें लोक और वेद दोनों मत हैं, यथा—*'लोक बेद मत मंजुल कूला।'* (बा०)। यहाँ

भी दोनों मतोंसे निज दासका प्रियत्व प्रतिपादन करते हैं। पूर्वार्द्धमें *'प्रिय कहु काहि न लाग'* यह लोकमत और *'श्रुति पुरान कह नीति असि'* यह वेदमत हुआ।

४ *'सावधान सुनु'* इति। सावधान करनेका भाव कि पूर्व प्रभु कह आये हैं कि यह मेरा *'निज सिद्धान्त'* है और परम विमल है इसे *'सुनि मन धरु सब तजि भजु मोही'*, इसीसे सावधान करते जाते हैं क्योंकि अन्यथा धारण न हो सकेगा।

एक पिता के बिपुल कुमारा। होहिं पृथक गुन सील अचारा॥ १॥
कोउ पंडित कोउ तापस ग्याता। कोउ धनवंत सूर कोउ दाता॥ २॥
कोउ सर्बग्य धर्मरत कोई। सब पर पितहि* प्रीति सम होई॥ ३॥

अर्थ—एक पिताके बहुत-से पुत्र पृथक्-पृथक् गुण, स्वभाव और आचरणवाले होते हैं॥ १॥ कोई पण्डित होता है, कोई तपस्वी, कोई ज्ञानी, कोई धनी, कोई शूरवीर, कोई दानी॥ २॥ कोई सर्वज्ञ और कोई धर्मपरायण होता है; पर सभीपर पिताका एक-सा प्रेम होता है॥ ३॥

नोट—१ *'एक पिता के बिपुल—'* इति। (क) ☞ श्रुति-पुराणमत कहकर अब लोकप्रमाण देते हैं। पृथक् गुण, शील, आचरण है, इसीसे कोई पण्डित, कोई तपस्वी इत्यादि हैं जो आगे कहते हैं। (ख) यहाँ दृष्टान्त दे रहे हैं; आगे दार्ष्टान्तमें भगवान् अपनी संतान बहुत बताते हैं—*'जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर'*, इसीसे यहाँ भी *'बिपुल'* कहा। (ग) यहाँ 'कुमार' को कहा, पर संतानमें कुमारी भी तो होती हैं। उनको न कहा। कारण कि कन्या 'अबला' है, वह पिताके आश्रित है और पुत्रोंको पुरुषार्थका बल होता है, इसीसे कोई पण्डित, कोई तपस्वी इत्यादि होते हैं।

वि० त्रि०—पहले *'सब मम प्रिय सब मम उपजाये'* कह आये हैं, उसी बातको लौकिक उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं कि जैसे एक पिताके बहुत-से लड़के होते हैं पर उनके गुण, शील और आचारमें विषमता होती है। इसी तरहसे पुरुष, नपुंसक, नारी-नर तथा सभी चराचर जीव, पृथक्-पृथक् गुण-कर्म-शील-स्वभाववाले सब एक परमेश्वरके पैदा किये हुए हैं, अतः सभी उनको प्रिय हैं। यहाँपर प्रश्न ही नहीं उठता कि कुमार कहा, कुमारी नहीं कहा। कुमार शब्द यहाँ संतानमात्रका उपलक्षण है। भाव यह है कि परमेश्वरको जीवमात्र प्रिय है क्योंकि सब उनकी संतान हैं।

कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा। सपनेहु जान न दूसर धर्मा॥ ४॥
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥ ५॥

अर्थ—कोई मन, वचन और कर्मसे पिताका भक्त होता है, स्वप्नमें भी दूसरा कोई धर्म नहीं जानता॥ ४॥ वह पुत्र पिताको प्राणसमान प्रिय होता है। यद्यपि वह सब प्रकारसे अज्ञान ही है॥ ५॥

वै०—१ मनसे पितामें रत, वचनसे पिताके अनुकूल, कर्म करके पिताकी सेवामें रहता इत्यादि मन-वचन-कर्मसे पितृभक्त कहा। पिताकी भक्तिको ही एकमात्र धर्म जानता है। २—यहाँ पिता ईश्वर है, बृहस्पति आदि पण्डित, प्रचेतादि तापस, सनकादि ज्ञाता, कुबेर धनवंत, दैत्य शूर, हरिश्चन्द्रादि दाता, लोमशादि सर्वज्ञ, शिवि-दधीचि आदि धर्मरत, ध्रुव-प्रह्लाद, अम्बरीषादि पितृभक्त हैं।

नोट—१ (क) *'कोउ पितु भगत—धर्मा'* इति। दृष्टान्तमें यहाँ जो गुण प्रभु कह रहे हैं, वे सब श्रीभुशुण्डिजीमें हैं। श्रीभुशुण्डिजी मन, कर्म, वचनसे प्रभुके भक्त हैं, यथा—*'यह मम भगत करम मन बानी'* (११४। ६), *'सपनेहु जान न दूसर धर्मा'* यह गुण भी इनमें है, यथा—*'भजनहीन सुख कवने काजा।'* (८३। ६), *'भगतिहीन गुन सब सुख कैसे। लवन बिना बहु बिंजन जैसे॥'* (८३। ५) (ख) *'सब भाँति अयाना'* कहकर पूर्व जो गुण औरोंमें कह आये उन सबसे रहित जनाया। अर्थात् न वह पण्डित है, न तपस्वी, न ज्ञानी, न धनी,

* प्रीति पितहि—(का०)।

न शूर, न दानी, न सर्वज्ञ, न धर्मात्मा। जिन्हें अपने पाण्डित्य, तप, ज्ञानादिका बल है वे पिताकी साधारण भक्ति करते हैं; क्योंकि शास्त्राज्ञा है और सर्वगुणहीन पुत्र पितृभक्तिको सर्वस्व मानकर एकमात्र यही धर्म करता है। [पुनः, *'जद्यपि सब भाँति अयाना'* का भाव कि पिता उसकी अज्ञानतासे खीझता नहीं। उसके अज्ञानपर ध्यान नहीं देता। (रा० प्र०) उसके अज्ञानको भी वह गुण ही मानता है, इसीसे यह जानकर कि इसकी हम ही गति हैं, वह उसे प्राणप्रिय होता है। जैसे श्रवण ऋषिने और किसी धर्मको धर्म न समझा, केवल मातृ-पितृ-भक्ति की। तभी तो उनके माता-पिताने उनके वियोगमें प्राण दे दिये। (रा० शं०)]

एहि बिधि जीव चराचर जेते। त्रिजग देव नर असुर समेते॥ ६॥
अखिल बिस्व यह मोर* उपाया। सब पर मोहि बराबरि दाया॥ ७॥
तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजइ मोहि मन बच अरु काया॥ ८॥

शब्दार्थ—**त्रिजग**=तिर्यक्। मनुष्यको छोड़ पशु-पक्षी आदि जीव तिर्यक् कहलाते हैं; क्योंकि खड़े होनेमें उनके शरीरका विस्तार ऊपरकी ओर नहीं रहता, आड़ा होता है। इनका खाया हुआ अन्न सीधे ऊपरसे नीचेकी ओर नहीं जाता किन्तु आड़ा होकर पेटमें जाता है। तिर्यक्‌का अर्थ है 'टेढ़ा, तिरछा' इसीसे यह नाम पड़ा। —*'त्रिजग देव नर जोइ तनु धरऊँ। तहँ तहँ रामभजन अनुसरऊँ॥'* (११०। १) **उपाया**=उत्पन्न करना।

अर्थ—इस प्रकार तिर्यक्, देव, मनुष्य, असुरसमेत जितने भी जड़ और चेतन जीव हैं॥ ६॥ यह सारा विश्व मेरा पैदा किया हुआ है। सबपर मेरी बराबर एक-सी दया है॥ ७॥ पर इनमेंसे जो मुझे मद और माया छोड़कर मन, वचन और तनसे भजता है (वह)॥ ८॥

नोट—१ *'एहि बिधि'* कहकर चराचरमात्रके जीव, तिर्यक्, देव, नर, असुरसहित सारा विश्व सब पुत्र-समान जनाया। इस प्रकार अर्थात् जैसे अपने सब पुत्रोंमें समभाव रखते हुए भी 'पितृभक्त अज्ञानी पुत्र' पिताको अधिक प्रिय होता है वैसे ही दृष्टान्त-दार्ष्टान्तका मिलान—

एक पिताके बिपुल कुमारा; बिपुल	१ *अखिल बिस्व यह मोर उपाया।* देव, नर, असुर, चर, अचर समस्त जीव
होहिं पृथक गुन सील अचारा।	२ *जीव चराचर जेते, त्रिजग देव नर असुर*
'कोउ पंडित' से *'धर्मरत कोई'* तक	इन सबके पृथक्-पृथक् गुण, स्वभाव आचरण होते हैं
सब पर पितहि प्रीति सम होई	३ *सब पर मोहि बराबरि दाया*
कोउ पितु भगत बचन मन कर्मा	४ *तिन्ह महँ जो 'भजइ मोहि मन बच अरु काया'*
सपनेहु जान न दूसर धर्मा	५ *परिहरि मद माया* तथा *'आस भरोस सब'*
सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना	६ *'मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी', 'मोहि परमप्रिय सोइ'*
जद्यपि सो सब भाँति अयाना	७ *'भक्तिवंत अति नीचौ प्रानी', 'चराचर कोइ......'*

२ *'अखिल बिस्व......दाया'*—८६ (३-४) देखिये। श्वे० (४। ९) में भी ऐसा ही कहा है। यथा—**'छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति। अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्......॥'** अर्थात् जो समस्त वेद मन्त्ररूप छन्द, यज्ञ, क्रतु (ज्योतिष्टोम आदि विशेष यज्ञ), नाना प्रकारके व्रत, शुभ कर्म, सदाचार और उनके नियम हैं तथा और भी जो कुछ भूत, भविष्य, वर्तमान पदार्थ हैं जिनका वर्णन वेदोंमें पाया जाता है, इस सम्पूर्ण विश्वको वे मायापति परमात्मा इस (पूर्व बताये हुए पञ्चभूतादि तत्त्वोंके समुदाय) से रचते हैं।

३ *'परिहरि मद माया'* कहकर जनाया कि पण्डिताई, तप, ज्ञान, धन, वीरता, दान, सर्वज्ञता और सांसारिक सब धर्मोंका अभिमान किञ्चित् न हो, यह सब माया है। पुनः, पाँच प्रकारके मद भक्तिके कण्टक कहे गये हैं—जाति, विद्या, महत्त्व, रूप, युवावस्था। अतः इन सबका त्याग करना कहा। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मानादि सब मायाके परिवार हैं; इनका त्याग करना कहा, जो अरण्यकाण्डमें नारदजीसे कह आये हैं। ये सब भक्तिके बाधक हैं। पुनः ऊपर पण्डित, तपस्वी आदि आठ प्रकारके गुण कहे। आठ

* मम उपजाया-का०, रा० गु० द्वि०।

ही कहनेका भाव कि किसीका मत है कि मद अष्ट प्रकारके हैं। यहाँ 'मद' का छोड़ना कहना था अतः यहाँ आठ गुण कहे। परलोक साधनमें मायाका त्याग परमावश्यक है, यथा—'*तजि माया सेइय परलोका। मिटहिं सकल भव संभव सोका॥*' (कि० २३। ५) माया, यथा—'*गो गोचर जहँ लग मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥*' इन सबसे वैराग्य होना चाहिये।

दो०—पुरुष नपुंसक नारि* वा जीव चराचर कोइ।
सर्बभाव भज† कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ॥
सो०—सत्य कहौं‡ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।
अस बिचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब॥८७॥

अर्थ—पुरुष हो (चाहे) नपुंसक हो (चाहे) स्त्री हो वा चर-अचर कोई भी जीव हो (जो भी) कपट छोड़कर सर्वभावसे मुझे भजे वही मुझे परमप्रिय है। हे खग! मैं तुझसे सत्य कहता हूँ कि मुझे शुचि सेवक प्राणप्रिय है। ऐसा विचारकर सब आशा-भरोसा छोड़कर मुझे भज॥ ८७॥

खर्रा—१ पुरुषसे अधिकारी, नारीसे अर्द्ध-अधिकारिणी और नपुंसकसे अनधिकारी सूचित किया। २—सर्वभाव वात्सल्यादि।

नोट—१ '*पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ*' इति। भाव कि शूद्र, स्त्री, अन्त्यज, पापी, नपुंसक इनको श्रौत यज्ञ, याग, वेद और ज्ञानका अधिकार नहीं है; पर मेरी भक्तिका अधिकार इन सबको भी है। भक्तिमें स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी या ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र एवं चाण्डाल-अन्त्यज पापयोनि-सम्बन्धी कोई भेद शेष नहीं रहता। भक्तिसे वे सब महात्मा हो जाते हैं।

गीतामें भी भक्तिमार्गकी विशेषता इसी प्रकार कही गयी है—'**अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।...मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।**' (९। ३०—३२) अर्थात् बड़ा दुराचारी ही क्यों न हो यदि वह मुझे अनन्य भावसे भजता है तो उसे बड़ा साधु ही समझना चाहिये; क्योंकि उसकी बुद्धिका निश्चय अच्छा है। वह जल्दी धर्मात्मा हो जाता है और नित्य शान्ति पाता है। मेरा आश्रय करके स्त्रियाँ, वैश्य, शूद्र तथा अन्त्यजादि पापयोनि प्राणी भी परमगति पाते हैं।

नोट—२ '*सर्बभाव भज*' इति। अर्थात् (क) आप ही माता, पिता, बन्धु, सखा, विद्या, धन-सम्पत्ति, सर्वस्व सभी कुछ आप ही हैं। इन सब भावोंसे मेरा ही भजन करे। पुनः, (ख) '*तू दयालु, दीन हौं तू दानि, हौं भिखारी। हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पापपुंज हारी। नाथ तू अनाथको, अनाथ कौन मोसो? मों समान आरत नहिं आरतिहर तोसो॥ ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर हौं चेरो। तात-मात, गुरु-सखा तू सब बिधि हितु मेरो। तोहिं मोहिं नाते अनेक, मानियै जौ भावै। ज्यों-त्यों तुलसी कृपालु चरन-सरन पावै॥*' (वि० ७९) इसमें ११ भाव कहे हैं। इत्यादि अनेक भाव हैं। पुनः यथा—'*या जगमें जहँ लगि या तनु की प्रीति प्रतीति सगाई। ते सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं समिटि इक ठाईं॥*' (वि० १०३) पुनः, (ग) **सर्बभाव**=अनन्य भावसे। यह बात गीता (९-३०) से सिद्ध होती है। गीता (१८-६२) में भी '**सर्वभावेन**' पद आया है। वहाँ जो भाव हैं वही यहाँ हैं। भगवान् कहते हैं कि '**पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः**', '**गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्**' (९। १७-१८) '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥** (१८। ६१) **तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां**

* नारि नर—(का०)।
† भगति भाव भजि—(का०)।
‡ कहौं—(का०)। भा० दा० में 'कहौं' के हौं पर हरताल है।

शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥ ६२॥' इन उद्धरणोंमें यही दिखलाया गया है कि परमेश्वरका और जगत्के समस्त प्राणियोंका सम्बन्ध माता, पिता, धाता (आधार; पालन-पोषण-कर्त्ता), पितामह इत्यादिका है। भगवान् ही हमारे एकमात्र प्राप्त करने योग्य पदार्थ, भरण-पोषणकर्त्ता, प्रभु अर्थात् सब प्रकारसे रक्षा करनेको समर्थ, हर्त्ता-कर्त्ताविधाता, हमारे शुभाशुभ कर्मोंके साक्षी, हम सब जीवोंके निवास अर्थात् आश्रयभूत, शरण, सर्वभूतोंसे अभय देनेवाले और एकमात्र स्वामी, गुरु, सुहृद्, सच्चे सखा वा मित्र हैं, वे ही हमारे परमभोग्य हैं, सब भावोंसे वे ही अनुभव करने योग्य हैं। वे कारणरहित कृपा करते हैं। यथा—'**माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः। सर्वस्व मे रामचन्द्रो दयालुर्नान्यं जाने नैव जाने न जाने॥**' (और भी भाव पूर्व आ चुके हैं।)

'***भाव***' का अर्थ 'अवस्था', 'स्थिति' या 'वृत्ति' भी है। सांख्यशास्त्रमें 'बुद्धिभाव', 'शारीरिक भाव' ऐसा भेद किया गया है। गीतामें भी कहा गया है—'**अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः। भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥**' (१०। ५) वहाँ बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, सुख, दुःख, भव, अभव, भय, अभय, अहिंसा, समता, संतोष, दान, तप, यश, अपयश ये सब अनेक प्रकारके प्राणिमात्रके भाव कहे गये हैं।

करु०—१ '***सर्बभाव***' अर्थात् सब जीवोंमें मुझे व्याप्त देखे और उनमें भी गौ, ब्राह्मण, तीर्थ विषे मेरी प्रसन्नता अधिक माने। सम्पूर्ण देवताओंको मेरी सामान्य विशेष विभूति माने, मेरी प्रतिमा, मेरी लीला और जहाँ कहीं भी मेरा सम्बन्ध कोई प्राप्त हो तथा संतोंको मेरा स्वरूप माने। २—'***कपट***' इति। देव, दानव, मनुष्य, पशु, पक्षी, वर्णाश्रम, अन्त्यज, जाति, वर्णाश्रमके अभिमान मानते हैं सो त्याग दे।

नोट—३ 'पूर्व कहा कि अत्यन्त नीच प्राणी भी हमारा भक्त हो तो प्राणप्रिय है—८६ (१०) और यहाँ कहते हैं कि मद-माया छोड़कर, कपट छोड़कर सर्वभावसे भजन करनेवाला प्राणप्रिय है। इससे जनाया कि अत्यन्त नीच प्राणी भक्तियुक्त होनेसे धर्मात्मा हो जाता है, उसके नीच कर्म छूट जाते हैं और वह मायाका अन्त पा जाता है—(भा० २। ७। ४६। ८६ (१०) देखिये।) भक्तिवन्त होनेसे ही '***तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकइ कछु निज प्रभुताई॥***' ऐसा होनेपर वह प्राणप्रिय होता है।

'**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥**'

☞ यह चरम उपदेश है। यह प्रभुकी 'विमल-वाणी' का उपसंहार भक्तिप्रधान ही है। यहाँ बराबर '***मोहि***' शब्द देकर स्पष्ट कर दिया है कि यहाँ निर्गुण ब्रह्म विवक्षित नहीं है। ८६ (१-२) भी देखिये।

उपक्रम (दोहा ८६)	उपसंहार (दोहा ८७-८८)
अब सुनु परम बिमल मम बानी	१ *प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ*
सुनि मन धरु सब तजि भजु मोही	२ *अस बिचारि भजु मोहि परिहरि—*
मम माया संभव—सब मम उपजाये	३ *अखिल बिस्व यह मोर उपाया।*
'मोहि भगतप्रिय संतत', 'सुचि सुसील—'	४ *सुचि सेवक मम प्रानप्रिय*
अस बिचारि सुनु काग	५ *सत्य कहउँ खग तोहि। अस बिचारि*
काय बचन मन मम पद	६ *परिहरि आस भरोस सब*
करेसु अचल अनुराग	७ *'सुमिरेसु भजेसु निरंतर'*

४ '***परिहरि आस भरोस सब***' इति। (क) इससे जितनी प्रकारकी (श्रीरामसम्बन्धी छोड़ अन्य) सांसारिक एवं पारलौकिक आशाएँ और भरोसे हैं वे सब सूचित कर दिये। भाव यह कि किसी मनुष्य, देवता, ऋद्धि, सिद्धि, योग, यज्ञ, जप, तप, दानादि साधनोंका आशा-भरोसा न करके मेरी अनन्य निष्काम हेतुरहित भक्ति कर। यथा—'*यह बिनती रघुबीर गुसाईं। और आस बिस्वास भरोसो हरो जिय की जड़ताई॥ चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधिसिधि बिपुल बड़ाई। हेतु रहित अनुराग नाथ पद बढ़ो अनुदिन अधिकाई॥*' (वि० १०३)

(ख) 'आशा-भरोसा' छोड़नेको कहा क्योंकि ये भक्तिके बाधक हैं। 'आशा हि परमं दुःखम्', '*अब तुलसिहि दुख देति दयानिधि दारुन आस पिसाची।*' (वि० १६३) इससे नित्य नयी चिन्ता लगी रहती है जिससे ईश्वरमें विश्वास नहीं रह जाता, यथा—'*मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा॥*' (४६। ३) विश्वासहीन,

होनेसे भक्ति गयी, यथा—'*बिनु बिस्वास भगति नहिं।*' (९०) आशा-भरोसा छोड़नेपर ही भक्तकी शोभा है। यथा—'*बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा॥*' (४। १६। ९)

५—'*पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर*' का अर्थ बैजनाथजीने यह लिखा है कि—'चर-अचर दो भाँतिके जीव होते हैं। इनमें पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग ये तीनों लिङ्गके जीव हैं। इन तीनों प्रकारोंके पुरुष, नपुंसक और स्त्रीलिङ्गके चर-अचर जीवोंमेंसे चाहे नर (द्विभुजपदवाला) हो या (देव-दनुज, पक्षी-पशु इत्यादि) कोई अन्य जीव हो।' और, पांड़ेजी '*पुरुष नपुंसक नारि नर*' पाठका अर्थ करते हैं—'नारि-नरमें पुरुषत्वसहित हो या नपुंसक हो।' करु० और रा० प्र० '*नारि नर*' पाठ देकर 'नपुंसक' को 'पुरुष' का विशेषण मानते हैं।

कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही। सुमिरेसु भजेसु* निरंतर मोही॥ १॥
प्रभु बचनामृत सुनि न अघाऊँ। तनु पुलकित मन अति हरषाऊँ॥ २॥
सो सुख जानै मन अरु काना। नहिं रसना पहिं जाइ बखाना॥ ३॥

अर्थ—तुझे काल कभी न व्यापेगा। मेरा निरन्तर स्मरण और भजन करना॥ १॥ प्रभुके वचनामृत सुनकर तृप्ति नहीं होती थी। शरीर रोमाञ्चित हो गया। मैं मनमें अत्यन्त हर्षित हो रहा था॥ २॥ वह सुख मन और कान ही जानते हैं। जिह्वासे उसका बखान नहीं हो सकता॥ ३॥

खर्रा—१ अनुग्रहके प्रवाहको रोक नहीं सकते, इसीसे फिर भी कहते हैं—'**कबहूँ**......'।

नोट—१ '*एवमस्तु कहि रघुकुल नायक। बोले बचन परम सुखदायक॥*' (८५। १) उपक्रम है और '*प्रभु बचनामृत सुनि*......' उपसंहार है।

२—'*कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही*' इति। आगे इस सम्बन्धमें गरुड़जी प्रश्न करेंगे। '*तासु नास कल्पांत न होई।*' (५७। १) में देखिये।

☞ 'ऐसा ही वरदान नारदजीको भगवान्‌ने दिया है। वहाँपर भगवान् कहते हैं कि मेरी कृपासे मुझमें तुम्हारी बुद्धि अचल रहेगी, कल्पान्तमें भी इस जन्मका स्मरण बना रहेगा—'**मतिर्मयि निबद्धेयं न विपद्येत कर्हिचित्। प्रजासर्गनिरोधेऽपि स्मृतिश्च मदनुग्रहात्॥**' (भा० १। ६। २५) के इस उद्धरणसे तथा व्यासजीके (भा० १। ६। ४) के '**प्राक्कल्पविषयामेतां स्मृतिं ते सुरसत्तम। न ह्येष व्यवधात्काल एष सर्वनिराकृतिः॥**' इस प्रश्नसे कि 'कालसे कोई बच नहीं सकता, वह सबको भुला देता है, तुमको पूर्वजन्मका हाल कैसे याद रहा, तुम्हारी स्मृतिका व्यवधान कालने नहीं किया, यह क्यों? वह तो सबका निराकरण करता है'—'काल न व्यापेगा' का भाव यह हुआ कि कल्पान्त होनेपर तुम्हें बराबर पूर्व सब कल्पोंके जन्मका स्मरण बना रहेगा। यही बात आगे भुशुण्डिजी कहते हैं, यथा—'*सुधि मोहि नाथ जन्म बहु केरी।*' (९६। १०) ब्रह्मानन्द-मंजरीमें † एक कथा इस सम्बन्धकी यों है—

वसिष्ठ उवाच—'हे भुशुण्डी! आप चिरंजीवी हैं, आपने अनेक प्रलय देखे हैं, आपका नाश महाप्रलयमें भी नहीं होता। यह कृपा करके समझाकर कहिये।'

भुशुण्डि उवाच—हे मुनि! आपको सब बात विदित है। परंतु आपकी आज्ञा है अतः जो हाल मेरे स्मरणमें है वह कहता हूँ। हे वसिष्ठजी! जिसने प्राणापानकी गतिको जाना है वह अजर-अमर-पदको प्राप्त होता है और मुझको तो रात-दिनका भास नहीं है इसीसे चिरंजीवी हूँ। जब प्रलयकाल आता है और तत्त्वोंका क्षोभ होता है, जब सूर्य तप्त होता है और अग्नितत्त्व बढ़ता है तब मैं जलकी धारणा करता हूँ और जब वायु बढ़ता है तब मैं पर्वतकी भावना करता हूँ। जब जलतत्त्व बढ़ता है तब मैं अग्निकी

* सुमिरि स्वरूप—(का०)। निरंतर स्वरूप—अपना आत्मारूप (रा० प्र०)।

† जन रघुनाथ श्रीचित्रगुप्तवंशज कानपुर गङ्गातट-निवासीकृत ब्रह्मानन्दमंजरी सन् १९१४ नवलकिशोर प्रेसके ज्ञानकाण्डभागमें वसिष्ठ-भुशुण्डि-संवादसे उद्‌धृत।

भावना करता हूँ और जब तत्त्वोंका नाश होता है तब मैं ब्रह्माण्ड खप्पड़के पार चला जाता हूँ। जब फिर सृष्टि उत्पन्न होती है तब मैं फिर इसी नीलगिरिके आलनेमें स्थित होता हूँ। ऐसे ही अनेक बार सृष्टि उत्पन्न और लय होती है।

जो मुझको स्मरण है वह आपसे कहता हूँ। जो अवतार विष्णुके हुए हैं वह श्रवण कीजिये। १२ अवतार कच्छपजीके हुए, ३ अवतार वराहजीके हिरण्याक्षसे पृथ्वीरक्षाके लिये और ३ नृसिंहजीके प्रह्लादकी रक्षाके लिये हुए, ६ अवतार परशुरामजीके हुए।……बहुत युगोंके बाद एक सृष्टि ऐसी हुई जो पूर्व सृष्टिके विपरीत थी, शास्त्र और तरहके और पुराणोंके अर्थ और तरहके थे। एक कल्पमें शास्त्रोंके पाठ और ही प्रकारके थे। युग-युग प्रति भिन्न-भिन्न पुराण होते हैं, कभी देवता करते कभी ऋषीश्वर, कभी मुनीश्वर, इतिहासकथा भी विचित्र-विचित्र कहते हैं। १२ बार वाल्मीकिजीने रामायण कही, दो बार व्यासजीने महाभारत कहा। दूसरे जीव नामक व्यासने सात बार महाभारत कहा। इस प्रकार नाना शास्त्रपुराण हुए। ११ अवतार विष्णुजीने दैत्योंके मारनेको रामावतार धारण किये और १६ अवतार श्रीकृष्णचन्द्रजीके हुए। एक बार सृष्टिमें तृण-ही-तृण हुए और वृक्ष, और कुछ न हुआ फिर सब अग्निसे जल गये। ११ हजार वर्ष भस्म ही दृष्टिगोचर होती रही। एक बार चन्द्र-सूर्य उत्पन्न न हुए, रात्रि-दिन न जान पड़े, सुमेरुके रत्नोंका प्रकाश रहता था। एक बार देवता-दैत्य-युद्धमें सब देवता मारे गये, केवल ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और दैत्य रह गये। २० युगोंतक दैत्य ही राज्य करते रहे। एक बार युगपर्यन्त पर्वत ही रहे और कोई सृष्टि न भासती थी। एक बार जल-ही-जल हो गया, केवल सुमेरु देख पड़ता था। एक बार देवता-दैत्य-मनुष्य कुछ भी न हुए। एक बार ब्राह्मण मद्यपान करते थे, शूद्र बड़े बन बैठे और जीवोंमें विपर्यय धर्म होते थे। एक बार पर्वत न हुए। एक बार सूर्य-चन्द्र लुप्त हो गये, विष्णुको गरुड़ न मिला, ब्रह्माको हंस न मिला, शिवको बैल न मिला—सब बिना वाहन ही रहे; फिर आप (वसिष्ठजी) उत्पन्न हुए और भरद्वाज, पुलस्त्य, नारद, इन्द्र, मरीचि इत्यादि हुए।……आपके ८ अवतार हुए, कभी जलसे, कभी आकाशसे, कभी पहाड़से, कभी पवनसे, कभी अग्निसे। प्रलय कल्पके बाद मैं इसी पर्वतके वृक्षपर रहता हूँ। परमात्माकी ऐसी ही नीति है, कोई उस नीतिका उल्लंघन नहीं कर सकता। (ब्रह्मानन्दमंजरी पृष्ठ १३६। १३८)।

करु०—*'सुमिरेसु भजेसु……'* इति। सुमिरन अर्थात् चित्तकी वृत्ति अखण्ड एकरस सर्वकालमें बनी रहे। भजन=सेवा। **सुमिरेसु भजेसु**=बाह्यान्तर-भागवत कैंकर्य प्रतिमामें और मानसीमें मन-वचन-कर्मसे लगा रहे। दोनों वस्तुतः एक ही हैं।

वि० त्रि०—*'कबहूँ काल……मोही'* इति। जीव तो नित्य है, वह कभी नहीं मरता, यथा—*'जीव नित्य तुम्ह केहि लगि रोवा।'* तब मृत्यु क्या है? इस प्रश्नका शास्त्र उत्तर देता है कि **'प्रमादो वै मृत्युः'** प्रमाद ही मृत्यु है। यदि प्रमाद न हो तो मृत्यु कोई वस्तु नहीं रह जाती। शरीरका परिवर्तन भी उसके लिये मृत्यु नहीं है, वह तो *'जिमि नूतन पट पहिरै नर परिहरै पुरान'* बस इतना ही रह जाता है। अतः निरन्तर स्मरण-भजन करनेवालेको मृत्यु कहाँ। यहाँ सरकारने प्राणिमात्रके लिये मृत्युसे बचनेका उपाय बतला दिया।

रा० शं० श०—*'कबहूँ काल न ब्यापिहि'* इसका प्रमाण श्रीजानकीजी हैं—*'नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहि बाट॥'* (५। ३०) 'निरन्तर', यथा—*'अति अनन्य जे हरिके दासा। रटहिं नाम निसिदिन प्रति स्वासा॥'* (वै० सं०)

रा० प्र० १—*'न अघाऊँ।'* अमृतके दो गुण तोष-स्वाद (माधुरी) और मरणभयवर्जित हैं, पर प्रभुके वचनामृतसे तोष नहीं होता, जी अघाता नहीं। २—*'मन अति हरषाऊँ।'* मन जो एक कालावच्छिन्न कई इन्द्रियोंका धर्म एक साथ ले सकता है सो पहले ही लीन हो गया।

नोट—३ (क) *'सो सुख जानै मन अरु काना।'* मनमें वचन सुनकर आनन्दका अनुभव हुआ, उसका स्वाद मिला और कानोंने सुना; अतः श्रवणका सुख और जो आनन्द मनको हुआ वह यही दो

यथार्थ जानते हैं, वर्णन करना इनका विषय नहीं है, वर्णन तो जिह्वासे ही होता है पर इनके जिह्वा है नहीं, अतः ये जानते हैं किंतु कहें कैसे? रसनाका विषय दर्शन या श्रवण नहीं है, अतः जब उसने सुना ही नहीं और न उस सुखका अनुभव ही उसे हुआ तब वह कहेगी क्या? अतएव रसना कहनेको असमर्थ है। (ख)*'नहिं रसना पहिं पाइ बखाना'* कहकर उसे अनिर्वाच्य परम सुख जनाया। चौ० ४ भी देखिये।

खर्रा—*'सो सुख जानै मन अरु काना।……'* इति। 'श्रोतुं मनोऽभिरामात्।' प्रभुके वचन सुनकर मन आसक्त हुआ है। मनके आसक्त होनेसे समस्त इन्द्रियाँ आसक्त हो गयीं। अतः बखाना नहीं जाता। यथा—*'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही॥'*, *'कोउ कछु कहइ न पारइ।'*, *'कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूँछा।'* (२। २४२), *'सोक बिबस कछु कहै न पारा।'* (२। ४४)

प्रभु सोभा सुख जानहिं नयना। कहि किमि सकहिं तिन्हहि नहिं बयना॥ ४॥
बहु बिधि मोहि प्रबोधि सुख देई। लगे करन सिसु कौतुक तेई॥ ५॥

अर्थ—प्रभुकी शोभाका सुख नेत्र जानते हैं पर वे कह कैसे सकें उनके वाणी तो है नहीं?॥ ४॥ बहुत प्रकार मुझे समझाकर सुख देकर फिर वही शिशुलीला करने लगे॥ ५॥

वै०—*'बहु बिधि'* अर्थात् जो ऊपर बहुत प्रकारसे समझाया है वही *'बहु बिधि'* है। *'तेई'* जो ऊपर कह आये हैं—*'किलकत मोहि धरन जब धावहिं'* से *'जाउँ समीप गहन पद फिर फिरि चितै पराहिं'* तक तथा अन्य क्रीड़ाएँ जो पूर्व करते रहे थे, वे सब *'तेई'* से जनायीं।

नोट—१ *'प्रभु सोभा……कहि किमि सकहिं……'* इति। भाव कि शोभाका दर्शन नेत्रका विषय है। नेत्रका विषय वाणी नहीं है। नेत्रके जिह्वा भी होती तो वे देखकर कह सकते। जो देखे वही यथार्थ कह सके। आशय यह कि शोभा अवर्णनीय है। मिलान कीजिये तथा देखिये—*'स्याम गौर किमि कहउँ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी॥'* (१। २२९। २) [मन, श्रवण और नेत्र तीनोंके रसना नहीं है, अतः वे वाणीका सुख और तनकी शोभा नहीं कह सकते। (करु०)]

२—*'बहु बिधि।'*—(१) वरदान देकर—*'एवमस्तु कहि।'* (२) मेरी बुद्धिकी प्रशंसा करके—*'सुनु बायस……'* से *'मागेहु भगति……'* तक। (३) अपनी प्रसन्नता कहकर—*'रीझेउँ'* (४) सर्वगुणसम्पन्न बनाकर—*'सुनु बिहंग……'* से *'मम प्रसाद……'* तक (५) मायारहित करके—*'माया संभव भ्रम।'* (६) यह उपदेश देकर कि *'ब्रह्म अनादि अज अगुन गुनाकर'* हमें जानना। (७) *'कर्म बचन मन मम पद करेसु अचल अनुराग।'* (८) *'मोहि भगत प्रिय संतत अस बिचारि'* (९) निज 'सिद्धान्त' 'परम विमल वाणी' सुनाकर। (१०) बारम्बार प्रतिज्ञा करके कि शुचि सेवक मुझे प्राणप्रिय है और तू शुचि सेवक है यह जानकर। (११) कालसे अभय करके, इत्यादि बहु विधिसे समझाना कहा।

३—*'सोउ जाने कर फलु यह लीला'* जो शिवजीने कहा था उसको यहाँ चरितार्थ किया है। ऐश्वर्य जाननेपर इस लीलाका सुख अब भुशुण्डिजीको प्रभु फिर देने लगे। ऐश्वर्य जाननेपर लीलामें सुख मिलता है।

श्रीरामगीता समाप्त हुई।

सजल नयन कछु मुख करि रूखा। चितइ मातु लागी अति भूखा॥ ६॥
देखि मातु आतुर उठि धाई। कहि मृदु बचन लिये उर लाई॥ ७॥
गोद राखि कराव पय पाना। रघुपति चरित ललित कर गाना॥ ८॥

अर्थ—नेत्रोंमें आँसू भरकर और मुखको कुछ रूखा (उदास) करके (प्रभुने) माताकी ओर देख (सूचित किया कि) अत्यन्त भूख लगी॥ ६॥ माता देखकर बड़ी शीघ्रतासे उठ दौड़ी और कोमल वचन कहकर छातीसे लगा लिया॥ ७॥ गोदमें लेकर दूध पिलाती हैं और रघुनाथजीके सुन्दर चरित गान करती हैं॥ ८॥

पं०—*'चितइ मातु लागी……'* अर्थात् दृष्टि और चेष्टासे भूख जनायी, अभी बोल नहीं सकते।

रा० प्र०—१ *'चितइ मातु लागी……'* अर्थात् देखकर कहा कि बड़ी भूख लगी है। २—*'कहि*

मृदु बचन' जिसमें रोने न लगें। '*कर गाना*' से आनन्दकी उमंग जनायी। '*मृदु बचन*' जैसे कि मैं तेरी बलैया लूँ, बलिहारी जाऊँ, बड़ी भूख लगी है, अभी दूध पियो इत्यादि। गीतावलीमें मृदु वचनके उदाहरण; यथा—'*बाछरू छबीलो छौना छगन मगन मेरे कहति मल्हाइ मल्हाइ।*' '*ललन लोने लैरुआ बलि मैया।*', '*पौढ़िये लाल पालने हौं झुलावौं। कर पद मुख चख कमल लसत लखि लोचन भँवर भुलावौं॥—चारु चरित रघुबर तेरे मिलि गाइ चरन चित लावौं॥*' (गी० १५)

नोट—'*रघुपति चरित ललित*' इति। मनुष्योंके बालकोंके समान जो बालकेलि प्रभु कर रहे हैं। जिनमें ऐश्वर्यकी किंचित् भी झलक नहीं है उन्हें नर-लीला होनेसे ललित कहा, यथा—'*मैं कछु करब ललित नर लीला।*' '*कर गाना*', यथा—'*सुभग सेज सोहत कौसल्या रुचिर राम सिसु गोद लिये। बार बार बिधु बदन बिलोकति लोचन चारु चकोर किये॥ कबहुँ पौढ़ि पय पान करावति कबहुँक राखत लाइ हिये। बालकेलि गावत हलरावत पुलकित प्रेमपियूष पिये॥ बिधि महेस मुनि सुर सिहात सब देखत अंबुद ओट दिये। तुलसिदास ऐसो सुख रघुपति पै काहु तो पायो न बिये॥*' (गी० बा० ७)

सो०—जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद।
अवधपुरी नर नारि तेहि सुख महुँ संतत मगन॥
सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहुँ लहेउ।
ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहि सज्जन सुमति॥ ८८॥

अर्थ—जिस सुखके (आस्वादनके) लिये सुख देनेवाले कल्याण-स्वरूप त्रिपुरारि श्रीशिवजीने अमंगल वेष धारण किया* उस सुखमें अवधपुरीके स्त्री-पुरुष सदैव डूबे रहते हैं। उस सुखका लवलेशमात्र जिन्होंने एक बार स्वप्नमें भी प्राप्त किया, हे खगेश! वे सुन्दर बुद्धिमान् सज्जन ब्रह्मसुखको कुछ नहीं गिनते॥ ८८॥

पं०, पं० रा० व० श०—जितने ही संसारसे विरक्त रहेंगे उतना ही प्रभुका सब प्रकारका सुख मिलेगा। अशुभ वेष होनेसे विशेष सम्पर्क न होगा। अतः अशुभ वेष धारण किये रहते हैं।

नोट—१ '*जेहि सुख लागि*' इति। यहाँ बाल-चरितका सुख अभिप्रेत है क्योंकि यहाँ वही प्रसंग है। पूर्व लिखा जा चुका है कि बालरूप ही भगवान् शंकरका इष्टस्वरूप है जैसा कि '*बंदौं बालरूप सोइ रामू।*' (१। ११२। ३) से स्पष्ट है। यही उपासना उन्होंने लोमशजीद्वारा भुशुण्डिजीको दी। [पं०—'*जेहि सुख*'=दर्शनरूपी सुख]

२—'*असुभ बेष कृत सिव सुखद*' इति। गलेमें मुण्डमाल, सर्पहीके मुकुट और आभूषण धारण किये, विभूति लगाये, बाघम्बर पहिने इत्यादि 'अशुभ वेष' है। बालकेलिका सुख प्राप्त करनेके लिये शिवजी ऐसा वेष बनाकर अवधपुरीमें श्रीरामावतार होनेपर आया करते हैं। इस स्वरूपको देखकर प्रभु प्रसन्न होते हैं, किलकारी मारकर हँसते हैं—(करु०)। [वै०—शिवजी अमंगल उदासीन वेष किये रहते हैं जिसमें ध्यान स्थिर बना रहे, प्रेमानन्द खण्डित न हो।]

३—अमंगल वेष होनेसे दूसरोंका अमंगल होता होगा, यह सन्देह निवारण करनेके लिये '*सिव सुखद*' और '*पुरारि*' विशेषण दिये। भाव कि वे 'शिव' अर्थात् कल्याणस्वरूप हैं, अशुभवेष धारण करनेसे वे अकल्याणकर्ता कैसे हो सकते हैं? सुखद हैं, त्रिपुर दैत्यको मारकर तीनों लोकोंको सुखी किया था। मिलान कीजिये तथा देखिये—'*साजु अमंगल मंगलरासी।*' (१। २६), '*कुंडल कंकन पहिरे ब्याला। तन बिभूति पट केहरि छाला। गरल कंठ उर नर सिर माला। असिव बेष सिवधाम कृपाला॥*' (१। ९२। २—४) '*भुजग भूति भूषन त्रिपुरारी। आनन सरदचंद छबि हारी॥*' (१। १०६)

---

* अर्थान्तर 'जिस सुखमें लगकर त्रिपुरारि शिवजी अमंगल वेष किये रहनेपर भी आनन्ददाता हैं।' पां०—अशुभवेष धरकर अर्थात् चोर बनकर जाते हैं।

४ *'तेहि सुख महुँ संतत मगन'* इति। इस कथनसे अवधवासियोंको उनसे भी अधिक बड़भागी जनाया। *'पुरारि......'* कहकर तब *'तेहि सुख......'* कहनेका भाव कि ऐसे समर्थ ईश्वर भी सुखके लिये लालायित रहते हैं, पर उनको भी अशुभ वेष बनानेपर भी सदा यह सुख नहीं प्राप्त होता और अवधवासी दिन-रात उसी सुखमें डूबे रहते हैं। [पं०—शिवजी इस सुखके लिये जगत्‌से न्यारे अर्थात् असंग रहते हैं। अवधवासी सर्व व्यवहार करते हुए भी वही दर्शन-सुख सतत लेते हैं।]

'लवलेश'। 'लव' बहुत थोड़ेका वाचक है। पुनः, 'लव' निमेषके ६० वें भागको भी कहते हैं। लेश=अणु, सूक्ष्मता, संसर्ग, लगाव। लव और लेश दोनों देकर अत्यन्त किञ्चित् वा अत्यन्त अल्पकालका अर्थ सूचित किया। पुनः, ५४०० परमाणुका एक लव होता है (भा० ३। ११)। इसका लेश कहकर एक परमाणुसे भी कम भाग अर्थात् सूक्ष्मातिसूक्ष्म-बराबर भी सुख जनाया जिससे सूक्ष्म हो ही न सके उतनी मात्रा।

५ *'ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहि सज्जन सुमति'* इति। (क) ब्रह्मसुख आनन्दकी अवधि है। प्रभुके रूप, गुण, वाणी, चरित इत्यादिके सुखके आगे ब्रह्मसुखको तुच्छ समझते हैं, यह कहकर उसकी अतिशय उत्कृष्टता दिखायी। (ख) *'सज्जन सुमति'* का भाव कि जो सुंदर मतिमान् सज्जन हैं उनका यह हाल है। जो असज्जन एवं दुर्बुद्धि हैं उनको वह सुख नहीं प्राप्त होता। श्रीजनकजी और श्रीसनकादिकजी उदाहरणस्वरूप हैं, यथा—*'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥', 'चरित सुनहिं तजि ध्यान।', 'अहमम मलिन जन'* को नहीं मिलता।

मैं पुनि अवध रहेउँ कछु काला। देखेउँ बाल बिनोद रसाला॥ १॥
राम प्रसाद भगति बर पाएउँ। प्रभुपद बंदि निजाश्रम आएउँ॥ २॥
तब ते मोहि न ब्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया॥ ३॥
यह सब गुप्त चरित मैं गावा। हरिमाया जिमि मोहि नचावा॥ ४॥

अर्थ—फिर (इस चरितके पश्चात्) कुछ समयतक मैं अवधमें रहा और रसीले बाल-विनोद देखे॥ १॥ श्रीरामजीकी कृपासे मैंने भक्तिका वरदान पाया। प्रभुके चरणोंकी वन्दना करके मैं अपने आश्रमपर आया॥ २॥ जबसे श्रीरघुनाथजीने मुझे अपना लिया तबसे मुझे माया नहीं व्यापी॥ ३॥ भगवान्‌की मायाने जैसे मुझे नचाया वह सब गुप्त चरित मैंने कहा॥ ४॥

नोट—१ *'कछु काला'* अर्थात् पाँचवें वर्षकी समाप्तितक। यथा—*'बरष पाँच तहँ रहउँ लुभाई।'* (७५। ४) यहाँ उपासनाकी अनन्यता और आदर्श दिखाया कि शैशवावस्था छोड़कर दूसरी अवस्थामें नहीं रहते। यह बालकरूप राममें अनन्यताका आदर्श है। २—*'बाल बिनोद रसाला'*—विशेष रस अर्थात् आनन्दमय होनेसे रसाला कहा। ३—*'प्रभुपद बंदि'*—यह विदाई तथा कृतज्ञता एवं स्वामी-सेवक-भावानुकूल है तथा अपना कृतकृत्य होना जनाता है। ४—*'जब ते रघुनायक अपनाया'* का भाव कि प्रभुके अपनानेसे ही माया छूटती है अन्यथा नहीं। अपनाया अर्थात् कृपादृष्टि करके मायाका अपहरण कर लिया, यही अपनानेका लक्षण है, यथा—*'करि करुना भरि नयन बिलोकहु तब जानौं अपनायो'* (गी० ५। ४४। विभीषणवाक्य) और प्रभुने इनपर कृपादृष्टि की है—*'प्रेमाकुल प्रभु मोहि बिलोकी', 'मायासंभव भ्रम सकल अब न ब्यापिहहिं तोहि।'*—यही अपनाना है। विनयमें अपनानेके लक्षण इस प्रकार कहे हैं—*'तुम्ह अपनायो तब जानिहौं जब मन फिरि परिहै। जेहि सुभाय बिषयन्हि लग्यो तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै॥ सुत की प्रीति प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरिहै। आपनो सो स्वारथ स्वामी सों चहुँ बिधि चातक ज्यों एक टेक तें नहिं टरिहै॥ हरषिहै न अति आदरे निदरे न जरि मरिहै। हानि लाभ दुख सुख सबै सम चित हित अनहित कलि कुचाल परिहरिहै॥ प्रभु गुन सुनि मन हरषिहै नीर नयनन्हि ढरिहै। तुलसिदास भयो राम को बिस्वास प्रेम लखि आनँद उमगि उर भरिहै॥'* (वि० २६८)—ये सब लक्षण श्रीभुशुण्डिजीमें तो पहलेसे थे, पर उन्होंने अपनाना तब माना जब प्रभुने उन्हें सदाके लिये मायाविगत कर दिया। इसी तरह भक्त जितना

भक्तिमें बढ़ता है उतना ही वह अपनेमें त्रुटियोंका अनुभव करता है और जबतक वह इस तरह अपनाया नहीं जाता, वह सुखी नहीं होता। ☞ यह हम लोगोंके लिये उपदेश है। जबतक मायारहित न हो, अपनाया हुआ न समझे। ५—*'यह सब गुप्त चरित मैं गावा'* इति। भाव कि यह प्रभुका रहस्य अबतक किसीसे कहा न था। यह रहस्य और अपना मोह सब किसीसे कहनेकी बातें नहीं हैं अतः गुप्त रखा था। इसीसे प्रारम्भमें कहा था कि *'परम रहस्य मनोहर गावउँ।'* रहस्य गोपनीय वस्तु है। [रा० प्र०—गुप्तका भाव कि यह चरित मैं ही जानता हूँ दूसरा नहीं।]

वि० त्रि०—*'यह सब गुप्त—नचावा।'* इति। *'सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुप्त प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥'* इस अर्धालीमें गुप्त चरितका उल्लेख किया है। प्रश्न उठता है कि वे गुप्त चरित कौन-से हैं? सीधा-सा उत्तर है कि जिसे चरित्रके देखनेवाले भी न जान सकें। *'तेहि कौतुक कर मर्म न काहू। जाना अनुज न मातु पिताहू॥'* केवल मैं जान सका। क्योंकि सरकारकी इच्छा ही ऐसी थी। अतः इस चरितको गुप्त कहा। इसी भाँति सीताजीको अग्निमें रखना आदि चरित्र भी गुप्त चरित्र कहे जाते हैं।

उपक्रम	उपसंहार
७८ (१) *रघुपति प्रेरित ब्यापी माया।*	१ *हरिमाया जिमि मोहि नचावा* ८९ (४)
७५ (३) *तब तब अवधपुरी मैं जाऊँ बालचरित बिलोकि हरषाऊँ*	२ *प्रभुपद बंदि निजाश्रम आयउँ* ८९ (२) ३ *देखेउँ बालबिनोद रसाला* ८९ (१)
७४ (२) *जेहि बिधि मोह भयउ प्रभु मोही। सोउ सब कथा सुनावउँ तोही॥*	४ *यह सब गुप्त चरित मैं गावा।*
७४ (४) *परम रहस्य मनोहर गावउँ*	*हरिमाया जिमि मोहि नचावा॥ ८९। ४॥*

☞ पूर्व-प्रसंग समाप्त करके आगे अनन्यशरणागति दृढ़ कराते हैं।

भुशुण्डिजीका 'निज अनुभव'

निज अनुभव अब कहौं खगेसा। बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा॥ ५॥
रामकृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥ ६॥
जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ ७॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**अनुभव**=वह ज्ञान जो साक्षात् करनेसे अथवा परीक्षाद्वारा प्राप्त हो=स्मृति-भिन्न ज्ञान।

अर्थ—खगेश! अब मैं अपना अनुभव किया हुआ सिद्धान्त कहता हूँ। (वह यह है कि) बिना भगवद्भजनके क्लेश दूर नहीं होते॥ ५॥ हे खगराज! सुनो, बिना रामकृपाके श्रीरामजीकी प्रभुता जानी नहीं जा सकती॥ ६॥ बिना (महिमा) जाने विश्वास नहीं होता और बिना विश्वासके प्रीति नहीं होती॥ ७॥ बिना प्रीतिके भक्ति दृढ़ नहीं होती* जैसे कि हे खगपति! (बिना तेलके) जलकी चिकनाई (दृढ़ नहीं रहती)†॥ ८॥

रा० शं० श०—*'अब कहौं'* का भाव कि अभीतक तो श्रीरामजीका कहा हुआ उनका सिद्धान्त कहा, अब जो मैंने स्वयं अनुभव किया है उसे कहता हूँ।

नोट—१ (क) *'बिनु हरि भजन—'* इति। इसीसे पूर्व उपक्रम किया था। यथा—*'ऐसेहि बिनु हरि भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥'* (७९। १) क्लेश—७९ (१) देखिये। (ख) *'बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा'* यथा—*'तुलसिदास रघुनाथ बिमुख नहिं मिटै बिपति कबहूँ।'* (वि० ८६), *'जब कब रामकृपा दुख जाई। तुलसिदास नहिं आन उपाई॥'* (वि० १२७) यह *'निज अनुभव'* कहा। आगे इस सिद्धान्तकी पुष्टि करते हैं, अतः फिर *'सुनु खगराई'* कहा। (ग) वक्ता प्रायः सबकी कहकर श्रोताको दृढ़ करनेके लिये अपना अनुभव-सिद्धान्त कहा करते हैं। यहाँ गरुड़में भक्ति दृढ़ करनेके

* कारणमाला, प्रथमविनोक्ति। † उदाहरण, अलंकार।

लिये निज अनुभव कहा, यथा—'*अस बिचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय सकल। भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुंदर सुखद॥*' (९०) इसी प्रकार शिवजीने अपना अनुभव पार्वतीजीसे कहा है, यथा—'*उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना॥*' (३। ३९। ५) यहाँ कारणमाला अलंकार है। बिना हरिभजनके क्लेश नहीं जाते, यह कहकर '*रामकृपा बिनु—*' कहनेसे सूचित हुआ कि क्लेशका जाना यह रामकृपा ही है। रामभजनसे क्लेश मिटते हैं अर्थात् रामकृपा होती है, यथा—'*मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥*' (१। २००। ६) कृपासे प्रभुताका ज्ञान, प्रभुताके ज्ञानसे प्रभुमें विश्वास, विश्वाससे प्रेम और प्रेमसे दृढ़ भक्ति होती है। इस प्रकार रामभजनसे कृपा, क्लेशनाश, प्रभुताका ज्ञान, प्रभुमें विश्वास, प्रभुमें प्रेम और दृढ़भक्ति सबकी प्राप्ति दिखायी। रामभजन ही साधन और रामभक्ति ही साध्य है।

जाननेसे प्रतीति, उससे प्रीति तब भक्ति, इसे सुग्रीवमें भी चरितार्थ देखिये—'*देखि अमित बल बाढ़ी प्रीती। बालि बधब इन्ह भइ परतीती॥ बार बार नावइ पद सीसा। प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा॥ उपजा ग्यान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भएउ अलोला॥*' (४। ७। १३—१५)

२ '*रामकृपा बिनु—जानि न जाइ—*', यथा—'*तुम्हरे भजन प्रभाव अघारी। महिमा जानउँ कछुक तुम्हारी॥*' (३। १३। ५) अगस्त्यजीके वाक्यमें बीचकी सीढ़ी 'रामकृपा' नहीं कही है। 'भजन' में ही उसका ग्रहण वहाँ समझ लेना चाहिये। भजनका प्रभाव कृपा है और कृपासे महिमाका ज्ञान हुआ।

करु०—रामकृपा तब समझी जाय जब विशुद्ध संत मिलें, यथा—'*संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥*' (६९। ७)

वै०—'*जानि न जाइ—दिढ़ाई*' का भाव यह है कि ऐश्वर्यको यथार्थ जाने बिना प्राकृत नरनाट्य देख माधुर्यरूपमें प्रतीति नहीं होती कि ये सच्चिदानन्द ब्रह्म हैं, बिना इसके प्रीति हुई भी तो वह स्थिर नहीं रहती, बुद्धि थोड़ेहीमें भ्रमित हो जाती है।

नोट—३ '*जल कै चिकनाई*' इति। 'चिकनाई' के अर्थ हैं—'घी, तेल वा स्निग्ध पदार्थ', 'चिकनाहट', 'चिकनापन', 'स्निग्धता'। इसीके अनुसार लोगोंने दो-तीन अर्थ किये हैं—

(१) 'शरीरपर जल चुपड़ दें तो उस समय उसपर चिकनाहट आ जाती है, पर थोड़ी ही देरमें जल सूखनेपर शरीर रूखा हो जाता है। इसी तरह प्रीतिके बिना भक्ति स्थिर नहीं रह सकती। किंचित्काल रहेगी फिर जाती रहेगी।' (पां)। इस तरह ['*जल कै चिकनाई*' =जलसे किया हुआ चिकनापन।=जलमें जो चिकनापन है वह]

(२) जैसे जलमें घी, तेल आदि चिकनाई छोड़ देनेसे वह ऊपर ही उतराता रहता है, स्थिर नहीं होता, वैसे ही बिना प्रीतिके भक्ति अन्तःकरणमें पक्की नहीं होती (पां०)। इस तरह जल कै=जलपर डाली हुई।

(३) जबतक जलमें रहो तबतक जलकी चिकनाहट रहती है, उससे निकलनेपर चिकनाहट जाती रहती है, वैसे ही बिना प्रेमके भक्ति दृढ़ नहीं रहती, जबतक संतसंगका संयोग रहा, कथा-वार्त्ता सुनते रहे, तबतक भक्ति बनी रही, संग छूटा कि वह जाती रही। (करु०)

(४) 'जैसे जलके ऊपर चिकनाई तुरंत लख पड़ती है चिरथाई नहीं'। (अज्ञात)

(५) पं०—अर्थ है कि जैसे जलके बिना स्निग्धता नहीं होती है।

☞ मिलान कीजिये—'*तुलसी सहज सनेह राम बस और सबै जलकी चिकनाई।*' (वि० २४०)

(६) नंगे परमहंसजी—'*जिमि खगपति जल कै चिकनाई*' इति। 'जैसे जलकी चिकनाई दृढ़ नहीं रहती है। जब जलमें पवन हिलोरा उठा देता है तब जलकी चिकनाई मिट जाती है। और जब जलमें पवन शान्त हो जाता है तब बीची न उठनेसे जलमें चिकनाई आ जाती है। वैसे ही जलरूप श्रीरामजीकी भक्तिमें जब पवनरूप वासना मनमें आ गयी तब जलकी चिकनाई मिट जानेरूप भक्ति छूट गयी। जब पवनरूप वासना शान्त हो गयी तब फिर जलकी चिकनाईरूप भक्ति आ गयी और जब श्रीरामजीके चरणोंमें प्रीति हो जाती है तब मन निर्वासनिक हो जानेसे भक्ति दृढ़ हो जाती है। प्रमाण—'*मन ते सकल बासना*

भागी। केवल रामचरन लव लागी॥' जल-स्थान श्रीरामजी हैं चिकनाईरूप भक्ति है। किसी महात्माने जलकी चिकनाईका यह अर्थ किया है कि *'जब जलके भीतर रह्यो तब ताईं शरीरमें चिकनाई बनी रही है और जब जलसे निकस्यो तब जलकी चिकनाई जाती रही।'* परंतु ऐसा अर्थ करनेसे शब्ददोष उपस्थित हो जाता है, क्योंकि शब्द तो यह है कि जलकी चिकनाई नहीं दृढ़ रहती है और महात्माजी नहानेके बाद शरीरमें जलकी चिकनाई लिखते हैं यह शब्ददोष है। पुनः; जलतत्त्वमें चिकनापन नहीं रहता है, जलमें तो शीतलत्वगुण है। चिकनापन तो घृत व तैलमें रहता है। अतः जलमें चिकनाईका अर्थ करना अयोग्य है।'

(७) गौड़जी—पाठ 'जल कै चिकनाई' है, 'जल पर चिकनाई' नहीं है। अतः जलके ऊपर तैलबिन्दुकी चञ्चलतावाला अर्थ यहाँ नहीं घटता। जलमें चिकनाई अवश्य होती है। क्योंकि जलतत्त्वमें शब्द, स्पर्श, रूप और रस इन चारों विषयोंका भाव है। साधारण जलमें चिकनाई तभीतक मालूम होती है जबतक वह त्वचासे संलग्न है। परंतु जलके सूखते देर नहीं लगती, चिकनाई उड़ जाती है। जलमें कोई गन्धवाला अस्थिर या उड़ जानेवाला तैल मिला हो तो भी चिकनाई दृढ़ नहीं हो सकती। स्थिर तैलोंकी, जैसे तिल, एरण्ड, सरसों, अलसी आदिके तैलोंकी चिकनाई स्थिर होती है। यह तैल यदि जलमें मिले हों तो इनकी चिकनाई स्थायी और दृढ़ होगी। अब प्रस्तुत प्रसंगको लीजिये।—प्रीतिका एक दूसरा पर्याय है 'स्नेह' और स्नेह तैलको भी कहते हैं। बिना प्रीतिके या बिना तैलके भक्ति या चिकनाई दृढ़ नहीं हो जाती, जैसे बिना तैलके पानीकी चिकनाई दृढ़ नहीं रहती।

इसपर यह शङ्का की जा सकती है कि 'गोस्वामीजीको यदि यहाँ प्रीतिकी तैलसे उपमा देनी होती तो 'स्नेह' शब्दका ही प्रयोग क्यों न करते? उससे छन्दोभङ्गका तो कोई भय न था?' तो इसका समाधान यह है कि प्रभुताके ज्ञानके साथ प्रतीति और प्रतीतिके साथ प्रीति शब्दका प्रयोग करते आये हैं। 'अलङ्कारकी रक्षाके लिये प्रीति शब्दका लाना बहुत जरूरी था और प्रीति शब्दकी जगहपर, 'स्नेह' वाले पर्यायकी ओर इशारेके साथ ही, 'चिकनाई' शब्दका प्रयोग हुआ है। इसके अन्वयमें 'जिमि खगपति के आगे 'स्नेह बिना' यह दो शब्द विवक्षित समझे जाने चाहिये। अन्वय इस प्रकार होगा—हे खगपति! प्रीति बिना भक्ति नहि दृढ़ाई जिमि स्नेह बिना जल कै चिकनाई नहीं दृढ़ाई।' और जो लोग यह अर्थ करते हैं, कि जलमें चिकनाई तभीतक रहती है जबतक वह शान्त रहता है और वासनाकी बयारिसे जब तरंगें उठती हैं तब चिकनाई नहीं रह जाती, वे भ्रममें हैं, क्योंकि जलमें स्पर्शगुण सदा मौजूद रहता है, अतः वह चिकना होगा अथवा खर होगा, किसी-न-किसी प्रकारका स्पर्शगुण अवश्य होना चाहिये। जलमें खरत्वका अभाव है, उसमें चिकनापन सदा बना रहता है। उस चिकनेपनको वायु मिटा नहीं सकती।

रा० शं०—१ सतीजीको शंकरजीने पहले बहुत उपदेश किया पर वह लगा नहीं। जब परीक्षामें महत्त्व जाना तब विश्वास हो गया और रामकथामें प्रीति हुई, यथा—*'तब कर अस बिमोह अब नाहीं। रामकथा पर रुचि मन माहीं॥'* २ श्रीपार्वतीजीके हृदयमें शंकरजीकी प्रीति थी—(*'नित नव चरन उपज अनुरागा। बिसरी देह तपहि मनु लागा॥'*)। इस कारण दृढ़ भक्ति ऐसी रही कि सप्तर्षिके बहुत कुछ खण्डन करनेपर भी वह नहीं हटी।

सो०—बिनु गुर होइ कि ज्ञान ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।
गावहिं बेद पुरान सुख कि लहिअ हरिभगति बिनु॥
कोउ बिश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु।
चलै कि जल बिनु नाव कोटि जतन पचि पचि मरिअ*॥८९॥

शब्दार्थ—**पचना**=बहुत अधिक परिश्रमके कारण शरीर, मस्तिष्क आदिका गलना, सूखना या क्षीण होना=बहुत दुःख सहना। 'पच मरना' मुहावरा है=जी तोड़कर बहुत अधिक परिश्रम करके कोई काम करना।

---

* का० में 'ज्ञान न होइ', 'लहहि', 'को बिश्राम' 'पचि मरै' है।

अर्थ—क्या गुरुके बिना ज्ञान हो सकता है? क्या बिना वैराग्यके ज्ञान हो सकता है?* (इसी प्रकार) वेद-पुराण कहते हैं कि क्या सुखकी प्राप्ति भगवान्‌की भक्तिके बिना हो सकती है? हे तात! स्वाभाविक संतोषके बिना क्या कोई शान्ति पा सकता है? क्या जलके बिना नाव चल सकती है, चाहे करोड़ों उपाय कर-करके पच-पच मरिये?॥ ८९॥

पं० रा० व० श०—*'बिनु गुर होइ कि ज्ञान ज्ञान कि होइ बिराग बिनु'* से जनाया कि ज्ञानके लिये गुरु और वैराग्य दोनों आवश्यक हैं। गुरुद्वारा ज्ञानकी प्राप्ति होती है, पर यदि वैराग्य न हुआ तो भी ज्ञान स्थिर न रहेगा, व्यर्थ हो जायगा। यथा—*'बादि बसन बिनु भूषन भारू। बादि बिरति बिनु ब्रह्म बिचारू॥'* (२। १७८। ४) ज्ञान दोनोंसे होता है, गुरुसे और वैराग्यसे भी। इसी प्रकार सुखप्राप्तिके दो कारण बताये—'सहज संतोष' और 'हरिभक्ति'। भाव कि हरिभक्ति होनेपर जब सहज संतोष प्राप्त हो जायगा तभी सुख होगा। और सहज संतोष होनेपर भी जबतक हरिभक्ति न होगी तबतक सुख न होगा। हरिभक्ति मूल है।

रा० प्र०—'गुरु बिना ज्ञान नहीं, विराग बिना ज्ञान नहीं' का भाव कि जब एकमें लगा रहेगा तब उसके विरुद्धमें (लगना) कठिन है।

पं०—तत्त्व यह कि तीव्रतर वैराग्य हो और श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु मिले तब पूर्ण ज्ञान होता है।

करु०—१ *'बिनु गुर होइ—'* इति। जैसे सूर्य और दर्पण दोनोंके संयोगसे मुख देख पड़ता है (अन्धकारमें वैराग्य दर्पण भी बेकार है), जैसे पति और पत्नी दोनोंके संयोगसे पुत्र उत्पन्न होता है वैसे ही यदि शिष्यमें वैराग्य नहीं है तो गुरुका उपदेश नहीं लगता और वैराग्य हो जाय तो भी बिना गुरुके शास्त्रादि पढ़नेसे ही ज्ञान नहीं हो सकता। इसी प्रकार सेवक-सेव्य-भाव बिना जीवका कल्याण नहीं। २—*'सहज संतोष'* यह है कि न आयेका हर्ष हो और न गयेका शोच।

रा० बा० दा०—१ शास्त्र अनेक पढ़ेपर जबतक आत्मदर्शी गुरुकी प्राप्ति नहीं हुई तबतक आत्मस्वरूपका तत्त्वत: ज्ञान नहीं हो सकता, ऐसा न होता तो शुकदेवजी जनकजीसे ज्ञानकी शिक्षा लेने क्यों जाते। २—स्वाभाविक संतोषसे सुख होता है—*'जथा लाभ संतोष सुख रघुपतिचरन सनेह।'* यहाँ संतोष जल है, वैराग्य नाव है।

गौड़जी—श्रीगीताजीमें ज्ञान और अज्ञानके लक्षण अध्याय १३ के ७ वें श्लोकसे लेकर ११ वें श्लोकतक भगवान्‌ने स्वयं कहे हैं। इनमें—'**इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च। जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥ असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु। नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥ विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥**' (८—१०) इन ८ वें और ९ वें श्लोकोंमें इन्द्रियके विषयोंसे वैराग्य, अहंकारहीनता, जन्ममृत्युजरा-व्याधिदुःखदोषोंका चिन्तन, सांसारिक वस्तुओंसे असंग, इष्टानिष्टके साथ समभाव, एकान्त-सेवन और भीड़-भड़क्केसे दूर रहना—इन सातोंको ज्ञानका ही रूप बताया है और ये हैं वास्तवमें 'वैराग्य'। अत: यह कहना कि वैराग्यके बिना ज्ञान नहीं हो सकता स्पष्ट ही है। जिन सब सामग्रियोंको हम ज्ञान कहते हैं, जब वही नहीं हैं तो ज्ञान कहाँसे हो सकता है? गुरुके बिना भी ज्ञानका होना असम्भव है। गुरु और आचार्य पर्यायवाची हैं। गुरुका अर्थ है—'अज्ञानके अन्धकारको नष्ट करनेवाला' और आचार्यका अर्थ है—'ठीक अर्थको बतानेवाला और आचरणद्वारा शिक्षा देनेवाला।' अन्धकार केवल पुस्तकके ज्ञानसे दूर नहीं हो सकता। वास्तविक व्यवहारहीसे दूर होता है। ज्ञानकी परिभाषा जो गीताजीमें की है उसमें आध्यात्मिक ज्ञानके लिये उसका नित्यत्व और तत्त्वज्ञानके साथ उसके अर्थका दर्शन बताया है। कोरे ज्ञानका कहीं स्थान नहीं है। वैराग्य तो सोलहों आना व्यावहारिक रूप है, इसीलिये एक ओर तो शिक्षा देनेवाला गुरु ज्ञानके लिये आवश्यक है; क्योंकि आचरणकी शिक्षा मिलनी चाहिये और तत्त्वज्ञानका यथार्थ दर्शन होना चाहिये, जो केवल पुस्तक पढ़नेसे सम्भव नहीं है।

दूसरी ओरसे शिष्यमें केवल मौखिक ज्ञान होनेसे काम नहीं चलनेका; क्योंकि वैराग्य उसकी आवश्यक सामग्री है। ऊपर लिखे सातों वैराग्यके आवश्यक अङ्गोंका शिष्यमें होना अनिवार्य है। इसीलिये गुरु और वैराग्य दोनोंके दोनों ज्ञानके लिये अनिवार्य हैं।

* १ वीर, पां०—अर्थ—'क्या ज्ञानके बिना वैराग्य हो सकता है?'

पं० प० प्र०—गुरुमुखसे महावाक्योपदेश श्रवण करके उसके पश्चात् मनन-निदिध्यासन करनेसे अपरोक्षानुभूतिरूप ज्ञानकी प्राप्ति होती है। पर जो शिष्य शुद्धचित्त (चित्तशुद्धियुक्त) न हों, जिनका मन चञ्चल हो, उनको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती; अतः उपदेशसे ज्ञानप्राप्तिका अधिकारी तीव्र वैराग्ययुक्त तीव्रतम मुमुक्षु ही है। यहाँके 'विराग' शब्दसे विवेक, वैराग्य, शमादि षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुता इन सबोंका ग्रहण करना चाहिये।

नोट—१ *'गावहिं बेद पुरान'* का भाव कि हम अपनेसे ही नहीं कहते, वेद-पुराण इसके प्रमाण हैं। *'सुख कि लहिअ हरिभगति बिनु'* का भाव कि हरिभक्तिसे ही सुख मिलता है, यथा—*'जिमि हरिसरन न एकउ बाधा।'* *'गावहिं बेद पुरान……हरिभगति बिनु'* यही आगे फिर अनेक दृष्टान्तोंद्वारा सिद्धान्त बताया गया है। यथा—*'श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥'* (१२२। १४)।'………*बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल॥'* (१२२) २—*'बिश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु'* इति। संतोषसे ही सुख होता है, यह बात आगे सिद्ध करते हैं, यथा—*'बिनु संतोष न काम नसाहीं……।'* *'सहज संतोष'* का भाव कि जन्मसे जो स्वाभाविक संतोष होता है वही विश्रामदाता है। ३—*'कोटि जतन पचि पचि मरिअ'* अर्थात् कष्टप्रद साधनोंमें प्राण क्यों न दे दें पर सुख न होगा।

बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं॥ १॥
रामभजन बिनु मिटहिं कि कामा। थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा॥ २॥
बिनु बिज्ञान कि समता आवै। कोउ अवकास कि नभ बिनु पावै॥ ३॥

शब्दार्थ—**अवकाश**=स्थान, जगह।

अर्थ—बिना संतोषके कामनाएँ नाश नहीं होतीं और कामनाओंके रहते सुख स्वप्नमें भी नहीं हो सकता॥ १॥ रामभजनके बिना क्या कामनाएँ मिट सकती हैं? (नहीं)। क्या बिना पृथ्वीके कभी वृक्ष जमा है? (कभी नहीं)॥ २॥ क्या विज्ञानके बिना सबमें समता-भाव आ सकता है? क्या बिना आकाशके कोई अवकाश पा सकता है? (कभी नहीं)॥ ३॥

नोट—१ (क) संतोषसे वासनाओंका नाश होता है, यथा—*'जिमि लोभहि सोषइ संतोषा।'* (४। १६। ३) संतोष न होनेसे कामना बनी रहती है, यथा—*'नहिं संतोष त पुनि कछु कहहू।'* (१। २७४। ७) (ख) *'काम अछत सुख सपनेहु नाहीं'* यथा—*'पाकारिजित काम बिश्रामहारी।'* (वि० ५८) *'सपनेहु नाहीं'* का भाव कि फिर जाग्रत्में कब हो सकता है। अर्थात् कभी नहीं हो सकता।

☞ यहाँ कामका नाश दो प्रकारसे कहा। एक तो संतोषसे, दूसरे रामभजनसे। इसी तरह ऊपर सुखके विषयमें कहा कि *'सुख कि लहिअ हरिभगति बिनु'* और यहाँ कहते हैं *'काम अछत सुख सपनेहु नाहीं।'* *'बिनु संतोष न काम नसाहीं'* और *'काम अछत सुख सपनेहु नाहीं'*—यह साधारणतः बोलचालमें कहा और*'सुख कि लहिअ'* *'मिटहिं कि कामा'* यह काकुद्वारा कहा। इसमें विशेष जोर है। इस वक्रोक्तिमें यह जोर है कि संतोष भी हो जाय तब भी यदि रामभजनविहीन है तो उस संतोषसे भी काम नष्ट न होगा, संतोषके लिये भी राम-भक्तिका होना परमावश्यक है। इसी प्रकार कामरहित होनेपर भी सुख प्राप्त होना असम्भव है यदि रामभजन न हुआ। तात्पर्य कि श्रीरामजीकी भक्ति करनेसे ही संतोष स्थिर रहेगा, उसीसे कामका सर्वथा नाश होगा और दृढ़ सुख प्राप्त होगा, अन्य किसी प्रकार नहीं। क्योंकि रामभजन करनेसे भगवान् स्वयं रक्षक बन जाते हैं—*'सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू॥'* (१। १२६। ८) यह बात *'थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा।'* से पुष्ट करते हैं। यदि पृथ्वी न हो तो पेड़ आकाशमें बिना मिट्टीके लग नहीं सकता वैसे ही रामभजन संतोषादितरुका थाल्हा है, बिना इसके वे नहीं हो सकते।

रा० प्र०—*'रामभजन बिनु मिटहिं कि कामा'* में भाव यह है कि भजनसे अवसर ही न मिलेगा कि काम-भावना उठे।

रा० शं०—*'रामभजन बिनु'* इति। काम वृक्ष है। इसका थल रामभजन-विमुखता है। जब यह थल होता है तब काम वृक्ष बना रहता है और जब भजन विमुखता मिटकर रामभजन होता है तब थल न रहनेसे कामवृक्ष भी नहीं रहता। राम-विमुखताको थल कहनेका भाव कि रामविमुखता ही भव है। रामभजन भवका काल है। जहाँ भव है वहाँ काम है। *'जहाँ राम तहँ काम नहिं।'*

वै०—१ *'बिनु संतोष न—'* इति। 'सहज स्वभावसे सन्तोष बना रहे तो किसी वस्तुकी कामना न उठेगी, तब वैराग्य होनेसे मनको विश्राम मिलेगा, वह परमार्थमें लगेगा। संतोष बिना न सुख और न कामका नाश होगा न सुख मिलेगा' यह कहकर आगे बताते हैं कि कामका नाश कैसे हो। रामभजन बिना काम नहीं मिटता, थल बिना वृक्ष नहीं जमता। भाव कि भजनरूप भूमिको पाकर अकाम अंकुरित होगा, जिससे विराग, विवेक और ज्ञानरूपी पत्र-शाखायुक्त विज्ञानवृक्ष होगा जिसके प्रभावसे समता आवेगी। समतासे श्रद्धा उपजेगी, उससे धर्ममें मन लगेगा, तब जप-तपादि साधन करेगा जिससे तेज बढ़ेगा। बुधकी संगतिसे शील स्वभाव होगा। जीव जब सुखी होगा तब मन स्थिर होगा, विश्वास होगा, तब जो साधन करेगा सब सिद्ध होंगे।—यह परमार्थ-मार्ग हुआ। इसमें सत्सङ्ग-प्रभावसे ज्ञान ले जानेवाला है। 'कुसंगसे, कामियोंके संगसे, विषयवार्तामें मन और सब इन्द्रियाँ जायेंगी। कामसे क्रोध और क्रोधसे मोह होकर जीव भवमें पड़ेगा।'

नोट—*'बिनु बिज्ञान कि समता—'* इति। विज्ञान होनेपर जीव सबको ब्रह्मरूप (चिदचिद्ब्रह्मरूप) देखने लगता है अथवा सबमें अपनी ही आत्माको, अपनेहीको देखता है, उसकी दृष्टिमें दूसरा रह ही नहीं जाता, इसीसे विषम-भाव कहीं नहीं रह जाता, सबमें सम-भाव हो जाता है। यथा—*'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।'* (११२) *'तब बिज्ञानरूपिनी बुद्धि बिसद घृत पाइ। चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दिअटि बनाइ॥'* (११७) ८६ (६) भी देखिये। समता-भाव किस प्रकार आता है यह पूर्व कई बार लिखा जा चुका है।

प० प० प्र०—यहाँ आकाशका दृष्टान्त देनेमें भाव यह है कि 'जैसे आकाश अदृश्य होनेपर भी सर्वव्यापक है वैसे ही **'कं ब्रह्म' 'खं ब्रह्म'** जो सकल इन्द्रियपर है, आकाशमें भी व्यापक है उसे उतनी ही (अर्थात् आकाशके समान) व्यापक दृष्टिसे बिना देखे समता न मिलेगी।'

नोट—*'रामभजन बिनु मिटहिं कि कामा।'* (९०। २) से लेकर *'बिनु हरि भजन न भव भय नासा।'* (९०। ८) तकके विशेष भाव आगे ९० (७-८) में दिये गये हैं।

वै०—*'बिनु बिज्ञान कि समता आवै—'* इति।—यहाँ वाच्यार्थ केवल दृष्टान्तमात्र यही है कि यथा बिना विज्ञान हुए जीवमें समता नहीं आती तथा बिना आकाशके किसीको सब ओर आने-जानेका अवकाश नहीं मिल सकता है। भावार्थ यह है कि वैराग्य हो, गुरुकृपासे ज्ञान हो, संतोष हो, कामका नाश हो, इतने बन्धन हों तब कहीं जीवको विज्ञान होकर समता आती है। जीव आकाश-तत्त्वमें न पड़े तो विषयादिमें न पड़े, नभमें पड़नेसे ही विषयोंमें पड़नेका अवकाश उसे मिलता है; नहीं तो बराबर समता बनी रहे। आकाशसे अवकाश इस तरह कि—आकाशतत्त्वकी इन्द्रिय कान है, कानका विषय शब्द है। शब्द कानमें पड़ते ही अन्तर्वृत्ति विषय-वासनामें फैली, तब जीव किसीको शत्रु और किसीको मित्र इत्यादि मानने लगा। असत् वार्ता न सुने तो मन क्यों विषय-सुखमें फैले। ☞ यहाँ प्रसंगभरमें यह दिखलाते हैं कि जीव कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, उसे अपनी इच्छासे वैराग्य, संतोष, विज्ञान इत्यादि तथा इन सबके मूल रामभजनमें लगना चाहिये। इसी तरह दृष्टान्तोंसे दिखाते हैं कि जीव स्व इच्छासे ही भवमार्गमें जाता है।

रा० प्र०—*'कोउ अवकास कि नभ बिनु पावै'* इति। अवकाश=अन्तरपोल। कुछ लोग आकाश नहीं मानते। वे *'खला मोहाल'* अर्थात् शून्य असम्भव कहते हैं, पर उन्हींके भाई समकक्ष मुमकिन अर्थात् असम्भव होना स्वीकार करते हैं।——थरमामीटर आदि शीतोष्ण-परीक्षक यन्त्र एक ओर बंद करनेसे उसमें पारा ऊपर चढ़ता है, बीचमें वायु नहीं है, तब उसमें पारा कैसे चढ़ता है? इसका समाधान आकाशतत्त्व माननेसे ही होगा। इसी तरह पृथ्वीमें खूँटा ठोकनेसे मिट्टी कहाँ चली जाती है यदि आकाश नहीं है?

श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। बिनु महि गंध कि पावै कोई॥ ४॥
बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा। जल बिनु रस कि होइ संसारा॥ ५॥
सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई। जिमि बिनु तेज न रूप गोसाँई॥ ६॥

अर्थ—बिना श्रद्धाके धर्म नहीं होता, क्या बिना पृथ्वी-(तत्त्व-) के कोई गन्ध पाता है?॥ ४॥ बिना तपके तेजका विस्तार कौन एवं क्या कोई कर सकता है? क्या जल-(तत्त्व-) के बिना संसारमें रस हो सकता है?॥ ५॥ क्या पण्डितजनकी सेवा बिना शील मिल सकता है? अर्थात् नहीं। जैसे कि हे गुसाईं! बिना तेज-(अग्नि-तत्त्व-) के रूप नहीं हो सकता॥ ६॥

नोट—१ '*श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई*' इति। वेद-शास्त्रों और पूज्य तथा आप्त पुरुषोंके वचनोंमें भक्ति 'श्रद्धा' है। समस्त धर्मोंके लिये श्रद्धा आवश्यक और अत्यन्त हितकारक है, श्रद्धासे मनुष्य इहलोक और परलोक प्राप्त करते हैं। श्रद्धासे पत्थरकी भी पूजा करे तो वह भी फलप्रद होती है। मन्त्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, गुरु आदिमें जैसी भावना होती है, वैसा ही फल मिलता है। यथा—'**श्रद्धा सर्वधर्मस्य चातीव हितकारिणी। श्रद्धयैव नृणां सिद्धिर्जायते लोकयोर्द्वयोः। श्रद्धया भजतः पुंसः शिलापि फलदायिनी॥**' (स्कन्दपु० ब्रह्मोत्तरखण्ड अ० १७। ३-४),——'**मन्त्रेतीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ। यादृशी भावना यत्र सिद्धिर्भवति तादृशी॥ ८॥**' जहाँ रुचि होती है वहीं श्रद्धा उत्पन्न होती है। क्योंकि 'अमुक साधन अपने अभिमत कार्यको सिद्ध कर सकेगा' इस विश्वासके साथ जो साधनमें शीघ्रता होती है, उसका नाम श्रद्धा है। मनुष्य जैसी श्रद्धासे युक्त होता है, उसीके सदृश फलका भोगी होता है। यथा—'**यो यच्छ्रद्धः स एव सः।**' (गीता १७। ३) कहनेका अभिप्राय यह है कि फलके संयोगमें श्रद्धा ही प्रधान है। यदि मनुष्य पुण्यकर्मविषयक श्रद्धासे युक्त होता है तो पुण्यकर्मके फलका भागी होता है। इसीसे धर्म-कर्मोंका करना जहाँ-जहाँ कहा गया है वहाँ-वहाँ उनका आदरपूर्वक अर्थात् श्रद्धासे करना कहा गया है। यथा—'***भगति सहित मुनि आहुति दीन्हें। प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हें॥***' (१। १८९), '***भूप धरम जे बेद बखाने। सकल करै सादर सनमाने॥***' (१। १५५) '***श्रद्धा भगति समेत प्रभु सो सब सादर कीन्ह।***' (२। २४७)

यदि पुण्यकर्मविषयक श्रद्धा मनमें नहीं है अथवा कर्ममें अश्रद्धा है तो उस पुण्यकर्मके करनेका फल भी कुछ नहीं होगा। यही बात भगवान्ने गीतामें '**अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्। असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥**' (१७। २८) इन शब्दोंसे कही है। अर्थात् अश्रद्धासे किये हुए शास्त्रविहित भी हवन, दान, तपा हुआ तप इत्यादि जो भी कर्म किये जाते हैं वे 'असत्' कहलाते हैं, क्योंकि वे न तो यहाँ लाभदायक हैं और न मरनेके बाद ही। अर्थात् वे न तो मोक्षके लिये उपयोगी होते हैं और न सांसारिक फलके लिये ही।

रा० शं० श०—श्रद्धाको पृथ्वी कहा, क्योंकि पृथ्वी सबको उत्पन्न करती है। श्रद्धासे ही धर्ममें प्रवृत्ति होती है। धर्मका सम्बन्ध यज्ञादिसे है जो गन्धमय हैं, इसीसे धर्मको गन्ध कहा।

सि० ति०—'पृथ्वीमें गन्धगुण है, उससे सबकी वासना-पूर्ति होती है। वैसे ही श्रद्धापूर्वक धर्मसे सब प्रकारकी वासनाएँ पूरी होती हैं।'

वै०—'*श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। ——।*' वाच्यार्थ यह है कि—'श्रद्धा बिना यथा धर्म नहीं होता, पुनः पृथ्वी बिना यथा कोई गन्ध नहीं पाता, यथा बिना तपके तेज नहीं बढ़ता, तथा बिना जलके संसारमें कोई रस नहीं पाता इत्यादि।' भावार्थ यह है कि जब जीव श्रद्धा करके अनेक भाँतिका परिश्रम करता है तब सुधर्मका पूर्ण निर्वाह होता है, जीव स्व-इच्छित उधर जाता है, कोई ले जानेवाला नहीं, वैसे ही भवसागरको अपनी इच्छासे जाता है; देखिये बिना पृथ्वी कोई गन्ध नहीं पा सकता। अर्थात् पृथ्वीतत्त्वकी इन्द्रिय नासिका है जिसका विषय गंध है। जब जीव गन्ध-विषयमें आसक्त हो पृथ्वी-आवरणमें पड़ता है तब विषयवश हो जाता है, उसके ज्ञानका नाश हो जाता है, जिससे वह स्वयं भवसागरमें गिरता है।

प० प० प्र०—*'श्रद्धा बिना……'* इति। यहाँ आकाशके पश्चात् वायु आदिको क्रमशः न लेकर पृथ्वीका दृष्टान्त देकर और श्रद्धाका वर्णन करके सूचित करते हैं कि जैसे आकाश सबसे सूक्ष्म और पृथ्वी सबसे स्थूल भूत है उसी प्रकार ब्रह्म **'अणोरणीयान् महतो महीयान्'** है, जैसे इन दोनोंकी सबमें समबुद्धि है वैसे ही जीवमात्रमें हमारी समबुद्धि होनी चाहिये।

श्रद्धाको पृथ्वीका दृष्टान्त देनेमें भाव यह है कि जैसे पृथ्वीमें निज गुण गन्धसहित अन्य चारों भूतोंके गुण भी स्वाभाविक ही हैं, वैसे ही सात्त्विक श्रद्धासे ही विज्ञान और समतातकके सभी आवश्यक सद्‌गुणोंकी प्राप्ति हो जायगी। यह क्रम ज्ञान-दीपकमें स्पष्ट किया है। श्रद्धासे धर्म, धर्मसे वैराग्य, वैराग्यसे योग, योगसे ज्ञान और ज्ञानसे विज्ञान-(समता-) की क्रमशः प्राप्ति होगी। ये भी पाँच भूमिकाएँ हैं। प्रथम भूमिका श्रद्धाके प्राप्त होनेसे शेष चारोंकी प्राप्ति सुलभ है।

रा० शं० श०—(रस जलतत्त्वका गुण है, उसकी उत्पत्ति जलतत्त्वसे ही होती है। तपसे ही तेजकी प्राप्ति होती है। देखिये, *'भरत भवन बसि तनु तप कसहीं'* अतः उनका शरीर तेजसे संयुक्त हो गया था। यथा—*'देह दिनहुँ दिन दूबरि होई। घटइ तेजु बल मुख छबि सोई॥'* (२। ३२५। १) तपमें इन्द्रिय-निग्रह प्रधान है, जिससे मन निर्मल होता है। और जलका भी गुण निर्मल करना है। यह दोनोंमें साम्य है।

प० प० प्र०—१ *'बिनु तप……'* इति। 'तप' की अनेक व्याख्याएँ हैं। यथा—**'मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तपः।', 'प्राणायामः परं तपः।', 'सत्यमेव परं तपः।'** इत्यादि। पर सभीका अन्तर्भाव **'मन** और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही परम तप है' इस एकमें होता है।

यहाँ जल और रसका दृष्टान्त भी सहेतुक है। जल निम्नगामी है और इन्द्रियाँ भी नीच विषयगामी हैं।—*'इंद्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई। बिषय भोगपर प्रीति सदाई॥'* (११८। १५) ब्रह्माजीने ही इनको ऐसा निर्माण किया है। यथा—**पराञ्चि ('बहिर्मुखविषयगामी') खानि (इन्द्रियाणि) व्यतृणत् स्वयम्भूः** (ब्रह्माजीने निर्माण किया है) इति श्रुतिः। मानसमें भी कहा है—*'इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥ आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी॥'*

२ इस दृष्टान्तसे सूचित करते हैं कि बिना तप-(शम, दम, तितिक्षा, उपराम-) के विज्ञानकी प्राप्ति असम्भव है। रस और जलमें मृदुता और शीतलता स्वाभाविक है। उसी प्रकार तपसे अन्तःकरण जलके समान निर्मल, कोमल और शीतल होना चाहिये। अन्यथा तपसे क्रोधाग्निका बढ़ना सम्भव है। इसीसे **'अक्रोधस्तपसः'** अर्थात् अक्रोध तपका भूषण कहा गया है। इसका साधन अगली अर्धालीमें है।

वै०—जीव स्व-इच्छित ही तप करता है कि तेज बढ़े। ब्रह्मादिक सबने तप किया। वैसे ही भवमार्गमें वह स्व-इच्छित पड़ता है, बिना जलके रस कभी नहीं होता। जलतत्त्वकी इन्द्रिय रसना अपने विषय-रसमें पड़कर जीवको अज्ञानी बना देती है। इसी तरह परमार्थमें बुधकी सेवा अपनी इच्छासे करता है, तब कुछ उनकी शिक्षासे, कुछ उनकी रीति-रहस्य देखनेसे, वह भी शीलमान् हो जाता है। वैसे ही अग्नितत्त्वकी इन्द्रिय नेत्र अपने विषय रूपमें जब आसक्त होती है तब जीवकी चैतन्यता नाश हो जाती है; जीव स्वयं उस ओर जाता है।

रा० शं० श०—*'सील कि मिल बिनु……'* यहाँ बुधको तेज कहा और तेज अग्निका गुण है अर्थात् बुध अग्नि हैं,

यथा—*'धूम अनल संभव सुनु भाई। तेहि बुझाव घन पदवी पाई॥*
सुनु खगपति अस समुझि प्रसंगा। बुध नहिं करहिं अधम कर संगा॥

शीलको पताका कहा है, *'सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका'* जैसे पताकासे वीरका लक्ष्य होता है ऐसे ही रूपसे मनुष्य पहिचाना जाता है।

प० प० प्र०—*'सील कि……'* इति। बिना शीलके तपसे शीतलता, निर्मलता आदिकी प्राप्ति न होगी। अतः शीलप्राप्तिका साधन बतलाते हैं। 'जड़' का विरुद्धार्थी 'बुध' है, यह *'जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे'*

इस वाक्यसे स्पष्ट है। और, *'दोष देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥'* इस श्रीवचनामृतमें जड़के विरुद्ध गुरु साधु हैं। अत: **'बुध=गुरु, साधु, ज्ञानी, हरिभक्त।'** इनकी सेवासे शीलकी प्राप्ति होती है।

रूप नेत्रेन्द्रियका विषय है। रूपमें सबसे बड़ा प्रलोभन मायारूपी नारि है, जिसे देखकर मुनि भी विवश हो जाते हैं। बिना बुध—संत, गुरु, कृपाके इससे बचना असम्भव है। तपश्चर्यामें मुख्य बाधक यही है। इसीसे रूपका विचार तपके अनन्तर किया गया। इस विकारको जीतनेकी शक्ति संतसेवाजनित तेजसे मिलती है। संतसेवा बड़ा तप है। **'सततं शीलं परं भूषणम्।'** शीलमें स्त्री-विषयसे बचना मुख्य गुण है। स्त्री जैसी रूपकी नेत्रेन्द्रियका मुख्य विषय है वैसा स्पर्शेन्द्रियका भी। अत: अगली अर्धालीमें स्पर्शविषयक सिद्धान्त कहते हैं।

निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा। परस कि होइ बिहीन समीरा॥ ७॥
कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। बिनु हरिभजन न भवभय नासा॥ ८॥

अर्थ—**'निज सुख'** (निजानन्द, स्वस्वरूपानन्द, आत्मसुख) बिना क्या मन थिर (शान्त) हो सकता है? क्या पवन-(तत्त्व-) के बिना स्पर्श हो सकता है?॥ ७॥ क्या बिना विश्वासके कोई भी सिद्धि हो सकती है? (कदापि नहीं। इसी प्रकार) बिना हरिभजनके भवभयका नाश नहीं हो सकता॥ ८॥

नोट—१ *'निज सुख बिनु······समीरा'* इति। (क) मन बड़ा चञ्चल है, यथा—*'पीपर पात सरिस मन डोला।'* (२। ४५। ३), *'मन बस न समीर'* (वि०)। श्रीअर्जुनजीने भी भगवान्‌से यही बात कही है। यथा—**'चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥'** (६। ३४) (अर्थात्) 'हे कृष्ण! यह मन बड़ा चञ्चल है, इसका एक जगह स्थापित करना मनुष्यके लिये बड़ा कठिन है, यह प्रमथनशील है, यह मनुष्यको बलपूर्वक मथकर विषयान्तरोंमें निर्बाधरूपसे विचरने लगता है। अपने अभ्यस्त विषयोंमें भी सदा स्थिर न रहनेवाले मनको विपरीताकार आत्मामें स्थापित करनेके लिये रोकना तो मैं वैसा ही अति कठिन मानता हूँ, जैसा प्रतिकूल गतिवाले महान् वायुको पंखे आदिसे रोक रखना।' भगवान्‌ने उनसे सहमत होते हुए उसके वशमें करनेका उपाय बतलाया है। यथा—**'असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥'** (६। ३५) (अर्थात्) निस्संदेह मन चञ्चल और दुर्निग्रह है तथापि अभ्यास और वैराग्यसे वह वशमें किया जा सकता है। इसकी प्रबलता और विषयलोलुपता विनयमें बारंबार कहकर उसके वश होनेके उपाय भी बताये हैं। यथा—*'हौं हार्‍यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसय प्रबल अजै। तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥'* (वि० ८९) *'बिषय-बारि मन-मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।······कृपा डोरि बंसी पद अंकुस, परम प्रेम मृदु चारो। एहि बिधि बेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक नाथ तिहारो॥'* (वि० १०२), *'मन मधुपहि पन कै तुलसी रघुपति-पद-कमल बसैहौं।'* (वि० १०५), *'ब्रह्म-पियूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावै। तौ कत मृगजल-रूप बिषय कारन निसि-बासर धावै।'* (वि० ११६), *'जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास अरु बिषय आस मन माहीं।'* (वि० १२३)

यहाँ मनके स्थिर होनेका उपाय *'निज सुख'* बताया। इसीको विनयमें इस प्रकार कहा है—*'निज सहज अनुभव रूप तव खलु भूलि जनु आयो तहाँ। निर्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख तैं परिहर्‍यो।'* (वि० १३६) स्वस्वरूपानन्दप्राप्तिपर क्या दशा होती है यह भी उसी पदमें बताया है—*'श्रीरघुनाथ चरन लय लागे। देह जनित बिकार सब त्यागे॥ तब फिरि निज स्वरूप अनुरागे॥* छंद॥ *अनुराग जो निज रूप त जग तें बिलक्षण देखिये। संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिये॥ निर्मम निरामय एकरस तेहि हरष सोक न व्यापई। त्रैलोक्य पावन सो सदा जा कहुँ दसा ऐसी भई॥'*

(ख) स्पर्श पवनतत्त्वका गुण है। अत: वह बिना पवनतत्त्वके प्राप्त नहीं हो सकता।

प० प० प्र०—१ आत्मसुखप्राप्तिका एक सुलभ साधन योग है। मन पवनसे भी अधिक चञ्चल है। पर गुरुकृपासंयुत पवनजय करनेसे मनोजय होता है। यथा—*'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान*

कबहुँक पावहीं।' (४। १० छन्द) इससे यहाँ पवनका दृष्टान्त दिया। समीरको जीतनेसे वही पावनता देनेमें समर्थ होता है। 'पवन-विजय' नामक योगशास्त्रका एक ग्रन्थ भी है। २ स्रक्, चन्दन, वनितादिक स्पर्शेन्द्रियके भोग हैं। मन स्थिर करनेसे इनमें आसक्ति नहीं होती। मनको वश करना भी निजसुख-प्राप्तिका साधन है। यथा—*'पस्यंति जं जोगी जतन करि करत मन गो बस सदा।'* (३। ३२) पर मनके सदा वशमें रहनेका साधन *'निज सुख'* ही है। दोनों विवेक और वैराग्यके समान परस्पर पोषक हैं। तथापि ऊपर कहे हुए सब साधन जिस एक नींवपर खड़े होते हैं उसका विचार अगली अर्धालीमें है।

सि० ति०—जीवके स्वस्वरूप-प्रयुक्त सुखको ब्रह्मानन्द कहा गया है, जो उपासनाद्वारा प्राप्त होता है। यथा—*'ब्रह्मानंद मगन कपि सबके प्रभुपद प्रीति।'* (१५) इसीको नित्य सुख एवं आत्मसुख भी कहते हैं।

रा० शं० श०—निज सुखकी प्राप्तिसे मन स्थिर रहता है और उसके विस्मरण होनेसे चञ्चल हो जाता है, इसी तरह पवनके स्थिर रहनेसे जल इत्यादि सब स्थिर रहते हैं और पवनके चलनेसे उसके धक्केसे जल इत्यादि सब चञ्चल हो जाते हैं। निज सुखकी समता पवनसे दी गयी; क्योंकि शरीरमें प्राण जो मुख्य वस्तु है वह पवन ही है और अन्तर्दृष्टिसे सहज स्वरूप भी मुख्य है, अतएव पवनकी समता दी गयी।

नोट—२ *'कवनिउ सिद्धि—'* इति। विश्वास=वह धारणा जो मनमें किसी व्यक्तिके प्रति उसका सद्भाव, हितैषिता, सत्यता, दृढ़ता आदि अथवा किसी सिद्धान्त आदिकी सत्यता या उत्तमताका ज्ञान होनेके कारण होती है। बिना विश्वासके किसी प्रकारकी सिद्धि प्राप्त नहीं होती। यथा—**'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ। याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥'** (बा० मं०), *'गुरु के बचन प्रतीति न जेही। सपनेहु सुगम न सुख सिधि तेही॥'* (१। ८०। ८), *'बिनु बिस्वास भगति नहिं।'* (९०) विश्वाससे सिद्धि होती है। यथा—*'बिस्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे। जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे॥'* (वेदस्तुति दोहा १३) इसीसे विश्वासपर यत्र-तत्र बहुत जोर दिया गया है। यथा—*'बिस्वास करि कह दास तुलसी राम पद अनुरागहू।'* (३। ३६), *'जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरें। अस बिस्वास तजहु जनि भोरें॥'* (३। ४२। ५), *'कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास। गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥'* (१०३), *'मुनि दुर्लभ हरिभगति नर पावहिं बिनहि प्रयास। जे यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिस्वास॥'* (१२६) (शिववाक्य)। भुशुण्डिजीका यह निज अनुभव भी है। इनको श्रीरामजीके चरणोंमें अटल विश्वास था तभी तो लोमशजीने उनको अनेक आशीर्वाद दिये और उनका मनोरथ सिद्ध किया। यथा—*'रिषि मम महत सीलता देखी। राम चरन बिस्वास बिसेषी॥'* (११३। ४)*.........'हर्षित राममंत्र तब दीन्हा।.......'* इत्यादि।

प० प० प्र०—भगवान् राम ही परमेश्वर परमात्मा ब्रह्म हैं। वे ही कृपा करें तो जीवके त्रितापादि छूटते हैं। वे कृपालु हैं, हेतुरहित उपकार करनेवाले तथा कृपानिधान हैं। वेद, स्मृति और पुराण सत्य हैं, वे कपोलकल्पित नहीं हैं। इत्यादि भावना ही विश्वास है।

'कवनिउ सिद्धि—' कहकर *'बिनु हरिभजन.......'* कहनेका भाव यह है कि जैसे विश्वास सभी साधनोंका मूल है, वैसे ही हरिभजन, हरिशरणागति भी समस्त साधनोंके साथ होनी ही चाहिये। अन्यथा 'सिद्धि' (*'साधन सिद्धि राम पग नेहू'*) की प्राप्ति नहीं। आगे दोहेमें यही भाव अधिक स्पष्ट किया है। यह अर्धाली 'पुरइन' है और *'बिनु बिस्वास..... बिश्राम'* यह दोहा उसका फूल कमल है।

नोट—३ *'रामभजन बिनु मिटहिं कि कामा'* उपक्रम है और *'बिनु हरिभजन न भवभय नासा'* उपसंहार है। ☞ उपक्रम और उपसंहारमें जो बात कही उस सिद्धान्तकी पुष्टि पाँचों तत्त्वों और उनके गुण और मात्राओंके दृष्टान्त, उपक्रम-उपसंहारके बीचमें देकर की। *'कोउ अवकास कि नभ बिनु पावइ'*, *'बिनु महि गंध कि पावइ कोई'*, *'जल बिनु रस कि होइ संसारा'*, *'जिमि बिनु तेज न रूप गोसाँई'*, और *'परस कि होइ बिहीन समीरा'* इनमें क्रमसे आकाश, पृथिवी, जल, अग्नि और पवनतत्त्व और उनके अवकाश, गन्ध, रस, रूप और स्पर्श—ये निज गुण कहे।

करु०—*'रामभजन बिनु मिटहिं कि कामा।——नासा'* इति। *'बिनु बिग्यान कि समता आवै'* इत्यादि उपर्युक्त चौपाईयोंका अभिप्राय यह है कि श्रवण-इन्द्रियका देवता आकाश और विषय शब्द है, श्रवण अपने देवताका ही विषय ग्रहण करता है। त्वक्-इन्द्रियका देवता पवन और विषय स्पर्श है, त्वक् अपने देवताके विषयहीको ग्रहण करता है। इसी तरह नेत्र अपने देवता सूर्यके विषय रूपको, रसना अपने देवता वरुणके विषय रसको और नासिका अपने देवता अश्विनीकुमार-(महीसंयुक्त-) के विषय गन्धको ही ग्रहण करती है। अपने इष्टदेवताको छोड़ ये इन्द्रियाँ दूसरेके इष्ट देवताको नहीं ग्रहण करतीं। ये इन्द्रियाँ ऐसी पतिव्रता हैं। ठीक इसी प्रकार जीवके इष्टदेवता श्रीरामचन्द्रजी हैं जिनका विषय रामभक्ति है। जीवका कल्याण अपने देवताका विषय ग्रहण करनेमें ही है, अन्यसे नहीं। पर यह जीव पातिव्रत्य छोड़ व्यभिचारी हो गया, इसने अन्य देवताओंके विषयोंको ग्रहण कर लिया, अपने देवता श्रीरामजीके विषयको छोड़ दिया; इसीसे अनेक योनियोंमें चक्कर खाता फिरता है।—यह इन दृष्टान्तोंका तात्पर्य है।

वै०—जीव स्वेच्छासे दुःख सहकर महाचञ्चल मनको स्थिर कर लेता है, वैसे ही स्व-इच्छासे वह भवमें पड़ता है, क्योंकि पवन बिना स्पर्श हो ही नहीं सकता। जब जीव पवनावरणमें पड़ता है तब स्पर्श-विषयमें पड़कर भवको जाता है। ☞*'थल बिहीन तरु कबहुँ कि जामा'* से यहाँतक यह दिखाया कि जीव जैसे अपनी इच्छासे शब्दादि पञ्चविषयोंका सेवन कर भवसागरको जाता है, यथा—'**पतङ्ग-मातङ्गकुरङ्गभृङ्गा मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च। एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च॥**' वैसे ही वह यदि बुध सेवा इत्यादि करे तो उसमें शील, तेज आदि गुण उत्पन्न हों, तब शुद्ध शरणागतिमें विश्वास कर भजन करे, क्योंकि बिना विश्वास कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। इससे सहज ही भवनाश हो जायगा। यह गुप्त भावार्थ हुआ। और वाच्यार्थ यह है कि जैसे उपर्युक्त १३ बातें अटल सिद्धान्त हैं वैसे ही यह अटल सिद्धान्त है कि *'बिनु हरिभजन न भवभय नासा।'*

नोट—४ इन दृष्टान्तोंसे दिखाया कि जैसे अवकाशादि बिना आकाशादिके हो ही नहीं सकते, भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालमें यह सत्य और निश्चित सिद्धान्त है, वैसे ही भवभयका नाश, कामादिका मिटना, सुखका होना इत्यादि सब बिना रामभजनके सर्वथा त्रिकाल और त्रिलोकमें असम्भव है।—दृष्टान्तोंका आशय यह है।

प्रश्न—१ विज्ञान और आकाश, श्रद्धा और महि, तप और जल, बुधसेवा और तेज, निजसुख और समीरमें क्या कोई सादृश्य है, जिससे ये उदाहरण दिये गये?

२—क्या श्रद्धा, तप, बुधसेवकाई और निजानन्दमें ऐसा कोई सम्बन्ध है, जैसा कि क्षिति, जल, पावक और समीर तत्त्वोंमें परस्पर है?

३—यहाँ जो तत्त्वोंका क्रम दृष्टान्तोंमें है, क्या इसमें कोई विशेष भाव है, जैसा कि किष्किन्धा और सुन्दरमें महानुभावोंने कहा है?

उत्तर—किष्किन्धा और सुन्दरकाण्डोंमें पञ्चतत्त्वोंकी जो चर्चा है उसमें भी शरीररचना या सृष्टिरचनाका विचार नहीं है। दोनों जगह केवल उत्तरोत्तर सूक्ष्मता वा स्थूलताका क्रम रखा गया है। प्रस्तुत प्रसंगमें वैसा कोई क्रम नहीं है केवल अविनाभाव दिखलाया गया है। यहाँ विनोक्ति अलंकारके साथ दृष्टान्त दिये गये हैं। दृष्टान्त स्वभावसे ही दिये जाते हैं। यहाँ शान्तरस है, इसलिये दृष्टान्त भी तदनुकूल दिये गये हैं। यदि आकाश और विज्ञान दोनोंमें निर्लेपत्व, श्रद्धा और पृथिवीमें आधारत्वका सादृश्य है तथा मन और समीरमें चञ्चलत्व और सूक्ष्मत्वका सादृश्य देखा जाता है तो यह विशेष सौष्ठव है, जिसका होना प्रत्येक विनोक्तिके साथ आवश्यक नहीं है और न किसी विशेष क्रमका निर्वाह आवश्यक है।

वि० त्रि०—*'कवनिउ सिद्धि——भवभय नासा'* इति। *'बिनु हरि भजन न जाहिं कलेसा'* से उपक्रम करके *'बिनु हरि भजन न भवभय नासा'* से उपसंहार करते हैं। यह क्लेशनाश, भक्ति-दार्ढ्य, ज्ञान, सुख, समता, धर्म, तेज, शील, मनोनिग्रह, सिद्धि तथा भवभयनाश कैसे होता है, इस विषयमें भुशुण्डिजीने अपना

अनुभव कहकर यह दिखलाया कि प्रभुके इतना कहते ही कि *'जानब तुम्ह सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहि साधन खेदा॥'* मेरी आँख खुल गयी और बिना साधन किये सबका मर्म मुझे प्रतिभास होने लगा।

सि० ति०—विज्ञान होना चित्तका धर्म है। यथा—**'योगो विरागः स्मरणं ज्ञानं विज्ञानमेव च। उच्चाटनं तथा ज्ञेयं चित्तस्यांशानि षड् यथा॥'** (जिज्ञासापञ्चक), समता भी चित्तमें ही कही जाती है। यथा—*'चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दियटि बनाइ।'* (११७), आकाशके सहायसे चित्तकी निष्पत्ति भी कही गयी है, यथा—**'वायोः सकाशाच्चित्तं च नभोंऽशाच्च प्रवर्तते।'** (जिज्ञासापञ्चक), इसलिये आकाशके दृष्टान्तके साथ विज्ञानद्वारा चित्तमें समता प्राप्त करना कहा गया है।

बुद्धिके द्वारा श्रद्धासमेत धर्म होते हैं, यथा—**'जपो यज्ञस्तपस्त्याग आचारोऽध्ययनं तथा। बुद्धेश्चैव षडङ्गानि ज्ञातव्यानि मुमुक्षुभिः॥'** (जिज्ञासापञ्चक)। बुद्धिकी निष्पत्ति पृथ्वी-तत्त्वके साहाय्यमें कही गयी है, यथा—**'बुद्धिर्जाता क्षितेरपि।'** (जिज्ञासापञ्चक), इसलिये पृथ्वीके दृष्टान्तद्वारा श्रद्धापूर्वक धर्मद्वारा बुद्धिको शुद्ध करना कहा गया है। तपस् अग्निका नाम है, अग्निके साहाय्यमें अहंकारकी निष्पत्ति कही गयी है, यथा—**'अहंकारोऽग्निसंजातः'** (जिज्ञासापञ्चक), अहंकार शरीरका होता है, वह जल-तत्त्वके रसगुणद्वारा रसनासे विविध रसोंसे पोषित शरीरके द्वारा विकारको प्राप्त होता है। इसलिये इसकी शुद्धिके लिये जलतत्त्वके दृष्टान्तद्वारा तपसे शुद्ध होना कहा गया है कि तपसे इन्द्रियनिग्रह होकर तेजविस्तार होनेपर देहाभिमान नाश होगा। फिर शुद्ध हृदय होनेपर बुधोंकी सेवाद्वारा सद्वृत्ति प्राप्त होती है। मन वायुकी तरह चञ्चल है। इससे इसे वायुके दृष्टान्तके द्वारा आत्मसुखसे शान्त होना कहा गया है।

इस तरह यहाँ अन्तःकरण-चतुष्टयका साधन भी कहा गया है कि 'आकाशकी तरह चित्तमें अवकाशत्व, पृथ्वीमें गन्धकी तरह बुद्धिमें वासना, अहंकारमें अग्निकी-सी उष्णता और मनमें वायुकी-सी चञ्चलता स्वाभाविक है, पर ये सब इन-इन साधनोंसे शुद्ध हो जाते हैं।'

स्वामी प्रज्ञानानन्दजीके विचार उपर्युक्त चौपाइयोंमें आ चुके हैं।

दो०—बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम।
रामकृपा बिनु सपनेहु जीव न लह बिश्राम॥
सो०—अस बिचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय सकल।
भजहु राम रघुबीर* करुनाकर सुंदर सुखद॥९०॥

अर्थ—बिना विश्वासके भक्ति नहीं होती, भक्तिके बिना श्रीरामजी द्रवीभूत नहीं होते (नहीं पसीजते वा कृपा करते) और रामकृपाके बिना (जाग्रत्‌की क्या कही जाय) स्वप्नमें भी जीव विश्राम नहीं पाता। हे मतिधीर! ऐसा विचारकर समस्त कुतर्कनाएँ और संशय छोड़कर, करुणाकी खानि सुन्दर और सुख देनेवाले रघुवीर रामको भजो॥ ९०॥

नोट—१ *'बिनु बिस्वास'* में कारणमाला और प्रथम विनोक्ति अलंकार है।

रा० शं० श०—यहाँ कहते हैं कि *'बिनु बिस्वास भगति नहिं'* और पूर्व भगवान्‌ने कहा है कि ***'संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥'*** (४५) दोनोंका सामञ्जस्य **'भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।'**(बा० मं० श्लो०) से हो जाता है। भगवान् शंकर विश्वासरूप हैं।

रा० बा० दा०—१ *'तेहि बिनु द्रवहिं न राम'* इति। श्रीरामजी विश्वास बिना प्रसन्न नहीं होते। समय-समयपर विश्वासकी परीक्षा ली जाती है। यथा—*'गरजि तरजि पाषान बरषि पबि प्रीति परखि जिय जानै। अधिक अधिक अनुराग उमग उर पर परमिति पहिचानै॥'* (वि० ६५), *'कानन भूधर बारि बयारि महाबिष ब्याधि दवा अरि घेरे। संकट कोटि जहाँ तुलसी सुत मातु पिता हित बंधु न नेरे। राखिहैं राम कृपालु तहाँ*

* रनधीर—(का०)

हनुमानसे सेवक हैं जेहि केरे। नाक रसातल भूतलमें रघुनायक एक सहायक मेरे॥' (क० ७। ५०) इत्यादि जैसा कवितावली, विनय, दोहावली आदिमें कहा है, ऐसे ही अनेक संकटोंद्वारा परीक्षा होती है। उनमें उत्तीर्ण होनेपर प्रभु प्रसन्न होते हैं। २ *'जीव न लह बिश्राम'*, यथा—*'कहहिं बिमलमति संत बेद पुरान बिचारि अस। द्रवै जानकी कंत तब छूटै संसार दुख।'* (दो० १३६) (पूर्व कहा है कि *'कोउ बिश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु।'* (८९) दोनों वाक्योंका सामञ्जस्य इस प्रकार होता है कि श्रीरामजीकी कृपा होती है तभी संतोष होता है, बिना उनकी कृपाके नहीं।)

रा० शं० श०—विश्रामका स्वरूप यह है कि भगवान् हृदयमें आवें। यथा—*'कबहूँ मन बिश्राम न मान्यो। निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इंद्रिन्ह तान्यो॥ जदपि बिषय सँग सहे दुसह दुख बिषम जाल अरुझान्यो। तदपि न तजत मूढ़ ममताबस जानतहूँ नहि जान्यो॥……निज हित नाथ पिता गुर हरि सो हरषि हृदय नहिं आन्यो॥'* ——(वि० ८८)

नोट—२(क) *'अस बिचारि'* अर्थात् जैसा ऊपर *'बिनु हरिभजन न जाहिं कलेसा'* से यहाँतक कहा गया उस प्रकार विचारकर। अर्थात् बिना हरिभजनके क्लेश नहीं मिटते, अतः हरिभजन ही कर्त्तव्य है यह समझकर। (ख) *'मतिधीर'* का भाव कि धीरबुद्धि ही विचार कर सकता है, दूसरा नहीं। प्रारम्भमें *'खगराई'* कहा अन्तमें *'मतिधीर'*, क्योंकि यह राजाका गुण है। (प्र० सं०) 'मतिधीर' विशेषण इस संवादमें गरुड़जीके लिये कई बार और भी आया है। यथा—*'बिहँसत ही मुख बाहेर आयउँ सुनु मतिधीर।'* (८२) *'सुनि मुनि आसिष सुनु मतिधीरा। ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा॥'* (११४। ५), *'तासु चरन सिरु नाइ करि प्रेम सहित मतिधीर। गयउ गरुड़ बैकुंठ तब हृदय राखि रघुबीर॥'* (१२५) इन उद्धरणोंसे ज्ञात होता है कि बुद्धिके धीर (स्थिर) होनेसे ही यह विशेषण दिया जाता है। चाहे राजा हो, वीर हो अथवा कोई भी हो। यथा—*'पंथ जात सोहहिं मतिधीरा'* (मनु-शतरूपाजी), *'ब्रह्मचरज ब्रत रत मतिधीरा। तुम्हहि कि करै मनोभव पीरा॥'* (नारदजी), *'अस्तुति करत जोरि कर सावधान मतिधीर।'* (१। १८५) (ब्रह्माजी)' इत्यादि।

३ *'तजि कुतर्क संसय सकल'* इति। (क) यहाँ दो बातें त्याग करनेको कहीं, क्योंकि भुशुण्डिजीसे गरुड़जीने यही दो बातें कही थीं। यथा—*'चिदानंद संदोह राम बिकल कारन कवन।'* (६८) यही कुतर्क है, और *'देखि चरित अति नर अनुसारी। भयउ हृदय मम संसय भारी॥'* (६९। १) यह संशय है। संशय भारी है अतः 'सकल' कहा। संशय यह कि ब्रह्मका अवतार सुना, पर ब्रह्मका प्रभाव तो इनमें कुछ देख नहीं पड़ा, ब्रह्म व्याकुल हो नहीं सकता, ये ब्रह्म नहीं जान पड़ते, मनुष्य ही जान पड़ते हैं—*'ब्रह्म अनादि मनुज करि माना।'* (९३। ३) देखो। कुतर्क यह है कि जिस परब्रह्मका नाम जपकर प्राणी भवपाशसे छूटते हैं वह एक तुच्छ निशिचरद्वारा बाध लिया जाय यह कैसे सम्भव है? माया-मोहपार परम ईश्वर मायानागोंसे कैसे बाँधा जा सकता है? इत्यादि। यथा—*'करत बिचार उरग आराती।'* (५८। ६) से *'खेदखिन्न मन तर्क बढ़ाई। भयउ मोहबस तुम्हरिहि नाई॥'* (५९। २) तक। (ख) कुतर्क और संशय कार्य-कारण हैं। संशय होनेसे कुतर्क उठते हैं, यथा—*'संसयसर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता॥'* (९३। ६), अतः दोनोंका त्याग कहा।

४ *'भजहु राम रघुबीर'* इति। गरुड़जीने अपने मोह-प्रसंगमें 'राम' का नागपाशमें बँधना, 'राम' का विकल होना कहा है, यथा—*'खर्ब निसाचर बाँधेउ नाग पास सोइ राम'*, *'चिदानंद संदोह राम बिकल कारन कवन'*, अर्थात् परब्रह्म राममें मोह होना बताया। इसीसे यहाँ भुशुण्डिजीने प्रथम 'राम' पद दिया। फिर *'रघुबीर'* पद देकर जनाया कि वे 'राम' ही रघुकुलमें पञ्चवीरता धारण किये हुए अवतरित हुए हैं, इन्हींका भजन करो। ये ही निर्गुण और सगुण दोनों हैं। ये वीर हैं, इन्हें कौन बाँध सकता है? पर नरवेष धारण किया है। अतः नरनाट्य किया है। रघुवीर हैं, इनका भजन करनेसे ये कृपा करते हैं—*'भजत कृपा करिहहिं रघुराई।'* (१। २००। ६) क्योंकि करुणामय हैं— *करुनामय रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइअहिं पीर पराई।'* (२। ८५। २)', *'बिनती बहुत करौं का स्वामी। करुनामय उर अंतरजामी॥'* (२। ६६। ८),*'अनघ अनेक एक करुनामय।'* (३४। २) ऐसे वीरकी

उपासना करनी चाहिये। यथा—*'बीर महा अवराधिये साधें सिधि होइ। सकल काम पूरन करै जानै सब कोइ॥'* (वि० १०८) *'करुनामय मृदु राम सुभाऊ।'* (२। ४०। ३) कृपा होनेसे सुख होता है अतः 'सुखद' कहा। [कृपाल और सुखद स्वभाव है और स्वरूप सुन्दर है। (पं०)]

नोट—५ विशेषणोंके क्रमका भाव। भुशुण्डिजीने जो विशेषण यहाँ दिये हैं वे उनके हृदयमें गड़े हुए हैं। मोह-प्रसंगमें प्रथम प्रभुकी प्रभुता देखी। प्रभुताके दर्शनमें आदिसे अन्ततक 'राम' नाम आया है, यथा—*'राम गहन कहँ भुजा पसारी'*, *'मोहि बिलोकि राम मुसुकाहीं'*, इत्यादि। प्रभुताका दर्शन करनेपर व्याकुल देख प्रभुने कृपा की तब *'रघुबीर'* अर्थात् दयावीरतासम्बन्धी नाम दिया, यथा—*'देखि कृपाल बिकल मोहि बिहँसे तब रघुबीर।'* फिर दीन जानकर दया की, सिरपर हाथ रखा—यह करुणा है। विगत-मोह करके फिर सुख दिया तब *'सेवक सुखद'* कहा, यथा—*'दीनदयाल सकल दुख हरेऊ'*, *'कीन्ह राम मोहि बिगत बिमोहा। सेवक सुखद कृपासंदोहा॥'* सुखदका प्रसंग आगेतक है। दुःखमें थे, अतः वहाँ पहले *'सुखद'* कहकर तब सुख होनेपर अन्तमें शोभासुख कहा, यथा—*'प्रभु सोभासुख जानहिं नयना।'* (८८। ४) और यहाँ दुःख तो है नहीं अतः *'सुंदर सुखद'* अर्थात् सौन्दर्य कहकर तब सुखद कहा। बस जैसा मोहप्रसंगमें अपना अनुभव किया ठीक वैसे ही क्रमसे उसी भावसे विशेषण देते गये।

उपसंहार		उपक्रम
९० (८)	*'बिनु हरिभजन न भवभयनासा*	१ *बिनु हरिभजन न जाहिं कलेसा*........ ८९ (५)
९०	*जीव न लह बिश्राम*	२ *कोउ बिश्राम कि पाव*.........। (८९)

☞ उपक्रममें *'सहज संतोष बिनु'* विश्रामका होना असम्भव कहा और उपसंहारमें *'रामकृपा बिनु'* उसका होना असम्भव कहा। इससे जनाया कि सहज संतोष रामभजनसे ही प्राप्त होता है।

'रामकृपा बिनु सपनेहु......अस बिचारि मतिधीर ३ रामकृपा बिनु सुनु खगराई। ८९। ६।

अनुभव-कथन करनेमें *'रामकृपा बिनु'* का सम्पुट है। प्रारम्भमें *'रामकृपा बिनु सुनु खगराई'* और अन्तमें भी *'रामकृपा बिनु सपनेहु......'* कहकर रामकृपाहीको प्रधान सूचित किया। यह *'निज अनुभव'* का उपक्रमोपसंहार है।

निज अनुभव-प्रसंग समाप्त हुआ।

निज मति सरिस नाथ मैं गाई। प्रभु प्रताप महिमा खगराई॥ १॥
कहेउँ न कछु करि जुगुति बिसेषी। यह सब मैं निज नयनन्हि देखी॥ २॥

अर्थ—हे पक्षिराज! हे नाथ! मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार प्रभुके प्रतापकी महिमा एवं प्रताप और महिमा, कही॥ १॥ मैंने कुछ विशेष युक्तिसे बढ़ाकर नहीं कहा है। यह सब मैंने अपनी आँखों देखा है॥ २॥

नोट—१ *'निज मति सरिस।'* भाव कि महिमा अमित है, अपार है, अनन्त है, कोई पूरा कह ही नहीं सकता, इत्यादि—अपनी-अपनी बुद्धिभर ही लोग कहते हैं। यही आगे कहते हैं। मिलान कीजिये—*'तदपि जथाश्रुत जसि मति मोरी। कहिहौं देखि प्रीति अति तोरी॥'* (१। ११४। ५), *'मैं निज मति अनुसार कहौं उमा सादर सुनहु।'* (१। १२०), *'तस मैं सुमुखि सुनावौं तोही।'*, *'मति अनुहारि सुबारि गुन गन गनि मन अन्हवाइ।'* (१। ४३)

वि० त्रि०—*'निज मति......खगराई'*—प्रभुकी महिमा ऐसी है कि जिसने अपनी आँखों देखा है, उससे भी कहते नहीं बनता; क्योंकि महिमा-दर्शनमें जिन विषयोंका प्रत्यक्ष होता है, उनके लिये शब्द नहीं है, कैसे कहा जाय। भुशुण्डिजी कहते हैं, *'जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहू न समाइ। सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवन बिधि जाइ॥'* भुशुण्डिजीने उस महिमाको अपनी आँखों देखा, परंतु वर्णन करते समय यही कहना पड़ा कि *'निज मति सरिस नाथ मैं गाई।'*

नोट—२ *'प्रभु प्रताप महिमा'* इति। रामभजनसे माया डरती है, काम मिटता है, भवभय नाश होता

है और सुख प्राप्त होता है—यह प्रताप है। भुजाको सर्वत्र देखा, उदरमें अनेक ब्रह्माण्ड और उनमें अनेक ब्रह्मा, विष्णु, महेशोंको प्रभुकी सेवा करते देखा—यह सब महिमा है। सबका आँखों देखना कहते हैं। प्रतापका देखना *'जो मनहू न समाइ। सो सब अद्भुत देखेउँ'* में आ गया। जैसे कि देखा कि माया सभीत खड़ी है, यह प्रताप है।

३ *'कहेउँ न कछु करि जुगुति बिसेषी।——'* इति। (क) श्रीरामजी अपने इष्ट हैं, उपास्यदेव हैं, अतः यह संदेह हो जाना सम्भव है। अतः संदेह-निवृत्यर्थ ये वचन कहे। सुनी हुई बातके सत्य होनेमें संदेह हो सकता है, अतः कहा कि यह मेरी देखी है। देखी हुई प्रत्यक्ष प्रमाण है, उसमें संदेह नहीं हो सकता। 'युक्ति' एक अलंकार है, जिसमें अपने मर्मको छिपानेके लिये दूसरेको किसी क्रिया, चातुरी या तरकीबद्वारा वञ्चित करनेका वर्णन होता है। 'युक्तिविशेष' का भाव कि मैंने काव्यालंकारकी रीतिसे बढ़ाकर कुछ-का-कुछ नहीं कहा है, बल्कि जैसा था ठीक वैसा ही कहा है।

☞ *सुनु खगेस रघुपति प्रभुताई। कहउँ जथा मति——॥'* (७४। १) उपक्रम और *'निज मति सरिस नाथ मैं गाई। प्रभु प्रताप महिमा खगराई॥'* उपसंहार है। १७ दोहोंमें प्रभुताका वर्णन है।

महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा॥ ३॥
निज निज मति मुनि हरिगुन गावहिं। निगम सेष सिव पार न पावहिं॥ ४॥
तुम्हहि आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहि नहिं पावहिं अंता॥ ५॥
तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा॥ ६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीकी महिमा, नाम, रूप और गुणोंकी कथा सब अमित हैं तथा (स्वयं) श्रीरघुनाथजी अनन्त हैं॥ ३॥ मुनि अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार हरिगुण गाते हैं। वेद, शेष और शिव भी उनका पार नहीं पाते॥ ४॥ तुमसे लेकर मच्छड़पर्यन्त जितने (भी बड़े-छोटे) पक्षी हैं सब आकाशमें उड़ते हैं पर अन्त नहीं पाते॥ ५॥ इसी तरह, हे तात! श्रीरघुनाथजीकी अगाध महिमामें डुबकी लगाकर क्या कभी कोई थाह पा सकता है? अर्थात् नहीं पा सकता॥ ६॥

खर्रा—महिमा (ऐश्वर्यकी बड़ाई), नाम (राम-कृष्णादि), रूप (द्विभुज, चतुर्भुज, मत्स्य, कच्छपादि), गुण (सौशील्यादि) और गाथा (रावण-हननादिकी कथा)—यह सब अमित हैं, क्योंकि रघुनाथजी अनन्त हैं।

नोट—१ *'महिमा नाम——सकल अमित अनंत'* इति। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है। यथा—*'राम अनंत अनंत गुनानी। जन्म कर्म अनंत नामानी॥'* (५२। ३) *'राम अनंत-अनंत गुन अमित कथा बिस्तार।'* (१। ३३), *'राम नाम गुन चरित सुहाए। जनम करम अगनित श्रुति गाए॥ जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना॥'* (१। ११४। ३-४), *'हरिगुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित॥'* (१। १२०)

२—महिमा, नाम, रूप और गुणगाथा, इन्हीं चारोंकी व्याख्या आगे कहते हैं—

महिमा—*'तुम्हहिं आदि खग मसक प्रजंता——तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात——थाहा।'*

नाम—'तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघ पूग नसावन।'

रूप—'निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहे।' (९२ छंद)

गुण—*'राम अमित गुन सागर थाह कि पावै कोइ॥ ९२॥'*, *'सारद सेष महेस बिधि——नेति नेति कहि जासु गुन——।'* (१। १२)

रा० प्र०—नामकी अनन्तता ऐसी कि नाम निर्गुण-सगुण सबका बोधक अर्थात् नामका भी नाम नहीं—*'निर्गुण नाम गुनै को भाई।'*

नोट—३ *'निज निज मति मुनि हरि गुन गावहिं'* इति। चौ० १ में देखिये। भा० १। १८। २३ में श्रीसूतजीने ऋषियोंसे इसी प्रकार कहा है कि—'जो मुझे विदित है वह मैं यथामति कहता हूँ, जैसे पक्षिगण अपनी शक्तिभर आकाशमें उड़ते हैं वैसे ही विद्वान् लोग बुद्धिभर वर्णन करते हैं'—

'अहं हि पृष्टोऽर्यमणो भवद्भिराचक्ष आत्मावगमोऽत्र यावान्।
नमः पतन्त्यात्मसमं पतत्त्रिणस्तथा समं विष्णुगतिं विपश्चितः॥'

नोट—४ (क) निगम, शेष और शिवसे देव वा ईश्वरकोटिके एवं स्वर्ग और पातालके और मुनिसे पृथ्वीके, इस तरह तीनों लोकोंके वक्ताओंको असमर्थ दिखाया। यथा—'*सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान। नेति नेति कहि जासु गुन करहिं निरंतर गान॥*' (१। १२) पुनः, भाव कि ये पार नहीं पाते तब और कौन पार पा सकता है?

मिलान कीजिये—'**नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये।
गायन्गुणान्दशशतानन आदिदेवः शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम्॥**'

—(भा० २। ७। ४१) अर्थात् ब्रह्माजी नारदजीसे कहते हैं कि तुम्हारे बड़े भाई सनकादिक, ये सब मुनि एवं मैं उस माया-बल-सम्पन्न पुरुषका अन्त जाननेको समर्थ नहीं हुए; तब जो हमारे पीछे उत्पन्न हुए वे जाननेको कैसे समर्थ हो सकते हैं। आदिदेव शेषजी भी हजार मुखोंसे नित्यप्रति हरिगुण-कीर्तन करते हुए आजतक अन्त नहीं पाते।

(ख)—'*नहिं पावहिं अंता*' इति। महाभारत शान्तिपर्वमें भृगुजी भरद्वाजजीसे कहते हैं कि—यह आकाश तो अनन्त है, इसमें अनेकों सिद्ध और देवता निवास करते हैं, इसीमें उनके लोक भी हैं। यह बड़ा ही रमणीय तथा इतना विशाल है कि कहीं इसका अन्त ही नहीं दिखायी देता। ऊपर जानेवालोंको और पृथ्वीके नीचे चन्द्रमा और सूर्य नहीं दिखायी देते। वहाँ अग्निके समान तेजस्वी देवता स्वयं अपने प्रकाशसे ही प्रकाशित रहते हैं, किंतु वे तेजस्वी नक्षत्रगण भी इस आकाशका अन्त नहीं पा सकते, क्योंकि यह अनन्त और दुर्गम है। आकाश ही नहीं, अग्नि, वायु और जलका परिमाण जानना भी देवताओंके लिये असम्भव है।

५ '*तुम्हहि आदि*......' इति। गरुड़के समान कोई बड़ा शीघ्रगामी और अधिक उड़ानवाला नहीं और मसकसे छोटा नहीं, अतः उनको आदिमें और इसको अन्तमें कहा। वह पक्षियोंमें बड़ेकी अवधि है और मसक सबसे छोटाईकी अवधि है।—'*मसक समान रूप कपि धरी*' इसीको '*अति लघुरूप धरेउ हनुमाना*' कहा है।

६ '*तिमि रघुपति महिमा*......' इति। भाव कि जैसे आकाशकी थाह कोई पाता नहीं, पर उड़ता है जहाँतक जिसकी सामर्थ्य है; वैसे ही सब मुनि और वेदादि चरितगान करते हैं, जितनी जिसकी बुद्धि है, अपनी वाणी सफल करनेके लिये, कुछ थाह पानेके लिये नहीं, वैसे ही मैंने '*निज मति सरिस*' कहा। यथा—'*सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई॥ तहाँ बेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा॥—बुध बरनहिं हरि जस अस जानी। करहिं पुनीत सुफल निज बानी॥*' (१। १३। १—८)

राम काम सतकोटि सुभग तन। दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन॥७॥
सक्र कोटि सत सरिस बिलासा। नभ सतकोटि अमित अवकासा॥८॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी अनन्त कामदेवोंके समान सुन्दर शरीरवाले हैं, अनन्त कोटि दुर्गाके समान असंख्यों शत्रुओंके नाशक हैं॥ ७॥ असंख्यों इन्द्रोंके समान उनका भोग-विलास है, असंख्यों आकाशोंके समान अनन्त अवकाश (विस्तार) वाले हैं॥ ८॥

नोट—१ पूर्व जो कहा कि '*तात कबहु कोउ पाव कि थाहा*' उसीको अब यहाँसे पुष्ट कर चले। यहाँसे महिमाकी अनन्तता दिखा रहे हैं, जिससे स्पष्ट हो जायगा कि कोई थाह क्यों नहीं पा सकता। ब्रह्माण्डमें जिस गुणमें जो सबसे उत्कृष्ट है उसकी चुन-चुनकर उपमा देंगे। यथा—'*कामसे रूप प्रताप दिनेस से सोमसे सील गनेससे माने। हरिचंदसे साँचे बड़े बिधि से मघवा से महीप बिषयसुख साने। सुक-से मुनि सारद से बकता चिरजीवन लोमस तें अधिकाने॥*' (क० उ० ४३), '*सुरराज सो राज समाज समृद्धि बिरंचि धनाधिप सो धन भी। पवमान सो पावक सो जम सोम सो पूषन सो भवभूषन भो॥*' (बा० उ० ४२) अन्तमें इन उपमाओंका सूर्यके लिये जुगुनूकी उपमाके समान अत्यन्त तुच्छ बताकर प्रभुको निरुपम सिद्ध करेंगे।

२ ☞कुछ ऐसा ही वर्णन सदाशिवसंहितामें आया है—(९२) छन्द भी देखिये।

'भानुकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिप्रमोदकम्। इन्द्रकोटिसदामोदं वसुकोटिवसुप्रदम्॥
विष्णुकोटिप्रतीपालं ब्रह्मकोटिविसर्जनम्। रुद्रकोटिप्रमदं वै मातृकोटिविनाशनम्॥
भैरवकोटिसंहारं मृत्युकोटिविभक्षणम्। यमकोटिदुराधर्षं कालकोटिप्रधावकम्॥
गन्धर्वकोटिसंगीतं गणकोटिगणेश्वरम्। कामकोटिकलानाथं दुर्गाकोटिविमोहनम्॥
सर्वसौभाग्यनिलयं सदानन्दैकदायकम्। कौशल्यानन्दनं रामं केवलं भवखण्डनम्॥
रुद्राणां स पती रुद्रो रुद्रकोटिनियामकः। चन्द्रादित्यसहस्राणि रुद्रकोटिशतानि च॥
इन्द्रकोटिसहस्राणि विष्णुकोटिशतानि च। ब्रह्मकोटिसहस्राणि दुर्गाकोटिशतानि च॥'

इसी तरह स्कन्दपुराण निर्वाणखण्ड, भरद्वाजसंहिता, अगस्त्यसंहितादिमें वचन हैं।

—[करु०—यहाँ प्रथम शृङ्गाररस कहकर फिर आगे शान्तरस कहा है।]

३ *'राम काम सतकोटि सुभग तन'* इति। (कामदेवके समान त्रिलोकीमें सुंदर और मोहनशक्तिवाला पुरुष नहीं है, दूसरे यह भी श्यामवर्ण है। ऐसे असंख्य कामदेव एकत्र हो जायँ तो भी प्रभुके सौन्दर्यके सामने ये ऐसे हैं जैसे सूर्यके सामने जुगुनू।—*'अंग अंग पर वारियहि कोटि कोटि सत काम।'* (१। २२०) जैसे राई मनुष्यपर निछावर की जाय वैसे ही ये राई-समान निछावरकी वस्तु हैं, उपमाकी नहीं। कहाँ राई, कहाँ मनुष्य! जब कामकी ही शोभाको कोई बखान नहीं कर सकता तब प्रभुकी शोभाकी थाह कौन पा सके?—*'अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमंद जान नहिं पाई॥'* (३। २। १२) (पां०—यह रूपका वर्णन है।)

४ *'दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन'* इति। शत्रुशालनमें वीररसके उदाहरणमें दुर्गादेवीसे बढ़कर शक्ति नहीं। दुर्गासप्तशतीमें उनकी परम शत्रुशालिनी शक्तिका वर्णन है। ऐसी अमितकोटि दुर्गाकी शक्ति एकत्र की जाय तो भी वह प्रभुकी शत्रुशालिनी शक्तिके सामने, सूर्यके सामने खद्योतवत् है। इनकी (श्रीदुर्गाजीकी) शक्ति त्रिदेवसे अधिक है, अतः जब इन्हींकी शक्तिकी थाह नहीं तब श्रीरामजीकी शक्तिकी थाह कौन पा सके?—(पां०—यहाँ वीरत्व कहा)

५ *'सक्र कोटि सत सरिस बिलासा'* इति। भोग-विलास-वैभवमें इन्द्रसे हद है (नोट १ देखिये); अतः उसकी असंख्यों इन्द्रोंकी उपमा कहकर उपर्युक्त रीतिसे उसका लघुत्व दिखाया। ☞इसी तरह आगे सब उपमाओंमें भाव समझ लें।

६ *'नभ सतकोटि अमित अवकासा'* इति। भाव कि जैसे बड़े-से-बड़े उड़ानवाले पक्षीको इस आकाशमें उड़नेके लिये स्थान मिलता है, उड़ता चला जाय, कभी अवकाशकी कमी नहीं होती, वैसे ही प्रभुके गुण-मति-अनुसार ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शारदा और शेषादि जितने भी कहते जायँ उनका कभी अन्त न मिलेगा। जितना ही अपने सामर्थ्यभर निकट जाते हैं उतना ही वे अपनेको अधिक दूर पाते हैं, यथा—*'ज्यों ज्यों निकट भयो चहौं त्यों त्यों दूर पर्यौं हौं।'* (वि० २६६) पुरुषसूक्तमें लिखा है कि—**'स भूमिं विश्वतो वृत्त्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्'** अर्थात् वह परमेश्वर सम्पूर्ण विश्वमें परिपूर्णरूपसे भरकर और भी दस अंगुल शेष रहता है। तात्पर्य कि वह आकाशके विस्तारसे भी बहुत बढ़कर है।

☞जिनके रोम-रोममें असंख्य ब्रह्माण्ड, जिनके उदरमें असंख्य ब्रह्माण्ड, उनके अवकाशकी कौन थाह पाये, एक-एक ब्रह्माण्डके अन्तर्गत आकाशका तो पता ही नहीं चल सकता कि उसका कितना अवकाश है।

दो०—मरुत कोटिसत बिपुल बल रबि सतकोटि प्रकास।
ससि सतकोटि सुसीतल समन सकल भवत्रास॥
काल कोटिसत सरिस अति दुस्तर दुर्ग दुरंत।
धूमकेतु सतकोटि सम दुराधरष भगवंत॥ ९१॥

शब्दार्थ—**दुरंत**=दुर्+अन्त। दुर् उपसर्गका प्रयोग इन अर्थोंमें होता है—(१) दूषण, बुरा (२) निषेध (३) दुःख वा कष्ट। **दुरंत**=अन्त जिसका नहीं। **दुर्गम**=दुःखसे जहाँ पहुँच हो, जिनकी प्राप्ति एवं जिनका समझना कठिन हो।=दुर्ज्ञेय। [ऊँचे ऐसे कि कोई लाँघ न सके। (पां०)] **दुस्तर**=जिससे पार पाना कठिन हो; विकट; न तरने योग्य। **दुराधर्ष**=जिसका दमन करना कठिन हो, अत्यन्त प्रबल।* यथा—'*रिपुबल धरषि हरषि कपि*……।'—(लं० ३५)। [=जिसकी धारणा कठिन है। (करु०) **धूमकेतु**=अग्नि।]

अर्थ—असंख्यों पवनदेवोंके समान उनका विशाल बल है, असंख्यों सूर्यके समान प्रकाश है। वे असंख्यों चन्द्रमाके समान अत्यन्त वा सुन्दर (दुःखदायी न होनेवाले) शीतल और समस्त भवभयके शमन करनेवाले हैं, असंख्यों कालोंके समान अत्यन्त दुस्तर, दुर्गम और दुरन्त हैं। भगवान् अनन्त अग्निके समान दुराधर्ष और षडैश्वर्यमान् हैं॥ ९१॥

नोट—१ पवनके समान बलवान् कोई नहीं, यथा—'*पवनतनय बल पवन समाना।*' (४। ३०। ४) रविके समान तेज नहीं, यथा—'*रबि सम तेज सो बरनि न जाई।*' (१२। २) '*सुसीतल समन सकल भवत्रास*' का भाव कि चन्द्रमा तो केवल शरदातपको हरता है और यह तो भवतापको हरण कर लेते हैं, जो गुण चन्द्रमामें नहीं है।—'*सरदातप निसि ससि अपहरई।*' (४। १७। ६) पर उसकी शीतलता बहुतोंको दुःखद भी होती है और प्रभु 'सुशीतल' हैं। सु=अत्यन्त सुन्दर।

२—काल दुस्तर दुर्ग दुरंत है, यथा—'*अंडकटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी॥*' (९४। ८)

भगवान्‌को भी काल कहा गया है। यथा—'**सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः। जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनान्तकम्॥**' (भा० ३। २९। ४५) अर्थात् वह काल स्वयं अनादि किन्तु दूसरोंका आदिकर्ता और अव्यय है, वह स्वयं अनन्त होकर भी दूसरोंका अन्त करनेवाला है। वह पितासे पुत्रकी उत्पत्ति कराता हुआ जगत्‌की रचना करता है और मृत्युके द्वारा मारता हुआ सबका अन्त करनेवाला है।—वह काल जिसका उल्लेख यहाँ है वह अनादि अखण्ड काल नहीं है। भगवान् तो इस कालके भी काल हैं। यथा—'*भृकुटि भंग जो कालहिं खाई।*' (लं० ६५। २), '*भुवनेस्वर कालहु कर काला।*' (सुं० ३९। १) वह तो सदा भगवान्‌से डरता रहता है। '*तव भय डरत सदा सोउ काला।*' (३। १३। ८) जब काल इतना दुर्ग-दुस्तर-दुरंत है तब उसके भी जो काल हैं उनका क्या कहना! सदाशिवसंहितामें भी कहा है—'**यमकोटिदुराधर्षं कालकोटिप्रधावकम्।**'

३—'*धूमकेतु सतकोटि*……।' करालता रावणके इन वचनोंसे सिद्ध है—'*जुग षट भानु देखे प्रलय कृसानु देखे सेष मुख अनल बिलोके बार बार हैं।*' (क० ५। २०)

प्रभु अगाध सत कोटि पताला। समन कोटिसत सरिस कराला॥ १॥
तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघ पूग नसावन॥ २॥
हिमगिरि कोटि अचल रघुबीरा। सिंधु कोटि सत सम गंभीरा॥ ३॥
कामधेनु सतकोटि समाना। सकल कामदायक भगवाना॥ ४॥

शब्दार्थ—'**पाताल**'—पृथ्वीके नीचे सात लोकोंमेंसे अन्तिम लोक पाताल है। ये भी सात माने गये हैं—अतल, बितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल। ये क्रमसे एकके नीचे दूसरा, इस प्रकार हैं। पातालसे नीचे फिर कोई लोक नहीं है, अतः अगाधता-(गहराईमें अथाह होने-) में इसकी उपमा दी जाती है।

अर्थ—प्रभु असंख्यों पातालके समान अथाह हैं, असंख्यों यमके समान कराल (भयंकर) हैं॥ १॥ उनका नाम अनन्तकोटि तीर्थोंके समान पवित्र एवं पवित्र करनेवाला और सम्पूर्ण पाप-समूहका नाशक है॥ २॥ रघुवीर

* खर्रा—१ 'दुस्तर दुर्ग दुरंत'। 'काल अखण्डदण्डायमान-जैसा होनेसे उसमें प्रवेशकर कोई उसे पार नहीं कर सकता।' दुराधर्ष='दुःख करके भी आधर्षण प्रवेशादिसे अयुक्त हैं।'

श्रीरामजी करोड़ों हिमाचलके समान अचल (चलायमान न होनेवाले, अटल) और अगणित समुद्रोंके समान गहरे हैं॥ ३॥ भगवान् श्रीरामजी असंख्यों कामधेनुके समान समस्त कामनाओंके देनेवाले हैं॥ ४॥

नोट—१ (क) पातालके समान अथाह कोई वस्तु नहीं और पापियोंको दण्ड देनेमें यमके समान कोई कराल नहीं। यम जिस रावणका कुछ न कर सके, उस रावणको भी इन्होंने कालके हवाले किया।*

(ख) अगाध और गम्भीर साधारणतया पर्याय मान लिये जाते हैं, पर यहाँ पातालके सम्बन्धमें 'अगाध' और सिन्धुके साथ 'गम्भीर' कहकर दोनोंमें भेद प्रकट किया है। स्वभावके सम्बन्धमें 'अगाध' और 'गम्भीर' का प्रयोग अन्यत्र भी हुआ है, यथा—'*कृपासिंधु सिव परम अगाधा। प्रगट न कहेउ मोर अपराधा॥*' (बा० ५८। २) '*लछिमन दीख उमाकृत बेषा। चकित भये भ्रम हृदय बिसेषा। कहि न सकत कछु अति गंभीरा। प्रभु प्रभाउ जानत मति धीरा॥*' (१। ५३। १-२) '*बोले घन इव गिरा गँभीरा।*' (६। ७४। १२) '*सुनु खगेस प्रभु कै यह बानी। अति अगाध जानहिं मुनि ज्ञानी॥*' (६। ११३। ३)

अगाध=अथाह। गम्भीर=गहरा पर अथाह नहीं। ये पर्याय नहीं हैं।

२ '*तीरथ अमित कोटि*......' इति। पृथ्वीपर तीर्थ साढ़े ३३ कोटि माने गये हैं और ब्रह्मा, इन्द्र, यमादि एक-ही-एक हैं, अतः उनके साथ '*कोटि सत*' 'कोटि' आदिका प्रयोग किया गया और तीर्थके साथ '*अमित कोटि*' अर्थात् कोटियों तो वे हैं ही, ऐसे ही अमित हों तो भी नामकी पावनता उनके समान कहना सूर्यको खद्योतसम कहनेके बराबर है।

वै०—'*हिमगिरि कोटि अचल*' अर्थात् भय, शंका, काम, क्रोधादि एक भी इनमें नहीं व्यापते, इनके तन-मन-वचन सभी अविचल हैं।

करु०—कामधेनु अर्थ, धर्म, काम तीन ही फल देती है, मोक्ष नहीं देती। श्रीरामचन्द्रजी सब देते हैं। शतकोटि कामधेनु क्यों कहा जब कि जो फल एक कामधेनु देगी वही फल शतकोटि देंगी? समाधान यह है कि एक असत्पद है और दूसरा सत् अर्थात् शतकोटि कहकर नित्य अखण्ड प्राप्ति दिखायी, एकसे नाशवान् अस्थिरका भाव समझा जाता है। [जैसे ऊपर और आगे भी कोटि, शतकोटि, अमितकोटि आदि कहकर उनसे अत्यन्त अधिक गुण दिखाया गया है, वैसा ही यहाँ भी समझना चाहिये।]

सारद कोटि अमित चतुराई। बिधि सतकोटि सृष्टि निपुनाई॥५॥
बिष्नु कोटि सम पालन कर्ता। रुद्र कोटिसत सम संहरता॥६॥
धनद कोटिसत सम धनवाना। माया कोटि प्रपंच निधाना॥७॥
भार धरन सतकोटि अहीसा। निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा॥८॥

शब्दार्थ—**निधान**=आधार, आश्रय, स्थापन करनेवाले। **प्रपंच**=सृष्टि, जग-जंजाल, पञ्चतत्त्वोंका उत्तरोत्तर अनेक भेदोंमें विस्तार, मायाजाल।

अर्थ—असंख्यों शारदाओंके समान अमित चतुरता, असंख्यों ब्रह्माओंके समान सृष्टि-रचनाकी निपुणता॥ ५॥ करोड़ों विष्णुके समान पालनकर्ता और असंख्यों रुद्रोंके समान संहारकर्ता हैं॥ ६॥ असंख्यों कुबेरोंके समान धनवान् और करोड़ों मायाओंके समान माया-प्रपञ्चके आधार हैं॥ ७॥ असंख्यों शेषोंके समान (ब्रह्माण्डोंका) बोझ धारण करनेवाले हैं। (कहाँतक कहा जाय) जगत्‌के स्वामी प्रभु श्रीरामजी सीमा और उपमारहित हैं॥ ८॥

नोट—१ (क) 'चतुराई' से वाणी और बुद्धिकी चतुरता अभिप्रेत है, क्योंकि शारदाजी वाग्देवी हैं। प्रभुकी वचन-रचनाकी प्रवीणता परशुराम-संवादसे सिद्ध है, परशुरामजी प्रधान दशावतारोंमेंसे एक हैं, इन्हें भी श्रीरामजीसे हार माननी पड़ी, इन्होंने प्रभुकी स्तुति '*जयति बचन रचना अति नागर*' इन शब्दोंसे की है।' (१। २८५। ३) देखिये। सृष्टिके रचयिता ब्रह्माजी हैं, इसीसे विवाहमण्डपकी रचनामें इनका स्मरण

* रा० शं०—'प्रभु अगाध' ऐसे कि दो ही पगमें चौदहों लोक ऊपरके नाप लिये, केवल इतनेहीकी आवश्यकता थी, यदि आवश्यकता और होती तो और बढ़ जाते।

किया गया है, यथा—'*बिधिहि बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा। बिरचे कनक कदलिके खंभा॥*' (१। २८७) और जहाँ भी सुन्दर अलौकिक रचनाका प्रसंग आता है वहाँ इनका ही नाम आता है, यथा—'*जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बर रचेउ बिचारी॥*' (१। २२३। ७)

'**रुद्र**' संहारके देवता हैं; यथा—'**सकल लोकांत कल्पांत शूलाग्रकृत दिग्गजाव्यक्तगुण नृत्यकारी॥......पाहि भैरवरूप रामरूपी रुद्र......।**' (वि० ११)

'*मायाकोटि......*' इति। भाव कि प्रभुका प्रकाश (सत्ता) पाकर उनकी आज्ञा, बल वा प्रेरणासे माया अनन्त प्रपञ्च (सृष्टि) रचती है। यथा—'*सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥*' (५। २१। ४) '*जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव......॥*' (१। ११७। ८) '*लव निमेष महँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥*' (१। २२५। ४) '*एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके॥*' (३। १५। ६) '*सोइ प्रभु भ्रूबिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥*' (७२। २)

'*भार धरन सतकोटि अहीसा*' इति। शेषनागजी ब्रह्माण्ड अपने सिरपर धारण किये हैं और प्रभुके रोम-रोममें अगणित ब्रह्माण्ड हैं। अत: कहा कि अगणित शेषके समान भी भार धारण गुण कहना अत्यन्त लघुता है।—[करु०-निरवधि=मर्यादारहित अर्थात् आदि-मध्य-अन्त किसीके जाननेयोग्य नहीं हैं।]

वि० त्रि०—'**भारधरन—जगदीसा**' इति। निरुपम पुरुष जगदीशके अपार गुणोंके प्रत्यक्ष करनेका सौभाग्य भुशुण्डिजीको हुआ। इन सबोंका वर्णन तो सर्वथा असम्भव है, फिर भी उस महात्माने उन गुणोंको वैशेषिकोंकी भाँति चौबीस श्रेणियोंमें विभक्त किया। वे ये हैं—सौन्दर्य, अरिमर्दनत्व, अवकाश, बल, प्रकाश, शीतलता, दुस्तरता, दुराधर्षता, अगाधता, करालता, पावनता, अघविनाशकता, अचलता, गम्भीरता, कामदायकता, चातुर्य्य, सृष्टिनैपुण्य, पालकत्व, संहार-कर्तृत्व, धनिकता, प्रपञ्चनिधानता, भारवाहकता तथा प्रभुता। ['*सक्रकोटि सम सरिस बिलासा*' यह गुण इस गणनामें छूटा हुआ है। इसको लेनेसे पचीस गुण होते हैं। चौबीस पूरे करनेके लिये मेरी समझमें 'प्रभुता' के बदले इसको लेना चाहिये। क्योंकि इतनी गणना करके अन्तमें '*निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा*' से सिद्धान्त कहा गया है (मा० सं०)। दो० ९२ में भी देखिये।]

पां०—जगदीशसे 'प्रभुका जगत्‌का राजारूप' उपमा और अवधिरहित कहा। ('भारधरन' का पाठान्तर 'धराधरन' है।)

☞'*राम काम सतकोटि सुभग तन।*' (९१। ७) से यहाँतक 'भिन्नधर्मालोपमा, व्यतिरेक और प्रतीप' अलङ्कारोंकी संसृष्टि है।

छं०—निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम* कहै।
जिमि कोटि सत खद्योत सम रबि कहत अति लघुता लहै॥
एहि भाँति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं।
प्रभु भावगाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख† मानहीं॥

शब्दार्थ—**बिलास**=प्रचार, मनोरंजन—'**इहाँ जथामति मोर प्रचारू**'

अर्थ—वेद कहते हैं कि श्रीरामजी उपमारहित हैं, उनकी कोई दूसरी उपमा है ही नहीं, श्रीराम-समान श्रीराम ही हैं। अर्थात् 'राम' की उपमा 'राम' ही हैं। जैसे सूर्यको असंख्यों खद्योतके समान कहनेसे अत्यन्त लघुता होती है;‡ वैसे ही इस प्रकार अपनी-अपनी बुद्धि-विलासके अनुसार मुनीश्वर भगवान्‌का

---

* निगमागम—(का०, पं०)।

† सचु पावहीं—रा० गु० द्वि० गुटका। सप्रेम ते सुख मानहीं—(का०)।

‡ पाण्डेजी इस प्रकार अर्थ करते हैं—'किसीसे प्रभुकी समता करनी इस प्रकार है कि जैसे कोई सूर्यकी उपमाके लिये शतकोटि जुगुनू एकत्र करके फिर सूर्यकी ओर देखे तो अपने कहनेमें अति लघुता पावेगा। और यह दशा केवल कविकी नहीं है बड़े-बड़े मुनीश्वर इस प्रकार कहते हैं।'

वर्णन करते हैं। प्रभु भक्तोंके भावके ग्रहण करनेवाले और अत्यन्त कृपालु हैं। वे प्रेमयुक्त वर्णनको प्रेमसहित सुनकर सुख मानते हैं।

नोट—१ *'निरुपम न उपमा आन……'* इति। **'अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच……कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति स होवाच गार्गि मातिप्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि गार्गि मातिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम।'** (बृह० ३। ६। १) इस मन्त्रमें बताया है कि गार्गीने अनेक प्रश्न किये और श्रीयाज्ञवल्क्यजीने उनके क्रमशः उत्तर दिये, जो संक्षेपसे यह हैं—यह जो कुछ है वह सब जलमें ओतप्रोत है। जल वायुमें, वायु अन्तरिक्षमें, अन्तरिक्ष गन्धर्वलोकोंमें, गन्धर्वलोक आदित्य लोकोंमें, ये चन्द्रलोकोंमें, चन्द्रलोक नक्षत्रलोकोंमें, नक्षत्रलोक देवलोकोंमें, देवलोक इन्द्रलोकोंमें, इन्द्रलोक प्रजापतिलोकोंमें और प्रजापतिलोक ब्रह्मलोकोंमें ओतप्रोत हैं।—इतने प्रश्नों और उत्तरोंके पश्चात् फिर भी गार्गीने प्रश्न किया कि ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है?' तब याज्ञवल्क्यजीने इस प्रश्नको 'अति प्रश्न' कहते हुए उत्तर दिया कि 'अति प्रश्न न कर। तेरा मस्तक न गिर जाय। तू जिसके विषयमें अति प्रश्न नहीं करना चाहिये, उस देवताके विषयमें अति प्रश्न कर रही है।'—पं० श्रीकान्तशरण इसका भाव यह लिखते हैं—ब्रह्मलोकपति श्रीरामजीसे विशेष कोई है क्या? ऐसा पूछनेपर श्रुति सिर गिर पड़नेका भय दिखाती है। यथा—*'राम मनुज बोलत असि बानी। गिरहिं न तव रसना अभिमानी॥'* (६। ३२), तथा—**'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्। पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्।'** (श्वे० ६। ७) अर्थात् 'वह ईश्वरोंका महान् ईश्वर, देवताओंका परम देव, पतियोंका परम पति और परसे भी श्रेष्ठ है। उस भुवनेश्वर और परम देवको हम जानते हैं।' [भगवान् शङ्कराचार्यजी 'अति प्रश्न मत कर' का भाव यह लिखते हैं कि न्यायोचित प्रकारको छोड़कर आचार्य परम्पराद्वारा पूछने योग्य शास्त्रगम्य देवताको अनुमानसे मत पूछ। इस प्रकार पूछनेसे तेरा मस्तक पतित न हो जाय]।

नोट—२ *'निगम कहै'* का भाव कि यह भगवान्‌की निज वाणी है। यदि उपमा होती तो वे अवश्य कहते। पर कहीं कोई उपमा न मिली तब ऐसा कहा, यथा—*'लही न कतहुँ हारि हिय मानी। इन्ह सम एइ उपमा उर आनी॥'* (१। ३२०। ३) प्रभुने मनुजीसे स्वयं कहा है कि *'आपु सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥'* (१। १५०। २)

३ *'निरुपम न उपमा आन……'* कहनेसे यह शंका होती है कि प्रभु अनुपम हैं, पर आपने तो उनकी उपमाएँ ऊपर कही हैं और अन्य ऋषियोंने भी तो कही हैं, यह कैसे? उसका समाधान करते हैं कि—(क) *'जिमि कोटि……।'* अर्थात् उपर्युक्त उपमाएँ ऐसी ही हैं जैसे सूर्यकी उपमा देते हुए कहें कि वह शतकोटि जुगनूके समान है। ऐसा कहना सूर्यके लिये अत्यन्त लघुत्व है और ऐसी उपमासे वक्ताकी भी न्यून बुद्धि प्रकट होती है। जैसे असंख्यों जुगनू सूर्यकी उपमा नहीं हो सकते वैसे ही असंख्यों कामदेव, असंख्यों दुर्गा इत्यादि उनके सौन्दर्य, शक्ति इत्यादिकी उपमा नहीं हो सकते।

'अति लघुता लहै', इससे तीनोंकी लघुता जनायी। उपमाकी लघुता, कहनेवालेकी लघुता और उपमेयकी लघुता। उपमाकी लघुता यह कि कोई पासंग बराबर भी नहीं है, सब उपमाएँ अत्यन्त तुच्छ देख पड़ती हैं, यथा—*'उपमा सकल मोहि लघु लागीं। प्राकृत नारि अंग अनुरागीं॥'* (१। २४७। २) वक्ताकी लघुता यह कि उसकी बुद्धि कैसी ओछी है कि ऐसी उपमा देते नहीं लजातीं, ऐसी उपमा देना बड़ा अनुचित है इत्यादि, यथा—*'सियमुख समता पाव किमि चंद बापुरो रंक।'* बा० २३७।……*वैदेही मुख पटतर दीन्हे। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे।' 'सिय बरनिय तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ अजसु को लेई।'* (बा० २४७। ३) ऐसी उपमा देनेसे कविको अपयश होगा। 'उपमेयकी लघुता' यह कि कहाँ वह बुद्धि, मन, वाणीके अनुमानसे भी परे और कहाँ उसकी यह उपमा! सुमेरुको सेर-समान कहना सुमेरुका अपमान है, उसको अत्यन्त न्यून बनाना है, जिसके रोम-रोम-प्रति असंख्यों ब्रह्माण्ड हैं उसकी उपमा उसके मायाकृत ब्रह्माण्डमें भला कोई हो सकती है।

(ख) जो मुनियोंने कहा है वह *'निज मति बिलास'* है अर्थात् अपनी बुद्धिभर कहा गया है। दूसरे,

वह अपने मनोरञ्जनके लिये कहा गया है, इस तरह उन्होंने अपनी भक्ति जनायी है, वाणीकी सफलता इसीमें है कि वह हरिगुण गावे, अतः मतिविलासानुसार गाते हैं।

३ *'प्रभु भावगाहक.........'* इति। (क) जब लघुता होती है तब तो प्रभु उससे अप्रसन्न होते होंगे? फिर क्यों उपमाएँ दी जाती हैं? इसपर कहते हैं कि प्रभु भावग्राहक हैं, वे भक्तका भाव देख प्रसन्न होते हैं। अतः जहाँतक जिसकी बुद्धिका प्रचार है वहाँतक वह कहता है। यह उसकी भक्ति है, प्रेम है, सेवा है। *'सुर-साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जल अंजलि दिये।'* (१। ३२६ छंद १), *'तुम्ह परिपूरन काम जान सिरोमनि भावप्रिय। जन गुन गाहक राम दोष दलन करुना अयन॥'* (बा० ३३६) (ख) *'अति कृपाल'* का भाव कि ऐसी लघुता अपनी देखकर क्रोध होना चाहिये, पर वे अत्यन्त कृपा करते हैं यह समझकर कि इसकी गति इतनी ही है। यथा—*'लोकहु बेद सुसाहिब रीती। बिनय सुनय पहिचानत प्रीती॥ गनी गरीब ग्रामनर नागर। पंडित मूढ़ मलीन उजागर॥ सुकबि कुकबि निज मति अनुहारी। नृपहि सराहत सब नर नारी॥ साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस अंस भव परम कृपाला॥ सुनि सनमानहिं सबहिं सुबानी। भनिति भगति नति गति पहिचानी॥ यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ। जान सिरोमनि कोसलराऊ। रीझत राम सनेह निसोते। को जग मंद मलिन मति मोतें॥'* (१। २८। ५—११) (वहाँ देखिये)।

(ख) *'सप्रेम सुनि सुख मानहीं'*, यथा—*'मैं कछु कहउँ एक बल मोरे। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे॥'* (१। ३४२ (४) यह अति कृपालुता है। लघु उपमापर क्रोध न करना कृपा है और उसे प्रेमसे सुनना तथा सुनकर प्रशंसा करना, उससे आनन्द मानना, यह अति कृपा है। प्रेम देख प्रसन्न होते हैं, जैसे बच्चेके तोतले वचन सुन माता-पिता प्रसन्न होते हैं। *'मानहीं'* अर्थात् इस योग्य है नहीं पर वे मान लेते हैं। मिलान कीजिये—*'बेदबचन मुनि मन अगम ते प्रभु करुनाऐन। बचन किरातन के सुनत जिमि पितु बालक बैन॥'* (अ० १३६) *रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेहु जो जाननिहारा॥'*

दो०—रामु अमित गुनसागर थाह कि पावै कोइ।
संतन्ह सन जस किछु सुनेउँ तुम्हहिं सुनाएउँ सोइ॥ १२॥
सो०—भावबस्य भगवान सुखनिधान करुनाभवन।
तजि ममता मद मान भजिअ सदा सीतारवन*॥ १२॥

अर्थ—श्रीरामजी अमित गुणोंके समुद्र हैं, क्या कोई थाह पा सकता है (कि कितने गुण हैं। अर्थात् कोई थाह नहीं पा सकता)। जैसा कुछ संतोंसे सुना, वह मैंने आपको सुनाया। भावके वश रहनेवाले, षडैश्वर्य-सम्पन्न, सुखके आधार और करुणाके स्थान श्रीसीताजीके पतिको सदा ममता, मद और मान छोड़कर भजना चाहिये॥ १२॥

नोट—१ *'रामु अमित गुनसागर'* इति। (क) अमित गुणसागर कहकर जनाया कि ऊपर जो वर्णन हुआ वह सब प्रभुके गुण ही हैं।

यहाँतक ३४ गुण वर्णन किये—१ सौन्दर्य, २ शत्रुमर्दन-शक्ति, ३ भोग-विलास-वैभव, ४ अवकाश, ५ विपुल बल, ६ प्रकाश, ७ सुशीतलता, ८ दुस्तर, ९ दुर्ग, १० दुरंत, ११ दुराधर्ष, १२ अगाध, १३ कराल, १४ पावन, १५ नाम अखिल अघपूग नसावन, १६ अचल, १७ गम्भीर, १८ सकल कामदायक, १९ अमित चतुर, २० सृष्टि-रचनामें निपुण, २१ पालनकर्त्ता, २२ संहर्त्ता, २३ धनवान्, २४ प्रपंच-निधान, २५ भारधरन, २६ निरवधि, २७ निरुपम, २८ जगदीश प्रभु, २९ भाव-ग्राहक, ३० अति कृपाल, ३१ भगवन्त, ३२ भावबस्य, ३३ सुखनिधान, ३४ करुणालय।

इस गणनासे यह सन्देह होता है कि बस इतने ही गुण प्रभुमें हैं, अतः कहा कि इतने ही न जानो, वे तो अमित गुणोंके समुद्र हैं। (ख) पुनः, *'अमित गुनसागर'* का भाव कि अनन्त सृष्टिमें एक-

* सीतापतिहि—(का०)

एकमें जो गुण प्रधान है वह सब अनन्त गुणा गुण तो एक ठौर प्रभुमें हैं ही और इनसे भी अनन्त गुण हैं। (ग) गुणसागरमें भाव यह कि सागर-रत्नाकर कहलाता है पर उसमें १४ ही प्रधान रत्न निकले और प्रभुमें अनन्त गुण रत्न हैं। [करु०—भाव कि एक-एक गुण समुद्र इनमें हैं, ऐसे अमित समुद्र हैं।]

इस कथनसे यह शंका हुई कि जब अमितगुणसागर हैं, कोई उनका वर्णन कर ही नहीं सकता तब वर्णन करना ही व्यर्थ है, इससे प्रभु प्रसन्न थोड़े ही हो सकते हैं, उसपर कहते हैं कि—'**भावबस्य**……।'

रा० शं० श०—'***संतन्ह सन जस कछु***……।'—प्रथम संतशिरोमणि शंकरजीसे सुना, फिर लोमशजीसे सुना, फिर अवधमें जन्ममहोत्सवमें अनेक संतोंसे सुना।—[शिष्ट वक्ताओंके कथनकी यही रीति है—बा० १२१ (४-५), ११४ (५) देखिये। उ० ९१ (४) देखिये।]

नोट—२ '***भावबस्य भगवान***……' इति। प्रभु भगवान् अर्थात् षडैश्वर्यसम्पन्न हैं। उनको किसीसे प्रशंसा कराने या किसीसे प्रशंसा किये जानेकी आवश्यकता क्या? इससे क्या लाभ? पुनः, वे सुखनिधान हैं तब गुण वर्णन करके उनको कोई क्या आनन्द देगा, वे तो स्वयं ही आनन्दसागर हैं। पर वे करुणाभवन हैं। जीवपर उनकी दया है। वे जानते हैं कि जीव असमर्थ है; यह सोचकर वे उसके 'भाव' को लेते हैं और उसीसे प्रसन्न हो जाते हैं, यही नहीं वरन् भक्तके वश हो जाते हैं। अल्प सेवाको बहुत भारी सेवा मानकर बड़े ही कृतज्ञ हो जाते हैं। पूर्व भी इस प्रकारके विशेषण आये हैं। यथा—'***तुम्ह परिपूरन काम जान सिरोमनि भाव प्रिय।***' (१। ३३६) '**भजामि भाववल्लभं**……' (३। ४ छंद १०) '***प्रभु भावगाहक अति कृपाल***……।' (९२ छंद)—'**सर्वभाव भज**……।' (८७) भी देखिये।

उपक्रम	उपसंहार
महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा	*राम अमित गुनसागर*
तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा	*थाह कि पावै कोइ*
निज निज मति मुनि हरिगुन गावहिं	*संतन्ह सन जस कछु सुनेउँ*……
भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुंदर सुखद	*भगवान सुखनिधान करुनाभवन भजिअ*

पां०—भाव कि वे यथार्थकी, सत्यकी अपेक्षा नहीं करते, क्योंकि वहाँतक किसीकी गति ही नहीं है।

सि० ति०—'भावबस्य'! भजनमें भावसे ही सरसता होती है। गोस्वामीजीने इस दोहेमें भावका रहस्य खोला है। पहले भगवान् शब्दसे भक्तिके स्वरूपका प्रादुर्भाव कहा है। प्रभु षडैश्वर्यपूर्ण हैं। उनके ज्ञान-बलसे संहार, ऐश्वर्य-वीर्यसे उत्पत्ति और शक्ति-तेजसे पालनका कार्य होता है। जिसके द्वारा ये तीनों कार्य होते हैं, वही उपास्य होता है। जगत्के तीनों कार्य करनेसे भगवान् ही इस-(जगत्भर-) के उपास्यदेव हैं। सब जीव उन्हींके भोग्य हैं, शेष हैं, सबकी स्थिति उन्हींके लिये रहनी चाहिये। प्रत्येक अवस्थामें ये उन्हींके लिये हैं। अतः स्थूल शरीराभिमानी होनेपर हाथोंसे सेवा, नेत्रोंसे दर्शन, कानोंसे यशश्रवण, वाणीसे गुणगान आदि उनकी नवधा भक्ति करनी चाहिये। सूक्ष्मशरीराभिमानी रहनेपर प्रेमाभक्ति और कारणशरीराभिमान शोधनके लिये पराभक्ति करनी चाहिये। नवधासे ममताकी शुद्धि होती है, प्रेमाभक्तिसे बुद्धि आदिके द्वारा होनेवाले विद्या, विवेक आदिके 'मद' नाश होते हैं। पराभक्तिकी प्रारम्भिक विरहावस्थामें वासनामय एवं सूक्ष्म अहंकारमय कारण शरीर जल जाता है। कारण-शरीर, यथा—'***घृतपूरन कराह अंतरगत ससि प्रतिबिंब लखावै।***' (वि० ११५) (इस पदके तीन चरणोंमें तीनों शरीरोंका वर्णन है) यथा—'***संसृतिमूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना॥***' अतः पराभक्तिसे मनका नाश हो जाता है। तब शुद्ध तुरीयावस्थासे '***भजिय सदा सीतारवन***' कहा गया है कि सदा एकरस निर्बाध श्रीसीतारमणका भजन करना चाहिये। भगवान् तुरीयरूप हैं, यथा—'**तुरीयमेव केवलम्।**'(आ०) यह श्रीअत्रिजीने कहा है। साथ ही '**भजामि भाववल्लभं।**' भी कहा है। अतः भावसहित भजनसे प्राप्त होते हैं। जीव भगवान्की सेवा करनेके लिये उनके साथ किसी भावसे ही रहता है, जैसे संसारमें भी दो व्यक्ति साथ रहते हैं तो किसी नातेसे ही रहते हैं। भक्तिमें नातेकी बड़ी ही आवश्यकता है। यथा—'***तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै***……।' (वि० ७९) नातेसे भगवान्

स्नेह-बन्धनमें बँध जाते हैं, उसे त्याग नहीं सकते, यथा—'*तोहि मोहिं अब न तजे बनि आवे।*' (वि० ११३) नातेसहित स्नेहपूर्वक भजन करना भावसहित भजन कहा जाता है। शृङ्गार, सख्य, दास्य, वात्सल्य और शान्त ये पाँच प्रकारके रसात्मक भाव प्रसिद्ध हैं। पाँचों पाँच प्रकारके नातेसहित ही होते हैं। पाँचोंकी भावना तुरीयावस्थासे ही की जाती है। उपर्युक्त रीतिसे तीनों अवस्थाओंके शोधनकालमें यह भावना साधनरूपमें रहती है। तुरीया प्राप्त होनेपर निर्बाध एकरस होती है।

नोट—३ सीतारमणको सदा भजनेका भाव कि—(क) श्रीसीताजी '**उद्भवस्थितिसंहारकारिणी**' '**क्लेशहारिणी**' तथा '**सर्वश्रेयस्करी**' हैं और श्रीरामजीकी परमशक्ति ये ही हैं कि जिनके अंशसे अगणित उमा-रमा-ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं, जिनकी मायाके अन्तर्गत समस्त माया है। अतएव सीतापतिका भजन करनेसे ये सब क्लेशोंको दूर करके सब प्रकारसे कल्याण करेंगी, फिर ममता, मद, मान और माया पास न आ सकेंगे। पुनः इसमें शक्ति और शक्तिमान् दोनोंका भाव है। मिलान कीजिये—'*सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ*……' (अ० २४३)।

पुनः, (ख)—सुशीलताके सम्बन्धसे सीतारमण कहा, यथा—'*सुनि सीतापति सीलसुभाउ।*……*समुझि समुझि गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ। तुलसिदास अनयास रामपद पैहै प्रेम पसाउ॥*' (वि० १०१)

रा० प्र०—'सीतापति' को भजनेका भाव कि जिसमें फिर इनका 'बुत्ता' (दाँव, काबू) न चले, जैसे ओषधादिसे घाव पूरा हो जानेपर भी औषध-सेवनसे फिर भय नहीं रहता। ममता, मद, मान भजनके विरोधी हैं; इससे उनका त्याग करके भजन करनेको कहा। 'सीतारमण' पाठका भाव कि—भाववश्यतासे ही सीताविषे रमण करते हैं, वा, ऐश्वर्य त्यागकर वश होते हैं, वा सीता और राम दोनोंको भजो।

४ ☞प्रचण्ड प्रतापवर्णन-प्रसंग समाप्त हुआ।

श्रीगरुड़जीकी कृतज्ञता

सुनि भुसुंडि के बचन सुहाए। हरषित खगपति पंख फुलाए॥ १॥
नयन नीर मन अति हरषाना। श्रीरघुपति* प्रतापु उर आना॥ २॥

शब्दार्थ—**आनना**=लाना। **फुलाना**=भीतरके दबावसे बाहरकी ओर फैलाना।

अर्थ—श्रीभुशुण्डिजीके सुहावने सुन्दर वचन सुनकर हर्षित होकर पक्षिराजने अपने पक्ष फुलाये॥ १॥ उनके नेत्र सजल हो गये, वे मनमें अत्यन्त हर्षित हुए और उन्होंने श्रीरघुनाथजीका प्रताप हृदयमें धारण किया॥ २॥

नोट—१ '*सुहाए*' बहुवचन-पद देकर भुशुण्डिजीके उपर्युक्त सब वचन '*सुहाए*' सूचित किये। प्रभुके गुणानुवाद-युक्त, श्रीरामपरत्वके द्योतक एवं भ्रमभंजन होनेसे '*सुहाए*' कहा। पुनः, यहाँ '*सुहाए*' कहकर पूर्वके कुछ वचनोंका असुहाये होना जनाया। '*सब बिधि नाथ पूज्य तुम्ह मेरे*' इत्यादि जिनमें गरुड़जीकी प्रशंसा है वे 'न सुहाये' थे, और रामपरत्व और उपदेशके वचन 'सुहाये' थे। [पं०—सत्कारपूर्वक उपदेश किया, श्रीरामचन्द्रजीका माहात्म्य सुनाया और संदेहका खण्डन किया, अतः '*सुहाए*' कहा।]

२ '*पंख फुलाए।*' यह पुलकित एवं आनन्दित होना प्रकट करता है, जैसे वर्षाकालमें मेघोंको देखकर मयूर पर फैलाकर नाचने लगता है। इसीसे 'हर्षित' कहकर 'पंख' फुलाना कहा।

३ '*मन अति हरषाना।*'—यहाँ 'अति हर्ष' का भाव यह है कि बाह्य शरीरसे वह हर्ष नहीं अनुमान किया जा सकता, बाहर तो किंचित् ही उसकी छटा है, इसीसे शरीरके सम्बन्धमें 'हरषित' मात्र कहा और मनमें अति हर्ष कहा। पुनः, 'अति हर्ष' का भाव कि जब भीतर न समाया तब नेत्रादिद्वारा कुछ बाहर भी निकल आया। यह कहकर अति हर्षका कारण बताते हैं कि '*श्रीरघुपति प्रतापु उर आना।*' अर्थात् पहले इसमें नाना भ्रम संशय भरे थे अब उसमें रामप्रताप भर गया है।

४ '*श्रीरघुपति*' का भाव। (क) ये समस्त श्री और जीवोंके भी 'पति' (स्वामी) हैं। पुनः, (ख)

* 'श्रीरघुबर'—(का०), 'रघुपति प्रभाव'—पाठान्तर।

मोह 'रघुपति' स्वरूप अर्थात् सगुण अवतारमें हुआ था; अब उनको पुनः ब्रह्म निश्चय कर लिया, मनुष्य-बुद्धि जाती रही, गौरवकी दृष्टि हुई। अतः 'श्रीरघुपति' कहा।

५ (क)—भुशुण्डिजीने दोहा ७४ (१) से सात बार सुननेको कहा। यथा—*'सुनु खगेस रघुपति प्रभुताई।'* (७४। १), *'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ।'* (७४। ५), *'कहउँ खगेस सुनहु मन लाई।'* (७५। १), *'कहइ भुसुंडि सुनहु खगनायक।'* (७६। १), *'सुनहु सो सावधान हरिजाना॥'* (७८। ३), *'बिहँसे सो सुनु चरित बिसेषा।'* (७९। ४), *'रामकृपा बिनु सुनु खगराई।'* (८९। ६) इतनी बार 'सुनु' कहकर जनाया कि प्रभुता कहनेमें बारम्बार सावधान करते गये और प्रभुताके अन्तर्गत इतनी बातें कहीं। बीचमें कहीं यह नहीं कहा गया कि गरुड़ने सुना। यहाँ *'सुनि भुसुंडिके बचन सुहाए'* में गरुड़का सुनना कहकर जनाया कि जो प्रसंग ७४ (१) से उठा था वह वहाँसे यहाँतक सब सुना। (ख) प्रारम्भमें भुशुण्डिजीने रघुपति-प्रभुताईकी कथाको *'सुहाई'* विशेषण भी दिया है, यथा—*'कहउँ जथामति कथा सुहाई'* अतः *'सुनि भुसुण्डि के बचन सुहाए'* कहकर उस वचनका उपसंहार यहाँ जनाया। (ग) उपक्रममें 'रघुपति प्रभुता' सुननेको कहा, अतः उपसंहारमें प्रभुत्वसूचक 'श्रीरघुपति' पद दिया। (घ) *'श्रीरघुपति प्रताप उर आना।'* कहकर उत्तम श्रोता जनाया, क्योंकि इनने केवल सुना ही नहीं वरन् उसे हृदयमें धारण कर लिया। चरित सुननेपर *'गएउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित'* कहा था और ऐश्वर्य जान लेनेपर *'श्रीरघुपति प्रताप उर आना'* कहा। ऐश्वर्यसम्बन्धसे 'श्री' विशेषण दिया। भाव कि अब केवल रघुपति नहीं वरन् उनको परात्पर ब्रह्म रघुपतिरूपमें जानते हैं। 'राम' ब्रह्मका प्रताप तो जानते ही हैं—*'देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं।'* संदेह अवतारके प्रतापमें था, अतः 'रघुपतिप्रताप' जानना कहकर माधुर्यमें ऐश्वर्यरूपका बोध किया।

पाछिल मोह समुझि पछिताना। ब्रह्म अनादि मनुज करि माना॥ ३॥

पुनि पुनि काग चरन सिरु नावा। जानि राम सम प्रेम बढ़ावा॥ ४॥

अर्थ—पिछला मोह समझकर पछताया (कि उफ ओह! खेदकी बात है, शोक है कि देखो तो) अनादि ब्रह्मको मैंने मनुष्य करके माना॥ ३॥ बार-बार काकके चरणोंमें सिर नवाया और श्रीरामजीके समान जानकर प्रेम बढ़ाया॥ ४॥

नोट—१ *'पाछिल मोह'* का भाव कि पूर्व था, अब नहीं रह गया। पहले क्या मोह था सो दूसरे चरणमें खोलते हैं कि अनादि ब्रह्ममें मनुष्यबुद्धि निश्चय की थी। 'पाछिल' से तो पूर्वकथित अभिप्रेत होता है तब यहाँ *'ब्रह्म अनादि मनुज करि जाना'* को पिछला कैसे लेते हैं? उत्तर यह है कि पूर्व मोह, संशय और कुतर्क होना कहा, पर मोह क्या था उसे कहीं स्पष्ट न कहा था, अतः यहाँ उसीको स्पष्ट किया।

(१) *'ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा॥ सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥'* (५८। ७-८) *भवबन्धन तें छूटहिं नर जपि जाकर नाम। खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम॥'* (५८) *खेद खिन्न मन तर्क बढ़ाई। भएउ मोहबस तुम्हरिहि नाई॥'* (५९। २) इस उद्धरणसे अनुमान होता है कि ब्रह्म होनेमें संदेह हो रहा है।

(२) *'मोहि भएउ अति मोह प्रभुबंधन रन महुँ निरखि। चिदानंदसंदोह राम बिकल कारन कवन॥'* (६८) *देखि चरित अति नर अनुसारी। भएउ हृदय मम संसय भारी॥'* (६९। १)—यहाँ जनाया कि व्याकुल होनेका कारण विचारमें न आनेसे भारी संशय हुआ।

(३) वह 'भारी' संशय यहाँ खोला कि कारण न समझनेसे मनुष्य निश्चय किया था।

वि० त्रि०—गरुड़जीको प्रभुका बन्धन देखकर जो उन्हें मनुष्यका भ्रम हुआ और जितने दिन उनको भ्रम बना रहा, उसका स्मरण करके उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि इतने दिन हमारे भगवद्भजनमें न बीतकर घोर अज्ञानमें बीते। इतना बड़ा भगवदपराध मुझसे बन पड़ा कि अनादि ब्रह्मको मैं पार्श्ववर्ती होनेपर भी पहचान न सका और मनुष्य मान लिया। मेरी गिनती मूढ़ोंमें हो गयी। यथा—'**अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥**' (गीता ९। ११)

नोट—२ *'पुनि पुनि काग चरन सिरु नावा'* इति। इससे कृतज्ञता प्रकट की। यथा—*'मो पहिं होइ न प्रति उपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा॥'* (१२५। ४) अर्थात् मैं इस उपकारका बदला नहीं दे सकता। दोहा ९३ (५) में भी देखिये। पक्षिराज होकर नीच पक्षीको प्रणाम करना अयोग्य है, अतः शंकाके निवारणार्थ कहते हैं कि *'जानि राम सम।'*

३ *'जानि राम सम प्रेम बढ़ावा'* इति। (क) जिसे माया न व्यापे वह भगवान्‌के समान है, जैसा कि सुग्रीवजीने कि० २१ (२—५) में कहा है। यथा—*'अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया॥ बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पावँर पसु कपि अति कामी॥ नारि नयन सर जाहिं न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥ लोभ पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥'* सुग्रीवजी विषयवश हो गये थे, इससे उन्होंने केवल विषयसम्बन्धी कामादिको कहकर *'सो नर तुम्ह समान'* कहा। पर प्रारम्भमें 'माया' को कह देनेसे स्पष्ट कर दिया कि मायाका समस्त परिवार जिसको न व्यापै वह आपके समान है। इसके पश्चात् फिर कहा कि *'यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई॥'* और गरुड़जी अभी-अभी भुशुण्डिजीसे सुन चुके हैं कि प्रभुने उनको मायारहित कर दिया। अतः *'राम सम'* जानना कहा। पुनः, श्रीरघुनाथजीका स्वरूप उन्हीं-(श्रीरामजी-) की ही कृपासे जाना जाता है, जब वे (श्रीरामजी) जनाते हैं तभी मनुष्य जानता है, और यहाँ भुशुण्डिद्वारा राम-प्रताप जाना है। अतः इनको *'राम सम'* जाना। पुनः, पूर्व इनमें विशुद्ध सन्तका भाव हुआ था, यथा—*'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥'* (६९। ७), अब 'रामसम' कहकर संत-भगवंतमें अभेद जनाया। —*'संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं किमपि……।'* (वि० ५७) आगे इनमें गुरुबुद्धि दिखाकर भक्त, भगवन्त और गुरुमें अभेद जनाया है। गुरुजी भगवान्‌का स्वरूप हैं। यथा—**'आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्। न मर्त्यबुद्ध्याऽसूयेत सर्वदेवमयो गुरुः।'** (भा० ११। १७। २७) भगवान् उद्धवजीसे कहते हैं कि आचार्यको मेरा स्वरूप जाने। उनकी अवज्ञा न करे। उनको साधारण मनुष्य समझकर उनके गुणोंमें दोष न निकालें, क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है। अतः *'राम सम'* जानना कहा।

(ख) *'प्रेम बढ़ावा'* का भाव कि पूर्व-चरित सुननेपर प्रेम हुआ था, यथा—*'सुनि बिहंगपति बानी सहित बिनय अनुराग।'* अब वह अधिक हो गया, अतः 'बढ़ावा' कहा। प्रेम बढ़ाया, यह कैसे जाना यह आगे कहते हैं कि पहले 'रामसम' जाना और फिर गुरु भी मान लिया। 'पुनि-पुनि प्रणाम' भी प्रेमकी अधिकताका कारण है।

गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई॥ ५॥

अर्थ—गुरुके बिना कोई भवसागर पार नहीं होता, चाहे वह ब्रह्मा और शंकरजीके समान ही (क्यों न) हो॥ ५॥

नोट—१ *'गुरु बिनु……'*—इससे जनाया कि गरुड़जीने श्रीभुशुण्डिजीको गुरु माना। अतः *'पुनि पुनि काग चरन सिरु नावा'* गुरुबुद्धिसे था। ☞ रामचरित सुननेपर गुरुबुद्धि न हुई थी, केवल संतबुद्धि हुई थी। क्योंकि उन्होंने रामचरित सुनाया। प्रथम संतका संग होता है तब उससे उसे चरित मिलता है, यथा—*'प्रथम भगतिं संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥'* गुरु उपदेष्टा होता है, भुशुण्डिजीने पूर्व श्रीरामचरितमात्र कहा था, उपदेश न दिया था, और श्रीरामपरत्व तथा अपना मोह-कथन करते समय बारम्बार उपदेश भी दिया, उनको भगवत्-सम्मुख किया। वे विमुख हो गये थे। उनकी वह विमुखता दूर कर दी। अतः अब गुरु माना। यथा—*'अस बिचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय सकल। भजहु राम रघुबीर……॥'* (९०) *'तजि ममता मद मान भजिअ सदा सीतारवन।'* (९२) पुनः, यह भी बीचमें कहा है कि *'बिनु गुर होइ कि ज्ञान।'* (८९) यह गुरुकी आवश्यकता भी सुनी है। बिना ज्ञानके संशय नहीं जाते—*'ज्ञान उदय जिमि संसय जाहीं।'* और ज्ञान बिना गुरुके नहीं होता, अतः गुरु माना।

गुरु वही है जो शिष्यके मोह और संशयोंका नाश करे, यथा—*'महा मोह तम पुंज जासु बचन रबिकर*

निकर।'(बा० मं० सो० ५), *'सदगुर मिलें जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ।*'(४। १७) संशयका दूर होना भुशुण्डिकी कृपासे दोहा ६९ (८) में कह आये और यहाँ कह रहे हैं कि *'मम मोह नसावा'* अत: भुशुण्डिजीमें गुरुभाव हो गया। *'सदगुर मिलें जाहिं——।*'(४। १७) यहाँ उनमें चरितार्थ हुआ।

२ख—*'भवनिधि तरै न कोई'* के *'न कोई'* से सबको गुरुकी परम आवश्यकता जनायी। आजकल प्राय: पश्चिमी सभ्यताको प्राप्त नई रोशनीवाले गुरुका करना ढोंग और बिलकुल अनावश्यक मानने लगे हैं। पर हमारे शास्त्रोंमें उसका होना जीवके लिये परमावश्यक बताया गया है। (भा० १०। ८७। ३३) में वेदोंने भगवान्‌की स्तुति करते हुए इस विषयमें केवल अपने बुद्धिबलसे भवसागर पार कर लेनेके अभिमानियोंकी दशा बहुत उत्तम रीतिसे शोचनीय दिखायी है। **'विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिद:। व्यसनशतान्विता: समवहाय गुरोश्चरणं वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ॥'** अर्थात् जिन योगियोंने अपनी इन्द्रियों और प्राणोंको वशमें कर लिया है, वे भी जब गुरुदेवके चरणोंकी शरण न लेकर उच्छृङ्खल एवं अत्यन्त चंचल मन-तुरंगको अपने वशमें करनेका प्रयत्न करते हैं तब अपने साधनोंमें सफल नहीं होते। उन्हें बार-बार खेद और सैकड़ों विपत्तियोंका सामना करना पड़ता है, केवल श्रम और दु:ख ही उनके हाथ लगता है। उनकी ठीक वही दशा होती है, जैसी समुद्रमें बिना कर्णधारकी नावपर व्यापार करनेवालोंकी होती है। तात्पर्य यह कि जो मनको वशमें करना चाहते हैं, उनके लिये कर्णधार गुरुकी अनिवार्य आवश्यकता है।

३—*'जौं बिरंचि संकर सम होई'* का भाव कि ब्रह्माके समान सृष्टिकर्त्ता तथा सारे संसारका कल्याण करनेवाला शंकरजीके समान ही क्यों न हो, फिर भी बिना गुरुके ऐसा पद पाकर भी ऐसा महत्त्वशाली होनेपर भी, भवसागर पार नहीं होगा। पुन:, विरंचि और शंकरका उदाहरण देकर जनाया कि ईश्वरकोटिवाले भी बिना गुरुके भवपार नहीं हो सकते तब इतर जीव किस गणनामें हैं? ब्रह्मा और शंकरजीके गुरु स्वयं भगवान् ही हुए।* पूर्व जो कहा है कि *'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान'* वही बात यहाँ पुष्ट कर रहे हैं। ज्ञानसे मोक्ष होता है, यथा—*'ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना।'* और; वह ज्ञान स्वयं शास्त्रादिके अध्ययनसे नहीं हो सकता, उसके लिये गुरु जरूरी है। अत: कहा कि *'गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई।'* गुरु-महिमा यहाँतक कही गयी है कि *'राखइ गुर जौं कोप बिधाता। गुरु बिरोध नहिं कोउ जगत्राता।'*

श्रीरामनाम-जपके विषयमें कहा जाता है कि गुरु करनेके बिना भी जप कर सकता है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि भवसागर पार होनेके लिये उसको गुरुकी किञ्चित् जरूरत नहीं। काष्ठजिह्वास्वामीजी कहते हैं कि *'चढ़ै जो भक्ति नवरिया केवल नाम अधार। सतगुरु देव मलहवा तौ करै उधार॥'* नामका आश्रय लेनेसे वे स्वयं यह बुद्धि प्रदान कर देते हैं।

गोस्वामीजीने रामनामके लिये भी गुरुकी आवश्यकता कही है—*'बेगि बिलंबु न कीजिये लीजिये उपदेस। बीजमंत्र जपिये सोई जो जपत महेस॥'* (वि० १०८) इस काण्डमें भी बार-बार गुरुकी आवश्यकता कही गयी है, यथा—१ *'करनधार सदगुर दृढ़ नावा।'* (४४। ८। २) *'बिनु गुर होइ कि ज्ञान।'* (८९), ३ *'गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई।'* (९३। ५।' ४) *'सदगुर बेद बचन बिस्वासा।'* (१२२। ६)

नं० प०—श्रीशिवजी त्रिकालज्ञ हैं। वे जान गये कि गरुड़को अभिमान था कि हम पक्षिराज हैं, हम किस पक्षीको गुरु बनावें, इसलिये निगुरु रह गये थे। इसीसे उन्होंने श्रीपार्वतीजीसे कहा था *'होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना॥'* श्रीरामजीने गरुड़को काकके पास भेजवाकर उनका अभिमान तोड़ा। *'पुनि पुनि काग चरन सिरु नावा।——'* यहाँ अभिमान टूटा। काकको गुरु बनाकर कहा कि बिना गुरुके कोई भी संसार-सागरसे पार नहीं हो सकता।

* दिव्य शतवर्ष जप ध्यान जब शिव धरेउ राम गुरुरूप मिलि पंथ बतायो। चितै हित लीन लखि कृपा कीन्हीं तबै दैव-दुर्लभ देवि दरश पायो॥'—(वि० प्रक्षिप्तपद)। 'क्षेत्रेऽस्मिन् योऽर्चयेद्भक्त्या मन्त्रेणानेन मां शिव।' 'त्वत्तो वा ब्रह्मणो वापि ये लभन्ते षडक्षरम्। जीवन्तो मन्त्रसिद्धा: स्युर्मुक्ता मां प्राप्नुवन्ति ते। मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम्। उपदेक्ष्यसि तन्मन्त्रं स मुक्तो भविता शिव।' (६—८)—(उत्तररामतापनी)

संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता॥ ६॥
तव सरूप गारुड़ि रघुनायक। मोहि जिआएउ जन सुखदायक॥ ७॥
तव प्रसाद मम मोह नसाना। रामरहस्य अनूपम जाना॥ ८॥

शब्दार्थ—**ग्रसना**=खानेके लिये पकड़ना; बुरी तरह पकड़ लेना कि छूट न पावे। सर्पका डसना वा काट लेना। **तव स्वरूप**=आपकी मूर्ति=आप।=तव कथित स्वरूप। **गारुड़**=सर्पके विष उतारनेका मंत्र। इसके देवता गरुड़ हैं। इसीसे इसका नाम गारुड़ है। गारुड़ी=गारुड़ मन्त्रसे झाड़नेवाला। **लहर**=सर्पके डसनेपर वह अवस्था जिसमें बेहोशीके बीच-बीचमें वह जग उठता है।

अर्थ—हे तात! मुझे संशयरूपी सर्पने डस लिया था। बहुत-से कुतर्करूपी दुःख देनेवाली समूह लहरें आयीं॥ ६॥ आपके स्वरूपरूपी गारुड़मन्त्रसे भक्तोंके सुख देनेवाले श्रीरघुनायकरूपी गारुड़ीने मुझे जिला लिया॥ ७॥ आपकी कृपासे मेरा मोह नाश हुआ और मैंने उपमारहित रामरहस्य जाना॥ ८॥

नोट—१ यहाँ 'सम अभेदरूपक' है। संशयका रूपक सर्पसे दिया है। सर्पके डसनेपर विष चढ़नेसे लहरें आती हैं और संशय होनेपर अनेक कुतर्कनाएँ उठती हैं (अनेक कुतर्कनाएँ जो उठीं वह ५८ (६) से ५९ (२) तक हैं)। मोह विष है। लहर आनेपर गारुड़मन्त्रसे झाड़नेसे विष उतर जाता है। यहाँ भुशुण्डिजीके द्वारा गरुड़का संशय और कुतर्क नष्ट हुआ, यथा—*'तव प्रसाद सब संसय गएऊ।'* (६९। ८) संशय कारण ही नष्ट हो गया तब कार्य कहाँ? अतः भुशुण्डीजी गरुड़-मन्त्र हुए। मन्त्रके लिये उसका जाननेवाला गारुड़ी चाहिये जो झाड़े सो यहाँ रघुनाथजी झाड़नेवाले हैं, यथा—*'रामकृपा तव दरसन भएऊ। तव प्रसाद सब संसय गएऊ॥'* (६९। ८) *'पठइ मोह मिस खगपति तोही। रघुपति दीन्हि बड़ाई मोही॥'* (७०। ४) और प्रकारसे भी अर्थ किये गये हैं—

'तव सरूप गारुड़ि रघुनायक। मोहि जिआएउ'

१—गारुड़ि रघुनायक (ने) तव स्वरूप (गारुड़मन्त्र) से मोहि जियायेउ।
२—रघुनायक तव स्वरूप गारुड़ी (द्वारा) मोहि जियायेउ—करु०, पं०।
३—तव (कथित) रघुनायकस्वरूप गारुड़ी (ने) मोहि जियायेउ।
४—तव स्वरूप (में) रघुनायक गारुड़ी (ह्वै) मोहि जियायेउ—करु०, वै०।
५—हे रघुनायक जनसुखदायक! तव स्वरूप गारुड़ीमंत्र ह्वै मोहि जियायेउ। पां०।

इत्यादि प्रकारके अन्वय टीकाओंसे निकलते हैं। गारुड़ीका अर्थ कोशमें सम्पादकको 'गारुड़मन्त्रसे झाड़नेवाला' मिला है, अतः उनके अर्थ यहाँ नहीं दिये गये, जिनने उसका अर्थ 'मन्त्र' किया है। पंजाबीजीने 'रघुनायकने तुम्हारा स्वरूपरूपी गारुड़ी मिलाकर मुझे जिला लिया।' ऐसा अर्थ किया। वि० टीकाकार अर्थ करते हैं कि 'रामरूपी मन्त्रहीसे मानो काकभुशुण्डिजीने गरुड़जीके संशयरूपी सर्पदंशको झाड़ा। जैसा बालकाण्डमें रामनामके माहात्म्यमें कहा है—*'मंत्रमहामणि विषय ब्यालके। मेटत कठिन कुअंक भालके॥'* अर्थ यों भी ठीक होता है; पर सम-अभेदरूपकी उत्कृष्टता जाती रहती है। गारुड़ी गारुड़मन्त्रसे झाड़ता है। इस अर्थमें मन्त्रका रूपक नहीं है। करुणासिंधुजी महाराजने दो प्रकारसे अर्थ किया है—एक तो यह कि 'आपका स्वरूप गारुड़ीमन्त्र है, आपके पास भेजकर रघुनाथजीने जिलाया।' दूसरे यह कि, 'आपके स्वरूपमें रघुनायकने गारुड़ीरूप होकर मुझे जिला लिया।' यह दूसरा अर्थ भी घटित हो जाता है, क्योंकि ऊपर कहा ही है कि *'जानि राम सम प्रेम बढ़ावा।'* बैजनाथजी उपदेशके वचनोंको मन्त्र और भुशुण्डिको गारुड़ी कहते हैं। ऐसा भी अर्थ करते हैं कि 'आपने जो रघुनाथजीका स्वरूप कहा यही गारुड़ी है जिसने मुझे जिला लिया' इत्यादि। यदि गारुड़िका अर्थ गारुड़मन्त्र होता तो यह अन्तिम अर्थ बहुत ही सङ्गत होता। पाँचवाँ अर्थ पाण्डेजीका है। वे अवरेवसे यह अर्थ करते हैं कि 'हे रघुनायकके जनोंको सुख देनेवाले! तुम्हारे स्वरूपने गारुड़ीमन्त्ररूप होकर मुझे जिला लिया।' करुणासिन्धुजी गारुड़ीका अर्थ गारुड़मन्त्रसे झाड़नेवाला और मयूरी दोनों लिखते हैं।

प्र० स्वामीजी मा० पीयूषमें दिये हुए 'अर्थ' से सहमत हैं। मिलान कीजिये—'*संसय सर्प ग्रसन उरगादः। समन सुकर्कस तर्क बिषादः।*' (सुतीक्ष्णवाक्य) सुकर्कश तर्क ही कुतर्क है। (प० प० प्र०)

श्रीनंगे परमहंसजी इस प्रकार अन्वय करते हैं—'*जन सुखदायक तव रघुनायक सरूप गारुड़ि मोहि जियायेउ॥*' 'हे जनोंके सुख देनेवाले! आपने जो रघुनाथजीका स्वरूप गारुड़िमन्त्र है उससे मुझे जिला लिया।' यह अर्थ प्रायः वही है जो श्रीबैजनाथजीका ऊपर दिया गया है।

नोट—२ '*तव प्रसाद मम मोह नसाना*' इति। गरुड़जी बड़े ही कृतज्ञ हैं। इसीसे बारंबार '*तव प्रसाद*' या उसके पर्यायपदका प्रयोग उन्होंने आद्यन्त किया है—(१) प्रथम रामचरित-श्रवणपर, दो बार, यथा—'*भएउ रामपद नेह तव प्रसाद बायस तिलक॥*' (६८), '*तव प्रसाद सब संसय गएऊ।*' (६९। ८) (२) फिर दूसरे प्रसंगकी समाप्तिपर यहाँ—'*तव प्रसाद मम मोह नसावा।*' (३) फिर तीसरे प्रसंगकी समाप्तिपर भी यथा—'*बोलेउ गरुड़ हरषि मृदु बानी॥ तव प्रसाद प्रभु मम उर माहीं। संसय सोक मोह भ्रम नाहीं॥*' (११५। ६) पुनः (४) चौथे प्रसंगके अन्तमें, यथा—'*जौं कृपालु मोहि ऊपर भाऊ।*' (१२१। १) (५) सत्संगके अन्तमें, यथा—'*मैं कृतकृत्य भएउँ तव बानी*......*मोहजलधि बोहित तुम्ह भये*......*मो पहिं होइ न प्रति उपकारा।*......*जीवन जनम सुफल मम भएऊ। तव प्रसाद संसय सब गएऊ॥*' (१२५। १—९) इत्यादि।

☞ प्रायः सभीने 'जनसुखदायक' को रघुनायकका विशेषण माना है। एक या दोने इसे सम्बोधन माना है। अन्तमें गरुड़जीने कहा भी है—'*मो कहँ नाथ बिबिध सुख दयऊ।*' अतः सम्बोधन भी हो सकता है। पर 'जनसुखदायक' 'रघुनायक' का विशेषण संगत है। यथा—'*जय जय सुरनायक जन सुखदायक प्रनतपाल भगवंता॥*' (१। १८६। छंद)

इस प्रसंगका उपक्रम	उपसंहार
मोहि भएउ अति मोह......(६८)	*तव प्रसाद मम मोह नसाना।* (९३। ८)
परम रहस्य मनोहर गावउँ (७४। ४)	*रामरहस्य अनूपम जाना।* (९३। ८)

रा० प्र०—'ग्रसेउ' के साहचर्यसे अजगर व्यंजित होता है, पर लहरके साहचर्यसे किसी एक अवयवका ग्रास अनुमित होता है।

भुशुण्डि-गरुड़-संवाद तृतीय प्रसंग

(गरुड़जीके प्रश्न)

दो०—ताहि प्रसंसि बिबिध बिधि सीस नाइ कर जोरि।
बचन बिनीत सप्रेम मृदु बोलेउ गरुड़ बहोरि॥
प्रभु अपने अबिबेक ते बूझौं* स्वामी तोहि।
कृपासिंधु सादर कहहु जानि दास निज मोहि॥९३॥

अर्थ—श्रीभुशुण्डिजीकी प्रशंसा अनेक प्रकारसे करके और हाथ जोड़ माथा नवाकर गरुड़जी प्रेमसहित अत्यन्त विनय और नम्रतायुक्त कोमल वचन फिर बोले। हे प्रभो! हे स्वामिन्! मैं अपने अज्ञानके कारण आपसे पूछता हूँ। हे दयासागर! मुझे अपना 'निज दास' जानकर आदरपूर्वक (मेरे प्रश्नका उत्तर) कहिये॥ ९३॥

नोट—१ '*प्रसंसि बिबिध बिधि*' इति। '*बिबिध बिधि*' यह कि—'*तव सरूप गारुड़ि रघुनायक। मोहि जिआएउ जन सुखदायक*' यह एक विधि, '*तव प्रसाद मम मोह नसाना*', यह दूसरी विधि, '*तव प्रसाद रामरहस्य अनूपम जाना*' यह तीसरी विधि हुई। तीन प्रकार कहकर अनेक प्रकार और भी सूचित किये। [रा० प्र०—वेद-शास्त्र और लोकरीतिसे उसके गुण बखान किये। अपनी कृतकृत्यता-कृतज्ञता तथा उनका धन्यवाद अनेक प्रकारसे कहा।]

* पूछौं—(का०)

२ (क) *'सीस नाइ' 'कर जोरि'* यह दो भावसे—एक तो प्रश्न करना है, दूसरे उनको गुरु मान चुके हैं। अगला दोहा गुरु-भावका पूर्ण पोषक है—'प्रभु', 'स्वामी', 'निज दास' सम्बोधनोंसे भी यह स्पष्ट है।

(ख) *'कर जोरि'* इति। करु० और रा० प्र० यह शंका उठाकर कि 'पक्षीके हाथ नहीं होते, यहाँ हाथ जोड़ना कैसे कहा?' उसका समाधान करते हैं कि—गरुड़ इच्छारूप धारण कर सकते हैं, जैसे भुशुण्डिजी और शिवजी जन्म-महोत्सव-समय *'मनुजरूप जानइ नहिं कोऊ'* धारण कर लेते हैं। उनका बोलना, संवाद करना इत्यादि उनके दिव्य रूपके बोधक हैं, अथवा पक्षमें ही लक्षणाद्वारा हाथोंकी भावना कर लें।

३—*'बचन बिनीत सप्रेम मृदु'* इति। (क) ☞यहाँ गरुड़का मन, तन और वचन तीनोंका प्रेम दिखाया—*'मन अति हरषाना'* यह मन, *'हरषित खगपति पंख फुलाए', 'पुनि पुनि कागचरन सिरु नावा'* यह तन और *'बचन सप्रेम'* यह वचन है। (ख) 'प्रभु', 'स्वामी', 'कृपासिंधु' सम्बोधन, अपना अविवेक कहना तथा अपनेको 'दास' कहना ये सब विनीत, सप्रेम और मृदु हैं। आगे भी ऐसे ही वचन हैं।

४—*'बोलेउ गरुड़ बहोरि'* कहा क्योंकि *'संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता'*—*'रामरहस्य अनूपम जाना'* *'जाना'* ये अभी-अभी कह चुके हैं। पुनः *'बहोरि'* का भाव कि वह प्रसंग समाप्त हो गया, अब दूसरा प्रसंग छेड़ते हैं। वह मोह-प्रसंगका उपसंहार था और यह नये प्रसंगका उपक्रम है।

५—*'प्रभु अपने अबिबेक ते……'* इति। ☞गुरुजनोंसे किस प्रकार प्रश्न करना चाहिये, यह यहाँ दिखाते हैं। उनकी प्रशंसा करना, प्रणाम करना, हाथ जोड़कर प्रश्न करना, उनमें गुरुबुद्धि करके प्रभु, स्वामी, कृपालु इत्यादि सम्बोधन करके, अपना अज्ञान कहकर विनीत सप्रेम मृदुवाणीसे प्रश्न करना। ग्रन्थमें इसके उदाहरण 'भरद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवाद', 'उमा-महेश्वर-संवाद' इत्यादिमें भरे पड़े हैं।

☞कितना ही बुद्धिमान् ज्ञाता ही क्यों न हो, सत्संगके लिये भी इन बातोंका होना परमावश्यक है। तभी पूर्ण रहस्य सुननेको मिलता है। और वक्ताको भी संशय-छेदनमें प्रेम और उत्साह होता है। अपना किञ्चित् भी ज्ञान प्रकट किया कि वक्ता सावधान हो जायगा और उससे प्रश्नकर्त्ताका कपट सिद्ध होगा। अतः अपना 'अविवेक' कहा। पुनः, गुरु वह है जो शिष्यका अज्ञान हरे। गुरुका अर्थ ही है अन्धकारका हरनेवाला। भुशुण्डिजी गुरु हैं, अतः उनसे अज्ञानकी निवृत्ति कराते हैं। *'अबिबेक ते'* का भाव कि मैं छल-कपटसे नहीं पूछता, वस्तुतः मैं जानता नहीं, इससे पूछता हूँ। जो बात मुझे पूछनी है, उसका कारण यथार्थ मेरा जाना हुआ नहीं है, इसीसे पूछता हूँ।

६—*'प्रभु'* का भाव कि मेरी आगामी शंकाके निवारणको आप समर्थ हैं। *'कृपासिंधु'* का भाव कि आप परम दयालु हैं, आपकी मुझपर दया है। यथा—*'नभगनाथ पर प्रीति न थोरी।'* (७०। १) इत्यादि। जिसपर दया हो वह भी गुप्त रहस्यका अधिकारी हो जाता है। बा० ११० (१) देखिये। पुनः, भाव कि अज्ञान होनेसे रिस न कीजियेगा। यथा—*'अज्ञ जानि रिस उर जनि धरहू।'* (बा० १०९)

वै०—प्रभु अर्थात् आप सर्वज्ञ हैं। कृपासिंधुका भाव कि मुझसे कहते न बने तो उसे क्षमा कीजियेगा।

पं०—१ *'अबिबेक ते।'* अज्ञान होकर पूछनेमें तात्पर्य कि अभिमानी होकर पूछनेवालेसे गुरु तत्त्व नहीं कहते। २-प्रभु और कृपासिंधु सम्बोधन आदरार्थ दिये।

नोट—७ *'जानि दास निज मोहि'* का भाव कि 'निजदास' से तत्त्व छिपाना न चाहिये; दूसरे गुरुका धर्म है कि दासका अविवेक दूर करे। *'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी॥'* (१। ११०। १) देखिये। *'हरै सिष्यधन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महुँ परई॥'* (९९। ७)

'बूझौं' शब्द यहाँ सार्थक है। पहेली बूझी जाती है। जो मैं पूछता हूँ, वह मुझे पहेली-सी जान पड़ती है। ☞पूर्व जो कुछ मोहका प्रसंग कहा गया वह गरुड़के प्रश्नपर न था। गरुड़का प्रश्न यहींसे उठता है।

तुम्ह सर्बज्ञ तग्य तम पारा। सुमति सुसील सरल आचारा॥ १॥
ग्यान बिरति बिग्यान निवासा। रघुनायक के तुम्ह प्रिय दासा॥ २॥
कारन कवन देह यह पाई। तात सकल मोहि कहहु बुझाई॥ ३॥

अर्थ—आप सर्वज्ञ (त्रिकालका ज्ञान आपको है, आप तीनों कालोंके सब पदार्थोंके ज्ञाता हैं), ब्रह्मतत्त्वके ज्ञाता, अविद्यादि मायासे परे, उत्तम बुद्धिवाले, सुशील, सरल (सीधा-सादा, निश्छल) आचरण, ज्ञान-वैराग्य-विज्ञानधाम और श्रीरघुनाथजीके प्रिय दास हैं॥ १-२॥ (तब) किस कारण यह देह पायी। हे तात! सब समझाकर मुझसे कहिये॥ ३॥

नोट—१ गरुड़ने जो विशेषण यहाँ दिये हैं वह सब उस वरके अनुसार हैं, जो श्रीरामजीने भुशुण्डिजीको दिया है और सुशीलता, सरलाचार एवं सुमति तो गरुड़ने आँखों देखी है। यथा—

सर्वज्ञ तज्ञ—*जानब तैं सब ही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा॥*

तम पारा—*माया संभव भ्रम सकल अब न ब्यापिहहिं तोहि।*

प्रिय दासा—'*सुचि सुशील सेवक सुमति प्रिय कहु काहि न लाग॥*' (८६) (इसमें सुमति सुशील भी हैं)

सुमति सुशील { '*सत्य कहउँ खग तोहि सुचि सेवक मम प्रानप्रिय।*' (८७)
'*अति आदर खगपति कर कीन्हा। स्वागत पूछि सुआसन दीन्हा।*' (६३। ७)
सरल आचारा { '*करि पूजा समेत अनुरागा। मधुर बचन तब बोलेउ कागा॥*' (६३। ८)

ज्ञानविज्ञानविरति—'*ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना।*' '*सब सुभ गुन बसिहहिं उर तोरे।*'

रा० प्र०—'*प्रिय दास*' से यह भी जनाया कि आप प्रभुके नित्य अव्यय परिकर ही हैं, परिकर स्वामीके रूप होते हैं पर आपका काकरूप है, यह आश्चर्य है। '*सकल*'—दोहा ९४ देखिये।

नोट—२ '*कारन कवन देह यह पाई*' कहनेका भाव कि इन विशेषणयुक्तवालेका काकशरीर हो नहीं सकता, दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। यथा—'*बिरति ग्यान बिज्ञान दृढ़ रामचरन अति नेह। बायस तन रघुपति भगति मोहि परम संदेह॥*' (५३) इत्यादि श्रीपार्वतीवचन देखिये।

३—'बुझाई' का साधारण अर्थ यह है कि समझाकर कहो। पर इस शब्दमें यह भी ध्वनि है कि रामभक्त और कागतन यह मुझे पहेली-सा लग रहा है। पहेली जल्द समझमें नहीं आती, समझानेपर समझ पड़ती है।

रामचरितसर सुंदर स्वामी। पाएहु कहाँ कहहु नभगामी॥ ४॥
नाथ सुना मैं अस सिव पाहीं। महाप्रलयेहुँ नास तव नाहीं॥ ५॥
मुधा बचन नहिं ईश्वर* कहई। सोउ मोरे मन संसय अहई॥ ६॥

अर्थ—हे स्वामिन्! यह सुन्दर रामचरितसर आपने कहाँ पाया। हे आकाशगामी पक्षि! कहिये॥ ४॥ हे नाथ! मैंने शिवजीसे ऐसा सुना है कि महाप्रलयमें भी आपका नाश नहीं होता॥ ५॥ ईश्वर (शिवजी) झूठ वचन नहीं कहते। (अतः) यह भी सन्देह मेरे मनमें है॥ ६॥

नोट—१ '*रामचरित सर सुंदर स्वामी।.........*' इति। (क)—भुशुण्डिजीने सबसे प्रथम 'रामचरितसर' कहा था तब रामचरित, यथा—'*प्रथमहि अति अनुराग भवानी। रामचरितसर कहेसि बखानी॥*' (६४। ७) यह प्रश्न उसी 'सर' के विषयमें है। (ख)—'*पाएहु कहाँ कहहु नभगामी*' में दो भाव हैं—एक तो यह कि आप आकाशमें उड़नेवाले हैं, सर्वत्र उड़े होंगे, उन स्थलोंमेंसे किस स्थलपर इसे पाया। दूसरे पक्षीको इसकी प्राप्ति हुई यह आश्चर्य जनाया। [नभ कहकर सर्व ब्रह्माण्डमें विचरण सूचित किया। रामचरितसर=रामचरितमानस (पं०)। सर=तालाब। (रा० प्र०) रामचरितसर सुन्दर है, यथा—'*करइ मनोहर मति अनुहारी*' से लेकर '*पुलक बाटिका बाग.........*' तक सुन्दरता कही है (रा० शं०)]

२—'*नाथ सुना मैं अस सिव पाहीं।.........*' इति। पूर्व यह बात स्पष्ट नहीं कही थी, क्योंकि उसे यहाँ लिखना था; पर '*मैं जब सब तेहि कहा बुझाई।.........।*' (६२। ६), इन वचनोंमें इसका संकेत है।—विशेष ६२ (६) देखिये।

३—'*महाप्रलयेहुँ*' का भाव कि उसमें चराचर सृष्टिमात्रका नाश हो जाता है, सिवा एक परमेश्वरके दूसरा देहधारी कोई रह ही नहीं जाता। ब्रह्माके एक दिनके बीतनेपर प्रलय होता है और ब्रह्माकी १०० वर्षकी आयु बीतनेपर जो प्रलय होता है उसका नाम महाप्रलय है।

* 'ईस्वर कहई' भा० दा०। 'मृषा बचन नहिं ईश्वर कहहीं'—का०।

गौड़जीका मत है कि यहाँ महाप्रलयसे कल्पान्त अभिप्रेत है; क्योंकि अभी २७ कल्प इस पर्वतपर बीते हैं, अभी महाप्रलय कोई हुआ नहीं। पर इससे उनके महाप्रलयमें भी नाश न होनेसे कोई शंका नहीं हो सकती। *'कबहुँ काल न ब्यापिहि तोही।'* महाप्रलय आनेपर भी नाश न होगा। ☞महाप्रलयमें भुशुण्डिजी कहाँ रहते हैं। यह पूर्व (८८। १) में लिखा जा चुका है।

वि० त्रि०—प्रलयके तीन प्रकार शास्त्रोंमें कहे हैं—(१) नैमित्तिक प्रलय, (२) प्राकृत प्रलय और (३) आत्यन्तिक प्रलय। नैमित्तिक प्रलय तो कल्पके अन्तमें होता है। जब जगन्नाथ तीनों लोकका प्रलय करके शेष-शय्यापर विराजमान होते हैं, और प्राकृत प्रलय उसको कहते हैं, जब पृथ्वीका लय जलतत्त्वमें और जलतत्त्वका लय तेजस्-तत्त्वमें, उसका लय वायुतत्त्वमें, वायुका आकाशतत्त्वमें, उसका अहंकारतत्त्वमें। अहंकारका महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्वका प्रकृतिमें लय हो जाता है। यही महाप्रलय है (और आत्यन्तिक प्रलय तो मोक्ष है) इस महाप्रलयमें भी भुशुण्डिजीका नाश नहीं होता। जब पृथ्वीतत्त्व जलतत्त्वमें लय होने लगता है, तब भुशुण्डिजी अपनी जलरूपसे कल्पना कर लेते हैं। इसी भाँति तत्त्वोंके साथ कल्पना करते प्रकृतिमें पहुँच जाते हैं, फिर जब सृष्टि होने लगती है तो उसी रीतिसे कल्पना करते-करते फिर भौतिक शरीरमें आ जाते हैं।

नोट—४ (क) *'नहिं ईश्वर कहई'*, यथा—*'संभु गिरा पुनि मृषा न होई।'* (१। ५१। ३), *'सुनहिं सूद्र मम बचन प्रवाना।'* (१०९। ८) देवता भी झूठ नहीं बोलते और ये तो ईश्वर हैं, महादेव हैं, ये असत्य कैसे कह सकते हैं? *'ईश्वर'* शिववाचक है, यथा—*'ईस अनेक करवरे टारी'।* (ख)—*'सोउ मोरे मन संसय अहई'* इति। इसीको आगे और स्पष्ट करते हैं। भाव कि महाप्रलय और कालका विचार करते हैं तो यह बात सत्य नहीं समझ पड़ती और यह शिवजीका वचन है, अतः यह असत्य भी हो नहीं सकता, इति संशय है। किसी बातका निश्चय न कर सकना संशयका अर्थ हुआ।

अग जग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जगु काल कलेवा॥७॥
अंडकटाह अमित लयकारी। कालु सदा दुरतिक्रम भारी॥८॥
सो०—तुम्हहिं न ब्यापत काल अति कराल कारन कवन।
मोहि सो कहहु कृपाल ज्ञान प्रभाव कि जोग बल॥९४॥

शब्दार्थ—**कलेवा**=वह सूक्ष्म भोजन जो सबेरे बासी मुँह किया जाता है। जलपान। बालभोग। **लय**=सृष्टिके नाना रूपोंका लोप होकर अव्यक्त प्रकृतिमात्रका रह जाना। प्रलय। एक पदार्थका दूसरेमें इस प्रकार मिल जाना कि वह तद्रूप हो जाय, उसकी सत्ता पृथक् न रह जाय। **दुरतिक्रम**=उल्लंघन किये जानेके अत्यन्त अयोग्य। दुर्घट।

अर्थ—हे नाथ ! नाग, नर, देवता, चर और अचर सभी जीव एवं सारा जगत् ही कालका कलेवा है॥ ७॥ असंख्यों ब्रह्माण्डोंका लय करनेवाला काल सदा ही भारी अनिवार्य है॥ ८॥ अत्यन्त कठिन भयंकर काल आपको नहीं व्यापता, इसका क्या कारण है? हे कृपालु ! मुझसे कहिये कि यह ज्ञानका प्रभाव है या कि योगबलका प्रभाव है?॥ ९४॥

नोट—१ (क) अगजग जीवसे चारों योनियोंके तथा चेतन-अचेतन प्राणसहित और प्राणरहित सब जीव, *'नाग नर देव'* से पाताल, पृथ्वी और स्वर्ग तीनों लोकोंके जीव और *'सकल जग'* से ब्रह्माण्डमात्र (जिसमें ब्रह्मा भी आ गये) सूचित किया। (ख) *'काल कलेवा'* का भाव कि यह सब उसका बालभोग है, नाश्ता है; इतनेसे भी उसकी तृप्ति नहीं होती। इसीका समर्थन आगे करते हैं कि *'अंडकटाह……'।* अर्थात् एक ब्रह्माण्ड तो उसका कलेवा था, असंख्यों ब्रह्माण्डोंको अपनेमें विलीन कर लेना यह उसका भोजन है। यथा—*'जाके डर अति काल डेराई। जो सुर असुर चराचर खाई॥'* पुनः, यथा—अगस्त्यवाक्य—*'ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्माण्ड अनेक निकाया॥'* अर्थात्

ये सब ब्रह्माण्ड खानेके लिये फल-स्वरूप हैं। जैसे वृक्षसे फल तोड़ते-खाते देर नहीं लगती, यथा—'*मैं बानर फल खात न बारा*', वैसे ही काल असंख्यों ब्रह्माण्डोंको अनायास ही भक्षण कर लेता है।

२ (क)—'*अंडकटाह*······ ।' कटाह कहा, क्योंकि कड़ाहरूप है। कड़ाहमें घी, तेल, पदार्थ जलते वा तप्त होते हैं, वैसे ही ब्रह्माण्डोंमें जीव पचते, मरते त्रिताप पाते हैं—(पां०) (ख) '*काल सदा दुरतिक्रम भारी*' और '*काल अति कराल*' अमित ब्रह्माण्डोंको सहज ही लय करनेके सम्बन्धसे ये विशेषण दिये गये, यथा—'*ते फल भक्षक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला॥*' (आ० १३) पुनः कोई इससे बच नहीं सकता यह दरसानेको '*दुरतिक्रम*' कहा, स्वरूपसे विकराल और दयारहित होनेसे '*अति कराल*' कहा, किसीका मुलाहिजा नहीं करता।

३—'*कृपाल*' का भाव कि यह आपकी बड़ी कृपा होगी। इसके लिये मैं आजीवन आपका कृतज्ञ रहूँगा। यह उनका रहस्य है, इससे कृपा करके कहनेको कहा।

रा० प्र०—भाव कि ज्ञानिशिरोमणि योगीश्वर मृत्युञ्जय कहलाते हैं। सम्भवत: वैसे ही आप भी कालविजयी होंगे।

वै०—भाव कि यह अद्भुत सिद्धाई है। यह ज्ञानका प्रभाव है! अर्थात् पाञ्चभौतिक स्थूल शरीर है, अहंकार बुद्धितक सूक्ष्मशरीर है, आदि-प्रकृति कारणशरीर है—जहाँतक माया है वहाँतक कालकी गति है। और ज्ञानप्रभावसे जब आत्मरूप तदाकार है तब वहाँ कालकी गति नहीं। अत: कहिये कि क्या अखण्डज्ञानके प्रभावसे आपको काल नहीं व्यापता! या कि योगबलसे, अष्टाङ्गयोगद्वारा, देह ही सिद्ध कर ली है, जिससे जिस कालमें जो तत्त्व रहता है उसीमें मिलकर बने रहते हैं।

नोट—४ '*ज्ञान प्रभाव कि जोग बल*' का भाव कि योगी लोग योगबलसे कालको जीत लेते हैं। भागवतमें कहा है कि 'भगवान्‌का भक्त कार्य-कारणरूपसे परिणामको प्राप्त हुई इस भगवान्‌की अचिन्त्य शक्तिमयी मायाको विचारद्वारा जीतकर अपने वास्तविक स्वरूपसे स्थित होता है।' (३ । २८। ४४) यथा—'**तस्मादिमां स्वां प्रकृतिं दैवीं सदसदात्मिकाम्। दुर्विभाव्यां पराभाव्य स्वरूपेणावतिष्ठते॥**'

दो०—प्रभु तव आश्रम आए* मोर मोह भ्रम भाग।
कारन कवन सो नाथ सब कहहु सहित अनुराग॥ ९४॥

अर्थ—हे प्रभो! आपके आश्रममें आते ही मेरा मोह और भ्रम भाग गया। इसका क्या कारण है? हे नाथ! यह सब प्रेमसहित कहिये॥ ९४॥

नोट—☞१ यहाँतक चार प्रश्न हुए—(१) सर्वज्ञादि एवं रामभक्त होते हुए यह काकतन क्यों मिला? पंजाबीजी इस प्रश्नमें दो विभाग करते हैं, क्योंकि भुशुण्डिजीने दो बातें कही हैं; एक तो यह कि 'क्यों इसे छोड़कर दूसरा उत्तम शरीर नहीं धारण कर लेते?' और दूसरे यह कि 'क्यों यह शरीर मिला?' (२) यह रामचरितसर कहाँ मिला? (३) महाप्रलयमें भी आपका नाश क्यों नहीं? काल क्यों नहीं व्यापता? ज्ञानके प्रभावसे या योगबलसे? (४) आपके आश्रममें आनेसे मोहभ्रम नष्ट हो जानेका क्या कारण? इनका क्रमसे भुशुण्डिजी उत्तर देंगे?

२ (क) श्रीपार्वतीजीके प्रश्न करनेपर शिवजीने कहा था कि '*ऐसेइ प्रश्न बिहंगपति कीन्ह काग सन जाइ।*' (५५) दोनोंका मिलान—

बिरति-ज्ञान-विज्ञान दृढ़	*१ ज्ञान बिरति बिज्ञान निवासा।*
रामपरायन, रामचरन अतिनेह, रामभगतिरत गत मदमाया	*२ रघुनायक के तुम्ह प्रिय दासा॥*
गुनागार मतिधीर	*३ सुमति सुसील सरल आचारा। सर्वज्ञ*······
बायसतन रघुपति-भगति मोहि परम	*४ ज्ञान*······ *रघुनायक के तुम्ह प्रियदासा॥*

* आएउँ—(का० रा० गु० द्वि०)। २—'तव आश्रम आए मोह······', यथा—'देखि सयल प्रसन्न मन भएऊ। माया मोह सोच सब गएऊ॥' ६२(२), 'देखि परमपावन तव आश्रम। गएउ मोह संसय नाना भ्रम॥' ६३ (२)।

संदेह।''''' केहि कारन पाएउ कागसरीर	*कारन कवन देह यह पाई।*
यह प्रभु चरित पवित्र सुहावा।	*५ रामचरितसर सुंदर स्वामी।*
कहहु कृपाल काग कहँ पावा॥	*पाएउ कहाँ कहहु नभगामी॥*

(ख)—*'ऐसेइ'* का अर्थ है इसी प्रकारके। 'यही प्रश्न' न कहकर 'ऐसेइ प्रश्न' कहनेसे ये सब प्रश्न और इसी सम्बन्धके और भी प्रश्न जना दिये; क्योंकि गरुड़जीने तो और भी प्रश्न इसी सम्बन्धमें किये हैं जो पार्वतीजीने नहीं किये थे। जैसे कि १—*'महाप्रलयेहुँ नास तव नाहीं'* का क्या कारण? २—आश्रममें आते ही मोह दूर होनेका क्या कारण?

४—*'सब कहहु सहित अनुराग'* इति। (क) यहाँ सब प्रश्न हो चुके, अतः कहा कि *'सब'* कहो। अर्थात् सब प्रश्नोंका उत्तर दीजिये। पुनः, *'कारन कवन सो सब'* का भाव कि काकदेहका कारण कहिये, काल न व्यापनेका कारण कहिये, नभगामीकी रामचरितसरकी प्राप्तिका कारण कहिये और आश्रममें आनेसे मोहादिके छूट जानेका कारण कहिये—इति 'सब कारण' कहिये। पुनः, 'सब कारण' अर्थात् इनमें यदि एकसे अधिक कारण हों तो जितने कारण हों वह सब कहिये, एक ही कहकर न रह जाइयेगा। (ख) *'सहित अनुराग'* पर प्रश्नोंका उपसंहार है। भाव कि जिज्ञासु शिष्य जानकर उसी प्रकार प्रेमसे कहिये जैसे उससे कहा जाता है।

☞ गरुड़-आर्त्तविनययुक्त प्रश्न समाप्त हुए।

'गरुड़के प्रश्नोंके उत्तर'

गरुड़ गिरा सुनि हरषेउ कागा। बोलेउ उमा परम अनुरागा॥ १॥
धन्य धन्य तव मति उरगारी। प्रश्न तुम्हारि मोहि अति प्यारी॥ २॥
सुनि तव प्रश्न सप्रेम सुहाई। बहुत जनम के सुधि मोहि आई॥ ३॥
सब* निज कथा कहौं मैं गाई। तात सुनहु सादर मन लाई॥ ४॥

अर्थ—हे उमा! गरुड़जीकी वाणी सुनकर काकभुशुण्डिजी हर्षित हुए और परमप्रेमसे बोले॥ १॥ हे उरगारि! आपकी बुद्धि धन्य है, धन्य है! आपके प्रश्न मुझे अत्यन्त प्यारे लगे॥ २॥ आपके प्रेमभरे सुहावने प्रश्न सुनकर मुझे अपने अनेक जन्मोंकी याद आ गयी॥ ३॥ मैं अपनी सब कथा विस्तारसे कहता हूँ। हे तात! मन लगाकर सादर सुनिये॥ ४॥

उपक्रम	उपसंहार
बचन बिनीत सप्रेम मृदु बोलेउ गरुड़	*१ गरुड़ गिरा सुनि*
सादर कहहु। जानि दास निज मोहि	*२ नाथ सब कहहु सहित अनुराग*

☞ यहाँ गरुड़ और भुशुण्डि दोनोंकी समशीलता दिखायी है—

जैसे यहाँ *'कहहु सहित अनुराग'*	१ वैसे ही इधर *'बोलेउ परम अनुराग'*
,, प्रथम *'ताहि प्रसंसि बिबिध बिधि'* तब प्रश्न किये थे अतएव	२ ,, *धन्य धन्य तव मति उरगारी।* **प्रश्न तुम्हारि मोहि** *अति प्यारी। सुनि तव प्रश्न सप्रेम सुहाई* यह प्रशंसा है
,, कहा—*'सब कहहु' 'कहहु मोहि सकल'*	३ ,, प्रतिज्ञा—*'सब निज कथा कहौं'*
,, *'सादर कहहु'*	४ ,, *सुनहु सादर मन लाई*
,, *'सुनि भुसुंडि के बचन''। हरषित''''''*	५ ,, *गरुड़ गिरा सुनि हरषेउ कागा।*

नोट—१ *'बोलेउ उमा परम अनुरागा'* इति। गरुड़ने कहा था कि 'अनुराग-सहित' कहिये; अतः ये परमानुराग से बोले। आगेके सब वचनोंसे 'परम अनुराग' प्रकट है।

पं०—परम प्रेमसे बोलनेका हेतु कि—विहंगनायक है, हरिवाहन है, उससे प्रेम करना ही चाहिये।

* अब—(का०)।

घरमें आये हुए हैं यह उनका सत्कार है। अथवा पूर्वोपदेशकी सफलता देख उसे उत्तम अधिकारी जान प्रसन्न हुए।

नोट—२ (क) *'धन्य धन्य तव मति ......'* इति। मिलान कीजिये—*'धन्य धन्य गिरिराजकुमारी।'* (१। ११२। ६) से वहाँपर सकललोकपावनी रघुपतिकथा पूछने तथा जगत्-हितके लिये प्रश्न करनेसे पार्वतीजीको धन्य-धन्य कहा है। यहाँ गरुड़जीके प्रश्नसे भी जगत्का उपकार होगा, यथा—*'सुनि प्रभुपद रति उपजै जाते मिटहिं कलेस।'* (९६) पार्वतीजीने रघुपतिकथा पूछकर उपकार किया, गरुड़ने भागवत-कथा पूछकर उपकार किया। इससे जनाया कि भगवत् और भागवत दोनोंकी कथाओंसे प्रभुपद-प्रीति होती है और भवका नाश होता है। (ख) *'प्रश्न तुम्हारि मोहि अति प्यारी।'*

☞ गोस्वामीजीने 'प्रश्न' शब्दका स्त्रीलिङ्गमें प्रायः सर्वत्र प्रयोग किया है, यथा—*'कहेउँ तात सब प्रस्न तुम्हारी।'* (११४। १६) *'प्रस्न उमा कै सहज सुहाई। छल बिहीन सुनि सिव मन भाई॥'* (बा० १११। ६) इत्यादि।* (ग) *'सुहाई अति प्यारी'* विशेषणोंसे छलरहित जनाया—*'छलबिहीन सुनि सिव मन भाई।'* (१। १११। ६) देखिये।

वै०—*'धन्य धन्य'* कहनेका कारण दूसरे चरणमें कहा कि तुम्हारे प्रश्न अत्यन्त उत्तम हैं, मुझे प्रिय हैं। प्रियका कारण यह कि मुझे अपने अनेक जन्मोंकी सुधि इनसे हो आयी। गायी अर्थात् विस्तारसे।

वि० त्रि०—आगे कहेंगे कि *'इहाँ बसत मोहि सुनु खगईसा। बीते कल्प सात अरु बीसा॥'* अर्थात् सत्ताईस कल्पके पहिले उन्होंने महर्षि लोमशसे रामचरितमानस सुना था। उसके पहिले एक सहस्र जन्मतक सर्प-योनियोंमें रहे थे और उसके पहले शूद्र-योनिमें थे। वहींसे भुशुण्डिजी कथा प्रारम्भ करेंगे, क्योंकि गरुड़जीके प्रश्नका उत्तर बिना उन सब कथाओंके कहे पूरा हो नहीं सकता। अतः भुशुण्डिजीको वे सब जन्म स्मरण हो आये। अतः कहते हैं—*'बहुत जनम कै सुधि मोहि आई।'*

जप तप मख सम दम ब्रत दाना। बिरति बिबेक जोग बिज्ञाना॥५॥
सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावै छेमा॥६॥
एहि तन रामभगति मैं पाई। ताते मोहि ममता अधिकाई॥७॥
जेहि ते कछु निज स्वारथ होई। तेहि पर ममता कर सब कोई॥८॥

अर्थ—जप, तप, यज्ञ, शम, दम, व्रत, दान, वैराग्य, विवेक, योग और विज्ञान सबका फल रघुपति-पदमें प्रेम होना है। इसके बिना कोई कल्याण नहीं पा सकता॥ ५-६॥ इस शरीरसे मैंने रामभक्ति प्राप्त की; इसीसे इसमें मेरी ममता अधिक है॥ ७॥ जिससे कुछ अपना स्वार्थ होता है उसपर सभी कोई ममत्व करते हैं॥ ८॥

वै०—गरुड़जीने काक-शरीरका कारण पूछा, भुशुण्डिजी कारण पीछे कहेंगे, पहले यह कहते हैं कि वह देह क्यों प्रिय है।

नोट—१ ☞ गरुड़जीने अन्तमें जो कहा था कि *'ज्ञान प्रभाव कि जोगबल'* उसका सूक्ष्म रीतिसे प्रथम ही निषेध करते हुए भुशुण्डिजी उनके प्रश्नोंका क्रमसे उत्तर दे रहे हैं। यहाँ जितने नाम गिनाये हैं उनमें योग और ज्ञान इन दोनोंको भी कह दिया है।

२ (क) *'सब कर फल रघुपति पद प्रेमा'* का भाव कि यदि अनेक जप, तप, यज्ञादि करनेपर रघुपति-पदमें प्रेम न हुआ तो वे सब निष्फल हैं, व्यर्थ हैं। रघुपति-पदमें प्रेम हुआ तो ही उनको सफल समझना चाहिये। ☞ मिलान कीजिये—'**धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः। नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम**

---

* रा० प्र०—'प्रश्न' को स्त्रीलिंग 'उरगारी' शब्दके अनुप्रासके लिये भी हो सकता है, यथा—'मरम बचन जब सीता बोला। प्रभु प्रेरित लछिमन मन डोला' में डोलाके अनुप्रासके बोला लिखा। 'कहेउँ न कछु करि जुक्ति बिसेषा। यह सब मैं निज नयनन्ह देषा' में देषाके अनुप्राससे विसेषा कहा। इसी तरह और भी—'गिरि पर चढ़ि लंका तेइ देषी कहि न जाइ अति दुर्ग बिसेषी॥' 'गगन पंथ देषी मैं जाता। परबस परी बहुत बिलपाता॥' इत्यादि।

एव हि केवलम्॥' (भा० १ । २ । ८) श्रीसूतजी कहते हैं कि मनुष्योंका भली प्रकार अनुष्ठान किया हुआ भी धर्म यदि भगवान्‌की कथामें प्रेम उत्पन्न न करे तो वह केवल श्रममात्र ही है।—भागवतके इस प्रसङ्गमें शौनकादि ऋषिगणने भगवत्-कथा सुननेकी इच्छा प्रकट की है, इसमें कथामें 'प्रेम' को फल कहा। कथामें प्रेम और रघुपतिमें प्रेम दो बातें नहीं हैं। कथासे रघुपति-पद-प्रेमकी वृद्धि ही होती है। पुनः, (ख) रघुपति-पद-प्रेमको ही फल और उसीसे कल्याण कहनेका भाव कि जप, तप, यज्ञादिसे स्वर्ग, इन्द्रपद, ब्रह्मलोक इत्यादि और विरति-विवेकादिसे सुरदुर्लभ पद मिलता है, पर बिना भक्तिके उस पदको पहुँचकर भी पतित होना पड़ता है, यथा—*'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी'* ये वेदवाक्य हैं और रघुपति-पद-प्रेम होनेसे पुनरावृत्ति नहीं होती, यथा—*'हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे'* यही क्षेम है। यहाँ प्रथम विनोक्ति और तृतीय तुल्ययोगिता अलङ्कार हैं। (ग) ☞ यही मत श्रीशिवजी और श्रीवसिष्ठजीका है। यथा—*'तीर्थाटन साधन समुदाई।''''सब कर फल हरिभगति भवानी॥'* (१२६। ४—८), *'तव पदपंकज प्रीति निरन्तर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥'* (४९। ४)

३—*'सब कर फल रघुपति पद प्रेमा।''''''* कहकर *'एहि तन रामभगति मैं पाई'* कहनेका भाव कि सब साधनोंका फलस्वरूप एवं कल्याणरूप वह प्रेम मुझे इस शरीरके पानेपर प्राप्त हुआ।

४—*'ताते मोहि ममता अधिकाई'* का भाव कि सज्जन लोग शरीर इत्यादिका ममत्व अधिक नहीं रखते, यह तो अविवेकी पुरुषोंका लक्षण है। यथा—*'सेवहिं लषन सीय रघुबीरहिं। जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहिं॥'* (२ । १४२। २) *'ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।'* (४ । १२ । ५) (रा० शं० श०) पर इससे मेरा परम परमार्थरूपी स्वार्थ सिद्ध हुआ, अतः इसपर मेरा ममत्व है। परम परमार्थ और सच्चा स्वार्थ यही है कि श्रीरामपदमें प्रेम हो। यथा—*'सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन रामपद नेहू॥'* (२ । ९३। ६), *'स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम बचन रामपद नेहा॥'* (९६। १) आगे इसीपर लौकिक उदाहरण देते हैं कि जिससे किञ्चित् भी सांसारिक स्वार्थ मनुष्यका सिद्ध होता है, उसपर उस मनुष्यकी प्रीति हो जाती है। भाव कि तब भला जिससे परम परमार्थकी सिद्धि हुई उसपर मेरा प्रेम क्यों न हो ! (ख) *'जेहि ते''''तेहि पर ममता''''''* यथा—*'सुर नर मुनि सबकै यह रीती। स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती॥'* (४ । १२। २) आगे इसीके और प्रमाण स्वयं दे रहे हैं।

सो०—पन्नगारि असि नीति श्रुतिसंमत सज्जन कहहिं।
अति नीचहु सन प्रीति करिअ जानि निज परम हित॥
पाट कीट तें होइ तेहि तें पाटांबर रुचिर।
कृमि पालै सबु कोइ परम अपावन प्रान सम॥ ९५॥

अर्थ—हे गरुड़ ! ऐसी नीति है, इसमें वेदका सम्मत है और सज्जन (भी) कहते हैं कि अत्यन्त नीचसे भी अपना परम हित होता हुआ जानकर उससे प्रेम कर लेना चाहिये। रेशम कीड़ेसे होता है और उससे सुन्दर पीताम्बरादि रेशमी वस्त्र होते हैं, इसीसे, यद्यपि वह परम अपवित्र है तो भी, उस कीड़ेको सब कोई प्राणके समान पालते हैं॥ ९५॥

नोट—१ (क) *'असि नीति।'* भाव कि लोकरीतिहीपर बात नहीं है जो मैंने कही, किंतु नीति भी ऐसा ही कहती है। (ख) पुनः, *'असि नीति श्रुतिसंमत सज्जन कहहिं'* का भाव कि यह नीति मैं ही नहीं कहता; किंतु वेद और सज्जन भी यही कहते हैं, यह लोक और वेद दोनोंका मत है।

रा० शं०—*'अति नीचहु सन प्रीति'* का भाव कि साधारणतः बुद्धिमान् नीचसे प्रीति नहीं करते । यथा—*'बुध नहिं करहिं अधम कर संगा।'* (१०६। १३) पर उससे अपना परम हित देखकर उससे प्रीति करते ही बनती है।

वै०—*'पाट कीट तें होइ'*। चीन तथा बंगालमें एक बड़ी-सी तितली होती है जो सरसोंभरका गोल

अण्डा देती है। अण्डेके सूतसे (सूत्र-सदृश) कीड़े निकलते हैं, जो तूतादि कोमल पत्ती खाते हैं। जब वे दो-तीन अंगुलके हो जाते हैं, तब उनपर खोल पड़ जाता है। जब वे खोलसे निकलते है तब उनके १६ पैर और १२ आँखें हो जाती हैं, तब वे रेशम उगल-उगलकर गेंद-सरीखा एक गोला बनाकर उसीके भीतर बंद रहते हैं। कुछ दिनोंमें जब गोला काटकर वे निकलते हैं तब वे तितलीरूप हो जाते हैं, उस समय इनके छः पैर, दो आँखें और दो पंख हो जाते हैं। लोग उस गोलेको रूईके समान तूँबकर रेशम कर लेते हैं। रेशमको कातकर उसीसे पाटाम्बर बनाया जाता है। यह कीड़ा महा अपावन माना जाता है।

स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा। मन क्रम बचन रामपद नेहा॥ १॥
सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा। जो तनु पाइ भजिय रघुबीरा॥ २॥
रामबिमुख लहि बिधि सम देही। कबि कोबिद न प्रसंसहिं तेही॥ ३॥
रामभगति एहि तन उर जामी। ताते मोहि परम प्रिय स्वामी॥ ४॥
तजौं न तनु निज इच्छा मरना। तन बिनु बेद भजन नहिं बरना॥ ५॥

अर्थ—जीवका सच्चा स्वार्थ यही है कि मन-कर्म-वचनसे रामपदमें प्रेम हो॥ १॥ वही शरीर पवित्र और सुन्दर है जिस शरीरको पाकर उससे श्रीरघुवीरका भजन किया जाय॥ २॥ यदि रामविमुख ब्रह्माजीके समान शरीर पा जाय तो भी कवि और पण्डित उसकी प्रशंसा नहीं करते॥ ३॥ इस तनमें रामभक्ति मेरे हृदयमें जमी (उत्पन्न और स्थिर हुई) इसीसे हे स्वामी! वह मुझे परमप्रिय है॥ ४॥ मैं यह शरीर नहीं छोड़ता, यद्यपि मरना अपनी इच्छापर है, क्योंकि बिना तनके भजन करना वेद नहीं वर्णन करते॥ ५॥

नोट—१ पूर्व कहा कि जिससे कुछ निज स्वार्थ होता है उसपर स्वभावतः मनुष्यका प्रेम होता है। उसका दृष्टान्त रेशमके कीड़ेका दिया कि अपावन कीड़ेसे रेशम प्राप्त होता है, इस स्वार्थको देखकर लोग उसे अपावन नहीं गिनते वरन् प्रेमसे पालते हैं। अब दिखाते हैं कि जीवका स्वार्थ क्या है? मन-कर्म-वचनसे श्रीराम-पदमें प्रेम होना सच्चा स्वार्थ है, जिस तनसे वह स्वार्थ प्राप्त हो वही तन सुन्दर, अपावन होनेपर भी प्रिय और पालन योग्य है और जिस तनमें यह स्वार्थ न प्राप्त हो वह पावन और सुन्दर होते हुए भी अपावन और असुन्दर ही है। ['**यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य। तथा हि विप्राः षट्शास्त्रयुक्ता मद्भक्तिहीनाः खरवद्वहन्ति॥**' (वै०)]

२ '*स्वारथ साँच जीव कहुँ एहा*.........।' इति। (क) [यदि गरुड़ कहें कि 'कृमिसे तो धनरूपी स्वार्थ सिद्ध होता है, तुमको इस देहसे क्या स्वार्थ मिला?' तो उसपर कहते हैं कि '*स्वारथ साँच*.....' (पं०)।] '*साँच*' का भाव कि स्वार्थ झूठा भी होता है। धन, धाम, स्त्री, पुत्र, स्वर्ग इत्यादि ऐसे ही स्वार्थ हैं, क्योंकि इनसे कल्याण नहीं, ये भवमें भ्रमण करानेवाले हैं। सच्चा स्वार्थ वह है जो भवबन्धनसे निवृत्त करा दे, यही परम स्वार्थ है। (ख)—इसका दूसरा चरण '*मन क्रम बचन रामपद नेहू*' अ० ९३ (६) में भी है। वहाँ श्रीरामपदप्रेमको परम परमार्थ कहा है, यथा—'*सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन रामपद नेहू॥*' दो जगह दो बातें पृथक्-पृथक् कहकर जनाया कि—(१) '*मन-क्रम-बचन रामपद नेहा*' होना यही जीवके लिये सच्चा स्वार्थ है और यही सच्चा परमार्थ है, इसके अतिरिक्त जो भी स्वार्थ और जो भी परमार्थ है वह सच्चा नहीं है। (२) सच्चा स्वार्थ ही 'परम परमार्थ' है तथा जो परम परमार्थ नहीं है वह सच्चा स्वार्थ नहीं है, वरन् मोहमूलक स्वार्थ है, यथा—'*सरग नरक जहँ लगि ब्यवहारू॥ देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोहमूल परमारथ नाहीं॥*' (अ० ९२) (ग) '*जेहि ते कछु निज स्वारथ होई*..........' कहकर '*स्वारथ साँच*' कहनेका भाव कि वह सांसारिक स्वार्थ है, झूठ है। उस झूठे और वह भी किञ्चित् स्वार्थको पाकर लोग उस स्वार्थके देनेवालेपर प्रेम करते हैं तब जिससे सच्चा स्वार्थ मिले उसपर 'परमप्रेम' होना ही चाहिये। पुनः यह कि वह प्रेम करने योग्य नहीं है और यह प्रेम करने योग्य है।

३ (क) '*सोइ पावन सोइ सुभग सरीरा*' इति। भाव कि ऐसे शरीरधारी पावनकर्त्ता है, दर्शनीय

हैं। भाव यह कि उनके दर्शन एवं स्पर्श आदिसे पाप नष्ट हो जाते हैं, मोहादि दूर हो जाते हैं, कल्याण होता है, इत्यादि। यथा—*'मुख देखत पातक हर परसत कर्म बिलाहिं। बचन सुनत मन मोहगत पूरुब भाग मिलाहिं॥'* (वै० सं० २४) *'जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइए।''' ॥'* (वि० १३६। १०) (ख) *'जो तनु पाइ भजिय रघुबीरा'* का भाव कि रामभक्ति होनेसे शरीर सफल हो गया, यथा—*'देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई॥'* (४। २३। ६)

४ *'रामविमुख लहि''''''''* ' इति। (क) *'बिधि सम'* का भाव कि चाहे वह तीनों लोकोंका रचयिता, नियन्ता, परपितामह, ब्राह्मण इत्यादि ही क्यों न हो। रामविमुख होनेसे ऐसा गुणसम्पन्न शरीर भी प्रशंसनीय नहीं होता। (ख) *'कबि कोबिद न प्रसंसहिं तेही'* । पूर्व भक्तियुक्त शरीरको *'पावन सुभग'* कहकर इसके विषयमें *'न प्रसंसहिं'* कहनेका भाव कि रामविमुख होनेसे यह पावन और सुभग नहीं है। पुनः भाव कि भक्तिहीन होनेसे जीव प्रभुको सर्वसाधारणके समान ही प्रिय है, अधिक नहीं; यथा—*'भगतिहीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥'* (८६। ९) अतः इसकी प्रशंसा लोकमें भी नहीं होती। जो भक्तिवंत शरीर है उसकी प्रशंसा सब करते हैं चाहे वह अति नीच ही क्यों न हो, क्योंकि वह भगवान्‌को परमप्रिय है। यथा—'**चाण्डालं मम भक्तं च नावमन्येत बुद्धिमान्**'—(भा०)। '**विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्। मन्ये तदर्पितमनोवचने हितार्थप्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः॥**' (भा०) **ये शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः। सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये न भक्ता जनार्दने॥**' जैसे कि वानरदेहमें श्रीहनुमान्‌जी और श्रीसुग्रीवादि, निशिचरदेहमें प्रह्लाद-विभीषणादि, गृध्रदेहमें जटायु इत्यादिकी प्रशंसा जगत्‌में हो रही है, वैसे ही मेरी काकदेह प्रशंसनीय है। मिलान कीजिये—*'काम क्रोध मद लोभ नींद भय भूख प्यास सबही के। मनुजदेह सुर साधु सराहत सो सनेह सिय पीके॥ सूर सुजान सपूत सुलक्षन गनियत गुन गरुआई। बिनु हरिभजन इँदारुन के फल तजत नहीं करुआई॥'* (वि० १७५)

वि० त्रि०—देहधारियोंमें सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मदेवकी देह है, क्योंकि उनकी उत्पत्ति नारायणके नाभिपद्मसे है और जितने देह हैं वे तो ब्रह्मदेवके रचे हैं। कागदेह अति अधम है; क्योंकि पक्षियोंमें भी वह चाण्डाल है। परंतु प्रशंसा उसी देहकी है, जिससे मनुष्य रामसम्मुख हो। विधिसम देह मिलनेसे क्या लाभ हुआ, यदि उससे रामविमुखता हुई। कागदेह अधम होनेपर भी प्रशंसनीय है। यदि उसके द्वारा जीव रामसम्मुख हो सके। यहाँ *'बिधिसम देह'* कागदेहके विरोधमें कहा गया है।

नोट—५ पं० पु० उत्तर० १२८ में भी कहा है कि भक्तिहीन होकर चारों वेदोंके पढ़नेसे क्या लाभ? भक्तियुक्त चाण्डाल ही क्यों न हो, वह देवताओंद्वारा भी पूजित होता है। यथा—'**भक्तिहीनैश्चतुर्वेदैः पठितैः किं प्रयोजनम्। श्वपचो भक्तियुक्तस्तु त्रिदशैरपि पूज्यते॥**' (१०२)

नोट—६ *'रामभगति एहि तन उर जामी'* इति। *'जामी'* से दृढ़ भक्ति होना जनाया, जिसे विघ्नका भय नहीं *'जामी'*—पद देकर शरीरको भूमि, हृदयको थाल्हा और भक्तिको वृक्ष जनाया। [शूद्रतनमें शिवजीके आशीर्वादसे बीज पड़ा। अर्थात् 'श्रीशिवाशीर्वाद बीज है। तत्पश्चात् गुरु लोमशजीकी कृपासे भक्ति जमी, अङ्कुरित हो आयी। (वै०)]

७ *'तजौं न तनु निज इच्छा मरना''''* ' इति। (क) लोमशजीके आशीर्वादसे मृत्यु अपने अधीन है, यह आगे कहेंगे, यथा—*'सदा रामप्रिय होब तुम्ह'''कामरूप इच्छामरन ज्ञान बिरागनिधान॥'* (११३) (ख)—*'तजउँ न तन'* का कारण दूसरे चरणमें देते हैं कि वेदवाक्य है कि बिना तनके भक्ति नहीं हो सकती। जब तन रखना ही है तब वही शरीर क्यों न रखूँ जिससे मेरा परमहित हुआ, यह विचारकर काकतन ही रखे हुए हूँ। इसीपर मेरा ममत्व है। (ग)—*'रामबिमुख लहि बिधिसम देही''''''।'* का दूसरा भाव ध्वनिसे यह निकलता है कि नरदेह, द्विजदेह इत्यादि देहोंमें रामप्रेम स्थिर न हुआ, अतः वह देह क्यों रखूँ, उनमें मेरा ममत्व अधिक नहीं हो सकता, यथा—*'सो तन राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेमपन मोर निबाहा॥'* दृष्टान्त—दार्ष्टान्तका मिलान। यथा—

कृमि परम अपावन	१ काकतन परम अपावन
कृमिसे स्वार्थ पाटांबर-प्राप्ति	२ काकतनसे स्वार्थ रामपदप्रेम
स्वार्थवश *'कृमि पालइ सब कोइ प्रानसम'*	३ रामभक्तिप्राप्तिसे काकतन परमप्रिय
पाटांबरसे कृमि पावन माना गया	४ रामभक्ति जमनेसे काकतन पावन

करु०—'बिना तनके जीव कैसा और कहाँ जाता है, जो ऐसा कहा कि बिना तनके भजन नहीं'? इसमें भाव यह है कि ज्ञानसे कैवल्य प्राप्त होनेपर शरीर नहीं रहता, शरीर न रहनेसे तब भजन नहीं होता और बिना भजनके मुक्ति भी किस कामकी ? पुनः, एक शरीर छोड़ते और दूसरा शरीर ग्रहण करते समयमें अज्ञानदशा होती है तब भी भजनमें बीच पड़ता है। देवशरीर लिङ्गशरीर है, उसमें भजन नहीं होता। *'तन बिनु'* से ये तीनों अवस्थाएँ सूचित कर दी हैं।

वै०—*'रामभगति एहि तन उर जामी''बरना।'* इति। भाव कि लोमशजीकी कृपासे मरण अपनी इच्छापर है पर देह नहीं त्यागता, क्योंकि उसके बिना भजन बनता नहीं और यदि दूसरा तन धरूँ तो उसमें प्रथम गर्भवासका दुःख, फिर बाल अज्ञदशाका विक्षेप, फिर उसमें गुरु पुनः करना पड़े, माता-पितादिका बन्धन छुड़ाना पड़े इत्यादि आफत कौन ले, उसपर भी मोहका भय। मोहका भय क्यों ? इसके लिये आगे कहते हैं कि *'प्रथम मोह·····'*

नोट—८ गरुड़जीका प्रश्न था कि *'कारन कवह देह यह पाई'* पर यह प्रश्न उन्होंने *'तुम्ह सर्वज्ञ तज्ञ तम पारा।'''रघुनायकके तुम्ह प्रिय दासा॥'* कहकर किया था, जिसका अभिप्राय था कि ऐसे गुण-सम्पन्नका काक-शरीर न होना था। अतः प्रथम भुशुण्डिजीने इस अन्तर्गत शंकाका निवारण किया, यह कहकर कि रामभक्ति इस शरीरमें मिली, अतः मैं अपनी इच्छासे इसे रखे हुए हूँ। यहाँतक यह कहकर आगे 'काग-शरीर' पानेका कारण बताते हैं।

प्रथम मोह मोहि बहुत बिगोवा। राम बिमुख सुख कबहुँ न सोवा॥ ६॥
नाना जनम करम पुनि नाना। किए जोग जप तप मख दाना॥ ७॥
कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं। मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं॥ ८॥

शब्दार्थ—**बिगोना**—(सं० विगोपन)=नष्ट करना, बिगाड़ना।=भ्रममें डालना, बहकाना। तंग करना, खोना।

अर्थ—पहले मोहने मुझे बहकाकर बहुत नष्ट किया। रामविमुख (होनेसे) कभी भी मैं सुखसे नहीं सोया॥ ६॥ अनेक जन्म ले-लेकर फिर उनमें अनेक प्रकारके योग, जप, तप, यज्ञ, दान आदि अनेक कर्म किये॥ ७॥ हे खगेश ! ऐसी कौन योनि है जिसमें मैंने घूम-फिरकर बार-बार संसारमें जन्म न लिया हो ? अर्थात् ८४ लक्षयोनियोंमें बराबर चक्कर खाता फिरा॥ ८॥

नोट—१ *'प्रथम मोह मोहि बहुत बिगोवा'* इति। (क) *'प्रथम'* का भाव कि जीवपर माया अपना आवरण डालती है तब प्रथम उसे मोह उत्पन्न होता है, जो सब मानसरोगों एवं संसारका मूल है। यथा—*'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।'* (१२१। २९) यह शिवप्रसादके पूर्वकी बात है, जैसा कि *'प्रथम जन्म के चरित अब कहौं।'* (९६) से स्पष्ट है। (ख) मोह होनेसे जीव बहुत दुःख पाता है, यथा—*'जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा'* (१२१। २८) *'मोह बिगोवा'* अर्थात् भ्रममें डाल दिया, मुझे बिगाड़ डाला। रामविमुख करना विगोपन है, यथा—*'जिन्ह एहिं बारि न मानस धोए। ते कायर कलिकाल बिगोए॥'* (१ । ४३। ७) पुनः मोहने बिगोया अर्थात् बहुत तंग किया। क्या तंग किया ? सो दूसरे चरणमें कहते हैं कि रामविमुख कर दिया। (ग) रामविमुख कहकर उसका फल कहा कि *'सुख कबहुँ न सोवा'* यथा—*'रामबिमुख सुख सपनेहु नाहीं'*; *'रामबिमुख सुख लह्यो न सपनेहुँ निसि बासर तयो तिहूँ ताय।'* (वि० ८३) ☞*'राम बिमुख सुख कबहुँ कि सोवा'* कहकर जनाया कि रामाश्रित ही सुखकी नींद सो सकता है, यथा—*'प्रीति राम नाम सों प्रतीति रामनाम की प्रसाद रामनाम के पसारि पाँय सूतिहौं'* (क० ७ । ६९)

☞ मिलान कीजिये—*'नाचत ही निसिदिवस मर्‌यो। तबही तें न भयो हरि थिर जब तें जिव नाम धर्‌यो॥ बहु बासना बिबिध कंचुकि भूषन लोभादि भर्‌यो। चर अरु अचर गगन जल थल में कौन स्वाँग न कर्‌यो॥ देव दनुज मुनि नाग मनुज नहि जाँचत कोउ उबर्‌यो। मेरो दुसह दरिद्र दोष दुख काहू तो न हर्‌यो। थके नयन पद पानि सुमति बल संग सकल बिछुर्‌यो। अब रघुनाथ सरन आयो जन भवभय बिकल डर्‌यो॥'* (वि० ९१) *'ऐसेइ जन्म समूह सिराने……'* (वि० २३५) *'जागै जोगी जंगल जती जमाती ध्यान धरै डरैं उर भारी लोभ मोह काम के। जागै राजा राजकाज सेवक समाज साज सोचैं सुनि समाचार बड़े वैरी बामके॥ जागै बुध विद्याहित पंडित चकित चित जागै लोभी लालच धरनि धन धाम के। जागै भोगी भोग ही वियोगी रोगी सोगबस सोवै सुख तुलसी भरोसे एक राम के॥'* (क० ७। १०९)

२ *'करम पुनि नाना किए'* का भाव कि पूर्व जन्मोंमें ये सब कर्म कर चुका तो भी चेत न हुआ, फिर भी उनमें मोहवश फँसता था। इनमें न पड़ना था फिर भी पड़ा। क्या नाना कर्म किये, सो आगे कहते हैं—नाना योग, नाना जप इत्यादि किये। नानाका अन्वय सबके साथ है क्योंकि ये सब अनेक प्रकारके होते हैं। अनेक प्रकारके योगोंका वर्णन महाभारत, श्रीमद्भागवत इत्यादिमें विस्तारसे है। (ख)-योग, यज्ञ, जप, तप और दानका दूसरा भाव कि मैंने चारों युगोंमें जन्म लिया, सत्ययुगमें योगारूढ़ होकर ध्यान किया, त्रेतामें यज्ञ किये, द्वापरमें जपादि पूजन किये और कलियुगमें दान किये पर (रामविमुख होनेसे) सुख न मिला। अथवा, सब युगोंमें सब धर्म किये। (ग)—काम्यकर्मोंका फल है—बारम्बार जन्म-मरण होना। अतः बारम्बार कर्म करना कहकर बारम्बार कर्मानुसार सब योनियोंमें जन्म लेना कहा। *'भ्रमि भ्रमि जग माहीं'*, यथा—*'भवपंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुनन्हि भरे।'* (१३ छं० २)

मिलान कीजिये—*'तब लौं मलीन हीन दीन सुख सपने न जहाँ तहाँ दुखी जन भाजन कलेस को। तब लौं उबैने पाँय फिरत पेटै खलाय बाये मुँह सहत पराभौ देस देस को॥ तब लौं दयावनो दुसह दुख दारिद को साथरी को सोइबो ओढ़िबो जूने खेस को। जब लौं न भजै जीह जानकी जीवन राम राजन को राजा सो तौ साहेब महेस को॥'* (क० ७। १२५) *'तौ लौं लोभ लोलुप ललात लालची लबार बारबार लालच धरनि धन धाम को। तब लौं बियोग-रोग-सोग भोग जातना को जुग सम लगत जीवन जाम जाम को॥ तौ लौं दुख दारिद दहत अति नित तनु तुलसी है किंकर बिमोह कोह काम को। सब दुख आपने निरापने सकल सुख जौ लौं जन भयो न बजाइ राजा राम को॥'* (क० ७। १२४)

रा० प्र०—१ बिगोवा=खो दिया अर्थात् मोहने स्वस्वरूप और सत्पथ छिपा दिया। २—*भ्रमि-भ्रमि*=भ्रममें पड़-पड़कर कि सुखी रहूँगा।

देखेउँ करि सब करम गोसाईं। सुखी न भएउँ अबहिं की नाईं॥ ९॥
सुधि मोहि नाथ जन्म बहु केरी। सिव प्रसाद मति मोह न घेरी॥ १०॥

अर्थ—हे गुसाईं! मैंने सब कर्म कर-करके देख लिये, पर अबकी इस समयके समान कभी सुखी न हुआ॥ ९॥ हे नाथ! शिवजीके प्रसादसे मुझे बहुतेरे जन्मोंकी सुध है और मेरी बुद्धिको मोहने नहीं घेरा॥ १०॥

नोट—१ (क) *'देखेउँ करि सब करम'* का भाव कि मैं वेद, शास्त्र, पुराणादिको कहा या ऋषियोंसे सुनी हुई नहीं कहता, मैंने प्रत्येक कर्म स्वयं करके उनका अनुभव किया है वही प्रत्यक्ष प्रमाण कह रहा हूँ। (ख) *'सुखी न भएउँ'* भाव कि उपर्युक्त कर्म सुखप्राप्तिके साधन कहे गये हैं, मैंने भी सुखप्राप्तिके लिये ही सब किये। (ग) *'अबहिं की नाईं'* का भाव कि उनमें कुछ सुख मिला पर वह सुख ऐसा न था जैसा अब है। आशय कि वह सुख अनित्य था, यह नित्य है। पुनः, *'अबहिं'* का भाव कि तब रामविमुख था इससे तब *'सुख कबहुँ न सोवा'* और अब रामशरण हूँ अतः अब सुखी हूँ। मिलान कीजिये—*'जप जोग बिराग महामख साधन दान दया दम कोटि करै। मुनि सिद्ध सुरेस गनेस महेस से सेवत जन्म अनेक मरै॥ निगमागम ज्ञान पुरान पढ़ै तपसानलमें जुग पुंज जरै। मन सों पन रोपि कहै तुलसी रघुनाथ बिना दुख*

कौन हरै॥' (क० उ० ५५) पुनः, (च) भाव कि जो दुःखसे व्याकुल होता है वही सुखका यथार्थ अनुभव कर सकता है, अनेक योनियोंमें दुःख भोग करनेपर मुझे सुख अब मिला, इससे उस सुखका अनुभव मैं ही कर सकता हूँ।

२—'*सुधि मोहि''''सिव प्रसाद*', यथा—'*कवनेउँ जन्म मिटिहि नहिं ग्याना।*' (१०९। ८) '*सिव प्रसाद*' पद दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर है। इसके कहनेका कारण यह है कि अनेक जन्मोंकी चर्चासे सन्देह होता कि इन्हें सुध कैसे बनी रही। जन्म-मरणके समय इतना दुःख होता है कि सब ज्ञान नष्ट हो जाता है।

रा० प्र०—'***सिव प्रसाद मति मोह न घेरी***' इति। जबसे शिवप्रसाद हुआ तबसे तो रामानुराग रहा है तब रामविमुख कैसे कहा ? इसका समाधान यह है कि—(१) '***प्रथम मोह***' इस पदसे यह लक्षित होता है कि शिवप्रसादसे अथवा इनके भजनके प्रतापसे उनके पूर्वके भी जो जन्म थे उनकी भी सुध आ गयी, उनमें सुख न मिला था। अथवा, (२) शिवजीका वर है कि '***उपजिहि रामभगति उर तोरे।***' जबतक वह भक्ति लोमशजी द्वारा सर्वांगपूर्ण प्राप्त न हुई थी तबतक मोह बना रहा।

वि० टी०—यदि यह प्रश्न किया जाय कि 'जिसे शिवजी अथवा और देवताका वरदान न हो तो उसे भी क्या अपने पिछले जन्मोंकी सुधि रह सकती है?' तो उसका उत्तर यह है कि रह सकती है; परंतु उस मनुष्यको अष्टाङ्ग योग सिद्ध करते समय योगके छठवें अंग, ध्यान-साधनतक पहुँच गया हो। ध्यान-साधनके भी चार प्रकार हैं—पदस्थ-ध्यान, पिण्डस्थ-ध्यान, रूपस्थ-ध्यान और रूपातीत-ध्यान। इन चारोंमेंसे पिण्डस्थ-ध्यान करते समय जीवको पिछले सात जन्मोंकी सुधि आ जाती है। इसके बारेमें श्रीस्वामीचरणदासजीके ये वचन हैं—

'***ब्रह्मांड सोई यह पिंड है यामें करि करि बास। कमलनके लखि देवता, लहै परापत तास॥ सीधै सागरे पिंडको षटचक्रहु को ध्यान। शोधत शोधत आ चढ़ै भँवरगुफा स्थान॥ तिरवेणी संगम बहै ज्योति जहाँ दरशाय। सात जन्म सुधि होइ जब ध्यान करै मन लाय॥ आगे कमल हजार दल सद्गुरु-ध्यान प्रधान। अमृत दरिया बहि चलै हंस करै जहँ न्हान॥ ऊपर तेजहिं पुंज है कोटि भानु परकास। शून्य शिखर ता ऊपरै योगी करै विलास॥***'

नोट—माण्डव्य ऋषिको १०१ जन्मकी सुध थी, यह सब भजनका प्रताप है।

☞ यहाँतक निजदशावर्णन-प्रसङ्ग है।

दो०—प्रथम जन्म के चरित अब कहौं सुनहु बिहगेस।
सुनि प्रभुपद रति उपजै जातें मिटहिं कलेस॥
पूरब कल्प एक प्रभु जुग कलिजुग मलमूल।
नर अरु नारि अधर्मरत सकल निगम प्रतिकूल॥ ९६॥

अर्थ—हे पक्षिराज ! अब मैं अपने प्रथम जन्मके चरित कहता हूँ, सुनिये। इसे सुनकर प्रभुके चरणोंमें अनुराग उत्पन्न होता है, जिससे (पंच) क्लेश मिट जाते हैं। हे प्रभो ! पूर्व कल्पमें कलियुग नामका एक पापोंका मूल युग हुआ जिसमें पुरुष और स्त्री सभी अधर्मरत और वेदके विरोधी थे॥ ९६॥

नोट—१ '***प्रथम जन्म***' से प्रथम मनुष्य-शरीर जो मिला, अथवा जिस जन्मसे रामभक्तिकी प्राप्तिका योग हुआ उसे जनाया। यह वह जन्म है जिसमें द्विजगुरुकी कृपासे शिवजीने आशीर्वाद दिये थे। '***प्रथम जन्म के कहौं***' का भाव कि सुध तो अनेक जन्मोंकी है जो शिवाशिषके पूर्व हुए पर जिस तनसे फिर मेरी बुद्धिमें शिवकृपासे मोह नहीं हुआ उसी प्रथम जन्मसे आगेतकका हाल कहूँगा। '***सुनि रति उपजै***', '***कलेस मिटहिं***' पदोंमें वर्तमानकालिक क्रिया देकर जनाया कि आगे भी जो सुनेंगे उनको भी प्रेम होगा और उनके भी क्लेश मिटेंगे।

२ '***पूरब कल्प एक***' इति। '***पूरब***' का भाव कि तबसे आजतक बहुत कल्प बीत गये। आगे भुशुण्डिजी

कहेंगे कि मुझे इस आश्रममें आये *'बीते कलप सात अरु बीसा'* इससे जनाया कि २७ कल्प तो अवश्य ही उस कल्पको तथा उस जन्मको हो चुके। *'एक'* का दूसरा भाव कि ऐसा कठिन कलिकाल किसी कल्पमें न हुआ।

रा० शं० श०—*'प्रथम जन्म के चरित'* —सज्जन लोग अपने चरित्र स्वयं नहीं कहते, परंतु यहाँ जो कहते हैं उसका कारण भी बताते हैं कि उससे प्रभुके पदमें रति होगी और क्लेश मिटेंगे।

तेहि कलिजुग कोसलपुर जाई। जनमत भएउँ सूद्रतनु पाई॥ १॥
सिवसेवक मन क्रम अरु बानी। आन देव निंदक अभिमानी॥ २॥
धन मद मत्त परम बाचाला। उग्र बुद्धि उर दंभ बिसाला॥ ३॥

अर्थ—उस कलियुगमें कोसलपुरमें जाकर मैंने शूद्रतन पाकर जन्म लिया॥ १॥ मन, कर्म और वचनसे मैं शिवजीका सेवक, अन्य देवताओंका निन्दक और अभिमानी था॥ २॥ धनके मदसे परम मतवाला, परम वाचाल, भयंकर तीक्ष्ण बुद्धिवाला था और मेरे हृदयमें बड़ा भारी दम्भ था॥ ३॥

नोट—१ *'सिवसेवक मन क्रम अरु बानी।'''''''* इति। (क) ☞ *'मन क्रम अरु बानी'* दीपदेहली है। मन-कर्म-वचनसे शिवसेवक था और तीनोंसे ही दूसरे देवताओंकी निन्दामें तत्पर था, *'निंदक'* कहकर *'अभिमानी'* कहनेका भाव कि शिवसेवकको तो विष्णु-नारायण-रामकी निन्दा न करनी चाहिये, क्योंकि शिव-सेवाका तो फल ही है *'अबिरल भक्ति राम पद होई'* अत: कहते हैं कि मुझे शिवसेवक होनेका अभिमान था, इससे अन्यकी निंदा करता था। [पुनः, अभिमानीका भाव कि जो कोई मुझे निन्दा करनेपर समझाकर निवारण करना चाहता उसका मैं तिरस्कार करता था। (पं०)] (ख)—*'आन देव'* में अन्य सभी आ गये पर भुशुण्डिजीका तात्पर्य हरिसे है जैसा आगे उनके वचनोंसे स्पष्ट हो जायगा।

वि० त्रि०—उपासनाशास्त्रका नियम है 'अपने इष्टदेवको अङ्गी और अन्य देवोंको अङ्ग मानना। अत: शिवसेवक मन, वाचा या कर्मणा होना तो बहुत अच्छी बात थी, पर अन्य देवोंको अङ्ग मानकर उनकी पूजा उसने नहीं की। उनको शिवजीका सेवक भी नहीं माना। यदि मानता तो निन्दा कैसे करता। सो वह दूसरे देवताओंकी निन्दा करता था, उनसे बढ़कर अपनेको मानता था, क्योंकि अभिमानी था।

नोट—२ *'धन मद मत्त'*—*'श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि'* दोहा ७० देखो। (क) *'परम बाचाला'* से जनाया कि बातोंमें, वाद-विवादमें मुझसे कोई जीत न सकता था। अलम्‌का अर्थ है समर्थ वा निपुण। पुनः, वाचालका प्रयोग, 'बकवादी' अर्थमें भी होता है, इस तरहका भाव यह हुआ कि बड़ा बकवादी था, अपने आगे दूसरेको बात ही न करने देता था, दूसरेकी सुनना तो दूर ही रहा।' (ख) *'धन मद मत्त'* कहकर वाचाल कथनका भाव कि अपना ऐश्वर्य ही बका करता था। इससे जनाया कि मैं खल था, यथा—*'जस थोरेहु धन खल इतराई।'* (कि० १४ । ५) देखिये। (ग) *'उग्र बुद्धि'* में दो भाव हैं—एक तो यह कि मैं भयंकर प्रतिवादी था, कोई मेरे आगे अपनी बात समर्थन करनेमें ठहर न सकता था, दूसरे क्रूरबुद्धि था। अर्थात् यह बुद्धि कुटिल कार्यमें, अन्यायको न्याय सिद्ध करनेमें लगी रहती थी।

रा० प्र०—१ धनका गर्व, उपासनाहीसे परम वाचाल, बादमें उग्रबुद्धि और *'दंभ बिसाला'* कि किसीके दबाये न दबता था। २—कोई कहते हैं कि अवधमें जन्म होनेसे श्रीरामजीसे सम्बन्ध बँधा, उनकी प्राप्तिका योग उत्पन्न हुआ, 'शिव-सेवक' यह राम-भक्तिका बीज है, आनदेवनिन्दकका फल कालान्तरमें अपने उपासनाका अभिमान है।

करु०—*'उर दंभ'* अर्थात् शास्त्रके पदार्थ सबको दिखाता रहूँ पर स्वयं कर्तव्य प्रतिकूल करूँ। देखावमात्र वेषवार्तासे सन्मार्गी था।

जदपि रहेउँ रघुपति रजधानी। तदपि न कछु महिमा तब जानी॥ ४॥
अब जाना मइँ अवधप्रभावा। निगमागम पुरान अस गावा॥ ५॥

कवनेहु जन्म अवध बस जोई। रामपरायन सो परि होई॥ ६॥
अवधप्रभाव जान तब प्रानी। जब उर बसहि रामु धनुपानी॥ ७॥

अर्थ—यद्यपि मैं श्रीरघुनाथजीकी राजधानीमें रहा, तो भी मैंने उस समय उसका कुछ माहात्म्य न जाना॥ ४॥ अब मैंने अवधका प्रभाव जाना। शास्त्र, वेद और पुराणोंने ऐसा कहा है कि किसी भी जन्ममें कोई भी अवधवास करता है, वह अवश्य रामपरायण अर्थात् रामानुरागी हो जायगा। ५-६॥ जीव तभी अवध-प्रभाव जानता है जब धनुष-बाण धारण किये हुए श्रीरामजी उसके हृदयमें निवास करते हैं॥ ७॥

खर्रा—महिमा न जाननेसे अयोध्यावासका यथार्थ फल न हुआ।

नोट—१ *'तदपि न कछु महिमा तब जानी'* भाव कि श्रीअवधपुरीमें रहनेसे वहाँकी महिमा जाननी चाहिये थी पर मैं अभिमानवश मूढ़ बना रह गया। महिमा न जाननेका कारण आगे बताते हैं।

रा० प्र०—१ (क) 'वेद शास्त्र' रुद्रयामल आदि, पुराण स्कन्द-पद्मादि। (ख) *'कवनेहु जन्म'* से जनाया कि चाहे कीट, पतंग, पशु आदि किसी भी योनिमें जन्म हुआ हो यदि यहाँ वास होगा तो वह रामपरायण हो जायगा। (ग) *'जब उर बसहिं रामु धनुपानी'* इति। भाव कि जब श्रीरामजी धनुष-बाण लेकर हृदयकी रक्षा करें, अपना धाम यहाँ बनावें और अपना घर दिखावें तब तो जीव देखै—*'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई', 'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥'* [भाव यह है कि यह धाम श्रीरामजीकी राजधानी है। वे इसके देवता और स्वामी हैं। उनकी भक्तिसे प्रभाव जाना जाता। उनसे विरोध करके कोई कैसे जान सकता है। करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि धनमद और दम्भके कारण न जाना।]

रा० शं० श०—*'अब जाना'* का भाव कि सत्ताईस कल्पोंके अनुभवसे फिर भी श्रीरामकृपासे ही जाना।

नोट—*'अब जाना मैं अवधप्रभावा'* और आगे कहते हैं कि *'अवधप्रभाव जान तब प्रानी। जब उर बसहिं रामु धनुपानी'* इससे जनाया कि अब मेरे हृदयमें वे धनुषधारी राम बसते हैं (ख) क्या प्रभाव जाना और कैसे जाना सो आगे कहते है कि *'निगमागम पुरान'* ऐसा कहते हैं कि *'कवनेहु······'* (ग) वेदादि दो सिद्धान्त कहते हैं। एक तो यह कि किसी योनिमें जन्म होनेपर यदि वहाँ वास हो और वह मरे कहीं और तो दूसरे जन्ममें वह रामभक्तिपरायण अवश्य होगा, इस जन्ममें चाहे वह श्रीरामजीका भजन न करता रहा हो। दूसरे, अवधप्रभाव वास होनेपर जानना दुर्लभ है, प्रभाव तो तभी जानेगा जब हृदयमें श्रीरामजी निवास करें। हृदयमें रामधाम बननेसे अवधका प्रभाव झलकेगा।* (घ) ये दोनों बातें भुशुण्डीजीने साक्षात्कार की। अवधवास हुआ था अतः दूसरे जन्ममें रामभक्ति हुई, यथा—*'रघुपति पुरी जन्म तव भयऊ।'''पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरे। रामभगति उपजिहि उर तोरे॥'* (१०९। ९-१०) जब लोमशजीने श्रीरामजीका ध्यान बताया तबसे हृदयमें वे वास करते हैं, *'पुनि उर राखि राम सिसुरूपा। निज आश्रम आवौं खग भूपा॥'* (११४। १४) अतः कहा कि *'अब जाना'* पुनः, (ङ)—इससे जनाया कि उससे पूर्व मैं रामोपासक न था।

३—*'रामु धनुपानी'* कहकर जनाया कि चतुर्भुज , षड्भुज, अष्टभुज इत्यादि तथा श्रीकृष्णादि द्विभुजरूपोंके वाससे भी अवधका प्रभाव नहीं जाना जा सकता। [पं०—*'उर बसहि'* अर्थात् उनका हृदयमें ध्यान आवे]

सो कलिकाल कठिन उरगारी। पाप परायन सब नर नारी॥ ८॥

दो०—कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त† भए सदग्रंथ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ॥

---

* अयोध्या च परंब्रह्म सरयूः सगुणः पुमान्। तन्निवासी जगन्नाथः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्॥ यस्याः प्रभावमतुलं वेदा देवः शिवो ह्यहम्। नहि वक्तुं समर्थाः स्मो विष्णुश्च सगुणः पुमान्। इति अयोध्यामाहात्म्ये।—(वै०)

† गुप्त—(का०)

भए लोग सब मोहबस लोभ ग्रसे सुभ कर्म।
सुनु हरिजान * ग्याननिधि कहौं कछुक कलि धर्म॥ ९७॥

शब्दार्थ—कल्पना=वह शक्ति जो अन्त:करणमें ऐसी वस्तुओंके स्वरूप उपस्थित करती है जो उस समय इन्द्रियोंके सम्मुख उपस्थित नहीं होती। कल्पित=कल्पनाद्वारा रचा हुआ। मनमाना मनगढ़ंत। झूठे।

अर्थ—हे गरुड़! वह कलिकाल बड़ा कठिन था† । सब स्त्री-पुरुष उसमें निमग्न थे॥ ८॥ कलिके पापोंने सब धर्मोंको ग्रास कर लिया, सद्ग्रन्थ लुप्त हो गये। पाखण्डियोंने अपनी बुद्धिसे गढ़-गढ़कर बहुतसे मार्ग प्रकट किये। सब लोग मोहवश हो गये। शुभकर्मोंको लोभने ग्रस लिया। (जो कहीं कोई शुभ कर्म करता है वह धनादिके लोभसे।) हे ज्ञाननिधान भगवद्वाहनजी ! सुनिये, मैं कलिके कुछ धर्म कहता हूँ॥ ९७॥

नोट—१ *'सो कलिकाल कठिन'* का भाव कि—(क) सभी कलिकालोंमें मनुष्य पापसे रत होते हैं, पर उस कलिकालमें जैसे पापपरायण थे वैसे किसी कलिकालमें नहीं हुए। (ख) वह कठिन था, अन्य वैसे कठिन न थे, साधारण जैसे होते हैं वैसे ही थे। (ग) *'सो'* अर्थात् जिसका पूर्व वर्णन कर रहा था और जिसमें मेरा प्रथम जन्म हुआ था दोहा ९६ *'पूरब कल्प एक प्रभु……'* में कलियुगका वर्णन प्रारम्भ कर बीचमें अपने जन्मादि कहने लगे थे, अब फिर वहींसे वर्णन उठाते हैं; अतः कहा कि *'सो कलिकाल'* (घ) वहाँ कहा था कि *'नर अरु नारि अधर्मरत……'* और यहाँ *'पाप परायन सब नर नारी'* कहा। इनके बीचमें अपना जन्म कहकर जनाया कि मेरा जीवन भी अधर्मरत और पापपरायण था। वहाँके 'अधर्मरत' का अर्थ 'पापपरायण' स्पष्ट कर दिया।

२ (क) *'कलिमल ग्रसे धर्म सब'* इति। धर्मसे पाप दूर होते हैं पर यहाँ कलिके काम, क्रोध, लोभादि पापोंने ही सब धर्मोंको खा लिया—*'करहि क्रोध जिमि धर्महि दूरी।'* (ख) धर्म न रह गया अतः धर्मप्रवर्त्तक ग्रन्थ भी लुप्त हो गये, सुने भर जाते हैं, देखनेमें नहीं आते। (ग) *'निज मति कल्पि करि प्रगट किए……'* का भाव कि ये कपोलकल्पित हैं, जो दम्भी हैं उनके गढ़े हैं। *'पंथ'* (=मार्ग) का भाव कि लोग इनपर चलें।

☞ आजकल अभीसे देखनेमें आता है कि अनेक नये मतवालोंने अपने समाजके विद्वानोंको प्राचीन महर्षियोंका नाम दिया है और उनसे जो पुस्तकें लिखाते हैं उनको उन महर्षियोंके ग्रन्थोंका नाम देते हैं, जिसमें आगे लोगोंको भ्रममें डाल सकें, यह न जाना जा सके कि वस्तुतः कौन सत्य है। इसी तरह संतवाणियाँ सुनने-देखनेमें आयेंगी।

मिलान कीजिये—*'आगम बेद पुरान बखानत मारग कोटिक जाहिं न जाने। जे मुनि ते पुनि आपुहि आपु को ईस कहावत सिद्ध सयाने॥ धर्म सबै कलिकाल ग्रसे जप जोग बिराग लै जीव पराने। को करि सोच मरैं तुलसी हम जानकीनाथके हाथ बिकाने॥'* (७ । १०५) *'बेद पुरान बिहाइ सुपंथ कुमारग कोटि कुचाल चली है। काल कराल नृपाल कृपाल न राज समाज बड़ोइ छली है॥'* (क० ७ । ८५)

'लुप्त भए सदग्रंथ' लिखकर *'निज मति कल्पि……'* कहनेका भाव कि—(क) गुप्त होनेके कारण ये ही हैं, यथा—*'हरित भूमि तृन संकुल समुझि परहिं नहिं पंथ। जिमि पाखंड बिवाद तें गुप्त होहिं सदग्रंथ॥'* (४ । १४) अर्थात् पाखंडियोंने जो नये-नये ग्रन्थ निर्माण कर दिये उनसे इनका पता ही नहीं चलता। अभी देख लीजिये वाल्मीकीय, तुलसीरामचरितमानस, इत्यादिमें कितने क्षेपक भर गये हैं, यहाँतक कि निर्णयसागर, व्यंकटेश्वर आदि प्रामाणिक प्रेसोंने ७ के ८ काण्ड कर दिये। पुनः इससे यह भी भाव निकलता है कि पाखण्डीलोग अपने नये-नये मत चलाकर मनमाने ढंगसे वेदोंका तात्पर्य निकालते थे। इस तरह **'वेदाः पाखण्डदूषिताः'** (भा० १२ । ३ । ३२) का भाव भी आ जाता है। (ख) सद्ग्रन्थोंके रहते उनकी न चलती थी, जब वे लुप्त हो गये तब इनके कल्पित पन्थ प्रकट

* सुज्ञाननिधि—(का०)। † बि० टी० अर्थ करती है कि—'यह बात कलियुगमें कठिन है क्योंकि'।

हुए। (ग) सद्ग्रन्थ सूर्य, शशि-समान प्रकाश करनेवाले थे, उनके न रहनेपर ये जहाँ-तहाँ चमकते देख पड़ते हैं, पर हृदयका अन्धकार दूर करनेको असमर्थ हैं। ये जुगुनूवत् हैं, यथा—'*निसि तम घन खद्योत बिराजा। जनु दंभिन्ह कर मिला समाजा॥*'—विशेष कि० १४, १५ (६) में देखिये। '*लोभ ग्रसे सुभ कर्म*', अर्थात् हृदयमें लोभ है, धन अधिक मिलता तो करते, नहीं मिलता इससे नहीं करते। न करनेसे शुभ कर्मोंका लोप हो गया।

४ '*हरिजान ज्ञाननिधि*' का भाव कि आप तो ये सब जानते ही हैं, दूसरोंके उपदेशार्थ कुछ कहे देता हूँ।

रा० प्र०—१ '*सुनु*' '*कहौं कछुक*' का भाव कि अधिक तुम सुन न सकोगे इससे कुछ ही कहूँगा। '*ज्ञाननिधि*' का भाव कि ज्ञानियोंको सुननेसे बाधा नहीं होगी, कोई विकार सुनकर न उत्पन्न होंगे; इसीलिये तुमको सुनाता हूँ।

पं०—'*हरिजान*' का भाव कि तुम जानते हो कि सब कुछ भगवान्‌की इच्छामें है। ज्ञानवान्‌का भाव कि अज्ञान तुम्हारा प्रतिपक्षी है, इसकी सेनाका विश्वास तुमको भी न चाहिये।

कलिधर्म

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी*॥ १॥
द्विज श्रुति बेचक† भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥ २॥
मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा॥ ३॥
मिथ्यारंभ दंभरत जोई। ता कहुँ संत कहै सब कोई॥ ४॥

अर्थ—चारों वर्णाश्रमोंके धर्म नहीं रह जाते, सब स्त्री-पुरुष वेदके विरोधमें लगे रहते हैं॥ १॥ ब्राह्मण वेदोंके बेचनेवाले और राजा प्रजाको खा जानेवाले होते हैं। कोई भी वेदकी आज्ञा नहीं मानते॥ २॥ जिसे जो भाता है वही उसका (वेद) मार्ग है। जो डींग मारे वही पण्डित॥ ३॥ जिनके कार्योंका आरम्भ ही (मूल) मिथ्या है जो ऐसे कामों एवं दम्भमें अनुरक्त हैं उसीको सब सन्त कहते हैं॥ ४॥

नोट—१ '*बरन धर्म नहिं आश्रम चारी*' का भाव कि चारों वर्ण और चारों आश्रमके पृथक्-पृथक् धर्म हैं, पर चारों वर्णोंमें कोई अपने वर्णधर्मपर नहीं चलता, ब्राह्मण शूद्रोंके, शूद्र ब्राह्मणोंके कर्म करने लगे, शूद्र द्विज वर्णोंकी कन्याएँ व्याहने लगे, इत्यादि। इसी तरह आश्रमोंका हाल है, ब्रह्मचर्याश्रमका धर्म पूरा न कर पाये और चौथा आश्रम संन्यास ग्रहण कर लिया, इत्यादि। केवल दण्ड-कमण्डलु, मृगचर्मादि धारण इत्यादि ऊपरके चिह्नोंसे संन्यासी, ब्रह्मचारी आदि कहलाते हैं। पुनः, भाव कि वर्णाश्रम भेद ही न रह गया सब वर्णसंकर हो गये। ब्रह्मचारी, संन्यासी सभी आश्रमवाले गृहस्थ हो गये, ब्राह्मणादि वर्ण शूद्रतुल्य हो गये।

वि० त्रि०—कलियुगमें मनुष्योंकी प्रवृत्ति वर्णाश्रम-धर्मानुकूल नहीं रहती और न वह ऋक्, साम, यजुरूप त्रयीधर्मका सम्पादन करनेवाली होती है, यथा—'**वर्णाश्रमाचारवती प्रवृत्तिर्न कलौ नृणाम्। न सामऋग्यजुर्धर्मविनिष्पादनहैतुकी॥**' (वि० पु० ६ । १ । १०) अतः इस युगमें वर्णाश्रम-धर्म नहीं रह जाता और सब लोग वेदोंका विरोध करने लग जाते हैं। यह युगधर्म है। इस युगमें ऐसा ही होता है। इस स्वाभाविकी प्रवृत्तिके रोकने तथा शास्त्रीय प्रवृत्ति बनाये रखनेवाले पुरुष धन्य हैं।

२ (क) '*श्रुति बेचक*' इति। वेदका बेचना यह कि लोभवश अनधिकारीको वेद पढ़ाते, पुस्तक

---

* 'ब्रत नर नारी'—(क)=सबका यह व्रत है।

† 'बंचक' (करु०, पं०)। बंचकता यह कि स्वयं उनपर चलते नहीं पर दूसरोंका धन हरण करनेके लिये उनको सुनाते हैं-(पं०)। अथवा, अर्थ स्वयं जानते हैं पर दूसरोंको प्रसन्न करनेको तोड़-मरोड़कर और अर्थ करके उनको समझा देते हैं।

लिखकर बेचते, अनुष्ठानादि करके धन लेते, ऋषियोंकी वेद-पठन-पाठनकी प्राचीन परम्परागत शैलीको छोड़ लोभवश अन्यथा करते हैं। स्वार्थवश वेदके शब्दोंके अर्थ-अनर्थ करते हैं। (ख) *'द्विज श्रुति बेचक'* कहकर *'भूप प्रजासन'* कहनेका भाव कि ब्राह्मण हरिरूप हैं, यथा—*'प्रभुके बचन बेद बुध संमत मम मूरति महिदेव मई हैं।'* (वि० १३९) वे अपने धर्ममें निष्ठ रहते थे तो राजा भी उनसे डरते रहते थे, वे राजाका शासन करते रहते थे, पर उनकी मति लोभवश हो गयी। यथा—*'तिन्ह की मति रिस राग मोह मद लोभ लालची लील लई है।'* (वि० १३९) अतः राजाको किसीका डर नहीं, विप्र उनकी-सी कहते हैं। राजा प्रजाको लूटनेकी नई-नई कुचालें निकालते हैं—*'राजसमाज कुसाज कोटि कटु कलपत कलुष कुचाल नई है।'* (वि० १३९) विप्र भ्रष्ट अतः राजा भ्रष्ट।

३ *'भूप प्रजासन'* इति। राजाका धर्म है कि प्रजासे बहुत थोड़ा कर ले और उसे उनकी रक्षामें ही लगा दे; पर कलियुगमें राजालोग प्रजाको चूस ही लेते हैं, प्रजाका सर्वस्व ले लेते हैं और फिर भी प्राण भी नहीं छोड़ते, यही प्रजाको खा लेना है। (पं०—जैसे बकरी पालनेवाला उसके दूधसे तृप्ति न देख उसीको खा लेता है।) भाव यह कि प्रजा दे नहीं सकती तब भी उसको अनेक कष्ट देकर उसका खून पिये लेते हैं। ☞ वि० पु० तथा भागवतमें जो कहा है कि राजा लोक प्रजाकी रक्षा न करेंगे। वरन् कर लेनेके बहाने उनका सब धन छीनेंगे। उनकी वृत्ति चोरोंकी-सी प्रजाका धन और स्त्रीके छीननेमें होगी। यथा—**'अरक्षितारो हर्त्तारश्शुल्कव्याजेन पार्थिवाः। हारिणो जनवित्तानां सम्प्राप्ते तु कलौ युगे॥'** (वि० पु० ६ । १ । ३४) **'प्रजा हि लुब्धै राजन्यैर्निर्घृणैर्दस्युधर्मभिः॥ आच्छिन्नदारद्रविणा यास्यन्ति गिरिकाननम्।'** (भा० १२। २ । ८। ९) यह सब भाव *'भूप प्रजासन'* में हैं ही और इससे भी अधिक भाव भरे हैं। एक मात्र जिसमें उनका एवं उनके परिवारका स्वार्थ सधे वैसे ही कानून बनाकर प्रजाको वैदिक-धार्मिक मार्गसे च्युत करेंगे। घोर कलिकाल आये बिना आज ही यह आचरण शासकोंमें देखा जा रहा है। (भा० १२। ३ । ३२)में 'प्रजासन' का 'ठीक ' पर्याय ही **'राजानश्च प्रजाभक्षाः'** आया है। भा० १२ । १ में कलियुगमें कैसे राजा होंगे इसका उल्लेख करते हुए कहा है कि **'असंस्कृताः क्रियाहीना रजसा तमसावृताः। प्रजास्ते भक्षयिष्यन्ति म्लेच्छा राजन्यरूपिणः॥'** (४२) (अर्थात्) परम्परागत संस्काररहित, अपने कर्तव्यका पालन न करनेवाले, रजोगुण और तमोगुणसे भरे हुए लोग राजा होंगे। उन्हें राजा कहना तो अन्याय है, वे राजाओंका रूप धारण करनेवाले म्लेच्छ ही होंगे। वे लूट-खसोटकर अपनी प्रजाका खून ही नहीं चूसेंगे, बल्कि उन्हें जीता चबा जायँगे। राजाका प्रजापालन कैसा चाहिये, कर कैसे लेना और कैसे उसके हितमें लगाना चाहिये, यह दोहावली ५०७—५११ में खूब कहा है—

माली भानु किसान सम नीति निपुन नरपाल। प्रजा भाग बस होहिंगे कबहुँ कबहुँ कलिकाल॥
बरसत हरषत लोक सब करषत लखै न कोइ। तुलसी प्रजा सुभाग ते भूप भानु सो होइ॥
सुधा सुनाज कुनाज फल आम असन सम जानि। सुप्रभु प्रजाहित लेहिं कर सामादिक अनुमानि॥
पाके पकये बिटप दल उत्तम माध्यम नीच। फल नर लहै नरेस त्यों कर बिचारि मन बीच॥
रीझि खीझि गुरु देत सिख सखा सुसाहिब साधु। तोरि खाय फल होइ भल तरु काटे अपराधु॥

४ *'कोउ नहिं मान......'*।—ब्राह्मण, क्षत्रिय दो वर्ण जब अपने धर्मसे च्युत हुए तब अन्य सब अपने-अपने मतानुसार चला ही चाहें। विप्र और भूप श्रुतिपर नहीं चलते तब प्रजा क्यों चलने लगी। श्रेष्ठ लोगोंके सदसदाचरणका प्रभाव सामान्य लोगोंपर पड़ता ही है। यथा—**'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥'** (गीता ३ । २१) वेदज्ञ ब्राह्मण और नीतिज्ञ राजा श्रेष्ठ लोग जैसा आचरण करते हैं अन्य पुरुष भी वैसा ही और उसी प्रमाणमें करता है, संसार उन्हींके पीछे चलता है।

भा० १२। १ में भी कहा है कि *'भूप प्रजासन'* होनेसे प्रजा भी उन्हींके समान शील, आचार और भाव रखकर आपसमें एक-दूसरेको विताड़ित करते हुए नष्ट हो जायगी। यथा—**'तन्नाथास्ते जनपदास्तच्छीलाचारवादिनः। अन्योन्यतो राजभिश्च क्षयं यास्यन्ति पीडिताः॥'** (४३)

५ *'पंडित सोइ जो गाल बजावा'*, यथा—**'पाण्डित्ये चापलं वचः'** (भा० १२ । २। ४) अर्थात् पाण्डित्यके विषयमें वचनकी चपलता ही मुख्य कारण होगी। अर्थात् जो बहुत मिथ्या गप हाँके वही पण्डित समझा जाता है।

करु०—मिथ्यारम्भ अर्थात् मायाके हेतु बल और स्वाङ्ग करते हैं। दम्भ यह कि लोकको दिखानेके लिये अनेक मुद्राएँ साधते हैं।

पं०—मिथ्यारम्भका भाव कि यज्ञ, व्रत आदिमें श्रद्धा तो है नहीं पर झूठ ही उनका आरम्भ कर बैठता है।

रा० प्र०—*'मिथ्यारम्भ'* का भाव कि उनके सब काम मायावी, सेवापूजा सब ठगारी तथा *'ठग ठाकुरसे देखि परे।'* दम्भरत अर्थात् बाहरी ढोंग जिनका बहुत है। *'सब कोई'*=जो उनके फंदेमें फँसे हैं वह।

नोट—६ *'मिथ्यारम्भ……'* इति। ☞ सारांश यह कि कोई धर्मका कार्य, जैसे कि लाइब्रेरी, विद्यालय, पाठशाला, गरीबोंका अस्पताल, धर्मशाला, मंदिर इत्यादि छेड़ देते हैं पर वस्तुतः उसके नामपर लोगोंसे धन ठगनेका मनमें अभिप्राय रहता है, उस कार्यको पूरा करनेका नहीं; क्योंकि उनमें उनकी श्रद्धा नहीं है।

सोइ सयान जो पर धन हारी। जो कर दंभ सो बड़ आचारी॥५॥
जो कह झूठ मसखरी जाना। कलियुग सोइ गुनवंत बखाना॥६॥
निराचार जो श्रुतिपथ त्यागी। कलियुग सोइ ज्ञानी सो बिरागी॥७॥
जाके नख अरु जटा बिसाला। सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला॥८॥

शब्दार्थ—**आचारी**=शुद्ध आचरण या चालढालवाला; चरित्रवान्, आचार-विचार वा पवित्रतासे रहनेवाला, **मसखरी**=दिल्लगी, हँसी।

अर्थ—जो पराया धन हरण करे वही सयाना, जो दम्भ करे वही बड़ा आचारी, जो झूठ बोले और उसे हँसी-दिल्लगी समझे कलियुगमें वही गुणवान् कहा जाता है॥ ५-६॥ जो शुद्धाचरण, सदाचार वा आचार-विचाररहित हैं और वेदमार्गका त्याग किये हैं वही कलियुगमें ज्ञानी और वैरागी कहलाते हैं॥ ७॥ जिसके बड़े-बड़े नाखून और बड़ी-बड़ी जटाएँ हों कलिकालमें वही तपस्वी नामसे प्रसिद्ध है॥ ८॥

वै०—*'झूठ मसखरी जाना।'* अर्थात् एक बात बनानेके लिये अनेकों झूठी बातें कहते हैं। जो मसखरी अर्थात् भाड़ोंकी-सी नकल करना जानते हैं अर्थात् भली बातमें भी हासवर्धक झूठी तर्कणा कर लोगोंको खुश करते हैं, वे ही गुणवान् कहे जाते हैं। भाव कि सत्य, शील, दया आदिको कोई पूछता ही नहीं, मसखरीके सभी ग्राहक हैं। २—*'सोइ तापस'*=तपस्वीके कर्तव्यसे प्रयोजन नहीं वेषमात्रसे तपस्वी कहलाते हैं।

नोट—भा० १२ के **'अनाढ्यतैवासाधुत्वे साधुत्वे दम्भ एव तु।'** (२। ५) **'वित्तमेव कलौ नृणां जन्माचारगुणोदयः॥'** (२। २) के भाव चौ० (४-५) में हैं। अर्थात् 'कलियुगमें निर्धनता ही असाधुत्वका कारण और सधनता ही साधुत्वका कारण होगी अर्थात् निर्धन बेचारे असाधु और धनवान् साधु और महापुरुष कहे जायँगे।' 'कलियुगमें धन ही मनुष्योंके (जन्म) उच्चकुलमें उत्पत्ति, सदाचार-गुणोदयका कारण होगा। अर्थात् चाहे जैसे न्याय-अन्यायसे उपार्जित धनवाले ही जन कलियुगमें सदाचारी, गुणी, कुलीन-महोदय कहे जायँगे।'

रा० प्र०—*'जो कह झूठ मसखरी जाना'*=झूठ बातें और मसखरी करना जाने वा झूठ कहे और मसखरी करना जाने।

पं०—*श्रुतिपथ त्यागी।* —भाव कि चाहिये तो था कि वेदके अनुसार विषयरसका त्याग करता सो न करके प्रत्युत कर्म, उपासना, ज्ञान जो वेदमार्ग है उसीको त्याग बैठे। (श्रुतिपथ—कर्म-उपासना-ज्ञान। काण्डत्रय)।

नोट—२ *'सोइ ज्ञानी सो बिरागी'* का भाव कि ज्ञानीका लक्षण ज्ञानवन्त होना, संसारके विषयोंसे अलिप्त होना, ब्रह्मनिष्ठ होना इत्यादि जो वेदोंमें है वह इनमें नहीं है। सदाचाररहित होना, दुराचार-सदाचार विचाररहित होना यही *'ज्ञानी'* का लक्षण कलिमें माना जाने लगा। विषयोंका त्याग जो वैरागीका लक्षण श्रुतियोंमें है वह इनमें नहीं है। वेदमार्गका ही त्याग कर देना यह लक्षण जिसमें हो वह वैरागी माना जाता है। भाव कि वे कहते हैं कि भगवान् कहते हैं कि **'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।'** (गीता २ । ४५) अर्थात् ये त्रिगुणात्मक

हैं, वैरागीको त्रिगुणका भी त्याग करना उचित है। यथा—'*कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥*' (आ० १५। ८) अतः वेदमार्गका भी त्याग करनेसे ही वैरागी हो सकता है।

३ '*सोइ तापस*' का भाव कि वेषमात्र तपस्वीका रह गया, तपस्याका नाम भी नहीं। '*प्रसिद्ध*' का भाव कि जो सच्चे तपस्वी हैं उनको कोई जानता ही नहीं, न उन्हें कोई तपस्वी कहे।

दो०—असुभ बेष भूषन धरें भक्षाभक्ष जे खाहिं।
तेइ जोगी तेइ सिद्ध नर पूज्य ते कलिजुग माहिं॥
सो०—जे अपकारी चार तिन्ह कर गौरव मान्य तेइ।
मन क्रम बचन लबार तेइ बकता कलिकाल महुँ॥ ९८॥

शब्दार्थ—चार=आचरण, व्यवहार, चाल। दूत, नौकर—'*चार चले तिरहूत।*'

अर्थ—जो अमंगल वेष और अमंगल आभूषण धारण करें, जो भक्ष्याभक्ष्य (अर्थात् जो खानेके योग्य है एवं जो खानेयोग्य नहीं वह सब जैसे मद्यमांस, मल, मूत्रादि) खाते हैं वे ही योगी और वे ही सिद्ध पुरुष हैं और उन्हींकी कलियुगमें मान्यप्रतिष्ठा है; वे ही पूजनीय माने जाते हैं। जो '*अपकारी चार*' हैं* उनका बड़ा गौरव (महत्त्व, गुरुता, बड़प्पन) है और वे ही प्रतिष्ठायोग्य माने जाते हैं। जो मन, कर्म और वचनसे लपाड़िये (झूठे और डींग मारनेवाले तथा गपोड़िये) हैं वे ही प्रतिष्ठायोग्य माने जाते हैं। जो मन कर्म और वचनसे लपाड़िये (झूठे और डींग मारनेवाले तथा गपोड़िये) हैं वे ही कलिकालमें वक्ता कहे जाते हैं॥ ९८॥

नोट—१ '*असुभ बेष*……*खाहिं*' से अघोरपंथी जनाया। मुंडमाला, हड्डी आदिक शरीरपर धारण किये, चिताकी भस्म रमाये, इत्यादि अशुभ वेष है, यथा—'*असुभ बेष कृत सिव सुखद*' (८८), '*मन क्रम बचन लबार ते बक्ता।*' जैसे कि आज आर्यसमाजी, कल सनातनधर्मी, परसों राधास्वामी इत्यादि। अपना तो किसीमें विश्वास नहीं, बुद्धिविलाससे जिसमें ही धनप्राप्तिकी गुंजाइश देखी उसीमें पहुँच गये, व्याख्यान देने लगे, अनेक संस्कृतके कपोलकल्पित ग्रन्थ रच दिये; अथवा उनके मतके साधनके लिये प्राचीन ग्रन्थोंमें श्लोक गढ़कर रख दिये। इस तरह मनसे झूठे, वचनके झूठे और कर्मके झूठे हैं। मनमें कुछ, वचनमें कुछ, कर्ममें कुछ। [वै०—'*तेइ बक्ता*' का भाव कि झूठे किस्से कहकर जो लोगोंको रिझाते हैं उनकी कथाकी लोग प्रशंसा करते हैं और सत्य कहनेवाले विद्वानोंकी कथा कोई पूछता ही नहीं।]

नारि बिबस नर सकल गोसाईं। नाचहिं नट मर्कट की नाईं॥ १॥
सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना॥ २॥
सब नर काम लोभ रत क्रोधी। देव बिप्र श्रुति संत बिरोधी॥ ३॥

अर्थ—हे स्वामिन्! सब मनुष्य स्त्रियोंके पूरे वश होकर नटके बंदरकी तरह नाचते हैं। (अर्थात् जैसे नटके छड़ीके इशारे बंदर नाचता है वैसे ही स्त्रीके विवश होनेसे जैसा नाच वह नचाती है वैसा नाचना पड़ता है, जैसे वह पशु कुछ कर नहीं सकता वैसे ही ये पशुवत् लाचार हैं)॥ १॥ ब्राह्मणोंको शूद्र ज्ञानोपदेश करते हैं और जनेऊ डालकर (पहनकर) कुत्सित दान लेते हैं॥ २॥ सब मनुष्य काम, लोभ और क्रोधमें तत्पर और देवता, ब्राह्मण, वेद और संतके विरोधी होते हैं॥ ३॥

नोट—१ '*नारि बिबस*—*नट मर्कट की नाईं*' इति। भा० (३। ३१। ३४) में इसीको '**योषित्क्रीडामृगेषु॥**' (३४)

* १ रा० प्र०—'चार'=चुगल। गुप्त मर्म खोलनेवाला, 'पिशुन'। २ रा० प्र०—'जिनकी बुद्धि असदहीमें चरै' (विचरै)। ३ पं०—अपकारीचार-यंत्रमंत्रादिसे लोगोंको अपकार करनेमें प्रवृत्त करनेवाले॥ ४ चार=नौकर, दूत। अर्थात् ऐसे नौकर जो अपने स्वामीका अपकार करनेमें तत्पर रहते हैं उनका मान्य गौरव है।—(गौड़जी)

कहा है। पुरुष स्त्रियोंकी क्रीड़ाके पशु हो रहे हैं। पर *'नट मर्कट'* में इससे विशेषता है। विशेष (४। ७। २४) *'नट मरकट इव सबहि नचावत'* में देखिये।

रा० प्र०—*'गोसाईं'* का भाव कि वे हैं तो इन्द्रियोंके स्वामी पर नाचते हैं कलंदरके बंदरके समान। आशय कि द्विपद होते हुए चतुष्पद पशुओंकी-सी चाल चलते हैं।

नोट—२ (क) ऊपर जो कहा था कि *'बरन धरम नहि'* वह यहाँ दिखाते हैं कि शूद्र ब्राह्मण, क्षत्रिय-वैश्यको ज्ञानोपदेश करते हैं। उपदेश धर्म है द्विजका, सो धर्म शूद्रोंने ग्रहण कर लिया। (ख) *'मेलि जनेऊ'* का भाव कि कोई उनका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं करता तो वे स्वयं ही गलेमें जनेऊ डालकर द्विज बन बैठते हैं। शूद्र ज्ञानोपदेश करते हैं, यह कहकर उसके साथ *'मेलि जनेऊ'* कहकर ध्वनित करते हैं कि यज्ञोपवीत ही विप्रत्वका चिह्न समझा जाने लगा, इसीसे आचाररहित शूद्रादि भी जनेऊ पहनकर अपनेको ब्राह्मण मानकर चारों वर्णोंको उपदेश देनेका साहस करने लगे और दान-दक्षिणा लेनेमें निस्संकोच हो गये। (ग) *कुदाना*=वह दान जो लेनेवालेके लिये बुरा माना जाता है, जैसे शय्यादान, गजदान इत्यादि। ब्राह्मण भी ऐसे दान नहीं लेते।

पं०—'**सूद्र द्विजन्ह**—' का भाव कि वे वैरागी, संन्यासी बनकर ब्राह्मणोंको शिष्य करते, ज्ञान सिखाते, यज्ञोपवीत पहिराते हैं और उनसे पूजा लेते हैं। कुदान इससे कहा कि अधिकारका विचार नहीं करते, अथवा उनकी क्रिया नहीं देखते कि उन्होंने धनका किस भाँति उपार्जन किया है।

नोट—३ *'सब नर काम लोभ रत क्रोधी।'* यथा—*'नारि बिबस नर सकल गोसाईं'* यह काम, *'लोभ ग्रसे सुभ कर्म'* यह लोभ, *'बरन धरम नहिं'* और *'श्रुति संत बिरोधी'* यह क्रोध। यह कहकर उनको नरकगामी जनाया क्योंकि ये *'नरक के पंथ'* माने गये हैं। सुं० दोहा ३८ देखिये।

गुनमंदिर सुंदर पति त्यागी। भजहिं नारि पर पुरुष अभागी॥ ४॥
सौभागिनी बिभूषन हीना। बिधवन्ह के सिंगार नवीना॥ ५॥

अर्थ—सुन्दर गुणोंका धाम और सुन्दर रूपवाला पति छोड़कर अभागिनी स्त्रियाँ पराये पुरुषको भजती अर्थात् मन, वचन-कर्मसे उनमें रति करती हैं*॥ ४॥ सुहागिनी स्त्रियाँ तो आभूषणरहित होती हैं और विधवाओंके नित्य नये शृङ्गार होते हैं॥ ५॥

नोट—(क) *'गुनमंदिर सुंदर पति त्यागी'* का भाव कि *'बृद्ध रोगबस' 'अंधबधिर'* ऐसे पतिका भी त्याग अनुचित है और यह तो सर्वगुणसंपन्न और सुन्दर है तब तो त्याग महा अयोग्य है। (ख) *'भजहिं'* से अत्यन्त अनुरक्त जनाया। भजनपदसे अपने इष्टदेवकी तरह उनकी सेवा जनायी। (ग) पतिके त्याग एवं परपुरुषमें अनुरक्त होनेसे तथा पतिसेवारूपी परमगति प्राप्ति-साधन छोड़ नरक-साधन करनेसे आगे फिर विधवा होगी यह भय नहीं है—*'बिधवा होइ पाइ तरुनाई'* इसीसे अभागी कहा। पतिके अपमानमात्रसे अनेक नरक भोगने पड़ते हैं और यह तो परपतिरत है एवं पतिका त्याग ही कर चुकी है तब इसके दुर्भाग्यकी क्या कही जाय? यथा—*'ऐसेहु पति कर किय अपमाना। नारि पाव जमपुर दुख नाना॥', 'पतिबंचक परपति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई॥'*—विशेष अर० ५ (१६-१९) देखो।

☞*'गुनमंदिर सुंदर पति'* का त्याग कहकर जनाया कि जिसको भजती है वह न तो गुणवान् ही है और न सुन्दर, फिर भी उससे प्रेम करती है। इससे दो बातें और जनायीं। एक तो यह कि पति धनी नहीं है, उसकी नित्यकी माँगको पूरी नहीं कर सकता; अतः वह धनीसे प्रेम करती है। दूसरे, उसमें काम प्रबल है, उसकी इच्छानुसार पति उसे रति नहीं दे सकता। अतः वह परपुरुषको भजती है जो दुश्चरित्र है, कामी है और परतियगामी है। गुणवान् सुन्दर पतिके त्यागसे जनाया कि कलियुगमें स्त्री और पुरुषकी उत्तमता आचार आदिसे नहीं वरं रति करनेमें कुशलतासे मानी जायगी।—'**स्त्रीत्वे पुंस्त्वे च हि रतिः।**' (भा० १२। २। ३) *'गुन मंदिर—'* में

* भर्ता यद्यपि नीतिशास्त्रनिपुणो विद्वान् कुलीनो युवा दाता कर्णसमः प्रसिद्धविभवः शृङ्गारदीक्षागुरुः। स्वप्राणाधिककल्पिता स्ववनिता स्नेहेन संलालिता तं कान्तं प्रविहाय सैव युवती जारं 'पतिं' वाञ्छति॥ सु० भा० स्त्रीस्वभाव।

वि० पु० के **'परित्यक्ष्यन्ति भर्त्तारं वित्तहीनं तथा स्त्रियः॥'** (६। १। १८) **'दुःशीला दुष्टशीलेषु कुर्वन्त्यस्ससततं स्पृहाम्। असद्वृत्ता भविष्यन्ति पुरुषेषु कुलाङ्गनाः॥'** (३१) का भाव आ गया।

प० प० प्र०—*'मंदिर'* शब्दके प्रयोगके सम्बन्धमें कतिपय बार लिखा जा चुका है। 'गुणमंदिर' शब्द दो बार श्रीरामजीके लिये, एक बार लव-कुशके लिये (हरि प्रतिबिंब होनेसे) और एक बार रामभक्तोंके लिये (रामरूप होनेसे) प्रयुक्त हो चुका है। यथा *'गुनमंदिर सुखपुंजा॥'* (१। १८६। ४ छंद) *'अगुन सगुन गुनमंदिर सुंदर॥'* (६। ११४। छंद) *'दोउ बिजई बिनई गुनमंदिर॥'* (२५। ४) *'ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुनमंदिर सुखपुंज॥'* (३८) और यहाँ पतिके लिये प्रयुक्त हुआ है। क्योंकि स्त्रीके लिये उसका पति ही देवता है—*'नारि धरम पतिदेव न दूजा।'* *'मंदिर'* शब्दमात्रसे जना दिया कि जिस पतिको रामरूप जानकर उसकी सेवा करना चाहिये उसका ही वह त्याग करती है।

नोट—२ *'सौभागिनी बिभूषनहीना।'* भाव कि—(क) सुहागिनियोंको षोडश शृङ्गारयुक्त होना चाहिये और विधवाको शृङ्गारका त्याग करना चाहिये, पर कलिमें इसके विपरीत देख पड़ता है। पुनः, (ख) सुहागिनी गरीब हैं अतः उनके पास भूषण नहीं और विधवाएँ परपतिरतिसे धनी हैं एवं परपुरुषोंके रिझानेके लिये अनेक शृङ्गार करती हैं। इससे विधवाओंका व्यभिचारिणी होना कहा है। पुनः, (ग) पहले दो चरणोंमें स्त्रीका परपतिरत होना कहा, अब पुरुषोंका परस्त्रियोंमें प्रेम कहते हैं। विधवामें प्रेम हो गया अतः घरवालीका सब भूषण लेकर वे उसे दे देते हैं जिससे घरवाली सती नंगी रह गयी।

वै०—*'सौभागिनी बिभूषन हीना'* का भाव कि पतिको आनन्द देना तो कुछ समझती ही नहीं, अतः जो विशेष भूषण-वसन हैं उनको बाँधकर धर देती हैं, जब मेला देखने वा सम्बन्धी, मित्र, बन्धु आदिके घर निमन्त्रणमें गयीं तब परपुरुषोंको दिखानेके लिये उबटन-तेल-स्नानादि कर विशेष भूषण पहिन षोडशशृङ्गार करके जाती हैं। विधवाएँ सदा शृङ्गार किये रहती हैं, नहीं तो उन्हें कौन पूँछे।

पं०—'ऐसा होता था तो क्या उस समय गुरु जीवोंको उपदेश न किया करते थे। उसपर आगे कहते हैं कि गुरु थे पर *'गुर सिष बधिर अंध।'*

गुर सिष बधिर अंध कर* लेखा। एक न सुनै एक नहिं देखा॥ ६॥
हरै सिष्य धन सोक न हरई। सो गुर घोर नरक महँ परई॥ ७॥
मातु पिता बालकन्हि बोलावहिं। उदर भरै सोइ धर्म सिखावहिं॥ ८॥

अर्थ—गुरु और शिष्यका अन्धे और बहिरेका-सा लेखा (हिसाब) है। एक (शिष्य) सुनता नहीं, दूसरा (गुरु) देखता नहीं॥ ६॥ जो गुरु शिष्यका धन हरण करता है और उसका शोक नहीं हरण करता वह घोर नरकमें पड़ता है॥ ७॥ माता-पिता बालकोंको बुलाते हैं और जिससे पेट भरे वही धर्म सिखाते हैं॥ ८॥

खर्रा—*'गुर सिष……।'* अर्थात् दोनों ही ज्ञानभ्रष्ट हो गये।

करु०, वै०—*'अंध बधिर कर लेखा।'* गुरु और शिष्यका अन्धे-बहिरेका लेखा है, क्योंकि गुरु तो उपदेश देता है पर शिष्य सुनता ही नहीं और विषयोंमें आसक्त रहता है। जब गुरुका उपदेश ही नहीं सुनता तब परमार्थ-पथकी बात कौन सुने? गुरु अन्धे कि गुण-अवगुण देखे बिना ऐसे विषयीको शिष्य कर लेते हैं।—इसपर कहते हैं कि गुण-अवगुण कौन देखे? गुरु तो स्वार्थवश अन्धे हैं, उन्हें कान फूँक पूजा लेनेसे काम, यह भी उससे न कहेंगे कि पाँच माला मन्त्रजप अवश्य करना, इत्यादि। [रा० प्र०—भाव कि परमार्थ त्याग स्वार्थ साधक हो गये]

रा० शं०—१ गुरु बहिरे हैं, चेला जो प्रश्न करता है उसको नहीं सुनते क्योंकि गुरु अनुभवज्ञानहीन है और चेला तो नेत्रहीन है ही। वह गुरुशरणमें आया कि *'उघरहिं बिमल बिलोचन ही के'* पर गुरुजी उसका संशयरूपी शोक नहीं हरते किंतु धन हरकर उसको शारीरिक शोक भी देते हैं।

* 'का'—भा० दा० ('र' पर हरताल देकर)। कर—(रा० गु० द्वि०)।

वै०—*'हरै सिष्य धन——'* इति। गुरुको चाहिये कि खूब विचारकर तब शिष्य करे फिर जबतक वह भजन ध्यानमें परिपक्क न हो जाय तबतक उसे पास रखे, जाने न दे। इस प्रकार उसका शोक हरना चाहिये। सो न करके पूजा लेनेके लिये अनेक उपदेश माहात्म्यके सुनाते हैं। इसपर भी दाल न गली तो उसे धर्म-संकटमें डालते हैं। यदि उसपर भी कार्य सिद्ध न हुआ तो कोपकर उसका अपमान करते हैं—इत्यादि रीतिसे धन हर लेते हैं। गुरु ही नरकको गये तब शिष्योंकी कौन कहे? *'बालकन्हि बोलावहिं'* का भाव कि वह सत्सङ्गमें हुआ तो समझते हैं कि वह बिगड़ जायगा तो उसको वहाँसे बुला लेते हैं और सिखाते हैं कि साधुसङ्गसे तू भी भिक्षुक हो जायगा।

प०—*'बालकन्हि——'* का भाव कि बाल्यावस्थामें विद्या पढ़ाना, सत्सङ्गमें प्रीति कराना तो दूर रहा उसी अवस्थासे उदरपोषणके कर्म सिखाते हैं।

रा० प्र०—*'बोलावहिं'* अर्थात् जबसे वह बोलने लगा तबसे उससे यही *'बोलावैं'* कि *'उदर भरै।'*

नोट—भाव यह है कि यदि इस अवस्थामें भक्ति वा परमार्थ बीज बो दिया जाय तो आगे वह अवश्य फलदायक हो-*'लरिकाई को पैरिबो तुलसी बिसरि न जाय'* सो न करके उदरपोषणवाली विद्या पढ़ाते हैं जिससे फिर वह जन्म-जन्मान्तरमें भी संसार न छोड़ सके और नरकमें पड़े—*'नरक प्रद उदर भरउ॥'* (वि० १४१)—विशेष ४७ (४-६) में देखिये।

'सोइ धर्म' का भाव कि वे इसीको मनुष्यका परम पुरुषार्थ, परम स्वार्थ बताते हैं; यही बालकोंका परम धर्म है ऐसा मानते और सिखाते हैं॥ भा० (१२। २। ६) के **'उदरं भरिता स्वार्थः।'** का भाव इन शब्दोंसे जना दिया।

वि० त्रि०—बच्चे अबोध होते हैं। (यथा *'बालक ज्ञान बुद्धि बल हीना'।*) उनके ऊपर कहीं निवृत्तिमूलक धर्मका प्रभाव न डाल दें, इस भयसे बालकके न पूछनेपर भी, उसे बुलाकर शिक्षा देते हैं कि तत्त्वकी बात तुम्हें बतलाता हूँ। **'धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयति प्रजाः।'** सबका धारण भोजनसे होता है। अतः जिससे पेट भरे वही धर्म है। **'शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्।'** धर्मकी अन्य प्रकारकी परिभाषा करनेवालेके फेरमें न पड़ना।

दो०—ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि लोभबस करहि बिप्र गुर घात॥
बादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह ते कछु घाटि।
जानै ब्रह्म सो बिप्रबर आँखि देखावहिं डाटि॥ ९९॥

अर्थ—स्त्री-पुरुष ब्रह्मज्ञानके सिवा दूसरी बात ही नहीं कहते और लोभवश कौड़ीके लिये (अत्यन्त लघु लालचवश) विप्र और गुरुकी हत्या करते हैं। शूद्र द्विजोंसे कहते हैं 'क्या हम तुमसे कुछ घटे हुए (कम) हैं?' और डाँटकर आँख दिखाते हैं (अर्थात् घुरेरते-घुड़कते-धमकाते हैं) कि जो ब्रह्म जाने वही श्रेष्ठ विप्र है॥ ९९॥

वै०—*'ब्रह्मज्ञान बिनु——'* अर्थात् धर्म क्रियामें तो परिश्रम है और विधिनिषेधका विचार करना पड़े इससे कर्म और उपासनाकी तो बात भी नहीं करते और ज्ञानवार्ता सुगम है। अतः सब उसीको कहते हैं। यथा—**'वाक्योच्चार्य समुत्साहात् तत्कर्मकर्तुमक्षमाः। कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव।'**

रा० प्र०—१ *'कहहिं न दूसरि बात।'* भाव कि जैसे बनौवा आचरण-वेष है वैसी ही बोली भी है। वर्णाश्रमधर्म-भेद उठा दिये, खानपानके सम्बन्धमें स्वतन्त्र हो गये, इत्यादि करके कहते हैं कि ब्रह्मज्ञानी होनेपर फिर कौन रुकावट? और सिद्धान्तके वचन भी पढ़ सुनाते हैं, वेदोक्त कर्म उपासना ज्ञानपर अनेक कुतर्क कर लोगोंको बहकाते हैं।

'कौड़ी लागि' का भाव कि इतनी छोटी हानि भी नहीं सह सकते, इसके लिये 'महापातक' करते हैं। विप्र-गुरु अवध्य हैं सो उनका वध करते हैं।

वै०—*'करहिं बिप्र गुर घात'* कहकर जनाया कि उनका ज्ञान राक्षसी वा दुष्ट ज्ञान है; जैसे रावणने पुत्रोंको मरवाकर स्त्रियोंको और पुत्रोंको मारकर कंसने देवकी-वसुदेवको ज्ञान सिखाया—*'नश्वर रूप जगत सब देखहु हृदय बिचारि।'* (६। ७६)

पां०—*'कौड़ी लागि……।'* मुँहसे ब्रह्मज्ञान छाँटते हैं (और लोभ ऐसा है कि एक) कौड़ी गुरु या ब्राह्मणके पेटमें भी हो तो उसे निकाल लें।

नोट—मिलान कीजिये—'**कलौ काकिणिकेऽप्यर्थे विगृह्य त्यक्तसौहृदाः। त्यक्ष्यन्ति च प्रियान्प्राणान्हनिष्यन्ति स्वकानपि॥**' (भा० १२। ३। ४१) अर्थात् कलियुगमें बीस संख्यामात्र कौड़ियोंके लिये विरोध करके लोग प्रेमरहित बन माता-पिता, भाई, गुरु आदि स्वजनोंको मार डालेंगे और अपने प्रिय प्राण भी खो देंगे।

वै०—*'आँखि देखावहिं डाटि।'* भाव कि जब ब्राह्मण अपने कर्ममें निष्ठ रहनेसे शापादि देनेमें समर्थ होते थे तब सब वर्ण उनसे डरते थे। कलिके ब्राह्मण, नित्यक्रिया तो दूर रही, गायत्रीतक नहीं जानते, यज्ञोपवीतमात्रसे ब्राह्मण बने बैठे हैं, इसीसे शूद्र आँख दिखाते हैं। क्षत्रिय और वैश्यको न कहा क्योंकि ऊँचे वर्ण शान्त होते हैं, वे विप्रका दबाव मान मुलाहजा कर जाते हैं। शूद्र बेमुरव्वत होते हैं।

रा० प्र०—*'बादहिं सूद्र……'* इति। *बादहिं*=लड़ते हैं, विकत्थन करते हैं। *'जानै ब्रह्म सो बिप्रबर'* यह प्रमाण पढ़कर तथा युक्तिसे भी अपने अनुकूल कल्पना करके दबाते हैं।

नोट—*'हम तुम्ह ते कछु घाटि।'* भाव कि ब्राह्मण वही है जो ब्रह्मको जाने। यथा—'……**य एतदक्षरं गार्गि विदित्वास्माल्लोकात् प्रति स ब्राह्मणः।**' (बृह० ३। ८। १०) (अर्थात् हे गार्गि! जो इस अक्षरको जानकर इस लोकसे मरकर जाता है, वह ब्राह्मण है)। हमें ब्रह्मज्ञान है, अतः हम ब्राह्मण हैं, तुम्हें ज्ञान नहीं अतः तुम ब्राह्मण कहाँ? इतना कहनेपर यदि वह कुछ और उत्तर देता है तो आँख लाल-पीली कर उसे डाँट देते, दुतकार देते हैं।—(करु०)

रा० प्र०—*'आँखि देखावहिं डाटि'*—जैसे बाघ-बिल्ली आदि अपने खानेके हेतु डरवाकर अचेत कर स्वयं खा लेते हैं।

दोहेका भाव यह है कि प्रमाण पढ़कर अपमान करते हैं। *'कछु घाटि'* अर्थात् हम बढ़कर हैं तुम द्विज हम ब्राह्मण विप्रवर। *'आँखि देखावहिं……'* का भाव कि न मानोगे तो दण्ड पाओगे, डंडेसे खबर ली जायगी।—आशय कि उनका धर्मपर ध्यान न रह गया। *'सोचिय सूद्र बिप्र अवमानी। मुखर मानप्रिय ज्ञान गुमानी॥'* (२। १७२। ६) के सब भाव यहाँ दिखाये।

नोट—वि० पु० में भी कलिधर्ममें कहा है *'समान पौरुष चेतो भावि विप्रषु वै कलौ।'* (६। १। २३) (अर्थात्) कलिमें ब्राह्मणोंके साथ शूद्रादि समानताका दावा करेंगे। मानसमें उसीको विस्तारसे स्पष्ट करके कहा है।

पर त्रिय लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने॥ १॥
तेइ अभेदबादी ग्यानी नर। देखा मैं चरित्र कलिजुग कर॥ २॥
आपु गए अरु तिन्हहू* घालहिं। जे कहुँ सतमारग प्रतिपालहिं॥ ३॥

अर्थ—जो परस्त्रीमें लिप्त (रत), कपट-चतुर, मोह-द्रोह-ममतामें लपटे हुए हैं वे ही मनुष्य अभेदवादी ज्ञानी हैं—यह चरित्र मैंने (उस) कलियुगका देखा॥ १-२॥ आप तो गये-गुजरे (नष्ट) हुए ही हैं और जो कहीं, कोई सन्मार्गका प्रतिपालन करते हैं तो उनको भी वे नष्ट करते हैं॥ ३॥

वै०—*'सयाने'* का भाव कि इन कामोंमें ऐसे प्रवीण हैं कि कोई उनका कपट आदि भाँप नहीं सकता, उनको पकड़ना तो दूर है।

* औरनि—पाठान्तर।

रा० प्र०—१ *'मोह द्रोह ममता लपटाने।'* भाव कि परधनमें मोह है, द्रोहसे परहानिमें तत्पर हैं, देहगेह आदिमें ममता है, दूसरोंके धन, घर, स्त्री आदिको भी अपना ही मान लिया है। *'लपटाने'* जैसे वृक्षमें लता, देहमें कीचड़ादि इस प्रकार। २—*'सयाने'* कहकर *'अभेदबादी'* कहनेमें भाव कि पहले तो कपटचातुरीके कारण कोई लख ही नहीं सकता, कदाचित् किसीने लख लिया तो अभेदवादी ज्ञानी बन गये कि हमारी दृष्टिमें तो सब आप-ही-आप, ब्रह्म ही हैं, यहाँ अपना-पराया भेद कहाँ।

पं०—*'तेइ अभेदबादी'* का भाव कि परधन-दारामें लंपट होनेसे यदि कोई उन्हें सदुपदेश दे कि ये बातें सज्जनोंके योग्य नहीं तो वे कहते हैं कि तुमको अपना-पराया सूझता है, हम सबको आत्मा जानते हैं।

नोट—१ (क) *'ब्रह्मज्ञान'* जो ऊपर कहा उसीको यहाँ *'अभेदबादी ज्ञानी'* से और स्पष्ट किया। यह कहकर कि नर-नारि सब ब्रह्मज्ञानकी ही बात करते हैं, अब यह बताते हैं कि कलिमें कौन लोग अभेदवादी होते हैं; उनके आचरण कैसे होते हैं? फिर उनकी घोर गति कहते हैं कि लोक-परलोक दोनों उनका नष्ट होता है। 'अभेदवाद'—*'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा'* यही अभेदवाद है। इसीको निर्गुण मत एवं ब्रह्मवाद कहते हैं। (ख) *'देखा मैं'* अर्थात् मैं किसीसे सुनी या ग्रन्थोंमें पढ़ी हुई नहीं कहता, यह सब चरित्र मैंने आँखों देखा है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण कह रहा हूँ। (ग) *'कहुँ'* का भाव कि कलिमें सन्मार्गपर चलनेवाला कहाँ, कहीं-कहीं ही एक-दो देखनेमें आते हैं सो वे भी इनके मारे सन्मार्गपर नहीं चलने पाते। (घ) *'औरनि घालहिं'* पाठका अर्थ खर्रामें इस प्रकार है कि—जो श्रुतिमार्ग प्रतिपालन करते हैं उनसे वे कहते हैं कि 'आप तो गये ही हैं दूसरोंको भी नष्ट करते हैं'—(करु०)। *'तिन्हहूँ घालहिं जे कहुँ—'* अर्थात् भक्ति आदि करनेवालोंसे कहकर कि क्या तुम कर्मकीचमें पड़ते हो, क्या उच्च ब्रह्मपदसे गिरकर सेवक बन रहे हो उनसे भी कुतर्कणा कर सन्मार्ग छुड़ा देते हैं। इस तरह अपने रङ्गमें लाकर उनका भी नाश करते हैं।

कल्प कल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका॥ ४॥
जे बर्नाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥ ५॥
नारि मुई गृह संपति नासी। मूड़ मुड़ाइ होहिं संन्यासी॥ ६॥

अर्थ—वे लोग कल्प-कल्पभर एक-एक नरकमें पड़ते हैं जो तर्क करके वेदोंमें दूषण लगाते हैं॥ ४॥ तेली, कुम्हार, स्वपच, भील वा बहेलिये, कोल और कलवार जो वर्णोंमें अधम हैं वे स्त्रीके मरने वा घरकी धनादि सम्पत्ति नाश कर चुकनेपर सिर मुड़ाकर संन्यासी होते हैं॥ ५-६॥

वै०—*'दूषहिं श्रुति करि तरका'* अर्थात् वेदने जो जीवोद्धारके पाँच उपाय—कर्म, ज्ञान, भक्ति, प्रपन्नता, कृपाबल आदि बताये हैं उनमें दोष लगाते हैं; जैसे कि कर्म बन्धन है, कथामें ब्याह युद्धादि सुननेसे क्या? पत्थर पूजनेसे क्या? होम-तर्पण-तीर्थाटनादिसे क्या?

पं०—१ *'कल्प……।'* अर्थात् वे कहते हैं कि नरक-स्वर्ग किसीने देखे हैं, ऋषियोंने त्रास देनेके लिये ये वाक्य वेदोंमें धर दिये हैं इत्यादि, कुतर्ककर श्रुतियोंको दूषण देते हैं। २—*'जे बर्नाधम……'* इति। वेदोंने विप्रों और तीव्र वैरागियोंको ही संन्यास धारणकी आज्ञा दी है पर कलिमें तेली, कुम्हारादि संन्यासी बन बैठते हैं। ३—*'नारि मुई……'* से जनाया कि वे वैराग्यके कारण भी संन्यासी नहीं होते, अपने दुराचारोंसे सर्वस्व नाश कर बैठे, कुछ पास न रह गया। पेट कैसे पालें, बस संन्यासी हो गये।—[*'मूड़ मुड़ाइ'* का भाव कि इतने ही मात्रसे वे संन्यासी हैं और कोई बात संन्यासीकी उनमें नहीं है। इससे दिखाया कि कलिमें संन्यासी बन जाना केवल पैसा-दो-पैसासे ही बन जाता है जिससे मूँड़ मुँड़ जाय। संन्यासी बनना इतना सहल हो गया।]

वि० त्रि०—संन्यासका मुख्य अधिकार ब्राह्मणका ही है। क्षत्रिय, वैश्य भी वैराग्य होनेपर संन्यास ले सकते हैं। पर लिङ्ग धारण नहीं कर सकते। जिस भाँति शिखा, यज्ञोपवीत ग्रहण करनेका विधान है, उसी भाँति उसके त्यागनेका भी विधान है। संन्यासीको केवल भिक्षा, कौपीनका अधिकार है। पूजा प्राप्त करनेका

अधिकार नहीं है। सो कलियुगमें अधम वर्ग दरिद्रताके कारण संन्यास लेंगे। विधान कुछ भी नहीं, केवल सिर मुड़ा लेंगे और तब ब्राह्मणोंसे पूजा प्राप्त करनेके लिये अग्रसर होंगे। उन्हें लोक-परलोकका डर न होगा।

करु०—'*बर्नाधम तेलि कुम्हारा*......' ये चार वर्णोंके 'बाह्य' होनेसे अधम हैं।

रा० शं०—अभेदवादियोंकी प्रथमावस्था कहते हैं कि वे जन्म, कर्म दोनोंसे अधम थे ही; अब और भी अधम बन गये। '*नारि मुई*......' में भाव कि विषयभोगकी सामग्री न रह जानेसे संन्यासी हुए, वैराग्यसे नहीं।

ते बिप्रन्ह सन आपु* पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥ ७॥
बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी॥ ८॥
सूद्र करहिं जप तप ब्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥ ९॥
सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा॥ १०॥

शब्दार्थ—**वृषल**=शूद्र। **वृषली**=शूद्रा स्त्री, वह स्त्री जो अपने पुरुषको छोड़कर परपुरुषसे प्रेम करती है। कुलटा। **लोलुप**=अत्यन्त तृष्णावंत। यथा—'*चंचल चरन लोभ लगि लोलुप*......' इति विनये। विषयलंपट।

अर्थ—वे ब्राह्मणोंसे अपनेको पुजाते हैं, अपने हाथों अपने दोनों लोक (इहलोक और परलोक) नष्ट करते हैं॥ ७॥ ब्राह्मण निरक्षर (अपढ़ अक्षरतकका जिसे ज्ञान नहीं), लोलुप, कामी, सदाचाररहित तथा दुराचारी, शठ (अपनी हानिलाभ न समझनेवाले मूर्ख, खल), और नीच जातिकी व्यभिचारिणी स्त्रियोंके स्वामी होते हैं॥ ८॥ शूद्र अनेक प्रकारके जप, तप, व्रत करते और व्यासगद्दीपर बैठकर पुराण कहते हैं। अर्थात् व्यास बन बैठते हैं†॥ ९॥ (कहाँतक और किस-किसकी कही जाय) सभी मनुष्य तो मनमाना आचरण करते हैं। इतना अपार अन्याय होता है कि वर्णन नहीं किया जा सकता॥ १०॥

नोट—१ (क) '*ते बिप्रन्ह सन आपु पुजावहिं।*' विप्रोंसे पुजाना कहा; क्योंकि संन्यासियोंको ब्राह्मण लोग स्वाभाविक भोजन देते हैं, उनको गुरुतुल्य मानते हैं। इसीसे वे ब्राह्मणोंके द्वार-द्वार फिरते हैं। (वै०) (ख) '*उभय लोक*......।' कपट खुलनेपर यहीं पूजा पा जाते हैं और मरनेपर यमपुरमें तो भली प्रकार पूजा होगी ही। कोई ऐसा कहते हैं कि जिनके माँ-बापका प्रमाण नहीं ऐसे वर्णाधम स्त्री और सम्पत्तिके नाश होनेपर संन्यासी बने, यह लोक नष्ट हुआ और फिर विप्रोंसे पुजाया जिससे परलोक नष्ट हुआ। (रा० प्र०) पुनः, '*उभय लोक*' का नाश यों कि धनके होते भी लोगोंकी शंकासे उसको भोग न कर पाये और ज्ञानादि न होनेसे (तथा अपने श्रुतिविरोधी आचरणोंसे) परलोक नष्ट हुआ। यदि कहो कि ब्राह्मण ही उन्हें क्यों पूजते हैं, तो उसपर कहते हैं कि—'*बिप्र निरच्छर लोलुप*......।' (पं०) पुनः, भाव कि अपने जाति-धर्मका पालन करते तो दोनों बन जाते। सबसे श्रेष्ठ ब्राह्मण और सबसे लघु शूद्र इन दोको कहकर बीचके दो वर्णोंकी भी वही व्यवस्था सूचित की। (रा० शं०)

☞ '*ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर कहहिं न दूसरि बात*' से '*उभय लोक निज हाथ नसावहिं*' तक अभेदवादी ज्ञानियोंका वर्णन है। आगे अन्य वर्णोंकी व्यवस्था कहते हैं।

नोट—२ '*बिप्र निरच्छर*......' इति। (क) भाव कि जिन्हें सदाचार वेद-वेदाङ्ग पारंगत होना चाहिये वे ऐसे गये-गुजरे कि अक्षरका भी उनको ज्ञान नहीं। (प्र० सं०) पुनः अक्षर=ब्रह्म=वेद। निरक्षर=वेदविहीन। वेदविहीन विप्र शोचनीय है ही; यथा—'*सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धर्म बिषय लय*

* पाँव—(का०)। आपु—भा० दा०, रा० गु० द्वि०, पं०।

† 'शिश्नोदरपरा द्विजाः' 'शूद्राः प्रतिगृहीष्यन्ति तपोवेषोपजीविनः। धर्मं वक्ष्यन्त्यधर्मज्ञा अधिरुह्योत्तमासनम्'। भा० १२। ३। ३२, ३८ में भी यही प्रधान भाव है। अर्थ है—ब्राह्मण शिश्न और उदर इन दोनोंके ही परायण होंगे अर्थात् अगम्यागम्य स्त्रियोंके साथ रमण और पेट भरना ही जानेंगे। स्वकर्तव्य वेदादिपठनपाठनसे सर्वथा अज्ञ रहेंगे। ३१। 'कलियुगमें अधर्मज्ञ शूद्र तपस्या करनेका ढोंग फैला जीविका चलानेवाले बन भक्तनिर्मित व्यासगद्दी आदिपर बैठकर धर्मोपदेश करेंगे अर्थात् धार्मिक ग्रन्थोंकी कथा कहेंगे और दान ग्रहण करेंगे।'

लीना॥' (२। १७२। ३) पुनः, *'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' 'आखर मधुर मनोहर दोऊ'* के अनुसार *'निरच्छर'* का भाव यह भी होता है कि वेदविहीन तो हो ही गये पर वेदोंके समान एवं उनका सार जो 'राम' नाम है उसका जप-चिन्तन भी नहीं करते। (प० प० प्र०) (ख) *'लोलुप'* से जनाया कि तृष्णावश अत्यन्त नीचके घर खाते हैं। जैसा अन्न वैसी ही बुद्धि हुआ चाहे। पुनः, लोलुप हैं अर्थात् पशुवत् चञ्चल हैं, कुछ विचार ही न रह गया, ऐसे कामातुर कि द्विपद होकर चतुष्पदके कान काटे। निराचार हैं अर्थात् वर्णाश्रम धर्माचार छोड़ बैठे हैं। (रा० प्र०)

३ *'सूद्र करहिं जप......'* जप-वेदादि मन्त्रका, तप वानप्रस्थ-रीति, व्रत ब्रह्मचर्यादि। *'बैठि बरासन......'* का भाव कि ब्राह्मणको आचार चाहिये सो वे तो निराचारी हो गये, शूद्रा स्त्रीके पति बनकर शूद्र हो गये तब शूद्र उनका कर्म करने लगे। जप-तपादि करना, पुराण कहना इत्यादि ब्राह्मणोंके कर्म हैं। *'कल्पित करहिं अचारा'* में भाव यह है कि मनु आदि द्वारा कथित शास्त्रोंको छोड़ मनकी करने लगे, नीति भी छोड़ दी।

दो०—भए बरनसंकर कलि* भिन्न सेतु सब लोग।
करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक बियोग॥
श्रुतिसंमत हरिभक्तिपथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहि न चलहिं नर मोहबस कल्पहिं पंथ अनेक॥१००॥

शब्दार्थ—**बरनसंकर**=वह व्यक्ति या जाति जो दो भिन्न-भिन्न जातियोंके स्त्री-पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हो। दोगला। व्यभिचारसे उत्पन्न पुरुष। वर्णसंकर—स्मृतियोंमें ऐसी बहुत-सी जातियाँ गिनायी गयी हैं। वर्णसङ्कर दो प्रकारके कहे गये हैं—'अनुलोमज और प्रतिलोमज।' अनुलोमजका पिता मातासे श्रेष्ठ होता है और प्रतिलोमजकी माता पितासे श्रेष्ठ वर्णकी होती है। प्रतिलोमज संकर प्राचीन कालमें निषिद्ध माने जाते थे। अनुलोम विवाहका प्रचार प्राचीन कालमें था पर पीछे बंद हो गया। धर्मशास्त्रोंमें वर्णसंकरताके कारण ये गिनाये गये हैं—व्यभिचार, अवेद्यावेदन और स्वकर्मत्याग। (श० सा०)

अर्थ—कलिमें सभी लोग वर्णसङ्कर और 'भिन्न-सेतु' हो गये (भिन्न-भिन्न श्रुतिविरुद्ध मार्गपर चलने लगे)। सब पाप करते हैं और (उसका फल) दुःख, भय, रोग, शोक और वियोग पाते हैं। वैराग्य-विवेक-संयुक्त भगवद्भक्ति वेदसम्मत मार्ग हैं।† उसपर मोहके वश लोग नहीं चलते और मोहवश अनेक मनमाने मार्ग कल्पित करते हैं॥ १००॥

करु०—*'भिन्न सेतु सब लोग।'* अर्थात् श्रुतिसेतु छोड़कर अन्य-अन्य सेतु-(पुल, मार्ग-) पर चलने लगे।‡

गौड़जी—*'श्रुतिसेतु'* वा *'श्रुतिसंमत हरिभक्तिपथ......'* भवसागरके लिये यह एक ही सेतु है। मनुष्य अज्ञानके वश होकर इस निस्सन्देह पदको त्याग देते हैं और अनेक पंथोंकी कल्पना करते हैं, कल्पित रास्तोंपर चलते हैं। ऐसा क्यों है? क्योंकि कलियुगमें सब वर्णसंकर हो गये हैं, वर्णधर्मका लोप हो गया है। एक तरफसे तो किसीको यही नहीं मालूम कि हम किस वर्णके हैं और दूसरी ओर यदि मालूम भी है कि हम किस वर्णके हैं तब भी उस वर्णके श्रुतिसम्मत धर्मका पालन नहीं करते।—(शंका—वेदके आधुनिक विद्वान् तो कहते हैं कि वेदोंमें अर्थात् संहिताओंमें वर्णधर्मकी कहीं चर्चा नहीं है, फिर श्रुतिसम्मत वर्णधर्म कैसा? समाधान—श्रुतिका तात्पर्य केवल संहिता नहीं है। श्रुति साङ्गोपाङ्ग वेदको कहते हैं अर्थात् कल्पसूत्रादि छः अङ्ग और पुराण इतिहासादि चार उपाङ्ग श्रुतिकी अभिधाके अन्तर्गत हैं।)—फिर आखिर वेदमार्ग छोड़कर

---

* सकल—(का०)।

† अर्थ—'श्रुतिसम्मत वेदवेदाङ्ग शास्त्रोंको, हरिभक्ति पथ तीनों काण्डोंकी रीति और वैराग्यविवेकसहित'-(रा० प्र०)।

‡ १ वै०—'सेतुभिन्न.........' अर्थात् जातिकी मर्यादा छोड़कर सबने और-और जातिका संग्रह कर वंश बढ़ाया। २—रा० प्र०-अर्थात् वर्णसंकरतासे अपनी-अपनी मर्यादा चली गयी। व्यासादिने जो वेदार्णवपर सेतु बाँधे उसे तोड़कर।

किस रास्तेपर चलें? तो हैरान होकर '*मारग सोइ जा कहँ जोइ भावा।*' इसीलिये अपनी-अपनी पसंदके '*सेतु*' से लोग भवसागर तरना चाहते हैं। यहाँ मारग और पन्थ आदि पर्याय न कहकर '*सेतु*' कहनेमें विशेष प्रयोजन है। सभी पन्थायी इस बातका दावा करते हैं कि हमारे रास्तेसे बढ़कर कोई दूसरा रास्ता नहीं है, भवसागर तरणके लिये हमारा पन्थ एकमात्र '*सेतु*' है। नाव जहाज बेड़ेमें डूबनेका भय रहता है, यात्री माँझीके अख्तियारमें रहता है और तूफानका कोई ठिकाना नहीं फिर भी दूसरा किनारा मालूम नहीं कि मिलेगा या न मिलेगा। सेतुवाला यह दावा करता है कि हमारे मार्गमें ऐसा कोई डर नहीं है, माँझीकी पराधीनता नहीं, तूफानका डर नहीं और दूसरे किनारेतक पहुँचना निश्चय है, पुल ही ठहरा। '*सेतु*' में ये सभी भाव आते हैं। आदमी '*सेतु*' के नामपर ही मोहित हो जाते हैं, यह कम खयालमें आता है कि सेतु सभी तरहके हो सकते हैं, दृढ़ भी हो सकते हैं और लचर भी, सँकरे हो सकते हैं और चौड़े भी, बीचसे ही टूटे हुए हो सकते हैं कि बीचसे ही यात्रीको लौटना पड़े अथवा किनारेके करीब ही पहुँचकर खतम हुए हो सकते हैं, अथवा झूलेकी तरह डगमगानेवाले भी हो सकते हैं, अथवा बीच-बीचमें खन्दक-खाईवाले भी हो सकते हैं। निदान सेतुके अनेक प्रकार ऐसे भी हो सकते हैं जिनसे यात्रीको कोई सुभीता न हो सके बल्कि धोखा-ही-धोखा रहे। सबसे सीधा, सबसे निकट, सबसे सुगम, बिलकुल बेखतर राजमार्गोपम श्रुतिसेतु ही एक सेतु है जिससे जीव सहज ही पार हो सकता है। '*सत्यसंधपालक श्रुतिसेतु*' रामकी भक्तिको छोड़ सब लोग भिन्न सेतुओंपर आरूढ़ हैं। देखनेमें सभी '*सेतु*' अर्थात् सच्चे मार्ग जान पड़ते हैं, लेकिन कुछ दूर चलकर लोग धोखा खाते हैं और अधर्मका आचरण करते हैं जिससे उनको दुःख होता है, भय मिलता है, रोगग्रस्त होते हैं, शोकसे सताये जाते हैं और स्वजनों और हितैषियोंका वियोग होता है। श्रुतिसे भिन्न वा विरुद्धमार्गपर चलना पाप करना है और पापका परिणाम दुःख, भय, रुज, शोक, वियोग ये पाँचों हैं।

बहु दाम सँवारहिं धाम जती। बिषया हरि लीन्हि न रहि* बिरती॥ १॥
तपसी धनवंत दरिद्र गृही। कलि कौतुक तात न जात कही॥ २॥
कुलवंति† निकारहिं नारि सती। गृह आनहिं चेरि निबेरि गती॥ ३॥
सुत मानहिं मातु पिता तब लों। अबलानन दीख नहीं जब लों‡॥ ४॥

शब्दार्थ—**निबेरि गती**=जिसकी गति संसारमें गयी-गुजरी है। (पं० रा० व० श०)।=कुलकी परम्परा-गतिको काटकर। (पाँ०)।=जो परम्पराकी चाल कुल एवं देशमें चली आयी है उसे छोड़कर। (रा० प्र०)। उत्तम चालको त्यागकर। (रा० प्र०)=निश्चल करके (वि० त्रि०)। **कुलवंति**=कुलीन; कुलधर्मका पालन करनेवाली पतिव्रता।

अर्थ—यती (संन्यासी) बहुत धन लगाकर घर एवं धन-धाम दोनों सजाते हैं। वैराग्य न रह गया, उसे विषयोंने हर लिया॥ १॥ तपस्वी धनवान् और गृहस्थ दरिद्र (कंगाल, धनहीन) हो गये। हे तात! कलियुगका खेल-तमाशा कहा नहीं जा सकता॥ २॥ लोग कुलीन पतिव्रता स्त्रीको निकाल देते हैं और अच्छी चालको त्यागकर घरमें दासीको लाकर निश्चल करके रखते हैं॥ ३॥ पुत्र तभीतक माता-पिताको मानते हैं जबतक उन्होंने स्त्रीका मुख नहीं देखा॥ ४॥

नोट—'**अव्रता वटवोऽशौचा भिक्षवश्च कुटुम्बिनः। तपस्विनो ग्रामवासा न्यासिनोऽत्यर्थलोलुपाः॥**' '**पितृभ्रातृसुहृज्ज्ञातीन् हित्वा सौरतसौहृदाः। ननान्दृश्यालसंवादा दीनाः स्त्रैणाः कलौ नराः॥**' (भा० १२। ३। ३३, ३७) में यही मुख्य भाव है। अर्थ—कलियुगमें ब्रह्मचारी व्रतरहित और शौच, पवित्र कर्मोंसे हीन होंगे। गृहस्थ स्वयं भीख माँगेंगे; तपस्वी वनस्थ ग्रामवासी हो जायँगे और संन्यासी धनके लोभी बन जायँगे॥ ३३॥ रतिके निमित्त स्नेह करनेवाले

* हरि लीन रही बिरती—(रा० गु० द्वि०, क०)=जो विरति थी उसे विषयने हर लिया। भाव कि यती नाम ही भर रह गया, विवेकसे वैराग्य हो गया।—(रा० प्र०)

† कुलवंति (भा० दा०, पं०, वै०)। कुलवंत-(का०)। ‡अबला नहिं डीठ परी जब लों।-(का०)

स्त्रीवश नर, पिता, माता, मित्र जाति सम्बन्धी बान्धवोंको छोड़कर साली-सालोंकी सलाहपर चलनेवाले हो जायँगे; अत: सब दीन रहेंगे।

पं० रा० व० श०—१ *'बहु दाम सँवारहिं·········'* अर्थात् उनका वैराग्य विषयमें लीन हो गया। *'तपसी धनवंत दरिद्र गृही'* का भाव कि कलिने धन देकर उनको तपसे च्युत कर दिया और गृहस्थको दरिद्र करके उसे धर्मसे अशक्त कर दिया, बिना धनके धर्म कैसे करेगा? विरक्त और गृहस्थ दोनोंपर कलिका प्रभाव दिखाया।

'न रही बिरती' अर्थात् पहले जो कुछ अंश वैराग्यका था वह भी न रह गया। *'तपसी धनवंत·········'* क्योंकि तपस्वीकी आय बहुत है, खर्च कर्म है और गृहस्थका खर्च बहुत है और धनकी प्राप्ति अल्प है।

वै०—*'कलि कौतुक·········'* इति। भाव कि जिनको संग्रह न चाहिये वे धाम सँवारें और विषयोंमें लीन रहें। जिनको धन चाहिये वे बेचारे दरिद्र हो रहे हैं, एक समय भी पेटभर भोजन नहीं मिलता।

वि० त्रि०—*'कुलवंति·········गती'* इति। सत्कुलप्रसूता सती स्त्रीको घरके बाहर निकाल देंगे, क्योंकि वह निर्लज्ज होकर उनके साथ मित्र-मण्डलमें जाना न चाहेगी और बेहया चेरीको घर लावेंगे। चेरी कहेगी कि तुम्हारा क्या ठिकाना, तुमने अपनी स्त्रीको घरसे निकाल दिया तो समय-पत्र (इकरारनामा) लिखकर रजिस्टरी करा देवेंगे कि मैं इसका सदा पालन करूँगा और घरसे न निकालूँगा। *'निबेरि गती'* का अर्थ ही है निश्चल कर देना।

वै०—*'मानहिं मातु पिता तब लौं'* का भाव कि मानना चाहिये तो जन्मभर पर वे ऐसा मानते नहीं, यथा धर्मशास्त्रे—**'जीवितस्य पितुर्वश्यस्तन्मृते भूरिभोजने। गयायां पिण्डदानेन त्रिभिर्पुत्रस्य पुत्रता॥'**

ससुरारि पिआरि लगी जब तें। रिपु रूप कुटुंब भए तब तें॥ ५॥
नृप पापपरायन धर्म नहीं। करि दंड बिडंब प्रजा नितहीं॥ ६॥
धनवंत कुलीन मलीन अपी। द्विज चिन्ह जनेउ उघार तपी॥ ७॥

अर्थ—जबसे ससुराल प्यारी लगी तबसे कुटुम्बी शत्रुरूप हो गये॥ ५॥ राजा पापरत हो गये, उनमें धर्म न रह गया, नित्यप्रति ही प्रजाको झूठे ही निरपराध दण्ड देते फजीहत करते रहते हैं॥ ६॥ निश्चय ही मलिन होनेपर भी धनी कुलीन माने जाते हैं। *जनेऊमात्र द्विज होनेका और उघारे (कुछ पहने ओढ़े न) होना तपस्वीका चिह्न रह गया॥ ७॥

नोट—१ *'नृप पापपरायन·········'* इति। (क) धर्म नहीं है, इसीसे वहाँ धर्म-नीतिके प्रथम तीन चरण न रहकर एक दंडमात्र रह गया। जो अन्तिम उपाय है वही यहाँ प्रधान है। रामराज्यमें धर्म परिपूर्ण था इससे वहाँ दंडका नाम भी न था। (ख) *'करि दंड बिडंब प्रजा नितहीं'* इति। *'बिडंबना'* शब्द पूर्व दोहा ७० में भी आया है—*'केहि के लोभ बिडंबना कीन्हि न एहि संसार।'* विडंबन, विडंबना संस्कृत भाषाके शब्द हैं। श० सा० में इसके ये अर्थ मिलते हैं—किसीको चिढ़ाने या अपमानित करनेके लिये उसकी नकल उतारना, हँसी उड़ाना; निन्दा वा उपहास करना; डाँटना, उपटना, फटकारना।' इस तरह फजीहत, उपहास और दुर्दशा अर्थ भी कर सकते हैं। इस प्रकार चरणके अर्थ ये हो सकते हैं (१) नित्य ही (अन्याय और जोरावरीसे) प्रजाको दण्ड देकर फजीहत वा दुर्दशा करते हैं। (वीर) (२) दण्डका ढोंग, स्वाँग करके नित्य प्रजाको दण्ड देते हैं—इस अर्थमें *'दंड'* शब्द अन्वय करनेमें दो बार लिया जायगा। भाव यह है कि निरपराधको दण्ड देनेके लिये वैसा अर्थ कर लेते हैं। इस तरह दण्ड नीतिका उपहास होता है। (३) नित्य ही प्रजाको दण्ड एवं डाँट-फटकार फजीहत करते रहते हैं।

२—*'द्विज चिन्ह जनेउ·········।'* भाव कि विप्रोंके सदाचार, कर्म, धर्म तो कोई रह न गये, शरीरपर एक

* 'वित्तमेव कलौ नृणां जन्माचारगुणोदय:॥ २॥ (भा० १२। २)। अर्थ कई प्रकार किये गये हैं—(१) धनवान् कुलीन और कुलीन मलिन हो गये।-(पां०)। (२) कुलीन भी धनवन्त होकर मलिन हो गये। (रा० प्र०)

जनेऊमात्र चिह्न रह गया। (करु०) जो किसीने पूछा कि कौन वर्ण हो तो जनेऊ दिखा दिया कि देखते नहीं, हम जनेऊ पहने हैं, ब्राह्मण हैं। इसीसे लक्ष्मणजीने परशुरामजीसे व्यङ्गमें कहा है—*'भृगुकुल समुझि जनेउ बिलोकी'* (रा० प्र०) (भा० १२। २। ३) में भी कलिमें ब्राह्मणोंके सम्बन्धमें यही कहा है। यथा—**'विप्रत्वे सूत्रमेव हि।'** इसी तरह तपस्वियोंमें तपस्या तो रह न गयी। उधारे रहनेसे 'तपसी' कहलाते हैं।

३—दण्डकी विडंबना=निरपराधीको दण्ड देकर दण्डकी नीतिकी फजीहत करना, मखौल उड़ाना।

४—*'धनवंत कुलीन।'* इति। भाव कि जो कुलीन हैं पर धनहीन हैं उनको कोई पूछता ही नहीं, कोई उनसे सम्बन्ध नहीं करता, वे मलिन समझे जाते हैं और जो नीच और मलिन हैं पर धनी हैं उनसे सब नाता लगाते हैं, सम्बन्ध करते हैं। (पं०, वै०) मनुजी कहते हैं कि कुल-क्रियामें कम और मलिनसे विवाह करनेसे कुलीनता नहीं रह जाती। (पं० रा० व० श०) पर कलिमें धनाढ्य ही कुलीन माने जाते हैं। श्रीभर्तृहरिजीने कहा है **'यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स धार्मिकः स श्रुतिमान् गुणज्ञः। स एव वक्ता स च दर्शनीयः सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते॥'**

करु०—*'मलीन अपी'*=निश्चय ही कुल और क्रियासे मलिन हैं।

नहि मान पुरानहि बेदहि जो। हरि-सेवक संत सही कलि सो॥ ८॥
कबिबृन्द उदार दुनी न सुनी। गुनदूषक* ब्रात न कोपि गुनी॥ ९॥
कलि बारहिं बार दुकाल परै। बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै॥ १०॥

अर्थ—जो न तो पुराणोंको माने और न वेदको, कलियुगमें वही ठीक सच्चा भगवत्-भक्त और संत (कहा जाता) है॥ ८॥ कवियोंके झुंड देख पड़ते हैं पर दुनिया-(संसार-) में दाता सुना नहीं जाता†। गुणमें दोष लगानेवाले बहुत हैं और गुणी कोई भी नहीं है॥ ९॥ कलियुगमें बारम्बार अकाल (दुर्भिक्ष) पड़ता है, बिना अन्नके सब लोग दुःखी होकर मरते हैं‡॥ १०॥

रा० प्र०—१ *'नहि मान......'* *'साखी सब्दी दोहरा कहि किहनी उपखान। भगति निरूपहि कलिभगत निंदहिं बेद पुरान॥'* (दो० ५५४) २—*'हरि-सेवक संत सही......'* अर्थात् वे कहते हैं कि हम ज्ञानी उपासक हैं हमको और बन्धनसे क्या काम? हम तो उस हरिके सेवक हैं कि जिसके श्वाससे वेद हुआ, तब हम वेदके अधीन क्यों रहें, वह तो ब्रह्मको जानता नहीं नेति-नेति करता है। हम जानते हैं, हमारा संतमत है। ३—हरिसेवक और सन्त दो अधिकारभेदसे कहे। ४—ब्रात (सं० व्रात्य)=सब।=जिनका संस्कारकाल बीत गया या जिनने प्रायश्चित्त न किया हो।-[जिसके दस संस्कार वा यज्ञोपवीत न हुआ हो। ऐसा मनुष्य पतित समझा जाता है—(श० सा०)]

नोट—*'न सुनी'*—जब सुननेमें ही नहीं आता तब देखनेमें कहाँसे आये।

करु०—*'गुनदूषक ब्रात न कोपि गुनी।'*—भाव कि गुणको दूषण करें वे ही निश्चय करके गुणवान् कहाते हैं।

दो०—सुनु खगेस कलि कपट हठ दंभ द्वेष पाषंड।
मान मोह मारादि मद ब्यापि रहे ब्रह्मंड॥
तामस धर्म करहिं नर जप तप मख ब्रत दान।
देव न बरषहिं धरनी# बए न जामहिं धान॥ १०१॥

---

* गुनदूषन—(का०, पं०) १२—खर्रा 'उदार'—'ध्वनि रस अलङ्कारयुक्त'

† वै०—अथवा, मनुष्यका यश गानेवाले स्वार्थी कवियोंके वृन्द बहुत हैं परंतु उदार कवि परमार्थी हरियश गानेवाला दुनियामें एक भी सुननेमें नहीं आता।

‡ दुःखी तो सभी होते हैं पर ये दुःखी जन मर ही जाते हैं।—(वै०)

धरनि पर—रा० पु० द्वि०। देव=देवता, मेघ, मेघके देवता।

अर्थ—हे गरुड़! सुनिये। कलियुगमें ब्रह्माण्डभरमें कपट, हठ, दम्भ, द्वेष, पाखंड, मान, मोह, कामादि (अर्थात् काम, क्रोध, लोभ) और मद व्याप्त हो गये। मनुष्य (तमोगुणयुक्त) जप, तप, यज्ञ, व्रत, दान आदि धर्म तामसी रीति वा वृत्तिसे करते हैं। (मेघके) देवता पृथ्वीपर जल नहीं बरसते, बोनेपर भी धान नहीं जमता॥ १०१॥

रा० प्र०—१ कपट अर्थात् जिनसे स्वच्छता चाहिये उनसे भी दुराव। हठ अर्थात् जो मन और मुँहमें आ गया बिना बिचारे उसीका आग्रह। दंभ—सेवा-पूजा सब ठगहरी। द्वेष—*'जो कर हित अनहित ताहू सों।'*

पं० रा० व० श०—*'कपट हठ दंभ………'* इति। मित्रादिसे कपट, अच्छी, बात न माननेमें हठ, दिखानेके लिये वेष यह दंभ और कर्म-धर्म सब पाखंडमय (अर्थात् अपनी श्रद्धा उनमें नहीं है)।

वै०—*'हठ'*—अर्थात् जो बात कह दी फिर उसीमें हठ करते हैं चाहे वह ठीक न भी हो और दूसरा कोई समझावे तो उसकी नहीं मानते।

नोट—दंभ, कपट, पाखण्डके भेद पूर्व कई बार लिखे जा चुके हैं।

नोट—*'तामस धर्म………दान'* इति। कर्म करनेमें प्रथम चार बातोंका विचार कर लेना चाहिये—एक तो यह कि इसका परिणाम क्या होगा, इसके करनेके पश्चात् कोई दुःख तो न होगा। दूसरे, इसके करनेमें कितनी शक्ति या धनका क्षय होगा। तीसरे, इस कर्ममें प्राणियोंको पीड़ा तो न पहुँचेगी अथवा कितनेको और क्या पीड़ा पहुँचेगी। चौथे कि अपनेमें इस कर्मको पूर्ण करनेका सामर्थ्य है या नहीं। इन्हींको क्रमशः अनुबन्ध, क्षय, हिंसा और पौरुष कहा गया है।—जप, तप, यज्ञ, दान आदि कोई भी कर्म जो इन चारोंकी उपेक्षा करके, उनकी परवाह न करके मोहपूर्वक आरम्भ किये जाते हैं, वे तामस कहलाते हैं। '**अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्। मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥**' (गीता १८। २५) *'तामस जप'*—जैसे कि मारण-मोहन आदि प्रयोगके लिये जो जप किये जायँ। *'तामस तप'*—अपनी शक्तिकी बिना जाँच किये, अपनी आत्माको पीड़ा पहुँचाकर अथवा दूसरोंका अनिष्ट करनेके विचारसे जो तप मूढ़तापूर्वक आग्रहसे किया जाता है वह तामसी है। यथा—'**मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः। परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥**' (गीता १७। १९) इसी प्रकारके व्रत तामस व्रत हैं। तामस यज्ञ=जो यज्ञ शास्त्रविधिसे रहित हैं, जिसमें शास्त्रविहित वस्तुओंका प्रयोग नहीं किया जाता, ब्राह्मणोंको अन्न नहीं दिया जाता, जो मन्त्रहीन है अर्थात् मन्त्र, स्वर और वर्णसे रहित है। जो बतलायी हुई दक्षिणा और श्रद्धासे रहित है। यथा—'**विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्। श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥**' (गीता १७। १३) तामस दान=वह दान जो अयोग्य देश-कालमें (अर्थात् अशुद्ध वस्तुओं म्लेच्छादिसे युक्त पापमय देशमें तथा पुण्यके हेतु बतलाये हुए संक्रान्ति आदि विशेषतासे रहित कालमें) और (मूर्ख, चोर आदि) अपात्रोंको दिया जाता है, तथा जो (प्रिय वचन, पादप्रक्षालनादि) सम्मानके बिना अथवा पात्रका अपमान करते हुए दिया जाता है। यथा—'**अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते। असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥**' (गीता १७। २२)

पं० रा० व० श०—*'तामस धर्म'*—जप-तप-व्रतादि सब धर्म तीन प्रकारके होते हैं—सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी। कलियुगमें लोग वही जपतपादि करते हैं जिन्हें ऋषियोंने तामसी बताया है। तामस धर्म करना कहकर उसका फल कहते हैं कि वर्षा नहीं होती, उसके न होनेसे धान नहीं पैदा होता।

रा० प्र०—*'तामस धर्म।'* भाव कि सब काम प्रायः मारणादि वा मजूरी लेनेके हेतु या रूठकर करते हैं। *'तामस तप'*—जैसे किसीपर धरना दे बैठे। व्रत—जैसे किसीपर उपवास किया या मिला नहीं इससे भूखे रह गये और कहा कि व्रत किया है। दान—जैसे कि गङ्गामें गिर पड़े या चोरी जाय तो कह दें कि दान कर दिया। वा, दिया भी तो रिसाकर।—

वै०—सब धर्म क्यों निष्फल जाते हैं उसका कारण बताते हैं कि सब तामस धर्म करते हैं। सत्त्वगुणसहित धर्म किये जायँ तो सुखरूपी फल शीघ्र प्राप्त हो पर ये तामस धर्म करते हैं। इसीसे निष्फल जाते हैं। तमोगुणसहित जो अधर्म किया जाय वह अधर्म सफल होता है।

(त्रोटक छन्द)

अबला कच भूषन भूरि छुधा। धनहीन दुखी ममता बहुधा॥ १॥
सुख चाहहिं मूढ़ न धर्म रता। मति थोरि कठोरि न कोमलता॥ २॥
नर पीड़ित रोग न भोग कहीं। अभिमान बिरोध अकारनहीं॥ ३॥

अर्थ—स्त्रियोंके बाल ही भूषण हैं (अर्थात् दिन-रात वे बाल बढ़ाने और सँवारनेमें लगी रहती हैं, इसीमें सब धन लगाती हैं), भूख बहुत लगती है (अर्थात् बारंबार भोजन करती हैं तो भी तृप्ति नहीं होती)। धनरहित, दुःखी रहती हैं फिर भी प्रायः बहुत प्रकारसे ममत्व रहता है॥ १॥ मूर्ख हैं, सुख चाहती हैं पर धर्ममें प्रेम नहीं है। बुद्धि क्षुद्र और (वह भी) कठोर है, कोमलता (का नाम) नहीं॥ २॥ मनुष्य रोगसे दुःखी हैं, (सुख) भोग कहीं नहीं, बिना कारण ही अभिमान और विरोध करते हैं॥ ३॥

नोट—१ '*अबला कच भूषन*......' इति। स्त्रियोंका बाल ही भूषण था, इस कथनमें भाव यह है कि कलिमें सुवर्ण, मणि, रत्न और वस्त्रोंके क्षीण हो जानेसे स्त्रियाँ केश-कलापोंसे ही अपनेको भूषित करेंगी। केशोंसे ही स्त्रियोंको सुन्दरताका अभिमान होगा। यथा—'**स्त्रीणां रूपमदश्चैव केशैरेव भविष्यति।**' (वि० पु० ६। १। १६) '**सुवर्णमणिरत्नादौ वस्त्रे चोपक्षयं गते। कलौ स्त्रियो भविष्यन्ति तदा केशैरलंकृताः॥**' (१७) भाव यह है कि कलियुगमें सुन्दरताके विषयमें केवल बालोंका रखाना, बढ़ाना, तैलादिसे चिक्कण बनाना मुख्य शृङ्गार समझा जायगा; स्त्रियोंका बाल रखना ही उत्तम जँचेगा। यथा—'**लावण्ये केशधारणम्।**' (भा० १२। २। ६)

रा० प्र०—सुकुमारताके मिष या दरिद्रताके कारण बाल ही भूषण हैं।

पं०—'***कच भूषन***' का दूसरा अर्थ 'काँचके भूषण' भी हैं।

नोट—२ '*भूरि छुधा, धनहीन*......' इति। 'भूख बहुत' कहकर 'अधिक आहारी' जनाया। धनहीन अर्थात् पैसा पास नहीं है। '*भूरि छुधा*' कहकर '*धनहीन*' कहनेका भाव कि जो धन था वह पेट भरनेमें खर्च हो गया। धन न रह गया तब आभूषण बेंच-बेंचकर खा डाले। भूषणके नामसे छल्ला, बाली, नथतक न रह गये, अतएव केशोंको भूषण बना रखा है, उन्हींको नित्य सँवारती हैं (वै०) पुनः, भाव कि भूख बहुत लगती है, लज्जावश प्रकट नहीं करतीं, अपने आभूषण छिपा-छिपाकर बेंच खाती हैं; अतः निर्धन हो जाती हैं। (रा० प्र०) 'निर्धन है पर भूख बहुत है' इस कथनसे तमोगुण सिद्ध हुआ। (पं०)। निर्धन होनेसे दुःखी हुआ ही चाहें। '*ममता बहुधा*' में यह भी भाव है कि ऐसी दशा होनेपर भी संतान उत्पन्न करनेकी चाह बहुत रहती है, उसमें सुख मानती हैं पीछे सन्तानमें ममत्वके कारण दुःख चाहे जो उठाना पड़े। ममताको दादकी उपमा आगे दी ही गयी है। निर्धन, दुःखी आदि कहकर इनके कारण जो दोष आ जाते हैं वे भी ध्वनित होते हैं। इस तरह यहाँ भागवतके '**यस्मात् क्षुद्रदृशो मर्त्याः क्षुद्रभाग्या महाशनाः। कामिनो वित्तहीनाश्च स्वैरिण्यश्च स्त्रियोऽसतीः॥**'(१२। ३। ३१), '**ह्रस्वकाया महाहारा भूर्यपत्या गतह्रियः। शश्वत्कटुकभाषिण्यश्चौर्यमायोरुसाहसाः॥**' (३४) इस उद्धरणका भाव भी यहाँ चार चरणोंमें जना दिया '**महाशनाः**' '**महाहाराः**' ही '*भूरि छुधा*' है, '**वित्तहीनाः**' ही '*धनहीन*' है। '**कामिनः**' '**भूर्यपत्या**' '**गतह्रियः**' का भाव '*ममता बहुधा*' में है। '**क्षुद्रदृशः**' ही '*मति थोरि*' है। '**कटुकभाषिण्यः**' ही '*कठोरि न कोमलता*' है। '**क्षुद्रभाग्याः**' का भाव '*मूढ़*' में है। अपनी वस्तुपर बहुत मोह होना भी ममता है।

वै०—'***ममता बहुधा***' भूषणादि कुछ हैं नहीं पर चाह बहुत भाँति बनी रहती है।

वि० पु० ६। १। २८—३० में भी प्रायः ऐसा ही कहा है। यथा '**लोलुपा ह्रस्वदेहाश्च बह्वन्नादनतत्पराः। बहुप्रजाल्पभाग्याश्च भविष्यन्ति कलौ स्त्रियः॥ २८॥......परुषानृतभाषिण्यो भविष्यन्ति कलौ स्त्रियः॥**'(३०)

नोट—३ '*सुख चाहहिं मूढ़*......' इति। (क) धर्मसे सुख होता है, यथा—'***बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेदपथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग॥***' (२०) ये धर्म करती ही नहीं तब सुख कैसे मिले? इसीसे '**मूढ़**' कहा। (ख) '**कठोरि**'=ठोस, जिसमें कुछ उपदेश धसे नहीं।

४ *'पीड़ित रोग न भोग कहीं'* इति। भाव कि भोगसे रोग होता है, यथा—**'भोगे रोगभयम्'** और रोगी शरीरमें तो भोग व्यर्थ ही हो जाते हैं, यथा—*'सरुज सरीर बादि बहु भोगा॥'* (अ० १७८), पर यहाँ उलटा ही हाल है कि भोग कहीं देखनेको भी नहीं, फिर भी सब रोगसे पीड़ित हैं। अकारण ही—*'बयरु अकारन सब काहू सों॥'* (३९। ६) देखिये।

लघु जीवन संबतु पंच दसा। कल्पांत न नास गुमान असा॥ ४॥
कलिकाल बिहाल किए मनुजा। नहिं मानत कोउ* अनुजा तनुजा॥ ५॥
नहि तोष बिचार न सीतलता। सब जाति कुजाति भए मँगता॥ ६॥
इरिषा परुषाक्षर लोलुपता। भरि पूरि रही समता बिगता॥ ७॥

शब्दार्थ—संबतु=वर्ष। **बिहाल**=बेहाल, परेशान। **कुजाति**=नीच जातिवाला।

अर्थ—जीवन (आयु) थोड़ा, दस-पाँच-पंद्रह वा पचास वर्षका है, पर गर्व ऐसा है कि कल्पान्त (४ अर्ब ३२ करोड़ वर्ष) होनेपर भी उनका नाश नहीं होनेका॥ ४॥ मनुष्योंको कलिकालने बेहाल कर डाला। कोई बहिन-बेटीका विचार नहीं करता॥ ५॥ न सन्तोष है न विचार (सदसद्विवेक) और न शीतलता (क्षमा, शान्ति)। (अत:) सब जाति कुजाति अर्थात् ऊँच-नीच सभी जातिके लोग मँगता हो गये (अर्थात् जिनको भिक्षा न माँगनी चाहिये वे भी भिक्षा माँगनेका व्यापार करने लगे तथा सभीकी भूखसे यह दशा हो रही है, किसीके पास खानेको नहीं, अत: सुजातिको भी भिक्षासे पेट भरना पड़ता है)॥ ६॥ ईर्ष्या (डाह, कठोर) कड़वे वचन और लालचपन (विषयलम्पटता) परिपूर्ण भर गया समता चली गयी (अर्थात् विषमता भाव रह गया)॥ ७॥

नोट—१ *'लघु जीवन संबतु पंच दसा'* इति। यह कठिन कलिकालकी बात कह रहे हैं। *'पंच दसा'* से बहुत अल्प आयु सूचित की। दस, पाँच, पन्द्रह, पचास। भा० १२। २ में श्रीशुकदेवजीने कहा है कि कलिमें मनुष्योंकी आयु बीस-तीस वर्षकी होगी। यथा—**'त्रिंशद्विंशतिवर्षाणि परमायु: कलौ नृणाम्।'** (११) अल्पायुका कारण पहले लिख आये—*'नर पीड़ित रोग······अभिमान बिरोध अकारन हीं'* इत्यादि। वैसे ही भागवतमें भी इसके पूर्वार्धमें कहा है **'क्षुत्तृड्भ्यां व्याधिभिश्चैव सन्तापेन च चिन्तया।'** अर्थात् भूख, प्यास, रोग, संताप और चिन्तासे लोग अत्यन्त दु:खी रहेंगे।

वि० पु० ६। १। ३९, ४३ में लिखा है कि वेदमार्गका लोप, मनुष्योंमें पाखण्डकी प्रचुरता और अधर्मकी वृद्धि हो जानेसे प्रजाकी आयु अल्प हो जायगी। यथा—**'वेदमार्गप्रलीने च पाषण्डाढ्ये ततो जने। अधर्मवृद्ध्या लोकानामल्पायुर्भविष्यति॥ अल्पप्रज्ञा वृथालिङ्गा दुष्टान्त:करणा: कलौ। यतस्ततो विनङ्क्ष्यन्ति कालेनाल्पेन मानवा:॥'**—इस तरह *'पंच दसा'* अल्पकालका ही वाचक है।

'कल्पांत न नास गुमान असा'—*'अभिमान बिरोध अकारन हीं'* कहकर यह कहनेका भाव यह है कि अभिमान और अकारण विरोध जो करते हैं वह यही समझकर करते हैं।

२ *'कलिकाल बिहाल किए मनुजा।······'* इति। *'नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा'* के साथ यह चरण होनेसे *'बिहाल'* का अर्थ 'कामासक्तिसे, कामके प्राबल्यसे विह्वल' होगा। *'मदन अंध ब्याकुल सब लोगा'* जो १। ८५। ५ में तथा *'मनजात किरात निपात किए। मृग लोग कुभोग सरेन हिए॥'* (१४ छंद) में जो भाव है वह यहाँ *'बिहाल'* शब्दसे सूचित किया।

'नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा' कहनेका भाव कि इनको कुदृष्टिसे देखना ऐसा भारी महापाप है कि उनका दण्ड वध ही है। यथा—*'अनुजबधू भगिनी सुतनारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥'* (४। ९। ७) *'इन्हहिं कुदृष्टि बिलोकइ जोई। ताहि बधे कछु पाप न होई॥'* पर कलिमें लोग ऐसे कामान्ध हो जायँगे कि बहिन-बेटीका भी विचार न रह जायगा।

* कौ—भा० दा०।

पं०—भिक्षा-धर्म यति और ब्रह्मचारीका है पर सन्तोष और विचार नष्ट हो गये अतः सभी माँगने लगे।

रा० प्र०—सन्तोष नहीं है अर्थात् लोभ बहुत बढ़ गया है। ईर्ष्या अर्थात् *'देखि न सकहिं पराइ बिभूती।'* यथा *'पर संपदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरें इरिषा।'* (१। १३६। ७) इसीसे क्रोधमें कठोर शब्द मुँहसे निकल पड़ते हैं। पुनः, अपनेको दूसरेसे बढ़िया जनानेके लिये कठोर बोलते हैं। *'लोलुपता'* का भाव कि जीभ लपलपाती रहती है—*'कूकुरसे टुकराके कारन पुनि पुनि पूछ डोलाए'*—[लोलुपतामें चञ्चलताका भाव लोभके साथ-साथ है। यथा—*'चंचलचरन लोभ लगि लोलुप'*]

सब लोग बियोग बिसोक हए। बरनाश्रम धर्म अचार गए॥ ८॥
दम दान दया नहिं जानपनी। जड़ता पर बंचनताति* घनी॥ ९॥
तनु पोषक नारि नरा सगरे। परनिंदक जे जग मो बगरे॥ १०॥

शब्दार्थ—जानपनी=बुद्धिमानी, जानकारी, यथा—*'जानपनी को गुमान बड़ो तुलसीके बिचार गँवार महा है।'* (क० उ०) जड़ता=मूर्खता, वह स्वभाव जिससे हानि-लाभ, सुख-दुःख कुछ न सूझे।

अर्थ—सब लोग वियोग और विशेष शोकसे मारे गये। वर्णाश्रमके धर्म-आचरण उठ गये॥ ८॥ दम, दान, दया और ज्ञानपना वा बुद्धिमानी न रह गयी†, मूर्खता और दूसरेको ठगना यह अत्यन्त अधिक हो गया॥ ९॥ स्त्री-पुरुष सभी शरीरके पालन-पोषणमें लगे रहनेवाले हैं। जो परमेश्वर तथा परायेकी निन्दा करनेवाले हैं वे संसारमें फैले हुए हैं॥ १०॥

नोट—१ *'बियोग बिसोक हए'* यह भगवच्चरणारविन्दके निरादरका फल है, यथा—*'बहु रोग बियोगन्हि लोग हये। भवदंघ्रि निरादर के फल ये॥'* (१४। छंद ५) सम्बन्धियों, प्यारोंका वियोग और वियोगसे शोक और शोकसे मृत्यु। विशोक है अर्थात् भारी शोक है, इसीसे मर जाते हैं, साधारण होता तो न मरते। पुत्र, इष्टहानि आदिमें शोक अधिक होता है।

वि० त्रि०—*'दम दान दया……घनी'* इति। ब्रह्मदेवने देवताओंको दमका, मनुष्योंको दानका और असुरोंको अहिंसा-(दया-) का उपदेश दिया, क्योंकि स्वभावसे ही देवता विलासी, मनुष्य कृपिण और असुर क्रूर होते हैं। अतः सयानापन दम, दान और दयामें दिखलाना चाहिये तो दम, दान और दयाके समय तो जड़ बने रहेंगे, पर दूसरोंके ठगनेमें उनकी बुद्धि खूब काम करेगी।

वै०—*'तनु पोषक'* वे कहलाते हैं जो माता-पिता इत्यादिको भुलाकर अपने ही भरके लिये अच्छा भोजन-वस्त्र संग्रह करते हैं, आप खाते-पहिनते हैं, दूसरेकी परवा नहीं करते। [पुनः *'तनु पोषक……'* का भाव कि यही एक उद्यम रह गया, धर्महेतु उद्यम न रह गया। (पं०)]

दो०—सुनु ब्यालारि काल‡ कलि मल अवगुन आगार।
गुनौ बहुत कलिजुग कर☆ बिनु प्रयास निस्तार॥

---

* 'परपंच तात घनी'—(का०)।

† १ पां०—अर्थ—पनी अर्थात् कौड़ीवाले, दम, दान, दया नहीं जानते।

२ पं०—'नहिं जानपनी।' जान-(ज्ञान-) का लोगोंको पनी (पण रीति) नहीं।

३ पनीका अर्थ 'प्रतिज्ञा करनेवाला' श० सा० ने दिया है, यथा—'बाँहपगार उदारसिरोमनि नतपालक पावन पनी।' यदि यहाँ यह अर्थ लगाते हैं तो अर्थ होगा कि दम-दया आदिकी प्रतिज्ञा करनेवाले कहीं जाने नहीं जाते, मूर्खता, ठगी अवश्य बहुत देखी जाती है। करुणासिंधुजीने 'प्रतिज्ञा करके दमदयादानको धारण करनेवाला कोई रहा ही नहीं' यह अर्थ किया है।

‡ कराल कलि (करु)। कराल मल कलिमल गुन आगार (का०)।

☆ गुन बडतौ कलिकालके।

कृतजुग त्रेता द्वापर * पूजा मख अरु जोग।
जो गति होइ सो कलि…हरि नाम तें पावहिं लोग॥ १०२॥

अर्थ—हे व्यालोंके शत्रु गरुड़जी! सुनिये। कलिकाल पाप और अवगुणोंका घर है। कलियुगमें गुण भी बहुत हैं कि बिना परिश्रम भवसे छुटकारा हो जाता है। सत्ययुग, त्रेता और द्वापरमें जो गति योग, यज्ञ और पूजनसे प्राप्त होती है वही गति लोग कलिमें केवल भगवन्नामसे पा जाते हैं॥ १०२॥

नोट—१ (क) *'कलिमल अवगुन आगार'* यथा *'कलि केवल मलमूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना॥'* (१। २७। ४) (ख) *'गुनौ बहुत'* इति। गुण तो एक ही कहते हैं—*'बिनु प्रयास निस्तार'* तब 'बहुत' कैसे कहा? भाव यह है कि यह एक ही गुण और सब युगोंके सर्वगुणोंसे अधिक है। (ग) *'बिनु प्रयास'* का भाव कि योग, यज्ञादिमें प्रयास है इसमें नहीं। इसमें तो स्मरण, गान और शरणमात्रसे निस्तार है यथा—*'नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥'* (१। २७। ५) जैसे कल्पवृक्षके नीचे जाते ही सब सोच मिट जाते हैं, कुछ करना नहीं पड़ता—*'जाइ निकट पहिचानि तरु छाहँ समनि सब सोच।'* बा० २७ (४—७) देखिये।

नोट—२ *'कृतजुग……'* इति। मिलान कीजिये—'**कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः। द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥**' (भा० १२। ३। ५२) अर्थात् सत्ययुगमें जो भवतरणरूप फल ध्यान करनेसे, त्रेतामें जो फल यज्ञोंद्वारा भगवत्-पूजनसे तथा द्वापरमें जो परिचर्यासे प्राप्त होता है वही कलिमें केवल हरिकीर्तनसे मिल जाता है। पुनश्च यथा—'**तत्राल्पेनैव यत्नेन पुण्यस्कन्धमनुत्तमम्। करोति यं कृतयुगे क्रियते तपसा हि सः॥**' (वि० पु० ६। १। ६०) '**ध्यायन्कृते यजन्यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्। यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥**' (वि० पु० ६। २। १७) '**अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान्गुणः। कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥**' (वि० पु० ६। २। ४०) अर्थात् कलियुगमें मनुष्य थोड़ा-सा प्रयत्न करनेसे ही जो अत्यन्त उत्तम पुण्यराशि प्राप्त करता है वही सत्ययुगमें महान् तपस्यासे प्राप्त किया जा सकता है। जो फल सत्ययुगमें ध्यान, त्रेतामें यज्ञ और द्वापरमें देवार्चन करनेसे प्राप्त होता है, वही कलियुगमें केवल भगवान्‌के कीर्तनसे मिल जाता है। इस अत्यन्त दुष्ट कलियुगमें यह एक महान् गुण है कि इसमें केवल कृष्णजीके नामसंकीर्तनसे मनुष्य परमपद पाता है।—यहाँ 'प्रथमनिदर्शना' 'द्वितीयविशेष' 'उदात्त' और 'यथासंख्य' अलङ्कार है।

३ कृतयुग, त्रेता, द्वापरके क्रमसे योग, मख, पूजा कहना था। यहाँ 'विपरीत क्रम यथासंख्य' है, अर्थ क्रमसे कर लेना होगा। ४—योग, यज्ञ, पूजनमें परिश्रम होता है और समय बहुत लगता है; इससे संदेह हो सकता है कि उसकी गति हरिगुणगानवाली गतिसे भिन्न और उत्तम होगी। इस संदेहके निवृत्यर्थ कहा कि *'जो गति होइ सो'* वही गति मिलती है दूसरी नहीं।

कृतजुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी॥ १॥
त्रेता बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं॥ २॥
द्वापर करि रघुपति-पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा॥ ३॥
कलिजुग केवल हरिगुनगाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥ ४॥

शब्दार्थ—गाहा=कथा, गाथा, यथा—*'कीन्ह चहौं रघुपति गुनगाहा॥'* (१। ८। ५) *'खल अघ अगुन साधु गुनगाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥'* (१। ६। १)

अर्थ—सत्ययुगमें सब योगी और विज्ञानी होते हैं।† उसमें प्राणी भगवान्‌का ध्यान करके संसारसे तर जाते हैं॥ १॥ त्रेतामें मनुष्य अनेक प्रकारके यज्ञ करते हैं और (सब) कर्मोंको प्रभुको समर्पण कर

* कृत त्रेता द्वापर खयै—(का०) ।……कलिविषे—(का०)।

† वि० टी०—'योगसाधनासे विशेष ज्ञान प्राप्त कर ईश्वरका ध्यान……'।

भवपार होते हैं॥ २॥ द्वापरमें मनुष्य श्रीरघुनाथजीके चरणोंकी पूजा करके भवपार होते हैं, दूसरा कोई उपाय नहीं है॥ ३॥ कलियुगमें केवल भगवान्‌की गुणगाथाके गान करनेसे ही मनुष्य भवसागरकी थाह पा जाते हैं॥ ४॥

पं० रा० व० श०—जो दोहेमें कहा उसीको अब विस्तारसे कहते हैं। सत्ययुगके आनेपर बुद्धि धर्ममय हो जाती है; इसीसे उसमें सब स्वाभाविक ही योगी और विज्ञानी हो जाते हैं।

नोट—१ ☞ यहाँ दिखाया कि भवनिवृत्तिके चार उपाय हैं। योग (ज्ञान), ईश्वरार्पित यज्ञ, पूजन और गुणगान। सत्ययुगमें चारों हैं पर योगविज्ञानद्वारा हरिध्यान प्रधान है। त्रेतामें यज्ञ, पूजन और गुणगान तीन ही रह जाते हैं; इनमेंसे यज्ञ मुख्य धर्म है। द्वापरमें पूजन और गुणगान दो ही रह जाते हैं, इनमेंसे पूजन ही उसका मुख्य धर्म है। और कलियुगमें केवल गुणगान रह गया।

नोट—२ योग-विज्ञान—ध्यान, यज्ञ और पूजन सबके साथ हरिका सम्बन्ध है। यथा—*'जोगी बिज्ञानी करि हरिध्यान' 'जग्य नर करहीं प्रभुहिं समर्पि' 'करि रघुपति-पद पूजा' 'हरि गुनगाहा गावत।'* इससे सूचित किया कि शुष्क योग वा विज्ञानसे भव नहीं तर सकते, यथा *'जे ज्ञानमान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥'* (१३। ३) बिना भगवत्-समर्पणके यज्ञ भी असमर्थ हैं, यथा—*'हरिहि समरपे बिनु सत कर्मा।—नासहिं—।'* (आ० २१। ८, ११) भागवतमें भी कहा है—**'एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतवः। त एवात्मविनाशाय कल्पन्ते कल्पिताः परे॥ यदत्र क्रियते कर्म भगवत्परितोषणम्। ज्ञानं यत्तदधीनं हि भक्तियोगसमन्वितम्॥'** (भा० १।५।३४-३५) **'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्। कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥'**(भा० १।५।१२) **'एतत्संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम्। यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम्॥'** (३२) ये वाक्य श्रीनारदजीके हैं। वे कहते हैं कि सम्पूर्ण कर्म मनुष्यके जन्म-मरणरूप संसारके कारण हैं, किंतु वे ही जब परब्रह्ममें अर्पित कर दिये जाते हैं, तो आप ही अपने नाशके कारण हो जाते हैं (अर्थात् उन कर्मोंका कोई फल नहीं भोगना पड़ता)। इस लोकमें जो शास्त्रविहित भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये किये जाते हैं उनसे भक्तियोगयुक्त ज्ञानकी प्राप्ति होती है। कैवल्यमोक्षका कारण उपाधिरहित निर्मल ज्ञान भी भगवद्भक्तिके बिना सुशोभित नहीं होता, फिर भला जो सदा ही अमङ्गलरूप है और सत्त्वशुद्धिका कारण नहीं है वह ईश्वरार्पण-बुद्धिसे रहित कर्म कैसे शोभित हो सकता है? हे ब्रह्मन्! भगवान् परब्रह्ममें कर्मोंको समर्पित करना ही तापत्रयकी ओषधि है, सो मैंने आपको बतला दी।

कर्मोंको समर्पण करनेसे किये हुए धर्म कभी क्षीण नहीं होते। यथा—**'धर्मोऽर्पितः कर्हिचिद्‌ध्रियते न यत्र॥'** (भा० ३। ९। १३) भा० १। ५। १२ वाला श्लोक प्रायः ज्यों-का-त्यों १२। १२। ५२ में भी आया है। भा० २। ४। १७ में श्रीशुकदेवजीका वाक्य है कि **'तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः। क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं.........॥'** बड़े-बड़े तपस्वी, दानी, कीर्तिमान्, मनस्वी और सदाचारपरायण मन्त्रवेत्ता भी अपने-अपने कर्मोंको भगवदर्पण किये बिना कल्याण प्राप्त नहीं कर सकते। पूजा भी सगुण स्वरूप रघुपति-पदारविन्दकी हो, अन्य देवादिके पूजनसे भवपार नहीं हो सकते। क्योंकि वे सब तो स्वयं ही भवमें पड़े हैं, यथा—*'भव प्रवाह संतत हम परे'* (देवस्तुति), *'भवताप भयाकुल पाहि जनं'* (शिवस्तुति), इत्यादि। तब वे दूसरेको कैसे तार सकते हैं? और कलिमें भी हरिगुणगानसे ही भवसे निवृत्ति कही।

३ (क) *'कलिजुग केवल हरिगुनगाहा। गावत'* इति। केवलका भाव कि यह सबसे सुगम है। यशगानमात्र ही तो करना है। दूसरा भाव कि हरिगुणगानमात्र ही एक उपाय है, दूसरा है ही नहीं, यथा—**'कलौ युगे कल्मषमानसानामन्यत्र धर्मे खलु नाधिकारः।'** (ख) *'गावत'* से जनाया कि गानेमात्रकी देर है, फलमें देरी नहीं। योग, यज्ञादिमें देरमें फल मिलता है। यह सौलभ्यगुण कलियुगमें दिखाया। उनमें जन्मभर कर्म करनेपर कहीं भवतरण होता है।

☞ कृत, त्रेता और द्वापरके साधनोंका फल *'भव तरहीं'* कहा। यथा—*'करि हरिध्यान तरहिं भव प्रानी' 'प्रभुहि समर्पि करम भव तरहीं'* और *'नर भव तरहिं उपाय न दूजा।'* और कलिके साधनका फल *'पावहिं भव थाहा'* कहा। इस भेदमें क्या भाव है? इस भेदसे हरिगुणगानमें विशेषता दिखायी। वे भव तर जाते हैं पर थाह नहीं पाते और ये थाह पा जाते हैं, फिर इनको कभी उसमें डूबनेका डर नहीं रह जाता। वे अन्तमें भव तरते हैं, बीचमें डर बना रहता है और ये गुणगणगान करते ही भवत्राससे अभय हो जाते हैं, जीते-जी इनको भय नहीं रहता। संसारमें रहते हुए भी इनका समुद्रके पार जाना सहज दिखाया, औरोंको तरनेके लिये बड़ा परिश्रम दिखाया, इनको नावकी भी अपेक्षा नहीं। पं० रा० व० श० जी कहते हैं कि *'तरहिं'* और *'पावहिं थाहा'* इस भेदसे जनाया कि हरिकीर्तनसे भवसमुद्र सूख-सा जाता है, पैरों-पैरों निर्भय होकर चले जाओ। यथा *'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माहीं॥'* बैजनाथजी *'थाह'* पानेका भाव यह लिखते हैं कि—'नर-तन पाकर उससे भजन करना यही थाह पाना है; इस उपायसे दो-चार जन्ममें पार हो जाते हैं।'—(पर इसमें दास सहमत नहीं है।)

बा० २७ (३—७) में जो कहा गया था उसीको यहाँ विस्तारसे कहा है और जो वहाँ विस्तारसे कहा था उसे यहाँ संक्षेपसे कहा है। विशेष वहीं देखिये।

कृत जुग सब जोगी बिग्यानी। करि हरि ध्यान	१ *ध्यान प्रथम जुग।* (१। २७। ३)
त्रेता बिबिध जग्य नर करहीं। प्रभुहि समर्पि	२ *मखबिधि दूजें।* (१। २७। ३)
द्वापर करि रघुपति-पद पूजा। नर भव तरहिं	३ *द्वापर परितोषत प्रभु पूजे।* (१। २७। ३)
कलिजुग केवल हरिगुनगाहा	४ *कलि केवल मल मूल मलीना। पापपयोनिधि जनमन मीना॥ नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥* (१। २७। ४, ६)।

श्रीकृष्णप्रेमभिखारीजी—यह कहना ठीक नहीं कि 'द्वापर-त्रेतादिकमें भगवान् नाम सुनकर तुरंत दौड़े आते थे, रक्षा करते थे। कलियुगमें ऐसा सम्भव नहीं।' कलियुग अपना जितना अधिक प्रभाव दिखाता है अन्य साधन उतने ही फीके पड़ते जाते हैं और उनकी शक्तिका ह्रास होता जाता है; परंतु नामकी महिमा उतनी ही अधिक प्रदीप्त होती जाती है। प्राचीन कालमें अन्यान्य साधनोंमें जो शक्ति बिखरी हुई थी वह नाममें पुञ्जीभूत हो गयी है। यदि त्रुटि है तो हमारे विश्वासकी। वर्णाश्रमधर्म अब कहाँ रहा? ब्रह्मचर्याश्रम गुरु-सेवाके साथ लुप्त हो गया। त्यागपूर्ण वानप्रस्थ अब दिखलायी नहीं देता। गृहस्थ और संन्यास-आश्रम अब केवल नामको ही रह गये—निर्जीव देहकी भाँति निस्सार हो गये।

कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना॥ ५॥
सब भरोस तजि जो भज रामहि। प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहि॥ ६॥
सोइ भव तर कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं॥ ७॥
कलि कर एक पुनीत प्रतापा। मानस पुन्य होहिं नहिं पापा॥ ८॥

अर्थ—कलियुगमें केवल रामगुणगान यही एक अवलम्ब है, न योग है, न यज्ञ, न ज्ञान (हीका अवलम्ब हो सकता है)॥ ५॥ (सब योग-यज्ञ-ज्ञानादि) का भरोसा छोड़कर जो श्रीरामचन्द्रजीका भजन करते, प्रेमसमेत उनके गुणसमूहोंको गाते हैं वे ही भव तर जाते हैं, इसमें किंचित् सन्देह नहीं। कलियुगमें नामका प्रताप प्रकट है॥ ६-७॥ कलियुगका एक पवित्र प्रताप है कि मानसिक पुण्य (की पुण्यमें गणना) होते हैं, मानसिक पाप नहीं॥ ८॥

नोट—*'जोग न जग्य न ग्याना'* का अर्थ यह नहीं है कि वे रह ही नहीं गये, किंतु यह है कि इस युगमें उनका आधार नहीं लिया जा सकता। मनुष्य पापोंके कारण इन साधनोंके योग्य नहीं रह गये। इनके लिये मन, वचन और तन तीनोंका नीरोग होना आवश्यक है, जो कलिमें प्राय: असम्भव है। सबमें एक-न-एक उपाधि है और हरिगुणगान निरुपाधि है। निम्न उद्धरणोंसे भाव भली प्रकार स्पष्ट हो जायगा।

'ग्रसे कलि रोग जोग संजम समाधि रे।' (वि० ६६)
'जपतप तीरथ जोग समाधी। कलि मति बिकल न कछु निरुपाधी॥'
'करतहु सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज सम बाढ़त जाहीं।' (वि० १२८)
'कर्मजाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दामको। ज्ञान बिराग जोग जपको भय लोभ मोह कोह काम को॥
दिन सब लायक भए गायक रघुनायक गुनग्रामको। बैठे नाम कामतरु तर डर कौन घोर घन धाम को॥'
(वि० १५६।)

'कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भये जैसे तम नासिबे को चित्रके तरनि।
करम कलाप परिताप पाप सान सब ज्यों सुफूल फूले तरु फोकट फरनि॥
दंभ लोभ लालच उपासना बिनासि नीके सुगति साधन भई उदरभरनि।
जोग न समाधि निरुपाधि न बिराग ज्ञान बचन बिसेष बेष कहूँ न करनि॥' (वि० १८४)
'कोह मद मोह ममतायतन जानि मन बात नहिं जाति कहि ज्ञानबिज्ञान की॥' (वि० २०९)
'नाहिंन आवत आन भरोसो। एहि कलिकाल सकलसाधन-तरु है श्रम फलनि फरो सो॥
तप तीरथ उपवास दान मख जेहि जो रुचै करो सो। पायहि पै जानिबो कर्मफल भरि भरि वेदु परो सो॥
आगमबिधि जप जाग करत नर सरत न काज खरो सो। सुख सपनेहु न जोग-सिधि साधन रोग बियोगु धरो सो॥
काम कोह मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो। बिगरत मन सन्यास लेत……' (वि० १७३)
'दम दुर्गम दान दया मष कर्म सुधर्म अधीन सबै धन को।
तप तीरथ साधन जोग बिराग सो होइ नहीं दृढ़ता तन को॥
कलिकाल करालमें रामकृपाल इहै अवलंब बड़ो मन को।
तुलसी सब संयम हीन सबै इक नाम अधार सदा जन को॥'

पं० रा० व० श०—१ *'कलिजुग जोग न जज्ञ न ज्ञाना। एक……'* —भाव कि योगमें शरीरबल चाहिये, इन्द्रियनिग्रह और चित्तकी एकाग्रता चाहिये, कलिमें चित्त एकाग्र करनेकी जरूरत नहीं, केवल बैठकर नाम जपना चाहिये। यज्ञमें वेदपाठी विप्रोंकी तथा धनकी जरूरत है; कलिमें वैसे विप्र मिलते नहीं, धन बिना सभी दुःखी हैं, अतः यह भी साधन नहीं रह गया। द्वापरमें पूजासे भव तरते हैं पर पूजा अङ्ग-उपाङ्गसहित विधिपूर्वक की जाती है, ऐसी पूजा भी कठिन है, यह भी कलिमें नहीं हो सकती। अर्थात् जो साधन अन्य युगोंमें प्रधान थे वे कोई नहीं निबह सकते।

नोट—२ *'एक अधार राम गुन गाना'* इति। पहले *'हरिगुनगाहा'* कहा और यहाँ *'राम गुन गाना'*, इस प्रकार हरिसे रामका बोध कराया। पूर्व गुणवाचक हरिपद दिया क्योंकि वहाँ क्लेशहरणका प्रसङ्ग था। भव क्लेश है। पुनः, *'हरि'* से श्रीरामजीको हरि, विष्णु आदिसे अभेद बताया।

पं०—योगादिसे चित्तकी शुद्धि होती है, जब वे नहीं रहे तब बिना चित्तकी शुद्धिके कल्याण कैसे होगा, उसपर कहते हैं—*'सब भरोस……'*

नोट—३ (क) *'सब भरोस तजि'* इति। भाव कि 'और भरोसा रहनेसे भजन और प्रेमसमेत गुणगान न होगा।' *'सब'* अर्थात् योग, यज्ञ, जप, तप आदि सबका; यथा—*'मुनि त्यागत जोग भरोस सदा।'* (१४ छन्द) (ख) *'सोइ भव तर……'* इति। अन्य भरोसा होगा तो भव तरनेमें सन्देह है; इसमें सन्देह नहीं, यथा— *'बिश्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे। जपि नाम तव बिनु श्रम तरहि भव नाथ सो समरामहे।'* (वेदस्तुति १३ छन्द) इसीसे कलियुगमें सब भरोसा छोड़कर रामभजन करनेवालेको चतुर कहा है। यथा—*'कठिन काल मल कोस धर्म न ज्ञान न जोग जप। परिहरि सकल भरोस रामहि भजहि ते चतुर नर॥'* (आ० ६) इसमें धर्म, ज्ञान, योग और जपको गिनाकर तब *'परिहरि सकल भरोस'* कहकर जना दिया कि धर्म, ज्ञान आदि किसीका भी भरोसा न करे। (पं० रा० व० श० जीका मत है कि यहाँ भाव यह है कि जहाँतक बने योगादि करते जाओ पर उनका भरोसा भव तरनेके लिये न रखो। जब उनका भरोसा ही नहीं तब

कोई करेगा ही क्यों?) (ग) एकमात्र प्रभुका भरोसा करके भजन करे, उससे प्रेम होगा तब प्रेमसे कीर्तन करेगा जिससे भवनाश होगा। यदि यह क्रम लें तो 'भज' से श्रवणभक्तिका ग्रहण होगा।

४ (क) *'नाम प्रताप प्रगट।'* भाव कि और सबका प्रताप इस युगमें छिप गया। *'कलि बिसेष नहिं आन उपाऊ'* जो बा० २२ (८) में कहा था वह 'विशेषता' यहाँ दिखायी। नामका प्रताप अन्य युगोंमें प्रकट न था; क्योंकि तब लोग अन्य साधनोंहीमें लगे रहते थे। उन साधनोंके करनेकी उनमें योग्यता थी, इससे नाममें लोगोंकी प्रवृत्ति प्रायः नहींके बराबर थी, इससे नाम-प्रताप गुप्त रहा। कलिमें अन्य साधन हो ही नहीं सकते, इसलिये नामप्रतापका डंका बज रहा है। यथा—*'गति न लहै राम नाम सों अस बिधि सिरिजा को। सुमिरत कहत प्रचारि कै बल्लभगिरिजा को॥ अकनि अजामिल की कथा सानंद न भा को। नाम लेत कलिकालहू हरिपुरहि न गा को। राम नाम महिमा करै काम भूरुह आको। साखी बेद पुरान है तुलसी तन ताको।'* (वि० १५२) (ख) चौ० ४ में *'कलिजुग केवल हरिगुनगाहा'* कहा, फिर चौ० ५, ६ में *'एक अधार राम गुनगाना'* और *'प्रेम समेत गाव गुन ग्रामहि'* कहा। चौ० ७ में यहाँ *'नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं।'* कहते हैं। ऐसा करके हरिगुणगाहा, रामगुणगान, रामगुणग्राम, गान और नामकी एकता सूचित की। नाम बीजरूप है, चरित उसीका विस्तार है। यथा—*'रामचरित सत कोटि महँ लिय महेस जिय जानि।'*

५ *'कलि कर एक पुनीत प्रतापा'* का भाव कि—(क) उसका और सब प्रताप अपुनीत है, यथा—*'कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा'* केवल एक यही प्रताप पुनीत है। (ख) यह प्रताप सबमें प्रधान है; इसके आगे सब तुच्छ हैं। (ग) कलिमें ही यह पवित्र गुण है, अन्य युगोंमें नहीं। भाव कि अन्य युगोंमें मानस-पुण्य पुण्यमें तो गिने जाते हैं पर साथ ही मानस-पाप पापमें गिन लिये जाते हैं, इनका फल भी भोगना पड़ता है।

६ (क)—*'मानस पुन्य होहिं नहिं पापा'* इस पदसे गोस्वामीजीने भा० (१। १८। ७) के गुप्त आशयको स्पष्ट कर दिया है। **'नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सारभुक्। कुशलान्याशु सिद्ध्यन्ति नेतराणि कृतानि यत्॥'** श्रीसूतजी ऋषियोंसे कह रहे हैं कि राजा परीक्षित्ने कलियुगको न मारा, क्योंकि वे भौंरेकी तरह सार पदार्थके ग्रहण करनेवाले हैं। उन्होंने कलिमें यह एक बड़ा गुण देखा कि इसमें पुण्य कर्म शीघ्र सिद्ध हो जाते हैं और पाप कर्म करनेहीपर मनुष्य पापका भागी होता है। (ख) *'मानस पुन्य'* का भाव कि पुण्यका संकल्पमात्र मनमें किया है, वह पुण्य कर्मद्वारा अभी किया नहीं गया अथवा कोई ऐसा विघ्न उपस्थित हो गया कि वह संकल्प पूरा न किया जा सका, जैसे कि एकाएक संकल्पके पश्चात् धनहीन हो जानेसे, शरीरमें भारी रोग हो जाने इत्यादिसे; तो भी पुण्यका फल संकल्पमात्रसे ही प्राप्त हो जाता है। (ग) *'नहिं पापा'* अर्थात् पाप जबतक मनमें है तबतक मनुष्य पापका भागी नहीं होता। जबतक पाप कर्ममें परिणत न होगा तबतक उसका कोई बुरा परिणाम वा फल न होगा। पाप करनेपर ही पापका भागी होगा। (घ) *'होहिं'* का भाव कि जैसे और युगोंमें मानसपुण्य फलप्रद होते आये हैं वैसे ही इसमें भी होते ही हैं; विशेषता यह है कि मानस पाप अन्य युगोंमें फलप्रद होते हैं पर इस युगमें मानसिक पाप फलप्रद नहीं होते।-इससे ज्ञात हुआ कि प्रताप केवल पापके फलप्रद न होनेमें है। श्रीमद्भागवतके अनुसार 'होहिं' का अर्थ यह है कि पुण्यकर्म शीघ्र सिद्ध होते हैं, अन्य युगोंमें बहुत कालमें सिद्ध होते थे। बैजनाथजी लिखते हैं कि मानसपुण्य फलप्रद हो जाता है क्योंकि इसके न हो सकनेपर ग्लानि होती है।

☞ इससे प्रभुकी कलिके जीवोंपर असीम करुणा और अनुकम्पा दर्शित करते हैं। उन्होंने देखा कि *'कलि केवल मलमूल मलीना। पापपयोनिधि जन मन मीना॥'* है तब जीव बेबस है, मन तो कभी शुद्ध हो ही नहीं सकेगा तब ये जीव तो सदाके लिये भवमें ही पड़े रहेंगे। अतः उन्होंने कृपा करके अन्य युगोंके नियमका यह अपवाद Exception कलिके लिये कर दिया। श्रीरामचन्द्रजीके राज्यमें भी जब मनको जीतना पड़ता था, यथा—*'जीतहुँ मनहि सुनिय अस रामचंद्रके राज'* तब भला कलियुगमें वह कब थिर रखा जा सकता है?

पं० रा० व० श०—*'मानस पुन्य होहिं नहिं पापा।'* पुनीत प्रताप दिखाते हैं कि किसीको देखकर भी मनमें संकल्प हुआ कि हम भी ऐसा करेंगे पर कर न सका तो भी उसका पुण्य लिख गया। यहाँ

शङ्का होती है कि 'तब तो हम रोज ही मनसे कहा करेंगे कि हम दस हजारका ब्रह्मभोज करेंगे इत्यादि। हमारा पुण्य लिख जायगा?' इसका उत्तर यह है कि मानस पुण्य उसीको कहेंगे कि मनमें स्वतः संकल्प आ गया कि करेंगे पर कर न सके। जानकर संकल्प किया करना, यह वञ्चकता है, मानस पुण्य नहीं है। कलियुगमें यह प्रताप क्यों रखा गया? इससे कि कलिमें तन और वचनसे ही इतने पाप होते हैं कि ठिकाना नहीं। यदि मनके भी पाप गिने जाते तो '*पापपयोनिधि जन मन मीना*' होनेसे पापका भार शीघ्र ही इतना अधिक हो जाता कि प्रलय हो जाता, प्रलयका यही नियम है। इसलिये मनके पाप क्षमा कर दिये गये। परीक्षित्‌जीने इसी गुणको जानकर कलियुगको मारा न था।

वै०—मानस पाप इस युगमें नहीं लिये जाते, अन्यमें लिये जाते हैं। कारण यह है कि जैसे राजदरबारमें किसी चतुर पढ़े-लिखेसे कोई काम बिगड़ जाय तो उसका बड़ा अपराध समझकर उसको भारी दण्ड दिया जाता है। वही काम यदि किसी मूर्खसे बिगड़े या न बन पड़े तो वह अपराध नहीं गिना जाता। वैसे ही अन्य युगोंमें धर्मका प्रचार था तब लोग सुकृत करके मनको स्थिर कर लेते थे। उसको सुधर्मी बना लेते थे। अतएव तब मनमें पाप आया तो कैसे न लगे? वे रोक सकते थे पर उन्होंने रोका नहीं, और कलियुगी अज्ञ जीव मनको रोक नहीं सकते, अतः उनको मानस पाप नहीं लगता।

पर जो रामानुरागी धर्मात्मा हैं वे कलियुगी नहीं कहे जा सकते। वे यदि मनमें पाप लावें तो जरूर ही पाप लगेगा। इसी तरह अन्य युगोंमें भी अधर्मी अज्ञ जीवोंको मानस पाप लगता था। कारण कि वे आजन्मसे पाप कर रहे हैं? वे पापकर्म न करें उनके लिये यही बड़ा सुकृत है। तहाँ मनका पाप कौन है? ऐसे ही कलियुगी अज्ञ जीवोंको मानस पाप लगेगा। धर्मात्माको अवश्य लगेगा। जिसे सन्देह हो वह करके देख ले कि उसकी क्या दशा होती है।—[मेरी समझमें यह भाव ग्रन्थकारके शब्दोंका नहीं है। हाँ! उपदेशार्थ ऐसा भले ही कह दिया जाय। जान-बूझकर नामके बलपर पाप करना नामापराध है। वैसे ही जान-बूझकर ऐसा करेगा उसके कर्म थोड़े ही दिनोंमें पापमय होने लगेंगे। तब वह कर्मका दण्ड पावेगा पर जबतक मनमें रहा तबतक उसे उसका दण्ड न मिलेगा। मनमें पापका अनुसंधान करते-करते वह अवश्य कर्म करने लगेगा। अतः पापकर्म न हों इसके लिये मनमें भी पापका चिन्तन न करना चाहिये यह अवश्य है]।

पं० वि० त्रि०—कलियुगका पुनीत प्रताप कहते हैं कि मानस पुण्य होता है। मानस पूजन आदिका यथार्थ फल होता है, पर मानस पाप नहीं होता। कार्यमें परिणत हो जानेपर ही पाप होता है। अशुभ संकल्प उठनेपर भी कार्यमें परिणत न करनेसे मनुष्य पापसे बच सकता है। यदि कलियुगमें भी मानस पाप होता तो किसीका भी निस्तार असम्भव हो जाता यह ग्रन्थकारकी कपोलकल्पना नहीं है। इसके लिये ब्रह्मवैवर्तका वचन है। '**कलेर्दोषनिधेस्तात गुण एको महानपि। मानसं तु भवेत् पुण्यं सुकृतं नहि दुष्कृतम्॥**'

नं० प०—'पवित्र प्रताप मानसिक पाप नहीं लगनेके लिये कहा गया। (मानसिक पाप नहीं लगेगा यह कलिका पवित्र प्रताप है) किंतु मानसिक पुण्य होनेके लिये कलिका पवित्र प्रताप नहीं कहा गया है, क्योंकि मानसिक पुण्य तो जैसे हर युगोंमें होता था वैसे कलियुगमें भी होगा; अतः '***मानस पुन्य होहिं***' लिखा गया है। कलिमें मानसिक पापका नहीं होना लिखना जरूरी है, क्योंकि मानसिक पापसे बहुत लोग चिन्तामें पड़े रहते हैं।......'

दो०—कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुनगन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान।
जेन केन बिधि दीन्हे दान करै कल्यान॥१०३॥

अर्थ—यदि मनुष्य विश्वास करे तो कलियुगके समान दूसरा युग नहीं (क्योंकि इस युगमें केवल) श्रीरामजीके निर्मल गुणगणोंका गान करनेसे बिना परिश्रम ही मनुष्य भवपार हो जाता है। धर्मके चार

चरण प्रसिद्ध हैं (पर) कलियुगमें एक चरण प्रधान (यह) है कि जिस किसी प्रकारसे भी दान करनेसे कल्याण होता है॥ १०३॥

नोट—१ *'सम जुग आन नहिं।'* भाव कि यह अन्य तीन युगोंसे उत्तम है। ऊपर तो सब दुर्गुण ही कहे तब उत्तम कैसे? इसकी उत्तमता आगे बताते हैं कि बिना परिश्रम भवपार करनेवाला यही युग है। औरोंमें आजीवन परिश्रम करनेपर भी ठीक नहीं कि भव तर ही जायँ, किञ्चिद् चूक हुई कि गिर गये। और इसमें रामगुणगानमात्रसे तर जाते हैं।

कलियुगमें यह गुण देखकर राजा परीक्षित्ने उसे नहीं मारा। यथा—'**दृष्टो दिग्विजये राज्ञा दीनवच्छरणं गतः। न मया मारणीयोऽयं सारङ्ग इव सारभुक्॥ यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना। तत्फलं लभते सम्यक्कलौ केशवकीर्तनात्॥ एकाकारं कलिं दृष्ट्वा सारवत् सारनीरसम्। विष्णुरातः स्थापितवान्कलिजानां सुखाय च॥**' (भा० माहात्म्य १। (६७—६९)। अर्थात् दिग्विजय-समय कलिको दीन और शरणमें आनेसे तथा इससे कि राजा परीक्षित् भ्रमरके समान सारग्राही थे, उन्होंने उसे न मारा। यह सोचकर कि तप, योग, समाधिसे जो फल नहीं मिलता वह सब भी कलिमें केवल भगवत्-कीर्तनसे ही मिल जाता है, संसारकी कलिसे यह भलाई जानकर उन्होंने सारयुक्त कलियुगको छोड़ दिया। (ये नारदजीके वचन भक्तिप्रति हैं) पुनश्च—'**कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः। कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥**' (भा० १२। ३। ५१) अर्थात् दोषोंकी खानि कलियुगके अंदर एक महान् गुण है कि कृष्णके नाम-गुण-गानसे ही मनुष्य मुक्तसंग हो परमपदको जाता है।

२—*'बिमल'* का भाव कि ये गानेवालेके मनको भी निर्मल कर देते हैं। *'जौं नर कर बिस्वास'* का भाव कि इसमें सुगमता इतनी है कि प्रायः इसमें विश्वास नहीं होता। विश्वास न होनेसे रामगुणगानमें प्रवृत्ति नहीं होती और भक्ति न होनेसे भवपार नहीं होता, यथा—*'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।—'*, *'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिश्वासा॥'* (९०। ८) विनयमें भी कहा है—*'तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो। रामनाम बोहित भवसागर चाहै तरन तरो सो॥'* (वि० १७३)

नोट—३ *'प्रगट चारि पद धर्म—'* इति। (क) धर्मके चार पैर हैं—सत्य, दया, तप और दान। सत्ययुगमें धर्म इन चारों चरणोंसे उपस्थित रहता है। यथा—'**कृते प्रवर्त्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनैर्धृतः। सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप॥**' (भा० १२। ३। १८) इसी तरह अधर्मके भी चार पैर कहे गये हैं।—वे हैं—असत्य भाषण, हिंसा, असन्तोष (तृष्णा) और कलह (द्वेष)। यथा— '**अधर्मपादैरनृतहिंसासन्तोषविग्रहैः॥**' (भा० १२। ३। २०) सत्ययुगमें अधर्म एक ही पैरसे उपस्थित रहता है और धर्म चारों पैरोंसे। त्रेतामें धर्म तीन चरणसे और अधर्म दो चरणसे, द्वापरमें धर्म दो पादसे और अधर्म तीनसे और कलियुगमें धर्म एक ही चरणसे और अधर्म अपने चारों चरणोंसे स्थिर रहता है। (प० पु० सृष्टिखण्ड पुलस्त्यवाक्य भीष्मप्रति)

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि त्रेतामें अधर्मके प्रभावसे धर्मके सत्य आदि चरणोंका चतुर्थांश घट जाता है। द्वापरमें अधर्मके चरणों-(हिंसा, असन्तोष, झूठ और द्वेष-) की वृद्धिसे धर्मके चारों चरणोंका आधा-आधा अंश क्षीण हो जाता है। कलियुगमें अधर्मके चारों चरणोंके बहुत बढ़ जानेसे धर्मके चारों चरणोंका केवल चौथाई भाग शेष रह जाता है और धीरे-धीरे क्षीण होता हुआ वह भी नहीं रह जाता। यथा—'**त्रेतायां धर्मपादानां तुर्यांशो हीयते शनैः। अधर्मपादैरनृतहिंसासन्तोषविग्रहैः॥**' (भा० १२। ३। २०) **तपःसत्यदयादानेष्वर्धं ह्रसति द्वापरे। हिंसातुष्ट्यनृतद्वेषैर्धर्मस्याधर्मलक्षणैः॥**'(२२) **कलौ तु धर्महेतूनां तुर्यांशोऽधर्म-हेतुभिः। एधमानैः क्षीयमाणो ह्यन्ते सोऽपि विनङ्क्ष्यति॥**'(२४)

मानसका यह दोहा (पूर्वार्ध) *'प्रगट चारिपद—'* पद्मपुराण सृष्टिखण्डके वाक्यसे कुछ मिलता-जुलता है। वहाँ कहा है कि सत्ययुगमें तपस्या, त्रेतामें ज्ञान, द्वापरमें यज्ञ और कलिमें एकमात्र दानकी प्रशंसा की गयी है।

सृष्टिखण्ड अ० १८ में नन्दाने भी ऐसा ही कहा है। यथा—'**तपःकृते प्रशंसन्ति त्रेतायां ज्ञानकर्म च। द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौ युगे॥**' (४३७)

प० पु० के उद्धरणोंके अनुसार *'प्रगट चारि——'* का भाव यह होता है कि धर्मके तप, ज्ञान, यज्ञ और दान इन चार चरणोंमेंसे एक-एक युगमें एक ही एक प्रधान रहता है। सत्ययुगमें तप प्रधान, त्रेतामें ज्ञान, द्वापरमें यज्ञ और कलिमें दान ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

☞ *कलि महुँ एक प्रधान'* कहकर सूचित किया कि जब धर्मके कारणरूप उपर्युक्त चार चरणोंमें एक दान ही अवशिष्ट रह गया है, तब धर्मेच्छुकोंका कर्तव्य है कि दान अवश्य करते रहें।

नोट—४ *'जेन केन बिधि दीन्हे'* इति। दानके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें ऐसा विधान है कि दान धर्म है यदि पात्रको दिया जाय। उत्तम देश और कालमें साधु पुरुषोंको प्रार्थना और सत्कारपूर्वक दान दे। शुभ कर्मोंद्वारा प्राप्त हुआ धन सत्पात्रको दे। देनेके बाद पश्चात्ताप वा दानका बखान न करे। दयालु, पवित्र, सत्यवादी, जितेन्द्रिय, सरल, योनि और कर्मसे शुद्ध, यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान और प्रतिग्रह सदा इन छः कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाला ब्राह्मण दानका उत्तम पात्र है। ऐसे दानसे धर्म होता है। देश-कालादिका विचार न करनेपर पात्र और क्रियाकी विशेषतासे वही दान दाताके लिये अधर्मके रूपमें परिणत हो जाता है। (महाभारत शान्तिपर्व)

शान्तिपर्वान्तर्गत पराशरगीतामें दानकी तीन कोटियाँ कही गयी हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। बिना याचना किये हुए स्वयं जाकर जो दान दिया जाता है वह सर्वोत्तम माना गया है। याचना करनेपर दिया हुआ मध्यम है। अवहेलना तथा अश्रद्धासे दिया हुआ दान अधम है। सुपात्रको दिया हुआ दान कभी नष्ट नहीं होता।

आश्वमेधिक पर्वमें कहा है कि दान और उसका फल सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे तीन प्रकारका है और उसकी गति भी तीन प्रकारकी होती है। दान देना कर्तव्य है ऐसा समझकर अपना उपकार न करनेवाले ब्राह्मणको (जिसका कुटुम्ब बड़ा हो तथा जो दरिद्र और वेदका विद्वान् हो) दिया हुआ दान सात्त्विक है। जो वेदका एक अक्षर भी नहीं जानता, जिसके पास संपत्ति है, जो अपना उपकार कर चुका है, सम्बन्धीको, प्रमत्तको, अपात्रको एवं फलकी इच्छा रखकर दिया हुआ दान राजस है। अवैदिक एवं चोरी करनेवाले ब्राह्मणको दिया हुआ तथा क्रोध, तिरस्कार, क्लेश और अवहेलनापूर्वक दिया हुआ दान तामस है।

गीतामें भी सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकारके दानोंकी व्याख्या भगवान्ने (अ० १७। २०—२२) में की है। तामस दान क्या है यह पूर्व दोहा १०१ में लिखा जा चुका है।

'जेन केन बिधि दीन्हे' कहकर जनाया कि चाहे वह तामस वा अधम दान ही क्यों न हो वह कल्याण अवश्य करेगा।

४ *'जेन केन बिधि'* अर्थात् जैसे भी बने। इससे जनाया कि विधिपूर्वक चाहे न भी हो, चाहे मनसे इच्छा भी न हो, जबरदस्ती भी किसीके डरसे किया हो, सकाम वा निष्काम हो, कैसे ही क्यों न किया जाय वह कल्याण ही करेगा।—(*कैसेउ गाढ़े सकरे दान होत सहाय*—रा० प्र०)।

पुनः, *'जेन केन——दान करइ कल्यान'* का भाव कि दान कल्याण तो सभी युगोंमें करता है पर तभी जब विधिपूर्वक हो। जैसा उपर्युक्त उद्धरणोंमें बताया गया है, नहीं तो वह दाताका कल्याण न करके उसको हानि ही पहुँचाता है, कलियुगमें सब युगोंसे यह भारी श्रेष्ठता है कि येन-केन-प्रकारेण दिया हुआ दान कल्याण ही करता है।

गीतामें भगवान्ने कहा है—यज्ञ, दान और तपरूप कर्म मनीषी (मनन करनेवाले) पुरुषोंके लिये नित्यप्रति कर्तव्य हैं, क्योंकि ये पवित्र करनेवाले हैं। यथा—**'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥'** (१८। ५) *'कल्यान'* में *'पावनानि'* और *'जौं नर कर बिश्वास'* में **'मनीषिणाम्'** का भाव ले सकते हैं। जो विश्वास करेगा वह बुद्धिमान् है। भगवान् रामानुजाचार्यजी लिखते हैं 'मनन उपासनाको कहते हैं। अभिप्राय यह है कि जीवनपर्यन्त उपासना करनेवाले मुमुक्षु पुरुषोंके लिये कर्म उपासनाकी सिद्धिके विरोधी सम्पूर्ण प्राचीन कर्मोंका नाश करनेवाले हैं।'—यही अर्थ यहाँ *'करइ कल्यान'* का है।

'दान' का अर्थ है—अपने न्यायोपार्जित अन्न, धन आदि देने योग्य पदार्थोंको अपनी शक्तिके अनुसार सत्पात्रको देना, अपनी सम्पत्तिको दूसरेकी सम्पत्ति बना देना। दानोंमें अन्नदानका भी बड़ा महत्त्व है।—*'अन्नदान अरु रस पीयूषा।'* प० पु० में अभयको सर्वोत्कृष्ट दान कहा है। यथा—**'सर्वेषामेव दानानामिदमेवैकमुत्तमम्। अभयं सर्वभूतानां नास्ति दानमतः परम्॥'** (सृष्टि० १८। ४३८)

नोट—योग, ज्ञान, जप, यज्ञ और गुणगानसे *'भव तरना'* कहा और 'दान' से 'कल्याण'। इससे जनाया कि इससे 'भव तरना' नहीं होगा, आगेके लिये कल्याण अवश्य होगा, तब गुणगानमें मन लगेगा। (विशेष ऊपर लिखा गया है)!

पं०—ऊपर और प्रथम दोहेमें उनके लिये साधन बताया जिनको 'रामनाम रामगुणगान' में विश्वास हो। दूसरे दोहेमें उनके कल्याणके लिये साधन बताया जिनको उसमें विश्वास नहीं है पर धनी हैं। दूसरा अर्थ यह है कि कलिमें जहाँ दानधर्मकी प्रधानता है वहाँ चारों चरण धर्मके प्रकट हैं।

नोट—६ यह दानका प्रकरण है। और यहाँ येन-केन प्रकारेण दान करना कर्तव्य बताया गया है। अतएव यहाँ श्रद्धावान् दाताओंकी विज्ञप्तिके लिये आवश्यक कुछ बातें लिख देना असङ्गत न होगा। स्कन्दपुराण माहेश्वर-कुमारिकाखण्डमें इस विषयमें यह श्लोक है—**'द्विहेतुः षडधिष्ठानं षडङ्गं च द्विपाकयुक्। चतुष्प्रकारं त्रिविधं त्रिनाशं दानमुच्यते॥'** अर्थात् दानके दो हेतु, छः अधिष्ठान, छः अङ्ग, दो प्रकारके परिणाम (फल), चार प्रकार, तीन भेद और तीन विनाशसाधन हैं; ऐसा कहा जाता है।

श्लोककी संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है—(१) श्रद्धा और शक्ति दानके दो हेतु हैं। बिना श्रद्धा सर्वस्वका दान एवं प्राणदान भी फलप्रद नहीं, अतः सबको श्रद्धालु होना चाहिये। यथा—**'सर्वस्वं जीवितं चापि दद्यादश्रद्धया यदि।'**(३। ३०) **नाप्नुयात् स फलं किञ्चिच्छ्रद्दधानस्ततो भवेत्।'** श्रद्धावान् पुरुष अपने न्यायोपार्जित धनका सत्पात्रके लिये जो दान करते हैं वह थोड़ा भी हो तो उसीसे भगवान् प्रसन्न हो जाते हैं। कुटुम्बके भरण-पोषणसे जो अधिक हो, वही धन दान करने योग्य है। सामान्य (अत्यन्त तुच्छ अथवा जिसपर सर्वसाधारणका अधिकार हो), याचित (माँगकर लायी हुई), न्यास (धरोहर), आधि (बन्धक रखी हुई), दान (दी हुई वस्तु), दान-धन (दानमें मिली हुई वस्तु), अन्वाहित (जिस धरोहरको रखनेवालेने फिर दूसरी जगह रख दिया हो), निक्षिप्त (जिसे किसीने विश्वासपर अपने यहाँ छोड़ दिया हो) और 'सान्वय सर्वस्व दान' (वंशजके रहते हुए दूसरेको सब दे देना)—ये नौ प्रकारके दान वर्जित हैं। यथा—**'आपत्स्वपि न देयानि नववस्तूनि पण्डितैः। यो ददाति स मूढात्मा प्रायश्चित्ती भवेन्नरः॥'**(३। ४०)

(२) दानके छः अधिष्ठान ये हैं*—धर्मदान (जो केवल धर्म-बुद्धिसे दिया जाय), अर्थदान (मनमें प्रयोजन रखकर प्रसंगवश जो कुछ दिया जाय) काम-दान (स्त्री-समागम-सुरापान आदिके प्रसङ्गमें जो अनधिकारीको दिया जाय), लज्जादान (लज्जावश जो दिया जाय), हर्षदान (प्रियकार्य देखकर, प्रिय समाचार सुनकर जो दिया जाय) और भय-दान (भयसे विवश होकर जो दिया जाय)।

(३) दानके छः अङ्ग ये हैं—**'दाता प्रतिग्रहीता च शुद्धिर्देयं च धर्मयुक्। देशकालौ च दानानामङ्गान्येतानि षड् विदुः।'** (३। ५०) दाता (यह नीरोग, धर्मात्मा, श्रद्धालु, व्यसनरहित, पवित्र और अनिन्दनीय कर्मसे आजीविका चलानेवाला हो), प्रतिग्रहीता (जो कुल विद्या आचारका उज्ज्वल, शुद्ध जीवन-निर्वाह-वृत्तिवाला, इत्यादि सात्त्विक ब्राह्मण हो वह सर्वोत्तम अधिकारी है) शुद्धि (प्रसन्नता, प्रेम, सत्कारपूर्वक देना) धर्मयुक्त देय वस्तु (धर्म, न्यायोपार्जित हो, धार्मिक उद्देश्य रखकर दी जाय), देश और काल (जिस देश और कालमें जो पदार्थ दुर्लभ हो, उस पदार्थका दान करने योग्य वही देश और काल श्रेष्ठ है)।

---

* **'अधिष्ठानानि वक्ष्यामि षडेव शृणु तानि च।
धर्ममर्थं च कामं च व्रीडाहर्षभयानि च॥'** (स्क० मा० कुमा० ३। ४२)

(४) दानके दो परिणाम हैं—एक तो परलोक और दूसरा इहलोकके लिये। श्रेष्ठ पुरुषोंको दिये हुएका परलोकमें उपभोग होता है। असत् पुरुषोंको दिये हुएका भोग यहीं होता है।

(५) दानके चार प्रकार हैं—ध्रुव (कूप, तड़ाग आदि बनवाना, बाग लगाना, इत्यादि जो सबके उपयोगमें आवें), त्रिक (प्रतिदिन जो दिया जाय), काम्य (जो किसी इच्छाकी पूर्तिके लिये दिया जाय) और नैमित्तिक (कालापेक्ष अर्थात् ग्रहण, संक्रान्ति आदिकी अपेक्षासे दिया हुआ। क्रियापेक्ष जो श्राद्धादि क्रियाओंकी अपेक्षासे दिया जाय। गुणापेक्ष जो विद्या, अध्ययन आदि गुणोंकी अपेक्षा रखकर दिया जाय)।

(६) दानके तीन भेद ये हैं—उत्तम (घर, मन्दिर वा महल, विद्या, भूमि, गौ, कूप, प्राण और सुवर्ण इन आठ वस्तुओंका दान उत्तम है—'**गृहप्रासादविद्याभूगोकूपप्राणहाटकम्। एतान्युत्तमदानानि उत्तमान्यन्य-दानतः॥**' (३। ६६), मध्यम (अन्न, बगीचा, वस्त्र और अश्वादि वाहन ये चार मध्यम) और कनिष्ठ (जूता, छाता, वर्तन, दही, मधु, आसन, दीपक, काष्ठ और पत्थरका दान)।

(७) दान-नाशके तीन हेतु ये हैं—पश्चात्ताप, अपात्रता और अश्रद्धा। यथा—'**यद्दत्त्वा तप्यते पश्चादपात्रेभ्यस्तथा च यत्। अश्रद्धया च यद् दानं दाननाशास्त्रयस्त्वमी॥**' (३। ६९)

नित जुग धर्म होहिं सब केरे*। हृदय राम माया के प्रेरे॥ १॥
सुद्ध सत्व समता बिग्याना। कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना॥ २॥

शब्दार्थ—**सुद्ध सत्त्व**=वह सत्त्वगुण जिसमें रजोगुण अथवा तमोगुणका लेशमात्र न हो, केवल सत्त्व-ही-सत्त्व हो।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीकी मायाकी प्रेरणासे सबके हृदयमें सब युगोंके धर्म प्रत्येक युगमें नित्यप्रति हुआ करते हैं॥ १॥ शुद्ध सतोगुण (वृत्ति), समता, विज्ञान और मनमें प्रसन्नता जान पड़नी यह सतयुगका प्रभाव है॥ २॥

नोट—१ प्रत्येक युगमें चारों युगोंके धर्म नित्य होते हैं। हृदयमें इनकी प्रेरणा हुआ करती है, यह कहकर फिर इसकी पहिचान बताते हैं कि कैसे जानें कि किस समय हमारे हृदयमें किस युगके धर्मकी प्रेरणा हो रही है।—'***सुद्ध सत्व*—**' इत्यादिसे। जब हृदयमें शुद्ध सात्त्विक भाव उठें, सब जीवोंमें समता भाव हो रहा हो, किसीसे वैर-विग्रह न हो, सबमें एक समान ईश्वरको देखनेकी बुद्धि हो, विशेष अनुभव-ज्ञानका प्रादुर्भाव हो रहा हो और मन प्रसन्न हो तब समझे कि कृतयुगका प्रभाव हृदयपर है।—(पांडेजी '***सुद्ध सत्व समता***' का यह भी अर्थ लिखते हैं कि 'जब शरीर शुद्ध हो, सत्य (सत्त्व) और समता भाव हो)'।

पं० रा० व० श०—युगके धर्म होते हैं। यह धर्म कालधर्म कहलाता है—(आगे कहा भी है—'***कालधर्म नहिं ब्यापहिं ताही***')। युगका धर्म शरीरमें व्याप्त हो जाता है। जैसे सर्दीमें सर्दी, गर्मीमें गर्मी। '***नित जुग धर्म होहिं सब केरे***' का अर्थ दो प्रकारसे हो सकता है—(प्रत्येक युगमें उस) 'युगका धर्म सबके हृदयमें नित्य होता है, दूसरा यह कि 'चारों युगोंके धर्म सबके हृदयमें नित्य होते हैं।'

नोट—२ श्रीमद्भागवतमें इसके सम्बन्धमें एक श्लोक तो यह है—'**कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम्। अनेन क्रमयोगेन भुवि प्राणिषु वर्तते॥**' (भा० १२। २। ३९) श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग ये ही चार युग हैं। ये अपने क्रमके अनुसार पृथ्वीपर देहधारियोंमें वर्तते रहते अर्थात् अपना प्रभाव दिखाते रहते हैं। प्रायः टीकाकारोंने 'इनका अपने-अपने समय अपना प्रभाव दिखाना' अर्थ किया है। अर्थात् प्रत्येक युगमें उस युगके धर्मके अनुसार कर्म होते रहते हैं।

भा० १२। ३। श्लोक २६ से ३० में कहा है कि सभी प्राणियोंमें सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण होते

* 'कृतजुग होहिं धर्म सब केरे'—का० पं०। इसका अर्थ है कि 'सतयुगमें राममाया अर्थात् कृपासे प्रेरित सबके हृदयमें धर्म होते हैं क्योंकि कोई चरण न्यून नहीं।' 'नित' पाठमें अर्थ है कि 'सब युगोंके धर्म नित्य हैं और सब युगधर्म राममायाकी प्रेरणासे सबके हृदयमें होते हैं। सतयुगमें त्रेता, द्वापर और कलिका धर्म होता है। ऐसे ही चारोंका धर्म समझो'—(रा० प्र०)।

हैं। कालकी प्रेरणासे ये आत्मामें प्रवर्तित होते हैं अर्थात् समय-समयपर शरीर, प्राण और मनमें उनका ह्रास और विकास भी हुआ करता है। जिस समय मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ सत्त्वगुणमें स्थित होकर अपना-अपना काम करने लगती हैं, उस समय सतयुग समझना चाहिये। सत्त्वगुणकी प्रधानताके समय ज्ञान और तपस्यामें अधिक प्रेम करने लगता है। जिस समय मनुष्योंकी रुचि और प्रवृत्ति सकाम कर्मों अर्थात् लौकिक-पारलौकिक सुख-भोगोंकी ओर होती है और मन, शरीर और इन्द्रियाँ रजोगुणमें स्थित होकर काम करने लगती हैं तब समझना चाहिये कि उस समय त्रेतायुग अपना काम कर रहा है। जब लोभ, असन्तोष, मान, दम्भ, मत्सर और काम्यकर्मोंकी रुचि हो तब रजोगुण तथा तमोगुणप्रधान द्वापर युग समझना चाहिये। जब कपट, झूठ, आलस्य, निद्रा, हिंसा, विषाद, शोक, मोह, भय तथा दीनताकी प्रधानता हो तब उसे कलियुग समझना चाहिये।

श्लोक २६—३० में जो कहा गया है, उसका मेरी समझमें यही अभिप्राय है कि किसी एक युगकी स्थितिमें अवशिष्ट तीनों युगोंके भी कुछ व्यवहार बने रहते हैं। अतएव हमारी समझमें *'नित जुग धर्म होहिं सब केरे'* का भी यह भाव है। यही अर्थ मानसकारका मत है। (श्लोक चौ० ३—५ में उद्धृत किये गये हैं।)

करु०—*'नित जुग धर्म होहिं सब केरे——'* इति। श्रीरामचन्द्रजीकी प्रेरणासे सबके युग-युगके धर्म नित्य वर्तमान होते हैं। सतयुगका धर्म सतयुगहीमें है, त्रेताका त्रेताहीमें है, द्वापरका द्वापरमें और कलियुगका कलियुगमें। इसीसे 'नित्य युगधर्म' कहा है। किन्तु—'तीनों युगोंके धर्म कलियुगमें सूक्ष्म-सूक्ष्म वर्तमान होते हैं, जिसमेंसे कलियुगका धर्म अति आधिक्यसे है—यही रीति सब युगोंमें जानो। किन्तु—'कोई पुरुष एक ही दिनमें चार प्रहरमें चारोंका धर्म वर्तमान करते हैं।'

'सुद्ध सत्व समता बिज्ञाना——' अर्थात् सतयुगका धर्म है कि शुद्ध सात्त्विक गुण होते हैं, उसीसे मनमें समता और विशेष आत्मज्ञान होता है जिससे सबके मन प्रसन्न रहते हैं।

सत्व बहुत रज कछु रति कर्मा। सब बिधि सुख त्रेता कर धर्मा॥ ३॥
बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस। द्वापर धर्म हरष भय मानस॥ ४॥
तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव बिरोध चहुँ ओरा॥ ५॥

अर्थ—सतोगुण अधिक हो, कुछ रजोगुण भी हो, कर्मोंमें प्रीति और सब प्रकारसे सुख होना, यह त्रेताका धर्म है॥ ३॥ रजोगुण बहुत हो, सतोगुण बहुत ही थोड़ा हो, कुछ तमोगुण हो और मनमें हर्ष और भयका होना, यह द्वापरका धर्म है॥ ४॥ तमोगुण बहुत हो, कुछ रजोगुण हो और चारों ओर वैर-विरोध हो, यह कलियुगका प्रभाव है॥ ५॥

पं० रा० व० श०—त्रेतामें समता छूटकर कर्ममें प्रवृत्ति होती है, यह रजोगुणका प्रभाव है। द्वापरमें तामसके मेलसे भय भी होता है।

नोट—१ *'रज कछु'* भाव कि कर्म तो वे सात्त्विक हैं पर उनमें कुछ अहंबुद्धि, प्रतिष्ठा-मान-बड़ाईका विचार भी हो आता है। ऐसे कर्म करनेकी प्रवृत्ति जब मनमें हो और सब प्रकारका सुख हो तब समझे कि त्रेताका धर्म हृदयमें प्रेरित हो रहा है। इसी तरह जिस समय ऐसे कार्यकी ओर प्रवृत्ति हो कि जिसमें सत्त्वगुण तो नाममात्र है पर है वह सत्कर्म ही, उस कर्ममें अपनी बड़ाई और मान-प्रतिष्ठाकी चाह विशेष है और कुछ तामस विचार भी हैं। जब मनमें हर्ष भी है और मानसी चिन्ताके कारण भय भी रहता है तब जाने कि द्वापरधर्म वर्तमान है। इसी प्रकार जब विशेष तमोगुणी कर्म—उच्चाटन, मारण, मोहनादिकी प्रवृत्ति हो तब कलियुगके धर्म समझ लें। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि भगवान्‌के चले जानेपर युधिष्ठिरके मनमें विकार उत्पन्न होने लगे जिससे उनने जान लिया कि कलियुग आ गया। २—सतयुगमें धर्म चारों चरणोंसे पूर्ण रहता है, अतः उस युगमें शुद्ध सत्त्व ही रहता है। त्रेतामें धर्मका एक पाद 'सत्य' नहीं रह जाता, इससे उसमें रजोगुण भी आ जाता है। द्वापरमें धर्मके दो पैर 'सत्य और शौच' कट जाते हैं, इससे उसमें सतोगुण किञ्चित् ही रहता है, रज बहुत और कुछ तमोगुण रहता है। कलियुगमें एक ही चरण रह जाता है, सत्य, शौच

और दया नहीं रह जाते; इससे उसमें तमोगुण ही विशेष रहता है। सत्त्व तो जाता ही रहता है, रजोगुण किञ्चित् रह जाता है। श्रीमद्भागवतके निम्न उद्धरणोंसे इन चौपाइयोंके भाव विशेष स्पष्ट हो जाते हैं—

सत्त्वं रजस्तम इति दृश्यन्ते पुरुषे गुणाः। कालसंचोदितास्ते वै परिवर्तन्त आत्मनि॥
प्रभवन्ति यदा सत्त्वे मनोबुद्धीन्द्रियाणि च। तदा कृतयुगं विद्याज्ज्ञाने तपसि यद्रुचिः॥
यदा धर्मार्थकामेषु भक्तिर्भवति देहिनाम्। तदा त्रेता रजोवृत्तिरिति जानीहि बुद्धिमन्॥
यदा लोभस्त्वसन्तोषो मानो दम्भोऽथ मत्सरः। कर्मणां चाऽपि काम्यानां द्वापरं तद्रजस्तमः॥
यदा मायानृतं तन्द्रा निद्रा हिंसा विषादनम्। शोको मोहो भयं दैन्यं स कलिस्तामसः स्मृतः॥ (१२। ३। २६—३०)

अर्थ पूर्व चौ० १ में दिया गया है। आशय यह है कि सत्त्वादि गुण जो पुरुषोंमें देख पड़ते हैं, वे कालप्रेरित हो (आत्मा) मनमें परिवर्तित होते जाते हैं अर्थात् ह्रास-उल्लासद्वारा स्वकार्य करते हैं। जैसे सूर्यादि नवग्रहोंमेंसे किसी एक ग्रहकी दशामें शेष अन्य आठ ग्रहोंकी भी अन्तर्दशा रहती है वैसे ही सत्ययुगादि चारों युगोंमेंसे किसी एक युगकी स्थितिमें अवशिष्ट तीन युगोंके भी कुछ व्यवहार बने रहते हैं, इसलिये कलियुगमें भी अशेष धर्मांशके ह्रासकी सम्भावना नहीं हो सकती। भाव यह निकला कि कलियुगमें भी प्रधान नहीं तो न्यून ही सही, कुछ-न-कुछ अन्य युगोंके भी धर्म बने रहते हैं। जिस समयमें (माया) कपट, (अनृत) असत्यता, (तन्द्रा) आलस्य, निद्रा, हिंसा, विषाद, शोक-मोह, भय, दैन्य यह अधिक हों, उसे तमोगुण-प्रधान कलियुग कहा गया है।

मानसके 'तामस बहुत' की व्याख्या ही मानो श्लोक ३० है। माया, असत्य, आलस्य, निद्रा, हिंसा, विषाद, शोक, मोह, भय और दैन्य ये सब तामसगुण हैं।

करु०—सात्त्विक गुण तो पूर्ण और राजसगुणके चार भागोंमेंसे एक भाग त्रेतामें आ गया। इन्हीं गुणोंके अनुभूत सब नर-नारी कर्म करते हैं। इसीसे त्रेताके कर्म-धर्ममें सब सुख ही है; क्योंकि सात्त्विकसे केवल वैराग्य, योग, ध्यान और राजसके कारण यज्ञ इत्यादि सुन्दर भोग श्रीरामप्रसादी दोनों मिलनेसे त्रेतामें परम सुख है। द्वापरमें आधा राजसगुण और एक भाग सात्त्विक तथा एक भाग तामस होनेसे हर्ष, भय, शोक इत्यादि मिलकर व्याप्त होते हैं। कलिमें तामसगुण पूर्ण, राजस एक भाग और सात्त्विक तो जहाँ-तहाँ कहीं-ही-कहीं भगवत्कृपासे होता है, इसीसे सम्पूर्ण विरोध हो रहा है।

बुध जुग धर्म जानि मन माहीं। तजि अधर्म रति धर्म कराहीं॥ ६॥
काल धर्म नहिं ब्यापहिं ताही। रघुपति चरन प्रीति अति जाही॥ ७॥
नट कृत बिकट* कपट खगराया। नट सेवकहि न ब्यापै माया॥ ८॥

अर्थ—पण्डितजन युगोंका धर्म मनमें जानकर अधर्म छोड़कर धर्ममें प्रेम करते हैं॥ ६॥ जिसकी श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें अत्यन्त प्रीति होती है उसे कालके धर्म नहीं व्यापते॥ ७॥ हे पक्षिराज! नट-(मदारी-)का किया हुआ कपटचरित (=मायाजाल, इन्द्रजाल) विकट होता है पर वह माया उस नटके सेवकको नहीं व्यापती॥ ८॥†

नोट—१ (क) *'जानि मन माहीं'* का भाव कि जाननेसे उसका प्रभाव कम हो जाता है; क्योंकि उससे बचनेका उपाय किया जा सकता है, यथा—*'जाने ते छीजहिं कछु पापी॥'* (१२२। ३) जब यह जान लिया कि कलिका धर्म इस समय व्याप रहा है तब तुरंत उसका उपाय कर लें—भगवान्का कीर्तन करने लगें। [जानना 'बुध' का ही कहा, क्योंकि अधर्मका त्याग उन्हींका काम है; यथा—*'जिमि बुध तजहिं मोह मद माना।'* (४। १५। ८) (रा० प्र०)]

वि० त्रि०—*'नित जुगधर्म होहिं सब केरे। हृदय राम मायाके प्रेरे।'* जिस भाँति महादशाके अन्तर्गत अवान्तर

* 'कपट बिकट—(का०, पं०)।'

† यहाँ अर्थान्तरन्यास और दृष्टान्त अलंकार है।

दशाएँ होती हैं, उसी भाँति सबके हृदयमें नित्य सत्ययुग, द्वापर, त्रेता, कलियुग वर्तता है। जब प्रसन्न मन हो तो समझना चाहिये कि कृतयुग वर्त रहा है। जब सब विधि सुख हो तब त्रेता समझना। जब *'हर्ष शोक भय मानस'* हो तब द्वापर समझना चाहिये, जब चारों ओर विरोध हो तब कलियुग समझना चाहिये। अत: जब प्रसन्न मन हो तब ध्यान धारण करे, जब सब विधि सुख हो तब यज्ञ करे। हर्ष, शोक, भयके समवायमें पूजन करे, और विरोध बढ़नेपर उसे छोड़कर हरिगुणका गान अथवा जप करे।

नोट—२ *'नहिं ब्यापहिं'* का भाव कि काल-धर्म यद्यपि सर्वकालमें बना रहता है तथापि जिसका प्रेम श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें अत्यन्त है उसको वह नहीं व्यापता। यह कहकर आगे उसका उदाहरण देते हैं—*'नट कृत......।'*

३—*'नट सेवकहि न ब्यापै माया।'* यहाँ कपटका अर्थ खोला कि वह नटकी माया है, झूठी है। नटसेवक अर्थात् जो नटकी सेवा करता है, नटने जिसको वह माया बता दी है, यथा—*'जा पर होइ सो नट अनुकूला॥'* (३। ३९। ४) वह नटके इन्द्रजाल देखकर भ्रममें नहीं पड़ता। यथा—*'सो नर इंद्रजाल नहिं भूला। जापर—'* (३। ३९। ४) वैसे ही कालकृत धर्म श्रीरघुनाथजीके सेवकको नहीं व्यापते, यथा—*'रामराज नभगेस सुनु—काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥'* (२१) रामकृपासे सेवक भुलावेमें नहीं पड़ते।

वै०—*'नट कृत बिकट कपट......।'* कठिन कपट जैसे कि खपड़ेको रुपया बना देना, हाथसे वस्तु उड़ा लेना, वस्त्र जला देना और फिर ज्यों-का-त्यों कर देना इत्यादि नटकृत चरित सबको सच्चे प्रतीत होते हैं, यथार्थ कोई नहीं जानता कि झूठे हैं, सब भुलावेमें पड़ जाते हैं।

करु०—*'नट सेवकहि न ब्यापै माया'* इति।—भाव कि इसी प्रकार हरिप्रेरणासे हरिमाया, वा हरि अपनी मायासे स्वयं, वा हरि अपनी माया करके अनेक गुण-दोषयुक्त अनेक कलाएँ जो करते हैं वह हरिसेवकको नहीं व्यापतीं।—[आ० ३९ (४) और *'नट इव कपट चरित कर नाना॥'* (लं० ७२। ११) देखिये]

दो०—हरिमायाकृत दोष गुन बिनु हरिभजन न जाहिं।
भजिअ राम तजि काम सब अस बिचारि मन माहिं॥ १०४॥

अर्थ—भगवान्‌की मायाके किये हुए दोष और गुण बिना भगवद्भजनके नहीं जाते, ऐसा मनमें विचारकर सब काम छोड़कर श्रीरामचन्द्रजीका भजन करना चाहिये एवं करो॥ १०४॥

नोट—१ (क) दोष और गुण दोनों मायाकृत हैं, यथा—*'सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक॥'* (४१) दोहा ४१ में *'गुन दोष'* कहा और यहाँ *'दोष गुन।'* भेदका कारण यह है कि वहाँ संतगुणका प्रश्न है और गुणसे ही प्रसङ्ग उठाया और उसीपर समाप्त किया है; यथा—*'संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता'* *'संत असंतन्ह के गुन भाषे'* अत: वहाँ गुण शब्द प्रथम कहा। और यहाँ कलिधर्मका वर्णन है अत: दोष शब्द प्रथम रखा। दूसरे, छंदमें जहाँ जैसा बैठता है वैसा क्रम रख दिया जाता है वैसा भी हो सकता है। (ख) दोष हरण करनेके सम्बन्धसे 'हरि' पद दिया। *'बिनु हरिभजन'* का भाव कि जिसकी माया उसीका भजन (सेवा) करनेसे उसकी मायासे बचत हो सकती है। यथा—*'सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहि न मोह माया प्रबल। अस बिचारि मन माहिं भजिअ महामायापतिहि॥'* (१। १४०) *'अस जिय जानि भजहिं मुनि मायापति भगवान॥'* (६२) *'काम सब'*—अर्थात् संसारसम्बन्धी सब कार्य तथा सब प्रकारकी कामनाएँ। *'तजि काम'*=निष्काम होकर।

☞*'कहउँ कछुक कलिधर्म'*—प्रकरण समाप्त हुआ।

दो०—तेहि कलिकाल बरष बहु बसेउँ अवध बिहगेस।
परेउ दुकाल बिपति बस तब मैं गएउँ बिदेस॥ १०४॥

अर्थ—हे पक्षिराज! उसी कलिकालमें मैं बहुत वर्षोंतक अवधमें रहा। अकाल पड़ा तब मैं विपत्तिके वश होकर परदेश चला गया॥ १०४॥

नोट—१ (क) *'तेहि कलिकाल'* इति। *'पूरब कलप एक प्रभु जुग कलिजुग मलमूल॥'* (९६) से प्रसंग उठाया था और *'सो कलिकाल कठिन उरगारी। पापपरायन सब नर नारी।——भए लोग सब मोह बस लोभ ग्रसे सुभ कर्म॥'* (९७) पर छोड़ा था; अब वहींसे फिर उठाया। बीचमें ९८ (१) से दोहा १०४ तक ७ दोहोंमें कलिधर्म कहे। (ख) *'दुकाल'—'यह निसिचर दुकाल सम अहई॥'* (६। ६९। ३) देखिये। *'तब मैं गएउँ बिदेस'* से जनाया कि प्रजा ईतिभीतिसे दुःखी हो रही थी, अतः सुदेशको गये। यथा—*'ईति भीति जनु प्रजा दुखारी। त्रिबिधि ताप पीड़ित ग्रह मारी। जाइ सुराज सुदेस सुखारी॥'* (अ० २३५। ३-४)

पं० रा० व० श०—**दुकाल**=दुर्भिक्ष, अकाल। दुकाल पद देकर जनाया कि साधारण अकालसे वह अकाल कठिन था। जब दो वर्ष लगातार वर्षा नहीं होती, दो वर्ष बराबर अकाल पड़ता है, तब दूसरे वर्षका अकाल दुकाल कहा जाता है। एक अकालमें अधिक कष्ट नहीं होता, क्योंकि उसमें पहिलेके बचे-खुचेसे लोग गुजर कर लेते हैं, दुबारा अकाल पड़ा तब खानेको कुछ रह न गया, क्या खायें? अतः मरने लगे।

गएउ उजेनी* सुनु उरगारी। दीन मलीन दरिद्र दुखारी॥ १॥
गएँ† काल कछु संपति पाई। तहँ पुनि करौं संभु सेवकाई॥ २॥

अर्थ—हे गरुड़! सुनिये। दीन, मलिन (मैला-कुचैला और मनमें उदास), कंगाल और दुःखी होकर मैं उज्जैन गया॥ १॥ कुछ समय बीतनेपर कुछ धन-सम्पदा पाकर फिर मैं वहीं शम्भुकी सेवा करने लगा॥ २॥

नोट—१ उज्जैन जानेका कारण कि वह देश सदा हरा-भरा रहता है। यह मालवा प्रदेशकी राजधानी है और महादेवजीकी पुरी है। अपने इष्टकी पुरी तथा अन्न-धनादिसे परिपूर्ण जानकर वहाँ गया। इसीको अवन्तीपुरी कहते हैं जो सप्त मुक्तिदाता पुरियोंमेंसे एक है।

वै० १—क्षुधासे पीड़ित होनेसे दीन अर्थात् मनसे दुःखित, मैले-फटे वस्त्र होनेसे चेष्टासे मलिन, पैसा न होनेसे दरिद्र और उससे दुखारी। २—*'कछु संपति पाई'* से वणिज-व्यापार, चाकरी इत्यादि करना जनाया। *'गएँ काल'* अर्थात् दो-चार वर्षमें।

नोट २—*'कछु संपति पाई'* से जनाया कि *'दीन दरिद्र'* न रह गया। दरिद्रके समान दूसरा दुःख नहीं, यथा—*'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।'* अतः पूर्व दुःखी थे।

पं० रा० व० श०—*'तहँ पुनि करौं'* से जनाया कि अवधमें रहता था तब भी करता था—*'सिवसेवक मन क्रम अरु बानी। आन देव निंदक अभिमानी॥'* (९७। २) पर अकालमें धन न रह जानेसे सेवा छूट गयी थी, अब धन पानेपर फिर सेवा करने लगा। यह शिवसेवा बिना मन्त्र लिये करते थे। मन्त्र आगे मिलेगा।

बिप्र एक बैदिक सिव पूजा। करै सदा तेहि काजु न दूजा॥ ३॥
परम साधु परमारथ बिंदक। संभु-उपासक नहिं हरि-निंदक॥ ४॥
तेहि सेवौं मैं कपट समेता। द्विज दयाल अति नीति निकेता॥ ५॥

अर्थ—एक ब्राह्मण वेदविधिसे सदा शिवजीकी पूजा किया करता था, उसे दूसरा कोई कार्य न था॥ ३॥ वे परम साधु और परमार्थके ज्ञाता थे, शम्भुके उपासक थे पर हरिके निन्दक न थे॥ ४॥ मैं कपटसहित उनकी सेवा करता था। वह विप्र अत्यन्त दयालु और नीतिधाम थे॥ ५॥

नोट—१ (क) *'बैदिक सिव पूजा'* अर्थात् वेदमन्त्रोंसे शिवपूजा करता था। इससे शिवोपासनाकी प्राचीनता भी दिखायी। [पूजा तीन प्रकारकी होती है, वैदिक, तान्त्रिक और पौराणिक। वैदिक पूजा सात्त्विक है, पौराणिक रजोगुणी है और तान्त्रिक तमोगुणी है। (पां०) ब्रह्मकी उपासना वैदिक रीतिसे, अन्यकी तान्त्रिक रीतिसे होती है। (गौड़जी) पंजाबीजी लिखते हैं कि—*'बैदिक सिव पूजा'*=वेदविहित शिवार्चन। तात्पर्य यह कि एक तान्त्रिक

---

* उज्जैनहि—(का०)। † गएँ—(भा० दा०)।

पूजा भी होती है, उसमें तमोगुण प्रधान है और तान्त्रिक पूजक वैष्णवोंसे विरोध भी करते हैं। दूसरी वैदिक पूजा है जिसमें सतोगुणकी मुख्यता है। इसीसे वैदिक पूजकका किसीसे विरोध नहीं होता।] (ख) ***'तेहि काजु न दूजा'*** इति। उपासना इसीका नाम है। सदा इष्टके समीप रहना, चाहे सेवासे, चाहे ध्यानसे, चाहे कीर्तन इत्यादिसे। भुशुण्डिजीके सम्बन्धमें कहा है कि ***'तजि हरिभजन काज नहिं दूजा।'*** और शिवजीके सम्बन्धमें भी कहा है—***'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग अराती॥'***

पं० रा० व० श०—१ ***'साधु'*** से जनाया कि परोपकारमें लगे रहते थे, कपटरहित, प्रियवादी और परोपकारी थे। [मन और इन्द्रियोंको साधे हुए थे, ये उसके वशमें थीं। (पं०)] ***'परमारथ बिंदक'*** अर्थात् केवल परमार्थ जानते ही न थे वरन् परमार्थलाभ इनको प्राप्त हो चुका था। [वह आत्मस्वरूपवेत्ता था (पं०)। मुक्ति-मार्गपर सदा दृष्टि रखता था (वै०)। पुनः, बिंदक=प्राप्त—(खर्रा)। ***'परमारथ बिंदक'*** का यह भी अर्थ लोग करते हैं कि **'राम-तत्त्व'** का ज्ञाता था। राम ही एवं रामपदप्रेम ही परमार्थ है, यथा—***'सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू॥ राम ब्रह्म परमारथ रूपा।'*** इसीसे आगे भुशुण्डिजीको समझाते हुए कहा है कि ***'सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति रामपद होई॥'*** यह जानकर वह शिवोपासना करता था। **'परमारथ'**=ज्ञान उपासनादिका सिद्धान्त तत्त्व। ***'नहिं हरि-निंदक'*** यथा—***'हरिहरपद रति मति न कुतरकी'***]

नोट—२ ***'नहिं हरि-निंदक'*** इति। यही शास्त्रसिद्धान्त है कि अपनी उपासनामें दृढ़ रहे, दूसरेकी निन्दा न करे। (पं० रा० व० श०) मूढ़ उपासक ही ईश्वरोंमें भेद मानकर उनसे द्वेष करते हैं पर ये वैसे न थे। (पं०)

३ (क) ***'करै सदा तेहि काज न दूजा।'*** यह कर्मकी उत्तमता है, मनसे परम साधु और परमार्थ बिंदक। ***'नहिं हरि-निंदक'*** यह वचनकी शुद्धता कही। (वै०) (ख) ***'तेहि सेवौं'*** अर्थात् स्नान कराऊँ, धोती छाँटूँ, पूजाकी सामग्री एकत्र कर दूँ इत्यादि। ***'कपट'*** अर्थात् मनमें उससे प्रेम न था। (वै०) कपट-छल यह कि विष्णु-विरोध जो हृदयमें है वह उनसे छिपाये रहता अथवा विद्या पढ़कर अपनी मान-प्रतिष्ठा, बड़ाई चाहता था। (पं०) ***'कपट समेता'*** का भाव कि वैदिक रीति जाननेके लिये तथा परमार्थ जाननेके लिये नहीं वरन् स्वार्थसाधनमात्रके लिये कि इससे इसके द्वारा पूजा-प्रतिष्ठा होगी और भोजन भी मिलेगा (पं० रा० व० श०)।

४—***'नीति निकेता'*** का भाव यह है कि धर्मशास्त्रमें जिन कर्मोंका विधान है वह करता था। धर्मशीलको नीतिवान् कहते हैं। केवल 'नीति' शब्दसे धर्मनीति अभिप्रेत है। [पुनः, अति ***'नीति निकेता'*** का भाव कि नीतिकी रीति है कि जो सेवा करे उसे अवश्य कुछ देना चाहिये। इसीसे ***'नीति निकेता'*** कहकर आगे देना कहते हैं। (वै०)] ५—***'दयाल अति नीति······'*** अर्थात् दयालुतादिक अनेक गुण उसमें थे।

बाहिज नम्र देखि मोहि साईं। बिप्र पढ़ाव पुत्र की नाईं॥ ६॥
संभुमंत्र मोहि द्विजबर दीन्हा। सुभ उपदेस बिबिध बिधि कीन्हा॥ ७॥
जपौं मंत्र सिव मंदिर जाई। हृदय दंभ अहमिति अधिकाई॥ ८॥

अर्थ—हे स्वामी! मुझे ऊपरसे नम्र देखकर ब्राह्मण मुझे पुत्रकी तरह पढ़ाते थे॥ ६॥ उस ब्राह्मणश्रेष्ठने मुझे शिवजीका मन्त्र दिया और अनेक प्रकारसे कल्याणकारी उपदेश किया॥ ७॥ मैं शिवजीके मन्दिरमें जाकर मन्त्र जपा करता था (परंतु) मेरे हृदयमें दम्भ और अहंकार (कि जो कुछ हूँ मैं ही हूँ, मेरे समान दूसरा शिवोपासक नहीं) बढ़ता गया॥ ८॥

नोट—१ (क) ***'बाहिज नम्र।'*** पूर्व जो कहा था कि ***'सेवौं कपट समेता'*** उसीको यहाँ और स्पष्ट करते हैं कि मैं बाहरसे देखनेमात्रको नम्र था, भीतरसे नहीं। (ख) ***'पुत्र की नाईं'*** से जनाया कि वह मुझसे कुछ भी अंतर वा भेद न रखता था। (रा० प्र०) मुझपर उसका बहुत वात्सल्य हो गया, वह बड़े प्रेमसे पढ़ाता था, जैसे कोई अपने पुत्रको पढ़ावे। (ग) शम्भुमन्त्र अर्थात् पञ्चाक्षरी **'नमः शिवाय'** यह मन्त्र दिया। मन्त्र देनेपर गुरुका कर्त्तव्य है कि वह शिष्यको कल्याणका उपदेश करे, उसीके अनुकूल विप्रने उपदेश दिया। [***'सुभ उपदेस'*** =शुभ आचरणका उपदेश—(खर्रा)=धर्म, नीति, शास्त्र सब रीतिसे उपदेश किया]

२ (क) *'सिव मंदिर जाई'* से जनाया कि वहाँसे शिव-मन्दिर दूर था। पुनः, भाव कि घरपर नहीं जपता था, दूसरोंको दिखानेके लिये बाहर जाकर मन्दिरमें बैठकर जपता था, क्योंकि वहाँ सभी लोग शिवजीके दर्शन-पूजनार्थ आते थे। यही बात आगे कहते हैं। (ख) *'हृदय दंभ……।'* यहाँ *'कपट समेता'* को और स्पष्ट किया। मन्दिर जाकर जप करता जिसमें सब बड़ा भक्त और भजनानन्दी जानें, इत्यादि [*'अहमिति अधिकाई'* का भाव कि दम्भ-अहंकार इतना बढ़ा कि उसकी इति नहीं। (रा० प्र०)]

वि० त्रि०—*'जपौं मंत्र……अधिकाई।'* इति। दम्भी तो वह पहिलेसे ही था, यथा—*'धन मद मत्त परम बाचाला। उग्रबुद्धि उर दंभ बिसाला॥'* अब शम्भुमन्त्रसे दीक्षित भी हो गया, अतः दम्भ और बढ़ गया, मन्दिरमें जाकर जप करने लगा। अभिमान भी बढ़ गया कि अब मैं गुरुजनोंसे किस बातमें कम हूँ। विद्या भी मुझे मिली, शिवमन्त्र भी मिल गया।

दो०—मैं खल मलसंकुलमति नीच जाति बस मोह।
हरिजन द्विज देखें जरौं करौं बिष्नु कर द्रोह॥
सो०—गुर नित मोहि प्रबोध दुखित देखि आचरन मम।
मोहि उपजै अति क्रोध दंभिहि नीति कि भावई॥१०५॥

अर्थ—मैं मूर्ख एवं दुष्ट, सम्पूर्ण मलोंसे परिपूर्ण बुद्धि अर्थात् अत्यन्त मलिनबुद्धि, नीच जाति और मोहवश था। भगवद्भक्तों, वैष्णवों और ब्राह्मणोंको देखते जलता और विष्णुसे द्रोह करता था। गुरु मुझे नित्य ही बहुत समझाते (क्योंकि) वे मेरा आचरण देखकर दुःखी होते थे। (पर उनके समझानेसे) मुझे अत्यन्त क्रोध उत्पन्न होता था। क्या दम्भीको नीति (धार्मिक कर्त्तव्य) कभी अच्छी लगती है? (कदापि नहीं)॥ १०५॥

नोट—१ (क) *'हृदय दंभ अहमिति अधिकाई'* कहकर अब उसका कारण कहते हैं कि 'खल, मलिन-बुद्धि, नीच जाति, मोहवश' का यह सहज स्वभाव है, मुझमें यह सब अवगुण थे। [पुनः, 'खल' कहा क्योंकि गुरुद्रोही था। *'मल संकुलमति नीच जाति'* का भाव कि इसीसे दुष्टाचरणपर ग्लानि भी नहीं होती थी। (पं०)] (ख) *'बस मोह'* —भाव कि मोह-(अज्ञान-) वश मैं अन्धा हो रहा था, मुझे उलटा ही समझ पड़ता था, यथा—*'मोह न अंध कीन्ह केहि केही।'* (७०। ७) वेद-शास्त्र आदिका सार सिद्धान्त जो गुरु कहते थे, वह मेरे मस्तिष्कमें नहीं जमता था। खल कहकर मोहवश कहनेका भाव कि मोहवश होनेसे ही खल दूसरोंसे द्रोह करते हैं। यथा—*'करहिं मोह बस द्रोह परावा। संत संग हरि कथा न भावा॥'* (४०। ६)

२—*'हरिजन द्विज देखें जरौं……।'* (क) *'मैं खल'* कहकर तब *'हरिजन द्विज देखें जरौं'* इत्यादि कहा, क्योंकि ये खलोंके लक्षण हैं, यथा—*'मातु पिता गुर बिप्र न मानहिं'* *'बिप्रद्रोह परद्रोह बिसेषा। दंभ कपट जिय धरें सुबेषा॥'* (४०। ५, ८) पहले तो वैष्णवमात्रको देख जलता था, ऊर्द्ध्वपुंड्र, तिलक, माला, कण्ठी आदि देख मनमें आग-सी लग जाती थी। दूसरे, मैं शूद्र था, विप्र मुझे मानते न थे, अतः उनसे भी जलता। तीसरे जब वैष्णवोंसे वाद-विवाद हो तो विष्णुकी निन्दा करने लगता और उनसे वैर ठान लिया। (ख) ☞ पहिले जबतक मन्त्र न मिला था तबतक *'आन देव निंदक'* था, अब मन्त्र पाकर तथा धनवन्त होकर विष्णुद्रोही हो गया। [पुनः, *'हरिजन……'* का भाव कि जो ब्राह्मण हरिभक्तिके उपदेष्टा हों उनकी बुद्धि देखकर जलता था, उनका तिरस्कार किया करता था। (पं०)] (ग) *'देखें जरौं'*—इससे जनाया कि मेरे हृदयमें अत्यन्त ताप हुआ करता था यह खलका स्वभाव है। यथा *'खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥'* (३९। ३) *'जरौं'* से यह भी जनाया कि मैं उनका कुछ कर न पाता था, कर पाता तो जलन न होती। जलन होनेका कारण यह भी था कि मैं अपनेसे उनको न्यून मानता था, अपनेको किसी प्रकार उनसे कम नहीं समझता था।

३—(क) *'प्रबोध'*—जैसे कि तुझे अपनी उपासना करनी चाहिये, दूसरेकी उपासनासे क्या प्रयोजन जो सबसे विरोध करता है। (वै०) *'दुखित देखि आचरन'* अर्थात् आचरण देख कि बड़ा ही दम्भी,

अभिमानी, द्वेषी इत्यादि है पश्चात्ताप करें और दुष्टाचरणसे निवृत्त करनेके हेतु उपदेश भी करते थे। (पं०) *'मोहि उपजै अति क्रोध'* यह समझकर कि 'ये कैसे उपासक हैं जो विष्णुकी बड़ाई सह सकते हैं, उनका खण्डन नहीं करते।' *'प्रबोध'* से परम दयालुता सूचित करते हैं।

४—*'दंभिहि नीति कि भावई'* इससे *'प्रबोध'* को स्पष्ट किया कि नीति सिखाया-समझाया करते थे। क्या नीति सिखाते थे यह आगेकी चौपाइयोंमें देखिये।

एक बार गुर लीन्ह बोलाई। मोहि नीति बहु भाँति सिखाई॥ १॥
सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति रामपद होई॥ २॥
रामहि भजहिं तात सिव धाता। नर पाँवर कै केतिक बाता॥ ३॥

अर्थ—एक दिन (की बात है कि) गुरुने मुझे बुला लिया और बहुत प्रकारसे मुझे नीति (धर्म-कर्तव्य) सिखायी॥ १॥ हे पुत्र! श्रीशिवजीकी सेवाका फल यही है कि श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें अविचल निर्भर भक्ति हो॥ २॥ हे तात! शिवजी और विधाता ब्रह्माजी श्रीरामजीको भजते हैं (तब भला) नीच मनुष्यकी कितनी बात है?॥ ३॥

नोट—१ *'एक बार'* का भाव कि जब समझानेसे न माना तब विशेष रीतिसे समझानेके लिये एकान्तमें घरपर बुलाया। सम्भवत: और बार जब वह कहीं मिल जाते तब समझाते थे; क्योंकि अहंकारवश ये उनके पास जाते ही न होंगे। इसीसे गुरुको बुलाना पड़ा। *'एक बार'* से यह भी आशय ले सकते हैं कि बस यही अन्तिम शिक्षा थी, फिर शिक्षाके लिये कभी बुलानेकी जरूरत न पड़ी। ऐसा समझाना कभी न हुआ। ऐसा ही अर्थ *'एक बार रघुनाथ बोलाये' 'एक बार बसिष्ठ मुनि आये।'* इत्यादिके *'एक बार'* का ले सकते हैं कि यह बुलाना, यह आना, यह उपदेश, यह विनय बस अन्तिम बार की है; इसके बाद फिर ऐसा नहीं हुआ।

वि० त्रि०—*'सिव सेवा……रामपद होई'* इति। यहाँ गुप्त मतका उपदेश करना था, इसलिये गुरुजीने उसे बुला लिया। गुप्त मत वही है, जिसका उपदेश रामजीने हाथ जोड़कर पुरवासियोंको किया था कि *'संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि।'* अर्थात् शङ्कर-भजन कारण है और रामभक्ति कार्य है। यही बात यहाँपर कह रहे हैं कि 'शिव-सेवा' कारण है, उसका फल है—'रामपदमें अविरल भक्ति।'

पं० वै०—*'नीति बहु भाँति'*—जैसे कि वैर-विरोधमें तेरी प्रतिष्ठा जाती है, अपयश होता है और तेरे कारण मुझे भी लोग क्या-क्या कह डालते हैं। ईश्वर-निन्दा महापाप है, यह तू क्यों करता है? परनिन्दाके समान भारी पाप नहीं उसपर भी हरिजन और हरिकी निन्दा! यथा—*'पर निंदा सम अघ न गिरीसा।'* (१२१। २२) *'द्विजनिंदक बहु नरक भोग करि। जग जनमइ बायस सरीर धरि॥'* (१२१। २४) *'सुर श्रुति निंदक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिं ते प्रानी॥'* (१२१। २५)

रा० प्र०—*'बहु भाँति'* वेद, शास्त्र और लोकरीति सिखायी। वह द्विजोत्तम पण्डित ज्ञानी था। 'जैसी रीति उपासनादि वैदिक स्मार्त अनन्य वीर आदिकी है कि सबमें अभेद जाने। अथवा अंश-अंशी, अङ्ग-अङ्गी, अवतार-अवतारीभावसे उपासना करनी चाहिये, यह सिखायी।

(☞ क्या नीति सिखायी, ये वे स्वयं आगे कहते हैं)

पं० रा० व० श०—*'सुत'* सम्बोधन धर्मशास्त्रानुकूल है। जन्म और विद्या दोनोंके देनेवाले पिता कहे जाते हैं।

नोट—२ *'सिव सेवा कर फल……'* इति। इससे जनाया कि रामपदप्रेम बड़ा दुर्लभ पदार्थ है। श्रीशिवजी जब सेवासे परम प्रसन्न होते हैं तब श्रीरामजीकी भक्ति देते हैं। शङ्कर-भजनका यह परम फल है। यथा—*'संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि' 'जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥'* (१। १३८। ७) *'पुनि तैं मम सेवा मन दयऊ। पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरें। राम भगति उपजिहि उर तोरें॥'* (१०९)

३—*'रामहि भजहिं तात सिव धाता।'*—भाव कि जिनकी सेवा ब्रह्मा और शिवजी करते हैं उनसे विरोध

न करना चाहिये। यथा—'*कीन्हेहु प्रभु बिरोध तेहि देवक। सिव बिरंचि सुर जाके सेवक॥*' (६। ६२। ५) '*सिव अज पूज्य चरन रघुराई।*' (१२४। ३) शिवजीके वे इष्ट हैं। यथा—'*सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनि धीरा॥*' (१। ५१। ८) स्वामीके इष्टदेवसे विरोध करनेसे स्वामी कदापि प्रसन्न नहीं हो सकते। ऐसा करनेसे नाश होगा, जैसे रावणका नाश हुआ। '*भजहिं*' से जनाया कि निरन्तर उनका नाम जपते हैं और उसीसे काशीमें मुक्ति देते हैं।

४—'*नर पाँवर*……' भाव कि जब सृष्टिके रचयिता और संहारकर्ता ही रामसेवा करते हैं, तब मनुष्य जो उपजाई सृष्टिमें हैं वे क्यों न भजेंगे? वे न भजें तो उनसे नीच और मूढ़ कौन होगा!

जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी॥ ४॥
हर कहुँ हरि सेवक गुर कहेऊ। सुनि खगनाथ हृदय मम दहेऊ॥ ५॥
अधम जाति मैं बिद्या पाएँ। भएउँ जथा अहि दूध पिआएँ॥ ६॥

अर्थ—श्रीब्रह्माजी और श्रीशिवजी जिनके चरणोंके अनुरागी हैं, अर्थात् जिनके चरणोंमें अत्यन्त प्रेम करते हैं, अरे अभागी! तू उनसे द्रोह करके सुख चाहता है। तू बड़ा अभागी है॥ ४॥ गुरुने श्रीशिवजीको हरिसेवक कहा, यह सुनकर, हे पक्षिराज! मेरा हृदय जल उठा॥ ५॥ अधम जातिवाला मैं विद्या पानेसे ऐसा हो गया जैसा (विषैला) सर्प दूध पिलानेसे (अधिक विषैला) हो जाता है॥ ६॥

नोट—१ '*जासु चरन*' इति। यथा—'*सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥*' (६। २२) शैव होकर शिवजीके इष्टदेव, भव-भञ्जनकर्ता हरिसे द्रोह करके सुखकी चाह करनेसे अभागी कहा, यथा—'*ते नर नरक रूप जीवत जग भव भंजनपद बिमुख अभागी।*' (वि० १४०) भाव कि भगवान्के सेवक शिवजी हैं, शिवजीका सेवक तू है, अतः तू भी उनका सेवक हुआ। शिवके इष्ट भगवान्, भगवान्का द्रोही तू, अतः शिवजी भी तुझे अपना द्रोही समझेंगे। अतः शिवद्रोहसे सुख न मिलेगा—'*जिमि सुख लहै न संकर द्रोही।*' (४। १७। ५)

नोट—२ '*सिव सेवा कर फल सुत सोई*' से लेकर '*तासु द्रोह सुख चहसि अभागी*' तक गुरुने सब नीतिका उपदेश किया। इसमें साम, दाम, भय-भेद और दण्ड—चारों प्रकारकी नीतियाँ दिखायीं। '*रामहि भजहिं तात सिव धाता*' यह साम-नीति, '*सिव सेवा कर फल सुत सोई*……।' यह दाम-नीति, '*नर पाँवर कै केतिक बाता*' यह भय वा भेद और '*सुख चहसि अभागी*' यह दण्ड-नीति है।

३ (क) '*हर कहुँ हरि सेवक गुर कहेऊ*' इति। '*रामहि भजहिं सिव धाता*' '*जासु चरन सिव अज अनुरागी*' यही हरि-सेवक कहना है। भजन करनेवाला, चरणोंमें अनुराग करनेवाला सेवक होता है और जिसका भजन आदि किया जाता है वह स्वामी कहलाता है। '**भज सेवायाम्।**' भजनका अर्थ है सेवा। (ख) '*सुनि*……*हृदय मम दहेऊ*' इति। भाव यह कि मैं तो हरको ही ब्रह्म, परमेश्वर, परमात्मा जानता-मानता और उसीका प्रतिपादन किया करता था, शिवका अनन्य उपासक था और जिन्होंने मुझे मन्त्र दिया वे गुरु ही उसके विपरीत उपदेश देते थे, इससे मेरा हृदय संतप्त हो गया। यह साधारण बात है कि क्रोध आनेपर एवं वश न चलनेपर जब वह (क्रोध) परुष वचन आदिद्वारा बाहर नहीं निकलता तो भीतर-ही-भीतर बड़ी जलन होती है—'*बहइ न हाथ दहइ रिस छाती।*' गुरुको उत्तर दे नहीं सकते, कठोर वचन कह नहीं सकते, कुछ वश चलता नहीं, इसीसे कहते हैं कि '*हृदय दहेऊ।*' पुनः '*हृदय मम दहेऊ*' का भाव कि हमारे गुरु कहलाते हैं, ऐसे वेदपाठी होकर भी ये वेदतत्त्व नहीं जानते, ये तो मूर्ख ही हैं, इनसे अधिक तो हम ही जानते हैं, ये क्या जानें कि उपासना क्या चीज है। इस तरह विचार करता हुआ मैं इष्टकी न्यूनता न सह सका।

पं०—यदि कहो कि वे गुरु हैं उनपर क्रोध अयोग्य है, तुमने क्यों किया? उसपर यह दृष्टान्त दिया। '*अधम जाति*'—शूद्र।

रा० शं०—आगे सर्प होंगे उसका संस्कार अभीसे पड़ गया।

नोट—४ *'भएउँ जथा अहि दूध पिआएँ।'* सर्पको दूध पिलानेसे विष बढ़ता है, वह पिलानेवालेको भी डस लेता है—**'पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्द्धनम्।'** यहाँ उदाहरण अलंकार है। विद्या उत्तम पदार्थ है उससे अज्ञान नष्ट होता है; वैसे ही दूध सात्त्विक पदार्थ है, तमोगुण हारक है। गुरुने पुत्रवत् मुझे विद्या पढ़ायी कि मेरा अज्ञान दूर हो, मेरे आचरण ठीक हों, पर विद्या पानेसे मेरी दुष्टता और बढ़ गयी, पहले तो *'आन देव निंदक'* ही था, विद्या पाकर हरिजन और हरिका निन्दक हुआ तथा पढ़ानेवाले गुरुसे ही द्रोह करने लगा—*'गुर कर द्रोह करौं दिनु राती।'* गुरुसे द्रोह करना, द्वेष रखना, ईर्ष्या करना यह कि ये मर जायँ तो मेरा मान हो, इत्यादि विषरूप होना है।

मानी कुटिल कुभाग्य कुजाती । गुरु कर द्रोह करौं दिनु राती॥७॥

अति दयाल गुर स्वल्प न क्रोधा। पुनि पुनि मोहि सिखाव सुबोधा॥८॥

अर्थ—अभिमानी, कुटिल, दुर्भाग्यवाला, कुजाति, मैं दिन-रात गुरुसे द्रोह करने लगा॥ ७॥ गुरुजी अत्यन्त दयालु थे। उनको किञ्चित् भी क्रोध न था। वे बारंबार मुझे उत्तम ज्ञानकी शिक्षा देते रहे॥ ८॥

नोट—१ *'मानी……'* इति। धनका अभिमान, विद्याका मान (सबको अपनेसे कम, न्यून एवं अपनेको सब प्रकार सबसे बड़ा समझता तथा उपासनाके ज्ञानका एवं अनन्य उपासक होनेका अभिमान)। पापबुद्धि होनेसे टेढ़ा स्वभाव, टेढ़ी बुद्धि और टेढ़ी चाल थी। कुभाग्य उदय हो आया क्योंकि शाप होना है। कुभाग्य ऐसा कि शुभ उपदेशको भी और ही भाँति समझता तथा ईश्वरों और गुरुसे द्वेष और विरोध करनेसे *'कुभाग्य कुजाती'* कहा। कुजाति=शूद्र जाति। (पं०, वै०, रा० प्र०)

नोट—२ *'अधम जाति मैं बिद्या पाएँ'* *'मानी'* *'कुटिल'* इत्यादिमें उत्तरोत्तर अपना अपकर्ष वर्णन सार अलंकार है।—ये सब गुरुद्रोहके कारण हैं।

३—मानी, कुटिल आदि सब दोष भुशुण्डिजीने अपनेमें चरितार्थ कर दिखाये हैं—

मानी—*'गुर आयउ अभिमान तें उठि नहिं कीन्ह प्रनाम॥'* (१०६) *'अहमिति अधिकाई।'*

कुटिल—*'मैं खल हृदय कपट कुटिलाई। गुर हित कहहिं न मोहि सुहाई॥'* (१०६। १६)

कुभाग्य—*'जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी'*

कुजाति—*'जनमत भएउँ सूद्र तनु पाई॥'* (९७। १) *'अधम जाति मैं बिद्या पाएँ'*

४—*'गुरु कर द्रोह करौं दिनु राती'* कहकर *'स्वल्प न क्रोधा'* कहनेका भाव कि निरन्तर द्रोह क्रोधकी उत्पत्तिका कारण है, यथा—*'सुनु प्रभु बहुत अवज्ञा किये। उपज क्रोध ज्ञानिहु के हिये॥'* (१११। १५) पर इनको किञ्चित् क्रोध न हुआ। क्रोध क्यों न हुआ? इसका कारण बताते हैं कि वे *'अति दयाल'* हैं। दयालु क्षमाशील होते हैं। ☞ गुरुका यह शील-स्वभाव एवं अपनी कुटिलता स्मरणकर भुशुण्डिजीको अब भी पश्चात्ताप होता है—*'एक सूल मोहि बिसर न काऊ। गुरु कर कोमल सील सुभाऊ॥'* (११०। २)

५—*'पुनि पुनि मोहि सिखाव……'* इति। यह गुरुका धर्म है कि शिष्यके कल्याणकी बात उसे सिखाता रहे। वे अपने धर्मका पूर्णरूपसे पालन करते रहे। गुरुका अर्थ ही अन्धकारको दूर करनेवाला है। (रा० प्र०)

जेहि ते नीच बड़ाई पावा। सो प्रथमहि हठि* ताहि नसावा॥ ९॥

धूम अनल संभव सुनु भाई। तेहि बुझाव घन पदवी पाई॥१०॥

रज मग परी निरादर रहई। सब कर पद-प्रहार नित सहई॥११॥

मरुत उड़ाव प्रथम तेहि भरई। पुनि नृप नयन किरीटन्हि परई॥१२॥

अर्थ—नीच मनुष्य जिससे बड़ाई पाता है, वह हठ करके पहले-पहल उसीका नाश करता है॥ ९॥ हे भाई! सुनो। धुँआ अग्निसे उत्पन्न होता है, पर वही मेघकी पदवी पाकर (अर्थात् धूमसे मेघरूप बन

* हति—भा० दा०। हठि—का०, पं० रा० गु० द्वि०। 'हति' का अर्थ होगा 'मारकर'।

जानेपर, अपने उत्पन्न करनेवाले) उसी अग्निको बुझाता है॥ १०॥ धूल राहमें पड़ी निरादरसे रहती है, सब (मार्ग चलनेवालोंके) लातोंकी मार नित्य सहती है (अर्थात् मार्गमें पड़ी धूलि सबके लातोंतले पड़ती है सब उसे लतियाते हैं, ऐसा उसका नित्यप्रति निरादर होता है और वह सहती है। नीच है, न सहे तो क्या करे?)॥ ११॥ पर जब उसे पवन उड़ाता है (अर्थात् उसको ऊँचा उठाता है, ऊर्ध्वगति देता है), तो पहले तो वह नीच धूलि उसीको भर देती है अर्थात् शुद्ध पवनको धूलिमय वा धूमिल कर देती है, फिर राजाओंके नेत्रों और किरीटोंमें जाकर पड़ती है। (धूम और रजकी नीचता अधिक बढ़ गयी)॥ १२॥

नोट—१ यहाँ दृष्टान्त अलङ्कार है। २—धूमको नीच कहा क्योंकि कड़ुवा होता है, आँखको हानि पहुँचाता है और जिससे उत्पन्न हुआ उसीको नष्ट करता है। ३—*'रज मग परी·····'*—(बा० ७ (१२), अ० २२९) *'लातहु मारे चढ़त सिर नीच को धूरि समान'* देखिये। यहाँ नीचके स्वभावका वर्णन है।

रा० शं०—धूम और रज दोनों जड़ हैं, इनकी उपमा देकर अपनेको 'जड़' सूचित किया।

रा० प्र०—१ *'सो प्रथमहि हति ताहि नसावा'* भाव कि इनके रहते हमारी बड़ाई नहीं होनेकी, वे मर जायँ तो अच्छा। २—धूम और रज आकाशगामी भी हुए तब भी उनकी नीचता न गयी।

सुनु खगपति अस समुझि प्रसंगा। बुध नहिं करहिं अधम कर संगा॥ १३॥
कबि कोबिद गावहिं असि नीती। खल सन कलह न भल नहिं प्रीती॥ १४॥
उदासीन नित रहिअ गोसाईं। खल परिहरिअ स्वान की नाईं॥ १५॥
मैं खल हृदय कपट कुटिलाई। गुर हित कहै न मोहि सोहाई॥ १६॥

अर्थ—हे पक्षिराज! सुनिये। बुद्धिमान् लोग इस प्रकार इस बातको समझकर अधम-(नीच-) का सङ्ग नहीं करते॥ १३॥ कवि और पण्डित ऐसी नीति कहते हैं कि दुष्टसे न झगड़ा ही अच्छा है न प्रीति॥ १४॥ हे गोसाईं! खलसे सदा उदासीन (=न शत्रु, न मित्र) रहना चाहिये, उसका कुत्तेकी तरह त्याग करना चाहिये॥ १५॥ मैं खल था, मेरे हृदयमें कपट और कुटिलता भरी थी। गुरु हितकी कहते थे और यह मुझे न अच्छी लगती थी॥ १६॥

नोट—१ *'अस समुझि प्रसंगा'* इति। *'अस'* अर्थात् जैसा ऊपर *'जेहि ते नीच बड़ाई पावा'* से *'पुनि नृप नयन किरीटन्हि परई।'* तक आठ चरणोंमें कह आये वैसा।

वै०—संहिता-रहस्यादिके रचयिता और वेद-संहिताके संग्रहकर्त्ता तथा उनका अर्थ प्रसिद्ध करनेवाले 'कोविद' कहलाते हैं।

रा० प्र०—*'श्वानकी नाईं-व्यास बड़ाई खलन की कुत्तेकी पहिचानि। प्रीति किये तन चाटइ बैर किये तन हानि।'*

खर्रा—*'खल सन कलह न भल·······।'* यह न्यायका निदर्शनमात्र है—**'सद्भिर्विवादं मैत्रीं च नासद्भिः किंचिदाचरेत्।'** इसीसे गोसाईंजीने दोनों पक्ष छोड़कर उनसे उदासीन रहनेकी शिक्षा दी।

पं०—दुष्टोंकी प्रीतिसे कलङ्क और वैरसे पीड़ा होती है।

नोट—२ *'उदासीन नित·······नाईं'* इति। पहले कहा कि उनसे न तो प्रीति करना अच्छा न वैर और अब बताते हैं कि आखिर उनके साथ क्या बर्ताव रखना चाहिये। उनसे उदासीन भाव रखे, श्वानकी तरह उनको दूर ही रहने दे। श्वानकी उपमा देकर बताया कि उससे प्रीति करोगे तो फल यह मिलेगा कि वह तुम्हारा मुँह, हाथ इत्यादि चाटेगा, अशुद्ध कर देगा और वैर करोगे तो काट खायेगा जिससे मरण हो जाता है; वैसे ही खलका सङ्ग करोगे तो उसके कुसङ्गसे वह अपना-सा बनायेगा—*'आपु गये अरु घालहिं आनहिं',* और वैर करोगे तो मार ही डालेगा। श्वानको चाण्डाल कहते हैं, उसके स्पर्शसे अपावनता आती है, छू जानेपर स्नान किया जाता है। उसके समान त्याग करनेको कहकर जनाया कि वह चाण्डालवत् अस्पृश्य है, उससे दूर ही रहे। प्रभुने ऐसा ही उपदेश किया है—*'भूलेहु संगति करिअ न काऊ। तिन्ह*

कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई।' (३९। १-२) भूलकर भी सङ्ग न करना यही उनको छोड़ना है। यहाँ पूर्णोपमा है।

पां०—जगत्‌में तीन ही प्रकारका व्यवहार है—मित्रता, शत्रुता और उदासीनता; यथा—***'उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति।'*** (१। ४) इनमेंसे वैर और प्रीति ये दोनों ही खलोंके साथ करने योग्य नहीं, उदासीनताका ही व्यवहार उनके साथ बरतना चाहिये।

नोट—३ ***'मैं खल हृदय......'*** इति। ***'जेहि ते नीच बड़ाई पावा'*** १०६ (९) से ***'खल परिहरिअ श्वानकी नाईं'*** तक गुरुसे द्रोह करनेका कारण और नीति कही, अब फिर अपनी कथा उठाते हैं। प्रसङ्ग ***'पुनि पुनि मोहि सिखाव सुबोधा'*** पर छोड़ा था, अब उसीसे उठाते हैं—***'गुर हित कहै न मोहि सुहाई।' 'हृदय कपट'*** और ***'बाहिज नर्म'*** एक ही हैं।

पं०—***'कपट कुटिलाई।'*** भाव कि बाहरसे तो उनका शिष्य कहाता पर भीतरसे अपना मान बढ़ानेकी (गुरु भी मेरा मान करें इस) इच्छासे उनका उपदेश न भाता था।

दो०—एक बार हर मंदिर जपत रहेउँ सिवनाम।
गुर आएउ अभिमान तें उठि नहिं कीन्ह प्रनाम॥
सो* दयाल नहिं कहेउ कछु उर न रोष लवलेस।
अति अघ गुर अपमानता† सहि नहिं सके महेस॥१०६॥

अर्थ—एक दिन (की बात है कि) मैं शिवालयमें शिवनाम जपता था, (उसी समय) गुरुजी (वहाँ) आये (पर) अभिमानके कारण मैंने उठकर उनको प्रणाम नहीं किया। वे दयालु थे, (इस मेरी धृष्टतापर) उन्होंने कुछ भी न कहा और उनके हृदयमें लेशमात्र भी क्रोध न हुआ। (पर) गुरुका अपमान महापाप है (इससे) महादेवजी उसे न सह सके॥ १०६॥

नोट—१ ***'एक बार हर मंदिर......'*** इति। (क) ***'एक बार'*** के भाव ***'एक बार गुर लीन्ह बोलाई।'*** (१०६। १) में देखिये। ***'हरमंदिर'***—दीक्षित होनेके बादसे एवं दम्भके कारण शिवालयमें जाकर वहीं जप किया करते थे। यथा ***'जपौं मंत्र सिवमंदिर जाई। हृदय दंभ अहमिति अधिकाई।'*** (१०५। ८) वैसे ही इस समय भी वहीं जप कर रहे थे। (ख) ***'सिवनाम'***—नाम और मन्त्रमें अभेद है। जो नाम वही मन्त्र। (पं० रा० व० श०)

पं० रा० व० श०—***'अभिमान तें उठि नहिं कीन्ह प्रनाम।'*** अभिमान यह कि गुरु तो वह है जो अज्ञानको दूर करे और ये तो अज्ञानको बढ़ाते रहे हैं तब ये गुरु कैसे? इनको यथार्थ ज्ञान नहीं है, हमको वेदका यथार्थ ज्ञान है इत्यादि। शास्त्रमें कहा है कि अपनेसे जो बड़ा हो उसके आनेपर खड़ा न होनेसे उसको प्रणाम न करनेसे आयु घट जाती है इत्यादि। [रा० प्र०—अभिमान कि मैं जपनिष्ठ हूँ, जपसे उठना न चाहिये।]

नोट—२ (क) ***'गुर आएउ'*** एकवचन देकर अक्षरसे अपमान दिखाते हैं। ***'अभिमान तें'*** कहकर जनाया कि आये हुए देखा, नेत्र बंद न थे, ध्यानमें मग्न रहा हूँ सो बात न थी, मैं जान-बूझकर न उठा। (ख) ***'उठि नहिं कीन्ह प्रनाम'***—भाव कि गुरुको देखकर उठकर प्रणाम करना चाहिये, ऐसी शास्त्राज्ञा है। (यथा **'गुरुं दृष्ट्वा समुत्तिष्ठेदभिवाद्य कृताञ्जलिः'** इति धर्मशास्त्रे। वि० टी०)। (ग) ***'अति अघ'*** कहा क्योंकि गुरुका अपमान वध-तुल्य है। (रा० प्र०) पुनः, ***'अति अघ'*** का भाव कि द्विजद्रोह, हरिद्रोह इत्यादि भारी अघ हैं और गुरु-अपमान 'अति' अघ है; इससे भारी पाप दूसरा नहीं है। उठकर प्रणाम न करना अपमान है। (घ) ***'सहि नहिं सके।'*** भाव कि अपना अपमान, हरिका अपमान, ब्राह्मण-अपमानतक सहन हो सकता था; गुरु-अपमान नहीं। (ङ) ***'महेस'*** अर्थात् महान् ईश हैं। यह शब्द मानसमें कहीं महान् सामर्थ्य, कहीं महान् रामभक्त, कहीं रामप्रभावके परमज्ञाता तथा शिवजीकी अन्य समस्त देवोंसे अधिक महत्ता आदि प्रसङ्गोंमें प्रायः आया है। विमुखों-

* 'गुर दयाल' † 'अपमानता'—(का०, पं०)। 'अपमान ते'—(भा० दा०)

अन्यायियोंके दण्ड देनेके प्रसङ्गोंमें भी आया है। जैसे कि सतीके मोह-प्रसङ्गमें, कामको जलानेके प्रसङ्गमें तथा यहाँ। यथा—*'गईं समीप महेस तब हँसि पूछी कुसलात।'* (१। ५५)………*'एहि तन सतिहि भेंट मोहि नाहीं। ……चलत गगन भै गिरा सुहाई। जय महेस भलि भगति दृढ़ाई।'* (१। ५७), *'जारेउ काम महेस।'* (१८९)*'असि मन्मथ महेस कै नाईं।'* (१। ९०। ८), *'त्रयनयन मयनमर्दन महेस।'*(वि० १३)

प० प० प्र०—गुरुका अपमान शिवका अपमान है। गुरु शिवभक्त ज्ञानी थे। यहाँ दिखाया कि जैसा स्वभाव श्रीरामजीका है, यथा *'जो अपराध भगत कर करई। रामरोष पावक सो जरई।'*, वैसा ही शिवजीका है। इसने भक्तका अपमान किया अतः शिवजी न सह सके। पुनः, गुरु शङ्कररूप हैं और शङ्करजी रामजीको परमप्रिय हैं, अतः यह शूद्र रामरोषका भी पात्र हुआ।

मंदिर माझ भई नभबानी। रे हतभाग्य अग्य अभिमानी॥ १॥
जद्यपि तव गुर कें नहिं क्रोधा। अति कृपाल चित* सम्यक बोधा॥ २॥
तदपि साप सठ दैहौं तोही। नीति बिरोध सोहाइ न मोही॥ ३॥

अर्थ—मन्दिरमें आकाशवाणी हुई कि अरे नष्टभाग्य! अरे मूर्ख! अरे अभिमानी! यद्यपि तेरे गुरुके क्रोध नहीं है, वे अत्यन्त दयालुचित्त हैं और सम्पूर्ण ज्ञानसे परिपूर्ण हैं, तो भी, हे मूर्ख! तुझको मैं शाप दूँगा; क्योंकि नीतिका विरोध मुझे नहीं सुहाता॥ १—३॥

नोट—१ (क) *'मंदिर माझ'*—यह महाकालेश्वर शङ्करजीका मन्दिर है। आकाशवाणी इसी प्रकार होती और सुनी जाती है, जैसे आजकल कलकत्ता, बम्बईमें जो गाना होता है वह हजारों कोसपर सुन लिया जाता है। पर देववाणीमें और इसमें भेद यह है कि देववाणीको हर एक नहीं सुन सकता, जिसके लिये वह आकाशवाणी है वही सुन सकता है, दूसरा कदापि नहीं सुन सकता। दूसरे, उसके सुननेके लिये किसी आलेकी जरूरत नहीं पड़ती। नभवाणी=आकाशवाणी=वह वाणी जो देवता आदि आकाशमें अदृश्य रहकर वहाँसे बोलते हैं=देववाणी। (ख) *'हतभाग्य'* क्योंकि *'जासु चरन अज सिव अनुरागी। तासु द्रोह सुख चहसि अभागी।'* (१०६। ४) पुनः, भाव कि गुरुके अपमानसे तेरा भाग्य जाता रहा। गुरु-विमुख होकर मेरी सेवासे सुख चाहता था सो तो हुआ नहीं, हाँ दुःख अवश्य पायेगा। *'गुरु हित कहै न मोहि सुहाई'* हितकी बात अच्छी नहीं लगती थी, इससे अज्ञ कहा और गुरुको उठकर प्रणाम न किया अतः अभिमानी कहा। अपमान होनेपर भी क्रोध नहीं किया अतः *'अति कृपाल'* कहा।

पं० रा० व० श०—१ **सम्यक**=यथार्थ, सच्चा, 'सत्यं तथ्यमृतं सम्यक्' इत्यमरः।' उनके चित्तमें सम्यक् बोध है अर्थात् वे गुरु-शिष्य-सम्बन्ध नहीं समझते, क्योंकि उनके चित्तमें समस्त जगत्‌के पदार्थका यथार्थ बोध है। अतः उन्हें मानापमान समान है—[सम्यक् बोध=सर्वात्मक ज्ञान (पं०)=भली प्रकार ज्ञान—(रा० प्र०)। *'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥'* (३। १५। ७) वे सबमें ब्रह्महीको देखते थे]।

जौं नहिं दंड करौं खल तोरा। भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा॥ ४॥
जे शठ गुर सन इरिषा करहीं। रौरव नरक कोटि जुग परहीं॥ ५॥
त्रिजग जोनि पुनि धरहिं सरीरा। अयुत जन्म भरि पावहिं पीरा॥ ६॥

शब्दार्थ—**भ्रष्ट**=नीचे गिरा हुआ, पतित, जो कामका न रह गया, दूषित। **अयुत**=दस हजार संख्याका स्थान तथा उस स्थानकी संख्या। अगणित।

अर्थ—रे दुष्ट! यदि मैं तेरा दण्ड न करूँ (तुझे दण्ड न दूँ) तो मेरा वेदमार्ग दूषित हो जायगा॥ ४॥ जो शठ गुरुसे ईर्ष्या करते हैं वे करोड़ों युगोंतक रौरव नरकमें पड़े रहते हैं॥ ५॥ फिर (रौरवनरकसे निकलनेपर) तिर्यक् योनियोंमें शरीर धारण करते, अर्थात् जन्म लेते हैं और दस हजार जन्मोंतक जन्म-जन्म भर पीड़ा पाते हैं॥ ६॥

---

* उर (का०)

पं० रा० व० श०—*'जौं नहिं दंड करौं……'* इति। भाव कि जिनका अपमान हुआ वे तो दया ही करते हैं, हमें बोलनेका क्या प्रयोजन? यदि ऐसा कहा जाय तो उसका समाधान करते हैं कि यदि तेरा दण्ड न किया जायगा तो *'भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा।'* सब यही कहेंगे कि धर्माचरणसे क्या होता है, देखो शिवजीके सम्मुख इसने गुरुका अपमान किया तब भी इसको कुछ न हुआ।

वै०—*'श्रुति मारग मोरा'* अर्थात् सब शैव निश्चिन्त हो जायँगे, कोई अपने बड़ोंको न मानेगा। इस अपराधसे सभी नरकगामी होंगे। श्रुतिमार्ग=शैवमत। वेदाज्ञासे ही सब धर्म हैं।

पां०—गुरु-शिष्यका भाव वेदमार्ग है। गुरुमें शिष्यका भाव कैसा होना चाहिये यह जो वेदोंमें बताया है, वह वेदमार्ग है। [गुरु परमेश्वररूप हैं। यह अनेक बार पूर्व और विशेषकर गुरुवन्दना-प्रसङ्गमें दिखाया गया है। गुरुमें ऐसी ही श्रद्धा होनेपर ही उनके बताये हुए गूढ़ रहस्यमय अर्थ हृदयमें प्रकाशित होते हैं, यह श्वेताश्वतरोपनिषद्के अन्तिम मन्त्रमें बताया गया है। यथा **'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्य ते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥'** इससे भी सिद्ध है कि गुरुमें वैसी ही भक्ति होनी चाहिये जैसी परमेश्वरमें। वाल्मीकिजी तो कहते हैं कि भगवान्‌से अधिक गुरुमें भावभक्ति होनी चाहिये, यथा *'तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भाव सेवहिं सनमानी॥'* (२। १२९। ८) श्रीमद्भागवतमें भी शिष्यका गुरुके साथ कैसा व्यवहार होना चाहिये, यह स्वयं भगवान्‌ने उद्धवजीसे कहा है। प्रारम्भमें ही उन्होंने कहा है कि 'आचार्यको मेरा ही स्वरूप समझे, कभी उनका तिरस्कार न करे। उन्हें साधारण मनुष्य समझकर उनके गुणोंमें दोष न निकाले, क्योंकि गुरु सर्वदेवमय होता है। यथा **'आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्। न मर्त्यबुद्ध्याऽसूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥'** (भा० ११। १७। २७) गुरुगीताके बहुत प्रमाण पूर्व आ चुके हैं।—यह श्रुतिमार्ग है।]

पं०—*'मोरा'* का भाव कि वेदमार्ग गुरुशुश्रूषा आदि सब धर्म मेरे ही थापे हुए हैं—*'तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना। आन जीव पामर का जाना॥'*

नोट—१ **'श्रुति मारग मोरा'**=वेदमार्ग, जिसपर मैं स्वयं आरूढ़ हूँ, जिसको मैंने अपना मार्ग स्वीकार कर लिया है।—'श्रुतिमार्ग' क्या है सो आगे बताते हैं कि *'जे शठ गुर……।'* अर्थात् गुरुसे शिष्य ईर्ष्या न करे, यदि करेगा तो उसे *'रौरव नरक……'* इत्यादि दण्ड होगा।

वि० त्रि०—**'यो ददाति सतां शम्भुः कैवल्यमपि दुर्लभम्। खलानां दण्डकृद्योऽसौ शङ्करः शं तनोतु माम्॥'** ईश हैं। इनका काम निग्रहानुग्रह है, यथा *'सुभ अरु असुभ कर्म अनुसारी। ईस देइ फल हृदय बिचारी॥'* **'दण्ड'** को पण्डितोंने धर्मरूप माना है। दण्ड ही प्रजाका शासन करता है, दण्ड ही रक्षा करता है, जब सब कोई सोता है, तब धर्म जागता है, ऐसा मनुजी कहते हैं। शिवजी कहते हैं कि श्रुतिमार्ग मेरा है, क्योंकि मैं वेदस्वरूप हूँ। यथा—**'विभुं व्यापकं ब्रह्म वेदस्वरूपं'** अतः वेदविरुद्धाचरण करनेवालेको दण्ड न देनेसे मेरा वेदमार्ग भ्रष्ट होता है। गुरुजीको भले ही क्रोध न हो, क्योंकि उनका कुछ बिगड़ता नहीं, पर मैं तो क्रोध करूँगा, क्योंकि मेरा तो वेदमार्ग नष्ट-भ्रष्ट होता है।

प० प० प्र०—*'भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा'* इस कथनसे श्रीशिवजीको श्रुतिसेतुपालक कहकर *'श्रुतिसेतुपालक राम'* और शिवजीकी अभिन्नताका निदर्शन कराया गया।

नोट—२ *'जे शठ'* इति। भाव कि जो गुरुकी अवज्ञा करते हैं, उनसे ईर्ष्या रखते हैं, उनके साथ बराबरीका अभिमान करते हैं, वे शठ हैं। (पां०) पुनः *'जे शठ'* का भाव कि जो सुनते हैं और जानते हैं, पर जिनके हृदयमें बात नहीं बैठती वे ही ऐसा करते हैं। (पं० रा० व० श०) शठ कहकर जनाया कि तू मन्दबुद्धि है, अभागा है, तेरे हृदयपर मोहका परदा पड़ा है, इत्यादि। यथा *'माया बस मतिमंद अभागी। हृदय जमनिका बहु बिधि लागी॥ ते सठ……।'* (७३। ८। ९)

३—*'रौरव नरक'*—रुरु नामके कीड़े महाक्रूर सर्पसे भी अधिक क्रूर होते हैं। ये रुरुगण महा विषैले कीड़े इस नरकमें असंख्यों रहते हैं। वे पापी प्राणीका मांस चारों ओरसे नोचते हैं। जो निरपराध प्राणी

पापीके हाथसे मारे गये हैं वे ही रुरुरूप होकर इससे बदला लेते हैं। **'ये त्विह यथैवामुना विहिंसिता जन्तवः परत्र यमयातनामुपगतं त एव रुरवो भूत्वा तथा तमेव विहिंसन्ति तस्माद्रौरवमित्याहू रुरुरिति सर्पादतिक्रूरसत्त्वस्यापदेशः॥ एवमेव महारौरवो यत्र निपतितं पुरुषं क्रव्यादा नाम रुरवस्तं क्रव्येण घातयन्ति यः केवलं देहम्भरः॥'** (भा० ५। २६। ११-१२) श्रीशुकदेवजी कहते हैं—राजन्! इस लोकमें अपने कुटुम्बका पोषण करनेके लिये उसने जिस जीवकी जिस प्रकार हिंसा की है, परलोकमें यमयातनाको प्राप्त होनेपर उसे वे ही जीव 'रुरु' होकर उसी प्रकार पीड़ित करते हैं। इसीलिये उसे रौरव कहते हैं। रुरु—यह सर्पसे भी अधिक क्रूर स्वभाववाले एक कीड़ेका नाम है। ऐसा ही महारौरव नरक है। वहाँ वह पुरुष जाता है जो अपने ही देहको पालता है। (वहाँ पड़े हुए जीवको कच्चा मांस खानेवाले रुरु नामक जीव मांसके लोभसे काटते हैं।) विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि गुरुके साथ अहिताचरण करनेसे विष्ठाका कीड़ा होना पड़ता है। यथा **'गुरोर्हितं प्रकर्तव्यं वाङ्मनःकायकर्मभिः। अहिताचरणाद्देवि विष्ठायां जायते कृमिः॥'** इति ज्ञानार्णवे शिववाक्यं पार्वतीं प्रति।

४—*'त्रिजग जोनि।'* भा० ३। १० में दस प्रकारकी सृष्टियोंमेंसे तिर्यक् योनिको आठवीं सृष्टि कहा है और बताया है कि इनके २८ प्रकारके भेद हैं, इनको आज-कल-परसों आदि कालका एवं अन्यान्य भविष्यत्का ज्ञान नहीं होता, इनमें तमोगुण अधिक होता है, ये केवल आहार और मैथुनमें तत्पर रहते हैं और सूँघनेसे ही इष्ट अर्थको जानते हैं एवं इनके हृदयमें बोध या विचारशक्ति नहीं है। यथा—**'तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधो मतः। अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः॥'** (२०) तथा च श्रुतिः—**'अथेतरेषां पशूनामशनपिपासे एवाभिज्ञानं न विज्ञातं वदन्ति न विज्ञानं पश्यन्ति न विदुः श्वस्तनं न लोकालोकावित्'॥** इनके २८ भेद ये हैं—गऊ, बकरी, भैंसा, कृष्णसार मृग, शूकर, गवय (नीलगाय), रुरु, मेष (भेंड़ा), ऊँट इन नव प्रकारके पशुओंके खुर बीचसे फटे होते हैं, इस कारण इनकी 'द्विशफ' संज्ञा है। गर्दभ, अश्व, खच्चर, गौर, शरभ और चमरी गऊ—इनका खुर फटा नहीं होता, इस कारण इन्हें एकशफ कहते हैं। कुत्ता, सियार, भेड़िया, बाघ, बिल्ली, खरगोश, स्याही, सिंह, वानर, हाथी, कछुआ, गोह और मगर आदि भूचर और जलचरकी पञ्चनख संज्ञा है। कंक, गृध्र, बटेर, बाज, भास, भालू, मयूर, हंस, सारस, चक्रवाक, काक, उलूक आदिक खेचर जन्तु—इनकी 'पक्षी' संज्ञा है।—(श्लोक २० से २४ तक)।

नोट—**'अयुत जन्म भरि पावहिं पीरा'**=पशु-पक्षी आदि तिर्यक्-योनि शरीर धरकर दस हजार वर्षतक पीड़ा पाते हैं। गर्भवास, जन्म-मरण, 'अपानि' होनेसे कीटदंशादिसे अपार दुःख सहते और वैखरीवाणी न होनेसे बहुत भाँतिसे ताड़ना होती है—यह सब पीड़ा पाते हैं। (रा० प्र०) पुनः *'पावहिं पीरा'* का भाव कि तिर्यक्-योनिमें भी कोई-कोई भाग्यवान् होते हैं और सुख पाते हैं पर गुरुद्रोहीको दुःख ही मिलता है। (पं० रा० व० श०)।

खर्रा—*'अयुत जन्म भरि पावहिं पीरा'*—यहाँतक ईश्वरकृत अवश्य विहित दण्ड (वैदिक विधानानुसार दण्ड) दिखाया। आगे अपना शाप पृथक् कहते हैं।

बैठि रहेसि अजगर इव पापी। सर्प होहि खल मल मति ब्यापी॥ ७॥
महाविटप कोटर महुँ जाई। रहु अधमाधम अधगति पाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**कोटर**=पेड़का खोखला भाग। खोड़र। **अधगति**=पतन, दुर्गति, अधोगति।

अर्थ—अरे पापी! तू अजगरकी तरह बैठा रहा। अरे दुष्ट! तेरी बुद्धिमें पाप व्याप गया है, तू सर्प होगा॥ ७॥ अरे अधमसे भी अधम! अधो (नीच) गतिको पाकर बड़े भारी वृक्षके खोड़रमें जाकर रह॥ ८॥

नोट—१ अजगर सर्प अपनी स्थूलता और निरुद्यमताके लिये प्रसिद्ध है। अपने शरीरके भारीपनके कारण इधर-उधर शीघ्र हिल-डोल नहीं सकता, श्वासद्वारा बकरी, हिरन आदि पशुओंको खींचकर निगल जाता है। *'बैठि रहेसि अजगर इव'* का भाव कि तू अचल बैठा रहा, गुरुके आनेपर किञ्चित् हिला-डोला भी नहीं, अतः न हिल-डोल सकनेवाला ही सर्प होगा। ☞ जैसा शाप होना होता है उसीके अनुसार

आचरण वा संस्कार प्रथमसे ही उपस्थित हो जाते हैं। भुशुण्डिजी पक्षपात करनेसे चाण्डाल पक्षी हुए, *'अजगर इव'* बैठे रहनेसे अजगर हुए। इसी तरह हूहू-गन्धर्वने देवलऋषिका पैर जलमें पकड़ा था इसीसे उन्हें मगर होनेका शाप हुआ, भानुप्रतापने विप्र-मांस परोसा इससे राक्षस हुए। छोटे सर्प छोटे बिलमें रह सकते हैं, अजगर होनेका शाप दिया; अत: बड़े भारी वृक्षके खोढ़रमें रहनेको कहा। (ख) *'मल मति ब्यापी।'*—गुरुद्वेष, गुरु-अपमान इत्यादि मल हैं। *'अधमाधम'*—गुरुसे ईर्ष्या करना महा अधमता है। अन्यसे ईर्ष्या अधमता है। पहले विष्णुभगवान् और वैष्णवोंसे द्रोह करता था। यह अधमता थी। अब गुरुद्रोही हो गया यह महा अधमता है। अत: अधमाधम कहा। (ग) *'अधगति'*—नीच गति। मनुष्य होकर सर्प-योनिमें गिरना नीच गति है। (रा० प्र०) पुनः, अधगति अर्थात् सिर नीचे पूँछ ऊपर। ☞ यह गुरुद्रोहका फल दिखाया। राजा त्रिशङ्कु भी सिर नीचे पैर ऊपर इसी तरह टँगे। (करु०) पुनः, *'अधगति पाई'* का भाव कि गुरुसेवासे ऊर्ध्वगति पाता, मनुष्यसे देवता होता, गुरुसे विमुख हुआ अत: अधोगति पायेगा।

दो०—हाहाकार कीन्ह गुरु दारुन सुनि सिव-साप।
कंपित मोहि बिलोकि अति उर उपजा परिताप॥
करि दंडवत सप्रेम द्विज सिव सन्मुख कर जोरि।
बिनय करत गदगद गिरा* समुझि घोर गति मोरि॥१०७॥

शब्दार्थ—**हाहाकार**=कष्ट, पीड़ा, दीनता, शोक सूचित करनेवाली पुकार।

अर्थ—शिवजीका कठिन शाप सुनकर गुरुने हाहाकार किया। मुझे अत्यन्त काँपता हुआ देखकर उनके हृदयमें बड़ा दु:ख (संताप) हुआ। प्रेमसहित दण्डवत् प्रणाम करके ब्राह्मण शिवजीके सम्मुख हाथ जोड़कर, मेरी भयंकर गति समझकर, गद्गद वाणीसे विनय करने लगे॥ १०७॥

नोट—१ *'हाहाकार कीन्ह गुरु'* यह गुरुकी दयालुताका स्वरूप दिखाया कि अपने द्रोहीको भी दु:खमें पड़ते देख सह न सके, दु:खी हो गये। २—*'कंपित'''''* इति। भयसे काँप उठा। कारण कि जिन इष्टके बलपर देवान्तरोंका मैं अपमान करता था, जिनका अपनेको अनन्य उपासक समझता था, जब उन्हींने शाप दिया, तब अब कौन शरण दे सकता है? ३—*'उर उपजा परिताप'* में *'निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥'* चरितार्थ है। सम्भवत: इस चरितको सुनकर गरुड़जीने ऐसा कहा हो। [रा० शं० हाहाकार और परितापका कारण पुत्रवत् स्नेह और उसपर भारी विपत्ति है।] ४—*'घोर गति'*—अयुत जन्म अजगर सर्पके, और फिर आगे न जाने और क्या हो। इस *'घोर गति'* वा 'अधोगति' के सम्बन्धसे शापको 'दारुण' कहा था। ५—*'सिव सन्मुख'* अर्थात् मन्दिरमें जो शिवमूर्ति थी उसके सामने क्षमा कराना है, अत: सप्रेम गद्गद हो विनय की।

(भुजंगप्रयातवृत्त छन्द)

नमामीशमीशान निर्वाणरूपं। विभुं व्यापकं ब्रह्म वेदस्वरूपं।
निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं। चिदाकाशमाकाशवासं भजेहं॥
निराकारमोंकार मूलं तुरीयं। गिराज्ञानगोतीतमीशं गिरीशं।
करालं महाकाल कालं कृपालं। गुणागार संसारपारं नतोहं॥

शब्दार्थ—**नमामीशमीशान**=नमामि ईशम् ईशान। **ईशान**=उत्तर-पूर्व-कोण। **ईशमीशान**=ईशानकोणके स्वामी (करु०)।=सर्वसंपदाके स्वामी और जिसकी सत्तासे सबकी सत्ता है।—**'ईश्यते अनेन इति ईशान'** (पं०)। =ईश्वरोंके ईश्वर (वै०)।=ब्रह्मादिके नियन्ता तथा ईशानकोणमें ग्यारह रुद्ररूपसे रहनेवाले। (रा० प्र०)।

* १ गिरा—(रा० गु० द्वि०, का०, करु०)। स्वर—(भा० दा०)।

निज=स्वतन्त्र। **निर्विकल्प**=विकल्प, परिवर्तन या प्रभेदों आदिसे रहित। निर्विकल्प समाधि-अवस्थामें सदा रहनेवाले जिसमें ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता आदिका भेद नहीं रह जाता।=एकरस। **चिदाकाश**=चैतन्य आकाश=आकाशके समान निर्लिप्त और सबके आधारभूत। तुरीय—१। ३२५। छंद ४ देखिये।

अर्थ—मोक्षस्वरूप, समर्थ, व्यापक, ब्रह्म और वेदस्वरूप, ईशानदिशाके स्वामी-(श्रीशंकरजी-) को मैं नमस्कार करता हूँ। स्वतन्त्र एवं स्वयं प्रकट होनेवाले, त्रिगुणरहित, निर्विकल्प, चेष्टारहित, चैतन्य आकाशरूप और आकाशमें वास करनेवाले (अनन्त) आपको मैं भजता हूँ। निराकार, ओंकार-(प्रणव-) के मूल, सदा तुरीयावस्थामें रहनेवाले, वाणी, ज्ञान और इन्द्रियोंसे परे, ईश्वर, कैलासपति, विकराल, महाकालके भी काल अर्थात् महामृत्युञ्जय, कृपालु, गुणोंके घर, संसारसे परे, आपको मैं प्रणाम करता हूँ।'*

नोट—यह भुजंगप्रयातवृत्त छन्द है। इसके चारों चरणोंमें १२-१२ अक्षर होते हैं। पहला, चौथा, सातवाँ और दसवाँ अक्षर लघु होता है। चार यगण होते हैं।

वै०—१ सर्प होनेका शाप है। अतः भुजङ्गप्रयातमें स्तुति की। भुजंग=सर्प। प्रयात=जाता है। अर्थात् आपके शापसे यह भवसागरको जाता है, इसपर कृपा कीजिये। पुनः शिवजीकी क्रोधाग्निको शान्त करना है, अतः इस छन्दमें स्तुति की जिसमें यगण ही पड़े हैं और जिसका देवता जल है।

नोट—निर्वाण=मोक्ष। इससे अलक्षरूप जनाया (रा० प्र०)। विभु=समर्थ (करु०)। अर्थात् पालन और संहार आदि करनेको समर्थ (वै०)। जिसमें सब अणु हैं (रा० प्र०)। व्यापक=सबमें व्याप्त। एक होते हुए भी सबमें अनेक अणु होकर विश्वरूपसे हैं यह 'व्यापक' शब्दसे जनाया (रा० प्र०)। पंजाबीजी लिखते हैं कि विभु और व्यापक दोनों पर्याय हैं। दोनों शब्द देकर भीतर-बाहर व्यापक जनाया। अथवा विभु-(आकाशादि-) में व्याप्त यह अर्थ कर लें (पं०)। ब्रह्म=सबसे बृहत् वा बड़ा (पं०)। 'ब्रह्म' से अनिर्वचनीय जनाया। 'ब्रह्मवेदस्वरूप' इति। अर्थात् प्रतिपाद्य ब्रह्म और प्रतिपादक वेद आप दोनों रूप हैं (पं० रा० व० श०)। वा, आप वेदतत्त्व ब्रह्मस्वरूप हैं (करु०)। आप ब्रह्मरूपसे सबके भीतर प्रकाश करते हैं और वेदस्वरूपसे सबको धर्मोपदेश करते हैं। भाव कि जीवोंको भीतर-बाहर चेतनता देकर शुद्ध करते हैं (वै०)।

२—'*निजं निर्गुणं*……' इति। (क) 'निज' का अर्थ स्वतन्त्र है (करु०)। और अर्थ ये हैं—सब-का-सब, अर्थात् आप सर्वरूप हैं (पं०)। पुनः भाव कि आप अपने-आप हैं अथवा, सबके निज नाथ हैं, कुछ जगत्‌के नाते ही नाथ नहीं हैं (पं० रा० व० श०)। निज अर्थात् अंश नहीं हैं (रा० प्र०)। (ख) निर्विकल्प=तर्कवर्जित (रा० प्र०)।=मन-वाणीकी कल्पनासे रहित (करु०)।=जिसमें कोई विकल्प नहीं घट सकता। एकरस सर्वत्र व्याप्त (पं० रा० व० श०)। निर्विकल्प-समाधि-अवस्थामें सदा रहनेवाले। (ग) 'निरीह' से निष्क्रिय जनाया। चिदाकाश=नित्यचैतन्य ब्रह्मस्वरूप और आकाशवत् (करु०)।=जिसमें सबको पर्यवसान है, सबमें और सबसे पृथक् (रा० प्र०)। 'चिदाकाश' से जनाया कि आकाश जड़ है और आप चैतन्यस्वरूप (चेतन) आकाश हैं (पं० रा० व० श०)। 'आकाशवासं' अर्थात् जिसके स्वरूपका विस्तार आकाशवत् है। '*चिदाकाशमाकाशवासं*' का भाव कि आप अत्यन्त सूक्ष्म आकाशमें भी सूक्ष्मरूपसे बसे हुए हैं (पं० रा० व० श०)। पंजाबीजी अर्थ करते हैं कि

---

* खर्रा—'नमामीशमीशान………'। इति। ईशं त्वां नमामि। कथं भूतमीशाननिर्वाणरूपम्। ईशाननिर्वाणौ रूपं यस्य अनेकफलदायकत्वं फलस्वरूपत्वं च शिवस्यैव प्रतिपादितम्। पुनः कथं भूतं विभुं सर्वान्तर्यामिनम्, पुनर्व्यापकं बहिरंगावरकम्, पुनर्ब्रह्म अन्तर्बहिर्व्यापकम्, पुनर्वेदस्वरूपं वेदात्मकम्, पुनरजमजन्मानं पुनर्निर्गुणं निर्गता गुणा यस्मात् तत्, पुनर्निर्विकल्पं निर्गतं विकल्पं द्वैविध्यं यस्मात् तम्, पुनर्निरीहं निर्गता ईहा चेष्टा यस्मात् तम्, पुनश्चिदाकाशं चैतन्येन आकाशं पूर्णम्, पुनराकाशवासंआकाशेऽन्तरिक्षे निवासो यस्य तमहं भजे। पुनः कथं भूतं निराकारमाकारशून्यम्, पुनः ॐकारमूलं ॐकारो मूलं यस्य तम पुनस्तुरीय वस्थात्रयप्रत्ययात्मकम्, पुनर्गिराज्ञानगोतीतं गिरा वाणी ज्ञानं विचारो गावो इन्द्रियाणि तेभ्योऽतीतं विगतम्, पुनरीशमीशानशीलम्, पुनर्गिरीशं कैलाशादिगिरिस्वामिनम्; पुनः करालं कठोरम्, पुनर्महाकालकालं मृत्युजेतारम्, पुनः कृपालुं कृपापूर्णम्, पुनर्गुणागारो गुणानामागार आश्रयः संसारः जगत्प्रवाहस्तस्मात् पारं गतं गुणागारश्चासौ संसारपारश्च तमहं नतोऽस्मि।

'चैतन्यरूप आकाश भी जिसमें बसता है' (घ) आकाश तीन प्रकारका माना गया है। भूताकाश, चित्ताकाश और चिदाकाश। सो ब्रह्म ही चिदाकाश है (वि० त्रि०)। (ङ) आकाशवास=अन्तरिक्षवासी। **चिदाकाशमाकाशवासं**=सूक्ष्म और महा आकाशमें जिसका वास है, जिसमें दोनों आकाश बसते हैं (पां०)। पुन: आकाशवास=आकाश ही जिसका वस्त्र है, जो सत्तारूप दिगम्बर है।

३—*'निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं…'* इति। बैजनाथजी लिखते हैं कि पूर्व जो विशेषण दिये उन्हींका स्वरूप क्रमसे यहाँ दिखाते हैं। कैसे ईशमीशान हैं यह *'निजं'* से, निर्वाणरूप कैसे हैं यह निर्गुणसे जनाया। वेदस्वरूप कैसे हैं? यह आकाशवासंसे जनाया। आकाशवासंवत् अर्थात् जैसे शब्द आकाशमें व्याप्त है वैसे इत्यादि। *'ओंकारमूलं'* अर्थात् ओंकार वेदमन्त्रोंके सजीवकर्त्ता और जगत्के मूल कारण हो (वै०)।

पं० श० प० श०—*'ओंकारमूलं'*—ओंकार सबका मूल है, क्योंकि ब्रह्माके मुखसे प्रथम शब्द यही निकला और आप उसके मूल हैं। ['तुरीय' अर्थात् तीन अवस्थाओं-(जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति-) से परे (पं०)। जिसका वेद परात्पर चतुर्थ कहते हैं। (रा० प्र०)] *'गिराज्ञानगोतीत'*—अर्थात् जहाँतक हमारी वाणी तथा हमारा ज्ञान पहुँच सकता है आप उससे परे हैं, जहाँतक हमारी इन्द्रियाँ ग्रहण कर सकती हैं उससे भी परे हैं। [यथा—*'मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥'* गिरीश=कूटस्थ। महाकालकाल=कालको भी भयप्रद, महामृत्युञ्जयरूप और प्रलयमें तो प्रकट ही ऐसे हैं। कृपाल=औढरढरन, यथा—*'औढरदानि द्रवत पुनि थोरे।'* करालता और कृपालता दोनों विरोधी एक ठौर आपमें दिखाकर आपका प्रभुत्व सूचित किया (रा० प्र०)] *'करालं महाकालकालं'* से शङ्का होगी कि जब ऐसे कराल हैं तब उनका सेवन कोई कैसे करेगा? उसपर कहते हैं 'कृपालं' अर्थात् भक्तोंके लिये आप कृपालु हैं; यथा—***'सेवा सुमिरन पूजिबो पाताखत थोरे।'*** (वि० ७) *'सकहिं न देखि दीन कर जोरे'* (वि० ६) 'संसारपार'=प्रकृतिमंडलसे परे। अर्थात् आपमें प्रकृतिका लेश नहीं।

तुषाराद्रि संकाश गौरं गँभीरं। मनोभूत कोटि प्रभा श्री शरीरं॥
स्फुरन्मौलि कल्लोलिनी चारु गङ्गा। लसद्भाल बालेंदु कंठे भुजंगा॥
चलत्कुंडलं भ्रू* सुनेत्रं विशालं। प्रसन्नाननं नीलकंठं दयालं॥
मृगाधीश चर्माम्बरं मुंडमालं। प्रियं शंकरं सर्वनाथं भजामि†॥

शब्दार्थ—**मनोभूत**=मनसे उत्पन्न, मनोज, मनसिज, कामदेव। **श्री**=शोभा। **स्फुरण**=जरा-जरा हिलना या फड़कना। **स्फुरत्**=शोभित। **कल्लोलिनी**=लहराती हुई। जिसमें अनेक तरङ्गें उठ रही हैं। **मौलि**=जूड़ा, जटाजूट, सिरके ऊपरका भाग। **मृगाधीश**=सिंह, बाघ। **चर्म**=खाल। **संकाश**=सदृश, समान।

अर्थ—हिमाचलके सदृश गौरवर्ण, गम्भीर, करोड़ों कामदेवोंकी शोभाकी कान्ति वा छटा जिनके शरीरमें है, जिनके सिरके जटाजूटपर सुन्दर तरङ्गोंसे युक्त गङ्गाजी कल्लोल करती हुई विराजमान हैं, ललाटपर द्वितीयाका बालचन्द्र और कण्ठमें सर्प शोभित हैं, कानोंमें कुण्डल हिल रहे हैं, सुन्दर भृकुटी और विशाल नेत्र हैं, प्रसन्नवदन, नीलकण्ठवाले, दयालु, बाघाम्बरधारी मुण्डमाल पहने हुए, सबके स्वामी एवं प्रिय शंकरजीको मैं भजता हूँ।‡

---

* शुभ्रनेत्र—पं०, का०।

† वीर—'भजामि' का मकार दीर्घोच्चार होना चाहिये अन्यथा छन्दकी गतिमें अन्तर पड़ता है और छन्दोभङ्ग दोष आता है।

‡ खर्रा—पुन: कथं भूतं तुषाराद्रिसंकाशगौरं हिमाचलसदृशगौरवर्णम्, पुनर्गम्भीरं गम्भीरगुणयुक्तम्, पुनर्मनोभूतकोटिप्रभासं शरीरं मनोभूतानां कामानां ये कोटय तेषां प्रभासो दीप्तयस्तं सदृशं शरीरकान्तिर्यस्य तं प्रभासा स्वार्थे आप:, पुन: 'स्फुरन्मौलिकल्लोलिनी चारु गङ्गा' कल्लोलमस्ति अस्यां सा कल्लोलिनी, मौले कल्लोलिनी मौलिकल्लोलिनी स्फुरन्ति चासौ मौलकल्लोलिनी च स्फुरन्मौलिकल्लोलिनी चारु चासौ गङ्गा च चारुगङ्गा स्फुरन्मौलिकल्लोलिनी चासौ चारुगङ्गा च स्फुन्मौलिकल्लोलिनीचारुगङ्गा सा यस्मिंस्तम्।

नोट—१ अन्यत्र श्रीशिवजीके गौरवर्णके लिये प्रायः कुन्द, इन्दु, शङ्ख और कपूरकी उपमाएँ दी गयी हैं। यथा—'कुंदु इंदु दर गौर सुदरं।' (मं० श्लो० ३) *'कुंद इंदु दर गौर सरीरा।'* (१। १०६। ६) *'कुंदु इंदु सम देह।'* (१। मं० सो०) *'कुन्देन्दु कर्पूर दर गौर बिग्रह रुचिर।'* (वि० १०) *'कंबु कुंदेंदु कर्पूर गौरं।'*(वि० १२) यहाँ *'तुषाराद्रि संकाश'* कहा। कुन्द, इन्दु आदिकी छटा एकरस नहीं रहती और हिमालयके बर्फीले पर्वतोंकी स्वच्छता सदा रहती है। वे सदा श्वेत रहते हैं। सदा स्वच्छ श्वेत गौर वर्ण सूचित करनेको 'तुषाराद्रि' की उपमा दी। वि० ११ में भी कहा है *'बिग्रह गौर अमल अति धवल धरणीधराभं।'*

पं० रा० व० श०—अब आपका स्वरूप कहते हैं। 'गम्भीर' अर्थात् कोई थाह नहीं पा सकता, आपको कोई विचलित नहीं कर सकता।

नोट—२ (क) *'मनोभूत कोटि……'* यथा—*'कामसतकोटि लावन्यधामं।'* (वि० १०) *'स्फुरन्मौलि……'* यथा—*'मौलि संकुल जटा मुकुट विद्युच्छटा तटिनि बर बारि हरिचरनपूतं।'* (वि० १०) *'भ्राज बिबुधापगा आपु पावन परम मौलि मालेव सोभा विचित्रं।'* (वि० ११) *'जटा मुकुट सुरसरित सिर।'* (१। १०६)—इन उद्धरणोंसे इस चरणके प्रत्येक शब्दके भाव स्पष्ट हो जाते हैं। रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'स्फुरन्' चमत्कारका अन्वय मौलि और बालेन्दु सबके साथ है। (ख) *'लसद्भाल बालेंदु—'* यथा—*'सोह बाल बिधु भाल।'* (१। १०६) *'ललित लल्लाटपर राज रजनीसकल।'* (वि० ११) *'बर बाल निसाकर मौलि भ्राज।'* (वि० १३)

३ (क) *'भ्रू सुनेत्रं विशालं'*—नेत्र कमलदलके समान लम्बे हैं। यथा—*'लोचन नलिन बिसाल।'* (१। १०६) नेत्रकी लम्बाईतक अर्थात् कर्णपर्यन्त भ्रकुटि भी है। वि० १० में भी *'सुबिसाल लोचन कमल'* कहा है। (ख) 'प्रसन्नानन' से जनाया कि सदा चिन्मयानन्दमें मग्न रहते हैं (पं० रा० व० श०) अर्थात् अखण्डानन्द जनाया (रा० प्र०)। 'नीलकण्ठ' से 'गरलकण्ठ' अर्थात् हलाहलका पानकर कण्ठमें रखना जनाया। नीलकण्ठ कहकर दयाल कहनेसे वह सारा प्रसङ्ग जना दिया। प्रायः स्तुतियोंमें जहाँ करुणा, दया आदि वाचक गुण आते हैं वहाँ यह प्रसङ्गसूचक शब्द भी आते हैं यथा—*'गरल कंठ करुनाकंद।'* (वि० १०), *'जरत सुर असुर नर लोक सोकाकुलं मृदुल चित अजित कृत गरल पानं।'* (वि० ११) *'नौमि करुनाकरं गरल गंगाधरं।'* (वि० १२) *'उपकारी कोऽपर हर समान। सुर असुर जरत कृत गरल पान॥'* (वि० १३) इत्यादि।

४—*'मृगाधीश चर्माम्बरं……'* इति। (क) बाघाम्बरधारी हैं। यथा—*'भस्म तन भूषणं व्याघ्रचर्माम्बरं।'* (वि० ११) (ख) *'मुंडमालं'* इति। किसके मुण्डोंकी मालाएँ धारण किये हैं यह नहीं कहा, कारण कि पुराणोंमें कहीं मनुष्यों, कहीं सतीके अनेक शरीरोंकी, कहीं भक्त सुधन्वाकी, कहीं राहुकी इत्यादि मुण्डमालाएँ कही गयी हैं। विनयमें *'उरगनरमौलि उरमालधारी।'* (११) *'ब्याल-नृकपाल माला बिराजै।'* (१०) मुण्डमालसे शङ्का होती कि भयङ्कर हैं, अतः कहा कि वे भयङ्कर नहीं हैं, सबके प्रिय हैं क्योंकि शङ्कर हैं तथा सबके स्वामी हैं। शङ्कर=सबका कल्याण करनेवाले। *'प्रियं शंकरं'*, यथा—*'दीन दयाल दिबोई भावत जाचक सदा सोहाहीं।'* (वि० ४), *'जिन्ह के भाल लिखी लिपि मेरी सुख की नहीं निसानी। तिन्ह राँकन्ह को नाक सँवारत हौं आयों नकबानी।'* (वि० ५) (यह ब्रह्माजीका वाक्य है)। 'सर्वनाथ' का भाव कि समस्त जीवोंके नाथ होनेसे आप सदा सबके कल्याणमें तत्पर रहते हैं, सभी जीव आपको प्रिय हैं क्योंकि सब आपके ही हैं। इस तरह 'प्रिय' का यह भी अर्थ हुआ कि जिसको सभी जीव प्रिय हैं। यथा *'लोकाभिरामं।'* (वि० १०)

पंजाबीजी लिखते हैं कि *'चर्माम्बरं मुंडमालं'* से निःशङ्कता सूचित की।

इन चरणोंके शब्दोंके भाव बा० मं० सो० ४, १। १०६, उ० मं० ३ इत्यादिमें विस्तारसे आ चुके हैं, पाठक वहीं देखें।

प्रचंडं प्रकृष्टं प्रगल्भं परेशं। अखंडं अजं भानु कोटि प्रकाशं॥
त्रयः शूल निर्मूलनं शूलपाणिं। भजेऽहं भवानीपतिं भावगम्यं॥

कलातीत कल्याण कल्पांतकारी। सदा सज्जनानंद दाता पुरारी॥
चिदानंद-संदोह मोहापहारी। प्रसीद प्रसीद प्रभो मन्मथारी॥

शब्दार्थ—**प्रकृष्ट**=सबसे उत्कृष्ट, प्रधान, उत्तम, श्रेष्ठ। **प्रगल्भ**=प्रतिभाशाली, सम्पन्न बुद्धिवाला; निर्भय, किसीसे न दबनेवाला।

अर्थ—प्रचण्ड (अत्यन्त बल, तेज, वीर्यवाला) सबमें श्रेष्ठ, और बड़े निर्भय तथा प्रतिभाशाली, परमेश्वर, अखण्ड, जन्मरहित, करोड़ों सूर्यके समान प्रकाशवाले, (दैहिक, दैविक, भौतिक आदि) अनेक प्रकारके समस्त शूलोंके निर्मूल करनेवाले हाथमें त्रिशूल धारण किये हुए, भवानीपति, भक्तोंको भावद्वारा प्राप्त होनेवाले आपको मैं भजता हूँ। कलाओंसे परे अर्थात् सर्वकलापूर्ण, कल्याण और कल्पान्त-(प्रलय-) के करनेवाले, सज्जनोंको सदा आनन्द देनेवाले, त्रिपुरके शत्रु, चिदानन्दराशि, मोहके नाश करनेवाले मनको मथ डालनेवाले कामदेवके शत्रु, प्रभो! प्रसन्न हूजिये! प्रसन्न हूजिये!

नोट—१ *'प्रचंडं प्रकृष्टं ......'* इति। 'प्रचंड' से बल, प्रताप, वीर्य आदिकी उत्कृष्टता दिखायी। यथा—*'भुजदंड प्रचंड प्रतापबलं। खलबृंद निकंद महाकुसलं।'* (६। ११०) [प्रलयके समयमें प्रकर्ष करके अत्यन्त कोपवाले (वै०)। पुनः, प्रचण्ड=जिसमें चण्डीकी शक्ति प्राप्त है (रा० प्र०)। भाव कि महाप्रलयमें अत्यन्त कोप करके आप सबका नाश करते हैं (वै०)] (ख) प्रकृष्ट=सर्वश्रेष्ठ, महत्तर। (खर्रा)=सम्पूर्ण क्लिष्ट क्लेशोंसे परे (करु०)=जिसमें भली प्रकार अन्तमें सब खिंच जाते हैं जैसे त्रिपुरवधके समय आपने सबका आधा बल ले लिया (रा० प्र०)। (ग) प्रगल्भ=अत्यन्त प्रौढ़; अर्थात् शास्त्रार्थ विद्यावादमें सबको परास्त कर सकनेवाले (वै०)।=जिसके वचनका कोई खण्डन न कर सके। (पं०) जिनसे कालादि भी मुख मोड़े रहते हैं (रा० प्र०)।=अन्तःकरणकी जाननेवाले, जिसकी जाति कोई न जान सके, अथाह और गम्भीर (करु०)। =किसीसे दबनेवाले नहीं। भाव कि सब आपके अधीन हैं क्योंकि आप परेश हैं, सब ईशोंके स्वामी हैं (पं० रा० व० श०)। परेश यथा *'सिद्ध सनकादि जोगिन्द्र वृन्दारका-बिष्नु-बिधि बंद्य चरणारबिंदं।'* (वि० १२) *'चंदार्क ब्रह्मेन्द्र बरुनाग्नि बसु मरुत जमर्च्य भवदंघ्रि सर्वैधिकारी।'* (वि० १०)

२ (क) 'अखंड' का भाव कि सब आप ही हैं एवं पूर्ण हैं। यथा—*'ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता।'* (७२। ४) *'अनवद्य अखंड न गोचर गो।'* (६। ११०। छंद), *'उमा एक अखंड रघुराई।'* (६। ६०। १८), *'जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता।'* (३। १३। १२) पुनः 'अखंड' का भाव कि सब घटोंमें परिपूर्ण हैं, आप पूर्ण हैं, पूर्णसे पूर्ण निकले और पूर्ण फैले। *'पूरनसे पूरन निसारि कै पूरन ही फैलाया। ताते सब घटमें पूरन।'* 'एकपाद विभूतिसे अनन्त ब्रह्माण्ड रचकर और उनमें भी आप रहकर छोटे-से-छोटे, चींटीसे ब्रह्मापर्यन्त परिपूर्ण चौदहों भुवनोंमें व्याप्त होकर भी जो पूर्ण उबरा (रा० प्र०)। इसमें ईशावास्योपनिषद्के शान्तिपाठ **'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।'** का भाव है। (अर्थात्) वह सच्चिदानंदघन परब्रह्म परमेश्वर सब प्रकारसे सदा सर्वदा परिपूर्ण है। यह (जगत्) भी (उस परब्रह्मसे) पूर्ण है (क्योंकि) यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तमसे ही उत्पन्न हुआ है। पूर्णसे पूर्णको निकाल लेनेपर भी पूर्ण ही बच रहता है। (ख) अज अर्थात् आपका जन्म जीवोंकी तरह कर्मवश नहीं हुआ। आपका जन्म दिव्य है। आप अजन्मा हैं। विनयमें भी कहा है—*'अकल निरुपाधि निर्गुन निरंजन जन्मकर्मपथमेकमज निर्विकारं।'* (वि० १०) (ग) *'भानु कोटि प्रकाशं'*, यथा—*'तरुन रबिकोटि तनु तेज भ्राजै।'* (वि० १०) [*'भानुकोटि प्रकाशं'* का भाव कि आपके ध्यानमात्रसे महामोहरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है (वै०)। (घ) *'त्रयः शूल ......'* इति। शूल बहुत प्रकारके होते हैं। यथा—*'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥ ...... बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥'* (१२१। २९—३२) इन समस्त शूलोंका जड़से नाश कर देते हैं। यथा—*'सोक सूल निर्मूलिनं सूलिनं।'* (वि० १२) शूलपाणिका भाव कि इसीलिये आप त्रिशूलधारी हैं (करु०)।

☞ **'त्रयः शूल'** पाठमें अनेक प्रकारके समस्त शूल आ जाते हैं। त्रिधा शूल पाठमें केवल तीन

प्रकारके शूलोंका ग्रहण है अतः *'त्रयः शूल'* पाठ ही समीचीन है। *'शूल निर्मूलनं'* कहकर शूलपाणि कहनेका भाव कि इसीलिये आप त्रिशूल धारण किये रहते हैं।

रा० प्र०—'भवानीपति' का भाव कि जिसने भव-(संसार-) को प्रकट किया है वह प्रधान शक्ति आपकी ही है। (भाव कि *'भव भव बिभव पराभवकारिनि। बिस्वबिमोहनि स्वबस बिहारिनि॥'* जो भवानी हैं वे आपकी शक्ति हैं।)

नोट—३ *'भावगम्य'* कहकर यह भी जनाया कि 'भाव आपको प्रिय है' भाव देखकर आप कृपा करके प्राप्त हो जाते हैं। कलातीत=अकल। (बा० १। ५०) *'ब्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप।'* (१। २०५) *'अकल अगुन अज अनघ अनामय।'* (६। १०९। ६) में देखिये। यथा—*'कलातीतमजरं हरं।'* (वि० १२), *'सकल कला गुन धाम।'* (१। १०७) कल्पान्तकारी अर्थात् प्रलयके करनेवाले हैं। यथा—*'सकल लोकांत कल्पांत सूलाग्रकृतदिग्गजाव्यक्तगुन नृत्यकारी।'* (वि० ११) *'महाकल्पांत ब्रह्मांडमंडल दवन।'* (वि० १०) शूलिनं कहकर कल्पान्तकारी कहनेसे सिद्ध हुआ कि इसीसे कल्पान्त करके दिग्गजोंको इसके अग्रभागपर लेकर नृत्य करते हैं। कल्पान्तसे भी जीवोंका कल्याण होता है। जीव उतने कालतक विश्राम पा जाते हैं। इसीसे कल्याण और कल्पान्त दोनोंको साथ कहा।

२ (क) *'सज्जनानंददाता'* कहकर *'पुरारी'* कहनेका भाव कि सज्जनोंके आनन्दहेतु त्रिपुरको आपने मारा। (ख) चिदानंदसंदोह अर्थात् चित् जो ब्रह्म उसके आनन्दके संदोह हो। चिदानंदसंदोह होनेसे मोहके नाशक हो। [*'चिदानंद संदोह'*, यथा—*'चिदानंद सुखधाम सिव।'* (१। ७५) *'सच्चिदानंदकंदं।'* (वि० १२), *'चिदानंदसंदोह राम बिकल कारन कवन।'* (७। ६८), *'कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंदसंदोह।'* (७७), *'जानेउ राम प्रताप प्रभु चिदानंदसंदोह।'* (५२) में देखिये।] *'मन्मथारी'* का भाव कि अपराध देखकर दण्ड देकर फिर आप कृपा करनेवाले हैं, कामदेवको भस्मकर फिर उसपर बड़ी कृपा की थी। वैसे ही इसने बड़ा भारी अपराध किया अब इसपर कृपा कीजिये।

खर्रा—'**प्रचंडं प्रकर्षेण समर्थम्। प्रकृष्टं महत्तरम्। प्रगल्भं समर्थम्। भवानीपतिं भव कल्याणम् आनयितुं शीलं अस्याः सा तस्याः स्वामिनम् अन्यथा भवस्य पत्नी तस्याः पतिः द्वितीयपुंयोगः कविभिर्नादृश्यते पुनः। हे कल्याण कल्पान्तकारिन्। त्वं सदा सज्जनानां आनन्ददाता असि।**'

न यावदुमानाथ पादारविंदं। भजंतीह लोके परे वा नराणां॥
न तावत्सुखं शांति संतापनाशं। प्रसीद प्रभो सर्वभूताधिवासं॥
न जानामि योगं जपं नैव पूजां। नतोहं सदा सर्वदा शंभु तुभ्यं॥
जरा जन्म दुःखौघतातप्यमानं। प्रभो पाहि आपन्नमामीश शंभो॥

शब्दार्थ—**भूताधिवासं**=भूतोंके निवासस्थान तथा भूतोंमें निवास करनेवाले। **भजंतीह**=भजन्ति इह। **इहलोके**=इस लोकमें। **सर्वदा**=सब कुछ देनेवाले (रा० प्र०)।=सदैव। 'सदा-सर्वदा' जोर देनेके लिये 'सदैव' अर्थमें प्रयुक्त होता है। **आपन्न**=शरणमें प्राप्त।

अर्थ—हे उमापति! जबतक आपके चरणकमलोंको (मनुष्य) नहीं भजते, तबतक मनुष्योंको इस लोकमें वा परलोकमें सुख और शान्ति नहीं प्राप्त होती और न संतापका नाश हो सकता है। हे सब जीवोंमें निवास करनेवाले तथा सब प्राणियोंके निवासस्थान प्रभो! प्रसन्न हूजिये। न तो मैं योग जानता हूँ, न जप और न पूजा ही। हे सब कुछ देनेवाले, कल्याणके उत्पत्ति-स्थान, शम्भो! मैं आपको सदा प्रणाम करता हूँ। हे प्रभो! बुढ़ापा, जन्म-(मरण-) के दुःखसमूहसे जलते हुए मुझ दुःखीकी दुःखसे रक्षा कीजिये। हे समर्थ शम्भो! मैं आपको नमस्कार करता हूँ।

पं० रा० व० श०—१ (क) *'संतापनाशं'*, *'भूताधिवासं'*—यहाँ संस्कृतके अनुसार '**नाशः वासः**' होना चाहिये सो न रखकर इनको नपुंसक लिंग *'नाशं वासं'* रखनेमें क्या भाव है? ऊपर सबमें द्वितीयान्त

पद लगा है, यहाँ नहीं? कारण यह है कि गोस्वामीजीने संस्कृत और हिन्दीभाषा मिलाकर स्तुति की है, केवल संस्कृत नहीं है, संस्कृत-सम्बद्ध भाषा है। यह स्तुति भाषाहीकी कही जायगी। इससे संस्कृत-व्याकरण यहाँ नहीं प्रयुक्त होगी। संस्कृत-सम्बद्ध भाषा होनेसे ही *'शंभु तुभ्य'* कहा।* (ख) *'भूताधिवासं'* का भाव कि सबमें वास होनेसे आप सबके हृदयके प्रेरक हैं, आपका वास हृदयमें होते हुए भी जीव दुखारी हैं—*'अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥'* अतः आप कृपा करें जिससे दुःख दूर हो [सर्वभूताधिवासं=सब भूतोंके अधिपति और सबमें बसे हुए। (करु०)=सबके अधिष्ठान और निवासस्थान। (पं०)=सब भूतोंमें कूटस्थ साक्षी। (रा० प्र०)] (ग) *'न जानामि योगं……।'* अर्थात् इनका बल-भरोसा किंचित् नहीं है जिससे आपपर कुछ जोर हो, हम तो केवल यही जानते हैं कि हम आपकी शरण हैं, आपको नमस्कारभर करते हैं। [भाव कि मैं ज्ञान, कर्म और उपासना जो तीन रीति आपको रिझानेकी हैं उनसे रहित हूँ पर मैं आपको दीनतापूर्वक नम्र होकर सदा प्रणाम करता हूँ; क्योंकि आपको *'सो प्रिय जाके गति न आन की।'* (रा० प्र०)] ☞ एकमात्र जब शरणका भरोसा होता है तब भगवान् कृपा ही करते हैं। (घ) **तातप्यमानं**=अतिशयेन पुनः पुनः तप्यमानं। ☞ परब्रह्मस्वरूपसे यहाँ शिवजीका वर्णन है। सिद्धान्त है कि स्तुति जब कोई करता है तब वह ब्रह्मस्वरूपकी ही करता है। 'प्रभो' से समर्थ जनाया।

खर्रा—**शान्तिश्च सन्तापनाशश्च अनयोः समाहारः द्वन्द्वः, अतः हे प्रभो! प्रसीद। सर्वभूताधिवासं सर्वभूतानाम् अधिष्ठानं त्वां नमामि इति पूर्वसम्बन्धः। न योगं जानामि………अतः अहं तुभ्यं सदा सर्वदा नतोऽस्मि। जराजन्मदुःखौघैः अतिशयेन तप्यमानं पायात् पाहि। हे ईश! हे शम्भो! प्रभो! त्वां नमामि।**

नोट—इस अष्टकमें भगवान् शङ्करके निर्गुण और सगुण दोनों स्वरूप दिखाये हैं। प्रथम दो छन्दोंमें निर्गुण स्वरूप वर्णित है। तीसरे-चौथेमें सगुणस्वरूपका वर्णन है। पाँचवें-छठेमें निर्गुण-सगुणमिश्रित स्वरूप तथा चरित्रका वर्णन है और सातवें-आठवेंमें प्रसन्न होने, दुःख हरने एवं रक्षाकी प्रार्थना है। निर्गुण-स्वरूपके विशेषण वैसे ही हैं जैसे श्रीरामजीके। वेष अवतारके अनुकूल है। भगवान् रामजी और शङ्करजीके विशेषण मिलान किये जा सकते हैं। ग्रन्थविस्तारके भयसे नहीं छपाये जाते।† स्तुतिमें *'स्फुरन्मौलि कल्लोलिनी चारु गङ्गा'* कहकर आपकी रामभक्ति दिखायी जो वे भुशुण्डिजीसे कहा करते थे—*'रामहि भजहिं तात सिव धाता।'* यथा—*'मकरंद जिन्ह को संभु सिर', 'जेहि पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी'*—(बा० २११) (प्र० सं०)।

श्लोक—रुद्राष्टकमिदं प्रोक्तं विप्रेण हरतोषये‡।
ये* पठंति नरा भक्त्यातेषां शंभुः प्रसीदति॥

अर्थ—रुद्रभगवान्‌का यह अष्टक (आठ वृत्तोंमें किया हुआ स्तव) ब्राह्मणद्वारा हरके प्रसन्न करनेके लिये कहा गया। जो मनुष्य इसे भक्तिपूर्वक पढ़ते हैं उनपर शम्भुजी प्रसन्न होते हैं।

☞ शिवजीकी प्रसन्नता प्राप्त करनेके लिये यह स्तुति की गयी और वे प्रसन्न हुए, इसीसे कवि शिवजीकी प्रसन्नताके लिये इसका भक्तिपूर्वक पाठ करना बतलाते हैं।

---

* इस सम्बन्धमें पूर्व पं० विजयानन्द त्रिपाठीके टिप्पण आ चुके हैं। प्राकृतका प्रयोग गोस्वामीजीने किया है न कि संस्कृतका।

† पूर्व कहीं दोनोंके विशेषणोंका मिलान दिया गया है।

‡ पं० रा० व० श०—'तुष्टये' की जगह यहाँ तोषये है। 'तोष' से तोषाय होता और तुष्टिसे तुष्टये। यह अशुद्ध न समझना चाहिये। इसे संस्कृतका श्लोक न समझकर एक प्रकारका भाषाका ही छन्द समझना चाहिये। यद्यपि मानसी वंदन पाठकजीने किसी व्याकरणका प्रमाण देकर 'तोषये' हीको शुद्ध सिद्ध किया है।

★ जे—(भा० दा०)। ये—(का०)। यह अनुष्टुप्वृत्तका श्लोक है।

दो०—सुनि विनती सर्बग्य सिव देखि बिप्र अनुरागु।
पुनि मंदिर नभ बानी भइ द्विजबर* बर मागु॥
जौं प्रसन्न प्रभु मोपर नाथ दीन पर नेहु।
निज पद भगति† देइ प्रभु पुनि दूसर बर देहु॥ १०८ (क)॥

अर्थ—सर्वज्ञ श्रीशिवजीने विनय सुनकर और (अपने चरणोंमें) ब्राह्मणका प्रेम देखकर मन्दिरमें पुनः आकाशवाणी हुई कि—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! वर माँग। (विप्रवर बोले—) हे प्रभो! यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं और हे नाथ! यदि आपका (मुझ) दीनपर प्रेम है तो, हे प्रभो! प्रथम तो अपने चरणोंकी भक्ति देकर फिर दूसरा वर (और भी) दीजिये॥ १०८ (क)॥

पं० रा० व० श०—*'देखि बिप्र अनुरागु।' 'बिनय करत गदगद गिरा' 'करि दंडवत……'* और *'न जानामि योगं……नतोहं'* इत्यादि अनुराग देख रहे हैं। विप्रका अनुराग मन-वचन-कर्मसे इस स्तुतिमें दिखाया। *'करि दंडवत'* कर्म, 'सप्रेम' मन और *'गदगद गिरा'* यह वचन है।

नोट—*'पुनि मंदिर नभ बानी भइ'* का भाव कि एक बार पहले भी नभवाणी हुई थी जो भुशुण्डिजीको शाप देनेके लिये थी। यथा—*'मंदिर माँझ भई नभ बानी॥'* (१०७। १) अब दूसरी बार फिर हुई।

रा० प्र०—*'नभ बानी।'* जो थिर वायुमण्डलमें चरवायु आघात लगनेसे प्रायः प्रभु-इच्छासे वाणी प्रकट होती है। शब्दगुण आकाशका है इसीसे आकाशवाणी कहलाती है।'—[देववाणी जो अन्तरिक्षसे होती है जिसमें देवता या कहनेवाला आकाशमें अदृश्य रहता है। उसे आकाशवाणी कहते हैं। विशेष १०७ (१) में देखिये]

वै०—*'जौं प्रसन्न……।'* भाव कि मुझपर प्रसन्न हों तो अपनी भक्ति दीजिये और जो अपना दास जानकर मुझ दीनपर स्नेह करते हों तो फिर दूसरा वर यह भी दीजिये।—[मिलान कीजिये।—*'जौं प्रभु होइ प्रसन्न बर देहू। मो पर करहु कृपा अरु नेहू॥……'* (८४ (७)—८४) देखिये।

रा० प्र०—*'निज पद भगति देइ……।'* ☞ बुद्धिमान्‌के हृदयमें सबसे पहली यही अभिलाषा होनी चाहिये कि भक्ति हो। इसीलिये विप्रने पहले भक्ति माँगी। यह विप्रकी उपासनामें सावधानता दिखायी।

दो०—तव मायाबस जीव जड़ संतत फिरै भुलान।
तेहि पर क्रोध न करिय प्रभु कृपासिंधु भगवान॥
संकर दीनदयाल अब एहि पर होहु कृपाल।
साप अनुग्रह होइ जेहिं नाथ थोरेहीं काल॥ १०८ (ख)॥

अर्थ—आपकी मायाके वश जीव जड़ होकर निरन्तर भूला-भटका फिरता है। हे प्रभो! हे दयासागर! हे भगवन्! उस जड़-जीवपर क्रोध न कीजिये। हे कल्याणके करनेवाले, दीनोंपर दया करनेवाले, शङ्करजी! अब इसपर दयालु हूजिये, जिससे हे नाथ! थोड़े ही समयमें इसका शाप अनुग्रह हो जाय॥ १०८ (ख)॥

नोट—१ *'तव मायाबस।'* ऐसा ही श्रीहनुमान्‌जी और वेदोंने श्रीरामजीसे कहा है; यथा—*'तव माया बस फिरौं भुलाना॥'* (४। २। ९) *'तव बिषम माया बस सुरासुर नाग नर अगजग हरे। भवपंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे॥'* (१३ छंद २) वही भाव यहाँ हैं। २—*'तेहि पर क्रोध न करिय'* का भाव कि वे तो अज्ञ हैं, कुछ भला-बुरा समझते ही नहीं, वे तो दयाके पात्र हैं न कि क्रोधके और आप प्रभु हैं, दयासागर हैं, भगवान् हैं, आप जीवका दुःख मेट सकते हैं, जीवपर दया करनेवाले हैं। शङ्कर, दीनदयाल इत्यादिके भाव बहुत बार आ चुके हैं। 'प्रभु' 'कृपासिंधु' और 'भगवान्'

* 'मंदिर नभ बानी भई द्विजबर अब'।—(का०)

† 'पदपद्मभक्ति दृढ़'।—(का०)।

'दीनदयाल'—ये सब साभिप्राय हैं। समर्थ ही शापानुग्रह कर सकता है, दयासागर ही दया और क्षमा कर सकता है, भगवान् ही मायाका निवारणकर अकर्तुको कर सकते हैं तथा दीनोंको ऐश्वर्य-सम्पन्न कर सकते हैं। प्रथम दोहेमें परिकराङ्कुर अलंकार है।

पं० रा० व० श०—*'क्रोध न करिय प्रभु……काल।'* इति।—यह सेवकका धर्म नहीं है कि स्वामीकी आज्ञाको सर्वथा मेट दे, इसीसे कहते हैं कि आप 'प्रभु' अर्थात् समर्थ हैं, ऐसा कीजिये कि शाप भी रहे और इसका कल्याण भी थोड़े ही दिनोंमें हो जाय। अयुतजन्म न जाने कितने कालमें हों, न जाने कबतक रौरव नरकमें पड़ा रहेगा।

वीर—इस प्रकरणमें शिवजीके कोपरूप भावकी शान्ति विप्रानुरागरूपी रति-भावके अङ्गसे हुई है। यह समाहित अलंकार है।

एहि कर होइ परम कल्याना। सोइ करहु अब कृपानिधाना॥ १॥
बिप्र गिरा सुनि परहित सानी। एवमस्तु इति भइ नभबानी॥ २॥
जदपि कीन्ह एहि दारुन पापा। मैं पुनि दीन्हि कोप करि सापा॥ ३॥
तदपि तुम्हारि साधुता देखी। करिहौं एहि पर कृपा बिसेषी॥ ४॥

अर्थ—हे दयानिधान! अब वही कीजिये जिससे इसका परम कल्याण हो॥ १॥ परोपकारमें सनी हुई ब्राह्मणकी वाणी सुनकर 'ऐसा ही हो' यह आकाशवाणी हुई॥ २॥ यद्यपि इसने बड़ा घोर पाप किया है और मैंने इसे क्रोध करके शाप भी दिया है तो भी तुम्हारी साधुता देखकर इसपर विशेष कृपा करूँगा॥ ३-४॥

नोट—१ *'होइ परम कल्याना।'* शापानुग्रह होना कल्याण है और भगवत्-चरणोंमें अनुराग हो जाय यह परम कल्याण है। जिसमें फिर यह हरि और हरिजनसे द्रोह न करे, अपना स्वरूप जाने, संसारसे छूटे और भगवान्‌को प्राप्त हो। [शाप छूटनेके अनन्तर जो परमशक्ति और परमगति होनी है उसके सम्बन्धसे 'परम कल्याण' कहा (पं०)। 'परम' का भाव कि जिसमें पुनः विघ्न न होवे। (रा० प्र०)]

२ (क) *'परहित सानी'* कहा; क्योंकि शिवजीके सामने गुरुका अपमान किया तब भी गुरुने केवल उसीके उद्धारके लिये यह स्तुति की, अपने लिये नहीं, दण्डके बजाय उसके लिये क्षमाकी प्रार्थना करते हैं। (ख)—*'एवमस्तु'* से दृढ़ भक्तिका वरदान भी हो गया जो विप्रने माँगा था।

३ (क) *'दारुन पाप'*—गुरु-अपमान अति कठिन पाप है; इसका फल शिवजी ऊपर कह आये हैं। गुरुका अपमान तो अनेक बार किया पर इस बार शिवजीके सामने किया, यह उस पापकी दारुणताको और बढ़ानेवाला हो गया। सामने हुआ इससे वे न सह सके, इसीसे क्रोध आया, क्रोध होनेसे शाप हुआ।—क्रमसे कहा। (ख) *'तदपि तुम्हारि साधुता देखी……'* —भाव कि इसके आचरण तो कृपाके योग्य नहीं हैं पर तुम्हारी साधुतापर मैं प्रसन्न हूँ इससे तुम्हारा कहा करूँगा। *'संत असंतन्ह कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी॥ काटै परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥'* यह 'संतगुण' है। इसका यहाँ चरितार्थ है।—'साधुता' देखी। (ग)—*'कृपा बिसेषी'* अर्थात् जितनी सिफारिश तुमने की उससे भी अधिक। [जिसमें क्रोध भी कृपाका फल देगा।]

छमासील जे पर-उपकारी। ते द्विज मोहि प्रिय जथा खरारी॥ ५॥
मोर साप द्विज ब्यर्थ न जाइहि। जन्म सहस्र अवसि यह पाइहि* ॥ ६॥
जनमत मरत दुसह दुख होई। एहि स्वल्पौ नहिं ब्यापिहि सोई॥ ७॥
कवनेउँ जन्म मिटिहि नहिं ग्याना। सुनहि सूद्र मम बचन प्रवाना॥ ८॥

* सहस्र अवसि यह पाई—का०, रा० गु० द्वि०। सहस अवस्य यह पाइहि—भा० दा०।

शब्दार्थ—'**बचन प्रबान**'=सत्य वचन, यथा—'***नाइ रामपद कमल सिर बोले बचन प्रमान***' (बा० २५२), '***अति सरोष माषे लषन लखि सुनि सपथ प्रबान। सभय लोक सब*******' (अ० २३०), '***बरष चारिदस बिपिन बसि करि पितु बचन प्रबान।***' (अ० ५३)

अर्थ—हे द्विज! जो क्षमाशील और पराया हित करनेवाले हैं वे मुझे खरारि श्रीरामचन्द्रजीके समान प्रिय हैं॥ ५॥ हे द्विज! मेरा शाप व्यर्थ न जायगा, यह अवश्य सहस्र जन्म पायेगा॥ ६॥ जन्मते-मरते दुःसह दुःख होता है वह इसे कुछ भी न व्यापेगा॥ ७॥ किसी जन्ममें ज्ञान न मिटेगा। हे शूद्र! मेरा प्रमाण (कभी असत्य न होनेवाला) वचन सुन॥ ८॥

नोट—१ (क) '***छमासील जे पर उपकारी***' यह संतका सहज स्वभाव है। ये मुझे खरारि श्रीरघुनाथजीके समान प्रिय हैं। इस कथनसे जनाया कि संत-भगवंतमें किञ्चित् अन्तर नहीं है, संत भगवान्‌के ही रूप हैं। क्षमाशील अर्थात् जिनका स्वभाव क्षमामय है, जो कभी भी क्षमाका परित्याग नहीं करते। (ख) '***पर उपकारी***' में भाव यह है कि पर-(=शत्रु-) का भी उपकार ही करते हैं (रा० प्र०)। '***प्रिय जथा खरारी***' का भाव कि मैं उनका कहा टाल नहीं सकता। यथा—'***नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं॥***' (१। ७७। १) '***आज्ञा सिरपर नाथ तुम्हारी॥***' (१। ७७। ४) पुनः '*जथा खरारी*' अर्थात् सेवक-स्वामि-सखा सभी भावसे प्रिय हैं। यथा—'***सेवक स्वामि सखा सिय पी के।***' (रा० प्र०)। क्षमाशीलता श्रीरघुनाथजीके समान किसीमें नहीं है, यथा—'***छमि अपराध छमाइ पाँय परि इतौ न अनत समाउ॥***' (वि० १००), '***कोटि बिप्रबध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥***' (५। ४४। १) अतः खरारी समान कहा। (रा० शं० श०)। सेवकोंको स्वामी-जैसा प्रिय कहनेमें यहाँ प्रेममात्रमें समता है अथवा दोनोंमें अभेदभावसे ऐसा कहा। (पं०)।

रा० बा० दा०—'***जथा खरारी***' इति। ब्राह्मण रामरूप है। यथा—'***मम मूरति महिदेवमई है***' (वि०)। अतः राम-सम कहा। दोनोंका मिलान—

विप्र (गुरु)		श्रीरामजी
'***गुरु कर द्रोह करौं दिन राती***' तब भी '***अति दयाल गुरु स्वल्प न क्रोधा***' —ऐसे क्षमाशील।	१	'***भृगुपति बकहिं कुठार उठाये***' तब भी '***मन मुसुकाहिं राम सिर नाये***'—यह क्षमा।
उठकर प्रणाम न किया तो भी '***सो दयालु कछु कहेउ नहिं उर न रोष लवलेस***' —यह शील।	२	'***गुर नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी॥ 'सील सराहि सभा सब सोची।***'
पर उपकारी है, शापानुग्रहके लिये स्तुति की।	३	श्रीरामजीने खरादिको मारकर सुर-द्विज-मुनि आदिका उपकार किया।

पं० रा० व० श०—१ '***मोर साप द्विज ब्यर्थ न जाइहि***' इति। '**रक्षण हि प्रतिज्ञायाः**' वचनकी रक्षा करना यह सत्पुरुषोंका लक्षण है; पुनः, ईश्वरों तथा देवताओंके वचन व्यर्थ नहीं होते, यथा—'***मुधा बचन नहिं ईश्वर कहई***' '***संभु गिरा पुनि मृषा न होई॥***' (१। ५१। ३) अतः कहा कि शाप सर्वथा व्यर्थ न होगा, केवल उसके भोगमें सुलभता कर देंगे। २—'***जन्म सहस्र अवसि यह पाइहि।***' भाव कि रौरव नरकमें न पड़ेगा, अयुत जन्मके बदले केवल एक सहस्र जन्म होंगे, यह अनुग्रह हम किये देते हैं। उसमें भी यह और अनुग्रह कि जन्म-मरण-समय जो दुस्सह क्लेश होता है वह इसे किञ्चित् न होगा। ज्ञान जाता रहता है वह न जायगा, इत्यादि।

नोट—२ विनय पद १३६ में भी कहा है कि जन्मके समयमें अत्यन्त वेदनाके कारण ज्ञान जाता रहता है। यथा—'***आगे अनेक समूह संसृति उदरगति जान्यो सोऊ। सिर हेठ ऊपर चरन संकट बात नहिं पूछै कोऊ॥ सोनित पुरीष जो मूत्र मल कृमि कर्दमावत सोवही। कोमल सरीर गँभीर बेदन सीस धुनि-धुनि रोवही।***'—'***प्रयो जो परम प्रचंड मारुत कष्ट नाना त सह्यो। सो ज्ञान ध्यान बिराग अनुभव जातना पावक दह्यो। अति खेद ब्याकुल अल्पबल छिन एक बोलि न आवई। तव तीव्र कष्ट न जान कोउ सब लोग हर्षित गावई॥***'

पं० रा० व० श०—*'जनमत मरत दुसह दुख होई।'* माताका छिद्र जिससे बालक निकलता है अत्यन्त छोटा होता है और बालक बड़ा। उस छिद्रसे निकलनेका कष्ट ऐसा कहा गया है कि जैसे सुनार चाँदी-सोनेका तार छेदमें डाल-डालकर पतला करता है वैसे ही छिद्रसे यह निकाला जाता है। मरते समय भी बड़ा कष्ट होता है। १००० बिच्छूके एक साथ डंक मारनेसे जैसा कष्ट हो अथवा जैसे शरीरका चमड़ा उधेड़नेमें कष्ट हो। कारण कि शरीरमें उदान, व्यान, समान, प्राण और अपान—ये पञ्चप्राण रहते हैं, मरते समय इन पञ्च प्राणोंको एकमें मिलाकर बाहर निकालना होता है। ऊर्ध्वश्वास वस्तुतः इन पञ्चप्राणोंको एकमें मिलाता है। सबको मिलाकर एक झिटकेसे सबको एकदम शरीरसे निकाल लिया जाता है।

नोट—३ जन्मके समयके दुःख कपिलभगवान्ने मातासे (भा० ३। ३१। १—२३ में) विस्तारपूर्वक कहे हैं। संक्षिप्तरूपसे वह यहाँ दिये जाते हैं—

जीव पूर्वकृत कर्मके कारण शरीर-धारणके लिये पुरुषके बीजका आश्रय करके स्त्रीके गर्भमें प्रवेश करता है। जब छः मासका होता है तब जरायु नामक झिल्लीसे आवृत होकर माताकी कोखमें दाहिनी ओर घूमने लगता है। इसी समयसे माताके खाये हुए अन्नपानादिसे उसकी सम्पूर्ण धातुएँ बढ़ने लगती हैं। इस दशामें इच्छा न होनेपर भी उसको उस विष्ठा-मल-मूत्रसे परिपूर्ण माताके गर्भरूप गढ़ेमें शयन करके रहना पड़ता है। गर्भमें गर्भस्थित क्षुधित कीड़े उसके कोमलाङ्गोंमें क्षण-क्षण काटकर घाव कर देते हैं। उस क्लेशसे इसे बार-बार मूर्च्छा आ जाती है। माताके खाये हुए कड़ुवे, तीखे, गर्म, लवण, खारी, खट्टे आदि भोजनके असह्य रसके स्पर्शसे इसके सब अङ्गोंमें व्यथा उठती है।""जैसे छोटे पिंजड़ेमें पक्षी हो वैसे ही यह अपने अङ्गको हिला-डुला नहीं सकता। गर्भमें इसे अपने पूर्वकर्मोंकी याद आती है तब अनुच्छ्वासप्राय होकर यह अपने सैकड़ों-हजारों जन्मोंके दुरन्त पापोंका स्मरणकर किसी प्रकार चैन नहीं पाता। फिर ज्ञानोदय होनेपर सातवें महीनेका आरम्भ होते ही प्रसूतिवायुके वेगसे विष्ठाके कीड़ेके तुल्य यह जीव एक स्थानपर स्थिर नहीं रहने पाता। उस अवस्थामें पवित्र भावका उदय होनेसे गर्भयन्त्रणाका स्मरणकर यह देहात्मदर्शी जीव दीनभावसे व्याकुलतापूर्वक अञ्जलिबद्ध होकर ईश्वरकी स्तुति करता है, जिसने इसे गर्भमें भेजकर सप्तधातुमय शरीर दिया है।—(यहाँ श्लोक १२ से २१ तक स्तुति है। उसमें गर्भवासका कष्ट भी कहा है कि मेरा यह कर्मानुगत शरीर माताके रुधिर, विष्ठा और मूत्र-कूपस्वरूप गर्भविवरमें पड़ा हुआ है, मैं जठरानलसे अत्यन्त संतापको प्राप्त हो रहा हूँ, कृपा करके इस नरकसे मुझे निकालिये।) स्तुति करनेपर इसी समय प्रसूतिका वायु उसको मुख नीचे करके गर्भके बाहर फेंकता है। वायुके वेगसे आतुर वह नीचे सिर किये हुए बड़े कष्टसे बाहर निकलता है। इस वेदनासे उसका गर्भमें मिला हुआ ज्ञान पुनः नष्ट हो जाता है। इत्यादि।

इसी प्रकार मरणकालका दुःख (भा० ३। ३०। १६ में) उन्होंने यों कहा है कि मृत्युकाल उपस्थित होनेपर ऊर्ध्वश्वासके वेगसे नेत्र बाहर निकल आते हैं, पुतली ऊपर चढ़ जाती है एवं वायुके आने-जानेका मार्ग जो नाड़ियाँ हैं सो कफसे रुँध जाती हैं जिससे साँस लेनेमें कष्ट होता है और गलेमें घुरघुराहट होने लगती है। जब इस प्रकार वह मृत्यु-शय्यापर शयन करता है तब उसके शोकयुक्त बन्धु चारों ओर उसकी शय्या घेरकर बैठते हैं और बार-बार उसे बोलकारते हैं पर वह कालवशवर्ती होनेसे बोल नहीं सकता। वह मृतप्राय अजितेन्द्रिय व्यक्ति रोते हुए स्वजनोंके आर्त्तनादसे बड़ी व्यथाको प्राप्त होता है और अन्तमें ज्ञानशून्य होकर प्राणत्याग करता है। यमदूतोंको देखकर भयके मारे एक साथ मल-मूत्र उस प्राणीके निकल पड़ते हैं।""""फिर नरक-भोगके उपरान्त कुत्ता, शूकरादिकी निकृष्ट योनियोंमें जितने प्रकारकी यातनाएँ हो सकती हैं उनको वह क्रमशः भोगता है। पाप क्षीण होनेपर मनुष्ययोनि पाता है। (३४)

पद्मपु० भूमि० में मातलिने ययातिके पूछनेपर बताया है कि 'जिस प्रकार किसीको लोहेके घड़ेमें बंद करके आगसे पकाया जाय उसी प्रकार गर्भरूप कुम्भमें डाला हुआ जीव जठराग्निसे पकाया जाता है। आगमें तपाकर लाल-लाल की हुई बहुत-सी सुइयोंसे निरन्तर शरीरको छेदनेपर जितना दुःख होता है उससे अठगुना अधिक कष्ट गर्भमें होता है। गर्भवाससे बढ़कर कष्ट कहीं नहीं होता।""""

जीवको जन्मके समय गर्भवासकी अपेक्षा करोड़गुनी अधिक पीड़ा होती है। जन्म लेते समय वह मूर्च्छित हो जाता है। जन्मके पूर्व गर्भमें जो विवेकबुद्धि प्राप्त होती है, वह उसके अज्ञान-दोषसे या नाना प्रकारके कर्मोंकी प्रेरणासे जन्म लेनेके पश्चात् नष्ट हो जाती है। योनि-यन्त्रसे पीड़ित होनेपर जब वह दुःखसे मूर्च्छित हो जाता है और बाहर निकलकर बाहरी हवाके सम्पर्कमें आता है, उस समय उसके चित्तपर महान् मोह छा जाता है।……। यथा—'**एवमेतन्महाकष्टं जन्मदुःखं प्रकीर्तितम्। पुंसामज्ञानदोषेण नानाकर्मवशेन च॥ गर्भस्थस्य मतिर्याऽऽसीत् संजातस्य प्रणश्यति। सम्मूर्च्छितस्य दुःखेन योनियन्त्रप्रपीडनात्॥ बाह्येन वायुना तस्य मोहसङ्गेन देहिनाम्।—महामोहः प्रजायते। सम्मूढस्य स्मृतिभ्रंशः शीघ्रं सञ्जायते पुनः॥**' (६६। १४—१७)

'मृत्युके समय जब शरीरके मर्मस्थानोंका उच्छेद होने लगता है और जीवपर महान् मोह छा जाता है, उस समय उसको जो दुःख होता है, उसकी कहीं भी तुलना नहीं है।………' (अ० ६६)।

४—'*मिटिहि नहिं ग्याना*'—भाव कि गर्भमें प्रभुकी कृपासे जो ज्ञान प्राप्त होता है वह जन्मते समय कष्टके कारण अथवा पूर्वजन्मोंके अज्ञानाध्यासके कारण नष्ट हो जाता है, वह नष्ट न होगा। पूर्वजन्मों और उनके कर्मोंके फलोंका ज्ञान बराबर रहेगा। तथा आगे जो जन्म होंगे उनका भी ज्ञान रहेगा और यह भी ज्ञान रहेगा कि संसार नाशवान् है तथा इस शरीरमें जो कुछ हुआ वह भी स्मरण रहेगा।

५—'*सुनहिं सूद्र—*' इति। '*एवमस्तु इति भइ नभबानी।*' (१०९। २) से '*एहि स्वल्पौ नहिं ब्यापिहि सोई।*' (७) तक विप्रदेवसे कहे हुए वचन हैं। '*कवनेउँ जन्म मिटिहि नहिं ग्याना।—मम बचन प्रबाना*' ये तथा आगेके वचन भुशुण्डिप्रति हैं। इनको सम्बोधन करके कहे गये हैं। ऊपर जो कहा था '*करिहउँ एहि पर कृपा बिसेषी*' वह विशेष कृपा सम्बोधनसे ही प्रकट हो रही है। भुशुण्डिजी थर-थर काँप रहे हैं, उनका त्रास मिटे और वे प्रसन्न हों इस विचारसे उनको सम्बोधन किया और '*मम बचन प्रबाना*' कहा।

६—'*बचन प्रबाना।*' प्रबाना=प्रमाण, सत्य। यथा '*तीनि जनम द्विज बचन प्रबाना।*' (१। १२३। १), '*कहा जो प्रभु प्रबान पुनि सोई।*' (१। १५०। ७) '*मैं पुनि करि प्रबान पितु बानी।*' (२। ६२। १), '*करहु तात पितु बचन प्रबाना।*' (२। १७४। ४), '*कीन्ह आपु प्रिय प्रेम प्रबाना।*' (२। २९२। ३), '*सुनु सठ अस प्रबान पन मोरा।*' (५। १०। ४) इत्यादि।

रघुपति पुरी जन्म तव भयऊ। पुनि तें मम सेवा मन दएऊ॥ ९॥
पुरी प्रभाउ अनुग्रह मोरे। राम भगति उपजिहि उर तोरे॥१०॥
सुनु मम बचन सत्य अब* भाई। हरितोषन ब्रत द्विज सेवकाई॥११॥
अब जनि करहि बिप्र अपमाना। जानेसु संत अनंत समाना॥१२॥

अर्थ—(एक तो) श्रीरघुनाथजीकी पुरीमें तेरा जन्म हुआ। फिर तूने मेरी सेवामें मन लगाया॥ ९॥ पुरीके प्रभाव और मेरी कृपासे तेरे हृदयमें रामभक्ति उत्पन्न होगी॥ १०॥ हे भाई! अब मेरा सत्य वचन सुन—द्विजसेवा ही भगवान्‌के प्रसन्न करनेका व्रत है॥ ११॥ अब विप्रका अपमान मत करना। संतको भगवान्‌के समान जानना॥ १२॥

नोट—१ '*पुरी प्रभाउ अनुग्रह मोरे।* ………' इति। (क) '*सुनहिं सूद्र मम बचन प्रबाना*' जो ऊपर कहा वह सत्य वचन अब कहते हैं। पुरीप्रभाव और अनुग्रहसे भक्ति उपजेगी, इस कथनका भाव कि पुरीमें जन्म होनेसे मानों सुक्षेत्रमें बीज पड़कर जमा और हमारा अनुग्रहरूपी जल पाकर परिपूर्ण श्रीरामभक्ति उत्पन्न होगी। (वै०), क्योंकि शङ्कर-कृपा बिना भक्ति नहीं मिलती। यथा—'*जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी॥*' (१। १३८। ७) शिवसेवासे भी रामभक्ति मिलती है, यथा—'*संकर भजन*

* 'अति भाई' (का०)। भाव कि मनभावती बात मेरी सुन। वा, कृपाल होकर मित्रसम्मित वाणी बोले। रामभक्तिका वर देकर उसे रामभक्त बना दिया है अथवा उसका भविष्यत् लखकर अब उसे 'भाई' सम्बोधन किया, पहले 'शूद्र' सम्बोधन किया था (पं०, वै०)। भाई स्नेहसूचक है। ☞ और भाव ४५ (२), ६१ (७), लं० २१ (२) इत्यादिमें देखिये।

बिना नर भगति न पावइ मोरि।' (४५) पुरीका भी यह प्रभाव है। यथा—*'कवनेहु जन्म अवध बस जोई। राम परायन सो परि होई॥'* (९७। ६) *'अवध प्रभाव जान तब प्रानी।', 'अति प्रिय मोहि इहाँके बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी॥'* इसीसे तुलसीदासजीने लिखा है—*'बंदउँ अवधपुरी अति पावनि। सरजू सरि कलिकलुष नसावनि॥ प्रवनउँ पुर नर नारि बहोरी। ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी॥'* (रा० प्र०)

२ (क) *'कृपा बिसेषी'* जो कहा था वह यहाँ देखिये कि वरदान-पर-वरदान देते जा रहे हैं, ब्राह्मणकी क्षमाशीलतापर ऐसे मुग्ध हो गये हैं कि देते अघाते नहीं। (ख) *'अनुग्रह मोरे'* इति।—*'सिव सेवा कर फल सुत सोई। अबिरल भगति रामपद होई॥',* यह गुरुने पहले ही समझाया था, वही बात यहाँ शङ्करजी दृढ़ कर रहे हैं (पं० रा० व० श०)।

३ (क) *'हरितोषन ब्रत·········'* इन वचनोंको *'सत्य अब'* कहनेका भाव कि यदि यह बात पूर्व कही जाती तो तू सत्य न मानता, पर अब तूने आँखों देख लिया कि द्विजसेवा तूने की, यद्यपि कपटसे ही तो भी उसका फल तुझको यह मिला कि रघुपति-भक्ति तुझे प्राप्त हुई और जो प्रेमसे करे उसका फल कहा नहीं जा सकता। (ख) भगवान् भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं। यथा—*'बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।'* (९०), *'जाते बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥'* (३। १६। २) यह कहकर भगवान्ने उसका साधन बताते हुए आदिमें विप्रपद-प्रेम ही कहा है—*'प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती।'* (३। १६। ६) मूल साधन होनेसे यहाँ *'हरितोषन ब्रत द्विज सेवकाई'* कहा।

४—*'अब जनि करहि'* का भाव कि अबतक जो अपमान किया सो किया पर अब इस समयसे तो संतको बराबर भगवान् ही समझना। अपमानका फल देखकर अब सावधान हो जा। देख, तूने संत-विप्र-गुरुका अपमान किया, उसीसे मैंने शाप दिया। यदि वे कृपा न करते तो तू कहींका न रहता। उन्हींकी कृपासे शाप अनुग्रह हुआ और तुझको रघुपति-भक्ति प्राप्त हुई। तुझे मेरे वचनोंकी साक्षात् परीक्षा मिल गयी। अतः तुझे दृढ़ करनेके लिये अब ये सत्यवचन मैं कहता हूँ।

५—'रामभक्तिका वर देकर फिर द्विजसेवा आदिकी शिक्षा देनेका क्या प्रयोजन? कारण कि यद्यपि फल प्राप्त हो गया पर जबतक बिगड़ा हुआ आचरण न सुधरेगा तबतक फिर गिरने तथा अकल्याणका भय है, अतः शिक्षा देते हैं जिसमें फिर चूक न होने पावे। भगवान्के प्रसन्न होनेपर फिर भय नहीं रह जाता। वे सर्वज्ञ हैं, सदा रक्षा करते रहते हैं, अतः भगवान्के प्रसन्न करनेका उपाय बताया—*'हरितोषन·······।' 'जनि करहि·······'* का भाव कि उनका पूजन करना चाहिये, पूजा न बने तो कम-से-कम अपमान तो न करे। (पं० रा० व० श०)

नोट—६ शूद्र विप्र, हरि और हरिजन तीनोंसे द्वेष रखता था। यथा—*'हरिजन द्विज देखे जरउँ करउँ बिष्नु कर द्रोह।'* (१०५) इसीसे शङ्करजीने (आकाशवाणीद्वारा) तीनोंके सम्बन्धमें उपदेश किया। यथा—*'हरितोषन ब्रत द्विज सेवकाई', 'अब जनि करहि बिप्र अपमाना', 'जानेसु संत अनंत समाना।'*

इंद्रकुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला॥ १३॥
जो इन्ह कर मारा नहिं मरई। बिप्रद्रोह पावक सो जरई॥ १४॥
अस बिबेक राखेहु मन माहीं। तुम्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥ १५॥
औरौ एक आसिषा मोरी। अप्रतिहत गति होइहि तोरी॥ १६॥

अर्थ—इन्द्रके वज्र, मेरे विशाल त्रिशूल, कालके दण्ड और विष्णुभगवान्के भयंकर चक्र इनके मारे भी जो नहीं मरता वह भी विप्रद्रोहरूपी अग्निसे भस्म हो जाता है॥ १३-१४॥ ऐसा विवेक मनमें धारण कर रखना। (मनमें सदा यह विचार रखनेसे) संसारमें तुमको कुछ भी दुर्लभ न होगा॥ १५॥ मेरा एक और भी आशीर्वाद है कि तेरी गति अप्रतिहत होगी अर्थात् जहाँ जानेकी तुम इच्छा करोगे वहाँ तुम (बिना रोकके) जा सकोगे॥ १६॥

नोट—१ (क) ब्राह्मणकी सेवाका फल भगवान्‌की प्रसन्नता बताकर अब ब्राह्मणोंसे द्रोहका फल बताते हैं। अपमान क्यों न करना चाहिये इसका कारण बताते हैं। (ख) *'इंद्रकुलिस मम सूल'*—यहाँ कुलिशसे बढ़कर घातक त्रिशूल, त्रिशूलसे कालका दण्ड और उससे भी भगवान्‌का चक्र बढ़कर कराल दिखाये। एकसे दूसरे, दूसरेसे तीसरे, तीसरेसे चौथेको अधिक उत्कृष्ट जनाया। शत्रुविनाशके लिये इनसे बढ़कर जगत्‌में कोई आयुध नहीं। कालदण्डकी करालता रावण-दिग्विजयमें दिखायी है कि मारीचादि सब साथी रावणको छोड़कर भाग गये थे; यह वाल्मीकीयके उत्तरकाण्डमें कहा है।

२—*'जो इन्ह कर मारा नहिं मरई।'* अर्थात् यदि ऐसा प्रतापी हो जैसे रावण। रावण, कुम्भकर्ण, कबन्ध आदि असाधारण प्राणी हो गये हैं जिनपर वज्र, चक्र इत्यादि चलाये गये फिर भी वे न मरे। ऐसे-ऐसे प्राणी भी विप्रद्रोहके कारण नाशको प्राप्त हुए। वज्रादिकसे न मरना कहकर विप्रद्रोहाग्निमें जल मरना दिखाकर विप्रद्रोहकी अत्यन्त भीषणता दिखायी। यथा—*'जिमि द्विजद्रोह किये कुल नासा।'* (४। १७। ८) *'राखेहु मन माहीं'* अर्थात् यदि इसपर बराबर ध्यान रखोगे तो कभी चूक न होगी और जगत्‌में सब कुछ सुलभ रहेगा। विवेक=ज्ञान, निर्णय, विचार।

रा० प्र०—*'औरौ एक आसिषा मोरी',* ऊपर जो आशीर्वाद दिये वे गुरुकी सिफारिशसे और यह अपनी ओरसे कृपा करते हैं।

पं० रा० व० श०—*'अप्रतिहत'* में यह भी भाव आ गया कि जिस शरीरमें जब चाहें चले जायँ। पृथिवी-जलादि तत्त्वोंमें भी जा सकते हैं, सब लोकोंमें जा सकते हैं। कहीं भी गति रुकेगी नहीं, जहाँ जी चाहे जा सकते हैं।—[खर्रा—यहाँ गतिसे ज्ञान और गमन दोनों जनाये।]

वि० त्रि०—यह वरदान उसी जन्मके लिये नहीं प्रत्युत जन्म-जन्मान्तरके लिये दिया। इसीमें भावी उन्नतिका बीज निहित था। एक हजार सर्प-जन्मके बाद जब इन्हें ब्राह्मण-शरीर मिला, उस समय लोमश ऋषिके पास मेरुपर्वतपर इनके पहुँचनेका कारण यही वरदान हुआ। वहाँ यह कहा भी है *'अब्याहत गति संभु प्रसादा।'* वहीं इन्हें कागशरीर मिला, रामचरितसर मिला और अविरल भक्ति मिली।

दो०—सुनि सिव बचन हरषि गुर एवमस्तु इति भाषि।
मोहि प्रबोधि गएउ गृह संभु चरन उर राखि॥
प्रेरित काल* बिंधिगिरि जाइ भएउँ मैं ब्याल।
पुनि प्रयास बिनु सो तनु तजेउँ गए कछु काल॥

अर्थ—शिवजीके वचन सुनकर गुरुने प्रसन्न होकर 'एवमस्तु' यह कहकर और मुझे बहुत समझाकर वे शिवजीके चरणोंको हृदयमें रखकर घर गये। कालकी प्रेरणासे मैं विन्ध्याचलमें जाकर सर्प हुआ और फिर कुछ काल बीतनेपर मैंने बिना परिश्रम वह (व्याल) शरीर त्याग दिया।

नोट—१ *'सुनि सिव बचन हरषि गुर'*—पूर्व *'हाहाकार कीन्ह गुर दारुन सुनि सिव साप'* और *'उपजा उर परिताप'* अब वह संताप मिटा, अनुग्रह सुनकर हर्ष हुआ। विनयकी अतिशय सफलता देख प्रसन्न हुए। श्रीभुशुण्डिजीके इन गुरुजीका नाम वैद्यक मुनि था।

२—*'एवमस्तु इति भाषि',* यह गुरुका भी मानो आशीर्वाद हुआ। *'संभुचरन उर राखि'* यह आद्यन्त गुरुकी उपासना दिखायी। पुनः, पद-भक्ति माँगी अतः *'उर राखि'* कहा।

३—*'पुनि प्रयास बिनु—',* यह शिववरदानका चरितार्थ है—*'एहि स्वल्पौ नहिं ब्यापिहि सोई'*। *'गुरु आएउ अभिमान ते उठि—।'* (१०६) उपक्रम और *'मोहि प्रबोधि गएउ गृह—'* उपसंहार है।

* सुबिधि—(का० पं०)।

दो०—जोइ तनु धरौं तजौं पुनि अनायास हरिजान।
जिमि नूतन पट पहिरै नर परिहरै पुरान॥
सिव राखी श्रुति नीति अरु मैं नहिं पाव कलेश*।
एहि बिधि धरेउँ बिबिधि तनु ज्ञान न गएउ खगेश॥ १०९॥

अर्थ—हे हरिवाहनजी! जो भी शरीर मैं धारण करता फिर उसे बिना परिश्रम ही छोड़ देता था। जैसे मनुष्य पुराना वस्त्र छोड़ देता है और नया वस्त्र पहिन लेता है। श्रीशिवजीने श्रुतिकी, नीतिकी रक्षा भी की और मैंने क्लेश भी न पाया। हे पक्षिराज! इस प्रकार मैंने अनेक प्रकारके बहुत-से शरीर धारण किये। मेरा ज्ञान न गया॥ १०९॥

नोट—१ *'जोइ तनु धरौं—'* यह गीताके **'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥'** (२। २२) इस श्लोकका अनुवाद-सरीखा है। भाव यह कि किसी शरीरमें मेरा गाढ़ ममत्व न होता था वरन् मैं उसे हर्षपूर्वक छोड़ देता था। पुराना कपड़ा उतारकर नया पहिननेमें परिश्रम नहीं, न उतारनेमें, न पहिननेमें, वरन् उलटे हर्ष होता है।

२—*'भ्रष्ट होइ श्रुति मारग मोरा'* का उपसंहार है *'सिव राखी श्रुति नीति।'* यहाँ शिवजीके वचनोंको चरितार्थ किया है। *'ज्ञान न गएउ'*, यथा—*'कवनेउँ जन्म मिटिहि नहिं ज्ञाना'*। *'एहि बिधि'*—जैसा प्रथम कहा कि *'जिमि नूतन—।'* यहाँ उदाहरण अलङ्कार है।

पं० रा० व० श०—*'सिव राखी श्रुति नीति।'* भाव कि **'देवाः सर्वे अमोघवाचो भवन्ति'**, देवताओंके वाक्य व्यर्थ नहीं जाते।

वै०—इस प्रसङ्गमें *'मानस पुन्य होइ नहिं पापा'* का चरितार्थ है। पूर्व गुरुद्रोह मनमें करते रहे जब साक्षात् अपमान किया तब दण्ड मिला।

त्रिजग देव नर जोइ तन धरऊँ। तहँ तहँ रामभजन अनुसरऊँ॥ १॥
एक सूल मोहि बिसर न काऊ। गुर कर कोमल सील सुभाऊ॥ २॥
चरम देह द्विज कै मैं पाई। सुरदुर्लभ पुरान श्रुति गाई॥ ३॥
खेलौं तहूँ बालकन्ह मीला। करौं सकल रघुनायक लीला॥ ४॥

शब्दार्थ—**'चरम शरीर'**=वह शरीर जिससे आवागमनके चक्रसे छूटकर मोक्ष प्राप्त किया जाता है। सबसे उत्कृष्ट, पराकाष्ठाका।=अन्तिम। मनुष्योंमें मोक्षका अधिकारी ब्राह्मण है, इसीलिये उसके शरीरको चरम (अन्तिम) कहा गया।

अर्थ—तिर्यग्योनि पशु-पक्षी आदि, देवता या मनुष्य जो भी शरीर धारण करता था, उस-उस शरीरमें मैं रामभजन करता था॥ १॥ एक शूल मुझे बना रहा। गुरुका कोमल और शीलस्वभाव मेरे हृदयसे कभी नहीं भूलता। (अर्थात् मैंने उनका कैसा घोर अपमान किया यह पश्चात्ताप बराबर बना रहा)॥ २॥ अन्तिम देह मैंने ब्राह्मणकी पायी। पुराण और श्रुति यह देह देवताओंको भी दुर्लभ कहते हैं॥ ३॥ वहाँ (द्विजदेहमें) भी मैं बालकोंमें मिलकर खेला करता और श्रीरघुनाथजीकी सब लीला किया करता था॥ ४॥

वै०—*'त्रिजग देव नर जोइ तन धरऊँ'*—पहले शिवशापसे त्रिजग सर्पके हजार तन धरे। जब इस तरह महापापका भोग हो गया तब पूर्वजन्मोंके सुकृत-फल भोगके लिये देव-तन पाकर स्वर्गमें भोग किया। जब पाप-पुण्य समान रहे तब शूद्र, वैश्य, क्षत्रियादि मनुष्यतन पाया और जब यावज्जन्म-जन्मान्तरके शुभाशुभ कर्म सब भोग चुका तब अन्तमें द्विजदेह पायी। [रा० प्र०—इससे जनाया कि भजनका अधिकार सर्वत्र रहा।]

* 'पावा क्लेस'—(भा० दा०, रा० गु० द्वि०) 'सिव असीस श्रुतिनीति'—(का०)

नोट—१ '*चरम* ......' इति। इसी तरह जड़भरतको मृगशरीरके बाद ब्राह्मण-शरीर मिला है जिसके छोड़नेपर वे मुक्त हो गये। इससे जनाया कि यह शरीर सबके अन्तमें जीवको मिलता है कि इससे अपने मोक्षका साधन कर ले। भागवतमें भी 'चरम शरीर' पद आया है। यथा—'**यस्तु तत्र पुमांस्तं परमभागवतं राजर्षिप्रवरं भरतमुत्सृष्टमृगशरीरं चरमशरीरेण विप्रत्वं गतमाहुः।**' (भा० ५। ९। २) अर्थात् उनमें (यमजमें) जो पुत्र था वह मृगशरीरको त्यागकर चरमशरीर ब्राह्मणत्वको प्राप्त हुए परम भगवद्भक्त राजर्षिश्रेष्ठ भरतजी ही थे—ऐसा कहते हैं।

वीर—ना० प्र० ने '*धरम देह मैं द्विज कै पाई*' पाठ रखा है। प्रसंगानुकूल 'चरम' पाठ प्रधान और 'धरम' पाठान्तर प्रतीत होता है। शूद्र-तनको प्रथम कहकर फिर हजार बार अजगरकी देह और असंख्यों बार देवता-मनुष्यादिके शरीर धारण करनेकी चर्चा करके कागभुशुण्डिजी कहते हैं कि सबसे अन्तका शरीर मुझे ब्राह्मणका मिला इसके बाद फिर जन्म नहीं लिया। लोमश ऋषिके शापसे वही शरीर कौएका हुआ है जो अबतक वर्तमान है। 'चरम' शब्दके 'अन्त, अन्तिम, पीछेका, पिछला, आखीरका'—ये पर्यायी शब्द हैं।—['*धरम देह*' पाठ का० में है। रा० प्र०—कार अर्थ करते हैं 'धर्मानुष्ठान जिससे बने उसमें भी उत्तम ब्राह्मण-तन मैंने पाया']

नोट—२ '*सुरदुर्लभ*' ४३ (७) देखिये। मनुष्य देह ही सुरदुर्लभ है, उसपर फिर ब्राह्मण-देह! ३—'*खेलौं तहूँ*......।' इससे शिववाक्य चरितार्थ हुआ कि किसी जन्ममें ज्ञान नष्ट न होगा। इनको अपने गुरु और शिवजीके वचन स्मरण हैं।

इसी तरह जड़भरतजीको ईश्वरकी कृपासे पूर्वजन्मोंके वृत्तान्तका स्मरण बना रहा था। ब्राह्मण-शरीर पानेपर वे सबसे अलग रहकर हरिचरणोंमें मग्न रहते, यह सोचते कि फिर सङ्ग करनेसे अधःपतन न हो जाय, भक्तियोग-साधनमें विघ्न न आ पड़े। जिनका श्रवण, स्मरण और गुण-कीर्तन सम्पूर्ण विघ्नोंको दूर करनेवाला है उन श्रीहरिके चरणकमलयुगलोंको हृदयमें धारणकर विचरने लगे। सब स्वजनोंसे दूर रहते थे। यथा—'**तत्रापि स्वजनसंगाच्च भृशमुद्विजमानो भगवतः कर्मबन्धविध्वंसनश्रवणस्मरणगुणविवरणचरणारविन्दयुगलं मनसा विदधदात्मनः प्रतिघातमाशङ्कमानो भगवदनुग्रहेणानुस्मृतस्वपूर्वजन्मावलिरात्मानमुन्मत्तजडान्धबधिरस्वरूपेण दर्शयामास लोकस्य।**' (भा० ५। ९। ३) भुशुण्डिजीमें यह अधिकता है कि ये लड़कोंके साथ खेलते, पर रघुनायक-लीला ही खेलते-खिलाते थे। जड़भरतजी ज्ञानी अवधूत-से थे, भुशुण्डिजी उपासक थे।

खर्रा—'*एक सूल मोहि बिसर न काऊ*......' इति। भाव कि ऐसे कोमल स्वभाववाले गुरुसे वियोग हुआ, यह शूल कभी नहीं भूलता।

वि० त्रि०—'*खेलौं तहूँ—लीला*' इति। प्रेमोत्कर्षमें रामलीला करना स्वाभाविक है। भुशुण्डिजी बचपनमें खेलनेके समय रामलीला करते थे, कृष्णजीके विरहमें गोपियोंने कृष्णलीला की। अतः यह धारणा एकदम निर्मूल है कि रामलीलाकी प्रथा आधुनिक है, और अकिञ्चित्कर है। लीलाकी उपयोगिताका ठीक अनुभव उपासक ही कर सकता है।

प्रौढ़ भए मोहि पिता पढ़ावा। समुझौं सुनौं गुनौं नहिं भावा॥ ५॥
मन ते सकल बासना भागी। केवल रामचरन लय लागी॥ ६॥
कहु खगेस अस कवन अभागी। खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी॥ ७॥

अर्थ—बड़ा होनेपर मुझे पिता पढ़ाने लगे। मैं समझूँ, सुनूँ और विचार करूँ। (तो भी वह विद्या पढ़ना मुझे) अच्छा न लगता था॥ ५॥ मेरे मनसे सारी वासनाएँ भाग गयीं (अर्थात् सांसारिक कोई भी वासना किंचित् भी मनमें न रह गयी) केवल श्रीरामजीके चरणोंमें लय लग गयी॥ ६॥ हे खगेश! कहिये तो ऐसा कौन अभागी होगा जो कामधेनुको छोड़कर गदहीकी सेवा करे॥ ७॥

पं० रा० व० श०—'*समुझौं सुनौं गुनौं*' इति। समझता यह कि पिताका धर्म है कि पुत्रको अवश्य शिक्षा दे अतः ये पढ़ाते हैं, उनका वचन सुन लेता था फिर मनमें विचार करता था।

पं०—'*समुझौं सुनौं गुनौं*——', यह कि भजन बिना शास्त्ररूपी गर्तमें पड़कर क्या करूँ?

वै०—भाव कि यज्ञोपवीतादि कर पिताने ब्राह्मण-कर्म पढ़ाये। जो वे पढ़ाते वह सुन लेता था, उसका अर्थ समझता था फिर उस पदपदार्थका बोध कर लेता था; परंतु प्रसिद्ध पढ़ना नहीं भाता था। अर्थात् पूर्वजन्मोंकी पढ़ी सब विद्याका ज्ञान शिवकृपासे बना रहा, हरिभजनके प्रभावसे जो मेरी पूर्व पढ़ी न थी वह भी पिताके पढ़ाते ही समझमें आ जाती थी। फिर उसे मनमें गुणकर पुष्ट कर लेता था। मैंने सब पढ़ लिया पर प्रकट नहीं किया; इससे वे अपढ़ ही जानते रहे।—कवितावलीके '*कीबे को कहा पढ़िबे को कहा*——', से मिलान करो।

नोट—'*नहिं भावा*' इति। विद्या तो अच्छी चीज है, इसका अनादर क्यों किया? इसका कारण आगे कहते हैं कि वे सांसारिक स्वार्थ-साधनवाली लोकविद्या पढ़ाते थे। जिससे भवसे छुटकारा नहीं हो सकता, मेरे मनमें लोक-एषणादि कोई सांसारिक वासना ही न थी तब संसारको देनेवाली विद्यामें मन कैसे लगता? पढ़नेसे तोते-मैने बन्धनमें पड़ते हैं मैं भी पड़ूगा।

पं० रा० व० श०—'*खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी।*' सांसारिक सब विषय-वासनाएँ गदही हैं, भक्ति कामधेनु है जो स्वतः सब कामनाओंको भी देनेवाली है। उपनिषद् कहता है कि दो विद्याएँ पढ़नी चाहिये—पहिले अपराविद्या—वेद, पुराण, स्मृति, छन्द, कल्प विद्यादि पढ़े फिर पराविद्या पढ़े, जिससे परात्पर ब्रह्म जाना जाय। [यथा '**द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च॥ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।**'(मु० १। १। ४-५) ☞ स्मरण रहे कि पराविद्याका भी वर्णन वेदोंमें ही है, उतने अंशको छोड़कर अन्य सब वेद और वेदाङ्गोंको अपराविद्याके अन्तर्गत समझना चाहिये। भगवान् शङ्कराचार्यजी कहते हैं कि 'पराविद्या' से वेद्यविषयक ज्ञान बतलाना अभीष्ट है। यहाँ प्रधानतासे यही बतलाना इष्ट है कि उपनिषद्वेद्य अक्षरविषयक विज्ञान ही पराविद्या है, उपनिषद्की शब्दराशि नहीं। और 'वेद' शब्दसे सर्वत्र शब्दराशि ही कही जाती है। शब्दसमूहका ज्ञान हो जानेपर भी गुरूपसत्ति आदिरूप प्रयत्नान्तर तथा वैराग्यके बिना अक्षरब्रह्मका ज्ञान नहीं हो सकता; इसलिये ब्रह्मविद्याका पृथक्करण और 'वह पराविद्या है' ऐसा कहा गया] पराविद्याका निचोड़ है 'रामभक्ति।' जिसको इस सिद्धपदार्थकी प्राप्ति हो गयी, फल मिल गया, वह अपराविद्यामें पड़े, साधनोंमें पड़े, यह अभाग्य ही है। अतः कहा कि '*अस कवन अभागी*' अर्थात् भाग्यहीन छोड़ दूसरा ऐसा न करेगा। ☞ ऐसी ही दशा जड़भरतजीकी है जैसी भुशुण्डिजीकी।

वै०—'*लय लागी*'। जैसे मृदङ्ग, वीणादि बाजा और पदहस्तादिकी गति रागमें मिले रहनेको लय कहते हैं वैसे ही इन्द्रिय-मनादिकी वृत्ति चाहसहित प्रभुके चरणोंमें लगी, कभी अलग नहीं होती। अतः पढ़नेमें मन न लगा।—[☞'*लय*' दशा भजनकी सर्वोत्तम दशा है। इसमें एकरस तैलधारावत् अविच्छिन्न सुरति लगन उसी ओर लगी रहती है। अष्ट प्रहर प्रभुके प्रेमरसमें डूबा रहता है।—'**पूजाकोटिसमं स्तोत्रं स्तोत्रकोटिसमो जपः। जपकोटिसमं ध्यानं ध्यानकोटिसमो लयः॥**' यह दशा वासनाओंके रहते नहीं होती, वासनारहित होनेपर ही होती है—'*सकल कामनाहीन जे रामभगतिरस लीन। नाम सुप्रेम पियूषह्रद तिन्हहु किये मन मीन॥*' अतः वासना न रह जानेपर लय लगना कहा।]

वि० टी०—किसी बातमें अटल और निरन्तर प्रेमको लय कहते हैं।

प्रेम मगन मोहि कछु न सोहाई। हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई॥ ८॥
भए कालबस जब पितु माता। मैं बन गयउँ भजन जनत्राता॥ ९॥
जहँ जहँ बिपिन मुनीस्वर पावौं। आश्रम जाइ जाइ सिरु नावौं॥ १०॥

अर्थ—(श्रीराम) प्रेममें डूबा हुआ रहनेसे मुझे और कुछ न सुहाता था। पिता पढ़ा-पढ़ाकर हार गये॥ ८॥

जब माता-पिता मर गये तब मैं जनरक्षक-(श्रीरघुनाथजी-) का भजन करनेके लिये वनमें चला गया॥ ९॥ वनमें जहाँ-जहाँ मुनीश्वरोंका आश्रम पाता था तहाँ-तहाँ जा-जाकर उनको मस्तक नवाता था॥ १०॥

नोट—१ *'हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई'* इति। इससे जनाया कि पिताका स्नेह मुझपर बहुत था, वे सोचते थे कि ब्राह्मणका कर्तव्य है कि वेद पढ़े, व्याहृतियोंसहित गायत्री पढ़े, इत्यादि। पर मैं बेमन उन शिक्षाओंका व्यवहार करता था जिसमें पिता शिक्षा देनेका आग्रह न करें। जब मन नहीं लगता था तो पिता क्यों बारम्बार पढ़ानेकी चेष्टा करते थे? इसका कारण यह है कि वे समझते थे कि पुत्रको उपदेश देना पिताका कर्तव्य है और धर्म है तथा पुत्रस्नेहके कारण कि मैं पण्डित हो जाऊँ। उनको आशा थी कि बार-बार पढ़ानेपर अवश्य मेरा मन लग जायगा। *'हारेउ'* का भाव कि वे सफलमनोरथ न हुए।

मिलान कीजिये—'**तस्यापि ह वा आत्मजस्य विप्रः पुत्रस्नेहानुबद्धमना आ समावर्तनात्संस्कारान्यथोपदेशं विदधान उपनीतस्य च पुनः शौचाचमनादीन्कर्मनियमाननभिप्रेतानपि समशिक्षयदनुशिष्टेन हि भाव्यं पितुः पुत्रेणेति॥ स चापि तदु ह पितृसन्निधावेवासध्रीचीनमिव स्म करोति छन्दांस्यध्यापयिष्यन् सह व्याहृतिभिः सप्रणवशिरस्त्रिपदीं सावित्रीं ग्रैष्मवासन्तिकान्मासानधीयानमप्यसमवेतरूपं ग्राहयामास॥ एवं स्वतनुज आत्मन्यनुरागावेशितचित्तः शौचाध्ययनव्रतनियमगुर्वनलशुश्रूषणाद्यौपकुर्वाणककर्माण्यनभियुक्तान्यपि समनुशिष्टेन भाव्यमित्यसदाग्रहः पुत्रमनुशास्य स्वयं तावदनधिगतमनोरथः कालेनाप्रमत्ते स्वयं गृह एव प्रमत्त उपसंहृतः॥**'(भा० ५। ९। ४—६) (अर्थात्) श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि द्विजश्रेष्ठ-(जड़भरतजीके पिता-) ने पुत्रस्नेहसे आसक्तचित्त हो उस अपने उन्मत्त पुत्रके भी समावर्तनपर्यन्त सम्पूर्ण संस्कार शास्त्रविधिसे करनेका विचार करके उसका उपनयन संस्कार किया। उसके बाद 'पुत्र पितासे उपदेश ग्रहण करे इस शास्त्राज्ञानुसार उसे अपेक्षा न रहते हुए भी शौच, आचमन आदि कर्मों और नियमोंकी शिक्षा दी। भरतजी भी अपने पिताके सामने ही उनके उपदेशके विरुद्ध आचरण करने लगे। उनके पिताने (श्रावण मासमें) उन्हें वेदाध्ययन करानेकी इच्छासे वसन्त और ग्रीष्म-ऋतुके (चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़—इन) चार महीनोंमें व्याहृति, प्रणव और शिरोमन्त्रके सहित त्रिपदा गायत्रीका निरन्तर अध्ययन कराते हुए भी उन्हें वह मन्त्र स्वरादिके सहित न सिखा सके। इस प्रकार अपने पुत्रमें आत्माके समान प्रेम रखनेवाला वह ब्राह्मण भरतजीकी प्रवृत्ति न होनेपर भी उन्हें शौच, वेदाध्ययन, व्रत, नियम तथा गुरु और अग्निकी सेवा आदि ब्रह्मचर्य आश्रमके आवश्यक नियम 'पुत्रको भली प्रकार उपदेश करना चाहिये' इस दुराग्रहसे सिखाता रहा;, किंतु अपना मनोरथ पूर्ण होनेसे पहले ही जब कि वह घरके धन्धोंमें आसक्त रहकर भगवत्सेवारूप अपने मुख्य कर्तव्यसे असावधान था कि कभी न चूकनेवाले कालने उसे धर दबाया।

यही सब भाव *'हारेउ पिता पढ़ाइ पढ़ाई'* से सूचित किया गया है।

२—*'भए काल बस जब पितु माता।—'* इति (क) भाव कि जीते-जी उनकी सेवा कर्तव्य समझकर घर न छोड़ा, नहीं तो उनको दुःख होता। नारदजीकी यही दशा दासीपुत्र-शरीरमें हुई, माताके मरनेपर वे भवन छोड़ वनको गये; बराबर यही सोचते रहे कि वह कब मरे और हम भजन करने जायँ। (ख) घरमें प्रथम माता-पिता पुत्रके रक्षक होते हैं। घर छूटनेपर एकमात्र भगवान् ही रक्षक रह जाते हैं। भगवान् अपने जनकी सदा रक्षा करते हैं, यह भरोसा रख वनको गये; अतः *'जनत्राता'* कहा। जनत्राता हैं अतः उनको वनमें भय नहीं। दूसरे, वन भजनका सर्वोत्तम स्थान है।

'जहँ जहँ बिपिन मुनीस्वर पावौं।' वनमें रहनेपर मुनीश्वरोंकी खोज हुई जो एकान्तमें रहा करते हैं।

बूझौं तिन्हहिं रामगुन गाहा। कहहिं सुनौं हरषित खगनाहा॥ ११॥
सुनत फिरौं हरिगुन अनुबादा। अब्याहत गति संभु प्रसादा॥ १२॥
छूटी त्रिबिधि ईषना गाढ़ी। एक लालसा उर अति बाढ़ी॥ १३॥
रामचरन बारिज जब देखौं। तब निज जन्म सफल करि लेखौं॥ १४॥

शब्दार्थ—**अनुबादा**=जाने हुए अर्थका दोहराना, बारम्बार कथन।

अर्थ—हे गरुड़जी! उनसे मैं श्रीरामजीके गुणोंकी गाथा (कथा) पूछा करता, वे कहते और मैं हर्षपूर्वक सुना करता॥ ११॥ (इस प्रकार) हरिगुणानुवाद (सर्वत्र) सुनता फिरता था (क्योंकि) शिवजीकी कृपासे मेरी अव्याहत गति थी (अर्थात् जहाँ चाहता वहीं बिना रोक-टोक या परिश्रमके जा सकता था)॥ १२॥ तीनों प्रकारकी प्रबल पोढ़ी इच्छाएँ छूट गयीं और केवल एक यही लालसा हृदयमें अत्यन्त बढ़ी कि जब श्रीरामचन्द्रजीके चरण-कमलोंका दर्शन पाऊँ तब अपना जन्म सफल हुआ समझूँ॥ १३-१४॥

नोट—१ *'बूझौं तिन्हहिं रामगुन गाहा—अनुबादा।'* इति। (क) *'गुनगाहा'* शब्द मानसमें अनेक बार आया है। यथा—*'कलिजुग केवल हरिगुन गाहा। गावत नर पावहिं भव थाहा॥'* (१०३। ४) *'लाग कहै रघुपति गुन गाहा॥'* (६४। ३) *'बूझहिं बैठि राम गुनगाहा॥'* (२६। ५) *'करन चहौं रघुपति गुनगाहा॥'* (१। ८। ५) *'कहहिं परस्पर हरिगुन गाहा॥'* (१। ४४। ८) इत्यादि। इससे *'गुनगाहा'* का अर्थ चरित, कथा, सुयश है। मुनि लोगोंसे रामचरित, रामगुणग्राम पूछते थे और वे कहते थे, ये सुनते थे। यह कहकर कहते हैं कि *'सुनत फिरौं हरिगुन अनुबादा'* इस तरह जनाया कि 'हरिगुणानुवाद' का अर्थ है *'रामगुन गाहा।'* (ख) *'सुनौं हरषित।'* रामचरित सुननेमें हर्ष होना ही चाहिये, यथा—*'कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरिचरित न जो हरषाती॥'* (१। ११३। ७) (ग) यहाँतक इनकी दो भक्तियाँ कहीं। *'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।'* तथा *'प्रथमहि बिप्रचरन अति प्रीती।—एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा॥ श्रवनादिक नव भगति दृढ़ाहीं। मम लीला रति अति मन माहीं॥ संतचरनपंकज अति प्रेमा'*—ये सब इनमें दिखाये। (आ० ३५। १६)।

नोट—२ *'त्रिबिधि ईषना गाढ़ी।'* तीनों एषणाएँ मनुष्यके सङ्ग लगी रहती हैं, पीछा नहीं छोड़तीं, यथा—*'सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥'* इसीसे इन्हें *'गाढ़ी'* कहा। ये संसारबन्धनमें डालनेवाली हैं। दोहा ७१ (६) देखिये। इनका छूटना यह संतोंमें प्रेम और गुणानुवादका फल मिला।

☞*'तब निज जन्म सफल करि लेखौं।'*—इससे जनाया कि मनुष्य-शरीर पाकर यदि भगवत्की प्राप्ति इसमें न कर ली तो जन्म व्यर्थ समझना चाहिये। साधारण माला-पूजा-पाठ ही कर लेनेसे जन्म सफल न समझ ले, यह इच्छा बराबर दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जाय, जबतक दर्शन न हो चैन न पड़े। थोड़ी-सी भक्ति-भजन-पाठ स्मरण होनेसे कृतार्थ हो जाना शरीर-साफल्य नहीं है, भवपार करनेके लिये तो अवश्य काफी है पर शरीर साफल्यके लिये कुछ भी नहीं है।

जेहि पूछौं सोइ मुनि अस कहई। ईश्वर सर्बभूतमय अहई॥ १५॥
निर्गुन मत नहिं मोहि सुहाई। सगुन ब्रह्म रति उर अधिकाई॥ १६॥

अर्थ—जिसी मुनिसे पूछूँ वही ऐसा कहे कि ईश्वर सर्वभूतमय है॥ १५॥ यह निर्गुण मत मुझे न सुहाता था, हृदयमें सगुण ब्रह्मपर प्रीति बहुत बढ़ती जाती थी॥ १६॥

वै०—*'जेहि पूछौं सोइ'* से जनाया कि सगुणोपासक रामानुरागी भक्त मुनीश्वर थोड़े हैं, निर्गुणरूपके उपासक शान्तरसवाले बहुत हैं। [वा, यह इतना गोप्य रहस्य है कि कोई बताता ही न था।]

पं० रा० व० श०—*'सर्बभूतमय अहई'* अर्थात् आकाशवत् सर्वव्यापक है, सर्वत्र है, कोई देश-काल, दिशा-विदिशा ऐसी नहीं जहाँ वह न हो और कहीं उसे खोजने नहीं जाना है। मन थिर करके ध्यान करो तो तुम्हारे ही उरमें प्रकाशित हो जायगा। (वै०) दोहा ११२ देखो।

खर्रा—*'जेहि पूछौं'* इति। क्या पूछते थे सो पूर्व कह दिया कि 'किस प्रकार दर्शन हों?' यह बताइये। जब उनके दर्शन हों तब मैं जन्म सफल समझूँ। तब वे मुनीश्वर यही उपदेश देते थे कि ईश्वर सर्वभूतमय है, यही सर्वान्तर्यामी भाव जानना दर्शन है।

नोट—*'निर्गुन मत नहिं मोहि सुहाई'* कहकर जनाया कि *'ईश्वर सर्बभूतमय अहई'* यही निर्गुण मत

है। *'सगुन ब्रह्म रति—'* अर्थात् 'श्रीदाशरथि रामचरणवारिजके' दर्शनोंकी लालसा और श्रीदाशरथि राममें प्रेम सगुण ब्रह्मका प्रेम है। २—*'अधिकाई'* का भाव कि शिवप्रसादसे श्रीरामजीमें भक्ति तो पूर्व ही उत्पन्न हो गयी थी, प्रत्येक तनमें बनी रही और अब वह दिनोंदिन बढ़ी।

वै०—*'निर्गुन मत नहिं मोहि सुहाई।'* का भाव कि व्यापक ब्रह्मकी उपासना मुझे न अच्छी लगती थी, मुझे तो सगुणरूप जिसमें कृपा, करुणा, वात्सल्यादि दिव्य गुण भरे हैं, जो श्यामसुन्दर मनमोहनस्वरूप नेत्रोंको सुखदायक है वही रघुनायकरूप प्यारा लगता था।

दो०—गुर के बचन सुरति करि रामचरन मनु लाग।
रघुपति जस गावत फिरौं छन छन नव अनुराग॥
मेरु सिखर बट छाया मुनि लोमस आसीन।
देखि चरन सिरु नाएउँ बचन कहेउँ अति दीन॥

अर्थ—गुरुजीके वचन स्मरणकर श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें मन लग गया। मैं श्रीरघुनाथजीका यश क्षण-क्षण नवीन प्रेमसे गाता फिरता था और क्षण-क्षण नया अनुराग उत्पन्न होता जाता था। सुमेरुपर्वतके शिखरपर बरगदकी छाँहमें लोमशमुनिको बैठे देखकर उनके चरणोंमें मैंने सिर नवाया और अत्यन्त दीन वचन कहे।

नोट—१ *'गुर के बचन सुरति करि'* इति। निर्गुण मत न सुहाता था यह कहकर उसका कारण कहते हैं कि *'सिव सेवाकर फल सुत सोई। अबिरल भगति रामपद होई॥ रामहिं भजहिं तात सिव धाता। नर पाँवर कै केतिक बाता॥'* श्रीगुरुजीके इन वचनों तथा शिववरदानपर कि *'रामभगति उपजिहि उर तोरे।'*, उनके 'एवमस्तु' इस वचनसे मनमें निश्चय हो गया था कि मुझे अवश्य श्रीरामचरणमें अविरल भक्ति होगी तथा यह भी दृढ़ विश्वास हो गया था कि जीवका एकमात्र कर्तव्य यही है कि रामभक्ति करे। अतः उनमें मन लगा।

२—*'लोमस'* —ये ब्रह्माजीके पुत्र हैं, चिरंजीवी हैं। जब एक ब्रह्मा मरते हैं तब ये अपना एक रोम उखाड़कर फेंक देते हैं। मानो यही मरनेपर भद्र कराना हुआ। कहा जाता है कि इसीसे इनका नाम लोमश प्रख्यात हुआ। (रा० बा० दा०)

३—*'बचन कहेउँ अति दीन'* क्योंकि यह अधिकारीका चिह्न है। *'गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥'* 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।' (मु० १। २। १२) के **'अभिगच्छेत्'** में भी यही भाव है कि विनयपूर्वक जाय।

पं० रा० व० श०—मुझे विश्वास हो गया कि जब भक्ति उपज ही रही है तब कोई कारण नहीं कि सगुण ब्रह्मका दर्शन न हो, दर्शन अवश्य होगा। न जाने मुनि हमें अधिकारी नहीं समझते इससे ऐसा कहते हैं वा क्या बात है। इसीसे मुनिवचन न भाता था।

प० प० प्र०—*'मेरु सिखर बट छाया—'* इति। इस चरणमें मात्राकी न्यूनताद्वारा आश्चर्य और हर्षका भाव दिखाया है। मेरु शिखर देवताओंके गुप्त निवासका स्थान है, यहाँ मुनि कैसे? यह आश्चर्य। हर्ष यह कि कोई महान् अधिकारी रामभक्त ही होंगे अन्यथा मनुष्यका निवास यहाँ असम्भव है। वटछायामें बैठे हैं। आश्रम, पर्णकुटी आदि कुछ नहीं है, अतः ये कोई बड़े वैराग्यवान् ही जान पड़ते हैं।

दो०—सुनि मम बचन बिनीत मृदु मुनि कृपाल खगराज।
मोहि सादर पूँछत भए द्विज आएहु केहि काज॥
तब मैं कहा कृपानिधि तुम्ह सर्बग्य सुजान।
सगुन ब्रह्म अवराधन* मोहि कहहु भगवान॥ ११०॥

* आराधना—(का०)

अर्थ—मेरे अत्यन्त नम्र कोमल वचन सुनकर, हे पक्षिराज! दयालु मुनि मुझसे आदरसहित पूछने लगे कि हे ब्राह्मणदेव! आप किस कार्यके लिये यहाँ आये हैं? तब मैंने कहा हे दयासागर! आप सर्वज्ञ और सुजान हैं। हे भगवन्! मुझसे सगुण ब्रह्मकी उपासना कहिये॥ ११०॥

नोट—१ पूर्व *'बचन कहेउँ अति दीन'* कहा और यहाँ *'सुनि मम बचन बिनीत मृदु'*; इस तरह *'अति दीन'*=विनीत मृदु। दीन वचन सुनकर मुनिको दया आयी और उन्होंने *'सादर'* प्रश्न किया, अतः *'कृपानिधि'* सम्बोधन किया। दीन भगवान्‌को भाते हैं, यथा—*'देखि दीन रघुपति मन भाएउँ।'* २ सर्वज्ञ हैं अतः मेरे मनकी तथा सब कुछ जानते हैं। सुजान हैं अतः सगुणब्रह्मकी आराधना भली प्रकार जानते हैं। *'भगवान'* से ऐश्वर्यवान् जनाया, ऐसे हैं कि कल्पान्तमें भी आपका नाश नहीं, न जाने कितने ब्रह्मा आपके सामने हो गये। ३ *'परतत्त्व'* पूछ रहे हैं इसीसे *'सर्वज्ञ सुजान भगवान'* विशेषण दिये, जिसमें ये गुण होंगे वह ही परतत्त्वका ज्ञाता हो सकता है। इसी तरहके विशेषण श्रीरामस्तवराजमें व्यासजीको युधिष्ठिरजीने दिये हैं। यथा—'**भगवन् योगिनां श्रेष्ठ सर्वशास्त्रविशारद। किं तत्त्वं किं परं जाप्यं किं ध्यानं मुक्तिसाधनम्॥**' मानसके '**सर्वज्ञ सुजान**' में '**योगिनां श्रेष्ठ सर्वशास्त्रविशारद**' का भाव भी आ जाता है। *'भगवान'* दोनोंमें हैं। [करु०—यहाँ मुनिको भगवान् कहा। भगवान्=षडैश्वर्ययुत। जिनमें षट् ऐश्वर्यमेंसे एक, दो, तीन भी हों उनकी भी भगवान् संज्ञा है। वा, इसे सगुण ब्रह्मका विशेषण मान लें।]

तब मुनीस रघुपति गुन गाथा। कहे कछुक सादर खगनाथा॥ १॥
ब्रह्मज्ञान रत मुनि बिज्ञानी। मोहि परम अधिकारी जानी॥ २॥
लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥ ३॥

अर्थ—तब (मेरी प्रार्थना सुननेपर) हे पक्षिराज! मुनिश्रेष्ठने आदरपूर्वक कुछ रघुपतिगुणोंकी कथा कही॥ १॥ ब्रह्मज्ञानमें तत्पर, सदा ब्रह्मज्ञानमें लीन, वे विज्ञानी मुनि मुझे अत्यन्तश्रेष्ठ अधिकारी जानकर ब्रह्मका उपदेश करने लगे कि वह जन्मरहित, अद्वितीय (अर्थात् वह एक ही है, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं), निर्गुण और हृदयका स्वामी (सबके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे बसा) है॥ २-३॥

वै०—१ पहले सादर रघुनाथजीके कुछ गुण वर्णन किये। 'कुछ ही क्यों कहे?' इसका कारण आगे बताते हैं कि मुनि तो विज्ञानी थे, ब्रह्मज्ञानमें उनका प्रेम था, उसीमें लगे रहते थे, आत्मानुभवमें तदाकार रहा करते थे। अपना सिद्धान्त कहना-सुनना-उपदेश देना सबको भला लगता है। दूसरे, मुझमें उन्होंने ज्ञानके परम अधिकारीके गुण देखे। इससे सगुण चरित छोड़ ब्रह्मका उपदेश करने लगे।

करु०, वै०, पं०—अधिकारीके लक्षण ये हैं—विषयोंसे वैराग्य, गुरु-वेद-वाक्यमें विश्वास, विप्र, सत्सङ्गाभिलाषी, देह-व्यवहार असार समझकर त्याग किये हुए। इत्यादि।

नोट—मुण्डकोपनिषद्‌में अधिकारीके लक्षण '**परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन॥**' (१। २। १२) इस प्रकार कहे हैं। अर्थात् कर्मसे प्राप्त किये जानेवाले लोकोंको परीक्षा करके ब्राह्मण वैराग्यको प्राप्त हो जाय। (यह समझ ले कि) संसारमें कोई नित्य पदार्थ नहीं है। कर्म स्वयं अनित्य हैं, वे अनित्य फलके देनेवाले हैं, उनसे स्वतः सिद्ध नित्य परमेश्वर नहीं मिल सकते, अतः ऐसे कर्मोंसे हमें कोई प्रयोजन नहीं। जो जिज्ञासु इस प्रकार समस्त भोगोंसे सर्वथा विरक्त हो और वास्तविक परमतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करनेका उत्सुक हो। ऐसेको ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाना चाहिये। इसीको फिर मन्त्र १३ में दूसरे शब्दोंमें कहा है। मन्त्र १३ में ब्रह्मज्ञानके अधिकारी ये बताये हैं—जो पूर्णतया शान्त-चित्त हो, मन और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त किये हुए हो।—'**सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय॥**' (१। २। १३) शरणमें आये हुए ऐसे शिष्यको वह ज्ञानी महात्मा उस ब्रह्मविद्याका तत्त्वविवेचनपूर्वक भलीभाँति उपदेश करे। ऐसा आदेश इस मन्त्रमें है।

श्रीभुशुण्डिजीमें ये गुण हैं। यथा—*'मन ते सकल बासना भागी। केवल रामचरन लय लागी॥'* *'मैं बन गयउँ भजन जनत्राता।'*, *'छूटी त्रिबिधि ईषना गाढ़ी।'*, *'छन छन नव अनुराग॥'* एषणाएँ-वासनाएँ ही

चित्तको मलिन करती हैं, जब वही नहीं रह गयीं तब चित्त प्रशान्त हुआ ही चाहे। मनपर विजय प्राप्त होनेपर ही वासनाओंसे छुटकारा मिलता है। *'समुझौं सुनौं गुनौं नहिं भावा' 'अस कवन अभागी। खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी॥'* में मन्त्र १२ का भाव है। विवेकपूर्वक वैराग्य है कि श्रीरामजीको छोड़ सब व्यर्थ है, श्रीरामको ही प्राप्त करना चाहिये।

खर्रा—*'लागे करन ब्रह्म उपदेसा'* इति। इसके चार कारण यहाँ कहे—१ ब्रह्मज्ञानरत, २ मुनि, ३ विज्ञानी, ४ मुझे परम अधिकारी जाना। *'परम अधिकारी'* क्योंकि ब्राह्मणशरीर है जिसे ज्ञानका अधिकार है, दूसरे वैराग्यपूर्वक जिज्ञासा उठी है।

गौड़जी—*'परम अधिकारी......।'*—लोमशजीसे भुशुण्डिजीने सगुण ब्रह्मकी आराधना पूछी। उसके उत्तरमें उन्होंने कुछ थोड़ी रामचर्चा की परंतु समझा यह कि जिज्ञासु निर्गुण उपासनाका पक्षपाती है और सगुणोपासना केवल कुतूहलशान्तिके लिये उसने पूछी है। यह वास्तवमें निर्गुण उपासनाका अधिकारी है। चालाक जिज्ञासु अपने पक्षकी पुष्टिके लिये ऐसा ही व्यवहार करते हैं। लोमशजीने यह न समझा कि भुशुण्डि इतना सरल है और चालाक जिज्ञासु नहीं है। इसीलिये उन्होंने निर्गुणका निरूपण किया और जब-जब भुशुण्डि सगुणका प्रतिपादन करते थे तब-तब वह फिर निर्गुण पक्षका पोषण करते थे। लोमशजीको भ्रम यह था कि यह जिज्ञासु वस्तुतः निर्गुण उपासनाके पोषणकी युक्तियाँ जाननेके लिये उत्तरपक्ष ग्रहण करता जाता है।

पं० रा० व० श०—जब नित्य नैमित्त आदि कर्म करके उपासनामें दृढ़ता हो जाय तब अधिकारी होता है।

करु०—परम अधिकारीके लक्षण इस काण्डके अन्तमें *'कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।'* इसमें दिये हैं। सगुण ब्रह्ममें ऐसी लगन तथा वैराग्य आदि परम अधिकारीके चिह्न हैं।

वि० त्रि०—*'ब्रह्मज्ञान रत......हृदयेसा॥'* इति। ब्रह्मज्ञानी मुनिजीने समझा कि यह ज्ञानके लिये मेरे पास आया है। (यथा—'**निर्विण्णचित्तं ब्राह्मणं ब्रह्मिष्ठं गुरुमुपासीत।**' श्रुतिः) अतः उन्हें ब्रह्मज्ञानका उपदेश करने लगे। यह नहीं समझा कि यह भक्तिका अधिकारी है और भक्तिके अधिकारीके लिये ज्ञान और वैराग्य प्रायेण श्रेयस्कर नहीं होता (यथा—**तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह**) क्योंकि वह अति अनुरागी-विरागी होता है और सेवक-सेव्य-भावको त्यागना नहीं चाहता।

पं० रा० व० श०—*'लागे करन ब्रह्म उपदेसा'* इति। अर्थात् चरित कहकर अन्तमें यह कहा कि सब लीला माया है, ब्रह्म अपनी मायाको ग्रहणकर यह चरित करता है। जो कुछ देखते हो यह सब ब्रह्म है—'**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' यह ब्रह्म उपदेश करने लगे।

नोट—*'अज अद्वैत अगुन हृदयेसा'* से लेकर *'बारि बीचि इव गावहिं बेदा'* तक, यही *'ब्रह्म उपेदस'* है। इसीको आगे *'निर्गुन मत'* भी कहा है यथा—*'निर्गुन मत मम हृदय न आवा॥'* (१११। ७) इन सब विशेषणोंके भाव पूर्व आ चुके हैं।

अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा॥ ४॥
मन गोतीत अमल अबिनासी। निर्बिकार निरवधि सुखरासी॥ ५॥
सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥ ६॥

अर्थ—(वह) कला, इच्छा वा चेष्टा, नाम और रूप (इन सबसे) रहित है, अनुभवसे प्राप्त होने वा जाननेयोग्य है, अखण्ड है, उपमारहित है॥ ४॥ मन और इन्द्रियोंसे परे है, निर्मल और विनाशरहित है, विकाररहित, सीमारहित और आनन्दराशि है॥ ५॥ वेद कहते हैं कि तू वही है, उसमें और तुझमें भेद नहीं है; जैसे जल और जलकी लहर (एक ही हैं, उनमें कुछ भेद नहीं है)*॥ ६॥

* 'गावहिं बेदा' यथा-१ 'तत्त्वमसि' इति सामवेदे। इसीका 'सो तैं' कैसे थोड़ेमें है। यह सामवेदका महावाक्य है। २—'अयमात्मा ब्रह्म' इति अथर्वणे। ३-निरुपममनादितत्त्वं त्वमहमिदमद इति कल्पनादूरम्। 'नित्यानन्दैकरसं सत्यं ब्रह्माद्वितीयमेवाहम्।' (वेदान्त)।

पं० रा० व० श०—१ *'अकल'* अर्थात् वह घटता बढ़ता नहीं कि आज एक वर्षका हुआ, कल दोका इत्यादि। *'अनाम अरूपा'* का भाव कि वाचिक नामरूप उपाधिके सम्बन्धसे कहे जाते हैं। जब रूप नहीं तब दर्शन कैसा? उसका दर्शन बाहरसे नहीं होता वरन् वह अनुभवसे देख पड़ता है इति **'अनुभवगम्यः।'** अनुभव प्राप्त होनेपर वह अखण्ड एकरस सर्वत्र जान पड़ेगा।

२ *'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा।——'* का भाव कि कुछ भेद नहीं, जो तुम वही वह, भेद जो देख पड़ता है वह उपाधिमात्रका भेद है। जैसे जल और लहरका। दोनों एक हैं, केवल वायुके लगनेसे ऊँचा उठनेसे उसे लहर कहने लगे। पवनके बंद होनेपर जल ज्यों-का-त्यों जल है। इसी तरह जीव ब्रह्मका प्रतिबिम्ब है, अविद्यामायाकी उपाधि ब्रह्ममें पड़ जानेसे वह जीव कहलाता है—(करु०—इसी तरह जीव और ब्रह्म एक है। वासनारूपी उपाधिसे जीव कहा गया। वासनाध्वंससे केवल ब्रह्म है।) वस्तुतः वस्तु भिन्न-भिन्न देखभर पड़ते हैं पर हैं एक ही, नाम अनेक हैं। उत्तम वृत्तिसे देखनेसे ब्रह्म एकरस है। भेद नहीं है, भेद अनित्य है, क्योंकि शरीरके सम्बन्धसे है, शरीरके कारण ही भेद कहा जाता है।

'बारि बीचि इव।' यहाँ जीव और ब्रह्ममें स्वरूपतः अभेद है यह दिखा रहे हैं। लहर जलसे पृथक् नहीं किंतु जलस्वरूप ही है। इतनेमें ही लोमशजीका दृष्टान्त यहाँ लेना होगा। *'बारि बीचि'* से गुणतः दोनोंमें अभेद नहीं है, इससे वह लोमशजीका आशय यहाँ नहीं है। गुणतः भेद है। जलसे लहर है, लहरसे जल नहीं। इसी तरह ईश्वरसे जीव जायमान है, जीवसे ईश्वर नहीं। जीव अंश है। पुनः जल एक, उसमें लहरें अनेक। वैसे ही ईश्वर एक, जीव अनेक।

[उपर्युक्त भावके लिये भगवान् शंकराचार्यजीका यह वाक्य आधार है—**'सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः। सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।'** (षट्पदीस्तोत्र)। अभेद सिद्ध होनेपर भी जीव ईश्वरका अंश ही है, जैसे तरंग समुद्रका। (प० प० प्र०)]

नोट—*'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'*—बा० १८ देखिये।

वै०—*'ताहि तोहि नहिं भेदा।'* भाव कि तू अपना रूप भूला हुआ है। जब आत्मानुभवज्ञान होगा तब ब्रह्मानन्द आप-ही-आप तेरे ही अन्तःकरणमें प्रकाशमान हो जायगा। इसी भूलसे तू बाहर ढूँढ़ता फिरता है। सगुण तो प्रयोजनमात्र हुआ। वस्तुतः निर्गुण निर्गुण ही रहा, वही मूल है, मूलको पकड़। जीव और ब्रह्म दोनों एक हैं, उपाधिमात्र दूसरा रूप और कथनमात्र दूसरा नाम है। महावाक्यको धारण कर।

नोट—*'सो तैं——'* इति। यथा—**'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद ँ सर्वं तत्सत्य ँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो——।'** (छा० ६। ८। ७) अर्थात् वह जो सत्संज्ञक अणिमा जगत्‌का मूल बतलायी गयी है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है। यह मन्त्र आगे आठों खण्डोंमें प्रत्येक दृष्टान्तद्वारा समझानेपर आया है।

सि० ति०—'जो तत्त्व ब्रह्म है, वही तू है। वह—*'प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥'* (७२। ७) है, वैसे तू भी यमादि साधनोंसे प्रकृतिपार (तीन अवस्था और तीन गुणोंसे पर) होकर *'निरीह बिरज अबिनासी'* ब्रह्मके समान हो जायगा। जैसे वह **'तुरीयमेव केवलम्'** है वैसे ही तू भी कैवल्यमुक्तस्वरूप हो जायगा। सेवक बननेकी क्या आवश्यकता है? इसे निर्गुण मत कहा है, क्योंकि प्रकृतिपार (गुणातीत) इसका होना फल है। आगे *'बारि बीचि इव'* से भी तात्त्विक एकता ही सिद्ध की गयी है। अभेदका अर्थ तुल्यरूपताका है, आगे स्पष्ट है; यथा—*'जीव कि ईस समान'* (दो० १११)

बाबा जयरामदास दीनजी—कुछ लोग *'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा——'* इस वाक्यको लेकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं कि श्रीगोस्वामिपादका मत भी अद्वैतवाद ही था। वे कहते हैं कि यहाँ जीव और ब्रह्मकी एकता बतायी गयी है। अतएव अद्वैतवाद है।

यहाँपर मानस-भक्तोंको सचेत होकर विचार करना चाहिये कि यह उपर्युक्त वचन हेय अर्थमें आया है या ध्येय अर्थमें। इसी बातको तो श्रीभुशुण्डिजीने स्वीकार नहीं किया और लोमश ऋषिसे बहस छेड़

दी। उन्होंने इसपर शङ्का उपस्थित करते हुए अपना मत इस प्रकार प्रकट किया—*'माया बस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान।'* इतना ही नहीं; बल्कि उन्होंने जीव-ब्रह्मकी एकता सुनना भी भक्तिके विरुद्ध समझा। उन्होंने साफ-साफ कह डाला—*'राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना॥ सो उपदेस कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखौं रघुराया॥ भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा॥'*; इसी विवादपर क्रुद्ध होकर लोमशने उन्हें काक होनेका शाप दे दिया। उसे भी भक्तभूषण श्रीभुशुण्डिजी सहर्ष शिरोधार्य कर निर्भय उड़ चले। क्योंकि वास्तवमें विरोधरहित हृदय तो भगवद्भक्तोंका ही हो सकता है, जो अपनेको दास और सारे जगत्‌को अपने प्रभुका रूप मानते हैं, जैसा कि भगवान् शिवने कहा है—*'उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥'*

इसी भावकी पुष्टि आगेके वचनों—*'सुनु खगेस नहिं कछु रिषिदूषन। उर प्रेरक रघुबंसबिभूषन॥ कृपासिंधु मुनि मति कर भोरी। लीन्हीं प्रेम परिच्छा मोरी ......॥'* (११३। १—७)—से भी होती है। रामभक्त भुशुण्डिजी जो कुछ भी हुआ उसे अपने प्रभु रघुवंशविभूषणकी ही प्रेरणा मानते हैं; परंतु उनको ऐसा विश्वास है कि ब्रह्म-जीवकी एकताका कथन मुनिजीकी मति भोरी करके श्रीप्रभुने कराया था। यही कारण है कि उन्होंने उस कथनका सर्वथा विरोध करके और शापतक स्वीकार करके अपनी भक्तिकी दृढ़ताका प्रमाण दिखाया। ऐसे प्रसङ्गको भी अद्वैतवादके पक्षमें खींचना कहाँतक उचित है, यह विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

२ इसी तरह पूर्व दोहा ७१ के *'सो दासी रघुबीर के समुझें मिथ्या सोपि।'* इस वाक्यको लेकर उन महानुभावोंका कहना है कि यहाँ मायाको मिथ्या कहा गया है, अतः अद्वैतवाद है।

समाधान—यहाँ भी ऊपरका प्रसङ्ग *'मोह न अंध कीन्ह केहि केही।'* (७०। ७) से लेकर *'सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाषंड।'* (७१) तक देखिये। इसमें *'मैं अरु मोर तोर तैं माया'* जो अविद्या है, उसीका पूरा वर्णन करते हुए संसारचक्र दिखाया गया है। अतः उसीके लिये, जिसके वशमें होकर यह जीव *'मैं', 'मोर', 'तैं', 'तोर'* में पड़ा हुआ है—*'जा बस जीव परा भव कूपा', 'सो',* शब्दका इस दोहेमें व्यवहार किया गया है। जब यह *'मैं', 'मोर', 'तैं', 'तोर',* ही उसका स्वरूप है तब तो यह अज्ञानता मिथ्या मोहजन्य है ही। परंतु यह भी श्रीरामकृपाके बिना निवृत्त नहीं हो सकती; यह श्रीकाकभुशुण्डिजी प्रतिज्ञा करके कह रहे हैं। क्योंकि यह श्रीरामजीके अधीन है। *'जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥ सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥'*

अतः मोह, काम, चिन्ता, श्रीमद, लोभ, यौवन, ममता, एषणा आदिको ही जिन्हें ऊपर *'माया कर परिवारा',* बताया गया है, मिथ्या कहा गया है, क्योंकि ये सब मोहमूलक हैं। इनका आभास तभीतक मिलता है जबतक श्रीरामकृपासे यह जगत् राममय नहीं भासता, जबतक *'सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥'* का भाव उदय नहीं होता। अतएव यहाँ स्पष्टरूपमें मायावाद श्रीरामजीकी कृपासे उसकी निवृत्ति सूचित की गयी है।

३—इसी तरह *'मुधा भेद जद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया॥ '* (७८। ८) को प्रमाणरूपमें पेश करके वे लोग कहते हैं कि 'यहाँ ईश्वर और जीवके भेदको मुधा (झूठा) कहा गया है, अतः इससे अद्वैतवाद सूचित होता है।'

इसके भी ऊपरके पदोंको देखिये—*'ज्ञान अखंड एक सीताबर। माया बस्य जीव सचराचर॥ जौं सबके रह ज्ञान एक रस। ईस्वर जीवहि भेद कहहु कस॥ माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी॥ परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥'* जब ये पद ईश्वर और जीवका भेद बतानेवाले हैं तब इसी प्रसङ्गमें इसी भेदको झूठा कहकर **'वदतो व्याघात'** होना कैसे सम्भव है। अतः यहाँ यह सूचित किया गया है कि यह जगत् जो हमें भेदाभेदरूपमें भास रहा है, इसका कारण माया ही है। यद्यपि यह नानारूप जगत्‌का भेद जो मायाकृत है मुधा अर्थात् झूठा है, क्योंकि सम्पूर्ण जगत् एक भगवद्रूप ही है, फिर भी भगवान्‌की कृपाके बिना यह नाना-दर्शन कभी जा नहीं सकता। इसीकी पुष्टि चौपाईके

आगेके, *'रामचंद्र के भजन बिनु जो चह पद निर्बान। ज्ञानवंत अपि सो नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥—ऐसेहि बिनु हरि भजन खगेसा। मिटइ न जीवन्ह केर कलेसा॥'* इन पदोंसे होती है। श्रीरामजीके भजनद्वारा उनकी कृपासे ही द्वन्द्व-दुःख हट सकता है; अन्यथा कोई चाहे ज्ञानवान् भी क्यों न हो, बिना श्रीरामभजनके अपने पुरुषार्थपर भवसागर पार करनेको दावा करनेवाला बिना सींग-पूँछका पशु ही है। जहाँ ऐसी बात है वहाँ अद्वैतवादका अर्थ करना भूल नहीं तो और क्या है?

बिबिध भाँति मोहि मुनि समुझावा। निर्गुन मत मम हृदय न आवा॥ ७॥
पुनि मैं कहेउँ नाइ पद सीसा। सगुन उपासन कहहु मुनीसा॥ ८॥
रामभगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना॥ ९॥
सोइ उपदेस कहहु* करि दाया। निज नयनन्हि देखौं रघुराया॥ १०॥

अर्थ—मुनिने मुझे अनेक प्रकारसे समझाया पर निर्गुण मत मेरे हृदयमें न धसा॥ ७॥ चरणोंमें माथा नवाकर मैंने फिर कहा—हे मुनीश्वर! मुझसे सगुण ब्रह्मकी उपासना कहिये॥ ८॥ रामभक्तिरूपी जलमें मेरा मन मछली हो रहा है (तब) हे चतुर मुनीश! (वह उससे) कैसे अलग हो सकता है?॥ ९॥ दया करके वही उपदेश कीजिये जिससे मैं श्रीरघुनाथजीको अपनी आँखोंसे देखूँ॥ १०॥

नोट—१ *'बिबिध भाँति मोहि मुनि समुझावा'* इति। छान्दोग्योपनिषद्‌में आरुणिके श्वेतकेतुसे कहनेपर कि 'वही तू है', उन्होंने फिर समझानेकी प्रार्थना की। उसपर आरुणिने फिर समझाया है—'**यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणाꣳ रसान्समवहारमेकताꣳ रसं गमयन्ति।**'(६। ९। १) **ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति।**' (२ से लेकर)(६। १६। ३) तक जो अनेक भाँतिसे समझाया है वह सब '*बिबिध भाँति*' में आ जाता है।—प्रथम मधुका और नदियोंका दृष्टान्त देकर समझाया कि जिस प्रकार मधुमक्खियाँ मधु निष्पन्न करती हैं तो नाना दिशाओंके वृक्षोंका रस लाकर एकताको प्राप्त करा देती हैं, वे रस जिस प्रकार उस मधुमें इस प्रकारका विवेक प्राप्त नहीं कर सकते कि 'मैं इस वृक्षका रस हूँ और मैं इस वृक्षका रस हूँ; पुनः ये नदियाँ पूर्ववाहिनी होकर पूर्वकी ओर बहती हैं तथा पश्चिमवाहिनी होकर पश्चिमकी ओर। वे समुद्रसे निकलकर फिर समुद्रमें मिल जाती हैं और वह समुद्र ही हो जाता है। वे सब जिस प्रकार वहाँ (समुद्रमें) यह नहीं जानतीं कि 'यह मैं हूँ', 'यह मैं हूँ' ठीक इसी प्रकार यह सम्पूर्ण प्रजा सत्‌को प्राप्त होकर यह नहीं जानती कि हम सत्‌को प्राप्त हो गये हैं; एवं ये सम्पूर्ण प्रजाएँ सत्‌से आनेपर यह नहीं जानतीं कि हम सत्‌के पाससे आयी हैं। इस लोकमें वे व्याघ्र, सिंह, शूकर, कीट, पतङ्ग, डाँस वा मच्छड़ जो-जो भी होते हैं वे ही फिर हो जाते हैं। वह जो यह अणिमा है एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, आत्मा है और वही तू है। (२। ९। १—४, २। १०। १—३)

वृक्षका दृष्टान्त—यदि कोई इस महान् वृक्षके मूलमें आघात करे तो यह जीवित रहते हुए केवल रस-स्राव करेगा। इसी तरह यदि मध्यमें या अग्रभागमें आघात करे तो भी रसस्राव करेगा। यह वृक्ष जीव (आत्मा) से ओत-प्रोत है और जलपान करता हुआ आनन्दपूर्वक स्थित है। यदि इस वृक्षकी एक शाखाको जीव छोड़ देता है तो वह सूख जाती है। यदि दूसरीको छोड़ दे तो वह सूख जाती है, इत्यादि। इसी प्रकार यदि सारे वृक्षको छोड़ देता है तो सारा वृक्ष सूख जाता है। इसी तरह तू जान कि जीवसे रहित होनेपर यह शरीर मर जाता है, जीव नहीं मरता। वह जो अणिमा है। एतद्रूप ही यह सब है.....वही तू है। (६। ११। १—३)

वटवृक्षका दृष्टान्त—इस वटवृक्षका एक फल ले आ। लानेपर फोड़कर देखनेको कहा कि इसमें क्या है? शिष्यने बताया कि इसमें ये अणुके समान दाने हैं। इनमेंसे एकको फोड़कर देखनेको कहा।

* करहु—रा० गु० द्वि०।

तब बताया कि इसमें कुछ नहीं है। तब आरुणिने कहा कि इस वटबीजकी जिस अणिमाको तू नहीं देखता, उस अणिमाका ही यह इतना बड़ा वटवृक्ष खड़ा हुआ है। (आगे वही मन्त्र है—वह जो यह अणिमा है एतद्रूप……) (६। १२। १—३)

लवणका दृष्टान्त—इस नमकको जलमें डालकर कल प्रातःकाल मेरे पास आना। श्वेतकेतुने वैसा ही किया। तब आरुणिने कहा कि जो नमक जलमें डाला था उसे ले आओ। किंतु उसने ढूँढ़नेपर उसे उसमें न पाया। (आरुणि—) 'जिस प्रकार वह नमक इसीमें विलीन हो गया है (इसलिये तू उसे नेत्रसे नहीं देख सकता, उसे यदि जानना चाहता है तो) इस जलको ऊपरसे आचमन कर, देख कैसा है? (उत्तर) नमकीन है। (गुरु—) नीचेसे आचमन कर। अब कैसा है? (उत्तर) नमकीन है। (गुरु—) 'अच्छा, अब इस जलको फेंककर मेरे पास आ।' उसने वैसा ही किया और बोला 'उस जलमें नमक सदा ही विद्यमान था। तब आरुणिने कहा—इसी प्रकार वह सत् भी निश्चय वहीं विद्यमान है। (आगे वही मन्त्र है)।' (६। १३। १—३)

अन्यत्रसे लाये हुए पुरुषका दृष्टान्त—जिस प्रकार जिसकी आँखें बँधी हुई हों ऐसे किसी पुरुषको गान्धार देशसे लाकर जनशून्य स्थानमें छोड़ दे। उस जगह जिस प्रकार वह पूर्व, उत्तर, दक्षिण अथवा पश्चिमकी ओर मुख करके चिल्लावे कि मुझे आँखें बाँधकर यहाँ लाया गया है और आँखें बँधे हुए ही छोड़ दिया गया है। (तो) उस पुरुषके बन्धनको खोलकर जैसे कोई कहे कि 'गांधार देश इस दिशामें है, अतः इसी दिशाको जा' तो वह बुद्धिमान् समझदार पुरुष एक ग्रामसे दूसरा ग्राम पूछता हुआ गांधारमें ही पहुँच जाता है, इसी प्रकार इस लोकमें आचार्यवान् पुरुष ही (सत्‌को) जानता है; उसके लिये (मोक्ष होनेमें) इतना ही विलम्ब है जबतक वह (देहबन्धन) से मुक्त नहीं होता। उसके पश्चात् तो वह सत्सम्पन्न (ब्रह्मको) प्राप्त हो जाता है। (आगे वही मन्त्र है) (६। १४। १—३)

मुमूर्षु पुरुषका दृष्टान्त—(ज्वरादिसे) सन्तप्त (मुमूर्षु) पुरुषको चारों ओरसे घेरकर उसके बान्धवगण पूछा करते हैं—'क्या तुम मुझे जानते हो? मुझे पहचानते हो?' जबतक उसकी वाणी मनमें लीन नहीं होती तथा मन प्राणमें, प्राण तेजमें और तेज परदेवतामें लीन नहीं होता तबतक वह पहचान लेता है। वाणी, मन, प्राण तेजके लीन हो जानेपर वह नहीं पहचानता। (आगे वही मन्त्र है) (६। १५। १—३)

चोरके तप्त परशुग्रहणका दृष्टान्त—(राजकर्मचारी) किसी पुरुषको हाथ बाँधकर लाते हैं (और कहते हैं—) इसने धनका अपहरण किया है, चोरी की है, इसके लिये परशु तपाओ। वह यदि चोरीका करनेवाला होता है तो अपनेको मिथ्यावादी प्रमाणित करता है। वह मिथ्याभिनिवेशवाला पुरुष अपनेको मिथ्यासे छिपाता हुआ तपे हुए परशुको ग्रहण करता है; किंतु वह उससे दग्ध होता है और मारा जाता है। और यदि वह उसका करनेवाला नहीं होता तो उसीसे वह अपनेको सत्य प्रमाणित करता है। वह सत्याभिसन्ध अपनेको सत्यसे आवृत कर उस तपे हुए परशुको पकड़ लेता है। वह उससे नहीं जलता और तत्काल छोड़ दिया जाता है। वह जिस प्रकार उस (परीक्षाके) समय नहीं जलता (उसी प्रकार विद्वान्‌का पुनरावर्तन नहीं होता और अविद्वान्‌का होता है)। यह सब तद्रूप ही है, वह सत्य है, वह आत्मा है और वही तू है। तब वह (श्वेतकेतु) उसे जान गया, उसे जान गया। (६। १६। १—३)

नोट—२ (क) *'मम हृदय न आवा।'* भाव कि हृदयमें तो सगुणोपासनाका वास हो रहा है तब निर्गुणके लिये जगह कहाँसे आती। (ख)—*'पुनि मैं कहउँ नाइ पद सीसा।'* एक बार पहिले कह चुके हैं, यथा—*'सगुन ब्रह्म अवराधन मोहि कहहु भगवान॥'* (११०) अब दूसरी बार फिर कहा।—[*'मुनिस रघुपतिगुनगाथा कहे कछुक'* इससे यह निश्चय हो गया कि ये सगुणोपासना जानते हैं, इसीसे फिर कहा, नहीं तो न कहते। (रा० शं०)] बार-बार वही बात अपनेसे बड़ेसे दोहरानेसे उसका अपमान और कहनेवालेकी धृष्टता जनाती है। दूसरे, मुनिकी बात काटकर बीचमें अपनी बात कहना अशिष्टाचार है; अतः क्षमाके लिये *'नाइ पद सीसा कहेउ।'* पहले *'सगुन ब्रह्म अवराधन'* कहा और यहाँ *'सगुन उपासन'* इस तरह दोनोंको एकार्थी जनाया। आराधना वा अवराधन=उपासना।

३ *'रामभगति जल—किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना'* इति। (क) प्रवीणका भाव कि आप चतुर हैं, जानते हैं कि मछली जलसे अलग होकर कब रह सकती है। 'सगुणोपासना' कहकर यहाँ 'रामभक्तिजल' कहा। इस तरह सगुण-उपासना और रामभक्तिको एक ही जनाया। रामभक्तिको जल कहकर निर्गुण-ब्रह्म-उपदेशको सूखा थल जनाया। मनको मीन कहकर जनाया कि मन सगुणोपासनासे क्षणभर भी अलग नहीं होता, क्योंकि वह तो उसका जीवन है तब दूसरी बात कैसे सुन सकता हूँ। ☞ इन वाक्योंसे अपनेको अति आर्त्त अधिकारी जनाया जिसमें अवश्य कहें, संकोच न करें। मीनका जैसा प्रेम जलमें है ऐसा किसीका नहीं, यह बात कविने दोहावलीमें थोड़े ही शब्दोंमें बहुत कुछ स्पष्ट कह दिया है।

वि० टी०—*'रामभक्ति जल मम मन मीना।—'* में यह शंका हो सकती है कि 'जब विप्रका मन मछलीकी नाईं रामतत्त्वरूपी जलमें पड़ रहा था तो फिर अधिक उपदेशकी क्या आवश्यकता थी?' उसका समाधान यह है कि श्रीरामचन्द्रजी परब्रह्म हैं और उनकी भक्ति जलवत् कही है। तथापि वह भक्ति पूर्णरूपसे स्थिर नहीं हुई थी और उसमें विप्रके मनरूपी मच्छको चारा नहीं मिला था अर्थात् उसे श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन नहीं हुए थे। इस हेतु जबतक भक्ति पक्की न हो और मन संतुष्ट न हो तबतक उपदेशकी बारम्बार आवश्यकता रहती है। तभी तो विप्रकी प्रार्थना मुनिजीसे यह थी कि—*'सो उपदेस करहु करि दाया॥ निज—।'*

नोट—४ *'सोइ उपदेस कहहु—निज नयनन्हि देखौं रघुराया'* यहाँ कहा और पूर्व कहा है कि *'रामचरन बारिज जब देखौं। तब निज जन्म सफल करि लेखौं॥'* इससे जनाया कि सगुण ब्रह्मकी उपासनासे मुख्य यही तात्पर्य था। *'निज नयनन्हि देखौं'* अर्थात् दर्शन बिना मैं अपना जन्म सफल नहीं मान सकता। पुनः भाव कि अनुभवसे नहीं, ध्यानसे नहीं, वरन् चक्षु इत्यादिसे प्रत्यक्ष देखूँ।

भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहौं निर्गुन उपदेसा॥ ११॥

मुनि पुनि कहि हरि कथा अनूपा। खंडि सगुन मत अगुन निरूपा*॥ १२॥

अर्थ—पहले अवधपति श्रीरघुनाथजीको नेत्रभर देखकर तब निर्गुणब्रह्मका उपदेश सुनूँगा॥ ११॥ मुनिने फिर अनुपम हरिकथा कहकर सगुणमतका खण्डन कर निर्गुणमतका निरूपण (प्रतिपादन, सिद्धान्त) किया॥ १२॥

नोट—१ *'भरि लोचन बिलोकि—'* इति। (क) *'भरि लोचन'*, यथा—*'भरि लोचन छबिसिंधु निहारी।'* (१। ५०। २) *'यह उत्सव देखिअ भरि लोचन॥'* (१। ८८। १) *'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन।'* (१। १४६। ६) *'देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहै लाभ संकर जाना।'* (२११ छंद) *'भरि लोचन छबि लेहु निहारी।'* (१। २४६। ३) इत्यादिमें जो भाव है वही यहाँ है। अर्थात् अघाकर देखकर, बहुत अच्छी तरह इन नेत्रोंसे जी भरकर दर्शन करके। नेत्रोंमें उस रूपको दर्शन करके भर लूँ तब। (ख) *'अवधेसा'* अर्थात् रघुकुलमें जो अवतार लेकर राजा हुए उस अवधपति रूपका दर्शन करना चाहता हूँ, अन्य किसी रूपका नहीं। (ग) *'तब सुनिहौं—'* का भाव कि जबतक सगुणरूप श्रीअवधेशरूपका साक्षात् दर्शन न हो जायगा, तबतक मैं दूसरी बातका उपदेश न सुनूँगा। आप निर्गुण निरूपणका व्यर्थ परिश्रम न करें। इससे दिखाया कि दर्शनकी कैसी उत्कट लालसा है।

२ ☞ दर्शनकी उत्कट लालसा है, यह बारंबार कहकर जनाया है। (१) *'रामचरन बारिज जब देखौं। तब निज जन्म सुफल करि लेखौं॥'*, (२) *'सगुन ब्रह्म अवराधन मोहि कहहु भगवान।'*, (३) *'सगुन उपासन कहहु—'*, (४) *'सोइ उपदेस कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखउँ रघुराया॥'*, (५) *'भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहौं निर्गुन उपदेसा॥'*

सि० ति०—*'तब सुनिहउँ—'*—यह कथन वास्तवमें व्यंग्यसे उपेक्षापरक है, जैसे कहीं सत्सङ्गमें कोई अपनी ही कविताकी बार-बार बड़ाई करके उसीको बार-बार सुनाता है। तब कोई आवश्यक प्रसङ्ग रुका

* निर्गुन रूपा (का०)।

हुआ देखकर लोग कह देते हैं कि अच्छा मैं इसे चलते समय नोट कर लूँगा, अब अमुक प्रसङ्ग होने दीजिये। अन्यथा विचार किया जाय कि जब श्रीकाकजीको सगुणके साक्षात् दर्शन भी हो गये। तब श्रीलोमशजीके पास निर्गुण उपदेश लेनेके लिये क्या काकजी आये? २७ कल्प तो बीत गये। पूर्व बिना पहिचानके आये थे, अब तो गुरुका नाता भी हो गया। पर सगुण-दर्शनके पीछे श्रीकाकजीने निर्गुणमतकी चर्चा भी नहीं की। क्या करें? जनक-विश्वामित्र-संवाद बा० २१५ देखिये, तथा *'ब्रह्मानंद हृदय दरस सुख लोयननि अनुभये उभय सरस राम जाने हैं।'* (गी० १। ५९) *'अवलोकि रामहि अनुभवत मनु ब्रह्म सुख सौ गुन दिये।* (जा. मं. ४५) अर्थात् निर्गुणके ब्रह्मानन्दकी अपेक्षा सगुण दर्शनका आनन्द सौगुणा है।

नोट—३ *'पुनि कहि हरिकथा अनूपा—'* अर्थात् जैसे पूर्व कहा था वैसे ही फिर कहा और कहकर फिर उसका खण्डन किया कि यह नित्य नहीं है नैमित्त है। नित्य एकरस निर्गुण ही है। पुनः इस तरह खण्डन किया कि सगुणमें हानि-लाभ, शोक-मोहादिक व्यवहार देखे जाते हैं। तब भला वे उपासकोंके चित्तसे हर्ष-शोकादि कैसे दूर कर सकते हैं। अतः निर्गुणका ही ध्यान श्रेष्ठ है—(पं०)। अवतार मायासे होता है, अनित्य है, थोड़े दिन रहकर पूर्व निर्गुण ब्रह्ममें लय हो जाता है, इत्यादि।—विशेष ११२ (१२) में देखिये।

तब मैं निर्गुन* मत करि दूरी। सगुन निरूपौं करि हठ भूरी॥१३॥
उत्तर प्रति उत्तर मैं कीन्हा। मुनि तन भए क्रोध के चीन्हा॥१४॥

अर्थ—तब मैं निर्गुणमतको दूर (खण्डन) कर बहुत हठ करके सगुण मतका निरूपण करता॥ १३॥ मैंने उत्तर-प्रत्युत्तर किया अर्थात् उत्तर-पर-उत्तर दिया। मुनिके शरीरमें क्रोधके चिह्न उत्पन्न हो गये॥ १४॥

प०—सगुणका निरूपण करता, इस भाँति कि जो रूप-रेखसे परे है उसका ध्यान क्या और अरूप-अरेखमें स्थित भय सुख क्या? सगुणके दर्शन अमृत वचन-श्रवण, सारूप्यादि मुक्तिमें सुख प्रत्यक्ष है।

वै—*'तब मैं'* अर्थात् प्रथम मैंने विनीतभावसे जिज्ञासु बनकर प्रश्न किया। उसका उन्होंने परिपूर्ण समाधान न किया। फिर दूसरी बार मैंने आर्त अर्थार्थी होकर प्रश्न किया तब भी जब मुनि खण्डन करने लगे तब मैंने विचारा कि मैं तो इनको आचार्य मान प्रश्न करता हूँ और ये मेरे प्रतिपक्षी होकर मेरे इष्टकी न्यूनता दरसाते हैं। तहाँ भक्तिपक्षकी ऐसी रीति है यथा शिवसंहितायाम् (कि)-**'रामादन्यं परं श्रेष्ठं यो वै पाण्डित्यमात्रतः। संतप्तहृदयं तस्य जिह्वां छिद्याम्यहं मुने॥'** ऐसा विचारकर मैंने निर्गुणमतको खण्डन कर दूर कर दिया और फिर उन्हींके वचनोंसे बड़े हठपूर्वक सगुणको सर्वोपरि निरूपण करूँ।—

इस तरहकी जो आपने **'तत्त्वमसि'** *'सो तैं—'* कहा सो उसका अर्थ इस प्रकार है—**'तत्कोऽर्थः, तस्य ईश्वरस्य त्वम् असि भवसीत्यर्थः, तेन जीवेश्वरयोरेव अनादिसम्बन्धः, तस्य कस्य परात्परपरब्रह्मणः श्रीरामचन्द्रस्य मुख्यत्वेन ननु श्रीरामचन्द्रे एव जीवानां मुख्यसम्बन्धः'** अर्थात् हे जीव! परब्रह्म श्रीरामजीमें और तुझमें अंशी-अंश, प्रकाशी-प्रकाश, शेषी-शेष, स्वामी-सेवक इत्यादि सम्बन्ध अनादि कालसे है। पुनः जो आपने *'ताहि तोहि नहिं भेदा'* में **'अयमात्मा ब्रह्म'** प्रमाण दिया (सो सुनिये)—**'तत्र अयं शब्दः शान्ताः, तकारस्य निर्देशत्वात् क्षेत्रज्ञे प्रविशति, महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।'** अर्थात् यह शरीर क्षेत्र है जिसमें क्षेत्रज्ञ जीव बसता है सो महाभूत अहंकार बुद्धिके वश इन्द्रिय-विषय, इच्छा-द्वेष, सुख-दुःखमें पड़ा है......।

२—*'उत्तर प्रति उत्तर'* यथा मुनि बोले कि श्रुति-स्मृति कहती है कि जैसे पुरुष एक है पर दर्पणमें दूसरा रूप देखता है, जलमें चन्द्रमा नाना रूपसे जो देख पड़ता है सो तो शून्य है; क्योंकि वह न तो घटे,. न बढ़े, न भीगे, वैसे ही परमात्मा भी आत्मारूपसे जीवोंके अन्दर व्याप्त है। जीव और आत्माके धर्म विलग हैं। पुनः, बोले कि जैसे घटाकाश-महाकाशके नाश होनेपर केवल आकाश रहता है, वैसे ही यावत् अज्ञान दशा है तावत् भेद देख पड़ता है। जबतक भेदबुद्धि है तबतक जन्म-मरण नहीं छूटेगा। अतएव भ्रमको त्यागकर एक ब्रह्म ही निश्चय मानो। स्वयंप्रकाश ब्रह्मके सिवा दूसरा कोई नहीं इत्यादि।

* निर्गुन मति—ना० प्र०।

इसके उत्तरमें मैंने कहा कि जब दूसरा है ही नहीं तब उपदेश कैसा? उपदेशसे तो सिद्ध-साधकता स्पष्ट है। अतएव जीव और ईश्वरमें भेद प्रत्यक्ष है और ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं है। तदर्थ श्रुति जीवोंको उपदेश देती है। क्योंकि हर्ष-विषादादि जीवोंके धर्म सदा उनमें रहते हैं और ईश्वर सच्चिदानन्द अखण्डज्ञानरूप है। अत: ईश्वर-जीवका एकत्व सम्भव नहीं।-(वै०)।

नोट—लोमश-भुशुण्डि-वाद कुछ इस प्रकार कहा जाता है—(कथासे)—

मुनि—'*खंडि सगुन मत——।*' (प्रथम सगुन कह गये। फिर) कहा कि तीन प्रकारके चेतन हैं—१ ब्रह्म, २ ईश्वर, ३ जीव। सर्वव्यापक, निर्लेप, आकाशवत्, सर्वगत, निर्विशेष ब्रह्म मायामें प्रतिबिंबित होनेसे मायाको ग्रहण करनेसे मायोपाधित 'ईश्वर' कहा जाता है और जो अविद्योपाधित है वह 'जीव' है। ब्रह्म ही अविद्याके नाना रूपोंमें प्रतिबिम्बित होनेसे जीव कहलाता है। अत: ईश्वरकी भी उपासना मायिक ही ठहरी। इसकी उपासनासे केवल चित्तकी एकाग्रता होना इतना ही उपयोग है। इससे सगुणोपासना करनेवालोंको कुछ कालमें निर्विशेष ब्रह्मके बोध होनेसे मुक्ति होती है। सगुणोपासना अन्तमें आप-से-आप छूट जाती है। अत: जो सर्वगत निरतिशयानन्द ब्रह्मकी प्रथमसे ही उपासना करते हैं वे सगुणोपासककी अपेक्षा शीघ्र संसारसे छूटकर ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। क्योंकि ब्रह्म ही मायोपाधिक ईश्वर और अविद्योपाधिक जीव हुआ है।

विप्र—(काकभुशुण्डिजी बोले कि) महाराज! मायाको ब्रह्म ग्रहण करता है कि माया ब्रह्मको ग्रहण करती है? यदि मायाको कहिये कि वह ब्रह्मको ग्रहण करती है तो माया जड़ है उसमें ब्रह्मको ग्रहण करनेकी शक्ति कहाँ? यदि कहिये कि ब्रह्मने मायाको ग्रहण किया तो मायासे ब्रह्मका कुछ प्रयोजन नहीं, वह तो आनन्दस्वरूप है। मायाको ग्रहण कर ही नहीं सकता।—(उत्तरमें) मुनि चुप रहे।

विप्र—(तब फिर प्रश्न किया कि) माया ब्रह्मसे भिन्न है कि ब्रह्ममें है? यदि ब्रह्ममें है तो माया हमारेमें है यह ब्रह्म जानता है कि नहीं? यदि जानता है, तो ब्रह्म ज्ञानवान् है केवल ज्ञानमात्र निर्विशेष कैसे? यदि नहीं जानता है तो बिना जाने अङ्गीकार कैसे करता है? और फिर ब्रह्ममें अज्ञपना भी आ गया।

मुनि—माया अनादि है।

काक—तब तो माया और ब्रह्म दो अनादि हुए, अद्वैत कैसे? (मुनि उत्तर न दे सके।)

विप्र—आपने कहा है कि मायामें ब्रह्म प्रतिबिम्बित है तो प्रतिबिम्ब साकार वस्तुका होता है। ब्रह्मको निराकार कहते हैं कि साकार? (उत्तर) मुनि—निराकार।

विप्र—निराकारका प्रतिबिम्ब कहीं देखा गया है? (उत्तर) मुनि—नहीं।

विप्र—तब निराकार परब्रह्मका प्रतिबिम्ब मायामें कैसे? (मुनि चुप रहे।)

विप्र—ब्रह्म सविशेष है कि निर्विशेष? (उत्तर) मुनि—निर्विशेष।

विप्र—निर्विशेषका बोधक शब्द कौन है? (उत्तर) मुनि—**ज्ञानमात्रं ब्रह्मेति।**

विप्र—ज्ञान, यह '**ज्ञा अवबोधने**' इस धातुसे बनता है। कर्णमें 'ल्युट्' प्रत्यय है। अन आदेश होनेसे ज्ञानशब्द बना। तो यह तो प्रकृति-प्रत्ययके योगसे निर्विशेषका बोधक नहीं हो सकता।

मुनि—निर्विशेषका अर्थ तुम क्या करते हो?

विप्र—निर्विशेष निराकार इत्यादि शब्द किसी विशेषणसे विशिष्ट वस्तुको दूसरे वस्तुमें विशेषणके निषेधको बोधन करते हुए ब्रह्मका बोधक है।……इत्यादि।

पं० श्रीकान्तशरणजी—'***उत्तर प्रति उत्तर***'—मुनिने '**तत्त्वमसि**' महावाक्यके अर्थरूपमें '***सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव***——' कहा है, मुनिका अर्थ इस अर्धालीके प्रसङ्गमें कहा गया। श्रीभुशुण्डिजीने प्रति-उत्तर रूपमें ऐसा अर्थ किया कि—वाक्यके गूढ़ अभिप्राय प्रकट करनेके लिये ही उपमा दी जाती है। '***बारि बीचि इव***' यह उपमा 'तत्त्वमसि' के भावको प्रकट कर देती है। **तत्-त्वम्-असि** अर्थात् वही तू है। इसका अर्थ श्रुतिके प्रकरणके अनुसार करना चाहिये। पूरी श्रुति इस प्रकार है; यथा—'**स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।**' (छां० ६। ८। ७) अर्थात् यह जो अणिमा

है एतद्रूप (ब्रह्मात्मक) ही यह सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो! वही तू है। इसके पूर्वकी श्रुति '**यथा सौम्य एकेन मृत्पिण्डेन।**' (छां० ६। १) में सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म जगत्का कारण कहा गया। उसीको आगे ***'सदेव सौम्य'*** ......।' (छां० ६। २) इस श्रुतिमें सत् संज्ञासे कहा गया। पुनः '**तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय।**'(छां०६। २। ३) में '***तत्***' शब्दसे कहा गया। उसी **तत्** शब्दसे कहे हुए सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्मको यहाँ भी 'तत्' शब्दसे कहा है और '**त्वम्**' शब्द श्वेतकेतुके लिये है। अतः '**तत्त्वमसि**' का अर्थ हुआ—वह ईश्वर तू है। सर्वज्ञ ईश्वर और अल्पज्ञ जीवका प्रत्यक्ष ऐक्य देखा नहीं जाता। अतः सत्यवादिनी श्रुतिका अभिप्राय यहाँ कुछ विशेष अर्थसे है—वह यह कि जो 'सत्' एक है वही अनेक प्रकारका हुआ और जैसा एक है वैसा ही अनेक है। एकका नाम 'सत्' ही उचित है और उसीके अनेक होनेपर अनेकका एक ही 'ब्रह्म' ऐसा नाम चल सकेगा। जब आकार भिन्न हुए तब व्यवहारके लिये उन आकारोंके भिन्न-भिन्न नाम रखे गये। जैसे इससे पूर्वके 'मृत्पिण्ड' के विकारोंके नामोंके दृष्टान्तसे कहा गया है।

स्पष्टार्थ यह हुआ कि जो 'सत्' प्रलयमें एक ही था—वही तू (श्वेतकेतु आदि जो नाना हुए हैं) है। सत् चिदचित्से विशिष्ट और तू भी चिदचित्से विशिष्ट है। जगत्के सब व्यष्टि आकार चिदचित्विशिष्ट ही हैं। प्रत्येक प्राणी देह (अचित्) जीवात्मा (चित्) और अन्तर्यामी ब्रह्म-(ईश्वर-) से विशिष्ट रहते हैं। शरीरी ब्रह्मके प्राधान्यसे शरीररूप चिदचित् भी ब्रह्म संज्ञासे कहे जाते हैं। इस तरह श्वेतकेतुको ब्रह्मका शरीर एवं नियाम्य कहकर गुरुजीने उसका अहंकार दूर किया कि शरीरके गुण, विद्या आदिके वैभव शरीरीके ही हैं, शरीररूपी जीवको उनका अभिमानी नहीं होना चाहिये। यह प्रसङ्ग उद्दालक महर्षिजीने अपने पुत्र श्वेतकेतुके विद्याके अहङ्कारको दूर करनेके लिये ही छेड़ा था।

पाँ०—'*मुनि तन भए क्रोध के चीन्हा।*' इति। भाव कि मुनि कहनेको थे तो मननशील और हो गये क्रोधके रूप। (क्रोधके चिह्न यह कि नेत्र लाल हो गये, होंठ फड़कने लगे, शरीरपर क्रोधकी लालिमा आ गयी इत्यादि)।

सुनु प्रभु बहुत अवग्या किए। उपज क्रोध ग्यानिन्ह* के हिए॥ १५॥
अति संघरषन जौं कर कोई। अनल प्रगट चंदन† ते होई॥ १६॥

शब्दार्थ—**अवज्ञा**=अनादर, अपमान।

अर्थ—हे प्रभो! सुनिये। बहुत अनादर करनेसे ज्ञानियोंके हृदयमें भी क्रोध उत्पन्न हो जाता है॥ १५॥ यदि कोई चन्दनकी लकड़ीको (आपसमें) अत्यन्त रगड़े तो उससे (भी) आग प्रगट हो जायगी॥ १६॥

प० प० प्र०—१ '*उपज क्रोध ज्ञानिन्ह के हिए*' इति। यहाँ संत वा साधु शब्द न देकर सूचित किया कि ज्ञानियोंके हृदयमें क्रोध उत्पन्न हो जाता है, किंतु ज्ञानी रामभक्तोंके, संतोंके हृदयमें क्रोध नहीं उपजता, उन्हें तो '*निंदा अस्तुति उभय सम*' होते हैं यह श्रीमुखवाक्य है। विशेष '*क्रोध कि द्वैत बुद्धि बिनु।*'(१११) में देखिये।

२ '*अनल प्रगट चंदन ते होई*' इति '*सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा*' सिद्धान्तवाले लोमशमुनि चन्दन हैं। उत्तरप्रत्युत्तररूपी संघर्षण करनेसे अग्निका प्राकट्यसूचक धूमरूपी क्रोधके चिह्न प्रकट हुए। अब थोड़ी ही देरमें शापरूपी अग्नि प्रकट होगी।

नोट—१ ज्ञानी चन्दनसमान शीतल होते हैं। पर जैसे चन्दनमें अग्नितत्त्व गुप्त है वैसे ही ज्ञानीके हृदयमें भी क्रोधादि सूक्ष्मरीतिसे दबे हुए वर्तमान हैं। अपने ज्ञान-वैराग्य-शमदमादिसे उन्होंने काम-क्रोधादिको दमन कर रखा है। पर वे अति सूक्ष्मरूपसे भीतर मौजूद हैं—'*बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे।*' 'अति विषय' पाकर प्रकट हो जाते हैं क्योंकि यह जीवका धर्म ही है। चन्दनके साधारण रगड़से अग्नि नहीं निकलती, जब अत्यन्त रगड़ होगी तभी उसमेंसे अग्नि प्रकट होगी; वैसे ही ज्ञानी भी क्षमाशील और शीतल होते हैं, साधारण अवज्ञासे उन्हें क्रोध कभी नहीं हो सकता जब अवज्ञा अतिको प्राप्त होती है तभी क्रोध उत्पन्न होता है। '*प्रगट*'

* ज्ञानिहु—रा० गु० द्वि०, का०। † चंदनहु—का०।

का भाव कि गुप्तरूपसे तो सदा बनी रहती है, प्रकट नहीं देख पड़ती। यहाँ दृष्टान्तालङ्कार है।

वि० टी०—अतिशय संघर्षणके कारण साधुओंको भी क्रोध करना उचित बताया गया है। जैसा कि महाभारतके वनपर्व (२८। ६। ८) में लिखा है—'**न श्रेयः सततं तेजो न नित्यं श्रेयसी क्षमा।**······**तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपवादिता।**' अर्थात् न तो सदा क्रोध ही कल्याणकारी होता है और न सदा क्षमा करना ही श्रेयस्कर है। इस हेतु सदा क्षमा करनेका भी पण्डित लोग निषेध करते हैं।

यद्यपि आगे चलकर गोस्वामीजी लिखते हैं कि '*सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूषन।*······' इत्यादि, तथापि उनका यहाँका कथन भी यथार्थ है। बहुत अवज्ञा करनेपर ज्ञानीके हृदयमें क्रोध आ जाता है, इसकी पुष्टि भी वे '*अति संघर्षन*······' से करते हैं। जबतक जीवका सम्बन्ध मायासे है अथवा यों कहिये कि ज्ञानसम्पादन कर ममता, मोह आदिको लोग अपने वशमें कर लेते हैं, तथापि देहका सम्बन्ध जबतक जीवके साथ रहता है तबतक सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण कुछ-कुछ अंशमें बने ही रहते हैं। इस प्रकारकी असावधानीसे ये गुण विशेषकर तमोगुण (जिसके कारण मनुष्यके हृदयमें क्रोध उत्पन्न होता है) अवसर पाकर प्रबल हो उठता है जैसा कि इसी काण्डमें लिखा है—'*बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय*······।'

दो०—बारंबार सकोप मुनि करै निरूपन ज्ञान।
मैं अपने मन बैठ तब करौं बिबिधि अनुमान॥
क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु* द्वैत कि बिनु अज्ञान।
मायाबस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान॥१११॥

अर्थ—मुनि बारम्बार क्रोधसहित (क्रोधावेशमें) ज्ञानका निरूपण करते थे। तब मैं बैठे-बैठे अपने मनमें अनेक प्रकारके अनुमान करता कि बिना द्वैतबुद्धिके क्या क्रोध हो सकता है? द्वैत क्या बिना अज्ञानके हो सकता है? (इसी तरह) क्या मायाके वश परिच्छिन्न, जड़ जीव ईश्वरके समान हो सकता है? अर्थात् कदापि नहीं॥ १११॥

नोट—१ क्रोध मुनिको हुआ; अतएव '*क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु*' इसी प्रसङ्गसे अपर विचार मनमें आये जो वे आगे कहते हैं—(खर्रा)। २—'*द्वैतबुद्धि बिनु*'=अपनेसे पृथक् दूसरेको माने बिना। भाव कि जब प्राणी यह मानेगा कि मैं एक व्यक्ति हूँ और यह या वह मुझसे भिन्न दूसरा व्यक्ति है तभी उसे दूसरेपर क्रोध आ सकेगा, अन्यथा नहीं। मुनि सबको ब्रह्म बतलाते हैं, एकसे दूसरा नहीं बताते। इसीपर यह विचार करते हैं कि जब दूसरा है ही नहीं तब मुनि क्रोध क्यों और किसपर करते हैं, अतः यह निश्चय है कि जीव ब्रह्म नहीं है, वह तो माया-आवरणसे ढका हुआ है, कथनमात्रसे वह क्या ईश्वरके समान हो सकता है? कदापि नहीं।

'*द्वैत कि बिनु अज्ञान*' इति। ज्ञानका लक्षण यह है कि '*देख ब्रह्म समान सब माहीं।*' सबमें परमात्माको देखनेसे द्वैतभाव नहीं रह जाता। ज्ञानरहित होनेपर अविद्यामायाके वश होनेसे ही द्वैतबुद्धि आयेगी। ज्ञान रहते द्वैतबुद्धिका अभाव रहेगा, वह ज्ञानी भक्त अपने ही प्रभुको सबमें देखेगा, सबमें प्रभु हैं, मैं सबका सेवक हूँ तब क्रोध कैसा? यथा—'*निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।*'

पं० श्रीकान्तशरणजी—अज्ञानसे द्वैत होता है और द्वैतसे क्रोध। ज्ञानके विरुद्ध वृत्तिको अज्ञान कहते हैं। सबमें परमात्माको समान देखनेसे द्वैतभाव नहीं रहता। सब जीव भगवान्‌के शरीर हैं। अतः जीवोंके द्वारा सुख-दुःखकी प्राप्ति उन-उन कर्मानुसार भगवान्‌की प्रेरणासे होती है। प्रभु सर्वज्ञ एवं न्यायशील हैं, अतः सब ठीक ही करते हैं। ऐसा विचार रहनेसे किसीसे भी शत्रु-मित्र आदि भाव नहीं होते। क्योंकि फिर कोई जीव प्रीति-वैरका कर्ता नहीं रह जाता।

---

* 'द्वैतबुद्धि बिनु क्रोध किमि' (का०)। भाव कि कहते भर हैं, उसपर आरूढ़ नहीं।

द्वैत तो नानात्वदृष्टिसे होता है, यथा—'*जननि जनक गुरु बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी। द्वैत रूप तम कूप परौं नहिं अस कछु जतन बिचारी॥*' (वि० १११) अर्थात् जननी आदि इन सब रूपोंके द्वारा सब प्रकारसे हित करनेवाले आप ही हैं; ये सब आपके शरीर हैं। इस ऐक्यदृष्टिके विरुद्ध द्वैतरूप अर्थात् उन्हें पृथक्-पृथक् सत्तावान् माननेपर उन-उनके ऋणी होनेसे तमकूप-(अज्ञानमय भवकूप-) में पड़ूँगा, इस द्वैतरूप अज्ञानसे रक्षाका यत्न विचारिये—यह प्रार्थना है।

तात्पर्य यह कि नानात्वदृष्टि ही अज्ञान है, उसीसे द्वैत होता है और द्वैतसे क्रोध; यथा '*जौं निज मन परिहरै बिकारा। तौ कत द्वैत जनित संसृत दुख संसय सोक अपारा। शत्रु मित्र मध्यस्थ तीन ये मन कीन्हें बरिआई। त्यागब गहब उपेक्षनीय अहि हाटक तृन की नाई॥*' (वि० १२४)

प० प० प्र०—'*क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु*' इति। (क) यहाँसे यह विप्र अनेक अनुमान करता है। पर इसका भाव यह नहीं है कि ये सभी अनुमान सिद्धान्त हैं। इनमेंसे कई अनुमान सत्य (संवादी भ्रम) हैं और कुछ असत्य (विसंवादी भ्रम) हैं। अद्वैतबुद्धि स्थिर होनेपर भी कभी-कभी प्रारब्ध-कर्म संयोगवश, कभी ईशप्रेरणावश क्रोधादि विकारोंकी क्रिया होती है। नारदजीने प्रत्यक्ष भगवान्‌को ही शाप दिया है। वृत्रासुर ब्रह्मनिष्ठ था पर उसने तो अनुचित अत्याचार भी किये हैं। सहस्रार्जुन भी भगवान् दत्तात्रेयके शिष्य थे, ब्रह्मनिष्ठ थे पर उन्होंने भी जमदग्नि ऋषिपर अत्याचार किया। अतः '*क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु*' यह निरपवाद सिद्धान्त नहीं है। नारदजी विशिष्टाद्वैती मानो या अद्वैती, उन्होंने नलकूबर-मणिग्रीवको शाप दिया है। रघुपतिको लङ्का और पंचवटीमें क्रोध हुआ है। सारांश यह है कि संत या ज्ञानीकी पहचान बाह्य लक्षणोंसे करनेमें धोखा रहता है। लोमश, नारद, अगस्त्य आदि महापुरुष कारण पुरुष होते हैं, ईश्वरी प्रेरणारूपी माया उनको निमित्त करके अघटित घटना कराती है।

रा० बा० दा०—भुशुण्डिजी तर्क करते हैं कि लोमश ऐसे विज्ञानी चिरंजीवीको क्रोध आ गया। इससे सिद्ध है कि जीवमें अज्ञानकारण सूक्ष्म बना रहता है, काल पाकर जाग्रत् हो जाता है। इसीसे जीव मायावश दीन हो रहा है, तब वह ईश कैसे हो सकता है।……यदि कोई कहे कि उन्होंने शिक्षा-भावमें क्रोध किया है तो यह भी नहीं बनता क्योंकि अज्ञानी शिष्यपर ही शिक्षा सम्भव है और जो मतवादी है उसपर शिक्षा-भाव कैसा।

नोट—'*मायाबस परिछिन्न जड़*……' इति। ईश्वर स्वतन्त्र है, जीव मायावश परतन्त्र होकर जड़ हो रहा है। परतन्त्र स्वतन्त्रके समान कैसे हो सकता है? यहाँ विशिष्टाद्वैतका प्रतिपादन किया है। अर्थात् ईश्वर, जीव और माया तीनोंकी स्थिति पृथक्-पृथक् दिखायी है। 'परिच्छिन्न'=सीमायुक्त, परिमित=पृथक् किया हुआ—(श० सा०)। इस तरह भाव हुआ कि वह ईश्वरसे अलग है। इस प्रकार भाव यह है कि जीव मायावश होनेसे अहङ्कारी हो गया, कर्माभिमानी होनेसे भगवान्‌से विमुख हो गया, देह-गेहको अपना मानने लगा, यहाँतक मायासे गाँठ जोड़ ली कि स्वयं अपनेको देह मानने लगा, देहाभिमानी हो गया। यथा—'*जिय जब तें हरि तें बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो॥ माया बस स्वरूप बिसरायो।……तैं निज कर्म डोरि दृढ़ कीन्हो। अपनेहि करनि गाँठि हठि दीन्ही॥ ताही तें परबस परयो अभागे॥*' (वि०१३६) यही सब भाव '*मायाबस परिछिन्न*' में है। देहाभिमानी होनेसे अपनेको देह माननेसे 'जड़' कहा गया, क्योंकि देह जड़ वस्तु है, पंचभूतोंसे रचित है। '*जीव कि ईस समान*'—१। ६९ में देखिये, वहाँ, विस्तारसे लिखा गया है। जीव परतन्त्र है, मायाके वश हो जानेवाला है, उसके वश होनेसे वह देहाभिमानी, कर्माभिमानी है। यथा—'*मायाबस्य जीव सचराचर।*' '*मायाबस्य जीव अभिमानी*' (७८। ४, ६) और ईश्वर स्वतन्त्र है, माया उसके वशमें है, वह प्रभुसे सदा डरती रहती है, उनके इशारेपर नाचनेवाली है, यथा—'*परबस जीव स्वबस भगवंता॥*' (७८। ७) '*ईस बस्य माया गुनखानी॥*' (७८। ६) '*बंध मोच्छप्रद सर्ब पर माया प्रेरक सीव॥*' (३। १५) '*देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी॥*' (१। २०२) '*सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥*' (७२। २) ईश्वर उसके वशमें नहीं हैं, वे तो उससे परे हैं। यथा '*प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी॥*' (७२। ७) '*माया मोह पार परमीसा॥*' (५८। ७) '*माया खलु नर्तकी बिचारी॥*' (११६। ४) जीव बन्धनमें पड़ता है, ईश्वर उसे छुड़ा देता है। यथा—'*बंध*

मोच्छप्रद॥' (३। १५) इत्यादि। अतः जीव ईश्वरके समान कैसे हो सकता है। [रा० प्र०—'***परिछिन्न*** ——' अर्थात् मायाके वश उसीके घेरेमें पड़ा चारों ओरसे भली प्रकार छिपा है और उसी प्रकार जड़-सा हो गया।] ☞ इस प्रसङ्गभरमें 'प्रत्यक्षप्रमाण' 'वक्रोक्ति' और 'प्रथमविनोक्ति' अलङ्कारोंकी संसृष्टि है।

कबहुँ कि दुख सबकर हित ताके। तेहि कि दरिद्र परसमनि जाके॥ १॥
परद्रोही कि होहिं निःसंका*। कामी पुनि कि रहहिं अकलंका॥ २॥
बंस कि रह द्विज अनहित कीन्हे। कर्म कि होहिं स्वरूपहि † चीन्हे॥ ३॥

अर्थ—सबका भला चाहनेसे क्या कभी दुःख हो सकता है? जिसके पास पारसमणि है क्या उसे दारिद्र्य (कंगालपन) सता सकता है॥ १॥ क्या परद्रोही निश्शंक हो सकता है? और क्या कामी कलंकरहित रह सकते हैं?॥ २॥ क्या ब्राह्मणका अनभल करनेसे वंश रह सकता है? (अर्थात् नहीं रह जाता, उसका नाश अवश्य होता है) क्या अपना स्वरूप पहिचान लेनेपर कर्म हो सकते हैं?॥ ३॥

नोट—१ (क) '***कबहुँ कि दुख सबकर हित ताके***' इति। परहित करना धर्म है यथा—'***परहित सरिस धर्म नहिं भाई॥***' (४१। १) धर्मसे सुख होगा—दोहा २० देखिये (ख) '***तेहि कि दरिद्र*** ——' यथा—'***डरहु दरिद्रहि पारस पाये***'—अ० २१० (२) देखिये (ग) '***परद्रोही कि होहिं निःसंका।***' दूसरेसे जो द्रोह करता है उसे स्वयं भी शत्रुसे भय रहता है कि वह मेरा कुछ अहित न करे।—'***ताहि कि संपति सगुन सुभ सपनेहु मन बिश्राम। भूतद्रोहरत*** —— ***॥***' (६। ७८) (घ) '***बंस कि रह*** ——' यथा—'***दहइ कोटि कुल भूसुर रोसू॥***' (१२६। ४) '***जिमि द्विजद्रोह किए कुल नासा॥***' (४। १७। ८) क्योंकि एक तो वे अपने तेजसे बलवान् हैं, दूसरे भगवान् उनका अपमान सह नहीं सकते। उनके लिये तो अवतार लेते हैं—'***बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।***' तब भला विप्रद्रोही उन्हें कब भावेगा। यथा—'***मोहि न सोहाइ बिप्रकुल द्रोही॥***' (३। ३३। ८)

नोट—२ आशय यह है कि आत्मस्वरूप जान लेनेपर वह सदा आत्मासे ही रमण करता हुआ उसीमें तृप्त और उसीमें सन्तुष्ट रहता है। आत्माके अतिरिक्त उसे ज्ञानयोग या कर्मयोगरूप साधनोंकी अपेक्षा नहीं रहती। उसके धारण-पोषण और भोग आदि सब कुछ आत्मा ही है। उसके लिये अब कुछ भी कर्तव्य नहीं है। रह गयी यह बात कि कोई मनुष्य बिना कर्मके रह ही नहीं सकता तो उसके सम्बन्धमें यह जान लेना चाहिये कि उसके द्वारा जो भी कर्म देखनेमें आते हैं वे सब कामना और संकल्पसे रहित होनेसे वे भुने हुए बीजके समान शुभाशुभ फलदाता नहीं हो सकते, यही बात भगवान्ने गीतामें कही है—'**यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः। ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं**——॥' (४। १९)

वे कर्म उसके द्वारा बिना ही किसी अपने प्रयोजनके (यदि वह प्रवृत्तिमार्गवाला है तो लोकसंग्रहके लिये और निवृत्ति मार्गवाला है तो जीवन-यात्रा-निर्वाहके लिये) केवल चेष्टामात्र ही क्रिया होती है। (श्रीशाङ्करभाष्य) उसके कर्म प्रकृतिसे पृथक् आत्मस्वरूपके अनुसन्धानपूर्वक किये जानेके कारण वे कर्म संकल्पसे रहित होते हैं। (प्रकृति और प्रकृतिके गुणोंके साथ आत्माकी एकता करके समझनेका नाम 'संकल्प' है। (श्रीरामानुजभाष्य) ऐसा पुरुष कर्ममें प्रवृत्त हुआ भी कुछ नहीं करता; क्योंकि वह नित्यस्वरूपमें ही तृप्त है; वह कर्मके नामपर ज्ञानका ही अभ्यास करता है। यथा '**त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः। कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥**' (गीता ४। २०) इस श्लोकसे '***कर्म कि होहिं***' का भाव और भी स्पष्ट हो जाता है। श्लोक २१—२३ भी इसीसे सम्बद्ध हैं, पाठक देख लें।

प० प० प्र०—स्वरूपानुभूति होनेपर कर्म हो ही नहीं सकता। यह भाव लेनेसे यहाँ विसंवादी भ्रम है, असत्य है। कारण कि '**न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्**' यह सिद्धान्त है। सत्य सिद्धान्त है—'**हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।**' (गीता)

* परद्रोही की होहि निसंका—भा० दा० रा० गु० द्वि०। 'परद्रोही कि होहिं निःसंका'—(का० रा० गौ०)।
† रूप बिनु चीन्हे—(का०)।

अन्य सब अनुमान सत्य हैं।

गौड़जी—'*कर्म कि होहिं——।*'—कर्म करनेवाली इन्द्रियाँ हैं और अहंकार (जो भीतरी इन्द्रिय है) समस्त कर्मोंकी जिम्मेदारी लेता है। मोहवश जीवात्मा अपनेको अहंकार मानकर सब कर्मोंका करनेवाला समझता है।—'**अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते।**'(गीता) अहंकारसे विमोहित आत्मा अपनेको कर्त्ता मानता है। जब स्वरूपज्ञान हो जाता है जिसे आत्मज्ञान भी कहते हैं तो उसे यह पता चल जाता है कि आत्मा कुछ करता-धरता नहीं है। यहीं कर्मका अन्त हो जाता है। इसी प्रकार आत्मानुभवके बाद फिर कर्म नहीं होता।

करु०—अपने स्वरूपको चीन्हनेपर वह शुभाशुभ कर्म नहीं कर सकता किन्तु स्वस्वरूप चीन्ह लेनेसे शुभाशुभ कर्म किंचित् कालके वशसे होते रहते हैं पर उस पुरुषको परिणाममें दोनों काम नहीं उगैहें जैसे भूना हुआ अन्न।—'**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥**'

☞'*कामी पुनि कि रहहिं अकलंका।*'—यहाँ कहा कि कामी कलंकी होता है और आगे कहते हैं कि '*बिनु अघ अजस कि पावइ कोई।*' इससे जनाया कि कामी होना पाप है। यही बात पूर्व भी कही है, यथा—'*परद्रोही परदाररत परधन पर अपवाद। ते नर पाँवर पापमय देह धरे मनुजाद॥*'

वै०—१ '*कबहुँ कि दुख——।*' भाव कि ईश्वर सबका हितकर्ता और अखण्ड ज्ञान तथा सदा आनन्दरूप है, यदि जीव वही है तो इसको दुःख हो नहीं सकता; पर जीवोंको शुभाशुभकर्मोंका भोग दुःख नित्य देख पड़ता है। अतः जीव ईश्वर कैसे हो सकता है? जैसे पारसमणि जिसके पास है वह दरिद्र नहीं हो सकता। २—'*परद्रोही कि होहिं——*' भाव कि ईश्वर स्वतन्त्र है, निर्विकार है, जीव क्रोधवश सबका द्रोही है, अतः सविकार होनेसे सदा शंकित रहता है। इसी तरह कामविकारवश कलंकित रहता है। तब वह ईश्वर कैसे हो सकता है? ३—'*बंस कि रह——*' इति। जीव लोभ और अभिमानवश होकर ब्राह्मणकी हितहानि करता है इससे नाश होता है। भाव कि यद्यपि जीव ईश्वरांश है तथापि आत्मरूप भूल गया, मायावश जीवत्व धारणकर देहाभिमानी हुआ और पाप-पुण्य करके दुःख-सुख भोगता है; यदि वह आत्मरूपको पहिचाने तो पाप-पुण्य कैसे कर सके? क्योंकि स्वरूप चीन्हनेपर कर्म होते नहीं; तब जो जीव कर्म करता है वह ईश्वरके समान कैसे हो सकता है?

खर्रा—'*कर्म कि होहिं——।*' भाव कि जैसा ऋषिने ज्ञानका स्वरूप कहा है वैसा स्वरूप जान लेनेपर फिर क्या कर्मसाधन वेष-तपस्यादि रहता? अर्थात् यह कथनमात्र ही उनका जान पड़ता है, तादृश-विश्वास नहीं है।

काहू सुमति कि खल सँग जामी। सुभ गति पाव कि परत्रियगामी॥ ४॥
भव कि परहिं परमात्मा* बिंदक। सुखी कि होहिं कबहुँ हरिनिंदक†॥ ५॥
राजु कि रहै नीति बिनु जाने। अघ कि रहहिं हरिचरित बखाने॥ ६॥
पावन जस कि पुन्य बिनु होई। बिनु अघ अजस कि पावै कोई॥ ७॥

अर्थ—क्या दुष्टके संगसे किसीमें सुन्दर बुद्धि उत्पन्न हुई है? क्या परस्त्रीगामी शुभ (उत्तम) गति पा सकता है?॥ ४॥ क्या परमात्माको जाननेवाले एवं प्राप्त भवमें पड़ते हैं? क्या भगवान्‌की निन्दा करनेवाले कभी सुखी होते हैं?॥ ५॥ क्या बिना नीति जाने राज्य कर सकता है? क्या भगवान्‌के चरित गानेसे पाप रह सकते हैं?॥ ६॥ क्या बिना पुण्यके पवित्र यश होता है? क्या बिना पापके कोई अपयश पाता है?॥ ७॥

नोट—१ '*काहू सुमति कि खल सँग जामी*', यथा—'*बिनसै उपजै ज्ञान जिमि पाइ कुसंग सुसंग॥*' (कि० १५), '*को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मते चतुराई॥*' (२। २४। ८) (ख) '*सुभ गति पाव कि परत्रियगामी*' यहाँ कहा और पूर्व कहा था कि '*कामी पुनि कि रहहिं अकलंका।*' कामी

* 'परमातमबिंदक' † 'परनिंदक'—(का०)।

और परत्रियगामी एक ही हैं। इसमें पुनरुक्ति नहीं है। क्योंकि दो स्थानपर दो पृथक्-पृथक् बातें कह रहे हैं। पहलेसे कामीका इहलोक बिगड़ना और दूसरेसे परलोक नष्ट होना कहा। कलंक इस लोकमें और अशुभगति परलोकमें। इस तरह लोक-परलोक दोनोंका नष्ट होना कामसे दिखाया।

२ (क) *'भव कि परहिं——'* अर्थात् नहीं पड़ते, वे तो प्रभुके ही हो जाते हैं—*'जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई।'* हरिनिन्दक सुखी नहीं होते; क्योंकि *'हर गुरनिंदक दादुर होई। जनम सहस्र पाव तन सोई।'* (१२१। २३) और *'जनमत मरत दुसह दुख होई।'* (ख) *'बिंदक'* शब्द मानसमें दो बार आया है और इसी प्रसङ्गमें। एक तो दोहा १०५ (४) में *'परम साधु परमारथ बिंदक'*, दूसरे यहाँ। विन्दक=प्राप्त करनेवाला, जाननेवाला, ज्ञाता। यह संस्कृत भाषाका शब्द है। '**क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं——**।'(२। ४। १७) यहाँ देखनेकी बात यह भी है कि दोनों जगह दूसरे चरणमें *'हरिनिंदक'* शब्द भी है।

३—नीति-बिना राज्य नहीं रहता—*'राज नीति बिनु——'* आ० २१ (८) देखिये। हरिचरित तो पापनाशक है—*'समन पाप संताप सोक के।'* (१। ३२। ५) तब उसके कहनेपर पाप कब रह सकता है?

४—*'पावन जस कि पुन्य बिनु होई।'* भाव कि यश अपावन भी होता है। कुकर्मसे या पापसे जो यश कमाया जाय वह पावन नहीं है। जैसे रावणादिका यश। इसी भावसे लक्ष्मणजीका व्यङ्ग परशुरामप्रति इस प्रकार है—*'लखन कहेउ मुनि सुजस तुम्हारा। तुम्हहि अछत को बरनइ पारा॥'* गर्भके बालकोंको मारना पावन यश नहीं है। अतः कहा कि *'पावन जस'* पुण्यकर्मसे ही होता है।

नोट—५ ☞*'कबहुँ कि दुख सब कर हित ताके'* इत्यादिका भाव कि जीवमें ये सब गुण-अवगुण देखनेमें आते हैं। खलसंगसे दुर्बुद्धि, परतियगामी होनेसे नरकगामी, परमात्मचिंतनसे भवपार, हरिनिन्दा करनेसे दुःखी, अनीतिवान् होकर राज्यभ्रष्ट, हरिगुणगान करके निष्पाप, पुण्य करके यश और पाप करके अपयशका भागी होता दिखायी देता है। ईश्वरमें ये कोई बातें नहीं हैं। तब जीव-ईश्वर समान कैसे? जैसे ये सब सिद्धान्त अटल हैं, अबाधित हैं, वैसे ही *'जीव कि ईस समान'* यह सिद्धान्त भी निर्वाद और अटल जानना चाहिये।

लाभु कि किछु हरिभगति समाना। जेहि गावहिं श्रुति संत पुराना॥ ८॥
हानि कि जग एहि सम किछु भाई। भजिय न रामहि नर तनु पाई॥ ९॥

अर्थ—क्या हरिभक्तिके समान कोई दूसरा लाभ है कि जिसे श्रुति, संत और पुराण गाते हैं?॥ ८॥ भाई! क्या संसारमें इसके समान कोई हानि है कि मनुष्यशरीर पाकर श्रीरामचन्द्रजीका भजन न करें?॥ ९॥

नोट—१ हरिभक्तिके समान कोई लाभ नहीं है, यथा—*'लाभ कि रघुपतिभगति अकुंठा।'* (६। २६। ८) इससे यह पाया गया कि यह सर्वोपरि लाभ है सही, पर इसके न करनेसे कोई हानि नहीं है, चाहे हम करें या न करें। उसपर कहते हैं कि *'हानि कि जग——।'* अर्थात् ऐसा न समझो। मनुष्यतन पाकर यदि रामभजन न किया तो इसके समान लोक-परलोकमें कोई हानि नहीं है। भक्ति सर्वोपरि लाभ है और भक्तिरहित होना सर्वोपरि हानि है। २—*'लाभ कि किछु'* और *'हानि कि जग'* कहनेका भाव कि सुत, वित, नारि, परिवार, संपत्ति, ऐश्वर्य, प्रताप, तेज, ज्ञान, योग, जप, तप, दान, स्वर्ग, अपवर्ग इत्यादि सबकी प्राप्ति भी इसके सामने कुछ भी लाभ नहीं है और न इन सबका नाश भी 'भक्तिहीनता' के समान हानि नहीं है। इससे जनाया कि बिना भक्तिके समस्त सांसारिक लाभ भी व्यर्थ ही हैं। ४३। (७) से दोहा ४४ तक जो भाव कहे गये हैं सब इन अर्धालियोंमें हैं। ८४ (४-५) भी देखिये।

अघ कि पिसुनता* सम कछु आना। धर्म कि दया सरिस हरिजाना॥ १०॥
एहि बिधि अमिति जुगुति मन गुनऊँ। मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ॥ ११॥

---

* पिसुन तामस—(ना० प्र०), 'बिना तामस'—(का०)

'परनिंदा सम अघ न गिरीसा'आगे कहा है और यहाँ 'अघ कि पिसुनता सम कछु आना' कहा है। चुगली भी परनिन्दा ही है। इस तरह दोनों वाक्योंमें कोई विरोध नहीं है।

अर्थ—चुगलखोरीके समान क्या कोई और पाप है। हे हरिवाहनजी! क्या दयाके समान कोई धर्म है॥ १०॥ इस प्रकार मैं (जीव और ईश्वरके भेदकी पुष्टताके प्रमाण योग्य) अगणित युक्तियाँ मनमें विचार करता रहा और मुनिका उपदेश आदरसे न सुनता था। (अर्थात् वे बकते जाते थे, मैं उनके वचनपर कान न देता था न उनके सम्मुख दृष्टि ही रखता था)॥ ११॥

पं०—*'पिसुनता'* पद चुगलीका वाचक और निन्दाका उपलक्षक है। २—*'एहि बिधि अमिति——'* इति। यहाँतक अष्टादश युक्तियोंसे सिद्ध किया कि जैसे सबोंमें बिना कारणके कार्य नहीं होता वैसे ही द्वैत बिना क्रोध नहीं होता, इत्यादि। इसी प्रकारकी युक्तियाँ विचारता रहा।

नोट—☞ *'मैं अपने मन बैठ तब करउँ बिबिध अनुमान'* उपक्रम और *'एहि बिधि अमिति जुगुति मन गुनऊँ'* उपसंहार है। २० चरणोंमें ये युक्तियाँ वा अनुमान हैं। *'एहि बिधि'* और *'अमिति'* पद देकर जनाया कि सब अनुमान वा युक्तियाँ इसी प्रकारकी थीं पर इतनी ही न थीं, न जाने कितनी युक्तियाँ उस समय मनमें आयीं, उनकी गिनती नहीं कर सकता, केवल यही बता सकता हूँ कि इसी प्रकारकी थीं।

चौपाइयोंमें १८ युक्तियाँ हैं। दोहेमें जो कहा कि *'जीव कि ईस समान'* उसीकी पुष्टि इन युक्तियोंसे करते हैं। इसीसे दोहेमेंकी गणना नहीं की। १८ युक्तियाँ देकर जनाया कि अठारहों पुराणोंका सार-सिद्धान्त यही है।

पुनि पुनि सगुन पक्ष मैं रोपा। तब मुनि बोलेउ बचन सकोपा॥ १२॥
मूढ़ परम सिष देउँ न मानसि। उत्तर प्रति उत्तर बहु आनसि॥ १३॥
सत्य बचन बिस्वास न करही। बायस इव सबही ते डरही॥ १४॥

अर्थ—मैंने बारम्बार सगुणोपासनाका ही पक्ष स्थापित किया। तब मुनि कुपित होकर कोपयुक्त वचन बोले॥ १२॥ अरे मूढ़! मैं तुझे परम सिद्धान्त, सर्वोत्तम शिक्षा देता हूँ, तू उसे नहीं मानता और बहुत-सा उत्तर-प्रत्युत्तर देता है॥ १३॥ तू सत्य (सिद्धान्त) वचनपर विश्वास नहीं करता, कौवेकी तरह सभीसे डरता है॥ १४॥

नोट—१ (क) पहले जब उत्तर-प्रत्युत्तर किया तब क्रोधके चिह्नमात्र शरीरपर देख पड़े थे, अब *'पुनि पुनि'* सगुण पक्ष ही सिद्ध करनेपर वे कोपयुक्त हो गये, इससे जनाया कि पहिले कुछ उत्तर देते जाते थे। यद्यपि पूर्ण रीतिसे उत्तर न बन पड़ता था और अब अपने पक्षमें परास्त हो गये, कोई उत्तर नहीं दे सके, तब उसके बदले क्रोध किया। क्रोधका बल परुष वचन है, अतः *'बोलेउ बचन सकोपा'* से कठोर वचन बोलना जनाया। (ख) यहाँ उत्तरोत्तर क्रोधकी वृद्धि दिखायी है, यथा—*'मुनि तन भए क्रोध के चीन्हा'* फिर *'बारंबार सकोप मुनि करहिं निरूपन ग्यान'* और अब कठोर वचन कह डाला जो क्रोधका पूर्ण बल है—*'बोलेउ बचन सकोपा।'* (ग) यहाँ मुनिके मन, वचन और तन तीनोंसे क्रोध दिखाया। *'उपज क्रोध ग्यानिन्ह के हिये'* यह मन, *'बोलेउ बचन सकोप'* यह वचन और *'मुनि तन भये क्रोधके चीन्हा'* यह तन।

नोट—२ (क) *'परम सिष'* अर्थात् निर्गुणमत अद्वैतज्ञान परमोत्तम शिक्षा है। इससे परम हित है। आगे इसीको *'सत्य बचन'* कहा है। भाव कि निर्गुण-मत ही सत्य है, सगुण सत्य नहीं है; अतः यही परम शिक्षा है। (ख) *'न मानसि'* अर्थात् परम शिक्षाका अनादर करता है, उसे तुच्छ समझता है, उसको अनहित मानता है। (ग) *'आनसि'* का भाव कि बाहरसे प्रमाण ला-लाकर उत्तर दिये हैं, केवल युक्तिहीसे उत्तर नहीं दिये।

वि० त्रि०—*'मूढ़ परम——आनसि'* इति। भुशुण्डिजीने बहुत हठ करके सगुण निरूपण किया और उनके साथ अत्यन्त वाद-विवाद किया, इसलिये मूढ़ कहते हैं। ब्रह्मोपदेश ही परमोपदेश है; उसे मुनिजी दे रहे थे, उसे अवनत मस्तक हो शिरोधार्य करना तो दूर गया, उलटा उनके सिद्धान्तका ही खण्डन करने लगे, उत्तर-प्रत्युत्तर वादी-प्रतिवादीमें होता है, गुरु-शिष्यमें नहीं। *'उतरु देइ सुनि स्वामि रजाई। सो*

सेवक लखि लाज लजाई॥' अतः मुनिजीको क्रोध हुआ।

नोट—३ *'बायस इव सबही ते डरही'* इति। *'छली मलीन कतहुँ न प्रतीती'* यह कौवेका लक्षण है। वचनपर विश्वास नहीं करता, समझता है कि हमारी वस्तु छलसे ठग न लें। किसीने कहा है—**'ईर्षी घृणी त्वसंतुष्टः क्रोधनो नित्य शंकितः। परभाग्योपजीवी च षडेते दुःखभागिनः॥'**

सठ स्वपक्ष तव हृदय बिसाला। सपदि होहि पक्षी चंडाला॥ १५॥
लीन्ह स्राप मैं सीस चढ़ाई। नहिं कछु भय न दीनता आई॥ १६॥

अर्थ—अरे शठ! तेरे हृदयमें अपना बड़ा भारी पक्ष है। तू शीघ्र चाण्डाल पक्षी हो जा॥ १५॥ मैंने शापको सिरपर चढ़ा (शिरोधार्य कर) लिया। उससे न तो मुझे कुछ भय हुआ और न दीनता ही आयी॥ १६॥

नोट—१ (क) *'सठ स्वपक्ष तव हृदय बिसाला'* इति। 'विशाल' इससे कि बहुत हठ कर-करके सगुणपक्ष हो सिद्ध करते रहे और मुनिकी बात न सुनते थे, उलटे उनका खण्डन करते थे, यथा—*'तब मैं निर्गुनमत करि दूरी। सगुन निरूपौं करि हठ भूरी॥'*, *'उत्तर प्रति उत्तर मैं कीन्हा।'*, *'पुनि पुनि सगुन पक्ष मैं रोपा'*, *'तब सुनिहौं निर्गुन उपदेसा'* इत्यादि वाक्य विशालपक्षके सूचक हैं। (ख) हृदयमें 'पक्ष' भरा है, अतः (स्वपक्षके सम्बन्धसे) पक्षी होनेका शाप दिया। कोप बहुत है, यथा—*'बारंबार सकोप मुनि करइ निरूपन ग्यान।'* उसपर भी उत्तर-प्रत्युत्तरसे वह बहुत प्रचण्ड हो गया है, यथा—*'लषन उतर आहुति सरिस भृगुपति कोप कृसानु।'* अतः घोर शाप दिया कि पक्षियोंमें भी चाण्डाल पक्षी हो। पक्षियोंमें कौवा चाण्डाल पक्षी है, यथा—**'काकः पक्षिषु चाण्डालः'** इति चाणक्ये। पुनः, कौवेका शाप इससे दिया कि *'बायस इव सबही ते डरही'* अतः वायस ही हो जा।*

२ *'लीन्ह'''''सीस चढ़ाई'* का भाव कि इष्टदेवका प्रसाद समझकर उसको आदरपूर्वक स्वीकार कर लिया। देवताका पुष्पादि प्रसाद शिरोधार्य किया ही जाता है। प्रभुका प्रसाद समझा, यह आगे के वचनोंसे स्पष्ट है, यथा—*'उर प्रेरक रघुबंसबिभूषन।, कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्ही प्रेम परिच्छा मोरी॥'* इत्यादि। प्रसाद जाना, अतः चाण्डाल पक्षी होनेका शाप सुनकर भी डर न लगा। यदि शाप समझते तो भय होता, यथा—*'नृप सुनि श्राप बिकल अति त्रासा॥'* (बा० १७४। ४) भय लगता तो शापसे व्याकुल होकर मुनिसे दीनतापूर्वक विनती करते। यथा—*'फिरेउ राउ मन सोच अपारा'*, *'त्रसित परेउ अवनी अकुलाई॥'* (बा० १७४। ७। ८) *'अति सभीत नारद पहिं आये। गहि पद आरत बचन सुनाये॥ हरगन हम न बिप्र मुनिराया। बड़ अपराध कीन्ह फलु पाया॥ श्राप अनुग्रह करहु कृपाला॥'* (१। १३९। २-४) शिवश्राप सुनकर त्रास हुआ था, यथा—*'कंपित मोहि बिलोकि अति'* तब गुरुने दीनतापूर्वक शिवजीकी विनती की थी कि शापानुग्रह कीजिये। पर यहाँ भय, दीनता कुछ न आयी। त्रास न होना यह रामभक्तका सहज स्वभाव है, यथा—*'बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा॥'* (४६। ५) भगवान्‌का वानरसेनाको यही उपदेश है कि *'सुमिरेहु मोहि डरपेहु जनि काहू'*—(लं० ११७); अतः शापका सिर चढ़ाना, भयका न होना और न दीनता प्राप्त होना क्रमसे कहे। *'न दीनता आई'* अर्थात् मैंने शापानुग्रहकी विनती भी न की। श्रीशिवजीका वर है ही कि ज्ञान कभी न जायगा अतः काकदेहकी चिन्ता न हुई।

पं०—*'भय न दीनता आई'* यह समझकर कि सहस्र जन्म शिवशापसे लिये तहाँ एक और यह भी सही। वा दुःख-सुख सब भगवत्‌की आज्ञासे जानकर भय क्या करते और किसके दीन होते। वा जन्मके बाद दृढ़ भक्तिकी प्राप्ति इस तनमें जानकर।

---

* करु०—यहाँ मुनिके शापमें एक आशीर्वाद झलकता है। क्योंकि भुशुण्डिजीने जो सगुणब्रह्मका बारम्बार पक्ष किया वह मुनिने कागका पखना करके कहा कि इसी पक्षरूपी पखनासे उड़कर विहंगमार्गसे रामधामको प्राप्त होगा। परमपदकी प्राप्तिके दो मार्ग हैं, एक विहंगमार्ग, दूसरा पिपीलिकामार्ग। तहाँ कर्मकाण्ड, अष्टाङ्गयोग और ज्ञानकाण्डका मोक्ष पिपीलिकामार्ग जानो और उपासना विहंगमार्ग है।—सारांश यह कि तू अपने मतका पक्षी सदा बना रहेगा। (वै०)

दो०—तुरत भएउँ मैं काग तब पुनि मुनिपद सिरु नाइ।
सुमिरि राम रघुबंसमनि हरषित चलेउँ उड़ाइ॥
उमा जे रामचरनरत बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभु मय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥११२॥

अर्थ—तब (मुनिके शाप देते ही) मैं तुरंत काक हो गया। फिर मुनिके चरणोंमें सिर नवाकर और रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामजीका स्मरणकर मैं हर्षपूर्वक उड़ चला। हे उमा! जो श्रीरामचरणानुरक्त हैं, काम-मद-क्रोधरहित हैं, वे जगत्‌को अपने प्रभुमय देखते हैं। तब वे वैर किससे करें?* ॥ ११२॥

नोट—१ (क) शाप था कि *'सपदि होहि'* अतः उसकी पूर्ति दिखायी कि *'तुरत भएउँ।'* शापवश वही शरीर काकशरीर हो गया, शरीर छोड़कर गर्भवास करके पक्षी न होना पड़ा। क्योंकि *'सपदि'* यह वाक्य मिथ्या हो जाता। (ख) *'पुनि'* =तत्पश्चात् एवं दुबारा। क्योंकि जब आये थे तब सिर नवाया था। अब जाते समय फिर सिर नवाया, यह विदाईका प्रणाम है। *'मुनिपद सिरु नाइ'* उपसंहार है और *'देखि चरन सिरु नायउँ॥'* (११०) उपक्रम है। (ग) *'राम रघुबंसमनि'* रामसे निर्गुणब्रह्म न समझ लिया जाय इससे साथ ही *'राम रघुबंसमनि'* कहा अर्थात् शापसे भयभीत होकर उपासना बदल डाली ऐसा कोई न समझे। उपासना दृढ़ बनी रही। (घ) *'भय न दीनता आई'* अतः *'हरषित चलेउँ उड़ाइ'* उस वचनकी पुष्टि यहाँ हुई।

रा० शं०—१ *'मुनिपद सिरु नाइ'* क्योंकि शिवाज्ञा थी कि *'जानेसु संत अनंत समाना।'* २—*'सुमिरि राम'* क्योंकि स्मरणसे अगम भी सुगम हो जाता है, जैसा—*'सुमिरु सनेह सों तू नाम रामराय को। संबर निसंबरको सहाय असहाय को'* इस पदसे स्पष्ट है।†

नोट—२ हर्षित उड़कर चल दिये, इसका कारण दूसरे दोहेमें कहते हैं। *'हरषित चलेउँ उड़ाइ'* तक भुशुण्डिवाक्य है, आगेका दोहा शिववाक्य है। *'निज प्रभुमय देखहिं जगत'* यथा—*'सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना॥'* (२। १३१) *'निज प्रभुमय'* के दो भाव हैं—एक यह कि सबको रामरूप ही देखते हैं, चाहे वह जड़ पदार्थ हो चाहे चेतन। उनको यही देख पड़ता है कि ये हमारे प्रभु ही हैं, उनको सर्वत्र प्रभुका रूप छोड़ और कुछ देख नहीं पड़ता। अतः भयकी जगह कोई है ही नहीं। भा० ११। २९ में भगवान्‌ने यही उद्धवजीसे कहा है कि सब मैं ही हूँ। दूसरे यह कि सब प्राणियोंमें हमारे ही प्रभु विराजमान हैं, वे ही सबके उरके प्रेरक हैं। यही बात आगे कहते हैं।

नोट—३ ईशावास्योपनिषद्‌में इसी प्रकार यह श्रुति है—**'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥'** (६) अर्थात् जो आत्मामें समस्त भूतोंको स्थित देखता है और समस्त भूतोंमें आत्माको देखता है वह किसीसे घृणा नहीं करता।

भा० ११। २९। १२—१९ में विस्तारसे यही कहा है—

'मामेव सर्वभूतेषु बहिरन्तरपावृतम्। ईक्षेतात्मनि चात्मानं यथा खममलाशयः॥

---

* १—प्रभुसे वैर हो नहीं सकता अतः संसारमें उसको किसीसे वैर नहीं होता। जिसे किसीसे वैर-विरोध हो उसे समझ लेना चाहिये कि वह रामचरणानुरक्त अभी नहीं है। २—भगवान्‌के लिये शाप भी सहे, जो कुछ आपत्ति आवे वह भी प्रसन्नतापूर्वक शिरोधार्य करे पर अपनी उपासना न छोड़े। ये उपदेश यहाँ मिलते हैं। ३—पां०-'उमा जे रामचरनरत.........' यह कहकर ज्ञानपक्ष और उपासनापक्षकी गति दिखाते हैं कि उनको क्रोध हुआ और ये प्रसन्नचित्त हैं।

† पं०—१ मुनिसे श्रीरामयश और तत्त्व सुना था अतः प्रणाम किया। वा यह प्रणाम भी एक प्रकारसे तर्क है कि धन्य हैं आप अभेदवादी कि जिनको इतना कोप हुआ। २—रामस्मरण यह कि मेरी उपासना आपने दृढ़ बनाये रखी। हर्ष भगवत्‌की इच्छा समझकर कि—जैसे वे रखें वैसे रहना उचित है, वा मनुष्यदेहसे पृथ्वीपर चलते थे अब आकाशमें उड़ सकेंगे। वा विप्रतनमें अहंकार था, इसमें 'अहंकार' न रहेगा। ३—उड़ चले कि क्रोधमें और शाप न दें।

इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते। सभाजयन्मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः॥
ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके। अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥
नरेष्वभीक्ष्णं मद्भावं पुंसो भावयतोऽचिरात्। स्पर्धासूयातिरस्काराः साहङ्कारा वियन्ति हि॥
विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्। प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥
सर्वं ब्रह्मात्मकं तस्य विद्ययाऽऽत्ममनीषया। परिपश्यन्नुपरमेत्सर्वतो मुक्तसंशयः॥
अयं हि सर्वकल्पानां सध्रीचीनो मतो मम। मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥

(अर्थात्) 'सब प्राणियोंमें और अपनेमें भीतर-बाहर मुझको ही देखे। मैं आकाशवत् सर्वत्र आवरणरहित व्याप्त हूँ। इस प्रकार केवल ज्ञानका आश्रय लेकर जो सब प्राणियोंको मेरा ही रूप मानकर सत्कार करता है, ब्राह्मण, चाण्डाल, चोर, विप्रभक्त, सूर्य, चिंगारी, अक्रूर तथा क्रूरमें समान दृष्टि रखता है वही पण्डित है। बहुत समयतक सबमें मेरी ही भावना करनेसे स्पर्द्धा, असूया, तिरस्कार, अहंकारादि दोष मिट जाते हैं। अपनी हँसी करनेवाले स्वजनोंको, अपनेमें देहबुद्धिको तथा लज्जा छोड़कर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेको भी साष्टाङ्ग दण्डवत् करे। (१२—१६) इस प्रकार सर्वत्र आत्मबुद्धि करनेसे सब कुछ ब्रह्ममय देख पड़ता है (१८) मन, वचन, तनकी समस्त वृत्तियोंसे सबमें मेरी ही भावना करे।'

गीतामें भी कहा है कि यह सब सूत्रमें मणियोंके समान मुझमें पिरोया हुआ है—'**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥**' (७। ७) भाव यह कि ये कार्यावस्था और कारणावस्थामें स्थित मेरे शरीररूप समस्त जड़-चेतन वस्तुमात्र उनमें आत्मरूपसे स्थित मुझ परमेश्वरमें सूत्रमें पिरोये हुए मणियोंकी भाँति पिरोये हुए हैं, अर्थात् मेरे आश्रित हैं '**यस्य पृथिवी शरीरम्॥**' (बृ० उ० ३। ७। ३), '**यस्यात्मा शरीरम्॥**' (श० ब्रा० १४। ५। ६। ५। ३०), '**एष सर्वभूतान्तरात्मापहतपाप्मा, दिव्यो देव एको नारायणः॥**' (सु० उ० ७) इत्यादि श्रुतियोंसे जगत्का शरीररूपमें और ब्रह्मका आत्मरूपमें स्थित होना प्रसिद्ध है। परमपुरुषका शरीर होनेके नाते सब कुछ उनके आत्मरूप परम पुरुषका ही स्वरूप हैं; अतएव सब रूपोंमें परम पुरुष ही स्थित है। इसलिये समस्त शब्दोंसे उसीका वर्णन है। (श्रीरामानुजभाष्यसे)

'जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि॥' (१। ७), ***'सातवँ सम मोहि मय जग देखा॥'*** (३। ३६। ३), ***'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥'*** (४। ३), और इसी काण्डमें पूर्व बहुत लिखा जा चुका है। '**वासुदेवः सर्वमिति**' भी इसी भावसे कहा गया है।

नोट—४ इसी प्रकार जब रुद्राणीने चित्रकेतुको शाप दिया था कि 'तू भगवान् विष्णुके साधुजनसेवित चरणकमलोंके समीप रहने योग्य नहीं है। अतः तू अधम आसुरी योनिको प्राप्त हो। ऐसा होनेसे तू फिर महापुरुषोंका अपराध न करेगा।' (भा० ६। १७। १५), तब उन्होंने उस शापको सादर स्वीकार कर लिया और शापानुग्रहके लिये विनती न की, किंतु स्तुति करके अंतमें यही कहा कि मैं शापमोचनके लिये आपको नहीं प्रसन्न करता, किंतु हे सती! आप जिन मेरे वाक्योंको बुरा मानती हैं उनको क्षमा करें। यह सब भाव ***'लीन्ह श्राप मैं सीस चढ़ाई'*** और ***'पुनि मुनिपद सिरु नाइ'*** कविने कह दिये हैं।

जैसे यहाँ ***'लीन्ह श्राप मैं सीस चढ़ाई'*** कहा है वैसे ही चित्रकेतुने '**प्रतिगृह्णामि ते शापमात्मनोऽञ्जलिनाम्बिके॥**' (भा० ६। १७। १७) कहा है। अर्थात् मैं आपका शाप अपनी अञ्जलिमें ग्रहण करता हूँ। साथ ही यह कहा है कि देवगण मनुष्योंके लिये जो कुछ कहते हैं वह उनके पूर्वकर्मका ही फल होता है। जीव कर्मानुसार सुख-दुःख भोगता है, विवेकहीन हो अपने अथवा दूसरेको कर्ता मानते हैं। मानसके ***'पद सिरु नाइ'*** *और* ***'हरषित चलेउँ'*** में ये भाव भी ग्रहण किये जा सकते हैं, यद्यपि शिवजीने समाधान दूसरी प्रकार ***'निज प्रभुमय—'*** इस तरह किया है।

जैसे चित्रकेतुके इस आचरणसे शिव, रुद्राणी, देवता, ऋषि, इत्यादिको विस्मय हुआ वैसे ही भुशुण्डिजीके इस आचरणसे पार्वतीजीको विस्मय हुआ, यह शिवजीके आगेके समाधानसे स्पष्ट है—***'उमा जे रामचरन***

रत……।' यहाँ शिवजीने सबका समाधान करते हुए कहा है कि—'तुमने अद्भुतकर्मवाले भगवान् हरिके दासानुदास निस्पृह महात्माओंका माहात्म्य देखा। भगवत्-परायण व्यक्तिगण किसीसे नहीं डरते एवं स्वर्ग, नरक और मुक्तिमें समान दृष्टि रखते हैं। परमेश्वरकी लीलासे ही देहधारियोंको देहकी प्राप्ति एवं उसके लिये ही सुख, दुःख, जन्म, मरण और शाप, अनुग्रह हुआ करते हैं……यह महाभाग चित्रकेतु उन्हींका प्रिय अनुचर एवं शान्त और सर्वत्र समदर्शी है। अतएव ऐसे पुरुषोंके कार्योंमें विस्मय न करना चाहिये।'(भा० ६। १७) और यहाँ भी ऐसा ही भाव *'उमा जे रामचरनरत……करहिं बिरोध'* से प्रकट किया है। जैसे वहाँ चित्रकेतुको असुर-योनिमें भक्ति वैसे ही यहाँ भुशुण्डिजीको काकदेहमें भक्ति।

जैसे चित्रकेतुके सम्बन्धमें कहा है—'**नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति। स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः॥**' वैसे ही यहाँ *'जे रामचरनरत' 'निज प्रभुमय देखहिं जगत'* कहा है। जगत् शब्दमें स्वर्ग, नरक, अपवर्ग, सुख-दुःख, जन्म-मरण और शाप-अनुग्रह तथा चर-अचर सभी जीवोंका ग्रहण हो गया। दोनों जगह भवानीको ही संबोधित करके कहा है। आगे श्लोक ३४ में जो कहा कि '**तस्य चायं महाभागश्चित्रकेतुः प्रियोऽनुगः। सर्वत्र समदृक्छान्तो ह्यहं चैवाच्युतप्रियः॥**' (यह महाभाग चित्रकेतु उन्हींका प्रिय अनुचर एवं शान्त और सर्वत्र समदर्शी है……) उसका '**सर्वत्र समदृक्**' मानसका *'निज प्रभुमय देखहिं जगत'* है। शान्तमें *'बिगत काम मद क्रोध'* और *'केहि सन करहिं बिरोध'* आ गया। इस तरह दोनों प्रसंगोंका मिलान हो जाता है।

भा० (४। ७)में जो भगवान्ने कहा है कि '**यथा पुमान्न स्वाङ्गेषु शिरःपाण्यादिषु क्वचित्। पारक्यबुद्धिं कुरुते एवं भूतेषु मत्परः॥**' (५३) जिस प्रकार पुरुष अपने सिर और हाथ आदि अङ्गोंमें कभी 'ये अन्य हैं' ऐसी बुद्धि नहीं करता उसी प्रकार मेरा भक्त सभी प्राणियोंमें अन्य बुद्धि नहीं करता। यह भाव भी *'प्रभुमय देखहिं जगत'* में आ जाता है।

सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूषन। उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन॥ १॥
कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्ही प्रेम परिक्षा मोरी॥ २॥

अर्थ—हे गरुड़! सुनो, (शाप देनेमें) लोमश ऋषिका कुछ भी दोष नहीं, रघुकुलभूषण श्रीरामचन्द्रजी ही सबके हृदयके प्रेरक हैं॥ १॥ दयासागरने मुनिकी बुद्धि भोली करके मेरे प्रेमकी परीक्षा ली॥ २॥

नोट—१ *'सुनु खगेस।'* (क) *'सुनु'* पदसे नये प्रसंगका आरम्भ दिखाया। शाप-प्रसंग हो गया। तदन्तर्गत 'काक-देह' का कारण कहा गया। अब 'काक-देहमें भक्ति कैसे हुई?' यह प्रसंग चला। पुनः, (ख) ऊपर दोहेमें *'उमा जे रामचरनरत……'* यह शिवजीने स्वनिर्मित समाधान कहा अब भुशुण्डिकृत समाधान यहाँ कह रहे हैं, यह जनानेके लिये *'सुनु खगेस'* कहा। पुनः, (ग) भुशुण्डि-गरुड़-संवादके बीचमें शिव-पार्वती-संवाद आ गया था, अतः *'सुनु'* कहकर फिर भुशुण्डिवाक्य कहते हैं।

२ (क) *'उमा जे……'* में शिवजीने बताया कि निरपराध शाप देनेपर भी भुशुण्डिजीने कुछ विरोध न किया। इसका क्या कारण था? और 'ज्ञानी मुनि होकर लोमशजीने शाप कैसे दे दिया?' इसका समाधान स्वयं भुशुण्डिजी आगे करते हैं। (ख) *'नहिं कछु रिषि दूषन……'* इति। भाव कि सुख-दुःख, शाप-अनुग्रह इत्यादिके कर्त्ता जीव नहीं हैं, परमेश्वर ही अपनी मायाके द्वारा इन सबकी सृष्टि करते हैं। मिलान कीजिये चित्रकेतुके वचनोंसे—'**नैवात्मा न परश्चापि कर्त्ता स्यात्सुखदुःखयोः। कर्त्तारं मन्यतेऽप्राज्ञ आत्मानं परमेव च॥ गुणप्रवाह एतस्मिन्कः शापः को न्वनुग्रहः। कः स्वर्गो नरकः को वा किं सुखं दुःखमेव वा॥ एकः सृजति भूतानि भगवानात्ममायया। एषां बन्धं च मोक्षं च सुखं दुःखं च निष्कलः॥**' अर्थ—(हे माता सती!) आप या कोई दूसरा उस सुख-दुःखका कर्त्ता नहीं है। अज्ञानी पुरुष ही अपनेको या अन्यको कर्त्ता मानते हैं। यह संसार गुणोंका प्रवाह है; इसमें शाप या अनुग्रह, स्वर्ग या नरक, सुख या दुःख क्या है? एक परमेश्वर ही सुख-बन्धन-मोक्षादिकी सृष्टि करता है। (भा० ६। १७। १९—२१) शिवजीने भी ईश्वरलीलासे ही इनका प्राप्त होना कहा है। यथा— '**देहिनां देहसंयोगाद् द्वन्द्वानीश्वरलीलया। सुखं दुःखं मृतिर्जन्म शापोऽनुग्रह एव च॥**' (श्लो० २९)

वि० त्रि०—विचार करनेसे दूषणाधिक्य मुनिजीमें ही दिखायी पड़ता है। भुशुण्डिजीकी रुचि जब देख

ली कि निर्गुण ब्रह्मकी ओर नहीं जाती तो उन्हें हठपूर्वक रुचि फेरनेका प्रयत्न करना अनुचित था। यथा—*'अब तुम्ह बिनय मोरि सुनि लेहू। मोहि अनुहरत सिखावन देहू॥'* भुशुण्डिजी कहते हैं कि उसमें ऋषिजीका कुछ भी दोष नहीं था। उनके हृदयमें मेरी परीक्षाके लिये रामजीने ऐसी ही प्रेरणा कर दी।

वै०—*'लीन्ही प्रेम परिछा'* इति। *'मति भोरी'* से जनाया कि मुनि अनन्य रामोपासक थे। प्रभुकी प्रेरणासे उन्होंने सगुणका खण्डन किया।

पं०—*'प्रेम परिछा'* कि निर्गुणतत्त्वज्ञान सुनकर मेरी भक्तिको त्याग करता है या नहीं। किंवा मेरी उपासना-निमित्त कष्ट पानेपर मुझमें प्रेम रखता है या नहीं। *'कृपासिंधु'* का भाव कि निर्गुण-सगुणमें जो मेरी भेद-बुद्धि थी उसके मिटानेके लिये मुझे शाप दिलाया था।

रा० शं०—*'नहिं कछु रिषि दूषन'* इससे ऋषिको निर्दोष किया पर साथ ही *'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन'* से रघुनाथजीपर दोष आता है; अतः उसका निराकरण करनेके लिये *'कृपासिंधु—'* कहा। भगवान् अपने भक्तोंका महत्त्व प्रकट करनेके लिये, भक्ति दृढ़ करनेके लिये, संसारको भवसे तारनेके लिये परीक्षा लेते हैं।

रा० प्र०—*'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन'* से जनाया कि 'मुनिने परवश ऐसा किया। परवशतामें दूषण नहीं। *'कृपासिंधु'* क्योंकि परीक्षामें निर्वाह उन्हींकी कृपासे है।

प० प० प्र०—लोमश मुनिको जो क्रोध हुआ था वह उनका नहीं है। यह शिवजीकी लीला है या श्रीरामजीकी। शिवजीने कहा था कि *'अब जनि करहि बिप्र अपमाना।'* उन्होंने विप्रकी प्रार्थनासे उस शूद्रको मुनिदुर्लभ वर दिया है। यहाँ परीक्षा कर रहे हैं कि वह शूद्र (अब विप्र जिसको पूर्व जन्मकी स्मृति है) शिवाज्ञाका पालन कहाँतक करता है। *'मुनि पद सिरु नाइ हरषित चलेउ'*—बस इससे परीक्षा हो गयी। विप्र (अब काग) ने घोर दण्ड देनेपर भी अपमान नहीं किया, नमन ही किया। अतः अब पल्ला उलट गया।

नोट—३ इस प्रसङ्गमें दोहा ११० *'मेरु सिखर बट छाया—'* से लेकर दोहा ११२ तक बराबर *'मुनि'* शब्दका प्रयोग है—*'मुनि लोमस आसीन'*, *'मुनि कृपाल खगराज'*, *'ब्रह्मज्ञानरत मुनि'*, *'मोहि मुनि समझावा'*, *'मुनीसा'*, *'मुनीस'*, *'मुनि पुनि कहि हरिकथा'*, *'मुनि तन भए क्रोध के चीन्हा'*, *'बार बार सकोप मुनि'*, *'मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ'*, *'तब मुनि बोलेउ बचन सकोपा'* *'पुनि मुनि पद सिरु नाइ।'* यह शब्द बारह बार आया है। इसके पश्चात् मुनिने जब फिर भुशुण्डिजीको बुला लिया उस समयसे बिदाईतक (*'सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई॥'* (११३। ५) से *'करि बिनती मुनि आयसु पाई॥'* (११४। ८) तक) बराबर *'मुनि'* शब्द प्रयुक्त हुआ है—दस बार आया है। बीचमें यहाँ ११३ (१-४) में दो बार *'रिषि'* और दो बार *'मुनि'* आया है। यथा—*'सुन खगेस नहिं कछु रिषि दूषन'*, *'कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी'*, *'मुनि मति पुनि फेरी भगवाना'* और *'रिषि मम महत सीलता देखी।'*

इससे सूचित होता है कि मानसमें ऋषि और मुनि पर्याय माने गये हैं, अथवा श्रीलोमशजी ऋषि और मुनि दोनों हैं। अथवा जब ऋषिके लक्षण देखे गये तब ऋषि कहा, जब मुनिके लक्षण देखे तब मुनि कहा।

मुनि और ऋषिमें यह भेद बताया गया है—जो पहले ऊर्ध्वरेता होकर नियमित भोजन करता है, जिसको किसी भी विषयमें कोई संदेह नहीं है तथा जो शाप और अनुग्रहमें समर्थ और सत्यप्रतिज्ञ है, ऐसा ब्राह्मण *'ऋषि'* माना गया है। यथा—'**ऊर्ध्वरेता भवत्यग्रे नियताशी न संशयी। शापानुग्रहयोः शक्तः सत्यसन्धो भवेदृषिः॥**' (स्कन्दपु० माहे० कुमा० ३। २९६) जो निवृत्तिमार्गमें स्थित सम्पूर्ण तत्त्वोंका ज्ञाता, काम-क्रोधसे रहित, ध्याननिष्ठ, निष्क्रिय, जितेन्द्रिय तथा मिट्टी और सुवर्णको समान माननेवाला है, ऐसे ब्राह्मणको *'मुनि'* कहते हैं यथा—'**निवृत्तः सर्वतत्त्वज्ञः कामक्रोधविवर्जितः। ध्यानस्थो निष्क्रियो दान्तस्तुल्यमृत्काञ्चनो मुनिः॥**' (स्कन्दमाहे० कुमा० ३। २९७)

शाप देनेमें समर्थ ऐसे कि ब्राह्मण तुरंत चाण्डाल पक्षी हो गया। अनुग्रह करनेमें समर्थ ऐसे कि भुशुण्डीजीको अनेक दुर्लभ वरदान दे दिये। इत्यादि लक्षण उनमें ऋषिके हैं ही और मुनिके समस्त लक्षण हैं।

☞*'कारन कवन देह यह पाई'* का उत्तर समाप्त हुआ।

रामचरितसर प्राप्तिके प्रश्नका उत्तर

मन बच क्रम मोहि निज जन जाना। मुनि मति पुनि फेरी भगवाना॥ ३॥
रिषि मम महत* सीलता देखी। रामचरन बिस्वास बिसेषी॥ ४॥
अति बिसमय† पुनि पुनि पछिताई। सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई॥ ५॥

अर्थ—मन, वचन और कर्मसे मुझे अपना दास जान लिया तब भगवान्‌ने फिर मुनिकी बुद्धि फेर दी॥ ३॥ ऋषि मेरी महान् (बहुत बड़ी) सहनशीलता और श्रीरामजीके चरणोंमें बहुत विश्वास देखकर अत्यन्त विस्मित होकर बारम्बार पछताकर मुनिने मुझे आदरपूर्वक बुला लिया॥ ४-५॥

नोट—१ *'मन बच क्रम मोहि निज जन जाना'* इति। मन, वचन और कर्मके उदाहरण—मन—*'सठ स्वपक्ष तव हृदय बिसाला।', 'निर्गुन मत मम हृदय न आवा', 'मैं अपने मन बैठ तब करउँ बिबिध अनुमान॥ १११॥'* से *'एहि बिधि अमिति जुगुति मन गुनऊँ। मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ॥',* तक; *'रामभगति जल मम मन मीना।'*

वचन—*'मूढ़ परम सिख देउँ न मानसि। उत्तर प्रति उत्तर बहु आनसि।', 'पुनि पुनि सगुन पक्ष मैं रोपा' 'तब मैं निर्गुन मत करि दूरी। सगुन निरूपउँ करि हठ भूरी॥, उत्तर प्रति उत्तर मैं कीन्हा।'*

कर्म—(महत्-शीलता)—*'लीन्ह साप मैं सीस चढ़ाई। नहिं कछु भय न दीनता आई॥*
तुरत भयउँ मैं काग तब पुनि मुनिपद सिरु नाइ।'

२ ☞ *'निज जन जाना'* से जनाया कि जिनमें ये गुण हों वही निजदास हैं (ख) *'पुनि फेरी'* से पूर्व सिद्धान्त *'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन'* को पुष्ट किया। अर्थात् उन्होंने भोरी की, उन्होंने फिर जैसी-की-तैसी कर दी, न निर्गुणपक्ष रह गया न क्रोध। (ग) *'महत सीलता'* पूर्व जो कहा है कि *'सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई'* (९०। ६), वह अपनेहीमें चरितार्थ दिखाते हैं। ब्राह्मणगुरु परम सुशील थे। यथा—*'एक सूल मोहि बिसर न काऊ। गुर कर कोमल सील सुभाऊ॥'* (११०। २) उनकी सेवा की, यद्यपि कपटसे ही, तो भी उसका फल मिला कि स्वयं सुशील हो गये।

रा० शं०—भुशुण्डीजीने अपने परम सुशील गुरुसे द्रोह किया, उसके लिये आजतक उनको पश्चात्ताप है। उसीका फलस्वरूप लोमशद्वारा यह शाप है। वैसे ही लोमशजीको इनकी सुशीलता देख अपने क्रोधका पछतावा है। *'कर्म प्रधान बिस्व करि राखा……'* यह भी सिद्ध हो गया।

नोट—*'बिस्वास बिसेषी।'* भाव कि विश्वास तो पूर्वसे ही था, जैसा *'सगुन ब्रह्म अवराधन मोहि कहहु भगवान।'* (११०) *'पुनि मैं कहेउँ नाइ पद सीसा। सगुन उपासन कहहु मुनीसा॥', 'रामभगति जल मम मन मीना।', 'तब सुनिहौं निर्गुन उपदेसा।',* प्रार्थनासे न माने तब भुशुण्डिजीने उत्तर-प्रत्युत्तर किये—*'तब मैं निर्गुन मत करि दूरी। सगुन निरूपउँ करि हठ भूरी॥'* मुनिके कोप करनेपर भी *'पुनि पुनि सगुनपक्ष मैं रोपा'* इत्यादि उद्धरणोंसे स्पष्ट है। चाण्डाल पक्षी हो जानेपर भी वह पक्ष न छोड़ा, न दीन हुए; अतः 'विशेष' कहा।

पं० रा० व० श०—*'अति बिसमय'* इति। भागवतापराध तथा अपना ही कसूर समझकर कि प्रश्न उसका क्या था और मैं कहता क्या था; उसपर भी निरपराधको शाप दिया, डरे और पुनः-पुनः पश्चात्ताप हुआ।

पं०—*'अति बिसमय'* कि मैंने इसकी बुद्धिकी थाह न पायी, यह तो बड़ा गम्भीर और गुणवान् है।

मम परितोष बिबिधि बिधि कीन्हा। हरषित राममंत्र तब‡ दीन्हा॥ ६॥
बालक रूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहि पुनि कृपानिधाना॥ ७॥
सुंदर सुखद मोहि अति भावा। सो प्रथमहि मैं तुम्हहि सुनावा॥ ८॥

अर्थ—अनेक प्रकारसे मेरा सन्तोष किया। फिर हर्षित होकर मुझे राममन्त्र दिया॥ ६॥ दयासागर मुनिने मुझे बालकरूप रामका ध्यान बताया॥ ७॥ सुन्दर और सुख देनेवाला यह ध्यान मुझे बहुत अच्छा

* सहनसीलता—(का०)। † बिसमै—(भा० दा०) ‡ मोहि दीन्हा—(का०)।

लगा। वह ध्यान मैंने प्रथम ही आपको सुनाया है। (अर्थात् अब दुहरानेकी आवश्यकता नहीं)॥ ८॥

पं० रा० व० श०—'*मम परितोष*......' इति। न जाने क्या कारण है, हमारे कुछ समझमें नहीं आता कि हमारी बुद्धिमें क्यों यह आ गया कि हम तुम्हें अद्वैत ज्ञानी बनावें। देखो, सर्व जगत्‌के नियन्ता परमेश्वर ही हैं, वही सबके हृदयके प्रेरक हैं। उनकी ही प्रेरणासे ऐसा हुआ। अब तुम कोई चिन्ता न करो, अब मैं तुम्हें परम गोप्य, सर्वोपरि सिद्धान्त सगुण ब्रह्म श्रीरघुनाथजीकी उपासना बताता हूँ। शाप देकर फिर बड़ी अनुग्रह की, अतः कृपानिधान कहा।

पं०—'*मम परितोष*......।' अर्थात् कहा कि बड़ोंके आगे इतना हठ करना योग्य नहीं; इसीसे लोकशिक्षा-हेतु तुमको दण्ड किया। सगुण-निर्गुणमें भेद नहीं, तुम भेद मानते थे; उसके निवारणार्थ यह हुआ। काक-देहकी चिन्ता न करो, होनहार ही ऐसा था, तुम्हें इसी देहमें अत्यन्त महत्त्वकी पदवी मिलनी है।

रा० प्र०—यहाँ गुरु-शिष्यमें कौन जीता? गुरु जीते। शिशोपनिषद्‌में बाल ही रूप ब्रह्मनिरूपण बालक परमहंसरूप है, ऐसा कहा है। गुरुने शिष्यकी रुचि रखते हुए भी अपना ही मत और पक्ष जमाया।

करु०—यहाँ व्यङ्गसे ऐसा जान पड़ता है कि मुनिके हृदयमें भुशुण्डिसे वाद-विवाद करनेसे श्रीरामस्वरूप आ गया, शुद्धाद्वैत मत पलटकर शुद्ध विशिष्टाद्वैती हो गये।

नोट—१ '*हरषित राममंत्र तब दीन्हा*' इति। (क) '*हरषित*' से जनाया कि पूर्व जो मैंने तर्क-वितर्क, उत्तर-प्रत्युत्तर किये थे उसका खेद अब मनमें नहीं रह गया। अब वात्सल्यभाव उदय हो गया, मुझे गोप्य रामोपासनाका अधिकारी जान हर्षपूर्वक राममन्त्र देकर शिष्य बनाया। (ख) राममन्त्रसे षडक्षर तारक ब्रह्मसंज्ञक राममन्त्र अभिप्रेत है; क्योंकि भगवान् व्यास और भगवान् शङ्कर आदिने इसीको 'परं जाप्य' कहा है। [मन्त्र तथा बीज एवं उनकी व्याख्या श्रीरामपूर्वतापिन्युपनिषद्‌के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ खण्डमें विस्तारसे है। बाबा श्रीहरिदासाचार्यजीका भाष्य देखिये। राममन्त्र तो अगणित हैं पर रामोपासक षडक्षर तारक ब्रह्म-संज्ञक मन्त्र देते हैं। यह वैदिक मन्त्र है।] (पं० रा० व० श०) (ग) '*तब दीन्हा*' से इस राममन्त्रको दुष्प्राप्य जनाया। (रा० प्र०)

२ '*बालक रूप राम कर ध्याना।*......' इति। (क) मन्त्र देकर उसका अर्थ तथा किस प्रकार जप करना चाहिये, यह बताकर जिसका मन्त्र है उसीका ध्यान बताना चाहिये। ध्यानमें उपासना और भाव (सम्बन्ध) भी आ जाते हैं। श्रीभुशुण्डि (विप्र) जीने जो पूछा था—'*सगुन ब्रह्म अवराधन मोहि कहहु भगवान।*' (११०) यह सब मन्त्र और ध्यानमें आ गया। (ख) '*बालक रूप राम*'—अन्य अवस्थाओंके चरित्रोंमें धर्माचरण है, धर्मके अनुसरणकी शिक्षा है। बालकरूपमें ही माताको अपना अद्भुत अखण्ड रूप दिखाया था, बालकरूपमें ही चिरंजीवी मुनि उनके मुखमें प्रविष्ट हुए थे और मायाका दर्शन उसीमें कराया गया था, इस रूपमें बहुत रङ्गके चरित होते हैं, योगियों तथा महायोगीश्वर श्रीशङ्करजीका इष्ट है, इत्यादि कारणोंसे मुनिने '*बालक रूप राम*' का ध्यान बताया। यह ध्यान पूर्ण माधुर्यमय है, इसमें ऐश्वर्यका लेश नहीं।

सनत्कुमारसंहितान्तर्गत श्रीरामस्तवराजमें दास्यभाव शान्तरसका ध्यान यह है—'**अयोध्यानगरे रम्ये रत्नमण्डपमध्यगे। स्मरेत्कल्पतरोर्मूले रत्नसिंहासनं शुभम्॥ १०॥ तन्मध्येऽष्टदलं पद्मं नानारत्नैश्च वेष्टितम्। स्मरेन्मध्ये दाशरथिं सहस्रादित्यतेजसम्॥ ११॥ पितुरङ्कगतं राममिन्द्रनीलमणिप्रभम्। कोमलाङ्गं विशालाक्षं विद्युद्वर्णाम्बरावृतम्॥ १२॥ भानुकोटिप्रतीकाशं किरीटेन विराजितम्।**'

रा० शं०—जबसे मुनिने निर्गुणपक्षका निरूपण उठाया तबसे '*कृपानिधान*' विशेषण न दिया था जब सगुण ध्यान बताया और उन्हींका मन्त्र दिया तब '*कृपानिधान*' कहा। [सगुणब्रह्म अवराधना पूछनेपर और यहाँ उनकी कृपासे प्राप्ति होनेपर '*कृपानिधि*' विशेषण दिया। 'कृपा करके' कहिये इसके लिये वहाँ '*कृपानिधि*' विशेषण दिया था; यथा—'*तब मैं कहा कृपानिधि तुम्ह सर्बज्ञ सुजान। सगुन ब्रह्म अवराधन मोहि कहहु भगवान।*' (११०) और यहाँ 'कृपा करके बताया' इससे यहाँ '*कृपानिधान*' कहा]।

नोट—३ *'सुंदर सुखद'* पहले दिखा आये हैं।' (७६। ३) *'नृप मंदिर सुंदर सब भाँती'* से *'रूपरासि नृप अजिर बिहारी……।'* (७७। ८) तक यह *'सुंदर सुखद'* ध्यान है। सुखद=बुद्ध्यादिको विश्रामदाता।

मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानस तब भाखा॥ ९॥
सादर मोहि यह कथा सुनाई। पुनि बोले मुनि गिरा सुहाई॥१०॥
रामचरितसर गुप्त सुहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा॥११॥
तोहि निज भगत राम कर जानी। ताते मैं सब कहेउँ बखानी॥१२॥

अर्थ—मुनिने मुझे कुछ समयतक वहाँ रखा तब रामचरितमानसका वर्णन किया॥ ९॥ आदरपूर्वक यह कथा सुनाकर फिर मुझसे ये सुन्दर वचन बोले॥ १०॥ हे तात! सुन्दर गुप्त रामचरितसर मैंने शिवजीकी कृपासे पाया॥ ११॥ तुम्हें श्रीरामजीका खास भक्त जाना इससे हे तात! मैंने सब बखानकर तुमसे कहा॥ १२॥

नोट—१ *'मुनि मोहि कछुक काल……'* इति। कुछ काल अपने पास रखा, क्योंकि बिना कुछ कालतक रहे पूरा रामचरितमानस कोई सुन-समझ नहीं सकता। और यदि चरितमें संशय आदि होते हैं तब तो उसके निवारणार्थ बहुत कालतक रहकर कथा-सत्सङ्ग करना पड़ता है। यथा—*'तबहिं होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा॥'* (६१। ४) भुशुण्डिजीको मोह-संशय तो है नहीं, इससे *'कछुक काल'* ही लगा। २—*'सादर कथा सुनाई'*—सादर अर्थात् अनुरागपूर्वक, मुझपर वात्सल्य रखते हुए कहा। वात्सल्य है इसीसे *'सब'* विस्तारसे कहा। यथा—*'ताते मैं सब कहेउँ बखानी'*, नहीं तो सब कथा बखानकर न कहते।

☞ गरुड़जीके *'रामचरित सर सुंदर स्वामी। पायेहु कहाँ कहहु नभगामी'*—इस प्रश्नका उत्तर यहाँ दिया। *'रामचरितसर गुप्त सुहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा॥'*, ऐसा मुनिने मुझसे कहा। मुनिको शिवजीसे प्राप्त हुआ और मुनिसे मुझे प्राप्त हुआ। गौड़जी तथा कुछ टीकाकारोंका मत है कि *'रामचरितसर'* से यहाँ सररूपकसहित समस्त रामचरितमानस ही अभिप्रेत है। (६४। ७) देखिये। यहाँ शङ्का होती है कि 'बालकाण्डमें तो कहा था कि *'सो सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। रामभगत अधिकारी चीन्हा॥'* और यहाँ कहते हैं कि लोमशजीसे हमें मिला। यह परस्पर विरुद्ध भासित होता है।' इसका समाधान यह है कि दोनों वाक्योंका समन्वय इस प्रकारसे हो जाता है कि शिवजीने लोमशजीके द्वारा भुशुण्डिजीको दिया। इसी प्रकार शिवजीने गोस्वामीजीको दिया—श्रीनरहर्यानन्दजीद्वारा।*

पं० प० प्र०—बालकाण्डके *'सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। रामभगति अधिकारी चीन्हा॥'* (३०। ४) का ही उपसंहाररूपमें यहाँ विकास किया गया है। *'अधिकारी चीन्हा'* अर्थात् परीक्षा करके पहिचान लिया। परीक्षाकी विधि यहाँ बतायी। शिवजीने ही लोमशजीकी बुद्धिमें प्रवेशकर परीक्षा ली और उन्हींके मुखसे स्वयं रामचरितमानसका प्रवचन किया। भुशुण्डिजीने रामचरितमानस केवल एक बार यहीं सुना। दो बार सुनते तो गरुड़जीसे वैसा कह देनेमें संकोच न करते।

श्रीनंगे परमहंसजीका मत है कि 'लीला-चरित गुप्त नहीं कहा जाता है; वह तो प्रकट है, उसके कहनेकी मनाही नहीं है।' पर दोहा १२८ में शिवजीके *'मति अनुरूप कथा मैं भाषी। जद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी॥ तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तब मैं रघुपति कथा सुनाई॥ यह न कहिय सठही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि॥'* इत्यादि। १२८। १—५) इस वचनसे इसका समानाधिकरण कैसे होगा

* १-बालकाण्डमें शिवजीसे प्राप्ति और यहाँ लोमशसे प्राप्ति कही। इससे जान पड़ता है कि लोमशजीसे सुनकर फिर शिवजीसे भी सुना, या कल्पान्तरभेद हो (रा० प्र०)। २—वहिर्लापिकासे यह समझ पड़ता है कि महादेवजीने लोमशरूप होकर अपने आशीर्वादकी परीक्षा ली। जब अति दृढ़ जाना तब श्रीरामचन्द्रने उसी रूपसे उपदेश किया, आशीर्वाद दिया और श्रीरामचरितमानस सुनाया (रा० प्र०) ३—मनमें प्रेरणा करके दिलाया इससे शिवजीका ही देना ठहरा (खर्रा)। ४—'संभुप्रसाद……' में भाव कि शम्भु लोमशरूप हैं। इसीसे शम्भुको अध्यारोपण करके शम्भुद कहा। किंतु ये लोमशजी ही हैं; किसी कालमें शिवप्रसादसे पाया वही अब इन्होंने भुशुण्डीको दिया; यही शिवजीका देना है (खर्रा)।

यह उन्होंने नहीं लिखा है। इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि श्रीरामचरित गोप्य रहस्य है। अधिकारीको ही सुनाना चाहिये। अधिकारीके लक्षण (१२८। ६—८) में बताये हैं तथा पूर्व भी यत्र-यत्र लिखे गये हैं।

रामभगति जिन्ह के उर नाहीं। कबहुँ न तात कहिय तिन्ह पाहीं॥ १३॥
मुनि मोहि बिबिधि भाँति समुझावा। मइँ सप्रेम मुनिपद सिरु नावा॥ १४॥
निज कर कमल परसि मम सीसा। हरषित आसिष दीन्हि मुनीसा॥ १५॥
रामभगति अबिरल उर तोरे। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे॥ १६॥

अर्थ—हे तात! जिनके हृदयमें श्रीरामभक्ति नहीं है उनसे कभी भी (यह रामचरितसर) न कहना॥ १३॥ मुनिने मुझे अनेक प्रकार समझाया (तब) मैंने प्रेमपूर्वक मुनिके चरणोंमें माथा नवाया॥ १४॥ अपने करकमलसे मेरा मस्तक स्पर्शकर अर्थात् सिरपर हाथ फेर हर्षित होकर मुनीश्वर लोमशजीने मुझे आशीर्वाद दिया॥ १५॥ अब मेरी कृपासे अविचल परिपूर्ण भक्ति सदैव तेरे हृदयमें बसेगी॥ १६॥

नोट—१ *'कबहुँ न तात कहिय तिन्ह पाहीं'* इति। *'कबहुँ न'* का भाव यह 'सर' तो रामभक्त तथा इसके अधिकारियोंको छोड़ दूसरेसे किसी हालतमें न कहना। २—*'बिबिधि भाँति।'* यहाँ एक *'भाँति'* कहकर फिर *'बिबिधि भाँति'* पद दे दिया क्योंकि आगे इसे फिर ग्रन्थके अन्तमें कहना है। वह सब इस पदसे जना दिये। [पुनः, *'बिबिध भाँति'* जैसे कि एक तो अनधिकारीके सामने कहना उत्तम पदार्थका फेंकना है, दूसरे मतवादियोंसे विवाद करनेसे खेद होगा; इससे गुप्त रखना ही भला है (वै०)। पुनः, रा० प्र० के मतानुसार विविध भाँतिसे कृपा-छोहयुक्त मित्रसम्मित आदि वाणीसे समझना अभिप्रेत है।] ३—*'मैं सप्रेम मुनिपद सिरु नावा'* यह रामचरित सगुणध्यान इत्यादिकी प्राप्तिकी कृतज्ञता सूचित की। गुरु आदिको प्रणाम करनेमें प्रेम-पुलकादि होने ही चाहिये नहीं तो प्रणाम व्यर्थ हो जाता है, यह कई बार लिखा जा चुका है।

'महाप्रलयमें नाश नहीं, आश्रममें आते ही मोहनाशके कारणका' उत्तर।

दो०—सदा रामप्रिय होहु* तुम्ह सुभगुन भवन अमान।
कामरूप इच्छा मरन ज्ञान बिराग निधान॥
जेहि आश्रम तुम्ह बसब पुनि सुमिरत श्रीभगवंत।
ब्यापिहि तहँ न अबिद्या जोजन एक प्रजंत॥ ११३॥

अर्थ—तुम सदा श्रीरामजीको प्रिय और श्रीरामजी तुमको प्रिय होंगे, तुम सदा शुभगुणधाम, मानरहित और कामरूप होगे, मृत्यु तुम्हारी इच्छापर रहेगी (अर्थात् जब तुम शरीर छोड़ना चाहोगे तभी शरीर छूटेगा अन्यथा तुम्हारी मृत्यु न होगी। तुम ज्ञान-वैराग्य-निधान होगे और जिस आश्रममें तुम श्रीभगवान्‌का स्मरण करते हुए निवास करोगे वहाँ एक योजनतक अविद्या माया न व्यापेगी॥ ११३॥

नोट—१ *'सदा रामप्रिय होहु तुम्ह'*—भुशुण्डिजीको श्रीरामजी प्रिय थे ही। उन्हींके लिये तो शाप स्वीकार करना पड़ा। उनको यही लालसा थी कि *'रामचरनबारिज जब देखौं। तब निज जन्म सफल करि लेखौं।'* अब वे श्रीरामजीके भी प्रिय हो गये। यथा—*'रघुनायक के तुम्ह प्रिय दासा॥'* (९४। २)

खर्रा—*'कामरूप'* कहकर रूपान्तर होनेकी शक्ति भी दी। इच्छा-मरणसे प्रलयमें भी नाशसे रहित किया। गुणभवनसे गुणोंका निवास और निधान-(अर्थात् खानि-) से दूसरोंको भी निकालकर देनेकी भी शक्ति दी। (रा० प्र०) शुभगुण-भवन होनेसे अभिमानका भय होता है अतः यह कहकर फिर *'अमान'* कहा कि तुमको यह विकार न होगा।

नोट—२ *'जेहि आश्रम तुम्ह बसब'* अर्थात् जहाँ भी तुम्हारा निवास होगा। चाहे जहाँ तुम रहो।

* होब—(का०)।

'सुमिरत श्रीभगवंत' कहकर स्मरण करना आवश्यक जनाया। श्रीभगवंतसे जनाया कि ऐश्वर्य सदा मनमें धारण किये हुए स्मरण करना। [पुनः, श्रीभगवंत—भाव कि भगवान् तो बहुतोंकी संज्ञा है; पर श्रीरघुनाथजी केवल भगवान् ही नहीं वरन् श्रीभगवान् हैं, सब भगवानोंकी शोभा इनमें है। ये सबमें श्रेष्ठ हैं जैसे कि चालीस-पचांस महन्तोंमें एक श्रीमहन्त होता है वैसे ही सब भगवानोंमें ये श्रीभगवंत हैं। अथवा, 'श्रीभगवंत' से श्रीसीतासंयुक्त भगवान् रामचन्द्रजीको जनाया। (पं० रा० व० श०)] ☞ यह आशीर्वाद आश्रमके विषयमें है और यह गरुड़जीके *'प्रभु तव आश्रम आये मोर मोह भ्रम भाग।' 'कारन कवन'* इस प्रश्नका उत्तर है। आगे भुशुण्डिजीके लिये आशीर्वाद है—*'काल कर्म गुन दोष सुभाऊ'* इत्यादि।

रा० प्र०—यहाँ लोमशजीके वरदान और उसपर भी ब्रह्मवाणीका प्रमाण है कि अविद्या माया न व्यापेगी और पूर्व ८९ (३) में कहा है कि *'तब ते मोहि न ब्यापी माया। जब ते रघुनायक अपनाया॥'* इत्यादि। भाव यह है कि यहाँ परोक्ष है और वहाँ प्रत्यक्ष, अथवा 'लोमशद्वारा कार्यका निरोध रहा और रघुनाथजीद्वारा कारणका निरोध हुआ।'—[यहाँ अविद्या माया न व्यापनेका वरदान है और श्रीरामजी विद्यामायासे भी अभय कर देते हैं।] यहाँ आकाशवाणी है, आगे प्रत्यक्ष न होकर वही वर दिया। ११४। (५—७) देखिये।

पं०—*'जोजन एक प्रजंत।'* चारों वृक्षोंके तले बैठकर जो तुम ध्यानादिक चार कर्म प्रतिदिन करोगे उसके प्रभावसे चार-चार कोसतक माया निकट न आवेगी।

काल कर्म गुन दोष सुभाऊ। कछु दुख तुम्हहिं न ब्यापिहि काऊ॥ १॥
रामरहस्य ललित बिधि नाना। गुप्त प्रगट इतिहास पुराना॥ २॥
बिनु श्रम तुम्ह जानब सब सोऊ। नित नव नेह रामपद होऊ॥ ३॥
जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरिप्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥ ४॥

अर्थ—काल, कर्म, गुण, दोष और स्वभाव (जनित) कुछ भी दुःख तुमको कभी न व्यापेंगे॥ १॥ अनेक प्रकारके सुन्दर रामरहस्य जो इतिहास और पुराणोंमें गुप्त वा प्रकट हैं, वह सब भी तुम बिना परिश्रमके जानोगे और तुम्हारा नित्य नवीन अनुराग श्रीरामजीके चरणोंमें होगा अर्थात् उत्तरोत्तर बढ़ता ही जायगा॥ २-३॥ तुम जो इच्छा मनमें करोगे हरिकृपासे वह कुछ भी दुर्लभ न होगी अर्थात् सब मनोरथ पूर्ण होते रहेंगे॥ ४॥

☞ *'तुम्हहिं न ब्यापत काल अति कराल कारन कवन'* का यहाँ उत्तर है। *'काल कर्म……' 'काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं॥'* (२१) तथा *'हरिमाया कृत दोष गुन……॥'* (१०४) और *'मायाकृत गुन अरु दोष अनेक॥'* (४१) देखिये। 'रामरहस्य' पूर्व लिखा जा चुका है। रा० प्र० ने यहाँ मानसभरके रामरहस्य एकत्र दिये हैं। *'बिनु श्रम'* अर्थात् पढ़नेकी जरूरत नहीं, स्वतः प्राप्त हो जायगा।

रा० शं०—अविरल रामभक्ति बसनेमें *'प्रसाद अब मोरे'* कहा और इच्छापूर्तिके लिये *'हरिप्रसाद'* कहा। *'हरि'* का आश्रय लिया क्योंकि जानते हैं कि बिना उनके निर्वाह कठिन है। वे देख चुके हैं कि भस्मासुरको जो वरदान दिया गया था उसका निर्वाह भगवान्‌हीने किया। इसीसे तुरंत आकाशवाणी हुई।

सुनि मुनि आसिष सुनु मतिधीरा। ब्रह्मगिरा भइ गगन गँभीरा॥ ५॥
एवमस्तु तव बच मुनि ज्ञानी। यह मम भगत करम मन बानी॥ ६॥
सुनि नभगिरा हरष मोहि भएऊ। प्रेम मगन सब संसय गएऊ॥ ७॥

अर्थ—हे धीरबुद्धि! सुनिये। मुनिका आशीर्वाद सुनकर आकाशमें गम्भीर ब्रह्मवाणी हुई॥ ५॥ 'हे ज्ञानी मुनि! तुम्हारा वचन ऐसा ही हो अर्थात् जो तुमने आशीर्वाद दिया है वैसा ही होगा, यह कर्म, मन और वचनसे मेरा भक्त है॥ ६॥ आकाशवाणी सुनकर मुझे हर्ष हुआ, मैं प्रेममें मग्न हो गया, सब संदेह जाता रहा॥ ७॥

नोट—१ *'सुनि मुनि आसिष……'* इति। (क) *'सुनि'* क्योंकि ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त हैं, सर्वत्र हैं, यथा—*'कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं' 'हरि ब्यापक सर्वत्र समाना'* (१। १८५)। ब्रह्मगिरा अर्थात् आकाशवाणी

जो हुई वह ब्रह्मकी थी। (ख) *'गँभीरा'* इति। गम्भीरसे जनाया कि ऐसी गहरी हुई कि मैं भी कानसे सुन सकूँ। *'गँभीरा'* में शोक-संदेह-हरण और सुखदका भी भाव है। यथा *'गगनगिरा गंभीर भइ हरनि शोक संदेह॥'* (१। १८६)...... *'गगन ब्रह्मबानी सुनि काना।'* पंजाबीजी लिखते हैं कि 'यहाँ गम्भीरता यह है कि मुनिको ज्ञानी कहा और मुझे भक्त। तात्पर्य कि ज्ञानी और भक्त दोनों समान प्रिय हैं, किंतु भक्त ज्ञानीसे भी अधिक प्रिय हैं।' इस तरह गम्भीरसे गूढ़ आशय भरी हुई भी जनाया।

२—*'एवमस्तु तव बच मुनि ज्ञानी।......'* इति। मुनिकी वाणी सत्य होती है। यथा—*'मुनि कइ गिरा सत्य भइ आजू।'* (४। २८। ९) उसपर भी ब्रह्मवाणीने उसका समर्थन 'एवमस्तु' कहकर किया, अतः वह सब परम सत्य हुई।

नोट—३ (क) ☞किस कारण काकदेह हुई इसका उत्तर लोमश-शापपर समाप्त हुआ। तत्पश्चात् 'रामचरितसर कहाँ पाया? आश्रममें आते ही मोह क्यों दूर हो गया? कराल काल क्यों नहीं व्यापता?' इन सबका मिश्रित उत्तर दोहा ११३ (३) से प्रारम्भ होकर यहाँपर समाप्त होता है। अर्थात् मुनिके प्रसादसे चरित मिला और अन्य सब बातें मुनिके आशीर्वाद तथा भगवान्‌के आशीर्वाद (एवमस्तु) से हुईं। (ख)—*'हरष मोहि भएऊ'* का कारण कि भगवान्‌ने मुझे अपना भक्त स्वीकार किया और मुनिके सब आशीर्वाद अभीसे निस्संदेह सफल कर दिये।

☞ यहाँतक तीनके आशीर्वाद भक्तिके सम्बन्धमें हुए—

१ शिवजी—*पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरे। रामभगति उपजिहि उर तोरे॥*

२ लोमशजी—*रामभगति अबिरल उर तोरे। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरे॥*

३ ब्रह्मगिरा—*यह मम भगत करम मन बानी।*

प्रथमका फल यह हुआ कि रघुनायक लीला करते, गुण श्रवण करते—*'सुनत फिरौं हरिगुन अनुबादा'* कीर्तन करते—*'रघुपति जस गावत फिरउँ।'*—यह नवधा भक्ति हुई। दूसरेका फल कि *'अबिरल भक्ति'* सदा 'बसेगी' अर्थात् मन-वचन-कर्म तीनोंसे भक्त होंगे। इसीकी पुष्टि तीसरेसे हुई। अविरलभक्ति होनेसे जब-जब अवतार होता है, तब-तब *'बरष पाँच तहँ रहौं लुभाई।'* अन्तमें प्रभुने जब वरदान दिया तब कोई माया कभी न व्यापी। दर्शनकी लालसा मुनिके आशीर्वादसे पूरी हो गयी। इसी अभिलाषासे इनके पास आये थे—*'सोइ उपदेस कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखउँ रघुराया॥'* (१११। १०) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'मुनिके आशीर्वादसे पराभक्ति हुई, पर जीवबुद्धि बनी रही; इसीसे प्रभुकी शरण हुए और प्रभुने भक्तिका वर दिया तब आत्मरूपमें अचल अनुराग हुआ। अब भक्तिकी परिपूर्णता हुई।'

पं०—*'सब संसय'* क्या हैं? यह कि मैंने मुनिकी बहुत अवज्ञा की थी, साधु-अवज्ञा कल्याणका नाशक है—*'साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी॥'* कहीं इसी विचारसे मेरे संतोषनिमित्त तो मुनिने ऐसा नहीं कहा। ब्रह्मगिरासे सत्यताकी प्रतीति हुई।

करि बिनती मुनि आयसु पाई। पदसरोज पुनि पुनि सिरु नाई॥ ८॥
हरष सहित एहि आश्रम आएउँ। प्रभु प्रसाद दुर्लभ बर पाएउँ॥ ९॥
इहाँ बसत मोहि सुनु खग ईसा। बीते कलप सात अरु बीसा॥ १०॥
करौं सदा रघुपति गुनगाना। सादर सुनहिं बिहंग सुजाना॥ ११॥

अर्थ—मुनिकी विनती करके और उनकी आज्ञा पाकर उनके चरणकमलोंमें बारम्बार सिर नवाकर हर्षसहित मैं इस आश्रममें आया। प्रभु श्रीरामजीकी कृपासे मैंने कठिन दुष्प्राप्य वर पाया॥ ८-९॥ हे पक्षिराजजी! सुनिये। मुझे यहाँ वास करते हुए २७ कल्प बीत गये॥ १०॥ मैं (यहाँ) सदा आदरपूर्वक श्रीरघुनाथजीका गुणगान करता हूँ और चतुर पक्षी उसे सादर सुनते हैं॥ १०॥

नोट—१ (क) *'करि बिनती'* यह कि ऐसी ही कृपा बनाये रखियेगा। (रा० प्र०) फिर दर्शन करता

रहूँगा, दूर रहनेपर स्नेह, छोह न छोड़ियेगा, *'बालक जानि करब नित नेहू'* इत्यादि। (ख) *'मेरु सिखर बट छाया मुनि लोमस आसीन। देखि चरन सिर नाएउँ॥'* (११०) उपक्रम है और *'करि बिनती मुनि आयसु पाई। पदसरोज पुनि पुनि सिरु नाई। हरष सहित एहि आश्रम आएउँ॥'* (११४। ८-९) उपसंहार है। (ग) *'आयसु पाई'*—कहीं जाय तो आज्ञा लेकर वहाँसे चले, यह शिष्टाचार है और यहाँ तो मुनिने पूर्व चल देनेपर स्वयं सादर बुलाया था, यथा—*'अति बिसमय पुनि पुनि पछिताई। सादर मुनि मोहि लीन्ह बोलाई॥'* अतः आयसु माँगकर चलना यह मुनिका आदर करना है—*'निज निज गृह गए आयसु पाई॥'* (४७। ८) देखो। *'पुनि पुनि'* अत्यन्त कृतज्ञता तथा प्रत्युपकारका असामर्थ्य जनाता है। पुनः, *'पुनि पुनि सिरु नाई'* क्योंकि अभिलाषासे कहीं अधिक अनुग्रह हुआ।

२—*'हरष सहित एहि आश्रम……'* इति। (क) *'हरष सहित'* अर्थात् कृतार्थ होकर। (ख) *'एहि आश्रम'* से जान पड़ता है कि यह आश्रम इन्होंने पूर्व ही देख रखा था, इनको यह परम रमणीक और भजन करने योग्य जान पड़ा था। अतः लोमशजीके पाससे सीधे यहाँ आये। (ग) *'प्रभु प्रसाद दुर्लभ बर पाएउँ'*—भाव कि ऐसा वर किसी प्रकार भी पुरुषार्थ करने, अनेक साधनोंमें पच-पच मरनेसे प्राप्त नहीं हो सकता; एकमात्र प्रभुके परमप्रसादसे ही मिल सकता है।

नोट—३ इसके बाद मुनिके आशीर्वादका चरितार्थ दिखाते हैं—

	चरितार्थ
रामभगति अबिरल उर तोरें। बसिहि सदा प्रसाद अब मोरें॥ सदा रामप्रिय होहु……	१ *'करउँ सदा रघुपति गुनगाना……'* से *'पुनि उर राखि राम सिसुरूपा……'* तक
'जेहि आश्रम तुम्ह बसब……' से *'कछु दुख तुम्हहिं न ब्यापिहि काऊ'* तक	२ *इहाँ बसत मोहि सुनु खग ईसा। बीते कलप सात अरु बीसा॥*
जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥	३ *'निज प्रभु दरसन पायेउँ……'* *'प्रभु प्रसाद दुर्लभ बर पाएउँ'*

४—जो मुनिने कहा था कि *'जेहि आश्रम तुम्ह बसब पुनि सुमिरत श्रीभगवंत'* उसका चरितार्थ *'करौं सदा रघुपति गुन गाना'* से जनाया।

पं० रा० व० श०—*'बीते कलप सात अरु बीसा'* इति। आजकल जो संकल्प पढ़ा जाता है उसमें वर्तमान कलियुग को २८ वें कल्पका कलियुग कहते हैं, यथा—**'अष्टाविंशतितमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे।'** इससे ज्ञात होता है कि सम्भवतः इसी कल्पमें गरुड़जी भुशुण्डिजीके पास गये थे। महाप्रलयमें भी नाश न होनेका कारण बताया कि भगवान् लोमशके वरदानसे ऐसा होता है। प्रलयके समय अविद्याकृत सब पदार्थोंका नाश होता है, यहाँ एक योजनपर्य्यन्त अविद्या नहीं है, अतः इनका नाश नहीं होता*।

वि० त्रि०—*'इहाँ बसत……सात अरु बीसा'* इति। भाव यह कि रामचरितसरकी प्राप्ति भुशुण्डिजीको लोमशऋषिसे हुई, अर्थात् इसके पूर्वके रामावतारकी कथा मुनिजीने भुशुण्डिजीको सुनायी, उसके बाद भुशुण्डिजी नीलगिरिपर आये। वहाँ सत्ताईस कल्प बीते। उसके बाद गरुड़जी आये। उनको उन्होंने वह कथा सुनायी। उसी कथाको शिवजीने पार्वतीसे कहा। उसी संवादको याज्ञवल्क्यजीने भरद्वाजजीसे कहा। उसी संवादको गोस्वामीजी कह रहे हैं। फलतः गोस्वामीजी उन रामावतारोंकी कथाएँ कह रहे हैं जिन्हें हुए कम-से-कम सत्ताईस कल्प हुए और वाल्मीकिजीने इस कल्पके रामावतारकी कथा कही है। अतः वाल्मीकीय रामायण और रामचरितमानसके कथा-भागमें अन्तर न पड़ना ही आश्चर्य है।

रा० प्र०—*'करौं सदा रघुपति गुन गाना'* से गुणगानकी अन्य सब कर्मोंसे प्रधानता जनायी। इसमें परोपकार भी है। 'सुजान' से जनाया कि ये सब पक्षके ज्ञानी, योगी और परमहंस आदि हैं।

---

* करु०—प्रलय पाँच प्रकारके हैं। नित्य, युगान्त, नैमित्तिक, आत्यन्तिक और महाप्रलय। इन्हींको पाँच प्रकारके कल्प कहते हैं। यहाँ २७ कल्प नैमित्तिक कल्प हैं जो ब्रह्माके एक-एक दिन पूरा होनेपर होते रहते हैं। महाकल्प वा महाप्रलय वह है जो ब्रह्माकी १०० वर्षकी आयु पूरी होनेपर होता है।

जब जब अवधपुरी रघुबीरा। धरहिं भगतहित मनुज सरीरा॥ १२॥
तब तब जाइ रामपुर रहऊँ। सिसु लीला बिलोकि सुख लहऊँ॥ १३॥
पुनि उर राखि राम सिसु रूपा। निज आश्रम आवौं खगभूपा॥ १४॥

अर्थ—जब-जब रघुवीर श्रीरामचन्द्रजी अवधपुरीमें भक्तोंके कल्याणके लिये मनुजशरीर धारण करते हैं*॥ १२॥ तब-तब मैं श्रीरामजीकी पुरीमें जाकर रहता और शिशुलीला देखकर आनन्द प्राप्त करता हूँ॥ १३॥ फिर, हे पक्षिराज! बालरूप श्रीरामको हृदयमें धरकर मैं अपने आश्रममें आता हूँ॥ १४॥

नोट—'*उर राखि राम सिसु रूपा*—' से जनाया कि शिशु-चरितके बाद चला आता हूँ। ये पाँच वर्ष बराबर लगातार रहता हूँ।

कथा सकल मैं तुम्हहिं सुनाई। काग देह जेहि कारन पाई॥ १५॥
कहेउँ तात सब प्रस्न तुम्हारी। राम भगति महिमा अति भारी॥ १६॥

अर्थ—जिस कारण मैंने काकशरीर पाया वह सब कथा मैंने आपको सुनायी॥ १५॥ हे तात! मैंने आपके सब प्रश्नोंके उत्तर कहे। रामभक्तिकी महिमा अत्यन्त भारी है॥ १६॥

नोट—१ काकदेह पानेके कारणकी कथा प्रधान है, इसीके अन्तर्गत अन्य सब प्रश्नोंके उत्तर आ जाते हैं। अत: प्रथम '***काग देह जेहि कारन पाई***' कहकर तब यह कहा कि '***कहेउँ तात सब प्रस्न तुम्हारी।***' अर्थात् उसीमें सब आ गये। प्रश्नोंके उत्तर यथास्थान प्रकरण देकर लिखे जा चुके हैं। २—'***सब निज कथा कहउँ मैं गाई।***' (९५। ४) उपक्रम है और '***कहेउँ तात सब***—' उपसंहार। लगभग २० दोहोंमें यह प्रसङ्ग कहा गया है। आगे श्रीरामभक्तिकी महिमा कहते हुए शुष्क ज्ञानका निरास करते हैं।

☞ गरुड़जीने ज्ञानको विशेष मान रखा है, यह बात उनके प्रश्नके शब्दोंसे प्रकट है। वे प्रश्नके प्रारम्भमें भुशुण्डिजीको पहले ज्ञाननिधान कहकर तब भक्त कहते हैं; यथा—'***ज्ञान बिरति बिज्ञान निवासा। रघुनायक के तुम्ह प्रिय दासा॥***' तथा अन्तमें काल न व्यापनेका कारण '***ज्ञान प्रभाउ कि जोगबल***' यही समझते हैं। अतएव भुशुण्डिजीने भी आदि और अन्तमें ज्ञानादिका निरास कर भक्तिको प्रधान और सर्वसुखका कारण प्रतिपादन किया है—आदिमें '***बिरति बिबेक जोग बिग्याना। सब कर फल रघुपति पद प्रेमा। तेहि बिनु कोउ न पावै क्षेमा॥***' (९५। ५-६) यह कहा और अन्तमें भी उसी भक्तिकी महिमा कहकर प्रसङ्गको समाप्त करते हैं। इसी तरह आगे भी ज्ञान और भक्तिके विषयमें प्रश्न करते हुए गरुड़जीने ज्ञानको प्रथम कहा है—'***ज्ञानहि भगतिहि अंतर केता***' और उत्तरमें भुशुण्डिजी उसको उलट देते हैं—'***भगतिहि ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा।***'

(भक्ति-महिमा)

दो०—ताते यह तन मोहि प्रिय भएउ रामपद नेह।
निज प्रभुदरसन पाएउँ गए सकल संदेह॥
भगतिपक्ष हठ करि रहेउँ दीन्हि महारिषि साप।
मुनि दुर्लभ बर पाएउँ देखहु भजन प्रताप॥ ११४॥

अर्थ—मुझे यह शरीर इससे प्रिय है कि इसमें मुझे श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें स्नेह हुआ, मैंने अपने प्रभुका दर्शन पाया और मेरे सब सन्देह दूर हो गये। हठ करके मैं भक्तिपक्षमें दृढ़ रहा जिससे महर्षिने मुझे शाप

---

* १—रा० प्र०—'रघुबीर..........' अर्थात् सनातन द्विभुज-भूपरूप मनुजशरीर धरते हैं। अर्थात् भावमें मनुष्योंके बीच भूमिमें प्रकट होते हैं। रामपुर—श्रीअयोध्याजी—'पहुँचे दूत रामपुर पावन'। २—'रघुबीर धरहिं मनुज सरीरा' से स्पष्ट करते हैं कि जब साकेतसे अवतार होता है तब; क्योंकि रघुवीररूपसे उसी लोकमें निवास रहता है।—विशेष ७५—२ देखिये। 'भगतहित मनुजसरीर' के भाव पूर्व आ चुके हैं।

दिया। (अन्तमें) मुनियोंको भी जो दुर्लभ है वह वरदान मैंने पाया—यह भजनका प्रताप देखिये॥ ११४॥

खर्रा—*'ताते—'*, यथा—*'जेहि सरीर रति राम सों सोइ आदरहिं सुजान।'* (दो० १४२) यहाँ काक-तन प्रिय होनेके तीन कारण कहते हैं—१ रामपदमें स्नेह हुआ, २—निज-प्रभुका दर्शन पाया, और ३—सब सन्देह गया। ये तीनों (बातें) इसी देहमें प्राप्त हुईं।

पं० रा० व० श०—*'भगतिपक्ष हठ करि रहेउँ—भजन प्रताप'* इति। भाव कि जो भक्तिमें दृढ़ रहते हैं उनको ही ऐसा लाभ होता है कि ऐसे महर्षिसे हठ करनेपर, वाद-विवाद करनेपर भी हानिके बदले परम लाभ हुआ। शाप उलटकर आशीर्वाद हो गया। यह भक्तिका माहात्म्य है इसमें गिरनेकी शङ्का कदापि नहीं।

नोट—श्रीमद्भागवतमें भी भगवान्‌की स्तुति करते हुए श्रीनारदादि मुनियों तथा ब्रह्मा-शिवादि देवताओंने भी भक्तिकी महिमा और ज्ञानकी न्यूनता कही है। यथा—**'येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः। आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥ तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः। त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥'** (१०। २। ३२-३३) अर्थात् आपके भक्तोंसे भिन्न अन्यान्य लोग जो अपनेको मुक्त मानकर अभिमानवश आपकी भक्ति नहीं करते उनकी बुद्धि भलीभाँति शुद्ध नहीं होती। अतएव वे आपके श्रीचरणोंकी अवहेलना करनेके कारण वे यदि बड़ी तपस्या और साधनाका कष्ट उठाकर किसी प्रकार ऊँचे-से-ऊँचा पद भी पा जायँ तो भी वहाँसे गिर जाते हैं। किन्तु हे प्रभो! जो आपके निज भक्त हैं, जिन्होंने आपके चरणोंमें अपनी सच्ची प्रीति जोड़ रखी है, वे कभी भी उन ज्ञानाभिमानियोंकी भाँति अपने पथसे नहीं गिरते। वे तो बड़े-बड़े विघ्नोंके सिरपर पैर रखकर निर्भय विचरते हैं, कोई भी विघ्न उनके मार्गमें रुकावट नहीं डाल सकता, क्योंकि आप स्वयं उनके रक्षक हैं।

इससे भारी विघ्न और क्या हो सकता है कि विप्र-शरीरसे चाण्डाल और वह भी चाण्डाल पक्षीकी देहमें उतार दिये गये। फिर भी उनको *'भय न दीनता आई॥'* फल तो प्रत्यक्ष आपने देखा। 'माया, काल, कर्म, गुण, स्वभाव' इत्यादि सभीसे सदाके लिये निर्भय कर दिये गये।

रा० प्र०—भजनका प्रभाव यह कि बाधक भी साधक हो गया, *'भगतनके साधक हैं तेई॥'* मुनिने शाप भी दिया पर वर जो मिला वह मुनियोंको भी दुर्लभ है। (लोमशजीको भी वह सुख प्राप्त नहीं है जो मुझे है।)

जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥ १॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥ २॥

अर्थ—जो ऐसी भक्तिको (कि जिसके प्रतापसे शाप भी उलट गया और दुर्लभ आशीर्वाद मिला, यह प्रभाव जिसका प्रकट है) जान-बूझकर छोड़ देते हैं और केवल ज्ञानके लिये परिश्रम करते हैं, वे जड़ घरमेंकी कामदगौको त्यागकर दूधके लिये मदार खोजते फिरते हैं॥ १-२॥

वि० त्रि०—*'असि भगति'* अर्थात् जो शापको भी मुनिदुर्लभ वरमें परिणत करनेवाली, सब सुखोंकी खानि और ज्ञान-वैराग्यकी जननी है, ऐसी भक्तिको। भाव यह कि जबतक भगवद्भक्ति न हो, श्रीरामपदमें प्रेम न हो, तबतक कोई कल्याण नहीं हो सकता और प्रेम हो जानेपर कोई कल्याण रुक भी नहीं सकता, बिना प्रार्थनाके सब कल्याण अपने-आप उपस्थित होते हैं और अकल्याण भी कल्याणरूपमें परिणत होते हैं।

'जानि परिहरहीं'—सर्वकल्याणका त्याग और भक्तिका त्याग एक वस्तु है। कोई भी प्रज्ञावान् जान-बूझकर कल्याणका परित्याग नहीं कर सकता। जान-बूझकर जिसने कल्याणका परित्याग किया, उसका दोष बिना जाने परित्याग करनेवालेसे कहीं बढ़कर है। बिना जाने कल्याणका त्याग करनेवाला जानते ही उसका ग्रहण कर लेगा और जान-बूझकर त्याग करनेवालेके पुनः ग्रहणकी सम्भावना भी नहीं है, अतः जान-बूझकर भक्तिके परित्याग करनेवालेका कभी भी कल्याण नहीं हो सकता।

नोट—१ *'जानि'* का भाव कि जो नहीं जानते वे क्षम्य हैं। पर जो जानते हुए भी ऐसी भक्तिको

छोड़ते हैं वे *'जड़'* हैं। जड़ोंमें चेतनता नहीं होती, न बुद्धि आदि। *'जड़'* कहकर उन्हें कलिमलग्रसित विमूढ़ जनाया।

नोट—२ *'केवल'* का भाव कि भक्तिसंयुक्त ज्ञान हो तो हर्ज नहीं, केवल शुष्क ज्ञान जिसमें भक्तिका लेश नहीं, उसके ही विषयमें यह दृष्टान्त है। ज्ञान रामभक्ति-संयुक्त हो तब तो वह ज्ञान शोभित ही है—***'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू॥'***

वि० त्रि०—*'केवल ज्ञान'* इति। भाव यह है कि बिना उपासनाके ऋतम्भराप्रज्ञा ही नहीं होती। वह सत्य अर्थका प्रकाश करती है, इसीलिये इस बुद्धिका नाम ऋतम्भरा है। पहिले उपासनासे ईश्वरमें चित्त एकाग्र होता है, तब उस समय केवल ईश्वर-शब्द, ईश्वर-अर्थ और ईश्वर-ज्ञान मात्र चित्तमें रह जाता है। फिर धीरे-धीरे ध्यान करनेवाला और ध्यान भी बेपता हो जाता है, केवल ईश्वर अर्थमात्र शेष रहता है, तब सच्चा ज्ञान ईश्वरका होता है। इस अवस्थावाली बुद्धिको ऋतम्भरा कहते हैं सो बिना प्रेमके ईश्वरमें चित्त एकाग्र ही नहीं हो सकता और बिना एकाग्र हुए ऋतम्भराप्रज्ञा न होगी और बिना ऋतम्भराके ईश्वरका सच्चा ज्ञान हो नहीं सकता; इसलिये कहते हैं कि केवल ज्ञान श्रम है।

सगुण ब्रह्ममें चारों प्रकारकी समाधि होती है—सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार। भगवान्‌का स्थूलरूप विराट् है, अत: उसमें सवितर्क और निर्वितर्क समाधि होती है। और, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर सूक्ष्मरूप है, क्योंकि सूक्ष्मताका पर्यवसान अलिङ्ग-(प्रकृति-) तक है। अत: हिरण्यगर्भ और ईश्वरमें सविचार और निर्विचार समाधि होती हैं। निर्विचारमें निर्वितर्ककी भाँति अर्थमात्रका निर्भास रह जाता है। सवितर्कका स्थूल विषय है और सविचारका सूक्ष्म। यही दोनोंमें भेद है। निर्विचार समाधिके निर्मल प्रवाहसे ही अध्यात्मप्रसाद होता है, वहाँ ऋतम्भराप्रज्ञा होती है, उसीसे ईश्वरका साक्षात्कार हो सकता है। भक्तिसे ये सब बातें अपने-आप होती हैं। प्रेममें ही यह सामर्थ्य है कि वह प्रेमीको प्रेमास्पदके सन्निकट बिना जाने भी लिये चला जाता है।

'श्रम करहीं'—बिना भक्तिके ज्ञान चाहनेवाले कितना बड़ा परिश्रम करते हैं यह 'ज्ञानदीपक'—प्रसंगमें देखियेगा। उसपर भी विघ्नबाहुल्यसे उनका परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। इसीलिये फलप्राप्ति न कहकर *'श्रम करहीं'* कहा।

प० रा० व० श०—श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धमें श्रीब्रह्माजी स्तुति करते हुए कहते हैं कि—**'श्रेय:स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये। तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूल-तुषावघातिनाम्॥'** (१०। १४। ४) अर्थात् समस्त कल्याणरूप आपकी भक्तिको छोड़कर केवल ज्ञानके लिये जो क्लेश करते हैं उनको क्लेश ही हाथ लगता है। जैसे कि एक गँवारने एक किसानको देखा कि उसने धानोंको कूटकर उनमेंसे चावल प्राप्तकर उन्हें पकाकर भोजन कर लिया। यह देख उसके जीमें आया कि हम पेटके लिये मजूरी आदि अनेक कष्ट क्यों उठावें, हम भी धान खेतमें पड़ा ही है इसे कूटकर खा लिया करें, खेतमें धानकी भूसी पड़ी ही थी वह उठा लाया और कूटता-कूटता थक गया, हाथमें फफोले पड़ गये। उसमें चावल कहाँ निकले, पर वह कूटता ही गया। इतनेमें बवंडर आया, सब भूसी उड़ गयी, उस गँवारके हाथ केवल फफोले ही लगे।

नोट—३ गोस्वामीजीका दृष्टान्त उससे कहीं बढ़कर है।—***'कामधेनु गृह त्यागी॥ खोजत आक फिरहिं……॥'*** घरमें कामधेनु है, उससे जब और जितना दूध चाहें प्राप्त हो सकता है, पर ये मूर्ख हैं कि उसको तो छोड़ दें और दूधके लिये मदार-पेड़ ढूँढ़ते फिरें। कथा यों है कि एक मूर्खने एक मनुष्यको देखा कि वह मदारके पेड़से दूध ले रहा था। यह न समझा कि वह दवाके लिये दूध ले रहा है। बस उसने सोचा कि गौके पालनेमें तो बड़ा बखेड़ा है; घास-भूसा, खली इत्यादि लाना, खिलाना इत्यादि कौन करे, यह उपाय तो बड़ा सहज है, गये और पेड़से दूध ले आये। बस उसने घरकी कामधेनुको तो निकाल दिया और आकसे दूध लेने चला। इतना मदार कहाँ कि खानेभरको दूध मिले। अत: 'खोजता

फिर रहा है।' दूसरी मूर्खता यह है कि उसने यह न जाना कि दूध आँखमें लगा कि अंधा ही हो गया। आँख भी गँवा बैठा।

नोट—४ यहाँ भक्ति कामधेनु है, ज्ञान आक है, सुख दूध है; यथा—*'जे सुख चाहहिं आन उपाई'॥*

वि० त्रि०—*'कामधेनु गृह त्यागी'*—पहले भक्तिके लिये *'जानि परिहरहीं'* कह आये हैं। अतएव जो **भक्तिको** जानता है, भक्ति उसके घरमें है। उसे चाहिये कि उसीकी सेवा करे और लाभ उठावे। उसे कहीं कुछ ढूँढ़ना नहीं है। इतनेपर भी जिसने भक्तिकी उपेक्षा की, उसने मानो घरमें स्थित कामधेनुका त्याग किया। कामधेनु यथेप्सित अमृतमय दूध जभी चाहो तभी देती है और उसके अतिरिक्त भी जितनी कामनाएँ हों उन्हें पूर्ण करती है, इसी भाँति भक्ति कामधेनु है। मनचाहा परम कल्याणकर ज्ञान तो देती ही है और भी जो कुछ मनोवाञ्छित है उसे पूर्ण करती है। उस भक्तिद्वारा वास्तव ज्ञान न चाहकर निरुपास्ति ज्ञानकी ओर जो दौड़ता है, उसीके लिये कहा जाता है कि इसने घरमें बसी हुई कामधेनुका परित्याग किया।

श्रीकरुणासिंधुजीने इससे मिलता हुआ यह श्लोक महारामायणका दिया है—**'ये रामभक्तिममलां सुविहाय रम्यां ज्ञाने रताः प्रतिदिनं परिक्लिष्टमार्गे। आरान्महेन्द्रसुरभीं परिहृत्य मूर्खा अर्कं भजन्ति सुभगे सुखदुग्धहेतुम्।'** अर्थात् हे सुभगे! जो लोग निर्मल, रमणीय रामभक्तिको सर्वथा त्यागकर प्रतिदिन अत्यन्त क्लिष्ट ज्ञानमार्गमें लगे रहते हैं, वे मूर्ख सुरभीको छोड़कर सुखरूपी दूधके लिये आकका सेवन करते हैं।

वि० त्रि०—*'खोजत आक फिरहिं पय लागी'* इति। मदारका रस दूध-सा होता है पर स्वाद और गुणमें दूधसे एकदम विपरीत होता है। इसी भाँति निरुपास्ति ज्ञान भी रूप-रंगमें सोपास्ति ज्ञान-सा ही होता है, परंतु किसी प्रकारकी समापत्ति (समाधि) न होनेसे ऋतम्भराप्रज्ञा ही नहीं होती। अतः उसमें सोपास्ति ज्ञानका कोई गुण नहीं होता, प्रत्युत उसमें बड़ा भारी दोष आ जाता है। तत्पदवाच्य परमेश्वरकी ओर मन न जानेसे वह तत्पदके शोधनमें भी सर्वथा असमर्थ है और संसारमें ममता रहनेसे **'त्वम्'** पदवाच्य जीवका भी शोधन नहीं कर पाता। अतः लक्ष्यार्थकी उसे प्राप्ति ही नहीं हुई, ऐक्य वह किसका करेगा? वाच्यार्थका ऐक्य हो नहीं सकता, अतः मुखसे **'ब्रह्मास्मि'** उच्चारण करते रहनेपर भी और सारी प्रक्रिया कण्ठस्थ होनेपर भी उसे कल्पशतमें भी ज्ञान न होगा। उसकी दृष्टि ही नष्ट हो गयी। अतः निरुपास्तिज्ञान मदारके दूधकी भाँति हानिकर है। निरुपास्तिज्ञानवालेके लिये अन्तर्मुख होना बड़ा कठिन है, अतः उसके प्रयत्नको 'घरसे बाहर खोजते फिरना' कहा। [श्रीत्रिपाठीजीके मतानुसार पयकी उपमा वास्तवज्ञानसे अर्थात् श्रीराम ब्रह्मके ज्ञानसे है]

सुनु खगेस हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥ ३॥
ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥ ४॥

अर्थ—हे पक्षिराज! सुनिये! जो लोग भगवान्‌की भक्तिको छोड़कर अन्य उपायसे सुख चाहते हैं वे शठ हैं। वे मूर्ख महासमुद्रको अपनी जड़ करनीसे बिना नावके तैरकर ही पार होना चाहते हैं*॥ ३-४॥

वि० त्रि०—१ (क) *'हरि भगति बिहाई। जे सुख चाहहिं'* इति। पूर्व बताया कि ज्ञानेच्छुकके लिये भक्ति ही उपाय है, अब बताते हैं कि सुखप्राप्तिका भी यही एकमात्र उपाय है। मिलान कीजिये—*'रघुपति भगति बारिछालित चित बिनु प्रयास ही सूझै। तुलसिदास यह चिदबिलास जग बूझत बूझत बूझै॥'*, *'सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो। हरि पद-बिमुख लह्यो न काहू सुख सठ! यह समुझ सबेरो॥ बिछुरे ससि-रबि मननैननितें पावत दुख बहुतेरो।——'* (विनय०)। (ख) *'जे सुख चाहहिं'* इति। सुख तो सभी चाहते हैं पर सबको सुखका चाहनेवाला नहीं कह सकते। जो जान-बूझकर भी दुःखदायक वस्तुको गलेमें बाँधे फिरता है, उससे छूटनेका प्रयत्न नहीं करता उसे सुख चाहनेवाला कैसे कहें। यथा—*'जदपि बिषय सँग*

* वै०—'ये ब्रह्मास्मीति नित्यं वदन्ति हृदि विना रामचन्द्राङ्घ्रिपद्मम्। ते बुध्यास्त्यक्तपोतास्तृणपरिनिचये सिन्धुमुग्रं तरन्ति॥'— (महारामायणे)। पुनः, यथा—रुद्रयामले—'ये नराधमा लोकेषु रामभक्तिपराङ्मुखाः। जपं तपं दयां शौचं शास्त्राणाम-वगाहनम्। सर्वं वृथा विना येन शृणुध्वं पार्वति प्रिये।' पुनः, यथा सत्योपाख्याने—'विना भक्तिं न मुक्तिश्च भुजमुत्थाय चोच्यते।'

सह्यो दुसह दुख, बिषम जाल अरुझान्यो। तदपि न तजत मूढ़ ममताबस, जानतहूँ नहिं जान्यो॥' (विनय० ८८) जो सचमुच बिपत्तिजालसे छूटकर सुख चाहता है वही वस्तुतः सुख चाहनेवाला है। (ग) *'आन उपाई'*—सुखके साधनमें जीवमात्र दिनरात लगे हैं पर भजन छोड़ किसी साधनमें सुख नहीं। यथा—*'नाहिंन आवत आन भरोसो। यहि कलिकाल सकल साधनतरु है श्रम-फलनि फरो सो॥ तप, तीरथ, उपवास, दान, मख जेहि जो रुचै करो सो। पायेहि पै जानिबो करम-फल भरि भरि बेद परोसो॥ आगम-बिधि जप-जाग करत नर सरत न काज खरो सो। सुख सपनेहु न जोग-सिधि-साधन, रोग बियोग धरो सो॥ काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह मिलि ग्यान बिराग हरो सो। बिगरत मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो॥ बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ-तहाँ झगरो सो। गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहिं लगत राज-डगरो सो॥ तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि-फिरि पचि मरै मरो सो। रामनाम-बोहित भव-सागर चाहै तरन तरो सो॥'* (विनय०)।

नोट—१ (क) भाव कि हरिभक्ति छोड़ अन्य किसी उपायसे सुख नहीं मिल सकता। भवसिन्धु पार करनेके लिये हरिभक्ति ही पार करनेवाली तरणी है, बिना इसके पैरकर पार पानेकी इच्छा मूर्खता है। (ख) भवसागर (जलादिवाले सप्त) समुद्रोंसे कहीं अगम है अतः उसे महासिन्धु कहा। यह सिन्धु भवके सामने अति लघु है, यथा—*'नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं। यह लघु जलधि तरत कति बारा॥'* (लं०) (ग) यहाँ भव महासिन्धु है, हरिभक्ति तरणी है, योगज्ञानादि अनेक उपाय करना पैरना है, अन्य साधनोंसे भवपार होनेकी इच्छा पैरकर पार पहुँचनेकी इच्छा है, दोनोंकी करनीमें मूर्खता है। सुख होना समुद्र पार होना है।

२—*'महासिंधु बिनु तरनी……'* इति। भवसागरका रूपक आर्ष ग्रन्थोंसे पूर्व दिया गया है। विनय० ५९ में भवसरिताका रूपक इस प्रकार है—*'घोर, अवगाह भव आपगा पापजलपूर दुष्प्रेक्ष्य दुस्तर अपारा। मकर षड्बर्ग गो नक्र चक्राकुलं कूला सुभ असुभ दुख तीव्र धारा॥'* भगवान् और उनकी भक्तिको भवसिंधु तरनेका जहाज कहा है, यथा—*'अजहूँ बिचारि बिकार तजि भजु राम जन सुखदायकं। भवसिंधु दुस्तर जलरथं भजु चक्रधर सुरनायकं॥'* (वि० १३६) भक्तिके बिना भवसिन्धुमें पड़े रहना पड़ेगा, यह पूर्व वेदोंने स्वयं कहा है। यथा—*'भवसिंधु अगाध परे नर ते। पदपंकज प्रेम न जे करते॥'* (१४ छंद ५)

वि० त्रि०—(क) अन्य साधनोंका भरोसा करना अपनी आत्माको धोखा देना है, अतः ऐसा करनेवालेको *'सठ'* कहा। यथा—*'कपट सार सूची सहस बाँधि बचन परबास। करि दुराव चह चातुरी सो सठ तुलसीदास॥'* (ख) *'महासिंधु'* इति। देहाभिमान महासमुद्र है। यथा—*'कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर बिपुल अवगाह दुस्तर अपारं। नक्र रागादि संकुल मनोरथ सकल संग संकल्प बीची बिकारं॥'* (विनय०) बिना इसके पार किये सुख मिल नहीं सकता और देहाभिमान-सागरके पार जानेका एकमात्र साधन भक्ति ही है। (ग) 'जड़ करनी'=विचारविहीन करणी। यदि इसे महासिन्धुका विशेषण मान लें तो भाव होगा कि यदि समुद्र चेतनकरणी होता तो अनुनय-विनयसे भी किसी प्रकार प्राण-रक्षाकी आशा की जा सकती थी, पर वह जड़करणी है, अतः उससे किसी प्रकारकी सहायताकी आशा नहीं की जा सकती। (घ) *'पैरि पार चाहहिं'*—भुजबलसे पैरकर जानेमें अनेक आपत्तियाँ हैं, एक तो मनुष्य-शरीरको इतना सामर्थ्य नहीं, दूसरे पर्वतोपम तरंगोंके थपेड़ोंसे विकल होकर उसके आगे बढ़ना असम्भव, यह भी सही तो जल-जन्तुओंका शिकार हो जायगा। इसी प्रकार महासिंधुके तरनेमें कैसा ही पुरुषार्थी हो, संकल्प-तरंगोंसे विकल हो जायगा, इनसे यदि बचा तो रागद्वेषादिका शिकार बन जायगा।

नोट—३ पांडेजी *'पैरि पार चाहहिं जड़ करनी'* का अर्थ इस प्रकार करते हैं—'पैरकर पार जाना (पहुँचना) चाहते हैं और करनी उनकी जड़ है अर्थात् वे हाथ-पाँव हिलाते नहीं।'

सुनि भसुंडि के बचन भवानी। बोलेउ गरुड़ हरषि मृदु बानी॥५॥
तव प्रसाद प्रभु मम उर माहीं। संसय सोक मोह भ्रम नाहीं॥६॥
सुनेउँ पुनीत राम गुन ग्रामा। तुम्हरी कृपा लहेउँ बिश्रामा॥७॥

अर्थ—हे भवानी! भुशुण्डिजीके वचन सुनकर गरुड़जी प्रसन्न होकर कोमल वाणी बोले॥ ५॥ हे प्रभो! आपकी प्रसन्नतासे मेरे हृदयमें संशय, शोक, मोह और भ्रम नहीं रह गये॥ ६॥ मैंने आपकी कृपासे पवित्र श्रीरामगुणग्राम सुने और आपकी कृपासे विश्राम पाया (अर्थात् मुझे शान्ति मिली)॥ ७॥

वि० त्रि०—१ *'सुनि भसुंडि के बचन——'* इति। (क) यह कहकर गरुड़के चतुर्थ प्रश्नकी समाप्ति दिखायी। प्रश्न था—*'प्रभु तव आश्रम आए मोर मोह भ्रम भाग। कारन कवन सो नाथ सब कहहु सहित अनुराग॥'* (९४) उत्तर हुआ कि भजनके प्रतापसे लोमश महर्षिके शापका वरदानरूपमें परिवर्तन ही इसका कारण हुआ। उत्तरके अन्तमें भुशुण्डिजीने भजन-प्रतापपर बहुत जोर दिया है। अतः गरुड़जीको शङ्का उठ खड़ी हुई अतः वे पुनः बोले। (ख) *'मृदु बानी'*—कोमल वाणी बोलना सन्तस्वभाव है, यथा—*'कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी।'*, गरुड़जी संत हैं। पूर्व भी कहा है—*'कह मृदु बचन खगेस।'*

२—*'तव प्रसाद प्रभु——'* इति। (क) *'तव प्रसाद'* का भाव कि संशय आदि बड़े-बड़े साधनोंसे नहीं छूट पाते सो आपकी प्रसन्नतामात्रसे न रह गये। आपका प्रसाद अमोघ है। (ख) *'प्रभु'* कहा क्योंकि इनको गुरु माना है, यथा—*'गुर बिनु भवनिधि तरै न कोई'*; अथवा शोक-मोह-विनाशमें समर्थ देखकर प्रभु सम्बोधन किया।

नोट—१ (क) *'गरुड़ गिरा सुनि हरषेउ कागा। बोलेउ उमा परम अनुरागा॥'* (९५। १) उपक्रम है और *'सुनि भसुंडि के बचन भवानी।'* उपसंहार है। यहाँतक २० दोहों और तीन अर्धालियोंमें गरुड़जीके चारों प्रश्नोंके उत्तरमें भुशुण्डिवाक्य हैं। (ख) गरुड़की वाणी सुनकर कागजी हर्षित हुए थे, वैसे ही कागजीकी वाणी सुनकर गरुड़जीको हर्ष हुआ। *'गरुड़ गिरा सुनि हरषेउ कागा'* वहाँ और *'बोलेउ गरुड़ हरषि मृदु बानी'* यहाँ। (ग) *'तव प्रसाद'*—आगे नोट ४ देखिये।

२—*'संसय सोक मोह भ्रम नाहीं।'* इति। गरुड़जीको संशय, मोह और भ्रम तथा इनसे उत्पन्न दुःख था, यथा—*'भयेउ हृदय मम संसय भारी।'* (६९। १), *'मोहि भएउ अति मोह॥'* (६८) *'सोइ भ्रम अति हित करि मैं माना।'* (६९। २), *'दुखद लहरि कुतर्क'*, *'खेद खिन्न मम तर्क बढ़ाई॥'* (५९। २) ☞ यहाँ उत्तरोत्तर अधिक लाभ दिखाया है—

प्रथम बार—*'गएउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपतिचरित। भयेउ रामपद नेह तव प्रसाद बायस तिलक॥'* (६८) *'तव प्रसाद सब संसय गएऊ।'*

दूसरी बार—*'तव प्रसाद मम मोह नसाना। राम रहस्य अनूपम जाना॥ प्रभु तव आश्रम आये मोर मोह भ्रम भाग॥'* (९४)

तीसरी बार—*'तव प्रसाद प्रभु मम उर माहीं। संसय सोक मोह भ्रम नाहीं॥ सुनेउँ पुनीत राम गुन ग्रामा॥'*

३—भुशुण्डि-गरुड़-प्रसंगकी आवृत्तियाँ—(क) प्रथम बार 'रघुपतिचरित' सुनना कहा, दूसरी बार अनुपम रामरहस्य जानना कहा और तीसरी बार 'पुनीत रामगुणग्राम' सुनना कहा। (ख) *'रामचरित सर कहेसि बखानी'*। ६४ (७) से *'पुरबरनत नृपनीति अनेका'* ६८ (६) तक, अर्थात् ४ दोहोंमें रामकथा है, यथा—*'सुनि सब राम कथा खगनाहा।'* (६८। ८) उसीको रामचरित कहा है। दूसरा प्रकरण *'तुम्ह निज मोह कहा खगसाईं। सो नहिं कछु आचरज गोसाईं॥'* (७०। ५) से *भावबस्य भगवान सुखनिधान करुनाभवन॥'* (९२) तक २२ दोहे ४ अर्धालियोंमें हैं—यह 'अनुपम रामरहस्य' है। इसमें प्रभुका यथार्थस्वरूप, उनके विषयके मोहका स्वरूप, रामजीका सहज स्वभाव, उनकी भुशुण्डिके साथ क्रीड़ा, उसी बालकेलिमें ऐश्वर्यमहिमा और प्रताप तथा प्रभुका निज सिद्धान्त, भुशुण्डिका निज अनुभव और प्रभुके नामरूपादिकी अनन्तताका वर्णन है—यह सब गुप्तचरित हैं, यथा—*'पाइ उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास॥'* (६९) *'राम रहस्य मनोहर गावउँ।'* (७४। १) *'यह सब गुप्त चरित मैं गावा।'* (८८। ४) अतः इस सबको *'रामरहस्य अनूपम'* कहा। तीसरी बार गरुड़जीने ४ प्रश्न किये। उनके उत्तर जो *'जप तप मख सम दम ब्रत दाना।'* (९५। ५) से *'ते सठ महासिंधु बिनु तरनी।——'*(११५। ४) तक बीस दोहोंमें कहे हैं, उन्हें गरुड़जीने 'पुनीत रामगुणग्राम' विशेषण दिया है।

(इसमें आद्यन्त भक्तिको ही सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादित किया है, बीचमें कलिके धर्म और उसका पुनीत प्रताप कहते हुए 'विमल रामगुणगणगान' और 'रघुपतिचरणमें अति प्रीति' से कालधर्मका न व्यापना दिखाया। फिर अपने प्रसंगसे रामभजनका प्रताप दिखाया कि शाप होकर फिर दुर्लभ वरकी प्राप्ति हुई। अर्थात् इस प्रसंगभरमें रामभजनका प्रताप ही वर्णित है। कालके अपुनीत धर्म भी इससे नहीं व्यापते। अत: इस प्रसंगभरको 'पुनीत रामगुणग्राम' कहा।) (ग) चरितसे संदेहनाश, रहस्यसे मोह और भ्रमका नाश तथा रामप्रतापका हृदयमें आना, और पुनीत रामगुणग्रामसे संशय, शोक, मोह और भ्रम सबका नाश कहा।

४—*'तव प्रसाद'* की आवृत्ति सबमें है। पहली बार *'तव प्रसाद मम संसय गएऊ',* दूसरी बार *'तव प्रसाद मम मोह नसाना'* और अबकी भी *'तव प्रसाद प्रभु मम उर माहीं""।'*

☞ अब रघुनाथजीके विषयमें कोई संदेह नहीं रह गये। श्रीरामबन्धनसे चार बातें जो उनके हृदयमें आ प्राप्त हुई थीं वे सब चली गयीं। यह तो हुआ पर इसका फल अभी मिलना बाकी है—'रघुपतिपदप्रेम'।

५—संशय, शोक, मोह और भ्रम। प्राय: ये सब पर्यायवाची हैं पर चारों एक साथ प्रयुक्त हुए हैं। अत: उनमें सूक्ष्म भेद होना निश्चित है। इनके भेद पूर्व कई बार लिखे जा चुके हैं। बाल० मं० सो० ५, १। ३१। ४ देखिये।

वै०—**संसय**=पदार्थका अनिश्चय। **सोक**=दु:ख। **मोह**=मायाद्वारा जीवका अंधा हो जाना। **भ्रम**=झूठेको सच्चा मान लेना।

करु०—मुनीश्वरोंसे सुना था कि श्रीरामचन्द्र परब्रह्म हैं, फिर नारदजीसे रणमें उनका बन्धन सुना इससे संशय हुआ। मुनीश्वरोंका कहा हृदयसे जाता रहा, उसकी कल्पनासे शोक हुआ। बन्धन निश्चय किया यह मोह है और परब्रह्ममें प्राकृत-भावरोपण भ्रम है।

वि० त्रि०—२ (क) *'संसय सोक""'* इति। उभयकोटि-अवलम्बी ज्ञानको संशय कहते हैं, यथा—*'सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रताप कछु नाहीं॥'* इष्टके नाशसे जो दु:ख होता है उसे शोक कहते हैं। अज्ञानको मोह और विपरीत ज्ञानको भ्रम कहते हैं। (ख) *'सुनेउँ""तुम्हरी कृपा'* इति। जैसे गरुड़जीने उत्कण्ठावश रामकथा सुनानेके लिये बार-बार प्रार्थना की थी वैसे ही बार-बार कृतज्ञता प्रकट करते हैं। यथा—*'अब प्रभु कथा सुनावहु मोही। बार बार बिनवौं प्रभु तोही॥', 'सुनेउँ सकल रघुपति चरित', 'सुनेउँ पुनीत राम गुन ग्रामा।'* (ग) श्रीरामचरित देखनेसे मोह और सुननेसे शान्ति होती है, यह बात उमा और गरुड़द्वारा सिद्ध हुई। भुशुण्डिजीने श्रोताका संकोच मिटानेके लिये अपने मोहका भी वर्णन किया, इत्यादि। पर गरुड़जी कहते हैं—*'सुनेउँ पुनीत राम गुन ग्रामा',* वस्तुत: भक्तोंके चरित्रमें भगवान्‌के गुणग्रामका ही वर्णन रहता है, यही बात यहाँ *'सुनेउँ राम गुन ग्रामा'* कहकर जना दी।

३ *'गुन ग्रामा'*—यहाँ 'गुणग्राम' कहकर बहुवचनका प्रयोग किया। गुणग्राम गुणोंके समूहको कहते हैं। स्तुतिमें गुणसमूहका कीर्तन होता है। रामचरितमें उल्लेखयोग्य गुणग्रामोंका संकीर्तन छब्बीस स्थानोंमें है और छब्बीस विशेषण (जो बालकाण्डके बत्तीसवें दोहेमें वर्णित हैं—*'जग मंगल गुन ग्राम राम के'* इत्यादि) छब्बीसों गुणग्रामोंमें क्रमश: भलीभाँति लागू होते हैं। यथा—ब्रह्मस्तुतिके साथ *'जग मंगल गुन ग्राम राम के'* कहना भलीभाँति बैठ जाता है। जगमङ्गलके लिये ही स्तुति हुई और उसका परिणाम भी जगमङ्गलमय ही हुआ। इसी भाँति भगवान्‌के श्रीमुखसे उपदेश पाकर पुरवासी कृतार्थ हुए। तब उन लोगोंने स्तुति की। यह पचीसवीं स्तुति है। इसका सम्बन्ध पचीसवें विशेषण *'पावन गंग तरंगमाल'* से है। पावन होना ही कृतार्थ होना है।

४ (क) *'तुम्हरी कृपा'*—यह यहाँ देहली-दीपक-न्यायसे प्रयुक्त हुआ है। भाव कि संशय-शोकादिका मिटना, रामगुणग्राम-श्रवण और विश्राम-प्राप्ति तीनों बातें आपकी कृपासे हुईं। (ख) *'लहेउँ बिश्रामा'*—भाव कि संशयवालेको विश्राम नहीं मिलता, उसकी दशा सर्पदंशित मनुष्यकी भाँति हो जाती है। सर्पदंशितकी भाँति संशयीको दु:खद कुतर्ककी लहरें उठती हैं, उसे न इस लोकमें सुख है न परलोकमें। यथा—*'संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुखद लहर कुतर्क बहु ब्राता॥ तव सरूप गारुड़ि रघुनायक। मोहि जियाएउ जन*

सुखदायक॥' पहले तो *'उपजा हृदय प्रचंड बिषादा'* और अब हर्षित होकर मृदुवाणी बोलते हैं; अत: कहते हैं कि *'लहेउ बिश्रामा'।*

'ज्ञानहिं भगतिहि अंतर केता'—पाँचवाँ प्रश्न और उसका उत्तर

एक बात प्रभु पूँछौं तोही। कहहु बुझाइ कृपानिधि मोही॥ ८॥
कहहिं संत मुनि बेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ग्यान समाना॥ ९॥
सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउँ गुसाईं। नहिं आदरेहु भगति की नाईं॥१०॥
ज्ञानहिं भगतिहि अंतर केता। सकल कहहु प्रभु कृपानिकेता॥११॥

अर्थ—हे प्रभो! मैं आपसे एक बात पूछता हूँ। हे दयासागर! (वह) मुझे समझाकर कहिये॥ ८॥ सन्त, मुनि, वेद और पुराण कहते हैं कि ज्ञानके समान दुर्लभ कुछ भी नहीं॥ ९॥ हे गोस्वामिन्! वही (ज्ञान) मुनिने आपसे कहा पर आपने भक्तिके समान उसका आदर नहीं किया॥ १०॥ हे दयाके स्थान, प्रभो! ज्ञान और भक्तिमें कितना अन्तर (=बीच, भेद) है? यह सब मुझसे कहिये॥ ११॥

नोट—१ *'एक बात।'* भाव कि पूर्व चार प्रश्न किये—(*'कारन कवन देह यह पाई',* 'रामचरित सर कहाँ पाया', 'महाप्रलयमें भी आपका नाश नहीं होता, यह किस कारणसे' और 'आपके आश्रममें आते ही मोहभ्रम भाग गये, इसका क्या कारण है?') उनका उत्तर सुनकर एक शंका और उपस्थित हो गयी है और यह शंका भी 'एक ही' है, भारी है, अत: इसे पूछता हूँ। तथा यह एक संशय और है; इसे भी पूछता हूँ [*'प्रभु'* का भाव कि आप गुरु हैं, समर्थ हैं। गुरुसे बात छिपानेसे निर्मल विवेक नहीं हो सकेगा। यथा—*'होइ न बिमल बिबेक उर गुरु सन किए दुराव।'* गुरु कृपानिधि होते हैं। बार-बार समाधान करनेपर भी शिष्यके हृदयमें संदेह उठनेसे गुरु कृपा करके पुन:-पुन: समाधान करनेमें उद्विग्न नहीं होते—*'बिगरी सुधारै कृपानिधिकी कृपा नई।'* (वि० त्रि०)] बारंबार प्रश्न करते हैं; अत: *'कृपानिधि'* आदि विशेषण देते हैं कि इनका उत्तर देकर आप मुझे अनुगृहीत करेंगे, मुझपर आपकी यह बड़ी दया होगी। *'कहहु बुझाइ'* का भाव कि संक्षेपसे तो इस शंकाका भी उत्तर *'जे असि भगति जानि परिहरहीं।······पैरि पार चाहहिं जड़ करनी'* में दे दिया है, फिर भी मुझे भ्रम है; अत: मुझे समझाकर कहिये। *'मोही'* का भाव कि अन्य श्रोता बहुत दिनोंसे कथा सुनते आ रहे हैं, अत: उन्हें सब विषय अभ्रान्त हैं, वे संक्षेपमें समझ सकते हैं। मैं नया श्रोता हूँ, अत: समझानेकी आवश्यकता है।

२—*'कहहिं संत मुनि······'* इति। (क) संत ही वेद-पुराणोंसे उपयुक्त सार लेकर सर्वहितके लिये उसका प्रचार करते हैं। यथा—*'बेद पुरान उदधि घन साधू।'* और राग-द्वेषरहित तपस्वी, मनुष्य-समाजसे पृथक् वनमें रहनेवाले मुनि हैं। यथा—*'सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥'* अत: संत और मुनिके आप्त होनेमें संदेह नहीं है और आप्तोंका वाक्य प्रमाणरूपसे गृहीत होता है, सो वे लोग ऐसा कहते हैं। वेद स्वत: प्रमाण हैं और पुराण भी वेदार्थके उपबृंहण (पुष्ट) करनेसे पञ्चम वेद कहलाते हैं, ये भी परत: प्रमाण हैं। इन दोनोंके वाक्य आप्तवाक्य हैं। पुराण और वेदोंमें ही अज्ञातार्थ ज्ञापकत्व है। सो ये भी यही कहते हैं। भाव कि इस बातमें सबकी एकवाक्यता है। (ख) *'नहिं कछु दुर्लभ'*—भाव कि जगत्में दुर्लभ वस्तुका ही मूल्य है और उसका जगत्में आदर है। ज्ञानके बिना मुक्ति नहीं होती, यथा—*'ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना',* अत: सबसे अधिक मूल्य मोक्षका है, क्योंकि वह अति दुर्लभ है; यथा—*'अति दुर्लभ कैवल्य परम पद', 'ज्ञान पंथ कृपान कै धारा'* (वि० त्रि०)।

३—*'सोइ मुनि तुम्ह सन कहेउँ',* यथा—*'लागे करन ब्रह्म उपदेसा······।'* इससे निर्गुण मत, ब्रह्म-उपदेश इत्यादि और ज्ञानको पर्याय जनाया। 'सोइ'=दुर्लभ ज्ञान। मुनि=महर्षि लोमश। *'तुम्ह सन'* अर्थात् तुम परम अधिकारी थे। ज्ञान प्रदानमें ये तीनों (ज्ञान, गुरु और अधिकारी) बातें आवश्यक हैं। जहाँ ये तीनों उत्तम एकत्रित हों वहाँ अनादरके लिये कोई कारण नहीं है। (वि० त्रि०)

मा० म०, रा० प्र०—'*नहिं आदरेहु*—' का भाव कि संत, मुनि, वेद और पुराणोंके मतसे आपका मत विरोधी-सा जान पड़ता है। क्या सन्तोंने भूलसे ज्ञानकी श्रेष्ठता प्रतिपादन की है? यह बात तो मेरे मनमें नहीं आती; अतः बताइये कि क्या कुछ इनमें भेद है? यदि है तो सब भेद कहिये।—['*नहिं आदरेहु*' कहा; क्योंकि उसे सुनते भी न थे और उसमें उत्तर-प्रत्युत्तर भी करते रहे, यह अनादरका स्वरूप है। भुशुण्डिजीने स्वयं कहा है कि '*मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ*'। '*भगति की नाईं*' का भाव कि जब राममन्त्र और बालक रूपका ध्यान बताया तब उसे मन लगाकर सुना।]

नोट—४ '*सकल कहहु*'—यहाँ साधारणतया तो एक ही बातका प्रश्न है कि 'ज्ञान और भक्तिमें कितना अन्तर है?' तब '*सकल*' पद देनेका क्या तात्पर्य है? भुशुण्डिजीके उत्तरसे इसका समाधान हो जाता है। वह इस तरह कि—'*नहिं आदरेहु भगति की नाईं*' यह कहो, '*अंतर केता*' यह कहो, तथा '*केता*' कितना है, कितनी प्रकारका है, वह सब कहो। सकल अर्थात् दोनों शंकाओंका उत्तर कहो और सकल अन्तर कहो। दोनों बातें उत्तरमें हैं। तीन प्रकार (लिङ्गभेदद्वारा, साधनकी सुगमता कठिनताद्वारा और दीपक-मणिके रूपकद्वारा), से अन्तर दिखाया गया है और आदर न करनेका हेतु भी अलगसे कहा गया है—'*मुक्ति निरादरि भगति लुभाने।*'

वि० त्रि०—(क०) '*अंतर केता*—' इति। भाव कि जाननेको ज्ञान और प्रेमको भक्ति कहते हैं। यहाँ जो ज्ञेय है वही परम प्रेमास्पद है। इसी आनन्दसिंधु सुखराशि रामको जाननेको ज्ञान कहते हैं। आनन्दानुभूति और प्रेम दो पृथक् वस्तु नहीं जान पड़तीं। जहाँ आनन्द है वहीं प्रेम है, जहाँ प्रेम है वहीं आनन्द है। देखनेमें तो ज्ञान और भक्तिमें पूरा-पूरा समानाधिकरण मालूम पड़ता है। मुझे अन्तर कुछ मालूम नहीं पड़ता। (ख) '*सकल कहहु*'—भाव कि आपके बर्तावसे साधन और सिद्धि दोनोंमें अन्तर मालूम पड़ता है। साधनमें अन्तर है, इसलिये आपने मुनिके उपदेशको न सुना और सिद्धिमें अन्तर है, इससे निर्गुण मतको दूरकर सगुणका निरूपण किया। अतः साधन या सिद्धि जहाँ-जहाँ अन्तर हो सो सब कहिये। (ग) '*कृपानिकेता*'—विनिमयमें कुछ न चाहकर अमूल्य उपदेश देनेका कष्ट सिवा कृपानिकेतके और कोई स्वीकार नहीं कर सकता, अतः कृपाका घर कहा।

सुनि उरगारि बचन सुख माना। सादर बोलेउ काग सुजाना॥ १२॥
भगतिहि ग्यानहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥ १३॥
नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर। सावधान सोउ सुनु बिहंग बर॥ १४॥

अर्थ—सर्पोंके शत्रु गरुड़जीके वचन सुनकर सुजान काकभुशुण्डिजीने सुख माना और आदरसहित बोले॥ १२॥ भक्तिमें और ज्ञानमें कुछ भेद नहीं है। दोनों संसारजनित दुःखको हरण करते हैं। (अर्थात् भव-हरण-सामर्थ्य दोनोंमें है। इस विचारसे इस विषयमें दोनोंमें भेद नहीं है)॥ १३॥ हे नाथ! मुनीश्वर लोग कुछ अन्तर बताते हैं। हे पक्षिश्रेष्ठ! उसको भी सावधान होकर सुनिये॥ १४॥

नोट—१ (क) संशय सर्प है, जैसा कि गरुड़जीने कहा है, यथा—'*संसय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता।*' संशयको निर्मूल करनेके लिये यह प्रश्न है, अतः यहाँ '*उरगारि*' और आगे '*पन्नगारि*' सम्बोधन है। (पं० रा० व० श०) (ख) '*सुनि सुख माना*'—मर्मके समझनेवाले श्रोताको पाकर वक्ता सुखी होता है। गरुड़जीके वचन सुननेसे यह मालूम हुआ कि वे उनके उपदेशको यथावत् धारण कर रहे हैं। जहाँ कहीं तनिक-सी भी बात बैठनेमें रुकती है, तुरन्त प्रश्न कर बैठते हैं। हमारे अविनयपर प्रश्न हो रहा है, यह समझकर रुष्ट न हुए, प्रत्युत परहितैक व्रत भुशुण्डिजीने संशयोच्छेदनका पुनः अवसर पाकर सुख माना। यह कृपानिकेतता दिखायी।' '*सादर बोलेउ*'—गरुड़जीकी तीव्र जिज्ञासा तथा अपने प्रति पूर्ण आस्था देखकर आदरसहित बोले। यहाँ गरुड़जीका आदर रघुनाथजीके प्रिय दास होनेके नाते हो रहा है। उनके हृदयको रामप्रेमसे सरस देखा कि ये इस प्रकार प्रश्न करके भक्तिका सविस्तर वर्णन सुनना चाहते हैं। '*काग सुजाना*'—गरुड़जीकी वाणी, मति, गति और भक्तिको पहचानकर उनका आदर किया, अतः 'सुजान' कहा (वि० त्रि०)।

२ *'भगतिहि ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा।'* इति। संसार छूट जाना दोनोंसे होता है, भवदुःख मिटनेमें दोनोंमें कुछ अन्तर नहीं। इसपर शंका होती है कि 'तब आदर क्यों न किया?' इसीकी निवृत्तिके लिये कहते हैं कि जो मुनीश्वर हैं जिन्होंने शास्त्रसिद्धान्त ठीक मनन कर पाया है, वे कुछ अन्तर बताते हैं। (पं० रा० व० श०)

रा० शं० श०—*'नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर'* इति। गरुड़जीने ज्ञानके विषयमें संतों, मुनियोंका प्रमाण दिया—*'कहहिं संत मुनि बेद पुराना। नहिं कछु दुर्लभ ज्ञान समाना॥'*; अतः इन्होंने उसका भी समर्थन किया।

रा० प्र०—ज्ञान और भक्तिमें भेद नहीं, क्योंकि जैसे ज्ञानमें *'देख ब्रह्म समान सब माहीं'*, वैसे ही भक्तिमें *'सो अनन्य जाके असि मति न टरै हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥'* तथा—*'निज प्रभुमय देखहिं जगत—।'* भेद इतनामात्र है कि भक्तिमें 'मैं सेवक, मैं जीव' यह भाव है, भक्त पृथक् रहता है।

पं०—भाव यह कि हमारा पक्ष तो यह है कि दोनोंके फलमें कुछ भेद नहीं है।

मा० म०—ज्ञानद्वारा त्रिपादविभूति प्राप्त होती है और भक्तिद्वारा साकेत प्राप्त होता है, यह भेद है। परंतु जन्म-मरणको ज्ञान और भक्ति दोनों हरण करते हैं, इस कारण अभेद हैं। ब्रह्म चतुष्पाद है, यथा श्रुतिः—**'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।'** एक पादमें सारी सृष्टि स्थित है और तीन अमृतस्वरूप (निराकार) हैं; वह ज्ञानद्वारा प्राप्त होता है, जिसे कैवल्य-मुक्ति कहते हैं अर्थात् तुरीयावस्थामें जीव प्राप्त होकर **'ब्रह्मसंज्ञक'** होता है। परतम श्रीरामचन्द्र त्रिपादसे भी परे हैं।

करु०—मुनीश्वर क्या भेद कहते हैं सो आगे ज्ञानदीपक-प्रसङ्गभरमें कहेंगे। वह तीन हैं—(१) सबाध्य-अबाध्य। ज्ञान सबाध्य है, भक्ति अबाध्य है। (२) काठिन्य-सरल। ज्ञानमार्ग कठिन, भक्तिमार्ग सरल। (३) निरस-सरस।—ज्ञानकी मुक्ति निरस है, भक्तिकी सरस है।

वै०—अर्थात् 'साधन-स्वरूपता' स्वभाव-सहचरादिमें अन्तर है। ज्ञानके सहचर एकान्त, वनवास, असङ्ग, असंग्रहादि दुःखद हैं, भक्ति-सहचर नामरूप-लीला-धामादि सुखद हैं।

वि० त्रि०—(क) *'भगतिहि—'* इति। भाव कि यथार्थ ज्ञान और संवादी भ्रम ही क्रमशः ज्ञान और भक्ति कहा जाता है। ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान होना तत्त्वज्ञान है और उसकी उपासना संवादी भ्रम है। दोनोंमें भेद नहीं है। मणि-प्रभामें मणिबुद्धि होना यद्यपि भ्रम है तथापि उसकी प्राप्तिको दौड़ते हुए पुरुषको मणिप्राप्ति होती है। अतः मणिप्राप्तिरूपी फलके समान होनेसे अभेद कहा। (ख) *'भव संभव खेदा'*—संसाररूप वनमें दुःख-ही-दुःख हैं, अतः *'खेदा'* बहुवचन कहा। विनयके *'संसार कांतार अति घोर गंभीर—'* पद ५९ में इसके दुःखोंका सुन्दर चित्र है। (ग) *'कछु अंतर'*—भाव कि वह अन्तर सूक्ष्म है, सबको नहीं मालूम पड़ता, मननशीलोंको ही कुछ अन्तर दिखलायी पड़ा है।

पां०—*'सावधान सुनु'* कहनेका कारण कि अभी गरुड़की दृष्टि कुछ ज्ञानकी ओर ही बनी हुई है। **'सावधान'**=मन, बुद्धि, चित्त लगाकर।—(क्योंकि ज्ञान और भक्तिका भेद सूक्ष्म और गहन विषय है। किंचित् भी अनवधानता होनेसे समझमें न आयेगा।

नोट—३ पूर्व कह आये कि भक्ति घरमें बँधी हुई कामधेनु-पयवत् है और ज्ञान आक-दूधवत् है, यथा—*'जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥ ते सठ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहिं पय लागी॥'* और यहाँ दोनोंमें अभेद कहते हैं। यदि कहो कि वहाँ भक्तिरहित शुष्क ज्ञानको आकपय कहा और यहाँ भक्तिसहित ज्ञान अर्थात् अभेदभक्तिवाला निर्गुण ज्ञान है तो यह भी नहीं कह सकते—यह आगेके ज्ञानप्रकरणमात्रसे स्पष्ट है। क्योंकि यदि यह भक्तियुक्त होती तब आगे यह भी न कहते कि *'अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुखखानी॥'* और न यह कहते कि *'राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआईं॥'* भक्तिके साथ ज्ञान हो तब तो सोनेमें सुहागा है क्योंकि *'ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पिआरा।'* तब यह कैसे कहते हैं कि भेद नहीं है? यहाँ *'भेद नहीं है'* यह कहकर फिर *'उभय हरहिं भवसंभव खेदा'* कहकर जनाया कि भवहरणशक्तिमें दोनोंमें अभेद है। जिसमें भेद है वह आगे कहते हैं।

नं० प०—'(समाधान) केवल ज्ञानका अर्थ है शुष्क ज्ञान कि जिसमें भक्ति नहीं है; अर्थात् जीव ही ब्रह्म

है (जिसमें ऐसा माना जाता है)। इसलिये उसे मदारके दूधके समान कहा। और, ***'ज्ञानहिं भगतिहि नहिं कछु भेदा'*** यह ज्ञान भक्तिके सहित है, अर्थात् जिसको अभेद-भक्ति कहते हैं और निर्गुण ज्ञान कहते हैं, जिससे चारों मुक्तियाँ प्राप्त होती हैं और सगुण भक्तिको भेद-भक्ति कहते हैं। (प्रमाण) ***'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। रामकृपा बैकुंठ सिधारा॥ ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ॥'*** अत: निर्गुण ज्ञानको भक्तिसे अभेद कहा और केवल ज्ञानको मदारके दूधके सदृश कहा है, ज्ञान-भक्तिका अन्तर कहा है।

ज्ञान बिराग जोग बिग्याना। ए सब पुरुष सुनहु हरिजाना॥ १५॥
पुरुष प्रताप प्रबल सब भाँती। अबला अबल सहज जड़ जाती॥ १६॥

अर्थ—हे हरिवाहनजी! सुनिये। ज्ञान, वैराग्य, योग और विज्ञान—ये सब पुरुषवर्ग (पुँल्लिङ्ग) हैं॥ १५॥ पुरुषका प्रताप सब प्रकार प्रबल होता है और अबला (स्त्री) स्वाभाविक ही निर्बल और जड़ जाति (जड़-प्रकृति) होती है* ॥ १६॥

वै०—***'पुरुष'।*** भाव कि इनको करनेवाला अपनेको पुरुष मानता है। अर्थात् अपने पुरुषार्थका बल रखता है।—***'सहज',*** क्योंकि उसका नाम ही ***'अबला'*** है। (रा० प्र०)

वि० त्रि०—१ (क) ज्ञान दो प्रकारका है—परोक्ष (ब्रह्मको सबमें समान देखना) और अपरोक्ष। वैराग्य भी दो प्रकारका है—वशीकार (देखे और सुने हुए भोगोंसे तृष्णारहित होना) और परवैराग्य (पुरुषके साक्षात्कारसे गुणोंमें तृष्णारहित होना)। चित्तवृत्तिका निरोध योग है। यहाँ विज्ञानसे अपरोक्ष ज्ञान समझा जायगा, यथा—***'दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी।'*** [ज्ञान, विज्ञान आदिके सम्बन्धमें पूर्व कई बार लिखा जा चुका है। ८४ (१) में देखिये। (मा० सं०)] (ख) ***'ए सब पुरुष'***—भाव कि चेतन पुरुष और जड़ प्रकृतिके योगसे ही सृष्टि बनी है, अर्थात् चेतन और जड़की ग्रन्थि अथवा अभिमान ही जगत्का मूल है। इस ग्रन्थिके छूटे बिना जगत्का निस्तार नहीं, अत: ज्ञान, विराग, योग, विज्ञान—ये सब इस ग्रन्थिको तोड़कर मोक्ष देनेवाले हैं। अत: बड़े स्वात्मावलम्बी पुरुषार्थी हैं, पुरुषपदवाच्यके योग्य हैं। ये मायाके प्रतिद्वन्द्वी हैं, अत: इनकी चेतनमें ही गिनती है।

वै०—भाव कि वह सब आचरणसे स्वभावसे ही अबल रहती है, पुरुषोंके सम्मुख नहीं होती, उनसे डरती है, उनके अधीन रहती है—यद्यपि ऐसा है तो भी वह स्वभावसे जड़ होती है, सब डाँट-फटकार सह लेती है, पर जिस बातका हठ पकड़ती है वही करती है, हानि-लाभादि कुछ विचार नहीं करती; इसीसे पुरुष इससे जीत नहीं पाता।

वीर—***'अबला'*** और ***'अबल'*** में पद अर्थ दोनोंकी आवृत्ति 'पदार्थावृत्ति दीपक अलंकार है'।

वि० त्रि०—२ (क) ***'पुरुष प्रताप प्रबल……'*** इति। प्रताप स्वावलम्बी पुरुषार्थीके हिस्सेकी वस्तु है। प्रतापसे दुष्कर कार्य भी सुकर हो जाता है, यथा—***'श्रीरघुबीरप्रताप ते सिंधु तरे पाषान।'*** ज्ञान-विरागादि भी प्रताप है। उनके रहनेसे ही मोह भाग जाता है। यथा—***'सुनु मुनि मोह होइ मन ताके। ग्यान बिराग हृदय नहिं जाके॥'*** ***'प्रबल'*** अर्थात् चित्-जड़की ग्रन्थितक छोड़नेमें समर्थ है; यथा—***'गाँठि बिनु गुन की कठिन जड़ चेतनकी, छोर्‍यो अनायास साधु सोधक अपानको।'*** (गी०) (ख) ***'अबला जड़ जाती'***—जैसे चेतनको पुरुष कहते हैं वैसे ही जड़जातिको अबला कहते हैं। जड़ प्रकृति या माया है। जैसे ज्ञानादि ग्रन्थिको छुड़ानेवाले हैं वैसे ही मोहादि ग्रन्थिको दृढ़ करनेवाले हैं। अत: इनकी भी गिनती जड़जातिमें है। यथा—***'काम क्रोध मद लोभ सब प्रबल मोह की धारि। तिन्ह महँ अति दारुन दुखद माया रूपी नारि॥'*** सहज निर्बलता द्योतन करनेके लिये ही बहुत-से पर्यायोंके रहते हुए भी ***'अबला'*** पद दिया। (ग) ***'सहज अबल'***—भाव कि प्रकृति या मायाको बल नहीं है—***'प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।'*** यह वृत्तिरूपी ज्ञानसे नष्ट हो जाती है, अत: सहज निर्बल कहा।

---

* अर्थान्तर—जड़-जाति अबला स्वभावसे ही निर्बल है। (वि० त्रि०)

खर्रा—गोस्वामीजीने ज्ञानादिको पुरुष कहा पर ये नपुंसकलिङ्ग हैं। पर यहाँ शब्दके नपुंसकत्वादिपर तात्पर्य नहीं है, वास्तविक रूप सबका पुरुष ही है।

रा० प्र०—नपुंसक उभयलिङ्ग है, इस तरह यह विरोध दूर किया।

दो०—पुरुष त्यागि सक नारिहि जो बिरक्त मतिधीर।
न तु कामी बिषया* बस बिमुख जो पद रघुबीर॥
सो०—सोउ† मुनि ज्ञाननिधान मृगनयनी बिधुमुख निरखि।
बिबस होइ‡ हरिजान नारि बिष्नु@ माया प्रगट॥ ११५॥

अर्थ—जो वैराग्यवान् और धीरबुद्धि हो, वह पुरुष स्त्रीको त्याग सकता है न कि कामी जो विषयोंके वश और रघुवीरपद विमुख है। पर हे हरिवाहनजी! (जो विरक्त मतिधीर है) वह ज्ञाननिधान मुनि भी मृगनयनीके चन्द्रसमान मुखको देखकर उसके विशेष वश (वा, बेबस) हो जाता है, क्योंकि विष्णुकी मायाका प्रकटस्वरूप स्त्री है [वा विष्णुकी माया स्त्रीरूपसे प्रकट है।—(पां०)] #

नोट—'*पुरुष……न तु कामी बिषया बस……*' के भिन्न-भिन्न अर्थ किये गये हैं—

पां०—'यद्यपि ऐसे पुरुषोंको, जिनकी वैराग्यमें मति धीर हो गयी है, स्त्री-त्यागकी शक्ति है, क्योंकि वह कामी नहीं है और न विषयके विशेष वश है पर रघुवीर-विमुख होनेसे ज्ञाननिधान होते हुए भी विकल हो जाते हैं सो नारीकी माया विश्वमें प्रकट है।'—[रेखांकित 'क्योंकि' और 'पर' अर्थपर विचार करें]

करु०—ज्ञान, विराग, योग, विज्ञान—इन चारको पुरुष कहा, अब इन चारोंके एक-एक विशेषण कहते हैं। पुरुष नारिको त्याग सकते हैं। १—जो विरक्त अर्थात् वैराग्यवान् हो वह मायारूपी नारिको त्याग सकता है। २—जो मतिधीर अर्थात् योगी हो वह त्याग सकता है। ३—'*न तु कामी*' अर्थात् जिन ज्ञानियोंको कामना न हो और ४—'*बिषया बिबस*' अर्थात् जो विषयसे अविवश, विषयके वश नहीं हैं,ऐसे विज्ञानी—मायारूपी नारीको त्याग सकते हैं। तहाँ ज्ञान, विराग, योग और विज्ञान—ये चारों अपने सामर्थ्यसे मायाको

---

* जो बिषय बस। † सो। ‡ बिकल होहि। @ 'बिस्व—(का०, रा० गु० द्वि०), बिष्नु—(भा० दा०, पं०)। 'बिस्व' पाठमें अर्थ यह किये गये हैं—१ 'विश्वको रचनेवाली माया स्त्रीरूपसे प्रकट है।' २—'विश्वमें माया स्त्रीरूपसे प्रकट है। ३—स्त्री प्रकट विश्वमाया है। भर्तृहरिजी शृङ्गारशतकमें लिखते हैं कि—'एताः स्खलद्वलयसंहतिमेखलोत्थझङ्कारनूपुररवाहतराजहंस्यः। कुर्वन्ति कस्य न मनो विवशं तरुण्यो वित्रस्तमुग्धहरिणीसदृशैः कटाक्षैः॥'

करु०—'बिस्व नारि माया प्रगट।' विश्वमें माया नारिरूप ही प्रकट है, जहाँ दृष्टि जाती है वहीं उड़ै है (उड़कर पहुँचती, देख पड़ती है)। मन, कर्म, वचनसे मायामें तनिक भी चित्त जाना यही मृगलोचनी (का देखना) कहा है, यह ज्ञानियोंके चित्तहीको हर लेती है। और, ऋद्धि-सिद्धि इत्यादि मायामें चित्त जाना 'बिधु बदनी' का मुख देखना है। इससे भी चित्त हरण हो जाता है। अतः वे ज्ञान-विज्ञानसे च्युत हो जाते हैं, क्योंकि वे रामविमुख हैं।

वीर—(क) यहाँ अबला जो स्वाभाविक मूर्ख जाति और निर्बल है वह प्रबल प्रतापी पुरुषोंको सहज ही काबूमें किये है। अपूर्ण हेतुसे कार्य पूर्ण होना 'द्वितीय विभावना अलंकार' है। (ख)—'नारि बिस्व माया प्रगट' में स्त्री उपमेय और माया उपमान है। उपमानका गुण उपमेयमें स्थापन करना 'द्वितीय निदर्शना' अलंकार है। 'सोउ मुनि………' में अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

वि० त्रि०—सब माया स्त्रीमें प्रकट है और जगत्में गुप्तरूपसे है। जगत्‌की सृष्टि किसीने देखी नहीं, नाश कोई देख नहीं सकता, पालन करनेवाली शक्तिका दर्शन दुर्लभ है, बहुत बड़े विचारशीलोंको उसका आभासमात्र मिलता है। स्त्रीमें ये सब बातें प्रकट हैं, यहींसे सब मायाका दर्शन होता है। जैसे स्त्रीसे जीवोंकी उत्पत्ति-पालन और नाश होता है वैसे ही मायाके संसारकी उत्पत्ति आदि, भेद इतना ही है कि स्त्रीका सम्बन्ध व्यष्टिसे है और मायाका समष्टिसे। अविचारसे ही स्त्री रमणीय है, विचारसे घृणित वस्तु, रक्त-मांस-मज्जा, स्नायु, अस्थि, चर्मादिका पिण्ड है और दिखायी इतनी सुन्दर पड़ती है। इसी भाँति माया भी दुःखरूपा है और देखनेमें ऐसी आकर्षक है कि संसार इसीमें फँसकर मर रहा है।

त्यागे हुए हैं, अपने बलसे मोक्ष चाहते हैं पर हैं श्रीरामपदविमुख! ये चारों मुनि हैं, ज्ञान-निधान हैं; पर मृगनयनी चन्द्रमुखी मायाको देखकर विकल हो जाते हैं, क्योंकि यह विश्व नारिरूप ही प्रकट है, इससे (बचकर) जायँ कहाँ? (बाबा रामदासजी)।

रा० प्र०—'जो मतिधीर पुरुष नारिको त्याग सकते हैं वे सच्चे विरक्त हैं। नहीं तो कामी जो विषयवश और रघुवीरपद-विमुख हैं, वह विज्ञाननिधान होते हुए भी मृगनयनीका मुखचन्द्र देख विकल हो जाते हैं। हे गरुड़! रामकी माया विश्वमें नारीरूपसे प्रकट है; वह अलख है, हम सबको तो प्रकट नचाती है और आप गोशे (कोने) में छिपी बैठी है।'

सि० ति०—यहाँ *'तु'* पादपूर्तिके लिये है; यथा—**'तु हि च स्म ह वै—पादपूरणे'** (रूपमाला-अव्ययार्थ-भाग); अतः *'न'* मात्रका अर्थ लेना चाहिये—'नहीं'।

उपर्युक्त अर्थोंपर विचार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें *'न तु'* और *'सो'* के अर्थ ठीक नहीं आये हैं। दूसरे उनमें इन बातोंपर विचार नहीं किया गया है कि—१ यहाँ शुष्क ज्ञानका प्रकरण है। उन ज्ञानियोंकी चर्चा है, जो रघुवीर-विमुख हैं न कि भक्त-ज्ञानियोंकी। २—विज्ञानीको कामी और विषयवश कहना ठीक नहीं है, क्योंकि कामी तो विमुख हो या न हो, वह तो विकल होगा ही। मतिधीरके विशेषण 'कामी विषयवश' नहीं हैं—ऐसा न माननेसे *'न तु'* पद ही व्यर्थ हो जाता है। ३—जो विमुख हैं, जिन्हें पुरुषार्थका बलभरोसा है, जो अपनेको ब्रह्म मानते हैं—उन्हींका यह प्रकरण है। *'मतिधीर'* ज्ञानीके लिये अनेक स्थलोंमें (गरुड़जीके भी सम्बन्धमें) आया है। ४—कामी विषयवश भी यदि रघुवीरकी शरण हों तो उनको माया नहीं व्यापती, क्योंकि तब प्रभु स्वयं उनकी रक्षा करते हैं, यह उनका विरद है। यथा—*'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥'*, **'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'**(गीता ७। १४) *'बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू। उलटौं महि जहँ लहि तव राजू॥'* (१। २७०) *'न त मारे जैहहिं सब राजा।'* (१। २७१) *'न त येहि काटि कुठार कठोरे।'* (१। २७५) में *'न त'* पाठ है जिसका अर्थ है 'नहीं तो'। *'न तु'* का प्रयोग ठीक वैसा ही है जैसा म्लेच्छ-भाषामें 'न कि' का। यदि *'न तु'* से केवल 'नहीं' का बोध कराना था तो 'नहिं' पाठ देते। पर यहाँ 'तु' जोर (Stress) देनेके लिये ही आया है। मा० पी० का अर्थ गीताप्रेसके विद्वानोंने भी ग्रहण किया है।

वि० त्रि०—१ (क) यहाँ *'मतिधीर'* से स्थिरप्रज्ञ अभिप्रेत है अर्थात् ज्ञानयोग-विज्ञानसे युक्त विरक्त पुरुष। भाव कि पुरुष और नारीमें भोक्तृ-भोग्य-सम्बन्ध है, अतः परस्परमें आकर्षण है, एक-दूसरेको छोड़ नहीं सकते, पर ज्ञानादिमें चित्-जड़ग्रन्थि छोड़नेका सामर्थ्य है, अतः एतद्गुणविशिष्ट पुरुष चित्-जड़को पृथक्-पृथक् देखता है, अहंकारकी ग्रन्थि उसके लिये खुली हुई-सी है, अस्मिता तनु अवस्थाको प्राप्त हो गयी है, अतः उसे भोक्तृ-भोग्य-दृष्टि ही नहीं है। (ख) *'नारिहिं'*—स्त्रीके समान कोई भी विषय बन्धनकारक नहीं है। उसके त्यागसे अन्य सब विषय त्यक्तके समान हैं। जब स्थितप्रज्ञ उसको त्याग कर सकता है तब दूसरे विषयोंकी गणना ही क्या है? (ग) यह बता देना आवश्यक है कि यहाँ वस्तुतः स्त्री और पुरुष जड़ और चेतन हैं। ज्ञानादि चेतनके धर्म हैं, इसीसे उन्हें पुरुष कहा और कामादि जड़के धर्म हैं, इसीसे उन्हें स्त्री कहा।

नोट—*'बिषया बस'* का *'विषय+अबस'* अर्थ इस भ्रमसे किया गया है कि *'बिषया'* कोई शब्द नहीं है; पर यह बात नहीं है। विषया=विषय, यथा—*'बिषया हरि लीन्ह न रहि बिरती'*—(१०१ छन्द), *'बिषया बन पाँवर भूलि परे'* (शिवकृत स्तुति १४ छन्द) *'बिषया'* विषयका बहुवचन है।

वि० टी०—स्थूल देहधारी स्त्रियाँ यद्यपि अबला कहाती हैं तथापि वे अपने रूपसौन्दर्यादिसे बड़े-बड़े मुनियोंतकको भी अपने वशमें कर लेती हैं तभी तो भर्तृहरिजीने कहा है कि **'(याभिः) शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः कथं ताः'** अर्थात् जिन्होंने इन्द्रादिकोंको भी परास्त कर डाला है, उन्हें अबला कैसे कहें? इसी प्रकार सूक्ष्मरूपवाली स्त्रियाँ यथा ऋद्धि-सिद्धि आदि ये भी प्रायः ज्ञान प्राप्त किये हुए मनुष्यको भी लोभमें फँसाकर परमात्मासे विमुख कर देती हैं। जैसा आगे कहा गया है।

नोट—'*रघुबीर*' इति। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामजीने 'प्रकृतिके सारे तूफानोंमें, सम्पूर्ण युद्धोंमें वेदान्तमय जीवन बनाये रखनेका दृष्टान्त दिखाया है। जगत्के और उस पारके निर्मल वैकुण्ठधामके अद्वैतवादको जटिलतामय युद्धके वक्षःस्थलपर स्थापित करनेका सामर्थ्य रखनेवाले होनेसे ही 'श्रीराम' वीर हैं। जो ब्रह्मचर्य प्रकृतिके भयसे अपनेको बचानेमें ही व्यस्त है, श्रीराम वैसे ब्रह्मचारी नहीं हैं।......जीवनकी सम्पूर्ण दिशाएँ शक्तिसे भरपूर होकर भी उच्छृङ्खल न हो सकें, श्रीरामजीके जीवनमें विश्वने इसी बातको प्रत्यक्ष देखा है।'—स्वामी श्रीपुरुषोत्तमानन्दजी अवधूतके इन वाक्योंसे यहाँ भाव यह निकलता है कि ऐसे जो वीर हैं, जो उनके सम्मुख होगा उसकी मायासे रक्षा करनेमें वे सदा समर्थ हैं। विमुख होनेसे ही जीव मायावश हो जाता है।

वि० त्रि०—२ '*बिमुख जो*—'—बिना भक्तिके अभ्यन्तरका मल जा नहीं सकता और उस मलके रह जानेसे समयपर भोक्तृ-भोग्यभावके उदय होनेकी पूरी सम्भावना रहती है। भक्ति बनी रहनेसे मल बराबर धुलता रहेगा और दृक्शक्ति निर्मल बनी रहती है, यथा—'*रघुपति भगति बारिछालित चित बिनु प्रयासही सूझै।*'

वि० त्रि०—३ (क) '*मृगनयनी*—' इति। सुन्दरतामें ऐसी अपूर्व अमृत-सञ्जीवनी शक्ति है कि वह मरे हुए मनको भी जगा देती है अर्थात् तनूकृत क्लेश भी उदारावस्थाको प्राप्त हो जाता है। यथा—'*जागेउ मनोभव मुयेहु मन बन सुभगता न परै कही। सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदन अनल सखा सही*—।' (ख) विवश हो जाते हैं, जो नाच वह नचाती है वही नाचते हैं।

वै०—'*नारि बिस्व माया प्रगट।*' विश्वमें नारीरूप माया प्रकट है। अर्थात् मैं सूक्ष्मरूप मायाका प्रभाव नहीं कहता हूँ, वरन् जो संसारभरमें युवतीरूप स्थूल तनसे माया प्रकट है उसका प्रभाव कहता हूँ कि उसीसे पुरुष नहीं बच सकते तब ऋद्धि-सिद्धि आदि सूक्ष्मरूपके सामने कौन अट सकता है?—[यह भाव दोनों पाठोंमें ले सकते हैं]

प० प० प्र०—इन दो दोहोंमें मिलाकर एक सिद्धान्त कहते हैं। विरक्त-मतिधीर आदि गुण-सम्पन्न मुनि भी सुन्दर तरुणीको देखकर मायावश हो जाता है। इसका कारण '*नारि—माया प्रगट*' है। भाव कि यद्यपि अखिल विश्वका रूप और नाम मायामय है तथापि अन्य विषयोंमें मायाकी शक्ति इतनी प्रकट नहीं है जितनी स्त्री-विषयमें प्रकट है। मायाका अत्यन्त प्रकट रूप नारी ही है। यथा—'*तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि।*' देखिये, जन्मसे ही तो मायारूपी नारी साथ लगती है। मायारूपी नारी माता हो तो अहंत्व-ममत्वका पाठ पढ़ाती है। इस प्रकार जन्मसे ही स्त्री जीवको मायाके पाशोंमें बद्ध करने लगती है। अन्य विषय जड़ होनेके कारण पुरुषके लिये स्वयं मोहक नहीं हैं। विषयोंका व्यसन भी बहुधा माताकी शिक्षा तथा अनुकरण आदिसे लग जाता है। अन्य विषय पुरुषको मोहित करनेके लिये स्वयं उनके पास नहीं आते हैं। माया स्त्रीरूपमें समीप जाकर पुरुषको अपने हाव-भावसे मोहबद्ध करनेका प्रयत्न करती है।

दूसरे विषयोंका त्याग करनेपर वे दूर रह सकते हैं, पर स्त्रीका त्याग करनेपर भी नारी-जातिके रूपमें माया कामरहित पुरुषोंके पास आकर मुनियोंके मनमें भी विमोह पैदा करनेमें समर्थ होती है। नारदजी तथा विश्वामित्र आदि मुनि जितकाम, विषयविरक्त होनेपर भी स्त्रीरूपी मायापाशमें फँसे। नारदजीको मोहित करनेके लिये भगवन्मायाको स्त्रीरूप ही बनना पड़ा।

☞ स्त्रीके लिये पुरुष ही मायाका प्रबल प्रकट रूप है, यह शूर्पणखा-प्रसंगमें स्पष्ट हुआ है। परमार्थ-मोक्ष-साधनमें स्त्रियोंकी संख्या अपवादात्मक होनेसे परमार्थ-विषयक ग्रन्थोंमें स्त्रियोंकी दारुणता ही विशेषरूपसे वर्णित है।

इहाँ न पक्षपात कछु राखौं। बेद पुरान संत मत भाखौं॥ १॥
मोह न नारि नारि के रूपा। पन्नगारि यह रीति* अनूपा॥ २॥
माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ। नारिबर्ग जानै सब कोऊ॥ ३॥

अर्थ—मैं यहाँ कुछ पक्षपात रखकर नहीं कहता हूँ (वरन्) वेदों, पुराणों और सन्तोंका जो सिद्धान्तमत

* नीति—(का०)।

है वह कहता हूँ॥ १॥ हे पन्नगारि! यह अनुपम (अनूठी, अनोखी) रीति है कि स्त्रीके रूपपर स्त्री मोहित नहीं होती॥ २॥ और आप सुनें कि माया और भक्ति ये दोनों ही स्त्रीवर्ग अर्थात् स्त्रीलिङ्ग हैं, यह सभी कोई जानते हैं॥ ३॥

नोट—१ *'इहाँ न पक्षपात कछु——'* इति। यह स्वभाव प्राय: लोगोंका होता है कि जो जिस मतका होता है उसमें उसका पक्षपात होता है। अत: इस सन्देहके निवारणार्थ यहाँ प्रथम ही कहते हैं कि यहाँ ऐसा नहीं है। मैं पक्षपातसे ऐसा नहीं कह रहा हूँ। कारण यह है कि जब कोई जिज्ञासु कोई निर्णय चाहे तब जो सत्य है वही कहना चाहिये और यदि कोई विवाद करने आवे और अपना पक्ष सिद्ध करे तब हठ करके अपना पक्ष सिद्ध करना होता है (पं० रा० व० श०)। पुन: भाव कि लोमशजीसे पक्षपात किया था पर यहाँ पक्षपात नहीं है (रा० शं० श०)। लोमश-प्रसंगमें स्वयं कहा है कि *'पुनि पुनि सगुनपच्छ मैं रोपा', 'भगति पच्छ हठि करि रहेउँ।'*(११४) इहाँ अर्थात् सन्निकट, इस प्रसङ्गमें। भाव कि वहाँ तो महर्षिजीसे उत्तर-प्रत्युत्तर छिड़ गया था, उत्तर-प्रत्युत्तरमें पक्षपात न करनेसे पक्ष गिर जाता है। यहाँ वह बात नहीं है; अत: आदरपूर्वक उत्तर दिया जा रहा है, पक्षपातके समय दूसरेकी बात सादर नहीं सुनी जाती। यथा—*'एहि बिधि अमित जुगुति मन गुनऊँ। मुनि उपदेस न सादर सुनऊँ॥'* (वि० त्रि०)। (ख) *'बेद पुरान संत मत——।'* इति। भाव कि वेद स्वत: प्रमाण हैं। पुराण और सन्तमत परत: प्रमाण हैं, अत: इनके वचन यदि वेदाविरुद्ध हो तभी ग्राह्य हैं। वेद-पुराणके वचन भी यदि शिष्टगृहीत नहीं हैं तो वे भी अग्राह्य हैं, जैसे मेघसे न ग्रहण किया हुआ समुद्र-जल अग्राह्य होता है। जो इन तीनोंका सम्मत है वही अभ्रान्तरूपसे ग्राह्य हो सकता है।

पं० रा० व० श०—*'मोह न नारि——'* इति। मोहका अर्थ यहाँ कामातुर होता है। अर्थात् स्त्री कैसी ही सुन्दर स्त्रीको देखे तो उसको कामोद्दीपन नहीं होता। पुरुष स्त्रीको देखकर मोहित अर्थात् कामवश हो जाता है। इसीसे ज्ञानादि पुरुषवाचक माया-स्त्रीको देख मोहमें फँस जाते हैं और भक्ति स्वयं स्त्री है, वह मायापर मोहित नहीं होती। पूर्व जो बालकाण्डमें कहा है कि *'रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥'* वहाँ 'मोहेका अर्थ है' 'मुग्ध हो गये।' वहाँ कामवश होना अर्थ नहीं है।

नोट—२ ☞*'मोह न नारि नारिके रूपा'* कहकर यह भी जनाया कि भक्त मायाके साथ रहकर भी उसमें आसक्त नहीं हो सकता और ज्ञानी मायाके साथ रहकर अवश्य उसके फंदेमें एक-न-एक दिन पड़कर जकड़ जाता है। भक्तको भय नहीं है, ज्ञानीको सदा भय है; इसीसे ज्ञानीको मायाके त्यागकी शिक्षा दी जाती है और भक्तिके समीप तो माया स्वयं डरती है, जैसा आगे कहते हैं। भक्त भगवान्‌की शरण रहकर मायासे तर जाता है, जैसा कि भगवान्‌ने कहा है—**'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।'** (गीता ७। १४)

वि० त्रि०—स्त्री-पुरुषमें ही परस्पर भोक्तृ-भोग्य-भाव है, अत: पुंशक्ति और स्त्री-शक्तिमें आकर्षण है। सुंदरतासे वह आकर्षणशक्ति बहुत बढ़ जाती है; अत: स्त्रीके रूपपर पुरुष और पुरुषके रूपपर स्त्री मोहित होती है। स्त्री-स्त्रीमें न तो भोक्तृ-भोग्य-भाव है और न आकर्षण है, कारण बिना कार्य होता नहीं। अत: स्त्री स्त्रीके रूपपर नहीं मोहित हो सकती। मोहित होनेके लिये भोग्यबुद्धि भी आवश्यक है।

प्रश्न होता है कि *'रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥'* यह कैसे हुआ? उत्तरके लिये दूर नहीं जाना है। श्रीराम और श्रीसीताजी यदि नर-नारी रहे तो रामायण ही व्यर्थ है। रामायण तो राम और सीताके स्वरूपका बोध करानेके लिये है। कहना नहीं होगा भोक्तृ-भोग्य-भाव अविद्याकी सीमाके भीतरकी बात है। सब नर-नारी, जीवमात्र, अविद्यासे मोहित हैं, सब विषयसुखके पीछे पड़े हैं, अविद्या जड़ होनेसे भोग्या है और जीवमात्र (नर और नारी) भोक्तृवर्ग हैं। चेतन होनेसे उनमें भोक्तृत्व है। जब जीवमात्र अविद्यासे मोहित हैं तब सर्वश्रेयस्करी मोक्षदात्री महाविद्या सीताके रूपपर जिसके द्वारा ब्रह्म रामको क्षोभ होता है, मोहित होना कौन आश्चर्य है? यथा—*'जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥'* (१। २३१। ३) नीतिकी गति धर्मार्थ कामतक है, श्रीराम-जानकीजीकी बात नीतिसे परे है, नीतिके पराधीन नहीं है।

पं० श्रीकान्तशरणजी—तात्पर्य यह है कि भक्ति इन्द्रियोंसे की जाती है। इन्द्रियाँ भगवान्‌का अनुभव करती हुई प्राकृत विषयोंकी अपेक्षा कहीं अधिक सुख पाती हैं, तो वे मायिक विषयोंकी ओर क्यों ताकेंगी? भक्तोंका विषय अपनी कामनासे नहीं होता, भगवान्‌के लिये ही उनकी सब कामनाएँ होती हैं, यथा—'**कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया।**'(भा० ९। ४। २०) यह अम्बरीषजीके विषयमें कहा गया है। (गीता २। ७०) में भी यही भाव है। तथा—'***रामचरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। विषय भोग बस करहिं कि तिन्हहीं॥***'(२। ८४)

पर ज्ञान आदि साधनोंमें इन्द्रियोंकी सहज वृत्तियोंको रोकना होता है, फिर उन्हें दूसरा कोई वैसा आधार नहीं रहता, इससे वे विषयोंपर बलात् दौड़ती हैं।

नं० प०—'यहाँ ज्ञानादिको पुरुष कहा और भक्तिको स्त्री, किन्तु ज्ञान व भक्तिके करनेवालेको स्त्री व पुरुष नहीं कहा गया है।'

पं०—भाव कि पुरुषोंको नारी मोहती है और युवतियोंको नहीं। इसी तरह वैराग्य आदिपर मायाका विक्षेप पड़ सकता है, अनन्य भक्तिपर नहीं। मैं पक्षपातसे नहीं कहता, श्रुति-स्मृतिका सीधा-सीधा मत कहता हूँ। भक्तिको माया नहीं मोहती, क्योंकि दोनों स्त्रीलिङ्ग हैं।

वै०—'***यह नीति अनूपा***' का भाव कि इस बातमें लोकोत्तर विशेष पुष्टता है, क्योंकि (जब) नारीप्रति नारीको कामोद्दीपन होता ही नहीं तब कौन कारणसे मोहित होवे? यह निश्चय ही इसकी अनूपता है।

पं० रा० व० श०—'***अनूपा***' का भाव कि इसे आबाल-वृद्ध सभी जानते हैं।

वि० त्रि०—'***यह नीति अनूपा***' इति। भाव यह कि हमारे यहाँ नीतिका बड़ा आदर है। नीतिके ज्ञानके लिये धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और कामशास्त्रका अध्ययन होता है। अवस्थाविशेषमें धर्मार्थ-काममें विरोध पड़ता है, वहाँ उनका तारतम्य समझकर नीति निर्धारण करना ही विद्याका फल है; अतः अवस्थापरिवर्तनसे नीति-नीतिसे परिवर्तन हुआ करता है। ऐसी कोई नीति नहीं है जो सब अवस्थाओंमें लागू हो। केवल '***मोह न नारि नारि के रूपा***' यही नीति ऐसी है कि माया भक्तिसे लेकर लौकिक नारी-नारीतक समानरूपेण उपयोगी है। इतना ही नहीं, आकर्षण और विकर्षणका सिद्धान्त इस नीतिपर कायम है। इस नीतिमें बाध नहीं है। इसीलिये अनूप कहा।

वि० टी०—शास्त्रोंमें मायाके लिये छः व्याख्याएँ की गयी हैं—(चन्द्रकान्तग्रन्थसे)।

१—जो वस्तु तीनों कालमें है ही नहीं उसे 'है' ऐसा मानना—माया है।

२—जो जीवके आत्मस्वरूपको अपने आवरणसे आच्छादित करती है।

३—जो वस्तु यथार्थज्ञान होनेपर समूल निवृत्त हो जाती है।

४—कार्य-कारण (जगत् और परमात्मा) के वेदका कारण।

५—माया वास्तवमें कुछ नहीं है, परन्तु वेदमें आत्माको जगत्‌का कारण तथा सर्वजगत्-रूप कहा है। इससे जगत् कारण सिद्ध होनेके लिये अर्थात् जगत्‌के उत्पन्न होनेमें परमात्मा आदि कोई भी कारणभूत है, ऐसा निश्चय होनेके लिये मायाकी केवल कल्पनामात्र की गयी है।

६—अपने अधिष्ठानमें जो आत्मा है उसके साक्षात् द्वारा जब अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है तब सर्वत्र परब्रह्म भासमान होता है, उसीका यह दूसरा नाम है।

नोट—३ गीतामें भगवान् अपनी गुणमयी मायाको 'दैवी' कहते हैं—'***दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया……।***' (७। १४) श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी लिखते हैं—भाव यह है कि 'लीलाके लिये प्रवृत्त मुझ परमदेवके द्वारा निर्मित है, इसीलिये यह सभीसे दुस्तर है'।……असुरों, राक्षसों और अस्त्रादिकी भाँति विचित्र कार्य करनेवाली होनेके कारण इसका नाम माया है।……अतएव 'माया' शब्द मिथ्या वस्तुका वाचक नहीं है। बाजीगर आदिको भी किसी मन्त्र या औषधके द्वारा मिथ्या वस्तुके विषयमें सत्यता-बुद्धि उत्पन्न कर देनेवाला होनेके कारण ही 'मायावी' कहते हैं। वस्तुतः वहाँ मन्त्र और औषध आदि ही माया है। सब प्रयोगोंमें अनुगत एक ही वस्तुको (माया) शब्दका अर्थ माना जा सकता है। अतः मिथ्या वस्तुओंमें जो माया शब्दका प्रयोग

है, वह मायाजनित बुद्धिका विषय होनेके कारण औपचारिक है। जैसे कि 'मचानें चिल्ला रही हैं' यह प्रयोग है। यह गुणमयी सत्य वस्तु भगवान्‌की माया ही '**मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।**' (श्वेता० ४। १०) (प्रकृतिको तो माया और महेश्वरको मायावी समझ) इत्यादि श्रुतियोंमें कही गयी है।

'भगवान्‌के स्वरूपको छिपा देना और अपने स्वरूपमें भोग्यबुद्धि करा देना, इस मायाका कार्य है।'

वि० त्रि०—'***माया भगति*** ......' इति। (क) भ्रम दो प्रकारका है, एक विसंवादी, दूसरा संवादी। रात्रिके समय घरके भीतर जलते हुए दीपकका प्रकाश किसी छोटे छिद्रद्वारा बाहर जा पड़ा। उसे देखकर किसीको मणिका भ्रम हुआ, अतः उसके लिये प्रयत्न करनेवालेको मणिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। ऐसे भ्रमको विसंवादी भ्रम कहते हैं। मणिकी प्रभाको देखकर उसे मणि मान प्रयत्न करनेवालेको मणिकी प्राप्ति होती है। प्रभाको मणि माननेवाला भी भ्रममें ही है पर उसका भ्रम संवादी है। माया विसंवादी भ्रम है और भक्ति संवादी है। अतस्मिन् तद्बुद्धि दोनोंमें है। तत्पदका बिना शोधन किये मिश्र ब्रह्मकी उपासना करनेवालेको परमानन्दकी प्राप्ति होती है। (ख) '***नारिबर्ग जानै सब कोऊ***'—संस्कृतमें भी माया और भक्तिका स्त्रीलिङ्गमें ही प्रयोग है; इसलिये कहा कि सब कोई जानता है।

पुनि रघुबीरहि भगति पियारी। माया खलु नरतकी बिचारी॥ ४॥
भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥ ५॥

शब्दार्थ—'खलु'=निश्चय ही। यथा—'***खलु खद्योत दिनकरहि जैसा।***'(६। ६। ६) '***तव प्रभाव बड़वानलहि जारि सकइ खलु तूल।***' (५। ३३) नरतकी (नर्तकी)=नृत्य करनेवाली, नटिनी।'

अर्थ—पुनः (फिर, दूसरे, उसपर भी) रघुवीर श्रीरामजीको भक्ति प्यारी है और माया विचारी निश्चय ही नाचनेवाली नटिनी है॥ ४॥ श्रीरघुनाथजी भक्तिके अनुकूल (अर्थात् उसपर प्रसन्न) रहते हैं (जो वह चाहती है वही करते हैं), इसीसे उससे माया अत्यन्त डरती है॥ ५॥

पं०—यदि कहो कि कहीं-कहीं स्त्रियोंको भी स्त्री छल लेती है तो उसपर सुनो—'***पुनि*** ......।' भाव कि जो स्त्रियाँ दोषवती होनेसे पतिसे त्यागी हुई हों उन्हींपर औरोंका बल पड़ सकता है। पर भक्तिरूपा स्त्री अव्यभिचारिणी है, परम धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र उसके पति हैं। उनकी भक्तिपर कृपा देखकर माया डरती है। इसीको आगे विस्तारसे कहते हैं।

पं० रा० व० श०—भक्ति पटरानीवत् है, प्रभुके बगलमें बैठनेवाली है। माया नटिनी दासी है; उसका काम है राजा श्रीरघुनाथजीको नृत्य आदि दिखाना। नृत्यादिके कारण राजा उसका कुछ आदर कर दे, पर उसका यह सामर्थ्य कब हो सकता है कि वह राजाकी पटरानीपर ही अपना दखल करे, रोब जमावे। रानीके प्रतिकूल काम करते डरती है, क्योंकि अभी तो कुछ आदर है फिर वह भी न रह जायेगा। '**भक्तिप्रियो माधवः**', ऐसा महर्षिने कहा है। महर्षिने ज्ञानको प्रिय नहीं कहा।

वि० त्रि०—'***रघुबीरहि भगति पियारी***'—रघुवीरसे सगुण ब्रह्मका ग्रहण किया। भक्ति सती स्त्रीकी भाँति राम ब्रह्मपर अनुरक्ता है, अतः उन्हें प्यारी है। यथा—'***ऐसी हरि करत दास पर प्रीति। निज प्रभुता बिसारि जन के बस होत सदा यह रीति॥ जिन्ह बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल करम की डोरी। सोइ अविच्छिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरी॥ जाकी माया बस बिरंचि सिव नाचत पार न पायो। करतल ताल बजाइ ग्वाल जुबतिन्ह सोइ नाच नचायो॥ बिश्वंभर श्रीपति त्रिभुवनपति बेद बिदित यह लीख॥ बलि सों कछु न चली प्रभुता बरु ह्वै द्विज माँगी भीख। जाको नाम लिये छूटत भव जन्म मरन दुख भार। अंबरीष हित लागि कृपानिधि सोइ जन्मेउ दस बार॥ जोग बिराग ध्यान जप तप करि जेहि खोजत मुनि ज्ञानी। बानर भालु चपल पसु पावँर नाथ तहाँ रति मानी॥ लोकपाल जम काल पवन रबि ससि सब आज्ञाकारी। तुलसिदास प्रभु उग्रसेन के द्वार बेंत कर धारी॥***'

वि० टी०—'***माया खलु नरतकी बिचारी।***' भाव यह है कि भक्ति पूर्ण-प्रेम-युक्त है और मायाका प्रेम अल्पकालके लिये रुचिकर है। '***डरपति अति माया***' यह मायाका डरना भक्तोंके भक्तिचिह्नोंसे विषयी

जीवोंके छड़कनेमें प्रत्यक्ष है। भक्तिकी सानुकूलता और मायाकी नटखटीको कबीरजी थोड़ेहीमें बहुत समझा गये हैं—*'आगे सीढ़ी साँकरी पाछे चकनाचूर। परदा तर की सुंदरी रही धका दै दूर॥'*

नोट—१ *'माया खलु नरतकी बिचारी।'* (क) नर्तकी है, यथा—*'सोइ प्रभु भ्रूबिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥'* (७२।२) सारा ब्रह्माण्ड रचना, ज्ञानियों एवं ईश्वरोंतकको मोहित कर लेना इत्यादि जितना जगप्रपंच है यही सब उसका खेल-तमाशा-नाच है। यह अपना नाच वह प्रभुको दिखाती है, यथा—*'जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥'* प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये नित्य नये प्रकारका नृत्य करती है और जबतक प्रभु प्रसन्न भी होते हैं, यथा—*'निज मायाबल देखि बिसाला। हिय हँसि बोले दीनदयाला॥'* (१। १३२।८) (ख) *'बिचारी'*—दासी है, बेबस है, कुछ कर नहीं सकती, इत्यादि भाव दर्शित करनेके लिये *'बिचारी'* विशेषण दिया। भाव कि वह तो वेश्यातुल्य है। (ग)—यहाँ तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग है।

२—मायाकी प्रभुता और नर्तकीका पूरा रूपक रा० प्र० ने यहाँ दिखाया है—*'नचावत माया सनकारि नाचत सब नरनारि। तोर मोर कै तारी बाजै गति ही की अनुहारि॥ उपजै राग रूप दरसावै लोभ मसलिया बारि॥ काम क्रोध मद दंभ कपट ए ठाढ़े साज सँवारि। पगनि कामना पैजनि झनकत दुरमति पटी ओहारि॥ नव नव भाव देखावत छिन छिन दूनौ हाथ पसारि। बड़ मसाल कै धूआँ गौजलि आँखि भइलि अँधियारि॥ बहुत रूप धरि नाच नचावत गएउँ जीवसे हारि। देव देव अपनी करुना से देहु मोहि अब तारि॥'*

वि० त्रि०—जी लिखते हैं कि माया अनेक भाव बतलाकर पर पुरुषोंको ठगा करती है। उसकी स्थिति ही परपुरुषोंको ठगनेपर अवलम्बित है। अतः 'नर्तकी' मात्र है।

नोट—३ *'भगतिहि सानुकूल—'* इति। (क) 'भक्ति' पर सानुकूलता ठौर-ठौरपर कही गयी है। वह इतनी प्रिय है कि प्रभु किसीको भी बिना माँगे अपनी ओरसे उसे नहीं देते और सब कुछ दे देते हैं। सानुकूल हैं, इसीसे सदा उसकी रुचि रखते हैं, यथा—*'राम सदा सेवक रुचि राखी।'* (२। २१९। ७) *'भगति अबसहि बसकरी।'* (३। २६ छंद) प्रियादासजीने भक्तिरसबोधिनी टीका भक्तमालमें भक्ति महारानीका शृङ्गार यों कहा है—

'श्रद्धाई फुलेल औ उबटनो श्रवन कथा मैल अभिमान अंग अंगनि छुड़ाइये।
मनन सुनीर अन्हवाय अंगुछाय दया नवनि बसन पन सोंधो लै लगाइये॥
आभरण नाम हरि साधु सेवा कर्णफूल मानसी सुनथ संग अंजन बनाइये।
भक्ति महारानीको शृङ्गार चारु बीरी चाह रहे जो निहारि लाल प्यारी गाइये॥

(ख) *'अति डरपति'* का कारण है कि *'जो अपराध भगत कर करई। रामरोष पावक सो जरई॥'* (२। २१८। ६) *'अति'* डरना कहनेमें 'अत्यन्तता' 'गोस्वामीजी शब्दसे भी दिखा रहे हैं, *'डरति'* से बड़ा शब्द *'डरपति'* दिया है। पुनः, डरनेका कारण यह है कि मायाका कार्य भक्तिके प्रतिकूल है, यथा—*'देखा जीव नचावै जाही। देखी भगति जो छोरै ताही॥'*(१। २०२। ४) *'अति डरपति'* का भाव कि श्रीरामजीको डरती मात्र है और भक्तिको अति डरती है। भक्ति रघुराजकी प्रिय पटरानी है। राजाकी प्रियाका अनहित कौन कर सकता है। उसकी सुदृष्टि-कुदृष्टिसे रंक राव और राव रंक होते हैं। फिर श्रीरघुराज स्वयं उसके सानुकूल हैं, तब किसीका क्या सामर्थ्य कि उसका अनिष्ट कर सके। अतः माया डरती हुई दूर खड़ी रहती है।

वै०—*'बिसेषि पियारी'* अर्थात् स्वकीया पतिव्रता है। *'माया बिचारी'* अर्थात् अनादर रहनेवाली है, क्योंकि नटी है। भाव कि नर्त अर्थात् कौतुकमात्र इससे प्रयोजन है।

रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसै जासु उर सदा अबाधी॥ ६॥
तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकै कछु निज प्रभुताई॥ ७॥
अस बिचारि जे मुनि बिज्ञानी। जाचहिं भगति सकल सुख खानी॥ ८॥

अर्थ—उपमारहित तथा उपाधिरहित रामभक्ति जिसके हृदयमें सदा निर्विघ्न बसती है, उसे देखकर माया सकुचाती है, किंचित् भी अपनी प्रभुता नहीं कर सकती॥ ६-७॥ ऐसा विचारकर जो मुनि विज्ञानी हैं, वे समस्त सुखोंकी खानि भक्तिकी याचना करते (माँगते) हैं॥ ८॥

पं० रा० व० श०—*'निरुपम निरुपाधी'* का भाव कि कोई साधन इसकी उपमाको नहीं पहुँचते। सब साधन जिनमें (पिता-पुत्र, सेवक-स्वामि आदि) स्वाभाविक सम्बन्ध प्रभुसे न हो वे उपाधि-(उपद्रव-) मय हैं। ऋषि लोग कहते हैं कि जीव परमात्माके अधीन हैं, वह परमात्मा नहीं बन सकते, परमात्मा बनते हैं यह उपाधि है। वह परमात्मा सबको वशमें रखनेवाला और सबका पति है, यह सम्बन्ध निरुपाधि है। निर्गुण भक्ति औपाधिक है।

वै०—*'निरुपाधि'* अर्थात् भक्ति करनेमें धर्मकी चिन्ता नहीं कि कोई धर्मसंकट डाल सके। उपाधि=धर्मचिन्ता, यथा—'**उपाधिर्धर्मचिन्ता**' इत्यमरः। सब धर्म छोड़कर भक्ति करना कहा है—'**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज**', अतः निरुपाधि कहा। अबाधी अर्थात् इसमें कोई बाधा नहीं कर सकता, विघ्नरहित है। (इससे ज्ञात हुआ कि वे *'अबाधी'* को विशेषण मानते हैं। पंजाबीजीके मतानुसार *'अबाधी'*=अविनाशी।)

नोट—१ *'निरुपाधी'* इति। यह शब्द मानसमें अनेक स्थलोंमें आया है। यथा—*'हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के।'* (१। १५। ४) *'जग हित निरुपधि साधु लोग से।'* (१। ३२। १३) *'निजानंद निरुपाधि अनूपा।'* (१। १४४। ५) *'सिंघासन प्रभु पादुका बैठारे निरुपाधि।'* (२। ३२३) 'उपाधि' शब्द भी आया है; यथा—*'नाम रूप दुइ ईस उपाधी।'* (१। २१। २) *'जो तेहि बिघ्न बुद्धि नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी।'* (७। ११८। १०) *'जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भै मोहि कारन सकल उपाधी॥'* (२। १८३। ३)—इनमेंसे १। १५, १। ३२ में तो 'छल-कपटरहित निःस्वार्थ सच्चा वा विशुद्ध' अर्थ है। (१। २१। २) में 'उपाधी' के अनेक अर्थ दिये गये हैं। शेष उदाहरणोंमें 'उपाधी' का अर्थ विघ्न वा उपद्रव स्पष्ट है।

यहाँ *'निरुपाधी'* को विशेषण माननेसे उसका अर्थ निश्छल, निष्कपट, शुद्ध होगा। और 'रामभक्ति निरुपम-निरुपाधि है' ऐसा अर्थ करनेसे उसका अर्थ 'निर्विघ्न, विघ्न वा उपद्रवरहित' होगा। बैजनाथजीने जो अर्थ दिया है वह भी इस अर्थमें लग सकता है। रा० प्र० कार 'मायारहित' अर्थ करते हैं। श० सा० में यह भी अर्थ मिलता है।

वि० त्रि०—*'रामभगति निरुपम—'* इति। (क) मनुष्योंके श्रेयके लिये चार योग कहे गये हैं—कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। कर्म और ज्ञानका निर्वाह भक्तिकी सहायतासे ही हो सकता है। भक्तिकी उपमा इन तीनोंसे नहीं हो सकती, क्योंकि कर्मयोग और अष्टाङ्गयोगसे तो उसकी उपमा हो ही नहीं सकती; यथा—*'जोग न जप तप मख उपवासा।'* रह गया ज्ञान, सो उससे भी 'संसारसे उत्पन्न दुःखहरणरूप फलमें ही समानता है, वस्तुसाम्य नहीं है। क्योंकि इसके स्वरूप, साधन, फल और अधिकारीमें विलक्षणता है। चित्तके द्रवीभूत होनेपर मनका रामाकार होना, यही सविकल्पक वृत्ति भक्ति है, और कठोर चित्त जब अद्वितीय आत्मामात्रको विषय करता है तब उस निर्विकल्पक वृत्तिको ज्ञान कहते हैं। रामगुणग्रामसे भरी रामकथाका श्रवण भक्तिका साधन है और *'सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा'* (तत्त्वमसि) आदि महावाक्य ज्ञानका साधन है। रामप्रेमका प्रकर्ष भक्तिका फल है और अज्ञानकी निवृत्ति ज्ञानका फल है। भक्तिमें प्राणिमात्रका अधिकार है और ज्ञानमें साधन-चतुष्टय-सम्बन्ध संन्यासीका ही अधिकार है। अतः भक्तिकी उपमा किसीसे नहीं दे सकते, वह निरुपम है। (ख) फलरूपा भक्तिमें कामना ही उपाधि है। कामनाकी पूर्तिके लिये प्रेम करना वस्तुतः प्रेम नहीं है। (ग) *'सदा बसै'* अर्थात् जो भक्तिसे क्षणमात्रका वियोग सहन न कर सके। यथा—*'रामभगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना॥'* अबाधीका भाव कि ब्रह्म साक्षात्कारानन्तर जगत्का बाध हो जाता है, पर भक्तिका बाध न हो। यथा—*'पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं।'* (घ) *'तेहि बिलोकि'*—भाव कि भक्तिके आते ही मनुष्यके स्वरूपमें अन्तर पड़ जाता है, विषय-रससे रूखापन और रामसे सरसता उसके चेहरेसे टपकने लगती है। अतः देखना कहा। (ङ) *'निज प्रभुताई'*—जीवमात्रको नचाना ही मायाकी प्रभुता है। यथा—*'नाचत ही निसि दिवस मरयो। तबही तें न भयो हरि थिर जब तें जिव नाम धरयो॥—'* (वि० ९१)। (च) विज्ञानी अर्थात् ब्रह्मलीन। ब्रह्मलीन विज्ञानीका दर्जा धर्मशील, विरक्त, ज्ञानी और जीवन्मुक्त सभीसे बड़ा है। *'जाचहिं'* से जनाया कि भक्ति कृपासाध्य है क्रियासाध्य नहीं।

रा० शं०—श्रीरामजी निरुपम-निरुपाधि हैं, अतः उनकी भक्ति भी निरुपम-निरुपाधि हुई। पूर्व कहा

कि माया डरती है और अब बताते हैं कि कितना डरती है—'*तेहि बिलोकि*' अर्थात् उसका निवास-स्थान ही देखकर सकुचा जाती है।

करु०—'*तेहि बिलोकि माया सकुचाई।*——' भक्तिपर स्वामीका प्रियत्व और सानुकूलता देख स्वामीके भयसे भक्तिके निकट नहीं जा सकती। अनुपम है अतः उसे देखकर लज्जित हो जाती है और निरुपाधि है यह समझकर चुप साधकर बैठ जाती है, कुछ प्रभुता नहीं कर पाती। ज्ञानी आदि अपने बलसे मायाको तरना चाहते हैं इसीसे माया बाधा करती है। अतएव ज्ञानमार्ग मोक्षको सबाध्य है और भक्तिमार्ग अबाध्य है, मोक्षदाता दोनों हैं। अतः विज्ञानी मुनि सबाध्य-अबाध्य-भेदसे भक्ति माँगते हैं।

रा० प्र०—भक्ति पति-प्यारी है इसी कारण सापत्नि भावना करती डरती है।

वै०—'*करि न सकै कछु निज प्रभुताई।*' भाव कि माया कुछ प्रभुता नहीं कर सकती, भक्ति अपनी खुशीसे चाहे विषयलीन रहे, माया उसे भवफंदमें नहीं डालती है।

नोट—२ '*अस बिचारि*' इति। '*अस*' अर्थात् जैसा ऊपर '*मोह न नारि नारि के रूपा।*' (११६। २) से '*तेहि बिलोकि माया सकुचाई। करि न सकै कछु निज प्रभुताई॥*' (८) तक कह आये, इस प्रकार।

पं०—'*अस बिचारि जे मुनि*——' इति। भाव कि तुमने पूछा था कि ज्ञान छोड़कर तुमने भक्ति क्यों माँगी, सो केवल मैंने ही नहीं माँगी और भी जो ज्ञानवान् मुनीश्वर हैं सो भक्तिपर भगवंतकी सहायता जानकर भक्ति ही माँगते हैं।

रा० प्र०—'*मुनि बिज्ञानी जाचहिं*——' इति। भक्तिको निरुपाधि अर्थात् सपरिवार मायारहित कहा गया। अतः विज्ञानी मुनियोंका भक्ति माँगना कहनेसे पराभक्तिकी याचना व्यञ्जित होती है।

नोट—३ '*सकल सुख खानी*' इति। यथा—'*भगति तात अनुपम सुखमूला।*' (३। १६। ४), '*सब सुख खानि भगति तैं माँगी।*' (८५। ३)

दो०—यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानै कोइ।
जो जानै रघुपति कृपा* सपनेहु मोह न होइ॥
औरौ ज्ञान भगति कर भेद सुनहु† सुप्रबीन।
जो सुनि होइ रामपद प्रीति सदा अबिछीन॥ ११६॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीका यह गुप्त चरित कोई भी जल्दी नहीं जान पाता। जो जानते हैं वे श्रीरघुनाथजीकी कृपासे। जो श्रीरघुनाथजीकी कृपासे जान जाता है उसे स्वप्नमें भी मोह नहीं होता। हे परम चतुर श्रीगरुड़जी! ज्ञान और भक्तिका और भी भेद सुनिये, जिसे सुननेसे श्रीरामजीके चरणोंमें सदा कभी भी क्षीण (कम वा नाश) न होनेवाली अविरल प्रीति होती है॥ ११६॥

पं० रा० व० श०—१ '*यह रहस्य*'। एकान्तमें कहनेवाली बातोंको 'रहस्य' कहते हैं। भगवान्‌ने परम प्रसन्न होनेपर भुशुण्डिजीसे यह कहा था कि '*मोहि भगति प्रिय संतत*', '*भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय अस मम बानी॥*' 'यह' अर्थात् जो ऊपर कह आये—'*भगतिहि सानुकूल रघुराया*' से '*जाचहिं भगति सकल सुखखानी*' तक। माया और भक्ति स्त्री हैं, भक्ति श्रीरामजीको प्रिय है, माया उससे स्वयं ही संकोच करती है—यह सब रहस्य है। ['*यह रहस्य*' इति। ज्ञान और भक्ति रघुनाथजीके रहस्य हैं। श्रीरघुनाथजीके अन्तर्यामी ब्रह्मरूपमें ज्ञान रहस्य है और किशोरमूर्ति परब्रह्ममें भक्ति-रहस्य है। (करु०) पुनः, '*यह रहस्य रघुनाथ कर*' का भाव कि पूर्व मैंने चरितविषयक परम रहस्य कहा था। यथा—'*यह सब गुप्त चरित मैं गावा। हरि माया जिमि मोहि नचावा॥*' यह रहस्य चरितका नहीं है, स्वयं रघुनाथविषयक है। केवल रघुनाथका प्यार भक्तिपर होनेसे ही भक्ति सर्वश्रेयस्करी है। (वि० त्रि०)]

* जाने ते रघुपति कृपा—(का०, मा० म०)। † परबीन—(शेषदत)।

२—*'जो जानै रघुपति कृपा'* इति। भाव कि वह कृपाहीसे जाना जा सकता है, यथा—*'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई।'* (२। १२७। ३) नहीं 'तो ब्रह्मादि सभी जाननेमें असमर्थ हैं, यथा—*'जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥ तेउ न जानहिं मर्म तुम्हारा।'* (२। १२७। १-२)

३—*'औरौ'।* भाव कि दो भेद कह आये कि ज्ञानादि पुरुष हैं, माया और भक्ति दोनों स्त्री हैं। पुरुषको माया स्त्री मोहित कर लेती है और भक्तिको नहीं, क्योंकि *'मोह न नारि नारि के रूपा।'* दूसरे, भक्तिपर श्रीरघुनाथजी सानुकूल हैं और माया तो नर्तकी है, अतः माया कुछ प्रभुता नहीं कर सकती; किन्तु अत्यन्त डरा करती है। अब तीसरा भेद कहते हैं। भेद कहनेके पूर्व उस भेदको जान लेनेको अथवा उसके श्रवणमात्रका फल कहते हैं कि अविच्छिन्न रामपदप्रेम होता है।

नोट—१ *'औरौ'* इति। वर्गभेद, भक्ति पटरानी, माया नर्तकी-भेद, ज्ञानीका मायाको त्यागकर पुनः फँसना इत्यादि भेद कहे, अब और भेद कहते हैं। इनमें ज्ञानसाधनकी कठिनता और दैवयोगसे साधन बननेपर भी अनेक विघ्नोंका भय दिखाते हैं।

२ *'जो सुनि होइ रामपद प्रीति……।'* भाव कि भेद सुननेसे भक्तिमें प्रीति होगी, प्रीति होनेसे भक्ति दृढ़ हो जायगी, यथा—*'प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।'* कथाका माहात्म्य जान लेनेसे उसके सुननेमें मन लगता है, इसीसे कथाके पहले उसका माहात्म्य कहा जाता है। अब दूसरा प्रसङ्ग कहते हैं, अतः पुनः *'सुनहु'* कहकर सावधान करते हैं।

'सदा अबिछीन' का भाव यह भी है कि इसके सुननेपर फिर आपको मोह न होगा, श्रीरामपद-प्रेम निश्चल हो जायगा। इस कथनमें यह ध्वनि है कि आपका मोह, संशय, शोक और भ्रम तो अवश्य अब दूर हो गया है, पर अभी अविच्छिन्न रामपद-प्रेम नहीं हुआ, अभी आप शुष्क ज्ञानको ही श्रेष्ठ समझ रहे हैं, पर अब जो भेद कहूँगा उससे आपका निश्चय प्रेम श्रीरामपदमें हो जायगा। [पुनः भाव कि श्रीरामपदमें सदा आपकी प्रीति तो है ही पर रणक्रीड़ा देखकर जो संदेह हुआ उससे प्रीति कुछ क्षीण हो गयी, वह इस भेदके सुननेसे परम पुष्ट हो जायगी। (रा० बा० दा०)] पुनः भाव कि पहले भेद-कथनकी फलश्रुति है कि *'सपनेहु मोह न होइ',* अब दूसरे भेद-कथनकी फलश्रुति कहते हैं कि अविच्छिन्न भक्ति हो। अर्थात् इसके हृदयमें धारण करनेसे रामकृपा अवश्य होती है। (वि० त्रि०)

शेषदत्तजी—भेद तो ऊपर कह चुके अब इस भेदमें और उसमें क्या अन्तर है? उत्तर—पूर्व जो कहा उसका यह सिद्धान्त है कि ज्ञानने मायाको त्यागा पर फिर आप ही बँध गया। और अब जो कहते हैं उसका सिद्धान्त यह है कि ज्ञान तो भूलकर भी मायाकी ओर दृष्टि न करेगा पर माया प्रबलतापूर्वक उसको सातवें प्रस्थानपर ठगेगी यह भेद सुनकर प्रवीण अर्थात् सावधान होंगे। पहलेमें यह स्वयं बँधा, दूसरेमें मायाकी प्रबलतासे बँधा, यह अन्तर है।

रा० प्र०—*'सपनेहुँ मोह न होइ'* क्योंकि *'काहू को पद दास न चाहत।'* (भाव कि तब जाग्रत्‌की कहना ही क्या?)

सुनहु तात यह अकथ कहानी। समुझत बनै न जाइ बखानी॥ १॥

अर्थ—हे तात! यह अकथ कहानी सुनिये। यह समझते ही बनती है, बखानी नहीं जा सकती (एवं न समझते बने न बखानी जा सके)*॥ १॥

---

* इसका अर्थ करु०, रा० प्र०, वीरकवि, वि० टी०, पं०, आदिने यह किया है कि 'समझते ही बनती है, बखानी नहीं जा सकती' और कुछ लोग 'न' को दीप-देहली मानते हैं। शेषदत्तजीने ऐसा ही करके यह शङ्का उठाकर कि 'जब समझते नहीं बनती और न कहते, तब कहोगे कैसे और समझेंगे कैसे?' उसका समाधान यह किया है कि 'श्रीरामकृपाके आश्रय जो कहते हैं उन्हें सदैव सुगम है और जो अपनी विद्यात्रय-अनुभवद्वारा कहना-सुनना चाहते हैं उनको तो 'अकथ' और 'असामुझ' है। कहनेका तात्पर्य यह कि आपपर और मुझपर प्रभुकी कृपा है, अतएव मैं विधिपूर्वक कहता हूँ आप सुनें।' कहनेका तात्पर्य यह है कि 'गरुड़ महाज्ञानी गुनरासी' हैं और भुशुण्डिजीको तो लोमशजी तथा साक्षात् प्रभुका वरदान है। जो समझमें नहीं आ सकती उसे वर्णन कैसे करोगे? इसका उत्तर यह है कि यथामति कहेंगे।

नोट—१ *'सुनहु तात यह अकथ कहानी'* इति। (क) श्रीगरुड़जीने प्रश्न किया था कि *'ज्ञानहि भगतिहि अन्तर केता। सकल कहहु प्रभु कृपानिकेता॥'* (११५। ११), उसका उत्तर देते समय श्रीभुशुण्डिजीने ***'सावधान सोउ सुनु'*** कहकर तब कहा कि ज्ञान आदि पुरुषवर्ग हैं इत्यादि। माया और भक्ति दोनों नारीवर्ग हैं, यह कथन करते समय भी कहा कि *'माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ।'* उसी तरह ज्ञान और भक्तिका और भी भेद कहते समय *'सुनहु सुप्रबीन', 'सुनहु तात'* कहकर सुननेके लिये विशेष सावधान कर रहे हैं। *'समुझत बनै न जाइ बखानी'* इसीसे सुप्रवीण कहकर प्रथम सुननेको कहा और फिर 'तात' सम्बोधनद्वारा श्रीगरुड़जीपर अपना वात्सल्य दिखाया। अब वे शिष्य हैं, अतः प्यारका सम्बोधन दे रहे हैं। (ख) ***'यह अकथ'*** का भाव कि यह रहस्य है, श्रुतिमें इसके कथनका निषेध है (रा० प्र०), अनधिकारीसे कहने योग्य नहीं होनेसे ***'अकथ'*** कहा। (शेषदत्तजी) अधिकारीके लक्षण पूर्व १११ (२) में लिखे गये हैं।

नोट—२ ***'समुझत बनै'*** का भाव कि यह अत्यन्त सूक्ष्म गूढ़ विषय है, बुद्धिसे समझते ही बनती है। ***'न जाइ बखानी'*** से जनाया कि वाणीद्वारा यथार्थ वर्णन करना असम्भव है। शेषदत्तजी लिखते हैं कि 'इससे अतिशय निरस जनाया। इन तीन विशेषणोंसे विषयकी गहनता और श्रोता-वक्ताकी प्राप्ति दुर्लभ जनायी।' महानुभावोंके विशेष भाव आगे दिये जाते हैं।

रा० शं०—आगे बताते हैं कि जीव चेतन, अमल, सहज-सुखराशि है, ऐसा होकर भी मायावश हो जाता है। यद्यपि माया जड़, समल और दुःखरूपा है। माया असत्य है और जीव अविनाशी है। इसीसे कहा कि *'समुझत बनै न जाइ बखानी।'* बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं कि समझमें आती हैं पर उनका कहना कठिन होता है। जैसे कि बीजमें वृक्ष है यह समझमें आता है पर कहते नहीं बनता, ऊँचेपरसे दूरतकका मैदान देख पड़ता है, यह बात समझमें आती है, इतना बृहत् मैदान आँखके अन्दर भरा है, पर यह कहना कठिन है कि छोटेसे तिलमें इतना भारी मैदान कैसे समा गया।

शेषदत्तजी—*'अकथ कहानी……' 'समुझत बनै न'* और *'न जात बखानी।'* से सूचित किया कि अनधिकारीसे कहने योग्य नहीं, यदि अधिकारी भी मिल जाय तो उसका समझना दुर्लभ है, और समझदार अधिकारी भी मिल जाय तो इसके वक्ता मिलना कठिन हैं।

रा० प०, रा० प्र०—*'अकथ कहानी'* का भाव कि यह रहस्य है, श्रुतिमें इसके कथनका निषेध है। ज्ञानी बनकर दूसरेसे कहेगा कैसे, कहनेमें दूसरा मानना ही पड़ेगा और अपने-आपसे ही कथन कैसा? यह लोमश-भुशुण्डि-प्रसङ्गसे स्पष्ट है। वेदरहस्यकथन तन्त्रमें भी वर्जित किया गया है। इन कारणोंसे ***'अकथ' 'न जाइ बखानी'*** कहा। *'समुझत बनै'* अर्थात् कहनेका तो निषेध है, केवल साधन करके ज्ञानाचरण करने तथा अनुभव करने ही योग्य है—***'ख्यात लाभ तू जन ते परत ज्ञान मंद।'***

वै०—*'अकथ कहानी'* कहने योग्य नहीं; क्योंकि अन्तरमें परावाणी रहती है जो रामतत्त्वका निरूपण करनेवाली है, उसके प्रभावसे समझते तो बनती है पर बखानी नहीं जाती; क्योंकि बखान करना वैखरीका काम है सो प्रकृतिवार्ता करनेसे मलिन है, अतः मति-अनुसार कहता हूँ।

वि० टी०—**अकथ कहानी**=वह विषय जिसका वर्णन करना कठिन है। भाव यह है कि निराकार ब्रह्म और देहधारी जीवका सम्बन्ध आजतक कोई भी पूर्णरूपसे नहीं कह सका, तो भी बड़े-बड़े महात्माओंके कथनानुसार थोड़ेहीमें उसका वर्णन करना चाहता हूँ। क्योंकि यह सब लोग जानते ही हैं कि इसका समझना बड़ी कठिनाईसे थोड़ा-थोड़ा हो सकता है। यथार्थ तो असम्भव ही है। योगवाशिष्ठमें वशिष्ठजीने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा है कि उपदेशका देना केवल परम्पराकी रीतिका पालन है, इसकी जानकारी तो केवल शिष्यकी बुद्धिपर अवलम्बित है—'**उपदेशक्रमो राम व्यवस्थामात्रपालनम्। ज्ञप्तेस्तु कारणं तत्र शिष्यप्रज्ञैव केवला॥**'

मा० म०—*'अकथ कहानी।'* कहानीका भाव कि कहने ही मात्र है, साधन कठिन है, पुनः, श्रीरामयशबिना प्राकृत कहानीके तुल्य ही है, निरर्थक होनेसे कहानी है।

मा० शं०—अकथ है तो कहानी कैसे और कहानी है तो अकथ कैसे? यहाँ 'अकथ' कहनेका

भाव यह है कि पूर्वाचार्योंने मतानुसार कहकर 'न इति' कहा, और कहानी इससे है कि भेद निर्णय है। वा, अकथ=कहने योग्य नहीं। अथवा, भाव यह है कि यह भेदयुक्त कहानी सदा अकथ है, जो अधिकारी नहीं हैं, उनके प्रति कथन अयोग्य है; इस भावसे अकथ कहा।

पं०—*'अकथ कहानी'* का भाव कि वेदान्तियोंकी मति-अनुसार अकथ है और उपासकोंके मति-अनुसार कथनयोग्य है। सो ये दोनों पक्ष समझते बनते हैं, कहे नहीं जाते। फलितार्थ यह कि अपने आचार्यके मति-अनुसार ज्ञान और भक्ति धारण करे, खण्डन-मण्डन न करे।

वि० त्रि०—१ (क) *'यह अकथ'* से भक्तिके साधनका सुकथ होना दर्शाया, यथा—*'भगति के साधन कहहुँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥'* 'कहानी' से 'अजातवाद' दिखलाया कि हम जो कुछ कहते हैं यह कहानी है। 'कहानी' सत्य नहीं होती, अतः यह भी पारमार्थिक सत्य नहीं है। सत्य तो एकमात्र निर्विशेष ब्रह्मकी स्थिति है। जिस प्रकार शशके कभी शृङ्ग नहीं हुआ, आकाशमें कुसुम नहीं हुआ, वन्ध्याके पुत्र नहीं हुआ, उसी प्रकार यह सब कुछ भी कभी हुआ ही नहीं, फिर किसका बन्ध और किसका मोक्ष? जो दिखायी पड़ता है सो भ्रम है। ब्रह्ममें अंश-अंशी भेद न है और न हो सकता है। माया और उसके प्रपञ्चका उसमें स्पर्श भी नहीं है। यथा—*'अनघ अद्वैत अनवद्य अव्यक्त अज अमित अविकार आनंदसिंधो'* (वि०), *'राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥ सहज प्रकास रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥ हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥'* *'यत्र हरि तत्र नहिं भेद माया।'* (विनय०), *'जग नभ बाटिका रही है फल फूलि रे। धुआँ कैसो धौरहर देखि तू न भूलि रे॥'*

शिष्यको संसार और बन्धनकी प्रतीति होती है। उसे इस प्रपञ्चके समझने और इससे मुक्ति-लाभ करनेके लिये जिज्ञासा है, अतएव गुरु उसकी दृष्टिके अनुसार, उसके समझानेके लिये निष्प्रपञ्चमें पहले प्रपञ्चका अध्यारोप कहते हैं और फिर प्रपञ्चका अपवाद करके यथार्थ स्वरूपका उपदेश करते हैं, अतएव यह अध्यारोप अपवादका उपदेश भी मिथ्या है। जिज्ञासाके पूर्वके साधन-चतुष्टय सब मिथ्या ही हैं। अतएव इस मिथ्या कथाको 'कहानी' कहा। परंतु इस कहानी सुनानेवालेको सिद्धान्त ज्ञान होता है, क्योंकि कहानीकी समाप्तिपर कहेंगे कि *'कहौं ग्यान सिद्धांत बुझाई',* अतः साधन-चतुष्टयसे ममता-मलके नष्ट होनेपर ही इस कहानीके कहनेका भी विधान है, यह कहानी यदि *'ममता रत'* से कही जायगी तो ऊसरमें बीज बोनेकी भाँति व्यर्थ होगी। यथा—*'ममता रत सन ग्यान कहानी।...... ऊसर बीज बए फल जथा।'*

(ख)—*'समुझत बनै न'*—समझते नहीं बनता। भाव यह कि निर्गुण ब्रह्म और गुणमयी मायाके संयोग-वियोगका इसमें वर्णन है। निर्गुण ब्रह्म ज्ञेय नहीं है, जाना वही जा सकता है जो ज्ञेय हो, स्वयं द्रष्टा कैसे जाना जाय? और द्रष्टा ही ब्रह्म है, अतएव वह नहीं जाना जा सकता; यथा—*'जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे॥ तेउ न जानहिं मर्म तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा॥'*

माया भी नहीं जानी जा सकती। वह तो अघटनघटनापटीयसी है, जो हो न सके उसीको कर दिखाना मायाका काम है। यथा—*'जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा॥'*, और संयोग-वियोग ब्रह्ममें बनता नहीं, यथा—*'सपनेहु योग वियोग न जाके',* अतएव यदि समझते बने तभी आश्चर्य है।

प० प० प्र०—*'समुझत बनै'* इति। यहाँ 'समझना'=अनुभव करना। कारण कि निर्गुण रूप स्वसंवेद्य तो है ही। यद्यपि वह अन्य विषयोंके समान ज्ञेय नहीं है तथापि **'मनसा एव अनुद्रष्टव्यम्।'** **'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः'** (इत्यादि श्रुति) **'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्'** (स्मृति भ० गी०) **'तथापि भूमन् महिमाऽगुणस्य ते विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः'** (श्रीमद्भागवत)। इस प्रकार ब्रह्म (अगुण ब्रह्म) समझा जा सकता है, यह श्रुति, स्मृति, पुराण आधारोंसे स्पष्ट है। *'समुझि मनहि मन रहिए'* (विनय०), *'नामरूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥'* इस तरह गोस्वामीजीके ग्रन्थोंसे भी *'समुझत बनै'* अर्थ ही उचित है। अन्यथा 'कहानी' (कल्पित कथा) कहने-सुननेसे लाभ क्या? **'शब्दशक्ते-रचिन्त्यत्वाच्छब्दादेवापरोक्षधीः'** (आचार्य)।

वि० त्रि०—*'न जाइ बखानी।'* बखानते भी नहीं बनता। भाव यह है कि उसको कहनेके लिये उपयुक्त शब्द ही नहीं मिलते, यथा—*'केसव कहि न जाइ का कहिये।……'* (वि० १११)। परन्तु वेदान्तके वाक्योंको गुरुमुखद्वारा सुनते-सुनते अनुभव हो सकता है, यथा—*'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान', 'अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता।'* ☞ इस चौपाईसे 'नित्यानित्यवस्तुविवेक' रूपी प्रथम साधन बतलाया गया।

सि० ति०—यथा—'**आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः। आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।**' (गीता २। २९) अर्थात् जीवतत्त्व इतना सूक्ष्म है कि इसका देखना, कहना, सुनना और जानना, सभी आश्चर्यरूप हैं। उसी जीवतत्त्वका इसमें मायावश होना और फिर साधनद्वारा मुक्त होना कहा जायगा। अतः इसका यथार्थ कहा जाना तो असम्भव-सा है, हाँ बड़ी कठिनाईसे लक्ष्यमात्र कहा जायगा। यथा—*'केसव कहि न जाइ का कहिये।'* भाव कि समझकर अनुभव करनेकी चीज है। समझना भी कठिन है। अतः गुरुमुखसे श्रवणकर इसका अनुभव हो सकता है। यथा—*'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान', 'ब्रह्म सुखहि अनुभवहिं अनूपा।'*

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ २॥

अर्थ—जीव ईश्वरका अंश है, अविनाशी, चेतन, स्वाभाविक ही निर्मल और सुखराशि है॥ २॥

वेदान्ती पं० रामपदार्थदासजी—'ईश्वरतत्त्वनिरूपण' मानसके उपक्रमोपसंहार आदिद्वारा। (१) उपक्रम—'**यन्मायावशवर्त्ति, यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलम्, यत्पादप्लवमेकमेव, रामाख्यमीशं हरिम्।**' (२) उपसंहारः—**श्रीरघुपति हरै।** (३) अभ्यास—*'सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥'* (१। ११७। ५-६) *नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥ संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥……।'* (१। १४४) *'सब मम प्रिय सब मम उपजाए।'* (७। ८६। ४) *'ब्यापक ब्रह्म (व्याप्य) अखंड अनंता। अखिल अमोघ सक्ति भगवंता॥ अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥ निर्मम निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा॥ प्रकृति पार प्रभु सब उरबासी। ब्रह्मनिरीह बिरज अबिनासी।'* (७। ७२। ४-८) *'सोइ सच्चिदानंदघन रामा। अज बिज्ञानरूप बलधामा॥'* (३) *'चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥'* (२। १२७। ५) ☞ अद्वैतसिद्धान्तानुसार निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म माननेमें गोस्वामीजीका तात्पर्य नहीं है, यदि वैसा होता तो इस तरह *'चिदानंदमय देह तुम्हारी'* नहीं लिखते। इसलिये निर्गुणादि पदोंका अर्थ विशिष्टाद्वैतके सिद्धान्तानुसार करना चाहिये। 'निर्गुण' का अर्थ हेय प्राकृत गुणरहित तथा 'निराकार' का अर्थ प्राकृत आकारादिरहित ही है। ब्रह्म दिव्याकृति और दिव्यगुणविशिष्ट है, इसीसे *'चिदानंदमय देह तुम्हारी'* कहना संघटित होता है। (४) अपूर्वता—*'नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥ ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई॥'* (१। १४४) *'भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।'* श्रुति भी यही कहती है—'**चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः। उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणः**' (५) अर्थवाद (प्रशंसा)—जब ब्रह्मके उक्त सच्चे गुणोंको '**स्तोतुमम्बुजभवोऽपि हि देवतेशः**', तब उसकी प्रशंसा कोई क्या करेगा? अतः ब्रह्ममें अर्थवाद नहीं हो सकता। (६) फल—जब जनकजीने विश्वामित्रजीसे पूछा—*'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥'*, तब उन्होंने उत्तर दिया—*'……। बचन तुम्हार न होइ अलीका॥'* आपका वचन मिथ्या नहीं है। भाव यह है कि श्रुतिसे नेति-नेति प्रतिपादित ब्रह्म दाशरथि श्रीराम ही हैं।

(७) उपपत्ति—*'राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा॥'*(१। ११६। ५) *'राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा॥ सकल बिकार रहित गत भेदा। कहि नित नेति निरूपहिं बेदा॥'*(२। ९३। ७-८) *'ब्रह्म अनामय अज भगवंता। ब्यापक अजित अनादि अनंता॥', 'ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥'* (१। १९८) *'सुख संदोह मोहपर ज्ञान गिरा गोतीत।'* (१। १९९)

☞ अद्वैतवेदान्तवादी अपना सिद्धान्त कहते हैं कि निर्विशेष शुद्ध कारण-ब्रह्म अवतार नहीं लेता।

मायोपहित अशुद्ध कार्यब्रह्म ईश्वर कहलाता है, वही अवतार लेता है। वैष्णवप्रवर श्रीगोस्वामीजीका सिद्धान्त इसके सर्वथा प्रतिकूल है। वे कहते हैं *'सुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुल केतु। करत चरित नर अनुहरत संसृति सागर सेतु॥', 'अबिगत गोतीतं चरित पुनीतं माया रहित मुकुन्दा।', 'जोगिन्ह परम तत्वमय भासा। सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा॥'* इत्यादि।

भगवत्-अवतारको मायोपहित (मायासे आच्छादित) ब्रह्म कहनेवालोंको गोस्वामीजीने शिवजीके उत्तररूपमें जो कुछ कहा है, उसीको यहाँ उद्‌धृत कर दिया जाता है, इससे गोस्वामीजीके मतका पता लग जायगा। यथा—*'निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥'*, अथवा *'जथा गगन घन पटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥ मायाबस मति मंद अभागी। हृदय जवनिका बहु बिधि लागी॥ ते सठ हठ बस संसय करहीं। निज अज्ञान राम पर धरहीं॥ उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥——'* जब पार्वतीजीने शङ्का की कि शुद्धब्रह्म तो अवतार लेता ही नहीं तब अवधेशकुमार राम ब्रह्म कैसे हुए? क्या शुद्ध ब्रह्म और अवधेशकुमार राम भिन्न-भिन्न हैं? तब यह सुनते ही शिवजीने अनखाकर ऐसा कहनेवालोंको बहुत जोरसे फटकारकर उनका भलीभाँति समाधान किया। देखिये बाल० दोहा ११४ से ११८ तक। अवतार लेनेवाले ब्रह्मको मायोपहित कार्य और अशुद्ध ब्रह्म अवतार मानना गोस्वामीजीके सिद्धान्तसे *'कुतरक कै रचना'* और *'दारुन असंभावना'* है। ब्रह्मके लक्षण और गुणादिपरक जितने शब्द श्रुतियोंमें मिलते हैं गोस्वामीजीने प्रायः उन सबोंका प्रयोग 'रामचरितमानस' में भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके लिये किया है।

वेदान्ती श्रीरामपदार्थदासजी—विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तमें ईश्वर, जीव, माया—ये तीन तत्त्व माने जाते हैं। इनका ईश्वरके साथ अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध है। तीनों नित्य हैं। अर्थात् जीवकी सिद्धि ईश्वरसे पृथक् नहीं हो सकती। अतएव इसको अपृथक् कहा गया है। वास्तविक जीव पृथक् तत्त्व है। जैसे सूर्य तथा सूर्यका प्रकाश। आकाशमें बहुत अपर भागमें सूर्य रहते हैं। सूर्यका प्रकाश, धूप आदि सर्वजन-साधारण-ग्राह्य है। परंतु सूर्यसे उसकी पृथक् सिद्धि नहीं हो सकती। जब सूर्य रहेंगे तभी धूप रहेगी, अन्यथा नहीं। गोस्वामी तुलसीदासजीने इसको वैदिक सिद्धान्त कहा है—*'इति बेद बदंति न दंतकथा। रबि आतप भिन्न न भिन्न जथा॥'*

चित्स्वरूप—(१) ज्ञानाश्रय। यथा—**'विज्ञानाश्रय।'** यथा—**'विज्ञानात्मा पुरुषः अथ यो वेदेदम्।'**, *'चेतन अमल सहज सुखरासी।'* (२) अणु। यथा—**'जिघ्राणीति स आत्मा एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः।'**, *'जीव चराचर जंतु समाना।'* (३) ईश्वरका नियम्य यथा—**'य आत्मनि तिष्ठन् य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः।'**, *'राम रजाइ सीस सब ही के', 'जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ।'* (४) ईश्वरका धार्य। **'एष सेतुर्विधरणः। एतस्य अक्षरस्य शासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।'**, *'बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥ सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥', 'प्रान प्रानके जीवके जिव सुख के सुख राम।'* (५) ईश्वरका शेष। यथा—**'यस्य आत्मा शरीरं यस्याक्षि शरीरम्', 'दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मनः परमात्मनः। परवानसि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते। आत्मदास्यं हरेः साम्यं स्वभावं च सदा स्मर ममैवांशः'** इत्यादि। (६) सुखस्वरूप। यथा—**'ज्ञानानन्दमयत्वात्मा ज्ञानानन्दैकलक्षणम्।'**, *'सहज सुखरासी।'* (७) निर्विकार। यथा—**'अमृताक्षरं हरः आत्मा शुद्धोऽक्षरः अविकार्योऽयमुच्यते।'**, *'निर्मल निरामय एकरस तेहि हर्ष सोक न ब्यापई'*, (८) कर्ता-भोक्ता। यथा—**'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येषा भोक्तृभोगार्थयुक्ता। अनीशश्चात्मा बद्ध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवमुच्यते सर्वपाशैः।', 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।'**, *'जो जस करइ सो तस फल चाखा', 'निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।'* (९) नित्य। यथा—**'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्'**, *'जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा।'* (१०) ईश्वरका परतन्त्र। यथा—**'एष एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति।'**, *'परबस जीव स्वबस भगवंता।'* (११) अनन्त। यथा—'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥', *'जीव अनेक*

एक श्रीकंता।' (१२) ईश्वरका सखा। यथा—'**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**', *'ब्रह्म जीव इव सहज संघाती।'* (१३) संकोच-विकासयुक्त ज्ञानवाला। यथा—*'उपजइ बिनसइ ज्ञान जिमि पाइ सुसंग कुसंग।'* इत्यादि।

जीव अनन्त हैं। उनके मुख्य तीन भेद हैं। बद्ध, मुमुक्षु और मुक्त। यथा—*'बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥'* कोई पाँच और कोई आठ भेद भी मानते हैं, परंतु मुख्य तीन ही हैं अन्य सब इन्हीं तीनके अवान्तर भेद हैं।

पं० श्रीकान्तशरण—इस एक ही अर्धालीमें शुद्ध जीवका स्वरूप कहा गया है, क्योंकि सूक्ष्म तत्त्वका वर्णन भी सूक्ष्म ही शब्दोंमें किया जाता है। बद्ध जीवका लक्षण भी एक ही अर्धालीमें कहा गया है; यथा—*'हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव धरम अहमिति अभिमाना॥'*(१। ११६)

पं० रा० व० श०—श्रुति और गीता प्रस्थानत्रयमें भी जीवको परमात्माका अंश बताया है। यथा—'**अंशो एष परस्य**—', '**अंशो नानाव्यपदेशात्**।'(ब्र० सू० २। ३। ४३) '**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः**।' (गीता १५।७) (अर्थात् मेरा ही जीवरूप सनातन अंश जीवलोकमें……), '**तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षराद्विविधा सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति**॥'(मुण्डक० २। १। १) (अर्थात् वह यह सत्य है। जिस प्रकार अत्यन्त प्रदीप्त अग्निसे उसीके समान रूपवाले सहस्रों स्फुलिङ्ग (चिनगारे) निकलते हैं, हे सौम्य! उसी प्रकार उस अक्षरसे अनेकों भाव (जीव) प्रकट होते हैं, और उसीमें लीन हो जाते हैं)। [अग्निका अंश चिनगारी, वैसे ही ईश्वरका अंश जीव। यथा—'**यथा वह्नेर्विस्फुलिङ्गाः जायन्ते तथा अक्षरतः विविधाः चिज्जडाभावाः। इति आथर्वणिकी श्रुतिः**॥' (भा० म०)। ईश्वर प्रतिबिम्बी है, देह प्रतिबिम्बका आधार है। जीव प्रतिबिम्ब है, इस तरह अंश हुआ। (मं० श०) 'ईश्वर अंश' जैसे भरतादिको अंश कहा है। (रा० प०) ईश्वर अंश प्रकृतिमें पड़नेसे जीव हुआ। यदि यह अपने अंशीकी रीतिपर चले अर्थात् आत्मरूपको पहिचाने रहे तो ईश्वरके ही गुणानुकूल यह भी अविनाशी आदि है। (वै०)]

वि० त्रि०—*'ईश्वर'* इति। ईश्वर और ब्रह्ममें अवस्था-भेदमात्र है। वस्तु-भेद नहीं है। ब्रह्मकी कोई अवस्था न होनेके कारण, जाग्रत्-स्वप्न और सुषुप्तिकी अपेक्षा उसे तुरीय (चौथा) कहते हैं और उस अपेक्षाको भी छोड़कर उसे तुरीयातीत या केवल तुरीय कहते हैं। यथा—'**तुरीयमेव केवलम्**' वही ब्रह्म जब जगत्के प्रकाशकरूप अर्थात् मायापतिके रूपसे देखे जाते हैं, ईश्वर कहलाते हैं। यथा—*'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुनधामू॥'*

'अंस'—मायापति ईश्वरका अंश कहनेका भाव यह कि ब्रह्म और मायाको लेकर ही सब प्रपञ्च है। पूर्ण ब्रह्मका खण्ड नहीं होता, *'यद्यपि एक अखंड अनंता'*, फिर भी मलिन-सत्त्वा माया (अज्ञान) द्वारा उसके अंशकी कल्पना होती है, जिसे कूटस्थ या साक्षी कहते हैं। साक्षी कूटस्थ भी ब्रह्म ही है, यथा—*'प्रकृति पार प्रभु सब उरबासी'*, परंतु जैसे महाकाश और घटाकाशमें कल्पित भेद है वैसे ही यहाँ भी कल्पित भेद है, यथा—*'मुधा भेद जद्यपि कृत माया।'* अभिप्राय यह कि तूलाविद्याका आश्रय साक्षी कूटस्थ है और मूलाविद्याका आश्रय साक्षी ब्रह्म है। प्रत्येक व्यक्तिमें तूलाविद्या भिन्न-भिन्न है और समष्टिभूता मूलाविद्या एक ही है। तूलाविद्याके भेदसे उसके साक्षी कूटस्थमें भेद माना जाता है। इसीलिये गोस्वामीजीने *'राम'* से ब्रह्म, ईश्वर और कूटस्थ तीनोंका ग्रहण किया है, क्योंकि एक ही तीन भाँतिसे प्रकाशित होता है।

वि० टी०—जीवको ईश्वरका अंश कहना यह कथनप्रणालीके अनुसार ही है; यथार्थमें ईश्वरके अनवच्छिन्न अर्थात् अखण्ड होनेसे उसका खण्ड कैसे हो सकता है? परंतु अंशके समान होनेसे अंश-शब्दका व्यवहार किया जाता है।

मा० म०—मायाविशिष्ट ब्रह्मको ईश्वर कहते हैं। उसका भाग यह जीव है।

वेदान्ती पं० रामपदार्थदासजी—अद्वैत-सिद्धान्तमें माया न सत् और न असत् है, किंतु सत् और असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय है; निर्विशेष ब्रह्मतत्त्वके साक्षात्कारसे ही वह निवृत्त होती है, और कोई भी उपाय नहीं है। जैसे शुक्तिका निश्चय होनेपर रजत निवृत्त हो जाता है, वैसे ही यथार्थ ज्ञान होनेपर माया नहीं

रहती। मायाके मिथ्या होनेसे मायाका कार्य समस्त प्रपञ्च भी मिथ्या ही है। परंतु विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तवादी गोस्वामीजी कहते हैं—*'जो जग मृषा ताप त्रय अनुभव होत कहहु केहि लेखे।'* अत: गोस्वामीजीके सिद्धान्तमें मायाका स्वरूप यह है—*'मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥ गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥ तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥'* अर्थात् 'मैं'—'मेरा' और 'तैं'—'तेरा' इस प्रकारका व्यवहार ही निश्चय कराता है कि कोई कारण-विशेष अवश्य है, जिससे सबकी बुद्धि वैसी हो जाती है। अत: मानना पड़ेगा कि वह कारण-विशेष माया ही है। उस मायाके स्वरूपकी व्याप्ति इतनी विस्तृत है कि वहाँ इन्द्रिय, विषय और मन पहुँच ही नहीं सकते।

अद्वैत सिद्धान्तमें मायाको तूलाविद्या और मूलाविद्या कहते हैं। मायामें आवरण और विक्षेप शक्ति मानते हैं। यह बात अद्वैत सिद्धान्तके ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध है। इन सब परिभाषाओंसे श्रीगोस्वामीजीकी परिभाषा भिन्न है। उनके किसी भी ग्रन्थमें उक्त प्रकारसे मायाका भेद नहीं कहा गया है; प्रत्युत वे मायाको विद्या-माया तथा अविद्या-माया रूपसे वर्णन करते हैं। अविद्याके वश होनेसे सब जीव भवकूपमें पड़े हैं, और विद्याकी सहायतासे निकल सकते हैं। अद्वैती कहते हैं कि माया (अपने बलसे, बलात्) ब्रह्मको अधिष्ठान बनाकर सम्पूर्ण जगत्‌की सृष्टि करती है। गोस्वामीजी कहते हैं—*'एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥', 'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया॥'* इत्यादि।

वि० त्रि०—*'जीव'* इति। मलिन-सत्त्वा-मायामें जब ब्रह्मका प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो सत्त्वके मालिन्यसे अनन्त प्रतिबिम्ब हो जाते हैं, और उन प्रतिबिम्बोंकी वह मलिन-सत्त्वा-माया ही देह हो जाती है। वही देह कारण-शरीर कहलाते हैं और उनके अभिमानी जीव प्राज्ञ कहलाते हैं। मलिन-सत्त्वामाया, तूलाविद्या अज्ञान-अहंकार, कारण-शरीर और नामरूपात्मिका ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। गोस्वामीजीने जीवकी मैले पानीसे उपमा दी है।

नोट—*'जीव अबिनासी'* इति। चिनगारीवत् अंश कहनेसे सम्भव है कि यह समझा जाय कि जैसे चिनगारीका अग्निसे निकलनेपर नाश होता है वैसे ही जीवका भी नाश होता होगा, इस संदेहके निवारणार्थ कहते हैं कि जीव अविनाशी है। (पं० रा० व० श०)

सि० ति०—अविनाशीकी व्यवस्था दो ही प्रकारसे हो सकती है, या तो विभु हो अथवा अणु। यहाँ जीवको विभु (व्यापक) कह नहीं सकते; क्योंकि उसे ईश्वरका अंश कहा जा चुका है। अतएव अणु ही मानना होगा। पुन:, उत्तरार्धमें *'अमल'* अर्थात् कामादि-मलरहित, एकरस रहनेवाला अर्थात् सद्रूप (सत्-रूप) कहा जायगा। उससे भी अणु-स्वरूप ही मानना पड़ेगा। अत: जीवात्मा अणु-परिमाण ही है; यथा— **'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।'**(मुं० ३। १। ९) अर्थात् जिसमें पञ्चविध प्राण प्रविष्ट हैं, यह अणु-परिमाण आत्मा सावधानीसे जानने योग्य है। **'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः। यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते।'**(श्वे० ५। ९। १०) अर्थात् बालके अग्रभागके सौ भाग करे, उनके एक भागके पुन: सौ भाग करनेपर जितना वह एक भाग हो, उतना ही परिमाणवाला वह जीव-तत्त्व होता है और वह अनन्त एवं असंख्य है। यह स्त्री, पुरुष, नपुंसक नहीं है; किंतु जिस-जिस शरीरको ग्रहण करता है उसी-उसीसे मिल जाता है। यथा—**'अणुमात्रोऽप्ययं जीवः स्वदेहं व्याप्य तिष्ठति। यथा व्याप्य शरीराणि हरिचन्दनविन्दुवत्।'** (स्कन्दपुराण); अर्थात् यह जीव अणु-परिमाण होते हुए भी सब शरीरमें व्याप्त होता है, जिस प्रकार मलय चन्दनका एक विन्दु शरीरके एक देशमें रहते हुए भी अपने धर्मभूत ज्ञानके द्वारा सर्वाङ्ग देहमें व्याप्त होता है।

उपर्युक्त रीतिसे 'अविनाशी' कहकर जीवका अणुत्व कहा। इसपर भी अणु-स्वरूप जीवात्माके प्रकृति-परमाणुओंकी तरह जड़ होनेकी शंका होती, इसलिये 'चेतन' भी कहा है, क्योंकि **'अणुत्वे सति चेतनत्वं जीवस्य लक्षणम्'** अर्थात् अणु होते हुए चेतन होना जीवका लक्षण है। जीवात्मा स्वयं चिद्रूप है और स्वधर्मभूत ज्ञानका आश्रय भी है, इसीसे यह 'चेतन' कहा जाता है; यथा—**'अरे वाऽयमात्मा विज्ञानघन**

एव।'(बृह० २। ४। १२) अर्थात् श्रीयाज्ञवल्क्यजी श्रीमैत्रेयीजीसे कहते हैं—अरे मैत्रेय! यह आत्मा विज्ञान-घन-स्वरूप है। **'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते।**'(प्रश्नो० ४। ९) अर्थात् यह ही देखनेवाला, स्पर्श करनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, चखनेवाला, संकल्प करनेवाला, जाननेवाला, करनेवाला और विज्ञानात्मा—जीव पुरुष है, यह अविनाशी परमात्मामें स्थित है। इन दोनों प्रमाणोंसे जीवकी उपर्युक्त ज्ञानस्वरूपता और ज्ञानाश्रय होनेकी ज्ञान-गुणकता सिद्ध हुई।

वि० त्रि०—(क) *'अबिनासी'*। अर्थात् जिस भाँति ईश्वर सद्रूप अविनाशी है, उसी भाँति जीव भी अविनाशी है, सद्रूप। (ख) 'चेतन' अर्थात् जड़से सम्बन्ध होनेपर भी प्रज्ञानघन है, यथा—*'निज सहज अनुभवरूप (तब खल भूलि धौं आयो कहाँ)'* (ग) *'अमल'*—निर्मल कहनेसे यह दिखलाया कि अभीतक (सुषुप्तितक) जीव ममतारूपी मलसे रहित है। गोस्वामीजीने ममताको मल माना है, यथा—*'ममता मल जरि जाइ।'* (घ) *'सहज सुखरासी'* अर्थात् कारणशरीराभिमानी होनेपर भी आनन्द-भोक्ता है। इसीसे कारण-शरीरको आनन्दमय कोष कहते हैं। उसकी अवस्था सुषुप्ति है, यथा *'अब सुख सोवत सोच नहिं।'*

करु०—*'चेतन अमल सहज सुखरासी'* इति। चेतनसे चित्-रूप, अमलसे सत्-रूप, सुखराशिसे आनन्दरूप अर्थात् सच्चिदानन्दरूप जनाया। जैसे गङ्गा-सरयूका जल घटमें भर लिया जाय तो भी वह गङ्गा-सरयूजल ही कहलाता है।

सि० ति०—ये ही *'सत् चित् आनन्द'* तीनों लक्षण छः प्रकारमें भी कहे गये हैं; यथा—**'तृतीयपदेन मकारेण ज्ञानानन्दस्वरूपो ज्ञानानन्दगुणकोऽणुपरिमाणो देहादिविलक्षणः स्वयंप्रकाशो नित्यरूपो जीवः प्रतिपाद्यते।'** (अग्रस्वामिकृत रहस्यत्रय) इन छहोंमें प्रथमके तीनके आधारपर अगले तीन रहते हैं, जैसे कि 'ज्ञानानन्द-स्वरूपता' से 'देहादि-विलक्षणता' रहती है, क्योंकि यह बोध रहता है कि मैं तो ज्ञानानन्द-स्वरूप हूँ, यह मलिन दुःखमय एवं हेय शरीर कैसे हूँ? इस ज्ञानमें इसमें देहाभिमानियोंके प्रतिकूल आत्म-लक्षण रहते हैं, यह उपर्युक्त *'सहज सुखरासी'* के अर्थमें है। यथा—'ज्ञानानन्द गुणक' होनेसे यह 'स्वयं-प्रकाश' रहता है कि मैं स्वरूपसे ही ज्ञानका आश्रय अर्थात् ज्ञानगुणक हूँ, मेरा ज्ञानरूप प्रकाश बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रिय आदिकी क्रियासे नहीं है। मैं स्वयं प्रकाशरूप हूँ। जीवात्मा अपने-अपने धर्मभूत ज्ञानके प्रकाशसे शरीरके एक देशमें रहते हुए भी समग्र इन्द्रिय-अन्तःकरणको चैतन्य किये रहता है, यथा—**'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥'**(गीता १३। ३३) यह उपर्युक्त 'चेतन' के अर्थमें आया। पुनः 'अणु-परिमाण' होनेसे 'नित्यरूप' है, यह ऊपर 'अविनाशी' के अर्थमें कहा गया। यह उपर्युक्त 'अमल' के अर्थकी सत्-रूपतामें आया। जीवकी नित्यरूपताको श्रुति भी कहती है; यथा—**'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विदधाति कामान्।'**(श्वे० ६। १। २३)*

भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यने जीवके इन लक्षणोंको मन्त्रार्थ प्रसङ्गमें स्पष्ट लिखा है; यथा—**'ज्ञानानन्दस्वरूपोऽवगतिसुखगुणो येन वेद्योऽणुमानो देहादेरप्यपूर्वो विदितविविधस्तत्प्रियस्तत्सहायः। नित्यो जीवस्तृतीयेन तु खलु पदतः प्रोच्यते स्वप्रकाशो जिज्ञासूनां सदेत्थं शुभनति सुमते शास्त्रवित्सज्जनानाम्॥'** (श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर ३। ९)। अर्थात् हे शुभ कार्योंमें सुन्दर बुद्धिवाले सुर-सुरानन्द! (राममन्त्रके बीजके) तृतीयाक्षर मकारसे शास्त्रज्ञ सज्जन जिज्ञासुओंके सदा वेद्य (जाननेयोग्य) ज्ञान, आनन्द, स्वरूप तथा ज्ञान और सुख आदि गुणोंवाला अणु-परिमाणवाला देह-इन्द्रिय-आदिसे विलक्षण, बद्ध आदि भेदोंसे अनेक प्रकारवाला प्रसिद्ध, परमात्माका प्रिय, मोक्ष आदिमें परमात्मा ही जिसका उपाय है, जो नित्य है और स्वप्रकाश है—वह जीव कहा जाता है।

शेषदत्तजी—१ कुछ लोग जीवको इन विशेषणोंसे सच्चिदानन्द सिद्ध करते हैं। इस तरह कि 'चेतन'से चित्, 'अमल' से सत् और *'सहज सुखरासी'* से निजानन्द-निधि जनाया। पर पहले चरणमें अंश कहा है इससे दूसरेमें फिर उसीको सच्चिदानन्द कहना ठीक नहीं बनता। २—अंशके उदाहरणमें पिता-पुत्र, जल-

* यह श्रुति उस स्थानमें नहीं है।

तरङ्ग; यथा—'**मय्यन्यं ते महाम्भोधौ वास्वर्य्यः जीववीचयः। उद्यन्ति घ्नन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः॥**' (अष्टावक्रे), कनक-कड़ा, सूर्य और किरण इत्यादि, अनेक दृष्टान्त लोग देते हैं, पर ये पूरी तरह घटित नहीं हो सकते।

जैसे कि—(क) पिता-पुत्र सहज सँघाती नहीं हैं और ब्रह्म-जीव सहज सँघाती हैं, कभी पृथक् नहीं होते। (ख) जलतरङ्गमें यह आपत्ति है कि जलका तरङ्ग और तरङ्गका ही जल होता है पर ईश्वर ईश्वर ही है और जीव जीव ही।-'**ईश्वरजीवमाया एते त्रयतत्त्वं दनादयोर्खण्डा चैकरसा सर्वदैवेति श्रुतिः।**' (ग) कनक-कटक दृष्टान्तमें यह आपत्ति है कि कनक तो कटकका उपादानकारण है कार्य भी कनक ही है। और 'तत्' 'त्वं' का निमित्तकारण है जैसे कुलाल घटका। जीव (चित्) और माया (अचित्) दोनों श्रीराघवके नित्य स्वरूपसे होते हैं, पर अन्तर्यामित्वद्वारा जीवके अभ्यन्तर ईश्वर प्रकाश किये रहते हैं। अतः यह कथन भी कच्ची ही। (घ) जैसे सूर्य किरणोंद्वारा सिन्धुजल आकर्षणकर मेघद्वारा सर्वत्र बरसते हैं, इसी प्रकार राघवजी नित्य परविभूतियोंसे सदा विराजते हैं और जीवोंद्वारा अखिल व्यवहार साधते हैं। यह कथन कुछ बनता तो है पर इसमें भी आपत्ति है कि रवि-किरण सर्वत्र पूरित तो है पर किसीमें स्नेहद्वारा बद्ध नहीं है, सूर्यास्तसमय सिमिटकर रवि-मण्डलान्तर वर्त्तती है। और, जीव तो जहाँ-तहाँ बद्ध हो रहा है तथा अन्तमें भी ब्रह्म मिलापकर शून्य है। इत्यादि।

ईश्वर-जीवमें प्रतिबिम्बी-प्रतिबिम्ब भाव है। प्रतिबिम्ब=दूसरी प्रतिमा। यथा—'**प्रतिबिम्बे तत्कृतौ च प्रतिकृत्यं च मण्डले लाञ्छणे चापि विशेस्वीति भास्करः।**' रघुनाथजीने अपनी इच्छासे अपने विनोदार्थ दूसरी प्रतिमा निर्माण की, यथा—गर्गसंहितायाम्—'**बिम्बादिवोद्धृतो बिम्बो ब्रह्मदेहात्तथापरः।**' बिम्ब-प्रतिबिम्बीके न तो समान ही है न न्यून। तुल्य कहनेसे श्रुति-विरोध होता है—'**न तत्समश्चाभ्यधिकश्च श्रूयते।**' अतएव षट् ऐश्वर्यके अतिरिक्त और सब प्रकार तुल्य जानिये।

सो माया बस भएउ गुसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥ ३॥

अर्थ—हे गुसाईं! ऐसा वह जीव मायावश हो गया और तोते और बंदरकी तरह (स्वयं ही) बँध गया॥ ३॥

नोट—१ (क) '***सो***' अर्थात् जो ईश्वरका अंश है, अविनाशी, चेतन, अमल और सहज सुखराशि है वही जीव। (ख) '***माया बस भएउ***' इति। यह महत्तत्त्वसे लेकर पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय इन सोलह विशेषोंतक अवस्थावाली है। सत्त्व, रज और तम तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम प्रकृति है। यथा—'**सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिरिति।**' 'सांख्यसूत्र'। सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण प्रकृतिके स्वरूपानुबन्धी स्वभाव-विशेष हैं, एकमात्र प्रकाशादि कार्योंके द्वारा इनका निरूपण किया जा सकता है। प्रकृतिकी कारण-अवस्थामें तो ये अप्रकट रहते हैं और प्रकृतिके विकारभूत महत्तत्त्वादिमें प्रकट हो जाते हैं (अर्थात् इसीके गुण विषम होकर महत्तत्त्व आदि रूपमें प्रकट होते हैं)। उस समय महत्तत्त्वसे लेकर विशेषोंतक तत्त्वोंके द्वारा उत्पन्न देव-मनुष्यादि शरीरोंसे सम्बन्ध इस देहधारी अविनाशी जीवात्माको, जो कि स्वरूपतः गुणोंसे सम्बन्धित होने योग्य नहीं है, देहमें स्थित होनेपर बाँधते हैं अर्थात् शरीरमें स्थितरूप उपाधिसे बाँध लेते हैं। (श्रीरामानुजभाष्य)। यथा—'**सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥**'(गीता १४। ५) भगवान्‌ने यह बताकर कि ये तीन गुण अव्यय आत्माको देहमें बाँध लेते हैं फिर आगेके तीन श्लोकोंमें इन गुणोंका स्वरूप और उनसे होनेवाले बन्धनका प्रकार बतलाया है। यथा—'**तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्। सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥ रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्। तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥**'(६—८)

सत्त्वगुण निर्मल होनेके कारण प्रकाशक है। प्रकाश और सुखके आवरणका अभाव ही निर्मलता है। अतः '**निर्मलत्वात्प्रकाशकम्**' का अभिप्राय यह है कि प्रकाश और सुखके उत्पन्न करनेका ऐकान्तिक स्वभाव होनेके कारण सत्त्वगुण प्रकाश और सुखका कारण है। वस्तुके यथार्थ स्वरूप-ज्ञानका नाम प्रकाश है।

तथा सत्त्वगुण अनामय है अर्थात् नीरोगताका कारण है। यह सत्त्व नामक गुण जीवको सुखकी आसक्तिसे और **ज्ञानकी** आसक्तिसे बाँधता है। अभिप्राय यह है कि सुख और ज्ञानमें पुरुषकी आसक्ति उत्पन्न कर देता है। ज्ञान और सुखमें आसक्ति उत्पन्न हो जानेपर मनुष्य उन दोनोंके लौकिक और वैदिक साधनोंमें प्रवृत्त होता है, फिर उन कर्मोंका फल भोगनेकी साधनरूपा योनियोंमें जन्म लेता है। सारांश यह कि सत्त्वगुण ज्ञान और सुख उत्पन्न करनेवाला और फिर उन दोनोंमें आसक्ति उत्पन्न करनेवाला भी है।

रजोगुण राग (स्त्री-पुरुषकी पारस्परिक स्पृहा), तृष्णा (शब्दादि विषयोंकी स्पृहा) और सङ्ग-(पुत्र, मित्र आदि सम्बन्धियोंमें सम्बन्धविषयक स्पृहा-) का कारण है। यह कर्मोंमें स्पृहा उत्पन्न करके जीवको बाँधता है; क्योंकि जीव कर्ममें स्पृहा करके जिन क्रियाओंका आरम्भ करता है वे पुण्य-पापरूप होती है, इसलिये वे अपने फल-भोगकी साधनरूपा योनियोंमें जन्म देनेवाली होती हैं।

तमोगुण अज्ञान-(विपरीत ज्ञान, मोह-) का कारण है। यह प्रमाद (अकर्तव्य कर्ममें प्रवृत्त करनेवाली असावधानी), आलस्य और निद्राद्वारा जीवको बाँधता है।

इन तीनों श्लोकोंका भाव ही श्लोक ९ '**सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत। ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥**' में कहा गया है।

गोस्वामीजीने मायाकी व्याख्या इस प्रकार की है—'***मैं और मोर तोर तैं माया। जेहिं बस कीन्हे जीव निकाया॥ एक दुष्ट अतिसय दुख रूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥***' (आ० १५। २, ५)। इन दोनों अर्धालियोंमें जीवका मायाके वश होना भी कहा है। इससे सूचित हुआ कि 'मैं-मोर' 'तू-तेरा' में ही जीव बँध गया है। अविद्या मायाके वश जीव भवमें पड़ा है।

२—'***गुसाईं***' इति। यह सम्बोधन है। यथा—'***तुम्ह निज मोह कहा खगसाईं। सो नहिं कछु आचरज गोसाईं॥***' (७०। ५) '***जिमि सिसु तन ब्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं॥***' (७४। ८) '***जिमि बिनु तेज न रूप गोसाईं।***' (९०। ६) '***देखेउँ करि सब करम गोसाईं। सुखी न भयउँ अबहि की नाईं॥***' (९६। ९) इत्यादि। तथा यहाँ भी सम्बोधन है। रा० प्र० कार लिखते हैं कि यह जीवका विशेषण भी हो सकता है। भाव यह है कि जो. इन्द्रियोंका स्वामी वा प्रेरक है वही जीव बँधा।

वि० त्रि०—गोसाईं=प्रभु, यथा—'***स्वामि गोसाइहि सरिस गोसाईं।***', '***सो गोसाइँ बिधि गति जेहि छेकीं।***' '***सो गोसाईं***' अर्थात् वह प्रभु (**कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थः**) है पर इस दशाको प्राप्त हो गया। यथा—'***निष्काज राज बिहाइ नृप इव स्वप्न कारागृह पर्यो।***' (वि०)। ईश्वरने तो केवल जगत्‌को उत्पन्न किया, वह उसका भोक्ता नहीं है। भोक्ता तो जीव है, इसलिये जीवको प्रभु कहा। भोगकी कल्पना जीवकी है। उसीने जगत्‌से लेकर मोक्षतक संसारकी कल्पना की है।

वि० त्रि०—माया। सत्त्व, रज और तमकी साम्यावस्थाको प्रकृति कहते हैं, यही ईश्वरकी शक्ति माया कहलाती है, यथा—'***सो हरिमाया सब गुनखानी।***' ब्रह्मसे पृथक् मायाकी सत्ता है नहीं, इसलिये उसे सत् नहीं कह सकते, परंतु उससे पृथक् मायाका कार्य दृष्टिगोचर होता है, इसलिये उसे असत् भी नहीं कह सकते, अतएव माया अनिर्वचनीया है। ब्रह्मसे यह सर्वथा विलक्षण है। ब्रह्म सच्चिदानन्द है, और माया मिथ्या, जड़ एवं दुःखरूपा है। मिथ्या, यथा—'***समुझे मिथ्या सोऽपि।***' जड़, यथा—'***जासु सत्यता ते जड़माया।***' दुःखरूपा, यथा—'***एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा।***' जिस प्रकार व्यवहारमें सत्यसे मिथ्या विलक्षण होते हुए भी, सत्यके आधारपर स्थित रहता है, सत्यके बलसे प्रकाशित रहता है और सत्यके ज्ञानसे बाधित होता है, वैसे ही पारमार्थिक मिथ्या (माया) भी पारमार्थिक सत्यके आश्रित ब्रह्मसे प्रकाशित तथा ब्रह्मसे विलक्षण है और ब्रह्मज्ञानसे ही उसका बाध होता है, यथा—'***झूठेहु सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने॥ जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपनभ्रम जाई॥***'

तीनों गुणोंका यह स्वभाव है कि वे एक-दूसरेको छोड़कर भी नहीं रह सकते। और एक-दूसरेको दबाया भी करते हैं। अतः गुणोंके तारतम्यसे मायाके भी अनेक भेद हैं, जिनमें दो प्रधान हैं। शुद्ध-

सत्त्वा-माया, जिसमें रज और तमका लेशमात्र है, विद्या कहलाती है, जगत्‌की रचनामें यही समर्थ है और मलिन-सत्त्वा-माया, अविद्या कहलानेवाली जीवके बन्धनका कारण है।

वि० त्रि०—*'बस भएउ'* अघटघटनापटीयसी मायाकी करामात है कि वह छायाद्वारा बिम्बको वशीभूत कर लेती है, यथा—*'करि माया नभ के खग गहई', 'गहै छाँह सक सो न उड़ाई।'* अतः कूटस्थ तूला-माया और प्रतिबिम्ब तीनों मिलकर जीव हुए, अब माया जो-जो और जैसा-जैसा नाच नचाती है, जीव वह और वैसा ही नाच नाचता है। यथा—*'देखा जीव नचावै जाही', 'नाचत ही निसि दिवस मर्‌यो। तब ही ते न भयो थिर जब ते जीव नाम धर्‌यो॥'*

वेदान्ती पं० रामपदार्थदासजी—*'माया'* इति। *'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने', 'जासु सत्यता ते जड़माया। भास सत्य इव……'* इत्यादि कुछ उद्धरणोंसे अद्वैत सिद्धान्तका भास होता है। परन्तु यहाँ अद्वैत नहीं है, क्योंकि अद्वैत सिद्धान्तमें तीन सत्ताएँ मानी जाती हैं—'प्रातिभासिकी' (शुक्त्यवच्छिन्न चेतनमें रजताभासकी प्रातिभासिकी सत्ता है); 'व्यावहारिकी' (शुद्ध ब्रह्ममें घटपटात्मक प्रपञ्चकी व्यावहारिक सत्ता है) और 'पारमार्थिकी' (शुद्ध ब्रह्म ही पारमार्थिक है)।

यदि गोस्वामीजीको यह सिद्धान्त अभिमत होता तो कहीं-न-कहीं इस सत्तात्रयात्मक सिद्धान्तको भी स्पष्ट करते। परंतु इन सिद्धान्तोंको उलटे भ्रमात्मक कहते हुए आपने इन्हें छोड़नेके लिये कहा है। यथा—***'कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै। तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपुन पहिचानै॥'***—इस उक्तिसे स्पष्ट यही प्रतीत होता है कि इन सांख्य, अद्वैत और द्वैताद्वैत आदि सिद्धान्तोंसे गोस्वामीजीका सिद्धान्त निराला है। श्रीगोस्वामीजीकी उपर्युक्त दो-चार ऐसी बातें उपलब्ध होती हैं जिनसे बहुत-से लोगोंको कुछ भ्रम होता है कि गोस्वामीजी विवर्तवादी थे—जैसे **'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः'** इत्यादि। परंतु इससे ग्रन्थकारने श्रीरामजीका उत्कर्ष विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तानुसार ही दिखलाया है।

यह प्रपञ्च भगवत्‌की सत्तासे पृथक् सत्ता माननेवालोंको बन्धनकारक है, क्योंकि समस्त प्रपञ्च ईश्वरका शरीर है—**'यस्य पृथिवी शरीरम्, यस्मात्मा शरीरम्, जगत् सर्वं शरीरं ते।', 'सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः।'** शरीरीसे ही शरीरकी सत्ता रहती है। शरीर और शरीरीका अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध होता है। अतएव ग्रन्थकारने **'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलम्'** कहा है।……जैसे भ्रमका विषय जो सर्प है, उसकी आकृति रज्जुकी आकृतिसे पृथक् नहीं है, इसी तरह ब्रह्मके स्वरूपसे पृथक् स्वरूपवाला प्रपञ्च नहीं, किंतु चिदचिद्‌विशिष्ट ब्रह्मस्वरूप एक है। यही विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त है। वेदान्तनिष्णात श्रीगोस्वामीजी इसी बातको कहते हैं—***'जेहि जाने जग जाइ हेराई'*** (जिस ब्रह्मके जाननेसे समस्त प्रपञ्चकी पृथक् सत्ता नष्ट हो जाती है)। ***'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध'*** यही आचार्योक्ति सिद्ध होती है। निष्कर्ष यह कि मायाकी प्रबलतासे भ्रम होता है। भ्रम होनेसे अन्यमें अन्यका आरोप होता है। जैसे सर्प और रज्जु अपने-अपने स्थानपर सत्य हैं, परंतु रज्जुमें सर्पका आरोप भ्रमात्मक है। सर्प सत्य है, किंतु रस्सीको सर्प मानना मिथ्या है। इसी तरह माया जड़ है, सत्य है और भगवत् परतन्त्र है; परन्तु मायाको स्वतन्त्र और चेतन ब्रह्मको अधिष्ठान बनानेवाली मान लेना असत्य है। सीपीमें रजत और सूर्यकिरणमें जल सूक्ष्मरूपसे सत्य है; परंतु स्थूलरूपसे व्यवहारके लिये त्रिकालमें असत्य है। ऐसा होते हुए भी भ्रम हो ही जाता है। यह भ्रम क्यों होता है? मायाकी प्रबलतासे। यथा—***'भास सत्य इव मोह सहाया।'*** उस मायाकी प्रबलताको स्वतन्त्र सत्ता मान लेना ही असत्य है। क्योंकि माया जड़ होनेसे स्वतः प्रबल नहीं है, वह तो ***'प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें।'*** इसीसे गोस्वामीजी लिखते हैं—***'एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥'***

……गोस्वामीजीने जगत्‌को झूठा और अनित्य माननेवालोंको बहुत फटकार बतायी है। यथा—***'झूठो है झूठो है झूठो सदा जग संत कहत जे अंत लहा है। ताको सहै सठ संकट कोटिक काढ़त दंत करत हहा है॥ जानपनीको गुमान बड़ो तुलसीके बिचार गँवार महा है।', 'जौं जग मृषा तापत्रय अनुभव होत कहहु केहि लेखे।'*** (कल्याणसे)

नोट—३ *'बँध्यो कीर मर्कट की नाईं'* इति। माया जड़ है, यथा—*'जासु सत्यता ते जड़ माया।'* जीव-चेतन है। अतः जीवको कीर और मर्कट चेतनोंकी उपमा दी। कीर और मर्कटके फाँसनेमें पोंगली, तीली, घड़ा आदि काममें लाये जाते हैं जो जड़ हैं, अतः ये मायाके स्थानपर हैं।

तोतेको फाँसनेके लिये बहेलिया यह करते हैं कि जहाँ बहुत शुक हैं वहीं पृथ्वीपर दो लकड़ियाँ (खूँटे, तिल्लियाँ) कुछ बीच देकर गाड़कर उनपर एक गोल पतली लकड़ी, या तार या डोर इत्यादिमें बहुत-सी पोंगलियाँ (पुल्ली या नली) पहनाकर, उसके दोनों सिरे खूँटोंमें कसकर बाँध देते हैं। इस यन्त्रके समीप कुछ अन्नके दाने छिटका देते हैं। तोते दाना चुगने आते हैं तो स्वभावसे ऊँचेपर बैठना चाहते ही हैं। वे पोंगीपर बैठ दाना चुगनेको झुकते हैं। पोंगलीके घूमते ही वे उलटे लटक जाते हैं। पंजेसे स्वयं पोंगलीको पकड़े हैं पर समझते हैं कि उसने हमें पकड़ लिया है। भ्रम और भयवश पुल्लीको छोड़ते नहीं। बस बहेलिया पास आकर एक-एककर उनको पकड़ लेता है।

बंदरको फाँसनेकी तरकीब यह की जाती है कि तंग मुँहके घड़ेमें अन्न रखकर घड़ेको पृथ्वीमें इस तरह गाड़ देते हैं कि मुँह ऊपर खुला रहे और बंदर उसे गिरा न सके। बंदर आकर उसमें हाथ डालकर मुट्ठी भर लेता है। मुट्ठी भर जानेपर वह तंग मोहरेसे नहीं निकल सकती। बंदर समझता है कि किसीने वा घड़ेने मुट्ठी पकड़ ली, यद्यपि दानेके लोभसे एवं भ्रमसे वह स्वयं बँधा है, न मुट्ठी छोड़ता है, न छूटता है। जैसे शुक और बंदर अपनेको जड़से बँधा हुआ समझते हैं, वैसे ही जीव समझता है कि जड़ मायाने मुझे बाँध लिया। वस्तुतः जीव स्वयं जड़को ग्रहण किये हुए है और भ्रमसे उसका पकड़ना समझता है। सुत-वित-नारि आदि सांसारिक समस्त विषय अन्नके दाने हैं जिनके भोगके लोभसे जीव संसार-बन्धनमें पड़ता है। संसारके विषयोंमें ममत्व बन्धनका कारण है।

शेषदत्तजी—१ सहज सुखराशि होकर विषयानन्दमें क्यों पड़ा? इसका उत्तर यह है कि जीवका यह स्वभाव ही है, यथा—*'हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धरम अहमिति अभिमाना॥'* जीवत्ववश भूलकर मोहवश हो गया। २—यहाँ दो बातें कही हैं। एक तो 'वश' होना दूसरे 'बँधना'। 'वश भयो से मनसे और 'बँध्यो' से तनका बँधना जनाया। वा कीरवत् वश होना और मर्कटवत् बँधना जनानेको दो विशेषण दिये।

करु०, शेषदत्तजी—लकड़ी पुल्ली आदि क्या हैं? शुभाशुभकर्म दो दण्ड (खूँटे) हैं। प्रवृत्तिवर्तक चित्तवृत्ति मध्यका दण्ड है, विषयवासना पुल्ली, मायिकसुख अन्न, तृष्णा क्षुधा, प्रवृत्तिकी कचाई पुल्लीका घूमना, भगवत्‌की ओरसे च्युत होना शुकका उलटा झूलना है और पिंजड़ेमें पड़ना भवमें पड़ना है। इसी प्रकार जीव मर्कट है, गृह कुल्हिया है, परिवार चना है, संसार खेत है, जहाँ यह कुल्हिया गड़ी है, स्नेह (करु०—वासना) मुट्ठी है। काल, नट वा किसान (करु०) मोहशृङ्खलासे बाँधकर अनेक नाच नचाता है।

करु०—वहाँ सुआ पूँगलीपर अन्नकी आशासे बैठता है। पूँगलीके घूम जानेसे वह उल्टा टँगा है। (गर्भमें जीव उल्टा टँगा रहता ही है) अन्न और भी निकट हो गया। आधे अंगुलका बीच चोंच और दानेमें है पर वह एक दाना भी नहीं ले पाता। उसकी चित्तवृत्ति अन्नमय हो रही है पर न तो दूर है और न तो पा ही सके। वैसे ही जीवकी चित्तवृत्ति तृष्णाकी प्रबलतासे सुत-वित-दारमें आसक्त है, उसको इनका ममत्व हो गया है, वे सब समीप हैं पर वह पदार्थ किंचित् प्राप्त नहीं है, इतनेमें कालवधिक पकड़कर चौरासीरूपी पिंजड़ेमें डाल देता है।

वै०—१ यहाँ प्रकृति खेत, बुद्धि चोंगली, सतोगुण बीचकी लकड़ी, रज, तम, अड्डा, जीव, सुवा और काल बहेलिया हैं। २—*'मर्कट'* इति।—गृह कुल्हिया, सुतादिकी ममता मूठी, मोह नट है।

खर्रा—*'बँध्यो कीर मर्कट की नाईं।'* यहाँ दो दृष्टान्त देनेका हेतु यह है कि जैसे सुग्गा (तोता) अलब्ध विषय है और वानर लब्ध विषय, वैसे ही जीव लब्ध विषय और अलब्ध विषय दो प्रकारके है। सुग्गा चरणबन्ध, वानर करबन्ध; तब दीपमणिका यत्न कैसे बने।

मयूख—'शुक मर्कट' जबतक जीव निज प्रभुके समीप था तबतक शुद्ध था। जब उसमें तन, मन

और विषयका संचार हुआ तब मानो शुक हुआ और जब नभचारी हुआ अर्थात् विषयमें उसकी प्रवृत्ति हुई तबसे उसका मन भ्रमकूपमें पड़ गया। जब जन्म लेकर दु:ख सहने लगा तब मानो बंदरका रूप हुआ और भूतलमें छूटा हुआ चरता है, उसीको सुख मानता है।

सि० ति०—जगत् छोटे मुँहका घड़ा है। *'जननी जनक बंधु सुत दारा। तन धन भवन सुहृद परिवारा॥'*, इन दसोंका स्नेह जगत्‌की दसों दिशाएँ हैं। इनमें सुख और वासना दाने हैं, उनकी ममतारूपी मुट्ठी बाँध ली है। अत: तीनों ऋणरूपी तीन लड़वाली रस्सीमें गला बँधा लिया और लोभवश अनेक नाच नाचता है; यथा—*'लोभ मनहि नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि।'* (वि० १५९)

इस प्रकार यहाँ दो उपमाएँ दो प्रकारके बन्धनोंके लिये हैं, एक उपमा गर्भवासतकके लिये, दूसरी सांसारिक जीवनके लिये हैं।

नं० प०—तोता प्राणके मोहमें पड़कर फँसता है, उसी तरह अविनाशी सुखराशी जीव अपने कुटुम्ब, परिवार, धन, दौलत, इष्ट, मित्र इत्यादिके मोहमें पड़कर फँस जाता है। और बंदर भी मुट्ठीभर चनेके लोभमें पड़कर फँस जाता है। इसी तरह जीव इन्द्रियोंके सुखके लोभमें पड़कर फँस जाता है और नाना प्रकारके दु:ख उठाता है।

वि० त्रि०—१ *'बँध्यो'* अर्थात् कूटस्थ प्रतिबिम्बद्वारा मायासे बँध-सा गया, जैसे घटाकाश-जलाकाशद्वारा जलसे बँध जाता है। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब जलके दोषोंसे दूषित होता है चंचल होनेसे चंचल होता है, उछलनेसे उछलता है, गिरनेसे गिरता है, दौड़नेसे दौड़ता है, निदान जलसे बँध जाता है उसी प्रकार जीव भी मायासे बँध-सा गया। परंतु जड़का उदाहरण देनेसे किसीको जीवके प्रति जड़का संदेह न हो तथा यह शंका न हो कि अज्ञान तो कोई रस्सी नहीं है जिससे कोई बाँधा जा सके, इसलिये कहा है कि *'बँध्यो कीर मर्कट की नाईं।'*

२—*'मरकट की नाईं।'* (क)—"""विचार करनेसे यहाँ सुग्गेको अज्ञानके सिवा कोई दूसरा बन्धन नहीं है। व्यवहारकालमें (वाचक ज्ञानी) पण्डितोंकी भी स्थिति मूर्खों-सी* देखी जाती है। अतएव पण्डितोंका अज्ञानबन्धन दिखलानेके लिये *'कीर की नाईं'* कहा। (ख)—वानर भी अज्ञानसे ही बँधा है। यह मूर्ख होनेसे 'सुग्गा पण्डित' की भाँति मोक्ष-शास्त्रका पाठ करते हुए बद्ध नहीं है। मूर्खका बन्धन दिखलानेके लिये *'मर्कट की नाईं'* कहा।—इसी तरह जीव अज्ञान-बन्धनसे बँधा हुआ है, हजार प्रयत्न करनेपर भी नहीं छूटता।

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥ ४॥

अर्थ—जड़ और चेतनमें गाँठी पड़ गयी। यद्यपि (जड़ और चेतनमें गाँठ पड़ना) झूठ ही है तो भी छूटनेमें कठिनता है॥ ४॥

जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई

रा० प्र०—ग्रन्थि स्नेह है जैसे वर-दुलहिनिकी गाँठ जोड़ना स्नेहका सूचक है।

मा० म०—चेतन आत्मा और जड़ मायामें परस्पर जो सरसता और नीरसता है उसीकी स्नेहरूपी ग्रन्थि दोनोंके बीचमें पड़ गयी। जीव मायामें सरसता समझ उसके सुखको भोगता है और माया इसीको भोगती है अत: जीवका छुटकारा नहीं होता। पुन:, ग्रन्थि तो सत्य है परंतु इसका पड़ना मिथ्या है। यह *'भूमि परत भा ढाबर पानी। जिमि जीवहिं माया लपटानी'* का उत्तर अर्थात् स्पष्टीकरण है।

---

* वि० त्रि०—किसी महात्माने सुग्गेकी यह दुर्दशा देखकर एक सुग्गा पाला और उसे लगे पढ़ाने—'देखो सुग्गा! दानोंका लोभ करके नलीपर न बैठना और यदि बैठना हो तो उसके घूमनेपर निडर होकर उसे छोड़ देना।' जब सुग्गा पढ़कर पण्डित हो गया तो उसे छोड़ दिया। उस सुग्गेका वाक्य सुनकर दूसरे सुग्गे भी वैसे ही बोलने लगे। महात्मा बड़े प्रसन्न हुए कि सभी सुग्गोंका भय निवृत्त हो गया। परंतु उनके आश्चर्यका कोई ठिकाना नहीं रहा जब कि उन्होंने एक सुग्गेको उसी प्रकार उलटा लटके हुए यह पढ़ते पाया कि 'देखो।'.........

पं०—देहमें अहं भाव गाँठ है। यह झूठी है, क्योंकि चेतनसे इतर जड़ कोई वस्तु है ही नहीं तब गाँठ किससे पड़े, पर ज्ञानके साक्षात्कार बिना छूटना कठिन है।

वै०—*'जड़ चेतनहि ग्रंथि—।'* तोता और बंदर चेतन, पिंजड़ा और रस्सी जड़; पर तोता पिंजड़ेके अधीन एवं बंदर रस्सीके अधीन चलते हैं। वैसे ही आत्मा-चेतन-त्रिगुणात्ममाया जड़में बँध गयी। अर्थात् ईश्वरांश और प्रकृति-अंश मन दोनों मिल गये, जिससे आत्मदृष्टि भुलाकर बुद्धि-दृष्टि उत्पन्न हो गयी कि मैं कुछ हूँ तब त्रिगुणात्म अहंकार हुआ जिससे इन्द्रिय, इन्द्रियदेवता, विषय इत्यादि सब जीवमें हो गये—ये ही सब जड़-बन्धन हैं। 'जड़' का भाव कि उसे बाँधनेकी शक्ति नहीं है। जभी जीव उनमें मुँह फेर ले तभी बन्धनरहित हो जाय। विचारने मात्रसे झूठा है, क्योंकि बाँधना छोड़ना जब अपने ही हाथ है तब सच्चा कहाँ?

वि० त्रि०—१ *'जड़ चेतनहि।'* जड़-चेतन दोनों विरुद्ध स्वभाववाले पदार्थ हैं। एक अन्धकार है, तो दूसरा प्रकाश है। एक विषय है दूसरा विषयी है। एक मिथ्या है तो दूसरा सत्य है। इन दोनोंमेंसे एकका दूसरेमें अध्यास (भ्रम होना अथवा एकके धर्मका दूसरेमें अध्यास होना मिथ्या है। यथा—*'छिति जल पावक गगन समीरा। पंचरचित यह अधम सरीरा॥ प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥'*

२—*'ग्रंथि परि गई।'* गाँठ पड़ गयी। अर्थात् तादात्म्य हो गया। जड़में चेतनका अध्यास (भ्रम) होने लगा और चेतनमें जड़का। इस गाँठको किसीने बाँधा नहीं है। अनादिकालसे पड़ी हुई है। शिष्यको समझानेमें सुभीताके लिये *'परि गई'* कहा। कारण-शरीरमें जो चेतनका अध्यास हुआ वही प्रतिबिम्ब है, वही गाँठ है। यथा—*'रजत सीप महँ भास जिमि जथा भानुकर बारि। जदपि मृषा तिहुँ काल महँ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥ एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई।'*

३—*'जदपि मृषा।'* झूठी अर्थात् भ्रममात्र है। मायाके साथ असंग कूटस्थका सम्बन्ध कैसा? घटाकाशका जलसे सम्बन्ध केवल भ्रमसे सिद्ध है। यथा—*'जदपि असत्य देत दुख अहई।'* *'छूटत कठिनई'*—छूटना कठिन है। किसीका हटाया नहीं हटता। क्या लोकका, क्या वेदका, सब व्यवहार इसी अध्यासपर टिका है। यथा—*'कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हे।'*

सि० ति०—जड़ माया और चेतन जीव इन दोनोंका विवेक नहीं होना बन्धन है, जीव-(पुरुष-) के सम्बन्धसे प्रकृति (माया) चेतन-सी भासती है और प्रकृतिके सम्बन्धसे पुरुष जड़वत् भासता है। इस तरहका अन्योन्य अध्यास (भ्रम) होना, एकके धर्मका दूसरेमें अध्यास होना तादात्म्य हो जाना—चेतन और जड़का गठबन्धन है, यह चिज्जड़ ग्रन्थि कही जाती है। 'जदपि मृषा'—यह गाँठ पड़ना मिथ्या है, क्योंकि जड़, चेतन दोनों विरुद्ध स्वभाववाले हैं। एक तम तो दूसरा प्रकाश, एक विषय तो दूसरा विषयी, एक अनित्य तो दूसरा नित्य। इनका सम्बन्ध कैसा? एकका दूसरेमें अध्यास होना भ्रममात्र है।* देहके धर्म मानापमान आदिका सुख-दुःख जीवको होता है। जीवके धर्म हर्ष-विषाद, ज्ञान-अज्ञान आदिका आश्रय बुद्धि अहंकार आदि भासते हैं। यह भ्रममात्र है। पर छूटना कठिन है; यथा—*'भ्रम न सकइ कोउ टारि', 'कर्म कि होहिं स्वरूपहिं चीन्हे।'*

प० प० प्र०—इसके दोनों चरण १५-१५ मात्राओंके हैं। इस न्यूनतासे आश्चर्यका भाव प्रकट किया है, कि मिथ्या वस्तुसे भी सुख-दुःखादिका अनुभव और जन्म-मरणादि हैं, यह माया की प्रबलता है।

तब ते जीव भएउ संसारी। छूट न ग्रन्थि न होइ सुखारी॥५॥

अर्थ—(जबसे जड़ माया और चेतन जीवका गठबन्धन हुआ) तबसे जीव संसारी हो गया। न गाँठ छूटे न वह सुखी हो॥ ५॥

नोट—१ *'तब ते जीव भएउ संसारी।'* संसारी=संसारके विषयोंमें लिप्त, भवमें पड़नेवाला। हरिसे पृथक्

---

* पाठक देखेंगे कि पं० श्रीकान्तशरणने मा० पी० में से (रेखांकित अंशको छोड़कर) पं० वि० त्रि० के लेखको कैसे चुराया है। इसी तरह प्र० सं० के सारे मा० पी० की चोरी की थी।

होनेपर जीव संज्ञा हुई। मायामें पड़ जानेसे स्वस्वरूप भूलकर विषयासक्त हो जानेसे संसारी होना कहा। कबसे जीव हुआ पता नहीं, अत: ग्रन्थि अनादि है यथा—'*जिव जबते हरि ते बिलगान्यो। तब ते देह गेह निज जान्यो॥ मायाबस सरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते दारुन दुख पायो॥*' (वि० १३६) '*नाचत ही निसिदिवस मर्यो। तब ही ते न भयउ हरि थिर जब ते जिव नाम धर्यो॥*' (वि० ९९१)

२—'*तब ते*'—इससे जनाया कि कालका कोई नियम नहीं है, अनादि कालसे संसारचक्र ऐसा ही चला आता है। जीव और मायाका सम्बन्ध भी अनादि कालसे है। केवल समझानेके लिये '*तब ते*' कहते हैं। यथा—'*बिधि प्रपंच अस अबल अनादी।*' (वि० त्रि०)

मा० म०—'*तब ते जीव भएउ*' से जनाया कि पहले भी जब यह शुद्ध ब्रह्मके देशमें था तब भी यह जीव ही था परन्तु जबसे ग्रन्थि पड़ी, मायाका संसर्ग हुआ तबसे यह संसारी हो गया, पहले संसारी न था।

स्वामी श्रीभोलेबाबाजी ('भवतरणोपाय' शीर्षक लेख कल्याण भाग ५ पृष्ठ ५३३ में) लिखते हैं कि—लोकोंकी उत्पत्तिका आदि हेतु प्रकृति है, उस प्रकृतिको कारण कहते हैं। कारणरूप प्रकृतिके सङ्गसे आत्मा-ब्रह्मकी आत्मदृष्टि भूलकर जीव हो गया। जब जीव आशामें बद्ध हुआ, तब बुद्धि हुई, जब असत् बुद्धि हुई, तब जीव असत् वासनामें बँध गया। जब जीव असत् वासनामें बँधा तब अहंकार हुआ, अहंकार होनेसे जीवमें विषमता आयी। सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे अहंकार तीन प्रकारका है। सात्त्विक अहंकारसे दस इन्द्रियाँ और मन हुआ, राजससे इन्द्रियके देवता और तामससे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सूक्ष्मभूत हुए। सूक्ष्मभूतोंसे क्रमसे आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी पाँच स्थूलभूत हुए। इस प्रकार स्थूल शरीर हुआ। विषय-संगसे काम हुआ, कामनाका नाश होनेसे क्रोध और क्रोधसे मोह हुआ, मोहान्ध होनेसे बुद्धि नष्ट हुई, तब जीव विषयी हो गया।

वै०—'*जीव भएउ संसारी।*' जीव संसारी जीव हो गया। भाव कि जीव अर्थपञ्चकमें ५ प्रकारके कहे गये हैं—१ 'नित्य' जो सदा भगवत्समीपी हैं, सहज ही अपना रूप सँभारे रहते हैं, माया छू नहीं जाती। २ 'मुक्त' जैसे भगवत्पार्षद। ३ 'कैवल्य' जो प्राकृतदेहधारी भगवत्में ही लगे रहते हैं। ४ 'मुमुक्षु'। ५ बद्ध।—बद्ध जीव संसार-व्यापारमें लगा रहनेसे संसारी होकर दु:ख भोगता है।

वि० त्रि०-१ 'तब ते' अर्थात् कालका कोई नियम नहीं है, अनादि अन्धपरम्परासे। अनादिकालसे संसार ऐसा ही चला आता है। इसीको अविद्या-निशा कहते हैं। इसीसे स्वरूपाज्ञान अर्थात् सुषुप्ति होती है। इस अवस्थाके विभु ईश्वर हैं। अपरिच्छिन्न तथा असङ्ग होनेसे विभुमें अहङ्कारकी गाँठ नहीं होती, परिच्छिन्न और सङ्गी होनेसे जीवमें अहङ्कारकी गाँठ है। इसी गाँठमें आवरण और विक्षेपरूपी निद्रा है। इसी निद्रामें पड़ा हुआ जीव अनेक प्रकारके स्वप्न देखा करता है। यथा—'*मोह निसा सब सोवनिहारा। देखहिं सपन अनेक प्रकारा॥*', '*आकर चारि लाख चौरासी। योनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥*' '*फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥*'

इसी सुषुप्तिसे भूतोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है। कारण देह प्राप्त ईश्वरांशके भोगके लिये ईश्वरेच्छासे तप:-प्रधान प्रकृतिमें आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी-तत्त्व उत्पन्न हुए, जिनके सत्वांशसे क्रमश: पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ और मिलकर अन्त:करण तथा रजांशसे क्रमश: पञ्चकर्मेन्द्रियाँ और मिलकर प्राण उत्पन्न हुए, यथा—'*गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कर नाथ सहज जड़ करनी॥ तव प्रेरित माया उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रंथनि गाए॥ बिषय करन सुर जीव समेता॥*'

इन पाँचोंसे जो शरीर बना वही लिङ्गदेह है। यहाँसे संसार अंकुरित हो गया, जो कि स्थूलावस्थामें पल्लवित और पुष्पित होगा। इन लिङ्गदेहाभिमानीका नाम तैजस है और इसके विभु हिरण्यगर्भ हैं। इस तैजसके भोगके लिये भगवान्‌ने पञ्चतत्त्वोंका पञ्चीकरण करके स्थूल शरीर तथा इस ब्रह्माण्ड-भुवनकी रचना की, यथा—'*जड़ पंच मिलै जिन देह करी करनी बहुधा धरनीधर की।*' (क)।

सोलह आनेमेंसे आठ आनेतक तत्त्वविशेषको लेकर उसमें दो-दो आने शेष चार तत्त्वोंको मिलाकर

उस तत्त्वविशेषको स्थूल रूप दिया। यही पञ्चीकरण है। जब तैजस स्थूल देहका अभिमानी होता है तब उसे विश्व कहते हैं। इसकी जाग्रत् अवस्था और विराट् विभु हैं। यथा—'*जनु जीव उर चारिउ अवस्था बिभुन्ह सहित बिराजहीं।*' प्रतिबिम्ब चाहे किसी अवस्थाको पहुँचे पर बिम्बसे उसका साथ नहीं छूटता, यथा—'*ब्रह्म जीव इव सहज सँघाती।*' अवस्था भेदके सम्बन्धसे बिम्बमें भी भेदकी कल्पना होती है। सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत्के भेदसे जीव क्रमसे प्राज्ञ, तैजस और विश्व हुआ। उसी भाँति तुरीय ब्रह्म भी ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट् कहलाये। ऐसा संसारका रूप अनादि कालसे चला आता है, केवल समझानेके लिये 'तब ते' कहते हैं। यथा—'*बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।*'

२—'*जीव भएउ संसारी।*'—जीव अपने सहज स्वभाव सच्चिदानन्दरूपको छोड़कर ईश्वरांशके ऐश्वर्यको खोकर संसारी हुआ, देहवाला हुआ। अब (१) लिङ्गदेह (२) लिङ्गदेहमें स्थित चिच्छाया और (३) अधिष्ठान चैतन्य, तीनों मिलकर जीव कहलाये। इस प्रकार तीन प्रकारके जीव हुए। (१) पारमार्थिक (२) प्रातिभासिक और (३) व्यावहारिक। पारमार्थिक जीव कूटस्थ है और प्रातिभासिक जीव लिङ्गदेहवाला है। इसी तीसरेको संसारी कहा। इसीका लोक-परलोकमें आना-जाना लगा रहता है। स्थूल-शरीर छूटता रहता है, पर यह लिङ्ग शरीर नहीं छूटता। यथा—'*कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं। मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं॥*'

'*ग्रन्थि न छूट न होइ सुखारी।*' न जड़-चेतनवाली अज्ञानकी गाँठ छूटती है और न जीव सुखी होता है। अज्ञानवाली गाँठ छूटे बिना सहज-स्वरूपकी प्राप्तिका दूसरा कोई उपाय नहीं है। किसी प्रकार जड़-चेतनकी गाँठ छूटनी चाहिये। यथा—'*तुलसिदास 'मैं' 'मोर' गए बिनु जिव सुख कबहुँ न पावै।*' (वि० १२०) तीनों चौपाइयोंमें सर्वप्रथम साधन मुमुक्षुत्वका वर्णन किया।

श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥ ६॥

अर्थ—श्रुतियों और पुराणोंने बहुत-से उपाय कहे हैं पर वह ग्रन्थि छूटती नहीं वरन् अधिकाधिक उलझती जाती है॥ ६॥

नोट—१ '*श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई।*……।' बहु उपाय कहे, इससे जनाया कि वे इसकी कठिनता जानते हैं और यह जानते हैं कि इसका छुटाना जरूरी है; अतः उपाय-पर-उपाय कहे। उपाय जैसे कि दान, यज्ञ, तप, व्रत इत्यादि। इनसे इहलोक और परलोकके विषयभोगकी वासना अधिक-से-अधिक होती जाती है। यथा—'*करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं॥*' (वि० १२८) '*तप तीरथ उपवास दान मख जो जेहि रुचै करो सो। पायेहि पै जानिबो करमफलु भरि भरि बेद परो सो॥ आगम बिधि जप जोग करत नर सरत न काज खरो सो।*' (वि० १७३)

२—'*छूट न*……' इति। उपाय होते हुए भी न छूटनेका कारण आगे कहते हैं कि '*जीव हृदय तम मोह बिसेषी।*' मोहके कारण वह ग्रन्थि सूझ नहीं पड़ती, अँधेरेमें छुड़ानेका प्रयत्न करनेसे गाँठ और उलझ जाती है इससे जनाया कि मोहान्धकार दूर करके उपाय करे तो सफलताकी आशा है। कर्म कामनायुक्त होते हैं उनमें अहंता और फलेच्छा बढ़ती जाती है कि हमने यह किया, हमें उससे यह फल मिलेगा, इत्यादि। इसीसे उलझाव होता जाता है '*छूटै मल कि मलहि के धोए।*' (४९। ५) में देखिये।

यह मोहान्धकार तभी छूट सकता है जब श्रीरामजीका अनन्य भक्त हो जाता है। '*सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥*' (कि० ३) '*निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।*', '*सातवँ सम मोहि मय जग देखा॥*' (४। ३६। ३) 'जगत् सर्वं शरीरं ते' इति श्रुतिः। जब यह भाव हो जायगा, तब रागद्वेषादि, अहंकार आदि कुछ भी रह ही नहीं सकते, तब तो '**सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः।**'

मा० म०—'*श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई।*—' का सन्दर्भ यह है कि योग, यज्ञ, व्रत इत्यादि जो श्रुति उपदेश करती है उसके करनेसे उसका शुभाशुभ फल जीवको भोगना पड़ता है इन कर्मोंके अनुसार अनेकों बार जन्म-मरण भोगना पड़ता है—यह अधिक-अधिक उलझना है।

रा० प्र०—उपनिषद्का ज्ञान थोड़ा होनेसे जैसा चाहिये वैसा अनुष्ठान नहीं बनता, ज्ञान हुआ थोड़ा, अहंकार हुआ अधिक। अत: पद पाकर भी गिरते हैं फिर मायाजालमें उलझते हैं। इसी तरह योगादिकमें सिद्धि पाकर उसीमें भूल जाते हैं और उस पदसे विमुख रह जाते हैं।

करु०, मा० म०, वि० टी०—*'छूट न अधिक अधिक अरुझाई।'* भाव यह है कि कहे हुए उपाय अनधिकारी होनेके कारण बहुत कम लोग समझते हैं, जो समझते हैं उनमेंसे कम लोग इन उपायोंको करते हैं और जो करते भी हैं उन्हें अनेक विघ्नोंके कारण सिद्धि प्राप्त नहीं होती, इसीसे वे हताश होकर फिर उपाय नहीं करते।

मा० शं०—जब छूटती ही नहीं तब उपायसे लाभ ही क्या? भाव यह है कि इनने अनेक उपाय कहे हैं पर उपाय करो ही नहीं तब छूटे कैसे? अथवा, ये सब उपाय उलझनेके ही हैं; जैसे तीर्थाटन और दीर्घसूत्री हैं इसीसे निष्फल होता है। विशेष भाव यह है कि २४ तत्त्वका नवाक्षयुक्त शरीर है, उसके भीतर १२ अंगुलका सूक्ष्मशरीर है, इसके भीतर ९ तत्त्वोंका कारणशरीर है और आत्ममार्ग मुखका द्वार है जिसमें स्वरूपविस्मरणरूपी किवाड़ें बंद हैं, उसके भीतर जीव मोहतमसे ढका हुआ है। उसके अन्तरग्रन्थि लगी है। वह उसे बिना देखे अपनी बुद्धिसे खोलना चाहता है। तब श्रुतिपुराण सुलझाना चाहते हैं पर वह अधिक उलझता है क्योंकि श्रुतिपुराण भी तो बाहर ही हैं, देखते तो ये भी नहीं।

करु०, शेषदत्तजी—श्रुति यज्ञ-तीर्थाटनादि कर्मकाण्ड उपाय बताती है। यज्ञोंसे स्वर्ग, इन्द्रपद इत्यादि मिलता है; इसीसे अधिक उलझना कहा। [और ज्ञानको वेदपुराण निरुपाय कहते हैं—(करु०)]

पा०—इन चौपाइयोंका भाव यह है कि जैसे बंदर और तोता चेतन होकर जड़ वस्तु पिंजड़े और रस्सीमें फँसकर नहीं निकल सकते ऐसे ही जीव मायामें ग्रस्त होकर नहीं छूटता। वेदने अनेक उपाय कहे हैं पर वह अपनी करनीसे अधिक लपट जाता है।

वै०—उपाय करनेपर भी नहीं छूटती क्योंकि कर्म ज्ञान-साधनादि ज्यों-ज्यों करता है त्यों-त्यों तेजप्रताप शक्ति ऐश्वर्य बढ़ते हैं जिससे मानमदादि और भी प्रचण्ड पड़ते जाते हैं। सत्कर्म सवासिक करते हैं और अशुभ स्वभावसे ही होता जाता है। लोकव्यवहारकी सत्यताकी प्रतीति अधिक बढ़ती है।

वि० त्रि०—१ *'श्रुति पुरान।'* वेदपुराणसे बढ़कर कोई प्रमाण नहीं, यथा—*'मारुत श्वास निगम निज बानी।'* तथापि वे भी जड़चेतनके अध्यासपूर्वक ही प्रवृत्त होते हैं, अतएव अविद्यावाले ही हैं, पर ग्रन्थिभेदका उपाय बतलानेमें भी यही समर्थ हैं—*'तस पूजा चाहिय जस देवता।'*

२ (क)—*'अधिक अधिक अरुझाई।'*—अनेक साधन जो बतलाये गये हैं, वे सब जीवके कल्याणके लिये ही हैं। अधिक-अधिक उलझनेका कारण यह कि—*'अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥ अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा॥'*—का कर्मकाण्डमें उपयोग नहीं है। और बाह्यधर्म, देहधर्म, इन्द्रियधर्म और अन्त:करणधर्म-सम्बन्धी विधिनिषेध कहकर ही कर्मकथाका उपदेश है।

बाह्यधर्म, यथा—*'पूजी ग्रामदेबि सुरनागा। कह्यो बहोरि देन बलिभागा॥'*

देहधर्म, यथा—*'करहु जाइ तप सैलकुमारी।'*

इन्द्रियधर्म,—*'काटिअ तासु जीभ जो बसाई। श्रवन मूँदि नत चलिय पराई॥'*

अन्त:करणधर्म,—*'मनहु न आनिय अमरपति रघुपतिभगत अकाज।'*

इन विधियोंके पालनमें धर्म है, स्वर्ग है, पर कर्मसन्तति बढ़ती ही जाती है। बिना अध्यासकी दृढ़ता बढ़ाये कोई धर्म नहीं हो सकता। अत: बाह्यपदार्थ, देह, इन्द्रिय और अन्त:करणमें अध्यासोंकी उलझन बढ़ती ही जाती है। (ख)—*'छूट न'।* कारण कि साधन-चतुष्टय-बिना तत्त्व-विवेकका अधिकार नहीं होता। अत: जिसने साधन नहीं किया उसे शास्त्रके पाण्डित्यसे भी ज्ञान नहीं होता। यथा—*'वाक्यज्ञान अत्यंत निपुन भवपार न पावै कोई। निसि घन माँझ दीपके बातन्ह तम निवृत्त नहिं होई॥'* (वि०)।

नित्यानित्य-वस्तु विवेक, इहलोक और परलोकके विषयभोगसे विराग, षट्-साधन-सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व

ये चार साधन हैं और शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान ये षट्सम्पत्तियाँ हैं, इस प्रकार साधन-चतुष्टय-सम्पन्न अधिकारी जब गुरु-वेदान्त-वाक्य-जन्य ज्ञानसे ग्रन्थिभेद करना चाहे तभी सम्भव है। नहीं तो—*'सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै। जेहि अनुभव बिनु मोह जनित दारुन भव बिपति सतावै॥'* केवल शास्त्रचर्चा वा अनधिकार-चर्चासे गाँठ नहीं छूटती।

सि० ति०—ज्ञानमें अहङ्कार आदि दोष और उपासनामें दम्भ, लोभ आदि आ जाते हैं। यथा—*'करम कलाप परिताप पाप साने सब ज्यों सुफूल फूलै तरु फोकट फरनि। दंभ लोभ लालच उपासना बिनास नीके सुगति साधन भई उदर भरनि। योग न समाधि निरुपाधि न बिराग ज्ञान बचन बिसेष कहूँ न करनि॥'* (वि० १८४)

भाव यह कि पहले मोहान्धकार दूर करके उपाय किया जाय तो सफलताकी आशा हो। देहाभिमानका निवृत्ति तभी होती है जब यह अपनेको एवं सब जगत्को भगवान्‌का शरीर जानता है, तब शरीरी होनेसे इसके सब उपायोंके कर्ता भगवान् ही रहेंगे। इसीके लिये भगवान्‌ने जहाँ-तहाँ विराट्रूप दिखाकर अपनेको जगत्‌भरका शरीरी दिखाया है। और उसकी दुर्लभतापर कहा भी है—**'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥'**(गीता ११। ५३)

भगवान्‌को अपना और जगत्‌का शरीरी जानकर उपासना करना उक्त ग्रंथि छूटनेका एक उपाय है। दूसरा कैवल्य ज्ञान साधन है जिसे आगे *'अस संजोग—'* से कहेंगे। इन्हीं दोनों उपायोंको गीता अ० १२ में **'एवं सततयुक्ता ये—'** इस श्लोकमें कहकर फिर इनका तारतम्य भी कहा है। वहाँ भगवान्‌ने कैवल्य साधनरूप अक्षरोपासनाको अत्यन्त कठिन और भगवदुपासनाको सुलभ एवं शीघ्रफलप्रद कहा है। वैसा ही प्रसंग यहाँ भी है। पहले कैवल्यसाधनकी कठिनता कहकर भक्ति चिन्तामणिकी महिमामें उसका सौलभ्य और शीघ्र फलप्रदत्व कहा है।

जीव हृदय तम मोह बिसेषी। ग्रंथि छूट किमि परै न देखी॥७॥

अर्थ—जीवके हृदयमें मोहरूपी अंधकार बहुत है, गाँठ देख नहीं पड़ती तब छूटे कैसे?॥ ७॥

खर्रा—१ *'तम मोह बिसेषी'*, मोहरूपी तम विशेष है। यहाँ मोह भगवत्-स्वरूपके यथार्थ ज्ञानका अभाव है, वह तमरूप है—*'परै न देखी'*, यहाँ जानना देख पड़ना है।

पं०—भाव कि आत्मा-अनात्माका ज्ञान नहीं तब गाँठ कैसे सुलझे? यदि कहो कि जब गाँठ उपायोंसे खुलती नहीं तब तो देवादिके वाक्य व्यर्थ ही हुए, उसपर आगे कहते हैं कि *'अस संजोग।'*

पं० रा० व० श०—ममतारूपी ग्रन्थि इतनी सूक्ष्म है कि समझानेसे भी किसीको नहीं सूझता कि हम जिनको अपना समझते हैं वे हमारे नहीं हैं। जब यह उसे सूझता ही नहीं तो छोड़ कैसे सके? ममताको तागा कहा भी है यथा—*'सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥'* (५। ४८। ५)

शेषदत्तजी—*'मोह बिसेषी—परै न देखी'* का भाव कि मोह ससमाज उपस्थित है। न सूझना छः कारणसे है—स्वस्वरूप भूला है, हृदय ज्ञानशून्य है, मोह-क्रोधादि समाजसहित आच्छादित किये हैं, ज्ञान-वैराग्य नेत्ररहित हैं, सुकृतिशून्य है और विमुखताका फल भोगना है।

वि० त्रि०—१ (क) *'जीव हृदय।'* यहाँ हृदय कहनेसे स्थूलदेहकी प्राप्ति दिखलायी। जीवके स्थूलदेहमें हृदय ही राजप्रासाद है, यथा—*'अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी।'* (ख) *'तम मोह बिसेषी।'* मोह अविवेकको कहते हैं, उसीको अन्धकार कहा गया है। इसीके कारण अध्यास होता है और यही अध्यासको बढ़ाता है। यथा—*'मोह न अंध कीन्ह केहि केही।'* अविद्या-रात्रिमें मोह-तमकी प्रबलता होती है। जीव-हृदयपर अविद्याका अधिकार है, क्योंकि वहीं जड़-चेतन ग्रन्थि पड़ी हुई है। अन्धकार तो संसारी होनेके पहले ग्रंथिमात्रसे ही था, परन्तु अब संसारी होनेसे अधिक हो गया, यथा—*'मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥'* इत्यादि। (ग) *'ग्रन्थि छूटि किमि'* इति। बिना देखे ही टटोलकर ममताके सूत्रोंको इधर-उधर खींचनेसे बन्धन ही दृढ़ होता है। *'परै न देखी'* और बिना प्रकाशमें देखे कि गाँठ कहाँ और कैसी है छूटना असम्भव है, अतएव दीपक जलाना चाहिये।

अस संजोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई॥ ८॥

अर्थ—जब ईश्वर ऐसा संयोग कर दें (जैसा आगे कहते हैं) तब भी कदाचित् ही वह (चित्-अचित्‌की गाँठ) छूट जाय तो छूट जाय। छूटनेमें सन्देह है॥ ८॥

पं० रा० व० श०—*'अस संजोग ईस जब करई।'* ईश्वरने ही कृपा करके मोक्ष साधनका यह दुर्लभ साजरूपी शरीर दिया, यथा—*'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥'* वैसे वे ही कृपा करके यह संयोग भी कर देते हैं। अतः *'ईस जब करई'* कहा। यह संयोग कृपासाध्य जनाया, क्रियासाध्य नहीं।

मा० म०—*'अस संजोग ईस जब करई'* इति। यहाँ ईश ब्रह्माको कहा जिसने परतम श्रीरामचन्द्रसे जीवको विमुख किया, वह ऐसा संयोग नहीं करता, यदि करे भी तो ऐसा संयोग होना कठिन है इसीसे कहा कि *'तबहुँ कदाचित सो निरुअरई।'*

वि० त्रि०—संयोग ब्रह्माके हाथकी बात है, मनुष्यके सामर्थ्यसे सर्वथा परे है। यथा—*'जौ बिधि बस अस बनै संजोगू।'* *'अस संजोग'*—ऐसा कहनेका भाव यह है कि संयोगोंका सिलसिला बँध जाय। अर्थात् सात्त्विक श्रद्धारूपी गौ भी मिल जाय, शुभ धर्मरूपी चारा भी मिले, इत्यादि यथेप्सित मिलते ही चले जायँ।

पं०—भाव कि शास्त्रोंकी प्रवृत्ति व्यर्थ नहीं है परन्तु जब ईशकी कृपा हो तब बने।

शेषदत्तजी—रामकृपा होनेपर भी कदाचित् सुलझना, यह कैसे? उत्तर यह है कि 'राघवकी सहज कृपा तो समस्त जीवोंपर सनातनसे है पर जीव ही अपनी कृतघ्नतासे इतः-ततः गोते ही खाता है। जिससे बिना ही साधन परम कल्याण होता है वह तो नित्यानुरागियोंपर ही राघवीकृपासे बनती है।'

पाँ०—कदाचित् ईश्वर भी छुड़ानेपर सानुकूल हों तो भी अपनी करनीके कारण छूटे वा न छूटे।

वि० त्रि०—१ *'ईस जब करई।'* भाव कि ऐसा संयोग विधि भी नहीं कर सकते, वे तो स्वप्नके विभु हैं, कारणपर उनका अधिकार नहीं है, कर्म शुभाशुभ दिया करते हैं, यथा—*'कर्म सुभासुभ देइ बिधाता।'* और ईश्वर सुषुप्तिके विभु हैं। कारणपर भी उनका अधिकार है, कर्मकी अपेक्षा न करके भी संयोग कर सकते हैं। अथवा, जीव जिनका अंश है, वही चाहें तो ऐसा संयोग भी कर दें।

२—*'तबहुँ कदाचित।'* कार्यसिद्धिमें सन्देह है क्योंकि साधन कठिन है और संसारी जीव रोगी हैं। रोगीको क्या सामर्थ्य कि कठिन साधनका सामना कर सके। यथा—*'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥* १२१। २९। ……… *एहि बिधि सकल जीव जग रोगी। सोक हर्ष भय प्रीति बियोगी॥'* (१२२। १) *'एक ब्याधिबस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्याधि। पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहइ समाधि॥'* (१२१) और दूसरी बात यह है कि 'अकृतोपास्ति-ज्ञान' जिसमें भक्तिकी सहायता नहीं है ऐसा ज्ञान सिद्ध नहीं होता, यथा—*'जे ग्यान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी।—'* [ईशके किये ही संयोग हो सकता है, क्योंकि आगे सात्त्विक श्रद्धाका निरन्तर वास कहते हैं जो बिना कृपाके हो नहीं सकता, यथा—*'नित जुग धर्म होहिं सब केरे।'*, *'काल धर्म नहिं ब्यापहिं तेही। राम कृपा करि चितवहिं जेही॥'* (रा० शं० श०)] ३—'सो'—वह चित् (अस्ति, भाति, प्रिय) और जड़-(नाम-रूप-) की गाँठ। अस्ति (सत्) भाति (चित्) और प्रिय (आनन्द) ये तीन अंश ब्रह्मके और नाम तथा रूप दो अंश मायाके, इन्हीं पाँचोंने उलझनकर प्रपञ्चकी गाँठ बना रखी है, और इन्हींके उलझन-पर-उलझन पड़नेसे संसार बना हुआ है, सो सुलझ जाय। अर्थात् तीन अंश ब्रह्मके पृथक् और (नाम-रूप) दो अंश मायाके पृथक् हो जायँ। गाँठके अँधेरेमें होनेके कारण प्रकाशके लिये दीपकका संकल्प हुआ। दीपके साधनमें, ठहरनेमें ऐसा विघ्न-बाहुल्य है कि—संयोग अनुकूल होनेपर भी कहना पड़ा कि कदाचित् ही वह सुलझ सके, यथा—*'माधव मोह-पास क्यों टूटै। बाहिर कोटि उपाय करिय अभिअंतर ग्रन्थि न छूटै॥ घृत पूरन कराह अंतरगत ससि प्रतिबिंब दिखावै। ईंधन अनल लगाइ कल्पसत औटै नास न पावै॥ तरुकोटर महँ बस बिहग तरु काटे मरै न जैसे। साधन करिअ बिचार हीन मन सुद्ध होइ नहिं तैसे॥ अंतर मलिन बिषय मन अति तनु पावन 'करी हमारे'। मरइ न उरग अनेक जतन बलमीक बिबिध बिधि मारे॥ तुलसिदास हरि-गुरु-करुना बिनु बिमल बिबेक न होई। बिनु बिबेक संसार-घोर-निधि पार न पावै कोई॥'* (वि० ११५)

☞ त्रिपाठीजी पूरे ज्ञानदीपक प्रसंगका खुलासा यहाँ करते हैं। इसके धारण कर लेनेसे आगे समझनेमें सुगमता होगी। वह ईशका किया हुआ संयोग इस प्रकार हो कि—सात्त्विकी श्रद्धा हरिकी कृपासे हृदयमें बसे, और उस श्रद्धाद्वारा खूब धर्माचरण हो, जिसमें श्रद्धा परिपुष्ट होती जाय और धर्मके साथसे रज और तमके अभिभूत होनेसे सात्त्विक भाव उत्पन्न हो। तब श्रद्धा द्रवीभूत होती है, धर्माचरणका सात्त्विक परिणाम अहिंसा-दया-भावमें प्रकट होता है तब वशीभूत निर्मल मनको श्रद्धाके चरणोंमें लगा दे और दृढ़ विश्वास करके अहिंसामें प्रतिष्ठित हो जाय, प्राणिमात्रको अभयदान दे। धर्म-व्रतधारीके हृदयमें (जबतक) दयाका प्रादुर्भाव नहीं होता, तबतक समझना चाहिये कि परम धर्मका उदय नहीं हुआ। अहिंसामें प्रतिष्ठित होनेपर निष्कामतासे अहिंसागत कामनाके अंशको दूर करे। कामनाके अंशको दूर करनेसे जो ताप होता है उसे क्षमाद्वारा तोषसे दूर करे। जब शीतल निष्काम दयाभाव हो जाय तो उसे धृतिसे ठोस करे; तब उस शीतल ठोस निष्काम दयाभावका दमपूर्वक गुरु-शास्त्रोपदेशानुसार विचारसे मन्थन करे। (दमपूर्वक इसलिये कहा कि हृदय-दौर्बल्यको स्थान न मिले, जैसे कामपीड़ित व्यक्तिकी तृप्ति आदि शास्त्रविरुद्ध विषयका दयामें समावेश न हो), विचार करे कि संसार दुःखमय है। हम जीव इसमें पड़े हुए क्लेश उठा रहे हैं, इस दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति कैसे हो, इत्यादि। इन विचारोंसे साधक जिस निश्चयपर पहुँचेगा, वही वैराग्य है। उस निश्चयका यह रूप होगा कि 'ये विषय अनित्य हैं, दुःखकी योनि हैं चाहे ये इस लोकके हों, चाहे परलोकके।' और फिर उनसे आप-से-आप जी हटेगा। जब चित्तमें विराग आ जायगा तब वह विषयोंको छोड़ सकेगा और तब उसे योगका अधिकार होगा।

चित्तवृत्तिका निरोध योग है। वैराग्यसे चित्तवृत्ति-निरोधकी योग्यता प्राप्त होती है, परंतु शुभाशुभ कर्मसे सम्बन्ध त्याग किये बिना निरोध नहीं हो सकता। बुद्धिद्वारा शुभाशुभ कर्मसम्बन्ध त्यागते ही चित्त निरुद्ध होता है। ममता नष्ट होती है, तब सत् वस्तुमें चित्त एकाग्र होता है। 'तत्' पदका ज्ञान अर्थात् परोक्षज्ञान होता है। तब विज्ञानरूपिणी (उपनिषत्-जन्य) बुद्धि उस अपरोक्ष ज्ञानको चित्तमें जमाकर समतामें स्थापन करती है। अब 'त्वम्' पदार्थका शोधना शेष है। अतः इस प्रकारका परोक्षज्ञानी ध्यानमें स्थित होकर अपनेको स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीरोंमें पृथक् भावना करके, अर्थात् 'त्वम्' पदार्थका शोधन करके तुरीयावस्थाको प्राप्त होता है। फिर तुरीयावस्थाके संस्कारोंको एकीभूत करके परोक्ष-ज्ञानमें मिला देता है। 'यह असि' पद है। और तब शब्दानुविद्ध समाधिमें स्थित होनेसे आत्मानुभव प्रकाश उत्पन्न होता है, और वह 'सोऽहमस्मि' वृत्तिवाला अपरोक्ष होता है। यह मोहान्धकार मिटा देता है। परंतु अभी चित्-जड़ग्रन्थि बनी हुई है। विज्ञानरूपिणी बुद्धि इस प्रकार ग्रन्थिभेदन कर सकती है। यदि ग्रन्थिभेदन हो गया तो अध्यास सदाके लिये मिट गया और सहजस्वरूप कैवल्यकी प्राप्ति हुई है। यही परमपद है। इसी बातको दीपकके रूपकमें सुलभताके लिये विशदरूपमें किया जायगा।'

सात्त्विक श्रद्धा धेनु* सुहाई। जौं हरिकृपा हृदय बस आई॥ ९॥

अर्थ—यदि भगवान्‌की कृपासे सात्त्विकी श्रद्धारूपी सुन्दर गऊ हृदय-(रूपी घर-) में आकर बसे॥ ९॥

नोट—१ (क) ज्ञानको दीपक कहा है। दीपकमें घी प्रथम ही चाहिये। घीके लिये गौका दूध चाहिये। अतः सबसे प्रथम दुधार गौको कहा। जैसे गौ वहाँ प्रथम जरूरी वैसे ही सब धर्मोंके आदिमें 'श्रद्धा' आवश्यक है। बिना श्रद्धाके कुछ हो ही नहीं सकता—*'श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।'* (९०। ४) अतः श्रद्धासे रूपक उठाया। (ख) यहाँसे साङ्गरूपक बाँधा गया है। (ग) प्रत्येक कर्म तीन प्रकारके कहे गये हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। वैसे ही श्रद्धा भी तीन प्रकारकी है। ज्ञानदीपकके लिये सात्त्विक श्रद्धाहीका प्रयोजन है, अन्यका नहीं।

---

* 'लवाई' पाठ का० में है भा० दा०, छ०, रा० गु० द्वि० जीने 'सुहाई' पाठ दिया है। 'लवाई' नवीन ब्यायी हुई गौको कहते हैं। पर ऐसी गौका घी निषिद्ध माना जाता है। दूसरे 'धेनु' में ही 'लवाई' का भाव आ जाता है और लवाईका दोष 'सुहाई' से मिट जाता है। दोहा ६ (९) देखिये।

रा० प्र०—धेनु—दुधार गौ। लवाई अर्थात् सवत्सा, वात्सल्ययुत।

२—*'धेनु सुहाई'* इति। (क) *'सुहाई'* से सवत्सा गौ जनाया, क्योंकि जिस गौका बच्चा मर गया हो उसके दूधका निषेध किया गया है, वत्सहीन गऊ, *'सुहाई'* नहीं है। सवत्सा गौ *'सुहाई'* है, अत: उसे सात्त्विक श्रद्धा कहकर जनाया कि राजसी एवं तामसी श्रद्धा असुहाई वत्सरहित गौ है। पुन:, (ख) *'धेनु'* शब्दका अर्थ है नयी ब्याई हुई गौ। पर नवीन तुरंतकी ब्यायी हुई गौका दूध भी निषिद्ध माना गया है, अत: *'धेनु'* कहकर *'सुहाई'* विशेषण दिया। भाव कि थोड़े दिनकी, एक मासकी, ब्यायी हुई हो गयी हो जबसे उसका दूध शुद्ध और शुभकर्मोंके योग्य समझा जाता है। पुन:, (ग) जो गौ सवत्सा वा अवत्सा है और दूध नहीं दे सकती, वह भी *'सुहाई'* नहीं है, क्योंकि यहाँ तो दुधार गौसे ही प्रयोजन है जिससे दूध और घीकी प्राप्ति हो सके। (घ) जैसे श्रद्धा सात्त्विक, तामसी और राजसी वैसे ही यहाँ धेनु सुहाई (सवत्सा, दुधार और एक मासकी ब्यायी हुई) और 'असुहाई'। असुहाई दो प्रकारकी है। एक तो सवत्सा पर दूधरहित अथवा तुरंतकी या बहुत दिनोंकी ब्यायी हुई; दूसरी अवत्सा दुधार वा दूधरहित। जैसे अँगरेजी डेयरी फार्ममें गौके ब्याते ही बच्चेको मार डालते हैं और यन्त्रसे गौका दूध निकाला करते है। वह दूध निषिद्ध है। ३—हरिकृपासे बसनेका भाव कि भगवान् जीवका क्लेश देखकर उसके दु:खके हरण करनेवाले हैं। सात्त्विक श्रद्धाका प्रयोजन है और सत्त्वगुणके अधिष्ठाता विष्णु हैं। भगवान्‌की कृपासे ही इस ओर रुचि होती है, यथा—*'अति हरि कृपा जासु परि होई। पाउँ देइ एहि मारग सोई॥'* अत: *'हरि कृपा'* से बसना कहा। *'बस आई'*—*'आई'* से जनाया कि वह है नहीं, भगवान् कृपा करें तभी वह आयेगी, अन्यथा नहीं। आवे और रहे नहीं तो भी काम न चलेगा। *'बस आई'* कहकर यहाँ गीताके **'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।'**(४। ३९) का भाव दरसाया है कि श्रद्धावान् होनेपर भी उसमें तत्पर होना भी आवश्यक है। मनको उसमें नियुक्त करे, अन्य विषयोंकी ओर इन्द्रियोंको न जाने दे, तब ज्ञानकी प्राप्ति हो सकेगी। *'बस आई'* से जनाया कि अचल होकर रहे। श्रद्धा फिर चली न जाय।

वि० त्रि०—*'हरिकृपा।'* हरि सत्त्वगुणके अधिष्ठाता हैं, अतएव सात्त्विकी श्रद्धाकी प्राप्तिके लिये हरिकी कृपाकी आवश्यकता है। हर तमोगुणके अधिष्ठाता हैं, सुषुप्तिके विभु हैं, उनकी कृपासे हरिकी कृपा होती है, सुषुप्तिकी कृपासे जागृति होती है और जागृति ही तुरीयाका द्वार है। जब शङ्कर कृपा करके तमको दबावेंगे तब सत्त्वका उदय होगा।

रा० प्र०—(क) **श्रद्धा**=वेद, ईश्वर और गुरुवाक्यादिमें सत्यप्रतीति। (ख) *'हरिकृपा।'* भाव कि और उपायसे दृढ़ भरोसा नहीं है कि आ बसे।

पं०—**'सात्विक श्रद्धा'**……।' भाव कि चित्त-शोधनहेतु निष्काम कर्मोंमें प्रीति हो।

वै०—**'सात्विक श्रद्धा'**=शुद्ध सतोगुणी मानससहित सत्क्रिया करनेकी हर्षसहित इच्छा। जैसे गुरु-तीर्थ-व्रत-कथा-श्रवणादिमें अनुराग। यही ज्ञानका आदिकारण है।

वि० त्रि०—यहाँ सात्त्विकी श्रद्धाकी ही आवश्यकता है, क्योंकि यह पुरुष श्रद्धामय है जिसकी जैसी श्रद्धा है वैसा ही वह है, अतएव सात्त्विकी श्रद्धावाला पुरुष भी सात्त्विक होगा। राजसिक, तामसिक श्रद्धा भी गौ हैं पर वे सोहाई नहीं हैं, दूध न देंगी। यथा—*'तामस धर्म करहिं नर जप तप मख ब्रत दान। देव न बरसहिं धरनि बए न जामहिं धान॥ बहुरज स्वल्प सत्व कछु तामस……।'*

'जौं हृदय बसि आई' कहा, क्योंकि जीवके हृदयमें अन्धकार भरा हुआ है। बछड़ेवाली गौ तमोमय अँधेरी जगहमें जाना नहीं चाहेगी। ☞(इस चौपाईमें श्रद्धा सम्पत्तिका वर्णन किया है। यह षट्-सम्पत्तियोंमेंसे पाँचवी है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, और समाधान—ये छ: कर्म षट्-सम्पत्ति कहे जाते हैं।)

करु०, मा० म०—ज्ञानकी सप्तभूमिका कहते हैं। प्रथम भूमिका यहाँसे (सात्त्विक श्रद्धासे) आरम्भ हुई। सात्त्विक श्रद्धाके आते ही रज और तमका नाश हो गया।

शेषदत्तजी—इस चौपाईमें धेनोर्हृष्टपुष्टि कही गयी, आगे धेनुका आहार कहते हैं।

जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥ १०॥

अर्थ—अगणित जप, तप, व्रत, यम और नियम आदि अनेक कल्याणकारक धर्म और सदाचार जो श्रुतियोंने (विधि) कहे हैं॥ १०॥

नोट—१ गौके लिये उत्तम चारा चाहिये जिससे उत्तम दूध हो। वह चारा यहाँ श्रद्धारूपिणी गौके प्रसंगमें क्या है, सो अब कहते हैं—*'जप तप……।'* फिर चारासे दूध तो हुआ पर बिना बछड़ेके वह पेन्हायेगी कैसे? अतः चारा कहकर आगे बछड़ा कहते हैं। वह बछड़ा क्या है सो भी कहते हैं—*'भाव बच्छ सिसु……'* २—*'जप तप ब्रत जम नियम……'* इनका वर्णन पूर्व आ चुका है और वि० त्रि० जीके लेखमें भी विस्तारसे है। जप यज्ञोंमें सर्वोत्कृष्ट यज्ञ है, अतः *'जप'* यज्ञको ही यहाँ कहा, जिन यज्ञोंमें हिंसा है, वे सात्त्विक नहीं हैं, अतः उनको नहीं कहते। अपाराका अन्वय *'जप तप ब्रत यम नियम शुभ धर्म अचार'* सबके साथ है। ये सभी अनेक प्रकारके कहे गये हैं। जप-तपादिको हरित तृण कहेंगे, तृण अगणित अतः इनको भी अपार कहा।

२—*'जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा'* इति। (क) 'जो वेदविहित हैं, जिनके करनेकी आज्ञा श्रुतियोंमें है, जिन्हें श्रुतियाँ कल्याणका मार्ग बताती हैं, यह जनानेके लिये 'शुभ' विशेषण दिया। 'शुभ' पदसे उन धर्मोंको पृथक् कर दिया जिनका श्रुतियोंने निषेध किया है और सम्पूर्ण विधि एवं सात्त्विक (राजसी और तामसी नहीं) कर्मकाण्डको इसमें कह दिया। अतः 'अपार' कहा। (ख)—*'धर्म अचारा'* अर्थात् 'धर्माचरण', वा, 'शुभ धर्म और सदाचार।' 'तामस धर्म'—दोहा १०१ में देखिये।

शेषदत्तजी—सात्त्विक तप वह है जिसके करनेमें मनका उत्साह रहे, क्लेश न जान पड़े, हिंसा और फलत्रयकी वासना न हो।

वि० त्रि० १—जप, तप, व्रत, शुभ धर्माचार ये सब उपरामताके अङ्ग हैं, यम-नियम दोनों समाधानके अङ्ग हैं।

२—यहाँ जपसे वाचा, तपसे मनसा और व्रतसे कर्मणा धर्माचरण बतलाया है, नहीं तो नियममें तीनोंका समावेश हो जानेसे पुनरुक्ति दोष आ जायगा और गोस्वामीजीने यही अर्थ लिया भी है।

३—*'अपारा'* का भाव कि इन दसों यम-नियमोंमेंसे एक-एक असाध्य है। इनका पार नहीं पाया जा सकता। यह रोगी जीव क्या पार पावेगा? *'जप तप……'* इस चौपाईमें उपरम कहा। (उपरम स्वधर्मानुष्ठानको कहते हैं, यह षट्सम्पत्तियोंमें तीसरा है।)

मा० म०—सात्त्विक श्रद्धा उत्पन्न होनेपर सात्त्विक मन, भाव, बुद्धि, चित्त और वचनसे सात्त्विक जप-तपादि करे। यदि इन जप-तपादिमें किंचित् भी रज वा तमका संचार हुआ तो सब तृण सूख जायगा; अर्थात् रजोतमोगुणोंके संसर्गसे जप-तपादि मुर्झा जायेंगे।

नोट—जप, यथा—*'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग आराती॥'* तप, यथा—*'बिसरी देह तपहि मन लागा॥'* (१। ७४। ३) (इससे तितिक्षाका वर्णन किया है। शीतोष्ण सुख-दुःखादि सहनेको तितिक्षा कहते हैं, यह षट्सम्पत्तियोंमेंसे चौथी है)। व्रत, यथा—*'हरि तोषन ब्रत द्विज सेवकाई।'*

यम पाँच हैं—**'ब्रह्मचर्य्यमहिंसा च सत्यास्तेयापरिग्रहात्।'** **'अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः।'** (पातञ्जलयोगदर्शन २। ३०) (क) ब्रह्मचर्य स्मरणादि अष्टविध मैथुनके अभावको कहते हैं; यथा—*'ब्रह्मचर्ज ब्रत रत मतिधीरा। तुम्हहि कि करै मनोभव पीरा॥'* (१। १२९। २) अष्टविध मैथुन, यथा—**'स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्। संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥ एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः। विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः॥'**—स्त्रीके रूप, लावण्य, हाव-भाव आदिका स्मरण करना, दूसरेके प्रति कहना, स्त्रीके साथ क्रीड़ा करना, स्त्रीका दर्शन करना, एकान्तमें सम्भाषण करना, स्त्रीके सङ्गके लिये दृढ़ निश्चय करना, उसकी प्राप्तिके लिये उद्योग करना तथा अभीष्ट निश्चयकी पूर्त्ति करना, इन आठ प्रकारके आचरणोंसे बचनेको ब्रह्मचर्य कहते हैं। (ख) अहिंसा—सदा सर्वथा किसी भी प्राणीसे द्रोह न करनेको कहते हैं, यह सब यम-नियमोंकी जड़ है, यथा—*'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा।'* (१२१। २२) *'धर्म कि दया सरिस हरिजाना।'* इसीकी सिद्धिके लिये शेष यम-नियमोंका उपयोग है। अहिंसाकी प्रतिष्ठा होनेसे उसके सन्निकट प्राणिमात्र वैर त्याग देते हैं, यथा—**'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।'** (योगदर्शन २। ३५)

'रहहिं एक सँग गज पंचानन॥' (७। २३। १) *'बिगत बैर बिचरहिं सब संगा॥'* (२। १३८। १)(ग) सत्य—इन्द्रिय और मनके द्वारा जैसा निश्चय किया गया, वैसी ही वाणी और वैसे ही मनके होनेको सत्य कहते हैं। वह वाणी वञ्चिता, भ्रान्ता और प्रतिपत्तिवन्ध्या न होनी चाहिये।—[१ वञ्चनापूर्ण, जैसे अपने पुत्र अश्वत्थामाका मरण सुनकर द्रोणाचार्यने युधिष्ठिरसे पूछा—हे आयुष्मन्! हे सत्यवादी! सचमुच अश्वत्थामा मारा गया? इसके उत्तरमें युधिष्ठिरका अश्वत्थामानामक हाथीको अभिलक्ष्यकर, 'हाँ, सच अश्वत्थामा मारा गया' ऐसा कथन वञ्चनापूर्ण है, यही वाणी वञ्चिता कही जाती है। वक्ताका अभिप्राय अन्य हो और श्रोता अन्य समझ जाय। युधिष्ठिरने छलसे काम लिया, इसलिये यह वाक्य सत्य नहीं है। २ भ्रान्तिप्रयुक्त यह है कि वक्ताको स्वयं भ्रम हो और वह दूसरेको समझाना चाहे। ३ प्रतिपत्तिवन्ध्या। अर्थात् अप्रसिद्ध पदोंके रहनेसे यथार्थ बोध करनेमें अक्षम। जैसे आर्य लोगोंके म्लेच्छभाषा बोध करानेमें असमर्थ हैं। (वि० त्रि०)]—प्राणियोंके उपकारके लिये होनी चाहिये, उपघातके लिये नहीं। यथा—*'कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी।'* (२। १३०। ४) इससे क्रियाके फलको आश्रय मिलता है यथा—**'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।'** (योगदर्शन २। ३६) *'सत्य मूल सब सुकृत सुहाए।'* (२। २८) (घ) अस्तेय—शास्त्रविधिके प्रतिकूल दूसरेके द्रव्यको लेना स्तेय कहते हैं और उस स्तेयके निषेधको अस्तेय कहते हैं। स्पृहा न रखना भी अस्तेय कहलाता है। यथा—*'धन पराव बिष तें बिष भारी।'*(२। १३०। ६) इससे सब रत्न उपस्थित होते हैं। यथा—**'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।'**(योगदर्शन २। ३७) *'डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं।'* (२३। ९) (ङ) अपरिग्रह—विषयोंके अर्जन, रक्षण, क्षय और संगसे हिंसादि दोष होते हैं, अतएव उनके अस्वीकारको अपरिग्रह कहते हैं। यथा—*'जानत अर्थ अनर्थ रूप तम कूप परब येहि लागे। तदपि न तजत स्वान अज खर ज्यों फिरत बिषय अनुरागे॥'*(वि० ११७) इससे जन्मकथन्ताका बोध होता है। यथा—**'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।'** (योगदर्शन २। ३९) *'निज निज मुखनि कही निज होनी।'* (१। ३। ३)

नियम भी पाँच हैं—**'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।'**(योगदर्शन २। ३२) (क) देह और मनके मलको दूर करना शौच है, यथा—*'सकल सौच करि जाइ नहाए।'* (१। २२७। १) शौचकी स्थिरतासे बुद्धिकी शुद्धि, उससे मनकी प्रसन्नता, उससे एकाग्रता, उससे इन्द्रियजय और उससे आत्मदर्शनकी योग्यता होती है। अपने शरीरसे घृणा और दूसरेके संसर्गसे घृणा होती है, यथा—**'शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।'**(योगदर्शन २। ४०) **'सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।'** (४१) *'रहिहि न अंतहु अधम सरीरू।'* (२। १४४। ४) (ख)—संतोष=प्राप्त साधनसे अधिक पैदा करनेकी अनिच्छा, यथा—*'आठँव जथा लाभ संतोषा।'* (३। ३६। ४) इसके द्वारा सबसे बढ़कर सुखकी प्राप्ति होती है, यथा—**'सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः।'** (योगदर्शन २। ४२) *'मन संतोष सुनत कपि बानी।'* (ग) तप=जाड़ा=गर्मी, भूख-प्यास आदि द्वन्द्वोंका सहन। यथा—*'कछु दिन भोजन बारि बतासा। किये कठिन कछु दिन उपवासा॥'* (१। ७४। ५) इससे देह-इन्द्रियकी सिद्धि और अशुद्धिका क्षय होता है, यथा—**'कायेन्द्रिय-सिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।'** (योगदर्शन २। ४३) *'बरष सहस दस त्यागेउ सोऊ। ठाढ़े रहे एक पद दोऊ॥—माँगहु बर बहु भाँति लोभाए। परम धीर नहिं चलहिं चलाए॥'* (१। १४५। १-३) (घ) स्वाध्याय=मोक्षशास्त्रका पढ़ना अथवा प्रणवका जप करना। इससे इष्ट देवता एवं ऋषियोंके दर्शन होते हैं। यथा—**'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।'**(योगदर्शन २। ४४) *'नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥'* (ङ)—ईश्वरप्रणिधान=सब कर्मोंका ईश्वरार्पण कर देना, यथा—*'प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं।'* इससे समाधिकी सिद्धि होती है। यथा—**'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।'**(योगदर्शन २। ४५) *'सहज बिमल मन लागि समाधी।'*

नोट—भा० ११। १९। ३३—३५ में यम, नियम १२, १२ कहे गये हैं।—**'अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः। आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम्॥ शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम्। तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥ एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः।'**

तेइ तृन हरित चरै जब गाई। भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई॥ ११॥

शब्दार्थ—*'पेन्हाई'*—पेन्हाना=दुहते समय गाय-भैंस आदिके थनमें दूध उतरना जिससे थन भरे जान पड़ते हैं।

अर्थ—उसी हरी घासको जब गौ चरे तब भावरूप शिशुबछड़ा पाकर पेन्हावे॥ ११॥

नोट—*'तृन हरित चरै जब गाई'* इति। (क)—जप-तप आदिके साथ 'शुभ' विशेषण दिया था। 'शुभ' के सम्बन्धसे प्राकृत गौके चारेमें *'हरित'* विशेषण दिया। हरे चारेसे दूध विशेष होता है, गौ उसे रुचिसे चरती है और वह सात्त्विक होता है। सूखी घास भूसा आदिसे दूध कम होता है और गऊका पेट भी नहीं भरता। (ख) लौकिक गौका चारा तृण, औषधि और वनस्पति भेदसे तीन प्रकारका होता है और उनके भी बीजरुह तथा काण्डरुह भेदसे दो प्रकार होते हैं। कुल: छ: प्रकार हुए। इसी प्रकार श्रद्धा-रूपिणी गौके चाराके भी जप-तपादि भेदसे छ: प्रकार कहे हैं। (वि० त्रि०) (ग) *'हरित तृण'* का भाव कि सरस हो, नहीं तो दूध भी कम होगा जिससे बछड़ेकी तृप्ति भी कठिन हो पड़ेगी, फिर और कामोंके लिये दूध मिलना तो दूरकी बात है। अत: जप-तपादि आनन्दरहित न हों—*'अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा। तदपि मनाग मनहि नहिं पीरा॥'* (वि० त्रि०) (घ)—*'चरै'* से घरमें बँधी गायका निषेध किया। गौ जब गोष्ठसे बाहर जाकर हारमें चलकर चरती है तब उसकी तृप्ति होती है और वह प्रसन्न रहती है, उसका स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है, जिससे दूध रोगहारक होता है। *'गाई'*—सात्त्विक श्रद्धासे रूपक देनेमें *'धेनु सुहाई'* अर्थात् सवत्सा गौ कहा, चरनेको गौ अकेले जाती है, बच्चा साथ नहीं होता, यथा—*'जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह चरन बन परबस गई।'* (दोहा ६) अत: वत्सरहित चरनेके सम्बन्धसे 'धेनु' न कहकर *'गाई'* कहा। गायका चारा चरना, ज्ञानदीपक-प्रसङ्गमें श्रद्धापूर्वक सात्त्विक जप-तपादि शुभ धर्माचरण करना है।

वि० त्रि०—(क) *'चरै'* का भाव कि जैसे गौ गोष्ठ छोड़कर बाहर जाय और गोचर भूमिमें चरे, इस भाँति श्रद्धा भी हृदयसे बाहर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धरूपी गोचरमें, जिस रुचिसे भूखी गाय हरी घास चरती है, उसी रुचिसे शुभ धर्माचरण करे और तृप्त हो। यथा—*'नित नव राम प्रेम पन पीना। बढ़त धरम दलु मनु न मलीना॥'* (२। ३२५। २) (ख) गऊने जितने प्रकारका तृण खाया है, उन सबके सात्त्विक परिणामका स्वारस्य दूध है, इसी प्रकार श्रद्धासे जो यम-नियमादि आचरित हुए हैं उनके सात्त्विक परिणामका स्वारस्य परम धर्ममें है।

☞ स्मरण रखना चाहिये कि चरा हुआ चारा गौके पेटमें है। यह सामर्थ्य गौमें है कि चारेको सात्त्विक परिणाम दूधके रूपमें जगत्के कल्याणके लिये देवे, राजसिक परिणाम अपने शरीरके पोषणके लिये अलग कर ले और तामसिक परिणाम गोबर परसि पृथक् दे। किसी भी शिल्पीकी सामर्थ्य नहीं है कि इस भाँति सात्त्विक, राजस और तामस परिणामको किसी उपायसे पृथक् कर सके। इसी भाँति श्रद्धासे आचरित शुभ धर्म श्रद्धाके उदरमें जाकर परिणामको प्राप्त होता है और उसके सात्त्विक परिणाम-परमधर्मसे जगत्का हित होता है, नहीं तो जिस भाँति तृणादि मनुष्यके ग्रहणयोग्य नहीं रहते, उसी भाँति श्रद्धाहीन शुभ धर्म भी मनुष्यके कामके नहीं होते, यथा—*'श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।'*

नोट—२ *'भाव बच्छ सिसु पाइ पेन्हाई।'* (क) बछड़ा जब बड़ा हो जाता है तब गौका वह प्रेम नहीं रह जाता और दूध भी वह नहीं देती और यदि देती भी है तो बहुत कम। शिशु-बच्छका जीवन माताका दूध है, अत: गौका भी उसपर वात्सल्य अधिक रहता है, उसके रोगोंको वह चाटकर अच्छा करती है। (ख) भाव पुँल्लिङ्ग है, अत: वत्स ही कहा बछिया नहीं। अन्य स्थलोंमें भी वत्सको ही कविने कहा है, यथा—*'जनु धेनु बालक बच्छ तजि गृह चरन बन परबस गई।'* (७। ६। छंद) *'गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई।'* (३। ४३। ६) किसीका मत है कि बछिया जननेपर गौका दुहना निषेध है, अत: वत्स ही कहा।

करु०—चौपाईका भाव यह है कि सात्त्विक श्रद्धापूर्वक जप-तपादि शुभ कर्म प्रेमसे करे तब सुख होगा। यहाँ श्रद्धाका वत्स-भाव (प्रेम) है और पेन्हाना सुख है।

जप-तपादि दैविक सम्पदा हैं। इस तृणको जब गऊने चरा अर्थात् निष्काम कर्म करके जब श्रद्धा बलवान् हुई। बालक-वत्समें भाव यह है कि पुराने वत्सको देखकर गायका दूध अधिक नहीं उमगता वैसे ही जो पूर्व किसी जन्ममें संतोंसे भाव किया है उससे अधिक प्रेम नहीं उपजता, जबतक नवीन भाव न हो।

रा० प्र०—*'सिसु बच्छ'* का भाव कि वह बँधा हुआ है और भूखा है।

वि० त्रि०—*'भाव बच्छ सिसु—'* इति। (क) श्रद्धारूपिणी धेनुका सात्त्विक भाव अबोध बच्चा है, वह छल-कपट नहीं जानता अतएव बहुत प्यारा है। चरनेके समय भी उसीकी ओर ध्यान लगा रहता है। इसी भाँति श्रद्धासे धर्माचरण हो और वह भाव हत न होने पावे। यथा—***'किये सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि। संगबस किय सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि॥ करौं जो कछु धरौं सँचिपचि सुकृत सिला बटोरि। पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अंजोरि॥'*** (वि० १५८) (ख) ***'पाइ पेन्हाई।'*** जब गौ हरी-हरी घास चरके तृप्त होकर सन्ध्या-समय घर लौटती है तो बालक-बच्छको पाकर द्रवीभूत हो जाती है, उसके थनोंमें दूध आ जाता है। इसी भाँति श्रद्धा धर्माचरण करके कृतकृत्य होकर भावपुष्टिके लिये अन्तर्मुख होती है। उस समय वह परम धर्म-प्रसवमें समर्थ होती है। यथा—***'दिन अंत पुर रुख स्त्रवत थन हुंकार करि धावत भईं।'***

पं० रा० व० श०—भाव कि जप-तप-नियमादि जो कर्म करे वह उत्साहसे भरे हुए करे, यही सात्त्विक श्रद्धासे होना है। इससे अन्त:करणमें भाव उत्पन्न होगा, मनकी मलिनता दूर होगी। सात्त्विकी श्रद्धासे जप-तपादि करनेसे अन्त:करणका भाव शुद्ध हो जायगा; यही उस श्रद्धा गौका बछड़ा है।

वै०—भाव कि यावत् क्रिया करे वह नवीन प्रीति-भावसे करे। सत्य, शौच, तप और दान ये धर्मके चारों चरण श्रद्धा गऊके चारों थन हैं, इनमें धर्मका प्रसिद्ध दर्शित होना गऊका पेन्हाना है।

रा० शं० श०—भाव कि जप-तपादिमें सात्त्विक श्रद्धा सदा नवीन बनी रहे, जिस वस्तुकी चाह है उसकी प्राप्तिमें विशेष अभिलाषा बढ़ती रहे जिससे सात्त्विक श्रद्धा सरस रहती है, यह पेन्हाना है।

मा० म०—यहाँ बियाना और बाहिना नहीं कहा, बछड़ा कहाँसे आया? इसका समाधान ***'धेनु सुहाई'*** से पूर्व ही हो जाता है। धेनु सवत्सा लवाई गौको कहते हैं। ईशने कृपा करके सवत्सा गऊका संयोग कर दिया है। अथवा, यह भी कह सकते हैं कि सात्त्विकी समाज यम-नियमादि पाकर श्रद्धा-धेनु विशेष प्रौढ़तरा हुई और सतोगुणके साथ रमणकर सात्त्विकी भावरूपी बछड़ा जनी। (मा० शं०) यह कहना भी ठीक नहीं कि कामधेनु तो बिना ब्याये दूध देती है उसीको यहाँ समझ लें क्योंकि कामधेनु तो बिना वत्सके दूध देती है और यहाँ तो वत्स पाकर दूध देना कवि लिख रहे हैं।

रा० बा० दा०—१ भाव कि जैसे लवाई गौके चरनेके लिये हरा चारा चाहिये, उसमें सूखा पीला तृण न मिला रहे, वैसे ही सात्त्विकी हृदय-भूमिमें जितने जपादिक तृण हैं वे सात्त्विक हों, सात्त्विक श्रद्धापूर्वक हों। जप-तपादि शुभाचारोंको सात्त्विकी श्रद्धापूर्वक करना ही गौका चरना है। जब पेटभर चरकर वह स्वत: स्थिर होवे तब सात्त्विक भाव वत्सको पाकर पेन्हावे।

२—गऊका बहना और ब्याना न कहा; वत्सको पाकर पेन्हाना मात्र कहा? इससे सूचित किया कि सात्त्विक श्रद्धा धर्म-फलकी क्रिया है। यथा—***'जनु पाए महिपालमनि क्रियन्ह सहित फल चार।'*** धर्म वृषभरूप है। नन्दी आदि धर्मरूप हैं। धर्मरूप वृषभसे श्रद्धारूपी धेनुने भावरूप वत्स उत्पन्न किया। वैसे ही सतोगुणसे सात्त्विकी श्रद्धा जायमान हुई। जब वत्स एक माससे अधिक दिनका हुआ तब उसे पाकर पेन्हाना लिखा, कारण कि एक मास बीते बिना दुहना अयोग्य है; दूध भी पतला होता है, उसमेंसे मक्खनका भी मिलना असम्भव है। जहाँ धेनुका हृष्ट-पुष्ट होना लिखा वहीं वत्सोत्पत्ति भी कही; पर ग्रन्थ सूक्ष्म है इससे शीघ्र उसका लिखना कठिन है।

नोइ निबृत्ति पात्र बिस्वासा। निर्मल मन अहीर निज दासा॥ १२॥

शब्दार्थ—*'नोइ'*-नोवना=दुहते समय रस्सीसे गायके पिछले पैरोंको बाँधना। नोई एवं नोइनी रस्सीसे पैर बाँधनेकी क्रियाको कहते हैं तथा रस्सीको भी नोई कहते हैं।

अर्थ—निवृत्ति नोवना वा नोई है, (विश्वास दूध दुहनेका) बरतन है, निर्मल मन अहीर है जो अपना दास अर्थात् अपने अधीन है॥ १२॥

पं० रा० व० श०—भावकी शुद्धि होनेसे संसारके पदार्थोंसे तथा नाना कर्मके व्यापारसे निवृत्ति हो जायगी, यही *'नोई'* (रस्सी) है। मन अपने वशमें हो जैसा हम चाहते हैं वैसा ही हो, निर्मल हो। ऐसा न होनेसे पापी मन काम बिगाड़ देगा। विश्वास जो मनमें होने लगा वही पात्र है।

नोट—१ (क) दूध उतरनेपर अब दूध प्राप्त करनेके लिये तीन बातें क्रमसे एक ही समय चाहिये—रस्सीसे गौके पैर बाँधनेको रस्सी और उससे पैर बाँधा जाय, दूध दुहनेका पात्र (दोहनी) और दुहनेवाला। बिना नोई हुई गायका दूध अपवित्र माना जाता है, उसका निषेध है। दूसरे साधारणतः भी बिना बाँधे भय है कि वह पैर न चलावे जिससे दूध सब गिर पड़े तब सब काम ही बंद हो जायगा। (ख) श्रीकरुणासिन्धुजी तथा वि० त्रि० जी 'वृत्ति' को 'नोइनि' कहते हैं। उनका पाठ *'नोइ निबृत्ति।'* वे अर्थ करते हैं कि—'मनकी धर्ममय वृत्ति ही नोइनि है' (करु०); 'नोइन' वृत्ति है। अर्थात् वृत्तिको उस समय श्रद्धाके चरणोंमें लगा देना चाहिये, जिसमें श्रद्धा अचल रहे। (वि० त्रि०) प्रायः अन्य सब टीकाकारोंने *'नोइ निवृत्ति'* पाठ दिया है और अर्थ किया है कि निवृत्ति (सांसारिक विषयों तथा प्रपञ्चसे मनकी वृत्तिका हटना) नोई है।

वै०—यहाँ लय विक्षेप करवाय रसाभासादि जो विघ्न हैं वही श्रद्धा गऊके चार पैर हैं जिनसे वह इन्द्रिय विषयोंको पाकर चलित होती है। इन्द्रियोंकी इस वृत्तिको विषयोंसे निवृत्त करे, खींचकर परमार्थमें लगावे। सावधानतारूपी रज्जुसे बाँध रखे जिसमें श्रद्धाधेनु स्थिर रहे।—यह निवृत्ति नोवनी है।

रा० शं०—गौके चार पैर होते हैं। आगेके पैर प्रवृत्ति और पीछेके निवृत्ति हैं, क्योंकि अगले धड़से पिछला धड़ पवित्र माना जाता है। नोवना यह कि निवृत्तिको खूब पुष्ट जकड़े रहे अर्थात् वह अचल रहे।

रा० बा० दा०—निवृत्त चित्तकी वृत्ति नोई है। भाव-वत्स श्रद्धा धेनुके थनोंमें लगा तब गौ पेन्हाई, उसी समय हाथसे पकड़कर निवृत्ति (मोक्षसाधनभूत धर्म) को वत्सके गलेमें लगाकर गौके वामाग्र पाँवमें बाँधे।

नोट—२ *'पात्र बिस्वासा'* इति। गुरु और शास्त्रमें श्रद्धा भी है ये सत्य कहते हैं, पर यदि दृढ़ विश्वास न हुआ कि जो शिक्षा ये देते हैं उससे हमारा कल्याण अवश्य होगा, कर्मका वांछित फल हमें अवश्य मिलेगा, सहज स्वरूपकी प्राप्ति अवश्य होगी, तब भी शिक्षाका कुछ फल न होगा—*'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।'* (९०। ८) अतः परम धर्ममय दूधकी प्राप्ति करनेके लिये विश्वासको पात्र कहा।

३—*'निर्मल मन……'* इति। पात्र भी है पर अहीर नहीं है तो दूध न मिलेगा। इसी तरह विश्वास भी हो पर यदि मन 'निर्मल' न हुआ तो उसमें परम धर्म पयकी प्राप्ति न होगी। जैसे अहीर दोहनीको स्थिर रखकर उसमें दूध दुहता है वैसे ही निर्मल मन विश्वासको दृढ़ रख सकेगा। मोहजनित कामादिक विषय ही मनके मल हैं—४९ (५-६) देखिये [निर्मल=रज-तमरहित=कामसंकल्पविवर्जित। (मा० म०, रा० बा० दा०)] ये विश्वासको निर्मूल कर देनेवाले हैं। अतः *'निर्मल मन'* को अहीर कहा।

४—*'निज दासा।'* अहीर भी हो, पर यदि वह समयपर दुहने न आवे तो भी काम बिगड़ जायगा। अतः *'निज दासा'* कहा। अर्थात् वह अहीर अपने काबूका हो। इसी प्रकार मन निर्मल भी हो और अपने काबूका हो, जहाँ जीव उसे लगावे वहीं लगे। (वै०) ['निज दास' का भाव कि गो-दोहनके समय परम अव्यग्र होवे। (शेषदत्त)]

वि० त्रि०—१ *'निज दासा।'*—गौके पेन्हानेपर वह निर्मल मनरूपी सेवक अहीर जब नोइन लगाकर देखे कि जब बछड़ा अपनी पुष्टिके लिये योग्य मात्रामें दूध पी चुका तब उसे हटाकर दोहनीमें दूध दूहे। इस भाँति धर्माचरणके द्वारा कृतकृत्य होकर श्रद्धा अन्तर्मुखी हो और सम्पूर्ण धर्मोंके सात्त्विक परिणामसे सात्त्विक भावकी पुष्टि करने लगे तब भलीभाँति वश किये हुए कामसंकल्परहित मनकी वृत्ति लगाकर

अपनी श्रद्धाको अचल कर ले नहीं तो सात्त्विकभाव (सुख-भाव) के हटाते समय श्रद्धा छटक जायगी और यदि सात्त्विक भाव न हटाया जायगा, तो वह अनुष्ठित धर्मके सम्पूर्ण सात्त्विक परिणामको पी जायगा। मनके सात्त्विक भावमें अनुरक्त होनेसे भी सुखके साथ बन्धन होगा, अतएव सात्त्विक भावको धीरे-धीरे हटाकर मनको परिपूर्ण विश्वासका पात्र करनेके लिये उसे श्रद्धामें लगा दे। २—☞ इस चौपाईसे शम (मनोनिग्रह) कहा गया जो षट्सम्पत्तिमें प्रथम है।

नोट—५ शुभाचरण, भाव, वृत्ति, विश्वास और निर्मल मन यह पञ्चाङ्ग-संयुक्त श्रद्धा ज्ञानकी प्रथम भूमिका हुई। (करु०) सात्त्विक श्रद्धा, जप-तप-यमादि, भाव, निवृत्ति और मनका काम यहाँ समाप्त हुआ। (मा० म०) प्रथम भूमिका शुभ इच्छा यहाँतक हुई। (वै०)

रा० बा० दा०—शुद्ध निर्वेदादिक जितने सात्त्विक कर्म कहे, जप-तप-संयम-नियम इत्यादि वेदोक्त शुभाचार, विश्वास, निवृत्ति, निर्मल मन इत्यादि सर्वाङ्ग रोमयुक्त श्रद्धा-धेनु—यह ज्ञानकी प्रथम भूमिका है, और आत्माका प्रथम स्थान है।

परम धर्ममय पय दुहि भाई। अवटै अनल अकाम बनाई॥ १३॥

अर्थ—हे भाई! परम धर्ममय दूध दुहकर निष्कामतारूपी अग्नि बनाकर उसपर (इस) दूधको औटे॥ १३॥

नोट—१ अहीरने दूध दुह दिया। अब उसे अग्नि जलाकर औटना चाहिये। वैसे ही निर्मल मनने श्रद्धा धेनुसे विश्वासपात्रमें परम धर्म प्राप्त किया। अब इसे निष्कामतारूपी आगपर गाढ़ा करना है। २—*'भाई'* इससे गरुड़पर उत्तरोत्तर भुशुण्डिजीका प्रियत्व दिखाया। दूधको परम न कहकर *'परम धर्ममय'* कहनेका भाव?—वि० त्रि० देखिये।

पं० रा० व० श०—अहिंसारूप परम धर्म साक्षात् दूध है। अर्थात् मन निर्मल और निज दास होनेपर ऐसी वृत्ति हो जायगी कि हिंसा न करो। हिंसा ८१ प्रकारकी कही गयी है। यह मनको बहुत मलिन कर देती है। अहिंसा होनेसे चित्तमें निष्काम वृत्ति उत्पन्न हो जायगी। तात्पर्य कि यदि अहिंसा हुई और कामना बनी ही रही तो वह भी किसी कामकी नहीं।

वि० त्रि०—१ *'परम धर्ममय।'* जो सात्त्विक परिणाम दूधरूपमें परिणत हुआ, उसीको परम धर्ममय कहा, अर्थात् अहिंसामय कहा, क्योंकि अहिंसामें ही शेष सब धर्मोंकी चरितार्थता है, यथा—*'दयामें बसत देव सकल धरम।'* (वि० २४९), *'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा।'* (१२१। २२), *'धर्म कि दया सरिस हरिजाना।'* (११२। १०) दूसरा *'परम धर्ममय'* कहनेका भाव यह कि 'मयट्' प्रत्यय बहुतके अर्थमें होता है, अर्थात् उस दूधमें परम धर्म बहुत है, पर थोड़ा-सा काम, वासना, ममतादि रूप दोष भी है।

'दुहि भाई।' विश्वासरूपी पात्रमें ही यह दुहा जा सकता है, अन्य पात्रमें रखनेसे बिगड़ जायगा, अतएव परम धर्ममय सात्त्विक परिणामसे विश्वासरूपी पात्र भर लेना चाहिये। न भावके काम आ सके न मनके। क्योंकि भाव और मन दो ही पदार्थ ऐसे हैं जो श्रद्धासे धर्मके सात्त्विक परिणामको अलग कर सकते हैं और केवल मन ही ऐसा है, जो उसे श्रद्धासे लेकर विश्वासके सुपुर्द कर सकता है। *'भाई'* सम्बोधन है तथा विचारके लिये आश्वासन है, यथा—*'करै बिचार करौं का भाई।'*

२ (क) *'अवटै।'* अर्थात् पाक करे, गुणाधिक्यके लिये, घनीभावके लिये, जलरूपी अवगुणके नाशके लिये। यथा—*'नहि गुन पय तजि अवगुन बारी।'* (२। २३२। ७) (ख) *'अनल अकाम बनाई'* इति। अकामकी आगको प्रज्वलित करके औटे, अर्थात् आगपर रखकर देरतक गरम करे, जिसमें उसके एक-एक परमाणुतकमें अकामकी आग पहुँच जाय। धर्मके सात्त्विक परिणाममें ही काम रह जाता है, क्योंकि धर्म सदासे ही कामका संगी है। धर्मका साथ सुख और स्वर्गसे है और ये ही काम हैं। अकामकी अग्नि इसलिये कहा कि—'काम' शब्द यावत् वैषयिक सुखका वाचक है (केवल स्त्री-सुखका नहीं)। उसका त्याग ही अकाम है। वैषयिक सुखमात्रके त्यागके ध्यानसे ताप होता है, अतएव उसे अग्नि कहा। इस अग्नि-उत्पत्तिके लिये कामको दूर करना कर्तव्य है। फिर वह अग्नि आपसे बनी रहेगी,

इसलिये *'बनाई'* कहा। अकामकी अग्नि परम धर्ममय पयका पाक करके उसके गुणको बढ़ा देगी, उसमें घनत्व पैदा करेगी और उसके कामांशको दूर करेगी।

मा० म०—भाव यह कि यमनियमादि तृणसे देह धर्मपालन हुआ और उस सात्त्विक श्रद्धारूपिणी गौसे जीवधर्मरूपी श्वेत पय निकला। जिस धर्मके प्रभावसे मन हिंसारिक्त हो गया और सब जीवोंपर बहुत दया हो गयी। उपर्युक्त प्रकार जीवका धर्म प्राप्त हुआ, अब उसका परमधर्म कहते हैं। ब्रह्मके रूपका परम विचार जीवका परमधर्म है। अर्थ और धर्मको तो जीवने पूर्व ही त्याग किया है, कामना स्थिर रह गयी उसका भी त्यागकर निष्कामतासे धीरभावसे रहे। उस निष्कामतारूपी अग्निपर परमधर्मरूपी क्षीरको औटनेसे आत्मतत्त्व गाढ़ा हो गया और संसाररूपी जल जल गया अर्थात् संसारी वासना जल गयी, केवल निष्काम आत्मतत्त्व रह गया।

शेषदत्तजी—१ *'परम धर्ममय पय'* अर्थात् जिस सात्त्विक तत्त्वविचारमें अहिंसारूपी परमधर्म मिश्रित है वही दूध है। *'बनाई'* अर्थात् अधिक प्रज्वलित करके तथा विधिपूर्वक। २—सात्त्विक दूध दुहे। ततः सात्त्विक श्रद्धादिसे निर्मल मनान्त कर्मोंको कीचवत् समझ त्याग किया, यथा—*'करतहु सुकृत न पाप सिराहीं।'* भाव यह कि यहाँतक सब काम कामनासे किया गया। कामनाओंका त्याग करना है। क्योंकि काम्यकर्म भवकीचमें ही डालते हैं। अब परमधर्ममय तत्त्वविचारको लेकर विविक्तवासी हो सहजस्वरूप सँभारकर निष्कामतारूपी अग्निपर विषय-वासना ईंधन लगाकर असंगरूपी करछुलीसे औटकर उस दूधको गाढ़ा किया।

करु०—१ अब दूसरी भूमिका कहते हैं। घासमें दूध अति सूक्ष्म है। कोई यत्न करके उससे दूध नहीं निकाल सकता, पर उसीको गऊ खाती है तब उसके द्वारा घाससे दुग्ध प्राप्त होता है। वैसे ही श्रद्धापूर्वक शुभकर्म करनेसे परमधर्म यह दूध निकलता है जो विश्वासरूप पात्रमें स्थित होता है। अहिंसा ही परमधर्म है। और जितने शुभकर्म यज्ञादिक हैं उनमें कुछ-न-कुछ हिंसा होती है इससे वे साधारण धर्म हैं। २—*'अवटै अनल अकाम बनाई।'* परमधर्ममें निष्कामता अनल है, इसीसे औटना कहा। औटना दृढ़ता है।

रा० प०, रा० प्र०—'शरणागत भागवतधर्म' परमधर्म है।

पं०—सदा आत्म-चिन्तन करना परमधर्म है। स्वर्गादि भोगोंसे निष्काम होना अग्नि है।

वै०—देहव्यवहार मान-बड़ाई-हेतु वा स्वर्गसुखप्राप्तिहेतु सवादिक यज्ञादि यावत् क्रियाएँ हैं वे हिंसा-दण्डादिसहित हैं। जैसे कि धर्म-संस्थापनके लिये अधर्मियोंको दण्ड करना होता है, यज्ञमें बलिदान होता है जो देहव्यवहार-सुखवासनारहित केवल आत्मशुद्धिहेतु सर्वाङ्गधर्मसहित दया है सो परमधर्म है।

वै०—शुद्ध-स्वाधीन-मनरूप अहीरद्वारा विश्वासपात्रमें श्रद्धा-कामधेनु परमधर्ममय दूध दुहावे। अर्थात् सात्त्विकी श्रद्धा विश्वाससहित निवृत्तिमार्गमें शुद्ध थिर होकर जब मन दयासहित धर्माचरणमें लगे तब जीवकी जो परम धर्ममय वृत्ति होगी वही दूध है। दूध अग्निपर चढ़ाकर गाढ़ा किया जाता है। यहाँ अकामना अग्नि है। जबतक कामना बनी है तबतक सुधर्म पुष्ट नहीं पड़ता, अतः कामनारूप ईंधनको जलाकर अकामनारूप अग्निको प्रचण्ड कर उसमें परमधर्ममय दूध औटे। अर्थात् जितनी क्रिया करे सब अकाम होकर करनेसे परमधर्म पुष्ट होगा।

तोष मरुत तब छमा जुड़ावै। धृति सम जावनु देइ जमावै॥ १४॥

अर्थ—तब क्षमा-संतोषरूपी पवनसे उसे ठंढा करे। *'धृति'* समतारूपी (दहीका) सम जामन देकर उसे जमावे॥ १४॥

नोट—१ किसी प्रकारका भी संकट आ पड़नेपर या इच्छित वस्तुकी प्राप्ति न होनेपर धैर्यको न छोड़ना, यह धृतिधर्मका लक्षण है। यह धृति भी सात्त्विकी हो। जिस अचल धैर्यके द्वारा मनुष्य योगके उद्देश्यसे प्रवृत्त मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है वह धृति है। यथा—'**धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः। योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥**' (गीता १८। ३३) 'क्षमा'—अपने साथ बुराई करनेवालेको दण्ड देने-दिलानेकी पूरी शक्ति रहनेपर भी उसको दण्ड देने-दिलानेकी भावनाको मनमें

भी न लाकर उसके अपराधको सह लेना और उसका अपराध सदाके लिये मिट जाय, इसके लिये यथोचित चेष्टा करना, इसको क्षमा कहते हैं। लं० ७९ (५-६) देखिये।

करु०, शेषदत्त, वि० टी०—*'धृति सम।'* समानतामें धीरजके साथ दृष्टि रखना अर्थात् दुःख-सुख, हानि-लाभ, निन्दा-स्तुति आदिमें समदृष्टि रखना। सारांश कि अविचल धैर्य धारण करना। गीतामें इसीको स्थितप्रज्ञ कहा है। यथा—'**प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्पार्थ मनोगतान्। आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥ दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥ यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥**' (२। ५५—५७) इसी प्रकार संतोष और क्षमासे चित्तवृत्तिको शान्त करे तथा धीरज धारण कर उसे स्थिर करे।

रा० प्र०—तोषसे क्षमाकी शोभा है। **धृति सम**=शान्ति, विषमताशून्य होनेका भाव। इससे अधिक शीतल करनेवाला दूसरा कुछ नहीं है।

नोट—२ दूध औटानेसे बहुत गर्म हो जाता है। जबतक दूध ठंढा वा गुनगुना न हो जाय तबतक वह जमाया नहीं जा सकता। इसलिये उसे ठंढा करना पड़ता है। अतएव दही जमानेके लिये पहले उसे वायुसे ठंढाकर उसमें जामन देना होता है। कुछ लोगोंका मत है कि संतोष और क्षमा पवन है और *'धृति सम'* जाँवन है और मा० म० आदि कुछका मत है कि तोष पवन है, क्षमा उस पवनकी शीतलता हैं, समता दहीका जामन है और धृति स्त्री जामन देकर दूध जमानेवाली है। और शेषदत्तजीका मत है कि क्षमा व्यंजन मंद-मंद हिलाकर तोषरूपी पवन प्रकट कर उसे ठंडा करे और *'धृति'* स्त्री उसे जमावे।

पं० रा० व० श०—निष्काम होनेसे मनमें संतोष आवेगा—*'बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं॥'* उससे क्षमा आवेगी, यही दूधका ठंडा होना है। अन्तःकरणको एकरस सम कर देना *'सम'* है यह जामन है। इसके बाद मुदितावृत्ति उत्पन्न होगी।

पं०—*'तोष मरुत।'* यद्यपि भोगोंकी इच्छा निवृत्त हुई तो भी देहहेतु व्यवहार चाहिये, सो इसमें यथालाभ संतोष होना मरुत है। क्षमारूपी सखी गर्म दूधको संतोष-वायुसे शीतल करे। क्षमाका स्वरूप यह है कि यथालाभ संतोष तो हुआ पर उसकी प्राप्तिमें यदि कोई विघ्न करे तो उसपर कोप न करे। सारांश यह कि निष्काम होनेमें जो क्रोधादिक उष्णता थी वह क्षमाने मिटायी, तब धीरजरूपी सम जावनसे उसको जमावे। *'सम जावन'* कथनका भाव कि अधिक जावन देनेसे दही शिथिल होता है, अल्पजावनसे कच्चा रहता है; वैसे ही अति धीरजकर सत्संगादिक उद्यम न करे तो दरिद्री होता है, अल्प धीरजकर शीघ्रता करे, कि इतना सत् शास्त्रोंका अभ्यास किया पर स्वरूप-साक्षात् नहीं हुआ, इस मार्गको छोड़े देता हूँ तो जिज्ञासा नष्ट होती है।

मा० म०—१ आत्मतत्त्वकी प्राप्तिसे जो संतोष हुआ वही पुण्यरूपी पवन है, इसमें क्षमारूपी जो अचल शीतलता है उससे आत्मतत्त्वरूपी दूधको शीतल करे। २—शत्रु और मित्रमें विषमता-समता मनमें सूक्ष्मभावसे रह गयी। उन दोनोंसे मनको निर्मूल करके प्राणिमात्रको समभावसे देखे। अब मनका आत्मामें लीन होकर आत्माका चिन्तन करनेमें दृढ़तापूर्वक स्थिर होकर किसी दूसरी ओर दृष्टिपात न करना दहीका गाढ़ा जमना है।

करु०—१ तब संतोषरूपी पवनसे जुड़ावै। अहंपद उष्णता मिटकर क्षमारूप शीतलता प्राप्त होगी। संतोष, यथा—'**असंतोषो दरिद्रस्य संतोषः परमं धनम्।**' २ ☞ अहिंसा, निष्काम, संतोष और क्षमा चारों अङ्ग एकरूप होकर जो परम धर्म हुआ वह ज्ञानकी दूसरी भूमिका हुई। ३—*'धृति सम जावन—।'* अर्थात् सम धैर्य हो, हानि-लाभ, दुःख-सुखमें बुद्धि सम रहे। *'समधीरज'* जावन और वही दूधका दही हुआ यही समधृति समबुद्धि ज्ञानकी तीसरी भूमिका हुई।

रा० शं०—दूधमें जलका अंश या पतलापन निकालनेको औटते हैं। यहाँ परमधर्ममें किसी प्रकारकी कमी न रह जाय, यही औटना है। धर्मका फल सुख है। परमधर्मका फल परमसुखको पाकर मन विचलित होता है, इसको संतोष और क्षमासे जुड़ावे। पंखा दो तरफ चलता है। अतः संतोष और क्षमा दो कहे।

वै०—१ अकामानलपर औटा हुआ सुधर्म दूध उष्ण है, उसमें तोष मरुत दे। भाव कि एक अकामना

ईर्ष्या, मान, क्रोधादिसे होती है सो नहीं, संतोषसहित अकाम रहे। संतोष-पवन लगनेसे क्षमारूपी शीतलता होगी, क्षमा होना ही सुधर्मको ठंडा करना है। २ ☞ अकामना, संतोष, क्षमासहित सुधर्म विचारना ज्ञानकी दूसरी भूमिका हुई। ३—धैर्य और समता जावन देकर परम धर्म दूधको जमावे। अर्थात् क्षमा-संतोष-सहित सुधर्म कर जब जीव शुद्ध हुआ तब काम-क्रोधादिके वेगमें मन न पड़ने पावे, यह धीरज रखे। पुनः राग-द्वेष किसीमें न आने पावे यह समता रखे इत्यादि। जीवकी थिरता दही है।—यही अपने स्वरूपका सदा सँभार रखना ज्ञानकी तीसरी भूमिका है। ☞ यहाँतक तीन भूमिकाओंमें ज्ञानके चार साधनोंमेंसे दो साधन-मुमुक्षुता और षट्-सम्पत्ति कहे गये।

वि० त्रि०—१ ☞ गायके चरानेसे लेकर दूध औटनेतक मनका काम था, अब ठंडा करनेका काम क्षमाका है। क्षमा, मुदिता और बुद्धि ये सब मनके परिवार हैं। तृषा शान्त करनेवाले गुणको तोष कहते हैं। तोषकी उपमा मरुत् (हवा) से दी गयी है। हवासे गर्मी शान्त होती है, दूध ठण्डा होता है। परम धर्ममय पयमेंका कामांश तो दूर हुआ, पर ऐसा करनेसे वह संतप्त हो उठा, उस संतापके दूर करनेके लिये तोषकी आवश्यकता हुई।

भाव यह कि **'सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः'** ऐसी धारणा अटल होनेपर भी कामसे भय रहता है, क्योंकि यह क्रोध उत्पन्न कराके हिंसा करा देता है। कामका विरह हुआ, कामके विरहसे संताप हुआ,* अतएव उस संतापको तोषसे दूर करे। जो अहिंसामें प्रतिष्ठित हो गया है उसके लिये आत्मघातक (जिससे आत्माका आवरण बढ़े) दोषोंका दूर करना परम कर्तव्य है।

१—***'क्षमा जुड़ावे।'*** दूसरेके अपराधसे भी न संतप्त होनेवाली क्षमामें ही कामके विरहसे उत्पन्न धर्मके संतापको दूर करनेकी शक्ति है, अतएव क्षमा ही उसे तोषकी वायुसे शीतल करे। दूसरी बात यह है कि तोषके प्राप्त करानेमें क्षमा ही समर्थ है, अतः वही संतप्त परम धर्ममय पयको शीतल करे; यथा—***'त्रिबिध पाप संभव जो तापा। मिटइ दोष दुख दुसह कलापा॥ परम सांत सुख रहै समाई। तहँ उतपात न भेदै आई॥ तुलसी ऐसे सीतल संता। सदा रहहिं एहि भाँति एकंता॥'***

ठंडा करनेका दूसरा यह भी भाव है कि साधकको व्यर्थ काल बिताना उचित नहीं। अनायास भी दूध धीरे-धीरे ठंडा हो जाता है पर उसमें देर लगेगी। अतएव तोषरूपी शीतल वायुसे उसे क्षमाद्वारा शीतल करनेका उद्योग करे।

३—***'धृति सम जाँवन।'*** धृति अर्थात् धैर्य, कृतकार्य होनेका प्रधान साधन है, यथा—***'धीरज धरिय त पाइअ पारा।'*** ***'सम'*** में भाव यह कि समतावाला धैर्यवान् होना चाहिये, विषमतावाला नहीं। इसीका जाँवन बनावे। जाँवन दहीकी उस मात्राको कहते हैं जिसे दूधमें डालकर दही जमाया जाता है। खटाई आदिसे भी दही जमता है पर वह अच्छा नहीं होता। अथवा, सम जाँवनसे यह तात्पर्य है कि जितना उचित हो उतना ही जाँवन दे, क्योंकि उचित मात्रासे कममें दही नहीं जमेगा और अधिक होनेसे वह पानी छोड़ देगा। अतएव जितने धैर्यकी आवश्यकता हो उतनेहीसे काम ले, धैर्य कहीं हठमें परिणत न हो जाय।

'देइ जमावै' अर्थात् जाँवन डालकर उसे उतना समय दे, जितनेमें जाँवनका प्रभाव सम्पूर्ण दूधपर पड़े और वह जमकर एक थक्का हो जाय।

४—दूधके जमानेमें जाँवनके लिये दूसरे दहीकी आवश्यकता पड़ती है और उस दूसरेके लिये तीसरेकी। इस भाँति यहाँ अनादिकालसे साधन-परम्परा दिखलायी है। यह नहीं समझना चाहिये कि ऐसा उद्योग आजतक कभी नहीं किया, जीवकी स्थिति अनादि कालसे है और उसका उद्योग बराबर जारी है। न जाने कितनी बार दही जमा, पर काम पूरा चौकस न उतरा। इस बार भी दही जमकर तैयार हुआ। जिस प्रकार हरे तृणका परिणाम दूध एक दूसरी वस्तु तैयार हुई; इसी भाँति दूधका परिणाम दही एक बिलकुल तीसरी वस्तु है। इसमें दया, निष्कामता, तोष और धैर्य चारोंका मेल है। क्षमाका कार्य समाप्त होते ही मुदिता आप-से-आप उपस्थित हो जाती है। इसी प्रकार अन्य पात्र भी आते जायँगे।

* शेषदत्तजी—निष्कामानलजनित जो अहंकृत उष्णता है।

मुदिता मथै बिचार मथानी। दम अधार रजु सत्य सुबानी॥ १५॥
तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता। बिमल बिराग सुभग सुपुनीता॥ १६॥

शब्दार्थ—**मुदिता**=विषमताशून्य होनेपर जो आनन्दवृत्ति प्राप्त होती है (वै० रा० प्र०)।=सबके गुणोंको देखकर प्रसन्न होना, अर्थात् ईर्ष्याका सर्वथा त्याग, अपने मनसे अविद्याको नष्ट होती देखकर जन्मके सफल होनेकी प्रसन्नता (पं०)।=दूसरेके सुखमें आनन्दित होनेवाला गुण। **मथै**=माथ, महेड़ा, कमोरी, वह पात्र जिसमें दही रखकर मथानीसे मथा जाता है। (करु०, पं० रा० व० श०, रा० बा० दा०, गी० प्रे०, वै०)। =मथे (क्रिया)—(मा० म०, वि०) **विचार**=सारासारका निर्णय (करु०)।=वस्तु, विचार (वि० त्रि०)।

अर्थ—मुदितारूपी माथमें (उस दहीको डालकर), विचाररूपी मथानीसे, इन्द्रिय-दमनरूपी आधार (खम्भा आदि) में सत्य एवं उत्तम प्रिय वाणीरूपी रस्सी लगाकर तब दहीको मथकर* निर्मल, सुभग और अत्यन्त पवित्र वैराग्यरूपी मक्खन निकाल ले॥ १५-१६॥

पं० रा० व० श०—मुदितावृत्ति माथ है जिसमें दही छोड़कर मथा जाता है। मुदिता (में) विचार बिना दमके नहीं ठहर सकता, जैसे मथानी बिना खम्भके आधारके। सत्य और प्रिय वाणी—'**सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्**' ये दो रस्सियाँ हैं। कितना ही विचार क्यों न हो पर यदि झूठ बोला करे तो वह सब व्यर्थ हो जायगा अतः '*सत्य सुबानी*' कहा।

वि० टी०—भाव कि प्रसन्नतायुक्त विचारसे इन्द्रियोंको विषयोंसे पलटाकर सत्य मीठी वाणीसे सारासारका निर्णय करे। सारासारके निर्णयसे वैराग्य उत्पन्न होता है।

रा० प्र०—'*मुदिता मथै*' का भाव कि विषमताशून्य होनेपर जो आनन्दवृत्तिका लाभ हुआ, उससे विचारद्वारा मनन करे।

करु०—अब चौथी भूमिका कहते हैं। जिस पात्रमें दही जमाया जाता है उससे दूसरे बड़े पात्रमें जिसे मथा, महेड़ा आदि कहते हैं, पलटकर मथानीसे उसे मथते हैं। खम्भेमें रस्सी लगाकर उससे मथानी चलायी जाती है। दही मथकर मक्खन निकाला जाता है। यह दृष्टान्त है। यहाँ परम धर्मरूप दूधस्वरूप (?) पात्रमें जमाया गया, उसे मुदिता अर्थात् आनन्दरूप बड़े पात्रमें पलटकर विचाररूप मथानी डालकर दमको खम्भ बनाकर सत्य वाणीरूपी रज्जुमें बाँधकर मथते हैं। विचार सारासारका निर्णय। ☞ मुदिता, विचार, दम और सत्य वाणी चारों-संयुक्त जो वैराग्य है वही ज्ञानकी चौथी भूमिका हुई।

पं०—१ विचाररूपी मथानीसे उसको मथे। तात्पर्य कि बारम्बार यही विचार करे कि आत्मा सदा सत्य, जगत् त्रिकालमें मिथ्या है। दम आधार है जिसके आश्रय मथानी फिरती है। तत्त्व यह कि विषय रसोंसे इन्द्रियाँ रुकें तब मन विचारपरायण हो। २—'*बिमल बिराग*……।' श्रुतियोंका आशय समझकर पदार्थोंमें दोषबुद्धि होना वैराग्यकी निर्मलता है, सब व्यवहारोंका बाह्य त्याग उसकी सुन्दरता है और ज्ञान-उपार्जनकी योग्यता करनी उसकी पवित्रता है।

वै०—१ अबतक परमधर्म दूध विश्वास-पात्रमें रहा, अब हृदयके आनन्दरूपी महेड़ेमें पलटा गया। दम खम्भ है। दो रस्सियोंसे खम्भेके आधारपर मथानी थमी रहती है और एक रस्सीसे खींच-खींचकर मथना होता है। यहाँ सत्य वाणी अर्थात् पश्यन्ती वाणी मथनेकी रस्सी है और सुवाणी अर्थात् मध्यमा और वैखरी ये दोनों खम्भेसे मथानीकी आधार हैं। जैसे बिना रस्सीके मथानी नहीं चल सकती वैसे ही बिना अन्तः-करणकी वाणीके विचार नहीं हो सकता इत्यादि सब सामग्री एकत्र कर तब जीव थिर होकर

---

* वि० त्रि० जी अर्थ करते हैं 'मुदिता विचारकी मथानीसे मथे'। और मा० म०-कार अर्थ करते हैं कि 'मुदितारूपी सुन्दर स्त्री आत्मतत्त्व और परमात्मतत्त्वके स्वच्छ विचाररूपी मथानीको हाथमें ग्रहणकर इन्द्रिय-निग्रहरूपी खम्भ, जो सत्य ब्रह्मके चिन्तनका और सत्य रजुका स्तम्भ है, उसके और मथानीके बीचमें वाणीरूप बड़ी रस्सीको लगा करके शनैः-शनैः मथे अर्थात् ब्रह्मके यथार्थ रूपको देखे यही उसका दही-उत्तम मंथन है।' पाँडेजी 'मुदिता' को मथनेवाली स्त्री मानते हैं।

मथे। अर्थात् सब इन्द्रियोंकी वृत्ति वैखरी मध्यमा वाणी सब बटुरकर मन-चित्त-अहंकारादि बुद्धिके अनुकूल हों तब बुद्धि पश्यन्ती-वाणीमें मिलकर आनन्दसहित विचार करे कि स्वर्गपर्यन्त सब विषय तुच्छ हैं, नाशवान् हैं, इनको त्यागकर आत्मरूपमें डटो, जिसमें अचल सुख है इत्यादि विचार 'मथना' है। २—मथनेसे मक्खन *'बिमल बैराग्य'* निकला। विमल=जिसमें वासना आदि मल नहीं है। सुभग—अर्थात् सुन्दरतामें मन्दतादि कुरूपता नहीं। 'सुपुनीत' अर्थात् जिसमें मनादि ईर्ष्याक्रोधादि अपावनतासे रहित हैं। भाव कि इन्द्रिय वाणी थिर होकर आनन्दसहित विचार करनेपर जो शुद्ध वैराग्य हुआ वह नवनीत है। 'जगत् और आत्मरूप जाना' यह 'सत्त्वापत्ति' ज्ञानकी चौथी भूमिका है।

वि० त्रि०—१ (क) *'मुदिता मथै।'* दहीको मुदिता (अर्थात् दूसरेके सुखमें आनन्दित होनेवाला गुण) मथे। यहाँ मथना विचार करना है। विचारमें मुदिताकी बड़ी आवश्यकता है। (ख) *'बिचार मथानी।'* धर्मको सदा कामके साथका संस्कार है। धर्मके साथसे काम हटा दिया गया, धैर्यसे मैत्री करायी गयी, पर अब भी उसमें (दुःखके बीज) कामका संस्कार शेष है, उसी संस्कारको तोड़नेके लिये उस दहीके थक्केको विचार (वस्तु-विचार) से मथे। (ग) *'दम अधार।'* अर्थात् इन्द्रियदमन (जो षट्सम्पत्तियोंमेंसे दूसरा है) उस वस्तु-विचारका आधार होगा, मथानीका फल होगा। उसीकी चोटसे यह जमा हुआ दहीका थक्का छिन्न-भिन्न होकर रवा-रवा हो जायगा। (घ)—*'रजु सत्य सुबानी'* सत्य नवनीत सुबानी अर्थात् हितकर सत्यवाणी (गुरु तथा शास्त्रकी) उस विचारमथानीकी डोरी होगी। उसकी खींचके अनुसार जब वस्तु-विचारदण्ड अपने फलके साथ घूमेगा, अर्थात् शास्त्र-मर्यादाके भीतर तर्क होगा, तब दही मथित होकर नवनीत (मक्खन) प्रसव कर सकेगा। विचारका दिग्दर्शन विनयके *'जिय जब ते हरि ते बिलगान्यो'* इस पदमें आदिसे *'अजहुँ न करु बिचार मन माहीं।'* (वि० १३६) तक तथा मानसके *'एहि तनु कर फल बिषय न भाई। स्वर्गहु स्वल्प अंत दुखदाई॥——'* इत्यादि वचनोंमें कीजिये। [**'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।'**(मुण्डक० १। २। १२) अर्थात् मुमुक्षु कर्मद्वारा प्राप्त होनेवाले लोकोंको अनित्य जानकर वैराग्यको प्राप्त होवे, क्योंकि कृत (कर्म) से अकृत (ब्रह्म) की प्राप्ति नहीं होती, इत्यादि। (सि० ति०)]

सब कार्य श्रद्धासे लेकर ग्रन्थिभेदतक विधिके अनुसार होने चाहिये, अविधि होनेसे वह असुरोंका भाग हो जायगा।

२—*'तब मथि काढ़ि लेइ नवनीता——।'* (क) *'तब मथि।'* इस प्रकार विचारमथानीद्वारा मथनेसे काम-संस्कार छूट जायगा और उसके छूटते ही त्रिवर्ग वा षड्विकारकी जो कुछ वासना परमधर्मके सारको ढके हुए थी, छिन्न-भिन्न होकर अलग हो जायगी और नवनीत (विराग) प्रकट हो पड़ेगा। (ख) *'काढ़ि लेइ नवनीता'* अबतक सब कार्य विश्वासरूपी पात्रमें ही होता आया। उसीमें दूध दुहा गया, जमाया गया और मथा गया, अब मक्खन निकल पड़ा तो उसे (विश्वास-पात्रसे) अलग कर लिया गया। भाव यह कि केवल विरागका विश्वास होनेसे काम नहीं चलेगा। (ग) *'बिमल बिराग'*—वह मक्खन विमल विराग है, जैसा कि श्रीभरतजीका।——*'तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा'॥* ☞ विराग साधनचतुष्टयमेंसे दूसरा है। (घ) *'सुभग सुपुनीता'*—यह मक्खन दूध-सा सुभग है, पर दूध पुनीत था यह सुपुनीत है। ☞ अब साधनचतुष्टयके पूर्ण होनेमें केवल समाधानकी त्रुटि है। अतएव—*'जोग अगिनि——'*

शेषदत्तजी—जिस पात्रमें दूध दुहा, उसीमें औटा, उसीमें जमाया और फिर मही फेंककर उसीमें मक्खन रखकर तपाया।

दो०—जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाइ।
बुद्धि सिरावै ज्ञान घृत ममता मल जरि जाइ॥ ११७॥ (क)

शब्दार्थ—लाइ=लगाकर, यथा—*'सकल गिरिन्ह दव लाइय रबि बिनु राति न जाइ।'*

अर्थ—तब योगरूपी अग्नि प्रकट करके शुभाशुभकर्मोंरूपी ईंधन लगाके (जलावे)। ममतारूपी मैल जल जाय, ज्ञानरूपी घी रह जाय, तब बुद्धि उसे ठण्डा करे।

वि० त्रि० —१ *'जोग अगिनि तनु (?) प्रकट करि'''* इति। (क)—विराग उत्पन्न हुआ तब योगका अधिकार भी हो गया। चित्तवृत्तिका निरोध करके सत् लक्ष्यमें एकाग्र होना योग है और वह अभ्यास तथा वैराग्यसे होता है। वैराग्यद्वारा चित्तवृत्तिनिरोध कहनेसे ही यह बात आ गयी कि वैराग्यका निवास चित्तवृत्तिमें हुआ। (ख) *'तनु (?) प्रकट करि।'* योगाग्निको प्राण-अपानके संघर्षणसे शरीरमें प्रकट करके अर्थात् हठयोग करके, जिससे मनकी गतिकी भाँति, देहकी क्रिया श्वास-प्रश्वासादि रुक जायँ। मनके रोकनेसे वायु रुकता है और वायुके रोकनेसे मन रुकता है, यथा—*'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।'* (४। १० छन्द) अतः राज और हठ दोनों योग युगपत् होने चाहिये। ☞ इससे समाधान (=चित्तकी एकाग्रता) कहा जो षट् साधनसम्पत्तियोंमेंसे छठी है। अब साधनचतुष्टयके पूरा होनेसे साधक तत्त्वज्ञानका अधिकारी हुआ। ऐसे अधिकारीके लिये ही *'तत्त्वमसि'* महावाक्यका उपदेश है, यथा—*'मोहि परम अधिकारी जानी।', 'लागे करन ब्रह्म उपदेसा।', 'सो तैं (तत्त्वम्) ताहि तोहि नहिं भेदा। (असि) बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥'*

२—*'कर्म सुभासुभ लाइ।'* अग्निको स्थिर रखनेके लिये ईंधन चाहिये। अतः शुभाशुभकर्मको लगाकर अग्नि जलावे। योगसे परोक्षज्ञान होता है, यथा—*'धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना।'* और परोक्षज्ञानसे बुद्धिपूर्वक किया हुआ पाप नष्ट होता है। योगीका कर्म अशुक्लाकृष्ण होता है, पाप-पुण्यसे रहित होता है, अतः सञ्चित आगामी यावत् शुभाशुभकर्मोंको नष्ट करती हुई योगाग्नि प्रकट होती है, केवल प्रारब्ध बच रहता है। यथा—*'कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार॥'*(१। ६८)

३—*'बुद्धि सिरावै—'* बुद्धि मक्खनको पिघलावे, अर्थात् वैराग्यसे और सत् लक्ष्यपर चित्तके स्थिर करनेके अभ्याससे चित्तवृत्तिका निरोध करे। ☞ मक्खन निकालनेतक 'मुदिता' का काम था, अब गर्म करना बुद्धिका काम है। घी कच्चा रह गया, ममता कुछ शेष रह गयी तो ज्ञानदीपकके जलनेमें कठिनता होगी और जो खर हो गया तो योगशास्त्रोक्त असम्प्रज्ञात-समाधि हो जायगी। आगेकी सब क्रिया रुक जायगी। मसल है कि घी जलकर तेल हो गया। असम्प्रज्ञात-समाधि तो हुई पर ज्ञान न हुआ। यदि बुद्धि ठीक तरहसे पका सकी तो ज्ञानघृत तैयार हो जायगा। यह *'तत्'* पदका ज्ञान परोक्षज्ञान है, यथा—*'तव प्रसाद सब संसय गयऊ। रामसरूप जान मोहि परेऊ॥'*

मा० म०, वि० टी०—भाव कि परमात्मासे संयोगकी उत्कट इच्छा उत्पन्नकर योगसे शुभाशुभकर्मोंके नष्ट करनेसे ममतात्याग शुद्ध ज्ञान प्रकट होता है, जिसे बुद्धि अपना लेती है। तात्पर्य यह कि वैराग्यरूपी नवनीतमें अशुभकर्मोंका स्मरणरूपी जल लपटा रहता है तथा शुभकर्मोंकी चाहनारूपी छाछ मिली रहती है। सो ये दोनों जल जाते हैं अर्थात् निष्काम कर्म रह जाते हैं। मक्खन गर्म करनेसे छाँछ जलनेपर शुद्ध घी रह जाता है, यह अभी गर्म है, इसे ठंडा करना होगा। ज्ञानघृतमें मानरूपी उष्णता है। इसे बुद्धिरूपिणी स्त्री विवेचनद्वारा शीतल करती है।

वि० त्रि०—*'ममता मल जरि जाइ।'* भाव यह कि विरागमें यह धारणा रही कि ये सब विषय-विलास मेरे वशमें हैं, मैं इनके वशमें नहीं हूँ, अतः उसमें ममता-मल रहा। वह ममता योगाग्निसे जलती है। इस प्रकार *'तत्'* पदका शोधन हुआ। ज्ञानदीपकमें योगशास्त्रानुमोदित असम्प्रज्ञात-समाधिका उपयोग नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध न मानकर, ज्ञानी लोग ब्रह्माकारवृत्तिको असम्प्रज्ञात-समाधि मानते हैं, और कारण यह देते हैं कि योगवाली असम्प्रज्ञात-समाधिसे लौटनेपर, संसार ज्यों-का-त्यों लौट आता है, ज्ञान कुछ भी नहीं होता।

☞ यहाँतक बुद्धिका कार्य समाप्त हुआ।

रा० प०, रा० प्र०—१ *'करि प्रकट'* का भाव कि काष्ठमें जैसे अग्नि गुप्त रहती है, संघर्षणसे प्रकट होती है, वैसे ही जीवात्मा परमात्माका विवेचन कर इनमेंसे उसे काढ़ ले। शुभाशुभकर्म जबतक

रहते हैं तबतक स्वर्ग-नरकादिमें घुमाते हैं, इनके जलनेपर ही मुक्ति हो सकती है। अतः इनका जलाना कहा। २—यहाँ ममता-मलका जलना कहा। अहंता भी मल ही है, पर वह ग्रन्थि छूटे बिना जल नहीं सकती, अतः उसका जलना यहाँ नहीं कहते। भाव कि देह-गेहादिकी ममता ज्ञानभूमिका पाते ही जाती रहती है, पर अहंता समाधि अवस्थामें भी रहती है। ज्योतिध्यानमें अहंता लेशमात्र रहती है। जैसे दीपशिखापर तम, त्रिपुटी भङ्गमें ही अहंता निर्मूल होती है।

करु०—शुभ कर्म=सात्त्विक गुणमय कर्म। अशुभ कर्म=राजस-तामसमय कर्म। मक्खनमें छाँछ रहता है। वैराग्यमें ममता अर्थात् अहंता है। छाँछ जल जानेपर वही बुद्धि ज्ञानघृतको 'सिरावती' अर्थात् घृतरूप ज्ञानको भिन्न और शीतल करती है। यहाँ आत्मा-अनात्माको जानना ज्ञान है।

☞ अनात्माको मिथ्या जानकर उसे वैराग्यद्वारा त्यागकर स्वस्वरूपका ग्रहण पाँचवीं भूमिका हुई।

वै०—१ अब चौथे साधन वैराग्यको पाँचवीं भूमिकामें कहते हैं। २—अष्टाङ्गयोग करे यही अग्निका प्रकट करना है। उसमें शुभाशुभकर्मरूपी ईंधन लगावे। भाव कि पूर्व जो निर्वासिक कर्म करना था वह भी अब न करे। केवल ध्यान-धारणा-समाधिरूप योगाग्निमें विरागरूप नवनीतको औटे। संसार एवं देह-व्यवहारका ममतारूपी मल जला डाले तब ज्ञानघृत रह जायगा। उसे ठंडा करे। भाव कि ज्ञानमें योग-क्रियाकी उष्णता है, उसको भी शान्त करे। ३—☞ असार त्यागकर सार आत्मरूपका ग्रहण इति विवेक यह ज्ञानकी पाँचवीं भूमिका असंशक्ति है।

पं०—वैराग्य और योग ज्ञानके साधन और सहायक हैं। इनके बिना ज्ञान प्रबल नहीं होता। योगाग्निमें शुभाशुभकर्मोंको जलाया अर्थात् यह चाहा तो बहुतेरे तन धरकर दुःख-सुख शीघ्र भोग लिये। तब बुद्धिरूपी सखीने वैराग्यमाखनको औटाकर अर्थात् वैराग्यका अभिमान त्याग दिया। ममता-मल जल गया अर्थात् यह देहसंयुक्त किसी पदार्थमें स्नेह न रह गया। ज्ञान=आत्माकी व्यापकता और जगत्का मिथ्या जानना।—(पंजाबीजी सिरानेका अर्थ औटाना करते हैं)।

दो०—तब बिज्ञानरूपिनी* बुद्धि बिसद घृत पाइ।
चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दिअटि बनाइ॥ ११७ (ख)॥

अर्थ—तब विज्ञानरूपिणी बुद्धि स्वच्छ घी पाकर, चित्तरूपी दिया (दीपक) उससे भरकर, समतारूपी दृढ़ दीयट बनाकर, उसपर दृढ़ करके धरे॥ ११७ (ख)॥

नोट—घी दीपकमें रखा जाता है, दिया दीवटपर रखा जाता है, जिसके नीचेका पेंदा वा भाग भारी हो जिसमें दिया रखे जानेपर अथवा कुछ धक्का पानेसे गिरे नहीं। यहाँ विज्ञानरूपिणी बुद्धिको ज्ञानघृत रखनेके लिये चित्त 'दिया' है और 'दृढ़ समता' दीवट है जिसपर चित्तरूपी दिया रखा जाता है। भाव यह है कि चित्तमें निर्मल ज्ञान सदा परिपूर्ण रहे और सर्वजगत्‌में '*देख ब्रह्म समान सब माहीं*', यह वृत्ति एकरस दृढ़ बनी रहे, नहीं तो ज्ञानरूपी निर्मल घी चित्तरूपी दीयेसे गिर जायगा तब दीपक जलेगा नहीं, सब किया-कराया परिश्रम मिट्टीमें मिल जायगा।

पं०—विज्ञानका निरूपण करनेवाली जो बुद्धि है, जिसने आत्मा ही पूर्णतया जानी है वह ममतारहित ज्ञानरूपी शुद्ध घी चित्तरूपी दीपकमें भरे। अर्थात् देह, इन्द्रियाँ, प्राण, अन्तःकरण—इन सबोंमें। और सदा आत्माकार ही अभ्यास रहे। '*समता दिअटि बनाइ*' अर्थात् ज्ञान करके सदा समतामें रहे।

रा० प्र०—विशिष्ट ज्ञानरूपिणी बुद्धिका भाव कि सब आवरण, परदे उसके दूर हुए, सब मल जल गया है।

मा० म०—अब ब्रह्म और जीवका भेद तथा ब्रह्म-जीवकी वाच्यता बिसर गयी। लक्ष्य वस्तु शुद्ध ब्रह्मको (सम) एकरस जानकर वह भाव ग्रहण करे और उस समताकी दीयट बनावे। जो ब्रह्मके यथार्थ

* विज्ञाननिरूपिनी—मा० म०। विज्ञान सरूपिनी—रा० प्र०। विज्ञानरूपिनी—मा० दा०।

स्वरूपको जानकर उसका यथार्थ प्रतिपादन करे वही विज्ञानरूपिणी बुद्धि है जो ब्रह्म-प्राप्तिका प्रकाशक है। ब्रह्मके ऐश्वर्य, रहस्य और आनन्द रूपको सदा समझता रहे वह चित्त है जो आनन्दका मूल है, क्योंकि प्राकृतिक चित्त पूर्व ही लीन हो गया है।

वि० त्रि०—*'विज्ञानरूपिनी बुद्धि।'* ☞ अब गुरुसे उपदिष्ट *'सो तैं तोहि ताहि नहिं भेदा'* (**तत्त्वमसि**) महावाक्यसे उत्पन्न विज्ञान जिसका रूप है ऐसी बुद्धिका कार्य प्रारम्भ होता है। अर्थात् गुरु-वेदान्तवाक्यसे जो ब्रह्मात्मैक्यका अनुभव होता है उसे 'विज्ञानरूपिणी' बुद्धि कहते हैं।……। २—*'चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दियट बनाइ।'* अर्थात् 'चित्तमें वैषम्य न होने पावे, नहीं तो ज्ञान नष्ट हो जायगा। ☞ यह बाह्य समाधि हुई। इस प्रकार ज्ञानघृत तैयार हुआ, उसे दियेमें भरकर सुरक्षित स्थानमें रख दिया गया, तब साधककी साधु पदवी होती है। यथा—*'बंदउँ संत समान चित हित अनहित नहिं कोइ।'* (१। ३) ऐसे ही साधु महापुरुषोंकी कपाससे उपमा दी गयी है। साधुका चरित्र कपासका चरित्र कहा गया है, नीरस, विशद और गुणमय करके उसके फलका वर्णन किया गया है। यथा—*'साधुचरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥'* (१। २। ५) अपना कार्य जिससे हो उसे फल कहा गया है। जैसे तलवारका फल, बरछेका फल, वृक्षका फल। इसी प्रकार कर्मका फल देह है। साधुका शरीर विषय-रस-रूखा होनेसे नीरस कहा गया। ऐसे ही देहसे तीनों शरीरोंका पृथक् करना, तुरीयाकी प्राप्ति आदि, जिसका वर्णन पीछे किया जायगा। सम्भव है, दूसरेसे नहीं। दूसरोंके तीनों शरीर सरस होनेसे, मलिन और दोषयुक्त होनेसे एक-दूसरेसे ऐसे सने होते हैं कि उसको पार्थक्यका अनुभव नहीं हो सकता। यथा—*'काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुखरूप। ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तमकूप॥'* (७३)*

करु०—१ अब छठी भूमिका कहते हैं। इसमें अपने स्वरूपकी और ब्रह्मकी एकता करनेका अनुसन्धान है। यह विशेष विज्ञान है। २—*'तब'* अर्थात् जब घी जमकर विशद हुआ *'तब'* घृतरूप विज्ञान निरूपण करने लगी, जिससे विज्ञान विशद हुआ अर्थात् अनुभवद्वारा अनात्माके सम्बन्धसे आत्मा भिन्न देख पड़ा। यहाँ 'अपना स्वस्वरूप जीव अरूप-स्वरूप-ब्रह्म इन तीनोंकी एकताका निरूपण' विज्ञान है।

वै०—पहली भूमिकामें मन सावधान हुआ, उसके संकल्प-विकल्प विकार छूटे और पाँचवीं भूमिकामें पहुँचकर योगाग्निद्वारा ममता-अभिमान जले। अब बाकी रहे बुद्धि और चित्त। इनका व्यापार अब छठी भूमिकामें कहते हैं। जब शुद्ध आत्मरूपकी पहिचान हुई, ज्ञानघृत मिला तब विज्ञानको निरूपण करनेवाली, अर्थात् आत्मपरमात्मकी वृत्ति एकमें मिलानेवालीका काम आया कि वह समतारूपी दीवट बनाकर चित्तरूपी दियामें ज्ञानघृत भरकर उसपर रखे। अर्थात् मन-चित्त-बुद्धि-अहंकारकी वृत्ति एकमें मिलकर थिर होना समता दीवट बनता है। मन और अहंकारकी वृत्ति चित्तमें लीन बनी रहे और चित्तमें आत्मरूपका अखण्ड चिन्तन बना रहे और बुद्धि आत्मरूपके पहिचानमें लगे इत्यादि दीवटपर घी भरा दिया रखना है।

दो०—तीनि अवस्था तीन गुनि तेहि कपास तें काढ़ि।
तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करै सुगाढ़ि॥ ११७ (ग)॥

अर्थ—कपाससे तीनों (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति) अवस्थाएँ और तीनों (सत्त्व, रज, तम) गुण इनको निकालकर, तब तुरीयावस्थारूपी रूईको सँवार (अर्थात् धुनकर रूईका पहला और प्यूनी बनाकर) सुन्दर कड़ी बत्ती बनावे॥ ११७ (ग)॥

☞ चिराग हुआ, घी हुआ, अब उसमें बत्ती चाहिये तब तो दीपक जलाया जाय। बत्तीके लिये रूई चाहिये। रूई कपासको औटनेसे अर्थात् बिनौला आदि निकालनेपर मिलती है। उसी प्रकार अब ज्ञानदीपकके लिये बत्तीका सामान बताते हैं। यहाँ कपास, बिनौला और रूई इत्यादि क्या हैं सो इस दोहेमें कहते हैं।

---

* पं० श्रीकान्तशरणने त्रिपाठीजीके भाव मा० पी० से प्रायः अक्षरशः चुराकर लिखे हैं। केवल रेखाङ्कित 'शरीर' शब्दोंकी जगह 'अवस्था' शब्द रख दिया है। वि० त्रि० जीका कहीं प्रसंगभरमें या पुस्तकमें नाम नहीं है।

तीन अवस्थाएँ कपासके फाल वा बोड़रीपरके छिलके हैं और तीनों गुण भीतरके बिनौले हैं। तुरीयावस्था रूई है। बत्ती यदि कसी हुई पुष्ट नहीं हो तो लौ-प्रकाश एकरस ठीक नहीं रहेगा। कपासमें तीन फाल या बोड़री होती हैं, जिनके ऊपर छिलका होता है, तीनों फालमें बिनौला होता है, यह सब मिलकर कपास कहलाता है। **कपास**=रूई, बिनौला और छिलकाका मजमूआ। बिनौला और छिलका निकल जानेपर रूई रहती है।

वि० टी० का मत है कि मन कपास है। उसको तीनों गुणों और तीनों अवस्थाओंसे परे तुरीय-अवस्थाकी ओर झुकाते हैं। वीरकविजी तीनों अवस्थाओं और तीनों गुणोंको कपास वा कपासका ढोंढा मानते हैं और लिखते हैं कि 'तुरीयावस्था मोक्ष है। कपासके ढोंढ़में तीन भाग और प्रत्येक भागमें एक-एक रेखाएँ होती हैं। इस अभेदत्वमें अभेदरूपक है।' यह मत मा० म० का समर्थन करता है। वि० त्रि० देहको कपास मानते हैं। महादेवदत्तजी लिखते हैं कि 'तीनों गुण और तीनों अवस्थाएँ आत्माद्वारा स्फुरित होती हैं। जैसे रूई और बिनौला एक साथ उत्पन्न वैसे ही ये अनादिसे एक साथ। जैसे रूईसे बिनौला निकालते हैं वैसे ही तीनों अवस्थाएँ जो जीवके साथ हैं उनको निकाल डालें तो आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित होकर तीनों गुणों और तीनों अवस्थाओंसे रहित तुरीयावस्था होवे।' इससे जीव कपास हुआ, ऐसा उनका मत जान पड़ता है।

पं०—'सत्त्व-रज-तम' ये तीनों गुण अविद्यारूपी कपासके फल हुए और तीन अवस्थाएँ तीन कपास हैं जो उस (कपास-फल) से निकले। इस कपासमेंसे तुरीयारूपी स्वच्छ रूई निकालकर बत्ती बनावे; अर्थात् जाग्रत्के अन्त और सुषुप्तिके आदिमें जो निर्विकल्प-संग तुरीया स्वरूप है उसमें वृत्तिका 'वहिरावण' यह बत्ती हुई।

करु०—बुद्धि बत्ती बारना चाहती है। यहाँ तीन गुण और तीन अवस्था ही कपास हैं और उसमें तुरीयावस्था रूई है, तीनों अवस्थाएँ और तीनों गुण बिनौला हैं। *'बाती करै सुगाढि'* अर्थात् दृढ़ करके बनावे जिसमें दीपककी ज्योतिरूप वृत्ति शुद्ध जलै अर्थात् लगे।*

वि० त्रि०—१ *'तेहि कपास ते'* कपासकी उपमा देहसे दी गयी है। जिस प्रकार कपासमें तीन कोष (खाने) होते हैं, उसी प्रकार देहमें तीन शरीर होते हैं—स्थूल, सूक्ष्म और कारण। पाञ्चभौतिक देहको स्थूल शरीर कहते हैं। पञ्चज्ञानेन्द्रिय (श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, जिह्वा, घ्राण) तथा पञ्चकर्मेन्द्रिय (वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ) तथा पञ्चप्राण (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) तथा बुद्धि और मन इन सत्रहके समूहको सूक्ष्म शरीर कहते हैं। इन दोनोंका कारण आत्माका अज्ञान है। जो आत्माके आभाससे युक्त होकर कारण-शरीर कहलाता है।

---

* करु०, मा० शं०—जाग्रत् अवस्था २४ तत्त्वों करके वर्तमान हैं, यह स्थूल-शरीर है। पचीसवाँ तत्त्व जीवात्मा है जिससे तीनों अवस्थाएँ स्फुरित होती हैं। स्थूल-शरीर जाग्रत्-अवस्थाका देवता विश्व है। वही जीव विश्वस्वरूप है और स्थूल-शरीरका भोग प्रत्यक्ष है। इस प्रकार २४ तत्त्व, विश्व देवता, स्थूल-शरीर, प्रत्यक्षभोग और सत्त्वगुण ये पाँच मिलकर जाग्रदवस्था है।

पञ्चतन्मात्रा, पञ्चकर्मेन्द्रियोंके विषय, पञ्चप्राण, मन और बुद्धि—इन १७ तत्त्वोंसे स्वप्नावस्था हुई। तेजस् देवता है। जीव स्वप्नमें तेजस्रूप है अर्थात् अति सूक्ष्मप्रकाशकरूप लिङ्गशरीर, सूक्ष्मभोग और पवनवेगवाला होता है। इस प्रकार १७ तत्त्व, लिङ्गशरीर, सूक्ष्मभोग, तैजस देवता और रजस् गुण मिलकर स्वप्नावस्था है। सुषुप्तिमें सूक्ष्मतरभोग हैं। यहाँ जाग्रत्के २४ और स्वप्नके १७ तत्त्व दोनों एक होकर सम रहते हैं। प्राज्ञ देवता है। इस प्रकार—अज्ञानभोग, आनन्दभोग, जाग्रत्-स्वप्नकी साम्यता, प्राज्ञ और तामस गुण मिलकर सुषुप्ति अवस्था है।

मा० म० में चारों अवस्थाओंका विस्तृत वर्णन है। वे लिखते हैं कि तीनों अवस्थाओंके स्थूल, लिङ्ग और कारण-शरीर, उनके देवता (विश्व, तैजस, प्राज्ञ), उनके अक्षर (अ, उ, म), उनके रंग (पीत, श्वेत, लाल) और उनकी बारहों कलाएँ, अवस्थाएँ और तीनों गुण (सत्त्व, रज, तम) ये ही कपास हैं। इनके अभ्यन्तरसे तुरीया (महाकारणशरीर) रूपी रूईको निकाल लें।

तुरीयावस्थामें विद्याकृत श्रेष्ठ महाकारणशरीर है। इस शरीरका इकार अक्षर है, इसका अभिमानी देवता है, अर्द्धचन्द्र ऐसा रूप और चार कला है। यह महाकारणशरीर स्थूल, लिङ्ग और कारण तीनों शरीरोंके अभ्यन्तर सर्वज्ञभावसे सर्वाङ्गमें व्यापक होकर रहता है।

२—*'तीनि अवस्था तीन गुन।'*—इन्द्रियोंसे विषयका ज्ञान जिस अवस्थामें होता है उसे जाग्रत् कहते हैं। इन्द्रियोंके उपरत होनेपर जाग्रत्-संस्कार-जन्य सविषय ज्ञानको स्वप्न कहते हैं और जिस समय किसी प्रकारका ज्ञान नहीं होता, बुद्धि कारण-शरीरमें जाकर ठहरती है, उसे सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। सत्त्व, रज और तम तीन गुण हैं। जाग्रत् सत्त्वप्रधान है, स्वप्न रज:प्रधान है और सुषुप्ति तम:प्रधान है। ये ही तीनों अवस्थाएँ कपासके तीनों कोषोंकी तीन ढेढ़ियाँ हैं और सत्त्व, रज, तम उनके क्रमसे बीज हैं। कपासके प्रत्येक कोषमें बिनौलेसे लपटी हुई रूई होती है, उसे ढेढ़ी कहते हैं।

३—**काढ़ि**=निकालकर। भाव यह कि वैराग्य उत्पन्न होते ही साधु तीनों गुणोंको त्यागना चाहता है। उसकी विधि यह है कि स्थूल-शरीरसे ढेढ़ीरूपी जाग्रत् अवस्थाको अलग करके उसमेंसे बिनौलारूप सत्त्व अर्थात् वैषयिक ज्ञानको दूर करे। सूक्ष्मकी अवस्था स्वप्नमेंसे उसी वैषयिक ज्ञानके संस्कारको दूर करे। कारण-शरीरकी सुषुप्ति अवस्थामेंसे आत्माके ज्ञानको दूर करे। ☞ ये सब क्रियाएँ मनसे होती हैं अतएव राजयोगके अन्तर्गत हैं। यथा—*'कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥'* यह परम विराग ज्ञानरूप ही है। ☞ यह दृश्यानुविद्ध समाधि हुई।

४—*'तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करै—।'* (क)—जब तीनों अवस्थाओंमेंसे तीनों गुण निकल गये, ढेढ़ीमेंसे बिनौले बाहर निकाल लिये गये, औटनेका काम समाप्त हुआ, तब केवल रूई बच गयी, वही तुरीयावस्था है। उसे भी सँवारके अर्थात् तुनकर उसमेंसे कोषोंके संस्कारको दूर करे। ☞ इस प्रकार **'त्वम्'** पदका शोधन हुआ। (ख)—**सुगाढ़ि**=खूब मोटी। अर्थात् तुरीयावस्थाके संस्कारोंको भलीभाँति घनीभूत करे, जिसमें सब मिलकर एक हो जावें।

पं० रा० व० श०—तीनों गुण और चारों अवस्थाएँ मिलकर कपास हुआ। तीनों अवस्थाएँ और तीनों गुण निकल जानेसे ज्ञान होगा कि हम अवस्थाके साक्षी हैं, ब्रह्मस्वरूप चिन्मय अविनाशी हैं। तुरीयरूप आत्माकी अवस्था तुरीयावस्था है।

करु०, शेषदत्तजी—तीनों अवस्थाएँ और तीनों गुण आत्माद्वारा अनादिकालसे स्फुरित हैं। जैसे रूई और बिनौलाको विधाताने एक साथ उत्पन्न किया है, पर जब यत्न करके कपाससे बीजको निकाल डाले तब केवल रूई रह जाती है*।

शेषदत्तजी—इसी प्रकार गुणत्रय और अवस्थात्रय जीवके साथ जानिये। पर जब विलक्षण आत्मा स्वस्वरूपमें स्थित हुआ तब गुणत्रयसहित अवस्थात्रयसे रहित हुआ; यही तुरीयावस्था है। पर इतनेपर भी जड़-चेतनकी वासना-ग्रन्थि सूक्ष्म होकर जीव बुद्धिके अन्तरमें याद तो बनी ही है।

वै०—यहाँ तीन अवस्थाएँ कपास बोड़रीके बकला हैं और तीनों गुण भीतर बिनौलासहित तीन पुरियाँ हैं। तीनों गुणों और तीनों अवस्थाओंके त्याग करनेपर जो शुद्ध आत्मरूपकी पहिचानरूपा तुरीयावस्था है वही रूई है। इस रूईकी कड़ी बत्ती बनावे। अर्थात् आत्मरूपका चिन्तन दृढ़ बना रहे। इस प्रकारसे दीप जलावे। योगाग्नि जो प्रकट कर चुके हैं उसीसे बत्तीको जलावे। तेजराशि अर्थात् जिसमें अनुभवप्रकाश समूह है। मदादि शलभ सब आकर जल मरते हैं। अर्थात् ☞ देहेन्द्रिय मनादिकी वृत्ति त्यागकर थिर चित्तसे आत्मरूपकी वृत्ति परमात्मारूपमें लगाना यह पदार्थभावनी छठीं भूमिका हुई।

---

* करु०—'इसी प्रकार जब आत्मज्ञान हुआ तो उसे तुरीयावस्था कहते हैं। यहाँ तीन अवस्था तीन गुणमें अहंमम बिनौला है, अहंमम बिनौला निकल जानेपर तब उस आत्मज्ञानको दृढ़ करके ग्रहण किया। तहाँ जड़-चैतन्यकी जो ग्रन्थि है सो सूक्ष्मरूपसे बुद्धि जीवके अन्तर्भूत भेषादि बनी है। तहाँ बुद्धि आत्माकी शुभाशुभ शक्ति है इससे बुद्धि करिकै आत्मा मलिन है और बुद्धिही द्वारा आत्माको अपने स्वरूपका ज्ञान है।'

रा० प्र०—'तूल तुरीय सँवारि पुनि बाती करै सुगाढ़ि।' *'सँवारि'* का भाव कि उसमें कपास न मिलने पावे और न रूईके महीन सूत दिखायी पड़ें—(रा० प्र०) भाव कि बिनौला आदि जड़ कठिन भाग जो अविद्यादि मायाके हैं वे लेशमात्र भी न मिलें, सूत्र लग जाता है अत: वह न रहे और यदि बाधक सूत्र न दिखायी पड़े तो पहिले तूलरूपी तुरीयकी प्यूरी बनाकर तब कातकर सुन्दर दृढ़ सूत्रकी बत्ती बनावे जिससे चिर प्रकाश रहे।'

सि० ति०—देहवृत्ति कपास-फलकी तरह कही गयी। उसमें तीन अवस्थाएँ छिलके हैं और तीनों गुण **बिनौले** हैं। उनको पृथक् करे; अर्थात् इनके द्वारा होनेवाले कार्योंको अपनेसे पृथक् समझे कि तीनों गुणोंके द्वारा तीनों अवस्थाओंकी कार्य-सत्ता है और आत्मा उनका साक्षीमात्र है, सब व्यापार गुणोंसे ही होते हैं; यथा—'**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्। पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥ प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥**'(गीता ५। ८-९) अर्थात् मैं कुछ नहीं करता। देखना-सुनना आदि सभी कार्य इन्द्रियाँ करती हैं, ऐसा तत्त्वज्ञानी माने। पुनः, '**गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥**' (गीता ३। २८), अर्थात् गुण ही गुणोंमें परस्पर बर्त रहे हैं, ऐसा मानकर ज्ञानी इनसे लिप्त नहीं होता। '**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥**' (गीता ३। २७) प्रकृतिके गुणोंसे सब कर्म किये जाते हैं, अहंकारसे मूढ़ ही अपनेको कर्ता मानता है इत्यादि विचारोंसे आत्माको तीनों गुणों और तीनों अवस्थाओंसे पृथक् साक्षात्कार करे। तब वह इनकी वृत्तियोंसे असंग रहकर एकरस आत्मचिन्तन कर सकेगा।

सो०—एहि बिधि लेसै दीप तेजरासि बिज्ञानमय।
जातहि जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ सब॥ ११७ घ॥

अर्थ—इस प्रकार तेजराशि विज्ञानमय दीपक जलावे, जिसके समीप जाते ही मदादि सब पतंग जल जायँ॥ ११७॥

करु०—१ अर्थात् उसी योगाग्निसे इसी रीतिसे बुद्धिने विज्ञानरूप दीप 'लेसा' (=जलाया) जो तेजराशि विज्ञानमय है। २ ☞ विज्ञान छठी भूमिका हुई, आगे सातवीं भूमिका कहते हैं।

पं०—यहाँ बुद्धिरूपी सखी योगाग्निसे अर्थात् समाधिके बलसे ज्ञानरूपी दीपकको जलावे। यहाँ विज्ञानमयसे निदिध्यासनज्ञान-तात्पर्य है। मनन-ज्ञानसे निदिध्यासन-ज्ञान विशेष है; इसीसे विज्ञान कहा, जिससे अहंकारादि शलभ अर्थात् अविद्याका बल निवृत्त हो गया।

वि० त्रि०—१ *'एहि बिधि'* इति। इस विधानसे, अर्थात् जो ऊपर कह आये हैं। प्रकाशके और भी बहुत उपाय हैं। तेलके दीयेसे भी प्रकाश होता है, विद्युत्से भी प्रकाश होता है, परंतु अन्य उपायोंसे आत्मानुभवसुखका प्रकाश न होगा। शास्त्रकी विधि त्याग करनेसे कदापि कल्याण नहीं हो सकता। ग्रन्थि छूटनेके पहले ठीक-ठीक विधिनिषेधके अनुसार बरतना होगा, अतएव जो विधान कहा गया है उसीके अनुसार करे, यह नहीं कि दूधको ही मथकर मक्खन निकाल ले, अथवा घीका काम तेलसे ही ले ले।

२—*'लेसै दीप'* अर्थात् बत्तीको घीके दीपमें छोड़ दे, जिसमें बत्ती घीसे भीग जाय, तब उसे योगाग्निसे लेस दे। भाव यह कि तुरीयाको परोक्षज्ञानमें डुबा दे। 'त्वम्' पदके लक्ष्यार्थको *'तत्'* पदके लक्ष्यार्थमें लीनकर सानन्द समाधिमें स्थित हो। (उपर्युक्त तुरीयाकी एकत्र वृत्तिको आत्मस्वरूपमें लीन कर दे तब उसे योगाग्निसे लेस दे। सि० ति०।) इसे शब्दानुविद्ध समाधि कहते हैं। ३—*'तेजरासि बिज्ञानमय।'* इस प्रकार विधिसे जलाया हुआ दीप तेजोमय होता है। उसे विज्ञानमय इसलिये कहते हैं कि उससे अपरोक्षज्ञान होता है, यथा—*'दुर्लभ ब्रह्मलीन बिज्ञानी।'* (*'तेजरासि'* अर्थात् उससे अनुभवप्रकाशसमूह होता है; यथा—*'आतम अनुभव सुख सुप्रकासा'* यह आगे कहा है। 'विज्ञानमय'—मयट् प्रत्यय यहाँ तद्रूपमें ही है। यहाँतक विज्ञान अर्थात् प्रकृति-वियुक्त आत्माके ज्ञानका साक्षात्कार हुआ। सि० ति०।)

४ (क) *'मदादिक सलभ सब'*—यहाँ दीया जला कि शलभ अर्थात् पतंगे चले। झुण्ड-के-झुण्ड कभी-कभी दीयेपर टूट पड़ते हैं, स्वयं जलते जाते हैं, पर यदि दीया दुर्बल हो तो उसे बुझाकर ही छोड़ते हैं। मद, मात्सर्य आदि शलभ हैं। शलभ इसलिये कहा कि मायाका परिवार बहुत बड़ा है, यथा—*'यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमिति को बरनै पारा॥'*(७१। ७) (ख) *'जातहि——'* का भाव कि इतने प्रबल होनेपर भी उस दीयेतक नहीं पहुँच पाते। समीप आते ही नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् ☞ मदादिकी इस शब्दानुविद्ध समाधितक गति नहीं है। इससे तेजोराशि विज्ञानमयका साफल्य दिखलाया। (यहाँ मदको आदिमें कहकर

भाव स्पष्ट कर दिया गया है कि प्रकृतिके परिणामरूप देह एवं गुणोंसे ही जाति, विद्या, महत्त्व आदिके मद होते हैं। तीनों गुणों और तीनों अवस्थाओंसे आत्मा सर्वथा संगरहित हो चुका है, तब मद आदिकी पहुँच वहाँतक कैसे होगी। मदकी तरह और भी सब विकार गुण-संगसे ही होते हैं। सि० ति०)

सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा॥ १॥

अर्थ—'**सोऽहमस्मि**' वह मैं हूँ यह अखण्ड वृत्ति ही उस दीपककी परम प्रचण्ड लौ है। (भाव कि यह ध्वनि निरन्तर अजपाजाप रीतिसे होती रहे। लय न टूटे)॥ १॥

करु०, शेषदत्तजी—यहाँ तो अखण्ड वृत्ति कह रहे हैं और आगे मायाके प्रचण्ड पवनसे इसका खण्डन कहते हैं, यह कैसा? समाधान यह है कि बुद्धिने अपने अनुभवबलसे आत्मामें परमात्मत्व ग्रहण किया है; इससे अपनी सामर्थ्यभर तो उसने सँभाला है, पर माया प्रबल है अतएव उसके द्वारा विघ्न भी लिखेंगे। श्रीरामचन्द्रजीकी शरण न होनेसे माया उस ज्ञानवृत्तिको खण्डित कर देती है।

पं०—गुरुने शिष्यप्रति उपदेश किया कि '**तत् त्वमसि**' उस उपदेशको दृढ़ करनेपर शिष्यने कहा कि '**सोऽहमस्मि**'।

वै०—अखण्ड कहनेका भाव कि पानी पवन पतंगादिकी बाधासे दीपक बुझ जाता है। वैसे ही ज्ञानदीपकमें मायाकृत अनेक बाधाएँ हैं। इनसे रक्षा रखे तो अखण्ड रहेगा नहीं तो खण्डित होनेका सदा भय है। सदा परिपूर्ण आत्म-परमात्मकी एकता बनी रहना यही परम प्रचण्ड अत्यन्त तेजमान दीपककी शिखा (लौ) है।

वि० त्रि०—१ (क) ***'सोहमस्मि।'*** भाव यह कि ***'सो तैं ताहि तोहि नहि भेदा'*** इस महावाक्यके श्रवणमननके पश्चात् 'वह मैं हूँ' इसी रूपमें निदिध्यासन है। (ख) ***'इति बृत्ति अखंडा।'*** 'वह मैं हूँ' यह वृत्ति बराबर बनी रहे, विक्षेप न होने पावे। भाव यह कि समाधिमें निर्वात दीपकी भाँति अचल एकरस चित्त बना रहे। (ग) ***'दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा।'*** यही अपरोक्ष ज्ञानवृत्ति-दीपकी परम प्रचंड लौ है। मायाकी सेना प्रचण्ड है, यथा—***'ब्यापि रह्यो संसार महँ माया कटक प्रचंड'*** उसके भस्म करनेके लिये 'परमप्रचंड' की आवश्यकता है, सो यह दीपशिखा परमप्रचंड है।

मा० म०—१ ***'दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा'*** इति। ***'सोहमस्मि'*** अर्थात् जो परतर सदा एकरस विलक्षणरूप ब्रह्म है सो मैं ही हूँ यह दृढ़वृत्ति दीपकी (शिखा) ज्योति है। पुनः, जिस ब्रह्मसे मिलने चले सो दूसरा कोई नहीं है वरन् मैं ही हूँ, यह उस बत्तीकी प्रचंड शिखा है। २—***'बृत्ति अखंडा' 'परम प्रचंडा'*** कहनेका भाव कि इस अवस्थामें किञ्चित् भी अपने जीवत्वका स्मरण न होवे, दृढ़तापूर्वक ***'सोहमस्मि'*** की धारणा बनाये रखे। इस अवस्थामें कभी-कभी बुद्धिको सूक्ष्मभावसे संसारका होश हो जाता है, उसको निश्चय करके विस्मरण कर दे। ***'सोहमस्मि'*** वृत्ति होनेपर यही सूक्ष्मग्रन्थि रह जाती है।

बाबा जयरामदासजी दीन—***'सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा—'*** इस चौपाईको उद्धृत करके अद्वैतवादियोंका कहना है कि ***'सोहमस्मि'*** शब्द लिखकर श्रीगोस्वामीजीने अद्वैतवादको स्वीकार किया है।

समाधान—इस ज्ञानदीपकप्रसङ्गको भी आरम्भसे ही देखिये, स्पष्ट शब्द भरे पड़े हैं—***'ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ सो माया बस भएउ गोसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥ जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥'*** इसमें साफ जीवको ईश्वरका अंश माना गया है और यह भी कहा गया है कि वह मायाके अधीन है। इस प्रकार ब्रह्म, जीव और माया, तीनों तत्त्वोंको अनादि मानकर प्रसङ्ग उठाया गया है। पुनः, उस जड़-चिद्-ग्रन्थिकी निवृत्तिका आधार भी ईश्वरकी कृपा ही दिखायी गयी है। यथा—***'अस संजोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई॥ सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपा हृदय बस आई॥'*** इसके अतिरिक्त यहाँ केवल वाक्यज्ञान, वाक्यबोध ही नहीं वरं सम्पूर्ण साधनका क्रम दिया हुआ है। उसके बाद ***'सोहमस्मि'*** वृत्तिको केवल दीपशिखा माना है; अभी ग्रन्थिका छूटना बाकी है, ग्रन्थिका उसी प्रकाशमें पीछे छूटना बताते हैं—***'तब सोइ बुद्धि पाइ उजिआरा। उर गृह बैठि ग्रन्थि निरुआरा॥ छोरन ग्रंथि पाव जो सोई। तब यह जीव कृतारथ होई॥'***

वहाँ *'सोहमस्मि'* को 'फलस्वरूप' माना है—उसके बाद कुछ बाकी ही नहीं रह जाता। इसलिये इस *'सोहमस्मि'* का तात्पर्य यह है—**सः** (वह), **अहं** (मैं), **अस्मि** (हूँ); **सः** अर्थात् वही ईश्वर-अंश जो ऊपर कहा गया है, जो इस जीवका शुद्ध स्वरूप है, जिसको भूलकर यह अपनेको किसीका पुत्र, किसीका पिता, किसीकी प्रजा, किसीका राजा, किसी कुलका, किसी वर्णका, किसी आश्रमका मान रहा था। इस भ्रमकी निवृत्ति इतने साधनोंके बाद हो जानेपर जीव यह निश्चय करता है कि मैं तो शुद्धस्वरूप ईश्वरका अंश, चेतन, अमल हूँ, ये मायाकृत संसारी नाते झूठे थे और जब उसने अपनेको ईश्वरका अंश जान लिया तब वह संसार-सम्बन्धको मिथ्या मानकर उससे अलग हो जाता है। यही ग्रन्थिको निरुआरना या छोड़ना है। जब निश्चित रूपसे संसारी नाते छूट जाते हैं और केवल प्रभुकी ही प्रसन्नता जीव स्वीकार कर लेता है तब वह कृतार्थ हो जाता है, अतः यहाँ भी अद्वैतवाद नहीं है।

पं० श्रीकान्तशरणजी—*'सोहमस्मि'* अर्थात् **सः, अहम्, अस्मि** (वह मैं हूँ)। इसमें **सः** शब्द व्याकरणकी रीतिसे सर्वनाम है, यह मुख्य संज्ञाके पश्चात् आता है, जैसे यज्ञदत्त घर गया, वह नहीं आया। यहाँपर इस प्रसङ्गमें ऊपर *'ईश्वर अंस—'* में ईश्वरांश शुद्ध जीवहीका मायावश होना कहा गया है। अतः **'सः'** शब्द उसीके लिये है। ब्रह्मकी ऊपर कहीं चर्चा नहीं है। हठात् उसका अर्थ करनेसे **'अन्येन भुक्तं अन्येन वन्तम्'** अर्थात् 'दूसरेने खाया और दूसरेने वमन किया' रूपदोष उपस्थित होगा।

अतः जो जीव मायावश हुआ था, उसीको प्रकृति (माया) नियुक्त होनेपर अपना स्वरूप साक्षात्कार हुआ तो उसीका *'सोहमस्मि'* से अनुसन्धान है कि मैं वही—'ईश्वर-अंशरूप अविनाशी जीव शुद्ध सच्चिदानन्द-स्वरूप हूँ।' यहाँ ब्रह्मात्मक-रूपसे ही जीवका लक्ष्य है। इस दृष्टिसे **'अहं ब्रह्मास्मि'** एवं **'सोऽहमस्मि'** ब्रह्मपरक भी युक्त ही है। पर जीवभाव त्यागपूर्वक ब्रह्मभाव नहीं, उस ईश्वरांशकी ब्रह्मात्मक रूपसे अर्थात् ब्रह्मको अपना आत्मा (अर्थात् अभिन्न) मानकर ही उपासना की जाती है। पूर्व *'बारि बीचि इव गावहिं बेदा'* में कही हुई तात्त्विक एकता भी रहती है।

इस प्रकार जीवात्माकी ब्रह्मात्मकरूपमें उपासना श्रुतियाँ भी कहती हैं। यथा—**'ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धा सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षण्मासानुदङ्ङादित्य एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युतान् पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः।'** (बृहदा० ६। २। १५)—इस श्रुतिमें प्रकृति-वियुक्त-जीवात्म-साक्षात्कारवालेकी मुक्ति कही गयी है।

ब्रह्मसूत्र आनन्दभाष्य (४। ३। १५)-में तथा गीता (१२। १—५)-में विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तके भाष्यकारोंने प्रौढ़ प्रमाणोंके साथ ब्रह्मकी और प्रकृति-वियुक्त जीवात्माकी दोनों उपासनाएँ प्रतिपादित की हैं। यह भी कि जीवात्मोपासना कठिन है और परमात्मोपासना उससे सरल है। विशेष विवेचन वहीं देखना चाहिये।

यहाँ जीवात्मोपासनाका ही प्रसङ्ग है, इसकी ब्रह्मात्मकरूपसे ही उपासना होती है। **'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च।'** (ब्रह्मसूत्र आनन्दभाष्य); पर विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तमें भी **'अहं ब्रह्म'** ऐसी अभिन्न उपासना स्वीकार की गयी है। अतः यहाँपर मुझे **'सोऽहमस्मि'** का ब्रह्मपरक अर्थ करनेमें अड़चन नहीं होती, पर यहाँ ऊपर ब्रह्मकी चर्चा नहीं है। तो **'सः'** से ब्रह्म कैसे लिया जाय?

श्रुतियोंमें जहाँ **'सोऽहमस्मि स एवाहमस्मि'** ब्रह्मपरक कहा गया है, वहाँ प्रथम ब्रह्मका वर्णन करके। यथा—**'य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मि।'**(छां० ४। १२। १) **'य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि।'**(छां० ४। १३)

इन्हीं दोनों उपासनाओंके अभिप्रायसे श्रीगोस्वामीजीने भी दो ही प्रकारकी मुक्तियोंका विधान किया है; यथा—*'रामचरन रति जो चहइ अथवा पद निर्बान।'* (१२८) 'अथवा' शब्दसे निर्वाण-पदको भिन्न प्रकारकी ही मुक्ति कहा है।

आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद* भ्रम नासा॥ २॥

अर्थ—आत्म-अनुभव-सुख ज्ञानदीपकका सुन्दर (निरावरण) प्रकाश जब हुआ तब संसारके मूल भेद भ्रमका नाश होता है॥ २॥

पं०—**'आतम अनुभव सुख'**=वह स्वरूपानन्द जो **'सोऽहमस्मि'** की अखण्ड वृत्तिके होनेसे हुआ है। मायाको सत्य जानना यह भ्रम है। अज्ञान भवका मूल है।

करु०—यहाँ ब्रह्मानन्द ही आत्मानुभव सुख है। यह दीपकका सुप्रकाश है। अनुभव ४ प्रकारका है—१—इन्द्रियजनित अहंकारानुभव जो तामस-गुणमय है। २—मनका अनुभव जो राजस-गुणमय है। ३—चित्तका अनुभव जो सात्त्विक-गुणमय है। ४—आत्मानुभव जो गुणातीत ब्रह्ममय है—यही ज्ञानदीपकका प्रकाश है। तब भेदभ्रम जो अपनेहीमें है और जो संसारमें जन्म-मरणके कारण हैं, वे नाश हो जाते हैं।

वै०—***'आतम अनुभव सुख——'*** इति। दीपक जलनेपर प्रकाश होता है। यहाँ आत्मानुभव अर्थात् आत्मरूप साक्षात्कार होनेका सुख एकरस बना रहना विज्ञानका प्रकाश है।

सि० ति०—***'आतम अनुभव सुख'***—अर्थात् स्वस्वरूपानन्द, इसे ही ब्रह्मानन्द भी कहते हैं, क्योंकि **'अहं ब्रह्मास्मि'** इस वृत्तिसे और ब्रह्मके साधर्म्य प्राप्त होनेसे इसे ब्रह्मके समान ही सुख प्राप्त होता है, इसी सुखके प्रति कहा—***'निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा।'*** (९०। ७) ***'ब्रह्म सुखहि अनुभवहिं अनूपा।', 'ब्रह्म पियूष मधुर सीतल जो पै सो रस पावै।'*** (वि० ११६)

वि० त्रि०—१ ***'आतम अनुभव सुख।'*** इससे बढ़कर कोई सुख नहीं है। क्योंकि वृत्तिजन्य अपरोक्ष ज्ञान भी आत्मानुभव सुखरूप ही है—***'जेहि अनुभव बिनु मोह जनित दारुन भव बिपति सतावै। ब्रह्म पियूष मधुर सीतल मन जो पै सो रस पावै। तौ कत मृगजल रूप बिषय कारन निसिबासर धावै।'***

आत्मानुभव सुख ही सुप्रकाश है। भाव यह कि ब्रह्माकार वृत्ति करके समाधिमें स्थित होनेसे अपरोक्ष ज्ञानकी अखण्ड वृत्ति होती है और उससे आत्मानुभव-सुख होता है, और जब आत्मानुभव-सुख होता है, तब ***'भवमूल भेद भ्रम नासा।'***

करु०—भेद तीन प्रकारके हैं—१ सजातीय (जैसे कि मनुष्य सब एक हैं, ब्राह्मण-ब्राह्मण सजातीय हैं इत्यादि, पशु संज्ञा एक है)। २ विजातीय (जैसे कि ब्राह्मण और क्षत्रिय भिन्न-भिन्न जाति)। ३ स्वगत (जैसे कि ब्राह्मण-ब्राह्मणमें भेद गऊ-गऊमें भेद इत्यादि। वर्णाश्रममें भेद)—इत्यादि भेद भवका मूल है। यह मिट गया। जीव यद्यपि अनेक हैं तथापि एक तत्त्व हैं, अभेद हैं, इनमें भेद नहीं। भेदबुद्धि मिट गयी। पुनः, दूसरी प्रकारसे अर्थ करते हैं। शुष्काद्वैतवादी यह भेद कहते हैं कि देखिये तो जो बालबुद्धि प्राणी हैं वे अपनी आत्माको जीव माने हैं और ब्रह्मको ईश्वर, अपनेको सेवक, ईश्वरको स्वामी इत्यादि, यह भेद भ्रम है, यह भवका मूल है सो नाश हो गया। क्योंकि 'जीव ब्रह्म विषे उपाधि करके भेद हैं। उपाधि मिटनेपर जीव ब्रह्म एक ही है। अथवा, भेद-भ्रम, तैं मैं इत्यादिका, सो मिट गया।'

भवमूल भेद-भ्रम—माया भवकी मूल है। भेद यह कि आत्मरूप भूलकर जीव होकर ईश्वरसे भेद मानकर भेदाभिमानी हो गया। भ्रम यह कि झूठमें सत्यकी प्रतीति कर ली। [**'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः'** *'रजत सीपमहँ भास जिमि——भ्रम न सकै कोउ टारि।'*]

वि० त्रि०—***'भेद भ्रम'*** कहनेका भाव कि वस्तुतः ब्रह्म-जीवमें अभेद है। भेदभाव केवल भ्रम है, यथा—***'निज भ्रम ते संभव रबिकर सागर अति भय उपजावै। अवगाहत बोहित नौका चढ़ि कबहूँ पार न पावै॥ तुलसिदास जग आपु सहित जब लगि निर्मूल न जाई। तब लगि कोटि कलप उपाय करि मरिय तरिय नहिं भाई॥'***

भेद न होनेपर भी भेदका भ्रम होता है, यथा—***'चितव जो लोचन अंगुलि लाये। प्रगट जुगल ससि तेहिके भाये॥'*** और भेद-भ्रमसे स्वरूपका विस्मरण होता है, यथा—***'माया बस सरूप बिसरायो। तेहि भ्रमते नाना दुख पायो॥ पायो जो दारुन दुसह दुख सुख लेस सपनेहु नहिं मिल्यो। भय सूल सोक अनेक।'*** ***'भवमूल'*** का भाव

* देह भ्रम—(का०)। भेद भ्रम—भा० दा०, मा० म०, रा० गु० द्वि०।

कि यह भेद-भ्रम ही संसारका मूल है और जिसका मूल भ्रम है वह पदार्थ वस्तुतः नहीं होता, यथा—*'जग नभबाटिका रही है फल फूलि रे। धुआँ कैसो धौरहर देखि तू न भूलि रे।'* 'नासा' का भाव कि मूल नष्ट होते ही वस्तु छिन्नमूल होकर गिर जाती है, पर जिसका मूल भ्रम है, उस वस्तुका तो भ्रमके नष्ट होनेपर पता भी नहीं चलता। यथा—*'तब हरि माया दूरि निवारी। नहिं तहँ रमा न राजकुमारी॥'*

मा० म०—ब्रह्मरूपकी प्राप्तिसे जो सुख हुआ वही प्रकाश है, जिसके होनेसे सजातीय इत्यादि इष्टादिक तथा भ्रम सब नाश हो गया।

शेषदत्तजी—भेद-भ्रम त्रिधा है। स्वगत, सजातीय और विजातीय—**'यदुक्तं पञ्चदश्याम्—वृक्षस्य स्वगता भेदाः पत्रपुष्पफलादिभिः। वृक्षान्तरे सजातीयो विजातीयः शिलादितः॥'** द्रष्टा, दृष्ट, दृश्य, ध्याता, ध्यान, ध्येय, ब्रह्म, जीव, माया, साधक, साधन, साध्य इत्यादि सब भेद-भ्रम हैं। इनके नाशसे भव निर्मूल होता है—*'तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै'* इति। (विनय) इस चौपाईका सिद्धान्त केवल ध्येयाकार ही है।

सि० ति०—भवमूलक भेदका नाश हो जाता है, जिसे भ्रमसे मान लिया था कि मैं एवं जगत् ईश्वरसे भिन्न हैं, अर्थात् सब उसके शरीर-रूप नहीं है। नानात्व-भ्रम ही भेद-भ्रम है, वह नाश हो जाता है। भेद तीन प्रकारके जो पञ्चदशीमें कहे गये हैं, उसमेंसे सजातीय और विजातीय ये दोनों भेद भवमूलक हैं, इन्हींका नाश होता है। स्वगत भेद जो शरीर-शरीरी-सम्बन्धका है, वह रहता है; किन्तु वह भवमूलक नहीं है; यथा—*'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।'* (११२) यह भेद अभेदवादी लोमशजीकी विजयपर उपादेय-रूपमें कहा गया है।

पुनः सूर्य पूर्ण ज्ञानवान् माने गये हैं; यथा—**'तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।'** (गीता ५। १६) उनका भी ब्रह्मके साथ शरीर-शरीरी-भेद है; यथा—**'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।'**(बृहदा० ३। ७। ९) इस श्रुतिमें सूर्यरूप जीवका प्रेरक एवं शरीरी ब्रह्म कहा गया है।

वि० टी०—*'आतम अनुभव सुख सुप्रकासा……।'* अर्थात् ऐसे आत्मज्ञानके अनुभवके सुखरूपी प्रकाशसे संसारके कारण-स्वरूप भेद और भ्रम मिट जाते हैं। भाव यह कि विशेष ज्ञान होनेसे जीव ही ब्रह्म है, ऐसी जो अटल धारणा बँध जाती है, उसीसे सुख मिलता है और इस असार संसारकी सत्यता विचारमात्र है, ऐसा स्पष्टरूपसे समझ पड़ता है, सो यों कि '**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः**' अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् झूठा है और जीव-ब्रह्म एक ही है, दूसरा नहीं। श्रीमत्-शंकराचार्यजी शतश्लोकीमें कहते हैं—**'आत्मानात्मप्रतीतिः प्रथममभिहिता सत्यमिथ्यात्वयोगाद् द्वेधा ब्रह्मप्रतीतिर्निगमनिगदिता स्वानुभूत्योपपत्त्या। आद्या देहानुबन्धाद्भवति तदपरा सा च सर्वात्मकत्वादादौ ब्रह्माहमस्मीत्यनुभव उदिते खल्विदं ब्रह्म पश्चात्॥'** अर्थात् पहले ही सत्य ज्ञान और मिथ्या ज्ञानद्वारा क्रमसे आत्मा और अनात्माकी प्रतीति कह चुके हैं। (अब और सुनो) वेदमें दो प्रकारकी ब्रह्मप्रतीति कही गयी है, यथा एक तो स्वानुभवसे और दूसरी निश्चयात्मक प्रमाणसे। पहिली प्रतीति तो शरीरकी उपाधिसे होती है और दूसरी, ब्रह्म-सर्वात्मक है, इस विचारसे होती है। पहिली प्रतीतिमें 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अनुभव होता है, उसके पश्चात् 'सभी ब्रह्म हैं' ऐसी प्रतीति होती है।

पां०—*'भेद भ्रम'* अर्थात् भ्रमसे जो भेद जान पड़ता है। अपनेको ईश्वरसे भिन्न मानना भेद-भ्रम है। यह संसारका मूल है।

प्रबल अबिद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटै अपारा॥ ३॥

अर्थ—प्रबल अविद्याका प्रबल परिवार मोहादि अपार तम मिट जाता है॥ ३॥

नोट—१ (क) दीपकके प्रकाशसे अन्धकार नष्ट होता है। ज्ञानदीपकके प्रकाशसे मोहादिरूपी घोर अपार अन्धकार नष्ट होता है। (ख) अविद्या प्रबल है, यथा—*'अतिसय प्रबल देव तव माया।'* प्राबल्य पूर्व दिखा आये हैं। उसका परिवार भी प्रबल है। यथा—*'यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमिति को बरनइ पारा॥'* (७१। ७) परिवार और उसकी प्रबलता पूर्व कई स्थानोंमें दिखायी जा चुकी है

कि *'मुनि बिग्यानधाम मन करहिं निमिष महँ छोभ'*, *'सिव चतुरानन जाहिं डेराहीं।'* (७१। ८) तब औरोंकी क्या चली? परिवारका वर्णन *'मोह न अंध कीन्ह केहि केही।'* (७०। ७) से *'यह सब माया कर परिवारा।'* (७१। ७) तकमें वर्णित है। वहाँ मोहहीसे प्रारम्भ किया है और यहाँ भी *'मोह'* को आदिमें कहकर वही सब पूर्वकथित वस्तुका निर्देश किया है। (ग) *'तम अपारा'* मोहादि परिवारकी गणना नहीं हो सकती, न उससे कोई पार पा सकता है, यथा—*'प्रबल अमिति को बरनइ पारा'* अत: *'तम अपारा'* कहा। मोह आदिको तम कहा, क्योंकि इस प्रसङ्गके प्रारम्भमें उसे तम कह आये हैं, यथा—*'जीव हृदय तम मोह बिसेषी।' 'ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी॥'* (११७। ७) वहाँ जो *'बिसेषी'* कहा था उसका अर्थ यहाँ खोला—*'अपारा'*।

वि० त्रि०—*'मोह आदि तम अपारा मिटहिं।'* भाव कि अविद्या-रात्रिमें मोहादि अन्धकार होता है, यथा—*'महामोह तम पुंज।'* आत्मानुभव-सुख-प्रकाशसे ही यह अपार अन्धकार मिटता है, यथा—*'भएउ प्रकास कतहुँ तम नाहीं। ज्ञान उदय जिमि संसय जाहीं।'*

पं०—मोहादि अविद्याका परिवाररूपी तम मिट गया। तात्पर्य कि अविद्याका संस्कारमात्र रहा 'जिससे अपनेको आत्मा जानना' (अपनेको कभी-कभी आत्मा जानने लगता है)।

शेषदत्तजी—*'प्रबल'* कहकर पञ्चपर्वा अविद्या जनाया। मोहादि तमके मिटनेपर भी जीवत्वजनित कुछ मोह रह जाता। यदि न रहे तो विज्ञानदीपक बुझ नहीं सकता। ऐसा समझना चाहिये कि जैसे दीपक जलनेपर घरका अन्धकार मिटकर दीपकके नीचे जा छिपता है, दीपक बुझनेपर फिर प्रकट हो जाता है वैसे ही यहाँ मोहका परिवार, मोहकी कार्यप्रबलता तो मिटी, पर मोहका कारणस्वरूप जो अतिसूक्ष्म है वह ज्योति मूलमें बनी है। विज्ञानदीपकमें **'सोऽहमस्मि'** की अखण्ड वृत्ति आत्मानुभवसुखरूपी प्रकाश है, पर परमात्मानुभव सुखसे कुछ रहित है, इसीसे बुझनेका भय है।

करु०—अविद्याके चार गुण हैं। १—असत्य संसारमें सत्यकी बुद्धि। २—सुत-दारा आदि दु:खरूप हैं उनको सुखरूप मानना। ३—पञ्चतत्त्व-रचित यह अशुचिमय शरीर है उसमें शुचिबुद्धि होना और ४—अनात्म जो देहादि उसमें आत्मबुद्धि करना।

तब सोइ बुद्धि पाइ उँजियारा। उर गृह बैठि ग्रंथि निरुआरा॥ ४॥

अर्थ—(आत्मानुभवसुखरूपी सुप्रकाश होनेपर मोहादिरूपी अपार तम जब मिटा) तब वही (विज्ञानरूपिणी पूर्वकथित) बुद्धि उजाला पाकर हृदयरूपी अपने घरमें बैठकर गाँठको छोड़ती है। अर्थात् सूक्ष्म भावसे जीवत्वका तथा संसारका स्मरण सर्वथा मिटा देनेका अवसर अब मिला, उसीको मिटाने लगती है॥ ४॥

नोट—१ *'सोइ बुद्धि'* कहनेका भाव कि जिसने पूर्व कई और काम किये हैं, जो ऊपर *'जोग अगिनि करि प्रगट तब—'* से लेकर तीन दोहों और सोरठेमें कहे गये हैं, वही ग्रन्थि छोड़नेका कार्य भी करती है।

२—*'पाइ उँजियारा।—'* पूर्व जब कहा कि *'जीव हृदय तम मोह बिसेषी'*, तब कहा कि *'ग्रन्थि छूट किमि परइ न देखी।'* जब मोहतम मिटना कहा, यथा—*'मोह आदि तम मिटै अपारा'* तब *'पाइ उँजिआरा'* कहा; इस तरह जनाया कि अब ग्रन्थि देख पड़ने लगी जो पूर्व *'परइ न देखी।'* ग्रन्थि देख पड़ी तब बैठकर उसका खोलना कहा। यह सब क्रमसे कहा। आत्मानुभव-सुख होते ही कल्पित ग्रन्थि छूट जाती है, अत: *'पाइ उँजियारा'* कहकर *'ग्रन्थि निरुआरा'* कहा। यथा—'**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया:। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे पराऽवरे॥**'(मुण्डकोपनिषद् २। ८) अर्थात् उस परावर ब्रह्मका साक्षात्कार कर लेनेपर इस जीवकी हृदयग्रन्थि टूट जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और इसके कर्म क्षीण हो जाते हैं।

३—(क) *'उर गृह'*। बुद्धिचतुष्टय अन्त:करणमेंसे एक है, अत: उसका घर हृदय कहा। (ख) *'बैठि'* से जनाया कि अभीतक वह अपार तमके कारण उसके मिटानेके उपायोंमें व्याकुल फिर रही थी, उसे

बैठनेको भी न मिला था। अब बैठने पायी। (ग) ग्रन्थिका स्वरूप '*जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई।*' (११७। ४) में कहा गया है।

पं०—अविद्याका जो सूक्ष्म अंश रह गया है वही अब ग्रन्थि है। खोलनेका स्वरूप यह है कि 'ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय, त्रिपुटी न रहे'।

करु०—जड़ मायामें अपनपी-रूपी ग्रन्थि तो छठी भूमिकाद्वारा छूट गयी, पर अभी चित्तकी वृत्तिमें बाह्यान्तर देहादिक संसार-स्थूल-सूक्ष्मके त्यागकी गन्ध कुछ सूक्ष्मतर है, (अर्थात् किञ्चित् सुध बनी है कि हमने यह सब त्याग कर लिया), यही ग्रन्थि अभी छोड़नेको है। चित्तवृत्तिसे इस त्यागकी सुध पूर्णतया विस्मरण होना ग्रन्थिका खुलना है।—[रा० प्र०—'निरुआरा'—जो अनेक सूत एकसे (एकमें उलझे) हुए हैं, उनको शिथिल करना जिसमें खुल जाय।]

वै०—ग्रन्थि रस्सी आदिकी होती है, यहाँ वह क्या है? सत-रज-तमादि गुण रस्सी हैं। त्रिगुणमय जो कर्मोंकी वासना अनादिकालसे चली आती है, यही ग्रन्थि है। माया नर्तकी उसीसे जीवको बाँधे हुए बंदरकी तरह नचाती है। यथा—भागवते पञ्चमे—'**अनादिकालकर्मवासनाग्रन्थितमविद्यामयं हृदयग्रन्थिं सत्त्वरजस्तमोमयमन्तर्हृदयं गतः।**' देहेन्द्रिय सुखकी वासनाका मिट जाना ग्रन्थिका छोड़ना है। बुद्धि इसी अन्तःकरणकी सूक्ष्म वासनाको मिटाती है।

वि० त्रि०—१ '*पाइ उँजियारा।*' भाव यह कि उपर्युक्त सब कार्य अन्धेरेमें हुए, केवल पहले थोड़ा-बहुत उँजियाला अकाम-अग्निका दूध औटानेतक, और बाद उसके योगाग्निका, दीया जलनेतक स्थूल कार्य करने योग्य था। उनसे मोहादि तम मिट नहीं सकते थे। २—'*उर गृह बैठि……।*' भाव कि पहले कभी अन्तर कभी बाह्य संप्रज्ञात समाधिमें लगी थी अब स्थिर होकर बैठी। समाधिमें स्थिर होकर जड़-चेतनकी गाँठ खोलने लगी।

गाँठ तीन प्रकारसे पड़ी हुई है—(१) भ्रान्तिजन्य, (२) सहज और (३) कर्मजन्य। अहंकार-(कारणशरीर-) का जो कूटस्थके साथ तादात्म्य है सो भ्रान्तिजन्य है, चिच्छायासे जो तादात्म्य है सो सहज है और देहसे जो तादात्म्य है सो कर्मजन्य है। कर्मजन्य ग्रन्थि कर्मके नाशसे नष्ट होती है। कर्म तीन प्रकारका होता है—(१) जन्मजन्मान्तरका कर्म-समूह जिसे संचित कहते हैं, (२) जिन्हें वर्तमान जन्ममें भोगना है उन्हें प्रारब्ध कहते हैं और (३) जो वर्तमान जन्ममें करते हैं, वह आगामी कहलाता है। सञ्चित कर्म ज्ञानीका नष्ट हो जाता है, आगामीसे उसका लेप ही नहीं होता, केवल प्रारब्ध शेष रह जाता है, वह जबतक शरीर है तबतक उसका भोग होगा ही। अतएव कर्मज ग्रन्थि बिना कर्मक्षयके नहीं छूटती। जबतक भ्रान्तिजन्य और कर्मजन्य वृत्ति रहती हैं तबतक ग्रन्थि नहीं छूट सकती, प्रतिबिम्बके नाशसे नष्ट होती है। अतएव भ्रान्तिजन्य-ग्रन्थिका सुलझाना ही परम पुरुषार्थ है।

शेषदत्तजी—ग्रन्थि चतुर्धा है। स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम। इनमेंसे तीन तो ज्ञानकी षट् भूमिकाद्वारा छूट गयीं। '*सात्त्विक श्रद्धा*' से '*समधृति……*' तक सुत-वित-कलत्रादिका त्यागरूपी स्थूल ग्रन्थिका सुलझना जानिये, जिससे वर्तमान शरीर निर्विषय हो गया। '*बिमल बिराग सुभग सुपुनीता।……*' में मनका निर्विषयी होना सूक्ष्म ग्रन्थिका छूटना है। '*तब बिज्ञान रूपिनी*' से चित्तका निर्विषयी होना सूक्ष्मतर ग्रन्थिका सुलझना है। अब जीवत्व-त्यागका स्मरणरूप सूक्ष्मतम ग्रन्थि रही उसका विस्मरण करनेमें लगना उस ग्रन्थिका छोड़ना है। विस्मरण, यथा—**अष्टावक्रे—'क्व चास्ति क्व च वा नास्ति क्वास्ति चैकं क्व वा द्वयं बहुनात्र किमुक्तेन किंचिन्नो तिष्ठते मम।**'

नोट—करुणासिंधुजीने तथा अन्य भी प्राचीन टीकाकारोंने ज्ञान-दीपक-प्रकरणमें सप्तभूमिकाएँ दिखायी हैं (किसीने इसको 'सप्तभूमिका' नाम दिया है और किसीने 'आत्माके सप्तप्रस्थान' यह नाम रखा है)—जो इस प्रसङ्गमें यथास्थान सप्तभूमिकाएँ कौन-कौन हैं, इसमें मतभेद है। किसीने कोई नाम दिये हैं, किसीने कोई। पर एक-एक भूमिका कहाँ-से-कहाँतकका प्रसंग है, इसमें सब एकमत हैं।

भूमिकाका नाम	कहाँ-से-कहाँतक	भूमिकाका तत्त्व
१—सात्त्विक श्रद्धा। वा, शुभ इच्छा।	*'सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई'* से *'निर्मल मन अहीर निज दासा'* तक।	सात्त्विक श्रद्धाको हृदयमें धारणकर सात्त्विक जप-तप आदि श्रुतिविहित शुभ धर्माचरण करते-करते सात्त्विक भाव उत्पन्न होगा। तब विषयोंसे वैराग्यकर मनको निर्मल और स्वाधीन करके विश्वासपूर्वक अहिंसामें प्रवृत्त हो। यहाँ जीवका धर्म प्राप्त हुआ। यह कार्य कामनायुक्त हुए।
२—परम धर्म। वा सुविचार।	*'परम धर्ममय पय दुहि भाई'* से *'तोष मरुत तब छमा जुड़ावै'* तक	जीवका परम-धर्म कहा। मनके निर्मल और वशीभूत हो जानेपर अहिंसामें प्रवृत्ति हो जायगी जिससे चित्तमें निष्कामता उत्पन्न होगी। इस भूमिकामें आत्मतत्त्वकी प्राप्तिकी मान इत्यादि रूपी उष्णता जाती रही। अहिंसा, निष्कामता, संतोष और क्षमाकी प्राप्ति हुई।
३—स्वरूपस्थिति। वा समधृति। वा, तनमानसा।	*'धृति सम जावन देइ जमावै।'*	निष्काम होनेसे मनमें संतोष होगा, संतोष होनेसे समता और धैर्य होगा। इस भूमिकामें विश्वासरूपी पात्रका अवलम्बन किये हुए ब्रह्मचिन्तनमें जीव अतिशय दृढ़ हुआ। निष्कामतापूर्वक प्राणिमात्रमें समता रखते हुए ब्रह्मचिन्तनमें एकमात्र दृष्टि लगाये असत् संसारका त्याग करे।
४—'बिमल वैराग्य।' वा, सत्वा-पत्ति।	*'मुदिता मथै बिचार मथानी'* से *'बिमल बिराग सुभग सुपुनीता'* तक (मयूख)—*'काढ़ि लेइ'*	मुदिता, विचार, दम, सत्य, सुवाणीसे विमल सुपुनीत वैराग्यकी प्राप्ति हुई। जिससे वह अब केवल ब्रह्महीकी ओर सदा अखिल भुवनको अपनेमें देखता है।
५—स्वस्व-रूपज्ञान। वा, असंसक्ति	*'जोग अगिनि करि प्रगट तब करम सुभासुभ लाइ।...... जरि जाइ'*	आत्माका परमात्मासे योग करनेसे शुभाशुभ कर्म नष्ट हुए, विमल वैराग्यमें जो किंचित् ममतारूपी छाँछ था सो जल गया, अब शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति हुई। चौथे प्रस्थानमें जो कुछ शरीर और मनका अध्यास सूक्ष्म वा स्थूल रह गया था, उसका इस पाँचवें प्रस्थानमें नाश हो गया। अब ब्रह्मके शुद्ध रूपका ज्ञान प्राप्त हुआ। ब्रह्मरूप धारण करनेवाली बुद्धि प्राप्त हुई।
६—विज्ञान। वा, पदार्था-भावना।	*'तब बिज्ञानरूपिनी बुद्धि बिसद'*.....से *'जरहिं मदादिक सलभ सब'* तक	इसमें ब्रह्म-जीवकी पृथक् वाच्यता दूर होकर एकताका एकरसों अनुभव होकर उसपर शुद्ध ब्रह्मका ज्ञान शोभित होनेपर तीन अवस्थाओं और गुणोंसे रहित होकर जीव शुद्ध तुरीयावस्थाको प्राप्त हुआ।
७—सोहमस्मि परम विज्ञान। वा, तुरीया।	*'सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा'* से *'मोह आदि तम मिटइ अपारा'* तक। वा *'तब यह जीव कृतारथ होई'* तक	अब कैवल्यकी ड्योढ़ीपर पहुँच गया, उसकी प्राप्ति समीप हो गयी।

छोरन ग्रंथि पाव जौं सोई। तब* यह जीव कृतारथ होई॥५॥

अर्थ—यदि वह (विज्ञानरूपिणी बुद्धि) गाँठ खोलने पावे तो यह जीव कृतार्थ हो जाय॥ ५॥

* 'तौ'—(का०)।

नोट—१ (क) *'जौं'* से ग्रन्थि छोड़ने पा सकनेमें संदेह जनाया। क्यों संदेह है?, यह आगेकी अर्धालीमें कहते हैं कि छोड़ते हुए *'बिघ्न अनेक करै तब माया।'* इत्यादि। (ख) *'तब कृतारथ होई'* का भाव कि ग्रन्थि छोड़ते समय विघ्न न हों और गाँठ छूट जाय तो कृतार्थ हो जाय। अर्थात् जो जीवका कृत्य (कर्तव्य) था वह कार्य पूर्ण हो जाय, फिर कुछ करना न रह जाय। नहीं तो कृतार्थ न होगा। (ग) *'यह जीव'* अर्थात् जो संसारी हो गया है, जिसका जड़मायासे गठबन्धन हो गया है।

वि० त्रि०—*'कृतारथ होई।'* अहंकारके साथ तादात्म्यकर अपने स्वरूपको विस्मरण करके अनादिकालसे जीव निद्रित पड़ा हुआ संसारका स्वप्न जन्म-मरण, सुख-दुःख आदिका अनुभव कर रहा है। जिस प्रकार कोई राजा स्वप्नमें अपने कारागारमें बद्ध होनेका अनुभव कर रहा हो। अतः निर्विघ्न असंप्रज्ञात समाधिके सिद्ध होनेसे, वह भ्रान्तिजन्य ग्रन्थि नष्ट हो जाती है एवं वह निद्रासे जाग पड़ता है। निद्रासे जाग जाना ही कृतकार्य होना है। फिर तो इस कारागारकी एक ईंट भी खोजनेसे नहीं मिलती। स्वराज्यसुख तो उसका कहीं गया ही नहीं था, प्राप्त ही था, केवल निद्रादोषसे अप्राप्त-सा हो रहा था, सो प्राप्त हो जाता है। निदान, सहज स्वरूपकी प्राप्तिसे वह कृतार्थ हो जाता है। यथा—*'जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई।'*

पं० श्रीकान्तशरण—*'कृतारथ होई'*—जो जीवका कृत्य है वह पूरा हो जाय। फिर शेष आयुको जीवन्मुक्त होकर बितावे। यथा—***'ऋषिराज राजा आजु जनक समान को।…गाँठि बिनु गुनकी कठिन जड़ चेतन की, छोरी अनायास साधु सोधक अपान को।'*** (गी० १। ८६) **'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।'** (गीता ३। २०) (अर्थात् श्रीजनकादि आसक्तिरहित कर्मके आचरणसे ही परमसिद्धिको प्राप्त हुए), **'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः॥'**(भा० १। ७। १०) (अर्थात् जो लोग ज्ञानी हैं, सदा आत्मामें ही रमण करते हैं, जिनकी अविद्याकी गाँठ खुल गयी है, वे भी भगवान्‌की हेतुरहित भक्ति किया करते हैं); इसमें ग्रन्थि छूटनेपर भी भक्ति करना कहा गया है। कैवल्य ज्ञानीका कालक्षेप, यथा—**'देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः। तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः॥'**(भा० ११। १३। ३७) अर्थात् प्रारब्धवश देह भी तबतक स्वारम्भक कर्मकी प्रतीक्षा करते हुए रहती है, अर्थात् छूटती नहीं। परंतु समाधियोगमें आरूढ़ पुरुष प्रपंचसहित भी उसे नहीं देखता, जैसे जागा हुआ फिर निद्राका अनुभव नहीं करता।

वि० टी०—तब जीव सफल-मनोरथ होवे, इसका भाव यह कि सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा इस कल्पित गाँठको दूर कर देनेसे उसी समय उसकी समाधि लग जाती है और यदि इसी समय शरीर छोड़ दिया तो मोक्ष पा जाता है। और यदि शरीर न छूटा तो जीवन्मुक्त होकर शुभाशुभ कर्मोंमें अलिप्त रहता हुआ समय-समयपर समाधि लगाकर साक्षात्कारके परमानन्दको प्राप्त होता है।

शेषदत्तजी—'तब' अर्थात् जीवत्वत्यागस्मरणका निःशेष विस्मरण होनेपर। *'कृतारथ होई'* अर्थात् जिसके लिये सप्तभूमिकाओंमें परिश्रम किया है वह हो जाय। भाव कि परात्परब्रह्मकी प्राप्ति हो तद्रूप हो जाय।

करु०—यह झीनी ग्रन्थि छूटनेपर अखण्ड निर्विकल्प समाधि हुई, यदि इस दशामें शरीर छूट गया तो यह जीव कृतार्थ हो गया। जबतक शरीर बना है तबतक मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार आत्मामें लय हो जाते हैं, क्योंकि ये चतुष्टय अन्तःकरण बुद्धिकी किरणें हैं, इन्हीं चारके द्वारा जीव शुभाशुभ विषयका भोक्ता है। जब जीवको अपने स्वस्वरूपका ज्ञान हुआ तब इन चारोंसे शुभाशुभ विषयका त्याग हुआ, जिससे ये चारों शुद्ध सात्त्विकरूप होकर आत्मामें लय होकर आत्मारूप ही हो जाते हैं। आत्मा प्रकाशी है और ये चारों किरणरूप प्रकाश हैं, जैसे सूर्य जब अस्ताचलको जाते हैं तब किरणें भी उनके साथ ही रहती हैं। यहाँतक सप्तभूमिकाएँ हुईं।

वै०—१ जिस समय परब्रह्ममें अखण्ड वृत्ति लगी है, उसी समय यदि आसन लगाकर ब्रह्माण्डके ब्रह्मरन्ध्रद्वारा प्राण निकाल दे तो यह जीव कृतार्थ हो जाय, मुक्त हो जाय, मायाबन्धनसे छूट जाय २—☞ जीव-ब्रह्मकी एकता *'सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा'* जो तुरीयावस्था है वही ज्ञानकी सातवीं भूमिका है। ३—यहाँतक ज्ञान-साधनकी कठिनता दिखायी, आगे विघ्न दिखाते हैं।

सि० ति०—यहाँका कैवल्य ज्ञान बहुत अंशोंमें योगदर्शनसे मिलता है। यथा—'**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्। स्वरूपप्रतिष्ठा वा चित्तिशक्तिरिति॥**'(यो० सू० ४। ३४) अर्थात् पुरुषार्थशून्य हो, बुद्धिकी वृत्तियोंका प्रतिलोम होकर आत्मा और प्रकृतिका यथार्थ ज्ञान करा करके बुद्धिका स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य मुक्ति है। यह योगदर्शनके मोक्षपादका अन्तिम सूत्र है। यहाँ छठीं भूमिकातक गुणोंका प्रतिप्रसव कहा गया। पुनः जो आगे मायाकी प्रेरणासे ऋद्धियों और सिद्धियोंके विघ्न कहे गये हैं, वे भी योगदर्शनके ही ज्ञान-साधनमें होते हैं और जो आगे ग्रन्थि छूटनेपर कैवल्यपदप्राप्ति कही गयी है यही स्वरूपप्रतिष्ठा है। इसे ही निर्वाणपद भी कहते हैं।

छोरत ग्रंथि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करै तब माया॥ ६॥
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई॥ ७॥

अर्थ—हे पक्षिराज! ग्रन्थिको छोड़ते हुए जानकर तब माया अनेक विघ्न करती है॥ ६॥ हे भाई! वह बहुत ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ भेजती है, जो आकर बुद्धिको लोभ दिखाती हैं॥ ७॥

नोट—१ '*छोरत जानि*' अर्थात् अब छुड़ा लेनेमें देर नहीं है। २—सिद्धियोंके नामादि बहुत ठौर आ चुके हैं।

☞'*छोरत ग्रंथि*' में विघ्न करना कहा, इससे तो यह जान पड़ा कि इसके पूर्व विघ्न नहीं करती थी? इसका समाधान यह है कि पूर्व तो जीव उसके वशीभूत ही था, जो नाच वह नचाती थी वही जीव नाचता था, यथा—'*जेहिं बहु बार नचावा मोही।*' (५९। ६) तब वह नाचरूपी विघ्न उसे विघ्न न जान पड़ते थे। नर्तकी मायाको वह रानी बनाये बैठा था, अब उसको निकाल दिया है; अतः अब यह देखकर कि यह मेरे हाथसे जाता है, वह अनेक विघ्न करती है जिसमें जाने न पावे। पहले मायाविवश होनेसे जो विषय उसे विघ्न न समझ पड़ते थे वे अब विघ्न जान पड़ते हैं। अतएव विघ्न करना कहा। जैसे भारत परतन्त्र राज्यसे स्वतन्त्र होनेका प्रयत्न कर रहा था, यह समझकर मायारूपी 'ब्रिटिशराज्य' अनेक प्रकारसे विघ्न करता था, उसे स्वतन्त्र होने देना नहीं चाहता था।

वि० त्रि०—१ '*खगराया*' का भाव कि आप राजा हैं, जानते हैं कि स्वतन्त्रता चाहनेवालोंका मार्ग कण्टकाकीर्ण होता है। २—'*बिघ्न अनेक करै—।*' दुष्टोंका यह स्वभाव ही है कि वे दूसरोंका भला नहीं देख सकते। आत्मानुभव-प्रकाशसे मायाका दिव्यरूप दिखायी पड़ता है। इसके पहले तो इसका परिच्छिन्न स्थूलरूपमात्र दिखायी पड़ता था। इस रूपकी ओर ध्यान न देकर असम्प्रज्ञातमें तन्मय हो जाना असम्भव हो उठता है। यथा—'*एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जेहि बस जीव परा भवकूपा॥*' ३—'तब' अर्थात् जब वह देख लेती है कि मोहादिका किया कुछ न हुआ, दीपक जल गया, अब गाँठ छूट रही है।

नोट—२ '*प्रेरइ बहु भाई*' से जनाया कि उसे ऋद्धि-सिद्धिकी चाह नहीं, वे स्वयं मायाकी प्रेरणासे इसके पास आती हैं। इसीकी पुष्टि '*आई*' पदसे होती है।

३—'*लोभ दिखावहिं।*' अर्थात् प्रत्येक अपना सामर्थ्य, बल, ऐश्वर्य दिखाती है कि हमें अपनानेसे तुमको यह अलभ्य लाभ प्राप्त होगा।

'*लोभ दिखावहिं*' सिद्धियोंमें बड़ी शक्तियाँ हैं, यह श्रीहनुमान्‌जीके प्रसंगमें सुन्दरकाण्डमें दिखा चुके हैं, वह शक्ति देनेका लोभ दिखाती हैं। बहुधा संत इन सिद्धियोंमें फँसकर करामात दिखलाने लग जाते हैं, जिससे ज्ञानभ्रष्ट होकर फिर उनका पतन हो जाता है। इसीसे भगवान्‌ने कहा है कि भक्त इनमें न पड़े।

करु०—लोभ दिखाती हैं। इस तरह कि जब ऋद्धि-सिद्धि बुद्धिके समीप प्राप्त हुई तब मृत्तिका और मृत्तिकाके पात्र इत्यादिक समोल (सो) अमोल देख पड़ते हैं तब चित्तकी वृत्ति समाधिसे छूट जाती है, क्योंकि जबतक देह है तबतक आत्मा और शरीरका सम्बन्ध नहीं भिन्न हो सकता। पुनः, सिद्धियोंद्वारा स्वर्गके चरित्र देख पड़ने लगते हैं, थल, पर्वत, जल आदिमेंके सम्पूर्ण चरित्र दीखने लगते हैं, शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि जल, अग्नि आदिमें प्रवेश कर जावें। वे बुद्धिको लुभाती हैं कि क्या समाधिमें पड़े हो, देखो हम तुमको ऐसी शक्ति देती हैं, सुख लूटो इत्यादि।

वै०—छोड़ने न पावे, अतः उपाय करती है कि वासना बढ़े।

वि० त्रि०—*'भाई'* का भाव कि हमलोग सब बराबर हैं, क्या राजा क्या रंक, क्या पण्डित क्या मूढ़, माया किसीको नहीं छोड़ती। *'लोभ दिखावै आई'* मानो बुद्धिसे कहती है कि क्या व्यर्थ काममें लग रही हो (यह साम है), ऋद्धि-सिद्धि जो चाहो मैं देनेको तैयार हूँ (यह दान है), जिसके हितके लिये तुम सब करती हो, वह मुक्त होते ही तुम्हें भी त्याग देगा (यह भेद है)।

कल बल छल करि जाहिं समीपा। अंचल बात बुझावहिं दीपा॥ ८॥

शब्दार्थ—कलबल, कल=(सं० कला=विद्या) युक्ति, ढंग, दाँवपेंच।

अर्थ—कल-बल और छल करके पास जाती हैं, अञ्चलकी वायुसे दीपकको बुझा देती हैं॥ ८॥

नोट—१ माया, ऋद्धि-सिद्धि, ये सब स्त्रीलिङ्ग शब्द हैं। स्त्रियाँ अञ्चलसे दीपक बुझाती हैं, यह रीति है। अतः इनके सम्बन्धसे *'अंचल बात'* से बुझाना कहा। अँचलेकी वायु दूरतक नहीं जाती, जबतक दीपकके पास स्त्री न जाय तबतक वह अपने आँचरसे उसे बुझा नहीं सकती। अतः *'जाहिं समीपा'* कहा। दीपक एक स्थानपर रहता है, वह स्वयं दूसरी जगह चलकर नहीं जा सकता; दूसरे दीपकको पवनकी इच्छा नहीं, न वह पवनका या बुझानेवालेका संग चाहे। इसी तरह ज्ञानदीपक हृदयमें स्थित है; बुद्धिने उसे वहाँ जलाकर रख दिया है और काममें लगी है, मायाके समीप जानेसे इनकी स्वार्थहानि है, अतः ये उसके पास क्यों जाने लगे पर मायाको अपना प्रयोजन सिद्ध करना है, अतः वह किसी-न-किसी प्रकार वहाँ जाती है। इससे *'जाहिं'* कहा। किसीके पास जानेके लिये दो तरीके (वसीले) हैं—एक तो यह कि वह निमन्त्रण करे या अपनेसे प्रेम रखता हो तब तो जानेमें कोई कठिनता नहीं। दूसरे, यदि जहाँ जाता है वह अपना शत्रु है अथवा उसको अपना उसके समीप जाना अरुचिकर होगा, जैसे कि चोर, डाकू आदिका पराये घरमें जाना; तब कल-बल-छलसे पहुँच हो सकती है, अन्यथा नहीं। माया स्त्री ज्ञान-दीपक पुरुषके पास चोरीसे पहुँचना चाहती है। क्योंकि विज्ञानरूपिणी बुद्धिको तथा ज्ञानको इससे प्रेम तो है नहीं। पुनः ऊपर बुद्धिको लोभ दिखाकर मोहित करनेका उपाय कह चुके, उस उपायसे बुद्धि मोहित न हो सकी; तब उसके लुभानेका भरोसा छोड़कर जैसे बने तैसे दीपकके पास पहुँचनेका ही उपाय करने लगी। अतः कल-बल-छलसे वहाँ पहुँचना कहा। *'अंचल बात',* यह विषय वा विषयका लोभ है, जैसा आगे कवि स्वयं कहते हैं—*'आवत देखहिं बिषय बयारी।'*, *'लोभ बात नहिं ताहि बुझावा।'*

करु०—ऋद्धि-सिद्धिके गुण 'कल' अर्थात् सुन्दर हैं कि हृदयमें पहुँचे कि उनकी चाह उठी तब मायाको बल हुआ। झूठी वस्तुको सच्ची कर दिखाना यह छल है। अन्तःकरणका उसे सच्चा मानकर अपने सुखकी इच्छा करना, यही अञ्चल है। उस असत्य सुखमें सुख मान लेना पवन है।—[रा० प्र० *'कल'*=१६ वा ६४ कलाएँ। बल मोड़ पेंच। छल धोखा।]

पं०—सर्वशक्तिमत्ताका अभिमान आना अञ्चलवात है, अभ्यासका शिथिल हो जाना दीपकका बुझाना है।

वि० त्रि०—*'कल बल छल करि।'* कला-(उपाय-) से पहले काम लेती है, साम, दान, भेदका प्रयोग करती है। जब इनसे काम नहीं चलता, तब बल अर्थात् दण्डका प्रयोग करती है। यहाँतक मायारानीकी नीति है, यथा—*'साम दान अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा॥ नीति धर्म के चरन सुहाये।'* जब नीतिसे कार्यसिद्धि नहीं देखती, तब अनीतिसे भी काम लेती है। छल करती है।

२—*'अंचल बात।'* वातका उपमेय विषय है। अञ्चलके विषयसे तात्पर्य मायारूपी नारीसे है, यथा—*'तिन्ह महँ अति दारुन दुखद मायारूपी नारि।'* (३। ४३) *'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी।'* (१। १३१) *'हे बिधि मिलै कवन बिधि बाला।'* (१। १३१। ८) मोह आदि तो अविद्यारात्रिके तम हैं, पर नारी *'निबिड़ रजनी अँधियारी'* है। ३—*'बुझावहिं दीपा।'* बुद्धि जहाँ तनिक भी मायाके भुलावेमें आयी कि उसने अवसर पाकर ज्ञानदीप बुझाया। विज्ञानरूपिणी बुद्धिका संसर्ग जहाँ मायासे हुआ कि वह अपने स्वरूपसे च्युत

हुई और ऐसा होते ही सारी इमारत धराशायी हो जाती है। [स्त्री-विषयपर वृत्ति जाते ही ब्रह्मात्मक-वृत्ति नहीं रह जाती। क्योंकि ये दोनों वृत्तियाँ एक-दूसरेके विरुद्ध हैं। यथा—*'देखहिं चराचर नारिमय जे ब्रह्ममय देखत रहे।'* (सि० ति०)]

वै०—ऋद्धि-सिद्धि देख जब बुद्धि लालचवश हुई तब निकट जाना सुगम हुआ इत्यादि। *'कल बल'* अर्थात् सुन्दर बल है जिसके, वही माया छल करके सिद्धिमें अपना वेष छिपाकर मुमुक्षुकी बुद्धिके समीप जाती है और दीपकको बुझा देती है। अर्थात् जैसे ही बुद्धिको ऋद्धि-सिद्धिकी चाहमें पड़ते देखा वैसे ही अविद्याने निकट पहुँचकर अंचलसे दीपक बुझा दिया। भाव कि मान-बड़ाईकी वासना बढ़ा दी जिससे आत्मरूपकी सुध भूल गयी, बुद्धि देहव्यवहारमें लग गयी। यहाँ सिद्धाई शक्ति अधिक प्राप्त कर देना अञ्चलका पवन है और मान-बड़ाईमें वासना बढ़ जाना दीपकका बुझना है।

होइ बुद्धि जौं परम सयानी*। तिन्ह तन चितव न अनहित जानी॥ ९॥
जौं तेहि बिघ्न बुद्धि नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी॥१०॥

अर्थ—यदि बुद्धि परम सयानी हुई तो वह अनहित समझकर उनकी ओर दृष्टि नहीं करती॥ ९॥ यदि उस (मायाकृत) विघ्नसे बुद्धिको बाधा न हुई तब फिर देवता लोग उपाधि करते हैं॥ १०॥

नोट—१ *'होइ बुद्धि जौं परम सयानी।'* (क) *'जौं'* संदिग्ध वचन देकर जनाया कि प्रायः बुद्धि सयानी तो होती है पर 'परम सयानी' नहीं होती, अतः परम सयानी होनेमें सन्देह है। (ख) *'परम सयानी'* का भाव कि परम सयाना जो होगा वही अपने अर्थ-साधनको न भूल दूसरेके लुभानेमें नहीं आ सकता। जैसे कि भुशुण्डिजीको अनेक लोभ दिखानेपर भी जब वे न मोहित हुए तब प्रभुने उनको *'सहज सयाना'* विशेषण दिया है, यथा—*'सुनु बायस तैं सहज सयाना।'* (८५। १) 'परम सयाना' का भाव *'सहज सयाना'* में है। इससे जनाया कि 'केवल सयानी' बुद्धिको चूक जानेका भय है *'परम सयानी'* अञ्चल वातसे रोकनेको समर्थ हुई। पर यह भी पवनके झकोरेसे न बचा सकेगी।

वि० त्रि०—*'परम सयानी'* का भाव कि विज्ञानरूपिणी बुद्धि तो सयानी होती है। जो अपनी लाभ-हानि देख सके सो सयानी है, यथा—*'कह रावन सुनु सुमुखि सयानी। मंदोदरी आदि सब रानी॥ तव अनुचरी करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा॥'* (५। ९) जो परम सयानी अर्थात् धीरत्वसम्पन्ना होगी वह अपने स्वामी पुरुषका लाभ देखेगी। यथा—*'निज घर की बर बात बिलोकहु हौ तुम्ह परम सयानी।'* (वि० ५)

नोट—२ *'तिन्ह तन चितव न अनहित जानी'* (क)—*'आँखें चार होनेसे मुरव्वत आ ही जाती है',* यह कहावत प्रसिद्ध है। रूप नेत्रका विषय है, दृष्टि रूपपर गयी तो उसपर मोहित होनेका भय होता है, यथा—*'सोइ हरिमाया सब गुनखानी।'* (१। १३०। ५) *'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी॥'* (१। १३१। १) बस फिर क्या, गाँठका छोड़ना जाता रहा *'माया बिबस भये मुनि मूढ़ा।'* (१। १३३। ३) जब देखेंगे ही नहीं तो वह आप ही हारकर चली जायगी, सब टंटा मिट जायगा। अतः *'चितव न'* कहा।

वि० त्रि०—*'तेहि तन चितव न।'* भाव कि ग्रन्थि सुलझानेमें लगी रहे। जबतक बुद्धि स्थिर है तबतक मायाकी भी सामर्थ्य नहीं कि उसके निकट जा सके, दीप बुझाना तो दूरकी बात है, यथा—*'परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहु मनहु निहारे॥'* *'अनहित जानी'*—अर्थात् बात हितकी-सी करती है, पर है वह अहितकारिणी। वह स्वामीका अकल्याण चाहती है, ऐसा समझकर उसकी ओर न देखे। [सद्सद्विवेकिनी बुद्धि आत्माकी पतिव्रता स्त्रीके समान है; यथा—**'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥'**(गीता १२। ४१) (सि० ति०)]

नोट—३ *'जौं नहिं बाधी'* का भाव कि बाधित होनेमें सन्देह नहीं होता, न बाधित होनेमें सन्देह है, क्योंकि मायासे बचना परम कठिन है। *'बाधी',* यथा—*'सुमिरत हरिहि साप गति बाधी।'* *'तौ बहोरि'*—

* सयाने, जाने—(का०)। परम सयाने पुरुषके आधारपर बुद्धि जागती रहे।

यहाँ '*बहोरि*' का अर्थ है तत्पश्चात् अथवा, '*बहोरि*' कहकर जनाया कि यह भी मायाका ही कर्तव्य है, वही सुरोंसे उपाधि करवाती है; क्योंकि वे मायाके अधीन हैं, यथा—'**यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुराः**', मायावश वे जीवको मोक्ष प्राप्त होनेमें बाधक होते हैं—बा० (३) देखिये। क्योंकि वे समझते हैं कि इसके मुक्त हो जानेसे जो भोग हमें मिलता है वह बंद हो जायगा।

पं०—सुरोंको प्रेरनेका हेतु यह कि पहरेदार (पाहरू) यदि चोरोंसे मिल जाय तब पदार्थ कैसे बच सकता है।

वि० त्रि०—(क) '*तेहिं बुद्धि*' अर्थात् परम सयानी बुद्धिको, जिसने मायाकी ओर हजार चेष्टा करनेपर भी ध्यान न दिया। (ख) '*जौं बिघ्न नहिं बाधी।*' यदि मायाकृत प्रलोभन आदिने बाधा नहीं की और माया समीप न जा सकी एवं उसके अञ्चल-वातकी गति ज्ञानदीपकतक न हो सकी। (विज्ञानरूपिणी बुद्धिद्वारा असम्प्रज्ञात समाधिमें कोई अन्य वृत्ति नहीं उठने पाती, इससे विषयरूप वायुका प्रचार वहाँतक नहीं हो सकता। (ग) '*तौ बहोरि।*' तब माया देवताओंको प्रेरणा करती है कि वे बलपूर्वक इन्द्रियद्वारको खोल दें, जिसमें विषय-बयारि भीतर प्रवेश करके अन्य वृत्तियोंको खड़ी कर दे। क्योंकि देवता भी मायाके वश हैं, यथा—'*देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया बिबस बिचारे।*' (वि० १०१) '*सुर करहिं उपाधी*' क्योंकि जीव देवताओंके पशु हैं, इस लोक और परलोक दोनोंमें वे देवताओंद्वारा उपभुक्त होते हैं, यथा—'*आये देव सदा स्वारथी। बचन कहैं जनु परमारथी॥*' [यथा—'**अथ योऽन्यां देवतामुपासतेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव ँ स देवानाम्। यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुञ्ज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान्भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः।**'(बृ० अ० १ ब्रा० ४ मन्त्र १०) अर्थात् जो अन्य देवताकी 'यह अन्य है और मैं अन्य हूँ' इस प्रकार उपासना करता है वह नहीं जानता, जैसे पशु होता है वैसे ही देवताओंका पशु है। जैसे लोकमें बहुत-से पशु मनुष्यका पालन करते हैं, उसी प्रकार एक-एक मनुष्य देवताओंका पालन करता है। एक पशुका ही हरण किये जानेपर अच्छा नहीं लगता, फिर बहुतोंका हरण होनेपर तो कहना ही क्या है? इसलिये देवताओंको यह प्रिय नहीं है कि मनुष्य (ब्रह्मात्मतत्त्वको) जाने]

शेषदत्तजी, वि० टी०—'*सुर करहिं उपाधी*' का भाव कि इन्द्रियोंके सुख अलग-अलग बुद्धिको अपनी ओर खींचते हैं। इन्द्रियोंकी निरसतासे उनके देवता निराहार हो दुःखी हुए हैं, अतः उपद्रव करते हैं।

वै०—उपाधि करते हैं अर्थात् धर्मसंकटमें डाल देते हैं, जैसे कि कोई महात्मा साधु गुरु आ गये और कथाप्रसंगादिमें कुछ लौकिक वार्ता करने लगे या कर्मसिद्धान्त करने लगे अथवा भगवत्-उत्सव-पारायणादिका संयोग पड़ा या राम-कृष्णादिकी लीला होती हुई तो उसमें धर्मसंकट डालकर ले गये; इस तरह कि नेत्रके देवता कहते हैं कि ईश्वरलीला देखो, कानके देवता कहते हैं कि हरियशपारायण सुनो, पदके देवता कहते हैं कि उत्तम पर्वपर भगवत्‌की पुरी तीर्थोंको चलो इत्यादि धर्मसंकट डालकर ले गये और वहाँ गये तो स्त्रियोंका मेला देख पड़ा।

इंद्रीद्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥ ११॥

अर्थ—इन्द्रियद्वार (इस उरगृहके) अनेक झरोखे हैं। वहाँ-वहाँ (प्रत्येक झरोखेपर) हैं इन्द्रियदेवता। थाना किये (अड्डा जमाकर) बैठे हैं॥ ११॥

नोट—१ इन्द्रिय=वह शक्ति जिससे बाहरी विषयोंका ज्ञान प्राप्त होता है वा बाहरी वस्तुओंके भिन्न-भिन्न गुणोंका भिन्न-भिन्न रूपोंमें अनुभव होता है। इन्द्रियद्वार=शरीरके वे अवयव जिनके द्वारा यह शक्ति (इन्द्रिय) विषयोंका ज्ञान प्राप्त करती है। सांख्यशास्त्रने इन कर्म करनेवाले अवयवोंको भी इन्द्रिय मानकर इनके दो विभाग किये हैं—ज्ञानेन्द्रिय जिनसे केवल विषयोंके गुणोंका अनुभव होता है, दूसरी कर्मेन्द्रिय जिनके द्वारा विविध कर्म किये जाते हैं। और इनके पृथक्-पृथक् देवता कल्पित किये हैं। इनके विषय भी पृथक्-पृथक् हैं (भा० २। ५। ३०-३१)।

इन्द्रिय	विषय	देवता	इन्द्रिय	विषय	देवता
१ श्रवण	शब्द	दिशा	६ वाणी	भाषण	अग्नि
२ त्वचा	स्पर्श	वायु	७ पैर	गमन	यज्ञविष्णु
३ चक्षु	रूप	प्रचेता, सूर्य	८ हाथ	ग्रहण	इन्द्र
४ जिह्वा	रस	वरुण	९ गुदा	मलत्याग	मित्र, यम
५ नासिका	गन्ध	अश्विनीकुमार	१० उपस्थ	मूत्रत्याग	प्रजापति

ज्ञानेन्द्रिय पाँच हैं और पाँच ही कर्मेन्द्रिय हैं और इनमेंसे भी शरीरमें कान, नेत्र, नथुने, हाथ और पैर दो-दो हैं, त्वचामें अगणित छिद्र हैं। अतएव 'नाना' विशेषण दिया।

२ ***'करि थाना।'*** ***थाना***=अड्डा। रक्षा वा पहराके लिये चौकी, जहाँसे उस केन्द्रकी रक्षा हो सके जिसमें वह थाना है। जहाँ थाना बैठता है वहाँ उस हलकेभरमें उसका अधिकार होता है। अत: 'थाना करके बैठना' कहकर इनपर उन देवताओंका अधिकार जनाया।

वि० त्रि०—***'बैठे करि थाना'*** का भाव कि वहाँसे उनको भोग मिलता था। वृत्तियोंके न उठनेसे भोग मिलना बंद हो गया है, अत: वे वृत्तियोंके उठानेके लिये अवश्य प्रयत्न करेंगे।

करु०—शरीर एक कोट है। कोटके द्वारोंपर रक्षक होते हैं। शरीरमें दस इन्द्रिय, दस दरवाजे हैं। एक-एक द्वारपर एक-एक देवताने थाना बनाया है, सुभट रक्षक हैं और रोम-रोमप्रति जो छिद्र हैं यही झरोखे हैं। झरोखोंपर देवता विराजमान हैं। तब 'झीनी कामना' रूपी वैरीने आकर इनको मिला लिया। मायाकी बसीठी विषयरूप वासना, बयारिको आते देख देवताओंने द्वैतरूप किंवाड़े हठसे खोल दिये।

आवत देखहिं बिषय बयारी। ते* हठि देहिं कपाट उघारी॥ १२॥

अर्थ—वे देवता (जब) विषयरूपी हवाका झोंका आते देखते हैं तब हठपूर्वक किंवाड़े खोल देते हैं॥ १२॥

नोट—***'बिषय बयारी।'*** बयारि स्त्रीवाचक है और वात पुरुषवाचक अर्थात् पुल्लिङ्ग है। यथा—***'देखि गएउ भ्राता सहित तासु दूत सुनि बात।'*** (३। ३७) पहले पुरुषद्वारा दीपक बुझाना चाहा पर उसकी वहाँतक पहुँच भी न हुई तब स्त्रीद्वारा काम लेने लगी। इसी प्रकार पहले मोहादि पुरुषोंका नाश होनेपर ऋद्धि-सिद्धि आदि स्त्रियोंसे काम लिया था। अञ्चलवात दीपकतक न पहुँच सका, अत: अब आँधी-सरीखी हवा चलायी, पर दीपक उरगृहमें है, सब इन्द्रियद्वारोंमें किंवाड़ लगे हैं, बाहरकी विषय-बयारि वहाँ कैसे पहुँचे?' इसके लिये देवताओंकी सहायता ली कि वे किंवाड़े खोल दें, बस, फिर तो एकबारगी सब तरफसे झोंका पहुँचा कि दीपक बुझा, बुद्धि किस-किसको रोकेगी।

कपाटका खोलना यह है कि नयन-इन्द्रियके सामने रूप विषय, श्रवणके सम्मुख शब्द, रसनाके समीप रसीले भोज्य पदार्थ, इत्यादि प्रत्येक इन्द्रियके सामने उसके विषयको लाकर खड़ा कर देते हैं। ***'हठि'*** से जनाया कि बुद्धिका कहना नहीं मानते-सुनते क्योंकि स्वार्थपरायण हैं, यथा—***'तौ मैं जाइ बैर हठि करिहउँ।'*** रावणने अपना स्वार्थ जान किसीकी न सुनी।

वि० त्रि०—बुद्धि, आसन और मुद्राद्वारा इन्द्रियद्वार-झरोखोंको बंद करके उरगृहमें बैठी थी, ये हठ करके झरोखेका किंवाड़ खोल देते हैं। बुद्धि मना करती ही रह जाती है, उसकी एक नहीं सुनते। ☞ भाव यह कि साधकको मधुमती भूमिकाकी प्राप्ति होती है और वह सिद्धियोंमें आसक्त हो जाती है।

पं०—ऋद्धि-सिद्धिसे विषयरसका बल इससे अधिक कहा कि यहाँ देवता सङ्ग करते हैं जो अन्तरंग शत्रु हैं। इन्होंने विश्वामित्रादिको मोह लिया।

करु०, शेषदत्तजी—जैसे कोई राजा अपने थानापतियोंको वेतन न दे और वे दुर्भिक्षसे मरणप्राय हो रहे हों तब यदि दूसरा राजा घूस देकर इनको मिला लेता है, जिससे चढ़ाई करनेपर वे फाटक खोल

* तेहि—रा० प०।

देते हैं इत्यादि, वैसे ही यह शरीर गढ़ है, जीव इसका राजा और इन्द्रियदेवता रक्षक हैं। ज्ञान होनेपर इन्द्रियदेवताओंकी शब्दरूपादि विषयरूपी वेतन बंद हो जाती है। जब अतिझीनी विषयवासना बयारि बसीठी आकर सुरोंसे मिल विषयभोग-तलब विशेष नकद देनेको कहती है तब वे कपाट खोल देते हैं।

वै०—इन्द्रिय द्वार हैं। दम द्वारके किंवाड़े हैं, क्योंकि यही विचारपूर्वक इन्द्रियोंकी वृत्तिको रोके रहा। दमको मिटा देना, दर्शन-श्रवणादिकी चाह उत्पन्न कर देना किंवाड़ेका खोल देना है। विषयचाहमें हर्ष, संसार और उसके सुखको सच्चा मानना यही विषयबयारिकी ठोकर ज्ञानदीपकमें लग जाना है।

वि० टी०—*'ते हठि देहिं कपाट उघारी'* का भाव कि ज्ञान प्राप्त हुए जीवको तीर्थादि स्थानोंमें सौन्दर्य-गान आदि अवसरोंपर वशवर्ती इन्द्रियोंके द्वारा ही फिरसे फँस जानेका बड़ा डर रहता है।

जब सो* प्रभंजन उर गृहँ जाई। तबहिं दीप बिग्यान बुझाई॥ १३॥
ग्रंथि न छूटि मिटा सो प्रकासा। बुद्धि बिकल भइ बिषय बतासा॥ १४॥

अर्थ—जब वह पवनका झकोरा हृदयरूपी घरमें जाता है तभी विज्ञान-दीपकको बुझा देता है वा दीपक बुझ जाता है॥ १३॥ गाँठ न छूटी और वह प्रकाश भी जाता रहा। विषयरूपी पवनसे बुद्धि व्याकुल हो गयी॥ १४॥

नोट—१ पहले 'बयारि' कहा अब भीतर जाने और दीपक बुझानेमें उसका सामर्थ्यसूचक नाम *'प्रभंजन'* दिया। **प्रभंजन**=प्रकर्ष करके भंजन करने अर्थात् तोड़ डालनेवाला। विज्ञानरूपिणी बुद्धिका सब किया-कराया बना-बनाया घर ही ढा देनेवाला है। 'धीरज धर्म खंभ' इससे टूटते हैं अत: *'प्रभंजन'* पद दिया—(रा० प्र०)।

२ (क)—*'तबहिं'* अर्थात् जैसे ही वह पहुँचा तैसे ही तुरंत, किञ्चित् भी देर न लगेगी कि बुद्धि कुछ और यत्न दीपकको बचानेका कर सके। (ख) *'दीप बिग्यान बुझाई।'* भाव कि कैवल्यप्राप्तिकी ड्योढ़ीपर पहुँच इन्द्रियोंके विषयमें फँस जानेसे सब विज्ञान नष्ट हो जाता है। उसका सर्वस्व नष्ट हो जाता है। यथा—*'जोग सिद्धिफल समय जिमि जतिहि अविद्यानास'* (अ० २९) सोऽहमस्मिवृत्ति जाती रहती है।

वै०—१ *'सो प्रभंजन'* अर्थात् शत्रुसेनाका नाश करनेवाली विषय-बयारि। २—*'बुद्धि बिकल भइ——।'* बुद्धि सावधान हो ग्रन्थि छोड़नेमें लगी थी। जब वह अँधेरेमें पड़ी, विषयवासना हृदयमें भर गयी, तब वह भी भ्रमित हो गयी, भ्रमित होनेसे विकल हो गयी। बुद्धि ही विकल हुई और अन्त:करण क्यों न विकल हुए? इसका कारण यह है कि मन और अहंकार दोनोंके अंश विषय व्यापारमें रहते हैं तब वे क्यों व्याकुल होने लगे और बुद्धिके अंश उत्तम व्यापारमें रहते हैं, यथा—जिज्ञासापञ्चके—**'जपो यज्ञस्तपस्त्याग आचाराध्ययनं तथा। बुद्धेश्चैवं षडङ्गानि ज्ञातव्यानि मुमुक्षुभिः॥'** इसीसे बुद्धि विकल हुई। रहा चित्त सो बुद्धिहीके अन्तर्गत है, इसकी भी वही दशा है।

करु०—वैरीको परास्त करनेके सम्बन्धसे प्रभञ्जन नाम दिया। प्रकर्ष करके नाश करनेवाला। झीनी विषयवासना प्रभञ्जन है। विज्ञानीके हृदयमें झीनी विषयवासना आयी कि दीपक बुझा। ब्रह्मास्मिवृत्तिका छूटना दीपकका बुझना है।

वि० त्रि०—१ *'तबहिं दीप बिग्यान बुझाई'* भाव कि पलमात्रमें दीवट कहीं गयी, दीवा कहीं गिरा, बत्ती कहीं बुझकर उड़ गयी। एक पलमें अति दुरूह साधन ऐसा नष्ट हुआ कि कहीं पता नहीं। साधक दिव्य विषयोंमें लिप्त हो गया।

२ *'ग्रन्थि न छूटि मिटा सो प्रकासा।——'* (क) ग्रन्थि छूटनेके लिये इतना परिश्रम किया गया सो हुआ नहीं। (ख) *'सो प्रकासा'* अर्थात् *'आतम अनुभव सुख सुप्रकासा।'* वह प्रकाश तो 'सोऽहमस्मि' वृत्तिके आश्रय था, जब विषयके झोंकोंसे वह वृत्ति ही न रह गयी तो प्रकाश कहाँसे रह जायगा? (ग) **विषय बतासा**=विषयकी प्रचण्ड हवासे। अर्थात् प्रचण्ड हवाके वेगको वृत्तिजन्य ज्ञानदीप नहीं सह सकता।

* सु—(रा० प०)। सुप्रभंजन=है तो विषयव्यारि विष, पर लगती है सुन्दर।

(घ) *'बुद्धि बिकल भइ।'* इतने परिश्रमसे किये हुए प्रिय दीपके बुझनेसे तथा स्वामीके उद्धारके उपायमें भग्न-मनोरथ होनेसे एवं झोंकोंके चपेटसे बुद्धि भी विकल हो जाती है, उसका साहस टूट जाता है और कुछ सूझ नहीं पड़ता।—(शेषदत्त)।

रा० प्र०—१ भाव कि ग्रन्थि न छूट पाई, प्रकाश जाता रहा, उसपर भी अधिक विपत्ति यह पड़ गयी कि बुद्धि विकल हो गयी।—*'बिछुरी चकती चामकी तब फिरत नगन है।'*

इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई॥ १५॥
बिषय समीर बुद्धि कृत भोरी। तेहि बिधि दीप को बार बहोरी॥ १६॥

अर्थ—इन्द्रियोंके देवताओंको ज्ञान नहीं अच्छा लगता (क्योंकि) विषय-भोगपर उनकी निरन्तर आसक्ति रहती है (वे एक क्षण उसका वियोग नहीं सह सकते)॥ १५॥ विषय-समीरने बुद्धिको बावली बना दिया तब फिरसे उस ज्ञानदीपकको कौन जला सकता है? अर्थात् जिसकी सामर्थ्य थी वह बावली ही है, अतः दुबारा यह जल नहीं सकता। भाव यह कि इस जन्ममें मोक्षप्राप्ति असम्भव है, जैसा कि आगे कहते हैं। एक बार दैवयोगसे न जाने कैसे इतना परिश्रम बन पड़ा था, सो बना-बनाया सब व्यर्थ हो गया तब दूसरी बार साहस कैसे हो सके?॥ १६॥

पं०—यदि कहो कि सूर्यादि तो उत्तम देवता हैं—ये जीवके कृतार्थ होनेमें क्यों विघ्न करते हैं तो उसपर कहते हैं कि *'इन्द्रिन्ह सुरन्ह—।'* अर्थात् ये उत्तम तो हैं पर इन्द्रियके स्थानोंमें वे भी विषयरस ही चाहते हैं, जैसे भले पुरुष भी युवतीके निकट चपलता ही करते हैं।

वि० त्रि०—१ *'इन्द्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई।'* ज्ञान होनेसे प्राणी विषय-विमुख हो जाता है, अतएव देवताओंके भोगमें कमी आने लगती है। सृष्टिके प्रारम्भमें विराट्की उत्पत्तिके बाद जब उसे क्षुधा-तृषासे युक्त किया, तब भूख-प्याससे दुःखी होकर इन्द्रिय-देवताओंने अपनी तृप्तिके लिये ब्रह्मदेवसे व्यष्टि शरीर रचनेकी प्रार्थना की। ब्रह्मदेवने ऊपर दाँतवाली गौ रची, उससे वे लोग तृप्त नहीं हुए, कहा 'नायमलमिति' (अर्थात् यह हमारे लिये यथेष्ट नहीं है)। तब ऊपर-नीचे दोनों ओर दाँतवाला घोड़ा रचा। वे बोले कि इससे भी हमारा काम नहीं चलेगा। तब मनुष्य रचा। उसे देखकर देवता प्रसन्न हुए कि इससे हमारा काम चलेगा। अतः देवता इन्द्रियोंके रूपसे यथास्थान अङ्गोंमें प्रवेश कर गये। अतएव ऐसे भोगसाधन (मनुष्य) का विषय-विमुख होकर ज्ञानी होना उन्हें अच्छा नहीं लगता।

२—*'बिषय समीर'* समीर शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—'अच्छी तरह चलनेवाला'। भाव कि विषयका अन्धड़ बंद नहीं होता, चला ही करता है। ३—*'तेहि बिधि'* का भाव कि जितनी श्रद्धा, धैर्य और परिश्रमद्वारा, जिस विधिसे यह दीप जलाया गया था, उस विधिसे भग्न-मनोरथ होनेपर फिरसे साध्य नहीं है और अविधिसे जलाये हुए दीपमें **'सोऽहमस्मि'** इस अखण्ड वृत्तिकी न दीपशिखा होगी और न आत्मानुभव सुप्रकाश होगा।

दो०—तब फिरि जीव* बिबिध बिधि पावै संसृति क्लेस।
हरिमाया अति दुस्तर तरि न जाइ बिहगेस॥
कहत कठिन समुझत कठिन साधत† कठिन बिबेक।
होइ घुनाछर‡ न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥ ११८॥

अर्थ—ज्ञानविमुख होकर तब जीव अनेक प्रकारके संसारी क्लेश भोगता है। हे पक्षिराज! हरिमाया अत्यन्त दुस्तर है, तरी नहीं जा सकती है। विवेक कहनेमें, समझनेमें और साधनेमें (भी) कठिन है। कदाचित् घुणाक्षरन्यायसे हो भी जाय तो भी उसमें अनेक विघ्न हैं॥ ११८॥

---

* सुबिबिधि। † साधन—रा० प०। ‡ घुनाक्षर—भा० दा०। घुनाछर—क०।

नोट—१ *'तब फिरि जीव……।'* (क) *'फिरि'* का भाव कि *'सोऽहमस्मि वृत्ति'* से गिरने और ज्ञानकी तरफसे मुँह मुड़कर विषयमें पुनः प्रवृत्ति होनेपर। (ख) ग्रन्थि छुटानेके समय जीवकी अखण्डवृत्ति *'सोऽहमस्मि'* में थी वह कृतार्थ हो जाता। न छूटनेसे वह ज्यों-का-त्यों विषयी जीव रह गया। अतः *'जीव पावै क्लेस'* कहा। (ग)—*'संसृति क्लेस'* अर्थात् जन्म, जरा, मरणादि अनेक क्लेश। ७९ (१) देखिये। (घ) *'अति दुस्तर—'*, यह पूर्व बहुत बार दिखाया जा चुका है कि आसुरी और दैवी माया दुस्तर है, हरिमाया अतिदुस्तर है, क्योंकि असुर और देवता भी इससे नहीं उबर सकते।

वि० त्रि०—१ *'तब फिरि'* अर्थात् जिस भाँति सात्त्विकी श्रद्धाके हृदयमें आनेके पहले अवस्था थी वही फिर हुई, इतना बड़ा प्रयास व्यर्थ गया। भाव कि अनन्तकालसे जीव ज्ञानदीपकके उद्योगमें है। अनेक जन्ममें दीप जला और बुझा, पर ग्रन्थि नहीं छूटी, संसार ज्यों-का-त्यों बना रह गया। २—*'बिहगेस'।* खगेश कहकर मायाके विघ्नका प्रकरण आरम्भ किया था, यथा—*'छोरत ग्रन्थि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करै तब माया'*, अब *'बिहगेस'* कहकर प्रकरण समाप्त करते हैं।

नोट—२ *'कहत कठिन—'* इति। यहाँ *'ज्ञानदीपक'* का उपसंहार है—

उपक्रम	उपसंहार
'सुनहु तात यह अकथ कहानी, न जाइ बखानी'	१ *कहत कठिन*
समुझत बनइ न	२ *समुझत कठिन*
तब ते जीव भयेउ संसारी। छूट न ग्रन्थि	३ *तब फिरि जीव पावै…… क्लेस*
जदपि मृषा छूटत कठिनई	४ *हरिमाया अति दुस्तर……*
अस संयोग ईस जब करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई॥	५ *होइ घुनाछर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक*

'कहत कठिन' कहकर समुझत और साधत क्रमशः कहनेका भाव कि प्रथम तो कोई इसे कह नहीं सकता, यह अवर्णनीय है, पर यदि कोई कहने-समझानेको समर्थ हो तो समझनेवालेका भी तो अभाव है, इसका समझमें आना कठिन है, और कोई समझनेवाला भी मिल जाय तो इसका साधना कठिन है। भाव कि ज्ञान केवल वाङ्मात्र है, इसके साधक देखनेमें नहीं आते। साधन क्यों कठिन है, यह विनयमें खूब कहा है तथा यहाँ श्रीमुखसे श्रीरामजीने बताया है, यथा—*'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका॥'* (४५। ३) देखिये।

वि० टी०—*'कहत कठिन समुझत कठिन—'* इति। कठोपनिषद्‌में नचिकेताने यमसे जो तीन वरदान माँगे थे उनमेंसे तीसरा यह था कि आप कृपाकर यह समझाइये कि आत्मा देहसे पृथक् है वा क्या है। इस आत्मज्ञानके जाननेकी मुझे बड़ी उत्कण्ठा है। उत्तरमें यमने कहा—**'देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः। अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्॥'**(अ० १ वल्ली १। २१) जिसका भाव यह है कि इस आत्मविषयपर पहिले बड़े-बड़े विद्वानोंके सन्देह और वाद हो चुके हैं; वे भी पूर्णरूपसे इसकी मीमांसा न कर सके, क्योंकि यह विषय अति सूक्ष्म होनेसे दुर्ज्ञेय है और यह भी सम्भव नहीं कि इसमें प्रवृत्त होनेसे प्रत्येक मनुष्य कृतकार्य हो ही जावे, अतएव हे नचिकेता! तुम और कोई वरदान माँगो।

वि० त्रि०—*'कठिन बिबेक'*, यथा—*'सुनिय गुनिय समुझिय समुझाइय दसा हृदय नहिं आवै। जेहि अनुभव बिनु मोहजनित दारुन भव बिपति सतावै॥'* (वि० ११६)

नोट—बैजनाथजी और पंजाबीजीके भाव आगे दिये गये हैं।

नोट—३ *'होइ घुनाछर न्याय जौं'* इति। घुणोंके चालनेसे कभी-कभी दैवयोगसे लकड़ीमें अक्षरोंके-से आकार बन जाते हैं, यद्यपि घुन उस उद्देश्यसे नहीं काटते कि अक्षर बनें। इसी प्रकार जहाँ एक कार्य करनेमें दैवयोगसे कोई दूसरी बात अनायास हो जाय वहाँ यह न्याय कहा जाता है। भुशुण्डिजी कहते हैं कि जानना, सुनना, समझना, साधना, यह सब कठिन है। यह सब यदि दैवयोगसे घुणाक्षरन्यायसे हो भी जाय तब भी विवेक होना कठिन है, क्योंकि उसमें अनेक विघ्न होते हैं, जिससे साधनकी रक्षा कठिन हो जाती है।

जब साधन बन गया तब क्या कठिनाई है? घुनसे दैवयोगसे अक्षर बन गया फिर न जाने वह काटता-काटता उस अक्षरको काट डाले, इसी तरह '**सोऽहमस्मि वृत्ति**' तक पहुँचनेपर यदि उसका शरीर छूट गया तो वह कैवल्यमुक्ति पा जाय, नहीं तो फिर कहीं मायामें फँस गया तो सब परिश्रम व्यर्थ गया।

करु०—ज्ञानमार्ग कहते कठिन, समुझते कठिन और उसका साधना कठिन तथा उसका विवेक कठिन है। जो कदाचित् ज्ञानके मार्गमें घुनाक्षरन्याय हो तो जीव कृतार्थ हो। घुनाक्षरन्याय अर्थात् जैसे घुन लकड़ीको चालता है कहीं कभी दैवयोगसे रकार-मकार बन गया और उसी समयमें घुणका शरीर पात हो गया तो वह कृतार्थ हो गया। क्योंकि अन्तकालमें कैसे भी रामनाम आवे तो कोई भी जीव क्यों नहीं कृतार्थ हो जायगा। और यदि रकार बननेपर फिर उसके आगे अपर चिह्न बन गया तो विघ्न हुआ। इसी प्रकार ज्ञानीने षट्भूमिका पार कर सातवींपर सोऽहमस्मिवृत्तिकी अखण्ड प्राप्ति की और उसी दशामें उसका शरीर पात हो गया तो वह कैवल्यको प्राप्त हो गया। पर इसी दशामें लय, विक्षेप, कषाय और रसाभास आदि अनेक विघ्न होते हैं।

पां०—'*होइ घुनाक्षर न्याय जौं*——' भाव कि जैसे कदाचित् घुनसे अकस्मात् अक्षर बन जाय वैसे ही कदाचित् साधक इन तीनों विघ्नोंसे बच निकले तो भी आगे अनेक विघ्न हैं।

वि० त्रि०—घुणाक्षरन्याय कहकर '*अस संजोग ईस जब करई।*——' (११७। ८) का साफल्य दिखलाया।

बै०—१ '*कहत कठिन*' अर्थात् जीव और ब्रह्म एक ही है यह कहते नहीं बनता। '*समुझत कठिन*' अर्थात् ब्रह्म मायापर सर्वज्ञ अखण्ड आनन्दरूप और जीव मायाके वश, अल्पज्ञ सदा दुःखरूप, इन दोनोंकी एकता यह समझमें नहीं आती। साधन कठिन ऐसा कि किसीके मानका नहीं। 'विवेक कठिन' अर्थात् संसार-बन्धन छुड़ाकर अपने ही बलसे आत्मरूप भिन्न कर लेना इति विवेक कठिन है। २—जब किसीकी युक्तिसे पूरा नहीं हो सकता तो वेद-पुराण-वेदान्त जो ज्ञानको गाते हैं सो क्या वृथा ही है? उसपर कहते हैं कि वृथा नहीं है, ज्ञान पूरा होता है पर घुणाक्षरन्यायसे। अर्थात् जैसे काटते-काटते घुनसे कोई अक्षर बन गया वैसे ही साधन करते-करते कभी ज्ञान भी पूरा हो जायगा परंतु यदि देहधारी बना है तो फिर भी विघ्न-बाधा तो अनेक हैं, इनसे बचेगा कैसे? जैसे घुणसे अक्षर बन गया और कट भी गया।

वै०—यदि कहो कि 'मुक्तदशा प्राप्त होकर फिर कैसे बन्धनमें पड़ सकता है?' तो उसका उत्तर यह है कि पूर्व भी तो वह अमल चेतन आनन्दराशि था फिर वह कैसे आत्मरूप भूलकर स्वइच्छित मायाके बन्धनमें पड़ा? जैसे आदिमें मायाबन्धनमें पड़कर जीव बना, वैसे ही अब बन्धनमें पड़ जानेमें क्या आश्चर्य? यावत् देह धारण किये हैं तावत् जीवन्मुक्तको भी किसी समय कारण पाकर जीवत्व देहबुद्धि अवश्य आ जायगी, जैसे सनकादिने जय-विजयको, कपिलदेवने सगरके पुत्रोंको और लोमशने भुशुण्डिजीको क्रोधमें शाप दे दिया।

पं०—'*कहत कठिन*' अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ यह कथन भी कठिन है, तात्पर्य कि हृदयके निश्चय बिना यह कथन शोभा नहीं पाता। '*समुझत कठिन*' अर्थात् अपने-आपको आत्मा समझकर निरभिमान होना यह समझना भी कठिन है। 'साधन'—शम-दमादिक जो विवेकके साधन हैं उनका साङ्गोपाङ्ग होना कठिन है।

ज्ञान पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होइ नहिं बारा॥ १॥
जो निर्बिघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥ २॥

अर्थ—ज्ञानमार्ग कृपाणकी धार है। हे खगेश! इस मार्गपरसे गिरते देर नहीं लगती॥ १॥ जो मार्गको निर्विघ्न निबाह लेता है वह कैवल्य मुक्तिरूपी परमपद पाता है॥ २॥

नोट—कृपाण द्विधार तलवारको कहते हैं। साधारण तलवारकी ही धार बड़ी तीक्ष्ण होती है, उसपर चढ़ना महा कठिन है कि चढ़े और पैर न कटे। यह कठिनता पातिव्रत्यधर्मके निर्वाहमें भी इसी प्रकार कही गयी है, यथा—'*त्रिय चढ़िहहिं पतिब्रत असिधारा।*' (१। ६७। ६) पातिव्रत्यको असिधारा कहा और ज्ञानमार्गको कृपाणकी धारा। इस प्रकार ज्ञानमार्गको पातिव्रत्यसे भी कठिन जनाया। कठोपनिषद् प्रथम अध्याय तृतीय वल्लीमें भी ज्ञानको छुरेकी धार कहा है; यथा—'**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥**' (१४) अर्थात् (श्रुति परमात्माकी प्राप्तिका महत्त्व और साधन बतलाकर

अब मनुष्योंको सावधान करती हुई कहती है) उठो, (जन्म-जन्मान्तरसे अज्ञान-निद्रामें सो रहे हो। उससे) जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंके पास जाकर ज्ञान (परमात्माका रहस्य) प्राप्त करो। (परमात्माका तत्त्व बड़ा गहन है। महापुरुषोंकी सहायता और परमात्माकी कृपाके बिना) तत्त्वज्ञानी लोग उस मार्गको वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं जिस प्रकार छुरेकी धार तीक्ष्ण और दुस्तर होती है।

वि० त्रि० जी लिखते हैं कि '**कृपाणकी धारा**' का भाव यह है कि ज्ञानपंथ बड़ा ही सूक्ष्म है, बस उसे तलवारकी धार ही समझिये। रास्ता क्या है, निरावलम्ब मार्गमें एक रेखा है। झूलेपर चलना कितना कठिन है? फिर उस कृपाणकी धारापरसे कोई क्या चलेगा? गिरते देर नहीं लगती। चलते बड़ी देर लगती है। तारपर या रस्सेपर चलनेवाले समताको बनाये हुए बड़ी कठिनता और देरसे पैर रखते हैं, तनिक-सा समतामें वैषम्य आया कि पतन हुआ, यहाँ तो कृपाणधारा-सा सूक्ष्मपथपर चलना है, पतनमें क्या देर है? यथा—'*जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि भगति न आदरी। ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥*'

वि० टी० कार लिखते हैं कि भाव यह है कि जो उपाय बिगड़े तो पैर कट जाय और जो गिर पड़े तो चोट लगे, इसी प्रकार ज्ञानके मार्गका साधन न सँभला तो पागल हो जाय और जो संयम बिगड़े तो भवकूपमें पड़े।

वि० टी०, वि० त्रि० इत्यादि '*परत*' का अर्थ 'गिर पड़ते' और वीर कविजी 'पाँव पड़ते' देरी नहीं लगती अर्थात् तुरंत पैर कट जाता है—ऐसा अर्थ करते हैं। बैजनाथजी लिखते हैं कि—'ज्ञानका पंथ कैसा सूक्ष्म और कराल है जैसे तलवारकी धार; जिसपर चलते गिर पड़ते देर नहीं लगती, शीघ्र ही गिर पड़ता है। तलवारपर चलनेमें गिर पड़ने और पैर कट जानेकी शङ्का, वैसे ही ज्ञान-मार्गका साधन अत्यन्त कठिन है। न हो सकना यही गिरना है और साधन करनेमें चूक जाना यही पैरका कट जाना है। यहाँ '***परत***' का अर्थ '***पंथ***' और '***धार***' के सम्बन्धसे जो संगत हो वही ठीक है। '***निर्बिघ्न निर्बहई***' से जनाया कि इस पंथमें बड़े विघ्न हैं जो कि ऊपर कह आये।

वि० त्रि०—'***कैवल्य परम पद लहई***' अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मकी स्थितिको प्राप्त होता है, यथा—'***जानत तुम्हहिं तुम्हहि होइ जाई।***'

करु०—१ कृपाण अर्थात् द्विधार तलवार। इसके चलानेमें बड़ी होशियारी, खबरदारी चाहिये, क्योंकि कृपाणको पट पड़ते देर नहीं लगती और यदि पट पड़ी तो वैरीने मार लिया। ऐसे ही ज्ञानमें बड़ी खबरदारी चाहिये। २—यदि कोई कहे कि तुरीयावस्था कैवल्यरूप ही है और तुमने तुरीयाको बत्ती कहा है 'तो वह ऐसा कौन पदार्थ है जिसमें जड़की ग्रन्थि पड़ गयी है और जो तुरीयाके प्रकाशसे छूटती है?' तो इसका उत्तर यह है कि जीवहीमें चारों अवस्थाएँ होती हैं; जाग्रत्‌में वह विश्वरूप है, स्वप्नमें तेजस्‌रूप, सुषुप्तिमें प्राज्ञरूप है और तुरीयामें शुद्धस्वरूप है। पर जाग्रत्-अवस्थामें समय-समयपर तीनों अवस्थाएँ सूक्ष्मरूपसे वर्तमान होती हैं; स्वप्नमें जाग्रत् सूक्ष्मरूपसे वर्तमान है, सुषुप्तिमें स्वप्न और तुरीयामें सुषुप्ति सूक्ष्मरूपसे वर्तमान है, क्योंकि तुरीया केवल ब्रह्मस्वरूप है और शुद्ध जीवमें तुरीया वर्तमान होती है। उसमें सुषुप्ति जो कारणरूप है वह सूक्ष्मरूप तुरीयामें वर्तमान है—कुछ सम्बन्ध मानकर और कुछ जीवका धर्म मानकर। इसीसे जब जीव विज्ञानको प्राप्त हुआ तब तुरीयावस्थाकी पूर्ण दशाकी प्राप्ति हुई। जब सम्पूर्ण देहादिक संसारकी गन्धका त्याग हुआ, तब भी त्यागकी किञ्चित् सुध बनी है, इसे तुरीया विष, सूक्ष्म कारण जानना। यह कारण बाधक नहीं है। वह कारण जीवमें इस प्रकार है जैसे भूना हुआ अन्न जो बोनेसे उगेगा नहीं। वह सूक्ष्म सुध ही आत्मामें जड़की ग्रन्थि है, इस सूक्ष्म सुधको भी आत्मासंगी शुद्ध बुद्धि नहीं सह सकती। इसीको वह छुड़ाना चाहती है अर्थात् त्यागकी सुधको बिसराना चाहती है। संसारके त्यागकी सुध बिसर जाना यही ग्रन्थिका छूटना है। यहाँ तुरीयावस्थाका आगमन बत्ती है, विज्ञान-निरूपण घृत है, परम योगाग्निद्वारा उसका जलाना हुआ और आत्मानुभव-ज्ञान उसका प्रकाश है। ईश्वर तुरीयस्वरूप है और उसकी कृपासे जीवमें तुरीयावस्था वर्तमान होती

है। उसी अवस्थाके प्रकाशमें तीन अवस्थाओंकी सूक्ष्म शुद्धिको बुद्धि छुड़ाती है, जब छूट जाय तब यह जीव तुरीयस्वरूप हो जाय, कैवल्य पद प्राप्त हो जाय।

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। संत पुरान निगम आगम बद॥ ३॥
राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआईं॥ ४॥

अर्थ—सन्त, पुराण, निगम और आगम सब कहते हैं एवं बाजी लगाते हैं कि कैवल्य परमपद अत्यन्त दुर्लभ है॥ ३॥ वही अत्यन्त दुर्लभ मुक्ति रामभजन करते हुए बरिआई इच्छा न करनेपर भी आ प्राप्त होती है॥ ४॥

रा० प्र०—'**अति दुर्लभ**'=कठिन साधन करनेपर भी जिसकी प्राप्ति कठिन है।

वि० त्रि०—१ त्रिदेवके अधिकारको 'पद' कहते हैं यथा—'***भरतहिं होइ न राजमद बिधि हरि हर पद पाइ।***' परंतु कैवल्यपद उससे भी बड़ा है, इसलिये परमपद कहा। २—'***अति दुर्लभ***' का भाव कि अन्तिम देह अर्थात् ब्राह्मणकी देह सुरदुर्लभ है, यथा—'***चरम देह द्विज कै मैं पाई। सुर दुर्लभ पुरान श्रुति गाई॥***' (११०। ३) उस शरीरमें भी विरति, विवेक, ज्ञान, विज्ञानका होना मुनि-दुर्लभ है यथा—'***ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग जाना॥***' (८४। १) उन गुणोंके होते हुए भी उनका फलरूप कैवल्यपद अति दुर्लभ है।*

३—संत-पुराणादिके कहनेका भाव कि वेद, शास्त्र, पुराणके कहनेपर भी साधुओंके अनुमोदनकी अपेक्षा रहती है। क्योंकि वेद-पुराण सर्वांशमें समुद्ररूप होनेपर भी उनके वाक्यरूपी जलसे काम नहीं चलता। जब वह वेद-पुराणरूपी समुद्रका वाक्य-जल मेघ-स्थानीय साधुओंके मुखसे च्युत होता है तब संसारके कामका होता है, यथा—'***बेद पुरान उदधि घन साधू।***' अत: वेद, पुराण, शास्त्र और साधु सब एक स्वरसे कहते हैं कि कैवल्यपद अति दुर्लभ है, यही परम पुरुषार्थकी सिद्धि है।

रा० प्र०—'***राम भजत।***' क्योंकि ज्ञान-अज्ञान दोनोंके आधार रामजी ही हैं। '***सो घर अगम जेहि प्रभु चहै देखावन दास करै तेहि बार नहीं***', '***मालिक तादे नहीं किसी के।***', '***अनइच्छित***' इति। क्योंकि '***काहू को पद दास न चाहत***', '***सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भक्ति निज देहीं॥***'—[लं० १११ (७) देखो]। दास नाम पड़ते ही मुक्ति अनायास दासी हो जाती है—'***जानत तुम्हहिं तुम्हहि होइ जाई।***' ['***कैवल्य परम पद***' कहकर '***सोइ मुकुति***' कहनेसे यहाँ 'परम पद' और 'मुक्ति' पर्याय जनाये। '***अति दुर्लभ***'—यह दुर्लभता पूरे प्रसंगभरमें दिखा आये। प्रत्येक साधन उसका अति कठिन है और यह तो सातवीं सीढ़ीपर पहुँचनेके बादकी बात है।]

वै०—'***अनइच्छित आवै बरिआईं।***' बिना उसकी चाह किये वह जबरई आती है। भाव यह कि भजन करते समय प्रभुकी प्राप्तिकी आतुरीसे जहाँ विरहाग्नि प्रचण्ड पड़ी तहाँ कामादि सब विकार नष्ट हो गये। पुन: जब रूपकी माधुरी वा शीलकरुणादि गुणोंके स्मरणसे प्रेम उमगा तहाँ जीव अमल होकर स्वाभाविक ही आत्मरूपको प्राप्त होता है। पुन:, श्रीमुखवचन है कि '**न मे भक्त: प्रणश्यति।**' जब नाश ही नहीं तब स्वाभाविक ही मुक्त है—यही अनइच्छित आना है।

वि० त्रि०—'***राम भजत***—' इति। (क) 'राम भजत' का भाव कि साधारणत: संसारी जीव संसारको भजते हैं। संसारमें ममता होना ही संसारको भजना है, और देहमें, गेहमें, कुटुम्बमें, परिवारमें, धनमें, सम्पत्तिमें ममता होना ही संसारी ममता या संसारित्व है। मनसे वृत्तिरूप ममताके तागे निकलकर देह-गेह-कुटुम्बादिमें लगे हुए हैं, जिनकी चौतरफा खींच-तानसे मन सतत विकल रहता है, कभी विश्राम नहीं पाता। यथा—'***कबहूँ मन बिश्राम न मान्यो। निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इन्द्रिय तान्यो॥***' इसी दु:खसे छूटनेके

* मा० म०—'अति दुर्लभ कैवल्य परम पद' यहाँ कहा और ज्ञानदीपकसे प्राप्तको 'कैवल्य परम पद' कहा। इस कथनभेदसे ज्ञान और भक्तिका भेद निर्णय हो गया कि ज्ञान-साधनसे कैवल्य त्रिपादविभूतिमें प्राप्त होती है। त्रिपादविभूतिकी प्राप्तिको दुर्लभ कैवल्य मुक्ति कहते हैं और भक्तिद्वारा साकेतकी प्राप्ति होती है जिसको अति दुर्लभ कहते हैं।

लिये शास्त्रोंकी उपयोगिता है और पुरुषार्थकी प्रवृत्ति है। इस दुःखसे छूटनेके दो ही उपाय हैं। या तो ममताके तागे ही काट डाले जायँ या ममता संसारसे तोड़कर राममें जोड़ी जाय। यथा—*'की करु ममता रामसे की ममता पर हेल।'* ममता-तागे काटनेवाले रास्तेको ज्ञान-पन्थ कहते हैं; यथा—*'ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।'* परंतु यह मार्ग दुर्गम है; इसमें विघ्न बहुत हैं। साधन भी कठिन है। इसके अधिकारी भी बहुत कम हैं। यदि किसी भाँति ज्ञानकी प्राप्ति भी हो जाय तो उसका टिकना बिना उपासनाके सम्भव नहीं, उसका पतन हुए बिना नहीं रहता। यथा—*'ते पाइ सुर दुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।'* अतः दूसरा सुगम मार्ग यही है कि ममता रामसे जोड़ी जाय। इसीको भक्ति-पथ कहते हैं। इसमें ममताके तागे काटे नहीं जाते। वरं इसकी विधि यह है कि देह-गेह-कुटुम्बादिमें जहाँ-जहाँ ममताके तागे लगे हैं वहाँसे हटाके सबको बँट डाला जाय, यथा—*'कहँ लगि नाथ सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निज गाई॥ मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी।'*, और इसी भाँति बँटी हुई डोरीको भगवच्चरणोंमें बाँधे। इस भाँति ममताकी डोरी भगवच्चरणोंमें लग जानेपर मन खींचा-तानीसे छूटकर स्थितिको प्राप्त होता है, केवल अस्मितामात्र रह जाती है, जिसे ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कहते हैं। इससे प्रकाश होता है और सबमें समान रूपसे ब्रह्म दिखायी पड़ने लगता है। इस तरह ममता ईश्वर-प्रणिधान होनेसे ज्योतिष्मती विद्या हो गयी। यह रामभजन है। (ख) *'सोइ मुकुति'*—साधन सुगमतासे कोई सिद्धिमें त्रुटि न मान ले, अतः कहा कि *'सोइ मुकुति' (अति दुर्लभ कैवल्य परम पद)*। (ग) *'गोसाईं'* का भाव कि आप भी स्वामी हैं, आप जानते हैं कि सेवकको भक्तिसे प्रसन्न होकर स्वामी उसके अभिमुख होते हैं; वैसे ही भक्तिविशेषसे श्रीरामजी अभिमुख होकर अभिधान (संकल्प) मात्रसे भक्तपर अनुग्रह करते हैं और उसके मनोरथको पूर्ण करते हैं। (घ) *'अनइच्छित'* का भाव कि सामान्यतः जीव अति आर्त्त होकर, जिज्ञासु होकर, अर्थार्थी होकर अथवा ज्ञानकी स्थिरताके लिये श्रीरामजीके सम्मुख होते हैं; परन्तु ऐसे एकाङ्गी प्रीति करनेवाले निष्कामभक्त भी होते हैं जिनको भजनमें ही ऐसा आनन्द मिल गया है कि वे भक्तितककी उपेक्षा करते हैं, ऐसे अनन्य भक्तोंके लिये मुक्ति भी अनिच्छित हो जाती है। यथा—*'अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहउँ निर्बान। जनम जनम रति रामपद यह बरदान न आन॥'*, *'मम गुनग्राम नामरत गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥'* (ङ) *'आवै बरिआईं'*—रामभजनसे विघ्नोंका अभाव तो हो ही जाता है, उसके साथ-साथ प्रत्येक चेतनाका अधिगम (स्वरूपका दर्शन) भी होता है। भाव यह कि ममताकी डोरी श्रीराममें लगनेसे तत्पदवाच्यका दर्शन तो उसे होता ही है, साथ-ही-साथ उसे त्वंपदवाच्यका भी दर्शन हो जाता है; यथा—*'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥'* तत्पश्चात् भेदासहिष्णु भक्ति दोनोंका ऐक्य कर देती है अर्थात् चिज्जड़ग्रन्थि छोड़ देती है। इस प्रकार मुक्ति बरियाईसे आती है। ऐसी अवस्थामें यदि सेवक-सेव्यभाव अटल रह जाय तब तो मुक्ति रुकती है, नहीं तो बिना चाहे भी मुक्ति हो जाती है। यही मुक्तिका बलपूर्वक आना है।

नोट—*'अनइच्छित आवै बरिआईं'* इति। *'सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं……।'* (लं० ११११७), *'सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि।'* (कि० २६), *'ताते मुनि हरि लीन न भएऊ।'* (आ० ९। २) *'जोगि बृंद दुरलभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई॥'* (आ० ३६। ८); *'सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहुँ लहेउ। ते नहिं गनहि खगेस ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति॥'* (८८), इत्यादिमें देखिये।

सि० ति०—ऐसा दुर्लभ कैवल्य भक्तिसे अनिच्छित कैसे आ जायगा? उत्तर—यहाँ जीवका प्रकृति-वियुक्त होकर स्वस्वरूपमें स्थित होना और उस 'आत्म-अनुभव, सुख, सुप्रकाश' से ग्रन्थिनिर्मुक्ति कर अन्तमें संसार-दुःखसे छूटकर कैवल्य परमपद पाना फल कहा गया है; यथा—*'उभय हरहिं भव संभव खेदा।'* यही फल भक्तिसे अन-इच्छित इस तरह आता है, यथा—*'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा॥'* (आ० ३६) जीवका सहज स्वरूप *'ईस्वर अंस जीव……'* में जो कहा गया वही है उसीका शुद्ध रूपमें साक्षात् करना ही कैवल्यका भी उद्देश्य कहा गया है।

इसे *'मम दरसन——'* की चौपाईमें श्रीरामजीने श्रीशबरीजीसे नवधा भक्ति वर्णन करनेके पीछे फलरूपमें कहा है यथा—*'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे।'* अतः *'जोगि बृंद दुरलभ गति जोई। तो कहँ आजु सुलभ भइ सोई॥'* क्योंकि, *'मम दरसन फल——।'* बस, यह प्रसंग यहीं समाप्त हो गया।

यहाँ सकल प्रकारकी भक्तिमें प्रेमा और पराको भी समझना चाहिये। अत: इसने अच्छी तरहसे श्रीरामजीके दर्शन किये हैं, इसीसे वह अपने सहज स्वरूपको प्राप्त हुई। दर्शन इस प्रकार होते हैं—

स्थूल शरीराभिमानी जीव प्रथम नवधा भक्तिसहित श्रीरामजीके दर्शन करता रहता है, इसमें इन्द्रियोंके विषय भगवान् ही रहते हैं। अतः चित्तवृत्ति भगवान्में ही रहती है फिर प्रेमाभक्तिके द्वारा सूक्ष्म शरीरके दोषोंको शुद्ध करता हुआ श्रीरामजीमें चित्त रखता है और बुद्धिसे उन्हींकी कृपा, दया आदि गुणोंका विचार होनेपर मन समग्र इन्द्रिय-वृत्तियोंसहित प्रीतिके उमंगमें निमग्न रहता है। अतः दर्शनोंमें बाधा नहीं पड़ती। पुनः पराभक्तिके दृढ़ अनुरागके आरम्भमें ही विरहाग्निके द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म वासनामय कारण शरीर भस्म होनेसे साधक तुरीयावस्थाको स्वतः प्राप्त होता है। इसी अवस्थामें वहाँ **'सोऽहमस्मि'** वृत्ति कही गयी है। इस पराभक्तिमें भगवान्में गाढ़ स्मृति स्वतः एकरस रहती है—*'सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना॥'*, इससे ज्ञान-प्रसंगकी मायाकृत बाधाएँ जो ग्रन्थि छोड़नेमें कही गयी हैं, कुछ नहीं कर सकतीं, यथा—*'भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥'*; अतः यह उक्त ग्रन्थियोंसे भी निर्मुक्त हो जाता है।—**'तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः। त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥'**(भा० १०। २। ३३)

यहाँतक ये सब कार्य केवल श्रीरामदर्शनसे हुए। अवस्थानुसार मनादि इन्द्रियोंके लिये आधाररूपमें नवधादि भक्तियाँ थीं, जिसकी ज्ञानमें त्रुटि है। दर्शन-फलको श्रुतियाँ भी कहती हैं—**'भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥'**(मुण्डक० २। २। ८) ग्रन्थिके कट जानेपर प्राचीन कर्मोंका विनाश हो जाता है। फिर शरीर शरीरीरूपमें स्वस्वरूप स्थित रहनेसे क्रियमाण कर्म अहंकाररहित होते हैं और प्रारब्ध कर्मभोग देकर समाप्त हो जाता है। इस तरह तीनों कर्मोंके क्षय होनेसे देहरहित होनेपर मुक्त कहाता है।

जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करइ उपाई॥ ५॥
तथा मोक्षसुख सुनु खगराई। रहि न सकै हरिभगति बिहाई॥ ६॥

अर्थ—जैसे बिना थल (गहरी भूमि) के जल रह (थम या रुक) नहीं सकता, चाहे कोई करोड़ों (कितने ही) उपाय करे॥ ५॥ इसी तरह, हे खगराज! सुनिये, मोक्ष-सुख भगवद्भक्तिको छोड़कर रह ही नहीं सकता॥ ६॥

करु०—वह मुक्ति कैसे अनिच्छित (बिना चाहे) आती है? जैसे थल बिना जल रह नहीं सकता चाहे कोई कोटि भाँतिसे उपाय करे। थलमें जल अनायास आता है।

वै०—जल ऊँची भूमिपर बिना गहरा स्थान पाये रह नहीं सकता, वैसे ही मोक्ष-सुख भक्ति छोड़ और कहीं स्थिर होकर नहीं रह सकता।

वि० त्रि०—१ (क) जल-थलमें आधार-आधेय-सम्बन्ध है। जल आधेय है, थल आधार है। जलका प्रच्यवनशील स्वभाव है, अतः उसके ठहरनेके लिये थलकी आवश्यकता है। जो जिसका आधार नहीं है वह वहाँ ठहर नहीं सकता। इसका कारण ईश्वरीय नियम है। यथा—*'प्रभु आज्ञा जेहि कहँ जस अहई। सो तेहि भाँति रहे सुख लहई॥'* (ख) *'रहि न सकाई'*—भाव कि थलका साथ जल छोड़ नहीं सकता। जहाँ जल-ही-जल हो वहाँ भी अनुमान करना पड़ेगा कि आधाररूपमें थल विद्यमान है। (ग) *'कोटि भाँति कोउ——'* इति। भाव कि जो कार्य सामान्य रीतिसे नहीं होता, उसके लिये उपाय किया जाता है। यथा—*'तदपि एक मैं कहब उपाई। करिअ दैव जौं होइ सहाई॥'* अतः उपायद्वारा, यन्त्रद्वारा चाहे जल अन्तरिक्षमें फेंका जाय अथवा ईश्वरी नियमसे मेघद्वारा आकाशपर चढ़ जाय, पर वहाँ ठहर नहीं सकता।

२—'*मोक्षसुख*—' इति। (क) यहाँ मोक्षसुख शब्दके प्रयोगका तात्पर्य यह है कि मोक्ष होनेके साधनद्वारा मुक्तिके सान्निध्यसे मोक्षसुखका अनुभव होने लगता है। अथवा, ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर भी प्रारब्धके प्रतिबन्धक रहनेसे मुक्ति रुकी रहती है, पर मोक्षसुख नहीं रुक सकता। अतः यहाँ मुक्ति न कहकर मोक्षसुख कहा। पुनः मोक्ष कृतक नहीं है, नित्य है, उसका आधार कहना नहीं बनता। इसीलिये मोक्ष न कहकर मोक्षसुख कहा, क्योंकि अहं-मम-रूपा अविद्या नित्य प्राप्त मोक्षसुखको आच्छादित रखनेवाली है। (ख) '*खगराई*' सम्बोधनसे जनाया कि उड़नेवालोंमें प्रथम गणना आपकी है, आप जानते हैं कि कितना भी कोई उड़े पर बिना थलके विश्राम नहीं मिल सकता। (ग) '*रहि न सकै हरिभगति बिहाई*' इति। भाव कि हरिभक्ति तथा ब्रह्मसुखमें आधाराधेयभाव है; जहाँ ब्रह्मसुख है वहाँ हरिभक्ति अवश्य है। हरिभक्तिको छोड़नेपर ब्रह्मसुख निराधार हो जाता है। हरिसे नाता तोड़नेपर ब्रह्मसुखकी कोई आशा ही नहीं। यथा—'*जोग कुजोगु ग्यान अग्यानू। जहँ नहिं रामप्रेम परधानू॥*' (२। २९१। २)

नोट—१ विशेष '*ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहँ टेका॥*' (४५। ३) देखिये। २—वैसे ही मोक्षसुख भक्ति करनेसे अनायास आ जाता है। यहाँ भक्ति थल है, मोक्षसुख वा मुक्ति जल है।

अस बिचारि हरिभगति सयाने। मुक्ति निरादर भगति लुभाने॥ ७॥
भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥ ८॥

अर्थ—ऐसा विचारकर चतुर हरिभक्त मुक्तिका निरादर करके भक्तिपर लुभाये रहते हैं॥ ७॥ भक्ति करते हुए बिना यत्न और परिश्रमके संसारकी मूल अविद्याका नाश होता है॥ ८॥

नोट—१ '*अस बिचारि*'—जैसा ऊपर '*हरिमाया अति दुस्तर*……॥' (११८) वा '*अति दुर्लभ कैवल्य परम पद*' से '*रहि न सकै हरिभगति बिहाई*' तकमें कहा वैसा। २—'*मुक्ति निरादर*—' यथा—'*भगतिहीन गुन सब सुख कैसे।—भजनहीन सुख कवने काजा॥*' (८४। ४—६) देखिये। भुशुण्डिजीने स्वयं निरादर किया। उसीपर गरुड़जीने प्रश्न किया कि '*नहिं आदरेहु भगति की नाईं*' ११५ (१०) देखो। उसीका उत्तर यहाँ दे रहे हैं कि कुछ मैंने ही निरादर नहीं किया, सभी सयाने हरिभक्त मुक्तिका निरादर करते हैं। श्रीरामजीने मुक्तिके निरादरसे ही भुशुण्डिजीको '*सहज सयाना*' विशेषण दिया था—'*सुनु बायस तैं सहज सयाना। काहे न माँगसि अस बरदाना॥*' ८५ (२), ११८ (९, १०) देखिये। सयाने भक्त निरादर करते हैं और ये तो '*सहज सयाने*' हैं तब क्यों न निरादर करते। ☞ यह '*नहिं आदरेहु*' का उत्तर है। [रा० शं०—जो अनिच्छित आता है उसका निरादर होता ही है—'*जौं बिनु बोले जाहु भवानी। रहइ न सील सनेह न कानी॥*']

पं०—यहाँ '*सयाने*' से आचार्य भक्त अभिप्रेत हैं। '*निरादर*' अर्थात् उसकी इच्छा नहीं करते। यदि कोई कहे कि मुक्तिका निरादर अर्थात् त्याग करते हैं तो जन्मादिके दुःखके भागी होते होंगे, उसपर कहते हैं कि ये दुःख तो अविद्यासे होते हैं और भक्ति करनेसे अविद्या तो नियत्न नाश हो जाती है तब भक्तको यह दुःख कहाँ?

करु०—कैवल्यकी प्राप्ति अति कठिन दिखा आये। उसकी सिद्धि भी हुई तो जीव शुष्कमुक्ति सायुज्यको प्राप्त होता है। जैसे महदाकाश, मठाकाश, घटाकाश तीन कहे जाते हैं पर मठ और घटके टूटनेसे आकाश एक ही है, जैसे बूँद-बूँद जल समुद्रमें मिलनेसे एक ही है। जैसे दर्पणकी उपाधिसे मुख दूसरा देख पड़ता है, उपाधिके दूर होनेपर मुख एक ही है—ज्ञानी इसी प्रकारकी एकता जीव-ब्रह्मकी मानते हैं, जीवकी वासना ध्वंस होनेसे एक मानते हैं। वही स्वस्वरूपकी शुद्धता, कैवल्यरूप जीव-ब्रह्मकी एकता, ज्ञानमार्गसे अति कठिनतासे हुई है। वही शुद्ध स्वस्वरूप श्रीरामचन्द्रकी साधनभक्ति करनेसे स्वाभाविक प्राप्त होता है तथा पराभक्ति प्राप्त होती है तब जीव श्रीरामचन्द्रके सामीप्य, सारूप्यको प्राप्त होता है। पूर्वाचार्योंका सिद्धान्त है कि 'भक्तिद्वारा जब जीव पर विभूतिको प्राप्त होता है तब परमेश्वर उसकी शुद्धता देखकर पूछते हैं कि '**को भवान्**' तुम कौन हो, तब जीव हर्षपूर्वक कहता है कि '**ब्रह्मास्मि तव दासोऽस्मि।**'

वि० त्रि०—'*मुक्ति निरादर*……' इति। (क) निरादरका भाव कि करगत मुक्तिसे भी पीछे हटते हैं, भक्तिके आनन्दमें मग्न हैं, मुक्तिकी ओर देखनेके लिये उन्हें अवसर नहीं। यथा—'*सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं॥*' (ख) '*भगति लुभाने*'—भाव कि भक्तिशास्त्रमें कार्पण्य विशेषका

आदर है। जैसे कृपणको धनका लोभ होता है, धनके लिये सुखका त्याग करनेका उसका ऐसा स्वभाव पड़ जाता है कि वह मुफ्तमें मिले हुए सुखको भी नहीं भोगना चाहता, दूसरेके भोगको भी नहीं देख सकता, उसी भाँति भक्तको भी भक्तिका लोभ हो जाता है, उसे स्वयं भी मोक्षकी इच्छा नहीं रहती और दूसरोंको भी यह उपदेश देता है। यथा—*'कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम। तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥'* (ग) श्रवणादिक नवधा भक्ति वर्णाश्रमाधिकारियोंके लिये है, परंतु आचाण्डाल मनुष्यमात्रके लिये जिस नवधा भक्तिका उपदेश है वह शबरीके प्रसङ्गमें कही गयी है।

'बिनु जतन प्रयासा' का भाव कि ज्ञानद्वारा अविद्यानाशमें यत्नमें परिश्रम है, इसमें परिश्रम नहीं और न भक्ति छोड़ कोई दूसरा यत्न करना पड़ता है।

पं०—*'भगति करत बिनु जतन प्रयासा'* का भाव कि भक्ति तो यत्न करनेसे उत्पन्न होती है पर भक्ति होनेपर अविद्याके नाशके लिये अन्य यत्न नहीं करना पड़ता। भक्तिमात्र ही करनी पड़ती है।

वि० त्रि०—*'संसृति मूल—'* इति। (क) यद्यपि यह सृष्टि मायाकी रची हुई है, पर यह हरिकी प्रेरणासे रची गयी है। यह बन्धका कारण नहीं है। बन्धका कारण जीवकृत सृष्टि है। यह अविद्यासे है, यही दुःखरूपा है, इसीके कारण जीव भवकूपमें पड़ा है (ख) *'अबिद्या'*—यह पञ्चपर्वा है, इसकी पाँच अवस्थाएँ हैं—(१) अविद्या (अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्ममें नित्य, शुचि, सुख और आत्मका भान)। (२) अस्मिता (चित्-शक्ति और जड़-शक्ति बुद्धिकी एकात्मता)। (३) राग (सुखके जानकारकी सुखानुस्मृतिपूर्वक सुख या सुखके साधनमें तृष्णा)। (४) द्वेष (दुःखके जानकारका दुःखानुस्मृतिपूर्वक दुःख या दुःखके साधनमें जो क्रोध होता है। (५) अभिनिवेश (मरणभय)। (ग) *'अबिद्या नासा'* इति। भक्तिसे पञ्चपर्वा अविद्याका नाश हो जाता है। यथा—*'हरिसेवकहि न ब्याप अबिद्या', 'जन अभिमान न राखहिं काऊ। दीन बंधु अति मृदुल सुभाऊ॥', 'जौं मोहि राम लागते मीठे। तौ नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे।', 'निज प्रभुमय देखहिं जगत का सन करहिं बिरोध।', 'सपनेहु नहिं कालहु ते डरिये।'* (क०)

भोजन करिअ तृपिति* हित लागी। जिमि सो असन पचवइ† जठरागी॥ ९॥

असि हरिभगति सुगम सुखदाई। को अस मूढ़ न जाहि सोहाई॥ १०॥

अर्थ—जैसे भोजन तृप्ति (पेट भरने, भूखको संतुष्ट वा शान्त करने) और हितके लिये किया जाता है और उस भोजनको जठराग्नि (अपने-आप, बिना हमारी चेष्टाके) पचाती ही है॥ ९॥ इसी प्रकार हरि-भक्ति ऐसी सुगम और सुख देनेवाली है। ऐसा कौन मूढ़ होगा, जिसे वह अच्छी न लगे?॥ १०॥

खर्रा—तृप्ति मुख्य फल है और पचाना आनुषङ्गिक फल है जो अवश्य उपाय बिना होता ही है, इसी तरह भक्तिका मुख्य फल भगवत्‌में प्रेम ही है और मुक्ति आनुषङ्गिक फल है, आप हो जाती ही है।

शीला—भाव कि तृप्तिके लिये सुन्दर भोजन सभी करते हैं, पचनेके लिये नहीं और जब जठराग्नि उसे पचा देती है तब सुख होता है न पचे तो दुःख हो; वैसे ही श्रीरामभक्ति करनेसे बिना यत्न और परिश्रमके संसार-दुःख अविद्याका नाश होता है।

पं०—ऊपर जो कहा कि भक्ति करनेसे अविद्याका नाश बिना यत्नके हो जाता है उसीका दृष्टान्त यह देते हैं। जैसे भोजन तृप्तिके लिये किया जाता है, भोजन करनेमें यत्न करना पड़ता है पर जठराग्निमें जो भोजन परिपक्व होता है उसमें कुछ यत्न नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार हरिभक्ति अल्पयत्न करनेसे सिद्ध होनेवाली है और इसमें सुख भी सब हैं।

करु०—भक्ति करनेसे अविद्या कैसे नाश होती है? जैसे सुष्ठु अन्न बनानेमें भोजन अपनेसे ही करना होता है पर पचानेका काम जठराग्निका होता है वैसे ही अपनेसे भजन किया जाता है वही संसृति-मूलको बिना श्रम नाश कर देता है।

* 'तृप्ति' † 'पचव'—(का०)

वै०—बिना यत्न किये अविद्या नाश हो जाती है जैसे, सुन्दर भोजन तृप्तिके लिये किया जाता है, इच्छामें कुछ भी कसर नहीं रखते, पर पेटमें जो जठराग्नि है वह आप ही भोजनको पचा देती है वैसे ही जो भक्ति करते हैं, उरमें प्रेमसे श्रीरामरूपको बसाये हुए वाणीसे नामका स्मरण करते, मुखसे गुणगान करते, कानोंसे गुणग्राम सुनते और हाथोंसे प्रभुका कैंकर्य कर रहे हैं, उन भक्तजनोंके धन-धाम, स्त्री-पुत्र, व्यापारादि सब व्यवहार सङ्ग ही बना है। पर उसका विकार उनको बाधक नहीं होने पाता। वे सब सांसारिक व्यापार करते हुए भी अविद्यामें नहीं पड़ते, कारण कि श्रीरघुनाथजी उनके रक्षक हैं, वे सब बाधाएँ मिटा देते हैं। जैसे ध्रुव, प्रह्लाद, अम्बरीष, रुक्मांगद, जनक, विभीषण आदि ऐश्वर्य-भोग करते हुए भी निर्मल बने रहे।

वि० टी०—भाव यह कि प्राणी तो भोजन करता है परंतु उसे पचानेवाला जठराग्नि परमेश्वर है जो मनुष्योंके हृदयमें रहता है, यथा—'**अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥**' (गीता १५। १४) इसी प्रकार भक्तोंके हृदयमें भजनके प्रभावसे परमेश्वर बसते हैं, वे उनको गृहस्थादि कर्मोंमें लिप्त होने नहीं देते।

पां०—भोजन अघाने और मुटानेके लिये मनुष्य करता है, परंतु पेटकी अग्नि उसे पचा देती है। ऐसे ही रामभक्त जो कर्म करते हैं उन्हें भक्ति पचा देती है। दुर्बलताका दूर होना तथा शरीरमें बल होना '*हित*' है। जठराग्नि उदरस्थ भोजनको पचाती है। उसीसे रस, रक्त आदि सातों धातु बनकर इस शरीर-यन्त्रका पोषण करते और बल-सम्पादन करते हैं।

वीरकवि—भाव कि जैसे भोजनका पचाना जठराग्निका सहज गुण है, तैसे सांसारिक कष्टोंका नाश करना हरिभक्तिका स्वाभाविक गुण है। यह उदाहरणका स्वभावोक्ति अङ्ग है।

☞ यहाँ भोजन, तृप्ति, जठराग्नि और उसका भोजन पचाना क्या है? भक्ति भोजन है, तृप्ति सुख (मोक्षादि) है, भक्तिमें जो भवहरणि शक्ति है वह जठराग्नि है, जठराग्निका अन्नको पचा देना संसृतिमूल अविद्याका नाश होना है।

सि० ति०—हरिभजन सुन्दर भोजन है। प्रेमसहित भजन करते हुए इन्द्रिय अन्तःकरण-सहित जीवको उससे तृप्ति हुआ करती है, यथा—'***कबहूँ कपि राघव आवहिंगे। मेरे नयन चकोर प्रीति बस राकाससि मुख दिखरावहिंगे। मधुप मराल मोर चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिंगे। अंग-अंग भिन्न-भिन्न सुख छबि निरखि-निरखि तहँ तहँ छावहिंगे।***' (गी० सुं० १०) इन्द्रियोंको अपना विषय ग्रहण करना चिर-अभ्यस्त होनेसे सुगम एवं सुखदायी रहता है। भक्तिहीन विषय नरक देनेवाले हैं, अविद्यात्मक हैं और वही विषय भक्तिके रूपमें अर्थात् श्रीरामके रूप देखने एवं उनके यश सुनने आदिमें श्रीरामप्राप्तिरूप मोक्षके साधन होते हैं। भगवत्सम्बन्धी दिव्य विषयसे इन्द्रियाँ तृप्त होती हैं और प्रारब्ध वृत्तियाँ भी भक्तिरूपमें परिणत होकर समाप्त होती जाती हैं। विषयानुरागरूपी विकार भस्म होता जाता है, पचता जाता है। (भक्ति-सम्बन्धी व्यवहार भी अविद्यात्मक नहीं होता) भक्तिरूपमें ही परिणत हो जाता है। इसमें जठराग्निरूपा इष्ट कृपा है।

वि० त्रि०—'***असि हरिभगति*** ......' इति। '***असि***' दार्ष्टान्तसूचक शब्द है। भाव कि भोजनकी भाँति भजनकी व्यवस्था समझ लेनी चाहिये। जिस प्रकार इन्द्रियगम्य यह शरीर है, उसी भाँति अनुभवगम्य इस शरीरमें व्याप्त सूक्ष्म मानसिक शरीर है। असली शरीर तो यही है, इसलिये इसको अन्तःकरण कहते हैं, स्थूल शरीर तो आयतनमात्र है। जिस भाँति स्थूल शरीरका धारक, पोषक और नाशक जठराग्नि है, उसी भाँति मानसिक शरीरका सर्वस्व सुमति है, यथा—'***सुमति छुधा बाढ़इ नित नई।***' जिस भाँति हित-मित और पथ्य भोजनके जठराग्निद्वारा परिपाकसे शरीरका धारण-पोषण और बल-वर्धन होता है, उसी भाँति हरिभजनके परिपाकसे मानसिक शरीरका धारण-पोषण तथा परम वैराग्यका उदय होता है। यथा—'***जानिअ तब मन बिरुज गोसाईं। जब उर बल बिराग अधिकाईं॥***' जैसे स्वयं भोक्ताको पता नहीं चलता और उसके भीतर भोजन पककर रस-रक्त-मांसादि बनकर शरीर पुष्ट किया करता है और बल बढ़ जाता है, वैसे ही भक्तको भी पता नहीं चलता कि उसका किया हुआ भजन किस भाँति मानसिक शरीरका पोषण करता हुआ

वैराग्य-बलको बढ़ाता चला जा रहा है। जिस भाँति अग्नि दुष्ट होकर शरीरका अपकार करती है और दुर्बलता बढ़ाती है, उसी भाँति सुमति कुमति होकर मानसिक रोग उत्पन्न करती है और विषयाशा बढ़ाती है। जैसे भोजन न मिलनेपर जठराग्नि अन्नाभिलाषा, दुर्बलता उत्पन्न कर शरीरका ही नाश कर देती है वैसे ही सुमतिमें भजनकी आहुति न पड़नेपर वैषयिक सुखाभिलाषा विषयाशा उत्पन्न करके मानसिक शरीरका सत्यानाश कर देती है। जिस प्रकार किसी भाँतिका भी भोजन न मिलनेसे मृत्यु होती है, वैसे ही किसी प्रकारका भी भजन न करनेसे अर्थात् संसार और ईश्वर किसीका भजन न करनेसे मानसिक शरीरका भी पतन हो जाता है। जैसे चटनी, अचार आदि उत्तेजक पदार्थोंसे न पेट भरता है और न यथोक्त लाभ होता है, बल्कि तृषा बढ़ती है, उसी भाँति कामोपभोगसे वासना बढ़ती है, शान्ति कभी नहीं होती। यथा—*'सेवत बिषय बिबर्ध जिमि निति निति नूतन मार।'* जैसे पेटकी जलन बिना भोजनके नहीं जाती, वैसे ही विषयकी जलन बिना भजनके नहीं मिटती। यथा—*'जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं।'*

'हरि भजन' कहा क्योंकि हरिभजनमें विशेषता यह है कि इनकी भाँति प्रीति-रीतिका जाननेवाला कोई नहीं है। *'सुगम'* से स्वादयुक्त तथा स्वाभिलाषाकी पूर्तियुक्त जनाया। *'सुखदाई'* से फल सुखमय बताया।

नोट—१ (क) *'असि हरिभगति'*—अर्थात् जैसा *'भगति करत बिनु जतन प्रयासा'* से यहाँतक चार चरणोंमें कहा। (ख) यत्न-प्रयास-रहित होनेसे सुगम और संसृति-मूल-अविद्या-नाशक होनेसे सुखदाई कहा। (ग) *'को अस मूढ़ न जाहि सुहाई।'* जो 'सयाने' हैं 'चतुर' हैं, उनको तो सुहाती ही है वे तो *'मुक्ति निरादर भगति लुभाने'* और भक्ति *'मनि लागि सुजतन कराहीं'*; अतः सिद्ध हुआ कि जिनको नहीं सुहाती वे *'सयाने'* नहीं हैं। *'मूढ़'* सयानेका उलटा है। सुगम सुखदायी वस्तु छोड़कर अति कठिन दुःखदायीके पीछे दौड़ना मूर्खता है। (घ) 'भक्ति सुगम', 'ज्ञान अगम, भक्ति सुखदायी और ज्ञानमें *'प्रत्यूह अनेका'* तथा *'तब फिरि जीव बिबिध बिधि पावै संसृति क्लेस'*; ज्ञानको दुर्गम और दुःखदायी कहा।

दो०—सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।
भजहु रामपद पंकज अस सिद्धान्त बिचारि॥
जो चेतन कहँ जड़ करै जड़हि करै चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहिं भजहिं जीव ते धन्य॥ ११९॥

अर्थ—हे उरगारि! सेवक-स्वामी (अर्थात् मैं सेवक हूँ और भगवान् रामचन्द्रजी मेरे स्वामी हैं) भावके बिना संसारसे तरना नहीं हो सकता—ऐसा सिद्धान्त विचारकर श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलका भजन करो। जो चेतनको जड़ कर देता है और जड़को चेतन, ऐसे समर्थ रघुनाथजीको जो जीव भजते हैं वे धन्य हैं॥ ११९॥

नोट—१ जीव ईश्वरका शेष है, ईश्वर शेषी है। यथा—**'यस्य आत्मा शरीरं यस्याक्षरशरीरम्।'** **'दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मनः परमात्मनः। परवानसि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते॥ आत्मदास्यं हरेः सौम्यं स्वभावं च सदा स्मर॥ ममैवांश इत्यादि।'**

समस्त प्रपञ्च ईश्वरका शरीर है, ईश्वर शरीरी है। यथा—**'यस्य पृथिवी शरीरम्, जगत् सर्वं शरीरं ते।'** शेष शेषीका, शरीर शरीरीका दास है ही। मानसमें अन्यत्र भी कहा है—*'नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह', 'सिव बिरंचि सुर जाके सेवक', 'सेवक हम स्वामी सियनाहू।'* (पं०रामपदार्थदास वेदान्ती। रामायणाङ्कसे)

वि० त्रि०—*'सेवक सेब्य भाव......'* इति। (क) लाक्षाकी भाँति चित्तकी भी दो अवस्थाएँ होती हैं, एक कठिन, दूसरी द्रव। चित्त स्वभावसे ही कठिन है, पर लाक्षाकी भाँति तापक द्रव्यके योगसे कुछ देरके लिये द्रव हो जाता है और उसके अयोगसे पुनः कठिन हो जाता है। करुणा, भय, प्रेमादि उस चित्तके लिये तापक हैं। भलीभाँति द्रवीभूत चित्तमें जिस वस्तुकी छाप पड़ जाती है वह कठिनावस्था प्राप्त होनेपर भी उसमें बनी रहती है। इसी छापको संस्कार, वासना या भाव कहते हैं। यथा—*'परम प्रेममय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिख लीन्हीं॥'* यह भाव ही विभाव, अनुभाव, संचारीभावसे पुष्ट होकर

रसत्वको प्राप्त होता है। (ख) भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके गुण ही ऐसे हैं कि उनके जीवके चित्तपर चढ़नेसे चित्तकी द्रवावस्था हो ही जाती है। अतः स्वाभाविक पहली छाप जो पड़ती है वह सेवक-सेव्य-भावकी होती है। श्रीरामसे सम्बन्ध जोड़नेका मूल सेवक-सेव्य-भाव है। इसीको तदीय कहते हैं। (ग) *'भव न तरिअ'*—भाव कि सेवक-सेव्य-भाव ही भवसंतरणका असाधारण साधन है, क्योंकि हरिमाया अति दुस्तर है, उसका पार करना क्रियासाध्य है ही नहीं। अतः जो अपने बलसे तरना चाहेगा वह उसीमें बहता फिरेगा, पार नहीं पहुँच सकेगा। यथा—*'भवसिंधु अगाध परे नर ते पदपंकज प्रेम न जे करते।'* जो सेवक-सेव्य-भावसे भगवान्‌की शरण हैं, वे उनके बलसे अनायास पार पा जायँगे। (घ) *'उरगारि'* का भाव कि आप सर्पोंके शत्रु हैं, अतः आपके भक्तोंपर भी सर्पोंका विष काम नहीं करता; पर अलौकिक सर्पोंका विष आपपर भी काम कर जाता है। कामक्रोधादि छः शत्रुओंको सर्प कहा है। यथा *'और सकल सुर असुर ईस सब खाए उरग छहूँ।'* (ङ) *'भजहु रामपद पंकज'* कहा, क्योंकि ये चरण ही भवपार करनेके जहाज हैं। यथा—**'यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम्।'** (बा० मं० श्लो० ६)

नोट—२ (क) *'सेवक सेब्य भाव'*, यथा—*'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे'*—आ० ११ (२१) देखो। (ख) *'अस सिद्धान्त'* अर्थात् *'सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिय'* यह सिद्धान्त है।

वै०—*'चेतन कहँ जड़ करै……'* इति। जैसे श्रीनारदजी चेतन थे, सो वे ऐसे जड़ हो गये कि अपने इष्टदेव ईश्वरपर भी क्रोध कर बैठे। यथा—*'फरकत अधर कोप मन माहीं। सपदि चले कमलापति पाहीं॥ देहौं श्राप……। सुनत बचन उपजा अति क्रोधा।'* (१। १३६। २) से दोहा १३७ तक। श्रीध्रुवजी जड़ (अबोध पाँच वर्षके बालक) थे, उनके गालपर शङ्ख-स्पर्शके साथ भगवान्‌ने उनको सर्वशास्त्रोंका ज्ञान दे दिया, सब विद्या उनके हृदयमें भर दी। यथा—**'स तं विवक्षन्तमतद्विदं हरिर्ज्ञात्वास्य सर्वस्य च हृद्यवस्थितः। कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना पस्पर्श बालं कृपया कपोले॥ स वै तदैव प्रतिपादितां गिरं दैवीं परिज्ञातपरात्मनिर्णयः। तं भक्तिभावोऽभ्यगृणादसत्वरं परिश्रुतोरुश्रवसं ध्रुवक्षितिः॥'**(भा० ४। ९। ४-५) अर्थात् ध्रुवजी हाथ जोड़े हुए प्रभुके सामने खड़े थे और स्तुति करना चाहते थे पर जानते न थे कि स्तुति कैसे करें। सर्वान्तर्यामीने उनके हृदयकी जानकर कृपापूर्वक अपने वेदमय शङ्खको उनके गालसे छुआ दिया। शङ्खका स्पर्श होते ही उन्हें वेदमयी दिव्यवाणी प्राप्त हो गयी और वे अत्यन्त भक्तिभावसे धैर्यपूर्वक श्रीहरिकी स्तुति करने लगे।

रा० प०, रा० प्र०—जड़हि अर्थात् मायाको चेतन अर्थात् जीव। *'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव'* यह जड़को चेतनवत् कर देना है। चेतन जीवको कठपुतली-सा नचाते हैं और जड़ मायाको अनन्त ब्रह्माण्ड रचनेका सामर्थ्य दे देते हैं।

वि० त्रि०—२ *'जो चेतन कहँ जड़……'* इति। (क) जीव स्वभावसे ही ईश्वरका अंश होनेसे *'चेतन अमल सहज सुखरासी।'* है। वह मायाके वश होकर कीट-मर्कटकी नाई बँध-सा गया। मायाके रजोगुण तथा तमोगुणके तारतम्यानुसार उसमें भी जड़त्वका तारतम्य भासने लगा। इसीको चेतनका जड़ होना कहते हैं। जड़ भी स्वभावसे ही चेतन है, केवल मायाका परदा पड़नेसे वह जड़ बना हुआ है। उस पर्देके हटनेकी देर है चेतन तो वह है ही; यथा—*'माया बस मतिमंद अभागी। हृदय जवनिका बहु बिधि लागी।'* वह माया ही पर्देको पलटकर कभी अपेक्षाकृत चेतन और कभी जड़ बनाकर नचा रही है और स्वयं भी प्रभुके इशारेपर नाच रही है। इस विधिसे वह मायापति जड़को चेतन और चेतनको जड़ बनाता रहा है। (ख) *'अस समर्थ'*—चेतनको जड़ और जड़को चेतन बनानेवाली सामर्थ्य सब सामर्थ्योंसे बड़ी सामर्थ्य है। अतः ऐसा सामर्थ्यवाला ही सबसे अधिक समर्थ है। चित्-शक्ति तो सर्वत्र ही समानरूपसे अवस्थित है, पर चेतनके अधिक विकाससे ही ब्रह्मदेव सबसे बड़े हैं और संकोचसे ही मशक छोटा है। अतः समर्थ वही है जो चेतनके संकोच-विकासका नियमन करता हो। यथा—*'मसकहि करै बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन।'* (ग) *'रघुनायकहिं'* का भाव कि भगवान्‌ने अवतार तो अनेक धारण किये पर जड़को

चेतन करनेकी सामर्थ्य जैसी श्रीरामावतारमें दिखलायी है वैसी अन्य अवतारोंमें नहीं दिखायी है।—*'जे पद परसि तरी रिषिनारी। दंडक कानन पावनकारी।'*, *'उपल किये जलजान जेहि सचिव सुमति कपि भालु।'* पुनः *'रघुनायक'* शब्दसे उनकी दानशीलता और करुणा दिखायी। (घ) *'भजहिं जीव ते धन्य'* इति। जो श्रीरघुनाथजीका भजन करते हैं उनका कुलमात्र धन्य माना गया तब स्वयं उनका क्या कहना। यथा— *'सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत। श्रीरघुबीर परायन जेहि नर उपज बिनीत।'*

नोट—(क) *'अस समर्थ।'* मिलान कीजिये—*'मसकहि करै बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन।'* (१२२) तथा *'तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई।'* (६। ३४। ८)। (ख) 'ते' से 'जे' वा 'जो' का अध्याहार ऊपरसे कर लेना होगा। (जे) 'जीव' अर्थात् वे स्त्री-पुरुष, शूद्र अन्त्यज, मनुष्य वा पशु, ऊँच-नीच, कोई भी हों वे धन्य हैं। यथा—*'सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत। श्रीरघुबीर परायन जेहि नर उपज बिनीत।'* (१२७) न भजनेवालोंको पूर्व कह आये हैं कि *'राम बिमुख लहि बिधि सम देही। कबि कोबिद न प्रसंसहिं तेही॥'* ९६ (२-३) देखिये।

'अस समर्थ......धन्य' में ध्वनि यह है कि जो जड़को चेतन और चेतनको जड़ बना देनेको समर्थ है वह जड़ चेतनकी ग्रन्थि भी खोल देनेको समर्थ है, अतः जो उसका भजन करेंगे या करते हैं उनको भजन छोड़ अन्य कोई उपायकी आवश्यकता ही नहीं, भगवान् स्वयं ही उस ग्रन्थिको खोल देंगे।

वै०—*'भव न तरिय'* तथा *'भजहिं जीव ते धन्य'* इसीसे अद्वैतके आचार्य कपिलदेवजीने भी बारम्बार भक्तिकी प्रशंसा की (श्रीमद्भागवतमें) और इस कालके अद्वैताचार्य श्रीशङ्कराचार्यजीने कहा है कि भेदबुद्धि दूर होनेपर भी, हे नाथ! मैं तुम्हारा हूँ, तुम हमारे नहीं। यथा—'**अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम्। भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः॥ दिव्यधुनीमकरन्दे परिमलपरिभोगसच्चिदानन्दे। श्रीपतिपदारविन्दे भवभयखेदच्छिदे वन्दे॥ सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥**'

पं०—'**चेतन कहँ**......'—इसका एक अर्थ सर्वशक्तिताका साधारण है। दूसरा प्रसङ्गानुकूल अर्थ यह है कि जो ज्ञानके अभिमानसे अपनेको चैतन्य मानते हैं—उनको जड़ अर्थात् विषयलम्पट कर देता है और जो अपनेको जड़ अर्थात् भूला हुआ मानते हैं उनको चैतन्य करता है, मुक्ति दे देता है।

पां०—भाव यह है कि मैं जड़वत् था सो मुझे भक्तिगुणसे चैतन्य कर दिया।

'ज्ञान-भक्तिवाद'

मा० हं०—'अपनी रामायणमें तुलसीदासजीने ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिको ही श्रेष्ठ माना है और साधक-बाधक प्रमाणोंसे वही मत सिद्ध किया है।'......इस वादके विषयमें कुछ अधिक विवरणकी आवश्यकता ज्ञात होनेके कारण यह तुलनात्मक निरूपण किया जाता है। गोसाईंजीका एक उक्त वादको दिया हुआ तुलनात्मक संक्षेप इस प्रकारसे है—*'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी।......'* इत्यादि। अब इसीका विचार करें। वस्तुस्थिति प्रत्यक्ष यही दिख रही है कि प्रस्थानत्रयी-सदृश बड़े-बड़े ग्रन्थोंपर जोर लगानेवाले व्याख्याता इधर देखो तो जान मारकर कहते जाते हैं कि इस संसारमें सब पापोंकी असली जड़ केवल एक अभिमान ही है, और उसके-जैसा वैरी अन्य कोई है ही नहीं। परंतु उधर वस्तुस्थिति देखो तो ये व्याख्याता स्वयं ही अभिमानसे अधिकाधिक ग्रसित होते जाते हैं। इस स्थितिको देख सहज ही शङ्का होती है कि यह प्रस्थानत्रयी-सरीखे ग्रन्थोंका दोष है, अथवा इन व्याख्याताओंका? हमारे मतसे वह व्याख्याताओंका ही दोष है। इन व्याख्याताओंकी यह ज्ञाननिर्भरता केवल ही दिखावटकी है। ज्ञान तो दूर ही रहा, केवल ज्ञानकी बातें भी पचानेकी कुंजी इन्हें मालूम नहीं रहती। इसीलिये जिसे वे ज्ञान समझते हैं उसका उन्हें अपचन होकर 'अहंकार जो दुखद डहरुआ' है इनके तमाम जोड़ोंमें भर जाता है। ऐसा होनेका कारण स्पष्ट ही है। भक्तिके अतिरिक्त अहंकार छूट नहीं सकता, और अहंकार छूटे बिना ज्ञान जम नहीं सकता। अतः भक्तिके अभावमें ज्ञान न जमकर अहंकार ही जमता जाता है। इसी कारण इन वेदान्तियोंको ज्ञानकी बातोंका अपचन होकर उनका अहंकार जोरसे बढ़ता जाता है। पश्चात् इस अहंकारकी वृद्धिका परिणाम स्वामीजीने ऊपर बतलाया जैसा

होकर उनका (वेदान्तियोंका) देह सूखे काठके सदृश कड़ा बन जाता।......यदि भक्तिशून्य ज्ञानका परिणाम अभिमान बढ़ानेमें न होता तो गीताका व्याख्यान सम्पूर्ण करनेपर श्रीकृष्णजीने अर्जुनको खासकर चेताया न होता कि **'इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।'**(१८। ६७) अर्थात् तपस्वी होनेपर भी जो अभक्त हो उसे यह कदापि न सुनाना चाहिये। भक्ति शब्दसे ही भज्य-भजकभाव और भज्यकी श्रेष्ठता तथा भजककी कनिष्ठता व्यक्त होती है। इस श्रेष्ठता और कनिष्ठताके भावका उत्कर्ष जिस प्रमाणसे भजकमें होता जायेगा उसी प्रमाणसे उसके अहंकारका अपकर्ष होता रहेगा। भक्तिका मुख्य प्रभाव यही है। कर्म, ज्ञान आदि साधनोंसे अहंकारपर आघात न होकर प्रत्युत उसकी वृद्धिका ही विशेष सम्भव रहता है। भक्ति प्रारम्भसे ही अहंकारको निगलती जाती है। **'मूले कुठारः'** की शक्ति भक्तिको छोड़कर अन्य कोई भी साधनोंमें नहीं पायी जाती। सभी संतोंका मत है कि अल्पायासकर (श्रम बचानेवाला) और भूरिप्रद्र (बहुत लाभकारक) मार्ग यह एक ही है। स्वामीजी यही मत इस प्रकारसे स्थापित करते हैं—

'छूटइ मल कि मलहि के धोए। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोए॥
प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभ्यंतर मल कबहुँ न जाई॥'

भागवतका मत भी ऐसा ही ख्यापित है और गीता भी उसीको पुष्ट करती है। **'न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तप आदिभिः। यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया॥'**(भा० ६। १। १६)। **'न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता॥'**(भा० ११। १४। २०)। **'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥'**(गीता ९। ३०)।

इन प्रमाणोंसे भक्तिका अहंकारनिर्दलनपटुत्वरूप (अहंकारको निकालनेवाला) अनितरसाधारण गुण हमारी समझसे सिद्ध हो चुका। गीताजीने उपर्युक्त मतका निदर्शन कर उसमें और भी यह मत जोड़ दिया है—**'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥'** (९। ३१)। **'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा'** और **'शश्वच्छान्तिं निगच्छति'** से भक्तिका क्षिप्रसिद्धिप्रदायित्व (त्वरित सिद्धि पहुँचाना) और भूरिप्रदत्व सिद्ध होते हैं। फिर भी **'न मे भक्तः प्रणश्यति'** का तात्पर्य यह है कि अन्य साधनोंमें जो च्युतिकी भीति है उसका भक्तिमें नामनिशान भी नहीं है। और इसी कारण अन्य योगोंमें जो हानिका सम्भव है वह भक्तियोगमें कदापि नहीं रह सकता सारांश क्षिप्रसिद्धि-प्रदायित्व भूरिप्रदत्व और साधनच्युतिहीनत्व ऐसे तीन विशेष धर्म निष्पन्न हुए। ये तीन धर्म गोसाईंजीने तीन पृथक् प्रसङ्गोंमें दिखलाये हैं।

अल्पायासकरत्व—*'जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥'* (३। १६। २)

भूरिप्रदत्व—*'भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति मूल अबिद्या नासा॥'* (११९। ८)

साधनच्युतहीनत्व—*'साधन सिद्धि राम पग नेहू। मोहि लखि परत भरत मत एहू॥'* (२। २८९। ८)

सूत्ररूपसे चौपाईमें जो कहा है कि साधन और सिद्धि दोनों भी रामपद-प्रेम ही हैं। अर्थात् साधन और सिद्धि एक ही हैं, इससे समझना चाहिये कि जितना कुछ साधन बन पड़ा उतनी ही सिद्धि प्राप्त हुई। इससे यही सिद्ध हुआ कि जितनी भक्ति बन जाय उतना ही वह एक अविनाशी संस्कार हो जाता है। अर्थात् साधनच्युति-(साधनसे पतन-) का प्रश्न शेष नहीं रह सकता। श्रीधरस्वामीजीने भी **'कैवल्यसंमतपथस्त्वथ भक्तियोगः'** इस भागवती श्लोककी टीकामें अपना अभिप्राय इसी प्रकारसे दिखलाया है। अवान्तर सन्तोंके अनुसार गोसाईंजी भी भक्तिका और एक विशेष धर्म मान्य करते हैं। वह अन्य-साधन-नैरपेक्षत्व (केवल स्वतन्त्र) है। उसे उन्होंने इस प्रकार प्रकट किया है—*'सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ज्ञान बिज्ञाना॥'* इसी मतको भागवत **'केचित्केवलया भक्त्या'** और योगसूत्र **'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'** इत्यादि पुष्टि देते हैं।

ज्ञान-सिद्धान्त-प्रकरण समाप्त हुआ

'भक्ति-चिन्तामणि'

कहेउँ ज्ञान सिद्धांत बुझाई। सुनहु भगति मनि कै प्रभुताई॥ १॥
रामभगति चिंतामनि सुंदर। बसै गरुड़ जाके उर अंतर॥ २॥

अर्थ—ज्ञानका सिद्धान्त मैंने समझाकर कहा (अब) भक्ति (रूपिणी) मणिकी प्रभुता सुनिये॥ १॥ हे गरुड़! श्रीरामभक्ति (रूपिणी) सुन्दर चिन्तामणि जिसके हृदयके भीतर बसे॥ २॥

नोट—१ गरुड़जीका वचन है कि *'कहहु बुझाइ कृपानिधि मोही॥'* (११५। ८) अतः भुशुण्डिजीके *'कहेउँ ज्ञान सिद्धांत बुझाई'* इस वाक्यसे यहाँ ज्ञान-सिद्धान्तका उपसंहार जनाया। *'सकल कहहु॥'* (११५। ११) के सकलमेंसे एकको यहाँतक कहा, अब आगे भक्तिको चिन्तामणिके रूपकद्वारा वर्णन करते हैं। *'सुनहु'* से दूसरे प्रसङ्गका आरम्भ जनाया।

करु०—*'बुझाई'* में एक भाव यह भी ध्वनिसे निकलता है कि मैंने वह सब कहा जिस प्रकार ज्ञान (दीपक) बुझ गया।

वि० त्रि०—*'कहेउँ ज्ञान सिद्धांत……प्रभुताई'* इति। (क) ज्ञानका सिद्धान्त कहा पर भक्तिकी प्रभुता कहते हैं। भाव कि सिद्धान्त तो दोनोंका एक ही है, यथा—*'भगतिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।'* अतः भक्तिका सिद्धान्त पृथक् नहीं लिखते, केवल प्रभुतामें भेद है उसीका कथन करते हैं। (ख) *'बुझाई'* का भाव कि वह सिद्धान्त न तो कहते बने न समझते; अतः दृष्टान्त दे-देकर इस ज्ञान-दीपक-प्रसङ्गमें समझाकर कह दिया। (ग) *'बुझाई कहेउँ'* कहकर ज्ञानप्रकरणकी समाप्ति कही। (घ) *'भगति मनि'*—मणि कहनेका भाव कि ममताके तागोंके संसारसे छूटकर भगवच्चरणोंमें लग जानेसे मन खींचातानीसे बचकर स्थिर हो जाता है, तब उसकी दशा अभिजात मणिकी-सी हो जाती है। जिस भाँति स्फटिकमणि अपने उपाश्रयके रङ्गसे रँग जाती है, जवाकुसुमके सन्निधानसे लाल प्रतीत होने लगती है, इसी भाँति ग्रहीता पुरुषके आलम्बनसे उसीके रङ्गमें रँग जाता है। इसीलिये भक्तिको मणि कहा। (ङ) **प्रभुताई**=करने, न करने और अन्यथा करनेका सामर्थ्य।

वै०—*'सुनहु भगति मनि कै प्रभुताई।'* प्रभुताई=ऐश्वर्य। वह यह कि ज्ञानदीपक सबाध्य है, स्वरूपतः सामान्य है और भक्तिमणि अबाध्य, विशेष स्वरूपतः अखण्ड, अजर, अमूल्य और सदा एकरस प्रकाशमान है। अब भक्तिमणिकी जाति, स्वरूपादि सब गुण कहते हैं।

रा० शं०—चिन्तामणि चिन्तित वा वाञ्छित पदार्थकी देनेवाली है, इसीसे गुण तथा स्वरूपसे सुन्दर कहा।

वि० त्रि०—*'रामभगति चिंतामनि……'* इति। (क) भक्ति व्यर्थ नहीं जाती चाहे जिस भाँतिकी हो। जो जिसको भजता है उसीको प्राप्त होता है। भजनीयमें जितना गुणोत्कर्ष होता है, भक्तिकी महिमा भी उतनी ही बढ़ती है। श्रीराम ब्रह्म हैं, अतः रामभक्तिमें उत्कर्षताकी पराकाष्ठा है। (ख) मणिके चार गुण हैं—जाति, शुचिता, अमूल्यता और सुन्दरता। यथा—*'मनिगन पुर नर नारि सुजाती। सुचि अमोल सुंदर सब भाँती।'* यहाँ चिन्तामणि कहकर दिव्य जाति बतलायी और वह अमूल्य तो है ही *'असन बसन सब बस्तु बिबिध बिधि मनिमहँ बस जैसे।'* (दोहावली) जिसमें सब कुछ बसे उसका मूल्य क्या? इसी भाँति रामभक्ति चिन्तामणिमें सब शक्ति है। वह आर्तका संकट हरती, अर्थार्थीको अणिमादि देती, जिज्ञासुको गूढ़ गतिका ज्ञान प्रदान करती और ज्ञानीके ज्ञानको अचल करती है। अन्य देवताओंकी भक्ति मणि है पर रामभक्ति सब कुछ देती है इससे चिन्तामणि है। (ग) 'सुन्दर'—भाव कि मणिसे पुरुषकी शोभा होती है, वैसे ही रामभक्तिको हृदयमें धारण करनेसे पुरुषकी शोभा होती है। यथा *'सोह सैल गिरिजा गृह आए। जिमि जन रामभगति के पाए।'*

वै०-*'बसै'* का भाव कि हृदयमें श्रीरामानुराग सदा स्थिर होकर बना रहे। [भक्ति अव्यभिचारिणी होनी चाहिये, यह जनाया। (वि० त्रि०)]

वि० त्रि०—*'गरुड़'* का भाव कि आप स्वयं भगवान् गरुड़ध्वजको पीठपर चढ़ाये घूमते हैं, सो आपको भी मोह हो गया। अतः शारीरिक भजन यथेष्ट नहीं है। भक्तिको हृदयके भीतर स्थान देनेसे फिर मोह नहीं होता। *'उर अंतर'* का भाव कि बाह्यलिङ्ग-धारण अकिञ्चित्कर है। इन शब्दोंमें रामभक्तिकी अलौकिक सुन्दरता कही। मणि उरके ऊपर शोभा देती है और रामभक्ति भीतर बसकर शोभा देती है।

परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिया घृत बाती॥ ३॥

मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥ ४॥

अर्थ—दिन-रात वह परमप्रकाशरूप रहता है। उसको दीपक, घी या बत्ती कुछ भी न चाहिये॥ ३॥ मोहरूपी दरिद्र पास नहीं आता, न लोभरूपी पवन उसे कभी बुझाता है॥ ४॥

नोट—१ (क) *'परम प्रकास।'* ज्ञानदीपकको *'तेज राशि'* और उसकी शिखाको *'परम प्रचंड'* कहा था, उसीकी जोड़में यहाँ *'परम प्रकास रूप'* कहा। [*'परम'* से 'सहज बिना यत्नका' भी जनाया—रा० प्र०] (ख) *'दिन राती'* का भाव कि दीपक तथा साधारण मणियोंका प्रकाश सूर्यके प्रकाशमें लय हो जाता है, रातहीमें उनका प्रकाश होता है, दिनमें नहीं। और भक्ति-चिन्तामणिका प्रकाश दिन-रात सदा एकरस बना रहता है।

वै०—१ *'परम प्रकास रूप……।'* भाव यह कि भक्त हृदयमें रघुनाथजीका रूप बसाये हुए हैं, इसीसे उस रूपका प्रकाश सहज ही फैला हुआ है। यथा *'भरत हृदय सियराम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू॥'* (२। २९५। ७) वहाँ सब बातोंका ज्ञान हृदयमें बना रहता है, इसीसे वहाँ समता, दीवट, ज्ञानघृत आदि कुछ न चाहिये। प्रभुकी माधुरी देख सब इन्द्रियोंकी वृत्ति तथा मन-चित्तादि सब बटुरकर आप ही चकोरवत् आसक्त रहेंगे किसीके थिर करनेकी जरूरत न रह जायगी।—आ० १२ देखो। यह प्रकाश गुण है। २—मोहको दरिद्र कहा, द्रारिद्र्य भारी दुःख है वैसे ही मोहकृत अज्ञता दुःख है।

वि० त्रि०—*'परम प्रकास रूप'*—मणिकल्प चित्तसे जैसा उपाश्रयका प्रकाश होता है, वैसा ही प्रकाश आता है। श्रीरामजी परमतत्त्व होनेके कारण परम प्रकाशमय हैं, यथा *'जोगिन्ह परमतत्वमय भासा। सांत सुद्ध सम सहज प्रकासा।'* अतएव उनमें लगा हुआ चित्त भी परमप्रकाशरूप हो जाता है। इसीलिये रामभक्तिको परमप्रकाशमय कहा। *'दिन राती'*—मणि रातको तो उजेला करती ही है, दिनको सूर्यकी किरणोंके पड़नेसे और भी चमकने लगती है। वैसे ही रामभक्ति मोह-तमका नाश करती हुई तो शोभित होती ही है; भगवत्-साक्षात्कारके समय और भी देदीप्यमान हो उठती है, क्योंकि वही उसके अत्यन्त उत्कर्षका समय है, यथा—*'सुनि प्रभु बचन मगन सब भये। को हम कहाँ बिसरि तन गये।'*

नोट—२ *'नहिं कछु चहिअ दिआ घृत बाती।'* ज्ञानके रूपकमें विज्ञानमयरूपी दीपक, ज्ञानरूपी घृत और तुरीयारूपी रूईकी बत्तीकी आवश्यकता कही, उनके एकत्र करनेपर तब आत्मानुभव सुखरूपी प्रकाश प्राप्त हुआ और यहाँ उनकी सहायताकी आवश्यकता ही नहीं। यह भक्ति चिन्तामणि सहज ही परम प्रकाशरूप है, उसको ज्ञान-विज्ञानकी अपेक्षा नहीं। यथा—*'सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ज्ञान बिज्ञाना।'* ये कुछ न चाहिये, क्योंकि ज्ञानका दीपक बाह्यान्तर उपायसे सिद्ध हुआ है और मणिरूप भक्ति निरुपाय सिद्ध है, केवल उपायशून्य शरणागतिसे परमेश्वरकी कृपासे भक्तिमें स्वयं प्रकाश निरुपाधि है। (करु०)

नोट—३ *'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।'* (क) चिन्तामणि दरिद्रताका नाशक है, जिसके पास चिन्तामणि है उसे तो मनोरथ करते ही अर्थ-धर्म-काम प्राप्त होते हैं तब वहाँ दारिद्र्य कैसे आ सके? (ख) ज्ञानके प्रसङ्गमें *'मोह आदि तम मिटै'* कहकर जनाया कि वहाँ मोह था सो कुछ देरके लिये सिमिटकर दीपकके तले आ गया और यहाँ *'नहिं आवा'* से भक्तिकी उत्कृष्टता दिखायी कि मोह पास ही नहीं आता, मिटानेकी तब बात ही क्या? वहाँ अविद्याके अञ्चलवातसे तथा विषय-समीरसे दीपक बुझ जाता है, यहाँ वात पास आनेपर भी नहीं बुझा सकता।

करु०—ज्ञान-पुरुष और माया-स्त्री दोनोंका मोहरूपी दारिद्र्यसे सम्बन्ध रहा है और *'ज्ञान विषे झीनी लोभवासना रूप पवन'* उलझ गया है और भक्ति-चिन्तामणि विषे (के सम्बन्धमें) मोहका कारण ही नहीं है, इसे लोभ-पवन बुझा नहीं सकता; क्योंकि जो कुछ यहाँ आता है वह रामार्पण होनेसे निर्विघ्न है।

पं०—अर्थात् भक्तिके प्रभावसे मलिन संकल्प उपजने ही नहीं पाते।

रा० प्र०—'और मोह तम दरिद्र है प्रकाश लक्ष्मी' यह लोकोक्ति है।

वै०—ज्ञान-दीपकमें अनेक भाँतिके देहसुखको लोभ-वासनादि पवन बुझा देती है। वह लोभरूप वात वा बयारि इस मणिके प्रकाशको नहीं बुझा सकती। अर्थात् जब संसारके सारे व्यवहारमें भक्ति अमल बनी रहती है, वहाँ लोभ भी बाधक नहीं होता, क्योंकि भक्त तो सभी व्यापार रघुनाथजीका ही मानते हैं, लोभ भी श्रीरामजीके ही हेतु हैं, भक्तको उससे क्या वास्ता?

पं० श्रीकान्तशरण—मोह देहाभिमानको कहते हैं, इसमें दरिद्रता यह है कि शरीर-पोषणके लिये संसारभरकी वस्तुओंसे भी मनोरथ-पूर्ति नहीं हो सकती। कुछ-न-कुछ कमी रूपी दरिद्रता रहती है। वह मोह भक्ति-मणिके पास भी नहीं आता, क्योंकि भक्तिके द्वारा भक्तके इन्द्रिय अन्त:करणको अहर्निशि दिव्य सुख मिला करता है, जैसे चिन्तामणिसे अर्थ, धर्म, काम प्राप्त होते रहते हैं। इन्द्रियोंको जब दिव्य भोग मिलता है तब वे प्राकृत विषयोंका लोभ क्यों करेंगी। यथा—*'रामचरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषय भोग बस करइ कि तिन्हहीं॥'* (२। ८४)

वि० त्रि०—*'मोह दरिद्र······'* इति। (क) मोह दरिद्र है; क्योंकि उसके भाग्यमें *'मुनिजनधन'* (राम) नहीं है। इसीसे वह चोरी करता है; यथा—*'मत्सर मान मोह मद चोरा।'* मदादि शलभ होनेके कारण चोरीमें सहायक होते हैं, अत: इनकी भी चोरीमें गणना है। उजालेमें चोरी नहीं करते बनता, इसलिये वे दीपकको बुझा देते हैं। (ख) *'निकट नहिं आवा'* भाव कि जितनी ममताकी वृत्तियाँ हैं, वे तो एकीभूत होकर श्रीरामपदमें लग गयीं और ममताकी वृत्तियोंको ही संसारमें लगाकर मोह अपना अधिकार जमाता है। अत: अब उसे निकट जानेके लिये मार्ग ही नहीं रह गया। (ग) *'लोभ बात'* से तात्पर्य विषयसमीरसे है। सगुणब्रह्म श्रीराममें यावत् विषय दिव्यातिदिव्यरूपमें वर्तमान हैं, अत: उनमें लगी हुई वृत्ति तुच्छ विषयोंकी ओर नहीं दौड़ सकती। यथा—*'देव देखि तव बालक दोऊ। अब न आँखि तर आवत कोऊ॥'*, *'रामु काम सत कोटि सुभग तन॥'* (९१। ७) से *'निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै॥'* (९२) (घ) *'नहिं ताहि बुझावा'*—भाव कि रामरंगमें रँगे हुए मनपर दूसरा रंग नहीं चढ़ता। यथा *'सुनु सठ भेद होइ मन ताके। श्रीरघुबीर हृदय नहिं जाके॥'*, *'सूर स्याम की कारी कमरिया चढ़ै न दूजौ रंग।'*

प० प० प्र०—*'परम प्रकास रूप······'* इति। भक्ति-चिन्तामणि सहज ही परमप्रकाशरूप है, वह अन्य साधनसापेक्ष नहीं है—*'सो सुतंत्र अवलंब न आवा'*, *'भक्ति सुतंत्र सकल गुन खानी।'* श्रीरामजीके सम्बन्धमें कहा है कि *'सहज प्रकासरूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥'* (१। ११६। ६) और भक्ति सहज परम प्रकाशरूप है। इससे सिद्ध हुआ कि भक्ति भगवान्‌से भी श्रेष्ठ है। नामवन्दना-प्रसङ्गमें नामको रामसे श्रेष्ठ बता आये हैं। अयोध्याकाण्डमें *'तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी'* से गुरुकी श्रेष्ठता कही है और आगे *'राम तें अधिक राम कर दासा'* से रामभक्तको श्रेष्ठ कहा है। इस तरह रामनाम, रामभक्ति, रामभक्त और गुरु चारोंको श्रीरामजीसे श्रेष्ठ सिद्ध किया, कारण कि श्रीरामजी इन चारोंके वशमें रहते हैं—*'भगति अबसहि बस करी।'*

'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा' इति। *'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला'* है, अत: जब मूल ही नहीं तब अङ्कुर, तरु, शाखा, पल्लव, फल आदि कब पैदा होंगे। सभी दु:ख-सुखादि द्वन्द्वोंका अभाव हो जायगा।

प्रबल* अबिद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥ ५॥
खल कामादि निकट नहिं जाहीं। बसै भगति जाके उर माहीं॥ ६॥

---

* 'अचल'—(रा० प्र०)। रा० प्र०—कार लिखते हैं कि 'प्रबल' पाठमें जीवका अविद्या तम आवेगी।

अर्थ—अविद्याका प्रबल अन्धकार मिट जाता है। समस्त (मदादि) पतङ्गसमुदाय हार बैठता है॥ ५॥ कामादि दुष्ट उसके निकट नहीं जाते कि जिसके हृदयमें भक्ति बसती है॥ ६॥

नोट—१ ☞मोह दरिद्रके साथ निकट *'नहिं आवा'* कहा और कामादिके साथ *'निकट नहिं जाहीं'* कहा। इस भेदमें क्या भाव है? मिलान कीजिये—*'अति खल जे बिषई बक कागा। एहिं सर निकट न जाहिं अभागा॥ संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न बिषय कथा रस नाना॥ तेहि कारन आवत हियँ हारे। कामी काक बलाक बिचारे॥'* (१। ३८। ३—५)

नोट—२ *'प्रबल अविद्या तम……'* इति। (क) ज्ञानदीपकमें अविद्याके परिवारका नाश कहा था। यथा—*'प्रबल अविद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा॥'* (११८। ३) और भक्ति-चिन्तामणिसे स्वयं अविद्याका नाश कहा, यह विशेषता है। [भक्तोंके अविद्यात्मक भाव *'मैं' 'मोर'* प्रभुको अर्पित रहते हैं, यथा **'मम नाथ! यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव।'**(आलवन्दारस्तोत्र ५६) जब वह अविद्या ही नहीं रह गयी तब उसका परिवार कहाँसे आवेगा। (सि० ति०) प्रबल अर्थात् जो किसीके मिटाये नहीं मिट सकता। अविद्या-तम अर्थात् देहव्यवहारमें ममत्व, उसे अपना मानना इत्यादि प्रबल अविद्या-तम सहज ही मिट जाता है; भाव कि यावत् सम्पत्ति है वह सब रघुनाथजीकी है, यह बुद्धि हो जाती है। यही प्रकाश है। (वै०) पुनः, *'प्रबल'* का भाव कि तम तो नित्य ही मिटा करता है, पर यह अविद्या-तम बड़ा प्रबल है, यह अनादिकालसे आजतक चला आ रहा है, अगणित उपाय जन्म-जन्मान्तरसे करते चले आये हैं पर यह न मिटा। यह अविद्या-तम अभिमान है, यथा—*'त्यागहु तम अभिमान।'* श्रीरामपदारविन्दके आश्रित होनेसे वे इसको मिटा देते हैं। यथा *'ताते करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥'* (वि० त्रि०)]

(ख) *'सकल सलभ।'* ज्ञानदीपक-प्रसङ्गमें *'मदादिक'* को शलभ कहा। यहाँ नाम न देकर उन्हींको यहाँ भी शलभ सूचित किया। वहाँ दीपकका जलना कहा, अतः उसमें पतङ्गोंका जलना कहा और यहाँ *'मणि'* कहा, अतः यहाँ शलभका जलना न कहा वरन् *'हारहिं'* कहा। [*'हारहिं'* से यह भी जनाया कि फिर वे कभी पास आने और उसे बुझानेका प्रयत्न एवं साहस भी नहीं करते। नारद, गरुड़ और भुशुण्डिमें अविद्यामाया नहीं है, विद्या माया थी। (प० प० प्र०) *'हारहिं सकल सलभ……'* अर्थात् मणिकी ओर उद्यत नहीं हो पाते। भाव कि भक्तिका प्रभाव यह है कि मलिन संकल्प उपजने नहीं पाते। (पं०) पुनः भाव कि जैसे मणिदीप शलभको जला नहीं सकता, पर स्वयं बुझता भी नहीं, शलभसमुदाय जोर लगाकर हार जाते हैं, वैसे ही भक्ति मद-मानको नष्ट नहीं कर सकती, यथा—*'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥'* पर मद-मानादि उसका अपकार भी नहीं कर सकते। यथा—*'मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्ह कर हुनर न कवनिउ ओरा॥'* (वि० त्रि०)] कामादि खल हैं। ये अकारण ही मुनियोंके मनमें भी विकार उत्पन्न कर देते हैं, यथा—*'तात तीन अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिग्यानधाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥'* (३। ३८) कामादि अर्थात् काम और क्रोध *'निकट नहिं जाहीं'* तब हानि क्या पहुँचा सकते हैं। [भक्तोंकी समस्त कामनाएँ तथा इन्द्रियाँ भगवान्‌में ही लगी रहती हैं। वे समस्त सुखकारी पदार्थोंका भी दास्य-भावसे प्रसाद सेवन करते हैं, विषयभोगकी इच्छासे नहीं। यथा **'कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया……'**।'(भा० ९। ४। २०) अतः दूसरी (विषय) कामना वहाँ कहाँसे आ सके। (वै०) पुनः भाव कि विषयका ध्यान करनेसे उसका सङ्ग होता है और सङ्ग होनेसे काम होता है। भक्त अनवरत अपने प्रभुके ध्यानमें रहता है, उन्हींमें उसका चित्त लगा रहता है, अन्य विषयोंकी ओर उसका ध्यान ही नहीं आकर्षित होता और बिना ध्यानके सङ्ग नहीं होता और बिना सङ्गके कामकी उत्पत्ति ही नहीं होती; अतः काम सदा दूर ही रहता है। क्रोधकी उत्पत्ति तो कामके भी बाद होती है अतः वह और भी दूर है। इसीसे कहा कि 'निकट नहीं जा सकते।' *'उर माहीं'* का भाव *'बसे गरुड़ जाके उर अंतर'* उपक्रममें लिखा गया है। (वि० त्रि०)]

पं० रा० प्र०—*'खल कामादि'* चोर हैं, यथा—*'मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥'*……

तम मोह लोभ अहंकारा। मद क्रोध बोध रिपु मारा॥ अति करहिं उपद्रव नाथा॥' (वि० १२५) चोरोंको चाँदनी नहीं भाती—*'चोरहिं चाँदनि राति न भावा।'* अतः इनका निकट न जाना कहा। चोर प्रकाशसे डरते हैं वैसे ही भक्तिकी महिमा देखकर कामादिक निराश हो जाते हैं।

गरल सुधा सम अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥७॥
ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी॥८॥

अर्थ—विष अमृतके समान और शत्रु मित्र हो जाता है। उस मणिके बिना कोई सुख नहीं पाता॥ ७॥ भारी मानस रोग, जिनके वश होकर सब जीव दुःखी रहते हैं, उसको नहीं व्यापते॥ ८॥

नोट—१ *'गरल सुधा सम……'* कहकर जनाया कि जिसके हृदयमें भक्ति है उसपर श्रीरघुनाथजी कृपादृष्टि रखते हैं, यथा—*'गरल सुधा रिपु करै मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई॥ गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही॥'* (सुं० ५। २-३)

वि० त्रि०—ब्रह्मसृष्टिमें गुण-अवगुण मिला हुआ है। यहाँ विषमें अमृत और अमृतमें विष है, शुद्ध विष या शुद्ध अमृत कोई पदार्थ नहीं है। अतः सुख-बुद्धिसे ग्रहण किये हुए पदार्थमें भी दुःख मिलता है। यही जगत्‌का नियम है। परंतु जिसके हृदयमें भक्ति बसी है, वहाँ यह नियम अन्यथा हो जाता है। उसके लिये विष भी अमृतके समान हो जाता है। उसकी भावना दृढ़ होनेके कारण वस्तुविशेष अपने हानिकारक गुणको प्रकट करनेमें असमर्थ हो जाती है। यथा—*'पापी है बाप बड़े परिताप ते आपनी ओर ते खोरि न लाई। भूरि दई विष मूरि भई प्रह्लाद सुधाई सुधाकी मलाई।'* *'अरि हित होई'*—भाव कि चाहे वह बुराई ही करे, पर उससे भक्तका उपकार ही होता है। यथा *'बालि परम हित जासु प्रसादा। मिले राम तुम्ह समन बिषादा॥'* *'गरल सुधा सम'* कहकर जड़का गुण-परिवर्तन और *'अरि हित होई'* से चेतनमें भी गुणोंका परिवर्तन कहा। भक्तिकी दृढ़भावनासे चेतन-शक्ति जाग उठती है, उसके सामने जड़-शक्तिकी कुछ नहीं चलती। यथा—*'काढ़ि कृपान कृपा न कहूँ, पितु काल कराल बिलोकि न भागे। राम कहाँ? सब ठाउँ में, खंभ में? हाँ, सुनि हाँक नृकेहरि जागे।……'*

पां०, वै०—चिन्तामणिका गुण है कि जो धारण करे उसे विष बाधा नहीं करती और कैसा भी शत्रु क्यों न हो सम्मुख आते ही शत्रुता छोड़ देता है। भक्तिमणिका प्रभाव कि लोमशशाप विषवत् था सो अमृतसम हो गया, वे शत्रु हो गये थे सो मित्र हो गये।

पं०—चिन्तामणि धारण करनेवालेको रोग नहीं होता। भक्ति-चिन्तामणिवालेको मानस-रोग नहीं होते।

सि० ति०—इन्द्रिय-विषय ही विष है, यथा—*'नर तन पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं॥'* इन्द्रियोंके विषय भगवान्‌को ही बनाना भक्ति है, वे ही विषय भक्तिरूपमें अमृत होकर जन्म-मरणके नाशक होते हैं। इन्द्रियोंके साथ मन ही विषयी होनेसे जीवका शत्रु है और वही भक्तिनिष्ठ हो जानेसे मित्र हो जाता है; यथा—**'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥'**(गीता ६। ५)

रा० प०—भाव कि अहंकार जो विषरूप है सो दास बन जाता है और कामादिक शत्रु भक्ति-वैराग्यरूप हो जाते हैं। अहंकार और विष दोनोंका स्थान सिर है।

नोट—२ *'तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई।'* इति। श्रीरामजी आनन्दसिन्धु सुखराशि हैं, उस आनन्दसिन्धुके एक सीकरसे त्रिलोकीका सुपास होता है, अतः उन सुखराशिकी भक्तिके बिना सुख कहाँ? यथा—*'सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पाय पिराने। सदा मलीन पंथ के जल ज्यों कबहुँ हृदय न थिराने॥ यह दीनता दूरि करिबे को अमित जतन उर आने। तुलसी चित चिंता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने॥'* (वि० २३५) *'ऐसी मूढ़ता या मन की। परिहरि रामभगति सुरसरिता आस करत ओसकन की॥ धूम समूह निरखि चातक ज्यों तृषित जानि मति घन की। नहिं तहँ सीतलता न बारि पुनि हानि होति लोचन की॥'*

३—*'ब्यापहिं मानस रोग न भारी।……'* इति। (क) मानस रोगोंका विस्तृत वर्णन वक्ताने स्वयं गरुड़जीके प्रश्नपर आगे किया है। इनको *'भारी'* कहा, क्योंकि ये असाध्य हैं, किसी चिकित्सासे नहीं जाते। यथा—*'एक*

ब्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु ब्याधि।' (१२१) मोह समस्त मानस-रोगोंका मूल है, यथा—*'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।'* (१२१। २९) जब वह *'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा'* तब उसके कार्य कब व्याप सकते हैं। (ख) *'जिन्ह के बस सब जीव दुखारी',* यथा—*'जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा।'* (१२१। २८) *'पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहइ समाधि।'* (१२१) न व्यापना कहकर जनाया कि उसको सहज ही समाधि लग जाती है। [(ग) 'मानसरोग नहीं व्यापते' का भाव कि वे भोग रूप हो जाते हैं। ये विष हैं सो अमृत हो जाते हैं, जैसे शोधी संखिया। उस मणिके पास रहनेसे भारी रोग नहीं व्यापते जैसे बेलकी जड़से सर्प पास नहीं आते]

रामभगति मनि उर बस जाके। दुख लवलेस न सपनेहु ताके॥ ९॥
चतुर सिरोमनि तेइ जग माहीं। जे मनि लागि सुजतन कराहीं॥१०॥

अर्थ—श्रीरामभक्तिरूपी मणि जिसके हृदयमें बसती है उसको (जाग्रत्‌का कौन कहे) स्वप्नमें भी लेशमात्र दुःख नहीं होता॥ ९॥ संसारमें वही लोग चतुरोंमें श्रेष्ठ हैं जो मणिके लिये पूर्ण यत्न करते-कराते हैं॥ १०॥

वि० त्रि०—*'रामभगति मनि उर बस……'* इति। (क) *'रामभगति चिंतामनि सुंदर। बसै गरुड़ जाके उर अंतर॥'* कहकर भक्तिमणिका कर्तृत्ववर्णन प्रारम्भ किया, फिर *'बसै भगति जाके उर माहीं'* से भक्तिमणिकी अन्यथा कर्तृत्वशक्तिका निरूपण आरम्भ किया, अब *'रामभगति मनि उर बस जाके'* से अकर्तृत्व शक्तिका वर्णन करते हैं। *'उर बस जाके'* का भाव यह है कि करने अथवा अन्यथा करनेसे भक्तिमें कोई विकार नहीं आता, क्योंकि स्वयं भक्ति कुछ करने नहीं जाती, उसके हृदयमें अवस्थान करनेमात्रसे सब कुछ हो जाता है। सब कुछ करके भी नहीं करना यही अलेपवाद है। (ख) *'दुख लवलेस न'*—कर्तृत्वाभिमान होनेसे ही कर्मफल भोगना पड़ता है। भक्तिमणिके प्रभावसे कर्तृत्वाभिमान निःशेष हो जाता है, क्योंकि भक्त सर्वात्मना भगवान्‌पर निर्भर है, उसने अपनी स्थितिको परमेश्वरके अर्पण कर रखा है, उसकी दृढ़ धारणा होती है कि परमेश्वर ही सबका प्रेरक है और जीव उसके हाथकी कठपुतली है। यथा—*'उमा दारु जोषित की नाईं। सबहि नचावत राम गोसाईं॥', 'नट मर्कट इव सबहि नचावत। राम खगेस बेद अस गावत॥'* (ग) *'सपनेहु'*—भाव कि जाग्रत्‌के संस्कारानुसार ही स्वप्न होता है। भक्तकी उपर्युक्त धारणा ऐसी दृढ़ हो जाती है कि स्वप्नमें भी उसे कर्तृत्वाभिमान नहीं होता। अतः स्वप्नमें भी दुःखकी सम्भावना नहीं रह जाती।

रा० शं०—तीन प्रकारके चतुर उत्तरोत्तर यहाँतक दिखाये गये—१ विज्ञानी मुनि जो भक्तिकी याचना करते हैं, मोक्षसुख प्राप्त कर चुके हैं। २ *'हरिभक्त सयाने'* जो मुक्तिका निरादर करते हैं और भक्तिमें लुब्ध हैं। ३ चतुरशिरोमणि—जो मुक्तिका न निरादर ही करें, न आदर, उसमें उदासीनभाव है, उसके लिये अपना किञ्चित् भी समय नहीं देते केवल भक्तिके लिये यत्न करते हैं।

नोट—*'सुजतन कराहीं'* इति। भाव कि तन-मन-धनसे इसीमें लगे हैं। इससे उसको परम अलभ्य जनाया। क्या यत्न करते हैं, कैसे वह प्राप्त होती है, यह आगे कहते हैं। मणि पर्वत आदिकी खानिमें होती है, यत्नसे मिलती है, इसीसे भक्तिमणिकी प्राप्तिके लिये 'सुयत्न' करना कहा। ☞जो भक्ति करते हैं, जो भक्तिकी याचना करते हैं वे सब चतुर, सयाने वा प्रवीण हैं, यथा—*'सुनु बायस तैं सहज सयाना। ……सब सुख खानि भगति तैं माँगी।', 'रामहिं भजहिं ते चतुर नर'* और *'चतुरसिरोमनि……।'*

वि० त्रि०—*'चतुरसिरोमनि तेइ……'* इति। (क) जिसमें अल्पायाससे महान् फल हो, ऐसा उपाय करनेवाले ही चतुर हैं। अतः आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चतुर ठहरे, क्योंकि *'चहूँ चतुर कहँ नाम अधारा।'* परन्तु फलकी महत्तापर भी जिसका ध्यान गया हो वह चतुरशिरोमणि है। पुनः, मोहान्धकारमें पड़े रहनेवाले मूढ़ हैं, निरुपास्ति ज्ञानी भी हठी हैं, साधन-भक्तिके सहित सिद्धिलाभ करनेवाले चतुर हैं और फलस्वरूपा भक्ति-चिन्तामणिके लिये यत्न करनेवाले चतुरशिरोमणि हैं। (ख) *'जग माहीं'*—भाव कि संसारमें ऐसे प्राणी सुदुर्लभ हैं, जिनके लिये भक्ति ही साधन और फल सिद्धि है, जो प्रेमसे प्रेमको ही चाहते हैं। यथा—*'परौ नरक फल चारि सिसु नीच डाकिनी खाउ। तुलसी रामसनेह को जो फल सो जरि जाउ।'* (ग) *'सुजतन'*—दत्तचित्त

होकर सावधानीके साथ शास्त्रीय प्रयत्न करना ही सुयत्न है। यथा—*'श्रुति संमत हरिभगतिपथ संजुत बिरति बिबेक।'* जो अशास्त्रीय प्रयत्न करते हैं उनको न सिद्धि होती है न परागतिकी प्राप्ति।

नोट—☞ यहाँतक भक्तिमणिकी प्रभुता कही।

(भक्तिमणिकी प्राप्तिके उपाय)

सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। रामकृपा बिनु नहिं कोउ लहई॥ ११॥
सुगम उपाय पाइबे केरे। नर हतभाग्य देहि भटभेरे॥ १२॥

अर्थ—यद्यपि वह मणि जगत्‌में प्रकट है तो भी बिना रामकृपाके उसे कोई नहीं पाता॥ ११॥ इसकी प्राप्तिके सुगम उपाय हैं पर भाग्य फूटे हुए मनुष्य उनको ठुकरा देते हैं॥ १२॥

नोट—१ (क) *'सो मनि'* अर्थात् जिसकी प्रभुता ऊपर *'रामभगति चिंतामनि सुंदर।'* (चौ० २) से *'दुख लवलेस न सपनेहु ताके।'* (चौ० ९) तक कह आये वह भक्ति-चिन्तामणि।

रा० शं०—*'सो मनि जदपि प्रगट.......'* इति। ऊपर जो कहा कि *'चतुर सिरोमनि.......मनि लागि सुजतन कराहीं'*, चतुरशिरोमणि सुयत्न करते ही रहते हैं, इस कथनसे भक्तिमणि अगम जान पड़ी, अत: कहते हैं कि वह 'प्रकट' है पर रामकृपासे मिलती है और उपाय भी कठिन नहीं; जैसे अन्धेके पैरमें कोई बहुमूल्य वस्तु लगे और वह उसे कंकड़-पत्थर जानकर न उठावे वरन् ठुकरा दे वैसे ही अभागा मनुष्य इस प्रकट मणिको नहीं ग्रहण करता।

वै०—*'प्रगट जग अहई'* अर्थात् गुप्त नहीं है, पुराणादिद्वारा सभी सुनते हैं। प्रकट है, तब मिलती क्यों नहीं, क्या कारण है? उसपर कहते हैं कि भक्तिमणि पानेके तो उपाय सुगम हैं, उसके साधन अगम नहीं हैं—[*'सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी'*—आ० १६ (५) देखो। और प्रभुकी कृपा तो एकरस सभी जीवोंपर है, पर न मिलनेका कारण यह है कि हतभाग्य (*भवभंजन-पद-विमुख-अभागी*) मनुष्य उसका मिलन-संयोग पाकर भी उसे ठुकरा देते हैं]

वि० त्रि०—(क) *'प्रगट जग अहई'*—भाव कि उस शाश्वत जगद्‌गुरु रामने सृष्टिके प्रारम्भमें ही वेदशास्त्रोंका उपदेश कर रखा है और उपदेशपरम्परासे जगत्‌में उसका प्रचार बराबर होता आ रहा है; यथा **'जगद्‌गुरुं च शाश्वतम्। तुरीयमेव केवलं॥'**, *'निगम निज बानी'* उसी वेदशास्त्रमें भक्ति भरी पड़ी है। (ख) *'रामकृपा बिनु'*—करुणासागर श्रीरामकी अहैतुकी कृपासे ही जीवको कभी मनुष्य-शरीर मिल जाता है और मनुष्य-शरीर ही भवसागर-संतरणके लिये नौकास्वरूप है। ऐसा शरीर पाकर उनका अनुशासन मानना चाहिये। अनुशासन माननेवाला ही उनको प्रिय है, उसीपर उनकी कृपा होती है। यथा *'सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥'* वेदशास्त्र उनका अनुशासन है। अत: वेदशास्त्रानुगामीपर उनकी कृपा होती है। (ग) *'नहिं कोउ लहई'*—भाव कि अशास्त्रीय पुरुषार्थसे भक्तिचिन्तामणिकी प्राप्ति नहीं, चाहे पुरुषार्थ करनेवाला कैसा ही पराक्रमी क्यों न हो। यथा—*'जो जेहि कला कुसल ता कहँ सोइ सुखद सदा हितकारी। सफरी सनमुख जल प्रवाह सुरसरी बहै गज भारी॥ जिमि सर्करा मिलै सिकता महँ बल तें न कोउ बिलगावै। अति रसज्ञ सूच्छम पिपीलिका बिनु प्रयास ही पावै'* (विनय०)। शास्त्रीय पुरुषार्थसे भगवत्कृपा होती है, उससे भगवत्प्रभुताका ज्ञान होता है, इससे विश्वास, विश्वाससे प्रीति और प्रीतिसे दृढ़ भक्ति होती है। यथा—*'रामकृपा बिनु सुनु खगराई। जानि न जाइ राम प्रभुताई॥ जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥ प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।'*

रा० प०—*'प्रगट जग अहई।'* भाव कि सकल जगत्‌के पदार्थ ही भक्तिमणिरूप हैं, परंतु ऐसी समझ दुर्लभ है। जगत् रामका विहार है यह किसी-ही-किसीने लख पाया। रामकृपा बिना दिखायी नहीं पड़ता। *'रामकृपा बिनु सुलभ न सोई।'*

नोट—*'सुगम उपाय'*—भाव कि इसमें जप-तप-यज्ञ-उपवास आदि कठिन साधन कोई नहीं हैं। यथा— **'कहहु**

भगतिपथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा'''''' ॥' (४६। १) इत्यादि। ज्ञानके उपाय दुर्गम हैं।

नोट—*'भटभेरे'*—इसके तीन अर्थ हिन्दी-शब्दसागरमें हैं। १—दो वीरोंका सामना, भिड़न्त। २—धक्का, टक्कर, ठोकर, यथा—*'कबहुँक हौं संगति सुभाउ तें जाउँ सुमारग नेरो। तब करि क्रोध संग कुमनोरथ देत कठिन भटभेरो॥'* (वि० १४३) ३—आकस्मिक मिलन।—यहाँपर दूसरा अर्थ सङ्गत है। वीरकविजीका मत है कि यह मुठभेड़का विपर्यय है। मुठभेर सामनेको कहते हैं और भटभेर पीछेको वा धक्का देकर किसी वस्तुको पीछे हटानेका बोधक है।

खर्रा—*'देहि भटभेरे'*—धक्का देकर उस उपायको दूर कर देते हैं।

करु०—*'देहि भटभेरे।'* 'भाव कि जब किसी सुयोगसे सत्सङ्ग-भजनका मुहूर्त्त प्राप्त हुआ तब अभाग्यसे कोई विघ्न प्राप्त हो गया, यही भटभेरा है।'

पं०—भटभेरे देते हैं, अर्थात् भीतों-(दीवारों-) से माथा फोड़ते फिरते हैं। भाव कि सत्सङ्ग नहीं करते और तीर्थाटनादि कष्ट करते हैं।

रा० प्र०—'भेटभेरा'=आड़, रुकावट। कोई-कोई कहते हैं कि वस्तुकी प्राप्ति होनेपर उसको न पहिचानना 'भटभेरा' है, यथा—*'गली अँधेरी साँकरी भौ भटभेरो आनि'*

वि० त्रि०—*'देहि भटभेरे'* का भाव कि जो भवभञ्जन रामके चरणोंसे विमुख हैं, वे उनके अनुशासन वेदशास्त्रपर क्यों श्रद्धा करने लगे अतः वे मनगढ़ंत पथकी कल्पना करेंगे और अन्तमें सत्यमार्गसे परिभ्रष्ट होकर दुःख पावेंगे। ऐसे लोग अपनेहीको हानि नहीं पहुँचाते बल्कि दूसरोंको भी पथभ्रष्ट करते हैं। यथा—*'साखी शब्दी दोहरा कहि कहनी उपखान। भगति निरूपहिं कलि भगत निंदहिं बेद पुरान॥'*

पावन पर्बत बेद पुराना। रामकथा रुचिराकर नाना॥ १३॥
मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ज्ञान बिराग नयन उरगारी॥ १४॥
भाव सहित खोजै जो प्रानी। पाव भगति-मनि सब सुख-खानी॥ १५॥

अर्थ—वेद-पुराण पवित्र पर्वत हैं। नाना प्रकारकी रामकथाएँ उन-उन पर्वतोंकी सुन्दर खानें हैं॥ १३॥ सज्जन इन खानोंके भेदी हैं, सज्जनोंकी सुन्दर बुद्धि खोजनेवाली कुदाल है। हे गरुड़! ज्ञान और वैराग्य नेत्र हैं॥ १४॥ जो प्राणी भावसहित खोजे वह सब सुखोंकी खानि भक्तिरूपी मणि पावे॥ १५॥

नोट—१ भक्तिको मणि कहते आ रहे हैं। मणिकी प्राप्तिका उपाय मणिका साङ्गोपाङ्गरूपक बाँधकर कह रहे हैं। मणि पर्वतोंकी खानोंमें होती है। जो खानोंके भेदी हैं वे ही जानते हैं कि अमुक-अमुक स्थानोंपर खानि हैं। जाननेपर भी खोदनेके लिये कुदाल चाहिये जिससे पर्वत खोदकर खानोंमेंसे वे मणिको प्राप्त करें। खोदकर मणि भी मिली तब भी परखनेवाली आँखें चाहिये, नहीं तो उत्तम मणि हाथ न लगेगा। इसी प्रकार भक्ति वेद-पुराणोंकी रामकथारूपी खानोंमें गुप्त है। पहले तो यही जानना कठिन है कि ये कथाएँ कहाँ-कहाँ हैं, इसका मर्म सन्त जानते हैं, उनका सङ्ग करनेसे वे बतायेंगे। यह भी जान गये कि अमुक-अमुक स्थानोंपर रामकथा है फिर भी बिना सुमतिके उनतक पहुँचना कठिन है। सुन्दर-बुद्धिसे उन कथाओंको ढूँढ़कर ज्ञानवान् और वैराग्यवान् होकर भावपूर्वक उन कथाओंको परखकर उसमेंसे श्रीरामभक्ति-चिन्तामणि प्राप्त कर ले। तात्पर्य यह है कि भक्तिके लिये सन्तोंका सङ्ग बहुत जरूरी है, साथ ही इसके सुमति, ज्ञान और वैराग्ययुक्त भी होना चाहिये। इसीसे भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने शबरीजीसे भक्तिके साधनमें सत्सङ्गको ही प्रथम कहा, यथा—*'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा।'* उसके पश्चात् *'दूसरि रति मम कथा प्रसंगा॥'* वही क्रम यहाँ भुशुण्डिजीने भी दिया है।

२ (क)—*'पावन पर्बत।'* सब पर्वत पावन नहीं होते, वेद-पुराण पावन हैं; अतः इनको पावन पर्वतकी उपमा दी। पावन पर्वतोंके दर्शनादिसे पाप नष्ट होते हैं। गोस्वामीजीने मुख्य प्रधान सात पर्वत गिनाये हैं। यथा—*'उदय अस्त गिरि अरु कैलासू। मंदर मेरु सकल सुर बासू॥ सैल हिमाचल आदिक जेते।*

चित्रकूट जस गावहिं तेते॥ बिधि मुदित मन सुख न समाई। श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई॥' (२। १३८) वेद-पुराणोंमें अनेक प्रकारकी रामकथाओंकी खान हैं जिनके श्रवणकीर्तनसे पाप नष्ट होते हैं। अतः वेद-पुराणोंको पावन पर्वत कहा। कथाओंके भेदसे नाना प्रकारकी खानें मानी गयीं। यथा—*'कल्प कल्प प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं॥ तब तब कथा मुनीसन्ह गाई। परम पुनीत प्रबंध बनाई॥'* (ख) खानि कहनेका भाव कि जितनी मणियाँ संसारमें हैं वे सब खानसे ही निकली हैं और जो संसारमें आवेंगी वे खानसे ही आवेंगी। इसी भाँति जितनी रामकथाएँ प्रचलित हैं वे वेद-पुराणसे ही निकली हैं, और जो प्रचलित होंगी उनका भी उद्गमस्थान वेद-पुराण ही होगा। जिस भाँति पत्थरोंसे खान ढकी रहती है, उसी भाँति त्रिवर्गकी कथाओंसे रामकथा छिपी हुई है। (वि० त्रि०) रामकथाके सम्बन्धसे खानिको *'रुचिर'* कहा। (ग) *'सुमति'* का भाव कि कुतर्कबुद्धि न हो, नहीं तो रामकथारूपी सुन्दर खानोंकी प्राप्ति न होगी। यथा—*'हरिहरपदरति मति न कुतर्की। तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुबर की॥ रामभगति भूषित जिय जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी॥'* [सुमतिका भाव कि मन, चित्त और अहंकार एकत्र हों; यही सुमति है; (वै०)। *'कुदारी'* एकवचनके कहनेसे ही यह बात निकलती है कि मर्मीने ऐसा ठीक पता बतलाया कि अकेला आदमी कुदालसे खोदकर खानमेंसे मणि निकाल ले। सुमतिको कुदाल कहा क्योंकि सुमतिसे ही रामकथा ढूँढ़ निकाली जा सकती है, कुमति त्रिवर्गमें ही फँसकर रह जायगी, त्रिवर्गके पत्थरोंको हटाना उसके सामर्थ्यके बाहरकी बात है, उसे हित-अनहितकी पहिचान नहीं है। (वि० त्रि०)] (घ) *'ज्ञान-बिराग'*—नेत्र दो होते हैं अतः ज्ञान और वैराग्य दोकी उपमा दी। ये दोनों परस्पर एक-दूसरेके सहायक हैं, दोनोंका साथ है—*'ज्ञान कि होइ बिराग बिन।'* [कुदाल हुई, खान खोदी गयी, उससे मट्टीभरे मणि निकले। उनके पहिचाननेके लिये नेत्र चाहिये सो यहाँ ज्ञान और वैराग्य दोनों नेत्र हैं (वै०)। बिना ज्ञान-वैराग्यके वह कथा किसी साधारण राजकुमारकी इति-वृत्ति मालूम पड़ती है। (वि० त्रि०)]

बालकाण्डके प्रारम्भमें श्रीगुरुपदनखमणिगणज्योतिके स्मरणसे हृदयके विमल नेत्रों ज्ञान-वैराग्यका खुलना, दिव्यदृष्टि होना और उससे रामचरित मणिमाणिक्यका सूझना कहा है। मिलान कीजिये—*'श्रीगुरुपदनख-मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥ दलन मोह तम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवहिं जासू॥ उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥ सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥'* (१। १। ५—८)

उपर्युक्त उद्धरणमें गुरु, गुरुपदनखज्योति और दिव्य दृष्टिवाले निर्मल नेत्र कहे, वही यहाँ सज्जन, सुमति और ज्ञानवैराग्य हैं। वहाँ रामचरित मणिमाणिक्य वेदपुराणपर्वताकारमें हैं और यहाँ रामचरित ही वेदपुराणोंकी खानें हैं, वेदपुराण पर्वत हैं और भक्ति मणिमाणिक्य है। यह भेद है। (प्र० सं०) गुरुचरणोपासक अनुभवी लोग ही इसके मर्मी हैं, त्रिवर्गकी कथाएँ उनकी दृष्टिपर आवरण नहीं कर सकतीं, वे खानको दिव्यदृष्टिसे देखते हैं। वे कथाका स्थल भी बतला देते हैं और वह विधि भी बतला देते हैं जिससे कथातक पहुँच हो सके। (वि० त्रि०)

३ *'भाव सहित खोजै ......'* इति। भावसहित खोजनेको कहा क्योंकि भगवान् *'भाववस्य'* हैं, 'भाव गाहक' हैं; दोहा ९२ देखो। ऊपर कहा है कि *'रामकृपा बिनु नहिं कोउ लहहीं।'* जब भावसहित खोज होगी तब प्रभु कृपा कर देंगे और वह मिल जायगी। यही बात अन्तमें कविने कही है—*'रामचरनरति जो चहै ...... भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवनपुट पान।'* (१२८) (ख) *'जो प्रानी'* अर्थात् ऊँच-नीच इत्यादि कोई भी हो। इससे भक्तिका सबको अधिकार कहा। (ग) *'सब सुखखानि'*—*'सब सुखखानि भगति तैं माँगी।'* (८५। ३) देखो।

रा० प्र०—१ पहले वेदपुराणादिमें खोजना कहा। इनमें सगुण-निर्गुण भाँति-भाँतिकी लीलाएँ मिलेंगी। निगमागमकी वाणी गम्भीर होती है, अतः सुन्दर बुद्धिसे उनमेंसे अर्थ निकाले। अपनी बुद्धि-ज्ञान जहाँ न चले वहाँ मर्मी संतोंकी बुद्धिसे काम ले। इस प्रकार रामभक्ति प्राप्त होगी। २—*'भाव सहित खोजै ......।'* भावानुसार अनेक शास्त्र और रसादिक होते हैं।—[खर्रा—यहाँ खोजना=विचारना]

करु०—एक मर्मी तो ऐसे होते हैं कि स्वयं खोदकर मणिको निकाल लेते हैं, दूसरे वे हैं जो खानि बताकर मजदूरसे खोदवाते हैं। वैसे ही जो स्वयं प्रवीण शास्त्रवेत्ता संत हैं वे आप ही वेद-पुराणका विषय जानते हैं। जहाँ भक्तिमणि है वहाँसे सुमतिद्वारा बाँचकर (पढ़-समझकर) उसे निकाल लेते हैं। और, जो संत प्रवीण हैं पर शास्त्रादि नहीं पढ़े हैं वे किसी पण्डितसे वेद-पुराणमें खानि बताकर अर्थात् पढ़वाकर भक्तिमणि निकाल लेते हैं। और जो ज्ञान-वैराग्यनेत्र-हीन हैं, अर्थात् जहाँ श्रोता-वक्ता दोनों अंधे हैं, वहाँ कंकड़-पत्थर ही हाथ लगता है।

वि० त्रि०—'*भाव सहित......*' इति। खोजनेवालेको मणिका संस्कार होना चाहिये, उसे इस बातका परिज्ञान होना चाहिये कि मणि कैसी होती है। इसी तरह भक्ति चिन्तामणिके खोजनेवालेको यह संस्कार होना चाहिये कि भक्ति कैसी होती है। वेद-पुराणोंमें मर्मीके बतलानेके अनुसार रामकथाकी प्राप्ति होनेपर उसमें भक्तिको ढूँढ़े तो उसे अवश्य भक्ति-चिन्तामणिकी प्राप्ति होगी। यथा—'*रामचरनरति जो चहै......*'

प० प० प्र०—'*पाव भगति मनि*' इति। इस प्रसङ्गमें अभीतक 'मणि' शब्दका प्रयोग प्रत्यक्ष आठ बार किया गया। '*बसइ भगति जाके उर माहीं।*' (१२०। ६) में उसका अध्याहार है। इस प्रकार नौ बार मणि (भक्ति-चिन्तामणि) शब्दका प्रयोग करके यह सूचित किया कि यह मणि '९' अंकके समान अविकारी है, सबसे श्रेष्ठ है। इससे नवधा भक्ति (जो शबरीजीसे कही है) उसकी तरफ अङ्गुलि-निर्देश करनेका हेतु है।

सत्सङ्गकी महिमा

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥ १६॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदनतरु हरि संत समीरा॥ १७॥

अर्थ—हे प्रभो! मेरे मनमें ऐसा विश्वास है कि श्रीरामजीके दास श्रीरामजीसे भी बढ़कर हैं॥ १६॥ (क्या विशेषता है सो बताते हैं) रामचन्द्रजी समुद्र हैं तो धीरबुद्धि सज्जन मेघ हैं। भगवान् रामचन्द्रजी चन्दनके वृक्ष हैं सो संत पवन हैं॥ १७॥

नोट—१ ☞ इसी प्रकार बालकाण्डमें मानसमुखबंद ३६ (३-४) में वेद-पुराणको समुद्र और संतोंको मेघ कहा है। यथा—'*सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥ बरषहिं राम सुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥*' इत्यादि। जो भाव वहाँ कहे गये हैं उनमेंसे बहुत-से यहाँ भी प्रसङ्गानुकूल हैं।

वि० त्रि०—(क) '*मोरे मन*' इति। भाव कि श्रुतिसम्मत सर्वमान्यसिद्धान्त तो यही है कि श्रीराम-समान कोई नहीं है, बड़ा कहाँसे होगा। पर शास्त्र-संस्कृतहृदय साधुका अनुभव ही प्रमाण है। यथा—'*उमा कहउँ मैं अनुभव अपना*', '*मोरे मत बड़ नाम दुहू ते।*' इसी तरह भुशुण्डिजी भी अपने मनका विश्वास कहते हैं। (ख) '*प्रभु*' का भाव कि आप श्रीरामजीके दास हैं, मैं आपको उनसे अधिक समझता हूँ। अतः श्रोता होनेपर भी आप हमारे प्रभु हैं। (ग) '*अस बिस्वासा*'—भाव कि महात्माओंका विश्वास अक्षयवटकी तरह अटल होता है, वह सदा अविकृत रहता है। महात्मा भुशुण्डिजी अपना वह विश्वास कहते हैं। (घ) '*राम कर दासा*'—दास और सेवकमें कुछ भेद है। सेवा करनेवाला सेवक है, सेवा-धर्म बड़ा कठिन है। इसमें स्वामीके मनमें अपना मन मिला देना होता है। अपने धर्मके सामने चारों फलका परित्याग करना पड़ता है, अपने हितके लिये स्वामीके मनमें क्षोभ आ जानेसे सेवा-धर्म बिगड़ता है, स्वामीके कार्यके लिये प्राण उत्सर्जन कर देनेमें सेवकका भाग्य है, फिर भी यदि वह चाहे तो सेवा छोड़ सकता है। पर दास ऐसा नहीं कर सकता, वह अपनेको स्वामीके हाथ बेच देता है, स्वामीका उसपर कृपा, कोप, वध और बंधका अधिकार होता है, उसे स्वामीकी ही गति है, दूसरेकी आशा भी नहीं है—'*जेहि गति मोरि न दूसरि आसा।*' इसी भावसे यहाँ '*दास*' कहा।

नोट—२ '*राम ते अधिक*' यह कहकर दो दृष्टान्त देकर आधिक्य दिखाते हैं। (क) '*राम सिंधु घन सज्जन धीरा।*' समुद्र अगाध है, एक जगह स्थित है और सबको प्राप्त नहीं है। प्राप्त भी हो तो उसका

खारा जल पान करने योग्य नहीं। मेघ सिन्धुमेंसे मीठा-मीठा जल निकाल लेते हैं (खारा वहीं पड़ा रहता है) और सर्वत्र उसकी वर्षा करते फिरते हैं। इसी प्रकार सज्जन रामसुयश श्रेष्ठ मधुर मङ्गलकारी जलको प्राप्त करके उसे सर्वत्र बरसाकर सुलभ कर देते हैं, जो चाहे प्राप्त कर ले।—यहाँ साधारणतया इतनेहीमें उपमा है। भाव कि सिन्धु सबको प्राप्त होना कठिन है, मेघ उसे सर्वत्र पहुँचा देते हैं, वैसे ही श्रीरामजीकी प्राप्ति कठिन है, पर सज्जनद्वारा वे सबको सुलभ हो जाते हैं।

सिंधुमें खार और मीठा जल क्या है? निर्गुण और सगुण ये दोनों स्वरूप रामजीके हैं, यथा—*'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूप सिरोमने', 'राम सरूप सिंधु समुहानी।'* सगुणयश मीठा जल है अर्थात् राम-भक्ति और राम-सुयश उसमें गङ्गा-सरयू आदिका मीठा जल है। यथा—*'रामभगति सुरसरितहि जाई। मिली सुकीरति सरजु सुहाई॥'*......*'राम सरूप सिंधु समुहानी।'* तथा—*'बरषहिं राम सुजस बर बारी', 'लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करै मल हानी॥'* (इ०) निर्गुन खारा जल है। वह भक्तको नहीं भाता, यथा—*'निर्गुन मत मम हृदय न आवा॥'*......*'भरि लोचन बिलोकि अवधेसा। तब सुनिहउँ निर्गुन उपदेसा॥'* इत्यादि, *'निर्गुन मत नहिं मोहि सुहाई।'*

वि० त्रि०—जगत्‌में जो कुछ सरसता है, नदी, तालाब, कूपादि जितने जलाशय हैं, उनके साक्षात् या परम्परासे बादल ही कारण हैं। ऐसा करनेमें मेघोंका कोई स्वार्थ नहीं है, पर जगत्‌का कल्याण मेघोंसे ही होता है। इस भाँति परहितचिन्तक विद्वान् सज्जनोंमें ही यह सामर्थ्य है कि उस गुणसिन्धुके दुराधर्ष गुणोंसे लोकोपयोगी अंशको पृथक् करके जगत्‌को प्रेमानन्दसे आप्लावित कर दें। जगत्‌में जो कुछ गुण या आनन्दका लेश है वह इन्हीं महात्माओंके साक्षात् या परम्पराकृत कृपाका फल है। ऐसा करनेमें इनका कोई स्वार्थ नहीं है, वे पूर्णकाम हैं, पर जड़ जीवोंका कल्याण इन्हींसे होता है। यथा—*'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'*

नोट—३ *'चंदनतरु हरि संत समीरा।'* मलयगिरिपर एक चन्दनका प्रधान वृक्ष है। विषैले सर्प उसकी जड़ोंसे लिपटे रहते हैं। वहाँ पहुँचना मनुष्यकी गतिके बाहर है। पवनद्वारा उसकी सुगन्ध जहाँतक पहुँचती है वहाँतकके कड़वे-से-कड़वे वृक्ष भी चन्दनके समान सुगन्धयुक्त हो जाते हैं। वे भी चन्दन ही माने जाते हैं—**'कंकोलनिंबकुटजा अपि चन्दनाः स्युः'** इति भर्तृहरेः। वैसे ही श्रीरामजी चन्दन हैं। उनकी सुगन्ध सन्तोंके द्वारा सर्वत्र फैलती है। दृष्टान्त इतनेमें ही हैं। [पुनः, वे सबको चन्दनवत् माननीय कर देते हैं। नींबादिका आकार वही रहता है। पर लकड़ीमें जैसे चन्दनकी सुगन्ध आ जाती है वैसे ही प्राणियोंमें श्रीरामभक्तिरूपी सुगन्ध आ जाती है।]

वि० त्रि०—*'चंदनतरु.......'* इति। सन्त हरिसुयशकी वर्षा करके जगत्‌को हरा-भरा कर देते हैं। प्रेमका बिरवा इन्हींकी कृपासे वर्धित होकर वृक्षरूपमें परिणत होता है, गुणग्रामके स्मरणसे अनुराग बढ़ता है, यथा—*'सुमिरि सुमिरि गुनग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ।'* पर मेघ अपना गुण अथवा समुद्रका गुण किसीको दे नहीं सकते और संत ऐसा करते हैं। अतः मेघके दृष्टान्तसे पूरा काम नहीं चला, इसलिये दूसरा दृष्टान्त देना पड़ा। पवनकी गति सर्वत्र है। यह सामर्थ्य गन्धवाहकमें ही है कि चन्दनके गन्धको लेकर अन्य वृक्षोंके सारमें बसा दे। इसी भाँति यह शक्ति संतमें ही है कि हरिका भाव लेकर मनुष्योंके अन्तःकरणको सदाके लिये भगवद्भावसे भावित कर दें, अर्थात् फलरूपा भक्ति प्रदान कर सकें। यदि पापियोंके हृदयमें संतवाणी काम नहीं करती तो इसमें संतका कोई दोष नहीं, चन्दनकी वायु भी बाँसको सुगन्धित करनेमें असमर्थ है। ☞यहाँ संत और हरिकी उपमा जड़ पदार्थोंसे देकर जनाया कि ये जड़की भाँति परोपकारका कार्य स्वार्थहीन तथा दुःख-सुखसे रहित होकर करते हैं।

पं०—चन्दनके समीप रहकर भी बिना पवन लगे वृक्ष चन्दन नहीं होते; ऐसे ही अवतारोंके दर्शन होते हुए भी बिना सत्सङ्गके उनके स्वरूपका ज्ञान नहीं होता।

वै०—भाव कि पूर्व कहा कि बिना रघुनाथजीकी कृपाके भक्ति नहीं मिल सकती, उनकी कृपासे

मिलती है और अब बताते हैं कि राम-भक्तोंकी कृपासे वही भक्ति बहुत सहजमें मिल सकती है। श्रीरघुनाथजीका मिलना दुर्घट है और संत सर्वत्र सुलभ हैं और थोड़ी ही सेवासे कृपा करते हैं।—[*'बिनु सत्संग न पावहिं प्रानी'* ४५ (५) देखो]

करु०—पूर्व जिसको सामान्य कहा उसीको अब विशेष कहते हैं। वह व्यञ्जना है। मेघोंहीसे जगत्का प्रतिपालन होता है पर मेघ समुद्रहीसे जल लेते हैं वैसे ही साधु श्रीरामचन्द्रके गुण-स्वभाव लेकर सब जीवोंको उपदेश कर कल्याण करते हैं, जैसे समीर चन्दनकी सुगन्ध लेकर अनेक तरुको चन्दन कर देता है वैसे ही संत अनेक जीवोंको हरिकी सारूप्यमुक्ति प्राप्त करा देते हैं।

नं० प०—श्रीरामजी समुद्र हैं अर्थात् जलसे पूर्ण हैं, पर समुद्र स्वयं उस जलसे किसीका उपकार नहीं करते और उसी समुद्रसे लेकर मेघ सब जीवोंका हित करते हैं। वैसे श्रीरामजी रामनामके ऐश्वर्यसे पूर्ण हैं परंतु श्रीरामनामके ऐश्वर्यको संत प्रचार करके संसारका हित करते हैं। चन्दनका वृक्ष सुगन्धसे पूर्ण है पर वह किसी वृक्षको अपने सदृश नहीं करता, पवन ही उस चन्दनकी सुगन्ध लेकर अन्य वृक्षोंको चन्दन कर देता है। इसी तरह भगवान् भक्तिसे पूर्ण हैं, संत पवनरूप हैं। ये भगवान्की भक्ति दूसरे मनुष्योंमें प्रवेश कराके उस मनुष्यको भगवान्के सदृश कर देते हैं यथा—*'बालमीक भे ब्रह्म समाना।'*

सब कर फल हरिभगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई॥ १८॥
अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। रामभगति तेहिं सुलभ बिहंगा॥ १९॥

अर्थ—सब-(साधनों-) का फल सुन्दर रामभक्ति है। सो बिना संतके उसे किसीने नहीं पाया॥ १८॥ ऐसा विचारकर जो कोई भी सत्सङ्ग करे, हे गरुड़! उसे रामभक्ति सुलभ है॥ १९॥

नोट—१ *'सब कर फल......।'* यहाँ अर्थमें 'साधन' शब्दका अध्याहार कर लेना होगा। पूर्व सबको गिना आये हैं, यथा—*'जप तप मख सम दम ब्रत दाना। बिरति बिबेक जोग बिग्याना॥ सब कर फल रघुपति पद प्रेमा।'* ९५ (५-६) तथा, *'जप तप नियम जोग निज धर्मा।......सब साधन कर यह फल सुंदर॥'* ४९ (१—४) देखिये। पुनश्च यथा—*'तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ग्यान निपुनाई॥ नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संयम दम जप तप मख नाना॥ भूत दया द्विज गुर सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥ जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥'* (१२६। ४—७) अतः यहाँ *'सब'* से वे सब जना दिये। हरिभक्तिको फल कहकर साधनोंको वृक्ष जनाया। वृक्षमें फल लगते हैं। [भाव कि कर्म-ज्ञानादि अङ्कुर बढ़े, पर फल हरिभक्ति ही है। *'सुहाई'* क्योंकि प्रभुकी प्रिया है और सुखद है। (रा० प्र०)] सुहाई अर्थात् निष्काम। कामनाका रहना भक्तिकी शोभा नहीं है। देखिये श्रीनृसिंहभगवान्के कहनेपर कि वर माँगो श्रीप्रह्लादजीने क्या कहा है—**'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्॥'**(भा० ७। १०। ४) **'आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।......यदि रासीश मे कामान्वरांस्त्वं वरदर्षभ। कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्॥'**(७) अर्थात् जो सेवक आपसे कामनापूर्तिकी इच्छा रखता है, वह तो सेवक नहीं कोरा व्यापारी है। स्वामीसे कामनापूर्तिकी इच्छा रखनेवाला सेवक सेवक नहीं है। यदि आप मुझे इच्छित वर देना ही चाहते हैं तो मैं आपसे यही वर माँगता हूँ कि मेरे हृदयमें किसी प्रकारकी कामनाओंका अङ्कुर उत्पन्न न हो।

२—पूर्व कहा कि *'रामकृपा बिनु नहिं कोउ लहई'* और यहाँ कहते हैं कि *'सो बिनु संत न काहू पाई।'* इनमें विरोध नहीं है। रामकृपा जब होती है तब संत मिलते हैं, यह उनकी कृपाका चिह्न है, और संतके मिलनेपर उनसे भक्तिकी प्राप्ति होती है। यथा—*'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही॥'* (६९। ७) *'जब द्रवइ दीनदयालु राघव साधु संगति पाइए॥'* (वि० १३६) *'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता॥'* (५। ७। ४) [सुमति संतके हिस्सेकी वस्तु है। सुमतिमें रमण करनेवाले संत ही होते हैं, इसीलिये *'सुमति'* को संत-तिय कहा है, यथा—*'संत सुमति तिय सुभग सिंगारू।'* और सुमतिके बिना भक्तिकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये संत ही भक्ति प्राप्त कर सकते हैं। (वि० त्रि०)]

३—*'अस बिचारि'*—जैसा कि ऊपर *'राम तें अधिक राम कर दासा'* से *'सो बिनु संत न काहू पाई'* तक ५ चरणोंमें कहा है। बिना संतके भक्ति मिल नहीं सकती अतः सत्सङ्ग करना निश्चय किया। ४५ (५) देखिये।

वि० त्रि०—*'बिहंगा'* इति। यहाँ भुशुण्डिजी अपने सब श्रोताओंका ध्यान आकर्षित करते हैं, इसलिये सम्बोधनमें एकवचन *'बिहंगू'* का प्रयोग न करके बहुवचन *'बिहंगा'* शब्दका प्रयोग करते हैं। क्योंकि विहङ्गयोनिमें कोई साधन नहीं हो सकता, पर सत्सङ्ग तो पक्षी भी कर सकते हैं। यथा—*'आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा॥'* (५७। ७) *'साधु असाधु सदन सुक सारी। सुमिरहिं राम देहिं गनि गारी॥'* अथवा यह विहंगमार्गी ज्ञानियोंका सम्बोधन है, यथा—*'सुनहिं सकल मति बिमल मराला। बसहिं निरंतर जे तेहि ताला॥'*

'राम भगति तेहि सुलभ'—भाव कि रामभक्ति अति दुर्लभ है। यथा—*'नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी॥'* (५४। १) से *'तब ते सो दुर्लभ सुर राया। रामभगतिरत गत मद माया॥'* तक। सत्सङ्गसे ऐसी दुर्लभ वस्तु भी सुलभ हो जाती है।

दो०—ब्रह्म पयोनिधि मंदर ग्यान संत सुर आहिं।
कथा सुधा मथि काढ़हिं* भगति मधुरता जाहिं॥
बिरति चर्म असि ग्यान मद लोभ मोह रिपु मारि।
जय पाइअ सो हरिभगति देखु खगेस बिचारि॥ १२०॥

अर्थ—'ब्रह्म' क्षीरसागर, ज्ञान मन्दराचल और संत देवता हैं, जो उस समुद्रको मथकर कथारूपी अमृत निकाल लेते हैं जिसमें भक्ति ही मिठास है। जो वैराग्यरूपी ढाल (से अपनी रक्षा करते हुए) और ज्ञानरूपी तलवारसे मद-लोभ-मोहरूपी शत्रुओंको मारकर जय प्राप्त करती है, वह हरिभक्ति ही है।† हे खगेश! विचारकर देखिये॥ १२०॥

नोट—१ ब्रह्मके अनेक अर्थोंमेंसे यहाँ 'वेद' अर्थ अधिक सङ्गत है। यथा—*'बेद पुरान उदधि घन साधू।'* ऊपर *'रामसिंधु घन सज्जन धीरा'* में श्रीरामको सिंधुसे रूपक दिया है, अतः ब्रह्मसे 'राम' स्वरूपका भी अर्थ लोग करते हैं। २—क्षीरसमुद्रको देवताओंने अमृतके लिये मथा था जिसे पीकर वे अमर और बलवान् होकर राक्षस और दैत्य दनुजादि शत्रुओंसे जीते। वैसे ही वेदसमुद्रको संतलोग अपने ज्ञानद्वारा मथकर उनमेंसे मधुर भक्तिमय रामकथारूपी अमृत निकालकर मदमोह-लोभादि शत्रुओंपर जय प्राप्त करते हैं। २ *'बिरति चर्म……'* धर्मरथमें भी विरतिको चर्म कहा है—लं० ७९ (७) में देखो।

वै०—१ भाव यह कि सज्जन अपने बलसे कामादिकोंसे नहीं जीत सकते हैं। इसीसे कथा-अमृतहेतु कामादि शत्रुओंको मिलाये रहते हैं। कथा श्रवण करनेमें जब रामयशरूप अमृत प्राप्त हुआ तब उसे रामकृपासे पानकर प्रेमानन्द स्वाद पाकर भक्तजन बलिष्ठ हुए तब वैराग्य-ढाल और ज्ञान-खड्गसे मदादि शत्रुओंको मारकर स्वाभाविक ही जय पाकर अकण्टक होते हैं। तात्पर्य कि हरियश-श्रवण-कीर्तन भक्ति बल पाकर संत मोहादि शत्रुओंको सहज ही जीत लेते हैं।

२—अगाध और अपारतादि धर्म लेकर ब्रह्मको पयोनिधि कहा, गुरुता धर्म लेकर ज्ञानको मन्दरपर्वत कहा कि जो तलतक पहुँच जाय, अपारसे मथ काढ़ना धर्म लिया। पयोनिधि वासुकीरूपी रज्जुद्वारा मथा गया था, यहाँ विशेषता यह है कि बिना रज्जुके ही मथकर काढ़ लिया। संतको सुर कहा। *'सुर'* शब्दसे ही आर्थिक उनके विरोधी असुर भी आ गये।—[रा० शं०—यहाँ विशेषता यह है कि केवल देवता ही मथनेवाले हैं] *'काढ़हिं'* पाठका *'संत'* के साथ अन्वय होगा।

---

* काढिए—(का०)। काढइ-(गौड़जी)।

† १ पं०—'हरिभक्तिरूपी विजयकी बधाई पायी', इस बातको विचारकर देख कि भगवद्भक्ति सबोंका सार है। २ वीर—यह परंपरितरूपक है। अभेदत्वसे पूर्ण है।

'बिरति चर्म……' इति। मद बुद्धि आदिको मतवाला करता है, लोभ आशाडोरसे बन्दरकी तरह नचाता है। मोह मायिकदलका नायक है—इन रिपुओंको जिस सहायसे मारकर जय पाइये वही हरिभक्ति है।

वि० त्रि०—(क) जिस तरह समुद्रका मंथन मन्दराचलसे ही सम्भव था, उसी भाँति वेद-समुद्रका मन्थन ज्ञानसे ही हो सकता है। जिन्होंने अपनी असंस्कृत बुद्धिसे ही मन्थ किया, उन्हें तो वेद गँवारोंका गीत ही मालूम होगा। वेदसमुद्रके मन्थनमें केवल देवस्थानीय संत ही समर्थ हैं, असुरस्थानीय खलोंका इसमें उपयोग नहीं होता, क्योंकि ज्ञान-मन्दरको घुमानेकी शक्ति केवल संतोंमें है, खल तो उसे स्पर्श भी नहीं कर सकते। (ख) *'कथा सुधा'* इति। भाव कि रामकथा वेदोंका सार है। जैसे ब्रह्मका रामरूपमें अवतार हुआ, वैसे ही ब्रह्मयश वेदका रामायणरूपमें अवतार हुआ, यथा—*'जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥'* (ग) *'भगति मधुरता'*—रामकथामें रामस्वभाव वर्णित होता है और रामस्वभावके परिज्ञानमें ही मिठास है, उसी मिठासका नाम भक्ति है। यथा—*'उमा राम सुभाव जेहि जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥', 'राम चरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥'*

नोट—*'देखु बिचारि'*—भाव कि देखिये भक्तिका कैसा बड़ा प्रभाव और बल है, यह कैसी अलभ्य वस्तु है। ११४ (१६) में जो कहा था कि *'रामभगति महिमा अति भारी'* वही बात यहाँ भी दृढ़ कर रहे हैं। वहाँपर कहा था कि *'मुनि दुर्लभ बर पाएउँ देखहु भजन प्रताप।'* (११४) वैसे ही यहाँ प्रभुता दिखाते हैं।—*'देखु……।' 'देखु बिचारि'* का भाव कि बिना विचारे न देख पड़ेगा, यह बड़ी सूक्ष्म बात है। ज्ञान-दीपक और भक्ति-चिन्तामणिका मिलान—

ज्ञानदीपक	भक्तिचिन्तामणि
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा	१ *परम प्रकासरूप दिन राती*
यहाँ विज्ञान दीपक, ज्ञान घृत, तुरीया तूलकी बत्तीकी जरूरत	२ *नहिं कछु चहिअ दिया घृत बाती*
प्रबल अविद्या कर परिवारा (मिटै)	३ *प्रबल अविद्यातम मिटि जाई (कारण)*
मोह आदि तम मिटइ अपारा	४ *'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा', 'खल कामादि निकट नहिं जाहीं'*
जातहि जासु समीप जरहिं मदादिक सलभ	५ *हारहिं सकल सलभ समुदाई*
रिद्धि सिद्धि प्रेरै बहु भाई। बुद्धिहि लोभ देखावहिं आई॥	६ *लोभ बात नहिं*
कल बल छल करि जाइ समीपा। अंचलबात बुझावहिं दीपा॥	*ताहि बुझावा*

वि० त्रि०—*'बिरति चर्म असि ज्ञान……'* इति। (क) शत्रुवधकी सिद्धिके लिये दो बातोंकी आवश्यकता पड़ती है, पहले अपनी रक्षाकी और दूसरे शत्रुपर प्रहार करनेकी। जबतक शत्रुके प्रहारको रोकनेका साधन अपने पास न हो, युद्धकी चर्चा चलाना ही व्यर्थ है। और वधका असाधारण कारण शस्त्र है। संक्षेपमें ढाल-तलवारसे दोनों काम निकलते हैं। यहाँ वैराग्य ढाल है, ज्ञान तलवार है। विषयमें रति होनेसे ही कामक्रोधादिका बल चलता है और वे कल्याणका नाश करनेमें समर्थ होते हैं। यदि विषयमें रति न हो तो कामादिका कुछ बल नहीं चल सकता। अतः वैराग्यको ढाल कहा। सबमें ब्रह्मको समान देखनेसे शत्रु-मित्र-बुद्धि ही नहीं रह जाती, अतः साध्याभावसे साधनरूप कामादि मर जाते हैं। इसलिये ज्ञानको तलवार कहा। (ख) *'मद लोभ मोह रिपु'* रिपु कहनेसे काम, क्रोध और मात्सर्यको भी ग्रहण किया। अकारण अपकार करनेसे, कल्याण-मार्गमें बाधक होनेसे ये सब शत्रु माने गये हैं। यथा—*'मोह न अंध कीन्ह केहि केही।'* (७०। ८) से *'मच्छर काहि कलंक न लावा॥'* (७१। ३) तक (ग) *'मारि'*—बिना इनको मारे कल्याणपथमें सिद्धि नहीं मिल सकती; अतः इनके वधके अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं। कथामृतका पान करनेसे ऐसा बल (परम वैराग्य) बढ़ता है कि मनुष्य अकेले ही सब शत्रुओंका वध करनेमें समर्थ होता है।

वि० त्रि०—*'जय पाइअ……'* इति। (क) शरीर दो राजाओंका देश है, अपने अधिकारके लिये दोनोंमें नित्य लड़ाई रहती है। एक ओर मोह राजा है, कामादि जिसके सहायक हैं। दूसरी ओर विवेक राजा है, वैराग्यादि इसके सहायक हैं। यह लड़ाई अनादि कालसे चली आती है। कभी एक बीस पड़ता है

तो कभी दूसरा। इसी द्वन्द्वमें पड़कर यहाँकी प्रजा ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राणादि अति पीड़ित हो रहे हैं। जब कथामृतपानसे विवेकादिका बल बढ़ता है, तब मोहादि मार डाले जाते हैं। विवेक राजाकी जीत होती है, अकण्टक राज्य स्थापित होता है और फिर राजा साहब रामचरणाश्रित होकर आनन्दसे राज्य करते हैं। यथा—*'जीति मोह महिपालदल सहित बिबेक भुआल। करत अकंटक राज्य पुर सुख संपदा सुकाल॥……'* (ख) *'सो हरि भगति'*—भाव कि कामादिके मारे जानेपर जो जीत मिली, जिस उत्कर्षकी प्राप्ति हुई, वही 'भक्ति' है। इतनी बड़ी लड़ाईके बाद फल यह हुआ कि संसारकी ओरसे मन हटकर श्रीराममें लगा, विवेकका साम्राज्य स्थिर हो गया, वैराग्य मन्त्री हुआ, स्नेह वन साम्राज्य हुआ, यम-नियम भट हुए, चित्त राजधानी हुआ। शान्ति सुमति रानियाँ हुईं। यथा—*'सचिव बिराग बिबेक नरेसू। बिपिन सोहावन पावन देसू॥ भट जम नियम सैल रजधानी। सांति सुमति सुचि सुंदरि रानी॥ सकल अंग संपन्न सुराऊ। रामचरन आश्रित चित चाऊ॥'* अब सांसारिक राज्य आदिसे सम्बन्ध नहीं रह गया। (ग) *'खगेस'* का भाव कि आपकी अव्याहत गति है, सभी साम्राज्य आपके देखे हुए हैं, पर कोई भी इस भक्ति-साम्राज्यके अंशकी भी तुलना नहीं कर सकता। (घ) *'देखु बिचारि'*—भाव कि मेरे कहनेपर ही न रह जाइये। बिना संसारसे मन हटे और रामपदमें लगे सुख नहीं, और यही भक्ति है।

नोट—मिलान कीजिये—**'रहूगण त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य संन्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः। असज्जितात्मा हरिसेवया शितं ज्ञानासिमादाय तरातिपारम्॥'**(भा० ५। १३। २०) श्रीजड़भरतजी रहूगण महाराजसे कह रहे हैं कि तुम भी इस संसार-वनमें भटक रहे हो, अब प्रजाको दण्ड देनेका कार्य अर्थात् राज्य आदिको छोड़कर समस्त प्राणियोंके सुहृद् हो जाओ, सब प्रकारका सङ्ग (आसक्ति) छोड़कर भगवत्-सेवासे तीक्ष्ण किया हुआ ज्ञानरूप खड्ग लेकर इस मार्गको पार कर लो।

☞*'ज्ञानहि भक्तिहि अन्तर केता'* का उत्तर यहाँ समाप्त हुआ।

पंचम प्रसङ्ग—'सप्त प्रश्न और उनके उत्तर'

पुनि सप्रेम बोलेउ खगराऊ। जौं कृपाल मोहि ऊपर भाऊ॥ १॥
नाथ मोहि निज सेवक जानी। सप्त प्रस्न मम कहहु बखानी॥ २॥
प्रथमहि कहहु नाथ मतिधीरा। सब ते दुर्लभ कवन सरीरा॥ ३॥
बड़ दुख कवन कवन सुख भारी। सोउ संछेपहि कहहु बिचारी॥ ४॥

अर्थ—(पाँचवें प्रश्नका उत्तर समाप्त होनेपर) पक्षिराज गरुड़जी फिर प्रेमपूर्वक बोले—हे कृपालु! यदि मुझपर आपका प्रेम है॥ १॥ तो, हे नाथ! मुझे अपना खास सेवक जानकर मेरे सात प्रश्नोंका उत्तर बखानकर कहिये॥ २॥ हे नाथ! हे धीरबुद्धि! पहले तो यह कहिये कि सबसे दुर्लभ (कठिनतासे प्राप्त होनेवाला) शरीर कौन-सा है?॥ ३॥ और यह भी विचारकर संक्षेपसे ही कहिये कि सबसे बड़ा दुःख कौन है और कौन सुख सबसे भारी बड़ा है॥ ४॥

नोट—१ (क) ज्ञान-भक्ति-भेद-प्रकरणका उपक्रम *'एक बात प्रभु पूछौं तोही।'* (११५। ८) है और उपसंहार *'देखु खगेस बिचारि।'* (१२०)*'पुनि सप्रेम बोलेउ'* है। उत्तरका उपक्रम *'भगतिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा।'* (११५। १३) है और उपसंहार *'जय पाइअ सो हरि भगति……'* है। (ख) *'पुनि', 'जौं कृपाल', 'निज सेवक जानी'* और *'मतिधीर'* के भाव पूर्व आ चुके हैं। इसी तरह पार्वतीजीने प्रश्न किया है। यथा—*'जौं मो पर प्रसन्न सुखरासी। जानिय सत्य मोहि निज दासी॥ तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना।'* (१। १०८। १-२) *'जौं कृपाल'* और *'निज सेवक जानी'* में *'जानिय सत्य मोहि निज दासी'* का भाव भी आ जाता है।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीका मत है कि यहाँ गिरिजाजीके अन्तिम प्रश्न, *'जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई। सोउ दयाल राखहु जनि गोई॥'* के उत्तरका सूत्रपात करते हैं। पर औरोंका ऐसा मत **नहीं है**।

वि० त्रि०—१ (क) *'खगराऊ'* का भाव कि भुशुण्डिजीने खगेशको विचारपूर्वक देखनेको कहा था। यथा—*'जय पाइअ सो हरि भगति देखु खगेस बिचारि।'* गरुड़के विचार करनेपर सात शङ्काएँ और खड़ी हो गयीं। ये खगराऊ हैं, युद्ध तथा जयकी क्रियासे भलीभाँति परिचित हैं, युद्धमें सिद्धि निश्चित नहीं रहती, तनिक-सा छिद्र होनेसे महान् अनर्थ हो जाता है, अतः अत्युत्तम साधन अभ्रान्त जानकारीके लिये प्रश्न करते हैं। (ख) *'सप्रेम बोलेउ'*—पहले मृदु वाणी बोले थे; यथा—*'बोलेउ गरुड़ हरषि मृदु बानी।'* अब सप्रेम बोले। इससे जनाया कि भुशुण्डिजीके अमृतमय उपदेशसे प्रेम बढ़ता ही जाता है। (ग) *'कृपाल'*—भाव कि गुरुकृपा बिना कुछ नहीं हो सकता, सो कृपाल गुरु भाग्यसे मिल गये हैं। अतः प्रश्न करते समय *'कृपाल'* शब्दद्वारा ही सम्बोधन करते हैं। (घ) *'भाऊ'* से यहाँ कृपा-भाव अभिप्रेत है।

२ *'नाथ मोहि निज सेवक……'* इति। (क) देखिये भुशुण्डिजी और गरुड़जी परस्पर एक-दूसरेको *'नाथ'* सम्बोधन कर रहे हैं। यथा—*'नाथ मुनीस कहहिं कछु अंतर।'*, तथा यहाँ *'नाथ……।'* इससे सूचित हुआ कि दोनोंको परस्पर विनयसे वर्णनातीत सुखका अनुभव होता है। यथा—*'मुनि रघुबीर परस्पर नवहीं। बचन अगोचर सुख अनुभवहीं॥'* (भरद्वाज-प्रभु-मिलन)

नोट—*'सप्त प्रस्न मम……'* इति। कुछ तिलककारोंने यहाँ ८ प्रश्न गिनकर *'अष्ट प्रश्न'* पाठ रखा है। पर प्राचीन पोथियोंमें *'सप्त'* ही पाठ मिलता है। वस्तुतः प्रश्नकी रीतिसे सात ही प्रश्न होते हैं। १ *'सब ते दुर्लभ कवन सरीरा'*, २ *'बड़ दुख कवन'*, ३ *'कवन सुख भारी'*, ४ *'संत-असंत-मर्म तुम्ह जानहु। तिन्ह कर सहज स्वभाव बखानहु॥'*-यहाँ *'मर्म'* शब्द इसको एक ही प्रश्न कायम करता है, इसका उत्तर भी मिलानके ढंगपर एक साथ है। ५ *'कवन पुन्य बिशाल (है सो) कहहु'*, ६ *'कहहु कवन अघ परमकराल है'*, ७ *'मानसरोग कहहु।'* रा० प्र०—कार लिखते हैं कि 'कोई-कोई संत-असंत-स्वभावको एक प्रश्न मानते हैं जिसमें सातकी गिनती ठीक हो जाय। पर सप्त प्रश्नमें मानसरोगवाला प्रश्न न गिनना चाहिये वह सप्तसे पृथक् है, यथा—*'मानसरोग कहहु समुझाई।'*

वि० त्रि०—३ *'मम सप्त प्रस्न'* का भाव कि १ भोगायतन, २ अनुकूल वेदनीय भोग, ३ प्रतिकूल वेदनीय भोग, ४ भोक्ता, ५ अनुकूल भोगका कारण, ६ प्रतिकूल भोगका कारण और ७ भोक्ताकी अस्वस्थताके कारणविषयक प्रश्न हैं, इन्हीं सात प्रश्नोंमें साध्य, साधन और साधकविषयक सब बातें आ गयीं।

वि० त्रि०—४ (क) *'मति धीरा'*—जो प्रभुके प्रभावको जाने वह मतिधीर है, यथा—*'प्रभु प्रभाव जानत मति धीरा।'* और आपसे बढ़कर इसका जानकार कौन होगा? (ख) *'प्रथमहि कहहु'*—भाव कि पहले भोगायतन (शरीर) का ही वर्णन होना चाहिये। देहाध्याससे ही संसार है। अतः जिस देहमें संसार-दुःखसे निवृत्तिका साधन जितना ही अधिक हो उतना ही वह उत्तम है, सो पहले उसीको कहिये।

नोट—३ *'सब ते दुर्लभ कवन सरीरा'* इस प्रश्नका हेतु यह है कि ये अगणित शरीर धारण कर चुके हैं और सबका इनको बोध शिवकृपासे बना रहा। अतः ये ठीक कह सकेंगे, क्योंकि स्वयं अनुभव कर चुके हैं—*'कवन जोनि जनमेउँ जहँ नाहीं। मैं खगेस भ्रमि भ्रमि जग माहीं॥'*, *'त्रिजग देव नर जोइ तनु धरउँ।'*, *'सुधि मोहिं नाथ जन्म बहु केरी। सिव प्रसाद मति मोह न घेरी॥'* (९६। १०) दुःख और सुख भी सब जानते हैं जैसा उनके *'देखेउँ करि सब कर्म गोसाईं। सुखी न भयेउँ अबहिं की नाईं॥'* (९६। ९) से स्पष्ट है, अतः यह प्रश्न हुआ।

वि० त्रि०—५ *'बड़ दुख'*, *'सुख भारी'*—भाव कि भगवान्‌के मुखसे सुन चुके हैं कि जो मनुष्य उन्हें नहीं भजता और दिन-पर-दिन विषयरत होकर मन्द होता चला जाता है, वह परलोकमें दुःख उठाता है; यथा—*'सो परत्र दुख पावइ……।'* सुखको भी भगवान्‌ने कहा है—*'जौं परलोक इहाँ सुख चहहू।'* पर यह नहीं बताया कि बड़ा दुःख कौन है और भारी सुख कौन है, न किसीने उनसे पूछा ही। (ख) *'बिचारी'* अर्थात् अनेक जन्मोंके अनुभूत सुख-दुःखोंको मिलान करके मनमें ठीक करके। (ग) *'संछेपहि'*—क्योंकि दुःख-सुख सबके अनुभूत पदार्थ हैं अतः विस्तारकी आवश्यकता नहीं।

संत असंत मरम तुम्ह जानहु। तिन्ह कर सहज सुभाव बखानहु॥ ५॥
कवन पुन्य श्रुति बिदित बिसाला। कहहु कवन अघ परम कराला॥ ६॥
मानसरोग कहहु समुझाई। तुम्ह सर्बग्य कृपा अधिकाई॥ ७॥

अर्थ—आप संत और असंतका मर्म जानते हैं। उनका सहज (बनावटी नहीं वरन् जैसा जन्मके साथ उत्पन्न होता है) स्वभाव बखानकर कहिये॥ ५॥ (फिर) कहिये कि कौन पुण्य श्रुतिमें बहुत बड़ा माना गया है और कौन पाप परम विकराल है॥ ६॥ मानसरोग क्या है? इन्हें समझाकर कहिये। आप सब कुछ जाननेवाले हैं और मुझपर आपकी तथा भगवान्‌की आपपर विशेष कृपा है॥ ७॥

वि० त्रि०—१ *'संत असंत मरम……'* इति। (क) भगवान्‌ने नारदजीसे संतोंके गुण कहे और भरतजीसे संत और असंत दोनोंके गुण कहे। दोनोंके गुणोंका पारावार नहीं है, यथा—*'खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥'* अतः इनका मर्म जाननेसे काम चलेगा, क्योंकि साधारण जीव अपेक्षाकृत संत भी हैं, असंत भी हैं, मर्म जान लेनेसे दोनोंके गुणोंकी पहचान हो जावेगी। कल्याणार्थीको उनके त्याग और ग्रहणमें बड़ा सुभीता होगा। (ख) *'तुम्ह जानहु'*—भाव कि तुम असंत भी रह चुके हो, यथा—*'मैं खल मल संकुल……।'* (ग) *'बखानहु'*—भाव कि इन्हींके बखानसे सम्पूर्ण वेद-शास्त्रके सारका बखान है, जितने उपादेय गुण हैं वे सब संतमें हैं और जितने हेय गुण हैं वे सब असंतमें हैं। अतः इनके लिये बखान करनेकी प्रार्थना है।

नोट—१ (क) *'मरम तुम्ह जानहु।'* कैसे जाना कि ये जानते हैं? इससे कि विप्र, गुरुके विषयमें कहा है कि *'परम साधु परमारथबिंदक'* और शिवजीने उपदेश दिया था कि *'जानेसु संत अनंत समाना'* अतएव जानना सिद्ध है। दूसरे वरदान है कि सब कुछ जानोगे। यथा—*'जानब तैं सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा॥'* (८५। ८), *'जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥'* (११४। ४) (ख)—*'सहज स्वभाव'* वह है जो सब कालमें सदा स्वाभाविक ही बना रहता है।

२ (क) *'श्रुति बिदित'* पूछा क्योंकि श्रीभुशुण्डिजीने श्रुतिका नाम बारंबार लिया है—*'श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई' 'बेद पुरान संतमत भाषी'* इत्यादि। (प्र० सं०)। ज्ञान और भक्ति दोनों मार्गोंमें श्रुतिविदित पुण्योपार्जनकी आवश्यकता बतायी है। यथा—*'जप तप ब्रत जम नियम अपारा। जे श्रुति कह सुभ धर्म अचारा॥ सो तृन हरित चरै जब गाई।', 'प्रथमहिं बिप्र चरन अति प्रीती। निज निज धर्म निरत श्रुति रीती॥'* दोनों मार्गोंमें भक्तिकी सुलभता दिखलायी, फिर भक्तिकी प्राप्तिमें सुलभता सत्संगद्वारा कही, पर संतका सङ्ग बिना पुण्यपुञ्जके होता नहीं, अतः पुण्यपुञ्जोपार्जनके लिये श्रुतिविदित विशाल पुण्य पूछते हैं। (वि० त्रि०) (ख) *'अघ परम कराला'* इति। पाप करनेवालेको धर्मबुद्धि ही नहीं होती, वह पुण्य करेगा ही नहीं। यथा—*'पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं कटि पट नहिं पेट अघाहीं॥—हमरे धर्मबुद्धि कस काऊ।'* अतः उसका मन भजनमें नहीं लगता। यथा—*'पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥'* अतः परम कराल पापका जान लेना आवश्यक समझकर उसे पूछा। परम कराल वह है जिससे कोई बच न सके। (वि० त्रि०)

३ *'तुम सर्बग्य कृपा'* इति। प्रश्नोंका यथार्थ उत्तर देंगे यह समझकर प्रश्न किया क्योंकि इनपर (श्रीरघुनाथजीकी) बड़ी कृपा है और ये वरद्वारा सर्वज्ञ हैं, सब जानते हैं।

वि० त्रि०—*'मानसरोग……'* इति। (क) भुशुण्डिजीने कहा था कि *'ब्यापहिं मानस रोग न भारी। जिन्ह के बस सब जीव दुखारी॥'* (१२०। ८) अतः यह जान लेना आवश्यक हुआ; क्योंकि रोग तो एक-दो कभी-कभी किसीको होते हैं, सब रोग सदा सबको रहें, यह अद्भुत बात है। (ख) *'कहहु समुझाई'*—भाव कि मलका कुपित होना ही सब रोगोंका कारण है। शरीरमें जो वात, पित्त, कफ हैं ये ही विकृत होकर अनेक विकार उत्पन्न कर देते हैं। वात-पित्तका प्रकोप कुपथ्यसे हो सकता है। रोगोंके लिये चिकित्सा-शास्त्र बना है। वैद्य दवा देते हैं, रोग उपशमित होता है। इत्यादि। ये सब बातें मनमें

कैसे होती हैं, यह समझमें नहीं आता, अतः इन्हें समझाकर कहिये। (ग) *'कृपा अधिकाई'* इति। भाव कि संसारमें कृपाके लिये कारण होता है। यथा—*'अवसि काज मैं करिहउँ तोरा। मन तन बचन भगत तै मोरा॥'* कारणरहित कृपा दोहीको होती है—भगवान्‌को और उनके सेवकको। यथा—*'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'* इसीलिये *'कृपा अधिकाई'* कहा।

पं०—रोगका स्वरूप समझा होता है तो अपनेमें उनको लखकर उपाय करना सुगम होता है और मानसरोग तो सूक्ष्म रोग हैं, इसलिये बिना विस्तारसे समझाये इनका स्वरूप समझमें न आयेगा। यदि कहें कि हम क्या जानें तो इसीपर कहते हैं कि आप सर्वज्ञ हैं और बड़े कृपालु हैं, कृपा करके कहिये।

(सप्त प्रश्नोंके उत्तर)

तात सुनहु सादर अति प्रीती। मैं संक्षेप कहौं यह नीती॥ ८॥
नर तन सम नहिं कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत तेही*॥ ९॥
नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ज्ञान बिराग भगति सुभ देनी†॥ १०॥

शब्दार्थ—नीति-लोककल्याणके लिये निश्चित ठहराया हुआ आचार-व्यवहार। **स्वर्ग**—लोकोत्तर पुण्य भोगनेके लिये जो लोक हैं उन्हें स्वर्ग कहते हैं। नरकोंके ऊपर सात पाताल है, आठवीं पृथ्वी है। उसके ऊपर ध्रुवतक ग्रह-नक्षत्रोंसे युक्त अन्तरिक्ष लोक है। इसके ऊपर स्वर्ग है। इसके पाँच भेद हैं—महिन्द्रलोक, प्राजापत्य (महर्लोक), जन, तप और सत्य लोक। पिछले तीन ब्रह्मलोकके अन्तर्गत हैं। यहाँतक सम्प्रज्ञात-समाधिवालोंकी गति है। अपबर्ग—असम्प्रज्ञात-समाधिवाले (अर्थात् विदेहलय और प्रकृतिलय) मोक्षपदमें स्थित हैं। **अपबर्ग**-मोक्ष।

अर्थ—श्रीभुशुण्डिजी बोले—हे तात! अत्यन्त आदर और प्रेमसे सुनो, मैं यह नीति संक्षेपसे बड़े प्रेमसे कहता हूँ॥ ८॥ मनुष्य-शरीरके समान कोई शरीर नहीं है। चर-अचर सभी जीव इसकी याचना करते हैं॥ ९॥ यह शरीर नरक, स्वर्ग तथा मोक्षकी सीढ़ी है और ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और कल्याणका देनेवाला है॥ १०॥

वि० त्रि०—१ *'तात सुनहु सादर—'* इति। (क) प्रश्न हुआ था *'जौं कृपाल मोहि ऊपर भाऊ।'* ऐसे कहकर। अतः *'तात'* सम्बोधन करके शिष्यके प्रति आदर और प्रीति दिखलाते हुए उत्तर दिया जा रहा है। (ख) *'सादर अति प्रीती'* इति। अति प्रीतिसे सुननेसे ही गम्भीर विषयके निरूपणका धारण हो सकता है और आदरके साथ सुननेसे ही सिद्धिकी प्राप्ति होती है। यथा—*'सुनहु तात मन मति चित लाई,' 'सादर सुनहिं ते तरहिं भवसिंधु बिना जलजान।'* जहाँ कार्यप्रणाली कही जाती है, वहाँ सादर सुननेके लिये अनुरोध किया जाता है। सादर सुननेका अभिप्राय उस शिक्षाको कार्यमें परिणत करनेका है। यथा—*'तात बचन मम सुनु अति आदर॥'* (६। ९। ७) और जहाँ केवल समझानेके लिये विषयनिरूपण किया जाता है, वहाँ सावधान होकर सुननेको कहते हैं। यथा—*'सुनहु सो सावधान हरिजाना।'* (ग) *'यह नीती'*—भाव कि ये प्रश्न कार्यप्रणाली जाननेके लिये हैं अतः इनके उत्तरको *'नीति'* कहा। महात्मा लोग नीतिसे कभी विचलित नहीं होते; यथा—*'सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं।'* अतः कार्यसिद्धिके लिये नीति स्थिर करनेमें ही पंडिताई है, इसलिये रामभक्तिको हृदयमें छा लेनेकी नीतिकी ओर इङ्गित करते हैं। (घ) *'संक्षेप कहौं'*—भाव कि यह विस्तारसे कहने योग्य है पर मैं तुम्हारे कथनानुसार संक्षेपमें कहता हूँ। इसे आदर और प्रीतिके साथ सुननेसे ही यथावत् धारण कर सकोगे।

पं०—*'यह नीती'* का भाव कि सादर प्रेमपूर्वक सुनना यह श्रोताकी नीति है और वक्ताकी यह नीति है कि अल्प अक्षरोंमें सब सार कह दे।

रा० प्र०—आदरसे कहना और प्रीतिसे सुनना तथा संक्षेपसे कहना यह नीति है जिससे बुद्धिमें ज्ञान और धारणा प्राप्त हो।

* जेही। † सुष-(रा० गु० द्वि०)।

नोट—'*नर तन सम नहिं*......'—४४ (४—७) देखिये। '*जीव चराचर जाँचत*'—चरकी याचना तो कहते बनती है। स्थावरकी याचना कैसे? हमारे शास्त्र बताते हैं कि स्थावर भी अन्तःसंज्ञ होते हैं, भीतरसे उन्हें ज्ञान रहता है, पर वाणीकी कृपा नहीं होनेसे प्रकाशित नहीं कर सकते। यथा—'***सीता कर बिलाप सुनि भारी। भए चराचर जीव दुखारी॥***'

वि० टी०—श्रीमत् शंकराचार्यजीने भी इसीकी पुष्टिमें यों कहा है—'**दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम्। मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥**' अर्थात् जन्म, मोक्षकी इच्छा और महात्माओंका सत्संग ये तीनों दुर्लभ हैं। जो ईश्वरकी कृपा हो तो ही ये मिलते हैं। भाव यह है कि यद्यपि यहाँ तीन बातें दुर्लभ कही गयी हैं तथापि उन तीनोंका आदिकारण मनुष्य-शरीर ही है।

रा० शं०—'***नहिं कवनिउ देही***' अर्थात् यह सबसे श्रेष्ठ है, यह कहकर फिर श्रेष्ठताका प्रमाण देते हैं कि '***चराचर जाचत तेही।***' और फिर याचनाका कारण कहते हैं कि यह '***नरक***' आदिकी सीढ़ी है।

पं०—पापसे नरक, पुण्यसे स्वर्ग और भजनसे मुक्ति होती है। ज्ञानादि भी इसीमें प्राप्त होते हैं।

रा० प्र०—'***नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी***' ये तीनों इसीमें सधते हैं अन्य योनियोंमें केवल उदरका यत्न ही बनता है। अमर (देव) तनसे मोक्षादि असम्भव है।

करु०—'***नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी*......।**' मनुष्य-तनमें ही ज्ञानादि दृढ़ हो सकते हैं देवता-तनमें नहीं, इसका कारण यह है कि देवतनमें देवता विषयासक्त रहते हैं, यथा—'***इन्द्रियन्ह सुरन्ह न ज्ञान सुहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई॥***' निसेनीका भाव कि कर्मक्षेत्र नरतन ही है। जब देवतनका यह हाल है तब और किसीका कहना ही क्या? (दिव्य तनका यह हाल है तब अदिव्यकी बात ही क्या? नर-शरीर छोड़ अन्य सब शरीर भोग-शरीर-मात्र हैं)।

वि० त्रि०—(क) '***निसेनी***' इति। भाव कि जैसे सीढ़ी लगाकर लोग ऊँचे चढ़ जाते हैं और नीचे भी उतर जाते हैं, वैसे ही नरदेहसे चाहे नरकमें उतर जाय, चाहे स्वर्गपर चढ़ जाय और चाहे मोक्षको प्राप्त हो। इसके लिये प्रारब्ध नहीं है, प्रारब्ध सांसारिक सुख-दुःखोंके लिये है। सीढ़ी पाकर भी यदि कोई इच्छापूर्वक नरकमें उतरना चाहे तो शास्त्र और गुरु उसको मना तो करते हैं पर उसके साथ बलात् नहीं कर सकते। मरनेपर स्वर्ग, नरक वा मोक्ष मिलता है। (ख) '*ज्ञान बिराग भगति सुभ देनी*'—जीते-जी ज्ञानादिको देनेवाला है। ज्ञानसे आत्मसुख मिलता है, वैराग्यमें अभय सुख है और भक्तिसे परमात्मसुख प्राप्त होता है। (त्रिपाठीजी '*सुभ*' को '*भगति*' का विशेषण मानते हैं)।

सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं बिषयरत मंदमंदतर॥ ११॥
काचु किरिच बदले ते* लेहीं। कर ते डारि परसमनि देहीं॥ १२॥

शब्दार्थ—**किरिच**=टुकड़ा।

अर्थ—वह (मनुष्य) शरीर धारण करके जो मनुष्य भगवान्‌का भजन नहीं करते किंतु विषयोंमें अनुरक्त हो जाते हैं अर्थात् विषयभोगमें लग जाते हैं, उसमें प्रेम करने लगते हैं, वे मन्द ही नहीं वरन् अत्यन्त मन्द (नीच) वा मन्दोंमें भी मन्दतर है॥ ११॥ (नरशरीरसे भजन न कर विषय-भोगमें लिप्त होना कैसा है सो कहते हैं कि) वे पारसमणिको हाथसे फेंक देते हैं और उसके बदलेमें वे काँचका टुकड़ा (उठा) लेते हैं॥ १२॥

नोट—१ '*मंद मंदतर।*' नरशरीर पाकर जो भजन नहीं करते वे मन्द हैं और जो भजन न करके उसके बदले विषयरत होते हैं वे मन्दतर (महामन्द) हैं। अर्थात् वे मन्द ही थे और ये उन मन्दोंमें भी अत्यन्त मन्द हैं। प्र० स्वामीजी अर्थ करते हैं कि—'वे मन्दबुद्धि '***पशु बिनु पूँछ बिषाण***' तो हैं ही, पर दिन-प्रतिदिन '***मंदतर होहिं***' 'अधिकाधिक मद जड़, मूढ़ होते जाते हैं और तिर्यक् योनि, स्थावर पाषाणादि बनते हैं।'

वि० त्रि०—अर्थ करते हैं कि 'उस शरीरको धारण करके जो मनुष्य विषयरत होकर मन्द होते

* जिमि—(का०)।

जाते हैं, हरिको नहीं भजते वे।......' *'मंद मंदतर'* का भाव कि वह तो सुखप्राप्तिकी इच्छासे सुखाभासके पीछे महान् कष्ट झेलता हुआ और भी घोर विपत्तिमें उलझता हुआ चला जाता है। विषय-सेवनसे उसकी बुद्धि और भी दिन-दिन मलिन होती चली जाती है, उसका लौटना असम्भव होता चला जाता है। अन्तमें उतरते-उतरते वह कहाँतक जायगा इसका ठिकाना नहीं।

२—*'काचु किरिच—।'* मन्द-मन्दतर कहकर अब मन्दतरत्वको दृष्टान्त देकर दिखाते हैं। मंद=निर्बुद्धि अज्ञान, कुबुद्धि। भजन और पारसमणि, विषय और *'काचु किरिच'* परस्पर उपमेय-उपमान हैं। नरतन पाकर रामपद-विमुख होना पारसका फेंक देना है। विषयमें मन देना काँचके टुकड़ेका उठा लेना है। [रा० प्र०—किरिच=लोहेका मल जिसे मण्डूर कहते हैं। पारसके साहचर्यसे लोहेका ही अर्थ ठीक बनता है।]

३—'काँचकी किरिच एक तो किसी कामकी नहीं उसपर फिर हाथमें गड़ जानेका भय होता है। उसकी झूठी चमक देख उठा लेते हैं। और जिसके स्पर्शमात्रसे लोहा सोना हो जाता है ऐसी सब धनकी मूल पारसमणिको फेंक देते हैं।' (वै०) इसी तरह विषयमें सुखके सदृश सुखाभासमात्र होता है, सुख उसमें है ही नहीं और यदि वह गड़ गया तो महान् दुःखका कारण होता है। (वि० त्रि०)

वि० त्रि०—*'कर ते डारि—'* इति। भाव कि जिन्हें पारसका प्रभाव नहीं मालूम है, जो उसका मूल्य कुछ नहीं समझते, वे कोई भी वस्तु बदलेमें मिलनेकी आशासे उसे पहले ही फेंक देते हैं। उन्हें यह डर बना रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि देर होनेसे सौदा बिगड़ जाय। इस तरह उनके हाथमें आया हुआ पारस व्यर्थ हाथसे निकल जाता है। इसी भाँति भजन अपने हाथकी चीज है, इसके लिये कहीं बाहर दौड़-धूप नहीं करना है। भजनके लिये केवल अन्तर्मुख होनेकी आवश्यकता है, इसीलिये 'हाथमें' होना कहा। पारस अमूल्य है, वैसे ही भजन अमूल्य है।

मिलान कीजिये और देखिये—*'एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥ नर तन पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥ ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परसमनि खोई॥'* (४४)

नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं। संत मिलन सम सुख जग नाहीं॥ १३॥
पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥ १४॥
संत सहहिं दुख परहित लागी। पर दुख हेतु असंत अभागी॥ १५॥

अर्थ—संसारमें दरिद्रके समान दूसरा दुःख नहीं है। संतसमागमके समान संसारमें कोई भी सुख नहीं है॥ १३॥ हे खगराज! वचन, मन और कर्मसे परोपकार करना संतोंका सहज स्वभाव है॥ १४॥ संत पराये हितके लिये दुःख सहते हैं और भाग्यहीन असंत पराये दुःखके लिये दुःख सहते हैं। अर्थात् दूसरोंको दुःख पहुँचे चाहे उसके लिये स्वयं दुःख भोगना पड़े तथा अभागी असंत दूसरोंके दुःखके कारण होते हैं॥ १५॥

नोट—१ *'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं।'* भाव कि दुःख तो बहुत हैं पर इसके समान दूसरा दुःख नहीं। दरिद्र=निर्धनता। किसीने कहा है कि '**कष्टं निर्धनिकस्य जीवितमहो दारैरपि त्यज्यते**' अर्थात् स्त्रीतक त्याग देती है इससे निर्धनिकका कष्ट क्या और होगा? भुशुण्डिजी इस दुःखको स्वयं भोग चुके हैं। यथा—*'परेउ दुकाल बिपत्ति बस तब मैं गएउँ बिदेस॥'* (१०४) *'गएउँ उजैनी सुनु उरगारी। दीन मलीन दरिद्र दुखारी॥'* अतः इसका अनुभव इनको खूब है। मिलान कीजिये—'**अहो नु कष्टं सततं प्रवासस्ततोऽतिकष्टः परगेहवासः। कष्टाधिका नीचजनस्य सेवा ततोऽतिकष्टा धनहीनता च॥**', '**वरं वनं व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं द्रुमालयं पत्रफलाम्बुभोजनम्। तृणानि शय्या वसनं च वल्कलं न बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम्॥**' '**दारिद्र्यान्मरणाद्वा मरणं संरोचते न दारिद्र्यम्। अल्पक्लेशं शरणं दारिद्र्यमनन्तकं दुःखम्॥**' (सु० र० भा० दरिद्रनिन्दा)।

वि० त्रि०—संसारमें छोटी-से-छोटी सुविधाके लिये मूल्य चाहिये। दरिद्रको अर्थाभाव है, अतः जीवनधारणानुकूल व्यापार चलानेके लिये उसे साधन नहीं है। अतः उससे बढ़कर दुःखी कोई नहीं है।

पर ऐसे दरिद्र भी परम सुखी देखे गये हैं। यथा—'*तुम्ह सम अधन भिखारि अगेहा। होत बिरंचि सिवहि संदेहा॥*' दरिद्रमें और उनमें भेद इतना ही है कि दरिद्र विषयरत है और वे विषयविमुख विरागरत हैं, मोहके हाथके बाहर हैं। अत: वास्तवमें तो दरिद्र मोह है, यथा—'*मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।*' मोहयुक्त धनी भी कौड़ी-कौड़ीके लिये तड़फड़ाते देखे गये हैं और वैराग्यवान् तो धन-धान्यसे भरे घरको सदासे लात मारते आये हैं। जहाँ जिस परिमाणमें मोह है वहाँ उस परिमाणमें दु:ख है।

वै०—१ '*दरिद्र सम दुख जग माहीं॥*' जाड़ा लगनेपर वस्त्र नहीं, भूख लगनेपर भोजन नहीं—यह दु:ख होनेपर सब दु:ख भूल जाते हैं, बुद्धि नष्ट हो जाती है। यथा—'**वासुदेव जराकष्टं कष्टं निर्धनजीवनम्। पुत्रशोको महाकष्टं कष्टात्कष्टतरं क्षुधा॥**'

२—'*संत मिलन सम सुख जग नाहीं*', क्योंकि और सुखोंमें वासना नहीं जाती, दूसरे वे सब अन्तमें दुखदायी हैं, उनमें भलाई नहीं है और संतसङ्ग निर्वासिक सुख है, एकरस भीतर-बाहर परिपूर्ण है और अन्तमें भलाई है। '*स्वर्गहु स्वल्प अंत दुखदाई॥*' (४४। १) देखो।

रा० शं०—'*संत मिलन सम सुख कछु नाहीं॥*' यह भुशुंडिजीका स्वयं अनुभव है। एक ही परमसाधुके मिलनेसे वे इस उत्तम सुखको पहुँचे।

प० प० प्र०—दु:ख और सुख विरोधी हैं। अत: दु:ख और सुखके कारण भी परस्पर विरोधी होने चाहिये। दरिद्रका अर्थ 'धनका अभाव' लेनेसे ऐसा विरोध नहीं रहता है। मनुजी, सत्यकेतु आदि बड़े-बड़े राजा सर्वस्व त्याग करके जान-बूझकर लौकिकदृष्ट्या दरिद्र नहीं बने। भरतजी कहते हैं—'*सोक समाज राज केहि लेखे॥*' '**यथामिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि। आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान्॥**' अत: दरिद्रका अर्थ ज्ञानका दरिद्र, अज्ञान मोह है। मोह सभी दु:खोंकी जड़ है। बिना धनके मनुष्य भी सुखी हो सकता है और मानवेतर जीवोंको धनकी आवश्यकता ही नहीं। '*मोह दरिद्र निकट नहिं आवा॥*' श्रीसमर्थ रामदास स्वामी कह गये हैं कि 'अज्ञान दारिद्र्य माझें (मेरा) सरेना (नहीं मिटता) है।' संत और अज्ञान विरोधी हैं, जैसे सुख और दु:ख विरोधी हैं।

वि० त्रि०—'*संत मिलन सम*……' इति। संसार सुखके लिये पागल है, पर संसारमें पूर्ण कुछ भी नहीं सब कुछ आपेक्षित है, परिच्छिन्न है। यहाँ सुख भी परिच्छिन्न है। परिच्छिन्नसे तृप्ति नहीं होती। अत: जाने या बिना जाने संसार अपरिच्छिन्न सुखको ढूँढ़ रहा है। सुखसागरराम ही सबके हृदयाराम हैं। वे ही सबके अभीष्टतम हैं। सन्तोंका मिलना श्रीरामके मिलनेका नियत पूर्वरूप है; यथा—'*जौ रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तौ तुम्ह मोहि दरस हठि दीन्हा॥*' सन्त भगवान्के प्रिय हैं, अत: उनके समान हैं। अत: उनका मिलना हृदयाराम रामके मिलनेके समान है। यथा—'*कंचन को मृतिका करि मानत। कामिनि काष्ठसिला पहिचानत॥ तुलसी भूलि गयो रस एहा। ते जन प्रगट राम की देहा॥*' अल्पमें सुख नहीं, जो भूमा है उसीमें सुख है। संसारके सुखोंमें कोई ऐसा नहीं जो संतसमागम-सुखके समान हो—'*मुख देखत पातक हरैं परसत कर्म बिलाहिं। बचन सुनत मन मोहगत, पूरब भाग मिलाहिं॥*' (वै० सं०) क्योंकि यह सुख भूमा है। संतसमागमसुखमें मनुष्य संसार भूल जाता है और वही सुख भगवत्प्राप्तिका कारण होकर नित्य हो जाता है इसीसे कहा कि '*संत मिलन सम सुख कछु नाहीं॥*'

करु०—पूर्व कहा कि सन्तोषसे सुख होता है, यथा—'*बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं॥*' और यहाँ कहते हैं कि संत-मिलनके समान सुख नहीं। भाव यह है कि संत मिलनेपर सन्तोषरूपी परम धन देकर असन्तोषरूपी दारिद्र्यको दूर कर देते हैं, इसीसे तब मनुष्य सुखी हो जाता है।—'**असन्तोषो हि दारिद्र्यं सन्तोषः परमं धनम्॥**'

वि० त्रि०—१ (क) '*पर उपकार*……' इति। जो अपना उपकार न कर सका वह पराया उपकार नहीं कर सकता। सब किसीमें परोपकार करनेकी पात्रता नहीं होती। जिन्हें अपना कोई स्वार्थ नहीं है, जो पूर्णकाम हैं, वे ही परोपकार कर सकते हैं। (ख) '*बचन मन काया*'—मन, वाणी और कर्मका

एक रंग होना संतका लक्षण है। मन, वाणी और कर्ममें भेद पड़ना कुटिलता है। यथा—'*सरल बरन भाषा सरल सरल अर्थमय बानि। तुलसी सरलै संत जन ताहि परी पहिचानि॥*' (वै० सं०) '*तन करि मन करि बचन करि काहू दूषत नाहिं। तुलसी ऐसे संतजन रामरूप जग माहिं॥*' (वै० सं० २३) (ग) '*संत सहज सुभाउ*'—भाव कि संत पैदा होते हैं, संत बनाये नहीं जाते। जो गर्भज्ञानी हैं, जो पूर्णकाम हैं, किसी प्रारब्धके शेष रहनेके कारण जिनका जन्म हुआ है, वे ही मनसा, वाचा, कर्मणा परोपकार करनेकी योग्यता रखते हैं और वे ही संत हैं। जो पहले द्रोही रह चुके हैं और पीछेसे सत्संगद्वारा जिनकी बुद्धि सुधर गयी और परोपकाररत हुए, वे 'संत-समान' हैं, संत नहीं हैं। यथा—'*जो नर होइ चराचर द्रोही। आवैं सभय सरन तकि मोही॥ तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥*'

२ (क) '*संत सहहिं दुख*——' इति। जो इस जगत्‌में आया है, उसे दुःख भोगना ही पड़ता है, प्रारब्ध किसीके हटाये नहीं हटता। अतः दुःख संतको भी भोगना पड़ता है। पर संत और असंतके हृदयमें भेद है। संतका हृदय इतना कोमल होता है कि वह पराया दुःख देख नहीं सकता, अतः दुःख उठाकर वह उसका प्रतीकार करता है, यथा—'*संत हृदय नवनीत समाना।——पर दुख द्रवै सुसंत पुनीता।*' अतः दूसरेके लिये दुःख उठानेमें उनके दुःखका भोग पूरा हो जाता है। (ख) '*पर दुख हेतु*——' इति। भाव कि असंतोंका हृदय इतना कठोर होता है कि उन्हें दूसरेके दुःखमें आनन्दानुभव होता है। अतः वे दूसरेको दुःख देनेमें दुःख उठाते हैं। इस भाँति उनके दुःख-सुखका भोग हो जाता है और परलोकके लिये दुःख-भार भी खूब लद जाता है। अपने स्वार्थकी ओर देखनेवाले संत-असंत दोनों नहीं होते और अपने-अपने कर्तव्य-पालनमें दोनों ऐसे दृढ़ होते हैं कि लोकमें उसकी उपमा नहीं है। यथा—'*खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥*'

वै०—'*पर दुख हेतु असंत अभागी॥*' अभागीका भाव कि पाप करते-करते पूर्वका भाग्य नष्ट हो गया, असत्कर्मोंकी सहायता पाकर अभाग्य प्रचण्ड है, अपना प्रयोजनरहित परहानिमें तत्पर होने तथा आदि-अन्तमें दुःख भोगनेसे अभागी कहा। यथा—'**एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये। तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय विघ्नन्ति ये ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे॥**' (भर्तृहरि)

भूर्जतरू सम संत कृपाला। परहित निति सह बिपति बिसाला॥ १६॥
सन इव खल परबंधन करई। खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई॥ १७॥

शब्दार्थ—**भूर्जतरू**—भोजपत्रका वृक्ष। यह हिमालयपर १४००० फुटकी ऊँचाईतक होता है, इसकी छाल कागजके समान पतली होती है और कई परतोंमें होती है। यह छाल प्राचीनकालमें ग्रन्थ और लेख आदि लिखनेमें बहुत काम आती थी; और अब तान्त्रिक लोग इसे बहुत पवित्र मानते और इसपर प्रायः यन्त्र-मन्त्रादि लिखा करते हैं। छालका उपयोग छाते बनाने, छत छाने और पहननेके काममें भी होता है। इसपर मन्त्र, यन्त्र, गोरोचन, केसर, रक्तचन्दन आदिसे कार्यानुसार विविध लेखनियोंसे लिखकर ग्रह, भूत-पिशाच, रोग, अल्पमृत्यु, अभिचार आदिकृत पीड़ासे मानव जीव मुक्त हो सकता है। यमुनोत्तरीकी तरफ इसका प्रयोग पत्तलके स्थानपर भी किया जाता है।

अर्थ—दयावान् संत भोजपत्रके समान सदा परायेकी भलाईके लिये भारी विपत्ति सहते रहते हैं॥ १६॥ खल सनके समान दूसरोंको बाँधते हैं (उनके बन्धनके लिये) अपनी खाल खिंचवाकर विपत्ति सहकर मर जाते हैं॥ १७॥

नोट—१ (क)—संत और खल, विपत्ति तो ये दोनों ही सहते हैं, संत '*निति सह बिपति बिसाला*' और खल भी '*खाल कढ़ाइ बिपति सहि।*' पर भेद यह है कि एक कृपाल है, सब जीवोंपर उसके चित्तमें दया है अतः वह परायेके हितके लिये दयावश भारी-भारी संकट सहकर परोपकार करता है; दूसरा पराया हित देख नहीं सकता—'*उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहि खल रीति*' इससे वह ईर्ष्या-डाहवश परहित-

हानिमें तत्पर रहता है, अपने प्राण भी देकर दूसरेके हितकी हानि करना चाहता है—*'परहित हानि लाभ जिन्ह केरे' 'जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं'*—बा० ४ (२, ७) में जो भाव है वे यहाँ भी हैं। (ख) संतके विषयमें 'विशाल' विपत्ति सहना और खलके सम्बन्धमें विपत्ति सहना कहा, पर खलका मरना कहा और संतका मरना न कहा। भाव यह कि संत विशाल विपत्ति नित्य ही सहते हैं तो भी परहितके लिये होनेसे मरते नहीं और यदि उसमें शरीर छूट भी गया तो उनका यश चिरकालतक बना रहता है। यथा—*'परहित लागि तजै जो देही। संतत संत प्रसंसहिं तेही॥'* और खलके मरनेपर उसका नाम भी कोई नहीं लेता। (ग) संतको भोजपत्रकी उपमा दी क्योंकि भोजपत्र उत्तम कार्योंमें लगता है, इसपर पवित्र यन्त्र-मन्त्र लिखे जाते हैं, जिससे दूसरोंका कल्याण होता है, इसी तरह संत-शरीरसे दूसरोंका कल्याण होता है। (घ) भोजपत्र अपनी खाल खिंचाकर परोपकार करता है और सन पर-अपकार करनेके लिये अपनी खाल खिंचाता है। इसके खालकी रस्सी बनती है जो दूसरोंका बन्धन करती है। (ङ) कृपाल, यथा—*'दया लागि कोमलचित संता।'* 'नित' पाठका अर्थ नित्य और *'निति'* का अर्थ 'लिये' होगा।

करु०—भोजपत्र परहितके लिये अपना बकला दे डालता है और खल अपनी खाल निकलवाकर पर-बन्धन करता है।

वै०—१ भोजपत्रकी गादि (गोंद) गुग्गुल है जो धूपमें पड़ती है। २—*'सन इव——।'* सनईका वृक्ष काटकर पहले पानीमें सड़ाया जाता है फिर उसकी त्वचा निकालकर उसे पटक-पटककर पानीमें धोते हैं फिर रेशा-रेशा अलगकर काता-बटा-ऐंठा जाता है, इत्यादि। सरितामें पड़कर स्वयं सड़ जाता है और जो उस जलको पिये वह मरे। इसी तरह खल अनेक महान् कष्ट सहकर भी पर-अपकार करते हैं और अपना शरीर भी छोड़ देते हैं।—*'पर अकाज लगि तनु परिहरहीं।'* खलको चाहे कोई जलमें डुबोये, खाल खींचे, मारे और खाल खींचकर प्राण ले, पर उस खालसे भी यदि किसीको दुःख पहुँच सके तो उसे इस दुर्गतिके साथ मरना भी स्वीकार है।

वि० त्रि०—१ *'भूर्जतरू सम——'* इति। (क) आगे दोहा १२५ (६) में कहा है *'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु सबन्ह कै करनी॥'* वहाँ चार अचेतन पदार्थोंके साथ संतोंका उल्लेख यह बात दिखलानेके लिये है कि परहितका कार्य करनेके लिये इनका भी व्यवहार अचेतनवत् ही है, ये सुख-दुःखको नहीं गिनते। विटपमें फल दूसरोंके लिये लगते हैं, वृक्ष स्वयं एक फल भी नहीं खाता, नदी अमृत-सा जल लेकर दूसरोंके लिये बहती है, पर्वतकी सम्पत्ति भी दूसरोंके लिये है, पर्वतको उसका उपभोग कुछ भी नहीं है। भुशुण्डिजी कहते हैं कि इन सबोंमें भोजवृक्ष दानवीर है; उसकी छाल लोगोंके काम आती है। उसीपर पुस्तकें लिखी जाती हैं, यन्त्र लिखे जाते हैं, पुड़िया बाँधनेके काममें भी आती है। इसकी समता संतोंसे दी जा सकती है। (ख) *'निति सह'* से जनाया कि वे परहितके लिये विपत्ति सहनेमें कभी दुःखसे ऊबते नहीं। उनका शरीर सर्वसाधारणकी सम्पत्ति हो जाती है। (ग) *'बिपति बिसाला'*—भाव कि खाल कढ़ाना सब विपत्तियोंसे भारी है, जिसे भोज-वृक्ष नित्य सहा करते हैं। इसी भाँति संत परहितके लिये भारी-से-भारी विपत्ति सहते हैं।

२ *'सन इव——'* इति। (क) *'सन इव'* से जनाया कि खल भी पर-अपकारके लिये जड़ीभूत रहते हैं, अपने सुख-दुःखका ध्यान उन्हें भी नहीं रहता, उन्हें भी शत्रु-मित्रका विभेद नहीं रहता। यथा—*'उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति।'* (ख) सनसे जीवगण बाँधे जाते हैं, वह अन्य किसी काममें नहीं आता। पटुयेकी भी रस्सी बनती है पर वह कमजोर होता है और पटुआ अन्य काममें भी आता है, अतः उससे कुछ उपकार भी होता है, इसलिये पटुआ न कहकर सन कहा। जितने दुःख हैं उन सबका मूल परबन्धन (परवशता) है, यदि परबन्धन न हो तो कोई दुःख ही नहीं हो सकता। इसलिये और कोई दुःख देना न कहकर परबन्धन लिखा।

खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी॥ १८॥
पर संपदा बिनासि नसाहीं। जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीं॥ १९॥

शब्दार्थ—अहि=सर्प। हिम उपल=ओले, यथा—*'जल हिम उपल बिलग नहिं जैसे।'* ससि=खेती।

अर्थ—हे सर्पशत्रु! सुनिये। खल बिना स्वारथके ही सर्प और मूसाके समान दूसरोंका अपकार करते हैं॥ १८॥ परायी सम्पदाको नाश करके (स्वयं ऐसे) नष्ट हो जाते हैं जैसे ओले खेतीका नाश करके आप भी नहीं रह जाते (गल जाते हैं)॥ १९॥

नोट—*'अहि मूषक'* दो दृष्टान्त देकर दो बातें कहीं, सर्प प्राण लेता है और मूसा धनधान्यको हानि पहुँचाता है, और खलमें ये दोनों अवगुण एक ठौर ही स्थित हैं। पुनः, *'बिनु स्वारथ पर अपकारी'* अर्थात् परहितहानिसे अपना स्वार्थ बनता हो तो पराया काज लोग बिगड़ जाने देते हैं; इसीसे यहाँ *'बिनु स्वारथ'* पद दिया अर्थात् दूसरेको हानि पहुँचानेमें इनका कोई स्वार्थ निकलता हो सो बात नहीं है। इसी तरह सर्प दूसरेको डस लेता है तो वह मर जाता है पर सर्पको इससे क्या लाभ हुआ, कुछ नहीं। इसी तरह मूसा कपड़े, कागज, पुस्तकें काट डालता है, उससे उसे क्या लाभ हुआ, उसका क्या स्वार्थ सिद्ध हुआ? कुछ भी तो नहीं; क्योंकि वह खानेकी वस्तु तो है नहीं।* २—*'जिमि ससि हति हिम उपल बिलाहीं'* इति। *'जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं।'* बा० ४ (७) देखो। संत-असंतका मिलान—

	संत	खल
१ स्वभाव	*पर उपकार बचन मन काया*	*खल बिनु स्वारथ पर अपकारी।*
२ कार्य	*संत सहहिं दुख परहित लागी*	*परदुख हेतु असंत अभागी*
३ दोनों वृक्षरूप	*भूर्जतरू सम संत कृपाला।*	*सन इव खल परबंधन करई।*
	परहित निति सह बिपति बिसाला॥	*खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई॥*
४ दोनोंका	*संत उदय संतत सुखकारी।*	*दुष्ट उदय जग आरत हेतू।*
उदय	*बिस्व सुखद जिमि इंदु तमारी*	*जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू*

वि० त्रि०—१ *'अहि मूषक इव'* इति। निःस्वार्थ उपकार करनेका उदाहरण चेतन जीवोंमें नहीं मिला, इसलिये उसका उदाहरण नहीं दिया। पर बिना स्वार्थके अपकार करनेवालोंका उदाहरण है, अतः कहते हैं कि *'अहि मूषक इव।'* सर्प और मूषक तो हानि करके बच जाते हैं, पर सबको हानि करनेवाला खल तो बच नहीं सकता, इसलिये आगे कहते हैं कि *'पर संपदा ......'*

२ *'पर संपदा —'* परायी सम्पदाके नाशका कारण है कि वे परायी सम्पदाको देख नहीं सकते। उसे देखकर उनके हृदयमें इतनी चोट पहुँचती है कि उसका नाश किये बिना उन्हें चैन नहीं, चाहे उनका इसमें मरण ही क्यों न हो जाय। ओले गिरनेके पूर्व घन-घमण्डका गर्जन, बिजलीकी चमक आदि होती है, वैसे ही खलोंको पर-सम्पदा देख बड़ा दर्प होता है, वे गरजते-तड़पते और चमकते हैं जिससे संसार भयभीत हो जाता है। पर-सम्पदाका नाश करनेके समय ही उनका अधःपतन होता है और पीछे वे गल-गलकर मर जाते हैं।

प० प० प्र०—दूसरोंका अपकार करनेवालोंके दो दृष्टान्त दिये। *'अहि मूषक'* का दृष्टान्त उन खलोंके लिये है जो अपने विनाशको बचाते हुए दूसरोंका अपकार करते हैं। साथ ही इस दृष्टान्तसे यह भी जनाया कि ये आपसमें भी वैरीके समान व्यवहार करते हैं जैसे अहि और मूषक। दूसरा दृष्टान्त उन खलोंके लिये है जो अहि-मूषकसे भी अधिक दुष्ट हैं। ये दूसरोंका विनाश करनेके लिये अपने नाशकी परवा भी नहीं करते।

दुष्ट उदय जग आरति हेतू। जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू॥ २०॥
संत उदय संतत सुखकारी। बिस्वसुखद जिमि इंदु तमारी॥ २१॥

---

* 'परिशुद्धामपि वृत्तिं समाश्रितो दुर्जनः परान् व्यथते। पवनाशिनोऽपि भुजगाः परोपतापं न मुञ्चन्ति॥ बहुनिष्कपटद्रोही बहुधान्योपघातकाः। रन्ध्रान्वेषी च सर्वत्र दूषको मूषको यथा॥ नौश्च दुर्जनजिह्वा च प्रतिकूलविसर्पिणी। परप्रतारणायैव दारुणा केन निर्मिता॥' (१—३। सु० र० भा०)

शब्दार्थ—**उदय**=सुखसमृद्धि (दुष्ट और संतके पक्षमें)।=क्षितिजमें प्रकट होना (ग्रहके पक्षमें)। **तमारी**=अन्धकारका शत्रु सूर्य।

अर्थ—दुष्टका उदय (उन्नति) जगत्‌को दु:खका हेतु (कारण) होता है जैसा कि नीच ग्रह केतु प्रसिद्ध ही है॥ २०॥ संतोंका उदय सदा सुखका करनेवाला है जैसे चन्द्रमा और सूर्यका उदय संसारको सुखद है॥ २१॥

नोट—१ दोनों अर्धालियोंमें उदाहरण अलङ्कार है।'*दुष्ट उदय जग आरत हेतू।*——' '*उदय केतु सम हित सब ही के*' ४ (६) देखिये।*

वि० त्रि०—'*दुष्ट उदय*——' इति। (क) '*उदय*' का भाव कि पूर्व जितनी बातें कही हैं वे साधारण अवस्थाकी बातें हैं, पर जब दुष्टका उदय होता है तब तो संसारपर बड़ी मुसीबत आ जाती है। जब-जब संसारपर मुसीबत आयी है, तब-तब उसका कारण दुष्टका उदय ही हुआ है। दुष्टकी जब उन्नति होगी तब वह अपनी प्रभुताका उपयोग संसारभरको दु:ख देनेमें करेगा। [(ख) '*आरति हेतू*' कहकर जनाया कि संसार उससे आर्त होकर त्राहि-त्राहि करने लगता है] (ग) '*अधम ग्रह केतू*'—पीड़ा करनेवालेको ही ग्रह कहते हैं। जो पिण्ड आकाशमें घूमते दिखायी पड़ते हैं, वे सभी ग्रह हैं। वे सभी पीड़ा देनेवाले हैं पर व्यक्तिविशेषको समयविशेषमें ही पीड़ा देते हैं, और लोगोंके लिये सुखकर भी होते हैं। इनमें केतु विचित्र है। सब ग्रह पूर्वमें उदय होते हैं पर केतु पश्चिममें उदय होते हैं। इनकी संख्या भी बहुत है। आचार्योंने आकाशमण्डलको सत्ताईस भागोंमें विभक्त किया है, यथा—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका आदि। अत: ग्रहोंका उदय किसी-न-किसी नक्षत्रपर ही होता है और तदनुसार उनका शुभाशुभ फल भी होता है; पर केतु चाहे जिस नक्षत्रपर उदय हों खोटा ही फल देंगे। देशविशेषके पालकपर ही नक्षत्रविशेषमें उदित होकर चोट करते हैं, अत: देशके देशपर आफत ढहाते हैं। इसलिये केतुको '*अधम ग्रह*' कहा। ये प्रसिद्ध हैं, इनकी चाल सब ग्रहोंसे निराली है, ये उलटा ही चलते हैं, इसीसे इनकी उपमा खलसे दी। ये भी उलटा ही चलते हैं। यथा—'*चलत कुपंथ बेदमग छाँड़े।*'

नोट—२ (क) '*संत उदय संतत*——।' यहाँ '*संतत*' पद देकर सूचित किया कि इनका उदय सदा रहता है और दुष्टोंका उदय कुछ देरके ही लिये होता है। यथा—'*निफल होहिं रावन सर कैसें। खल के सकल मनोरथ जैसें॥*' (९०। ६) '*बिफल होहिं सब उद्यम ताके। जिमि परद्रोह निरत मनसा के॥*' (९१। ४) जैसे सूर्य-चन्द्र सदा रहते हैं और केतुका उदय कभी भूले-भटके। पर दुष्ट थोड़े ही उदयमें बहुत कुछ हानि पहुँचा देते हैं। (ख) सूर्य और चन्द्र जगत्‌का हित करते हैं, अन्धकारको दूर कर प्राणियोंको सुख देते हैं, अन्न-जल-ओषधि-वनस्पति इत्यादि देकर जगत्‌का पालन-पोषण करते हैं, इत्यादि सुख देनेकी अनेक बातें पूर्व लिखी जा चुकी हैं। '*जगहित हेतु बिमल बिधुपूषन।*' (१। २०। ७) देखिये। पुन:, सूर्य और चन्द्र दोनोंको कहकर दिन-रात वा निरन्तर सुखदायक जनाया। सूर्य दिनहीमें सुख देता है और चन्द्र रातहीमें, संत दिन-रात दोनोंमें। पुन:, सूर्य सबको सुखद नहीं और न चन्द्र सबको सुखद; अत: दोनोंकी उपमा देकर संतका सबको सुखद होना जनाया। पुन: भाव कि चन्द्र शरदातपको हरता है और संत त्रितापको हरते हैं। सूर्यके प्रकाशसे अन्धकार दूर होता है और संत ज्ञानका प्रकाश देकर संशय-मोहतमको दूर करते हैं इत्यादि।

वि० त्रि०—(क) '*संतत*' का भाव कि दुष्टके उदयके समय भी संतका उदय रहता है और उनके अस्तके समय भी। दुष्टका उदय संसारके लिये रोग है, अधिक दिन ठहर जाय तो संसारका नाश हो जाय। इसीलिये प्रबल दुष्टके उदय होनेपर उसके नाशके लिये अवतार होता है। यथा—'*दससीस बिनासन बीस भुजा। कृत दूरि महामहि भूरि रुजा॥*' (ख) '*इंदु तमारी*' कहकर यह भी जनाया कि संतोंकी संख्या दुष्टोंकी अपेक्षा बहुत कम होती है, पर उनके बिना संसारका काम नहीं चलता। पुन: यह कि संत चन्द्रके समान प्रियदर्शन होते हैं, उनके दर्शनसे पाप-ताप दूर होता है, पर उनमें ज्ञानरूपी सूर्यका प्रकाश अहर्निश बना रहता है।

---

* यथा मयूरचित्रे—'यस्य दिगभ्युदयं केतुस्तामभियोजयत्। यतो यत: शिखी याति राजा गच्छेत्ततस्तत:॥'

परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा। पर निंदा सम अघ न गिरीसा*॥ २२॥
हर गुर निंदक दादुर होई। जन्म सहस्र पाव तनु सोई॥ २३॥
द्विज निंदक बहु नरक भोग करि। जग जनमइ बायस सरीर धरि॥ २४॥

अर्थ—श्रुतिमें अहिंसा परमधर्म कहा गया है। परनिंदाके समान पाप पर्वतराज नहीं है अर्थात् ऐसा भारी पाप दूसरा नहीं है॥ २२॥ हर और गुरूकी निन्दा करनेवाला मेढक होता है। एक हजार जन्म वही (दादुर) शरीर पाता है॥ २३॥ ब्राह्मणकी निन्दा करनेवाला अनेक नरक भोगकर फिर संसारमें कौवेका शरीर धारण कर जन्म लेता है॥ २४॥

रा० शं०—गरुड़का प्रश्न था *'कवन पुन्य श्रुति बिदित बिसाला'*, वैसा ही उत्तर है *'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा।'*

वि० त्रि०—(क) *'परम धर्म'*—सात्त्विकी श्रद्धायुक्त दृढ़ विश्वासके साथ तथा निर्मल मनसे वेदोदित शुभ धर्माचरण करनेसे जिस धर्मका उदय साधकके हृदयमें होता है उसे परम धर्म कहते हैं। (ख) *'अहिंसा'*—सर्वथा सर्वदा प्राणिमात्रसे द्रोह न करनेको अहिंसा कहते हैं। यह सब यम-नियमोंका मूल है। जाति, देश, काल और समयमें भी यदि इसमें व्यभिचार न हो तो यह महाव्रत हो जाता है। जैसे मछवाहेका मछली छोड़कर और कहीं हिंसा न करना जातिकृत व्यभिचार है। तीर्थमें न मारना देशकृत व्यभिचार है। चतुर्दशी आदि पुण्यतिथिको न मारना कालकृत व्यभिचार है। उपर्युक्त तीनों प्रकारसे हिंसा यदि छूट गयी फिर भी देव-विप्र अतिरिक्त और किसीके लिये हिंसा न करना समयकृत व्यभिचार है। सब भूमिमें सब विषयोंमें सर्वथा व्यभिचार न होना ही सार्वभौम अहिंसा है। यही महाव्रत है। हिंसा तीन प्रकारकी होती है—कृता, कारिता और अनुमोदिता। स्वयं करना कृता, दूसरेसे करवाना कारिता और करते हुएका अनुमोदन करना अनुमोदिता हिंसा कहलाती है। इनमेंसे एक-एकके तीन-तीन भेद हैं। चर्ममांसके लोभसे की हुई लोभपूर्वक, अपकारीके साथ की हुई क्रोधपूर्वक और धर्मदृष्टिसे की हुई मोहपूर्वक हिंसा है। इनमेंसे भी एक-एक मृदु, मध्य, तीव्र भेदसे तीन-तीन भेद हैं। इस प्रकार हिंसाके सत्ताईस भेद हुए। ये स्थूल भेद हैं। सूक्ष्म भेदकी संख्या नहीं है। (ग) *'पर निंदा—'*—सच्चे दोषकथनको परिवाद और झूठे दोषकथनको निन्दा कहते हैं। पराये दोषका कहना ही बड़ा भारी पाप है, ऐसे पापीको चुगलखोर कहते हैं, यथा—*'पिसुन पराय पाप कहि देहीं।'* झूठ बोलना सब पापोंसे बड़ा माना गया है। अवीचि नामका सबसे नीचेका नरक झूठोंके ही लिये है। अतः निन्दामें दोनों ही आ गये। निन्दा करनेसे किसीकी कीर्तिमयी देहका भेदन होगा, यदि यह सम्भावित हुआ तो उससे उसको कोटि मरणके तुल्य दारुण दाह होगा, अतः तीव्र हिंसा भी हुई। (घ) *'अघ न गिरीसा'*—असत्य पर्वतके समान भारी पाप है, अन्य पाप इसके सामने घुँघुचीके तुल्य हैं। यथा *'नहिं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा॥'* वही असत्य जब परदोषकथनसे प्रगुणीकृत हुआ तो वह पर्वतराज (सुमेरु) के तुल्य हो गया। अतः परनिन्दा पापोंमें सुमेरु है, कोई महापाप अतिपाप इसके तुल्य नहीं।

सि० ति०—जो अपनी ओरसे बनाकर किसीपर दोषारोपण किया जाता है, उसे अपवाद एवं निन्दा कहते हैं। यथा—*'अगुन अमान जानि तेहि दीन्ह पिता बनबास।'* (लं० ३०) इसीपर कहा है—*'जब तेहि कीन्ह राम कै निंदा।'* इसमें रावणने श्रीरामजीपर झूठा ही दोषारोपण किया था। जो दोष जिसमें हो उसका कहा जाना परिवाद है। यह किसीके सुधारके लिये दूषित नहीं है। पर उसके दुखानेके उद्देश्यसे कहना यह भी पाप है। गुरुजनोंका परिवाद भी कहना मना है। वाल्मीकीयमें दोनों एक साथ कहे गये हैं; यथा—**'बहूनां स्त्रीसहस्राणां बहूनां चोपजीविनाम्। परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते॥'**(२। १२। २७) अर्थात् हजारों स्त्रियाँ और हजारों उपजीवी हैं, पर श्रीरामजीके सम्बन्धमें कोई भी परिवाद (सकारण दोषकथन) या अपवाद (अकारण दोषकथन) नहीं सुना गया है—यह राजा दशरथने कहा है।

---

* गरीसा—पाठान्तर।

नोट—१ पापको पहाड़ कहा है, यथा—*'पाप पहार प्रगट भइ सोई।'* इसके सदृश दूसरा पाप नहीं अर्थात् यह पापोंका राजा है, अतः इस पापको *'गिरीस'* पर्वतराज कहा है। अर्थात् यह महापाप है—(पं०)। विशेष *'परहित सरिस धर्म नहिं भाई……॥'* (४१। १) *'धरम कि दया सरिस हरिजाना'* में देखिये। पुनश्च यथा—**'अहिंसा परमो धर्मो अहिंसा परमं तपः। निन्दा च परमोऽधर्मः हिंसा च परममघम्॥'**

वि० त्रि०—२ (क) *'दादुर होई……'* इति। मनुष्य-शरीर पाकर मनुष्योचित कार्य न किया, उसकी निन्दासे हरि, हर, गुरुकी कोई क्षति नहीं हुई, पर वह व्यर्थका टर्र-टर्र करता रह गया, अतः दूसरे जन्ममें मनुष्ययोनि छीन ली गयी और व्यर्थकी टर्र-टर्र करनेसे मेढकयोनि उसे मिली। यहाँ *'सहस्त्र'* शब्द अनन्तताका द्योतक है। उसने अनन्तकी निन्दा की है, यथा—*'जानेसु संत अनंत समाना।'* अतः उसे अनन्तकालतक मनुष्य-योनिकी प्राप्ति न होगी। (ख) *'पाव तनु सोई'*—मेढकमें यह विशेषता है कि उसे वही शरीर पुनः-पुनः मिलता रहता है। गर्मीके दिनोंमें ये सूखकर मिट्टीमें मिले रहते हैं; जहाँ वर्षाका पहला जल गिरा कि ये उसी सूखी देहसे फिर पैदा हो गये।

नोट—२ *'द्विज निंदक……'* इति। द्विजनिन्दाका घोर परिणाम दिखाया कि सब नरक भोगनेपर वह भी पापमुक्त न हुआ। जन्म हुआ तो चाण्डालपक्षीका। जिस मुँहसे निन्दा की उससे विष्ठा खावे। हरिगुरुनिन्दासे द्विजनिन्दाको अधिक जनाया; क्योंकि उसका परिणाम केवल यह दिया कि जिस जिह्वासे उसने निन्दा की वह जिह्वा ही निकाल ली गयी, जिह्वाहीन तन उसको मिला और इसमें उस जिह्वासे मलिन वस्तु खानी पड़ती है। [एक गुरु-अपमानसे ही भुशुण्डिजीको सहस्त्र तन धरना पड़ा था। *'द्विज निंदक'*—लोमशजीसे वाद-विवादमात्रसे *'बायस'* होना पड़ा था। (रा० शं० श०)]

वि० त्रि०—३ *'द्विज निंदक……'* इति। (क) भाव कि पूर्वजन्मके कर्मोंके विपाकसे जाति, आयु और भोग प्राप्त होता है। शुभाशुभ कर्मोंके उत्कर्ष और अपकर्षके तारतम्यानुसार जाति, आयु और भोगमें तारतम्य होता है। अपने उत्कर्षके लिये प्रयत्न न करके, द्विजशरीर प्राप्त करनेकी चेष्टा न करके जो ईर्ष्यावश द्विजकी निन्दा किया करते हैं वे द्विजनिन्दक हैं। कर्ममार्गके दो साधन हैं—ब्राह्मण और गौ। ब्राह्मणमें मन्त्र और गौमें गव्य निहित है। भैंस-बकरीमें भी दूध होता है, क्षत्रिय-वैश्यमें भी मन्त्र है पर वे यज्ञ-यागादिके कामके नहीं हैं। अतः गौ-ब्राह्मणकी निन्दा प्रकारान्तरसे वेदमार्गकी ही निन्दा हुई। बहुनरक अर्थात् बहुत प्रकारके नरक। (ख) *'नरक भोग करि जग जनमइ'* इति। भाव कि नरक भोगनेके लिये यातना-शरीर मिलता है, जो लोकोत्तर पीड़ा-सहनके समय टिक सके। यथा—*'जानत हौं मोहि दीन्ह बिधि यहु जातना सरीरु॥'* (२। १४६) नरकभोग समाप्त होनेपर वह यातना-शरीर नष्ट हो जाता है और उसी नरकभोगके संस्कारानुकूल उसे संसारमें जन्म लेना पड़ता है। जिस भाँति पात्रमेंसे घी निकाल लेनेपर भी उस पात्रमें घीका संस्कार रहता है, उसी प्रकार पुण्य-पापका भोग समाप्त होनेपर भी उनका संस्कार रह जाता है। उसी संस्कारोचित योनिमें फिर जन्म होता है। (ग) *'बायस सरीर धरि'*—भाव कि द्विजनिन्दकोंको अपना बड़ा भारी पक्ष रहता है, उसके आगे वे वेद-शास्त्रका अनादर करते हैं और स्वयं नवीन धर्म शास्त्रकर्ता बननेका दावा कर बैठते हैं, सत्य वचनपर विश्वास नहीं करते, कौवेकी तरह डरा करते हैं कि कहीं ऋषियोंने वेद-शास्त्र ब्राह्मणोंके लाभके लिये तो नहीं बनाया। यथा—*'सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला। सपदि होहु पच्छी चंडाला॥ सत्य बचन बिस्वास न करई। बायस इव सब ही ते डरई॥'* वायसगुणसम्पन्न होनेसे उन्हें वही शरीर मिलता है।

सुर श्रुति निंदक जे अभिमानी। रौरव नरक परहिं ते प्रानी॥ २५॥
होहिं उलूक संतनिंदारत। मोह निसा प्रिय ग्यानभानु गत॥ २६॥
सब कै निंदा जे जड़ करहीं। ते चमगादुर होइ अवतरहीं॥ २७॥

अर्थ—जो अभिमानी प्राणी देवताओं और श्रुतियोंकी निन्दा करते हैं वे रौरव नरकमें पड़ते हैं॥ २५॥

संतनिन्दामें जो तत्पर रहते हैं वे उल्लू होते हैं। उन्हें मोहरूपी रात्रि प्रिय है, ज्ञानरूपी सूर्य जाता रहा (अस्त हो गया)॥ २६॥* जो मूर्ख सबकी निन्दा करते हैं, वे चमगादड़ होकर जन्म लेते हैं॥ २७॥

नोट—सुर-श्रुति-निन्दकको अभिमानी, संतनिन्दारतको मोहनिशाप्रिय अर्थात् अज्ञानी और सबकी निन्दा करनेवालेको जड़ कहा। भाव कि राज-धन-ऐश्वर्य इत्यादिके अभिमानवश मतवादसे सुर और श्रुतिकी निन्दा करते हैं। संत ज्ञानवान् होते हैं। ज्ञानको सूर्य कहा है—*'जासु ग्यान रबि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥'* संतोंके वचन-प्रकाशसे हृदयकी कली खिलती है। इनको ज्ञान भाता नहीं, इसीसे निन्दा करते हैं। उलूकको सूर्य नहीं भाता। अतः ये उलूक होते हैं। निन्दा महापाप है, इस बातको नहीं जानते; इसीसे सबकी निन्दा करते हैं। अपनी हानि नहीं समझते, अतः जड़ कहा। (प्र० सं०) उसकी सोलहो आने प्रवृत्ति जड़ताकी ओर है, उसे चेतनोपयोगी शरीरमात्र किसी भाँति मिल गया है पर है वह जड़ और आत्मघाती। यथा—*'ते जड़ जीव निजातमघाती। जिन्हहिं न रघुपति कथा सोहाती॥'* (वि० त्रि०)

रा० प्र०—रौरव नरकमें पड़ते हैं, अर्थात् उद्धार किसी तरह नहीं। जिनसे ज्ञान-नेत्र मिलते हैं उन्हीं संतोंकी निन्दा करते हैं अतः अन्धकार-प्रिय उलूकतन मिला। सबकी निन्दा करते, गुणको भी अवगुण कहते, इससे चमगादड़ हुए कि उलटे टँगे, जिस मुँहसे रस भोगे उसीसे मल उगले।

खर्रा—१ ज्ञानभानुगत=ज्ञानरूपी भानुसे बहिर्मुख है। २—यह प्रासंगिक निन्दकोंका कर्मविपाक कहा।

वि० त्रि०—*'सुर श्रुति निंदक—'* इति। १ (क) वेद ही आदिशास्त्र है, वेदके ज्ञानसे ही संसारमें प्रकाश है। जितने प्रचलित मत हैं उनमेंसे यदि वेदोदित धर्म निकाल लिया जाय तो उनमें कुछ भी नहीं रह जाता; अतः वे सब वेदोपजीवी हैं। उस परमेश्वरके आदि-उपदेशकी जो निन्दा करता है, वह श्रुतिनिन्दक है। वेद-प्रतिपाद्य देवतालोग ही इस संसारके अधिकारी (ईश्वरसे नियुक्त अफसर) हैं, जो चारों ओरसे विश्वकी रक्षा किया करते हैं। यथा—*'रबि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिन काल जम सब अधिकारी॥'* (ख) *'जे अभिमानी'*—भाव कि ऐसे वेद और देवोंकी निन्दा अधम अभिमानी ही कर सकता है। जिस सूर्यके अनुग्रहसे वह देखता है, जिस चन्द्रके अनुग्रहसे मनन करता है, जिस पवनके अनुग्रहसे उसके शरीरमें श्वास चलता है, जिस कुबेरकी कृपासे उसे धन प्राप्त होता है, जिस अग्निकी कृपासे उसे वाणी मिली है, जिस कालकी कृपासे उसका जीवन है, जिस यमके अनुग्रहसे अबाधित जीवन व्यतीत कर रहा है उन्हीं देवताओंकी निन्दा करनेवाले और जिस ज्ञान-सूर्यसे उसे ज्ञान-प्रकाश मिल रहा है उसकी भी निन्दा करनेवालेको रौरव नरकके सिवा और स्थान कहाँ है? यहाँ रौरव शब्द उपलक्षण है; रौरव, महारौरव, कालसूत्र, अन्धतामिस्र तथा अवीचि सबका बोधक है। अवीचि अन्तिम नरक झूठोंके लिये है, वहाँतक उसको जाना ही है। रौरवसे आरम्भ करके अवीचिमें स्थिर होता है। वहाँसे निकलनेकी अवधि ग्रन्थकार नहीं देते।

२ *'होहिं उलूक संतनिंदारत।——'* इति। (क) जो बड़े उपकारी हैं, जिनके रामचरितामृतकी वर्षा करनेसे जगत् प्लावित हो रहा है, जिनके सद्‌गुणोंसे संसारमें मङ्गल है उनकी निन्दामें जो लगे हुए हैं वे संतनिन्दारत हैं। भाव कि संतोंका यश किसीके रोके नहीं रुकता पर वे उसके रोकनेमें भी कुछ उठा नहीं रखते, दिन-रात यत्नशील रहते हैं। (ख) जो जैसा चाहता है वैसा ही हो जाता है। यथा—*'जेहिकें जेहिपर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू॥'* संतनिन्दारत *'मोह निसा प्रिय ज्ञानभानु गत'* हैं। वे प्रकाश नहीं चाहते, अन्धकार चाहते हैं, इसीसे उसे उल्लूकी योनि मिलती है। उल्लूयोनिप्राप्तिको दण्ड भी कहा जाता है, पर वस्तुतः यह संतनिन्दकके चाहे हुए कर्मका वास्तविक परिणाम है। (ग) *'मोह निसा प्रिय'*—भाव कि इसे अविद्यान्धकारमें पड़े रहना ही प्रिय है और संत उसके नाशक हैं, इसीसे उसे संतोंसे द्रोह है। संतोंका कुछ कर तो सकता नहीं, अतः निन्दा ही करता फिरता है, लोकमतको उनके विरुद्ध खड़ा करनेका प्रयत्न करता है।

* १—ज्ञानरूपी रवि जिनके मतमें हैं ही नहीं—(पं०)। २—ज्ञानरूप सूर्य उन्हें प्यारा नहीं हैं—(शिला)। ३—ज्ञानरूपी सूर्यके अस्त होनेपर जो मोहनिशा होती है, वही उन्हें प्यारी है। (वि० त्रि०)

३ *'सब कै निंदा——'* इति। (क) भाव कि हर, गुरु, द्विज, सुर, श्रुति और संत इनमेंसे एक-एककी निन्दा करनेवालेकी गति पृथक्-पृथक् कहकर अब सबकी निन्दा करनेवालोंकी गति कहते हैं। सबकी निन्दा करनेवालोंमें उपर्युक्त चारों प्रकारके निन्दकोंके दोष मौजूद हैं। (ख) **'चमगादुर होइ——'**—चमगादड़ देहमें ही उपर्युक्त चारों निन्दकोंकी प्रवृत्ति चरितार्थ हो सकती है। चमगादड़ मेढककी भाँति व्यर्थ शब्द करता, काकके समान छली, मलिन आदि है, मुखसे मल-त्याग करता है, उलटा टँगा रहता है, उल्लूकी भाँति उसे अन्धकार प्रिय है। (ग) पापियोंके मुकुटमणि होनेसे उनके जन्मको अवतार कहा।

करु०—सबकी निन्दाका फल चमगादरतन मिला। जिस मुखसे निन्दा की वह मुख गुदा कर दिया गया; अब उसीसे भोजन करते हैं और उसीसे मल त्याग करते हैं। दूसरा दण्ड यह कि सर्वदा उलटे टँगे रहते हैं। मुख नीचे पैर ऊपर।—भाव कि निन्दकका मुख ही गुदा है—(वै०)।

सुनहु तात अब मानस रोगा। जिन्ह* ते दुख पावहिं सब लोगा॥ २८॥
मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते† पुनि उपजहिं बहु सूला॥ २९॥
काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥ ३०॥
प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजै सन्यपात दुखदाई॥ ३१॥

अर्थ—हे तात! अब मानसरोग सुनो, जिनसे सभी लोग दु:ख पाते हैं॥ २८॥ मोह सब रोगोंकी जड़ है। फिर उनसे बहुतसे शूल उत्पन्न होते हैं॥ २९॥ काम वात है, अपार लोभ कफ है और क्रोध पित्त है जो नित्य छाती जलाये रहता है॥ ३०॥ हे भाई! यदि ये तीनों भाई प्रीति करते हैं तो दु:ख देनेवाला सन्निपात उत्पन्न होता है॥ ३१॥

नोट—१ *'सुनहु तात——'* इति। (क) श्रीगरुड़जीने प्रश्न किया था कि *'मानस रोग कहहु समुझाई॥'* इस अत्यन्त आवश्यक सातवें प्रश्नका जिसका भवसागरतरणसे सम्बन्ध है, उत्तर दे रहे हैं। अतएव श्रोताको पुन: सावधान कर रहे हैं। अत: कहा कि **'सुनहु'**। (ख) *'मानस रोगा'* अर्थात् सूक्ष्म शरीरके रोग। (ग) *'जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा'* इति। भाव कि सब शारीरिक रोग सबको नहीं होते, पर सभी मानसिक रोग न्यूनाधिक मात्रामें सबको होते हैं। सभी रोग दु:खके देनेवाले हैं, यथा—**'रोगा दु:खस्य दातारो ज्वरप्रभृतयो हि ते'** (माधवनिदाने)। पर शारीरिक रोग बहुतोंको आजीवन नहीं होते और न सब रोग सबको होते हैं, कोई किसीको, कोई किसीको होते हैं। अत: उनका दु:ख सबको नहीं प्राप्त होता। पर मानस-रोग सभीको होते हैं, यथा—*'हहिं सब के लखि बिरलेन्ह पाए।'* (१२२। २) अत: इनसे सब लोगोंका दु:ख पाना कहा। (ख) मानस-रोगोंको यहाँ साङ्गोपाङ्ग रूपकसे वर्णन करते हैं।

वि० त्रि०—पूर्व संवाद ज्ञानभक्तिभेद प्रकरणमें ही इन सातों प्रश्नोंके बीज हैं। *'सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपा हृदय बस आई॥'* (११७। ९) सुननेपर यह प्रश्न चित्तमें उठा कि दुर्लभ गतिके साधनके उपयुक्त कौन शरीर है? *'तब फिर जीव बिबिध बिधि पावै संसृति क्लेस।'* (११८) सुननेसे प्रश्न उठा कि 'बड़ा दु:ख कौन है?' गरुड़जी पक्षिराज हैं। राजाओंका सीमापर बहुत ध्यान रहता है अत: सातों प्रश्न सीमा-सम्बन्धी ही किये *'तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई।'* (११९। ६) ये तीसरा प्रश्न उठा कि 'कौन सुख भारी है?' *'सो बिनु संत न काहू पाई।'* (१२०। १८) से प्रश्न उठा कि 'संत-असंतका स्वभाव कैसा होता है?' *'परमधर्ममय पय दुहि भाई।'* (११७। १३) से प्रश्न उठा कि 'कौन अघ परम कराल है?' और *'ब्यापहिं मानस रोग न भारी।'* (१२०। ८) से यह प्रश्न उठा कि 'मानसरोग क्या है?' यह प्रश्न श्रोताके मनमें पहले ही उठा था, पर प्रश्नके क्रमके अनुसार अब उत्तर देते हैं।

२ *'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।——'* इति। (क) *'सकल ब्याधिन्ह'* से तात्पर्य शारीरिक और

---

* 'जेहि तें'। † 'तेहि तें'—रा० गु० द्वि०।

मानसिक दोनों प्रकारकी व्याधियोंसे है। रोगविज्ञान निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय और सम्प्राप्ति इन पाँचोंसे होता है। यहाँपर यथासाध्य निदान, रूप और उपशय कहा जायगा, पूर्वरूप और सम्प्राप्तिका अनुमान कर लेना पड़ेगा। (ख) सम्पूर्ण मानसिक रोगोंका मूल मोह (अज्ञान) है और समस्त शारीरिक रोगोंका मूल प्रज्ञापराध है। यह प्रज्ञापराध भी अज्ञानके ही अन्तर्गत है, अतः सब व्याधियोंका मूल मोह ही हुआ। (ग) *तिन्ह ते पुनि उपजहिं*—'—भाव कि प्रज्ञापराधसे मिथ्याहार-विहारका सेवन होता है और उससे आठ प्रकारके शूल होते हैं। इसी भाँति अज्ञानसे विषयमें प्रवृत्ति होती है और उस प्रवृत्तिसे मानसिक शूल उत्पन्न होते हैं। *'बहु सूला'* का भाव कि शारीरिक शूलोंकी तो गिनती कर ली गयी कि ये आठ प्रकारके हैं पर मानसिक शूलोंकी गिनती नहीं हो सकती।

३—*'काम बात कफ—'* इति। (क) यह स्थूल शरीर वात, पित्त और कफसे ही धृत है, परन्तु ये ही वात, पित्त, कफ जब साम्यावस्था छोड़कर कुपित हो जाते हैं तो शरीरमें रोग उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार यह मानसिक शरीर भी काम (राग), क्रोध (द्वेष) और लोभ (तृष्णा) से धृत है; परन्तु ये ही काम, क्रोध, लोभ जब उचित बर्तावको त्यागकर दुष्ट होते हैं तो अनेक मानसिक रोगोंके कारण होते हैं। इनमें कामकी उपमा वातसे दी गयी है। पित्त पंगु है, कफ पंगु है, वात मात्र गतिशील है। यह जहाँ-जहाँ पित्त-कफको ले जाता है, वहीं ये बादलकी भाँति आकर वर्षा करने लगते हैं। इसी भाँति मानसिक शरीरमें काम है, यह क्रोध और लोभका नेता है। [वायुकी प्रकृति शीतल है, वैसे ही कामकी प्रवृत्ति भी प्रीत्यात्मक होती है। (सि० ति०)] (ख) *'कफ लोभ अपारा'*—कफको अपार कहा, क्योंकि उसका पार देहीको नहीं लगता, अन्तमें कफ ही प्राण वियोगका हेतु होता है, मरणासन्न अवस्थामें कफ घेर लेता है। फिर उसे मनुष्य नहीं उल्लङ्घन कर सकता। इसी भाँति मानसिक शरीरमें लोभ है। ब्रह्माण्डका प्रभुत्व मिल जाय तो भी यह तृप्त नहीं होता। *'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।'* लोभसे ही मनका पतन होता है। (ग) *'क्रोध पित्त'* क्रोधको अग्नि कहा है और पित्त भी अग्नि है। दोनों दाह उत्पन्न करते हैं, दोनोंसे शरीर जलने लगता है, भ्रम होता है, मूर्छा होती है। दोनोंके वेगमें छाती जलती रहती है। यह समानता है।

प० प० प्र०—काम, लोभ, क्रोधको वात, कफ और पित्तसे उपमित करनेमें कविकी आयुर्वेद विशारदत्वकी प्रतीति होती है। कामको प्रथम कहा क्योंकि यह क्रोध और लोभका जनक है, प्रेरक है, कफ और पित्त स्वयं जड़ हैं। वे वात (वायु) की प्रेरणासे ही शरीरमें कार्य करते रहते हैं। वातवश जीवको भय, लज्जा आदि कुछ नहीं रह जाते और **'कामातुराणां न भयं न लज्जा।'** कामका अर्थ इच्छा, वासना लेना भी उचित है। गर्भोपनिषद्‌में कफ-पित्तादिका सामान्य प्रमाण दिया गया। जैसे, कफ १ आढक (=४ प्रस्थ=४ सेर ५३ तोले ४ माशे; पित्त, १ प्रस्थ (=४ कुडव=५३ तोला ४ माशा) । कफ चिकना होता है, शीघ्र बाहर निकलता नहीं, शरीरमें गुप्त रहता है, बढ़नेपर क्षुधाको मन्द कर देता है। यही लोभके गुण लोभीमें देखे जाते हैं। कफका प्रमाण शास्त्रोंमें मिलता है पर लोभका कोई प्रमाण नहीं, सीमा नहीं; इसीसे इसे *'अपारा'* कहा—*'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।'* लोभ कितना दुर्जन है यह स्कन्दपु० कुमार ३। २७७—८७ तक देखिये।

पित्त जल और तेजका संयुक्त कार्य है। इच्छा (काम) का प्रतिबन्ध होनेपर उसका ही रूपान्तर क्रोधमें होता है। इच्छित वस्तु मिलनेपर इच्छाका रूपान्तर लोभमें होता है। पित्त कडुवा, खट्टा, तीखा होता है। उसी प्रकार क्रोधका प्रत्यक्ष प्रथम अनुभव कटु-कठोर-भाषण, *'क्रोध के परुष बचन बल'* है। तेज तत्त्वका कार्य पित्त है, इसके बढ़नेसे छातीमें जलन होती है। वैसे ही क्रोधसे छाती जलती है। यथा—*'दहै रिस छाती।'* (१। २८०। १) पित्त बढ़नेपर भी अपार नहीं, कुछ कालके अनन्तर घट जाता है, वैसे ही क्रोध भी शान्त हो जाता है।

सन्निपात=त्रिदोषोंका कुपित होना। प्रत्येक व्याधिमें सन्निपात हो सकता है। सन्निपातज व्याधि असाध्य होते हैं। (माधवनिदान देखिये) सन्निपात ज्वरके मुख्य चौदह प्रकार गिनाये गये हैं। और फिर इनमेंसे हर एकमें अनेक भेद हैं।

वि० त्रि०—*'प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई—'* इति। (क) *'जौं—'* का भाव कि वात, पित्त और कफ तीनों भाई हैं, उसी शरीरमें रहते हैं; पर तीनों प्रीति नहीं करते। वे अकेले ही रोग उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं, या दो-दो मिलकर रोग उत्पन्न करते हैं। अर्थात् वात-पित्त प्रधान, कफ-पित्त प्रधान, वात-कफ प्रधान होकर रोग उत्पन्न करते हैं। यदि आपसमें प्रीति करके तीनों प्रधान हो जायँ तो मनुष्य कालवश हो जाता है। इसी भाँति कोई कामी, कोई क्रोधी और कोई लोभी होता है। किसीमें काम-क्रोध दोनों बढ़ जाते हैं, किसीमें क्रोध-लोभ, किसीमें काम-लोभ हो जाता है। यदि काम-क्रोध-लोभ तीनों बढ़ें तो मानसिक शरीरका पतन अनिवार्य है। (ख) *'सन्यपात दुखदाई'*—तीनोंके प्रीति करनेपर अभिन्यास सन्निपात पैदा होता है। यह महादु:खदायी है, प्राण लेकर ही छोड़ता है। सन्निपातमें प्रलाप भी होता है। ठीक यही गति मानसिक सन्निपातकी भी है। *'सन्निपात जल्पसि दुर्बादा। भएसि कालबस सठ मनुजादा॥'* [विशेष *'गुनकृत सन्यपात नहिं केही।'* (७१। १) में देखिये। सन्निपातमें उचित-अनुचितका विचार, लज्जा, मर्यादा कुछ नहीं रहती।]

वि० टी०—काम-क्रोधके कुपित होनेका यह कारण प्राय: माधवनिदानसे मिलता है, जिसमें यों लिखा है—'**कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं त्रयो मला:**' अर्थात् काम, शोक और भयसे वातका प्रकोप होता है तथा क्रोधसे पित्त भड़कता है।

पं०—वात-पित्त-कफसे सन्निपात होता है, वैसे ही काम-क्रोध-लोभसे महापातकी होता है।

बिषय मनोरथ दुर्गम नाना। ते सब सूल नाम को जाना॥ ३२॥
ममता दादु कंडु इरषाई। हरष बिषाद गरह बहुताई॥ ३३॥

शब्दार्थ—दादु (दद्रु)—एक चर्मरोग जिसमें शरीरपर उभरे हुए ऐसे चकत्ते पड़ जाते हैं, जिनमें बहुत खुजली होती है। यह विशेषत: कमरके नीचे जंघेके जोड़के आसपास होती है जहाँ पसीना होकर मरता है। यह प्राय: बरसातमें गन्दे पानीके संसर्गसे होती है। दाद दो प्रकारकी होती है, एक कागजी दूसरी भैंसिया। १८ प्रकारके कोढ़ोंमें भी इसकी गिनती है। दद्रु-मण्डल लाल होता है। यथा—'**सकण्डुरागपिटिकं दद्रुमण्डलमुद्गतम्।**' इति। (माधवनिदान) **कंडु** (कण्डु)=खाज, खुजली। इसमें छोटी-छोटी बहुत-सी फुन्सियाँ होती हैं। इनसे स्राव भी होता है, खुजली और जलन होती है। दाद और खाजमें भेद यह है कि खाजमें छोटी फुन्सियाँ तो बहुत होती हैं पर उनका कोई मण्डल नहीं होता और दादमें मण्डल होता है। खुजलीमें दाह होता है, दादमें नहीं। यथा—'**नामतो विंशतिविधा बाह्यस्तत्र मलोद्भवा:। तिलप्रमाणसंस्थानवर्णाः केशाम्बराश्रयाः॥ बहुपादाश्च सूक्ष्माश्च यूकालिक्षाश्च नामत:। द्विधा ते कोठपिडिकाः कण्डूगण्डान् प्रकुर्वते॥ सूक्ष्मा बह्व्य: पीडका: स्राववत्य: वामेत्युक्ता: कण्डुमत्य: सदाहा:।**' इति। (माधवनिदान) यह भी क्षुद्र कुष्ठ है, जूँ और लीख इसके भी कारण हैं। *'गरह'*—महानुभावोंने *'गरह'* के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। कोई तो इसे घेघा कहते हैं। यह गलेका रोग है जिसमें गलेमें सूजन होकर बतौड़ा-सा निकल आता है। कोई कंठमाला, गंडमाला वा गलगंड कहते हैं। इस रोगमें गलेमें छोटी-छोटी बहुत-सी फुड़ियाँ लगातार मालाकी तरह एक पंक्तिमें निकलती हैं। यह रोग भी बड़ी कठिनतासे अच्छा होता है, बहुत गहरायीतक जाता है। माधवनिदानमें लिखा है कि दूषित वात-कफके गलेके इकट्ठा होनेसे सूजन होकर यह रोग उत्पन्न हो जाता है—'**वात: कफश्चापि गले प्रदुष्टो मन्येत संश्रित्य तथैव भेद:। कुर्वन्ति गंडं क्रमश: स्वलिङ्गैः समन्वितं तद् गलगण्डमाहु:।**' और कोई इसको ग्रहका अपभ्रंश मानते हैं और अर्थ करते हैं कि 'हर्ष-विषाद ग्रहोंकी अधिकता है।' कोई (रा० प्र०) इसका ग्रहनी (संग्रहनी) रोग अर्थ करते हैं। पंजाबीजी 'गठिया वात' अर्थ लिखते हैं और कण्डुका अर्थ रघुरक रोग करते हैं। बैजनाथजी लिखते हैं कि *'गरह'* गलेका नाश करनेवाला घेघा रोग है। यह शोथरोगोंमें है। कफ, वात इसका मूल है। पानीके विकारसे उत्पन्न होता है, गला बढ़कर लटक पड़ता है, भीतर नसें पिराती हैं। यहाँ रोगोंका साङ्गरूपक है। इससे अधिक लोग *'गरह'* से 'गलेका रोग' अर्थ करते हैं। और कहते हैं कि ग्रह अर्थ सङ्गत नहीं जान पड़ता, क्योंकि नवग्रहसे यहाँ प्रयोजन नहीं। हिन्दी शब्दसागरमें इसका अर्थ 'ग्रह' किया गया है। श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि वैद्यकमें

देव, असुर, गन्धर्व, यक्ष, पिशाच, राक्षसादि बहुत-से ग्रह कहे गये हैं। यथा—'**देवग्रहाः पौर्णामास्यामसुराः सन्ध्ययोरपि। गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्च प्रतिपद्यथ।**' इत्यादि। (माधवनिदान) ये उन्माद उत्पन्न करते हैं। किसी ग्रहमें मनुष्य हर्षित होता है और किसीमें विषादयुक्त, पर है उन्माद ही। (वि० त्रि०)

उन्मादका वर्णन इस प्रकार है—'**विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम्। उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः।**' इसमें देव, गुरु और द्विजोंका अपमान करनेसे जो उन्माद-रोग होता है उसमें प्रत्यक्ष कारण सूर्यादि नवग्रह नहीं बल्कि देवताग्रह, असुरग्रह, गन्धर्वग्रह, यक्षग्रह, पितृग्रह, सर्पग्रह, राक्षसग्रह, पिशाचग्रह और भूतग्रह—ये नौ प्रकारके ग्रह (ग्रहण करनेवाले, पकड़नेवाले) हैं, जो उस मानव जीवको लगते हैं, वे ही '*गरह*' हैं। माधवनिदान उन्मादनिदान (श्लोक १७ से २५) तक देखिये। इनके अतिरिक्त बालग्रह भी हैं, इनकी संख्या भी नौ है। उन्मादरोगका सामान्य लक्षण माधवनिदानमें ये हैं—'**धीर्वित्तमः सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च। अबद्धवाक्यं हृदयं च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम्।**' ये सब लक्षण हर्ष-विषादमें देखे जाते हैं। (प० प० प्र०) '**बहुताई**'=गहराई, यथा—'*चितव कृपाल सिंधु बहुताई।*' (६। ४। ३)=बहुतायत।

अर्थ—अनेक प्रकारके कठिनतासे प्राप्त होनेवाले विषयोंके जो मनोरथ हैं वे ही सब प्रकारके शूल हैं जिनके नाम कौन जानता है॥ ३२॥ ममता दाद है, ईर्ष्या (उस दादमेंकी) खाज है, हर्ष और विषाद गहरा गलेका रोग वा ग्रहोंकी बहुतायत है॥ ३३॥

वै०—'*बिषय मनोरथ......।*' शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, इन्द्रियोंके विषय हैं। इनकी प्राप्तिके लिये अनेक प्रकारके मनोरथ हृदयमें उठा करते हैं। दुर्गम—जिनकी प्राप्ति कठिन है जैसे नृत्य राग, षट्‌रस दिव्य भोजन, भूषण, वसन, शय्या इत्यादि मनोरथ प्रत्यङ्ग शूलपीड़ा है।—[जिस इन्द्रियके विषयका जो मनोरथ है वह उसी इन्द्रियका शूल है। जैसे रूप विषयका मनोरथ हुआ तो उसे नेत्र इन्द्रियका शूल समझना चाहिये; इत्यादि प्रकार औरोंके भी समझ लें]

वि० त्रि०—'*दुर्गम नाना*'—यद्यपि विषय पाँच माने गये हैं, एक-एकके सहस्रों भेद हैं। विषयभेदसे मनोरथके भी असंख्य भेद हो गये हैं। दुर्गमसे जनाया कि विषयकी प्राप्तिसे सन्तोष नहीं होता, तृप्ति होती नहीं, चाह बढ़ती जाती है, बाधाओंकी कमी नहीं रहती। '*ते सब सूल*'—भाव कि एक भी मनोरथ सुखदाई नहीं है। मनोरथ ही दुःखरूपमें परिणत हो जाता है। यद्यपि वातकृत शूल, पित्तकृत शूल, कफकृत शूलके पृथक्-पृथक् लक्षण हैं, पर सबोंका प्रभु वात ही है। इसी भाँति सूक्ष्म शरीरमें भी कामकृत मनोरथ, लोभकृत मनोरथ, क्रोधकृत मनोरथ पृथक्-पृथक् हैं, फिर भी सबका मनोरथ काम ही है। '*नाम को जाना*'—भाव कि संख्या इतनी अधिक है कि इनके पृथक् न तो कोई नाम रख सका और न कोई स्मरण ही कर सकता है। जब नाम नहीं तब कोई जान कैसे सके?

नोट—'*ममता दादु*'—ममताको दाद कहा, क्योंकि जैसे दाद खुजलानेमें बहुत प्रिय लगता है, उससे बड़ा सुख मिलता है, जितना ही खुजलाया जाय उतनी ही खुजलानेकी इच्छा बढ़ती है, पर पीछे बड़ा कष्ट होता है; वैसे ही किसीपर ममत्व हुआ तो वह पहले प्रिय लगता है। ममताके संघर्षमें बड़ा सुख मिलता है और बढ़ता ही जाता है। पर अंतमें बड़ा कष्ट होता है। दाद शरीरमें होती है वैसे ही शरीरसे उत्पन्न बाल-बच्चों तथा सम्बन्धियोंमें ममत्व होता है। जैसे ही ये बाल-बच्चे, सम्बन्धी अथवा प्रिय पदार्थ किसी योगसे जाता रहता है वैसे ही अनेक दुःख होता है। इत्यादि (करु० वि० त्रि०)। दादमें लालिमा और मण्डलाकार वृद्धि होती है, ममतामें रजोगुण लालिमा है। ममताका मण्डल माता, पिता, वस्त्र, पात्रादि, धन, स्त्री, पुत्र, कन्या आदि है, जो बढ़ता ही जाता है। (प० प० प्र०)

रा० शं०—विषयमनोरथको शूल कहा क्योंकि प्रथम तो मिलनेकी चिन्ता, फिर उपायमें दुःख और न प्राप्त होनेपर शोक होता है।

वै०—'*ममता दादु।*' दाद त्वचारोग है, विकार खून इसका मूल है, भीगे वस्त्रका संग्रह पाकर देहकी गर्मीसे अंकुरित होता है। मानसमें '*ममता*' रोग देहसम्बन्धमें है, प्रणय इसका मूल है अर्थात् अपना मान

लेना स्नेहसंग्रहचित्तचाह बढ़नेसे समीपता प्रिय लगती है, उस प्रिय वस्तुकी हानि वियोगसे दुःख होता है। *'कंडु इरषाई'*—खाज भी त्वचारोग है, रक्तविकार मूल है, यह रोगीके संग्रहसे अंकुरित होता है। (छूतकी बीमारी है) ईर्ष्या भी कुसंगद्वारा कुटिल स्वभाव होनेपर थोड़े ही कारणसे मनमें होने लगती है, इसका खेद बराबर मनमें बना रहता है, यही खाजका खुजलाना है।

वि० त्रि०—*'कंडु इरषाई'* इति। दूसरेका उत्कर्ष न सह सकना ईर्ष्या है। यथा—*'देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥'* (२। १२। ६)*'पर संपदा सकहु नहिं देखी। तुम्हरें इरिषा कपट बिसेषी॥'* (१। १३६। ७) ईर्ष्याके विषयोंमें कमी नहीं, इसीसे छोटी-छोटी फुंसियोंकी भाँति मानसिक शरीरमें विकार होता है और उन विकृत स्थलोंसे मलस्राव होता है। ममतावाली वस्तुएँ अपने गोल (मण्डल) की हैं, ईर्ष्यावाली नहीं हैं, इसलिये ईर्ष्यामें मण्डल नहीं होता। ईर्ष्यामें दाह होना स्वाभाविक है। इसलिये ईर्ष्याको कण्डु कहा।

'हरष बिषाद गरह......' इति। इष्टप्राप्ति या इष्टप्राप्तिकी आशासे हर्ष और इष्टके वियोग तथा वियोगके भयसे विषाद होता है। हर्ष-विषाद भी मनोविकार-विशेष हैं। इनमें मनुष्य उन्मत्त हो जाता है। इसलिये इनकी उपमा ग्रहकी बहुताईसे दी गयी है। जिस प्रकार उन्मादमें मनुष्य ग्रहोंकी प्रकृतिके अनुसार उत्तम, मध्यम, निकृष्ट चेष्टाएँ करता है पर वे सब चेष्टाएँ उन्मत्त चेष्टा ही हैं; इसी भाँति उत्तम, मध्यम, अधम इष्टानुसार हर्ष-विषादकी अनेक चेष्टाएँ होती हैं, पर वे सब चेष्टाएँ उन्मत्त चेष्टाकी भाँति परिणाममें दुःख देनेवाली हैं। इसीलिये हर्ष-विषादको ग्रहकी बहुतायत कहा। हर्ष (कामनाकी पूर्त्तिसे) विषाद (वाञ्छितकी हानिसे)।

परसुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई॥ ३४॥
अहंकार अति दुखद डमरुआ*। दंभ कपट मद मान नेहरुआ॥ ३५॥

अर्थ—पराया सुख देख जो जलन होती है, वह क्षयी रोग है। दुष्टता और मनकी कुटिलता कुष्ठ (कोढ़) रोग हैं॥ ३४॥ अहङ्कार अत्यन्त दुःखद डमरुआ रोग है और दंभ, कपट, मद, मान नेहरुआ रोग है॥ ३५॥

शब्दार्थ—*'छई'* (क्षयी)—यह एक प्रसिद्ध राजरोग है जिसमें रोगीका फेफड़ा सड़ जाता है और सारा शरीर धीरे-धीरे गलता जाता है। इसमें रोगीका शरीर गर्म रहता है, ज्वर सदा बना रहता है, उसे खाँसी आती है और उसके मुँहसे बदबूदार कफ निकलता है, जिसमें रक्तका भी कुछ अंश रहता है। धीरे-धीरे रक्तकी मात्रा बढ़ती जाती है। वेगावरोध, धातुक्षय, दुःसाहस, विष-भक्षण, बहुत अधिक वा बहुत कम भोजन इत्यादिसे इसकी उत्पत्ति कही गयी है। आरम्भमें यदि चिकित्सा ठीक हो तो रोगीके बचनेकी आशा है नहीं तो यह रोग असाध्य हो जाता है। *'कुष्ट'*—यह रक्त और त्वचा-सम्बन्धी रोग है। संक्रामक (छूतसे फैलनेवाला) और पुरुषानुक्रमिक होता है। यह १८ प्रकारका कहा गया है जिसमेंसे सात प्रकारके महाकुष्ठ कहे गये हैं जो साध्य हैं [ये फूटकर बहने लगते हैं—(वै०)] और शेष ११ क्षुद्रकुष्ठ कहे गये हैं जो असाध्य हैं। [ये फूटकर बहते नहीं, त्वचामें बंद रहते हैं—(वै०)] इस रोगमें प्रथम चमड़ा लाल हो जाता है और उसमें बहुत जलन होती है। साधारणतया यह दो प्रकारका होता है, एक श्वेत दूसरा गलित, जिसमें हाथ-पैरकी अँगुलियाँ गल-गलकर गिर जाती हैं। यह रोग सब रोगोंसे विशेष घृणित है। कुष्ठीको कोई पास बैठने नहीं देता। *'डमरुआ'*—यह वातका एक रोग है जिसमें शरीरके जोड़ जकड़ जाते हैं और उनमें दर्द होता है। गठिया—यह अर्थ हिंदी शब्दसागरका है। (२) वह रोग जिसमें पेट डमरूकी नाईं फूल जाता है अर्थात् प्लीहोदर वा कछुई रोग। दाह उत्पन्न करनेवाले और पेट फुलानेवाले पदार्थोंके खानेवालोंके कफ और रक्त बिगड़कर बर्वटको बढ़ा देते हैं जिससे रोगी बहुत दुःखित रहता है। फिर पाचनशक्ति मंद पड़ जाती है, रोगी पीला पड़ जाता है। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'इसे वैद्यकमें मेदरोग कहते हैं। मेद इसकी मूल है। कुपथ्यसे मेद बढ़कर पवन रोककर जठराग्निको बढ़ाती है। तब अधिक भोजनसे मेद बढ़ता है, जिससे बड़ी पीड़ासहित पेट बढ़ता जाता है और रुधिर, मांस, वीर्य्य घटता जाता है जिससे निर्बलता और दुर्बलता होती जाती है।' श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि काशीके एक प्रसिद्ध अनुभवी वृद्ध वैद्य पं० भगवतीप्रसाद मिश्रजीका

* हकरुआ—(का०)। डहरुआ—(पाठान्तर)।

मत है कि डमरुआ गलगण्ड रोग है। **'निबद्धश्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले'** यह गलगण्डका लक्षण है। बँधा हुआ शोथ जो गलेमें मुष्ककी भाँति लटकता है, उसे गलगण्ड कहते हैं। मुष्कका सादृश्य डमरूसे है, उसकी भाँति होनेसे इस रोगको डमरुआ कहे जानेकी बहुत सम्भावना है। लक्षण भी मिलता है। गलगण्डके रोगीको सुई चुभानेकी भाँति पीड़ा होती है, उसका रूप अभिमानी-सा हो जाता है। उसको देखनेसे लोगोंको चिढ़-सी मालूम होती है। रोग बढ़ जानेसे श्वास लेनेमें पीड़ा होती है। इसलिये अहङ्कारको डमरुआ कहा।

प० प० प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि जो अनेक अर्थ ऊपर दिये गये हैं उनमें और अहङ्कारमें कोई साम्य नहीं देख पड़नेपर मेरे विचारमें कैन्सर (Cancer) ही अर्थ आया। इसका आधार भी स्वर्गीय डॉ० श्री० म० वैद्य एल० एम० एस० के माधवनिदान-ग्रन्थमें मिल गया। अर्बुदरोग-निदान-प्रकरणमें अङ्ग्रेजीमें समास (Margin) में Cancer और उसके विविध भेदोंके नाम मिले। अर्बुदके लक्षण पढ़नेपर निश्चय हो गया कि कैन्सरहीको डमरुआ कहा है। वह अर्बुदरोग ही है। अहङ्कारके सभी लक्षणोंका पूर्ण साम्य इनमें मिलता है। शरीरके किसी भागमें, प्रकुपित वातादि दोष मांस या रक्तको दूषित करके गोल, स्थिर, बढ़नेवाला, जिसके मूल बहुत गहरे हड्डीतक भी होते हैं, बहुत काल धीरे-धीरे बढ़नेवाला, न पकनेवाला बहुत गहरे भागमें जिसकी उत्पत्ति होती है—ऐसा मांसका एक पिंड पैदा करते हैं; इसीको अर्बुद कहते हैं। अर्बुद-निदान, यथा—**'गात्रप्रदेशे क्वचिदेव दोषाः सम्मूर्छिता मांसमसृक्प्रदूष्य। वृत्तं स्थिरं मन्दरजं महान्तमनल्पमूलं चिरवृध्यपाकम्॥ १८॥ कुर्वन्ति मांसोच्छ्रयमत्यगाधं तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति।'**

४ नहरुआ—यह रोग प्रायः कमरके निचले भागमें होता है। पानीके साथ एक विशेष प्रकारके कीड़ेके शरीरमें प्रविष्ट हो जानेके कारण यह रोग होता है। इसमें पहले किसी स्थानपर सूजन होती है [विकारी जल पीनेसे पवन कोपकर हाथ-पैरमें सूजन, फुंसी पैदा करता है जिसके फूटनेपर] फिर छोटा-सा घाव होता है और तब उस घावमेंसे डोरीकी तरहका कीड़ा धीरे-धीरे निकलने लगता है जो प्रायः गजों लंबा होता है। इस रोगसे कभी-कभी पैर आदि बेकाम हो जाते हैं। यह कीड़ा सफेद रंगका होता है। [धीरे-धीरे इसे निकालते जायँ तो कुछ दिनोंमें यह डोरी-सरीखी नस निकल जाती है—(वै०)। यदि यह काट दिया गया या टूट गया तो इस घावमें बड़ी जलन होती है और यह कीड़ा फिर दूसरी जगहसे निकलता है। वैद्यकमें इसे 'स्नायुज' कहते हैं। इसकी क्रिया विसर्प रोगकी-सी है। मालवा और राजपूतानामें यह रोग बहुत सुना जाता है। प० प० प्र० स्वामी लिखते हैं कि यह रोग मुख, पेट और जिह्वामें भी देखा गया है। मराठीमें इसको 'नारू' कहते हैं। एलोपैथी (Alopathy) में इसकी चिकित्सा नहीं है। महाराष्ट्रमें इसकी अनेक ओषधियाँ हैं। पर एक ही दवासे सबका काम नहीं होता। अतः इनमें भी कफ, वात, पित्त दोषज भेद होने चाहिये।

नोट—१ दूसरेको सुखी देख जो जलते हैं उनका हृदय सदा दग्ध रहता है, वे दिनोंदिन भीतर-ही-भीतर घुलते जाते हैं, शरीर सूखता जाता है। (ऐसे मनुष्योंको समझना चाहिये कि बड़े दुःखमें फँस गया, क्योंकि यह तो संसार है, किसीको सुख किसीको दुःख बना ही रहता है, इसलिये ऐसा कोई समय ही नहीं हो सकता जब कि उसे जलन न रहे। इस जलनसे उसके सद्‌गुणोंकी दिन-रात हानि होनी आरम्भ हो जाती है और अन्तमें सभी सद्‌गुणोंसे रहित हो जानेपर उसका घोर पतन हो जाता है। (वि० त्रि०) यही हाल क्षयीरोगका है। अतः इसको क्षयी कहा। *'खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥'*—(३९। ३) देखिये। क्षयी छः प्रकारकी होती है। शत्रु भी छः ही माने गये हैं। इसलिये क्षयीका छः प्रकार होना युक्तियुक्त है। (वि० त्रि०) कुष्ठ दो प्रकारका प्रसिद्ध है—श्वेत और गलित अथवा साध्य और असाध्य, या महाकुष्ठ और क्षुद्र। अतः दुष्टता और मनकी कुटिलता दोको कुष्ठ कहा। (प्र० सं०) मनका दोषयुक्त होकर सरलताका त्याग करना अर्थात् मनमें दूसरी बात और वाणी तथा कर्मसे दूसरी बात प्रकाशित करना कुटिलता है। कुटिलता दुर्नाम हो जाता है, कोई उसके साथ व्यवहार नहीं चाहता, उसका पतन बड़े दुःख और दुर्नामके साथ होता है। (वि० त्रि०)

वै०—(फूटकर बहनेवाला) महाकुष्ठ मानसका (वचन-कर्मसे सबकी बुराई करनारूपी) दुष्टता रोग है और तुच्छ कुष्ठ मानसका कुटिलता रोग है जिसमें मनुष्य बूँदी ढकी बुराई करते हैं, प्रत्यक्षमें नहीं

करते। इसका भी कुसङ्ग ही कारण है पर यह स्वभाव पूर्वज है, इससे विशेष असाध्य है।

वि० त्रि०—अहङ्कारसे बड़ा दुःख होता है। उसका रूप बेढङ्गा हो जाता है। उसकी सकल देखनेसे लोगोंको चिढ़ होती है। रोग बढ़ जानेसे प्रत्येक व्यवहारमें उसे बड़े-बड़े कष्ट होते हैं। विशेष शब्दार्थमें देखिये।

वि० टी०—अहङ्कारके मारे लोग फूले-फूले फिरते हैं। इसी प्रकार कछुई रोगके कारण पेटमें कछुईकी नाईं कड़ा पदार्थ बन जानेसे पेट फूला और बड़ा रहता है तथा मनुष्य दुर्बल और अशक्त हो जाता है।

वै०—अहङ्कारको डमरुआ कहा क्योंकि इसमें मानापमानादि पीड़ा लिये हुए धन-विद्यादि कुपथ्य पाकर अहङ्काररूप भेद बढ़ता है जिससे अहंममकार पेट सूजता जाता और ज्ञान-विचारादिका नाश होता है और अज्ञान-दुर्बलता बढ़ती है। *'दंभ कपट मद मान'* नहरुआ हैं। ये लाभ मान्यता इत्यादिसे उत्पन्न होते हैं। मान सूजन, मद फुन्सी, दम्भ फूटना, कपट नसका निकलना है। कपटका खुलना नसका टूटना है।

वि० त्रि०—*'दंभ कपट—'* इति। ढकोसला, छल, गर्मी, ऐंठ ये सब परस्पर सम्बद्ध होकर एक सूत्रमें परिणत हो जाते हैं। रोगीकी प्रगतिसे इनका प्रकाश हो जाता है। ये बढ़ते ही जाते हैं, बड़े यत्नसे इनकी रक्षा करनी पड़ती है, यदि भङ्ग हुआ तो बड़ा भारी दुःख होता है। नहरुआमें भी घावमेंसे अनेक कीट एकत्रित होकर सूत्राकारमें बाहर निकलते और बढ़ते जाते हैं, बड़े यत्नसे उस सूत्रकी रक्षा की जाती है, इत्यादि। अतः दम्भादिको नहरुआ कहा।

प० प० प्र०—दम्भ त्रिदोषजन्य नहरुआ है, क्योंकि मानकी इच्छासे कपटके आधारपर मदसंयुक्त ही दम्भ किया जाता है। जहाँ मानकी इच्छा न हो और न कपट है वहाँ दम्भ न मिलेगा। मद वातज नहरुआ और कपट कफज नहरुआ है। मान पित्तज नहरुआ है। अपमान होनेसे क्रोधरूपी पित्त बढ़ता है। महाराष्ट्रमें नारू रोगको सभी जानते हैं। जैसे नहरुआ रोग बहुत कालतक शरीरमें गुप्त रहता है, वैसे ही दम्भादि गुप्त रहते हैं पर एक दिन जब वह 'ताँत' के समान बाहर निकलनेका प्रयत्न करता है तब रोगीको जो पीड़ा होती है, वह वही जानता है। वैसे ही दम्भके भी *'उघरहिं अंत न होइ निबाहू।'*

तृष्ना उदर बृद्धि अति भारी। त्रिबिध ईषना तरुन तिजारी॥ ३६॥
जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका। कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका॥ ३७॥

शब्दार्थ—**उदर वृद्धि**=जलंधर। वात इसका मूल है। मन्दाग्निमें कुपथ्य करनेसे उत्पन्न होता है। वात बढ़नेसे वातोदर, जल बढ़नेसे जलोदर और कफ बढ़नेसे कफोदर इत्यादि आठ भेद हैं। बिना पीड़ा पेट बढ़ जाता, देह इतनी दुर्बल हो जाती है कि उठनेकी शक्ति वा गति नहीं रह जाती। (वै०) **तृष्ना**=विषय-प्राप्तिकी प्यास। **ईषना (एषण)**=अभिलाषा—विशेष *'सुत बित लोक ईषना तीनी।'* (७१। ६) में देखिये।

अर्थ—तृष्णा अत्यन्त भारी जलंधर (जलोदर) रोग है। सुत, वित्त और नारि—ये तीनों प्रकारकी इच्छाएँ प्रबल तिजारी हैं॥ ३६॥ मत्सर और अविवेक दो प्रकारके ज्वर हैं। ये कुत्सित रोग तो अगणित हैं, इन्हें कहाँतक कहूँ? (अर्थात् समझनेके लिये इतना बहुत है। दिग्दर्शनके लिये कुछ रोगोंका परिचय दे दिया; अब बस करता हूँ। इस वचनसे मानस रोगोंको असंख्य जनाया)॥ ३७॥

नोट—१ *'तृष्ना उदर बृद्धि—'* इति। (क) तृष्णासे पेट कभी नहीं भरता, पेट भर जाय, संतोष हो जाय तो तृष्णा ही कहाँ? यह तो दिनों-दिन ही नहीं किंतु क्षण-क्षण अधिकाधिक होती जाती है, मृतशय्यापर भी पड़े हुए कम नहीं होती, कभी भी पूरी नहीं होती। वस्तु मिलनेकी चाह बढ़ती ही जाती है*, अतः *'अति भारी'* कहा—विशेष *'तृष्ना केहि न कीन्ह बौराहा।'* (७०। ८) देखिये। इसी प्रकार जिसे उदर रोग हुआ उसका उदर दिनोंदिन बढ़ता ही जाता है, अति वृद्ध होनेपर वह मर जाता है। (ख) *'त्रिबिध ईषना*

---

* 'त्वामुदरं साधुमन्ये शाकैरपि यदसि लब्धिपरितोषम्। हतहृदयं ह्यधिकाधिकवाञ्छाशतदुर्भरं न पुनः पुनः॥' १॥ 'इच्छति शती सहस्रं ससहस्रः कोटिमीहते कर्तुम्। कोटियुतोऽपि नृपत्वं नृपोऽपि चक्रवर्तित्वम्॥ चक्रधरोऽपि सुरत्वं सुरोऽपि सुरराज्यमीहते कर्तुम्॥ सुरराजोऽप्यूर्ध्वगतिं तथापि न निवर्तते तृष्णा।'

तरुन तिजारी' इति। तीसरे दिन आनेवाले ज्वरको तिजरा वा तिजारी कहते हैं। ज्वरसे उठे हुए कृश वा मिथ्याहार-विहार करनेवाले मनुष्यका रहा-सहा शेष दोष जब वायुद्वारा वृद्धिको प्राप्त होकर आमाशय, हृदय, कंठ, सिर और संधि इन पाँच कफ स्थानोंका आश्रय लेता है तब उससे अँतरा, तिजरा और चौथिया विषम ज्वर उत्पन्न हो जाते हैं। **तरुन**=जवान, नया। जो ज्वर अपने प्रारम्भसे सात दिनका हो जाता है उसे तरुण ज्वर कहते हैं। '*सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी॥*' (७१। ६) में पूर्व कहा है कि एषण सबकी मतिको मलिन कर देता है, अतः जिस तिजारीसे वह मलिनता उत्पन्न हो जाय वही यहाँ '*तरुन तिजारी*' होगी। एषण तीन प्रकारका है, अतः उसे तिजारी कहा।

बैजनाथजी लिखते हैं कि स्त्री-पुत्र-धन आदिकी नित्य नयी चाह होनेसे उसको तरुण तिजारी कहा क्योंकि यह भी नित्य नवीन ही रहती है। तीसरे दिन नवीन होकर आती है। श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'शुरू-शुरूमें जब तिजारी आती है तो बड़े वेगसे बड़ा जाड़ा देकर आती है, पीछे उसका वेग क्रमशः कम होने लगता है। इसलिये तरुण तिजारी कहा। तिजारी जल्दी छूटती नहीं, एक दिन अन्तर देकर आती है। इसके तीन भेद शास्त्रकारोंने माने हैं। इसी भाँति सूक्ष्म शरीरमें एषणा बड़े वेगसे आती है और बड़ी जड़ता उत्पन्न करती है। इसका छूटना महा कठिन है। बीच-बीचमें शान्त भी हो जाती है, पर फिर आ जाती है।

वै०—'*जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका।*' द्वन्द्वज्वर। इसका मूल अजीर्ण है। अजीर्णपर भोजन करनेसे वात-पित्त कोप करते हैं जिससे ज्वर उपजता है। मानसमें मत्सर (परायी भलाई न देख सकना) और अविवेक द्वन्द्व ज्वर हैं। ['*कुरोग*' अर्थात् असाध्य, '*एहि कुरोग कर औषध नाहीं*', '*ए असाध्य बहु रोग।*' जिसकी दवा न हो सके]

नोट—२ दो प्रकारके ज्वर कौन हैं, इसमें मतभेद है। कोई माहेश्वर और वैष्णव ज्वर कहते हैं। यह ज्वर बाणासुरसंग्रामके समय शिवजी और कृष्णजीने उत्पन्न किये थे। माहेश्वर ज्वरके आठ भेद हैं—वातज, पित्तज, वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज, सन्निपात और आगन्तुज। वैष्णवज्वरके पाँच भेद हैं—सतत, संतत, अन्येद्यु, तृतीयक और चतुर्थक। इन्हें विषम ज्वर कहते हैं। वैष्णव ज्वर माहेश्वर ज्वरसे बली है। यह धातुगत होता है। दूसरी कथा यह है कि दक्षयज्ञ-विध्वंसके लिये शिवजीने माहेश्वर ज्वर उत्पन्न किया था। (ख) कोई विपर्यय और आगन्तुक ज्वरसे यहाँ तात्पर्य मानते हैं, क्योंकि विषम ज्वर ऊपर तिजारीमें आ गया है, और (ग) कोई (करु०, पां०, आदि) इससे द्वन्द्वज्वरका अर्थ करते हैं क्योंकि '*जुग*' का अर्थ है दो। वात, पित्त और कफ इनमेंसे दो-दोके मेलसे जो ज्वर उत्पन्न हों वे '*जुग बिधि*' वा द्वन्द्वज्वर हुए जैसे कि वातपित्तज, वातकफज, पित्तकफज। जो एक ही विकारसे उत्पन्न हों अर्थात् वातज, पित्तज और कफज, उनकी पृथग्ज्वर संज्ञा है—'**ज्वरोऽष्टधा पृथग्द्वन्द्वसंघातागन्तुजः स्मृतः**' (सुश्रुत)। अर्थात् ज्वर आठ प्रकारका है, पृथक्, द्वन्द्व, संघात और आगन्तुज। अतः जुग विधिसे 'पृथक्' और 'द्वन्द्व' दो प्रकारके ज्वरोंको भी ले सकते हैं। तीसरा वह है जिसमें वात-पित्त-कफ तीनोंका मेल हो जाता है जिसे ऊपर कह चुके हैं—'*प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजै सन्यपात दुखदाई॥*' तथा (घ)—कोई दाहज्वर और कम्पज्वर अर्थ करते हैं।

रा० प्र०—कार कहते हैं कि रौद्र और वैष्णव ज्वर आँतोंतकमें जाड़ा उत्पन्न कर देते हैं। पंजाबीजी '*जुग बिधि*' से शीतज्वर और उष्णज्वरका अर्थ करते हैं।

रा० शं०—मत्सर विषम ज्वर है और अविवेक शीतज्वर। शीतज्वर अन्तका ज्वर है, मरणके समय होता है। अविवेक भी आत्माको नष्ट करनेवाला है।

वि० त्रि०—'*जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका*' इति। जिस भाँति स्थूल शरीरमें ज्वर और विषम ज्वर होता है। उसी भाँति सूक्ष्म शरीरमें अविवेक और मात्सर्य है। जैसे ज्वर '**देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली**' है, वैसे ही अविवेकसे भी देहेन्द्रिय-मनको ताप पहुँचता है। पर मत्सर स्वभावगत होकर संतत ताप पहुँचाया करता है, इससे इसकी उपमा विषमज्वरसे दी गयी। इसी भाँति यदि विचार किया जाय तो सम्पूर्ण भेदोपभेद अवान्तर भेदोंके साथ जिस भाँति शारीरिक ज्वरका विस्तार वैद्यक शास्त्रमें है वैसे ही विस्तारके साथ मानसिक ज्वरोंके भेद कहे जा सकते हैं।

दो०—एक ब्याधि बस नर मरहिं ए असाधि* बहु ब्याधि।
पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहइ समाधि॥ १२१ (क)॥
नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य जप दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह† नहिं रोग जाहिं हरिजान॥ १२१ (ख)॥

अर्थ—एक ही रोगके वश होकर मनुष्य मर जाता है और ये तो असाध्य बहुत-से रोग हैं जो निरन्तर जीवको पीड़ित करते रहते हैं तब वह भला कैसे समाधिको प्राप्त हो सकता है? अर्थात् मानसरोगोंके कारण मन एकाग्र होकर प्रभुमें नहीं लग सकता और समाधि-दशा न प्राप्त होनेसे सुख प्राप्त नहीं हो सकता। हे श्रीगरुड़जी! फिर नियम, धर्म, सदाचारके अनुकूल बर्ताव, तप, ज्ञान, यज्ञ जप और दान इत्यादि करोड़ों औषधियाँ भी (इनके लिये कही गयी) हैं पर रोग नहीं जाते॥ १२१॥

नोट—'*एक ब्याधि बस असाधि—*' इति। (क) रोग तीन प्रकारके माने गये हैं—सुख-साध्य, कष्ट-साध्य और असाध्य। इनमेंसे असाध्य वे हैं जिनमें वैद्य जवाब दे देते हैं, वे कभी अच्छे नहीं होते, शरीरके साथ ही जाते हैं। (प्र० सं०) मनुष्य तभीतक जीता है जबतक व्याधिके वशमें नहीं आ गया। इसलिये सुसाध्य व्याधिको भी छोटी न माननेके लिये आदेश है। यथा—'*रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिअ न छोट करि॥*' (३। २१) इसी भाँति एक भी मानस-व्याधि उपेक्षणीय नहीं है। एक मानसिक रोग भी प्रमादके लिये यथेष्ट है, क्योंकि सच्ची मृत्यु तो प्रमाद ही है। (ख) यहाँतक मोह, काम, क्रोध, लोभ, नाना दुर्गम विषय, मनोरथ, ममता, ईर्ष्या, हर्षविषाद, परसुख देखकर जलन, दुष्टता और मनकी कुटिलता, अहंकार, दम्भ, कपट, पाखण्ड, तृष्णा, त्रिविध एषण, मत्सर, अविवेक ये कुरोग गिनाये। इन सबको असाध्य बताया। (ग) '*ए असाधि बहु ब्याधि*' कहकर जनाया कि शारीरिक तो एक-दो ही रोग मनुष्यको हो सकते हैं पर ये मानस-रोग तो सब-के-सब प्रत्येक मनुष्यके हैं। जो उपक्रममें कहा कि—'*जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा॥*' (१२१। २८) वही यहाँ उपसंहारमें कहते हैं। (घ) '*पीड़हिं संतत*'—रोग असाध्य हैं, अतः वे सदा बने रहते हैं कभी भी जीव निरुज नहीं हो सकता, इसीसे कभी भी रोग-जनित पीड़ा दूर नहीं होती, निरन्तर इनसे पीड़ित ही रहता है। (ङ) '*किमि लहइ समाधि*' अर्थात् ईश्वर-स्मरण-सुख कैसे प्राप्त हो सके। (पां०) समाधि अष्टाङ्गयोगकी अन्तिम अवस्था है। उसके लिये मन थिर होना चाहिये पर मन रोगी है अतः वह अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। [करु०—यहाँ समाधिसे स्वस्वरूप-परस्वरूप समाधि जानो।] समाधि—४२ (८) देखिये। असाध्यरोगोंकी भी तो दवा होती है, वे दवा क्यों नहीं करते उसपर कहते हैं कि दवाएँ हैं, लोग करते भी हैं, पर रोग जाते नहीं।

वि० त्रि०—(क) '*नेम धर्म—*' इति। ये सब मानसिक रोगोंके औषध हैं। शौचसे स्वाङ्गजुगुप्सा और दूसरोंसे असंसर्ग, सन्तोषसे अनुत्तम सुखलाभ, तपसे अशुद्धिका क्षय, स्वाध्यायसे इष्टदेवका दर्शन, ईश्वर-प्रेमसे समाधिकी सिद्धि, धर्मसे अभ्युदय निःश्रेयस, आचारसे अन्तःकरणकी शुद्धि, ज्ञानसे मोक्ष, यज्ञसे स्वर्ग, जपसे सिद्धि और दानसे दुर्गतिका नाश होता है। (ख) '*भेषज पुनि कोटिन्ह*'—अर्थात् इतने ही औषध नहीं हैं किन्तु सम्पूर्ण वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास, तन्त्र, दर्शन सब इन्हीं औषधोंसे भरे पड़े हैं। दुःखकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति सबका ध्येय है। (ग) '*हरिजान*'—भाव कि आप साक्षात् हरिके यान हैं, आपको स्वयं यह रोग हो गया तब औरोंकी गणना ही क्या है? (घ) '*नहिं रोग जाहिं*' अर्थात् निर्मूल नहीं होते, दब जाते हैं, फिर उमड़ आते हैं। अतः वे ओषधि अकिंचित्कर हैं।

एहि बिधि सकल जीव जग रोगी। सोक हरष भय प्रीति बियोगी॥ १॥
मानसरोग कछुक मैं गाए। हहिं सब के लखि बिरलेन्ह पाए॥ २॥
जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन-परितापी॥ ३॥

* असाध्य—(का०)। † कोटिक नहीं—(का०)।

अर्थ—(जैसा ऊपर कह आये) इस प्रकार संसारके समस्त प्राणी रोगी हैं। शोक-हर्ष, भय-प्रीति (आदि द्वन्द्वोंके वश) वियोगी (दुःखी) हो रहे हैं*॥ १॥ मैंने कुछ थोड़ेसे मानसरोग वर्णन किये हैं। ये रोग हैं तो सबको ही पर बिरले ही मनुष्य इनको लख पाये एवं पाते हैं॥ २॥ प्राणियोंको विशेष ताप देनेवाले ये पापी जान लेनेसे कुछ कम हो जाते हैं पर नाशको नहीं प्राप्त होते॥ ३॥

नोट—१ (क) *'सुनहु तात अब मानसरोगा। जिन्ह ते दुख पावहिं सब लोगा॥'* (१२१। २८) उपक्रम है और *'मानस रोग कछुक मैं गाए। हहिं सब के॥'* (१२२। २) उपसंहार है। इसके बीचमें ***'कहँ लगि कहउँ कुरोग अनेका'*** तक १८ चरणोंमें रोगोंके नाम दिये गये। (ख) ***'सकल जीव'*** का भाव कि मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी-कीट-पतंग आदि सभी जीव। भेद इतना ही है कि मनुष्य-शरीर तो इन रोगोंकी चिकित्साके लिये मिला है, पर अन्य जीव रोगकी चिकित्साका यत्न भी नहीं कर सकते। (ग) ***'हरष सोक—'*** भाव कि इस दुर्दशामें भी एकरसता नहीं, कभी हर्षसे उछल पड़ता है, कभी शोकागारमें डूब जाता है, कभी भयभीत हो उठता है, कभी प्रेममें आ जाता है और कभी वियोगमें हाय-हाय करता है। यथा—***'दीनबंधु, सुखसिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई। सुनहु नाथ! मनु जरत त्रिबिध ज्वर, करत फिरत बौराई॥ कबहुँ जोगरत, भोग-निरत सठ हठ बियोग-बस होई। कबहुँ मोह-बस द्रोह करत बहु, कबहुँ दया अति सोई॥ कबहुँ दीन, मतिहीन, रंकतर, कबहुँ भूप अभिमानी। कबहुँ मूढ़, पंडित बिडंबरत, कबहुँ धरमरत ग्यानी॥ कबहुँ देख जग धनमय रिपुमय, कबहुँ नारिमय भासै। संसृति-सन्यपात दारुन दुख बिनु हरि-कृपा न नासै॥ संजम, जप तप, नेम, धरम, ब्रत, बहु भेषज-समुदाई। तुलसिदास भव-रोग रामपद-प्रेम-हीन नहिं जाई॥'*** (वि० ८१) (वि० त्रि०)। (ग) ***'कछुक'*** क्योंकि ये अगणित हैं—***'ए असाध्य बहु ब्याधि'***, इनका वर्णन नहीं हो सकता—***'कहँ लगि कहउँ कुरोग अनेका॥'*** (१२१। ३७) (घ) ***'गाए'***—भाव कि वर्णन यद्यपि थोड़ेमें ही किया है, पर विस्तारके साथ किया है। ☞संक्षेपमें विस्तारसे वर्णन करनेकी विद्या शायद गोस्वामीजीको ही आती थी। बहुत बड़े-बड़े विषयोंको इन्होंने रूपकमें ऐसा बाँध दिया है कि विस्तृत वर्णनके साथ वे उन्हीं रूपकोंमें बँधे पड़े हैं। जितना ही उपमा-उपमेयके गुण, क्रिया, स्वभाव और सम्बन्धका विचार करते जाइये उतना ही उस विषयका विस्तार होता चला जाता है। (वि० त्रि०)

वै०—इस प्रकार सुर-नर-नागादि सभी जीव जगमें रोगी हैं। रोगमें स्वादहेतु कुपथ्य करते हैं। यहाँ लाभ कुपथ्य है, हर्ष उसका स्वाद है। रोगमें शूल होता है; यहाँ हानि होनेसे जो शोक होता है वही पीड़ा है, देहव्यवहारमें प्रीति होना रोगका बढ़ना है। प्यारेका वियोग तापादि हैं।

करु०—***'कछु छीजहिं'*** क्योंकि जाननेपर कुछ औषध करेगा।

पं०—नाश नहीं होते, जैसे वृक्ष काटे तो उसका मूल बना रहता है, जल मिलनेसे बढ़ जाता है। ☞***'हहिं सबके', 'लखि बिरलेन्ह पाये'*** और ***'रामकृपा नासहिं सब रोगा'*** के भाव विनय० १४७ वें पदसे खूब स्पष्ट हो जाते हैं—

> ***'कृपासिंधु ताते रहौं निसिदिन मन मारे। महाराज लाज आपुही निज जाँघ उघारे॥***
> ***मिले रहैं मार्‌यो चहैं कामादि सँघाती । मो बिनु रहैं न मेरिये जारैं छल छाती॥***
> ***बसत हिये हित जानि मैं सब कै रुचि पाली। कियो कथिक को दंड हौं जड़ कर्म कुचाली॥***
> ***देखी सुनी न आजुलौं अपनायत ऐसी । करहिं सबै सिर मेरेई फिरि परै अनेसी॥***
> ***बड़े अलेखी लखि परे परिहरे न जाहीं। असमंजस मों मगन हौं लीजै गहि बाँहीं॥***

---

* 'सोक हरष भय प्रीति बियोगी' के अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकारसे किये गये हैं—१ वीर—शोक, हर्ष, भय और प्रीतिके अधीन वियोगी होकर जीव रोगी हैं। २ वि० टी०—इतनेपर भी उन्हें कभी-कभी सुख, कभी दुःख, कभी भय, कभी प्रेम और कभी वियोग हो जाते हैं। ३ रा० प्र०—शोक, हर्ष, भय और प्रीति इन द्वन्द्वोंके वश लोक-परलोक तन स्वरूपसे वियोगी हैं। ४ करु०—वियोगी अर्थात् रोगमें लीन हो रहे हैं इसीसे दुःखी हो रहे हैं।

बारक बलि अवलोकिये कौतुक जन जी को। अनायास मिटि जायगो संकट तुलसी को॥'

इसमें न लख सकने तथा जान लेनेपर भी उनके न नाश होनेके कारण भी दे दिये हैं।

'लोभ मोह मद काम कोह रिपु फिरत रैनि दिन घेरे।
तिन्हहिं मिले मन भएउ कुपथरत फिरै तिहारेहि फेरे॥' (वि० १८७)

मानस-रोगमें ही यह विशेषता है कि रोगीको पता भी नहीं चलता कि मैं रोगी हूँ, रोगसे ही दु:खी हो रहा हूँ। वह दु:खके कारणको बाहर खोजता है।

वि० त्रि०—*'जाने ते कछु छीजहि—'* इति। (क) भाव कि ये मित्ररूपमें आकर सद्गुणोंका अपहरण करते हैं, लोग इन्हें शत्रुरूपसे नहीं जानते, इसीसे इन्हें चोर भी कहा है; यथा—*'मत्सर मान मोह मद चोरा।'* इनके स्वरूपकी पहिचान हो जानेपर चोरी कम हो जाती है, जब मनुष्य जान लेता है कि काम-क्रोधादि व्याधि हैं, तब काम-क्रोधादिके बलात् आ जानेपर भी उनपर अहितकर भावना होनेसे उनका वेग क्षीण हो जाता है, वे *'तनु अवस्था'* को प्राप्त होते हैं। (ख) *'पापी'*—जिनकी हिंसापर प्रीति है और जो जन परितापी हैं, वे *'पापी'* हैं। यथा—*'हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहिं कवन मिति।'* काम-क्रोधादिकी हिंसापर अत्यन्त प्रीति है। ये सबको पीड़ित किया करते हैं, न चाहनेपर भी जबरदस्ती पाप करा ही देते हैं। (ग) *'नास न पावहिं'*—भाव यह कि अस्मिता (अभिमान), राग (काम), द्वेष (क्रोध) और अभिनिवेशकी चार अवस्थाएँ होती हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। जब चेतमें ये शक्तिमात्रसे रहते हैं अर्थात् बीजभावसे अवस्थान करते हैं तब प्रसुप्त कहलाते हैं, यथा—*'मनहु बीररस सोवत जागा।'* प्रतिपक्षभावनाके मारे हुए तनु-अवस्थाको प्राप्त होते हैं, यथा—*'बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा॥'* गायब हो-होकर फिर-फिर प्रकट होनेको विच्छिन्न अवस्था कहते हैं; यथा *'राम बचनु सुनि कछुक जुड़ाने। कहि कछु लखन बहुरि मुसुकाने॥'* विषयमें लब्धवृत्तिकको उदार कहते हैं, यथा— *'परम क्रोध मीजहिं सब हाथा।'*—नेम, धर्म, आचार और तपसे ये विच्छिन्न हो जाते हैं, पहचाने जानेसे तनु, योगावस्थामें प्रसुप्त हो जाते हैं, पर प्रक्षीण नहीं होते। यह पाँचवीं अवस्था है। जब बीज जल जाय और विषय-वारि पानेपर भी अङ्कुरित न हो, तब उनको प्रक्षीण कहते हैं।

बिषय कुपथ्य पाय अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे॥ ४॥
रामकृपा नासहिं सब रोगा। जौं इहि भाँति बनै संजोगा॥ ५॥

अर्थ—विषयरूपी कुपथ्य पाकर मुनियोंके हृदयोंमें भी अंकुरित हो आते हैं, तब बेचारे मनुष्य क्या हैं? (भाव कि ये भी उसीमें आ गये)*॥ ४॥ श्रीरामकृपासे यदि इस प्रकारका संयोग बन जाय (जैसा आगे कहते हैं) तो सब रोग नाश हो जाते हैं॥ ५॥

रा० शं० १—प्रथम कहा *'नास न पावहिं'* अब उसका कारण बताते हैं कि रोगकी दवा है, पथ्य (परहेज) बने तो रोग जाय और यदि कुपथ्य किया जाय तो रोग कैसे जाय? २—विषयको कुपथ्य कहा क्योंकि जैसे रोगीका जी कुपथ्यकी ओर बहुत दौड़ता है, इसी प्रकार मानस-रोगीका मन—*'बिषय भोगपर प्रीति सदाई'* किये रहता है। इसीसे रोग नहीं जाते।

रा० प्र०—संयम न होनेसे रोग फिर जम आता है, जैसे पाहरू देख चोर छिपे रहते हैं और असावधान गाफिल पा फिर निकलकर अपना उद्यम करते हैं।

नोट—*'मुनिहु हृदय।'* मुनि भी नर ही हैं, पर वे अहर्निश औषध ही करते रहते हैं, इनसे बढ़कर कोई उपाय करनेवाला नहीं है; अत: इनको कहा कि जब इनके हृदयमें ये रोग इतनेपर भी अंकुरित हो आते हैं तब विषयरत इतर जन किस गिनतीमें हैं। (करु०) *'मुनि बिग्यान धाम मन करहिं निमिष महँ छोभ'*—आ० ३८ देखो। पुन: भाव कि मुनि ज्ञाननिधान हैं। इनके ज्ञानाग्निसे क्लेश दग्धबीजसे हो

* काव्यार्थापत्ति अलंकार है।

गये हैं। उनका हृदय विषयरससे रूखा होनेके कारण ऊसर-सा है, यथा—'*ब्रह्मचरज ब्रतरत मतिधीरा। तुम्हहि कि करइ मनोभव पीरा॥*' (१। १२९)

२—'*अंकुरे*' का भाव कि हृदयमें थे तो पूर्वहीसे पर हृदय थलमें दम, नियम, मनन, निदिध्यासनादि सूखी मिट्टीमें दबे थे, विषय कुपथ्य जल पाकर अंकुरित हो आये। जैसे देवर्षि नारदमें ही देख लीजिये। यथा—'*देखि रूप मुनि बिरति बिसारी। बड़ी बार लगि रहे निहारी॥*' '*का नर बापुरे*' अर्थात् वे तो रोगी बने-बनाये ही हैं।

३—'*नासहिं*' निश्चयवाचक वर्तमान क्रिया देकर तब '*जौं एहि भाँति बनै संजोगा*' कहनेका भाव कि रामकृपासे अवश्य सब रोग नष्ट हो जाते हैं, इसमें संदेह नहीं। वह रामकृपा कैसी जानी जाय सो दूसरे चरणमें कहते हैं कि यदि आगे जो कहनेको हैं वह संयोग बन जाय तो रामकृपा समझनी चाहिये। बिना उनकी कृपाके यह संयोग न लगेगा। यह अपने अधीन नहीं है। यथा—'*तुलसिदास यह जीव मोह रजु जोइ बाँध्यो सोइ छोरे।*' (वि० १०२) '*इहि भाँति*' जैसा कि आगे कहते हैं कि '*सदगुर—।*' ४—'*रामकृपा नासहिं*', यथा—'*जब कब रामकृपा दुख जाई। तुलसिदास नहिं आन उपाई*' इति। (विनय०) भाव कि यह केवल कृपासाध्य है। शरणागत होकर कृपाका भरोसा रखे, अपनी करनीसे बिगाड़ न दे। श्रीचरणदासजीका पद भी देखिये।—'*अब तुम करो सहाय हमारी। मनके रोग ह्वै गये दीरघ तनके बड़े बिकारी॥ तुम सों बैद और को दूसर जाहि दिखाऊँ नारी। सजीवन मूल अमरमूल हौ जासे सोहै दया तुम्हारी॥ क्रिया कर्म की औषधि जेती रोग बढ़ावन हारी। दीजै चूरन ज्ञानभक्तिको मेटौ सकल व्यथा री॥*' (१—३) इत्यादि।

वि० त्रि०—'*रामकृपा—जौं—*' इति। (क) भाव कि रामकृपा होनेपर तीन कृपाओंकी और आवश्यकता है—(१) गुरुकृपा, सो यहाँ सद्वैद्य सद्गुरु हैं। (२) शास्त्रकृपा। वेद-पुराण पावन पर्वत हैं, इन्हींमें सञ्जीवनमूरि मिलती है, वही यहाँ औषध है। (३) आत्मकृपा—वैद्यके वचनपर विश्वास, संयम और अनुपान, ये आत्मकृपापर ही निर्भर हैं। यह सब होनेपर रामकृपाकी पात्रता आती है, नहीं तो रामकृपामें तो घाटा नहीं है, रामकृपासे ही नरदेह मिली और रामकृपाकी अनुकूल वायु बराबर चल रही है, आत्मकृपा बिना उससे कोई लाभ उठानेवाला नहीं है। देखिये, सूर्यनारायणकी कृपा बराबर होती चली जाती है पर रूईका गट्ठा न जला। सूर्यकान्तमणि और जलानेवाला दोनों एकट्ठे हों तो गट्ठा जला-जलाया ही है। इसी भाँति रामकृपा बराबर होती चली जाती है, कोई आत्मकृपावाला सूर्यकान्तमणि लेकर अक्स डालकर जलाने आवे तो ये क्लेश जले-जलाये हैं। (ख) ज्ञानमार्गमें संयोग बननेपर भी सिद्धि अनिश्चित है; यथा—'*अस संयोग ईस जौं करई। तबहुँ कदाचित सो निरुअरई॥*' पर यहाँ सिद्धि अनिश्चित नहीं है, यह '*रामकृपा नासहिं*' से जना दिया।

सदगुर बैद* बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा॥ ६॥
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति† पूरी॥ ७॥

अर्थ—सद्गुरुरूपी वैद्यके वचनमें विश्वास हो। विषयोंकी आशा न करे यह संयम (परहेज, पथ्य) है॥ ६॥ श्रीरघुनाथजीकी भक्ति सञ्जीवनी बूटी है, बुद्धि श्रद्धासे परिपूर्ण हो यही अनुपान है॥ ७॥

खर्रा—सदगुर=समीचीन गुरुरूप वैद्य। ['सदगुर' से जनाया कि श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ हैं, सत्य ही शिष्यके हृदयके अंधकारको हरण करनेवाले हैं, '*गुर सिष बधिर अंध कर लेखा*' वाले गुरु न हों। इसी तरह पूर्व कहा है—'*करनधार सदगुर दृढ़ नावा।*' (४४। ८) बालकाण्ड गुरुवन्दनाप्रकरणमें विस्तारसे 'गुरु' के सम्बन्धमें लिखा जा चुका है। ब्रह्मनिष्ठसे काम चल सकता है पर श्रोत्रिय न होनेसे यह संशयका नाश न कर सकेगा। ऐसा सद्गुरु मिलनेसे समस्त संशय नष्ट हो जाते हैं। यथा—'*सदगुर मिलें जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ।*' (४। १७)]

---

* बेद—(पाठान्तर)।

† अति रूरी—(का०)। 'मति रूरी'—(पाठान्तर)। रूरी=सुन्दर। सुंदर श्रद्धा अर्थात् शुद्ध सात्त्विकी श्रद्धा—(वै०)। 'वेद' पाठका अर्थ है आयुर्वेद—(रा० प्र०)।

वै०—सद्‌गुरु वह है जो परिपूर्ण सत्पथगामी है, शिष्यको सन्मार्गपर आरूढ़ कर देनेवाला हो। यथा—'**शान्तो दान्तः कुलीनश्च विनीतः शुद्धवेशवान्। शुद्धाचारः सुप्रसिद्धः शुद्धिर्दक्षः सुबुद्धिमान्॥ आश्रमीध्याननिष्ठश्च मन्त्रतन्त्रविचक्षणः। वित्तहानिग्रहे सक्तो गुरुरित्यभिधीयते॥**'

नोट—१ (क) '*बचन बिस्वासा*' इति। यह अधिकारी शिष्यका लक्षण बताया। विश्वास बिना सिद्धि नहीं होती, यथा—'*कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।*' (९०। ८) विश्वास न हो कि इससे हमारा कल्याण होगा तो गुरु करना ही व्यर्थ है। [शिष्य गुरुवचनपर विश्वास करनेवाला भवरुजार्त्त हो, यथा—'**शान्तो विनीतः शुद्धात्मा श्रद्धावान् धारणं क्षमा। समर्थश्च कुलीनश्च प्राज्ञः सच्चरितो धनी॥ एवमादिगुणैर्युक्तः शिष्यो भवति नान्यथा।**' इति। (रामार्चनचन्द्रिका) (वै०)] (ख) '*संजम यह न बिषय कै आसा*'—गुरुके वचनपर विश्वास हो यह कहकर दूसरे चरणमें उनके वचन बताते हैं कि संयम करो। वैद्य खटाई-मिर्चा आदिसे परहेज बताता है, गुरु विषयोंसे परहेज बताते हैं। विषय खटाई इत्यादि कुपथ्य है, यथा—'*जो मन लागै रामचरन अस। देहगेह सुत बित कलत्र महँ मगन होत बिनु जतन किये जस॥ द्वंद्वरहित गतमान ज्ञानरत बिषय बिरत खटाइ नाना कस।*' (वि० २०४) '*बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे।*'—संयम बन जानेसे, विषयविरत हो जानेसे काम बन जाता है। यथा—'*सुखनिधान सुजान कोसल पति ह्वै प्रसन्न कहु क्यों न होहिं बस॥*' (वि० २०४) नहीं तो साधन व्यर्थ हो जाता है। यथा— '*दसहि दसहु कर संजम जो न करिय जिय जानि। साधन बृथा होइँ सब मिलहिं न सारंगपानि॥*' (वि० २०३) (ग) '*रघुपति भगति……*' इति। वैद्य संजीवनी देते और उसका अनुपान बताते हैं; यहाँ गुरु श्रीरामभक्ति ओषधि देते हैं और श्रद्धारूपी अनुपानके साथ उसका सेवन बताते हैं। अर्थात् श्रद्धापूर्वक भक्ति करे। (प्र० सं०) सजीवनमूरि पावन पर्वतोंपर मिलती है, सद्वैद्य ही जानते हैं। वैसे ही सगुण ब्रह्म श्रीरामजीकी भक्ति वेद-पुराणरूपी पावन पर्वतोंपर मिलती है। सद्‌गुरु ही जानते हैं। रामरहस्योपनिषद्‌में विस्तारके साथ वर्णन है। जैसे सजीवनमूरिके सजातीय और स्वगत भेद हैं, किस रोगीपर किसका प्रयोग किया जायगा इसका निर्णय सद्वैद्य ही करता है; वैसे ही रहस्य आदि उपनिषदोंमें अनेक प्रकारके मन्त्र हैं और प्रत्येक मन्त्रके ध्यान पृथक्-पृथक् कथित हैं, अनुष्ठान-विधि भी दी हुई है। सद्‌गुरु ही जानते हैं कि कौन-सा मन्त्र किस प्रकृतिके पुरुषके लिये अनुकूल होगा। (वि० त्रि०) संजीवनीके सेवनसे मरे हुए भी जी उठते हैं, रोगका दूर करना कौन बड़ी बात है। इसी तरह रघुपति-भक्ति भक्तके भवरोगको हरणकर उसको नाशरहित कर देती है—'**कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।**'(गीता ९। ३१) (वै०)। यहाँ पहले संयम कहा तब औषध। क्योंकि दवा लगनेके लिये संयम बहुत जरूरी है। (रा० शं०)

करु०—वेदवाक्य, गुरुवाक्य और निजानुभव इन तीनोंमें विशेष प्रतीति 'श्रद्धा' है।

वि० त्रि०—काम-क्रोधादि रोगोंसे ग्रस्त मनुष्यको मन्दाग्नि होती है। उसे नवधा भक्तिकी ओर रुचि ही नहीं होती, भक्ति चिन्तामणिकी ओर वह कब जाने लगा? अतः पहले उसे नीरोग करके उसकी अग्नि बढ़ानी चाहिये, जिसमें भोजनरूपी नवधा भक्तिका सेवन करने लगे, तब कुछ दिनोंमें संतसङ्गसे रामकथा श्रवण करते-करते उसे भक्ति-चिन्तामणिकी प्राप्ति भी हो जायगी। इस समय उसे संजीवनी भक्ति राममन्त्र दीक्षाकी आवश्यकता है। यथा—'*राममंत्र मोहि द्विजबर दीन्हा। सुभ उपदेस बिबिध बिधि कीन्हा॥*' '*बेगि बिलंब न कीजिय लीजिय उपदेस। बीजमंत्र सोइ जपिये जो जपत महेस॥*' मन्त्रदीक्षा तथा शुभ उपदेश गुरुकृपा है, उन उपदेशोंपर विश्वास करनेसे शास्त्रकृपा होती है, नीरोग होनेके लिये तन-मन-धनसे प्रयत्न करना ही आत्मकृपा है। मन्त्र-जप करने तथा श्रीरामजीपर दृढ़ विश्वास रखनेसे रामकृपा भी हो जायगी, तब रोग नष्ट हो जायँगे।

अनुपान ही औषधके प्रभावको यथेप्सित कार्य करनेमें प्रवृत्त करता है। वैसे शुद्ध सात्त्विकी श्रद्धाके साथ दीक्षाग्रहण तथा अनुष्ठान करनेसे वह भक्तिके प्रभावको यथेप्सित कार्य करनेमें प्रवृत्त करेगा।

प० प० प्र०—'*रघुपति भगति सजीवन मूरी*' इति। रघुपति-भक्ति तो नवधा, प्रेमा, परा आदि अनेक प्रकारकी है; इनमें यहाँ कौन-सी विवक्षित है? उत्तर—प्रकरण मानस-रोग विनाशका चल रहा है। सभी मानसरोगोंकी जड़ मोह है। '*महामोह महिषेस बिसाला। रामकथा कालिका कराला॥*', '*रामकथा सुंदर करतारी।*

संसय बिहग उड़ावनिहारी॥', 'जाइहि सुनत सकल संदेहा। रामचरन होइहि अतिनेहा॥', 'बिनु सत्संग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग॥' इन अवतरणोंसे स्पष्ट है कि यहाँ हरिकथा श्रवण-भक्ति ही विवक्षित है। प्रेम या पराका ग्रहण यहाँ अनुचित है; कारण आगे कहा है कि *'बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह रामभगति उर छाई॥'* फिर *'संसृति रोग सजीवनमूरी। रामकथा गावहिं श्रुति सूरी॥'* यह एक प्रमाण पर्याप्त है। उपलक्षणासे श्रवणादिक आत्मनिवेदनपर्यन्त नव विधा भक्तिका क्रमशः ग्रहण हो सकता है।

एहि बिधि भलेहि सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं॥ ८॥
जानिअ तब मन बिरुज गोसाँई। जब उर बल बिराग अधिकाई॥ ९॥

अर्थ—इस प्रकार भली प्रकार (वा भले ही) वे रोग नष्ट हो जाते हैं, नहीं तो करोड़ों (अन्य) उपायोंसे नहीं जाते॥ ८॥ हे गुसाईं! तब जानना चाहिये कि मन नीरोग हो गया जब हृदयमें वैराग्यरूपी बल बढ़े*॥ ९॥

नोट—१ (क) मानसरोगके नाशका उपाय यहाँतक चार चरणोंमें कहा। *'रामकृपा नासहिं सब रोगा। जो एहि भाँति बनै संजोगा॥'* (१२२। ५) उपक्रम है और *'एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं'* उपसंहार। अर्थात् सद्गुरुवाक्यपर विश्वास करके विषयोंसे बहिर्मुख होकर श्रद्धापूर्वक श्रीरामभक्ति करे तो ही मानसरोगका नाश हो सकता है, अन्यथा नहीं। (ख) *'भलेहि'* देहली-दीपक न्यायसे रोगके साथ रहकर साधन सौकर्यका और *'नसाहीं'* के साथ रहकर निर्मूल नाशका अर्थ देगा। अन्य साधन दुष्कर हैं और उनसे रोग निर्मूल नहीं होते। (वि० त्रि०) (ग) *'नाहिं त जतन.......'* से जनाया कि सद्गुरुकी दी हुई दीक्षाका प्रभाव पड़े बिना रह नहीं सकता। दीक्षा पाकर ही काशीमें मुक्ति होती है; यथा—*'कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी॥'* भक्तके सामने सदा सगुण ब्रह्मकी दिव्यातिदिव्य कल्याणमयी मूर्ति रहती है, स्थूल विषय उसे नहीं जँचते। अतः विषयद्वारा काम क्रोधका बल चल जाता है। (वि० त्रि०)

२ *'बल बिराग अधिकाई'* अर्थात् स्वर्ग-अपवर्गपर्यन्त समस्त विषयोंसे प्रबल वैराग्य हो जाय—*'तिन्ह तन चितइ न अनहित जानी'* किंचित् भी विषयवासना न रह जाय।

वि० त्रि०—१ (क) *'गोसाईं'* का भाव कि आप स्वामी हैं, आपके मनका नीरोग होना सेवकोंको इष्ट है। अतः मैं मनके नीरोग होनेकी पहचान आपको बतलाये देता हूँ। इसीसे आप अनर्थसे बच सकेंगे, नहीं तो मनके रोगी होनेका पता किसीको नहीं चलता। (ख) *'जब उर बल.......'* इति। बलका बढ़ना ही रोग हटनेका असाधारण लक्षण है। शरीरका बल और हृदयका बल ये दो पृथक् वस्तुएँ हैं। बड़े भारी बलवान्का हृदय निर्बल हो सकता है और बड़े निर्बलका हृदय सबल हो सकता है। हृदयका बल वैराग्य है। अकेले वैराग्य मोहका नाश करनेमें समर्थ है; यथा—*'प्रबल बैराग्य दारुन प्रभंजनतनय बिषय बन-दहनमिव धूमकेतू।'* (वि०) *'उर अधिकाई'* का भाव कि साधारण वैराग्यके बिना तो दीक्षा लेनेके लिये प्रवृत्ति ही नहीं होती, सो वह प्रारम्भिक वैराग्य स्वधर्माचरणसे होता है तब मनुष्यको भागवतधर्ममें अनुराग होता है। तब दीक्षा-प्रक्रिया चलती है। यथा—*'प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज धर्म निरत श्रुति रीती॥' 'तेहि कर फल पुनि बिषय बिरागा। तब मम धरम उपज अनुरागा॥'* स्वधर्माचरणके बिना न ज्ञान हो सकता है न भक्ति। अतः यहाँ *'अधिकाई'* का अर्थ है कि वह प्राथमिक वैराग्य जब पुष्ट हो तब समझना चाहिये कि रोग नष्ट हो रहा है। यदि दीक्षापूर्वक अनुष्ठानसे वैराग्य नहीं बढ़ा तो समझना चाहिये कि रोग बना हुआ है।

नोट—☞ मानसरोगोंके नाशमें ज्ञान-भक्तिका मिलान—

* वि० टी०—नीरोगके लक्षण—'समदोषः समग्निश्च समधातुमलक्रियः। प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥'—(भावप्रकाश)। अर्थात् वात, पित्त और कफ—ये दोष जिसके यथास्थित हों, जिसकी जठराग्नि यथोचित हो, जिसके सप्तधातु ठीक-ठीक हों, पाचन-शक्ति उत्तम हो और जिसकी आत्मा, इन्द्रियाँ तथा मन प्रसन्न हों उसीको नीरोगी कहते हैं।

ज्ञान		भक्ति
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई	१	*नेम धर्म आचार तप ज्ञान जज्ञ जप दान*
छूट न अधिक अधिक अरुझाई	२	*भेषज पुनि कोटिक नहिं रोग जाहिं हरिजान*
जीव हृदय तम मोह बिसेषी	३	*एहि बिधि सकल जीव जग रोगी······*
ग्रंथि छूटि किमि परै न देखी	४	*हहिं सबके लखि बिरलेन्ह पाए*
अस संयोग ईस जब करई	५	*राम कृपा नासहिं सब रोगा। जौं एहि······*
तबहुँ कदाचित सो निरुअरई	६	*एहि बिधि भलेहि सो रोग नसाहीं······*
सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जो हरि······	७	*अनूपान श्रद्धा मति पूरी*

सुमति छुधा बाढ़ै नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई॥ १०॥
बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह रामभगति उर छाई॥ ११॥

अर्थ—उत्तम बुद्धिरूपी भूख नित्य नवीन बढ़ती जाती है और विषयोंकी आशारूपी दुर्बलता जाती रही॥ १०॥ जब वह (मानसरोग-मुक्त) प्राणी निर्मल ज्ञानरूपी जलसे स्नान करेगा तब हृदयमें रामभक्ति छा रहेगी॥ ११॥

नोट—१ रोग दूर होनेपर शरीरमें बल आता है, भूख दिनोंदिन बढ़ती जाती है, शरीरकी कृशता दूर होती है, नीरोग होनेपर स्नान (गुस्ले सेहत) कराया जाता है, ये सब लक्षण इस रूपकमें क्या हैं सो बताते हैं। वैराग्य बल है, सुमति भूख है, विषयोंकी आशा शरीरकी दुर्बलता है, निर्मल विशुद्ध ज्ञान जल है इत्यादि। भाव यह कि मानसरोगके नष्ट होनेपर बुद्धि दिनोंदिन अधिक निर्मल होती जाती है, श्रीरामभक्तिसुधासुनाजकी भूख नित्य नवीन बढ़ती है जिससे विषय-वैराग्यरूपी बल बढ़ता है, जीव सारे जगत्‌में ब्रह्मको देखने लगता है—यह बाहरका हाल हुआ और भीतर अन्तःकरणमें श्रीरामभक्ति नस-नसमें छा रहती है। २—रघुपतिभक्तिको प्रथम संजीवनी कहा और यहाँ अब रामभक्तिका हृदयमें छा रहना कहते हैं। इससे जनाया कि रामभक्ति ही साधन है और रामभक्ति ही साध्य है। पुनः जनाया कि जो संजीवनी मूरि पहले हृदयमें गयी वह अब वृक्षरूप होकर अचल छा गयी है और उसने आगेके लिये मानसरोगोंसे अभय कर दिया है। बैजनाथजी अर्थ करते हैं कि रामभक्ति संजीवनीका प्रभाव छा गया।

रा० प्र०—ज्ञान-जलसे स्नान होनेपर अर्थात् ज्ञानपरिपूर्ण होनेपर भक्तिका लाभ दिखाया।

वि० त्रि०—१ *'सुमति छुधा बाढ़ै······'* इति। रोगीके रोगविनिर्मुक्त होनेपर भूख बड़ी जोरसे लगती है, नित्यप्रति उसका भोजन बढ़ता चला जाता है और जबतक उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं हो जाता तबतक यही दशा रहती है। इसी भाँति संजीवनी-भक्तिद्वारा मानसिक रोगोंका नाश होनेपर सुमति बढ़ती है जिससे भजनकी ओर मन दौड़ता है, विषयसे मन हटता चला जाता है, जबतक कि मन स्थिर होकर रामचरणोंमें नहीं लग जाता। *'बिषय आस दुर्बलता गई'*—भाव कि यद्यपि विषयकी आशा तो संयमके समयसे ही छोड़ रखी थी पर वह गयी न थी, उसे हटानेके लिये प्रयत्न करना पड़ता था। अब वैराग्यबल बढ़नेसे वह आप-से-आप चली गयी।

२ *'बिमल ज्ञान जल'* इति। भाव कि मानसरोगविनिर्मुक्त होनेपर वह ज्ञानोपदेशका अधिकारी होता है। गुरुजीने उसे ज्ञानोपदेश किया। ज्ञानका कथन, श्रवण, आनन्द, पुलक यही नहाना है। यथा—*'कहहिं सुनहिं हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥'*

प० प० प्र०—गर्मजलसे जिसमें कुछ वनस्पति आदि डालकर रोगमुक्तको स्नान कराते हैं यहाँ वह विवक्षित नहीं। यहाँ नदीके जलमें मज्जन अपेक्षित है। संशय, विपर्यय, स्वतोत्थान और परतोत्थान आदि मल जिसमें नहीं हैं, ऐसी जीवब्रह्मैक्य अपरोक्षानुभूति तथा **'सर्वं खलु इदं ब्रह्म'** अनुभवकी परिपक्वावस्था है। *'देख ब्रह्म समान सब माहीं।'*

वै०—भूख लगनेसे देह पुष्ट होती है। यहाँ सुमति क्षुधा है, अर्थात् इन्द्रिय मनादिकी वृत्ति एकत्र होकर शुद्ध हो जायँ और बुद्धि राम-स्नेहमें लगे यह सुमतिरूपी क्षुधा नित्य नवीन बढ़े। श्रवण-कीर्तनादिरूप भोजन करनेमें नित्य नवीन चाह बढ़ती है, स्मरणादि-भोजन करते-करते रामप्रेमरूप पुष्टता मनमें आती है। नेत्रसे रूपदर्शन करना, रसनासे रसास्वादन करना, इत्यादि-इत्यादि; इन्द्रियविषयोंकी आशारूप दुर्बलता जो मनमें थी वह मिट गयी। आरोग्य होनेपर स्नान होता है। यहाँ अपने रूपकी पहिचान ज्ञानविमल जल है। इसमें जब मन नहायेगा तब कुमनोरथरूपी मल छूट जायगा और श्रीरामभक्ति-संजीवनीका प्रभाव उरमें छा रहेगा। प्रेमानन्द परिपूर्ण है, अतः रोग निकट नहीं आ सकता।

सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्मबिचार-बिसारद॥ १२॥
सब कर मत खगनायक एहा। करिअ राम-पद-पंकज नेहा॥ १३॥

अर्थ—श्रीशिवजी, श्रीब्रह्माजी, श्रीशुकदेवजी, श्रीसनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमार और श्रीनारद (आदि) जो मुनि ब्रह्मतत्त्वविचारमें परम चतुर हैं, उन सबोंका मत हे पक्षिराज! यही है कि श्रीरामपदकमलमें प्रेम करना चाहिये॥ १२-१३॥

नोट—१ *'सिव अज ……'* इति। श्रीशिवजी जगद्गुरु हैं; यथा—*'तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना॥'* (१। १११। ५) ब्रह्माजी सृष्टिरचयिता हैं जिनका लिखा देवादि भी नहीं मिटा सकते। श्रीशुकदेवजी भगवान् व्यासके गर्भज्ञानी पुत्र हैं। श्रीसनकादि ब्रह्माके पुत्र आदि-ज्ञानी हैं जो सदा ब्रह्मलीन रहते हैं। ये सब जीवन्मुक्त हैं। नारदजी देवर्षि हैं और भगवान्के मन ही कहे जाते हैं।

२ *'सब कर मत ……'* अर्थात् कुछ मैं ही नहीं कहता, भगवान् शङ्कर, ब्रह्मादिक तथा समस्त ब्रह्मविचार विशारद मुनियों और श्रुतिपुराणादि सब सद्ग्रन्थोंका यह मत है।—२ *'राम-पद-पंकज।'* पदपंकज कहकर निर्गुणका निषेध और सगुण स्वरूपका बोध कराया। निर्गुण-निराकारमें पदकी भावना नहीं हो सकती। पुनः, 'पंकज में नेह' करना कहनेका भाव कि अपना मन मधुकररूप करके उसमें आसक्त कर दो। यथा—*'मन मधुकर पन करि तुलसि रघुपतिपदकमल बसैहौं'*—(वि० १०५)। ३—शिवमत और ब्रह्माजीका मत ११५ (१-२) में देखिये। २—शुकदेवजीका मत भा० (९। ११। २१) में, सनकादिकका मत सनत्कुमार-संहितामें और नारदजीका भविष्योत्तरमें है। क्रमसे, यथा—

'यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्।
तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्टपादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये॥'

'तत्त्वस्वरूपं पुरुषं पुराणं स्वतेजसापूरितविश्वमेकम्।
राजाधिराजं रविमण्डलस्थं विश्वेश्वरं राममहं भजामि॥'

'यत्प्रभावान्मया नित्यं परानन्दात्मकापरम्। रूपं परमयं दिव्यं दृष्टं श्रीजानकीपते॥'

मानस आदिमें भी देखिये—*'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना॥'*, *'बहु रोग बियोगन्हि लोग हए। भवदंघ्रि निरादर के फल ए॥, भवसिंधु अगाध परे नर ते। पदपंकज प्रेम न जे करते॥'* (१४) (शिवमत), *'धिग जीवन देवसरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे॥'* (६। ११०), (ब्रह्माजी) *'सुक सनकादि प्रहलाद नारदादि कहैं रामकी भगति बड़ी बिरत निरत॥'* (वि० २५१) (शुकादिका मत)

वि० त्रि०—*'करिअ राम-पद-पंकज नेहा'* इति। भाव कि राम आनन्द सिन्धु हैं, सुखकी राशि हैं। उसी आनन्द सिन्धुके बिन्दुसे शङ्कर तथा ब्रह्मदेवकी प्रभुता है। यथा—*'जेहि सुख सुधासिंधु सीकर ते सिव बिरंचि प्रभुताई।'*(वि०) उनके चरणकमलोंमें प्रेम करनेसे सब सुख तुरंत सुलभ होते हैं। अतः उन्हींके चरणोंमें प्रेम करना चाहिये। यथा—*'राम चरन अभिराम कामप्रद तीरथराज बिराजै। संकर हृदय भगति भूतल पर प्रेम अछयबट भ्राजै।…… बिनु बिराग जप जाग जोग ब्रत बिनु तप बिनु तनु त्यागे। सब सुख सुलभ सद्य तुलसी प्रभु पद प्रयाग अनुरागे॥'*(गी० ७। ५)

भक्तिको सुखका असाधारण कारण अन्वयमुखसे कहकर आगे उसी बातको व्यतिरेक-मुखसे कहते हैं।

सि० ति०— यहाँ *'पद'* शब्दमें सर्वांगका भाव है क्योंकि *'पद पंकज सेवत सुद्ध हिये'*, *'पदपंकज प्रेम न जे करते'* आदिसे सर्वाङ्ग सेवा समझी जाती है। *'पद'* का अर्थ स्वरूप, लोक और चरणका जहाँ-तहाँ पाया जाता है। अथवा चरण शरीरका मूल आधार है तो मूलके कथनसे सर्वाङ्ग आ गये। *'पंकज'* (पंक=कीचड़, ज=जायमान) अर्थात् कमल कीचड़से जायमान है पर वह उससे निर्लिप्त रहता है। वैसे जीव भी कर्मकीचमें चित्तद्वारा सना हुआ है; यथा—*'कर्म कीच चित सान्यो।'* (वि० ८८) वह इन पद पंकजके स्नेहसे कर्मकीचसे निर्लिप्त रहेगा। कर्मकीच, यथा—*'बिषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक॥'* (वि० १०२) इससे निर्लिप्त हो जायगा; यथा—*'जे बिरचि निरलेप उपाये। पदुमपत्र जिमि जग जल जाये।'*

श्रीरामजीके सब अङ्गोंमें पाँच अङ्ग कमलके समान कहे जाते हैं, यथा—*'श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन हरण भवभय दारुणं। नवकंज लोचन कंज मुख कर कंज पद कंजारुणं।''''''नव नील नीरज सुंदरं॥'*(वि० ४५) इस पदमें मनके लिये पाँच अङ्ग कमलके आधार कहे गये हैं। कमलका स्नेही भ्रमर षट्पद कहाता है। वैसे ही मन भी षट्पद एवं विषयरसलोलुप कहाता है; **'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।''''''श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च॥ अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते॥'**(गीता० १५। ७—९) भ्रमरको कमलमें ही रस, रूप (शोभा), गन्ध, कोमलता और परागरूपसे पाँचों विषय मिल जाते हैं, इसीसे वह इसे नहीं छोड़ता। यहाँतक कि सन्ध्या-समय कमलके सम्पुटित होनेके साथ वह स्वयं उसमें बन्द हो जाता है और काष्ठछेदनमें निपुण होता हुआ भी स्नेहके कारण कमलपत्रोंको नहीं काटता। ऐसे ही जीव भी मनरूपी भ्रमरके द्वारा श्रीरामजीके कमलरूप पाँच अङ्गोंमें स्नेह करके पाँचों विषय प्राप्त करता हुआ भी, संसारसे पृथक् (निर्लिप्त) होगा और उनमें ही स्नेहसे भर जायगा। उन्हें फिर कभी नहीं छोड़ेगा। यथा—*'रामचरन पंकज प्रिय जिन्हहीं। बिषयभोग बस करइ कि तिन्हहीं॥'*(२। ८३) *'रामचरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥'* आगे पाँचों अङ्गोंमें पाँचों गुण दिखाते हैं।—

रस—श्रीरामजीके नेत्रकमलमें कृपा गुणरस है। यथा—*'सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आये जल राजिवनयना॥'*, *'कृपादृष्टि रघुबीर बिलोकी। किये सकल नर नारि बिसोकी॥'* इसी कृपा गुणसे अवतार लेकर चरित करते हैं, जिसके गानमें रसना तृप्त होगी।

कोमलता—मुखकमलमें वचनोंके द्वारा कोमलता-गुण है। यथा—*'कहि बातें मृदु मधुर सुहाई'*, *'कहि मृदु मधुर मनोहर बचना।'* (१। २२५) इनके सुननेमें कानोंको सुख मिलेगा; यथा—*'सुख पाइहैं कान सुने बतियाँ कल आपुसमें कछु पै कहिहैं॥'* (क० २। २३) *'भाइ सों कहत बात कौसिकहि सकुचात बोल घनघोरसे बोलत थोर थोर हैं॥'* (गी० १। ७१) इस तरह ठौर-ठौरके भाषण सुननेमें श्रवण तृप्त होंगे।

गन्ध—करकमलमें सुगन्ध गुण है, इसके दानसे पानेवालोंकी फिर वासना नहीं रह जाती। यथा—*'जोइ जाच्यो सोइ जाचकता बस फिर बहु द्वार न नाच्यो॥'*(वि० १६३) तथा *'कनक कुधर केदार''''''॥'* (क० ७। ११५) में उत्कृष्ट रीतिसे दातृत्व वर्णित है। यहाँ नासिकाकी तृप्ति होगी, परमार्थपक्षमें संसारवासना ही गन्ध-विषयमें प्रधानरूपमें ली जाती है, इतर आदि गौण हैं। पुनः श्रीरामजीके शरीरमें सौगन्ध-गुण भी है; उसकी भावनासे भी नासिका-तृप्ति होती है।

पराग—पदकमलमें पराग-गुण है, जिससे स्पर्श-विषयके भारी पापसे अहल्या शुद्ध हुई। इस माहात्म्यके साथ स्मरणसे करोड़ों जन्मोंके त्वचाके दोषरूप स्पर्श-विषय-विकार शुद्ध होंगे, यहाँ त्वचाकी तृप्ति हुई।

शोभा—यहाँतकके चार अंग अनुरागवर्द्धक लालकमलके समान हैं। सर्वाङ्ग शरीर नीलकमलके समान श्याम-शोभा-गुणयुक्त है; यथा—*'सोभा सींव सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा॥'* श्रीरामजी श्याम शरीर होनेसे शृङ्गारमय हैं। क्योंकि शृङ्गाररस श्याम ही कहा जाता है, यथा—*'जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप॥'* (१। २४१) इस शोभामें लोचन कृतार्थ होंगे।

इस प्रकार मन अपने पाँचों विषयोंके रूपमें श्रीरामजीमें ही रमणकर कृतार्थ होगा।

श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥१४॥
कमठपीठ जामहिं बरु बारा। बंध्यासुत बरु काहुहि मारा॥१५॥

अर्थ—श्रुति, पुराण (आदि) सभी ग्रन्थ कहते हैं कि श्रीरघुनाथजीकी भक्तिके बिना सुख नहीं हो सकता॥ १४॥ कछुएकी पीठपर बाल भले ही जम आवें (तो जम आवें) और बाँझका पुत्र भले ही किसीको मार आवे (यह अनहोनी हो जाय तो हो जाय)॥ १५॥

नोट—'*श्रुति पुरान*......' इति (क) श्रीरामपदपंकजमें प्रेम क्यों करना चाहिये इसपर श्रुति-पुराणका सिद्धान्त कहते हैं कि बिना उनकी भक्तिके सुख स्वप्नमें भी नहीं मिल सकता। यदि सुखकी चाह है तो श्रीरामजीका भजन करो। ईश्वरों और मुनीश्वरोंका प्रमाण देकर फिर भगवान्‌की निज वाणी इत्यादिका प्रमाण दिया। आगे अपना निश्चित अनुभव किया हुआ सिद्धान्त भी यही बताते हैं। (प्र० सं०) श्रुति स्वतः प्रमाण है, पुराण आर्षग्रन्थ होनेसे परतः प्रमाण हैं। '*सब*' से अन्य सभी सद्‌ग्रन्थ अभिप्रेत हैं। '*कहाहीं*' अर्थात् एकस्वरसे कहते हैं। पहले कहा कि सभी आप्तोंका यह मत है और अब कहते हैं कि सब आप्तवाक्योंका भी यही मत है। (वि० त्रि०) (ख)—'*रघुपति भगति बिना*......' यथा—'*गावहिं बेद पुरान सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु॥*' (८९) देखो। ऊपर कहा कि '*करिअ राम-पद-पंकज नेह*' इसमें '*राम*' शब्दमें अति व्याप्ति है। अतः श्रुति-पुराण वाक्यसे स्पष्ट कह दिया कि दाशरथि राम जो रघुकुलमें अवतीर्ण हुए उनकी भक्तिके बिना सुखका अभाव जानो। (ग)—'*सुख नाहीं।*' भाव कि अन्य किसी उपायसे सुख-प्राप्तिकी आशा न करो। यथा—'*सुनु खगेस हरिभगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥ ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥*' (११५। ३, ४) देखिये।' (घ)—'*रघुपति भगति बिना सुख नाहीं*' यह कहकर आगे असम्भव दृष्टान्त देकर इसी सिद्धान्तकी पुष्टि करते हैं।

वि० त्रिपाठीजीका मत है कि यहाँ पाँच बार सुखका निषेध किया है, यथा—(१) *सुख नाहीं,* (२) *जीव न लह सुख,* (३) *न जीव सुख पावै,* (४) *सुख पाव न कोई* और (५) *न भव तरिय।* यहाँपर वेदान्तकथित पाँचों आनन्द (योगानन्द, आत्मानन्द, अद्वैतानन्द, विद्यानन्द और विषयानन्द) बिना माने अर्थ नहीं बनता। आत्मानन्दमें तथा अद्वैतानन्दमें तीन-तीन दृष्टान्त, विद्यानन्दमें एक और विषयानन्दमें पाँच दृष्टान्त दिये। योगानन्द बिना रघुपतिकी भक्तिके नहीं हो सकता।

नोट—२ (क) '*कमठपीठ।*' कछुवेकी पीठपर बालका जमना त्रिकालमें असम्भव है। क्योंकि उसमें हड्डी-ही-हड्डी है। (ख) *बंध्यासुत*—बाँझ स्त्रीके पुत्र त्रिकालमें असम्भव है, यथा—'*बाँझ कि जान प्रसव की पीरा*' '*नतरु बाँझ भलि बादि बियानी।*' जब पुत्र हो ही नहीं सकता तब यह कहना कि बाँझ स्त्रीके पुत्रने अमुकको मारा यह सर्वथा असम्भव है।*

नोट—त्रिपाठीजीका मत है कि '*कमठपीठ*' के उदाहरणसे दिखाया कि मिथ्या आत्मासे सुख नहीं हो सकता। जिस जीवको कछुआ कहते हैं उसकी पीठ देह होनेसे मिथ्या आत्मा है। जिसमें भेद हो और दिखायी न पड़े वह मिथ्या आत्मा है। यहाँ शरीर और आत्मामें भेद है, परंतु दिखायी नहीं पड़ता, इसलिये शरीर मिथ्या आत्मा है। '*बंध्यासुत*' के उदाहरणसे सूचित किया कि गौण आत्मासे भी सुख पाना असम्भव है। पुत्र गौण आत्मा है। जिसमें भेद स्पष्ट हो और गुण मिले उसे गौण आत्मा कहते हैं।

प० प० प्र०—'*कमठपीठ*......' से '*सिकता तै बरु तेल*' तक नौ दृष्टान्त दिये हैं। 'नौ' का अंक गोस्वामीजीको बहुत प्रिय मालूम होता है। प्रथम तीन दृष्टान्तोंमें जगत्‌की सत्ता और अजातवाद सूचित किया। '*तृषा जाइ बरु मृग जल पाना*' से जगत्‌की प्रातिभासिक सत्ता सूचित की, 'अंधकार-रवि और हिम-अनल' दृष्टान्तोंसे व्यावहारिक सत्तामें, जागृतिसे सुखाभाव-तुच्छ सत्तासे सुषुप्तिमें सुखाभाव, प्रातिभासिक

* रा० प्र०—'बंध्यासुत बरु काहुहि मारा।' अर्थ-जगत्‌में जाहिर होनेके लिये 'मारा' यह कहा। 'मारा असम्भव ख्यात होब ज्योतिष मंत्रशास्त्ररीति।'

सत्तासे स्वप्नमें भी सुखाभाव दर्शित किया है। ☞*'रघुपति भगति बिना सुख नाहीं'* उपक्रम है और *'बिनु हरि भजन न भव तरिअ'* उपसंहार है। इस तरह *'सुख नाहीं'='न भव तरिअ'* यह सिद्धान्त ध्वनित किया। भवतरण ही सुख है, भवबंधन ही दुःख है यह भी सूचित किया।

फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला॥ १६॥
तृषा जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहिं सस सीस बिषाना॥ १७॥
अंधकारु बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै॥ १८॥
हिम ते अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई॥ १९॥

अर्थ—आकाशमें भले ही अनेक प्रकारके फूल फूलें (तो फूलें)। पर हरिविमुख होकर जीव सुख नहीं प्राप्त कर सकता॥ १६॥ मृगबारि (मृगतृष्णाजल) के पानसे प्यास भले ही बुझ जाय (तो बुझ जाय) और खरगोशके सिरपर सींग भले ही जम आवें (तो जम आवें)॥ १७॥ अंधकार भले ही सूर्यका नाश कर दे (यह असंभव संभव हो जाय तो हो जाय) पर रामविमुख होकर जीव सुख नहीं पा सकता॥ १७॥ पाला वा बर्फसे अग्नि भले ही प्रकट हो जाय (तो हो जाय) पर रामविमुख होकर कोई भी सुख नहीं पा सकता॥ १९॥

नोट—१ आकाशमें फूल नहीं फूलता, फूल बिना वृक्षके नहीं हो सकता और वृक्ष बिना थलके लग नहीं सकता, अतएव आकाशमें फूल फूलना सर्वकालमें असत्य है, यथा—*'जग नभ बाटिका रही है फलि फूलि रे। धुआँ कैसे धौरहर देखि तू न भूलि रे।'* (वि०) २—*'जीव न लह सुख।'* तीन दृष्टान्त देकर इस कथनको सिद्धान्त कहते हैं। भाव कि ये असम्भव बातें हो नहीं सकतीं, ये असम्भव सम्भव हो जायँ तो हो जायँ पर *'जीव न लह सुख'* यह सिद्धान्त अटल है, इसमें परिवर्तन हो ही नहीं सकता इसी प्रकार आगे भी लगा लें। ३—*'तृषा जाइ बरु मृगजल पाना'*—मृगतृष्णाजल झूठा है, वहाँ जल त्रिकालमें नहीं। तब उससे प्यास बुझना कहना असम्भवको सम्भव कहना है। यथा—*'तृषित निरखि रबिकर-भव बारी। फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी॥'* (बा० ४३। ८) *'जथा भानुकर बारि। जदपि मृषा तिहुँ काल महँ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥'* (बा० ११७)

वि० त्रि०—*'फूलहिं नभ······'* इति। मिथ्या, गौण और मुख्य तीनों आत्माएँ जीवके रूप हैं। मिथ्या और गौण आत्माओंसे सुख नहीं मिल सकता। यह ऊपर बता आये। अब *'फूलहिं नभ······'* में मुख्यात्माको कहते हैं। नभ और मुख्यात्मा-(साक्षी-) में निर्लेपता साधारण धर्म है। विषय प्रिय है और आत्मा प्रियतम है। पुत्र, मित्र, कलत्र, धनादि प्रिय हैं, पर साक्षी आत्मा सबसे प्रिय है उसके लिये होनेसे ये भी प्रिय होते हैं। उसमें परिणाम होना आकाशमें फूल फूलनेके समान असंभव है। हरिकी ओर मन न लगाकर दूसरी ओर लगाना ही हरिविमुख वा हरि प्रतिकूल होना है। हरिविमुख होनेसे जीवको सुख नहीं होता क्योंकि उसे तो मुख्यात्मासे भेंट ही नहीं होती। इससे यह कहा कि भक्तिविहीनको आत्मानन्द नहीं मिलता।

'तृषा जाइ बरु मृगजल पाना' इति। मायाकी उपमा मृगजलसे दी जाती है। मृगजलकी भाँति मायामें भी आनन्दकी मिथ्या प्रतीति होती है। वस्तुतः इसमें आनन्द नहीं है। यह दुःखरूपा है। आनन्दाभिलाषी इसीमें आनन्द-प्राप्तिका प्रयत्न करते-करते दुःख पा-पाकर मर जाते हैं, कभी सुख नहीं मिलता। इस दृष्टान्तसे मायाको दुःखरूपा, मिथ्या और जड़ कहा।

'सस सीस बिषाना'—खरगोशको न सींग है, न होगी और न प्रतीत होती है। अतः खरगोशको सींग होना मिथ्या ही नहीं बल्कि असत् है। यही अजातवाद है। जिसमें जो वस्तु स्वभावसे प्राप्त नहीं उसमें वह वस्तु नहीं होती। ब्रह्मलीन विज्ञानीके लिये जगत् तीनकालमें शशविषाणकी भाँति हुआ ही नहीं और न प्रतीत होता है। इससे मायाको असत् कहकर अजातवाद कहा।

नोट—४ (क) *'अंधकारु बरु रबिहि नसावै।'* इसी प्रकार श्रीभरतजीके हृदयकी शुद्धता स्थापित करनेमें प्रभुने कहा है—*'तिमिर तरुन तरिनिहि मकु गिलई।'* (अ० २३२) (१) देखिये। का० में *'रबिहि'*

की जगह *'ससिहि'* पाठ है। अन्धकार तो सूर्यके सम्मुख ही नहीं जा सकता। तब भला वह सूर्यका नाश क्या करेगा? सूर्यका नाश उससे कहना असम्भवको सम्भव करना है—*'तहँ कि तिमिरि जहँ तरनि प्रकासू', 'रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं।'* (७२। ८) देखो। रा० प्र० कार अर्थ करते हैं 'अन्धकार विधुन्तुद (राहु) रूप होकर चन्द्रमाको ग्रास कर ले' (ख) *'राम बिमुख न जीव सुख पावै'*—जैसे कि जयन्तको किसीने शरण न दी—*'राखि को सकै राम कर द्रोही', 'सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥'*—(३। १। ५, ८) देखिये। *'राम बिमुख थल नरक न लहहीं।'*

वि० त्रि०—*'अंधकारु बरु रबिहि……'* इति। अन्धकार कोई वस्तु नहीं है, प्रकाशाभावको ही अन्धकार कहते हैं। इसी भाँति ज्ञानाभावको ही अज्ञान कहते हैं। श्रीराम सच्चिदानन्द सूर्य हैं और मोह (अविद्या) अन्धकार है। अत: रामके विमुख होकर जीव असत्, अचित् और निरानन्द मायामें जा पड़ेगा। जो मिथ्या है, असत् है, उसकी गिनती नहीं, गिनती सच्ची वस्तुओंकी होती है। अत: राम अद्वैत हैं। यथा—**'अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुन सगुन ब्रह्म सुमिरामि नरभूपरूपं।'** अत: रामसे विमुख जीव द्वैतरूपी दु:खमें आ पड़ता है। यथा—*'द्वैतरूप तमकूप परौं सो नहिं कछु जतन बिचारो।'*—इस दृष्टान्तसे बताया कि रामविमुखको अद्वैतानन्द कभी नहीं मिल सकता। लोकदृष्टिसे माया वास्तवी है, शास्त्रदृष्टिसे असत् और युक्तिसे मिथ्या (अनिर्वचनीया)। किसी भी दृष्टिसे मायाकी उपासना कर सुख नहीं मिल सकता।

प० प० प्र०—*'अंधकारु……'* इति। यह स्थिति असम्भव-सी लगती है, पर कल्पान्तके प्रलयके बाद रविको अन्धकार ग्रसता है। रवि नहीं रहता केवल अन्धकार-ही-अन्धकार रहता है—**'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे'**, (ऋग्वेद)। इससे यह सूचित किया कि विश्वकी स्थिति अवस्थामें तो सुख मिलेगा ही नहीं, पर कल्पान्तके पश्चात् भी सुख न मिलेगा। श्रीमद्भागवतमें भी यही कहा है—**'तर्हि न सन्न चासदुभयं न च कालजव:। किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा॥'**(१०। ८७। २४) भाव यह कि आपकी शरण लेकर जो जीव जीवित दशामें, सृष्टिकालमें, आपकी कृपासे भवभयमुक्त न हो सका, उसको प्रलयके बाद भी आपके अत्यन्त समीप होनेपर भी सुखप्राप्तिका कुछ साधन ही नहीं रहता है, उस समय न तो स्थूलसत्-आकाशादि, न असत्-सूक्ष्म महदादि, शरीर, कालवैषम्य, इन्द्रिय और प्राण ही रहते हैं और न शास्त्र ही और *'तनु बिनु बेद भजन नहिं बरना'* तब सुख कब सम्भव हो सकता है।

नोट—५ *'बिमुख राम सुख पाव न कोई',* यथा—*'रामबिमुख सुख कबहुँ न सोवा।'* ऊपर *'जीव न लह सुख' 'राम बिमुख न जीव सुख पावै'* कहा और यहाँ *'सुख पाव न कोई'* इस प्रकार साधारणतया तो कोई='कोई जीव या प्राणी', पर साथ ही विशेष भाव यह भी निकलता है कि पूर्व जीवोंके विषयमें ही कहा था और अब शब्द बदलकर जनाया कि जीवकी क्या, यदि ईश्वर भी, जैसे कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश रामविमुख हों तो उनको भी सुख न होगा।

वि० त्रि०—*'हिम ते अनल……'* इति। अनलसे जलकी उत्पत्ति हुई है और जलकी जड़ीभूतावस्था ही हिम है। अत: हिमसे अग्नि नहीं प्रकट हो सकती। हिमका स्वभाव जड़ है। अत: यहाँ जड़ मायाकी उपमा हिमसे दी है। इससे विलक्षण स्वभाववाले अग्निकी उपमा चेतनसे दी है। चेतन सुखरूप है, माया दु:खरूपा है। सो दु:खरूपा मायासे चाहे सुख मिल जाय। परमात्मा और आत्माके बीचमें पड़कर मायाने ही दोनोंको अलग कर रखा है। योगसे माया और आत्माका विवेक हो जानेसे द्वैतभय भाग जाता है और दु:खाभाव, कामाप्ति, कृतकृत्यता तथा कृतार्थता होती है, यही विद्यानन्द है। सो मायासे विद्यानन्द सुखका होना असम्भव है। और रामविमुख होनेसे तो और भी अधिक असम्भव है। 'कोई' का भाव कि योगानन्द, आत्मानन्द, अद्वैतानन्द अथवा विद्यानन्दमेंसे कोई भी।

दो०—बारि मथे घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरिभजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल॥ १२२ (क)॥

अर्थ—जलके मथनेसे घी भले ही हो जाय (निकल आवे) और रेतसे तेल भले ही निकल आवे, पर यह सिद्धान्त अटल है, कदापि टल नहीं सकता कि बिना भगवद्भजनके संसार नहीं तरा जा सकता॥ १२२ (क)॥

नोट—१ जल मथनेसे घी नहीं निकल सकता, यथा—*'घृत कि पाव कोउ बारि बिलोए।'* (४९। ५) और रेतको रेतने (पेरने) से तेल नहीं निकल सकता। *'होइ बरु'* अर्थात् ये आश्चर्य घटनाएँ हो जायँ, ये सिद्धान्त टल जायँ तो टल जायँ, पर हरिभजन बिना भवपार नहीं हो सकते, यह सिद्धान्त अटल है, किसी प्रकार किसीकी भी सामर्थ्य नहीं कि टाल दें। *अपेल*=न पेलन (टालने योग्य), यथा—*'आएहु तात बचन मम पेली।'* (अ०) (ख) *'बिनु हरि भजन न भव तरिअ——'* इति। *'बिनु हरिभजन न भव भय नासा॥'* (९०। ८) देखिये, मिलान कीजिये। यथा सत्योपाख्याने—**'लोके भवतु चाश्चर्यं जलाज्जन्म घृतस्य च। सिक्तायाश्च तैलं तु यत्नाद् यातु कथञ्चन॥ विना भक्तिं न मुक्तिश्च भुजमुत्थाय चोच्यते'**(१५। १६। १७) मूर्खोंके विषयमें कहते हुए श्रीभर्तृहरिजीने भी कुछ ऐसा ही कहा है। यथा—**'लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्पिबेच्च मृगतृष्णिकासु सलिलं पिपासादितः। कदाचिदपि पर्यटञ्छशविषाणमासादयेन्न तु प्रतिनिविष्टमूर्खजनचित्तमाराधयेत्॥ ७५॥ [सिकतया बरु तैलमथापि वा घृतमपां मथनाद्यदि चेद् भवेत्। भगवतो भजनेन विना नरो नहि कदापि तरेद्भवसागरम्'॥** (वि० टी०)]

वि० त्रि०—योगानन्द, आत्मानन्द, अद्वैतानन्द और विद्यानन्दको कह चुके, विषयानन्द शेष रहा उसके बारेमें अब कहते हैं। सात्त्विक, राजस और तामस वृत्तियाँ ही सुख-दुःख-मोहात्मिका होकर शान्ता, मूढ़ा और घोरा नामसे अभिहित होती हैं। वैराग्य, क्षान्ति, औदार्यादि शान्त वृत्तियाँ हैं। तृष्णा, स्नेह, राग, लोभादि घोर वृत्तियाँ हैं और सम्मोह, भयादि मूढ़ वृत्तियाँ हैं। इनमेंसे निर्मलताके कारण शान्तामें ब्रह्मका सुखांश भी प्रतिबिम्बित होता है और घोरा-मूढ़ामें केवल सत्तांश और चिदंश ही प्रतिबिम्बित होता है। अतः घोरा-मूढ़ामें सुख नहीं। यहाँ जलकी उपमा घोरा वृत्तिसे दी गयी है, क्योंकि जलका प्रच्यवनशील स्वभाव होता है। जो जिसमें रहता है वही उद्योग करनेपर निकलता है। जलमें घी है ही नहीं तब निकलेगा कहाँ, वैसे ही घोरा वृत्तिमें सुखांश है ही नहीं तब सुख मिलेगा कैसे?

सिकताके स्थूलतर होनेके कारण उसे मूढ़ा वृत्तिसे उपमित किया, बालूमें तेल नहीं होता, अतः उसे पेरनेसे तेल नहीं निकलता। इसी तरह मूढ़ावृत्तिसे सुख मिलना असम्भव है। घोरा-मूढ़ा वृत्तियोंसे यों ही सुख मिलनेवाला नहीं तब बिना भजनके तो और भी असंभव है।

'बिनु हरिभजन——'—भाव कि शान्ता वृत्तिसे निस्सन्देह क्षणिक सुख मिल जाता है और वह भी इसी कारणसे कि उसमें सच्चिदानन्द रामकी एक झलक पड़ जाती है, पर उस सुखसे कोई उपकार नहीं होता, पूर्ण सुख अथवा भूमा सुख तो भवसन्तरण करनेपर ही मिलेगा। सो यह क्षणिक सुख ही तो जीवको संसारमें बझाये हुए है इससे भवसन्तरण नहीं हो सकता। अतः शान्ता वृत्तिको स्थिर करनेके लिये हरिभजन करना होगा इसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है।

नोट—२ *'करिय रामपद पंकज नेहा'* इस मतका समर्थन यहाँतक हुआ। *'रघुपति भक्ति बिना सुख नाहीं।'*(१२२। १४) उपक्रम है और *'बिनु हरि भजन न भव तरिअ* उपसंहार है। ऊपर *'सुख',* शब्द और अन्तमें *'भव तरिअ'* कहकर जनाया कि भवपार पाना यही सुख है।

'यह सिद्धांत अपेल।' सिद्धान्त=वह बात जिसके सदा सत्य होनेका निश्चय किया गया हो। न्यायशास्त्रमें सिद्धान्त चार प्रकारके कहे गये हैं—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम। सर्वतन्त्र वह है जिसे विद्वानोंके सब वर्ग या सम्प्रदाय मानते हों अर्थात् जो सर्व-सम्मत हो। प्रतितन्त्र वह है जिसे किसी शाखाके दार्शनिक मानते हों और किसी शाखाके विरोध करते हों। जैसे, पुरुष या आत्मा असंख्य हैं, यह सांख्यका मत है, जिसका वेदान्त विरोध करता है। अधिकरण वह है जिसे मान लेनेपर कुछ और भी सिद्धान्त साथ मानने ही पड़ते हैं।—जैसे, यह मान लेनेपर कि आत्मा केवल द्रष्टा है, कर्त्ता नहीं, यह मानना ही पड़ता है कि आत्मा मन आदि इन्द्रियोंसे पृथक् कोई सत्ता है। अभ्युपगम वह सिद्धान्त है जो स्पष्ट

रूपसे कहा न गया हो पर सब स्थलोंको विचार करनेसे प्रकट होता है। जैसे न्यायसूत्रोंमें कहीं यह स्पष्ट नहीं कहा गया कि मन भी एक इन्द्रिय है, पर मनसम्बन्धी सूत्रोंका विचार करनेपर यह बात प्रकट हो जाती है—यहाँ *'सिद्धांत अपेल'* कहकर सर्वतन्त्रसिद्धान्त जो सर्वसम्मत है, वह जनाया।

वि० त्रि०—*'यह सिद्धांत अपेल'* इति। भाव कि ज्ञानकी सिद्धिमें भी व्यभिचार है, साधन-भक्तिसे सुलभताके साथ ज्ञानसिद्धि हो सकती है। अतः उस सिद्धान्तको अपेल नहीं कहा। यथा—*'कहेउँ ज्ञान सिद्धांत बुझाई।'* पर भक्ति नहीं हटायी जा सकती है, उसे हटानेपर सब साधन ही व्यर्थ पड़ जाते हैं, इसलिये कहते हैं कि *'यह सिद्धांत अपेल।'*

वीरकवि १—इन उदाहरणोंकी बातें सब जानते हैं, कि सत्य मानी जाती हैं, भुशुण्डिजी अपने ज्ञानबलसे प्रमाण देते हैं। यह प्रत्यक्ष प्रमाण अलङ्कार है। इस प्रकरणमें 'रामविमुखीको सुख नहीं मिलता, इस बातकी उत्कृष्टताके लिये जो-जो हेतु कल्पित किये गये हैं वे उत्कर्षके कारण नहीं हैं। चाहे वे असम्भवपूर्ण घटनाएँ हो जायँ तो भी यह स्वयंसिद्ध है कि हरिविमुखी सुखी नहीं हो सकता, 'प्रौढ़ोक्ति अलङ्कार' है। दोहेका पूर्वार्द्ध भी यही है। सरदारकविने अपने मानस-रहस्यमें यहाँ 'मिथ्याध्यवसित अलङ्कार' माना है परंतु मिथ्याध्यवसित वह है जहाँ एक मिथ्याको सत्य करनेके लिये दूसरी मिथ्या बात कही जाती है। जैसे—जो आकाशके पुष्पका रस आँखमें अंजन करे वह साँपके कानको देख सकता है। आकाश-पुष्पका रस मिथ्या वस्तु है उसके सम्बन्धसे सर्पके कानका मिथ्यात्व निश्चय किया गया है। इस कारण मेरी समझमें यहाँ मिथ्याध्यवसित अलङ्कार नहीं है। २—बिना हरिभजन भवपार होनेका अभाव 'प्रथम विनोक्ति' है।

सि० ति०—*'कमठपीठ'* से लेकर यहाँतक नौ असम्भव दृष्टान्त कहे गये। ९ संख्याकी सीमा है। इससे यह भाव निकलता है कि ऐसी असंख्य असम्भव बातें चाहे हो जायँ तो हो जायँ पर हरिभजन बिना कोई भवपार नहीं हो सकता।

दो०—मसकहि करै बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन।
अस बिचारि तजि संसय रामहिं भजहिं प्रबीन॥१२२ (ख)॥
श्लोक—विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजंति येऽतिदुस्तरं तरंति ते॥१२२ (ग)॥

अर्थ—प्रभु मच्छड़को ब्रह्मा कर दें और ब्रह्माको मच्छड़से भी छोटा (तुच्छ) कर दें, ऐसा विचार कर चतुर लोग संशय छोड़कर श्रीरामजीको भजते हैं। मैं तुमसे भली प्रकार खूब निश्चय किया हुआ सिद्धान्त कहता हूँ, मेरे वचन अन्यथा (व्यर्थ, झूठे) नहीं हैं कि जो मनुष्य भगवान्‌का भजन करते हैं वे अत्यन्त दुस्तर संसारको तर जाते हैं॥ १२२॥

नोट—१ (क) मसक सृष्टिमें बहुत छोटा जन्तु है और सृष्टिरचयिता ब्रह्मा जीवोंमें सबसे बड़े हैं। सबसे बड़ेको सबसे छोटा और सबसे छोटेको सबसे बड़ा कर देनेका सामर्थ्य होनेसे *'प्रभु'* कहा। '**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः।**' त्रिपाठीजी लिखते हैं कि जो इस समय ब्रह्मदेव हैं वे किसी समय मच्छड़ थे और जो आज मच्छड़ है वह किसी समय ब्रह्मा रह चुका हो, क्योंकि ब्रह्मदेवसे भी पतन शास्त्रोंमें सुना गया है। —'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।' (ख) *'अस बिचारि'*—जैसा ऊपर *'सब कर मत खगनायक एहा'* से यहाँतक कह आये कि यह सिद्धान्त अटल है, दूसरे श्रीरामजी सबके प्रभु हैं, उनका यह सामर्थ्य है कि मच्छड़को ब्रह्मा बना दें और ब्रह्माको मच्छड़से भी हीन बना दें, यथा—*'मसक बिरंचि बिरंचि मसक सम करहु प्रभाव तुम्हारो।'* (वि० ९४) तब भला हम शरण जायँगे तो हमें वे भवपार क्यों न कर देंगे? मिलान कीजिये—*'जो चेतन कहँ जड़ करइ जड़हि करै चैतन्य। अस समर्थ रघुनायकहि……।'* (११९)

वि० त्रि०—(क) *'अस बिचारि……'* इति। भाव यह है कि अनन्तकालसे इस संसारमें पड़े दुर्गति सह रहे हैं, दुःखनिवृत्तिका उपाय करते ही मर रहे हैं, पर आजतक न मुक्ति ही हुई, न भक्ति ही मिली।

अतः समर्थका आश्रय ग्रहण ही अब एकमात्र उपाय है। श्रीरघुनाथजी-सा समर्थ कोई नहीं, उन्हींके आश्रय-ग्रहणसे बेड़ा पार है। (ख) *'तजि संसय'*—भाव कि सब प्रकारका समाधान कर देनेपर भी यदि मनुष्य स्वयं संशय न हटावे तो वह बना ही रहता है। इसीलिये भगवान् शंकरने कहा—*'तजु संसय भजु रामपद।'* (१। ११५) *'रामहिं भजहिं प्रबीन'*—भाव कि प्रवीणता श्रीरामको भजनेमें है। यदि चतुर प्रवीण होकर भी संसारको ही भजा तो उसकी चतुराई और जानकारी कहाँ रही? यथा—*'झूठो है झूठो है झूठो सदा सब संत कहंत जे अंत लहा है। ताको सहै सठ संकट कोटिक काढ़त दंत करंत हहा है। जानपनीको गुमान बड़ो तुलसीके बिचार गंवार महा है। जानकीजीवन जान न जान्यो तौ जान कहावत जान्यौ कहा है।'*

प० प० प्र०—इस दोहेके इस अर्धमें *'प्रवीण'* शब्दकी तुलसीकृत व्याख्या ही है। इसी तरह *'जड़'* की व्याख्या ११५ (१-२) में, *'पण्डित'* की ४९ (७-८) में है। इसी तरह अनेक शब्दोंकी व्याख्याएँ मानसमें दी गयी हैं, जिनको स्मरणमें रखनेसे अन्य स्थानोंपर गूढ़ वाक्योंके भाव जाननेमें बहुत सहायता मिलती है।

नोट—२ *'हरिं नरा भजंति ये……'* यथा—*'राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआईं॥'*

३—यहाँ जो निश्चित सिद्धान्त निकला वह इस प्रकार है—

१—शिव, ब्रह्मा और मुनीश्वरोंका सिद्धान्त कहा—	*'करिय राम पद पंकज नेहा'*
२—श्रुति-पुराणादिका सिद्धान्त कहा—*'रघुपतिभगति बिना सुख नाहीं',*	*'जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला'*
३—जोर देकर अपना अनुभव सिद्धान्त कहा	*'राम बिमुख न जीव सुख पावइ'*
(रामविमुखको सुखकी प्राप्तिका अभाव)	*'बिमुख राम सुख पाव न कोई'*
४—अन्य साधन असमर्थ हैं—	*'बिनु हरिभजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल'*
५—(भक्तिसे भवतरण निश्चय है)—	*'हरिं नरा भजंति येऽतिदुस्तरं तरंति ते'*

नोट—४ ☞ यहाँ इतने सिद्धान्त कहे—(क) रघुनाथजीकी भक्तिहीसे सुख प्राप्त एवं भवतरण हो सकता है। (ख)—उनकी भक्तिके बिना सुख किसी प्रकार नहीं मिल सकता। (ग)—न राम-विमुख होनेसे सुख, न उनके प्रतिकूल होनेसे सुख और न उनके भजन बिना सुख। अर्थात् यदि कोई सोचे कि हम प्रतिकूल नहीं होते पर उनकी भक्ति भी नहीं करते, उदासीन रहेंगे तो उसीपर यह कहा कि उदासीन रहनेसे भी सुखकी प्राप्ति नहीं है।

वि० त्रि०—१ पूर्वके दोहेमें जिस बातको व्यतिरेकमुखसे कहा था, उसीको अब अन्वयमुखसे कहते हैं। पहले दोहेमें कहा था कि *'बिनु हरिभजन न भव तरिअ',* इसमें कहते हैं कि 'निश्चय तर जाते हैं। मैं निश्चित बात कहता हूँ' यह कहकर अपना विश्वास इस सिद्धान्तपर दिखलाया।

२ *'न अन्यथा वचांसि मे'*—यह संदेह न हो कि कही हुई और बातें निश्चित नहीं थीं, इसलिये कहते हैं कि मेरे वचन अन्यथा होते ही नहीं, अर्थात् सब कहा हुआ यथार्थ है, पर निरूपण करनेमें तर्क तथा प्रमाणसे काम लेना पड़ता है, इस समय निर्णीत अर्थ कहता हूँ। यहाँ भुशुण्डिजी अभिमान नहीं करते हैं, शिष्यमें विश्वास उत्पन्न करनेके लिये यथातथ्य कह रहे हैं। सब हिंदीमें कहकर सिद्धान्त संस्कृतमें कर रहे हैं।

३ *'हरिं नरा भजंति……'*—भाव कि नर-शरीर भवसागरके लिये बेड़ा है; यथा—*'नरतन भवबारिध कहँ बेरो।'* पर सब बेड़े पार नहीं लगते, बीचमें ही डूबते हैं, जो हरिको भजते हैं उन्हींका बेड़ा पार है, वे ही बुद्धिमान् हैं। *'ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहत जड़ करनी॥'* कहकर जिस प्रसंगको उठाया था उसीकी समाप्ति यह कहकर करते हैं कि 'जो हरिको भजते हैं वे ही दुस्तर समुद्रको पार करते हैं।

नोट—☞ यहाँतक प्रश्नोंके उत्तर हुए, आगे प्रकरणकी इति लगाते हैं।

२—यह नगस्वरूपिणी वृत्तका श्लोक है। आ० में यह वृत्त आ चुका है।

कहेउँ नाथ हरिचरित अनूपा। ब्यास समास स्वमति अनुरूपा॥ १॥
श्रुति सिद्धांत इहै उरगारी। राम भजिअ सब काज बिसारी॥ २॥

अर्थ—हे नाथ! मैंने अनुपम रामचरित (कहीं) विस्तारसे और (कहीं) संक्षेपसे अपनी बुद्धिके अनुसार कहा॥ १॥ हे उरगारि! श्रुतियोंका सिद्धान्त यही है कि सब काम भुलाकर श्रीरामजीका भजन करना चाहिये॥ २॥

नोट—१ यह गरुड़के सप्त प्रश्नोंके उत्तर कहे, इसके पूर्व ४ प्रश्न जो भुशुण्डिसम्बन्धी थे उनके उत्तर कहे थे। पर यहाँ प्रसंगकी इति लगानेमें कहते हैं कि *'कहेउँ नाथ हरिचरित अनूपा'* इससे जनाया कि अन्तिम प्रश्नोंके उत्तर भी रामचरितके ही अन्तर्गत हैं। जिस सत्संगमें रामचरितके सम्बन्धमें और भी ऊपरकी कथा कहनेकी आवश्यकता हो जो प्रसंगका पोषक है वह भी रामचरित है, जैसे कि योगवासिष्ठको रामचरित कहा जाता है। दूसरे संतचरित, संतस्वभाव भी रामचरित है क्योंकि संत-भगवंतमें अभेद है और इनका चरित गुण बिना रामसम्बन्धका होता ही नहीं। जितने प्रश्न हैं रामभक्ति दृढ़ करनेवाले हैं, अतः प्रश्न और उत्तर दोनों रामचरित्रके अङ्ग हैं। २—*'कहेउँ नाथ हरि चरित अनूपा'*, यहाँ कथाकी इति लगायी। *'प्रथमहि अति अनुराग भवानी। रामचरित सर कहेसि बखानी॥'* (६४। ७) उपक्रम है। ३—'अनूपा' 'स्वमति अनुरूपा' के भाव पूर्व आ चुके हैं।

वि० त्रि०—१ (क) हरिचरित्र वेदमार्ग-संस्थापनके लिये होता है, अतः वेदोदित सम्पूर्ण बातें स्वयं करके उपदेशद्वारा जगत्के सामने जीते-जागते रूपमें रख दी जाती हैं, यथा—*'जेहि कहत गावत सुनत समुझत परम पद नर पावई।'* भागवत-चरितमें भी भगवद्गुणानुवाद ही रहता है। श्रीरामचरितमानसमें एक भगवत्-चरित्र और पाँच भागवतचरित्र (उमाचरित, शम्भुचरित, भरतचरित, हनुमत्-चरित और भुशुण्डिचरित) हैं। अतः इन सबके अन्तमें कहते हैं कि *'कहेउँ नाथ।'* (ख) अनूप=जगत्से विलक्षण। श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला, धाम सभी अनुपम हैं। यथा—*'बिधिहरिहरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपं गुननिधान सो॥'*, *'चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥'*, *'कहेउँ नाथ हरिचरित अनूपा।'*, *'संत सभा अनुपम अवध सकल सुमंगलमूल।'*(१। ३९) श्रीरामावतारमें जो चरित किया गया वह वस्तुतः अनूप है, कहीं किसी अवतारमें ये बातें नहीं पायी जातीं। यथा—

> **'तीय सिरोमनि सीय तजी जेहि पावककी कलुषाइ दही है।**
> **धर्मधुरंधर बंधु तज्यो, पुरलोगनिकी बिधि बोलि कही है॥**
> **कीस निसाचरकी करनी न सुनी न बिलोकी न चित्त रही है।**
> **राम सदा सरनागतकी अनखौहीं अनैसी सुभाय सही है॥** (क० ७। ६)
> **कौसिक बिप्रबधू मिथिलाधिपके सब सोच दले पल माहैं।**
> **बालि दसानन बंधु कथा सुनि सत्रु सुसाहिब सील सराहैं॥**
> **ऐसी अनूप कहैं तुलसी रघुनायक की अगुनी गुनगाहैं।**
> **आरत दीन अनाथनको रघुनाथ करैं निज हाथकी छाहैं॥** (क० ७। ११)

[श्रीकान्तशरणजी कहते हैं कि 'अनूप' का अर्थ सरस भी होता है, यथा—*'देखि मनोहर सैल अनूपा।'*]

२ *'स्वमति अनुरूपा'*—हरिचरित्र सर्वतोभावसे कहनेमें सभी असमर्थ हैं। चारों घाटोंके वक्ताओंने अन्तमें यही स्वीकार किया है। यथा—*'मति अनुरूप कथा मैं भाषी।'* (श्रीशङ्करजी) *'रघुपति कृपा जथा मति गावा।'* (श्रीयाज्ञवल्क्यजी), *'ब्यास समास स्वमति अनुरूपा।'* (श्रीभुशुण्डिजी) और पूर्वघाटके वक्ता गोस्वामीजी तो पूर्व ही कह आये हैं, यथा—*'मति अनुहारि सुबारि गुनगन गनि मन अन्हवाइ।——'*

नोट—४ *'ब्यास समास'* इति। जहाँ *'बखाना'*, *'गाना'* इत्यादि क्रियाएँ हैं वहाँ विस्तार है। जहाँ अपूर्ण क्रिया वा संक्षेप इत्यादि शब्द हैं वहाँ थोड़ेमें कहा है। बालचरित विस्तारसे कहा, अन्तिम सप्त प्रश्नोंमेंसे 'संत, असंत मर्म और स्वभाव' तथा मानस-रोग विस्तारसे हैं; क्योंकि इनके विषयमें *'बखानहु'* *'कहहु समुझाई'* पदोंका प्रयोग हुआ है, शेष संक्षेपसे पूछे और कहे गये हैं। इसी तरह सबमें पाठक देख लें।

'श्रुति सिद्धांत।' वेदस्तुतिमें उन्होंने अपना 'सिद्धान्त' कहा है—*'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि*

भक्ति न आदरी।……' 'तव चरन हम अनुरागहीं' इत्यादि, दोहा १३ के छन्दमें देखिये। प्रमाण भी पूर्व आ चुके हैं। आगे श्रीशिवजी भी यही कहते हैं—*'रामचरन जाकर मनु राता॥……श्रुति सिद्धांत नीक तेहि जाना।'* (१२७। ३-४) अर्थात् रामचरणमें अनुराग करना चाहिये यही श्रुतियोंका सार-सिद्धान्त है।

वि० त्रि०—(क) पहले ज्ञान-सिद्धान्तसे भजनकी उपादेयता दिखलायी, फिर भक्ति-सिद्धान्तसे दिखलायी, अब श्रुति-सिद्धान्तसे भी वही दिखलाते हैं।

नोट—५ *'सब काज बिसारी'*, यथा—**'कोटिं त्यक्त्वा हरि भजेत्।'** कहा है कि सौ काम छोड़कर भोजन कर ले और भगवद्भजनके सामने भोजनतक छोड़ देना विधि बताया है। काशीकी प्रतिमें 'काम' पाठ है। दोनोंमें भाव एक ही हैं। जनकपुरवासी और मगवासी प्रभुके दर्शनके लिये *'धाये धाम काम सब त्यागी' 'चले सकल गृह काज बिसारी।'* श्रीसुग्रीवने वानरोंको उपदेश दिया है कि *'भजिय राम सब काम बिहाई।'*—बा० २२० (२), २४० (६), कि० २३ (६) देखो। इसके भाव वहाँ आ चुके हैं। भुशुण्डिजीके विषयमें कहा है कि *'तजि हरिभजन काज नहिं दूजा'*—बस, यही *'सब काज बिसारी'* का चरितार्थ है। *'बिसारी'* का भाव कि छोड़नेमात्रसे काम न चलेगा, सब काम इसके आगे भुला दो मानो और कोई काम था ही नहीं।

वि० त्रि०—*'राम भजिय सब काज बिसारी'* इति। भाव कि विषयसे मन फेरकर भगवान्में ऐसा लगावे कि सचमुच विषय और कार्य सब विस्मृत हो जायँ। यथा—*'प्रगट बखानहिं राम सुभाऊ। अति सप्रेम गा बिसरि दुराऊ॥'* (शुक-सारन), *'तुलसी भूलि गये रख एहा।'* ऐसे भूलनेवालेका काम-काज भगवान्को याद रहता है। यथा—*'करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी।……'* 'काम' का अर्थ सुख भी है। जबतक दूसरे-दूसरे सुख याद हैं तबतक भजन नहीं हो सकता। दूसरे सुख सीठे लगें तब राम मीठे लगते हैं। *'उरगारी'* सम्बोधनका भाव कि आप सर्पोंके शत्रु हैं, संशयसर्पसे भी आप वेदोदित सिद्धान्तद्वारा अपनी रक्षा कीजिये। वेदोंके सिद्धान्त सुननेपर वेदानुयायीके हृदयसे शंका दूर होकर दृढ़ निश्चय हो जाना ही प्राप्त है।

प्रभु रघुपति तजि सेइअ काही। मोहि से सठ पर ममता जाही॥ ३॥
तुम्ह बिज्ञान रूप नहिं मोहा। नाथ कीन्हि मोपर अति छोहा॥ ४॥
पूँछिहु राम कथा अति पावनि। सुक सनकादि संभु मन भावनि॥ ५॥

अर्थ—समर्थ स्वामी श्रीरघुनाथजीको छोड़कर किसकी सेवा (भजन) की जाय कि मुझ-ऐसे शठपर भी जिनका ममत्व है॥ ३॥ हे नाथ! आप विज्ञानरूप हैं, आपको मोह नहीं था, आपने तो (तथा स्वामी श्रीरघुनाथजीने तो) मुझपर (यह) अति कृपा की॥ ४॥ आपने शुक-सनकादि-शम्भुके मनको प्रिय लगनेवाली अत्यन्त पवित्र रामकथा पूछी॥ ५॥

पं० रा० व० श०—*'प्रभु'* अर्थात् अघटित घटनाको घटित कर देनेवाले हैं। *'प्रभु'* होनेसे साधकको ज्ञान हुआ कि वे उत्कृष्ट हैं, भजने योग्य हैं, पर यदि सुलभ न हों तो हमारे किस कामके? इस शङ्काके निवृत्त्यर्थ 'प्रभु' से ऐश्वर्य कहकर दूसरे चरणमें माधुर्य कहकर जनाया कि सुलभ भी हैं—यह कृत्यसाध्य ज्ञान हुआ।

नोट—१ (क) *'रघुपति तजि सेइअ काही।'* प्रथम श्रुति-सिद्धान्त कहा कि श्रीरामजीका भजन करना चाहिये, अब और भी कारण उनके भजनेका बताते हैं कि इनको न भजोगे तो दूसरा और कौन ऐसा प्रभु है जिसकी सेवा कीजिये। प्रभुने स्वयं कहा है—*'आपु सरिस खोजउँ कहँ जाई।'* (१। १५०। २) देखिये। भाव यह कि दूसरा कोई और भजे जाने योग्य नहीं है, यथा—*'नाहिंन भजिबे जोग बियो। श्रीरघुबीर समान आन को पूरन कृपा हियो॥ कहहु कौन सुर सिला तारि पुनि केवट मीत कियो। कौन गीध अधम को पितु ज्यों निज कर पिंड दियो॥ कौन देव सबरीके फल करि भोजन सलिल पियो। बालि त्रास बारिध बूड़त कपि केहि गहि बाँह लियो॥ भजन प्रभाउ बिभीषन भाष्यो सुनि कपि कटक जियो। तुलसिदास को प्रभु कोसलपति सब प्रकार बरियो॥'* (गी० सुं० ४६) पुनः यथा—*'भजिबे लायक सुखदायक रघुनायक सरिस सरनप्रद प्रभु दूजो नाहिंन। आनंद भवन दुखदवन सोक समन रमारमन गुन गनत सिराहिं न॥ आरत*

अधम कुजाति कुटिल खल पतित सभीत कहूँ जो समाहि न। सुमिरत नाम बिबसहू बारक पावत सो पद जहाँ सुर जाहिं न॥ जाके पदकमल लुब्ध मुनि मधुकर बिरत जे परम सुगतिहु लुभाहि न। तुलसिदास सठ तेहि न भजसि कस कारुनीक जो अनाथहि दाहिन॥' (वि० २०७) श्रीरामजीमें ही स्वामीके सब गुणोंका उत्कर्ष है। यथा—*'सेइय सुसाहिब राम सो॥ सुखद सुसील सुजान सूर सुचि सुंदर कोटिक काम सो॥——देखत दोष न खीझत रीझत सुनि सेवक गुनग्राम सो॥ जाके भजे तिलोक तिलक भये त्रिजग जोनि तनु तामसो। तुलसी ऐसे प्रभुहि भजै जो न ताहि बिधाता बाम सो॥'* (वि० १५७) यह भी ध्वनितार्थ है कि यदि उनके ऐसा कोई दूसरा प्रभु होता तो उनको छोड़कर उस दूसरेको भजते। यथा—*'तो सों प्रभु जो पै कहूँ कोउ होतो। तो सहि निपट निरादर निसि दिन रटि लटि ऐसो घटि को तो॥——तेरे राज राय दसरथ के लयो बयो बिनु जोतो॥'* (वि० १६१) (ख) भजनेयोग्य दूसरा प्रभु नहीं है, यह कहकर और कारण भी कहते हैं—*'मोहि से सठपर ममता जाही।'* भाव कि शठपर कोई स्वामी प्रेम नहीं करता, पर ये शठपर भी प्रेम करते हैं, यथा—*'सठ सेवक की प्रीति रुचि रखिहहि राम कृपालु। उपल किये जलजान जेहि सचिव सुमति कपि भालु॥'* (बा० २८ देखो) मैंने उनके साथ कैसी शठता की और उन्होंने उसपर भी मेरे साथ कैसा प्रेम किया, अपना निज दास बनाया। *'रामकृपा आपनि जड़ताई'* कह ही आये हैं। [रा० प्र०—बिगड़ेपर कृपा और प्रेम करना ही कृपा और प्रेम है। बने, समीचीन, सेवकको तो सभी चाहते हैं; जो बिगड़े हुएको चाहे ऐसे एक ये ही हैं।] ममत्व *'रामकृपा आपनि जड़ताई'* प्रसङ्गमें दिखा आये हैं।

२—(क) *'तुम्ह बिग्यान रूप'* इति। यथा—*'गरुड़ महाग्यानी गुनरासी।'* विज्ञानरूप हो, अतः मोह नहीं है। (प्र० सं०) पुनः विज्ञानरूप अर्थात् वेदमय हो। यथा—**'सामध्वनिशरीरस्त्वं वाहनः परमेष्ठिनः'** (मात्स्ये)। ज्ञानीके सम्मुख मोह नहीं ठहरता, यथा—*'जासु ग्यान रबि भव निसि नासा।'* तब विज्ञानरूप महाज्ञानीके सम्मुख कैसे ठहरेगा? *'मोहा'* बहुवचन कहनेसे संशय और मायादिका भी ग्रहण होगा। यथा—*'तुम्हहिं न संसय मोह न माया। मो पर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया॥'* (७०। ३) उपदेशके प्रारम्भमें यह कहा था और अब उपदेशकी समाप्तिमें वही बात कही। (वि० त्रि०) (ख) *'कीन्हि मोपर अति छोहा'*—*'तुम्हहिं न संसय मोह न माया। मो पर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया॥——'* (७०। २—४) देखिये। पुनः, सेवकके घर आना कृपा थी और सत्संग-सुख दिया, रामचरित कहलाया इत्यादि 'अति कृपा' है। (प्र० सं०) भुशुण्डिजीका इतना उपदेश देनेपर भी यही भाव बना हुआ है कि गरुड़जीने मोहके बहाने यहाँ आकर मुझपर बड़ी दया की, मुझे बड़ाई दी।

वि० त्रि०—*'पूँछिहु राम कथा——'* इति। (क) भाव कि तुम समझते थे कि मुझे मोह था, पर मेरी समझमें वह मोह नहीं था, वह विद्या थी; यथा—*'प्रभु सेवकहिं न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापै तेहि बिद्या॥'*; क्योंकि जिसे रामकथाकी पूछ है, उसे मोह कहाँ? इसीलिये मैं कहता हूँ कि *'तुम्ह बिग्यानरूप नहिं मोहा।'* (ख) *'अति पावनि'*—भाव कि जिसे मोह होता है वह अपावन बात पूछता है। यथा—*'होहिं बिप्र बस कवनि बिधि कहहु कृपा करि सोउ। तुम्ह तजि दीन दयाल निज हितू न देखौं कोउ॥'* (१। १६६) (भानुप्रतापने यह पूछा था।) और तुमने त्रैलोक्यका मङ्गल करनेवाली अति पावनी बात पूछी। यथा—*'त्रैलोक्य पावन सुजसु सुर मुनि नारदादि बखानिहैं।'* (४। ३०) (ग) *'सुक सनकादि संभु मन भावनि'* भाव कि जो शुक-सनकादि-शम्भुको प्रिय लगती है वही तुम्हें भी अच्छी लगी। इतने बड़े महापुरुषोंकी रुचिसे तुम्हारी रुचि एक थी, कैसे कहें कि तुम्हें मोह था। जिसे मोह होता है उसकी रुचि बिगड़ जाती है, उसे कटु वस्तु कटु नहीं मालूम होती। यथा—*'काम भुजंग डसत जब जाही। बिषय निंब कटु लगत न ताही॥'*

नोट—*'अति पावनि'* के भाव पूर्व आ चुके। *'सुक सनकादि संभु मन भावनि'*—सनकादि मन भावनि, यथा—*'ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपतिचरित होइ तहँ सुनहीं।'* समाधि बिसारकर सुनते हैं। शम्भु-मन-भावनि, यथा—*'सिव प्रिय मेकलसैलसुता सी।'* (१। ३१। १३) शुक-मन-भावनीका बड़ा भारी प्रमाण यह है कि कृष्णपरक ग्रन्थ श्रीमद्भागवतमें 'महापुरुष' शब्द दो ही बार आया है और वह श्रीरामजीका ही विशेषण है दूसरे किसीके लिये इस विशेषणका प्रयोग नहीं हुआ। (भा० ११। ५) यथा—

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ ३३॥
त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद् वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ ३४॥

सतसंगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एको बारा॥ ६॥
देखु गरुड़ निज हृदय बिचारी। मैं रघुबीर भजन अधिकारी॥ ७॥
सकुनाधम सब भाँति अपावन। प्रभु मोहि कीन्ह बिदित जगपावन॥ ८॥

अर्थ—संसारमें सत्सङ्ग पलभर या दण्डभर वा एक बारका भी मिलना दुर्लभ पदार्थ है॥ ६॥ हे गरुड़! अपने हृदयमें विचार तो देखिये, क्या मैं रघुवीरके भजनका अधिकारी हूँ? अर्थात् नहीं हूँ॥ ७॥ पक्षियोंमें सबसे नीच पक्षी, सब प्रकारसे अपवित्र मैं, सो मुझको प्रभुने साक्षात् जगत्-पावन कर दिया। यह जगत्-प्रसिद्ध बात है॥ ८॥

नोट—१ *'सतसंगति दुर्लभ……'*—*'रामकृपा बिनु सुलभ न सोई'* बा० ३ (७) देखिये। दुर्लभता दूसरे चरणसे भी दिखाते हैं कि निमिषमात्रका भी हो जाय तो बहुत है, यथा—***'तात स्वर्ग अपबर्ग सुख धरिय तुला इक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग॥'*** (सुं० ४) देखिये। क्योंकि वह मोक्षका मार्ग है, यथा—***'संत संग अपवर्ग कर……पंथ।'*** और संतोंका मिलना कठिन है। यथा—***'बिरले बिरले पाइये माया त्यागी संत। तुलसी कामी कुटिल कलि केकी काक अनंत॥'*** (वै० सं० ३२) अधिक मिल जाय तो बड़ा भाग्य समझना चाहिये; यथा—***'मुख देखत पातक हरै, परसत कर्म बिलाहिं। बचन सुनत मन मोहगत पूरब भाग मिलाहिं॥'*** (वै० सं० २४)

पं०—भाव यह कि अल्पकालके सत्संगका फल भी व्यर्थ नहीं जाता जैसे अल्प बीज भी पृथ्वीमें रहनेपर जब-कब अंकुर ले आता है।

नोट—२ *'मैं रघुबीर भजन अधिकारी'* इति। (क)—यहाँ ऐसा भासित होता है कि श्रीरामकृपाका रूप हृदयमें आ गया है और वे उसमें मग्न होकर विदेह होकर ये वचन कह रहे हैं। (रा० प्र०) (ख) भाव कि यह देह कुत्सित कर्मोंकी अधिकारी थी सो उसमें प्रभुने अपनी पावनी भक्ति स्थित कर दी, ऐसी पतितपावनता किसमें है?—(वै०)। अधिकारी न होनेका कारण आगे स्वयं कहते हैं—***'सकुनाधम सब भाँति अपावन।'*** भाव कि कौवा पक्षियोंमें चाण्डाल है, यथा—***'सपदि होहि पक्षी चंडाला।'*** ऐसे अपावन नीच भ्रष्टको जगत्में पावन प्रसिद्ध कर दिया, यथा—***'रघुपति दीन्ह बड़ाई मोही।'*** (७०। ४) देखो। हरिवाहनका आचार्य बना दिया।

वि० त्रि०—१ *'देखु गरुड़……'* इति। (क) गरुड़का भाव कि आप भगवान्‌की विभूति हैं……यथा—**'वैनतेयश्च पक्षिणाम्'** (गीता)। और मैं चाण्डाल हूँ। (ख) *'देखु निज हृदय बिचारी'*—भाव कि क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध—ये पाँच भूमिकाएँ चित्तकी हैं। इनमेंसे मूढ़ तो तमोगुणके समुद्रेकसे निद्रावृत्तिवाले होते हैं। क्षिप्तमें रजोगुणकी अधिकता होनेसे ये बहुत चञ्चल होते हैं। विक्षिप्तमें भी विक्षेप होनेसे भक्तिकी योग्यता नहीं होती। रह गये एकाग्र और निरुद्ध, इन्हींमें भक्तिकी योग्यता है। सबसे भयभीत रहनेवाले मन्दमति कागको वह अधिकार कैसे हो सकता है जो मनुष्यको भी दुर्लभ है।

२ (क)—***'सकुनाधम'***—जिस वृक्षपर काग हो उसके नीचेसे लोग नहीं जाते, अपने घरपर उसे बैठने नहीं देते, उसका बोलना अशुभ समझा जाता है। उसको कोई पूछता नहीं। उसका मैथुन देखना बड़े भारी अनिष्टका द्योतक है। (ख) *'सब भाँति अपावन'* अर्थात् जाति, आहार, बुद्धि, स्वभाव, रुचि तथा करणी सभी अपावन है। यथा—***'पक्षी चंडाला'***, ***'होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा'***, ***'महामंदमति कारन कागा'***, ***'छली मलीन कतहुँ न प्रतीती'***, ***'इहाँ न बिषय कथा रस नाना॥ तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक***

बलाक बिचारे॥', 'तुलसी देवल देव को लागे लाख करोर। काग अभागे हगि भर्यौ महिमा भई कि थोर॥' (ग) *'बिदित जगपावन'*—भाव कि सच्चे भावसे छल छोड़कर जो भगवान्‌का होकर रहता है वही जगपावन है। यथा—*'सो सुकृती सुचिमंत सुसंत, सुजान सुसील सिरोमनि स्वै। सुर तीरथ तासु मनावत आवत, पावन होत है ता तन छ्वै॥ गुनगेह सनेह को भाजन सो, सबहीं सो उठाइ कहौं भुज द्वै। सतिभाय सदा छल छाड़ि सबै तुलसी जो रहै रघुबीर को ह्वै।'* (क०) उन जगपावनोंमें मैं विदित हुआ। कहाँ मैं सुमेरुके नीलशैलका रहनेवाला कहाँ दूर दक्षिणमें भारतवर्षका कैलास पर्वत, वहाँतक मेरी प्रसिद्धि हुई। यथा—*'गिरि सुमेरु उत्तर दिसि दूरी। नील सैल इक सुंदर भूरी॥'*

दो०—आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन।
निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन॥
नाथ जथामति भाषेउँ राखेउँ नहिं कछु गोइ।
चरितसिंधु रघुनायक* थाह कि पावै कोइ॥१२३॥

अर्थ—यद्यपि मैं सब प्रकारसे तुच्छ हूँ (वा सब विधियोंसे हीन हूँ) तो भी मैं आज धन्य हूँ, अति धन्य हूँ कि श्रीरामजीने मुझे अपना खास जन जानकर संतसमागम दिया। हे नाथ! मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार कहा है, कुछ भी बात छिपा नहीं रखी। श्रीरघुनाथजीके चरित समुद्रवत् हैं। क्या उनका कोई पार पा सकता है?॥ १२३॥

नोट—१ *'आजु धन्य मैं'* इति। पूर्व दोहा ५७ (५—७) में हम बता आये हैं कि *'पीपर तरु तर ध्यान जो धरई।'* इत्यादिमें श्रीभुशुण्डिजीकी दिनचर्या कही गयी है। वे चिरंजीवी हैं। उनका एक दिन एक-एक चतुर्युगीका होता है। हमारा एक युग उनका एक पहर है। चतुर्थ पहर-(कलियुग-) में गरुड़जी कथाके समय आये। पूरा रामचरितमानस सुना और अपने प्रश्नोंके उत्तर पाये। यह सब उनके एक दिनके चतुर्थ प्रहरमें हुआ। इसीसे समाप्तिपर वे 'आजु' कहते हैं।

श्रीत्रिपाठीजीका भी यही मत है। वे लिखते हैं कि 'नीलगिरिपर कथा कहते-कहते जिसे सत्ताईस कल्प हुए उसका दिन २४ घंटेका मानव-मानसे नहीं हो सकता। अतः यही सिद्ध होता है कि उनका दिन एक चतुर्युगीका होता था। कल्प=१००० चतुर्युगी=१०००/३६०=२५/९ वर्ष भुशुण्डिजीके। २७ कल्प उनको हो चुके, इस हिसाबसे उनकी आयु २५/९x२७=७५ वर्षकी हो चुकी थी। ७६ वाँ वर्ष चल रहा था जब गरुड़जीका सत्संग हुआ।

इससे यह भी अनुमित होता है कि गरुड़जी पूरे द्वापरभर मोहमें पड़े थे। गरुड़जीको त्रेतामें यह मोह हुआ, वहाँसे वे नारदजीके यहाँ गये, उन्होंने ब्रह्मलोक भेजा, वहाँसे कैलास आये। इसीमें द्वापर बीत गया। कलियुगके प्रारम्भमें नीलगिरि आये।

नोट—२ *'आजु धन्य मैं धन्य अति—।'* क्योंकि *'धन्य घरी सोइ जब सत्संगा।'* लोग थोड़े सत्सङ्गसे ही धन्य होते हैं और इन्हें बहुत कालतक सत्सङ्ग मिला तथा अपनेको इस कृपाके योग्य नहीं समझते अतएव 'धन्य अति धन्य' कहा। जिस घड़ी, लव, निमेषादिमें सत्सङ्ग हो वह घड़ी, लवादि धन्य हैं, यह पूर्व कह आये और जिसको संतसङ्ग मिले वह भी 'धन्य अति धन्य है' यह यहाँ बताया। अर्थात् दोनोंको धन्य बताया। 'धन्य अति धन्य' इससे कि जो लवमात्रमें ही सुख प्राप्त हो जाता है वह सुख स्वर्ग और अपवर्ग अर्थात् भुक्ति और मुक्ति दोनोंसे कहीं अधिक है। ३—समागममें दर्शन, स्पर्श और सत्सङ्ग-वार्ता तीनों आ गयीं, इसीसे दर्शन और स्पर्श न कहकर केवल 'समागम' अन्तिम शब्द यहाँ दिया।

रा० प्र०—*'सब बिधि हीन'* अर्थात् जाति, धर्म, ज्ञानादिसे हीन। ग्रन्थसमाप्तिमें दैन्यघाट (का) प्राधान्य

---

* रघुबीरके—(गौड़जी)।

जनाते हैं। [पुनः, लोक-वेद सब विधिसे नीच; यथा—*'लोक बेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा॥ राम कीन्ह आपन जब ही तें। भयेउँ भुवन भूषन तब ही तें॥'* (वि० त्रि०)] *'निज जन जानि……'* का भाव कि प्रभुको 'सो प्रिय' है *'जाके गति न आनकी'*, अतः ऐसा जानकर आप ऐसे संतका समागम दिया। [मनसा-वाचा-कर्मणासे जो दास होता है, वही 'निज दास' वा 'हरिजन' है। यथा—*'जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास।'* (५। १३) *'हरिजन जानि प्रीति अति गाढ़ी।'*, *'मन क्रम बचन रामपद सेवक……। देखि दसा निज जन मन भाए।'* (३। १०। २, १६) (वि० त्रि०)] *'जथामति'* इस प्रकार शिष्ट लोगोंकी रीति है, ग्रन्थमें इसके अनेक प्रमाण आ चुके हैं। ['जथामति' कहकर उसका कारण कहते हैं कि *'चरित सिंधु……।'* विशेष भाव पूर्व आ चुके हैं। ४—*'राखेउँ नहिं कछु गोइ'* इति। जो पूर्व प्रारम्भमें कहा था कि *'पाइ उमा अतिगोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास॥'* (६९) उसे यहाँ चरितार्थ किया। इससे जनाया कि मेरी इतनी ही जानकारी है।]

सुमिरि राम के गुनगन नाना। पुनि पुनि हरष भुसुंडि सुजाना॥ १॥
महिमा निगम नेति करि गाई। अतुलित बल प्रताप प्रभुताई॥ २॥
सिव अज पूज्य चरन रघुराई। मोपर कृपा परम मृदुलाई॥ ३॥
अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखौं। केहि खगेस रघुपति सम लेखौं॥ ४॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके नाना गुणगणोंका स्मरण कर-करके बारंबार सुजान भुशुण्डिजी हर्षित हो रहे हैं॥ १॥ वेदोंने जिन श्रीरघुनाथजीके अतुलित बल, प्रताप, और प्रभुताकी महिमा 'न इति' कहकर गायी है॥ २॥ जिन रघुनाथजीके चरण शिवजी और ब्रह्माजीसे पूज्य हैं (अर्थात् ये भी जिनकी पूजा करते हैं) उनकी मुझपर परम कृपा! यह उनकी परम कोमलता (मृदुल स्वभाव) है॥ ३॥ ऐसा स्वभाव न कहीं सुनता हूँ और न कहीं देखता हूँ। हे पक्षिराज! मैं किसे रघुपतिके समान गिनूँ (अर्थात् कोई भी इस योग्य देखा-सुना ही नहीं गया, समान कोई है ही नहीं)॥ ४॥

नोट—१ *'गुनगन नाना'* जैसे कि दोहा ९१ (१) से *'राम अमित गुनसागर'* दोहा ९२ तकमें कहे हैं। २—*'पुनि पुनि'* का भाव कि जैसे-जैसे नये-नये गुणोंका स्मरण होता जाता है वैसे-वैसे पुलक-पर-पुलक होता जाता है। और भी कारण आगे कहते हैं जैसे श्रीजनकमहाराजने कहा है—*'मोर भाग राउर गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥'* कहाँ तो शिव, अज ऐसे ईश्वरोंके स्वामी और वेदोंको भी अगम इत्यादि और कहाँ मैं तुच्छ!—*'राम सों बड़ो है कौन मो सों कौन छोटो।'* (वि० ७२) यह प्रभुकी परम कृपा और मृदुल स्वभाव स्मरण करके कृतकृत्य हो रहे हैं, इसीसे *'पुनि पुनि हरष।'* [गुणगण अर्थात् भक्तोंपर उपकार वा अपने ऊपर कृपालुतादिक। बारंबार प्रसन्नता अति रसके आस्वादनसे। (पं०) श्रीरामजीके गुणगण ही ऐसे हैं कि उनका स्मरण होनेपर सहृदय बिना हर्षित हुए रह नहीं सकता। यथा—*'रामहि सुमिरत रन भिरत देत परत गुरु पाय। तुलसी जाहि न पुलक तन सो जग जीवन जाय॥'* 'सुजाना' विशेषण देकर जनाया कि भुशुण्डिजी गुणग्राहक हैं, वाणी, भक्ति, भणिति, मति और गतिकी उनको पहचान है। यथा—*'मैं गुनग्राहक परम सुजाना।'* (वि० त्रि०)] ३—*'अतुलित बल प्रताप प्रभुताई'* का वर्णन दोहा ७८ से ९२ तकमें कर चुके हैं।

वि० त्रि०—१ (क) *'निगम नेति करि गाई'* इति। नेति-नेतिका अर्थ है कि न स्थूल न सूक्ष्म। अर्थात् ऐसी अपूर्व महिमा है कि वेद भी निषेध मुखसे वर्णन करता है, इदमित्थं कहकर शृङ्गिग्राही-न्यायसे कुछ नहीं कह सकता। (और भाव *'नेति नेति कह बेद।'* (६। ११६) में देखिये)। (ख) *'अतुलित बल'*—भाव कि जैसे उनकी महिमाका अन्त नहीं वैसे ही उनके बलकी भी नाप-जोख नहीं। यथा—*'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया॥……'* सुं० २१ (४) से २१ तक। (ग) *'प्रताप प्रभुताई'*—सामर्थ्य होनेसे ही प्रताप होता है, पर प्रताप बलसे अलग काम करता है, समर्थ बलका प्रयोग

कहीं-कहीं करता है, परंतु उसका प्रताप रात-दिन जहाँ वह नहीं है वहाँ भी काम किया करता है, यथा—'*काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकै राम कर द्रोही॥ सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥*', '*अतुलित बल अतुलित प्रभुताई। मैं मतिमंद जानि नहिं पाई॥*'

२ '*सिव अज पूज्य*—' इति। (क) 'चरन' एकवचन शब्द देनेका भाव कि दोनों चरणोंकी एक देव पूजा नहीं कर सकते, एकको पूजा शङ्करजी करते हैं और एकको ब्रह्माजी। दोनोंकी पूजा तो केवल जनकनन्दिनीजी करती हैं। यथा—'**कोसलेन्द्रपदकञ्जमञ्जुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ। जानकीकरसरोजलालितौ चिन्तकस्य मनभृङ्गसंगिनौ॥**' (ख) '*रघुराई चरन*' का भाव कि इन चरणोंने सदा भक्तोंके लिये कष्ट उठाया है, जिन चरणोंमें चक्रवर्तीके चिह्न हैं उन चरणोंमें भक्तोंके लिये वनमें घूमते हुए काँटे गड़े, ऐसी कृपा किसीके चरणोंमें नहीं है। यथा—'*ध्वज कुलिस अंकुस कंजयुत बन फिरत कंटक किन लहे।*' (ग) '*कृपा परम मृदुलाई*'—सत्संग दिया यह परम कृपा है और मोहके मिष सतको ही मेरे यहाँ कथा सुननेको भेज दिया यह मृदुता है, जिससे मुझे मालूम भी न हो कि मेरे ऊपर कृपा हो रही है।

नोट—४ '*अस सुभाउ*'—यह कि इतनी बड़ी साहिबीमें ऐसे सावधान हैं, इतने बड़े होकर इतने छोटेपर कृपा। यथा—'*हरिहरहि हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहि दई। सोइ जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगल मई। ठाकुर अतिहि बड़ो सील सरल सुठि। ध्यान अगम सिवहू भेंट्यो केवट उठि॥ भरि अंक भेंट्यो सजल नयन सनेह सिथिल सरीर सों। सुर सिद्ध मुनि कबि कहत कोउ न प्रेमप्रिय रघुबीर सों॥ खग सबरि निसिचर भालु कपि किये आपु तें बंदित बड़े। तापर तिनकी सेवा सुमिरि जिय जात जनु सकुचनि गड़े॥ स्वामीको सुभाउ कह्यो*—।' (वि० १३५, १००) '*सुनि सीतापति सील सुभाउ।*' पूरा पद देखिये। उद्धरण पूर्व आ चुके हैं। '**केहि लेखौं**' अर्थात् मैं तो जानता नहीं आप जानते हों तो बतायें। उनके समानके लिये जिज्ञासा ही रह गयी।

☞ मिलान कीजिये—'*भरत भाग्य प्रभु कोमलताई।*' 'न तस्य प्रतिमास्ति', 'यस्य नाम महद्यशः' '*निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहै।*' पूर्व अत्रिजीने जो कहा है—'*जेहि समान अतिसय नहिं कोई। ताकर सील कस न अस होई॥*' उसीको यहाँ प्रश्नात्मक करके कहते हैं—'*अस सुभाउ कहुँ सुनउँ न देखौं। केहि खगेस रघुपति सम लेखौं॥*' इससे दिखाया कि श्रीरघुनाथजी और उनका स्वभाव दोनों अद्वितीय हैं।

साधक सिद्ध बिमुक्त उदासी। कबि कोबिद कृतज्ञ संन्यासी॥५॥
जोगी सूर सुतापस ज्ञानी। धर्मनिरत पंडित बिज्ञानी॥६॥
तरहिं न बिनु सेए मम स्वामी। राम नमामि नमामि नमामी॥७॥
सरन गए मोसे अघरासी। होहिं सुद्ध नमामि अबिनासी॥८॥

शब्दार्थ—**साधक**=अणिमादिक सिद्धियोंकी प्राप्तिमें लगे हुए। **सिद्ध**=अणिमादिक सिद्धियाँ जिनको प्राप्त हैं। **बिमुक्त**=जीवन्मुक्त तथा विदेहमुक्त-करु०। **उदासी**=शत्रु, मित्र और मध्यस्थ सबमें समान भाव रखनेवाला। =जिसने घरबारकी ममता छोड़ दी हो (वि० त्रि०)। जैसे शुक-सनकादि (करु०)। **कबि**=काव्य करनेवाले; सर्वज्ञ। **कोबिद**=भाष्यकर्ता—(वै०)।=व्यवहारोंमें दक्ष—(पं०)।=विवेकी (वि० त्रि०)।=कृतविद्य,जैसे बृहस्पति, शेष, शारदा (करु०)। **कृतज्ञ**=त्रिकालदर्शी तथा औरोंकी कृतको अच्छी तरह जाननेवाले (करु०)। **जोगी**=अष्टाङ्गयोग सिद्ध (करु०)=अविद्यारात्रिमें जागनेवाला, विषयोंसे वैरागी (वि० त्रि०)। **सूर**=जो प्राण भी दे देनेमें संकोच न करे, सूर्यमण्डलको वेधकर जानेवाला (रा० प्र०)।=खड्गशूर, दानशूर, धर्मशूर (करु०)। **तापस**=उपवासादि करनेवाला। **धर्मनिरत**=अपने-अपने वर्णाश्रमधर्ममें तत्पर रहनेवाला। **पंडित**=सम्पूर्ण शास्त्रोंका ज्ञाता। (विवेकात्मिका बुद्धिवाला) और चराचरमें परमेश्वर बुद्धि रखनेवाला (करु०)।=परमार्थ जाननेवाला; यथा—'*तुम्ह पंडित परमारथ ज्ञाता*' (वि० त्रि०)। **बिज्ञानी**=ब्रह्मलीन।

अर्थ—साधक, सिद्ध, विमुक्त (जीवन्मुक्त), उदासीन (शत्रुमित्र-भावरहित), कवि (काव्य करनेवाले तथा

सर्वज्ञ), कोविद, कृतज्ञ (जो कृत कर्तव्य क्या है उसके ज्ञाता हैं), संन्यासी, योगी, शूरवीर, बड़े तपस्वी, ज्ञानी, धर्मपरायण, पण्डित और विज्ञानी भी बिना मेरे स्वामी श्रीरामचन्द्रजीकी सेवा किये तर नहीं सकते। मैं उन रामजीको नमस्कार करता हूँ, नमस्कार करता हूँ, नमस्कार करता हूँ (मेरा उनको बारम्बार प्रणाम है)॥ ५—७॥ जिनकी शरणमें जानेसे मुझ ऐसे पापराशि भी शुद्ध हो जाते हैं उन अविनाशी रामचन्द्रजीको मैं नमस्कार करता हूँ॥ ८॥

पं०—१ भुशुण्डिजी ऊपर यह कहकर कि प्रभुपर मेरा तो परम विश्वास है पर सभी प्राणियोंका उन्हींके चरणारविन्दसेवनसे कल्याण है, यह कहते हुए अन्तमें नमस्कारात्मक मंगल करते हैं।

नोट—१ प्रभुने भुशुण्डिजीसे कहा था कि सब जीव मुझे सामान्य रीतिसे प्रिय हैं जैसे सब पुत्र पिताको प्रिय होते हैं। वहाँपर प्रभुने—द्विज, श्रुतिधारी, निगमधर्मानुसारी, विरक्त, ज्ञानी, विज्ञानी, पण्डित, तापस, ज्ञाता, धनवन्त, शूर, दाता, सर्वज्ञ, धर्मरत—इतनोंको सामान्य प्रिय कहा है—[८६ (५—७) और ८७ (२-३)] उन्हींको यहाँ भुशुण्डिजी गिनाकर बताते हैं कि यद्यपि वे सब भी प्रभुके पुत्र ही हैं पर उनमें प्रभुकी भक्ति नहीं है इससे वे भवसे नहीं छूटते। यहाँ ज्ञानी, विज्ञानी, पंडित, सुतापस, शूर, धर्मनिरत तो स्पष्ट वही हैं। वहाँ जो निगमधर्मानुसारी, श्रुतिधारी और द्विज हैं वह यहाँ 'कृतज्ञ' (जो अपने कृत्यको यथार्थ जानता है), कोविद, विमुक्त, उदासी, संन्यासीमें आ गये, क्योंकि वर्णाश्रमधर्म वेदधर्म हैं। वहाँके धनवन्त, दाता यहाँके साधक, सिद्ध एवं धर्मनिरतमें आ सकते हैं। वहाँ सर्वज्ञ वही यहाँ कवि। कविका अर्थ सर्वज्ञ भी है।

वि० त्रि०—*'तरहिं न बिनु सेए मम स्वामी'* इति। भाव कि साधकसे लेकर विज्ञानीतक चौदहोंकी सिद्धि रामभक्तिपर निर्भर है। साधक सिद्धके ग्रहणसे विषयीका भी ग्रहण हो चुका। सिद्धि भी दिव्य भोग होनेसे विषय ही है अत: ये तो भव-संतरणके लिये प्रयत्न करनेवाले ही नहीं। किसीको शत्रु-मित्र न माननेवाले उदासीनका मन निरवलम्ब हो जानेसे उसे सिवा भगवच्चरणोंमें चित्त लगानेके कोई चारा नहीं; यदि उसने न लगाया तो उसकी भी उदासीनता टिक नहीं सकती, उसकी मन:प्रवृत्ति शीघ्र ही विषयकी ओर हो जायगी। कवि और कोविदकी चित्त-प्रवृत्ति यदि हरिचरणोंमें न लगी तो उनकी कवित्व शक्ति और विवेकका प्रयोग सांसारिक विषयोंमें ही होता रहेगा। भगवान्‌के कृत देखनेसे भगवान्‌के प्रति अनुराग होगा, यथा—*'उर आनहि प्रभु कृत हित जेते। सेवहि ते जे अपनपौ चेते॥'* (वि० १२६) और यथार्थ संन्यासी रामानुरागी ही हो सकता है, यथा—*'रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि नर बड़ भागी॥'* योगी अविद्यारात्रिमें सोता नहीं, उससे बेखबर नहीं होता, विषय-विलाससे विरक्त रहता है। मन कहीं न लगानेसे निद्रा आती है, अत: जागनेके लिये काम चाहिये। वह काम है रामभजन, यथा—*'नाम जीह जपि जागहि जोगी।'* भजन बंद हुआ कि निद्रा आयी। शूरके समरमें मरनेसे स्वर्ग मिलता है, परंतु स्वर्गसे पतन होता है। अत: प्राण देनेपर भी संसारी ही रह गये। वही शूरता यदि भगवान्‌के लिये हो तो जीने और मरने दोनों ही अवस्थाओंमें मुक्ति करतल है। यथा—*'तजउँ देह रघुनाथ निहोरे। दुहू हाथ मुद मोदक मोरे॥'* तप यदि भगवत्प्रीत्यर्थ न हुआ तो विषयप्रीत्यर्थ होगा, यथा—*'हम काहूके मरहिं न मारे।'* धर्मनिरत धर्मको प्रभुका अनुशासन समझकर करे तो सेवक ही है, यथा—*'सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥'* ज्ञानी ब्रह्मको ही सबमें समान देखता है और पण्डित विज्ञानी तो रामब्रह्ममें लीन रहता ही है।

उपर्युक्त कोई भी बिना रामभक्तिके भवसागर तर नहीं सकता, मायाके वशमें आ ही जाते हैं। अत: ईश्वर-कृपाके लिये भक्ति परम आवश्यक है।

खर्रा—*'राम नमामि नमामि नमामी'* यह कथाके सम्पूर्ण (समाप्तिके) समय 'मो' (में) नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण किया। *'जासु नाम भवभेषज—'*, यह आशीर्वादरूप मङ्गलाचरणमें समाप्ति की।

नोट—२ बार-बार प्रणाम करनेका भाव कि ईश्वर और गुरुको एक बार प्रणाम नहीं करना होता। अथवा, परमेश्वरका प्रत्युपकार किया नहीं जा सकता, अत: कृतज्ञतावश बार-बार नमस्कार करते हैं। (वि० त्रि०) अथवा मन, वचन और कर्म तीनोंसे प्रणाम जनाया। वा, तीनों कालोंमें, त्रिलोकमूर्तिको, त्रिदेवमूर्तिको वा वेदत्रयरूपको प्रणाम सूचित करनेके लिये तीन बार प्रणाम किया। (प०)

३—'*सरन गए मोसे*……' इति। यथा—'*मम पन सरनागत भय हारी।*' (५। ४३। ८) । …'*कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥ सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥*' (५। ४४। १-२) '*करउँ सद्य तेहि साधु समाना।*' (५। ४८। ३) 'अविनाशी' का भाव कि जो स्वयं नाशवान् है उसमें यह सामर्थ्य नहीं हो सकती। अविनाशीके प्रणामकी महामहिमा है, अतः उसीको प्रणाम करते हैं। यथा—'*रामनाम महामहिमा खनि सकल सुमंगल मनि जनी। होइ भलो ऐसेही अजहूँ गये रामसरन परिहरि मनी॥ भुजा उठाइ साखि संकर करि कसम खाइ तुलसी भनी। मंगलमूल प्रनाम जासु जग मूल अमंगलको खनी॥*' (गी०) (वि० त्रि०)

नोट—४ ☞ यहाँ एक बार '*राम नमामि नमामि नमामी*' कहकर फिर दूसरी अर्धालीमें पुनः प्रणाम किया है। पहले प्रभुका ऐश्वर्य स्मरण करके तीन बार प्रणाम किया '*नमामि नमामि नमामी*'—हमारे स्वामी कैसे हैं कि साधक, सिद्ध, विमुक्त इत्यादि भी बड़े महात्मा यदि चाहें कि अपने बल, पुरुषार्थसे भवपार हो जायँ तो असम्भव है—बड़े-बड़ोंके लिये ऐसे दुर्लभ। और वही महापापी पापमूर्तिके लिये कैसे सुलभ हैं कि शरणमात्रसे पवित्र कर देते हैं। पहले वह प्रभुता स्मरणकर बार-बार प्रणाम किया और फिर उनका पतितपावन एवं सौलभ्यगुण समझकर फिर प्रणाम किया। दूसरी बार एक ही बार '*नमामि*' कहकर जनाते हैं कि प्रभु महापातकीको '*सकृत प्रनाम किये*' अपना लेते हैं। '*मोसे अघरासी*'=मुझ-ऐसे पापराशिको। भाव कि मेरे समान दूसरा पापात्मा नहीं। ☞ जब भक्त प्रभुकी अपार शक्तिमत्ताका विचार करता है तब वह अपनेको इसी तरह बिलकुल नीचे गिरा हुआ पाता है।

यहाँ दिखाते हैं कि उपर्युक्त-गुणसम्पन्न महात्मा होनेपर भी बिना भक्तिके उनके गुणोंका कुछ आदर नहीं होता और एक सकल गुणरहित अन्त्यज भी शरणमात्र होनेसे परम प्रिय है।

नोट—५ '*साधक सिद्ध*……*तरहिं न बिनु सेए मम स्वामी।*' इत्यादिसे मिलते-जुलते भावका श्लोक श्रीमद्भागवतमें यह हैं—'**तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः। क्षेमं न विन्दन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥ किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः। येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥**'(भा० २। ४। १७-१८) अर्थात् बड़े-बड़े तपस्वी, दानी, कीर्तिमान् मनस्वी और सदाचार-परायण मन्त्रवेत्ता भी अपने-अपने कर्मोंको जिन्हें अर्पण किये बिना कल्याण प्राप्त नहीं कर सकते उन पुण्यकीर्ति भगवान्को बारंबार नमस्कार है। किरात, हूण आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन और खस आदि नीच जातियाँ तथा और भी पापी लोग जिनके भक्तोंकी शरण ग्रहण करनेसे पवित्र हो जाते हैं उन पुण्यकीर्ति भगवान्को बारंबार नमस्कार है।

दो०—जासु नाम भव भेषज हरन घोर त्रयसूल*।
सो कृपाल मोहि तो पर सदा रहौ अनुकूल॥
सुनि भुसुंडि के बचन सुभ देखि रामपद नेह।
बोलेउ प्रेमसहित गिरा गरुड़ बिगत संदेह॥१२४॥

---

* रा० प० में काशीका पाठ 'हरन ताप त्रयसूल। सो कृपाल मोहि तोहिपर सदा रहहु अनुकूल' है। पं० रामगुलामद्विवेदीजीकी पोथीमें 'हरन ताप त्रयसूल। सो कृपाल मो पर सदा रहहु राम अनुकूल', यह पाठ है। और भा० दा० में 'हरन घोर त्रयसूल। सो कृपाल मोहि तो पर सदा रहौ अनुकूल' पाठ है।

'ताप त्रयसूल' का अर्थ 'त्रयताप (दैहिक, दैविक, भौतिक ताप) और त्रयसूल' [जन्म, जरा, मरण और गर्भादिके क्लेश (रा० प्र०)] अथवा तीनों तापोंकी पीड़ा'—(वीर), किया गया है। और 'घोर त्रयसूल' का अर्थ 'भयङ्कर तीनों प्रकारके शूल' किया जाता है। 'त्रयसूल' कौन हैं। त्रयसूल-(=त्रयः शूल-) में अनेक प्रकारके समस्त शूलोंका भाव आ जाता है—'त्रयः शूलनिर्मूलिनं शूलपाणिं।' 'मोपर सदा रहहु राम अनुकूल' का भाव कि आपपर तो अनुकूल हैं ही; यथा—'कृपापात्र रघुनायक केरे।' आपके आगमनसे मुझे 'अभिमान' उत्पन्न न हो, इसलिये प्रार्थना करता हूँ कि सदा अनुकूल रहें।

अर्थ—जिसका नाम भवरोगकी ओषधि और महाभयङ्कर त्रय:शूलोंका हरण करनेवाला है, वह कृपाल मुझपर और तुमपर सदा अनुकूल रहें। भुशुण्डिजीके शुभ वचन सुनकर और उनका श्रीरामपद-प्रेम देखकर गरुड़जी, जिनका सन्देह बिलकुल जाता रहा है, प्रेमसहित सन्देहरहित वचन बोले॥ १२४॥

नोट—१ *'जासु नाम भव भेषज......।'* यथा—*'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं', 'तव नाम जपामि नमामि हरी। भवरोग महागद मान अरी॥'* (शिवकृत-स्तुति) *'हरन घोर त्रयसूल'* यथा—*'जासु नाम त्रयताप नसावन।'* [आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तापको यहाँ शूल कहा है। तामसिक और राजस वृत्तियाँ ही क्रमश: मूढ़ा और घोरा कहलाती हैं। ताप तो तामसिक वृत्तिमें भी होता है, पर शूलका कारण घोरा वृत्ति ही है। इसलिये घोर *'त्रयसूल'* कहा। भवभेषज कहकर मूढ़ा वृत्तिका नाश कहा और अब घोरा वृत्तिका नाश कहते हैं। भगवन्नाम मूलसहित घोर त्रयतापका नाशक है। (वि० त्रि०)]

☞यहाँ भुशुण्डिजीका कथन समाप्त हुआ।

२ (क) *'बचन सुभ'*—श्रीरामयशमिश्रित, दैन्य, विनीत, सप्रेम, श्रुतिसिद्धान्त, श्रीरामभक्तिरससाने संशयखण्डनहारी आनन्द देनेवाले तथा श्रोता-वक्ता दोनोंके लिये आशीर्वादसे युक्त इत्यादि होनेसे *'सुभ'* विशेषण दिया। (ख) *'देखि रामपद नेह।'* प्रेमकी दशा देखी, यथा—*'पुनि पुनि हरष भुसुंडि सुजाना', 'राम नमामि......।'* इत्यादि। मन, कर्म और वचन तीनोंका प्रेम दिख रहा है। तीनों तरहका प्रेम देखा।

रा० प्र०—*'मोहि तोहि'* यहाँ वक्ता-श्रोता उपलक्षक है—(पं०)। अनुकूल=प्रसन्न। 'दाहिनकी वैदिक शान्ति पाठकी यही रीति है।'

मैं कृतकृत्य भएउँ तव बानी। सुनि रघुबीर भगति रस सानी॥ १॥
रामचरन नूतन रति भई। माया जनित बिपति सब गई॥ २॥

अर्थ—रघुवीर श्रीरामजीके भक्तिरसमें सनी हुई अर्थात् रामभक्तिमय आपकी वाणी सुनकर मैं कृतकृत्य हो गया॥ १॥ श्रीरामजीके चरणोंमें नवीन प्रीति हुई और सब विपत्ति जो मायासे उत्पन्न हुई थी वह जाती रही॥ २॥

नोट—१ (क) भुशुण्डिजीने कथाकी इति *'जासु नाम भव भेषज॥'* (१२४) पर की। इसके आगे अब शिवजी भुशुण्डि-गरुड़-संवाद-प्रकरणकी इति लगाते अर्थात् उपसंहार कहते हैं। (ख) कृतकृत्य=धन्य अति धन्य, कृतार्थ एवं सफल मनोरथ। [कृतकृत्य—कर्मक्रिया सम्पादित। भाव कि जिस हेतु श्रीशंकराज्ञासे आपतक आया वह अभिलाषा पूरी हो गयी। (रा० प्र०) *'तव बानी'* का भाव कि नारदजीकी वाणी सुनी, शंकरजीकी सुनी, पर मैं कृतकृत्य न हो सका; कृतकृत्य तो आपकी ही वाणीसे हुआ। (वि० त्रि०)] (ग) *'बानी रघुबीर भगति रससानी'* कहा, क्योंकि साधारण प्रश्नके उत्तरमें भी श्रीरघुनाथजीकी भक्तिका बराबर वर्णन आया है। जैसे कि *'सब ते दुर्लभ कवन सरीरा'* का उत्तर देकर साथ ही यह भी कहा कि *'सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं बिषयरत मंदमंदतर॥'* इसी तरह मानसरोगोंको बताकर फिर साथ ही उनकी दवा एकमात्र श्रीरामभक्ति विस्तारसे कही। सप्त प्रश्नोंके उत्तर ३४ अर्धालियोंमें और दो दोहोंमें समाप्त हो जाते पर उनके साथ ही ५ दोहों और एक श्लोक और ३४ अर्धालियोंमें रामभक्तिका ही प्रतिपादन करते हुए संवादकी समाप्ति की गयी। [पुन: भाव कि बिना भक्तिरससानी वाणीके विश्वास नहीं होता। भगवती श्रीजनकनन्दिनीजीको मुद्रिका पानेपर भी विश्वास नहीं हुआ, पर श्रीहनुमान्जीकी सप्रेमवाणी सुननेपर विश्वास हुआ। यथा—*'कपि के बचन सप्रेम सुनि उपजा मन बिश्वास।'* (वि० त्रि)]

२ (क) *'नूतन रति भई।'* भाव कि श्रीरामपद-प्रेम पूर्व भी था पर वह नागपाश देखकर चला गया था; अब फिर हुआ। पूर्व कथा सुन चुकनेपर कहा था कि *'भएउ रामपद नेह'* और यहाँ कहते हैं कि *'नूतन रति भई।'* भाव कि कथा सुनकर प्रेम हुआ और अब *'रति'* अर्थात् दृढ़ भक्ति, दृढ़ अनुराग हुआ और वह भी *'नूतन'* जैसे पूर्व कभी न थी। (प्र० सं०) अनुपम सुखमूलाभक्ति आपके आशीर्वादसे

मेरे हृदयमें प्रकट हुई। यथा—*'रामभगति अनुपम सुखमूला। मिलै जो संत होइ अनुकूला॥'* (वि० त्रि०) (ख) *'माया जनित'*—मोह, भ्रम, संशय इत्यादि सब मायासे उत्पन्न होते हैं, यह पूर्व दिखा आये हैं और आगे गरुड़जी स्वयं इसे स्पष्ट करते हैं। [भाव यह कि अविद्यासे उत्पन्न अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये चारों क्लेश चले गये। भक्ति-चिन्तामणिकी प्राप्तिके पश्चात् मोह-दरिद्र उसके निकट नहीं आता, लोभकी कलाएँ नहीं चलतीं, कामादि दूर भागते हैं, मानसरोग व्यापते ही नहीं, अतः विपत्ति सब चली गयी। (वि० त्रि०)] (ग) शिवजीने जो-जो बातें कहीं वे सब हुईं—

बिनु सतसंग न हरि कथा	१ *रामकृपा तव दरसन भयऊ*
तेहि बिनु मोह न भाग	२ *तव प्रसाद सब संसय गयऊ*
जाइहि सुनत सकल संदेहा	३ *गयउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित*
मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग	४ *भएउ रामपदनेह तव प्रसाद*……६८
रामचरन होइहि अति नेहा	*रामचरन नूतन रति भई* १२५
जाइ सुनहु तहँ हरिगुन भूरी	५ *अब श्रीरामकथा अति पावनि।*……*अति बिचित्र बहु बिधि तुम्ह गाई*
होइहि मोहजनित दुख दूरी	६ *माया जनित बिपति सब गई*
सादर सुनहिं बिबिध बिहंगबर	७ *बृद्ध बृद्ध बिहंग तहँ आए।* इत्यादि

मोह जलधि बोहित तुम्ह भए*। मो कहँ नाथ बिबिध सुख दए॥ ३॥
मो पहिं† होइ न प्रति उपकारा। बंदौ तव पद बारहिं बारा॥ ४॥

अर्थ—आप मुझको मोहसमुद्रमें (डूबते हुएसे बचानेके लिये) जहाजरूप हुए। हे नाथ! आपने मुझे बहुत प्रकारके सुख दिये॥ ३॥ मुझसे प्रत्युपकार (उपकारके पलटेमें आपके साथ उपकार) नहीं हो सकता, मैं आपके चरणोंकी बारंबार वन्दना करता हूँ॥ ४॥

वि० त्रि०—*'मोह जलधि बोहित तुम्ह भए'* इति। भाव कि सद्गुरु तो कर्णधारमात्र होता है, जहाज तो अपने शरीरको बनाना पड़ता है। सद्गुरुके कथनानुसार परिश्रम करना पड़ता है। यथा—*'नरतनु भवबारिधि कहँ बेरो। सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो॥ कर्नधार सदगुरु दृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥ जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ। सो कृतनिंदक मंदमति आतमहनि गति जाइ॥'* (४४) पर आप तो मेरे लिये जहाज हो गये, मुझे कुछ करना न पड़ा, आपके उपदेशमात्रसे मोह दूर हो गया।

'मो कहँ नाथ बिबिध सुख दए' इति। ज्ञान, विवेक, विरति, विज्ञान तथा मुनिदुर्लभ गुण ये ही सुख हैं। यथा—*'ज्ञान बिबेक बिरति बिज्ञाना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग जाना॥*……*प्रभु कह देन सकल सुख सही।'* (८४। १, ४) वैषयिक क्षुद्र सुखोंकी गिनती सुखमें नहीं, वस्तुतः वे दुःखके अन्तर्भूत हैं। इन पाँचों सुखोंको आपने दिया।

नोट—१ *'बिबिध सुख दए।'* विचित्र विविध प्रकारकी कथा सुनाकर, फिर अपनी ओरसे श्रीरघुनाथजीका स्वभाव, उनका प्रताप, ऐश्वर्य, भक्तवात्सल्यादि गुण, इत्यादि बखानकर, उनमें मोह होनेका कारण इत्यादि बताकर, प्रभुका परम मनोहर रहस्य कहकर, ज्ञान और भक्तिका निरूपण करके, अपने सम्बन्धी प्रश्नोंका उत्तर देकर, सप्त प्रश्नोंका उत्तर देकर इत्यादि, अनेक प्रकारका तथा अनेक बार सुख दिया। प्रत्येक प्रसङ्गके अन्तमें गरुड़का प्रेम और हर्ष दिखाया गया है। मोह, भ्रम, संशय, मायाजनित समस्त क्लेश एवं शोक दूर होनेसे सुख हुआ, रामरहस्य जानकर सुख हुआ, श्रीरामपदमें दृढ़ प्रेम होनेसे सुख हुआ, सन्तदर्शन समागमसे सुख हुआ—*'तुम्हरी कृपा लहेउँ बिश्रामा।'* (११५ ६-७) देखिये।

रा० प्र०—*'होइ न प्रति उपकारा'* अर्थात् मैं आपका ऋणी बना हूँ। 'बारंबार प्रणाम' अति कृतज्ञता और प्रेमका सूचक है।

* भएऊ, दएऊ—(का०)। † पर—(का०)।

नोट—२ *'होइ न प्रति उपकारा'* कथनमें भाव यह है कि कोई अपने साथ उपकार करे तो उसका प्रत्युपकार करना सनातन धर्म है। बदलेमें समान मूल्यका द्रव्य देना चाहिये, अल्पमूल्यका द्रव्य देना ठगना है। पर इस भक्ति-चिन्तामणि जैसी अमूल्य मणिके बदलेमें देने योग्य कोई वस्तु नहीं है, अतः मैं प्रत्युपकार नहीं कर सकता। ऋणीका ऋण चुकाना यदि असाध्य हो तो उचित है कि धनीसे प्रार्थना करके क्षमा माँगे और उसका दास होकर रहे। अतः गरुड़जी स्पष्ट कह रहे हैं कि *'मो पहिं—तव पद बंदउँ बारहिं बारा।'* (वि० त्रि०)

नोट—इसी प्रकार जीव गर्भके भीतर भगवान्‌से कहता है कि आप अपने किये हुए उपकारसे सन्तुष्ट हों, मैं सिवाय हाथ जोड़नेके और क्या कर सकता हूँ? **'येनेदृशीं गतिमसौ दशमास्य ईश संग्राहितः पुरुदयेन भवादृशेन। स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात्॥'** (भा० ३। ३१। १८)

पूरनकाम राम अनुरागी। तुम्ह सम तात न कोउ बड़भागी॥ ५॥
संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥ ६॥

अर्थ—आप पूर्णकाम (जिसको किसी प्रकारकी कामना नहीं रह गयी है। सर्वकामना-पूर्ण) और पूर्णकाम श्रीरामजीके अनुरागी हैं। हे तात! आपके समान कोई बड़भागी नहीं है॥ ५॥ सन्त, वृक्ष, नदी, पर्वत और पृथ्वी, इन सबकी करनी पराये उपकारके ही लिये होती है॥ ६॥

नोट—१ पूर्णकाम; यथा—*'जो इच्छा करिहहु मनमाहीं। हरिप्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं॥'* (११४। ४) यह आशीर्वाद सुन ही चुके हैं; अतः कहते हैं कि आपको किसी वस्तुकी कमी ही नहीं तब आपको कोई क्या दे सकता है? पूर्णकाम कहकर रामानुरागी कहनेका भाव कि पूर्णकाम हैं, क्योंकि श्रीरामजीके अनुरागी हैं, यदि किसीको कामना है तो वह रामानुरागी नहीं हो सकता, यथा—*'सुमिरत रामहिं तजहिं जन तृन सम बिषय बिलास।'* (२। १४०) और 'रामानुरागी' कहकर तब *'बड़भागी'* कहा, क्योंकि श्रीरामचरणसे जिनका सम्बन्ध है, वे ही बड़भागी कहे गये हैं (१। २११ छन्द) *'अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी—'*, (३। १०। २१) *'प्रेम मगन मुनिबर बड़भागी'* देखिये। *'तुम्ह सम न कोउ बड़भागी'* का भाव कि जितने भी बड़भागी हो गये हैं उन सबोंसे आप अधिक बड़भागी हैं, आपके समान बड़भागी कोई नहीं है। इसी तरह भगवान् शङ्करने श्रीहनुमान्‌जीके सम्बन्धमें कहा है कि *'हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ रामचरन अनुरागी॥'* *'गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बार बार प्रभु निज मुख गाई॥'* (५०। ८-९)

पं०—*'पूरनकाम—'*—अर्थात् निष्काम होकर श्रीराममें प्रेम करते हो, अतः कोई आपके समान बड़भागी नहीं और निष्काम होकर परोपकार करना यह सन्तोंमें आश्चर्य नहीं, यह तो उनका सहज स्वभाव है।

करु०—भाव कि श्रीरामानुरागी हो अतः बड़भागी हो। जो आपने कृपा करके मुझे इतना सुख दिया तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं, क्योंकि वेदशास्त्र कहते हैं कि *'संत बिटप सरिता गिरि धरनी—।'*

नोट—२ *'संत बिटप सरिता गिरि धरनी।—'*—सन्तका सहज स्वभाव ऊपर कह आये हैं। सरितामें चींटीसे लेकर हाथीतक, छोटेसे लेकर राजा, ऋषि इत्यादितक कोई भी जाय सबको वह जल पेटभर देती है। वृक्षोंमें फल लगते हैं सो वे दूसरोंको ही खिला देते हैं, छायाका सुख भी दूसरोंको इत्यादि। पर्वतमें रत्न होते हैं, वह भी राजा आदिके काम आते हैं, पत्थर मन्दिरों इत्यादिके काम आते हैं। पृथ्वीका नाम ही क्षमा है, फिर वह अन्न, रस, ओषधि इत्यादि देती है। यथा—*'परहित नित सह बिपति बिसाला।'* *'सुरसरि सम सब कहँ हित होई'* **'पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः। नादन्ति सस्यं खलु वारिवाहाः परोपकाराय सतां विभूतयः॥'** (सु० र० भा०) **रत्नाकरः किं कुरुते स्वरत्नैर्विन्ध्याचलः किं करिभिः करोति। श्रीखण्डखण्डैर्मलयाचलः किं परोपकाराय सतां विभूतयः॥'**

वि० त्रि०—*'संत बिटप—'* इति। भाव कि विटप, सरिता, गिरि और धरणीकी जड़ करनी है। ये सुख-दुःखका बिना विचार किये सबके काम आते हैं। यही गति सन्तोंकी भी है। इनकी भी जड़ करनी है। यथा—*'संत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी॥ काटै परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥'* (३७। ७-८) इस प्रकार दूसरेके हितके लिये दुःख सहनेवाला सिवा सन्तके

कोई चेतन पदार्थ नहीं हो सकता। *'परहित हेतु सबन्ह कै करनी'* कथनका भाव कि आपको न प्रत्युपकारकी इच्छा है और न कोई आपका प्रत्युपकार कर सकता है। विटपादिके सब उपकृत हैं, कोई इनका प्रत्युपकार करना चाहे तो सिवा प्रणाम करनेके और क्या कर सकता है? सन्त, विटप आदिमें सन्तके प्रथम उल्लेखका कारण आगे कहते हैं—*'संत हृदय—।'*

प० प० प्र०—जैसे विचारमान् पाणिनिने श्वान्, मघवान् और युवान्को एक सूत्रमें रखा, वैसे ही यहाँ कविने संतोंको जान-बूझकर जड़ोंकी पंक्तिमें बिठाया है। भाव यह कि चारों जड़ोंमें जो सद्गुण हैं वे सब सन्तोंमें हैं और इनके अतिरिक्त और भी बहुत गुण हैं। यह एक विस्तृत स्वतन्त्र लेखका विषय है।

रा० शं०—भुशुण्डिजी सन्त हैं, यथा—*'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही।'* परोपकारियोंमें इनको सबसे बढ़कर जानकर प्रथम इन्हींको कहा।—

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना॥ ७॥
निज परिताप द्रवै नवनीता। परदुख द्रवहिं संत* सुपुनीता॥ ८॥

अर्थ—'सन्तका हृदय मक्खनके समान है' ऐसा कवियोंने कहा है पर (कैसा) कहना (चाहिये यह) उन्होंने न जाना (अर्थात् उनसे समानताका उदाहरण कहते न बन पड़ा, उन्होंने ठीक उपमा नहीं दी, क्योंकि)॥ ७॥ मक्खन तो अपनेको ही ताप मिलनेसे पिघलता है और परम पुनीत सन्तजन पराये दुःखसे (दुःखको देखकर) द्रवीभूत होते हैं॥ ८॥

नोट—१ यहाँ व्यतिरेक अलङ्कार है। उपमानसे उपमेयमें अधिक गुण है। मक्खनसे अधिक कोमल सन्तहृदय है। 'केवल रामजी' की कथा भक्तिरसबोधिनीटीका भक्तमालमें प्रसिद्ध ही है कि बैलके 'सोंटा' मारा गया और पीठपर बरत (सोंटेके चिह्न) इनके पड़ आये—ऐसा कोमल हृदय। कथनका तात्पर्य यह है कि वस्तुतः नवनीतमें और इनमें समानता नहीं है। 'कोमलता' धर्म उपमेय-उपमानमें एक-सा न होनेसे उपमामें दोष है। —[पं०—भाव कि कवि सन्तोंके हृदयकी क्या जाने जैसे योद्धाके हृदयकी ढाढ़ी क्या जाने?]

वि० त्रि०—१ (क) *'संत हृदय'*—भाव कि विटप, सरिता, गिरि और धरणी जड़ होनेसे हृदयहीन हैं, सुख-दुःखका अनुभव भी इन्हें जड़ताके तारतम्यतानुसार न्यून होता है, परंतु सन्त जो कुछ करते हैं वह हृदयकी कोमलताके कारण करते हैं। अतः ये सबसे बड़े हैं। (ख) *'कहै न जाना'*—भाव कि उपमा देने चले, यह न जाना कि यह विषय वर्णनातीत है। यथा—*'कहि सक न सारद सेष नारद सुनत पद पंकज गहे।'* कही वही वस्तु जाती है जिसके समान कोई दूसरी वस्तु भी हो। उपमा-उपमेयमें समान धर्म होना चाहिये, सो यहाँ धर्ममें समानता ही नहीं है।

नोट—२ *'निज परिताप द्रवै—।'* भाव कि मक्खनमें कोमलता अपने लिये है, दूसरेके परितापसे मक्खनमें कोई विकार नहीं उत्पन्न होता, वह नहीं पिघलता, जब स्वयं अग्निपर तपाया जाता है तभी पिघलता है, अपने दुःखसे दुःखी होना यह गुण तो दुष्टोंमें भी है; अतएव उसकी प्रशंसा ही क्या? सन्त अपने दुःखसे दुःखी नहीं होते, उसे तो वे सह लेते हैं; यथा—*'खल के बचन संत सह जैसे।'* (४। १४। ४) पर पर-विपत्ति देख सह नहीं सकते, व्याकुल हो जाते हैं। यथा—*'नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥'* (३। २। ९) *'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥ संत सहहिं दुख परहित लागी॥'* (१२१। १४-१५) *'जो सहि दुख परछिद्र दुरावा।'* (१। २। ६) मक्खन जाड़ेमें कड़ा और सन्त सदैव दयालु कोमल। यथा—'सज्जनस्य हृदयं नवनीतं यद्वदन्ति कवयस्तदलीकम्। अन्यदेहदिलसत्परितापात्सज्जनो द्रवति नो नवनीतम्॥'(सु० र० भा०)

जीवन जन्म सुफल मम भएऊ। तव प्रसाद संसय सब गएऊ॥ ९॥
जानेहु सदा मोहिं निज किंकर। पुनि पुनि उमा कहइ बिहंगबर॥ १०॥

* सुसंत पुनीता।

अर्थ—मेरा जीवन और जन्म दोनों सफल हुए। आपकी कृपासे सब संशय दूर हो गया॥ ९॥ 'मुझे सदैव अपना दास जानियेगा।'—हे उमा! पक्षिश्रेष्ठ गरुड़ बारंबार यही कह रहे हैं॥ १०॥

नोट—१ (क) *'जीवन जन्म सुफल'* हुआ। भाव कि संशय दूर न होता तो सदाके लिये भवमें पड़ता, श्रीराम-विमुख होनेसे जन्म और जीवन दोनों व्यर्थ हुए जाते थे। यथा—*'ते नर नरकरूप जीवत जग भव भंजन पद बिमुख अभागी।—सूकर श्वान सृगाल सरिस जन जनमत जननि दुख लागी॥'* (वि० १४०) *'जो पै रहनि राम सों नाहीं। तौ नर खर कूकर सूकर सों जाय जियत जग माहीं॥'* (वि० १७५) *'पावन प्रेम रामचरन जनम लाहु परम।'* (वि० १३१) (ख) *'तव प्रसाद संसय सब गएऊ'* कहकर जनाया कि आप मेरे सद्गुरु हैं क्योंकि सद्गुरु ही समस्त संशयोंको मिटा सकता है। यथा—*'सदगुरु मिले जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ।'* (४। १। ७)

२—*'जानेहु सदा मोहिं निज किंकर।'* जो पूर्व कहा था कि *'मोते होइ न प्रति उपकारा'*, उसीका निर्वाह यहाँ है। भाव कि मैं ऋणी हूँ, आजीवन दास बना रहूँगा। *'किंकर'* का भाव कि आज्ञा देते रहियेगा। पुनः, यह शिष्ट लोगोंकी रीति है कि कृतज्ञता जनानेके लिये ऐसा कहते हैं। *'पुनि पुनि'*—प्रेम और कृतज्ञतासूचक है।

वि० त्रि०—(क) *'जानेहु सदा—'* इति। *'नाथ मोहि निज सेवक जानी। सप्त प्रश्न मम कहहु बखानी॥'* कहकर प्रश्न किया था, अब उत्तर पानेपर सदाके लिये सेवक होनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। पूर्णकामको सेवाकी इच्छा नहीं, अतः सेवक जाननेके लिये प्रार्थना करते हैं। (ख) *'उमा'* सम्बोधनसे जनाया कि भुशुण्डि-गरुड़-संवाद पूरा हो गया, अब कथा शिवजी कह रहे हैं। (ग) *'पुनि पुनि कहइ'*-भाव कि वाक्यको यथार्थ रूपमें ग्रहण करनेके लिये बार-बार कहते हैं, जिसमें उनका वाक्य विनय-प्रदर्शनरूपमें गृहीत न हो। इस वाक्यसे गरुड़का अभिमानरहित होना सूचित किया। (शंकरजीने प्रारम्भमें कहा था *'होइहि कीन्ह कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपानिधाना॥'* उस वाक्यकी सफलता यहाँ दिखायी।)

दो०—तासु चरन सिरु नाइ करि प्रेमसहित मतिधीर।
गएउ गरुड़ बैकुंठ तब हृदय राखि रघुबीर॥
गिरिजा संतसमागम सम न लाभ कछु आन।
बिनु हरिकृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान॥ १२५॥

अर्थ—उसके चरणोंमें प्रेमसहित माथा नवाकर और हृदयमें श्रीरघुवीरको धारण करके तब गरुड़जी वैकुण्ठको गये। हे गिरिजे! संत-समागमके समान दूसरा कोई लाभ नहीं है। पर संत-समागम बिना भगवत्-कृपाके नहीं होता ऐसा वेद और पुराण कहते हैं*॥ १२५॥

नोट—१ (क) *'गएउ गरुड़ जहँ बसइ भुसुंडी।'*(६३। १) उपक्रम है और *'गएउ गरुड़ बैकुंठ तब'* उपसंहार है।—गरुड़-भुशुण्डि-संवाद-प्रकरण जो *'तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई। कागभुसुंडि गरुड़ प्रति गाई॥'*(५३। ८) से प्रारम्भ हुआ था उसकी इति यहाँ शंकरजीने की। (ख) *'तासु चरन सिरु नाइ'* यह गुरु-संत-बुद्धिसे। जब यहाँ आये थे तब प्रणाम न किया था, तब तो ये पक्षिराजके भावसे आये थे, इसलिये उसी भावसे इनकी पूजा भुशुण्डिजीने की थी; यथा—*'करि पूजा समेत अनुरागा।—।'* (६३। ६—८) अब वह भाव जाता रहा, अतः मस्तक नवाते हैं और भुशुण्डिजी उसे स्वीकार करते हैं। (ग) *'मतिधीर'* का

* भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन सत्सङ्गमं च लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकारनाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः॥ भा० माहात्म्य २। ७६।

अर्थात् जिस समय अनेकों जन्मोंके सञ्चित पुण्यपुञ्ज उदित होनेसे मनुष्यको सत्सङ्ग प्राप्त होता है, उसी समय उसके अज्ञानजन्य मोह और मदरूप अन्धकारका नाश करके विवेक उदय होता है।

भाव कि अब *'बिगत सन्देह'* होनेसे व्याकुलता नहीं रह गयी। (घ) *'रघुबीर'* पद दिया क्योंकि इसी रूपमें मोह हुआ था। अब उनको पञ्च-वीरतायुक्त जान लिया, अतः हृदयमें धारण किया। [*'हृदय राखि रघुबीर'* अर्थात् श्रीरामचन्द्रजीमें परमात्मभावना करके। (पं०) पहले समझते थे कि वैकुण्ठनाथ सबसे बड़े हैं; अब जाना कि ये सबसे बड़े हैं, अतः 'रघुवीर' को हृदयमें रखना कहा। दूसरे भुशुण्डिजीने कहा था कि *'प्रभु रघुपति तजि सेइअ काही।'* (१२३। ३) अतः रघुवीरको हृदयमें धारण किया। (रा० शं० श०)]

वि० त्रि०—*'गिरिजा संत समागम......'* इति। (क) *'गिरिजा'* सम्बोधनसे ही इस कथाका उपक्रम किया था। यथा—*'गिरिजा कहेउँ सो सब इतिहासा। मैं जेहि समय गयउँ खग पासा॥ अब सो कथा सुनहु जेहि हेतू। गएउ काग पहिं खगकुलकेतू॥'* (५८। १, २) अब उसी सम्बोधनके साथ उपसंहार करते हैं। (ख) *'न लाभ कछु आन'*, क्योंकि *'मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई॥ सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु बेद न आन उपाऊ॥ बिनु सतसंग बिबेक न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई॥'* (१। ३। ५—७) *'संत मिलन सम सुख जग नाहीं।'* (ग) *'बिनु हरि कृपा न होइ सो'*- भाव कि कोई काल या देश ऐसा नहीं है जहाँ संत दुर्लभ हों, यथा—*'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥'*; पर उनसे भेंट नहीं होती। निकट रहते हुए भी पता नहीं चलता कि अमुक व्यक्ति संत हैं। जब भगवान्‌की कृपा होती है तभी उनसे संग होता है, मनमें पश्चात्ताप होता है, आश्चर्य होता है कि इतने दिनोंतक इन्हें क्यों नहीं जाना। अतः जब सत्संग हो तो हरिकृपा समझनी चाहिये। (घ) *'गावहिं बेद पुरान'*—वेद स्वतः प्रमाण हैं और पुराण परतः प्रमाण हैं; उनका कहना अभ्रान्त सत्य है। वे ही कल्याणका मार्ग दिखानेवाले हैं।

कहेउँ परम पुनीत इतिहासा। सुनत श्रवन छूटहिं भव पासा॥ १॥
प्रनत कल्पतरु करुना पुंजा। उपजै प्रीति रामपद कंजा॥ २॥
मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई॥ ३॥

अर्थ—(श्रीशिवजी पार्वतीजीसे कहते हैं—) मैंने परम पवित्र इतिहास कहा, जिसे कानोंसे सुनते ही भवपाश (संसारबन्धन) छूट जाता है॥ १॥ शरणागत लोगोंके कल्पवृक्ष और करुणाकी राशि श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंमें प्रीति उत्पन्न होती है॥ २॥ जो कथाको मन लगाकर सुनते हैं उनके मन, वचन और कर्म तीनोंसे उत्पन्न पाप जाते रहते हैं॥ ३॥

नोट—१ (क) *'कहेउँ'* से इतिहासकी समाप्ति सूचित की। (ख) *'परम पुनीत इतिहासा।'* भुशुण्डि-गरुड़-संवाद इतिहास है। *'परम पुनीत'* पद देकर इतिहासका उपसंहार किया। *'सुनहु परम पुनीत इतिहासा।'* (५५। ८) उपक्रम है।—भाव वहीं देखिये। पुनः परम पुनीतता आगे भी दिखाते हैं—*'सुनत श्रवन......'* से *'सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई'* तक (प्र० सं०)। *'इतिहासा'* बहुवचनका प्रयोग किया; क्योंकि इसमें भगवत्-भागवत दोनोंका इतिहास है। अथवा, और अवतारोंके चरित पुराण हैं, श्रीराम और श्रीकृष्णके चरित रामायण और महाभारत इतिहास हैं। जिससे पाप कटे वह पुनीत और जिससे भवबन्धन कटे वह परम पुनीत है (वि० त्रि०)। (ग) *'सुनत श्रवन'* से साधन-सौकर्य कहा। इससे बढ़कर सुभीता और क्या होगा कि केवल कानसे सुना करे और फल इतना बड़ा कि भवपाश छूट जाय (वि० त्रि०)। (घ) *'सुनत श्रवन'* यहाँ कहा और आगे बताते हैं कि किस प्रकार सुननेपर भवपाश छूटेगा—*'सुनहिं...मन लाई'*, मन लगाकर सुनेगा तब।

२—*'प्रनत कल्पतरु......'* इति। (क) *'कल्पतरु'* के भाव पूर्व आ चुके हैं। संक्षेपमें भाव यह है कि प्रभु न तो किसीके सम्मुख हैं न विमुख, जो भी शरणमें जाता वा प्रणाममात्र करता है उसके अभीष्टको वे पूरा करते हैं, उनके समीप जानेभरकी देरी है उनके देनेमें देर नहीं। 'करुणापुञ्ज' का भाव कि शीघ्र द्रवीभूत हो जाते हैं, किसीका दुःख देख नहीं सकते, तुरत उसका दुःख दूर करते हैं। यथा—*'करुनामय*

रघुनाथ गोसाँई। बेगि पाइअहि पीर पराई॥' (२। ८५। १) (ख) *'उपजै प्रीति रामपदकंजा'* इति। उपक्रममें भी यही कहा है, यथा—*'उपजै रामचरन बिस्वासा।'* (५५। ९) दोनों एक ही हैं, क्योंकि बिना विश्वासके भक्ति वा प्रीति नहीं होती। यथा—*'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।'* (८९। ७) *'बिनु बिस्वास भगति नहिं।'*

३—*'मन क्रम बचन जनित अघ'*, यथा—*'जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कबि कहहीं॥'* (अ० १६७। ७) देखिये। मन-वचन-कर्मके पाप पूर्व आ चुके हैं। पुनः, मनके पाप तृष्णा, क्रोध, राग-द्वेष इत्यादि। वचनके निन्दा, कठोर वचन इत्यादि। कर्मके चोरी, लम्पटता इत्यादि।

रा० शं०—*'सुनत श्रवन छूटहिं'* यह लाभ सबको है। भक्तोंके लिये विशेषता यह है कि उनके स्वार्थ-परमार्थ सब सिद्ध होते हैं, उनको भक्ति मिलती है। और जो मन लगाकर सुनते हैं उनके मन, कर्म और वचनके पाप छूटते हैं।

वि० त्रि०—इन तीन अर्धालियोंमें क्रमशः तीनों काण्डका फल कहा। *'सुनत श्रवन छूटै भवपासा'* से ज्ञानकाण्डका, *'उपजै प्रीति रामपदकंजा'* से उपासनाकाण्डका और *'मन क्रम बचन जनित अघ जाई'* से कर्मकाण्डका फल कहा। कर्मकाण्ड पापापनोदनके लिये किया जाता है सो कथाश्रवणमात्रसे निवृत्त होता है।

तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ज्ञान निपुनाई॥ ४॥
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना॥ ५॥
भूत दया द्विज गुर सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥ ६॥
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥ ७॥
सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई। रामकृपा काहूँ एक पाई॥ ८॥

अर्थ—तीर्थयात्रा (आदि) साधन समूह (वा तीर्थयात्रा और उसके साधन समूह), योग, वैराग्य और ज्ञान तीनोंमें निपुणता॥ ४॥ अनेक प्रकारके कर्म, धर्म, व्रत और दान, अनेकों संयम, दम, जप, तप और यज्ञ॥ ५॥ प्राणीमात्रपर दया, द्विज और गुरुकी सेवा, विद्या, विनम्रता, विवेक और बड़ाई॥ ६॥ इत्यादि जहाँतक साधन वेदोंने बखान किये हैं, हे भवानी! उन सबका फल भगवद्भक्ति है॥ ७॥ वह श्रुतियोंकी गायी हुई रघुनाथजीकी भक्ति श्रीरामजीकी कृपासे ही किसी एक आधने पायी है॥ ८॥

खर्रा—*'बिद्या बिनय बिबेक'* तीनोंमें बड़ाईकी अन्वय है।

नोट—१ वसिष्ठजीने ४९ (१—८) में लगभग यही सब कहा है। वहाँ 'जप[१], तप[२], नियम[३], जोग[४], निजधर्मा[५], श्रुति-संभव नाना[६] कर्मा, ज्ञान[७], दया[८], दम[९], तीरथ[१०] मज्जन, जहँ लगि धर्म कहत श्रुति[११] सज्जन, आगमनिगमपुराणके[१२] पाठ, इत्यादिको कहकर उनका फल *'तव पद पंकज प्रीति निरंतर'* बताया, वैसे ही यहाँ तीर्थाटन[१०], जोग[४], विराग, ज्ञान[७], नाना कर्म[६], धर्म[५], व्रत[११], दान[८], संजम[३], दम[८], जप[१], तप, मष नाना[६], *'जहँ लगि साधन[१२] बेद बषानी'* विद्या इत्यादिका फल हरिभक्ति बताया। जो भाव वहाँ है वही यहाँ जानिये। २—*'रामकृपा काहूँ एक पाई'* अर्थात् सुतीक्ष्ण, अगस्त्य, अत्रि, शंकरजी, ब्रह्माजी, भुशुण्डि इत्यादिने पायी वह भी माँगनेपर प्रभुकी कृपासे ही। यही बात पार्वतीजीने विस्तारसे कथासमाप्तिपर ५४ (१—८) में कही है। *'नर सहस्त्र महँ सुनहु पुरारी'* से *'सो हरिभगति—'* तक।—वहीं विशेष भाव देखिये। ऐसा ही भुशुण्डिमत है—*'जेहि खोजत जोगीस मुनि प्रभुप्रसाद कोउ पाव।'* दोहा ८४ में देखिये। समस्त ऋषियों आदिने दर्शन होनेपर भी भक्ति ही माँगी है।

वि० त्रि०—१ (क) *'तीर्थाटन साधन समुदाई'*—जीवको तारता है, इसीलिये तीर्थ कहलाता है। सब लोग तीर्थयात्रा संसार-सागरसे तरनेके लिये करते हैं, परंतु तीर्थका फल सबको नहीं होता, जो तीर्थोचित साधनके साथ यात्रा करता है, उसीको यात्राका फल मिलता है। संक्षेपमें उन साधनोंका वर्णन रामवनयात्रा-प्रकरणमें श्रीभरतजीद्वारा दिखलाया है। यथा—*'सहित समाज साज सब सादे। चले राम बन अटन पयादे॥'* (२। ३११। ३) से दोहा ३१२ तक। (ख) *'जोग बिराग ज्ञान निपुनाई।'* इति। किसी विषयमें निपुणता तभी होती है जब उसके विरोधी विषय अच्छे न लगें; यथा—*'अति नय निपुन न भाव अनीती।'* अतः

योग, वैराग्य और ज्ञानमें वही निपुण है जिसे राग, वैषम्य और बहिर्मुखता अप्रिय हो। (ग) *'बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई'* इति। विद्यासे ही विनय होता है, विनयसे पात्रता होती है, पात्रतासे धन, धनसे धर्म और धर्मसे सुख होता है। विद्यासे ही विवेक होता है। यथा—*'बिद्या बिनु बिबेक उपजाये। श्रम फल पढ़े किये अरु पाये॥'* (ख) *'सब कर फल हरिभगति'*—भाव कि साधन तो इतने हैं, और सिद्धि एक है। वह सिद्धि फलरूपा हरिभक्ति है। यदि साधनोंसे हरिभक्ति न हुई तो श्रममात्र हुआ। कथाश्रवणसे तीनों काण्डकी फलसिद्धि कह आये, अब भक्तिमें सबका पर्यवसान करते हैं।

२ *'सो रघुनाथ भगति श्रुति गाई……'* इति। भाव कि वेदान्तशास्त्र, उपनिषद् आदि उपासनाओंसे ही भरे पड़े हैं और वे उपासनाएँ मुख्यतः सगुण ब्रह्मकी ही हैं। मन्त्रभागमें भी उपासना-ही-उपासना है।

दो०—मुनिदुर्लभ हरिभगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।
जे यह कथा निरंतर सुनहि मानि बिस्वास॥१२६॥

अर्थ—जो मनुष्य विश्वास मानकर यह कथा निरन्तर सुनते हैं वे बिना परिश्रमके वह हरिभक्ति प्राप्त कर लेते हैं जो मुनियोंको भी दुर्लभ है॥ १२६॥

नोट—१ *'मुनि दुर्लभ'* यथा—*'जो मुनि कोटि जतन नहिं लहहीं। जे जप जोग अनल तन दहहीं॥'* (८५। ४) देखिये। इससे जनाया कि जैसी भक्ति भुशुण्डिजीको मिली वैसी उनकी कथाके विश्वासपूर्वक निरन्तर श्रवणसे सहज ही प्राप्त हो सकती है। मुनियोंको परिश्रम करनेपर भी कहीं ही मिलती है, भुशुण्डिजीको भी परिश्रम हुआ और कथाके श्रोताको सहज है। २—शर्त एक तो यह है कि *'मानि बिस्वास'* सुने। विश्वास कैसे हो। इसका उपाय प्रारम्भमें बता आये। इस कथाके ही सुननेसे *'उपजइ रामचरन बिस्वासा'* तब विश्वाससे सुनेगा, उससे भक्ति प्राप्त होगी। ३—दूसरी शर्त है कि *'निरंतर'* सुने अर्थात् नियमपूर्वक। कथाकी प्यास सदा बनी रहे।

सोइ सर्बज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता। सोइ महिमंडित पंडित दाता॥ १॥
धर्मपरायन सोइ कुलत्राता। रामचरन जाकर मन राता॥ २॥
नीति निपुन सोइ परम सयाना। श्रुतिसिद्धांत नीक तेहिं जाना॥ ३॥
सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाँड़ि भजै रघुबीरा॥ ४॥

शब्दार्थ—गुनी (गुणी)=गुनवान्।=जो दैव या मानुष शिल्पका जानकार हो, यथा—*'जोरिय कोउ बड़ गुनी बुलाई।', 'पठए बोलि गुनी तिन्ह नाना', 'पूछा गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची।'* (वि० त्रि०)। ज्ञाता=नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थ—इन चारों ज्ञेयोंका जिसे ज्ञान हो।

अर्थ—जिसका मन रामचरणमें अनुरक्त है (यथार्थ) वही सर्वज्ञ है, वही गुणवान् है, वही ज्ञानवान् है, वही पृथ्वीका भूषण है, पण्डित है, (वा, पृथ्वीभरमें शोभित है), दानी है। वही धर्मपरायण है और वही कुलका रक्षक है। जो छल छोड़कर रघुवीर श्रीरामचन्द्रजीका भजन करे॥ १-२॥ वही नीतिमें कुशल है, उसीने श्रुतियोंका सिद्धान्त भली प्रकार (यथार्थ) जाना है॥ ३॥ वही कवि है, वही कोविद है, वही रणधीर है॥ ४॥

नोट—१ (क) महिमंडित (पृथ्वीका भूषण) कहनेका भाव कि जिस पृथिवीपर वह विचरता है वह पवित्र और सुन्दर गिनी जाती है। (पं०)। महिमंडित पंडित=सार्वभौम शास्त्रज्ञ। (वि० त्रि०)। महिमंडित पदका अनुवर्तन *'दाता'* के साथ भी होगा। अर्थात् सर्वोपकारी दानवीर। धर्माचरणसे भगवच्चरणोंमें अनुराग न हुआ तो वह व्यर्थ है और यदि अनुराग हुआ तो वह पापी होनेपर भी सद्यः धर्मानुरागी हो जायगा। प्रभुका वाक्य है कि *'करउँ सद्य तेहि साधु समाना।'* (वि० त्रि०)। *'कुल त्राता'* है, क्योंकि भगवद्भक्त हो जानेसे पितृ तर जाते हैं। पुत्रकी उत्पत्ति इसीलिये की जाती है कि वह नरकसे बचावे। श्रीराम-चरणानुरागसे वह भी हो जाता है और पितृ भवबन्धनसे विमुक्त भी हो जाते हैं, इसीसे रामानुरागीको

कुलत्राता कहा। ध्वनित अर्थ यह भी है कि यदि पुत्र कुपुत्र हुआ तो वह कुलका नाशक ही होता है; यथा—'*जिमि कपूतके उपजें कुल सद्धर्म नसाहिं।*'(४। १५) श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं—रामभक्त कुलत्राता कैसे होता है? इसके लिये एक विशेष कारण यह है कि 'नौ धन्योंमें उस कुलकी भी गिनती है जिसमें भक्त जन्म ग्रहण करता है।' (ये नौ धन्य आगे गिनाये गये हैं—चौ० ५ से दोहा १२६ तक)।

पं० रा० व० श०—१ (क) '*राता*'। यह '*रंज रागे*' धातुसे है। सं० रक्त। अर्थात् भीतर-बाहर रामचरण-प्रीतिका रंग रँग गया हो। '*नीति निपुन*'—यहाँ नीतिसे धर्मनीति अभिप्रेत है न कि राजनीति। याज्ञवल्क्यजी शुद्धिका प्रकरण लिखते हुए जीवकी शुद्धि ईश्वरके ज्ञानसे बताते हैं—'**क्षेत्रज्ञस्य विशुद्धिः, ईश्वरज्ञानात्**' इत्यादि। [धर्मका किसी प्रकार उल्लङ्घन न हो, धर्माविरोधी अर्थ और धर्मार्थाविरोधी कामका सेवन करते चलना, संक्षेपमें यही नीति है; पर ऐसी नीतिका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति ही है। अतः जिस मार्गसे भगवत्प्राप्ति हो, उसीका अवलम्बन करना नीतिकी निपुणता है। यथा—'*उपरोहित्य कर्म अति मंदा। बेद पुरान सुमृतिकर निंदा॥ जब न लेउँ मैं तब बिधि मोही। कहा लाभ आगे सुत तोही॥ परमात्मा ब्रह्म नर रूपा। होइहि रघुकुल भूषन भूपा॥ तब मैं हृदय बिचारा जोग जग्य ब्रत दान। जा कहुँ करिअ सो पैहउँ धर्म न एहि सम आन॥*' (४८) (वि० त्रि०)] (ख) '*परम सयाना*'—भाव कि जगत्की चतुराईमें सयाना सयाना नहीं है, जिस कार्यके लिये शरीर मिला है वह कार्य सिद्ध कर लेना ही सयानपन है। (ग) '*श्रुतिसिद्धान्त।*' भगवान्ने कहा है कि वेदके कर्त्ता हम हैं, हमारा ही प्रतिपादन वेदमें है, जिसने हमको जान लिया उसने सब जान लिया। ['*श्रुतिसिद्धान्त नीक तेहि जाना*'—भाव कि यही श्रुतिसिद्धान्त है, यथा—'*श्रुतिसिद्धांत इहै उरगारी। राम भजिय सब काज बिसारी॥*' (१२३। २) देखो। मिलान कीजिये—'*सोइ सर्बग्य तग्य सोइ पंडित। सोइ गुनगृह बिग्यान अखंडित॥ दच्छ सकल लच्छन जुत सोई। जाके पद सरोज रति होई॥*' (४९(७-८)]

वि० त्रि०—'*सोइ कबि कोबिद*' इति। वाणीकी चार अवस्थाएँ हैं-परा, यथा—'*भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई॥*' पश्यन्ती यथा—'*चितै पितहि दीन्हउ दृढ़ ज्ञाना*', मध्यमा यथा—'*मानस ते मुखपंकज आई*' और बैखरी यथा—'*भा जनु गूँगहिं गिरा प्रसादू।*' कवि-कोविद जाने या बिना जाने वर्णनके समय वाणीका स्मरण करते हैं। स्मरण करनेपर परा वाणी पश्यन्ती, मध्यमामें अवतरित होती हुई वैखरीरूपमें प्रकट होती है। उस वाणीको हरियशगानमें ही विश्राम मिलता है। पापमें डूबे हुए जीवोंके चरितका वर्णन उससे करवाना सरस्वतीको रुलानेके समान है। यथा—'*भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई॥ रामचरितसर बिनु अन्हवायें। सो श्रम जाइ न कोटि उपायें॥ कबि कोबिद अस हृदय बिचारी। गावहिं हरिजस कलिमल हारी॥ कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिरधुनि गिरा लगन पछिताना॥*' (१। ११। ४—७) अतः वाणीको दुःख देनेवाला कवि कोविदपदके योग्य नहीं।

पं०—रणधीर-पद यहाँ इस विचारसे कहा कि भगवान्ने गीतामें योद्धाकी गति योगियोंकी गतिके तुल्य कही है। अथवा, '*रनधीर*' से विषयरूपी शत्रुका जीतनेवाला जनाया। संत तो सभी श्रेष्ठ हैं पर जिनपर सत्सङ्गकी छाया पड़ी वे भी धन्य हैं; उन्हींको आगे कहते हैं।

नोट—३ श्रीत्रिपाठीजीका भी यही मत है। जो काम-क्रोधादि शत्रुओंको जीत ले वही रणधीर है। जो निष्काम भावसे भगवान्का भजन करता है वही कामादि शत्रुओंको जीतनेमें समर्थ होगा। देखिये रावण जगद्विजयी वीर था पर कामादि शत्रुओंके वशमें ही रहा। विभीषणजीके उचित मन्त्र देनेमें उनको लात मारी और उसी बातको मन्दोदरीने अति कठोर शब्दोंमें चार-चार बार कहा और वह ऐंठकर रह गया, उससे कुछ करते न बना। 'छल छाँड़ि'=निष्काम होकर। फलान्तरकी आशा करके सेवा करना स्वार्थ है, छल है। प्रह्लादजीने कहा है कि जो सेवक आपसे कामनाओंकी पूर्तिकी इच्छा रखता है वह तो सेवक नहीं किंतु लेन-देन करनेवाला कोरा व्यापारी है। यथा—'**यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्।**'(भा० ७। १०। ४) '**आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।**' क्योंकि उसने तो भगवान्को मानो अपनी इच्छाओंकी पूर्तिका साधन ठहराया है।

नोट—भाव यह है कि रामचरणानुरागविहीन मनुष्य सर्वज्ञादि होते हुए भी उन विशेषणोंके योग्य नहीं

है और यदि श्रीरामचरणानुराग हो और ये कोई गुण न भी हों तो भी वह अनुरागी इन विशेषणोंके योग्य है। सच्चा सर्वज्ञ आदि वह अनुरागी ही है।

धन्य देस सो जहँ सुरसरी। धन्य नारि पतिब्रतअनुसरी*॥५॥
धन्य सो भूप नीति जो करई। धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई॥६॥
सो धन धन्य प्रथम गति जाकी। धन्य पुन्यरत मति सोइ पाकी॥७॥
धन्य घरी सोइ जब सतसंगा। धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा॥८॥

अर्थ—वह देश धन्य है जहाँ गङ्गाजी हैं, वह स्त्री धन्य है जो पतिव्रत-धर्मका अनुसरण करे (अर्थात् उसपर चले)॥ ५॥ वह राजा धन्य है जो नीतिका पालन करता है। (अन्याय नहीं करता)। वह ब्राह्मण धन्य है जो धर्मसे नहीं टलता॥ ६॥ वह धन धन्य है जिसकी प्रथम गति होती है, पुण्यमें परिपक्व लगी हुई बुद्धि ही धन्य है और वही बुद्धि पक्की (दृढ़ एवं तत्पर) है॥ ७॥ वही घड़ी धन्य है जिसमें सत्सङ्ग हो। वह जन्म धन्य है जिसमें ब्राह्मणकी अखण्ड भक्ति हो॥ ८॥

नोट—१ (क) सुरसरि पुनीत हैं, इनके चरित मनोहर हैं, ये पाप तथा विविधतापनाशिनी हैं। अत: जहाँ ये हैं वह देश भाग्यवान् है। क्योंकि वहाँके वासी प्रभुके नखसे निकली हुई गङ्गाके *'दरस परस मज्जन'* से कृतार्थ और पावन होते हैं। स्वामी शंकराचार्यजीने भी इनकी महिमा कही है। यथा—'**गङ्गाजललवकणिका पीता**……।' गङ्गाजीकी महिमा सब जानते हैं। बाल-अयोध्यामें भी कही गयी है। (ख) पतिव्रताके धर्म अनुसूया-सीता-मिलनमें देखिये। धन्य क्योंकि *'सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभगति लहइ', 'बिनु श्रम नारि परमगति लहई'*-आ० ५ (१८), आ० ५ देखिये। पतिव्रतासे पति और पिता दोनोंके कुल पवित्र होते हैं, यथा—*'पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ।'* पतिव्रता स्वाभाविक ममतासे ही तरण-तारण हो जाती है और भगवान्‌को प्रिय है, अत: धन्य है।

२ *'धन्य सो भूप नीति जो करई।'* इति। (क) नीति करना यह है कि प्रजाको पुत्रवत् पाले—'**प्रजा रक्षति पुत्रवद्**' प्रजा उसे प्राणप्रिय हो। जो ऐसा नहीं करता वह शोचनीय है। यथा—*'सोचिअ नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥'* (२। १७२। ४) राजाको चाहिये कि प्रजाका धन उसके काममें लगावे, चारों नीतियोंका यथार्थ पालन करे, इत्यादि। केवल नीतिपूर्वक आचरण करनेसे वह धन्य होता है अन्य साधनोंसे नहीं, यह सूचित किया। (पं० रा० व० श०, वि० त्रि०)। (ख) *'द्विज निज धर्म न टरई'*—ब्राह्मणोंमें तप और श्रुत दोनों होने चाहिये, बिना इन दोनोंके उसका ब्राह्मणत्व ही पूरा नहीं होता। अत: श्रोत्रिय और तपस्वी ब्राह्मण धन्य है, अशोच्य है। यथा—*'सोचिअ बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धर्म बिषय लयलीना॥'*

३—धनकी तीन गतियाँ कही गयी हैं—दान, भोग और नाश। जो धन परोपकारमें लगाया जाय, दानमें दिया जाय, वह पूर्ण सफल है, यह सर्वोत्तम गति उस धनकी है, क्योंकि *'येन केन बिधि दीन्हे दान करइ कल्यान।'* धन होनेका जो मुख्य आदेश है वह सफल हुआ, उसकी उत्तम गति हुई और जिसके पास वह था उसकी भी सद्‌गति हुई, अत: वह धन्य कहा गया। जो अपने शरीरके काममें आवे वह मध्यमगतिवाला है और जो न दानमें ही लगा न अपने भोगनेमें ही आया वरन् नष्ट ही हुआ वह निकृष्ट है। श्रीभर्तृहरिजीने कहा है—'**दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य। यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥**'

४—*'मति सोइ पाकी।'* भाव कि वही बुद्धि श्रेष्ठ है।—परिपक्व मति पुण्यमें हो अर्थात् मन-कर्म-वचनसे पवित्र हो। (करु०, वै०)। [*'पक्की पुण्यरत मति'*=जिसमें फलाभिकांक्षाकी कचाई न हो। जिसे फलकी इच्छा है उसकी मति कच्ची है। यथा—*'करइ जो धर्म कर्म मन बानी। बासुदेव अरपित नृप ज्ञानी॥'* इससे कर्मयोग कहा (वि० त्रि०)]

* इस अर्धालीमें दोनों चरणोंमें १५, १५ मात्राएँ हैं। पूर्व ८४ (४), १११ (१५), ११७ (४), १२१ (३३), १२२ (४); १२२ (१०), १२५ (२, ३) में भी मात्राओंकी कमी है। मात्राओंकी न्यूनताके भाव पूर्व कई बार काण्डमें लिखे जा चुके हैं, वैसे ही पाठक यहाँ भी लगा लें। (प० प० प्र०)।

५—(क) सत्संगकी घड़ी धन्य है, क्योंकि लवमात्र सत्संगका सुख स्वर्ग-अपवर्ग सुखसे भी अधिक है तब घड़ीभर सत्संगके भाग्यका क्या कहा जाय? (प्र० सं०)। पुनः, सत्संग ही सब पुरुषार्थोंका समानरूपसे साधन है, यथा—'*संतसंगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एकौ बारा॥*' अतः सत्संगकी घड़ीको धन्य कहा। यहाँ काल कहा, '*धन्य सो देस*' में देश कहा गया है। (वि० त्रि०)। (ख) '*धन्य जन्म द्विज भगति अभंगा*'-ब्राह्मणमें अटलभक्ति होनेसे ही जन्म धन्य है, क्योंकि ब्राह्मणभक्तिमूलक ही कर्म, उपासना तथा ज्ञानकाण्ड हैं। यथा—'*प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज धर्म निरत श्रुति रीती॥*' इस भाँति अन्य वर्णोंके ब्राह्मण पूज्य हैं। यद्यपि प्रधानतः 'द्विज' शब्दसे ब्राह्मणका ग्रहण होता है तथापि क्षत्रिय और वैश्य भी द्विज हैं और शूद्रके लिये विधान है कि ब्राह्मणकी शिव-बुद्धिसे, क्षत्रियकी विष्णुबुद्धिसे और वैश्यकी ब्रह्मा-बुद्धिसे सेवा करे। अतः यहाँ शूद्रधर्म भी कहा। '*सो धन धन्य*' में वैश्यधर्म कहा गया है। (वि० त्रि०)

६ ☞यहाँ बताया कि धन्य कौन हैं और ठीक इसीका उलटा अ० १७२ में बताया है कि ये ही कब शोचनीय हैं? मिलान करनेसे भाव भी स्पष्ट हो जायँगे। भाव वहाँ पाठक देख लें। मिलान—

सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धर्म बिषय लयलीना॥	**१ धन्य सो द्विज निज धर्म न टरई।**
सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना॥	**२ धन्य सो भूप नीति जो करई।**
सोचिय बयसु कृपिन धनवानू। जो न अतिथि सिव भगति सुजानू॥	**३ सो धन धन्य प्रथम गति जाकी**
सोचिय सूद्र बिप्र अवमानी……।	**४ धन्य जनम द्विज भगति अभंगा**
सोचिय पुनि पतिबंचक नारी……।	**५ धन्य नारि पतिब्रत अनुसरी**
पर अपकारी, पिशुन, अकारण क्रोधी। तनुपोषक निर्दय मातु पिता गुरु बंधु बिरोधी॥	**६ धन्य पुन्य रत मति सोइ पाकी**
सोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाँड़ि छल हरिजन होई॥	**७ जो छल छाँड़ि भजइ रघुबीरा। सो कुल धन्य……श्रीरघुबीर परायन**

दो०—सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीर परायन जेहि नर उपज बिनीत॥ १२७॥

अर्थ—हे उमा! सुनो वह कुल धन्य है, जगत्पूज्य है, परम पवित्र है जिसमें श्रीरघुवीरानुरागी विनम्र स्वभाववाला मनुष्य पैदा हो*॥ १२७॥

नोट—१ '*सो कुल धन्य जेहि……*' यथा—'*धन्य धन्य माता पिता धन्य पुत्रबर सोइ। तुलसी जो रामहि भजै जैसहु कैसहु होइ॥*'—(वैराग्यसन्दीपिनी)। इससे जनाया कि यहाँ वर्णाश्रमका कोई भेद वा विचार नहीं है। अधमाधम ही वर्ण क्यों न हो, यदि एक भी भगवत्-परायण भक्त उसमें उत्पन्न हो गया तो वह अन्य उच्च वर्णोंसे ही नहीं वरन् देवतादिसे भी पूजनीय हो जाता है और पावन है। इसमें यह भी जनाया कि कैसा ही उच्च कुल क्यों न हो, जगत्‌में, उसका यश ख्यात क्यों न हो तो भी भक्तिहीन होनेसे वह कुल न तो जगत्पूज्य है और न सुपुनीत ही है। यथा—'*तुलसी भगत सुपच भलो भजै रैनि दिन राम। ऊँचो कुल केहि काम को जहाँ न हरि को नाम॥*'(वै० सं० ३८) '*अति ऊँचे भूधरनि पर भुजंगन के अस्थान। तुलसी अति नीचे सुखद ऊख अन्न अरु पान॥*' ३९॥……*जदपि साधु सबही बिधि हीना। यद्यपि समता के न कुलीना॥ यह दिन रैनि नाम उच्चरै। वह नित मान अगिनि में जरै॥ ४१॥*'† पुनः भाव कि अन्य (ब्राह्मण, देवता इत्यादि) कुल पूज्य और पुनीत हैं और भक्तिपरायण प्राणीवाला नीच

* पं०—अर्थ है कि 'श्रीरामपरायण जो संत हैं उनमें जिस कुलके लोगोंको प्रीति और नम्रता उपजे वह कुल धन्य है'।

† 'एकाङ्गसङ्गिनी गङ्गा पावयेदखिलं जगत्। अङ्गप्रत्यङ्गसंव्यापि नाम किं कर्तुमक्षमम्॥' पुनश्च यथा—'कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा भाग्यवती च धन्या। स्वर्गे स्थिता ये पितरोऽपि धन्या येषां कुले वैष्णवनामधेयम्॥' (पद्मपु०)

कुल जगत्-पूज्य और सुपुनीत है। वे अपनेको ही पावन कर सकते हैं और यह जगत्को भी पावन करनेवाला है।-(करु०-विनीत अर्थात् आर्त्त और दीन)।

वि० त्रि०—(क) *'जगत पूज्य सुपुनीत'*—जगत्पूज्यता और पवित्रता कुलपर निर्भर नहीं करती, अच्छे और बुरेकी उत्पत्तिसे कुल पवित्र और अपवित्र होता है। यथा—*'उपजे जदपि पुलस्त्य कुल पावन अमल अनूप। तदपि महीसुर साप बस भये सकल अघ रूप॥'* (ख) *'श्रीरघुबीर परायन—'* भाव कि रामभक्त ही धर्मपरायण और कुलत्राता होता है। उसीसे कुलकी रक्षा होती है। यथा—*'पितर पार करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लै पार।'*, *'धन्य धन्य तैं धन्य बिभीषन। भयहु तात निसिचर कुल भूषन॥'* जो विनीत नहीं है वह श्रीरघुवीर-परायण भी नहीं है। रामपरायणताका प्रधान लक्षण विनय है। यथा—*'अहंकार की अगिनि में दहत सकल संसार। तुलसी बाँचे सन्तजन केवल सांति अधार॥ जहाँ साँति सतगुरु की दई। तहाँ क्रोध की जरि जरि गई॥'*

जिस भाँति गङ्गाजीके होनेसे 'देश' धन्य, पवित्रतासे 'स्त्री' धन्य, इसी भाँति श्रीरघुवीर-परायण विनीत पुरुषके उत्पन्न होनेसे 'कुल' धन्य होता है। जिस भाँति अपने धर्ममें अटल रहनेवाला ब्राह्मण जगत्पूज्य होता है, उसी भाँति वह कुल भी जगत्पूज्य है। जैसे दानसे धन, कर्मयोगसे बुद्धि, सत्सङ्गसे घड़ी और द्विज-भक्तिसे शूद्र पुनीत होता है, वैसे ही भक्तसे वह कुल पुनीत होता है।

शंकर भगवान्ने *'धन्य धन्य'* कहकर कथा प्रारम्भ किया था। यथा—*'धन्य धन्य गिरिराजकुमारी। तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी॥'* (१। ११२। ६) अब भी धन्य-धन्य कहकर कथा समाप्त करते हैं। प्रारम्भमें भी गङ्गाका उल्लेख था। यथा—*'पूछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा॥'* (१। ११२। ७) वैसे ही समाप्तिमें भी गङ्गाका उल्लेख हो रहा है—*'धन्य सो देस जहँ सुरसरी।'*

(कथाके अधिकारी)

मति अनुरूप कथा मैं भाषी। जद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी॥ १॥
तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तब* मैं रघुपति कथा सुनाई॥ २॥

अर्थ—मैंने अपनी बुद्धिके अनुसार कथा कही। यद्यपि मैंने पहले गुप्त कर रखी थी॥ १॥ जब मैंने तुम्हारे मनमें (कथापर) प्रीतिकी अधिकता देखी तब मैंने तुमको रघुनाथजीकी कथा सुनायी॥ २॥

नोट—१ *'मैं निज मति अनुसार कहउँ उमा सादर सुनहु।'* (बा० १२०) उपक्रम है और *'मति अनुरूप कथा मैं भाषी'* उपसंहार है।—(बा० १२० देखिये)। २—*'जद्यपि प्रथम गुप्त करि राखी'*, यथा—*'रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥'* (बा० ३५। ११) ☞इससे यह दिखाया कि यह कितना गोप्य पदार्थ है। सबके सामने इसका फेंकना उचित नहीं है।

वि० त्रि०—भगवान् शङ्कर रामभक्तिके भण्डारी हैं। इनकी कृपाके बिना न भगवद्भक्ति मिलती है, न भगवच्चरण और न भगवत्-कथा। यथा—*'संकर भजन बिना नर भगति न पावै मोरि।'* (४५) *'जे हर हृदय कमल महँ गोए।'*, *'पुनि रघुपतिपद पंकरुह हिय धरि पाइ प्रसाद'*, *'सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा'*, *'तेहि सन जागबलिक पुनि पावा'*, *'रामचरित सर गुप्त सुहावा। संभु प्रसाद तात मैं पावा॥'*

नोट—*'तव मन प्रीति देखि……'* यथा—*'जौं मोपर प्रसन्न सुख रासी।'* (१। १०८। १) से *'प्रश्न उमा के सहज सुहाई।'* (१११। ६) तब फिर, *'बोलीं गिरिजा बचन बर मनहुँ प्रेम रससानि।'* (बा० ११९) से *'उमा बचन सुनि परम बिनीता। राम कथापर प्रीति पुनीता॥'* (१२०। ८) *हिय हरषे कामारि तब संकर सहज सुजान॥'* (१२०) तक।

यह न कहिय† सठही हठसीलहिं। जो मन लाइ न सुन हरि लीलहिं॥ ३॥

---

* तव-रा० गु० द्वि०। तव-(का०)। तौं-(भा० दा०)।

† 'नहि कहिय सठहि'—(करु०)। 'कहीजे सठ'—(का०)।

कहिय न लोभहि क्रोधिहि कामिहिं। जो न भजइ सचराचर स्वामिहिं॥ ४॥
द्विज द्रोहिहिं न सुनाइअ कबहूँ। सुरपति सरिस होइ नृप तबहूँ*॥ ५॥

शब्दार्थ—सठ (शठ)=मन्द बुद्धि जो वचनोंको सुरस नहीं समझते। (पं०)।=जिसकी सुपथमें बुद्धिविद्यादि व्यय नहीं। (रा० प्र०)।=जो हानि पहुँचाते और मीठी बातें करके अपनी करनीको छिपाना चाहे, ऐसे कपटीको शठ कहते हैं। (वि० त्रि०)। **हठसीलहि**=हठ जिसका स्वभाव है। **दुराग्रही**।=हठी और कुशील (करु०)।

अर्थ—इसे शठसे, दुराग्रही हठी स्वभाववालेसे, जो हरिलीलाको मन लगाकर नहीं सुनते उनसे न कहना चाहिये॥ ३॥ लोभी, क्रोधी और कामीसे न कहे कि जो सचराचर स्वामी श्रीरामजीको नहीं भजते॥ ४॥ द्विजद्रोहीको, चाहे वह इन्द्रके समान राजा ही क्यों न हो तब भी, कभी न सुनाना चाहिये॥ ५॥

नोट—१ इन तीन अर्धालियोंमें अनधिकारीके लक्षण कहे। पार्वतीजीने भी अनधिकारी और अधिकारी कुछ गिनाये हैं—बा० ११० (१—३) *'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी।——'* देखिये। मिलान कीजिये—

'रामभगति जिन्हके उर नाहीं। कबहुँ न तात कहिय तिन्ह पाहीं॥' ११२ (१३)
अति खल जे बिषई बक कागा। एहि सर निकट न जाहिं अभागा॥ बा० ३८ (३)
तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे॥ ,, (५)

२—(क) लोभी=जिसका मन धन बटोरने और उसकी रक्षामें ही लगा रहता है, कथामें जानेपर भी मन उसका न लगेगा। क्रोधी=जो अपने जामेमें ही नहीं रहता। कामी होनेसे और भी दुर्गुण लोभ, क्रोध आप ही आ जाते हैं। (रा० प्र०)। लोभी, क्रोधी और कामी परधन, परद्रोह और परदाराका भजन करते हैं, नरकपथके पथिक हैं। ये दूसरे समाजके लोग हैं। इनके इष्टदेव मोह हैं। ये भी हरिकथा मनसे न सुनेंगे और उपद्रव उठावेंगे। यथा—*'तेहि बहु बिधि त्रासै देस निकासै जो कह बेद पुराना।'* (१। १८३) (वि० त्रि०)। ☞इनको सुनाना ऊसरमें बीज बोना है, यथा—*'क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥'* (ख) *'न भजइ सचराचर स्वामी'* में भाव कि चराचर नायकका भजन नहीं करता इससे वह चराचरमात्रका विरोधी जान पड़ता है। (करु०)

वि० त्रि०—*'सचराचर स्वामी'* इति। यहाँ नाम न देनेमें भाव यह है कि नामपर आग्रह नहीं है, चराचरके स्वामीके भजनपर आग्रह है; हम सचराचर-स्वामीको राम, रघुपति, हरि इत्यादि कहते हैं, दूसरे उनको यदि वासुदेव, महालक्ष्मी, सदाशिव कहते हों और भजन करते हों तो भी अधिकारी हैं। जो जीवका भजन करते हैं वे अधिकारी नहीं हैं।

नोट—३ 'द्विजद्रोही अधिकारी नहीं है, क्योंकि उसको प्रभुके वाक्य—कि द्विज मेरी मूर्ति हैं, पूज्य हैं—अच्छे न लगेंगे। प्रभु ब्रह्मण्यदेव हैं, यह उसे नहीं भाता। *'सुरपति सरिस'* अर्थात् संसारभरमें सबसे बढ़कर ऐश्वर्य भोग-विलासको भी जो प्राप्त हों। (प्र० सं०)। पुनः भाव कि उसके अधिकारका भय न करे अथवा कृपाका लोभ न करे। इन्द्रने सौ यज्ञ किये, सो उसके याज्ञिक होनेका भी कोई विचार न करे। (वि० त्रि०)।

नोट—यह अधिकारी-अनधिकारी-निर्णय कुछ-कुछ उससे मिलता है जो (भा० ११। २९) में श्रीउद्धवजीसे भगवान्ने कहा है—

१	१ ३
नैतत्त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च।	**यह न कहिय सठही हठसीलहि**
२ ३	२
अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम्॥ ३०॥	**जो मन लाइ न सुनु हरिलीलहि**
४ ५	४ ५ ४
एतैर्दोषैर्विहीनाय ब्रह्मण्याय प्रियाय च।	**गुरुपदप्रीति नीतिरत जेई**

* 'जबहूँ'—रा० गु० द्वि०।

५

साधवे शुचये ब्रूयाद्भक्तिः स्याच्छूद्रयोषिताम्॥ ३१॥ द्विजसेवक अधिकारी तेई। जिनके सत्संगति अति प्यारी

(अधिकारी)

रामकथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सतसंगति अति प्यारी॥ ६॥
गुर पद प्रीति नीति रत जेई। द्विजसेवक अधिकारी तेई॥ ७॥
ता कहँ यह बिसेष सुखदाई। जाहि प्रानप्रिय श्रीरघुराई॥ ८॥

अर्थ—रामकथाके वही लोग अधिकारी हैं जिनको सत्संगति अत्यन्त प्रिय है॥ ६॥ जो गुरु-चरणानुरागमें तत्पर हैं, नीतिमें तत्पर हैं और जो द्विजसेवक हैं वे ही अधिकारी हैं॥ ७॥ जिसको श्रीरघुनाथजी प्राणोंके समान प्रिय हैं। उसको तो यह बहुत ही सुख देनेवाली है॥ ८॥

वि० त्रि०—१ *'तेइ अधिकारी'* इति। तीन प्रकारके अधिकारी कहकर अब तीन प्रकारके अनधिकारी कहते हैं। अधिकारीके लिये ही विषय-निरूपण होता है, परंतु ग्रन्थका निर्माण होनेपर तो वह अधिकारी-अनधिकारी सबके हाथ पड़ता है। तथापि लाभ उससे अधिकारी ही उठा सकते हैं, अनधिकारी उससे लाभ उठानेमें सर्वथा असमर्थ रहते हैं। यथा—*'प्रभु पद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहिं कथा सुनि लागिहि फीकी। कबित रसिक न रामपद नेहू। तिन्ह कहँ सुखद हास रस एहू॥'*

२—गुरुपद-प्रीति होनेसे जाना गया कि वह परमार्थ-पथका पथिक है। गुरुपद-प्रेमी प्रभुको प्रिय है, यथा—*'गुरुपद पंकज सेवा तीसरि भगति अमान।'* (३। ३५) ......*'सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरें।'* (३। ३६। ७) नीतिरत भी प्रिय है, यथा—*'नीति बिरोध सोहाइ न मोही।'* जो नीतिरत होगा वह गुरुभक्त भी होगा, फिर भी दोनोंको पृथक्-पृथक् गिननेका कारण गुण-विशेषका प्राधान्य है, एकमें गुरु-भक्तिकी प्रधानता है, दूसरेमें नीति-निपुणताकी। द्विजसेवक भी प्रभुको प्रिय है, द्विजद्रोही नहीं। यथा—*'मोहि न सोहाइ ब्रह्मकुल द्रोही। मन क्रम बचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव। मोहि समेत बिरंचि सिव बस ताके सब देव॥'* (३। ३३)

३—परमार्थ-पथके पथिकको छोड़कर दूसरा द्विजसेवक नहीं हो सकता। अभिमानी कभी दरिद्र-दीन ब्राह्मणको बड़ा नहीं मान सकता, ऐसा करनेपर उसे ईश्वरके न्याय तथा समदर्शितामें दोष दिखायी पड़ने लगेगा। जो अभिमानरहित नहीं है वह शापत ताड़त परुषवक्ताको पूज्य कैसे मानेगा? जो ईश्वरको कर्म-फलदाता नहीं मानता वह शील-गुणहीन ब्राह्मणपर पूज्यदृष्टि कैसे रख सकेगा? अतः द्विज-सेवक ही इस कथाका अधिकारी है। द्विजसेवक रामभक्त होगा और विप्रद्रोहीके घर रावणकी डायरी निकलेगी। वह रावणके गुणोंपर मुग्ध होगा।

'बिसेषि सुखदाई' का भाव कि यह हास्यरूपसे तो खलको भी सुख देती है पर यथार्थरूपसे सज्जनोंको ही सुख देती है और जिसे श्रीरामजी प्राणप्रिय हैं, उसे यह विशेष सुख देती है। यथा—*'हरिहरपद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुबर की॥', 'श्रवनामृत जेहि कथा सोहाई। कही सो प्रगट होत किन भाई॥'*

पं० रा० व० श० १—*'ता कहँ'* यह एकवचन दिया, क्योंकि रामरूप और रामनामको परात्पर जाननेवाले बहुत नहीं हैं। ब्रह्मकी स्थिति दो प्रकारकी कही गयी है—एक तो यह कि वह अग्राह्य, व्यापक, अगोचर इत्यादि है; दूसरे त्रिपाद विभूतिमें स्थित। उपासक भी दो प्रकारके हैं। मुक्ति भी दो प्रकारकी है—एक तो यह कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवरूप होकर लीन हो जाय। दूसरी यह कि उपासनाभक्ति करके भगवान्‌के नित्य विभूतिमें सम्मिलित हो जाय—ये उपासक सदा कैंकर्य चाहते हैं, जैसा कि कपिलभगवान्‌ने मातासे कहा है। यथा—**'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥'**(भा० ३। २९। १३)

नोट—२ सत्संगके प्रेमी, गुरुपदप्रेमी, नीतिरत और द्विजसेवक बहुत होते हैं, और श्रीरघुनाथजी जिसको प्राणप्रिय हों ऐसा कोई-कोई ही होता है। अतः उनके साथ बहुवचन *'जिन्ह' 'जेई, तेई'* का प्रयोग किया और *'प्रानप्रिय श्रीरघुराई'* के साथ एकवचन *'जाहि'* कहा। मिलान कीजिये—

जो नहाइ चह एहि सर भाई। सो सत्संग करउ मन लाई॥ बा० ३९ (८)
सदा सुनहिं सादर नर नारी। तेइ सुर बर मानस अधिकारी॥ बा० ३८ (२)

अनधिकारी	अधिकारी
द्विजद्रोही	द्विजसेवक
'जो न भजइ सचराचरनायक'	*जाहि प्रानप्रिय श्रीरघुराई*
जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि	*सदा सुनहिं सादर नर नारी*

☞ यहाँ यह दिखाया कि यदि ये गुण हों तो वह अधिकारी है, यद्यपि और प्रकारसे शास्त्र उसे अधिकारी न कहता हो, यथा—*'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी॥'* (१। ११०। १) देखिये। (भा० १०। १३। ३) **'शृणुष्वावहितो राजन्नपि गुह्यं वदामि ते। ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत॥'** में श्रीशुकदेवजी भी कहते हैं कि मैं तुमसे गोप्य विषय कहता हूँ, क्योंकि स्नेही शिष्यसे गुरु गुह्य रहस्य भी कह देते हैं। *'बिसेष'* का भाव कि अपने इष्ट होनेसे उनके चरित्रमें इनको औरोंसे बहुत अधिक सुख मिलता है।

दो०—रामचरन रति जो चहै* अथवा पद निर्बान।
भाव सहित सो यह कथा करौ श्रवनपुट पान॥ १२८॥

अर्थ—जो श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें प्रेम चाहे अथवा निर्वाणपद (मोक्ष) चाहे वह इस कथा-(रूपी अमृत-) को भाव (प्रेम और श्रद्धा इत्यादि) सहित कानरूपी दोनेसे पिये॥ १२८॥

नोट—१ श्रवणपुटपान—*'श्रवनपुटन्हि मन पान करि।'* (५२) देखिये। 'भावसहित' बहुत बार आया है। २—भक्तलोग *'मुक्ति निरादरि भगति लुभाने'* अतः उनको 'रामपदमें रति' मिलती है, यथा—*'सगुनोपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं॥'* और जो मुक्तिके इच्छुक हैं उनको इसीसे मुक्ति मिलेगी। दो तरहके भक्त हैं, इसलिये दोनों प्रकारके फलकी प्राप्ति बतायी।

वि० त्रि०—(क) परम पुरुषार्थ दो हैं—प्रेमभक्ति और कैवल्यमुक्ति (निर्वाण)। पराभक्तिमें मुक्ति सुख बराबर रहता है पर भक्त मुक्त नहीं होता, उसे भजन ही प्रिय है, मुक्ति नहीं और कैवल्य मुक्तिमें साधक **'ब्रह्म'** ही हो जाता है, विन्दु सिंधु हो जाता है। (ख) यहाँ गोस्वामीजीने प्रयोजन और सम्बन्ध कहा। रामकथाके ये ही दो प्रयोजन हैं, या तो पराभक्ति या कैवल्य मुक्ति। विषय और प्रयोजनसे साधकसाध्यभाव सम्बन्ध है। साध्य है भक्ति और मुक्ति तथा इन दोनोंका साधक रामकथा है।

पं० श्रीकान्तशरणजी—भक्त चार प्रकारके होते हैं, वे सब रामचरणरतिके चाहनेवालोंमें ही हैं, ये भक्तिका कुछ फल नहीं चाहते, केवल प्रभुको ही चाहते हैं, अतएव देहावसानपर प्रभुहीको प्राप्त होते हैं, वहाँ सायुज्य मुक्तिके ही भोक्ता होकर रहते हैं, पर यहाँ उनकी फलपर दृष्टि नहीं रहती। दूसरे प्रकारके अधिकारी वे हैं जो योग आदि साधनोंके द्वारा कैवल्यपद चाहते हैं जिसे ज्ञानदीपकके प्रसंगमें कहा है। वे **'अहं ब्रह्मास्मि'** की वृत्तिसे निर्वाण-पद पाते हैं, वे राम-पद-प्रीति-रहित हैं, इससे उन्हें वहाँ भगवत्कैङ्कर्यका सौभाग्य नहीं प्राप्त होता। पुनः, और भी रामपद-प्रीतिरहित राक्षस लोगोंने राम-बाण आदिसे पापमुक्त होकर निर्वाण-पद पाया है।

कथाके सुननेसे पापरहित होकर एवं कैवल्य साधननिष्ठ होनेपर कैवल्यपद भी मिल सकता है। यथा—*'बिबेक पावक कहँ अरनी॥'* (बा० दो० ३१) कहा ही है। इसी तरह गीतामें भी कर्मयोग और सांख्ययोगके दो प्रकारके विधान हैं, उन्हें भी ये ही दो प्रकारकी मुक्तियाँ मिलती हैं—कर्मयोगीको रामचरणरति और सांख्ययोगीको कैवल्यपद।

नोट—२ श्रवण दोना (पात्र) हुआ। पात्रसे जल मुखमें आकर पेटमें जाता है; यही यहाँ सुनकर

* चह—(भा० द०)। चहै—(का०)।

हृदयमें धारणकर मनन करना है। [वीर—यहाँ निरंगरूपक है] मिलान कीजिये—

जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ बा० १५ (१०)

होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमलरहित सुमंगल भागी॥ ,, (११)

वि० त्रि०—(क) भावसहित अर्थात् मन लगाकर सुने जिसमें इस कथाकी छाप मनपर पड़े। छाप पड़नेसे ही प्रयोजनकी सिद्धि होगी, नहीं तो कथाश्रवणजन्य पुण्यमात्र होगा। (ख) *'श्रवनपुट पान'*—भाव कि कथा बड़ी है, एक घूँटमें नहीं पी जा सकेगी, इसलिये कानके दोने (प्याले) बनाकर स्वाद ले-लेकर कथामृतका पान करो।

रामकथा गिरिजा मैं बरनी। कलिमल समनि मनोमल हरनी॥ १॥
संसृतिरोग सजीवनमूरी। रामकथा गावहिं श्रुति सूरी*॥ २॥

शब्दार्थ—**सूरी** (सं० सूरिन्)—परमार्थज्ञाता विद्वान्, पण्डित, आचार्य।—(करु०)। **'धीमान् सूरि इत्यमरः।'**

अर्थ—हे गिरिजे! मैंने कलिमलकी नाश करने और मनके मलको हरनेवाली रामकथा वर्णन की॥ १॥ रामकथा भवरोग-(नाश करने-) के लिये संजीवनी जड़ी है ऐसा श्रुतियोंके निपुण पण्डित कहते हैं वा श्रुति और पण्डित इसे गाते हैं॥ २॥

नोट—१ *'सजीवनमूरी'* भवरोगको नाशकर मनुष्यको अमर करती है—१२२ (७) देखिये। २—*'कलिमल समनि——'* यथा—*'मंगल करनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।'* (बा० १२ छन्द) ३—शिवजी अपनी कथाकी इति यहाँ लगाते हैं। क्रमसे जो चार संवाद मानसकविने बालकाण्डमें कहे हैं उनकी इति वा उपसंहार इस काण्डमें क्रमसे देते हैं।

वि० त्रि०—*'रामकथा——'* इति। (क) जबतक विषयका निरूपणभर करना था तबतक तो इतिहास था। यथा—*'यह इतिहास पुनीत अति उमहि कही बृषकेतु।'* (१। १५२) *'यह इतिहास सकल जग जाना।'*; *'गिरिजा कहेउँ सो सब इतिहासा। मैं जेहि भाँति गयउँ खग पासा॥'* इत्यादि। वही इतिहास जब फलश्रुति, प्रयोजन, अधिकारी तथा सम्बन्ध-वर्णनसे संयुक्त हुआ तब उसकी संज्ञा कथा हो गयी। अतः कहते हैं कि *'रामकथा गिरिजा मैं बरनी।'* प्रश्न हुआ था—*'बरनहु रघुबर बिसद जस श्रुति सिद्धांत निचोरि।'* (१। १०९) उत्तर हो रहा है कि *'रामकथा गिरिजा मैं बरनी।'* (ख) समयकृत दोष जिसका प्रभाव सबपर पड़ता है उसे *'कलिमल'* से उपलक्षित किया और व्यक्तिगत अन्तःकरणके मलको *'मनोमल'* कहा। (ग) इस रामचरितमानस नामक भक्तिशास्त्रका हृदय अयोध्याकाण्ड है जिसमें भक्तोंके चौदह लक्षण वाल्मीकिजीने कहे हैं, जिनमें सम्पूर्ण रामायण अनुस्यूत है। अतः सम्पूर्ण रामचरितकी फलश्रुति शिवजी अयोध्याकाण्डकी फलश्रुतिके अनुकूल ही कह रहे हैं। *'कलिमल समन दमन मन राम सुजस सुखमूल। सादर सुनहिं जे तिन्ह पर राम रहहिं अनुकूल॥'* (३। ६) (यह उस काण्डकी फलश्रुति है जो अरण्यकाण्डमें दी गयी है)।

२—*'संसृतिरोग——'* इति। (क) चूर्ण, गोली (क्योंकि इसमें अनुपानकी आवश्यकता है, चूर्ण और अर्कमें अनुपान नहीं होता) और अर्क (क्योंकि श्रवणपुटसे पान करना कहा है) ये तीन प्रकारकी दवाएँ रामचरितमानसमें भवरोगके लिये लिखी हैं। यथा—*'अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुज परिवारू।'* (१। १। २) *'रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति रूरी॥'*, *'संसृतिरोग सजीवनमूरी।'*, (यह अर्क है क्योंकि इसीमें कहा है—*'करै श्रवन पुटपान'*) इससे भवरोग जाता है अतः सुखमूल है। (ख) वेदमें जो कुछ कहा गया है उसका साक्षात् या परम्परागत रामसे सम्बन्ध है, अतः वेदमें रामकथा ही है। यथा—*'जिन्हहिं न सपनेहु खेद बरनत रघुबर बिसद जस।'*

---

* वीरकवि—गुटकामें 'श्रुति सूरी' पाठ है। परंतु 'सूरी' शब्दका कोई अर्थ ही ठीक नहीं लगता जो प्रसंगमें अनुकूल पड़ता हो। सूरी फाँसीको कहते हैं। यहाँ रामकथा किसके लिये फाँसी है? क्या संसृति रोगोंके लिये? उनका रूपक शरीरधारियोंसे नहीं कहा गया है; अतः इस अर्थको आत्मा स्वीकार नहीं करती है। इसीसे 'भूरी' पाठ दिया।—(भूरी—का०)।

एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना॥ ३॥
अति हरिकृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ एहि मारग सोई॥ ४॥
मनकामना सिद्धि नर पावा। जे यह कथा कपट तजि गावा॥ ५॥
कहहिं सुनहिं* अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—केर=के। पाउँ (पाँव) देना=पैर रखना। पंथाना=मार्ग, रास्ते। अनुमोदन (सं०)=प्रसन्नताका प्रकाशक; खुश होना, समर्थन (श० सा०)। कहने-सुननेमें सहायता करना (वि० त्रि०)।

अर्थ—इसमें सुन्दर सात सोपान (सीढ़ियाँ) हैं। ये सब श्रीरघुनाथजीकी भक्तिके मार्ग हैं॥ ३॥ जिसपर अत्यन्त भगवत्कृपा होती है वही इस मार्गपर पैर देता (रखता) है॥ ४॥ जो यह कथा कपट छोड़कर गाते हैं वे मनुष्य मनोरथकी सिद्धि पाते हैं॥ ५॥ जो इसे कहते, सुनते, अनुमोदन करते हैं वे भवसागरको गौके खुरके (जलके) समान पार कर जाते हैं॥ ६॥

नोट—१ *'एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना।……', 'अति हरिकृपा जाहि पर होई।……'* इति।—ऐसा ही बालकाण्डमें कहा है। यथा—*'सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ग्यान नयन निरखत मनु माना॥'* (बा० २७। १) *'आवत एहि सर अति कठिनाई। रामकृपा बिनु आइ न जाई॥'* (बा० ३८। ६) *'जे श्रद्धा संबल रहित नहिं संतन्ह कर साथ। तिन्ह कहँ मानस अगम अति जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ॥'* (बा० ३८)

२—श्रीरामसमीप पहुँचानेके लिये यह राजमार्ग है, शाहराह है, इसी भावसे इसको पन्थ अर्थात् मार्ग कहा, यथा—*'गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहि लागत राजडगरो सो'*—(वि० १७३) पुनः, यथा—*'मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई॥'* (बा० १३)।

३—प्रत्येक सोपानका नाम भी उस सोपानके अन्तमें ग्रन्थकारने स्वयं बता दिया है। कि० ३० की टिप्पणी २ देखिये।

वि० त्रि०—१ (क) *'सप्त सोपाना'* इति। गोस्वामीजीने रामचरितमानसको काण्डोंमें विभक्त न करके सोपानोंमें विभक्त किया। बाल आदि नाम सम्भवतः लोगोंने पीछेसे रख लिया। (ख) सब सोपान पृथक्-पृथक् भक्तिमार्ग हैं। यह अद्भुत सरोवर है। जिसमें प्रत्येक सोपानसे जलकी प्राप्ति होती है और प्रत्येक सोपानके जलके पृथक्-पृथक् गुण हैं, उसीको फलश्रुति कहते हैं। सातों सोपानोंके जलके गुण क्रमशः ये हैं—(१) *'तिन्ह कहँ सदा उछाह मंगलायतन रामजस'*, (२) *'सादर सुनहिं जे तिन्हपर राम रहहिं अनुकूल'*, (३) *'रामभगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग'*, (४) *'तिन्हके सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि'*, (५) *'सादर सुनहिं ते तरहिं भवसिंधु बिना जलजान'*, (६) *'बिजय बिबेक बिभूति नित तिन्हहिं देहिं भगवान्'* और (७) *'बिमल कथा हरिपददायनी। भगति होइ सुनि अनपायनी॥'* (५२। ५)

२—*'अति हरिकृपा……'* इति। (क) भक्तिशास्त्रमें सब कुछ हरिकृपापर ही अवलम्बित है। *'अति'* का भाव कि हरिकृपासे नर-शरीर मिला, विशेष कृपासे सत्सङ्ग मिला, रामकथा सुनी, पर उस कथामें जो सात रास्ते हैं, उन रास्तोंमें पाँव रखना हरिकी 'अति कृपा' से ही सम्भव है। (ख) *'पाउँ देइ'*—भाव कि कथा सुन लेना दूसरी बात है, परंतु तदनुसार बर्तना महादुष्कर है। बर्तनेकी ओर प्रवृत्ति ही नहीं होती।

३—*'मनकामना सिद्धि नर पावा।……'* इति। भाव कि मनःकामनाकी सिद्धिके लिये लोग संकल्पपूर्वक अनुष्ठान करते हैं, संकल्प न करनेसे अनुष्ठानका यथावत् फल नहीं होता। फिर अनुष्ठानके असंख्य कठिन नियम हैं। परंतु यहाँ दूसरी बात है, यहाँ कोई नियम नहीं। यहाँ तो किसी फलकी आकांक्षा न रखकर इस कथाका आनन्दमें विभोर होकर गानमात्र करनेसे मनःकामना आप-से-आप सिद्ध हो जाती है। बस,

* 'कहे सुने' (का०)। रा० प्र०—भाव यह है कि जो स्वयं कह नहीं सकते वे औरोंके कहनेसे सुनकर अनुमोदन करें तो वे अपार भवसागरको गोपद-सरीखे पार कर जायँ। अनुमोदनमें यह भी भाव है कि सुनकर प्रसन्न होते हैं और अघाते नहीं, यथा—'रामकथा जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥' 'कहहिं सुनहिं' पाठका भाव कि 'कहँ आपसे, सुनहिं आनसे।'

यही एक गुण अपेक्षित।—[वर्णाश्रमकी गन्ध, मान, बड़ाई, लोकरञ्जना आदि सब कामनाएँ 'कपट' हैं। (करु०)। १२७ (४) देखिये]

४—*'कहहिं सुनहिं……'* इति। भाव कि रामायणप्रतिपादित 'राम' को ब्रह्म जानकर उनकी कथा कहना, सुनना या कहने-सुननेमें सहायता करनेका यह फल है कि अनायास लोग भवसागर पार कर जाते हैं और जो ब्रह्मसे भिन्न मानकर कहते-सुनते हैं वे अधम हैं। यथा—*'कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।'* *'गोपद इव'* का भाव कि इनके लिये भवसिंधु बिलकुल सूखा-सा हो जाता है, वे उसे अनायास पार कर जाते हैं जैसे गौके खुरके गढ़ेको लाँघ लानेमें परिश्रम नहीं होता।

नोट—४ *'अनुमोदन'* में गीताके 'तुष्यन्ति च रमन्ति च।'(१०।९) का भाव भी आ जाता है। अर्थात् जो वक्तागण प्रभुके गुण-प्रवचनसे संतुष्ट हो जाते हैं और जो श्रोतागण उस असीम अतिशय प्रिय गुण-श्रवणसे परम आनन्द लाभ करते हैं वे भवसागरको अनायास तर जाते हैं।

रा० प्र०—कोई ऐसा कहते हैं कि कथाका माहात्म्य ग्रन्थमें कई ठौर लिखा है जैसे कि *'रामकथा सुरधेनु सम सेवत सब सुखदानि……'* फिर बा० ३१ (४) *'निज संदेह मोह भ्रमहरनी'* से दोहा ३२ तक, जन्म-समय, उपवीत, विवाह, भरतचरित्र इत्यादि अनेक स्थलोंपर माहात्म्य कहा गया। यहाँ जो कहा गया वह सबका सार है। [यहाँ प्रथम निदर्शना अलङ्कार है। *'गोपद इव……'* में पूर्णोपमा है]

सुनि सब कथा हृदय अति भाई। गिरिजा बोलीं गिरा सोहाई॥७॥
नाथ कृपा गत मम संदेहा। रामचरन उपजेउ नव नेहा॥८॥
दो०—मैं कृतकृत्य भयउँ अब तव प्रसाद बिस्वेस।
उपजी रामभगति दृढ़ बीते सकल कलेस॥१२९॥

अर्थ—(याज्ञवल्क्यजी कहते हैं कि) सब कथा सुनकर श्रीपार्वतीजीके हृदयमें वह बहुत अच्छी लगी और वे सुन्दर वाणी बोलीं॥७॥ हे नाथ! आपकी कृपासे मेरा संदेह जाता रहा और श्रीरामजीके चरणोंमें नया (अपूर्व) प्रेम उत्पन्न हुआ॥८॥ हे विश्वेश (जगत्के स्वामी)! आपके प्रसादसे मैं अब कृतकृत्य हुई, मुझमें दृढ़ रामभक्ति उत्पन्न हुई और मेरे समस्त क्लेश बीत गये॥१२९॥

नोट—शिवजीका कथन समाप्त हुआ। याज्ञवल्क्यजीने भरद्वाजजीसे यह संवाद कहा है; अतः अब वे उसकी इति लगाते हैं। *'सुनु सुभ कथा भवानि……।'* (बा० १२०) उपक्रम है, *'सुनि सब कथा……'* उपसंहार है। बीचमें शिव-पार्वती-संवाद है। अब पार्वतीजी अपनी कृतज्ञता प्रकट करती हैं। गरुड़जी और पार्वतीजीको समान ही संदेह थे, अतः दोनोंके अन्तिम वाक्य भी एक-से हैं, मिलानसे स्पष्ट हो जायगा। जो भाव एक जगह लिखे गये वे ही दूसरी जगह हैं—

श्रीगरुड़जी	श्रीपार्वतीजी
१२४ बोलेउ प्रेमसहित गिरा गरुड़ बिगत……	*१ गिरिजा बोलीं गिरा सुहाई १२९।७*
१२५ (१) मैं कृतकृत्य भयउँ तव बानी	*२ मैं कृतकृत्य भयउँ अब तव प्रसाद १२९*
,, *(२) रामचरन नूतन रति भई*	*३ रामचरन उपजेउ नवनेहा,*
,, *(२) मायाजनित बिपति सब गई*	*४ बीते सकल कलेस १२९*
,, *(९) तव प्रसाद सब संसय गएऊ*	*५ नाथ कृपा गत मम संदेहा १२९।८*

६—*'गएउ गरुड़ बैकुंठ तब।'* (१२५) क्योंकि वे वैकुण्ठमें रहते हैं और कथा नीलगिरिपर सुनी है। उमा-महेश्वर-संवाद कैलासपर ही हुआ है, यह *'सदा जहाँ सिव उमा निवासू'* (बा० १०५।८) में प्रसंगके प्रारम्भमें ही कह आये हैं, अतः इनका जाना न कहा गया।

☞ मिलानसे यह भी स्पष्ट कर दिया कि १—कथाके श्रवणका फल है—विगतसंदेह होना और श्रीरामपदमें अनुरक्ति होना। यदि ये न हुए तो विश्वास माने कि उसने कथा नहीं सुनी। २—*'गिरा*

सोहाई'=प्रेमसहित विगत-सन्देह सुन्दर वाणी। नवनेह=नूतन रति। क्लेश=मायाजनित सब विपत्ति (मोह, सन्देह इत्यादि)।—[करु०—अति भाई=अत्यन्त भावसे।] ३—रामचरणमें 'नूतन रति', तथा 'नवनेह' अब अन्तमें कहनेका तात्पर्य कि अब रामरहस्य और ज्ञानभक्ति-भेद दोनों सुन चुके हैं जिसका फल भुशुण्डिजीने यही कहा था कि—'*जो सुनि होइ रामपद प्रीति सदा अविछीन॥*' (११६) अत: उसके सुननेपर 'नूतन रति' कहा अर्थात् अब अविच्छिन्न प्रेम हो गया।

प्रारम्भमें पार्वतीजीने सम्बोधन किया था—'*विश्वनाथ मम नाथ (पुरारी)।*' यहाँसे उमा-महेश्वर-संवादका प्रसंग है, अत: उसका उपसंहार भी उन्हीं शब्दोंपर किया गया है—'*तव प्रसाद बिस्वेस*', '*नाथ कृपा गत संदेहा।*' उपक्रममें बारंबार कृपा करके कथा कहनेको कहा है और यह भी कि '*जासु भवन सुरतरु तर होई। सहि कि दरिद्रजनित दुख सोई॥*' इत्यादि; अत: अन्तमें '*तव प्रसाद*', '*नाथ कृपा*' से कृतकृत्य होना कहा।

वि० त्रि०—१ (क) '*हृदय अति भाई*'—गिरिजाजीके प्रश्न शंकरजीको अच्छे लगे थे, यथा—'*प्रश्न उमाके सहज सुहाई। छलबिहीन सुनि शिव मन भाई॥*' (१। १११। ६) इसी भाँति शंकरजीके उत्तर गिरिजाजीको भाये। पुन: भाव कि पहले उन्हें कथा नहीं भायी थी, (अगस्त्यजी कहते रहे, इन्होंने सुना ही नहीं, केवल शिवजी सुनते रहे थे। यथा—'*रामकथा मुनिबर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी॥*' (ख) '*सोहाई*' गिरा वही कहलाती है जो अच्छी लगे; अत: 'सोहाई' और 'भाई' का साथ रहता है। यथा—'*जामवंत के बचन सुहाए। सुनि हनुमान हृदय अति भाए॥*', '*आश्रम एक पुनीत सोहावा। देखि देवरिषि मन अति भावा॥*', '*तासु कनकमय सिखर सोहाए। चारि चारु मोरे मन भाए॥*' इत्यादि।

२ (क) '*मम संदेहा*'—'संदेह यह था कि '*जो नृपतनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि। देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥*' (१। १०८) वह संदेह जाता रहा, यथा—'*तुम्हरी कृपा कृपायतन अब कृतकृत्य न मोह। जानेउँ रामप्रताप प्रभु चिदानंदसंदोह॥*' (५२) (ख) '*नव नेहा*' का भाव कि नेह पहले भी था, यथा—'*तब कर अस बिमोह अब नाहीं। रामकथा पर रुचि मन माहीं॥*'; पर अब जो नेह है वह दूसरा है। नव=अपूर्व; यथा—'*ये दारिका परिचारिका करि पालबी करुना नई।*', '*बिगरी सुधारै कृपानिधि की कृपा नई।*' (ग) प्रभुमें नव नेह कहकर अस्मिताका दूर होना कहा, यथा—'*हित हमार सियपति सेवकाई।*'

३ (क) '*कृतकृत्य भयउँ अब*'—जबतक कोई कृत्य शेष रहता है तबतक कोई कृतकृत्य नहीं होता और जबतक राग-द्वेष है तबतक कृत्य भी नि:शेष नहीं होता। जगत्‌को राममय देखनेसे ही राग-द्वेषकी सम्यक् प्रकारसे हानि होती है; यथा—'*निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।*' अत: कृतकृत्य कहकर राग-द्वेषकी हानि कही। (ख) '*तव प्रसाद*'—प्रश्न किया था कि '*जौं मोपर प्रसन्न सुखरासी। जानिअ सत्य मोहि निज दासी। तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना॥*'; अत: समाधान सुनकर कहती हैं कि '*मैं कृतकृत्य भयउँ अब तव प्रसाद*......*।*' (ग) '*उपजी रामभगति दृढ़*' —भाव कि संशयका नाश होनेपर भक्तिमें दृढ़ता आयी। दृढ़ भक्तिवालेको देहकी ममता नहीं रह जाती; यथा—'*तुलसी मंगल मरन तरु रामप्रेममय सींचु।*'—इससे अभिनिवेशका नाश कहा। (घ) '*बीते सकल कलेस*—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशको क्लेश कहते हैं। यथा—'**अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।**' (योगसूत्र) ये पाँचों दूर हो गये (जैसा ऊपर दिखाया जा चुका है)।

यह सुभ संभु उमा संबादा। सुख संपादन समन बिषादा॥ १॥
भव भंजन गंजन संदेहा। जन रंजन सज्जन प्रिय एहा॥ २॥

अर्थ—(महर्षि याज्ञवल्क्यजी श्रीभरद्वाजजीसे कहते हैं कि) यह मङ्गलकारक शम्भु-उमा-संवाद, सुख प्रदान करनेवाला और दु:खोंका नाशक है॥ १॥ यह भवका भंजन करनेवाला, संदेहोंका नाश करनेवाला, भक्तोंको एवं प्राणीमात्रको आनन्द देनेवाला और सज्जनोंको प्रिय है॥ २॥

नोट—१ अब याज्ञवल्क्यजी शम्भु-उमा-संवादकी फल-श्रुति कहते हैं जैसे शिवजीने भुशुण्डि-गरुड़-संवादकी कही थी। १२६ (१—३) देखो। शम्भु-उमा-संवादके वक्ता वा श्रोताको कहीं आना-जाना नहीं

है, दोनों कैलासपर रहते हैं और वहीं संवाद हुआ; अतः याज्ञवल्क्यजी *'यह सुभ संभु उमा संबादा'* कहकर उस संवादकी इति लगाते हैं। संवाद समाप्त होते ही कहा है, अतः 'यह' कहा। २—*'कहौं सो मति अनुहारि अब उमा संभु संबाद।'* (१। ४७) उपक्रम है और *'यह सुभ संभु उमा संबादा'* उपसंहार है। उपक्रममें इसका फल कहा था—*'सुनु मुनि मिटिहि बिषाद।'* (बा० ४७) और उपसंहारमें *'सुख संपादन समन बिषादा'* कहा।

वि० त्रि०—१ *'समन बिषादा'* इति। विषादयोग होनेपर ही हमारे यहाँ उपदेशकी विधि है। भगवद्गीतामें पहले ही 'अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः।' चलता है। यहाँ पहले उमाको विषाद हुआ। यथा—*'अस संसय मन भएउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥'* (और संशयमें ही तर्कसे विषाद होता है, यथा—*'संसय सर्प ग्रसन उरगादः। समन सुकर्कस तर्क बिषादः॥'*) फिर गरुड़को विषाद हुआ; यथा—*'बंधन काटि गएउ उरगादा। उपजा हृदय प्रचंड बिषादा॥'* तत्पश्चात् भरद्वाजको विषाद हुआ, यथा—*'कहौं सो मति अनुहारि अब उमा संभु संबाद। भएउ समय जेहि हेतु जेहि सुनि मुनि मिटिहि बिषाद॥'*—सो यह श्रीरामचरित तो विषाद मिटानेकी ओषधि ही है; अतः कहते हैं कि *'समन बिषादा।'* इसमें केवल विषादाभावात्मक सुख ही नहीं है बल्कि भावात्मक सुख भी है; यथा—*'मोह जलधि बोहित तुम्ह भए। मो कहँ नाथ बिबिध सुख दए॥'* संसारवृक्षके दो ही फल हैं—सुख और दुःख और 'दुःखका नाश तथा सुखकी प्राप्ति', इतना ही पुरुषार्थ है। उमा-शम्भु-संवादसे ये दोनों होते हैं।

२—*'भव भंजन······'* उमा-शम्भु-संवादके श्रवणमात्रसे 'भवभञ्जन हो जाता है, यह इस संवादकी विशेषता है। भक्तिलाभ भुशुण्डि-गरुड़-संवादकी विशेषता है, यथा—*'मुनि दुर्लभ हरि भगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास।'* सन्देहोंका नाश होना, हृदयका रामरंगमें रँग जाना (जनरञ्जन) और सज्जनोंको प्रिय होना ये गुण तो संवादोंमें हैं।

नोट—३ *'भव भंजन गंजन संदेहा।······'* , यही राम-कथाका फल कहा है, यथा—*'निज सन्देह मोह भ्रम हरनी। कहौं कथा भव सरिता तरनी॥'* *'बुध बिश्राम सकल जन रंजनि।'* बा० ३१(४-५), *'सज्जन कुमुद चकोरचित हित बिसेषि बड़ लाहु।'* (बा० ३२) संवादमें श्रीरामकथा है ही। इसके भाव बा० ३१ (४-५), बा० ३२ में देखिये।

करु०—*'सुख संपादन'* इति। भाव कि परमानन्दस्वरूपको तो उद्यत करता है और वर्णन *'करत संते'* (करनेमें) वह सुख सुकृती जीवोंको जना देता है, दिखा देता है और प्राप्त कर देता है।

राम उपासक जे जग माहीं। यह सम प्रिय तिन्हके कछु नाहीं॥ ३॥
रघुपति कृपा जथा मति गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा॥ ४॥

अर्थ—संसारमें जो रामोपासक हैं, उनको इसके समान प्रिय कुछ नहीं है॥ ३॥ श्रीरघुनाथजीकी कृपासे मैंने यह सुन्दर पवित्र चरित अपनी बुद्धिके अनुसार वर्णन किया॥ ४॥

पं०—जैसी मति श्रीरामचन्द्रजीने कृपा करके दी उसके अनुसार गायी।

नोट—१ यह भरद्वाजप्रति याज्ञवल्क्य-वाक्य हैं। अपने कथाकी इति वे यहाँ लगाते हैं। *'तात सुनहु सादर मन लाई। कहउँ राम कै कथा सुहाई॥'* (१। ४७। ५) उपक्रम है और *'······गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा॥'* उपसंहार है। २—*'पावन चरित'*, *'जथा मति'*, *'गावा'* और *'सुहावा'* के भाव पूर्व आ चुके हैं।

राम उपासक

करु०—*'राम उपासक जे जग माहीं।'* इति। (क) उपासना, यथा—'गुरुमन्त्रानुसारेण लयं ध्यानं जपं तथा। पाठं तीर्थं च संस्कारमिष्टं सर्वपरात्परम्॥ **इष्टपूजां प्रकुर्याद्वै तत्कथां शृणुयात् पठेत्। तदंशव्यापकं विश्वं कथ्यते साप्युपासना॥ न विधिर्न निषेधश्च प्रेमयुक्तं रघूत्तमे। इन्द्रियाणामभावः स्यात्सोऽनन्योपासकः स्मृतः॥ ध्याने पाठे जपे होमे ज्ञाने योगे समाधिभिः। विनोपासनया मुक्तिर्नास्ति सत्यं ब्रवीमि ते। यैः कृतं भक्तिविज्ञानमनन्योपासनां विना। न प्राप्तिर्भगवद्रूपे** सत्यं सत्यं वदामि ते॥' (इति महारामायणे) (करु०)।

नोट—जन (भक्तों) और सज्जनोंके लिये ऊपर कह चुके अब सम्प्रदायविशेषको लक्ष्य करके कहते हैं। उपासकका देश पतिव्रताका-सा है। जैसे पतिव्रता अपने पतिसे ही अनुराग करती है और अपने पतिकी प्रसन्नता-हेतु पतिके मनके अनुकूल उसके सम्बन्धियोंको सामान्य रीतिसे मानती है, वैसे ही उपासक जन परमेश्वरके अनन्तस्वरूपोंमेंसे उस एक स्वरूपमें, जो गुरुसे प्राप्त हुआ है, रति मानते हैं और अपर स्वरूपोंको अंश, कला वा विभूति मानते हैं। जैसे चातक एक स्वातिबूँदको छोड़ अपर मेघ (आदिके) जलको मानता ही नहीं। उन्हीं रामोपासकोंसे यहाँ तात्पर्य है। ऐसे उपासकोंको इसके समान दूसरा कुछ प्रिय नहीं है। (ख) 'क्यों दूसरा ग्रन्थ प्रिय नहीं होगा?', उसका कारण यह है कि इसमें श्रीरामचन्द्रजीका स्वरूप, किशोरमूर्ति, द्विभुज, अखण्ड एकरस, सर्वोपरि, निर्विशेष परब्रह्मविग्रहशेष सच्चिदानन्द चिन्मय सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापक, सर्वशरण्यत्व-कृपा-करुणा-शील इत्यादि विशेषणयुक्त—श्रीब्रह्मा-शिव-वाल्मीकि-सनकादिक इत्यादिने बताया है उन्हीं श्रीरामचन्द्रजीका प्रतिपादक यह ग्रन्थ है, श्रीरामचन्द्र प्रतिपाद्य हैं।

☞रामोपासक वह हैं जिनको द्विभुज शरचापधारी रघुकुलभूषण राम छोड़ स्वप्नमें भी दूसरे स्वरूपकी शरण नहीं है, जिनके परात्पर परब्रह्म श्रुतिप्रतिपाद्य सर्वावतारी एवं सर्वस्व नित्य द्विभुज 'राम' ही हैं, जिनकी राम ही गति हैं, जो चराचरमात्रमें अपने राघव रामको ही देखते हैं; यथा—*'तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं'*, *'सरग नरक अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना॥', 'निज प्रभुमय देखहिं जगत……'*।

उपासनायोग्य वही है जो परात्परतरतत्त्व है, जिससे परे फिर कोई नहीं, जो अशेष-कारणका भी कारण है और स्वयं उसका कोई कारण नहीं है, जो सर्वावतारी है, इत्यादि-इत्यादि। श्रुतियोंमें विरोध-सा भासता है; पर बाबा हरिदासजीकृत भाष्य जो श्रीरामस्तवराज और श्रीरामतापनीयोपनिषद्पर है, उसमें उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया है कि श्रुतिप्रतिपाद्य परात्परतत्त्व द्विभुज राम ही हैं। गोस्वामीजीने भी अपने इष्टदेवको इसी स्वरूप और नामसे दिखाया और प्रतिपादन किया है। कोई भी नाम क्यों न हों, वे सब रामजीके ही हैं पर रामनाम मुख्य है और अन्य सब गौण (गुण वा क्रियावाचक) हैं।

इसी तरह श्रीमन्नारायणको परात्परतर माननेवाले नारायणोपासक, रुद्रको परात्परतर माननेवाले रुद्रोपासक, विष्णुको माननेवाले विष्णूपासक इत्यादि हुए। परात्परतरतत्त्व एक ही है, दो नहीं। अतः परात्परतरतत्त्व मानकर किसी भी नामसे उपासना करें तो वह परात्परको ही प्राप्त हो, क्योंकि वह चराचरमात्रमें उसी एक प्रभुको देख रहा है। भजन करते-करते वह समय आ जायगा कि प्रभु अपना वास्तविक स्वरूप उसको जना देंगे।

रामोपासकका भाव यह है कि जो अन्यके उपासक हैं वे इस ग्रन्थमें रामरूप, रामचरित इत्यादिमें कुतर्क करेंगे, जो रामको परात्परतर नहीं जानते उनको इस चरितमें आनन्द नहीं प्राप्त होगा। जिनको 'राम' इष्ट हैं उनको इसके समान कुछ भी प्रिय न होगा, क्योंकि इसमें सर्वत्र 'राम' ही भगवान् प्रतिपाद्य हैं, अन्य नहीं।

श्रुतियों-स्मृतियों-पुराणोंमें जो विरोध भास रहा है वह हमारी ही दुराग्रहका है। वस्तुतः वे सब एक परात्परतत्त्वको ही विभिन्न रूपोंमें वर्णन करके हमें स्पष्ट करके परमोच्च शिक्षा दे रहे हैं कि ये सब भगवान् उपास्य देव ही हैं, जिस स्वरूपमें तुम्हारी रुचि हो उसीको दृढ़ ग्रहण करो, उसी एकको परात्परतरतत्त्व समझो, अन्य सबको उसके रूपान्तर, अंशावतार, सेवक, अङ्ग इत्यादि मानकर एककी दृढ़ श्रद्धा-विश्वाससे उपासना करो। हमारा वही एक 'राम' ही तो सबमें रमण कर रहा है।

यही शिक्षा देनेके लिये श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजीका अवतार हुआ और उन्होंने यही किया भी। सर्व-श्रुतियोंका सारसिद्धान्त तथा जगद्गुरु भगवान् शंकरसे प्राप्त सिद्धान्त श्रीराम-द्विभुज-शार्ङ्गधर स्वरूपको ही उन्होंने हमारे सामने परात्परतत्त्व रूपसे खड़ा कर दिया है। उसीको वे निर्गुण, उसीको सगुण, उसीको विराट्, उसीको ज्योति, उसीको सबका नियन्ता, सबका प्रेरक, अशेषकारणपर इत्यादि दिखाया है और सब भगवत्स्वरूपोंको उन्हींसे उत्पन्न, उन्हींके अधीन, उन्हींके रूपान्तर इत्यादि बताये हैं और हमको उपदेश देते हैं कि शास्त्रोंके झगड़ेमें न पड़ो, जो हम कहते हैं वही ठीक मानो और उसीमें लग जाओ। राम नामको रटो, यही नाम सर्वोपरि है, रामरूप धनुर्धरको हृदयमें बसाओ, रामचरित गाओ और सुनो—बस, यही उपदेश ग्रन्थमें उनका सार-सिद्धान्त है—

'बहुमत सुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो।
गुरु कह्यो रामभजनु नीको मोहि लागत राज डगरो सो॥
तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिर पचि मरै मरो सो।
राम नाम बोहित भवसागर चाहै तरन तरो सो॥' (वि० १७३)

वै०—रामोपासकोंको इसके समान कुछ प्रिय नहीं है क्योंकि इससे उपासनाके सर्वाङ्ग दृढ़ हो जाते हैं।

वि० त्रि०—१ *'एहि सम प्रिय……'* का भाव कि यह देह और प्राणसे बढ़कर प्यारा है। क्योंकि *'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥'* पर श्रीरामजीसे प्यारा भी कोई नहीं है, यथा— *'राम देत नहिं बनै गोसाईं।'* इस तरह सूचित किया कि श्रीरामोपासकोंको राम-समान प्रिय है। यह कथा सबको सुखदाई है पर रामोपासकोंको विशेष सुखदाई है; यथा—*'ता कहँ यह बिसेषि सुखदाई। जाहि प्रानप्रिय श्रीरघुराई॥'* और जो जितना सुखदाई है वह उतना ही विशेष प्रिय है।

२—एक ही कथाके प्रति-संवादकी फलश्रुतिमें भेद होनेका कारण यह है कि प्रति-संवादमें भगवत्-चरित्र वही होनेपर भी भागवत-चरितोंमें न्यूनाधिक्य है। जैसे कि, उमा-शम्भु-संवादमें गरुड़जीकी कथा अधिक है, भरद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवादमें उमा-शम्भुचरित अधिक है और तुलसीकृतमें भरद्वाज-कथा अधिक है।

३—याज्ञवल्क्यजीका जाना नहीं कहा, क्योंकि वे वहीं रह गये। यथा—*'भरद्वाज राखे पद टेकी।'* नहीं जाने दिया। यहाँपर भरद्वाजजीका कृतज्ञता-प्रकाश भी नहीं लिखा, क्योंकि वे ऐसे प्रेममें मग्न हो गये थे कि उनके मुखसे वाणी ही नहीं निकली। शंकरचरित सुनकर ही उनकी यह अवस्था हुई थी कि *'प्रेम बिबस मुख आव न बानी।'* तबसे फिर बोले ही नहीं; कथा पूरी हो गयी पर बीचमें एक प्रश्न भी नहीं किया। बीच-बीचमें मुनि (याज्ञवल्क्य) जी बराबर सावधान करते रहे, पर वे कथामें ऐसे डूबे कि भगवान् याज्ञवल्क्यने भी *'काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा'* कहनेके बाद संबोधन करना भी बंद कर दिया। भरद्वाजजीकी समाहित अवस्था बढ़ती ही गयी अतः कृतज्ञता प्रकाश न कर सके। दक्षिण घाट समाप्त हुआ।

एहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जज्ञ जप तप ब्रत पूजा॥५॥
रामहि सुमिरिय गाइअ रामहि। संतत सुनिय राम गुन ग्रामहिं॥६॥

अर्थ—इस कलिकालमें योग, यज्ञ, जप, तप, व्रत और पूजन आदि दूसरा कोई साधन नहीं है॥५॥ श्रीरामहीका स्मरण, श्रीरामजीका ही यश-गान कीर्तन करना चाहिये तथा करो और श्रीरामजीके गुण-समूहको ही सदा सुनो—(यही एकमात्र कलिकालमें साधन है)॥६॥

नोट—१ (क) ☞ अब गोस्वामीजी अपने संवादकी इति लगाते हैं। यहाँसे अब उनके वाक्य हैं। (ख) *'न साधन दूजा'* का भाव कि अल्पायु, अल्पबुद्धि, अल्पबल, रोगी शरीर, अल्प धन इत्यादि, यज्ञ, योग, तप, व्रतके बाधक हैं। यज्ञके लिये सामग्री, ऋत्विज् जैसे चाहिये वैसे नहीं मिलते। जप और पूजा तथा योगमें मनकी एकाग्रता चाहिये सो भी कलिमें सम्भव नहीं अतः इनका साधन हो नहीं सकता। विशेष *'कलियुग जोग न जज्ञ न ज्ञाना। एक अधार रामगुनगाना॥'* (१०३।५) में देखिये। जपमें न्यास, प्राण-प्रतिष्ठा, अपनेमें मन-वचन-आचारकी शुद्धि इत्यादि करना वेदतन्त्रमें विधान है; सो अब हो नहीं सकता। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि **'प्रायेणाल्पायुषः सभ्य कलावस्मिन् युगे जनाः। मन्दाः सुमन्दमतयो मन्दभाग्या ह्युपद्रुताः॥'** (१।१।१०) **भूरीणि भूरिकर्माणि श्रोतव्यानि विभागशः।'** (११) पुनश्च—**'तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः। श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा॥'**(१। २। १४) अर्थात् इस कलियुगमें प्रायः समस्त प्राणी अल्पायु, मन्दबुद्धि, शिथिल स्वभाववाले, मन्दभाग्य और रोगी होते हैं। संसारमें विभागपूर्वक सुनने योग्य और नाना प्रकारके कर्मोंका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र बहुत हैं। और बड़े-बड़े यज्ञादि कर्म तो बहुत दिनोंमें करने योग्य हैं (अतः वे निबह नहीं सकते)। सूतजी कहते हैं कि सबका नित्य धर्म यही है कि एकाग्रचित्त होकर भगवान्के गुण सुनें, उनका कीर्तन, ध्यान और पूजन करें। [भाव कि कालके

प्रभावको अन्यथा करनेमें कोई समर्थ नहीं है, किसीकी शक्ति नहीं कि ग्रीष्म-ऋतुमें गर्मी न पड़ने दे, पर खसकी टट्टी, पंखा आदिसे अपनी रक्षा कर सकता है। सो गोस्वामीजी अपने मनसे कह रहे हैं कि इस समय घोर कलिकाल तप रहा है, यथा—'*सुनु ब्यालाद कराल कलिमल अवगुन आगार।*' खलमण्डलीमें रहते हुए धर्म निबहने नहीं पाता और जहाँ संसार-का-संसार पापी हो गया, वहाँ धर्म कैसे निबहेगा? यथा—'*खल मंडली बसहु दिन राती। सखा धर्म निबहै केहि भाँती॥*' (वि० त्रि०)]

२ '*रामहि सुमिरिय गाइय रामहि*......' का भाव कि—(क) ऐकान्तिक स्मरणमें मन लगता हो तो इन्हींका भजन-स्मरण करो, एकान्त वा समाजसहित कीर्तन अच्छा लगता हो तो श्रीरामजीका ही कीर्तन करो, सांसारिक राजाओं इत्यादिका नहीं, यदि गान-विद्यामें निपुण हो अथवा अच्छे वक्ता हो तो रामयशके गवैया एवं वक्ता भी बनो, कथा कहनेका शौक हो तो रामकथा ही कहो और सुननेका शौक हो तो रामयश ही सुनो, पर अपवाद वा राजाओं, रईसों तथा अन्य विषयरसकी कथाओंको न सुनो। पुनः (ख) एकान्तमें अकेले हो तो स्मरण करो, सज्जन सुशील अधिकारी श्रोता मिलें तो उनके साथ मिलकर कीर्तन करो, उनसे कथा कहो और यदि अच्छे वक्ताका समागम हो तो उनसे चरित सुनो—(पां०)। पुनः भाव कि रामनामका स्मरण करना चाहिये, मुखसे बोलना चाहिये, केवल मानसिक इस कालमें पर्याप्त नहीं है। यथा—'*रामनाम सिव सुमिरन लागे। जानेउ सती जगतपति जागे॥*' उससे मन थके तो गुणगान करना चाहिये। (वि० त्रि०) मिलान कीजिये—'*श्रवनन्हि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं*' (विनय १०४), '*पायो नाम चारु चिंतामनि उर कर ते न खसैहौं*' (विनय १०५)

करु०—चित्तकी वृत्तिमें सुमिरण करे।

खर्रा—मनसे रामगुणोंका स्मरण करे, मुखसे रामगुणगान करे और कानसे रामचन्द्रजीके गुण सुने। यहाँ मन, वचन और कर्म तीनों कहे।

वै०—जब दूसरा साधन है ही नहीं तब उचित कर्त्तव्य यही है कि '*रामहि सुमिरिय*......' '*संतत सुनिय राम गुन ग्रामहि*' सदा सुनिये। यदि वक्ता न मिले तो रामचरितको गाइये, अधिकारी श्रोताओंको सुनाइये। यदि अच्छे वक्ता, श्रोता न मिलें तो रघुनाथजीका सुमिरण कीजिये। भाव कि रामचरितका चिन्तन कीजिये, अकेले ही ग्रन्थका अवलोकन किया करिये। ऐसा क्यों करें? इसके लिये आगे कहते हैं कि '*जासु पतित पावन*......' ऐसे ही विरदवालेको भजनेसे काम चलेगा, अन्यसे नहीं।

जासु पतित पावन बड़ बाना। गावहिं कबि श्रुति संत पुराना॥७॥
ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजे गति केहि नहिं पाई॥८॥

अर्थ—'जिसका पतितोंको पवित्र करना बड़ा बाना है' कवि, श्रुति, संत और पुराण यही गाते हैं॥ ७॥ हे मन! कुटिलता छोड़कर उसे भज। रामभजन करके किसने सद्गति नहीं पायी? (अर्थात् सभीने पायी है)॥ ८॥

नोट—१ (क) '*पतित पावन बड़ बाना*'। भाव कि बाने तो बहुत हैं, यथा—'*मृषा न कहउँ मोर यह बाना।*' (१६।७) '*एक बानि करुनानिधान की। सो अनन्य जाके गति न आन की।*' (३।१०।८) पुनः, यथा—'*कोटि बिप्रबध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥*' (५।४४।१) 'अपि चेत्सुदुराचारो......' (सुं० दोहा ४३ (७) से ४४ तक देखो), '*दीनदयाल बिरदु संभारी।*' (५।२७।४) '*सहज बानि सेवक सुखदायक।*' (५।१४।५) '*उथपे थपन उजारि बसावन गई बहोरि बिरुद सदई है।*' (वि० १३९) '*बाँह पगार द्वार तेरें तें सभय न कबहूँ फिरि गए। तुलसी असरन सरन स्वामि के बिरद बिराजत नित नए।*' (गी० ५।३२) इत्यादि। पर यह बाना सबसे बड़ा है। (ख) '*गावहिं कबि श्रुति*......' इति। यथा—'*बिरद गरीबनिवाज राम को। गावत बेद पुरान संभु सुक प्रगट प्रभाउ नाम को॥*' (वि० ९९) '*दीनदुखदवन श्रीरमन करुनाभवन पतितपावन बिरद बेद गायो।*' (वि० १०६) (ग) [यहाँ कवि और संत आप्त हैं और श्रुति-पुराण आप्त-वाक्य हैं। अतः शब्दप्रमाणसे सिद्ध हुआ कि श्रीरामचन्द्रका बड़ा विरद पतितपावन है। कविकी कविताकी व्याख्या संत लोग किया करते हैं अतः दोनोंको कहा। पुराण वेदके कहे हुए अर्थका ही उपबृंहण (पोषण) करते हैं। अतः इन दोनोंको कहा। (वि० त्रि०)।]

२—गोस्वामीजीका संवाद अपने मनसे है—*'मोरे मन प्रबोध जेहि होई'*, *'स्वान्तःसुखाय'*, *'निज संदेह मोह भ्रम हरनी'*—यह बा० ३१ (२) उपक्रम है, अतः मनको उपदेश करते हुए वे कथाका उपसंहार करते हैं—*'ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई'* इत्यादि।

३ (क) *'कुटिलाई'*—भक्तिपथमें मनकी कुटिलता बाधक है। भगवान्‌ने श्रीमुखसे भक्तिमार्गमें चलनेवालोंके लिये इसका त्याग कहा है; यथा—*'सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥'* (४६। २) वैर, विग्रह, आशा-भरोसा (दूसरेका), भय, दुष्ट तर्क, असंतोष इत्यादि 'कुटिलताएँ' हैं [लोकमर्यादा (का भय) मनकी कुटिलता है। (करु०) मनके द्वारा जगन्मात्रको उपदेशमें 'गूढ़ोक्ति' है। (वीर)] (ख) *'राम भजे……'* का भाव कि तू भजन कर, तेरा इतना ही कर्तव्य है, गतिकी चिन्ता न कर वह तो वे देवेंगे ही।

छं०—पाई न केहि गति पतितपावन राम भजि सुनु सठ मना।
गनिका अजामिल ब्याध गीध गजादि खल तारे घना॥
आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे।
कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते॥ १॥

अर्थ—अरे शठ मन! पतितपावन रामको भजकर किसने गति नहीं पायी (कोई हो तो बता)? गणिका (पिंगला, कान्होयात्रा इत्यादि), अजामिल, व्याध, गृध्र (जटायु, संपाती इत्यादि) और गजादि अनेक खलसमूहको उन्होंने तार दिया। आभीर (जो समुद्रको दुःख दिया करते थे), यवन (जिसने हराम कहा था), किरात (निषाद भील), खस (खश देशवासी, खासिया पहाड़ी देशवासी), स्वपच (वाल्मीकि नामक इत्यादि) इत्यादि जो अत्यन्त पापकी मूर्ति ही हैं वे भी एक बार जिनका नाम लेकर पवित्र हो जाते हैं उन श्रीरामको मैं नमस्कार करता हूँ॥ १॥

वि० त्रि०—१ *'पाई न केहि गति…… सुनु सठ मना'* इति। चौपाइयाँ पुरइन हैं और छन्द-सोरठा-दोहा कमल हैं। यथा—*'पुरइनि सघन चारु चौपाई……छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहु रंग कमल कुल सोहा॥'* (१। ३७। ४-५) पुरइनमें कली लगती है, पीछेसे वही कली विकसित होकर फूल हो जाती है। यहाँ *'ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजे गति केहि नहिं पाई॥'* इस पुरइनमें कली लगी है, इसीका विकसित रूप छन्द है। *'मन……। राम भजे गति केहि नहिं पाई'* यह कलीका रूप है। मनको शठ कहते हैं क्योंकि यह अनुनय-विनय एक नहीं सुनता। उसीसे पूछते हैं कि तू किसी अधर्मीका नाम बता, जो भजन करनेपर भी परमपदका भागी न हुआ हो।

☞गोस्वामीजी दीनघाटके वक्ता हैं, अतः कथामें जहाँ दैन्य प्रधान है, वहाँ ये ही बोलते हैं। यथा—*'तुलसी न समरथ कोउ जो तरि सकै सरित सनेह की।'*, *'तुलसी देखि सुबेष भूलहिं मूढ़'* इत्यादि। यहाँ भी दैन्यका प्राधान्य है; अतः अपने श्रोता मनको सम्बोधन करते हैं! [☞पूर्व यह बताया जा चुका है कि जहाँ भक्तिका प्राधान्य है वहाँ भुशुण्डिजी और जहाँ कर्मका प्राधान्य है वहाँ याज्ञवल्क्यजीका वाक्य आता है।]

२ *'गनिका अजामिल……'* इति। पाँच खलोंकी नजीर (उदाहरण) दी जाती है, जो भजन करनेसे तर गये। गणिकाके अज्ञानकी कौन सीमा, जिसने क्षणिक सुखके लिये शतकोटि कल्पके दुःखपर ध्यान नहीं दिया; अजामिलकी अस्मिताका क्या अन्त, जिसने जन्मभर पाप ही कमाया और घोर संकटके समय भी परमेश्वरको न पुकारकर अपने लड़केको पुकारा। व्याधके रागका क्या ठिकाना जो कुटुम्बके रागमें पड़ा हुआ हिंसा ही करता रहा। गीधकी द्वेषयुक्त जीविका ही थी, यथा—*'गीध अधम खग आमिष भोगी।'* गजने अभिनिवेशके वश होकर ही भगवान्‌को पुकारा। अतः इन पाँचोंमें प्रधानतः अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेशका आधिक्य था। इसीलिये पाँच उदाहरण दिये गये।

३ *'आभीर जमन……'* इति। ये जातियाँ अघरूप हैं, इन योनियोंमें जन्म होना पूर्व पापका परिणाम है। इन योनियोंमें भी जो जन्म लेकर भगवान्‌को भजता है वह पवित्र हो जाता है।

[नोट—इनमेंसे बहुतोंकी कथाएँ पूर्व आ चुकी हैं। *'अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भये मुकुत हरिनाम प्रभाऊ॥'* (१। २६। ७) *'बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥ स्वपच सबर खस जमन जड़ पावँर कोल किरात। रामु कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात॥'* (२। १९४, ५। ६०। ५ देखिये)]

४ पतित दो प्रकारके हुए, एक जातिसे पतित और एक कर्मसे पतित। (गणिका, अजामिल आदि खल थे और आभीर, यवनादि अति अघरूप थे) दोनों प्रकारके पतितोंका उद्धार श्रीरामजीके भजनसे दिखाया।

नोट—ध्यानसे (व्याधसे) 'जरा', 'वाल्मीकि' तथा 'कपोतीको जिसने मारा था कि जिसने वर्षा-शीतादिसे उसकी रक्षा की थी, वाल्मीकीयमें विभीषण शरणागतिमें जिसकी कथा है' इत्यादि व्याधा यहाँ अभिप्रेत है।

'खस'—इस वंशका वर्णन महाभारत और राजतरंगिणीमें तथा मनुसंहितामें भी आया है। खश देश वर्तमान गढ़वाल और उसके उत्तरवर्त्ती प्रान्तका प्राचीन नाम है। इस जातिके वंशज नेपाल, और किस्तवाड़-(काश्मीर-) में अब भी इसी नामसे विख्यात हैं। (अ० १९४ में देखिये)

पं० श्रीकान्तशरणजी—*'गनिका……'* इति। मन यदि कहे कि 'मुझे बहुत कालसे दसों इन्द्रियोंके द्वारा मलिनता छा गयी है, यह कैसे शुद्ध होगी?' 'उसपर गणिका आदिकी गति दिखाते हैं। जैसे गणिकाका पृथ्वीके गुण्डोंका सङ्ग था, वह तोतेको नाम रटानेके संयोगसे तर गयी। वैसे जीवकी बुद्धि विषयोंके पीछे इन्द्रियदेवोंके साथ व्यभिचारिणी वेश्या हो गयी। हृदयमें एकाग्रता नहीं आती, तब मन्त्रार्थ एवं रूपपर वृत्ति रखे बिना नामजप करना तोतेको रटानेके समान है, जीभ ही तोता है, यथा—*'कीर ज्यों नाम रटै तुलसी……'*। जैसे तोतेको पढ़ाती हुई वेश्याकी और उस तोतेकी साथ ही मृत्यु हुई, दोनों तर गये, वैसे ही पूरी आयुतक नाम रटन करते हुए इस तरह जपसे भी मुक्ति हो जायगी, इसमें संदेह नहीं। वेश्यागामी अजामिल लिङ्गेन्द्रियका प्रमादी था। व्याध वाल्मीकिजी पूर्वावस्थामें हजारों ब्राह्मणोंकी हिंसा करनेवाले थे; हस्तेन्द्रियके प्रमादी थे। गृध्र जटायुजी पैरके प्रमादी थे, पक्षियोंमें पक्ष ही पैर है, उन्हींसे उड़कर उन्होंने सूर्यका अपमान करना चाहा था। गजेन्द्र मुखके प्रमादी थे, हाथीकी सूँड़ ही उसका मुख है, वह उसीसे वृक्षादि उखाड़नेका प्रमाद करता है। इस एक श्रेणीमें कर्मेन्द्रियके प्रमादी कहे गये।

म्लेच्छ यवन स्पर्श योग्य नहीं था, त्वचाका प्रमादी था। किरात नेत्रोंसे देखकर लोगोंके धन-वस्त्र आदि चुराते थे और हिंसा भी करते थे; अतः नेत्रके प्रमादी थे। खश जातिके लोगोंमें प्रसिद्ध भक्त नहीं पाया जाता। अतः क्रमानुसार इसे रसनाका प्रमादी जानना चाहिये। ऐसे ही आभीरोंको श्रवणका प्रमादी जानना चाहिये। श्वपच जाति नासिकाके मलिन होते हैं, श्वान, गीदड़ आदिको भी खाकर पचा जाते हैं, उसकी दुर्गन्धसे उन्हें वमन नहीं होता, इत्यादि इस श्रेणीमें ज्ञानेन्द्रियके प्रमादियोंको कहा है।

अब मनको दिखाते हैं कि देखा? क्या तेरे प्रत्येक इन्द्रियके द्वारा इन दसोंसे अधिक पाप हुए हैं? जब ये सब जैसे-तैसे नाम लेनेसे तर गये। तब तू क्यों नहीं तरेगा? अतएव श्रद्धा-विश्वासपूर्वक नाम जप, अवश्य कल्याण होगा।

नोट—१ *'कहि नाम बारक……'* इति यथा—*'बारक नाम जपत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥'* इससे दिखाया कि नाममें ऐसी महान् शक्ति है कि ऐसे पापरूप लोगोंके पापसमूहोंको तथा उनके पाप-संस्कारोंको भी भस्म कर देती हैं। पूर्व भी कहा है, *'बिबसहु जासु नाम नर कहहीं। जनम अनेक रचित अघ दहहीं॥ सादर सुमिरन जे नर करहीं। भवबारिधि गोपद इव तरहीं॥'* (१। ११९। ३-४) मनुष्यके शरीरमें तभीतक पाप ठहरते हैं जबतक वह अपनी जिह्वासे श्रीरामनामका उच्चारण नहीं करता। यथा—'**तावत्पापं मनुष्याणामङ्गेषु नृप तिष्ठति। यावद्रामं रसनया न गृह्णाति सुदुर्मतिः॥**' (प० पु० पाताल० ३०। ५१), '**सर्ववेदेतिहासानां सारार्थोऽयमिति स्फुटम्। यद्रामरामस्मरणं क्रियते पापतारकम्॥ तावद् गर्जन्ति पापानि ब्रह्महत्यासमानि च। न यावत्प्रोच्यते नाम रामचन्द्र तव स्फुटम्॥ त्वन्नामगर्जनं श्रुत्वा महापातककुञ्जराः। पलायन्ते महाराज कुत्रचित्स्थानलिप्सया॥……तावत्पापभियः पुंसां कातराणां सुपापिनाम्। यावन्न वदते वाचा रामनाम मनोहरम्॥**' (प० पु० पाताल० ३७। ५१—५३, ५६) (अर्थात्) सभी वेदों और इतिहासोंका यह स्पष्ट सिद्धान्त है

कि रामनामका स्मरण पापोंसे उद्धार करनेवाला है। (श्रीआरण्यकमुनिने श्रीरघुनाथजीसे कहा कि) ब्रह्महत्या-जैसे पाप भी तभीतक गर्जना करते हैं जबतक आपके नामोंका स्पष्टरूपसे उच्चारण नहीं किया जाता। आपके नामोंकी गर्जना सुनकर महापातकरूपी गजराज कहीं छिपनेके लिये स्थान ढूँढ़ते हुए भाग खड़े होते हैं।......महापाप करनेके कारण कातर हृदयवाले पुरुषोंको तभीतक पापका भय बना रहता है जबतक वे अपनी जिह्वासे परम मनोहर रामनामका उच्चारण नहीं करते। रामनाम पापसमूहको इस तरह भस्म कर देता है जैसे अग्नि रूईके पर्वतको क्षणमात्रमें जला डालता है। यथा—*'जासु नाम पावक अघतूला'*, '**अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्। सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः॥**'(भा० ६। २। १८) इत्यादि। पूर्व भी बहुत प्रमाण यथास्थान दिये जा चुके हैं। भगवान्‌ने जीवोंके कल्याणके लिये अपने नाममें अपनेसे अधिक शक्ति स्थापित कर दी है। यथा—'**स्वयं नारायणो देवः स्वनाम्नि जगतां गुरुः। आत्मनोऽभ्यधिका शक्तिं स्थापयामास सुव्रताः॥**'(प० पु० स्वर्ग० ५०। २४)—ऐसे पतितपावनको गोस्वामीजी मङ्गलार्थ नमस्कार करते हैं।

☞'श्रुतियों, स्मृतियों, पुराणों सभीमें नामकी महिमा गायी गयी है। हम लोगोंको लाख-लाख नाम जपते देखते हैं और स्वयं जपते हैं, फिर भी जो फल सुननेमें आता है वह कहीं देख नहीं पड़ता, इससे हमको उसमें विश्वास नहीं होता।'—ऐसा बहुत-से श्रद्धालु नाम-जापकोंको कहते देखते हैं। इसका समाधान इस प्रकार हो सकता है कि हमको उसमें पूर्ण श्रद्धा और विश्वास नहीं है, इसीसे हमको उसमें जो फल हम अनुभव करना चाहते हैं वह नहीं देख पड़ता।—*'श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।'* और *'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा।'* हम श्रीमद्‌गोस्वामीजी, श्रीनामदेवजी, श्रीकबीरजी इत्यादिको अपने सामने आदर्श क्यों नहीं रखते? उनके समयमें भी तो नाममें विश्वास रखनेवाले कितने थे? पर इन महापुरुषोंने विश्वाससे उसी नाम-बलपर क्या नहीं कर दिखाया? आज भी श्रीअवधमें हमें श्री १०८ महाराज रामशरण मौनीजी इत्यादि श्रीरामनामकी ध्वजा फहराते दीख रहे हैं। और जो नामका प्रभाव यहाँ जङ्गलमें प्रत्यक्ष दीख रहा है उसे कौन नहीं जानता? भगवान् श्रीरूपकलाजीसे किसीने प्रश्न किया था उसपर उन्होंने भी विश्वासके विषयमें ये वचन कहे थे कि श्रीराम-नाम मुख्य है, विश्वास शून्यवत् है; पर वही विश्वास जब नामके साथ लग जाता है तब उसकी कीमत दसगुणा हो जाती है—*'रामनाम को अंक है सब साधन हैं सून। अंक गए कछु हाथ नहिं अंक रहे दसगून॥'* *

नाम-जपका फल यह तो अवश्य होगा कि जापकका कल्याण होगा, वह भवसागर पार हो जायगा, इसमें तो किञ्चित् संदेह है ही नहीं; पर यदि इससे प्रत्यक्ष लाभ देखना चाहते हैं तो इसमें श्रद्धा और विश्वास बढ़ाइये। फिर पूर्ण विश्वास होनेपर क्या नहीं हो सकता? शिवजी कालकूट पी लेते हैं, प्रह्लादजीकी रक्षा सब आपत्तियोंसे एक रामनाम ही कर लेता है, अगस्त्यजी श्रीरामनामके ही प्रभावसे समुद्र सोख लेते हैं। नाममें जैसे-जैसे विश्वास होगा तैसे-तैसे उसमें प्रेम भी बढ़ेगा, एक-एक नामके उच्चारणमें दशा यह होगी—*'पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। नाम जीह जपु लोचन नीरू॥'* सोते-जागते, उठते-बैठते नाम बिना कब चैन पड़ेगा? यह दशा हो जायगी।—*'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती', 'प्रीति बिना नहिं भक्ति दृढ़ाई।'* नाम-जपका प्रत्यक्ष फल अपनेमें न देख पड़नेका दूसरा कारण यह है कि हम नाम तो जपते हैं पर दस नामापराध जो पद्मपुराण इत्यादिमें बताये गये हैं, उनसे बचनेका प्रयत्न न करके नित्य प्रति उन अपराधोंको किया करते हैं। अपराधोंकी व्याख्या महात्मा श्रीहरिदासजी रसिकने अपने अप्रकाशित भाष्यमें बड़े विस्तारसे की है। श्रीकृष्णप्रेम भिखारीजी-(अंग्रेज वैरागी वैष्णव महात्मा) ने पिछली बार मुँगेरमें श्रीहरिनामयश-संकीर्तन-सम्मेलनके अवसरपर अपने व्याख्यानमें इनके विषयमें जो कहा था उसका सारांश हम यहाँ देते हैं—

'दस अपराध ये हैं—१ भागवत-निन्दा, २ हरि-हरमें भेदबुद्धि ३ गुरुमें मनुष्यबुद्धि, ४ श्रुति-स्मृति आदिकी निन्दा, ५ नाम-महिमाको अर्थवाद बतलाना, ६ नामकी कुव्याख्या, ७ नाम-बलपर पाप करना, ८ अन्य साधनको नामके तुल्य कहना, ९ श्रद्धाहीनको नामोपदेश करना और १० नाम-माहात्म्य सुनकर प्रसन्न न होना।'

इनमेंसे और सब तो लोग साधारणतया समझ सकते हैं। यहाँ केवल तीसरे और दसवेंपर कुछ लिखा

* ये महात्मा इस संस्करणके पूर्व ही साकेतवासी हो चुके हैं।

जाता है।—३— 'गुरु भगवान्की ही मूर्ति हैं, भगवान् ही हैं, जो किसी खास भक्तके लिये उसके अधिकारके अनुकूल ही खास रूप धारणकर उसका हित करते हैं, जितनेके हम अधिकारी होते हैं उतनी ही बुद्धि, उतनी ही योग्यताके अनुकूल हमारे भगवान् हमारे लिये गुरुरूप धारण करते हैं। उनमें शक्ति पूर्ण है, पर हममें उसकी योग्यता न होनेसे वह शक्ति प्रकट नहीं होती। वे मनुष्य नहीं हैं पर हम उनमें मनुष्य-बुद्धि रखते हैं, उनके उपदेशका तभीतक पालन करते हैं जबतक वह हमारे सिद्धांतके अनुकूल होता है।' श्रीकृष्णप्रेमीजी अपना अनुभव बतलाते थे कि—'कई बार ऐसा हुआ कि मेरे चित्तमें आया कि हमारे गुरु तो अंग्रेजी शिक्षा पाये नहीं हैं तब उनसे सांसारिक सम्बन्धी बातोंमें उपदेश लेना अथवा उस उपदेशपर चलना ठीक नहीं। उसका फल क्या हुआ? यही कि मुझे उन कामोंमें सफलता न हुई। और, जब-जब उनके बलपर कार्य किया तब-तब सफलता हुई। तबसे प्रत्येक कार्यमें चाहे वह भगवत्-सम्बन्धी हो, चाहे सांसारिक उनके ही उपदेशोंका अनुसरण करता हूँ। यह कहना भूल है कि आजकल वैसे गुरु नहीं देखनेमें आते जैसे शास्त्रों, इतिहासोंमें सुने जाते हैं; क्योंकि हमारी योग्यता, हमारे अधिकारके योग्य ही भगवान् गुरुरूपसे मिलेंगे। आलू काटनेके लिये छुरीकी ही जरूरत होती है, तलवारकी नहीं।'

गुरु आज भी वैसे ही हैं। यदि हम श्रद्धापूर्वक उनकी इच्छा करें तो मिलते ही हैं। हमारे हृदयमें मैल भरा है तब हम दूसरेको मलरहित कब देख सकते हैं?

१०—'दसवाँ अपराध किससे बचता है? विचारिये तो यदि हमारे सामने कोई हरिगुण वा हरिनामका सत्सङ्ग करता है तो थोड़ी देर बाद हमारा धैर्य जाता रहता है, हम कहते हैं कि अरे! यह तो बहुत सुना है, कब ये महात्मा समाप्त करें। सच्चे नाम-जापक या कथारसिक तो इनके सत्सङ्गमें दिन और रात जानते ही नहीं कि कब आये और कब गये।'

पं० श्रीकान्तशरण—ग्रन्थकारने इस छन्दमें अपने दैन्य (प्रपत्ति) घाटके अन्तर्गत कर्मकाण्डके फलकी प्राप्ति दिखायी है। पतितोंका पावन होना शुभ कर्मका फल है। तीनों घाटोंके वक्ताओंका आवाहन उन्होंने ही किया है, अतएव यहाँ कर्म घाटवाले याज्ञवल्क्यजीका मत प्रपत्तिके अन्तर्गत दिखाया। आगे छन्दमें अविद्या निवृत्तिसे ज्ञानका फल और फिर तीसरे छन्द *'सुन्दर सुजान……'* में स्वरूपका वर्णन एवं महत्त्व होनेसे उपासनाका सर्वस्व होना दिखावेंगे, क्योंकि शरणागतिमें काण्डत्रयकी व्यवस्था अनायास स्वयं हो जाती है। यथा—'**भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः। प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥ इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्त्या भक्तिर्विरक्तिर्भगवत्प्रबोधः। भवन्ति वै भागवतस्य राजंस्ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात्॥**'(भा० ११। २। ४२-४३) अर्थात् जैसे भोजन करते हुए प्रत्येक ग्रासपर क्रमशः तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति साथ ही होती जाती है, वैसे ही शरणागति करते हुए भक्ति, परेशानुभव (ज्ञान) और विधिवत्कर्मानुष्ठानका फल वैराग्य स्वतः होता जाता है।

नोट—*'पाई न केहि गति……कहि नाम बारक तेऽपि पावन होहिं राम नमामि ते।'* इति। श्रीमद्भागवतकी समाप्ति भी इसी प्रकार हुई। यथा—'**नामसंकीर्त्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्। प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥**'(१२। १३। २३) दोनोंने भगवान्के नामका महत्त्व कहते हुए उनको नमस्कार किया है।

रघुबंसभूषनचरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं॥

अर्थ—जो मनुष्य श्रीरघुवंशभूषणजीका यह चरित कहते हैं, सुनते हैं या गाते हैं, वे कलिमल और मनके मलको धोकर बिना परिश्रम ही रामधामको सीधे जाते हैं।*

---

* दशरथसुतजन्मकारणं यः पठति शृणोत्यनुमोदते द्विजेन्द्रः। व्रजति स भगवद् गृहातिथित्वं न हि शमनस्य भयं कुतश्चिदासीत्॥ (अद्भुतोत्तर रामायण ४-८०) अर्थात् जो पढ़ता, सुनता या अनुमोदन करता है। वह भगवद्धामका अतिथि होता है। उसे यमका भय कभी कहीं नहीं रहता।

नोट—*'रघुबंसभूषनचरित यह नर……'* इति। (क) श्रीरामजी रघुकुलभूषण हैं; यथा—*'परमातमा ब्रह्म नर रूपा। होइहि रघुकुल भूषन भूपा॥'* (४८। ८) *'निज दास ज्यों रघुबंसभूषन कबहुँ मम सुमिरन करयो॥'* (७। २ छन्द) *'जे नर'* कहकर जनाया कि कोई भी हो, किसी वर्ण या आश्रमका हो, अथवा चतुर्वर्णोंसे बाहरका हो, किसी भी जाति-पाँतिका हो, सबको रामचरितके कहने, सुनने और गानेका अधिकार है। यथा—*'जो सुनत गावत कहत समुझत परम पद नर पावई।'* (४। ३०), *'जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलि मल रहित सुमंगल भागी॥'* (१। १५। १०-११) (ख) कलिमल=कालकृत दोष। *'कलि केवल मलमूल मलीना'* है। मनोमल=व्यक्तिगत अन्तःकरणके दोष। कलिमें लोगोंका मन पापमें डूबा रहता है। श्रीरामचरितके कहने-सुनने आदिसे कालकृत दोष और मनोमल दोनों नष्ट हो जाते हैं; मन स्वच्छ हो जाता है, कलिके विकार नहीं रह जाते। कहने, सुनने, गानेमात्रसे ऐसा हो जाता है, रामधामकी प्राप्ति होती है; अतः कहा कि *'बिनु श्रम'*। कहने-सुनने-गाने-बजानेमें कौन श्रम! (ग) *'धोइ……सिधावहीं'* का भाव कि कलिमल और मनोमलके नष्ट हुए बिना राम-धामकी प्राप्ति नहीं होती। अतः चरित वह काम पहले ही कर देता है।

पं०—*'श्रीरामधाम……'*=श्रीरामस्वरूपको प्राप्त होंगे।—[पर यहाँ *'सिधावहीं'* क्रिया इस अर्थका निषेध करती है। इससे धामका 'लोक' ही अर्थ यहाँपर गृहीत है। श्रीरामधामके विषयमें दोहा ४ (४—८) और १५ (३-४) इत्यादिमें लेख आ चुके हैं। *'रघुबंसभूषन'* *'कहहिं सुनहिं गावहिं'* इत्यादि भी पूर्व आ चुके हैं]।

पं० श्रीकान्तशरणजी—'इस छन्दमें श्रीशिवजीके ज्ञानघाटका तात्पर्य आना दिखाते हैं, पहले चरितके द्वारा हृदयकी शुद्धि कहते हैं, साथ ही श्रीरामधामकी प्राप्ति भी अभी ही छन्दके पूर्वार्द्धमें कह देते हैं, हृदय-शुद्धिके पीछे अविद्यानिवृत्ति होनेपर परमधामकी प्राप्ति होती है; यथा—'**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते**।' (ईशा०) अर्थात् अविद्यावाच्यकर्मसे पाप शुद्धकर विद्यावाच्य ज्ञानोपासनासे मुक्ति होती है। अविद्यानिवृत्ति आगे उत्तरार्धमें कहेंगे, वही ज्ञानोपासनाका कार्य है। फिर वहाँ धामप्राप्ति न कहकर इसी पूर्वार्धके *'रामधाम सिधावहीं'* से तात्पर्य जनावेंगे। कलिमल और मनोमल छूटना निष्काम शुभकर्मका फल है, वह चरितसे कहा गया, क्योंकि '**धर्ममार्गं चरित्रेण**' (राम० ता० उ०) पूर्व भी कहा है—*'रामकथा गिरिजा मैं बरनी। कलिमल समनि मनोमल हरनी॥'* पुनः सम्पूर्ण चरितके पठन-पाठनसे जब कोई इस ग्रन्थका तात्पर्य समझकर उसे हृदयमें धारण करेगा, तब उसका अविद्याजनित विकार सदाके लिये नहीं रह जायगा, यही आगे *'सत पंच चौपाई……'* से कहते हैं।

सत पंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरे*।
दारुन अबिद्या पंचजनित बिकार श्रीरघुबर† हरे॥ २॥

अर्थ—जो मनुष्य *'सतपंच'* चौपाइयोंको मनोहर जानकर हृदयमें धारण करते हैं, करेंगे और जिन्होंने धारण किया है उनके दारुण पंचपर्वा अविद्याजनित विकारोंको श्रीरघुबर रामचन्द्रजी हरण करते हैं, करेंगे और किया है॥ २॥

नोट—*'धरे' 'हरे'* में भूत भविष्यत् काल भी जना दिया है।

'सत पंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरे।' इति।

गौड़जी—सतपंचका अर्थ लोगोंने अनेक तरहसे किया है। परन्तु मेरा मत है कि यहाँ ग्रन्थकारने एक बहुत आवश्यक और प्रयोजनीय काम किया है। रामचरितमानस भगवान् शंकरका रचा ग्रन्थ है। गोस्वामीजीने इसे भाषा-पद्यमें इस ढंगपर लिखा है कि मूलकी कोई बात छूट न जाय और बाहरसे कोई बात निराधार और अप्रामाणिक जुड़ न जाय। जिस ग्रन्थकी फल-श्रुति—*'जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥'* (१। १५। १०), *होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमलरहित सुमंगल भागी॥'* (११), *सपनेहुँ साँचेहुँ मोहि पर जौं हर गौरि पसाउ।*

* 'धरहिं' 'हरहिं'-(गौड़जी)। † रघुपति—(पाठान्तर)।

तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ॥' (१५) आरम्भमें ही इस प्रकार दी गयी है, उसका महत्त्व किसी मन्त्र-शास्त्र या संहितासे कम नहीं है। इसलिये ग्रन्थकारको इस बातका पूरा खयाल है कि इसमें किसी तरहके क्षेपक न जोड़े जायँ। यह अन्तिम छन्द है, जहाँ मानसकारको ग्रन्थ संख्या देना जरूरी है। रामचरितमानस 'चौपाई रामायण' के नामसे प्रसिद्ध है और बात भी ऐसी ही है कि चौपाई-छन्द ही इस ग्रन्थमें प्रधान हैं। पाठकका जी ऊब न जाय इसीलिये बीच-बीचमें छन्द, सोरठा, दोहा इत्यादि देकर चौपाइयोंकी शोभा बढ़ायी गयी है। यथा—'*पुरइन सघन""सोहा*'। इसका प्रमाण यह भी है कि दोहों या सोरठोंमें अन्तमें जो संख्या लगायी गयी है वह चौपाइयोंके समूहकी संख्या है, दोहों या सोरठोंकी संख्या नहीं है। जैसे बालकाण्डमें १२० वें चौपाई-समूहके अन्तमें तीन सोरठे हैं, परंतु केवल अन्तिम सोरठेपर चौपाई समूहका अंकमात्र १२० दिया हुआ है जो कि समूहका अंक है सोरठोंका नहीं। चौपाई पुरइनके पत्ते हैं जो कि रामकी महिमारूपी जलको पूर्णतया ढके हुए हैं। अर्थात् रामयश इन्हीं चौपाइयोंके भीतर है। छन्द, सोरठा और दोहा तो कमलकी तरह निकले हुए हैं, ये शोभामात्रके लिये रंग-बिरंगे कमल हैं। ग्रन्थकार जब चौपाइयोंको ही इतना महत्त्व देता है तो अन्तमें चौपाइयोंकी ही संख्या वह दे दे तो ग्रन्थके पद्य-संख्याकी सीमा ऐसी बँध जाती है कि बाहरकी मिलावटका पता तुरंत लग सकता है। '**अङ्कानां वामतो गतिः**' के अनुसार '*सतपंच*' का अर्थ होता है-५१००। अर्थात् रामचरितमानसमें आदिसे अन्ततक कुल ५१०० चौपाइयाँ हैं।

इन चौपाइयोंकी गणना कैसे की जाय? छन्दःशास्त्रके पण्डित प्रत्येक छन्दके चार चरण मानते हैं। एक चौपाईके चार चरण तो उनके नामसे ही स्पष्ट हैं। परंतु रूढ़ि इस बातका समर्थन नहीं करती। मानसकारके पहले मलिक मुहम्मद जायसीने पद्मावत लिखा, यह भी चौपाईमय ग्रन्थ है। इसमें नियमसे चौदह चरण चौपाइयोंके देकर दोहा रखा गया है। यदि चार चरणोंका प्रमाण माना जाय तो जायसीने सर्वत्र साढ़े तीन चौपाइयाँ दी हैं। परंतु साढ़े तीनका कोई हिसाब नहीं है। यह तो स्पष्ट ही है कि जायसीने चौपाईको उसी तरह द्विपदी माना है। जैसे उर्दू, फारसीवाले 'बैत' को द्विपदी मानते हैं। गोस्वामीजीने दोनों परिपाटी रखी है। अयोध्याकाण्डमें आदिसे अन्ततक चार-चार चौपाइयोंके समूह हैं। इसका अपवाद कहीं नहीं है।* परंतु और काण्डोंमें ऐसे नियमका पालन नहीं किया है। किसी चौपाई पुञ्जमें ग्यारह द्विपदी हैं, किसीमें तेरह और किसीमें आठ, दस और बारह भी हैं। कहीं ऐसे बड़े पुञ्ज हैं कि उन्तीस द्विपदियाँ भी आ गयी हैं। अब चौपाइयोंकी गणना किस प्रकार की जाय? पण्डित महावीरप्रसादजी मालवीयने अपनी टीकामें छन्दःशास्त्रके नियमानुसार चार-चार चरणकी चौपाइयाँ गिनी हैं और विषम संख्यावाले पुञ्जकी बची हुई द्विपदीको अर्द्धाली माना है। इस तरह चौपाइयोंकी संख्या पाँच हजार एक सौ नहीं आती।

मालवीयजीकी गणना-पद्धति छन्दःशास्त्रके नियमसे तो ठीक है परंतु उन्होंने जायसी आदि पूर्व कवियों द्वारा स्थापित रूढ़िपर ध्यान नहीं दिया। मेरी समझमें जिस चौपाई पुञ्जमें द्विपदियोंकी विषम संख्या है उसमें द्विपदीको ही पूरी चौपाई मानना पड़ेगा। यदि पुञ्जमें तेरह द्विपदियाँ हैं तो उन्हें तेरह चौपाइयाँ गिनना पड़ेगा। परंतु यदि पुञ्जमें सम संख्या है तो चार-चार चरणोंकी एक-एक चौपाई गिनना उचित होगा। इस तरह जब हम सातों काण्डोंकी चौपाइयोंकी पूरी संख्या लेते हैं तो वह पाँच हजार एक सौ हो जाती है।

इसका सीधा-सादा अर्थ यह है—'पाँच हजार एक सौ मनोहर चौपाइयोंको जान ले। भाव यह है कि आदिसे अन्ततक रामचरितमानसके मनोहर भावोंको अच्छी तरह समझ ले, हृदयङ्गम कर ले, उनके मनोहर अर्थोंको जो मनुष्य (उर धरे) हृदयङ्गम कर ले उसके दारुण पञ्चपर्वा अविद्याजनित सारे विकार भगवान् हर लें। अर्थात् वह अपने स्वरूपको पहचान ले और प्रभुके चरणोंमें पहुँच जाय।'

* 'सत पंच चौपाई मनोहर जानि'*

नोट—रामायणी पण्डितोंने इसके अनेक प्रकारके अर्थ किये हैं जैसे कि—

---

* अपवाद कहीं-कहीं देखनेमें आता है। जैसे कि दोहा ८, ६४, १७३ में सात-सात अर्धालियाँ हैं। पर ऐसा बहुत कम है।

वि० टी०—शतपंच अर्थात् ५०० मनोहर चौपाइयोंको छाँटकर।

मा० म०—इस रामचरितमानसमें ५१०० चौपाईका होना सिद्ध है और छन्द, सोरठा, दोहा सब मिलकर ९९९० श्लोक हैं।

मा० शं०—रामायण सतपञ्च है, सच्चा पञ्च है। इसमें सत्यकी प्रशंसा और असत्यका खण्डन है। जैसे कि *'राज कि रहै नीति बिनु जाने। अघ कि रहै हरिचरित बखाने॥'* रामायणको सतपञ्च जानकर धारण करे, उसके वचनोंपर तत्पर हो जाय, अथवा ५१०० दण्डकपद रामायणमें हैं उनको धारण करे।

करु०—(क) *'गोसाईं'* तुलसीदासजी सातों काण्डोंके दोहा, चौपाई, छन्द समेटकर अनुष्टुप् श्लोककी गिनती कहते हैं। 'शत' अर्थात् शत लिखकर उसके वामदिशिमें फिर पाँचका अङ्क लिखे तो ५१०० होते हैं। एक चौपाई चार चरणकी होती है। एक-एक चरण सोलह मात्राका होता है। ऐसे चार चरणका एक चौपाई छन्द होता है। ५१०० छन्द इसमें हैं।

(ख) और अर्थ *'सतपंच'* शब्दोंको लेकर अपनी उक्तिसे करते हैं—*'सतपंच'* से तीन प्रकारके पञ्चोंका बोध होता है। एक तो सतपञ्च, दूसरे पञ्च, तीसरे असत् पञ्च। सत् पञ्च वे हैं जो पञ्च नियुक्त होनेपर चाहे अपना पुत्र-पिता-बन्धु-मित्र ही क्यों न हो और चाहे दूसरा शत्रु ही क्यों न हो, वे यथार्थ ही कहते हैं। पञ्च वह हैं जो समझकर तो कहते हैं पर अपने हित-मित्रादिके पक्षमें अधिक कहते हैं। और असत् पञ्च वे हैं जो सच्चेको झूठा और झूठेको सच्चा करते हैं।—यह दृष्टान्त हुआ। अब दार्ष्टान्त कहते हैं—ग्रन्थकर्ता और ग्रन्थके तीन प्रकार हैं। एक शुद्धसात्त्विक जहाँ केवल परमेश्वर रामचन्द्रजी प्रतिपाद्य हों और उनके आश्रय सात्त्विक देवता, कर्म-धर्म, वैराग्य-योग-ज्ञान-ध्यान-समाधि-भक्तिका शुद्ध वर्णन हो अर्थात् केवल परमेश्वरकी प्राप्ति-हेतु इनका वर्णन हो, ऐसा ग्रन्थ सतपञ्च है। जहाँ इन सत् पदार्थोंका वर्णन स्वर्गादिकी प्राप्तिके लिये है, वे राजस ग्रन्थ पञ्च हैं। और जिन् ग्रन्थोंमें तामसी देवताओंका आराधन साधन तथा अर्थ-धर्म-कामकी प्राप्तिका वर्णन है वह असत् पञ्च हैं।……

गोसाईंजी कहते हैं कि यह जो चौपाई छन्द प्रबन्ध ग्रन्थ मैंने किया है, यह सतपञ्च है, मनोहर है और सत्यवादी है। जीव और मनका जो झगड़ा अनादिकालसे चला आता है उसके चुकानेके लिये यह सतपञ्च है।

पं०—सतपञ्च=५००। मनोहरका भाव कि भगवद्यंशमिश्रित जो परमसुन्दर मैंने बनायी है। कलिवर्णन, रावण-दिग्विजय, गङ्गा, नारदका आगमन, विराधयुद्ध, कपिसंख्या इत्यादि कथाएँ क्षेपक मानकर इस ग्रन्थमें उनको अलग कर दिया है। इसी तरह और भी क्षेपक होंगी। अथवा, सतपञ्च=द्वादश। इत्यादि।

शीला—(१) सतपञ्च=सात पाँच, यह लोकोक्ति है, बोलचाल है। सात कहकर पाँच कहनेका भाव कि अविद्याके सप्तावरण हैं सो सात चौपाइयोंसे सातों आवरण टूट जायँगे, फिर पञ्च चौपाईसे पञ्चविकार श्रीरघुनाथजी हरेंगे। पुनः, (२) ७+५=१२। १२ ही राशिपर सारा जहान और सारे जीव हैं अतः १२ हीसे सबको मङ्गलकारी होंगे। १२ मासका वर्ष होता है, एक-एक माससे पातक हरनेको एक-ही-एक भी पर्याप्त है। इत्यादि। थोड़ेसे बहुत काम होनेमें चोखापन रहता है, *'बात बहुत काम थोड़ा'* में न्यूनता होती है। १०५ बहुत हैं, ऐसा अर्थ करनेमें बहुत-सी छटनीमें पड़ जाती हैं।—(रा० प०—सतपञ्च अर्थात् अल्प-से-अल्प)

पां०—गोसाईंजी अपने काव्यका माहात्म्य कहते हैं कि—(क) इसकी पाँच-सात मनोहर चौपाइयोंको जानकर जो हृदयमें धारण करते हैं उनके कामादि पंच विकार हरण होते हैं। पुनः, (ख) इस पदसे ग्रन्थकी संख्या लिखते हैं ५१०० ही चौपाइयाँ इसमें हैं। श्लोक, छन्द, दोहे और सोरठे इसके अतिरिक्त हैं। पुनः, (ग) सब चौपाइयाँ सच्चे पंच हैं, इनको जो मनोहर जानकर हृदयमें धरे……। पंच विवाद निबटाते हैं। ये पंचदेवोपासनावालोंके विवादके पंच हैं, जिसका जैसा माहात्म्य है उसका निर्णय करती हैं। इसमें शंका यह होती है कि पंच तो चौपाइयाँ ठहरीं तब पंचविकारको रघुनाथजी क्यों हरते हैं। समाधान यह है कि जो पंचवादी प्रतिवादीसे निर्मल हों तो निबटेरा करके राजसभामें भेज देते हैं और राजा उसीके अनुसार आज्ञा देता है। सो, इन चौपाइयोंके न्यायको रघुनाथजी अङ्गीकार (करके) वादियोंके आग्रह विकारको हर लेते हैं।

वीरकवि—चौपाइयोंपर सतपंचका आरोप और अविद्यामायाके सहायकोंपर असतपंचका आरोपण 'सम अभेदरूपक अलङ्कार' है। सतपंचोंके सहायक श्रीरघुनाथजी हैं, यह उनमें अधिकता है। सतपंच चौपाईके अर्थमें बड़ी धींगाधींगी लोगोंने मचा रखी है। कोई १०५, कोई ५०० और कोई ५१०० चौपाइयोंको सतपंच मानते हैं और शेष रामचरितमानसकी चौपाइयाँ उनके विचारसे असतपंच हैं। इसपर लोगोंने अनेक पुस्तकें लिख डाली हैं, यहाँतक इसकी समाप्ति नहीं हुई है। एक सज्जनने गोस्वामीजीके नामसे पुस्तिका लिखकर यही बात कही है। इस महाजालकी कोई हद नहीं है। उन महापुरुषोंको यह नहीं सूझ पड़ा कि जिस रामायणकी आदिसे अन्ततक स्थान-स्थानमें गोस्वामीजीने भूरि-भूरि प्रशंसा की है; फिर वे अपने मुखसे यह कैसे कहेंगे कि केवल ५०० चौपाइयाँ सतपञ्च हैं और बाकी 'असतपंच'। उनके कहनेका तात्पर्य तो यह है कि रामायणकी चौपाइयाँ सच्चे पंचके समान हैं और सच्चा फैसला देती हैं, इनकी सच्चाईकी सहायता करनेवाले रघुनाथजी हैं। जो इनके निर्णयको हृदयमें धारण करेंगे उनके हृदयसे अविद्याके असत्पंचोंकी धींगाधींगीका दोष रामचन्द्रजी मिटा देते हैं। जैसे लोकमें जो प्रतिष्ठित पंचोंके फैसलेको नहीं मानता उसको अदालत विवश करके मनवाती है। उसी प्रकार रामायणकी चौपाई रूपी सतपंच फैसलेको न मानकर विकार हृदयमें आना चाहेंगे तो बड़ी अदालतके हाकिम उन्हें रोक रखेंगे, आने नहीं देंगे।

रा०प०, रा० प० प०, रा० प्र०—सतपञ्च अर्थात् एक दो भी, अल्प-से-अल्प। यहाँ माहात्म्य कथनमें थोड़े कथनका मर्याद है।

नोट—इसी प्रकार कोई 'सतपंच' से ३५ का अर्थ करके इस काण्डमें भुशुण्डिद्वारा कही हुई मूलरामायणको ही अभिप्रेत समझते हैं, क्योंकि उसमें *'कहइ लाग रघुपति गुनगाहा'* से *'सुनि सब रामकथा खगनाहा॥'* तक ३५ अर्धालियाँ हैं। कोई इससे ५७ और कोई ७५ का अर्थ लेते हैं और अपनी-अपनी भावनानुकूल महानुभावोंने उस भावनाको गुप्त न रखकर छपा-छपाकर प्रकट किया है—ये नामपरत्वकी, ये रूपपरत्वपरक, ये ध्यानवर्णनवाली, ये स्तुतिवाली (इत्यादि)-ही १०५ , ५००, ३५, ५७ या ७५ 'सतपंच' चौपाइयाँ मनोहर हैं। जिसका आशय ध्वनिसे यही निकलता है कि अन्य मनोहर नहीं हैं।

श्रीस्वामी पं० रामवल्लभाशरणजीका मत है कि 'सतपंच' से पाँच-सात-(अर्थात् थोड़ी-बहुत कुछ भी-) का अर्थ सर्वोत्तम है। यहाँ ग्रन्थकार रामचरितमानसका माहात्म्य कहते हैं कि पाँच-सात (अर्थात् कुछ भी) चौपाइयोंको भी जो हृदयमें धारण करेंगे उनके भी मनोमल धो जायँगे। इसकी तो प्रायः प्रत्येक चौपाई रामनामके अक्षरोंसे युक्त है, अङ्कित है, पाँच-सातका यह फल है तब समग्रके धारणके फलका तो कहना ही क्या? वह तो अकथनीय है।

रामचरित तो अपार है—*'रामायन सतकोटि अपारा।'* तब यह समग्र ग्रन्थ उस अपारके सामने ५-७ चौपाइयोंके ही सदृश है। ५—७ बोल-चाल है। इससे कविने सारा ग्रन्थ सूचित किया है। अर्थात् यह थोड़ा बहुत जो कुछ मैंने कहा है इसे जो मनोहर जानकर हृदयमें धारण करें उनके कलिमल धुल जायँगे।' यह अर्थ भी संगत है पर महत्त्व अधिक श्री पं० रामवल्लभाशरणजीवालेमें है। बाबा हरिदासजीने जो कहा है कि बात थोड़ी और काम बहुत हो वह यथार्थ ही है।

अच्छे कवि अपने ग्रन्थकी संख्या अवश्य कहीं-न-कहीं गुप्तरूपसे दे देते हैं वैसे ही यहाँ माहात्म्य कहते समय 'सतपंच' से महाकविने ग्रन्थकी संख्या भी कर दी है। यह भी अनुमान विशेष ठीक समझ पड़ता है।

भगवान्के सभी चरित मनोहर हैं और यह काव्य तो 'शिवकृपा' से सुशोभित है। इसकी चौपाइयाँ साबर मन्त्र-सदृश फलप्रद हैं तब यह कहना कि अमुक ३५, ५७, ७५, १०५, ५०० चौपाइयाँ ही मनोहर है, कहाँतक ठीक हो सकता है, इसपर विचारवान् पाठक स्वयं विचार करें। क्या राम-रावण-समर-चरित, जिसके विषयमें कहा है कि—*'यह रावनारिचरित पावन रामपदरतिप्रद सदा। कामादि हर बिग्यान कर सुर सिद्ध मुनि गावहिं मुदा॥'* मनोहर नहीं है? नहीं है तो उसे सुर सिद्धादि क्यों प्रसन्नतासहित गान करते हैं और इस चरितके विषयमें शिवजी क्यों कहते कि *'हमहूँ उमा रहे तेहि संगा। देखत रामचरित रन रंगा॥'*

इसी तरह चित्रकूट, दण्डकारण्यमें श्रीसीता और लक्ष्मणजीसहित बसकर जो १३ वर्षके लगभग चरितवाली चौपाइयाँ, मारीचकी हार्दिक प्रीति, जटायु और शबरीकी अनुपम गति, यत्र-तत्रके श्रीवचनामृत, मगवासियों तथा गुप्त तापसके प्रेमकी कथाएँ, श्रीभरत और पुरवासियोंका प्रेमदर्शन, चित्रकूट-दरबार इत्यादि-इत्यादि प्रसंगोंकी चौपाइयाँ क्या मनोहर नहीं हैं? आपको कौन-सी अमनोहर लगती हैं? और-तो-और श्रीरामविलाप तथा श्रीरामप्रलाप ये दोनों भी मनकी कुटिलता दूर करनेवाले प्रसंग हैं, श्रीरामजीका तिलक सुनकर पछताना भी ऐसा ही कहा गया है—*'हरउ भगत मन की कुटिलाई।'* जो मनको हरण करके प्रभुमें लगा दे वही मनोहर है। मनकी कुटिलताको दूर करनेवाला प्रसंग इस प्रकार अवश्य ही मनोहर हुआ। सरकारी चरितमें उपदेश-ही-उपदेश तो भरा है तब ग्रन्थको छाँट डालना केवल कुछ इनी-गिनी चौपाइयोंको मनोहर कहना ठीक नहीं जान पड़ता। जिसको इस ग्रन्थकी इन इनी-गिनी चौपाइयोंमें ही प्रेम हो अन्यमें नहीं, वह कविके मतानुसार रामोपासक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे रामोपासकका लक्षण यह कहते हैं—

'राम उपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिन्ह के कछु नाहीं॥'

'एहि' का निर्देश ऊपर कथित वाक्यकी ओर है—*'यह सुभ संभु उमा संबादा।'*

☞अतएव मुख्य तात्पर्य तो यही विशेष संगत जान पड़ता है कि जैसे वाल्मीकि, भागवतकार आदिने उन ग्रन्थोंका माहात्म्य कहा है कि इसका एक श्लोक, आधा श्लोक या चौथाई ही श्लोक पाठ कर लेनेसे परम गति प्राप्त हो सकती है, क्योंकि इसका एक-एक अक्षर अनेक पातकोंका हरण करनेवाला है। यथा—**'श्लोकार्धं श्लोकपादं वा नित्यं भागवतोद्भवम्। पठस्व स्वमुखेनैव यदीच्छसि परां गतिम्॥'** (भा० माहात्म्य ३। ३३) **'गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पञ्च चतुष्टयम्। द्वित्रिएक हृदये वा श्लोकानां यः पठेन्नरः॥'**, **'एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्'**—(वाल्मी० माहात्म्य)।'

वैसे ही यहाँ श्रीमद्गोस्वामीजी इस ग्रन्थका माहात्म्य कहते हैं कि ५—७ भी चौपाइयोंका मनन-स्मरण करनेसे यह फल प्राप्त हो सकता है। (गीतामाहात्म्यमें भी 'सप्तपंच' पद आया है, यह भावकी पुष्टि भी करता है। और साथ-ही-साथ गुप्त रीतिसे संख्या भी कर दी गयी है जिसमें लोग मेल न कर दें। यही एक ढंग शुद्ध प्रतिकी खोजका है।

हाँ, अल्पवाचक पाँच-सातसे लोग चाहे १०५, चाहे ५००, चाहे १२, ३५, ५७, ७५ इत्यादि चाहे जितनी चौपाइयोंका पाठ करें तो हर्ज नहीं, जो उनको बहुत रुचिकर हों वही पाठके लिये चुन लें तो हर्ज नहीं, यह मानसकार उपासककी रुचिपर छोड़ते हैं। है तो सारा-का-सारा ग्रन्थ मनोहर, यहाँतक कि वनगमनतकके लिये कवि *'सुहावा'* विशेषण दे आये हैं—*'कहेउँ राम बन गवन सुहावा'* पर उसमेंसे पाँच-सातसे लेकर जितनी और जो जिसके भावानुकूल हों, जितनेकी जिसको प्यास हो, जितनेसे जिसकी तृप्ति हो जाय, जितना जिससे सधे वह उसीका पाठ कर सकता है। इसमें कोई आपत्ति नहीं, आपत्ति इसमें है कि वे हठ करते हैं कि बस हमारी चुनी हुई यही १०५, ३५ इत्यादि मनोहर हैं और इसीको कविने हृदयमें धारण करनेका उपदेश किया है।

यह वादियों-प्रतिवादियोंको स्मरण रहे कि गोस्वामीजीकी लेख-शैलीमें 'स' का ही प्रयोग 'श' के स्थानपर भी है। इस तरह 'सत' के तीनों अर्थ ग्रन्थमें प्रयुक्त हुए हैं—'सात, सौ, सत्य। जैसे कि—'सतसई' (=सप्तशती), *'जौं सत संकर करैं सहाई', 'सत हरिभजन.......।'*

एक महाशय लिखते हैं कि—*'सत पंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरै'*, इस पदमें श्रीग्रन्थकारने विशेष प्रेमी उपासकोंको दम्पतिके दिव्य स्वरूप-द्योतक ध्यानकी शतपञ्च चौपाईरूप गुह्यतम उपाय-विशेषका उपदेश दिया है। अर्थात् *'पाई न गति'* से यहाँतक दोनों छन्दोंमें नाम-लीला-रूपादि तीनोंका क्रमशः वर्णन किया है।', 'शतपञ्च चौपाईके नानार्थ तथा भेदपूर्ण अनेक संग्रह हो चुके हैं; किंतु यथार्थमें गोस्वामीजीकी मूल मुखोक्तिपर ठीक विचार कर लेनेपर एक अनूत्तम सिद्धान्त स्वतः ही हो जाता है। यह सिद्धान्त प्रमाण

तथा युक्तियोंसे भरपूर है, अचल है, अकाट्य है, शंका-समाधानसे रहित है।'……'वह है शतपञ्च चौपाईका निर्णय'। अस्तु, 'शतपञ्च चौपाईके विशेषण कितने हैं'? शतपञ्चका पूर्णांक विशेषण 'मनोहर' प्रथम विशेषण है। ज्ञातृत्वज्ञेय धर्मविशिष्ट *'जानि'* शब्द द्वितीय विशेषण है। कर्तृ अधिष्ठानार्थ पूर्ण *'जो नर उर धरै'* यह तृतीय विशेषण है। एवं फलश्रुति प्रधानार्थ पूर्ण *'दारुन अबिद्या पंचजनित बिकार श्रीरघुपति हरै'* यह चतुर्थ विशेषण है। इन चार विशेषणोंपर गम्भीर गवेषणा कर लेनेसे यथार्थ होने योग्य शतपंच चौपाइयाँ स्पष्ट व्यक्त हो जायँगी।

'शतपञ्च शब्दमें '**अङ्कानां वामतो गतिः**' लगा देनेसे पञ्च ५ तथा शत १०० सौ अर्थात् ५१०० चौपाइयाँ होंगी किंतु यह हो नहीं सकता क्योंकि 'कवितावली रामायण' के बालकाण्डमें श्रीगोस्वामीजीने लिखा है कि *'तुलसी तेहि अवसर लावणतादृश चारि नौ तीन इक्कीस सबै।'* यहाँपर यदि **अङ्कानां वामतोऽगतिः** लगा दी जाय तो अर्थका अनर्थ ही हो जायगा। इसी प्रकार 'शतपञ्च' शब्दमें भी वामाङ्कगति लगानेसे अनर्थ होगा। श्रीगोस्वामीजीके ग्रन्थमें वामाङ्कगति लगानेका अवकाश ही नहीं है। यदि कहो कि शतपञ्चसे ५०० चौपाइयाँ ही क्यों न ली जायँ तो यह कथन भी असंगत है क्योंकि शास्त्रोंमें संख्या गणनाकी प्रथा ऐसी है ही नहीं, यदि पाँच सौ कहना होगा तो शतपञ्च न कहकर पञ्चशत ही कहेंगे, जैसे अष्टोत्तर-शत……इत्यादि क्रम शास्त्रविहित है। अतः शतपञ्चसे १०५ ही चौपाइयोंका ग्रहण होना निर्भ्रान्त निश्चित है।……'

'अब यह प्रश्न उठता है कि ये १०५ चौपाइयाँ किस विषयकी होनी चाहिये? इस विषयमें विशेष्य-विशेषणपर ध्यान देनेसे पता लगता है। विशेषणके अर्थानुकूल विशेष्य होना ही शास्त्रनिर्णय है। विशेषण *'मनोहर'* है, अतः मनहरण करनेवाली प्राणधन जीवन प्यारेकी रूपसुधामाधुरीमय छबिछटाको सहजहीमें दर्शा देनेवाली सुन्दर मनोहर शतपञ्च चौपाइयाँ होनी चाहिये। और यह *'मनोहर'* शब्द शतपञ्च चौपाइयोंके कई स्थानोंमें व्यापक भी है, यथा—*'सहज मनोहर मूरति दोऊ', 'परम मनोहर चरित अपारा' 'नाभि मनोहर लेत जनु'*……इत्यादि।'……' ***सत पंच चौपाई मनोहर जानि*** ' अर्थात् मनमोहनी प्यारी छबिको शीघ्र ही हृदयमें प्रकट कर देनेवाली *'मनोहर'* १०५ चौपाइयाँ श्रीगुरु-उपदेशद्वारा, सम्यक् ज्ञानद्वारा लक्ष कर लेवे। जो नर *'उर धरै'* अर्थात् जो नर जान जाय तो उसको कण्ठ कर ले।

गौड़जी—कुछ लोग *'सत पंच'* का अर्थ 'सच्चे' या 'सात्त्विक' पंच करते हैं। भाव यह है कि इस ग्रन्थकी मनोहर चौपाइयाँ सात्त्विक या सच्चे पञ्चका काम देती हैं। सच्चा फैसला करती हैं और दारुण 'पञ्च पर्वा' अविद्याके बन्धनमें फँसे जीवको रिहाईका हुक्म देती हैं।'—यह भाव बड़ा अच्छा है परंतु खेद यह है कि पञ्चका रूपक चौपाइयोंके साथ सुसङ्गत नहीं बैठता। एक तो यहाँ पञ्चायतका कोई प्रसङ्ग नहीं है। दूसरे चौपाई शब्द स्त्रीलिङ्ग है और 'पञ्च' शब्द पुँल्लिङ्ग है। गोस्वामीजी-जैसे उद्भट विद्वान् और चतुर कलाकार कवि स्त्रीलिङ्ग उपमेयके लिये पुँल्लिङ्ग उपमान रख नहीं सकते और सो भी इतने बड़े महाकाव्यकी रचना करके जिसमें कि ऐसी भूल कहीं नहीं हुई है, यहाँ आकर करें और 'पतत प्रकर्ष' के दोषी हों। यह बात कोई टीकाकार स्वीकार नहीं कर सकता। इसलिये 'सच्चे पंच' वाला अर्थ कदापि ग्राह्य नहीं है।

कुछ लोग 'सत पञ्च' का अर्थ करते हैं 'बारह', कुछ पैंतीस, कुछ सत्तावन, कुछ 'एक सौ पाँच' और कुछ पाँच सौ भी अर्थ करते हैं। भुशुण्डिजीने जो संक्षिप्त कथा कही है वह पैंतीस अर्द्धालियोंमें है। कहनेवाले समझते हैं कि गोस्वामीजीका इशारा इसी संक्षिप्त कथाकी ओर है। परंतु इस विचारमें दोष यह है कि वह अंश इस छंदसे बहुत दूर पड़ गया है। यदि उसका माहात्म्य कहना था तो वहीं कह देते। यहाँ उसका कोई प्रसङ्ग नहीं है। इसलिये पैंतीस अर्थ करना ठीक नहीं है। 'सत्तावन, एक सौ पाँच, पाँच सौ और बारह' अर्थ करनेवाले कुछ चुनी हुई चौपाइयाँ बतलाकर यह कहते हैं कि इनको हृदयमें धारण करनेपर मुक्ति होती है। परंतु यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि गोस्वामीजीके रामचरितसम्बन्धमें यह कभी नहीं कह सकते कि इतनी ही कथा मनोहर है और शेष मनोहर नहीं है।

कुछ लोगोंका ऐसा कहना है कि मानसकारका यह भाव है कि कोई भी पाँच-सात चौपाइयाँ मनोहर समझकर हृदयमें धर ले। अर्थात् कण्ठ कर ले और उसपर मनन करता रहे, विचार करता रहे और तदनुसार

आचरण करे तो अविद्याजनित विकारोंसे मुक्त हो जायगा। यह अर्थ समीचीन है परंतु पाँच हजार चौपाइयोंमें पाँच-सात चौपाइयाँ कोई खास ऐसी जरूर हो सकती हैं जिनका हृदयमें इस प्रकार धारण कर लेना मुक्तिदायक हो सकता है, परंतु इसमें भी चुननेकी बात आ गयी। ग्रन्थकारका यदि यह अभिप्राय होता तो वह अवश्य ऐसे स्थलोंका निर्देश कर देता। इसलिये यह अर्थ भी ग्राह्य नहीं है।

नोट—उपर्युक्त सब लेख प्रथम संस्करणमें दिये गये थे। इधर जो और टीकाकारों आदिके लेख हैं वे अब उद्धृत किये जाते हैं—

वि० त्रि०—अन्तिम एक सौ पाँच चौपाइयोंको धारण करनेकी पृथक् फलश्रुति है। सम्पूर्ण ग्रन्थको धारण करनेमें जो असमर्थ हैं उनके लिये इसका विधान है। चौपाइयाँ भी मनोहर हैं, धारण करनेमें कोई असुविधा भी नहीं है। बात इतनी ही है कि तोतेकी तरह धारण न करें, जानकर (समझकर) धारण करनेसे ही कथित फल होगा।—वे १०५ चौपाइयाँ '*जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥ ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥*' (११५। १-२) से प्रारम्भ होकर '*जासु पतितपावन बड़ बाना। गावहि कबि श्रुति संत पुराना॥ ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई। राम भजें गति केहि नहिं पाई॥*' (१३०। ७-८) तक हैं।

श्रीबैजनाथजीने श्रीकरुणासिंधुजीके दिये हुए भावको विस्तारसे यों लिखा है—'.....जो सदा सत्य ही कहते हैं वे सत्पञ्च हैं। सो इस ग्रन्थमें मनोहर सुन्दर चौपाईमें सत्पंच वर्णन किये गये हैं। यथा—'*सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्मबिचार बिसारद॥ सब कर मत खगनायक एहा। करिब रामपद पंकज नेहा॥*' यहाँ मन और जीवमें विवाद है। मन संसारको सच्चा कहता है और जीव ईश्वरको। दोनोंमें पञ्चायत बदी गयी। मनने लोककर्ता (प्रवृत्तिमार्गके) शिव और ब्रह्माको पञ्च किया और जीवने संसारको वृथा करनेवाले (निवृत्तिमार्गके) शुक-सनकादिको अपना पञ्च वरण किया। दोनोंके सम्मतसे पञ्चोंने नारदको सरपञ्च बनाया। पाँचोंने मिलकर यह निर्णय दिया कि यद्यपि संसार असत्य है तो भी उत्पन्न तो ईश्वरकी ही इच्छासे हुआ है, अतः संसारमें बना रहे और परलोक साध ले। सर्वसम्मतिसे यह निश्चित करनेपर उपायपर विचार किया तो यह सिद्धान्त किया कि संसारमें परलोक साधनका एकमात्र यही उपाय है कि '*करिय रामपद पंकज नेहा।*' इसीसे ये पाँचों पञ्च सदा हरि-नाम-यशादिका श्रवण-कीर्तन करते रहते हैं। इत्यादि सत्पञ्चोंका मत समझकर '*जो नर उर धरे*' अर्थात् श्रीरामस्नेह होनेके लिये श्रीरामयश श्रवण-कीर्तन करेंगे। पुनः, ग्रन्थकी चौपाइयाँ ऊपरसे मनोहर हैं। अर्थात् इनके श्रवण-कीर्तन करनेमें ऐसा लालित्य है कि वह मनको हर लेता है। और अन्तर भावसे 'सतपञ्च' हैं अर्थात् वेद, लोक और साधुमत सम्मत लिये हुए जिसकी जैसी मर्यादा चाहिये उसको वैसा ही कहती हैं, किसीका पक्ष नहीं खींचती हैं। भाव कि यद्यपि मैं अनन्य रामोपासक हूँ, तथापि मैंने सूर्य, शक्ति, शिव, गणेश आदि देवताओंका भी प्रसंग जहाँ आया है वहाँ उन-उनका यथार्थ माहात्म्य वर्णन किया है। इसी तरह ग्रन्थभरमें सब यथार्थ ही कहा है। अतएव इसकी चौपाई 'सतपञ्च' है, यह जानकर अर्थात् इसको सद्ग्रन्थ मानकर; '*जो नर*' अर्थात् शैव, शाक्त, सौर, गाणपत्य आदि किसी भी मतका कोई भी पुरुष; '*उर धरे*' अर्थात् श्रवण-कीर्तनद्वारा हृदयमें धारण करे—उसके विषय-विकार सब श्रीरघुनाथजी हर लेते हैं; उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है।

सि० ति०—इस चौपाईके अर्थ लोगोंने बहुत प्रकारसे किये हैं, कोई सात-पाँचसे अल्पार्थ लेते हैं, पर उस अर्थमें '*जानि*' व्यर्थ हो जाता है।...५, १२, ३५, ५७, १०५, ५०० के चुननेसे शेषका अनादर होता है। अतः वैसा अर्थ करना अयोग्य है।

ऊपर '*रघुबंसभूषन चरित यह*.....' इस छन्दके पूर्वार्धमें सम्पूर्ण चरितका फल समष्टिमें कह दिया गया। यहाँ इस '*सतपंच चौपाई*' से ग्रन्थके अवान्तरकी एक खास बात कहते हैं; वह है—ग्रन्थका मुख्य तात्पर्य जिसके जाननेकी बड़ी आवश्यकता है, इसीसे '*जानि*' कहा गया है। उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद और उपपत्ति—ये छः तात्पर्य-निर्णयके साधन हैं।

उपक्रम—ग्रन्थकर्त्ता जिस उद्देश्यसे ग्रन्थ लिखता है, उसे आरम्भ करते हुए प्रकट करता है और उस उद्देश्यकी पूर्तिपर ग्रन्थको समास करता है। श्रीरामचरितमानसका प्रारम्भ (उपक्रम) ***'जनकसुता जग जननि जानकी।'*** (१। १८। ७) से हुआ है, क्योंकि इस ग्रन्थके प्रतिपाद्य श्रीसीतारामजी हैं, ये दोनों अभिन्न हैं, इनकी चर्चा यहींसे है। अत: उपक्रमकी चौपाई इससे पूर्व रखी गयी है; यथा—***'सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिबर बिग्यान बिसारद॥ प्रनवउँ सबहि धरनि धरि सीसा। करहु कृपा जन जानि मुनीसा॥'*** इसके पूर्व वन्दना ही है।

यह चौपाई वन्दना-क्रमसे भिन्न रखी गयी है, क्योंकि पूर्व व्यास आदि मुनि एवं वाल्मीकिजीकी वन्दना हो गयी, वहीं इसे भी रखना चाहता था। सब वन्दनाके पीछे—***'बंदउँ प्रथम भरतके चरना'*** से प्रारम्भ करके श्रीलक्ष्मणजी, श्रीशत्रुघ्नजी, श्रीहनुमान्‌जी, श्रीसुग्रीवजी, श्रीजाम्बवान्‌जी, श्रीविभीषणजी और श्रीअंगदादितक नित्य पार्षदोंकी वन्दना हुई। साथ ही ***'रघुपति चरन उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते॥ जे बिनु काम रामके चेरे।'*** से जो मुक्त होकर ***'बिनु काम'*** अर्थात् निष्काम भावसे नित्य पार्षदोंके साथ कैङ्कर्यनिष्ठ हैं उनकी भी वन्दना की, नहीं तो खग-मृग आदिके प्राकृत रूपोंमें ***'पद सरोज'*** पद असंगत है। यहींपर वन्दना पूरी हुई। अब इन सबके सेव्य श्रीसीतारामजीकी वन्दनाकी आवश्यकता हो सकती थी, पर बीचमें ***'सुक सनकादि'*** का वरण किया गया है। इसमें ***'भगत'*** शब्द दीपदेहली है; अर्थात् हे शुक-सनकादि भक्तमें और हे भक्त नारद मुनि और जो मुनिश्रेष्ठ विज्ञानमें विशारद हैं, मैं आप सबसे पृथिवीपर सिर धरकर प्रणाम एवं प्रार्थना करता हूँ कि मुझे अपना जन जानकर मुझपर कृपा करो, अर्थात् इस अपने जनके यहाँ आओ और आकर इस ग्रन्थमें विराजो।

प्रयोजन यह है कि यह ग्रन्थ निवृत्तिपरक है। अत: प्रवृत्तिकी ओरसे माया विरोध करेगी, तब पञ्चायत होगी ही। इसलिये अपने पक्ष-(मुमुक्षु जीव पक्ष-) के दो सत्पञ्च शुक-सनकादिका वरण किया, क्योंकि ये लोग प्रतिपक्षीके मेली नहीं हैं।……और तीसरे सत्यपञ्च श्रीनारदजी हैं, इन्हें सरपञ्चरूपमें वरण किया, क्योंकि इन्हें मुनि विशेषण अधिक भी दिया गया है, ये उभयपक्षके मान्य भी हैं, क्योंकि रावण-कंस आदिके यहाँ भी इनका सत्कार होता था और इधरके तो देवर्षि ही हैं। उभय पक्षके ज्ञाता भी हैं, यथा—***'अस कहि चले देवरिषि करत राम गुन गान। हरिमाया बल बरनत पुनि पुनि परम सुजान॥'*** तथा व्यास-वाल्मीकिके भी गुरु हैं।

यहाँ अपने पक्षके पञ्चों और सरपञ्चको भी ***'भगत'*** विशेषण देकर अपना तात्पर्य जनाया कि मैं भक्तिपरक ही विषय लिखूँगा। पुन: विज्ञान-विशारद मुनियोंको सदस्यरूपमें बैठाया कि जिससे मेरा भक्तिमत विज्ञानयुक्त ही हो। अत: आप विज्ञानपरक अनुमति देते रहें। ऐसे ही शुक आदि तीनोंसे भक्तिपरक सहायता चाहते हैं कि जिससे पञ्चायतमें मेरी हार नहीं हो! इस तरह उपक्रममें मुख्य तात्पर्य भक्तिकी सिद्धिका है, इतना प्रबन्ध करके ग्रन्थारम्भ किया।

उपसंहार—***'बिमल ग्यान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई॥'*** (१२१। ११) पर श्रीगरुड़जीके सातों प्रश्नोंके उत्तर पूरे हो गये। अन्तमें भक्तिका ही सिद्धान्त किया गया। आगे फिर कोई विषय नहीं है। बस, यहींपर पञ्चायत ठन पड़ी; यथा—***'सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद॥ सबकर मत खगनायक एहा। करिय रामपद पंकज नेहा॥'*** यही सत्पञ्चोंकी चौपाई है। यही उपसंहारकी चौपाई है। उपक्रमकी चौपाईकी पहली अर्धाली ***'सुक सनकादि……'*** में जो-जो शब्द थे प्राय: वे ही यहाँ भी आये हैं, केवल प्रथम ***'सिव अज'*** ये दो नाम अधिक हैं। जैसे मानसके प्रत्येक प्रसंगमें उपक्रम, उपसंहारके शब्दोंका मेल सर्वत्र है, वैसे ही यहाँ भी है। यहाँ पाँच पञ्चोंके नाम आये हैं। इनमें तीन उपक्रमोक्त ही हैं, जो (शिव-अजके) नाम प्रथम दिये गये हैं, क्योंकि ये मायाकी ओरसे प्रवृत्तिपक्षके सत्पञ्च हैं, माया मुद्दई (वादी) है, उसीकी ओरसे चैलेंज (ललकार) है। श्रीब्रह्माजी बुद्धिके देवता हैं और जीवोंके कर्मानुसार सृष्टिके विस्तारकर्त्ता हैं। श्रीशिवजी अहंकारके देवता हैं और कालानुसार संहारकर्ता हैं। दिन-रात एवं प्रलयरूप कालके नियन्ता सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि इनके (आश्रित) नेत्ररूप हैं। बुद्धिकी

कार्यावस्था त्रिधा अहंकार है, उसीसे सृष्टिका विस्तार होता है। कालसे गुण-वैषम्य होता है; यथा—'**कालाद् गुणव्यतिकरः।**' (भा० २। ५। २२) और प्रारब्ध कर्मसे स्वभाव निष्पन्न होता है। अतः काल, कर्म, गुण, स्वभावके नियन्ता ब्रह्मा-शिव ही हैं। यही चारों प्रवृत्तिके अंग हैं; यथा—'***फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल करम सुभाव गुन घेरा॥***' और प्रवृत्तिके विकाररूप हिरण्यकशिपु और रावण आदिके वर देनेवाले भी ये ही दोनों हैं। पर ये सत् पक्षके भी पूर्ण ज्ञाता हैं। अतः ये ही दो उस पक्षके सत्पञ्च हैं।

मायाके प्रवृत्ति पक्षमें पितावर्ग हैं और निवृत्तिपरक जीवके पक्षमें पुत्रवर्ग हैं। जैसे कि सनकादिके पिता श्रीब्रह्माजी हैं और शुकदेवजीके पिता श्रीव्यासजी हैं तथा साथ ही ये श्रीशिवजीके अंश भी हैं; यथा—'**यन्नामवैभवं श्रुत्वा शंकराच्छुकजन्मना। साक्षादीश्वरतां प्राप्तः पूजितोऽहं मुनीश्वरैः॥**' (शुकदेवसंहिता); '**व्यासपुत्रः शिवांशश्च शुकश्च ज्ञानिनां वरः।**' (ब्रह्मवैवर्त पू० अ० १०)। कर्मवश जीवोंका जन्म होता है और प्रवृत्ति बढ़ती है। वह कर्म मायाके पक्षमें है। अतः उधर पितापक्ष है। दिगम्बर और ज्ञानी श्रीशिवजीके प्रति वैसे ही दिगम्बर और ज्ञानी शुकदेवजी वाद करते हैं। श्रीब्रह्माजीके चारों मुखोंके प्रति उनके चारों पुत्र (सनकादि)। श्रीनारदजी ध्यान देते हुए विचारते जाते हैं और सदस्यरूप विज्ञान विशारद मुनि लोग भी सुन रहे हैं।

प्रवृत्तिपक्ष—मायाका व्यापार श्रीरामजीका खेल है; यथा—'***जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे।***', '**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।**' और यह अनादिकालसे है; यथा—'***बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।***' अतः यह भी किसी भाँति संतुष्ट रखी जाय।

निवृत्तिपक्ष—सच्चिदानन्दस्वरूप जीव ईश्वरका अंश है और अविनाशी है। '*अंश*' का अर्थ है भाग, हिस्सा। जो जिसका भाग होता है, वह उसके लिये होता है। अतः जीव ईश्वरके लिये है अर्थात् उसीका दास है। यह निज स्थितिसे पृथक् होकर मायावश नाना दुःख पाता है। इसका दुःख छूटना परम आवश्यक है।

इस तरह उभयपक्षके वादका बीजरूप कहा गया। वाद बहुत विस्तारसे हुआ; तब नारदजीने विचारा कि गोस्वामीजीके तात्पर्यसे दोनों पक्षोंका अविरोध है; यथा—'*तब रह राम भगति उर छाई।*' यह इनका अन्तिम सिद्धान्तवाक्य है। इसीसे दोनों पक्षवाले निर्विकार रहते हैं; यथा—'***सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई॥***', '*सुक सनकादि मुक्त बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ॥*' (वि० ८६) '***जीवन्मुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान।***' फिर वाद क्यों? इसके अन्तर्भावको मैं समझा दूँ तो अवश्य ही उभय पक्ष संतुष्ट हो जायँगे। ऐसा विचारकर आपने निर्णय किया—'***करिय रामपद पंकज नेहा।***' इसका भाव समझकर उभय पक्ष संतुष्ट हो गये। (भाव दोहा १२२ चौ० १३ में देखिये।)

इन्द्रियग्रामके साथ माया प्रसन्न हो गयी क्योंकि इसमें उसे '***जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं***' की विपत्ति अब नहीं होगी। जीवपक्ष भी प्रसन्न हो गया, क्योंकि वह इस पञ्चाङ्ग कमलके ध्यानसे भवसागरकी विपत्तिसे दूर हो जायगा, यथा—'***पाथोदगात सरोज मुख राजीव आयत लोचनं। नित नौमि राम कृपालु बाहु बिसाल भव भय मोचनं॥***' (आ०। ३२ छन्द)

निदान, ग्रन्थकारने अपना भक्ति-सिद्धान्त सत्पञ्चों एवं सदस्योंके द्वारा भी निश्चित पाकर आगे नव असम्भव दृष्टान्तोंसे इसे ही पुष्ट किया है; यथा—'***श्रुति पुरान सदग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥***' से '***बारि मथे घृत होइ बरु*** —।' (१२२) तक। बस, इसके आगे मानसके चारों घाटोंका विसर्जन हो गया, अतः उपक्रम और उपसंहारसे इस रामचरितमानस ग्रन्थका तात्पर्य '***करिय रामपद पंकज नेहा***' जाना गया। शेष अभ्यास आदि पाँचोंसे भी दिखाते हैं।

अभ्यास—ग्रन्थभरमें भक्तिहीका सर्वोपरि महत्त्व बार-बार वर्णित है। यथा—'***रामभगति जहँ सुरसरि धारा***',—'*सोह न राग प्रेम बिनु ज्ञानू*' इत्यादि।

अपूर्वता—जिसके समान फल-प्राप्ति प्रकारान्तरसे न हो सके। यथा—'*सुनु खगेस हरिभगति बिहाई। जो सुख चाहहिं आन उपाई॥ ते सठ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥*' (११५। ३-४)

फल—अनेक प्रकारसे जिसे फलरूपमें कहा गया हो। '*जहँ लगि साधन बेद बखानी। सबकर फल*

हरि भगति भवानी॥' (१२६। ७) *'जप तप नियम जोग निज धर्मा'* से *'सब साधन कर फल यह सुंदर।'* (४९। १—४) *'सब कर फल हरि भगति सुहाई।'* (१२०। १८) इत्यादि।

अर्थवाद—प्रशंसा-वचन। कवि अपने अभीष्टमतकी जहाँ-तहाँ प्रशंसा भी करता है और दृष्टान्तों एवं इतिहासोंसे भी उसे ही पुष्ट करता है।……इसी तरह एक लोमश-भुशुण्डि-शास्त्रार्थ भी है, जिसमें ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी महिमा अत्यन्त अधिक कही गयी है। तथा *'सब सुख खानि भगति तैं माँगी।'* (८५। ३) इत्यादि।

उपपत्ति—विपक्ष-मतका खण्डन करके स्वसिद्धान्तका मण्डन करना उपपत्ति है। भक्ति सेवक-सेव्य-भावमें होती है। रुक्ष ज्ञानमें '**अहं ब्रह्मास्मि**', '**सोऽहमस्मि**' आदिके अनुसंधानसे ब्रह्मके समान होनेकी चेष्टा की जाती है। अतः वह भक्तिका विपक्षी है। भक्तिकी उपपत्ति ग्रन्थकारने प्रधानतया लोमश-भुशुण्डि-संवादसे की है। इसमें अनेक युक्तियोंसे सगुण-भक्तिका मण्डन और निर्गुण-मतरूप रुक्ष ज्ञानका खण्डन किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त छहों लिङ्गोंसे इस ग्रन्थका मुख्य तात्पर्य *'करिय रामपद पंकज नेहा'* यह सिद्ध हुआ, जिसे सत्पञ्चोंने निर्णय किया है।

मूलके शब्दोंपर विचार—सत्पञ्च वे हैं जो यथार्थ निर्णय करें। ऐसा ही यथार्थ निर्णय उक्त सत्पञ्चोंने किया है। उन सबकी चौपाईका सिद्धान्तवाक्य *'करिय रामपद पंकज नेहा'* मनोहर है। क्योंकि उसके अर्थमें पाँचों प्राकृत विषयोंसे मनका हरा जाना कहा गया, पाँचों विषय ही भक्तिरूप हो गये। *'जानि'*—उपक्रमादि लिङ्गोंसे वही चौपाई जानी भी गयी। *'उर धरे'*—उरमें धारण करना प्रेम करना ही उसका भाव है।……'

यहाँ उक्त तात्पर्यरूपा भक्तिके द्वारा पञ्चपर्वाके विकाररूप भव-भयकी निवृत्ति दिखायी गयी।

'श्रीरघुबर हरे'—रघुवर श्रीरामजीने अपने पञ्च-अङ्ग-कमलोंकी 'श्री' अर्थात् शोभा एवं उनके गुणोंसे पाँचों विकारोंको हरण किया—यह भी लिखा गया। (पं० श्रीकान्तशरण)

नं० प०—श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी श्रीमानस-ग्रन्थका माहात्म्य कह रहे हैं कि चौपाइयाँ मनोहर 'सतपञ्च' हैं, ऐसा जानकर जो नर उरमें धारण करेंगे उनमें दारुण अविद्यासे जो पञ्चजनित विकार उत्पन्न हैं उसको श्रीरामजी हरण करेंगे। 'चौपाई' कहनेसे सोरठा, दोहा, छन्द आदि सब आ गये, क्योंकि सोरठा आदिमें भी चार पद होते हैं, जो चार-चार चरणके होते हैं वे सब चतुष्पाद अर्थात् चौपाई कहे जाते हैं। 'सतपञ्च' का भाव यह है कि जो सत्पञ्च होते हैं वे सत्य वचन कहते हैं; इसी तरह इस ग्रन्थकी चौपाइयाँ सत्पञ्च हैं, उनका कथन सत्य है। 'सतपञ्च' का भाव समस्त ग्रन्थके लिये है न कि ५०० या १०५ आदि चौपाइयोंके लिये।……

जो कोई जिस विषयका भावुक हो, वह उस विषयको अच्छा भी कहे और ग्रहण भी करे। परंतु गोस्वामीजी स्वयं किसी विषयको उत्तम, मध्यम नहीं कहेंगे; क्योंकि उन्होंने सब विषयोंको अपने-अपने स्थलपर उत्तम ही समझकर रखा है। पुनः, *'सत पंच चौपाई…धरे'* ये वचन ग्रन्थकारके हैं और ग्रन्थकारने परिश्रमसे रामचरितमानस ग्रन्थको रचकर तैयार किया है, अतः वे १०५ ही चौपाईको मनोहर नहीं कह सकते। क्योंकि ऐसा कहनेसे शेष सब ग्रन्थ अमनोहर हो जाता है।

फिर, गोस्वामीजी ग्रन्थमें ऐसे संशयकी बात क्यों लिखेंगे कि १०५ (कुछ संख्यक) चौपाइयाँ मनोहर हैं और उनका पता न लिखें कि ग्रन्थमें कहाँ हैं। यदि कोई कहे कि हमने तो पता लिख दिया है तो जैसी १०५ चौपाई उसने लिखा है वैसी चौपाइयाँ ग्रन्थमें और मौजूद हैं तब वही १०५ चौपाई कैसे यथार्थ हुई। (स्मरण रहे कि ग्रन्थकारने समग्र ग्रन्थके लिये प्रारम्भमें ही ये वाक्य कहे हैं—*'संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी॥ करइ मनोहर मति अनुहारी।'* (१। ३६। १-२) *'बरषहिं रामसुजस बरबारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥'* (१। ३६। ४) *'सुठि सुंदर संबाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि। तेइ एहिं पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि॥'* (१। ३६)

प० प० प्र०—यद्यपि 'सतपंच' के अर्थके विषयमें बहुत मत-मतान्तर हैं तथापि किसीने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया कि *'उर धरे'* पद मानसमें किस अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। यहाँ *'जानि उर धरे'* अर्थात् जानकर उरमें धरना कहा है। 'उर धरना' या उसका पर्याय पद मानसमें 'ध्यान करना', 'ध्यान धरना' अर्थमें ही सर्वत्र प्रयुक्त हुआ

है। यथा—*'उर धरि चंद्रमौलि बृषकेतू।', 'उर धरि उमा प्रानपति चरना।', 'पौढ़े धरि उर पद जलजाता।', 'मैं पुनि उर धरि प्रभु प्रभुताई।', 'रामचरन पंकज उर धरहू।', 'बंदि चरन उर धरि प्रभुताई।', 'सोभासिंधु हृदय धरि।', 'संभुचरन उर राखि।', 'जे पद जनकसुता उर लाये।', 'जिन्ह पायन्हके पादुकन्हि भरत रहे मन लाइ।'*

सतपञ्च=७+५=१२। *'सतसई'* शब्द गोस्वामीजीने प्रयुक्त ही किया है जिसमें सत=सप्त। श्रीमानसमें केवल एक स्थान ऐसा है जहाँ ध्यान करने योग्य केवल बारह चौपाइयों-(द्विपदियों-) का समूह है और वह है बालकाण्ड दोहा १९९ की १२ चौपाइयाँ—*'काम कोटि छबिस्याम सरीरा। नीलकंज बारिद गंभीरा॥'* से लेकर *'सो जानै सपनेहुँ जेहि देखा।'* तक। ☞यह बालरूप रामका ही ध्यान है। ध्यानसे ही अनात्म-मल शीघ्र नष्ट होते हैं। अविद्यादि पञ्चक्लेशोंका विनाश *'रघुबर' 'हरै,* कहा है, *'रघुबीर'* नहीं। रघुवरकी 'वीरता' बालकाण्ड दोहा २०८ में दी गयी है। ५००, १०५, ५१०० आदिका ध्यान करना भी असम्भव-सा ही है। सात या पाँच चौपाइयोंमें श्रीरामजीका ध्यान कहीं वर्णित भी नहीं है। पण्डित हरिप्रसाद व्यास-(सूर्य महल्ला-) का भी यही मत है।

करु०—*'अविद्या पञ्चजनित विकार—'।** पञ्च-अविद्या, यथा—'**तमोऽविवेको मोहस्य ह्यन्तःकरणविभ्रमः। महामोहस्य विज्ञेयो ग्रामभेदसुखेक्षणः॥ मरणं ह्यन्धतामिस्त्रं तामिस्त्रं क्रोध उच्यते। अविद्या पञ्चपर्वेषां प्राहुर्भूता महात्मनः॥**'

गौड़जी—छठी सृष्टि अविद्या मायाकी है। यह पञ्चवर्ग या पाँच गाँठोंवाली कहलाती है। पहली गाँठ है, तम, अन्धकार—अपनी असलियतपर परदा पड़ जाना। दूसरी है, मोह अर्थात् अपनी देहको अपना आपा समझ बैठना, अहं-बुद्धि। तीसरी है महामोह, अर्थात् विषय-भोगसे देहकी वासनाओंको तृप्त करनेकी इच्छा। तामिस्र चौथी गाँठ है। भोगेच्छाके प्रतिघातसे उपजे क्रोधादि विकारोंका नाम तामिस्र है। पाँचवीं गाँठ है अन्धतामिस्र जिसके भोगके साधन शरीरके छूटनेपर समझता है कि मैं मर गया। इस अविद्याका भी खनिजोंसे विकास होते-होते मनुष्योंतक उसका पूर्ण उदय होता है। खनिजोंमें तमकी पूर्णता और मोहका उदय है। उद्भिज्जमें तम और मोहकी पूर्णता है, महामोहका उदय है। (तिर्यक्) योनिमें तीनोंकी पूर्णता है और तामिस्रका उदय है। मनुष्यमें चारोंकी पूर्णता है और अन्धतामिस्रका उदय है। अविद्याकी सृष्टितक प्राकृतिक सृष्टियाँ हैं। इसी अविद्या मायासे जनित नैसर्गिक बुद्धि होती है। इसके आगेकी चार सृष्टियोंमें विद्या मायाका अनुभवजनित बुद्धिका विकास होता है जिससे उसे वैकृतिक सृष्टि कहते हैं। अविद्याकी यह पाँच गाँठें न पड़तीं तो सृष्टि आगे विकास न पाती। [गौड़जीके वैज्ञानिक सृष्टि और विकासवाद नामक लेखसे। विज्ञान भाग ३६, संख्या २]

नोट—यहाँतक दो छन्दोंमें तीन बातें कही हैं। प्रथम छन्दमें नामका महत्त्व कहा कि नामोच्चारणसे श्वपचादि जो अघरूप हैं वे भी पवित्र होते तथा सद्गति पाते हैं—*'पाई न केहि गति'* से *'कहि नाम बारक तेऽपि पावन होत।'* दूसरे छन्दके पूर्वार्द्धमें रघुनाथजीके इस रामचरितमानसमें कहे हुए समस्त चरितका माहात्म्य कहा कि जो इसे कहें, सुनें या गावेंगे उनके कलिमल बिना यत्न वा परिश्रम धुल जायेंगे और वे बिना परिश्रम श्रीरामधाममें जा प्राप्त होंगे और यहाँ उत्तरार्द्धमें पाँच-सात अर्थात् थोड़ी-बहुत भी किन्हीं चौपाइयोंको हृदयमें धारण करनेका फल कहते हैं कि *'दारुन अबिद्या पंचजनित बिकार श्रीरघुबर हरे।'* दारुण पञ्चपर्वा-अविद्याके विकार रघुनाथजी हरण कर लेंगे।

इस तरह नाम और चरितका फल एक दिखाया। दोनों पापोंका नाश कर रामधामकी प्राप्ति करा देते हैं। इसके पश्चात् छन्द ३ में स्वयं रघुनाथजीके गुण, उनका निर्वाणप्रदत्व, कारणरहित-कृपालुत्व, अनाथोंपर

---

* १ करु०—भाव कि पञ्च प्रकारकी दारुण पञ्चपर्वा अविद्यासे उत्पन्न जो अनेक प्रकारके विकार हैं उनको दण्ड देकर ये शुद्ध कर देते हैं, यदि वह पञ्चायतमें आवे और उनका वचन सुने।

२ वीर—अर्थ यह है कि जो इन्हें सच्चा पञ्च जानकर हृदयमें धरेंगे उनके हृदयमें अविद्या मायाके (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सरादि फसादी) पञ्चोंसे उत्पन्न हुए दोषको श्रीरघुनाथजी हर लेंगे।

पं०—अविद्याजनित दारुण जो कामादिक पञ्च विकार हैं उनको हरेंगे।

प्रेम—इत्यादि कहे। इस तरह गुण, रूप, नाम और चरित तीनोंका समान माहात्म्य कहा।

वि० त्रि०—'*दारुन अबिद्या—*' इति। भाव कि इन शतपञ्च चौपाइयोंको जानकर केवल धारण कर लेना साधकका काम है, उसकी पञ्चपर्वा अविद्याका हरण स्वयं रघुवर करेंगे। पूरे ग्रन्थका गान करनेका फल रामधामप्राप्ति और शतपञ्च चौपाई ग्रन्थको धारण करनेका फल अविद्याका नाश है; और अविद्या-निशाका नाश तथा रामप्रतापसूर्यका उदय दो वस्तुएँ नहीं हैं। निशा समाप्त ही नहीं होती जबतक सूर्योदय नहीं होता और जबतक निशा समाप्त न हो तबतक सूर्योदय भी नहीं होता, फलतः शतपञ्च चौपाईको हृदयमें धारण करनेसे अविद्या-निशा नष्ट होती है और रामप्रतापरूपी सूर्यका उदय होता है। रामधामकी प्राप्ति तो मरनेके बाद होगी और जीते ही रामप्रतापरूपी दिनेशका उदय होनेसे रामराज्यका सुख करतलगत हो जाता है।

सुंदर सुजान कृपानिधान अनाथ पर कर प्रीति जो।
सो एक राम अकाम हित निर्बानप्रद सम आन को॥

अर्थ—सौन्दर्यनिधान, सुजान और दयासागर, जो अनाथोंपर प्रीति करते हैं—ऐसे (विशेषणयुक्त) एक श्रीरामचन्द्रजी ही हैं;* इनके समान, बिना किसी इच्छाके, बिना प्रयोजनके हित करनेवाला तथा निर्वाण (संसारबन्धनसे मोक्ष) देनेवाला दूसरा कौन है? कोई भी नहीं है।

नोट—१ यहाँ एक श्रीरामचन्द्रजीको ही सौन्दर्य, सुजानता, दयालुता, अनाथोंपर प्रेम, निष्काम हित, मोक्षप्रदत्वमें अप्रतिम अद्वितीय सिद्धान्त किया है। इनका-सा दूसरा नहीं।

२—'*सुंदर*'—श्रीरामजी सौन्दर्यनिधान हैं, यथा—'*बदन सकल सौंदर्य निधाना।*' (१। ३२७। ८) '*सकल अलौकिक सुंदरताई। कहि न जाइ मन ही मन भाई॥*' (१। ३१६। ४) '*नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते॥ हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुदरताई॥*' (३। १९। ३-४) (ये खर-दूषणके वाक्य हैं। शत्रु और विषयी, निर्दयी राक्षसोंपर भी इस सुन्दरताका प्रभाव पड़ा, इससे हद है) '*रूप दीपिका निहारि मृग मृगी नर नारि बिथके बिलोचन निमेषैं बिसराइ कै।*' (गी० १। ८२) श्रीविश्वामित्र महामुनि, ब्रह्मलीन श्रीजनकमहाराज, ग्राम-नर-नारी इत्यादिकी दशा जो श्रीरामजीको देखते ही हो गयी वह तो आप ग्रन्थमें देख ही आये हैं। ऐसा सौन्दर्य किसीका नहीं है यह पूर्व दिखाया जा चुका है।

☞स्मरण रहे कि '*सुंदर*' शब्द इस ग्रन्थमें प्रथम-प्रथम श्रीरामजीके ही लिये विशेषणरूपसे आया है। यथा—'*मज्जहिं सज्जन बृंद बहु पावन सरजू नीर। जपहिं राम धरि ध्यान उर सुंदर स्याम सरीर॥*' (१। ३४) और यहाँ ग्रन्थके अन्तमें भी यह विशेषण उन्हींके लिये आया है—'*सुंदर सुजान—एक राम—*'।

३—सुजानोंमें अद्वितीय हैं। यथा—'*नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न रामसम जान जथारथ॥*' (अ० २५४। ५) '*जानसिरोमनि कोसलराऊ।*' (१। २८। १०) '*देस-काल-पूरन सदा बद बेद पुरान। सबको प्रभु सबमें बसै, सबकी गति जान॥*' (वि० १०७) [करु०—'**सुजान**'=सबके अन्तःकरणके भाव-कुभाव, प्रीति-वैरको जाननेवाले। यथा—'*सबके उर अंतर बसहु जानहु भाव कुभाउ।*' (२। २५७)]

४—कृपानिधानोंमें अद्वितीय कहकर जनाया कि ऐसा जीवोंपर करुणावान् कोई दूसरा नहीं है। जीवपर इतनी कृपा है कि उसके अपराधोंको अपने सिर ले लेते हैं, सोचते हैं कि इसमें सामर्थ्य कहाँ कि यह अपने पुरुषार्थसे हमको प्राप्त कर सके, हमारी इसपर यथार्थ कृपा नहीं हुई इसीसे यह भवमें पड़ा चक्कर खा रहा है। यह कृपा जीवके प्रभु-सम्मुख होनेपर तो हमारे आचार्योंने कही ही है। पर इससे भी बढ़कर यह है कि सम्मुख नहीं हुएको भी इसी गुणसे आपने भवपार कर दिया—

'*खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। पावहिं गति जो जाचहिं जोगी॥*

---

* पुनः, 'सो' पदसे जनाया कि यहाँ कथित जितने गुण हैं वे इनके समान अन्य प्रभुओंमें नहीं हैं। यथा—'ऐसी कौन प्रभुकी रीति। बिरुद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति।' (वि० २१४) ऋषियोंको छोड़ शबरीके आश्रमपर गये। उसके फलोंके स्वादकी प्रशंसा घर, ससुराल आदि सर्वत्र की कि ऐसा स्वाद हमें कहीं न मिला।

उमा राम मृदुचित करुनाकर। बयरु भाव सुमिरत मोहि निसिचर॥
देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी॥' (लं० ४४। ३—५)

५—*'अनाथ पर कर प्रीति'।* सुग्रीव अनाथ था, कोई भी त्रैलोक्यमें उसकी रक्षा बालिसे न कर सका। श्रीरघुनाथजी चाहते तो बालिसे मित्रता कर लेते तो वह रावणको पकड़कर बाँधके ला देता और श्रीसीताजीके लिये इतना संग्राम न करना पड़ता, न क्लेश उठाना पड़ता, जैसा कि वाल्मीकीयमें उसने स्वयं कहा है। पर उन्होंने उस अनाथका साथ दिया और उसके लिये बालिकी गालियाँ भी सहीं।

☞पर यदि प्रभुके प्रेमकी अभिलाषा है तो सच्चे अनाथ होना चाहिये। *'अनाथ'* शब्दमें सर्व-साधन-शून्य, सर्वोपायशून्य, सर्व-पुरुषार्थहीन, सर्व-आशा-भरोसा-त्याग, एकमात्र श्रीरामजीकी ही आशा-भरोसा और उन्हींकी करुणा, कृपालुता और रक्षाका पूर्ण विश्वास तथा आत्म-निवेदन इत्यादि सब गुण होने चाहिये। जबतक मनुष्य दूसरे किसी भी मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी, ऐश्वर्य, सम्पत्ति, अपने पुरुषार्थ इत्यादिमें किसीकी भी किञ्चित् भी सहायताकी आशा रखता है तबतक वह अनाथ नहीं कहा जा सकता। केवल भगवान्‌के साथ ठगपनेसे काम नहीं चलेगा कि ठाकुरजीके सामने मुँहसे बेगार टाल दी। देखिये सुतीक्ष्णजीके विचार—*'एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाके गति न आन की॥'*—बस यही भाव *'अनाथ'* का गृहीत है।

६—*'अकाम हित'*। अहल्याको स्वयं वहाँ जाकर, शिलाका वृत्तान्त पूछकर उसे तारा। यह कारणरहित कृपालुता है। यहाँ कविने स्वयं कहा है—*'अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल।'* (१। २११) *'ते तुम्ह राम अकाम पियारे'*—आ० ६ (६) देखो। पुन: *'अकाम हित'* से जनाया कि और सब कारण पाकर, स्वार्थवश हित करते हैं—*'इहै जानि चरनन चित लायो। नाहिंन नाथ अकारनको हित तुम्ह समान पुरान श्रुति गायो। जननि जनक सुतदार बंधुजन भये बहुत जहँ जहँ हौं जायो। सब स्वारथ हित प्रीति कपट चित काहू नहिं हरिभजन सिखायो॥ सुर मुनि मनुज दनुज अहि किन्नर मैं तनु धरि सिर काहि न नायो। जरत फिरत त्रयताप पाप बस काहू न हरि करि कृपा जुड़ायो॥'* (वि० २४३) *'जे सुर सिद्ध मुनीस जोगविद बेद पुरान बखाने। पूजा लेत देत पलटे सुख हानि लाभ अनुमाने॥'* (वि० २३६) *'को न सेवत देत संपति, लोकहूँ यह रीति। दास तुलसी दीन पर एक राम ही के प्रीति॥'* (वि० २१६)

[करु०—**अकाम**=जो (प्राणी) किसी बातकी कामना नहीं रखते। वा, अकामरहित=निष्काम जन प्रिय है। निर्वाणप्रद, यथा—*'राम भजत सोइ मुक्ति गोसाईं। अनइच्छित आवै बरिआई॥'* निर्वाण-पदसे सभी प्रकारकी मुक्तियाँ यहाँ अभिप्रेत हैं।]

७—*'निर्वानपद सम आन को।'* देखिये खर-दूषणादि शत्रुओंपर कृपा, कि सबकी दृष्टि राममय हो गयी और वे सब *'राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्वान।'* राह चलतेमें कितनोंको मुक्त कर दिया, अयोध्या पुरवासी सभी प्राणियों, जीव-जन्तुओंको अपने साथ परधामको ले गये। इत्यादि अपने रूप, नाम, चरित और धाम सभीके द्वारा निर्वाण सबको सुलभ कर दिया। आपके नामकी ब्रह्मतारकसंज्ञा है जो और किसीके नामको नहीं प्राप्त है। चरितका माहात्म्य कहा ही है कि निर्वाणप्रद है—*'रामचरनरति जो चहै अथवा पद निर्वान। भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान॥'* (१२८) और धामका भी फल ऐसा ही कह चुके हैं—*'अवध तजे तन नहिं संसारा'* और *'कवनिहुँ जन्म अवध बस जोई। रामपरायन सो परि होई॥'* (९७। ६) रूपको अर्चाविग्रह आदिद्वारा सुलभ कर दिया; इनके सामने भावपूर्वक स्तुति, शरणागति इत्यादिका वही फल है जो साक्षात् त्रेतामें लोगोंको प्राप्त था।

☞इस प्रकारके विशेषणोंके क्रमके भाव बहुत बार आ चुके हैं।

पं०—दीन अर्थात् सर्वगुणहीन। *'अस बिचारि'* अर्थात् अपना यह विरद विचारकर। **भवभीर**=संसारभ्रम।

नोट—☞उपास्यमें जो-जो गुण चाहिये वे सब यहाँ *'सुंदर सुजान'* आदिसे संक्षेपमें कह दिये। बाहर प्रथम सौन्दर्यहीपर दृष्टि जाती है, शूर्पणखातक मोहित हो गयी। यदि कोई अधिक सुन्दर देख पड़ा तो

उसकी ओर आकर्षित हो जानेकी सम्भावना है, सो आपके समान कोई सुन्दर नहीं। आपको देख मनसहित समस्त इन्द्रियाँ आपमें ही डूब जाती हैं। सुजान हैं अतः *'जान जन जीकी'* कुछ कहना नहीं पड़ता। कृपानिधान हैं, अतः सदा अहैतुकी कृपा करते हैं और कृपा करते अघाते नहीं । सदा यही समझते हैं कि हम ही एकमात्र इसके दुःख दूर करनेको समर्थ हैं। *'अनाथ पर कर प्रीति जो'* से सौलभ्य गुण दिखाया। भाव कि जीव यह न शंका करे कि इतने बड़े होकर हमपर क्यों दृष्टि डालेंगे। अतः कहते हैं कि अनाथोंपर तो उनका जैसा प्रेम है ऐसा किसीका नहीं। वे अकाम प्रिय हैं—***'बलि पूजा चाहत नहीं चाहत एक प्रेम।'*** (वि०)

सि० ति०—*'एक राम'*—भाव कि भक्तोंको रमानेमें भी आप अद्वितीय हैं। यथा—**'रामनाम भुविख्यातमभिरामेण वा पुनः'** (रा० ता० उ०) इन्हीं गुणोंको विचारते हुए तो दण्डकवनके ऋषियोंने कहा है—**'परा त्वत्तो गतिर्वीर पृथिव्यां नोपपद्यते। परिपालय नः सर्वान् राक्षसेभ्यो नृपात्मज॥'** (वाल्मी० ३। ६। २०) ताराने भी कहा है—**'निवासवृक्षः साधूनामापन्नानां परा गतिः। आर्त्तानां संश्रयश्चैव यशसश्चैकभाजनम्॥'** (वाल्मी० ४। १५। १९-२०) ब्रह्माजीने भी कहा है—**'त्वं हि लोकगतिर्देव।'** (वाल्मी० ७। ११०। १०) —*'भजिबे लायक सुखदायक रघुनायक सरिस सरनप्रद दूजो नाहिन।'* (वि० १०७) देखिये।

जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदासहूँ।
पायो परम बिश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥ ३॥

अर्थ—जिनकी लवलेशमात्र कृपासे मन्दबुद्धि मुझ तुलसीदासने भी परम विश्राम पाया उन श्रीरामचन्द्रजीके समान प्रभु कहीं भी नहीं है॥ ३॥

नोट—१ (क) पूर्वार्धमें जो कहा उसका अब प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं कि उनके कृपा-लवलेशसे स्वयं मैंने परम विश्राम प्राप्त किया। (ख) यहाँपर *'कृपा लवलेस'* से किस कृपाकी ओर इशारा है? इस बातपर सब टीकाकार चुप हैं। दासकी समझमें यहाँ दो बारकी कृपा जो खास श्रीरघुनाथजीकी इनपर हुई उसीपर यहाँ लक्ष्य है। प्रथम कृपा तो श्रीचित्रकूटमें दर्शन। दूसरी कृपा विनयावलीपर सही। ***'तुलसी तो को कृपाल जो कियो कोसलपाल चित्रकूट को चरित चेति चित करि सो॥'*** (वि० २६४) प्रथमकी कथा प्रसिद्ध ही है। जब इन्होंने हनुमान्‌जीका पैर पकड़कर हठ किया तब उन्होंने दर्शन करानेका एकरार किया। इस प्रसंगको श्रीवेणीमाधवदासकृत मूल गुसाईंचरितसे उद्धृत करता हूँ—

छं०—हठ ठानि तेहि पहिचानि मुनिबर बिनय बहुबिधि भाषेऊ।
पद गहि न छाड़उँ पवनसुत कह कहहु जो अभिलाषेऊ॥
रघुबीरदरसन मोहि कराइय मुनि कहेउ गद्‌गद बचन।
तुम जाइ सेवहु चित्रकूट तहाँ दरस पैहहु चषन॥ ४॥

दो०—श्रीहनुमंत प्रसंग यह बिमल चरित बिस्तार।
लहेउ गोसाईं दरसरस बिदित सकल संसार॥ २२॥

चित चेति चले चित्रकूट चितय। मन माहिं मनोरथ को उपचय॥
जब सोचहिं आपन मंद कृती। पग पाछ पड़ै जु रहै न धृती॥
सुधि आवत रामस्वभाव जबै। तब धावत मारग आतुर ह्वै॥
यहि भाँति गोसाईं तहाँ पहुँचे। किय आसन रामसुघाटहि पै॥
इक बार प्रदच्छिन देन गये। तहँ देखत रूप अनूप भये॥

जुग राजकुमार सु अश्व चढ़े। मृगया बन खेलन जात कढ़े॥
छबि सो लखि कै मन मोहेउ पै। अस को तनधारि न जानि सके॥
हनुमंत बतायउ भेद सबै। पछिताइ रहे ललचाइल है॥
तब धीरज दीन्हेउ वायुतनय। पुनि होइहि दरसन प्रात समय॥

दो०—सुखद अमावस मौनिया बुध सोरह सै सात।
जा बैठे तिस घाटु पर बिरही होतहि प्रात॥ २३॥

सो०—प्रगटेउ राम सुजान कहेउ लेहु बाबा मलय।
सुक बपु धरि हनुमान पढ़ेउ चेतावनि दोहरा॥ ७॥

दो०—चित्रकूट के घाट पै भइ संतन की भीर।
तुलसिदास चंदन घिसै तिलक देत रघुबीर॥ २४॥

छं०—रघुबीर छबि निरखन लगे बिसरी सबै सुधि देह की।
को घिसै चंदन दृगन तैं बहि चली सरित सनेह की॥
प्रभु कहेउ पुनि सो नाहिं चेतेउ स्वकर चंदन लै लिये।
दै तिलक रुचिर ललाट पै निज रूप अंतरहित किये॥ ५॥

दो०—बिरह ब्यथा तलफत पड़े मगन ध्यान इक तार।
रैन जगाये पवनसुत दीन्हे दसा सुधार॥ २५॥

पुनः, विनयका अन्तिम पद स्पष्ट ही है। मूल गुसाईंचरितमें वेणीमाधवदासजी लिखते हैं कि जब अस्सीघाटपर मुनिने निवास किया तब कलिने एक रातको इनके पास आकर इन्हें डाँटा और धमकी दी कि यदि पोथी जलमें न डुबा दोगे तो मैं ताड़ना करूँगा, भस्म कर दूँगा। उस समय आपने हरि श्रीहनुमान्‌जीका ध्यान किया। हनुमान्‌जी प्रकट हुए और—

हनुमंत कहउ कलि ना मनिहै। मोहि बरजत बैर महा ठनिहै॥
लिषि कै बिनयावलि देहु मोही। तब दंड दियाउब तात ओही॥

दो०—बिदित राम बिनयावली मुनि तब निर्मित कीन्ह।
सुनि तेहि साषीजुत प्रभु मुनिहि अभय करि दीन्ह॥ ५१॥

साक्षीकी बात गोस्वामीजीने स्वयं विनयपत्रिकाके अन्तिम पदमें प्रकट कही है। यथा—*'बिहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैंहूँ लही है। मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथकी परी रघुनाथ सही है।'* (वि० २७९)

'अभय कर देना' यही परम विश्राम है।—**'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम'** २—'एक' *'राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।'* 'एक'=अद्वितीय। यहाँ 'राम' की प्रभुताके आगे अन्य सबकी प्रभुताका निषेध कर इनको परात्परतर-तत्त्व दृढ़ किया। जिस रावणने विष्णुभगवान्‌को भी छकाया, जिसने चक्रका अतिशय निरादर किया वह रावण भी आपके बाणोंसे मृत्युको प्राप्त हुआ।

☞सब निगमागम-पुराणादिका निचोड़ सिद्धान्त अन्तमें यहाँ कहा कि 'राम' ही प्रभु हैं अर्थात् उपास्य होनेकी योग्यता रखते हैं, दूसरा नहीं। दूसरा प्रभु है ही नहीं। *'नाहीं कहूँ'*, यथा—*'जौ पै दूसरो कोउ होइ। तौ हौं बारहि बार प्रभु कत दुख सुनावौं रोइ॥ काहि ममता दीन पर काको पतितपावन नाम।'*...... आपुसेकहुँ

सौंपिये मोहिं जौं पै अतिहि घिनात। दास तुलसी और बिधि क्यों चरन परिहरि जात॥' (वि० २१७) *'तो सों प्रभु जो पै कहूँ कोउ हो तो। तौ सहि निपट निरादर निसिदिन, रटि लटि ऐसो घटि को तो॥—तेरे राज राय दसरथ के, लयो बयो बिनु जोतो॥'* (वि० १६१)

☞३-ग्रन्थके प्रारम्भमें जो **'स्वान्तःसुखाय'** इत्यादि कहा, वह इनको मिल भी गया, यह यहाँ स्पष्ट किया—*'पायो परम बिश्राम'।*

पं०—*'कृपा लवलेस'* का भाव कि बड़ी कृपा तो हनुमदादिपर हुई है और हम तो किञ्च (किञ्चित्हीसे) कृतार्थ हुए हैं।

दो०—मो सम दीन न दीन हित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंसमनि हरहु बिषम भव भीर॥१३०॥

अर्थ—हे श्रीरघुवीर! मेरे समान कोई दीन नहीं है और न आपके समान कोई दीनोंका हित करनेवाला है। ऐसा विचारकर, हे रघुवंशमणि! आप मेरे कठिन भवसंकट-(जन्म-मरण-) का हरण कीजिये॥ १३०॥

नोट—१ (क) *'दीन हित'* यथा—*'ऐसे राम दीन हितकारी। अतिकोमल करुनानिधान बिनु कारन पर उपकारी॥'* (वि० १६६) *'तुम सम दीनबंधु न दीन कोउ मो सम सुनहु नृपति रघुराई। मो सम कुटिल मौलिमनि नहिं जग, तुम सम हरि! न हरन कुटिलाई॥ हौं मन बचन करम पातकरत, तुम कृपालु पतितन गति दाई। हौं अनाथ प्रभु! तुम अनाथहित, चित मह सुरति कबहुँ नहिं जाई॥ हौं आरत आरतिनासक तुम कीरति निगम पुराननि गाई। हौं सभीत तुम हरन सकल भय, कारन कवन कृपा बिसराई॥ तुम सुखधाम राम श्रमभंजन, हौं अति दुषित त्रिबिधि श्रम पाई। यह जिय जानि दास तुलसी कहँ राखहु सरन समुझि प्रभुताई॥'* (वि० २४२)

वै०—सम्बन्ध, अधिकारी, विषय और प्रयोजन—ये चार अनुबन्ध ग्रन्थमें होते हैं। इनमेंसे अपना सम्बन्ध इस दोहेमें कहते हैं—*'मो सम दीन न—।'* अर्थात् भवभयसे पीड़ित दीन होकर मैं आपकी शरण आया हूँ। [आप दीनोंका हित करनेवाले हैं। भवभीत दीनकी वही रक्षा कर सकता है जो स्वयं भवमें न पड़ा हो और भवमें पड़े हुओंको भवसे तार सकता हो। ब्रह्मादि देवता स्वयं भवमें पड़े हुए हैं, यथा—*'भव बारिधि मंदर परमं दर। बारय तारय संसृति दुस्तर।'* (६। ११५) (त्रिपुरारिकृतस्तुति) *'भवप्रबाह संतत हम परे। अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे॥'* (६। १०९) (देवस्तुति) *'भवतारन कारन काज परं। मन संभव दारुन दोष हरं॥—धिग जीवन देव सरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे॥ अब दीन दयाल दया करिये।'* (६। ११०। ब्रह्माकृत स्तुति) अतः *'न दीन हित तुम्ह समान रघुबीर'* कहकर जनाया कि एकमात्र आप ही इससे मुक्त कर सकते हैं। दूसरा कोई ऐसा है ही नहीं। आप 'रघुवीर' हैं, समस्त देवताओंकी रावणके अत्याचारसे आपने ही रक्षा की।] आप पञ्चवीरतासे परिपूर्ण हैं। दयावीरता दिखाइये। मेरा-आपका दीन-दीनबन्धुका सम्बन्ध है।

अब प्रश्न होता है कि सम्बन्ध तो अनेक हैं, जैसे कि 'अंश-अंशी', 'सेवक-स्वामी', 'शेष-शेषी', 'पुत्र-पिता' इत्यादि। तब केवल दीनदयालुत्वसे सम्बन्ध क्यों कहा? भाव यह है कि मुझसे सेवा आदि कुछ भी नहीं बन पड़ती, भवपार जानेके लिये केवल आपकी दयाका भरोसा है।

नोट—'रघुवीर, रघुवंशमणि' से सगुण ब्रह्म रामकी शरण जाना कहा। इनसे अतिरिक्त जो किसी दूसरेको ब्रह्म राम कहते हैं उसका निषेध किया। रघुवंशमणि और रघुवीर विशेषण देकर तब *'हरहु—'* कहनेका भाव कि रघुकुलके सभी राजा बड़े वीर, दानी, शरणपाल आदि हुए हैं और आप तो उन सबोंसे बढ़कर हैं, आप तो उस कुलमें शिरोमणि हुए हैं, आपके-से बाँकुरे विरद किसीके नहीं हैं। यथा—*'औरू कहँ ठौरू रघुबंसमनि! मेरे। पतितपावन प्रनतपाल असरन सरन बाँकुरे बिरुद बिरुदैत केहि केरे॥'* (वि० २१०) ☞*'रघुबंसमनि'* शब्द प्रथम-प्रथम उमा-शम्भु-संवादमें श्रीपार्वतीजीके प्रश्नमें आया है—*'प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम।'* (१। ११०) श्रीरामचरितके प्रारम्भमें जो उपक्रमरूपसे आया है, उसी शब्दसे उपसंहार

किया। इसी तरह *'रघुबीर'* शब्द प्रथम-प्रथम दीनहितकारिता, शरणागतवत्सलता, शीलनिधानताके सम्बन्धमें ग्रन्थके आरम्भमें दोहा २९ में आया है। यथा—*'रहति न प्रभु चित चूक किए की। करत सुरए सयबार हिति की॥ जेहिं अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहु सो न राम हिय हेरी॥ ते भरतहि भेंटत सनमाने। राजसभा रघुबीर बखाने॥'* (१। २९। ५—८) सुग्रीव और विभीषण दोनों दीन थे। यथा—*'दीन जानि तेहि अभय करीजे।'* (४। ४। ३) *'कृत भूप बिभीषन दीन रहा।'* (६। ११०) रघुबीर शब्द यहाँ उपसंहारमें भी उन्हीं गुणोंका स्मरण करानेके लिये किया गया।

'बिषम भव भीर'—विषमका भाव कि किसी औरके छुड़ाये नहीं छूट सकती। **भीर**=संकट, दुःख, भय। *'हरहु भव भीर'* से जनाया कि मैं भवसंकटमें पड़ा हूँ, भयभीत होकर शरणमें आया हूँ, क्योंकि आपका विरद है कि *'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहहुँ ताहि प्रान की नाई॥'*

दो०—कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि* रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम॥१३०(ख)॥

अर्थ—जैसे कामीको स्त्री प्यारी लगती है और जैसे लोभीको दाम (रुपया-पैसा) प्रिय लगता है वैसे ही हे रघुकुलके स्वामी! हे राम! आप मुझे निरन्तर प्रिय लगिये†॥ १३० (ख)॥

पां०—यहाँ सम्बोधनसे यह ज्ञात होता है कि ग्रन्थान्त-समय गोसाईंजीको रघुनाथजी नेत्रगोचर हुए वा अन्त समय प्रकट हो गये।

नोट—१ ☞ यहाँ *'कामी और स्त्री'* तथा *'लोभी और दाम'* दोकी समताके प्रेमकी चाह है और विनयावलीमें एक ही पदमें पाँचकी समताके प्रेमकी इच्छा प्रगट की गयी है, यथा—

'राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को?
सुख जीवन ज्यों जीव को मनि ज्यों फनिको हित, ज्यों धन लोभ लीन को॥
ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को।
त्यों मेरे मन लालसा करिये करुनाकर! पावन प्रेम पीन को॥
मनसाको दाता कहैं श्रुति प्रभु प्रबीन को।
तुलसिदासको भावतो बलि जाउँ दयानिधि! दीजै दान दीन को॥'(वि० २६९)

यहाँ दो ही उदाहरण दिये गये और विनयमें पाँच, इसमें क्या हेतु या भाव या भेद हैं यह पीछे विचार किया जायगा।

श्रीरघुनाथजीमें किस प्रकारका प्रेम वे चाहते हैं वह यहाँ दो उदाहरणोंसे वे स्पष्ट कर रहे हैं। (१) *'कामिहि नारि पिआरि जिमि'* यह पहली उपमा है। कामीको स्त्री कैसी प्रिय है यह पूर्णतया वही जान सकता है जो इस फंदेमें पड़ चुका है, दूसरा नहीं। गोस्वामीजी इस प्रेमका भलीभाँति आस्वादन कर चुके हैं, यह उनके 'मूलचरित' से स्पष्ट है, यह सब जानते हैं, अतः यहाँ लिखनेकी आवश्यकता नहीं। दूसरे उदाहरण बिल्वमंगल सूरदासजी भी हैं, इनकी कथा भक्तमालमें है और प्रायः सब जानते हैं। गोस्वामीजी प्रार्थना करते हैं कि जैसी हमारी आसक्ति उस समय स्त्रीमें थी तथा जैसी सभी कामियोंकी प्रेमान्धदशा होती है वैसी ही मेरी आपमें हो, आपके लिये हो।—*'मन प्रान प्रिया पर वारि दिये। जस कौसिक मैनका देखि भये॥ दिन रात सदा रँग राते रहैं। सुख पाते रहैं। ललचाते रहैं॥—पल एक प्रिया बिनु चैन नहीं॥'* इत्यादि।

नारदमोह-प्रकरणमें भी कामीकी दशाका किंचित् दर्शन होता है—*'जप तप कछु न होइ तेहि काला। हे बिधि मिलइ कवन बिधि बाला॥'* इत्यादि।

---

* तिमि रघुबंस—ना० प्र०।

† 'उदाहरण अलङ्कार'।

सारांश यह कि जैसे कामी जब किसी नवयौवना नागरीपर आसक्त हो जाता है तब उसका रूप उसके आँखों और हृदयमें सहज ही बस जाता है, समा जाता है, छा जाता है—***'नजरोंमें बस रहा है दिलमें समा रहा है'*** उसे ध्यान करनेकी आसन जमाकर मन एकाग्र करके उसमें लगानेकी जरूरत नहीं पड़ती, वह स्वाभाविक उसीको देखा करता है, उसकी सुरति सदा उस प्राणप्रियामें लगी रहती है, सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते यही उसका अष्टयाम है। पराधीन होकर वह यदि उससे दूर भी है तो चित्तसे तो वह उसके साथ ही है, केवल शरीरसे ही दूर है।

प्रियकी गली-कूचा, उसके गलीकी रज, उससे सम्बन्ध रखनेवाली एक-एक वस्तु जो उसके सामने पड़ती है वह उसे चूमता है, नेत्रोंसे लगाता है, कब दर्शन हो यही अभिलाषा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, वह दर्शनके लिये छटपटाता है, वियोग उसे असह्य हो जाता है—केवल ध्यानसे तृप्त नहीं हो जाता। वियोगमें जैसी कुछ दीन-दशा हो जाती है उसका कुछ दर्शन प्रभुने कराया है—***'कामिन्ह कै दीनता देखाई।'*** (३। ३९। २) उसे तन-बदनका होश नहीं रहता, वह बावला-सरीखा फिरता है।

वह उस नायिकापर सर्वस्व, प्राणतक निछावर कर देता है, उसके लिये माता-पिता, भाई-बन्धु सभीसे नाता तोड़ देता है। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी इत्यादि सब भूल जाता है।

वह स्त्री उसे सौन्दर्य और सर्वगुणसम्पन्न ही देख पड़ती है, उसकी बेवफाईमें भी वह वफा देखता है, जुल्म (सताने) में कृपा, परीक्षा और अदा देखता है, उसके हाथसे, लातसे, मार खानेमें भी स्पर्शसे उसे फल ही होता है। इत्यादि-इत्यादि।

उसके गुण, उसके चरित, उसका नाम भी जो कोई सुनाता है वह भी प्रिय लगने लगता है, तब उसके प्रियत्वका कहना ही क्या?

इत्यादि दशाएँ कामीकी देखने-सुननेमें आती ही है।

श्रीमद्गोस्वामीजी *'कामिहि नारि पिआरि जिमि'* कहकर माँगते हैं कि—इसी प्रकार मेरी सुरति स्वाभाविक एकरस तैलधारावत् आपमें लगी रहे—***'उठत बैठत पड़े उताने। कहैं कबीर हम उसी ठिकाने॥'*** आपको छोड़ मैं दूसरेको देखूँ ही नहीं, आपका चरित, आपका नाम सुनकर गद्गद हुआ करूँ, आपका ही गुण गाया करूँ, आपकी चर्चा जिह्वापर रहे दूसरी कुछ नहीं, आपके प्यारे मुझे प्यारे लगें, भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, धन-धाम सब सम्बन्ध आपके लिये मैं तृणवत् त्यागकर आपका हो जाऊँ, आपके दर्शनकी अभिलाषा उत्तरोत्तर उत्कट बढ़ती जाय, वियोग असह्य हो जाय, आपके लिये व्याकुल छटपटाता पागल-सा फिरता रहूँ, संसारकी लज्जाका विचार न रह जाय। इत्यादि-इत्यादि।

'श्रवननि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहि सीस ईसही नैहौं॥
नातो नेह नाथ सों करि सब नातो नेह बहैहौं।' (वि० १०४)

२ *'कामिहि नारि पिआरि'* के बाद दूसरा उदाहरण *'लोभी और दाम'* का देते हैं। लोभीका प्रियत्व धनपर कैसा है, यह कविने स्वयं विनयावली इत्यादिमें भी कहा है—*'सुनु सठ सदा रंकके धन ज्यों छन छन प्रभुहिं सँभारहि।'*

वह बार-बार उसकी देख-रेख करता है, बारम्बार गिनता है कि कहीं कोई ले तो नहीं गया, कम तो नहीं हो गया, कितना और बढ़ा। *'चमड़ी जाय दमड़ी न जाय'* कहावत प्रसिद्ध है, शरीर भी चाहे चला जाय पर धन कोई न लेने पावे, मर रहा है पर ध्यान धनपर है, ओषधिके लिये भी उसे खर्च करना गवारा नहीं समझता और तो और वह मरकर उसपर सर्प होकर बैठता है।

इसी तरह आप चाहते हैं कि मैं क्षण-क्षण आपको हृदयमें सँभालता रहूँ, चित्त आपमें ही लगा रहे, कहीं भी रहूँ, किसी व्यवहारमें रहूँ, शरीर भी मरणतुल्य कष्टमें हो फिर भी आप हृदयसे दूर न हों, आपको मरनेपर भी न भूलूँ, दूसरे जन्ममें फिर भी आपकी ही भक्तिमें आरूढ़ रहूँ।

पायो नाम चारु चिंतामनि उर कर ते न खसैहौं।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहिं कसैहौं॥'(वि० १०५)

धनके उपार्जनमें दुःख, उसकी रक्षामें दुःख और उसके हानिमें महादुःख, अर्थात् तीनों अवस्थाओंमें लोभीको इससे कष्ट ही पहुँचता है तब भी वह लोभ नहीं छोड़ता। इसी तरह आपके प्रेमके कारण चाहे आद्यन्त जन्मभर कष्ट क्यों न उठाना पड़े तब भी प्रेम न छूटे। लोग निन्दा भी करें तो भी हर्ज नहीं।

नोट—२ अब यह प्रश्न हो सकता है कि एकहीमें लगभग सब प्रेमकी दशा आ जाती है, एक ही उदाहरण पर्याप्त था, दो क्यों दिये? इसका एक उत्तर तो यही है कि यह कविकी काव्य करते समयके उमंगपर निर्भर है। कभी वह एक ही उपमासे सन्तुष्ट हो जाता है और कभी दो-दो, तीन-तीनसे भी नहीं। यहाँ दोहीका प्रेम कहा, विनयवाले पदमें पाँचका। कहीं केवल चातकके ही उदाहरणसे बस कर दिया है। दूसरा उत्तर यह है कि हो सकता है कि कामी और नारी दोनों चेतन हैं, कामीको स्त्री प्रिय होती है पर ऐसा ही देखनेमें आता है कि कहीं-कहीं स्त्रीका भी स्नेह पुरुषपर भी वैसा ही होता है। और कम-से-कम यह तो अवश्य ही है कि कामी चाहता है कि मेरी प्राणप्रिया मेरे ऊपर वैसा ही प्रेम करे, दूसरेपर दृष्टि भी न डाले। अतः इस दृष्टान्तसे यह लालसा पायी जा सकती है कि आप मुझपर प्रेम रखें। इस सन्देहके निवारणार्थ वे दूसरा दृष्टान्त देते हैं—लोभी और दामका। दाम जड़ पदार्थ है, वह यह भी नहीं जान सकता कि अमुक मनुष्यका मुझपर प्रेम है, पर लोभी उसके लिये प्राणोंसे भी अधिक प्रेम करता है। इस प्रकार दूसरा दृष्टान्त देकर वे जनाते हैं कि मेरा आपपर एकाङ्गी अनन्य प्रेम हो, आप चाहे मेरी पर्वा करें या न करें, करें तो अच्छा ही है और न करें तब भी मेरा प्रेम बढ़ता ही जाय, कभी यह समझकर घटने न पावे कि प्रभु तो मेरी सुध भी नहीं लेते। और एक ही जन्म क्या, जन्म-पुनर्जन्ममें भी आपके ही साथ मेरा प्रेम दृढ़ रहे, आपको उसी प्रकार न छोड़ूँ जैसे मनुष्य सर्प होकर अपने पूर्व शरीरकी कमाईपर बैठता है।

पुनः, तीसरा हेतु यह है कि स्त्रीका यौवन उतर जानेपर, अपनी वृद्धावस्था होने इत्यादिपर कामीका प्रेम घटता जाता है, परंतु लोभीका प्रेम द्रव्यपर वृद्धावस्थामें और भी बढ़ जाता है। अतः पहले दृष्टान्तकी कमीकी पूर्त्ति दूसरेसे की। भाव कि ज्यों-ज्यों अवस्था गिरती जाय त्यों-त्यों प्रेम भी अधिक होता जाय, कम न हो।

श्रीबैजनाथजी दो विशेषण देनेका भाव यह कहते हैं कि 'यावत् मेरी देहबुद्धि रहे तावत् मैं श्रवण-कीर्तनादिमें लगा रहूँ और जब जीवबुद्धि आवे तब प्रेमसे आपके रूपमें मग्न रहूँ।'

श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि 'दो उपमाएँ दो भावसे दी हैं। *'रघुनाथ'* सम्बोधन भगवान्के रूपके लिये है, उसकी उपमा *'कामिहि नारि पिआरि'* की दी। राम सम्बोधन नामके लिये है, उसकी उपमा *'लोभी दाम प्रिय'* की दी। कामीके हृदयमें स्त्रीके रूपका ध्यान रहता है वैसे ही मेरे मनमें आपके रूपका ध्यान होता रहे।—लोभी कितना ही दाम कमावे उसको सन्तोष नहीं होता, वैसे हम आपके नामका कितना ही जप करें, परंतु हमें नाम-जपसे तृप्ति न हो। लोभीको एक-एक पैसा प्राणके समान वैसे ही आपका एक-एक नाम प्राणके समान होवे, हम एक नामका भी नुकसान सह न सकें, गोस्वामीजीने नाम और रूप दोनोंका प्रियत्व किस भावसे माँगा है कि नाम और रूप दोहीकी उपासना होती है। कोई नामके उपासक होते हैं कोई रूपके और एकके अन्तर्गत दोनों (उपासनाएँ) रहती हैं। एक मुख्यरूपसे, दूसरा गौणरूपमें।'

३ *'तिमि रघुनाथ निरंतर—राम'* इति। (क) रामपदमें अतिव्याप्ति यह है कि इससे निर्गुण और सगुण दोनोंका बोध होता है—'**रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥**' इति श्रुतिः। और वही सगुण होकर दशरथात्मज राम हैं। दूसरे, रामसे उनके महाविष्णुनारायण और विष्णु रूपान्तरोंका भी बोध हो सकता है। अतः इस अतिव्याप्तिके निवारणार्थ *'रघुनाथ राम'* कहा। अर्थात् मैं आपके दशरथात्मज रघुकुलस्वामिन्! इस सगुण रूपकी उपासना चाहता हूँ, उसीमें प्रेम चाहता हूँ, अन्यमें नहीं। *'रघुनाथ'* पद

देकर श्रीरामजीके द्विहस्त छोड़ चतुः, षट्, अष्टसे लेकर सहस्रादिहस्त-पर्यन्तवाले जितने स्वरूप हैं उनको पृथक् कर दिया। मिलान कीजिये—*'भजहु राम रघुनायक कृपासिंधु भगवान'* (सुं० २३), *'राम राम रघुपति जपत—'*।*

तीसरा भाव यह है कि यहाँ वर माँग रहे हैं, अतः *'रघुनाथ'* विशेषण दिया क्योंकि रघुकुलमात्र उदार होता आया है और आप तो उस कुलके राजा उदारशिरोमणि हैं, अतः राजाधिराज रामचन्द्रजीसे वर माँग रहे हैं। आप यह वर देनेको समर्थ हैं, यह सूचित करनेके लिये *'रघुनाथ'* भी कहा।

(ख) *'निरंतर'* इति। कामीका प्रेम प्रायः युवामें रहता है और लोभीकी दशा बाल्यावस्थामें नहीं होती; क्योंकि इस अवस्थामें द्रव्यका बोध कम होता है। अतः आप *'निरंतर'* पद देकर जनाते हैं कि जन्मसे लेकर बाल्य, युवा, जरा, मरणासन्न इत्यादि किसी भी अवस्थामें मेरा प्रेम कम न हो। दूसरे सोनेके समय तथा अन्य कारणोंसे भी कामी और लोभीके प्रेममें अन्तर सम्भव है; अतः *'निरंतर'* पद दिया। तीसरे, *'निरंतर'* पदसे विनयके मीन-नीर, सर्प और मणि इत्यादिका भी उदाहरण लक्षित कर दिया, क्योंकि उनका प्रेम निरन्तर रहता है, वियोग होते ही वे तड़पकर प्राण दे देते है। विनयावलीके पदमें *'निरंतर'* पद नहीं है, वैसे ही यहाँ 'नीर-मीन' आदिवाली उपमाएँ नहीं हैं।

यहाँ 'नीर-मीन' 'मणि-सर्प' के प्रेमकी माँग न करके *'निरंतर'* ही विशेषणसे वैसा प्रेम सूचित तो कर दिया पर साथ ही यह भी जना दिया कि आपके वियोगमें तड़पना दर्शनके लिये परम लालायित होना चाहते हैं, मरण नहीं चाहते, प्रतिदिन आशा उत्तरोत्तर बढ़ती जाय कि अब प्रभु मिलते हैं, दूसरे वियोग-शृङ्गारमें जो रस है वह संयोगमें नहीं,—गोपियोंका ऐसा ही प्रेम था।

☞ऊपर नोट १ में हमने जो कहा था कि विनयके पदका विचार पीछे करेंगे, वह यहाँ किया गया।

पं० श्रीकान्तशरणजी—ऊपर भवभीरसे रक्षाके लिये प्रार्थना की। वह भव भगवान्‌की प्राप्तिसे ही छूटता है। यथा—**'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।'**(गीता ८। १६) और भगवान्‌की प्राप्ति उनके निरन्तर स्मरणरूपा भक्तिसे होती है; यथा—**'यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥'** (गीता ८। ६-७) निरन्तर स्मरण बिना गाढ़ प्रेमके नहीं होता, इसलिये वैसे प्रेमकी याचना करते हैं।

मा० हं०—काण्डसमाप्ति। मालूम होता है कि इस काण्डसमाप्तिकी शैलीकी कल्पना गोसाईंजीने भागवतके **'भवे भवे यथा भक्तिः पादयोस्तव जायते। तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वन्नो यतः प्रभो॥'** इस श्लोकसे ली हो। परंतु उसमें 'उन्होंने' अपनी चतुरता और प्रेम खर्च करके जो सुधार किये हैं उनके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा जाय वह थोड़ा ही है। ग्रन्थ समाप्तिकी ऐसी शैली भागवतको छोड़कर हमें अन्यत्र कहीं भी नहीं मिली। परबोधकशक्तिका मर्म स्वामीजीको सचमुचमें समझा था, ऐसा-ऐसा कहना पड़ता है।

करु—यहाँ श्रीगोसाईंजी जीव और परमेश्वरके चार अनुबन्ध कहते हैं। जब ये चार अनुबन्ध सद्गुरुसे

---

* कोई रामायणी ऐसा कहते हैं कि रघुनायक और राम दो सम्बोधन देकर जनाया कि आपका रूप हमें 'कामिहि नारि पियारि जिमि' ऐसा प्रिय लगे और आपका रामनाम 'लोभिहि जिमि दाम' ऐसा प्रिय लगे। आपका एक नामका नुकसान सहन न हो, गिनता रहूँ कम तो नहीं हो गया।—(प्रेमकी उच्च दशामें रूपमें मग्न हो जानेपर नाम उसीमें लय हो जाता है, नाम पृथक् रह ही नहीं जाता। प्रेमपागलको रट जप-ध्यानकी सुधि कहा) ? उत्तरार्धका अर्थ यह है कि हे रघुकुलके स्वामी श्रीरामजी! आप मुझे वैसे ही प्रिय लगें। यह अर्थ नहीं है कि हे रघुनाथ! आपका रूप मुझे प्रिय लगे। हे राम! आपका रामनाम प्रिय लगे। दशरथात्मज राममें वैसा प्रेम चाहते हैं। रघुनाथ राममें प्रेम हो, इससे सूचित करते हैं कि आपके ही चरित, आपका रूप, आपका धाम और आपका रामनाम, आपका कैंकर्य इत्यादि सबमें प्रेम चाहते हैं। चरित और नामके सम्बन्धमें तो अपना मत विनय और गीतावलीमें दे ही चुके हैं कि जिनको ये दोनों रामजीसे भी अधिक प्रिय हैं वे धन्य हैं और धामकी उपासना आपके चरितसे स्पष्ट है कि यहाँके एक श्वपचको काशीमें कैसे प्रेमभावसे मिले, यही नहीं, किंतु अपने एक कृपापात्रको श्रीअवधमें आकर श्रीअवधके कुछ भागका दिव्य दर्शन कराया था।

'श्रुति रामकथा मुख रामको नाम हिये पुनि रामहिको थल है'।

प्राप्त हों तब श्रीरामतत्त्वकी प्राप्ति होती है। वे ये हैं—१ अधिकारी, २ विषय, ३ सम्बन्ध और ४ प्रयोजन। इनके स्वरूप ये हैं—१ वैराग्य, विवेक और षट्सम्पत्तियुक्तको विशेष अधिकारी कहते हैं। वैराग्य, यथा—*'तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी'*। विवेक स्वधर्मग्रहण, परधर्मत्याग, रामसम्बन्धी पदार्थका ग्रहण, संसार वा अनात्म-सम्बन्धका त्याग, इसमें बुद्धि अचल रहे, यह विवेक है—*'संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार', 'सगुन षीर अवगुन जल ताता। मिलइ रचइ परपंच बिधाता॥ भरत हंस रबिबंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुनदोष बिभागा॥ गहि गुन पय तजि अवगुन बारी॥'* षट्सम्पत्ति—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान। (ज्ञानदीपकमें इसका वर्णन हो चुका है)। पुनः षट्सम्पत्ति षट्शरणागतिको कहते हैं (इनका उल्लेख विभीषणशरणागति तथा और भी स्थलोंमें आ चुका है)। विषय=वर्णनीय पदार्थ।

२—अधिकारी होनेपर तब विषयकी प्राप्ति है। श्रुति, स्मृति, पुराण, श्रीमद्रामायण समस्त ग्रन्थोंका विषय श्रीरामचन्द्र हैं; जब यह विषय अच्छी तरह जान ले तब सम्बन्धकी प्राप्ति हो। ३—जीव और परमेश्वरका सजातीय सम्बन्ध है। पुत्र-पिता, अंश-अंशी इत्यादि सम्बन्ध हैं—*'सर्बभाव भज—। ८७।'* में दे०। सब सम्बन्ध अनादि हैं। सद्गुरुसे इसे जान ले। ४—प्रयोजन—जीवका सच्चा प्रयोजन यह बताया है कि श्रीरामचन्द्रकी निष्काम भक्ति करे, यह भक्ति अन्तिम दोहेमें कही। ☞जो इन चारोंको जाने वह रामभक्ति पहिचाने।

१—अनुबन्ध अर्थात् सम्बन्ध—यथा *'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि'*

२—विषय, यथा—*'जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना'*

३—प्रयोजन, यथा—*'निज गिरा पावन करन कारन रामजस तुलसी कह्यो'*

४—अधिकारी, यथा—*'सदा सुनहिं सादर नरनारी। ते नरबर मानस अधिकारी'*

नोट—बालकाण्ड मं० श्लो० ६ के तिलकमें दिखाया गया है कि गोस्वामीजीका मङ्गलाचरण श्रीमद्भागवतके मङ्गलाचरण **'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्'** इत्यादिसे बहुत मिलता-जुलता है, भागवतकारके मङ्गलाचरणके चारों चरणोंके भाव तो मानसकारने अपने मङ्गलाचरणमें व्यक्त ही कर दिये हैं और उससे अधिक एक बात और भी दी है जो भागवतकारने स्पष्टरूपसे अपने मङ्गलाचरणमें व्यक्त नहीं कर पायी। इसी प्रकार ग्रन्थकी समाप्ति भी श्रीमद्भागवतसे बहुत कुछ मिलती है। जैसा कि दोहेके अन्तमें दिये हुए मिलानसे स्पष्ट है।

भागवतके मङ्गलाचरणमें **'धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि'** अन्तिम शब्द हैं और ग्रन्थकी समाप्तिपरके दो श्लोकोंके पहले यह श्लोक है—

'कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा तद्रूपेण च नारदाय मुनये कृष्णाय तद्रूपिणा।
योगीन्द्राय तदात्मनाथ भगवद्राताय कारुण्यतस्तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि॥' (भा० १२। १३। १९)

'नमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय साक्षिणे। य इदं कृपया कस्मै व्याचचक्षे मुमुक्षवे॥'

अन्तमें शुकदेवजीकी वन्दनापर समाप्ति है।

भागवतकारने जैसे मङ्गलाचरण **'सत्यं परं धीमहि'** से किया वैसे ही ग्रन्थका अन्त भी किया। और मानसकारने अपने मङ्गलाचरणमें जिस पक्षको वे सत्य समझते हैं उसे, जैसे ग्रन्थके प्रारम्भमें स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त किया है—**'वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्'**, वैसे ही बल्कि उससे भी अधिक स्पष्ट और असंदिग्ध शब्दोंमें उपसंहारमें ग्रन्थकी समाप्तिके प्रसंगभरमें व्यक्त कर रहे हैं। जिन शब्दोंको किसी प्रकार तोड़-मरोड़कर किसीके अर्थके लिये अनर्थ करना सम्भव नहीं है।

यहाँ 'राम', 'रघुनाथ', 'रघुबंसभूषन', 'रामपदाब्ज', 'रामधाम', 'रामनाम', 'रघुनाथ नाम' यही शब्द कविने अपने उपसंहारमें दिये हैं। यह न्याय है कि यदि उपक्रम आदिमें कोई बात संदिग्ध हो तो उसका निर्णय उपसंहारसे किया जाता है। यद्यपि संदेहकी बात तो कोई है ही नहीं, क्योंकि शिवजी स्पष्ट कह रहे हैं कि—*'जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥'* तो भी अन्तमें तो कोई संदेह रह ही नहीं जाता कि गोस्वामीजी किसको परात्पर परब्रह्म परं ध्येय, परं ज्ञेय, किसके नामको तथा मन्त्रको परं जाप्य और किस चरितको परं पाठ्य सिद्धान्त कहते हैं।

अन्तमें जैसे भागवतमें श्रीशुकदेवजीकी वन्दनापर समाप्ति है कि जिनके द्वारा संसारमें प्रचार हुआ वैसे ही यहाँ महाकवि गोस्वामी तुलसीदासजी—

'यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमम्' इत्यादि

—पर समाप्ति करते हैं और विशेषता यह है कि अन्तमें भक्तों, वक्ताओं, श्रोताओं, मनन करनेवालोंको आशीर्वाद देते हुए सबका इससे कल्याण निश्चय कराते हुए ग्रन्थकी समाप्ति करते हैं, जो बात भागवतमें नहीं है।

'ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः।'

गोस्वामीजीने ग्रन्थका उपक्रम और उपसंहार दोनों एक ही अक्षर 'व' से किया है। 'व' तन्त्रशास्त्रके मतानुसार अमृतबीज है, अतः मानसमें अमृतबीजका संपुट हुआ।

फलश्रुतिका भागवतकी फलश्रुतिसे मिलान

भा० १२। १२। ६१ देवता मुनयः सिद्धाः पितरो मनवो नृपाः। मनकामना सिद्धि नर पावा।
यच्छन्ति कामान्गृणतः श्रृण्वतो यस्य कीर्तनात्॥ जो यह कथा कपट तजि गावा॥ (१२८)
भा० १२। १३। १८ तच्छृण्वन् पठविचारण परो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥ कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं॥ १२। १३। ११—आदिमध्यावसानेषु वैराग्याख्यानसंयुतम्। हरिलीलाकथाव्रातामृतानन्दितसत्सुरम्॥*मानस—जेहि महँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥*
भा० १२। १२। ६५ कलिमलसंहतिकालनोऽखिलेशो हरिरितरत्र न गीयते ह्यभीक्ष्णम्।
इह तु पुनर्भगवानशेषमूर्त्तिः परिपठितोऽनुपदं कथाप्रसंगैः॥
मानस—मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये। भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्॥
भा० १२। १३। १५ सर्ववेदान्तसारं हि श्रीभागवतमिष्यते। तद्रसामृततृप्तस्य नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥
यह रामचरितमानस सब श्रुतियोंका सारसिद्धान्त है। यथा—'*बंदउँ पद धरि धरनि सिरु बिनय करउँ कर जोरि। बरनहु रघुबर बिसद जस श्रुतिसिद्धांत निचोरि॥*' बा० १०९।

'राम उपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिन्हके कछु नाहीं॥'

भा० १२। १३। ९ तत्राष्टादशसाहस्त्रं श्रीभागवतमिष्यते॥ *सतपंच चौपाई मनोहर*
☞भागवतमें प्रतिपाद्य देवसे कोई याचना नहीं है। मानसमें प्रतिपाद्य उपास्यदेवसे भवभयहरण और अविचल प्रेमकी प्रार्थना भी है।

भा० १२। १३। १२ 'सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्। वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम्॥
भा० १२। १३। १८ श्रीमद्भागवतं पुराणममलं यद्वैष्णवानां प्रियं यस्मिन्पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं तच्छृण्वन्विपठन्विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः॥
रघुबंसभूषनचरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं॥
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥
१२। १२। ५८, ६६-६७ य एवं श्रावयेन्नित्यं यामक्षणमनन्यधीः। (श्लोकमेकं तदर्धं वा पादं पादार्धमेव वा)
मानस—सतपंच चौपाई मनोहर जानि जे नर उर धरे। दारुन अबिद्या पंचजनित बिकार श्रीरघुबर हरे॥
श्रद्धावान्योऽनुशृणुयात्पुनात्यात्मानमेव सः॥

तमहमजमनन्तमात्मतत्त्वं जगदुदयस्थितिसंयमात्मशक्तिम्। सुन्दर सुजान कृपानिधान अनाथपर कर प्रीति जो।
द्युपतिभिरजशक्रशङ्कराद्यैर्दुरवसितस्तवमच्युतं नतोऽस्मि॥ सो एक राम अकाम हित निर्बानप्रद सम आन को॥
उपचितनवशक्तिभिः स्व आत्मन्युपरचितस्थिरजङ्गमालयाय। जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदासहूँ।
भगवत उपलब्धिमात्रधाम्ने सुरऋषभाय नमः सनातनाय॥ पायो परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ॥
१२। १३। २१ योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे। यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमम्।
संसारसर्पदष्टं यो विष्णुरातममूमुचत्॥ श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यै तु रामायणम्।

१२। १२। ६८ **स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।**
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥

श्लो०—**यत्पूर्वं प्रभुणा कृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यै तु रामायणम्।**
मत्वा तद्रघुनाथनामनिरतं स्वान्तस्तमःशान्तये भाषाबद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्॥

अर्थ—पहले समर्थ श्रेष्ठ कवि श्रीशङ्करजीने जिस दुरूह मानस रामायणको श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंमें निरन्तर भक्ति प्राप्त होनेके लिये बनाया था, तुलसीदासने उसीको रामनाममें तत्पर पाकर अपने अन्तःकरणके अन्धकारको मिटानेके लिये उसी प्रकार भाषामें बनाया॥ १॥

करु०—दुर्गम अर्थात् किसीको सम्पूर्ण जाननेकी गम्य नहीं।

यहाँ इस रामचरितमानस ग्रन्थका उपसंहार है—

उपक्रम	उपसंहार
नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे[१],	यत्पूर्वं[१] प्रभुणा कृतं सुकविना
स्वान्तःसुखाय[२] तुलसी रघुनाथगाथा[३],	मत्वा <u>तद्रघुनाथनामनिरतं</u>[२] <u>स्वान्तस्तमःशान्तये</u>[३]
<u>भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति</u>[४],	<u>भाषाबद्धमिदं</u>[४] चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्।

प० प० प्र०—उपसंहार '**यद् रामायणं श्रीशम्भुना कृतम्**' से बालकाण्ड मं० श्लो० ७ के '**रामायणे निगदितम्**' का अर्थ स्पष्ट किया है। अर्थात् शिवरामायण ही वहाँ विवक्षित है।

'**स्वान्तःसुखाय**' यह प्रयोजनका फल उपक्रममें कहा था। यहाँ '**स्वान्तस्तमःशान्तये भाषाबद्धं चकार**' यह उपसंहार है। **पायो परम बिश्रामु**=स्वान्तःसुखप्राप्ति=स्वान्तस्तमः शान्ति।

श्रीपार्वतीजीने रामप्रेमप्राप्ति होनेसे विश्राम पाया। गरुड़जीने भी परम विश्राम पाया। विश्वमें सभी जीव सुखी हो गये। इस प्रकार बालकाण्ड मं० श्लोक ७ में जो प्रयोजनका फल, स्वान्तःसुख उपक्रमित किया था, वह सभी लोगोंने अवधमें नारदजीने, वसिष्ठजीने, सनकादिकने पाया।

विवेक-विरागयुक्त वेदविहित आचार पालन करके ज्ञान-प्राप्तिके पश्चात् रामपद-प्रेमभक्ति-प्राप्तिसे ही परम विश्रामकी प्राप्ति हो सकती है—यह गोस्वामीजीका सिद्धान्त है।

सि० ति०—जैसे उलटे नामके जपसे श्रीवाल्मीकिजी ब्रह्मके समान हुए, तब उन्होंने नामके शुद्धस्वरूपके अर्थ-वैभव जाननेकी इच्छासे श्रीनारदजीसे गुणोंके प्रश्न किये, यथा—'गुणवान्कः'। नामका विभव उसका अर्थ है, इसीसे नाम-जपके साथ उसके अर्थ-विचारकी विधि है। चरित नामका अर्थ है, अर्थ-प्रकाशके द्वारा श्रीरामजीके गुणोंको विस्तार करना नामके विभवका ही विस्तार है, यथा—'**न भिन्नो नाम नाभिन्नः**'। जब श्रीनारदजी उन्हें उत्तर देने लगे तब '**रामो नाम जनैः श्रुतः**' यह नाम कहकर तब उसके अर्थभूत गुणोंका कथन प्रारम्भ किया है। मूलरामायण वाल्मीकीयमें स्पष्ट है।

इसी तरह श्रीगोस्वामीजी भी नामके द्वारा कृतार्थ होकर उसी नामके विभव-विस्तार करनेवाले चरितके वर्णनकी ओर प्रवृत्त हुए कि जिससे चरितके पठन-पाठनसे नाममें प्रीति बढ़े, इन्होंने बार-बार शपथ करके कहा है कि मैं राम-नामसे ही कृतार्थ हुआ हूँ। नामके ही आराधनसे उसके अर्थभूत चरितका विशेष विकास होता है, यथा—'*जानहिं सिय रघुनाथ भरतको सील सनेह महा है। कै तुलसी जाको राम नाम सों प्रेम नेम निबहा है॥*' (गी० २। ६४) इसीसे इनकी रचना लोकोत्तर हुई है।

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमाम्बुपूरं शुभम्।
श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये ते संसारपतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥ २॥

इति श्रीरामचरित्रमानसे सकलकलिकलुषविध्वंसने अविरलहरिभक्तिसम्पादनो नाम

सप्तमः सोपानः सम्पूर्णः।

अर्थ—यह श्रीरामचरितमानस पुण्यरूप (पवित्र), पापोंका हरण करनेवाला, सदा कल्याणकारी, विज्ञान और भक्तिका देनेवाला, माया, मोह और पापोंका नाशक, अत्यन्त निर्मल, श्रेष्ठ सुन्दर निर्मल प्रेमजलसे पूर्ण और मङ्गलकारी है। जो भक्तिपूर्वक इस श्रीमद्रामचरितमानससरोवरमें स्नान करते हैं वे मनुष्य संसाररूपी सूर्यकी प्रखर (तेज) किरणोंसे नहीं जलते हैं। अर्थात् परम शान्ति पाकर सदा प्रसन्न रहते हैं॥ २॥

इस तरह कलिके समस्त पापोंका नाश करनेवाला श्रीरामचरितमानसका हरिभक्ति-सम्पादन करनेवाला सातवाँ सोपान सम्पूर्ण हुआ।

नोट—'**पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं**—' इति। (क) पुण्य आदिके भाव पूर्व बालकाण्ड आदिमें आ चुके हैं। पुण्य=पवित्र, पावन। ☞यह शब्द उपक्रमरूपसे ग्रन्थके आरम्भमें संस्कृत मङ्गलाचरण श्लोक ४ में प्रथम-प्रथम श्रीरामगुणग्रामके विशेषणरूपमें आया है और यहाँ उपसंहारके श्लोकमें अन्तमें भी श्रीमद्रामचरितके ही विशेषणरूपमें आया है। वहाँ '**सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ।**' विशुद्धविज्ञानी कवीश्वर और कपीश्वरकी वन्दनामें आया है और यहाँ '**विज्ञानभक्तिप्रदम्**' के साथ आया है। इससे जनाया कि कवीश्वर वाल्मीकिजी और श्रीहनुमान्‌जी इस पुण्यचरितमें विहार करनेसे ही विशुद्ध विज्ञानी हुए। रामचरित पावन है, यथा—'**पावन गंग-तरंगमालसे।**'(१। ३२। १४) '**पापहरम्**', यथा—'*समन पाप संताप सोक के।*' (१। ३२। ५) शिवकर= कल्याणकर, यथा—'**मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथकी।**'(१। १०) '*जगमंगल गुन ग्राम रामके। दानि मुकुति धन धरम धामके॥*'(१। ३२। १)'*प्रिय पालक परलोक लोकके।*'(१। ३२। ५) '*मेटत कठिन कुअंक भालके॥*' (१। ३२। ५) इत्यादि सब भाव 'शिवकर' में आ गये। विज्ञानभक्तिप्रद, यथा—'*यह रावनारि चरित्र पावन रामपदरतिप्रद सदा। कामादि हर बिज्ञानकर सुर सिद्ध मुनि गावहिं मुदा॥*' (६। १२० छन्द २) भक्तिप्रदके प्रमाण तो ग्रन्थमें ही स्वयं श्रीपार्वतीजी और गरुड़जी हैं। यथा—'*मैं कृतकृत्य भइउँ अब तव प्रसाद बिस्वेस। उपजी रामभगति दृढ़ बीते सकल कलेस॥*' (१२९) '*राम चरन उपजेउ नव नेहा।*' (१२९। ८) '*रामचरन नूतन रति भई। मायाजनित बिपति सब गई॥ मोह जलधि बोहित तुम्ह भए।*' (१२५। २-३) '**माया मोहमलापहम्**' का उदाहरण भी उपर्युक्त उदाहरणमें आ गया। '**प्रेमाम्बुपूरम्**', यथा—'*रघुपति भगति प्रेम परमिति सी।*' (१। ३१। १४) मलका नाश जलसे होता है, अतएव '**मलापहम्**' कहकर '**प्रेमाम्बुपूरम्**' कहा। श्रीरामचरितसे निर्मल प्रेम होता है, जिससे माया-मोह-मल धुलकर नहीं रह जाता। मिलान कीजिये—'*मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई। जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक अधिकाई॥ नयन मलिन परनारि निरखि मन मलिन विषय सँग लागे। हृदय मलिन बासना मानमद जीव सहज सुख त्यागे॥ परनिंदा सुनि श्रवन मलिन भए बचन दोष पर गाए। सब प्रकार मल भार लाग निज नाथ चरन बिसराए॥ तुलसिदास ब्रत दान ज्ञान तप सुद्धि हेतु श्रुति गावै। रामचरन अनुराग नीर बिनु अति मल नास न पावै॥*' (वि० ८२) सुविमलका भाव कि सांसारिक प्रेम निर्मल नहीं होता। किसी कामनासे जो प्रेम होता है वह भी निर्मल नहीं होता है। परमार्थकी कामनावाला प्रेम निर्मल है और निष्काम प्रेम जिसमें व्यभिचारकी गन्ध नहीं होती वह प्रेम 'सुविमल' है, 'विशुद्ध' है। ऐसे अत्यन्त निर्मल प्रेमका देनेवाला यह चरित है।

२—*संसारपतंग*—', इति। संसार क्या है यह विनयके निम्नपदसे स्पष्ट हो जायगा—

'**मैं तोहि अब जान्यो संसार। बाँधि न सकहि मोहि हरिके बल प्रगट कपट आगार॥**
देखत ही कमनीय कछू नाहिंन पुनि किये बिचार। ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निसरै सार॥
तेरे लिये जनम अनेक मैं फिरत न पायो पार। महामोह मृगजल सरिता महँ बोर्‌यो हौ बारंबार॥
सुनु खलु छल बल कोटि किये बस होहिं न भगत उदार। सहित सहाय तहाँ बसि अब जेहि हृदय न नंदकुमार॥
तासौं करहु चातुरी जो नहिं जानै मरम तुम्हार। सो परि डरै मरै रजु अहि तें बूझै नहिं ब्यवहार॥
निज हित सुनु शठ हठ न करहिं जो चहहि कुसल परिवार।
तुलसिदास प्रभुके दासन्ह तजि भजहि जहाँ मदमार॥ १८८॥'

संसार, भव, संसृति पर्याय शब्द हैं। जन्म-मरण, आवागमन आदि। संसार शब्द इस अर्थमें कई

बार आया है। यथा—*'होइहहु मुकुत न पुनि संसारा।'* (१। १३९। ७) *'संसारामयभेषजं सुखकरं श्रीजानकीजीवनम्।'* (४ मं० श्लो० २) *'महा अजय संसार रिपु जीति सकै सो बीर।'* (६। ७९) *'मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं। संसारसिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं॥'* (६। १०५ छन्द) *'पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे॥'* (७। १३ छन्द)

पतंग=सूर्य। यथा—*'कौतुक देखि पतंग भुलाना।'* (१। १९५। ८) *'कबहुँ दिवस महँ निबिड़ तम कबहुँक प्रगट पतंग।'* (४। १५) *'जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा।'* (१। ११६। ४) इत्यादि। संसारको सूर्यकी भयंकर मध्याह्नकालकी किरणसमूह कहा। सूर्यकी भयंकर किरणोंकी तापसे मनुष्य व्याकुल हो जाते हैं। वैसे ही जीव बारम्बार जन्म-मरण आदिसे संतप्त होते हैं, इसीसे देवता, ऋषि आदि सभी उससे रक्षाकी प्रार्थना करते हैं। यथा—*'भव बारिधि मंदर परमंदर। बारय तारय संसृति दुस्तर॥'* (६। ११४) (श्रीशिवजी), *'भव प्रबाह सतत हम परे। अब प्रभु पाहि सरन अनुसरे॥'* (६। १०९। १२) *'भवखेद छेदन दच्छ हम कहुँ रच्छ राम नमामहे।'* (७। १३ छन्द) (वेदस्तुति), *'भवताप भयाकुल पाहि जनं।'* (७। १४ छन्द १), *'देहु भगति रघुपति अति पावनि। त्रिबिधि ताप भव दाप नसावनि॥'* (७। ३५। १) (श्रीसनकादिकजी)। इत्यादि।—इस भव घोर घामसे झुलस न जानेका उपाय बताते हैं कि इसमें भक्तिपूर्वक डूबे रहें।

'भक्त्यावगाहन्ति ये' यह शर्त है, नियम है। अतः भक्तिपूर्वक अवगाहन क्या है, यह भी जान लेना चाहिये। बालकाण्डमें आशीर्वादरूप फल ग्रन्थकारने इस प्रकार कहा है—*'जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमल रहित सुमंगल भागी॥'* (१। १५। १०-११), *'राम चरित मानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा॥ मन करि विषय अनल बन जरई। होइ सुखी जो एहि सर परई॥'* (१। ३५। ७-८), *'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥'* (१। ४१। ६), *'सादर मज्जन पान किए तें। मिटहिं पाप परिताप हिए तें॥'* (१। ४३। ६) भक्तिसे श्रद्धा-विश्वासपूर्वक तथा प्रेमसे आदरपूर्वक मन, चित्त और बुद्धिको लगाकर स्नान करना, डुबकी लगाना जनाया। जब ऐसा होगा तो स्नान प्रसन्न मनसे होगा, उसके कहने-सुननेमें प्रेम-पुलकावली होगी। अवगाहन स्नान और डुबकी लगाने एवं डूबे रहनेको कहते हैं। यथा—*'जे सर सरित राम अवगाहहिं।'* (२। ११३। ६), *'रोवहिं सोक सिंधु अवगाहहिं।'* (२। २७६। ८), **'नो मानवाः'** इति। **नो**=नहीं। यथा—*'पतन्ति नो भवार्णवे बितर्क बीचि संकुले।'* (३। ४ छन्द) ग्रन्थकारने कथाके प्रारम्भमें कथाका फल बाल० ३१ (४) से लेकर दोहा ३२ तक तथा मानस-सर-सरयूरूपकमें कहा, वैसे ही ग्रन्थके अन्तमें यहाँ फलश्रुति कहते हुए ग्रन्थकी समाप्ति की है।

ग्रन्थका प्रारम्भ 'व' वर्णसे किया गया था—**'वर्णानामर्थसंघानाम्'** (बाल० मं० श्लो० १) उसी अक्षरपर ग्रन्थकी समाप्ति भी की। *'मानवाः'* अन्तिम शब्द है, जिसका अन्तिम अक्षर 'व' है। इस अक्षरसे ग्रन्थको सम्पुटित करनेके भाव बा० मं० श्लो० १ में दिये गये हैं। तन्त्रशास्त्रानुसार 'व' अमृत बीज है। वाणी और विनायकका (जिनका सर्वप्रथम मङ्गल किया है) बीज 'व' कार है। बीजयुक्त मन्त्र बड़ा प्रभावशाली होता है, वह परिपूर्ण फल देता है और शीघ्र। अतः 'व' बीजका सम्पुट देकर सूचित किया कि इसके वक्ता-श्रोता अमरपदरूपिणी श्रीरामभक्ति तथा मनोरथ-सिद्धि पावेंगे।

करु०—*'संसार पतंग घोर किरण'* अर्थात् *'अहं मम मान बड़ाई।'* इत्यादि।

पं०—**'दह्यन्ति नो'** भाव कि मन-तन शीतल होकर श्रीरामचन्द्रजीके स्वरूपको पावेंगे। वासना घोर किरणें हैं।

पं० श्रीकान्तशरणजी—*'ते संसार पतंग—'* इति। यहाँ श्रीरामजीके शरीरसे पृथक् सत्तावान् समष्टि-संसारको सूर्य कहा है और उसके व्यष्टिरूप नानात्वको किरण। जगत् दस दिशामय कहा जाता है, नानात्वमें उसकी दस दिशाओंको भी मानसकारने दिखाया है; यथा—*'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी।'* (५। ४८) इसमें जननी आदि दस गिनाये गये हैं। इन्हें स्वतन्त्ररूपसे उपकारी मानकर जो जीव इनमें ममतारूप तागोंमें बँधा हुआ है, वह जब इन सबको श्रीरामजीके

शरीररूपमें जानेगा, तब इन सबके द्वारा हुए उपकार श्रीरामजीके निश्चित होनेपर इन सब (व्यष्टि जगत्) से ममता हटाकर श्रीरामजीमें ही दृढ़ प्रीति करेगा, क्योंकि इन्हींने सब रूपोंसे पालन-पोषण आदि उपकार किये हैं, इस ज्ञानपर वह ममता यहाँ एकत्र होगी, यही डोरीका बटना है। फिर किसी भले-बुरे कार्यके सम्बन्धका कोई भी मित्र-शत्रु न रह जायगा, समदर्शित्व अनायास रहेगा। तब राग-द्वेष आदि अग्निमय दोषोंकी ज्वालासे यह नहीं जलेगा।

वही चराचरात्मक अज्ञान-दृष्टिसे श्रीरामजीसे पृथक् देखनेपर सूर्यकी तरह ममतारूपी तीक्ष्ण किरणोंद्वारा त्रिविध तापोंसे जलानेवाला है। यथा—'*सुर मुनि मनुज दनुज अहि किन्नर मैं तनु धरि सिर काहि न नायो। जरत फिरत त्रयताप पाप बस काहु न हरि करि कृपा जुड़ायो॥*' (वि० २४३), '*जोरे नये नाते नेह फोकट फीके। देहके दाहक गाहक जीके॥*' (वि० १७६)

नोट—किष्किन्धाकाण्ड दोहा ३० में बताया जा चुका है कि प्रत्येक काण्डके अन्तमें जो फलश्रुति है वही उस सोपानका नाम है। इस तरह पिछले सोपानोंके क्रमशः नाम ये हैं—'सुख-सम्पादन, प्रेम-वैराग्य-सम्पादन, विमलवैराग्य-सम्पादन, विशुद्ध सन्तोष-सम्पादन, ज्ञान-सम्पादन विज्ञान-सम्पादन। इसी तरह इस सप्तम सोपानका नाम फलश्रुतिके अनुसार 'अविरल हरिभक्ति-सम्पादन' है। ये सातों सोपान श्रीरघुपतिभक्तिके मार्ग हैं, यथा—'*एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगत केर पंथाना॥*' (१२९। ३) धर्मसे वैराग्य, वैराग्यसे सन्तोष, सन्तोषसे ज्ञान, ज्ञानसे विज्ञान होता है और विज्ञानका फल हरिभक्ति है।

श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासाय नमः, श्रीभरद्वाजाय नमः, श्रीयाज्ञवल्क्याय नमः, श्रीउमामहेश्वराभ्यां नमः, श्रीगरुडाय नमः, श्रीभुशुण्डिचरणकमलेभ्यो नमः, श्रीहनुमते नमः, श्रीगुरवे श्रीरूपकलादेव्यै नमः, सशक्ति श्रीभरताय नमः, सशक्ति श्रीलक्ष्मणाय नमः, सशक्ति श्रीशत्रुघ्नाय नमः, श्रीसीतारामाभ्यां नमः, श्रीसन्तभगवन्तचरणकमलेभ्यो नमः, श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये, श्रीमते रामचन्द्राय नमः।

यो नित्यमच्युतपदाम्बुजयुग्मरुक्मव्यामोहतस्तदितराणि तृणाय मेने।
अस्मद्गुरोर्भगवतोऽस्य दयैकसिन्धोः श्रीरूपकलाब्जचरणौ शरणं प्रपद्ये॥

'स्वयं सिद्ध सब काज नाथ मोहि आदर दियो।'

हे प्रभो! यह आपकी वस्तु आपको ही अर्पण है, इसे स्वीकार करें।

श्रीसन्तभगवन्तगुरुकरकमलार्पणमस्तु । जय जय सीतारामकी। जय बोलो हनुमानकी॥

जे निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख चाहहिं जो गति लहहीं॥
अबिरल भक्ति विशुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव । जेहि खोजत योगीश मुनि प्रभु प्रसाद कोउ पाव॥
सोइ भक्ति गति रहनि सोइ सोइ प्रभु चरण सनेहु। सोइ बिबेक सुख सुमति सोइ सोइ सत्संगति देहु॥
सब मिलि कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि तुम्हहिं भजौं दिन राती॥
मनकी सकल मलिनता भागै। सीताराम चरण लौ लागै॥
पद पङ्कज राजैं मन माहीं। रहउ सदा चित चरनन्हि पाहीं॥
बार बार माँगउँ कर जोरे। बसहु राम सिय मानस मोरे॥
चहौं न सुमति सुगति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़उ अनुदिन अधिकाई॥
बार बार माँगौ कर जोरे। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरे॥

श्रीरामायणजीकी आरती

आरति श्रीरामायनजी की। कीरति कलित ललित सिय पी की॥
गावत ब्रह्मादिक मुनि नारद। बालमीक बिग्यान बिसारद।
सुक सनकादि सेष अरु सारद। बरनि पवनसुत कीरति नीकी॥ १॥
गावत बेद पुरान अष्टदस। छओ सास्त्र सब ग्रंथन को रस।
मुनि जन धन संतन को सरबस। सार अंस संमत सबही की॥ २॥
गावत संतत संभु भवानी। अरु घटसंभव मुनि बिग्यानी।
ब्यास आदि कबिबर्ज बखानी। कागभुसुंडि गरुड के ही की॥ ३॥
कलिमल हरनि बिषय रस फीकी। सुभग सिंगार मुक्ति जुबती की।
दलन रोग भव मूरि अमी की। तात मात सब बिधि तुलसी की॥ ४॥